हिंदी विश्वकोश

सामान्य समुद्री शैवाल



(१) कोंड्रस (Chondrns), लाल रंग का समुद्री शैवाल; (२) अल्वा (Ulva), हरा शैवाल, जो ज्वार-भाटा के तलों में प्राय: पाया जाता है; (३) सिरेमियम (Ceramium), हलके लाल रंग का शैवाल (प्रवर्धित,×७); (४) अलेरिया (Alaria), उत्तरी समुद्रों मे पाया जानेवाला, जैतूनी भूरे रंग का शैवाल, जिसके लंबे पत्ते के मध्य दृढ़ पर्णुका होती है; (५) एटरोमॉर्फा (Enteromorpha), अल्वा का संबंधी, जिसमें नलिकाकार सूत्र होते हैं; (६) लीथीशिया (Leathesia), भूरे रंग का लसलसा प्रवर्ध, जो कोरैलिना (Coralinia) नामक कैल्सीकृत लाल शैवाल से संबद्ध रहता है, तथा (७) डेलेसीरिया (Delesseriva), हलके लाल रंग का शैवाल, जिसमें पत्तियों के सदृश नसों वाले पर्ण होते हैं।

हिंदी विश्वकोश

खंड ११

'विद्युतीकरण' से 'सल्फ़ोनेमाइड' तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

निदेशक

स्वर्गीय संपूर्णानंद

प्रधान संपादक

रामप्रसाद त्रिपाठी

संपादक

फूलदेव सहाय वर्मा

मुकुंदीलाल श्रीवास्तव

संपादन सहायक तथा सहकारी

भगवानदास वर्मा	(विज्ञान)	जंगीर सिंह	(मानवतादि)
अजितनारायण मेहरोत्रा	(विज्ञान)	बैजनाथ वर्मा	(चित्रकार)

हिंदी विश्वकोश के संपादन एवं प्रकाशन का संपूर्ण व्यय भारत सरकार के शिक्षामंत्रालय ने वहन किया तथा इसकी बिक्री की समस्त आय भारत सरकार को 'सभा' दे देती है।

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८९१ सं० २०२६ वि० १९६९ ई०

नागरी मुद्रण, वाराणसी,

में मुद्रित

प्राक्कथन

विश्वकोश का यह ग्यारहवाँ खंड प्रकाशित हो रहा है। निश्चित योजना के अनुसार इसे छह मास में प्रकाशित हो जाना चाहता था पर कुछ अनिवार्य करणों से, जिनमें उपयुक्त कागज का कुछ समय तक बाजारों में प्राप्त न होना भी संमिलित है, इसके प्रकाशन में नौ मास का समय लग गया। अब विश्वकोश का केवल एक, बारहवाँ, खंड प्रकाशित होना शेष रह गया है। आशा है, इसका प्रकाशन अब शीघ्र ही कुछ मासों में हो जायगा। इसप्रकार विश्वकोश के प्रकाशन का कार्य, जो १९६० ई० में (प्रथम खंड इसी वर्ष प्रकाशित हुआ था) शुरू हुआ था, अब १९६९ ई० में समाप्त होने जा रहा है। इस खंड के साथ ही परिशिष्ट और अनुक्रमणिका भी प्रकाशित हो जाएँगी।

इस खंड में ५०६ पृष्ठ हैं, जिनमें ५१६ लेखों के अंतर्गत २३८ विशिष्ट विद्वानों की रचनाओं का समावेश है। इसमें रंगीन चित्र के अतिरिक्त अनेक रेखाचित्र, चित्रफलक और मानचित्र भी दिए हुए हैं।

संपादन और प्रकाशन कार्य में जिन व्यक्तियों ने सहयोग प्रदान किया है उनके प्रति तथा विश्वकोश के कार्यालय के अधिकारियों, कार्यकर्ताओं के प्रति हम आभारी हैं। नागरीप्रचारिणी सभा और केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधिकारी गण विशेष रूप से हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं जिन्होंने इस खड के प्रणयन और प्रकाशन में विशेष उत्साह एवं सहयोग प्रदान किया है।

फूलदेव सहाय वर्मा

प्रधान संपादक (स्थानापन्न)

एकादश खंड के लेखक

अ० कु० वि० अवनींद्र कुमार विद्यालंकार, पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

अ० ति० अरेश तिवारी, बी० एस-सी०; ए० बी० एम० एस०, डेमांस्ट्रेटर, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० ना० अ० अमर नारायण अग्रवाल, वाणिज्य संकाय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अ० ना० मे० अजित नारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, बी० एस-सी०, बी० एड०, साहित्यरत्न, संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी-१।

अ० मि० अनंत मिश्र, १२१ चित्तरंजन ऐवेन्यू, २ तल्ला ४४, कमरा ६७, कलकत्ता-७।

अ० मि० अनिरुद्ध मिश्र, रसायनविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

अ० ला० अनंत लाल, बी २२।२६०, पो० आ० खोजवाँ बाजार, वाराणसी।

अ० शु० अजित शुकदेव, एम० ए०, कालेज ऑव इंडोलॉजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० सि० अवतार सिंह, प्राध्यापक, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

अ० सि० अभय सिन्हा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, ए० आर० आइ० सी० (लंदन), टेक्नॉलोजिस्ट, प्लानिंग ऐंड डेवलपमेंट डिविजन, फर्टिलाइजर कारपोरेशन ऑव इंडिया, सिंदरी, धनबाद, बिहार।

आ० मि० आत्मानंद मिश्र, प्रिंसिपल, प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय, जबलपुर।

आ० रा० आशाराम, रीडर, राजनीति विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

आ० वे० (फादर) आस्कर वेरेकुइसे, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर्स, सेंट अलबर्ट्स सेमिनरी, राँची।

आर० आर० दि० आर० आर० दिवाकर, भूतपूर्व राज्यपाल, बिहार, २ रेजीडेंसी रोड, बंगलोर।

आर० एन० दां० आर० एन० दांडेकर, भांडारकर शोधसंस्थान, पूना।

इ० हु० सि० इश्तिआर हुसैन सिद्दीकी, द्वारा, डा० खलीक अहमद निजामी, ३ इंग्लिश हाऊस, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

उ० ना० पां० उदयनारायण पांडेय, एम० ए०, रजिस्ट्रार, हायर एजुकेशन फॉर लद्दाखी स्टुडेंट्स, बेला रोड, दिल्ली-६।

उ० मि० उमेश मिश्र, तीरभुक्ति, एलनगंज, प्रयाग।

उ० शं० प्र० उमा शंकर प्रसाद, एम० एस-सी० (आर०), एम० बी० बी० एस०, डी० एम० आर० डी० (इंग्लैंड), डी० एम० आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

ए० एस० वे० ए० एस० वेदी, ब्रिगेडिर, खड़गवासला, पूना, महाराष्ट्र।

एन० वी० रा० एन० वी० रामसुब्रह्मण्यम, देवनगर, दिल्ली।

एन० सी० जो० एन० सी० जोगलेकर, हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना।

एम० एम० देसाई मुकुंद मोरेश्वर देसाई, प्रोफेसर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

एम० पी० सिं० आर० पी० सिंह, इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी, बंबई-१८।

एल० एन० मा० एल० एन० माथुर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

एल० एस० को० एल० एस० कोठारी, डा०, एटॉमिक एनर्जी इस्टैब्लिशमेंट, ट्रांबे, बंबई।

एस० के० पी० एस० के० पाल, शिक्षा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ओं० ना० श० ओंकार नाथ शर्मा, भूतपूर्व वरिष्ठ लोको फोरमैन, बी० बी० ऐंड० सी० आइ० रेलवे, निवृत्त प्रधानाध्यापक, यंत्रशास्त्र, प्राविधिक प्रशिक्षण केंद्र, पूर्वोत्तर रेलवे, लक्ष्मी निवास, गुलाब बाड़ी, अजमेर।

ओं० प्र० ओमप्रकाश, १३।५, शक्तिनगर, दिल्ली-७।

ओ० स्मे० ओडोलेन स्मेकल, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, चार्ल्स विश्वविद्यालय, प्राग, चेकोस्लोवाकिया।

क० कि० चो० कंवल किशोर चोपड़ा, मार्फत श्रीमती कृष्ण कुमारी चोपड़ा, सहा० रिसर्च ऑफिसर, कौंसिल ऑव स्टेट्स, सचिवालय, पार्लमेंट हाऊस, नई दिल्ली।

क० ना० गु० कमलनाथ गुप्त, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

क० प० त्रि० करुणापति त्रिपाठी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० बु० कामिल बुल्के, एस० जे०, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, राँची।

का० मु० काजी मुईनुद्दीन, डा० नय्यर विला, बदरबाग, अलीगढ़।

कि० चं० च० किरण चंद्र चक्रवर्ती, एम० एस-सी०, भूतपूर्व रीडर, भूभौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कि० दा० वा० किशोरीदास वाजपेयी, हिमालय एजेंसी, कनखल, हरिद्वार।

कृ० दि० कृष्ण दिवाकर, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना।

कृ० प्र० श्री० कृष्ण प्रसाद श्रीवास्तव, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

के० एल० जो० के० एल० जोशी, एम० ए० (लंदन), सचिव, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली।

के० सिं० कर्नल केसरी सिंह, नारायण निवास, जयपुर।

के० सी० श्री० कैलाशचंद्र श्रीवास्तव, एल० एल० एम०, प्राध्यापक
कै० च० श्री० विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

गि० कि० ग० गिरिजा किशोर गहराना, प्राध्यापक, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।

गि० शं० मि० गिरिजाशंकर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

गु० त्रि० गुरुदेव त्रिपाठी, एम० ए०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, बिड़ला इंस्टिट्यूट ऑव आर्ट ऐंड सायंसेज, पिलानी (राजस्थान)।

गु० ना० दु० गुरुनारायण दुबे, एम० एस-सी०, सर्वेक्षण अधीक्षक, सर्वेक्षण विभाग, हैदराबाद, आंध्र।

गो० दा० अ० गोकुल दास अग्रवाल, एम० बी० बी० एस०, विशारद, के ३७/३०, बुलानाला, वाराणसी-१।

गो० ना० च० गोरखनाथ चतुर्वेदी, बी० ए०, ए० बी० एम० एस०, रीडर (काय चिकित्सा), चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

चं० त्रि० चंद्रबली त्रिपाठी, २१ जी सेक्टर, १८ डी, चंडीगढ़, पंजाब।

चं० दी० चंद्रोदय दीक्षित, दीक्षित ब्रदर्स बिल्डिंग, नादान महल रोड, लखनऊ।

चं० भा० पां० चंद्रभान पांडे, डा०, बी ५/६० अवध गर्वी, वाराणसी।

चं० भू० मि० चंद्र भूषण मिश्र, प्रोफेसर, बिड़ला इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी, मेसरा, राँची।

ज० चं० जै० जगदीश चंद्र जैन, प्राकृतिक जैन इंस्टिटयूट, मुजफ्फरपुर, बिहार।

ज० दे० सिं० जयदेव सिंह, विश्राम कुटी, सिद्धिगिरि बाग, वाराणसी-१।

ज० ना० म० जगदीश नारायण मल्लिक, एम० ए०, अध्यक्ष दर्शन विभाग, राजेंद्र कालेज, छपरा।

ज० मि० त्रे० जगदीश मित्र त्रेहन, ऐडिशनल कंसल्टिंग इंजीनियर (रोड्स), रोड्सविंग, मिनिस्ट्री ऑव ट्रैंस्पोर्ट, गवर्नमेंट ऑव इंडिया, ट्रैंसपोर्ट भवन, पार्लियामेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली।

ज० सिं० जगदीश सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जि० ना० वा० जितेंद्र नाथ वाजपेयी, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

जी० के० अ० गोपी कृष्ण अरोड़ा, प्राध्यापक, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

जे० एन० स० जे० एन० सक्सेना, प्राध्यापक, कानून विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

ज्ञा० ना० ज्ञानानंद नागर एम० एड०, एम० पी० डी० के० (यू० एस० ए०), डिप० एड० (लंदन), टीचर्स ट्रेनिंग कालेज (का० हिं० वि० वि०), कमच्छा, वाराणसी।

झा० ओ० झारखंडेय ओझा, बी० ए०, ए० एम० बी० एस०, एच० पी० ए०, डेमांस्ट्रेटर, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी-५।

ता० प्र० सि० तारणी प्रसाद सिन्हा, प्रोफेसर, अनैटोमि विभाग, प्रिंस ऑव वेल्स मेडिकल कालेज, पटना।

त्रि० पं० त्रिलोचन पंत एम० ए०, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

द० कृ० मा० दयाकृष्ण माथुर, एम० एस-सी०, डी० फिल०, (इलाहाबाद), पी-एच० डी० (कैंटब), आचार्य स० ध० राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर, राजस्थान।

द० शं० दु० (स्वर्गीय) दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०, भूतपूर्व प्राध्यापक अर्थशास्त्र, प्रयाग वि० वि०, इलाहाबाद।

द० श० दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

द० सिं० दमड़ी सिंह, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दि० कौ० दिनकर कौशिक, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज ऑव फाइन आर्ट्स, लखनऊ।

दी० चं० (स्व०) दीवान चंद्र, एम० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व वाइसचांसलर, आगरा विश्वविद्यालय, ६३ छावनी, कानपुर।

दु० द० सिं० दुर्गा दत्त सिंह, न्यायिक अधिकारी, देवरिया।

ध० धर्मरत्न, डा० प्रोफेसर, पालि इंस्टिट्यूट, नालंदा, बिहार।

ध० कि० गु० धनवंत किशोर गुप्त, डी० एस-सी०, डिप्टी डाइरेक्टर, फिजिक्स सेल, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी-५।

ध० ना० शा० धर्मेंद्र नाथ शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष संस्कृत हिंदी विभाग डी० ए० वी० कालेज, देहरादून।

ध० वी० धर्मवीर, विकासकुंज, बस्ती शियानगर, ज्वालापुर, सहारनपुर।

धी० ना० सिं० धीरेंद्र नाथ सिंह, रिसर्च स्कालर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

नं० कु० रा० नंद कुमार राय, एम० एस-सी०, संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

न० क० नवरत्न कपूर, पी-एच० डी०, गवर्नमेंट कालेज, पटियाला।

न० कु० नगेंद्र कुमार, बार-ऐट-ला, राजेंद्रनगर, पटना।

न० चं० च० नरेश चंद्र चतुर्वेदी, एम० ए०, लेफ्टिनेंट कर्नल, डिप्टी कमांडेंट, सेंट्रल आर्डिनेंस डिपो, कानपुर।

न० द० मि० नगेंद्र दत्त मिश्र, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, चीफ केमिस्ट, मंड्य० नैशनल पेपर मिल्स लि०, बेलागुला, डाकघर कृष्णराज सागर, जिला मड्या (मैसूर)।

नि० कौ० निर्मला कौशिक, प्राध्यापिका, भूगोल विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

नि० नं० गु० नित्या नंद गुप्त, एम० डी० (मेडिसिन), फिजीशियन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

प० परमानंद, ३६, चैथम लाइंस, इलाहाबाद-२।

प० उ० पद्मा उपाध्याय, प्रिंसिपल, आर्यकन्या पाठशाला, खुरजा।

प० च० परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया।

पा० ना० सिं० पारसनाथ सिंह, देवदत्त कुटीर, बी ४/१७ लालघाट, वाराणसी।

पी० जी० कु० पी० जी० कुब्बुनन, एम० ए०, एल-एल० एम०, प्राध्यापक, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

पु० क० पुष्पा कपूर, एम० ए०, प्राध्यापिका, भूगोल विभाग महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

प्र० चं० गु० प्रकाशचंद्र गुप्त, एम० ए०, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्र० दा० शा० प्रभु दास शाह, एम० एस-सी० (गणित), एम० एस-सी० (भौतिकी), प्राध्यापक श्याम सुंदर अग्रवाल पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, सिहोरा रोड (म० प्र०)।

प्र० ना० मे० प्रकाश नाथ मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० ई० एस० आइ०, एफ० आर० ई० एस०, रीडर एवं अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, राँची कालेज, राँची, बिहार।

प्र० मा० प्रभाकर माचवे, एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक मंत्री, साहित्य अकादमी, रवींद्र भवन, ३५ फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-१।

प्र० व० प्रमिला वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)।

प्र० श्री० प्रमिला श्रीवास्तव, प्राध्यापक, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

प्रि० कु० चौ० प्रिय कुमार चौबे, बी० ए०, ए० बी० एम० एस० डी० पी० पी०, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२।

फ० चं० औ० फकीर चंद्र औलक, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०, एफ० एन० आइ०, प्रोफेसर, भौतिक विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६।

फू० स० व० फूलदेव सहाय वर्मा, एम० एस-सी०, ए० आइ० आइ० एस-सी०, भूतपूर्व प्रोफेसर, औद्योगिक रसायन एवं प्रधानाचार्य, कालेज ऑव टेक्नालोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, संप्रति संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ब० प्र० मि० बलभद्र प्रसाद मिश्र, एम० ए०, ४७।१२, कबीर मार्ग, लखनऊ।

ब० प्र० स० बनारसी प्रसाद सक्सेना, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)।

बी० एल० सा० ब्रजमोहन लाल साहनी, एम० ए०, भूतपूर्व रीडर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

पु० बै० बैजनाथ पुरी, नैशनल एकेडेमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।

ब्र० कि० श० ब्रज किशोर शर्मा, एल० एल० एम०, प्राध्यापक, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

ब्र० मो० या ब्रो० मो० ब्रज मोहन, भूतपूर्व अध्यक्ष, गणित विभाग एवं भूतपूर्व प्रिंसिपल, आर्ट्स कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

ब्र० मो० ला० ब्रजमोहन लाल रिटायर्ड चीफ इंजीनियर, ३३।१७ ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली।

ब्र० र० दा० (स्वर्गीय) ब्रजरत्न दास, बी० ए०, एल-एल० बी०, भूतपूर्व प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, सूड़िया, वाराणसी।

भ० दा० व० भगवान दास वर्मा, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रानिकल, संप्रति विज्ञान सहायक, हिंदी विश्वकोश नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी–१।

भ० प्र० श्री० भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल एल० बी०, एसोशियेट प्रोफेसर, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।

भ० शं० या० (स्व०) भवानी शंकर याज्ञिक, डॉक्टर, ८ शाह-नजफ रोड, हजरतगज, लखनऊ।

भू० कां० रा० भूपेंद्र कांत राय, एम० ए०, रिसर्च ऑफिसर, नेशनल ऐटलस आर्गनाइजेशन, १, लोअर सर्कुलर रोड, कलकत्ता–२०।

भृ० ना० प्र० भृगुनाथ प्रसाद, पी-एच० डी०, रीडर, प्राणि विज्ञान विभाग, सायंस कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी –५।

भृ० ना० सि० भृगुनाथ सिंह, आर० एम० ओ०, स्टेट आयुर्वेदिक कालेज एवं हॉस्पिटल, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

भो० ति० भोलानाथ तिवारी, डॉ० किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली।

मं० म० प० मंजुला मणिभाई पटेल, लेक्चरर, बिड़ला प्लेनेटेरियम, ९६, चौरंगी, कलकत्ता।

म० द० श० महेश्वर दयालु शर्मा, सहायक उपशिक्षानिदेशक, शिक्षानिदेशक कार्यालय, इलाहाबाद।

म० ना० गु० मन्मथनाथ गुप्त, भूतपूर्व संपादक, 'आजकल' पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली।

म० ना० मे० महाराज नारायण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, एफ० जी० एम० एस०, रीडर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

म० ना० व० महेंद्र नारायण वर्मा, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, सायंस कालेज, पटना–५।

म० प्र० म० महेंद्रप्रताप मदन, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०, एस० एम० आर० आर० ई०, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

म० प्र० श० महादेव प्रसाद शर्मा, सागर-विश्वविद्यालय, सागर।

म० ला० द्वि० मनोहर लाल द्विवेदी, साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय। वाराणसी।

म० ला० श० (स्वर्गीय) मथुरा लाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्, प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मि० चं० पां० मिथिलेश चंद्र पांड्या, एम० ए०, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, हिंदू पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अमरोहा (मुरादाबाद)।

मि० च० मिल्टन चरण, बी० ए०, भारतीय मसीही सुधार समाज, एस १७।३८ राजाबाजार, वाराणसी।

मु० मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, साहित्यादि संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

मु० उ० ✓ मुहम्मद उमर, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, रूरल इंस्टिट्यूट, जामिया मिलिया, नई दिल्ली।

मु० चौ० मुनि चौबे

मु० रा० मुद्राराक्षस, एम० ए० (ऑनर्स), सोनेगांव, लखनऊ।

मु० ला० श० मुरारी लाल शर्मा, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, विद्यावारिधि, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मु० व० मि० मुहम्मद वहीद मिर्जा, भूतपूर्व प्रोफेसर अरबी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रधान संपादक, उर्दू इस्लामी विश्वकोष, पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर।

मु० शु० मुक्ता शुक्ल, एम० ए०, आकाशवाणी, सारनाथ, लखनऊ।

मु० स्व० व० मुकुंद स्वरूप वर्मा, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल ऑफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदूविश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

मु० ह० मुहम्मद हबीब, बी० ए०, डी० लिट्०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास तथा राजनीति विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

य० रा० मे० यशवंत राव मेहता, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (यू० एस० ए०) एसोशियेट आइ० ए० आर० आइ०, इकोनामिक बोटैनिस्ट, उ० प्र०, कानपुर।

या० द० यादवेंद्र दत्त दुबे, एम० एल० ए०, राजा साहब, जौनपुर।

र० उ० रत्नाकर उपाध्याय, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, गवर्नमेंट इंटर कालेज, शाहाबाद, रामपुर।

र० कां० पां० रमा कांत पांडेय, एम० एस-सी०, प्रथर छात्रावास, काशी हिंदूविश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

र० कु० मि० — रमेश कुमार मिश्र, विधि विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

र० कु० वां० — रमेश कुमार वांगिया, ला कॉलेज, चंडीगढ़।

र० ग० या र० चं० ग० — रमेश चंद्र गर्ग, सहायक शिक्षा अधिकारी (चिकित्सा), यू० जी० सी० भवन (शिक्षा मंत्रालय), नई दिल्ली।

र० चं० क० — रमेश चंद्र कपूर, डी० एस सी०, डी० फिल०, प्रोफेसर रसायन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)।

र० ं० ति० — रमेश चंद्र तिवारी, एम० ए०, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

र० ज० — रजिया सज्जाद जहीर, एम० ए०, भूतपूर्व लेक्चरर उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

र० ना० श० — रमानाथ शर्मा, एम० ए०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

र० शं० द्वि० — रमा शंकर द्विवेदी, प्रध्यापक, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

र० शं० सिं० — रमा शंकर सिंह, पी-एच० डी०, रीडर भौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

र० श० श० — रघुराज शरण शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, पेडागॉगिकल इंस्टिट्यूट, इलाहाबाद।

र० शु० — रमापति शुक्ल, शिक्षा संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

र० स० — रमातोष सरकार, एम० एस-सी० (कलकत्ता), प्राध्यापक, बिड़ला प्लेनेटेरियम, ९६, चौरंगी रोड, कलकत्ता–१६।

र० सिं० — रमा सिंह डॉ०, रतनाडा, जोधपुर।

रा० अ० द्वि० — राम अवध द्विवेदी, एम० ए०, डी० लिट्०, एमेरिटस प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

रा० क० अं० या रा० श्या० अं० — राधेश्याम अंबष्ट, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० बी० एस०, प्राध्यापक, वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

रा० कु० अ० — राजकुमारी अग्रवाल, द्वारा श्री सुरेंद्र कुमार अग्रवाल,

रा० कु० — राम कुमार, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर गणित तथा अध्यक्ष, अनुप्रयुक्त गणित विभाग, मोतीलाल नेहरू इंजीनियरिंग कालेज, इलाहाबाद।

रा० कु० ग० — राम कुमार गर्ग, प्रोफेसर, इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, भागलपुर इंजीनियरिंग कालेज, भागलपुर, बिहार।

रा० कृ० भा० — राम कृष्ण भान, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रिंसिपल, हस्तिनापुर कालेज, मोती बाग, नई दिल्ली।

रा० चं० नि० — रामचंद्र निगम, असिस्टेंट प्रोफेसर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० चं० पां० — रामचंद्र पांडेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, व्याकरणाचार्य, बौद्ध दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० च० मे० — रामचरण मेहरोत्रा, रसायन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

रा० चं० शु० — राम चंद्र शुक्ल, एम० डी०, प्रोफेसर फिजियालोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

रा० चं० शु० — रामचंद्र शुक्ल, लेक्चरर, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, वाराणसी।

रा० चं० स० — राम चंद्र सक्सेना, भूतपूर्व प्राध्यापक, प्राणि विज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

रा० चं० सि० — राम चंद्र सिन्हा, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जिओलाजी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

रा० दा० ति० — रामदास तिवारी, एम० एस-सी०, डी० फिल०, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० फे० त्रि० — राम फेर त्रिपाठी, एम० ए०, शोधछात्र, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० द्वि० — (स्वर्गीय) रामाज्ञा द्विवेदी, एम० ए०, बंगला नं० ४००, उ० पू० रेलवे कालोनी, गोरखपुर।

रा० ना० — राजेंद्र नागर, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० प्र० सिं० — राजेंद्र प्रसाद सिंह, एम० ए०, शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

राम० पां० — रामबली पांडेय, एम० ए०, डी० ए० बी० कालेज वाराणसी।

रा० शं० भ० — रामशंकर भट्टाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, अनुसंधान सहायक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।

रा० स० ख० — राम सहाय खरे, एम० ए०, अध्यापक, रामकृष्ण विद्यामंदिर हाई स्कूल, सिद्धिगिरि बाग, वाराणसी।

रा० सु० — रामनाथ, सुब्रह्मण्यम्, एम० ए०, एफ० आर० सी० (लंदन), सहायक क्यूरेटर, बिड़ला प्लेनेटेरियम, कलकत्ता-१६।

रा० सु० त्रि० — रामसुरेश त्रिपाठी, प्रोफेसर संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

रा० सिं० नौ० — रामस्वरूप सिंह नौलखा, अध्यक्ष दर्शन विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

रा० सु० सिं० — राम सुशील सिंह, रीडर, पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टिट्यूट ऑव इंडियन मेडिसिन मेडिकल कालेज ऑव, सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५।

ल० शं० वि० गु० लक्ष्मी शंकर विश्वनाथ गुरु, एम० ए०, ए० एम० एस०, सदस्य चिकित्सा परामर्शदात्री समिति, वैज्ञानिक एवं तकनीकी आयोग, शिक्षा-मंत्रालय, भारत सरकार, प्राध्यापक, स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

ल० शं० व्या० लक्ष्मी शंकर व्यास, एम० ए०, सहायक संपादक 'आज' दैनिक, वाराणसी।

ला० शु० लाल जी शुक्ल, डॉ० धनमंजरी डिग्री कालेज, इंफाल।

वि० ना० विश्वनाथ, एम० ए०, डाइरेक्टर, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली।

वि० त्रि० या
वि० ना० त्रि० विश्वनाथ त्रिपाठी, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

वि० ना० सिं० विश्वनाथ सिंह, एम० एम-सी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी-५।

वि० पां० विवेकानंद पांडेय, ए० बी० एम० एस०, डी० ए० वाई० एम०, क्लिनिकल रजिस्ट्रार, पी० जी० आई० एम०, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

वि० पा० या
विशु० पा० विशुद्धानंद पाठक, इतिहास विभाग, का० हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

वि० प्र० गु० विश्वंभर प्रसाद गुप्त, ए० एम० आइ० ई० कार्य-पालक इंजीनियर, सी० पी० डब्ल्यू० डी०, ७६ लूकरगंज, इलाहाबाद।

वि० प्र० व० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, राजनीति विभाग, पटना कालेज, पटना।

वि० मु० विभा मुकर्जी, प्राध्यापक, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

वि० शं० झा० विनोदशंकर झा, एम० एस-सी०, प्राध्यापक जंतु विज्ञान विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची (बिहार)।

वि० शं० म० विजयशंकर मल्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्याल, वाराणसी-५।

वि० श० पा० विश्वंभर शरण पाठक, सागर विश्वविद्यालय, सागर, म० प्र०।

वि० सा० दु० विद्या सागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, जियोलॉजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, कंसल्टिंग जियोलॉजिस्ट ऐंड माइंस ओनर, वसुंधरा, रवींद्रपुरी, वाराणसी।

वे० प्र० वेद प्रकाश, उपसलाहकार, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

ब्र० र० दा० दे० ब्रज रत्न दास।

श० गु० या
श० रा० गु० शचीरानी गुर्टू, एम० ए०, फैजबाजार, दरियागंज, दिल्ली।

श० ना० रा० शरद् नारायण रानडे, एम० ए० (अर्थशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र), प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, सेंट्रल हिंदू कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, सेकंड लेफ्टि० यू० पी० राइफल्स बटालियन एन० सी० सी०।

शां० ना० म० शांति नारायण महादेवन, आचार्य, हंसराज कालेज, दिल्ली-६।

शां० प्र० रो० शांतिप्रकाश रोहतगी, एम० ए०, लेक्चरर, गाइड कुतुब, मेहरौली, दिल्ली।

शां० ला० का० शांति लाल कायस्थ, रीडर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

शि० कु० गु० शिव कुमार गुप्त, प्राध्यापक, क्षेत्रीय शिक्षण महाविद्यालय क्षे० भ० भूपाल (म० प्र०)।

शि० गो० मि० शिव गोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, डी० फिल०, साहित्यरत्न, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

शि० ना० प्र० शिव नाथ प्रसाद, सेंट्रल राइस रिसर्च इंस्टिट्यूट, कटक, उड़ीसा।

शि० मो० व० शिव मोहन वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्व विद्यालय वाराणसी-५।

शि० ना० का० शिवनाथ काटजू, जज, हाईकोर्ट, इलाहाबाद।

शि० श० शिवानंद शर्मा, अध्यक्ष दर्शन विभाग, सेंट एंड्रूज कालेज, गोरखपुर।

शि० शं० मि० शिव शरण मिश्र, एम० डी०, एफ० आर० सी० आई० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मेडिसिन विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

शु० ते० शुभदा तेलंग, एम० ए०, प्रिंसिपल, बसंत महिला कालेज, राजघाट, वाराणसी।

शु० प्र० मि० शुद्धोदन प्रसाद मिश्र, एम-एस० सी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

श्या० ति० श्याम तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०, पूर्वकालिक संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्या० स्व० ज० श्याम स्वरूप जलोटा, एम० ए०, डी० फिल्, अध्यक्ष, मनोविज्ञान एवं दर्शन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

श्र० कु० ति० श्रवण कुमार तिवारी, स्पेक्ट्रोस्कोपी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

उ० मि० श्री उमेश मिश्र, तीर भुक्ति, एलनगंज, इलाहाबाद।
श्री दा० सा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डी० लिट्, महामहोपाध्याय, अध्यक्ष, स्वाध्याय मंडल, पारडी, जिला सूरत।
श्री० ना० सिं० श्री नारायण सिंह, एम० ए० शोध छात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।
श्री० पां० श्रीशचंद्र पांडेय, अहरौरा, जिला मिर्जापुर।
श्रीना० मे० श्रीनारायण मेहरोत्रा, सहायक अध्यापक, गणित, बिहार इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नालोजी, सिंदरी (धनबाद), बिहार।
श्रीरा० शु० श्रीराम शुक्ल, अवकाशप्राप्त डिप्टी डाइरेक्टर, हार्टीकल्चर, ४७, ईदगाह कालोनी, आगरा।
स० सलामतुल्ला, प्रिंसिपल, कामर्स कालेज, जामिया मिलिया इस्लामिया, जामियानगर, नई दिल्ली-२५।
स० चं० सतीश चंद्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, इतिहास विभाग, जयपुर विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)।
स० चं० पां० देखो रा० चं० पा०
स० पा० गु० सत्य पाल गुप्ता, एम० बी० बी० एस०, एफ० आर० सी० एस० (एडिन), डी० ओ० एम एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, नेत्र विज्ञान विभाग, चीफ आई सर्जन, मेडिकल कालेज लखनऊ।
स० मो० मु० सत्याणु मोहन मुखोपाध्याय, बी० २।१५६, मदैनी, वाराणसी।
स० व० सत्येंद्र वर्मा, पी-एच० डी० (लंदन), डिप्टी सुपरिटेंडेंट, डिपार्टमेंट ऑव प्लैनिंग एंड डेवलपमेंट, फर्टिलाइजर कारपोरेशन, सिंदरी (धनबाद) बिहार।
स० वा० कु० सरोजिनी वार्ष्णेय, प्रिंसिपल, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।
स० सिं० ढ० सरदार सिंह ढबरिया, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।
सी० च० सीताराम चतुर्वेदी, ६३।४२, उत्तर बेनिया बाग, वाराणसी — १
सी० रा० मे० सीताराम मेहरा, एम० आइ० बी० ई०, एम० आइ० ई०, एफ० एन० आइ०, निदेशक, सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली।
सु० अ० सुबोध अदावल, एम० ए०, एम० एड०, डी० फिल०, शिक्षा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
सु० अ० सुरेश अवस्थी, डा०, सचिव, संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली।
सु० कु० अ० सुरेंद्र कुमार अग्रवाल, असिस्टेंट प्रोफेसर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सु० चं० गौ० सुरेश चंद्र गौड़, गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कालेज, रायपुर, मध्य प्रदेश।
सु० चं० श० या सु० चं० श० सुरेश चंद्र शर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० अध्यक्ष, भूगोल विभाग, एम० एल० के० डिग्री कालेज, बलरामपुर (गोंडा), उत्तरप्रदेश।
सु० नं० प्र० सुरेश नंदन प्रसाद, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, पटना कालेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
सु० ना० द्वि० सुरेंद्र नाथ द्विवेदी, जज, हाईकोर्ट, इलाहाबाद।
सु० ना० शा० सुरेंद्रनाथ शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, चारु निवास, ज्ञानपुर, वाराणसी।
सु० वै० (कु०) सुशीला वैद्य, द्वारा डा० कु० के० वैद्य, लेडी एल्गिन हॉस्पिटल कंपाउंड, जबलपुर (म० प्र०)।
सु० सिं० सुरेश सिंह, कुँवर, एम० एल० सी०, कालाकाँकर, प्रतापगढ़, उ० प्र०।
सू० कु० सूर्य कुमार, एल-एल० एम०, प्रवक्ता, विधि संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सै० अ० अ० रि० सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, एम० ए०, पी-एच० डी०, छतरीवाली कोठी, ५ केलानगर, अलीगढ़।
सो० चौ० सोमनाथ चौबे, अवकाशप्राप्त अध्यापक, सेंट्रल हिंदू स्कूल, बैजनत्था, कमच्छा, वाराणसी।
स्वा० गो० वे० स्वामी गोविंदानंद वेदांताचार्य, वेदमंदिर, काँकरिया रोड, अहमदाबाद।
स्व० मो० शा० स्वरूपचंद्र मोहनलाल शाह, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० (लंदन), एफ० एन० आइ०, एफ० ए० एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
स्वा० गं० स्वामी गंगेश्वरानंद, वेदमंदिर, काँकरिया रोड, अहमदाबाद।
हं० रा० गु० हंसराज गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० एन० आइ०, बलराम हाउस, इलाहाबाद-२।
ह० चं० गु० हरिश्चंद्र गुप्त, एम० एस सी० पी-एच० डी० (आगरा, मैनचेस्टर), रीडर, गणितीय सांख्यिकी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
ह० दे० वे० हरिदत्त वेदालंकार एम० ए० अधीक्षक, काँगड़ी संग्रहालय, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार।
ह० बा० हरदेव बाहरी, एम० ए०, एम० ओ० एल०, शास्त्री, पी-एच० डी०, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।
ही० जै० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्, अध्यक्ष संस्कृत, पालि तथा प्राकृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।
हृ० ना० मि० हृदयनारायण मिश्र, दर्शन विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश; अथर्ववेद; अध्याय
अ० कां०	अरण्यकांड (रामायण)
अथर्व०	अथर्ववेद
अधि०	अधिकरण
अनु०	अनुवादक, अनुशासनपर्व,
अयो०	अयोध्याकांड (रामायण)
आं० प्र०	आंध्र प्रदेश
आ० घ०, या आपे० घ०	आपेक्षिक घनत्व
आ० श्रौ० सू०	आपस्तंब श्रौतसूत्र
आई० ए० एस०	इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस
आई० सी० एस०	इंडियन सिविल सर्विस
आदि०, आ० प०	आदिपर्व (महाभारत)
आय०	आयतन
आर्कि० स० रि०	रिपोर्ट्स ऑव दि आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया
आश्व०	आश्वलायन
इंट्रो०	इंट्रोडक्शन
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश
उत्तर०	उत्तरकांड
उदा०	उदाहरण
उद्यो०; उद्योग०	उद्योगपर्व (महाभारत)
ऋ०	ऋग्वेद
ए० आई० आर०	आल इंडिया रिपोर्टर
ए० इं०; एपि० इं०	एपिग्राफिया इंडिका
एक०	एकवचन
ऐं०	ऐंग्स्ट्रॉम
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० प०; कर्ण०	कर्णपर्व (महाभारत)
का०	कारिका
काम०	कामंदकीय नीतिसार; कामशास्त्र
काव्या०	काव्यालंकार
कि० ग्राम, या किग्रा०	किलोग्राम
कि० मी०, या किमी०	किलोमीटर
कु० सं०	कुमारसंभव
क्र० सं०	क्रमसंख्या
क्व०	क्वथनांक
गा०	गाथा
ग्रा०	ग्राम
छांदो०	छांदोग्य उपनिषद्

ज०; ज० सं०	जन्म; जन्म संवत्
जि०	जिला, जिल्द
जे० पी० टी० एस०	जर्नल ऑव दि पालि टेक्स्ट सोसायटी
डॉ०	डॉक्टर
तांड्य ब्रा०	तांड्य ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्ति०	तैत्तिरीय
द०	दक्षिण
दी०	दीपवंश
दी० नि०	दीघनिकाय
दे०	देखिए; देशांतर
द्रो० प०, द्रोण०	द्रोणपर्व
ध०	धम्मपद
ना० प्र० प०	नागरीप्रचारिणी पत्रिका
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
नि०	निरुक्त
पं०	पंजाबी; पंडित
प०	पट्टाण; पर्व; पश्चिम; पश्चिमी
पद्म०	पद्मपुराण
पु०	पुराण
पू०	पूर्व
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रकाशक
प्रक०	प्रकरण
प्रो०	प्रोफेसर
फा०	फारेनहाइट
बा०	बालकांड (रामायण)
बाज० सं०	बाजसनेयी संहिता
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रा०	ब्राह्मण
भा० ज्यो०	भारतीय ज्योतिष
भाग०	श्रीमद्भागवत
भी० प०	भीष्मपर्व
म० भा०; महा०	महाभारत; महावंश
म० म०	महामहोपाध्याय
म० मी०	महाभारत मीमांसा
मत्स्य०	मत्स्य पुराण
मनु०	मनुस्मृति
महा० प्रा०	महाराष्ट्री प्राकृत
मिता० टी०	मिताक्षरा टीका

मिग्रा०	मिलिग्राम	शांति०	शांतिपर्व
मिमी०	मिलीमीटर	शौ० प्रा०	शौरसेनी प्राकृत
मी०	मील, मीटर	श्रीमद्भा०	श्रीमद्भागवत
मे० सा०	मेगासाइकिल	श्लो०	श्लोक
म्यू०	माइक्रॉन	सं०,	संख्या, संपादक, संवत्, संस्करण, संस्कृत संहिता
याज्ञ०; याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति		
र० का० सं०	रचनाकाल संवत्	सं० ग्रं०	संदर्भ ग्रंथ
रघु०	रघुवंश	सस्क०	संस्करण
राज०, रा० त०	राजतरंगिणी	स० ग० स०	सेंटीग्रेड, ग्राम, सेकंड पद्धति
ल०, लग०	लगभग	स० प०; सभा०	सभापर्व (महाभारत)
ला०	लाला	साइकॉ०	साइकॉलोजी
ली०	लीटर	सुंदर०	सुंदरकांड
वन०; व० प०	वनपर्व (महाभारत)	सें०	सेंटीग्रेड
वा० रा०	वाल्मीकीय रामायण	सेंमी०	सेंटीमीटर
वायु०	वायुपुराण	से०	सेकंड
वि०, वि० सं०	विक्रमी संवत्	स्कंद	स्कंदपुराण
वि० पु०	विष्णु पुराण	स्व०	स्वर्गीय
विनय०	विनयपत्रिका	ह०	हनुमानबाहुक, हरिवंशपुराण
वै० इं०	वैदिक इंडेक्स	हिं०	हिंदी
श०, शत०, श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण	हिं० वि० को०	हिंदी विश्वकोश
श०	शती	हि०	हिजरी; हिमांक
शल्य०	शल्यपर्व	हिस्टॉ०	हिस्टॉरिकल

फलक सूची

तत्वों की संकेतसूची

संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम
अ	Am	अमरीकियम	ट$_{क}$	Tc	टेक्नीशियम	मो	Mo	मोलिब्डेनम
आ$_{इ}$	En	आइंस्टियम	टे$_{ल}$	Te	टेल्यूरियम	य	Zn	यशद
औ	O	ऑक्सीजन	टै	Ta	टैंटेलम	यू	U	यूरेनियम
आ	I	आयोडीन	डि	Dy	डिस्प्रोशियम	यू$_{र}$	Eu	यूरोपियम
आ$_{ग}$	A	आर्गन	ता	Cu	ताम्र	र	Ag	रजत
आ$_{र}$	As	आर्सेनिक	थू	Tm	थूलियम	रु$_{थ}$	Ru	रुथेनियम
आ$_{स}$	Os	ऑस्मियम	थै	Tl	थैलियम	रु$_{ब}$	Rb	रुबिडियम
इं$_{ड}$	In	इंडियम	थो	Th	थोरियम	रे$_{ड}$	Rn	रेडॉन
इ$_{ब}$	Yb	इटर्बियम	ना	N	नाइट्रोजन	रे	Ra	रेडियम
इ$_{ट्र}$	Y	इट्रियम	नि$_{ब}$	Nb	नियोबियम	रे$_{न}$	Re	रेनियम
इ	Ir	इरीडियम	नि	Ni	निकल	रो	Rh	रोडियम
ए$_{ब}$	Eb	एर्बियम	नी	Ne	नीऑन	लि	Li	लिथियम
ऐं$_{ट}$	Sb	ऐंटिमनी	ने$_{प}$	Np	नेप्च्यूनियम	लै	La	लैथेनम
ऐ$_{क्ट}$	Ac	ऐक्टिनियम	न्यो	Nd	न्योडियम	लो	Fe	लोह
ऐ	Al	ऐलुमिनियम	पा	Hg	पारद	ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम
ऐ$_{स}$	At	ऐस्टैटीन	पै	Pd	पैलेडियम	वं	Sn	वंग
का	C	कार्बन	पो	K	पोटैशियम	वै	V	वैनेडियम
कै$_{ड}$	Cd	कैडमियम	पो$_{ल}$	Po	पोलोनियम	स	Sm	समेरियम
कै$_{फ}$	Cf	कैलिफोर्नियम	प्रे	Pr	प्रेजिओडिमियम	सि	Si	सिलिकन
कै	Ca	कैल्सियम	प्रो$_{ट}$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	सि$_{ल}$	Se	सिलीनियम
को	Co	कोबाल्ट	प्रो$_{म}$	Pm	प्रोमीथियम	सी$_{ज}$	Cs	सीज़ियम
क्यू	Cm	क्यूरियम	प्लू	Pu	प्लूटोनियम	सी$_{र}$	Ce	सीरियम
क्रि	Kr	क्रिप्टॉन	प्लै	Pt	प्लैटिनम	सी	Pb	सीस
क्रो	Cr	क्रोमियम	फा	P	फॉस्फोरस	सें	Ct	सेंटियम
क्लो	Cl	क्लोरीन	फ्रा	Fr	फ्रांमियम	सो	Na	सोडियम
गं	S	गंधक	फ्लो	F	फ्लोरीन	स्कैं	Sc	स्कैंडियम
गै$_{ड}$	Gd	गैडोलिनियम	ब	Bk	बर्केलियम	स्ट्रौ	Sr	स्ट्रौंशियम
गै	Ga	गैलियम	बि	Bi	बिस्मथ	स्व	Au	स्वर्ण
ज$_{र}$	Zr	जर्कोनियम	बे	Ba	बेरियम	हा	H	हाइड्रोजन
ज$_{म}$	Ge	जर्मेनियम	बे$_{र}$	Be	बेरीलियम	ही	He	हीलियम
ज़ी	Xe	ज़ीनान	बो	B	बोरन			
टं	W	टंग्स्टन	ब्रो	Br	ब्रोमीन			
			मू	R	मूलक (रैडिकल)			
ट$_{र}$	Tb	टर्बियम	मैं	Mn	मैंगनीज़	है	Hf	हैफ़्नियम
टा$_{इ}$	Ti	टाइटेनियम	मै$_{ग}$	Mg	मैग्नीशियम	हो	Ho	होल्मियम

हिंदी विश्वकोश

खंड ११

विद्युतीकरण, ग्रामों का (Rural Electrification) आजकल विद्युत् का उपयोग बहुत सामान्य हो गया है। पहले इसका उपयोग नगरों तक ही सीमित था, पर अब ग्राम भी इसमे पीछे नही रहे हैं। प्रकाश और सिंचाई के अतिरिक्त आटे की चक्की, धान कूटने की मशीन, तेल पेरने की मशीन तथा दूसरे अनेक ग्रामीण उद्योगों के लिये विद्युत् मशीनो का उपयोग अधिकाधिक हो रहा है। शक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विद्युत् ही सबसे सामान्य तथा सुगम साधन आज समझा जाता है।

ग्रामों के विद्युतीकरण से अनेक लाभ हैं। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहाँ ८५ प्रति शत आबादी ग्रामो मे रहती है, देश की प्रगति के लिये ग्रामीण क्षेत्रों की प्रगति आवश्यक है। प्रगति के लिये खेत की उपज बढाना और उद्योग धधों का चलाना आवश्यक है। कुएँ से पानी निकालने, अथवा नदी नालों आदि से पानी उलीचने, के लिये विद्युत् पंप काम मे लाया जा सकता है। विद्युत् मोटरों से मशीनें चलाकर उद्योग धधे बढाए जा सकते है। डेयरी व्यवसाय में विद्युत् का उपयोग महत्वपूर्ण योग दे सकता है। कृषि की बहुत सी मशीनें विद्युत् मोटरों द्वारा चलाई जा सकती हैं।

ग्रामीण क्षेत्रो में प्रकाश के अतिरिक्त, विद्युत् का सबसे बड़ा उपयोग सिंचाई के लिये है। जहाँ सिंचाई के प्राकृतिक साधन उपलब्ध नही हैं, वहाँ बिजली पंप से कुएँ से, या नदी नाले से, पानी उठाया जा सकता है। अमरीका तथा अन्य उन्नत देशो मे फसल को सुखाने, दाना अलग करने तथा उसे एलिवेटर द्वारा भंडार मे रखने के लिये भी विद्युत् काम आती है। अनेक देशो मे जोतने तथा फसल काटने की मशीनें भी विद्युत् मोटरों द्वारा चलाई जाती है। दूध निकालने तथा मक्खन बनाने के लिये विद्युत् मशीनो का उपयोग किया जाता है। आज अनेक कुटीर उद्योगों मे भी विद्युत् मशीनो का उपयोग किया जा रहा है।

अभी तक भारत मे ग्रामों का विकास अधिक नही हुआ है। सिंचाई के लिये ही आज विद्युत् की इतनी माँग है कि हमारी शक्ति की आवश्यकताएँ पूरी नही होती। आटे की चक्की, धान कूटने की मशीन, आरा मशीन, तेल के कोल्हू इत्यादि मे विद्युत् मोटरों का उपयोग अब सामान्य होता जा रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत् की माँग इतनी बढती जा रही है कि उसकी पूर्ति एक समस्या बन गई है।

प्राविधिक दृष्टिकोण से ग्रामों में विद्युत् भार कम तथा इधर उधर बिखरे होते है। एक सामान्य ग्राम मे शायद ४ या ५ किलोवाट का प्रकाश भार तथा लगभग इतना ही औद्योगिक भार होने की संभावना हो सकती है। साधारणतया, लगभग ३-५ अश्वशक्ति के दो या तीन पंप सिंचाई के लिये होंगे और हो सकता है, एक आटे की चक्की अथवा ऐसी ही किसी दूसरी मशीन का औद्योगिक भार हो। इतना कम भार संभरण करने के लिये, सामान्यतः, विद्युत् लाइन का बनाना आर्थिक रूप से उचित नहीं होता। यही कारण है कि ग्रामों के विद्युतीकरण की समस्या, वस्तुत, एक आर्थिक समस्या बन गई है। एक ओर तो सब यह चाहते हैं कि सभी ग्राम विद्युत् से जगमगा उठें। दूसरी ओर जब मूल्यांकन करके प्रति यूनिट मूल्य निकाला जाता है, तब वह इतना अधिक होता है कि साधारण व्यक्ति की पहुँच के बाहर हो जाता है। इस आधार पर विद्युतीकरण संभव नही हो पाता। सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलने पर भी उसका आर्थिक औचित्य गहरे विवाद का विषय है। ग्रामों के विद्युतीकरण में बचत करने के लिये, लाइनों की संरचना में सामान्य मानक आधारो के स्थान पर सस्ते उपकरण प्रयोग कर, तथा और भी दूसरे उपायो से, लाइनों के मूल्य में कमी करने का प्रयत्न किया गया है। ये लाइनें, साधारणतया ११ कि० वो० की होती हैं। इन्हें उपचारित लकडी के पोलों पर ले जाया जाता है। जहाँ लंबे पोल उपलब्ध नहीं होते, वहाँ छोटे पोलों को संयुक्त करके काम चला लिया जाता है। ग्रामीण उपकेंद्र (substation) भी साधारणतया पोलो पर आरोपित परिणामित्र (transformer) मात्र ही होता है। १० कि० वो० ऐ० (K. V. A.) तक के एक-कलीय परिणामित्र तो एक ही पोल पर आरोपित किए जा सकते है। बडे परिणामित्र को (२५ कि० वो० ऐं० तक) द्वि-पोल संरचना पर आरोपित किया जा सकता है। औद्योगिक शक्ति की आवश्यकता मुख्यत. सिंचाई के पंप मे होती है। ये खेतो मे दूर दूर स्थित होते हैं। उन्हें अलग उपकेंद्र से विद्युत् संभरण दिया जाता है।

लाइन संरचना में बचत करने पर भी अभी तक यह संभव नहीं हो पाया है कि ग्रामीण विद्युतीकरण आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बन सके। वस्तुत. पारंपरिक संभरण विधियो के स्थान पर ऐसी संभरण विधि को विकसित करने की आवश्यकता है जो आर्थिक दृष्टि से इस समस्या को सुलझा सके। इस विषय मे एक महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि केवल एक कला एक तार लाइन द्वारा ही संभरण करना प्राविधिक दृष्टिकोण से संभव है। ऐसे तंत्र से, वर्तमान त्रिप्रावस्था तंत्र की अपेक्षा, पर्याप्त बचत की जा सकती है। संगणना के आधार पर इस तंत्र द्वारा विद्युतीकरण, सामान्य

त्रिप्रावस्था तंत्र की अपेक्षा आधे मूल्य पर किया जा सकता है। इस तंत्र पर प्रयोग किए जा रहे है। आस्ट्रेलिया एवं कैनाडा में दूरस्थ छोटे छोटे भागों का संभरण करने के लिये इस तंत्र का प्रयोग किया गया है और भारत में भी प्रायोगिक लाइनें बनाई गई है।

इस तंत्र में विद्युत् का संभरण सामान्य वोल्टता से √३ गुणा अधिक पर किया जाता है। परंतु केवल पारेषण ही एक तार, भूमि वापसी लाइन द्वारा किया जाता है।

विभाजन तंत्र में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता और उपभोक्ताओं के प्रतिष्ठापन (installation) ठीक वर्तमान पद्धति के अनुसार ही रहते हैं। एककलीय संभरण की सबसे बड़ी समस्या, औद्योगिक भारों के संभरण की है। एककलीय मोटर, त्रिकलीय (triphase) मोटरों की अपेक्षा मँहगे होते है और उनकी दक्षता तथा सामान्य निष्पादन भी उतना अच्छा नहीं होता। त्रिकलीय मोटरों को एककलीय संभरण से संभरण करने के विषय में पर्याप्त शोध हो चुका है। एककला में संधारित्र (condenser) तथा स्वपरिणामित्र (auto-transformer) के प्रयोग से, त्रिकलीय मोटरों को एककलीय संभरण पर भी लगभग पूर्ण क्षमता एवं निष्पादन पर प्रवर्तित कराया जा सकता है। इस विधि से मोटर ठीक त्रिकलीय मोटर की भाँति एक संतुलित भार के रूप में ही प्रवर्तन करती है, यद्यपि इसे एककलीय संभरण से संभरण किया जाता है। त्रिकलीय मोटरों में इस प्रकार एककला पर प्रवर्तन संभव होने के कारण, एककलीय, एकल तार लाइन तंत्र की उपयोगिता और ग्राम के विद्युतीकरण के आर्थिक औचित्य की संभावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं।

भारत में ग्रामों का विद्युतीकरण तीव्रता से हो रहा है और पंचवर्षीय योजनाओं में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में लगभग ६ लाख ग्राम है, जिनकी जनसंख्या ५,००० से कम है। उनमें से अभी तक केवल १५,००० ग्रामों में ही, जो कुल का लगभग ४ प्रति शत है, बिजली पहुँच सकी है। दूसरे देशों की तुलना में भारत के ग्रामीण विद्युतीकरण की स्थिति निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट हो जायगी.

देश	कुल का प्रति शत
१ स्विट्जरलैंड	१००
२ इटली	९५
३ फ्रांस	९१
४ जापान	९०
५ डेनमार्क	८५
६ न्यूज़ीलैंड	६६
७ स्वीडन	६५
८ भारत	४०

यद्यपि रूस के आँकड़े प्राप्य नहीं हैं, तथापि वहाँ पर ग्रामों का विद्युतीकरण शीघ्रता से हो रहा है। वहाँ के सहकारी फार्मों में अधिकांश व्यवस्था का विद्युतीकरण किया जा रहा है, यहाँ तक कि हल चलाने के लिये विद्युत् मशीनें काम में लाई जा रही हैं, जिन्हें ऊपरी लाइनों से ट्रेलिंग केबिल (trailing cable) द्वारा विद्युत् संभरण किया जाता है। रूस तथा अमरीका में विद्युत् का एक नया प्रयोग किया जा रहा है। इसमें खेत की मिट्टी को गरम करके बीजों को शीघ्रता से अंकुरित किया जाता है। उसके बाद उचित ताप नियंत्रण द्वारा उनकी वृद्धि भी त्वरित की जाती है। मिट्टी गरम करने के लिये एक विशेष प्रकार के केबिल को मिट्टी में दबाकर उसमें से धारा प्रवाहित की जाती है, जिससे उसमें उत्पन्न होनेवाली ऊष्मा आस पास की मिट्टी को गरम कर सके। बहुत से स्थानों में भूसा सुखाने के लिये धूप पर निर्भर न रहकर विद्युत् का उपयोग किया जाता है। फसल भी समय से पहले तैयार की जा सकती हैं और वर्ष में तीन फसलें सुगमता से उगाई जा सकती हैं।

विद्युतीकरण, ग्रामीण प्रगति में महत्वपूर्ण योग दे सकता है। ग्रामीण विद्युतीकरण, वस्तुतः, 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' उद्योग है और इसे इसी दृष्टिकोण से देखना उचित होगा, केवल आर्थिक औचित्य के दृष्टिकोण से नहीं। ग्रामीण विद्युतन का तात्पर्य है ग्रामों का विकास, जिसपर किसी भी देश की प्रगति निर्भर करती है।

[रा० कु० ग०]

विद्युत्कर्षण (Electric Traction) रेल, ट्राम अथवा अन्य किसी प्रकार की गाड़ी को खींचने के लिये, विद्युत् शक्ति का उपयोग करने की विधि को विद्युत् कर्षण कहते है। इस क्षेत्र में, वाष्प इंजन तथा अन्य दूसरे प्रकार के इंजन ही सामान्य रूप से प्रयोग किए जाते रहे है। विद्युत् शक्ति का कर्षण के लिये प्रयोग सापेक्षतया नवीन है और मुख्यतः पिछले ६० वर्षों में ही विकसित हुआ है। परंतु अपनी विशेष सुविधाओं के कारण, इसका प्रयोग बढ़ता जा रहा है और धीरे धीरे अन्य साधनों का स्थान यह अब लेता जा रहा है। विद्युत्कर्षण में नियंत्रण की सुविधा तथा गाड़ियों का अधिक वेग से संचालन हो सकने के कारण उतने ही समय में अधिक यातायात की उपलब्धि हो सकती है। साथ ही कोयला, धुआँ अथवा हानिकारक गैसों के न होने से अधिक स्वच्छता रहती है और नगर की घनी आबादीवाले भागों में भी इसका प्रयोग संभव है।

विद्युत्-कर्षण-तंत्र में विद्युत् मोटरों द्वारा चालित लोकोमोटिव (locomotive) गाड़ी को खींचता है। रेल की लाइन के साथ ऊपर में एक विद्युत् लाइन होती है, जिससे चालक गाड़ी एक चलनशील बुरुश द्वारा संपर्क करती है। रेल की लाइन, निगेटिव लाइन का काम देती है और शून्य वोल्टता पर होती है। इसके लिये इसे अच्छी प्रकार भूमित (earthed) भी कर दिया जाता है। इस प्रकार इसे छूने से किसी प्रकार की दुर्घटना की संभावना नहीं रहती। ऊपरी लाइन की वोल्टता, प्रयोग की जानेवाली मोटरों एवं संभरण-तंत्र पर निर्भर करती है। पुराने तंत्रों में ६०० वोल्ट की वोल्टता साधारणतया प्रयोग की जाती है यद्यपि १,५०० वोल्ट एवं ३,००० वोल्ट भी अब सामान्य हो गए है। पिछले कुछ वर्षों में, उच्च वोल्टता तंत्रों की रचना की गई है और उच्च वोल्टता पर प्रवर्तित होनेवाले एकप्रावस्था (single phase) प्रत्यावर्ती धारातंत्र का प्रयोग किया गया है और अब सामान्यतः इन्हीं का प्रयोग होने लगा है। ये सामान्यतः १६,००० अथवा २५,००० वोल्ट की वोल्टता पर प्रवर्तित होते हैं।

विद्युत्कर्षण के लिये प्रयोग होनेवाली मोटरों को आरंभ में अधिकतम कर्षण ऐंठन (torque) का उपलब्ध करना आवश्यक होता है, क्योंकि किसी भी गाड़ी को खींचने के लिये आरंभ

में बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है, परंतु जैसे जैसे वेग बढ़ता जाता है, कम शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रारंभ में अधिक ऐंठन से त्वरण (acceleration) शीघ्रता से उत्पन्न किया जा सकता है। इन मोटरों को अल्प समय के लिये अतिभार (overload) सँभालने की क्षमता भी होनी चाहिए। इन लक्षणों के अनुसार दिष्ट धारा श्रेणी मोटर (D. C. series motor) सबसे अधिक उपयुक्त होती है तथा सामान्य रूप से व्यवहार मे आती है, परतु दिष्ट धारा मोटरें सामान्यत. उच्च वोल्टता पर प्रवर्तन के लिये उपयुक्त नही होती और इस कारण दि० धा० कर्षणतंत्र सामान्यत. ३,००० वोल्ट तक के ही होते है। दि०धा० तत्रो की अपेक्षा प्र०धा० तंत्र संभरण अधिक सामान्य होने के कारण, कर्षण में भी इनका प्रयोग करने के प्रयत्न बराबर किए जाते रहे है। कुछ विशिष्ट प्ररूप की दि० धा० मोटरें, लक्षण में दि० धा० श्रेणी मोटर के समान होती हैं। इनकी संरचना पिछले ५० वर्षों से ही शोध का सामान्य विषय रही है और अब ऐसी एकप्रावस्था दि० धा० मोटरें बनाई गई हैं जिनके लक्षण दि० धा० श्रेणी मोटरों के समान कर्षण के लिये उपयुक्त हो। इन प्र० धा० मोटरों का भार उसी शक्ति की दि० धा० मोटरो से काफी कम होता है और ये सापेक्षतया सस्ती होती है। इनका सबसे बडा लाभ इनके उच्च वोल्टता पर प्रवर्तन म है। इस कारण उच्च वोल्टता तंत्र प्रयोग करना सभव है, जिससे कर्षणतंत्र में पर्याप्त बचत की जा सकती है। परतु ये मोटरें सामान्य शक्ति आवृत्ति (power frequency) पर उपयुक्त लक्षण नही दे पाती। इनका प्रवर्तन कम आवृत्ति पर अधिक संतोषप्रद होता है। अतः कर्षण के लिये सामान्यतः, १६⅔ अथवा २५ चक्रीय आवृत्ति का प्रयोग किया जाता है। इस कारण इन्हे सामान्य संभरणतंत्रो से नही संभरण किया जा सकता है। एकप्रावस्था तंत्र होने के कारण उपकेंद्र (substation) पर प्रावस्था संतुलन (phase balancing) की समस्या भी रहती है। परंतु इन समस्याओं के उपयुक्त समाधान हो चुके हैं और अब १६,००० और २५,००० वोल्ट के, १६⅔ अथवा २५ चक्रीय आवृत्ति के, एकप्रावस्था वाले प्र० धा० तंत्र कर्षण के लिये सामान्य रूप से प्रयोग किए जाते है।

कही कही दोनों तंत्रो की विशेषताओं का लाभ उठाने के लिये, संभरण लाइन (supply line) उच्च वोल्टता प्र० धा० की होती है तथा ऋजुकारी द्वारा उसे रूपातरित कर दि० धा० मोटरो का प्रयोग किया जाता है।

प्र० धा० कर्षणतंत्रो मे भी, सामान्य त्रिप्रावस्था संभरण से एक प्रावस्था लाइन लेकर, प्रावस्था परिवर्तन (phase conversion) द्वारा उसे त्रिप्रावस्था तंत्र मे बदलकर, त्रिप्रावस्था प्रेरण मोटर (three phase induction motor) प्रयोग करना भी संभव है। इस प्रकार सामान्य मोटरों का प्रयोग किया जा सकता है और प्रावस्था संतुलन की समस्या का भी सहज समाधान हो सकता है। वस्तुतः हंगरी में ऐसे ही कर्षणतत्र का प्रयोग किया गया है, परंतु त्रिप्रावस्था प्रेरण मोटरों के लक्षण कर्षण के लिये इतने उपयुक्त न होने के कारण, यह तंत्र सामान्य प्रयोग मे नही आ सका है।

विद्युत्कर्षण के क्षेत्र में यद्यपि ब्रिटेन का महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि प्र० धा० कर्षणतंत्र प्रयोग करने मे हंगरी अग्रगण्य रहा है। यहाँ इसका प्रयोग सबसे पहले १९३२ ई० में किया गया। इसके बाद जर्मनी मे १९३६ ई० मे इस तंत्र का प्रयोग किया गया। फ्रांस ने इसे १९५० ई० में अपनाया और २५,००० वोल्ट के एकप्रावस्था प्र० धा० कर्षणतंत्र के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारत मे भी मुख्य रेल लाइनों के विद्युतीकरण मे भी यही तंत्र प्रयोग किया जा रहा है। उच्च वोल्टता पर प्रवर्तन करने के कारण, केंद्रों की संख्या कम हो जाती है और वे अधिक दूर हो सकते है। इससे भी तत्र मे काफी बचत हो सकती है। उच्च वोल्टता के प्रयोग से वैसे ही तार मे तथा दूसरी सज्जाओं मे काफी बचत होती है। अतएव मुख्य लाइनो पर एकप्रावस्था उच्च वोल्टता प्र० धा० तंत्र का प्रयोग सामान्य हो गया है।

विद्युत्कर्षण के लिये प्रयोग होनेवाली मोटरों की नियंत्रण-व्यवस्था अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के कारण विद्युत्कर्षण तंत्र इतने सामान्य हो सके हैं। दि० धा० श्रेणी मोटरो के लिये ड्रम नियंत्रक (drum controller) प्रयोग किए जाते है, जिनमें आरंभण, वेगनियंत्रण तथा ब्रेकन (braking) सभी का प्रावधान किया जाता है। साथ ही सुविधापूर्वक इच्छानुसार गाडी को आगे तथा पीछे चलाया जा सकता है। एकप्रावस्था प्र० धा० मोटरों में भी जो नियंत्रक प्रयोग किए जाते हैं, वे भी उन सब प्रयोजनों का प्रावधान करते है। नियंत्रको मे ही संरक्षण युक्तियाँ (protective devices) भी लगी होती है, जो मोटर को अतिभार (overload) तथा अतिवाल (overspeed) से बचा सकें।

ऊपरी लाइन से संपर्क करनेवाला ससंस्पर्श बुरुश (contact brush) भी इस प्रकार के सरचक द्वारा व्यवस्थित होता है कि बुरुश तथा ससंस्पर्श तार मे समान दाब रहे और वेग तथा अन्य किसी कारण से संस्पर्श प्रतिरोध (contact resistance) मे विचरण न उत्पन्न हो।

सुरगों एवं अधिक यातायात स्थलो पर, ऊपरी लाइन का प्रयोग करना सभव नहीं हो पाता। अतएव, तार के स्थान पर एक दूसरी ससंस्पर्श रेल का प्रयोग किया जाता है जो भूमि के नीचे रहती है। स्पष्टतया अधिक व्यय के कारण सभी स्थानों पर इसका प्रयोग नही किया जा सकता।

कहीं कहीं संपूर्ण विद्युत् तत्र के स्थान पर डीजल विद्युत् लोकोमोटिव (diesel electric locomotive) का प्रयोग किया जाता है, जिसमें डीजल इजन द्वारा विद्युत् उत्पन्न करके विद्युत् कर्षण का लाभ उठाया जाता है।

विद्युत् कर्षण हमारे युग का एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है, जिसका उपयोग अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। [रा० कु० ग०]

विद्युत् चालन ठोस, द्रव और गैसों मे विद्युत् चालन की क्रियाविधि भिन्न भिन्न है, अत. इनपर हम अलग अलग ही विचार करेगे।

ठोसों में विद्युत् चालन -- यदि किसी द्रव्य के एकक घन के संमुख (opposite) फलकों के आरपार एकक विभवांतर अनुप्रयुक्त करने पर उत्पन्न धारा एक (unity) हो, तो कहा जाता है कि द्रव्य मे एकक चालकता है। चालकता का व्युत्क्रम (reciprocal) प्रतिरोधकता कहलाता है। विद्युत् चालन सबधी प्रारभिक अध्ययनों

से ही स्पष्ट हो गया था कि विभिन्न ठोसों की धारा वहन करने की धारिताओं में पर्याप्त अंतर होता है। सभी ठोसों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है. (१) धातु या विद्युत् के अच्छे चालक, (२) अर्धचालक या विद्युत् के घटिया चालक और (३) विद्युत्रोधी या विद्युत् के बुरे चालक।

धातु

चिरसंमत सिद्धांत (Classical Theory) — धातुओं की चालकता की व्याख्या करने का पहला प्रयास ड्रूड (Drude) ने १९०० ई० में किया। उन्होंने कल्पना की कि धातु के अंदर मुक्त इलेक्ट्रॉन गैस होती है। निम्न द्रव्यमान के कारण इलेक्ट्रॉनों में उच्च गतिशीलता होती है और जब धातु में विद्युत्क्षेत्र प्रयुक्त किया जाता है तब ये गतिमान होते हैं और विद्युत् को चालित करते हैं। १९०५ ई० में लोरेंत्ज (Lorentz) ने इस सिद्धांत में सुधार किया और ओम का नियम (Ohm's Law) तथा वाइडेमान फ्राज (Wiedemann-Franz) नियम की भी सही व्याख्या की। ओम के नियमानुसार धारा का घनत्व $\vec{j}$ अनुप्रयुक्त विद्युत क्षेत्र $\vec{E}$ का अनुपाती है, अर्थात् $\vec{j} = \sigma E$, जहाँ σ धातु की चालकता है। वाइडेमान-फ्राज नियम के अनुसार वैद्युत चालकता σ और ऊष्मीय चालकता K में संबंध है $\frac{K}{\sigma T} = L$ (स्थिरांक), जहाँ T ठोस का चरम ताप है।

ड्रूड-लोरेंत्ज नियम के सम्मुख अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं। मान लिया गया था कि धातु के अंदर स्थित मुक्त इलेक्ट्रॉन गैस चिरसमत मैक्सवेल बोल्ट्जमान ऊर्जा वितरण से युक्त है और यह $३/२\ k_o$ (k_o = बोल्ट्जमान स्थिरांक) प्रति इलेक्ट्रॉन स्थिर आयतन पर विशिष्ट ऊष्मा (specific heat) को अंशदान करता है। धातुओं की विशिष्ट ऊष्मा प्रति परमाणु $३\ k_o$ है और यह ५० प्रति शत इलेक्ट्रॉनिक अंशदान सामान्य ताप पर कभी नहीं प्रेक्षित किया जाता। इसके अतिरिक्त चूंकि इलेक्ट्रॉनों में नैज चुंबकीय आघूर्ण (intrinsic magnetic moment) एक बोर मैग्नेटन (Bohr Magneton) होता है, अत: जब धातु को चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाता है, तब उसे अनु चुंबकन प्रदर्शित करना चाहिए और यह चुंबकीय प्रवृत्ति (susceptibility) क्यूरी के नियमानुसार $X = C/T$ परिवर्तित होनी चाहिए, जहाँ C एक स्थिरांक है। चुंबकीय प्रवृत्ति में ऐसा कोई विचरण नहीं दिखाई पड़ता।

क्वांटम सिद्धांत — उल्लिखित कठिनाइयाँ तब दूर हुईं जब यह पता चला कि धातु में स्थित इलेक्ट्रॉन चिरसमत मैक्सवेल बोल्ट्जमान सांख्यिकी तथ्यों की बजाय फर्मि-डिरेक (Fermi-Dirac) सांख्यिकी तथ्यों का पालन करते हैं।

परन्तु एक बुनियादी सवाल टाल दिया गया है। चूंकि धातु परिमित अथवा चालकता प्रदर्शित करते हैं, अत धातु में किसी प्रकार की घर्षण क्रियाविधि होनी चाहिए, जो विद्युत् क्षेत्र की उपस्थिति में साम्यावस्था ला सके। ऐसी क्रियाविधि के अभाव में इलेक्ट्रॉनों का त्वरण अनिश्चित रूप से होगा और सभी ताप पर चालकता अनंत होगी। यह दर्शाया जा सकता है कि इलेक्ट्रॉनों में होनेवाली अन्योन्य क्रिया इतनी अल्प होती है कि वह परिमित चालकता का कारण होने में असमर्थ है।

धातु के भीतर स्थित इलेक्ट्रॉन विभव कूपों (potential wells) की एक श्रेणी में गतिमान होते हैं। इन कूपों का निर्माण आयनों के धन आवेश से होता है, जो विभिन्न जालक स्थलों (lattice sites) पर स्थित होते हैं। इलेक्ट्रॉन गति की समस्या का विवेचन क्वांटम यांत्रिक विधि से करना चाहिए। इससे धातु, अर्धचालक और विद्युत्रोधियों के रूप में ठोस का वर्गीकरण स्पष्ट समझ में आता है।

सारणी १ : कुछ ठोसों के विशिष्ट प्रतिरोध

ठोस	विशिष्ट प्रतिरोध (ओम × सेमी)	ठोस	विशिष्ट प्रतिरोध (ओम × सेमी)
धातुएँ		**अधातुएँ**	
ऐलुमिनियम	३.२१×१०^{-६}	सिलिकन	०.०६
ताम्र	१.७८	जर्मेनियम	०.०८९
स्वर्ण	२.४२	सिलीनियम	२×१०^{१६}
लोह	११.५	हीरा	$१०^{१२}$–$१०^{१६}$
सीसा	२०.८	गंधक	४×१०^{१५}
पारद	९५.७६	एबोनाइट	२×१०^{१५}
निकल	११.८	काँच (पाइरेक्स)	$१०^{१६}$
पोटैशियम	६.६४	अभ्रक	९×१०^{१५}
रजत	१.६३	पैराफिन मोम	३×१०^{१६}

ठोस धन आयनों से बना हुआ है। ये धन आयन एक नियमित जालक में विन्यस्त हैं और इन्हें इलेक्ट्रॉन गैस घेरे हुए है। ये आवेश का निराकरण कर देते हैं। परमशून्य से ऊँचे ताप पर आयन निरंतर ऊष्मीय प्रक्षोभ (thermal agitation) की स्थिति में होते हैं। इलेक्ट्रॉन इन आयनों और अन्य सभी इलेक्ट्रॉनों के विभव क्षेत्र में संचलन करता है। इसके अतिरिक्त वास्तविक ठोस में अनेक प्रकार के दोष हो सकते हैं, जैसे अपद्रव्य परमाणु, रिक्त जालक स्थल, अंतराली (interstitial) परमाणु, स्थानभ्रंश, चितिदोष (stacking faults) आदि। अत यथार्थ क्रिस्टल की क्वांटम यांत्रिक समस्या को हल करना लगभग असंभव है। इसलिये हम आदर्श स्थिति पर ही विचार करते हैं। मान लिया जाता है कि इलेक्ट्रॉन स्थिर आयतनों के नियमित व्यूह (regular array) से उत्पन्न विभव क्षेत्र और अन्य इलेक्ट्रॉनों के उपयुक्त माध्य विभव में संचलन करता है। प्रत्येक इलेक्ट्रॉन द्वारा देखे हुए विभव में इस एक इलेक्ट्रॉन सन्निकटन (approximation) में जालक की आवर्तिता होती है। यदि इस

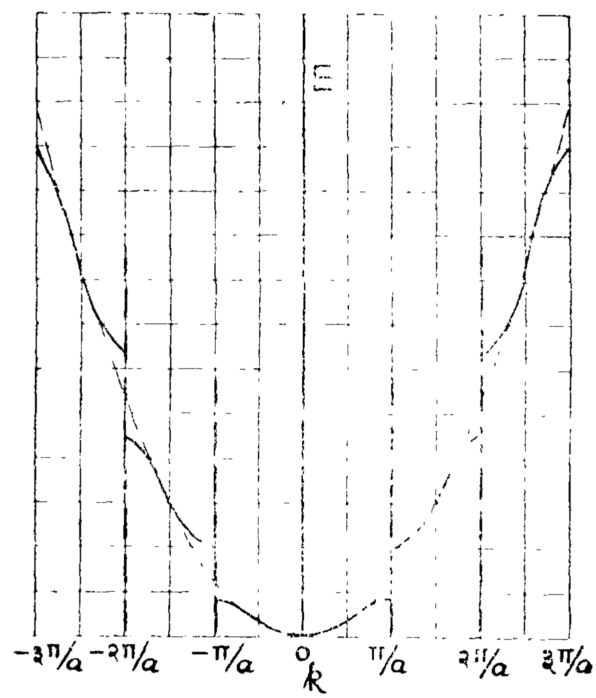
विभव में संचालित होनेवाले इलेक्ट्रॉन का श्रेडिंगर (Schrodinger) समीकरण हल किया जाय, तो ऊर्जा के कुछ निश्चित मानों के लिये ही हल मिल पाता है। अनुमत ऊर्जा क्षेत्र सामान्यत: ऊर्जा अंतराल द्वारा पृथक् होते है, जिनमें किसी हल का अस्तित्व नही होता। यदि अनुमत ऊर्जा बैंड इलेक्ट्रॉनो से प्राप्त हो तो [पाउली अपवर्जन नियम के अनुसार दो से अधिक इलेक्ट्रॉन एक ही संवेग अवस्था को अधिकृत नही कर सकते] विद्युत क्षेत्र का अनुप्रयोग इलेक्ट्रॉनों की ऊर्जा को नही बढ़ा पाएगा, क्योंकि उच्चतर ऊर्जा अवस्थाएँ वर्जित हैं। अतएव ऐसा ठोस विद्युत्रोधी जैसा व्यवहार करेगा। यदि उच्चतम अधिकृत बैंड में निम्नतम ऊर्जा अवस्था के ही इलेक्ट्रॉन हैं, तो वह इलेक्ट्रॉनों के संचलन द्वारा ठोस विद्युत् को अपने मे से प्रवाहित होने देगा। ऐसी स्थिति भी हो सकती है जिसमें उच्चतम अधिकृत बैंड लगभग भरा हुआ हो। यहाँ पर धारा का कारण बैंड मे कोटरो (holes) की उपस्थिति है।

आवर्ती जालक में इलेक्ट्रॉनों का व्यवहार भौतिक युक्तियों द्वारा भी निकाला जा सकता है। v वेग से गतिशील इलेक्ट्रॉन का तरंगदैर्ध्य, $\lambda = h/m\,v$ होता है, जिसमें h प्लांक स्थिरांक और m इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान है। अत. इलेक्ट्रॉन को हम आवर्ती जालक मे गतिमान तरंग के रूप में भी चित्रित कर सकते हैं। जालक की स्थितियों (sites) पर स्थित आयनो द्वारा यह तरंग प्रकीर्ण होगी और जालक यदि पूर्ण तथा शून्य ताप पर है, जिसके कारण आयन विराम की स्थिति मे है, तो दो ऐसे आयनों का पता लगाना संभव है जो एक निश्चित दिशा में π कलांतर के साथ प्रकीर्ण हो जाएँ। ये प्रकीर्ण तरंगें विनाशी व्यतिकरण (destructive interference) करेंगी और अनुप्रस्थ दिशा मे प्रकीर्णन नही होगा। यदि विद्युत् क्षेत्र का अनुप्रयोग किया जाता है, तो इलेक्ट्रॉन त्वरित हो जाते हैं और उनके तरंगदैर्ध्य का ह्रास होता है। जब तरंगदैर्ध्य जालक समतलो के पृथक्करण d के एक निश्चित समुच्चय (set) के लिये ब्राग (Bragg) प्रतिबंध २ d sin $\theta = \lambda$ पूरा होता है (θ वह कोण है जिसे इलेक्ट्रॉनों की गति की दिशा समतलो के साथ बनाती है), तब इलेक्ट्रॉन परावर्तित होते है और अप्रगामी तरंग बनती है। यदि ऐसे इलेक्ट्रॉनों की ऊर्जा में पर्याप्त वृद्धि न की जाय जिससे वे बाद के अनुमत ऊर्जा बैंड मे स्थानांतरित हो जायँ, तो वे जालकों मे से होकर नही गुजर सकते। दूसरी कोटि के ब्रैग परिवर्तन के होने तक बाहरी विद्युत्क्षेत्र के प्रभाव से तरंगदैर्ध्य घट सकता है। अतः एकविमीय जालक के लिये ऊर्जा बनाम तरंग संख्या वक्र चित्र १. में प्रदर्शित आकार का होगा।

आंशिक रूप से भरे हुए बैंड मे स्थित इलेक्ट्रॉन बिना प्रतिरोध के संचलन करेगा, यदि जालक पूर्ण और चरम शून्य ताप पर हो। घर्षणी क्रियाविधि, जो सीमित चालकता को जन्म देती है, सामान्य ताप पर परमाणुओं के ऊष्मीय विक्षोभ अशुद्धियों की मौजूदगी या अन्य जालक दोषों के कारण हो सकती है। इन सब के कारण इलेक्ट्रॉन के संघट्टन का एक सुस्पष्ट माध्य मुक्त पथ Λ_F और विश्रांतिकाल अर्थात् दो संघट्टनो के बीच का माध्यकाल T_F होगा। जो इलेक्ट्रॉन धातु में चालन को अंशदान (contribution) देते हैं, वे फर्मी वितरण के सिरे के निकट होते हैं, जहाँ पर इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा निम्नलिखित होती है :

$$E_F = \frac{1}{2}mv_F^2 = \frac{h^2}{2\,m}\left(\frac{3\,n}{8\,\pi}\right)^{\frac{2}{3}}, \qquad \ldots(1)$$

जहाँ n धातु के प्रति इकाई आयतन मे इलेक्ट्रॉनो की संख्या है।



चित्र १

एकविमीय जालक के लिये तरंगसंख्या के फलन के रूप में इलेक्ट्रॉन ऊर्जा का आलेखन। $k = \pm\, n\,\pi\,/\,a$ पर ऊर्जा असातत्य होता है, जहाँ n एक पूर्णांक सख्या तथा a जालक अंतराल है।

इससे v_F निश्चित होता है। विद्युत् चालकता σ के मापने से T_F का मान मिलता है, क्योंकि ये दो परिमाण निम्नलिखित समीकरण के अनुसार संबद्ध होते हैं :

$$\sigma = \frac{n\,e^2\,T_F}{m} \qquad \ldots(२)$$

$\Lambda_F = v_F\,T_F$ के मान जो इस प्रकार प्राप्त होते हैं सारणी २ में प्रदर्शित है। प्रेक्षित किया गया है कि यह कई सौ ऐंगस्ट्रॉमों मे होता है।

ये लंबे माध्य, मुक्त पथ चिरसंमत सिद्धांत के आधार पर कठिनाई से समझे जा सकते हैं, जिसमें यह माना जाता है कि आयनी क्रोडों के बीच स्थित अंतराल में इलेक्ट्रॉन गतिमान होते है। अतएव माध्य, मुक्त पथ कुछ ऐंगस्ट्रॉमों से अधिक न होना चाहिए। परंतु बैंड सिद्धांत के अनुसार माध्य, मुक्त पथ चरम ताप पर पूर्ण जालक के

लिये अनंत है। माध्य, मुक्त पथ ऊष्मीय विक्षोभ और जालक दोषों के कारण कम हो जाता है।

सारणी २. : ०° सें० पर कुछ एकसंयोजक धातुओं के लिये चालकता, माध्य मुक्त पथ एवं विश्रांति काल

धातु	$\sigma_{0°C} \times 10^{17}$ स्थि० वि० मा० (e. s u)	E_F (ev)	Λ_i (A°)	τ_F (10^{-14} सेकंड मे)
लि (Li)	११	४७	११०	०९
सो (Na)	२१	३·१	३५०	३१
पो (K)	१५	२१	३७०	४·४
ता (Cu)	५·८	७०	४२०	२७
र (Ag)	६·१	५५	५७०	४१

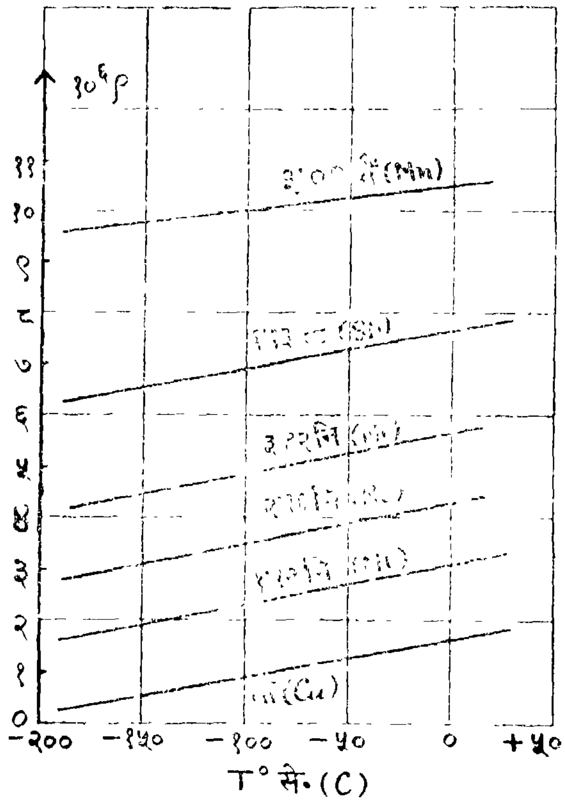
मिश्रधातु

जब किसी धातु में अपद्रव्य होते हैं, तब अपद्रव्यों के निकट का क्षेत्र उस क्षेत्र मे भिन्न होता है जो आतिथेय परमाणु (host atom) के निकट होता है। इस प्रकार अपद्रव्य जालक विभव की आवर्तिता में विचलन उत्पन्न करते है और इलेक्ट्रॉनों के प्रकीर्णन केंद्रों (scattering centres) का काम करते हैं। जालक के ऊष्मीय कपनों द्वारा इलेक्ट्रॉनो का जो प्रकीर्णन होता है उसके अतिरिक्त यह प्रकीर्णन और होता है। चूँकि प्रकीर्णन की सभाव्यता विश्रांति काल की विलोमानुपाती है, अत परिणामी विश्रांति काल τ, निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जाता है .

$$\frac{1}{\tau} = \frac{1}{\tau_i} + \frac{1}{\tau_{th}} \qquad \dots (३)$$

जहाँ τ_i और τ_{th} क्रमश अपद्रव्य और ऊष्मीय प्रकीर्णन प्रक्रियाओं के लिये विश्रांति काल है। विश्रांति काल τ_i ताप पर बहुत थोड़ा निर्भर करता है। अत अपद्रव्य की उपस्थिति के कारण किसी धातु की प्रतिरोधकता लगभग स्थिर होगी। दूसरी ओर, τ_{th} ताप के साथ विचरण करता है। इसलिये प्रतिरोधकता को उसका अंशदान ताप पर निर्भर करेगा। यदि अपद्रव्य की सांद्रता बहुत अधिक न हो, तो $1/\tau_i$ तथा आपेक्षिक प्रतिरोधकता ρ_r दोनों अपद्रव्य की सांद्रता के अनुक्रमानुपात मे होंगी। शुद्ध ताँबे की प्रतिरोधकता को अल्प निकेलयुक्त ताँबे की प्रतिरोधकता के संयोजन में ताप के फलन के रूप मे, चित्र २. में, व्यक्त किया गया है। निकेल की पारमाणविक प्रतिशतता प्रत्येक वक्र के साथ दिखाई गई है। ऐसे अध्ययनों मे अपद्रव्यो और ऊष्मीय विक्षोभ इन दोनो की प्रतिरोधकता का अंशदान ज्ञात हो सकता है।

मिश्रधातुओं की प्रतिरोधकता के कुछ और रोचक पहलू है, जिन्हें हम ताँबा-सोना-समुदाय पर विचार करते हुए स्पष्ट करेंगे। जैसी आशा है, ताँबे में स्थित सोने की निम्न सांद्रताओं के लिये (या सोने मे ताँबा) अपद्रव्यों की सांद्रता के साथ प्रतिरोधकता बढ़ती है (चित्र ३)। यदि मिश्रधातु को ६५०° सें० से शमित (quenched)



चित्र २.

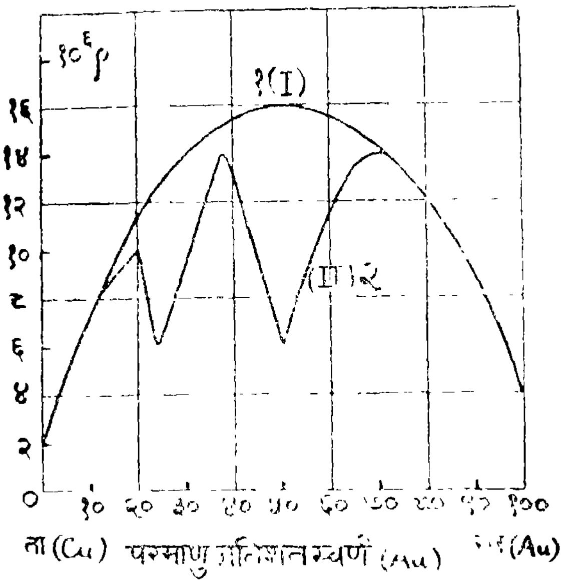
ताप के फलन के रूप मे शुद्ध ताम्र और इसकी धातुओं की प्रतिरोधकता P का आलेखन।

किया जाता है, जिससे अक्रमित समुदाय रह जाता है, तो जैसा वक्र १ मे दिखाया गया है प्रतिरोधकता सोने की पारमाणवीय प्रतिशतता के अनुसार विचरण करती है। दूसरी ओर यदि मिश्रधातु २००° सें० पर तापानुशीतित (annealed) कर दी गई है, जिससे कम से कम अंशतः क्रमित अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तो प्रतिरोधकता का निम्निष्ठ (minima) प्राप्त होगा (वक्र २.), जो Cu_3Au और CuAu संघटन की क्रमित संरचनाओं का तदनुरूपी होगा और शुद्ध तत्वों का भी तदनुरूपी निम्न ही होगा। इन सभी स्थितियों में अक्रमित मिश्रधातुओ के विपर्यास (contrast) मे इलेक्ट्रॉनो द्वारा देखा हुआ विभव लगभग आवर्ती होगा। जालक में क्रम का परिमाण द्रव्य की प्रतिरोधकता द्वारा साफ परावर्तित होता है।

यहाँ पर यह संकेत किया जा सकता है कि ठोसों मे विकिरण प्रभावों के अध्ययन में प्रतिरोधकता मापों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। किसी धातु को न्यूट्रॉनों द्वारा, या अन्य किसी प्ररूप के विकिरण द्वारा किरणित करने पर एक निश्चित संख्या में अंतराली परमाणु और रिक्तियाँ बनती हैं। इनमे से प्रत्येक इलेक्ट्रॉनों के प्रकीर्णन में और प्रतिरोधकता मे भी अंशदान करती है। उत्पन्न दोषों की संख्या और किसी निश्चित ताप पर इन दोषों के तापानुशीतन के लिये

लगनेवाले समय के संबंध में प्रतिरोधकतामापों द्वारा सूचनाएँ प्राप्त करना संभव है।

१९११ ई० में कामरलिंग ओनेस (Kamerlingh Onnes) ने खोज की कि पारे की प्रतिरोधकता पूर्णतया ४·२° के० से निम्न ताप पर लुप्त हो जाती है। इस संक्रमण (transition) ताप से, जो काफी सीमित (±०·०५° के) होता है, निम्न ताप पर पारे



चित्र ३.

स्वर्ण का ताम्र में सांद्रण के फलनरूप मे ताम्र-स्वर्ण मिश्र धातु की प्रतिरोधकता।

वक्र १ : ६५०° से० पर शामित मिश्रधातु।

वक्र २ : २००° से० तापानुशीतित मिश्रधातु।

की स्थिति अतिचालक अवस्था (superconducting state) कहलाती है। यह ज्ञात है कि पारे के अलावा अनेक अन्य धातुएँ, जैसे सीसा, अतिचालकता प्रदर्शित करती हैं। इसे एक शक्तिशाली चुंबकीय क्षेत्र के अनुप्रयोग द्वारा नष्ट किया जा सकता है। H_c (T) क्षेत्र की देहली (threshold), या क्रांतिक मान, ताप का फलन है। क्रांतिक ताप T_c पर $H_c = 0$ होता है। अतिचालक तार से तीव्र धारा को गुजार कर अतिचालकता नष्ट की जा सकती है। अतिचालक अवस्था का विनाश तार में से गुजारी हुई धारा के साथ संबद्ध चुंबकीय क्षेत्र द्वारा होता है।

माइसनर (Meissner) और ओशेनफील्ड (Oschenfeld) ने दिखाया है कि यदि किसी अतिचालक को एक अनुदैर्घ्य चुंबकीय क्षेत्र में ठंढा किया जाय, तो क्रांतिक ताप पर पहुँचने पर प्रेरण रेखाएँ उभारदार हो जाती हैं। यही है माइसनर ओशेनफील्ड प्रभाव। अत: अतिचालक अवस्था के लिये $B = 0$, या चुंबकीय प्रवृत्ति $K = -1/4\pi$। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि अतिचालक अवस्थाएँ पूर्ण चुंबकत्व प्रदर्शित करती है। यह परिणाम इस तथ्य से स्वतंत्र है कि अतिचालक अवस्था का प्रतिरोध शून्य है। तथ्य यह है कि दोनों ही अतिचालक के गुण हैं।

यह देखा गया है कि संक्रमण के लिये क्रांतिक ताप जालक आयनों की संहति के साथ विचरण करता है। मैक्सवेल, रेनाल्ड और उनके सहयोगियों ने इसे सर्वप्रथम १९५० ई० में पारे के समस्थानिकों (isotopes) में प्रेक्षित किया था। क्रांतिक ताप (T_c) ४·१८५° के० से ४·१४६° के० तक विचरण करता है, जब कि समस्थानिकीय संहति (M) १९९.५ से २०३.४ तक विचरण करती है। प्रयोगात्मक परिणाम प्राय: किसी एक समस्थानिक श्रेणी मे निम्नलिखित संबंध की पुष्टि करते है :

$$M^{\frac{1}{2}}\ T_c = \text{स्थिरांक} \qquad \dots(४)$$

यह तथ्य सूचित करता है कि अतिचालक संक्रमण इलेक्ट्रॉन जालक अन्योन्य क्रिया से उपजता है।

बहुत समय तक यह समझना अत्यंत कठिन बना रहा कि क्यों कुछ धातुएँ और मिश्रधातुएँ अतिचालक अवस्था के प्रति संक्रमण अवस्था प्रदर्शित करती है और कैसे वे इलेक्ट्रॉन, जो पॉली के अपवर्जन नियम (Pauli Exclusion Principle) का पालन करते हैं, अंत में उसी अवस्था को प्राप्त करते है। समस्थानिक प्रभाव की खोज के बाद अनेक प्रयत्न हुए कि इलेक्ट्रॉन जालक अन्योन्य क्रिया के आधार पर अतिचालकता का सिद्धात निरूपित किया जाए, परतु तर्कसंगत रूप से सफल सिद्धात का विकास अभी हाल ही में अमरीकन वैज्ञानिकों, बारडीन (Bardeen), कूपर और श्राइफर (Schrieffer) तथा रूसी वैज्ञानिक, बोगोलूबॉफ (Bogoluboff) के प्रयत्नों से संभव हो सका। इस सिद्धात मे प्रतिपादकों ने सिद्ध किया है कि इलेक्ट्रॉनों के बीच अन्योन्य क्रिया, इलेक्ट्रॉन अवस्थाओं के बीच सन्निहित ऊर्जांतर फोनॉन (Phonon) ऊर्जा से कम होने पर, फोनॉनों के आभासी विनिमय के कारण, आकर्षक हो सकती है। आकर्षक अन्योन्य क्रिया जब आवृत (screened) कूलब अन्योन्य क्रिया पर हावी हो जाती है, तब अतिचालक प्रावस्था (phase) का निर्माण संभव है।

अर्धचालक (Semiconductors) — धातुओं के अलावा, जो विद्युत् के अच्छे चालक होते है, पदार्थों का एक वर्ग ऐसा है जो बहुत निम्न ताप पर तो बहुत ही दुर्बल चालक होता है, परतु ऊँचे ताप पर इलेक्ट्रॉनिक चालकता प्रदर्शित करता है। कुछ पदार्थों मे जब अपद्रव्य होते है तब कुछ मुक्त इलेक्ट्रॉन होते है। इस वर्ग के ठोस, जो उच्च ताप पर, या अपद्रव्यों के रहने पर, विद्युत चालक होते है, अर्धचालक कहलाते है। इनमें से प्रथम प्रकार के नैज अर्धचालक (intrinsic semiconductors) कहलाते हैं, जिनके उदाहरण है जर्मेनियम और सिलिकन। दूसरे प्रकार के ठोस अपद्रव्य अर्धचालक कहलाते हैं। अर्धचालकों के इस विचित्र गुण को ठोसों के बैंड सिद्धांत (band thory) के आधार पर भलीभाँति समझा जा सकता है। नैज (intrinsic) अर्धचालक में, संयोजकता बैंड (valence band) के पूर्णत: भरे रहने और चालन बैंड के पूर्णत: रिक्त रहने के कारण, चालकता शून्य होती है। नैज अर्धचालक मे संयोजकता और चालन बैंडो में ऊर्जा का अंतर पर्याप्त अल्प होता है, जिससे जब ठोस का ताप ऊँचा होता है, तब इलेक्ट्रॉन उत्तेजित होकर चालन बैंड मे चले जाते है। इस प्रकार हम चालन बैंड के तल मे इलेक्ट्रॉन पाते हैं और संयोजकता

बैंड के शीर्ष पर विवर (hole)। इलेक्ट्रॉन और विवर दोनों ही धारा को वहन करने में कार्यकारी होते हैं। इनकी संख्या ताप पर निर्भर होगी। चालकता $e^{-E/kT}$ के समानुपाती होगी, जिसमे ऊर्जा अंतराल की चौड़ाई पर निर्भर होगी।

यदि किसी ठोस मे अपद्रव्य मिलाए जाएँ, तो चालकता या संयोजकता बैंड के इर्द गिर्द स्थानीकृत तल (localized level) बनेंगे। यदि अपद्रव्य तल रिक्त चालन बैंड के निकट पड़ते है, तो वह इलेक्ट्रॉनों के दाता (donor) के रूप मे और इलेक्ट्रॉन किसी परिमित (finite) ताप पर चालन बैंड में उपस्थिति रहेंगे। ऐसे अपद्रव्य अर्धचालकों में धारा का वहन इलेक्ट्रॉन करते है। दूसरी ओर यदि अपद्रव्य तल भरे हुए संयोजकता बैंड के निकट पड़ते हैं और अपद्रव्य संयोजकता बैंड से एक इलेक्ट्रॉन स्वीकार कर सकता है, तो पुन विद्युत का चालन होगा, परंतु विवरों द्वारा होगा। इसमे ऐसा प्रतीत होता है कि धारा धन आवेशों के द्वारा प्रवाहित हो रही है, परंतु यथार्थ मे इलेक्ट्रॉन ही गति में रहते है। इस प्रकार हम देखते है कि अर्धचालकों मे ताप के साथ चालकता बढ़ती है, जब कि धातुओं में यह घटती है।

प्रयोग द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अर्धचालक मे धारावाहक की प्रकृति निर्धारित की जा सकती है। जब चालक चुंबकीय क्षेत्र मे धारा की दिशा के लंबत: स्थापित किया जाता है, तब क्षेत्र और धारा दोनों की दिशा के लंबत एक विभव उत्पन्न होता है। इसे हाल प्रभाव (Hall Effect) कहते है। क्षेत्र और धारा की दिशा की तुलना मे विभव पात के चिह्न से वाहकों के आवेश का अनुमान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, देखा गया है कि जहाँ क्षारीय धातुएँ (alkali metals), सोना, चाँदी, तांबा आदि इलेक्ट्रॉन धारा का वहन करते हैं, वहाँ बेरिलियम, जस्ता, कैडमियम मे धारा का वहन विवरों के द्वारा होता है।

आयनिक क्रिस्टल — अब हम आयनिक ठोसों की वैद्युत चालकता की चर्चा करेंगे। इन ठोसो की चालकता विद्युत् अपघट्यों (electrolytes) की विद्युत् चालकता से साम्य रखती है। यदि आयनिक क्रिस्टल के सम्मुख फलकों के बीच विभवांतर प्रयुक्त किया जाय, तो धारा का संसूचन (detection) किया जा सकता है। क्षारीय हैलाइडो के संदर्भ मे धारा इतनी बड़ी होती है कि उन्हे इलेक्ट्रॉनो की गति के पदो में नही व्यक्त किया जा सकता, क्योंकि सन्निहित तापो मे चालन बैंड मे इलेक्ट्रॉनो की संख्या बहुत कम होगी। अत: विद्युत् क्षेत्र के प्रभाव मे आयनो के प्रव्रजन के कारण धाराओं का जन्म होता है। इलेक्ट्रोडो पर जो निक्षेप होते है उनसे भी इस बात का संकेत मिलता है कि धाराओ की प्रकृति आयनिक है।

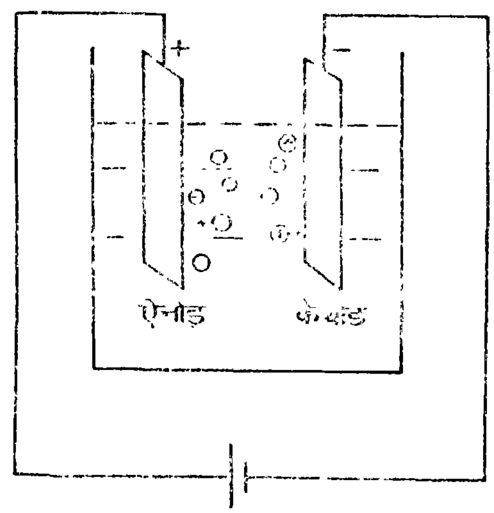
क्षारीय हैलाइडो की यह आयनिक चालकता रिक्त जालक स्थितियों (vacant lattice sites) की गति के पदों (terms) मे व्यक्त की जा सकती है। धनात्मक आयन रिक्तियो मे प्रभावी ऋण-आवेश होता है, अत वे रिक्तियाँ ऐनोड की ओर गतिशील होंगी और ऋणात्मक आयन रिक्तियाँ कथोड की ओर गतिशील होंगी। क्षारीय हैलाइडों मे धनात्मक आयन रिक्तियो की गतिशीलता ऋणात्मक आयनों की अपेक्षा काफी अधिक होती है, जबकि बेरियम और सीस के हैलाइडों में स्थिति उत्क्रमित हो जाती है।

द्रवों में विद्युत् चालन — धातुओं और गैसों में विद्युत् चालन से द्रवों में विद्युत् चालन भिन्न है। जब किसी विद्युत् अपघट्य में धारा प्रवाहित की जाती है, तब चालन द्रव्यात्मक आयनों द्वारा होता है, न कि इलेक्ट्रॉनो द्वारा और द्रव्य का स्थानांतरण होता है जिसे प्रयोग द्वारा प्रेक्षित किया जा सकता है।

विद्युत् अपघट्य मुख्यतया दो प्रकार के होते है : एक तो वे, जो शुद्ध अवस्था में चालन करते है, जैसे पानी, अम्ल और ऐल्कोहॉल (चाँदी, बेरियम आदि के ठोस हैलाइड, सलीन लवण, हाइड्रेट और कुछ अन्य पदार्थों मे भी चालन की प्रक्रिया ऐसी ही होती है) और दूसरे हैं, एक निश्चित विलायक मे एक या अधिक पदार्थों के विलयन। विद्युत् अपघट्यों का यह दूसरा वर्ग अधिक महत्व का है।

धातु के प्लेट या छड़, जिनका उपयोग विद्युत् अपघट्य में से धारा को गुजारने के लिये किया जाता है, इलेक्ट्रोड कहलाते हैं। धन विभव पर स्थित इलेक्ट्रोड ऐनोड कहलाता है तथा दूसरा कैथोड। जब दोनों इलेक्ट्रोडों पर विभवांतर प्रयुक्त किया जाता है तब धन आयन जिन्हें कैटायन कहते है, और ऋण आयन, जिन्हे ऐनायन कहते है, क्रमश कथोड और ऐनोड की ओर विस्थापन करते है। इसी से धारा निर्मित होती है।

आर्रेनियस (Arrhenius) ने पहले विचार प्रस्तुत किया कि द्रव के कुछ अणु धन और ऋण आयनों मे वियोजित (dissociated) हो जाते है और ये विद्युत् चालन का कारण है। वियोजन की मात्रा, α, जिसे वियोजित अणुओं और कुल अणुओं के अनुपात के रूप मे परिभाषित किया गया है, विलयन की सांद्रता पर निर्भर करती है तथा तनु विलयनो के लिये यह एक के लगभग होती है। उदाहरणार्थ, जब NaCl और KCl पानी मे घुलते है, तब इन अणुओं का एक अंश निम्नलिखित रूप में टूट जाता है :



चित्र ४. वैद्युत् अपघटन का परिपथ

$$NaCl \rightarrow Na^+ + Cl^-$$
$$KCl \rightarrow K^+ + Cl^-$$

आयन पर स्थित नेट (net) आवेश उसकी संयोजकता से निर्धारित किया जाता है। उदाहरणार्थ जब बेरियम क्लोराइड पानी में घुलता है :

$$BaCl_2 \rightarrow Ba^{++} + 2\ Cl^-$$

अर्थात् कुल तीन आयन, एक द्विगुण आवेशवाला और दो एक आवेशवाले, उत्पन्न होते हैं।

फैराडे ने द्रवों में विद्युत् के गमन का व्यापक अध्ययन किया और उसने दो नियम पाए, जो वैद्युत् अपघटन (electrolysis) के फैराडे के सिद्धांत कहे जाते हैं। इनके अनुसार (१) किसी धारा द्वारा किए हुए रासायनिक निक्षेपण का परिमाण विद्युत् अपघटनी विलयन में से होकर गुजरनेवाली विद्युत् की मात्रा का समानुपाती है, (२) विद्युत् की एक ही मात्रा भिन्न भिन्न पदार्थों की जिन राशियों को मुक्त करती है, वे उन पदार्थों के रासायनिक तुल्यांक भार (equivalent weights) के आनुपातिक होते हैं।

पहला नियम कहता है कि निक्षेपण का परिमाण धारा की सामर्थ्य और धारा प्रवाहित होने के समय का अनुक्रमानुपाती है। दूसरे नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी पदार्थ के एक तुल्यांक भार को, जो विद्युत् की मात्रा मुक्त कर सकती है, वह पदार्थ की प्रकृति पर निर्भर नहीं है। इसे फैराडे कहते हैं और यह ९६,५०० कूलॉम के बराबर है। यदि किसी उपयुक्त विद्युत् अपघट्य में एक फैराडे विद्युत् प्रवाहित की जाय, तो वह १·००८ ग्राम हाइड्रोजन, या १०७·८८ ग्राम चाँदी, या ३१·७८ ग्राम ताँबा (ताँबे की संयोजकता २ है) मुक्त करेगी।

फैराडे के नियम निश्चित समय में विद्युत् अपघट्य में प्रवाहित हुई विद्युत् की मात्रा का निर्धारण करने में मदद करते हैं। वैद्युत् अपघटन (electrolysis) से मुक्त धातु को तौलना भर पड़ता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये अभिकल्पित विशिष्ट उपकरण को वोल्टामीटर (Voltameter) या कूलोमीटर (Coulometer) कहते हैं।

इलेक्ट्रॉनिक आवेश का आकलन फैराडे के ज्ञात मान से सबसे पहले किया गया। चूंकि रासायनिक तुल्यांक भार में आयनों की संख्या N/Z है, जहाँ Z विचाराधीन परमाणु की संयोजकता है और चूंकि उनके द्वारा वाहित कुल आवेश F है, आयन का आवेश

$$e = \frac{F Z}{N} \qquad \ldots (५)$$

जहाँ एकसंयोजी आयनों के लिये Z = १ और e इलेक्ट्रॉनिक आवेश का मान है।

विद्युत् अपघट्यों की चालकता — किसी विद्युत् अपघट्य की चालकता को मापने के लिये सामान्यतया प्रत्यावर्ती धारा परिपथ (alternating current circuits) का उपयोग किया जाता है। दिष्ट धारा मापनों से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। सबसे पहली बात यह है कि विद्युत् धारा के प्रवाहित होने से इलेक्ट्रोडों पर द्रव्यात्मक आयनों का निक्षेपण होता है, जिससे विलयन में उनका सांद्रण कम होता है। इससे चालकता में अंतर उत्पन्न होता है। प्राय: इलेक्ट्रोडों पर गैसें मुक्त होती हैं, जो द्रव में विभवपात (potential drop) के प्रतिमान (pattern) को बदल देने की प्रवृत्ति रखती हैं, और सभी मापों को दूषित कर देती हैं। ये ही कारण हैं, जिनसे प्रारंभ में पाया गया कि विद्युत् अपघट्यों के प्रसंग में ओम का नियम नहीं चलता। परंतु यदि अत्यंत दुर्बल धारा का उपयोग किया जाय और उपयुक्त इलेक्ट्रोडों का प्रयोग किया जाय, तो मापन संभव है। परंतु आजकल अधिकतर प्रयोग उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धाराओं द्वारा किया जाता है। इससे दोनों त्रुटियाँ, सांद्रण में कमी और इलेक्ट्रोडों पर गैस का निकलना, दूर होती हैं। सामान्यत: चालकता-मापनों के लिये अभीष्ट विद्युत् अपघट्यों को खास सेलों में स्थिर इलेक्ट्रोडों के साथ रखा जाता है।

किसी विद्युत् अपघट्य की चालकता तुल्यांक चालकता, Λ, के पदों में ही व्यक्त की जाती है। यह उस आयतन v की चालकता है जिसमें विलायक का एक तुल्यांक भार होता है और जो एक सेंटीमीटर की दूरी पर स्थित दो प्लेट इलेक्ट्रोडों के बीच रखा जाता है। इस प्रकार

$$\Lambda = K v \qquad \ldots (६)$$

जहाँ K विशिष्ट चालकता है। यह ध्यान देने की बात है कि चूंकि प्लेटों का अलगाव १ सेमी बताया गया है, विलयन द्वारा आवृत किसी प्लेट का क्षेत्र v सेमी^{2} है।

विभिन्न विलयनों में चालकतामापन किए गए हैं और देखा गया है कि Λ घटते हुए सांद्रण के साथ बढ़ता है। अतिनिम्न सांद्रणों के लिये उपगामी (asymptotic) मान को अपरिमित तनुता पर तुल्यांक चालकता कहते हैं और Λ_0 द्वारा निरूपित करते हैं। चित्र ५. में कुछ प्रारूपिक विलेयों (typical solutes) के सांद्रण के साथ Λ का विचरण दिखाया गया है।

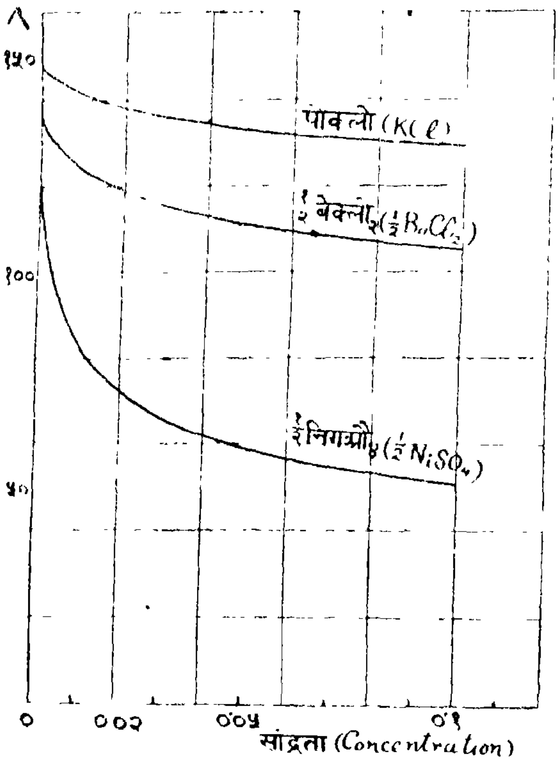
KCl ($\rightarrow K^+ + Cl^-$); $\frac{1}{2}$ $BaCl_2$ ($\rightarrow Ba^{++} + 2Cl^-$) और २५° सें० पर पानी में घुला हुआ $\frac{1}{2}$ Ni SO_4 ($\rightarrow Ni^{++} + SO_4^{--}$) है। NiSO4 और $BaCl_2$ के पहले जो गुणनखंड $\frac{1}{2}$ लगा है, उसका मतलब यह है कि चूंकि Ni और Ba की संयोजकता २ है, अत. इस पदार्थ के परमाणु भार का आधा Λ_0 के निर्धारण के लिये लेना चाहिए। Λ_0 के क्रमश. मान हैं १४८, १३६ और ११९ ओम$^{-1}$ सेमी^{2}।

विद्युत् अपघट्य में विद्युत् का चालन धन और ऋण आयनों की गति या संचलन से होता है। यह देखा गया है कि अपरिमित तनुता पर दो प्रकार के आयनों का संचलन एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से माना जा सकता है और यह आयनों के प्रव्रजन का कोलराऊश नियम (Kohlrausch's Law) कहलाता है। इस नियम को इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है :

$$\Lambda_0 = \lambda^0_+ + \lambda^0_- \qquad \ldots (७)$$

जहाँ अपरिमित तनुता पर λ^0_+ और λ^0_- क्रमश: कैटायनों और

ऐनायनों की आयन चालकताएँ कहलाती हैं। सारणी ३. में कुछ प्रारूपिक मान दिए हुए हैं।



चित्र ५

कुछ विलेयों की तुल्य चालकता का सांद्रण के साथ परिवर्तन।

चूंकि विद्युत धारा का घनत्व वह नेट आवेश (net charge) है जो मात्रक समय (unit time) में मात्रक क्षेत्र को पार करता

सारणी ३ : २५° सें० पर तथा ओम⁻¹ सेमी² में, अनंत तनुता पर आयनिक चालकता

धनायन	λ_+	ऋणायन	λ°_-
हा⁺ (H^+)	३४९.८२	ओहा⁻ (OH^-)	१९८
पो⁺ (K^+)	७३.५२	क्लो⁻ (Cl^-)	७६.३४
र⁺ (Ag^+)	६१.९२	½गंप्रो₄⁻⁻ ($\frac{1}{2}SO_4^{--}$)	७९.८
सो⁺ (Na^+)	५०.११	ना ओ₃⁻ (NO_3^-)	७१.४४
½बे⁺⁺ ($\frac{1}{2}Ba^{++}$)	६३.६४		

है, अतः वह आयनों के वेग पर निर्भर रहेगा। यह वेग विद्युत् विघट्य में अनपातक क्षेत्र (field) पर सीधे निर्भर है। यदि आयन १ वोल्ट विभव पात में से होकर १ सेंमी दूरी पार करता है, तो उसके द्वारा अर्जित वेग को आयन की गतिशीलता (u) के रूप में यदि हम परिभाषित करें, तो हम दिखा सकते हैं कि

$$\lambda^\circ_+ = Fu^\circ_+ \text{ और } \lambda^\circ_- = Fu^\circ_- \quad \ldots (८)$$

जहाँ u° अनंत तनुता पर गतिशीलता को निरूपित करता है और F फैराडे है। कतिपय प्रारूपिक आयनों के लिये गतिशीलता सारणी ४. में दी हुई है।

सारणी ४ २५ सें० पर जल में गतिशीलता

धनायन	गतिशीलता (सेमी/से०)	ऋणायन	गतिशीलता (सेमी/सेकंड)
हा (H)	३६.२×१०⁻⁴	हा ओ (HO)	२०.५×१०⁻⁴
पो (K)	७.६१	गं ओ₄ (SO_4)	८.२७
बे (Ba)	६.६०	क्लो (Cl)	७.९१
सो (Na)	५.१९	ना ओ₃ (NO_3)	७.४०
लि (Li)	४.०१	का ओ₃ (CO_3)	४.६१

दूसरी बात जो यहाँ उल्लेखनीय है वह यह है कि गतिशीलता, अतः चालकता Λ_0, विलयन की श्यानता (viscosity) पर निर्भर है। देखा गया है कि गुणनफल $\Lambda_0 \eta_0$ विभिन्न विलायकों के लिये एक ही होता है, जिसमें η_0 श्यानता का गुणांक है। इसे वेल्डन का नियम कहते हैं। विलयन का Λ_0 ताप के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता है, परन्तु यह परिवर्तन ऐसा होता है कि $\Lambda_0 \eta_0$ स्थिर रहता है।

सारणी ५ :

२५ सें० पर एकसंयोजक विद्युत् अपघट्य के लिये ऑनसेजर स्थिरांकों के मान

	अ (A)	ब (B)
जल	६०.२०	०.२२९
मेथिल ऐलकोहॉल	१५६.१	०.९२३
एथिल ऐलकोहॉल	८९.७	१.३३
ऐसीटोन	३२.८	१.६३

डेबाइ हकेल सिद्धांत -- आयनों की सांद्रता C के साथ तुल्यांक चालकता (equivalent conductance) के विचरण की व्याख्या करने के प्रारंभिक प्रयास में मान लिया गया था कि आयनों का वेग सांद्रण पर निर्भर नहीं है और केवल वियोजन की मात्रा (degree of dissociation) परिवर्तित होती है। वियोजन की मात्रा α चालकता अनु-

पात Λ/Λ° के साथ अभिनिर्धारित (identify) की गई। शीघ्र ही देखा गया कि यद्यपि C के निम्न मानों के लिये आयनी वेग C पर निर्भर नहीं है, परंतु C के बड़े मानों के लिये आयनीय वेग सांद्रण पर बहुत कुछ निर्भर करता है। बड़े सांद्रणों पर अंतर आयनी (inter-ionic) बल महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है और आयनों को धीमा कर देने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। इस घटना की संतोषजनक व्याख्या डेबाइ और हूकेल ने दी, जिसका सुधार बाद में ऑनसेजर ने किया। हम इसपर संक्षेप में यहाँ विचार करेंगे।

हम पहले एक धन आयन पर विचार करें। अपने आवेश के कारण यह अपने चारों ओर आयनों का मेघ जुटा लेगा, जिसपर नेट ऋण आवेश होगा। यह आवेश परिमाण में धन आयन के आवेश के बराबर होगा। आयन के अर्धव्यास की १०० गुनी दूरी तक इस मेघ का प्रसार हो सकता है। इस आयन मेघतत्र का नेट आवेश शून्य है और यह वैद्युत रूप से उदासीन है। जब कोई बाह्य क्षेत्र प्रयुक्त किया जाता है, तब आयन कैथोड की ओर जाने आरंभ करता है, परंतु मेघ के जड़त्व के फलस्वरूप वह कुछ पीछे छूट जाता है। इसके कारण आवेशों का पृथक्करण उत्पन्न होता है, अर्थात् समूचा तत्र ध्रुवित (polarised) हो जाता है। ऋण मेघ, जो पीछे छूट जाता है, आयन को पीछे की ओर खींचता है, जिससे उसकी गति मंदित होती है। दूसरा बल जो कार्यशील हो उठता है वह है, ऐनोड और ऋण मेघ के बीच पारस्परिक आकर्षण। यह भी आयन की गति को मंदित करने की प्रवृत्तिवाला होता है।

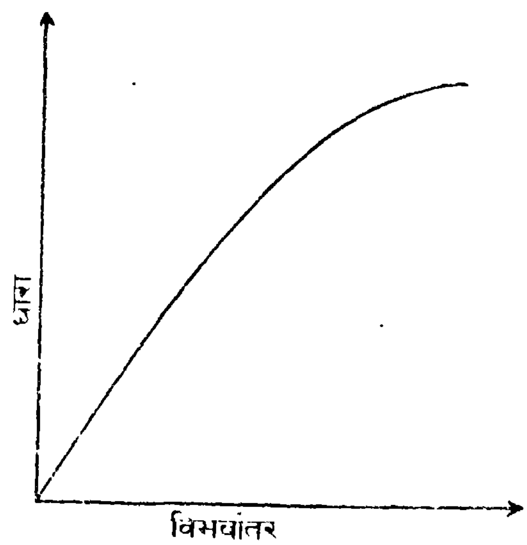
इन बलों को ध्यान मे रखते हुए और यह मानते हुए कि नियोजन की मात्रा α है, डेबाइ-हैकेल-ऑनसेजर ने उस विद्युत् अपघट्य के लिये जिसमें धन और ऋण एक संयोजक है, यह संबंध पाया

$$\Lambda = \alpha\,[\,\Lambda_{\circ} - (A + B\Lambda\ )\,]\,\sqrt{\alpha c} \qquad \ldots (९)$$

A और B स्थिर है, जो विलायक की प्रकृति और ताप पर निर्भर करते है और कुछ विलायकों के संदर्भ में उनके मान यहाँ दिए गए है।

गैसों में एवं दुर्बल विद्युत् क्षेत्रों में विद्युत् चालन सभी गैसे सामान्य ताप और दाब की स्थिति में बहुत अच्छी विद्युत्रोधी होती है। यदि एक आवेशित विद्युत्दर्शी को कुचालक पर रख दिया जाए तो यह बहुत समय तक के लिये आवेश का धारण करेगा। बहुत ही मंद रूप से जो क्षरण (leakage) होता है, उसका कारण आस-पास स्थित कॉस्मिक किरणों और अन्य रेडियोऐक्टिव सदूषणों के कारण विद्युत्दर्शी मे स्थित गैस का आयनन है। ये विकिरण लगभग प्रति घन सेंटीमीटर मे प्रति सेकंड १० आयन युग्मों का उत्पन्न करते हैं।

एक्सकिरण, गामा किरण आदि आयनकारी विकिरणों को गैस मे से गुजार कर उसकी चालकता मे वृद्धि की जा सकती हैं। ये विकिरण बाह्य इलेक्ट्रानो को कुछ परमाणुओं से निर्लेपित करते है, जिससे परमाणु धन आवेशवाले हो जाते हैं। इलेक्ट्रॉन अन्य उदासीन परमाणुओं से जुड़ जाते हैं, जिससे ऋण गैस आयनों का निर्माण होता है। यदि इस गैस मे स्थित दो इलेक्ट्रोडों पर विभवांतर प्रयुक्त किया जाय, तो ये आयन धारा को प्रवाहित करेंगे। यह चालन ठोसों और द्रवों में विद्युत् चालन से अनेक प्रकार से भिन्न होता है। प्रथमत: ओम का नियम विभवांतर के अल्पमानों में पाया जाता है और बड़े मानों के लिये धारा संतृप्ति प्रभाव (saturation effect) प्रदर्शित करती हैं। यह इस कारण कि गैस के अंदर उत्पन्न आयनों की संख्या आयनकारी स्रोत की सामर्थ्य के अनुसार सीमित होती है और (यदि स्वयं आयनन का कोई दूसरा स्रोत काम में न लाया जाए तो) धारा इस संख्या द्वारा सीमित होगी।



चित्र ६.

कम विभवांतरों के लिये विभवांतर के फलन के रूप मे इलेक्ट्रोडों की मध्य धारा का आलेख।

गैस मे आयनों का व्यवहार समझने के लिये अनेक प्रयोग किए गए है। दो अभिलक्षक (characteristic) परिमाण मान पड़ते है आयनों की गतिशीलता और पुनस्संयोजन दर। गतिशीलता संख्या प्रति सेकंड मे वह वेग है जो १ सेंटीमीटर की दूरी पर स्थित इलेक्ट्रोडों पर १ वोल्ट विभव प्रयुक्त करने पर आयन द्वारा प्राप्त किया जाता है और पुनःसंयोजन का गुणांक α निम्नलिखित समीकरण द्वारा परिभाषित होता है :

$$\frac{dn_1}{dt} = \frac{dn_2}{dt} = -\alpha\, n_1\, n_2 \qquad \ldots (१०)$$

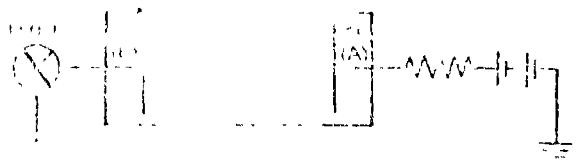
यहाँ n_1 और n_2 क्रमश: प्रति इकाई आयतन मे धन और ऋण आयनों की संख्याएँ है। आयनों की गतिशीलता और α दोनों दाब पर निर्भर हैं। आयनों की गतिशीलता दाब के बढ़ने पर घटती है और α बढ़ता है। ऋण आयनो की गतिशीलता हमेशा धन आयनों की गतिशीलता से कुछ अधिक होती है, परंतु दोनों ही वायुमंडलीय दाब और कमरे के ताप पर एक होते हैं। हवा का मानक ताप और दाब पर पुन:संयोजन गुणांक α लगभग $१\text{६} \times १०^{-६}$ सेमी^{3} सेकंड$^{-1}$ होता है, अर्थात् यदि एक घन सेंटीमीटर हवा में प्रत्येक प्रकार के आयनों की संख्या १,००० हो, तो औसतन लगभग १६ आयन एक सेकंड में पुन:संयोजन करेंगे।

तीव्र विद्युत् क्षेत्र में चालन — ऊपर वर्णित बातें तभी ठीक

जाती है जब इलेक्ट्रोडों के बीच प्रयुक्त क्षेत्र बहुत बड़ा न हो। बड़े क्षेत्रों के लिये चालन की क्रियाविधि भिन्न है।

गैसों में बड़े क्षेत्रों का उपयोग करते हुए, विद्युत् चालन संबंधी अधिकांश मौलिक अनुसंधान जे० जे० टामसन और जे० जे० टाउनसेंड ने १८९०-१८९९ ई० तक किया। इन अध्ययनों के परिणामस्वरूप आवेशित कणों के संसूचन (charged particle detection) के आधुनिक उपकरणों का निर्माण संभव हो सका है, जैसे गाइगर मुलर गणित्र (Geiger Muller counter), आयनन कोष्ठ आदि। प्लाज्मा (plasma), अर्थात् आयनित कणों की गैस में तापनाभिकीय अभिक्रिया (thermonuclear reaction) उत्पन्न करा सकने की संभावना से, वर्तमान समय में यह क्षेत्र बड़ा ही महत्वपूर्ण हो गया है।

अब निम्न दाब पर गैसों में विसर्जन की विवेचना की जाएगी। चित्र ७ में एक गैस कोष्ठ दिखाया गया है, जिसमें दो इलेक्ट्रोड हैं। उनके बीच की दूरी d परिवर्तित की जा सकती है। अ (A) इलेक्ट्रोड पर विभव प्रयुक्त किया जाता है और दूसरे को एक विद्युन्मापी वि (E) से जोड़ देते हैं। यह विद्युन्मापी $१०^{-१०}$



चित्र ७. किसी गैस द्वारा विद्युत्प्रवाह अध्ययन करने की नली

एंपियर तक की धारा को माप सकता है। एक्स किरण या गामा किरण से कैथोड ब (B) पर प्रकाश दिया जाता है, जिससे वह फोटो इलेक्ट्रान उत्सर्जित (emit) करने लगता है। ये अ (A) की ओर चल पड़ते हैं और यदि विभवांतर अधिक हो, तो उनमें इतनी ऊर्जा संचित हो जाती है कि वे अपने मार्ग में स्थित अन्य परमाणुओं को आयनित करने के लिये पर्याप्त होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न इलेक्ट्रान गैस को और भी उसी प्रकार आयनित कर सकते हैं। यह दर्शाया जा सकता है कि इलेक्ट्रोड पार्थक्य d के लिये धारा

$$I = I_0 e^{\alpha d} \qquad \dots (११)$$

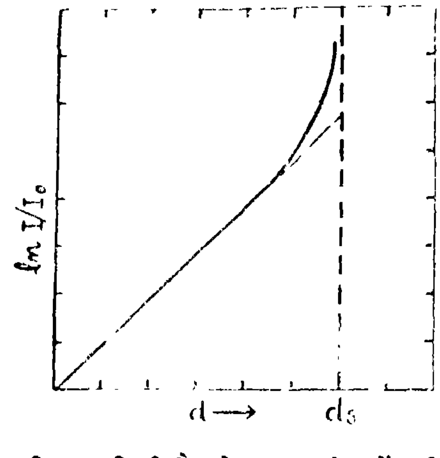
होगी। यहाँ α स्थिरांक है, जो क्षेत्र (विभवांतर/दूरी) और दबाव पर निर्भर होता है। यदि d बड़ा है, तो ऊपर लिखित समीकरण को इस प्रकार सुधार लेना होगा

$$I = \frac{I_0 e^{\alpha d}}{1 - C_2 (e^{\alpha d} - 1)} \qquad \dots (१२)$$

यहाँ C_2 दूसरा स्थिरांक है, जो दबाव और क्षेत्र पर निर्भर है। यदि $\log_e I/I_0$ को d के साथ आलेखित (plot) किया जाय, तो चित्र ८ में प्रदर्शित प्रकार का वक्र प्राप्त होगा। d के अल्पमानों के लिये वक्र d में रैखीय है, जबकि मान $d \to ds$ के लिये

$$1 - C_2 (e^{\alpha d} - 1) = ० \qquad \dots (१३)$$

वक्र अनंत की ओर अग्रसर होता है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि $d > d_s$ मान के लिये यदि आयनकारी स्रोत न भी हो, तब भी धारा प्रवाहित होगी ही। धारा का अधिकतम मान बाह्य परिपथ द्वारा निर्धारित होगा। विभव पात V_s जो इस स्थिति को d_s



चित्र ८. किसी गैस के समरूप क्षेत्र में दूरी के साथ आयनन वृद्धि की तुलना।

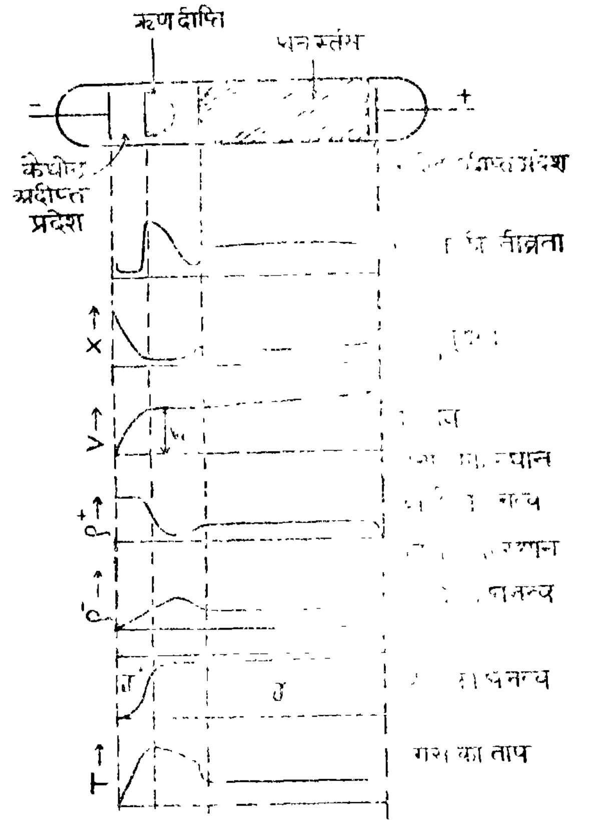
दूरी पर उत्पन्न करता है स्फुलिंग (sparking) विभव कहलाता है और केवल $P \times d_s$ पर निर्भर है जिसमें P गैस का दबाव है। यह संबंध पाशन का नियम (Paschen's law) कहलाता है।

वक्र का रेखीय भाग, जैसा हम पहले कह आए हैं, गैस को आयनित करनेवाले प्राथमिक प्रकाश इलेक्ट्रॉनों द्वारा गैस में उत्पन्न इलेक्ट्रॉनों के कारण है। $d = d_s$ के निकट धारा में होनेवाली अकस्मात् वृद्धि द्वितीयक प्रक्रियाओं का कारण है, जैसे (१) धन आयनों द्वारा गैस का आयनन (२) धन आयन, या प्रोटॉन बमबारी आदि द्वारा कैथोड से द्वितीयक इलेक्ट्रॉनों का उत्सर्जन। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण कैथोड से इलेक्ट्रॉन उत्सर्जन है, परंतु चाहे धन आयन या फोटॉन द्वारा उत्सर्जन होता हो, कर्मक (agent) का तुलनात्मक महत्व कैथोड की प्रकृति और प्रायोगिक अवस्थाओं पर निर्भर होता है।

जहाँ तक स्फुलिंग के उपक्रम (initiation) की अवस्थाओं का संबंध है, प्रेक्षण किया गया है कि उच्च दबाव पर भी स्फुलिंग उपक्रम उन्हीं अवस्थाओं में होता है, जिनमें निम्न दबाव पर होता है, अर्थात् पाशन का नियम दाब के इस परास (range) में भी भली प्रकार लागू होता है।

विसर्जन के उपक्रम की विवेचना कर चुकने के बाद, अब हम निम्न दाब पर विसर्जन के स्वरूप पर विचार करेंगे। विसर्जन का प्ररूप (type) अन्य बातों के अलावा नली के अंदर दाब तथा उपस्थित गैस इलेक्ट्रोडों के आरपार की वोल्टता आदि पर निर्भर है। उदाहरण के लिये चित्र ९ में उस स्थिति के विसर्जन लक्षण (discharge characteristics) दिए गए है जिसमें कतिपय सेंटीमीटर व्यास की ५० सेमी लंबी नली, और १ मिलीमीटर पारे के दबाव पर नियन गैस से भरी हुई नली अल्पधारा $\sim १०^{-४}$ ऐंपियर वहन करती है। प्रेक्षित किया जाता है कि कैथोड के निकट विभव पात बड़ा ही तीखा होता है, जिसका अभिप्राय है कि वहाँ पर विद्युत् क्षेत्र बड़ा है।

यदि दाब को पारे के लगभग १०$^{-२}$ मिलीमीटर तक घटा दिया जाय और उच्चतर वोल्टताएँ (२ – ५० kev) अनुप्रयुक्त

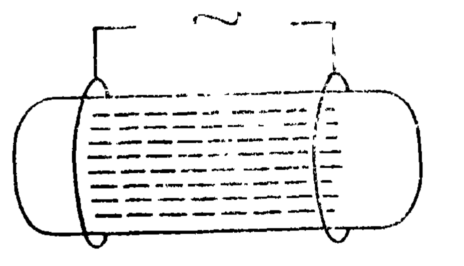


चित्र ९. विसर्जन की लंबाई के अनुदैर्घ्य विसर्जन प्राचलों का परिवर्तन।

की जाएँ, तो विसर्जन का लक्षण पूर्णत: बदल जाता है। अब यह अदीप्त विसर्जन (dark discharge) होता है, अर्थात् दृश्य प्रकाश उत्सर्जित नहीं होता और इलेक्ट्रोडों के बीच गतिशील आयनों में किरणपुंज (beam) के सभी गुण होते हैं। यदि इन्हें 'कैथोड' के किसी छिद्र द्वारा गुजरने दिया जाय, तो वे सुनिश्चित स्पष्ट किरण कूचिका (pencil) के रूप में निर्गत होते हैं और कैनैल किरण (canal rays), या धन किरण, कहलाते हैं। इन आवेशित आयनों के द्रव्यमान के निर्धारण का व्यापक कार्य जे० जे० टॉमसन, ऐस्टन और अन्य लोगों ने किया है।

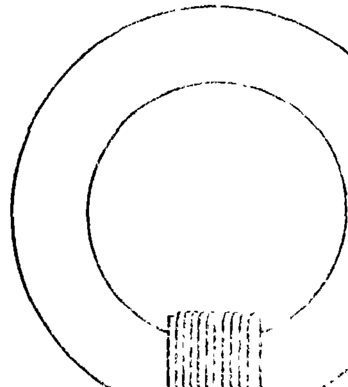
विसर्जन में शीत इलेक्ट्रॉन उत्सर्जन ज्ञात है कि उच्च क्षेत्रों के प्रभाव में शीत धातुपृष्ठों से इलेक्ट्रॉन उत्सर्जित होते हैं। विसर्जन नली के अंदर कैथोड पृष्ठ पर निर्भर यह प्रभाव अंतिम विसर्जन के स्वरूप को बहुत अधिक प्रभावित कर सकता है। खास तौर से जब उच्च क्षेत्रों को, उच्च दाब पर और अल्प अंतराल पर, प्रयुक्त किया जाता है, तब शीत इलेक्ट्रॉन उत्सर्जन गैस में इतना आयनन उत्पन्न कर सकता है कि वह स्फुलिंग विभव V_s को घटाने और पाशन के नियम को विफल करने के लिये पर्याप्त हो। यह विदित है कि कैथोड पर ऑक्साइड की परत की उपस्थिति इस प्रभाव को और भी बढ़ाती है।

प्रत्यावर्ती और स्पंद (pulsed) क्षेत्रों में विसर्जन — उच्च आवृत्ति वाले प्रत्यावर्ती क्षेत्रों द्वारा गैस में विसर्जन को और भी उत्तेजित किया जा सकता है। इस स्थिति में, जैसा चित्र १०. में दिखाया गया है, बाह्य इलेक्ट्रोडों का उपयोग करना संभव है।



चित्र १० किसी प्रत्यावर्ती क्षेत्र में रेखीय विसर्जन।

इससे इलेक्ट्रोडों पर कोई आयन हानि नहीं होती। टोरॉइडी (toroidal) नली में भी विसर्जन को उत्तेजित किया जा सकता है (चित्र ११)। अक्सर काम आनेवाली विधि है टोरॉइड को परिणामित्र (transformers) का द्वितीयक परिपथ बना देना। जब रेडियो आवृत्ति तापन द्वारा कुछ प्रारंभिक आयनन हो जाय, तब प्रारंभिक परिपथ द्वारा संधारित्रों का बैंक (bank of condensors) विसर्जित किया जाता है, जिससे टोरॉइड में गैस लगभग संपूर्णत: भंग (breakdown) हो जाती है और एक बहुत बड़ा धारा स्पंद उत्पन्न होता है। इन विशाल (१०^{५} से १०^{६} तक की ऐंपियर मात्रा की)

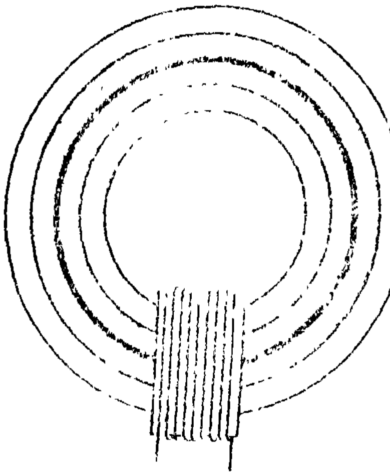


चित्र ११. गैस विसर्जन टोरॉइडी नली।

धाराओं के कारण विभिन्न धारा लाइनों के बीच। आकर्षण बल विशाल होता है और समूचा प्लैज्मा (plasma) संकुचित हो जाता है (देखें चित्र १२) और बरतन की काँच की दीवारों को छोड़ देता है। इस प्रकार ऊष्मा द्वारा वियुक्त प्लैज्मा प्राप्त होता है। प्रचंड ताप उत्पन्न होता है और आशा की जाती है कि भविष्य में ऐसी ही किसी युक्ति द्वारा तापनाभिकीय अभिक्रियाएँ उत्पन्न की जा सकेंगी।

यह संकुचित विसर्जन अस्थिर है और दीवारों से भिड़ने की प्रवृत्ति रखता है और ऐसा करते समय ऊष्मा को काँच पर संचारित कर देता है। इसे स्थिरता प्रदान करने के लिये टोरॉइड पर लिपटी

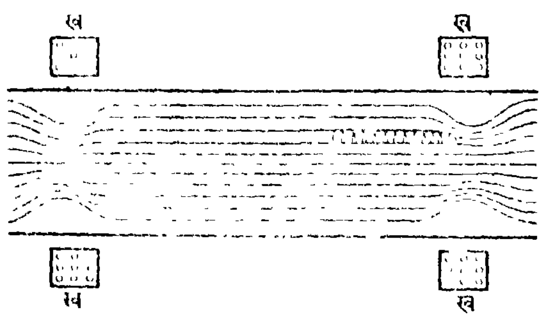
हुई कुंडली द्वारा ३ × १०⁶ गास के परिमाण का बाह्य चुंबकीय क्षेत्र



चित्र १२. टोरॉइडी नली में विसर्जन
भारी विसर्जन धारा के लिये प्लैज़्मा काच की दीवारों को छोड़कर संकुचित हो जाता है।

प्रयुक्त किया जाता है। उच्च प्लैज़्मा घनत्व और उच्च ताप के लिये अनेक अन्य सुधारों का समावेश कर लेना चाहिए।

रेखीय प्लैज़्मा के परिरोध (confinement) पर भी बहुत सा काम सफलतापूर्वक किया गया है। तीव्र चुंबकीय क्षेत्र नली के



चित्र १३ प्लैज़्मा का चुंबकीय दर्पण परिरोध।

सिरों पर उत्पन्न किए जाते हैं, जिससे नली के सिरों की ओर गतिशील आयन परावर्तित होकर इन क्षेत्रों की भीतरी नली की ओर लौट जायँ।

प्लैज़्मा और चुंबकीय क्षेत्रों की परस्पर क्रिया का क्षेत्र, जिसे मैग्नेटो हाइड्रो-डाइनैमिक्स कहते हैं, भौतिकी का अत्यधिक महत्व का प्रकरण बन रहा है।

चापविसर्जन (Arc Discharge) — जब दो कार्बन या धातु इलेक्ट्रोड, जिनमें कुछ विभवांतर प्रयुक्त हुआ हो, संपर्क में लाए जाते हैं और फिर धीरे धीरे अलग किए जाते हैं, तो चाप विसर्जन उत्पन्न होता है। विसर्जन में धारा अनिश्चित रूप से बढ़ सकती है और केवल बाह्य परिपथ द्वारा ही सीमित होती है। धारा ज्यों ज्यों बढ़ती है, विभिन्न धारा अवयवों (elements) में पारस्परिक आकर्षण के कारण समग्र विसर्जन संकुचित होता है और धारा का घनत्व १०³ से १० एंपियर/सेमी तक की उच्च दाब को प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त धन आयनों का घनत्व खास तौर से कथोड के निकट पर्याप्त बढ़ जाता है और इलेक्ट्रानों और धन आयनों का गैस परमाणुओं से संघट्टन (collision) ऊर्जा के क्षेत्र से गैस को स्थानांतरित कर देता है। इसके परिणामस्वरूप गैस बहुत उच्च ताप पाकर गरम हो जाती है। यह कथोड के अपरदन (erosion) में महत्वपूर्ण साबित होता है।

तड़ित विसर्जन - मेघों में होनेवाले तड़ित विसर्जन में ५ × १०⁸ वोल्ट परिमाण का विभवांतर प्राप्त होता है, जो प्रयोगशाला में प्राप्य परिमाण का लगभग दूना होता है। इलेक्ट्रोडों की दूरी कुछ किलोमीटर हो सकती है और विसर्जन होने की क्रिया में प्रयोगशाला में जितना समय लगता है उससे बहुत अधिक लगता है। विसर्जन का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि धरती में विसर्जन हो रहा है या मेघ में। इन तड़ित् विसर्जनों में धारा २० किलो-एंपियर परिमाण की होती है और वेग १० से १०⁸ सेमी० सेकंड तक होता है।

सं॰ ग्रं॰ — एफ॰ मीहन : द माडर्न थ्योरी आव सॉलिड्स १९४०, मैकग्रा-हिल, न्यूयार्क; एफ॰ लेजर : गैसएन्टलडुइंस, खंड १, १९५७, जे॰ विले ऐंड सन्स, न्यूयार्क; एस॰ ग्लास्टान : इंट्रोडक्शन टु इलेक्ट्रोकेमिस्ट्री १९५६; एफ॰ लुएलिन जोन्स रिप॰ प्राग॰ फिजिक्स १६, २१६ (१९५३); एस॰ फ्लुगी (संपादक) इनसाइक्लोपीडिया आव फिज़िक्स, खंड २२, १९५६, स्प्रिंगर बर्लाग, बर्लिन; ए॰ एस॰ विशप : प्रॉजेक्ट शेरवुड, १९५८, ऐडीसन वेसली, न्यूयार्क।
[एल॰ एस॰ कोठारी और एस॰ पी॰ सिंह]

विद्युत्चिकित्सा और निदान

विद्युत्चिकित्सा और निदान कुछ रोगों के निदान और चिकित्सा में विद्युत् का उपयोग होता है। यह समझना भूल है कि सभी रोगों के निदान और चिकित्सा विद्युत् से हो सकते हैं। दिष्ट् दिष्ट या गैलवेनिक विद्युत् धारा (Direct or Galvanic Current), फराडिक विद्युत धारा (Faradic Current), ज्यावक्रीय विद्युत धारा (Sinusoidal Current) तथा उच्च आवृत्ति धारा (High Frequency Current), या डायाथर्मी (Diathermy) के रूप में हो सकती है।

यदि दिष्टधारा की वोल्टता और ऐंपियर कम हो और उसे शरीर के किसी भाग की त्वचा पर प्रवाहित किया जाय, तो विद्युत् धारा के प्रवाह से प्रतिवर्ती क्रियाएं (reflex action) उत्पन्न होती है, जिससे रुधिर धमनियाँ विस्फारित (dilate) हो जाती हैं, रुधिर का संचार बढ़ जाता है और आयनों का अभिगमन होने लगता है। इसमें विशिष्ट लवण के आयनों को किसी विशिष्ट ऊतक तक पहुँचाकर, उन्हें वहाँ निक्षिप्त किया जा सकता है।

किसी जीवित प्राणी की पेशियों में विद्युत्धारा के प्रवाह से प्रत्येक 'संपर्क और विच्छेद' पर संकुचन उत्पन्न होता है। यदि विद्युत्धारा किसी सूई पर संकेंद्रित कर प्रवाहित की जाय, तो इससे ऊतकों पर विनाशी प्रभाव पड़ सकता है और इससे रासायनिक परि-

वर्तन भी हो सकते हैं। रुधिर वाहिनियों, तंत्रिकाओं, पेशियों और जोड़ों के रोगनिवारण में विद्युत्‌धारा का उपयोग होता है। इससे रोगवाहिनियाँ विस्फारित हो जाती है। उनमें ओषधियाँ डालकर अधिक समय तक विस्फारित रखा जा सकता है, विशिष्ट ओषधियाँ किसी विशिष्ट स्थान पर पहुँचाकर, उनसे लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार श्लेष्मकला की सूजन में यदि जशद या ताम्र आयन प्रविष्ट कराया जाय, तो उससे लाभ होता पाया गया है।

फैराडिक विद्युत्‌धारा से तंत्रिका घात का निदान होता है और तंत्रिका के पक्षाघात में मांसपेशियों के व्यवहार की कमी से जो दुर्बलता आ जाती है, उसे रोकने के लिये मांसपेशियों में विद्युत्‌धारा क्षोभन उत्पन्न कराया जा सकता है।

ज्यावक्रीय विद्युत्‌धारा निम्न आवृत्ति की विद्युत्‌धारा होती है। प्रत्यावर्तन की दर साधारणतया प्रति मिनट ५ से ५० तक रहती है। इससे पेशियों में संकुंचन होता है। पक्षाघात के रोगी में भी यह संकुंचन उत्पन्न करती है। अत पेशियों को उत्तेजित करने में इसका उपयोग होता है। इससे पेशियों की संकुचनशीलता (contractility), उत्तेजनशीलता (irritability), स्फुरण (tone) और पोषण (nutrition) बना रहता है और ऊतकों का तनुभवन रोका जा सकता है।

१८९० ई० में देखा गया कि बहुत ऊँची आवृत्ति, जैसे प्रति सेकंड १०,००० दोलन से, पेशियों का संकुचन नहीं होता, क्योंकि इसमें क्षणिक क्षोभन से तंत्रिका पेशी की अनुक्रिया (response) नहीं होती। यदि तनाव तथा आवृत्ति (frequency) अधिक बढ़ा दी जाय (१,००,००० प्रति सेकंड), तो धारा के पथ में प्रतिरोध के कारण ऊष्मा उत्पन्न होती है। इसे डायाथर्मी कहते है। इससे रुधिरवाहिनियों का विस्फारण बढ़ जाता है और ऊतकों का तापन हो जाता है। ऊतकों के तापन में गरम जल या सूखे कपड़े का भी व्यवहार हो सकता है, पर इसमें तापन उतने गहरे स्थल पर नहीं पहुँचता जितना डायाथर्मी में पहुँचता है। इसमें पीड़ा और पेशी के ऐंठन में कमी आ जाती है। चोट, मोच, प्रदाह, पीड़ा आदि में डायाथर्मी को अधिक लाभप्रद पाया गया है। डायाथर्मी की अनेक मशीनें बनी है और उनका व्यवहार दिनों दिन बढ़ रहा है।

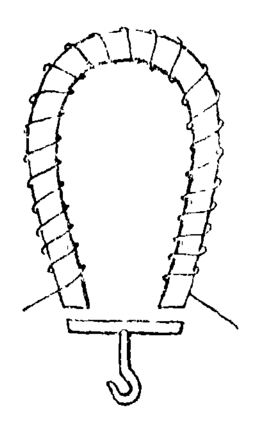
मानसिक विकार के रोगियों में विद्युत् आक्षोभ चिकित्सा का व्यवहार होता है। रोगी के कपाल पर विद्युत् का इलेक्ट्रोड लगाकर नियंत्रित विद्युत्‌धारा कुछ निश्चित काल तक प्रवाहित की जाती है। इससे रोगी मूर्छित और चेतनाहीन हो जाता है। ऐसा उपचार अवनमित अवस्था (depressed states), अतरावंध (schizophremia) तथा अन्य प्रकार की मनोविक्षिप्ति (psychosis) में लाभदायक सिद्ध हुआ है।

रोगों के निदान के लिये अनेक वैद्युत उपकरण बने हैं। ऐसा एक उपकरण इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम (electrocardiogram) है। हृदय के निस्पदन (beating) से शरीर में वोल्टता उत्पन्न होती है। इस वोल्टता को यह उपकरण बहुत अधिक परिवर्धित कर कागज पर अभिलिखित कर देता है। इस उपकरण के इलेक्ट्रोड को व्यक्ति की भुजा, टाँग या छाती पर रखते हैं। यदि हृदय की कार्यशीलता में कोई अपसामान्यता है, तो जो अभिलेख प्राप्त होता है वह सामान्य अभिलेख से भिन्न होता है। एक दूसरा उपकरण इलेक्ट्रो-एनसेफेलोग्राम (electro-encephalogram) है। इसमें इलेक्ट्रोड कपाल पर लगाया जाता है। इससे जो अभिलेख प्राप्त होता है, उसमे मस्तिष्क के कुछ रोगों का पता लगता है। एक तीसरा उपकरण वैद्युत मायोग्राम (electro-mayogram) है। इसमे एक छोटा सूईनुमा इलेक्ट्रोड पेशी में प्रविष्ट कराया जाता है। इससे त्वचा के वैद्युत प्रतिरोध से रोगी की भावात्मक प्रतिक्रिया का पता लगता है। हृत्स्पद सुनने के लिये अब वैद्युत स्टेथॉस्कोप भी बने हैं, जिनसे हृत्स्पंदन सुनना बड़ा सरल हो गया है। विद्युत के उपयोग से रोग निदान, रोग चिकित्सा और ओषध अनुसंधान में बड़ी प्रगति हुई है। [उ० शं० प्र०]

विद्युत् चुंबक लोहे पर चुंबक रगड़कर लोहे को चुंबकित किया जा सकता है और लोहे पर तार लपेटकर उस तार से विद्युत् धारा बहाकर भी लोहे को चुंबकित किया जा सकता है। विद्युत् धारा के प्रभाव से जिस लोहे में चुंबकत्व उत्पन्न होता है, उसे विद्युत् चुंबक कहते है।

सन् १८२० ई० मे अर्स्टेड (Oersted) ने आविष्कार किया कि विद्युत् धारा का प्रभाव चुंबकों पर पड़ता है। इसके बाद ही उसी साल ऐरैगो (Arago) ने यह आविष्कार किया कि ताँबे के तार में बहती हुई विद्युत् धारा के प्रभाव से इसके निकट रखे लोहे और इस्पात के टुकड़े चुंबकित हो जाते है। उसी साल अक्टूबर महीने मे सर हंफ्री डेवी (Sir Humphrey Davy) ने स्वतंत्र रूप से इसी तथ्य का आविष्कार किया।

सन् १८२५ ई० में इंग्लैंड के विलियम स्टर्जन (William Sturgeon) ने पहला विद्युत्-चुंबक बनाया, जो लगभग ४ किलो का भार उठा सकता था। इन्होंने लोहे की छड़ को घोड़े के नाल के रूप मे मोड़कर उसपर विद्युत्‌रोधी तार लपेटा। तार मे बिजली की धारा प्रवाहित करते ही छड़ चुंबकित हो गया और धारा बंद करते ही छड़ का चुंबकत्व लुप्त हो गया। यहाँ छड़ के



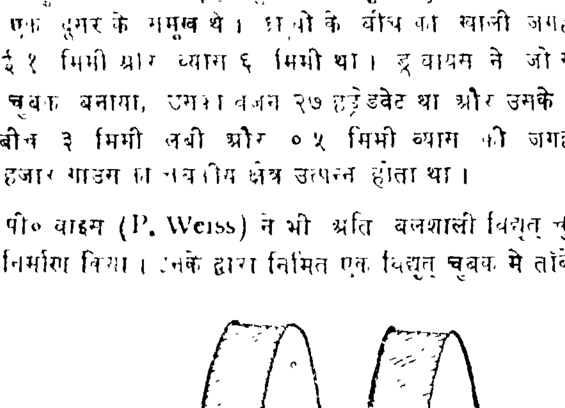
चित्र १. स्टर्जन के विद्युत् चुंबक का रूप

एक सिरे से दूसरे सिरे तक तार को एक ही दिशा मे लपेटते जाते हैं, किंतु सिरों के सामने से देखने से मुड़ी हुई छड़ की एक बाहु

पर धारा वामावर्त दिशा में चक्कर काटती है और दूसरी बाहु पर दक्षिणावर्त दिशा मे। फलस्वरूप छड़ का एक सिरा उत्तर-ध्रुव और दूसरा दक्षिण ध्रुव बन जाता है।

स्टर्जन के प्रयोगो से प्रेरित होकर सन् १८३१ में अमरीका के जोजेफ हेनरी (Joseph Henry) ने शक्तिशाली विद्युत् चुबको का निर्माण किया। उन्होंने लोहे की छड़ पर लपेटे हुए तारो के फेरों की संख्या बढ़ाकर विद्युत्चुंबक की शक्ति बढ़ाई। उन्होंने जो पहला चुंबक बनाया वह ३५० किलो का भार उठा सकता था और इसके बाद उन्होंने जो दूसरा विद्युत् चुंबक बनाया, वह १,००० किलोग्राम का भार उठा सकता था। उनके विद्युत् चुबको को कई सेल की बैटरी की धारा से ही उपर्युक्त प्रबल चुंबकत्व प्राप्त होता था। इसके बाद तो इससे भी शक्तिशाली विद्युत् चुबको का उत्तरोत्तर निर्माण होता गया। सन् १८९१ ई० मे दू बॉय (Du Bois) ने एक बड़े विद्युत् चुबक का निर्माण किया। इस विद्युत् चुबक के क्रोड (core) (लोहे की छड़) पर तार के २,४०० फेरे लपेटे गए और जब तार मे ५० ऐंपियर की विद्युत् धारा प्रवाहित की गई, तो इस विद्युत् चुबक के बीच ४० हजार गाउस का प्रबल चुबकीय क्षेत्र उत्पन्न हुआ। इस विद्युत् चुबक के ध्रुव शकु के आकार के थे और एक दूसरे के सम्मुख थे। ध्रुवो के बीच का खाली जगह की लबाई १ मिमी और व्यास ६ मिमी था। दू वायस ने जो सबसे बड़ा चुबक बनाया, उसका वजन २७ हड्रेडवेट था और उसके ध्रुवो के बीच ३ मिमी लबी और ०.५ मिमी व्यास की जगह मे ६५ हजार गाउस का चुबकीय क्षेत्र उत्पन्न होता था।

पी० वाइस (P. Weiss) ने भी अति बलशाली विद्युत् चुबको का निर्माण किया। उनके द्वारा निर्मित एक विद्युत् चुबक मे तॉबे की



चित्र २. दु बॉय का विद्युत् चुंबक

नलिका के १,४४० फेरे थे और इसमे १०० ऐंपियर की धारा बहाई जाती थी। नलिका के अदर से पानी बहाकर उसे ठढा रखा जाता था। दू बाय के विद्युत् चुबक मे भी लपेटे हुए तार खोखली नालिका के रूप में होते थे और नालिका के अंदर पानी बहाकर उसे ठंढा रखा जाता था।

विद्युत् चुंबक के क्रोड के लिये ऐसे लोहे का व्यवहार होता है जिसकी चुंबकीय प्रवृत्ति ऊँची हो, चुबकन धारा बंद कर देने पर क्रोड का अवशेष चुबकत्व निम्नतम हो और वह शीघ्र ही चुबकीय संतृप्ति न प्राप्त करे। विद्युत् चुंबक के क्रोड के लिये पिटवाँ लोहे अथवा ढालवाँ नरम इस्पात, का व्यवहार किया जाता है। किंतु किसी भी प्रकार के लोहे का व्यवहार किया जाय, उसका चुंबकत्व एक निश्चित सीमा को नही पार कर सकता, चाहे चुंबकन धारा को कितना भी क्यो न बढाया जाय। इसलिये अति प्रबल चुबकीय क्षेत्र उत्पन्न करने के लिये कापित्जा ने (Kapitza) तार की परिनालिका का व्यवहार किया, जिसका क्रोड वायु थी। इस परिनालिका में एक प्रबल जनित्र से ८,००० ऐंपियर की क्षणिक धारा ३/१००० सेकंड तक प्रवाहित कर उस परिनालिका के अंदर ३,२०,००० गाउस का चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न किया।

कारखानो मे विद्युत् चुंबक द्वारा भारी बोझो को उठाने का काम लिया जाता है। जिस बोझ को उठाना होता है, उसपर लोहे की पटरी बाँध देते है। विद्युत् चुबक से धारा प्रवाहित करते ही विद्युत्-चुबक चुबकित होकर लोहे की पटरी और पटरी से लगे बोझ को आकर्षित करके उठा लेता है। किसी विद्युत् चुंबक का बोझ उठाने का यह बल $B^2A/8\pi$ के बराबर होता है, जहाँ B = चुबक के ध्रुवों के निकट उसके चुबकीय क्षेत्र का फ्लक्स घनत्व तथा A = चुबक के ध्रुवो के मुख का क्षेत्रफल।

वैज्ञानिक अनुसंधानों मे विद्युत् चुबक का बहुत महत्वपूर्ण उपयोग होता रहा है। विद्युत् चुबक की सहायता से फैरेडे ने प्रकाश संबधी फरेडे–प्रभाव, जेमान (Zeeman) ने ज़ेमान-प्रभाव और केर (Kerr) ने केर-प्रभाव का आविष्कार किया। आवेशित कणों को महान् वेग प्रदान करने के लिये, साइक्लोट्रॉन, बीटाट्रॉन, सिंक्रोट्रॉन और विवा-ट्रॉन इत्यादि अद्भुत यंत्र बने है। इनमे भी विशाल विद्युत् चुबकों का व्यवहार होता है।

प्रति दिन काम आनेवाले अनेक यंत्रो और उपकरणों मे छोटे बड़े विद्युत् चुबकों का व्यवहार होता है। बिजली की घंटी में, टेलीग्राफ और टेलीफोन में विद्युत्-चुबक का व्यवहार होता है, क्योंकि विद्युत्-चुबक की यह विशेषता है कि उसमे विद्युत् धारा बहते ही वह चुंबकित हो जाता है और विद्युत् धारा के बंद होते ही विचुंबकित, तथा उसका चुबकत्व, एक निश्चित सीमा के अंदर, उस विद्युत् चुबक पर लपेटे तार मे बहती हुई धारा का अनुपाती होता है। लाउडस्पीकर मे, धारा जनित्रों में, बिजली के मोटरो मे, बिजली के हॉर्न मे और चुबकीय क्लच में विद्युत्-चुबक का व्यवहार होता है। वैद्युत परिपथ मे विद्युत् चुबक के द्वारा रिले का काम लिया जाता है, यानी दूर से ही दुर्बल धारा द्वारा सौ और हजार ऐंपियर धारा के स्विचों को दबा कर सौ और हजार ऐंपियर की धारा स्थापित की जाती है। अनेक प्रकार के स्वचालित यंत्रो में विद्युत् चुबको का उपयोग होता है।

[म० ना० व०]

विद्युत्चुंबकीय तरंगें (Electro-magnetic Waves) वस्तुतः, विद्युत् तरंगों का ही एक रूप हैं, जो चलनशील विद्युत् आवेश द्वारा उत्पन्न विद्युत्चुंबकीय प्रभाव का प्रतिरूप होती है। वैसे तो विद्युत्तरंगों और विद्युत्चुंबकीय तरगो मे कोई अंतर नहीं है, परतु सामान्यत विद्युत्चुंबकीय तरंगों का तात्पर्य बहुत अधिक आवृत्तिवाली विद्युत्तरंगों से होता है। इन्हे साधारण बोलचाल मे रेडियो तरग भी कहते है।

विद्युत्चुंबकीय तरगे, वास्तव मे, आकाश मे स्थित विद्युत् ऊर्जा का प्रतिरूप हैं। ये तरंगें बहुत उच्च आवृत्ति की होती है और प्रकाश के वेग से चलती हैं। इनका मुख्य अंश, इनसे संबंधित, विद्युत् और चुंबकीय क्षेत्र है, जो एक दूसरे से समकोण पर स्थित होते है और चलन की दिशा के भी समकोण होते है। इनसे संबद्ध ऊर्जा का कुछ भाग स्थिरवैद्युत ऊर्जा (electrostatic energy) के रूप में होता है और कुछ चुंबकीय ऊर्जा के रूप में।

सभी प्रकार के विद्युत्चुंबकीय विकिरण (electro magnetic radiation) विद्युत्चुंबकीय तरंगों के ही रूप है। अति उच्च आवृत्ति की रेडियो तरगे, प्रकाश, पराबैंगनी (ultraviolet) और अवरक्त (infra-red) विकिरण, विद्युत्चुंबकीय तरंगो के रूप हैं।

इन तरगों के मुख्य गुण, उनकी उच्च आवृत्ति तथा सापेक्षतया कम तरग लंबाई है। शक्ति बारंबारता की विद्युत्तरंगो की अपेक्षा इनकी तरग लंबाई बहुत कम होती है। इस कारण इन्हें सहज ही आकाश में प्रेषित किया जा सकता है। इनकी ऊर्जा भी दूर दूर तक आकाश में अवस्थित रहती है और रेडियो अभिग्राही द्वारा ग्रहण कर फिर ध्वनि मे बदली जा सकती है।

आवृत्ति को सामान्यतया किलोसाइकिल प्रति सेकंड (kilocycle per second = K C/S) मे व्यक्त किया जाता है, और उससे भी अधिक आवृत्ति की तरगो को मेगासाइकिल (megacycles) मे। तरंग का वेग प्रकाश के वेग अर्थात् ३×१०^{८} मीटर प्रति सेकंड के बराबर होता है। अतः विभिन्न आवृत्ति की तरगो की तरंग लंबाई भी निर्धारित होती है। इनका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। श्रव्य आवृत्ति (audio-frequency) का क्षेत्र भी १६ से १६,००० कंपन प्रति सेकंड है और इनकी तरंग लंबाई २१ मीटर से २७ मीटर तक हो सकती है।

इन तरगो की शक्ति, तरंग द्वारा उत्पन्न विद्युत् क्षेत्र के वोल्टता प्रतिबल (voltage stress) द्वारा मापी जाती है। इसे सामान्यतः प्रति मीटर माइक्रोवोल्ट मे व्यक्त किया जाता है। प्रत्यावर्ती धारा द्वारा उत्पन्न प्रतिबल भी धारा के अनुरूप विचरण करता है। अतः इन तरंगों की तीव्रता (intensity) प्रतिबल के प्रभावी मान (effective value) द्वारा व्यक्त की जाती है। यह ज्यावक्रीय कंपन (sinusoidal variation) में अधिकतम तीव्रता का ($\sqrt{२}$ = ०.७०७) होता है। इस प्रकार तरग की शक्ति को माइक्रोवोल्ट प्रतिमीटर प्रतिबल मे मापने का अर्थ उस वोल्टता मे है जो एक मीटर लंबे संवाहक में उस तरग का अभिवाह (flux) पारित करती हुई प्रेरित (induce) करती है।

तरंग के लंबवाला तल तरंगाग्र (wave front) कहलाता है। तरंग, इसके लंबवत् ही चलती है। उसका चलन, उससे संबद्ध विद्युत् एवं चुंबकीय अभिवाह की रेखाओं पर निर्भर करता है। यदि इनमें से किसी एक की दिशा उलट दी जाए, तो तरंग के चलन की दिशा भी उलट जायगी। परंतु यदि दोनों को ही उलट दिया जाए, तो तरग की दिशा में कोई अंतर नहीं होगा।

विद्युत् चुंबकीय तरगें, विद्युत् आवेश दोलन (oscillation) द्वारा उत्पन्न की जा सकती हैं। ऐसे उपकरण दोलक (oscillators) अथवा संकेत जनित्र (Signal Generator) कहलाते हैं। दोलक के परिपथ अंशकों का व्यवस्थापन करने से किसी भी आवृत्ति की तरंगें जनित की जा सकती है।

विद्युत्चुंबकीय तरंगों की यह भी विशेषता है कि तरंग के केंद्र से दूरी बढ़ने पर तरग की तीव्रता कम होती जाती है। दोलन के अक्ष (axis of oscillation) पर इनकी तीव्रता शून्य होती है तथा उसके लंब अक्ष पर अधिकतम होती है। विस्थापन (displacement) के दो या अधिक केंद्रों से जनित तरंगो में व्यतिकरण (interference) भी हो सकता है। वे एक दूसरे से मिलकर बढ़ भी सकती है और विरोध होने पर घट भी सकती हैं। यह प्रभाव इन तरंगों को फ़ोकस (focus) करने के काम में लाया जाता है, जिससे किसी भी दिशा मे एक संकेंद्रित (concentrated) किरणपुंज (beam) भेजा जा सके। रेडियो संचरण (radio transmission) के क्षेत्र मे यह प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण है।

विद्युत्चुंबकीय तरंगों को आकाश मे प्रेषित करने के लिये, ऐंटेना (antenna) का प्रयोग किया जाता है। यह बहुत से तारो का एक जाल होता है, जो खुले स्थान मे ऊँची बल्ली (mast) के सहारे लगा होता है। इसका आकार संचारित की जानेवाली रेडियो तरंग की तरग लंबाई पर निर्भर करता है और उससे कुछ बड़ा होता है। इस तरह मध्यम तरंगो (medium waves) की तरंग लंबाई अधिक होने के कारण, उनको संचारित करनेवाला ऐंटेना भी काफी बड़ा होता है। इनकी अपेक्षा लघु तरंगों (short waves) की तरग लंबाई कम होने के कारण, उनको संचारित करनेवाले ऐंटेना का आकार भी छोटा होता है।

सभी तरंगो की भाँति, विद्युत्चुंबकीय तरगें भी अवरोध (obstacle) से परावर्तित (reflect) हो सकती है। यदि अवरोध तरग लंबाई से छोटा है, तो आपतित (incident) तरग के प्रभाव से वह दूसरी तरंग का, जो सभी दिशाओं में फैल जाती है, उद्गम हो जाता है। बड़े अवरोध होने पर तो अनेक बिंदु ही दूसरी तरंगो का उद्गम बन सकता है। परिणामस्वरूप जो तरंग प्राप्त होती है, वह इन सभी तरंगो के व्यतिकरण का परिणाम होती है। इस प्रकार किसी बड़े अवरोध से परावर्तित तरगे विशिष्ट दिशा की होती है। रेडार (radar) द्वारा वस्तु की खोज करने के काम मे व्यतिकरण के प्रभाव का प्रयोग किया जाता है। इसमें वस्तु से परावर्तित तरंग का अभिज्ञान (detection) करके वस्तु की केंद्र के सापेक्ष दिशा एवं दूरी का पता लगाया जाता है।

 विद्युत्चुंबकीय तरंगें

अधिक दूरी के रेडियो संचरण में भी विद्युत्चुंबकीय तरंगों के परावर्तन के प्रभाव का प्रयोग किया जाता है। ये तरंगें कोनों पर सहज ही नहीं मुड़ पातीं, अतः पृथ्वीतल पर भी क्षितिज से नीचे रेडियो तरंगें नहीं पहुँच पातीं, परंतु ये पृथ्वी से लगभग ५० किलोमीटर की दूरी पर स्थित आयनमंडल (ionosphere) से परावर्तित होकर पहुँच सकती हैं। पृथ्वी तल पर रेडियो से छोटी तरंगें वस्तुतः इसी प्रकार परावर्तित होकर उपलब्ध होती हैं।

विद्युत्चुंबकीय तरंगों को उत्पन्न एवं प्रेषित करने के लिये सबसे पहले हेर्ट्ज ने प्रयास किया। उसने एक दोलक (oscillator) बनाया, जिसे हेर्ट्ज का दोलक कहते हैं और जिसके द्वारा प्रसारित तरंगें हेर्ट्स तरंगें कही जाती हैं। तथापि व्यावहारिक रूप से ऐसा करने में सर्वप्रथम मार्कोनी ने सफलता प्राप्त की। इन्होंने हर्ट्स दोलक का उपयोग इन तरंगों को उत्पन्न करने के लिये किया और प्रेषी का एक सिरा भूमित कर (earth), एक ऐंटेना बनाया, जिससे इन तरंगों का आकाश में प्रेषण किया जा सके। इस प्रकार मार्कोनी ने बेतारी तार (wireless) का आविष्कार किया, जो अब सामान्य उपयोग की वस्तु बन गया है।

विद्युत्चुंबकीय तरंगें भी, तालाब में ढेला फेंकने से उत्पन्न तरंगों के सदृश ही अपने जनक बिंदु से आगे की ओर बढ़ती जाती हैं। परंतु इस परिगमन में वे धीरे धीरे कुछ कमजोर पड़ती जाती हैं। पृथ्वी और वायुमंडल के आयनित क्षेत्र, तरंगों की ऊर्जा का अवशोषण करते हैं, जिससे वे दुर्बल पड़ जाती हैं। यह क्रिया क्षीणन (attenuation) कहलाती है और तरंगों को क्षीण हुआ कहा जाता है। क्षीणन की क्रिया तरंगों के प्रसार पर भी निर्भर करती है।

वायुमंडल में आयनित स्तरों का क्षेत्र, जिसे आयनमंडल कहते हैं, इन तरंगों के लिये बड़े अवरोध का कार्य करता है। इससे ये तरंगें परावर्तित तथा अपवर्तित हो सकती हैं। पृथ्वीतल भी इनके लिये पर्याप्त अवरोध है और इससे भी ये परावर्तित होती हैं। विभिन्न आवृत्ति की तरंगों के लिये यह स्थिति भिन्न होती है।

प्रत्यावर्ती धारा के सभी परिपथ, विद्युत्चुंबकीय तरंगों के रूप में कुछ विद्युत् ऊर्जा विकिरित करते रहते हैं, परंतु सामान्य परिपथों में यह ऊर्जा बहुत ही कम होती है। विकिरित की गई ऊर्जा परिपथ के विस्तार (dimensions) पर निर्भर करती है और जब तक यह तरंग-लंबाई के आकार का न हो, कोई विशेष ऊर्जा विकिरित नहीं होती, अथवा यह कहा जा सकता है कि विकिरित होनेवाली ऊर्जा नगण्य होती है। इसके संवाहकों की दूरी यदि २० फुट हो, तो ५० साइकिल आवृत्ति की विद्युत् तरंग के लिये, जिसकी तरंग लंबाई लगभग ३,००० मील होती है, यह दूरी उस तरंग लंबाई के सापेक्ष नगण्य होगी। अतः इससे विकिरित ऊर्जा भी नगण्य होगी; परंतु एक कुंडली, जिसका व्यास २० फुट का हो और २,००० किलोसाइकिल आवृत्ति पर संभरण किया जाए, तो उस आवृत्ति की तत्संबंधी तरंग लंबाई के लिये २० फुट का विस्तार नगण्य नहीं होगा। अतः ऐसे परिपथ से पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा का विकिरण होगा। इससे स्पष्ट है कि उच्च आवृत्ति की तरंगें छोटे ऐंटेना से प्रेषित की जा सकती हैं, परंतु कम आवृत्ति वाली तरंगों के लिये बड़े ऐंटेना की आवश्यकता होगी।

ऊर्जा का विकिरण सभी दिशाओं में समान नहीं होता। सभी ऐंटेना कुछ दिशा में सापेक्षतया अधिक ऊर्जा विकिरित करते हैं। इस प्रभाव का उपयोग तरंगों का विशिष्ट दिशा में संकेंद्रण करने के लिये किया जाता है।

जब इन तरंगों द्वारा कोई सूचना अथवा बोली भेजनी हो, तो तरंग को उसी के अनुरूप विचरण कराना आवश्यक है। इसे माडुलन (modulation) कहते हैं। यह तरंग के आयाम (amplitude) तथा आवृत्ति दोनों में ही किया जा सकता है। रेडियो तार संचार में तार कोड (code) के अनुसार ही, प्रेषित की जानेवाली तरंग को डॉट (dot) और डैश (dash) में बदलने की आवश्यकता होती है। इसके लिये प्रेषी को ऑन-ऑफ (on-off) करके ही कार्य बन सकता है। परंतु रेडियो टेलीफोन में, रेडियो तरंग को ध्वनि तरंग के अनुरूप माडुलन करना आवश्यक है। इसी प्रकार टेलीविज़न में चित्र के अनुसार, रेडियो तरंग को चित्र के विभिन्न भागों की प्रकाश तीव्रता के अनुरूप माडुलन करना पड़ता है।

रेडियो तरंगों को ग्रहण करने के लिये यह आवश्यक है कि आकाश में विचरती हुई ऐसी तरंग की ऊर्जा का अवशोषण किया जाए, जो ग्रहण बिंदु से पारित हो। यह कार्य रेडियो ग्राहक का एरियल (aerial) करता है। तरंग का विद्युत्चुंबकीय अभिवाह, एरियल के संवाहक को काटता हुआ उसमें एक वोल्टता प्रेरित करता है जिसे संकेत (Signal) कहते हैं। यह संकेत ठीक उसी प्ररूप का होता है, जैसा कि प्रेषण करनेवाले ऐंटेना में प्रेषित होनेवाली तरंग का। इस प्रकार प्रत्येक तरंग से, एरियल ऊर्जा अवशोषित करता है और उनके अनुरूप ही उसमें वोल्टताएँ प्रेरित हो जाती हैं। अतः, यह आवश्यक है कि रेडियो ग्राहक वांछित संकेत को अवांछित संकेत से अलग कर सके। यह उसे विशिष्ट आवृत्ति के लिये समस्वरित (tune) करके किया जाता है, जो परिपथ अंशकों का व्यवस्थापन करने से ही किया जा सकता है। विभिन्न स्टेशनों से भिन्न भिन्न आवृत्ति की तरंगें ही प्रेषित की जाती हैं, अतः रेडियो को ट्यून करके उसी आवृत्ति की तरंगों को ग्रहण कर सकना संभव है।

एरियल द्वारा ग्रहण किए गए क्षीण संकेत को सुन सकने योग्य बनाने के लिये, उसे प्रवर्धित (amplify) करना आवश्यक है। तत्पश्चात् उसे पहचाना, अथवा विमाडुलन (demodulate) किया जाता है, जिससे वह फिर ध्वनितरंग में परिवर्तित हो जाती है और सुनी जा सकती है। यह ध्वनितरंग ठीक उसी के अनुरूप होती है जो प्रेषी स्टेशन (transmitting station) से ऐंटेना द्वारा विद्युत्-चुंबकीय तरंगों के ऊपर अवस्थित कर आकाश में प्रेषित की गई थी।

विद्युत्चुंबकीय तरंगों की एक विशिष्ट शाखा सूक्ष्म तरंग (micro-wave) है, जो पिछले कुछ वर्षों में अत्यधिक महत्वपूर्ण उपयोगों में लाई गई है। सूक्ष्म तरंग, वस्तुतः ३ से ३०० मेगासाइकिल प्रति सेकंड की आवृत्ति की होती है। ये विशेषतया स्थानिक संचारण (point to point communication) के लिये उपयोग में लाई

गई हैं। यदि प्रेषित तरंगों को एक किरणपुंज में संकेंद्रित कर दिया जाए, तो विशिष्ट स्थान के लिये संचारक्षमता बहुत अधिक बढ़ाई जा सकती है। १ वाट के निर्गत (output) को भी एक शाक्व किरणपुंज (conical beam) के रूप में संकेंद्रित करने पर एक विशिष्ट दिशा में लाभ बहुत अधिक हो सकता है। यद्यपि ऐसा संकेंद्रण सभी तरंग लंबाइयों के लिये संभव है, तथापि व्यावहारिक रूप से केवल अति अल्प तरंगों के लिये ही सफल हो सका है। सूक्ष्म तरंग द्वारा, टेलीविजन मे अधिक बैंड (band) प्राप्त किए जा सकते हैं। इसका क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है और ये अधिकाधिक उपयोग में आ रही है।

विद्युत् चुंबकीय तरगे अपने उपयोग की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और इन्ही उपयोगों के होने से आज का जीवन इतना सुखमय बन सका है। इसका उपयोग निरंतर बढ़ता ही जा रहा है और प्रकृति के चमत्कार मानव के नियंत्रण मे आते जा रहे है। [रा० कु० ग०]

विद्युत्जनित्र (Electric Generator) विद्युत् शक्ति का उत्पादन करनेवाला यंत्र है। यह वस्तुत: यांत्रिक ऊर्जा को विद्युत् ऊर्जा में रूपांतरित करनेवाली मशीन है। किसी भी स्रोत से प्राप्त की गई यांत्रिक ऊर्जा को विद्युत् ऊर्जा मे परिवर्तित करना संभव है। यह ऊर्जा, जलप्रपात के गिरते हुए पानी से अथवा कोयला जलाकर उत्पन्न की गई ऊष्मा द्वारा भाप से, या किसी पेट्रोल अथवा डीजल इंजन से प्राप्त की जा सकती है। ऊर्जा के नए नए स्रोत उपयोग मे लाए जा रहे हैं। मुख्यत:, पिछले कुछ वर्षों मे परमाणुशक्ति का प्रयोग भी विद्युत्शक्ति के लिये बड़े पैमाने पर किया गया है, और बहुत से देशों मे परमाणुशक्ति द्वारा संचालित बिजलीघर बनाए गए है। ज्वार भाटो एवं ज्वालामुखियों मे निहित असीम ऊर्जा का उपयोग भी विद्युत्शक्ति के जनन के लिये किया गया है। विद्युत्शक्ति के उत्पादन के लिये इन सब शक्ति साधनो का उपयोग, विशालकाय विद्युत् जनित्रो द्वारा ही होता है, जो मूलत: फैराडे के चुंबकीय क्षेत्र में घूमते हुए चालक पर वोल्टता प्रेरण सिद्धांत पर आधारित हैं।

फैराडे का यह सिद्धात निम्नलिखित रूप मे व्यक्त किया जा सकता है :

'यदि कोई चालक किसी चुंबकीय क्षेत्र में घुमाया जाए, तो उसमे एक वि० वा० ब० (विद्युत् वाहक बल) की उत्पत्ति होती है; और संवाहक का परिपथ पूर्ण होने की दशा में उसमे धारा का प्रवाह भी होने लगता है'

इस प्रकार विद्युत् शक्ति के जनन के लिये तीन मुख्य बातो की आवश्यकता है :

१. चुंबकीय क्षेत्र, जिसमें चालक घुमाया जाए,

२. चालक तथा

३. चालक को चुंबकीय क्षेत्र में घुमानेवाली यांत्रिक शक्ति।

यह भी स्पष्ट है, कि विद्युत्शक्ति का उत्पादन व्यावहारिक बनाने के लिये चालक में प्रेरित वि० वा० ब० की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए। इसकी मात्रा, चालक की लंबाई, चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता (जिसे अभिवाह घनत्व के रूप में मापा जाता है) और चालक के वेग पर निर्भर करती है। वास्तव में इसे निम्नलिखित समीकरण से व्यक्त किया जा सकता है :

वि० वा० ब० = $B \times l \times v \times 10^{-8}$ वोल्ट,

जहाँ B = चुंबकीय अभिवाह का घनत्व, l = चालक की लबाई तथा v = चालक का वेग (क्षेत्र के लंबवत्)।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यावहारिक रूप में चालक की लंबाई एवं वेग दोनों ही बहुत अधिक होने चाहिए और साथ ही चुंबकीय अभिवाह घनत्व भी अधिकतम हो। चुंबकीय क्षेत्र की अधिकतम सीमा उसके संतृप्त होने के कारण निर्धारित होती है। चालक की लंबाई बढ़ाना भी व्यावहारिक रूप से संभव नहीं, परतु एक से अधिक चालक को इस प्रकार समायोजित किया जा सकता है कि उनमें प्रेरित वि० वा० ब० जुड़कर व्यावहारिक बन जाए। वस्तुत: जनित्र में एक चालक के स्थान पर चालक का एक तंत्र होता है, जो एक दूसरे से एक निर्धारित योजना के अनुसार संयोजित होते हैं। इन चालकों को धारण करनेवाला भाग आर्मेचर (Armature) कहलाता है और इनकी संयोजन विधि को आर्मेचर कुंडलन (Armature Winding) कहते है।

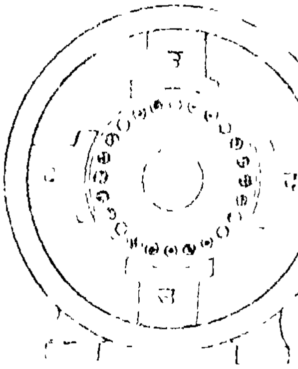
वेग अधिक होने से, घूमनेवाले चालको पर अपकेंद्र बल (centrifugal force) बहुत अधिक हो जाता है, जिसके कारण आर्मेचर पर उनकी व्यवस्था भग हो जा सकती है। अत: इन्हे आर्मेचर पर बने खाँचो (slots) में रखा जाता है। आर्मेचर चालको को धारण करने के साथ ही उनको घुमाता भी है, जिसके लिये उसका शाफ्ट (shaft) यांत्रिक ऊर्जा का संभरण करनेवाले यत्र के शाफ्ट से युग्मित (coupled) होता है। यह यत्र पानी से चलनेवाला टरबाइन, या भाप से चलनेवाला टरबाइन या इंजन, हो सकता है। किसी भी रूप मे उपलब्ध यांत्रिक ऊर्जा को आर्मेचर का शाफ्ट घुमाने के लिये प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के यत्र जनित्र को चलाने के लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। इन्हे प्रधान चालक (Prime Mover) कहते है। विभिन्न प्रकार के इंजन, जैसे वाष्प इंजन, डीजल इंजन, पेट्रोल इंजन, गैस टरबाइन इत्यादि मशीने, प्रधान चालक के रूप में प्रयुक्त की जाती है और इनकी यांत्रिक ऊर्जा को जनित्र द्वारा विद्युत् ऊर्जा में परिवर्तित किया जाता है।

आर्मेचर चुंबकीय पदार्थ का बना होता है, जिससे चुंबकीय क्षेत्र के अभिवाह का वाहक हो सके। सामान्यत: यह एक विशेष प्रकार के इस्पात का बना होता है, जिसे आर्मेचर इस्पात ही कहते है।

चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करने के लिये भी विद्युत् का ही प्रयोग व्यावहारिक रूप में किया जाता है, क्योंकि इससे स्थायी चुंबक की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता का चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न किया जा सकता है और क्षेत्रधारा का विचरण कर सुगमता से क्षेत्र का विचरण किया जा सकता है। इस प्रकार जनित वोल्टता का नियंत्रण सरलता से किया जा सकता है। चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करने के लिये क्षेत्र चुंबक (field magnets) होते हैं, जिनपर क्षेत्रकुंडली वर्तित होती हैं। इन कुंडलियों में धारा के प्रवाह से चुंबकीय क्षेत्र की उत्पत्ति होती है (देखें चित्र १.)। एकसम क्षेत्र के लिये क्षेत्र चुंबकों का आकार कुछ गोलाई लिए होता है और उनके बीच में

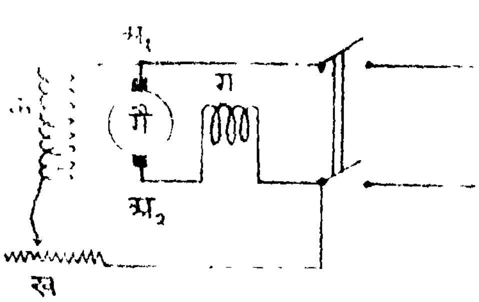
आर्मेचर घूमता है। आर्मेचर तथा क्षेत्र चुंबकों के बीच वायु अंतराल (air gap) न्यूनतम होना चाहिए, जिससे क्षेत्रीय अभिवाह का अधिकांश आर्मेचर चालकों को काट सके और आर्मेचर में जनित वोल्टता अधिकतम हो सके।

क्षेत्र कुंडली में धारा प्रवाह को उत्तेजन (Excitation) कहते हैं। यह उत्तेजन किसी बाहरी स्रोत (बैटरी शृंखला, अथवा



चित्र १.

विद्युत्‌ के उस जनित्र के अलावा कोई दूसरे स्रोत) से संयोजित करने पर किया जा सकता है, अथवा स्वयं उसी जनित्र मे उत्पन्न होनेवाली धारा का ही एक अंश उत्तेजन के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है। बाहरी स्रोत से उत्तेजित किए जानेवाले जनित्र को बाह्य उत्तेजित जनित्र कहा जाता है, और स्वयं उसी जनित्र मे जनित धारा का भाग उपयोग करनेवाले जनित्र को स्वतः उत्तेजित जनित्र (Self-excited Generator) कहा जाता है। स्वत.उत्तेजन की प्रणालियाँ भी क्षेत्र कुंडली और आर्मेचर के संयोजनों के अनुसार भिन्न भिन्न होती हैं। यदि क्षेत्र कुंडली आर्मेचर से श्रेणी (series) में संयोजित हो, तो उसे श्रेणी जनित्र (Series Generator) कहा जाता है। यदि दोनों में पार्श्व संबंधन हो, तो उसे शंट जनित्र (Shunt Generator) कहते हैं। यदि क्षेत्र कुंडली के



CONNEXIONS FOR COMPOUND GENERATOR LONG SHUNT

चित्र २. संयुक्त जनित्र के लिये संबंधन : दीर्घ शंट
क शंट कुंडलियाँ; ख. शंट नियंत्रक तथा ग. श्रेणी कुंडलियाँ।

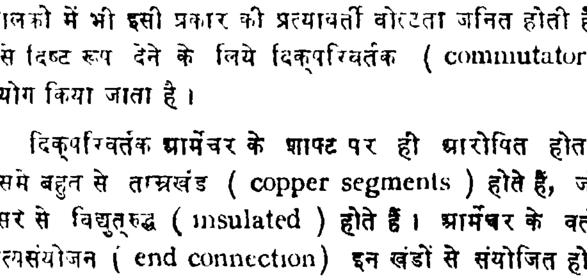
कुछ वर्त आर्मेचर से श्रेणी मे और कुछ उससे पार्श्व संबंधित हों, तो ऐसे जनित्र को संयुक्त जनित्र (Compound Generator) कहते हैं (देखें चित्र २.)।

उत्तेजन की इन विभिन्न विधियों से विभिन्न लक्षण प्राप्त होते हैं। बाह्य उत्तेजित जनित्र में क्षेत्रधारा आर्मेचर धारा अथवा भारधारा पर निर्भर नही करती। अत. उसमें जनित वोल्टता भार (load) विचरण से स्वतंत्र होती है। यदि क्षेत्रधारा को एक समान रखा जाए, तो जनित्र में जनित वोल्टता भी एक समान रहेगी। शंट जनित्र मे भी लगभग ऐसा ही लक्षण प्राप्त होता है और भार विचरण का प्रभाव जनित वोल्टता पर अधिक नही होता। श्रेणी जनित्र में, भारधारा ही आर्मेचर और क्षेत्र कुंडलियों में प्रवाहित होती है। अत, यह क्षेत्रधारा भार पर निर्भर करती है और इस प्रकार जनित वोल्टता भार बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है।

संयुक्त जनित्र में शंट एवं श्रेणी जनित्रों के बीच के लक्षण होते हैं। क्षेत्र कुंडली के शंट और श्रेणी वर्तों का व्यवस्थापन कर उनके बीच का कोई भी लक्षण प्राप्त किया जा सकता है। व्यवहार में संयुक्त जनित्रों का ही अधिक प्रयोग होता है।

चुंबकीय क्षेत्र में एकसमान वेग से घूमनेवाले चालक में जनित वोल्टता, चालक के चुंबकीय अभिवाह को काटने की गति पर निर्भर करती है। यह गति, वस्तुत, किसी क्षण भी चालक के चुंबकीय अभिवाह के सापेक्ष स्थिति पर निर्भर करती है। जब चालक एकसमान वेग से घूम रहा हो, तो वह एक चक्कर में दो बार अभिवाह के लंबवत्‌ होगा, और इस स्थिति मे वह अधिकतम अभिवाह काटेगा, तथा जब वह कोई भी अभिवाह नही काटेगा, दो बार उसके समांतर होगा। इस प्रकार एक चक्कर में दो बार उसमें जनित वोल्टता शून्य और अधिकतम के बीच विचरण करेगी, जैसा चित्र ३. में दिखाया गया है।

इस प्रकार के विचरण को प्रत्यावर्ती विचरण कहते है। आर्मेचर



चित्र ३.

चालकों में भी इसी प्रकार की प्रत्यावर्ती वोल्टता जनित होती है और उसे दिष्ट रूप देने के लिये दिक्‌परिवर्तक (commutator) का प्रयोग किया जाता है।

दिक्‌परिवर्तक आर्मेचर के शाफ्ट पर ही आरोपित होता है। उसमे बहुत से ताम्रखंड (copper segments) होते हैं, जो एक दूसरे से विद्युत्‌रुद्ध (insulated) होते हैं। आर्मेचर के वर्तन के अंत्यसंयोजन (end connection) इन खंडों से संयोजित होते हैं। दिक्‌परिवर्तक से संस्पर्श करनेवाले दो बुरुश होते हैं, जो आर्मेचर में जनित वोल्टता द्वारा प्रवाहित होनेवाली धारा को बाहरी परिपथ से संयोजित करते हैं। आर्मेचर चालकों का दिक्‌परिवर्तक से संयोजन इस प्रकार किया जाता है कि दोनों बुरुशों द्वारा इकट्ठी की जानेवाली धारा एक ही दिशा की होती है। इस प्रकार एक बुरुश धनात्मक धारा इकट्ठी करता है और दूसरा ऋणात्मक।

इस आधार पर बुरुशों को भी धनात्मक एवं ऋणात्मक कहा जाता है। वस्तुतः, बुरुश विद्युत्धारा के टर्मिनल हैं, जो भार को जनित्र से संबद्ध करते है। ये बुरुशधारक (brush holder) पर आरोपित होते हैं और दिक्परिवर्तक पर इनकी स्थिति बुरुश धारक द्वारा व्यवस्थापित की जा सकती है।

जैसे जैसे विद्युत् का प्रयोग बढ़ता गया, जनित्रों का आकार एवं जनित वोल्टता में भी वृद्धि होती गई। परंतु उपर्युक्त प्ररूप के जनित्रों में, आर्मेचर घूमनेवाला होने के कारण उसके आकार में बहुत वृद्धि करना संभव नहीं था। इसलिये उच्च वोल्टता जनित करनेवाले प्रत्यावर्ती धारा के जनित्र बनाए गए, जिनमे आर्मेचर स्थैतिक था और क्षेत्र परिभ्रमणशील। वस्तुतः, वोल्टता जनन के लिये यह आवश्यक नहीं कि चालक ही चुंबकीय क्षेत्र में घूमे। घूमते हुए चुंबकीय क्षेत्र में स्थित चालक में भी वोल्टता प्रेरित होगी, क्योंकि इस दशा मे भी वह चुंबकीय अभिवाह को काट रहा है। अतः इस सिद्धांत पर, स्थैतिक आर्मेचर और परिभ्रमण क्षेत्र द्वारा वोल्टता जनित हो सकती है। यह वोल्टता प्रत्यावर्ती प्ररूप की होगी और आर्मेचर चालक तथा क्षेत्र की सापेक्ष स्थिति पर निर्भर करेगी। प्रत्यावर्ती धारा जनित्र, सामान्यतः, स्थैतिक आर्मेचर और परिभ्रमणशील क्षेत्र के सिद्धांत पर आधारित होते हैं। इनमे क्षेत्र चुंबक और कुंडलियाँ परिभ्रमणशील बनाई जाती हैं तथा आर्मेचर उनको बाहर से घेरे होता है। आर्मेचर में बने खाँचो (slots) में चालक स्थित होते है। आर्मेचर के स्थैतिक होने के कारण और बाहर की ओर होने से, उसका आकार काफी बढ़ाया जा सकता है, जिसका मतलब है, उसमे चालक संख्या काफी अधिक हो सकती है। क्षेत्र अपेक्षाकृत सापेक्षतया छोटे होते हैं और उन्हें अधिक वेग पर घुमाया जाना, व्यावहारिक रूप में, कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न करता। इन कारणों से प्रत्यावर्ती धारा जनित्रों में उच्च वोल्टता जनित करना संभव है, और ये साधारणतया ११,००० वोल्ट पर प्रवर्तित किए जाते है।

इन जनित्रों मे बुरुशों के स्थान पर सर्पी वलय (slip rings) होते है, जो क्षेत्र कुंडलियों को उत्तेजित करने के लिये धारा पहुंचाते हैं। क्षेत्र के परिभ्रमणशील होने के कारण उन्हें दिष्ट धारा द्वारा उत्तेजन करना आवश्यक है। उत्तेजन धारा या तो बाहरी स्रोत से प्राप्त की जाती है, अथवा उसी शाफ्ट पर आरोपित एक छोटे से दिष्ट धारा जनित्र से, जिसे उत्तेजक (Exciter) कहते है। उत्तेजन वोल्टता साधारणतया ११० अथवा २२० वोल्ट ही होती है। सभी बड़े जनित्रों मे उत्तेजक का संभरण होता है, जिससे उत्तेजक के लिये अलग से दिष्ट धारा स्रोत की आवश्यकता न रहे।

प्रत्यावर्ती धारा जनित्रों को निर्धारित वेग पर ही प्रवर्तन करना होता है, जो उनमें जनित वोल्टता की आवृत्ति (frequency) एवं क्षेत्र ध्रुवों की संख्या पर निर्भर करता है। इसे निम्नलिखित समीकरण से व्यक्त किया जा सकता है :

$$n = \frac{120\, f}{p}$$

यहाँ n = परिक्रमण प्रति मिनट, f = आवृत्ति (चक्र प्रति सेकंड) तथा p = ध्रुव संख्या। इस प्रकार, ५० चक्रीय आवृत्ति के लिये चार ध्रुवी मशीन १,५०० परिक्रमण प्रति मिनट के वेग से प्रवर्तन करेगी और दो ध्रुवी मशीन ३,००० परिक्रमण प्रति मिनट के वेग से। यदि निर्धारित वेग एक समान रहा, तो आवृत्ति में अंतर आ जायगा। सामान्यतः विद्युत् संभरण निर्धारित वोल्टता और आवृत्ति के होते हैं। अतः आवृत्ति स्थिर रखने के लिये जनित्र का वेग एकसा न रखना आवश्यक है, और यह वेग उसकी ध्रुवसंख्या के अनुसार निश्चित होता है। भारत तथा दूसरे कॉमनवेल्थ देशों मे विद्युतसंभरण की आवृत्ति सामान्यतः ५० चक्र प्रति सेकंड निश्चित है। अमरीका तथा दूसरे देशों में ६० चक्रीय आवृत्ति प्रयोग की जाती है। आवृत्ति के अनुसार विभिन्न ध्रुवों के जनित्रों का वेग भी निश्चित होता है, जिसे समकालिक वेग कहते है।

उपर्युक्त आधार पर, वेग के अनुसार इन जनित्रों के दो मुख्य प्ररूप होते हैं : एक तो टर्बोजनित्र (Turbo Generators), जिन्हें वाष्प टरबाइन से चलाया जाता है और उच्च वेग पर प्रवर्तित करते हैं तथा दूसरे जलविद्युत् जनित्र (Hydroelectric Generators), जो सामान्यतः कम वेग पर प्रवर्तित किए जाते है। कुछ का वेग तो १२५ परिक्रमण प्रति मिनट तक होता है। इनमें ५० चक्रीय आवृत्ति के लिये ४८ ध्रुव होते हैं। टर्बो जनित्र मे ध्रुव संख्या २ या ४ से अधिक नही होती। बड़े जनित्रो में केवल २ ध्रुव ही होते है और वे ३,००० परिक्रमण प्रति मिनट पर प्रवर्तन करते है। इस अंतर के साथ साथ इनकी रचना मे भी बहुत अंतर होता है। अधिक ध्रुवोवाली मशीन का रोटर (rotor) काफी बड़ा होता है। उसकी रचना एक गतिपालक चक्र (fly wheel) के समान होती है, जो मध्य भाग से साइकिल के पहिऐ की भाँति स्पोकों (spokes) पर आरोपित होता है और ध्रुव गोलाई में चारो ओर लगे होते है। इसे सैलिएट ध्रुव (saliant pole) वाला रोटर कहते हैं। इसके विपरीत, टर्बो जनित्र का रोटर बहुत लंबा और बेलनाकार होता है। इसमें ध्रुव निकले हुए नहीं होते, वरन् बेलनाकार रोटर मे बने खाँचो मे अवस्थित क्षेत्र कुंडलियों द्वारा बनते है। आकृति के अनुरूप इस प्रकार के रोटर को बेलनाकार (cylindrical) रोटर अथवा चिकना (smooth) रोटर कहते हैं।

टर्बोजनित्र के उच्च वेग पर प्रवर्तित करने के कारण, इनमें बेयरिंग के स्नेहन (lubrication) और संवातन (ventilation) की समस्याएँ अत्यंत महत्वपूर्ण होती हैं। जलविद्युत् जनित्रों में बेयरिंग पर बहुत अधिक भार होने के कारण (रोटर बहुत बड़ा और भारी होता है) तथा पार्श्व बल के लगने के कारण, स्नेहन की समस्या जटिल होती है, परंतु संवातन स्वयं अपने आप ही पर्याप्त हो जाता है। स्नेहन के लिये तेल पंप द्वारा तेल चलनशील भागों में, जहाँ स्नेहन आवश्यक होता है, दाब (pressure) के साथ भेजा जाता है। तेल साफ करने के लिये तेल फिल्टर भी आवश्यक सहायक (auxiliary) है। स्नेहन दाब घट जाने पर, मशीन के सक्रिय रूप से बंद हो जाने की भी व्यवस्था होती है।

टर्बोजनित्रों मे संवातन के लिये बहुधा बलित संवातन (forced ventilation) का प्रयोग किया जाता है। आर्मेचर

और रोटर में वाहिनियाँ (ducts) इस प्रकार बनी होती है कि एक ओर से हवा निकलकर इन वाहिनियों में होती हुई और मशीन को ठंडा करती हुई दूसरी ओर को निकल जाती है। उच्च वेग पर इस क्रिया में सहायता तो मिलती है, परतु बड़े बड़े जनित्रों में यह प्राकृतिक रूप से संवातन पर्याप्त नहीं होता और हवा को दबाव के द्वारा मशीन में भेजा जाता है। धूल और नमी से मशीन को बचाने के लिए, संवातन का बंद तंत्र (closed system of ventilation) प्रयुक्त होता है। इसमें उसी वायु को बार बार प्रयुक्त किया जाता है और गरम होने पर, वायुशीतक (air cooler) द्वारा उसे ठंडा कर लिया जाता है और फिर उसे दबाव के साथ मशीन में संवातन के लिये भेजा जाता है। बड़े जनित्रों में संवातन के लिये वायु के स्थान पर हाइड्रोजन गैस का भी प्रयोग किया जाता है। हाइड्रोजन वायु से १४ गुना हल्का होता है। अतः, संवातन के लिये इसे प्रयोग करने से वायव्य हानि (windage loss) कम हो जाती है। ऊष्मा निष्कासन का भी यह वायु से अधिक प्रभावी माध्यम है। परतु वायु के साथ मिलकर हाइड्रोजन विस्फोटक हो सकता है और इसे बचाने के लिये पर्याप्त सावधानी रखी जाती है।

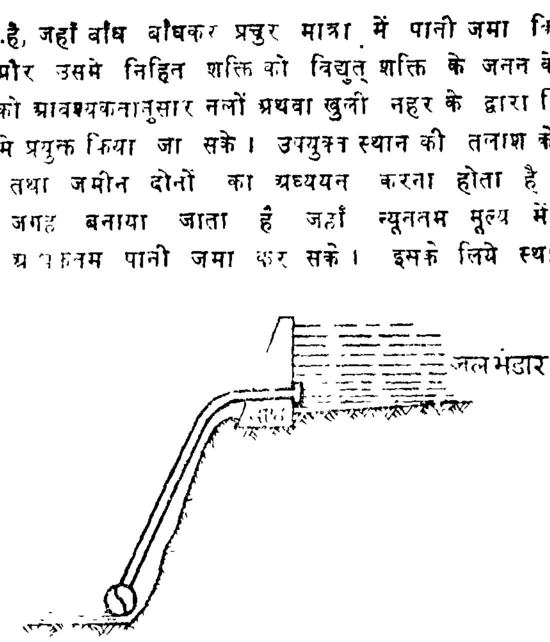
विद्युज्जनित्र समय के साथ साथ, बहुत बड़े बड़े आकार के बनने लगे है। ५०,००० से १५०,००० किलोवाट की क्षमतावाले जनित्र अब सामान्य हो गए है। ये निरतर प्रवर्तन करनेवाली मशीनें है, इसलिये इनकी संरचना भी अत्यंत मानक आधार (exacting standards) पर होती है। मुख्यत, यह स्वतः कार्यकारी मशीन होती है, और इसके सारे प्रवर्तन दूरस्थ नियंत्रण (remote control) द्वारा नियंत्रित किए जा सकते है। क्षेत्र धारा के विचरण से वोल्टता नियंत्रण सुगमता से किया जा सकता है। भार के अनुरूप निवेश (input) स्वयं ही नियंत्रित हो जाता है। इन सब कारणों से वर्तमान विद्युत् जनित्र बहुत ही दक्ष एवं विश्वसनीय होते है। भारत में इनके विश्वसनीय प्रवर्तन के कारण ही विद्युत् संभरण को विश्वसनीय बनाया जाना संभव हो सका है।

[रा० कु० ग०]

विद्युत्, जल से उत्पन्न (Hydroelectric) जल से प्राप्त की गई विद्युत्शक्ति को जलविद्युत् कहते है। विद्युत् शक्ति के जनन की विधियों में जलविद्युत् बहुत महत्वपूर्ण है। विश्व की संपूर्ण विद्युत् शक्ति का एक तिहाई भाग जलविद्युत् के रूप में प्राप्त होता है।

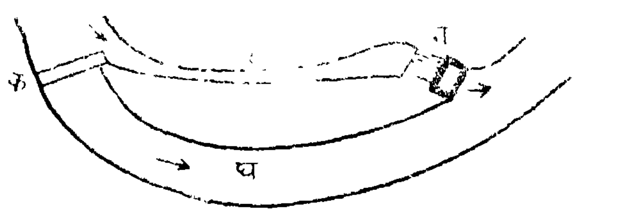
यों तो किसी भी रूप में उपलब्ध ऊर्जा को विद्युत्शक्ति के जनन के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। जलप्रपात में गिरते हुए पानी में निहित ऊर्जा का उपयोग प्राचीन काल से ही पनचक्की को चलाने में किया जाता रहा है, परतु इस ऊर्जा का विद्युत्शक्ति के लिये उपयोग बीसवीं शताब्दी की ही देन है।

न केवल गिरते हुए जल में निहित ऊर्जा का उपयोग शक्ति जनन के लिये किया जा सकता है, वरन् बहते हुए पानी में निहित गतिज ऊर्जा (kinetic energy) का उपयोग भी शक्ति जनन के लिये किया जा सकता है। इसके लिये सबसे पहले ऐसे स्थान का चुनाव करना होता है, जहाँ बाँध बाँधकर प्रचुर मात्रा में पानी जमा किया जा सके और उसमें निहित शक्ति को विद्युत् शक्ति के जनन के लिये जल को आवश्यकतानुसार नलों अथवा खुली नहर के द्वारा बिजलीघरों में प्रयुक्त किया जा सके। उपयुक्त स्थान की तलाश के लिये वर्षा तथा जमीन दोनों का अध्ययन करना होता है। बाँध ऐसी जगह बनाया जाता है जहाँ न्यूनतम मूल्य में बना बाँध अधिकतम पानी जमा कर सके। इसके लिये स्थान की



चित्र १.

प्राकृतिक दशा ऐसी होनी चाहिए कि कोई नदी घाटी में होती हुई पहाड़ों के बीच सँकरे मार्ग से गुजरती हो, जिससे सकरे स्थान पर बाँध बनाकर नदी के ऊपरी भाग को एक बड़े जलाशय में परिवर्तित किया जा सके। बाँध के ऊपर एक और अग्रताल (forebay) बनाया जाता है, जहाँ से पानी खुली नहर अथवा नलों द्वारा बिजलीघर तक ले जाया जाता है। यह पानी बिजलीघर में स्थित बड़े बड़े टरबाइनों को चलाता है, जिनसे योजित जनित्रों में



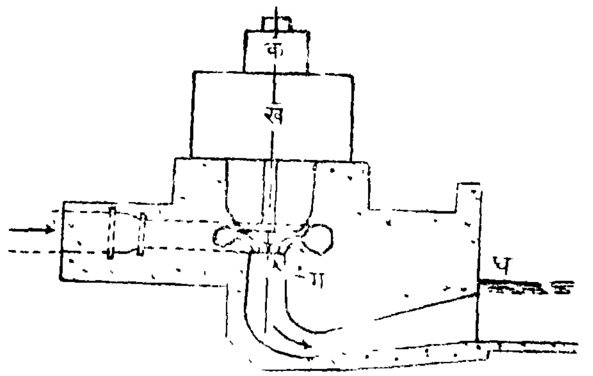
चित्र २.

क. बाँध, ख. नहर, ग. बिजली घर तथा घ. नदी।

विद्युत् शक्ति का जनन होता है। टरबाइन, सीमेंट कंक्रीट के बने ड्राफ्टट्यूब (draft tube) के मुख पर अवस्थित होता है (देखें चित्र ३.)। पानी गाइड वेन (guide vanes) में होता हुआ टरबाइन के ब्लेडों (blades) को घुमाता है और इस प्रकार अपने में निहित ऊर्जा का टरबाइन के चलाने में उपयोग करता है। चलते हुए टरबाइन की यांत्रिक ऊर्जा विद्युत् ऊर्जा में रूपांतरित कर दी जाती है और इस प्रकार जल में निहित ऊर्जा जलविद्युत् का रूप ले लेती है। टरबाइन में इस प्रकार पानी में निहित शक्ति का उपयोग हो जाने के पश्चात्, पानी ड्राफ्ट-ट्यूब में से होता हुआ विसर्जनी कुल्या (tail race) में जाता है, जहाँ से वह फिर नदी में जा मिलता है। ड्राफ्ट-ट्यूब की बनावट ऐसी होती

है कि पानी की शेष ऊर्जा धीरे धीरे समाप्त हो जाए, जिससे बाहर आने पर नदी के किनारों को क्षतिग्रस्त न करे।

पानी में निहित ऊर्जा, उसके आयतन तथा शीर्ष (head)



चित्र ३.

क. उत्तेजक, ख. प्रत्यावर्तित्र (alternators), ग. टरबाइन तथा घ. पृष्ठ प्रवाह।

पर निर्भर करती है। शीर्ष के अनुरूप जलविद्युत् योजनाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

१. उच्च शीर्ष योजना (High Head Scheme) — लगभग २०० मीटर से अधिक।

२ मध्यम शीर्ष योजना (Medium Head Scheme) — ५० मीटर से २०० मीटर तक।

३ निम्न शीर्ष योजना (Low Head Scheme) — ५० मीटर से कम।

योजना का आकार एवं प्ररूप दोनों ही शीर्ष के ऊपर निर्भर करता है और उसी के अनुसार उसके टरबाइनों का प्ररूप भी। इस प्रकार उच्च शीर्ष के लिये फ्रांसिस (Francis) टरबाइन एवं पेल्टन चक्र (Pelton wheel) उपयुक्त होते हैं। मध्यम शीर्ष के लिये आवक प्रवाहवाले (inward flow) दाब टरबाइन प्रयुक्त किए जाते हैं। निम्न शीर्ष के लिये नोदक (Propellor) प्ररूप का टरबाइन अधिक उपयुक्त होता है।

उच्च शीर्षवाली योजनाओं मे, साधारणतया, पानी का आयतन अधिक नहीं होता। इसलिये पानी को नलों द्वारा ले जाकर टरबाइन के तुंड (nozzle) से रनर (runner) की बाल्टिओं पर छोड़ा जाता है, जिससे पानी मे निहित ऊर्जा रनर को चलाने में समर्थ होती है। तुंड द्वारा पानी के प्रवाह और गति का नियंत्रण करने से तथा बाल्टियों पर छोड़े जानेवाले पानी के कोण का विचरण करने से टरबाइन के निर्गत (output) का नियंत्रण किया जा सकता है और इस तरह जनित होनेवाली विद्युत्शक्ति का भी नियंत्रण हो सकता है। बाल्टियों के कोण का विचरण करना भी संभव है और दोनों नियंत्रणों को स्वत:चालित (automatic) रूप से भी किया जा सकता है।

नोदक प्ररूप के टरबाइन के रनर में केवल तीन या चार पंख ही होते हैं। ये भारी इस्पात के बने होते हैं। कम शीर्षवाली योजनाओं में बहुधा पानी का आयतन बहुत अधिक होता है (जिससे विद्युत्शक्ति का जनन व्यावहारिक हो सके)। अत: इनमें पानी को नलों में ले जाना संभव नहीं होता और खुली नाली का उपयोग करना होता है। भार के अनुरूप निर्गत प्राप्त करने के लिये टरबाइन में जानेवाले पानी की मात्रा का विचरण करना आवश्यक होता है, जो द्वार खुलाई (gate opening) द्वारा संपादित किया जाता है। ये द्वार गाइड पिच्छफलक की भाँति होते है और इनकी स्थिति पानी का नियंत्रण करती है। भारी होने के कारण ये द्वार द्रवचालित दाब (hydraulic pressure) द्वारा प्रवर्तित किए जाते हैं। जिस प्रकार पेल्टन चक्र के गाइड पिच्छफलक, अथवा बाल्टियों, के कोण का विचरण किया जाता है, उसी प्रकार इन्हें भी स्वत:-चालित रूप से प्रवर्तित किया जा सकता है। स्वत.चालित विचरण सर्वो मोटर (servo motor) द्वारा किया जाता है। यह छोटा सा मोटर होता है, जो द्रवचालित दाबक का विचरण करता है। इसका निवेश (input) टरबाइन के निर्गत का ही एक अंश होता है, अत: उसके अनुसार विचरण करता है। इस प्रकार इस मोटर द्वारा किया गया कार्य टरबाइन के निर्गत पर, जो उसके ऊपर भार के अनुरूप होता है, निर्भर करता है और स्वत.चालित रूप से द्रवचालित दाबक को घटा बढ़ाकर उसी के अनुसार गाइड पिच्छफलक (vane), अथवा द्वार खुलाई, का नियंत्रण कर देता है, अथवा बाल्टियों के कोण का व्यवस्थापन कर देता है।

नोदक प्ररूप की टरबाइन में कैप्लेन (Kaplan) प्ररूप का टरबाइन मुख्य है। इसकी विशेषता इसकी मजबूती और उच्च दक्षता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि भार विचरण से दक्षता पर बहुत कम प्रभाव होता है, जिसके कारण विचरणशील भार के लिये यह टरबाइन बहुत ही उपयुक्त होता है।

मध्यम शीर्ष योजनाओं में, सामान्यत, मिश्रित प्रवाहवाला (mixed flow) टरबाइन अधिक प्रयुक्त होता हैं, परंतु शीर्ष के अनुरूप ही उसका चयन अधिक निर्भर करता है। पानी को टरबाइन में ले जाने के लिये स्थिर गाइड वेन (pivoted guide vanes) का प्रयोग किया जाता है। इनके निर्गत का विचरण उनके कोण के विचरण से किया जाता है।

कम शीर्षवाला टरबाइन, साधारणतया, खुले शॉफ्ट के ऊपर स्थित होता है। ये सर्पिल (spiral) प्ररूप के आवरण (casing) से घिरे होते है, जिससे पानी को एक समान रूप से गाइड पिच्छ-फलक द्वारा ले जाया जा सके। उच्च शीर्षवाले टरबाइन में यह आवरण धातु (सामान्यत: लोहे) का बना होता है। टरबाइन क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाधर दोनो प्रकार के हो सकते हैं। परंतु सामान्यत, ऊर्ध्वाधर ही अधिक प्रयोग मे आता है। इनमें बेयरिंग (bearing) विशिष्ट प्रकार का होता है, जिसे मशीन पर प्रतिष्ठित पार्श्व आघात (side thrust) भी वहन करना होता है। इसलिये इन्हें आघात बेयरिंग (Thrust Bearing) कहते हैं।

बेयरिंग तथा दूसरे गतिमान् भागों का स्नेहन भी अपने आप

में एक कठिन समस्या होती है। इसके लिये दाब स्नेहन (Pressure Lubrication) विधि का उपयोग किया जाता है। इसमे स्नेहक तैल को दबाकर स्नेहन किए जानेवाले स्थानों मे भेजा जाता है। तेल पंप (oil pump) द्वारा दाब उत्पन्न की जाती है। दाब घट जाने पर, मशीन के अपने आप बंद हो जाने की व्यवस्था भी होती है, जिससे ऐसी परिस्थिति मे उसे क्षति न पहुँचे। स्नेहक तैल को साफ करने के लिये एक तेल फिल्टर होता है और स्नेहन के पश्चात् गरम हो जानेवाले तेल को ठढा करने के लिये तेल शीतक की भी व्यवस्था रहती है।

जलविद्युत् योजनाओं में सबसे अधिक महत्व उनकी स्थिति का है। इनकी स्थिति, मुख्यत, प्राकृतिक एवं भौतिक कारणों पर निर्भर करती है। मोटे तौर पर किसी जलविद्युत् योजना से उपलब्ध शक्ति का आगणन इस आधार पर किया जा सकता है

$$\text{शक्ति} = \frac{Q\ h}{15}\ K\ W$$

जहाँ Q = जल का प्रवाह घनफुट प्रति सेकंड तथा h = शीर्ष (फुटों में)।

इस प्रकार १,००० घन फुट प्रति सेकंड के प्रवाह से १५० फुट का शीर्ष उपलब्ध होने पर लगभग १०,००० किलोवाट की शक्ति उपलब्ध होगी। जलाशय का अनुमान भी इस आधार पर लगाया जा सकता है, कि १ १३ वर्ग मील के क्षेत्रफल मे १ फुट पानी केवल १ घन फुट प्रति सेकंड का प्रवाह उत्पन्न करता है। अत. १,००० घन फुट प्रति सेकंड का प्रवाह पाने के लिये जलाशय में ११३ वर्ग मील के क्षेत्रफल मे औसत से १० फुट गहरा पानी होना चाहिए। किसी भी जलविद्युत् योजना को व्यावहारिक होने के लिये यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक शीर्ष एव प्रवाह हो। कम शीर्षवाली योजनाएँ तभी व्यावहारिक हो सकती हैं, जब पानी का प्रवाह पर्याप्त हो। उच्च शीर्षवाली योजनाएँ कम प्रवाह पर भी व्यावहारिक हो सकती है।

बिजलीघर की स्थिति बाँध के निकट होना अनिवार्य नहीं है। जलाशय पहाड़ पर हो सकता है और अधिक शीर्ष पाने के लिये बिजलीघर पहाड़ की तलहटी में बनाया जा सकता है। ऐसी दशा में पानी को बड़ी बड़ी नलिकाओं द्वारा बिजलीघर तक पहुँचाया जाता है। उच्च शीर्ष वाली योजनाएँ सामान्यत इसी प्ररूप की होती है।

बहुत से स्थानों पर पहाड़ों को काटकर सुरग के द्वारा पानी को पहाड़ी के दूसरी ओर बिजलीघर तक पहुँचाया जाता है। बिजलीघर का धरातल पर होना भी अनिवार्य नही। बहुत से बिजलीघर पृथ्वी के अंदर भी होते है और उन तक लिफ्ट (lift) द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। स्वीडन में भी ऐसा ही भूमिगत बिजलीघर (underground power station) बनाया गया है। ऐसे बिजली घर स्वचालित प्ररूप के होते है और दूरस्थ नियंत्रण द्वारा पृथ्वीतल से चालित होते हैं। यद्यपि ये बिजलीघर मुख्यत प्राकृतिक कारणों से ही पृथ्वी के अंदर बनाए जाते है, तथापि ये सामरिक दृष्टिकोण से सुरक्षित होने के कारण बहुत महत्वपूर्ण होते हैं।

कम शीर्षवाली योजनाएँ हमारे देश मे बहुत हैं। गंगा एवं शारदा नहरों के ऊपर बहुत से बिजलीघर बनाए गए हैं, जिनमें केवल २० से ३० फुट के शीर्ष का ही उपयोग किया गया है। ये योजनाएँ पानी का प्रवाह अधिक होने के कारण (कही कही १०,००० घन फुट प्रति सेकंड भी) व्यावहारिक हो सकी हैं।

जलविद्युत् योजनाएँ, मुख्यत:, नॉर्वे, स्वीडन, स्विट्सरलैंड, जर्मनी, फ्रांस कैनाडा, रूस एव अमरीका में है। भारत भी जलविद्युत् योजनाओं मे बहुत पीछे नही है और यहाँ की कुछ योजनाएँ विश्व की महानतम योजनाओं में गिनी जाती हैं, जैसे, भाखरा-नंगल, दामोदर घाटी, रिहंद, हिराकुड, नागार्जुन सागर, कोयना, शिवसमुद्रम, पेरियार आदि।

बहुत सी जलविद्युत् योजनाएँ बहूद्देशीय भी होती है। मुख्यत. इनके साथ सिंचाई एवं बाढ़ रोधक योजनाएँ भी शामिल रहती हैं, जिससे क्षेत्र का सर्वांगीण विकास किया जा सके। अमरीका मे टेनेसी घाटी निगम के आधार पर भारत में भी दामोदर घाटी निगम की स्थापना की गई। पिछले बीस वर्षों मे बहुत सी महत्वपूर्ण जलविद्युत् योजनाएँ बनी है और सभी जगह जलविद्युत् संभावनाओं का अध्ययन कर योजनाएँ बनाई जा रही है।

जलविद्युत् योजना में, यद्यपि, आरंभ मे बहुत अधिक व्यय होता है, तथापि तब भी परिचालन व्यय (operating expense) कम होने के कारण अधिकांश योजनाएँ आर्थिक दृष्टिकोण से सफल होती हैं। इनके सयत्र (plant) का जीवन भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। इनका मुख्य दोष वास्तव में इनकी उपभोक्ता स्थानों से दूरी है। ये योजनाएँ जहाँ चाहे वहाँ के लिये नहीं बनाई जा सकतीं। उदाहरणार्थ, यदि शक्ति की माँग कलकत्ते में है, तो वहाँ जलविद्युत् योजना कार्यान्वित करना संभव नहीं। हिमालय से निकलनेवाली नदियों में अपार जलशक्ति निहित है, परंतु वहाँ शक्ति की माँग नही है। इस प्रकार जलविद्युत् योजना द्वारा जनित विद्युत् शक्ति को बहुधा बहुत दूरी तक प्रेषित (transmit) करना होता है। अत, जलविद्युत् योजना का सापेक्ष रूप से अध्ययन करने के लिये प्रेषणतंत्र का व्यय भी लगाना आवश्यक है। तब भी अधिकांशत: जलविद्युत् ही सस्ती पड़ती है। [रा० कु० ग०]

विद्युत्तरंग विद्युत् के नियमित रूप से होनेवाले विस्थापन (*displacement*) को कहते है, जो काल के साथ नियमित रूप से विचरण करे। कुछ दशाओं में विद्युत् का परिचालन स्थिर मान का होता है और समय के अनुसार विचरण नहीं करता। इस प्रकार के विस्थापन को दिष्ट धारा (Direct Current) कहते है। इसमे धारा का मान और दिशा दोनों ही नहीं बदलते। बहुत सी दशाओं में विचरण आवर्ती प्ररूप का होता हैं और धारा का मान एवं दिशा समय के साथ नियमित रूप से विचरण करती है। इसे प्रत्यावर्ती धारा (Alternating Current) कहते हैं और सामान्यत: इसे प्र० धा० (A C.) द्वारा व्यक्त करते हैं। प्रत्यावर्ती विचरण भी कई प्रकार का हो सकता है। सबसे सामान्य विचरण ज्यावक्रीय (Sinusoidal) कहलाता है, जिसमें धारा का मान ज्यावक्र (sine curve) के अनुसार घटता बढ़ता है।

कुछ दशाओं में प्रत्यावर्ती विचरण, वर्गीय अथवा आयताकार (rectangular) प्ररूप का होता है। ऐसे विचरण को वर्गीय अथवा आयताकार वक्रों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और तरंग का प्ररूप वर्गीय अथवा आयताकार तरंग कहलाता है।

कुछ दशाओं में यह विचरण अनियमित रूप का प्रतीत होता है, परंतु वास्तव में एक से अधिक नियमित विचरणों के संयुक्त होने पर प्राप्त होता है। ऐसे विचरण को फूरिये श्रेणी (Fourier's series) द्वारा नियमित वक्रों (regular curves) से संघटित हुआ दिखाया जा सकता है।

विद्युत् प्रभावों का तरंगों के रूप में होने का विश्वास, वस्तुतः बहुत पुराना है। परन्तु गणितीय विश्लेषण द्वारा इसका प्रतिपादन उन्नीसवीं शताब्दी की ही देन है। फैराडे (Faraday) ने विद्युत्-चुंबकीय सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए विद्युततरंगों के रूप पर भी प्रकाश डाला और अंततः यह सिद्ध किया कि विद्युतप्रभाव तरंगों के रूप में होते हैं। इन तरंगों का वेग भी ज्ञात करने का प्रयत्न किया गया, परंतु सुग्राही यन्त्रों के अभाव में ठीक ठीक न ज्ञात किया जा सका। तत्पश्चात् यह सिद्ध किया गया कि विद्युत्-तरंगों का वेग प्रकाश के बराबर है और वस्तुतः दोनों प्रकार की तरंगें एक ही ऊर्जा के विभिन्न रूप हैं। इसी प्रकार पराबैंगनी तथा अवरक्त (infra-red) विकिरण भी वस्तुतः इन्हीं के सदृश ऊर्जा के दूसरे रूप है, और उसी प्रकार की तरंगें हैं।

किसी भी तरंग के मुख्य लक्षण उसकी आवृत्ति (frequency) एवं आयाम (amplitude) होते हैं। आवृत्ति अथवा बारंबारता, तरंग द्वारा किए गए प्रति सेकंड एकांतरण (alternations) की संख्या होती है। विद्युत् बल, सामान्यतः, शून्य से अधिकतम मान तक बढ़ता है और फिर धीरे धीरे घटकर फिर शून्य हो जाता है। इसके पश्चात् अपनी दिशा बदलकर फिर अधिकतम मान पर पहुँचने के बाद शून्य स्थिति में आ जाता है। इसी प्रकार विद्युत्-तरंग भी दोनों दिशाओं में अधिकतम मानों के बीच विचरण करती है। इस संपूर्ण एकांतरण को एक चक्र (cycle) कहते हैं और प्रति सेकंड चक्रसंख्या को तरंग की आवृत्ति या बारंबारता कहा जाता है।

तरंग का आयाम, ऊर्ध्वाधर दिशा में शून्य स्थिति से अधिकतम मान तक, उसकी दूरी है। इसी प्रकार, एक चक्र की क्षैतिज दूरी उसकी तरंग लंबाई कहलाती है। यह, वस्तुतः, तरंग के दो सगत (corresponding) बिंदुओं के बीच की दूरी होती है। तरंग लंबाई, तरंग के वेग और उसकी आवृत्ति से भी ज्ञात की जा सकती है।

$$\text{तरंग लंबाई} = \frac{\text{तरंग का वेग}}{\text{तरंग की आवृत्ति}}$$

चूँकि विद्युततरंग का वेग, प्रकाश के वेग के बराबर होता है (अर्थात् ३×१०^{८} मीटर प्रति सेकंड), इसलिये उच्च आवृत्ति की तरंगों की तरंग लंबाई, अल्प आवृत्ति की तरंगों की अपेक्षा काफी कम होती है।

विद्युत् शक्ति का संचारण करनेवाली तरंगें, कम आवृत्ति की होती हैं। भारत एवं दूसरे कॉमनवेल्थ देशों में, सामान्यतः ५० साइकिल आवृत्ति का उपयोग किया जाता है। अमरीका तथा दूसरे देशों में सामान्य शक्ति की आवृत्ति ६० साइकिल प्रति सेकंड है। शक्ति आवृत्ति की तरंगों की तरंग लंबाई बहुत अधिक होती है (लगभग ३,००० किमी०)। उच्च आवृत्ति की तरंगों की तरंग लंबाई कम होने के कारण उन्हें छोटी तरंगें (short waves) भी कहा जाता है, और ये दूर रेडियो संचारण में प्रयुक्त की जाती हैं।

विद्युततरंगों का प्रेषण (transmission), पदार्थ एवं आकाश दोनों में ही संभव है। कुछ पदार्थ, जिनमें धातुएँ मुख्य हैं, ऐसे होते हैं कि उनमें स्वतंत्र इलेक्ट्रॉनों की संख्या पर्याप्त होती है, और विद्युत् बल के आरोपित होने से ये गतिमान किए जा सकते है। इन इलेक्ट्रॉनों का चलन ही विद्युत्धारा कहलाता है, तथा किसी बिंदु से पारित होनेवाला विद्युत् आवेश ही धारा की माप है। धात्विक पदार्थों के तार, धारा के अच्छे चालक होते हैं। इनमे व्यावहारिक रूप से ताँबा एवं ऐलुमिनियम मुख्य हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनमें अधिकांश इलेक्ट्रॉन अणुओं से संबद्ध होते हैं और सहज चलायमान नहीं किए जा सकते। ऐसे पदार्थ परावैद्युत् (Dielectric) कहलाते है और ये विद्युत्‌रोधी (insulator) होते हैं।

विश्व के सभी पदार्थ किसी न किसी रूप में आवेशित रहते हैं। कुछ धनात्मक आवेशित तथा कुछ ऋणात्मक आवेशित होते हैं। एक ही प्ररूप के आवेशित कण एक दूसरे को प्रतिकर्षित करते हैं और विपरीत आवेशित कण एक दूसरे को आकर्षित करते हैं। स्थैतिक विद्युत्कण विद्युत्बल के क्षेत्र से घिरे रहते हैं तथा चलनशील कण चुंबकीय क्षेत्र से घिरे होते हैं। यदि किसी आवेशित कण को दूसरे आवेशित कणों के समीप लाया जाए, तो उसपर एक बल आरोपित होगा। बल का वह भाग जो केवल आवेश पर निर्भर करता है (और उसके वेग पर नहीं) विद्युत् बल कहलाता है। वेग पर निर्भर करने-वाला भाग चुंबकीय होता है और इस प्रकार गतिमान विद्युत् आवेश पर विद्युत् चुंबकीय बल आरोपित होता है। यह बल, वस्तुतः, विद्युत्चुंबकीय तरंगों द्वारा संधारित एवं परिचालित होता है।

जब विद्युत्आवेश का अकस्मात् विस्थापन किया जाए, तो विद्युत् और चुंबकीय बल उसी प्रकार जनित हो जाते हैं जैसे तालाब में ढेला फेंकने पर लहरें। पानी की लहर भी, वस्तुतः पानी का ऊपर और नीचे विस्थापन मात्र ही है, जो सब दिशाओं में पानी के तल पर कुछ वेग से संचारित (propagate) होता है। धीरे धीरे विस्थापन कम होता जाता है और तरंगों का फैलाव बढ़ता जाता है। कुछ देर बाद लहरें समाप्त हो जाती हैं और पानी फिर शांत हो जाता है। विद्युत् तरंगें भी ठीक इसी भाँति संचारित होती हैं। अंतर केवल इतना ही है कि पानी की लहरों के लिये संचारण का माध्यम आवश्यक है, परंतु विद्युत् तरंगों के लिये माध्यम का होना आवश्यक नहीं। वे आकाश

(space) में भी संचारित हो सकती है, जैसे रेडियो तरंगे (radio waves), जो विद्युत्तरंगों का ही एक रूप है।

विद्युत्तरंगो को प्रयोगशाला में एक दोलक (oscillator) द्वारा जनित किया जा सकता है। वास्तव में दोलक परिपथ के अवयवों (elements) का व्यवस्थापन कर किसी भी आवृत्ति की तरंगें जनित की जा सकती हैं।

विद्युत्तरंगो का सबसे बड़ा उपयोग ध्वनि के संचारण के माध्यम के रूप में हुआ है, जिसमें इन्हीं तरंगों के एक रूप, अर्थात् उच्च आवृत्ति की विद्युच्चुंबकीय तरंगो का प्रयोग किया जाता है। इनका मुख्य प्रयोग बेतार के तार और रेडियो में हुआ है। इन तरंगों से चित्र भी प्रेषित किए जा सकते है, और टेलीविज़न द्वारा ध्वनि के साथ साथ चित्र भी देखे जा सकते हैं। विद्युत् तरंगो का कार्यक्षेत्र निरंतर बढ़ता ही जा रहा है।

विद्युत् शक्ति के प्रेषण मे, विद्युत् तरंगो की जानकारी विशेष महत्व की है। आकाश बिजली, अर्थात् तड़ित, के प्रभावों का अध्ययन करने के लिये तथा स्विच (switch) ऑन और ऑफ करने से उत्पन्न होनेवाले प्रोत्कर्ष (surge) का अध्ययन करने के लिये विद्युत्तरंगो की जानकारी आवश्यक है। इसके आधार पर विद्युत् प्रेषणतंत्रों को विश्वसनीय बनाया जा सका है और उनकी क्षमता को बढ़ाया जा सकना भी संभव हुआ है। साथ ही, अकस्मात् हो जानेवाली दुर्घटनाओं को कम कर पाना संभव हो सका है।

किसी भी विद्युत् युक्ति का प्रवर्तन, जिसमें ऊर्जा परिवर्तन निहित हो, अनिवार्य रूप से विद्युत् ऊर्जा का विद्युत् तरंग के रूप में स्थानांतरित किया जाता है। चाहे वह, औद्योगिक शक्ति के लिये विद्युत् प्रेषण हो, अथवा टेलीफोन के तारों पर बातचीत, बेतारी तार से ध्वनि का संचारण, अथवा टेलीविज़न से चित्र का संचारण, सभी में विद्युत् तरंगे कार्यशील हैं।

विद्युत् तरंगो का क्षेत्र भी बहुत बड़ा है। शक्ति आवृत्ति से भी कम आवृत्ति की तरंगों से लेकर अत्यधिक आवृत्ति वाली रेडियो तरंगे, माइक्रो तरंगे, एवं सभी प्रकार के विद्युत् चुंबकीय विकिरण (electromagnetic radiation) विद्युत् तरंगो के ही क्षेत्र में हैं और यह क्षेत्र विस्तार एवं उपयोग दोनो में ही निरंतर बढ़ता जा रहा है। [रा० कु० स०]

विद्युत्-धातुकर्म विज्ञान (Electron etallurgy) विद्युत्विज्ञान तथा टेक्नॉलाजी की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जो धातुओं के निष्कर्षण तथा शोधन से विद्युत्- रासायनिक प्रयोगो द्वारा संबंधित है। यह सामान्यतः दो वर्गों में विभाजित है, एक में ऊष्मा और दूसरे में रासायनिक क्रियाएँ प्रधान है। विद्युत् भट्ठी में बिजली से ऊष्मा उत्पन्न कर धातु खनिजों का गलन करते है। प्रतिरोधक तथा प्रेरण भट्ठियों में धातुओं के दृढीकरण और शोधन के साथ साथ बिजली से झलाई की कला इसी श्रेणी में आती है।

बिजली के रासायनिक प्रयोगों में विद्युत्लेपन, रासायनिक यौगिकों का अपघटन, धातु परिष्कार तथा पृथक्करण निहित है।

विद्युत्-धातुकर्म बहुत से उद्योगों और व्यवसायों का आधार है। इस प्रविधि से निर्मित वस्तुएँ गुण तथा मजबूती में उच्च कोटि की होती हैं।

सर हंफ्री डेवी (सन् १७७८–१८२९) ने सर्वप्रथम पिघले लवणों के विद्युत्-अपघटन से क्षारीय धातुओं को प्राप्त किया। माइकेल फैरेडे (सन् १७९१–१८६७), जे० डब्ल्यू० हिट्टार्फ (सन् १८२४–१९१४), स्वांते आरहेनियस, (सन् १८५९–१९२७) और सी० एम० हाल (सन् १८६३–१९१४) आदि वैज्ञानिकों के सहयोग ने विद्युत्-धातुकर्म को प्रगतिशील बनाया और वैज्ञानिक क्षेत्र में आगे बढ़ाया।

विद्युत् धातुकर्मक क्रियाओ के समझने के लिये दोनो प्रकार के विद्युत्-चालन प्रक्रम (इलेक्ट्रॉनिक तथा आयोनिक), आयोनिक स्थानांतरण गति, गैल्वैनिक तथा इलेक्ट्रोलीटिक सेल, सेलो की ऊष्मागतिकी और विद्युदग्रलेपन आदि रासायनिक सिद्धांतो का ज्ञान परमावश्यक है तथा इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

विद्युत्-धातुकर्मक परिचालन विधियाँ तीन महत्वपूर्ण भागो में विभाजित की जा सकती है वैद्युतप्राप्ति (Electro–winning), वैद्युत् परिष्करण (Electro refining) और वैद्युत्लेपन (Electro-plating)।

वैद्युतप्राप्ति वह विधि है जिसमे (१) कच्चे धात्वीय खनिज को पानी के उपयुक्त विलयन से अपमार्जन करते है और इस प्रकार मानक विद्युत्-अपघट्य प्राप्त करते हैं। इसमें धातु की मात्रा पर्याप्त होती है। फिर विद्युत् अपघटन द्वारा कैथोड पर शुद्ध निक्षिप्त धातु प्राप्त करते हैं, (२) कच्चे धातु खनिज को सुगमता से पिघलनेवाले लवण मे परिवर्तित करते हैं और इसे पिघलाकर संगलित विद्युत्-अपघटन से कैथोड पर शुद्ध निक्षिप्त धातु प्राप्त करते है। साधारणतः ऐलुमिनियम, बेरीलियम, कैल्सियम, लीथियम, मैग्नीशियम तथा सोडियम के लवणो के निर्जलीय गलन की, और ताँबा, कैडमियम, कोबाल्ट, मैंगनीज, निकेल, जिंक आदि के लवणो के जलीय विलयन की वैद्युत प्राप्ति विधि से ये धातुएँ व्यापारिक पैमाने पर प्राप्त की जाती है।

वैद्युत परिष्करण विधि से उत्तम तथा उच्च कोटि की शुद्धता की धातु प्राप्त की जाती है। जिस धातु को शुद्ध करना होता है, उसे लवणीय अथवा अम्लीय विलयन में उपयुक्त आकार का ऐनोड, तथा उसी की शुद्ध निक्षिप्त धातु का कैथोड बनाकर लटका देते है। विद्युत्-अपघटन द्वारा बहुत ही शुद्ध धातु कैथोड पर लेप के रूप में प्राप्त हो जाती है। बहुमूल्य धातुओ की अशुद्ध ऐनोड से उपलब्धि, साधारण वैद्युत्-परिष्करण कला में, एक महत्वपूर्ण गौण परिष्करण है। बहुधा ताँबा, बिस्मथ, सोना, चाँदी, सीसा और राँगा जलीय विलयन विद्युत्-अपघटन से शुद्ध किए जाते है।

किसी धात्विक अथवा अधात्विक वस्तु की सतह पर बिजली द्वारा किसी धातु के आवरण चढाने को वैद्युत्लेपन कहते है। जिस पदार्थ पर आवरण चढाना होता है, उसे एक छोटे से इलेक्ट्रोलीटिक कुंडिका में कैथोड बना देते हैं। इसके विद्युत् अपघट्य विलयन में आवरणीय धातु की मात्रा पर्याप्त होती है। ताँबा, कैडमियम, क्रोमियम, सोना,

निकल, सोडियम, चाँदी, मैग्नीसियम, राँगा, जस्ता आदि धातुओं तथा पीतल, ब्राज, चाँदी-कैडमियम आदि मिश्रधातुओं का साधारणतः औद्योगिक पैमाने पर विद्युत्लेपन होता है।

ऐलुमिनियम का उत्पादन इलेक्ट्रोविनिंग विधि का एक बहुत अच्छा उदाहरण है (देखें ऐलुमिनियम)।

इलेक्ट्रोलीटिक ताँबे का उत्पादन वैद्युत् परिष्करण का एक सर्वप्रिय लौकिक उदाहरण है। उत्पादन का ९० प्रतिशत से अधिक ताँबा इसी ढंग से प्राप्त किया जाता है। (देखें **ताँबा**)

विद्युत्लेपन कई कारणों से लोकप्रिय है। बहुधा यह अलंकारिक तथा सजावटी संपूर्ति के लिये किया जाता है और इससे संक्षारण प्रतिरोध सतह भी प्राप्त की जाती है। कभी कभी यह टूटे अथवा घिसे हुए सतहों की मरंमत में बहुत उपयोगी तथा संतोषजनक होता है, विशेष कर बड़ी बड़ी मशीनों, मोटर, भाप टरबाइन, डाइनैमो, जनित्र आदि में। अधात्विक वस्तुओं पर धात्विक इलेक्ट्रोप्लेटिंग को इलेक्ट्रोफॉर्मिंग कहा जाता है। इससे इन वस्तुओं की सतह पर अपूर्व धात्विक चमक आ जाती है। अचालक वस्तुओं पर विद्युत्लेपन के लिये ग्रैफाइट अथवा धातुओं के बारीक पाउडर के प्रयोग से सुगमतापूर्वक विद्युत्-आवरण प्राप्त कर लेते हैं। बहुधा कम विद्युत् दाब का प्रयोग करते हैं। दिष्ट धारा के ६ या १२ वोल्ट का जनित्र काम में लाया जाता है। इससे ५० से कई हजार ऐंपियर तक बिजली प्राप्त होती है। मिश्रधातुओं तथा एक के बाद दूसरी धातुओं का विद्युत् लेपन आजकल अधिक अपनाया जा रहा है तथा उपयोगी भी सिद्ध हुआ है।

इस विधि से बड़े बड़े इस्पाती रचनाकार्य की रक्षा की जाती है। इसकी सतह पर सस्ता और क्रियाशील धातु का कैथोडिक आवरण कर देते हैं, जो प्रधान निर्मित रचना की अपेक्षा अधिक संक्षारिक होता है। ऐसी तकनीकी का प्रयोग इलेक्ट्रोप्लेटिंग ढंग से किया जाता है तथा इस प्रकार संचयित पीपे, डिब्बे, रेडियेटर, बॉयलर और बड़े बड़े पाइप लाइनों की रक्षा कैथोडिक आवरण से सफलतापूर्वक की जाती है। [द० गि०]

विद्युत् भट्ठी (Electric Furnace) विद्युत् भट्ठियाँ सामान्यतः धातु खनिजों और धातुओं को पिघलाने के लिये प्रयुक्त की जाती है।

विद्युत् ऊर्जा से उत्पन्न हुई ऊष्मा विद्युत्धारा के वर्ग के अनुपात में होती है। विद्युत् भट्ठियाँ कोयले की भट्ठियों से अधिक ऊष्मा उत्पन्न कर सकती हैं और आकार में भी छोटी होती हैं। ये हानिकारक धुएँ अथवा गैसें नहीं उत्पन्न करती, परंतु इनका मुख्य लाभ इनमें सरलता से ऊष्मा नियंत्रण करने का है। धारा का परिवर्तन कर ऊष्मा का नियंत्रण बहुत सरलता से किया जाता है। इनका दूरस्थ नियंत्रण (remote control) और स्वतःचालन (automatic action) भी किया जा सकता है। इन कारणों से विद्युत् भट्ठियाँ सामान्य उपयोग में आ गई है।

विद्युत् भट्ठियों के तीन मुख्य प्ररूप हैं —

१. प्रतिरोध भट्ठियाँ (Resistance Furnaces)।
२. चाप भट्ठियाँ (Arc Furnaces) तथा
३. प्रेरण भट्ठियाँ (Induction Furnaces)

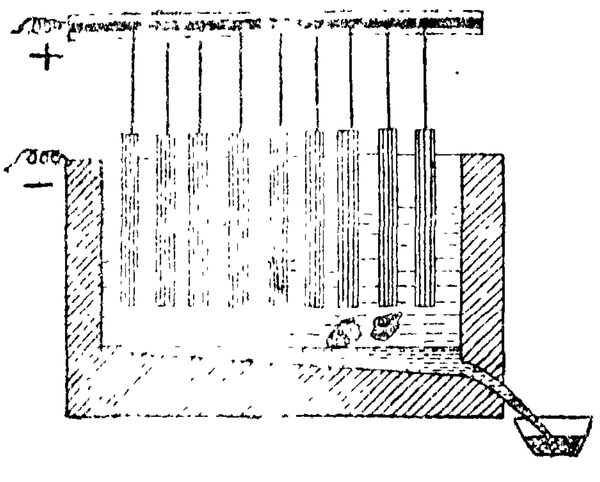
प्रतिरोध भट्ठियों में, भट्ठी की दीवारों पर तार अंशक लगे होते हैं, जिनमें प्रवाहित होनेवाली धारा ऊष्मा उत्पन्न करती है। भट्ठी की दीवारें सामान्य भट्ठी की तरह अग्निसह ईंटों की बनी होती है, अथवा किसी भी ऐसे उच्च तापसह (refractory) पदार्थ की जो ऊष्मा का चालक हो। ऊष्मा अंशक, सामान्यतः, नाइक्रोम (nichrome) अथवा मोलिब्डेनम (molybdenum) तार के बने होते हैं और उच्च तापसह पदार्थ की नलिका पर वर्तित होते हैं। उच्च ताप की भट्ठियों में (१,२००° से० ऊपर) प्लैटिनम धातु के तारों का प्रयोग भी किया जाता है, जो अधिक कीमती होने के कारण सभी भट्ठियों में नहीं प्रयोग किए जा सकते। उच्च ताप की भट्ठियों में तार अंशकों के स्थान पर सिलिकॉन कार्बाइड (silicon carbide) की छड़ें और नलिकाएँ भी प्रयोग की जाती है।

ऊष्मा अंशक, भट्ठी की दीवारों पर न लगाकर, सामान्यतः उसमें ही निवेशित कर दिए जाते है, जिससे भट्ठी में अधिक जगह हो सके और इन अंशकों को भी क्षति से बचाया जा सके। ताप अंशक एक दूसरे से श्रेणी (series) एवं पार्श्व संबंधन में संबद्ध होते है कि प्रतिरोध का विचरण कर आसानी से ताप का विचरण किया जा सके। कहीं कहीं ये स्टार एवं डेल्टा (star and delta) प्रबंध में भी संबद्ध होते है। पिघलनेवाली धातु भट्ठी के बीच में रखी जाती है। इसे साधारण बोलचाल में घान (charge) कहते है। यह पिघलने पर नली के द्वारा भट्ठी से बाहर आ जाती है, अथवा चार्ज की हाँड़ी, जिसे मूषा (crucible) कहते है, भट्ठी के बाहर निकाल ली जाती है। ताप नियंत्रण स्वतःचालन से ताप-वैद्युत-युग्म (thermocouple) द्वारा किया जाता है।

कुछ प्रतिरोध भट्ठियाँ लवण कुंडिका (salt bath) किस्म की होती है। कई प्रकार के लवण (सामान्य नमक आदि) इस कार्य के लिये प्रयुक्त होते है। इनमें विद्युत्धारा पिघले हुए लवण के प्रतिरोध से होकर पारित होती है, जिससे लवण कुंडिका गरम हो जाती है और इसमें रखा हुआ घान पिघलाया जा सकता है, इस प्रकार की भट्ठी में ऊष्मा का अधिक अंश में उपयोग संभव है, अर्थात् बहुत कम ऊष्मा नष्ट होती है, क्योंकि इसका उपयोग सीधे ही घान को गरम करने में हो जाता है। ऐसी भट्ठियाँ, कैल्सियम, सोडियम, पोटैशियम आदि लवणों को पिघलाने के लिये प्रयोग की जाती है, जिनके रासायनिक लवण सीधे ही भट्ठी में रखे जा सके। इस प्रकार घान को ही ऊष्मा अंशक के रूप में प्रयोग किया जाता है और उसके प्रतिरोध के कारण उत्पन्न ऊष्मा उसको पिघलाती है। धारा घान में निवेशित दो इलेक्ट्रोडों द्वारा पहुँचाई जाती है। ऐलुमिनियम भी इसी प्रकार की प्रतिरोध भट्ठी में प्राप्त होता है (देखें चित्र १.)।

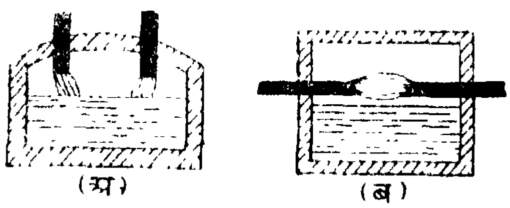
चाप भट्ठी में विद्युत् चाप द्वारा उत्पन्न ऊष्मा का उपयोग किया जाता है। चाप दो इलेक्ट्रोडों के बीच उत्पन्न की जाती है, अथवा इलेक्ट्रोड एवं घान के बीच, जैसा चित्र २. में दिखाया गया है। इन भट्ठियों में प्रतिरोध भट्ठियों की अपेक्षा अधिक ऊष्मा उत्पन्न जा सकती है। ये भट्ठियाँ मुख्यतया लौहिक धातुओं, अथवा उनकी

मिश्रधातुओं को पिघलाने के लिये काम में आती हैं। इनका संभरण (supply) कम वोल्टता तथा अधिक धारा का होता है। अतः, इसे सामान्य संभरण से विशेष परिणामित्र (transformer) द्वारा



चित्र १. ऐलुमिनियम तैयार करने की भट्ठी

प्राप्त किया जाता है। इलेक्ट्रोड, सामान्यतः, कार्बन के होते हैं, परंतु बहुत सी भट्ठियों में उपयुक्त धातु के भी बने होते हैं, जो चाप उत्पन्न होने पर धीरे धीरे स्वयं भी उपयुक्त हो जाते हैं। धारा प्रवाहित होने पर ताप द्वारा, इलेक्ट्रोड के सिरे धीरे धीरे क्षत हो जाते हैं। इस



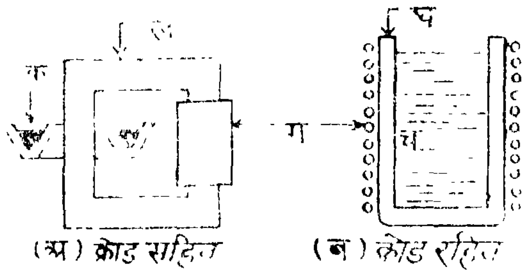
चित्र २.

अ. सीधी आर्क भट्ठी तथा ब. परोक्ष आर्क भट्ठी

प्रकार चाप की लंबाई बढ़ जाती है और चाप बुझ भी जा सकती है। अतः, इन भट्ठियों में इलेक्ट्रोडों को धीरे धीरे आगे बढ़ाने की व्यवस्था भी रहती है।

प्रेरण भट्ठियाँ, प्रेरण के सिद्धांत पर कार्य करती हैं। परिणामित्र की भाँति, इसमें भी दो अंशक होते हैं, प्राथमिक और द्वितीयक। प्राथमिक में वोल्टता आरोपित होने पर द्वितीयक में वोल्टता प्रेरित हो जाती है। यदि द्वितीयक का लघु परिपथन कर दिया जाय, तो प्रतिरोध कम होने पर उसमें अत्यधिक धारा प्रवाहित हो जाती है। इसी सिद्धांत पर इस भट्ठी में भी प्राथमिक कुंडली को संभरण से संबद्ध कर दिया जाता है और द्वितीयक में, जो स्वयं घान के रूप में होती है, अत्यधिक धारा प्रेरित हो जाती है, जिससे घान पिघल जाता है (देखे चित्र ३.)। इस भट्ठी में भी ऊष्मा सीधे घान में ही उत्पन्न होती है और इसलिये उसका अधिकतम उपभोग होना संभव है। परंतु इन भट्ठियों में केवल वही धातु पिघलाई जा सकती है जो चार्ज के रूप में लघुपरिपथित द्वितीयक बन सके।

इन भट्ठियों में किसी वस्तु के विशिष्ट भाग को सापेक्षतया अधिक गरम कर सकना भी संभव है। इस प्रकार ये गियर (gear) को दृढ़ (harden) करने के उपयोग में तथा ऊष्मा उपचार (heat treatment) के लिये बहुत प्रयोग की जाती हैं। इन भट्ठियों को, सामान्यतः, उच्च आवृत्ति (high frequency) संभरण से संभरित किया जाता है, जिससे अधिक ऊष्मा उत्पन्न हो सके। १०,००० साइकिल प्रति सेकंड की आवृत्ति का प्रयोग सामान्य



चित्र ३. प्रेरण भट्ठियाँ

क. घान, ख. लोह क्रोड; ग. मूल कुंडली;
घ. उच्चतापसह मूषा तथा च. घान।

है, जो साधारणतया इलेक्ट्रॉनिकी युक्तियों (electronic devices) द्वारा प्राप्त की जाती है।

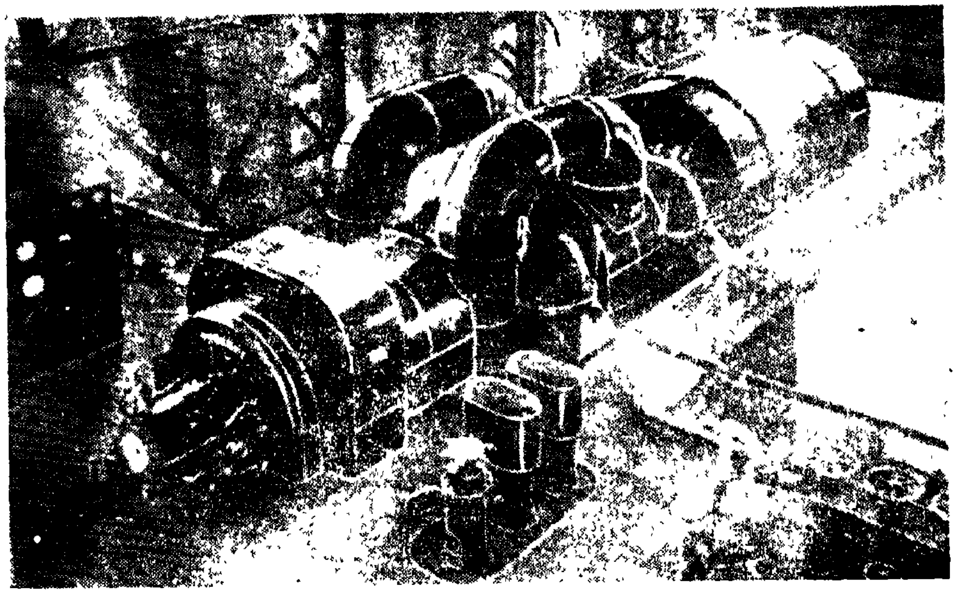
विद्युत् भट्ठियों के बहुत से परिष्कृत रूप अब सामान्य हो गए हैं और ज्यों ज्यों विद्युत् शक्ति संभरण आर्थिक दृष्टिकोण से सस्ता होता जाता है, विद्युत् भट्ठियों का प्रयोग निरंतर बढ़ता ही जाता है। [गा० कु० गा०]

विद्युत्मापी (Electrometers) उन सभी उपकरणों को कहा जाता है जो किसी विद्युत्राशि की माप करें, पर सामान्यतः विद्युत्मापी से केवल विद्युत्ऊर्जा (electrical energy) का माप करनेवाले उपकरणों का ही समझा जाता है।

किसी निश्चित अवधि में उपयुक्त होनेवाली विद्युत् ऊर्जा की माप करने के लिये यह आवश्यक है कि विद्युत्मापी परिपथ में धारा, वोल्टता तथा शक्ति गुणांक (power factor) तीनों की उचित माप करने में तथा उन्हें आकलित कर किसी निश्चित अवधि में पारित होनेवाली ऊर्जा का मापन कर सकने में समर्थ हो। इस प्रकार किसी भी विद्युत्मापी में दो अंशक होते हैं : एक तो शक्ति अंशक, जो धारा, वोल्टता एवं शक्ति गुणांक से प्रभावित होकर शक्ति का मापन करे, और दूसरा काल अंशक, जो निश्चित अवधि में शक्ति का आकलन कर ऊर्जा का मापन करा सके।

शक्ति अंशक, दिष्ट धारा (D C) एवं प्रत्यावर्ती धारा (A. C.) में भिन्न भिन्न प्ररूप का होता है। दिष्ट धारा में, शक्ति गुणांक न होने के कारण (वस्तुतः १ होने के कारण), शक्ति अंशक का केवल धारा तथा वोल्टता का गुणन करने में समर्थ होना पर्याप्त है। यदि वोल्टता को स्थिर मान लिया जाए (जैसा साधारणतया होता है), तो केवल धारा मापन से ही कार्य चल सकता है। इस रूप में विद्युत्मापी

विद्युत् जनित्र (पृष्ठ १६-२२)

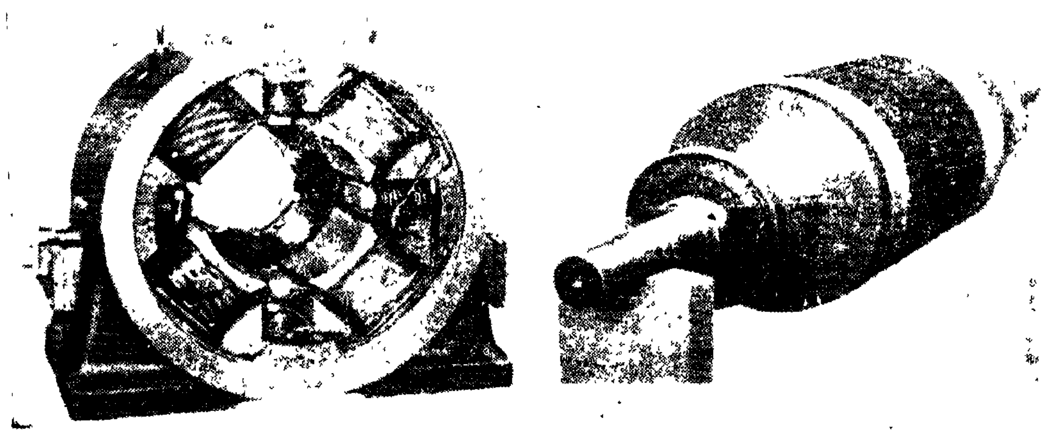


टर्बो विद्युत् जनित्र

विद्युत् मोटर (पृष्ठ ३०-३२)

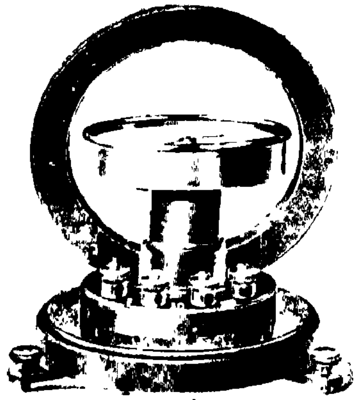


बंद मोटर

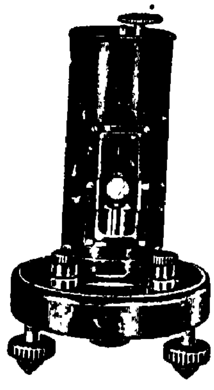


दिष्टधारा मोटर के आंतरिक अवयव

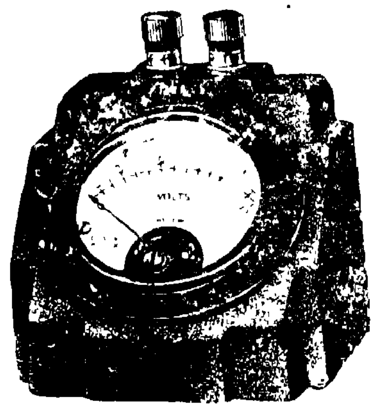
विद्युत्मापी (/पृष्ठ ६८-२६)



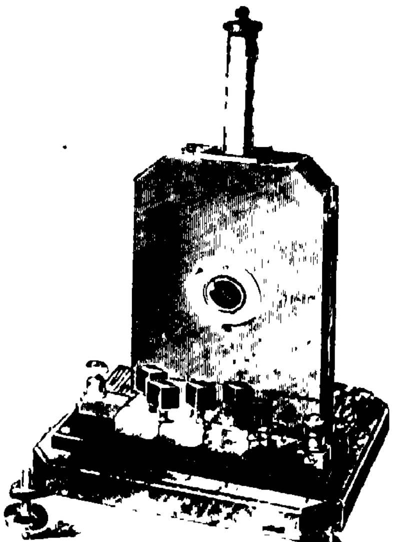
चलचुंबक गैल्वैनोमीटर



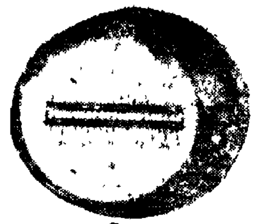
चलकुंडली गैल्वैनोमीटर



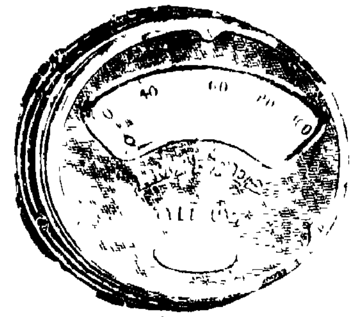
वोल्टमापी



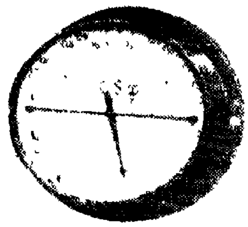
चलचुंबक
परथैतिक गैल्वैनोमीटर



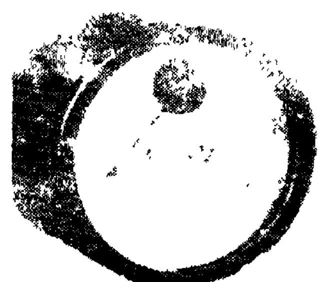
आवृत्तिमापी



ऐमीटर



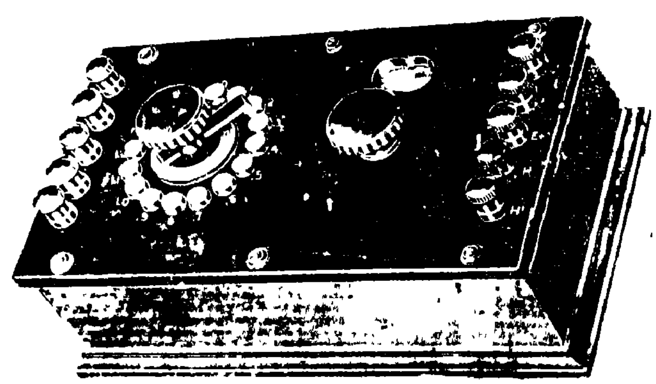
शक्तिगुणकमापी



किलोवाटमापी



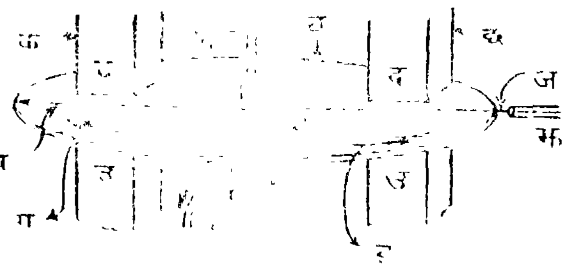
कैथोडकिरण
दोलनलेखी



विभवमापी

वस्तुत. ऐंपियर-घंटा (ampere hour) मीटर हो जाता है। यह केवल यही बताता है कि निश्चित अवधि में कितनी धारा प्रयुक्त की गई है। इस प्रकार एक ऐंपियर-घंटा से तात्पर्य है कि निश्चित वोल्टता पर १ घंटे में १ ऐंपियर धारा उपयुक्त की गई है। यद्यपि बनावट में ऐसे उपकरण सरल होते हैं, तथापि स्पष्टतः वोल्टता के घटने बढ़ने से उनके द्वारा निर्देशित ऊर्जा में गलती हो जाती है। तब भी अपनी सरल बनावट के कारण, सामान्य उपयोगों के लिये ये बहुत उपयुक्त होते है। एक ऐसा मीटर चित्र १. में दिखाया गया है।

इसमें एक बंद प्रकोष्ठ में ऐलुमिनियम का एक डिस्क (disc) संबद्ध रहता है, जिससे उसका चलन स्वतंत्र रूप मे हो सके। प्रकोष्ठ में पारा भरा होता है और डिस्क पारे के उत्प्लावन



चित्र १ दिष्ट धारा प्रतिघंटा ऐंपियर मापी

क. ब्रेक चुंबक; ख प्रेरित धारा की दिशा; ग. ब्रेक की क्रिया की दिशा, घ तर्कु; च ताम्र चक्रिका; छ चालक चुंबक; ज. पारद द्वारा संबधन; झ. धारा प्रवेश; ट. चक्रिका मे धारा; ठ धारा का निर्गमन; ड चक्रिका के घूर्णन की दिशा; उ उत्तरी ध्रुव तथा द. दक्षिणी ध्रुव।

पर अवलंबित रहता है। आपेक्षिक घनत्व १३.६ होने के कारण, पारा डिस्क पर काफी उत्क्षेप लगाता है, जिससे बेयरिंग (bearing) पर दाब कम हो जाती है और डिस्क को घूमने मे सुविधा रहती है। डिस्क के दोनो ओर दो चुंबक होते हैं, जिनमे से एक चालन चुंबक (driving magnet) कहलाता है; और दूसरा ब्रेक चुंबक (brake magnet)। धुराग्र (pivot) धारा के वाहक का भी कार्य करता है। धारा धुराग्र से होकर डिस्क में अरीय (radially) बहती है और वहाँ से पारे मे होकर प्रकोष्ठ पर के स्थिर टर्मिनल मे जाती है। इस प्रकार परिपथ पारे में होकर पूरा होता और चालन चुंबक की उत्तेजक कुंडली (exciting coil) में से प्रवाहित होती हुई धारा डिस्क पर चालन बल (driving force) आरोपित करती है। डिस्क परिभ्रमण के लिये स्वतंत्र होने के कारण घूमने लगता है। उसका ब्रेक चुंबक के क्षेत्र मे परिभ्रमण, उसपर ब्रेक बल आरोपित करता है। ब्रेक-चुंबक की स्थिति का व्यवस्थापन करने से डिस्क की गति मे परिवर्तन किया जा सकता है। यदि मोटर ठीक न चल रहा हो, तो रोक चुंबक की स्थिति का व्यवस्थापन करके ठीक किया जा सकता है।

दूसरे प्रकार के ऐंपियर घंटा मापियों में धारा के विद्युत् अपघटनी (electrolytic) प्रभाव का उपयोग किया जाता है। किसी निश्चित अवधि में, विद्युत् अपघट्य में से पारित होती हुई धारा जितना अवशेष जमा करती है, उसका परिमाण परिपथ मे उपभोग की गई ऊर्जा के अनुपात में होता है। परतु इस प्ररूप के मीटरों की बनावट मजबूत नहीं होती और उन्हें बार बार व्यवस्थित (set) करना पड़ता है। अत. इस प्ररूप के मीटर अधिक चलन में नहीं हैं।

दिष्ट धारा के मीटरों मे शक्ति अंशक वाटमीटर जैसे ही होते है। इनमे वस्तुतः दो परिपथ होते हैं, धारा कुंडली परिपथ, जो वहन की जानेवाली धारा द्वारा प्रवाहित होता है, और दूसरा वोल्टता कुंडली (pressure coil), जो परिपथ के आरपार वोल्टता द्वारा प्रभावित होता है। इन दोनों कुंडलियो की धारा एवं वोल्टता के क्षणिक मानो द्वारा प्रभावित होने के कारण, अंशक का चलनतंत्र परिपथ मे औसत शक्ति का परिचायक होता है। प्र० धा० मीटर, मुख्यतः, दो प्ररूप के होते है :

१. प्रेरण प्ररूप (Induction Type)

२. डायनेमोमीटर प्ररूप (Dynamometer Type)

दोनो मीटर वास्तव मे अपने अपने प्ररूप के वाटमीटर पर ही आधारित होते है। शक्तिअंशक के साथ कालअंशक जोड़ देने से ही उनसे ऊर्जा का मापन किया जा सकता है। कालअंशक वास्तव मे घड़ी की भाँति होता है, जो निश्चित अवधि में शक्ति का आकलन कर ऊर्जा का निर्देश करता है। वाटमीटर में सकेतक (pointer) द्वारा शक्ति का निर्देश ही किया जाता है, जब कि विद्युत्मापी में डिस्क के परिभ्रमण गिनने से ऊर्जा का मापन होता है। डिस्क अथवा ड्रम के परिभ्रमण गिनने के लिये एक गणनतंत्र होता है, जिससे कुल ऊर्जा का मान पढ़ा जा सकता है।

एक दूसरे प्ररूप के मीटर मे वस्तुतः मोटर का छोटा अग ही काम मे लाया जाता है। इसमें धारा कुंडली, उत्तेजक के रूप मे होती है और वोल्टता कुंडली, आर्मेचर के रूप मे। आर्मेचर के साथ कम्यूटेटर (commutator) भी होता है और संस्पर्श करनेवाले दो बुरुश होते है। इस प्रकार यह मीटर, वस्तुतः मोटर का छोटा रूप ही है। इसे इस कारण मोटर मीटर ही कहा जाता है, परंतु यह अधिक महँगा होने के कारण और देखभाल (maintenance) की कठिनाइयों के कारण, बहुत कम प्रयोग मे लाया जाता है।

त्रिफेज परिपथों में ऊर्जा मापन भी त्रिफेज शक्ति मापन के आधार पर ही किया जाता है। त्रिफेज वाटमीटर की भाँति, इनमे भी शक्ति अंशक दो भागो मे सघटित होता है और संयोजन (connection) भी दो वाटमीटर द्वारा शक्ति मापन के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार इसमें ६ टर्मिनल होते हैं और उन्हे त्रिफेज वाटमीटर की भाँति ही सयोजित किया जाता है। केवल काल अंशक तथा गणन तंत्र जोड़ देने से यह ऊर्जा का मापन कर सकता है।

कुछ विद्युत्मापी विशेष कार्यों के लिये व्यवस्थित होते हैं, जैसे महत्तम माँग ससूचक (Maximun Demand Indicator), जिसमें मीटर के साथ ऐसा काल अंशक होता है जो निश्चित अवधि में अधिकतम ऊर्जा का निर्देश करे। [रा० कु० ग०]

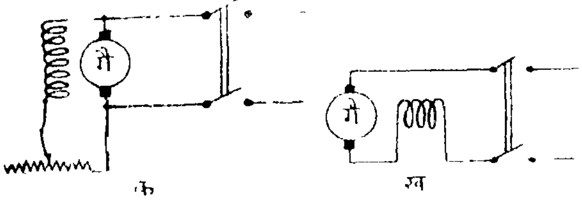
विद्युत् मोटर (Electric Motor) उद्योगों में एक आदर्श प्रधान चालक (prime mover) है। अधिकांश मशीनें विद्युत् मोटरों द्वारा ही चलाई जाती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि विद्युत् मोटरों की दक्षता दूसरे चालकों की तुलना में ऊँची होती है। साथ ही उसका निष्पादन (performance) भी अधिकतर उनसे अच्छा होता है। विद्युत् मोटर प्रवर्तन तथा नियंत्रण के दृष्टिकोण से भी आदर्श है। मोटर को चलाना, अथवा बंद करना, तथा चाल को बदलना अन्य चालकों की अपेक्षा प्रायः सुगमता से किया जा सकता है। इसका दूरस्थ नियंत्रण (remote control) भी हो सकता है। नियंत्रण की सुगमता के कारण ही विद्युत् मोटर इतने लोकप्रिय हो गए हैं।

विद्युत् मोटर अनेक कार्यों में प्रयुक्त हो सकते हैं। ये कई सौ अश्वशक्ति की बड़ी बड़ी मशीनें तथा छोटी से छोटी, १/८ अश्वशक्ति तक की, मशीनें चला सकते हैं। उद्योगों के अतिरिक्त ये कृषि में भी, खेतों के जोतन, बोने तथा काटने की मशीनों को और सिंचाई के पंपों को चलाने के लिये, प्रयुक्त होते हैं। घरों में प्रशीतन, धोवन, तथा अन्य विभिन्न कामों की मशीनें भी इनसे चलाई जाती हैं।

विद्युत् मोटर भिन्न भिन्न प्रयोजनों के लिये भिन्न भिन्न प्ररूपों के बने हैं। इनमें सरल नियंत्रक लगे रहते हैं, जिनसे अनेक प्रकार का काम लिया जा सकता है।

संभरण के अनुसार मोटर दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं : दिष्ट धारा मोटर और प्रत्यावर्ती धारा मोटर। अपने विशिष्ट लक्षणों के अनुसार दोनों ही के बहुत से प्ररूप होते हैं। विद्युत् मोटर विद्युत् ऊर्जा को यांत्रिक ऊर्जा में परिणत करने के साधन हैं। फैराडे द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत पर ये आधारित होते हैं। मोटर में एक चालक के स्थान पर बहुत से आपस में संबद्ध चालकों का तंत्र रहता है, जो एक आर्मेचर (armature) पर आरोपित होता है। आर्मेचर, नरम लोहे की बहुत सी पट्टिकाओं (plates) को जोड़कर बना होता है और बेलनाकार (cylindrical) होता है। इसमें चारों ओर खाँचे कटे हुए होते हैं, जिनमें चालक समूहों को कुंडली अथवा दंडों के रूप में रखा जाता है। इन चालकों को, एक निश्चित योजना के अनुसार, आपस में एक दूसरे से संबद्ध किया जाता है। इस निश्चित क्रम को आर्मेचर कुंडलन (armature winding) कहते हैं। विभिन्न प्रकार के कुंडलनों के विशिष्ट लक्षण होते हैं, जिनके विशिष्ट लाभ होते हैं। चुंबकीय क्षेत्र भी एक दूसरे चालक समूह में से धारा को प्रवाहित कर प्राप्त किया जाता है। दिष्ट धारा मोटरों के आर्मेचर चालकों में धारा बुरुशों द्वारा ले जाई जाती है। ये बुरुश, वस्तुत:, आर्मेचर से संबद्ध दिक्परिवर्तक (commutator) पर आरोपित होते हैं और संभरण से संबद्ध होते हैं। चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करनेवाले कुंडलनों को सामान्यत: क्षेत्र कुंडली (Field coil) कहते हैं। ये कुंडलियाँ आर्मेचर कुंडलन से श्रेणी में संबद्ध या समांतर में संबद्ध हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि उनके कुछ कुंडलन श्रेणी में हों और कुछ समांतर में। क्षेत्र कुंडलन के इस प्रकार संयोजन के आधार पर तीन विभिन्न प्ररूप के दिष्ट धारा मोटर प्राप्त होते हैं : श्रेणी मोटर (Series Motor), शंट मोटर (Shunt motor) तथा संयुक्त मोटर (Compound motor)। श्रेणी मोटर में जो धारा आर्मेचर में से होकर प्रवाहित होती है, वही क्षेत्र कुंडली में भी प्रवाहित होती है। अत:, इसकी क्षेत्र कुंडली में मोटे तार के बहुत कम कुंडलन होते हैं। शंट मोटर में पूर्ण धारा का कुछ अंश ही क्षेत्र कुंडली में होकर बहता है, जो उसके आरपार वोल्टता तथा कुंडलन के प्रतिरोध पर निर्भर करता है। अत: इसकी क्षेत्र कुंडली में बहुत पतले तार के बहुत अधिक कुंडलन होते हैं, जिससे इस कुंडली का प्रतिरोध सामान्यत: कई सौ ओम होता है।

विभिन्न प्ररूपों के दिष्ट धारा मोटरों के लक्षण भी बहुत भिन्न भिन्न होते हैं, और उन्हीं के अनुसार इनका प्रयोग भी भिन्न भिन्न प्रयोजनों के लिये होता है। शंट मोटर लगभग स्थिर चाल पर



क. शंट मशीन का संबंधन तथा ख श्रेणी मशीन का संबंधन

प्रवर्तन करते हैं और भार के साथ उनकी चाल विचरण अधिक नहीं होता। अत: वे उन सब उपयोगों में प्रयुक्त होते हैं जहाँ एकसम चाल की आवश्यकता होती है। ये ट्राम, लिफ्ट, क्रेन इत्यादि के लिये बड़े उपयोगी हैं। किसी भार को चलन में लाने से पहले अधिक बल लगाना पड़ता है, पर जब वह चलने लगता है तब उतने बल की आवश्यकता नहीं रहती। अतएव श्रेणी मोटर इन प्रयुक्तियों के लिये आदर्श होते हैं और इनका उपयोग विस्तृत रूप में होता है।

अधिकांश प्रयोजनों के लिये शंट तथा श्रेणी प्ररूपों के बीच की आवश्यकता होती है, जो संयुक्त मोटर द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

प्रत्यावर्ती धारा मोटरों में भी दिष्ट धारा मोटरों की भाँति ही क्षेत्रकुंडलियाँ तथा आर्मेचर होते हैं, परंतु कुछ विभिन्न रूप में। इनमें दो मुख्य भाग होते हैं : एक तो स्टेटर (stator), जो स्थिर रहता है, और दूसरा रोटर जो घूमता है। प्रत्यावर्ती धारा मोटरें भी विभिन्न प्ररूपों के होते हैं। सबसे सामान्य प्रत्यावर्ती धारा मोटर प्रेरण मोटर (induction motor) है, जो प्रेरण के सिद्धांत पर कार्य करता है। प्रेरण मोटरों में स्टेटर कुंडलन त्रिकला संभरण से संबद्ध होता है, जिसके कारण एक घूर्णी चुंबकीय क्षेत्र (rotating magnetic field) उत्पन्न होता है। रोटर के चालक आपस में त्रिकलीय कुंडलन के रूप में भी संबद्ध हो सकते हैं, अथवा केवल ताँबे के मोटे छड़ों के रूप में भी हो सकते हैं, जो दोनों सिरों पर ताँबे के वलय द्वारा लघुपरिपथित (short circuited) हों। ऐसी रचना वस्तुत:, गिलहरी के पिंजरे की भाँति होती है। अत: ऐसे मोटरों को

सामान्यतः गिलहरी पंजर प्रेरण मोटर, अथवा केवल पंजर मोटर ही कहते हैं। ये मोटर बनावट में बहुत सुदृढ़ होते हैं तथा साथ ही साथ सरल तथा सस्ते भी होते है। इनकी दक्षता भी उसी आकार के दूसरे मोटरों की अपेक्षा ऊँची होती है। अतएव इन मोटरों का प्रयोग प्रायः सार्वत्रिक है। परंतु इन मोटरों का प्रचालन, एक प्रकार से, रोटर की बनावट के अनुसार निश्चित होता है और उसमें आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इनका आरंभिक बलआघूर्ण (starting torque) बहुत कम होता है, जिसे सुधारने के लिये रोटर परिपथ में कुछ प्रतिरोध निविष्ट (insert) करना आवश्यक होता है, परंतु स्थिर प्ररूप की रचना के कारण ऐसा संभव नहीं हो पाता। साथ ही स्थायी तौर पर रोटर चालकों का प्रतिरोध भी अधिक नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर हानि अधिक बढ़ जाएगी और मोटर की दक्षता घट जाएगी। अधिक आरंभिक, बलआघूर्ण प्राप्त करने के लिये द्विपंजर (double cage) मोटर प्रयुक्त किए जाते है, जिनमें एक के स्थान पर दो पंजर होते है। रोटर के खाँचों के प्ररूप तथा उनकी स्थिति के अनुसार प्रचालन लक्षणों में कुछ विभिन्नता प्राप्त की जा सकती है और उन्हे विविध प्रयोजनों के योग्य बनाया जा सकता है।

प्रेरण मोटर लगभग स्थिर चाल पर चलते हैं। भार के साथ उनकी चाल विचरण बहुत कम होता है। अतः, जिन भारों के लिये स्थिर चाल की आवश्यकता होती है, वहाँ वे बहुत उपयोगी होते है। परंतु जहाँ विचरणशील चाल की आवश्यकता हो, वहाँ पंजर मोटर सामान्यतः प्रयुक्त नहीं किए जाते। इनकी चाल तुल्यकालिक चाल से कुछ ही कम होती है, जो ध्रुव संख्या तथा आवृत्ति पर निर्भर करती है। अतः चाल विचरण करने के लिये या तो ध्रुव संख्या में परिवर्तन करना आवश्यक है, अथवा आवृत्ति का ही विचरण करना आवश्यक है। आवृत्ति विचरण करने का तात्पर्य है कि अलग ऐसे संभरण की व्यवस्था करना जिसकी आवृत्ति बदली जा सके। यह साधारणतया व्यावहारिक नहीं होता, क्योंकि विद्युत् संभरण सामान्यतः स्थिर आवृत्ति पर होता है। ध्रुव संख्या को अवश्य ही एक विशिष्ट अनुपात में, कुंडलन के संबंधन में परिवर्तन करके, बदला जा सकता है, जैसे एक ४ ध्रुवी मोटर को ८ ध्रुवी अथवा ६ ध्रुवी मोटर में परिवर्तित करना संभव है। इस प्रकार इन ध्रुव संख्याओं के तत्संबंधी वेग भी प्राप्त किए जा सकते है। ५० चक्रीय आवृत्ति पर ४ ध्रुवी मोटर की तुल्यकालिक चाल १,५०० प० प्र० मि० और ६ ध्रुवी तथा ८ ध्रुवी का क्रमशः १,००० तथा ७५० प० प्र० मि० है। इस तरह ऐसी मोटर की ध्रुव संख्या में परिवर्तन कर, इनकी तत्संबंधी चाल प्राप्त की जा सकती है। पर ये केवल दो या तीन क्रमों में ही हो सकते है। इस विधि से विस्तृत परास में चाल विचरण प्राप्त करना संभव नहीं है। कुछ निश्चित क्रमों में चाल विचरण की एक दूसरी विधि 'सोपानीपात नियंत्रण' (Cascade Control) कहलाती है। यह विधि बेलन मिलों (rolling mills) में अधिकतर प्रयुक्त की जाती है। विभिन्न प्रकार के मशीन औजारों (machine tools) में भी विचरणशील चाल की आवश्यकता होती है, परंतु उनमें सामान्यतः, चाल विचरण गियर क्रमों को बदलकर किया जाता है।

यदि चाल व्यवस्थापन काफी विस्तृत परास में करना हो, तो श्राग मोटर (Schrage motor) बहुत उपयुक्त होते हैं। बहुत से स्थानों में दिष्ट धारा, श्रेणी मोटर का प्रचालन लक्षण वाञ्छनीय होता है। उसकी व्यवस्था करने के लिये प्रत्यावर्ती धारा मोटरों में भी प्रयत्न किया गया है। प्रत्यावर्ती धारा श्रेणी मोटर (A C Series motor) एवं दिक्परिवर्तक मोटर (commutator motorr) इसी प्रकार के विशिष्ट लक्षणों की व्यवस्था करते है। तुल्यकालिक मोटर (synchronous motor) केवल तुल्यकालिक चाल पर ही प्रचालन कर सकते हैं। अतः जहाँ एकसमान चाल की आवश्यकता हो, वहाँ ये आदर्श होते हैं। जिस प्रकार दिष्ट धारा जनित्र एवं मोटर, वस्तुतः एक ही मशीन है और दोनों को एक दूसरे के रूप में प्रयोग करना संभव है, उसी प्रकार तुल्यकालिक मोटर भी, वस्तुतः, प्रत्यावर्ती धारा जनित्र का, जिसे सामान्यतः प्रत्यावर्तित्र (Alternator) कहते हैं, ही रूप है और दोनों को किसी भी रूप में प्रयोग करना संभव है। इसके प्रचालन के लिये इसके स्टेटर में प्रत्यावर्ती धारा संभरण तथा रोटर में दिष्ट धारा उत्तेजन (D. C. excitation) दोनों की आवश्यकता होती है। इन मोटरों का प्रयोग कुछ सीमित है। दिष्ट धारा उत्तेजन के लिये प्रत्यावर्तित्र की भाँति ही इनमें भी एक उत्तेजक (exciter) की व्यवस्था होती है। इन मोटरों का मुख्य लाभ यह है कि उत्तेजना को बढ़ाने से शक्तिगुणांक (power factor) भी बढ़ाया जा सकता है। अतः विशेषतया उन उद्योगों में जहाँ बहुत से प्रेरण मोटर होने के कारण, अथवा किसी और कारण, से शक्तिगुणांक बहुत कम हो जाता है, वहाँ तुल्यकालिक मोटरों की व्यवस्था कर शक्तिगुणांक को सुधारा जा सकता है। बहुत से स्थानों में तो ये मोटर केवल शक्तिगुणांक सुधार के लिये ही प्रयुक्त किए जाते है। ऐसी दशा में इन्हें तुल्यकालिक संधारित्र (Synchronous condenser) कहा जाता है।

बहुत से स्थानों में केवल एककलीय (single phase) संभरण ही उपलब्ध होता है। वहाँ एककलीय मोटर प्रयोग किए जाते है। छोटी मशीनों तथा घरेलू कार्यों के लिये एककलीय प्रेरण मोटर (single phase induction motor) बहुत लोकप्रिय हैं। बिजली के पंखों में भी एककलीय मोटर प्रयुक्त होते है। इसी प्रकार धावन मशीनों, प्रशीतकों तथा सिलाई की मशीनों इत्यादि में एककलीय मोटर ही प्रयुक्त किए जाते हैं। एककलीय मोटरों की मुख्य कठिनाई इनके आरंभ करने में होती है। आरंभ करने के लिये किसी प्रकार का कला विपाटन (phase splitting) आवश्यक होता है। कला विपाटन साधारणतया एक सहायक कुंडली द्वारा किया जाता है, जिसके परिपथ में एक संधारित्र दिया होता है, जो सहायक कुंडलन की धारा को मुख्य कुंडलन की धारा से लगभग १० विद्युत् डिग्री विस्थापित कर देता है। इसके कारण घूर्णी चुंबकीय क्षेत्र की उत्पत्ति संभव हो सकती है और

मोटर चलने लगता है। संधारित्र के परिपथ में रहने से मोटर का प्रचालन शक्तिगुणांक भी सुधर जाता है। बहुत से छोटे छोटे मोटर सार्वत्रिक किस्म के होते हैं और दिष्ट धारा एवं प्रत्यावर्ती धारा दोनों में ही प्रयुक्त किए जा सकते है। वस्तुतः ये श्रेणी मोटर होते हैं, जिनका प्रचालन दिष्ट धारा एवं प्रत्यावर्ती धारा दोनो मे ही संभव है, परंतु ये अत्यंत छोटे आकारों मे ही बनाए जा सकते है और केवल कुछ विशेष प्रयुक्तियों मे ही काम आते हैं।

मीटरों तथा दूसरे उपकरणों मे तथा जहाँ किसी विद्युत् राशि का मापन करना हो वहाँ अत्यंत छोटे आकार के मोटर प्रयुक्त होते हैं। दूरस्थ नियंत्रण, अथवा वाल्व इत्यादि को खोलने के लिये भी, बहुत से छोटे मोटर प्रयुक्त होते हैं।

मोटर का ऊपरी आवरण विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार बनाया जाता है। कुछ मोटर खुले हुए प्ररूप के होते हैं, जिनमे उनके अंदर के भाग सामने दिखाई पड़ते है, परंतु ऐसे मोटरों मे धूल मिट्टी जाने का डर रहता है। अतएव ये खुले स्थानों मे नही प्रयुक्त किए जा सकते। परंतु ऐसे मोटरों मे प्राकृतिक संवातन (ventilation) अच्छा होता है। अतएव ये शीघ्रता से गरम नही होने पाते। इस कारण ऐसे मोटर आकार के अनुसार सापेक्षतः अधिक क्षमता के होते है। जहाँ मोटर को खुले स्थानों मे प्रचालन करना पड़ता है वहाँ धूल मिट्टी इत्यादि का डर हो सकता है, अतः पूर्णतया आवृत मोटर प्रयुक्त किए जाते है। ऐसे मोटरों में मुख्य कठिनाई संवातन की होती है। इनका आवरण भी ऐसा बनाया जाता है कि वह अधिकतम ऊष्मा विसर्जित (dissipate) कर सके। साथ ही उसी ईषा (shaft) पर आरोपित एक पंखे की भी व्यवस्था होती है जो मोटर के अंदर संवातन वायु को प्रवेश करा सके और उसमे उत्पन्न होनेवाली ऊष्मा को विसर्जित कर सके। अधिकांश प्रयोजनों के लिये अर्ध-परिबद्ध (semi-enclosed) मोटर संतोषजनक होते है जिनमे मोटर के दृष्टिगोचर होनेवाले भाग जाली द्वारा ढके रहते है। इस प्रकार इनमें उपर्युक्त दोनो प्ररूपों के लाभ निहित रहते है। विशेष परिस्थितियों के लिये विशेष प्रकार के आवरण बनाए जाते है, जैसे खानों के अंदर अथवा विस्फोटक वातावरण मे पूर्णतया ज्वालारक्षित (flame-proof) मोटर प्रयुक्त किए जाते है। इसी प्रकार कुछ मोटर पानी में नीचे काम करने के लिये बनाए जाते है और उनके आवरण की रचना इस प्रकार होती है कि पानी मोटर के अंदर न जा सके। और भी बहुत सी विभिन्न परिस्थितियों मे विभिन्न प्रकार के आवरण बनाए जाते है।

बहुत सी मोटरों को भार से (कार्यकारी मशीन से) सीधे ही संबद्ध कर दिया जाता है और बहुत सी अवस्थाओं मे उन्हें पट्टी (belt) गियर (gear) अथवा चेन (chain) द्वारा संबद्ध किया जाता है। गियर से चालक एवं चालित मशीनों मे लगभग स्थिर चाल अनुपात पालित किया जा सकता है और गियर क्रम बदलकर विभिन्न चाल भी प्राप्त की जा सकती है। पट्टी द्वारा शक्ति के प्रेषण मे मशीन को मोटर से काफी दूर भी रखा जा सकता है और एक सामान्य ईषा को भी चलाया जा सकता है, जिससे दूसरी मशीनें संबद्ध हो। बड़े बड़े कारखानों मे साधारणतया यही विन्यास होता है।

मोटरों की क्षमता के लिये मुख्य परिसीमा ताप की वृद्धि है। ताप के बढ़ने पर क्षति होने का भी भय रहता है, तथा हानियों के बढ़ जाने से मोटर की दक्षता भी कम हो जाती है। इस प्रकार मोटर अनवरत प्रचालन नही कर सकता। अधिकांश मोटर एक विशिष्ट ताप वृद्धि के लिये क्षमित होते हैं, जो विद्युत्रोधी के वर्ग पर निर्भर करता है। बहुत से मोटर 'संतत क्षमता" (continuous rating) के होते हैं, जिसका तात्पर्य है कि वह निर्धारित भार, बिना ताप के विशिष्ट सीमा तक बढ़े, निरंतर संभरण कर सकते हैं। साथ ही २ घंटे तक २५ प्रति शत अतिभार भी वहन कर सकते है। बहुत से मोटर केवल अल्प काल के लिये ही पूर्ण भार पर प्रचालन करते है और बाकी समय बहुत कम भार पर रहते है अथवा बंद रहते है। यदि प्रचालन-क्रम निश्चित हो, तो ऐसे प्रयोजनों के लिये कम क्षमता की मोटरें प्रयोग की जा सकती है, जिनका प्रचालन तथा क्षमता अल्प समय के लिये ही निर्धारित होती है।

विद्युत् मोटर औद्योगिक प्रगति का महत्वपूर्ण सूचक है। यह एक बड़ी सरल तथा बड़ी उपयोगी मशीन है। उद्योगों में शायद ही कोई ऐसा प्रयोजन हो जिसके लिये उपयुक्त विद्युत मोटर का चयन न किया जा सके। [रा० कु० ग०]

विद्युत्यंत्र यों तो, विद्युत् शक्ति से परिचालित किसी भी यंत्र को विद्युत् यंत्र कहा जा सकता है, परंतु साधारणतया, विद्युत्यंत्र से तात्पर्य डायनेमो (Dynamo) से होता है, जो यांत्रिक ऊर्जा से विद्युत् ऊर्जा का जनन (जनित्र के रूप में), अथवा विद्युत् ऊर्जा को यांत्रिक ऊर्जा मे रूपांतरण करनेवाली मशीन है। डायनेमो, वास्तव मे, ऐसी मशीन है जो यांत्रिक ऊर्जा का विद्युत् ऊर्जा मे एवं उसका विपरीत, अर्थात् विद्युत् ऊर्जा का यांत्रिक ऊर्जा मे, रूपांतरण करती है। यह फैराडे के मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित है, जो इस प्रकार व्यक्त किए गए हैं :

१. यदि कोई चालक किसी चुंबकीय क्षेत्र मे घुमाया जाए, तो उसमे एक विद्युत् वाहक बल (electromotive force) की उत्पत्ति होती है। यदि चालक का परिपथ (circuit) पूर्ण हो, तो प्रेरित वि० वा० ब० (e. m. f) के कारण उसमे धारा का प्रवाह भी होने लगता है।

इस वि० वा० ब० का परिमाण, चालक की लंबाई, चुंबकीय अभिवाह घनत्व (magnetic flux density) तथा चालक के वेग (क्षेत्र के लंब) के ऊपर निर्भर करता है। इस प्रकार

$$e = B\ l\ v \times 10^{-8} \text{ वोल्ट}$$

जहाँ B = चुंबकीय अभिवाह का घनत्व, l = चालक की लंबाई, v = चालक का वेग (क्षेत्र के लंबवत्)।

उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार ही, फैराडे का दूसरा सिद्धांत है, जो वस्तुतः इसका पूरक है :—

'चुंबकीय क्षेत्र मे स्थित, विद्युत् धारा का वहन करते हुए किसी चालक पर एक बल आरोपित होता है, जिसका परिमाण चुंबकीय अभिवाह घनत्व, चालक की लंबाई तथा धारा पर निर्भर करता है। यदि चालक के चलन में कोई रोक न हो, तो उस

पर आरोपित होनेवाली ऐंठन (torque) के कारण वह घूमने लगेगा।

आरोपित बल को निम्नलिखित समीकरण से व्यक्त किया जा सकता है —

F = B. l. I. डाइन (Dynes)

जहाँ F = चालक पर आरोपित बल, B = चुंबकीय अभिवाह घनत्व, l = चालक की लंबाई तथा I = चालक में प्रवाहित धारा।

उपर्युक्त दोनों सिद्धांत, विद्युत् इंजीनियरी के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण हैं। वास्तव में ये सिद्धांत ऊर्जा के एक रूप से दूसरे रूप में रूपांतरण करने के व्यावहारिक सिद्धांत हैं। अधिकांश विद्युत् मशीनें इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित हैं। डायनमो इन सिद्धांतों का व्यावहारिक उपयोग करनेवाला सरलतम यंत्र है। यह मशीन दोनों सिद्धांतों का प्रतिपादन करती है। इसके मुख्य भाग, चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करनेवाले चुंबक तथा उस क्षेत्र में घूमनेवाले चालकों का तंत्र, जिसे आर्मेचर (Armature) कहते हैं, होते हैं। फैराडे के सिद्धांतों को व्यावहारिक बनाने के लिये एक चालक के स्थान पर कई चालकों का होना आवश्यक है, जो आपस में इस प्रकार योजित हों कि उनमें प्रेरक वि० वा० ब० जुड़कर व्यवहार योग्य हो सके, अथवा प्रत्येक पर आरोपित बल जुड़कर इतना हो सके कि उसका व्यावहारिक प्रयोग किया जा सके। चालकों का योजन कई प्रकार से किया जा सकता है। इस योजनतंत्र को आर्मेचर कुंडली (Armature Winding) कहते हैं। चुंबकीय क्षेत्र भी "विद्युत् का चुंबकीय प्रभाव" का उपयोग करके प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये चुंबकों के स्थान पर क्षेत्रकुंडलियाँ (field coils) होती हैं, जिनमें धारा के प्रवाहित होने से चुंबकीय क्षेत्र की उत्पत्ति की जाती है। धारा को आर्मेचर चालकों में लाने अथवा ले जाने के लिये बुरुशों का प्रयोग किया जाता है, जो चलनशील चालकों को बाहरी परिपथ के स्थिर सिरों से योजित करते हैं। आर्मेचर चालक उसमें बने खाँचों में स्थित होते हैं, ताकि अधिक वेग से घूमते हुए भी वे अपनी स्थिति में अवस्थित रहें। आर्मेचर एक शाफ़्ट (shaft) पर कुंजी (key) द्वारा अवस्थित किया जाता है और शाफ्ट यांत्रिक ऊर्जा का प्रावधान करने के उपयोग में आता है। यांत्रिक ऊर्जा से विद्युत् ऊर्जा का जनन करने की अवस्था में यह शाफ़्ट यांत्रिक ऊर्जा के संभरण से युग्मक (coupling) द्वारा जोड़ दिया जाता है, जिससे आर्मेचर चुंबकीय क्षेत्र में घूमने लगता है और उसमें वि० वा० ब० प्रेरित हो जाता है।

विद्युत् ऊर्जा से यांत्रिक ऊर्जा उपलब्ध करना भी इसी यंत्र द्वारा संभव है। इसके लिये आर्मेचर संचालकों को विद्युत्संभरण से योजित कर दिया जाता है, जिससे उनमें धारा का प्रवाह होने लगता है और चुंबकीय क्षेत्र में स्थित होने के कारण उनपर बल आरोपित हो जाता है। अत: आर्मेचर घूमने लगता है। आर्मेचर के शाफ्ट को किसी मशीन से योजित कर देने पर मशीन को चलाया जा सकता है और इस प्रकार उत्पन्न हुई यांत्रिक ऊर्जा का व्यावहारिक उपयोग किया जा सकता है।

डायनेमो का सबसे साधारण उपयोग साइकिल की बत्ती जलाने में किया जाता है। इसमें यह एक छोटे यंत्र के रूप में होता है, जिसमें चुंबकीय क्षेत्र, स्थायी चुंबकों द्वारा प्राप्त किया जाता है और यांत्रिक ऊर्जा चलती हुई साइकिल के पहिए से प्राप्त की जाती है। इसके लिये इसके आर्मेचर शाफ़्ट में एक रबर का टुकड़ा लगा होता है, जो साइकिल के रिम (rim) से घर्षण द्वारा शाफ़्ट को चलाता है। इस प्रकार आर्मेचर चालकों में उत्पन्न हुआ वि० वा० ब० इतना पर्याप्त होता है कि उससे उत्पन्न धारा साइकिल की बत्ती को जला सके।

इसी प्रकार का डायनेमो, कुछ बड़े आकार में, मोटरकार अथवा बसों में प्रयोग किया जाता है, जो मोटर के इंजन से यांत्रिक ऊर्जा प्राप्त कर उसे विद्युत् ऊर्जा में रूपांतरित कर देता है। इससे बत्तियाँ जलाई जा सकती है, मोटर की बैटरी चार्ज (charge) की जा सकती है तथा विद्युत् शक्ति से प्रतिपादित होनेवाले दूसरे कार्य किए जा सकते हैं।

यह सरल विद्युत् मशीन ही वास्तव में विद्युत् की सभी प्रकार की मशीनों की जननी है।

लगभग सभी विद्युत् मशीनें पूर्व कथित दो मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित है। विद्युत् मशीनों के प्ररूप में व्यावहारिक दृष्टिकोण से बहुत से परिवर्तन हुए हैं तथा बहुत प्रकार की मशीनें बनाई गई हैं। विशिष्ट कार्यों के लिये अधिकतम दक्षता पर प्रवर्तन करनेवाली मशीनें बनी हैं। इनकी संरचना विशेष प्रकार के लक्षण प्राप्त करने के लिये की गई है। विभिन्न प्रकार के जनित्र (generator), जो कई हजार किलोवाट तक की क्षमता के होते हैं, और विभिन्न प्रकार के मोटर, जो बड़ी से बड़ी औद्योगिक मशीनों को चलाते हैं, वस्तुत: सभी इसी सरल विद्युत् मशीन, डायनेमो, के ही प्ररूप हैं।

विद्युत् मशीनें आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र में सर्वमान्य है। इनकी उपयोगिता केवल उच्च दक्षता तक ही सीमित नहीं है, वरन् दक्षता के साथ साथ सरल नियंत्रण भी इनकी मुख्य विशेषता होती है। ये आसानी से चलाई जा सकती है तथा इनसे वेग नियंत्रण भी आसानी से किया जा सकता है। साथ ही दूरस्थ नियंत्रण (remote control) द्वारा इनका प्रवर्तन सुविधाजनक स्थान से किया जा सकता है, जिसके कारण विद्युत् मशीनें इतनी सर्वमान्य हो गई हैं। [रा० कु० ग०]

विद्युत्रसायन (eletro-chemistry) भौतिक रसायन की वह शाखा है जिसमें विद्युत् और रासायनिक परिवर्तनों के संबंध का अध्ययन किया जाता है। अनेक रसायनक (chemicals) विद्युत् से दूसरे रसायनकों में परिवर्तित किए जा सकते हैं। यह विषय आज बहुत विशाल और महत्व का हो गया है। इसकी इस बात से पुष्टि हो जाती है कि बाजारों में बिकनेवाली अनेक वस्तुएँ, जैसे धातुएँ, मिश्र धातुएँ, रसायनक, साज सज्जा के सामान आदि विद्युत् विधियों द्वारा ही आज बनती है। विद्युत् विधियाँ पुरानी अविद्युत् विधियों का स्थान बड़ी तीव्रता से ले रही है। विद्युत् ऊर्जा की अधिक उपलब्धि के साथ साथ विद्युत्रासायनिक उद्योगों का आज अधिकाधिक विकास हो रहा है।

रासायनिक क्रियाओं में साधारणतया ऊष्मा परिवर्तन, ऊष्मा का निष्कासन, या ऊष्मा का अवशोषण होता है, पर कुछ विशिष्ट परिस्थितियों मे रासायनिक क्रियाओं से विद्युत् ऊर्जा का भी उत्पादन हो सकता है। रासायनिक ऊर्जा के विद्युत् ऊर्जा मे परिवर्तन का अच्छा उदाहरण प्राथमिक सेल और बैटरियाँ है। शुष्क बैटरियाँ भी इसी सिद्धांत पर बनी है। विद्युत् रासायनिक परिवर्तनों मे विद्युत् ऊर्जा परिणाम होती है। जल में विद्युत प्रवाह से जल हाइड्रोजन और आक्सीजन में विघटित हो जाता है। जल में नमक विद्युत् प्रवाह से सोडियम और क्लोरीन में विघटित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप में दाहक सोडा, हाइड्रोजन और क्लोरीन प्राप्त होते है। ये तीनों ही उत्पाद औद्योगिक दृष्टि से बड़े महत्व के हैं।

वोल्टा ने १८०० ई० के लगभग विभिन्न धातुओं का पुंज (piles) बनाकर पहले पहल विद्युत् धारा प्राप्त की थी। फिर निकल्सन और कार्लाइल ने वोल्टीय पुंज की विद्युत् धारा द्वारा जल को हाइड्रोजन और ऑक्सीजन मे विघटित किया था। इसके बाद १८०७ ई० मे डेवि ने सोडियम के लवण मे विद्युत् प्रवाह से सोडियम धातु पहले पहल प्राप्त की थी। शीघ्र ही बाद इसी विधि से कैल्सियम, स्ट्रौंशियम और बेरियम धातुएँ भी प्राप्त हुई थीं। फिर तो अनेक वैज्ञानिकों ने महत्वपूर्ण योगदान देकर, विद्युत् रसायन को बहुत आगे बढ़ाया। ऐसे वैज्ञानिकों में बर्जीलियस, फैराडे, ओम, हिटॉर्फ, कोलरॉश, आरेनियस, नर्नस्ट तथा लुईस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस संबंध मे फैराडे ने कुछ नियमों का प्रतिपादन किया है, जो 'फैराडे के नियम' के नाम से सुप्रसिद्ध है। एक नियम यह है कि 'विद्युत् धारा से रासायनिक विघटन की मात्रा प्रवाहित विद्युत् की मात्रा के अनुपात में रहती है'। दूसरा नियम है कि यदि विभिन्न यौगिकों से विद्युत् धारा प्रवाहित की जाय, तो इलेक्ट्रोड पर प्राप्त विभिन्न पदार्थों की मात्रा उनके रासायनिक तुल्यांक भार के अनुपात में होती है'। इन दोनों नियमों का सत्यापन प्रयोगों से प्रमाणित हो चुका है।

जब कोई लवण पानी मे घुलता है, तब वह साधारणतया दो भागों में बँट जाता है। इन्हे 'आयन' कहते है। कुछ आयनों पर धनावेश रहता है और कुछ आयनो पर ऋणावेश रहता है। पर इन आवेशों की मात्रा एक समान रहने के कारण विलयन वैद्युत् दृष्टि से उदासीन होता है। ऐसे विलयन मे विद्युत् के प्रवाहित करने से ऋणायन एक इलेक्ट्रोड पर और धनायन दूसरे इलेक्ट्रोड पर उन्मुक्त होते है। जो यौगिक आयनो मे विघटित होते है, वे ही विद्युत् के चालक होते है। ऐसे यौगिक सामान्यत: अम्ल, क्षार और लवण होते हैं। ऐसे विलयन, जो विद्युत् के चालक होते है, विद्युत् अपघट्य (Electrolyte) कहे जाते है। कुछ लवण द्रवित अवस्था मे विद्युत् चालक होते है। विद्युत् अपघट्य से जब विद्युत् प्रवाहित की जाती है, तब उसे विद्युत् अपघटन (Electrolysis) कहते है। विद्युत् अपघटन से आज अनेक वस्तुएँ तैयार होती हैं। इसका सबसे अधिक महत्व का उपयोग विद्युत्लेपन (electroplating) में होता है (देखें विद्युत् लेपन)। इससे धातुओं का परिष्कार भी किया जाता है। शुद्ध ताँबा विद्युत् अपघटन से ही प्राप्त होता है। विद्युत् मुद्रण का भी विद्युत् अपघटन से ही संबंध है।

विद्युत् रसायन के अंतर्गत ऐसे परिवर्तन भी आते हैं जो ऊँचे ताप पर संपन्न होते हैं। ऊँचे ताप के लिये अनेक प्रकार की विद्युत् भट्ठियाँ या चाप भट्ठियाँ बनी हुई हैं। इस विधि से आज अनेक धातुएँ धातुखनिजों से प्राप्त होती है। ऐलुमिनियम का निर्माण इसका अच्छा उदाहरण है। धातुओं की प्राप्ति के अतिरिक्त अनेक बड़ी उपयोगी वस्तुएँ जैसे कैलसियम कार्बाइड, सिलिकन कार्बाइड (जो अपघर्षक के निर्माण मे काम आता है), फॉस्फरस, सिलिकन, मैग्नीशियम, ग्रैफाइट आदि भी विद्युत् भट्ठियों मे ही तैयार होते हैं।

[द० सिं०]

विद्युत्लेपन (Electroplating) विद्युत् धारा द्वारा, धातुओं पर लेपन करने की विधि को विद्युत्लेपन कहते है। बहुधा लोहे की वस्तुओं को संक्षारण से बचाने तथा चमक के लिये, उन पर ताँबे, निकल अथवा क्रोमियम का लेपन किया जाता है। आधार धातु पर लेपन करने के बाद, लेपन की जानेवाली धातु के बाहरी गुण दिखाई देते है। इससे वस्तु का बाहरी रूप रंग निखर जाता है तथा साथ ही वस्तु संक्षारण से भी बचती है। विद्युत्लेपन द्वारा लेपित की जानेवाली धातु, आधार धातु से अच्छी प्रकार संबद्ध हो जाती है और लेपन प्राय: स्थायी रूप में किया जा सकता है।

विद्युत्लेपन सज्जा के मुख्य अंश निम्नलिखित हैं —

१ विद्युत्लेपन बाथ (Electroplating Bath) — जिसमें लेपन की जानेवाली धातु का यौगिक भरा होता है, जो धारा के प्रवाहित होने से धातु के आयनों मे टूट जाता है और ये आयन आधार धातु की वस्तु पर लेपित हो जाते हैं।

२. दिष्ट धारा (direct current) का स्रोत (source) — यह सामान्यत: एक दिष्टकारी (rectifier) होता है और प्रत्यावर्ती धारा को दिष्ट धारा मे बदलता है।

३ आधार धातु की वस्तु जिसपर लेपन किया जाना हो — यह धारा के ऋण टर्मिनल (negative terminal) से सबद्ध होती है। धन (positive) टर्मिनल ऐनोड से सबद्ध होता है, जो लेपन की जानेवाली धातु के यौगिक मे डूबा रहता है। जब दोनों टर्मिनलों के बीच धारा प्रवाहित होती है, तो लेपन धातु के धन आयन कैथोड (cathode) के तल की ओर को चलते है और धात्वीय रूप में परिवर्तित होकर तल से लिपट जाते है। लेपन की मोटाई धारा के घनत्व एवं लेपन के काल पर निर्भर करती है।

विद्युत्लेपन के लिये दिष्ट धारा ही प्रयोग की जा सकती है, अन्यथा लेपन क्रिया होगी ही नहीं। जहाँ संभरण प्रत्यावर्ती धारा का होता है वहाँ प्र० धा० को दिष्ट धारा में परिवर्तित करना आवश्यक होता है। यह दिष्टकारी अथवा मोटर जनित्र समुच्चय (motor generator set) द्वारा किया जा सकता है।

किसी वस्तु पर विद्युत्लेपन करने से पहले, उसे अच्छी प्रकार साफ किया जाता है। उसपर किसी प्रकार का तैल पदार्थ, ग्रीज, अथवा धूल के कण नही होने चाहिए, अन्यथा लेपन पुख्ता नहीं

होगा। साफ करने के लिये कुछ रासायनिक विलयनों का भी प्रयोग किया जाता है और उनसे धोने के बाद, धात्वीय आक्साइडों को हटाने के लिये, लेपन की जानेवाली वस्तु को सल्फ्यूरिक अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के तनु विलयन में डाल दिया जाता है। इसके पश्चात् वह वस्तु लेपन किए जाने के लिये कैथोड के रूप मे लेपन बाथ में लटका दी जाती है।

लेपन बाथ, सामान्यतः अचालक पदार्थ की टंकी (tank) के रूप में होता है, जिसमें लेपन की जानेवाली धातु का रासायनिक विलयन भरा होता है। ताम्र लेपन के लिये, यह विलयन ताम्र सल्फेट का होता है। निकल लेपन के लिये निकल सल्फेट का प्रयोग किया जाता है। इनके कुछ दूसरे रासायनिक यौगिक, इनके विशिष्ट लेपन के लिये प्रयोग किए जाते हैं। वैसे तो कोई भी धातु, किसी दूसरी धातु पर लेपित की जा सकती है, परंतु व्यावहारिक रूप में अधिकांशतः लोहे की वस्तुओं पर ताम्र, निकल अथवा क्रोमियम का लेपन किया जाता है और ताँबे तथा पीतल की वस्तुओं पर चाँदी अथवा सोने का लेपन किया जाता है।

लेपन में एक और व्यावहारिक कठिनाई है। यदि किसी सक्रिय धातु को ऐसे धातु के यौगिक के विलयन में डाल दिया जाय जिसमें आयन प्रचुर मात्रा में हों, (जैसे लोहे को ताम्र सल्फेट के बाथ में) तो पृथक्करण क्रिया होने लगती है। इसमें कुछ लोहा घुल जाता है और शेष में ताम्र लेपन होने लगता है। ऐसे लेपन टिकाऊ नहीं होते। ताँबे या पीतल पर चाँदी-सोने का लेपन करने में भी यही कठिनाई होती है। इनमे प्रयोग होनेवाले रासायनिक विलयनों का संघटन बहुत संतुलित रखा जाता है।

लेपन बाथ मे, सामान्यतः, एक और यौगिक, जिसे योजित कारक (Additive agent) कहते हैं, मिलाया जाता है। गोंद, जिलेटीन, ऐल्ब्यूमिन आदि सामान्य प्रयोग मे आनेवाले योजित कारक है।

ताम्र लेपन मे ताम्र सल्फेट के स्थान पर ताम्र साइनाइड का प्रयोग भी किया जाता है। इसे बहुधा इस्पात पर पहला ताम्र आवरण देने के लिये प्रयोग करते है और बाद में ताम्र आवरण पर निकल अथवा क्रोमियम का लेपन किया जाता है। ताम्र लेपन में भी पहले ताम्र साइनाइड द्वारा पहला आवरण देने के पश्चात् दूसरा आवरण ताम्र सल्फेट द्वारा दिया जाता है। चमक पैदा करने के लिये, साधारणतया, कुछ सोडियम थायो-सल्फेट भी लेपन बाथ में मिला दिया जाता है। अच्छे और टिकाऊ लेपन के लिये धारा घनत्व लगभग १०० ऐंपियर प्रति वर्ग मीटर होता है। इस विषय में अनुभव ही मुख्य कसौटी है।

निकल लेपन अधिकतर इस्पात के पुर्जो पर किया जाता है, जिससे उनमें चमक आ जाए, तल भी चिकना हो जाए तथा क्षरण भी रोका जा सके।

क्रोमियम लेपन, निकल लेपन की भाँति ही होता है, परंतु सजावट के लिये उससे भी सुंदर माध्यम है।

चाँदी-सोने का लेपन मुख्यतः सजावट तथा गहनों के लिये, अथवा बरतनों पर किया जाता है। [रा० कु० ग०]

विद्युत् लैंपों का निर्माण (Electric Lamps, Manufacture of) विद्युत् लैंप सबसे सामान्य विद्युत् युक्ति है और सामान्य आवश्यकता की वस्तु है, परंतु इसका निर्माण असामान्यतः विशिष्ट है। इनका उत्पादन बड़े बड़े कारखानों मे बड़े पैमाने पर किया जाता है।

विद्युत् लैंप कई प्रकार के होते है। सामान्य लैंप, जिसे बल्ब भी कहते है, वस्तुतः तापदीप्त (incandescent) प्ररूप का होता है, जिसमें किसी धातु के तंतु (filament) को गरम कर प्रकाश देने योग्य बनाया जाता है। ऊष्मा तंतु मे विद्युत् धारा के प्रवाहित होने से उत्पन्न होती है। इन लैंपो में साधारणतया टंग्स्टेन धातु का तंतु प्रयुक्त किया जाता है, जो एक कुंडलिनी (helix) अथवा कुंडली (coil) के रूप में होता है। यह तंतु एक निर्वातित (evacuated) काँच के बल्ब में, जिसे वायुरोधी सील से बंद कर दिया जाता है, निविष्ट रहता है। बंद किए हुए बल्ब की टोपी मे तंतु के दोनों टर्मिनल (terminals) होते हैं, जिन्हें बल्ब के लैंप होल्डर (lamp holder) मे लगाने पर तंतु का परिपथ पूरा हो जाता है और तंतु में से धारा प्रवाहित होने लगती है। इसमें तंतु गरम होकर पहले लाल और फिर सफेद हो जाता है। इस दशा मे वह प्रकाश का स्रोत बन जाता है।

तंतु का बंद किए हुए निर्वातित बल्ब मे होना आवश्यक है, नहीं तो वह सहज ही ऑक्सीकृत (oxidized) हो जायगा, और अपने गुण को खो देगा। तंतु का परिचालन-ताप (operating temprature) बहुत अधिक होना है। अतः, तंतु ऐसे पदार्थ का होना चाहिए जो इस ताप पर पिघले नहीं और न ऑक्सीकृत हो। इसलिये तंतु सामान्यतः, टंग्स्टन, अथवा उसकी किसी मिश्रधातु, के बने होते है। तंतु की रचना भी ऐसी होती है कि न्यूनतम ताप पर अधिकतम प्रकाश उत्पन्न करे। इसलिये तंतु कुंडलिनी अथवा कुंडलित कुंडली (coiled coil) के रूप मे बनाया जाता है।

बहुत से बल्बों को निर्वातित करके, उनमें कोई अक्रिय (inert) गैस भी भर दी जाती है। ऐसा तंतु को ऑक्सीकृत होने से बचाने के लिये किया जाता है। निर्वातित करने पर भी बल्ब से वायु का पूर्ण निष्कासन नहीं हो पाता। विशेषतया पुराने बल्बों की तली में कुछ कालिख सी जम जाती है, जो वस्तुतः टंग्स्टेन ऑक्साइड होती है। उच्च ताप पर धातु का कुछ कुछ वाष्पन भी होता है और धातु के छोटे छोटे कण बल्ब की तली में जम जाते है। इसे बचाने के लिये, बल्ब मे अक्रिय गैस भरकर उसकी दाब बढ़ा दी जाती है, जिससे वाष्पन न हो सके। मुख्यतः, आर्गन गैस प्रयुक्त की जाती है। गैस से भरे बल्बों में ऊष्मा अधिक शीघ्रता से स्थानांतरित (transfer) होती है और इसलिये उनकी क्षमता भी अधिक होती है।

विद्युत् लैंपो की क्षमता उनकी वोल्टता तथा शक्ति द्वारा निर्धारित की जाती है। सामान्य लैंप २००–२५० वोल्ट और १५, २५, ४०, ६०, ७५, १००, २००, ५०० वाट की क्षमता के होते हैं। किसी लैंप की रचना उसके प्रयोग पर निर्भर करती है, परंतु किसी भी तापदीप्त लैंप के चार मुख्य भाग होते हैं :

(१) पाद (Stem) — यह लैंप के तंतु टर्मिनलों को धारण करता है और बल्ब के ऊपरी भाग में टोपी से जुड़ा रहता है। इसमें फ्लैंज काँच (flange glass) की एक छड़ होती है, जिसमें एक निर्वातक नलिका (exhaust tube) तथा इलेक्ट्रोड (electrodes) लगे होते हैं। इलेक्ट्रोडों को फ्लैंज में संगलित कर दिया जाता है और उसे गरम रहते हुए ही पिंच (pinch) कर दिया जाता है। निर्वातक नलिका का एक सिरा काँच की छड़ में बंद कर दिया जाता है। निर्वातक नलिका तथा पाद के शेष भाग के बीच एक छोटा सा छेद बना दिया जाता है, जिसमें से अंत में बल्ब की वायु निष्कासित की जाती है।

(२) इलेक्ट्रोड — ये बल्ब के शीर्ष पर दिए गए तंतु को मिलाते हैं। इनमें भी कई भाग होते हैं। जो भाग पिंच में से होकर आता है, वह एक विशेष धातु का बना होता है और वायुरोधी संधि (air tight joint) बनाने में समर्थ होता है। सामान्यतः ताम्र लेपित प्लैटिनम (copper coated platinum) का जिसे लाल प्लैटिनम भी कहते है, प्रयोग किया जाता है।

(३ बॉस (Boss) — ठोस काँच की छड़ के सिरे पर मोलिब्डेनम धातु का बॉस आधार के रूप में लगा होता है। अधिक क्षमतावाले लैंपों में मोलिब्डेनम के साथ टंग्स्टेन धातु की मिश्रधातु भी प्रयुक्त की जाती है।

(४) घेरा या स्कर्ट (Skirt) — तंतु को धारण करनेवाला पाद काँच के बल्ब में बंद कर दिया जाता है। बंद करने से पहले बल्ब का बाहर को निकाला हुआ भाग काट दिया जाता है। यह भाग घेरा कहलाता है। इस स्थान पर बल्ब को फ्लैंज पर संगलित (fused) कर दिया जाता है।

निर्वातित बल्वों में निर्वातित नलिका, निर्वातक पंप द्वारा निर्वातन किए जाने के पश्चात्, तुरंत ही सील कर दी जाती है। इसमें बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है, जिससे वायु बल्ब के अंदर न जाने पाए। वायु के साथ साथ नमी और धूल का पूर्णतया निष्कासन भी आवश्यक है, क्योंकि ये तंतु को क्षत कर देती है। बल्ब को सील करने के लिये एक स्वचालित मशीन होती है, जो बल्ब को उसी क्षण काँच के गलनांक से कुछ ही कम ताप पर सील कर देती है।

सील होने के पश्चात्, बल्ब, कैपिंग बस (capping bus) से होकर गुजरते है। यहाँ बल्ब का काल प्रभावन (ageing) किया जाता है। यदि नमी अथवा धूल का कुछ भी अंश बल्ब में रह भी जाता है, तो वह इस क्रिया से निष्क्रिय हो जाता है। साथ ही निर्वात में भी वृद्धि हो जाती है। बल्ब पर ११०–१३० प्रति शत अधिक वोल्टता आरोपित की जाती है। आयनन से होनेवाले विसर्जन को रोकने के लिये बल्ब के साथ श्रेणी में एक प्रतिरोध लगा दिया जाता है और उसे परिपथ से धीरे धीरे काटा जाता है। वोल्टता का मान भी सामान्य कर दिया जाता है। इस क्रिया को कुछ बार दोहराने से बल्ब कालप्रभावित हो जाता है।

गैस बल्बों में निर्वात होने के तुरंत बाद आर्गान, अथवा नाइट्रोजन, या इनके मिश्रण को बल्ब में समाविष्ट कर दिया जाता है। भरने से पहले, बल्ब को अति शीघ्रतापूर्वक ठंढा किया जाता है और तब उक्त गैस भर दी जाती है। ऐसा करने से बल्ब में लगभग ६०० मिलीमीटर की दाब हो जाती है। इसके बाद इन्हें भी निर्वातित बल्बों की भाँति ही कालप्रभावित किया जाता है, परंतु इसके लिये अधिक वोल्टता, अथवा श्रेणी में प्रतिरोध, संबद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। गैस के गुण की जाँच करने के लिये, लैंप में उच्च आवृत्ति का विसर्जन पारित किया जाता है। चमक का रंग ही गैस का गुण निर्धारित करता है।

कुंडलित कुंडली वाले लैंपों में तंतु के टूट जाने पर गैस के आयनित हो जाने की संभावना रहती है। इससे लैंप अपनी क्षमता से अधिक धारा ले सकता है और टूट सकता है। इसे बचाने के लिये, संयोजी तारों में एक फ्यूज (fuse) भी लगा दिया जाता है।

तंतु, साधारणतः, बहुत चमकदार होते हैं और चौंध उत्पन्न कर सकते हैं। इस कारण कुछ प्रकार के बल्ब की तलहटी को तुषारित (frosted) कर दिया जाता है। ऐसे बल्ब पर्ल बल्ब (Pearl-Bulbs) कहलाते हैं। इनमें चौंध तो नहीं होती, परंतु इनकी ज्योतिदक्षता दूसरे बल्बों से कम होती है।

बल्बों को प्रयोग के अनुसार विभिन्न रूपों में बनाया जाता है। इनमें ओपल बल्ब मुख्य है, जिनका प्रयोग विशेषतया सजावट के कार्यों में होता है। बहुत से बल्बों को रंग दिया जाता है, जिससे वे भिन्न भिन्न रंगों के हो जाते हैं और सजावट में काम आते हैं। इन बल्बों में इनैमल अथवा वार्निश का लेपन भी किया जाता है।

बल्ब की टोपियाँ (caps) भी विभिन्न प्रकार की होती हैं। यह सामान्यतः पीतल की होती है और बल्ब के सील किए भाग पर जुड़ी रहती हैं। इनमें दो प्ररूप की टोपियाँ मुख्य है : एक तो लैंप होल्डर में निविष्ट होकर फँसनेवाली और दूसरी पेंच प्ररूप की, जिन्हें लैंप होल्डर में पेंच की भाँति घुमाकर लगाया जाता है। बहुत सी टोपियों में केवल एक ही टर्मिनल होता है और दूसरा टर्मिनल टोपी की धातु स्वयं ही होती है।

टोपियों के प्ररूप मुख्यतः होल्डर के प्ररूप पर निर्भर करते हैं। लैंप होल्डर, बल्ब को संभरण से संबद्ध करता है। इसके दो टर्मिनल, जो कमानीदार प्ररूप के होते है बल्ब के टर्मिनलों से संस्पर्श करते हैं। ये टर्मिनल स्प्रिंग की गद्दी पर उभरे हुए होते है और बल्ब के लैंप होल्डर में फँसाए जाने पर तंतु का परिपथ पूर्ण कर देते है।

पेंच प्ररूप के लैंप होल्डरों में बल्ब को होल्डर में पेंच की भाँति घुमाकर लगाया जाता है। ये होल्डर पीतल एवं प्लास्टिक दोनों प्रकार के उपलब्ध होते है। होल्डर के पीछे का भाग भी प्रयोग के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। ये मुख्यतः दो प्ररूप के होते है : बैटेन प्ररूप (Batten type) के, जिन्हें लकड़ी के गोल ब्लॉक (round block) पर सीधे ही कस दिया जाता है। दूसरे पेंडेंट (pendent) प्ररूप के होते है, जो साधारणतया लटकनेवाले लैंपों मेंप्रयोग किए जाते है।

विसर्जन लैंप (Discharge lamps) — विद्युत् लैंपों का एक महत्वपूर्ण प्ररूप विसर्जन प्ररूप के लैंप हैं। इनका आविष्कार

बीसवीं सदी के आरंभ में हुआ था और बहुत थोड़े समय में ही ये महत्वपूर्ण प्रकाशस्रोत बन गए हैं। ये एक काँच की नलिका में विद्युत्‌विसर्जन के सिद्धांत पर कार्य करते है। इनमें प्रकाशस्रोत तापदीप्त लैंपों की तरह तंतु न होकर, नलिका के दोनो सिरो पर इलेक्ट्रोड के बीच की संपूर्ण गैस होती है और इसलिये इन्हें बिंदु स्रोत (point source) न कहकर रेखा स्रोत (line source) कहा जाता है। इनके प्रकाशस्रोत एक चमकदार बिंदुओं की शृंखला न होकर दोनों इलेक्ट्रोडों के बीच की रेखा होती है। इस कारण इनकी प्रकाशतीव्रता अधिक होती है, और ज्योतिदक्षता भी तापदीप्त लैंपो की अपेक्षा अधिक होती है।

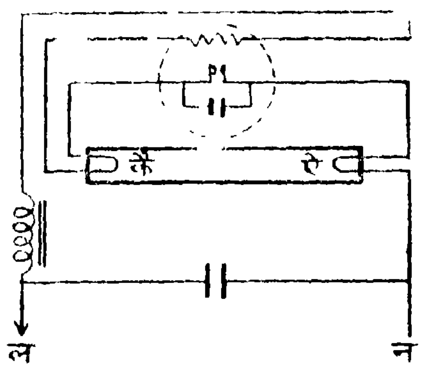
साधारणतः, विसर्जन किसी गैस अथवा पारदवाष्प भरी हुई नलिका में किया जाता है। इसके लिये एक लंबी काँच की नलिका होती है, जिसके दोनों सिरो पर इलेक्ट्रोड सील किए रहते है। दोनों ओर शीर्षों पर टर्मिनल होते है, जो लैंप होल्डरो मे फिट हो जाते है और लैंप को सभरण से सबद्ध करते है। नलिका को लगाने के लिये, शीर्षों पर दो पिन दिए रहते है, जिन्हे लैंप होल्डर के खाँचों में निविष्ट कर समकोण मे घुमा दिया जाता है।

विसर्जन लैंपो में, नलिका के अंदर वाले तल पर प्रतिदीप्तिशील (fluorescent) पदार्थों का लेपन कर दिया जाता है। वास्तव में विसर्जन द्वारा उत्पन्न पराबैंगनी किरणें प्रभासमान पदार्थ पर पड़ कर उसे चमकाती हैं और इस प्रकार प्रकाश का स्रोत बन जाती है। प्रतिदीप्त लेपन द्वारा लैंप का ऊर्जानिर्गत (energy output) बहुत अधिक बढाया जा सकता है। साथ ही, विभिन्न लेपनो द्वारा किसी भी रंग का प्रकाश उत्पन्न किया जा सकता है।

कुछ विसर्जनो मे काँच की नलिका अथवा बल्ब को निर्वातित कर, उसमें पारदवाष्प भर दिया जाता है। ऐसे लैंप पारद वाष्प कहलाते है और इनके प्रकाश का रंग नीला-हरा सा होता है। इनका प्रकाश निर्गत सामान्य तापदीप्त लैंपो से बहुत अधिक होता है। इन्हे अधिकतर चौराहों और बड़े बड़े भवनो को प्रकाशित करने के लिये प्रयुक्त करते है।

सामान्य प्रतिदीप्ति लैंपो में काँच की एक लंबी नलिका होती है, जिसके दोनों ओर दो इलेक्ट्रोड सील किए रहते है। एक को कैथोड कहते है और यह इलेक्ट्रॉन के स्रोत का कार्य करता है। दूसरा ऐनोड कहलाता है और कैथोड द्वारा उत्सर्जित इलेक्ट्रॉनों को ग्रहण करता है। यह प्रक्रिया विसर्जन कहलाती है। पर यह विसर्जन साधारण वोल्टता पर इतना नही हो पाता कि धारा का पथ बन सके। ट्यूब मे जो गैस भरी होती है उसका आयनन इस विषय मे सहायक होता है। परतु तब भी विसर्जन को आरंभ करने के लिये क्षणिक उच्च वोल्टता के प्रोत्कर्ष (surge) की आवश्यकता होती है। एक बार विसर्जन आरंभ हो जाने पर आयन न की क्रिया उसे पोषण करने मे समर्थ हो सकती है और तब उतनी वोल्टता की आवश्यकता नही रहती। इसके लिये इन लैंपों में ऐसे परिपथ की आवश्यकता होती है जो स्विच दबाने पर इलेक्ट्रोडों के बीच उच्च वोल्टता प्रोत्कर्ष स्थापित कर सके। इसके लिये विभिन्न परिपथ एवं प्रवर्तक बनाए गए है। इनमें मुख्यतः चित्र में दिखाया गया परिपथ उपयोग मे आता है।

स्विच दबाने पर तंतु के कैथोड टर्मिनलो पर वोल्टता आरोपित हो जाती है और आसपास की गैस आयनित हो जाती है। आयनन की गति तीव्र करने के लिये, दोनों इलेक्ट्रोडो के बीच वोल्टता को क्षणिक रूप से बढाना आवश्यक है। कैथोड का ताप भी इतना होना चाहिए कि वह पर्याप्त मात्रा में इलेक्ट्रॉन उत्सर्जित कर सके। साथ



प्रतिदीप्ति नलिका का परिपथ

ही उसके गरम होने तक विसर्जन में विलब करना भी आवश्यक है। संलग्न चित्र मे एक प्रकार का ताप आरंभक प्रयोग किया गया है, जिसमे U की शक्ल की एक द्विधात्विक (dimetallic) पट्टिका होती है। स्विच दबाने पर यह पट्टिका एक तापन कुंडली (heating coil) द्वारा गरम की जाती है। पट्टिका के दोनों ओर दो संस्पर्शक होते हैं, जो समांतर में संबद्ध होते है। लैंप को स्विच करने के पहले संस्पर्शक मिले होते है। स्विच करने पर धारा पट्टिका को गरम करती है और संस्पर्शक खुल जाते है। इससे परिपथ टूट जाता है और आकस्मिक प्रोत्कर्ष उत्पन्न होकर विसर्जन आरभ कर देता है। जब तक स्विच बना रहता है, तापन कुंडलियो मे धारा प्रवाहित होती रहती है और संस्पर्शक खुले रहते हैं। एक बार विसर्जन आरभ हो जाने पर उसका संधारित रहना कठिन नही।

प्रतिदीप्त लेपन (fluorescent coating) भी विभिन्न पदार्थों की होती है। जिंक बेरिलियम सिलिकेट (Zinc Beryllium Silicate) द्वारा उत्पन्न प्रकाश पीला होता है तथा मैग्नीशियम टंग्स्टेट का नीला और कैडमियम बोरेट का लाल प्रकाश होता है। इन तीनो के संमिश्रण से कोई भी रंग प्राप्त किया जा सकता है और इसलिये प्रतिदीप्तिशील लैंप सजावट के कार्यो में बहुत प्रयुक्त किए जाते है। वैसे भी यद्यपि ये मँहगे होते है, परतु प्रकाश तीव्रता तथा जीवन दीर्घायु होने के कारण सामान्य लैंपो से अंततः सस्ते ही पड़ते है। [रा० कु० ग०]

विद्युत्, वायुमंडलीय हमारी इंद्रियाँ बिना उपकरण की सहायता के हमें अनेक वायुमंडलीय घटनाओं का बोध कराती हैं, जैसे पवन और मौसम, परंतु वायुमंडलीय विद्युत् के सार्वत्रिक पहलुओं के बारे में ऐसा नही होता। तड़ित् और मेघगर्जन के रूप में हम वायुमंडलीय विद्युत् के तूफानी और चरम पहलुओं का ही प्रेक्षण कर पाते हैं।

उपकरणों से प्रेक्षण करने पर पता चलता है कि पृथ्वी पर खुले वायुमंडल में सर्वत्र विद्युत् बलों का अस्तित्व है। अच्छे मौसम में औसत विद्युत् क्षेत्र की तीव्रता या विभव प्रवणता (potential gradient) प्राय १०० वोल्ट प्रति मीटर से अधिक होती है। पृथ्वी के पृष्ठ से ऊँचे बढ़ने पर विद्युत् विभव बढ़ता है, परंतु क्षेत्र तीव्रता या विभव प्रवणता घटती है। अच्छे मौसम में वायुमंडल में स्थित विद्युत् क्षेत्र धनात्मक आयनों को भूपृष्ठ की ओर और ऋणात्मक आयनों को भूपृष्ठ से दूर प्रेरित करता है। इससे यह संकेत मिलता है कि तड़ित् झंझा (thunder storm) विस्थापक धूल आदि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को जिनमें वायुमंडल का सामान्य क्षेत्र अव्यवस्थित हो जाता है, छोड़कर पृथ्वी की सतह सभी स्थानों पर सदा ऋण आवेश में रहती है। वायुमंडलीय विद्युत् के सार्वत्रिक पहलू का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि खुले में स्थित वायु पूर्ण विद्युत् रोधी (insulator) नहीं है। यद्यपि वायु की चालकता बहुत कम होती है, तथापि वायुमंडल की वैद्युत् स्थिति का निर्धारण करने में यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वी का ऋण आवेश किस प्रकार पोषित रहता है? वैद्युत चालन द्वारा हुई आवेशहानि की क्षतिपूर्ति के लिये पृथ्वी को क्षति की दर पर ऋण आवेश किस प्रकार कौन सा कारक प्रदान करता है? इस समस्या ने अनेक शोधकर्ताओं को प्रेरित किया और अनेक सैद्धांतिक और प्रायोगिक खोजों से कुछ ऐसे प्रमाण मिले जिनसे इस सुझाव को बल मिला कि तड़ित् झंझा से पृथ्वी को इतना ऋण आवेश मिलता है कि पृथ्वी का ऋण विभव बना रहे। इसके अनुसार पृथ्वी के वायुमंडल में स्थित तड़ित् झंझा के सेल विद्युत् जनित्र के रूप में रहते हैं और पृथ्वी तथा उच्च वायुमंडल से पार्श्व संबंधित होते हैं एवं पूर्तिधारा प्रदान करते हैं, जिससे उच्च वायुमंडल पृथ्वी के सापेक्ष सैकड़ों किलोवाट धन विभव पर रहता है।

वायु भू धारा — वायु भू धारा का घनत्व ध, जो बहुत अल्प होता है, अनेक वर्षों तक अनेक स्थानों पर स्वतःलेखी उपकरणों से निर्धारित किया गया। प्रत्यक्ष विधि से माप करने के लिये धारा को एक विद्युत्‌रोधी प्लेट पर, जो पृथ्वी के पृष्ठ के समतल रखा होता है, एकत्र करते हैं। अप्रत्यक्ष विधि में विभव प्रवणता प्र, धनात्मक आयनों द्वारा वायु में उत्पादित वैद्युत संचालकता λ_1 तथा ऋणात्मक आयनों द्वारा वायु में उत्पादित वैद्युत संचालकता λ_2 के मापनों से ध का मान सूत्र ध $(\lambda_1+\lambda_2)$ प्र, से प्राप्त किया जाता है।

वायु की वैद्युत चालकता — १८८७ ई० में पहली बार लिंस (Linss) ने हवा की चालकता ज्ञात की। बाद में ऐल्सटर, गीटेल और सी. टी. आर. विल्सन ने ज्ञात किया कि यह चालकता आयनों की उपस्थिति के कारण है, जो ऋण और धन आवेशों के वाहक हैं। हवा में आयनों के निर्माण के संबंध में ऐल्स्टर और गीटेल ने समाधान यह प्रस्तुत किया कि भूपर्पटी के अधिकांश महत्वपूर्ण अवयवों में रेडियोऐक्टिव पदार्थ होते हैं, जो खुली हवा को आयनित करते हैं। अन्वेषणों से सिद्ध हुआ कि निम्नतर वायुमंडल के आयनन के तीन प्रधान कारक हैं: (१) भूपर्पटी के रेडियोऐक्टिव अवयवों का विकिरण, (२) हवा में ही उपस्थित रेडियोऐक्टिव पदार्थों का विकिरण और (३) अंतरिक्ष किरण (cosmic rays)। महासागर की सतह के ऊपर स्थित हवा और ऊपरी वायुमंडल के आयनन में अंतरिक्ष किरण ही प्रधान कारक है। १९११ ई० में वी० हेस (Hess) ने इसका संकेत दिया कि अंतरिक्ष किरणों में वेधनक्षमता अत्यधिक है और वे पार्थिवेतर उद्गम की हैं। बाद में अनेक अन्वेषकों ने इनके गुणों का बारीकी से अध्ययन किया। समुद्र की सतह पर अंतरिक्ष किरणें १५ से २० आयन प्रति घन सेंटीमीटर प्रति सेकंड की (चुंबकीय अक्षांश पर निर्भर) दर से युग्म आयन बनाता है, जिसमें से एक धन और दूसरा ऋण आवेशयुक्त होता है। यह अधिकांश समुद्री जलक्षेत्र और ध्रुवीय स्थलक्षेत्र में आयन निर्माण की व्यवहारिक संपूर्ण दर है। पर अन्य अधिकांश स्थलीय क्षेत्रों में निम्नतर वायुमंडल में रेडिओऐक्टिव पदार्थों के कारण हवा के अतिरिक्त आयनन के कारण आयनों की जन्मदर इससे अनेक गुना अधिक होती है। आयनों की जन्मदर अधिक होने पर भी स्थलीय क्षेत्रों की हवा की वैद्युत चालकता समुद्र पर स्थित हवा की चालकता से अधिक नहीं होती, बल्कि बड़े शहरों की हवा की चालकता बहुत कम होती है। इस असंगति का कारण यह है कि अशुद्ध हवा में छोटे आयन बड़े आयनों में रूपांतरित हो जाते हैं, जो छोटे आयनों की अपेक्षा धीरे अनुगमन करते हैं और फलस्वरूप हवा की चालकता को अंशदान कम कर पाते हैं। छोटे धन तथा ऋण आयनों की संख्या का निर्धारण करने के लिये, ऐबर्ट आयनमापी नामक उपकरण का उपयोग किया जाता है। इसमें एक भूयोजित (earthed) धातुनलिका होती है, जिसके अक्ष पर एक आविष्टरोधी छड़ चढ़ाया जाता है और उसे स्फटिक रेशा विद्युत्‌दर्शी (quartz fibre electroscope) से जोड़ दिया जाता है। एक घटीयंत्र द्वारा चालित पंखे के जरिए नलिका के द्वारा लगभग पाँच मिनट तक हवा का चूषण किया जाता है और वायुधारा की चाल नियंत्रित करके, इतनी कम रखी जाती है कि नलिका में प्रविष्ट होनेवाले सभी छोटे आयन, जिनका आवेश केंद्रीय छड़ के आयनों के विपरीत चिह्न का होता है, नलिका की तली तक पहुँचने के पहले छड़ से आकृष्ट हो सकें। इस क्रिया से एक प्रकार के आयनों की संख्या (जैसे न−) ज्ञात करने के लिये आवश्यक आँकड़े मिलेंगे, और यही प्रयोग विद्युत्‌रोधी छड़ को विपरीत आवेश देकर दुहराने पर दूसरे प्रकार के आयनों की संख्या (जैसे न+) ज्ञात करने के आँकड़े मिलेंगे।

ध्रुवीय चालकता को मापने का गर्डियन उपकरण ऊपर वर्णित ऐबर्ट उपकरण जैसा ही है। इसमें हवा की धारा इतनी तीव्र कर दी जाती है और नलिका के अंदर का क्षेत्र इतना मंदित कर दिया जाता है कि कुल आयनों का बहुत ही छोटा अंश केंद्रीय छड़ तक पहुँच पाता है। यदि ऋणात्मक आवेशयुक्त विद्युद्दर्शी तंत्र की प्रवणता प्र (v), ताप्र/ताट (dv/dt) दर से बढ़ती है और यदि केंद्रीय तंत्र, छड़, और विद्युद्दर्शी की कुल धारिता ध (c) है, तो

$$-\frac{\text{ताक}}{\text{ताट}} = -\text{ध}\ \frac{\text{ताप्र}}{\text{ताट}} \left[-\frac{dQ}{dt} = -c\frac{dv}{dt} \right]$$

केंद्रीय तंत्र, छड़ और उसके आधार की धारा के प्रति अनावृत भाग की धारिता यदि ध′ (c′) हो, तो क = ध′ प्र (Q = c′v), अतः

$-ध \frac{ताप्र}{ताट} = ४\pi\lambda_{+} ध'प्र, \quad \left[-c\frac{dv}{dt} = 4\pi\lambda_{+}c'v \right]$
जिससे λ_{+} का निर्धारण हो सकता है। λ_{-} ज्ञात करने के लिये केंद्रीय छड़ को धनात्मक आवेश देकर यही प्रयोग दोहराना पड़ेगा।

विभव प्रवणता — धरातल से दो भिन्न भिन्न ऊँचाइयों पर दो विद्युत्‌रोधी चालकों के विभव के अंतर को मापकर वायुमंडल की विभव प्रवणता ताप्र/ताट को ज्ञात किया जा सकता है। वैकल्पिक रूप से एक चालक पृथ्वी और दूसरा धरातल से लगभग एक मीटर ऊँचाई पर तना हुआ क्षैतिज तार होता है। इसका निश्चय कर लेना चाहिए कि तारों (चालकों) के टेकों, प्रेक्षक तथा उपकरणों से मापन किए जानेवाले क्षेत्र में परिवर्तन नहीं हो रहा है। विभव प्रवणताओं का लगातार अभिलेख (record) प्राप्त करने के लिये विद्युन्मापी को एक भवन में रखकर, उसकी दीवार से बहिर्विष्ट विद्युत्‌रोधी छड़ पर संग्राहक रखा जा सकता है। संग्राहक रेडियोऐक्टिव हो भी सकता है और नहीं भी। हर स्थिति में विद्युत्‌रोधी तंत्र को प्रायः निम्न सुग्राही वृत्तपाद (quadrant) विद्युन्मापी की सुई से संबद्ध कर दिया जाता है। वृत्तपाद का केंद्र भूवेशित होता है और उसके संमुख युग्म बैटरी से जोड़ दिए जाते हैं। सुई से संलग्न एक छोटे दर्पण से प्राप्त प्रकाशबिंदु को घड़ी ढोल (clock drum) पर लिपटे हुए ब्रोमाइड कागज पर संग्रहीत करके विद्युन्मापी सुई के विक्षेप का निरंतर अभिलेख प्राप्त किया जाता है। समुद्री क्षेत्र सहित विश्व के विभिन्न भागों से प्राप्त विभवप्रवणता के अभिलेखों से उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हुई है :

(अ) पृथ्वी के पृष्ठ पर सर्वत्र अच्छे और बुरे मौसमों में विभवप्रवणता का चिह्न सदा धन है, किंतु स्थल भाग में इसका मान स्थानीय विशेषताओं के अनुसार काफी बदलता है। समूची पृथ्वी के लिये इसका औसत मान लगभग १२० v/m है जबकि महासागरीय क्षेत्रों में यह लगभग १२६ v/m है।

(ब) अच्छे मौसम में स्थल भाग में विभवप्रवणता स्थानीय समयानुसार बदलती है, अर्थात् लगभग ४ बजे प्रातः निम्नतम और छह और आठ बजे शाम के बीच अधिकतम होती है। अनेक स्थानों पर इसका एक अतिरिक्त अधिकतम और न्यूनतम मान क्रमश. ८ बजे प्रातः और मध्याह्न में होता है। स्थानीय समय के साथ विभवप्रवणता के बदलने और बड़े शहरों के पास वायुमंडल के धूम प्रदूषण (smoke pollution) में, ह्विपल (Whipple) ने, सहसंबंध दिखाया है।

(स) स्थलीय प्रेक्षणस्थलों पर विभवप्रवणता के वार्षिक विचरण में स्थानीय जाड़े में एक अधिकतम, और स्थानीय गरमी में एक न्यूनतम, होता है। इस नियम का एक ही अपवाद दक्षिण ध्रुवीय क्षेत्र है, जहाँ विचरण स्थानीय गरमी में अधिकतम और जाड़े में न्यूनतम होता है।

विक्षुब्ध मौसम में विद्युत् क्षेत्र — वह सामान्य क्षेत्र, जो अच्छे और साफ मौसम में ऊपरी वायुमंडल से नीचे पृथ्वी के पृष्ठ की ओर दिष्ट होता है, बुरे मौसम में प्रायः गड़बड़ा जाता है। कोहरे के समय क्षेत्र बढ़कर प्रायः सामान्य मान से दस गुना हो जाता है। अर्धशुष्क प्रदेश और मरुस्थल में अंधड़ के समय क्षेत्र, प्रायः उत्क्रमित (reversed) हो जाता है, जिसका मान १०,००० v/m तक हो सकता है। बदली और वर्षा में क्षेत्र परिवर्ती होता है और बारीक फुहार में कुछ सौ वोल्टों से लेकर गर्जन मेघ (thunder cloud) में ५०,००० v/m के परास में विचरित होता है। हलकी और स्थिर वर्षा में ऋणात्मक क्षेत्र होना भी सामान्य घटना है, यद्यपि कभी कभी धनात्मक क्षेत्र भी प्रेक्षित किया जाता है। भारी वर्षा और मेघ गर्जन की स्थिति में क्षेत्र का चिह्न, जो प्रेक्षण बिंदु के ऊपर से गुजरनेवाले मेघखंड पर निर्भर करता है, विचरण करता है, परंतु अधिकतर ऋण विभव ही होता है। तड़ित् झंझा के समय यदि मेघ तड़ित् उत्पादन में सक्रिय हो, तो क्षेत्र बहुत अधिक घटता बढ़ता है।

गर्जनमेघ विद्युतीकरण — यह वायुमंडलीय विद्युत् का महत्वपूर्ण विषय है। इसकी क्रियाविधि की अनेक व्याख्याओं में, सी० टी० आर० विल्सन की सुझाई विधि महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार क्रियाविधि ऊपर से गिरनेवाले बड़े जलबिंदुओं, या हिमकणों, द्वारा हवा से ऋण आयनों के वरणात्मक परिग्रहण पर निर्भर करती है और हवा में स्थित अवशिष्ट अतिरिक्त धनावेश बहुत छोटे जलबिंदुओं, या हिमकणों, द्वारा मेघ के सबसे ऊपरी भाग में अवशोषित होता है। विल्सन की क्रियाविधि से पहले से उपस्थित क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि होती है।

[कि० चं० च०]

विद्युत् शक्ति का उत्पादन (Electric Power Generation)

व्यावहारिक रूप में विद्युत् शक्ति का उत्पादन, विद्युत् जनित्रों (generators) द्वारा किया जाता है (देखें **विद्युत् जनित्र, विद्युत्, जल से उत्पन्न**)। धारा प्रवाह का निदर्शन एक गैलवैनोमीटर (galvanometer) की सहायता से किया जा सकता है। गैलवैनोमीटर को संवाहक के दोनों सिरों से योजित कर देने पर, संवाहक तथा चुंबकीय क्षेत्र के बीच आपेक्षिक गति (relative motion) की स्थिति में, गैलवैनोमीटर का सूचक उसमें धारा के प्रवाह को सूचित करेगा। इस प्रकार प्रेरित वोल्टता, वस्तुतः, चालक तथा चुंबकीय क्षेत्र की आपेक्षिक गति पर निर्भर करती है और इसका परिमाण चालक संख्या तथा आपेक्षिक गति और चुंबकीय क्षेत्र के फलक्स घनत्व पर निर्भर करता है।

यह सरल सिद्धांत, विद्युत् इंजीनियरी का मूल सिद्धांत है। इसकी विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि विद्युत् शक्ति के लिये, वस्तुत, तीन संघटक आवश्यक हैं : (१) चालक, जो व्यावहारिक रूप में एक निर्धारित व्यवस्था के अनुसार योजित संवाहक समूह होता है, (२) चुंबकीय क्षेत्र, व्यावहारिक रूप में एक कुंडली में विद्युत् धारा प्रवाहित करके प्राप्त किया जाता है और (३) चालक समूह को चुंबकीय क्षेत्र में घुमाने की व्यवस्था, जिसका तात्पर्य है यांत्रिक ऊर्जा का प्रावधान। वस्तुतः, यही यांत्रिक ऊर्जा, विद्युत् ऊर्जा के रूप में परिवर्तित होती है और ऊर्जा अविनाशिता नियम का प्रतिपादन करती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर किसी भी विद्युत् जनित्र के तीन मुख्य अवयव होते है :

१. चालकों को धारण करनेवाले आर्मेचर (armature) की, जो सामान्यतः नरम लोहे के पटलित स्तरों का बना होता है, परिधि के चारों ओर खाँचे बने होते हैं, जिनमें चालन कुंडलियाँ रखी जाती हैं। चालकों को एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार योजित किया जाता है, जिसे आर्मेचर कुंडलन (Armature winding) कहते हैं।

२ क्षेत्र कुंडली -- इसमें धारा के प्रवाहित होने पर चुंबकीय क्षेत्र की उत्पत्ति होती है।

३. यांत्रिक शक्ति का संभारक -- यह साधारणतया एक प्रधान चालक होता है। यह जल का टरबाइन, भाप का टरबाइन, भाप का इंजन, अथवा डीजल इंजन में से कोई भी हो सकता है।

धारा के प्ररूप के अनुसार विद्युत् जनित्र, मुख्यतः, दो प्ररूप के होते हैं : दिष्ट धारा जनित्र (D C generator) और प्रत्यावर्ती धारा जनित्र (A C generator)। यद्यपि मूलतः दोनों के मूल सिद्धांत एक ही होते हैं, परंतु बनावट के दृष्टिकोण से उनमें काफी अंतर होता है। दिष्ट धारा जनित्र में चुंबकीय क्षेत्र अचल क्षेत्र कुंडलियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है और आर्मेचर पर आरोपित चालक तंत्र घूर्णन करता है। इस प्रकार, चुंबकीय अभिवाह को काटने से उसमें एक वोल्टता जनित होती है। वस्तुतः, वोल्टता के जनन के लिये यह आवश्यक नहीं कि चालक में ही गति हो। यह भी हो सकता है कि चालकतंत्र स्थिर हो और चुंबकीय अभिवाह उनको काटता हुआ जाए। इसका तात्पर्य यह है कि चुंबकीय क्षेत्र गतिशील हो और चालक अपने स्थान पर ही रहे। किसी भी प्रकार से चालक तथा चुंबकीय क्षेत्र में आपेक्षिक गति होना आवश्यक है, जिससे चालक में वोल्टता जनित हो सके। वस्तुतः, दोनों विधियाँ ही व्यावहारिक हैं और प्रत्यावर्ती धारा जनित्रों में, जिन्हें प्रत्यावर्तित्र (Alternator) भी कहते हैं, चालक समूह अचल होता है और उसे स्टैटर (Stator) कहते हैं। चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करनेवाले ध्रुव और कुंडली घूर्णी भाग होते हैं और उन्हें रोटर (Rotor) कहते हैं. आर्मेचर को अचल रखने का मुख्य लाभ यह है कि इस प्रकार सापेक्षतया उच्चतर वोल्टता जनित की जा सकती है। उच्च वोल्टता जनन के लिये या तो चालक की संख्या बढ़ानी पड़ती है, अथवा घूर्णनवेग, या दोनों ही। चालक की संख्या बढ़ाने से आर्मेचर का आकार बहुत बढ़ जाता है और उसके घूर्णी भाग होने के कारण अपकेंद्री बल इतना बढ़ जाएगा कि संरचना के दृष्टिकोण से चालकों को अपने स्थानों पर स्थिर रखना भी एक समस्या हो जाएगी। बड़े आकार के घूर्णी भाग बनावट के दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं होते और न उनका वेग ही बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है। अतः, घूर्णी आर्मेचर वाले जनित्रों में उच्च वोल्टता जनित करना परिसीमित हो जाता है, परंतु यदि अचल हो, तो उसका आकार भी बड़ा बनाया जा सकता है और अपकेंद्री बल का भी प्रश्न नहीं उठता। साथ ही जनित धारा को स्थिर संस्पर्शों (contacts) से ले जाना होता है, जो बहुत सुगम हो जाता है। घूर्णी आर्मेचरों में जनित धारा को बुरुशों द्वारा ही बाहरी परिपथ में ले जाया जा सकता है। क्षेत्र के रोटर होने में समस्या इतनी जटिल नहीं होती, क्योंकि उसमें प्रवाहित होनेवाली उत्तेजक धारा (exciting current), सापेक्षतया, बहुत कम होती है। उत्तेजन केवल दिष्ट धारा से ही संभव है और प्रत्यावर्ती धारा जनित्रों में क्षेत्र उत्तेजन के लिये दिष्ट धारा संभारक का होना आवश्यक है, जो सामान्यतः इसी शैफ्ट (shaft) पर आरोपित एक छोटे से दिष्ट धारा जनित्र द्वारा, जिसे उत्तेजक (exciter) कहते हैं, प्रावधान किया जाता है।

आर्मेचर चालकों में चुंबकीय क्षेत्र के सापेक्ष, आपेक्षिक गति के कारण जनित होनेवाली वोल्टता, वस्तुतः प्रत्यावर्ती प्ररूप की होती है। किसी भी क्षण पर इसका परिमाण चुंबकीय क्षेत्र के चालकों की सापेक्ष स्थिति पर निर्भर करता है। दिष्ट धारा जनित्र के आर्मेचर में भी इसी प्रकार की वोल्टता प्रेरित होती है, पर एक दिक्परिवर्तक (commutator) द्वारा उसे बाहरी परिपथ में अदिष्ट धारा के रूप में प्राप्त किया जाता है। दिक् परिवर्तक आर्मेचर के साथ उसी ईषा, पर आरोपित होता है (shaft) और आर्मेचर चालक निश्चित व्यवस्था के अनुसार उसके ताम्र खंडों (copper segments) से योजित होते हैं। धारा को दिक्परिवर्तक से बाहरी परिपथ में ले जाने के लिये बुरुशों (brushes) का प्रावधान होता है, जो साधारणतया कार्बन के होते हैं और बुरुश धारक (brush holder) में लगे होते हैं।

जहाँ तक यांत्रिक शक्ति का प्रश्न है, वह चाहे तो किसी टरबाइन से अथवा इंजन से प्राप्त की जा सकती है, या नदी के बहते हुए पानी से, जिसमें असीम शक्ति का भंडार निहित है। प्रयत्न तो किया जा रहा है कि समुद्र के ज्वार भाटे में निहित ऊर्जा को तथा ज्वालामुखी पर्वतों में छिपी हुई असीम शक्ति के भंडारों को भी काम में लाया जाए। परमाणवीय शक्ति का उपयोग तो विद्युत् उत्पादन के लिये शीघ्रता से बढ़ रहा है और बहुत से बड़े बड़े परमाणवीय बिजलीघर बनाए गए हैं, परंतु अभी तक, मुख्यतः, तीन प्रकार के बिजलीघर ही सामान्य हैं : पन, भाप एवं डीजल इंजन चालित।

पनबिजलीघर ऐसे स्थानों में बनाए जाते हैं जहाँ किसी नदी में सुगमतापूर्वक बाँध बाँधकर पर्याप्त जल एकत्रित किया जा सके और उसे आवश्यकतानुसार ऊँचाई से नलों द्वारा गिराकर जल टरबाइन चलाए जा सकें (देखे, **विद्युत्, जल से उत्पन्न**)। ये टरबाइन विद्युत् जनित्रों के प्रधान चालक होते हैं। पर्वतों से बहनेवाली नदियों में असीम जलशक्ति निहित होती है। ऐसे बिजलीघर बनाने के लिये पहले सारे क्षेत्र का सर्वेक्षण किया जाता है और सबसे उपयुक्त ऐसा स्थान खोजा जाता है जहाँ न्यूनतम परिश्रम और लागत से यथासंभव बड़ा बाँध बनाया जा सके। ऐसे बिजलीघरों की लागत बहुत अधिक होती है, पर उनका प्रचालन व्यय (operating cost) बहुत कम होता है। ऐसे बिजलीघरों की स्थापना, मुख्यतः, उपयुक्त स्थान पर निर्भर करती है। यह हो सकता है कि ये बिजलीघर उद्योग स्थल से बहुत दूर हों। ऐसी दशा में बहुत लंबी संचरण लाइनें भी बनानी पड़ सकती हैं। अतएव ऐसे बिजलीघरों के निर्माण का अर्थऔचित्य सिद्ध करने

 विद्युत्शक्ति का उत्पादन

के लिये संचरण दूरी तथा उसकी सज्जा का विचार रखना भी आवश्यक है।

भाप चालित बिजलीघरों में भाप से चलनेवाले टरबाइन होते हैं। भाप इंजनों का उपयोग तो अब व्यावहारिक रूप से पुरानी बात हो गई है। भाप टरबाइन, साधारणतया, उच्च वेग पर चालन करते हैं और संतत प्रचालन के लिये बनाए जाते हैं। अधिकांश टरबाइनों में उच्च दबाव पर भाप प्रयुक्त की जाती है, जिसके लिये उच्च दबाव के वाष्पित्र (boilers) की आवश्यकता होती है। ६०० पाउंड प्रति वर्ग इंच का दबाव अब सामान्य हो गया है और आधुनिक टरबाइन तो इससे भी अधिक दबाव पर प्रचालन करने के लिये बनाए जा रहे हैं। गैस टरबाइन भी अब इस क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रयुक्त होने लगे हैं। टरबाइन की रचना में नित्य नए शोध हो रहे हैं जिससे भाप चालित बिजलीघरों की दक्षता और भी अधिक बढ़ाई जा सके।

आजकल परमाण्वीय बिजलीघरों की स्थापना में अधिक ध्यान दिया जा रहा है। परमाण्वीय बिजलीघर बहुत से देशों में बनाए गए हैं और उनकी बड़ी बड़ी योजनाएं बनाई जा रही हैं। ब्रिटेन, अमरीका तथा रूस में पिछले १० वर्षों में बहुत बड़े बड़े परमाण्वीय बिजलीघर बनाए गए हैं और बहुत से बनाए जा रहे हैं। इनका मुख्य लाभ यह है कि ये भार केंद्रों के सन्निकट बनाए जा सकते हैं, जिससे लंबी संचरण लाइनों की आवश्यकता नहीं रहती। इसके अतिरिक्त, ईंधन की मात्रा अत्यंत कम होने के कारण, परिवहन व्यय तथा उसकी समस्या नहीं रहती। परंतु उनका प्रतिष्ठापन व्यय सापेक्षतया अधिक होता है और फिर इनकी प्रचालन प्रणाली अभी तक शोध का विषय है। प्रणालियों में नित्य नए अनुसंधान के कारण इनकी स्थापना का निश्चय बहुत ही विवादास्पद है। जो प्रणाली आज से पाँच साल पहले अपनाई जाती थी, वह अब गई बीती बात हो चुकी है। दूसरे, इन्हें केवल बड़े रूप में बनाना ही आर्थिक तथा प्राविधिक रूप से उचित हो सकता है। उत्पादित की गई सारी शक्ति का उपयोग उसी स्थल पर हो जाना साधारणतया संभव नहीं होता। यह अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि शक्ति के दूसरे स्रोत निरंतर समाप्त होते जा रहे हैं अथवा कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकांश अनंत समाप्त होने को हैं। अनुमान के अनुसार यदि संसार में कोयले की खपत इसी प्रकार होती रही, तो वर्तमान कोयले की खानें संसार को अधिकाधिक २०० वर्ष तक कोयला दे रह सकती हैं। इसी प्रकार तेल की उत्पत्ति के विषय में भी कहा जा सकता है। जलविद्युत् भंडार अवश्य ही समाप्त होनेवाला नहीं है, परंतु ये भंडार सामान्यतः उपयोग स्थलों से बहुत दूर हैं। उदाहरणतः, ब्रह्मपुत्र नदी के जल में, भारत की सीमा में प्रवेश करने के स्थल पर, लगभग ३५ लाख किवा० शक्ति की क्षमता है। पर प्रथम तो वहाँ बिजलीघर की स्थापना करना इतना सुगम नहीं, और दूसरे यह स्थान उपयोग स्थलों से लगभग ५०० मील दूर है। भारत में लगभग ४०×१०^{९} टन कोयला होने का अनुमान है और जलविद्युत् शक्ति, जिसका उपलब्ध होना संभव है, लगभग ४०×१०^{६} किवा० है। ये आँकड़े काफी आशाप्रद प्रतीत होते हैं, परंतु यदि हमारा स्तर भी अमरीका तथा दूसरे गतिशील देशों के समान हो और प्रति मनुष्य उतनी ही विद्युत् की खपत हो, तो इतनी शक्ति भी हमारे लिये बहुत अपर्याप्त होगी। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि परमाण्वीय शक्ति का उपयोग किया जाए।

छोटे नगरों, अथवा छोटे उद्योगों के वैयक्तिक संभरणों, के लिये डीज़ल इंजनों का भी उपयोग किया जाता है। ये सेट अधिकतर कम क्षमता के होते हैं। ये पन एवं तापीय बिजलीघरों (कोयले का प्रयोग करनेवाले) की तरह बड़े आकारों में नहीं बनाए जा सकते तथा इनसे उत्पादित विद्युत् शक्ति का प्रति यूनिट मूल्य भी सापेक्षतया कहीं अधिक होता है, परंतु छोटे संभरणों के लिये ये बहुत ही उपयोगी होते हैं। इन्हें आसानी से चलाया जा सकता है और कुछ ही मिनटों में भार लेने के अनुकूल हो जाते हैं। इस कारण ये अतिरिक्त (standby) संचायक के रूप में बहुत उपयोगी होते हैं। डीज़ल चालित बिजलीघरों को भी, जो आर्थिक रूप से महँगे होने के कारण बंद कर दिए गए हैं, अतिरिक्त संचायक के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है।

डीज़ल इंजन का स्थान आजकल गैस टरबाइन ले रहा है। गैस टरबाइन की दक्षता इनकी अपेक्षा कहीं अधिक होती है और वे बड़े आकारों में भी निर्मित किए जा सकते हैं, परंतु वे बहुत अधिक ताप एवं दबाव पर प्रचालन करते हैं। अधिक दक्षता के लिये और भी ऊँचे ताप पर प्रचालन करना आवश्यक है और अभी ऐसे पदार्थों का निर्माण संभव नहीं हो पाया है जिनका उपयोग गैस टरबाइनों के निर्माण में व्यावहारिक रूप से किया जा सके। अतः गैस टरबाइन विद्युत्शक्ति के उत्पादन में बहुत सामान्य नहीं हो पाया है।

प्रकृति में विद्युत्शक्ति के असीम साधन विद्यमान हैं। उपर्युक्त जाने माने साधनों के अतिरिक्त, कुछ ऐसे साधन भी हैं जिनकी ओर पिछले २० वर्षों में ही मनुष्य का ध्यान आकर्षित हुआ है। समुद्र के ज्वार भाटे में अपरिमित शक्ति विद्यमान है। फ्रांस एवं ब्रिटेन में इस शक्ति का भी विद्युत् उत्पादन के लिये उपयोग किया गया है। समुद्री ज्वार के समय नदी के मुहाने की ओर बढ़ते हुए पानी को एक ओर खुलनेवाले बाँध द्वारा घिरे जलाशय में भर लिया जाता है। ज्वार के समय जलाशय में पानी भर जाने के बाद, भाटे के समय, वह समुद्र में वापस नहीं जाने दिया जाता। फिर तो इस जलाशय के पानी का कम ऊँचे शीर्षवाले बिजलीघर की भाँति ही जलविद्युत् जनन के लिये उपयोग किया जा सकता है। ऐसे बिजलीघरों में नलिकाएँ एवं टरबाइन का स्तर ऐसी धातु, सामान्यतः काँसा (bronze), का होना चाहिए जिसपर समुद्र का खारा पानी रासायनिक प्रतिक्रिया न कर सके। भारत में भी ज्वार भाटा बिजलीघर बनाने की योजना बनाई जा रही है और अगले २० वर्षों में ऐसे बिजलीघरों के सामान्य हो जाने का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

शक्ति का दूसरा असीम साधन ज्वालामुखी पर्वतों के अंतस्तल में निहित भयंकर ताप है। यदि इस अंतस्तल को छेदकर उसकी गरम गैस को बिजलीघर के वाष्पित्रों में प्रयुक्त किया जा सके, तो

सहज ही अपरिमित शक्ति का भंडार खुल जायगा। न्यूज़ीलैंड मे ऐसे बिजलीघर को क्रियात्मक रूप दिया गया है। वहाँ ३० M W. का एक बिजलीघर ज्वालामुखी की शक्ति का उपयोग कर रहा है। इटली एवं जापान मे भी ऐसे बिजलीघरों की योजना बनाई जा रही है और इस प्रकार अभी तक जो ज्वालामुखी अपनी भयंकरता के लिये ही प्रसिद्ध थे, अब उपयोगिता के क्षेत्र में भी अग्रगण्य हो जाएँगे।

सूर्य भी विद्युत्शक्ति का असीम साधन है। अभीतक तो केवल प्रयोगात्मक रूप से ही इसे विद्युत्शक्ति के उत्पादन के लिये प्रयोग किया गया है, परंतु सहारा एवं अरब के रेगिस्तानों की चिलचिलाती धूप मे सौर बिजलीघर बनाने की योजनाएँ बनाई जा रही हैं और आशा की जा सकती है कि यह भविष्य में सबसे महत्वपूर्ण साधन बन जाएँगे।

हवा का उपयोग अभी तक केवल चक्की चलाने एवं कुएँ से पानी निकालने के लिये ही हुआ है। परंतु जर्मनी एवं हॉलैंड के कुछ दूरस्थ इलाको मे इसका उपयोग छोटे जनित्र को चलाने के लिये भी किया गया है, जिससे विद्युत्शक्ति उत्पन्न हो सकती है। हवा के बहने की अनिश्चितता के कारण, इसका उपयोग सामान्य नहीं हो पाया है, परंतु दूरस्थ इलाको के लिये हवा से चलनेवाले छोटे संयंत्र उपयोगी हो गए हैं।

वस्तुत बिजली की माँग दिनों दिन बढ़ती जा रही है और मनुष्य को नित्य नए साधनो की खोज है, जिससे इस बढ़ती हुई माँग को पूरा किया जा सके। [रा० कु० ग०]

विद्युत्शक्ति का प्रेषण (Electric Power Transmission) विद्युत्शक्ति को जनित्रस्थल से उपयोगस्थल तक ले जाना प्रेषण (Transmission) कहलाता है। अधिकांश स्थानो में विद्युत्शक्ति का उत्पादन उसके उपयोगस्थलो से दूर होता है। जनित्रस्थलों की स्थापना, प्रमुख, साधनों की उपलब्धि तथा आर्थिक औचित्य के आधार पर की जाती है। जलविद्युत्घरों को किसी विशिष्ट स्थान पर बना देने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनका स्थान तो प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करता है जो साधारणतया घनी आबादीवाले क्षेत्रों से दूर होते है। तापीय बिजलीघरों की स्थापना भी भारकेंद्र (load centre) के साथ साथ कोयले की उपलब्धि तथा इसके परिवहन की समस्या पर निर्भर करती है। अत: बहुधा जनित्रस्थलों की दूरी भार से कई सौ मील भी हो सकती है और ऐसी दशाओं में प्रेषण लाइनों द्वारा शक्ति को भार तक पहुँचाना होता है। अतएव प्रेषण भी विद्युत् उद्योग का उतना ही मुख्य और महत्वपूर्ण अंग है जितना स्वयं विद्युत्शक्ति का उत्पादन।

वैसे तो जनित्रस्थल से उपयोगस्थल तक विद्युत्शक्ति को ले जाना ही प्रेषण कहलाता है, परंतु इस शब्द का व्यावहारिक अर्थ बहुधा दूरी तथा उच्च वोल्टता से संबधित है। प्रेषण लाइनें पोल अथवा मीनारों पर आरोपित, ऊपरी लाइनो के रूप मे भी तथा भूमिगत केबिलों के रूप मे भी होती हैं। ऊपरी लाइने साधारणतया ताँबे के तार की होती है, परंतु ऐलुमिनियम तथा इस्पात और ऐलुमीनियम के संयुक्त चालक भी विस्तृत रूप से प्रयुक्त किए जाते हैं। ऊपरी लाइनें भूमितल से कम से कम २० फुट की ऊँचाई पर होनी चाहिए और इनका कोई भी भाग इससे कम ऊँचाई पर नहीं होना चाहिए। भूमि से इनकी ऊँचाई, उच्च वोल्टता की दशा में और भी अधिक होती है। अतएव ये लाइने पोलो पर ले जाई जाती है और पॉसिलेन के विद्युत्रोधियों (insulators) पर आरोपित होती है। अधिक शक्ति प्रेषण करनेवाले, मोटे चालकों की लाइने पोल के स्थान पर बड़ी बड़ी मीनारों पर ले जाई जाती है, जो चालक संख्या तथा उनपर लगनेवाले बलों के अनुसार विभिन्न आकृति की बनी होती हैं। विद्युत्रोधी भी विभिन्न प्ररूपों के होते हैं और मुख्यत. अपनी स्थिति तथा वोल्टता के अनुसार विभिन्न वर्गों के होते हैं। इस प्रकार विद्युत्रोधी ४४० वोल्ट की अल्प वोल्टता से लेकर ११ किलोवोल्ट, ३३ किलोवोल्ट, ६६ किलोवोल्ट इत्यादि वर्गों के होते है और स्थिति के अनुसार विद्युत्रोधी शैकल (shackle), पिन (pin), डिस्क (disk) तथा निलंबन (suspension) प्ररूप के होते है, जो विभिन्न स्थितियों में प्रयुक्त किए जाते हैं। विद्युत्रोधी साधारणतया पोल पर कैंची (cross arm) में लगे होते है और इस प्रकार विन्यसित होते है कि किसी भी दशा में चालक झूलकर, दूसरे चालक से, अथवा पोल, अथवा उसके किसी भी संरचना अंशक से न छू जाएँ। इनकी आकृति एवं रचना भी इस प्रकार की होती है कि किसी भी परिस्थिति मे चालक तथा पोल के किसी संरचना अंशक के बीच चालक का संधारण कर सकें।

केबिल, वस्तुत:, किसी भी विद्युत्रोधी चालक को कहा जा सकता है, परंतु विद्युत् के प्रेषण मे प्रयुक्त होनेवाले केबिल का उपयोग मुख्यत भूमि के अंदर होता है। अत केबिलों की रचना भी ऐसी होती है कि वे भूमि के अंदर पड़नेवाले प्रभावों से सुरक्षित रह सकें। सामान्यत. प्रेषण केबिल त्रिकलीय (triphase) होते है। अत: उनमें कम से कम तीन क्रोड (core) होते हैं, जो अलग अलग विद्युत्रुद्ध होते हैं और फिर ऊपर से भी उनपर दूसरा विद्युत्रोधी लपेट दिया जाता है। यह विद्युत्रोधी, साधारणतया, व्याप्त कागज (impregnated paper), अथवा रुई की टेप (cotton tape) का होता है, जो केबिल की कार्यकारी वोल्टता के वर्ग पर निर्भर करता है। विद्युत्रोधी खराब न हो जाए, इसलिये चालक क्रोड तथा अचालक सीसे की नली में, जो नमी को अंदर नहीं जाने देती, समावृत होते है। इस नली को यांत्रिक हानि से बचाने के लिये जूट का फीता (braid) दिया जाता है और ऊपर से लोहे की पत्ती का कवच चढ़ा दिया जाता। इस कारण इन्हें कवचित केबिल (Armoured Cable) भी कहते है।

अति उच्च वोल्टता प्रेषण के केबिल, तेल से भरे केबिल भी होते हैं। तेल, वस्तुत, उत्तम अचालक माध्यम है। परंतु ऐसे केबिलो की बनावट काफी जटिल होती है और इनकी देखभाल भी कठिन होती है। इसके कारण इनका उपयोग सीमित है।

विद्युत्प्रेषण की मितव्ययिता बहुत सीमा तक चालक के आकार पर निर्भर करती है। चालक का आकार मुख्यत: वहन की जानेवाली धारा पर निर्भर करता है। किसी निर्धारित शक्ति के

लिये वहन की जानेवाली धारा, मुख्यतः, वोल्टता पर निर्भर करती है। अतः प्रेषण के लिये उच्चतम वोल्टता प्रयोग करना ही उपयुक्त है, जिससे उस शक्ति के लिये वहन कीजानेवाली धारा कम हो सके और छोटे आकार के चालक प्रयुक्त किए जा सकें। परंतु उच्चतम वोल्टता की भी अपनी सीमाएँ है। ३६ किवो॰ से अधिक वोल्टताओं पर चालक का आकार धारा के परिमाण पर ही नहीं, वस्तुतः, कोरोना (corona) के प्रभाव पर निर्भर करता है। कोरोना उच्च वोल्टताओं पर चालक के आसपास की वायु के अयनित (ionized) होने का प्रभाव होता है। इसके कारण हिस् हिस् की ध्वनि तथा चमक उत्पन्न होती है और यह अंततः शक्ति हानि के रूप में प्रकट होता है। इस कारण चालक के आकार का अभिकल्प इस शक्ति हानि तथा उसके प्रभावो को दृष्टि में रखते हुए करना होता है। उच्चतम वोल्टताओ पर प्रेषण लाइनो का संचार लाइनो (communication lines) से व्यतिकरण दूसरी महत्वपूर्ण समस्या है। उच्च वोल्टता प्रेषण करने वाली लाइनें समीपस्थ संचार लाइनो मे एक व्यतिकरण वोल्टता प्रेरित कर देती है, जिसके कारण सचार मे गड़बड़ी होती है, पर यह व्यतिकरण, सचार लाइनों को विद्युत् लाइनो से दूर रखकर, कम किया जा सकता है तथा दूसरे भी बहुत से उपचार किए जा सकते है।

तीसरी कठिनाई उच्च वोल्टता अचालकों तथा मीनारों की उचित सरचना की है, जिससे दोषी स्थितियाँ उत्पन्न न हो सके। साथ ही साथ उनकी उचित देखभाल भी एक समस्या बन जाती है। इनके अतिरिक्त उच्चतम वोल्टताओ पर शक्ति स्थायित्व (power stability) महत्वपूर्ण समस्या है। अति उच्च वोल्टता की लंबी लाइनो मे, शक्तिप्रवाह, वस्तुतः, शक्ति स्थायित्व द्वारा सीमित होता है। इस कारण निर्धारित शक्ति केवल किसी विशिष्ट वोल्टता पर विशिष्ट दूरी तक ही प्रेषित की जा सकती है। साथ ही साथ प्रेषित शक्ति तथा दूरी के अनुसार एक विशिष्ट वोल्टता पर प्रेषण ही सबसे अधिक मितव्ययी हो सकता है। ये समस्याएँ बड़ी बड़ी योजनाओ मे बहुत महत्वपूर्ण होती हैं और प्रेषणतंत्र का अभिकल्प योजना का एक मुख्य अग होता है।

इन समस्याओ के कारण अभी तक उच्चतम प्रेषण वोल्टता केवल ४०० किवो॰ तक ही सीमित है, यद्यपि इससे भी अधिक उच्च वोल्टता तंत्रो का अभिकल्प किया जा रहा है और उच्च वोल्टता प्रविधियों पर शोध जारी है। भारत मे अभी तक २२० किवो॰ तक के वोल्टतातत्र ही प्रयुक्त किए गए हैं। फास, इटली एवं जर्मनी २२० किवो॰ के वर्तमान प्रेषणतंत्रो से, भविष्य की योजनाओं के लिये, ३८० किवो॰ का प्रयोग कर रहे हैं। स्वीडन में ४०० किवो॰ की लगभग १,२०० मील लंबी लाइने है। स्वीडन की अधिकाश जलविद्युत्शक्ति देश के उत्तरी भाग में स्थित है, परंतु भार केवल सुदूर दक्षिणी भाग में है, जिसकी दूरी जनित्रस्थल से लगभग ६०० मील है। अतएव वहाँ पर प्रेषणतंत्रों को उच्चतम वोल्टताओं पर प्रचालन करने के लिये बनाया गया है और उच्चतम वोल्टताओं के क्षेत्र में स्वीडन ने काफी प्रगति की है। इसी प्रकार रूस भी इस दिशा में बहुत प्रगति कर रहा है। साइबेरिया मे स्थित अपार जलविद्युत्शक्ति का उपयोग करने के लिये रूस को भी सैकड़ों मील लंबी प्रेषण लाइनों की आवश्यकता है और रूसी अब ४०० किवो॰ से ८०० किवो॰ की वोल्टता प्रयुक्त करने की दिशा में प्रगति कर रहे हैं। अमरीका में भी प्रगति लगभग इन्ही लाइनो पर हो रही है और वस्तुतः इन देशों में उच्च वोल्टता प्राविधि के क्षेत्र मे भी होड़ लगी हुई है।

प्रेषणतंत्र की योजना का आधार भार सर्वेक्षण (load survey) होता है। सबसे पहले विभिन्न स्थानो में प्रस्तावित भार का परिकलन कर लिया जाता है और तब उसके अनुसार उपकेंद्रों (substations) की स्थिति निश्चित की जाती है। भार तथा दूरी के अनुसार प्रेषण की वोल्टता तथा परिपथ की संख्या निश्चित की जाती है और प्रस्तावित लाइनों का पथ निश्चित किया जाता है। लाइन अभिकल्प के मुख्य अंशक हैं : चालक का आकार, मीनार अथवा पोलों का प्ररूप एवं अभिकल्प, विद्युत्रोधियों का प्ररूप और उनका लगाने का यत्र-विन्यास तथा संरक्षणतंत्र। किसी भी योजना के लिये आर्थिक पहलू सबसे महत्वपूर्ण होता है। प्रेषणतत्र का सफल अभिकल्प भी आर्थिक कसौटी पर निर्भर करता है। किसी निर्धारित शक्ति के प्रेषण के तीन मुख्य सघटक हैं : शक्ति, दूरी तथा वोल्टता। किसी भी प्रेषणतंत्र की योजना का सफल अभिकल्प इन तीनों संघटकों के उपयुक्त समन्वय पर निर्भर करता है। लाइन अभिकल्प की दिशा में महत्वपूर्ण शोध हो रहे है, जिसके परिणामस्वरूप अब विद्युत्रोधों के स्तर को उतना ऊँचा नहीं रखा जाता जितना १० वर्ष पहले रखा जाता था। इस प्रकार लाइनो के मूल्य मे भारी बचत संभव हो सकी है।

अत्युच्च वोल्टता (११० किवो॰ से अधिक) का प्रेषण, साधारणतया, १०० मील से अधिक की दूरी के लिये ही किया जाता है। बहुधा प्रेषण को दो क्रमो मे करना पड़ता है। अत्युच्च वोल्टता पर प्रेषण साधारणतया बिजलीघर के उपकेंद्र से उपयोगतंत्र के भार केंद्र के निकटस्थ उपकेंद्रो तक किया जाता है, जहाँ से किसी मध्यम वोल्टता पर (उदाहरणतया ३३ किवो॰ अथवा ११ किवो॰ पर) उपयोगस्थल के उपकेंद्र तक शक्ति का प्रेषण किया जाता है। इस प्रकार इसे प्राथमिक एवं द्वितीयक प्रेषण के नाम से पुकारा जाता है। अंतिम उपकेंद्र से भार तक वितरक अथवा संभरक (feeder) लाइनें ले जाई जाती है, जहाँ से व्यक्तिगत भारो का संभरण किया जाता है।

साधारणतया जनित वोल्टता को प्रेषण करने के लिये अति उच्च वोल्टताओं में रूपातरित करना होता है। अतएव परिणामित्र भी प्रेषणतंत्र के महत्वपूर्ण अंग होते है। इनके साथ ही बहुत सी संरक्षण युक्तियाँ तथा परिपथ त्रोटक (breaker) भी तत्र के विशिष्ट अंशक हैं। परिणामित्र के दोनों ओर तेल परिपथ त्रोटक (oil circuit breakers) की व्यवस्था रहती है, जिससे परिणामित्र के दोनों ओर का परिपथ खोला जा सके। इसी प्रकार किसी भी लाइन अथवा उसके प्रभाग को निष्क्रिय कर सकने का प्रावधान होता

है, जिससे दोष की स्थिति में लाइन की मरंमत की जा सके। वस्तुत: संरक्षण युक्तियाँ दोष की स्थिति में दोषी प्रभाग को अपने आप खोलकर अलग कर देती है। लाइन संरक्षण के लिये उपकेंद्र में बहुत प्रकार के रिले प्रयुक्त किए जाते है। सबसे सामान्य रिले अतिभार रिले (over current relay) और भूमि क्षारण रिले (earth leakage relay) हैं। अतिभार रिले, अतिभार की अवस्था में, परिपथ त्रोटक को प्रवर्तित कर परिपथ को खोल देते है और इस प्रकार लाइन तथा उससे संबधित साजसज्जा को अतिभार से होनेवाली क्षति अथवा हानिकारक प्रभावों से बचाते है। भूमि क्षरण रिले भूमिदोष की अवस्था में कार्य करते हैं और दोषी लाइन को मोचित कर देते है। और भी बहुत से भिन्न भिन्न प्रकार के रिले प्रयुक्त किए जाते है। बहुत से रिले दोष की दूरी की व्यवस्था के आधार पर कार्य करते है और बहुत से एक पाइलट तार (pilot wire) का प्रयोग करते है, तथापि आधुनिकतम संरक्षण तंत्र कैरियर संरक्षण तंत्र है। कैरियर (carrier), वस्तुत:, एक उच्च आवृत्ति की तरंग को कहते है, जो पाइलट तारों पर शक्ति आवृत्ति के साथ ही अध्यारोपित (superimpose) कर दी जाती है। दोष की स्थिति में उससे संयोजित रिले तत्क्षण कार्य कर, लाइन को वियोजित कर देते है। कैरियर संरक्षण तंत्र दूसरे तंत्रों की अपेक्षा अधिक द्रुतगामी है और अधिक विश्वसनीय भी है। परंतु यह केवल उच्च वोल्टता लाइनों के लिये ही आर्थिक रूप से उचित हो सकता है।

प्रेषण लाइनों के अभिकल्प में तड़ित् संरक्षण का प्रावधान करना भी अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। तड़ित् लाइन पर गिरकर उसे तथा उससे संयोजित सभी साजसज्जा को नष्ट कर सकती है। इससे बचाव के लिये बहुत सी युक्तियाँ प्रयुक्त की जाती हैं, जिनमें मुख्यत: भूमि तार तथा तड़ित्‌निरोधक (lightning arrestors) का प्रावधान है। भूमि तार सामान्य रूप से लाइन को तड़ित् के हानिकारक प्रभावों से बचाता है और तड़ित् को लाइन पर यथासंभव गिरने से रोकता है। तड़ित्‌निरोधक उपकेंद्र अथवा अन्य संरचनाओं पर लगाए जाते हैं और तड़ित् के लाइन पर गिर जाने पर उसे सीधे ही भूयोजित (earthed) कर देते हैं, जिससे लाइन अथवा साजसज्जा को क्षति नहीं पहुँचने पाती। सभी मीनार ठीक से भूयोजित होते है और उनका भूमिरोध विविध प्रकार की व्यवस्थाएँ करके अत्यंत कम रखा जाता है। तड़ित्‌संरक्षण के दृष्टिकोण से अधिक संख्या के अचालकों का भी प्रयोग करना पड़ता है, परंतु आजकल तड़ित्‌निरोधक पर शोध के फलस्वरूप अचालक का स्तर ऊँचा रखने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रेषणतंत्रों को बहुधा ग्रिड के रूप में अंतर्बंधित कर देते हैं, जिससे ग्रिड के अंदर शक्ति का स्वतंत्रतापूर्वक प्रवाह हो सके। ऐसे ग्रिड प्राय: उच्च वोल्टताओं पर कार्य करते है और संपूर्ण तंत्र की वोल्टता तथा आवृत्ति एक ही होती है। इसमें नियंत्रण की कठिनाइयाँ तो अवश्य ही बढ़ जाती हैं, परंतु तंत्र में किसी भी स्थान की फालतू शक्ति दूसरे स्थानों पर, जहाँ उसकी आवश्यकता हो, प्रयुक्त की जा सकती है। इस प्रकार बिजलीघरों में अतिरिक्त स्थापित शक्ति का रखना आवश्यक नहीं रह जाता। वस्तुत:, बड़े ग्रिडों में किसी एक बिजलीघर, अथवा मशीन, की शक्ति संपूर्ण तंत्र की शक्ति की तुलना में नगण्य होती है और संपूर्ण तंत्र के कार्य को विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर पाती। भारत में भी ऐसे बहुत से ग्रिड हैं, जैसे भाखड़ा ग्रिड, गंगा जलविद्युत् ग्रिड, शारदा ग्रिड, डी० वी० सी० ग्रिड, हीराकुंड ग्रिड, मद्रास ग्रिड, बंबई ग्रिड आदि। सभी बड़ी बड़ी योजनाएँ ग्रिड के रूप में है। अब तो इन सब ग्रिडों को अंतर्बंधित कर अखिल भारत ग्रिड की रूपरेखा बनाई जा रही है, जो शायद ३५० किवो० अथवा इससे भी ऊँची वोल्टता पर कार्य करेगा।

अल्प वोल्टता से उच्च वोल्टता में तथा उच्च से अल्प वोल्टता में परिणामित्रों द्वारा रूपांतरण की सुविधा के कारण लगभग सभी विद्युत् प्रेषण प्रत्यावर्ती धारा पर ही होते हैं। परंतु हाल में ही इस विचारधारा में एक गहन परिवर्तन आ रहा है और अति उच्च वोल्टताओं पर दिष्ट धारा प्रेषण व्यावहारिक तथा प्राविधिक दोनों रूपों से अधिक उपयुक्त समझा जाने लगा है। ऐसे तंत्र में जनन तथा उपभोग दोनों ही प्र० धा० में होते है और केवल प्रेषण के लिये ही दिष्ट धारा का प्रयोग किया जाता है। जनन की गई प्र० धा० शक्ति को दिष्टकारियों (rectifiers) के द्वारा उच्च वोल्टता दि० धा० में परिणामित किया जाता है और प्रेषण दि० धा० में होता है। लाइन के दूसरी ओर फिर दि० धा० को उपयोग के लिये प्र० धा० कारियों (invertors) द्वारा प्र० धा० में परिणत करना होता है। दि० धा० प्रेषण के कुछ विशिष्ट लाभ है, जैसे इसमें लाइन विद्युत्‌रोधी उसी वोल्टता की प्र० धा० लाइन की अपेक्षा कम वर्ग का प्रयुक्त किया जा सकता है, जिससे लाइन के मूल्य में भारी बचत संभव हो सकती है। दूसरा महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमें शक्ति स्थायित्व की समस्या नहीं रहती, जो प्र० धा० प्रेषण तंत्रों में मुख्य सीमाकारक है। इसी प्रकार और भी बहुत से लाभ है, परंतु दिष्टकारियों तथा प्र० धा० कारियों का विश्वसनीय कार्य के लिये अभिकल्प, उनकी मुख्य समस्या है। इस दिशा में संतोषजनक प्रगति होने के कारण ही दि० धा० प्रेषण को व्यावहारिक रूप देना संभव हो सका है। स्वीडन में, गाटलैंड योजना में, सबसे पहले दि० धा० प्रेषण का प्रयोग किया गया है। वहाँ पर और भी दि० धा० प्रेषण लाइनों की योजनाएँ बनाई जा रही है। रूस में मास्को से काशीरा तक लगभग ७५ मील लंबी २०० किवो० की भूमिगत केबल लाइन है तथा ४०० किवो० की कोयन लाइन कुर्दबाशेव तथा मॉस्को के बीच है। इसके अतिरिक्त, ७५० मेगावाट की लगभग ६४० मील लंबी, ८०० किवो० दि० धा० प्रेषण लाइन की योजना पर कार्य किया जा रहा। अमरीका में भी इस दिशा में तीव्रता से प्रगति हो रही है। ७५० किवो० की एक प्रायोगिक लाइन पिट्सफील्ड के निकट बनाई जा रही है, जिसकी सफलता के आधार पर एक बृहत् ग्रिड की योजना भी बनाई जा रही है। [रा० कु० ग०]

विद्युत्शक्ति, राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक योजनाएँ (Electric Power, National & Regional Schemes) भारत में विद्युत्‌शक्ति के विकास के लिये अनवरत प्रयास किए जा रहे है। इसके लिये बहुत सी योजनाएँ बनाई गई है और क्रमश: कार्यान्वित की जा रही हैं। ये योजनाएँ शासकीय दृष्टिकोण से मुख्यत: दो प्रकार

विद्युत्शक्ति, राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक योजनाएँ

की हैं : १. राष्ट्रीय योजनाएँ, जिनका संचालन एवं कार्यान्वियन भारत सरकार अथवा उसके द्वारा गठित स्वायत्त निगम द्वारा होता है। २. प्रादेशिक योजनाएँ; जिनका संचालन विभिन्न प्रादेशिक सरकारें करती हैं। प्रादेशिक योजनाएँ, सामान्यतः, छोटी योजनाएँ हैं, जो मुख्यतः प्रदेश तक सीमित रहती हैं और उनसे होनेवाले लाभ भी वहीं तक सीमित होते है।

राष्ट्रीय योजनाओं मे वे सभी योजनाएँ संमिलित है जिनमें या तो एक से अधिक प्रदेशों की सरकारों के सहयोग की आवश्यकता होती है, अथवा जिन्हें प्रादेशिक सरकारें सुचारु रूप से संचालित करने में असमर्थ होती हैं। दामोदर घाटी निगम, भाखरा नंगल, चंबल घाटी योजना, कोयना, शरावती आदि ऐसी योजनाएँ हैं जिनका क्षेत्र एक से अधिक प्रदेशों मे पड़ता है, और जिन्हे भारत सरकार या तो सीधे संचालित करती है, अथवा उनके संचालन के लिये स्वायत्त निगमों की स्थापना कर दी गई है। इन योजनाओं से होनेवाले लाभ भी एक से अधिक प्रदेशो को मिलते है। अतः इन्हें राष्ट्रीय योजनाएँ कहा जाता है।

विद्युत्शक्ति मे भारत दूसरे प्रगतिशील देशों की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ है, जैसा निम्नलिखित सारणी मे दिए गए तथ्यों से प्रकट होगा :

सारणी १.

देश	विद्युत शक्ति का उत्पादन (किलोवाट मे प्रति व्यक्ति)
केनाडा	२०
संयुक्त राज्य (अमरीका)	१७
ब्रिटेन	१०
जापान	५
भारत	० २

देश की प्रगति के लिये विद्युत्शक्ति का विकास अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस उद्देश्य से, विद्युत् उत्पादन का राष्ट्र की पंचवर्षीय योजनाओं मे महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना सन् १९५१ मे आरंभ हुई और तब से तीन पंचवर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित की जा चुकी हैं तथा चौथी योजना की रूपरेखा तैयार हो चुकी है। निस्सदेह इस क्षेत्र में प्रगति उत्साहवर्धक रही है, जैसा सारणी २. से स्पष्ट है। मुख्य प्रगति सरकारी संस्थापनो में हुई है। विभिन्न क्षेत्रो मे होनेवाली प्रगति का ब्यौरा इस प्रकार है :

सारणी २.

क्षेत्र	प्रतिष्ठापित क्षमता, लाख किलोवाट में			
	१९५१	१९५६	१९६१	१९६६
सरकारी संस्थान	६	१४	३३	७३.५
कंपनी ,,	११	१३	१३.५	१६.५
उद्योग के निजी ,,	६	७.२	१०	११.५
कुल	२३	३४	५६.५	१०१.५

चौथी योजना के अंत तक संस्थापित क्षमता मे लगभग दुगुनी वृद्धि हो जाएगी। २०० लाख किलोवाट का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

इन योजनाओं के अंतर्गत न केवल बिजलीघरों का निर्माण किया गया है, वरन् विद्युत्शक्ति का समुचित उपभोग करने के लिये प्रेषण लाइनो (transmission lines) तथा वितरण लाइनों (distribution lines) का जाल देश भर में बना दिया गया है। एक क्षेत्र के अधिकांश बिजलीघर एक दूसरे से संबद्ध कर दिए गए है, जिससे सारे क्षेत्र मे शक्ति का आदान प्रदान सुगमता से हो सके। इसके लिये अति उच्च वोल्टता (extra high voltage) पर प्रेषण कर क्षेत्रीय ग्रिड (regional grids) बनाए गए है, जिससे उस क्षेत्र मे शक्ति का प्रवाह पूरी तौर पर स्वच्छंद रूप से किया जा सके, अर्थात् सभी जगह आवश्यकतानुसार शक्ति का उपभोग हो सके। कुछ क्षेत्रीय ग्रिड निकटवर्ती ग्रिड से भी परस्पर संबद्ध कर दिए गए है, जिससे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे आवश्यकता के अनुसार शक्ति का आदान प्रदान हो सके, जैसे दामोदर घाटी निगम को कलकत्ता के बिजलीघर एवं बरौनी से संबद्ध कर दिया गया है। इस प्रकार एक स्थान की अधिक शक्ति कम शक्तिवाले स्थान को भेजी जा सकती है। धीरे धीरे सभी क्षेत्रीय ग्रिडों को परस्पर संबद्ध कर, अखिल भारतीय ग्रिड का रूप दिया जाएगा, जिससे संपूर्ण देश में शक्ति का प्रवाह निर्विरोध रूप मे हो सके और सभी जगह आवश्यकता के अनुसार उसका उपभोग किया जा सके। इस योजना के कुछ प्राविधिक पहलुओं का समाधान होने के उपरांत सारे देश के शक्तितंत्र आपस मे समाकलित (integrated) होकर एक बृहत् शक्तितंत्र बन जाएगा, जो संसार के सबसे बड़े शक्तितंत्रो मे होगा।

भविष्य की आवश्यकताओं तथा दूसरे देशों की औद्योगिक प्रगति को ध्यान मे रखते हुए, अभी भी हम विद्युतशक्ति उत्पादन मे बहुत पिछड़े हुए हैं। आकलन के अनुसार, भारत मे विकसित की जा सकनेवाली जलविद्युत् राशि लगभग ४ करोड़ किलोवाट है, जिसका लगभग १० प्रति शत ही अभी तक विकसित किया जा सका है। तापीय बिजलीघरों (thermal power stations) की क्षमता मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। विभिन्न प्रकार के बिजलीघरो की प्रतिस्थापित शक्तिक्षमता मे वृद्धि सारणी ३. मे दिखाई गई है। यह शक्तिक्षमता लाख किलोवाट मे दी गई है।

सारणी ३.

बिजलीघर	१९५१	१९५६	१९६१	१९६५
पनबिजलीघर	५.६	९.४	१९.२	४१.०
तापीय बिजलीघर	१०.०	१५.५	२४.३	४५.२
डीजल ,,	१.५	२.१	३.०	४.०
कुल*	१७.१	२७.०	४६.५	९०.२

*इन आँकड़ो में उद्योग के निजी संस्थानों की क्षमता संमिलित नहीं है।

विभिन्न राज्यों मे नियन्त्रणवित की विकास योजनाओं का सारांश सारणी ४ मे स्पष्ट हो जाएगा, जिसमे सरकारी संस्थानों की शक्तिक्षमता मेगावाट मे दी गई है।

सारणी ४.

विभिन्न राज्यों की प्रतिष्ठापित शक्तिक्षमता मेगावाट में

क्रम	राज्य	१९५६	१९६१	१९६६
१.	असम	४७ ४	२४२३	७०
२.	आंध्र	१०३	२८६	४३२
३.	बिहार	२०४	४११	६९६
४.	बंबई (महाराष्ट्र । गुजरात)	५००	११२०	११३० महा०
				५२० गुज०
५.	जम्मू कश्मीर	१२४	३२	४९
६.	केरल	८६५	१९३	२९०
७.	मध्यप्रदेश	८२	२६५	३७०
८.	मद्रास	२५६७	५७८ ७	९००
९.	मैसूर	१८८७	२६४ ३	४६७
१०.	उड़ीसा	२१	२७८	३२४
११.	पंजाब	१०६७	६७६ ७	८२०
१२	राजस्थान	४२६	११७ ५	१८९
१३	उत्तर प्रदेश	२१५०	६८३ ८	७०८
१४	प० बंगाल	५०९६	६८१ ५	११६५
१५.	दिल्ली	५४०	१०४००	१६८ ०
१६	शेष	५६	११ ८	२४ ५
	कुल	२,६९४	५,७२८	८ १२२ ५

कुछ प्रमुख योजनाओं का ब्योरा इस प्रकार है .

१. **भाखड़ा नंगल** -- यह योजना हिमाचल प्रदेश मे सतलुज तथा उसकी सहायक नदियों की जलशक्ति के समुचित उपभोग के लिये १९४७ मे आरंभ की गई। पहले चरण मे सतलुज नदी पर भाखड़ा गार्ज पर एक ऊंचे बांध का निर्माण किया गया, जो संसार के सबसे ऊँचे बांधों मे से है। भाखड़ा जलविद्युत् योजना का निर्माण दो चरणों मे हुआ। प्रथम चरण मे नदी के दाहिने किनारे पर गंगुवाल नामक स्थान मे एक बिजलीघर बनाया गया और दूसरे चरण मे उसकी क्षमता ७७ मेगावाट कर दी गई। कुछ नीचे कोटला में दूसरा बिजलीघर बनाया गया, जिसकी शक्तिक्षमता पूर्वोक्त ही थी। मुख्य भाखड़ा बिजलीघर का निर्माण भी दो चरणों मे हुआ। प्रथम चरण मे ४५० मेगावाट शक्तिक्षमता का बिजलीघर बनाया गया, जिसे दूसरे चरण में ५६० मेगावाट अतिरिक्त शक्तिक्षमता जोड़कर, लगभग १,००० मेगावाट शक्तिक्षमता का कर दिया जाएगा।

इस योजना से पंजाब, हरियाणा, राजस्थान एवं दिल्ली को बिजली प्रदान की जाती है। दिल्ली का तापीय बिजलीघर भी मुख्य भाखड़ा ग्रिड से अंतर्योजित कर दिया गया है।

२. **दामोदर घाटी निगम** बिहार एवं बंगाल में बहनेवाली दामोदर नदी के विनाशकारी प्रभावों से बचने के लिये सन् १९४५ में एक बृहद् घाटी योजना का श्रीगणेश किया गया। इसका संगठन अमरीका की टेनेसी घाटी योजना के अनुसार किया गया और इसका संचालन भारत सरकार द्वारा गठित दामोदर घाटी निगम

सारणी ५.

बड़ी बड़ी योजनाओं की शक्तिक्षमता

क्रम	योजना	राज्य	शक्ति क्षमता मेगावाट मे
१	भाखड़ा नंगल (जलविद्युत्)	पंजाब	११६४
२.	हिराकुड :— (,,)	उड़ीसा	
	प्रथम चरण		१२३
	द्वितीय चरण		१०९
३.	दामोदर घाटी योजना (दुर्गापुर, बोकारो आदि के तापीय बिजलीघरों सहित)	बिहार और बंगाल	९६०
४	चंबल योजना (जलविद्युत)	मध्यप्रदेश और राजस्थान	९२
५.	मचकुंड (जलविद्युत्)	आंध्र प्रदेश	८५
६	कोरबा तापीय बिजलीघर	मध्यप्रदेश	९०
७	तुंगभाद्रा (जलविद्युत्)	आंध्र और मैसूर	६६
८.	नागार्जुन सागर (जलविद्युत्)	आंध्र	४६०
९.	रामागुंडम (तापीय बिजलीघर)	आंध्र	३८
१०.	सिलेरु जलविद्युत्	,,	७५
११.	शरावती (जलविद्युत्)	मैसूर	८९०
१२.	भद्रा ,,	,,	३३
१३.	कुंडा ,	मद्रास	२८०
१४.	परियार ,,	मद्रास और केरल	१४०
१५	पोरिंगल कुट्टू ,,	केरल	१०७
१६.	नेरिया मंगलम ,,	,,	४५
१७	शोलायार ,,	,,	५४
१८	उराई ,,	महाराष्ट्र	१६०
१९	कोयना (जलविद्युत)	,,	५४०
२०	उमत्र उमियम ,,	असम	१०२
२१.	रिहंद (ओबरा तापीय बिजलीघर सहित)	उत्तर प्रदेश	३००
२२.	यमुना जलविद्युत योजना	,	२०१
२३.	बरौनी तापीय बिजलीघर	बिहार	६९
२४.	पतरातू ,,	,,	४००
२५	कोसी जलविद्युत् योजना	.	२०
२६.	बंडेल तापीय बिजलीघर	बंगाल	२५०
२७.	नेवेली ,,	मद्रास	२५०
२८	अमरकंटक ,,	मध्य प्रदेश	६०
२९.	धुवारन ,,	गुजरात	२५०
३०.	पनकी ,,	उत्तर प्रदेश	१६०
३१.	तालचेर ,,	उड़ीसा	२५०
३२	चंद्रपुरा ,,	बिहार	४२०
३३.	सतपुड़ा ,,	मध्य प्रदेश	३१२

को सौंप दिया गया। इसके अंदर बाढ़ नियंत्रण एवं सिंचाई के साथ साथ शक्ति जनन योजना को भी प्राथमिकता दी गई। माइथन एवं पंचेतहिल मे दो पनबिजलीघर बनाए गए हैं, जिनकी शक्तिक्षमता क्रमशः ६० मेगावाट और ४० मेगावाट है। सूखे महीनों में

पर्याप्त पानी के न होने से जलविद्युत् की कमी को पूरा करने के लिये बोकारो में एक तापीय बिजलीघर बनाया गया जिसकी शक्तिक्षमता पहले १५० मेगावाट थी परंतु बाद में २४७.५ मेगावाट कर दी गई। शक्ति की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुए, इसी निगम के अंतर्गत, बोकारो के अतिरिक्त दुर्गापुर में २५० मेगावाट क्षमता का एक तापीय बिजलीघर और बनाया गया। बाद मे बंडेल एवं चंद्रपुरा मे क्रमश. २५० मेगावाट और ४२० मेगावाट के दो बड़े तापीय बिजलीघर बनाए गए। इससे झरिया एवं रानीगंज क्षेत्र की कोयले की खानों तथा दुर्गापुर, बोकारो, सिंद्री एवं जमशेदपुर के औद्योगिक प्रतिष्ठानों और पूर्वी रेलवे के विद्युतीकरण के लिये बिजली का संभरण होता है।

३. **हिराकुड योजना** — उड़ीसा मे महानदी पर स्थित यह बृहत् जलविद्युत् योजना दो चरणों मे बनाई गई है। प्रथम चरण में १२३ मेगावाट की शक्तिक्षमता का एक बिजलीघर बनाया गया, जिसे दूसरे चरण मे बढ़ाकर २३२ मेगावाट शक्तिक्षमता का कर दिया गया।

सूखे महीनो मे जलविद्युत् की कमी को पूरा करने के लिये तालचेर मे एक बड़ा तापीय बिजलीघर भी बनाया गया जिसकी शक्तिक्षमता २५० मेगावाट है।

इस योजना से राउरकेला इस्पात कारखाने तथा उड़ीसा के दूसरे औद्योगिक प्रतिष्ठानो को बिजली का संभरण होता है।

४ **शरावती योजना** — यह योजना मैसूर राज्य में शरावती नदी पर स्थित भारत की एक बड़ी जलविद्युत् योजना है। इसे संयुक्त राज्य, अमरीका, के सहयोग से अभी हाल मे ही पूरा किया गया है। इसकी कुल शक्तिक्षमता ८९० मेगावाट है (८९ मेगवाट के दस जनित्र लगाए गए है)। इससे मैसूर राज्य के बढ़ते हुए औद्योगीकरण के लिये बिजली मिल सकेगी।

५ **नागार्जुनसागर योजना** — यह बृहद् जलविद्युत् योजना आंध्र प्रदेश के औद्योगीकरण की आकांक्षाओं को पूरा करने मे समर्थ हो सकेगी। इसके अंतर्गत कृष्णा नदी के ऊपर नंदीकोंडा में एक बहुत बड़े बाँध का निर्माण किया जा रहा है। इसकी शक्ति क्षमता ४६० मेगावाट होगी।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में तापीय बिजलीघरों के निर्माण को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। चंद्रपुरा, दुर्गापुर, बरौनी, बंडेल, धुवारन, सतपुड़ा और पतरातू मे बृहत्काय बिजलीघर बनाए जा रहे हैं, जिनमें से कुछ तो चालू हो गए हैं और कुछ के शीघ्र चालू होने की आशा है। इसके साथ ही शक्ति की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुए परमाणवीय बिजलीघर भी बनाए जा रहे हैं। तीसरी पंचवर्षीय योजना मे ट्राबे (बंबई के निकट), राणाप्रताप सागर (राजस्थान) और मद्रास के निकट कलपक्कम में परमाणवीय बिजलीघर बनाए जा रहे हैं, जिनकी शक्तिक्षमता क्रमश. ३८० किलोवाट, २०० किलोवाट और २५० किलोवाट होगी। इनपर निर्माण कार्य प्रारंभ हो चुका है और चौथी योजना के अंत तक पूरा हो जाने की आशा है।

इस प्रकार, शक्ति के क्षेत्र में भारत अपनी इन राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक योजनाओं के आधार पर निरंतर प्रगति कर रहा है।

[रा० कु० ग०]

विद्युत् संधारित्र (Electric Condensers) का उपयोग विद्युत् आवेश, अथवा स्थिर वैद्युत उर्जा, का संचय करने के लिये होता है। यदि दो या दो से अधिक चालकों को एक विद्युत्रोधी माध्यम द्वारा अलग करके समीप समीप रखा जाए, तो यह व्यवस्था संधारित्र कहलाती है। इन चालकों पर बराबर तथा विपरीत आवेश होते है। यदि संधारित्र को एक बैटरी से जोड़ा जाए, तो इसमे से धारा का प्रवाह नही होगा, परंतु इसकी प्लेटों पर बराबर मात्रा में धनात्मक एवं ऋणात्मक आवेश संचय हो जाएँगे। एक संधारित्र की धारिता की परिभाषा इस समीकरण द्वारा की जा सकती है,

$$C = \frac{q}{V} \left(\frac{\text{कूलॉम}}{\text{वोल्ट}} \right) \text{फेरड} \qquad \ldots (१)$$

जहाँ [1 फैरड = ९ × १०¹¹ स्टैट फेरड] V दोनों चालकों के मध्य विभवान्तर है तथा q उनमें से किसी एक पर आवेश है। एक आवेशित संधारित्र के संग कुछ स्थिर वैद्युत उर्जा भी संबंधित होती है। यदि हम एक धनात्मक आवेश dq को संधारित्र के ऋण भाग से धन भाग, जिसका विभव V वोल्ट अधिक है, ले जाएँ तो कार्य अथवा उर्जा मे वृद्धि, $du = Vdq$ होगी तथा संधारित्र की कुल उर्जा,

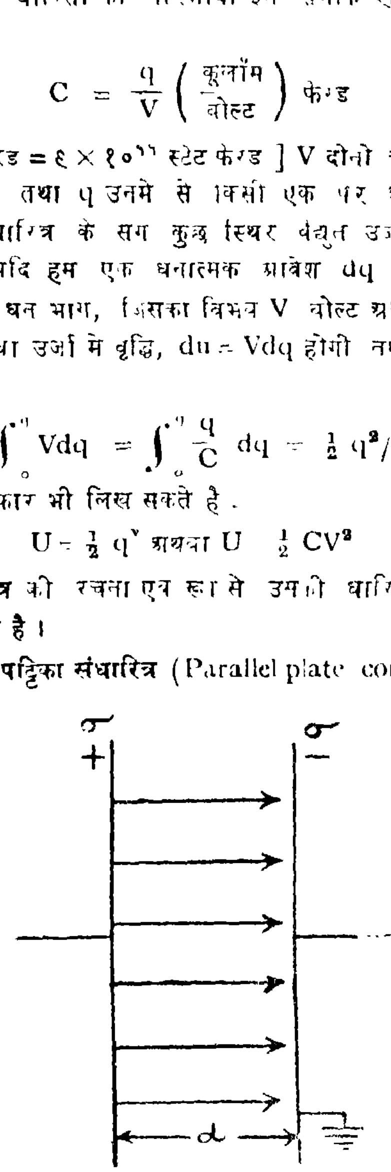
$$U = \int_0^q Vdq = \int_0^q \frac{q}{C}\, dq = \tfrac{1}{2} q^2/C \text{ जूल्स}$$

इसको इस प्रकार भी लिख सकते है.

$$U = \tfrac{1}{2} q^2 \text{ अथवा } U = \tfrac{1}{2} CV^2 \qquad \ldots (२)$$

किसी संधारित्र की रचना एवं रूप से उसकी धारिता की गणना की जा सकती है।

समांतर पट्टिका संधारित्र (Parallel plate condenser) —



चित्र १.

यदि संधारित्र की एक पट्टिका (प्लेट) के एक ओर का क्षेत्रफल A हो, पट्टिकाओं के बीच की दूरी d हो तथा एक प्लेट पर तल

आवेश σ ($\sigma = q/A$) हो तथा दूसरी पर $-\sigma$ हो, तो विद्युत्‌ क्षेत्र E की दिशा तलों के अभिलंब होगी तथा हवा, अथवा निर्वात माध्यम में उसका मान, गाउस के नियम द्वारा (देखें विद्युत्‌), मी० कि० से० (M. K. S.) पद्धति में

$$E = \frac{\sigma}{\epsilon_0}\ ,\ (\text{माध्यम हवा अथवा शून्य})$$

होगा। क्योंकि एकसमान (uniform) विद्युत्‌क्षेत्र में हम विभवांतर V को V = Ed लिख सकते हैं, इसलिये संधारित्र की धारिता,

$$C = \frac{q}{V} = \frac{\sigma A}{E\ d} = \frac{\epsilon_0 A}{d} \qquad \ldots(३)$$

$$\left[C = \frac{A}{4\pi d}\ \text{से० ग्रा० से०}\right]$$

जहाँ ϵ_0 निर्वात की विद्युत्‌शीलता (permittivity) है। (ϵ_0 = ८.८५ × १०$^{-१२}$ फैरड/मीटर मी० कि० से०, में० ग्रा० से० में ϵ_0 = 1)। किसी और माध्यम के लिये

$$C = \frac{\epsilon K_e \epsilon_0 A}{d} = \frac{\epsilon A}{d} \qquad \ldots(४)$$

जहाँ ϵ माध्यम की विद्युत्‌शीलता, तथा K_e माध्यम का परावैद्युत्‌ गुणांक (dielectric coefficient) है।

संकेंद्री गोलोंवाला संधारित्र (Concentric spheres condenser) — दो गोलों (गोलों की त्रिज्या, r_1, r_2), के बीच का विभवांतर,

$$V = \frac{q}{4\pi\epsilon_0}\left[\frac{1}{r_1} - \frac{1}{r_2}\right]$$

इसलिये, संधारित्र की धारिता,

$$C = \frac{q}{V} = 4\pi\epsilon_0\left[\frac{r_1 r_2}{r_2 - r_1}\right] \qquad \ldots(५)$$

यदि $r_2 >> r_1$ अर्थात्‌ एक ही गोला हो, तो धारिता

$$C = 4\pi\epsilon_0 r_1,\ [\text{से० ग्रा० से०},\ C = r_1] \qquad \ldots(६)$$

समाक्ष सिलेंडरवाला संधारित्र (Co-axial cylinder condenser) — दो समाक्ष सिलेंडरों (लंबाई l तथा त्रिज्या r_1, r_2) के लिये विभवांतर,

$$V = \frac{q}{2\pi\epsilon_0 l}\ l_n\frac{r_2}{r_1}$$

तथा संधारित्र की धारिता

$$C = \frac{q}{V} = \frac{2\pi\epsilon_0 l}{l_n(r_2/r_1)} \qquad \ldots(७)$$

संधारित्रों का संबंधन — यह निम्नलिखित ढंग से किया जाता है :

(१) श्रेणी संबंधन

$$\frac{1}{C} = \frac{1}{C_1} + \frac{1}{C_2} + \frac{1}{C_3} + \frac{1}{C_4} + \ldots \qquad \ldots(८)$$

(२) पार्श्व संबंध।

$$C = C_1 + C_2 + C_3 + C_4 + \ldots \qquad \ldots(९)$$

फैरड धारिता की एक बहुत बड़ी इकाई है, इसलिये व्यवहार में माइक्रोफैरड (१०$^{-६}$), अथवा माइक्रो-माइक्रो फैरड (१०$^{-१२}$), का प्रयोग किया जाता है।

संधारित्र का उपयोग दिष्ट धारा परिपथ तथा प्रत्यावर्ती धारा परिपथ, दोनों में ही होता है। विभवांतर V वाले एक स्रोत से संधारित्र को जोड़ने पर, एक क्षणिक धारा, जो आवेश के संचित होने की दर के बराबर होगी, बहेगी ($i = dq/dt$)। संधारित्र के अतिरिक्त यदि परिपथ में एक प्रतिरोध तथा एक प्रेरकत्व भी हो, तो संधारित्र का विसर्जन एक विशेष अवस्था में दोलकीय होता है। संधारित्र के इस गुण का उपयोग बहुतायत से होता है (देखें विद्युत्‌)। एक प्रत्यावर्ती धारा परिपथ में,

$$V = V_0 \sin \omega t, \qquad (\text{जहाँ } \omega = 2\pi f;\ f \text{ आवृत्ति है}) \quad (१०)$$

$$\text{तथा}\quad i = \frac{dq}{dt} = \frac{d}{dt}\ (\ C\ V_0 \sin \omega\ t\ ) = i_0 \cos \omega\ t, \quad (११)$$

यहाँ $i_0 = V_0\ (\omega\ C)$ तथा यदि $1/\omega C = X_C$ तो $V_0 = i_0\ X_C$, X_C परिपथ का धारिता प्रतिघात (capacitive reactance) कहलाता है। यदि परिपथ में एक प्रतिरोध भी हो, अथवा संधारित्र का ही थोड़ा बहुत प्रतिरोध हो, तो कुल विभव

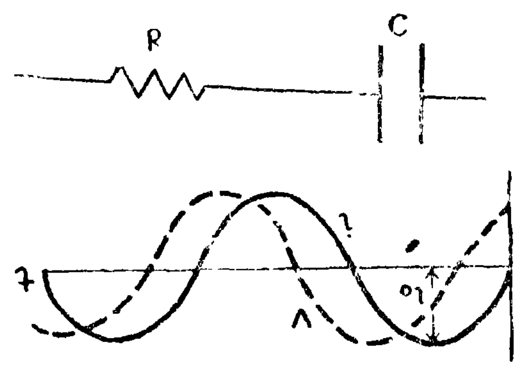
$$V = V_R + V_C = R\ i_0 \cos \omega\ t + X_C\ i_0 \sin\ \omega\ t$$
$$= V_0 \cos\ (\omega t - \theta) \qquad \ldots(१२)$$

यहाँ $R\ i_0 = V_0 \cos\ \theta$ तथा $X_C i_0 = V_0\ \sin\ \theta$, अर्थात्‌ एक श्रेणी संबद्ध R C परिपथ में धारा विभव से कला (phase) में आगे होती है, एवं

$$V_0 = i_0\sqrt{R^2 + X^2_C} = i_0\ Z,$$

Z परिपथ का प्रतिबाधा (impedance) कहलाता है।

एक संधारित्र का धारिता प्रतिघात, आवृत्ति का प्रतिलोमानुपाती होता है। इस कारण कम आवृत्तिवाली धारा का यह अधिक आवृत्तिवाली धारा की तुलना में अधिक विरोध प्रस्तुत करता है। यह



चित्र २.

दिष्ट धारा प्रवाह को भी रोक देता है। इसके इस गुण का उपयोग छनना (filter) बनाने में किया जाता है।

व्यावहारिक संधारित्र — सबसे प्राचीन संधारित्र है लीडन जार (Leyden jar), परंतु आजकल प्रायः दो प्रकार के संधारित्र उपयोग में लाए जाते हैं : (१) निश्चित तथा (२) परिवर्ती।

(१) निश्चित संधारित्रों का विभाजन प्रयोग में लाए जानेवाले विद्युत्रोधी (परावैद्युत्) के अनुसार होता है, उदाहरणार्थ अभ्रक, कागज, तेल इत्यादि।

अभ्रक संधारित्र में अभ्रक की पतली पत्तियाँ, टीन अथवा ऐलुमिनियम की पन्नियों (foils) में प्रत्यावर्त रूप से, प्लास्टिक अथवा बेकेलाइट के खोल मे, रखी होती हैं तथा प्रत्यावर्त पन्नियाँ आपस में समांतर रूप से जुड़ी होती हैं। टीन की पन्नियों मे एक विशेष प्रकार का कागज (रेंडी का तेल, खनिज तेल अथवा खनिज मोम में विशेष प्रकार से डुबाया हुआ) रखकर **कागज संधारित्र** बनाया जाता है। स्थान कम करने के लिये पन्नियों को बेल लिया जाता है तथा उन्हे गत्ते अथवा धातु की डिबिया मे रखकर डिबिया को मोम से बंद कर दिया जाता है। कई बार विभवांतर अधिक होने के कारण परावैद्युत् भंग (breakdown) हो जाता है, अर्थात् विद्युत्रोधी लगभग चालक हो जाता है तथा संधारित्र लघुपथित हो जाता है। इसको बचाने के लिये **धातु लगे (metalized) कागज संधारित्र** काम में लाए जाते हैं, जिनमे परावैद्युत् के भंग होने पर धातु की पतली फिल्म जल जाती है तथा संधारित्र की धारिता थोड़ी सी कम अवश्य हो जाती है, परंतु वह व्यवहार के योग्य रहता है। जहाँ स्थायीपन, कम हानि (low loss), उच्च ताप अथवा उच्च आवृत्ति पर संधारित्र की आवश्यकता होती है वहाँ कागजी संधारित्र का प्रयोग सीमित होता है। उच्च धारिता के अभ्रक संधारित्र मँहगे एवं बड़े होते हैं। अत. इस अवस्था में **प्लास्टिक फिल्म संधारित्र** का प्रयोग होता है। इनके अतिरिक्त **चीनी मिट्टी के संधारित्रों** का भी विशेष अवस्थाओं में प्रयोग होता है। रेडियो प्रेषी (transmitter) परिपथों मे **तेल** परावैद्युत् वाले संधारित्र भी काम में लाए जाते हैं। उच्च विभव पर काम करने के लिये **दबाववाले** संधारित्र भी, जिनमें परावैद्युत् नाइट्रोजन अथवा कोई और अक्रिय गैस कई गुना वायुमंडलीय दबाव पर होती है, प्रयोग मे लाए जाते हैं।

वैद्युद्विश्लेषिक संधारित्र — इसमें दो ऐलुमिनियम (कभी कभी टैंटालम) के इलेक्ट्रोड विद्युत् अपघट्य में डूबे होते है। धारा प्रवाहित होने पर एक अथवा दोनों इलेक्ट्रोडों पर एक (ऑक्साइड की) फिल्म बन जाती है, जो परावैद्युत् का कार्य करती है। यह फिल्म एक दिशा में चालक तथा दूसरी में प्रचालनरोध होती है। इस कारण जब एक ही इलेक्ट्रोड पर फिल्म बने, तो वह ध्रुवित हो जाता है तथा संधारित्र के एक इलेक्ट्रोड को ऐनोड तथा दूसरे को कैथोड मानकर काम मे लाया जाता है। जब दोनों पर फिल्म बने, तो एक अध्रुवीय संधारित्र, जिसकी धारिता ध्रुवीय से आधी होती है, प्राप्त होता है। विद्युत् अपघट्य संधारित्रों से उच्च धारिता प्राप्त हो सकती है। ये सस्ते एवं छोटे आकारवाले होते है। इससे इनका उपयोग बहुतायत से होता है। ध्रुवीय संधारित्र का प्रयोग दिष्ट धारा परिपथ मे तथा अध्रुवीय का प्रत्यावर्ती धारा परिपथ में होता है। विद्युत् अपघट्य गीला भी हो सकता है और सूखा भी। गीले विद्युत् अपघट्यवाले संधारित्र में सोडियम या अमोनिया के बोरेट, फॉस्फेट, साइट्रेट, अथवा सिलीकेट पानी में घुले होते हैं। यह बेलनाकार होता है तथा ऊर्ध्वाधरतः (vertically) लगाया जाता है। सूखे विद्युत्अपघट्यवाले संधारित्र में घोल के स्थान पर जेली होती है। इसमें ऐलुमिनियम की धनपन्नी, ऋणपन्नी तथा विद्युत् अपघट्य जेली, तीनों को एक बेलनाकार रूप में लपेटकर गत्ते अथवा धातु के छोटे से डिब्बे मे रख दिया जाता है। इसको किसी भी दिशा मे लगाया जा सकता है।

(२) **परिवर्ती संधारित्र** — इसमें धातु के प्लेटों के दो क्रम (groups) होते हैं : एक स्थिर होता है तथा दूसरा घूर्णित। परावैद्युत् हवा होती है। घूर्णक क्रम को स्थिर प्लेटों के बीच घुमाने से क्षेत्रफल में परिवर्तन होने के कारण परिवर्ती धारिता प्राप्त होती है। इसका प्रयोग इलेक्ट्रॉनिकी मे समस्वरण (tuning) के लिये बहुतायत से होता है।

सं० ग्रं० — एम० ब्रदरटन : 'कैपैसिटर्स' (१९४६); एफ० ई० टरमन : इलेक्ट्रॉनिक ऐंड रेडियो इंजीनियरिंग (१९५५); ए० शीन गोल्ड : फंडामेटल्स ऑव रेडियो कम्युनिकेशन (१९५५)।

[म० प्र० म०]

विद्युत् संभरण, प्राविधिक दृष्टिकोण से (Electric Supply, Technical Aspects) विद्युत् औद्योगिक विकास की पहली सीढ़ी है और आधुनिक मानव सभ्यता का आधारस्तंभ है। प्राविधिक दृष्टिकोण से विद्युत् संभरण को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है, १. जनन (Generation), २ प्रेषण (Transmission) तथा ३. वितरण (Distribution)।

विद्युत्, वस्तुत:, ऊर्जा का एक प्ररूप है। इसे किसी दूसरे प्ररूप की ऊर्जा में भी परिवर्तित कर सकते हे, जैसे प्रकाश या ऊष्मा मे। ऊर्जा के दूसरे प्ररूपों से विद्युत् शक्ति का जनन किया जा सकता है। यह ऊर्जा चाहे नदी के बहते हुए पानी से प्राप्त हो, अथवा यांत्रिक ऊर्जा के रूप में भाप के टरबाइन या किसी प्रकार के इंजन से प्राप्त हो। रासायनिक अभिक्रियाओं द्वारा प्राप्त ऊर्जा से भी विद्युत् शक्ति प्राप्त की जा सकती है।

नदी मे बाँध बाँधकर जमा किए हुए पानी की स्थितिज ऊर्जा (potential energy) को गतिज ऊर्जा (kinetic energy) मे परिवर्तित कर जलविद्युत् उत्पादन सफल बनाया जाता है। (देखें 'विद्युत्, जल से उत्पन्न')

विद्युत् शक्ति जनन का दूसरा महत्वपूर्ण साधन भाप का टरबाइन, अथवा विभिन्न प्रकार के इंजन हैं। वस्तुत: इनमें कोयला जलाकर प्राप्त होनेवाली ऊष्मा को भाप के द्वारा, अथवा किसी दूसरे साधन द्वारा, यांत्रिक ऊर्जा मे परिवर्तित करते हैं। इस यांत्रिक ऊर्जा द्वारा विद्युत् जनित्र चलाए जाते है और, अतः, विद्युत् शक्ति जनित की जाती है। ऐसे बिजलीघरों को तापीय बिजलीघर (Thermal Power station), अथवा भाप बिजलीघर (Steam Power Station) कहते हैं। ये बिजलीघर सुविधानुसार कहीं भी बनाए जा सकते हैं और इनकी स्थिति केवल कोयले की उपलब्धि तथा उसके परिवहन के साधनों पर निर्भर करती है। इनको यथासंभव उपयोग-

स्थल के निकट बनाया जाता है, जिससे लंबी प्रेषण लाइनों की आवश्यकता नहीं रहती। इनकी पूँजीगत लागत (capital cost) भी पनबिजलीघरों की अपेक्षा बहुत कम होती है। परंतु ईंधन के मूल्य तथा उसके परिवहन मूल्य के कारण ऐसे बिजलीघरों की परिचालन लागत (operating cost) पनबिजलीघरों की अपेक्षा काफी अधिक होती है। पनबिजलीघरों की परिचालन लागत लगभग नगण्य ही होती है, परंतु प्रतिष्ठापन मूल्य बहुत अधिक होता है। अतएव किसी भी बिजलीघर के प्ररूप की योजना बनाने के पहले दोनों प्रकार के बिजलीघरों की औसत लागत, प्रति वर्ष की इकाई के रूप में, ज्ञात कर लेना आवश्यक है और उसी आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

स्थानीय संभरण के लिये छोटे छोटे बिजलीघर डीज़ल इंजनों द्वारा चलनेवाले जनित्रों के भी होते हैं। इनका प्रति एकक मूल्य अधिक होता है। बड़े औद्योगिक स्तर पर विद्युत् के जनन के लिये छोटे बिजली घर आर्थिक रूप से उचित नहीं रहते, तथापि बहुत से स्थानों पर व्यक्तिगत संभरण के लिये ये बहुत उपयोगी होते है। बड़े बड़े तंत्रों में ये आपाती (standby) के रूप में भी प्रयुक्त किए जाते है।

आजकल परमाणु-ऊर्जा का उपयोग भी विद्युत् शक्ति के उत्पादन के लिये किया जा रहा है। पिछले १० वर्षों में, ब्रिटेन, रूस और अमरीका में बहुत बड़े बड़े परमाणवीय बिजलीघरों की स्थापना हुई है और बहुतों की स्थापना होने जा रही है। परंतु परमाणवीय प्रणालियों पर अभी लगातार शोध हो रहे हैं और जो प्रणालियाँ ५ वर्ष पहले अपनाई गई थी, वे आज समय से बहुत पीछे समझी जाती हैं। यद्यपि ऐसे बिजलीघरों के बहुत विशिष्ट लाभ है और सभी देश सामर्थ्य के अनुसार उनकी स्थापना के लिये तत्पर हैं, तथापि आधुनिकतम शोधों को ध्यान में रखते हुए तथा उनकी प्रवर्तन प्रणालियों की जानकारी को समझते हुए, उनकी स्थापना के निश्चय में अत्यंत सावधानी की आवश्यकता है। भारत में भी राणा प्रताप सागर एवं तारापुर में परमाणु बिजलीघर बनाए गए है।

शक्ति के इन सामान्य साधनों के अतिरिक्त बहुत से असामान्य साधन भी प्रयुक्त किए जा रहे हैं, जैसे ज्वार भाटे की अपरिमित शक्ति का विद्युत् जनन के लिये उपयोग एवं सूर्य तथा आँधी की शक्ति का उपयोग, परंतु ये साधन अभी सामान्य उपयोग में नहीं आए है।

जनन के पश्चात् दूसरी महत्वपूर्ण समस्या विद्युत् शक्ति को उसके उपयोगस्थल तक ले जाने की है। यह समस्या भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना विद्युत् शक्ति का जनन। उपयोगस्थल में भार के अनुसार विभिन्न स्थानों में उपकेंद्र (substations) बनाए जाते है, जहाँ बिजलीघर से शक्ति को विद्युत् लाइनों द्वारा प्रेषित किया जाता है और वहाँ से विभिन्न उपभोक्ताओं को वितरित किया जाता है। हो सकता है, उपयोगस्थलों की बिजलीघर से दूरी कई सौ मील हो। जैसा पहले कहा जा चुका है, पनबिजलीघरों के निर्माण में प्राकृतिक साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है, जो सामान्यतः घनी आबादीवाले क्षेत्रों से दूर होते हैं। इसी प्रकार तापीय बिजलीघरों के लिये भी कोयले की उपलब्धि तथा उसके परिवहन की समस्या वस्तुतः उसकी स्थिति का निश्चय करती है। अतएव विद्युत् शक्ति के जननस्थल तथा उपयोगस्थल में पर्याप्त दूरी होने की काफी संभावनाएँ हो सकती हैं। ऐसी दशा में शक्ति को अति उच्च वोल्टताओं पर बड़ी बड़ी लाइनों द्वारा प्रेषित करना होता है। तार का आकार धाराक्षमता की कोटि पर निर्भर करता है। अतः यथासंभव, उच्च वोल्टताओं का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। सामान्य प्रेषण वोल्टताएँ, ६६ किवो०, (K. V.) १३२ किवो०, २२० किवो० तथा ३८० किवो० हैं। इससे उच्च वोल्टताएँ भी प्रयोग की गई है। रूस में अभी हाल में ७०० किवो० की लाइन बनाई गई है और अमरीका में भी कुछ लाइनें ७०० किवो० की बनाई जा रही हैं। भारत में अभी तक उच्चतम वोल्टता ३८० किवो० की है, परंतु अखिल भारतीय ग्रिड (All India Grid) के लिये इससे भी ऊँची वोल्टता का प्रयोग करने पर विचार किया जा रहा है।

विद्युत्संभरण दो मुख्य रूपों में हो सकता है : दिष्ट धारा (Direct Current) एवं प्रत्यावर्ती धारा (Alternating Current) द्वारा। अधिकांश कार्यों के लिये दोनों ही संभरणों का प्रयोग किया जा सकता है। प्रकाश एवं ऊष्मा की अधिकांश प्रयुक्तियाँ दोनों ही संभरणों में प्रयुक्त की जा सकती है, परंतु उद्योग के लिये संभरण के अनुसार विभिन्न मोटरें एवं दूसरी सज्जाएँ प्रयुक्त करनी होती है। दि० धा० एवं प्र० धा० मोटरों की अपनी विशेषताएँ हैं तथा ये बहुत से प्ररूपों में उपलब्ध होते है, जिससे कार्य के अनुसार ही उनका चयन किया जा सकता है।

आर्थिक रूप से प्र० धा० का जनन एवं प्रेषण सस्ता पड़ता है। प्र० धा० जनित्र सापेक्षतया काफी उँची वोल्टताओं पर प्रवर्तन कर सकते हैं। प्रेषण के लिये इसे सुगमता से उच्चतर वोल्टताओं में रूपांतरित किया जा सकता है, जिससे उतनी ही शक्ति के लिये धाराक्षमता कम हो जाती है तथा प्रेषण लाइन के मूल्य में काफी बचत हो जाती है। साथ ही प्रेषणहानियाँ कम होने से प्रेषणदक्षता बढ़ जाती है।

बहुधा उपयोगस्थल की जनित्रस्थल से दूरी कई सौ मील की भी हो सकती है। अतः प्रेषण वोल्टता यथासंभव ऊँची रखनी पड़ती है, जिससे चालक का आकार छोटा हो सके और प्रेषणहानियाँ कम की जा सकें। दि० धा० का उच्च वोल्टता पर जनन प्राविधिक दृष्टिकोण से कठिन होता है तथा उसमें वोल्टता का अल्प से उच्च तथा उच्च से अल्प में परिवर्तन उतनी सुविधा से नहीं किया जा सकता जितना प्र० धा० में। प्र० धा० सापेक्षतया, अधिक ऊँची वोल्टताओं पर जनित की जा सकती है और उसे परिणामित्र (transformers) द्वारा सुगमतापूर्वक, अल्प से उच्च तथा उच्च से अल्प वोल्टताओं में परिवर्तित किया जा सकता है। जनित वोल्टता साधारणतया ११ किवो० तक ही सीमित होती है, और इसे परिणामित्र द्वारा अति उच्च वोल्टता (११० किवो०, २२० किवो० या इससे भी अधिक) में रूपांतरित कर प्रेषित किया जा सकता है। उपयोगस्थल पर इस उच्च वोल्टता को अपचायी (step-down) परिणामित्र की सहायता से फिर अल्प वोल्टता में

 विद्युत् संभरण, प्राविधिक दृष्टिकोण से

रूपांतरित किया जा सकता है। मुख्यतः, इसी सुगमता के कारण प्र० धा० संभरण ही अधिक सामान्य है और जहाँ पहले से दि० धा० संभरण था वहाँ भी आजकल उसको विस्थापित कर प्र० धा० संभरण में परिवर्तित किया जा रहा है।

परिणामित्र, वस्तुतः, एक अत्यंत सरल विद्युत् मशीन है। यह प्रेरण के सिद्धांत पर चालन करता है। इसमें प्राथमिक एवं द्वितीयक दो कुंडलियाँ होती हैं, जिनका आपस में विद्युतया कोई संयोजन नहीं होता। पारस्परिक प्रेरण (mutual induction) के सिद्धांत के अनुसार यदि एक कुंडली में प्रत्यावर्ती वोल्टता आरोपित की जाए, तो दूसरी कुंडली में भी, जो पहली के चुंबकीय क्षेत्र में होती है, एक वोल्टता प्रेरित हो जाती है। यह दोनों कुंडलियों के फेरों की संख्या के अनुपात पर निर्भर करती है। यदि द्वितीयक कुंडली के फेरों की संख्या प्राथमिक से दुगनी हो, तो उसमें प्राथमिक से लगभग दुगनी वोल्टता जनित होगी तथा धारा का परिमाण उसी अनुपात में कम हो जाएगा। उच्च वोल्टता से अल्प वोल्टता में परिवर्तन के लिये, द्वितीयक में लगभग उसी अनुपात में कम फेरे होने चाहिएँ। इस प्रकार परिणामित्रों द्वारा वोल्टता रूपांतरण बहुत सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। परिणामित्रों की चालन दक्षता भी बहुत अधिक होती है। बड़े बड़े आकारों (१०,००० किवो० ऐ० के लगभग) के परिणामित्रों की चालनदक्षता ९९.५ प्रति शत तक हो सकती है। अतएव यह वोल्टता रूपांतरण न केवल सुगमतापूर्वक ही हो सकता है, वरन् साथ ही साथ बिना विशिष्ट हानियों के भी होता है।

सामान्य उपयोग वोल्टता अधिकांश देशों में २२० वोल्ट के लगभग होती है। परंतु मोटर तथा दूसरे औद्योगिक भार इससे अधिक वोल्टता पर चालन करते है। अतः वितरणतंत्र, साधारणतया, ऐसा होता है कि उससे दो विभिन्न वोल्टताओं का संभरण संभव हो सके, जैसे संभरण प्रकाशदीप अथवा पंखे इत्यादि के लिये भी हो सके और साथ ही साथ कुछ ऊँची वोल्टता, मोटर तथा अन्य औद्योगिक भारों के लिये भी हो सके। दि० धा० परिपथ में यह त्रितार प्रणाली द्वारा संभव हो सकता है, जिसमें बाहरी तारों की वोल्टता बीच वाले चालक के सापेक्ष +२२० वोल्ट और −२२० वोल्ट हो। इस प्रकार दोनों बाहरी चालकों के बीच ४४० वोल्ट मिलता है और एक बाहरी तथा मध्य चालक के बीच केवल २२० वोल्ट। अतः विद्युत् दीप और पंखे इत्यादि, जो २२० वोल्ट पर चालन करते हैं, उन्हें एक बाहरी तथा मध्य चालक के बीच संबद्ध किया जा सकता है तथा मोटर इत्यादि दोनों बाहरी चालकों के बीच संबद्ध किए जा सकते हैं। इस प्रकार एक ही संभरणतंत्र से दोनों का अलग अलग वोल्टताओं पर चालन संभव हो सकता है, परंतु इस तंत्र के सफल चालन के लिये मध्य चालक के दोनों ओर भार का संतुलित होना आवश्यक है। इसका ध्यान भार को संबद्ध करते समय ही रखा जाता है। भार का संतुलन करने के लिये संभरणतंत्र में संतुलकों (balancers) की भी व्यवस्था की जाती है, जिससे दोनों ओर भार लगभग बराबर रहे।

प्र० धा० संभरण में दो विभिन्न वोल्टताओं की व्यवस्था त्रिफेज चार तार तंत्र द्वारा की जाती है। मोटर इत्यादि तो तीनों फेज चालकों से संबद्ध किए जाते हैं और बल्ब आदि एक फेज तार तथा न्यूट्रल के बीच। इस तंत्र में भी यथासंभव तीनों फेजों में भार संतुलित रखने का प्रयत्न किया जाता है। फेज तथा न्यूट्रल के बीच २३० वोल्ट की वोल्टता होती है और दो फेज चालकों के बीच, अर्थात् लाइन चालकों के बीच, लगभग ४०० वोल्ट की। वस्तुतः दो लाइनों के बीच की वोल्टता फेज वोल्टता का √३ गुना होती है। इस प्रकार इस तंत्र में भी दो विभिन्न वोल्टताओं की व्यवस्था होती है। मोटर इत्यादि ४०० वोल्ट पर चालन करते हैं और बल्ब तथा पंखे और दूसरी घरेलू विद्युत् युक्तियाँ केवल २३० वोल्ट पर कार्य करती हैं।

अति उच्च प्रेषण वोल्टताओं से उपयोग वोल्टता में रूपांतरण, सामान्यतः, दो क्रमों में किया जाता है। पहले अति उच्च वोल्टताओं को साधारणतया ११ किवो० में रूपांतरित कर लिया जाता है और इसके बाद ११ किवो० की पोषक लाइनें (Feeder Lines) ठीक उपभोगस्थल तक ले जाई जाती हैं, जहाँ उन्हें सामान्य उपयोग वोल्टता २३०/४०० वोल्ट में रूपांतरित किया जाता है। यहाँ से ४०० वोल्ट की अल्प वोल्टता लाइनें भार तक ले जाई जाती हैं। इन लाइनों को वितरक लाइनें (Distributor Lines) कहते हैं और ये सामान्यतः सड़कों के किनारे ले जाई जाती हैं, जहाँ से विभिन्न मकानों को वितरण संयोजन (service connection) दिए जाते हैं।

अति उच्च वोल्टता की प्रेषण लाइनें बड़ी बड़ी मीनारों (towers) पर ले जाई जाती हैं, परंतु मध्यम तथा अल्प वोल्टता लाइनें खंभे (pole) पर आरोपित होती हैं। बहुत से स्थानों में विद्युत् शक्ति का प्रेषण, अथवा वितरण, ऊपरी लाइनों के स्थान पर भूमिगत केबिलों (cables) द्वारा किया जाता है। ऊपरी लाइनें साधारणतया ताँबे के तार की होती हैं, परंतु ऐलुमिनियम और इस्पात संयुक्त ऐलुमिनियम (A C S R.) के तार भी बहुतायत से प्रयुक्त किए जाते हैं। साधारणतया, तार एक ठोस रूप में न होकर बहुत से तारों को एक दूसरे पर ऐंठकर बने होते हैं। ये तार, खंभे अथवा मीनार पर लगे हुए विद्युत्‌रोधी (insulators) के ऊपर बँधे होते है। विद्युत्‌रोधी, साधारणतया, पॉसिलेन के होते है और विभिन्न प्ररूपों के बनाए जाते है। इनका वर्गीकरण वोल्टता के आधार पर होता है। ये चालक को सँभाले रहते हैं और उसे खंभे अथवा मीनार से नहीं छूने देते। इनकी बनावट भी ऐसी होती है कि किसी भी दशा में ये चालक तथा खंभे के बीच किसी प्रकार का भी विद्युत् संस्पर्श नहीं होने देते। उन्हें खंभे पर सीधे ही अथवा कैंची (cross arm) पर लगाने का विन्यास होता है। तारों को उनमें दिए हुए एक खाँचे में रखकर ताँबे के बंधन तार (binding wire) द्वारा बाँध दिया जाता है।

खंभे अधिकतर लोहे की रेल, अथवा गोल नलिकाकार (tubular) प्ररूप के होते हैं। साधारणतया ये २६-३२ फुट ऊँचे होते हैं, जिसमें ५-६ फुट भूमि में गड़ा होता है। लकड़ी के खंभे भी बहुतायस से प्रयुक्त होते हैं, परंतु उन्हें दीमक इत्यादि से बचाने के लिये पहले उपचारित करना आवश्यक होता है। सीमेंट कंक्रीट के खंभे भी बनाए जाते हैं, जो देखने में काफी सुंदर लगते हैं और बड़े नगरों की सड़कों पर विस्तृत रूप से प्रयुक्त होते हैं, परंतु इनका

 विद्युत् संभरण, प्राविधिक दृष्टिकोण से

परिवहन कठिन होने के कारण इन्हें बहुधा लगाने के स्थान पर ही बनाया जाता है।

भूमिगत केबिलों द्वारा प्रेषण एवं वितरण से बहुत प्रकार के दोष एवं कठिनाइयाँ कम हो जाती हैं। परंतु केबिल ऊपरी लाइनों की तुलना में मूल्यवान होते हैं और केवल बड़े नगरों में ही प्रयुक्त किए जाते हैं, जहाँ घनी आबादी के कारण ऊपरी लाइनें ले जाना सुविधाजनक अथवा उपयुक्त नहीं होता। केबिल में ताँबे के एक या अधिक विद्युत्रुद्ध तार होते हैं, जिनके ऊपर संरक्षण के लिये सूत अथवा जूट गुँथा होता है। ये ऊपर से सीसे की नली में बंद रहते हैं, जिससे नमी विद्युत्रोध तक न पहुँच सके। क्षति से बचाने के लिये सबके ऊपर इस्पात की टेप का कवच भी लपेट दिया जाता है और इसलिये ऐसे केबिलों को कवचित केबिल कहते हैं। उच्चतर वोल्टताओं के लिये तेल से भरे केबिल भी प्रयुक्त किए जाते हैं। तेल, वस्तुतः, अच्छा विद्युत्रोधी माध्यम होता है, परंतु ऐसे केबिलों की देखभाल में अधिक परेशानी होती है। अभी तक ४०० किवो० की वोल्टता तक के केबिल प्रयुक्त किए गए हैं।

बड़े बड़े जनित्रों, लाइनों तथा मीनारों के सिवाय विद्युत् संभरण के महत्वपूर्ण अंग बहुत से छोटे छोटे संघटक भी होते हैं, जो नियंत्रण (control) तथा संरक्षण (protection) के काम आते हैं। वस्तुतः, इन्हीं के द्वारा विश्वसनीय संभरण संभव होता है और इसलिये ये किसी भी बड़े संघटक से कम महत्व के नहीं होते। वोल्टता को स्थिर रखने के लिये स्वचालित वोल्टता नियंत्रक (automatic voltage regulator) प्रयुक्त किए जाते हैं। इसी प्रकार भार, शक्ति गुणांक (power factor) तथा आवृत्ति के नियंत्रण के लिये दूरस्थ नियंत्रित (remote controlled) नियंत्रकों की व्यवस्था होती है, जिनकी सहायता से नियंत्रण इंजीनियर (control engineer), नियंत्रण कक्ष (control room) में बैठा तंत्र का नियंत्रण कर सकता है। रक्षण के लिये विभिन्न प्रकार के रिले होते हैं, जो दोष की स्थिति में परिपथ को स्वयं खोल देते हैं और मूल्यवान सज्जा को क्षति से बचाते हैं। अतिभार की दशा में अतिभार रिले (overload relay), भूमिदोष की स्थिति में भूमि लीक रिले (earth leakage relay) तथा इसी प्रकार दूसरे प्रकार के दोषों में विभिन्न प्रकार के रिलेकों की व्यवस्था होती है। ये रिले परिपथ विच्छेदक (circuit breaker) को प्रचालित कर, परिपथ को खोल देने में समर्थ होते हैं। ये साधारणतया बहुत ही द्रुतगामी होते हैं और दोष के होने पर, सेकंड के अंश में ही परिपथ को खोल देते हैं। इनकी व्यवस्था इस प्रकार किया जाता है कि ये केवल दोषी परिपथ को ही खोलें और, जिन प्रभागों में दोष न हो, उन्हें यथासंभव चालू रहने दें। इस प्रकार इनके चालन में विश्वसनीयता के साथ उपयुक्त वरणात्मक (selective) गुण भी रखा जाता है, जिससे दोषी परिपथों के साथ साथ निर्दोष परिपथों को भी बंद न होना पड़े।

परिपथ विच्छेदक भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। अल्प वोल्टता लाइनों के लिये बहुधा वायु विच्छेदक (air break) स्विच ही प्रयुक्त किए जाते हैं, क्योंकि ये सस्ते तथा सरल होते हैं। इनमें एक स्थिर अंशक तथा एक चलन अंशक होता है, जिनके संस्पर्श से परिपथ बंद किया जा सकता है और हटाने से खोला जा सकता है। इनका मुख्य अलाभ यह है कि खोलते अथवा बंद करते समय दोनों संस्पर्शकों के बीच जो चाप (arc) बन जाता है, उसके हानिकारक प्रभावों से बचने की कोई व्यवस्था नहीं होती। स्पष्टतया ऐसे स्विच उच्च वोल्टता लाइनों के लिये नहीं प्रयुक्त किए जा सकते। उनमें प्रयुक्त होनेवाले परिपथ विच्छेदक सामान्यतः तेल प्ररूप के होते हैं, जिनमें परिपथ को तेल के अंदर ही खोला अथवा बंद किया जाता है। इस प्ररूप के परिपथ विच्छेदक में स्थिर और चलन अंशक दोनों ही तेल की टंकी के अंदर होते हैं। तेल अच्छे विद्युत्रोधी माध्यम की व्यवस्था करने के साथ साथ उत्पन्न होनेवाले चाप को भी बुझाने में सहायक होता है और उसके हानिकारक प्रभावों से बचाता है। ऐसा करने के लिये बहुत से परिपथ विच्छेदकों में विशेष व्यवधान भी किए जाते हैं। साथ ही अल्प वोल्टता तथा अतिभार (overload) संरक्षण युक्तियों (protective devices) की भी इन्हीं में ही व्यवस्था कर दी जाती है।

यद्यपि प्र० धा० संभरण ही सामान्य है, तथापि बहुत से विशिष्ट कार्यों के लिये दि० धा० का प्रयोग करना आवश्यक होता है, जैसे बैटरी चार्ज करने के लिये, विद्युत् लेपन के लिये तथा अधिकांश ट्राम एवं लिफ्ट (lift) के चालन इत्यादि के लिये दि० धा० का ही प्रयोग किया जाता है। अतएव प्र० धा० संभरण की दशा में इनके लिये दि० धा० प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है। प्र० धा० का दि० धा० में रूपांतरण बहुत सी युक्तियों द्वारा किया जाता है, जिनमें दिष्टकारी (rectifier), तुल्यकालिक (synchronous) अथवा घूर्णी परिवर्तित्र (rotary convertor) तथा मोटर जनित्र सेट (motor generator set) मुख्य हैं। दिष्टकारियों का प्रयोग ही अधिक सामान्य है, क्योंकि अधिकांश भारों के लिये इनकी दक्षता अधिक होती है और चालन सुगम। साथ ही यह घूर्णी परिवर्तित्र की अपेक्षा सस्ते भी होते हैं और इनके अधिक देखभाल की आवश्यकता भी नहीं होती। शक्ति दिष्टकारी मुख्यतः दो प्ररूप के होते हैं, काँच बल्ब वाले, तथा इस्पात की टंकी वाले। काँच बल्ब वाले दिष्टकारियों में काँच का एक बड़ा बल्ब होता है, जिसकी तली में पारद का ताल होता है तथा ऊपर में ऐनोड (anode) सील किए रहते हैं। त्रिफेज चालन के लिये ऐनोड संख्या ३, ६, अथवा १२ होती है और ये बारी बारी से अपने तथा पारद ताल के बीच में चाप का संधारण करते हैं, और बाह्य परिपथ में दि० धा० उपलब्ध होती है। दि० धा० वोल्टता का परिमाण संभरण की जानेवाली प्र० धा० वोल्टता, फेज संख्या तथा चाप पात (arc drop) पर निर्भर करता है। अतएव दिष्टकारी को प्र० धा० की ओर संभरण करने के लिये एक परिणामित्र की आवश्यकता होती है, जो निर्गत (output) वोल्टता के अनुसार प्र० धा० वोल्टता संभरण कर सके। अतः उसी अनुपात में उसके फेरों की संख्या एवं रूपांतरण अनुपात (transformation ratio) निश्चित किए जाते हैं। दि० धा० वोल्टता

का व्यवस्थापन भी इस परिणामित्र में टैप परिवर्तन (tap changing), अथवा ग्रिड नियंत्रण (grid control) द्वारा, सुगमता से किया जा सकता है। इस्पात की टंकीवाले दिष्टकारियों में काँच के बल्ब के स्थान पर इस्पात की एक टंकी होती है, जिसके कारण वे काफी मजबूत होते हैं और बड़े आकारों में भी निर्माण किए जा सकते हैं। साथ ही इनकी अतिभार क्षमता भी अधिक होती है। दिष्टकारियों द्वारा दि० धा० को प्र० धा० में भी रूपांतरित किया जा सकता है, जिसमें उनका चालन ठीक विपरीत होता है। अतः ये दिष्टकारी प्र० धा० कारी (Inverters) कहलाते हैं।

विद्युत् संभरण वस्तुत एक अनिवार्य सेवा (essential service) है और इसे जन उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखना आवश्यक है। विद्युत् मशीनों एवं दूसरी सज्जा के प्रतिष्ठापन एवं संधारण दोनों में ही यह दृष्टिकोण ध्यान में रखना होता है। यदि किसी नगर का भार ५,००० किलोवाट हो, और वहाँ के बिजलीघर में ५,००० किवा० की केवल एक मशीन ही लगाई जाए, तो उस मशीन में किसी प्रकार दोष हो जाने पर, अथवा मरमत की दशा में उसके बंद किए जाने पर, सारा संभरण ही बंद हो जाएगा। अत, या तो एक के स्थान पर ऐसी दो मशीनें लगानी होंगी, अथवा किसी दूसरे बिजलीघर से ऐसी संकटकालीन अवस्था में बिजली लेने का समुचित प्रबंध करना होगा। व्यक्तिगत शक्ति-कंपनियों के लिये, जन उपयोगिता के दृष्टिकोण से, यह अनिवार्य है कि सामान्य भार के बराबर की शक्ति की मशीनें संकटकालीन अवस्था के लिये अलग रख छोड़ें, जिन्हें अल्पतम समय में व्यवहार में लाया जा सके। बड़ी बड़ी शक्ति योजनाओं में अब यह सामान्य हो गया है कि व्यक्तिगत बिजलीघरों के स्थान पर बहुत से बिजलीघरों को आपस में ग्रिड (grid) के रूप में अंतर्बद्ध कर दिया जाए, जिससे एक बिजलीघर की फालतू शक्ति का दूसरे स्थान पर उपयोग हो सके। ये ग्रिड, सामान्यत, अति उच्च वोल्टताओं पर चालन करते हैं। इनमें तंत्र की वोल्टता एवं आवृत्ति का परिशुद्ध नियमन (regulation) करना अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। संपूर्ण तंत्र में शक्ति का प्रवाह स्वतंत्र रूप से हो सकता है। संपूर्ण तंत्र की संमिलित शक्ति की तुलना में किसी एक बिजलीघर की एक या दो मशीनों की शक्ति नगण्य होती है और यदि वे किसी कारणवश बंद हों, तो तंत्र पर व्यावहारिक रूप से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

स्पष्टतया विद्युत् संभरण एक अत्यधिक महत्वपूर्ण उद्योग है और प्राविधिक दृष्टिकोण से यह मानव की व्यवहारकुशलता का उच्चतम उदाहरण है। केवल स्विच खोल देने मात्र से सारा भवन विद्युत्प्रकाश में जगमगा उठता है, अथवा बड़ी बड़ी मशीनें चलने लगती हैं, परंतु प्राविधिक रूप से विद्युत् संभरण की समस्या इतनी सरल नहीं है जितना उसे उपयोग करना प्रतीत होता है। [रा० कु० ग०]

विद्युत् संभरण, वाणिज्य के दृष्टिकोण से (Electric Supply , Commercial Aspects) वाणिज्य के दृष्टिकोण से विद्युत् संभरण औद्योगिक विकास का महत्वपूर्ण साधन है। वस्तुतः, यह देश की औद्योगिक प्रगति का मापदंड है। आजकल विद्युत् मशीनें इतनी सामान्य हो गई हैं कि ऊर्जा संभरण के दूसरे रूप बहुत कम काम में आते हैं, विशेषतया, जब विद्युत् संभरण उपलब्ध हो। लगभग सभी उद्योगों में अधिकांश मशीनें विद्युत् मोटरों द्वारा चलाई जाती हैं। अधिकांश कारखानों में कोयला अथवा तेल को जलाकर ऊष्मा उत्पन्न करने के स्थान पर, विद्युत् द्वारा ऊष्मा प्राप्त करना उपयुक्त समझा जाता है। प्रकाश के लिये तो विद्युत् का प्रयोग लगभग सार्वत्रिक ही है। इन्हीं कारणों से विद्युत् की माँग दिनों दिन बढ़ती चली जा रही है और विद्युत् संभरण करनेवाला संगठन किसी भी देश का सबसे महत्वपूर्ण संगठन समझा जाता है।

उद्योग में विद्युत् संभरण तीन मुख्य प्रयोजनों के लिये होता है: यांत्रिक ऊर्जा के लिये, ऊष्मा के लिये, एवं प्रकाश के लिये। यांत्रिक ऊर्जा विद्युत् मोटरों द्वारा प्राप्त की जाती है। आजकल अधिकांश मशीनें विद्युत् मोटरों द्वारा ही चलाई जाती हैं। इसका मुख्य कारण विद्युत् मोटरों की सरल बनावट तथा सरल व्यवस्थापन एवं नियंत्रण (regulation) है। साथ ही विद्युत् मोटरें इतने विभिन्न रूपों में, इतनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिये बनाई जा सकती हैं कि किसी भी प्रयोजन के लिये कोई न कोई उपयुक्त विद्युत् मोटर का, जो उस प्रयोजन को वांछनीय रूप में निष्पादित कर सके, चयन किया जा सकता है। इसी प्रकार ऊष्मा प्राप्त करने के लिये विद्युत् भट्ठियों का उपयोग श्रेयस्कर समझा जाता है, क्योंकि इनमें एकसमान ऊष्मा प्राप्त कर सकना अधिक सुगम है और इन भट्ठियों का नियंत्रण सरलता से किया जा सकता है। प्रकाश के लिये विभिन्न प्रकार के विद्युत् लैंप किसी भी स्थिति के लिये सबसे उपयुक्त होते हैं।

विद्युत् संभरण न केवल उद्योग की जीवन शक्ति है, वरन् इसके कारण बहुत से उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। वस्तुतः, विद्युत्-शक्ति की प्रचुर उपलब्धि ही, किसी स्थान के औद्योगिक विकास का सूचक है।

उद्योग में विद्युत् संभरण के दो महत्वपूर्ण साधन हैं: एक तो विद्युत् कंपनी और दूसरा विद्युत् को स्वयं ही जनित करना। यह, वस्तुतः, एक आर्थिक समस्या है और किस स्थिति में क्या करना अच्छा रहेगा, मुख्यत, आर्थिक दृष्टिकोण पर ही निर्भर करता है। यदि विद्युत् कंपनी द्वारा दिया गया संभरण विश्वसनीय तथा उचित दामों पर हो, तो बहुधा विद्युत् का स्वयं जनन करने के झंझट में पड़ना ठीक नहीं समझा जाता। पर बहुत से उद्योग ऐसे भी हैं जहाँ विद्युत् का स्वयं उत्पादन ही सस्ता पड़ता है, विशेषतया, यदि माँग कुछ विशेष रूप की हो और विद्युत् कंपनी उसे उचित प्रस्ताव पर स्वीकार न करे। ऐसी दशा में उद्योग के लिये विद्युत् को स्वयं जनित करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जाता। विद्युत् के स्वयं जनन करने में निवेश लागत लगानी पड़ती है, जिसका ब्याज तथा मूल्यह्रास (depreciation) का भी ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही उसके लिये विशेष प्राविधिक ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, जो छोटी इकाइयों के लिये मँहगा पड़ सकता है। विद्युत् कंपनी से विद्युत्

शक्ति खरीदने में निवेश खर्च के साथ साथ और भी बहुत सी झंझटों से बच जाते हैं तथा सारा ध्यान मुख्य उत्पादन की ओर केंद्रित किया जा सकता है। अतएव समस्या के सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर ही कुछ निर्णय किया जा सकता है।

विद्युत् की दर उसके उपयोग, आवश्यकता, अदायगी क्षमता, स्थिति तथा जन उपयोगिता के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। विभिन्न उपयोगो के लिये दरें विभिन्न होती है, जो उपयोग की प्रकृति पर निर्भर करती हैं। उदाहरणत, उद्योग से निश्चित की जानेवाली दर इस बात पर निर्भर करती है कि वह इतनी अधिक न हो कि उद्योग स्वयं अपने ही बिजलीघर लगाने लग जाएँ। उद्योग द्वारा विद्युत् का स्वयं जनन करने का निश्चय, विद्युत् दर का मुख्य सीमाकारक है। घरेलू उपयोग के लिये दो बाते मुख्यत. ध्यान में रखनी होती है : एक तो उपभोक्ताओं की अदायगी क्षमता तथा दूसरा जन उपयोगिता का दृष्टिकोण। घरेलू उपयोग के भी मुख्यत: दो भाग हैं : प्रकाश एव पंखे का भार और दूसरा शक्ति भार, जिसमें प्रशीतित्र (refrigerator), पप (pump), वातानुकूलक (air conditioner), विद्युत् चूल्हे इत्यादि आते है। इन प्रयुक्तियो मे अधिक शक्ति का उपयोग होने की सभावना होती है और इनके लिये विद्युत् का खर्च, सामान्यत:, कम रखा जाता है, नही तो इनका उपयोग बहुत कम हो जाएगा। विद्युत् कंपनियो को प्रकाश भार का सभरण करने के लिये जो लाइन इत्यादि बनानी पड़ती है, वही शक्ति भार के लिये भी उपयुक्त हो जाती है। इन भारों के होने से माँग बढ़ जाती है, जो अतत: विद्युत् कंपनी के हित मे होती है। विद्युत् के संभरण को लोकप्रिय बनाने के लिये, पहले उसकी माँग उत्पन्न करना आवश्यक है। प्रकाश एवं पंखे के लिये दरे मुख्यत: उपभोक्ताओ की अदायगी क्षमता पर निर्भर करती है और सामान्यत', दूसरे उपयोगों की अपेक्षा ऊँची रहती हैं। वैसे प्रकाश भार की व्यवस्था करने के लिये वितरण तंत्र के रूप में विद्युत् कंपनी को अधिक निवेश खर्च भी करना पड़ता है। साधारणतया, ये भार लाइन क्षमता से बहुत कम होते हैं। साथ ही इन लाइनो की देखभाल के रूप मे भी काफी खर्च होता है। अतएव प्रकाश भार की दरें कुछ ऊँची रखना न्यायसंगत है।

तीसरी प्रकार के भार ऐसे होते है जो मुख्यत. जन उपयोगिता के दृष्टिकोण पर ही आधारित होते है, जैसे जलकल आदि। यदि इनके लिये शक्ति की दर अधिक हो, तो उन्हें पानी की दर भी अधिक रखनी होगी, जो सामान्य जनता की पहुँच के बाहर हो सकती है। अत: ऐसे उपयोगो के लिये बिजली कंपनी न्यूनतम मूल्य पर विद्युत् दे देती है। इसी प्रकार स्कूल तथा अस्पतालो से भी कम मूल्य लिया जाता है।

विभिन्न दरों का अनुमान एक विद्युत् कंपनी के इन आँकड़ों से लगाया जा सकता है :

प्रकाश तथा पंखे		३७ पैसा प्रति यूनिट
घरेलू शक्ति भार		१८ ,, ,, ,,
उद्योग		८ ,, ,, ,,
स्कूल तथा अस्पताल	—	१२ पैसा प्रति यूनिट
जलकल	—	७ ,, ,, ,,

उद्योग में, साधारणतया, विद्युत् की दर केवल उपभोग की हुई शक्ति पर ही निर्भर नहीं करती। प्रतिष्ठापित शक्ति तथा अधिकतम माँग का ध्यान रखना भी आवश्यक है। यदि विद्युत् की दर केवल उपयोग की हुई शक्ति पर ही निर्भर करे, तो हो सकता है, उद्योग में बड़ी बड़ी मशीनें लगी हों, जिन्हे केवल कभी कभी ही चलाया जाए, परंतु वास्तविक उपयोग की जानेवाली शक्ति अधिक न हो। विश्वसनीय सभरण के लिये विद्युत् कंपनी को तो अपनी संस्थापन क्षमता के अनुसार अधिकतम माँग की व्यवस्था करनी पड़ती है। उन्हें अपना स्वय का संस्थापन और सज्जा इसी के अनुसार करनी होती है, जिसपर निवेश खर्च काफी आ सकता है, परंतु वास्तविक उपयोग होनेवाली शक्ति के अनुसार उन्हें मूल्य बहुत कम मिलता है। अत, उद्योग से लिए जानेवाले मूल्य के दो मुख्य घटक होते हैं : एक तो स्थिर संस्थापन मूल्य और दूसरा वास्तविक उपयोग में आनेवाली ऊर्जा का मूल्य। इस प्रकार उद्योग के लिये टैरिफ (tariff) दो भागों में बनाया जाता है और उसे द्विभाग टैरिफ (Two Part Tariff) कहते है। इस टैरिफ का एक भाग तो स्थिर मूल्य (fixed costs) होता है, जो उद्योग की सस्थापन शक्ति अथवा अधिकतम माँग के ऊपर आधारित होता है, और दूसरा भाग प्रचालन लागत (operating costs) है, जो वास्तविक उपयोग में आनेवाली ऊर्जा पर आधारित होता है। अधिकतम माँग प्रदर्शित करने के लिये अधिकतम माँग सूचक (maximum demand indicator) प्रयुक्त किए जाते हैं, जो किसी निर्धारित समय में (सामान्यत. आधा घंटा) अधिकतम माँग प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार किसी भी महीने में उस सस्थापन की अधिकतम माँग ज्ञात की जा सकती है। इस प्रकार का टैरिफ रखने से, उद्योग अपनी अधिकतम माँग को कम करने का प्रयत्न करेगा और विभिन्न मशीनों को इस क्रम में चलाएगा जिससे अधिकतम माँग न बढ़ जाए। इस प्रकार शक्ति का उपभोग सम (equalize) होने की ओर उन्मुख होगा, जो विद्युत् कपनी के हित मे होता है।

विद्युत् संभरण की दूसरी समस्या उद्योगों के कम शक्तिगुणांक पर प्रचालन करने में आती है। यदि शक्ति कम हो, तो उसी शक्ति के लिये किसी निर्धारित वोल्टता पर अधिक धारा ली जाएगी। इसका तात्पर्य है कि अधिक धारा क्षमता की मशीनें तथा उससे संबद्ध सज्जा लगानी होगी, जिसका अर्थ है संस्थापन लागत में वृद्धि। इस प्रकार, शक्तिगुणांक के कम होने पर, उसी शक्ति के लिये संस्थापन लागत बढ़ जाती है। यह भी हो सकता है कि इतने कम शक्तिगुणाक का अनुमान न किया गया हो और सज्जा की धाराक्षमता, उतनी धारा वहन कर सकने योग्य न हो। इस प्रकार, कम शक्तिगुणांक विद्युत् संस्थापनों के लिये महत्वपूर्ण सीमाकारक हो जाता है। इसे प्राविधिक शब्दों में, शक्ति को दो घटकों में बाँटकर व्यक्त किया जाता है: शक्तिघटक, जो वस्तुत: उपयोग में लाई गई शक्ति को प्रदर्शित करता है, और वाटरहित घटक (wattless component), अथवा प्रतिघाती किलो वोल्ट ऐंपीयर (reactive K. V. A.), जो व्यर्थ जानेवाली

शक्ति को प्रदर्शित करता है। इकाई शक्तिगुणांक पर सारी शक्ति वाट घटक के रूप में होती है और जैसे जैसे शक्तिगुणांक कम होता जाता है, वैसे वैसे प्रतिघाती कि० वो० ऐं० बढ़ते जाते हैं। अतः, विद्युत् कंपनी को ऊँचा शक्तिगुणांक रखना अनिवार्य हो जाता है। इसके लिये वह दो उपाय कर सकती है. पहला, स्वयं शक्तिगुणांक सुधारक का प्रयोग और दूसरा उद्योग को कम शक्तिगुणांक पर प्रचालन न करने देने के उपाय करना। इसके लिये विद्युत् संभरण की शर्तें ऐसी रखी जाती हैं कि उद्योग के लिये कम शक्ति गुणांक पर प्रचालन करना लाभदायक न हो। इसके लिये या तो बिजली कंपनियाँ कम शक्तिगुणांक पर एक अतिरिक्त कर लगा दें, अथवा ऊँचे शक्तिगुणाक के लिये दरों में कटौती कर दें। यह भी हो सकता है कि बिजली कंपनियाँ शक्ति का मापन ही किलोवाट के आधार पर न करके किलोवोल्ट ऐंपीयर के आधार पर करें। इस प्रकार, टैरिफ ऐसा बनाया जाता है कि उद्योग को निर्धारित से कम शक्तिगुणाक पर प्रचालन करने में हानि हो। अतः या तो उद्योग कम शक्तिगुणांकवाली सज्जा का उपयोग ही नहीं करेंगे, अथवा शक्तिगुणांक सुधार के लिये अलग सज्जा लगाएँगे। जहाँ बहुत से प्रेरण मोटर कार्यशील हों, वहाँ शक्तिगुणांक कम होने की संभावना होती है, विशेषतया यदि वे पूर्ण भार पर प्रचालन न करें। अतएव उद्योग की ओर से पहला प्रयत्न तो यह होगा कि सभी मोटर यथासंभव पूर्ण भार पर परिचलन करे (जिससे विद्युत् कंपनी को अव्यक्त रूप से लाभ होता है) तथा अन्य दूसरी मशीनो मे प्रेरण मोटर को न प्रयुक्त कर उसके स्थान पर तुल्यकालिक मोटर (synchronous motor) का प्रयोग करें, जिससे संपूर्ण भार का ही शक्तिगुणांक सुधारा जा सके, अथवा संधारित्र का प्रयोग करके ही शक्तिगुणाक को सुधारें।

बिजलीघर संस्थापित करने से पहले, विद्युत् का उत्पादन मूल्य तथा संभावी लाभांशो की गणना करना भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना स्वयं संस्थापन। किसी भी बिजलीघर संस्थापन का आधार भार सर्वेक्षण (load survey) है। परंतु भार भी बहुत सी दशाओं में परिस्थिति और संभावी विद्युत् की दरों पर निर्भर करता है। उपयुक्त दरों द्वारा, विद्युत् संभरण, उद्योग को प्रोत्साहन देने का सरलतम साधन है। यदि विद्युत् संभरण की दर कम रखी जाए, तो वर्तमान उद्योगों के अतिरिक्त दूसरे उद्योग भी खुलने लगेंगे और वर्तमान उद्योग अपनी सारी आवश्यकताओं को विद्युत् द्वारा ही पूरी करने लगेंगे। इस प्रकार वर्तमान भार के आधार पर बिजलीघर के संस्थापन का परिकलन करना नासमझी होगी। सामान्यतः, पाँच वर्ष बाद संभावी भार के आधार पर परिकलन किया जाता है। बहुधा यही देखा गया है कि भार अनुमान से बहुत शीघ्र ही बढ़ जाता है। अतएव बिजलीघर के संस्थापनों के अभिकल्प करते समय, यह बात ध्यान में रखना बहुत महत्वपूर्ण है और विस्तार की योजना भी पहले ही बना लेनी चाहिए।

परिस्थितियों के अनुसार ही भार में काफी परिवर्तन आ सकते हैं। भारों की प्रकृति में भी बहुत विभिन्नता पाई जाती है। प्रकाशभार, मुख्यतः, संध्या के समय होता है, उद्योगभार दिन के समय तथा इसी प्रकार विभिन्न भार विभिन्न समयों में हो सकते हैं. अथवा यह कहिए कि उनकी मात्रा में काफी अंतर आ सकता है। यदि किसी भार के विचरण को समय के अनुसार ग्राफ पर अनुरेखित कर लिया जाए, तो जो वक्र प्राप्त होगा उसे भारवक्र (Load curve) कहते हैं। भारवक्र, समय के साथ भार का उतार चढ़ाव प्रदर्शित करता है। विभिन्न प्ररूप के भारों के दैनिक भारवक्र खींच लिए जाते हैं और फिर एक ग्राफ पर एक दूसरे को अध्यारोपित कर संपूर्ण भार का भारवक्र खींच लिया जाता है। इसी प्रकार मासिक भारवक्र तथा वार्षिक भारवक्र भी प्राप्त कर लिए जाते हैं। इन तीनों के आधार पर ही तंत्र का भारविचरण निश्चित किया जाता है। हो सकता है, भार सारे महीने, अथवा सारे वर्ष उसी प्रकार से विचरण न करे। ऋतुओं के अनुसार भी यह परिवर्तन होता है। अतएव सभी भारवक्रों का खींचना आवश्यक है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है : यह आवश्यक नहीं है, कि एक उद्योग में सभी मशीनें एक साथ कार्य करें। इस प्रकार संस्थापन क्षमता के आधार पर भार का निश्चय नहीं किया जा सकता। अनुभव के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक प्ररूप के भार के एक साथ कार्य करने की कितनी संभावना है। उदाहरणतः यदि एक मकान में २० विद्युत् लैंप हों, तो सामान्यतः उनमें से ८–१० से अधिक एक साथ नहीं जलाए जाएँगे। इस प्रकार अनुभव के आधार पर सभी प्ररूपों के भार के लिये एक गुणक निश्चित किया जाता है, जिसे विभिन्नता गुणक (Diversity Factor) कहते हैं। यह संस्थापनक्षमता और अधिकतम भार का अनुपात होता है। यदि विभिन्नता गुणक २ है, तो इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी प्ररूप के भार की संस्थापनक्षमता १०० किवा० हो, तो विद्युत् कंपनी अपना परिकलन ५० किवा० के आधार पर कर सकती है, क्योंकि एक समय में संभवतः आधे से अधिक मशीनें कार्य नहीं करेंगी, अर्थात् आधे से अधिक भार नहीं होगा।

भारवक्रों को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि सभी भार सभी समय पूर्ण क्षमता पर प्रचालन नहीं करते। इस प्रकार विद्युत् के संभरण की संस्थापनक्षमता तथा वास्तविक भार में काफी अंतर आ जाता है। यदि किसी समय वास्तविक भार पूर्ण क्षमता के बराबर हो जाए, पर अधिकांश समय काफी काम रहे, तो इसमें विद्युत् संभरण के लिये संस्थापनक्षमता तो अधिक रखनी पड़ेगी, परंतु पूर्णतया उसका उपयोग न हो सकेगा। इसका अंततः परिणाम यह होगा कि उत्पादन मूल्य बढ़ जाएगा। यह भी एक गुणक के रूप मे, जिसे भार गुणक (Load Factor) कहते हैं, व्यक्त किया जाता है।

$$\text{भार गुणक} = \frac{\text{व्यक्तिगत अधिकतम माँगों का उपयोग}}{\text{तंत्र की अधिकतम माँग}}$$

अधिकांश बिजलीघरों का भारगुणक ६० प्रति शत से अधिक नहीं होता। कम भारगुणक होने का तात्पर्य है कि बिजलीघर की पूर्ण क्षमता का उपयोग नहीं हो पा रहा है। अतएव विद्युत् कंपनियाँ अपना भारगुणक बढ़ाने के लिये भरसक प्रयत्न करती है। मुख्यतः, वे उद्योगों को ऐसे समय में प्रचालन करने के लिये प्रोत्साहन देती है जब उनका भार सामान्यतः कम होता

है। ऐसा करने के लिये उद्योगों को बाध्य तो नहीं किया जा सकता, परंतु आर्थिक प्रोत्साहन दिया जा सकता है। संभरण के मूल्य में ऐसी शर्त लगाई जा सकती है, जिससे विद्युत् कंपनी की सुविधा के अनुसार उद्योग चलाने में आर्थिक लाभ हो। उदाहरणतः यदि किसी विद्युत् कंपनी का भार दिन में बहुत अधिक हो और रात में बहुत कम, तो वह उद्योगों के विद्युत् के संभरण में यह शर्त लगा सकती है कि यदि वे रात में प्रचालन करें, तो उन्हें निर्धारित दरों में कुछ छूट मिल सकती है। इस शर्त के कारण यदि आर्थिक लाभ होता है, तो उद्योगपति यह प्रयत्न करेंगे कि वे अपने उद्योगों को रात में चलाएँ। इस प्रकार विद्युत् उपभोग का समाकरण करने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे उनकी भार क्षमता में अधिक ऊर्जा का उपभोग हो सके। अधिक ऊर्जा का उपभोग होने से विद्युत् कंपनी की आमदनी बढ़ जाएगी और उसे अंततः प्रति यूनिट मूल्य कम करना संभव हो सकेगा।

बिजली की दर निश्चित करने के लिये, पहले उत्पादनव्यय का परिकलन करना आवश्यक है। इस परिकलन में बिजलीघर का संस्थापन खर्च एवं प्रचालन लागत (operating costs) का परिकलन किया जाता है। संस्थापन खर्च में बिजलीघर के भवन तथा उसकी सज्जा एवं उपकरणों का मूल्य आता है। इसे निवेश लागत (Investment Cost) भी कहते हैं। प्रचालन लागत में कोयले अथवा ईंधन का मूल्य, उसका परिवहन एवं भंडार लागत (transportation and storage cost), कर्मचारियों का वेतन तथा आकस्मिक व्यय आते हैं। प्रति यूनिट मूल्य निकालने के लिये निवेश लागत को प्रति वर्ष के आधार पर परिकलित किया जाता है, जिससे बिजलीघर की क्षमता के अनुसार प्रति किवा० खर्च निकाला जा सके। सभी खर्चों को वस्तुतः दो घटकों में व्यक्त किया जा सकता है : १. स्थिर घटक अथवा स्थिर लागत (fixed costs), जो उत्पादित शक्ति पर निर्भर नहीं करते वरन् बिजलीघर की क्षमता पर निर्भर करते हैं। इसके अंतर्गत बिजलीघर की निवेशन लागत एवं कुछ स्थिर खर्च आते हैं, जैसे पट्टा अथवा बीमे का खर्च। यदि बिजलीघर एक बड़ी कंपनी का अंग हो, तो केंद्रीय कंपनी के संस्थापन खर्च तथा निरीक्षण एवं शोध के खर्च का अंश भी उसे वहन करना पड़ता है। यह खर्च भी खर्च का स्थिर घटक ही समझा जा सकता है। इन सभी खर्चों को प्रति वर्ष खर्च के रूप में आँका जाता है। निवेश लागत को प्रति वर्ष व्यय के रूप में परिकलन करने के लिये निवेश के ऊपर ब्याज एवं मूल्यह्रास (depreciation) का परिकलन किया जाता है, जो वस्तुतः कंपनी में लगाई गई पूँजी को वार्षिक रूप में व्यक्त करता है। दूसरे खर्च भी वार्षिक आधार पर व्यक्त कर लिए जाते हैं और वर्ष भर में उत्पादित ऊर्जा पर प्रति यूनिट खर्च निकाल लिया जाता है।

उपभोक्ताओं की देय दरों को निर्धारित करने के लिये, उत्पादन लागत (production costs) में प्रेषण एवं आवंटन, अथवा वितरण का खर्च भी जोड़ना आवश्यक है। इनपर केवल वास्तविक खर्च ही नहीं, वरन् उनमें होनेवाली हानियों का परिकलन कर उनका मूल्य लगाना भी आवश्यक है। इसके उपरांत लाभांश निश्चित कर, देय दरों को निर्धारित किया जाता है।

प्रति यूनिट मूल्य में कमी करने के लिये, न केवल परिचालन लागत में बचत करना आवश्यक है, वरन् बिजलीघर की अधिकतम क्षमता के अनुरूप अधिकतम उत्पादन करना भी आवश्यक है। यदि किसी बिजलीघर की अधिकतम क्षमता १०,००० किवा० है, परंतु औसत से केवल आधी ही उपयोग में आ रही हो, तो स्पष्टतः प्रति यूनिट खर्च भी अधिक होगा। यदि उसकी तीन चौथाई क्षमता का उपयोग होने लगे, तो प्रति यूनिट खर्च में भी कमी आ जाएगी। बचत के इस महत्वपूर्ण कारण को प्राविधिक रूप में व्यक्त करने के लिये, औसत उत्पादन शक्ति को भारगुणक के रूप में व्यक्त किया जाता है :

$$\text{भार गुणक} = \frac{\text{औसत उत्पादन}}{\text{अधिकतम उत्पादन क्षमता}}$$

सभी विद्युत् कंपनियाँ, यथासंभव, अधिकतम भारगुणक पर प्रचालन करने का प्रयत्न करती हैं। इसके लिये वे उपभोक्ताओं को सामान्यतः इस प्रकार के लिये प्रोत्साहन देती हैं कि उद्योग अपने अधिकतम भार के लिये अधिक से अधिक ऊर्जा का उपभोग करें, जिससे विद्युत् कंपनी अपनी भारक्षमता के अंदर ही अधिक ऊर्जा का उत्पादन कर सके। इससे कंपनियों का प्रति यूनिट खर्च घट जाता है और अततः उपभोक्ताओं की दरें भी घटाई जा सकती हैं।

उद्योग के लिये बिजली की दर अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। उद्योग अच्छे से अच्छे उत्पादन और कम से कम मूल्य के आधार पर ही चल सकता है। अधिकांश उद्योग विद्युत् को ही चालक शक्ति के रूप में प्रयोग करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि विद्युत् का संभरण विश्वसनीय रूप में और कम से कम खर्च में हो। देश का औद्योगिक भविष्य इस महत्वपूर्ण चालक शक्ति के वाणिज्यिक दृष्टिकोण की सफलता पर निर्भर करता है। [रा० कु० ग०]

विद्युन्मृत्यु मृत्युदंड देने की विधि है, जिसका उपयोग पहली बार न्यूयॉर्क में ६ अगस्त, १८९० ई० को हुआ था। माना जाता है कि इस विधि में मृत्यु बिना कष्ट के तत्काल होती है। इसके प्रारूपिक उपकरण में २,३०० वोल्ट, एककलावस्था (single phase), ६० आवर्तिक (cycle) प्रत्यावर्ती धारा का एक प्रेरण वोल्टता (induction voltage) नियंत्रक और स्वपरिणामित्र (autotransformer) होता है। साथ ही आवश्यक स्विच और मीटर होते हैं। यह संयंत्र विद्युन्मृत्यु कुर्सी को, जिसपर दंडित व्यक्ति को बैठाया जाता है, २,००० वोल्ट की धारा प्रदान करता है और उसके सीने, भुजाओं, उरुसंधि, टखने और पिंडली के बीच के पतले भाग को पट्टे से सुरक्षित रूप से बाँध दिया जाता है। उसके सिर के लिये टेक की व्यवस्था होती है और चेहरे पर नकाब डाली जाती है। नम, स्पंज-रेखित (sponge lined) और समुचित रूप से ढले इलेक्ट्रोडों को सिर और एक पैर की पिंडली पर पट्टे द्वारा कसकर बाँध देते हैं। प्रारंभ में २,००० वोल्ट धारा का आघात दिया जाता है और फिर इसे तुरंत घटाकर ५०० वोल्ट कर दिया जाता है। ३० सेकंड के अंतर पर दो मिनट तक धारा को घटाया बढ़ाया जाता है। इस बीच चार से आठ ऐंपियर तक की धारा प्रवाहित की जाती है।

स्विच खोल दिए जाते हैं और आधिकारिक डाक्टर शरीर की परीक्षा करके उसे कानूनन मृत करार देता है। विद्युन्मृत्यु के दौरान व्यक्ति तत्क्षण निश्चेत हो जाता है, अतः मरने की क्रिया बिना कष्ट के पूरी होती है। धारा के प्रथम संपर्क में ही परिसंचरण और श्वसन बंद हो जाते हैं। देर तक धारा के अनुप्रयोग से जैव क्रियाओं का स्थायी अपविन्यास (derangement) हो जाता है और उनमे पुनरुज्जीवन की कोई संभावना नहीं रह जाती। मृत्यु के कुछ मिनट बाद तक मेरुदंड और पैर पर बँधे इलेक्ट्रोड के निकट १२०° से १२८° फारेनहाइट तक, या इससे भी अधिक ताप पाया जाता है। [नि० नं० गु०]

विधि आयोग (Law Commission, लॉ कमीशन) विधि संबंधी विषयों पर महत्वपूर्ण सुझाव देने के लिये राज्य सरकार आवश्यकतानुसार आयोग नियुक्त कर देती है; इन्हें विधि आयोग कहते है। भारत में भूतकाल मे चार आयोग कार्य कर चुके हैं, पंचम आयोग ५ अगस्त, १९५५ को बना। इसका भी कार्य प्रायः समाप्त हो चुका है।

प्रथम आयोग १८३३ के चार्टर ऐक्ट के अंतर्गत सन् १८३४ में बना। इसके निर्माण के समय भारत ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन मे था किंतु विधि पारित करने के लिये कोई एकमेव सत्ता न थी, न्यायालयो का अधिकारक्षेत्र अस्पष्ट एव परस्पर स्पर्शी था तथा कुछ विधियों का स्वरूप भी भारत के प्रतिकूल था। इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए लार्ड मैकाले ने ब्रिटिश पार्लमेंट मे भारत के लिये एक विधि आयोग की निर्मिति पर बल दिया।

प्रथम आयोग के चार सदस्य थे जिसमे मैकाले अध्यक्ष थे। इस आयोग को वर्तमान न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र एवं नियमावलि, तथा ब्रिटिश भारत में प्रचलित समस्त विधि के विषय में जाँच करने, रिपोर्ट देने और जाति, धर्मादि को ध्यान में रखकर उचित सुझाव देने का कार्य सौपा गया।

सर्वप्रथम इस आयोग का ध्यान आपराधिक विधि की ओर आकर्षित हुआ। बंगाल तथा मद्रास में इस्लामिक दंडविधि प्रचलित थी जो अपने आदिमपन एवं अविचारिकता के कारण सर्वथा अनुपयुक्त थी। मैकाले के पथप्रदर्शन में प्रथम आयोग ने भारतीय दंडसंहिता का प्रारूप प्रस्तुत किया किंतु कारणवश उसे विधि का रूप न दिया जा सका।

भारत का सिविल ला भी अस्तव्यस्त दशा में था। उसपर दी गई रिपोर्ट, जिसे देशीय विधि (लैक्स लोसाइ) रिपोर्ट नाम दिया गया, अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी गई किंतु वह गहन विवाद का विषय बनी रही। उसका केवल एक खंड ही पारित हुआ—जाति निर्योग्यता निवारक विधि। मैकाले के अवकाशप्राप्त होते ही यह आयोग भी निष्क्रिय हो गया।

द्वितीय आयोग की नियुक्ति १८५३ ई० के चार्टर के अंतर्गत हुई। इसे प्रथम आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रारूपों, एवं न्यायालय तथा न्यायप्रक्रिया के सुधार हेतु आयोग द्वारा दिए गए सुझावों का परीक्षण कर रिपोर्ट देने का कार्य सौंपा गया। इस आयोग के आठ सदस्य थे।

अपनी प्रथम रिपोर्ट में आयोग ने फोर्ट विलियम स्थित सर्वोच्च न्यायालय एवं सदर दीवानी और निजामत अदालतों के एकीकरण का सुझाव दिया, प्रक्रियात्मक विधि की संहिताएँ तथा योजनाएँ प्रस्तुत कीं। इसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रांतों और मद्रास तथा बंबई प्रांतों के लिये भी तृतीय और चतुर्थ रिपोर्ट में योजनाएँ बनाईं। फलस्वरूप १८५९ ई० में दीवानी व्यवहारसंहिता एवं लिमिटेशन ऐक्ट, १८६० में भारतीय दंडसंहिता एवं १८६१ में आपराधिक व्यवहारसंहिता बनीं। १८६१ ई० में ही भारतीय उच्च न्यायालय विधि पारित हुई जिसमें आयोग के सुझाव साकार हुए। १८६१ में दीवानी संहिता उच्च न्यायालयों पर लागू कर दी गई। अपनी द्वितीय रिपोर्ट में आयोग ने संहिताकरण पर बल दिया, किंतु साथ ही यह सुझाव भी दिया कि हिंदुओं और मुसलमानों के वैयक्तिक कानून को स्पर्श करना बुद्धिमत्तापूर्ण न होगा। यह कार्य फिर एक शताब्दी के बाद ही संपन्न हुआ। इस आयोग की आयु केवल तीन वर्ष रही।

तृतीय आयोग की नियुक्ति का प्रमुख कारण द्वितीय आयोग का अल्पायु होना था। सीमित समय में द्वितीय आयोग कार्य पूर्ण न कर सका था। तृतीय आयोग १८६१ मे निर्मित हुआ। इसके संमुख मुख्य समस्या थी मौलिक दीवानी विधि के संग्रह का प्रारूप बनाना। तृतीय आयोग की नियुक्ति भारतीय विधि के संहिताकरण की ओर प्रथम पग था।

आयोग ने सात रिपोर्टें दीं। प्रथम रिपोर्ट ने आगे चलकर भारतीय दाय विधि १८६५ का रूप लिया। द्वितीय रिपोर्ट में था अनुबंध विधि का प्रारूप, तृतीय में भारतीय परक्राम्यकरण विधि का प्रारूप, चतुर्थ में विशिष्ट अनुतोष विधि का, पंचम में भारतीय साक्ष्य विधि का एवं षष्ठ में संपत्ति हस्तांतरण विधि का प्रारूप प्रस्तुत किया गया था। सप्तम एवं अंतिम रिपोर्ट आपराधिक संहिता के संशोधन के विषय मे थी। इन रिपोर्टों के उपरांत भी उन्हें विधि का रूप देने में भारतीय शासन ने कोई तत्परता नहीं दिखाई। १८६९ में इस विषय की ओर आयोग के सदस्यों ने अधिकारियों का ध्यान आकर्षित भी किया। किंतु परिणाम कुछ न निकला। इसी बीच सदस्यों तथा भारत सरकार के मध्य अनुबंध विधि के प्रारूप पर मतभेद ने विकराल रूप ले लिया, फलत. आयोग के सदस्यो ने असंतोष व्यक्त करते हुए त्यागपत्र दे दिया और इस प्रकार तृतीय आयोग समाप्त हो गया।

चतुर्थ आयोग के जन्म का भी मुख्य कारण तृतीय आयोग के समान द्वितीय आयोग की द्वितीय रिपोर्ट थी। भारत सरकार ने अनेक शाखाओं के विधि प्रारूप का कार्य विटली स्टोक्स को सौंपा था जो १८७९ ई० में पूर्ण किया गया। इसकी पूर्ति पर सरकार ने एक आयोग इन विधेयकों की धाराओं का परीक्षण करने तथा मौलिक विधि के शेष अंगों के निमित्त सुझाव देने के लिये नियुक्त किया। यही था चतुर्थ आयोग। इसकी जन्मतिथि थी ११ फरवरी, १८७९ और सदस्य थे विटली स्टोक्स, सर चार्ल्स टर्नर एवं रेमन्ड वेस्ट।

इस आयोग ने नौ मास में अपनी रिपोर्ट पूर्ण कर दी। उसने कहा कि भारत में विधिनिर्माण के लिये आवश्यक तत्वों का अभाव है अतएव मूल सिद्धांत आंग्ल विधि से लिए जायें किंतु यह आगमन सीमित हो ताकि वह भारत की विरोधी परिस्थितियों में उपयुक्त एवं उपयोगी हो, संहिताओं के सिद्धांत विस्तृत, सादे एवं सरलतया समझ में आ सकनेवाले हों। विधि सर्वत्र अभिन्न हो, तथा विकृति विषयक विधि का निर्माण हो।

इन सिफारिशों के फलस्वरूप व्यवस्थापिका सभा ने १८८१ ई० में परक्राम्य करण, १८८२ में न्यास, संपत्ति हस्तांतरण और सुखभोग की विधियों तथा १८८२ में ही समवाय विधि, दीवानी तथा आपराधिक व्यवहार संहिता का संशोधित संस्करण पारित किया। इन सभी संहिताओं में बैथम के सिद्धांतों का प्रतिबिंब झलकता है। इन संहिताओं को भारत की विधि को अस्पष्ट, परस्परविरोधी तथा अनिश्चित अवस्था से बाहर निकालने का श्रेय है। चारों आयोगों के परिश्रम से ही प्रथम आयोग के समुख उपस्थित किया गया कार्य संपन्न हो सका।

५ अगस्त, १९५५ को पंचम आयोग की घोषणा भारतीय संसद में हुई। इसका कार्य पूर्व आयोगों से भिन्नता लिए हुए था। उनका मुख्य कार्य था नवनिर्माण, इसका था संशोधन। इसके अध्यक्ष थे श्री सीतलवाड और उनके अतिरिक्त १० अन्य सदस्य थे।

इसके समक्ष दो मुख्य कार्य रखे गए। एक तो न्याय शासन का सर्वतोमुखी पुनरवलोकन और उसमें सुधार हेतु आवश्यक सुझाव, दूसरा प्रमुख केंद्रीय विधियों का परीक्षण कर उन्हें आधुनिक अवस्था में उपयुक्त बनाने के लिये आवश्यक संशोधन प्रस्तुत करना। प्रथम समस्या पर अपनी चतुर्दश रिपोर्ट में आयोग ने जाँच के परिणामस्वरूप उत्तम विचार व्यक्त किए। इस रिपोर्ट में आयोग ने सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय, तथा अधीन न्यायालय, न्याय में विलंब, वादनिर्णय, डिक्री निष्पादन, शासन के विरुद्ध वाद, न्यायालय शुल्क, विधिशिक्षा, वकील, विधिसहायता, विधि रिपोर्ट, एवं न्यायालय की भाषा आदि महत्वपूर्ण विषयों पर मत प्रगट किए।

अपने कार्य के दूसरे पक्ष में विधि आयोग ने अनेक प्रतिवेदन अब तक प्रस्तुत किए हैं। यह सभी अत्यंत खोजपूर्ण और महत्वपूर्ण हैं। जिन विषयों पर अब तक रिपोर्ट आ चुकी हैं उनमें प्रमुख हैं दुष्कृति में शासन का दायित्व, बिक्रीकर संबंधी संसदीय विधि, उच्चन्यायालयों के स्थान से संबंधित समस्या, ब्रिटिश विधि जो भारत में लागू है, पंजीकरण विधि १९०८, भागिता विधि १९३२ एवं भारतीय साक्ष्य विधि, इत्यादि।

सं० ग्रं० — बी० के० आचार्य : कोडिफिकेशन इन ब्रिटिश इंडिया; रेन्किन : बैकग्राउंड टु इंडियन ला; एम० पी० जैन : इंडियन लीगल हिस्ट्री; रिपोर्ट्स — ला कमीशन (पाँचवाँ)।

[श्री० कि० श०]

विधि और जनमत विधि (लॉ) सामाजिक नियंत्रण की क्रिया है। यह नियंत्रण आचार व्यवहार के वे अधिकृत नियम हैं जो सामाजिक जीवन में सहज सुविधा और सुलभ शांति प्रस्तुत कर उसकी रूपरेखा निर्धारित करते हैं। विधि मनुष्यकृत है, उसकी सुविधा हेतु साधन मात्र है, कोई दैवी अथवा बाह्य तथ्य नहीं। फलतः मनुष्य विधि के लिये नहीं वरन् विधि मनुष्य के लिये है—यद्यपि विधि समाज को नियंत्रित करती है, तथापि यह नियंत्रणबंधन समाज की इच्छा के अनुसार होता है। समाज की सामूहिक इच्छा सामाजिक नियंत्रीकरण में हर देश काल में किसी न किसी रूप में सदा एक मान्य शक्ति रही है। जनमत वह संगठित शक्ति है जो समाज के सतत मान्य परंपरागत आदर्शों और अनुभूतियों का प्रतिरूप होती है एवं उस समाज की तात्कालिक भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करती है। जनमत प्रवैगिक और स्थैतिक दो प्रकार का होता है। प्रवैगिक जनमत परंपरागत रूढ़ियों तथा आदर्श और व्यवहार पर आधारित होता है, स्थैतिक जनमत स्थायी भावना उद्गारों एवं उनके विज्ञापन से संबंधित होता है। इसलिये प्रति दिन निरंतर नया रूप धारण करता रहता है, धर्म की पुकार, अनन्य साहस का आकर्षण या प्रेरणात्मक साहित्य का लालित्य देश काल के अनुसार समय समय पर जनमत बनाने में सहायक या साधन रूप रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के यंत्रयुग में पत्रकारिता जनमत को मुखरित करने में मुख्यत. भागी है। यह अकाट्य सत्य है कि सामाजिक संस्थाओं का निर्माण समाज के विश्वास और अनुभूतियों पर निर्भर रहा है। विधि सामाजिक सुविधा हेतु नियंत्रणप्रणाली होने के नाते एक सामाजिक संस्था है। इसी कारण विधिसंचालक अथवा विधिकार सदा जनमत से बल प्राप्त करते है। विधि के संपर्क में जनमत का अभिप्राय है लोक सजगता एवं सतर्कता जो विधि का औचित्य संतुलित कर यह निश्चित कर सके कि कौन विधिनियम हितकारी है और निर्मित करने योग्य है और कौन विधिनियम लोक हितकारी नहीं है इसलिये निष्कृत कर देने योग्य है। इस जाग्रत अवस्था का जनमत विधि का आधार होना चाहिए। किंतु ऐसा प्रायः होता नहीं, बहुधा त्रुटिपूर्ण जनमत विधि का आधार होता है। ऐसे भ्रमात्मक जनमत का कारण कभी अज्ञान और कभी भय दोनों ही होते है—जैसे प्राचीन काल में दासप्रथा की विधि जनमत पर अवश्य निर्मित थी किंतु यह जनमत त्रुटिपूर्ण, अज्ञान और भय मिश्रित आधार था। ऐसे मत को वास्तविक अर्थ में जनमत कहना ही व्यर्थ है। सजग जिज्ञासापूर्ण मत ही वास्तविक जनमत है जो विधि के संबंध में क्रियात्मक हो सकता है। इसका अभाव प्राय. इसलिये होता है कि हर देश या समाज में इतनी तार्किक सजगता नहीं होती। अधिकतर मनुष्य चिंतन द्वारा नही वरन् रूढ़िगत अभ्यासों और भावनाओं द्वारा कार्य करते है। ऐसी स्थिति में बौद्धिक विवेचना के लिये स्थान ही नही होता—बहुधा ऐसे भी दृष्टांत मिलते हैं जहाँ विधिनिर्माण अथवा परिवर्तन जनसाधारण के बहुमत के नितांत विरुद्ध हुए हैं। यह विधिनियम एक या कुछ थोड़े से व्यक्तियों की चेष्टा से निर्मित हुए। कहीं यह इसलिये संभव हुआ कि इन गिने चुने व्यक्तियों या एक व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना ओजपूर्ण था कि वह प्रभावशाली बना, कहीं संपूर्ण समाज का इतना दुर्बल स्तर था कि वे सफल हो गए। भारत में ब्रिटिश राज्य में भारतीयों के प्रति हानिकारक विधियों का निर्माण होता रहा, इसका कारण देश की सामूहिक दुर्बलता थी। तुर्किस्तान में कमाल पाशा अतातुर्क ने अकेले विधिसंचालन किया जो देश की भावनाओं के विरुद्ध था, उसका कारण उसका निजी व्यक्तित्व था। इतना

अवश्य है कि अधिकतर ऐसे व्यक्तियों को देश का जनमत न प्राप्त होते हुए भी काल का या युग का मत प्राप्त होता है। इस युगकालीन बहुमत के आधार पर ही इनकी विधिरचना सफल हो पाती है। अब्राहम लिंकन के साथ दक्षिणी अमरीका के भूस्वामी नहीं थे किंतु युग की वाणी थी, जिसके बल पर दासप्रथा मिटाने की विधि वह बना सके। अनुभव से ज्ञात होता है कि युग की वाणी या शताब्दी का जनमत देश या स्थान के जनमत से अधिक प्रभावशील, शक्तिमान् और क्रियात्मक होता है। यह कदापि संभव नहीं कि देश, काल दोनों के बहुमत के विरोध में कोई विधिनिर्माण सफल हो सके। भारत के इतिहास में अति विद्वान् और अति असफल सम्राट् मोहम्मद तुगलक का दृष्टांत इस बात का द्योतक है। उसके सुधार अति मौलिक थे, किंतु देश और काल दोनों के बहुमत से परे थे इसीलिये वे असफल हुए। प्रायः देश में समुचित प्रतिनिधित्ववाले विधानमंडल की अनुपस्थिति भी विधि में जनमत का अभाव उत्पन्न कर देती है। ऐसी स्थिति विद्रोहात्मक होती है। फ्रांस और अमरीका दोनों देशों में इसी प्रकार उचित प्रतिनिधित्वयुक्त विधानमंडल के अभाव के कारण जनमत के विरुद्ध विधिनिर्माण होता रहा जिसका अंत विद्रोह और विप्लव में हुआ। इन दृष्टांतों से सिद्ध है कि अनेक स्थितियों में, वास्तविक अर्थ में, जनमत विधि का आधार नहीं भी होता।

इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि यथार्थ में किसी भी समाज में सामाजिक जीवन में क्रियाशील भाग लेनेवाले व्यक्ति पूर्ण समुदाय नहीं, थोड़े से लोग ही होते हैं। विधिनिर्माण में इन्हीं का मत प्रभावात्मक होता है। वैसे इस सक्रिय समूह को अगणित अक्रिय सामाजिक इकाइयों का सदा भय बना रहता है कि कहीं इनकी कोई चेष्टा उस बृहत् जनसमाज की मान्यताओं के इतने विरुद्ध न हो कि वह विद्रोह कर उठे। अतएव साधारणतया जिस जनमत के आधार पर विधिरचना होती है वह सामाजिक शासकों के बौद्धिक चिंतन और जनसाधारण के मनोभावों का एक अद्भुत मिश्रण या समझौता सा होता है। इस समझौते का रूप निश्चय ही दोनों वर्गों की निजी शक्ति पर निर्भर करता है। ब्रिटेन की जनसाधारण चेतना इतनी सजग थी कि नई तिथिपत्री तक का विरोध हुआ और भारत में ब्रिटिश राज्य में भारतीयों के विरुद्ध बनी किसी विधि का अथवा स्वराज्य में भारतीय परंपरा के नितांत विरुद्ध बनी विवाह, संयुक्त परिवार और दत्तक अधिकार संबंधी विधि का भी विरोध नहीं हुआ। इसका कारण केवल भारतीय जनसाधारण की अक्रियात्मक सुप्त मनोदशा है। यहाँ पुनः इन विधियों के मूल में देश का नहीं युग के जनमत का बल स्पष्ट है।

प्रश्न का दूसरा रूप यह भी है कि अनेक कारण और प्रेरणाएँ एक ओर अपना महत्व रखती हैं और मनुष्य की निजी स्वार्थ प्रेरणा दूसरी ओर अपना प्रभाव और महत्व रखती है। व्यक्ति ही विधिकार होते हैं और विधिरचना के समय उनका स्वभाव मनुष्य का ही होता है, वीतरागी का नहीं। इतिहास इसका साक्षी है कि आदिकाल से विधिनियमों में व्यक्तिविशेष या समूहविशेष का हित और स्वार्थ सदा अंकित रहता है। विधिकार अपने निजी समूह विशेष का हित लक्ष्य रूप बना लेता है। मध्यकालीन शताब्दी युग भूस्वामियों का था, उस काल की विधिरचना में भूस्वामियों के हित पूर्णतया सुरक्षित हैं। उपनिवेशों और परतंत्र भागों की विधि में श्वेत वर्ग के स्वार्थरक्षक नियम हैं। यह समूह कभी सामाजिक और कभी राजनीतिक वर्ग के होते हैं जिनके वश में विधिरचना होती है किंतु इन समुदायों का निजी स्वार्थ का दृष्टिकोण भी तत्कालीन वातावरण, एवं युग की वाणी के अनुरूप ही होना स्वाभाविक है। अतएव अंत में विधि का रूप सदा किसी न किसी प्रकार युग, काल अथवा देश के वातावरण और मतानुकूल ही निर्धारित होता है तथा यह स्पष्टतया सिद्ध है कि विधि का आधार जनमत ही है।

[रा० कु० अ०]

विधिक वृत्ति (Legal Profession) विधि का स्वरूप और निर्माण स्वभावतया विधिकारों से संबद्ध और संतुलित होता है। विधि का रूप तभी परिष्कृत एवं परिमार्जित हो पाता है जब उस देश की विधिक वृत्ति पुष्ट और परिष्कृत होती है। प्राचीन आदियुग में समाज की संपूर्ण क्रियाशक्ति मुखिया के हाथ में होती थी। तब विधि का स्वरूप बहुत आदिम था। ज्यों ही न्यायप्रशासन व्यक्ति के हाथ से समुदायों के हाथ में आया कि विधि का रूप निखरने लगा, क्योंकि अब नियम व्यक्तिविशेष की निरंकुश मनोवांछाएँ नहीं, सार्वजनिक सिद्धांत के रूप में होते। विधि के उत्कर्ष में सदा किसी समुदाय की सहायता रही है। मध्य एशिया में सर्वप्रथम न्यायाधीशों, धर्मप्रधान देशों में धर्मपंडितों, मिस्र और मेसोपोटामिया में न्यायाधीशों, ग्रीस में अधिवक्ताओं और पंचों, रोम में न्यायाधीशों, अधिवक्ताओं एवं न्यायविशेषज्ञों, मध्यकालीन ब्रिटेन और फ्रांस में न्यायाधीशों, अधिवक्ताओं एवं एटर्नी तथा भारत में विधिपंडितों ने सर्वप्रथम विधि को समुचित रूप दिया। प्रत्येक देश का क्रम यही रहा है कि विधिनिर्माण क्रमशः धर्माधिकारियों के नियंत्रण से स्वतंत्र होकर विधिकारों के क्षेत्र में आता गया। विधिविशेषज्ञों के शुद्ध बौद्धिक चिंतन के संमुख धर्माधिकारियों का अनुशासन क्षीण होता गया। आरंभ में व्यक्ति न्यायालय में स्वयं पक्षनिवेदन करते थे, किसी विशेषज्ञ द्वारा पक्षनिवेदन की प्रथा नहीं थी। विधि का रूप ज्यों ज्यों परिष्कृत हुआ उसमें जटिलता और प्राविधिकता आती गई, अत: व्यक्ति के लिये आवश्यक हो गया कि विधि के गूढ़ तत्वों को वह किसी विशेषज्ञ द्वारा समझे तथा न्यायालय में विधिवत् निवेदन करवाए। कभी व्यक्ति की निजी कठिनाइयों के कारण भी यह आवश्यक होता कि वह अपनी अनुपस्थिति में किसी को प्रतिनिधि रूप में न्यायालय में भेज दे। इस प्रकार वैयक्तिक सुविधा और विधि के प्राविधिक स्वरूप ने अधिवक्ताओं (ऐडवोकेट्स) को जन्म दिया। पाश्चात्य एवं पूर्वी दोनों देशों में विधिज्ञाताओं ने सदा से समाज में, विद्वान् होने के कारण, बड़ा संमान प्राप्त किया। इनकी ख्याति और प्रतिष्ठा से आकृष्ट होकर समाज के अनेक युवक विधिज्ञान की ओर आकर्षित होने लगे। क्रमशः विधिविशेषज्ञों के शिष्यों की संख्या में वृद्धि होती गई और विधिसंमति प्रदान करने के अतिरिक्त इनका कार्य विधिदीक्षा भी हो गया। फलस्वरूप इन्हीं के नियंत्रण में विधि-शिक्षा-केंद्र स्थापित हुए। विधि संमति देने अथवा न्यायालय में अन्य का प्रतिनिधि बन पक्षनिवेदन करने का यह पारिश्रमिक भी लेते थे। क्रमशः यह एक उपयोगी व्यवसाय बन गया। आरंभ में

धर्माधिकारी तथा न्यायालय इस विधिक व्यवसाय को नियंत्रित करते थे किंतु कुछ समय पश्चात् व्यवसाय तनिक पुष्ट हुआ तो इनके अपने संघ बन गए, जिनके नियंत्रण से विधिक वृत्ति शुद्ध रूप में प्रगतिशील हुई। विधिक वृत्ति मे सदा दो प्रकार के विशेषज्ञ रहे - एक वह जो अन्य व्यक्ति की ओर से न्यायालय में प्रतिनिधित्व कर पक्षनिवेदन करते, दूसरे वह जो न्यायालय में जाकर अधिवक्तृत्व नही करते किंतु अन्य सब प्रकार से दावे का विधि-दायित्व लेते। यही भेद आज के सौलिसिटर तथा ऐडवोकेट में है। विधिक वृत्ति की प्रगति की यह रूपरेखा प्राय. सब देशो मे रही है।

रोमन विधिक वृत्ति

वैधानिक सुविधा और विधि की जटिलता को लक्ष्य कर रोम मे विधिविशेषज्ञों से विधिसम्मति लेने की प्रथा स्थापित हुई। विधिज्ञाता अपने उच्चतर ज्ञान द्वारा जनसाधारण की सहायता करते। चतुर विधिज्ञाता वादी या प्रतिवादी एक पक्ष को विधि के अनुकूल वक्तव्य रटा देते, वह उन्ही शब्दों मे न्यायालय में अपना पक्ष निवेदन करता। इस सहायता के लिये यह पारिश्रमिक भी लेते। रोमन युवक इस व्यवसाय की ओर आकृष्ट हुए और विधि का अध्ययन करने लगे। ३०० ई० पू० के पार्श्वकाल में विधिविशेषज्ञ वादी या प्रतिवादी को वक्तव्य लिखकर देने के स्थान पर उनके प्रतिनिधि बन न्यायालय में उनका पक्ष निवेदित करने लगे। सिसरो इसी प्रकार के एक प्रमुख अधिवक्ता थे। प्रमुख अधिवक्ताओं के संसर्ग में रहनेवाले युवक विधिशिक्षा ग्रहण करते। इन वैयक्तिक शिक्षा केंद्रो मे यह विशेषज्ञ सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनो प्रकार की शिक्षा देते अतएव यह अधिवक्ताओं के स्रष्टा भी थे। इन वैयक्तिक शिक्षाकेंद्रों के अतिरिक्त यूरोप और मध्य यूरोप मे अन्य विधिशिक्षा केंद्र स्थापित हुए। एथेंस, एलग्जांड्रिया, कुस्तुनतुनिया तथा बेरूत मे ५ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ऐसे केंद्रो का वर्णन मिलता है। शिक्षाकेंद्रों के प्रादुर्भाव के साथ ही यह नियम भी बना कि अधिवक्ता पद ग्रहण करने के लिये इन केंद्रो मे निश्चित काल की उपस्थिति एवं प्रमाणपत्र अनिवार्य है। यह अवधि कही चार तथा कही पाँच वर्ष तक निर्धारित थी। ओटोमन साम्राज्य काल की समृद्धि मे इटली, पेविया, मिलान इत्यादि मे विधिक वृत्ति की शिक्षा होती रही। बारहवी शताब्दी में रेनासाँ के साथ रोम की विधिशिक्षा की पुनर्जाग्रति हुई तथा समस्त यूरोप मे विधिक वृत्ति के शिक्षालय निर्मित हुए।

फ्रांस में

फ्रांस मे भी अधिवक्ता और विधि सहायक दो प्रकार के विधिवृत्तिकार थे। तेरहवी शताब्दी से अधिवक्ताओं ने प्रतिनिधि रूप मे पक्षनिवेदन आरंभ कर दिया था। चौदहवीं शताब्दी में अधिवक्ता इतने लोकप्रिय हो गए थे कि इनको पक्षनिवेदन की विधिवत् स्वीकृति मिल गई और इनके नियंत्रणार्थ राज्य द्वारा एक विधि नियम बना। इसके अनुसार इन्हे सद्व्यवहार की शपथ ग्रहण करनी पड़ती तथा राज्य को कुछ कर देना पड़ता। इन्हें उचित पारिश्रमिक लेने की अनुमति प्राप्त थी। साधारणतया अब सब न्यायालयों में अधिवक्ताओं द्वारा ही पक्षनिवेदन किया जाता। अधिवक्ता संघ भी थे जो कालांतर मे इतने शक्तिसंपन्न हुए कि अधिवक्ता वृत्ति का व्यवहार संचालन और नियंत्रण करने लगे। केवल इनके सदस्यों को ही पक्षनिवेदन करने का एकाधिकार प्राप्त था।

इंग्लैंड में

इंग्लैंड में तेरहवी शताब्दी में शुद्ध विधिक वृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। इससे पूर्व विधिक वृत्ति धार्मिक संस्थाओं से संबधित थी। अधिवक्ता और विधि सहायक का भेद यहाँ भी विद्यमान था। आरंभ में न्यायालय की विशेष अनुमति प्राप्त कर ही अधिवक्ता द्वारा पक्षनिवेदन किया जाता; क्रमश: यह साधारण व्यवहार बन गया। एडवर्ड प्रथम के काल से अधिवक्ता के विरुद्ध पक्ष के प्रति असावधानी तथा धोखे का दावा चल सकता था। कामन ला अधिवक्ता तथा धार्मिक संस्थाओं के अधिवक्ताओं मे भेद किया गया तथा उन्हे कामन ला न्यायालयो मे विशेष अवसरों के अतिरिक्त वक्तृत्व का अधिकार नहीं रहा। ईयर बुक के अनुसार तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी मे ही देश मे अधिवक्ता समुदाय समुचित रूप धारण कर चुका था तथा इंग्लैंड की विधिप्रणाली की मुख्य शक्ति था। इसी समय इनके दो भेद हुए, सार्जेंट तथा अप्रेंटिस। जो राज्य की ओर से दावों मे पक्षनिवेदन करते वे सार्जेंट (राज्यसेवक) कहलाए, दूसरे अप्रेंटिस माने गए। सार्जेंट को अप्रेंटिस से अधिक सुविधाधिकार प्राप्त थे। ईयर बुक संभवत. इन्हीं की संपादित है। अधिवक्ता और पक्षों के बीच एक समझौता होता, जिसका प्रवर्तन न्यायालय मे विधिवत् असावधानी या किसी अन्य दोष के लिये हो सकता था। अधिवक्ता संघ 'इन' कहलाते। मुख्य के नाम थे, लिंकन इन, ग्रेज इन, दि इनर टेंपल, दि मिडिल टेंपल। इन संघो में इंग्लैंड की विधि की शिक्षा दी जाती जो विश्वविद्यालयो में नही मिलती थी। अतएव ये विधि व्यवसाय के शिक्षालय भी थे। इनमे सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती। पंद्रहवी शताब्दी तक ये संघ पुष्ट हो चुके थे। शिष्यों को अधिवक्तृत्व का प्रमाणपत्र देने का इन्हे एकाधिकार प्राप्त था। इन्ही की आज्ञा से अटर्नी पक्षनिवेदन के अधिकार से वंचित हुए। यह भेद आज के सौलिसिटर तथा अधिवक्ता में विद्यमान है, प्रथम सौलिस्टर तथा दूसरा बैरिस्टर के नाम से प्रचलित है। इंग्लैंड की विधिक वृत्ति का एक विशेष रूप यह है कि जहाँ अन्य यूरोपीय देशों मे विधिशिक्षा, शिक्षालयों द्वारा नियंत्रित हुई, यहाँ विधि वृत्ति संघों ने विधिशिक्षा का दायित्व ग्रहण कर इसे नियंत्रित किया। अतएव इंग्लैंड मे विधि धार्मिक अंकुश से स्वाधीन हो शुद्ध रूप में प्रगतिशील हो पाई।

भारत की स्थिति

भारतीय आर्य परंपरा के अनुसार आदिकाल से विधिपूर्ण न्याय की अपेक्षा की जाती थी। न्यायकारी के रूप में राजा सर्वदा विधि-आबद्ध होता। ऋग्वैदिक काल में पुरोहित, विधिज्ञाता, एवं धर्मसूत्रकाल में विधिपंडितों एवं उनकी सभाओं की सहायता से न्यायप्रशासन होता। गौतमसूत्र में इस प्रकार का विधिज्ञाता प्राड्विवाक के नाम से वर्णित है जिसने संभवत: क्रमश: न्यायाधीश का रूप लिया। बृहस्पति का कथन है कि न्यायालय के समक्ष त्रुटिपूर्ण याचिका अस्वीकृत हो जाती। इससे स्पष्ट है कि

विधि का रूप बहुत कुछ प्राविधिक हो चुका था तथा न्याय कार्य मे विधिविशेषज्ञों की सहायता आवश्यक थी। किंतु यह विधि-सहायक राज्य द्वारा नियुक्त होते तथा समाज में यह एक प्रमुख व्यवसाय था किंतु आधुनिक अधिवक्ता का परिचय इस काल में नहीं मिलता। विधिक प्रतिनिधि द्वारा पक्षनिवेदन की प्रथा नहीं थी। न्यायालयों मे राजकीय विधिपंडित, तथा समाज मे विधि-ज्ञाता होते, जिनसे विधिक सहायता लेने की प्रथा अवश्य थी। बहुधा यह पारिश्रमिक भी लेते।

यवनों (विदेशियों) के आगमन के पश्चात् न्यायप्रशासन यवन या मुसलिम प्रथा के अनुसार होने लगा। यवन प्रथा के अनुसार भी स्पेन, तुर्किस्तान, ईरान में इस्लाम राज्य के प्रारंभ में अधिवक्ता की प्रथा नहीं मिलती। काजी, मुफ्ती, मुज्तहिद विधिज्ञाता होते, जिनकी सहायता से कुरान एवं इज्मा के अनुकूल न्याय किया जाता। सुबुक्तगीन, महमूद गजनी तथा मोहम्मद गोरी ने यही प्रथा भारत में प्रचलित की। इब्नबतूता के कथनानुसार तुगलक काल में वकील का वर्णन मिलता है। अकबर के राज्यकाल मे वकील प्रथा थी या नहीं, इसपर मतभेद है। इनका वर्णन वैसे फिखए फीरोजशाही तथा फतवा ए आलमगीरी में है। औरंगजेब के राज्यकाल मे वकील प्रथा थी, यह प्रमाणित है। नियम था कि दोनों पक्षों की तथा उनके वकीलों की अनुपस्थिति मे दावा अस्वीकृत हो जाता। इतिहासकार बादौनी, राय भरजानी नामक एक हिंदू वकील का वर्णन करता है। सर टामस रो ने भी इस काल में वकील प्रथा होने की बात की पुष्टि की है। ईस्ट इंडिया कंपनी के कई दावों में वकीलों द्वारा पक्षनिवेदन का वर्णन प्राप्त होता है। भारत के अंतिम स्वतंत्र शासक बहादुरशाह के समय मे ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति को चतुर अधिवक्ता होने के लिये वकालत खाँ की पदवी दी गई थी। औरंगजेब के काल से ही वकील (अधिवक्ता) राजकीय तथा साधारण दोनों प्रकार के होते थे। राजकीय अधिवक्ता वकील-ए-सरकार तथा साधारण अधिवक्ता वकील-ए-शहरा कहलाते थे। वकील-ए-सरकार को एक रुपया प्रति दिन वेतन मिलता था। यह आवश्यक था कि सब अधिवक्ता वकालतनामा लेकर ही पक्षनिवेदन करें।

तत्पश्चात् ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में विशेष प्रदेशों में अधिवक्ता संबंधी रेग्यूलेशन धाराएँ बनीं। सर्वप्रथम १७९३ ई० में बंगाल, बिहार, उड़ीसा में लार्ड कार्नवालिस के उद्योग से विधिक वृत्ति व्यवस्थित हुई। इस धारा के अनुकूल इनकी शपथप्रणाली, निश्चित पारिश्रमिक, वकालतनामे द्वारा ही पक्षनिवेदन का अधिकार एवं सदर दीवानी अदालत द्वारा अधिवक्तृत्व की सनदप्राप्ति, सब बातें निश्चित हुईं तथा वकील एवं मुख्तार दोनों को अधिवक्तृत्व का अधिकार प्राप्त हुआ। १८०३ ई० में उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रदेशों में विधिक वृत्ति का नियम बना। १८०२ में मद्रास तथा १८०२ और १८२७ में बंबई प्रांत में इसी प्रकार के रेग्यूलेशन नियम बने। सब प्रदेशों के लिये सार्वजनिक रूप से विधिक वृत्ति का नियंत्रण सर्वप्रथम १८४६ ई० में विधिनियम द्वारा हुआ। इसके अनुसार पूर्व नियम के विरुद्ध केवल हिंदू, मुसलमान ही नहीं किसी धर्म का अनुयायी भी अधिवक्ता हो सकता था एवं बैरिस्टरों को सुप्रीम कोर्ट के अतिरिक्त सदर अदालतों में भी पक्षनिवेदन की अनुमति प्राप्त हुई। किंतु यह केवल कंपनी के न्यायालयों से संबंधित था। १८६५ ई० में विधिनियम द्वारा प्लीडर, मुख्तार, रेवेन्यू प्रतिनिधि विधिवत् रूप से अधिवक्तृत्व के अधिकारी हुए। १८७९ में इसका संशोधन हुआ तथा हाइकोर्ट को अधिवक्ताओं को सनद देने तथा उससे वर्जित करने का अधिकार प्राप्त हुआ। १९२३ ई० मे स्त्रियों को अधिवक्ता होने का अधिकार स्पष्ट हुआ। अंत मे देश के समस्त एवं विभिन्न श्रेणियों के अधिवक्ताओं में समानता लाने के हेतु १९२६ में इंडियन बार काउंसिल ऐक्ट पास हुआ। वर्तमान काल में बैरिस्टर सोलिसिटर (एटर्नी), वकील, प्लीडर, मुख्तार, रेवेन्यू एजेंट अधिवक्तृत्व के अधिकारी हैं। इनका नियंत्रण इनके अधिवक्ता संघ, बार काउंसिल, तथा देश के विशेष नियमों एवं अधिनियमों द्वारा होता है। अन्य देशों की भाँति यहाँ भी निजी सुविधा एवं विधि प्राविधिकता के कारण अधिवक्ता का जन्म हुआ। किंतु यहाँ तीन प्रेसीडेंसी टाउन के अतिरिक्त सालिसिटर की प्रथा कहीं नहीं मिलती।

विधिक वृत्ति आरंभ में न्यायालय में विधि के गूढार्थ को स्पष्ट करने के सहायतार्थ थी। आज भी इसका मुख्य कार्य यही है। इसके अतिरिक्त आज अधिवक्ता केवल विधिविशेषज्ञ नहीं, समाज के निर्देशक भी हैं। आधुनिक समाज का स्वरूप एवं प्रगति मुख्यत: विधि द्वारा नियंत्रित होती है, और विधानसभाओं द्वारा निर्मित विधि केवल सैद्धांतिक मूल नियम होती है, उसके शब्दजाल को व्यवस्थित कर जो स्वरूप चाहे अधिवक्ता उसे प्रदान करते हैं। अतएव विधि का व्यावहारिक रूप अधिवक्ताओं के हाथों ही निर्मित होता है, जिसके सहारे समाज प्रगति करता है—विधिक वृत्ति आधुनिक समाज का मुख्य आधार स्तंभ है।

सं० ग्रं०—इंसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज; आर० बी० पाल : इवोल्यूशन ऑव एंशेंट इंडियन ला; बशीर अहमद : ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑव जस्टिस इन मेडीवल इंडिया; एम० उल्ला : ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑव जस्टिस ऑव मुस्लिम इंडिया; के० सी० चक्रवर्ती : दी लीगल प्रैक्टीशनर्स ऐक्ट; सर तेजबहादुर सप्रू (संपादक) : इंसाइक्लोपीडिया ऑव दी जेनरल ऐक्ट्स ऐंड कोड्स ऑव इंडिया। [रा० कु० अ०]

विधिक व्यक्तित्व (Legal Personality) विधि या कानून एककों को मुकदमा चलाने या जिनपर मुकदमा चलवाने की सुविधा देता है, उन्हें विधिक व्यक्तित्व प्राप्त होता है। विविध संस्थाओं को बहुत समय पूर्व से ऐसा व्यक्तित्व प्राप्त था। विधिक व्यक्तित्व की प्रथा का उदय प्राचीन रोम में हुआ। वैसे ग्रीस (५९४ ई० पू०), फिनीशिया (६०० ई० पू०) तथा बेबीलोनिया (२२०० ई० पू०) में भी यह प्रचलित थी।

विधिक व्यक्तित्व सब व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सब मुकदमा चलाने या चलवाने के योग्य नहीं होते। प्राचीन काल में विदेशियों को ऐसे कोई अधिकार नहीं दिए जाते थे और दासों को तो चल संपत्ति ही माना जाता था। शिशुओं और पागलों का तो अब भी सीमित व्यक्तित्व होता है। न्यूयॉर्क के विध्यनुसार जन्म कैदवाला कैदी एक प्रकार से मृत ही माना जाता है। दूसरी ओर

कुछ समाजों में गर्भस्थ शिशु को भी विधिक व्यक्तित्व मिल जाता है। कुछ में मानवसमूह को या फर्म को या मूर्ति जैसे निर्जीव पदार्थ को भी यह व्यक्तित्व प्रदान कर दिया जाता है। मध्य युग तक तो पक्षी और पशु भी यूरोप मे अपराधी के रूप में विधि द्वारा दंडित किए जाते थे।

इंग्लैंड में १३वीं और १४वीं शताब्दी से ही काउंटी, बरो, हंड्रेड, मेनोर, मर्चेंट गिल्ड, ट्रेडिंग गिल्ड, डीन इत्यादि विधिक व्यक्तित्व रूप में विकसित होने लगे। प्रसिद्ध लेखक ब्रेक्टन के समय सामूहिक व्यक्तित्व (कोरपोरेट पर्सनेलिटी) का विचार पूर्णत: स्पष्ट नहीं था, किंतु कुक के समय तक यह निश्चित हो गया था कि एक सस्थान सामान्य विधि (कॉमन लॉ) या संसदीय संविधि, शाही घोषणापत्र अथवा अधिकार भोग (प्रेस्क्रिप्शन) द्वारा स्थापित किया जा सकता है

इंगलिश विधि ने संस्थाओं को संघात (एग्रीगेट) संस्थान तथा एकक (सोल) संस्थान में वर्गीकृत किया है। संघात संस्थान सहजीवी व्यक्तियों द्वारा निर्मित संस्था है और एकक संस्थान, उत्तराधिकारी व्यक्तियो का संयोजित क्रम है। पहले प्रकार के संस्थान का एक उदाहरण जाइंट स्टाक कंपनी है और दूसरे प्रकार का पार्सन। एकक संस्थान की अपेक्षा संघात संस्थान को अधिक अधिकार प्रदान किए गए है। एकक संस्थान का संबोध (यूरोप के) महाद्वीपीय विधि में स्थान न पा सका यद्यपि उसके द्वारा अन्य दो प्रकार के संस्थानों को मान्यता दी गई जो एंग्लो सेक्सन विधि द्वारा मान्य नहीं है।

भारत के व्यापारिक संस्थानों के, जिनमें सहकारी समितियों को छोड़कर बैंकिंग, बीमा और वित्तीय संस्थान संमिलित हैं, संयोजन (इन्कारपॉरेशन), नियामन (रेगुलेशन) और समापन (वाइंडिंग अप) की शक्तियाँ संसद् मे निहित है। इसी प्रकार अन्य संस्थानों की स्थापना भी जिनका कार्यक्षेत्र एक से अधिक राज्यो में फैला हो, संसद् द्वारा ही होती है। उपर्युक्त संस्थानो के अतिरिक्त अन्य सस्थान राज्यो द्वारा भी स्थापित किए जा सकते हैं। राष्ट्रपति और राज्यपाल के अध्यादेशों द्वारा भी सस्थान स्थापित किए जा सकते हैं।

विधिक व्यक्तित्व की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिये कई दार्शनिक सिद्धात प्रस्तावित किए गए है। सेविनी और सामंड ने कल्पना (फिक्शन) सिद्धांत प्रतिपादित किया। उनका कहना था कि मानव के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं मे व्यक्तित्व की उपस्थिति कल्पना मात्र है। समूह में अस्तित्व की वास्तविकता होती है किंतु दार्शनिक दृष्टि से उसमे वास्तविक व्यक्तित्व नहीं होता। इस प्रकार केवल कल्पना स्वरूप ही राज्य, सस्थान, संस्थाएँ, प्रतिमाएँ इत्यादि अधिकारभोक्ता बने।

रियायत (कंसेशन) सिद्धात कल्पना सिद्धांत का ही एक भिन्न रूप है और कल्पना सिद्धात के कई प्रतिपादकों ने भी इसका समर्थन किया है। इसकी यह मान्यता है कि विधिक व्यक्तित्व का उदय विधि के माध्यम से ही होता है। इसलिये संस्थान को विधिक व्यक्तित्व राज्य की विधि द्वारा ही प्राप्त होता है, स्वतंत्र रूप से नहीं।

कोष्ठक (ब्रैकेट) सिद्धात के अनुसार संस्थान के सदस्य अधिकार और कर्तव्य के भोक्ता है, किंतु सुविधा के लिये संस्थान के संदर्भ में ये अधिकार कर्तव्य समझे जाते है। इस प्रकार सभी सदस्यों के अधिकार कर्तव्यों के सस्थान 'कोष्ठक' में रख दिया जाता है। किंतु वस्तुस्थिति के ठीक बोध के लिये यह आवश्यक है कि इस कोष्ठक को हटाया जाय। हिस्सेदारों और कंपनी के सारूप्य को अस्वीकार कर यह सिद्धात न्यायालयो को समूह का पर्दा हटाकर वास्तविक हितो को देखने की शक्ति प्रदान करता है। स्वेक फॅ मॉर्गन के सिद्धांत के अनुसार भी केवल मानव ही व्यक्तित्व रखते हैं। इस सिद्धांत का समर्थन बेकर और ब्रिज ने भी किया। यह सिद्धात एक प्रकार से रियायत और कल्पना सिद्धातों की स्थिति को ही प्रतिपादित करता है। इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि व्यक्तित्व किसी समूह के सदस्यों को नहीं दिया जाता वरन् यह किसी उद्देश्य और कार्य को प्राप्त होता है।

यथार्थवादी अथवा आंगिक (ऑर्गेनिक) सिद्धांत अन्य सब सिद्धातो से विचारोत्तेजक है। इसे गियर्के ने प्रवर्तित किया। मेटलेंड इसका समर्थक था। यह सिद्धात इस बात पर जोर देता है कि सामूहिक व्यक्तित्व भी उतना ही वास्तविक है जितना सामान्य प्राणियों का। सामूहिक व्यक्तित्व न तो कल्पना है और न ही यह राज्यप्रदत्त रियायत। यह इस बात को भी अस्वीकार करता है कि संस्थान के सदस्य अधिकारकर्तव्यो के वाहक है। संस्थान स्वय मे वास्तविक व्यक्ति है। इसकी उत्पत्ति वैयक्तिक अनुबंधो के आधिक्य से नहीं होती वरन् वह विधिक व्यक्तित्व की रचना के निमित्त किए गए सामूहिक एकवाही प्रयास से होती है। यह सामूहिक प्रयास वैयक्तिक इच्छाशक्तियो को संघात स्वरूप प्रदान करता है जिससे सामूहिक व्यक्तित्व का उदय होता है। इसमे कार्य करने की योग्यता एवं निजी इच्छाशक्ति होती है। इस सारी प्रक्रिया का विश्लेषण करते समय, लगता है गियर्के रूसो के वैयक्तिक इच्छाशक्ति और सामान्य इच्छाशक्ति के संबंधो से प्रभावित हुआ है। गियर्के शरीर से समूह की उपमा देते हुए यह स्वीकार करता है कि समूह भी वास्तविक मस्तिष्क, वास्तविक इच्छाशक्ति और राज्य की वास्तविक शक्ति रखता है।

नियो काटियम केल्सन ने विशुद्ध विधि विज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर सामूहिक व्यक्तित्व का सिद्धात प्रतिपादित किया। केल्सन स्वाभाविक और विधिक व्यक्तित्वो में कोई अंतर नहीं मानता। उसके अनुसार विधिक दृष्टि से व्यक्तित्व समन्वयकों का मानवीकरण है। यह कतिपय अधिकार कर्तव्य संकुलो को एकता प्रदान करनेवाला केंद्र बिंदु है।

इन सिद्धातो से यह स्पष्ट है कि ये विधिक व्यक्तित्व की केवल दार्शनिक व्याख्या अथवा सामूहिक व्यक्तित्व का राजनीतिक विवेचन मात्र हैं। यही कारण है कि ये सिद्धात एक व्यक्ति कंपनी संस्थान के शस्त्रुवारित्र, प्रमुख और सहायक कंपनियों के मध्य के आदान प्रदान की सम्यक् व्याख्या करने में असमर्थ हैं।

राजनीतिक दृष्टि से कल्पना सिद्धात अबोध और व्यक्तिवादी है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही वास्तविक व्यक्तित्व मानता

है। प्रोफेसर वॉल्फ की यह मान्यता है कि यह सिद्धांत स्वतंत्र समिति के सिद्धांत के विपरीत है। रियायत सिद्धांत राज्य को समितियों को व्यक्तित्व प्रदान करने या छीन लेने की पूर्ण शक्ति देता है। यदि इस सिद्धांत का यह अर्थ लिया गया कि समस्त सामूहिक जीवन राज्यप्रदत्त रियायत का परिणाम है तो वह वस्तुस्थिति से भिन्न बात होगी। समूह सदैव रहते आए हैं। भारत में संयुक्त परिवार, रोम की परिवार पद्धति, धार्मिक और आर्थिक संगठन इत्यादि इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं। यथार्थवादी सिद्धांत समूह के अस्तित्व की यथार्थता पर जोर देकर समूह की स्वतंत्रता और उसके अधिकारों के नीतियुक्त स्वीकरण की माँग करता है। संस्थानों को वास्तविक व्यक्ति मानना विधि के लिये उपयुक्त है किंतु यह कहना गलत होगा कि किसी समूह के बनते ही उसे व्यक्तित्व मिल जाता है, क्योंकि विधि किसी भी समूह की विकासशील स्थितियों को नहीं आँक सकता। उसका इस बात पर जोर देना उचित है कि समूह अपना व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिये कतिपय औपचारिकताओं को पूरा करे। गियर्के के विचार हीगल से बहुत मिलते हैं। वह यह कहता है कि राज्य सर्वोच्च संस्थान है जिसकी वास्तविक इच्छाशक्ति और मस्तिष्क है और इसलिये उसे अन्य समूहों और संस्थानों पर नियंत्रण रखना चाहिए। यथार्थवादी सिद्धांत उन समितियों के विधिक व्यक्तित्व को भी स्वीकार करता है जिन्हें विधिक मान्यता भी न मिली हो, यथा रोमन डच विधि जिसने कंपनीज ऐक्ट के लागू होने के पूर्व ही बिल्डिंग सोसायटी को मान्यता दे दी। लेकिन यह कहना कि विधिक व्यक्तित्व वास्तविक है, समाजशास्त्रीय तथ्य नहीं है। फ्रीडमेन ने उचित ही कहा है कि मानव व्यक्तित्व व्यक्तिवादिता और आत्मचेतना की अनुभूति होती है और उसमें एक अनुभव होता है किंतु सामूहिक चेतना और समूह के अनुभव केंद्र की शोध के सभी प्रयास असफल हुए है।

प्रोफेसर पेटन का कहना है कि बुद्धिमत्ता से प्रयुक्त न करने पर कोई भी एक सिद्धांत गलत परिणामों की ओर ले जा सकता है। इसलिये इन सिद्धांतों को प्रयुक्त करते समय यह ध्यान में रखा जाय कि ये उसी उद्देश्य के लिये प्रयुक्त हों जिसके लिये इन्हें प्रतिपादित किया गया। दूसरे अर्थों में किसी राजनीतिक दर्शन को समर्थित करने के लिये इन्हें प्रयुक्त न किया जाए।

व्यवहार में न्यायालयों ने किसी भी सिद्धांत का अनुकरण नहीं किया यद्यपि प्रारंभ में संस्थान कदाचित् कल्पना सिद्धांत के कारण अपराध से बचते रहे। अब उस क्षेत्र के लिये भी वे उत्तरदायी है। कर्मचारियों के अपराधों (टोर्ट) के लिये भी इन्हें उत्तरदायी ठहराया जाता है। इस विचार का कि संस्थान उन्हीं व्यक्तियों के कार्यों के लिये उत्तरदायी हैं जो उनके लिये कार्य करते हैं और सोचते हैं, अभी निश्चित निर्णय नहीं हो पाया है। यह अनिश्चित स्थिति कंपनी को उसके हिस्सेदारों के समरूप समझने की न्यायालयों की नीति की है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने हिस्सेदारों को कंपनी के समरूप समझने की बात को एक मामले में अस्वीकार कर दिया जब कि एक हिस्सेदार ने कंपनी के मूलभूत अधिकारों की अवहेलना की शिकायत की।

सं० ग्रं० — फ्रीडमान : लीगल थ्योरी; पेठन : ज्यूरिसप्रूडेंस।

[रा० कु०]

विधिकार (ला गिवर्स) अमरीका के प्रसिद्ध विधिशास्त्री डीन रस्को पउंड ने अपनी पुस्तक 'फिलासफी ऑव ला' की भूमिका में विधि की व्याख्या करते हुए कहा है कि विधि के संबंध में कम से कम १२ विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की जाती हैं। (१) कुछ लोग विधि को ईश्वरप्रदत्त मानते हैं। इस श्रेणी में हजरत मूसा, दस निदेश, हम्मूराबी और मनुसंहिताओं को रखा जा सकता है। (२) कुछ अन्य लोग विधि को परंपराजन्य मानते हैं और उन परंपराओं की रक्षा का भार अभिजात्य वर्ग अथवा पुरोहित वर्ग पर रहता है। (३) कुछ लोग विधि को विवेकजन्य मानते हैं। ई० पू० चौथी शताब्दी में एथेंस में डेमोस्थनीज (Demosthenes) ने विधि की इसी प्रकार व्याख्या की थी। (४) विधि प्राकृतिक नियमों के आधार पर विकसित होती है जिसका विकास परंपरा, विवेक और दार्शनिक सिद्धांतों के योग से होता है। (५) विधि नीति अनीति संबंधी शाश्वत नियमों का रूप है। (६) विधि संगठित समाज के राजनीतिक अधिकारों और नियमों का वह रूप है जिसे समाज में लोग परस्पर एक दूसरे के लिये स्वीकार करते है। (७) विधि ईश्वरीय न्याय है जिसका आभास ब्रह्मांड के प्राकृतिक नियमों से मिलता है और यह ईश्वरीय तर्क और विवेक का रूप है। (८) विधि सर्वसत्तासंपन्न सत्ता का आदेश है। रोम, आंग्ल, फ्रांसीसी नरेशों और अमरीकी क्रांति के बाद संसदीय सत्ता के रूप में भी इस सिद्धांत को लागू किया गया। (९) विधि वे नियम हैं जिन्हें मानव जाति अपने विकास में सीखती है और जिनके पालन से वह पहले से अधिक स्वतंत्रता पाने का प्रयास करती है। (१०) विधि प्राकृतिक दार्शनिक सिद्धांतों और तर्कप्रणाली के आधार पर विकसित ऐसे नियम हैं जिनमें व्यक्ति और समष्टि के हितों में संतुलन लाने का प्रयास किया जाता है। (११) विधि ऐसे नियम हैं जिनको समाज का शक्तिशाली वर्ग अन्य लोगों को अपने अधीन बनाए रखने के लिये लागू करता है। इस प्रकार विधि वर्गहितों की रक्षा और स्थापना के लिये ही लागू की जाती है। (१२) विधि समाज के आर्थिक और सामाजिक नियमों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले नियमों के रूप में विकसित होती है जिसमें समाज को स्थिर रखने के लिये सभी लोगों को सामान्य अधिकार देकर उनके हितों में एकरूपता और समरसता लाने का प्रयास किया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति के हितों की रक्षा की जाती है।

विधि संबंधी विभिन्न व्याख्याओं के कारण इस संबंध में भी मतभेद है कि किस व्यक्ति को विधिकार माना जाय और किसको नहीं। ईश्वरप्रदत्त विधि मानने पर भी उनको संसार में लानेवाले माध्यम का महत्व कम नहीं होता अतः हजरत मूसा, ईसा, मुहम्मद, कन्फ्यूशियस, मनु आदि को इस श्रेणी में रखना पड़ेगा। यदि विधि समाज के विवेक और शील का प्रतीक है तो भी विधिरचना में व्यस्त चाहे वह विधानमंडल हो अथवा न्यायाधीश, जो परंपराओं को नवीन स्थितियों में लागू करने के लिये नई व्यवस्थाएँ देते हैं अथवा ऐसे दार्शनिक विचारक जो समाज के विश्लेषणात्मक अध्ययन

के उपरांत उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप विधि बनाने पर जोर देते हैं अथवा ऐतिहासिक विकासश्रृंखला के ऐसे नरेश, सत्तासंपन्न व्यक्ति जिन्होंने अपनी शक्ति और निदेश से नए नियमों की रचना की, उन सभी को विधिकार कहा जा सकता है।

सामान्य भाषा में विधिकार और विधायक शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया जाता है। विधिकार (Law giver) के प्रयोग से ऐसे व्यक्ति का अभिप्राय है जो स्वयं विधि का निर्माण करे और विधायक किसी एक अथवा कुछ विधियों का निर्माण कर सकता है लेकिन विधायक विधि संस्थानों — संसद, विधानमंडल आदि — में बैठकर अन्य विधायकों के साथ मिलकर विधि का निर्माता होता है अतः व्यक्तिगत रूप से वह विधि का निर्माण नहीं करता। विधिकार की परिभाषा देने के पूर्व विधि संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट होना आवश्यक है। विधि के सिलसिले में कानून, सत्य, धर्म, न्याय, राइट, रेस्ट, ड्रायट आदि भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। लैटिन भाषा में लेजिस्लेटर (विधायक) अथवा ज्रिसडेटर (न्यायनिर्माता) शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता, लेकिन 'लेजेनडेरे और 'लेक्स डेट्' मे (विधि देने और प्रयुक्त विधि) का उल्लेख मिलता है। जस्टीनियन ऐसे विधिकार को विधायक की संज्ञा दी गई है। यूनानी भाषा में भी विधिकार के संबंध में इसी भाँति अस्पष्टता है। 'थेसमोस' (Thesmos) का अर्थ एक वाक्य, सूत्र अथवा विधि किया जाता है। विधिसंहिता को नोमोस (Nomos) की संज्ञा दी जाती है। सोलोन (Solon) ने थेसमोइ (थेसमोस का बहुवचन) की रचना की जिसे २५० वर्ष बाद अरस्तू (Aristotle) ने विधिकार नाम से संबोधित किया।

विधिकार के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वह दैवी रूप से अनुप्राणित हो। हम्मुराबी (Hammurabi) की संहिता के प्रारंभ मे यह घोषणा की गई है कि देव मरदुक (God Marduk) ने उसे न्याय के सिद्धांतों को जनता को देने का आदेश दिया। सुमेरिया के उरुकगीना (Urukagina) ने निनगिरूस (Ningirusu) से विधि ज्ञान पाया था। हजरत मूसा ने ईश्वर की प्रेरणा से न्याय के दस निदेशों (Ten commandments) की रचना की। एथेना नामक यूनानी देवता ने जैल्युकस (Zaleucus) को स्वप्न मे विधि का ज्ञान दिया। कुछ स्थानो मे विधिकार स्वयं कोई देवता अथवा देवतुल्य ऋषि माना जाता है। अंग्रेजी भाषा में ईश्वर को ही विधिकार कहा गया है। ईसाई मत के अतिरिक्त अन्य मतो और धर्मों में ईश्वर अथवा सर्वोच्च सत्ता को विधि का मूल स्रोत माना गया है। मिस्र में मैनेस (Manes), रामुस द्वितीय (Ramus ii), बोकोरिस (Bocchoris) फराओह को जिन्हे पितृदेव माना गया है, उन्हें ही विधिकार भी माना गया है।

भारत में धर्म और न्याय का मूल स्रोत 'ऋत्' माना गया है। वैदिक काल मे यह माना जाता था कि ऋत् चराचर जगत् का नियामक है। प्राकृतिक न्याय और सामाजिक न्याय दोनों का मूल स्रोत ऋत् ही है। ऋत् मे ही धर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म से राजा और प्रजा दोनो बँधे रहते थे। वेदों और श्रुतियो के बाद गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्रो को धर्मसूत्रो की संज्ञा दी जाती है। इनमें व्यवहार और दंड की भी व्यवस्था थी। इस प्रकार भारतीय विधि का प्रारंभ इन धर्मसूत्रों से माना जाता है। मैक्समूलर और प्रोफेसर हापकिंस के अनुसार ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक के काल में याज्ञवल्क्य ने २० ऋषियों के नामों की सूची विधिकारों के रूप में दी है। डाक्टर बुहलर और डा० जाली ने गौतम, बोधायन अपस्तंब और वशिष्ठ के धर्मसूत्रो को प्राचीन विधिपुस्तकें माना है। धर्मसूत्रो के बाद मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन, पितामह, यम, हरित, अंगिरस, ऋष्यशृंग, प्रजापति, संवर्त, दक्ष, कर्षणाजिनि, पुलस्त्य, प्रचेता लंगाक्षी, विश्वामित्र की स्मृतियो को विधिग्रंथ माना गया है अतः ये लोग भारत के विधिकार माने जाते हैं।

मनु का कालनिर्धारण प्रायः १५०० वर्ष ई० पू० किया गया है। मनु ने विधि के चार स्रोत बतलाए हैं। इनमें (१) श्रुति, वेद, (२) स्मृति, (३) परंपराएँ और (४) प्रत्येक व्यक्ति की आत्मचेतना शामिल है। उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से कहा है कि श्रुति और स्मृति में मतभेद होने पर श्रुति मान्य होती है और इन दोनो को अन्य दो स्रोतों से श्रेष्ठ माना जाता है। मनुस्मृति अथवा मनुसंहिता इनकी विधिसंहिता मानी जाती है।

याज्ञवल्क्य को कुछ लोग मनु का समसामयिक मानते हैं और कुछ लोग उनके बाद का मानते है। याज्ञवल्क्य स्मृति में वही बातें कही गई हैं जिनका उल्लेख मनुसंहिता में है। याज्ञवल्क्य ने पूरी सामग्री को विभाजित कर उसे फिर से व्यवस्थित किया। याज्ञवल्क्य ने परंपराओं और सामान्य न्याय पर यथेष्ट जोर दिया है। साक्षी आदि प्रश्नो पर याज्ञवल्क्य ने अपनी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं।

नारद स्मृति की रचना मनुस्मृति के आधार पर की गई, फिर भी उसमें अनेक नई बातों का समावेश है। न्यायालयों मे न्याय की कैसी व्यवस्था हो, इसका नारद स्मृति मे सविस्तार वर्णन है। नारद-स्मृति ने देश के न्यायप्रशासन का वर्गीकरण कर उसको व्यवस्थित किया। मनु और याज्ञवल्क्य ने व्यवहार को १८ भागों मे विभाजित किया था, उन्हे नारद ने १३२ उपविभागो में विभाजित कर उनका स्पष्टीकरण किया।

बृहस्पतिस्मृति और मनुस्मृति की समानता को लक्ष्य कर कुछ विद्वानो ने उसे 'वार्तिक' कहा। बृहस्पतिस्मृति मे अनेक नियमों की व्याख्या करते हुए उन्हे समयानुकूल बनाने का भी प्रयास किया गया है। बृहस्पतिस्मृति मे न्यायप्रशासन और न्यायालय व्यवस्था का नारद स्मृति की भाँति सविस्तार वर्णन किया गया है। इसमें न्यायालय के अधिकारियो की संख्या दस बताई गई है जबकि नारद स्मृति में यह संख्या आठ रखी गई है। अमात्य और पुरोहित भी न्यायालय के अधिकारी बताए गए हैं। बृहस्पतिस्मृति में स्त्रियों को उत्तराधिकार का अधिकारी माना गया है। न्यायालय में प्रार्थना-पत्र देने और उसके बाद की कार्रवाइयो का भी उल्लेख है। दीवानी और फौजदारी न्यायव्यवस्था का इसमें अलग अलग उल्लेख है।

कात्यायन स्मृति का कालनिर्धारण ४००-६०० ई० के बीच मे किया जाता है। बृहत्पाराशर, पुलस्त्य, पितामह और हरित स्मृतियो की रचनाएँ ४०० से ६०० ई० के बीच के समय की बताई

जाती हैं। पितामह स्मृति का उल्लेख मिताक्षरा, स्मृतिचंद्रिका और अपरक में मिलता है। कुछ लोग यम को धर्मशास्त्रों का व्याख्याकार मानते हैं और कुछ उन्हें स्मृतिकार कहते हैं। हरित स्मृति में व्यवहार शब्द की परिभाषा देने का प्रयास किया गया है।

स्मृतियों के बाद निबंधों और टीकाओं का स्थान है जिनमें स्मृतियों की व्याख्या करने का प्रयास किया गया। ६०० ई० के बाद आधुनिक काल तक किसी नवीन स्मृति की रचना का उल्लेख नहीं मिलता, केवल टीकाओं और निबंधों की रचना हुई। इसके बाद हिंदू कानून उन भागों में बँट गया जिनके नामों से हम आज परिचित हैं। इनमें मिताक्षरा और दायभाग प्रमुख हैं। मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका है जिसकी रचना ११वीं शताब्दी मे हुई। जीमूतिवाहन ने १३वी और १५वीं शताब्दी के बीच मे दायभाग की रचना की जिसमें सभी स्मृतियों की बातें शामिल है। दायभाग कानून केवल बंगाल में चलता है और उसके साथ ही, 'दायतत्व' और 'दाय-कर्म-संग्रह' नामक ग्रंथों का प्रचलन है।

मिताक्षरा के बाद उसमें चार उपविभाग हो गए हैं (१) बनारस मे 'वीर मित्रोदय' और 'निर्णयसिंधु', (२) मिथिला में 'विवाद चिंतामणि', 'विवाद रत्नाकर', (३) द्रविड़ क्षेत्र में 'स्मृति चद्रिका', 'पराशर माधव' और 'वीर मित्रोदय' (४) महाराष्ट्र और गुजरात क्षेत्र में 'व्यवहार मयूख', 'वीर मित्रोदय' और 'निर्णयसिंधु' की मान्यता है।

हिंदू न्याय और विधि के इतिहास में वैदिक ऋषियों के अतिरिक्त स्मृतिकारों को विधिकार कहा गया है।

भारत में मुसलमानी शासनकाल में अनेक सुलतानों और बादशाहों ने विधिनिर्माण का प्रयास भले ही किया हो लेकिन उन्हें विधिकार नहीं माना जाता।

अंग्रेजी शासनकाल में विधि आयोगों की स्थापना कर उनके माध्यम से विधि-रचना-प्रक्रिया शुरू की गई और बाद में विधान-मंडलों द्वारा विविध रचनाएँ की गईं।

भारत के स्वतंत्र होने पर संविधान परिषद् ने देश के संविधान की रचना की और उस समय देश के विधिमत्री डा० बी० आर० अबेडकर ने देश के अनेक विधिपंडितो के सहयोग से अपूर्व विधि-रचना की लेकिन शास्त्रीय परिभाषा मे इन लोगो को विधिकार नहीं कहा जा सकेगा। इसी भाँति प्रसिद्ध न्यायाधीश श्री राधाविनोद पाल तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशगण विधिविद्या के प्रकांड पंडित हैं और न्याय तथा विधि की व्यवस्थाएँ देते हैं। इनको भी शास्त्रीय परिभाषा में विधिकार नही कहा जा सकता।

एक देश, काल में अनेक विधिकार हों, इसकी संभावना कम होती है। रोम में डेमेंवीरी (The Decemviri) ने रोम के १२ सूत्रो (twelve tables) की रचना की लेकिन उसे विधिकार नही माना जाता है। लेकिन कुछ शासकों ने विशेष प्रकार की विधियों की रचना की, उन्हें विधिकार माना जाता है। इस श्रेणी में जस्टीनियन के कार्पस जूरिस (Corpus juris), नेपोलियन की संहिता (Code Napoleon) को कानून या विधि माना जाता था और उनके निर्माता विधिकार माने जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि विधिकार को उसके समसामयिक भी विधिकार माने। ड्राको (Draco) को उसके अपने समय में केवल एक विशेष न्यायाधीश माना जाता था लेकिन उसकी व्यवस्थाओं ने बाद में विधि का रूप ले लिया और उसे विधिकार माना जाने लगा। थिओडोसियस द्वितीय (Theodosius II) ने संहिता की रचना की, उसे भी अब विधिकार माना जाता है।

विधिकार और न्यायाधीश का संबंध भी विचित्र है। पुराने जर्मन विधिकार न्यायाधीश होते थे। विधिकार को न्यायमूर्ति कहा जाता है। हम्मुराबी की संहिता मे न्याय देने का उल्लेख है जिसका तात्पर्य यह है कि उस समय के नरेश न्याय देते थे। यूनान का ड्राको (Draco) न्यायाधीश (Themothetes) था। रोम के विधिशास्त्री अपने नरेशों को विधिकार की अपेक्षा विधि का व्याख्याकार अधिक मानते थे। विधिकार और न्यायाधीश दोनों की समानता का यह कारण है कि जर्मन और आंग्ल अमरीकी विधिशास्त्रों में यह स्वीकार किया जाता है कि न्यायाधीश ईश्वरीय प्रेरणा से विधि का निर्माण करता है अतः वह स्वयं विधिकार है।

विधिकारों ने जिन विधियों की रचना की उनमें बहुत अंतर है, चाहे वे विधियाँ हजरत मूसा, हजरत मुहम्मद आदि धार्मिक नेताओं की रचना हों अथवा उनकी रचना रोमुलस (Romulus) अथवा लाइकरगस (Lycurgus) जैसे सामरिक नेताओं ने की हो अथवा हम्मूराबी संहिता और ड्राको की व्यवस्था में दंडव्यवस्था के रूप मे विधि की रचना हुई हो अथवा मनुसंहिता के रूप में एक आदर्श सिद्धात की स्थापना की गई हो। आधुनिक शोधो से मिले परिणामो के अनुसार सभी विधिकार अपनी समसामयिक परंपराओं, न्यायाधीशों की व्यवस्थाओं और मान्य अधिनियमो को ही विधियों का रूप प्रदान करते रहे हैं। यह बात हम्मूराबी संहिता और मूसा के दस सिद्धातों पर लागू होती है। जस्टीनियन तो स्वयं यह स्वीकार करता है कि समसामयिक अधिनियम और न्यायाधीशो की व्यवस्थाओं के आधार पर उसने विधिरचना की।

मान्य विधिकारों के अतिरिक्त ऐसी अनेक विधिपुस्तकें मिलती हैं जिन्हें विधिशास्त्र की अच्छी रचनाएँ कहा जा सकता है और कुछ लोग ऐसे विधिशास्त्रियों को भी विधिकार की श्रेणी में रखना चाहते है।

लगश के सुमेरियाई नरेश 'उरुकगीना' (Urukagina) (अनुमानत ई० २७५० ई० पू०), बेबीलोन के शासक नबुनायद (Nabu naid, अनुमानत ५५६-५३६ ई० पू०) अपने समय के महत्वपूर्ण विधिकार माने जाते है। बेबीलोन के हम्मूराबी शासक की संहिता का तो सबसे अधिक महत्व है। इसका कालनिर्णय अभी नही हो सका है। असीरियाई विधिपुस्तको और हिटाइट संहिता (Hittite code, अनुमानत. १३५० ई० पू०) की रचना करनेवाले विधिकारों का ठीक पता नहीं चला है। यूनानी लेखक डियोडोरस (Diodorus) ने मिस्र के फराओह मैनेस (Pharaohs Menes, अनुमानत:

३४०० ई० पू०), रामसेस द्वितीय (Ramses II, १२९२-१२२५ ई० पू०), बोकोरिस (Bocchoris, ७१८-७१२ ई० पू०) और अमेसिस (Amesis ५६९-५२५ ई० पू०) का उल्लेख किया है। लेकिन इसकी पुष्टि अन्य सूत्रों से नहीं हुई है। हजरत मूसा यहूदी विधि के मुख्य विधिकार हैं लेकिन जितनी बातें उनके नाम से चलती हैं वे सब उन्हीं की लिखी नही हैं। इनके अतिरिक्त अनेक मसीहा अथवा ईश्वरीय दूतों का नाम विधिकारों के रूप में लिया जा सकता है। जूडा ला नसी (Juda La nisi) द्वितीय शताब्दी मैमोनिडेस (Maimonides, ११३५-१२०४) और जोसेफ कारो (Joseph Karo, १४८८-१५७५) अपने समय के प्रमुख विधिकार माने जाते है।

प्राचीन यूनान मे एचियन लोक्रिस के जैल्युकस (Zaleucus ६५० ई० पू०), आई ओनियन केटना के चरोंडास (Charondas ६५० ई० पू०) की विधिकारों मे गणना की जाती है। स्पार्टा के लाइकरगस (Lycurgus) प्रसिद्ध ड्राको (Draco ६२१ ई० पू०) और एथेंस के सोलोन (Solon, ५९४ ई० पू०) का प्रथम श्रेणी के विधिकारों मे स्थान है।

प्राचीन रोम में रोमुलस (Romulus) और नूमा (Numa) को विधिकार कहा जाता है लेकिन जब तक रोम साम्राज्य की स्थापना नही हो गई थी और वहाँ विधिसंहिता (codification of law) नही बन गई थी उस समय तक किसी को विधिकार की संज्ञा देना उचित नहीं है। थियोडोसियस द्वितीय की संहिता विधि संबंधी सामग्री का संकलन मात्र थी। सन् ५२७-५६५ ई० मे जस्टीनियन की संक्षिप्त सार (digesta) और संहिता प्रकाशित हुई। उसमे विधि और न्याय संबंधी साहित्य को एकत्र किया गया। जस्टीनियन संहिता में जिन विधिशास्त्रियो की रचनाओं का संग्रह है उनमे जूलियन (Julian, द्वितीय शताब्दी), पैपिनियन (Papinian, २१२ ई०) और पाल (Paul) (तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध) को विधिरचना मे सहायक माना जा सकता है।

चीन और जापान के प्राचीन विधिकारों के संबंध में सामग्री प्राय: अप्राप्य है।

मध्ययुगीन जर्मन विधि में किसी व्यक्ति विशेष को विधिकार नही कहा गया। इस काल में जिन अधिनियमों की रचना हुई उनमे उनके बनानेवालों का उल्लेख नही है। इस युग मे न्यायाधीशों को विधिकार की संज्ञा दी जाती थी। इस संबंध में कुछ अपवाद भी हैं। गोथा नरेश अलारिक द्वितीय ने (Alaric II, ४८४-५०७ ई०), थियोडोरिक ने (५०० ई०) गोथा के निवासियों के अतिरिक्त वहाँ रहनेवालों के लिये विधिसंहिता की रचना की। पश्चिमी सैक्सन नरेश अल्फ्रेड ने (Alfred, ८७८-९०१ ई०) और चार्ल्स पंचम ने (१५१९-५८) 'कांस्टीट्यूशियो क्रिम्निनलिस करोलिना' की रचना की।

इस्लाम धर्म में मुहम्मद (५७०-६३२ ई०) को विधिकार माना जाता है। उन्होंने 'कुरान' का संकलन किया। मुहम्मद के बाद इस्लाम मे चार प्रमुख संप्रदाय हो गए जिनके अपने अपने विधिकार हैं। अबु हनीफा (६९९-७६७ ई०), मलिक (७१५-९५ ई०) अल शफई (७६७-८२० ई०) और इबु हनबाल (७८०-८५५ ई०) के नाम पर क्रमश: हनफी, मलिकी, शफई और हनबाली नाम के संप्रदाय चल रहे हैं। भारत के अधिकांश सुन्नी मुसलमान हनफी विधि को मानते हैं। शिया संप्रदाय के मुसलमान हजरत मुहम्मद और हजरत अली को ही अपना विधिकार मानते हैं।

ईसाई धर्म की धार्मिक विधि बनानेवालो को भी यदि विधिकार माना जाय तो इनोसेंट तृतीय ने (Innocent III, ११९८-१२१६) 'कारपस जूरिस कैनानिसी' नामक संहिता की रचना की और ग्रिगरी नवम ने (Gregori IX, १२२७-४१ में) अनेक विधि संबंधी व्यवस्थाएँ दी, अत: इन दोनो को विधिकार की श्रेणी में रखा जा सकता है।

मध्ययुग के बाद तो प्राय: प्रत्येक देश में विधिकार हुए हैं। नेपोलियन संसार का मुख्य विधिकार माना जाता है क्योंकि फ्रांस मे नेपोलियन ने जिस विधिसंहिता की रचना करवाई उसका प्रभाव संसार के विधिविकास पर पड़ा है।

आंग्ल-अमरीकी विधिव्यवस्था का विकास जिस ढंग से परंपरा, विधानमंडलों द्वारा विधिरचना और न्यायाधीशों की व्यवस्था के माध्यम मे हुआ है उसमे यह कहना कठिन है कि कौन कौन व्यक्ति विधिकारों की श्रेणी मे आते हैं। ब्रिटेन मे ब्रैक्टन, न्यायाधीश कोक, ब्लैकस्टोन, बैंथम, आस्टिन आदि विधि दार्शनिकों का विधिक्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान है। [चं० दी०]

विधि शासन (Rule of Law) विधि शासन का प्रमुख सिद्धांत है कानून के समक्ष सब लोगों की समता। भारत में इसे उसी अर्थ मे ग्रहण करते है, जिसमें यह अंग्रेजी-अमरीकी विधान में ग्रहण किया गया है। भारतीय संविधान में घोषित किया गया है कि प्रत्येक नागरिक के लिये एक ही कानून होगा जो समान रूप से लागू होगा। जन्म, जाति इत्यादि कारणों से किसी को विशेषाधिकार प्राप्त नही होगा (अनुच्छेद १४)। किसी राज्य में यदि किसी वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त है तथा अन्यान्य लोग इससे वंचित है, तो वहाँ विधि का शासन नही कहा जा सकता। अत: प्राचीन राज्यों में अथवा मध्य युग के सामंत समाज में जहाँ शासक वर्ग एवं जनसाधारण के अधिकारों मे अंतर था, वहाँ विधि की समता नही थी। उदाहरण के लिये रोम साम्राज्य के विधान में हम पैट्रीशियन (उच्च वर्ग) एवं प्लीबियन (जनसाधारण) तथा रोमन नागरिक एवं पेरेग्रिनस (विजित देश के निवासी) के अधिकारों में अंतर पाते हैं। दासता भी विधि द्वारा समर्थित थी। भारत में प्रत्येक व्यक्ति पर, चाहे वह राजा हो या निर्धन, देश का साधारण कानून समान रूप से लागू होता है और सभी को साधारण न्यायालय मे समान रूप से न्याय मिलता है। राजनीतिक एवं अंतरराष्ट्रीय पारस्परिक मर्यादा की दृष्टि से इस नियम के थोड़े से अपवाद हैं। यथा, राष्ट्रपति एवं राज्यपाल देश के साधारण न्यायालय द्वारा दंडित नहीं हो सकते (अनुच्छेद ३६१(१)) विदेश के राजा, राष्ट्रपति या राजदूत न्यायालय के अधिकारक्षेत्र से बाहर हैं (अनुच्छेद ५१)।

भारतीय संविधान में कानून के संरक्षण की समानता न केवल देश के नागरिकों को, अपितु विदेशियों को भी समान रूप से, जाति, धर्म, वर्ण, जन्मस्थान आदि का भेद भाव किए बिना, दी गई है। पुरुषों और स्त्रियों के अधिकार में भी अंतर नहीं किया गया है (अनुच्छेद १५)। सभी नागरिकों को जीविका अथवा सरकारी नियुक्ति में समान अवसर मिलने का अधिकार मिला है (अनुच्छेद १६)। अस्पृश्यता का पूर्ण रूप से निषेध हुआ है (अनुच्छेद १७)। सैनिक एवं शैक्षणिक उपाधियों के अतिरिक्त राज्य अपने नागरिकों को अन्यान्य उपाधि नहीं दे सकता (अनुच्छेद १८)। कोई नागरिक विधि द्वारा निर्धारित अपराध के लिये ही केवल एक बार दंडित हो सकता है (अनुच्छेद २०)। किसी भी व्यक्ति को मृत्युदंड अथवा कारावास विधिसंमत रूप मे ही दिया जा सकता है (अनुच्छेद २१) किसी की संपत्ति यदि सरकार ले तो उसे उसके लिये क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी (अनुच्छेद ३१)। संकटकालीन असाधारण परिस्थिति में ही सरकार बिना मामला चलाए किसी को नजरबंद कर सकती है (अनुच्छेद १९ (२))।

संविधान द्वारा प्रदत्त अपने मूल अधिकारों के अपहरण पर कोई नागरिक न्यायालय में सरकार के विरुद्ध मामला चला सकता है। संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि राज्यों के उच्च न्यायालय तथा देश का सर्वोच्च न्यायालय इन मूल अधिकारों की रक्षा करें। निष्पक्ष तथा निर्भीक न्यायाधीशों द्वारा न्याय का विधान किया गया है। इनके आदेशों का पालन करना शासन का कर्तव्य है। निष्पक्ष एवं स्वतंत्र समाचारपत्र तथा जागरूक जनमत जनाधिकार के प्रहरी हैं :

सं० ग्रं० — बसु, दुर्गादास : भारतीय संविधान (कांस्टिट्यूशन ऑव इंडिया), तृतीय संस्करण, १९५५ भाग १, २। डाइसी; लॉ ऑव कांस्टिट्यूशन, नवम संस्करण १९३९; जेनिंग्स : लॉ ऑव कांस्टिट्यूशन, तृतीय संस्करण; वेड एवं फिलिप्स : कांस्टिट्यूशन, १९४६। [न० कु०]

विधिशास्त्र (Jurisprudence, ज्यूरिसप्रूडेंस) साधारण अर्थ मे समस्त वैधानिक सिद्धांत विधिशास्त्र मे अंतर्निहित हैं। विधिशास्त्र 'जूरिसप्रूडेंस' अर्थात् Juris = विधान, Prudence = ज्ञान। इस अर्थ में कानून की सारी पुस्तकें विधिशास्त्र की पुस्तकें हैं। इस प्रसंग में कानून का एकमात्र अर्थ होता है देश का साधारण कानून (Civil Law), जो उन नियमों से सर्वथा पृथक् है, जिन्हें कानून से सादृश्य रहने के कारण कानून का नाम दिया जाता है। यदि हम विज्ञान शब्द का प्रयोग इसके अधिक से अधिक व्यापक रूप में करें जिसमें बौद्धिक अनुसंधान के किसी भी विषय का ज्ञान हो जाय तो हम कह सकते है कि विधिशास्त्र देश के साधारण कानून (Civil Law) का विज्ञान है।

उक्त अर्थ में विधिशास्त्र तीन शाखाओं में विभक्त है—(१) वैधानिक अभिदर्शन (Exposition), (२) वैधानिक इतिहास, (३) विधिनिर्माण के सिद्धांत (Principles of Legislation)। वैधानिक अभिदर्शन का उद्देश्य है किसी प्रस्तावित विधि की प्रणाली के तथ्य को, चाहे वह वर्तमान हो अथवा भूतकाल में इसका अस्तित्व रहा हो, उपस्थित करना। वैधानिक इतिहास का उद्देश्य है उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को उपस्थित करना जिससे कोई कानूनी प्रणाली विकसित हुई है या हुई थी। विधिनिर्माण के सिद्धांत का उद्देश्य है कानून को उपस्थित करना—वह कानून नहीं जो वर्तमान है या भूतकाल में था, बल्कि वह कानून जो देश, काल, पात्र के अनुसार होना उचित है। विधिशास्त्र को किसी वैधानिक प्रणाली के वर्तमान या भूत से अपेक्षा नहीं है, यह इसके आदर्शमय भविष्य से संबद्ध है।

विधिशास्त्र सिद्धांत के तीन अंग होते हैं—विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक, एवं नैतिक। विश्लेषणात्मक शाखा में क्रमबद्ध वैधानिक सिद्धांत के दार्शनिक अथवा सामान्य विचार होते हैं; ऐतिहासिक शाखा में वैधानिक इतिहास का दार्शनिक अथवा सामान्य भाग होता है; नैतिक शाखा मे विधाननिर्माण के दार्शनिक सिद्धांत रहते है। किंतु ये तीनों शाखाएँ परस्पर संबद्ध है। अतः इन्हें एक दूसरे से पृथक् कर इनपर विचार नहीं कर सकते। विश्लेषणात्मक विधिशास्त्र का उद्देश्य होता है विधान के मौलिक सिद्धांतों का विश्लेषण। इनके ऐतिहासिक उद्गम, विकास, नैतिक भाव अथवा मान्यता पर इस प्रसंग में विचार आवश्यक होता है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं—

१ देश के सामान्य कानून के आधार का विश्लेषण; २. देश के साधारण कानून तथा अन्यान्य कानूनप्रणाली के बीच पारस्परिक संबंध की परीक्षा; ३. विधान के विभिन्न अंगों के भाव, जिससे इसका स्वरूप तथा व्यक्तित्व बनता है, यथा—राज्य, सार्वभौमिकता, न्याय का शासन इत्यादि; ४. विधान के उद्गम—यथा देशाचार, कुलाचार, ५. विधान का वैज्ञानिक वर्गीकरण; ६. वैधानिक अधिकार की भावना का विश्लेषण; ७. वैधानिक दायित्व के सिद्धांत की परीक्षा; ८. अन्यान्य वैधानिक भावना की समीक्षा, यथा—संपत्ति, न्यास इत्यादि।

ऐतिहासिक विधिशास्त्र मूलतः विधान के साधारण सिद्धांतों के उद्गम एवं उनके विकास से संबद्ध है। जिन स्रोतों से देश का साधारण विधान प्रभावित होता है, वे भी इसकी सीमा के अंतर्गत हैं। अन्य शब्दों में, यह विधान के मूल सिद्धांत एवं उनकी पद्धति की भावना का इतिहास है।

नैतिक विधिशास्त्र विधान की विवेचना नैतिक गांभीर्य एवं इसकी पूर्णता की दृष्टि से करता है। कानून की प्रणाली के बौद्धिक तत्व अथवा इसके ऐतिहासिक विकास से इसे कोई प्रयोजन नहीं है। विधान के उद्देश्य एवं किस सीमा तक तथा किस रूप में इसकी पूर्ति होती है, यही इसका विषय है। साधारणतः इसका लक्ष्य एवं उद्देश्य किसी राजनीतिक फर्म के अंतर्गत राज्य की भौतिक शक्ति द्वारा न्याय का पालन करने में है। अतः नैतिक विधिशास्त्र यह देखता है कि न्याय के सिद्धांत का विधान से कहाँ तक संबंध है। यह नैतिक एवं वैधानिक दर्शन का मिलनबिंदु है। अपने सामान्य रूप में न्याय, नैतिकता अथवा नैतिक दर्शन से संबद्ध है। अपने विशेष रूप में न्याय, देश के कानून की अंतिम शृंखला के रूप में वैधानिक

दर्शन की उस शाखा से संबद्ध है, जिसे नैतिक विधिशास्त्र कहते हैं। इसकी परिधि के अंतर्गत सामान्यतः निम्नलिखित विषय आते है—१. न्याय की धारणा (Conception of Justice); २. कानून एवं न्याय में संबंध; ३ न्याय के पालन के उद्देश्य की पूर्ति करने वाली प्रणाली, ४ कानून एवं नैतिकता पर आधारित अधिकार में अंतर; ५. नैतिक अर्थ एवं उन वैधानिक भावनाओं की मान्यता तथा सिद्धांत, जो ऐसे मौलिक हैं कि उनका विश्लेषणात्मक विधिशास्त्र में अध्ययन किया जा सकता है।

संसार के भिन्न भिन्न देशों में विधिशास्त्र की परिभाषा किंचित् भिन्न भिन्न रूपों में की गई है। जर्मनी के विधान में विधिशास्त्र कानून का, मोटामोटी वह पर्याय है, जिसका लक्ष्य वैज्ञानिक अध्ययन होना है। फ्रास के विधान मे इससे न्यायालय के क्षेत्राधिकार का बोध होता है, जो कानून के 'कोड' की विकृति एवं विकास करता है। अंग्रेजी एवं अमरीकी विधान में कानून के सैद्धातिक अध्ययन के भिन्न भिन्न पहलू विधिशास्त्र में सन्निहित हैं। सनातन भारतीय विधान में विधिशास्त्र धर्मशास्त्र पर आधारित है। 'धर्म' की परिभाषा निम्नलिखित रूप मे की गई है—

श्रुतिः स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मन ।
एतच्चतुर्विध प्राहु. साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार एवं सुनीति धर्म के उद्गम हैं। 'धर्म' व्यापक शब्द है। धार्मिक, नैतिक, सामाजिक एवं वैधानिक दृष्टि से यह मनुष्य के कर्तव्य एवं दायित्व की समष्टि है। धार्मिक एवं धर्म निरपेक्ष भावना के बीच विभाजन रेखा स्थापित नही की जा सकती, क्योंकि कितने ही विषय ऐसे हैं जो धार्मिक एवं सासारिक दोनो हैं।

भारत का सनातन 'धर्म' राजा अथवा शासक के आदेश पर आधारित नही है। इसकी मान्यता (Sanction) इसी मे अंतर्निहित है। स्मृतिकारों और उनके पूर्वजों ने कहा है कि 'धर्म भगवान् की देन है। यह राजाओ का राजा है। इससे अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई नही। इसकी सहायता से शक्तिहीन भी शक्तिशाली से अपना अधिकार ले सकते हैं। राजा न्याय का निर्माता नही, केवल इसका पालक है।' (शत ब्रा० १४—४ २.२६)

विधिवेत्ता ऑस्टिन किंवा बेंथम के सिद्धात के अनुसार सनातन धर्म का अधिकाश नैतिकता मे संनिविष्ट हो जायगा, क्योंकि यह 'धर्म' किसी राजा अथवा सार्वभौम सत्ताप्राप्त शासक का आदेश नहीं है। यह सत्य है कि स्मृति अपने तईं कानून नही है, क्योंकि इसे न तो व्यवस्थापिका सभा ने बनाया और न राज्य ने घोषित किया। पर यह जस रिसेप्टम (Jus Receptum) के सिद्धांत पर मान्य था अर्थात् समाज ने इसे ग्रहण कर लिया था। अतः एक मत के अनुसार स्मृति के कानून का उद्गम समाज ही है। इसका एक अंश नैतिक आदेश है, जिसका स्रोत नैसर्गिक माना गया है एवं अवशेष परंपरा एवं सदाचार है। स्मृतिकारों के व्यक्तित्व एवं संमान तथा सुनीति पर आधारित होने के कारण स्मृति के वचनों की मान्यता ही इनके वैधानिक व्यादेश का प्राधिकार है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित होने पर यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि भारत में राजनिर्मित विधान धर्मशास्त्र द्वारा घोषित विधान से किसी समय अधिक मान्य था या नही। कौटिल्य ने कहा है कि विधान चार स्तंभों पर आधारित है — १. धर्म (Sacred Law) २. व्यवहार (Evidence), ३. चरित्र (History) एवं ४. राजशासन (Edicts of Kings)। इनमे परवर्ती आधार क्रमागत पूर्व के आधार से अधिक शक्तिशाली है किंतु यह स्मरणीय है कि राजशिलालेख (Edicts) द्वारा धर्मशास्त्र में कथित किसी भी मौलिक आदेश अथवा व्यवहार का उल्लंघन नही हुआ। कौटिल्य ने भी सैद्धांतिक रूप मे यह स्वीकार किया था कि राजनिर्मित विधान धर्मशास्त्र की परिधि से बाहर नही है।

१९वी शताब्दी के आरंभ में फ्रांसीसी दार्शनिक ऑगस्ते कोंत (Auguste Comte) ने सोशियोलॉजी (Sociology = समाजशास्त्र) शब्द का नामकरण किया। समाजशास्त्र स्थूल रूप से समाज का अध्ययन है। समाजशास्त्री के अध्ययन में विधान भी संमिलित है किंतु उसका दृष्टिकोण विधिवेत्ता के दृष्टिकोण से भिन्न है। वकील, अधिवक्ता या निर्णायक के रूप मे, उन नियमों को देखता है जिन्हे सर्वसाधारण को अनुकरण करना चाहिए। समाजशास्त्रवेत्ता यह देखता है कि ये नियम क्या हैं। कुछ हद तक दोनों साथ चल सकते हैं, क्योंकि वास्तव में ये नियम वांछित चरित्र के द्योतक हैं। किंतु समाजशास्त्रवेत्ता को वास्तविक चरित्र में अधिक उत्सुकता रहती है, वांछित चरित्र के विचार में नही। वैधानिक समाजशास्त्र को अपराधशास्त्र भी कहते है। यह अपराधों के कारण, अपराधियों के चरित्र, विभिन्न प्रकार के दंडों का अपराधियो पर प्रभाव — विशेषतः कहाँ तक दंडों से अपराध के घटने पर प्रभाव पड़ता है — इन सब का अध्ययन करता है। इससे कानून के सुधार में सुविधा होती है।

अंत में, विधिशास्त्र से हमें उस अध्ययन, शोध एवं अनुमान (Speculation) का बोध होता है, जिनका प्राथमिक लक्ष्य सर्वसाधारण के प्रश्न — 'कानून क्या है'? का उत्तर देना होता है। विधिवेत्ता की दृष्टि मे कानून उन प्रभावो की समष्टि है, जिनके द्वारा न्यायालयो में निर्णय दिए जाते है। कानून का प्रथम लक्ष्य है सामाजिक द्वंद्वो का निराकरण, यद्यपि सब प्रकार के द्वंद्व इस सीमा के अंदर नहीं आते। विधिवेत्ता रस्को पाउंड के अनुसार कानून का कार्य यह है कि वह लोगों के पारस्परिक हक का संतुलन करे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम मिले एवं समाज के हित के लिये उसे न्यूनतम त्याग करना पड़े।

सं० ग्रं० — जॉन सैमोंड : जूरिसप्रूडेंस, ११वाँ संस्करण, १९६०; डेनिस, ल्वायड : इंट्रोडक्शन टु जूरिसप्रूडेंस, पहला संस्करण, १९५९, डी० एफ० मुल्ला : हिंदू लॉ, १२वाँ संस्करण, १९५९, भूमिका पृष्ठ १—७३; एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग १३ (१९५९) पृ० १९७–२०६; चेंबर्स एनसाइक्लोपीडिया, भाग ८, पृ० ५१५।

[न० कु०]

विधि-संहिता-इतिहास संहिता का शाब्दिक अर्थ है संग्रह। अतः विधिनियमों का लिपिबद्ध रूप ही, सामान्य अर्थों में, विधिसंहिता कहलाता है। विधिनियमों के विकासक्रम में यह अत्यंत उच्च स्तर माना गया है क्योंकि विधि का लिपिबद्ध संग्रह तभी संभव है जब उन नियमों का रूप स्थिर हो चुका हो और वे सर्वमान्य हो चुके हों। सामाजिक विकासक्रम में सामाजिक संबंधों का नियमन क्रमशः दैवी आदेश, लोकरीति (जिसे अंग्रेजी में कस्टम कहते हैं), तथा न्यायिक निर्णय (जिसे अंग्रेजी में जुडीशल प्रीसीडेंट कहते हैं) द्वारा होना माना गया है। अतः स्पष्ट है कि विधिनियमों का संहिताकरण होने के पूर्व यह तीनो स्तर पार किए जा चुके होंगे।

संहिता शब्द से उसमें संगृहीत विधिनियमों के स्रोत का कोई आभास नहीं मिलता। भारत मे विधिनियमों के ऐसे संग्रह को संहिता के अतिरिक्त 'स्मृति' के नाम से संबोधित किया जाता है। इस 'स्मृति' शब्द से विधिनियमों के स्रोत का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। भारतीय शास्त्रकारों के मत से अन्य सभी प्रकार के ज्ञान की भाँति मनुष्य के कर्तव्याकर्त्तव्य के विधान का भी स्रोत चूँकि श्रुति ही है अतः विधिसंहिताओं का आधार उन संहिताकारो की स्मरणशक्ति ही है। इसी आधार पर मनुसंहिता का नाम मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यसंहिता का नाम याज्ञवल्क्य स्मृति, आदि है।

विधिनियमों को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता कदाचित् तब पड़ी होगी जब एक व्यापक क्षेत्र की स्थानीय लोकरीतियों में एकरूपता लाना जरूरी हो गया होगा। सब को कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान उपलब्ध हो सके, यह इच्छा भी संहिताकरण की प्रेरक रही होगी। संहिताकरण का उद्देश्य रूढ़ि के स्थान पर लिपिबद्ध विधिनियम को ही लोकव्यवहार का आधार बनाना होता है। किंतु प्रारंभिक विधि-संहिताएँ जिस रूप में हमें उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि वे संहिताएँ तत्कालीन लोकरीतियों के ही संग्रह हैं। और यह भी कि विधिनियमों को लिपिबद्ध करने के बाद भी लोकरीतियों से पूर्ण मुक्ति उपलब्ध नहीं हो सकी. क्योंकि उन संगृहीत विधिनियमों को व्यवहार में लोकरीति के ही अनुसार लाया जा सकता है।

विधिसंहिताओं का इतिहास हमें ईसा से दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व से उपलब्ध है। उन सभी विधि-संहिताओं का संक्षिप्त परिचय देने के पूर्व कदाचित् उचित यही होगा कि हम विधि-संहिता का आधुनिक अर्थ भी समझ लें ताकि विधि-संहिता तथा विधान मंडलों द्वारा विभिन्न विषयों पर पारित 'स्टैट्यूट्स' का अंतर भी स्पष्ट हो जाय।

आधुनिक अर्थ में विधिसंहिता की संज्ञा उसी विधिसंग्रह को दी जा सकती है जिसमें संपूर्ण अधिनियमों (ऐक्ट्स) का समावेश हो और उन अधिनियमों को व्यवहृत करने के लिये किसी अन्य आधार (लोकरीति की जानकारी) की आवश्यकता न पड़े। सामान्य संविधि (स्टैट्यूट्स) और विधिसंहिता में अंतर के तीन आधार है। (१) सामान्य अधिनियम किसी विषय के संपूर्ण रूप से संबंधित हो सकता है जब कि विधिसंहिता में तद्विषयक संपूर्ण चालू विधिनियम एक ही स्थान पर संगृहीत रहते हैं। (२) विधिसंहिता में नियमों का संग्रह सुबोधता का ध्यान रखते हुए, वर्गीकृत व्यवस्था के आधार पर किया जाता है। (३) विधिसंग्रह में भाषा की सरलता के साथ साथ स्पष्टता का भी ध्यान रखा जाता है ताकि नियमों का रूप विस्तारदोष से मुक्त संक्षिप्त होते हुए भी बहुअर्थ दोष उसमे न आ सके।

आधुनिक अर्थों में विधिसंहिता के विकास और राष्ट्रीय भावना का अन्योन्याश्रित संबंध रहा है: उदाहरण के लिये फ्रांस में कोड नेपोलियन की रचना के पीछे फ्रांसीसी क्रांति से उत्पन्न राष्ट्रीय भावना प्रेरक शक्ति थी। जर्मन कोड लगभग अपने पूर्ण रूप में यद्यपि विदेशी रोमन विधि पर ही आधारित था, तथापि सैविनी ने वोल्क-जीस्ट (जनचेतना) का ही संबल लिया था। दूसरी ओर विधिसंहिता की रचना के बाद उस समाज में राष्ट्रीय भावना के विकसित एवं व्याप्त होने में वही विधिसंहिता (सभी समान रूप से एक ही विधि के संरक्षण में होने के कारण) सहायक होती है जैसा इटली के इतिहास से सिद्ध है।

यूरोप

पश्चिम के इतिहास में सबसे प्राचीन और विस्तृत विधिसंहिता हमुराबी की संहिता मानी जाती है। ई० पू० २१०० मे बेबीलोन के राजा हमुराबी के नाम से प्रसिद्ध इस संहिता में प्रक्रिया संपत्ति तथा व्यक्ति विषयक विधिनियमो का उल्लेख है। इसके लगभग १४ शताब्दियों बाद हिब्रू भाषा में 'बुक ऑव कावेनेंट' (बाइबिल के २० वें और २३ वे अध्याय — 'एक्सोडस') के रूप में विधि-संहिता मिलती है। इसी के एक शती बाद 'बुक ऑव ला' (डेट्रोनोमी अर्थात् द्वितीय विधि) उपलब्ध है। इन विधिसंग्रहो से इसराइल के रीतिविधि के क्रमिक विकास का परिचय मिलता है।

विधिसंहिता के इतिहास में 'रोमन ट्वेल्व टेबिल्स' का महत्व अक्षुण्ण है। प्रथम तो इसलिये कि विधिसंहिता के शास्त्रीय रूप का यह उदाहरण है और दूसरे इसलिये कि इसी का विकसित रूप यूरोप के प्राय. सभी राष्ट्रो में तद्देशीय संहिताओं के रूप में प्रसारित है।

रोमन ट्वेल्व टेबिल्स की रचना के लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद इसमें क्षतिपूर्ति निर्धारित करने के सिद्धांत का अंश जो 'लेक्स एकिला' के नाम से प्रसिद्ध है, जोड़ा गया। तदुपरांत इसमें जोड़े जानेवाले अंश 'प्रिटोरियन एडिक्टा' तथा 'रिसपोंसा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार क्रमशः जुड़नेवाले अंशों के कारण कहीं कहीं परस्पर विरोधी नियम भी संमिलित हो गए तथा विषय-विभाजन भी अस्तव्यस्त सा हो गया। यह दोष जस्टीनियन द्वारा दूर किया गया और पूरी संहिता क्रमश. चार भागों—इंस्टीट्यूट्स, डाइजेस्ट, कोडेक्स तथा नोवेल्स में वैज्ञानिक रूप से विभाजित कर दी गई। रोमन विधिसंहिता का यही रूप यूरोप के विभिन्न देशों की संहिताओं का जनक कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ १३वीं सदी में स्पेन के अलफांसो कोड के नाम से प्रसिद्ध स्पैनिश भाषा में इसी का उल्था मात्र था। सरविया नरेश स्टीफेन दुशन की विधि-संहिता (१४वीं शताब्दी), बोहेमिया में कोड ऑव फर्डिनेंड (१७वीं शताब्दी), रूस के जार एलेक्सिस का 'इलोजेनिक' (१७वीं

शताब्दी), डेनमार्क नरेश क्रिश्चियन पंचम का 'डेंस्के लोव' (१७वीं शताब्दी), स्वीडेन का 'कोड फ्रेडरिक' (१८ वीं शताब्दी) तथा प्रशा का 'गेसेटज बुश' एवं 'लैंडरेच' (१८ वीं शताब्दी) इसी रोमन विधिसंहिता के आधार पर निर्मित हुए। १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में फ्रांस में 'कोड सिविल' तथा दंड, अपराध, व्यापार आदि विषयक अन्य संहिताओं की रचना के बाद ये नई संहिताएँ ही अन्य भावी विधिसंहिताओं की पथनिर्देशक बन गईं, क्योंकि फ्रांसीसी संहिताओं का रूप अधिक विकसित विधिनियम आधुनिक परिस्थितियों के अधिक अनुकूल तथा उनका विषयविभाजन एवं भाषा अधिक सरल तथा बोधगम्य थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जापान, स्विटजरलैंड तथा तुर्की ने अपनी विधिसंहिताओं की प्रेरणा फ्रांस से न लेकर जर्मनी की विधिसंहिता 'गसेट्ज बुश' से ली।

इंगलैंड

इंगलैंड की विधिव्यवस्था रोमन विधि से भिन्न 'सामान्य विधि' (कॉमन लॉ) व्यवस्था कहलाती है अर्थात् न्यायाधीशों के निर्णयों में निहित सिद्धांत ही विधिनियम है। कतिपय नियमों के लिपिबद्ध संग्रहों का उल्लेख इंगलैंड पर नार्मन विजय के पहले यद्यपि मिलता है जिन्हें 'डूम्स' कहा जाता था, तथापि विधिसंहिता अथवा उससे मिलती जुलती भी किसी रचना के अस्तित्व का इंगलैंड में अभाव ही रहा। १९वीं शताब्दी में जेरेमी बेंथम ने विधि के संहिताकरण की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया। उस आंदोलन का फल स्वयं अपने देश में प्रकट होने के पहले भारत मे प्रकट हुआ और उसकी सफलता स्पष्ट होने के बाद इंगलैंड मे भी वह प्रयास आरंभ हुआ। यद्यपि अब भी वहाँ कोई विधिसंहिता तो नहीं है और अब भी कुछ क्षेत्रों में सामान्य विधि ही लागू है तथापि काफी व्यापक क्षेत्र में विधि पार्लमेंट द्वारा पारित लिपिबद्ध रूप में अब उपलब्ध है।

अमरीका

अमरीका में भी सामान्य विधिव्यवस्था है। १९वीं शताब्दी में वहाँ भी एडवर्ड लिविंगस्टन तथा डेविड डडले फील्ड ने विधि के संहिताकरण की आवश्यकता पर बल दिया था। राज्य के विधि-निर्माता अंग के पूर्ण विकसित होने के बाद भावी विधिरचना तो स्पष्टतया लिपिबद्ध ही होती है किंतु सामान्य विधिनियमों को भी व्यवस्थित रूप में लिपिबद्ध करने का प्रयास १९२३ में अमरीकन ला इंस्टीच्यूट' की स्थापना कर प्रारंभ किया गया।

चीन में

चीन में भी प्रायः प्रारंभ से ही विधिनियम लिपिबद्ध रूप में प्रचलित रहे। कुछ विद्वानों का मत है कि चीनी विधिसंहिता हमुराबी से भी पूर्व की है। जो हो, अब उपलब्ध संहिता—'कोड ऑव टिंग'—६०० ई० की मानी जाती है। प्रायः वही संहिता 'मांचू कोड' के नाम से १७ वी शताब्दी में प्रचलित थी। यह अंग्रेजी में अनुवादित भी की जा चुकी है। वर्तमान चीन की विधिव्यवस्था का पूर्ण परिचय अभी नहीं मिल सका है। [जी० के० अ०]

विनय पिटक विनय पिटक भिक्षुसंघ का संविधान है। भगवान् बुद्ध के प्रथम उपदेश के बाद ही ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) में भिक्षुसंघ की स्थापना हुई। क्रमशः उसकी वृद्धि होती गई। प्रारंभिक संघ का शील संयम परिपूर्ण था। इसलिये बीस वर्ष तक सघ के लिये कोई नियम नहीं बना था। बाद में संघ की वृद्धि के साथ साथ कुछ असंयमी लोग भी उसमे प्रवेश करने लगे। इसलिये संघ की परिशुद्धि, संघटन और संचालन के लिये विनयनियम बनने लगे। समय समय पर आवश्यकतानुसार नियम बनते गए और उनका संग्रह विनय पिटक में किया गया है।

प्राचीन परंपरा के अनुसार विनय पिटक के तीन विभाग हैं—१. उभतोविभंग, २. खंधक, और ३. परिवार। उभतोविभंग सुत्तविभंग भी कहलाता है। इसके दो भाग हैं—भिक्खुविभंग और भिक्खुणीविभंग। अट्ठकथाओं में इस प्राचीन विभाजन का ही उल्लेख आया है।

अर्वाचीन परंपरा के अनुसार पाँच विभाग हैं—१. पाराजिकपालि, २. पाचित्तियपालि, ३. महावग्गपालि, ४. चुल्लवग्गपालि, और ५ परिवारपालि। पाराजिकपालि और पाचित्तियपालि उभतोविभंग के अंतर्गत है। महावग्गपालि और चुल्लवग्गपालि खंधक के अंतर्गत है। उभतोविभंग के अंतर्गत नियम निषेधात्मक है। उनके सात विभाजन है, जो सप्त आपत्ति स्कंध (सत्त आपत्तिक्खधा) कहलाते है। आपत्ति का अर्थ है अपराध। ये विभाजन सात प्रकार के अपराधों को लेकर हुए हैं। सप्त आपत्तिस्कंध इस प्रकार हैं — १. पाराजिका धंमा, २. संघादिसेस धंमा, ३. अनियता धंमा, ४. निस्सग्गिया पाचित्तिया धंमा, ५. पाचित्तिया धंमा, ६. सेखिया धंमा, और ७. अधिकरणसमथा धमा।

१ पाराजिक का अर्थ है पराजय का कारण। इनमें मैथुन आदि चार वस्तुएँ निर्दिष्ट है, जिनसे भिक्षु भिक्षुभाव को खो देता है, और संघ से उसका निष्कासन होता है।

२. संघभेद इत्यादि तेरह प्रकार के संघादिसेस हैं। इनमे से किसी आपत्ति को प्राप्त भिक्षु को छह दिन तक संघ से बाहर रहकर प्रायश्चित्त करना पड़ता है। फिर शुद्धि के बाद वह सघ में प्रवेश पा सकता है। इस प्रकार इस कर्म के आदि और अंत मे संघ की आवश्यकता पड़ती है।

३. अनियत दो है। अनियत का अर्थ है अनिश्चित। दो अनिश्चित परिस्थितियों में विश्वसनीय साक्ष्य के अनुसार इन आपत्तियों का निर्णय होता है। दोनों स्त्रीप्रसंग को लेकर है।

४. निस्सग्गिय पाचित्तिय तीस हैं। वे सब चीवर और पात्र संबंधी हैं। जो विहित संख्या से अधिक पात्र और चीवर ग्रहण करता है, उसे उन्हें त्याग कर प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

५. पाचित्तिय बानबे हैं। इनके अंतर्गत असत्यभाषण आदि किसी आपत्ति के होने पर प्रायश्चित्त के बाद संयम के लिये संकल्प करना पड़ता है।

६. सेखिया पचहत्तर हैं। ये नियम खाना पीना, उठना बैठना, चलना फिरना इत्यादि शिष्टाचार संबंधी बातों के विषय में हैं। इसलिये ये गौण दोष (लहुकापत्ति) कहलाते हैं।

७. अधिकरण समथ सात हैं। इनमें सात प्रकार से विवादों का समाधान बताया गया है।

इस प्रकार ये नियम कुल २२७ हैं, जो विशेष रूप से भिक्षुसंघ को लागू हैं। इनमें से अधिकांश भिक्षुणीसंघ को भी लागू हैं। इनके अतिरिक्त भिक्षुणीसंघ के लिये आठ गुरुधर्म जैसे कुछ विशेष नियम भी हैं। भिक्षुणियों के लिये ८ पाराजिक, १७ संघादिसेस, ३० निस्सग्गिय, और १६६ पाचित्तिय हैं। उभतोविभंग में संपूर्ण इतिहास के साथ इन नियमों की विशद व्याख्या है। प्राचीनता और महत्व के कारण इस व्याख्या को मूल विनय का ही अंश माना गया है।

भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख में इन नियमों का अलग अलग संग्रह हुआ है। महीने में दो बार—पूर्णिमा और अमावस्या के दिन—संघ में इन नियमावलियों का पाठ होता था। यदि कोई सदस्य किसी अपराध का दोषी होता तो वह नियमानुसार दंड के अधीन होता। बौद्ध देशों में यह प्रथा अब भी प्रचलित है।

खंधक का पहला भाग महावग्ग है। इसके प्रारंभ ही में बुद्धत्व की प्राप्ति से लेकर राजगृह प्रवेश तक की भगवान् बुद्ध की जीवनी आई है। इस वृत्तांत में सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन, पंचवर्गीयों, यश और भद्रवर्गीयों की प्रव्रज्या, गयाशीर्ष में शिष्यमडली सहित तीन जटिल भाइयों की प्रव्रज्या और राजगृह में बिंबिसार नरेश की दीक्षा आदि बातों का उल्लेख आया है। फिर प्रव्रज्या, उपसंपदा, गुरु शिष्य का संबंध, उनके कर्तव्य, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा आदि संस्कारों की विधि बताई गई है। चप्पल, चीवर, औषधि इत्यादि वस्तुओं के उचित प्रयोग संबंधी नियम भी दिए गए हैं। अंतिम अध्यायों में दंडिविधान संबंधी कुछ बातों और कौशाबी के भिक्षुओं के विवाद का वर्णन आया है।

खंधक का दूसरा भाग चुल्लवग्ग है। इससे अनुचित कुलसंसर्ग के दोष, संघादिसेस आपत्ति को प्राप्त भिक्षु के लिये विहित 'मानत्त' नामक प्रायश्चित्त, विवादों की समाधानविधि, खाना पीना पहनना इत्यादि छोटी छोटी बातों में भी उचित और अनुचित का ध्यान, अनुरूप विहार, देवदत्त द्वारा संघभेद, भिक्षुणीसंघ की स्थापना आदि बातों का वर्णन है। अंतिम दो अध्यायों में प्रथम और द्वितीय संगीतियों का वर्णन है।

परिवारपालि में कोई नई बात नहीं है। इसमें प्रकरण सहित विनय नियमों को प्रश्नोत्तर के रूप में सरल विधि से समझाया गया है। यह विनय के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लंका के किसी आचार्य द्वारा रचित है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संघ की पारिशुद्धि, व्यवस्था और संचालन संबंधी नियमों को लेकर विनय पिटक का निर्माण हुआ है। प्रकारांतर से इसमें बुद्ध की जीवनी, संघ की स्थापना और धर्म के प्रचार संबंधी बातों का भी वर्णन आया है। इसलिये बुद्धशासन के लिये विनय पिटक का महत्व असाधारण है। साथ ही इससे बुद्धकालीन भारतीयों का सामाजिक अवस्था, नैतिक स्तर, रहन सहन आदि बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। अत: विनय पिटक का ऐतिहासिक महत्व भी सुत्त पिटक से कम नहीं है।

थेरवादी विनय के अतिरिक्त विनय के और पाँच संस्करण चीनी में तथा एक आध तिब्बती में उपलब्ध हैं। वे इस प्रकार हैं: सर्वास्तिवादी विनय, मूलसर्वास्तिवादी विनय, धर्मगुप्त विनय, महासंघिक विनय, महिंसासक विनय। विद्वानों ने अपने निबंधों द्वारा इनपर प्रकाश डाला है। गिलगिट से प्राप्त बौद्ध ग्रंथों में भी विनय का कुछ अंश है। इसका संपादन डा० नलिनाक्ष दत्त ने किया है। स्वर्गीय राहुल जी जिन ग्रंथों को तिब्बत से लाए थे, उनमें भी विनय के कुछ ग्रंथ हैं। उनका संपादन बिहार शोध प्रतिष्ठान द्वारा हो रहा है। [भ०]

विनिक्स जाँ बैपटिस्ट (Weenix Jan Baptist) डच चित्रकार। जन्म ऐम्स्टर्डम में १६२१ ई० में हुआ। इसके पिता एक राजनेता थे। एब्राहम ब्लूमार्ट तथा निकोलस से इसने शिक्षा ग्रहण की। २२ वर्ष की अवस्था में रोम गया। वहाँ समुद्री दृश्यों, भूदृश्यों, तथा स्थापत्य की सुंदर कृतियों द्वारा यथेष्ट ख्याति अर्जित की। यह अत्यंत तीव्र गति से कार्य करनेवाला व्यक्ति था। इसकी मृत्यु उट्रेख्ट में १६६० में हुई। [गु० त्रि०]

विनिपेग १. नगर, स्थिति : ४९° ५०′ उ० अ० एवं ९७° १५′ प० दे०। यह कैनाडा के मैनिटोबा प्रांत की राजधानी एवं प्रमुख नगर है। यह प्रांत के पूर्वी भाग में ऐसिनिबाइन एवं रेड नदियों के संगम पर स्थित है। संयुक्त राज्य, अमरीका, की सीमा ९६ किमी० उत्तर में तथा विनिपेग झील से ७२ किमी० दक्षिण में, यह नगर स्थित है। झील के नाम पर ही नगर का नाम विनिपेग पड़ा है। नगर की जनसंख्या २,६५,४२९ (१९६१) है।

सन् १८८५ में कैनाडियन पैसिफिक रेलवे का निर्माण हो जाने पर कैनाडा के पश्चिमी भाग का सीधा संबंध पूर्वी भाग से हो गया, जिसके कारण विनिपेग बहुत बड़ा वितरणकेंद्र हो गया। यह कैनाडियन पैसिफिक और कैनाडियन राष्ट्रीय रेलवे का पश्चिमी मुख्य केंद्र है। इसका संयुक्त राज्य, अमरीका, से सीधा संबंध सू लाइन, ग्रेट नार्दर्न एवं नार्दर्न पैसिफिक रेल द्वारा है। हडसन बे रेलवे द्वारा विनिपेग नगर मैनिटोबा राज्य के उत्तरी भाग से संबद्ध है। इस उत्तरी भाग में खदानों के विकास के कारण अनेक प्रकार की मशीनों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का आना जाना विनिपेग से होता है।

विनिपेग में थोक तथा निर्यात व्यापार बहुत अधिक है। पश्चिमी कैनाडा के गेहूँ के उत्पादन का ३/४ विनिपेग में ही आता है। यह नगर अनाज की मंडी भी है। यहाँ फर का भी व्यापार होता है।

विनिपेग नदी पर स्थित विनिपेग बिजली रेलवे कंपनी और म्युनिसिपल कारपोरेशन द्वारा सस्ती बिजली उपलब्ध कराने के कारण विनिपेग में औद्योगिक विकास भी तीव्रता से हुआ है। यहाँ के प्रमुख उत्पादन हैं : आटा और उससे तैयार होनेवाले पदार्थ, कागज के डिब्बे, मांस तथा मांस से निर्मित पदार्थ, मछलियाँ, औजार, ईंट और जिप्सम।

विनिपेग की चौड़ी सड़कों के किनारों पर वृक्ष लगे हुए हैं। नगर में किडोनान एवं एसिनीब्वायान नाम दो बड़े पार्क हैं। मैनिटोबा विश्वविद्यालय, मिलिटरी बैरक और अस्पताल नगर के

बाहर हैं। यहाँ के मुख्य भवन १९२० ई० में ८४ लाख डालर के व्यय से निर्मित, मैनिटोबा संसद भवन, प्रेक्षागृह और लॉ कोर्ट भवन हैं।

२. झील, स्थिति : ५२° ३०′ उ० अ० तथा ९८° ०′ प० दे०। कैनाडा के मैनिटोबा प्रांत में लगभग २१७ मीटर की ऊँचाई पर यह झील स्थित है। झील लगभग ४१६ किमी० लंबी तथा ४० से ९६ किमी० तक चौड़ी है। इसका क्षेत्रफल लगभग २४०६० वर्ग किमी० है। झील में कई छोटे बड़े टापू है, जिनमें रेन्डीयर (लगभग १४१ वर्ग किमी०) मुख्य है।

इसकी गहराई लगभग ११ मीटर है। इसका दक्षिणी किनारा काफी दलदली है। इसमें मिलनेवाली नदियों मे मुख्य हैं : दक्षिण की ओर से रेड नदी, पूरब की ओर से विनिपेग, ब्लडवेन, बैरेन और पापल्ट तथा पश्चिम की ओर से डॉफिन एवं सैस्केचेवान नदियाँ। इस झील में मैनिटोबा झील और विनिपेगोसिस झील का जल आता है तथा झील का जल नेल्सन नदी द्वारा हडसन की खाड़ी मे जाता है। [श्री० ना० सिं०]

विनिपेगोसिस झील स्थिति : ५१° ३४′ से ५३° ११′ उ० अ० तथा ९९° ३७′ से १०१° ६′ प० दे०। यह झील कैनाडा के मैनिटोबा और सैस्केचेवान प्रांतों मे स्थित है। इसकी सबसे अधिक लंबाई १५२ मील और सबसे अधिक चौड़ाई १७ मील है। टापुओं को छोड़कर इस झील का कुल क्षेत्रफल २,०८६ वर्ग मील है। यह समुद्रतट से ८३१ फुट की औसत ऊँचाई पर है। इसमें गिरनेवाली नदियों में वाटरहेन नदी है जो वाटरहेन झील से होकर आती है। इसकी खोज १७३९ ई० मे पियरे डी ला वेरेंड्री ने की थी।

[श्री० ना० सिं०]

विनिमय, विदेशी विदेशी विनिमय के संबंध मे विचार करने से पहले विनिमय शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। विनिमय का साधारण अर्थ यह है कि किसी एक वस्तु के बदले आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ प्राप्त करना। वस्तुओं के क्रय विक्रय अथवा अदल बदल को भी विनिमय कहते हैं। विदेशी विनिमय मे भिन्न देशों की लेनी देनी का पारस्परिक विनिमय होता है। इसमें विनिमय की दर के विवेचन के अतिरिक्त उस सब लेनी देनी का विवेचन भी शामिल है जिसके द्वारा एक देश अन्य देशों का देनदार और लेनदार बन जाता है। विदेशी विनिमय मे इस बात का भी विचार किया जाता है कि उस लेनी देनी का किस प्रकार भुगतान किया जाता है और उसकी विषमता का विनिमय की दर पर क्या प्रभाव पड़ता है।

हमे यह विचार करना है कि कोई देश अन्य देश का किन कारणों से देनदार और लेनदार हो जाता है। जितनी रकम की वस्तुएँ बाहर से किसी देश में आती हैं उतनी रकम का वह देश अन्य देशो का देनदार हो जाता है और जितनी रकम की वस्तुएँ वह बाहर अन्य देशों को भेजता है उतनी रकम का वह लेनदार हो जाता है। विदेशी जहाजों पर माल का आयात होने से जहाजों के भाड़े के लिये भी वह अन्य देशों का देनदार हो जाता है। इसी प्रकार अपने जहाज पर माल बाहर भेजने के कारण वह अन्य देशों का लेनदार भी हो जाता है। देश की सरकार या व्यक्ति यदि अन्य देश के ऋणपत्र (सिक्यूरिटी) एवं शेयर आदि खरीदता है तो देश अन्य देशों का लेनदार हो जाता है। इसके अतिरिक्त विदेशियों से कर्ज लेने के समय भी अन्य देशों का देनदार हो जाता है। देश में कार्य करनेवाले विदेशियों की बचत और मुनाफे के कारण भी देश अन्य देशों का देनदार हो जाता है। जब देश किसी कारण से अन्य देशों को विशेष 'कर' देने के लिये बाध्य किया जाता है तो वह इस रकम के लिये अन्य देश का देनदार हो जाता है।

उपर्युक्त लेन देन का भुगतान करने के लिये कुछ देशों में तो सोने चाँदी के सिक्के प्रचलित हैं और उनका लेन देन इन्हीं सिक्कों में कूता जाता है। यदि किसी कारण से देश को अपना कर्ज चुकाने का कोई अन्य साधन नही मिलता तो उसे सोना या चाँदी भेजने के लिये बाध्य होना पड़ता है। व्यापारी लोग प्रायः भुगतान विदेशी हुंडियों से ही करते हैं क्योंकि अब सरकार द्वारा सोना चाँदी बाहर भेजने पर रोक लगा दी गई है। हुंडी एक प्रकार का आज्ञापत्र है। हुंडी लिखनेवाला किसी व्यक्ति या संस्था को यह आज्ञा देता है कि वह हुंडी में लिखी रकम नामोल्लेख किए हुए व्यक्ति को दे दे। ऐसी हुंडी को व्यापारी हुंडी कहते हैं। व्यापारी हुंडी के अतिरिक्त एक और दूसरी तरह की हुंडियो का उपयोग किया जाता है जिन्हें रोजगारी हुंडी कहते है। इनके अतिरिक्त यात्री हुंडी, सरकारी हुंडी और बैंकों द्वारा जारी की गई हुंडियों का उपयोग भी विदेशी व्यापारिक लेन देन चुकाने मे होता है।

उपर्युक्त लेन देन जिस दर पर चुकाया जाता है उसे विनिमय दर कहते हैं। इस दर पर प्राय. बैंकों द्वारा विदेशी दर्शनी हुंडियाँ सकारी जाती है और इसी दर पर किसी समय देश की लेनी देनी की विषमता का प्रभाव पड़ता है। यदि सरकार द्वारा बाहर सोना भेजने मे कोई रोक टोक न हो और देश की देनी लेनी से बहुत अधिक हो तो विनिमय की दर उस सीमा तक पहुँच जाती है जब देशवासियों को हुंडी के बदले सोना भेजने में ही सुविधा होती है। इस सीमा को स्वर्ण-निर्यात-दर कहते हैं और विनिमय की दर इसके बाहर नहीं जाती। इसके विपरीत अन्य देशों से किसी देश को देनी की अपेक्षा लेनी बहुत अधिक होती है तब उस देश की विनिमय की दर उस सीमा तक पहुँच जाती है जब अन्य देशो को उस देश में हुंडियाँ भेजने के बदले सोना भेजने में सुविधा होती है। इस दर को स्वर्ण-आयात-दर कहते हैं। विदेशी विनिमय की दर इस सीमा से बाहर नही जाती। इस प्रकार स्वर्ण आयात और निर्यात दर के अंदर ही किसी देश की विनिमय की दर घटती बढ़ती है।

अब हमें यह जानना है कि विनिमय की दर की अत्यधिक घटबढ़ का व्यापार या भिन्न भिन्न वर्गों के मनुष्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है। जब विनिमय की दर स्वर्ण-आयात-दर से बाहर जाने लगती है तो देश मे बाहर से माल मँगानेवालों को लाभ होता है और आयात को उत्तेजना मिलती है। साथ ही साथ देश से बाहर माल भेजनेवालों को हानि उठानी पड़ती है। देश के अंदर की वस्तुओं की कीमत कुछ घटने लगती है। उन उद्योगों को हानि होती

है जिनका देश के अंदर विदेशी सस्ते माल से मुकाबला रहता है। इस प्रकार विनिमय की दर की अत्यधिक घटबढ़ से किसी को तो लाभ होता है और किसी को हानि। व्यापारियों को हजारों का नुकसान हो जाता है और कुछ को उतना ही फायदा हो जाता है। इस हानि लाभ से बचने के लिये प्रत्येक देश की सरकार का यह प्रयत्न हो जाता है कि वह विनिमय की दर को अत्यधिक घटने बढ़ने से रोके।

वर्तमान काल मे संसार के अधिकांश देशों में (अमरीका को छोड) सोने और चाँदी के प्रामाणिक सिक्के प्रचलित नही है। पत्र-मुद्रा का सर्वत्र ही प्रचार है। स्वर्ण के आयात और निर्यात पर सरकारों द्वारा रोक लगा दी गई है। इस कारण किसी भी देश की सरकार को अपने देश की विदेशी विनिमय की दर का नियंत्रण करना आवश्यक हो जाता है। वह हमेशा प्रयत्न करती है कि यह किसी भी समय देश की देनी लेनी से बहुत अधिक न होने पावे।

विदेशी विनिमय के नियंत्रण करने का प्रधान कारण यह है कि विनिमय दर में घटबढ़ होने के कारण अंतरराष्ट्रीय व्यापार को बहुत धक्का लगता है। अत इस घटबढ को रोकने के लिये अनेक राष्ट्रों ने विदेशी विनिमय समीकरण कोषों की स्थापना की। उस कोष में स्वदेश का द्रव्य और अन्य देशों का द्रव्य और सोना भी रहता है। आर्थिक संकट के समय भी कभी कभी देश की पूँजी को बाहर जाने से रोकने के लिये विदेशी विनिमय का नियंत्रण किया जाता है।

संसार के प्रधान देशो ने मिलकर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की है। इस कोष की स्थापना से देशों के बीच वित्तीय मामलो में अधिक निकट सहयोग का युगारंभ हुआ। इस कोष की कुल पूँजी ८०० करोड़ डालर के बराबर है। इसमें प्रत्येक देश का हिस्सा निर्धारित कर दिया गया है। भारत का हिस्सा ४० करोड़ डालर है। इस कोष का प्रधान कार्य विदेशी विनिमय में अस्थिरता कम करने में सदस्य देशों की सहायता करना है। चालू व्यापार के लेन देन मे व्यापकता लाने में भी यह कोष सहायक होता है। इसके अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय लेन देन को चुकता करने में भी यह सहायक होता है।

विदेशी विनिमय की दर को स्थिर करने के लिये कोष के अधिकारियों ने कुछ नियम बनाए है जिनके अनुसार प्रत्येक सदस्य देश को अपने द्रव्य का विनिमय मूल्य सोने अथवा डालर में निश्चित कर कोष के अधिकारियो को सूचित करना पड़ता है। भारत के रुपए का मूल्य ०·००८६३५७ औंस शुद्ध स्वर्ण के बराबर है जिसका आधार तत्कालीन विनिमय दर १ रुपया = १ शि० ६ पे०, १ पौ० = ४·०३ डालर और एक शुद्ध औंस स्वर्ण = ३५ डालर थी।

सितंबर, १९४९ में इग्लैंड ने स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया जिससे डालर का विनिमय अनुपात घट गया। भारत ने भी रुपए के डालर मूल्य को ३०·२२५ सेंट से घटाकर २१ सेंट कर दिया किंतु स्टर्लिंग मूल्य को १ शिलिंग ६ पेंस ही रहने दिया। पाकिस्तान ने मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। इस कारण भारतीय रुपए का मूल्य पाकिस्तानी रुपए के बराबर न रहा। परिवर्तित विनिमय दर के अनुसार १०० पाकिस्तानी रुपए १४४ भारतीय रुपए के बराबर हो गए।

भारतीय विदेशी विनिमय का इतिहास अपने ही ढंग का है। सन् १८९३ में भारत सरकार ने इंग्लैंड के सिक्के शिलिंग पेंस में रुपए की एक कानूनन दर निर्धारित की थी वह दर १ रु० = १ शि० ४ पे० थी। भारत सरकार इस दर को सन् १९१७ तक बनाए रखने में समर्थ रही। इसके बाद विनिमय की दर का बढ़ना प्रारंभ हुआ। विनिमय की दर के बढ़ने का प्रधान कारण चाँदी की कीमत में वृद्धि थी। चाँदी की कीमत इतनी बढ़ गई थी कि भारत का चाँदी का रुपया प्रामाणिक सिक्का हो गया। सन् १९१८ मे यह दर १ शि० ६ पें० हो गई। मई और अगस्त, सन् १९१९ मे यह दर क्रमश. १ शि० ८ पे० और १ शि० १० पे० हो गई। चाँदी की कीमत फिर भी बढ़ती ही गई। इसी वर्ष विनिमय की दर सितंबर मे २ शिलिंग, नवंबर में २ शि० २ पे० तथा दिसंबर में २ शि० ४ पे० तक बढ़ गई।

सन् १९२० के फरवरी महीने के प्रथम सप्ताह मे करेंसी कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। कमेटी ने यह सिफारिश की कि भारतीय विनिमय की कानूनन दर बढ़ा दी जाय पर कमेटी ने ऊँची दर से होनेवाली हानियो की तरफ पूरा ध्यान नहीं दिया। इस दर से भारत के निर्यात व्यापार और उद्योग धंधों को भारी क्षति पहुँचने की संभावना थी, परतु उसने इसकी परवाह न की। कुछ समय बाद विनिमय की दर घटना आरंभ हुआ और वह अप्रैल, सन् १९२० तक २ शि० पौने चार पेंस तक गिर गई। विनिमय की दर गिरती ही गई और १९२० के अंत तक वह गिरते गिरते १ शि० १०½ पे० तक आ गई। इस बीच भारत सरकार को कई लाख रुपयो की उल्टी हुँडिया एवं कई लाख रुपए का सोना घाटे पर बेचना पड़ा। उल्टी हुंडियों को बेचने से भारत सरकार को करीब ३२ करोड़ की हानि हुई और घाटे पर सोना बेचने से करीब ८ करोड की हानि हुई। इस प्रकार भारत को लगभग ४० करोड़ रुपयो की हानि हुई।

कई करोड़ रुपयो की हानि उठाने के बाद सितंबर, सन् १९२० से भारत सरकार ने विनिमय संबधी वातों में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई। इससे विनिमय दर की अस्थिरता और भी बढ़ती गई। सन् १९२१ से १९२५ तक यह दर १ शि० ६ पें० एवं १ शि० ३ पे० के बीच घटती बढ़ती रही। इस अस्थिरता के कारण भी देश को बहुत नुकसान हुआ।

हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट सन १९२६ ई० में प्रकाशित हुई। इस कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारतीय विनिमय की दर १ शि० ६ पें० निश्चित हुई और भारत सरकार ने आवश्यक कानून बना दिए। आज तक वह उसी दर को बनाए रखने का प्रयत्न कर रही है। परंतु इस संबंध मे एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह दर कागजी पौंड की है, न कि स्वर्ण पौंड की।

सं० ग्रं० — (१) डब्ल्यू० एफ० स्पाल्डिंग : फॉरेन एक्सचेंज ऐंड फारेन बिल्स (२) एच० एस० जेवंस : फ्यूचर ऑव एक्सचेंज इन इंडिया : (३) गाशेन : थियरी आफ फॉरेन एक्सचेंज। [द० शं० दु०]

विनोग्रैड्स्की, एस० एन० रूस के निवासी थे, किंतु इन्होंने फ्रांस में रहकर वैज्ञानिक कार्य किए। ये बड़े प्रसिद्ध सूक्ष्मजीव विज्ञानी (microbiologist) थे। इन्होंने सन् १८९१ में स्लोएसिंग तथा मुंट्स द्वारा खोज की गई नाइट्रीकरण क्रिया पर कार्य करते हुए, उन दो जीवाणुओं को ढूँढ निकाला जो नाइट्राइट तथा नाइट्रेट बनाते थे। इन्होंने मिट्टी में अमोनिया को नाइट्राइट मे परिवर्तित करनेवाले जीवाणुओं को नाइट्रोसोमोनास (Nitrosomonas) तथा नाइट्राइट को नाइट्रेट में परिवर्तित करनेवाले जीवाणुओं को नाइट्रोबैक्टर (Nitrobacter) नाम प्रदान किए। भूमि संबंधी सूक्ष्मजीवविज्ञान के क्षेत्र मे यह खोज अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस खोज के पूर्व सन् १८९० में इन्होंने स्वपोषित (autotrophic) सूक्ष्म जीवाणुओं के संबंध में विस्तार से कार्य किया और गंधक जीवाणुओं (sulphur bacteria) तथा लौह जीवाणुओं (iron bacteria) की खोज की थी। १८९३ ई० में इन्होंने कतिपय जीवाणुओं द्वारा नाइट्रोजन के यौगिकीकरण पर कार्य किया। इस दिशा में कार्य करते हुए, इन्होंने क्लॉस्ट्रीडियम पैस्टुरियानम (Claustridium pasturianum) नामक अवायु (anaerobic) जीवाणुओं की खोज की। ये जीवाणु मिट्टी में कुछ गहराई तक बिना ऑक्सीजन के भी वायुमंडल के नाइट्रोजन को यौगिकीकृत करने में समर्थ होते हैं। इन जीवाणुओं की विशेषता यह है कि इन्हें जलविलेय शर्करा के विघटन से ऊर्जा प्राप्त होती है। यदि प्रणाली में अमोनियम लवण का लेशमात्र भी पाया जाता है, तो नाइट्रोजन का यौगिकीकरण नहीं हो पाता।

इन खोजों के संबंध में जीवाणुओं के संबंध प्राप्त करने के लिये इन्होंने 'सिलिका जेल' विधि का सूत्रपात किया, जो बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है।

सन् १९४९ में इन्होंने माइक्रोबायलोजी ड सोल प्राब्लेम्स एट मेथोड (Microbiologie du Sol Problems et Methode) नामक एक पुस्तक फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित की, जिसमें न केवल इनके द्वारा किए गए कार्य का विस्तृत वर्णन है वरन् सूक्ष्मजीवविज्ञान के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण कार्य किया जा चुका था उसकी भी विवेचना है। [शि० गो० मि०]

विन्यासरसायन, या त्रिविमरसायन (Stereochemistry) स्टीरिओ शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द स्टिरिऑस (sterios) से, जिसका अर्थ ठोस होता है, हुई है और यह रासायनिक यौगिकों के उन गुणों से संबंधित है जो उनके अणु के परमाणुओं की त्रिविम व्यवस्था पर निर्भर हैं। इस लेख में हम इस शब्द का सीमित अर्थ में उपयोग करेंगे, जिसका अभिप्राय किसी अणु के त्रिविम रासायनिक गुणों से है। परमाणुओं की त्रिविम व्यवस्था का सबसे प्रमुख फल त्रिविम समावयवता (stereo-isomerism) है। समावयवी वे यौगिक है जिनका अणुसूत्र एक होता है, पर कुछ भौतिक तथा रासायनिक गुणों में वे भिन्न होते हैं। यह विभिन्नता इनके अणुओं के भीतर परमाणुओं की व्यवस्था की भिन्नता के कारण होती है। एथिल ऐलकोहॉल और डाइमेथिल ईथर दोनों का अणुसूत्र एक ही का$_2$हा$_6$औ (C_2H_6O) है, पर अणुओं मे परमाणुओं का विन्यास भिन्न भिन्न है।

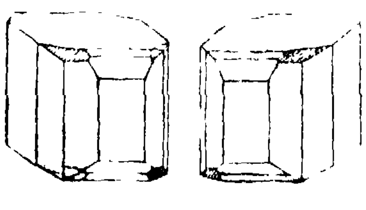
विन्यास समावयवता दो प्रकार की होती है: एक प्रकाशीय समावयवता और दूसरी ज्यामितीय समावयवता। प्रकाशीय समावयवी असममित होने के कारण प्रकाशतः सक्रिय होते हैं तथा बहुत से रासायनिक और भौतिक गुणों में समान होते हैं। इनका सबसे प्रमुख अंतर ध्रुवित प्रकाश के साथ की क्रिया है, क्योंकि इन समावयवियों का घूर्णन बराबर और विपरीत दिशा में हो सकता है। ज्यामितीय समावयवियों के रासायनिक तथा भौतिक गुणों मे भिन्नता होती है।

विन्यासरसायन के प्रारंभिक इतिहास का वास्तविक अध्ययन प्रकाश की कुछ घटनाओं की खोज से आरंभ होता है। १८०८ ई० में मालुस (Malus) ने घूर्णन द्वारा प्रकाश के ध्रुवण की खोज की और तीन वर्ष बाद आरागो (Arago) ने स्फटिक के प्रकाशीय सक्रिय होने का पता लगाया। १८१५ ई० में बिओ (Biot) ने पता लगाया कि ठोसों के साथ साथ द्रव और गैसें भी विलयन में प्रकाशसक्रिय होती हैं।

विशिष्ट घूर्णन — किसी प्रकाशतः सक्रिय पदार्थ का विशिष्ट घूर्णन $[\alpha]_\lambda^t = \frac{\alpha}{l d}$ समीकरण के द्वारा दर्शाया जाता है, जिसमें विशिष्ट घूर्णन $[\alpha]_\lambda^t$, प्रकाश की तरंग लंबाई λ तथा $t°$ ताप के लिये है और α प्रकाश के घूर्णन का अंश (degree) है, जो 1 सेंटीमीटर लंबी नली से होकर प्रकाश के जाने से प्राप्त हुआ तथा d नली मे भरी हुई प्रकाशसक्रिय वस्तु की प्रति घन सेंमी० सांद्रता है। दाहिनी ओर के घूर्णन को धनात्मक (+) तथा बाईं ओर के घूर्णन को ऋणात्मक (−) कहते हैं। विशिष्ट घूर्णन प्रकाश तरंग, लंबाई, ताप, विलायक तथा सांद्रण पर निर्भर है। कभी कभी इनके परिवर्तन के कारण घूर्णन की दिशा ही विपरीत हो जाती है।

शेले (Scheele) ने १७६८ ई० मे टार्टरिक अम्ल अंगूरों के टार्टर से प्राप्त किया तथा १८१९ ई० में केस्टनर (Kastner) ने उसी संघटन का एक अम्ल उपजात के रूप में पाया और इसका नाम रैसिमिक (Racemic) अम्ल रखा। १८३८ ई० में बिओ ने पता लगाया कि टार्टरिक अम्ल प्रकाशतः सक्रिय है और रेसिमिक अम्ल प्रकाशतः निष्क्रिय है। ध्रुवित प्रकाश तथा प्रकाशतः सक्रियता की खोज के उपरात विन्यासरसायन के सिद्धांतों में उल्लेखनीय प्रगति पैस्टर (Pasteur) के द्वारा हुई। पैस्टर ने पता लगाया कि टार्टरिक और रेसिमिक अम्लों का संघटन तथा उनका संरचनासूत्र HOOC − CHOH − CHOH − COOH एक है, पर उनके भौतिक गुणों में भिन्नता है। रेसिमिक अम्ल, टार्टरिक अम्ल की अपेक्षा पानी मे कम विलेय है तथा टार्टरिक अम्ल और उसके लवण प्रकाशतः सक्रिय हैं, पर रेसिमिक अम्ल और उसके लवण प्रकाशतः निष्क्रिय हैं। पैस्टर की सबसे विख्यात खोज रेसिमिक अम्ल के सोडियम और अमोनियम लवण पर हुई। यह लवण जब जल से २२° पर क्रिस्टलीकृत होता है, तो इसके क्रिस्टल दूसरे रेसीमेट से भिन्न होते हैं और इनकी अर्धफलकीय फलिकाएँ

(hemihedral facets) होती हैं। दो प्रकार के क्रिस्टल प्राप्त होते हैं, एक तो दक्षिणावर्त सोडियम अमोनियम टार्टरेट की भाँति सर्वसम और दूसरी तरह के क्रिस्टल, जिनकी अर्धफलकता (hemihedrism) इनके विपरीत होती है। इस दूसरे प्रकार के क्रिस्टल को दर्पण प्रतिबिंब की संज्ञा दी गई। इनको जब मिश्रण से पृथक् किया गया तो इसका जलीय विलयन वामावर्त (laevo-rotatory) था। इससे प्राप्त अम्ल का क्रिस्टल भी टार्टरिक अम्ल के क्रिस्टल के दर्पण प्रतिबिंब के रूप मे था और विलयन भी वामावर्त था। इसलिये इस अम्ल को टार्टरिक अम्ल का दूसरा रूप समझा गया। इनके क्रिस्टल असममित होते हैं :



चित्र १. प्रतिबिंबरूपी क्रिस्टल

सोडियम अमोनियम टार्टरेट के ये दोनों क्रिस्टल परस्पर प्रतिबिंबरूपी है।

प्रकाशीय समावयवता (Optical Isomerism) — यह पाया गया कि केवल वे ही क्रिस्टल तथा अणु, जिनके दर्पण प्रतिबिंब अध्यारोपित (superimpose) नही होते, प्रकाशत. सक्रिय होते हैं। ऐसी संरचना को असममित कहते हैं।

बहुत से पदार्थ ठोस अवस्था मे ही प्रकाशतः सक्रिय होते हैं, जैसे स्फटिक, सोडियम क्लोरेट आदि। सर्वप्रथम ज्ञात, प्रकाशतः सक्रिय पदार्थ स्फटिक ही है, जिसके क्रिस्टल दो प्रकार के, एक दक्षिणावर्त और दूसरा वामावर्त, होते हैं। ये दोनों क्रिस्टल एक दूसरे के दर्पण प्रतिबिंब हैं और अध्यारोपित नही होते। क्रिस्टल के एसे जोड़ों को प्रतिबिंब रूप (enantiomorphs) कहते है। स्फटिक के गलाने पर इसकी सक्रियता लुप्त हो जाती है। इसलिये स्फटिक की प्रकाशतः सक्रियता उसके असममित क्रिस्टल संरचना के कारण होती है। इस वर्ग के पदार्थ प्रकाशत. सक्रिय तभी तक रहते हैं जब तक वे ठोस रूप में होते हैं, और गलने पर, वाष्पीकरण से तथा विलयन में इनकी सक्रियता नष्ट हो जाती है।

बहुत से यौगिक ठोस, गलन, गैसीय या विलयन अवस्था में भी प्रकाशत· सक्रिय होते हैं, जैसे ग्लूकोज, टार्टरिक अम्ल आदि। इनकी सक्रियता यौगिक की असममित आणविक संरचना के कारण होती है। इस अणु और उसके दर्पण प्रतिबिंब को प्रतिबिंब रूप, प्रकाशीय प्रतिविन्यासी (optical antipodes) या प्रकाशीय समावयवी कहते हैं।

प्रतिबिंब रूपों के गुण — केवल दो बातों को छोड़कर, ये रूप भौतिक गुणों में एक से होते हैं। एक ही ध्रुवित प्रकाश के साथ बराबर और विरीत घूर्णन देते हैं और दूसरे दक्षिणावर्त तथा वामावर्त वृत्तीय ध्रुवित प्रकाश के साथ इनका अवशोषण गुणांक भिन्न होता है। प्रतिबिंब रूपों के रासायनिक गुण एक से होते हैं, पर किसी दूसरे प्रकाशतः सक्रिय पदार्थ के साथ की अभिक्रिया में प्रायः अंतर होता है। शरीरक्रियात्मक सक्रियता (physiological activity) में भी अंतर हो सकता है, जैसे (+) हिस्टीडीन (histidine) मीठा होता है और (−) हिस्टीडीन स्वादहीन; (−) निकोटिन (+) निकोटिन से अधिक विषैला होता है।

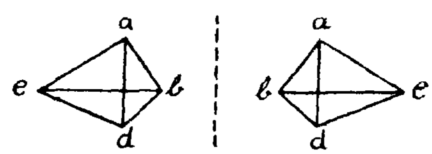
चतुष्फलकीय कार्बन परमाणु (Tetrahedral Carbon Atom)–सन् १८७४ में वांट हॉफ और ले बल (Van't Hoff and Le Bel) ने कार्बनिक यौगिकों की प्रकाशतः समावयवता के अस्तित्व का समाधान किया। वांट हाफ ने विचार किया कि कार्बन की चारों सयोजकता किसी समचतुष्फलक (regular tetrahedron) के चारों सिरों की तरफ निर्देशित है और कार्बन परमाणु उस चतुष्फलक के मध्य मे स्थित है। इस सिद्वात के अनुसार मेथेन के चारों हाइड्रोजन परमाणु समान होंगे, जिसे भौतिक और रासायनिक क्रियाओं द्वारा सिद्ध भी किया गया। इसके पूर्व १८५८ ई० मे यह समझा जाता था कि कार्बन की चारों संयोजकताएँ एक समतल में है और कार्बन परमाणु इस वर्ग के केंद्र पर है।

चतुष्फलकीय कार्बन की पुष्टि — CX_4 अणु में कार्बन की चारों संयोजकताएँ समान हैं और यह कल्पना की जा सकती है कि त्रिविम (space) में इनका सममित (symmetrical) विन्यास है। इस प्रकार तीन व्यवस्था संभव हो सकती है—(१) तलीय, (२) पिरैमिडीय और (३) चतुष्फलकीय।

(१) यदि अणु एकतलीय हो, तो यौगिक C a b d e के तीन रूप सभव हो सकते हैं।

(२) यदि अणु पिरैमिडी है, तो इस यौगिक के छह रूप संभव हो सकते हैं।

(३) यदि अणु चतुष्फलकीय है, तो यौगिक C a b d e के दो रूप ही संभव होंगे और दोनों एक दूसरे के दर्पण प्रतिबिंब होंगे।



वास्तव में यौगिक C a b d e एक जोड़े प्रतिबिंब रूप मे ही प्राप्त होते है, जो चतुष्फलकीय अणुसंरचना की पुष्टि करते हैं।

जब कार्बन से संयोजित चारों समूह भिन्न भिन्न होते हैं, तब ऐसे कार्बन को असममित कार्बन (asymmetric carbon) कहते हैं। प्रकाशतः सक्रिय कार्बनिक यौगिकों में एक, अथवा एक से अधिक, असममित कार्बन परमाणु अवश्य रहते हैं। असममित कार्बन यौगिक के C a b d e दोनों प्रतिबिंब रूप जब Ca_2bd में बदल जाते हैं, तो केवल एक ही प्रकाशतः निष्क्रिय पदार्थ प्राप्त होता है, जैसे दक्षिणावर्त और वामावर्त दोनो लैक्टिक अम्ल अवकृत होकर एक ही प्रोपिऑनिक अम्ल देते हैं। इससे चतुष्फलकीय कार्बन की पुष्टि होती है।

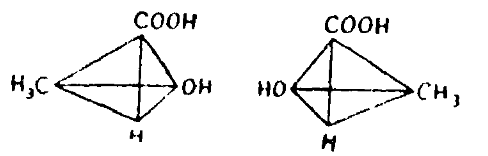
रंटगेन किरण के क्रिस्टलकीय विश्लेषण (crystallographic analysis), द्विध्रुव घाघूर्ण (dipole moments), अवशोषण

स्पेक्ट्रम (absorption spectra) तथा इलेक्ट्रॉन विवर्तन (electron diffraction) के अध्ययन भी कार्बन के चतुष्फलकीय प्रकृति की पुष्टि करते हैं।

गणितीय गणना के द्वारा कार्बन की किसी दो संयोजकता के बीच का कोण १०९° २८′ निकाला गया। पहले यह विचार था कि यह संयोजक कोण स्थायी रहता है, पर अब ज्ञात है कि संयोजकता का अपने स्थान से विचलन हो सकता है और इस कारण इस कोण में भी परिवर्तन हो सकता है। जब कार्बन परमाणु से संयोजित सभी चारों परमाणु या समूह एक से होते है, तो यह कोण निश्चय ही १०९° २८′ होता है, जैसा मेथेन, CH_4, या कार्बन टेट्राक्लोराइड, CCl_4, में है। लेकिन मेथिलीन क्लोराइड, CH_2Cl_2, में कोण ११२° पाया जाता है, क्योंकि क्लोरीन के बड़े परमाणुओं के प्रतिकर्षी बल के कारण संयोजकता कोण मे अधिक फैलाव संभव है।

एक असममित कार्बन परमाणुवाले यौगिक — एक असममित कार्बन परमाणुवाले समावयवियों में मुख्य अंतर उनकी प्रकाशीय सक्रियता मे है। दोनो प्रतिबिंब रूपों के घूर्णन के चिह्न में ही केवल अंतर होता है। इसलिये इन्हे प्रकाशतः प्रतिविन्यासी (antipodes) भी कहते है।

लैक्टिक अम्ल, $CH_3.CHOH.COOH$, के अणु के केवल दो ही प्रकाशतः सक्रिय समावयवी हैं, जो आपस में एक दूसरे के दर्पण प्रतिबिंब होते है। इन्हें डेक्ट्रो - (d -) और लीवो - (l -) लैक्टिक अम्ल कहते हैं। बराबर अनुपातो मे दोनो रूपो का मिश्रण प्रकाशतः



निष्क्रिय होता है, क्योंकि दोनों प्रतिबिंब रूपो का घूर्णन समान तथा दिशा विपरीत होती है। ऐसे अणु अनुपाती मिश्रण, जो बाह्यतः प्रतिकारित (externally compensated) तथा प्रकाशतः निष्क्रिय होते हैं, रेसिमिक रूपांतर (racemic modification) कहलाते है। एस रेसिमिक यौगिको को r (±) अथवा dl- उपसर्गों द्वारा निर्देशित किया जाता है। इस प्रकार एक असममित कार्बन परमाणुवाला यौगिक तीन रूपो मे प्राप्त हो सकता है। इन समावयवियो की संभावना असममित कार्बन परमाणु पर ही निर्भर है। कार्बन की असममिति नष्ट होने पर प्रकाशीय सक्रियता तथा समावयवता दोनो लुप्त हो जाती है। सक्रिय मैलिक अम्ल ($HOOC CH_2 CHOH COOH$) के दोनो रूपों के अवकृत करने पर निष्क्रिय सक्सिनिक अम्ल, $HOOC.CH_2.CH_2 COOH$, प्राप्त होता है।

दो या अधिक असममित कार्बन परमाणुवाले यौगिक — यौगिको मे ज्यों ज्यों असममित कार्बन परमाणुओं की संख्या बढती जाती है त्यों त्यों अधिक समावयवी रूपों की संभावना बढ़ती जाती है। साधारण दशा मे एक असममित यौगिक के, जिसमें संख्या n असममित कार्बन परमाणु हो, प्रकाशतः सक्रिय समावयवों की संख्या 2^n हो सकती है और 2^{n-1} प्रतिबिंब रूपों के जोड़े, अर्थात् 2^{n-1} रेसिमिक रूप होंगे।

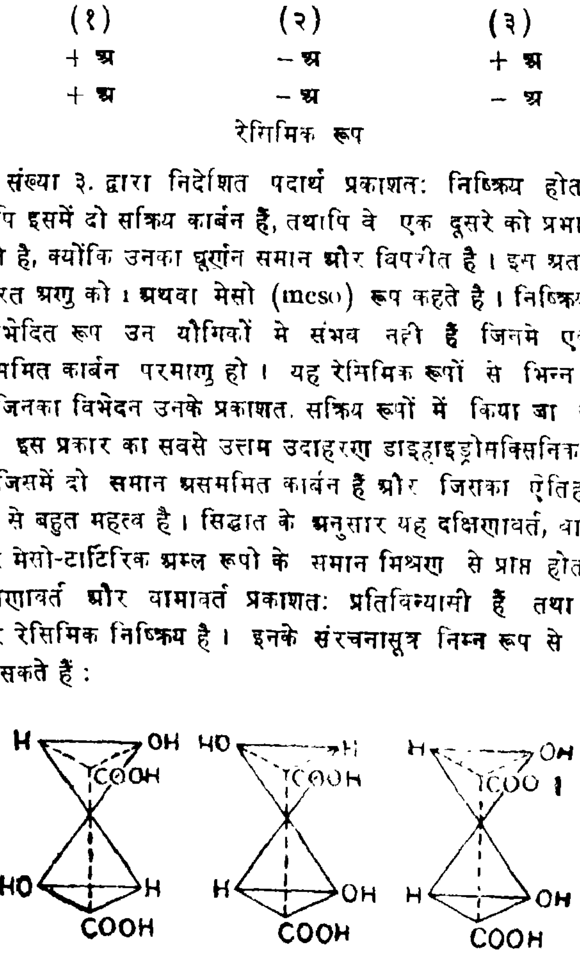
वे यौगिक, जिनमें दो भिन्न असममित कार्बन परमाणु हों 2^2 अर्थात् चार रूपों की क्षमता रखते हैं। इनमें दो जोड़े होंगे और प्रति जोड़े में एक दूसरे के समान और विपरीत चिह्नवाले घूर्णन होगे। दोनों जोड़ों से दो रेसिमिक रूप भी प्राप्त होंगे। यदि दोनों असममित कार्बनों को अ और ब के नाम से समझा जाय तथा + और − उनका दिग्विन्यास समझा जाय, तो प्रकाशीय यौगिकों को इस प्रकार लिख सकते हैं .

(१)	(२)	(३)	(४)
+अ	−अ	+अ	−अ
+ब	−ब	−ब	+ब
१ रेसिमिक रूप		२ रेसिमिक रूप	

इस प्रकार के उदाहरण सिनेमिक ऐसिड डाइब्रोमाइड, $C_6H_5.CHBr.CHBr.COOH$, है, जो चार प्रकाशतः सक्रिय रूपो तथा दो रेसिमिक रूपों में प्राप्य है। यौगिक, जिनमें दोनों समान असममित कार्बन परमाणु हो, तीन विन्यासो मे पाए जाते है, जिनमे दो प्रकाशतः सक्रिय प्रतिबिंब रूप होते है और तीसरा आंतः प्रतिकारित (internally compensated) निष्क्रिय होता है और इनका विभेदन प्रकाशतः सक्रिय रूपो मे नही हो सकता। इनके अलावा दोनों सक्रिय रूपो से एक रेसिमिक रूप भी उत्पन्न होता है। जब अ = ब हो, तो तीसरा और चौथा रूप एक होता है।

(१)	(२)	(३)
+ अ	− अ	+ अ
+ अ	− अ	− अ
रेसिमिक रूप		

संख्या ३. द्वारा निर्देशित पदार्थ प्रकाशतः निष्क्रिय होता है। यद्यपि इसमें दो सक्रिय कार्बन हैं, तथापि वे एक दूसरे को प्रभावहीन करते है, क्योंकि उनका घूर्णन समान और विपरीत है। इस अंतःप्रतिकारित अणु को अथवा मेसो (meso) रूप कहते है। निष्क्रिय तथा अविभेदित रूप उन यौगिकों मे संभव नही हैं जिनमे एक ही असममित कार्बन परमाणु हो। यह रेसिमिक रूपों से भिन्न होता है, जिनका विभेदन उनके प्रकाशतः सक्रिय रूपों में किया जा सकता है। इस प्रकार का सबसे उत्तम उदाहरण डाइहाइड्रोक्सिसक्सिनिक अम्ल है, जिसमें दो समान असममित कार्बन हैं और जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्व है। सिद्धांत के अनुसार यह दक्षिणावर्त, वामावर्त और मेसो-टार्टरिक अम्ल रूपो के समान मिश्रण से प्राप्त होता है। दक्षिणावर्त और वामावर्त प्रकाशतः प्रतिविन्यासी हैं तथा मेसो और रेसिमिक निष्क्रिय है। इनके संरचनासूत्र निम्न रूप से दर्शाए जा सकते हैं :



रेसिमिक रूपांतरण (Racemic Modification) — एक जोड़े प्रतिरूपों (वामावर्त तथा दक्षिणावर्त) के बराबर मिश्रण को रेसिमिक रूप कहते है। यह रूप निम्न कारणों से प्राप्त हो सकता है :

(१) बराबर मात्रा में दोनो प्रतिरूपों को मिलाने से।

(२) असममित यौगिकों के संश्लेषण (सममित यौगिको से) में रेसिमिक रूप प्राप्त होता है।

रेसिमीकरण (Racemisation) — एक प्रकाशत: सक्रिय यौगिक को रेसिमिक रूप मे परिवर्तन करने की क्रिया को रेसिमीकरण कहते हैं। प्राय: यौगिको के + और – रूपों का रेसिमीकरण ताप, प्रकाश और रासायनिक अभिकर्मकों के प्रभाव से हो सकता है। परिवर्तन की क्रिया यौगिक और अभिकर्मक के ऊपर निर्भर करती है। कुछ यौगिकों का रेसिमीकरण इतनी सरलता और शीघ्रता से होता है कि उनको प्रकाशत: सक्रिय रूप में नही प्राप्त किया जा सकता। कुछ थोड़े से ऐसे भी यौगिक है जो रेसिमीकृत नही होते।

रेसिमिक रूपों का विभेदन (Resolution) — विभेदन वह क्रिया है जिससे रेसिमिक रूपांतरण से उसके दोनो प्रतिबिब रूप अलग किए जाते है। वास्तव में इनका मात्रात्मक पृथक्करण बहुत ही कम होता है और कुछ मे तो केवल एक ही प्रतिरूप की प्राप्ति होती है। विभेदन की कुछ विधियाे इस प्रकार है :

(१) **यांत्रिक पृथक्करण** (Mechanical separation) — पैस्टर ने उस विधि का पता लगाया जिसके अनुसार दोनों प्रतिरूपों के क्रिस्टल अलग अलग होते हैं और वे हाथों से अलग किए जा सकते हैं। पैस्टर ने सोडियम अमोनियम टार्टरेट को २८° से० पर क्रिस्टलीकृत कर, दोनों प्रकार के क्रिस्टलों को चिमटे से अलग अलग किया था। इस विधि का उपयोग बड़ा सीमित है।

(२) निवेशन द्वारा वर्णात्मक क्रिस्टलन (Preferential crystallisation by inoculation) — रेसिमिक मिश्रण के अतिसंतृप्त विलयन मे जब एक प्रतिबिंब रूप का एक क्रिस्टल डाला जाता है, तो पहले उसी प्रतिबिंब रूप का क्रिस्टलन होता है और इस प्रकार उस रूप का पृथक्करण हो सकता है।

(३) जीवरासायनिक विभेदन (Biochemical resolution) — कुछ जीवाणु, या फफूंद जब किसी रेसिमिक के तनु विलयन पर उगाए जाते है, तब ये एक प्रतिबिंब रूप को दूसरे की अपेक्षा शीघ्रता से नष्ट करते हे। इस प्रकार किसी निर्दिष्ट समय के उपरात एक प्रतिबिंब रूप की प्राप्ति हो सकती है। पेनिसीलियम ग्लाकम जब रेसिमिक अमोनियम टार्टरेट के विलयन पर उगाया जाता है, तो पहले डेक्ट्रो रूप नष्ट हो जाता है और लीवो बच जाता है।

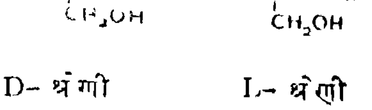
(४) रासायनिक विभेदन — यह विधि सबसे उत्तम है। इसमे रेसिमिक यौगिक के प्रतिबिंब रूपो को किसी प्रकाशत: सक्रिय यौगिक से उपचारित करते हैं, ताकि वे परस्पर मिलकर ऐसे यौगिक बनें जिनका पृथक्करण सरलता से किया जा सके। रेसिमिक अम्लों को प्रकाशत: सक्रिय (+) क्षारक के साथ उपचारित करने से जो लवण बनेंगे, उनमें कुछ लवण + अम्ल तथा + क्षारक के होंगे और कुछ लवण – अम्ल तथा + क्षारक के होंगे। इनके गुणो में विभिन्नता रह सकती है, जिनसे वे क्रिस्टलन द्वारा पृथक् किए जा सकते हैं।

(५) वरणात्मक अवशोषण (Selective absorption) — प्रकाशत. सक्रिय पदार्थों का वरणात्मक अवशोषण किसी विशेष प्रकाशत: सक्रिय अवशोषक द्वारा हो सकता है। अनेक रसायनज्ञों ने इसके द्वारा विभेदन सपन्न किया है।

नामकरण — पहले दक्षिणावर्त और वामावर्त प्रतिबिंब रूपों को क्रमश: डेक्ट्रो (d) और लीवो (l) उपसर्गों से निर्देशित किया जाता था। इसी भाँति डेक्ट्रो (d) टार्टरिक और लीवो (l) टार्टरिक अम्ल कहा जाता था। वाटहॉफ ने + और – चिह्नों का प्रयोग असममित कार्बन के विन्यास को दर्शाने के लिये किया है। बाद मे फिशर ने प्रस्ताव किया कि d और l उपसर्गों का प्रयोग उनकी विन्यास स्थिति के लिये किया जाय और इनका प्रयोग घूर्णन की दिशा के लिये न किया जाए।

किसी प्रकाशत. सक्रिय पदार्थ के घूर्णन का चिह्न प्राय प्रायोगिक दशा मे परिवर्तन से विपरीत हो सकता है और इसी भाँति उनके सजातों का, जिनका विन्यास उसी प्रकार है, चिह्न भी घूर्णन की दिशा से विपरीत हो सकता है, जैसे वामावर्त लैक्टिक अम्ल के लवण और एस्टर दक्षिणावर्त होते हैं और दक्षिणावर्त लैक्टिक अम्ल के वामावर्त। इन सब कारणों से विचार किया गया कि प्रकाशत: सक्रिय पदार्थ के लिये ऐसे चिह्न का उपयोग किया जाय जो सीधे विन्यास की स्थिति का बोध कराए और यह चिह्न उसके घूर्णन दिशा के चिह्न से स्वतंत्र हो।

ग्लिसरेल्डिहाइड, जिसमे एक असममित कार्बन परमाणु है, दो प्रतिबिंब रूपो में प्राप्य है और एक स्वेच्छ निश्चय के अनुसार दक्षिणावर्त रूप को ऐसे दर्शाते है कि हाइड्रॉक्सिल, –OH, समूह का कार्बन दाहिने और हाइड्रोजन परमाणु बाईं तरफ होता है। चतुष्फलकीय कार्बन की व्यवस्था के अनुसार हाइड्रोजन और हाइड्रॉक्सिल समूह पृष्ठ की सतह से ऊपर है तथा –CHO और $-CH_2OH$ समूह पृष्ठ की सतह से नीचे। ग्लिसरेल्डिहाइड के इस विन्यास को D कहते हैं। प्रचलित रीति के अनुसार पड़ी रेखा द्वारा संयोजित समूह पृष्ठ की सतह से ऊपर है। इस भाँति इसके प्रतिबिंब रूप का विन्यास L से निर्देशित होता है। D और L विन्यास की दशा का संकेत है। इस D–ग्लिसरैल्डिहाइड के प्रामाणिक विन्यास से संबंधित विन्यास D–श्रेणी (D-series) के अंतर्गत

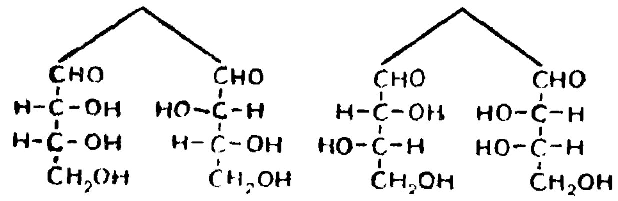


D– श्रेणी L– श्रेणी

आते हैं, अर्थात् वे यौगिक, जो D–ग्लिसरैल्डिहाइड से प्राप्त हो सकते हैं, या रासायनिक क्रिया से D–ग्लिसरैल्डिहाइड मे परिवर्तित किए जा सकते हैं, D– श्रेणी मे आते हैं।

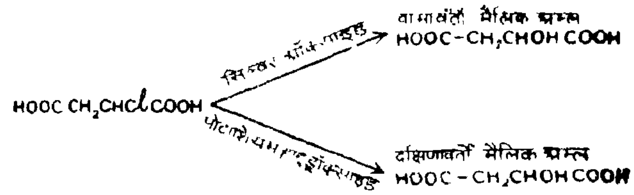
इस तरह ग्लिसरैल्डिहाइड का पूरा नाम D (+) ग्लिसरैल्डिहाइड और L (−) ग्लिसरैल्डिहाइड होता है। (+) और (−) इसकी घूर्णन दिशा का संकेत करते हैं। इनके ऐल्डिहाइड समूह को अगले सजातीय − CHOH − CHO मे बदला जा सकता है और जैसे कि इसमें एक और असममित कार्बन है वैसे ही हर ग्लिसरैल्डीहाइड दो रूप देंगे।

D (+) ग्लिसरैल्डिहाइड L (−) ग्लिसरैल्डिहाइड

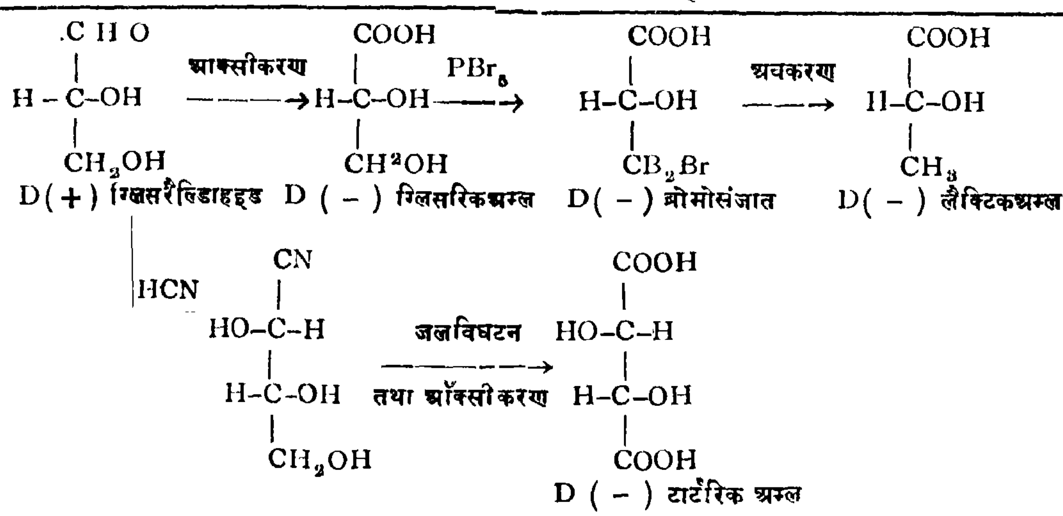


D− श्रेणी L− श्रेणी

इस सिद्धांत के अनुसार वामावर्त टार्टरिक तथा लैक्टिक अम्ल D− श्रेणी में आते है, क्योंकि ये D ग्लिसरैल्डिहाइड से संबंधित हैं।



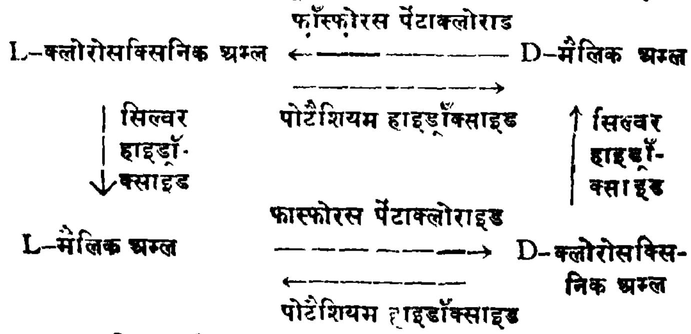
एक अभिक्रिया में क्लोरीन का प्रतिस्थापन साधारण तरह का है और दूसरी मे प्रतिस्थापन अणु पुनर्विन्यास के साथ है, जो दर्पण प्रतिबिंब उत्पन्न करता है। कौन सी अभिक्रिया साधारण है और कौन सी असाधारण, इसको जानने के लिये कुछ और तथ्य चाहिए। इसका प्रमाण मिलता है कि पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड की अभिक्रिया से विन्यास में परिवर्तन होता है। यदि वामावर्त मैलिक अम्ल को फॉस्फोरस पेंटाक्लोराइड से अभिकृत किया जाय, तो दक्षिणावर्त क्लोरोसक्सिनिक अम्ल की प्राप्ति होती है, अर्थात् द्विपदीय अभिक्रिया से एक प्रकाशतः सक्रिय यौगिक अपने प्रतिबिंब रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह क्रिया रैसिमीकरण से भिन्न है, जिसमें प्रकाशतः सक्रिय पदार्थ केवल ५० प्रति शत ही अपने प्रतिबिंब रूप मे बदलता है।



D ⟶ L या L ⟶ D, D ⟶ D L या L ⟶ D L
वॉल्डन प्रतिलोमन रेसिमीकरण

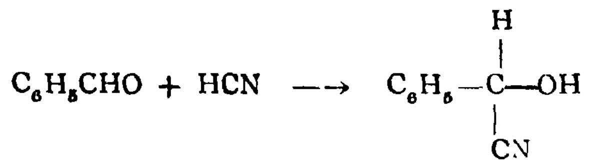
वाल्डन प्रतिलोमन (Walden Inversion) — कार्बन यौगिको मे जब एक समूह दूसरे समूह द्वारा प्रतिस्थापित होता है, तब यह समझा जाता है कि प्रतिस्थापक हटाए हुए समूह का स्थान लेता है। यदि एक प्रकाशतः सक्रिय यौगिक अ साधारण प्रतिस्थापन अभिक्रिया से ब यौगिक मे परिवर्तित होता है, तो इनके विन्यास एक से होते हैं। यह सत्य है, पर कभी कभी प्रतिस्थापन के साथ साथ विन्यास में परिवर्तन भी हो जाता है। इस विन्यास परिवर्तन को प्रकाशकी प्रतिलोमन, या आविष्कारक वॉल्डन के नाम से वाल्डन प्रतिलोमन कहते है। इसका एक सरल उदाहरण क्लोरोसक्सिनिक अम्ल मे क्लोरीन का प्रतिस्थापन हाइड्रॉक्सिल समूह से होने पर, मैलिक अम्ल प्राप्त होना है तथा पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड के प्रयोग से दक्षिणावर्ती अम्ल प्राप्त होता है :

इस प्रक्रम के द्वारा एक पूर्ण प्रकाशीय चक्र प्राप्त हो सकता है।



असममित संश्लेषण (Asymmetric synthesis) — जब किसी सममित यौगिक को साधारण रासायनिक अभिक्रिया से असममित यौगिक में परिवर्तित किया जाता है, तब उत्पन्न यौगिक

प्रकाशतः सक्रिय रूप में नहीं वरन् रेसिमिक रूप में प्राप्त होता है, जैसे बेंजैल्डिहाइड तथा हाइड्रोजन सायनाइड की अभिक्रिया से रेसिमिक नाइट्राइल प्राप्त होता है :



dl मैंडेलोनाइट्राइल

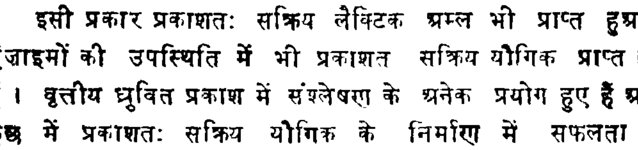
साधारण भौतिक और रासायनिक गुणों में दोनों प्रतिबिंब रूप एक से होते हैं, इसलिये ऐसा कोई कारण नहीं है कि एक प्रतिबिंब रूप अधिकता से उत्पन्न हो। लेकिन यदि ऐसी ही अभिक्रिया किसी प्रकाशतः सक्रिय समूह की उपस्थिति मे हो, जिसे बाद में अलग किया जा सके, तो उत्पन्न पदार्थ में सक्रियता हो सकती है। इस प्रकार के संश्लेषण को असममित संश्लेषण कहते हैं।

मार्कवॉल्ड (Marckwald, सन् १६०४) ने सबसे पहले प्रकाशतः सक्रिय वैलेरिक अम्ल (valeric acid) का असममित संश्लेषण किया। इस अम्ल को ब्रुसीन क्षारक के साथ उपचारित करने और विघटन से जो वैलेरिक अम्ल प्राप्त हुआ, वह प्रकाशतः सक्रिय था।

इसी प्रकार प्रकाशतः सक्रिय लैक्टिक अम्ल भी प्राप्त हुआ। ऐंजाइमों की उपस्थिति में भी प्रकाशतः सक्रिय यौगिक प्राप्त हुए हैं। वृत्तीय ध्रुवित प्रकाश में संश्लेषण के अनेक प्रयोग हुए हैं और कुछ में प्रकाशतः सक्रिय यौगिक के निर्माण में सफलता भी मिली है।

प्रतिबिंबता के लिये प्रतिबिंब (Condition for Enantiomorphism) — किसी यौगिक के प्रकाशतः सक्रिय रूप में होने के लिये आवश्यक है कि उसकी अणुसंरचना का दो दर्पण-प्रतिबिंब रूपों में अस्तित्व हो और वे एक दूसरे से अध्यारोपित न हो पाएँ। इस दशा के पूरा होने के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि अणु में एक असममित परमाणु विद्यमान हो। किसी यौगिक के प्रतिबिंब रूप में होने की क्षमता तभी हो सकती है जब अणु में सममित तल तथा सममित केंद्र की संभावना न हो।

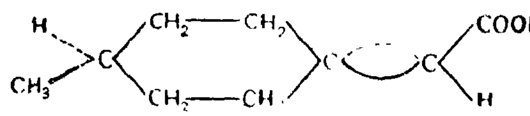
जैसा वर्णन किया गया है, असममित कार्बन परमाणु वाले यौगिक का विन्यास सममित तल से रहित होता है। ऐसे पदार्थ का जिसमें असममित परमाणु न हों और जो दो दर्पण-प्रतिबिंब रूप मे संभव हो सके, एक सरल उदाहरण ऐलीन (Allen) संजातों द्वारा दर्शाया जाता है।



ऐलीन दर्पण प्रतिबिंब

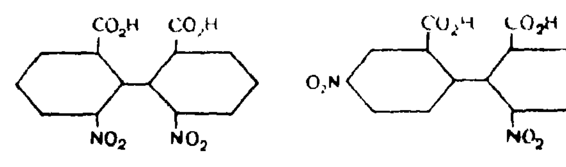
यदि हम C_1 के XY समूह को पृष्ठ के तल में समझें, तो कार्बनाय संयोजकताओं की चतुष्फलकीय व्यवस्था के अनुसार C_1 और C_2 के बीच का द्विबंध पृष्ठ के लंबवत् तल में होगा तथा C_2 और C_3 के बीच का बंध पुनः पृष्ठ तल में होगा। C_3 से संयोजित Y समूह पृष्ठ की सतह से बाहर और X पृष्ठ की सतह से पीछे होगा। इस प्रकार की व्यवस्था के कारण संरचना में कोई सममित तल नहीं है और अपने प्रतिबिंब रूप पर अध्यारोपित नहीं हो पाता।

यदि ऐलिनों के द्विबंध वलयों द्वारा प्रतिस्थापित हो, तो स्पिरानों (spirans) की प्राप्ति होती है और इसमें उभयनिष्ठ परमाणुओं मे संयोजित वलय एक दूसरे पर लंबवत् होते हैं। वांट हॉफ ने विचार प्रकट किया था कि इस प्रकार के यौगिकों का अस्तित्व प्रकाशतः सक्रिय रूपों मे होना चाहिए, पर प्रयोगात्मक रूप से इसकी पुष्टि काफी बाद में हुई। ऐसे यौगिक का जिसमें कोई असममित परमाणु न हो, सबसे पहला सफल विभेदन पर्किन, पोप और वालाश ने (सन् १६०६) १-मेथिल साइक्लोहेक्सिलिडीन-४-ऐसीटिक अम्ल का किया। ब्रुसीन लवण के जलीय ऐल्कोहॉल द्वारा क्रिस्टलन पर, यह दो सक्रिय रूपों में प्राप्त किया गया :

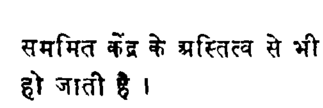


सममित केंद्र के अस्तित्व से भी प्रकाशीय सक्रियता की संभावना नष्ट हो जाती है।

एकल बंध पर बाधित घूर्णन द्वारा प्रकाशीय समावयवता (Optical isomerism due to restricted rotation about a single bond) — एक नए प्रकार की प्रकाशीय समावयवता डाइफेनिल (diphenyl) श्रेणी में पाई जाती है। क्रिस्टी और केनर (Christie and Kenner) के अन्वेषण के साथ ही इसका विकास हुआ, जिसमें उन्होंने पता लगाया कि प्रतिस्थापित डाइफेनिक अम्लों, जैसे ६ ६' (अ), या ४ ६' (ब) डाईनाइट्रो संजातो का विभेदन उनके प्रकाशीय समावयवों में किया जा सकता है। तब से बहुत से प्रतिस्थापित डाइफेनिक अम्लो का विभेदन हुआ :



पहले यह विश्वास किया जाता था कि दोनों फेनिल समूह से संबंधित बंध के पास के चारों स्थानों में से तीन का प्रतिस्थापन अनिवार्य है। बाद में डाइऑर्थो प्रतिस्थापित यौगिकों के, जैसे २ २' डाइसल्फीनिक अम्ल, डाइफेनिल के विभेदन से ज्ञात हुआ कि यदि ये समूह काफी बड़े हैं, तो केवल दो ऑर्थो स्थानों का प्रतिस्थापन आवश्यक है।



इस प्रकार की समावयवता का समाधान बाधित घूर्णन के सिद्धांत पर दिया गया। इन प्रतिस्थापित डाइफेनिल यौगिकों में दोनों वलयों के तल आपस में लंबित हैं और कार्बन-कार्बन बंध को

१८०° घुमाने पर एक रूप का दूसरा प्रतिबिंब रूप प्राप्त होगा। इस घूर्णन को बाधित करने के लिये ऑर्थो स्थान पर प्रतिस्थापित समूहों का आकार ही है। जब C–C बंध का स्वतंत्र घूर्णन बाधित होता है, तब ऐसे यौगिकों का दो दर्पण-प्रतिबिंब रूपों में अस्तित्व हो सकता है :



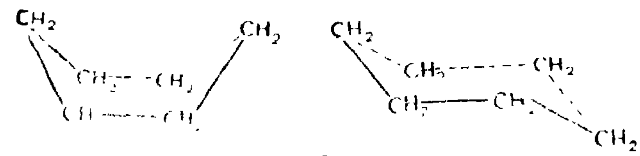
या दूसरे शब्दों में अणु समाक्ष (coaxial) और समतलीय (coplanar) नही है।

इस सिद्धांत की पुष्टि के लिये वास्तविक दिक्प्रतिरूप (space model) का निरीक्षण किया गया और देखा गया कि बेंजीन नाभिक अन्तर्ग्रथित (interlocked) हो जाते है। वास्तविक शक्ति, जो इनका घूर्णन अवरुद्ध करती है, स्पष्ट नही है और हो सकता है, यह बिल्कुल यांत्रिक रुकावट हो। ३ ३' डाइएमिनो–डाइ–मेसिटिल का, जिसमे चारों ऑर्थो समूह समान है, विभेदन यांत्रिक रुकावट के सिद्धांत की पुष्टि करते हैं।

एक बंध पर के बाधित घूर्णन के द्वारा प्रकाशीय समावयवता की आशा डाइफेनिल यौगिकों के अलावा और यौगिको मे की जा सकती है। मिल्स (Mills) और एलिअट (Elliot) ने ८–नाइट्रो, १–नैफ्थील क्वाइनोलीन के बेंजीन सल्फोनिक लवण का विभेदन किया। इसके प्रकाशीय समावयव अस्थिर है और प्रकाशीय घूर्णन कुछ ही घंटो मे समाप्त हो जाता है।

विकृति सिद्धांत (Strain Theory) — सन् १८८५ मे बेयर (Baeyer) ने ध्यान आकर्षित किया कि प्रायः सभी कार्बन के चक्रीय यौगिक पांच या छह कार्बन सदस्यी होते हैं। इसके समाधान के लिये उन्होंने एक विकृति सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वांट हॉफ के चतुष्फलकीय कार्बन परमाणु के सिद्धांत के अनुसार किन्ही दो संयोजकताओं के बीच १०९° २८' का कोण होता है, और बेयर ने विचार किया है कि इस माप के कोण का यौगिक बहुत स्थायी होगा, परन्तु यदि अणु मे एक, या अधिक संयोजकता कोणों को उनकी वास्तविक स्थिति से विचलित किया जाए, तो अणु मे एक विकृति उत्पन्न हो जाती है और यौगिक अस्थायी हो जाता है। साइक्लो-प्रोपेन में कार्बन-कार्बन कोण ६०° का होना चाहिए और यह माप १०९° २८' से बहुत ही कम है, जिससे अणु में काफी विकृति उत्पन्न होती है। इसलिये ऐसे यौगिकों का संश्लेषण कठिन होता है। साइक्लोब्यूटेन मे भी कार्बन-कार्बन कोण ९०° का होगा और इसमे भी काफी विकृति उत्पन्न होगी। इस प्रकार सबसे कम विकृति साइक्लोपेंटेन मे होगी, क्योंकि कार्बन-कार्बन कोण १०८° कार्बन संयोजकता कोण के बहुत ही निकट है और आदर्श स्थिति मे उसमें विचलन बहुत कम है। लेकिन बड़े चक्रों मे विकृति बराबर बढ़ने लगती है, जैसे ६ सदस्यी चक्र का कोण १२०°, सात सदस्यी का १२८° ३४' इत्यादि। इस प्रकार सबसे कम विकृति ५ और ६ सदस्यी चक्रों मे है, जो अति सुगमता से संश्लेषित किए जा सकते है।

बेयर के मूल विचारों पर विशेष संशोधन किया गया, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार बड़े चक्रीय यौगिकों की स्थिरता का समाधान न हो सका। यह विश्वास किया गया कि तीन और चार सदस्यी चक्रों में ही बेयर के सिद्धांत के अनुसार विकृति है तथा ६ और अधिक सदस्यी चक्रों मे कोई विकृति नहीं है। बेयर का विचार कि ये वलय समतल मे है, छोटे सदस्यी चक्रों के लिये सत्य हो सकता है; पर बड़े चक्रीय यौगिकों में विकृति पूर्णतः समाप्त हो सकती है, यदि उन्हें वलयी दशा मे छोड़ दिया जाए। उदाहरण के लिये, साइक्लोहेक्सेन के दो विकृतिविहीन विन्यास संभव हैं, जिन्हें नाव (boat) और कुर्सी (chair) का रूप कहते है। इन विन्यास रूपों का अंतर्बदल संभव है।



नावरूप अंतर्बदल कुर्सीरूप

ज्यामितीय समावयवता (Geometrical Isomerism) — जब दो कार्बन परमाणु एकलबंध द्वारा संयोजित होते हैं, तब उनके प्रदर्शित करनेवाले चतुष्फलक किसी एक सिरे पर मिले होते है और इनका उभयनिष्ठ अक्ष पर घूर्णन स्वतंत्र होता है। यदि इस प्रकार के घूर्णन की स्वतंत्रता न हो, तो एक साधारण यौगिक एथेन ($CH_3 - CH_3$) बहुत से रूपों मे उपलब्ध हो सकता है। लेकिन वास्तव में एक ही एथेन ज्ञात है। इन यौगिको मे विन्यास समावयवता तभी संभव हो सकती है जब उनमे एक असममित कार्बन परमाणु हो। लेकिन जब कार्बन-कार्बन परमाणु द्विबंध द्वारा संयोजित होते है, तब परिस्थिति कुछ दूसरी होती है, जैसे एथिलीन के सजात, जिनके साधारण सूत्र baC = Cde मे चतुष्फलकों का स्वतंत्र घूर्णन समाप्त हो जाता है, क्योंकि उनके दो सिरे जुड़े होते है तथा बाकी चार कोने एक तल में होते है। इन कारणों से यौगिक baC = Cde दो विन्यास समावयवों में प्राप्त होना है और उनका विन्यास निम्न रूपों में दिखाया जा सकता है—

```
a – C – b        a – C – b
    ||               ||
a – C – b        b – C – a
   (१)              (२)
```

उस यौगिक को, जिसका विन्यास (१) के समान है, अर्थात् जिसमें अणु के समान समूह एक तरफ होते है, सिस रूप (cis form) कहते है और इसमें एक सममित तल द्विबंध अक्ष के लंबवत् होता है। दूसरे प्रकार के विन्यास (२) को, जिसमें समान समूह विपरीत दिशा मे होते है तथा सममित तल द्विबंध अक्ष के साथ होता है, ट्रांस रूप (trans form) कहते है। इस प्रकार के समावयवों का एक उत्तम उदाहरण मैलिक और फ्यूमैरिक अम्लों द्वारा दर्शाया जाता है

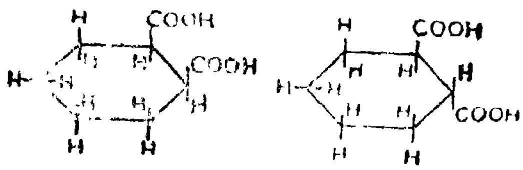
```
H – C – COOH          H – C – COOH
    ||                    ||
H – C – COOH       HOOC – C – H
```

मैलिक अम्ल **फ्यूमैरिक अम्ल**

मैलिक अम्ल में दोनों कार्बोक्सिल समूह अणु के एक तरफ, तथा फ्यूमैरिक अम्ल में इनकी स्थिति विपरीत होती है। ये यौगिक केवल भौतिक गुणों में ही नहीं, बल्कि रासायनिक गुणों में भी भिन्न होते हैं। मैलिक अम्ल में कार्बोक्सिल समूह निकट होने के कारण वे सरलता से स्थायी ऐनहाइड्राइड बनाते हैं।

इस समावयवता को सिस-ट्रांस (Cis-trans) समावयवता भी कहते हैं। इस प्रकार की समावयवता बहुत से यौगिकों में, उन यौगिकों में, जिनमें द्विबंध कार्बन (C=C), द्विबंध नाइट्रोजन (N=N) अथवा द्विबंध कार्बन-नाइट्रोजन (C=N) विद्यमान हों तथा चक्रीय यौगिकों और डाइफेनिल यौगिकों में पाई जाती है।

एथिलीन यौगिकों की ही भाँति बहुमेथिलीन यौगिकों की चक्रीय संरचना कार्बन परमाणुओं के स्वतंत्र घूर्णन को बाधित करती है। प्रतिस्थापित बहुमेथिलिन चक्रीय यौगिकों में समावयवता का समाधान इस सिद्धात से किया जाता है कि कुछ समूह विपरीत स्थान में स्थित हो सकते है। इन संतृप्त चक्रीय यौगिकों की संरचना एक स्थिर समतल में है और चक्रीय कार्बन अणु से संयोजित समूह इस समतल के ऊपर या नीचे हो सकते हैं। दो हेक्साहाइड्रो-थैलिक अम्लों का संबंध, जैसा चित्र में दिखाया गया है, मैलिक और फ्यूमैरिक अम्लों जैसा है :



सिस अम्ल ट्रांस अम्ल

कार्बन के अतिरिक्त और तत्वों की प्रकाशीय समावयवता — बहुत से चतुःसंयोजक तत्व, जिनकी संयोजकताओं का विन्यास चतुष्फलकीय है, जैसे टिन और सिलिकन, प्रकाशीय सक्रिय रूपों में प्राप्त किए गए हैं।

नाइट्रोजन त्रि-सहसंयोजक, अथवा चतुः-सहसंयोजक, एक विद्युत् संयोजक हो सकता है। चतुःसंयोजकवाले नाइट्रोजन के आवेश (charge) का विचार छोड़ दिया जाय, तो अणु कार्बनिक यौगिकों के समान हो जाते है। मेथिल एलिल बेंजील अमोनियम आयोडाइड तथा एथिल मेथिल फेनिल ऐमिन ऑक्साइड के प्रकाशतः सक्रिय रूप प्राप्त हुए हैं।

यौगिकों का रेसिमीकरण कार्बन यौगिकों की अपेक्षा बहुत शीघ्रता से होता है। विन्यास रसायन की दृष्टि में त्रि-सहसंयोजक नाइट्रोजन का विवरण विशेष मनोरंजक है। किसी तृतीयक ऐमीन का विभेदन नहीं हो पाया है। इसलिये ऐसा विचार किया गया कि ये अणु समतलीय हैं, पर भौतिक तथा रासायनिक गुणधर्मों के आधार पर अमोनिया और ऐमीनों का विन्यास चतुष्फलकीय है। नाइट्रोजन परमाणु चतुष्फलक के एक सिरे पर है और उसकी संयोजकता १०९° का कोण बनाती है।

माइसनहाइमर (Meisenheimer) ने तृतीयक ऐमीन के विभेदन की असफलता के विषय में बताया कि नाइट्रोजन परमाणु शीघ्रता से समतल के ऊपर और नीचे किया करता है, जिससे प्रकाशीय व्युत्क्रम हमेशा हुआ करता है। आक्साइम भी त्रि-सहसंयोजक नाइट्रोजन के ही यौगिक हैं। वे ज्यामितीय समावयवता प्रदर्शित करते हैं। अभी तक किसी तृतीयक फॉस्फीन का विभेदन सफल नहीं हुआ, पर बहुत से चतुः-सहसंयोजक फॉस्फोरस के यौगिक प्रकाशतः सक्रिय रूपों में प्राप्त हुए हैं। त्रि-सहसंयोजक तथा चतुः-सहसंयोजक आर्सेनिक यौगिकों में भी विभेदन हुआ है। सल्फर, ऐंटिमनी, सिलिकन, जर्मेनियम, सिलीनियम, टेल्यूरियम इत्यादि के बहुत से यौगिकों के प्रकाशतः सक्रिय रूप प्राप्त हुए हैं।

[शि० मो० व०]

विपुला दे० 'विदेह कैवल्य' के बाद।

विभीषण रावण का छोटा भाई, कैकसी का तृतीय पुत्र जो धर्मात्मा था। ब्रह्मा के वरदान स्वरूप इसे धर्मबुद्धि, अमरत्व और ब्रह्मास्त्र प्राप्त हुआ था। राम और सीता के विषय में लंका के राक्षसों से भिन्न मत होने के कारण ही रावण ने इसपर पादप्रहार किया था। लंका से यह कैलास भाग गया और वहाँ शिव की संमति से रामभक्त बन गया। रावणवध के बाद इसे ही लंका का राज्य मिला। [रा० द्वि०]

विमान एवं वैमानिकी उड़ने का विचार संभवतः उस समय से भी पहले का है जब मानव ने सर्वप्रथम विश्व का प्रेक्षण किया और उन्नति की संभावनाओं का अनुभव किया। भारतीय देवी देवताओं की आकाश में उड़ने संबंधी पौराणिक कथाएँ, डीडेलस (Daedalus) एवं आइकेरस (Icarus) संबंधी प्राचीन कथाएँ और घोड़े एवं गलीचों के उड़ने संबंधी पूर्व की प्राचीन कथाएँ ईसा से कई शताब्दियों पहले की हैं। यह स्वाभाविक था कि ये कहानियाँ मानव को प्रेरित करती रहें कि वह उड़ने के सतत प्रयास एवं प्रयोग में लगा रहे।

मानव के प्रारंभिक इतिहास से उड़ने संबंधी प्रयासों एवं प्रयोगों का पता चलता है। हवा से हलके यंत्र से उड़ने का सुझाव सर्वप्रथम द लेना (De Lana) ने १६७० ई० मे प्रस्तुत किया। इन्होने यह सुझाव दिया कि यदि पात्र पर्याप्त हलका हो और उसकी हवा निकाल दी जाय, तो वह हवा में उठ जाएगा। इसी समय ग्लाइडिंग के द्वारा समस्या को हल करने का अनुभव किया गया और इस दिशा में प्रयास और पल्लेदार डैनों (flapping wings) संबंधी प्रयोग चलते रहे। प्रसिद्ध अंग्रेज गणितज्ञ सर जार्ज केले (Sir George Caylay, १७७३–१८५७ ई०) ने अपना ध्यान उड़ने की समस्या को हल करने में पूर्ण तत्परता से लगाया। चलपक्ष विमान, या ऑर्निथॉप्टर (Ornithopter), अर्थात् मानव की पेशीय शक्ति से पल्लेदार डैनों द्वारा उड़ने के विचार, को इन्होंने पूर्णतः अस्वीकृत कर दिया और वस्तुतः यह सुझाव दिया कि समस्या का हल विस्फोटन इंजन से निकलेगा। १८०९ ई० में ऐसा सुझाव देना ईश्वरीय प्रतिमा की अपूर्व अभिव्यक्ति थी।

१७७६ ई० में हेनरी कैवेंडिश ने खोज निकाला कि हाइड्रोजन

हवा से हल्की होती है। इस संबंध में अनेक प्रयोग शुरू हुए। ऐसे प्रयोगों में एक उल्लेखनीय प्रयोग इतालवी भौतिकविद् टाइबीरियस कावालो (Tiberius Cavallo) का था। इसमें इन्होंने साबुन के बुलबुले में हाइड्रोजन भरकर उड़ाया था। पीछे हाइड्रोजन से भरे गुब्बारे उड़ाए गए। इसी के आधार पर इच्छानुसार उड़नेवाला एक वायुपोत काउंट जेपेलिन ने १९०० ई० में बनाया।

१७८३ ई० में मॉण्ट्गॉलफिअर (Montgolfier) ने गुब्बारे को उड़ाया। उसी वर्ष पिलेट्रि ड रोजियर (Pilatre de Rozier) भी गुब्बारे में उड़े। आगामी वर्ष एडनबर्ग में टाइटलर (Tytler) हाइड्रोजन से भरे गुब्बारे में उड़े। ये पहले व्यक्ति थे, जो ब्रिटिश भूमि पर हवा में उड़े थे।

आधुनिक युग की यह विशेषता है कि सन् १८६१ में लीलिएंटाल (Lillienthal) बंधुओं ने पक्षियों के डैनों सरीखे डैने बनाकर, उड़ने का प्रयोग रात में उपहास से बचने के लिये किया, पर शीघ्र ही ऑटो लीलिएण्टाल ने अनुभव किया कि इसके लिये शांत वैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक है। ग्लाइडरों से इन्होंने प्रयोग किए और इस प्रकार वैमानिकी के वास्तविक प्रवर्तकों में स्थान प्राप्त किया। लिओनार्डो डा विंचि (Leonardo da Vinchi), जो आधुनिक यांत्रिकी युग के जनक हैं, उन सभी यंत्रों को प्रयोग में लाए जो उस समय तक ज्ञात थे। यद्यपि इन्होंने पहले पहल वायु पेंच (air screw) का सुझाव दिया पर उत्थापन सतह से वायु पेंच के साहचर्य से मानवपेशीय शक्ति मानव को पृथ्वी से ऊपर कभी नहीं उठा सकेगी इसको अनुभव करने में ये असफल रहे।

स्वाभिकल्पी विमानों में अनेक उडान भरने के पश्चात् ऑटो लीलिएंटाल का १८९६ ई० में दुर्घटना से देहांत हो गया, पर इंग्लैंड में पिल्चर (Pilchur) तथा अमरीका में शानूट (Chanute) ने कार्य चालू रखा। यद्यपि ऑटो लीलिएटाल की मृत्यु ग्लाइड करते समय हो गई, पर इन तीनों के प्रयासों ने स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया कि नियंत्रण में ग्लाइड करनेवाले विमान का बनना संभव है। १८६८ ई० में इंग्लैंड में स्ट्रिंगफेलो ने ऊर्ध्वाधर नोदकों से युक्त भापचालित सफल विमान बनाया, जो हवाई पेंच (aerial screw) युक्त वायुयान था और ऊँची चाल प्राप्त कर सकता था।

सन् १८९० से लेकर सन् १९०८ के बीच, फ्रांसीसी एडर तथा अमरीकी राइट (Wright) बंधुओं ने वायु में उड़ान की कला में महत्वपूर्ण योगदान किया। विलबर (Wilbur) तथा आरविल (Orville) बंधुओं ने द्वितलीय (biplane) ग्लाइडर बनाया और ऐसे यंत्रों का हवा में कैसे नियंत्रण किया जा सकता है, यह जानने के लिये व्यवस्थित रूप से कार्य करना आरंभ किया। १९०१–१९०२ ई० में राइट बंधुओं ने वात सुरंग का निर्माण किया, जिसमें हवा का झोंका नोदक की सहायता से उत्पन्न किया जाता था। इस प्रकार वे हवा से भारी विमानों को हवा में नियंत्रित करनेवाली तथा स्थिरता को बनाए रखनेवाली आवश्यक दशाओं को पूर्णतः समझने में सफल हुए। अब उनके लिये केवल अंतर्दहन मोटर (internal combustion motor) द्वारा चालित नोदक लगाना ही शेष रह गया था। १७ दिसंबर, १९०३ ई० को उड़ान करने में वे सफल हो गए। जनता की आँखों में पड़े बिना इस संबंध में निरंतर प्रगति होती रही। इन प्रयोगों के लिये एस० पी० लैंग्लि (S. P. Langley) तथा एच. मैक्सिम (H. Maxim) ने प्रचुर धन लगाया और बड़ा परिश्रम किया। अब ज्ञात हुआ है कि लैंग्लि की अंतिम मशीन वस्तुतः उड़ने में समर्थ थी। १९०६ ई० में लैंग्लि का देहांत हो गया और १९१४ ई० में उनकी मशीन हवा में सफलतापूर्वक उड़ाई गई। १९०८ ई० से १९१४ ई० तक वायुयान की तकनीकी प्रगति होती रही, यद्यपि गति मंद थी।

प्रथम विश्व महायुद्ध ने वैमानिकी (aviation) को प्रोत्साहन दिया तथा वायुयान का अभिकल्प इतनी तीव्रता से समुन्नत हुआ कि १९१९ ई० में सर जॉन ऐलकाक (Sir John Alcock) एवं सर ए० डब्ल्यू० ब्राउन (A. W. Brown) द्वितलीय (biplane) वायुयान में १,८९० मील की दूरी १६ घंटे में पूर्ण कर, न्यूफाउंडलैंड से एटलांटिक महासागर पार कर, आयरलैंड गए। हवाई जहाज की तकनीक में क्रमशः उन्नति होने के कारण काल और आकाश का अंतर मिटता गया। अब व्यापारिक वैमानिकी व्यावहारिक रूप से संभव हो गई और इसके नियंत्रण के लिये अंतरराष्ट्रीय कानून बनाए गए हैं।

१९२५ ई० में सर एलेन कॉबैम (Sir Alan Cobham) उड़कर केपटाउन गए और आगामी वर्ष वे वापस लौट गए। १९२६ ई० में वे उड़कर ऑस्ट्रेलिया गए और वापस लौटे। १९२७ ई० में चार्ल्स लिंडबर्ग (Charles Lindbergh) ने युगप्रवर्तक उडान की, ये मोनोप्लेन (monoplane) वायुयान से अकेले उड़कर, न्यूयार्क से ऐटलैंटिक महासागर पार कर पैरिस गए थे। १९२८ ई० में आस्ट्रेलियाई विमानचालक, कैप्टेन एच० जे० हिंक्लर (H J. Hinkler), ने इंग्लैंड (क्रॉयडन) से ऑस्ट्रेलिया (पोर्ट डार्विन) के बीच की १,२००० मील दूरी उड़कर १६ दिन में पूर्ण की। १९३० ई० में विंग कमांडर, किंग्सफर्ड स्मिथ (Kingsford Smith), ने उपर्युक्त उड़ान १० दिन में पूर्ण की।

१९३० ई० के मई महीने में इंग्लैंड से भारत की अकेली उडान (solo flight) का नया कीर्तिमान कुमारी ऐमी जॉन्सन ने स्थापित किया। ये ६ दिन में कराची पहुँची। १९२९ ई० में भारत और इंग्लैंड के बीच नियमित डाक सेवा प्रारंभ हुई और यूरोप में हवाई कंपनियों का जाल फैल गया। इस बीच में सदर्न क्रॉस (Southern Cross) नामक तीन इंजन वाले मोनोप्लेन से चार कर्मियों (crews) सहित किंग्सफर्ड स्मिथ द्वारा प्रशांत महासागर पार किया गया। १९२६ ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका, की नौसेना के ऐडमिरल बर्ड (Byrd) विमानचालक बेनेट के साथ ऐम्स्टर्डैम द्वीप से उड़कर उत्तरी ध्रुव पर गए और वहाँ से लौटे। अन्वेषक ह्यूबर्ट विल्किन्स (Hubert Wilkins) ने अलैस्का से स्पिट्स्बर्गेन (Spitsbergen) के मध्य की २,००० मील की दूरी को पार किया।

ऊँची चाल और उड़ान के लिये १९१३ ई० से श्नेइडर ट्रॉफी

के लिये अंतरराष्ट्रीय विमान प्रतियोगिता समय समय पर चल रही थी, पर १९३१ ई० से यह बंद हो गई है।

१९३० से १९३४ ई० तक ऑस्ट्रेलिया के लिये अनेक महत्वपूर्ण उड़ानें की गईं। सर मैकफर्सन (Sir Macpherson) द्वारा प्रदत्त ट्रॉफी के लिये होनेवाली, इग्लैंड टु मेलबर्न अंतरराष्ट्रीय हवाई दौड़ (International Air Race) में सी० डब्ल्यू० ए० स्कॉट (C. W. A. Scott) एवं टी० कैंपबेल (T. Campbell) ने, दौड़ के लिये विशेष रूप से बनी डी० एच० 'कामेट' मशीन द्वारा विजय प्राप्त की, जिसके परिणामस्वरूप बाद के वर्षों में उड़ान का समय घटकर २ दिन २२ घंटा ५४ मिनट १८ सेकंड हो गया। १९३२ ई० में क्रॉयडन से केपटाउन के लिये आरंभ की गई नियमित उड़ान की अनुवर्ती व्यक्तिगत उड़ानें जे० ए० मॉलिसन (J. A. Mollison) तथा उनकी पत्नी ऐमी जॉन्सन (Amy Johnson) और दो फ्रांसीसी उड़ाके कूलेती (Coulette) एवं सैलील (Salel) द्वारा की गईं।

अन्य महत्वपूर्ण उड़ानें निम्नलिखित थीं : १९३० ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका, के पोस्ट (Post) एवं ऑस्ट्रेलिया के गैटी (Gatty) द्वारा नौ दिन में की गई विश्वपरिक्रमा; १९३३ ई० में फेरीय मोनोप्लेन द्वारा २ दिन, ६ घंटा २५ मिनट में बिना रुके, क्रॅनवेल से वाल्विस बे (Walvis bay) तक ५३०९ मील लबी प्रथम उड़ान; ब्लेरिऑट (Bleriot) मोनोप्लेन में कोड्स (Codes) और रोजी (Rossi) द्वारा २ दिन ६ घंटा ४४ मिनट में न्यूयॉर्क से सिरिया तक की ५६५५ मील लंबी उडान। १९३५ ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका, के कैप्टन स्टीवेंस (Stevens) और ऐंडर्सन (Aderson) समतापमंडल (stratosphere) गुब्बारे में ७४,००० फुट (लगभग १४ मील) की ऊँचाई तक गए, पर रॉयल एअर फोर्स के फ्लाइट लेफ्टिनेंट एम० जे० ऐडम (M. J. Adam) वायुयान द्वारा ५३,९३७ फुट (लगभग १० मील) की अधिकतम ऊँचाई तक गए।

१९३७ ई० मे क्लाउस्टन (Clouston) और श्रीमती किर्बी ग्रीन (Mrs Kirby Green) ने इंग्लैंड से केपटाउन की प्रत्येक दिशा मे उड़ान का नया कीर्तिमान स्थापित किया। उत्तरी ध्रुव से होते हुए मॉस्को से कैलिफॉर्निया की ६,७०० मील लबी उड़ान सोवियत सघ के विमान द्वारा बिना रुके की गई। कुमारी जीन बैटेन ने इंग्लैंड से ऑस्ट्रेलिया तक की एकाकी उड़ान का नया कीर्तिमान स्थापित किया। १९३८ ई० में फ्लाइंग अफसर, ए० ई० क्लाउस्टन (A. E. Clouston), को इंग्लैंड से उड़कर न्यूजीलैंड जाने और वहाँ से इंग्लैंड वापस आने में ११ दिन से कम लगे। विभागीय विमान (service machine) को एडिनबर्ग से लंदन आने में ४८ मिनट लगे। अप्रैल, १९३८ ई० में एच० एफ० ब्रॉडबेंट नामक ऑस्ट्रेलियाई उड़ाके को डारविन से लिंपन (Lympne) तक की उड़ान में ५ दिन ४ घंटा २१ मिनट लगे। इसके पूर्व सन् १९३७ में डारविन से क्रॉयडन तक उड़कर जाने का, आस्ट्रेलियाई महिला उड़ाका जीन बैटन (Jean Batten) का कीर्तिमान ५ दिन १८ घंटा १५ मिनट था। जुलाई, १९३८ में अमरीकी हॉवर्ड ह्यूज (Howard Hughes) ने विश्व की परिक्रमा चार दिन में की।

जर्मनी और इंग्लैंड दोनों देशों में वर्तमान शताब्दी के ४०वें वर्ष में ग्लाइड करना (gliding) विमानकी का महत्वपूर्ण अंग हो चुका था। १९३६ ई० में डिटमान (Dittman), एक यात्री सहित, ८,८६० फुट की ऊँचाई तक गए, जबकि जुलाई, १९३८ ई० में जे० एफ० फॉक्स (J. F. Fox) नामक एक अंग्रेज ने डनस्टेबल (Dunstable) से नॉर्विच (Norwich) तक ९६ मील लंबी उड़ान की। १९३८ ई० में फ्लाइट लेफ्टिनेंट मरे (Murray) और जे० एस० स्प्राउले (J. S. Sproule) २८ घंटे तक हवा में ठहरे रहे।

हवाई जहाज का उड़ना उसी सिद्धांत पर आधारित है जिस सिद्धांत पर पतंग उड़ते हैं। पतंग के चपटे पृष्ठ पर वायु के प्रवाह पड़ने पर यदि पतंग को ऊपर की ओर अल्पनत कर दिया जाय, तो वायुप्रवाह पतंगपृष्ठ को उठाता है। हवा में पक्ष प्रणोदित्र और पक्षों की मुड़ी सतह पर हवा के आपेक्षिक भार द्वारा हवा में से होकर खींचे या ढकेले जाते हैं। पक्ष के नीचे का दबाव उत्थापन का एकमात्र कारण नहीं है, अपितु पक्षों के ऊपरी धरातल पर अत्यधिक एवं विपरीत चूषण विद्यमान रहता है। पक्ष एक एअर फॉयल (air foil) है और प्रायः लकड़ी का बना होता है, जिस पर कपड़े का आवरण होता है। धातु और प्लास्टिक के पक्ष भी उपयोग में आ रहे हैं।

वायुयान के मुख्य अंग हैं : पक्ष या फलक (plane), एक या अनेक इंजन, वायु पेंच (air screw) या प्रणोदित्र (propeller), धड़ (fuselage) और रडर (rudder)। वायुयान का ढाँचा मुख्यत. हलकी मिश्रधातु (alloy), जैसे ड्यूरैलूमिन (Duralumin), का बना होता है और पक्ष तंतुओं (fabric) या पतली धातु का बना होता है। पक्षों की काट अल्प वक्राकार होती है और ये क्षितिज के साथ न्यून कोण बनाते हुए स्थित होते हैं। अत. जब हवाई जहाज सरकता है, तब उत्थापन बल उत्पन्न होता है। हवाई जहाज के गतिशील होते ही उत्थापन बल यंत्र के भार के बराबर हो जाता है और विमान ऊपर उठता है। यदि उड़ान चाल अत्यधिक कम कर दी जाय, तो उत्थापन बल जहाज के भार से कम हो जाता है, जिससे जहाज अस्थिर हो जाता है। अस्थिरता को रोकने के लिये हवाई जहाज को अपेक्षाकृत कम वेग से उतारा जाता है। इस कार्य के लिये अनेक युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं। ये युक्तियाँ पक्ष के प्रति हवा के प्रतिरोध को उचित ढंग से परिवर्तित कर उत्थापन बल को सुधार देती हैं। सीमित स्थान में सुगम अवतरण के लिये स्वघूर्णाक्ष (autogyro) एवं हेलीकॉप्टर किस्म के वायुयानों का आविष्कार हुआ है। दोनों किस्मों में ऊर्ध्वाधर अक्ष के चारों ओर घूमनेवाला क्षैतिज पिच्छ फलक (vanes) होता है। स्वघूर्णाक्ष किस्म मे घूर्णन यंत्र की अग्रगति (forward motion) से प्रभावित होता है तथा हेलीकॉप्टर में सीधे इंजन द्वारा प्रेरक ऊर्जा (motive energy) घूर्णन को प्रभावित करती है। स्वघूर्णाक्ष विमान मंद गति से उड़ सकते हैं, पर हेलीकॉप्टर व्यवहारतः मँडरानेवाले होते हैं।

वायुयान की रचना का सामान्य सही ज्ञान होते हुए भी आधुनिक

वायुयानों के अभिकल्प में बहुत भिन्नता होती है। विभिन्न किस्मों में मोनोप्लेन भी संमिलित है, जिसमें एक ही जोड़ा पक्ष होता है, द्विफलकीय या बहुफलकीय वायुयानों में अनेक पक्ष एक दूसरे के ऊपर रहते हैं। मोनोप्लेन का अभिकल्प इस प्रकार का हो सकता है कि पक्ष के प्रतिक्षेत्र को अधिक उत्थापन प्राप्त हो सके। कुछ आधुनिक बड़े मोनोप्लेन पर्याप्त मोटे पक्षों के बनाए जाते हैं, ताकि वे इंजन को भी रख सकें।

द्वि या बहुफलक विमान अधिक स्थायी होते हैं। ये एक ही भार के लिये संरचनात्मक दृष्टि से बहुत दृढ़ होते हैं और इनके पक्षों को कम पाट (span) की आवश्यकता होती है। विमान का स्थायित्व पिछले तल पर ही अधिक निर्भर करता है, जो विमान के उत्पिचान (pitching) का प्रतिरोध करता है। जमीन पर उतरने या जमीन से ऊपर उठने के लिये विमान के निचले तल पर पहिए होते हैं। कुछ आधुनिक विमानों मे उड़ते समय अवतरण गियर (landing gear) छिप जाता है। समुद्र विमान (sea plane) या जलविमान (hydroplane) का अभिकल्प जल पर अवतरण के लिये किया जाता है, अत. इनमें दो या अधिक पोटून (pontoon) होते हैं। पोटूनों का अभिकल्प वायुगतिकीय होता है और वे पक्षो के उत्थापन मे सहायक होते है। हरक्यूलिस विमान १९४६ ई० में बनकर तैयार हुआ, परिवहन में यह ७५० व्यक्तियों को तथा अस्पताल के रूप में ४०० रोगियो एवं परिचारकों को ढो सकता था। उड़न नौका का धड़ (fuselage) समुद्र विमान के धड़ से कुछ भिन्न होता है, क्योंकि समुद्र विमान का धड़ समुद्र में तैरने के योग्य बनाया जाता है।

स्वघूर्णाक्ष एक क्रांतिकारी अभिकल्प है और वैमानिकी के भविष्य में इसका महत्वपूर्ण योग है। इसमें पक्षों के स्थल पर एक घूर्णक होता है। विमान के प्रस्थान और अवतरण के समय ही शक्ति से यह चलाया जाता है। यह विमान को ऊर्ध्वाधर उठाता है और विमान के उड़ने के समय स्वयं ही परिभ्रमण करता है। आधुनिक प्रायोगिक स्वघूर्णाक्ष में विमान के चलते ही घूर्णाक्ष छिप जाता है। आधुनिक स्वघूर्णाक्ष लगभग ३० फुट की उड़ान पर ही स्वयं कार्य करने लग जाता है।

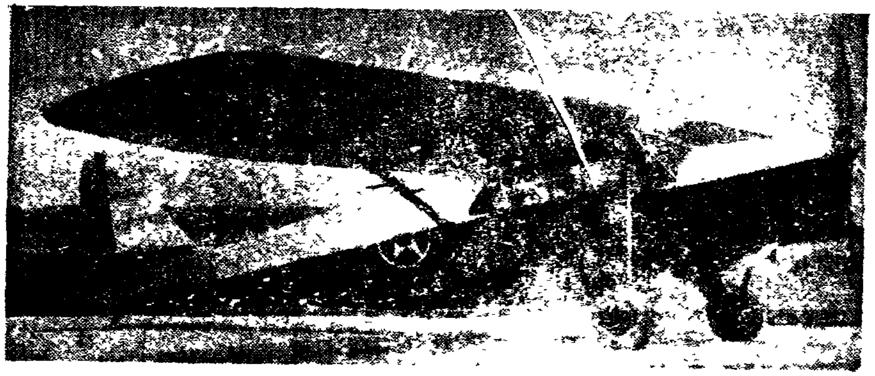
आजकल जो प्रयोग हो रहे हैं उनका उद्देश्य है . १. सीधी ऊर्ध्वाधर उड़ान भरना, २ मोटर शक्ति और अग्रचाल के बिना सीधे नियत्रण के साधन को सक्षम करना और ३. स्वघूर्णाक्ष और मोटरकार के गुणों का समन्वय करना, ताकि वह राजमार्ग और वायुयात्रा में समान रूप से व्यवहृत हो सके। १९३८ ई० मे केलट ऑटोजाइरो कोर (Kellet Autogyro Corps) द्वारा निर्मित सात सैनिक जाइरो (gyros) काम कर रहे थे। इन यंत्रों से यह मालूम हो गया कि नियमित विमानों की अपेक्षा इनकी देखरेख में नाममात्र का ही अधिक खर्च बैठता है। सेना की राय थी कि युद्ध में कुछ कार्यों के लिये स्वघूर्णाक्ष बेजोड़ हैं। इनमे जो सुधार हुए उनमें पुच्छ नियन्त्रण, घूर्णक अक्ष के अनमन से प्रत्यक्ष नियंत्रण द्वारा स्थायी पक्ष, उच्चालक महापक्ष (elevator ailerons) एवं रडर का निसरण संमिलित है। इंग्लैंड के हैफनर ने उत्केंद्र व्यवस्था (eccentric mechanism) से चालित परिवर्तनशील अंतराल प्रणोदित्र (pitch propeller) द्वारा अवनमन घूर्णक अक्ष (rotor axis) में सुधार किया। फिलाडेल्फिया में निर्मित हेरिक वर्टाप्लेन (Herrick Vertaplane) मध्यम विस्तार का स्वघूर्णाक्ष है, जो सामान्यतः द्विफलक विमान के रूप में उड़ता है। इसका ऊपरी पक्ष इस प्रकार आरोपित होता है कि वह अपनी टेक से निर्मुक्त हो सके और ऊर्ध्वाधर अक्ष में विद्युत् मोटर से चल सके। इस प्रकार ऊर्ध्वाधर वायुयान में विमान की उच्च दक्षता को स्वघूर्णाक्ष की मंद अवतरण विशेषता के साथ संयुक्त किया गया है।

हेलिकॉप्टर ऐसा हवाई जहाज है जो क्षैतिज नोदकों द्वारा ऊपर उठता और रुका रहता है। इससे आविष्कारकों का प्राचीन स्वप्न अंत मे व्यावहारिक सिद्ध हो गया। जर्मनी के प्रोफेसर हाइनरिख फॉक (Heinrich Focke) द्वारा विकसित २०० अश्वशक्ति के वायुशीतित (air cooled) इंजन से युक्त हेलिकॉप्टर ने ९६ मील प्रति घंटा की चाल प्राप्त की और वह दो घंटे से अधिक हवा में रहा। यह ७,५०० फुट की ऊँचाई तक पहुँचा। हेलिकॉप्टर सीधे ऊपर उठता है, शक्ति के चालू या बंद रहने पर सीधे नीचे उतर आता है और पूर्णत. स्थिर रहकर हवा में मँडराता है। १९४२ ई० में वाउट सिकर स्काई (Vought Siker Sky) हेलिकॉप्टर [प्रायोगिक वीएस ३०० (VS 300)] सैकड़ों उड़ानों में सीधे ऊपर उठा, (२) वायु मे गतिहीन खड़ा रहा, (३) आगे पीछे तथा अगल बगल उड़ा और (४) सीधे नीचे उतरा। इगार सिकॉर्स्कि (Igor Sikorsky) ने जर्मनी के १९३७ ई० के कीर्तिमान को तोड़ने के लिये १३ मई, १९४१ ई० को उपर्युक्त मशीन पर उड़ान की और वे एक घंटा ३२ मिनट ३० सेकंड तक हवा मे उड़े। १९४३ ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका, की सरकार ने बड़े नगरों तथा उनके उपनगरों मे डाक ले जाने के लिये हेलिकॉप्टर के उपयोग की योजना बनाई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने पर वायुयान विशेष उपयोगों (ऊँची चाल, अधिक ऊँचाई, सैनिक उपयोग, बड़े बड़े माल ढोने, अधिक सवारी ले जाने आदि) की दृष्टि से अभिकल्पित किए गए। वैमानिकी में फ्लाइंग फ्ली (Flaying Flea) का रोचक विकास हुआ। मिन्ये (Mignet) ने जो फ्लाइंग फ्ली की अभिकल्पना की, उसमें ग्लाइडर के गुणों को मोटर प्रणोदित वायुयान के साथ जोड़कर ऐसा विमान बनाया जो बहुत छोटा, कम शक्ति से चलनेवाला, सरलता से नियंत्रित होनेवाला और कम मूल्य का था। इस विमान में एक या दो घातक दुर्घटनाएँ हो गईं, जिससे ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि इसमे सुरक्षा का अभाव है।। अतः इसका आगे का विकास निलंबित कर देना पड़ा।

एक दूसरे प्रकार का वायुयान मेयो कंपोजिट एअरोप्लेन (Mayo composite aeroplane) है। इसमें पृष्ठ पर उच्च शक्ति वाले समुद्री विमान से युक्त बड़ी उड़ानवाली नौका रहती है। प्रारंभ में दोनों एक साथ बँधे रहते हैं। तीन या चार हजार फुट की ऊँचाई पर समुद्री विमान अपना मार्ग अकेले तय करने के लिये उड़न नौका

विमान एवं वैमानिकी (पृष्ठ ८१-८८)



पुस मॉथ वायुयान
टाटा एयर लाइन्स द्वारा सन् १९३२ से प्रचलित।



एकाकी इंजिनवाला वाको (Waco)



चार इंजिनोंवाला डीएच-८६
सन् १९३८-४१ में टाटा एयर लाइन्स इसका उपयोग करती थी।



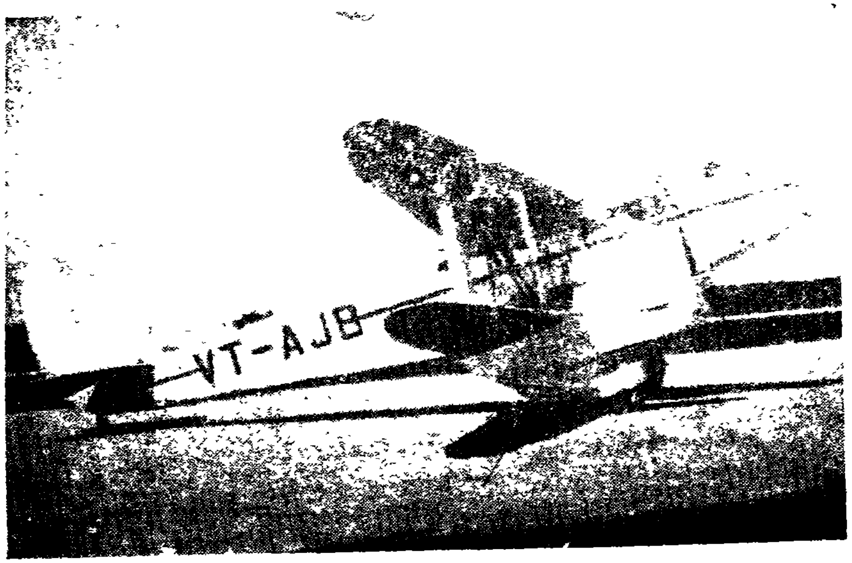
सन् १९५० से भारत में चालू स्काइमास्टर विमान



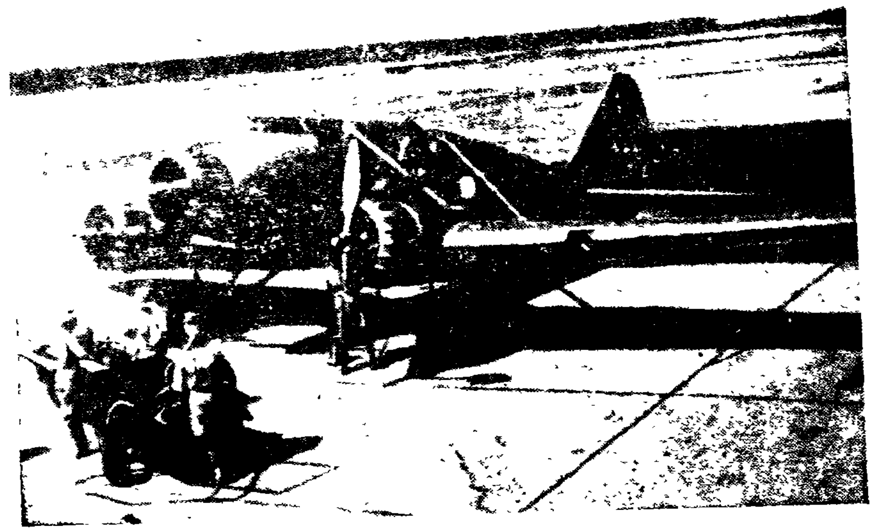
ड-हैविलैंड फोक्स मॉथ
सन् १९३४ से १९३६ तक टाटा एयर लाइन्स द्वारा प्रयुक्त।



माइल्स मर्लिन नामक वायुयान
सन् १९३५ से टाटा एयर लाइन्स द्वारा प्रचलित।



ड-हैविलैंड रैपिड
सन् १९३८-४५ में टाटा एयर लाइन्स पर चलता था।



स्टिन्सन ट्राइमोटर वायुयान
टाटा एयर लाइन्स पर सन् १९४२ से १९४४ तक चालित।

से पृथक् कर दिया जाता है। इस तरीके से समुद्री विमान जलपर उतर जाता है।

१९४४ ई० के प्रारंभ में संयुक्त राज्य, अमरीका, की सेना ने विमान के रोमांचकारी विकास की घोषणा की। इस हवाई जहाज में नोदक नहीं होता। प्रसारित गैसों के विसर्जन बल (force of discharge) से यह चलता है। प्रारंभिक इंजन (starting engine) के द्वारा यान के अग्रभाग से अंदर खींची गई हवा पहले संपीडित की जाती है और तब दहन कक्ष में ठूँसकर भर दी जाती है, जहाँ यह जलते ईंधन से संयुक्त होकर अत्यधिक प्रसारित होती है। आरंभिक इंजन बंद कर दिया जाता है। प्रसारित गैसों के अल्पांश का उपयोग टरबाइन के द्वारा संपीडकों को चलाने के लिये किया जाता है, जबकि शेष गैसें विमान के पुच्छसिरे पर स्थित चंचु से विसर्जित हो जाती हैं। इस प्रकार शक्तिशाली प्रणोद, जो हवाई जहाज को आगे की ओर चलाता है, उत्पन्न होता है। अगस्त १९४५ ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका, के युद्ध विभाग ने जेट प्रणोदित [लॉकहीड (Lockheed) पी० ८० (P 80)] शूटिंग्स्टार (Shooting Star)] के विवरण प्रकाशित किए, तब क्लेरेंस एल० जॉन्सन (Clarence L Johnson) के अभिकल्प पर बना विमान, ५५० मील प्रति घंटे से अधिक चालवाला होने के कारण, संसार का सर्वाधिक तीव्रगामी वायुयान था। इसमे ईंधन के लिये किरासन का उपयोग होता है। इसमें कंपन नही होता तथा यह अमरीका का सरलतम लड़ाकू विमान है, जिसका सुपर जेट इंजन जनरल इलेक्ट्रिक कंपनी द्वारा बनाया गया है।

नवीनतम प्रचलित ऊरागैन (Ouragan) श्रेणी का जेट लड़ाकू विमान समुद्रतल पर ६०० मील प्रति घंटा की गति प्राप्त कर सकने तथा एक मिनट में ८०० फुट की ऊँचाई तक पहुँच सकने योग्य एकल सीट वाला मोनोप्लेन है। अपने अनेक सामरिकगुणों के कारण जेट लड़ाकू विमान रक्षा, वायुआक्रमण, जमीन पर आक्रमण एवं अंतररोधक लड़ाकू विमान (intercepter) के रूप में अच्छा अभिकल्पित सैनिक विमान है। मोनोप्लेन की निम्नलिखित विशिष्टताएँ हैं : पैंतरायोग्यता (manoeuvrability), आरोहण की तीव्रता, फायर क्षमता (fire power), सहनशक्ति, अधिकतम चालन ऊँचाई (operating ceiling) तथा चाल। तोप से सज्जित, अपने पक्षों के नीचे राकेट एवं बमों को वहन करनेवाले ऊरागैन में दाबानुकूलित केबिन रहता है, जिसके कारण विमानचालक अधिक ऊँचाई पर विमान चला पाता है। जब विमानचालक वायुयुद्ध में व्यस्त रहता है, तब विमान का गोलीसह (bullet proof) अचल पर्दा, कवच बल और पिछला भाग (aft) विमान-चालक को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। हवाई जहाज में निष्कास-आसन (ejector seat) होता है और सरकनेवाली वितान (canopy) होती है, जहाँ से चीजें फेंकी जा सकती हैं। संकटकाल में यह जीवनरक्षा की युक्ति बन जाती है।

१९४६ ई० दाब बटन (push button) विमान का विकास हुआ। यह रेडियो नियंत्रित स्वचालित युक्ति से युक्त डग्लस (Dougles) ४ इंजनवाला सी-५४ (C-54) है। अतः पूर्ण उड़ान कर नियत स्थान पर पहुँचने के लिये विमानचालक को केवल नियत बटन दबाना पड़ता है। चालकरहित वायुयान के स्वचालित नियंत्रण की उपलब्धि उच्च स्तर तक पहुँच गई है। इसका नियंत्रण बेतारी संचार द्वारा आश्चर्यजनक सूक्ष्मता से होता है। विमान ऐसा बना है कि नियंत्रणकेंद्र पर अपने उड़ने के मार्ग को वह स्वयं अंकित करता है।

सर्वप्रथम बने प्रसिद्ध वायुयान

१४९० ई० में इटली के लिओनार्डो डा विंचि (Leonoardo da Vinchi) ने पक्षियों के डैनों के नमूने का उपयोग कर उड़नयंत्र (flying machine) का प्रथम अभिकल्प बनाया।

१८४२ ई० मे इंग्लैंड के विलियम सैमुएल हेंसन (William Samuel Henson) ने भाप चालित वायुयान के अभिकल्प को पेटेंट कराया।

१८६८ ई० में मैथ्यू बोल्टन (Mathew Boulton) ने सहपक्षों (ailerons) के लिये ब्रिटिश पेटेंट प्राप्त किया।

१९०२ ई० में कैनाडा के डब्लू० आर० टर्नबुल (W. R. Turnbull) ने अंतराल नोदक (pitch propeller) का विकास किया।

१७ सितंबर, १९०३ ई० को ऑरविल राइट (Orville Wright) ने वायुयान की प्रथम उड़ान का विमानचालन किया। वे किटी हॉक, एन० सी० (Kitty Hawk, N. c.) पर १२० फुट तक उड़े।

१९०६ ई० में फ्रांस के ट्रेजैन वुइआ (Trajan Vuia) ने तीन पहिएवाले अवतरण गियर और वातिल टायरों (pneumatic tyres) से सज्जित प्रथम वायुयान बनाया।

१९१० ई० मे फ्रास के एदॉर्द न्यूपार (Edouard Nieuport) ने प्रथम बार घिरे हुए धड़ (fuselage) से युक्त सुप्रवाही (streamlined) विमान बनाया और उड़ाया।

१९१० ई० में फ्रांस के हेनरी फैब्र (Henry Fabre) ने जलावतरण के लिये प्लव (float) से सज्जित प्रथम समुद्री विमान (seaplane) को उड़ाया।

१० सितंबर, १९१० ई० को ऑरविल राइट की आधिकारिक उड़ान में साथ उड़नेवाले प्रथम विमानयात्री लेफ्टिनेंट फ्रैंक पी० लाम (Lieut Frank P. Lahm) थे।

७ या ८ जून, १९१२ ई० को संयुक्त राज्य, अमरीका, की सेना के कैप्टन चार्ल्स चैंडलर (Capto Charles Chandler) ने विमान पर लगी प्रथम मशीनगन का परीक्षण किया।

१९१३ ई० में सीटों पर सुरक्षा बेल्ट (safety belt) का उपयोग सामान्य हो गया।

१३ मई, १९१३ ई० को इगॉर सिकॉर्स्कि ने अपने द्वारा निर्मित चार इंजनवाले प्रथम विमान को उड़ाया।

१९१४ ई० में लॉरेंस स्पेरि (Lawrence Sperry) ने वायुयानों के लिये बने प्रथम घूर्णदर्शीय (gyroscopic) स्वचालित विमान के चालन का प्रदर्शन किया।

१६२३ ई० में विमानचालक रहित, रेडियो नियंत्रित वायुयान ने फ्रांस के ईटैंपीज (Etampes) हवाई अड्डे पर उड़ान भरी।

१६२६ ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका, के ग्रोवर लोएनिंग (Grover Loening) ने प्रत्याकर्षणीय (retractable) अवतरण गियर युक्त द्विस्थलीय उभयचर विमान (biplane amphibian) का निर्माण किया।

१६२८ ई० में स्पेरी जाइरोस्कोप कंपनी (Sperry Gyroscope Company) द्वारा जाइरो होराइजन (Gyro horizon) एअरक्राफ्ट उपकरण का निर्माण हुआ।

३० सितंबर, १६२६ ई० को जर्मनी के फ्रिट्ज फॉन ग्रोपेल (Fritz Von Opal) ने १ मिनट १५ सेकंड तक रॉकेट चालित (rocket powered) वायुयान उड़ाया।

१६३० ई० में इंग्लैंड के फ्रैंक ह्विटल (Frank Whittle) ने प्रथम जेट इंजन का आविष्कार बनाया।

१६३६ ई० में लॉकी एअरक्राफ्ट कार्पोरेशन (Lockoee Aircraft Corporation) ने एक्स सी-३५ (XC. 35) नामक दाबानुकूलित कोष्ठ युक्त प्रथम विमान बनाया।

१६ फरवरी, १६३६ ई० को प्रथम डगलस डीसी-३ (DC-3) स्लीपर (sleeper) वायुयान हवाई कंपनी सेवा में प्रविष्ट हुआ।

१६३७ ई० में त्रिचक्री (tricycle) अवतरण गियर सामान्य उपयोग में आया।

१६४७ ई० में अमरीकी वायुसेना के कैप्टन चार्ल्स यागर (Charles Yeager) द्वारा रॉकेट चालित बेल एक्स-१ में प्रथम पराध्वनिक (Supersonic) उड़ान (७६० मील प्रति घंटे से भी तेज) की गई।

२० नवंबर, १६५३ ई० को स्कॉट क्रॉसफील्ड (Scott Crossfield) ने डगलस डी-५५८-२ स्काई रॉकेट में ध्वनि की चाल (१,३२७ मील प्रति घंटा) की दूनी चाल से प्रथम उड़ान की।

१६५४ ई० में प्रथम सार्वजनिक परीक्षण में पोगोस्टिक (Pogostick) नामक कानवेयर (Convair), एक्स एफ वाई-१ (XFY-1) सीधा ऊपर उठा और सीधा भूमि पर उतरा (landed tail)।

२६ अप्रैल, १६५५ ई० को मैकडोनल १५-१ (Mcdonnell XV-1) रूपांतरित वायुयान (conventional plane) की परीक्षण उड़ान के सिलसिले में हेलिकॉप्टर से परंपरागत वायुयान में प्रथम सफल रूपांतरण हुआ।

२ नवंबर, १६५५ ई० को संयुक्त राज्य, अमरीका, की नौसेना द्वारा विश्व के प्रथम जेट समुद्री विमान, मार्टिन एक्सपी-६ एम० सीमास्टर (Martin XP-6 M. Seamaster) का प्रदर्शन किया गया। [श० ना० रा०]

वैमानिकी

वैमानिकी की प्रारंभिक कल्पना के मूल में मानव का यह चिरप्रक्षित अनुभव था कि वायु के तीव्र दबाव के द्वारा एक समतल तल ऊपर की ओर स्वयमेव उठ जाता है। आँधी तूफान में पत्तों और झोपड़ी की छतों से लेकर पक्षियों के डैनों के वायु प्लवन में यह तथ्य स्पष्टतः परिलक्षित होता था। पक्षियों की उड़ान में उनकी अग्रगति में पवन अंतिरोध का डैनों के संचालन द्वारा प्रतिकार होते हुए मनुष्य देखता रहा। इससे उसे डैनों के सहारे उड़ने और नोदक (propeller) के द्वारा वायु के झोंकों को काटने की प्रेरणा मिली। कालांतर में उड्डयन की यांत्रिकी को मानव ने डैनों के संतुलन के नियमों की सहायता से निरूपित करने का प्रयत्न किया और डैनों, इंजन तथा नोदक एवं एक मानव के भार को वायु के उत्प्लावन (upthrust) द्वारा संतुलित करके वायुसंतरण की विधि आविष्कृत की।

उपर्युक्त सिद्धांतों के आधार पर विभिन्न प्रकार के शक्तिशाली विमान इंजनों एवं मशीनों के निर्माण के प्रयास होते रहे। इस चेष्टाक्रम में सर्वप्रथम उल्लेखनीय इंजन की रूपरेखा का निर्माण हेंसन नामक यंत्रशास्त्री ने किया और उसे १८४२ ई० में पेटेंट कराया। इंजन के व्यावहारिक प्रतिरूप (model) स्ट्रिंगफेलो ने बनाए और उनका सफल प्रदर्शन पहला बार १८४८ ई० में और तदुपरांत १८६८ ई० में किया। इन प्रारूपों में डैनों की अधिकाधिक उपयोगी आकृतियों एवं आकारों का विकास करना ही प्रधान लक्ष्य रहा। कुछ ही वर्षों के अंदर वायुयान को अधिकाधिक उत्थापन क्षमता (lifting power) प्रदान करने के लिये उसके डैनों को समतल बनाने के बजाय, उनके ऊपरी पृष्ठ को उत्तल और निचले पृष्ठ को अवतल रखा जाने लगा। इससे वायुयानों की उड़ान अपेक्षाकृत सुगम हो गई। सन् १८६६ में भाप चालित इंजन युक्त एक परीक्षण विमान ने वाशिंगटन के निकट पोटोमैक नदी के ऊपर लगभग डेढ़ मील तक की सफल उड़ान भरी। इससे अधिक सफलता के लिये चार्ल्स मैनली एवं लैंगले प्रभृति यंत्रशास्त्रियों ने इंजनों एवं यंत्रों के स्वरूप में विकास करने के लिये अनेक प्रयत्न किए, किंतु वे सभी प्रायः निष्फल ही रहे।

इंजनों में कोई प्रभावकारी विकास कर सकने की असमर्थता ने उड्डयन यांत्रिकों का ध्यान इन वायुयानों की ओर से हटाकर ग्लाइडरों (gliders) की ओर फेर दिया, किंतु ग्लाइडरों की गतिविधि अत्यंत सीमित एवं अनुपयोगी होने के कारण, पुनः इंजनों के सुधार की दिशा में चेष्टाएँ प्रारंभ हुईं। अंत में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही फ्रांस के राइट बंधुओं ने उड्डयन के क्षेत्र में क्रांतिकारी सफलता प्राप्त की। वायुयानों को उठाने के लिये उन्होंने क्षैतिज पतवारों (rudders) का प्रयोग किया, जिन्हें राइट बंधुओं ने तो वायुयान के अग्रभाग में ही संयुक्त किया था, किंतु आधुनिक विमानों में वे वायुयान के पुच्छ भाग में लगे होते हैं। इसके अतिरिक्त वायु में संतुलन बनाए रखने के हेतु, उन्होंने मुख्य यान के पृष्ठ कोर (rear edge) के झुकाव (flexing) की समुचित यांत्रिक व्यवस्था प्रदान की, ताकि वायु में संतुलन बनाए रखने के लिये एक या दोनों डैनों के उत्थापन(lift, में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके।

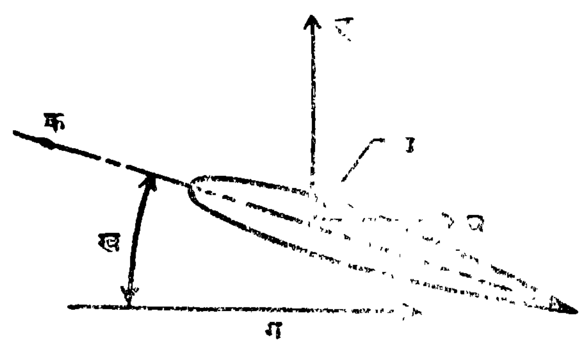
दूसरी कालावधि (सन् १६०३) में नोदक (propeller) को चलाने के लिये इंजन में एक गैसोलीन मोटर का संयोजन किया गया। इससे वायुयानों की उड्डयन क्षमता में कई गुना वृद्धि हुई। सन् १६०५ और १६०८ में राइट बंधुओं ने तथा १६०८ में ही

हेनरी फारमैन ने परीक्षणात्मक उड़ानें भरीं और काफी देर तक और दूर तक सफलतापूर्वक वायुसंतरण करने के पश्चात्, वे सकुशल भूमि पर उतर आने में समर्थ हो सके। इसी विकसित इंजन से संयुक्त वायुयान में नवंबर, सन् १९०९, में फारमैन ने प्रथम उल्लेखनीय नभयात्रा की। उन्होंने ४ घंटे १७ मिनट ५३ सेकंड में लगभग १३४½ मील की यात्रा संपन्न की। आधुनिक वैमानिकी का प्रारंभ इसी ऐतिहासिक उड़ान से माना जा सकता है। इसके अनंतर तो उन्नत उड्डयन कला का अत्यंत द्रुत गति से विकास होता गया और लगभग पाँच वर्षों की अवधि के पश्चात् ही, प्रथम विश्वयुद्ध मे, वायुयानों का प्रथम व्यावहारिक उपयोग किया गया। इन वायुयानों मे, हेनसन और स्ट्रिंगफेलो आदि के कौतुकी वायुयानों के बदले तीन लाख पाउंड और उससे भी भारी वायुयानों का प्रयोग किया गया। इतना ही नहीं सैनिक परिवाहक, बमवर्षक आदि के रूप में भी भारी इंजनों से युक्त वायुयानों का प्रयोग किया गया। प्रथम विश्वयुद्ध में वस्तुतः वायुयान ही प्रधान निर्णायक तत्व रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होते न होते जेट चालित युद्धक वायुयानों का भी निर्माण हो गया, जिनकी चाल ५०० मील प्रति घंटा या उससे भी अधिक थी। कुछ ही वर्षों बाद, बीसवीं शताब्दी के ६ठे दशक में इन विमानो की चाल बढ़कर ध्वनिवेग को भी पार कर गई। आज तो अंतरिक्ष अनुसंधान के लिये प्रयुक्त राकेटों का वेग लगभग अठारह सहस्र मील प्रति घंटा, अर्थात् ध्वनिवेग का पच्चीसगुना या उससे भी अधिक होता है।

वैमानिकी का यांत्रिक सिद्धांत — वैमानिकी का मूल सिद्धांत तरल पदार्थ, जैसे द्रव या गैस में, ठोस पदार्थों के संतरण मे निहित है। ठोस पदार्थ इस प्रकार के संतरण में अपने आयतन के बराबर तरल पदार्थ को विस्थापित करता है और जब इस विस्थापित तरल का भार उक्त ठोस के भार से अधिक होता है, तब ठोस पर तरल का उत्प्लावन या उत्क्षेप अधिक हो जाता है और ठोस ऊपर उठकर तरल पदार्थ की ऊपरी सतह की ओर चलने लगता है। यदि ठोस पदार्थ गतिमान होता है, तो उसकी गति में तरल पदार्थ के कारण प्रतिरोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रतिरोध का स्पष्टीकरण एवं मान ज्ञात करने के लिये अनेक भौतिकविदों, यथा न्यूटन (१६४२–१७२७ ई०), जोहैन बेर्नूली (१६६७–१७४८ ई०), जीन लॉ रॉण्ड डी' एलेंबट (१७१७-८३ई०), लेग्रोन्हर्ड आयलर (१७०७–८३ ई०) तथा अन्य अनेक ने अपने अपने सिद्धातो और सूत्रो का नियमन किया। इनकी सहायता से पवन के वेग और दबाव की विभिन्न स्थितियों में कोई वायुयान कितना भार लेकर कितनी ऊँचाई या दूरी तक उड़ान भर सकता है, इसका स्थूल अनुमान किया जा सकता है।

पवन सुरंगे (Wind Tunnels) — उपर्युक्त गणना एक जटिल प्रक्रिया तो है ही, साथ ही कुछ ऐसी अपरिहार्य समस्याएँ भी विमान की उड़ान के साथ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका निदान विशुद्ध गणित की सहायता से नही किया जा सकता। उनका ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रयोगों और परीक्षणों द्वारा ही संभव हो सकता है। यदि वायुयान को किसी प्रकार उसी गैसीय परिवेश में रखा जाय जिसमें उसे सचमुच उड़ना है और तब उसमें उसके उड्डयन संबंधी लक्षणों का अध्ययन किया जाय, तो यह ज्ञात हो सकता है कि वह वायुयान कितना भार वहन कर सकता है। इस प्रकार के कृत्रिम पवनपरिवेश की सृष्टि के लिये पवन सुरंगों का सहारा लिया गया। इनमें एक सुरंग या कंठ (throsat) में से पवन के झोंके एक आधार (stand) पर रखे एक प्रतिरूप (model) पर प्रवाहित किए जाते हैं। वास्तविक वायुयान के हवा में उड़ने पर दोनों के बीच सापेक्ष गति की उत्पत्ति स्थिर यान पर पवन के झोंके प्रवाहित करके उत्पन्न की जाती है। इस विधि से उत्थापक (lift), कर्षण (drag) एवं संतुलन बल की गणना करने में सुविधा होती है। इतना ही नहीं, प्रतिरूप को आगामी पवन झोंकों की दिशा से विभिन्न कोण बनाते हुए रखा जाता है, जिससे वायुयान पर विभिन्न दिशाओं से पड़नेवाले पवन दबावों की भी गणना कर ली जाती है। पवन और वायुयानतल की दिशाओं के बीच बननेवाले कोण को हवाकाट कोण (angle of attack) कहते है।

वायुयान के किसी प्रस्तावित प्रतिरूप पर विभिन्न हवाकाट कोण पर पवन झोंकों को आरोपित कर उत्थापन छ (L), कर्षण घ (D), घूर्ण (M) तथा दबाव केंद्र च (C. P.) के मान ज्ञात कर लिए जाते हैं और उन्हे लेखाचित्र पर अंकित करके अभिलाक्षणिक वक्र (characteristic curves) प्राप्त कर लिए जाते हैं, फिर उन्हे वास्तविक



वायु की धारा में एयरफॉयल पर कार्यकारी बल

क कॉर्ड रेखा (Chord line), ख हवाकाट कोण (angle of attack), ग वायु का वेग, घ. कर्षण (drag), च दाब का केंद्र तथा छ उत्थापक बल।

वायुयान के विशाल आकार के लिये संशोधित किया जाता है। वैमानिकी की दृष्टि से अभिलाक्षणिक वक्रों का महत्व अप्रतिम है।

किसी दिए हुए हवाकाट कोण के लिये L. D. और M. के मान निम्नलिखित सूत्रों द्वारा व्यक्त किए जाते हैं :

$$L = C_L \rho/_2 \; S \; V^2$$
$$D = C_D \rho/_2 \; S \; V^2$$
$$M = C_M \rho/_2 \; S \; V^2$$

यहाँ ρ वायु का घनत्व, S डैनों का क्षेत्रफल, तथा V वायु और यान का सापेक्ष वेग है। C_L, C_D तथा C_M क्रमश: उत्थापन, कर्षण और घूर्ण के वायुगतिक गुणांक हैं। इन्हे पृथक् प्रयोगो द्वारा ज्ञात किया जाता है, जिनसे पहले L, D, और M के मान ज्ञातकर, अभिलाक्षणिक

वक्र खींचे जाते हैं और इन वक्रों की प्रवणता (gradients) से उपर्युक्त स्थिरांकों की गणना की जाती है।

पवन सुरंगों में प्रतिरूप पर किए गए प्रयोगों द्वारा जो विवरण प्राप्त होते हैं, उन्हें सीधे वास्तविक या पूर्ण आकार के वायुयानों पर लागू नहीं किया जा सकता। इसका मुख्य कारण वायुयान के आकार की विशालता के कारण उत्पन्न कुछ विशिष्ट किंतु जटिल प्रक्रियाएँ, वास्तविक वायुयान पर पड़नेवाले पवन झोंकों की गति की पवन सुरंगों में उत्पन्न पवन झोंकों की अपेक्षा कई गुना अधिक गति इत्यादि, हैं। इनके अतिरिक्त वायुमंडल के विभिन्न स्तरों में उड़ने के कारण वायुयान को विभिन्न वायु घनत्वों में से होकर गुजरना पड़ता है। इस कारण कर्षण वक्र (drag curve) के रूप में परिवर्तन तथा अधिकतम एवं न्यूनतम उत्थापन (lift) गुणांकों आदि के मानों का निरूपण करना पड़ता है। इन सब संशोधनों के उपरांत पवन सुरंगों में आरोपित पवन झोंकों के मानों को वास्तविक वायुयान द्वारा वायुमंडल में झेले जानेवाले पवन झोंकों तक प्रवर्धित करके वास्तविक गुणांकों की गणना कर ली जाती है। ये मान स्थायी रूप से वास्तविक यानों के निर्देशक मान होते हैं।

संपीडन प्रभाव — जब वायुयान का वेग ४०० मील प्रति घंटा या इससे अधिक होता है, तब पवन झोंकों के आघात से यह अपने संपर्क में आनेवाली वायुराशि के घनत्व में परिवर्तन कर देता है। इससे वायुयान पर पवन झोंकों के आघातों की तीव्रता में अत्यंत द्रुत गति से परिवर्तन होने लगता है। यह परिवर्तन वायुयान में दोलन गति का आविर्भाव करता है, जो उसके लिये संकट का कारण बन सकता है। इसके लिये पवन सुरंग प्रयोगों द्वारा प्राप्त मानों में एक संशोधक गुणांक से गुणा करना पड़ता है, जिसका मान यान के वेग और वायु में ध्वनि के वेग के अनुपात के बराबर होता है, अर्थात् संशोधन गुणांक = वायुयान का वेग / वायु में ध्वनि का वेग। जब वायुयान का वेग ध्वनि के वेग के बराबर हो जाता है, तब पवन प्रवाह की भौतिक दशाओं में इतना व्यापक परिवर्तन हो जाता है कि उपर्युक्त सामान्य नियम उसके लिये लागू नहीं हो सकते। इस दशा के लिये अभी तक कोई संतोषजनक संशोधनविधि आविष्कृत नहीं की जा सकी है।

अवतरण (landing) **वेग** — पृथ्वी पर उतरते समय वायुयान का वेग एक निम्नतम मान से कम नहीं होना चाहिए। यह वेग स्थूल रूप में निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :

$$V_{min} = [\{2/\rho C_L \max\} \times W/S]$$

यहाँ W/S, अर्थात् भार और पक्षों के क्षेत्रफल का अनुपात 'पक्ष लदान' (Wing loading) कहलाता है। इस निम्नतम भार का मान अच्छे विमानों के कुशल अवरोहण के लिये यथासंभव कम होना चाहिए।

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त अच्छे वायुयान के सफल एवं कुशल चालन के लिये निम्नलिखित अन्य लक्षणों का होना भी आवश्यक होता है। यथा :

(१) इंजन की शक्ति इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि यह वायुयान को नियत क्षैतिज गति से संचालित करने के साथ साथ उसके उत्थापन (lift) तथा आरोहण (climbing) के लिये भी वांछित शक्ति प्रदान कर सके तथा इनके लिये इंजन पर अतिरिक्त अधिभार न पड़े और न वायुयान की गति में ही कमी हो सके।

(२) इंजन की दक्षता, अर्थात् नियत मात्रा में ईंधन देने पर अधिकाधिक दूरी और ऊँचाई तक उड़ान की क्षमता, यथासंभव अधिक हो।

(३) वायुयान में स्थायित्व हो, अर्थात् पवन झोंकों के वेग में अचानक परिवर्तन होने पर वायुयान शीघ्रातिशीघ्र संतुलन की दशा पुनः प्राप्त कर ले। इसके लिये अच्छे वायुयान में स्वचालित व्यवस्था होती है। [सु० चं० गौ०]

विमा, मात्रकों की (Dimension of Units) जब हम किसी राशि के परिमाण का वर्णन करते हैं, तब उसे उसी के प्रकार के मात्रक के पदों में व्यक्त करते हैं। हम मात्रक का वर्णन करते हैं और यह बताते हैं कि राशि का मात्रक से क्या अनुपात है। उक्त अनुपात को मात्रक के पदों में राशि की माप अथवा नाप कहते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति की ऊँचाई ६ फुट है तब उक्त कथन में मात्रक फुट है और नाप ६ है। जब मात्रक बदलता है, तब नाप भी बदलती है, जैसे ६ फुट = २ गज = ७२ इंच। किसी राशि की नाप और मात्रक का गुणनफल सदैव एक सा रहता है। यदि किसी राशि की नाप अ, अ′ (α, α') हो तथा मात्रक क्रमशः [क], [क′] {[K] [K′]} हो तो

$$\text{अ} [\text{क}] = \text{अ}' [\text{क}'],$$
$$\{\alpha [K] = \alpha' [K']\}$$

$$\text{अर्थात्} \ [\text{क}] : [\text{क}'] = \frac{१}{\text{अ}} : \frac{१}{\text{अ}'},$$

$$\left\{ [K] : [K'] = \frac{1}{\alpha} : \frac{1}{\alpha'} \right\}$$

अतः जिस मात्रक में कोई राशि नापी जाती है, वह नाप की व्युत्क्रमानुपाती (inversely proportional) होती है।

विमा (Dimension) — ऋजु रेखा में केवल लंबाई होती है। अतः हम कहते हैं कि ऋजु रेखा में लंबाई में एक ही विमा होती है, जिसे [ल] या [L] से निरूपित करते हैं। यह लंबाई का मूल मात्रक है। य (x) फुट लंबाई और र (y) फुट चौड़ाई के आयत का क्षेत्रफल य र (फुट)², {x y (ft)²} होता है, जिसमें दो लंबाइयाँ गुणित होती हैं। अन्य मूल मात्रक समय [स] या [T] और द्रव्यमान [द] या [M] होते हैं। शेष समस्त मात्रक इन्हीं तीनों पर आवृत होते हैं और व्युत्पन्न (derived) मात्रक कहलाते हैं।

जब स (t) सेकंड में लंबाई ल (l) फुट तय होती है, तब वेग $\frac{\text{ल}}{\text{स}}$ $\frac{\text{फुट}}{\text{सेकंड}}$, $\left(\frac{l}{t} \ \frac{ft}{sec}\right)$ होता है, न कि केवल ल/स, (l/t) और हम इसे इस प्रकार लिखते हैं :

वेग = व = $\frac{\text{ल}}{\text{स}}$ (फुट) (सेकंड)$^{-1}$ अथवा फुट प्रति सेकंड

$$\left\{ v = \frac{l}{t}(ft)\ (sec)^{-1} \text{ or. ft. per second} \right\}$$

और इसकी विमा [ल स$^{-1}$], [L T^{-1}] है।

$$\text{त्वरण} = \frac{\text{व}}{\text{स}} \text{ अर्थात् } \frac{\text{ल}}{\text{स}^2}, \left(\frac{v}{t} \text{or} \frac{l}{t^2}\right)$$

जिसकी विमा [ल स$^{-2}$], { [L T^{-2}] } है। जब हम कहते है कि किसी राशि की विमा लंबाई, समय और द्रव्यमान में अ (α), इ (β), उ (γ) है, तो इसका यह अर्थ होता है कि जिस मात्रक के पदों में उक्त राशि नापी गई है, वह

[ल^{अ}], [स^{इ}], [द^{उ}],

$$\{ [L^{\alpha}], [T^{\beta}], [M^{\gamma}] \}$$

का अनुक्रमानुपाती (directly proportional) है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अ लंबाइयाँ गुणित हुई हैं, इ समय गुणित हुए हैं और उ द्रव्यमान गुणित हुए हैं। इस प्रकार हम कहते हैं कि वेग के मात्रक की विमा लंबाई में १ और समय में − १ है।

समघातता का सिद्धांत (Principle of Homogeneity) — एक आधारभूत तथ्य, जिसके द्वारा विमों के ज्ञान का महत्व दृष्टिगोचर होता है, यह है कि हम एक ही प्रकार की वस्तुओं का योग, व्यवकलन और समीकरण कर सकते हैं। हम जितना चाहें लंबाइयों में लंबाई, समयों में समय अथवा वेगों में वेग को जोड़ सकते है, किंतु लंबाई में समय अथवा वेग जोड़ने का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार किसी भौतिक समीकरण में समस्त पदों की एक ही विमा होनी चाहिए। किसी भी पद में कई कई गुणनखंड हो सकते हैं और प्रत्येक गुणनखंड की विमा भिन्न हो सकती है, किंतु प्रत्येक पद के समस्त गुणनखंडों को मिलाकर एक ही विमा होनी चाहिए, जैसे यदि त्वरण अचर (constant) हो तो

तय किया गया अवकाश = $\frac{1}{2}$ क स^2,

$$(\text{space described} = \tfrac{1}{2}\, a\, t^2)$$

अर्थात् [ल] = [ल स$^{-2}$. स^2] = [ल]

$$\{ [L] = [L T^{-2}.\ T^2] = [L] \}$$

दोनों पक्षों की एक ही विमा है, यद्यपि दाहिने पक्ष में विभिन्न गुणनखंडों की विमाएँ भिन्न भिन्न हैं।

फिर, कार्य = ब × द = बल × दूरी

$$\{ \text{work} = F \times S = \text{force} \times \text{distance} \}$$

∴ [कार्य] = [द ल स$^{-2}$. ल] = [द ल^2 स$^{-2}$].

$$\{ [\text{work}] = [M L T^{-2}.\ L] = [M L^2 T^{-2}] \}$$

और गतिज ऊर्जा = $\frac{1}{2}$ द व^2,

$$(\text{kinetic energy} = 1/2\ m\ v^2)$$

∴ [ऊर्जा] = [द ल^2 स$^{-2}$]

$$\text{or } \{ [\text{energy}] = [M L^2 T^{-2}] \}$$

अतः कार्य और ऊर्जा की विमा एक सी होती है।

महत्व — इस विषय का महत्व इस बात में है कि इसके द्वारा भौतिकी के प्रश्नों के आंशिक हल निकल आते हैं और बहुत से फलों की जाँच उनकी अंतर्भुक्त विमाओं द्वारा हो जाती है। केवल विमाओं के विवेचन से बहुत से सूत्र, सांख्यिक अचरों को छोड़कर, पूर्ण रूप से निकल आते हैं। ल (l) लंबाई की एक डोरी द्वारा, द (M) द्रव्यमान का कोई पदार्थ एक स्थिर बिंदु से बाँधने से एक सरल दोलक (simple pendulum) बन जाता है। उक्त दोलक का दोलनकाल (time of oscillation) लंबाई ल (l), द्रव्यमान द (m) और गुरुत्वाकर्षण गु. (g) पर आश्रित होता है। यदि हम मान ले कि समय द^{अ} ल^{इ} गु^{उ} ($m^{\alpha}\ l^{\beta}\ g^{\gamma}$) के अनुपात में परिणमन करता है (varies), तो विमाओं के पदों में हम उसे इस प्रकार व्यक्त करेंगे :

[स] = [द]^{अ} [ल]^{इ} [ल^{उ} स$^{-2उ}$] = [द]^{अ} [ल$^{इ+उ}$ स$^{-2उ}$]

$$[T] = [M]^{\alpha}\ [L]^{\beta}\ [L^{\gamma} T^{-2\gamma}] = [M]^{\alpha}\ [L^{\beta+\gamma} T^{-2\gamma}]$$

किसी मूल मात्रक के घातांकों का जोड़ दोनों पक्षों में एक सा होना चाहिए। अतः, समय के घातांकों के विचार से

१ = −२ उ, ($1 = -2\gamma$)

इसी प्रकार,

इ + उ = ०, ($\beta + \gamma = 0$), अ = ०, ($\alpha = 0$)

उ = − १/२ और इ = १/२, ($\gamma = -1/2$) and ($\beta = 1/2$)

अतएव दोलन काल, $\sqrt{\text{ल}/\text{गु}}$, ($\sqrt{l/g}$) का अनुक्रमानुपाती है और अचर का मान प्रयोग द्वारा निकाला जा सकता है।

शुद्ध और अनुप्रयुक्त गणित के भिन्न भिन्न प्रश्नों में इस विषय के बहुत से अनुप्रयोग है (देखे विमीय विश्लेषण)।

[शां० ना० म०]

विमीय विश्लेषण (Dimensional Analysis) न्यूटन (Newton) द्वारा लिखित पुस्तक 'प्रिंसीपिया' (Principia) में विमाएँ तथा विमीय विश्लेषण 'सादृश्य का सिद्धांत' (Principle of Similitude) नाम से वर्णित हैं। इस विषय को बढ़ाने में जिन लोगों ने योगदान दिया है, वे हैं : ई० बकिंघम (E. Buckingham), लार्ड रेलि (Lord Rayleigh) और पी० डब्ल्यू० ब्रिजमैन (P. W. Bridgman)। प्रारंभ में विमीय विश्लेषण यांत्रिकी (mechanics) की समस्याओं में प्रयुक्त किया गया, किंतु आजकल यह सभी प्रकार की भौतिकी एवं इंजीनियरी की समस्याओं में प्रयुक्त होने लगा है। विमीय विश्लेषण का मान उसकी इस क्षमता में है कि भौतिकविज्ञानी और इंजीनियर के प्रति दिन की सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक समस्याओं के समाधान में यह सहायक होता है।

संपूर्ण भौतिक राशियाँ दो वर्गों में विभाजित की जाती हैं : (क) मौलिक (Fundamental) तथा (ख) व्युत्पन्न (Derived)। यांत्रिक समस्याओं में तीन स्पष्ट प्राथमिक राशियों (distinct primary quantities), लंबाई (length = L), द्रव्यमान (mass = M), तथा समय (time = T), को मान्यता मिली

विमीय विश्लेषण

थी। किन्तु यदि चुम्बकीय, विद्युतीय और ऊष्मीय राशियों के लिये भी इनका उपयोग करें तो हमें बाध्य होकर दो अन्य राशियों (विद्युत् की मात्रा Q एवं ताप θ) को समाविष्ट करना होगा। अन्य सभी व्युत्पन्न भौतिक राशियों को इन पाँच मौलिक राशियों के पदों में व्यक्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिये, बल की विमा $M\ L\ T^{-2}$, ऊष्मा चालकता की विमा $L\ M\ T^{-3}\ \theta^{-1}$ और धारिता की विमा $Q^2\ T^2\ M^{-1}\ L^{-2}$ हैं। वास्तविक उपयोग में मात्रक पद्धति (system of units) प्रयोग में आती है :

(१) सेंटीमीटर-ग्राम-सेकंड पद्धति (C G. S. System) — इसमें लंबाई का मात्रक सेंटीमीटर, द्रव्यमान का मात्रक ग्राम और समय का मात्रक सेकंड है।

(२) फुट पाउंड सेकंड पद्धति (F. P. S. System) — इसमें लंबाई, द्रव्यमान एवं समय के मात्रक क्रमशः फुट, पाउंड और सेकंड है।

(३) मीटर किलोग्राम सेकंड (M K S. System) — इसमें लंबाई, द्रव्यमान और समय के मात्रक क्रमशः मीटर, किलोग्राम और सेकंड हैं।

सारणी (क) में यांत्रिक, सारणी (ख) में ऊष्मीय तथा (ग) में वैद्युत्-चुम्बकीय राशियाँ तथा विमाएँ (देखें पृष्ठ ९२) दी गई हैं।

(क) यांत्रिक राशियाँ

क्र० सं०	राशि	मात्रक (मी० किग्रा० से०)	विमाएँ
१.	लंबाई (l)	मी (m)	L
२	द्रव्यमान (m)	किग्रा (kg)	M
३	समय (t)	सेकंड (s)	T
४.	वेग (v)	मीसे$^{-1}$	$L\ T^{-1}$
५	प्रकाश का वेग (c)	२.९९८ × १०^{8} मीसे$^{-1}$	$L\ T^{-1}$
६.	त्वरण (a)	मीसे$^{-2}$	$L\ T^{-2}$
७	बल (F)	न्यूटन (N) = १०^{5} डाइन	$L\ M\ T^{-2}$
८	कार्य, ऊर्जा (W)	जूल = न्यूटनमीटर	ML^2T^{-2}
९	शक्ति (P)	वाट = जूल/से०	ML^2T^{-3}
१०.	पृष्ठतनाव (σ)	न्यूटन/मी = १०^{3} डाइन/सेमी०	$M\ T^{-2}$
११.	श्यानता (η)	न्यूटन सेकंड/मी^{2} = १० प्वॉज	$ML^{-1}T^{-1}$
१२	बल आघूर्ण		ML^2T^{-2}
१३	कोणीय त्वरण		T^{-2}
१४.	आवृत्ति (n)	साइकिल/सेकंड	T^{-1}

फुट पाउंड-सेकंड पद्धति में परिवर्तन के लिये निम्न संबंध उपयोग में लाए जाते है :

१ मीटर = ३९.३७ इंच

१ किलोग्राम = २.२ पाउंड

(ख) ऊष्मीय राशियाँ

क्र० सं०	राशियाँ	विमाएँ
१.	ताप	θ
२.	ऊष्मा की मात्रा (H)	$M\ L^2\ T^{-2}$
३.	विशिष्ट ऊष्मा	विमाविहीन
४.	ऊष्मा धारिता प्रति एकक द्रव्यमान	$L^2\ T^{-2}\theta^{-1}$
५.	ऊष्मा धारिता प्रति एकक आयतन	$ML^{-1}T^{-2}\theta^{-1}$
६.	चालकता (Conductivity)	MLT^{-3-1}
७.	ऐंट्रॉपी (Entropy)	$ML^2T^{-2}\theta^{-1}$
	$H\theta^{-1}$	

विमीय विश्लेषण के सिद्धांत (Principles of Dimensional Analysis) — जब किसी समीकरण का रूप मापन (measurement) के मौलिक मात्रकों (fundamental units) पर निर्भर नहीं करता, तब वह विमीय रूप से समांगी (Homogeneous) कहलाता है। उदाहरण के लिये, सरल लोलक का दोलनकाल $T = 2\ \pi\sqrt{(l/g)}$ मान्य है चाहे लंबाई फुट या मीटर में नापी गई हो, अथवा समय T मिनट या सेकंड में नापा गया हो। किसी प्रश्न के विमीय विश्लेषण का प्रथम सोपान प्रश्न में आए चरों (variables) का निर्णय करना है। यदि घटना (phenomenon) में वे चर, जो वास्तव में प्रभावहीन हैं, प्रयुक्त होते हैं, तो अंतिम समीकरण में बड़ी संख्या में पद दिखाई पड़ेंगे। फिर हम प्रदत्त चर समुच्चय (set) के विमाविहीन उत्पादों (products) के पूर्ण समुच्चय का परिकलन (calculation) करते हैं और उनके बीच एक सामान्य संबंध लिखते हैं। इस संबंध में ई० बकिंहैम द्वारा प्रणीत निम्नलिखित मौलिक प्रमेय महत्वपूर्ण है : "यदि कोई समीकरण विमीय रूप से समांगी है, तो वह विमाविहीन उत्पादों के पूर्ण समुच्चय के, जिसकी संख्या प्रश्न में समाविष्ट भौतिक चरों की संख्या एवं मौलिक प्राथमिक राशियों की संख्या के अंतर (जिनके पदों में वे व्यक्त किए जाते हैं) के बराबर होती है, संबंध में बदला जा सकता है।" विलोमतः इसे इस तरह कहा जा सकता है कि यदि मौलिक चरों का संबंध इन चरों के उत्पादों के निम्नतम समुच्चय में बदला जा सकता है, तो ये सभी उत्पाद विमाविहीन होंगे। बकिंघैम का प्रमेय, जिसे द्वितीय (π) प्रमेय भी कहते हैं, विमीय विश्लेषण के संपूर्ण सिद्धांत का साराश प्रस्तुत करता है।

उदाहरण के लिये कर्षणबल (drag force) F को लीजिए, जिसे D व्यास की चिकनी गोलीय वस्तु घनत्व ρ तथा श्यानता μ के असंपीड्य तरल (incompressible fluid) की धारा

(stream) में अनुभव करती है। v को धारा का वेग माना गया है। इन चरों की विमाएँ तीन प्राथमिक राशियों लंबाई L, द्रव्यमान M तथा समय T के पदों में हम लिख सकते हैं। बकिंघम के π प्रमेयानुसार ५ − ३ = २ विमाविहीन उत्पाद होगा, जिसे हम यों लिख सकते हैं ;

$$\pi_1 = \frac{F}{\rho v^2 D^2} \text{ और } \pi_2 = \frac{vD\rho}{\mu}$$

इस प्रकार निम्न रूप में यह संबंध व्यक्त किया जा सकता है—

$$\pi_1 = f\ (\ \pi_2\ )$$

$$\text{या } F = \rho\ v^2\ D^2 f\ \left(\frac{vD\rho}{\mu}\right)।$$

यहाँ f एक अनिर्दिष्ट फलन (unspecified function) है तथा $R = \frac{vD\rho}{\mu}$ रेनाल्ड संख्या (Reynold's number) है।

यदि R क्रांतिमान (critical value) से, जिसकी कोटि (order) २००० है, अधिक है, तो f का मान अचल हो जाता है और प्रवाह तब 'विक्षुब्ध' (turbulent) कहा जाता है। फिर भी यदि रेनाल्ड संख्या क्रांतिक मान से कम है तो

$$F = \mu\ v\ D\, f_1\ \left(\ \frac{v\ D\ \rho}{\mu}\ \right),$$

जहाँ फलन f_1 अनिर्दिष्ट है और इस दशा में इसका मान एक अचल (constant) होता है। उदाहरणार्थ, कम वेगों के लिये स्टोक का नियम (Stoke's law) है :

$$F = 3\pi\ \mu\ v\ D$$

अर्थात् फलन f_1 अचल 3π के बराबर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ अचलों या फलों को छोड़कर, अधिकर मौलिक प्रश्नों का हल निकाला जा सकता है।

एक दूसरा दृष्टांत रेलि समस्या (Rayleigh's problem) का दिया जा सकता है। निश्चित ज्यामितीय आकार का किंतु चर निरपेक्ष (absolute) विमा D का एक ठोस पिंड, वेग v से बहते हुए तथा पिंड से सुदूर (remote) बिंदुओं पर, द्रव के ताप से उच्चतर निश्चित ताप θ पर, पोषित द्रव की धारा मे बद्ध (fixed) है। पिंड से द्रव को स्थानांतरित होनेवाली ऊष्मा की दर h निकालना अपेक्षित है। यह समस्या गति के समीकरणों द्वारा आसानी से नही सुलझाई जा सकती, किंतु विमीय विधियों को प्रयुक्त कर यह दिखाया जा सकता है कि

$$h = k\ D\ \theta\ f\ \left(\frac{D\ v\ c}{k}\right),$$

जहाँ K द्रव की ऊष्मीय चालकता (thermal conductivity), C उसकी ऊष्मा धारिता (heat capacity) और θ तापांतर (temperature difference) है। यहाँ ऊर्जा के रूप में विचारित लंबाई, समय, ताप और ऊष्मा के लिये हम लोग L, T, θ और H प्राथमिक राशियों के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। $\left(\frac{D\ v\ c}{k}\right)$ को पेक्लेट (Peclet's number) और $h/kD\theta$ को नसेल्ट संख्या (Nusselt number) कहते हैं। यदि श्यानता (viscosity) को भी लिया जाय, तो $h = kD\theta F\left(\frac{D\ v\ C}{k},\ \frac{v\ D\ \rho}{\mu}\right)$। किसी निर्दिष्ट द्रव को लेकर प्रयोग करने पर, फलनों f और F के मान निकाले जा सकते हैं।

दूसरे द्रवों के आँकड़े (data) तथा प्राचलों (parameters) $D\ v\ c/k$ और $v\ D\ \rho/\mu$ के मान प्रयोग करने पर फलन F का मान निकाला जा सकता है। अत. h का मान निकल जाता है। विमाओं की विधि चालन और संवहन (convection) के प्रश्नों के लिये भी, जो सामान्यतः विश्लेषित नही हो सकते, प्रयुक्त हो सकती है।

विमा सिद्धांत के अत्यंत महत्वपूर्ण अनुप्रयोगों (applications) में से एक 'प्रतिरूप परीक्षण' (model testing) है। किसी व्ययसाध्य (expensive) इंजीनियरी प्रायोजना (project) के पहले कभी कभी निर्मित होनेवाले आदिप्ररूप (prototype) पद्धति की लघुमान प्रतिकृति (small scale replica) की क्रिया का अध्ययन करना परामर्श्य (advisable) होता है। प्रतिरूप अध्ययन मँहगी त्रुटियों (costly mistakes) को दूर करने के लिये तथा आदि प्ररूप की अभिकल्पना (design) में सहायक सूचना प्राप्त करने के लिये किया जाता है। माना किसी प्रश्न में $Q_1, Q_2, Q_3, \ldots\ldots$ आदि चर हैं, बकिंहैम के (π) प्रमेय द्वारा इनके बीच का संबंध बहुत से विमाविहीन उत्पादों के मध्य के संबंध में परिणत किया जा सकता है। Q_1 के मान मे रुचि लेने पर हम लिख सकते हैं कि :

$$Q_1 = Q_2^{\alpha_2} \quad Q_3^{\alpha_3} \quad \ldots\ldots E\ (\ \pi_2,\ \pi_3,\ \pi_4\ )$$

$$\text{जहाँ} \quad \pi_2 = Q_2^{\beta_2} \quad Q_3^{\beta_3} \quad \ldots\ldots,$$

$$\pi_3 = Q_2^{\gamma_2} \quad Q_3^{\gamma_3} \quad \ldots\ldots \text{ आदि}$$

किसी प्रतिरूप पर, जिसके लिये सभी π के मान आदि प्ररूप के π के मानों के बराबर हैं, प्रयोग करके π के मान के विभिन्न समुच्चयों के लिये फलन F के मान ज्ञात कर सकते हैं। इस प्रकार प्रतिरूप के लिये उनके मान ज्ञात होने से आदिप्ररूप के मानों को ज्ञात किया जा सकता है। ऐसी दशा मे प्रतिरूप तथा आदिप्ररूप गतिकीत: समरूप (dynamically similar) कहलाते हैं। वास्तविक विमान बनने के पूर्व, एक प्रतिरूप (आकार में विमान का $\frac{1}{16}$) पर वायु सुरंग (wind tunnel) में प्रयोग किए जाते हैं और विभिन्न प्रणोदों (thrusts) के मान ज्ञात किए जाते है। इन आँकड़ों से विमान के लिये संगत मान (corresponding values) निकाल लिए जाते हैं। यह विधि जलयान उद्योग (ship industry), अंतर्जलीय विस्फोट (underwater explosion), प्राक्षेपिकी विज्ञान (science of ballistics) और दूसरी इंजीनियरी प्रायोजनाओं में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। प्रतिरूप पर प्रयोग करना, किसी प्रस्तावित ज्वारनदमुख (estuary), या पोताश्रय (harbour), के प्रभावों के विषय मे पूर्व जानकारी देने, अन्वेषण करने (investigating) तथा व्ययसाध्य

व्यवसाय (undertaking) का द्रुत उपाय (ready means) है।

विमाओं के सिद्धांत ने तरलगतिकी (fluid mechanics) और ऊष्मा स्थानान्तरण (heat transfer) के आधुनिक विकासों (developments) में महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। विद्युत् चुम्बकीय सिद्धांत तथा बहुत सी दूसरी भौतिक समस्याओं में भी यह सिद्धांत अनुप्रयोगित है।

किसी समस्या का विस्तृत विश्लेषण करने के पूर्व किसी प्रश्न में किसी परिमाण की कोटि (order of magnitude) के परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। वास्तव में विमीय विश्लेषण प्राकृतिक घटनाओं (natural phenomena) के अन्वेषण के लिये एक महत्वपूर्ण साधन (tool) हो रहा है।

(ग) वैद्युत् एवं चुंबकीय राशियाँ

क्र० सं०	राशि	मात्रक (मी० किग्रा० से०)	विमाएँ
१.	आवेश	कूलॉम	Q
२.	आकाश की विद्युत्शीलता (ϵ_0) (Permittivity of space) विद्युत्शीलता (ϵ) आपेक्षिक विद्युत्शीलता (ϵ_r) $(F = qq'/4\pi\epsilon r^2)$	फैरड / मी० ८.८५४ × १०$^{-१२}$ फैरड / मी० (आकाश के लिये)	$F^{-1} L^{-2} Q^2$ $M^{-1} L^{-3} T^2 Q^2$
३	धारा (I)	ऐंपियर = कूलॉम/सेकंड = ३ × १०^{९} स्थि० वै० मा०	$T^{-1} Q$
४	धारा घनत्व (j)	ऐंपियर / मी०^{२} = ३ × १०^{५} स्थि० वै० मा० = १०$^{-४}$ ऐंपि/सेंमी०^{२}	$L^{-2} T^{-1} Q$
५	विभवांतर (v)	वोल्ट = जूल/कूलॉम = १/३०० स्थि० वै० मा०	$ML^2 T^{-2} Q^{-1}$
६	विद्युत् क्षेत्र (E) $= \frac{F}{q}$	न्यूटन/कूलॉम = वोल्ट/मी० = १/३ × १०$^{-४}$ स्थि० वै० मा०	$MLT^{-2} Q^{-1}$
७	विद्युत् वाहक बल (E) $\frac{F\ l}{q}$	वोल्ट	$ML^2 T^{-2} Q^{-1}$
८.	द्विध्रुव आघूर्ण (Dipole moment) (q l)	कूलॉम मी०	LQ
९.	प्रतिरोध (R)	ओम = १/म्हो (mho) = १/९ × १०$^{-११}$ स्थि० वै० मा०	$ML^2 T^{-1} Q^{-2}$
१०.	चालकता $(\vec{j})/(\vec{E})$	म्हो/मी० = ९ × १०^{९} स्थि० वै० मा०	$Q^2 T M^{-1} L^{-3}$

क्र० सं०	राशि	मात्रक (मी० किग्रा० से०)	विमाएँ
११.	धारिता (C)	फैरड = कूलॉम/वोल्ट = ९ × १०¹¹ स्थि० वै० मा०	$Q^2 T^2 M^{-1} L^{-2}$
१२.	विद्युत् विस्थापन (D)	कूलॉम/मी०² = १२π × १०⁵ स्थि० वै० मा०	$Q L^{-2}$
१३.	विद्युत् ध्रुवण (P)	कूलॉम/मी०² = ३ × १०⁵ स्थि० वै० मा०	$Q L^{-2}$
१४.	आकाश की चुंबकशीलता (μ_0) (Permeability of space) $FT^{+2}Q^{-2}$ चुंबकशीलता (μ) आपेक्षिक चुंबकशीता (μ_r)	वेबर/मी० ऐंपियर = ४π × १०⁻⁷ हेनरी/मी०	$ML Q^{-2}$
१५.	चुंबकीय अभिवाह घनत्व B (Flux density) प्रेरण	वेबर/मी०²	$ML^2 T^{-1} Q^{-1}$
१६.	चुंबकीय अभिवाह (I)	वेबर = हेनरी ऐंपियर = वोल्ट सेकंड	$ML^2 T^{-1} Q^{-1}$
१७.	चुंबकीय क्षेत्र तीव्रता (H)	ऐंपियर चक्कर/मी० या ऐंपि/मी०	$L^{-1} T^{-1} Q$
१८.	प्रेरकत्व (L) (Inductance)	हेनरी = वोल्ट सेकंड/ऐंपि० = वेबर/ऐंपियर	$ML^2 Q^{-2}$
१९.	चुंबक वाहक बल (चुंबकीय विभव)	ऐंपियर चक्कर - ऐंपियर	QT^{-1}
२०.	प्रतिष्टम्भ (R) (Reluctance)	ऐंपियर चक्कर/वेबर - रालैंड (Rowland)	$M^{-1} L^{-2} Q^2$
२१.	चुंबकीय आघूर्ण (m)	ऐंपियर मी०²	$L^2T^{-1}Q$
२२.	चुंबकीय ध्रुव प्राबल्य	ऐंपियर मीटर	$LT^{-1}Q$
२३.	चुंबकन तीव्रता (M) (Intensity of Magnetisation)	ऐंपियर/मीटर	$L^{-1}T^{-1}Q$

मीटर किलोग्राम सेकंड को स्थिर वैद्युत मात्रक तथा विद्युत् चुंबकीय मात्रक मे बदलने के लिये केवल आवेश के मात्रक बदलने होंगे।

अर्थात् १ कूलॉम = ३ × १०⁹ स्थि० वै० मा० (e. s. u)
= $\frac{1}{10}$ वि० चुं० मा० (e. m. u)

[फ० चं० श्री०]

वियतनाम (Vietnam) इंडोचीन का एक राज्य था, जिसके अंतर्गत तीन फ्रांसीसी अधीन राज्य थे : तॉङ्किङ् (Tonking), अनाम (Annam) तथा कोचीनचीन। १९४९ ई० में पूर्व संमिलित तॉङ्किङ् तथा अनाम के साथ कोचीनचीन के मिलने से वियतनाम बना था। गृहयुद्ध के कारण जुलाई, १९५४ ई० में जेनेवा (Geneva) में हुए समझौते के अनुसार वियतनाम, कम्युनिस्ट शासित उत्तरी वियतनाम, तथा राजा द्वारा शासित दक्षिणी वियतनाम में, राजनीतिक रूप से विभाजित हो गया। मई, १९६५

से कम्युनिस्ट शासित उत्तरी वियतनाम द्वारा दक्षिणी वियतनाम की संप्रभुता के प्रति सशस्त्र विरोध किया जा रहा है।

उत्तरी वियतनाम

स्थिति : १७° से २३° ३० अ० तथा १०२° १५′ से १०८° पू० दे०। इस लोकतंत्रात्मक गणतंत्र (Democratic republic) की जनसंख्या १,५६,०३,००० (१९६०) तथा क्षेत्रफल १,५५,२०३ वर्ग किलोमीटर है। यह इंडोचीन प्रायद्वीप के उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित है। इसके उत्तर में साम्यवादी चीन, १७ वें समातर के दक्षिण में दक्षिणी वियतनाम, पश्चिम में लाओस तथा पूर्व में दक्षिणी चीनी सागर है। अनामाइट कार्दियेरा (Annamite-Cordillera) एकमात्र पर्वतशृंखला है, जो पश्चिमी सीमांत के साथ साथ फैली हुई है। अनाम में जहाँ दक्षिणी और उत्तरी वियतनाम की सीमाएँ मिलती हैं, वहाँ पर्वत समुद्र के समीप है। टॉङ्किङ् प्रदेश में सम्मिलित लाल नदी का डेल्टा वियतनाम का घना आबाद क्षेत्र है। यहाँ जनसंख्या का घनत्व ५७५ व्यक्ति प्रति वर्ग किमी० है। यह डेल्टा समुद्रतल से ३ मीटर से कम ऊँचा है। उत्तरी टॉङ्किङ का उच्च भूभाग आग्नेय पर्वतों और बलुआ पत्थर या चूनापत्थर के पठारों से बना है। लाल नदी प्रमुख नदी है, जिसकी लंबाई लगभग ८०० किमी० है। लाल नदी को कॉय (Coi) या सोङकाय (Songi-koi) भी कहते हैं।

उत्तरी वियतनाम में वर्षा मध्य अप्रैल से मध्य अक्टूबर तक होती है। सर्वाधिक वर्षा जुलाई और अगस्त में होती है। राजधानी हनोइ में औसत वार्षिक वर्षा ६८ इंच होती है। अनामाइट कार्दियेरा क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा १६० इंच से अधिक होती है। डेल्टा क्षेत्र के दौरान ताप में पर्याप्त उतार चढ़ाव रहता है। हनोइ का औसत ताप जून में ६५° सें० तथा जनवरी मे १७ से० रहता है। जुलाई से नवंबर तक टाइफून (typhoon) की ऋतु रहती है।

टॉङ्किङ् क्षेत्र के पर्वत तथा अनामाइट कार्दियेरा की विशेषता उष्ण कटिबंधी वर्षावाले जगल है, जिनमें बड़ा भाग मानसूनी वर्षा वाले जंगलों का है। पश्चिमी टॉङ्किङ् के पर्वतीय क्षेत्र मे चीड़ के जगल है। स्थानांतरी कृषि गौण जंगलो के अनेक भागों मे फलीभूत हुई है। ट्रोन (Tron) घास दूर दूर तक फैली हुई है। मेंग्रोव जंगल टॉङ्किङ् डेल्टा के तटीय भाग मे है। हरिण, भैंस, जंगली सांड, हाथी, बाघ और तेंदुआ पर्वतीय क्षेत्र मे पाए जाते हैं। तटीय तथा अंतर्देशीय जल मे मछलियों का बाहुल्य है। पक्षियों और कीटों की अनेक जातियाँ यहाँ पाई जाती हैं।

उत्तरी वियतनाम की कृषि सामूहिकीकरण के उच्च स्तर पर पहुँच गई है। १९६२ ई० मे ८८ प्रति शत कृषकों ने सहकारिता को अपना लिया था। लगभग ३०,००,००० हेक्टेयर भूभाग पर कृषि होती है, जिसमे से २,००,००० हेक्टेयर पर सरकार के ५५ फार्म है। अधिकांश भूभाग पर धान की खेती होती है। लाल नदी के डेल्टा में तथा अनाम के तट के किनारे के डेल्टाओ मे वर्ष में धान की दो फसलें होती है। कुछ क्षेत्रो में वर्ष मे धान की तीन फसलें होती हैं। मक्का, शकरकंद, गन्ना, कपास, मूँगफली (peanut), जूट, चाय, कॉफी, सोयाबीन और रबर अन्य फसलें है।

भारवाही पशुओं (draft animal) के पालन का कार्य यहाँ होता है। थान हो (Than Hoa) और उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र पशुपालन के प्रमुख केंद्र हैं। मछली मारना यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है। इमारती लकड़ियों के अतिरिक्त बाँस, रेज़िन और लैकर (lacquer) जंगल से प्राप्त होनेवाले उत्पाद हैं।

ऐंथ्रासाइट कोयला, टिन, क्रोमियम, ऐपाटाइट तथा फ़ॉस्फ़ेट मुख्य खनिज हैं। यूरेनियम फ़ॉस्फ़ेट तथा टंग्स्टन भी उत्तरी वियतनाम मे मिलते हैं।

देश के महत्वपूर्ण औद्योगिक संस्थानों में से ५७·६ प्रति शत सरकारी संस्थान हैं, जिनके अंतर्गत कोयला, टिन, क्रोमियम तथा अन्य खानें, हनोइ स्थित इंजीनियरी निर्माणशाला, विद्युत् केंद्र और तंबाकू, चाय, एवं डिब्बाबंदी के आधुनिक कारखाने हैं। सीमेंट, सूती वस्त्र, दियासलाई तथा कागज निर्माण अन्य प्रमुख उद्योग है। १९६३ ई० से इस्पात का उत्पादन भी प्रारंभ हो गया है।

हनोइ स्थित उत्तरी वियतनामी राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा राष्ट्रीय संग्रहालय वियतनाम की दर्शनीय संस्थाएँ है। युनिवर्सिटी ऑव हनोइ एकमात्र विश्वविद्यालय है। १० वर्ष तक की आयु के बालकों के लिये अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध है।

राजधानी हनोइ (६,४३,५७६) के अतिरिक्त हाइफॉङ (३,६६,२४८) नाम डिन्ह (Nam Dinh) तथा विन्ह (Vinh) अन्य प्रमुख नगर है। निम्न भूमि पर निवास करनेवाली जनसंख्या का ८५·१ प्रति शत थाई एवं चीनी जातियों का मिश्रण है। उत्तरी वियतनाम के ७० प्रति शत भूभाग में पहाड़ी जाति थाई, चीनी, मोनकमेर (Mon Khmer) और मलाया-पॉलिनेशिया जाति के लोग निवास करते है। यहाँ की प्रमुख भाषा वियतनामी है।

नदियों का उपयोग परिवहन के लिये अधिक किया जाता है। रेल की लाइन ८४० किमी० लंबी है और १३,४४० किमी० लंबी सड़कें हैं। अंतर्देशीय वायुसेवाएँ है और पीकिंग के लिये सीधी वायु-सेवा है।

दक्षिणी वियतनाम

स्थिति : ८° ३०′ से १७° उ० अ० तथा १०४° ३०′ से १९° ३०′ पू० दे०। यह गणतंत्र स्याम की खाड़ी एवं दक्षिणी चीनी सागर के मध्य में फैले हुए इंडोचीन के निम्न पूर्वी पार्श्व पर स्थित है। उत्तरी वियतनाम से यह १७वीं समातर द्वारा पृथक् है। इसका क्षेत्रफल १,७१,६६५ वर्ग किमी० तथा जनसख्या १,४२,७५,३०० (१९६२) है। आबादी का घनत्व ७३ व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। दक्षिणी वियतनाम के पूर्व और दक्षिण में दक्षिणी चीनी सागर, पश्चिम में लाओस तथा कंबोडिया एवं उत्तर मे उत्तरी वियतनाम है। यहाँ की प्रमुख भाषा वियतनामी है। मेकाग यहाँ की प्रमुख नदी है, जिसकी लंबाई ४,१६० किमी० है।

मेकाग नदी का डेल्टा फ्नोम पेन्ह (Phonon Penh) के समीप से आरंभ होता है और दो मुख्य भागों में बँट जाता है। यह डेल्टा और निकटवर्ती वाइको साइगॉन डेल्टा नदीय बालू की अनियमित पट्टियों से युक्त चिकनी मिट्टी से बना है। दक्षिणी वियत-

नाम का दक्षिण-पश्चिमी खंड, कोचीन चीन, मैकाँङ्ग डेल्टा में ही है और यह डेल्टा विश्व के प्रमुख धान उत्पादक क्षेत्रों में से एक है। दक्षिणी मध्यभाग का अधिकांश पठारी है।

यहाँ की जलवायु उष्णकटिबंधी है। राजधानी साइगाँन का ताप १८° सें० से लेकर ३३° सें० तक जाता है। वर्षा ऋतु मई से नवंबर तक रहती है। हुए (Hue) की वार्षिक वर्षा का औसत लगभग २९५ सेमी है तथा साइगाँन की वार्षिक वर्षा का औसत लगभग २४६ सेमी है। संपूर्ण देश की औसत वार्षिक वर्षा लगभग १९८ सेमी है। पूर्वी तटीय क्षेत्र, उत्तरी तथा उत्तरी मध्य भाग में बार बार टाइफून आते हैं, जिनके कारण भयावह बाढ़ आती है।

दक्षिणी वियतनाम में ऊष्ण कटिबंधी सदाबहार वृक्ष तथा चीड़ के जगल प्रचुर हैं। कोचीनचीन क्षेत्र में सवाना (Savannah) अत्यधिक है उष्णकटिबंधी घास ट्रान (Tranh) दूर दूर तक फैली हुई है। दक्षिण पश्चिम में तट के साथ साथ मैंग्रोव (mangrove) के जंगल हैं। हरिण, भैंस, जंगली साँड, हाथी, बाघ और तेंदुआ पर्वतीय क्षेत्र मे रहते हैं। तटीय जल और अंतर्देशीय जल में मछलियों की बहुतायत है।

दक्षिणी वियतनाम की ८० प्रति शत जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है। वर्ष के छह महीने भारी वर्षा होती है और शेष के छह महीने सूखे रहते हैं। अतः साल में केवल एक फसल मिलती है।

सिंचाई की समस्या को हल करने के लिये सिंचाई के साधनों को विकसित किया जा रहा है। देश की प्रमुख फसलें हैं : धान और रबर। अन्य कृषि उत्पाद है : सेमल की रुई, गरी, शकरकंद, काली मिर्च, मंडशिफ (manioc), चीनी, तंबाकू, चाय, कॉफी, मूँगफली, मक्का, तिलहन और कुनैन। रैमी (ramie) और केनैफ, जो जाल, बोरा इत्यादि बनाने के काम आते हैं, अन्य उत्पाद हैं।

यहाँ कोयले, सोने तथा नमक की कुछ खानें हैं। काँचबालू, मालिब्डेनम, सीस, बिस्मथ, ताँबा तथा फॉस्फेट के निक्षेप भी इस देश में हैं। कुटीर उद्योग दक्षिणी वियतनाम के उद्योग की विशेषता है। प्रमुख कुटीर उद्योग हैं : चमड़ा, चंदन, साबुन, कागज, ईंट, खपरैल, दियासलाई, चीनी, ऑक्सीजन, ऐसिटिलीन, कार्बन डाइऑक्साइड, ऐल्कोहॉल, चावल, तंबाकू, बीयर, नमक और सूती वस्त्र।

साइगॉन (१४,३१,०००, सन् १९६२) दक्षिणी वियतनाम की राजधानी तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के बड़े बंदरगाहों में से एक है। साइगॉन के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध नगर हैं : ह्यू (१,०४,६००) तथा तूरॉन (Tourane) या दा नांग (Da Nong; १,२१,४००)। गणतंत्र में १४८३ २ किमी० लंबी रेल लाइनें ११,५५२ किमी० लंबे मोटर मार्ग तथा ४,४०० किमी० लंबा जलमार्ग है। अंतर्देशीय, तथा कंबोडिया, लाओस, थाइलैंड एवं हांगकांग के लिये, वायुसेवा भी है।

सन् १९५४ में दक्षिण वियतनाम के स्वतंत्र होने पर सम्राट् बाओ डाइ (Bao Dai) ने शासनभार सँभाला। सन् १९५५ में सम्राट् को हटाकर गणतंत्रात्मक संविधान लागू हुआ। सन् १९६३ में सैनिक जुंता ने रक्तहीन अवैध राज्यक्रांति (coup d'etat) के द्वारा राष्ट्रपति डिएम (Diam) को पदच्युत कर उनके अधिनायकवाद को समाप्त कर दिया और सैनिक शासन की स्थापना की। अब यहाँ पुनः नागरिक शासन स्थापित हो गया है। संप्रति एन० वान थिव राष्ट्रपति हैं। [अ० ना० मे०]

वियना स्थिति : ४८° १२′ उ० अ० तथा १६° २५′ पू० दे०। यह नगर ऑस्ट्रिया की राजधानी है तथा वीनर वाल्ड के पूर्वी पद पर डैन्यूब नदी के दाहिने किनारे पर समुद्रतल से ५५० फुट की ऊँचाई पर बसा है। जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। वार्षिक औसत ताप ९° से० तथा वार्षिक वर्षा २७ इंच है। नगर एक प्रसिद्ध औद्योगिक, व्यापारिक एवं राजनीतिक केंद्र है। कलात्मक सुंदर वस्तुएँ, नमदा, गहना, रेशम, अन्य कपड़ा, स्त्रियों की टोपी एवं अन्य विलासिता की वस्तुओं के लिये यह प्रमुख स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त दृष्टि संबंधी यंत्र, पीतल के तार, लोहे एवं इस्पात की भारी मशीनें, फर्नीचर, कागज तथा रासायनिक पदार्थ भी यहाँ बनते है। फिल्म उद्योग भी यहाँ है। यहाँ के अजायबघर, पुस्तकालय तथा कला, संगीत एवं विज्ञान के केंद्र अनूठे हैं। सुंदर भवन, उद्यान एवं सड़कों से युक्त यह नगर स्वयं गृहशिल्प का अजायबघर है। इसकी जनसंख्या १६,२७,०३४ (१९६१) है। [मु० चं० श०]

विरंजन रंगीन पदार्थों से रंग निकालकर उन्हें श्वेत करने को विरंजन करना कहते हैं। विरंजन से केवल रंग ही नहीं निकलता, वरन् प्राकृतिक पदार्थों से अनेक अपद्रव्य भी निकल जाते हैं। अनेक पदार्थों को विरंजित करने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे पदार्थों में रूई, वस्त्र, लिनेन, ऊन, रेशम, कागज लुगदी, मधु, मोम, तेल, चीनी और अनेक अन्य पदार्थ हैं।

ऊन और सूती वस्त्र के विरंजन की कला हमें बहुत प्राचीन काल से मालूम है। प्राचीन मिस्रवासी, यूनानी, रोमवासी तथा फिनिशियावासी विरंजित सामान तैयार करते थे, पर कैसे करते थे इसका पता आज हमें नहीं है। प्लिनी (Pliny) ने कुछ पेड़ों और पेड़ों की राखों का उल्लेख किया है। ऐसा मालूम होता है कि यूरोप में डच लोग विरंजन की कला मे अधिक विख्यात थे। इंग्लैंड में १४वीं शताब्दी में विरंजन करने के स्थानों का वर्णन मिलता है। १८वीं शताब्दी में इसका प्रचार वस्तुत: व्यापक हो गया था। उस समय वस्त्रों को क्षारीय द्रावों (lye) में कई दिनों तक डुबाकर धोते और घास पर कई सप्ताह सुखाते थे। इसके बाद वस्त्रों को मट्ठे में कई दिन डुबाकर फिर धोकर साफ करते थे।

पीछे मट्ठे के स्थान में हल्के अम्ल का उपयोग शुरू हुआ। डा० फ्रैंसिस होम ने १८५६ ई० में विरंजन का एक कारखाना खोला।

विरंजन व्यवसाय की स्थापना वस्तुतः १७८७ ई० में हुई। तब तक क्लोरीन का आविष्कार हो चुका था और वस्त्रों के विरंजन में यह बड़ा प्रभावकारी सिद्ध हुआ था। बेर्टौले (Berthollet) पहले वैज्ञानिक थे, जिन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया था कि वस्त्रों

के विरंजन में क्लोरीन गैस का उपयोग हो सकता है और इसका उल्लेख उन्होंने अपने एक निबंध में किया था, जो जर्नल द फिजिक में १७८६ ई० में छपा था। फिर तो इसका उपयोग कई देशों में होने लगा। विरंजन के लिये क्लोरीन गैस असुविधाजनक थी। इससे इसके उपयोग में कुछ समय तक अच्छी प्रगति न हो सकी। पीछे देखा गया कि क्लोरीन को दाहक पोटैश में अवशोषित करके उपयोग करने पर भी विरंजन हो सकता है। फिर क्लोरीन को चूने में अवशोषित कर विरंजन चूर्ण तैयार किया गया, जिसका उपयोग आज तक होता आ रहा है। इसके स्थान में अब सोडियम हाइपो-क्लोराइट और द्रव क्लोरीन का प्रयोग भी होने लगा है।

रूई का विरंजन — कच्ची रूई में अपद्रव्य के रूप में मोम, वसाम्ल, पेक्टिन, रंजक, ऐल्ब्युमिनॉयड और खनिज लवण रहते हैं। इनकी मात्रा लगभग पाँच प्रति शत तक रह सकती है। विरंजन से ये अपद्रव्य बहुत कुछ निकल जाते हैं। यदि रूई का विरंजन पहले नहीं हुआ है, तो अपद्रव्यों को निकलने के लिये रूई के सूतों और वस्त्रों का भी विरंजन होता है।

कपास के सूत के विरंजन के लिये सूत को तीन से चार प्रति शत सोडा ऐश, या दो प्रति शत दाहक सोडा, के साथ छह से आठ घंटे तक न्यून दबाव पर उबालते हैं। फिर उसे धोकर विरंजन द्रव के साथ आधे से दो घंटे तक उपचारित करते हैं। उसे फिर पानी से धोकर २° ट्वाडेल हाइड्रोक्लोरिक या सल्फ्यूरिक अम्ल में डुबाकर भली भाँति धो लेते हैं। यदि सूत को बिलकुल सफेद बनाना है, तो उसको साबुन के दुर्बल विलयन में निलंबित अल्ट्रामेरीन या बहुत अल्प विक्टोरिया ब्ल्यू में निलंबित कर कुछ रँग लेते हैं। उबालने से सूत के अधिकांश अपद्रव्य निकल जाते हैं। यदि अल्प रेजिन साबुन मिलाकर उबाले, तो मोम प्राय. समस्त निकल जाता है।

यदि वस्त्र का विरंजन किया जाय, तो उसमें मोम के साथ साथ वे पदार्थ भी, जैसे स्टार्च, मैग्नीशियम लवण आदि, जो सज्जीकरण में प्रयुक्त होते हैं, बहुत कुछ निकल जाते हैं। विरंजन के पश्चात् वस्त्र हल्के नीले रंग से रँगने से कपड़े बिल्कुल सफेद हो जाते हैं। यदि कपड़े पर छींट की छपाई करनी हो, तो वस्त्रों को विरंजित कर बिल्कुल सफेद बनाना आवश्यक होता है।

सन के सूतों का विरंजन अधिक पेचीदा और श्रमसाध्य होता है क्योंकि ऐसे सूत में अपद्रव्यों की मात्रा २० प्रति शत या इससे भी अधिक रहती है, जबकि रूई में अपद्रव्यों की मात्रा ५ प्रति शत से अधिक नहीं रहती। सन के सूतों में जो अपद्रव्य रहते हैं, उनमें रंजकों के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार का मोम, 'सनई मोम', रहता है, जिसपर किसी अभिकर्मक की क्रिया कठिन होती है। यदि सनई के वस्त्रों का विरंजन करना है, तो कठिनता और बढ़ जाती है, क्योंकि ऐसे वस्त्रों में विरंजकों का प्रवेश कुछ कठिन होता है।

सनई के सूतों और वस्त्रों का विरंजन प्रायः वैसे ही होता है जैसे रूई के सूतों और वस्त्रों का। अंतर केवल इस बात में रहता है कि उन्हें घास पर रखकर धूप में सुखाना पड़ता है। इसमें समय बहुत अधिक लगता है। जहाँ रूई के सूतों और वस्त्रों का विरंजन एक सप्ताह से कम समय में हो जाता है, वहाँ सनई के सूतों और वस्त्रों के विरंजन में कम से कम छह सप्ताह लगते हैं। विरंजन में लगनेवाला समय और खर्च कम करने के अनेक प्रयत्न हुए हैं, पर उनमें अभी यथोचित सफलता नहीं मिली है। यदि अधिक प्रबल विरंजन प्रयुक्त किए जायँ, तो रेशों के क्षतिग्रस्त हो जाने की आशंका रहती है और उनकी चमक भी बहुत कुछ नष्ट हो जाती है। समय समय पर इस विरंजन में अनेक सुधार हुए हैं, जिनमें विरंजनचूर्ण के स्थान पर सोडियम हाइपोक्लोराइट का व्यवहार, धूप में सुखाने के स्थान पर विद्युत् से प्रस्तुत ओज़ॉन की क्रिया, उबालने के बाद कोमल साबुन से तख्तों के बीच रगड़ना, या नाइट्रिक अम्ल के तनु विलयन में डुबाना आदि हैं। जूट के रेशों या वस्त्रों का विरंजन भी रूई या सनई के रेशों और वस्त्रों के समान ही होता है। केवल क्षार का उपयोग इनके साथ नहीं करते। इन्हें केवल सोडियम हाइपोक्लोराइट से उपचारित कर अम्ल से धो डालते हैं। पुआलों का विरंजन हाइड्रोजन परॉक्साइड के विलयन में १२ घंटे से लेकर कई दिनों तक डुबाकर, फिर सलफ्यूरिक अम्ल की क्रिया से किया जाता है।

ऊन का विरंजन — ऊन के सामानों का विरंजन करने से वे उतने श्वेत नहीं होते जितना रूई या लिनेन के सामान होते हैं, पर यदि उनका उपचार सलफ्यूरस अम्ल या हाइड्रोजन परॉक्साइड से किया जाय, तो उनका रूप बहुत कुछ सुधर जाता है। उपचार के बाद सूत को धोकर लटकाया जाता है। फिर भिगाया जाता है और अल्प नीला रंग देकर एक कक्ष के विलयन में ले जाया जाता है, जहाँ सल्फर डाइऑक्साइड बनता है। रात भर सामान को वहाँ रहने देते हैं। इसी रीति से जांतव रोमों या कूचों को भी विरंजित करते हैं। सोडियम बाइसल्फाइट के कुछ प्रबल विलयन में डुबाकर रखने से भी ऊन का विरंजन होता है। ऐसे विरंजित ऊन को साबुन से धोने पर रंग फिर लौट आता है। यदि हाइड्रोजन परॉक्सा-इड से विरंजित किया जाय और पीछे अमोनिया या सोडियम सिलिकेट से क्षारीय बना लिया जाय, तो विरंजन स्थायी होता है। काले या भूरे ऊन को विरंजन से बिल्कुल सफेद तो नहीं बनाया जा सकता, पर उन्हें सुनहरा किया जा सकता है।

रेशम — प्राकृतिक रेशम के ऊपर सेरिसिन (sericine), या रेशम गोंद, रहने के कारण वह देखने में मंद लगता है। सेरिसिन १९-२५ प्रति शत तक रह सकता है। सेरिसिन को निकालने के लिये, ३० प्रति शत भार के साबुन को पानी में घुलाकर उसमें रेशम को लगभग ३ घंटे तक क्वथनांक से निम्न ताप पर तपाया जाता है। इससे सेरिसिन घुलकर निकल जाता है और रेशे पर विशेष चमक आ जाती है। अब रेशम को हलके सोडा विलयन से धोकर वांछित रंग में रँग लेते हैं। एक विशेष प्रकार के रेशम, टसर के विरंजन के लिये, हाइड्रोजन परॉक्साइड का उपयोग होता है।

यदि पक्षियों के पंखों को विरंजित करना हो, तो हाइड्रोजन परॉक्साइड को अल्प अमोनिया डालकर, क्षारीय बनाकर विरंजित किया जा सकता है। हाथी के दाँतों का भी विरंजन इसी प्रकार होता है। हाइड्रोजन परॉक्साइड वस्तुतः सर्वश्रेष्ठ विरंजक है।

जांतव और वानस्पतिक दोनों प्रकार के सामानों का इससे समान रूप से विरंजन किया जा सकता है। इसके अनेक तैयार विलयन बाजारों मे बिकते हैं और घरेलू विरंजनों में प्रयुक्त होते हैं। इसमें दोष है तो यही कि अन्य विरंजकों से यह कीमती होता है। [स० व०]

विरंजनचूर्ण को ब्लीचिंग पाउडर भी कहते हैं। यह चूने का क्लोराइड होता है और देखने में चूने की तरह सफेद होता है पर इसमे क्लोरीन की गंध होती है। इसका निर्माण सर्वप्रथम ग्लैसगो के चार्ल्स टैनैट ने सन् १७६६ में किया था।

विरंजन चूर्ण स्थायी नहीं होता। समय बीतने के साथ साथ इसमें क्लोरीन की मात्रा कम होती जाती है, जिससे इसके विरंजन गुण का ह्रास होता जाता है। व्यापारिक विरंजन चूर्ण में विरंजन की दृष्टि से पर्याप्त मात्रा में निष्क्रिय पदार्थ मिले रहते हैं। उच्च ताप पर यह विघटित हो जाता है। वायु की आर्द्रता और कार्बन डाइऑक्साइड से भी इसका विघटन धीरे धीरे होता है।

विरंजनचूर्ण का निर्माण चूने और क्लोरीन से होता है। बुझे चूने पर क्लोरीन की क्रिया से यह बनता है। चूने के दो से तीन इंच गहरे स्तर पर क्लोरीन गैस प्रवाहित की जाती है। चूने का यह स्तर १० से लेकर २० फुट चौड़े, १०० फुट लंबे और ६ से लेकर ७ फुट ऊँचे कक्ष में बना होता है और आवश्यकतानुसार समय समय पर स्तर को उलटते रहने की व्यवस्था रहती है। क्लोरीन का अवशोषण पहले तीव्रता से होता है पर पीछे मंद पड़ जाता है। कक्ष के स्थान में अब नलों का व्यवहार होता है, जिनमें ऊपर से चूना गिरता है और नीचे से क्लोरीन प्रविष्ट करता है और दोनों नलों के मध्य चूने द्वारा क्लोरीन के अवशोषण से तत्काल चूर्ण प्राप्त होता है।

विरंजनचूर्ण का सूत्र कैक्लो (औक्लो) [CaCl (OCl)] दिया गया है। इसमें कैल्सियम का एक बंध क्लोरीन से और दूसरा बंध हाइपोक्लोरस (OCl) मूलक से संबद्ध है। चूर्ण में कुछ असंयुक्त चूना भी मिला रहता है। अतः इसके संघटन का आभास कैक्लो. (औक्लो). कै(औहा)$_2$ [CaCl. (OCl). Ca(OH)$_2$] सूत्र से बहुत कुछ लगता है। चूर्ण का समस्त क्लोरीन विरंजन के लिये उपलब्ध नहीं होता। अधिक से अधिक ४०% क्लोरीन ही उपलब्ध होता है, पर सामान्य चूर्ण में उपलब्ध क्लोरीन की मात्रा सदा ही इससे कम रहती है और समय के बीतने के साथ घटती जाती है। विरंजन के लिये और कृमिनाशक रूप में इस चूर्ण का प्रयोग व्यापकता से होता है, पर चूर्ण के स्थान में अब अन्य कई पदार्थ, जैसे द्रव क्लोरीन, कैल्सियम हाइपोक्लोराइट, कै(औक्लो)$_2$ २हा$_2$औ [$Ca(OCl)_2 2H_2O$]. सोडियम क्लोराइट, सोक्लोऔ$_2$ [$NaClO_2$], जिनमें उपलब्ध क्लोरीन की मात्रा ब्लीचिंग पाउडर से कहीं अधिक है, अधिकाधिक उपयोग में आ रहे हैं। [स० व०]

विरल मृदा धातुओं के उन क्षारक ऑक्साइडों को कहते हैं जिनके तत्व तत्वों के आवर्त वर्गीकरण की सारणी के तृतीय समूह में आते हैं। इनमें १५ तत्व हैं, जिनकी परमाणुसंख्या ५७ और ७१ के बीच है। ये ऐसे खनिजों में पाए जाते हैं जो कहीं कहीं ही, और वह भी बड़ी अल्पमात्रा में ही, पाए जाते हैं। ऐसे खनिज स्कैंडिनेविया, साइबेरिया, ग्रीनलैंड, ब्राज़िल, भारत, श्री लंका, कैरोलिना, फ्लोरिडा, आइडाहो आदि देशों में मिलते हैं। खनिजों से विरल मृदा का पृथक्करण कठिन, परिश्रमसाध्य और व्ययसाध्य होता है। अतः ये बहुत महँगे बिकते हैं। इस कारण इनका अध्ययन विस्तार से नहीं हो सका है। १८८७ ई० मे क्रूक्स (Crookes) इस परिणाम पर पहुँचे थे कि विरल मृदा के तत्व वस्तुतः कई तत्वों के मिश्रण हैं। एक्स-रे वर्णपट के अध्ययन से ही इनके संबंध में निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जा सका है।

इन तत्वों के खनिजों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है। एक को सेराइट (Cerite) और दूसरे को गैडोलाइट (Gadolite) कहते हैं। ये खनिज साधारणतया सिलिकेट होते हैं, पर फॉस्फेट के रूप में भी कुछ पाए गए हैं।

पृथक्करण और शोधन — तत्वों में बहुत समानता होने के कारण इनका पृथक्करण कठिन होता है। अतः कुछ तत्वों के संबंध में अभी भी संदेह है कि ये वस्तुतः एक तत्व हैं या तत्वों के मिश्रण हैं। खनिजों से इन्हें निकालने के लिये खनिजों को महीन पीसकर अम्लों से उपचारित कर निष्कर्ष निकालते अथवा गालक (flux) के साथ गलाते हैं। इन्हे फिर सीरियम और इट्रियम समूहों में पृथक् करते हैं। सोडियम या पोटैशियम लवणों के साथ ये लवण बनते है। उपर्युक्त अभिकर्मकों की सहायता से ये अवक्षिप्त किए जा सकते है। कुछ लवण अधिक विलेय होते हैं और कुछ कम। इन्हे फिर उपयुक्त द्विगुण लवणों में परिणत कर, उनके प्रभाजी क्रिस्टलन, प्रभाजी अवक्षेपण, प्रभाजी विघटन, प्रभाजी जलविघटन द्वारा, जहाँ जो उपयुक्त हो, पृथक् करते हैं। शुद्ध रूप में प्राप्त करने के लिये प्रक्रम को कई बार दोहराना पड़ सकता है। विरल मृदा के तत्व निम्नलिखित हैं :

लैंथेनम — संकेत लैं (La), परमाणुसंख्या ५७। इसके लवण त्रिसंयोजक क्षारक होते हैं। ये अधिक वैज्ञानिक महत्व के हैं।

सीरियम — संकेत स, (Ce), परमाणुसंख्या ५८। इस समूह के तत्वों में यह अधिक व्यापक पाया गया है। इसका पृथक्करण भी सरलता से हो जाता है। देखने में यह इस्पात सा लगता है तथा घातवर्ध्य, तन्य, कुछ कोमल तथा अनुचुंबकीय (paramagnetic) होता है। सीरियम ऊष्मा का सुचालक, पर बिजली का कुचालक होता है। यह चमक के साथ जलता है तथा मिश्रधातुओं के निर्माण, उत्प्रेरक के रूप तथा धातुकर्म मे काम आता है। इसका लवण सेरिक सल्फेट विश्लेषण में प्रयुक्त होता है।

प्रेजियोडियम — संकेत प्रे (Pr) परमाणुसंख्या ५९। निओडिमियम से इसका पृथक्करण कुछ कठिन होता है। इसके लवण हरे रंग के होते हैं।

निओडिमियम — संकेत, नि$_{ओ}$ (Nd), परमाणुसंख्या ६०। प्रेजियोडियम से इसका पूर्ण रूप से पृथक्करण कठिन होता है। इसके लवण गुलाबी रंग के होते हैं। यह बीटा-रेडियधर्मी समझा जाता है।

प्रोमिथियम – संकेत प्रो॰ (Pm), परमाणुसंख्या ६१। यह रेडियधर्मी होता है और बड़ी अल्प मात्रा में पाया जाता है। इसका नाम पहले इलिनियम (Illinium) और फ्लोरेंटिनियम (Florentcnium) पड़ा था। १९४९ ई॰ में प्रोमिथियम नाम दिया गया।

समेरियम — संकेत स (Sm) परमाणुसंख्या ६२। इसके लवण हल्के पीले रंग के होते हैं। यह रेडियधर्मी होता है और बहुत धीरे धीरे ऐल्फा कण उत्सर्जित करता है।

यूरोपियम — संकेत यू (Eu), परमाणुसंख्या ६३। यह बहुत कम पाया जाता है। इसके सल्फेट अविलेय होने के कारण इसका पृथक्करण सरल है। इसके द्विसंयोजक लवण हरे रंग के और त्रिसंयोजक लवण हलके गुलाबी रंग के होते हैं।

विरल मृदा के अन्य तत्वों में गैडोलिनियम [संकेत, गै॰ (Gd), परमाणुसंख्या ६४], टर्बियम [संकेत ट (Tb), परमाणुसंख्या ६५], डिस्प्रोशियम [संकेत डि (Dy), परमाणुसंख्या ६६], होल्मियम संकेत, हो (Ho), परमाणुसंख्या ६७], इट्रियम [संकेत, इ॰ (Y), परमाणुसंख्या ३९], एर्बियम [संकेत ए॰ (Eb), थूलियम [संकेत थू (Tm) परमाणुसंख्या ६९], इटर्बियम [संकेत इ॰ (Yb), परमाणुसंख्या ७०] तथा ल्यूटीशियम [संकेत ल्यू (Lu), परमाणुसंख्या ७१] हैं।

धातुनिर्माण — इस समूह के तत्वों की धातु के रूप में प्राप्ति उनके द्रवित क्लोराइड के विद्युत् अपघटन से होती है। इट्रियम समूह की धातुएँ अब भी बिल्कुल शुद्धावस्था में प्राप्त नहीं हो सकी है। अशुद्ध इट्रियम भी कठिनता से प्राप्य है। सीरियम की मिश्रधातु 'मिश धातु' (Misch metal) बड़े महत्व की है। लोहे या जस्ते के साथ ये स्फुलिंग (pyrophoric) गुणवाले होते हैं। फॉस्फरस के ऐसी नहीं मिश्रधातु है, जिससे आग पैदा हो सकती है। इसी का उपयोग 'सिगरेट लाइटर' में होता है। विरलमृदा के लवणों का अध्ययन अधिक विस्तार से हुआ है। इन लवणों के अनेक उपयोग पाए गए हैं। ऑक्साइड या फ्लोराइड गतिमान प्रक्षेपित्र (projectorse), सर्चलाइट (search light) तथा क्षणदीप (flash light) में काम आनेवाले कार्बन-आर्क इलेक्ट्रोड के क्रोडों (cores) के निर्माण में काम आते हैं। उद्दीप्त गैस मैंटल में सीरियम और थोरियम के ऑक्साइडों का मिश्रण प्रयुक्त होता है। विशिष्ट प्रकार के काँच निर्माण में इन धातुओं के हाइड्रेट प्रयुक्त होते हैं। कुछ लवण वस्त्र व्यवसाय और काँच की पालिश में भी काम आते हैं। निम्न ताप, अर्थात् परमशून्य ताप, की प्राप्ति में गैडोलियम का [illegible] या ऑक्टा हाइड्रेट काम आता है। प्रकाश फिल्टर में नियोडिमियम और प्रोजियोडिनियम काम आते हैं।

सं॰ ग्रं॰ — जे॰ एन॰ फ्रेंड : टेक्स्टबुक ऑव इनार्गेनिक केमिस्ट्री, खंड ४।

[स॰ व॰]

विराम – यह शब्द वि + रम्+घञ् से बना है और इसका मूल अर्थ है 'ठहराव', 'रुकना', 'आराम' आदि। जिन सर्वसंमत चिह्नों द्वारा, अर्थ की स्पष्टता के लिये वाक्य को भिन्न भिन्न भागों में बाँटते हैं, या पाठक को स्वरविन्यास (Intonation) या अर्थ के संकेत के लिये जिन्हें वाक्य के अंत में लगाते हैं, व्याकरण या रचनाशास्त्र में उन्हें 'विराम' कहते हैं। 'विराम' का ठीक अंग्रेजी समानार्थी 'स्टॉप' (Stop) है, किंतु प्रयोग में इस अर्थ में 'पंक्चुएशन' (Punctuation) शब्द मिलता है। 'पंक्चुएशन' का संबंध लैटिन शब्द (Punctum) शब्द से है, जिसका अर्थ 'बिंदु' (Point) है। इस प्रकार 'पंक्चुएशन' का यथार्थ अर्थ 'बिंदु रखना' या 'वाक्य में बिंदु रखना' है।

प्रायः लोग समझते हैं कि 'विराम' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग आधुनिक है, और यह शब्द 'पंक्चुएशन' का अनुवाद है। किंतु तत्वतः ऐसी बात नहीं है। पाणिनि से भी बहुत पूर्व प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रंथों में विराम शब्द का प्रयोग इससे मिलते जुलते अर्थों में मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य चार प्रकार का माना गया है : ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्ति विरामः समानपदविवृत्तिविरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण, अर्थात् ऋग्विराम, पदविराम, विवृतिविराम, समानपदविवृत्तिविराम, इन विरामों की मात्राएँ क्रमशः तीन, दो, एक तथा अर्ध मानी गई हैं। इनमें ऋग्विराम चरण या छंद के अंत के लिये अर्थात् आज के पूर्ण विराम जैसा है। 'ऋक्' का अर्थ है छंद, इसीलिये इस विराम को 'ऋग्विराम' कहा गया है। इसके लिये प्राय. एक या दो खड़ी पाई देने की परंपरा रही है। कभी कभी छोटा वृक्ष या फूल भी बनाते रहे हैं। 'पदविराम' दो शब्दों या पदों के बीच में आता है। पदों के बीच में होने के कारण ही इसका नाम 'पदविराम' है। वस्तुत. पदों के बीच कोई विरामचिह्न दिया नहीं जाता। इसका आशय मात्र यह है सामान्य भाषा में पदों के बीच विराम अथवा ध्वनि का अभाव होता है और उसे लगभग दो मात्रा (अर्थात् दीर्घ ई या दीर्घ ऊ जितना) का होना चाहिए। तीसरा विराम 'विवृतिविराम' भी शब्दों या पदों के बीच में ही आता है, किंतु ये विशेष प्रकार के शब्द या पद होते हैं। कभी कभी संस्कृत में ऐसा होता है कि शब्द के अंत में स्वर आता है और उसके बादवाले शब्द के प्रारंभ में भी स्वर। सामान्यतः ऐसी स्थिति में संधि हो जाती है। किंतु जब इनके बीच संधि नहीं होती, तो इन दोनों शब्दों के बीच का विराम अन्य प्रकार के सामान्य शब्दों या पदों के बीच के विराम से आधा अर्थात् केवल एक मात्रा (अर्थात् अ, इ जितना) का होता है। यही 'विवृतिविराम' है। 'हरी एतौ,' 'अहो इशा.' के बीच के विराम इसी वर्ग के हैं। 'विवृति', स्वरों की असंधि विवृतिः स्वरयोरसंधिः – तैत्तिरीय प्रातिशाख्य) का पारिभाषिक नाम है। इसी आधार पर इस विराम को इस नाम से अभिहित किया गया है। विवृति विराम के चार उपभेद भी किए गए हैं : (१) वत्सानुसृता (अर्थात् वह गाय, जिसका बछड़ा अनुसरण करे) जिसमें पहला स्वर ह्रस्व तथा दूसरा दीर्घ हो। स्पष्ट ही यह नाम बहुत काव्यात्मक है। ह्रस्व को बछड़ा तथा दीर्घ को गाय कहा गया है। इसे याज्ञवल्क्य शिक्षा में वत्सानुसृजिता कहा गया है। (२) वत्सानुसारिणी (अर्थात् गाय जो बछड़े का अनुसरण करे) इस विराम के पूर्व का स्वर दीर्घ तथा बाद का स्वर ह्रस्व होता है। यहाँ भी वे ही प्रतीक हैं। (३) पाकवती (यहाँ 'पाक' का अर्थ है 'बच्चा', इस प्रकार 'पाकवती' का अर्थ है 'बच्चोंवाली)—इसमें विराम के पहले और बाद में दोनों ही ओर ह्रस्व स्वर होते हैं। स्पष्ट ही यहाँ ह्रस्व स्वरों को 'बच्चा' कहा गया है। (४) पिपीलिका (अर्थात् छोटी लाल चींटी)—इसमें विराम के दोनों ओर दीर्घ स्वर होते हैं। चींटी बीच में पतली होती है और दोनों ओर मोटी।

दोनों ओर के मोटे भाग को दीर्घ स्वर का प्रतीक मानकर यह नाम दिया गया है। इन चार विरामों को विवृति के चार भेद या चार विवृतियाँ भी माना गया है।

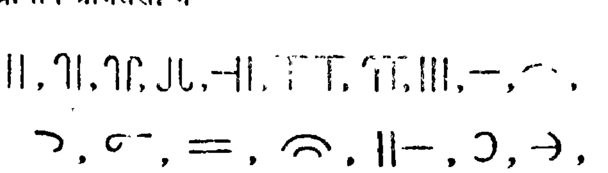
विवृतिविराम (या विवृति) के ये भेद मांडूकी, नारदीय तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा आदि में मिलते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि विवृतिविराम एक मात्रा का होता है, किंतु इसके चारों भेदों की मात्रा समान नहीं है। इनमें प्रथम दो की मात्रा तो एक एक है, किंतु तीसरे की ३।४ मात्रा तथा चौथे की १।४ मात्रा। आश्चर्य होता है भारतीय मनीषियों के इस सूक्ष्म अध्ययन को देखकर। यदि स्वर उक्त प्रकार से आएँ तो विरामकाल सचमुच ही कुछ इसी प्रकार का होता है।

पहला विराम चरणांत या छंदांत का था, दूसरे और तीसरे दो पदों के बीच के थे। चौथा विराम शब्द या पद के भीतर का है। कभी कभी ऐसा होता है कि शब्द मे दो स्वर पास पास आते हैं, किंतु उनकी संधि नहीं होती। जिस प्रकार दो पदों के बीच स्वरों की असंधि का नाम 'विवृति' है, उसी प्रकार एक ही पद मे दो स्वरो में असंधि का नाम समानपदविवृत्ति है। ऐसे स्वरों के बीच के विराम को समानपदविवृति विराम कहा गया है। ऐसी स्थिति संस्कृत में बहुत कम आती थी, किंतु फिर भी कुछ उदाहरण तो मिल ही जाते हैं, जैसे प्रउगम्, तितड.।

पाणिनि में भी 'विराम' शब्द (विरामोऽवसानम् १.४, ११०) आता है। यहाँ भी विराम का अर्थ लगभग वही है अर्थात् 'मौन' या ध्वनि का अभाव। काशिकाकार कहता है 'विरतिर्विरामः' विरम्यते अनेन इति वा विरामः।

काशिकाकार ने उपर्युक्त विरामों से आगे बढ़कर भी विचार किया है। उनका कहना है कि शब्द की हर दो ध्वनियों के बीच थोड़ा सा विराम होता है अर्थात् हर दो व्यंजनों या स्वरव्यंजन के बीच। इसे वे आधी मात्रा के बराबर मानते हैं। आधी मात्रा आज की दृष्टि से उदासीन स्वर या ह्रस्वार्ध स्वर के बराबर मानी जा सकती है।

भारत मे लेखन में विरामचिह्नों का प्रयोग काफी प्राचीन काल से मिलता है। अशोक के अभिलेखो में —, ɔ तथा '।' प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार पूर्व प्रदेशीय चालुक्य अभिलेखो मे । का प्रयोग मिलता है। अन्य प्राचीन अभिलेखों में



आदि भी प्रयुक्त हुए हैं। भारत में विरामचिह्नों का व्यवस्थित एवं नियमित प्रयोग यूरोपीय संपर्क के बाद प्रेस के प्रचार के साथ बढ़ा।

यूरोप में यूनानियों तथा रोमनों में इसका प्रचार था। प्रसिद्ध लेखक दोनेतुस ने अपने 'आर्स ग्रामेतिका' (Ars Grammatica) में उच्च बिंदु (˙)। 'कामा' के लिये, मध्यबिंदु (·) कोलन के लिए तथा निम्नबिंदु (.) पूर्ण विराम के लिये दिया है। धीरे धीरे इससे वर्तमान चिह्नों का विकास हुआ। मध्ययुग में इसके एकाधिक रूप मिलते हैं। यूरोप में १६वीं सदी से विराम का नियमित प्रयोग मिलने लगता है। प्रारंभ में इसका विरोध भी बहुत हुआ। द अनुंजियो अपने को 'कामा' का शत्रु कहा करता था। बारतोली ने यह कहते हुए विरोध किया था कि मुद्रित पुस्तकों में विराम चिह्न पतिंगों की तरह हैं जो पाठक को बहुत खटकते हैं। किंतु इस प्रकार के विरोधों के बावजूद अपनी उपयोगिता के कारण विरामचिह्नों का प्रयोग बढ़ता ही गया और अब वे लेखन एवं मुद्रण के आवश्यक अंग बन गए हैं।

हिंदी में खड़ी पाई या पूर्ण विराम भारतीय परंपरा का है, जिसका प्राचीन नाम 'दंड' था। शेष चिह्न अंग्रेजी के माध्यम से यूरोप से आए है। अधिकांश विरामचिह्न (. : , ;) मूलतः बिंदु पर आधारित हैं। लिखते समय रुकने पर कलम कागज पर रखने से बिंदु सहज ही बन जाता था। इस प्रकार पूर्ण विराम के रूप में अंग्रेजी आदि का बिंदु सहज ही पूर्ण विराम का द्योतक बन बैठा। कामा, पूर्ण विराम या बिंदु मे ही नीचे की ओर एक शोशा बढ़ा देने से बना है। प्रश्नवाचक या आश्चर्यसूचक चिह्नों का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। इसकी उत्पत्ति के बारे में मतभेद है। मेरे विचार में प्रश्नवाचक चिह्न लैटिन भाषा के प्रश्नार्थी शब्द Quaestio का संक्षिप्त रूप (Qo) है, जिसमें (Q) ऊपर तथा o नीचे (?) है। इसी प्रकार आश्चर्यसूचक चिह्न (!) लैटिन भाषा का प्रसन्नार्थी शब्द Io है जिसमें आइ और ओ ऊपर नीचे हैं। [भो० ति०]

विलयन जब दो पदार्थों को एक दूसरे के संपर्क मे लाया जाता है, तब उसके चार परिणाम हो सकते हैं : १. वे दोनों पदार्थ एक दूसरे के संपर्क में आने पर भी अलग अलग रहें, २. वे दोनों पदार्थ, यदि उनमें से एक जल है तो एक दूसरे से मिलकर, पायस (emulsion) बने, ३. वे दोनों पदार्थ एक दूसरे से मिलकर एक समांग मिश्रण बनें तथा ४. उन दोनों पदार्थों के बीच रासायनिक क्रिया होकर, एक या अधिक दूसरे यौगिक बनें। यदि हम खड़िया के कुछ टुकड़ों को पानी में डालकर भली भाँति हिला डुलाकर रख दें, तो खड़िया के टुकड़े पात्र के पेंदे में बैठ जायँगे और पानी से घिरे रहेंगे। यदि खड़िया को महीन पीसकर पानी मे डालें, तो खड़िया के बहुत छोटे छोटे कणों के पानी के साथ मिलने से पानी दूध की भाँति बन जाता है और वह कुछ समय तक उसी दशा में रहता है। यहाँ खड़िया का पानी में पायस बना है। यदि इसे छन्ने कागज पर छानें, तो खड़िया जल से अलग हो जायगी। यदि नमक के टुकड़े को पानी में डालें और उसे हिलावें डुलावें, तो कुछ ही समय में नमक का टुकड़ा पानी में घुलकर समाप्त हो जायगा और जो पदार्थ बनेगा वह पानी सा ही दिखाई पड़ेगा। यदि उसे चखें, तो उसका स्वाद नमकीन होगा। ऐसे नमक घुले जल को नमक का जल में विलयन (solution) कहते हैं। खड़िया जल में घुलती नहीं है, वह जल में अविलेय (insoluble) है। पर बहुत महीन खड़िया यद्यपि पानी के साथ घुलती नहीं है, तथापि वह पायस या इमलशन बन जाती है। नमक जल में विलेय है। क्या नमक अपरिमित मात्रा में जल में घुल सकता है? नहीं, जल में नमक के, वस्तुतः किसी भी लवण के, जल में घुलने की एक सीमा होती है। यह सीमा ताप और, गैसों की दशा में, दबाव पर भी निर्भर करती है।

जिस नमक के विलयन में और नमक न घुल सके, उसे हम नमक का संतृप्त (saturated) विलयन कहते हैं। जिस विलयन में और नमक घुल जाता है, उसे असंतृप्त (unsaturated) विलयन कहते हैं। कभी कभी हम कुछ ठोस पदार्थों को इतनी मात्रा में घुला सकते हैं कि विलयन मे उनकी मात्रा संतृप्त विलयन में उपस्थित मात्रा से अधिक रहे, तो ऐसे विलयन को अतिसंतृप्त (supersaturated) विलयन कहा जाता है। अतिसंतृप्त विलयन सामान्यत अस्थायी होते हैं और किसी विशिष्ट परिस्थिति में ही बनते हैं। अधिक घुला हुआ ठोस उससे कभी भी निकल कर अलग हो जा सकता है। घुलनेवाले पदार्थ को विलेय (solute) और घुलानेवाले पदार्थ को विलायक (solvent) कहते है। जब गैस या कोई ठोस किसी द्रव मे घुलता है, तब द्रव को विलायक एवं गैस या ठोस को विलेय कहते हैं। जब एक द्रव दूसरे द्रव में घुलता है, तब अधिक मात्रावाले द्रव को विलायक और कम मात्रावाले द्रव को विलेय कहते हैं।

विलायक — विलायक दो प्रकार के होते है. एक को ध्रुवीय (Polar) और दूसरे को अध्रुवीय (Nonpolar) कहते हैं। ध्रुवीय विलायकों मे हाइड्रॉक्सिल या कार्बोक्सिल समूह रहते है और ये अपेक्षया सक्रिय होते हैं तथा इनका परावैद्युतांक ऊँचा होता है। अध्रुवीय विलायक रसायनत. निष्क्रिय होते हैं और इनका परावैद्युतांक निम्न होता है। ध्रुवीय विलायक अधिक प्रबल होते हैं, और अनेक पदार्थों को घुलाते हैं। एक दूसरी दृष्टि से विलायकों को अकार्बनिक और कार्बनिक विलायकों में विभाजित किया गया है। अकार्बनिक विलायकों मे जल का स्थान सर्वोपरि है। विलायक के रूप मे इसकी श्रेष्ठता इस कारण है कि यह सरलता से शुद्ध रूप मे प्राप्य है। यह न विषाक्त और न ज्वलनशील होता है। ऊष्मा से इसमे कोई परिवर्तन नहीं होता और अनेक पदार्थों को यह घुलाता है। ओषधियों में भी विलायक के रूप में इसका व्यवहार व्यापक रूप मे होता है। पर अनेक कार्बनिक पदार्थ जल मे नहीं घुलते है। इन कार्बनिक पदार्थों को घुलाने के लिये जिन विलायकों का व्यवहार होता है, उन्हें कार्बनिक विलायक कहते है। अनेक उद्योगधंधो मे कार्बनिक विलायकों का व्यवहार होता है। कुछ कार्बनिक विलायक हाइड्रोकार्बन, कुछ हैलोजेन यौगिक, कुछ ऐल्कोहॉल, कीटोन, ईथर और एस्टर होते है। कुछ विलायक बड़े वाष्पशील होते है तथा कुछ विषाक्त भी। अत. इनके प्रयोग में बड़ी सावधानी बरतनी होती है। ऐसे वाष्पशील एवं विषाक्त विलायक पेट्रोल, नैफ्था, बेंजीन, टॉलुइन, मेथेनॉल, एथानॉल, ब्यूटेनॉल, ऐसीटोन, ईथर, क्लोरोफॉर्म, कार्बन टेट्राक्लोराइड, ऐमिल ऐसीटेट आदि है। इन विलायकों का बहुत बड़ी मात्रा में उपयोग पेंट, वार्निश, लाक्षारस और अन्य नाना प्रकार के आवरण चढ़ाने के लेपो मे होता है।

अनेक वस्तुओं की सफाई मे विलायक काम में आते हैं। लकड़ी और धातु के सामानों की सफाई भी विलायकों द्वारा होती है। इनसे मैल घुलकर निकल जाती है और वस्तु साफ हो जाती है। एक समय ऊनी वस्त्रो की धुलाई में पेट्रोल, या बेंजाइन व्यापक रूप से प्रयुक्त होता था। ज्वलनशीलता के कारण हाइड्रोकार्बनों का स्थान क्लोरीनवाले यौगिक, ट्राइक्लोरोएथिलीन और कार्बन टेट्राक्लोराइड ले रहे हैं। भोज्यपदार्थों, ओषधियों और अंगरागों में विषहीन विलायकों का ही प्रयोग होना चाहिए। इनमें अरुचिकर गंध या स्वाद भी न रहना चाहिए। इसलिये टिंचर निष्कर्षों आदि में केवल एथिल ऐल्कोहॉल का व्यवहार होता है। जहाँ अवाष्पशील या मीठे स्वादवाले विलायक की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ ग्लिसरॉल और ग्लाइकॉल प्रयुक्त होते हैं। अनेक प्राकृतिक पदार्थों से किसी विशिष्ट यौगिक के निकालने मे भी विलायकों का उपयोग होता है। प्राकृतिक स्रोतो से विलायकों के द्वारा ही ऐल्केलॉइड, क्लोरोफिल, पेनिसिलिन, तेल आदि नाना प्रकार के पदार्थ निकाले जाते है।

गैस — यदि दो गैसों को एक दूसरे के संपर्क मे लाया जाय, तो उसके दो परिणाम हो सकते है: (१.) दोनो के बीच मे रासायनिक क्रियाएँ होकर एक तीसरा पदार्थ बन सकता हैं, जैसे अमोनिया गैस और हाइड्रोजन क्लोराइड गैस के मिलाने से होता है; (२) यदि दोनो गैसो के बीच कोई रासायनिक क्रिया नही होती है, तो दोनो परस्पर मिल जाते है, जैसे नाइट्रोजन और ऑक्सीजन गैसो को मिलाने से होता है। ऐसी दशा मे दोनों गैसे मिलकर एक समांग मिश्रण बन जाती हैं। यहाँ दोनो गैसे किसी भी अनुपात मे मिलाई जा सकती है। यहाँ संतृप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यदि किसी गैस को द्रव के संपर्क में लाया जाय, तो विशिष्ट ताप और दाब पर गैस द्रव में घुलकर संतृप्त विलयन बनाती है। कुछ गैसें, जैसे अमोनिया, या हाइड्रोजन क्लोराइड, जल मे बहुत अधिक घुलती है और कुछ गैसें, जैसे नाइट्रोजन, या ऑक्सीजन, जल मे कम घुलती हैं। गैसो की विलेयता गैसो की प्रकृति, विलायकों की प्रकृति, ताप और दबाव पर निर्भर करती है, जैसा नीचे की सारणी से प्रकट है.

कुछ गैसों की विलेयता

(एक लिटर जल मे विलेय का आयतन लिटर मे)

गैसों का नाम	०° और ७६० मिमी० दाब	२०° और ७६० मिमी० दाब
अमोनिया	१,३००	७१०
हाइड्रोजन क्लोराइड	५०६	४४२
कार्बन डाइऑक्साइड	१·७१	०·८७८
नाइट्रोजन	०·०२३५	०·०१६४
ऑक्सीजन	०·०४९	०·०३१
हाइड्रोजन	०·०२१५	०·०१८४

ऊपर की सारणी से स्पष्ट है कि ऊँचे ताप से गैसों की विलेयता कम हो जाती है और अधिक दबाव से विलेयता बढ़ जाती है। सोडावाटर की बोतल में अधिक दबाव पर ही कार्बन डाइऑक्साइड अधिक घुला हुआ रहता है और बोतल के खोलने पर दबाव कम होने पर अधिक

घुली हुई गैस बुदबुद करके निकल जाती है। यदि गैसों के मिश्रण को घुलाया जाय, तो विभिन्न गैसें स्वतंत्र रूप से अपनी विलेयता के अनुसार घुलती हैं तथा दूसरी गैस की उपस्थिति से उनकी विलेयता पर कोई असर नहीं पड़ता है।

द्रव — कई द्रव एक दूसरे में किसी भी अनुपात में मिलाने से घुल जाते हैं। जल और मेथेनॉल सब अनुपात में विलेय हैं। इन्हें हम मिश्रणीय (miscible) कहते हैं। वे ही द्रव मिश्रणीय द्रव होते हैं, जिनमे परस्पर रसायनतः समानता होती है। कुछ द्रव ऐसे हैं जो एक दूसरे में बिल्कुल नहीं घुलते, जैसे पारा और पानी, पानी और बेंज़ीन। इन्हें हम अमिश्रणीय (nonmiscible) कहते हैं। कुछ द्रव ऐसे होते हैं जो एक दूसरे में कुछ घुल जाते हैं और घुलकर दो स्तर बनाते हैं। ऐसे दो द्रव जल और ईथर है। जल और ईथर के मिलाने से दो स्तर बन जाते हैं। ऊपर का स्तर ईथर का और नीचे का स्तर जल का होता है। परंतु ऊपर के ईथर के स्तर में कुछ जल तथा नीचे के जल के स्तर में कुछ ईथर भी घुला हुआ रहता है। ये अंशतः मिश्रणीय द्रव होते हैं और इन दोनों स्तरो को संयुग्मी स्तर (conjugate layers) कहते हैं। यहाँ भी विलेयता ताप और कुछ सीमा तक दाब पर निर्भर करती है।

ठोस — द्रवों में ठोसों की विलेयता सीमित होती है। प्रत्येक ताप पर ठोसों की एक निश्चित मात्रा ही द्रव में घुलती है। यह बहुत कुछ विलेय और विलायक की प्रकृति पर निर्भर करती है। साधारणतया अनेक लवण जल में विलयशील होते है। कुछ लवण, जैसे अमोनियम नाइट्रेट, जल मे बहुत विलयशील हैं और कुछ लवण, जैसे कैल्सियम सल्फेट, जल में अल्प विलेय होते है। जब कोई ठोस किसी द्रव में घुलता है, तो सामान्यतया ऊष्मा का अवशोषण होता है। ताप की वृद्धि से सामान्यतः ठोसो की विलेयता बढ़ जाती है, पर इसमे कुछ अपवाद भी हैं। कैल्सियम सल्फेट और कैल्सियम ऐसीटेट की विलेयता ताप की वृद्धि से कुछ कम हो जाती है। यदि किसी ठोस की विलेयता उच्च ताप पर अधिक है, तो क्रिस्टलन द्वारा उस ठोस का शोधन किया जा सकता है। ऊँचे ताप पर संतृप्त विलयन बनाकर, उसको ठंढा करने से अधिक मात्रा में विलेय पदार्थ के क्रिस्टल पृथक् होकर शुद्ध रूप मे प्राप्त होते है। अशुद्धियो की मात्रा कम रहने से सतृप्त विलयन नही बनता और ठढा करने से क्रिस्टल नहीं निकलते है।

ठोसो का ठोसों में भी विलयन बनता है। या तो ये पूरा घुल कर मिश्रणीय ठोस बन सकते है, अथवा अंशतः घुलकर संयुग्मी स्तर (conjugate layer) बना सकते है। अनेक मिश्रधातुएँ ठोसों के विलयन है, या अंशतः मिश्रणीय मिश्रण हैं। ठोसों के विलयन मात्र ठोसो के मिलाने से नही बनते, अपितु इन्हें पूरा गलाकर मिलाने पर बनते हैं।

विलयनों का सांद्रण — साधारणतया किसी वस्तु की विलेयता को उसके प्रति शत संघटन में प्रदर्शित करते हैं। जब हम कहते हैं कि नमक का अमुक विलयन १५% विलयन है, तो इसका आशय यही होता है कि १०० आयतन विलायक में १५ ग्राम नमक घुला हुआ है। यह रीति वैज्ञानिक नहीं है। वैज्ञानिक रीति में सांद्रण को ग्राम-अणु-सांद्रण द्वारा प्रदर्शित करते हैं। एक लिटर विलयन में जितनी ग्राम-अणु-भार की मात्रा घुली हुई होती है उसी से सांद्रण की माप जानी जाती है। इसे ग्राम-अणुकता (molarity) कहते हैं। चूँकि ताप और दाब से विलयन का आयतन घटता बढ़ता है, अतः सांद्रण प्रदर्शित करने के लिये यह उपयुक्त नहीं है। इसके स्थान में ग्राम आणवता (molality) का व्यवहार होता है। १०० ग्राम विलयन में विलेय का कितना ग्राम अणु (moles) घुला हुआ है यह ग्राम आणवता दर्शाती है। यदि विलयन तनु है, तो किसी विशिष्ट विलेय और विलायक के लिये ग्राम अणुकता और आणवता विभिन्न सांद्रण के लिये एक दूसरे के समानुपात में होते हैं। विश्लेषण में विलयनों का सांद्रण नॉर्मलता (normality, N) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। नॉर्मल विलयन के एक लिटर में किसी विलेय का एक ग्रामतुल्यांक घुला रहता है। विलयनों के अन्य सांद्रण नार्मलता में ही सूचित किए जाते हैं, जैसे २ नार्मल, ५ नार्मल १० नार्मल, दशांश नार्मल, सहस्रांश नार्मल इत्यादि। [अ० मि०]

विलियम ब्लेक अंगरेजी कवि, चित्रकार और रहस्यवादी। उसका जन्म लंदन में २८ सितंबर १७५७ ई० को हुआ और मृत्यु १२ जुलाई १८२७ को हुई। सेंट पाल के ड्राइंग स्कूल में उसने परंपरित शैली की ड्राइंग की ट्रेनिंग पाई। जेम्स बेज़ीयर उसके रायल एकेडेमी में गुरु रहे। परंतु उसने परंपरित शैली से विद्रोह किया। अच्छे घर का होने पर भी ब्लेक को बहुत संघर्षो मे से गुजरना पड़ा। उसका अंत आर्थिक दैन्य में हुआ। उसने प्राचीन और नवीन लेखकों के लिये कई प्रकार के रेखाचित्र और धातुतक्षणवाले चित्र (एचिंग) आदि बनाए। वर्जिल, दांते, चॉसर, मेरी वाल्स्टान-क्रॅफ्ट और एडवर्ड यंग की कृतियों और अपनी स्वयं की रचनाओं पर चित्र बनाए, विशेषतः प्रतीकात्मक चित्र। कविता और चित्र के निकट संबंध मे प्रयोग ब्लेक का बहुत बड़ा योगदान साहित्य को है। कुछ लोग उसे विक्षिप्त समझते थे परतु वह रूढ़िवाद का विरोध, धर्म सस्था के प्रति और कला साहित्य के क्षेत्र में भी, करता रहा।

ब्लेक अपने समय के अतिभौतिकवाद और अति बौद्धिकता से ऊब गया था। उसने अपने आसपास के और कल्पना मे के भी पापी, अपराधी और दुष्ट व्यक्तियों का चित्रण किया, परंतु उनके भीतर कोई देवी शक्ति निवास कर रही है, कोई सुधरने की सभावना है, यह मानकर। उसकी पंक्तियाँ हैं कि 'दया को मानवी हृदय है; करुणा को मानवी चेहरा; और प्रेम को मानवी रूप है जो देवी है।' उसके चित्रों में बार बार खिड़की से झाँकता हुआ ईश्वरीय अंश दिखाई देता है। ईश्वर और उसके देवदूत वृक्षों की छाँह में विश्राम कर रहे हैं। हर फूल और पत्ते में वे हैं। ब्लेक ने अपनी कविताओं पर स्वयम् चित्र बनाए। कविता और चित्र ताँबे की प्लेटों पर उकेरे। स्वयम् अपनी कविता पुस्तकें छापीं, उनपर जल-रंगों से चित्र बनाए। ऐसी पुस्तकें अब संग्रहकर्ताओं के लिये बहुत अमूल्य हो गई हैं। ब्लेक की कविता और चित्र दोनों का प्रधान उद्देश्य नैतिक था। आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता की झाँकी वह अपनी रचनाओं द्वारा देना चाहता था। उसका उद्देश्य केवल आध्यात्मिक या दार्शनिक नहीं था। वह सामाजिक, राजनीतिक सुधार

भी चाहता था और पूरी स्वतंत्रता का पक्षपाती था। वह मनुष्य की महत्ता और स्वाभिमानरक्षा में विश्वास करता था। वह हर प्रकार के अन्याय और तानाशाही का विरोधी था।

परंतु ब्लेक को उसके समय के लोग पूरी तरह समझ नहीं सके। उसके गर्वेतवादी प्रतीकों पर अत्यधिक बल, अंतर्मुखी कला, विशिष्ट निजी शैली के कारण उसको लोगों ने पागल मान लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ब्लेक के मौलिक क्रांतिकारी सिद्धांत, शैली, विचार तथा टकनीक को अंग्रेजी साहित्य में प्रतिष्ठा न प्राप्त हो सकी। उसकी कई कविताएं तो अब तक अबूझ हैं। उसके छोटे छोटे गीत बहुत लोकप्रिय हुए। सुलभ सहजता जो उसकी 'दि लैंब', 'दि टाइगर', 'दि चिमनी', 'स्वीपर' जैसी कविताओं में है वह बाद के रहस्यवादी कवियों के लिये प्रेरणा बनी। बौद्धिकता के युग में उसका विरोध वैज्ञानिक शंका के युग में श्रद्धा का समर्थन ब्लेक को बहुत महत्वपूर्ण कवि बनाता है।

ब्लेक की कृतियाँ : 'पोएटिक स्केचेज' (१७८३); 'सौंग्ज ऑव इनोसंस' (१७८९); 'बुक ऑव थेल' (१७८९); 'दि मैरेज ऑव हेवन एंड हेल' (१७९०); 'दि फ्रेंच रिवोल्यूशन' (१७९१); सौंग्ज ऑव इक्सपीरिएंस' (१७९४); विजस ऑव दि डाटर्स ऑव एल्बियान' (१७९३); अमरीका (१७९३); 'यूरोप : ए प्राफेसी' (१७९४), 'दि बुक ऑव यूरिजेन' (१७९४) 'दि सौंग ऑव लास (१७९५); 'दि सोंग ऑव आहनिया' (१७९५); 'जेरूसेलम' तथा 'मिल्टन' (१८०४); 'दि प्राफेटिक राइटिंग्ज ऑव डब्ल्यू० बी०। [प्र० मा०]

विल्की, सर डेविड (Wilkee, Sir David) स्काटलैंड के इस चित्रकार का जन्म फाइफशायर में १८ नवबर, १७८५ को हुआ। 'गाँव के राजनीतिज्ञ' चित्र ने इसे विश्वप्रसिद्ध बना दिया। वसूली का दिन, कुर्की तथा साधारण विवाह, इसके कतिपय प्रसिद्ध चित्र है। अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'जार्ज चतुर्थ का पवित्र देश में प्रवेश', 'स्पेन की युद्धसमिति', तथा 'सारगोसा की परिचारिका' की रचना की। १८३६ में इसे नाइट की उपाधि मिली। १८४० में पूर्वी देशों की यात्रा पर निकला और लौटते समय १ जून १८४१ को जिब्राल्टर के समुद्र में उसकी हत्या कर दी गई। [गु० त्रि०]

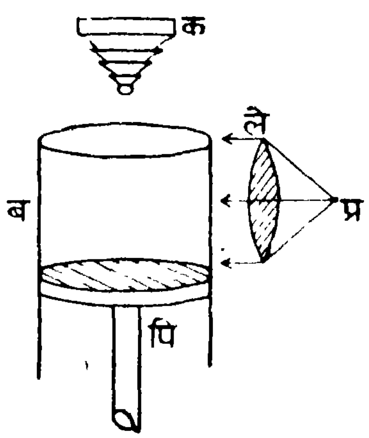
विल्क्स, जॉन इंग्लैंड के एक धनी व्यवसायी के घर क्लेर्केनवेल में १७ अक्टूबर १७२७ को विल्क्स का जन्म हुआ। लाइडेन विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त कर १७४९ में, आयु में दस वर्ष बड़ी, धनी घराने की उत्तराधिकारिणी, कन्या, मीड से उसने विवाह किया। पुत्री के जन्म के बाद दोनों का संबंधविच्छेद हो गया। इस प्रसंग में विल्क्स के चरित्र की निंदा भी हुई। वह बकिंघमशिर चला गया और वहीं रहने लगा। कुछ काल में काउंटी के शेरिफ के पद पर नियुक्त हो गया। १७५७ में एलसबरी के नगर क्षेत्र से वह कॉमंस सभा का सदस्य निर्वाचित हुआ। वह ह्विग पार्टी का उत्कट समर्थक था। विरोधी टोरी पार्टी की तीखी आलोचना के कारण वह शीघ्र प्रसिद्ध हो गया। ब्यूट मंत्रिमंडल की सरकारी नीति के खंडन के उद्देश्य से जून १७६२ में उसने 'नॉर्थ ब्रिटन' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला। पत्र के ४५ वें अंक में पेरिस संधि के संबंध में उसने राजा जॉर्ज तृतीय पर असत्य कथन का आरोप किया। राजा के आदेश से व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम-रहित साधारण वारंट के आधार पर उसके घर की तलाशी हुई। कुछ अन्य कागज पत्रों के साथ ४५ वें अंक की प्रतियाँ उठा ली गईं और विल्क्स सहित ४९ व्यक्तियों को गिरफ्तार कर कारागार में भेजा गया। गिरफ्तारी से मुक्ति पाने के पार्लमेंट के सदस्य के विशेष अधिकार के नाम पर विल्क्स ने अपनी मुक्ति की माँग की। न्यायाधीश ने उसको मुक्त कर दिया पर प्रधान मंत्री ग्रैनविल ने १७६३ के नवंबर मास में कॉमंस सभा से ४५ वें अंक के लेख को 'असत्य, राजद्रोहात्मक और अपमानजनक' घोषित करा दिया, उसकी प्रतियों को सार्वजनिक रूप से जलाने का आदेश और ऐसे लेख के संबंध में कारामुक्ति के विशेष अधिकार के लागू न होने का निर्णय भी दिलाया। विल्क्स सफाई देने के लिये कॉमंस सभा में नहीं गया। सभा ने उसकी सदस्यता से हटा दिया। वह फ्रांस चला गया। न्यायालय में भी उसके विरुद्ध अभियोग था। उसके उपस्थित न होने के कारण न्यायालय ने भी उसको विद्रोही घोषित कर दिया। साधारण वारंट के मामले में विल्क्स की विजय हुई। १७६५ में प्रधान न्यायाधीश प्रैट ने साधारण वारंट के उपयोग को अवैध घोषित किया। हानि की पूर्ति के लिये १,००० पौंड सरकार से विल्क्स को दिलाए। चार वर्ष बाद अवैध गिरफ्तारी और कारावास के लिये भी न्यायालय के निर्णय से उसने ४,००० पौंड सरकार से वसूल किए। इसी बीच में लॉर्ड सभा के दो सदस्यों के नाम से संबद्ध 'ऐसे ऑन वूमन' नामक अपमानजनक और कुरुचिपूर्ण कविता के प्रकाशन का आरोप लगाकर लॉर्ड सभा ने भी विल्क्स की गिरफ्तारी का आदेश निकाला किंतु वह पहले ही देश से बाहर चला गया था। अपनी अनुपस्थिति में ही प्रजा की सहानुभूति उसको प्राप्त हो गई थी। लंदन की कौंसिल ने प्रजा की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये उसको धन्यवाद दिया था। १७६८ में वह इंग्लैंड लौट आया। मिडिलसेक्स की काउंटी ने उसको कॉमंस सभा का सदस्य निर्वाचित किया था पर विद्रोही घोषित होने के कारण वह गिरफ्तार कर लिया गया। विद्रोह के कलंक से न्यायालय ने उसको मुक्त कर दिया पर ४५ वें अंक के लेख के मामले में २२ मास के कारावास और १,००० पौंड जुरमाने का दंड उसको दिया। पार्लमेंट के अधिवेशन के उद्घाटन के दिन कॉमंस सभा में उसको ले जाने के लिये बड़ी संख्या में प्रजा कारागार के द्वार पर पहुँच गई। उसको हटाने में सरकार को सेना का उपयोग करना पड़ा और कुछ रक्तपात भी हुआ। जूनियस के नाम से 'पब्लिक एडवर्टाइजर' में राज्य सचिव लॉर्ड वेमथ की इस कांड के संबंध में निंदा प्रकाशित हुई। लेख का जनक विल्क्स को मानकर लॉर्ड सभा ने उसपर विचार किया और लेख को उद्दंडतापूर्ण, निंदायुक्त तथा राजद्रोहात्मक घोषित कर यह मामला कॉमंस सभा को सौंपा गया। विल्क्स ने लेखक होना स्वीकार किया। सभा ने लेख के संबंध में लॉर्ड सभा के निर्णय को मान लिया और इस बार भी विल्क्स को सदस्यता से वंचित कर दिया। नए चुनाव का आदेश होने पर काउंटी ने फिर विल्क्स को निर्वाचित किया पर सभा ने उसको सदस्य नहीं माना। चौथी बार भी काउंटी ने उसको ही अपना प्रतिनिधि चुना पर इस

बार सभा ने ८४७ मतों से पराजित उसके प्रतिद्वंदी लटरैल को सदस्य घोषित कर दिया। इस संघर्ष ने विल्क्स को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया। कारागार में उसको मूल्यवान भेंटे मिलती रहीं। ऋणमुक्त कराने के लिये प्रजा ने २०,००० पौंड एकत्र कर उसको दिए। १७७० में वह कारागार से मुक्त हो गया और अगले वर्ष लंदन का शैरिफ़ चुना गया। इस पद पर कार्य करते हुए कई बार जवाबदेही के लिये उसे कॉमंस सभा में बुलाया गया पर मिडिलसेक्स के सदस्य की हैसियत के अतिरिक्त उसने सभा में जाने से इनकार कर दिया। पार्लमेंट की कार्रवाई के प्रकाशन के संबंध में १७७१ मे कुछ मुद्रकों को उसने अपराधमुक्त कर दिया था। उसका यह कार्य प्रकाशन की सुविधा दिलाने में सहायक हुआ। १७७४ में वह लंदन का मेयर नियुक्त हुआ और उस वर्ष ही मिडिलसेक्स की काउंटी ने उसको फिर अपना प्रतिनिधि निर्वाचित किया। अगले सोलह वर्षों तक वह इस क्षेत्र से प्रत्येक अवसर पर चुना जाता रहा। पार्लमेंट की निर्वाचन प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये उसने १७७४ में एक महत्वपूर्ण योजना पार्लमेंट में प्रस्तुत की थी। १७७९ में वह लंदन नगर का चेंबरलिन नियुक्त हुआ और जीवन के अंत तक इस प्रतिष्ठित पद पर रहा। १७८४ में कॉमंस सभा ने उसके निर्वाचन संबधी पिछली अनुचित कार्रवाई को पार्लमेंट के खाते से निकालने का प्रस्ताव मान लिया था। सार्वजनिक हित के कार्यों और प्रजा की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये विल्क्स सदा कार्यरत रहा। उस काल में 'विल्क्स और स्वतत्रता' प्रजा का नारा बन गया था। २७ दिसबर, १७९७ को सत्तर वर्ष की आयु में लंदन नगर में विल्क्स की मृत्यु हुई। [मि० पं०]

विल्सन अभ्रकोष्ठ का आविष्कार इंग्लैंड के सी० टी० आर० विल्सन (C. T. R. Wilson) ने सन् १९१२ में किया था। इस अभ्रकोष्ठ का न्यूक्लीय भौतिकी और अंतरिक्ष किरणों के अध्ययन मे बहुत अधिक उपयोग होता है। इसकी सहायता से आवेशित कणिकाओं का संसूचन (detection) होता है। अन्य संसूचकों (detectors) की अपेक्षा अभ्रकोष्ठ से ज्यादा सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, क्योंकि इसमे आवेशित कणिका का पूरा मार्ग (track) दिखाई देता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि अभ्रकोष्ठ मे पूरी अभिक्रिया (reaction) दिखाई पड़ती है। इस अभ्रकोष्ठ की उपयोगिता इतनी अधिक है कि सन् १९२७ में विल्सन को इसके आविष्कार के लिये नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था।

विल्सन ने वाष्प के जमने से संबंधित जो प्रयोग किए, उनसे पता चला कि वाष्प के जमने के लिये धूल के कणों, या आवेशित कणों (आयनों), की उपस्थिति आवश्यक है। मान लीजिए किसी कोष्ठ में कोई ऐसी गैस भरी हुई है जो साधारण अवस्था में द्रव नहीं है, जैसे हवा या आर्गन (argon), और इस कोष्ठ में इतना वाष्प है कि हवा वाष्प से पूर्णतया संतृप्त है। अब यदि कोष्ठ को ठंढा किया जाय, तो हवा अतिसंतृप्त (supersaturated) हो जाती है। प्रारंभ में हवा में धूल इत्यादि के कण होते है, इसलिये पानी की बूँदें जमने लगती हैं। तीन चार बार ऐसा ही करने से धूल के सभी कण पानी की बूँदों के साथ नीचे गिर पड़ते हैं और ऊपर की हवा पूर्णतया धूलरहित हो जाती है। अब यदि हवा को फिर ठंढा किया जाय, तब हवा वाष्प से अतिसंतृप्त हो जाती है। फिर भी बूँदें नहीं जमने पातीं, क्योंकि केंद्र का सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में हवा में यदि आयनन (ionisation) द्वारा आवेशित कणिकाएँ उत्पन्न कर दी जाएँ, तो उनपर ही पानी की बूँदें जमने लगती हैं। इसी सिद्धांत पर अभ्रकोष्ठ बना है। एक कोष्ठ में अतिसंतृप्तावस्था में कोई गैस भरी रहती है। जब कोई आवेशित कणिका इस कोष्ठ में जाती है, तब अपने मार्ग मे गैस को आयनित करती जाती है। इन्ही आयनो पर बूँदे जमने लगती हैं। प्रकाश पड़ने पर ये बूँदे चमकती हैं और इस तरह आवेशित कणिका का मार्ग दिखलाई पड़ता है, जिसका छायाचित्र लिया जा सकता है। विल्सन अभ्रकोष्ठ विभिन्न उद्देश्यों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार से बनाए जाते है, परंतु मुख्य रूप से इसके दो प्रकार हैं :

(१) प्रसार अभ्रकोष्ठ (Expansion cloud chamber)
(२) विसार अभ्रकोष्ठ (Diffusion cloud chamber)



प्रसार अभ्रकोष्ठ में काँच का एक बेलनाकार बरतन 'ब' (देखें चित्र) होता है, जिसके भीतर एक चल पिस्टन (piston) 'पी' होता है। इस बरतन में हवा या आर्गन जैसी कोई गैस तथा पानी या ऐल्कोहॉल की वाष्प का मिश्रण भरा रहता है। पानी या ऐल्कोहॉल साधारण ताप पर द्रव होते हैं, अत: इनकी वाष्प को सुविधा से संघनित किया जा सकता है। पिस्टन को अचानक बाहर की ओर खींचने से गैस फैल जाती है और उसका ताप घट जाता है। ताप घटने से गैस वाष्प से अतिसंतृप्त हो जाती है, परतु धूल के कणों के अभाव में बूँदे जमने नही पाती। कोष्ठ में जब कोई आवेशित कणिका प्रवेश करती है, तब आयन उत्पन्न होते हैं और उनपर बूँदे जमने लगती हैं। प्रकाश उद्गम 'प्र' तथा लेन्स 'ल' की सहायता से इन बूँदों को प्रकाशित किया जाता है तथा कैमरा 'क' की सहायता से इन बूँदों का छायाचित्र लिया जाता है। पिस्टन का ऊपरी भाग काले रंग का होता है, जिससे बूँदे काली पृष्ठभूमि पर चमकती हुई दिखाई देती हैं।

साधारण विसार अभ्रकोष्ठ में एक बेलनाकार बरतन होता है, जिसकी पेंदी बहुत ठंढी रखी जाती है तथा ऊपर का ताप अपेक्षाकृत अधिक रहता है। बरतन की दीवारों पर नमदा या सोख्ता लगा रहता है, जो ऐल्कोहॉल या पानी से तर रहता है। इससे ऐल्कोहॉल या पानी भाप बनता है और ठंढी पेंदी पर जमता है। पेंदी से कुछ ऊपर ऐसा स्थान होता है जहाँ आयन के होने पर ही बूँदे जम सकती हैं अन्यथा नहीं। प्रकाश तथा कैमरा इत्यादि ऊपर की ही भाँति होते हैं।

जब बूँदे छोटी होती हैं, तब छायाचित्र अधिक स्पष्ट होता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि गैस फैलने के बाद शीघ्र ही छायाचित्र ले लिया जाय। आजकल स्वचालित अभ्रकोष्ठ मे एक ही संकेत

द्वारा पिस्टन बाहर खिचता है, जिससे गैस फैलती है तथा क्षणिक प्रकाश उत्पन्न होता है और छायाचित्र उतर आता है। क्षणिक प्रकाश का लाभ यह है कि प्रकाश की गरमी से गैस गरम नहीं होने पाती, अतः बूंदों का पुन. वाष्पीकरण नहीं होने पाता।

विलसन अभ्रकोष्ठ द्वारा लिए गए चित्रों से यह भी पता चल सकता है कि आवेशित कण का द्रव्यमान कितना है। यदि आवेशित कण भारी हो, जैसे ऐल्फा-कण (alpha particles), तो उनकी आयनन शक्ति हलके कणो (जैसे इलेक्ट्रॉन) की अपेक्षा अधिक होती है। अत भारी कणों के मार्ग में अधिक आयन बनते हैं और इनका मार्ग प्रदर्शित करनेवाली रेखाएं चौडी बनती हैं। विल्सन अभ्रकोष्ठ को चुंबकीय क्षेत्र मे रख दिया जाय, तो इस क्षेत्र के प्रभाव से आवेशित कणिकाओं का मार्ग वक्रीय हो जाता है। मार्ग की वक्रता की त्रिज्या (radius of curvature) ज्ञात करके कणिका का संवेग (momentum) निम्न सूत्र से ज्ञात हो सकता है :

$$p = H e r$$

यहाँ p कणिका का संवेग, H चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता, e कणिका पर आवेश तथा r मार्ग की वक्रता की त्रिज्या है।

आजकल गणित्र नियंत्रित (counter controlled) अभ्रकोष्ठ बनाए जाते हैं, जिनसे किसी विशेष दशा मे विशेष कणिकाओं के ही चित्र लिए जाते हैं। इसके लिये अभ्रकोष्ठ के चतुर्दिक् गाइगर म्यूलर गणित्र (Geiger-Muller counter) लगा दिए जाते है। अभ्रकोष्ठ स्वचालित होता है और उसके लिये संकेत इन गणित्रों से आता है। ऐसी व्यवस्था की जाती है कि कणिका के जिस गणित्र में प्रवेश करने की संभावना हो, उससे प्राप्त संकेत से ही अभ्रकोष्ठ चले। उदाहरण के लिये यदि ऐसे कणों का, जो अभ्रकोष्ठ मे प्रवेश करके दूसरी ओर बाहर निकल जाते हैं, चित्र लेना है, तो अभ्रकोष्ठ के ऊपर और नीचे गणित्रों की पंक्तियाँ लगा दी जाती है। यदि कणिका अभ्रकोष्ठ में प्रवेश करने के बाद बाहर निकल जाती है, तो ऊपर और नीचे दोनो पंक्तियों के एक-एक गणित्र से संकेत मिलता है। इन दोनों संकेतों के संमिलन से ही यदि अभ्रकोष्ठ के चलने की व्यवस्था हो, तो केवल वे कणिकाएँ ही अंकित होगी जो अभ्रकोष्ठ से पुनः बाहर निकल जाती है। इसके विपरीत कणिका यदि कक्ष मे ही अवशोषित हो जाती है, तो निचली पंक्ति के गणित्रो से कोई संकेत नहीं मिलता और अभ्रकोष्ठ नहीं चलता।

विल्सन अभ्रकोष्ठ द्वारा अत्यंत महत्वपूर्ण आविष्कार हुए हैं। उदाहरण स्वरूप, पॉजिट्रॉन (Positron) तथा म्यू-मेसान (μ-Meson), के आविष्कार अभ्रकोष्ठ द्वारा ही हुए हैं (देखे पॉजिट्रॉन तथा मैसॉन)। [ध० कि० गु०]

विल्सन, चार्ल्स टॉमसन रीज़ (Wilson, Charles Thomson Rees) स्कॉच भौतिकविज्ञानी का जन्म १८६६ ई० में स्कॉटलैंड की मिडलोथियन काउंटी के ग्लैडेकोर ग्राम में हुआ था। इन्होने कैंब्रिज के सिडनी ससेक्स कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त की। १९०० ई० में ये इसी कालेज मे युनिवर्सिटी प्रोफेसर नियुक्त हुए तथा साथ ही साथ १९१८ ई० तक ये कैवेंडिश प्रयोगशाला में उच्चतर भौतिकी की शिक्षा के निदेशक भी रहे। १९१८ ई० से १९२५ ई० तक ये कैंब्रिज विश्वविद्यालय में वैद्युत् ऋतु अनुसंधान विभाग में रीडर रहे और बाद में ये इसी विश्वविद्यालय में प्राकृतिक दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। १९३४ ई० में इन्होने अवकाश ग्रहण किया।

इन्होंने १९१२ ई० में विल्सन अभ्रकोष्ठ (Wilson's Cloud Chamber) का आविष्कार किया (देखें **विल्सन अभ्रकोष्ठ**)। परमाणु भौतिकी संबंधी अनुसंधानों पर इन्हें १९२७ ई० में भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला। इन्होने वायुमंडलीय विद्युत् पर भी कार्य किया और सुधरे हुए स्वर्णपत्र विद्युत्मापी का अभिकल्प बनाया।

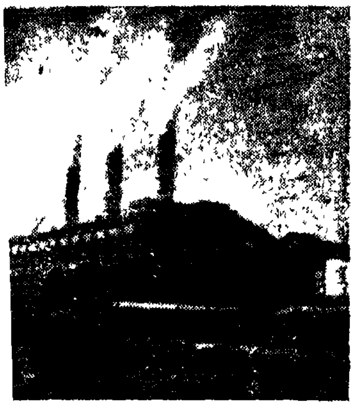
[भ० प्र० श्री०]

विल्सन रिचर्ड अंग्रेज भूदृश्य चित्रकार। जन्म मांटगोमरीशायर के पेनेगोस नामक स्थान में अगस्त, १७१४ में हुआ। इसके पिता साधारण पादरी थे। थास राइट के साथ इंग्लैंड मे आकृति चित्र का अध्ययन किया। इटली में जकारेली से मिला, जिसने इसे भूदृश्य चित्रण की प्रेरणा दी। १७७६ मे रायल अकादमी का पुस्तकालयाध्यक्ष बना। इसकी श्रेष्ठ रचना है—'मडाया से रोम का दृश्य'। १७८२ मे अचानक इसकी मृत्यु हो गई। [गु० त्रि०]

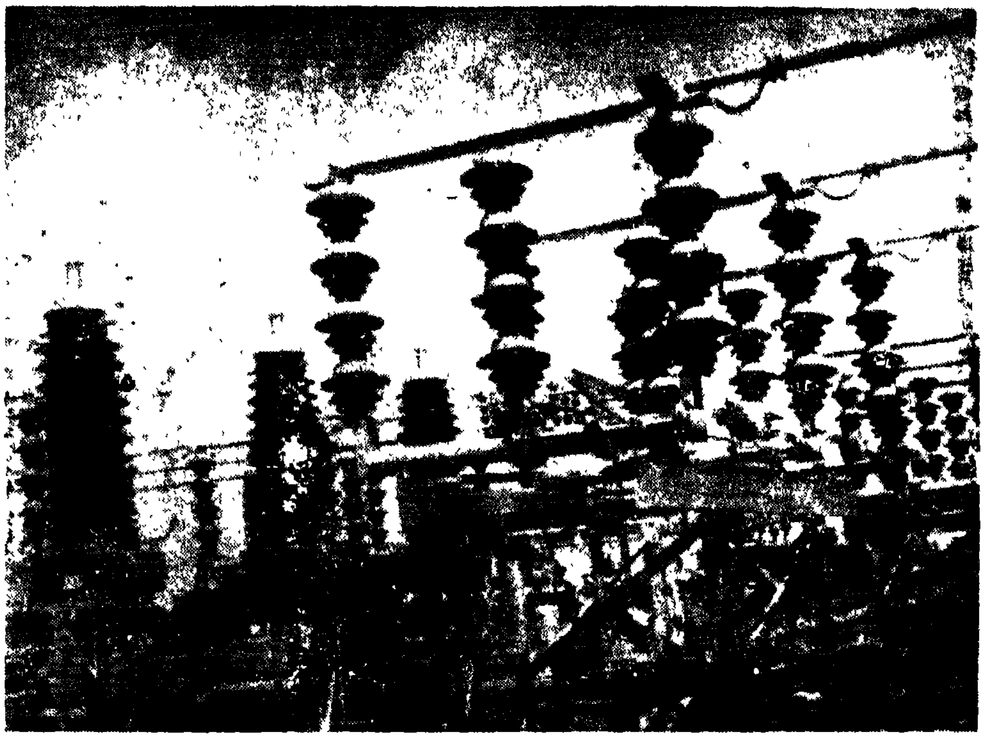
विवर्तन (Diffraction) यदि किसी प्रकाशोत्पादक स्रोत और पर्दे के बीच कोई अपारदर्शक वस्तु रख दी जाय, तो पर्दे पर वस्तु की छाया बन जाती है। बहुधा छाया का किनारा तीक्ष्ण sharp) होता है और उसके चारों ओर पर्दे का भाग समान रूप से प्रकाशित रहता है। यदि प्रकाशोत्पादक स्रोत बिंदुवत् छोटा हो, तो ध्यान से देखने पर छाया का किनारा तीक्ष्ण नहीं पाया जाता है। किनारे पर प्रकाश और अंधकार (brightness and darkness) की धारियाँ दिखाई पड़ती हैं। ऐसा मालूम होता है कि प्रकाश की किरणें मुड़कर ज्यामितीय छाया की सीमा के भीतर तक पहुँच गई हैं। इस घटना को प्रकाश का विवर्तन कहते हैं। छाया के किनारे किनारे जो धारियाँ बनती हैं, उन्हें विवर्तन पैटर्न (Diffraction Pattern) कहा जाता है। विवर्तन की जानकारी से पूर्व यही माना जाता था कि किसी एक माध्यम में प्रकाश सीधी रेखाओं मे चलता है। किंतु विवर्तन की व्याख्या प्रकाश के सरल रैखिक गमन के आधार पर नहीं की जा सकती है। सर्वप्रथम न्यूटन (Newton), ग्रिमाल्डी (Grimaldi) और टी. यंग (T. Young) ने इस घटना पर ध्यान दिया था। न्यूटन और ग्रिमाल्डी प्रकाश के कणिका सिद्धांत (Corpuscular Theory) के प्रवर्तक और अनुयायी थे, अतः उन्होंने विवर्तन की घटना को इसी आधार पर समझने का असफल प्रयास किया। बाद में क्रिश्चियन हाइगेंज़ ने प्रकाश के तरंग सिद्धांत का प्रतिपादन किया और ए० जे० फ्रेनेल (A. J. Fresnel) तथा फ्राउनहोफर (Fraunhofer) ने इसी सिद्धांत के आधार पर विवर्तन तथा विवर्तन से संबंधित अन्य घटनाओं को सफलतापूर्वक समझाया।

जब प्रकाश के मार्ग में गोल छेद, आयताकार रेखाछिद्र, किसी वस्तु की तीक्ष्ण कोर (edge) या महीन तार रखा जाता है, तब प्रत्येक दशा में भिन्न प्रकार के विवर्तन पैटर्न बनते हैं। विवर्तन

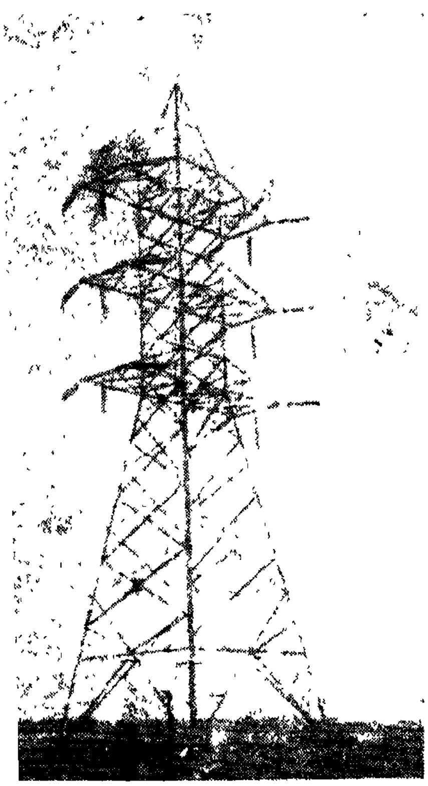
विद्युत् संभरण, प्रविधिक दृष्टिकोण से (पृष्ठ ४९-५३)



बिजलीघर



उपकेंद्र (Substation)

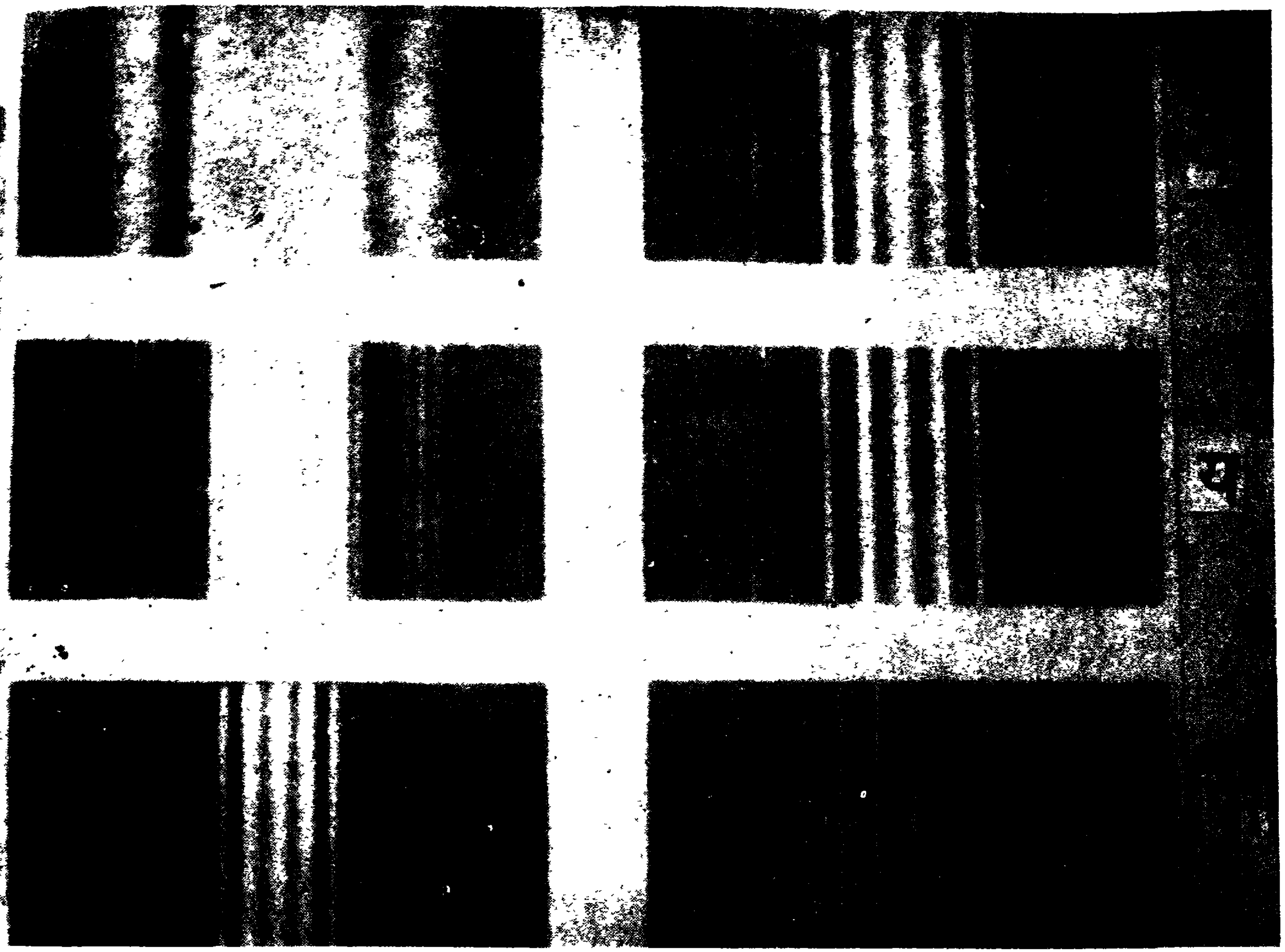


प्रेषण मीनार (Transmission Tower)



विद्युत् संभरण में उपयोगी परिणामित्र (Transformer)

विवर्तन (पृष्ठ १०४-१०७)



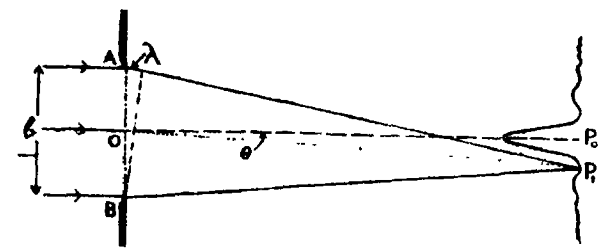
रेखाछिद्रों (Slits) के विवर्तन पैटर्न

अ. अकेले रेखाछिद्र का पैटर्न; ब. दो रेखाछिद्रों का पैटर्न; स. तीन रेखाछिद्रों का पैटर्न; द. चार रेखाछिद्रों का पैटर्न; य पांच रेखाछिद्रों का पैटर्न तथा फ. अनेक रेखाछिद्रों का पैटर्न ।

की सभी घटनाओं को दो विभागों में बाँटा जा सकता है : (१) फ्राउनहोफर विवर्तन (Fraunhofer Diffraction) और (२) फ्रेनेल विवर्तन (Fresnel Diffraction)। जब प्रकाश-स्रोत और पर्दा विवर्तक वस्तु से अत्यंत दूर होते हैं, अर्थात् विवर्तक पर समतल तरंगाग्र (plane wavefront) आपतित होता है, तब विवर्तन पैटर्न को फ्राउनहोफर पैटर्न और घटना को फ्राउनहोफर विवर्तन कहा जाता है। जब स्रोत, पर्दा, या ये दोनों, विवर्तक वस्तु से नियत (finite) दूरी पर होते हैं, अर्थात् विवर्तक पर गोलीय या बेलनाकार तरंगाग्र आपतित होता है, तब विवर्तन की घटना को फ्रेनेल विवर्तन कहा जाता है। फ्रेनेल विवर्तन देखना अपेक्षाकृत सरल होता है, किंतु इसे समझना कठिन होता है। फ्राउनहोफर विवर्तन देखने के लिये विशेष प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ती है, जिससे समतल तरंगाग्र प्राप्त हो। विवर्तन के बाद उसे पुन: फोकस करने की व्यवस्था करनी पड़ती है, किंतु इसका सिद्धांत समझना बहुत सरल है।

फ्राउनहोफर विवर्तन

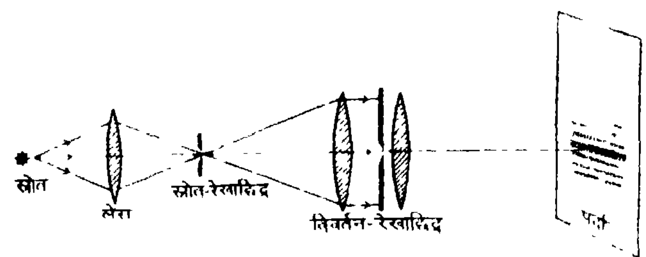
(अ) अकेले रेखाछिद्र का विवर्तन पैटर्न (Diffraction pattern of single slit) — सोडियम लैंप से पीले रंग का एकवर्णी प्रकाश (monochromatic light) प्राप्त होता है। एक लेंस की सहायता से इस प्रकाश को एक काले पर्दे में कटे हुए अत्यंत सँकरे रेखाछिद्र (slit) पर डाला जाय, तो यही रेखाछिद्र स्वयं एक प्रकाश स्रोत का काम देता है। अब इस रेखाछिद्र के आगे लेंस लगाकर समातर किरणपुंज को एक दूसरे रेखाछिद्र पर डाला जाय तथा इस रेखाछिद्र के पीछे सफेद पर्दा रखा जाय, तो पर्दे पर दूसरे रेखाछिद्र का विवर्तन पैटर्न बन जाता है। इस पैटर्न के बीच में अत्यंत तीव्र बैंड (intense band) या पट्टी होती है। इस पट्टी के दोनों ओर अपेक्षाकृत बहुत कम तीव्रता की और भी पट्टियाँ पाई जाती हैं। बीचवाली पट्टी को मुख्य उच्चिष्ठ (Principal



चित्र १.

Maxima) तथा अन्य पट्टियों को द्वितीयक उच्चिष्ठ (Secondary Maxima) कहते हैं। चित्र १. के अनुसार इनका बनना समझा जा सकता है। AB एक रेखाछिद्र है जिसपर समतल तरंगाग्र पड़ रहा है और S एक पर्दा है। बिंदु A और B तथा रेखाछिद्र के आगे ऊपरी भाग और आधे निचले भाग के सभी बिंदुओं से चलनेवाली द्वितीयक तरंगें (secondary waves) P_0 पर एक ही कला में (phase) में पहुँचती हैं, अत: वहाँ अधिकतम प्रकाश मिलता है और मुख्य उच्चिष्ठ बनता है। A और B बिंदुओं से P_1 की दूरियाँ बराबर नहीं हैं। यदि P_1 A और P_1 B का अंतर एक तरंग की लंबाई (λ) के बराबर हो, तो A और O से चलनेवाली द्वितीयक तरंगें P_1 पर $\lambda/2$ पथांतर से, या π कलांतर (phase difference) से, पहुँचेंगी और व्यतिकरण के कारण एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देंगी। इसी प्रकार A के नीचेवाले सभी बिंदुओं का प्रभाव B के नीचेवाले सभी बिंदुओं के प्रभाव को P_1 पर समाप्त कर देता है, अत: यहाँ काली धारी बन जाती है। यदि P_1 के लिये विवर्तन का कोण θ हो और रेखाछिद्र की चौड़ाई b हो तथा रेखाछिद्र के विपरीत कोरों (edges) की ओर से पर्दे के किसी बिंदु पर पहुँचनेवाली द्वितीयक तरंगों का कलांतर δ हो, तो $\delta/2 = \pi/\delta$ b ($\sin\theta + \sin i$) होता है। i रेखाछिद्र पर पड़नेवाले तरंगाग्र का आपतन कोण है। इस सूत्र से पर्दे के भिन्न भिन्न बिंदुओं पर बननेवाली प्रकाशित तथा काली धारियों का बनना समझा जा सकता है। जहाँ पर $\delta/2$ का मान $\pm\pi$, $\pm 2\pi, \ldots \pm m\pi$ इत्यादि होता है, वहाँ निम्निष्ठ, या काला बैंड, और जहाँ $\delta/2 = 0, \pi/2, 3\pi/2, \ldots (2m+1)\pi/2$ होता है वहाँ उच्चिष्ठ बनता है।

विवर्तन ग्रेटिंग (Diffraction Grating) — दो समीपवर्ती रेखाछिद्रों का विवर्तन पैटर्न एक रेखाछिद्र के विवर्तन पैटर्न से कुछ भिन्न होता है। एक रेखाछिद्र के पैटर्न में जहाँ जहाँ उच्चिष्ठ मिलता है, दो रेखाछिद्र के पैटर्न में उन्ही स्थानों पर कई धारियाँ बनती हैं, जो पहले के बैंडों की अपेक्षा अधिक पतली और तीक्ष्ण होती हैं। ज्यों ज्यों रेखाछिद्रों की संख्या बढ़ती जाती है, द्वितीयक उच्चिष्ठ की धारियाँ क्षीण होती जाती हैं और मुख्य उच्चिष्ठ की धारियाँ अत्यंत तीक्ष्ण होती जाती है (देखें चित्र २)। रेखाछिद्रों की चौड़ाई तथा उनकी पारस्परिक दूरी भी इन धारियों



चित्र २.

की तीक्ष्णता को बहुत प्रभावित करती है। शीशे की समतल पट्टी पर हीरे की कनी से रेखाएँ खींच दी जायँ, तो प्रत्येक दो रेखा के बीच का पारदर्शक स्थान रेखाछिद्र का काम करता है। ऐसे ही रेखाछिद्रों के समूह को ग्रेटिंग कहते हैं। ग्रेटिंग का आविष्कार फ्राउनहोफर ने किया था। उन्होंने दो स्क्रू के ऊपर महीन तार लपेटकर ग्रेटिंग बनाया था। प्रत्येक दो तारों के बीच का स्थान रेखाछिद्र का काम करता है। आगे चलकर उन्होंने काँच के प्लेट पर रेखाएँ खींचकर ग्रेटिंग बनाया। रोलैंड ने १८८२ ई० में ग्रेटिंग की रेखाएँ बनानेवाली मशीन बनाई। आजकल अच्छी मशीनों द्वारा एक इंच पर ३०,००० या ४०,००० तक रेखाएँ खींची जाती हैं।

यदि किसी प्रकाशस्रोत के संमुख लेंस रखकर, एकवर्णी समांतर किरणों को एक ग्रेटिंग पर डाला जाय, तो इससे प्राप्त विवर्तन में एक दूसरे से दूर दूर कई तीक्ष्ण रेखाएँ पाई जाती हैं। ये रेखाएँ वास्तव में रेखाछिद्र स्रोत का विवर्तन बिंब होती हैं। बीच की सबसे तीव्र रेखा को शून्य कोटि (Zero order) की रेखा कहते हैं। इसके दोनों ओर पहली, दूसरी, तीसरी आदि रेखाएँ क्रमश: प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटि की रेखाएँ कहलाती हैं। यदि ग्रेटिंग पर श्वेत प्रकाश डाला जाय, तो शून्य कोटि की रेखा श्वेत होती है, किंतु अन्य कोटि की रेखाओं के स्थान पर स्पेक्ट्रम प्राप्त होते हैं। इन्हें क्रमश प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि कोटि के स्पेक्ट्रम कहा जाता है। यदि ग्रेटिंग से विवर्तित होनेवाले प्रकाश का तरंगदैर्घ्य λ, आपतित तरंगाग्र का आपतन कोण i और विवर्तन कोण θ हो तथा किन्हीं दो समीपस्थ रेखाछिद्रों के मध्यबिंदुओं की पारस्परिक दूरी d हो, तो $d(\sin i + \sin\theta) = n\lambda$ होता है।

n स्पेक्ट्रम की कोटि (order) का द्योतक है।

ऊपर जिस ग्रेटिंग का विवरण दिया गया है, उसे समतल विवर्तन ग्रेटिंग कहते है। यदि वक्र शीशे पर ऐलुमिनियम की कलई कर दी जाय और उसी पर हीरे की कनी से रेखाएँ खरच दी जाएँ, तो प्रत्येक दो रेखाओं के बीच का भाग एक नन्हे परावर्ती दर्पण का काम करता है। इन भागों से परावर्तित तरंगों के व्यतिकरण से भी विवर्तन पैटर्न बनता है। इस ग्रेटिंग को अवतल ग्रेटिंग (Concave grating) कहते है। इसका आविष्कार रोलैंड (Rowland) ने किया था। अवतल ग्रेटिंग अवतल दर्पण का भी काम करता है। अत: विवर्तित किरणों को फोकस करने के लिये लेंस का प्रयोग नहीं करना पड़ता है।

स्पेक्ट्रमिकी (spectroscopy) मे स्पेक्ट्रम प्राप्त करने के लिये वक्र ग्रेटिंग से बड़े उपयोगी स्पेक्ट्रोग्राफ बनाए गए हैं। वक्र ग्रेटिंग के लिये भी तरंगदैर्घ्य का सूत्र $d(\sin i + \sin\theta) = n\lambda$ ही होता है। दो विभिन्न वर्णों की रश्मियों (λ_1, λ_2) को एक दूसरे से पृथक् करने की क्षमता को ग्रेटिंग की वर्णविक्षेपण क्षमता (Dispersive Power) कहा जाता है। यदि $\lambda_1 - \lambda_2 = \Delta\lambda$ हो और इनके विवर्तन कोण क्रमश: θ_1 और θ_2 हों तथा $\theta_1 - \theta_2 = \Delta\theta$ हो, तो ग्रेटिंग की वर्ण विक्षेपण क्षमता $\frac{\Delta\theta}{\Delta\lambda}$ होती है। तरंगदैर्घ्य के सूत्र से इसका मान $\frac{\Delta\theta}{\Delta\lambda} = \frac{m}{d\cos\theta}$ होता है। क्रमश उच्चतर कोटि मे वर्ण विक्षेपण क्षमता बढ़ती जाती है। यदि λ और $\lambda + d\lambda$ दो अत्यंत समीपवर्ती विकिरण (radiations) हो और ग्रेटिंग द्वारा इनको एक दूसरे से अलग अलग देखा जा सके तो $\lambda/d\lambda$ को ग्रेटिंग की विभेदन क्षमता (resolving power) कहते हैं। तरंगदैर्घ्य के सूत्र से $\frac{\lambda}{d\lambda} = nN$ होता है। N ग्रेटिंग पर बनी हुई कुल रेखाओं (या रेखाछिद्रों) की संख्या है। क्रमश: उच्चतर कोटि मे विभेदन क्षमता भी बढ़ती जाती है।

फ्रेनेल विवर्तन

(अ) छाया का बनना — छाया के किनारे पर विवर्तन पैटर्न का बनना प्रकाश के सरल रैखिक गमन से नहीं समझाया जा सकता है। इसे समझाने के लिये फ्रेनेल ने तरंग सिद्धांत का उपयोग किया। किसी तरंगाग्र के विभिन्न बिंदुओं का प्रभाव समझाने के लिये उन्होंने अर्ध काल जोन (Half Period Zones) का सिद्धांत प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत के आधार पर बनाया गया जोन प्लेट लेंस की भाँति काम करता है और फ्रेनेल के सिद्धांत की पुष्टि करता है।

(ब) गोल छिद्र से विवर्तन — यदि किसी अत्यंत छोटे छिद्र पर एकवर्णी समतल तरंगाग्र आपतित होता हो, तो पर्दे पर इसका विवर्तन पैटर्न बन जाता है। इस पैटर्न में वृत्ताकार धारियाँ (circular fringes) पाई जाती हैं। सबसे बाहरी धारी सबसे अधिक मोटी होती है और भीतरी धारियाँ क्रमश. पतली होती हैं। फ्रेनेल के अर्धकाल जोन के आधार पर इस विवर्तन की व्याख्या की जा सकती है। यदि छिद्र का आकार प्रथम अर्धकाल जोन के बराबर हो और पैटर्न के केंद्र तथा छिद्र की परिधि की दूरियों का अंतर ($2m+1$) $\lambda/2$ हो, तो पैटर्न का केंद्र प्रकाशित होता है। यदि पर्दे से छिद्र की दूरी स्थिर रखकर छिद्र का आकार बढ़ाते जायँ, तो यह केंद्र क्रमश: प्रकाशित (bright) और अप्रकाशित (dark) होता है। जब छिद्र का आकार ($2m+1$) अर्धकाल–जोन समाविष्ट करता है, तो पैटर्न का केंद्र चमकीला होता है और जब छिद्र मे 2 m अर्ध-काल-जोन समाविष्ट होते हैं, तो केंद्र काला होता है। छिद्र को स्थिर रखकर पर्दे को उससे समीप या दूर लाने पर भी केंद्र पर परिवर्तन होता है। यदि पैटर्न के केंद्र से छिद्र के केंद्र और छिद्र की परिधि की दूरियो का अंतर ($2m+1$) $\lambda/2$ हो, तो केंद्र चमकीला, अन्यथा काला, होता है।

गोल डिस्क के विवर्तन पैटर्न के केंद्र पर सर्वदा एक चमकीली बिंदी बनती है।

प्रकाशीय यंत्रों की विभेदन क्षमता (Resolving power of optical instruments)— किसी प्रकाशीय यंत्र द्वारा किसी बिंदु स्रोत का बिंब वास्तव मे उस यंत्र के द्वारक (aperture) से होकर जानेवाली तरंगो का विवर्तन पैटर्न होता है। यदि दो बिंदु स्रोत अत्यंत पास पास हों, तो यंत्र द्वारा प्रत्येक का एक एक विवर्तन पैटर्न बनता है। चूँकि सभी प्रकाशीय यंत्रों मे वर्तुल द्वारक (circular aperture) होता है, अत. बिंदु स्रोतों के विवर्तन पैटर्न में वर्तुल बिंदु (spot) बनता है और उसके किनारे किनारे कई वर्तुल वलय (rings) होते हैं। यंत्र का द्वारक जितना ही बड़ा होता है, विवर्तन पैटर्न उतने ही छोटे बनते हैं। यदि प्रकाशीय यंत्र द्वारा दो अत्यंत समीपस्थ बिंदु स्रोतों के विवर्तन पैटर्न इतने छोटे और स्पष्ट बनें कि एक का केंद्रीय महत्तम (central maximum) प्रकाशित भाग दूसरे के सर्वप्रथम न्यूनतम (first minimum) प्रकाशित भाग पर पड़े, तो दोनों के केंद्रीय बिंदु (spots) स्पष्ट देखे जा सकते हैं। प्रकाशीय यंत्र की इस क्षमता को विभेदन क्षमता (Resolving Power) कहते हैं।

किरीट या कोरोना (Corona) — बहुधा आकाश में बादलों की उपस्थिति के समय सूर्य अथवा चंद्रमा के चारों ओर एक चमकीला घेरा दिखाई पड़ता है। इसे किरीट कहते हैं (देखे **किरीट**)। पानी

की नन्हीं बूंदों द्वारा प्रकाश का विवर्तन होने से ही किरीट बनते हैं। स्पष्ट किरीट के लिये नन्ही बूंदों का समाकार होना आवश्यक होता है। ये बूंदें जितनी ही अधिक छोटी होती हैं, किरीट का व्यास उतना ही बड़ा होता है। टी यग (T. Young) ने किरीटो का व्यास नापकर जलकणों के व्यास की गणना करने के लिये यंत्र बनाया था, जिसे तंतुमापी (Eriometer) कहते हैं।

विवर्तन और व्यतिकरण में भेद — विवर्तन और व्यतिकरण में सिद्धांततः कोई भेद नही है। तब भी बहुधा यह कहा जाता है कि व्यतिकरण में कुछ नियत संख्या के प्रकाशपुंजो का अध्यारोपण (superposition) होने से तरंग आयाम (wave amplitude) के प्रत्यक अतिसूक्ष्म खंडों (elements) के प्रभाव का समाकलन (integrate) करके तरग का आयाम ज्ञात किया जाता है। एक से अधिक रेखाछिद्रो का विवर्तन पैटर्न, विवर्तन और व्यतिकरण के संयुक्त प्रभाव से, बनता है। संक्षेप मे विवर्तन व्यतिकरण का ही किंचित् क्लिष्ट रूप है। [अ० कु० ति०]

विवाह मानव समाज की अत्यत महत्वपूर्ण प्रथा या संस्था है। यह समाज का निर्माण करनेवाली सबसे छोटी इकाई— परिवार— का मूल है। इसे मानव जाति के सातत्य को बनाए रखने का प्रधान साधन माना जाता है। इस शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से दो अर्थों मे होता है। इसका पहला अर्थ वह क्रिया, संस्कार, विधि या पद्धति है जिससे पतिपत्नी के स्थायी सबध का निर्माण होता है। प्राचीन एवं मध्यकाल के धर्मशास्त्री तथा वर्तमान युग के समाजशास्त्री समाज द्वारा स्वीकार की गई परिवार की स्थापना करनेवाली किसी भी पद्धति को विवाह मानते हैं। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि (३।२०) के शब्दों में विवाह एक निश्चित पद्धति से किया जानेवाला, अनेक विधियो से संपन्न होनेवाला तथा कन्या को पत्नी बनानेवाला संस्कार है। रघुनंदन के मतानुसार उस विधि को विवाह कहते हैं, जिससे कोई स्त्री (किसी की) पत्नी बनती है। वैस्टरमार्क ने इसे एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियो के साथ ऐसा संबध बताया है, जो इस सबंध को करनेवाले दोनों पक्षों को तथा उनकी संतान को कुछ अधिकार एवं कर्तव्य प्रदान करता है।

विवाह का दूसरा अर्थ समाज में प्रचलित एवं स्वीकृत विधियों द्वारा स्थापित किया जानेवाला दापत्य संबंध और पारिवारिक जीवन भी होता है। इस संबंध से पति पत्नी को अनेक प्रकार के अधिकार और कर्तव्य प्राप्त होते है। इससे जहाँ एक ओर समाज पति पत्नी को कामसुख के उपभोग का अधिकार देता है, वहाँ दूसरी ओर पति को पत्नी तथा संतान के पालन एवं भरणपोषण के लिये बाध्य करता है। संस्कृत में पति का शब्दार्थ है पालन करनेवाला तथा भार्या का अर्थ है भरणपोषण की जाने योग्य नारी। पति के संतान और बच्चों पर कुछ अधिकार माने जाते हैं। विवाह प्रायः समाज में नवजात प्राणियों की स्थिति का निर्धारण करता है। संपत्ति का उत्तराधिकार अधिकांश समाजों में वैध विवाहों से उत्पन्न संतान को ही दिया जाता है।

विवाह का उद्गम — मानव समाज में विवाह की संस्था के प्रादुर्भाव के बारे में १९वीं शताब्दी में बेखोफन (१८१५–८० ई०), मोर्गन (१८१८–८१ ई०) तथा मैकलीनान (१८२७–८१) ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इस मत का प्रतिपादन किया था कि मानव समाज की आदिम अवस्था में विवाह का कोई बधन नही था, सब नरनारियों को यथेच्छ कामसुख का अधिकार था। महाभारत (१।१२२।३-३१) में पांडु ने अपनी पत्नी कुंती को नियोग के लिये प्रेरित करते हुए कहा है कि पुराने जमाने में विवाह की कोई प्रथा न थी, स्त्री पुरुषों को यौन संबंध करने की पूरी स्वतंत्रता थी। कहा जाता है, भारत में श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम विवाह की मर्यादा स्थापित की। चीन, मिस्र और यूनान के प्राचीन साहित्य में भी कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं। इनके आधार पर लार्ड एवबरी, फिसोन, हाविट, टेलर, स्पेंसर, जिलनकोव लेवस्की, लिप्यर्ट और गुर्स आदि पश्चिमी विद्वानों ने विवाह की आदिम दशा कामचार (प्रामिसक्ुइटी) की अवस्था मानी। क्रोपाटकिन ब्लाख और ब्रिफाल्ट ने प्रतिपादित किया कि प्रारंभिक कामचार की दशा के बाद बहुभार्यता (पोलीजिनी) या अनेक पत्नियाँ रखने की प्रथा विकसित हुई और इसके बाद अंत मे एक ही नारी के साथ पाणिग्रहण करने (मोनोगेमी) का नियम प्रचलित हुआ।

किंतु चार्ल्स डार्विन ने प्राणिशास्त्र के आधार पर विवाह के आदिम रूप की इस कल्पना का प्रबल खंडन किया, वैस्टरमार्क, लोग ग्रास तथा क्राले प्रभृति समाजशास्त्रियो ने इस मत की पुष्टि की। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रिवर्स ने लिखा है कि हमारे पास इस कल्पना का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि भूतकाल में कभी कामचार की सामान्य दशा प्रचलित थी। विवाह की संस्था मानव समाज में जीवशास्त्रीय आवश्यकताओं से उत्पन्न हुई है। इसका मूल कारण अपनी जाति को सुरक्षित बनाए रखने की चिंता है। यदि पुरुष यौन संबंध के बाद पृथक् हो जाय, गर्भावस्था में पत्नी की देखभाल न की जाय, संतान उत्पन्न होने पर उसके समर्थ एव बड़ा होने तक उसका पोषण न किया जाय तो मानव जाति का अवश्यमेव उन्मूलन हो जायगा। अतः आत्मसंरक्षण की दृष्टि से विवाह की संस्था की उत्पत्ति हुई है। यह केवल मानव समाज में ही नही, अपितु मनुष्य के पूर्वज समझे जानेवाले गोरिल्ला, चिंपाजी आदि में भी पाई जाती हैं। अत. कामचार से विवाह के प्रादुर्भाव का मत अप्रामाणिक और अमान्य है।

विवाह के विभिन्न पक्ष — वैयक्तिक दृष्टि से विवाह पतिपत्नी की मैत्री और साझेदारी है। दोनों के सुख, विकास और पूर्णता के लिये आवश्यक सेवा, सहयोग, प्रेम और स्वार्थत्याग के अनक गुणो की शिक्षा वैवाहिक जीवन से मिलती है। नरनारी की अनेक आकांक्षाएं विवाह एवं संतानप्राप्ति द्वारा पूर्ण होती हैं। उन्हे यह सतोष होता है कि उनके न रहने पर भी सतान उनका नाम और कुल की परंपरा अक्षुण्ण रखेगी, उनकी संपत्ति की उत्तराधिकारिणी बनेगी तथा वृद्धावस्था में उन्हे अवलंब देगी। हिंदू समाज में वैदिक युग से यह विश्वास प्रचलित है कि पत्नी मनुष्य का आधा अंश है, मनुष्य तब तक अधूरा रहता है, जब तक वह पत्नी प्राप्त करके संतान नहीं उत्पन्न कर लेता (श० ब्रा०, ५।२।१।१०)। पुरुष प्रकृति के बिना और शिव शक्ति के बिना अधूरा है।

विवाह एक धार्मिक संबंध है। प्राचीन यूनान, रोम, भारत आदि

सभी सभ्य देशों में विवाह को धार्मिक बंधन एवं कर्तव्य समझा जाता था। वैदिक युग में यज्ञ करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य था, किंतु यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता, अतः विवाह सबके लिये धार्मिक दृष्टि से आवश्यक था। पत्नी शब्द का अर्थ ही यज्ञ मे साथ बैठनेवाली स्त्री है। श्री राम का अश्वमेघ यज्ञ पत्नी के बिना पूरा नहीं हो सका था, अतः उन्हें सीता की प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी। याज्ञवल्क्य (१।८९) ने एक पत्नी के मरने पर यज्ञकार्य चलाने के लिये फौरन दूसरी पत्नी के लाने का आदेश दिया है। पितरों की आत्माओं का उद्धार पुत्रों के पिंडदान और तर्पण से ही होता है, इस धार्मिक विश्वास ने भी विवाह को हिंदू समाज में धार्मिक कर्तव्य बताया है। रोमनों का भी यह विश्वास था कि परलोक में मृत पूर्वजो का सुखी रहना इस बात पर अवलंबित था कि उनका मृतक संस्कार यथाविधि हो तथा उनकी आत्मा की शांति के लिये उन्हें अपने वंशजों की प्रार्थनाएँ, भोज और भेंटें यथासमय मिलती रहें। यहूदियों की धर्मसंहिता के अनुसार विवाह से बचनेवाला व्यक्ति उनके धर्मग्रंथ के आदेशो का उल्लंघन करने के कारण हत्यारे जैसा अपराधी माना जाता था। विवाह का धार्मिक महत्व होने से ही अधिकांश समाजों में विवाह की विधि एक धार्मिक संस्कार मानी जाती रही है।

मई, १९५५ से लागू होनेवाले हिंदू विवाह कानून से पहले हिंदू समाज में धार्मिक संस्कार से संपन्न होनेवाला विवाह अविच्छेद्य था। रोमन कैथोलिक चर्च इसे अब तक ऐसा धार्मिक बंधन समझता है। किंतु अब औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनों से तथा धार्मिक विश्वासों में आस्था शिथिल होने से विवाह के धार्मिक पक्ष का महत्व कम होने लगा है।

विवाह का आर्थिक पक्ष भी अब निर्बल होता जा रहा है। प्रसूति के समय में तथा उसके बाद कुछ काल तक कार्यक्षम न होने के कारण पत्नी को पति के अवलंब की आवश्यकता होती है, इस कारण दोनों में श्रमविभाजन होता है, पत्नी बच्चों के लालन पालन और घर के काम को सँभालती है और पति पत्नी तथा संतान के भरणपोषण का दायित्व लेता है। १८वीं शताब्दी के अंत में होनेवाली औद्योगिक क्रांति से पहले तक विवाह द्वारा उत्पन्न होनेवाला परिवार आर्थिक उत्पादन का केंद्र था; कृषक अथवा कारीगर अपने घर में रहता हुआ अन्न वस्त्रादि का उत्पादन करता था; परिवार के सब सदस्य उसे इस कार्य में सहायता देते थे। घरेलू आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुओं का उत्पादन घर में ही परिवार के सब सदस्यों द्वारा हो जाने के कारण परिवार आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी इकाई था। किंतु कारखानों में वस्त्र आदि का निर्माण होने से उत्पादन का केंद्र घर नहीं, मिलें बन गईं। मिलों द्वारा प्रभूत मात्रा में तैयार किए गए माल ने घर में इनके उत्पादन को अनावश्यक बना दिया। विवाह एवं परिवार की संस्था से उसके कुछ आर्थिक कार्य छिन गए, स्त्रियाँ कारखानों आदि में काम करने के कारण आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी हो गईं, इससे उनकी स्थिति में कुछ अंतर आने लगा है। फिर भी, पत्नी और बच्चों के पालनपोषण के आर्थिक व्यय को वहन करने का उत्तरदायित्व अभी तक प्रधान रूप से पति का माना जाता है। पति द्वारा उपार्जित धन पर उसकी पत्नी और वैध पुत्रों का ही अधिकार स्वीकार किया जाता है।

विवाह का एक कानूनी या विधिक पक्ष भी है। परिणय सहवास मात्र नहीं है। किसी भी मानव समाज में नरनारी को उस समय तक दांपत्य जीवन बिताने और संतान उत्पन्न करने का अधिकार नहीं दिया जाता, जब तक इसके लिये समाज की स्वीकृति न हो। यह स्वीकृति धार्मिक कर्मकांड को अथवा कानून द्वारा निश्चित विधियों को पूरा करने से तथा विवाह से उत्पन्न होनेवाले दायित्वों को स्वीकार करने से प्राप्त होती है। अनेक आधुनिक समाजों में विवाह को वरवधू की सहमति से होनेवाला विशुद्ध कानूनी अनुबंध समझा जाता है। किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अन्य सभी प्रकार के अनुबंधों या संविदाओं से भिन्न है क्योंकि उनमें अनुबंध करनेवाले व्यक्ति इसकी शर्तें तय करते हैं, किंतु विवाह के कर्तव्य और दायित्व वरवधू की इच्छा पर अवलंबित नहीं हैं; वे समाज की रूढ़ि, परंपरा और कानून द्वारा निश्चित होते हैं।

विवाह का समाजिक और नैतिक पक्ष भी महत्वपूर्ण है। विवाह से उत्पन्न होनेवाली संतति परिवार में रहते हुए ही समुचित विकास और प्रशिक्षण प्राप्त करके समाज का उपयोगी अंग बनती है, बालक को किसी समाज के आदर्शों के अनुरूप ढालने का तथा उसके चरित्र-निर्माण का प्रधान साधन परिवार है। यद्यपि आजकल शिशुशालाएँ, बालोद्यान, स्कूल और राज्य बच्चों के पालन, शिक्षण और सामाजीकरण के कुछ कार्य अपने ऊपर ले रहे हैं, तथापि यह निर्विवाद है कि बालक का समुचित विकास परिवार में ही संभव है। प्रत्येक समाज विवाह द्वारा मनुष्य की उद्दाम एवं उच्छृंखल यौन भावनाओं पर अंकुश लगाकर उसे नियंत्रित करता है और समाज में नैतिकता की रक्षा करता है।

किसी भी समाज में मनुष्य विवाह करने के लिये पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है। उसे इस विषय में कई प्रकार के नियमों का पालन करना पड़ता है। ये नियम प्रधान रूप से निम्नलिखित बातों के संबंध में होते हैं—(१) वरवधू के चुनाव के नियम, (२) पत्नी प्राप्त करने के नियम, (३) विवाह संस्कार की विधियाँ, (४) विवाह के विभिन्न रूप (५) विवाह की अवधि के नियम।

वरवधू चुनने के नियम—अंतर्विवाह और बहिर्विवाह

लगभग सभी समाजों में वधू चुनने के संबंध में दो प्रकार के नियम होते हैं। पहले प्रकार के नियम अंतर्विवाह विषयक (एंडोगेमस) होते हैं। इनके अनुसार एक विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों को उसी वर्ग के अंदर रहनेवाले व्यक्तियों में से ही वधू को चुनना पड़ता है। वे उस वर्ग से बाहर के किसी व्यक्ति के साथ विवाह नहीं कर सकते। दूसरे प्रकार के (बहिर्विवाही) नियमों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को एक विशिष्ट समूह से बाहर के व्यक्तियों के साथ ही, विवाह करना पड़ता है। ये दोनों नियम ऊपर से परस्पर-विरोधी होते हुए भी वास्तव में ऐसे नहीं हैं, क्योंकि इनका संबंध विभिन्न प्रकार के समूहों से होता है। इन्हें वृत्तों के उदाहरण से भली भाँति समझा जा सकता है। प्रत्येक समाज में एक विवाह

बाहरी वृत्त होता है। इस वृत्त से बाहर किसी व्यक्ति के साथ वैवाहिक संबंध वर्जित होता है, किंतु इस बड़े वृत्त के भीतर अनेक छोटे छोटे समूहों के अनेक वृत्त होते हैं, प्रत्येक व्यक्ति को इस छोटे वृत्त के समूह के बाहर, किंतु बड़े वृत्त के भीतर ही विद्यमान किसी अन्य समूह के व्यक्ति के साथ विवाह करना पड़ता है। हिंदू समाज में इस प्रकार का विशाल वृत्त जाति का है और छोटे वृत्त विभिन्न गोत्रों के हैं। सामान्य रूप से इस शताब्दी के प्रारंभ तक प्रत्येक हिंदू को अपनी जाति के भीतर, किंतु गोत्र से बाहर विवाह करना पड़ता था। वह अपनी जाति से बाहर और गोत्र के भीतर विवाह नहीं कर सकता था।

वधू के चुनाव के लिये निश्चित किए जानेवाले अंतर्विवाही समूह नस्ल (रेस) जनजाति (ट्राइब), जाति, वर्ण आदि कई प्रकार के होते हैं। अधिकांश वन्य एवं सभ्य जातियों मे अपनी नस्ल या प्रजाति से बाहर विवाह करना वर्जित होता है। कैलिफोर्निया के रेड इंडियन गौरवर्ण यूरोपियन नस्ल के पुरुष के साथ विवाह करनेवाली रेड इंडियन स्त्री का वध कर देते थे। सं० रा० अमरीका के अनेक दक्षिणी राज्यों में नीग्रो लोगों के साथ श्वेतांग यूरोपियनों के विवाह को निषिद्ध ठहरानेवाले कानून बने हुए हैं। रोमन लोगों के बर्बर जातियों के साथ वैवाहिक निषेध के नियम का प्रधान कारण अपनी नस्ल की उत्कृष्टता और श्रेष्ठता का अहंकार तथा अपने से भिन्न जाति के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना है। इसी प्रकार अपनी जनजाति से बाहर भी विवाह निषिद्ध होता है। बिहार के ओरांवों के बारे मे यह कहा जाता है कि यदि इनमें कोई अपनी जनजाति से बाहर विवाह कर ले तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है और उसे तब तक जाति में वापस नहीं लिया जाता जब तक वह अपनी भिन्न जातीय पत्नी का परित्याग न कर दे। प्रायः सभी धर्म भिन्न धर्मवालों से विवाह का निषेध करते हैं। यहूदी धर्म मे ऐसे विवाह वर्जित थे। मध्ययुग में ईसाइयों और यहूदियों के विवाह कानून द्वारा निषिद्ध थे। कुरानशरीफ में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि इस्लाम न स्वीकार करनेवाले नाना देवीदेवताओं की पूजा करने वाले व्यक्तियों के साथ विवाह वर्जित है। प्राचीन हिंदू समाज में अनुलोम (उच्च वर्ण के पुरुष के साथ उच्च वर्ण की स्त्री का विवाह) विवाहों का प्रचलन होते हुए भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अपने वर्णों में ही विवाह करते थे। बाद में इन वर्णों मे विभिन्न जातियों का विकास हुआ और अपनी जातियों में ही विवाह के नियम का कठोरतापूर्वक पालन किया जाने लगा।

पश्चिमी देशों में जातिभेद की कठोर व्यवस्था न होने पर भी सामाजिक वर्ग–कुलीन वर्ग, नगरवासी (बुर्जुआ) व्यापारी वर्ग, किसान और मजदूर प्रायः अपने वर्गों में ही विवाह करते हैं। राजा राजवंशीय वर्ग में ही विवाह कर सकते हैं। राजवंश से भिन्न सामान्य वर्ग की स्त्रियों से यदि विवाह हो तो उस स्त्री को तथा उसकी संतान को राजकीय पद और उत्तराधिकार नहीं प्राप्त होते। ब्रिटिश सम्राट् एडवर्ड अष्टम ने अपनी राजगद्दी इसीलिये छोड़ी थी कि उसने राजकीय वर्ग से बाहर की एक साधारण स्त्री सिंपसन से विवाह किया था और वह ब्रिटिश परंपरा के अनुसार रानी नहीं बन सकती थी।

बहिर्विवाह — इसका तात्पर्य किसी जाति के एक छोटे समूह से तथा निकट संबंधियों के वर्ग से बाहर विवाह का नियम है। समाज में पहले को असगोत्रता का तथा दूसरे को असपिंडता का नियम कहते हैं। असगोत्रता का अर्थ है कि वधू वर के गोत्र से भिन्न गोत्र की होनी चाहिए। असपिंडता का आशय समान पिंड या देह का अथवा घनिष्ठ रक्त का संबंध न होना है। हिंदू समाज में प्रचलित सपिंडता के सामान्य नियम के अनुसार माता की पाँच तथा पिता की सात पीढ़ियों में होनेवाले व्यक्तियों को सपिंड माना जाता है, इनके साथ वैवाहिक संबंध वर्जित है। प्राचीन रोम में छठी पीढ़ी के भीतर आनेवाले संबंधियों के साथ विवाह निषिद्ध था। १२१५ ई० की लैटरन की ईसाई धर्मपरिषद् ने इनकी संख्या घटाकर चार पीढ़ी कर दी। अनेक अन्य जातियाँ पत्नी के मरने पर उसकी बहिन के साथ विवाह को प्राथमिकता देती हैं किंतु कैथोलिक चर्च मृत पत्नी की बहिन के साथ विवाह वर्जित ठहराता है। इंग्लिश चर्च मे यह स्थिति १९०७ तक बनी रही। कुछ जातियों में स्थानीय बहिर्विवाह का नियम प्रचलित है। इसका यह अर्थ है कि एक गाँव या खेड़े में रहनेवाले नरनारी का विवाह वर्जित है। छोटा नागपुर के ओरावों में एक ही ग्राम के निवासी युवक युवती का विवाह निषिद्ध माना जाता हैं, क्योंकि सामान्य रूप से यह माना जाता है कि ऐसा विवाह वर अथवा वधू के लिये अथवा दोनों के लिये अमंगल लानेवाला होता है।

असपिंडता तथा असगोत्रता के नियमों के प्रादुर्भाव के कारणों के संबंध में समाजशास्त्रियों तथा नृवंशशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। एक ही गाँव में रहनेवाले अथवा एक गोत्र को माननेवाले समान आयु के व्यक्ति एक दूसरे को भाई बहिन तथा नजदीकी रिश्तेदार मानते हैं और इनमें प्रायः सर्वत्र विवाह वर्जित होता है। किंतु यहाँ यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह निषेध समाज में क्यों प्रचलित हुआ? सर हेनरी मेन, मोर्गन आदि विद्वानों ने यह माना है कि आदिम मनुष्यों ने निकट विवाहों के दुष्परिणामों को शीघ्र ही अनुभव कर लिया था तथा जीवनसंघर्ष में दीर्घजीवी होने की दृष्टि से उन्होंने निकट संबंधियों के घेरे से बाहर विवाह करने का नियम बना लिया। किंतु अन्य विद्वान् इस मत को ठीक नहीं मानते। उनका कहना है कि आदिम मनुष्यों मे अंतर्विवाह के दुष्परिणामों जैसी जटिल जीवशास्त्रीय प्रक्रिया को समझने की बुद्धि स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। वैस्टरमार्क और हैवलाक एलिस ने इसका कारण नजदीकी रिश्तेदारों के बचपन से सदा साथ रहने के कारण उनमें यौन आकर्षण उत्पन्न न होने को माना है। अन्य विद्वानों ने इस व्याख्या को सही नहीं माना। ब्रैस्टेड ने यह बताया है कि प्राचीन मिस्र में समाज के सभी भागों में भाई बहिन के विवाह प्रचलित थे। बहिर्विवाह (एक्सोगेमी) शब्द को अंग्रेजी में सबसे पहले प्रचलित करनेवाले विद्वान् मैकलीनान ने यह कल्पना की थी कि आरंभिक योद्धा जातियों में बालिकावध की दारुण प्रथा प्रचलित होने के कारण विवाह योग्य स्त्रियों की संख्या कम हो गई और दूसरी जनजातियों की स्त्रियों को अपहरण करके लाने की पद्धति से बहिर्विवाह के नियम का श्रीगणेश हुआ। किंतु इस कल्पना में बालिकावध

एवं अपहरण द्वारा विवाह का अत्यधिक अतिरंजित और अवास्तविक चित्रण है। बहिर्विवाह का नियम प्रचलित होने के कुछ अन्य कारण ये बताए जाते हैं—दूसरी जातियों की स्त्रियों को पकड़ लाने में गर्व और गौरव की भावना का अनुभव करना, गणविवाह (एक समूह में सब पुरुषों का सब स्त्रियों का पति होना) की काल्पनिक दशा के कारण दूसरी जातियों से स्त्रियाँ ग्रहण करना। अभी तक कोई भी कल्पना इस विषय में सर्वसंमत सिद्धांत नहीं बन सकी।

पत्नीप्राप्ति की विधियाँ – अंतर्विवाह और बहिर्विवाह के नियमों का पालन करते हुए वधू को प्राप्त करने की विधियों के संबंध में मानव समाज में बड़ा वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। भार्याप्राप्ति की विभिन्न विधियों को अपहरण, क्रय और सहमति के तीन बड़े वर्गों में बाँटा जा सकता है। अपहरण की विधि का तात्पर्य पत्नी की तथा उसके संबंधियों की इच्छा के बिना उसपर बलपूर्वक अधिकार करना है। इसे भारतीय धर्मशास्त्र में राक्षस और पैशाच विवाहों का नाम दिया गया है। यह आज तक कई वन्य जातियों में पाई जाती है। उड़ीसा की भुइयाँ जनजाति के बारे में कहा जाता है कि यदि किसी युवक का युवती से प्रेम हो, किंतु युवती अथवा उसके मातापिता उस विवाह के लिये सहमत न हों तो युवक अपनी मित्रमंडली की सहायता से अपनी प्रेमिका का अपहरण कर लेता है और इसमें प्राय. भीषण लड़ाइयाँ होती हैं। संथाल, मुंडा, भूमिज, गोंड, भील और नागा आदि आरण्यक जातियों में यह प्रथा पाई जाती है। अन्य देशों और जातियों में भी इसका प्रचलन मिलता है।

पत्नीप्राप्ति का दूसरा साधन क्रय विवाह अर्थात् पैसा देकर लड़की को खरीदना है। हिंदू शास्त्रों की परिभाषा के अनुसार इसे आसुर विवाह कहा जाता है। भारत की संथाल, हो, ओरॉव, खड़िया, गोंड, भील आदि जातियों में कन्या के मातापिता को कन्याशुल्क (ब्राइड प्राइस) देकर पत्नी प्राप्त करने की परिपाटी है। हिंदू समाज के उच्च वर्ग में लड़कों का महत्व होने से उनके मातापिता कन्या के मातापिता से दहेज रूप में धन प्राप्त करते हैं, किंतु निम्न वर्ग में तथा वन्य जातियों में कन्या का आर्थिक महत्व होने के कारण कन्या का पिता वर से अथवा वर के मातापिता से कन्या देने के बदले में धनराशि प्राप्त करता है। यदि वर धनराशि देने में असमर्थ होता है तो वह श्वशुर के यहाँ सेवा करके कन्याशुल्क प्रदान करता है। गोंडों और बेगा लोगों में श्वशुर के यहाँ इस प्रकार तीन से पाँच वर्ष तक नौकरी तथा कड़ी मेहनत करने के बाद पत्नी प्राप्त होती है। इसे सेवा विवाह भी कहा जाता है।

पत्नीप्राप्ति का तीसरा साधन वरवधू के मातापिता की सहमति से आयोजित किया जानेवाला विवाह है। इस शताब्दी के आरंभ तक हिंदू समाज में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित होने के कारण सभी विवाह इसी प्रकार के होते थे, अब भी यद्यपि शिक्षा के प्रसार तथा आर्थिक स्वावलंबन के कारण वरवधू की सहमति से होनेवाले प्राजापत्य अथवा गांधर्व विवाहों की संख्या बढ़ रही है, तथापि अधिकतर विवाह अब भी मातापिता की सहमति से होते हैं।

पत्नीप्राप्ति के उपर्युक्त साधन आधुनिक समाजशास्त्रीय विद्वानों के वर्गीकरण के आधार पर हैं। प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने इन्हीं को ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच नामक आठ प्रकार के विवाहों का नाम दिया था। इनमें से पहले चार प्रकार के विवाह प्रशस्त तथा धर्मानुकूल समझे जाते थे। ये सब विवाह मातापिता की सहमति से किए जानेवाले उपर्युक्त विवाह के अंतर्गत हैं। धार्मिक विधि के साथ संपन्न होनेवाले सभी विवाहों में कन्या को वस्त्राभूषण से अलंकृत करके उसका दान किया जाता था। किंतु पिछले चार विवाहों में कन्या का दान नहीं होता, वह मूल्य से या प्रेम से या बलपूर्वक ली जाती है। आसुर विवाह उपर्युक्त क्रयविवाह का दूसरा रूप है। इसमें वर कन्या के पिता को कुछ धनराशि देकर उसे प्राप्त करता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण पांडु के साथ माद्री का विवाह है। गांधर्व विवाह वर और वधू के पारस्परिक प्रेम और सहमति के कारण होता है। इसका प्रसिद्धतम प्राचीन उदाहरण दुष्यंत और शकुंतला का विवाह था। राक्षस विवाह में वर कन्यापक्ष के संबंधियों को मारकर या घायल करके रोती चीखती कन्या को अपने घर ले आता था। यह प्रथा क्षत्रियों में प्रचलित थी। इसका प्रसिद्ध उदाहरण श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का तथा अर्जुन द्वारा सुभद्रा का हरण है। पैशाच विवाह में सोई हुई, शराब आदि पीने से उन्मत्त स्त्री से एकांत में संबंध स्थापित करके विवाह किया जाता था। मनु ने (३।३४) इसकी निंदा करते हुए इसे सबसे अधिक पापपूर्ण और अधम विवाह कहा है।

विवाह के संख्यात्मक रूप

बहुभार्यता, बहुभर्तृता, एक विवाह, यही —पति या पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के तीन रूप माने जाते हैं। जब एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है तो इसे बहुभार्यता या बहुपत्नीत्व (पोलीजिनी) कहते हैं। एक स्त्री के साथ एक से अधिक पुरुषों के विवाह को बहुभर्तृता या बहुपतित्व कहा जाता है। एक पुरुष के एक स्त्री के साथ विवाह को एक विवाह (मोनोगेमी) या एकपत्नीव्रत कहा जाता है। मानव जाति के विभिन्न समाजों में इनमें से पहला और तीसरा रूप अधिक प्रचलित है। दूसरे रूप बहुभर्तृता का प्रचलन बहुत कम है। समाज में स्त्रीपुरुषों की संख्या लगभग समान होने के कारण इस अवस्था में कुछ पुरुषों द्वारा अधिक स्त्रियों को पत्नी बना लेने पर कुछ पुरुष विवाह से वंचित रह जाते हैं, अत. कुछ वन्य समाजों में एक मनुष्य द्वारा पत्नी बनाई जानेवाली स्त्रियों की संख्या पर प्रतिबंध लगाया जाता है और प्रथा द्वारा इसे निश्चित कर दिया जाता है। भूतपूर्व ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका की वासानिया जाति में एक पुरुष को तीन से अधिक स्त्रियों के साथ, लैंडू जाति में तथा इस्लाम में चार से अधिक स्त्रियों के साथ, उत्तरी नाइजीरिया की कुगमा जाति में छह से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह की अनुमति नहीं दी जाती। राजाओं तथा सरदारों के लिये यह संख्या बहुत अधिक होती है। पश्चिमी अफ्रीका में गोल्डकोस्ट बस्ती के अशांति नामक राज्य के राजा के लिये पत्नियों की निश्चित संख्या, ३,३३३ थी। राजा लोग इन निश्चित संख्याओं का अतिक्रमण और उल्लंघन किस प्रकार करते

हैं यह सऊदी अरब राज्य के संस्थापक इब्न सऊद के उदाहरण से स्पष्ट है। इस्लाम में चार से अधिक स्त्रियों से विवाह वर्जित है, अतः इब्न सऊद को जब किसी नवीन स्त्री से विवाह करना होता था तो वह अपनी पहली चार पत्नियों में से किसी एक को तलाक दे देता था। इस प्रकार उसने चार पत्नियों की मर्यादा का पालन करते हुए भी सौ से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह किया। कुछ वन्य जातियों में सरदारों द्वारा अपने समाज की इतनी अधिक स्त्रियों पर अधिकार कर लिया जाता है कि कुछ निर्धन युवा पुरुष विवाह के लिये वधू नहीं प्राप्त कर सकते। आस्ट्रेलिया की कुछ जातियों मे ऐसे पुरुष को कई स्त्रियाँ रखनेवाले व्यक्ति को चुनौती देकर उससे पत्नी प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता है। बहुभार्यता का एक विशेष रूप श्याली विवाह (सोरोरल sororal पोलिजिनी) अर्थात् एक पुरुष द्वारा अपनी पत्नी की बहिनो से विवाह करना है। इसमे बड़ा लाभ संभवतः सौतिया-डाह का कम होना तथा बहिनों का प्रेमपूर्वक मिलकर रहना है। यह प्रथा अमरीका के रेड इंडियनों में बहुत मिलती है।

बहुभर्तृता अथवा एक स्त्री से अनेक पुरुषों के विवाह का सुप्रसिद्ध प्राचीन भारतीय उदाहरण द्रौपदी का पाँच पाडवों के साथ विवाह है। यह परिपाटी अब भी भारत के अनेक प्रदेशों -- लद्दाख में, पंजाब के काँगड़ा जिले के स्पीती लाहौल परगनों में, चंबाकु, कुल्लू और मंडी के ऊँचे प्रदेशो मे रहनेवाले कानेतों में, देहरादून जिले के जौनसार बावर मे, दक्षिण भारत में मलाबार के नायरो में, नीलगिरि के टोडों, कुरुंबों और कोटो में पाई जाती है। भारत से बाहर यह कुछ दक्षिणी अमरीकन इंडियन जातियों में मिलती है। इसके दो मुख्य प्रकार है। पहले प्रकार में एक स्त्री के पति आपस में सगे या सौतेले भाई होते हैं। इसे भ्रातृक बहुभर्तृता कहते हैं। द्रौपदी के पाँचों पति भाई थे। आजकल इस प्रकार की बहुभर्तृता देहरादून जिले में जौनसार बावर के खस लोगों में तथा नीलगिरि के टोडों में पाई जाती है। बड़े भाई के शादी करने पर उसकी पत्नी सब भाइयों की पत्नी समझी जाती है। इसके दूसरे प्रकार मे एक स्त्री के अनेक पतियो में भाई का संबंध या अन्य कोई घनिष्ठ संबंध नही होता। इसे अभ्रातृक या मातृसत्ताक बहुभर्तृता कहते हैं। मलाबार के नायर लोगों में पहले इस प्रकार की बहुभर्तृता का प्रचलन था।

बहुभर्तृता के उत्पादक कारणों के संबंध में समाजशास्त्रियों तथा नृवंशशास्त्रियों मे प्रबल मतभेद है। वैस्टरमार्क ने इसका प्रधान कारण पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों का संख्या में कम होना बताया है। उदाहरणार्थ नीलगिरि के टोडों में बालिकावध की कुप्रथा के कारण एक स्त्री के पीछे दो पुरुष हो गए, अतः वहाँ बहुभर्तृता का प्रचलन स्वाभाविक रूप से हो गया। किंतु राबर्ट ब्रिफाल्ट ने यह सिद्ध किया कि स्त्रियों की कमी इस प्रथा का एक-मात्र कारण नहीं है। तिब्बत, सिक्किम, लद्दाख, लाहौल, आदि बहुभर्तृक प्रथावाले प्रदेशों में स्त्री पुरुषों की संख्या में कोई बड़ा अंतर नहीं है। कनिंघम के मतानुसार लद्दाख में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। अतः सुमनेट, लोई, बेल्यू आदि विद्वानों ने इसका प्रधान कारण निर्धनता को माना है। सुमनेर ने इसे तिब्बत के उदाहरण से पुष्ट करते हुए कहा है कि वहाँ पैदावार इतनी कम होती है कि एक पुरुष के लिये कुटुंब का पालन संभव नहीं होता, अतः कई पुरुष मिलकर पत्नी रखते हैं। इससे बच्चे कम होते हैं, जनसंख्या मर्यादित रहती है और परिवार की भूसंपत्ति विभिन्न भाइयों के बँटवारे से विभक्त नहीं होती।

एक विवाह की प्रथा मानव समाज में सबसे अधिक प्रचलित और सामान्य परिपाटी है। जिन समाजो में बहुभार्यता की प्रथा है, उनमें भी यह प्रथा प्रचलित है क्योंकि बहुभार्यता की प्रथा का पालन प्रत्येक समाज मे बहुत थोड़े व्यक्ति ही करते है। उदाहरणार्थ ग्रीनलैंड वासियों को बहुभार्यतावादी समाज कहा जाता है, किंतु क्रांज को इस प्रदेश में २० में से एक पुरुष ही दो स्त्रियों से विवाह करनेवाला मिला याने वहाँ केवल पाँच प्रति शत पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह के नियम का पालन करनेवाले थे। एकविवाह की व्यवस्था का प्रचलन सबसे अधिक होने का बड़ा कारण यह है कि अधिकांश समाजो में स्त्री पुरुषों की संख्या का अनुपात लगभग समान होता है और एक विवाह की व्यवस्था अधिकतम नरनारियों के लिये जीवनसाथी प्रस्तुत करती है। युद्ध, कन्यावध की दारुण प्रथा तथा काम धंधों की जोखिम स्त्रीपुरुषों की संख्या के संतुलन को कुछ हद तक बिगाड़ देते हैं, किंतु प्राय यह संतुलन बना रहता है और एकविवाह की व्यवस्था मे सहायक होता है, क्योंकि यह अधिकतम व्यक्तियों को विवाह का अवसर प्रदान करता है। सभ्यता की उन्नति एवं प्रगति के साथ कई कारणों से यह प्रथा अधिक प्रचलित होने लगती है: पहला कारण यह होता है कि बड़ा परिवार आर्थिक दृष्टि से बोझ बन जाता है। घरेलू पशुओं, नवीन औजारों तथा मशीनो के आविष्कार के कारण पत्नी की मजदूर के रूप में काम करने की उपयो-योगिता कम हो जाती है। संतान की प्रबल आकांक्षा में क्षीणता आना तथा सामाजिक गरिमा और प्रतिष्ठा के नए मानदंडों का विकास होना भी इसमें सहायक होता है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के प्रति संमान की भावना का विकास, स्त्रियों की उच्च शिक्षा और दांपत्य प्रेम के नवीन आदर्श का विकास तथा सौतियाडाह के झगड़ों से छुटकारा भी एकविवाह को समाज में लोकप्रिय बनाते हैं। पश्चिमी जगत् मे आजकल एकविवाह का नियम सार्वभौम है। हिंदू समाज मे संतानप्राप्ति आदि के उद्देश्य पूर्ण करने के लिये प्राचीन शास्त्रकारों ने पुरुषों को बहुविवाह की अनुमति दी थी किंतु १९५५ के हिंदू विवाह कानून ने इस पुरानी व्यवस्था का अंत करते हुए एकविवाह के नियम को आवश्यक बना दिया है।

वैवाहिक विधियाँ

लगभग सभी समाजो मे विवाह का सस्कार कुछ विशिष्ट विधियों के साथ संपन्न किया जाता है। यह नरनारी के पतिपत्नी बनने की घोषणा करता है, सबंधियों को सस्कार के समारोह में बुलाकर उन्हे इस नवीन दापत्य संबध का साक्षी बनाया जाता है, धार्मिक विधियों द्वारा इसे कानूनी मान्यता और सामाजिक सहमति प्रदान की जाती है। वैवाहिक विधियों का प्रधान उद्देश्य नवीन सबध का विज्ञापन करना, इसे सुखमय बनाना तथा नानाप्रकार के अनिष्टों से इसकी रक्षा करना है। विवाह संस्कार की

विधियों में विस्मयावह वैविध्य है। किंतु इन्हें चार बड़े वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में वर वधू की स्थिति में आनेवाले परिवर्तन को सूचित करनेवाली विधियाँ हैं। विवाह में कन्यादान कन्या के पिता से पति के नियंत्रण में जाने की स्थिति को द्योतित करता है। इंग्लैंड, पैलेस्टाइन, जावा, चीन में वधू को नए घर की देहली में प्रवेश के समय उठाकर ले जाना वधूद्वारा घर के परिवर्तन को महत्वपूर्ण बनाना है। स्काटलैंड में वधू के पीछे पुराना जूता यह सूचित करने के लिये फेंका जाता है कि अब पिता का उसपर कोई अधिकार नहीं रहा। दूसरे वर्ग की विधियों का उद्देश्य दुष्प्रभावों को दूर करना है। यूरोप और अफ्रीका में विवाह के समय दुष्टात्माओं को मार भगाने के लिये बाण फेंके जाते हैं और बंदूकें छोड़ी जाती हैं। दुष्टात्माओं का निवासस्थान अंधकारपूर्ण स्थान होते हैं और विवाह में अग्नि के प्रयोग से इनका विद्रावण किया जाता है। विवाह के समय वर द्वारा तलवार आदि का धारण, इंग्लैंड में वधू द्वारा दुष्टात्माओं को भगाने में समर्थ समझी जानेवाली घोड़े की नाल ले जाने की विधि का कारण भी यही समझी जाता है। तीसरे वर्ग में उर्वरता की प्रतीक और संतानसमृद्धि की कामना को सूचित करनेवाली विधियाँ आती हैं। भारत, चीन, मलाया में वधू पर चावल, अनाज तथा फल डालने की विधियाँ प्रचलित हैं। जिस प्रकार अन्न का एक दाना बीसियों नए दाने पैदा करता है, उसी प्रकार वधू से प्रचुर संख्या में संतान उत्पन्न करने की आशा रखी जाती है। स्लाव देशों में वधू की गोद में इसी उद्देश्य से लड़का बैठाया जाता है। चौथे वर्ग की विधियाँ वर वधू की एकता और अभिन्नता को सूचित करती हैं। दक्षिणी सेलीबीज में वरवधू के वस्त्रों को सीकर उनपर एक कपड़ा डाल दिया जाता है। भारत और ईरान में प्रचलित ग्रंथिबंधन की पद्धति का भी यही उद्देश्य है।

विवाह की अवधि तथा तलाक

इस विषय में मानव समाज के विभिन्न भागों में बड़ा वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। वेस्टरमार्क के मतानुसार सभ्यता के निम्न स्तर में रहने वाली, आखेट तथा आरंभिक कृषि से जीवनयापन करनेवाली, श्रीलंका की वेद्दा तथा अंडेमान आदिवासी जातियों में विवाह के बाद पतिपत्नी मृत्यु पर्यंत इकट्ठा रहते हैं और इनमें तलाक नहीं होता। जिन समाजों में विवाह को धार्मिक संस्कार माना जाता है, उनमें प्राय: विवाह अविच्छेद्य संबंध माना जाता है। हिंदू एवं रोमन कैथोलिक ईसाई समाज इसके सुंदर उदाहरण हैं। किंतु विवाहविच्छेद या तलाक के नियमों के संबंध में अत्यधिक भिन्नता होने पर भी कुछ मौलिक सिद्धांतों में समानता है। विवाह मुख्य रूप से संतानप्राप्ति एवं दांपत्य संबंध के लिये किया जाता है, किंतु यदि किसी विवाह में ये प्राप्त न हों तो दांपत्य जीवन को नारकीय या विफल बनाने की अपेक्षा विवाहविच्छेद की अनुमति दी जानी चाहिए। इस व्यवस्था का दुरुपयोग न हो, इस दृष्टि से तलाक का अधिकार अनेक प्रतिबंधों के साथ विशेष अवस्था में ही दिया जाता है। तलाक का मुख्य आधार व्यभिचार है क्योंकि यह वैवाहिक जीवन के मूल पर ही कुठाराघात करनेवाला है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं (देखो 'हिंदू विवाह अधिनियम १९५५)।

विवाह का भविष्य — प्लेटो के समय से विचारक विवाहप्रथा की समाप्ति की तथा राज्य द्वारा बच्चों के पालन की कल्पना कर रहे हैं। वर्तमान समय के औद्योगिक एवं वैज्ञानिक परिवर्तनों से तथा पश्चिमी देशों में तलाकों की बढ़ती हुई भयावह संख्या के आधार पर विवाह की संस्था के लोप की भविष्यवाणी करनेवालों की कमी नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस समय विवाह के परंपरागत स्वरूपों में कई कारणों से बड़े परिवर्तन आ रहे हैं। विवाह को धार्मिक बंधन के स्थान पर कानूनी बंधन तथा पतिपत्नी का निजी मामला मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। औद्योगिक क्रांति और शिक्षा के प्रसार से स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बन रही हैं। पहले उनके सुखमय जीवनयापन का एकमात्र साधन विवाह था, अब ऐसी स्थिति नहीं रही। विवाह और तलाक के नवीन कानून दांपत्य अधिकारों में नरनारी के अधिकारों को समान बना रहे हैं। धर्म के प्रति आस्था में शिथिलता और गर्भनिरोध के साधनों के आविष्कार ने विवाह विषयक पुरानी मान्यताओं को, प्राग्वैवाहिक सतीत्व और पवित्रता को गहरा धक्का पहुँचाया है। किंतु ये सब परिवर्तन होते हुए भी भविष्य में विवाहप्रथा के बने रहने का प्रबल कारण यह है कि इससे कुछ ऐसे प्रयोजन पूरे होते हैं, जो किसी अन्य साधन या संस्था से नहीं हो सकते। पहला प्रयोजन वंशवृद्धि का है। यद्यपि विज्ञान ने कृत्रिम गर्भाधान का आविष्कार किया है किंतु कृत्रिम रूप से शिशुओं का प्रयोगशालाओं में उत्पादन और विकास संभव प्रतीत नहीं होता। दूसरा प्रयोजन संतान का पालन है, राज्य और समाज शिशुशालाओं और बालोद्यानों का कितना ही विकास कर ले, उनमें इनके सर्वांगीण समुचित विकास की वैसी व्यवस्था संभव नहीं, जैसी विवाह एवं परिवार की संस्था में होती है। तीसरा प्रयोजन सच्चे दांपत्य प्रेम और सुखप्राप्ति का है। यह भी विवाह के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से संभव नहीं। इन प्रयोजनों की पूर्ति के लिये भविष्य में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्था बनी रहेगी, भले ही उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहें।

सं० ग्रं० — वेस्टरमार्क : हिस्ट्री ऑव ह्यूमन मैरिज, ३रा खंड; हरिदत्त वेदालंकार : हिंदू विवाह का इतिहास। [ह० द० वे०]

हिंदू विवाह अधिनियम १९५५

स्मृतिकाल से ही हिंदुओं में विवाहको एक पवित्र संस्कार माना गया है और हिंदू विवाह अधिनियम १९५५ में भी इसको इसी रूप में बनाए रखने की चेष्टा की गई है। किंतु विवाह, जो पहले एक पवित्र एवं अटूट बंधन था, अधिनियम के अंतर्गत, ऐसा नहीं रह गया है। कुछ विधिविचारकों की दृष्टि में यह विचारधारा अब शिथिल पड़ गई है। अब यह जन्म जन्मांतर का संबंध अथवा बंधन नहीं वरन् विशेष परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर, (अधिनियम के अंतर्गत) वैवाहिक संबंध विघटित किया जा सकता है।

अधिनियम की धारा १० के अनुसार न्यायिक पृथक्करण निम्न आधारों पर न्यायालय से प्राप्त हो सकता है :

त्याग २ वर्ष, निर्दयता (शारीरिक एवं मानसिक), कुष्ट रोग (१ वर्ष), रतिजरोग (३ वर्ष), विकृतिमन (२ वर्ष)

तथा परपुरुष अथवा पर-स्त्री-गमन (एक बार में भी) अधिनियम की धारा १३ के अनुसार — संसर्ग, धर्मपरिवर्तन, पागलपन (३ वर्ष), कुष्ट रोग (३ वर्ष), रतिज रोग (३ वर्ष), संन्यास, मृत्य, निष्कर्ष (७ वर्ष) पर नैयायिक पृथक्करण की डिक्री पास होने के दो वर्ष बाद तथा दांपत्याधिकार प्रदान करनेवाली डिक्री पास होने के दो साल बाद **'संबंधविच्छेद'** प्राप्त हो सकता है।

स्त्रियों को निम्न आधारों पर भी संबंधविच्छेद प्राप्त हो सकता है; यथा—द्विविवाह, बलात्कार, पुंमैथुन तथा पशुमैथुन। धारा ११ एवं १२ के अंतर्गत न्यायालय **'विवाहशून्यता'** की घोषणा कर सकता है। विवाह **प्रवृत्तिहीन** घोषित किया जा सकता है, यदि दूसरा विवाह सपिंड और निषिद्ध गोत्र में किया गया हो (धारा ११)।

नपुंसकता, पागलपन, मानसिक दुर्बलता, छल एवं कपट से अनुमति प्राप्त करने पर या पत्नी के अन्य पुरुष से (जो उसका पति नहीं है) गर्भवती होने पर विवाह **विवर्ज्य** घोषित हो सकता है। (धारा १२)।

अधिनियम द्वारा अब हिंदू विवाह प्रणाली में निम्नांकित परिवर्तन किए गए हैं :

(१) अब हर हिंदू स्त्रीपुरुष दूसरे हिंदू स्त्रीपुरुष से विवाह कर सकता है, चाहे वह किसी जाति का हो। (२) एकविवाह तय किया गया है। द्विविवाह अमान्य एवं दंडनीय भी है। (३) न्यायिक पृथक्करण, विवाह-संबंध-विच्छेद तथा विवाहशून्यता की डिक्री की घोषणा की व्यवस्था की गई है। (४) प्रवृत्तिहीन तथा विवर्ज्य विवाह के बाद और डिक्री पास होने के बीच उत्पन्न संतान को वैध घोषित कर दिया गया है। परंतु इसके लिये डिक्री का पास होना आवश्यक है। (५) न्यायालयों पर यह वैधानिक कर्तव्य नियत किया गया है कि हर वैवाहिक झगड़े में समाधान कराने का प्रथम प्रयास करें। (६) वाद के बीच या संबंधविच्छेद पर निर्वाहव्यय एवं निर्वाह भत्ता की व्यवस्था की गई है। तथा (७) न्यायालयों को इस बात का अधिकार दे दिया गया है कि अवयस्क बच्चों की देख रेख एवं भरण पोषण की व्यवस्था करे।

विधिवेत्ताओं का यह विचार है कि हिंदू विवाह के सिद्धात एवं प्रथा में परिवर्तन करने की जो आवश्यकता उपस्थित हुई है उसका कारण संभवत. यह है कि हिंदू समाज अब पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से अधिक प्रभावित हुआ है।

अधिनियय में नई विचारधाराओं को ग्रहण करने का प्रयास तो सुंदर किया गया है किंतु उससे अनेक जटिलताएँ उत्पन्न हो गई हैं। इसलिये यह अनुभव किया जा रहा है कि हिंदू समाज उनको अपनाने में झिझक रहा है। [कै० च० श्री०]

विवृतबीज (Gymnosperms) वनस्पति जगत् का एक अत्यंत पुराना वर्ग है। यह टेरिडोफाइटा (Pteridophyta) से अधिक जटिल और विकसित है और आवृतबीज (Angiosperm) से कम विकसित तथा अधिक पुराना है। इस वर्ग की प्रत्येक जाति या प्रजाति में बीज नग्न रहते हैं, अर्थात् उनके ऊपर कोई आवरण नहीं रहता। पुराने वैज्ञानिकों के विचार में यह एक प्राकृतिक वर्ग माना जाता था, पर अब नग्न बीज होना ही एक प्राकृतिक वर्ग का कारण बने, ऐसा नहीं भी माना जाता है। इस वर्ग के अनेक पौधे पृथ्वी के गर्भ में दबे या फॉसिल के रूपों में पाए जाते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ऐसे पौधे लगभग चालिस करोड़ वर्ष पूर्व से ही इस पृथ्वी पर उगते चले आ रहे हैं। इनमें से अनेक प्रकार के तो अब, या लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व ही, लुप्त हो गए और कई प्रकार के अब भी घने और बड़े जंगल बनाते हैं। चीड़, देवदार आदि बड़े वृक्ष विवृतबीज वर्ग के ही सदस्य हैं।

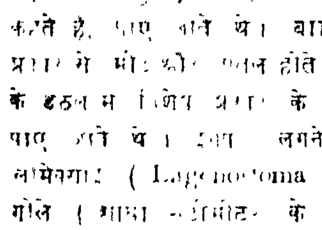
इस वर्ग के पौधे बड़े वृक्ष या साइकस (cycas) जैसे छोटे, या ताड़ के ऐसे, अथवा झाड़ी की तरह के होते हैं। सिकोया जैसे बड़े वृक्ष (३५० फुट से भी ऊँचे), जिनकी आयु हजारों वर्ष की होती है, वनस्पति जगत् के सबसे बड़े और भारी वृक्ष हैं। वैज्ञानिकों ने विवृतबीजों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। वनस्पति जगत् के दो मुख्य अंग हैं : क्रिप्टोगैम (Cryptogams) और फैनरोगैम (Phanerogams)। फैनरोगैम बीजधारी होते हैं और इनके दो प्रकार हैं : विवृतबीज और आवृतबीज; परंतु आजकल के वनस्पतिज्ञ ने वनस्पति जगत् का कई अन्य प्रकार का वर्गीकरण करना आरंभ कर दिया है, जैसे (१) वैस्कुलर पौधे (Vascular) या ट्रेकियोफाइटा (Tracheophyta) और (२) एवैस्कुलर या नॉन वैस्कुलर (Avascular or nonvascular) या एट्रैकियोफ़ाइटा (Atracheophyta) वर्ग। वैस्कुलर पौधों मे जल, लवण इत्यादि के लिये वाह्य ऊतक होते हैं। इन पौधों को (क) लाइकॉप्सिडा (Lycopsida), (ख) स्फीनॉप्सिडा (Sphenopsida) तथा (ग) टिरॉप्सिडा (Pteropsida) में विभाजित करते है। टिरॉप्सिडा के अतर्गत अन्य फ़र्न, विवृतबीज तथा आवृतबीज रखे जाते हैं।

विवृत बीज के दो मुख्य उपप्रभाग हैं : (१) साइकाडोफाइटा (Cycadophyta) और (२) कोनिफेरोफाइटा (Coniferophyta)। साइकाडोफाइटा में मुख्य तीन गण हैं : (क) टेरिडोस्पर्मेलीज या साइकाडोफिलिकेलीज़ (Pteridospermales, or Cycadofilicales), (ख) बेनीटिटेलीज या साइकाडिऑइडेलीज (Bennettitales or Cycadeoidales) और (ग) साइकाडेलीज (Cycadales)। कोनिफेरोफाइटा में चार मुख्य गण है : (क) कॉर्डेटेलीज (Cordaitelles), (ख) गिंगोएलीज (Ginkgoales), (ग) कोनीफरेलीज (Coniferales) और (घ) नीटेलीज (Gnitales)। इनके अतिरिक्त और भी जटिल और ठीक से नहीं समझे हुए गण पेंटोज़ाइलेलीज (Pentoxylales), कायटोनियेलीज (Caytoniales) इत्यादि हैं।

टेरिडोस्पर्मेलीज, या साइकाडोफिलिकेली — इस गण के अंतर्गत आनेवाले पौधे भूवैज्ञानिक काल के कार्बनी (Carboniferous) युग मे, लगभग २५ करोड़ वर्ष से भी पूर्व के जमाने मे, पाए जाते थे। इस गण के पौधे शुरू में फर्न समझे गए थे, परंतु इनमें

बीज की खोज के बाद इन्हें टेरिडोस्पर्म कहा जाने लगा। पुराजीव कल्प के टेरिडोस्पर्म तीन कुल में बाँटे गए हैं: (१) लिजिनॉप्टेरिडेसिई (Lyginopteridaceae), (२) मेडुलोज़ेसिई (Medullosaceae) और कैलामॉपिटिएसिई (Calamopityaceae)।

लिजिनॉप्टेरिडेसिई की मुख्य जाति कालिमाटोथिका हॉनिंगघामी (Calymmatotheca hoeninghansi) है। इसके तने को लिजिनॉप्टेरिस (Lyginopteris) कहते हैं, जो तीन या चार सेंटीमीटर मोटा होता था। इसके अंदर मज्जा (pith) में काले कड़े कोशिका गुच्छ, जिन्हें स्क्लेरोटिक नेस्ट (Sclerotic nest) कहते हैं, पाए जाते थे। बाह्य वल्कुट (cortex) भी विशेष प्रकार से मोटे और सख्त होते थे। तनों में निकलनेवाली पत्तियों के डंठल में विशेष प्रकार के समुंड रोम (capitate hair) पाए जाते थे। इनमें लगनेवाले बीज मुख्यतः लैजिनोस्टोमा लोमैक्सी (Lagenostoma lomaxi) कहलाते हैं। ये छोटे गोल (आधा सेंटीमीटर के बराबर) आकार के थे जिनमें परागकण एक पराग कोश में इकट्ठे रहते थे। इस स्थान पर एक फ्लास्क के आकार का भाग, जिसे लैजिनोस्टोम कहते हैं, पाया जाता था। अध्यावरण (integument) और बीजाण्डकाय (nucellus) आपस में जुड़े रहते थे। बीज एक प्रकार के प्याले के आकार की प्यालिका (cupule) से घिरा रहता था। इस प्यालिका के बाहर भी इसी प्रकार के समुंड रोम, जैसे तने और पत्तियों के डंठल पर उगते थे, पाए जाते थे। अन्य प्रकार के बीजों को कोनोस्टोमा (Conostoma) और फाइसोस्टोमा (Physostoma) कहते हैं। लैजिनॉप्टेरिस के परागकोश पुंज (pollen bearing organ) को क्रॉसोथीका (Crossotheca) और टिलैंजियम (Telangium) कहते हैं। क्रॉसोथीका में निचले भाग चौड़े तथा ऊपर के पतले होते थे। टहनियों जैसे पत्तियों के विशेष आकार पर, नीचे की ओर किनारे से दो पंक्तियों में परागकोश लटके रहते थे। टिलैंजियम में परागकोश ऊपर की ओर मध्य में निकले होते थे।



चित्र १ क्रॉसोथिका का भाग

कुछ नई खोज द्वारा लिजिनॉप्टेरिस के अतिरिक्त अन्य तने भी पाए गए हैं, जैसे कैलिस्टोफाइटॉन (Callistophyton), शाफिएस्ट्रम (Schopfiastrum), या पहले से जाना हुआ हेटेरैंजियम (Heterangium)। इन सभी तनों में बाह्य वल्कुट में विशेष प्रकार से स्क्लेरेनकाइमेटस (sclerenchymatous) धागे (strands) पाए जाते हैं।

मेडुलोज़ेसिई (Medullosaceae) का मुख्य पौधा मेडुलोज़ा (Medullosa) है, जिसकी अनेकानेक जातियाँ पाई जाती थीं। मेडुलोज़ा की जातियों के तने बहुरंभी (polystelic) होते थे। स्टिवार्ट (Stewart) और डेलिवोरियस (Delevoryas) ने सन् १९५५ में मेडुलोज़ा के पौधे के भागों को जोड़कर एक पूरे पौधे का आकार दिया है, जिसे मेडुलोज़ा नोइ (Medullosa noei) कहते हैं। यह पौधा लगभग १५ फुट ऊँचा रहा होगा तथा इसके तने के निचले भाग से बहुत सी जड़ें निकलती थीं। मेडुलोज़ा में परागकोश के पुंज कई प्रकार के पाए गए हैं, जैसे डॉलिरोथीका (Dolerotheca), व्हिटलेसिया (Whittleseya), कोडोनोथीका (Codonotheca), ऑलेकोथीका (Aulacotheca) और एक नई खोज गोल्डनबर्गिया (Goldenbergia)। डॉलिरोथीका एक घंटी के आकार का था, जिसके किनारे की दीवार पर परागपुंज लंबाई में लगे होते थे। ऊपर का भाग दाँतदार होता था। कोडोनोथीका में ऊपर का भाग अँगुली की तरह ऊँचा निकला भाग होता था। मेडुलोज़ा के बीज लंबे होते थे, जो बाजगण ट्राइगोनोकार्पेलीज़ (Trigonocarpales) में रखे जाते हैं। इनमें ट्राइगोनोकारपस (Trigonocarpus) मुख्य है। अन्य बीजों के नाम इस प्रकार हैं: पैकीटेस्टा (Pachytesta) और स्टीफैनोस्पर्मम (Stephanospermum)।

कैलामॉपिटिएसिई (Calamopityaceae) कुल ऐसे तनों के समूह से बना है जिन्हें अन्य टेरिडोस्पर्म में स्थान नहीं प्राप्त हो सका। इनमें मुख्यतः सात प्रकार के तने हैं, जिनमें कैलामोपिटिस (Calamopitys), स्टीनोमाइलान (Stenomyelon) और स्फीनॉक्सिलान (Sphenoxylon) अधिक महत्वपूर्ण हैं। मीसोज़ोइक टेरिडोस्पर्म (Mesozoic pteridosperm) के पौधे पेल्टैस्पर्मेसिई (Peltaspermaceae) और कोरिस्टोस्पर्मेसिई (Corystospermaceae) कुलों में रखे जाते हैं। ये ६ करोड़ से १८ करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी पर उगते थे। इनके अवशेष पत्तियों या कुछ चिन्ह के रूप में मिलते हैं। इनके कुछ मुख्य पौधों के नाम इस प्रकार हैं: लेपिडॉप्टेरिस (Lepidopteris), उमकोमेसिया (Umkomasia), पाइलोफोरोस्पर्मम (Pilophorospermum), स्परमैटोकोडॉन (Spermatocodon), टेरूकुस (Pteruchus), ज़ुबेरिया (Zuberia) इत्यादि।

टेरिडोस्पर्मेलीज़ से मिलते जुलते ही एक कुल काइटोनियेसी (Caytoniaceae) को भी गण का पद दिया गया है और इसे काइटोनियेलीज़ (Caytoniales) कहते हैं। इसके पौधे काइटोनिया (Caytonia) को शुरू में आवृतबीज समझा गया था, परंतु फिर अधिक अनुसंधान पर इन्हें विवृतबीज पाया गया।

इसके तना का एक छोटा टुकड़ा मिला है, जिसे कोई विशेष नाम नहीं दिया गया है। पत्ती को सैजिनॉप्टेरिस (Sagenopteris) कहते हैं जो एक स्थान से चार की संख्या में निकलती हैं। पत्ती की शिराएँ जाल जैसा आकार बनाती हैं। इनमें रंध्रों (stomata) के किनारे के कोश हैप्लोकीलिक (haplocheilic) प्रकार के होते हैं। परागकण चार या तीन के गुच्छों में लगे होते हैं, जिन्हें काइटोनैन्थस (Caytonanthus) कहते हैं। परागकण में दो हवा भरे, फूले, बैलून जैसे आकार के होते हैं। बीज की फल से तुलना की जाती है। ये गोल आकार के होते हैं और इनके अंदर कई बीजांड (ovules) लगे होते हैं।

बेनीटिटेलीज़ या साइकाडिऑइडेलीज़ (Bennettitales or Cycadeoidales) गण को दो कुलों में विभाजित किया गया है:

(१) विलियमसोनियेसिई (Williamsoniaecae) और (२) साइकाडिग्रॉइडेसिई (Cycadeoidaceae).

विलियमसोनियेसिई कुल का सबसे अधिक अच्छी तरह समझा हुआ **पौधा** विलियमसोनिया सीवार्डियाना (Williamsonia sewardiana) **का रूपकरण** (reconstruction) भारत के प्रख्यात वनस्पति विज्ञानी स्व० बरिबल साहनी ने किया है। इसके तने को बकलैंडिया **इंडिका** (Bucklandia indica) कहते हैं। इसमें से कहीं कहीं पर **शाखाएँ निकलती थीं,** जिनमें प्रजनन हेतु अंग पैदा होते थे। मुख्य **तने तथा शाखा के** सिरों पर बड़ी पत्तियों का समूह होता है, जिसे **टाइलोफिलम कटचेनसी** (Tilophyllum cutchense) कहते है। नर तथा मादा **फूल** भी इस क्रम में रखे गए है जिनमे विलियमसोनिया स्कॉटिका (Williamsonia scotica) तथा विलियम स्पेक्टेबिलिस (W. spectabilis), विलियम सैंटेलेंसिस (W. santalensis) इत्यादि **हैं।** इसके अतिरिक्त विलियमसोनिएला (Williamsoniella) नामक पौधे का भी काफी अध्ययन किया गया है।

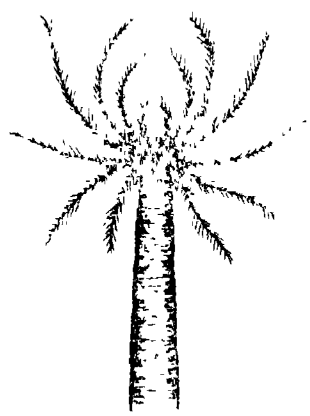
साइकाडिग्राइडेसी कुल में मुख्य वंश साइकाडिग्राइडिया (Cycadeoidea), जिसे बेनीटिटस (Bennettitus) भी कहते हैं, पाया जाता था। करोड़ों वर्ष पूर्व पाए जानेवाले इस पौधे का फ़ासिल सजावट के लिये कमरों मे रखा जाता है। इसके तने बहुत छोटे और नक्काशीदार होते थे। प्रजननहेतु अंग विविध प्रकार के होते थे। सा० वीलैंडी (C wielandi), सा० इनजेन्स (C. ingens), सा० डकोटेनसिस(C dacotensis), इत्यादि मुख्य स्पोर बनाने वाले भाग थे। इस कुल की पत्तियों में रंध्र सिंडिटोकीलिक (syndetocheilic) प्रकार के होते थे जिनमे यह विवृतबीज के अन्य पौधों से भिन्न हो गया है और आवृतबीज के पौधों से मिलता जुलता है। इस गण के भी सभी सदस्य लाखों वर्ष पूर्व ही लुप्त हो चुके है। ये लगभग २० करोड़ वर्ष पूर्व पाए जाते थे।

साइकडेलीज़ गण के नौ वंश आज कल भी मिलते है, इनके अतिरिक्त अन्य सब लुप्त हो चुके है।

आज कल पाए जानेवाले साइकैड (cycad) मे पाँच तो पृथ्वी के पूर्वार्ध में पाए जाते है और चार पश्चिमी भाग मे। पूर्व के वंशों में साइकस सर्वव्यापी है। यह छोटा मोटा ताड़ जैसा पौधा होता है और बड़ी पत्तियाँ एक झुंड मे तने के ऊपर से निकलती हैं। पत्तियाँ प्रजननवाले अंगों को घेरे रहती हैं। अन्य चार वंश किसी एक भाग में ही पाए जाते है, जैसे मैक्रोज़ेमिया (Macrozamia) की कुल १४ जातियाँ और बोवीनिया (Bowenia) की एकमात्र जाति ऑस्ट्रेलिया में ही पाई जाती है। एनसिफैलॉर्टस (Encephalortos) और स्टैनजीरिया (Stangeria) दक्षिणी अफ्रीका मे पाया जाता है।

पश्चिम में पाए जानेवाले वंश में ज़ेमिया (Zamia) अधिक विस्तृत है। इसके अतिरिक्त माइक्रोसाइकस (Microcycas) सिर्फ पश्चिमी क्यूबा, सिरैटोज़ेमिया (Ceratozamia) और डियून (Dioon) दक्षिण मे ही पाए जाते हैं। इन सभी वंशों में से भारत में भी पाया जानेवाला साइकस का वंश प्रमुख है।

साइकस भारत, चीन जापान, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीका में स्वतः तथा वाटिकाओं मे उगता है। इसकी मुख्य जातियाँ साइकस पेक्टिनेटा (Cycas pectinata), सा० सरसिनेलिस (C. circinalis), सा० रिवोल्यूटा (C. revoluta), इत्यादि हैं। इनमे एक ही तना होता है। पत्ती लगभग एक मीटर लंबी होती है। इस पौधे से एक विशेष प्रकार की जड़, जिसे प्रवालाभ मूल (Coralloid root) कहते हैं, निकलती है। इस जड के भीतर एक गोलाई मे हरे, नीले शैवाल निवास करते है। तने मोटे होते हैं, परंतु कड़े नहीं होते। इन तनों के वल्कुट के अंदर से साबूदाना बनानेवाला पदार्थ निकाला जाता है, जिससे साबूदाना बनाया जाता है। पत्तियों मे घुमने वाली नलिका जोड़े में स्तम्भ से निकल कर डंठल मे जाती है, जहाँ कई संवहन पूल (vascular bundle) पाए जाते है। पत्तियों के आकार और अंदर की बनावट से पता चलता है कि ये जल को संचित रखने मे सहायक है। रंध्र सिर्फ निचले भाग ही में घुमी हुई दशा में पाया जाता है। प्रजनन दो प्रकार के कोन (cone) या शंकु द्वारा होता है। लघु बीजाणु (microspore) पैदा करनेवाले माइक्रोस्पोरोफिल के मिलने से नर कोन, या नर शंकु (male cone, और बड़े बीजांड (ovule) वाले गुरु बीजाणुपर्ण (megasporophyll) के संयुक्त मादा कोन (female cone), या मादा शंकु बनते है। समस्त वनस्पति जगत के बीजांड मे सबसे बड़ा बीजांड साइकस मे ही पाया जाता है। यह लाल रंग का होता है। इसमे अध्यावरण के तीन परत होते हैं, जिनके नीचे बीजांडकाय और मादा युग्मकोद्भिद (female gametophyte) होता है। स्त्रीधानी (archegonium) ऊपर की ओर होती है और परागकण बीजांडद्वार (micrapyle) के रास्ते से होकर, परागकक्ष तक पहुँच जाता है। गर्भाधान के पश्चात् बीज बनता है। परागकण से दो शुक्राणु (sperm) निकलते हैं, जो पक्ष्माभिका (cilia) द्वारा तैरते है।



चित्र २ साइकस का पौधा



चित्र ३. साइकस का मेगास्पोरोफिल

पेंटाग्जिलेलीज एक ऐसा अनिश्चित वर्ग है जो साइकाडोफाइटा तथा कोनीफेरोफाइटा दोनों से मिलता जुलता है। इस कारण **इसे यहाँ उपर्युक्त दोनों वर्गों के मध्य मे ही लिखा जा रहा है। यह अब गण के स्तर पर रखा जाता है। इस गण की खोज**

भारतीय वनस्पतिशास्त्री आचार्य बीरबल साहनी ने की है। इसके अंतर्गत आनेवाले पौधों, या उनके अंगों के फॉसिल बिहार प्रदेश के राजमहल की पहाड़ियों के पत्थरों में दबे मिले हैं। तने को पेंटोजाइलान (Pentoxylon) कहते हैं, जो कई सेंटीमीटर मोटा होता था और इसमे पाँच रंभ (stoles) पाए जाते थे। इसके अतिरिक्त राजमहल के ही इलाके में निपानिया ग्राम से प्राप्त तना निपानियोजाइलान (Nipanioxylon) भी इसी गण में रखा जाता है। इस पौधे की पत्ती को निपानियोफिलम (Nipaniophyllum) कहते हैं, जो एक चौड़े पट्टे के आकार की होती थी। इसका रंध्र आवृतबीज की तरह सिनडिटोकीलिक (syndetocheilic) प्रकार का होता है। बीज की दो जातियाँ पाई गई हैं, जिन्हें कारनोकोनाइटिस कॉम्पैक्टम (Carnoconites compactum) और का० लेक्सम (C. laxum) कहते हैं। बीज के साथ किसी प्रकार के पत्र इत्यादि नहीं लगे होते। नर फूल को सहानिया (Sahania) का नाम दिया गया है।

कोनीफेरोफाइटा का प्रथम गण कॉर्डाइटेलीज (cordaiteles) है, जो साइकाडोफाइटा के पौधों से कहीं बड़े और विशाल वृक्ष हुआ करते थे। पृथ्वी पर प्रथम वृक्षोंवाले जंगल इन्हीं कारडाइटीज के ही थे, जो टेरिडास्पर्म की तरह, २५ करोड़ वर्ष से पूर्व, इस धरती पर राज्य करते थे। इनकी ऊँचाई कभी कभी १०० फुट से भी अधिक होती थी। इन्हे तीन कुलों में विभाजित किया गया है: (१) पिटिईई (Pityeae), (२) कारडाइटीई (Cordaiteae) और (३) पोरोजाइलीई (Poroxyleae)।

पिटिईई मुख्यत: तने की अंदरूनी बनावट पर स्थापित किया गया है। इस कुल के पौधो मे कैसी पत्ती या फूल थे, इसका ज्ञान अभी तक ठीक से नहीं हो पाया है। एक वंश कैलिक्साइलान (Callixylon) का, अमीरका से प्राप्त कर, अच्छी तरह अध्ययन किया गया है. यह एक विशाल वृक्ष रहा होगा, जिसकी शाखा की चौड़ाई लगभग १७-१८ फुट की थी।

कॉर्डाइटी का मुख्य वंश कॉर्डाइटिज (Cordaites) है। इसकी लकड़ी को कॉर्डियोजाइलान (Cordioxylon) डेडोजाइलान (Dadoxylon), जड़ को एमिलान (Amyelon), पुष्पगुच्छ को कॉर्डाइएंथस (Cordaianthus) और बीज को कॉर्डाइकार्पस (Cordaicarpus) और समारॉप्सिस (Samaropsis) कहते है। पत्ती भी लगभग ३-४ फुट लंबी और १ फुट चौड़ी होती थी। पत्तो के अदर के ऊतको की बनावट से ज्ञात होता है कि ये सूखे स्थानो पर उगते होंगे। कॉर्डाइटीज के तने के मध्य का पिथ या मज्जा विशेष रूप से विचाभ (discoid) लगता है। कॉर्डाइटीज के फूल एकलिंगी होते थे, जो अधिकतर अलग अलग वृक्ष पर, या कभी कभी एक ही वृक्ष की अलग शाखा पर, लगे होते थे। कार्डाइएंथस पेजोनी के पुंकेसर (stamen), एक शाखा से ३-४ की संख्या मे, सीधे ऊपर निकलते हैं। परागकण में दो परतें होती है। मादा कोन एक कड़े स्तभ पर ऊपर की ओर लगा होता है।

पोरोजाइली कुल में सिर्फ एक ही प्रजाति पोरोजाइकलन है, जिसके तने मे भीतर बृहत् मज्जा होती है।

कोनीफेरोफाइटा का दूसरा गण है, गिंगोएलीज (Ginkgoales)। यह मेसोज़ोइक युग से, अर्थात् लगभग ५-७ करोड़ वर्ष पूर्वसे, इस पृथ्वी पर पाया जा रहा है। उस समय में तो इसके कई वंश थे, पर आज कल सिर्फ एक ही जाति जीवित मिलती है। यह गिंगो बाइलोबा (Ginkgo biloba) एक अत्यंत सुंदर वृक्ष चीन देश में पाया जाता है। इसके कुछ इने गिने पौधे भारत में भी लगाए गए हैं। इसकी सुंदरता के कारण इसे 'मेडेन हेयर ट्री' (Maiden-hair tree) भी कहा जाता है।

फॉसिल जिंकगोएजीज में जिंकगोआइटीज (Ginkgoites) और बइरा (Baiera) अधिक अध्ययन किए गए है। इनके अतिरिक्त ट्राइकोपिटिस (Trichopitys) सबसे पुराना सदस्य है। जिंकगो को वैज्ञानिकों ने शुरू में आवृतबीज का पौधा समझा था, फिर इसे विवृतबीज कोनिफरेल् समझा गया, परंतु अधिक विस्तार से अध्ययन करने पर इसका सही आकार समझ में आया और इसे एक स्वतंत्र गण, गिंगोएलीज का स्तर दिया गया। यह वृक्ष छोटी अवस्था मे काफी विस्तृत और चौड़े गोले आकार का होता है, जैसे आम के वृक्ष होते हैं, परतु आयु बढ़ने से वह नुकीले पतले आकार का, कुछ चीड़ के वृक्ष या पिरामिड की शक्ल का हो जाता है। इसके तने, दो प्रकार के होते हैं: लबे तने, जो बनावट में कोनीफेरोफाइटा की तरह होते हैं, और बौने प्ररोह (dwarf shoots), जो साइकेडोफाइटा जैसे अंदर के आकार के होते हैं। इनकी पत्ती बहुत ही सुंदर होती है, जो दो भागों में विभाजित होती है। पत्ती मे नसें भी जगह जगह दो में विभाजित होती रहती हैं। नर और मादा कोन अलग अलग निकलते हैं। बीजांड के नीचे एक 'कॉलर' जैसा भाग होता है।

ऐसा अनुमान है कि इस गण के पौधे कॉर्डाइटी वर्ग से ही उत्पन्न हुए होंगे। इसमें नरयुग्मक तैरनेवाले होते है, जिससे यह साइकड से भी मिलता जुलता है। कुछ वैज्ञानिकों के विचार हैं कि ये पौधे सीधे टेरीडोफाइटा (Pteridophyta) से ही उत्पन्न हुए होंगे।

कोनीफरेलीज गण, न केवल कोनिफेरोफाइटाका ही बल्कि पूरे विवृत बीज का, सबसे बड़ा और आज कल विस्तृत रूप से पाया जानेवाला गण है। इसमें लगभग ५० प्रजातियाँ और ५०० से अधिक जातियाँ पाई जाती है। इनमे अधिकाश पौधे ठंढे स्थान में उगते है। छोटी झाड़ी से लेकर संसार के सबसे बड़े और लंबी आयुवाले पौधे इस गण में रखे गए है। कैलिफॉर्निया के लाल लकड़ीवाले वृक्ष (red wood tree), जिन्हें वनस्पति जगत् में सिकोया (sequoia) कहते है, लगभग ३५० फुट गगनचुंबी होते है और इनके तने ३०-३५ फुट चौड़े होते हैं। यह संसार का सबसे विशालकाय वृक्ष होता है। इसकी आयु ३,०००-४,००० वर्ष तक की होती है।

कोनीफरेलीज गण को मुख्य दो कुल पाइनेसी और टैक्सेसी में विभाजित किया गया है। इनमें फिर कई उपकुल हैं, परंतु बहुत से विद्वानों ने सभी उपकुलों को कुल का ही स्तर दे दिया है।

पाइनेसी कुल के अंतर्गत चार उपकुल हैं: (१) एबिटिनी (Abietineae), (२) टैक्सोडिनी, (Taxodineae), (३) क्यूप्रेसिनी (Cupressineae) और (४) अराकेरिनी (Araucarineae) हैं।

टैक्सेसी के अंतर्गत दो उपकुल (१) पोडोकारपिनी (Podocarpineae) और (२) टैक्सिनी (taxineae) हैं। कई वनस्पति शास्त्रियों ने टेक्सिनी को कुल का नहीं, गण (टैक्सेल्स) का स्तर दे रखा है।

(१) एबिटिनी में बीजांड पत्र (oruliferous bract) एक विशेष प्रकार का होता है और परागकरण में दोनों तरफ हवा में तैरने के लिये हवा भरे गुब्बारे जैसे आकार होते हैं। इस उपकुल के मुख्य उदाहरण हैं : पाइनस या चीड़, सीड्रस या देवदार, लैरिक्स (Larix), पीसिया (Picea) इत्यादि।

(२) टैक्सोडिनी में बीजांड पत्र और अन्य पत्र आपस में सटे होते हैं और परागकरण में पंख जैसे आकार नहीं होते। इनके मुख्य उदाहरण हैं : सियाडोपिटिस (Sciadopitys), सिकोया (Sequoia), क्रिप्टोमीरिया (Cryptomeria), कनिंघेमिया (Cuninghamia) इत्यादि।

क्यूप्रेसिनी के मुख्य पौधे कैलिट्रिस (Callitris), थूजा (Thuja), जिसे मोरपंखी भी कहते हैं, क्यूप्रेसस (Cupressus), जूनिपेरस (Juniperus) इत्यादि हैं।

अराकेरिनी के अंतर्गत वाटिकाओं में लगाए जानेवाले सुंदर पौधे अराकेरिया (Araucaria) और एगैथिस (Agathis) हैं।

पाइनेसी कुल के पौधों में एक मध्य स्तंभ जैसा लंबा, सीधा तना होता है, जिससे नीचे की ओर बड़ी और ऊपर छोटी शाखाएँ निकलती हैं। फलस्वरूप पौधे का आकार एक कोन या पिरामिड का रूप धारण करता है। तने के शरीर (anatomy) का काफी अध्ययन किया गया है। वैस्कुलर ऊतक बहुत बृहत् होता है। वल्कुट (cortex) तथा मज्जा दोनों ही पतले होते हैं। वल्कुट के बाहर कार्क (cork) पाए जाते हैं। जड़ की रचना एक द्विबीजी संवृतबीज से मिलती जुलती है।

इस कुल में अन्य कोनीफरेलीज की तरह दो प्रकार की पत्तियाँ पाई जाती हैं। एक पत्ती के रूप की, और दूसरी छोटे पतले कागज के टुकड़े जैसे शल्क पत्र (scale leaf) सी होती है। पाइनस में यह अलग प्रकार की पत्तियाँ अलग शाखा पर निकलती हैं, परंतु ऐबीस (Abies) के पौधे में, दोनों पत्र हर डाल पर भी पाए जा सकते हैं। पत्तियों की आयु काफी लंबी होती है और कोई कोई १०-२२ वर्ष तक नहीं झड़तीं। इनका आकार एक सूखे स्थान में उगनेवाले पौधों की पत्ती जैसा होता है। बाह्यचर्म के कोश लंबे होते हैं, जिनके बाहर के भाग पर मोम जैसा क्यूटिन (cutin) पदार्थ जमा रहता है। रंध्र अंदर की ओर घुसा होता है। मीजोफिल (mesophyll) भाग के कोश पट्टे की भाँति अंदर को लिपटे (infolded) से रहते हैं। एक प्रकार के कोश द्वारा वैस्कुलर ऊतक घिरे रहते हैं, जिसे छाद (sheath) कहते हैं।

प्रजनन मुख्यतः बीज द्वारा होता है। यह एक विशेष प्रकार के अंग में, जिसे कोन (cone) या शंकु कहते हैं, बनता है। कोन दो प्रकार के होते हैं, नर और मादा। नर कोन में पराग बनते हैं, जो हवा द्वारा उड़कर मादा कोन के बीजांड तक पहुँचते है, जहाँ गर्भाधान होता है। दोनों लिंगी कोन अलग अलग पौधों में पाए जाते हैं, जैसे पाइनस में, या एक ही पौधे में, जैसे ऐबिस या कभी कभी क्यूप्रेसेसी उपकुल के पौधों में। लघुबीजाणुधानी (microsporangium) के निकलने का स्थान स्थिर नहीं रहता। किसी में यह डंठल के सिरे पर और किसी में पत्ती के कोण से निकलती है। पाइनस में तो बौने प्ररोह (dwarf shoot) पर ही यह प्रजनन अंग निकलते हैं। लघुबीजाणुधानी जिस पत्र में लगी रहती है, उसे लघुबीजाणु पर्ण (Microsporophyll) कहते है। लघुबीजाणुधानी के बाह्यचर्म से नीचे अधस्त्वचा (hypodermis) के कुछ कोश बढ़ते तथा जीव द्रव से भरे रहते है और विभाजित होकर, बीजाणुजन ऊतक बनाते हैं और फिर इन्हीं कोशों के कई बार विभाजन होने पर परागकरण और अन्य ऊतक बनते हैं।

बीजांड पैदा करनेवाले अंगों को गुरुबीजाणुपर्ण (megasporophyll) कहते है। इनके एक स्थान पर झुंड में होने से एक कोन या मादा शंकु बनता है। बीजांड एक प्रकार के शल्क बीजांडधर शल्क पर, नीचे की ओर लगे होते हैं। योनिका भ्रूणपोष (endosperm) से नीचे की ओर से घिरा रहता है, और दो आवरण होते है। ऊपर की ओर एक अंडद्वार होता है जिससे होकर परागकरण योनिका के पास पहुँच जाते हैं। यहाँ ये करण जमते है और पराग नलिका बनती है, जिसमें नलिका केंद्रक (tube nucleus) नर युग्मक पाए जाते हैं। नर युग्मक और मादा युग्मक के संयोग से अंडबीजाणु बनते हैं, जो फिर विभाजन द्वारा बीज को जन्म देते हैं।

ऐसा अनुमान है कि पाइनेसी कुल का जन्म पृथ्वी के प्रथम बड़े वृक्षवाले गण कारडाईटेलीज (Cordaitales) द्वारा ही हुआ है।

दूसरा कोनीफरेलीज का कुल है टैक्सेसी। इसके दो उपकुल हैं — पोडोकारपिनी और टैक्सिनी। पोडोकारपिनी में भी परागकरण में हवा भरे पक्ष (wings) पाए जाते हैं। इसके उदाहरण हैं, पोडोकारपस तथा डैक्रीडियम। टैक्सिनी के परागकरण में पक्ष (wing) नहीं होता। टैक्सस, टोरेया और सिफैलोटैक्सस इसके मुख्य उदाहरण हैं। इनमें भी पाइनस जैसे वैस्कुलर ऊतक होते है, परंतु कुछ विशेष अंतर भी होता है।

पत्तियाँ कई प्रकार की पाई जाती हैं। कुछ में छोटे नुकीले (जैसे टैक्सस) या चौड़े पत्ते (पोडोकारपस में) होते हे, या नहीं भी होते हैं, जैसे फाइलोक्लैडस में। प्रजनन हेतु लघुबीजाणुधानी तथा गुरुबीजाणुधानी नर तथा मादा शंकु में लगी होती हैं। इन शंकुओं में शल्क (scales) के अध्ययन काफी किए गए है। प्रत्येक बीजाणुपर्ण (sporophyll) में बीजाणुधानी (sporangium) की संख्या भिन्न भिन्न प्रजातियों मे भिन्न होती है, जैसे टैक्सस में चार से सात, टोरेया (torreya) में शुरू में सात, परंतु बीजाणुधानी पकने तक १ या २ ही रह जाती हैं। मादा शंकु इस कुल मे (अन्य कोनीफर से) बहुत छोटे रूप का होता है। अधिकतर यह शंकु पत्तीवाले तने के सिरे पर उगता है। बीजांड की संख्या एक या दो होती है। इनमें अध्ययन गण और बीजांडकाय की परतें अलग रहती हैं। पराग दो केंद्रक की दशा में, हवा में झड़कर, मादा शंकु तक पहुँचते हैं और बीजाणु

पर पहुँचकर जमते हैं। वहाँ ये बढ़कर एक नलिका बनाते हैं और संसेचन का कार्य संपन्न करते हैं।

इस कुल का संबंध अन्य कुल या गण से कई प्रकार से रखा गया है। ऐसा विचार भी है कि इस कुल के पौधे जीवित कोनीफर में सबसे पुराने जमाने से चले आ रहे हैं। इनका संबंध जिंकगो या अराकेरिया या कार्डाइटीज़ से हो सकता है। ऐसा भी कई वैज्ञानिकों का विचार है कि यह स्वतंत्र रूप से (अन्य कोनीफर से नहीं) उत्पन्न हुए होंगे।

कोनीफरेलीज गण काफी गूढ़ और विस्तृत है, जिसमें बहुत से आर्थिक दृष्टि से अच्छे पौधे पाए जाते हैं, जैसे चीड़, चिलगोजा, देवदार, सिकोया तथा अन्य, जो अच्छी लकड़ी या तारपीन का तेल देनेवाले है।

कोनीफेरोफाइटा का सबसे उन्नत गण है, नीटलीज। इस गण मे तीन जीवित पौधे हैं : नीटम (Gnetum), एफिड्रा (Ephedra) और वेलविट्शिया (Welwetschia) आज के कई वैज्ञानिकों ने इन तीनों प्रजातियों की रूपरेखा तथा पाए जानेवाले स्थान की भिन्नता के कारण अलग अलग आर्डर का स्तर दे रखा है। फिर भी कुछ गुण ऐसे हैं जैसे वाहिका (Vessel) का होना, संयुक्त शंकु (compound cone), अत्यंत लंबी माइक्रोपाइल, पत्तियों का आमने सामने (opposite) होना इत्यादि, जो तीनों प्रजातियों मे मिलते हैं। इस गण के पौधों को कोनीफेरोफाइटा से इसीलिये हटाकर एक नए सूत्र क्लमाइडोस्पर्मोफाइटा मे रखा जाने लगा है।

एफिड्रा, जिसमे एफिड्रीन जैसी ताकत की ओषधि निकलती है, एक झाड़ी के आकार का पौधा है। इसकी लगभग चालीस जातियाँ पृथ्वी के अनेक भागों में पाई जाती हैं। पश्चिम मे मेक्सिको, एंडीज परागुए, फ्रांस, तथा पूर्व मे भारत, चीन इत्यादि, मे यह उगता है। भूमध्य रेखा के दक्षिण मे यह नहीं पाया जाता। इसकी मूसली जड़ (tap root) मजबूत और बड़ी होती है। इसके तने पतले हरे रंग के होते हैं, जिनपर पत्तियाँ नहीं के बराबर होती है। ये पत्तियाँ इतनी छोटी होती हैं कि आहार बनाने का कार्य तने द्वारा ही होता है। इनके तने मे गौण ऊतक में वाहिनियाँ पाई जाती हैं। मज्जारश्मि (medullary ray) चौड़ी और लंबी होती है। संवहन (vascular) नलिका एंडार्क साइफोनोस्टील (endarch siphonostele) होता है। बीच की मज्जा मे मोटी दीवारवाले कोश के गुच्छे पाए जाते हैं। इनमें एक प्रकार का रासायनिक पदार्थ टैनिन पाया जाता है। वल्कुट मे क्लोरोफिल पाए जाते हैं। इनके बाहर रंध्र होते हैं, जो गैसों के आदान प्रदान तथा भाप के बाहर निकलने के लिये मार्ग प्रदान करते हैं।

एफिड्रा में नर और मादा शंकु अलग अलग पौधे पर निकलता है। केवल एफिड्रा की एक जाति, ए० फोलिएटा, मे ही एक पौधे पर दोनों प्रकार के शंकु पाए जाते हैं। नर शंकु से दो, तीन अथवा चार चक्र में लघुबीजाणुधानियाँ (microsporangiums) निकलती है। जहाँ से ये निकलती है, वहाँ चार-पाँच से आठ जोड़े तक शल्क होते हैं, जिसमें दो जोड़े बाँझ होते हैं। बीजाणुधानी की संख्या ४–५ या ६ तक होती है। मादा शंकु काफी लंबा तथा २–३ या ४ चक्र में हरे रंग का होता है। सहपत्रों (bracts) की संख्या भी नर से अधिक होती है। अंडकोशिका (egg cell) के चारों ओर कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) भरा होता है। परागकण चिपचिपे द्रव के बूंद में फंस जाता है और लंबे बीजांडद्वार द्वारा खिचकर अंड तक पहुँचता है। तीन या चार भ्रूण तक एक बीजांड मे देखे गए हैं।

वेलविशिया (Welwitschia) दक्षिण अफ्रीका के पश्चिम तट पर ही उगता है और कहीं भी नहीं पाया जाता। यह तट के कुछ मील के भीतर ही सीमित है। प्रथम इसे टमवोआ मिरैबिलिस कहा गया था, परंतु बाद मे इसके आविष्कारक डा० वेलविश के नाम पर इसे वेलविश या मिरैबिलिस कहा गया। यह अत्यंत मरुद्भिदी (xerophytic), अर्थात् सूखे स्थान पर उगनेवाले पौधों जैसा, होता है। जहाँ यह उगता है वहाँ वर्ष भर की पूरी वर्षा लगभग एक इंच ही होती है। शक्ल सूरत तो गाजर जैसी होती है, पर इससे बहुत बड़ा, लगभग ३-४ फुट चौड़ा, होता है। पौधे के ऊपर एक मोटा आवरण बाह्यवल्क (periderm) होता है। मुख्यत: दो ही पत्तियाँ होती हैं, जो बहुत मोटे चमड़े के पट्टे की तरह होती हैं। मध्य भाग मे लैंगिक जनन के अंग, जो पकने पर झड़कर गिर जाते हैं, निकलते है और वे निकलने के स्थान पर एक क्षत-चिह्न छोड देते हैं। पौधे की प्रथम दो पत्तियाँ ही, संपूर्ण जीवन भर बिना झड़े, लगभग ६०–७० या १०० वर्ष तक, लगी रहती हैं। तेज हवा के झोंके से पत्तियाँ लंबाई मे, शिराओं की सीधी लाइन मे, फट जाती हैं। शिखा से पत्ती सूखती चलती है और नीचे से बढ़ती चलती है। जड़ तो बहुत गहराई तक जाती है।

वेलविशिया के पौधे के काटने से पता चलता है कि तने तथा जड मे कैल्शियम ऑक्सैलेट की बहुमुखी सूई के आकार की कंटिका (spicule) की तरह की कोशिकाएँ होती हैं। संवहन ऊतक (vascular tissue) भी कई प्रकार के पाए जाते हैं। नर शंकु और मादा शंकु अलग अलग बनते हैं। बीजांड प्रारंभ में हरे होते हैं, पर पकने पर चमकीले लाल हो जाते हैं। प्रत्येक शंकु में ६०--७० बीजांड होते हैं। उत्पत्ति और अन्य रूप से भी यह पौधा अपना साथी नहीं रखता और ऐसा लगता है कि इसने पौधे की किसी अन्य जाति को भी उत्पन्न नहीं किया है। यह एक जीवित फॉसिल है।

नीटेलीज (Gnetales) गण का मुख्य वंश नीटम (Gnetum) है। यह द्विबीजी है तथा आवृतबीज से बहुत मिलता जुलता है। यह लतर तथा वृक्ष के रूप में उगता है। यह वंश भूमध्य सागरीय नम स्थानों मे ही पाया जाता है और इसकी लगभग ३० जातियाँ मिलती हैं। विवृतबीज में यह वंश सबसे अधिक विकसित माना जाता है। माहेश्वरी और वासिल ने अपनी पुस्तक 'नीटम' में लिखा है कि भारत में नीटम निमोन (G. gnemon) आसाम में, नी० उलवा (G. ulva) पश्चिम तथा पूर्वी तट पर, नी० आबलांगम बंगाल मे, नीटम कंट्रैक्टम केरल मे, नी० लैटिफोलियम अंडमान, निकोबार में तथा नीटम ऊला अन्य भागों में पाया जाता है।

नीटम के तने की बनावट काफी जटिल होती है। बाह्य त्वचा के बाहर का भाग मोटी दीवार से बना होता है। रंध्र गहरे गड्ढे मे बनता है, वल्कुट की कोशिकाएँ पतली होती हैं और उनमें क्लोरोफिल कभी कभी पाया जाता है। मज्जा पतली कोशिका की दीवार होती है। नीटम नीमोन में गौण वृद्धि साधारण ढंग की होती है, परंतु लतरवाली जातियों में ऐसी वृद्धि एक विशेष प्रकार की होती है, जिसमें वल्कुट ही एधा सक्रियता (ambial activity) उत्पन्न करता है। संवहन ऊतक २--३ चक्र मे बन जाते है, जैसे नीटम ऊला मे। सवाहिनी (vessel) के छोर की दीवार एक ही छिद्र से मिली रहती है। ट्रकीड (trachied) के किनारे की दीवारों पर गर्त (pit) होती है। मज्जका रश्मि (medullary ray) काफी चौड़ी और ऊँची होती है।

पत्ती बड़े अंडे के आकार की होती है, जिसमे शिराएँ द्विबीज शल्क पत्ती की भाँति जाल बनाती है। ये छोटे तने पर अधिक निकलती हैं। ऐसा समझा जाता था कि इनके रध्र आवृतबीज जैसे सिनडिटोकीलिक होते हैं, पर हाल ही में माहेश्वरी और वासिल (१६६१) ने इसे अन्य विवृतबीज जैसा ही, हैप्लोकीलिक, पाया है, जिसमे गौण कोशिका की उत्पत्ति द्वारकोशिका (guard cell) से स्वतंत्र होती है।

सभी जातियों में नर तथा मादा प्रजनन अंग अलग अलग पौधे पर उगते हैं। नर फूल, जिनकी संख्या ३ से ६ या ७ तक होती है, एक गोलाई में निकलते है। परागकोश की सख्या प्रति पुष्प १, २, या चार होती है। मादा शकु मे भी 'कॉलर' (स्कध मूल संधि) जैसा भाग होता है, जिसके ऊपर ४ से १० तक बीजाड लग होते हैं। ये भी एक गोलाई में निकलते हैं। नीटम को संवृतबीजो का पूर्वज भी कहा गया है।

इन सभी गणो के अतिरिक्त कुछ फॉसिल (fossil) विवृतबीज भी मिले हैं, जिन्हे नए गण, या समूह, में रखा गया है, जैसे वॉजनोवस्किएलीस (Vojnovkyales) और ग्लॉसॉप्टरिस विवृतबीज।

वाजनोवस्किएलीज गण की स्थापना सन् १६५५ में न्यूबर्ग (Neuburg) ने रूस के परमियन और अंगारा फ्लोरा से की।

इसका मुख्य पौधा वाजनोवस्किया पैरेडाक्सा (Vojnovskya paradoxa) है, जो झाड़ी जैसा वृक्ष था और पंखे जैसी जिसकी पत्तियाँ थी। चेकेनोवस्किया (Czekanowskia) भी एक ऐसा ही पौधा था।

ग्लॉसॉप्टरिस के कई पौधे भारत तथा अफ्रीका के गोंडवाना भूमि से अनुसधान द्वारा प्राप्त हुए हैं। इनके मुख्य उदाहरण हैं: ग्लासॉप्टरिस (Glossopteris) तथा गैंगमॉप्टरिस की पत्ती (Gangamopteris), ओटोकैरिया (Ottokaria) इत्यादि।

[रा० क० अं०]

विवेकानंद दे० स्वामी विवेकानंद

विशाखपटणम १. जिला, स्थिति : १७° १५′ से १८° २०′ उ० अ० तथा ८१° ५०′ से ८३° ५०′ पू० दे०। यह भारत के आंध्र प्रदेश राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल ५,२०० वर्ग मील तथा जनसंख्या २२,६०,७५६ (१६६१) है। इस जिले के पूर्व में बगाल की खाड़ी, दक्षिण मे पूर्वी गोदावरी जिला, तथा उत्तर में उड़ीसा राज्य एवं श्रीकाकुलम जिला है। जिले का धरातल असम है। इसका उत्तरी भाग पहाड़ी एवं दक्षिणी भाग मैदानी है। तटीय भाग की जलवायु नम एवं भीतरी भाग की शुष्क है। वार्षिक औसत वर्षा ४० इंच है। धान मुख्य पैदावार है। इसके अतिरिक्त गन्ना, दलहन, कपास, तबाकू आदि अन्य उपज हैं। सूती वस्त्र तथा हाथीदाँत एवं सींग के सामान यहाँ बनते हैं। मैंगनीज, तेलहन, चमडा आदि का निर्यात होता है। विशाखपटणम्, विजयनगरम् आदि मुख्य नगर है।

२. नगर स्थिति : १७° ४५′ उ० अ० तथा ८३° २०′ पू० दे०। यह भारत के पूर्वी तट पर आंध्र प्रदेश राज्य में उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर एवं बदरगाह है। पूर्वी तट के बदरगाहों मे इसका स्थान तीसरा है। यह दक्षिण रेलमार्ग पर कलकत्ता से ५०० मील दक्षिण पश्चिम एवं मद्रास से ३२८ मील उत्तर पूर्व मे स्थित है। यह प्राकृतिक बंदरगाह है, जिसका विकास मैंगनीज के बढ़े हुए व्यापार के कारण हुआ है। इस बदरगाह के दक्षिण में डॉलफिन नोज नामक कठोर शैलीय भाग समुद्र के भीतर तक गया हुआ है, जिसके द्वारा चक्रवातो एवं मानसूनी हवाओ से बंदरगाह की रक्षा होती है। यह बंदरगाह मुख्य रूप से निर्यात बंदरगाह है। निर्यात पदार्थों में मुख्य हैं. मैंगनीज, चमडा तेलहन, मूँगफली का तेल एवं खली। सूती वस्त्र, दवाओ एव मशीनों का आयात इस बंदरगाह से होता है। यहाँ पर पोतनिर्माण का केंद्र तथा पैट्रोल या तेलशोधक कारखाना है। [सु० चं० श०]

विशिष्टाद्वैत वेदांत संप्रदाय में विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धांत तो शंकर से पूर्व बोधायन, द्रमिड आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित हो चुके थे। परतु उनको तार्किक दृष्टि से पुष्ट करके एक सुनियोजित दार्शनिक संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य (दे० रामानुज) ने किया। तमिल प्रबधो में सुरक्षित आलवार भक्तो की भक्ति को वेदांत की प्राचीन परपरा से जोड़कर रामानुज ने वेदांत को वैष्णव बना दिया।

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गए हैं। सविकल्प और निर्विकल्प प्रत्यक्ष का भेद मानकर भी रामानुज ने निर्विकल्प प्रत्यक्ष को भेदग्राही कहा। ज्ञान के विषय मे भेदग्रहण होता ही है और वस्तु का ज्ञान विशेषण-विशिष्ट ही संभव है। निर्विशेष वस्तु कभी ज्ञात हो ही नहीं सकती। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जातिविशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है पर इस जाति का सामान्य रूप मे ग्रहण सविकल्प प्रत्यक्ष मे ही सभव है। अनुमान के लिये भी भेदग्रहण व्याप्ति ज्ञान मे आवश्यक ही है। अत. ज्ञान सर्वदा भेदग्राही होता है -- अभेद ज्ञान संभव ही नहीं है।

ज्ञान घटने बढ़ने का आश्रय होने के कारण द्रव्य तथा आत्मा का गुण होने के कारण गुण कहलाता है। द्रव्य जड़ और चेतन भेद से दो प्रकार के होते है पर ज्ञान दोनों मे विलक्षण एक अजड़ द्रव्य है। बिना किसी सहायक के ज्ञान स्वयं को और अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है अतः जड़ नही है, पर आत्मा की तरह इसमें

स्वयं को जानने की शक्ति नहीं है अतः चेतन भी नहीं है। स्वयं-प्रकाशक और स्वयंचेतना में भेद है। आत्मा स्वयंचेतन और स्वयं-प्रकाशक दोनों है। पर चेतन आत्मा में ज्ञान विषय-विषयी-संबंध से ही संभव है। चेतनता आत्मा का आगंतुक गुण नहीं उसका अविभाज्य गुण है। पर आत्मा चेतनता से पृथक् है -- शंकर की तरह रामानुज शुद्ध चेतनता और आत्मा में अभेद नहीं मानते। चेतनता सर्वदा विशिष्ट होती है क्योंकि इसमे ज्ञान रहता है और ज्ञान विषय और विषयी दोनो का अवगाहन करता है। यह चैतन्य आत्मा अणुरूप और नित्य है।

अभेद का ज्ञान भेद पर आधारित है — भेद के विना अभेद-प्रतीति नही हो सकती। इसलिये रामानुज शंकर के सकल भेद-व्यावृत्त ब्रह्म को अस्वीकार करके भेदविशिष्ट अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। परस्पर भिन्न, आश्रित विशेषणों में विशेष्य एकात्मकता स्थापित करता है — ब्रह्म विशेषणों मे विशिष्ट एक विशेष्य है। यही ब्रह्म अंतर्यामी परमसत्ता है जिसके कारण आश्रित द्रव्य तथा जीवात्माएँ उसके शरीर में एकता को प्राप्त होती हैं।

विशिष्टाद्वैत में तीन तत्व माने गए हैं। तीनों तत्व सत् हैं पर चित् और अचित् तत्व ईश्वर तत्व पर आश्रित हैं। चित् और अचित् अपने आप में द्रव्य हैं पर ईश्वर की दृष्टि से वे ईश्वर के गुण हैं। चित् और अचित् ईश्वर के शरीर हैं और ईश्वर उनकी आत्मा है। प्रकृति और जीवात्माओं की आत्मा ही ईश्वर या ब्रह्म है। अतः ब्रह्म शरीरी और सगुण है — निर्गुण ब्रह्म कल्पनामात्र है। जीवात्माएँ ब्रह्म के अंश हैं, ब्रह्म अंशी है।

ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नही है -- यह सजातीय और विजातीय भेदों से रहित है परंतु इसमे स्वगत भेद वर्तमान है। अतएव जड़ और चित् रूप विश्व उसी एक ब्रह्म से उत्पन्न है — वही इसका उपादान और निमित्त कारण है। वह विश्वातीत भी है क्योंकि विश्व का नियमनकर्ता है। अनंत सद्गुणों से युक्त ईश्वर अपनी सहचरी लक्ष्मी के साथ वैकुंठधाम मे निवास करता है।

जीव ब्रह्म के साथ अपना संबंध नहीं जानता अतः वह अपने को स्वतंत्र समझकर कर्म करता है और उनके बंधन में पड़कर दुख भोगता है। वेदांत वाक्यों का श्रवण करके उसके मन में मुक्ति की अभिलाषा जागती है। मुक्ति का प्रथम सोपान है कामनारहित होकर कर्म करना जिससे कर्मबंधन न उत्पन्न हों। उसके बाद निदिध्यासन की अवस्था में अपने को सर्वतोभावेन ईश्वर मे समर्पित कर देना इसे प्रपत्ति कहते हैं। यह प्रपत्ति मोक्ष का मार्ग है। जब ईश्वर प्रसन्न होकर भक्त के ऊपर अनुग्रह करते हैं तो भक्त को शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है — यह ज्ञान जीव और ब्रह्म के संबंध का होता है। इस ज्ञान को भक्ति कहते हैं। तदनंतर देहपात के बाद जीव ब्रह्म के शरीर का अंश होकर ब्रह्म के सान्निध्य सुख का अनुभव करता हुआ वैकुंठ में निवास करता है। इस प्रकार मोक्ष के लिये भगवद्-भक्ति आवश्यक है — भक्ति ईश्वर के अनुग्रह पर अवलंबित है। जीवन्मुक्ति की कल्पना अस्वीकार्य है — देहबंधन से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

रामानुज कर्म को ज्ञान का आवश्यक सहकारी मानते हैं। यदि ज्ञानमात्र से मोक्ष मिलने लगे तो सभी वेदांत पढ़नेवाले मुक्त जायँ। माया या अज्ञान बंध का कारण नहीं है--कर्म से ही ब होता है अतः उससे छुटकारा भी एक विशेष प्रकार के कर्म से संभव है। इसलिये रामानुज शंकर के ज्ञानमार्ग और मायावाद खंडन करके उपासना मार्ग का प्रतिपादन करते हैं तथा मीमां और वेदांत को एक दूसरे का पूरक शास्त्र समझते हैं। ('रामानु तथा 'वेदांत')।

सं० ग्रं० -- रामानुज : श्रीभाष्य; लोकाचार्य : तत्वत्रय; श्री वासाचारी . द फिलासफी ऑव विशिष्टाद्वैत। [रा० चं० पां०

विश्राम (Rest) सब प्रकार के जीवों को कार्य के बाद विश्रा की आवश्यकता पड़ती है, जिससे थकावट दूर हो जाय। थका मानसिक तथा शारीरिक, दोनों होती है और विश्राम से दो प्रकार की थकावट दूर होती है। हृदयगति, श्वसन क्रिया, मां पेशियों के संकुंचन आदि जीवन की आवश्यक क्रियाओं में और चल फिरने, बोलने, नेत्रों की मांसपेशियों द्वारा दृष्टि कार्य में त शारीरिक श्रम, जैसे हथौड़ा चलाना, मिट्टी खोदना, बोझ ढो दौड़ना आदि, सभी कार्यों में ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है।

$$\text{यांत्रिक दक्षता} = \frac{\text{कार्य में रूपांतरित होनेवाली ऊर्जा}}{\text{समस्त उन्मुक्त ऊर्जा}}$$

मांसपेशियों की दक्षता आदर्श दशा में ४० % से अधिक न होती है। मनुष्य में तो यह और कम होती है। खिलाड़ी व यांत्रिक क्षमता प्रायः २० % से ३० % ही होती है। इस क्रिया ऊतकों द्वारा ऊर्जा के लिये प्रदान शर्करा तथा ऑक्सीजन आ की माँग तथा जलना बढ़ जाता है, जिसके लिये अधिक रक्त संचार तथा अधिक ऑक्सीजन देने के उद्देश्य से क्रमशः हृदयगति त श्वसन क्रिया वेगपूर्ण हो जाती है। इससे शरीर की ऊष्मा बढ़ जा है तथा लैक्टिक अम्ल एवं कार्बन डाइऑक्साइड को क्रमशः गुर्दा त श्वासोच्छ्वास द्वारा बाहर निकाल फेंका जाता है। जब मांसपे का संकुंचन बार बार होता है, तब व्यक्ति को थकान आने लगती है यदि विद्युत् उत्तेजन द्वारा मांसपेशी में संकुंचन क्रिया की जा तो संकुंचन धीरे धीरे कम होता जाएगा तथा अंत में अनुक्रिया न होगी। कुछ समय तक उत्तेजना को रोक रखने के बाद विश्राम द्वा मांसपेशी स्वस्थ हो जाएगी तथा संकुंचन गुण पुनः वापस आ जाएगा। थकावट की अवस्था से मुक्त होने के लिये ऑक्सीज आवश्यक है। मनुष्य जितना ही अधिक थका रहेगा, उतने अधिक समय बाद कार्य करने की क्षमता उसमें आएगी। यदि अपेक्षाकृत कम विश्राम के बाद कार्य किया जाय, तो इसके फलस्वरू बड़ी बड़ी दुर्घटनाएँ हो सकती हैं, जैसे थका मोटरचालक दुर्घट अधिक करता है, क्योंकि वह आवश्यकता पड़ने पर, या संकेत अनुसार, प्रबल वेगवाले वाहन को रोकने में जहाँ एक से दो सेकं लगाता है, वहाँ थकावट की अवस्था में कई सेकंड लगा देगा तथ उस काल में प्रबल वेगवाला वाहन बहुत आगे बढ़ जाएगा, जिस दुर्घटना हो सकती है।

उपर्युक्त कारणों से मानसिक तथा शारीरिक विश्राम की आवश्य कता होती है। यदि मानसिक विश्राम नहीं होगा, तो मनुष्य में थकाव के कारण संतुलन तथा स्फूर्ति नहीं रहेगी। यह साधारणतः देख

जाता है कि अधिक थकावट के बाद गहरी निद्रा आ जाती है जिससे जागने पर थकावट नहीं मालूम पड़ती है तथा व्यक्ति पुन: स्फूर्ति और प्रफुल्लता का अनुभव करता है। पर यदि पूरा विश्राम न मिले, या निद्रा में विघ्न पड़ जाय, तब व्यक्ति को थकान, आलस्य तथा शक्तिलोप का अनुभव होता है तथा मनन और समझने की मानसिक शक्ति में अव्यवस्था पाई जाती है। जानवरों को भी कार्य के बाद विश्राम तथा निद्रा की आवश्यकता होती है जिससे उन्हें पुन: कार्य करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। [उ० शं० प्र०]

विश्लेषक (Analyst) रसायनविज्ञान में विश्लेषण शब्द का प्रयोग सबसे पहले रॉबर्ट बॉयल (Robert Boyle) ने पदार्थों का संघटन ज्ञात करने की विधि के लिये किया था। रासायनिक विश्लेषणविधि के विशेषज्ञ को विश्लेषक कहते हैं। उसका कार्य है अनेक प्रकार के पदार्थों का विश्लेषण करके उनके संघटन तथा उनकी शुद्धता के विषय में अपनी रिपोर्ट देना। प्रयोगशालाओं तथा उद्योगशालाओं के अतिरिक्त व्यापारिक निर्माण के कारखानों में भी विश्लेषक का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, जहाँ पर उसका काम निर्माण-प्रक्रिया पर नियंत्रण रखना तथा पदार्थों की शुद्धता की समय समय पर परीक्षा करना है। इसके अतिरिक्त उस विशेष व्यवसाय संबंधी शोध कार्यों में भी उसको लगा रहना पड़ता है।

अपराध अभियोगों, या नागरिक अभियोगों की न्यायिक जाँच के अंतर्गत भी विश्लेषक की सेवाओं की बड़ी आवश्यकता होती है। इन कार्यों के लिये सरकार ने रासायनिक परीक्षक (chemical examiner), या अधिकृत विश्लेषक (public analyst), के पद स्थापित कर रखे हैं, जिनकी प्रयोगशालाओं में, अभियोगों की न्यायिक जाँच संबंधी कार्यों के अतिरिक्त, खाद्यपदार्थों, पेय पदार्थों, शराब, तंबाकू तथा दूध आदि का विश्लेषण कार्य भी होता रहता है। विश्लेषक आयात या निर्यात संबंधी पदार्थों का भी विश्लेषण प्रयोगशालाओं में, या चुंगी अथवा सीमा-शुल्क-विभागों द्वारा स्थापित प्रयोगशालाओं में, करता है। इन सबमें विश्लेषक का विशेष महत्व है। सरकारी विश्लेषकों के अतिरिक्त कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से भी इस कार्य को करते हैं। विश्लेषक को रासायनिक विश्लेषण के अतिरिक्त सूक्ष्मदर्शकी, भेषजी तथा चिकित्साविज्ञान का भी ज्ञान होना आवश्यक है।

रासायनिक विश्लेषण में सूक्ष्म विश्लेषण (microanalysis) विधियों का ज्ञान हो जाने के फलस्वरूप प्रयोगशालाओं में सूक्ष्म विश्लेषकों (microanalyst) का विशेष स्थान हो गया है। रासायनिक प्रयोगशालाओं से अनुसंधान कार्य संबंधी प्राप्त यौगिकों के अतिरिक्त, अन्य अनुसंधान कार्यों में, जहाँ प्राप्त पदार्थ बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होता है, विश्लेषण में सूक्ष्म विश्लेषकों की सहायता अनिवार्य है। [रा० दा० ति०]

विश्लेषण शब्दार्थ के अनुसार, संश्लेषण अथवा समन्वय का विपरीतबोधक है एवं किसी विधान या व्यवस्थाक्रम की सूक्ष्मता से परीक्षण करने की तथा उसके मूल तत्वों को खोजने की क्रिया का नाम है।

गणित के क्षेत्र में ग्रीक गणितज्ञों ने प्रमेय को पहले ही सिद्ध किए गए कथनों या प्रमेयों में, अथवा स्वीकृत स्वसिद्ध तथ्यों में, रूपांतरित करके सिद्ध करने की पद्धति को 'विश्लेषण' नाम से अभिहित किया।

व्यापक अर्थ में विश्लेषण प्रतीकों तथा समीकरणों के प्रयोग की वह पद्धति है जिसके द्वारा बीजगणित तथा अत्यल्पीय कलन की प्रक्रियाएँ गणित के विभिन्न क्षेत्रों की अनेक समस्याओं का समुचित हल निकालने के लिये सुलभ होती हैं।

यूरोप में सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के जागरण के युग में रेने देकार्त (१५९६-१६५० ई०) की वैश्लेषिक ज्यामिती ने विश्लेषण का विशेष रूप निर्धारित किया। इसी कृति के आधार पर कलन, अवकलनगणित तथा समाकलनगणित की मूलभूत भावनाओं का विकास हुआ। आज गणितीय विश्लेषण के अंतर्गत गणित की वे सभी पद्धतियाँ हैं जो अपनी क्रियाओं के लिये किसी न किसी प्रकार कलन का अवलंब ग्रहण करती है।

अवकलनगणित तथा समाकलनगणित, वास्तविक चर तथा समिश्र चर फलन सिद्धांत, अनंत श्रेणी, फूरिये श्रेणी एवं फूरियेर समाकल, विशेष फलन (Special Functions), अवकल, अंतर तथा समाकल समीकरण, विचरण कलन एवं विभवसिद्धांत (Potential Theory), प्रायिकता (Probability) और सांख्यिकी के गणितीय पक्ष आदि, इस प्रकार के सभी विषय विश्लेषण की विभिन्न शाखाएँ हैं। कुछ अन्य विषय भी समान प्रणाली का प्रयोग करने के कारण विश्लेषण का नाम ग्रहण करते हैं, जैसे संख्या सिद्धांत के अंतर्गत डायोफैंटी (diophantine) विश्लेषण, सदिश विश्लेषण आदि। परंपरागत गणितीय विश्लेषण में स्थान (topological) बीजगणित की पद्धतियों के प्रयोग के फलस्वरूप बीजगणितीय, अथवा फलनिक, विश्लेषण का जन्म हुआ है। [प्र० श्री०]

विश्वकर्मा वैदिक सौर देवता जिन्हें 'धातृ' तथा 'विधातृ', सर्वद्रष्टा, पृथ्वी तथा प्राणिजगत् का जनक और समस्त देवों का नामकरण करनेवाला कहा गया है। वैदिकोत्तर साहित्य में ये ही शिल्पशास्त्रज्ञ या शिल्पप्रजापति के रूप में प्रतिष्ठित हैं जो प्रभास वसु और बृहस्पति की बहन वरवर्णिनी या योगसिद्धा अथवा वास्तु और आंगिरसी के पुत्र थे। इन्होंने देवताओं के लिये विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्र, आभूषण, विमान, प्रासाद आदि बनाए और द्वारका, इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, वृंदावन, लंका, इंद्रलोक आदि की रचना की। ब्रह्मा के लिये पुष्पक विमान बनाया था जो ब्रह्मा से कुबेर और कुबेर से रावण को मिला। इनके पुत्र नल ने लंका का सेतु बनाया था। इन्होंने दो प्रकार के धनुषों की रचना की थी। इनमें से एक देवताओं ने त्रिपुरासुर के वधार्थ शिव जी को दिया था। दूसरा विष्णु को दिया जो परशुराम को प्राप्त हुआ था।

रामायण में विश्वकर्मा के पुत्र विश्वरूप का वध इंद्र द्वारा कराया गया है (किष्किंधाकांड) और उसी में उस भवन का वर्णन है जिसे कुंजर पर्वत पर विश्वकर्मा ने अगस्त्य के लिये बनाया था। इनकी अन्य रचनाओं में सहस्रार चक्र और कुबेर की अलकापुरी

भी थी। कृति के अतिरिक्त रति, प्राप्ति और नंदी इनकी चार भार्याओं, मनु चाक्षुष, शम, काम, हर्ष, नल, विश्वरूप, वृत्रासुर सात पुत्रों और सज्ञा, छाया, तिलोत्तमा तथा बर्हिष्मती चार कन्याओं का उल्लेख मिलता है। [रा० द्वि०]

विश्वन्यायाधिकरण (International Tribunal) एक तदर्थ (Ad hoc) संस्था है, जो राष्ट्रों के बीच उत्पन्न विवाद को, समझौते की शर्तों के अनुसार, सुलझाने के लिये स्थापित की जाती है। राजनीतिक समस्याओं को छोड़कर, कहा जा सकता है कि आधुनिक विश्वन्यायाधिकरण की उत्पत्ति अंतरराष्ट्रीय मध्यस्थता के क्षेत्र से ही हुई है।

प्राचीन काल में राष्ट्र बहुधा अपने विवाद शांतिपूर्वक सुलझाने के लिये किसी मध्यस्थ का निर्वाचन कर लेते थे। उस समय यह मध्यस्थ एक न्यायाधिकरण का रूप धारण कर लेता था। यद्यपि सोलहवीं, सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में अंतरराष्ट्रीय विधि में काफी उन्नति हुई, तथापि इस बीच मध्यस्थता के बहुत कम दृष्टांत मिलते हैं।

१९ नवंबर, १७९४ को संयुक्त राष्ट्र-अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के बीच हुई जे संधि (Jay Treaty) को वर्तमान मध्यस्थता की नींव माना जाता है। मध्यस्थता के कुछ उदाहरण जैसे १८७० की अलाबामा मध्यस्थता (Alabama Arbitration), १८९३ की बेरिंग सागर मध्यस्थता (Behring sea Arbitration), और १८९७ की ब्रिटिश गायना मध्यस्थता (British Guiana Arbitration) ऐसे हैं जिनमें मध्यस्थता का कार्य योग्य न्यायाधिकरणों द्वारा निष्पादित किया गया था, जिससे इस बात की संभावना उत्पन्न हो गई कि राष्ट्र अपने राजनैतिक तथा प्रादेशिक विवाद भी विधिक रीति से निपटा सकेंगे।

• २९ अक्टूबर, १८९९ को हेग शांतिसंमेलन ने अंतरराष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्वक सुलझाने के विषय पर एक प्रस्ताव पास किया जिसके द्वारा एक स्थायीमध्यस्थन्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना की गई। पर यह स्थायी न्यायालय केवल एक रीति (method) और एक प्रक्रिया (procedure) ही था, वास्तव में वह एक स्थायी न्यायालय नहीं था, बल्कि कहना चाहिए कि वह न्यायालय ही नहीं था।

पहले महायुद्ध के पश्चात्, सन् १९१९ की पेरिस शांतिसंधि में यह तय हुआ कि अंतरराष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिये एक स्थायी न्यायालय स्थापित किया जाय। इस कारण सन् १९२० में लीग ऑव नेशन्स के चार्टर के अंतर्गत एक स्थायी अंतरराष्ट्रीय-न्यायालय (Permanent Court of International Justice) स्थापित किया गया। परंतु इस न्यायालय की स्थापना ने राष्ट्रों के आपसी मतभेदों को दूसरे न्यायाधिकरणों द्वारा सुलझाए जाने के अधिकार को किसी प्रकार भी कम नहीं किया। उदाहरणार्थ १९२२ से १९३७ तक जर्मनी और पोलैंड के बीच दो प्रादेशिक न्यायाधिकरण परिरक्षित किए गए। पहला अपर साइलेशियन मिक्स्ड कमीशन (Upper Silesian Mixed Commission) तथा दूसरा अपर साइलेशियन मध्यस्थ न्यायाधिकरण (Upper Silesian Arbitral Tribunal)। इस न्यायालय की सफलता के कारण अनेक दूसरे न्यायाधिकरणों की स्थापना के प्रस्ताव भी किए गए है। बहुत से अंतरराष्ट्रीय समेलनों में संवणिक (Commercial) विवादों को निपटाने के लिये एक स्थायी न्यायाधिकरण की माँग की गई है। इसी प्रकार अंतरराष्ट्रीय पारितोषिक न्यायालय (International Prize-Court) तथा अंतरराष्ट्रीय दंड न्यायालय (InternationalCriminal Court) की माँग भी कई बार प्रस्तावित की जा चुकी है।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर, यूनाइटेड नेशन्स चार्टर के अंतर्गत, स्थायी अंतरराष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) को समाप्त कर इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस (International Court of Justice) की स्थापना कीगई। यद्यपि विधिक दृष्टि से यह एक दूसरा न्यायालय है तथापि वास्तव में यह पहले न्यायालय का ही अनवरित रूप है, जैसा यू० एन० चार्टर के ९२वें अनुच्छेद से प्रतीत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि १५० वर्ष के अनवरत प्रयत्नों ने विश्व न्यायाधिकरणों को एक ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया है।

किसी भी विश्वन्यायाधिकरण का प्रथम कार्य उन विवादों का न्यायिक निर्णय करना है, जो राष्ट्रों के बीच उत्पन्न होते हैं और जिन्हें विवादग्रस्त राष्ट्र उसे निर्णय के लिये समर्पित करते हैं। विश्व न्यायाधिकरणों के संचालन में कुछ सामान्य समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। पहली समस्या होती है उसका निर्माण। सबसे साधारण प्रकार के विश्वन्यायाधिकरण में एक ही सदस्य होता है, जिसमें किसी सुप्रसिद्ध मनुष्य का निर्वाचन किया जाता है, जैसे प्राचीन काल में बहुधा पोप को मध्यस्थ चुना जाता था। कभी कभी किसी देश के राजा को भी यह स्थान प्रदान किया जाता था, उदाहरणार्थ सन् १९३१ में इटली के सम्राट् ने फ्रांस और मेक्सिको के बीच क्लिपर्टन द्वीप (Clipperton Island) के विवाद को निपटाया था। दूसरे प्रकार का विश्वन्यायाधिकरण एक मिश्रित कमीशन के रूप में होता है, जिसमें प्रत्येक पक्ष के सदस्य होते है। इसका उदाहरण एलास्का सीमा न्यायाधिकरण (Alaskan Boundary Tribunal) है, जो संयुक्त राष्ट्र अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के बीच सन् १९०३ में स्थापित किया गया था। एक तीसरे प्रकार का विश्वन्यायाधिकरण, जो सबसे अधिक प्रचलित है, एक मिश्रित कमीशन के रूप में होता है जिसमें दोनों पक्ष बराबर संख्या में सदस्य भेजते हैं, और ये सदस्य मिलकर एक अन्य सदस्य को चुनते हैं जो किसी भी पक्ष का नहीं होता। पर जब बहुत से राष्ट्र मिलकर एक स्थायी न्यायाधिकरण स्थापित करते है, तो उसका रूप कुछ अलग होता है। स्थायी अंतरराष्ट्रीय न्यायालय का विधान लिखते समय न्यायतत्वज्ञों की समिति ने एकमत हो यह निश्चय किया कि इस न्यायाधिकरण के स्वतंत्र न्यायाधीश, जो संख्या में १५ होंगे, बिना राष्ट्रीयता को विचार में रखते हुए निर्वाचित किए जायेंगे। यही बात इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस के दूसरे और तीसरे अनुच्छेदों में भी दी गई है।

दूसरा महत्वपूर्ण तथा कठिन प्रश्न है विश्वन्यायाधिकरण के सदस्यों के चुनाव का। संसार में कुछ ही मनुष्य इतने योग्य होते हैं कि उनकी योग्यता में सबको विश्वास हो। अस्थायी

न्यायाधिकरण के सदस्यों की संख्या कम होती है तथा उन्हें किसी विशेष विवाद में ही निर्णय देना होता है, जिसका प्रभाव केवल विवादग्रस्त देशों पर ही पड़ता है, अतः उसके सदस्यों के चुनाव में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। किंतु स्थायी न्यायाधिकरण के सदस्यों की समस्या भिन्न है, क्योंकि उनकी संख्या अधिक होती है और उन्हे भिन्न भिन्न प्रकार के विवादों को सुलझाने का भार उठाना पड़ता है, तथा उनके निर्वाचन में भी बहुत से देशो को भाग लेना पड़ता है। एक विश्व न्यायाधिकरण के सदस्य के निर्वाचन में उसके निम्नलिखित गुण विचाराधीन होते हैं : नैतिक सच्चाई, राष्ट्रीयता, व्यवसाय, भाषाओं की योग्यता, उम्र तथा आर्थिक और सामाजिक दृष्टिकोण। इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस के विधान के दूसरे अनुच्छेद में यह दिया है कि उसके सदस्य उन उच्च चरित्रवाले मनुष्यों में से निर्वाचित किए जायँगे, जो कि उन विशेषणों से युक्त हैं जिनकी उनके देश में उच्चतम न्याय अधिकारी की नियुक्ति के लिये आवश्यकता है, अथवा जो अंतरराष्ट्रीय विधि में मानी हुई योग्यता के न्यायतत्वज्ञ हैं।

जहाँ तक विश्व न्यायाधिकरण के अधिकारक्षेत्र (jurisdiction) का प्रश्न है, आमतौर पर राष्ट्र ही अपने विवाद उसके संमुख उपस्थित कर सकते हैं। यही बात इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस के ३४ अनुच्छेद मे भी दी गई है। स्थायी अंतरराष्ट्रीय न्यायालय ने माइनारिटी स्कूल्स इन अपर साइलेशिया (Minority-schools in Upper Silesia, 1928) वाद मे, अपने निर्णय में कहा है कि 'न्यायालय का अधिकारक्षेत्र पक्षो की इच्छा पर निर्भर है'। इसी प्रकार इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस ने कारफ्यू चैनल [Corfu channel (preliminary objection) case 1948.] वाद मे कहा : 'पक्षो की सहमति न्यायालय को अधिकारक्षेत्र प्रदान करती है। 'यह सहमति दो प्रकार की हो सकती है, पहली व्यापक रूप में, दूसरी किसी विशिष्ट वाद में।

विश्व न्यायाधिकरण की क्रियाविधि (Procedure) अधिकतर वही होती है, जो उसके स्थापन करनेवाले आलेख में लिखी हो, पर उसको यह अधिकार भी दिया जाता है कि वह ऐसे नियम बना ले जो उसका कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये आवश्यक हों। इंटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस के विधान के ३८वें अनुच्छेद मे दिया हुआ है कि उसको विवादो का निर्णय अंतरराष्ट्रीय विधि के अनुसार करना होगा, और इसमें उसको अंतरराष्ट्रीय प्रथाओं (Conventions), अंतरराष्ट्रीय आचार (Customs) तथा सभ्य देशों द्वारा अंगीकृत विधि के सामान्य सिद्धांतों को विशेष ध्यान में रखना होगा। पर इसके अतिरिक्त विवादग्रस्त पक्ष न्यायाधिकरण को किसी और सिद्धांत को भी, निर्णय देते समय, ध्यान में रखने को कह सकते हैं। यह विश्वन्यायालयों या न्यायाधिकरणों के समक्ष विवादास्पद कार्यवाही (Contentious Proceedings) एक निर्णय या पंचनिर्णय के रूप मे प्रगट होती है। स्थायी अंतरराष्ट्रीय न्यायालय ने मौसुल वाद (Mosul case, 1925) में कहा है कि 'मध्यस्थ न्यायाधिकरणों ने आम तौर से यह सिद्धांत मान लिया है कि उनका निर्णय वही होगा जो बहुमत द्वारा दिया गया हो।' उक्त न्यायालय के विधान में इसका समावेश है कि विमत या असहमत (dissenting) न्यायाधीश अपना मत अलग प्रगट कर सकते हैं। एक बार जब विश्वन्यायाधिकरण गुण दोष के आधार पर निर्णय (decision on merits) दे देता है तो वह स्थिर और अंतिम होती है।

जब कोई विश्वन्यायाधिकरण अपना अंतिम निर्णय दे देता है, तो उसका कार्य समाप्त हो जाता है, क्योंकि उस निर्णय को प्रचलित करने (enforcing) का अधिकार उसके पास नहीं होता। पर यह एक विशेष ध्यान देनेवाली बात है कि विश्वन्यायाधिकरणों द्वारा दिए गए निर्णय बहुत कम ही राष्ट्रों द्वारा ठुकराए गए है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण से एक आंदोलन चला है, जो राष्ट्रों को अपने विवादो को शांतिपूर्ण रीतियों से सुलझाने तथा न्यायाधिकरणों को विवादों में एक प्रकार का बाध्यकारी अधिकारक्षेत्र (Obligatory jurisdiction) प्रदान करने की प्रेरणा देता है। जैसे जैसे अंतरराष्ट्रीय मध्यस्थता की निष्पक्षता तथा न्यायिक चरित्रता दृढ़ होती जायगी, वैसे वैसे राष्ट्रों के अपने अंतरराष्ट्रीय विवादों को विश्व न्यायाधिकरणों को न सौपने की क्रिया में कमी होती जायगी।

सं० ग्रं० — हडसन, एम० ओ० : इंटरनेशनल ट्राइब्यूनल्स; रालस्टोन, जे० एच० : इंटरनेशनल आरबिट्रेशन फ्राम एथेन्स टू लोकारनो; डारबी, डब्लू० ई० : इंटरनेशनल ट्राइब्यूनल्स, १९०४; श्वाज़नबरजर, जी० : इंटरनेशनल ला, पहला खंड; लाटरपेट, एच० : दि डेवलपमेंट ऑव इंटरनेशनल ला बाई दि परमानेंट कोर्ट ऑव इंटरनेशनल जस्टिस। [जे. एन. स.]

विश्वयुद्ध, प्रथम (१९१४-१९१९) औद्योगिक क्रांति के कारण सभी बड़े देश ऐसे उपनिवेश चाहते थे जहाँ से वे कच्चा माल पा सकें तथा मशीनों से बनाई हुई वस्तुएँ बेच सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सैनिक शक्ति बढ़ाई गई और गुप्त कूटनीतिक संधियाँ की गईं। इससे राष्ट्रों में अविश्वास और वैमनस्य बढ़ा और युद्ध अनिवार्य हो गया। ऑस्ट्रिया के सिंहासन के उत्तराधिकारी आर्चड्यूक फर्डिनेंड और उनकी पत्नी का वध इस युद्ध का तात्कालिक कारण था। यह घटना २८ जून, १९१४, को सेराजेवो में हुई थी। एक मास पश्चात् ऑस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध घोषित किया। रूस, फ्रांस और ब्रिटेन ने सर्बिया की सहायता की और जर्मनी ने आस्ट्रिया की। अगस्त मे जापान, ब्रिटेन आदि की ओर से, और कुछ समय बाद टर्की, जर्मनी की ओर से, युद्ध में शामिल हुए। यह महायुद्ध यूरोप, एशिया व अफ्रीका तीन महाद्वीपों और जल, थल तथा आकाश मे लड़ा गया। प्रारंभ में जर्मनी की जीत हुई। १९१७ मे जर्मनी ने अनेक व्यापारी जहाजों को डुबोया। इससे अमरीका ब्रिटेन की ओर से युद्ध में कूद पड़ा किंतु रूसी क्रांति के कारण रूस महायुद्ध से अलग हो गया। १९१८ ई० में ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने जर्मनी आदि राष्ट्रों को पराजित किया। जर्मनी और आस्ट्रिया की प्रार्थना पर ११ नवंबर, १९१८ को युद्ध स्थगित कर दिया गया। २८ जून, १९१९, को वर्साई की संधि से युद्ध की समाप्ति हुई। [ओं० प्र०]

इस महायुद्ध के अंतर्गत अनेक लड़ाइयाँ हुईं। इनमें से टेनेनबर्ग

(२६ से ३१ अगस्त, १९१४), मार्न (५ से १० सितंबर, १९१४), सरी बइर (Sari Bair) तथा सुवला खाड़ी (६ से १० अगस्त, १९१५), वर्दूं (२१ फरवरी, १९१६ से २० अगस्त, १९१७), आमिएं (८ से ११ अगस्त, १९१८), एवं वित्तोरिओ वेनेतो (२३ से २९ अक्तूबर, १९१८) इत्यादि की लड़ाइयों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ केवल दो का ही संक्षिप्त वृत्तांत दिया गया है।

जर्मनी द्वारा किए गए १९१६ के आक्रमणों का प्रधान लक्ष्य वर्दूं था। महाद्वीप स्थित मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का विघटन करने के लिये फ्रांस पर आक्रमण करने की योजनानुसार जर्मनी की ओर से २१ फरवरी १९१६ ई० को वर्दूं युद्धमाला का श्रीगणेश हुआ। सात जर्मन डिवीजन ने एक साथ मोज़ेल (Moselle) नदी के दाहिने किनारे पर आक्रमण किया तथा प्रथम एवं द्वितीय युद्ध मोर्चों पर अधिकार किया। फ्रेंच सेना का ओज जनरल पेतें (Petain) की अध्यक्षता में इस चुनौती का सामना करने के लिये बढ़ा। जर्मन सेना २६ फरवरी को वर्दूं की सीमा से केवल पाँच मील दूर रह गई। कुछ दिनों तक घोर संग्राम हुआ। १५ मार्च तक जर्मन आक्रमण शिथिल पड़ने लगा तथा फ्रांस को अपनी व्यूह-रचना तथा रसद आदि की सुचारु व्यवस्था का अवसर मिल गया। म्यूज के पश्चिमी किनारे पर भी भीषण युद्ध छिड़ा जो लगभग अप्रैल तक चलता रहा। मई के अंत में जर्मनी ने नदी के दोनों ओर आक्रमण किया तथा भीषण युद्ध के उपरांत ७ जून को वाक्स (Vaux) का किला लेने में सफलता प्राप्त की। जर्मनी अब अपनी सफलता के शिखर पर था। फ्रेंच सैनिक मार्ट होम (Mert Homme) के दक्षिणी ढालू स्थलीय मोर्चों पर डटे हुए थे। संघर्ष चलता रहा। ब्रिटिश सेना ने सॉम (Somme) पर आक्रमण कर वर्दूं को छुटकारा दिलाया। जर्मनी का अंतिम आक्रमण ३ सितंबर को हुआ था। जनरल मैंजिन (Mangin) के नेतृत्व में फ्रांस ने प्रत्याक्रमण किया तथा अधिकांश खोए हुए स्थल विजित कर लिए। २० अगस्त, १९१७ के वर्दूं के अंतिम युद्ध के उपरांत जर्मनी के हाथ में केवल बूमांट (Beaumont) रह गया। युद्धों ने फ्रेंच सेना को शिथिल कर दिया था जब कि आहत जर्मनों की संख्या लगभग तीन लाख थी और उनका जोश फीका पड़ गया था। [गि० शं० मि०]

आमिएँ (Amiens) के युद्धक्षेत्र में मुख्यतः मोर्चाबंदी अर्थात् खाइयों की लड़ाइयाँ हुईं। २१ मार्च से लगभग २० अप्रैल तक जर्मन सेना मोर्चों से बढ़कर अंग्रेजी सेना को लगभग २५ मील धकेलकर आमिएं के निकट ले आए। उनका उद्देश्य वहाँ से निकलनेवाली उस रेलवे लाइन पर अधिकार करना था, जो कैले बंदरगाह से पेरिस जाती है और जिससे अंग्रेजी सेना और सामान फ्रांस की सहायता के लिये पहुँचाया जाता था।

लगभग २० अप्रैल से १८ जुलाई तक जर्मन आमिएं के निकट रुके रहे। दूसरी ओर मित्र देशों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ाकर संगठित की, तथा उनकी सेनाएँ जो इससे पूर्व अपने अपने राष्ट्रीय सेनापतियों के निर्देशन में लड़ती थीं, एक प्रधान सेनापति, मार्शल फॉश के अधीन कर दी गईं।

जुलाई, १९१८ के उपरांत जनरल फॉश के निर्देशन में मित्र देशों की सेनाओं ने जर्मनों को कई स्थानों में परास्त किया।

जर्मन प्रधान सेनापति लूडेनडार्फ ने उस स्थान पर अचानक आक्रमण किया जहाँ अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी सेनाओं का संगम था। यह आक्रमण २१ मार्च को प्रातः ४॥ बजे, जब कोहरे के कारण सेना की गतिविधि का पता नहीं चल सकता था, ४००० तोपों की गोलाबारी से आरंभ हुआ। ४ अप्रैल को जर्मन सेना कैले-पेरिस रेलवे से केवल दो मील दूर थी। ११-१२ अप्रैल को अंग्रेजी सेनापतियों ने सैनिकों से लड़ मरने का अनुरोध किया।

तत्पश्चात् एक सप्ताह से अधिक समय तक जर्मनों ने आमिएँ के निकट लड़ाई जारी रखी, पर वे कैले-पेरिस रेल लाइन पर अधिकार न कर सके। उनका अंग्रेजों को फ्रांसीसियों से पृथक् करने का प्रयास असफल रहा।

२० अप्रैल से लगभग तीन महीने तक जर्मन मित्र देशों को अन्य क्षेत्रों में परास्त करने का प्रयत्न करते रहे, और सफल भी हुए। किंतु इस सफलता से लाभ उठाने का अवसर उन्हें नहीं मिला। मित्र देशों ने इस भीषण स्थिति में अपनी शक्ति बढ़ाने के प्रबंध कर लिए थे।

२५ मार्च को जेनरल फॉश इस क्षेत्र में मित्र देशों की सेनाओं के सेनापति नियुक्त हुए। ब्रिटेन की पार्लमेंट ने अप्रैल में सैनिक सेवा की उम्र बढ़ाकर ५० वर्ष कर दी, और ३,५५,००० सैनिक अप्रैल मास के भीतर ही फ्रांस भेज दिए गए। अमरीका से भी सैनिक फ्रांस पहुँचने लगे थे, और धीरे धीरे उनकी संख्या ६,००,००० पहुँच गई। नए अस्त्रों तथा अन्य आविष्कारों के कारण मित्र देशों की वायुसेना प्रबल हो गई। विशेषतः उनके टैंक बहुत कार्यक्षम हो गए।

१५ जुलाई को जर्मनों ने अपना अंतिम आक्रमण मार्न नदी पर पेरिस की ओर बढ़ने के प्रयास में किया। फ्रांसीसी सेना ने इसे रोककर तीन दिन बाद जर्मनों पर उसी क्षेत्र में शक्तिशाली आक्रमण कर ३०,००० सैनिक बंदी किए। फिर ८ अगस्त को आमिएं के निकट जनरल हेग की अध्यक्षता में ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी सेना ने प्रातः ४॥ बजे कोहरे की आड़ में जर्मनों पर अचानक आक्रमण किया। इस लड़ाई में चार मिनट तोपों से गोले चलाने के बाद, सैकड़ों टैंक सेना के आगे भेज दिए गए जिनके कारण जर्मन सेना में हलचल मच गई। आमिएं के पूर्व आव्र एवं सॉम नदियों के बीच १४ मील के मोरचे पर आक्रमण हुआ, और उस लड़ाई में जर्मनों की इतनी क्षति हुई कि लूडेनडोर्फ ने इस दिन का नामकरण जर्मन सेना के लिये काला दिन किया।

वर्साई की संधि में जर्मनी पर कड़ी शर्तें लादी गईं। इसका बुरा परिणाम द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में प्रकट हुआ और राष्ट्रसंघ की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। [प०]

द्वितीय — (१९३९–१९४५) पेरिस की संधि के पश्चात् विजयी राष्ट्रों ने विजित राष्ट्रों को मनमाना दंड देना चाहा। जर्मनी और इटली आदि देशों में आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ गई कि सत्ता हिटलर और मुसोलिनी जैसे तानाशाही शासकों के हाथ में

आ गई। राष्ट्रसंघ ने उनके अत्याचारों को रोकना चाहा परंतु असफल रहा। रूस और जर्मनी ने पोलैंड पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन और फ्रांस पोलैंड की ओर से युद्ध में कूद पड़े। प्रारंभ में जर्मनी और इटली ने फ्रांस को पराजित किया और उसे इन दोनों देशों से संधि करनी पड़ी। अमरीका की सहायता से ब्रिटेन लड़ता रहा। जापान जर्मनी की ओर से अमरीका के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। इटली ने ब्रिटेन के विरुद्ध अफ्रीका में भी युद्ध प्रारंभ कर दिया। १९४१ में जर्मनी और रूस ने प्रायः समस्त यूरोप पर अधिकार कर लिया। जब बालकन प्रदेशों पर जर्मनी ने अधिकार किया तो रूस उसके विरुद्ध हो गया। जर्मनी ने उसपर आक्रमण किया तो ब्रिटेन और अमरीका ने उसकी सहायता की। १९४२-४४ तक जर्मनी आदि देश आक्रामक नीति छोड़कर अपनी सुरक्षा में लगे रहे। अंत में रूस, ब्रिटेन और अमरीका विजयी हुए। ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी और इटली को बुरी तरह हराया। ७ मई, १९४५ को जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया। अमरीका ने पहली बार परमाणु बम का प्रयोग हीरोशीमा (६ अगस्त, १९४५) तथा नागासाकी पर करके जापान को पराजित किया। भविष्य में शांति रखने के लिये ५१ राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की।

[ओं० प्र०]

विश्वविद्यालय वह संस्था है जिसमें सभी प्रकार की विद्याओं की उच्च कोटि की शिक्षा दी जाती हो, परीक्षा ली जाती हो तथा लोगों को विद्या संबंधी उपाधियाँ आदि प्रदान की जाती हों। इसके अंतर्गत विश्वविद्यालय के मैदान, भवन, प्रभाग, तथा विद्यार्थियों का संगठन आदि भी संमिलित है।

प्राचीन काल में यूरोप के देशों में मान्य अर्थ में कोई विश्वविद्यालय न थे, यद्यपि अनेक महत्वपूर्ण विद्यालय थे, जैसे एथेंस के दार्शनिक विद्यालय, अथवा रोम के साहित्य और नीतिशास्त्र के विद्यालय जो उच्च शिक्षा संस्थाएँ थीं। मध्य युग में शिक्षा पर धार्मिक संस्थाओं का नियंत्रण रहा। धार्मिक संस्थाओं द्वारा विद्यालयों की व्यवस्था की जाती थी जिनमें पादरियों को धार्मिक, साहित्यिक एवं वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इस युग में पेरिस का धार्मिक विद्यालय धर्मशिक्षा का एक केंद्र बन गया, तथा सन् ११६८ तथा १२१५ ई० के बीच पेरिस विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गया, और उसमें धर्मविज्ञान, कला तथा चिकित्सा के प्रभाग बनाए गए। बाद में विशेषज्ञ अध्यापकों और विद्यार्थियों ने मिलकर विश्वविद्यालय चलाए। १२वीं शताब्दी के मध्य के लगभग बोलोना में कानून के विद्यार्थियों के प्रयास से एक कानून विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। सन् १२५० ई० के लगभग विश्वविद्यालय शब्द का प्रयोग नए अर्थ में होने लगा और वे पांडित्यपूर्ण विद्यार्थियों के बजाय शासकों द्वारा अपने राज्यों की राजनीतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्थापित किए जाने लगे। मध्ययुगीन विश्वविद्यालय १३वीं शताब्दी के मध्य के सर्वोत्कृष्ट समय में बौद्धिक स्वतंत्रता की अद्वितीय अवस्था को प्रकट करते हैं। धन के कारण इनकी प्रगति बाधित नहीं हुई और ये अपने स्वतंत्र अधिकारों को नष्ट करनेवाले प्रयत्नों का विरोध करने में सक्षम रहे। ये अपने युग की संस्कृति को निर्धारित करने में प्रभावशाली बने। मध्ययुगीन दर्शन का जन्म कुछ महान् धार्मिक आंदोलनों के समान महाविद्यालयों में हुआ जिसने मध्य युग के यूरोप को हिला दिया और उसकी एकता को विभाजित कर दिया। इसी १३वीं शताब्दी में यूरोप के प्रभाव से इंग्लैंड में भी ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे।

यूरोप में धर्म-सुधार-आंदोलन के साथ विश्वविद्यालय के दृष्टिकोण और विस्तार में एक निश्चित परिवर्तन हुआ। उनकी परंपरागत स्वव्यवस्था और स्वतंत्रता लुप्त हो गई; आचार्य राज्य के सेवक हो गए; कठोर नियंत्रण तथा जाँच की व्यवस्था की गई। विश्वविद्यालय को राज्य तथा तत्संबंधित चर्च के लिये कार्यकर्ताओं को दीक्षित करनेवाली संस्था माना जाने लगा। ये विश्वविद्यालय धार्मिक संस्थाओं से संबंधित होते हुए भी १६वीं शताब्दी के धार्मिक संघर्षों से दूर रहे। इस शताब्दी में विश्वविद्यालय वैज्ञानिक खोजों के केंद्र बन गए। बाद में १७वीं शताब्दी में शिक्षण ही इनका मुख्य कार्य हो गया। १८वीं शताब्दी में विश्वविद्यालय समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल होते गए और उन विभिन्न विषयों की शिक्षा देने का प्रयत्न करने लगे जो व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिये आवश्यक थे। फ्रांस की क्रांति के बाद विश्वविद्यालयों द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा की आयोजना होने लगी। १९वीं शताब्दी में यह अनुभव किया गया कि विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा तथा शोधकार्य पर अपने को केंद्रित करें और माध्यमिक शिक्षा को अपने कार्यक्षेत्र से हटा दें। वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन पर अधिक बल दिया गया। इस काल के विश्वविद्यालय केवल विज्ञान ही नहीं बल्कि राजनीति के केंद्र भी बने, और विभिन्न देशों के राष्ट्रीय उत्थान में राष्ट्रीयता के स्थायी भावों को उत्पन्न करके उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। १९वीं शताब्दी के अंत तक विश्वविद्यालय का संबंध जनता के साथ काफी घनिष्ठ हो गया। २०वीं शताब्दी में विश्वविद्यालयों के दृष्टिकोण में विस्तृत परिवर्तन हुए। बौद्धिक विकास की परंपरागत सीमाओं की उपेक्षा करके उनमें सभी प्रकार के प्राविधिक विषय प्रारंभ किए गए। उपयोगितावाद के प्रभाव में आकर कभी कभी तो उनमें पूर्णतया उपयोगी पाठ्यक्रम की ही प्रधानता हो गई। आधुनिक विश्वविद्यालय अपनी उत्पत्ति तथा सामाजिक संबंध के विचार से तीन में से किसी एक प्रकार के होते हैं: या तो वे धार्मिक संस्था से संबंधित हैं, या राज्य की संस्थाएँ हैं, या फिर व्यक्तिगत समूह द्वारा संचालित हैं। इस प्रकार धीरे धीरे विश्वविद्यालय प्रधानतया धार्मिक क्षेत्र से हटकर जनसाधारण से संबंधित होते गए।

भारत में वैदिक काल के गुरुकुलों को विश्वविद्यालय का प्राचीन रूप कहा जा सकता है क्योंकि उन्हीं में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। बाद में, उपनिषद् तथा ब्राह्मण काल में, हम 'परिषदों' को विश्वविद्यालय के रूप में कार्य करते हुए पाते हैं। ये परिषदें पांडित्यपूर्ण अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के संमेलन के रूप में होती थीं और उपाधियाँ प्रदान करने के अधिकारिणी थीं। बौद्ध काल में शिक्षा के सुसंगठित केंद्रों की स्थापना हुई जिनमें तक्षशिला और नालंदा अत्यंत प्रसिद्ध थे। इनमें शुल्क लिया जाता था। पाठ्यक्रम में वेद, वेदांग तथा विभिन्न कलाएँ, जैसे चिकित्सा, शल्य, ज्योतिष, नक्षत्र

गणना, कृषि, बहीखाता, धनुर्विद्या आदि, संमिलित थे। बौद्ध तथा जैन दर्शन एवं तर्कशास्त्र भी पढ़ाए जाते थे। काठियावाड़ में वल्लभी तथा दक्षिण में कांची भी तक्षशिला और नालंदा के समान शिक्षा के बड़े केंद्र थे।

मुसलमानों के आक्रमण तथा उनके द्वारा राज्यस्थापन से प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालय नष्ट हो गए। मुसलमान शासकों ने विभिन्न स्थानों पर उच्च शिक्षा के लिये 'मदरसा' अथवा महाविद्यालय स्थापित किए। इस काल में लाहौर, दिल्ली, रामपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, जौनपुर, अजमेर, बीदर, आदि स्थानों के मदरसे प्रसिद्ध थे, और उनमें अरबी फारसी साहित्य, इतिहास, दर्शन, रीतिशास्त्र, कानून, ज्यामिति, ज्योतिष, अध्यात्मशास्त्र, धर्मविज्ञान आदि विषय पढ़ाए जाते थे। वस्तुतः यह मदरसे ही विश्वविद्यालयीय शिक्षा की व्यवस्था करते थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल में कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज उच्च शिक्षाकेंद्र के रूप में स्थापित हुए। सन् १८४५ ई० में बंगाल काउंसिल ऑव एजूकेशन ने पहली बार कलकत्ते में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिये प्रस्ताव पास किया जिसे आगे चलकर सन् १८५४ ई० के वुड के घोषणापत्र ने स्वीकार किया। इसके अनुसार कलकत्ता विश्वविद्यालय की योजना लंदन विश्वविद्यालय के आदर्श पर बनाई गई थी और उसमें कुलपति, उपकुलपति, सीनेट, अध्ययन-अध्यापन, परीक्षा, आदि की व्यवस्था की गई। सन् १८५६ ई० तक कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिये योजनाएँ तैयार हो गई, और २४ जनवरी, १८५७ ई० को तत्संबंधी बिलों को भारत के गवर्नरजनरल की स्वीकृति प्राप्त हो गई। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने पहले कार्य आरंभ किया और बाद में उसी वर्ष बंबई तथा मद्रास विश्वविद्यालय ने। प्रारंभ में इन विश्वविद्यालयों में चार प्रभाग, कला, कानून, चिकित्सा और इंजीनियरिंग के खोले गए। ये विश्वविद्यालय महाविद्यालयों को संबंधित (affiliate) करनेवाले थे। बंबई और मद्रास विश्वविद्यालयों का यह अधिकार अपने ही प्रांतों तक सीमित रहा। सन् १८६७ ई० में पंजाब प्रांत में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिये प्रस्ताव किया गया और सन् १८८२ ई० में विशेषतः पूर्वी भाषाओं के अध्ययन के लिये पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। सन् १८८२ ई० के शिक्षा आयोग ने महाविद्यालयीय शिक्षा तथा वित्त संबंधी परिस्थिति का पूर्णरूपेण पुनरवलोकन किया और अपने सुझाव दिए। सन् १८८७ ई० में इलाहाबाद में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। सन् १९०२ ई० के विश्वविद्यालय आयोग ने विश्वविद्यालयों को 'शिक्षण संस्थाओं' के रूप में, तथा सीनेट, सिंडीकेट और फ़ैकल्टी' को मान्यता देने की संस्तुति की। सन् १९०४ ई० के विश्वविद्यालय अधिनियम के द्वारा सीनेट के संघटन में परिवर्तन हुआ, उसकी सदस्यसंख्या में वृद्धि हुई; सिंडीकेट को कानूनी मान्यता मिली और उसमें अध्यापकों का प्रतिनिधित्व भी रहा; आचार्य एवं अध्यापकों की नियुक्ति के नियम तथा शर्तें निश्चित हुई। सन् १९१३ ई० की शैक्षिक नीति के आधार पर ढाका, अलीगढ़, बनारस, पटना, नागपुर आदि में नए शिक्षण तथा सावास विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १९१६ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने स्नातकोत्तर शिक्षा विभागों को प्रारंभ किया। इस विश्वविद्यालय की दशा की जाँच के लिये सन् १९१७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग बना जिसकी रिपोर्ट ने देश में उच्च शिक्षा के रूप एवं विकास पर विशेष प्रभाव डाला। अब विश्वविद्यालय साधारणतया माध्यमिक शिक्षा कार्य से अलग हो गए और उनका ध्यान स्नातक तथा स्नातकोत्तर अध्ययन पर केंद्रित हुआ। पाठ्य विषयों की संख्या तथा उनके विस्तार में वृद्धि हुई, और शिक्षक प्रशिक्षण, कानून, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, भवननिर्माण, कृषि आदि विषयों का अध्यापन होने लगा। सन् १९२४ ई० में अंतर्विश्वविद्यालय परिषद बना जिसने विश्वविद्यालयों के कार्य को सुगठित किया। माध्यमिक शिक्षा के निरंतर विस्तार होने से विश्वविद्यालयों की संख्या भी क्रमशः बढ़ती गई जैसा कि केंद्रीय सलाहकार समिति की रिपोर्टों से प्रकट होता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सन् १९४८ ई० में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना हुई जिसने भारतीय विश्वविद्यालयों को राष्ट्रीय एवम् जनतंत्रात्मक आधार पर पुनःसंगठित करने के लिये विस्तृत सुझाव दिए। देश की दशा एवम् आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए नवीन पाठ्यविषयों को प्रारंभ करने पर जोर दिया गया। इस आयोग की रिपोर्ट के बाद विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ी। विश्वविद्यालयों की आर्थिक दशा की जाँच करने और उच्च शिक्षा के प्रसार हेतु उन्हें उचित अनुदान देने के लिये केंद्रीय सरकार ने एक विश्वविद्यालय अनुदान समिति (University Grants Commission) बनाई। भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षण तथा संबंधित करनेवाले (affiliating) दोनों प्रकार के है। विश्वविद्यालय अनुदान समिति संस्थाओं के शिक्षण रूप धारण करने पर अधिक बल देती है।

कुछ भारतीय विश्वविद्यालय केंद्रीय सरकार पर आधारित हैं, यथा बनारस, अलीगढ़, विश्वभारती आदि। अन्य प्रांतीय विश्वविद्यालय शिक्षण करनेवाले तथा सावास हैं। इनमें विद्यार्थी छात्रावास में रहते, तथा विद्याध्ययन करते हैं। दूसरे प्रकार के विश्वविद्यालय वे हैं जो केवल परीक्षा लेते तथा महाविद्यालयों को संबंधित करते हैं। इन विश्वविद्यालयों में भी अब थोड़ा बहुत शिक्षण कार्य होने लगा है।

विश्वविद्यालयों के प्रशासन के लिये कुलपति, उपकुलपति, प्रबंध समिति (सीनेट), कोर्ट (सभा), शिक्षा समिति (Academic Council), रजिस्ट्रार और उसके सहायक आदि होते है। प्रदेशीय विश्वविद्यालयों के कुलपति प्रायः प्रदेश के राज्यपाल होते हैं, जो अवैतनिक है। केंद्रीय विश्वविद्यालय में राष्ट्रपति को विजिटर (Visitor) के रूप में माना जाता है।

पाठ्यक्रमीय संघटन की दृष्टि से प्रत्येक विश्वविद्यालय अनेक प्रभाग (Faculties), यथा कला, विज्ञान, वाणिज्य, कानून, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, शिक्षा, कृषि, आदि में बँटा हुआ होता है। प्रभाग के प्रधान प्राध्यक्ष (Dean) होते हैं। प्रत्येक भाग के अंतर्गत विभिन्न विभाग होते हैं जिनके अलगअलग

अध्यक्ष होते हैं। अध्यक्ष प्राय: प्रोफेसर (प्राचार्य) कहलाते हैं। उनके सहायक अध्यापकगण रीडर, लेक्चरर अथवा असिस्टेंट प्रोफेसर आदि होते है। विश्वविद्यालय में एक या अनेक प्रभाग होते हैं। कुछ में एक ही प्रभाग है जैसे रुड़की इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय। इन विश्वविद्यालयों द्वारा दी जानेवाली उपाधियाँ भी अनेक प्रकार की हैं। शोध कार्य के निमित्त उच्च उपाधियाँ डी० लिट्०, डी० एस-सी०, एल०-एल० डी०, पी-एच० डी०, डी० फिल०, आदि हैं। बी० ए०, एम० ए०. बी० एस-सी०, बी० कॉम०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०, एल-एल० एम०, बी० टी०, बी० एड०, एम० एड्० आदि की उपाधियाँ प्राय: लिखित परीक्षा के उपरांत दी जाती हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय का प्रति वर्ष एक समावर्तन समारोह (Convocation) होता है जिसमें परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों को उपाधिदान किया जाता है।

आज के विश्वविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयीय शिक्षा की अनेक समस्याएँ हैं जिनपर शासन तथा शिक्षाविदों का ध्यान केंद्रित है। माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के प्रसार के कारण विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बढ रही है, और प्रश्न यह है कि क्या विश्वविद्यालय उन सभी विद्यार्थियों को स्थान दें जो आगे पढ़ना चाहते है, अथवा केवल उन्हीं को चुनकर ले जो उच्च शिक्षा से लाभ उठाने में समर्थ हों? धन की कमी आज सभी विश्वविद्यालयों को महसूस हो रही है। भारत में विश्वविद्यालयीय शिक्षा का माध्यम क्या हो? यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। शोध कार्य को प्रश्रय देने की समस्या भी ध्यान आकर्षित करती है। कुछ विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता भी एक समस्या है। योग्य अध्यापकों को विश्वविद्यालय में आकर्षित करना तथा उन्हें बनाए रखना कम महत्वपूर्ण नहीं। देश की वर्तमान दशा को देखते हुए तथा हमारी आज व कल की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किस प्रकार के पाठ्यविषय प्रारंभ किए जाएँ और आगे के विश्वविद्यालयों का क्या रूप हो? ये प्रश्न राष्ट्रोत्थान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

सं० ग्रं० — इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका; इंसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज; ए० एन० बसू : यूनिवर्सिटीज इन इंडिया; रिपोर्ट ऑव द यूनिवर्सिटी कमिशन; आर० के० मुकर्जी : एंशेंट इंडियन एजूकेशन; ए० एस० अल्तेकर : एजुकेशन इन एंशेंट इंडिया; इंसाइक्लोपीडिया ऑव माडर्न एजूकेशन; हुमायूँ कबीर : एजूकेशन इन न्यू इंडिया। [सु० अ०]

विश्व के प्रमुख विश्वविद्यालय

परंपरागत प्राप्त मानवज्ञान का संरक्षण, नवीन ज्ञान का संरक्षण, नवीन ज्ञान का अनुसंधान, संवर्धन एवं प्रसार आधुनिक विश्वविद्यालयों के प्रमुख कार्य हैं। इसीलिये वे साहित्य, कला, दर्शन, समाजविज्ञान, विज्ञान, प्रशासन, व्यवसाय, व्यापार उद्योग एवं तकनीकी आदि के शिक्षण एवं अनुसंधान की अपने यहाँ व्यवस्था करते हैं, और शिक्षा-सेवा-विस्तार (एज्युकेशन एक्स्टेंशन) के द्वारा उनको भी लाभान्वित करने की चेष्टा करते हैं, जो विश्वविद्यालय के छात्र होकर अध्ययन नहीं कर सकते। ज्ञानानुसंधान, एवं प्रसार के लिये यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों में बौद्धिक स्वातंत्र्य हो। विश्वविद्यालय अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में सद्भावना स्थापित करने के भी शक्तिशाली माध्यम हैं।

प्राचीन भारत के विश्वविद्यालयों में तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी, नदिया, उदयंतपुरी, कांची आदि विश्वविद्यालयों ने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। इनमें विदेशों से भी छात्र अध्ययन के लिये आते थे। भारतीय शिक्षा परंपरा मे आत्मज्ञान के लिये शिक्षा, गुरु और शिष्य का पिता तुल्य संबंध, शिक्षाकाल में ब्रह्मचर्यपालन का तपस्यामय जीवन, निःशुल्क शिक्षा तथा बौद्धिक स्वातंत्र्य आदि भावों की प्रधानता थी। मध्यकाल के शिक्षाकेंद्रों में लाहौर, दिल्ली, रामपुर, जौनपुर, बीदर और अजमेर आदि विशाल शिक्षाकेंद्र थे। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के उपरांत सन् १८५७ मे कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना तत्कालीन लंदन विश्वविद्यालय के नमूने पर हुई थी। ये केवल परीक्षा लेनेवाले विश्वविद्यालय थे। कैंब्रिज और आक्सफोर्ड के समान इनमें सहजीवन न था। सन् १९१३ से सन् १९२१ तक छह आवास एवं शिक्षणसमन्वित विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १९१६ में महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय, तथा सन् १९२० में सर सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय की स्थापना की। सन् १९१८ में निजाम हैदराबाद ने उसमानिया विश्वविद्यालय स्थापित किया। उसमें उच्च शिक्षा का माध्यम उर्दू रखा गया था।

स्वाधीनताप्राप्ति के उपरांत भारत के विश्वविद्यालयों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। भारत के विश्वविद्यालयों में से कुछ विश्वविद्यालय विशिष्ट विषयों कृषि, इंजीनियरिंग, संस्कृत, संगीत आदि के अध्ययन को प्रधानता देने की दृष्टि से स्थापित किए गए है। उदाहरण के लिये 'उत्तर प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय, रुद्रपुर नैनीताल, पंजाब कृषि विश्वविद्यालय लुधियाना, कृषि एवं तकनीकी विश्वविद्यालय भुवनेश्वर (उड़ीसा), आंध्र प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय हैदराबाद, जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय रुड़की आदि हैं। इसी प्रकार काशी तथा दरभंगा में संस्कृत विश्वविद्यालय तथा खैरगढ़ (मध्यप्रदेश) इंद्रा कला, और संगीत विश्वविद्यालय है। केवल महिलाओं के लिये बंबई में थैकरसी विश्वविद्यालय है।

इनके अतिरिक्त कुछ शिक्षण संस्थाओं को उनके विशिष्ट महत्व के कारण विश्वविद्यालय के समक्ष माना गया है। गुजरात विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, जामेमिलिया देहली, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, ने स्वाधीनताप्राप्ति के पूर्व राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। अतः उन्हें विश्वविद्यालय के समकक्ष स्थान दिया गया। विज्ञान तकनीकी एवं समाजविज्ञान के शिक्षानुसंधान की विशिष्टताओं के कारण बिड़ला तकनीकी एवं विज्ञान संस्थान पिलानी, भारतीय विज्ञान संस्थान बंगलौर, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान देहली, टाटा समाजविज्ञान संस्थान बंबई तथा भारतीय अंतरराष्ट्रीय अध्ययन संस्थान देहली को भी विश्वविद्यालय के समकक्ष माना गया है।

तेरहवीं शताब्दी में स्थापित ब्रिटेन के आक्सफर्ड एवं कैंब्रिज विश्वविद्यालय उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी तक निर्मित बरमिंघम,

लीड्स, मैनचेस्टर, लिवरपूल, न्यूकैसल, ग्लासगो, एडिनबरा, विक्टोरिया, डरहम, आदि विश्वविद्यालयों के समान ही ज्ञान, विज्ञान के आधुनिकतम शिक्षा संस्थानों से संपन्न होकर प्राचीन और आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यूरोप के इसी प्रकार के अन्य प्राचीन विश्वविद्यालयों में फ्रांस के, पेरिस विश्वविद्यालय (स्थापित १२५३ ई०), टाल्लोज (१२२६ ई०) मौपैलियर (Montpellier, १२८९ ई०), इटली के नेपल्स (१२२४ ई०), फ्लॉरेंस (१३२१ ई०), रोम (१३०३ ई०) जेनोआ (१४७१ ई०); जर्मनी का म्यूनिख (१४७२ ई०) स्पेन के बार्सीलोना (१४५० ई०) मैड्रिड (१५०८), पुर्तगाल के कोइंब्रा [Coimbra, १२९० ई०)], स्वीडन का उपसाला (१४७७ ई०) तथा नीदरलैंड का लाइडन (१५७५ ई०) आदि विश्वविद्यालय अपनी प्राचीन एवं नवीन शिक्षा परंपराओं के संदेशवाहक होकर विद्यमान हैं।

कोलंबिया, न्यूयार्क, ओहायो, कैलीफोर्निया, फ्लोरिडा, शिकागो, हार्वर्ड, वाशिंगटन, इंडियाना, मिशीगन, येल आदि अमरीका के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है।

रूस में मास्को, लेनिनग्राड जैसे विशाल केंद्रीय विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त सोवियत संघ के विशाल भूभागों के लिये सेंट्रल एशियन लेनिन विश्वविद्यालय 'फार ईस्ट विश्वविद्यालय' तथा सोवियत संघ के विभिन्न राज्यों के अपने अलग अलग विश्वविद्यालय हैं। सोवियत संघ की अकादमी ने अनुसंधान क्षेत्र में युगपरिवर्तनकारी कार्य किए हैं।

चीन में पीपल्स यूनिवर्सिटी ऑव चाइना, पेकिंग, के नमूने पर चीन के सभी प्रमुख प्रदेशों में विश्वविद्यालय की पुनःस्थापना की गई है जिनमें मार्क्सवादी दर्शन और तकनीकी शिक्षा की प्रधानता है। शंघाई, पूनान, पेकिंग, नानकिंग आदि वहाँ के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय हैं।

एशिया एवं ऑस्ट्रेलिया के सभी देशों के प्रमुख नगरों में विश्वविद्यालय हैं। किसी किसी नगर में कई विश्वविद्यालय हैं। फिलिपीन के मनीला जैसे नगर में ही पाँच विश्वविद्यालय हैं। छात्रों की संख्या की दृष्टि से एशिया में चीन, जापान और भारत में बड़े विश्वविद्यालय हैं। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत जहाँ जापान ने अन्य क्षेत्रों में पुनर्निर्माण किया है वहाँ विश्वविद्यालय के शिक्षा क्षेत्र में भी। वहाँ के टोकियो, होकाइडो, कियोटो, हिरोशाकी, तथा हिरोशिमा आदि विश्वविद्यालय ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में उपयोगी कार्य कर रहे हैं। विश्वविद्यालय क्षेत्र की शिक्षा में अफ्रीका भी उन्नतिशील है। दक्षिणी अफ्रीका के प्रिटोरिया, नटाल, डरबन, केपटाउन, ट्रांसवाल आदि उन्नतिशील विश्वविद्यालय हैं। [र० श० श०]

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग : संगठन और कार्य सन् १९५६ ई० के संसदीय अधिनियम के अंतर्गत स्थापित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई है। शिक्षा-संसार तथा केंद्र एवं राज्य सरकार से इसे सम्मान प्राप्त है। सरकार और विश्वविद्यालयों के बीच में एक ऐसी समिति अंतस्थापित करना जिसके सदस्य राजनीतिक संबद्धता के कारण नहीं बल्कि ज्ञान और शैक्षिक स्थान के आधार पर चुने जाते हों, वास्तव में राष्ट्रमंडलीय युक्ति है। संयुक्त राज्य की विश्वविद्यालय अनुदान समिति १९१९ ई० में स्थापित की गई जब विश्वविद्यालयों के वित्तीय असंतुलन से संयुक्त राज्य सरकार बहुत चिंतित थी। संयुक्त राज्य कोष ने विश्वविद्यालय शिक्षा की वित्तीय आवश्यकताओं की जाँच पड़ताल करने के लिये तथा संसद् द्वारा दिए जा सकनेवाले अनुदान की प्रयुक्ति पर सरकार को मंत्रणा देने के लिये विश्वविद्यालय अनुदान समिति के नाम से एक स्थायी समिति का प्रारंभ किया।

भारतीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग १९५६ में स्थापित हुआ, ऑस्ट्रेलियाई विश्वविद्यालय आयोग १९५९ में, न्यूजीलैंड का विश्वविद्यालय अनुदान आयोग १९६१ में, और श्रीलंका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग १९६२ में। ये सब संस्थाएँ उसी प्रयोजन के लिये स्थापित हुईं जिसके लिये अद्वितीय ब्रितानी विश्वविद्यालय अनुदान समिति १९१९ में स्थापित हुई थी। इन सब संस्थाओं को ब्रितानी विश्वविद्यालय अनुदान समिति के ४५ वर्षों के अनुभव का लाभ प्राप्त है। गैर-राष्ट्रमंडलीय देशों में इसके सदृश संस्था है, अमरीका की नेशनल सायंस फाउंडेशन जो १९५० में स्थापित हुई और जो अमरीकी सरकार की संघीय निधि से भौतिक, सामाजिक और जैव विज्ञानों के संपूर्ण क्षेत्र में आधारभूत अनुसंधान के लिये, मुख्यत: कालेजों और विश्वविद्यालयों को अनुदान द्वारा आश्रय और परामर्श देती है।

भारत सरकार का विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ब्रितानी विश्वविद्यालय अनुदान समिति से थोड़ा अलग ढंग से कार्य करता है, क्योंकि इसे वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं और इसके कार्य संसदीय अधिनियम के अधीन संपादित होते हैं। इसके अतिरिक्त संविधान की परिगणना (Schedule) VII की प्रविष्टि (entry) ६६ में वर्णित संवैधानिक कर्तव्य (obligation) भी इसकी शक्ति के स्रोत हैं। वास्तव में, संविधान के अनुसार भारत में शिक्षा का विषय राज्यों के अधीन है लेकिन प्रविष्टि ६६ से स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने भारत में उच्च शिक्षा के भविष्य पर दूरदर्शिता से विचार किया था। इसका अर्थ है कि उच्च शिक्षा संस्थाओं के स्तरों का समन्वय और निर्धारण केंद्रीय सरकार का कर्तव्य है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम की धारा १२ के अधीन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के काम इस प्रकार बताए गए है— 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का यह साधारण कर्तव्य होगा कि विश्वविद्यालयों और अन्य संबंधित संस्थाओं की राय से विश्वविद्यालय शिक्षा के उन्नयन और समन्वय के लिये तथा विश्वविद्यालय में शिक्षा, परीक्षा एवं अनुसंधान के स्तरों के निर्धारण और अनुरक्षण के लिये यह ऐसे सब काम करे जो इसे समुचित लगें'। इस धारा के अधीन आयोग को इस प्रकार के कार्य करने जरूरी हैं जैसे भारतीय विश्वविद्यालयों की वित्तीय आवश्यकताओं का पता लगाना और उनके स्तरों के अनुरक्षण एवं विकास के लिये निधियाँ देना।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के नौ सदस्य होते हैं जिसमें सरकार द्वारा मनोनीत विश्वविद्यालय उपकुलपतियों की संख्या अधिकतम तीन होती है। देश की विश्वविद्यालय शिक्षा के अनुभव

और ज्ञान तथा निष्पक्षता और अखंडता की भावना के आधार पर इन्हें चुना जाता है। सरकार का प्रतिनिधित्व दो अधिकारी, सामान्यत: वित्त-सचिव और शिक्षा-सचिव, करते हैं। अन्य चार सदस्य प्रसिद्ध शिक्षाविद् और उच्च शैक्षिक योग्यताप्राप्त व्यक्ति होते हैं। इनमें से एक को आयोग का अध्यक्ष बनाया जाता है। केंद्र या राज्य सरकार के अधिकारी अध्यक्ष नहीं बन सकते। पिछले दस वर्षों में आयोग को इससे बड़ा लाभ हुआ। प्रसिद्ध शासक एवं शिक्षाविद् डा० चिं० दा० देशमुख, दिल्ली विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति तथा भारत के भूतपूर्व वित्तमंत्री, १९५६ के बाद ६ साल तक इसके अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् सौभाग्यवश डा० दौलतसिंह कोठारी अध्यक्ष हुए। प्रथम अध्यक्ष ने आयोग की कार्यविधियों के लिये मजबूत नींव तैयार की और विश्वविद्यालयों तथा केंद्र एवं राज्य सरकारों के साथ विचार विमर्श की परंपरा स्थापित की। इसके बाद डा० दौलतसिंह कोठारी ने विश्वविद्यालयों में विकास के नए कार्यक्रम शुरू किए जैसे उच्च अध्ययन केंद्र की स्थापना, विश्वविद्यालयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये, विशेषतया विज्ञान में, ग्रीष्मकालीन कक्षाओं का आयोजन, और विश्वविद्यालय की सहायता के लिये अन्य बहुत सी योजनाएँ। अध्यक्ष और सचिव आयोग के पूर्णकालिक वैतनिक अधिकारी होते हैं और अन्य सदस्य अवैतनिक।

आयोग की सहायता के लिये एक सचिवालय है जिसमें एक सचिव, एक संयुक्त सचिव, तीस अन्य अधिकारी तथा करीब दो सौ अन्य कर्मचारी हैं। नई दिल्ली में इसके दफ्तर के लिये अपना मकान है और इसका प्रशासनिक व्यय बहुत ही कम है—कुल वार्षिक बजट का प्राय: १·५ प्रतिशत। उदाहरणार्थ, १९६५-६६ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का कुल बजट करीब १५·६ करोड़ रुपए था जिसमें से प्रशासनिक व्यय सिर्फ २० लाख रुपए हुआ। १५·४ करोड़ रुपए केंद्रीय और राज्य विश्वविद्यालयों को उचित विकास अनुदान देने पर तथा केंद्रीय विश्वविद्यालयों को अनुरक्षण अनुदान देने पर खर्च हुए। आज ऐसे विश्वविद्यालयों की संख्या इस प्रकार है—केंद्रीय विश्वविद्यालय ४, राज्य विश्वविद्यालय ६५ और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम के अधीन विश्वविद्यालय मानी गई संस्थाएँ ९।

स्तर बनाए रखने के लिये विश्वविद्यालयों को अनुदान देने के अतिरिक्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को यह भी अधिकार है कि यह विश्वविद्यालय विभागों का निर्धारित तरीके से निरीक्षण कर सके। इसके लिये विश्वविद्यालय को निरीक्षण की तिथि सूचित करना आयोग के लिये जरूरी होगा और निरीक्षण कार्य से विश्वविद्यालय भी संबद्ध रहेगा। निरीक्षण परिणाम के संबंध में आयोग अपने विचार विश्वविद्यालय को प्रेषित करेगा और विश्वविद्यालय की राय मालूम करने के बाद उससे यह सिफारिश करेगा कि निरीक्षण के फलस्वरूप विश्वविद्यालय क्या क्या करें।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम में यह भी अधिकार है कि विश्वविद्यालय की ओर से दी गई सफाई को ख्याल में रखते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अनुदान देना रोक दे। अपवाद स्वरूप ही ऐसे अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है। पिछले दस वर्षों में अब तक इनका प्रयोग नहीं किया गया है परंतु ये विश्वविद्यालयों की रोकथाम का काम करते हैं।

इसी तरह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम में धारा २० के अधीन राष्ट्रीय प्रयोजनों से संबंधित नीतियों के प्रश्न पर आयोग को केंद्रीय सरकार के निर्देशन से मार्गदर्शन प्राप्त करना होगा। फिर भी, यह बता दिया जाए कि अब तक ऐसे निर्देश दिए जाने का मौका नहीं हुआ है क्योंकि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारें पूर्ण समन्वित रूप में काम करती हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के हितों को सरकार का समर्थन प्राप्त होता है और राष्ट्रीय आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय नीति पर सरकार के विचार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्यों में प्रतिध्वनित होते हैं।

अधिनियम ने आयोग को जो काम करने की जिम्मेदारी दी है उनके कार्यान्वियन के लिये आयोग की बैठक जनवरी और जून छोड़कर हर महीने में एक बार होती है—साधारणत: महीने के प्रथम बुधवार को। इस प्रकार साल में दस बैठकें होती हैं, यद्यपि विशेष बातों के लिये असाधारण बैठकें भी हो सकती हैं। आयोग की बैठकों में प्रस्ताव पारित होते हैं जिनके अनुसार सचिवालय अनुदान देता है या विश्वविद्यालय, राज्य सरकार और केंद्रीय सरकार को आयोग के परामर्श प्रेषित करता है। विशेष समस्याओं के लिये अनेक तदर्थ या विशेष समितियाँ बनाने की जरूरत पड़ती है, जैसे उच्च अध्ययन केंद्र समिति, नवीन विश्वविद्यालय समिति, क्षेत्र अध्ययन समिति, ग्रीष्मकालीन कक्षा समिति इत्यादि। इनमें से कुछ अब स्थायी समितियाँ बन गई हैं।

प्रत्येक पंचवर्षीय विकास योजना के प्रारंभ में योजना आयोग की सलाह पर सरकार आयोग को बता देती है कि विकास कार्यक्रमों के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को कुल कितनी निधियाँ मिलेंगी। चार केंद्रीय विश्वविद्यालय-दिल्ली, वाराणसी, अलीगढ़ और विश्वभारती के अनुरक्षण अनुदान के लिये तथा दफ्तर के प्रशासनीय खर्च के लिये सरकार अतिरिक्त निधि देती है। प्रत्येक योजना के शुरू में आयोग जो सबसे महत्वपूर्ण कदम उठाता है वह है विभिन्न विश्वविद्यालयों के लिये जाँच समिति नियुक्त करना। आयोग द्वारा विश्वविद्यालयों को बता दिया जाता है कि विभिन्न विभागों और संबद्ध कालेजों के विकास के लिये उनको आयोग करीब करीब कितनी रकम देगा। तब जाँच समितियाँ विश्वविद्यालय योजनाओं की परीक्षा करती हैं और योजनावधि में होनेवाली वित्तीय आवश्यकताओं पर आयोग को राय देती हैं। तत्पश्चात् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अपने वित्तीय साधन देखते हुए हर विश्वविद्यालय को विकास के लिये धनराशि वितरित करता है। कार्यक्रमों की मंजूरी विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं के अनुसार और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विशेषज्ञों द्वारा की गई जाँच को देखते हुए दी जाती है। कालेज विकास, उच्च अध्ययन केंद्र, ग्रीष्मकालीन कक्षा जैसे विशेष कार्यक्रम विश्वविद्यालय अनुदान

आयोग खुद ही विश्वविद्यालयों और कालेजों के विचार विमर्श से चलाता है। वार्षिक योजना के जरिए बजट बनाने का सामान्य तरीका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग पर भी लागू होता है। परियोजनाओं को घटाने बढ़ाने की भी बड़ी जरूरत होती है क्योंकि कुछ परियोजनाओं की प्रगति अच्छी होती है और कुछ परियोजनाएँ निर्माण में कठिनाइयों के कारण या नए पदों के लिये उपयुक्त व्यक्ति न मिलने के कारण या ऐसे ही कारणों से, पिछड़ जाती हैं।

इस तरह के काम से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सचिवालय के अधिकारियों पर बहुत अधिक भार पड़ता है। विश्वविद्यालयों की कुछ कठिन समस्याओं को सुलझाने के लिये तदर्थ विशेष समितियाँ नियुक्त की जाती हैं। विश्वविद्यालयों और कालेजों के कार्यक्रमों को देखने जाने का और विशिष्ट प्रश्नों पर विचार विमर्श करने का प्रबंध करना होता है। विश्वविद्यालयों मे जानेवाली समितियाँ और अधिकारीगण रिपोर्ट देते हैं और इनकी राय पर आयोग कोई निर्णय करता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के विगत दस वर्षों के अस्तित्व में, उच्च शिक्षा स्तर के विकास के लिये किए गए कामों का प्रभाव भौतिक एवं शैक्षिक रूप मे प्रकट है। स्नातकोत्तर और अनुसंधान स्तर पर उच्च शिक्षा क्षेत्र मे बड़ी प्रगति हुई है और इस बात पर मतभेद नही हो सकता कि अब हमारे विश्वविद्यालय पहले की अपेक्षा ज्ञान के अधिक व्यापक क्षेत्र में कार्य करते हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने कई समीक्षा समितियाँ पाठ्यक्रम विषयो की उन्नति पर राय देने के लिये नियुक्त की हैं। विश्वविद्यालय अब इन परामर्शों को कार्यान्वित कर रहे है और विश्वविद्यालयो एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की बातचीत के फलस्वरूप पाठ्यक्रम विषय की उन्नति का कार्यक्रम निरंतर जारी रहता है। इसका यह परिणाम हुआ है कि पाठ्यक्रम-विषय दस वर्ष पहले की अपेक्षा गुण और विस्तार में अब बहुत ही बेहतर हो गए हैं।

एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय में या एक ही विश्वविद्यालय के एक विभाग से दूसरे विभाग में शिक्षास्तर में फर्क हो सकता है, लेकिन यह मानना होगा कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता के फलस्वरूप जिस किसी विभाग में सुयोग्य और उचित संख्या में शिक्षक हैं और पुस्तकालय तथा प्रयोगशाला की समुचित व्यवस्था है वहाँ पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा-स्तर ऊँचा उठा है। जिन नवसंस्थापित संस्थाओं में छात्रसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है और उसी अनुपात में शिक्षक, प्रयोगशाला और अन्य सुविधाओं की वृद्धि नहीं हुई है उनमें शिक्षास्तर का नीचा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। फिर भी, किसी विकासोन्मुख समाज में शिक्षास्तर के उत्थान के लिये विश्वविद्यालयों के बीच अनुसंधान एवं प्रशिक्षण के सर्वोत्तम परिणाम के लिये स्वस्थ प्रति-योगिता का होना आवश्यक है। कई विषयों में, विशेषत: जिनमें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने उच्च अध्ययन केंद्र स्थापित किए हैं, शिक्षा एवं अनुसंधान का वर्तमान स्तर विकसित देशों के विश्व-विद्यालयों के सर्वोत्तम स्तर के बराबर है।

अनुसंधान और स्नातकोत्तर अध्ययन के लिये विश्वविद्यालयों को दिए गए विकास अनुदानों के फलस्वरूप विज्ञान के स्नातकोत्तर स्तर पर छात्रनामांकन १९५०-१९५१ के ४००० के मुकाबिले १९६३-१९६४ में १७००० हो गया। यह वृद्धि चार गुना से भी अधिक है। विज्ञान में अनुसंधान के लिये छात्रनामांकन उसी अवधि में ७११ से बढ़कर २२५५ हो गया। इसी प्रकार मानवशास्त्र और सामाजिक विज्ञान में तिगुनी वृद्धि हुई है। फिर भी यह विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग को ज्ञात है कि विश्वविद्यालय शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में, खासकर स्नातकपूर्व क्षेत्र में शिक्षास्तर उठाने के लिये स्नातकोत्तर विभागों को सर्वप्रथम शक्तिशाली बनाना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से प्रशिक्षित छात्र भविष्य की अर्थव्यवस्था की शक्ति हैं। राष्ट्रीय विकास के काम में ये आगे रहते हैं और विश्व-विद्यालय तथा कालेजों में शिक्षक रूप में लौटकर उन्हें सशक्त करते हैं। इसलिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से विश्व-विद्यालय की प्रयोगशालाओं और पुस्तकालयों को विकसित किया गया है। पिछले सात वर्षों में बहुत सारे विश्वविद्यालयों में विश्वविद्यालय पुस्तकालय स्थापित किए गए हैं और करीब १·५ करोड़ रुपए भवननिर्माण आदि पर तथा इतने ही रुपए अतिरिक्त पुस्तकों की खरीद के लिये खर्च किए गए हैं। इसी प्रकार का खर्च वर्तमान प्रयोगशालाओं के विकास पर और नई प्रयोगशालाएँ बनाने पर हुआ है। इतने अधिक छात्रों को, चाहे स्नातकपूर्व हों या स्नातकोत्तर, अध्ययन के लिये पुस्तकालयों में और प्रायोगिक एवं अनुसंधान कार्य के लिये प्रयोगशालाओं में मनोनुकूल वातावरण पाने का सुख अब तक कभी नहीं प्राप्त हुआ था। इसी तरह संबद्ध कालेजों को भी विकसित किया गया है और विगत पाँच वर्षों मे इनमें २५१ छात्रा-वास, २६३ पुस्तकालय तथा प्रयोगशालाएँ, २०४ अनिवासी छात्रकेंद्र, ६५ हॉबी वर्कशाप, और ६०० पाठ्यपुस्तक पुस्तकालय स्थापित किए गए हैं। ७२३ कालेजो को त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम की सुविधाओं के विकास के लिये बड़े अनुदान दिए गए हैं और वेतनमान के सुधार के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा किए गए कामों से शिक्षकों को प्रसन्नता हुई है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के विभिन्न कार्यों के लिये जो धन आयोग को मिल रहा है उससे अधिक मिलना चाहिए। राज्य भी इन कार्यों में शामिल हों, इसके लिये आयोग की यह आशा उचित ही होगी कि राज्य सरकारें इन कार्यक्रमों के खर्च में हिस्सा बँटाएँ क्योंकि प्रत्येक पाँच वर्ष के अंत में विश्वविद्यालयों और कालेजों के अनुरक्षण का दायित्व राज्य पर ही आ जाता है और विकास के आयोजन में योजना आयोग ने खयाल करके राज्य सरकारों के हिस्से मे उच्च शिक्षा के विस्तार और विकास के लिये धन का प्रबंध किया है। उदाहरणार्थ, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के हिस्से में २० करोड़ रुपए रखे गए थे तो राज्यों के हिस्से में २२ करोड़। तृतीय पंचवर्षीय योजना में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के हिस्से में ३७ करोड़ रुपए और राज्यों के हिस्से में ३८ करोड़ रखे गए। ऐसा प्रस्ताव है कि चतुर्थ योजना में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के हिस्से में ५८ करोड़ रुपए रखे जाएँगे और इससे कुछ अधिक राज्यों के हिस्से में। इस प्रकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग शिक्षास्तरों का समन्वय करेगा

और विश्वविद्यालयों की आवश्यकताओं को राज्य एवं केंद्र सरकारों के समक्ष रखने में एक अच्छे दूत का काम करेगा।

विश्वविद्यालय-शिक्षा ज्ञान के अर्जन, संप्रेषण और प्रयोग के लिये है और किसी भी विकास के लिये विश्वविद्यालय के इन तीन मुख्य कामों में से प्रत्येक को सशक्त करने की जरूरत होती है। अनुसंधान से ज्ञान का अर्जन होता है, शिक्षण से ज्ञान का संप्रेषण और विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति करनेवाली लोकसेवाओं में ज्ञान का प्रयोग। इस तरह, किसी भी समाज में, खासकर अविकसित देशों में, जनता के आर्थिक और प्रगतिशील विकास का गढ़ विश्वविद्यालय ही है, और व्यावसायिक संस्था के रूप में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग परामर्श, शैक्षिक प्रेरणा, विचार विमर्श और विकास की निधियों के जरिए इस राष्ट्रीय उद्देश्य का समर्थन करता है। [के० एल० जो०]

विश्वामित्र गोत्रसूची में यह नाम है। अत: विश्वामित्र नाम के अनेक व्यक्ति होंगे, यह निश्चित है। वस्तुत: वैदिक वाङ्मय के विश्वामित्र और पुराणादि में पठित विश्वामित्र (जिनकी अनेक कथाएँ मिलती हैं) एक व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि इस गोत्र के विभिन्न व्यक्ति हैं, जो विभिन्न काल में हुए थे। श्रुति पुराणादि में विश्वामित्र संबंधी कथाओं के सूक्ष्म अध्ययन से कई पृथक् विश्वामित्रों की सत्ता ज्ञात होती है, जैसा पर्जिटर महोदय ने दिखाया है (Ancient Indian Historical Tradition, Ch-XXI)। वेदोक्त सुदास् नामक राजा से संबंधित विश्वामित्र, अयोध्याराज कल्माषपाद नृप से संबंधित विश्वामित्र, ताड़कानिधनकारी राम का सहायक विश्वामित्र एवं मेनका के गर्भ में शकुंतला को जन्म देनेवाला विश्वामित्र एक व्यक्ति नहीं हो सकता—ऐसा ज्ञात होता है।

कान्यकुब्जनृप कुशिकपुत्र गाधि का पुत्र विश्वामित्र पुराणो में बहुधा निर्दिष्ट हुआ है। वसिष्ठ के पुत्रो का नाश, स्नानादि की सुविधा के लिये कौशिकी नदी का निर्माण, नंदिनी धेनु के अपहरण को लेकर वसिष्ठ के साथ विवाद करना और उनके तपोबल से पराजित होकर ब्राह्मण्य लाभ के लिये यत्न करना इत्यादि कथाएँ बार बार इतिहास पुराण में कही गई हैं।

विश्वामित्र के मधुच्छंदा: अष्टक आदि कई पुत्र हैं। ये सब पुत्र विभिन्न विश्वामित्रों के है — यह ज्ञात होता है। इसके वंशजों ने अनेक गोत्रों की प्रवर्तना की जिनमें देवरात, जाबाल, गालव, पाणिनि, सुश्रुत, याज्ञवल्क्य आदि नाम प्रसिद्ध हैं।

विश्वामित्र के साथ कई शास्त्रों का संबंध है। किसी विश्वामित्र ने भरद्वाज से आयुर्वेदाध्ययन किया, यह चरक से ज्ञात होता है। शाङ्खायन आरण्यक से विदित होता है कि किसी विश्वामित्र ने इंद्र से यज्ञज्ञान प्राप्त किया। धनुर्वेदाचार्यों में विश्वामित्र का नाम है— यह प्रपंचहृदय के वाक्य से ज्ञात होता है। विश्वामित्र स्मृतिकार भी हैं। ये सब विश्वामित्र विभिन्न व्यक्ति हैं, ऐसा मानना ही संगत प्रतीत होता है। [रा० शं० भ०]

विश्वेदेव यह नाम अग्नि तथा श्राद्ध देवता का भी है और इस नाम का एक राक्षस भी हुआ है, पर प्राय: विश्वेदेवा: उन सभी नौ या दस देवताओं के समूह के लिये आता है जिनके नाम वेद, संहिता तथा अग्निपुराणादि में दिए गए हैं। भागवत में इन्हें धर्म ऋषि तथा (दक्षकन्या) विश्वा के पुत्र बताया है और इनके नाम दक्ष, क्रतु, वसु, काम, सत्य, काल, रोचक, आद्रव, पुरुरवा तथा कुरज दिए हैं। इन सबों ने राजा मरुत के यज्ञ में सभासदों का काम किया था।

वर्तमान मन्वंतर में सात ही विश्वेदेव माने गए हैं और मार्कंडेय पुराणानुसार विश्वामित्र के तिरस्कार करने के कारण इन्हें द्रौपदी के गर्भ से उनके पाँच पुत्रों के रूप में जन्म लेना और अश्वत्थामा के हाथों मरना पड़ा था। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में विश्वेदेवा की स्तुति की गई है और शुक्ल यजुर्वेद में इन्हें गणदेवता के रूप में माना गया है। वेद संहिता में इनकी संख्या केवल नौ है और इन्हें इंद्र, अग्नि आदि से कुछ निम्न श्रेणी का माना है। ये मानवों के रक्षक तथा सत्कर्मों के पुरस्कारदाता कहे जाते हैं और ऋक्संहिता के एक मंत्र में इन्हें विश्व के अधिपति की उपाधि दी गई है। [रा० द्वि०]

विश्वेश्वरैया, मोक्षगुंदम (सन् १८६१–१९६२) प्रसिद्ध भारतीय इंजीनियर तथा प्रशासक थे। इनकी शिक्षा बंगलूरु के सेंट्रल कॉलेज तथा सायंस कॉलेज, पूना, में हुई थी। पूना से ही सन् १८८३ के परीक्षार्थियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर, आप इंजीनियरी के स्नातक हुए तथा बंबई के सरकारी निर्माण विभाग में सहायक इंजीनियर के पद पर नियुक्त हुए। इस पद से उन्नति करते हुए अधीक्षक इंजीनियर के पद तक पहुँचकर सन् १९०८ में आपने स्वेच्छा से अवकाश ग्रहण किया।

इन चौबीस वर्षों में आपने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए, जिनमे एक नए प्रकार के अपशिष्ट-बंधिका पुरद्वार (waste weir floodgate) का निर्माण तथा एडेन (Aden) की सैनिक बस्ती के जलसंभरण तथा जलनिकास आयोजन तैयार करना, सम्मिलित है।

अवकाश ग्रहण के पश्चात् कुछ काल तक निजाम के हैदराबाद राज्य में बाढ़ रोकने और जलनिकास के संबंध मे राय देने का काम आपने किया, पर बाद में मैसूर राज्य के सरकारी निर्माण विभाग मे मुख्य इंजीनियर और सेक्रेटरी नियुक्त हुए तथा सन् १९१२ मे इसी राज्य के दीवान का पद आपने सम्हाला। इस पद पर छह वर्ष रहकर आपने न केवल इंजीनियरी, वरन् समाजसुधार तथा शिक्षा के क्षेत्र में अपूर्व काम किए। आपके सुझावों से राज्य के शासन तथा शिक्षा-पद्धति में सुधार हुए, सन् १९१६ में मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तथा प्रजा की प्रतिनिधि संस्थाओं को विस्तृत अधिकार मिले। यहाँ का कृष्णराज सागर बाँध आपका ही बनवाया हुआ है। आपकी चेष्टाओं के फलस्वरूप राज्य में नए नए उद्योग स्थापित हुए। राज्य से गुजरनेवाली रेल का प्रबंध भी आपने अपने हाथ में लेकर उसमें सुधार किए। सेवानिवृत्त होने पर भी राज्य के लाभ के अनेक काम आपके हाथों पूरे हुए।

इंजीनियरी विषयक कामों के संबंध में आपकी सलाह की समस्त देश में बहुत माँग थी। बंबई और कराची के कॉर्पोरेशनों को सलाह देने के सिवाय, कई नगरों के जलसंभरण और निकास, उड़ीसा में बाढ़ नियंत्रण तथा तुंगभद्रा से संबंधित आयोजन आपकी

ही सूझ के परिणाम थे। बाँधों और जलाशयों पर सौराष्ट्र शासन को तथा बिहार में गंगा के पुल निर्माण पर केंद्रीय सरकार को भी आपने बहुमूल्य सलाहें दीं।

सन् १९२२ के सत्याग्रह आंदोलन के समय सर्वदल परिषद् के अध्यक्ष के रूप में आपने राउंड टेबुल कॉन्फरेंस बुलाने पर जोर दिया तथा सन् १९२९ में आप दक्षिण भारत राज्य जन परिषद् के सभापति रहे। सन् १९४१ में आपने सर्वभारतीय निर्माता संघ की स्थापना की, जिससे उद्योगों को लाभ पहुँचा।

कलकत्ता, पटना तथा इलाहाबाद के विश्वविद्यालयों ने आपको डी० एस सी०, बंबई तथा मैसूर विश्वविद्यालयों ने एल-एल० डी० तथा बनारस हिंदू युनिवर्सिटी ने डी० लिट्० की संमानसूचक उपाधियाँ दीं। ब्रिटिश भारत सरकार ने सन् १९१५ में के० सी० आइ० ई० की तथा स्वतंत्र भारत ने सन् १९५५ में भारतरत्न की उपाधि प्रदान की।

देश की सेवा में अनेक सृजनात्मक कार्यों का संपादन और अक्षय कीर्ति प्राप्त कर, पूरे सौ वर्ष की आयु भोगकर, अपनी जन्मशताब्दी के उत्सव के बाद, १४ अप्रैल, १९६२, को आप दिवंगत हुए। [भ० दा० व०]

विष ऐसे पदार्थों के नाम हैं, जो खाए जाने पर श्लेष्मल झिल्ली (mucous membrane), ऊतक या त्वचा पर सीधी क्रिया करके, अथवा परिसंचरण तंत्र (circulatory system) में अवशोषित होकर, घातक रूप से स्वास्थ्य को प्रभावित करने, या जीवन नाष्ट करने, में समर्थ होते हैं।

विषाक्तता (poisoning) के लक्षण निम्नलिखित हैं :

(१) जठरांत्र उत्तेजन (Gastrointestinal irritation) — साधारणतया वमन, पेट की पीड़ा और अतिसार (diarrhea) विषाक्तता के प्रमुख लक्षण हैं। यदि कुछ ही घरों के भीतर अनेक व्यक्ति विषाक्तता के शिकार हुए हों, तो किसी खास खाद्यवस्तु को क्षोभक (irritant) का वाहक समझा जा सकता है। (२) प्रलाप यह रासायनिक विष या उपापचयी (metabolic) गड़बड़ी और ज्वर के परिणामस्वरूप उत्पन्न रुधिरविषाक्तता (toxaemia) के कारण होता है। थोड़ी खुराक में ही प्रलाप उत्पन्न करनेवाले रासायनिक विषों में बारबिट्यूरेट, ब्रोमाइड का चिरकालिक नशा, ऐल्कोहॉल, हाइप्रोसायनिन (hyocyanine) आदि है। इनमें से प्रथम तीन अधिक प्रचलित हैं और प्रलाप प्रायः अत्यल्प नशे का सूचक होता है। (३) संमूर्च्छा (coma) — प्रमस्तिष्कीय (cerebral) क्षति अधिक होने पर प्रलाप संमूर्च्छा में परिवर्तित होता है। सामान्यतया बारबिट्यूरेट और ऐल्कोहॉल ऐसे परिणाम उत्पन्न करते हैं। (४) ऐंठन (Convulsions) — ये दो प्रकार की होती हैं : (क) मेरुदंडीय या टाइटेनिक ऐंठन, जो अक्सर बाह्य उद्दीपन, जैसे स्ट्रिकनिन (strychnine), से उत्पन्न होती है (इसमें स्फूर्ति (tone) रहती है और संज्ञा संतुलित रहती है), (ख) प्रमस्तिष्कीय या मिर्गीजन्य ऐंठन में संज्ञाहीनता होती है और स्फूर्ति तथा क्लोनी (clonic) ऐंठन पर्यायक्रम से होती हैं। प्रतिहिस्टामिन ओषधि, कपूर, फेरस सल्फेट और ऐंफाटेमिन इसके उदाहरण हैं। (५) परिणाह चेताकोप (Peripheral neuritis)— सीसा, आर्सेनिक. सोना, पारा आदि से चिरकालिक (chronic) विषाक्तता होने पर परिणाह पेशी की दुर्बलता होती है, जिसमें शरीर छीजता है और जठरांत्र (gastrointestinal) विक्षोभ भी होता है।

विषों का वर्गीकरण — लक्षणों के अनुसार विषों के वर्गीकरण निम्नलिखित हैं :

(१) संक्षारक : सांद्र अम्ल और क्षार; (२) उत्तेजक : (क) अकार्बनिक — फॉस्फोरस, क्लोरिन, ब्रोमीन, आयोडीन आदि अधात्विक और आर्सेनिक, ऐंटिमनी, पारा, ताँबा, सीसा, जस्ता, चाँदी आदि धात्विक; (ख) कार्बनिक — रेंड़ी का तेल और बीज, मदार, क्रोटन (croton) तेल, घृतकुमारी (aloes) आदि वनस्पति और हरिभृंग (cantharides), साँप तथा अन्य कीटों के दंश; (ग) यांत्रिक—हीरे की धूल, चूर्णित काच, बाल आदि; (३) रुग्णतंत्रिक (neurotic) : (क) मस्तिष्क को क्षति पहुँचानेवाले, अफीम और उसके ऐल्केलॉयड, ऐल्कोहॉल, ईथर, क्लोरोफॉर्म, धतूरा, बेलाडोना, हायोसायामस (hyoscyamus); (ख) मेरुरज्जु को प्रभावित करनेवाले — कुचला (nux vomica), जेलसेमियम मूल। (ग) हृदय को प्रभावित करनेवाले — बच्छनाभ (aconite), डिजिटैलिस (digitalis), कनेर, तंबाकू, हाइड्रोसायनिक अम्ल, (घ) श्वासावरोधक (Asphyxiants)— कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड, कोयला गैस, (ङ) परिणाह — विषगजर (conium) कोरारी (curare)।

तीक्ष्ण विषाक्तता के उपचार के सिद्धांत — विषाक्तता के आपाती उपचार (emergency treatment) के लिये, जिसमें जीवविष (toxin) खा लिया गया हो, निम्नलिखित क्रियाविधि अपनानी चाहिए :

(१) यथाशीघ्र उलटी, वस्तिक्रिया (lavage), विरेचन (catharsis) या मूत्रता (diuresis) द्वारा विष को निकालना।

(२) विशिष्ट या सामान्य प्रतिकारक (antidote) देकर विष को निष्क्रिय करना और तब वस्तिक्रिया का उपचार।

(३) संक्षोभ (shock), पात (collapse) और अन्य विशिष्ट अभिव्यक्तियों (manifestations) के होते ही उनसे संघर्ष करना।

(४) श्लेष्मल झिल्लियों को शमकों (demulcents) के प्रयोग द्वारा बचाना।

विष का निष्कासन — तीव्र अम्ल, क्षार या अन्य संक्षारक पदार्थ द्वारा विषाक्तता होने पर आमाशय नलिकाओं (stomach tubes), या वमनकारियों, का उपयोग नहीं करना चाहिए। इनसे जठरीय वेधन (gastric perforation) हो सकता है। जठर में स्थित अंतर्वस्तु को खाली करने का सबसे सरल उपाय वमन है। वमन का प्रयोग तभी करना चाहिए जब रोगी चिकित्सक को सहयोग देने की स्थिति में हो, उसके शरीर में अतिरिक्त विष हो और आमाशय नलिकाओं का अभाव हो, या रोगी आमाशय

नलिकाओं का उपयोग कर सकने की स्थिति में न हो। निद्रालु या अचेतन रोगी को वमन नहीं कराना चाहिए, क्योंकि उसके आमाशय की अंतर्वस्तु के तरलापनयन (aspiration) का भय रहता है। संक्षारक विषों के उपशमकों के अंतर्ग्रहण की स्थिति में भी वमन वर्जित है।

वमन कराने के लिये गले में अंगुली या अन्य वस्तु का प्रयोग करना चाहिए, या निम्नलिखित वस्तुओं में से कोई चीज खिलानी चाहिए: ऐपोमॉरफ़ीन हाइड्रोक्लोराइड, चूर्णित सरसों, (powdered mustard) और नमक या प्रबल साबुन जल (strong soap suds)।

जठरीय तरलापनयन और वस्तिक्रिया — इस क्रियाओं के उद्देश्य निम्नलिखित हैं: (१) अतिरिक्त असंक्षारक विषों का निष्कासन, जिन्हें बाद में जठरांत्र क्षेत्र (gastro intestinal tract) से अवशोषित किया जा सकता है; (२) वमन केंद्र के निर्बल होने पर जब वमन नहीं होता, तब केंद्रीय तंत्रिकातंत्र को अवसादित करनेवाले विष का निष्कासन; (३) विषों की पहचान के लिये जठरीय अंतर्वस्तुओं के संचय और परीक्षण के लिये तथा (४) विषप्रतिकारकों के सुविधाजनक प्रयोग के लिये।

निषेधक लक्षण — निम्नलिखित स्थितियो मे जठरीय तरलापनयन और वस्ति क्रिया नहीं की जाती है: (१) विष के द्वारा ऊतकों का व्यापक संक्षारण, (२) तीव्र नि:संज्ञ, जड़िमाग्रस्त (stuporous), या निश्चेतनताग्रस्त (comatose), रोगी, क्योंकि उसे तरलापनयन फुफ्फुसार्ति (pnuemonia) का खतरा रहता है।

विधि — नाक या मुँह द्वारा आमाशय में एक चिकनी, मृदु, न दबनेवाली आमाशय नली को धीमे धीमे प्रवेश कराना चाहिए। वस्तिक्रिया प्रचुर हो, परतु आमाशय का आध्मान (distention) न किया जाय। कुछ स्थितियों में थोड़े थोड़े अंतर पर अल्प तरल के साथ वस्तिक्रिया करना अच्छा होता है। वस्तिक्रिया के विलयन के आधिक्य को निकालना अनिवार्य है।

जठरीय वस्तिक्रिया के तरल — १. गुनगुना पानी या १ प्रति शत नमकीन पानी, २. पतला विलेय स्टार्च पेस्ट (paste), ३. एक प्रति शत सोडियम बाइकार्बोनेट, ४. पोटैशियम परमैंगनेट (१:२०००) विलयन, ५. एक प्रति शत विलेय थायोसल्फेट तथा ६. एक या दो प्रति शत हाइड्रोजन परऑक्साइड।

विरेचन (Catharsis) — यह मंदकारी अवशोषण में प्रभावकारी हो सकता है। आंत्रिक अवशोषण के पहले विष का निष्क्रियकरण करने के लिये जठरीय वस्तिक्रिया अनिवार्य है, यदि तीव्र अम्ल या क्षार से विषाक्तता न हुई हो। जिस स्थिति में वस्तिक्रिया संभव नहीं है, उसके लिये निम्नलिखित उपाय करना चाहिए: (१) विष प्रतिकारकों के द्वारा अम्लों और क्षारों का उदासीनीकरण, (२) विशिष्ट रसायनकों का अवक्षेपण (यह क्रिया विशिष्ट कारकों पर निर्भर होनी चाहिए) तथा (३) शमकों द्वारा निष्क्रियकरण (शमक धातुओं को अवक्षेपित करते हैं, अनेक विषों के अवशोषण को कम करने में सहायक होते हैं और ये प्रदाहग्रस्त श्लेष्मल झिल्लियों को बड़ी शांति प्रदान करते हैं)। ३-४ अंडों का श्वेतक ५०० मिली लिटर दूध या पानी में, मखनिया दूध, पतले आटे या मंड के विलयन में (यदि संभव हो तो उबले हुए में) मिलाकर देना चाहिए।

सहायक और लाक्षणिक उपाय — तीव्र विषाक्तता के शिकार लोगों को जागरूक डाक्टरी देखभाल में रखना चाहिए, जिससे विषाक्तता की तात्कालिक और विलंबित जटिलताओं का पूर्वानुमान किया जा सके। विष खाकर आत्महत्या करने में विफल लोगों को किसी मनश्चिकित्सक की देखरेख मे रखना चाहिए।

परिसंचारी विफलता (Circulatory failure) — इसमें (१) संक्षोभ के समय मुख्य उपाय हैं, पार्श्वशायी स्थिति (recumbent position), ऊष्मा, उद्दीपकों का प्रयोग और प्रभावी रुधिर आयतन की वृद्धि के लिये आंत्रेतर तरलों का (parenteral fluids) प्रयोग, (२) हृदीय असफलता के समय मुख्य उपाय है, ऑक्सीजन, डिजिटेलिस (digitalis), पारदीयमूत्रवर्धक ओषधियों का सेवन, तथा (३) फुफ्फुसशोथ (pulmonary oedema) के समय मुख्य उपाय है, धनात्मक दबाव के साथ ऑक्सीजन सेवन, आंत्रेतर (parenteral) लवण या अन्य आंत्रेतर तरल (प्लाज्मा छोड़कर) से बचाना।

श्वसन असामान्यताएँ — (१) श्वसन अवरोध के समय मुखग्रसनी (oropharyngeal) वायुपथ और आंतरश्वासप्रणाल (intra-tracheal) निनालन (intubation) को ठीक करना चाहिए। (२) श्वसन अवनमन (depression) के समय रोगी को खुली हवा में कृत्रिम श्वसन कराना चाहिए। पुनरुज्जीवक (resuscitator), या अन्य स्वयंचल संवातन, यथाशीघ्र करना चाहिए। उद्दीपकों से लाभ होना संदिग्ध है। साधारणतया उपयोग में आनेवाले उद्दीपक निम्नलिखित हैं:

(क) गरम, कड़ी काली कॉफी, मुख से या गुदामार्ग से,

(ख) गरम कड़ी चाय मुख से,

(ग) एक प्याले पानी में दो या चार मिलिलीटर अमोनिया का ऐरोमेटिक स्पिरिट,

(घ) ५०-१२० मिलिलीटर एफेड्रिन सल्फेट मुख से या अधस्त्वक् रूप से

(ङ) कोरामिन (coramine) की सूई,

(च) ऐंफाटैमिन सल्फेट ५-४० मिलिग्राम मुख से या सूई से तथा

(छ) मेथाऐंफाटैमिन हाइड्रोक्लोराइड, २·५-१५ मिलिग्राम मुख से

केंद्रीय तंत्रिकातंत्र संयोग — (१) केंद्रीय तंत्रिकातंत्र की उत्तेजना होने पर संमोहक या प्रति आक्षेप (anti-convulsant) का प्रयोग करना चाहिए: (क) ऐमोबारबिटल सोडियम (ऐमिटल) का ताजा १० प्रति शत विलयन २५०-५०० मिलिलीटर, (ख) पैराऐल्डिहाइड मुख से, गुदामार्ग से या नितंब में तथा (ग) कैल्सियम ग्लुकोनेट १० प्रतिशत, १०-२० मिलिलीटर, सूई से।

निर्जलीकरण (Dehydration) — संकेतानुसार मौखिक या आंत्रेतर तरल।

पीड़ा—पीड़ाहर और स्वापक (Narcotic) ओषधि देनी चाहिए।

चाहे कैसी ही विषाक्तता हो, यह चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह वमित पदार्थ, आमाशय धावन (wash) और मल मूत्र का नमूना सुरक्षित रखे। रोगी का नाम, संरक्षित पदार्थ का नाम, परीक्षण की तिथि और नमूने को ताले में बंद कर रखना चाहिए।

यदि गैरसरकारी चिकित्सक को शंका हो जाय कि रोगी की हत्या करने के लिये विष दिया गया है, तो उसे आपराधिक कार्यवाही संहिता की ४४ वीं धारा के अनर्गत इसकी सूचना निकटस्थ पुलिस स्टेशन या मजिस्ट्रेट को देनी चाहिए। इस प्रकार की कठिनाइयों से बचने के लिये, हर विषाक्तता के रोगी की सूचना पुलिस में दे देनी चाहिए। सरकारी अस्पताल का चिकित्सा अधिकारी सभी संदिग्ध विषाक्तता की सूचना पुलिस को देने के लिये बाध्य है। यदि रोगी मृत अवस्था में लाया जाय, तो डाक्टर उसे मृत्यु का प्रमाणपत्र न दे और इसकी सूचना पुलिस को दे।

सामान्य विषों की चिकित्सा देखें **विष प्रतिकारक**।

[गो० ना० च० तथा वि० पां०]

विषकन्या का प्रयोग राजा अपने शत्रु का छलपूर्वक अंत करने के लिये किया करते थे। किसी रूपवती बालिका को बचपन से ही विष की अल्प मात्रा देकर पाला जाता था और विषैले वृक्ष तथा विषैले प्राणियों के संपर्क से उसको अभ्यस्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त, उसको संगीत और नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी, एवं सब प्रकार की छल विधियाँ सिखाई जाती थीं। अवसर आने पर इस विषकन्या को युक्ति और छल के साथ शत्रु के पास भेज दिया जाता था। इसका श्वास तो विषमय होता ही था, परंतु यह मुख में भी विष रखती थी, जिससे संभोग करनेवाला पुरुष रोगी होकर मर जाता था। [म० ला० श०]

विषप्रतिकारक विष कष्टकारक और घातक होते हैं। इनके प्रभाव के निराकरण के लिये कुछ औषधियाँ और उपचार प्रयुक्त होते हैं। इन्हें विषप्रतिकारक कहते हैं। विष के खाने के अनेक कारण हो सकते हैं। कुछ लोग आत्महत्या के लिये विष खाते है। कुछ लोग दूसरे का धनमाल हड़पने के लिये विष खिलाकर बेहोश कर, धनमाल लेकर चंपत हो जाना चाहते हैं। ऐसी बातें रेलयात्रियों के संबंध में बहुधा सुनी जाती हैं। कुछ लोग अनजान में विष खा लेते हैं और उसके अहितकर प्रभाव का शिकार बनते है। विषों के लाभकारी उपयोग भी हैं। कष्टकारक कीड़ों मकोड़ों, जैसे मच्छड़ और खटमल, और रोगोत्पादक जंतुओं, जैसे चूहों आदि, के नाश करने में विषों का प्रयोग होता है।

भारत में जो विष साधारणतः प्रयुक्त होते हैं, वे हैं अफीम, संखिया, तूतिया, धतूरे के बीज, कार्बोलिक अम्ल इत्यादि। कुछ विष अम्लीय होते हैं, जैसे प्रबल ऐसीटिक अम्ल, प्रबल हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, प्रबल नाइट्रिक अम्ल, प्रबल सल्फ्यूरिक अम्ल तथा आक्सैलिक अम्ल। कुछ विष क्षारीय होते हैं, जैसे ऐल्कलॉयड और कुछ उदासीन होते हैं, जैसे सीस, पारद के लवण, संखिया आदि। अम्लीय विषों के निराकरण के लिये किसी क्षारीय पदार्थ का प्रयोग होता है, जैसे बहुत तनु अमोनिया (आधे पाइंट जल में एक चाय चंमच अमोनिया), चूने का पानी, प्लास्टर ऑव पेरिस, मैग्नीशिया, खड़िया इत्यादि। क्षारीय विषों के लिये अम्लीय प्रतिकारकों का प्रयोग होता है, जैसे हलका ऐसीटिक अम्ल, सिरका, नीबू का रस इत्यादि। जिस विष की प्रकृति न मालूम हो, उसे बहुत पानी या दूध मिलाकर अंडा, तेल, आटा और पानी या चूना पानी देना चाहिए। कुछ विशिष्ट विषों के विषप्रतिकारक इस प्रकार हैं :

अम्लीय विष — बहुत तनु अमोनिया, पाकचूर्ण, मैग्नीशिया, खड़िया, चूना या साबुन पानी। दंतमंजन तथा वमनकारी औषधियों का सेवन निषिद्ध है।

क्षारीय विष — सिरका, नीबूरस, बहुत तनु ऐसीटिक अम्ल (२ से ३%) तथा शामक द्रव, जैसे तेल, घी, दूध, मलाई आदि, का सेवन।

अफीम — आमाशय का धोना, विशेषत: मंद पोटाशपरमैंगनेट के विलयन से धोना चाहिए। ७ प्रतिशत कार्बन डाइऑक्साइड मिले हुए ऑक्सीजन का सेवन, आवश्यकता पड़ने पर कृत्रिम श्वसन, वमनकारी एवं उद्दीपक औषधियों का सेवन तथा रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए।

संखिया — आमाशय की धुलाई, विशेष रूप से सोडियम थायोसल्फेट के विलयन से। सोडियम थायोसल्फेट की अंतः शिरा सूई भी दी जा सकती है। पीने को गरम काफी, जल और मॉरफिन की सूई भी दी जाती है।

ऐल्कालॉयड — आमाशय को टैनिक अम्ल या पोटैशपरमैंगनेट से धोना चाहिए। कृत्रिम श्वसन तथा उत्तेजना रोकने के लिये बारबिट्यूरेट का सेवन कराना चाहिए।

पारद लवण — आमाशय को विशेषतः सोडियम फॉर्मैल्डिहाइड सल्फोक्सिलेट से, धोना चाहिए। कच्चा अंडा या दूध का सेवन, अम्लोपचय (acidosis) पर कैल्सियम लेक्टेट।

सीस — आमाशय को धोना तथा वमनकारी औषधियों, जैसे सोडियम सल्फेट या एप्सम, देना चाहिए, ताकि सीस शीघ्र ही निकल जाय। प्रचुर मात्रा में कैल्सियम तथा फॉस्फरस वाला आहार देना चाहिए।

रजत — रजत लवण के विषों के लिये बड़ी मात्रा में नमक जल तथा दूध या साबुन पानी पिलाना चाहिए। पाकचूर्ण का सेवन कराना चाहिए।

ताम्र — ताम्र लवणों के विष के लिये दूध, अंडा, साबुन पानी, आटा और पानी का सेवन कराना चाहिए।

फॉस्फरस — तनु पोटैशपरमैंगनेट (१ भाग १,००० भाग जल में)। जल में मैग्नीशिया; वमन के लिये पाँच ग्रेन तूतिया, एक गिलास दूध या जल में आधा चायचंमच तारपीन देना चाहिए। तेल या घी का सेवन वर्जित है।

कार्बोलिक अम्ल — एप्सम और ग्लोबर लवण (सोडियम सल्फेट) का सेवन, बहुत तनु ऐल्कोहॉल, कच्चा अंडा, आटा और पानी, दूध, रेंड़ी या जैतून का तेल देना चाहिए।

आयोडीन — स्टार्च और पानी देना चाहिए।

एँटीमनी — कड़ी चाय या कॉफी, आधे गिलास जल में आधा चायचंमच टैनिक अम्ल; बाद में अंडा या दूध देना चाहिए।

विषैले पौधे — वमनकारी, उद्दीपक और रेंड़ी तेल सदृश कड़ी दस्तकारी ओषधियाँ देना चाहिए।

टोमेन विष — सड़ी मछली, मांस, शाक भाजियों और डब्बे में बंद खाद्यान्नों के खाने से होता है। वमनकारी ओषधियाँ तथा दस्तकारी ओषधियाँ, जैसे रेड़ी का तेल एवं एप्सम लवण देना, चाहिए एक चायचंमच तारपीन या दोचाय चंमच ग्लिसरीन डालकर, साबुन पानी से एनीमा देना चाहिए। [फू० स० व०]

विषम दृष्टि (Ametropia) जब विश्रामपूर्ण नेत्र में समांतर प्रकाश किरणें रेटिना (retina) पर संगमित न होकर उसके संमुख अथवा पार्श्व में होती हैं, तो ऐसी अवस्था को विषम दृष्टि कहते हैं।

विषम दृष्टि (प्रकाश के अपवर्तन की त्रुटियाँ) निम्न प्रकार की होती है: (क) दीर्घ दृष्टि (Hypermetropia), (ख) निकट दृष्टि (Myopia) तथा (ग) दृष्टि वैषम्य (Astigmatism)।

दीर्घ दृष्टि -- यह उस प्रकार की विषम दृष्टि है जिसमें नेत्र का मुख्य अक्ष लघु हो जाता है, अथवा नेत्र की अपवर्तन शक्ति क्षीण होती है। अतः समांतर प्रकाशकिरणें रेटिना के पार्श्व में संगमित हो जाती हैं।

निकट दृष्टि — यह उस प्रकार की विषम दृष्टि है जिसमें नेत्र का मुख्य अक्ष दीर्घ हो जाता है, अथवा नेत्र की अपवर्तन शक्ति अधिक हो जाती है। अतः समांतर प्रकाशकिरणें रेटिना के समक्ष संगमित हो जाती हैं।

दृष्टि वैषम्य —यह उस प्रकार की विषम दृष्टि है जिसमे नेत्र के वृत्ताकारों (meridians) में प्रकाश का अपवर्तन भिन्न भिन्न होता है।

दृष्टिवैषम्य दो प्रकार का होता है:

(१) नियमित (Regular)

(२) अनियमित (Irregular)

अनियमित दृष्टिवैषम्य मौलिक दोषों के कारण होता है, जैसे किरेटोनस, अथवा प्राप्त दशा, जैसे कॉर्निया की अपारदर्शकता।

नियमित दृष्टिवैषम्य निम्न प्रकार का होता है:

(१) साधारण दीर्घ दृष्टि दृष्टिवैषम्य, (२) यौगिक दीर्घ दृष्टि दृष्टिवैषम्य, (३) साधारण निकट दृष्टि दृष्टिवैषम्य, (४) यौगिक निकट दृष्टि दृष्टिवैषम्य तथा (५) मिश्रित दृष्टिवैषम्य, जिसमें एक वृत्ताकार दीर्घ दृष्टि एवं अन्य निकट दृष्टि होती है।

[स० पा० गु०]

विषाक्त पादप साधारणतः विषाक्त पादप ऐसे पौधे होते हैं जिनका समस्त अथवा थोड़ा अंश किसी भी दशा में खा लेने पर, किसी किसी में केवल स्पर्शमात्र से भी, हानिकारक परिस्थिति पैदा हो जाती है। इसके फलस्वरूप तत्काल मृत्यु हो सकती है, अथवा विष के धीरे धीरे प्रभाव से कालांतर में मृत्यु हो सकती है।

विषाक्त पौधों में निश्चित रूप से विषैले पदार्थ रहते हैं। विषैले पदार्थ कई रासायनिक तत्वों के संमिश्रण से बने होते हैं। ऐसे पदार्थ १. ऐमिन, २. प्युरिन, ३. ऐल्केलॉयड, ४. ग्लुकोसाइड तथा ५. सैपोनिन हैं। कुछ प्रोटीन भी विषैले होते हैं। कार्बोलिक अम्ल, ऑक्सैलिक अम्ल तथा फॉर्मिक अम्ल के कारण भी कुछ पौधे विषाक्त होते हैं।

छोटे से लेकर बड़े बड़े वृक्ष तक विषाक्त होते हैं। कुछ एक कोशिका बैक्टीरिया, कुछ शैवाल, जैसे माइक्रोसिस्टस (Microcystus) और एनाबीना (Anabaena) भी विषाक्त होते हैं। कुछ कवक, जैसे क्लेविसेप्स (claviceps), मशरूम आदि भी, विषाक्त होते हैं। विषैले मशरूम कई प्रकार के होते हैं। कुछ आँत को, कुछ रुधिर को, कुछ तंत्रिकातंत्र को, कुछ मस्तिष्क को और कुछ नेत्रों को आक्रांत करते हैं।

विषाक्त पादपों में एकोनिटम नैपेलस (Aconitum napelus), (देखें बच्छनाभ), रैननकुलस स्क्लेरेटस (Ranunculus scleratus), एनोना स्क्वैमोसा (Anona squamosa), भड़भाड़ (Argemone mexicana, बिहार में इसे 'घमोई' कहते हैं), सत्यानाशी, अफीम (देखें, अफीम), (देखें, कुचिला), तथा मदार (calotropis) हैं। भड़भाँड़ के बीज काले सरसों के ऐसे और आकार के होते हैं। इसके तेल के खाने से बेरी बेरी से मिलता जुलता रोग होता है।

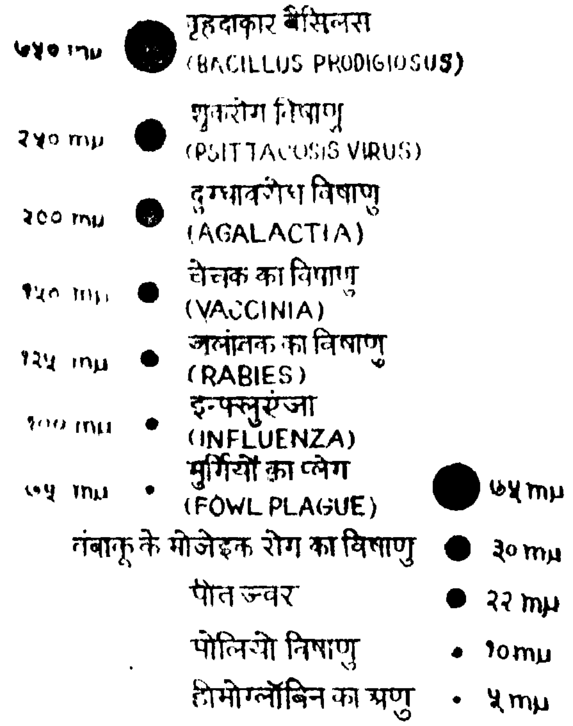
सं० ग्रं० — रामनाथ चोपड़ा और एस० जी० घोष: विषाक्त पौधा (१९४९)। [र० शं० द्वि०]

विषाणु को अंग्रेजी मे वायरस (Virus) कहते है। वायरस ग्रीक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ विष है। तंबाकू के चित्तीरोग के कारण की खोज करने पर पता लगा कि यह रोग बैक्टीरिया के कारण नहीं होता, वरन् एक ऐसे जीवित पदार्थ के कारण होता है। जो बहुत ही सूक्ष्म होता है, इस सूक्ष्म पदार्थ का ही नाम वायरस पड़ा। मनुष्य का पीतज्वर, तथा आलू, ककड़ी और सलाद का चित्तीदार रोग वायरसों के कारण ही होते हैं। वायरस बैक्टीरीया को भी आक्रांत करते हैं। कुछ वायरस पौधों मे रहते हुए भी उन्हें कोई हानि नही पहुँचाते। संयुक्त सूक्ष्मदर्शी और पीछे इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी से ये देखे जा सके हैं। तंबाकू का वायरस छड़ के आकार का दिखलाई पड़ता है। इसके क्रिस्टल न्यूक्लियोप्रोटीन के बने होते हैं। ये जंतुओं और पौधों की कोशिकाओं मे पाए जानेवाले क्रोमोजीन के न्यूक्लियोप्रोटीन के समान होते है।

वायरस बड़े सूक्ष्म होते हैं। अधिकांश २१० मिलिमाइक्रॉन (१ मिलिमाइक्रान = मिलिमिटर का १/१०,००,०००) से भी छोटे होते हैं। ये १५ और ४६० मिलीमाइक्रॉन के बीच होते हैं। क्यूफीवर का वायरस सबसे बड़ा ४५० मिलिमाइक्रॉन के लगभग होता है। छोटा से छोटा वायरस लगभग प्रोटीन के अणु के बराबर होता है। पोलियो रोग का वायरस इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी में गोल्फ के गेंद सा दिखाई देता है।

वायरस के बाह्य भाग मे प्रोटीन का एक पर्दा और केंद्र में न्यूक्लियिक अम्ल के सिवा और कुछ नहीं होता। जंतुओं के वायरस

के मध्य में डी-ऑक्सीरिबोन्यूक्लियिक अम्ल रहता है। अधिकांश



विषाणुओं का आकार

प्रोटीन के एक बृहद् अणु, हीमोग्लोबिन, तथा सूक्ष्म कहे जानेवाले बैसिलस के आकारों से विविध विषाणुओं के आकारों की तुलना।

पौधों के वायरस कीटों द्वारा फैलते हैं। पत्तियों के घर्षण से भी ये पत्तियों में फैलते हैं। वायरस एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में भी फैलता है। ये कफ, खाँसी, छींक और बातचीत से एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में चले जाते हैं। वायरस से ही न्यूमोनिया, कनपेड़ा, मसूरिका, जर्मन मसूरिका, इनफ़्लुएंजा और जुकाम होते हैं। यकृतशोथ और पोलियो के वायरस रोगी के मल में पाए जाते हैं तथा मक्खियों द्वारा फैलते हैं। पागल कुत्ते का वायरस कुत्ते के काटने से फैलता है। भोजन और पानी से बहुत कम वायरस फैलते हैं। वायरसजनित रोगों में रैबीज, पोलियो, वायरस न्यूमोनिया, चेचक, क्यू फीवर, चिकेन पॉक्स, टेकोमा, पीतज्वर तथा कीटजनित एन्सेफलाइटिस इत्यादि भी हैं। इन रोगों का कोई निश्चित इलाज नहीं है। सल्फा ड्रग और ऐंटीबायोटिक का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैक्सीन का उपयोग ही एकमात्र इलाज है। [फू० स० व०]

विषाणु रोग (Virus Diseases) — विषाणु बड़े सूक्ष्म जीव हैं, जिनमें से विशेष विषाणुओं से विशेष संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं। प्रायः ऐसे ५० रोग मनुष्य को होते हैं जिनका कारण विषाणु माना जाता है। विषाणु की प्रकृति का अभी पूरा ज्ञान नहीं है, लेकिन कुछ बातें ठीक ठीक ज्ञात हैं। विषाणु को इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी (electron microscope) द्वारा देख सकते हैं। जीवित कोशिका की उपस्थिति तथा अनुकूल वातावरण में विषाणु बढ़ने लगते हैं, पर जीवित कोशिका की अनुपस्थिति में विषाणु का बढ़ना कभी नहीं पाया गया है। परिमाण, बनावट की भिन्नता तथा स्थायित्व (stability) के अनुसार विषाणुओं की कई जातियाँ हैं। विषाणु जीव हैं या नहीं इसपर भी पृथक् मत है। विषाणुओं के संक्रमण द्वारा कोशिका के उपापचय (metabolism) में विकृति उत्पन्न हो जाती है, जो भिन्न भिन्न विषाणुओं से विभिन्न प्रकार की होती है। इससे रोगलक्षण भी पृथक् पृथक् होते हैं। विषाणु संक्रमण के बाद मनुष्य में अधिकतर प्रतिरक्षा (immunity) उत्पन्न हो जाती है। अभी विषाणुओं के संक्रमण की चिकित्सा की विशेष (specific) ओषधि नहीं मिली है। साधारण जुकाम (common cold), डेंग्यू (dengue), हर्पीज (herpes), संक्रामी यकृतशोथ (infective hepatitis), मसूरिका (measles) कनपेड (mumps), चेचक (small pox), लिंफोग्रैनुलोमा विनेरियम (lympho-granuloma venareum), जलसंत्रास (hydrophobia), नेत्र में रोहे (trachoma) आदि रोग विषाणुओं के संक्रमण द्वारा होते हैं।

हरारत, सिरदर्द, ज्वर, त्वचा पर उद्भेदन, ग्रंथि उभड़ना, सरेसाम आदि विषाणु संक्रमण के विविध तथा पृथक् लक्षण होते हैं। चिकित्सा में अधिकतर रोगलक्षण का उपचार मुख्य है। रोगी की शुश्रूषा, तरल तथा पौष्टिक भोजन और परिचर्या आवश्यक है।

[उ० शं० प्र०]

विषूचिका इस रोग को कॉलरा अथवा हैजा भी कहते हैं। यह एक तीव्र संक्रामक रोग है, जिसमें चावल के माँड सा वर्णविहीन अतिसार (diarrhoea) और वमन होता है। शरीर से मल और वमन के रूप में जल और लवण का अत्यधिक अंश निकल जाने के कारण मूत्रस्राव रुक जाता है, पेशियों में ऐंठन (cramp) होने लगती है और रोगी पात (collapse) की अवस्था प्राप्त कर लेता है। शरीर का ताप गिर जाता है, रुधिर गाढ़ा हो जाता है, रक्तचाप गिर जाता है, नाड़ी क्षीण हो जाती है और हृदयगति मंद होते होते रुक जाने की संभावना हो जाती है। इस रोग का उद्भवन काल बहुधा तीन दिवस से कम का और कभी तो कुछ घंटों का ही होता है। पाँच दिवस से अधिक का उद्भवन काल विश्वस्त रूप से कभी नहीं पाया गया। यह रोग विशेष रूप से घातक होता है, किंतु यदि उपयुक्त उपायों से शरीर से जल और लवण का ह्रास न होने दिया जाय, या आवश्यकता पड़ने पर उस ह्रास की तुरंत ही पूर्ति कर दी जाय, तो रोगी के प्राण बच जाते हैं।

समस्त संसार के लिये इस घातक रोग का स्थायी निवास बंगाल में गंगा-ब्रह्मपुत्र का डेल्टा क्षेत्र है, जहाँ से यह रोग भारत के अन्य भागों में और कभी कभी देश देशांतरों में फैलकर विकराल रूप से घातक हो जाता है। भारत में पूर्वीय समुद्रतट के समीप स्वर्णरेखा, महानदी, चिलका झील, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी के डेल्टा क्षेत्र भी विषूचिका के केंद्र हैं। भारत के पश्चिमी तट तथा सिंधु, नर्मदा और ताप्ती के डेल्टा क्षेत्रों में इस रोग का स्थायी निवास नहीं है। बिहार और उत्तर प्रदेश के तीर्थस्थानों में यात्रियों के आवागमन तथा भीड़भाड़ से इस रोग का गहरा संबंध है।

जगन्नाथपुरी, गया धाम, काशी, अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट, मथुरा, वृंदावन, हरिद्वार आदि तीर्थ तथा विभिन्न अवसरों पर होनेवाले मेले, त्योहार, पर्व और विवाहों की बारातें भी इस रोग के प्रसार में सहायक होती हैं।

बंगाल में विषूचिका का आपतन जनवरी के शीतकाल में सबसे कम होता है, पर मई जून तक बढ़ता है, वर्षा के आगमन पर कम हो जाता है और अक्टूबर में दूसरी बार फिर बढ़ने लगता है। बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बंबई तथा पंजाब में यह रोग महामारी के रूप में अप्रैल से अक्टूबर तक होता रहता है। जो प्रदेश बंगाल के निकट हैं, वहाँ कम समय में और जो दूर है वहाँ अधिक समय में यह रोग पहुँच पाता है। उत्तर प्रदेश और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में प्रयाग तथा हरिद्वार के कुंभ तथा अर्धकुंभ के वर्षों में रोग अधिक फैलता रहा है। पंजाब में रोग का प्रवेश हरिद्वार से होता है और कुरुक्षेत्र के सूर्यग्रहण के पर्व के समय यह रोग अधिक फैलता रहा है। दक्षिणपूर्वी एशिया में विषूचिका कम नहीं है। वहाँ रोग व्यापक तो बहुत है, परंतु अधिक घातक नहीं। चिकित्साशास्त्र की उन्नति और रोग प्रतिरोधी उपायों के कारण भारत में भी इस रोग की भयंकरता बहुत कम हो गई है, किंतु स्थानिकमारी के (endemic) रूप में रोग की जड़ें अभी जमी हुई हैं। यह स्थानिकमारी समय समय पर भारी उत्पात खड़ा कर देती है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि रोग की भयंकरता तथा आपतन में यह कमी स्थायी है, या नहीं।

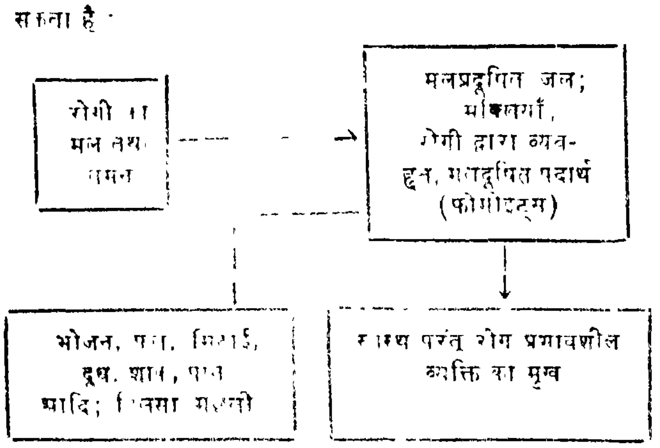
इस रोग से कोई पशु पक्षी पीड़ित नहीं होता। यह केवल मनुष्यों का ही रोग है और एक मनुष्य से ही दूसरे को होता है। रोगकारक हैजे का लोलाणु, या विब्रियो कोलरी (Vibrio choleare), एक सूक्ष्म एवं चंचल जीवाणु है, जो रोगी के मल तथा वमन में पाया जाता है। यह रोगी की आंत्रप्रणाली में ही बना रहता है और रुधिर, लसीका ग्रंथियों, अथवा अन्य अवयवों में साधारणत: प्रवेश नहीं कर पाता। आंत्र प्रणाली में ही घातक जीवविष (toxin) उत्पन्न करता है, जो रुधिर द्वारा शरीर के अन्य भागों में पहुँचकर रोगविकार उत्पन्न करता है। बहुत थोड़ा उद्भवन काल (एक या दो दिवस), तीव्र वेग से रोगवृद्धि (कभी केवल १२ घंटों में ही घातक) तथा अत्यधिक विषाक्तता, इस रोग की ये तीन विशेषताएँ हैं। इसका कारण यह है कि लोलाणु की अल्प समय में ही इतनी अधिक वंशवृद्धि हो जाती है कि रोगी का मल इस लोलाणु का संवर्धन (culture) घोल सा प्रतीत होता है और अन्य प्रकार के जीवाणु का प्राय: अभाव सा होता है। यह जीवाणु चंचल होता है और मल की एक सूक्ष्म बूंद में असंख्य लोलाणु सरोवर में मछली की भाँति, एक ही ओर, छोटी बड़ी पंक्ति में चलते दिखाई पड़ते हैं। इसका अंग वक्र होता है। इस कारण इसे कॉमा बैसिलस (Comma bacillus) भी कहते हैं। विषूचिका के लोलाणु से मिलते जुलते कई प्रकार के अन्य लोलाणु भी होते हैं, जो विषूचिका रोग उत्पन्न करने में असमर्थ पाए गए हैं। विषूचिका का वास्तविक लोलाणु वही माना जाता है जो लोलाणु वर्ग के ओ-उपभेद प्रथम (O subgroup 1) के अंतर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसके प्रथम उपभेद का ओ-सिरम से समूहन (agglutination) हो जाता है। कशाभ एच-समूहन (Flgellar H-agglutination) परीक्षा से इस उपभेद का पता नहीं चल सकता, किंतु कायिक ओ-समूहन (Somatic O agglu tination) परीक्षा से इस लोलाणु के अन्य सजातीय लोलाणुओं से अलग पहचाना जा सकता है। इसके इनाबा (Inaba), ओगावा (Ogawa) और हिकोजीमा (Hikojima) नामक तीन प्रकार के भेद हैं, जो विषूचिका रोगकारी हैं। जो लोलाणु विषूचिका के लोलाणु से मिलते जुलते प्रतीत होते हैं, किंतु ओ-सिरम की समूहन परीक्षा से भिन्न पाए जाते हैं, उन्हें असमूहनीय लोलाणु कहा जाता है। इन असमूहनीय लोलाणुओं का विषूचिका रोग से क्या संबंध है, इसका निर्णय अभी नहीं हो सका है, किंतु यह अवश्य देखने में आया है कि कुछ असमूहनीय लोलाणु विषूचिका के अनुरूप हलका रोग उत्पन्न कर सकते हैं, जिसका उद्भवन काल भी अल्प है और संक्रमण द्वारा रोगप्रसार भी शीघ्र होता है, किंतु मृत्यु संख्या नगण्य सी है। संभव है कि समूहनीय अथवा असमूहनीय लोलाणु एक दूसरे की परिवर्तित अवस्थाएँ हों और असमूहनीय लोलाणु समूहन गुण प्राप्तकर, अधिक विषाक्तपूर्ण होकर, रोग उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हों।

विषूचिकाजनक लोलाणु अल्पजीवी है और सुगमता से नष्ट किया जा सकता है। अन्य जीवाणुओं के समान ६०° से० के आर्द्र ताप पर कुछ ही मिनिट में यह मर जाता है, किंतु शुष्कता इसके लिये बहुत घातक है। यह सूखी अवस्था में साधारण ताप पर कुछ ही घंटों में मर जाता है। यह शीत वातावरण सहन कर सकता है। हिमांक के ताप पर भी कुछ दिनों तक जीवित रह सकता है। रोगाणुनाशी रासायनिक पदार्थों द्वारा सुगमता से इन लोलाणुओं का नाश किया जा सकता है। तारकोलजन्य फिनोल तथा क्लोरीनयुक्त रोगाणुनाशी पदार्थ इसे मारने के लिये बहुत उपयोगी हैं। यह लोलाणु मल में एक दो सप्ताह में ही मर जाता है और कुओं, तालाब, नदी आदि के जल में भी १०-१५ दिन से अधिक नहीं जीता। यह लवण और कार्बनिक पदार्थ युक्त जल, अथवा आर्द्र भूमितल, में अधिक समय तक जीवित रहता है। अम्लीय वातावरण की अपेक्षा क्षारीय वातावरण में अधिक पनपता रहता है।

इस रोग का निश्चयात्मक निदान लोलाणुपरीक्षा द्वारा संभव है। परीक्षा के लिये रोगी के मल का कुछ अंश लवणयुक्त प्रतिरोधक बफ़र विलयन में मिलाकर, प्रयोगशाला में भेजा जाता है, जहाँ पेप्टोन के क्षारीय जल में तथा अन्य पौष्टिक पदार्थों पर लोलाणु का संवर्धन कर, विशिष्ट प्रकार के ओ-सिरम से समूहन के अतिरिक्त अन्य परीक्षा कर, रोग का निदान किया जाता है। रोग के लक्षणों से तथा एक साथ अनेक व्यक्तियों के रोगग्रस्त होने से निदान संबंधी अनुमान किया जा सकता है, किंतु लोलाणु संबंधी परीक्षा से निदान पूर्णत: निश्चित हो जाता है। भोजन विषाक्तता तथा संखिया, जमालगोटा एवं कुचले के विष से उत्पन्न लक्षण विषूचिका का भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं, परंतु आवश्यक परीक्षा से वास्तविकता का पता लगाना संभव है।

विषूचिका के रोगी को [illegible] स्वस्थ पुरुषों से अलग कर दिया जाय, तो रोग का प्रसार [illegible] से नहीं हो पाता। परंतु रोगी को सबसे अलग [illegible] होता है। इस कारण रोग का प्रसार होता रहता है, [illegible] व्यापक हो जाता है। कोई बिरला ही [illegible] रूप से रोग से प्रतिरक्षित हो। [illegible] प्राकृतिक रूप से उपार्जित प्रतिरक्षा [illegible] हो जाती है और टीके द्वारा कृत्रिम उपार्जित [illegible] अस्थायी होती है। [illegible] प्रतिरक्षा [illegible] का अभाव ही रहता है। इसके फलस्वरूप [illegible] रोग की बाढ़ सी आ जाने की संभावना [illegible] रहती है।

विषूचिका का लोलाणु [illegible] भोजन के साथ मुख द्वारा शरीर में [illegible] है। [illegible] कार्बनिक पदार्थयुक्त क्षारीय जल में [illegible] रह सकता है। इस कारण समुद्र [illegible] दूषित प्राय: [illegible] होता है। भारत में शौचालय के अभाव में मलोत्सर्जन का ढंग दोषपूर्ण है। [illegible] विनाशजनक है। [illegible] आर्द्र भूमि लोलाणुओं से प्रदूषित (polluted) [illegible] है। ऐसी प्रदूषित आर्द्र भूमि से लोलाणु का [illegible] संभव है, फिर लोलाणुयुक्त जल से भोजन भी दूषित हो जाता है। लोलाणु द्वारा भोजन को दूषित करने में मक्खियाँ भी बहुत सहायक होती हैं। ये लोलाणुओं को [illegible] तथा पैरों द्वारा मल अथवा वमन से दूध, मिठाई, फल आदि [illegible] पहुँचा देती हैं। इस प्रकार लोलाणुप्रदूषित जल तथा [illegible] रोग का प्रसार होता रहता है। विषूचिका संक्रमण का [illegible] इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :



विषूचिका के संक्रमण का स्थायी आश्रय मनुष्य ही है। इस कारण विषूचिका के प्रसार में स्वस्थ रोगवाही व्यक्तियों का योगदान [illegible] होगा, परंतु बहुत खोज करने पर भी ऐसे स्वस्थ रोगवाही व्यक्ति नहीं मिले जिनके मल में औपभेद [illegible] विषूचिकाकारी लोलाणु विद्यमान हों। रोगाभाव काल में [illegible] के अंत के पश्चात् और दूसरी के [illegible] में, जब कोई मनुष्य रोगी नहीं पाया जाता, [illegible] लोलाणु भूमितल, नदी, तालाब आदि में ही नहीं मिलता और न किसी स्वस्थ व्यक्ति के मल में मिलता है। असमूहनीय लोलाणु अवश्य मिलते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि रोगाभाव काल में समूहनीय, विषूचिकाजनक लोलाणु कहाँ छिपा रहता है। रोग के प्रारंभ होते ही रोगी के मल तथा वमन से लोलाणु के मिलने के समय यह फिर नदी, तालाब तथा भूमितल पर मिलने लगता है। अनुमानत: असमूहनीय लोलाणु जो निरंतर ही पाए जाते हैं, समूहन गुण प्राप्त कर रोगकारी हो जाते हैं, किंतु यह [illegible] निश्चयात्मक रीति से सिद्ध नहीं हो पाया है। [illegible] जाति की मछलियों के शरीर में यह परिवर्तन होने की संभावना बताई जाती है।

विषूचिका की रोकथाम के उपाय कई देशों में सफल सिद्ध हुए हैं। भारत में भी कुछ सफलता अवश्य मिली है, किंतु स्थानिक मारी के रूप में रोग की जड़ें पूर्ववत् जमी हुई हैं। पूरी सफलता के लिये बहुमुखी, स्थायी प्रयास आवश्यक है। [illegible] अधूरे और अस्थायी उपाय ही व्यवहार में [illegible] हैं जिनसे केवल आंशिक सफलता मिल पाई है। [illegible] पूर्ण [illegible] पाने के लिये स्वास्थ्यशिक्षा तथा स्वास्थ्य [illegible] द्वारा [illegible] रहने के लिये [illegible] शीघ्र [illegible] होनी चाहिए। [illegible] है। ग्रामों तथा [illegible] की पूरी पूरी सफाई द्वारा ही रोग की रोकथाम संभव है। [illegible] स्वच्छता का आदर्श सभी को अपनाना चाहिए। इसके लिये आवश्यक वैधानिक नियम भी होने चाहिए, जिनका उल्लंघन दंडनीय हो। स्वास्थ्य के प्रति [illegible] चेतना जागृत होनी चाहिए। धार्मिक संस्थाओं में [illegible] मठ मंदिरों की जल तथा भोजन [illegible] सुधार नहीं हो पाता। [illegible] के कारण भी [illegible] हुआ है। गंदी बस्तियाँ सर्वत्र ही देखने को मिलती हैं। रोगोत्पादक कुकर्म जनता द्वारा निरंकुश और निस्संकोच रूप से [illegible] रहते हैं। स्थायी उपायों में शुद्ध, स्वच्छ, [illegible] और पर्याप्त मात्रा में जल वितरण की व्यवस्था सबसे महत्वपूर्ण है। ग्रामों की सफाई के लिये सामयिक ढंग की तत्परता आवश्यक है। जल के स्रोतों को अर्थात् कूप, बावली, ताल, तलैया, नदी आदि को, पूर्ण देखभाल और सुरक्षा द्वारा दूषित न होने देना चाहिए। जल की शुद्धता के अभाव में भोजन की शुद्धता असंभव है। अब अनेक मनुष्यों को बाजार में हलवाई, होटल तथा जलपानगृहों से भोजन प्राप्त करना पड़ता है। इस कारण भोजन में स्वच्छता संबंधी कोई त्रुटि न होने देनी चाहिए। पान, शर्बत, गन्ने का रस, मलाई का बर्फ, कटे फल, दूध, शाक, मिठाई आदि को धूल और मक्खियों से सुरक्षित रखने के नियमों का उल्लंघन दंडनीय होना चाहिए।

जल और भोजन के दूषित हो जाने का मुख्य कारण ग्रामों तथा नगरों में मलोत्सर्जन के लिये शौचालयों का अभाव है। जब घरों की ही व्यवस्था नहीं है तो फिर शौचालयों का प्रबंध कैसे संभव है ? प्रत्येक परिवार के लिये स्वीकृत नमूने के परिशुद्ध शौचालयों की व्यवस्था होनी चाहिए, जिनकी सफाई भी निरंतर होती रहे। मल के निस्तारण का ढंग ऐसा होना चाहिए, जिससे भूमितल दूषित न हो और जल के स्रोत स्वच्छ बने रहें। नगरों में जलप्रक्षालित

शौचालय तथा ग्रामों में खनित कूप शौचालय, अथवा परिशोधी गुणों से युक्त किसी अन्य प्रकार के शौचालय, निर्माण किए जाने चाहिए। पशुओं का गोबर, लीद और घरों तथा गलियों के कूड़ा कर्कट का निस्तारण परिशोधी ढंग से हो, जिससे मक्खियों की वंशवृद्धि न हो सके। मल द्वारा जल तथा भोजन के दूषित होने से जो जो रोग फैलते हैं, उन सभी की रोकथाम में ये स्थायी उपाय सहायक है।

अस्थायी उपाय रोग की संभावना होने पर, या रोग के फैलने पर, तुरंत ही किए जाते है। ये उपाय तात्कालिक है और इनके लिये साधन पहले से ही जुटा लेने चाहिए। रोगी की चिकित्सा के लिये और संक्रमण के प्रसार को रोकने के लिये, उसे अन्य व्यक्तियों से अलग रखना आवश्यक है। रोगी के घर पर चिकित्सा का तथा पृथक्करण का प्रबंध करना कठिन है। इस कारण उसे संक्रामक रोग चिकित्सालय में भेज देना चाहिए। स्थान स्थान पर आवश्यक सामग्री से सुसज्जित चिकित्सालय स्थापित करने चाहिए। बड़े बड़े नगरों में तथा तीर्थस्थानों में संक्रामक रोग चिकित्सालय स्थायी होने चाहिए। रोग का निदान भी शीघ्रातिशीघ्र हो सके, इसकी व्यवस्था भी आवश्यक है। रोग की सूचना स्वास्थ्याधिकारियों को तुरंत ही मिल सके, इसकी अचूक और विश्वस्त व्यवस्था होनी चाहिए। सूचना देने में देर होने का भयंकर परिणाम हो सकता है, क्योंकि रोग शीघ्र ही आग के समान फैलता है। एक दिन की देर भी अत्यंत घातक हो सकती है। सूचना पाते ही रोगी को चिकित्सालय में भेजना चाहिए और उसके मल वमन तथा अन्य प्रदूषित पदार्थों का तुरंत ही रोगाणुनाशन करना चाहिए। मक्खियों को आवारक पदार्थों के प्रयोग द्वारा मल और वमन पर न बैठने देना चाहिए और भोजन को मक्खियों से बचाना चाहिए। गरम गरम ताजा ताजा खाना चाहिए। बासी, अजीर्णकारी और मक्खियों से दूषित पदार्थ खाना वर्जित है। संदिग्ध अवस्था में पकाया भोजन भी दूषित हो सकता है। भूखे पेट रहना भी ठीक नहीं है। विरंजक चूर्ण से शोधित जल व्यवहार में लाना चाहिए, अन्यथा जल उबालकर प्रयोग करना चाहिए। कुओं तथा जल के अन्य स्रोतों पर कड़ी निगरानी रखनी चाहिए और उनके जल को विरंजक चूर्ण से शुद्ध कर जनता में स्वच्छतापूर्ण रीति से वितरण करना चाहिए।

रोगी की चिकित्सा के लिये सगंध तेल के स्थान में अब सल्फाग्वानिडीन (sulphaguanidine) का उपयोग किया जाता है। रोगी के शरीर से जल और लवण का ह्रास रोकने की चेष्टा करनी चाहिए और यदि ह्रास हो गया हो, तो उसकी पूर्ति पिचकारी द्वारा आवश्यक लवणोयुक्त जल को रुधिर में प्रवेश कराकर की जाती है। इस रोग में मृत्यु का मुख्य कारण जल तथा शरीर के लवणों का ह्रास ही है। जब रोगी स्वस्थ होने लगता है, तो वमन और दस्त बंद हो जाते हैं। मूत्रस्राव होने लगता है, शरीर का ताप बढ़ने लगता है और नाड़ी की गति सुधर जाती है। नीरोग हो जाने पर बहुधा इस भयंकर रोग का कोई विकार भी शेष नहीं रहता।

जनता को रोग से सुरक्षित रखने के लिये, उपर्युक्त स्थायी और अस्थायी उपायों के अतिरिक्त टीके द्वारा सक्रिय रोगक्षमता प्रदान करना अत्यंत लाभकारी है। टीके से प्रतिरक्षित अधिकांश मनुष्य रोग से सर्वथा बचे रहते हैं, किंतु यह रोगक्षमता केवल पाँच छह महीनों में ही जाती रहती है। इस टीके के वैक्सीन के प्रति मिलीलिटर में इनाबा जाति के चार अरब और ओगावा जाति के भी चार अरब मृत लोलाणु होते है। साधारणतः प्रत्येक वयस्क को एक मिलीलिटर की मात्रा टीके द्वारा दी जाती है। एक सप्ताह के अंतर से दो बार टीका लेना अधिक लाभकारी है। पहली बार आधा मिलीलिटर और दूसरी बार एक मिलीलिटर की मात्रा दी जाती है। विदेशी यात्रियों को दो टीके लगाए जाते है। रोग के फैलने की संभावना होने पर तुरंत ही टीका लेना चाहिए। देर करना अनुचित है। टीके के बाद चार पाँच दिन में ही प्रतिरक्षा उत्पन्न होने लगती है और प्रायः दस दिन में पूर्ण प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। यह टीका रोग की रोकथाम में इतना अधिक सफल सिद्ध हुआ है कि बड़े बड़े मेले, त्योहारों और पर्वों पर सभी यात्रियों के लिये टीका अनिवार्य कर दिया जाता है और कोई भी यात्री बिना टीके के उस मेले या पर्व में सम्मिलित नहीं हो सकता। विषूचिका की रोकथाम में यह टीका अन्य सभी उपायों की अपेक्षा अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है। प्रतिरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि रोग की संभावना होने पर संक्रमण के पूर्व ही टीका लेना चाहिए। लोलाणुओं द्वारा संक्रमण होने के पश्चात् उद्भवन काल में लिया हुआ टीका रोगनिरोध के लिये निरर्थक है। रोगी को टीका नहीं दिया जाता। यह टीका सर्वथा निर्दोष है और स्वास्थ्य विभाग द्वारा निःशुल्क दिया जाता है। केंद्रीय अनुसंधान के अधीन, इस वैक्सीन का निर्दोषपूर्ण रीति से निर्माण होता है। टीके द्वारा रोग का प्रसार रुकता है, किंतु उसके उन्मूलन के लिये स्थायी उपायों की व्यवस्था आवश्यक है। विषूचिका के समूल नाश के लिये सर्वत्र पूर्ण स्वच्छता ही अमोघ अस्त्र है। ग्रामों तथा नगरों के लिये स्थान स्थान पर स्वास्थ्य केंद्र स्थापित किए जाने चाहिए, जिससे जनता के स्वास्थ्य संवर्धन और संरक्षण के साथ साथ रोगचिकित्सा के साधन भी सुलभ हो सकें। प्रति वर्ष सभी नगरों, ग्रामों और छोटी छोटी बस्तियों की सफाई कराने के लिये सार्वजनिक स्वच्छता अभियान का आयोजन करना चाहिए। [भ० शं० श्री०]

विसरण (Diffusion) सभी वस्तुएँ, ठोस, द्रव या गैसें, बड़े सूक्ष्म कणों से बनी हुई है। सबसे छोटे कणों को अणु (molecules) कहते है। अणु पदार्थों में सतत गतिशील रहते हैं। इनकी गतियाँ बहुत कुछ ताप पर भी निर्भर करती है। भिन्न भिन्न वस्तुओं को यदि एक साथ रखा जाय, तो उन वस्तुओं के अणु धीरे धीरे परस्पर मिल जाते हैं। ठोसों के अणु एक दूसरे से बहुत निकट में सटे हुए रहते है। द्रवों के अणु ठोसों के अणुओं की अपेक्षा कम सटे हुए रहते है। गैसों के अणु तो एक दूसरे से पर्याप्त दूरी पर रहते है, यही कारण है कि गैसें बड़ी शीघ्रता से एक दूसरे में मिल जाती है। द्रवों के अणु उतनी शीघ्रता से नहीं मिलते और ठोसों के अणु तो और देर से परस्पर मिलते हैं। इस प्रकार पदार्थों के अणुओं के परस्पर मिल जाने को विसरण कहते है। विसरण एक अप्रतिवर्तनीय क्रिया है, जिसमें पदार्थों के स्वाभाविक बहाव से सांद्रण का अंतर कम

होता रहता है। यह क्रिया सभी पदार्थों में होती है। क्लोरीन गैस के जार पर यदि एक हवा भरा जार रख दिया जाय, तो क्लोरीन गैस के भारी होने पर भी उसके अणु विसरण द्वारा ऊपर उठकर दोनों जारों में मिल जाते हैं और कुछ समय में वे एक ही समांग हो जाते हैं। यदि किसी जल के पात्र में तूतिया का एक क्रिस्टल रख दिया जाय, तो पहले क्रिस्टल के निकट का जल तूतिए के विलयन सा हो जायगा और कुछ समय के बाद सारा जल तूतिए के रंग का हो जायगा। ऐसा विसरण के कारण होता है। यदि सोने के एक टुकड़े को सीसे के टुकड़े के संपर्क में रखा जाय, तो कुछ दिनों के बाद सीसे में सोना और सोने में सीसे की उपस्थिति मालूम की जा सकती है। गुरुत्वाकर्षण से विसरण में कोई रुकावट नहीं पड़ती और न उत्क्रमणता का ही उसपर कोई प्रभाव पड़ता है।

गैसों का विसरण — गैसें शीघ्रता से विसरण करती हैं। हलकी गैसें, जैसे हाइड्रोजन, अधिक शीघ्रता से और भारी गैसें, अधिक घनत्व की गैसें, कम शीघ्रता से विसरण करती हैं। इस संबंध में ग्राहम ने एक नियम, जो 'ग्राहम के गैस विसरण के नियम' के नाम से विख्यात है, प्रतिपादित किया है। इस नियम के अनुसार समान दाब और ताप पर विसरण की गति गैसों के आपेक्षिक घनत्व के वर्गमूल की व्युत्क्रमानुपाती होती है। यदि किसी गैस का आयतन V, T समय में विसरित होता है, तो गैस की विसरण गति V/T निम्नलिखित समीकरण से प्रदर्शित होती है :

$$\frac{V_1}{V_2} = \frac{T_2}{T_1} = \sqrt{\frac{d_2}{d_1}}$$

जहाँ d_1 और d_2 दोनों गैसों के आपेक्षिक घनत्व हैं।

चूँकि 2 d = M (अणुभार), अत

$$[illegible] = \sqrt{\frac{M_2}{M_1}}$$

गैसों के विसरण से हमें अनेक बड़े उपयोगी परिणाम प्राप्त होते हैं। इस विसरण से हम कुछ गैसों का आपेक्षिक घनत्व और इनका अणुभार निकाल सकते हैं तथा कुछ गैसों के मिश्रण से उनके भागों को अलग अलग कर सकते हैं। विसरण से कुछ गैसों के समस्थानिकों के पृथक्करण में हमें सफलता मिली है। कुछ जहरीली गैसें विसरण के कारण वायु में इतनी फैल जाती हैं कि उनसे हानि होने की संभावना बहुत कम हो जाती है। कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस का वायु में एक निश्चित मात्रा में अधिक रहना स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक है। पृथ्वीतल पर ईंधन आदि के जलने और साँस द्वारा निकला कार्बन डाइऑक्साइड भारी होने पर भी विसरण द्वारा समस्त वायु में ऐसा मिल जाता है कि उसके अनुपात में अंतर नहीं पाया जाता। कोयले की खानों में पाई जानेवाली दलदल गैस, मार्श गैस, विसरण द्वारा ही समस्त खानों में फैल जाती है और उसके किसी एक स्थान की वायु के परीक्षण से उसका पता लग जाता है।

द्रवों का विसरण — द्रवों का विसरण गैसों के विसरण की अपेक्षा अधिक पेचीदा है। इनका विसरण बहुत कुछ पदार्थों की प्रकृति पर निर्भर करता है। सांद्रण और ताप की वृद्धि से विसरण अपेक्षया सरल होता है। मान लें, किसी पात्र में रखे विलयन का सांद्रण c है और इसके सांद्रण की ऊर्ध्वाधर दिशा x है। यदि सांद्रण प्रवणता (तल के लंब कोण पर मापित x दूरी पर सांद्रण में परिवर्तन) $\frac{dc}{dx}$ है, तब तल के एकक क्षेत्र को पार करती हुई विलेय वस्तु का द्रव्यमान होगा $D\frac{dc}{dx}$, जहाँ D एक स्थायी गुणांक (विलयवस्तु के विसरण का गुणांक) है। इस संबंध को फिक (Fick) का नियम कहते हैं और इससे प्रकट होता है कि विसरण-धारा-घनत्व सांद्रण-प्रवणता के अनुपात में और समांतर होता है।

यदि दो तल A और B, δx दूरी से पृथक् हैं और प्रत्येक का एकक क्षेत्र है, तब किसी समय T में A तल का सांद्रण c है, तो B तल का सांद्रण $C - \left(\frac{dc}{dx}\right)\delta x$ होगा। A तलपर विलेय वस्तु का अंतर्वाह होगा $D\left(-\frac{dc}{dx}\right)\delta t$, जब कि B तल पर का बहिर्वाह होगा $D\left(-\frac{dc}{dx}\right)\delta t - D\left(\frac{d^2c}{dx^2}\right)\delta x\delta t$। इस पर A और B के बीच के स्थल को प्रति सेकंड नेट लाभ होगा $D\left(\frac{d^2c}{dx^2}\right)\delta x$। चूँकि तलों के बीच का परिबद्ध आयतन δx है, सांद्रण का परिवर्तन है, $D\left(\frac{d^2c}{dx^2}\right)\delta t$ और सांद्रण परिवर्तन की गति है। $\frac{dc}{dt} = D\frac{d^2c}{dx^2}$

इसी समीकरण से विसरण प्रक्रिया का नियंत्रण होता है। यह फ़िक का दूसरा नियम है।

यदि विलयन में विद्युत् से आवेशित कण नहीं हैं, तो D का संबंध कणों की गतिशीलता (mobility) B से है और तब D = k T B, जहाँ k बोल्ट्समॉन का (Boltzmann's) स्थिरांक, T परम ताप और B कणों की गतिशीलता है। यदि कण r त्रिज्या के गोले (spheres) हैं और विलायक के अणु से बड़े हैं, तो B स्टोक (Stokes) के नियम से प्राप्त होता है। इस नियम के अनुसार

$$B = \frac{1}{6\pi r\eta}$$, जहाँ η द्रव का श्यानता गुणांक है।

यदि विलयन कण विद्युत् से आवेशित हैं, तब D कणों के विभिन्न किस्मों पर निर्भर करता है। एकसंयोजक विद्युत् अपघट्य (electrolyte) विलयन, जिसमें दो आयन ही सोडियम और क्लोरीन हैं, जैसे नमक के विलयन में

$$D = \frac{kT\,2\,B_1\,B_2}{B_1 + B_2}$$

जहाँ B_1 और B_2 दो आयनों की गतिशीलता है। इनसे विसरण गुणांक का आकलन हो सकता है और घुले कणों के विस्तार का निर्धारण किया जा सकता है। एक निश्चित परिस्थिति में मापन कर विसरण गुणांक का आकलन किया जा सकता है। विसरण गुणांक का प्रयोगों

से निर्धारण कठिन इसलिये होता है कि द्रवों का विसरण बड़ी मंदगति से होता है। मापने योग्य परिवर्तन हो सके, इसमे हफ्तों या महीनों लग सकते हैं। इस समय विलयन ज्यों का त्यों बिना किसी विक्षोभ के रहना चाहिए। ऐसा होना कठिन काम है। इन कठिनाइयों के कारण ऐसे उपकरण की, जिसमें सांद्रण का बड़ा सूक्ष्म अंतर मापा जा सके, आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये एक विशिष्ट प्रकार का कक्ष बना है, जिसमें सांद्रण का बड़ा सूक्ष्म अंतर मापा जा सकता है। इसमें सूक्ष्मदर्शी की सहायता ली जाती है। रंजक के विलयनों के विसरण मापने में ह उपयोगी सिद्ध हुआ है। रंजन की कार्यविधि और जैव तंतुओं के अभिरंजन के अध्ययन में भी यह कक्ष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

विसरण गुणांक, D, का मान भिन्न भिन्न द्रवों के लिये बहुत भिन्न भिन्न होता है। यदि किसी द्रव के विसरण गुणांक का मान बहुत ऊँचा है, तो ऐसे द्रव को हम क्रिस्टलाभ (Crystalloid) कहते हैं और जिसका विसरण गुणांक का मान कम रहता है, उसे कोलॉइड (Colloid) कहते हैं। क्रिस्टलाभ, मे अम्ल, लवण और अन्य वस्तुएं आ जाती हैं, जो क्रिस्टलाभ बनती है और कोलॉइड में गोंद, ऐल्ब्युमेन, स्टार्च तथा सरेस आते हैं। क्रिस्टलाभ साधारणतया पानी में घुलते हैं, जबकि कोलायड पानी मे जेली बन जाते हैं। कोलॉइड के अणु बड़े जटिल (complex) होते है। इस कारण उनका विसरण गुणांक कम होता है। वे अपेक्षया स्वादहीन होते हैं, क्योंकि विसरित होकर तंत्रिका टर्मिनल (nerve terminal) तक नहीं पहुँच पाते। इसी कारण वे अपाच्य भी होते हैं। [वि० ना० सिं०]

विसूवियस स्थिति : ४०° ४९' उ० अ० तथा १४° २६' पू० दे०। यह नेपल्स से आठ मील पूर्व-दक्षिण-पूर्व में, नेपल्स की खाड़ी पर ३,८९१ फुट की ऊँचाईवाला, यूरोप का अकेला जीवित ज्वालामुखी, कैंपेनिया, दक्षिणी इटली, में स्थित है। खाड़ी के पास इसकी ढाल १०° है और ऊपर पहुँचते पहुँचते यह ३०°-३५° हो जाती है। इसके सभी तरफ लावा का जमाव है। पश्चिमी ढाल पर १,९९५ फुट की ऊँचाई पर भूकंप नापनेवाला यंत्र लगा है। इस पहाड़ के नीचे का घेरा करीब ४५ मील है। इसके चारों ओर सुंदर रेल लाइन एवं सड़क बनी है। १,९५० फुट से नीची ढालो पर शराब के योग्य अंगूर तथा अन्य रसदार फल, तरकारियाँ आदि उगाए जाते हैं। मवेशी पालन भी यहाँ होता है। प्रत्येक विस्फोट के बाद इसका मुख (उद्गम) बदल गया, जिससे पहाड़ की ऊँचाई बदलती गई, पर इसकी औसत ऊंचाई ४,००० फुट रही है। [वि० मु०]

विसेलियस, आंद्रेऐस, (Vesalius, Andreas; सन् १५१४-१५४६) बेल्जियमवासी, शारीर वैज्ञानिक, का जन्म ब्रसल्ज़ नामक नगर में हुआ था। इन्होंने लूवें में सिल्वियन तथा जोहैनीज़ गंथर से शिक्षा पाई थी।

सन् १५३७ में इन्होंने मुस्लिम, ईरानी चिकित्सक रेज़ीज़ (Rhazes) के एक ग्रंथ का संपादन किया और तब वेनिस के पैडुआ विश्वविद्यालय से एम० डी० की उपाधि प्राप्त की। यहीं ये शल्यचिकित्सा तथा शारीरविज्ञान के आचार्य नियुक्त हुए। सन् १५३८ में इन्होंने कुछ सुधार कर, किंतु गैलेन (Galen) की विचारपद्धति पर आधारित, छह शारीर-विज्ञान-सारणियों का प्रकाशन किया। सन् १५३९ में इन्होंने रक्तमोक्षण (blood-letting) पर एक लेख लिखा तथा सन् १५४१ में गैलेन के तीन ग्रंथों का संपादन किया। सन् १५४३ मे इनका फैब्रिका (Fabrica) ग्रंथ एपिटोम (Epitome) के साथ प्रकाशित हुआ। बाद मे ये बादशाह चार्ल्स पाँचवें तथा उनके उत्तराधिकारी फिलिप दूसरे के चिकित्सक के पद पर रहे।

विसेलियस को सर्वोच्च शारीर वैज्ञानिक कहा जाता है और मानव शरीर की रचना पर इनके ग्रंथ की गणना इस विषय के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में होती है। इसमे अस्थियों और तंत्रिकातंत्र के वर्णन तो उत्कृष्ट हैं ही, पर पेशियों के वर्णन के लिये यह विशेषकर प्रसिद्ध है। विसेलियस ने अध्यापन करते समय स्वयं विच्छेदन (dissection) कर, शारीरविज्ञान की शिक्षा प्रणाली में क्रांति ला दी। [भ० दा० व०]

विस्चुला पोलैंड की ६७७ मील लंबी नदी है, जो बाल्टिक सागर के डैंज़िग की खाड़ी में गिरती है। साइलेशिया से कोयला और लकड़ी विस्चुला द्वारा भेजे जाते हैं। छोटे छोटे स्टीमरों के लिये यह नौगम्य बनाई गई है। इसकी सहायक नदी सान के मुहाने तक बड़े बड़े जहाज भी आ सकते हैं। [श्री ना० सिं०]

विस्फोटक कुछ यौगिक या मिश्रण ऐसे होते हैं जिनमे आग लगाने पर या आघात करने पर बड़े धमाके के साथ वे विस्फुटित होते हैं। धमाके का कारण बड़े अल्प काल मे बहुत बड़ी मात्रा में गैसों का बनना होता है। ऐसे पदार्थों को 'विस्फोटक' कहते हैं। आज बहुत बड़ी मात्रा में विस्फोटकों का निर्माण होता है। विस्फोटकों के दो उद्देश्य होते हैं : (१) शांतिकाल मे उनसे चट्टानों को उड़ाया और कोयले और अन्य खनिजों को कम खर्च में खानों से निकाला जाता है तथा (२) युद्धकाल में विस्फोटकों से शत्रुओं को हानि पहुँचाकर अपनी रक्षा की जाती है। जिस तीन मील लंबी सुरंग के बनाने में तीस हजार व्यक्ति ११ वर्षों तक काम में लगे थे, वही सुरंग आधुनिक मशीनों और विस्फोटकों की सहायता से केवल १०० व्यक्तियों द्वारा दस मास मे बन सकती है।

विस्फोटक रासायनिक पदार्थ या पदार्थों का मिश्रण होता है, जिसे हथौड़े से आघात करने या ज्वाला से छूने, या विद्युत् स्फुलिंग से एकाएक ऊष्मा के विकास के साथ बहुत बड़ी मात्रा में गैस बनने के कारण विस्फोटन होता है। यदि किसी बंद कक्ष में विस्फोटन हो, तो कक्ष की दीवारें छिन्न भिन्न हो जाती हैं। पर लाभकारी विस्फोटक अपेक्षया निष्क्रिय होते हैं, ताकि उनका निर्माण और परिवहन निरापद हो सके। कुछ विस्फोटक ऐसे होते हैं कि पंख से छूने पर भी वे विस्फुटित हो जाते हैं। ऐसे विस्फोटक किसी उपयोगी काम के नहीं होते। उपयोगी विस्फोटकों में कुछ उच्च विस्फोटक होते हैं और कुछ सामान्य या मंद विस्फोटक। यह विभेद उनकी सुग्राहिता के आधार पर नहीं किया जाता, वरन् उनके छिन्न भिन्न करने की क्षमता पर किया जाता है। कुछ विस्फोटक, जैसे मर्करी फलिमिनेट तथा लेड ऐज़ाइड (Lead azide), जो बड़े सुग्राही होते हैं, प्राथमिक विस्फोटक के

रूप में न्यून सुग्राही विस्फोटक के विस्फोटन में उपयुक्त होते हैं। कुछ प्रमुख विस्फोटक ये हैं :

१. डायनामाइट	तीव्र विस्फोटक,	शांतिकाल के लिये
२. विस्फोटक जिलेटिन	,, ,	,,
३. टीएनटी (TNT)	,, ,	युद्ध के लिये
४. पिक्रिक अम्ल	,, ,	,,
५. अमोनियम नाइट्रेट	,, ,	,,
६. धूमहीन चूर्ण	मंद विस्फोटक,	,,
७. कालाचूर्ण या बारूद	,, ,	शांति और युद्ध दोनों के लिये
८. मर्करी फलिमनेट	सहायक विस्फोटक,	युद्ध के लिये
९. लेड ऐज़ाइड	,,	,,

डायनामाइट के निर्माण में नाइट्रोग्लिसरीन प्रयुक्त होता है। नाइट्रोग्लिसरीन आवश्यकता से अधिक सुग्राही होता है। इसकी सुग्राहिता को कम करने के लिये कीज़लगर का उपयोग होता है। अमरीका में कीज़लगर के स्थान में काठ चूरा, या काठ समिता और सोडियम नाइट्रेट का उपयोग होता है। डायनामाइट में नाइट्रोग्लिसरीन की मात्रा २०, ४०, या ६० ७५ प्रति शत रहती है। इसकी प्रबलता नाइट्रोग्लिसरीन की मात्रा पर निर्भर करती है। ७५ प्रतिशत नाइट्रोग्लिसरीन वाला डायनामाइट प्रबलतम होता है। कीज़लगर, या काष्ठचूर्ण, या सामग्री के प्रयोग का उद्देश्य डायनामाइट का संरक्षण होता है, ताकि यातायात में वह विस्फुटित न हो जाय। नाइट्रोग्लिसरीन १३° सें० पर जम जाता है। जम जाने पर यह विस्फुटित नहीं होता। अतः ठंडी जलवायु में जमकर वह निकम्मा न हो जाय, इससे बचाने के लिये उसमें २० भाग ग्लिसरीन डाइ-नाइट्रो-मोनोक्लोरहाइड्रिन मिलाया जाता है। यह जमावरोधी कारक का काम करता है। इससे नाइट्रोग्लिसरीन –३०° सें० तक द्रव रहता है। नाइट्रोग्लिसरीन के स्थान में नाइट्रोग्लाइकोल का उपयोग अब होने लगा है।

विस्फोटक जिलेटिन में ९० प्रति शत ग्लिसरीन और १० प्रति शत नाइट्रोसेलुलोस रहता है। टी एन टी ट्राइनाइट्रोटॉलिन है। यह ८१° सें० पर पिघलता है। टी एन टी के साथ अमोनियम नाइट्रेट के मिले रहने से टी एन टी का प्रबल विस्फोटन हो जाता है। पिक्रिक अम्ल उच्च विस्फोटक है। फिनोल के नाइट्रीकरण से यह बनता है। यह पीला ठोस है, जो १२१° सें० पर पिघलता है। इसका सीस लवण पिक्रिक अम्ल से ५ गुना अधिक सुग्राही होता है। स्वयं पिक्रिक अम्ल खोल में भरा जाता है। अमोनियम नाइट्रेट टी एन टी के साथ मिलाकर प्रयुक्त होता है। यह आक्सीकारक का भी कार्य करता है। स्वयं यह कठिनता से प्रस्फाटित (detonate) होता है।

धूमहीन चूर्ण में नाइट्रोसेलुलोस रहता है। यह ऐसीटोन से जिलेटिनीकृत किया रहता है। स्थायित्वकारी (stabilizer) के रूप में अल्प मात्रा में डाइफेनिलेमिन और यूरिया प्रयुक्त होते हैं।

विस्फोटकों के गुण और परीक्षण — विस्फोटकों की क्षमता दो बातों, प्रस्फोट की तीव्रता और प्रस्फोट के संचारण के वेग पर निर्भर करती है। इन दोनों गुणों पर ही छिन्न भिन्न करने की क्षमता आधारित है। तीव्रता गैसों और ऊष्मा के उन्मुक्त होने पर निर्भर करती है। इसके लिये विस्फोटक के एक ज्ञात भार को सीस निपिंड (block) की गुहा में रखकर, विस्फुटित करते हैं। इससे सीस निपिंड की गुहा का उत्तनन (distension) हो जाता है। गुहा के आयतन की माप विस्फोटक की प्रबलता की माप है। एक दूसरी विधि में ५०० पाउंड मॉर्टर (छोटे तोप) को लोलक के रूप में लटकाते हैं और उससे ३६ पाउंड का गोला छोड़ते हैं। इससे मॉर्टर का प्रतिक्षेप (recoil) होता है। मॉर्टर का यही प्रतिक्षेप प्रबलता की माप है। दोनों विधियों से प्रायः एक से ही परिणाम प्राप्त होते है। कठोर चट्टानों को उड़ाने के लिये प्रबल और उच्च वेगवाले विस्फोटकों की आवश्यकता पड़ती है और कम कठोर चट्टानों के लिये कम प्रबल और मंद वेग वाले विस्फोटकों से काम चल जाता है। विस्फोटक के महत्व का एक गुण उसकी सुग्राहिता है। सुग्राहिता का परीक्षण विस्फोटक पर भार गिराकर किया जाता है। जितना ही अधिक ऊँचाई से गिरकर वह विस्फुटित होता है, उतना ही कम सुग्राही वह होता है। जो विस्फोटक कोयले की खानों में व्यवहृत होते है, उनका परीक्षण एक विशेष प्रकार से होता है, क्योंकि कोयले की खानों में ज्वलनशील गैस रह सकती है। ऐसी गैसों में जो विस्फोटक विस्फुटित नहीं होते, वे ही खानों में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे विस्फोटकों की ज्वाला छोटी और अल्पकालिक होती है। ज्वाला की लंबाई और समयावधि फोटोग्राफी से नापी जाती है। बारूद की समयावधि ०·०७७ सेकंड और ज्वाला की लंबाई ११० मिमी० (१०० ग्राम का) तथा गनकॉटन (guncotton) की समयावधि ०·००१३ सेकंड और ज्वाला की लंबाई ९७ मिमी० होती है। पिक्रिक अम्ल और अमोनियम नाइट्रेट की समयावधि एवं ज्वाला लंबाई इनसे बहुत छोटी होती है। गनकॉटन को तोपकक्ष में विस्फुटित करने से प्रति वर्ग इंच लगभग ३ टन का दबाव उत्पन्न होता है।

युद्ध में काम आनेवाले विस्फोटक दो प्रकार के होते हैं : (१) प्रणोदक (propellent), जो कारतूसों में भरे जाते हैं, तथा (२) वे जो गोले खोल में भरे जाते हैं। राइफल के कारतूस में भी एक प्रणोदक और दूसरी बुलेट या गोली जो ताँबा मिश्रधातु की बनी होती है, सीस के निचोल में रखा हुआ होता है। टैंकमार (anti-tank) राइफलों में इस्पात की गोलियाँ होती हैं। बमगोले में कोई प्रणोदक नहीं होता।

रेशे के रूप में नाइट्रोसेलुलोस प्रबल विस्फोटक होता है, किंतु जिलेटिनीकृत हो जाने पर मंद विस्फोटक बन जाता है। अकेले या अन्य पदार्थों के साथ मिलाकर, यही प्रधानतया मंद विस्फोटक के रूप में व्यवहृत होता है। गोलों के खोल में टी एन टी, या एमेटोल (टी एन टी के साथ अमोनियम नाइट्रेट मिला हुआ), पिक्रिक अम्ल, या इनके लवण, रहते है। इसका काम होता है निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर, तीव्रगामी टुकड़ों में चूर चूर हो जाना और वास्तविक विनाशक या अस्त्र बन जाना। खोल में रोज़िन या बारूद से बँधा हुआ गेंद रहता है। ऐसे खोल को 'श्रेप्नेल शेल' (Shrapnel shell) कहते है। गेंद के स्थान में युद्ध गैस भी रह सकती है। खोल को पलीते (fuse) द्वारा

जलाया जाता है। खोल इस्पात का बना होता है। बहुधा उसमें ऐलुमिनियम की नालनुमा धार लगी रहती है।

विस्फोटक में प्रयुक्त होनेवाले नाइट्रोसेलुलोज मे नाइट्रोजन १२.८ प्रति शत रहता है। रखने पर धूमहीन चूर्ण का ह्रास होता है। अत: बीच बीच में उसका परीक्षण करते रहना आवश्यक होता है। कॉर्डाइट मे नाइट्रोसेलुलोज और नाइट्रोग्लिसरीन दोनों रहते है। इनकी आपेक्षिक मात्रा निश्चित नही रहती। एक कॉर्डाइट मे नाइट्रोसेलुलोज ६५ भाग, नाइट्रोग्लिसरीन ३० भाग और खनिज जेली ०.५ भाग रहते हैं। एक दूसरे कॉर्डाइट में नाइट्रोसेलुलोज ३७ भाग, नाइट्रोग्लिसरीन ५८ भाग और जेली ०.५ भाग रहते हैं। ऐसीटोन जिलेटिनीकारक के रूप में प्रयुक्त होता है। पोटैशियम क्लोरेट, पोटैशियम परक्लोरेट नाइट्रोग्वेनिडिन, मर्करी फलिमनेट, लेड ऐज़ाइड, नाइट्रो स्टार्च, द्रव ऑक्सीजन और काष्ठ कोयला भी विस्फोटक के रूप में प्रयुक्त होते है। [स० व०]

वीतेस्लव नेज़वल (Viteslav Nezval, १९००–१९५८) आधुनिक चेक कवियों मे प्रमुख। नेज़वल का काव्य संबंधी विकास बहुत ही जटिल रहा। उनकी सभी कविताओं में आशावाद और श्रमिक वर्ग के ऐतिहासिक संदेश की प्रबल झलक मिलती है। 'रात के संगीत' के संग्रह मे कवि की सबसे अच्छी प्रारंभिक कविताएँ, जैसे 'एडिसन', 'चमत्कारपूर्ण जादूगर' आदि पाई जाती हैं। दूसरे महायुद्ध के उपरांत नेज़वल ने कई कविताएँ लिखीं। उस काल की उनकी क्रांतिवादी श्रमिक वर्ग विषयक कविताएँ चेक प्रगतिशील काव्य के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। उनकी उत्तर युद्धकालीन कविता की पराकोटि 'शांतिगान' है, जिसमे अंतरराष्ट्रीय शांति की शक्ति में अपना अटूट विश्वास अभिव्यक्त किया गया है। नेज़वल को अंतरराष्ट्रीय शांति पदक मिला है। अन्य कवितासंग्रह पुल, 'मातृभूमि से' आदि है। [ओ० स्मे०]

वीरचंद्र प्रभु श्री नित्यानंद प्रभु के पुत्र, जन्म सं० १४९० में। इन्होंने वैष्णवों का ऐसा नेतृत्व किया कि बंगाल मे गौड़ीय समाज का बहुत प्रचार हुआ। इन्हें इतना सम्मान मिला कि यह भी प्रभु कहे जाने लगे। [ब्र० र० दा]

वीरशैव दर्शन वीरशैव का शाब्दिक अर्थ है, जो शिव का परम भक्त हो, किंतु समय बीतने के साथ वीरशैवों का तत्वज्ञान दर्शन, साधना, कर्मकांड, सामाजिक संघटन, आचारनियम आदि अन्य संप्रदायों से भिन्न होते गए। यद्यपि वीरशैव देश के अन्य भागों—महाराष्ट्र, आंध्र, तमिल क्षेत्र आदि—में भी पाए जाते है किंतु उनकी सबसे अधिक संख्या कर्नाटक मे पाई जाती है।

शैव लोग अपने धार्मिक विश्वासों और दर्शन का उद्गम वेदों तथा २८ शैवागमों मे मानते है। वीरशैव भी वेदों में अविश्वास नही प्रकट करते किंतु उनके दर्शन, कर्मकांड तथा समाजसुधार आदि मे ऐसी विशिष्टताएँ विकसित हो गई हैं जिनकी व्युत्पत्ति मुख्य रूप से शैवागमों तथा ऐसे अंतर्दृष्टि योगियों से हुई मानी जाती है जो वचनकार कहलाते हैं। १२वीं से १६वीं शती के बीच लगभग तीन शताब्दियों में कोई ३०० वचनकार हुए हैं जिनमें से ३० स्त्रियाँ रही हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध नाम बासव का है जो कल्याण (कर्नाटक) के जैन राजा विज्जल (१२वीं शती) का प्रधान मंत्री था। वह योगी महात्मा ही न था बल्कि कर्मठ संघटनकर्ता भी था जिसने वीरशैव संप्रदाय की स्थापना की। बासव का लक्ष्य ऐसा आध्यात्मिक समाज बनाना था जिसमें जाति, धर्म या स्त्री-पुरुष का भेदभाव न रहे। वह कर्मकांड संबंधी आडंबर का विरोधी था और मानसिक पवित्रता एवं भक्ति की सचाई पर बल देता था। वह मात्र एक ईश्वर की उपासना का समर्थक था और उसने पूजा तथा ध्यान की पद्धति में सरलता लाने का प्रयत्न किया। जाति भेद की समाप्ति तथा स्त्रियों के उत्थान के कारण समाज में अद्भुत क्रांति उत्पन्न हो गई। ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग—तीनों वचनकारों को मान्य हैं किंतु भक्ति पर सबसे अधिक जोर दिया जाता है। बासव के अनुयायियों मे बहुत से हरिजन थे और उसने अंतर्जातीय विवाह भी संपन्न कराए।

वीरशैवों का संप्रदाय 'शक्ति विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। परम चैतन्य या परम संविद् देश, काल तथा अन्य गुणों से परे है। परा संविद् की शक्ति ही इस विश्व का उत्पादक कारण है। विश्व या संसार मिथ्या (भ्रम मात्र उद्भवन) नहीं है। एक लंबी और बहुमुखी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बहुरूपधारी संसार की उत्पत्ति होती है। मनुष्य में हम जो कुछ देखते है वह विशिष्टीकरण एवं आत्मचेतना का विकास है किंतु यह आत्मचैतन्य ही परम चैतन्य के साथ पुनर्मिलन के प्रयास का प्रेरक कारण है। साधना के परिणाम स्वरूप जब ईश्वर का सच्चा भक्त समाधि की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होता है तब सामरस्य की स्थिति अर्थात् ईश्वर के प्रत्येक स्वरूप के साथ पूर्ण एकता की स्थिति उत्पन्न होती है। यही मनुष्य के परमानंद या मोक्ष की स्थिति है। इसे पूर्ण विलयन न मानकर मिलन के परमानंद मे बराबरी से हिस्सा ग्रहण करना समझना अधिक अच्छा होगा।

वीरशैवों ने एक तरह की आध्यात्मिक अनुशासन की परंपरा स्थापित कर ली है जिसे 'षट्स्थल शास्त्र' कहते है। यह मानव की साधारण चेतना का अंगस्थल के प्रथम प्रक्रम से लिंगस्थल के सर्वोच्च क्रम पर पहुँच जाने की स्थिति का सूचक है। साधना अर्थात् आध्यात्मिक अनुशासन की समूची प्रक्रिया में भक्ति और शरण याने आत्मार्पण पर बल दिया जाता है। वीरशैव महात्माओं को कभी कभी 'शरण' या शिवशरण कहते है याने ऐसे लोग जिन्होंने शिव की शरण मे अपने आपको अर्पित कर दिया है। उनकी साधना शिवयोग कहलाती है।

वीरशैववाद मूलत: अद्वैतवादी दर्शन है किंतु यत: परमात्मा क्रिया और ध्यान से परे है और हमारे वास्तविक अनुभव की दुनिया के अस्तित्व की व्याख्या इच्छा तथा क्रिया के बिना नहीं की जा सकती, इसलिये शिव के शक्ति सिद्धांत की कल्पना की गई। ईश्वर से एकता स्थापित करने के लिये आध्यात्मिक आकांक्षी अपनी एक या तीनों शक्तियों का प्रयोग करता है। प्रेमशक्ति के प्रयोग का नाम भक्तियोग, चिंतनशक्ति के प्रयोग का ज्ञानयोग तथा कर्म

शक्ति के प्रयोग का नाम कर्मयोग है। इन्हीं के जरिए परमेश्वर के साथ अंतिम रूप से एकता स्थापित होती है।

इसमें संदेह नहीं कि वीरशैवों के भी मंदिर, तीर्थस्थान आदि वैसे ही होते हैं जैसे अन्य संप्रदायों के, अंतर केवल उन देवी देवताओं में होता है जिनकी पूजा की जाती है। जहाँ तक वीरशैवों का संबंध है देवालयों या साधना के अन्य प्रकारों का उतना महत्व नहीं है जितना इष्ट लिंग का जिसकी प्रतिमा शरीर पर धारण की जाती है। आध्यात्मिक गुरु प्रत्येक वीरशैव को इष्ट लिंग अर्पित कर उसके कान में पवित्र पंचाक्षर मंत्र 'ओम् नमः शिवाय' फूँक देता है। प्रत्येक वीरशैव स्नानादि कर हाथ की गदेली पर इष्ट लिंग की प्रतिमा रखकर चिंतन और ध्यान द्वारा आराधना करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक वीरशैव में सत्यपरायणता, अहिंसा, बंधुत्वभाव जैसे उच्च नैतिक गुणों के होने की आशा की जाती है। वह निरामिष भोजी होता है और शराब आदि मादक वस्तुओं से परहेज करता है। बासव ने इस संबंध में जो निदेश जारी किए थे, उनका सारांश यह है—'चोरी न करो, हत्या न करो और न झूठ बोलो, न अपनी प्रशंसा करो न दूसरों की निंदा, अपनी पत्नी के सिवा अन्य सब स्त्रियों को माता के समान समझो।'

वेद, उपनिषद् और शैवागम तो सब संस्कृत में है अतः वीरशैव वचनकारों ने उनका सार और शाश्वत सत्यों का स्थूलांश कन्नड भाषा एवं साहित्य में समाविष्ट कर उसकी संवृद्धि की।

[आर० आर० दिवाकर]

वीरसिंह देव, बुंदेला, राजा राजा मधुकरशाह बुंदेला का पुत्र। प्रारंभ से मुगल राजकुमार सलीम की सेवा में रहा। शेख अबुलफजल की हत्या कर देने पर यह सम्राट् अकबर का कोपभाजन हुआ। सलीम के जहाँगीर के नाम से सिंहासनारूढ़ होने पर इसे तीनहजारी मनसब मिला। दक्षिण प्रदेश में कार्यकुशलता का परिचय देने पर इसके मनसब में वृद्धि हुई। जहाँगीर और शाहजहाँ के मनोमालिन्य के समय सुल्तान पर्वेज के साथ शाहजहाँ का पीछा करने पर नियुक्त हुआ। इसने षडयंत्र से बहुत से प्रदेश अपने अधीन कर लिए थे। १६२७ में इसकी मृत्यु हुई। मथुरा का प्रसिद्ध मंदिर, जिसे औरंगजेब ने मस्जिद का रूप दे दिया, इसी के द्वारा बनवाया गया था।

वीरसिंह, भाई (१८७२-१९५७ ई०) आधुनिक पंजाबी साहित्य के प्रवर्तक; नाटककार, उपन्यासकार, निबंधलेखक, जीवनीलेखक तथा कवि। जन्मस्थान अमृतसर (पंजाब), पिता सिख नेता डाक्टर चरणसिंह। प्रारंभ में चीफ खालसा दीवान और 'सिंघसभा' आंदोलन की सफलता के लिये अनेक ट्रैक्ट लिखे जिनका उद्देश्य सिखमत की श्रेष्ठता, एकता और हिंदू धर्म से पृथकता का जनता में प्रचार करना था। पंजाबी के निबंध साहित्य में इन ट्रैक्टों का महत्वपूर्ण स्थान है। १८९४ ई० में आपने 'खालसा ट्रैक्ट सोसाइटी' की नींव रखी। १८९९ ई० में साप्ताहिक 'खालसा समाचार' निकाला। इससे पहले 'सुंदरी' (१८९७ ई०) के प्रकाशन के साथ आप पंजाबी के प्रथम उपन्यासकार के रूप में आ चुके थे। १८९९ ई० में आपका दूसरा उपन्यास 'बिजैसिंघ' और १९०० ई० में तीसरा उपन्यास 'सतवंत कौर' प्रकाशित हुआ। इनका अंतिम उपन्यास 'बाबा नौध सिंघ' बहुत बाद (१९२१ ई०) में प्रकाश में आया। कला की दृष्टि से ये उपन्यास उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते। सुधारवाद इनका प्रमुख ध्येय है। इनके सिख पात्र धार्मिक, त्यागी और वीर हैं; मुसलमान पात्र क्रूर, निर्दय और भिखारी हैं; तथा हिंदू पात्र प्रायः भीरु, स्वार्थी तथा धोखेबाज हैं। कथानक की दृष्टि से आज ये उपन्यास पाठकों को नीरस और संकीर्ण लगते हैं, किंतु वर्तमान शती के प्रथम चरण में इनका सिखों में बहुत प्रचार था। इनकी कहानियाँ भी इसी तरह की हैं—अधिकतर का संबंध सिख इतिहाससे है। छोटी-छोटी जीवनियों के अतिरिक्त आपने गुरु गोविंदसिंह की जीवनी 'कलगीधर चमत्कार' नाम से और नानक की 'गुरु नानक चमत्कार' नाम से प्रकाशित की। 'राजा लखदातासिंघ' आपका एकमात्र नाटक है। आपके गद्य साहित्य के विशेष गुण हैं भावों की सुष्ठुता, भाषा का ठेठपन, व्यंजना की तीव्रता, वर्णन की काव्यात्मकता, और गठन की साहित्यिकता।

यद्यपि मात्रा में कविता की अपेक्षा आपका गद्य अधिक है, तथापि आप मुख्यतः कवि के रूप में विख्यात हैं। आपकी प्रथम कविता 'राणा सूरतसिंघ' सिरखंडी छंद में अतुकांत कथा है। विषय धार्मिक और कथावस्तु प्रचारात्मक है। कुछ साहित्यिक गुण अवश्य है परंतु कम। बाद की कविताएँ मुक्तक हैं और इनमें भाई जी सांप्रदायिक संकीर्णता से मुक्त होते गए हैं। 'लहरां दे हार' (१९२१), 'प्रीत वीणा', 'कंब दी कलाई', 'कंत महेली' और 'साइयाँ जीओ' आपके प्रसिद्ध काव्यसंग्रह है। इनमें अधिकतर गीत हैं। अन्य छोटी कविताओं में रुबाइयाँ हैं जो पंजाबी साहित्य में विशेष देन के रूप में बहुमान्य हैं। बड़ी कविताओं में 'मरद दा कुत्ता' और 'जीवन की है' आदि हैं, पर इनमें वह रस नहीं है। कवि का काव्यक्षेत्र प्रकृति के 'सिरजनहार' के बाहर नहीं रहा। वे राजनीति और समाज के झमेलों से दूर भावलोक में रहकर मस्ती और बेहोशी चाहते हैं। उनका कहना है कि जीवन की दुरंगी से दूर एकांत में मंतव्य की प्राप्ति हो सकती है। उनकी कविताएँ प्रायः छायावादी या रहस्यवादी हैं। शांत रस की प्रधानता है। प्रकृति संबंधी कविताओं में कश्मीर के दृश्य बहुत सुंदर बन पाए हैं। कवि पदार्थों का वर्णन यथातथ्य रूप में नहीं करते, अपितु उनमें से संदेश पाने का प्रयत्न करते हैं। कवि ने अंग्रेजी और उर्दू काव्य तथा पंजाबी लोकगीतों से अनेक तत्व ग्रहण करके उन्हें नया रूप प्रदान किया है। कुछ काव्यरूप और छंद भी इन्हीं स्रोतों से अपनाए हैं, कुछ अपने भी दिए हैं। छंदों की विविधता, विचारों और भावों का संयम और भाषा की प्रभावपूर्णता आपकी कविता के विशेष गुण है।

व्यक्तिगत रूप से आप संगीत और कला के प्रेमी थे। पंजाब विश्वविद्यालय ने आपको डी० लिट्० की उपाधि देकर संमानित किया था। भाई जी की रचनाएँ भाषाविभाग (पंजाब) और साहित्य अकादमी (नई दिल्ली) द्वारा पुरस्कृत हुई है।

[ह० बा०]

वीरूबाई वीरूबाई छत्रपति साहू के जीवन में कब और किस प्रकार आईं, यह अज्ञात है। ये किसकी पुत्री थीं तथा इनका बाल्यकाल कहाँ और किस प्रकार बीता, प्रमाण के अभाव में नहीं कहा जा सकता। कुछ लेखकों के अनुसार वीरूबाई सावित्री बाई के विवाह के साथ ही साहू के पास आई थीं। जिस समय साहू मुगल शिविर छोड़कर १७०७ ई० में दक्षिण लौटे, वीरूबाई भी उनके साथ थीं। साहू और वीरूबाई जीवनपर्यंत एक साथ रहे और एक दूसरे के सुख दुःख में हाथ बँटाते रहे। दक्षिण में आने पर साहू ने सकवारबाई और सगुणाबाई से विवाह किए। किंतु वीरूबाई का वही स्थान बना रहा। न केवल साहू वरन् दोनों स्त्रियाँ भी वीरूबाई को आदर की दृष्टि से देखती थीं। वीरूबाई ने अपने मृदु स्वभाव, कुशल व्यवहार और चातुर्य से अपना प्रभुत्व न केवल महल वरन् मराठा दरबार और विदेशी व्यक्तियों तक में स्थापित कर लिया था।

चंद्रसेन जाधव और बालाजी विश्वनाथ में अनबन हो जाने से जब बालाजी विश्वनाथ के प्राण संकट में पड़े तो वीरूबाई के कहने से साहू ने बालाजी विश्वनाथ की सहायता के लिये सेना भेजी। बालाजी विश्वनाथ सतारा लौटे। इस प्रकार साहू के लिये वीरूबाई ने एक योग्य व्यक्ति के अटूट और निष्ठापूर्ण सेवाभाव को सदा के लिये अर्जित किया।

वीरूबाई विदेशी मामलों में भी अपने कार्यों और सेवाओं के लिये प्रसिद्ध थीं। ये दूसरे देशों के प्रतिनिधियों से मिलती भी थीं।

वीरूबाई के द्वारा ही महल का सब कार्य संपन्न होता था। विभिन्न सरदारों को पत्र भी लिखती थीं। युद्ध की योजनाओं से परिचित रहती थीं। इनके जीवनकाल में महल में अशांति नहीं हो पाई। इनकी मृत्यु २४ दि०, १७४० को हुई। साहू अत्यंत दुखी हुए। रानियों में झगड़े होने लगे। सरदेसाई के शब्दों में वीरूबाई बहुत योग्य और कुशल स्त्री थीं। उनमें त्याग, तपस्या और मधुरता का मिश्रण था। [सु० वै०]

वूए, सिमों (१५९०-१६४९) फ्रांसीसी चित्रकार। इटली में चौदह वर्ष रहने के पश्चात् वूए सिमों फ्रांस वापस आया। सज्जात्मक चित्र बनाने में वह बड़ा निपुण था। धार्मिक आख्यानों पर उसने बड़े मार्मिक तथा रोचक चित्र बनाए हैं। वह अपने चित्रों में बड़े ही शीतल तथा कमनीय रंग लगाता था और उन्हें सुंदरता के साथ अलंकृत करता था। उसी के द्वारा फ्रांसीसी कला में शास्त्रीय वेनीशियन कला का सुमेल एक स्वस्थ रूप में पदार्पण करता है।

[गा० चं० शु०]

वूल्जे, टॉमस (१४७५-१५३०) राबर्ट वूल्जे और उनकी पत्नी जोन के पुत्र टॉमस वूल्जे का जन्म १४७५ के लगभग इप्सविच में हुआ। उनकी शिक्षा आक्सफोर्ड के मैग्डालेन कालिज में हुई, जहाँ उन्होंने १५ वर्ष की उम्र में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। वे इस कालिज में शिक्षक भी नियुक्त हुए। १४९८ में उन्हें धर्माचार्य बना दिया गया, और 'डारसेट के मार्क्विस' की कृपा से 'लिमिंगटन' के रेक्टर नियुक्त हुए। १५०१ में डीन के आर्चबिशप ने उन्हें अपना निजी

पादरी नियुक्त किया। इसके बाद वे सर रिचर्ड नान फान के द्वारा अपने पादरी नियुक्त किए गए और उन्होंने इनकी सिफारिश इंग्लैंड के राजा हेनरी सप्तम से की। १५०७ में नान फान की मृत्यु के पश्चात् राजा ने उन्हें अपना पादरी नियुक्त किया और उन्हें कूटनीतिक कार्य भी दिया। १५०८ में उन्हें स्कॉटलैंड के राजा जेम्स चतुर्थ के पास भेजा गया।

राजा हेनरी अष्टम ने उन्हें पुरोहित संबंधी अनेक कार्य सौंपे। १५११ में वे प्रिवी काउंसिल के सदस्य नियुक्त हुए, और इस नियुक्ति ने उन्हें सरकार के कार्यों पर नियंत्रण रखने का अवसर दिया। इस समय सरकार का नियंत्रण दो दलों में विभक्त था। (१) पादरी और शांतिदल—जिसका नेतृत्व रिचर्ड फॉक्स तथा आर्चबिशप वारहम करते थे। (२) युद्ध दल—वूल्जे इस संतुलन को भंग कर युद्ध दल में मिल गए, और १५१२-१३ में युद्ध की तैयारी कर उत्तरी फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। फ्रांस को पराजित कर १५१४ में मेरी ट्यूडर का विवाह फ्रांस के लुई द्वादश से करवाया। १५१५ में फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम की विजय 'मैरिगनानो' के युद्धस्थल में हुई। फ्रांसिस को नीचा दिखाने के लिये वूल्जे ने सम्राट् मैक्सि-मिलियन की सहायता की। वूल्जे की इन युद्धयोजनाओं को देखकर फॉक्स और वारहम ने त्यागपत्र दे दिए, और इस प्रकार परिस्थिति वूल्जे के हाथ में आ गई।

वे विदेश नीति में काफी सफल रहे। सम्राट् चार्ल्स पंचम से उनकी मित्रता थी। चार्ल्स ने उन्हें पोप बनाने का आश्वासन दिया। परंतु वे १५२१ और १५२४ में असफल रहे। १५२५ में वूल्जे ने चार्ल्स को फ्रांस की पराजय में सहायता दी। इस प्रकार शक्ति का संतुलन हुआ। इस संतुलन पर इंग्लैंड का मान निर्भर था। १५२६ में और १५२८ के बीच वे जनता में अप्रिय रहे। वूल्जे पर इन निरर्थक युद्धों मे इंग्लैंड को फँसाने का आरोप लगाया गया। १५२९ मे सम्राट् और फ्रांस के बीच संधि हुई, और इस संधि में इंग्लैंड को नहीं पूछा गया।

वूल्जे की विदेश नीति की असफलता की प्रतिक्रिया गृहनीति पर भी हुई। न्याय का सुदृढ़ शासन, सामंतों का दमन और उनकी राजा के प्रति राजभक्ति ने उन्हें अप्रिय बनाया। सामंत पादरियों द्वारा शासित नहीं होना चाहते थे। वूल्जे के दुर्भाग्य से १५२९ में एक दुर्घटना हुई। इंग्लैंड का राजा हेनरी अष्टम अपनी पत्नी कैथरीन को त्यागना चाहता था, और उसके लिये वह पोप से आज्ञा लेना चाहता था। यह कार्य वूल्जे को सौंपा गया। पोप सम्राट् चार्ल्स के हाथ में था। वूल्जे अपने राजा की इस इच्छा को पूरा न कर सके। संसद् उनके विरोध मे थी। सामंत उनसे घृणा करते थे। पादरी भी उनसे रुष्ट थे। ऐसी परिस्थिति में राजा का भी खिन्न हो जाना गिरते को लात मारना था। राजा ने निश्चय किया कि अब वह स्वयं शासन करेगा। वूल्जे को अपने समस्त पदों को त्यागना पड़ा और उन्हें पेंशन दी गई। अपने जीवन के कुछ अंतिम क्षण उन्होंने धार्मिक कृत्यों के पालन मे बिताए। राजा का उनपर संदेह पूर्ववत् बना रहा और उन्हें लंदन बुलाया गया।

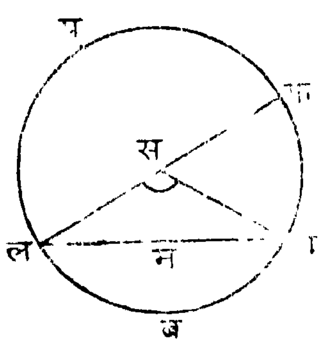
मार्ग में लिमिस्टर में ३० नवंबर, १५३० को उसकी इहलीला समाप्त हो गई। [गि० कि० ग०]

वूवेर्मन फिलिप (Wovierman Philip) डच चित्रकार। जन्म हारलेम में मई, १६२० में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा पिता से ग्रहण की। जीवन पर्यंत इसे विशेष आदर नहीं मिला लेकिन बाद में लोगों ने पहचाना। मृत्यु काल के कुछ दिन पूर्व इसने अपनी अनेक रचनाएँ नष्ट कर दी, फिर भी अभी ८०० चित्र प्राप्त हैं। इसके प्रत्येक चित्र में कोई न कोई घोड़ा अवश्य रहता है। इसके सर्वोत्तम चित्रों का संग्रह ड्रेसडेन की चित्रवीथी में है। म्यूनिख, वियना, ऐम्स्टर्डम, हेग आदि की चित्र वीथिओं में भी इसके चित्र उपलब्ध हैं। ६ मई, १६६८ को इसकी मृत्यु हो गई। [गु० त्रि०]

वृंदावनदास ठाकुर इनके पिता कुमारहट्ट निवासी वैकुंठनाथ ठाकुर थे। नवद्वीप में स० १५८२ में इनका जन्म हुआ। कुछ दिन अनंतर माता के साथ यह कुमारहट्ट लौट गए, जहाँ इनकी माता का भी शरीरांत हो गया। इन्होंने चैतन्य मंगल ग्रंथ लिखा है, जो बाद में चैतन्य भागवत नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह बंगला भाषा का आदि काव्य ग्रंथ माना जाता है। कृष्णदास कविराज ने इसकी बड़ी प्रशंसा अपने ग्रंथ चैतन्य चरितामृत में की है और कवि कर्णपूर ने इन्हें व्यास का अवतार कहा है। अंतिम अवस्था में ये वृंदावन गए। इनकी अन्य रचनाएँ हैं श्रीनित्यानंद चरितामृत, आनंदलहरी, तत्वसार, तत्वविलास, भक्तिचिंतामणि आदि। [ब्र० र० दा०]

वृक्क के रोग (Diseases of kidney), देखें मूत्र-रोग-विज्ञान।

वृत्त (Circle) किसी समतल में ऐसे एक चर बिंदु का बिंदुपथ है, जिसकी एक स्थिर बिंदु (केंद्र) से दूरी (त्रिज्या) सदा बराबर हो। चित्र १. में बंद वक्र एक वृत्त है और परिबद्ध (enclosed) भाग अभ्यंतर (Interior) कहलाता है। वृत्त पर स्थित किन्हीं दो बिंदुओं को मिलानेवाली सरल रेखा जीवा (Chord) कहलाती है। महत्तम जीवा व्यास है, जो त्रिज्या का दूना होता है। परिधि के दो बिंदुओं के बीच का भाग चाप (Arc) कहलाता है। ल प फ न दीर्घ चाप और ल ब न लघु चाप है। चाप और जीवा के मध्य स्थित समतल का भाग वृत्त का खंड (segment) है। ल प फ न म ल दीर्घ खंड और ल ब न म ल लघु खंड है। दो त्रिज्याओं और उनके छोरों को मिलानेवाले किसी चाप के बीच का क्षेत्र वृत्त का त्रिज्यखंड (Sector) कहलाता है। स ल ब न स त्रिज्यखंड और कोण ल स न त्रिज्यखंड का कोण है।



चित्र १.

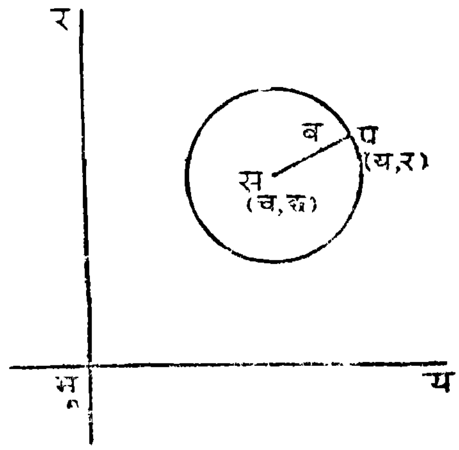
विश्लेषिक विवेचन (Analytical treatment)

यदि किसी वृत्त (चित्र २) की त्रिज्या ब और केंद्र स (च, छ) ज्ञात हों, और वृत्त पर प (य, र) कोई बिंदु हो, तो परिभाषा के अनुसार :

$$\text{स प}^2=\text{ब}^2=(\text{य}-\text{च})^2+(\text{र}-\text{छ})^2$$

अतः वृत्त का समीकरण है :

$$(\text{य}-\text{च})^2+(\text{र}-\text{छ})^2=\text{ब}^2 \quad \cdots\cdots(1)$$



चित्र २.

यदि केंद्र मूल बिंदु पर हो, तो वृत्त के समीकरण का रूप निम्नलिखित हो जाता है :

$$\text{य}^2+\text{र}^2=\text{ब}^2$$

समीकरण (१) वृत्त का मानक रूप (standard form) है और इस प्रकार भी लिखा जा सकता है :

$$\text{य}^2+\text{र}^2+2\,\text{द य}+2\,\text{ध र}+\text{स}=0 \quad \cdots\cdots(2)$$

जिसमें द, ध और स स्थिरांक हैं। समीकरण (२) को निम्नलिखित रूप में भी निगमित (deduced) किया जा सकता है :

$$(\text{य}-\text{च})^2+(\text{र}-\text{छ})^2=\text{स}$$

यदि स >0, तो स $=$ ब^2 रखकर समीकरण को मानक रूप में प्राप्त किया जा सकता है। यदि स $=0$, तो वृत्त घटकर बिंदु हो जाता है और यदि स <0 तो समीकरण (२) वाले वृत्त के बिंदुपथ का अस्तित्व शून्य हो जाता है। अतः समीकरण (२) यदि इसका बिंदुपथ हो, तो यह वृत्त या बिंदु का समीकरण होता है और वृत्त का सामान्य रूप कहलाता है। समीकरण के मानक रूप का महत्व यह है कि वह च, छ और ब के गुणों को स्पष्टतः व्यक्त करता है, जिनसे वृत्त ज्यामितीय रूप से लक्षित होता है और वृत्त का सामान्य समीकरण वृत्त की सरल बीजगणितीय संरचना बताता है। यह एक द्विघात समीकरण है, जिसमें य^2, र^2 के गुणांक बराबर हैं और य र पद अनुपस्थित है। स्थिरांकों की संख्या तीन है, जो वृत्त के ज्यामितीय गुणों के अनुरूप है, अर्थात् वृत्त तीन स्वतंत्र प्रतिबंधों (independent conditions) को पूरा करता है। उदाहरणार्थ, वह दिए हुए तीन बिंदुओं से गुजर सकता है, या तीन सरल रेखाओं को स्पर्श कर सकता है।

यदि हम समीकरण (२) के बाएँ बाजू को ज से निरूपित करें, तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि कोई बिंदु प (य, र)) वृत्त

$ज = ०$ के बाहर, वृत्त पर या वृत्त के अंदर पड़ता है। इसका प्रतिबंध $ज_१$ [$य = य_१$ और $र = र_१$ होने पर ज का मान] का मान एक से अधिक, एक या शून्य होता है। समीकरण (२) द्वारा निरूपित वृत्त का केंद्र $(-द, -ध)$ है और त्रिज्या $\sqrt{[ध^२ + द^२ - स]}$ है।

रेखा और वृत्त का प्रतिच्छेदन (Intersection) — वृत्त $य^२ + र^२ = ब^२$ (१) और रेखा $र = मय + स$ (२) का प्रतिच्छेदन बिंदु समीकरण (१) और (२) से र को मुक्त करके द्विघात समीकरण को हल करने से प्राप्त होता है।

$$(१ + म^२)\ य^२ + २\ म\ स\ य + (स^२ - ब^२) = ०$$

समीकरण के मूल वास्तविक (और भिन्न), बराबर या काल्पनिक इस प्रतिबंध के अनुसार होते हैं : $ब^२ (१ + म^२) - स^२ \geqslant$ या $\leqslant ०$। पहली स्थिति में रेखा वृत्त को दो वास्तविक और सुस्पष्ट बिंदुओं पर काटती है। दूसरी स्थिति मे रेखा वृत्त को दो समपाती (coincident) बिंदुओं पर काटती है तथा तीसरी स्थिति काल्पनिक बिंदुओं की है।

वृत्त की स्पर्शरेखा और अभिलंब (normal) — बिंदु प जब फ की ओर रुख करता है, तो वृत्त की जीवा प फ जिस सरल रेखा की ओर रुख करती है, उसे प बिंदु पर वृत्त का स्पर्शी कहते हैं। अतः अक्सर कहा जाता है कि स्पर्शरेखा वृत्त से संपाती बिंदुओं पर मिलती है। वृत्त $य^२ + र^२ + २\ द\ य + २\ ध\ र + स = ०$ के (य, र) बिंदु पर स्पर्शरेखा का समीकरण होता है :

$$य\ य_१ + र\ र_१ + द\ (य + य_१) + ध\ (र + र_१) + स = ०$$

वृत्त के किसी बिंदु पर अभिलंब वह सरल रेखा है, जो उस बिंदु से गुजरती है और उस बिंदु की स्पर्शरेखा पर लंब होती है। अभिलंब का समीकरण है :

$$र\ (य_१ + द) - य\ (र_१ + ध) + द\ य_१ - ध\ र_१ = ०$$

समीकरण से जाहिर है कि अभिलंब केंद्र से गुजरता है।

किसी भी बिंदु से वृत्त पर दो स्पर्शरेखाएँ खीची जा सकती है और ये वास्तविक, संपाती या काल्पनिक होंगी। इसका प्रतिबंध क्रमशः बिंदु का वृत्त के बाहर, वृत्त पर या वृत्त के अंदर होना है। समीकरण (२) वाले वृत्त पर बाहरी बिंदु $(य_१, र_१)$, से खींची गई स्पर्शरेखा की लंबाई है $य_१^२ + र_१^२ + २द\ य_१ + २\ ध\ र_१ + स$।

संपर्क की जीवा (Chord of Contact) — यदि किसी बाह्य बिंदु से वृत्त पर दो स्पर्शरेखाएँ खीची जायँ, तो संपर्क के बिंदुओं को मिलानेवाली सरल रेखा उस बिंदु से खीची गई स्पर्शी रेखाओं के संपर्क की जीवा कहलाती है। $(य_१, र_१)$ बिंदु से समीकरण (२) वाले वृत्त पर बनाई गई स्पर्शरेखाओं के संपर्क की जीवा का समीकरण होगा :

$$य\ य_१ + र\ र_१ + द(य + य_१) + ध\ (र + र_१) + स = ०$$

ध्रुवी (Polar) — किसी स्थिर बिंदु से गुजरनेवाली वृत्त की जीवा के सिरों पर खींची गई स्पर्शरेखाओं के प्रतिच्छेदनबिंदु के बिंदुपथ को उस बिंदु का ध्रुवी और बिंदु को ध्रुव (Pole) कहते हैं। $(य_१, र_१)$ बिंदु का ध्रुवी समीकरण (२) वाले वृत्त के संदर्भ में निम्नलिखित सरल रेखा होगी :

$$य\ य_१ + र\ र_१ + द(य + य_१) + (र + र_१) + स = ०$$

मूलाक्ष (Radical axis) — दो वृत्तों का मूलाक्ष उस बिंदु का बिंदुपथ है जो इस प्रकार चर होता है कि उससे दोनों वृत्तों पर खींची गई स्पर्शरेखाएँ बराबर लंबाई की होती हैं। इसका समीकरण होगा :

$$२(द - द')य + २(ध - ध')र + स - स' = ०$$

यह समीकरण सरल रेखाओं को निरूपित करता है, जिससे स्पष्ट है कि दो वृत्तों का मूलाक्ष उनकी उभयनिष्ठ जीवा है। इसे अनंत त्रिज्या के वृत्त के रूप में समझा जा सकता है।

समाक्ष वृत्त (Coaxal Circles) — उस वृत्त निकाय (system) को समाक्ष वृत्त कहते हैं, जिसके हर दो वृत्तों का मूलाक्ष एक ही हो। दो स्थिर बिंदुओं से गुजरनेवाले वृत्त समाक्ष निकाय निर्मित करते हैं। समीकरण $य^२ + र^२ + २\lambda य + स = ०$ समाक्ष वृत्तों के निकाय को निरूपित करता है, जिनका मूलाक्ष र-अक्ष है। यदि स ऋणात्मक है, तो वृत्त र-अक्ष को वास्तविक बिंदुओं $(०, +\sqrt{-स})$ और $(०, -\sqrt{-स})$ पर काटता है और ये बिंदु वृत्तनिकाय के हर वृत्त के लिये होते हैं। यदि स धनात्मक हो, तो वृत्त र-अक्ष को काल्पनिक बिंदुओं पर काटता है।

लंबकोणीय वृत्त (Orthogonal circles) — यदि दो वृत्त बिंदु अ और ब पर मिलें, तो वे अ और ब पर बराबर कोण पर एक दूसरे को काटते हैं। जब यह कोण समकोण होता है, तो वृत्त लंबकोणीय कहलाते हैं। लंबकोणीय वृत्त का प्रतिबंध है :

$$२\ द\ द_१ + २\ ध\ ध_१ = स + स_१$$

वृत्त के संदर्भ में किसी बिंदु की शक्ति (Power) — यदि प $(य_१, र_१)$ से गुजरनेवाली रेखा समीकरण (२) वाले वृत्त को अ और ब पर काटे तो गुणनफल $पअ \times पब$, जो प से गुजरनेवाली रेखा की दिशा से स्वतंत्र है, वृत्त के संदर्भ में बिंदु की शक्ति कहलाता है। यह धनात्मक, शून्य या ऋणात्मक होती है, जिसका प्रतिबंध क्रमशः बिंदु का वृत्त के बाहर, वृत्त पर या वृत्त के भीतर होता है।

वृत्त का विस्तार कलन (Mensuration)

वृत्त की ज्यामिति उसके कुछ बहुत महत्व के गुणों को प्रदर्शित करती है। ये गुण वृत्त की सममित (symmetry) प्रकृति के कारण हैं। केंद्र के चारों ओर घूर्णन करने (rotate) पर वृत्त का रूप नहीं बदलता। एक महत्वपूर्ण गुण यह है कि प्रत्येक जीवा उस लंब से समद्विभाजित होती है जो उसपर केंद्र से डाला जाता है। वृत्त के किसी चाप के छोरबिंदुओं को केंद्र से मिलाने वाली रेखाओं के बीच का कोण उस कोण का दूना होता है जो इन्हीं छोर के बिंदुओं को बाकी चाप के किसी बिंदु से मिलानेवाली रेखाओं के बीच बनता है। अर्धवृत्त का कोण समकोण होता है।

वृत्त का क्षेत्रफल $\pi ब^२$ होता है, जहाँ ब त्रिज्या तथा π परिधि और व्यास की लंबाइयों का अनुपात है। दशमलव के बीस स्थानों तक π का परिशुद्ध मान ३·१४१५९२६५३५८९७९३२३८४६ है और स्थूल रूप से २२/७ है। सामान्यतया २२/७ मान का उपयोग किया जाता है। त्रिज्य खंड का क्षेत्रफल $\frac{१}{२}$ ब ख है,

जहाँ ब चाप की लंबाई है और त्रिज्या है। वृत्त की परिधि २πत्र है। इन परिणामों से यह ज्ञात होता है कि वृत्त की परिधि की लंबाई की सरल रेखा, या वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर का वर्ग खींचना संभव नहीं है। वृत्त के किसी चाप के बराबर लंबाई की सरल रेखा भी नहीं खींची जा सकती। [प्र० दा० श्री०]

वृषभ युद्ध स्पेन वासियों का राष्ट्रीय खेल है। इस युद्ध में जो साँड़ भाग लेते हैं, वे पालतू नहीं होते, वरन् एक विशेष जंगली जाति के होते हैं। वृषभ युद्ध ग्रीक और रोमन साम्राज्य में भी प्रचलित थे, किंतु इनमें पालतू साँड़ों द्वारा प्रदर्शन होता था। बाद में इन्हें बंद कर दिया गया, किंतु स्पेन और मेक्सिको में ये राष्ट्रीय रूप में अभी भी प्रचलित हैं।

इन युद्धों की व्यवस्था झंडों और बंदनवारों से सजाए हुए, एक गोल क्रीड़ांगण में, जिसे 'प्लाजा ड टोरोस' (Plaza de toros) कहते हैं, की जाती है। अध्यक्ष के इशारा करने पर, साँड़ आँगन में छोड़ दिया जाता है, जहाँ उसे भाले से लैस घुड़सवार, जिन्हें पिकाडोर (picadores) कहते हैं, तैयार मिलते हैं। ये बर्छे से छेदकर साँड़ को क्रोधित करने और इधर उधर दौड़ाकर उसे थकाने की चेष्टा करते हैं। यदि वृषभ साहसी हुआ, तो घुड़सवारों को बड़ी सतर्कता से अपना बचाव करना पड़ता है। यदि साँड़ आक्रमण के बजाय स्वयं भागने का उपक्रम करता है, तो दर्शक उसका मजाक उड़ाते हैं और उसे तुरंत मार डाला जाता है।

साहसी वृषभ जब किसी घोड़े को घायल कर देता है या पिकाडोर गिर जाता है, तो चूलो (chulos), अर्थात् दो फुट लंबी फलदार बर्छियाँ लिए पैदल, उसे घेर और छेदकर, अपनी ओर आकर्षित करते हैं। जब साँड़ कुछ थक जाता है, तो पिकाडोर हट जाते हैं और उनका स्थान चूलो ले लेते हैं, जो साँड़ को छेड़ने, थकाने, घायल और क्रोधित करने का क्रम जारी रखते हैं। अंत में मैटाडोर (matador) या एस्पाडा (espada), अर्थात् एक असिकलाप्रवीण पुरुष, अकेला साँड़ का सामना करता है। क्रोध से



मैटाडोर और वृषभ

अंधे साँड़ की प्रत्येक झपट पर वह अपने लाल लबादे को उसके आगे कर, स्वयं एक ओर हट जाता है। जब अपने साहस और फुर्ती के यथेष्ट चमत्कार वह दर्शकों को दिखाकर प्रसन्न कर चुकता है, तो साँड़ के अंतिम आक्रमण के समय अपने को बचाकर तलवार से उसके कंधों के मध्य, मेरुदंड को छेदकर साँड़ का अंत कर देता है।

तब झंडियों और घंटियों से सज्जित, सुंदर खच्चरों का एक दल अखाड़े में आता है और खून में लिपटे साँड़ के मृत शरीर को बाहर घसीट ले जाता है। इस क्रूर खेल का अंत एक साँड़ की मृत्यु से ही नहीं होता, वरन् प्रत्येक प्रदर्शन में कई साँड़ अखाड़े में उतारे जाते हैं। [भ० दा० व०]

वृषभानु राधिका के पिता जो पुराणानुसार नारायण के अंश से हुए थे। ये रावल गाँव के निवासी गोकुल के बड़े सरदारों में थे, पर अंत में कंस के अत्याचारों के कारण बरसाने में रहने लगे थे। इनकी माता का नाम पद्मावती और पिता का सेरभानु था। [रा० द्वि०]

बृहदांत्र (Large Intestine) आहारनाल (alimentary canal) का एक भाग है, जो क्षुद्रांत्र (ileum) के अंत से प्रारंभ होकर गुदा तक फैला है। इसकी लंबाई १.५ मीटर है। इसके निम्नलिखित भाग होते हैं: (१) अंधनाल (Caecum), (२) कोलन (Colon), (३) मलाशय (Rectum) और (४) गुदानाल (Anal canal)।

(१) **अंधनाल** — यह ६ सेमी० लंबा और ७.५ सेमी० मोटा होता है। यह बृहदांत्र का पहला भाग है और दक्षिण श्रोणीय खात (right iliac fossa) में स्थित है। यह एक फूला हुआ कोश (sac) है, जो नीचे की ओर बंद है, ऊपर आरोही कोलन (ascending colon) में खुलता है और भीतर की ओर क्षुद्रांत्र से मिला है। इसकी पश्चाभ्यंतर दीवार (posterio-medial wall) एक से सीवनी (worm) की ऐसी नली निकलती है, जिसको कृमिरूप परिशेषिका (Vermiform appendix) कहते हैं। यह परिशेषिका २ सेंमी० से २० सेंमी० तक लंबी होती है। इसकी औसत लंबाई लगभग ६ सेंमी० है। इसका स्थान भिन्न भिन्न तरह का है: (क) प्रत्यक् अंधांत्र (retrocaecal), या प्रत्यक् कोलन (retrocolic) परिशेषिका — जहाँ परिशेषिका अंधांत्र या कोलन के पीछे रहती है, (ख) श्रोणीय या अवरोही परिशेषिका (pelvic or descending appendix) — जहाँ परिशेषिका श्रोणीय (pelvic) पर्वत पर, या नीचे श्रोणीय गुहा (pelvic cavity) में चली जाती है। स्त्रियों में ऐसी परिशेषिका अंडाशय या गर्भाशय (uterus) के पास भी पहुँच जा सकती है, (ग) अध:कृमिरूप परिशेषिका — जहाँ परिशेषिका अंधनाल के नीचे रहती है, (घ) और (ङ) पुर:क्षुद्रांत्र (pre-Ilial) और पश्चक्षुद्रांत्र परिशेषिका के सामने या पीछे रहता है। इन सबों में प्रत्यक् अंधांत्र या प्रत्यक् कोलन प्रकार (type) अधिक होता है। परिशेषिका के भिन्न भिन्न स्थान होने के कारण, इसके शोथ से जो पीड़ा होती है, वह उदर की भिन्न भिन्न दिशाओं में फैलती है।

(२) **कोलन** (Colon) — इसके चार हिस्से हैं: (क) आरोही, (ख) अनुप्रस्थ (Transverse), (ग) अवरोही (Descending) और (घ) अवग्रहरूपी (Sigmoid)।

(क) **आरोही कोलन** — यह १५ सेंमी० लंबा होता है और अंधनाल से संकीर्ण होता है। यह अंधनाल से आरंभ होता है और यकृत की दक्षिण पालि (right lobe) के अध तल तक फैला है, जहाँ एक कोलन चिह्न (colic impression) बनाता है। यहाँ से यह बाईं ओर मुड़ता है और अनुप्रस्थ कोलन कहलाता है। इस मोड़ को दक्षिण कोलन आनमन (right colic flexure) कहते हैं।

(ख) **अनुप्रस्थ कोलन** — इसकी लंबाई ५० सेंमी० है और यकृत के दक्षिण खंड से प्लीहा तक फैला है। यह चित्र में दिखाया

गया है और अधिकतर थोड़ा मुड़ा रहता है, किंतु किसी किसी में नाभि, या उससे भी नीचे तक उदर में, पहुँच जाता है। प्लीहा के पास पहुँचकर यह उसके पार्श्व प्रांत (lateral end) के पास से नीचे की ओर मुड़ता है और अवरोही कोलन बनाता है। इस तरह यहाँ जो वाम कोलन आनमन बनता है, वह बहुत तीक्ष्ण (acute) होता है और अनुप्रस्थ कोलन के प्रारंभ भाग के सामने हो जाता है। वाम कोलन आनमन का स्थान दक्षिण कोलन आनमन से कुछ ऊँचा होता है और इसे एक स्नायु (ligament), जिसको मध्यच्छद कोलन स्नायु (Phrenico colic ligament) कहते हैं, डायाफ्राम (diaphragm) से बाँधे रहती है।

(ग) अवरोही कोलन — यह २५ सेमी० लंबा होता है और वाम कोलन आनमन से मुख्य श्रोणि (true pelvis) के अंत.द्वार तक फैला है, जो वंक्षण वलन (fold of groin) के पास है।

(घ) अवग्रहरूपी कोलन या श्रोणीय (pelvic) कोलन — यह प्राय. ४० सेमी० लंबा होता है और मुख्य श्रोणि के अंत:द्वार से प्रारंभ होकर एक पाश के रूप मे नीचे उतरता है। अंत में सेक्रम (sacrum) के प्रथम टुकड़े के सामने मध्यम तल में मलाशय में खुलता है। यह एक पाश है जैसा चित्र में दिखाया गया है, तथा पुरुषों के मूत्राशय और स्त्रियों के गर्भाशय के ऊपर स्थित है। इसलिये जब मूत्राशय में मूत्र भर जाता है या गर्भाशय में बच्चा बढ़ता है तब अवग्रहरूपी कोलन भी उदर में ऊपर उठता है।



बृहदांत्र

नीचे का काला, मालाकार भाग बृहदांत्र है।

(३) मलाशय — यह १२ सेमी० लंबा है और अवग्रहरूपी कोलन से सेक्रम और अनुत्रिक (coccyx) के सामने से उतरकर अनुत्रिक के निचले शिखर के २-३ सेमी० सामने और नीचे, गुदानाल में प्रवेश करता है। इस यात्रा में यह पीछे की ओर मुड़ा रहता है और सेक्रम आनमन (sacral flexure) बनाता है। इसका अंतिम हिस्सा, जिसको मलाशय तुंबिका (Rectal ampulla) कहते हैं, फूला हुआ है। मलाशय के ऊपरी दो तिहाई भाग के साथ पेरिटोनियम (peritoneum) और सामने पेरिटोनियम गुहा (peritoneum cavity) है। इसके निचले एक तिहाई भाग के सामने पुरुषों में मूत्राशय का आधार, शुक्राशय (seminal vesicle), शुक्रवाहिनी (ducts deferens), मूत्रवाहिनी (ureter) का अंतिम भाग और प्रोस्टेट (prostate) रहता है और स्त्रियों में योनि का निचला भाग रहता है। मलाशय के अंदर श्लेषमल कला में अनुप्रस्थ पुटक (transverse, or horizontal folds) हैं, जो अर्धचंद्राकार हैं। ये साधारणतया तीन हैं, जिनमें बीच वाला स्थायी और सबसे बड़ा है। इसमें मांसपेशियाँ भी हैं। यह मलाशय के ऊपरी दो तिहाई भाग के नीचे है, जो पेरिटोनियम गुहा के पीछे है। इसलिये मलाशय का यह हिस्सा (जो मध्य स्थित पुटक के ऊपर है) मल से फलता है और इसमें मल रहता है पर इस पुटक के नीचे का हिस्सा खाली रहता है।

(४) गुदनाल — यह ३·८ सेमी० लंबा है और मलाशय के संकीर्ण भाग से प्रारंभ होकर नीचे तथा पीछे की ओर मुड़ता है और अंत में गुदा से बाहर खुलता है, जिससे मल बाहर निकलता है।

डाक्टरों को मलाशय में अँगुली डालकर कभी कभी जाँच करने की आवश्यकता होती है। इस जाँच से मलाशय से मिले हुए श्रोणीय अंग (pelvic organs), जैसे पुरुषों में मूत्राशय, प्रोस्टेट, शुक्राशय, मूत्रवाहिनी और स्त्रियों में योनि, गर्भाशय-ग्रीवा आदि का ज्ञान होता है। [ती० प्र० सि०]

वेंसिटार्ट, हेनरी आपका जन्म ३ जून, सन् १७३२ ई० को लंदन में हुआ था। आपने १३ वर्ष की अवस्था से ही ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी प्रारंभ की। सन् १७४५ ई० में आप मद्रास आए। थोड़े ही दिनों में आपने फारसी भाषा सीख ली। यहीं आपका परिचय रार्बर्ट क्लाइव से हुआ जो गाढ़ी मित्रता मे परिणत हो गया। सन् १७५० में आपकी पदोन्नति एक फैक्टर के रूप में हुई। क्लाइव की सिफारिश पर सन् १७६० में आप बंगाल के गवरनर नियुक्त हुए। आपने मीर जाफर को गद्दी से उतारकर उसी के दामाद मीर कासिम को नवाब बनाया। पटना के नायब नवाब रामनारायण को जिसे क्लाइव ने संरक्षता प्रदान की थी, आपको मीर कासिम की रक्तपिपासा शात करने के लिये, विवश हो, देना पड़ा। अंग्रेजों का यह बड़ा भारी विश्वासघात था। सन् १७६२ में आपने वारेन हेस्टिंग्स के साथ जाकर नवाब से मुंगेर की संधि की। परंतु अब तक बंगाल की कौंसिल में आपका बहुमत जाता रहा था। परिणामत: इसने उस संधि को रद्द कर दिया। अंग्रेजों की उग्र नीति के कारण नवाब से युद्ध छिड़ गया। अंत में खिन्न होकर आपने पदत्याग कर दिया। इंग्लैंड पहुँचकर आपको क्लाइव तथा उसके मित्रों का कोपभाजन बनना पड़ा। सन् १७६९ में आप कंपनी के डाइरेक्टर बनाए गए तथा उसी साल भारत में कंपनी की स्थिति की जाँच करने के लिये रवाना हुए परंतु रास्ते में ही आपका जहाज घटनाग्रस्त हो गया। [जि० ना० वा०]

वेणुगंगा नदी मध्य प्रदेश राज्य की महादेव पहाड़ी के पूर्वी भाग से निकलती है और दक्षिण मे गोदावरी की सहायक प्राणहिता नदी से मिल जाती है। इसकी घाटी की रचना आद्यमहाकल्पी चट्टानों की है। घाटी अधिक ऊँचा नीचा लगभग १००० फुट ऊँचा भूभाग है। यहाँ भारत का ६० प्रति शत मैंगनीज प्राप्त होता है। कुछ छोटे छोटे कोयला क्षेत्र भी मिलते हैं। दक्षिण में दुर्ग और चाँदा जिलों में उत्तम लोहा प्राप्त होता है पर खनन कार्य अभी कम हुआ है।

[रा० स० ख०]

वेद का अर्थ 'ज्ञान के ग्रंथ' है। ये वेद चार हैं, परंतु इन चारों को मिलाकर एक ही 'वेद ग्रंथ' समझा जाता था।

'एक एव पुरा वेद: प्रणव: सर्ववाङ्मय: ।—महाभारत

वेद को पढ़ना बहुत कठिन प्रतीत होने लगा, इसलिये उसी एक वेद के तीन या चार विभाग किए गए। तब उनको 'वेदत्रयी' अथवा 'चतुर्वेद' कहने लगे।

वेदत्रयी

वेदों के मंत्रों के 'पद्य, गद्य और गान' ऐसे तीन विभाग होते हैं। हर एक भाषा के ग्रंथों में पद्य, गद्य और गान ऐसे तीन भाग होते ही हैं। वैसे ही ये वैदिक वाङ्मय के तीन भाग है —

१ वेद का पद्य भाग — ऋग्वेद, अथर्ववेद
२ वेद का गद्य भाग — यजुर्वेद
३ वेद का गायन भाग — सामवेद

इनको 'वेदत्रयी' कहते हैं, अर्थात् ये वेद के तीन विभाग हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद यह 'त्रयी विद्या' है। इसका भाव यह है कि ऋग्वेद पद्यसंग्रह है, यजुर्वेद गद्यसंग्रह है और सामवेद गानसंग्रह है। इस ऋक्संग्रह में अथर्ववेद संमिलित है, ऐसा समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि अथर्ववेद भी पद्य-संग्रह ही है।

यजुर्वेद गद्यसंग्रह है, अतः इस यजुर्वेद में जो ऋग्वेद के छंदोबद्ध मंत्र हैं, उनको भी यजुर्वेद पढ़ने के समय गद्य जैसा ही पढ़ा जाता है।

सामवेद

सामवेद के मंत्र प्रायः ऋग्वेद के ही मंत्र हैं। 'या ऋक् तत् साम' ऐसा छांदोग्य उपनिषद् में कहा है। इसका अर्थ यह है कि 'जो पाद-बद्ध मंत्र हैं वे ऋचा या ऋग्वेद के मंत्र हैं। और पादबद्ध मंत्र ही गाए जाते हैं। अर्थात् सब पादबद्ध मंत्र गाए जा सकते है। आज के सामवेद में जो मंत्र हैं वे 'साम-योनि-मंत्र' हैं, अर्थात् उनका गान हो सकता है। सामवेद में जो मंत्र हैं वे वैसे के वैसे गाए नहीं जाते, परंतु उन मंत्रों से जो गान बने हैं, वे ही गाए जाते हैं। सामवेद के मंत्रों को लेकर उन मंत्रो से अनेक गान बने हैं। वे गान ही गाए जाते हैं। सामगान अनेक प्रकार के हैं, अत. उनको कहा है 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' अर्थात् इन मंत्रो पर हजारों प्रकार के सामगान होते हैं, जो यज्ञों में गाए जाते हैं।

*आज के सामवेद में १८७५ मंत्र हैं, इनमे करीब ९९ मंत्र ऐसे है जो ऋग्वेद में मिलते नहीं हैं, बाकी के मंत्र ऋग्वेद के ही मंत्र हैं। परंतु कई मंत्रों में थोड़ा सा पाठभेद भी है।

ऋग्वेद की मंत्रगणना

अब वेदों की मंत्रगणना देखिए। ऋग्वेद की मंडलानुसार मंत्रगणना होती है और अष्टकानुसार भी होती है। अब देखिए—

मंडलानुसार मंत्रसंख्या

१ प्रथम मंडल	१९१ सूक्तसंख्या		२००६ मंत्रसंख्या	
२ द्वितीय ,,	४३	,,	४२९	,,
३ तृतीय ,,	६२	,,	६१७	,,
४ चतुर्थ ,,	५८	,,	५८९	,,
५ पंचम ,,	८७	,,	७२९	,,
६ षष्ठ ,,	७५	,,	७६९	,,
७ सप्तम ,,	१०४	,,	८४१	,,
८ अष्टम ,,	९२	,,	१६२६	,,
९ नवम ,,	११४	,,	११०८	,,
१० दशम ,,	१९१	,,	१७५४	,,
	१०१७	,,	१०४७२	,,
बालखिल्य	११	,,	८०	,,
	१०२८	,,	१०५५२	,,

अब इनके ऋषि देखिए—

१ प्रथम मंडल	(अनेक ऋषि)
२ द्वितीय ,,	गृत्समद ऋषि
३ तृतीय ,,	विश्वामित्र ,,
४ चतुर्थ ,,	वामदेव ,,
५ पंचम ,,	अत्रि ,,
६ षष्ठ ,,	भरद्वाज ,,
७ सप्तम ,,	वसिष्ठ ,,
८ अष्टम ,,	कण्व ,,
९ नवम ,,	(सोम देवता)
१० दशम ,,	(अनेक ऋषि)

द्वितीय मंडल से अष्टम मंडल तक सात मंडलों के सात ऋषि क्रम से है, तथापि उनमें उस ऋषि के गोत्र में उत्पन्न हुए अनेक ऋषि भी है।

अब अष्टकानुसार मंत्रसंख्या देखिए—

१ प्रथम अष्टक	१२१ सूक्त	२६५ वर्ग	१३७० मंत्र
२ द्वितीय ,,	११९ ,,	२२१ ,,	११४७ ,,
३ तृतीय ,,	१२२ ,,	२२५ ,,	१२०९ ,,
४ चतुर्थ ,,	१४० ,,	२५० ,,	१२८९ ,,
५ पंचम ,,	१२९ ,,	२३८ ,,	१२६३ ,,
६ षष्ठ ,,	१२४ ,,	३१३ ,,	१६५० ,,
७ सप्तम ,,	११६ ,,	२४८ ,,	१२६३ ,,
८ अष्टम ,,	१४६ ,,	२४६ ,,	१२८१ ,,
	१०१७	२००६	१०४७६
बालखिल्य	११	१८	८०
	१०२८	२०२४	१०५५२

प्रथम मंडल और दशम मंडल के अनेक ऋषि हैं। प्रायः इन ऋषियो को 'क्षुद्रसूक्ता ऋषयः' अर्थात् छोटे सूक्तों के ऋषि कहते हैं। नवम मंडल 'सोम देवता' का मंडल है। बाकी के सात मंडल सात ऋषियों के है। इनको 'महासूक्ता ऋषयः' अर्थात् बड़े सूक्तों के ऋषि कहते हैं। ये महासूक्तवाले ऋषि सप्तर्षि कहकर संमानित होते है इनके नाम ऊपर देखें (गृत्समद से कण्व तक) इनके मंत्र अधिक होने से ये ऋषि अधिक संमाननीय माने गए है। इन मंडलों को इन ऋषियो के नाम भी दिए गए है और इनके गोत्र मे उत्पन्न हुए ऋषि भी इनमें लिए गए हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद मे 'शुक्ल यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद' ऐसे दो भेद हैं। शुक्ल यजुर्वेद में 'माध्यंदिन' और काण्व संहिता है और कृष्ण यजुर्वेद में 'तैत्तिरीय संहिता' मानी है। शुक्ल यजुर्वेद प्रकरणबद्ध है।

प्रथम आठ अध्यायों में प्रारंभिक यज्ञकर्म का उपदेश है, नवम तथा दशम अध्यायों में वाजपेय तथा राजसूय यज्ञ का वर्णन है, ग्यारह से पंद्रहवें अध्याय तक अनेक चितियों की विधि है।

सोलहवें अध्याय में शतरुद्रीय होम है। सत्रहवें अध्याय से इक्कीसवें अध्याय तक वसोर्धारा आदि प्रयोग हैं। बाइसवें अध्याय से उनतीसवें अध्याय तक अश्वमेधादि यज्ञों का वर्णन है। तीस और इकतीसवें अध्यायों में नरमेध है। बत्तीस और तैंतीस अध्यायों में सर्वमेध यज्ञ है, चौतीसवें अध्याय में ब्रह्मयज्ञ है, पैंतीसवें अध्याय में पितृयज्ञ, छत्तीसवे अध्याय में शांतिपाठ, सैंतीस से उनतालीस तक महावीर आदि यज्ञकर्म और चालीसवें अध्याय में परमात्मस्वरूप का दर्शन है।

यज्ञों में पशु का वध होता है, ऐसा कई मानते हैं, पर यज्ञ में पशु का वध करने के लिये कोई मंत्र नहीं है। **'ओषधे त्रायस्व स्वधिते मा एनं हिंसी.'** यह मंत्र प्रयुक्त होता है। इस मंत्र का अर्थ है—हे ओषधि! इसका संरक्षण कर, हे शस्त्र इसकी हिंसा न कर।' इस कारण इस मंत्र से पशु का वध करना इष्ट नहीं है। क्योंकि मंत्र का स्पष्ट भाव तो पशु का संरक्षण करना ही है।

गोमेध में भी गौ का वध करना उचित नहीं है, क्योंकि वेदों में गौ का नाम **'अघ्न्या'** है। इस **'अघ्न्या'** पद का अर्थ **'अवध्य'** है। वेद जिसको अघ्न्या अर्थात् **'अहंतव्या'** कहता है, उसका वध नहीं किया जा सकता। अर्थात् गोमेध में गौ का वध नहीं है।

महाभारत में कहा है कि—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वा वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
महाभारत, शांतिपर्व

'यज्ञ में बीजों से हवन करना चाहिए, ऐसा वेदमंत्रों का आदेश है। अज नाम के बीज हैं, अतः बकरे का वध नहीं करना चाहिए।'

अजमेध में बकरे का वध करना अनुचित है, क्योंकि अज एक प्रकार के धान्य का नाम है। कोश में **'अज'** के अर्थ है, **सुवर्णमाक्षिक, अजशृंगी ओषधि, चलानेवाला, प्रेरक नेता, मरुतों की सेना का नायक, दल का नेता, अग्निरथ, सूर्यकिरण, सूर्यरथ, चावल का एक प्रकार, चंद्रमा, प्रकृति, माया, मरुत्, इंद्र, कामदेव।**

अश्वमेध के विषय में कहा है कि **'राष्ट्रं वा अश्वमेधः। श० ब्रा० १३।१४६।३**

राष्ट्रसेवा ही अश्वमेध है। राष्ट्रशासन को अश्वमेध यज्ञ कहते हैं। **'मेध'** का अर्थ बुद्धिवैभव बढ़ाना है। इस प्रकार ये यज्ञ होते थे। यज्ञ में **'सत्कार-संगतिकरण-दान'** ये तीन कार्य मुख्य हैं। जो सत्कार के योग्य हों उनका सत्कार करना, आपस का संगठन करना और गरीबों को दान देना, यों तीन प्रकार से यज्ञ होता है। यह राष्ट्रीय उन्नति का महान् कार्य है। यह यजुर्वेद के यज्ञो का स्वरूप है।

सामवेद

सामवेद गायन करने के मंत्रों का संग्रह है। सामगायन गाने के लिये तैयार रहते हैं, वे गाए जाते हैं। गायन करने के सिवाय सामवेद के मंत्रों का दूसरा कोई प्रयोग नहीं है।

अथर्ववेद

'अ-थर्व' का अर्थ 'गति रहितता **अर्थात् शांति है। सचमुच अथर्ववेद आत्मज्ञान देकर विश्व में शांतिस्थापना करने का महत्वपूर्ण** कार्य करता है।

'थर्वतिः गतिकर्मा, तत्प्रतिषेधो निपातः।' निरुक्त

'थर्व' का अर्थ **'गति'** है और **अथर्व** का **अर्थ 'शांति' अर्थात्** अथर्ववेद शांति का प्रसार करनेवाला **वेद है।** यज्ञ में **'ब्रह्मा'** के पद के लिये अथर्ववेदी ही योग्य समझा जाता है, यह **इसीलिये कि** यह सब दोषों को दूर करके यज्ञ से **शांतिस्थापन करने का कार्य** करता है।

अथर्ववेद के २० कांड हैं, इनमें प्रथम के ७ कांड फुटकर सूक्तों के हैं, आगे के १८वें कांड तक के ११ काड विषयवार हैं, देखिए—

कांड	विषय
८ अष्टम कांड	दीर्घायु, रोगनाशन आदि
९ नवम ,,	मधुविद्या, यक्ष्मनाशन
१० दशम ,,	कृत्या दूषण आदि
११ एकादश ,,	ब्रह्मौदन आदि
१२ द्वादश ,,	मातृभूमि ,,
१३ त्रयोदश ,,	अध्यात्म
१४ चतुर्दश ,,	विवाह प्रकरण
१५ पंचदश ,,	अध्यात्म
१६ षोडश ,,	दुःखविमोचन
१७ सप्तदश ,,	अभ्युदय
१८ अष्टादश,,	पितृमेध

कांड १९ और २० फुटकर मंत्रसंग्रह के कांड **हैं। यह सब** देखकर स्पष्ट होता है कि वेदमंत्रो का संग्रह सर्वत्र समान दृष्टि से नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद में ही देखिए, **प्रथम के ७ कांड** और अति के २ कांड ऐसे हैं जिनका विषयवार **वर्गीकरण नहीं** है, परंतु कांड ८ से १८ तक के ११ कांड विषयवार **हैं। ऋग्वेद में** भी द्वितीय मंडल से अष्टम मंडल तक **के** ७ मंडल **ऋषिवार हैं तथा** अथर्ववेद में कांड ८ से १८ तक के कांड विषयवार **हैं, पर बाकी के** वैसे नहीं हैं।

अथर्ववेद में १९वें कांड के अंत में यह मंत्र है—

यस्मात् कोशादुदभराम वेदं
तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण
तेन मा देवास्तपसावतेह॥ अथर्व १९।७२।१

'जिस आलमारी से हमने वेद के ग्रंथ निकाले थे, उसी में हम इनको पुनः रखते हैं। इस वेद के ज्ञान से हमने इष्ट कार्य किया, इस तप से देवता हमारा यहाँ रक्षण करें।'

इस मंत्र से स्पष्ट मालूम होता है कि इस समय वेद के लिखित ग्रंथ थे। वे कार्य हो जाने पर संदूक में रखे जाते थे।

इस प्रकार चारों वेदों का मंत्रसंग्रह **है। ये वेद मानव की** उन्नति करने का सच्चा धर्म बताते हैं। यह **बात अब अति संक्षेप से** देखिए—ऋग्वेद का उपदेश ऐसा है—

'मिलकर रहो, परस्पर प्रेम से भाषण करो, अपने मनों को सुसंस्कारों से सुसंस्कृत करो। पूर्व समय के उत्तम ज्ञानी जिस प्रकार

उपासना करते थे, वैसी तुम भी किया करो (ऋ० १०।१९१।२)। अब यजुर्वेद का उपदेश देखिए —

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
वा० यजु० ४०१

इस जगत् मे जो कुछ है, उस सब में परमेश्वर व्याप्त रहा है। इसलिये त्याग से भोग करो (लोभ न करो), किसी का धन न ग्रहण करो।

सामवेद का उपदेश है - 'ज्ञानी, तेजस्वी, सत्यधर्मपालक, योग-नियामक ईश्वर की स्तुति करो।' और अथर्ववेद का उपदेश है —

यूयं गावो मेदयथा कृशं चित्
अश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो
बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥

'हे गौओ ! तुम कृश मनुष्य को पुष्ट करती हो, शोभारहित मनुष्य को सुंदर बनाती हो, तुम कल्याणकारी शब्द करके घर को कल्याणमय करती हो, इसलिये सभाओं में हम तुम्हारी बहुत स्तुति करते हैं।'

इस प्रकार विविध क्षेत्रों में उत्तम से उत्तम उपदेश वेदों में है। स्तुति, प्रार्थना और उपासना की पद्धति से वे मानव को उन्नति का श्रेष्ठ मार्ग बतलाते हैं। [श्री० दा० सा०]

वेद मुनि आपका उदासीन संप्रदाय की गुरुपरंपरा में १६१वाँ स्थान है। आपके शिष्य अविनाशी मुनि थे जो आचार्य श्री चन्द्रदेव के गुरुदेव थे। आपका समय विक्रम १५ वीं शताब्दी का अंतिम दशक है। [स्वा० गं०]

वेदमूर्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकर वेदों का गहन अध्ययन करनेवाले शीर्षस्थ विद्वान्। जन्म १९ सितंबर, १८६७ को रत्नगिरि (महाराष्ट्र) के कोलगाँव में हुआ। 'जे० जे० स्कूल ऑव आर्ट्स' में शिक्षा प्राप्त कर हैदराबाद मे चित्रशाला स्थापित की। अपने व्यवसाय के साथ साथ उन्होने राष्ट्रीय आंदोलन में भी उत्साहपूर्वक भाग लेना प्रारंभ किया। वेदों के आधार पर लिखित आपका लेख 'तेजस्विता' राजद्रोहात्मक समझा गया जिसके कारण आपको तीन वर्ष तक कैद की सजा भोगनी पडी।

वेदों के अर्थ और आशय का जितना गंभीर अध्ययन और मनन सातवलेकर जी ने किया उतना कदाचित् ही किसी अन्य भारतीय ने किया हो। वैदिक साहित्य के संबंध में उन्होंने अनेक लेख लिखे और हैदराबाद में विवेकवर्धिनी नामक शिक्षासंस्था की स्थापना की। राष्ट्रीय विचारों से ओतप्रोत आपकी ज्ञानोपासना निजाम को अच्छी न लगी, अत आपको शीघ्र ही हैदराबाद छोड़ देना पड़ा। हरिद्वार, लाहौर आदि मे कुछ समय बिताने के बाद सन् १९१८ में आप औंध में बस गए और वहीं पर स्वाध्यायमंडल की स्थापना कर साहित्यसेवा में निरत रहने लगे। गांधी हत्याकांड के बाद उन्हें वहाँ से हट जाना पड़ा। अब उन्होंने गुजरात के पारडी नामक गाँव को अपना निवासस्थान बनाया और स्वाध्याय मंडल की पुनः स्थापना कर वेदादि प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के परिष्कार एवं प्रचारप्रसार के पुनी कार्य में और भी अधिक दृढ़ता से संलग्न हो गए।

सातवलेकर जी ने कोई ४०९ ग्रंथों की रचना की। इनमें कुछ ये हैं—भगवद्गीता, उपनिषद् भाष्य ग्रंथमाला, ऋग्वेद संहित दैवत संहिता, महाभारत, यजुर्वेद, वैदिक व्याख्यानमाला, इत्यादि आपके द्वारा संकलित 'वैदिक राष्ट्रगीत' तो अद्भुत ग्रंथ है। य एक साथ ही मराठी तथा हिंदी भाषा में बंबई और इलाहाबाद प्रकाशित हुआ। राष्ट्रशत्रु का विनाश करने में सक्षम वैदिक मंत्रों इस संग्रह से विदेशी शासन हिल उठा और उसने इसकी सभी प्रतिय जब्त कर नष्ट कर डालने का आदेश दे दिया। देश स्वतंत्र होने पर सन् १९५९ में भारत के राष्ट्रपति ने उन्हें देश विशिष्ट विद्वान् के रूप में पुरस्कृत किया और २६ जनवरी, १९६ को 'पद्मभूषण' की उपाधि द्वारा उनका संमान किया गया। इस पूर्व वे विद्यामार्तंड, महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, वेदमहर्षि वेदमूर्ति आदि उपाधियों से समादरित हो चुके थे। अंत मे 'जीवे शरदः शतम्' इस वेदवाक्य को चरितार्थ करते हुए १०१ व की आयु प्राप्त कर ३१ जुलाई, १९६८ को आपने देवलोक की ओ प्रयाण किया। [मु०

वेदांग छह हैं; वेद का अर्थज्ञान होने के लिये इनका उपयोग होत है। वेदांग ये हैं —

(१) शिक्षा — वेदों के स्वर, वर्ण आदि के शुद्ध उच्चारण करने की शिक्षा जिससे मिलती है, वह 'शिक्षा' है। वेदों के मंत्रों क पठन पाठन तथा उच्चारण ठीक रीति से करने की सूचना इ 'शिक्षा' से प्राप्त होती है। इस समय 'पाणिनीय शिक्षा' भारत विशेष मननीय मानी जाती है।

स्वर, व्यंजन ये वर्ण हैं; ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत ये स्वर उच्चारण के तीन भेद हैं। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये भी स्वर के उच्चारण के भेद हैं। वर्णों के स्थान आठ हैं — (१) छाती (२) कंठ, (३) सिर, (४) जिह्वामूल, (५) दंत, (६ नासिका, (७) ओष्ठ, और (८) तालु। इन आठ स्थानो में यथायोग्य रीति से, जहाँ से जैसा होना चाहिए वैसा, वर्णोच्चा करने की शिक्षा यह पाणिनीय शिक्षा देती है। अत. हम इसक 'वर्णोच्चार शिक्षा' भी कह सकते हैं।

२ कल्पसूत्र — वेदोक्त कर्मों का विस्तार के साथ संपूर्ण वर्ण करने का कार्य कल्पसूत्र ग्रंथ करते हैं। ये कल्पसूत्र दो प्रकार के होते हैं। एक 'श्रौतसूत्र' हैं और दूसरे 'स्मार्तसूत्र' हैं। वेदों मे जिस यज्ञयाग आदि कर्मकांड का उपदेश आया है, उनमें से किस यज्ञ किन मंत्रों का प्रयोग करना चाहिए, किसमें कौन सा अनुष्ठान किस रीति से करना चाहिए, इत्यादि कर्मकांड की संपूर्ण विधि इन कल्पसूत्र ग्रंथों में कही होती है। इसलिये कर्मकांड की पद्धति जानने के लिये इन कल्पसूत्र ग्रंथों की विशेष आवश्यकता होती है। यज्ञ यागादि का ज्ञान श्रौतसूत्र से होता है और षोडश संस्कारों का ज्ञान स्मार्तसूत्र से मिलता है।

वैदिक कर्मकांड में यज्ञों का बड़ा भारी विस्तार मिलता है और हर एक यज्ञ की विधि श्रौतसूत्र से ही देखनी होती है। इस

लिये श्रौतसूत्र अनेक हुए हैं। इसी प्रकार स्मार्तसूक्त भी सोलह संस्कारों का वर्णन करते हैं, इसलिये ये भी पर्याप्त विस्तृत हैं। श्रौतसूत्रों में यज्ञयाग के सब नियम मिलेंगे और स्मार्तसूत्रों में अर्थात् गृह्यसूत्रों में उपनयन, जातकर्म, विवाह, गर्भाधान आदि षोडश संस्कारों का विधि विधान रहेगा।

(३) **व्याकरण** — व्याकरण अनेक हैं जिनमें पाणिनि का व्याकरण आज भारत मे प्रसिद्ध है। इसको अष्टाध्यायी कहते हैं, क्योंकि इसमें आठ ही अध्याय हैं। इसपर पतंजलि ऋषि का महाभाष्य है। और भट्टोजी दीक्षित की टीका, कौमुदी नाम की प्रकरणशः बनाई टीका, सुप्रसिद्ध है।

(४) **निरुक्त** — शब्द की उत्पत्ति तथा व्युत्पत्ति कैसे हुई, यह निरुक्त बताता है। इस विषय पर यही महत्व का ग्रंथ है। यास्काचार्य जी का यह निरुक्त प्रसिद्ध है। इसको शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र भी कह सकते हैं। वेद का यथार्थ अर्थ समझने के लिये इस निरुक्त की अत्यंत आवश्यकता है।

(५) **छंद** — गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, बृहती आदि छंदों का ज्ञान होने के लिये छंद शास्त्र की उपयोगिता है। प्रत्येक छंद के पाद कितने होते हैं और ह्रस्व दीर्घादि अक्षर प्रत्येक पाद में कैसे होने चाहिए, यह विषय इसका है।

(६) **ज्योतिष** — खगोल में सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि आदि ग्रह किस प्रकार गति करते हैं, सूर्य, चंद्र आदि के ग्रहण कब होंगे, अन्य तारकों की गति कैसी होती है, यह विषय ज्योतिष शास्त्र का है। वेदमंत्रों में ग्रह नक्षत्रों का जो वर्णन है, उसे ठीक प्रकार से समझने के लिये ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान बहुत उपयोगी है।

इस प्रकार वेदांगों का ज्ञान वेद का उत्तम बोध होने के लिये अत्यंत आवश्यक है। [श्री० दा० सा०]

वेदांत उपनिषद् वैदिक साहित्य का अंतिम भाग है, इसीलिये इसको वेदांत कहते हैं। कर्मकांड और उपासना का मुख्यतः वर्णन मंत्र और ब्राह्मणों में है, ज्ञान का विवेचन उपनिषदों में। आदिम मनुष्य प्रकृति के रूपों को देखकर आश्चर्य करता है, उनकी पूजा करने का विधान बनाता है। कर्मकांड का इस प्रकार विकास हो जाने पर सुस्थिर चित्त से मनुष्य उनके पीछे कार्य कर रहे नियमों का चिंतन करने लगता है और यहीं उसकी जिज्ञासा प्रारंभ होती है। स्व का पर के साथ संबंध होने पर स्व और पर के वास्तविक स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंध के बारे में स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है। यदि स्व जीव है तो पर को जगत् कहा जा सकता है। स्व और पर में विभिन्नता प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होती है पर प्रत्यक्ष से आगे विचार करने पर मनुष्य स्व-पर में समान रूप से रहनेवाले तत्व विशेष (ब्रह्म) की कल्पना करता है। उपनिषदों में कर्मकांड को 'अवर' कहकर ज्ञान को इसलिये महत्त्व दिया गया कि ज्ञान स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है। ब्रह्म, जीव और जगत् का ज्ञान पाना उपनिषदों की मूल शिक्षा है। कालांतर में जिन ग्रंथों में उपनिषद् की परंपरा का पालन करते हुए इन विषयों पर विचार किया गया, उनको भी वेदांत कहा जाने लगा। भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के साथ मिलकर वेदांत की प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं।

तीनों ग्रंथों में प्रगट विचारों का कई तरह से व्याख्यान किया जा सकता है। इसी कारण से ब्रह्म, जीव तथा जगत् के संबंध में अनेक मत उपस्थित किए गए और इस तरह वेदांत के अनेक रूपों का निर्माण हुआ।

१. अद्वैत वेदांत — गौडपाद (३०० ई०) तथा उनके अनुवर्ती शंकराचार्य (७०० ई०) ब्रह्म को प्रधान मानकर जीव और जगत् को उससे अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार तत्व को उत्पत्ति और विनाश से रहित होना चाहिए। नाशवान् जगत तत्वशून्य है, जीव भी वैसा दिखाई देता है वैसा तत्वतः नहीं है। जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में जीव जगत् में रहता है परंतु सुषुप्ति में जीव प्रपंच ज्ञानशून्य चेतनावस्था में रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव का शुद्ध रूप सुषुप्ति जैसा होना चाहिए। सुषुप्ति अवस्था अनित्य है अतः इससे परे तुरीयावस्था को जीव का शुद्ध रूप माना जाता है। इस अवस्था में नश्वर जगत् से कोई संबंध नहीं होता और जीव को पुनः नश्वर जगत् में प्रवेश भी नहीं करना पड़ता। यह तुरीयावस्था अभ्यास से प्राप्त होती है। ब्रह्म-जीव-जगत् में अभेद का ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् जीव में तथा जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। तीनों में वास्तविक अभेद होने पर भी अज्ञान के कारण जीव जगत् का अपने से पृथक् समझता है। परंतु स्वप्नसंसार की तरह जाग्रत संसार भी जीव की कल्पना है। भेद इतना ही है कि स्वप्न व्यक्तिगत कल्पना का परिणाम है जबकि जाग्रत अनुभव-समष्टि-गत महाकल्पना का। स्वप्नजगत् का ज्ञान होने पर दोनों में मिथ्यात्व सिद्ध है। परंतु बौद्धों की तरह वेदांत में जीव को जगत् का अंग होने के कारण मिथ्या नहीं माना जाता। मिथ्यात्व का अनुभव करनेवाला जीव परम सत्य है, उसे मिथ्या मानने पर सभी ज्ञान को मिथ्या मानना होगा। परंतु जिस रूप में जीव संसार में व्यवहार करता है उसका वह रूप अवश्य मिथ्या है। जीव की तुरीयावस्था भेदज्ञान शून्य शुद्धावस्था है। ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का संबंध मिथ्या संबंध है। इनसे परे होकर जीव अपनी शुद्ध चेतनावस्था को प्राप्त होता है। इस अवस्था में भेद का लेश भी नहीं है क्योंकि भेद द्वैत में होता है। इसी अद्वैत अवस्था को ब्रह्म कहते हैं। तत्व असीम होता है, यदि दूसरा तत्व भी हो तो पहले तत्व की सीमा हो जाएगी और सीमित हो जाने से वह तत्व बुद्धिगम्य होगा जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद प्रतिभासित होने लगेगा। अनुभव साक्षी है कि सभी ज्ञेय वस्तुएँ नश्वर हैं। अतः यदि हम तत्व को अनश्वर मानते हैं तो हमें उसे अद्वय, अज्ञेय, शुद्ध चैतन्य मानना ही होगा। ऐसे तत्व को मानकर जगत् की अनुभूयमान स्थिति का हमें विवर्तवाद के सहारे व्याख्यान करना होगा। रस्सी में प्रतिभासित होनेवाले सर्प की तरह यह जगत् न तो सत् है, न असत् है। सत् होता तो इसका कभी नाश न होता, असत् होता तो सुख, दु.ख का अनुभव न होता। अतः सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अवस्था ही वास्तविक अवस्था हो सकती है। उपनिषदों में नेति नेति कहकर इसी अज्ञातावस्था का प्रतिपादन किया गया है। अज्ञान भाव रूप है क्योंकि इससे वस्तु के

अस्तित्व की उपलब्धि होती है, यह अभाव रूप है, क्योंकि इसका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है। इसी अज्ञान को जगत् का कारण माना जाता है। अज्ञान का ब्रह्म के साथ क्या संबंध है, इसका सही उत्तर कठिन है परंतु ब्रह्म अपने शुद्ध निर्गुण रूप में अज्ञान विरहित है, किसी तरह वह भावाभाव विलक्षण अज्ञान से प्रावृत्त होकर सगुण ईश्वर कहलाने लगता है और इस तरह सृष्टिक्रम चालू हो जाता है। ईश्वर को अपने शुद्ध रूप का ज्ञान होता है परंतु जीव को अपने ब्रह्मरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये साधना के द्वारा ब्रह्मीभूत होना पड़ता है। गुरु के मुख से 'तत्वमसि' का उपदेश सुनकर जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है। उस अवस्था में संपूर्ण जगत् को आत्ममय तथा अपने में संपूर्ण जगत् को देखता है क्योंकि उस समय उसके (ब्रह्म) के अतिरिक्त कोई सत्य नहीं होता। इसी अवस्था को तुरीयावस्था या मोक्ष कहते है।

२. **विशिष्टाद्वैत वेदांत** -- रामानुजाचार्य ने (११वीं शताब्दी) शंकर मत के विपरीत यह कहा कि ईश्वर (ब्रह्म) स्वतंत्र तत्व है परंतु जीव भी सत्य है, मिथ्या नहीं। ये जीव ईश्वर के साथ संबद्ध हैं। उनका यह संबंध भी अज्ञान के कारण नहीं है, वह वास्तविक है। मोक्ष होने पर भी जीव की स्वतंत्र सत्ता रहती है। भौतिक जगत् और जीव अलग अलग रूप से सत्य हैं परंतु ईश्वर की सत्यता इनकी सत्यता से विलक्षण है। ब्रह्म पूर्ण है, जगत् जड़ है, जीव अज्ञान और दुख से घिरा है। ये तीनो मिलकर एकाकार हो जाते हैं क्योंकि जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म इनकी आत्मा तथा नियंता है। ब्रह्म से पृथक् इनका अस्तित्व नहीं है, ये ब्रह्म की सेवा करने के लिये ही हैं। इस दर्शन मे अद्वैत की जगह बहुत्व की कल्पना है परंतु ब्रह्म अनेक मे एकता स्थापित करनेवाला एक तत्व है। बहुत्व से विशिष्ट अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

विशिष्टाद्वैत मत में भेदरहित ज्ञान असंभव माना गया है। इसीलिये शंकर का शुद्ध अद्वय ब्रह्म इस मत में ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म सविशेष है और उसकी विशेषता इसमे है कि उसमें सभी सत् गुण विद्यमान हैं। अतः ब्रह्म वास्तव में शरीरी ईश्वर है। सभी वैयक्तिक आत्माएँ सत्य हैं और इन्हीं से ब्रह्म का शरीर निर्मित है। ये ब्रह्म में, मोक्ष होने पर, लीन नहीं होतीं; इनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। इस तरह ब्रह्म अनेकता मे एकता स्थापित करनेवाला सूत्र है। यही ब्रह्म प्रलय काल मे सूक्ष्मभूत और आत्माओं के साथ कारण रूप में स्थित रहता है परंतु सृष्टिकाल में सूक्ष्म स्थूल रूप धारण कर लेता है। यही कार्य ब्रह्म कहा जाता है। अनंत ज्ञान और आनंद से युक्त ब्रह्म को नारायण कहते हैं जो लक्ष्मी (शक्ति) के साथ बैकुंठ मे निवास करते हैं। भक्ति के द्वारा इस नारायण के समीप पहुँचा जा सकता है। सर्वोत्तम भक्ति नारायण के प्रसाद से प्राप्त होती है और यह भगवद्ज्ञानमय है। भक्ति मार्ग में जाति-वर्ण-गत भेद का स्थान नहीं है। सबके लिये भगवत्प्राप्ति का यह राजमार्ग है।

३. **द्वैत वेदांत** — मध्व (११९७ ई०) ने द्वैत वेदांत का प्रचार किया जिसमें पाँच भेदों को आधार माना जाता है। जीव ईश्वर, जीव जीव, जीव जगत, ईश्वर जगत्, जगत् जगत् इनमें भेद स्वतः-सिद्ध है। भेद के बिना वस्तु की स्थिति असंभव है। जगत् और जीव ईश्वर से पृथक् हैं किंतु ईश्वर द्वारा नियंत्रित हैं। सगुण ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालक और संहारक है। भक्ति से प्रसन्न होनेवाले ईश्वर के इशारे पर ही सृष्टि का खेल चलता है। यद्यपि जीव स्वभावतः ज्ञान-मय और आनंदमय है परंतु शरीर, मन आदि के संसर्ग से इसे दुःख भोगना पड़ता है। यह संसर्ग कर्मों के परिणामस्वरूप होता है। जीव ईश्वरनियंत्रित होने पर भी कर्ता और फलभोक्ता है। ईश्वर में नित्य प्रेम ही भक्ति है जिससे जीव मुक्त होकर, ईश्वर के समीप स्थित होकर, आनंदभोग करता है। भौतिक जगत् ईश्वर के अधीन है और ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि और प्रलय में यह क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म अवस्था में स्थित होता है। रामानुज की तरह मध्व जीव और जगत् को ब्रह्म का शरीर नहीं मानते। ये स्वतःस्थित तत्व हैं। उनमें परस्पर भेद वास्तविक है। ईश्वर केवल इनका नियंत्रण करता है। इस दर्शन में ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, प्रकृति (भौतिक तत्व) उपादान कारण है।

४ **द्वैताद्वैत वेदांत** — निंबार्क (११ वीं शताब्दी) का दर्शन रामानुज से अत्यधिक प्रभावित है। जीव ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञान का आधार है। जीव और ज्ञान में धर्मी-धर्म-भाव-संबंध अथवा भेदाभेद संबंध माना गया है। वही ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ईश्वर जीव का नियंता, भर्ता और साक्षी है। भक्ति से ज्ञान का उदय होने पर ससार के दुख से मुक्त जीव ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करता है। अप्राकृत भूत से ईश्वर का शरीर तथा प्राकृत भूत से जगत् का निर्माण हुआ है। काल तीसरा भूत माना गया है। ईश्वर को कृष्ण राधा के रूप मे माना गया है। जीव और भूत इसी के अंग हैं। यही उपादान और निमित कारण है। जीव-जगत् तथा ईश्वर में भेद भी है अभेद भी है। यदि जीव-जगत् तथा ईश्वर एक होते तो ईश्वर को भी जीव की तरह कष्ट भोगना पड़ता। यदि भिन्न होते तो ईश्वर सर्वव्यापी सर्वांतरात्मा कैसे कहलाता ?

५. **शुद्धाद्वैत वेदांत** — वल्लभ (१४७९ ई०) के इस मत में ब्रह्म स्वतंत्र तत्व है। सच्चिदानंद श्रीकृष्ण ही ब्रह्म है और जीव तथा जगत् उनके अंश हैं। वही अणोरणीयान् तथा महतो महीयान् है। वह एक भी है, नाना भी है। वही अपनी इच्छा से अपने आप को जीव और जगत् के नाना रूपों में प्रगट करता है। माया उसकी शक्ति है जिसकी सहायता से वह एक से अनेक होता है। परंतु अनेक मिथ्या नहीं है। श्रीकृष्ण से जीव-जगत् की स्वभावतः उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति से श्रीकृष्ण में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। जीव-जगत् तथा ईश्वर का संबंध चिनगारी आग का संबंध है। ईश्वर के प्रति स्नेह भक्ति है। सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य लेकर ईश्वर में राग लगाना जीव का कर्तव्य है। ईश्वर के अनुग्रह से ही यह भक्ति प्राप्य है, भक्त होना जीव के अपने वश में नहीं है। ईश्वर जब प्रसन्न हो जाते हैं तो जीव को (अंश) अपने भीतर ले लेते हैं या अपने पास नित्यसुख का उपभोग करने के लिये रख लेते हैं। इस भक्तिमार्ग को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं।

६. **अचिंत्य भेदाभेद वेदांत** -- महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०) के इस संप्रदाय में अनंत गुणनिधान, सच्चिदानंद श्रीकृष्ण परब्रह्म माने गए हैं। ब्रह्म भेदातीत है। परंतु अपनी शक्ति

से वह जीव और जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। ये ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न हैं। अपने आपमें वह निमित्त कारण है परंतु शक्ति से संपर्क होने के कारण वह उपादान कारण भी है। उसकी तटस्थ-शक्ति से जीवों का तथा मायाशक्ति से जगत् का निर्माण होता है। जीव अनंत और अणु रूप हैं। ये सूर्य की किरणों की तरह ईश्वर पर निर्भर हैं। संसार उसी का प्रकाश है अत. मिथ्या नहीं है। मोक्ष में जीव का अज्ञान नष्ट होता है पर संसार बना रहता है। सारी अभिलाषाओं को छोड़कर कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है। वेद-शास्त्रानुमोदित मार्ग से ईश्वरभक्ति के अनंतर जब जीव ईश्वर के रंग मे रंग जाता है तब वास्तविक भक्ति होती है जिसे रुचि या रागानुगा भक्ति कहते हैं। राधा की भक्ति सर्वोत्कृष्ट है। वृंदावन धाम में सर्वदा कृष्ण का आनंदपूर्ण प्रेम प्राप्त करना ही मोक्ष है।

सं० ग्रं०—उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र; उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर साप्रदायिक भाष्य; राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, भाग १-२; दासगुप्त : हिस्टरी ऑव इंडियन फिलासफी, भाग १–३। [रा० चं० पां०]

वेदांत दर्शन (इतिहास) वैदिक वाङ्मय मंत्र और ब्राह्मण इन दो भागों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण के अंतिम भाग को भी दो भागों में बाँटकर एक को आरण्यक और सबसे अंत के भाग को उपनिषद् कहा गया है। इस तरह उपनिषद् वेदों का अंत है। वेद में प्रतिपादित यज्ञ यागादि कर्मों की दार्शनिक व्याख्या उपस्थित करनेवाले सिद्धांत (अंत) का (जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में अश्वमेध की दार्शनिक व्याख्या, छांदोग्य मे मधुविद्या और सामतत्व) इसी भाग में प्रतिपादन है। इन दो कारणों से उपनिषद् वेदांत कहलाते हैं। उपनिषदो पर आधारित सभी मत इसी नाम से जाने जाते हैं।

उपनिषद् को ज्ञानकांड कहते हैं और इनको ब्राह्मणों के कर्मकांड से भिन्न माना गया है। किसी फल को लक्ष्य कर कर्म करना सभी जानते हैं पर कर्म का जो कर्ता पर प्रभाव होता है उसका विश्लेषण दार्शनिक बुद्धि की अपेक्षा रखता है। अत. उपनिषदों में कर्म और कर्ता के संबंध, कर्ता के स्वरूप एव कर्म के बंधन से छुटकारा पाने के उपाय का वर्णन होने के कारण एक रहस्यात्मकता दृष्टिगोचर होती है। यह रहस्य तब और भी बढ़ जाता है जब उपनिषद् दृश्यमान स्थूल जगत् के पीछे इसको संचालन और नियंत्रित करने-वाली सत्ता का वर्णन करते हैं। इन बातों को समझने के लिये शिष्य को गुरु की कृपा पानी होगी। अतः वेदांत ज्ञान गुरु के पास (उप) भली भाँति (नि) बैठकर ही (सद्) मिल सकता है (उप-नि-षद्)। इस गुह्य ज्ञान के बिना वेद का तत्वज्ञान नहीं हो सकता अतः वेदांत वैदिक विद्या का सार है।

वैदिक साहित्य की व्याख्या करने के लिये जो शास्त्र बना उसे मीमांसा कहते हैं। मीमांसा का अर्थ होता है पुनः पुनः मनन। इस शास्त्र का उद्देश्य है—वैदिक वचनों की व्याख्या, उनमें आपाततः प्रतीयमान विरोध का निराकरण, उनमें निहित रहस्य का उद्घाटन तथा व्याख्या के तर्कसंमत नियमों (न्याय) का निर्धारण। मीमांसा की यह परंपरा बहुत प्राचीन है पर उन परंपराओं का संकलन ई० पू० ५०० से २०० के बीच किया गया। पूर्वमीमांसा में जैमिनि ने कर्मकांड की तथा उत्तरमीमांसा में बादरायण ने उपनिषद् की मीमांसाएँ उपस्थित कीं। हमारा यहाँ उत्तरमीमांसा-परक वेदांत या ब्रह्मसूत्र से प्रयोजन है।

वेदांत सूत्र से ज्ञात होता है कि वेदांत की परंपरा बादरायण से प्राचीन थी क्योंकि इसमें ही आश्मरथ्य, बादरि, काशकृत्स्न, औडुलोमि आदि प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख है। बादरायण ने 'अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा' कहकर ब्रह्म के अध्ययन को वेदांत का विषय माना। ब्रह्म के बारे में अनेक वचन उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। कभी ब्रह्म और जीव को अभिन्न माना गया, कभी उनको अत्यंत भिन्न कहा गया, कभी ब्रह्म को अंशी और जीव को अंश कहा गया। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् मे भी विभिन्न उपनिषदों में विभिन्न प्रकार के संबंध का प्रतिपादन किया गया। यदि मीमांसा का लक्ष्य वेद की व्याख्या करना है तो यह मानकर चलना पड़ेगा कि वेद का तात्पर्य एक ही मत से है—एक ही वेद विभिन्न विरोधी मतों का प्रतिपादन नहीं कर सकते। इस बात को ध्यान में रखकर बादरायण ने 'समन्वय' का सिद्धांत अपनाया और परस्पर विरोधी वचनों की एक समन्वयात्मक व्याख्या उपस्थित करने का प्रयत्न किया। पर सूत्र रूप में लिखे जाने के कारण बादरायण का भी आशय स्पष्ट नही होता; भगवद्गीता किंचित् विस्तार से उपनिषदों का निचोड़ उपस्थित करती है पर उसमें भी स्पष्ट एकरूपता नहीं परिलक्षित होती। लेकिन उपनिषद्, वेदांतसूत्र और भगवद्गीता ये तीन ग्रंथ वेदांत के प्रमाण हैं—इनमें अंतिम दो ग्रंथ इसीलिये प्रमाण है कि वे उपनिषदों (श्रुति) पर आधारित है। इन्हीं को वेदांत की प्रस्थानत्रयी कहा जाता है।

अद्वैत वेदांत — जिस प्रकार उपनिषद्वाक्यों मे समन्वय करने के लिये वेदांतसूत्र और गीता की रचना हुई उसी प्रकार इन तीनों प्रस्थानों में एक ही दृष्टि का प्रतिपादन है, यह बतलाने के लिये विभिन्न आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोण से इन तीनों की व्याख्या प्रस्तुत की। इस प्रकार वेदांत के अनेक संप्रदायों का जन्म हुआ।

शंकराचार्य ने अपने मत का नाम अद्वैतवाद रखा। अद्वैतवाद के तत्व उपनिषदों में सर्वाधिक स्पष्ट रूप में मिलते हैं। शंकर के परमगुरु गौडपाद ने इसका प्रतिपादन भी अपनी कारिकाओं में किया। पर शंकर ने सर्वप्रथम एक नियोजित ढंग से तार्किक पद्धति पर इसका विवेचन किया इसलिये ये इसके प्रचारक आचार्य कहे जाते हैं।

शंकर के अनुसार सारे उपनिषद् एक अद्वितीय और निर्गुण सत्ता का प्रतिपादन करते हैं जिसे ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म पूर्ण है, उसकी पूर्णता इसी से हो सकती है कि वह विकाररहित और अपने से अतिरिक्त सत्ता से शून्य हो। इसलिये शंकर ने जगत् और ब्रह्म में एक विशेष प्रकार के कार्य-कारण-भाव की कल्पना की जिसे **विवर्तवाद** कहा है। (इसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।) ब्रह्म इस विश्व का अधिष्ठान है पर इस कारण से ब्रह्म में कोई परिवर्तन नहीं होता। विश्व सर्प की तरह न तो एकदम सत्य है और न एकदम मिथ्या। यह अनिर्वचनीय है। प्राणी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में अपरिवर्तित रहता है। उसकी

आत्मा ही इन सारी अवस्थाओं का कारण है। यदि यह आत्मा बाह्य विषय से एक दम असंपृक्त होकर स्थित हो तो इसका शुद्ध चैतन्य रूप स्पष्ट हो जाएगा। तुरीय अवस्था में आत्मा विषयवासना से शून्य हो जाती है और इसलिये उस अवस्था में परिच्छेदक के अभाव से आत्मा में भेद और भेदक गुण नहीं रह जाते। विश्व के सारे पदार्थ परिवर्तनशील होने के कारण तत्व नहीं हो सकते, पर चैतन्य आत्मा में परिवर्तन नहीं होता अतः अपने शुद्ध रूप में चैतन्य निर्गुण आत्मा ही तत्व है—उससे अतिरिक्त सब कुछ केवल सर्प की तरह व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं। यही अपरिच्छिन्न आत्मा ब्रह्म है और जो कुछ अनुभूत होता है सब इसी आत्मा में अधिष्ठित है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन' इस दर्शन का मूल वाक्य है। इस ब्रह्म में और व्यक्ति में कोई अंतर नहीं है। परिच्छिन्न होने पर ब्रह्म ही व्यक्ति या जीव कहलाता है और मुक्त होने पर जीव ब्रह्म हो जाता है। तत्वतः सारे जीव ब्रह्म ही हैं। इस ब्रह्म का स्वरूप हमसे इसलिये छिपा है कि हम जीव अज्ञानी हैं। अज्ञान के कारण तत्व आवृत होकर अनेक प्रकार के विक्षेपों की सृष्टि करता है। यह अज्ञान सारे प्राणियों में है अतः यह एक विश्वजनीन शक्ति है जिसे माया कहा गया। माया ही ब्रह्म को परिच्छिन्न सी करती है। यही विवर्त का कारण है। ब्रह्म की दृष्टि से माया का अभाव है क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है, जीव की दृष्टि से माया सत्य है क्योंकि इसी के कारण उसकी स्थिति है। अतएव शांकर संप्रदाय के एक अंश में माया अनिर्वचनीय कही जाती है। शांकर वेदांत मायावादी कहा गया है। प्राणी का लक्ष्य है अपने ब्रह्म रूप का ज्ञान प्राप्त करना जो शंकर के अनुसार कर्म से नहीं हो सकता क्योंकि कर्म तो प्राणी को बाँधते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त वास्तव में कुछ नहीं है अतः इस दर्शन को द्वैतरहित अथवा अद्वैत कहते हैं।

विशिष्टाद्वैत वेदांत — इसके प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य हैं। इनके अनुसार निर्गुण वस्तु अस्तित्वहीन होती है। ज्ञान भी सगुण का ही होता है। अत. गुण से विशिष्ट गुणी का ही अस्तित्व और ज्ञान संभव है। इसलिये ब्रह्म सगुण है निर्गुण नहीं। ब्रह्म ही परम सत्य है। भूत (अचित्) और जीव (चित्) उसके विशेषण या अंश हैं। ये अंश परिवर्तित होते हैं पर अंशी अपरिवर्तित ही रहता है। परिवर्तन परिणामवाद कहलाता है। जैसे दूध दही में परिवर्तित होता है उसी प्रकार ब्रह्म के गुण परिवर्तित होते हैं। चित् और अचित् ब्रह्म के शरीर हैं, ब्रह्म इनकी आत्मा है। अतः ब्रह्म सारे ब्रह्मांड में व्याप्त होकर स्थित है। जैसे शरीर और शरीरी एक हैं वैसे ही ब्रह्म और उसका शरीर रूपी ब्रह्मांड एक है। पर इस एकता में गुण और गुणी का भेद भी है। इसलिये इस दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहते है।

द्वैत वेदांत — इसके प्रतिष्ठापक मध्व हैं। इनके अनुसार स्वतंत्र और परतंत्र ये दो तत्व हैं। ईश्वर स्वतंत्र तथा जीव और प्रकृति परतंत्र तत्व हैं। सर्वगुणसंपन्न ब्रह्म या ईश्वर संसार का बनानेवाला है, प्रकृति उसका उपादान है। विष्णु ही ईश्वर हैं। उनकी नित्य सहचरी लक्ष्मी उनपर आश्रित हैं। पर लक्ष्मी अपने आपमें स्वतंत्र हैं। प्रकृति ईश्वर की इच्छा है और वे एक साथ रहती हैं। ईश्वर और जीव में, ईश्वर और प्रकृति में, जीव और प्रकृति में जीव और जीव में तथा प्रकृति और प्रकृति में नित्य भेद है। प्रकृति, जीव और ईश्वर को मिलाया नहीं जा सकता। आत्मा नित्य है तथा धर्म अधर्म से आवृत है। मोक्ष होने पर आवरण का नाश हो जाता है और इसको पूर्ण ज्ञान तथा आनंद मिल जाते है। आत्मा यद्यपि ईश्वराश्रित है, तथापि यह स्वतंत्र कर्ता है। पर इसका स्वातंत्र्य सीमित है। ईश्वर इसकी क्रिया को नियंत्रित करता है। ईश्वर आत्मा मे रहता है पर आत्मा के सुख दुःख का उसे ज्ञान नहीं होता। मुक्ति ईश्वर की कृपा होने पर उसकी भक्ति से ही प्राप्य है।

द्वैताद्वैत वेदांत के प्रतिष्ठापक निंबार्काचार्य हैं। इसके अनुसार ब्रह्म अनंत-सद्गुण-संपन्न है। वही सृष्टि, स्थिति और संहार करता है तथा पूर्ण स्वतंत्र है। ब्रह्म ही विश्व का उपादान और निमित्त कारण है। ईश्वर एक सर्प है और उसकी कुंडली जगत् है। ईश्वर और जगत् में समुद्र और लहरों की तरह भेद और अभेद दोनों हैं। जीव नित्य और ब्रह्म से भिन्न है। पर यह भेद आत्यंतिक नहीं है क्योंकि ईश्वर की कृपा से जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तो जीव ब्रह्म के समान हो जाता है।

शुद्धाद्वैत वेदांत की स्थापना वल्लभ ने की। ब्रह्म सगुण और सविशेष है। वही विश्व है। आत्मा तथा प्रकृति का स्वामी है। आत्माएँ ब्रह्म के नित्यअंश हैं। माया ईश्वर की शक्ति है। ईश्वर अशरीरी है पर लीला से भक्तों के हित के लिये वह अनेक शरीर धारण कर सकता है। ब्रह्म अपने गुणों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। विश्व के सारे पदार्थ इन्हीं गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव की अवस्था में है। जब ईश्वर चेतना और आनंद को छिपा लेता है तो वह विश्व हो जाता है अतः सृष्टि तिरोभाव और प्रलय आविर्भाव है। ब्रह्म विश्व का समवायी और निमित्त कारण है। जैसे आग से चिनगारियाँ फूटती हैं वैसे ही ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते हैं। ये जीव आध्यात्मिक अणु रूप हैं।

अचिंत्य भेदाभेद वेदांत — चैतन्य के द्वारा प्रवर्तित इस दर्शन में ईश्वर में अचिंत्य गुण और शक्तियाँ रहती हैं। वह आनंदस्वरूप और माया का स्वामी है। जीव उससे भिन्न है। संसार सत्य पर परिणामी है। ईश्वर की जीवशक्ति से जीव तथा मायाशक्ति से संसार उत्पन्न होता है। ये सारी शक्तियाँ उसी ईश्वर की हैं और ये अपनी इयत्ता मे अचिंत्य है। उस कृष्णरूपधारी ईश्वर की अनन्य सर्वांगीण उपासना से मोक्ष मिलता है।

इस प्रकार वेदांत के विभिन्न संप्रदाय पारमार्थिक सत्ता, विश्व और जीव इनके परस्पर संबंध के आधार पर एक दूसरे से भिन्न हैं। ये सारे संप्रदाय अपने दृष्टिकोण से प्रस्थानत्रयी की व्याख्या करते हुए अपने मत को ही वेदांत की संज्ञा देते हैं। सभी संप्रदाय ईश्वर या ब्रह्म की स्थिति मानते हैं, श्रुति को तर्क से बलवान् मानते हैं और कर्म के सिद्धांत तथा मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं।

अद्वैत को छोड़कर सारे वेदांत संप्रदाय भक्ति को मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग मानते हैं। वेदांत के प्रायः सारे संप्रदाय दक्षिण

भारत में उत्पन्न हुए। दक्षिण भारत वैष्णव और शैव मतों का गढ़ रहा है। सामान्य जन भक्ति में ही अपने दुःखपूर्ण मन का समाधान पाते हैं इसलिये यदि वेदांत को भक्ति के साथ मिला दिया जाय तो भक्ति की महत्ता और भी बढ़ जाएगी। रामानुज, वल्लभ, मध्व और चैतन्य ने भक्ति को अपने अपने ढंग से वेदांत का प्रतिपाद्य माना और विष्णु को किसी न किसी रूप में पूजित करने का उपदेश दिया। शैवों ने अपने भक्ति के सिद्धांत को वेदांत से जोड़ने का उतना अधिक प्रयत्न नहीं किया। केवल श्रीकंठ ने शैवभाष्य लिखा है जो उतना लोकप्रिय नहीं हो सका।

ज्ञानमूलक होने के कारण अद्वैत वेदांत ने विद्वानों मे आदर पाया और भक्तिमूलक वेदांत संप्रदायों ने साधारण जनता में। लोगों ने वेदांत को अपने जीवन का अंग बना लिया। इसीलिये वेदांत दर्शन ही भारत में एक ऐसा दर्शन है जिसमें आज भी नए विचार और उद्‌भावनाएँ पैदा होती हैं। अरविंद का दर्शन इसका ताजा उदाहरण है।

सं० ग्रं० — स० राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, द्वितीय भाग; सुरेंद्रनाथ दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलासफी, चारो भाग; बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन; टी० एम० पी० महादेवन् : द फिलासफी ऑव अद्वैत; श्रीनिवासाचारी : द फिलासफी ऑव विशिष्टाद्वैत; नागराज शर्मा : द फिलासफी ऑव मध्व; उमेश मिश्र : निंबार्क फिलासफी; वैलिवाला : फिलासफी ऑव वल्लभाचार्य; केनेडी : चैतन्य मूवमेंट। [रा० चं० पा०]

वेदांत देशिक इनका दूसरा नाम वेंकटनाथ था। तेरहवीं शताब्दी मे इनकी स्थिति मानी जाती है। रामानुज संप्रदाय तेरहवीं शताब्दी में दो गुटों में बँट गया। तेंगलाई अथवा दक्षिणी गुट के अनुसार तामिल प्रबंध को मुख्य प्रमाणग्रंथ माना जाने लगा और संस्कृत की उपेक्षा कर दी गई। इस संप्रदाय की यह भी मान्यता थी कि ईश्वर दोष का भोग करता है। दोषभोग्यता का यह सिद्धांत आगे चलकर खतरनाक सिद्ध हुआ। इस गुट के विरोध में एक उत्तरी गुट का, जिसे वेडगलाई कहते हैं, विकास हुआ। वेदांत देशिक इसी गुट के प्रतिष्ठापक आचार्य थे।

वेडगलाई गुट के अनुसार तामिल प्रबंध और संस्कृत ग्रंथो को समान रूप से प्रमाण माना जाता है। इस गुट में तामिल की अपेक्षा संस्कृत को अधिक महत्व दिया गया। लक्ष्मीतत्व मे इन लोगों ने शाक्त धर्म की विशेषताओं का भी समावेश किया।

वेदांत देशिक कांजीवरम् के रहनेवाले थे पर इनका अधिकांश समय श्रीरंगम् मे व्यतीत हुआ। अनेक विषयों पर इनकी लेखनी चली। इनके मुख्य दार्शनिक ग्रंथ परमतभंग और रहस्यत्रयसार तामिल मे लिखे गए। पांचरात्ररक्षा नामक ग्रंथ में इन्होने पांचरात्र धर्म के सिद्धांतों तथा क्रियाविधि का प्रतिपादन किया। रामानुज के श्रीभाष्य तथा गीताभाष्य पर इन्होंने टीकाएँ भी लिखीं। सेश्वर मीमांसा नामक अपने ग्रंथ में इन्होंने प्रतिपादित किया कि पूर्वमीमांसा और वेदांत एक दूसरे के पूरक हैं। पूर्वमीमांसा द्वारा प्रतिपादित कर्म ईश्वर के अनुग्रह के बिना फलदायक नहीं हो सकता। इसी प्रकार केवल ज्ञान भी तब तक निष्फल है जब तक ईश्वर में व्यक्ति अपने को पूर्णतः समर्पित करने का कर्म — उपासना — नहीं करता। अतः ईश्वरमीमांसा अर्थात् वेदांत कर्म मीमांसा के बिना निष्फल है। शतदूषणी नामक अपने खंडन मंडनात्मक संस्कृत ग्रंथ में रामानुज के मत का अनुसरण करते हुए वेदांत देशिक ने अद्वैत वेदांत की तीव्र आलोचना की है। रामानुज के बाद उनके संप्रदाय में वेदांत देशिक का ही नाम लिया जाता है।

सं० ग्रं० — वेदांत देशिक डा० सत्यव्रत सिंह। [रा० चं० पा०]

वेदांतसूत्र प्राचीन परंपरा के अनुसार इस ग्रंथ के लेखक बादरायण माने जाते हैं। पर इन सूत्रों में ही बादरायण का नामोल्लेख करके उनके मत का उद्धरण दिया गया है अत. कुछ लोग इसे बादरायण की कृति न मानकर किसी परवर्ती संग्राहक की कृति कहते हैं। बादरायण और व्यास को कभी कभी एक माना जाता है। जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसासूत्र में बादरायण का तथा बादरायण ने वेदांतसूत्रों में जैमिनि का उल्लेख किया है। यदि बादरायण और व्यास एक ही है तो महाभारत की परंपरा के अनुसार जैमिनि व्यास के शिष्य थे। और गुरु अपनी कृति मे शिष्य के मत का उल्लेख करे, यह विचित्र सा लगता है।

इन सूत्रो में सांख्य, वैशेषिक, जैन और बौद्ध मतों की ओर संकेत मिलता है। गीता की ओर भी इशारा किया गया है। इन सूत्रों मे बहुत से ऐसे आचार्यों और उनके मत का उल्लेख है जो श्रौत सूत्रों में भी उल्लिखित है। गरुड़पुराण, पद्मपुराण और मनुस्मृति वेदांत सूत्रों की चर्चा करते हैं। हापकिंस के अनुसार हरिवंश का रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी है और इसमे स्पष्ट रूप से वेदांतसूत्र का उल्लेख है। कीथ के अनुसार यह रचना २०० ई० के बाद की नहीं होगी, जाकोबी इसे २०० से ४५० ई० के बीच का मानते हैं। मैक्समूलर इसे भगवद्‌गीता के पहले की रचना मानते हैं क्योंकि उसमें ब्रह्मसूत्र शब्द आया है जो वेदांतसूत्र का पर्यायवाची है। भारतीय विद्वान् इसका रचनाकाल ई० पू० ५०० से २०० के बीच मानते हैं।

जिस प्रकार मीमांसासूत्र मे वेद के कर्मकांड भाग की व्याख्या प्रस्तुत की गई है उसी तरह चार अध्यायों में विभाजित लगभग ५०० वेदांतसूत्रों में वैदिक वाङ्‌मय के अंतिम भाग अर्थात् उपनिषदों की व्याख्या दी गई है। उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धांत इतने परस्पर विरोधी तथा बिखरे हुए है कि उनसे एक प्रकार का दार्शनिक मत निकालना कठिन है। वेदांत सूत्र 'समन्वय' के सिद्धांत का सहारा लेकर उपनिषदों में एक दार्शनिक दृष्टि का प्रतिपादन करता है। पर ये सूत्र स्वयं इतने संक्षिप्त हैं कि बिना व्याख्या के सहारे उनसे अर्थ निकालना कठिन है। इनकी संक्षिप्तता के कारण इनपर कई व्याख्याएँ लिखी गई जो परस्पर विरोधी दृष्टि से वेदांत का प्रतिपादन करती हैं। वेदांत के सभी प्रस्थान इन सूत्रों को अपना प्रमाण मानते हैं। ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इन सूत्रों को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं। [रा० चं० पा०]

वेदी वैदिक एवं स्मार्त कर्म के लिये वेदी या वेदि का निर्माण अत्यावश्यक है। कर्मकांडीय अनुष्ठान के लिये एक निश्चित परिमाण की शास्त्रानुसार परिष्कृत भूमि वेदी कहलाती है। इस वेदी में यज्ञ-

पात्रों का स्थापन, यज्ञपशु का बंधन एवं अन्यान्य याज्ञिक कर्म अनुष्ठित होते हैं।

श्रौत परंपरा में वेदी के विषय में अनेक विशिष्ट तथ्य मिलते हैं। यथा स्फ्य (खड्गाकृति अस्त्र जो खदिर वृक्ष से बनाया जाता है, जिसका प्रमाण १ अरत्नि = २४ अंगुल है; १ अंगुल = ¾ इंच) से भूमि खोदने, तृण को हटाने और शुद्ध पांशु लाकर वेदी का निर्माण करने का निर्देश है।

वेदी अनेक आकृतियों की होती है। अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास के लिये एक ही वेदी बनाई जाती है, जबकि चातुर्मास यज्ञांतर्गत वरुणप्रघास में दो वेदियाँ होती हैं। यज्ञकर्मानुसार वेदी का स्थान निश्चित होता है, यथा — आह्वनीय अग्नि के पूर्व में, निरूढ पशुबंध यज्ञ की वेदी बनाई जाती है, जबकि दर्शपूर्णमास में अग्नि के पश्चिम में। वेदी का परिमाण भी यज्ञकर्म के भेद के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। एक ही यज्ञ की वेदियाँ विभिन्न श्रौतसूत्रों के अनुसार कुछ विभिन्न रूपों से बनाई जाती हैं। आपस्तंबानुसारी जहाँ वेदी को गार्हपत्याग्नि से कुछ दूर बनाते हैं, वहाँ सत्याषाढानुसारी वेदी को अग्नि के पास ही बनाते हैं। [रा० शं० अ०]

वेधन (Boring) किसी भी वस्तु या जगह पर यंत्रों द्वारा छेद करने की क्रिया को कहते हैं। कारखानों की यंत्रशाला (machine shop) में यंत्र के कलपुर्जों के निर्माण के लिये लोहा, पीतल आदि में छेद करने की कभी कभी आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये वेधन अपनाया जाता है। वेधन का उपयोग भूविज्ञानियों द्वारा अधिक होता है। वे लोग इस क्रिया का प्रयोग भू विज्ञानिक एवं अन्य वैज्ञानिक खोजों के लिये करते हैं। किसी नई जगह में जमीन के नीचे खनिज पदार्थ के भंडार का पता वेधन द्वारा चल सकता है। सिविल इंजीनियरों को भी वेधन का प्रयोग करना पड़ता है। किसी विशाल मकान को बनाने के पहले यह जानना आवश्यक हो जाता है कि जिस जमीन पर मकान बनाना है उसकी सतह के नीचे कितनी दूरी पर पत्थर का स्तर है। यही नहीं, ऊपरी जमीन की सतह और नीचे पत्थर के स्तर के बीच की मिट्टी का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो जाता है। अतः यह देखा जाता है कि वेधन यांत्रिक इंजीनियर, सिविल इंजीनियर, खनिइंजीनियर एवं भूविज्ञानियों के लिये उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है।

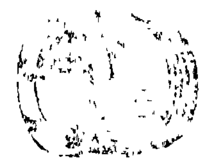
कोयला, लोहा आदि की खानों में भी, जिनसे खनिज पदार्थ निकाला जा रहा हो, वेधन उपयोगी है, क्योंकि यह जानना आवश्यक होता है कि जिस जगह से खनिज निकल रहे हैं, उसके आगे भी खनिज का भंडार है, या नहीं। खानों में कभी कभी संकटप्रद स्थान भी सामने आ जाता है, जिससे उन खानों में कार्य करनेवाले श्रमिकों की मृत्यु तक हो सकती है। इस तरह के स्थानों का पता वेधन द्वारा पहले ही कर लिया जाता है, ताकि दुःखद घटनाएँ न घटें।

पेट्रोलियम आदि खनिज तेलों के भंडार का पता वेधन द्वारा किया जाता है एवं इसी क्रिया की सहायता से खनिज तेल खान से बाहर निकाला जा सकता है। इसके बाद परिष्करण इत्यादि के लिये वह दूसरी जगह भेज दिया जाता है। कभी कभी जमीन की सतह के नीचे सेंधा नमक मिलता है। इसको निकालने के लिये वेधन द्वारा छेद बना लिया जाता है। उन छेदों के द्वारा ऊपर से पानी डाला जाता है। उसके बाद लवणजल (brine) को पंप द्वारा ऊपर निकाला जाता है।

वेधन के साधन

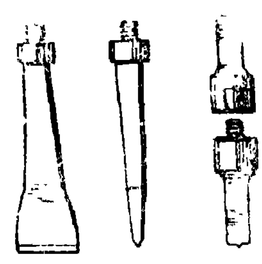
चट्टानों में वेधन करने के लिये बहुत से साधन अपनाए जाते हैं, जिनमें ये मुख्य हैं :

(क) **हीरा ड्रिल** (Diamond Drill) — सभी तरीकों में यह सर्वोत्कृष्ट है। इसकी सहायता से किसी भी कोण पर छेद किया जा सकता है। प्रायः तिरछे छेदों के लिये इसका उपयोग किया जाता है, क्योंकि अन्य तरीकों से सिर्फ सीधा छेद ही हो सकता है। इसके द्वारा वलयाकार (annular) छेद बनता है, जिसके क्रोड (core) से छेद की गई जमीन के नीचे की सारी बनावटें मालूम हो जाती हैं। इससे प्रत्येक स्तर (stratum) की मोटाई, सतह से उसकी दूरी एवं और अन्य बातें जानी जा सकती हैं। इस उपकरण में पेंच द्वारा जुड़ी हुई बहुत सी खोखली छड़ों की एक पंक्ति सी होती है। इसके निचले हिस्से में वलयाकार मुलायम इस्पात का एक बरमा (bit) लगा रहता है (देखे चित्र १.), जिसमें आकार के अनुसार आठ या अधिक, १ से ३ कैरट (carat) के, हीरे सावधानी से लगाए जाते हैं। ये हीरे कुछ बाहर निकले रहते हैं। कार्य करते समय बीच बीच में बरमे की जाँच कर ली जाती है, ताकि जैसे ही हीरा कुछ घिस जाय, उसे पूर्ववत् कर दिया जाय। जमीन की सतह पर एक छोटे इंजन की सहायता से छड़ों को जोर से घुमाया जाता है। ज्यों ज्यों छेद गहरा होता जाता है, त्यों त्यों छड़ें नीचे चलती जाती हैं। इंजन की गति सतह के नीचेवाली चट्टान और बरमे के व्यास पर निर्भर करती है। वेधन के समय एक पंप की सहायता से जल इन खोखली छड़ों में डाला जाता है, जो छेद की दीवारों और छड़ों के बीच की सतह द्वारा वापस लौट आता है। इससे कटी हुई वस्तुएँ सतह पर लाई जाती हैं।



चित्र १. हीरा जटित इस्पात का बरमा

(ख) **छड़ द्वारा बँधा हुआ पात ड्रिल** (Drop Drill) —



चित्र २. पात ड्रिल का बरमा
बरमे की अनी, काटनेवाला औजार तथा दंड।

यह उपकरण बहुत दिनों से वेधन के लिये प्रयुक्त किया जा रहा

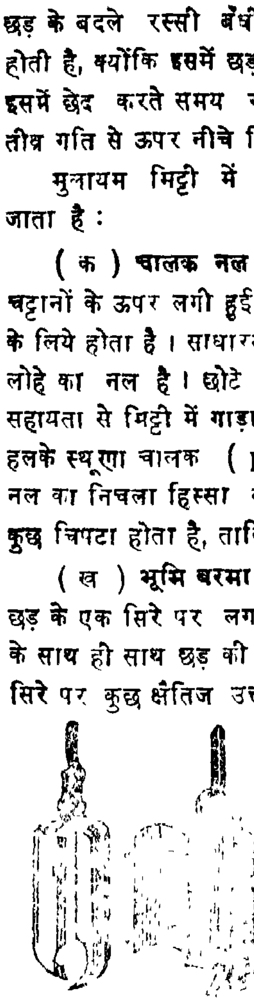
है। पहले यह बहुत गहरे वेधन के काम में लाया जाता था, किंतु आजकल यह ३०० फुट से अधिक की गहराई के लिये शायद ही व्यवहृत होता है। कम गहरे छेद के लिये इस उपकरण को हाथ से ही चलाया जाता है। श्रमिक लोग बरमे को घुमाने के लिये उसके चारों ओर चलते हैं और ड्रिल को कभी ऊपर उठाते हैं, तो कभी नीचे की ओर ले जाते हैं। इसी प्रकार वेधन संपन्न होता है।

(ग) **रस्सी द्वारा बँधा हुआ पात उपकरण** (Drop tool) — छड़ द्वारा बँधे हुए उपकरण और इसमें सिर्फ यही अंतर है कि इसमें छड़ के बदले रस्सी बँधी रहती है। इस तरीके से समय की बचत होती है, क्योंकि इसमें छड़ को ऊपर नीचे नहीं करना पड़ता है और इसमें छेद करते समय रस्सी की सहायता से उपकरण को बहुत तीव्र गति से ऊपर नीचे किया जाता है।

मुलायम मिट्टी में वेधन निम्नलिखित साधनों द्वारा किया जाता है :

(क) **चालक नल** (Drive Pipes) — इसका व्यवहार चट्टानों के ऊपर लगी हुई मुलायम मिट्टी की गहराई एवं गुण जाँचने के लिये होता है। साधारणत: यह दोनों सिरे पर खुला हुआ पिटवे लोहे का नल है। छोटे आकार के वेधन के लिये नल हथौड़े की सहायता से मिट्टी में गाड़ा जाता है। बड़े एवं गहरे छेद के लिये एक हलके स्थूणा चालक (pile driver) की आवश्यकता पड़ती है। नल का निचला हिस्सा वलयाकार होता है और ऊपर का हिस्सा कुछ चिपटा होता है, ताकि उसपर हथौड़े की चोट पड़ सके।

(ख) **भूमि बरमा** (Earth Auger) — यह उपकरण एक छड़ के एक सिरे पर लगाया रहता है (चित्र ३.)। छेद की गहराई के साथ ही साथ छड़ की लंबाई भी बढ़ानी पड़ती है। छड़ के दूसरे सिरे पर कुछ क्षैतिज उत्तोलक (levers) लगे होते हैं, जिनकी सहायता से बरमे को घुमाया जाता है। छोटे आकार के छेद के लिये इसे हाथ से ही घुमा लिया जाता है, किंतु बड़े आकार के छिद्र के लिये कुछ यांत्रिक साधन व्यवहार में लाए जाते हैं। इस उपकरण के द्वारा वेधन लगातार नहीं हो पाता है, क्योंकि बरमे को कुछ घुमाने के बाद ऊपर किया जाता है और उसमें अटकी हुई मिट्टी साफ कर दी जाती है।



चित्र ३. बरमे का फल
दो प्रकार के फल : एक दृढ़ ढाँचे का तथा दूसरा कब्जेदार।

आज के युग में वेधन अत्यंत महत्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रक्रिया है।
[चं० भू० मि०]

वेधशाला ऐसी एक या एकाधिक बेलनाकार संरचनाओं को आधुनिक वेधशाला कहते हैं जिनके ऊपरी सिरे पर घूर्णमान अर्धगोल गुंबद स्थित होता है। गुंबद में झिरी, जो लुंठन गोपक से निरावृत हो सकती है, क्षैतिज तल से शिरोबिंदु तक फैली होती है। इन संरचनाओं में आवश्यकतानुसार अपवर्तक या परावर्तक दूरदर्शक रहता है। दूरदर्शक वस्तुत: वेधशाला की आँख होता है। खगोलीय पिंडों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आँकड़े एकत्रित करके उनका अध्ययन और विश्लेषण करने में इनका उपयोग होता है। कई वेधशालाएँ ऋतु की पूर्व सूचनाएँ भी देती हैं। कुछ वेधशालाओं में भूकंपविज्ञान और पार्थिव चुंबकत्व के संबंध में भी कार्य होता है।

अनादि काल से ही मनुष्य सूर्य और चंद्रमा के उदय और आकाश में उनकी तथा तारों की आभासी गतिगति आदि आकाशीय घटनाओं पर आश्चर्य करता रहा है। इन गतियों से मानव ने धीरे धीरे विभिन्न ऋतुओं का ज्ञान प्राप्त किया। चंद्रमा की कलाओं, सूर्य की स्थिति मे क्रमिक विचलन, विशिष्ट तारों के उदय, सूर्य की ऊँचाई और उसके उदित तथा अस्त होने के स्थान में परिवर्तन को भी प्रेक्षित किया गया। इन प्रेक्षणों के आधार पर पंचांग तैयार किए गए। निरीक्षणों के आधार पर ग्रहणों की आवधिकता ज्ञात की गई। उदाहरण के लिये, कालडियन (Chaldeans) लोगों ने ७०० ई० पू० ही चांद्रचक्र (saros cycle) का अध्ययन किया था।

ये निरीक्षण केवल आँखों से ही नहीं किए जाते थे। शंकु (gnomon), या आदिम धूप घड़ी, को हम आदिम वेधशाला का आद्य उपकरण कह सकते हैं। मिस्रवासियों का साहुल, जिसे मेरखेट (Merkhet) कहते थे, दूसरा आद्य ज्योतिष उपकरण था। प्राचीन ज्योतिष उपकरणों में मिस्री क्लाइप्सीड्रा (Egyptian clypsedra), घटीयंत्र (hour clock), रेतघड़ी आदि प्रमुख हैं। नॉक्टरनल (Nocturnals) और ऐस्ट्रोलेब (Astrolabe, एक या अधिक चल भागोंवाली वृत्तीय चकती) वेधयंत्रों की सहायता से खगोलीय पिंडो की स्थिति ज्ञात की जाती थी। इन उपकरणों का उपयोग ई० पू० तीसरी शती में होता था।

अनेक प्राचीन पुरातात्विक स्मारकों का खगोलीय महत्व है। लगभग ५,००० वर्ष पूर्व निर्मित मिस्र के पिरामिड निश्चित तारों के निर्देश में अनुस्थापित हैं। इंग्लैंड में स्टोनहेंज में १८०० ई० पू० निर्मित प्रस्तरस्तंभ सूर्य की दिशा के निर्देश में अनुस्थापित है। चीनी सम्राट् होंग-टी (Hoang-Ti) ने ४,५०० वर्ष पूर्व खगोलीय पिंडों की गति के अध्ययनार्थ वेधशाला का निर्माण कराया था। ग्रीक ज्योतिर्विद, हिपार्कस (Hipparchus), ने १५० ई० पू० अंशांकित विशाल वृत्तों के प्रयोग से आकाशीय पिंडों की स्थिति के अध्ययन के लिये रोडस (Rhodes) द्वीप पर आर्मिली (Armillae), प्लिथ (Plinth), डायोप्टर (Diopter) आदि अनेक साधन निर्मित किए।

नवीं शती में बगदाद में खलीफा-अल-मामूँ और १३वीं शती में ईरान के मरागा में चंगेज खाँ के पौत्र हलागू खाँ ने विशाल वेधशालाओं का निर्माण कराया। समरकंद के उलुग बेग ने १४२० ई० के लगभग विशाल दीवार, क्वाड्रांत, वाली वेधशाला बनवाई। जर्मनी मे कैसेल (Kassel) में १५६१ ई० मे घूर्णमान छत और समयांकन घड़ी युक्त वेधशाला पहली बार स्थापित हुई। कुछ समय बाद की वेधशालाओं में डेनमार्क के नरेश फ्रेडरिक द्वितीय, के संरक्षण में स्थापित कोपेनहेगेन से लगभग १४ मील

दूर ह्वीन (Hveen) द्वीप पर टाइको-ब्राहे (Tycho Brahe) की वेधशाला उल्लेखनीय है। इसके निर्माण का प्रारंभ १५७६ ई० में हुआ और इसका नाम उरानीबोर्ग (आकाश दुर्ग) रखा गया। टाइको और उसके शिष्यों ने २१ वर्षों तक खगोलीय पिंडों के निर्देशांक (उन्नतांश, दिगंश, विषुवदंश और क्रांति) संबंधी व्यापक प्रयोग किए। आकाश दुर्ग में सेंट जर्नबॉर्ग (St. Jernesborg, तारा दुर्ग), नामक दूसरी संरचना जोड़ी गई। इन वेधशालाओं में दूरदर्शी नहीं थे किंतु विषुवतीय आरोपण (equatorial mounting) का महत्व समझा जा रहा था। उपकरण धातु और लकड़ी के होते थे। १६०६ ई० में गैलीलियो ने आधुनिक ज्योतिष के मौलिक उपकरण, दूरदर्शक, का आविष्कार किया। लाइडेन में १६३२ ई० में प्रकाशीय उपकरणों से युक्त सर्व-प्रथम वेधशाला बनी। १६६७-१६७१ ई० में पैरिस में नैशनल ऑब्ज़र्वेटरी बनी और १६७५ ई० में ग्रीनिच में रॉयल आब्ज़र-वेटरी स्थापित हुई, जिसका प्रथम राजज्योतिर्विद् फ्लैमस्टीड (Flamsteed) था। हेवीलियस (Hevilius) नामक ज्योति-र्विद् ने १६१४ ई० में एक निजी वेधशाला बनवाई। हेवीलियस ने भिन्न तरंगदैर्घ्य की किरणों को एक समतल में फ़ोकस करने के लिये १०० फुट फ़ोकस दूरी के लेंस से युक्त शक्तिशाली दूरदर्शक बनवाया।

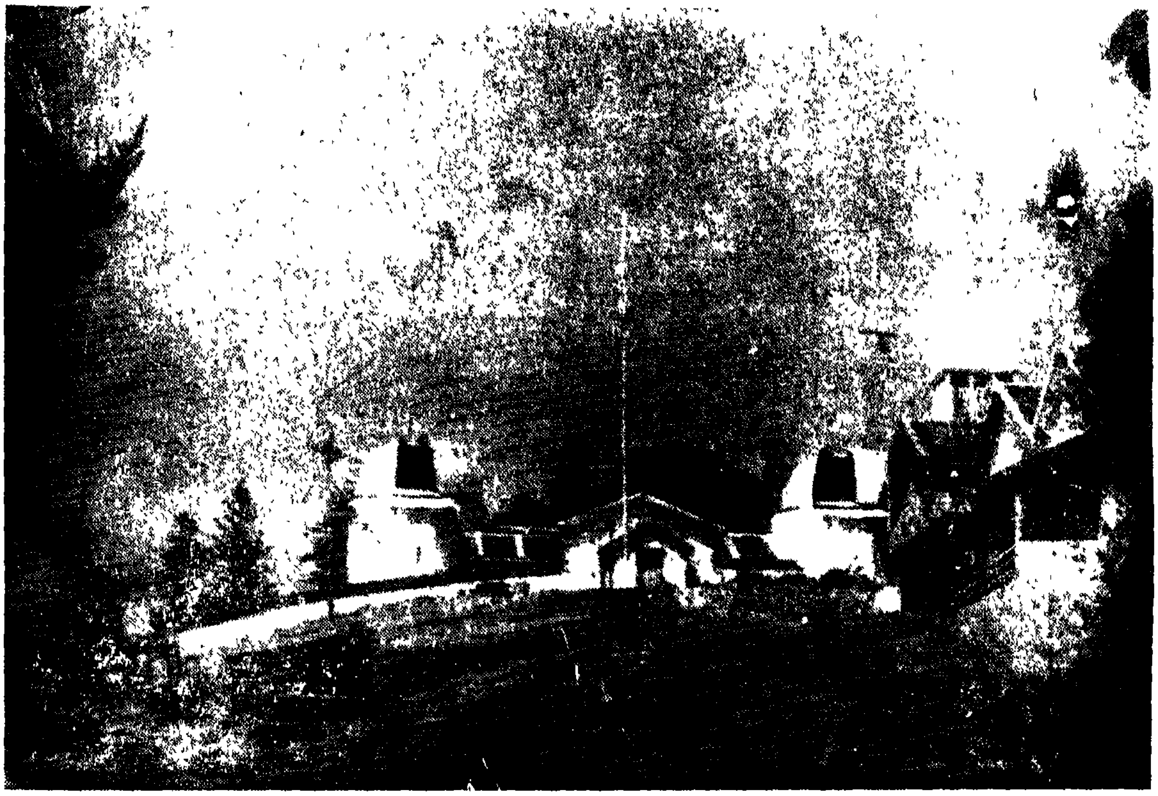
आधुनिक वेधशालाओं के संबंध में कुछ कहने के पूर्व जयपुर के महाराज जयसिंह द्वितीय द्वारा निर्मित वेधशालाओं का उल्लेख आवश्यक है। ये वेधशालाएँ दिल्ली, जयपुर, वाराणसी और मथुरा में हैं। दिल्ली की वेधशाला १७१० ई० में बनी और इसके पाठ्यांकों की जाँच के लिये बाद में दूसरे स्थानों पर वेधशालाओं का निर्माण हुआ। इन वेधशालाओं में उन्नतांश, दिगंश, विषुव-दंश, क्रांति, घटी-कोण आदि मापने के ज्योतिष उपकरण पत्थर, चूने आदि से बने हैं। दिल्ली की वेधशाला के उपकरण सम्राट्यंत्र, रामयंत्र, जयप्रकाशयंत्र और मिश्रयंत्र हैं। नियत चक्र से, जो मिश्रयंत्र का एक भाग है, चाँद का समय निकाला जा सकता है। ऐसी चार और वेधशालाएँ जापान के नॉट्के (Notke), प्रशांत के सरिचेन (Saritchen), ज्यूरिख और ग्रीनिच में हैं।

आधुनिक वेधशालाओं के संस्थापन और विकास प्रकाशीय काँच उद्योग की प्रगति के साथ साथ चलते हैं। १७वीं शती के दूरदर्शक वर्णविपथन आदि अनेक कारणों से भी संतोषप्रद नहीं थे। क्राउन और फ्लिंट काँच के संयोजन से अवर्णक अभिदृश्यक (objective) बनने पर बड़े द्वारक और कम फोकस दूरी के लेंस बनने लगे। १८२५ ई० में रूस में स्थापित डॉर्पैट (Dorpat) वेधशाला में दूरदर्शक का अभिदृश्यक फ्रॉनहोफर द्वारा घिसा हुआ तथा ९½ इंच व्यास का था। १८३९ ई० में स्थापित रूस की पुलकोवा राज्य वेधशाला, यथार्थ उपकरणों से सुसज्जित, उन दिनों की एक सर्वश्रेष्ठ वेधशाला थी, जिसके अपवर्तक दूरदर्शक का अभिदृश्यक १५ इंच से अधिक व्यास का था। इस वेधशाला के पहले निदेशक विलहेल्म स्ट्रूवे (Wilhelm Struve) थे, जो इसी नाम के अनेक ज्योतिर्विदों के वंश के प्रधान पुरुष हैं। यह वेधशाला द्वितीय विश्वयुद्ध में लेनिन-ग्राड के घेरे में नष्ट हो गई और रूस की विज्ञान अकादमी की केंद्रीय वेधशाला के रूप में १९५४ ई० में नए सिरे से बनकर तैयार हुई।

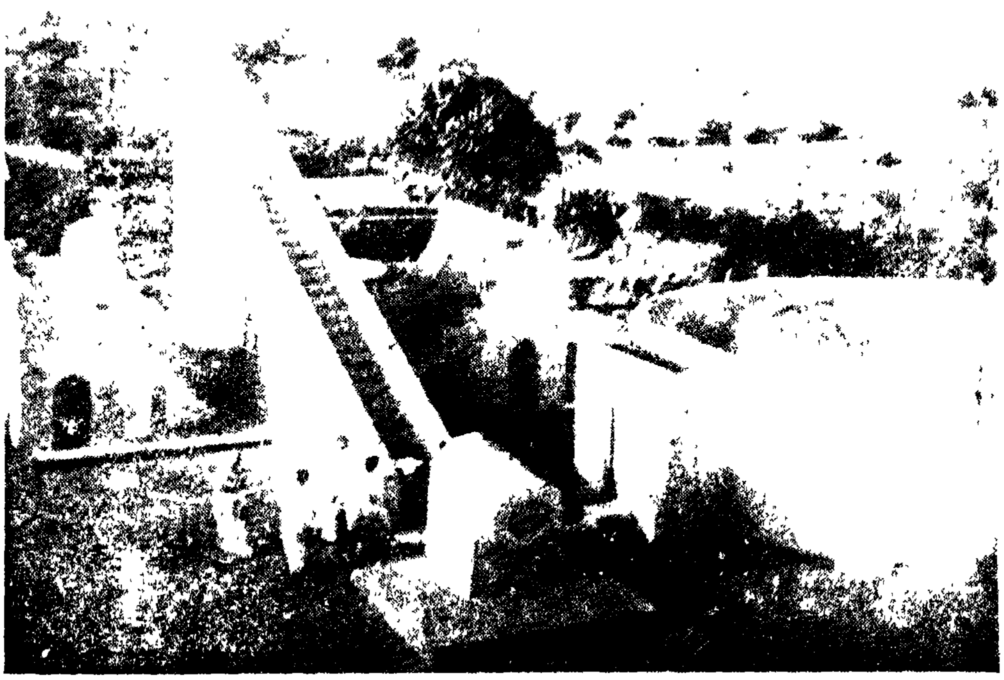
अभिदृश्यक के द्वारक को बढ़ाने की चेष्टा बहुत दिनों से चल रही थी। १८९७ ई० में ऐलवान क्लार्क (Alvan Clark) ने अमरीका की यर्कस वेधशाला के लिये सबसे बड़ा अभिदृश्यक लेंस ४० इंच व्यास का बनाया। इस दूरदर्शक में प्रकाश एकत्र करने की शक्ति मानव नेत्रों से १४,००० गुनी थी। इससे बड़े अपवर्तक दूरदर्शक के कभी बनने की संभावना नहीं प्रतीत होती है। यथार्थ घिसाई और पालिश की समुन्नत तकनीकी प्रविधियों के होते हुए भी अभिदृश्यक को वर्णविपथन के कारण एक निश्चित सीमा तक रखा जा सकता है। व्यास की वृद्धि से लेंस की मोटाई बढ़ती है। इससे लेंस की प्रकाश एकत्र करने की शक्ति की आनुपातिक वृद्धि पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इन्हीं दिनों लेंस तंत्र के स्थान पर परावर्ती दर्पण से दूरदर्शक बनाने की चेष्टा हो रही थी। न्यूटन ने १६८८ ई० में इस प्रकार का पहला दूरदर्शक बनाया था। विलियम हर्शेल की प्रसिद्ध वेधशाला में ४० फुट लंबा और ४८ इंच द्वारक का परावर्तक था। रॉस (Rosse) के अर्ल विलियम पार्सन्स ने १८४५ ई० में ७२ इंच व्यास और ५२ फुट फोकस दूरी के दर्पण से परावर्तक बनाया। ये परावर्तक दर्पण स्पेक्युलम धातु (Speculum metal) के बने थे। रजत लेप के महीन फ़िल्म युक्त काँच के परवलयिक दर्पण के प्रयोग का प्रारंभ २०वीं शती में हुआ। बाद में ऐसे लेप के स्थान पर उच्च निर्वात में सतह का ऐलुमिनीकरण होने लगा। इस तकनीक के विकास के फलस्वरूप अमरीका के कैलिफॉर्निया राज्य में, माउंट विल्सन वेधशाला में १९१७ ई० में लगाए गए, १०० इंच परावर्तक के निर्माण में सफलता मिली। इस दूरदर्शक का नाम हूकर दूरदर्शक है, जो प्रकाश एकत्र करने में मनुष्य की आँखों से ६०,००० गुना सशक्त है। कैलिफॉर्निया के माउंट पैलोमार वेध-शाला में लगाए गए २०० इंच व्यासवाले हेल परावर्तक (Hale reflector) का २० वर्षों के प्रयास के बाद १९४८ ई० में निर्माण हुआ। ६२,५०,००० डॉलर की लागत से निर्मित इस दूरदर्शक का साज सहित भार ५०० टन है और केवल दर्पण का भार १४½ टन है। इस दूरदर्शक में प्रकाश एकत्र करने की शक्ति मानव नेत्रों से ३,६०,००० गुना अधिक है और इससे अंतरिक्ष में १० अरब प्रकाशवर्ष की दूरी तक देखा जा सकता है। दूरदर्शक के दर्पण का प्रधान फोकस ५४ फुट तथा केंद्र में स्थित ४० इंच व्यास के छिद्र के कारण कैसीग्रेनीय फोकस (Cassegrain focus) २६३ फुट और कूडे फोकस (coude' focus) ४९२ फुट है।

इन परावर्तकों में प्रकाश अक्ष पर प्रतिबिंब तीक्ष्ण बनता है, किंतु कुछ दूर के बिंदुओं पर वह धुँधला होता है, जिससे उपयोज्य क्षेत्र कम हो जाता है और घटकर कभी कभी आधा अंश का रह जाता है। इस गंभीर बाधा का निराकरण श्मिट (Schmidt) द्वारा १९३० ई० में हुआ, जब उन्होंने गोलीय अवतल दर्पण के साथ साथ एक जटिल किस्म के संशोधनपट्ट का व्यवहार किया। ऐसे उपकरण से १० अंश तक के आकाशीय क्षेत्र का फोटोग्राफ लिया जा सकता है। ऐसा श्मिट दूरदर्शक माउंट पैलोमार में है, जिसका दर्पण ७२

वेधशाला (पृष्ठ १५६-१६१)

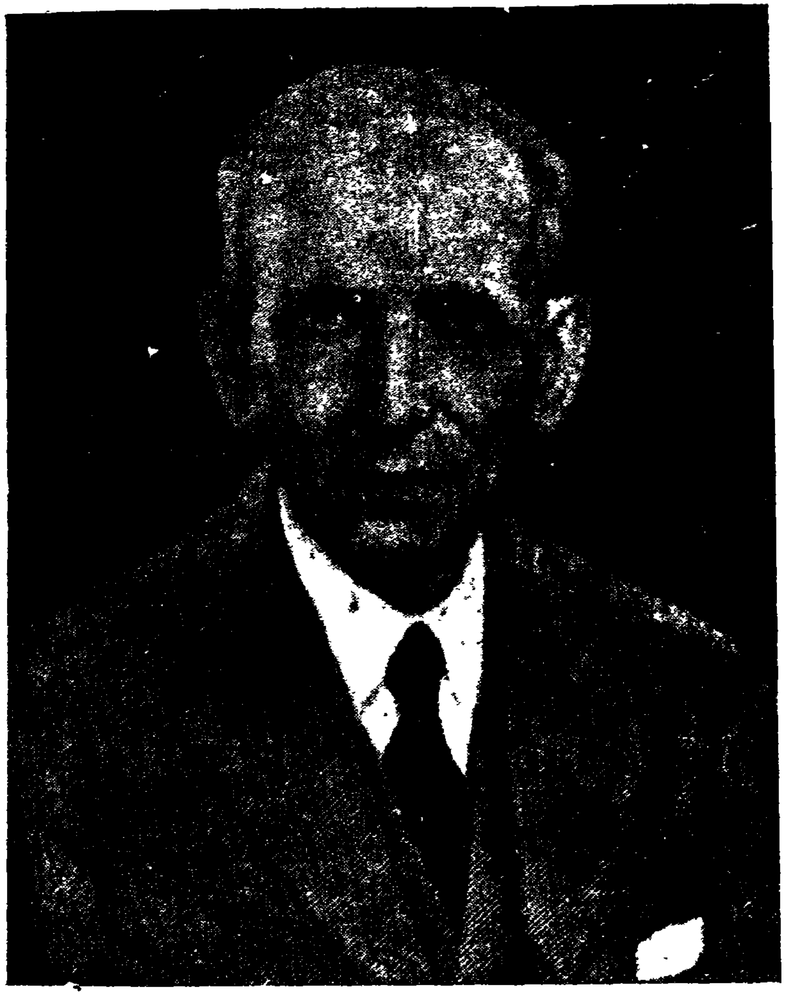


कोडैकानल वेधशाला का व्यापक दृश्य
बाएँ : ८ इंच का अपवर्तक दूरदर्शी; दाहिने : ६ इंच का अपवर्तक दूरदर्शी तथा अग्रभूमि में मौसम संबंधी यंत्र और वर्कशॉप की इमारत ।



प्राचीन वेधशाला, धार

(देखो पृष्ठ १३१)



डा० मोक्षगुंडम विश्वेश्वरैया (सन् १८६१-१९६२)

(देखो पृष्ठ २८१)



प्रो० शिवराम कश्यप (सन् १८८२-१९३४)

इंच व्यास का और संशोधनपट्ट ४८ इंच धारक का है। ३० करोड़ प्रकाश वर्ष की दूरी तक के तारों को अंकित करने में सशक्त इस दूरदर्शी से सात वर्षों में पैलोमार से दिखाई पड़नेवाले आकाश के ⅚ भाग का मानचित्र बनाया जा चुका है।

कुछ विशिष्ट वेधशालाओं में प्रकाशीय दूरदर्शक रूपी ज्योतिष-नेत्रों से खगोलीय पिंडों की प्रकाशतरंगों के अध्ययन के स्थान पर रेडियो दूरदर्शक से उनकी रेडियो तरंगों का अंकन और अध्ययन किया जाता है। रेडियो दूरदर्शक पर धूल, धुंध, वर्षा, मेघ, दिन और रात का प्रभाव नहीं पड़ता, किंतु रेडियो तरंग प्रेषित न करनेवाले खगोलीय पिंडों के संबंध में इनसे कोई जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती। इंग्लैंड में मैनचेस्टर के निकट जॉड्रेल तट पर पूर्णतः वहनीय (steerable), विशाल रेडियो दूरदर्शक है, जिसका रेडियो तरंग एकत्र करने का २५० फुट व्यास का कुंड परावर्तक (bowl reflector) है। यह रेडियो तरंगों को फोकस पर स्थित ऐंटेना पर एकत्र करता है। इससे बड़ा और हाल ही का बना रेडियो दूरदर्शक पश्चिमी वर्जीनिया (संयुक्त राज्य, अमरीका) में है, जिसका कुंड ६०० फुट व्यास का है। रेडियो दूरदर्शक का एक विशिष्ट उपयोग कृत्रिम उपग्रहों से संकेत प्राप्त करके, उनके प्रक्षेपवक्र की लीक पकड़ना है। घूर्णमान गुंबदवाली परंपरागत वेधशालाओं के विपरीत, ये विशाल दूरदर्शक खुले मैदान में बिठाए जाते हैं तथा इनका नियंत्रण दूरस्थ कक्ष से होता है।

समस्त संसार में फैली ज्योतिष वेधशालाओं के उद्देश्य और कार्य बहुविध हैं। संयुक्त राज्य, अमरीका, की नौसैनिक वेधशाला और ग्रीनिच वेधशाला आदि, राष्ट्रीय वेधशालाओं में सूर्य, चंद्र, ग्रह, तारा आदि के निर्देशांकों का यथार्थ निर्धारण, पंचांग निर्माण, मानक समय संकेतों का पारेषण, उन्नतांश निर्धारण आदि कार्य होते हैं। कुछ वेधशालाएँ उपगूहन (occultations), ग्रहण, सौर प्रज्वालाओं (solar flares), अंबरमापन आदि के अध्ययन का कार्य सहकारी आधार पर करती हैं। वेधशालाओं में खगोल यांत्रिकी आदि विषयों पर मौलिक अनुसंधान कार्य भी होता है, जिसमें युग्मक तंत्र, तारों का वर्णक्रमीय वर्गीकरण, खगोलीय पिंडों का त्रैज्य वेग, फोटो वैद्युतिक फोटोमिति, अतिरिक्त आकाशगंगीय नीहारिकाएँ, तारों की आंतरिक रचना आदि का अध्ययन समाविष्ट है।

वेधशालाएँ ऐसे स्थानों पर स्थापित की जाती हैं, जहाँ का मौसम बहुत अच्छा होता है और मेघ, धुआँ, धूल से रहित दिनों की संख्या अधिक से अधिक होती है। संभव होने पर पहाड़ की चोटी या शैल आधार पर वेधशाला का निर्माण होता है। वेधशाला से संबद्ध फोटोग्राफी कक्ष और वर्णक्रमीय प्रयोगशाला का होना आवश्यक है। कुछ वेधशालाएँ ज्योतिर्विज्ञान की नई खोजों का समाचार प्रसारित करती हैं। सौर वर्णक्रम, कॉस्मिक विकिरण आदि के अध्ययन के लिये अंतरिक्ष वेधशाला स्थापित करने के अनेक प्रयत्न चल रहे हैं।

भारत की वेधशालाओं में दक्षिण भारत में कोडाइकैनाल की खगोल-भौतिकीय वेधशाला विख्यात है। विगत ६० वर्षों से अधिक के सूर्य के दैनिक अभिलेख यहाँ प्राप्य हैं। यहाँ की वेधशाला उन वेधशाला शृंखलाओं में से एक है, जहाँ शुद्ध आवृत्ति पर रेडियो पारेषण के लिये सौर प्रक्षुब्धता का अध्ययन होता है। उत्तर प्रदेश राज्य की नैनीताल स्थित वेधशाला में चरकांति तारों का अध्ययन होता है। हैदराबाद की निजामिया वेधशाला में तारों के त्रैज्य वेग संबंधी मापन किए जाते हैं। भारत सर्वेक्षण से संबंधित तीन अन्य वेधशालाओं में अक्षांश और भोगांश का निर्धारण होता है। [रा० मु०]

वेनिज्वीला (Venezuela) गणतंत्र, स्थिति ०° ४५′ से १२°१२′ उ० अ० तथा ५९° ४५′ से ७३° ०९′ प० दे०। यह दक्षिणी अमरीका में कैरिबीऐन सागर के तट पर एक गणराज्य है। इसका क्षेत्रफल ९,१२,०५० वर्ग किमी० है। अतः यह ब्रिटेन का लगभग चार गुना है। यहाँ की जनसंख्या लगभग ८४,२६,७११ है। इसमें भारतीय, नीग्रो तथा यूरोपवासी सभी लोग पर्याप्त संख्या में हैं। पेट्रोल तथा लौह धातु जैसे प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बल पर यह देश २०वीं शताब्दी में काफी धनी हो गया, किंतु इस संपन्नता का फायदा इने गिने लोगों ने ही उठाया है।

वेनिज्वीला का अर्थ है लिटिल वेनिस (Little Venice)। यह नाम १४९९ ई० में अलान्सो ड ओहेधा (Alonso de Ojeda) ने, जो १४९९ ई० में वेनिज्वीला की खाड़ी से पहुँचा था, रखा था। वेनिज्वीला के उत्तर में कैरिबीऐन सागर, दक्षिण में ब्राजिल, पश्चिम में कोलंबिया तथा पूरब में ब्रिटिश गिआना है। इसको चार भौगोलिक प्रदेशों में बाँट सकते हैं :

उत्तर-पश्चिम में मैराकाइबो की दीर्घा भूमि चारों ओर पर्वत श्रेणियों से घिरी है। इस प्रदेश में १९,१२८ वर्ग किमी० में विस्तृत मैराकाइबो झील काफी महत्वपूर्ण है। इस झील के किनारे दलदल मिलते हैं।

उत्तरी पठार के चार विभाग हैं। पठार के दक्षिणपश्चिमी हिस्से में सिएरा नेवैदा थे। मेरीदा श्रेणी के अंतर्गत वेनिज्वीला की सभी ऊँची चोटियाँ मिलती हैं। यह पर्वत श्रेणी मैराकाइबो झील के दक्षिणी कोलंबिया से आरंभ होकर, दक्षिण-पूर्व दिशा में कैरिबीऐन सागर तक जाती है। इसके उत्तर में सेगोविया पठार में छोटे छोटे पहाड़ हैं। प्यूरटो काबेलो तथा केप काडेरा नगरों के बीच दो समांतर श्रेणियाँ कैरिबीऐन सागर के किनारे किनारे चलती हैं। इन दोनों में समुद्रतटीय श्रेणी (coastal range) अधिक ऊँची है तथा उसकी खड़ी ढाल समुद्र की ओर है। इन श्रेणियों के बीच मध्य का पठार है, जिसमें उपजाऊ घाटियाँ भी हैं। यह भाग वेनिज्वीला के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कार्यों का प्रधान क्षेत्र है। अरया तथा पारिया प्रायद्वीपों के पठारी भाग में भी छोटे छोटे पर्वत हैं।

ओरिनिको का मैदान ३,०७,२०० वर्ग किमी० में फैला है। यह विस्तृत समतल क्षेत्र उत्तरी पठार तथा ओरिनिको नदी के बीच है। विशाल ओरिनिको नदी दक्षिणी वेनिज्वीला से निकलकर २,७२०

किमी० तक बहने के पश्चात् कई शाखाओं में बँटकर एटलैंटिक महासागर में गिरती है। इसके मैदान से होकर इसकी कई सहायक नदियाँ बहती हैं।

ओरिनिको के दक्षिण में गिय्याना पठार है, जिसके अंतर्गत वेनिज्वीला का आधा भाग आता है। इस प्रदेश में पठारों के ऊपर ऊँचे समतल चोटीवाले पहाड़ (Mesas) मिलते हैं। पठार के उत्तरी-पूर्वी भाग में संसार का सबसे ऊँचा जलप्रपात एंजिल (Angel falls) मिलता है, जिसकी ऊँचाई ९७९ मीटर है।

कैरिबीएन सागर में कई छोटे छोटे द्वीप हैं, जो वेनिज्वीला के अंतर्गत हैं। इनमें मार्गारिटा सबसे बड़ा है।

जलवायु में ऊँचाई के अनुसार विभिन्नता मिलती है। समुद्रतट पर ऊमस तथा पहाड़ों पर ठिठुरनेवाली ठंढक पड़ती है। मेराकाइबो क्षेत्र में ताप सबसे ऊँचा रहता है। यहाँ न्यूनतम ताप लगभग २८° सें० है। कारेकास शहर के आसपास औसत ताप लगभग २०° सें० रहता है तथा हमेशा बसंत ऋतु बनी रहती है। ओरिनोको के मैदान में दिसंबर से अप्रैल तक शुष्क मौसम रहता है तथा मई से नवंबर तक वर्षा होती है।

वेनिज्वीला में पेट्रोलियम, सोना, लौह धातु मैंगनीज, ताँबा, कोयला, ऐस्फाल्ट, हीरा तथा नमक का प्रचुर भंडार है। इनमें पेट्रोलियम सबसे महत्वपूर्ण है। विश्व के पेट्रोलियम उत्पादक देशों में इसका दूसरा स्थान है। यहाँ प्रति दिन तेल का उत्पादन लगभग ३०,००,००० बैरेल है। ७० प्रति शत तेल मेराकाइबो क्षेत्र से निकलता है। वेनिज्वीला के तेल से संसार के तेल की माँग का दसवाँ हिस्सा पूरा होता है। एल पाओ पर्वत से लोहा निकाला जाता है। यहाँ अनुमानतः ७,००,००,००० टन उच्च कोटि का लौह भंडार है। सेरो बोलिवर नामक ६१० मीटर ऊँचा पहाड़ दूसरा लौह भंडार है, जो विशेषज्ञों के अनुसार दुनियाँ का सबसे बड़ा लौहभंडार है। इसमें ५०,००,००,००० टन उच्च कोटि का लोहा विद्यमान है।

खेती मुख्यतः उत्तरी पठार में होती है, जहाँ देश का अधिकांश अन्न उपजता है। कॉफी मुख्य व्यापारिक फसल है। ईख, धान, कपास, तंबाकू, सब्जी, फल, खासकर काकाओ तथा अमरीकी घीकुँवार (Sisal), तिल (sesame) अन्य प्रमुख उपज हैं।

वेनिज्वीला में सूती तथा अन्य प्रकार के कपड़े, सीमेंट, शराब, सिगरेट, जूते, दवाइयाँ, शुद्ध तेल, टायर, ट्यूब इत्यादि निर्मित होते हैं। वेनिज्वीला का व्यापार अधिकतर संयुक्त राज्य, अमरीका, से होता है। पेट्रोल, कच्चा लोहा, कॉफी, काकाओ मुख्य निर्यात है। आयात में मशीन, लोहा, इस्पात की वस्तुएँ, कपड़े, गाड़ियाँ, रासायनिक पदार्थ, गेहूँ तथा आटा प्रमुख हैं।

वेनिज्वीला में २४,००० किमी० लंबी सड़कें हैं, जिनमें आधे से अधिक पक्की हैं। १,१३० किमी० लंबी सीमाँ बोलिवर (Simon-Bolivar) सड़क कारकैस से कोलंबिया तक जाती है। १,२४० किमी० लंबा रेल मार्ग है, जिसमें से अधिकांश समुद्रतटीय क्षेत्र में है। ओरिनिको तथा उसकी सहायक नदियाँ १०,००० किमी० परिवहन की सुविधा प्रदान करती हैं। [ज० सिं०]

वेनिस स्थिति : ४५° ३०′ उ० अ० तथा १२° १५′ पू० दे०। इटली का यह नगर संसार के सुंदरतम नगरों में से एक है। यह ऐड्रिऐटिक शहरों की रानी (The Queen City of Adriatic) के नाम से विख्यात है। इस नगर के मकान ठोस धरातल पर नहीं, बल्कि ऐड्रिऐटिक सागर के कछार पर कीचड़ निर्मित छोटे छोटे द्वीपों के समूह पर बने हैं। मकानों की नींव कीचड़ में गहराई तक धँसाए हुए पायों पर रखी जाती है। यहाँ द्वीपों के बीच बहनेवाली नहरें सड़कों का काम करती हैं तथा सवारी गाड़ियों की जगह चौरस पेंदेवाली नावें चलती हैं, जिन्हें गोंडोला (Gondolas) कहते हैं। नहरों के आर पार विविध प्रकार के पत्थर निर्मित पुल हैं। नहरों के किनारे आलीशान अट्टालिकाएँ हैं, जो प्राचीन वेनिस की शालीनता की यादगार हैं। यद्यपि राजनीतिक एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से वेनिस का महत्व घट गया है, तथापि दुनिया के सुंदर एवं गुलजार शहरों में यह अब भी अग्रगण्य है।

वेनिस शहर के १२० द्वीप इटली के उत्तर पूर्वी समुद्रतट से लगे एक सुरक्षित झील में स्थित है। झील पो तथा पियाव नदियों के मुहानों के बीच में फैली हुई है। लीडो नामक एक बालू की दीवार (sand bar) झील की पूर्वी सीमा निर्धारित करती है। यह बालू का द्वीप वेनिसवासियों के समुद्र-तट-विहारस्थल का काम देता है। वेनिस नगरद्वीप २½ मील लंबे रेल-सड़क-युक्त पुल द्वारा मुख्य इटली प्रदेश से संबद्ध है।

नगर अंग्रेजी अक्षर एस (S) आकारवाली, ग्रैंड कैनाल नहर द्वारा दो भागों में विभक्त है। ग्रैंड कैनाल के अतिरिक्त लगभग १५० अन्य नहरें हैं। नगर के अनगिनत द्वीप एक दूसरे से लगभग ४०० पुलों द्वारा संबद्ध हैं। पुल ऊँचे पायों पर बने हैं, ताकि उनके अंदर से नावें आ जा सकें। सबसे प्रसिद्ध पुल रियाल्टो (Rialto) नगर के मध्य में ग्रैंड कैनाल के आर पार है। इन टेढ़ी मेढ़ी नहरों के किनारे मकान हैं। वेनिस की प्रमुख इमारतें पियास्सा ऑव सेंट मार्क (Piazza of St. Mark) नामक चौक में हैं।

यद्यपि वेनिस भूमध्यसागर का सर्वश्रेष्ठ व्यापारिक केंद्र अब नहीं रहा, फिर भी नगर में व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान है। मारघेरा (Marghera) बंदरगाह में माल लादने उतारने की अच्छी सुविधा है। इटली के बंदरगाहों में वेनिस का सातवाँ स्थान है। हर प्रकार के माल वेनिस में आते हैं। वेनिस अपनी परंपरागत वस्तुओं के निर्माण के लिये अब भी विख्यात है। मुरानो द्वीप में सुंदर शीशे बनते हैं। बुरानो द्वीप की औरतें अत्यंत सुंदर हाथ के बने फीते बनाती हैं। कसीदे का काम, टैपेस्ट्री (tapestry), लकड़ी की खुदाई, ताँबे की मूर्तियाँ तथा अन्य कला की वस्तुओं के लिये वेनिस अधिक प्रसिद्ध है। १६०० ई० के बाद से नगर में पोतनिर्माण का उद्योग भी महत्वपूर्ण हो गया है।

वेनिस की जलवायु समशीतोष्ण है। यह पर्यटकों का आकर्षण केंद्र है। नगर का संबंध रेलमार्ग द्वारा मिलान (Milan) तथा बोलोन्या (Bologna) से है। टारिसिओ (Tarisio) तथा ट्रिएस्ट (Trieste) से लेकर क्रमशः आस्ट्रिया तथा युगोस्लाविया

को भी रेलमार्ग जाते हैं। सांता लुसिया (Santa Lucia) स्टेशन ग्रैंड कैनाल के पश्चिमी छोर पर है। वेनिस को वायुमार्ग की सुविधा २१ मील दूर स्थित ट्रेवीजो (Treviso) हवाई अड्डे से मिलती है। लीडो के उत्तरी सिरे पर बसा सान निकोलो (San Nicolo) हवाई अड्डा भी कुछ अंशों में उपयोग में आता है। [ज० सिं०]

वेब, सिडनी जेम्स (१८५६-१९४७) फेबियन समाजवादी विचारधारा के मुख्य सिद्धांतकार सिडनी जेम्स का जन्म निम्न मध्यम वर्ग के परिवार में हुआ था। माता पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी तो न थी, फिर भी उन्हें शिक्षा के लिये स्विटजरलैंड और जर्मनी भेजा गया। लंदन के विश्वविद्यालय मे भी उन्होंने अध्ययन किया। १९ वर्ष की उम्र में उन्होने जानपद सेवा में प्रवेश किया, और वहाँ पर १८९१ तक कार्य किया। इसके पश्चात् त्यागपत्र देकर वे फेबियन सोसायटी द्वारा समाजसुधार के कार्य में लग गए। उनके लेख 'फैबियन ऐसेज' मे प्रकाशित हुए जिन्हे बीट्रिस पौटर ने पढ़ा और वह इनसे प्रभावित हुई। १८९२ में वेब का विवाह बीट्रिस से हुआ। पौटर का परिवार १९वीं शताब्दी के औद्योगिक विकास से लाभान्वित था। यह बड़े उद्योगपति थे और धनाढ्य भी। इसके कारण बीट्रिस का संपर्क प्रमुख व्यक्तियों से था। १८८७ में वे समाजकार्य में प्रविष्ट हुई थीं और अपने चचेरे भाई के साथ 'लाइफ ऐंड लेबर ऑव दी पीपुल ऑव लंडन' प्रकाशित कर चुकी थीं। सिडनी से भेंट के समय वह 'दि कोआपरेटिव मूवमेंट इन ग्रेट ब्रिटेन' पुस्तक पर कार्य कर रही थी।

१८९२ में विवाह के पश्चात् उनका लंदनगृह बौद्धिक कार्य और गभीर सामाजिक चिंतन का केंद्र बना। इसके पश्चात् इन दोनों ने मिलकर कई ग्रंथो की रचना की और स्थानीय सरकार, मजदूर संघ आंदोलन, निर्धन नियम प्रशासन और सहकारी आंदोलन पर निष्पक्ष अनुसंधान द्वारा व्यावहारिक विचार प्रस्तुत किए।

सक्रिय राजनीति और शासन से वेब का संपर्क काफी घनिष्ठ था। वे लंदन काउंटी काउंसिल के १८९२ से १९१० तक सदस्य थे और उन्ही के प्रयासों के परिणामस्वरूप 'लंडन स्कूल ऑव इकनॉमिक्स ऐंड पोलिटिकल साइंस' की स्थापना हुई, तथा १९०२ से १९१९ तक उन्होंने इसमें जन प्रशासन के आचार्य का कार्य किया। १९२२ में वे संसद्सदस्य निर्वाचित हुए और १९२४ मे मैकडोनल के मंत्रिमडल में 'बोर्ड ऑव ट्रेड' के सभापति नियुक्त हुए। १९२९ में जब मजदूर दल को पुनः सत्ता प्राप्त हुई तो वे उपनिवेश मंत्री नियुक्त हुए, जिस पद पर उन्होने १९३१ तक कार्य किया। १९२९ में मैकडानल के जोर देने पर उन्होंने पियरेज (बैरन पासफील्ड) स्वीकार की। १९३१ में उन्होंने जनजीवन से अलग रहकर अपना शेष जीवन लेखन कार्य में लगाया।

१९१३ में उन्होंने 'दी न्यू स्टेट्समैन' की स्थापना की। १९३२ में वे सोवियत संघ गए और वहाँ से लौटने पर १९३५ में अपनी पुस्तक 'सोवियत कम्युनिज्म' प्रकाशित की। १९४३ में बीट्रिस की मृत्यु हुई। उसके चार वर्ष बाद सिडनी की भी जीवनलीला समाप्त हुई। [गि० कि० ग०]

वेरिग्रो, अंतोनिग्रो (Varrio, Antonio ,१६४०-१७०७) इटली का दरबारी चित्रकार। फ्रांसीसी कला अकादमी से वह लगभग १६७१ ई० मे इंग्लैंड आया। विंडसर तथा व्हाइट हाल के राजभवनों में उसे चित्र बनाने का काम दिया गया। बाद में उसने चैटसवर्थ तथा बर्ले मे भी चित्र बनाए। १६९९ में वह क्वीन एन की आज्ञा से हैंपटन कोर्ट के लिये चित्र बनाने में संलग्न हुआ।

वेरिग्रो की चित्रकला अलंकरणप्रधान थी। वह गाढ़े चमकदार रंगों से तड़क भड़कवाले चित्र बनाता था और चित्र के पात्रों की वेशभूषा को खूब अलंकृत कर चित्रित करता था। ऐसे चित्र उस समय इग्लैंड में नए नए चले थे और साधारण दर्शकों का खूब मनोरंजन करते थे। [रा० चं० शु०]

वेरेस्खगिन वासिली वास्सिलीविच (Vereshchagin Vassili Vassilievich, १८४२-१९०४ ई०) रूसी यायावर तथा चित्रकार। १८६१ मे जर्मनी, फ्रांस, तथा स्पेन गया। १८६९ में उसने साइबेरिया की यात्रा की। १८७४ मे प्रिंस ऑव वेल्स के साथ भारत आया। रूसी तुर्की युद्ध में भाग लिया। यूरोप अमरीका का भ्रमण किया। युद्ध दृश्यों के चित्रांकन में निपुण था। इसके प्रमुख चित्र है—विजय के पूर्व, पराजय के पश्चात्, युद्ध का जीवन, घायलों का लौटना, कैदी तथा विस्मृत सिपाही। इसका धार्मिक चित्र है—'ईसा परिवार'। [गु० त्रि०]

वेरोकीग्रो, आंद्रिया देल (१४३५-१४८८) इटली का सुप्रसिद्ध चित्रकार, मूर्तिकार और स्वर्णशिल्पी। फ्लोरेंस मे उत्पन्न हुआ, पर कालांतर में समूचे इटली प्रदेश का इतना वरेण्य कलाकार माना गया कि लियोनार्दो द विंची और लोरेंजो द क्रेदी जैसे कलाकार भी अर्से तक उसके शिष्य एवं सहायक के रूप में कार्य करते रहे। इतिहासकार वेजेरी ने 'बैप्टिज्म ऑव क्राइस्ट' नामक केवल एक चित्रकृति उसकी मानी है, पर उक्त चित्र में भी संभवत: देवदूतों के रूपाकारो की गढ़न में—उसी के कथनानुसार—लियोनार्दो की सजीव तूली का संस्पर्श विद्यमान है।

मूर्तिशिल्प की दिशा मे वेरोकीग्रो बेजोड़ है। 'डेविड' की कांस्यप्रतिमा के अतिरिक्त फ्लोरेंस स्थित सान लारेंजो के शवागार मे उसने जिओवान्नी और पियरो द मेदिया की कलात्मक कब्रो का निर्माण किया था। १४७४ में पिस्तोआ गिर्जाघर मे उसने कार्डिनल की 'झुकी प्रतिमा' बनानी प्रारंभ की, किंतु उसके जीवनकाल मे वह पूरी न हो सकी। ला सेपिएंजा के कलाकक्ष मे वह आज भी सुरक्षित है, और मिट्टी द्वारा निर्मित उसका मूल ढाँचा साउथ केंसिंगटन में मौजूद है। उसकी सर्वोत्कृष्ट कलाकृति जनरल बर्थोलम्यू की अश्वारोही कास्यप्रतिमा है जिसके मॉडल के निर्माण मे ही उसे पर्याप्त समय लगा था। मृत्यु से पूर्व इस अधूरे कार्य को वह लारेंजो को सौंप गया, पर वेनिस की सीनेट ने एलसेंद्रो लियोपार्दो द्वारा इसे संपन्न कराया। विश्व की अश्वारोही प्रतिमा में यह अपना सानी नहीं रखती। अश्व और लगाम पकड़े हुए जनरल की भंगिमा में आश्चर्यजनक यथार्थता और सौंदर्य की व्यंजना हुई है। इसके अतिरिक्त वेरोकीग्रो ने चाँदी के बर्तन और छोटी मूर्तियाँ तथा

टेराकोटा (पक्की मिट्टी), प्लास्टिक, मोम और काष्ठ पर विभिन्न रंगसज्जा और शिल्पनैपुण्य के साथ विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुएं निर्मित की थीं। उनकी मृत्यु वेनिस में हुई, पर फ्लोरेंस के सेंट एंब्रोजियो चर्च में उसे दफनाया गया।

[श० रा० गु०]

वैरोनेजे, पाम्रोलो (१५२८-१५८८) वेनिस का विख्यात चित्रकार। पाम्रोलो वेरोनेजे रेनेसाँ काल के वेनीशियन स्कूल का अंतिम महान् कलाकार माना जाता है। बहुत से कला आलोचक उसे टिशां (Titian) तथा टिंटोरेटो (Tintoretto) के समकक्ष रखते हैं। अपने समकालीन अन्य प्रसिद्ध कलाकारों की भाँति वह भी धार्मिक कथाकहानियों का ही अधिकतर चित्रण करता था। उसके प्रसिद्ध चित्रों में सेंट हेलीना (St Helena) 'द मैरेज ऐटकाना', तथा 'द मार्टर्डम ऑव् सेंट सेबास्टियन' उल्लेखनीय हैं। उसके चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह प्राचीन कथा कहानियों का चित्रण करते हुए भी उनके पात्रों को अपने ढंग से समकालीन रुचि के अनुसार वेशभूषा देकर परिवर्तित करके अंकित करता था। फिर भी उसके चित्रों में आकर्षण बना रहता था। उसकी शैली अत्यंत व्यक्तिगत तथा मौलिक थी। उसके चित्रों में अनावश्यक जटिलता जरा भी नहीं थी और सीधी सरल शैली में पूरी सच्चाई के साथ वह पात्रों को चित्रित करता था। वह अपने चित्रों में कभी उपदेशात्मक बातों को स्थान नहीं देता था, न कुछ सोचने विचारने के लिये ही छोड़ता था। वह बृहत् आकारों के कैनवसों पर चित्र बनाना पसंद करता था, फिर भी चित्रसंयोजन (कांपोजीशन) की उसमें अद्भुत शक्ति तथा प्रवीणता थी। उसके चित्रों में अनेक व्यक्तियों के घने समूह चित्रित हुए हैं, फिर भी उसमें न तो जटिलता दिखाई पड़ती है, न संकोच। अधिकतर चित्र वेनिस के सेंट सेबास्टियन के चर्च में मौजूद हैं।

• 'सेंट हेलीना' उसका बहुत ही लोकप्रिय चित्र है। इस चित्र का आधार भी एक प्रचलित कथा है जिसमें कांसटैंटाइन द ग्रेट की माता सेंट हेलीना स्वप्न में देखती है कि उसे उस स्थान का पता लग गया है जहाँ क्राइस्ट जिस क्रास पर टाँगे गए थे वह गड़ा है। इस चित्र में सेंट हेलीना को वही स्वप्न देखते हुए दिखाया गया है। इसमें सेंट हेलीना की आकृति, उसका लिबास तथा मुद्राएँ बड़े ही लयात्मक रूप में स्वप्निल मनोस्थिति का दिग्दर्शन कराती हैं।

[रा० चं० शु०]

वेर्नर, ऐब्राहम गॉटलाब (Werner, Abraham Gottlob, सन् १७५०-१८१७) जर्मन भूविज्ञानी का जन्म लुसेशिया में २५ सितंबर, १७५० ई० को हुआ था। आपकी शिक्षा बुजलाउ, साइलेशिया, में, फ्राइबुर्ग के खनन स्कूल में तथा लाइप्जिग (Leipzig) में हुई। सन् १७७५ में फ्राइबुर्ग खनन स्कूल में आपकी नियुक्ति निरीक्षक और अध्यापक के पद पर हुई। निरंतर चालीस वर्ष तक इस स्कूल की सेवा में रहकर, आपने इसे खनन शिक्षा के लिये विश्व के विख्यात केंद्रों में से एक बना दिया।

आपको 'जर्मन भूविज्ञान के पिता' कहा जाता है। भूविज्ञान की प्रवृत्तियों को समझाने के लिये आपने एक नई विचारधारा प्रस्तुत की, जो जलवादी विचारधारा (Neptunist school) के नाम से विख्यात हुई। आपकी विचारधारा के अनुसार प्राथमिक शिलाओं के अतिरिक्त सभी शिलाएँ जल में बनीं। आपने बैसाल्ट का उद्गम भी जल में ही माना है। ज्वालामुखी का कारण भी आपने अंत:भूमिक कोयले के स्तरों (coal beds) में आग लगना बतलाया।

वेर्नर की इन मान्यताओं पर भौमिकी के क्षेत्र में बड़ा वादविवाद उत्पन्न हुआ। अग्निवादियों (vulcanists) ने जलवादी विचारधारा का घोर विरोध किया और इन्होंने भूचाल, ज्वालामुखी आदि का कारण पृथ्वी में विद्यमान आग्नेय शक्ति को बतलाया। यद्यपि वेर्नर की बहुत सी मान्यताएँ निर्मूल प्रमाणित हुईं, तथापि भूविज्ञान के क्षेत्र में शिलाओं की क्रमिक व्यवस्था आपकी सबसे बड़ी देन है। आपने फॉसिलों का अध्ययन कर बतलाया कि भिन्न भिन्न शिलाओं में जो फॉसिल पाए जाते हैं, उनका उन शिलाओं की आयु से अटूट संबंध है। लगभग ६७ वर्ष की अवस्था में ३० जून, सन् १८१७ को फ्राइबुर्ग में आपका देहावसान हो गया। [म० ना० मे०]

वेर्मीर, जा फान डेल्फ्ट (१६३२-१६७५) हालैंड का चित्रकार। वेर्मीर कला के क्षेत्र में सत्रहवीं शताब्दी के उस काल में आया जब कला राज्यसत्ता तथा धर्मसंरक्षण से मुक्त हो चुकी थी। कलाकार अपनी कला के द्वारा अपनी रोजी चलाने के लिये समाज के अन्य सदस्यों की भाँति स्वतंत्र था।

कहा जाता है, वह एक बड़े परिवार का सदस्य था और अल्प उम्र में ही उसे आत्मनिर्भर बनना पड़ा। उसे अपने चित्र बेचकर पेट पालना पड़ता था। कभी कभी चित्रों की बिक्री से उसे अच्छी रकम हाथ लगती थी और वह शान से रहता था पर कोई निश्चित जीवन उसे प्राप्त न था। राज्य का संरक्षण न होने के कारण दो शताब्दियों तक उसकी कला प्राय: लुप्त सी रही और आज उसके केवल सैंतीस चित्र प्राप्त हैं।

राज्यसत्ता तथा धर्मसंघों के संरक्षण के अभाव में धनाढ्य व्यापारी वर्ग कला में रुचि लेने लग गया था। कलाकारों को अपनी रोजी चलाने के लिये इनकी रुचि का ध्यान रखना पड़ता था। इन्हें आमोद प्रमोद, शान शौकत तथा रंगीन जीवन पसंद था। सुंदर आकृतियोंवाले रंग बिरंगे अलंकारपूर्ण चित्र इन्हें पसंद थे और अधिकतर इसी ढंग के चित्र उस समय के कलाकारों ने बनाए भी। वेर्मीर की कला भी इस प्रभाव से न बच सकी।

वेर्मीर के चित्र अपने समय की सामाजिक रुचि तथा जीवन की रोचक झाँकी उपस्थित करते हैं—मनोहारी सुंदर युवतियाँ, भव्य तथा कीमती वेशभूषा, ठाटबाट, तथा सूक्ष्मतम अलंकरण; जिसे उसके चित्र 'आफिसर ऐंड लाफिंग गर्ल', 'यंग वुमन विद ए वाटर जग', 'द आर्टिस्ट्स स्टुडियो', 'द लेस मेकर' तथा 'ए वुमन वेइंग गोल्ड' इत्यादि चित्रों में देखा जा सकता है।

वेर्मीर की कला का वास्तविक मूल्यांकन बीसवीं शताब्दी में हुआ है। आज वह महान् पाश्चात्य कलाकारों की श्रेणी में स्थान पाता है। उसके चित्रों में न धार्मिक कला की अलौकिकता है, न

रहस्यवादी वातावरण, न ही आधुनिक चित्रकला का सा भयातुर क्रांतिकारी स्वरूप। उसने समकालीन जीवन के उस संतुलित रूप को चित्रित किया है जिसमें शांति और सौंदर्य प्रधान है। चित्र की छोटी से छोटी वस्तु भी रुचि के साथ पूरी रसार्द्रता से चित्रित हुई है। एक भी बिंदु, रेखा, रंग या आकार ऐसा नहीं जो जरूरत से ज्यादा उभर पड़े। [रा० चं० शु०]

वेलासक्वेज, दिएगो डि सल्वा ई (Velasquez, Diego de Silva y, १५६६-१६८० ई०) स्पेन का प्रसिद्ध चित्रकार जो रूबेंस, रेंब्रां आदि का समकालीन था। बाल्यकाल में उसका पिता उसे चित्रकला का शिक्षण ग्रहण करने के लिये उत्साहित करता रहा। फ्रानचिस्को पाचेको उसके कलागुरु बने। बाद में पाचेको की लड़की जुआना द मिरांदा से (सन् १६१८ में) वेलासक्वेज का विवाह हो गया। उसके यश का सूत्रपात हुआ जब उसकी उम्र थी २४ साल की। वह राजा फिलिप चतुर्थ का व्यक्तिचित्र (पोर्ट्रेट) बनाने के लिये माद्रिद आया। उसने अपने काम से और व्यवहार से राजा पर ऐसा जादू डाला कि उस समय से वह देश का दरबार-नियुक्त एक शक्तिशाली चित्रकार बन गया। सन् १६२८ में जब रूबेंस नामक ख्यातनामा उत्तरी चित्रकार स्पेन के दरबार में उपस्थित हुआ तब उसने स्वयं पत्र में लिखा था कि 'राजा फिलिप और वेलासक्वेज में घनिष्ठ संबंध है और वेलासक्वेज एक प्रतिभासंपन्न चित्रकार है।'

सन् १६३० में वेलासक्वेज ने पहली बार इटली की यात्रा की। उन दिनों वेनिस और रोम अपने कलावैभव के कारण अधिक प्रसिद्ध थे। उसकी यह यात्रा बड़ी ही सफल रही। वेनिस, फ्लारेंस, रोम के मार्ग से वह नेपल्स आ पहुँचा। यहाँ उसने राजा फिलिप की सहोदरा मेरी का व्यक्तिचित्र बनाया।

वेलासक्वेज ने राजा फिलिप के अनेक व्यक्तिचित्र, युवावस्था से लेकर वार्धक्य तक के, बनाए। इन चित्रों में उसकी चित्र विषयक उत्क्रांति पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। उसका एक ऐतिहासिक चित्र सरेंडर ऑव ब्रेडा' (Surrender of Breda) बहुत प्रसिद्ध है। इस चित्र का विषय है, डच सेनापति ब्रेडा शहर की कुंजी स्पेन के उदार वीर स्पिनोला के हाथ सौंप रहे हैं। पार्श्वभूमि में सैनिक, घोड़े, शस्त्रास्त्र आदि का निसर्ग दृश्य, अत्यंत सहृदय हाथों से प्रस्तुत किया गया है। सारा वातावरण जयपराजय के द्वंद्वों के ऊपर उठ गया है; रही है मात्र एक महान् धीरोदात्त मानवता, जिससे पराजित को भी प्रेम की विजय मिलती है।

१६४६ में वेलासक्वेज दूसरी बार इटली की यात्रा करने के लिये निकला। इस यात्रा में फिलिप के संग्रहालयार्थ उसने अनेक इतालवी चित्र खरीदे। इसी यात्रा में उसने पोप दशम इनोसेंट का अद्वितीय चित्र तैयार किया जो अब दोरिया प्रासाद (रोम) का अग्रगण्य चित्र माना जाता है।

१६५१ में माद्रिद लौटने पर कुछ विख्यात चित्रों पर उसने काम किया। अब राजदरबार में उत्तरोत्तर उसका संमान बढ़ता गया। सन् १६६० में जब उसकी मृत्यु हुई तो उसकी अंत्येष्टि में सारे स्पेन का दरबार पूरी शान शौकत से उपस्थित हुआ था।

वेलासक्वेज की चित्रकारी यूरोपीय कला के इतिहास में अपना एक विशेष और अटल स्थान रखती है, हालांकि उसकी मृत्यु के पश्चात् दो सौ साल तक उसकी विशेष ख्याति नहीं हुई। सारे के सारे कलारसिक इटली की ही यात्राएँ किया करते थे और इतालवी चित्रकारों का सर्वत्र गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ करता था, परंतु वेलासक्वेज के लिये कोई विशेष चाह दिखाई नहीं देती थी। गत शताब्दी के मध्य में माने (Manet), व्हिस्लर आदि चित्रकारों ने जब उसका स्तुतिगान किया तब से उसका नाम फिर से विश्वमान्य हो गया। कलासमीक्षकों ने भी उसकी प्रशंसा मे किताबें लिखीं और उसकी कीर्ति फैलाई।

वेलासक्वेज को बरोक (Baroque) कलाप्रथा का चरम दृष्टांत माना जाता है; कारण, वह क्लैसिक प्रथा की तरह सत्य को ध्येय या तत्व के साँचे मे ढालना नहीं चाहता। वह सत्य को ज्यों का त्यों निहारता था। उस सत्य को एल ग्रेको या रूबेंस की तरह भावनाओं की आग से तिलमिलाता नही था। [दि० को०]

वेलूर (Vellore) नगर, स्थिति : १२° ५७' उ० अ० तथा ७६° १०' पू० दे०। यह नगर मद्रास (तमिलनाडु) राज्य के उत्तर आर्काड (N. Arcot) जिले में, पलार नदी के किनारे, मद्रास नगर से ८७ मील पश्चिम मे स्थित है। वर्ष भर यहाँ का ताप ऊँचा रहता है और ३० से ५० इंच तक वार्षिक वर्षा होती है। अधिकांश वर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है। नगर व्यापार का केंद्र है। नगर में पुराना किला है, जिसका कर्नाटक युद्ध के समय बड़ा महत्व था। सन् १७६० में अंग्रेजों ने इस नगर को अपने अधिकार मे ले लिया, पर सन् १७८० से १७८२ तक यह हैदरअली के कब्जे में रहा। श्री रंगपट्टणम के पतन के पश्चात् यह नगर टीपू सुल्तान के पुत्रों का निवासस्थान चुना गया। सन् १८०६ के सिपाही विद्रोह का सूत्रपात भी वेलूर से हुआ था। आर्काड मिशन द्वारा संचालित मेडिकल कालेज एवं अस्पताल हृदय की शल्यचिकित्सा एवं हृदय के रोगो की चिकित्सा के लिये विश्व के इने गिने अस्पतालों में से एक है। नगर की जनसंख्या १,२२,७६१ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

वेलेज़ली, लार्ड रिचर्ड कोले वेलेज़ली का जन्म डबलिन में २० जून, १७६० ई० को आयरलैंड के एक समृद्ध परिवार में हुआ। उसकी मृत्यु लंदन में २६ सितंबर, १८४२ को हुई। रिचर्ड कोले वेलेज़ली की शिक्षा हैरो तथा ईटन में हुई, और बाद में सन् १७७८ ई० में उसे ऑक्सफोर्ड पढ़ने के लिये भेजा गया। उसे १७८१ ई० में बिना कोई उपाधि प्राप्त किए ऑक्सफोर्ड छोड़ना पड़ा। उसके पिता की मृत्यु पर उसे मॉनिंग्टन के द्वितीय अर्ल का स्थान प्राप्त हुआ।

वेलेज़ली पहले आयरलैंड के 'हाउस ऑव लार्ड्‌स' का सदस्य बना किंतु अधिक प्रखर बुद्धि का तथा महत्वाकांक्षी होने के कारण वह सन् १७८४ ई० में ब्रिटेन के 'हाउस ऑव कामंस' का भी सदस्य हो गया। सन् १७८६ ई० में वह 'जुनियर लार्ड ऑव द ट्रेज़री' और सन् १७९३ ई० में 'बोर्ड ऑव कंट्रोल का सदस्य हुआ। बोर्ड ऑव कंट्रोल के प्रधान डंडस थे। सन् १७९७ ई० में वेलेज़ली ब्रिटिश

भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ, और इस पद को सँभालने के लिये वह ६ नवंबर को इंग्लैंड से प्रस्थान करके मई, सन् १७९८ ई० में कलकत्ते पहुँचा।

वेलेज़ली भारत में विस्तारवादी नीति का समर्थक था। उसका पहला उद्देश्य फ्रांसीसियों के प्रभाव को कम करना और दूसरा अंग्रेजी प्रभुत्व को भारत में स्थापित करना था। अपने उद्देश्य में सफलता पाने के लिये उसने क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज़ के समय से चल रही सहायक-संधि-प्रणाली को प्रोत्साहित तथा विस्तृत किया।

वेलेज़ली की सहायक-संधि-प्रणाली के अनुसार अंग्रेजों ने अपने मित्रराज्यों को सेना प्रदान की, जो मित्रराज्यों की सीमाओं में रहती थी और जिसका खर्च मित्रराज्यों को ही सहन करना पड़ता था। वे राज्य किसी दूसरे यूरोपीय देशों के लोगों को अपने राज्य में नहीं रख सकते थे, तथा अन्य किसी भारतीय राज्य से कोई संबंध, अंग्रेजों की आज्ञा के बिना, नहीं रख सकते थे। हर आरक्षित राज्य के दरबार में एक अंग्रेज रेज़ीडेंट नियुक्त किया जाता था। संधि की शर्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रणाली मुख्यत. अंग्रेजों के लिये ही लाभदायक थी क्योंकि इसके द्वारा उनके प्रभाव का क्षेत्र बिना किसी खर्च के विकसित हो रहा था। यह भारतीय राज्यों में विरोधात्मक प्रवृत्तियों पर कड़ा नियंत्रण रख सकती थी। किंतु यह नीति भारतीय राज्यों के लिये हानिकारक सिद्ध हुई।

वेलेज़ली ने पहली सहायक संधि निज़ाम से सितंबर, १७९८ ई० में की। इसके कारण निज़ाम को फ्रांसीसी रेमंड के नेतृत्व में संगठित किए गए १४,००० सैनिकों के स्थान पर अंग्रेज़ों की ६ बटैलियन हैदराबाद में अपने खर्चे पर रखनी पड़ी। बाद में सन् १७९२ ई० और १७९९ ई० में निज़ाम ने फौज के खर्चे के लिये मैसूर से प्राप्त राज्य को अंग्रेज़ों को सौंप दिया।

टीपू सुल्तान ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध फ्रांसीसियों से सहायक संधि कर ली थी। वेलेज़ली ने टीपू सुल्तान से उसके फ्रांसीसियों से मित्रता स्थापित करने के संबंध में स्पष्टीकरण माँगा। चूँकि वह उसके उत्तर से संतुष्ट न था, उसने टीपू के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और टीपू के आंतरिक विरोधियों की सहायता से उसकी शक्ति समाप्त कर दी (४ मई, १७९९)। अपनी इस नीति से न केवल वेलेज़ली ने मैसूर में फ्रांसीसियों के प्रभाव को समाप्त किया वरन् एक विस्तृत महत्वपूर्ण भूभाग पर अंग्रेजी अधिकार प्राप्त कर लिया गया।

अक्तूबर, १७९९ ई० में वेलेज़ली ने तंजोर पर, उत्तराधिकार के प्रश्न पर होनेवाली गड़बड़ी से लाभ उठाकर, अधिकार कर लिया। इसी वर्ष सूरत के नवाब की मृत्यु पर उसने नए नवाब को पेंशन देकर उसके राज्य पर भी अधिकार कर लिया। १८०१ ई० में उसने अवध के नवाब को सहायक संधि करने पर विवश कर दिया तथा उसके राज्य की आधी आय, उसके राज्य में अंग्रेजी सेना रखकर, वसूल कर ली। २५ जुलाई, १८०१ ई० में कर्नाटक के नवाब मुहम्मद अली पर अंग्रेज़ों के विरुद्ध टीपू सुल्तान से मिले होने का आरोप लगाकर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया।

वेलेज़ली मराठों को सहायक संधि द्वारा अपने अधीन करने के लिये बहुत उत्सुक था। पूना में चल रहे मराठों के आंतरिक संघर्ष ने गवर्नर-जनरल को पूरा अवसर प्रदान किया। अक्टूबर, १८०२ ई० में जसवंतराव होल्कर ने पेशवा और सिंधिया दोनों की संयुक्त सेनाओं को परास्त किया जिसके कारण बाजीराव को बसई भागना पड़ा तथा अंग्रेजों की सहायता से उसे पुनः पूना प्राप्त हो गया। किंतु मराठा सामंतों ने इस संधि को स्वीकार करने से इनकार कर दिया जिसके परिणामस्वरूप युद्ध छिड़ा। आर्थर वेलेज़ली की 'असाई' और 'अरगाँव' की विजयों से भोंसले राजा की शक्ति टूट गई। लेक द्वारा पेरों की सेना को दिल्ली एवं लसवाड़ी में हराकर दिल्ली पर अधिकार किए जाने से सिंधिया का साहस समाप्त हो गया। परिणामस्वरूप सिंधिया और भोंसला को सहायक संधि स्वीकार करनी पड़ी और अंग्रेज़ों ने भोंसला से कटक अपने अधिकार में ले लिया। सिंधिया से गंगा-जमुना-दुआब का भाग तथा दिल्ली और आगरा अंग्रेजों ने प्राप्त किए। इस प्रकार मुगल सम्राट् शाह आलम अंग्रेज़ों के अधीन हो गया। होल्कर के साथ वेलेज़ली अपनी नीति में कम सफल हुआ। अप्रैल, १८०४ ई० में जब युद्ध प्रारंभ हुआ तो मॉन्सन को हार खानी पड़ी और लेक भरतपुर पर अधिकार करने में असफल रहा। इन युद्धों पर अपार धनराशि व्यय करने के कारण वेलेज़ली की घोर निंदा हुई और उसे १८०५ ई० में भारत से वापस इंग्लैंड लौटना पड़ा।

इंग्लैंड लौटने पर वेलेज़ली ने अनेक महत्वपूर्ण पदों पर कार्य किया। सन् १८०९ ई० में वह स्पेन में राजदूत नियुक्त हुआ तथा १८०९ ई० से १८१२ ई० तक विशेष सचिव के पद पर कार्य करता रहा। १८२१ से १८२८ तक वह आयरलैंड में लार्ड लेफ्टिनेंट के पद पर आसीन रहा। उसे लॉर्ड स्ट्यूवर्ड तथा बाद में लार्ड चेंबरलेन के पद पर भी कार्य करने का अवसर मिला। किंतु उसके जीवन के महत्वपूर्ण दिन भारत में ही व्यतीत हुए थे। उसने भारत पर फ्रांसीसियों के प्रभाव को समाप्त कर दिया। उसने टीपू सुल्तान को पराजित किया तथा मराठों की शक्ति क्षीण करके भारत में अंग्रेज़ों की सत्ता को शक्तिशाली बनाया। वेलेज़ली की सफलता उसकी परिश्रमशीलता, महान् कार्यक्षमता आदि गुणों का परिणाम थी। इसमें मैलकम, मुनरो, एलफिंस्टन, एवं आर्थर वेलेज़ली जैसे व्यक्तियों का भी योगदान कम न था। उसके कार्य ने उसके अनजाने ही भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकता को शक्ति प्रदान की। [मु० ह०]

वेल्ज़ स्थिति : ५२° ३०' उ० अ० तथा ३° ३०' प० दे०। यह ग्रेट ब्रिटेन का एक राज्य है, जिसका क्षेत्रफल ७,४६,८०७ वर्ग मील है। यहाँ की जनसंख्या २६,४०,६३२ (१९६१)। इसके उत्तर तथा पश्चिम की ओर आइरिश सागर, दक्षिण में ब्रिस्टल् चैनल तथा पूरब की ओर इंग्लैंड का स्थल भाग है। अतः यह वास्तव में एक प्रायद्वीप है।

वेल्ज़ पुराजीवी महाकल्प (Palaeozoic era) की चट्टानों से निर्मित एक पहाड़ी प्रदेश है। गहरी नदी घाटियों द्वारा यह काफी कटा फटा है। उत्तर पश्चिम की तरफ स्नोडन् पठार वेल्ज़ का सबसे ऊँचा भाग है, जहाँ इंग्लैंड तथा वेल्ज़ की सबसे ऊँची चोटी स्नोडन्

(३,५६० फुट) विद्यमान है। पूरे पर्वतीय प्रदेश में वनस्पतिविहीन ढालें हैं। ये ढालें २,००० फुट से ऊपर मृदा अपरदन (soil erosion) के कारण अत्यंत ऊबड़ खाबड़ हैं। दक्षिण पश्चिम की ओर ढालों की ऊँचाई कम होती गई है। स्नोडन् का इलाका झीलों से भरा है। हिमनदी की घाटियों में स्थित ये झीलें लंबी तथा गहरी हैं। स्नोडन् के उत्तर पूर्व में २,००० फुट ऊँचा पठार है। इसके भी आगे चौड़े पठार के ऊपर, गोलाकार पहाड़ियों की शृंखला मिलती है। इस चंद्राकार पठार के दक्षिण पूर्व तरफ पुराने लाल बलुआ पत्थर एवं कोयले की खानोंवाला प्रदेश मिलता है। कोयला क्षेत्र घंटाकार आकृति का है, जिसका पश्चिमी छोर पतला है। इससे होकर अनेक लंबी, पतली, खड़े किनारोंवाली नदियाँ बहती हैं, जिनके कारण बस्तियों तथा यातायात के मार्गों के निर्माण की कठिन समस्या रहती है। कोयला क्षेत्र के दक्षिण ग्लामोरगन घाटी नामक नीचा पठारी प्रदेश है। वेल्ज का दक्षिणी समुद्रतट कारमारथेन तथा स्वान्सी की खाड़ियों द्वारा कट फट गया है। उत्तरी वेल्ज का समुद्रतट डी के मुहाने के पश्चिम में नीचा है। लिन (Lleyn) समुद्रतट चट्टानी है, क्योंकि पहाड़ समुद्र के अंदर घुस गए हैं।

वेल्ज की नदियाँ भीतरी पठारी भाग से निकलकर, चारों तरफ बहती हैं। क्लाइड तथा कॉनवे उत्तर दिशा में बहती है। इवारीड, मावडरव, डोवे, रीडल आदि का बहाव पश्चिम की ओर है। दक्षिणवाहिनी नदियों में क्लोडाड, टाफ, टौवी, नीथ इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

यहाँ के पेड़ पौधे ब्रिटेन के अन्य भागों के अनुरूप हैं तथा वनरोपण का काफी विस्तार हुआ है, फलत: कई भागों में कोणधारी वृक्षों की बहुलता बढ़ती जा रही है। वेल्ज के दुर्गम भागों में कुछ विरल पक्षी तथा पशु भी पाए जाते हैं। पोलकैट वेल्ज के सिवा अन्य कहीं नहीं मिलता।

वेल्ज का अधिकांश क्षेत्र ६०० फुट से अधिक ऊँचा है। जलवायु की अनुकूलता के कारण २/३ भाग में घास के मैदान हैं। अत: दुधारू पशुओं का पालन प्रमुख व्यवसाय है। यहाँ दुधारू पशुओं के पालने का उद्योग तथा दूध का उत्पादन प्रगति कर रहा है। खेती भी यहाँ इंग्लैंड की अपेक्षा अधिक होती है। द्वितीय महायुद्ध के समय कृषि-पद्धति में हुए आमूल परिवर्तन के फलस्वरूप, यहाँ खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ गया, जिससे वेल्ज के अतिरिक्त इंग्लैंड की माँग भी पर्याप्त मात्रा में पूरी होने लगी। यहाँ के कृषिफार्म अपेक्षाकृत छोटे हैं तथापि मशीनों के अधिकाधिक उपयोग से कृषि का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है।

उद्योग के दृष्टिकोण से वेल्ज के उत्तरी तथा दक्षिणी भाग एक दूसरे से भिन्न हैं। पूरब-पश्चिमी की अपेक्षा उत्तर-दक्षिणी भाग में आवागमन के साधनों के निर्माण में सुविधा होने के कारण, उत्तरी वेल्ज का आर्थिक संपर्क दक्षिणी वेल्ज की अपेक्षा लैंकाशिर तथा मिडलैंड्स से अधिक है। उत्तरी वेल्ज की डी नदी की घाटी मे ४० मील लंबी कोयले की खान है, परंतु यह उत्पादन तथा प्रकार में दक्षिणी वेल्ज की खानों से कम महत्वपूर्ण है। कोयले के साथ साथ अग्निसह मिट्टी (fire clay) भी, जो भट्ठों में काम आती है, निकलती है। कारखानों में इस्पात उद्योग उल्लेखनीय है। फ्लिंट में रासायनिक उद्योग तथा हॉली वेल एवं फ्लीट में कागज तथा नकली रेशम बनाने के कारखाने हैं। वेल्ज उत्तम स्लेट के उत्पादन के लिये भी विश्वविख्यात है, पर द्वितीय महायुद्ध के बाद स्लेट उत्पादन की स्थिति डावाँडोल सी है। बेथेस्डा, लानबेरिस, नॉटल तथा फेस्टीनियाग में स्लेट की खुदाई होती है।

दक्षिणी वेल्ज १८८१ ई० से ही उत्तम प्रकार के कोयले का निर्यात करता है। १९५६ ई० मे कोयले का उत्पादन १६,४०,००० टन था। टालबॉट (Talbot), कारडिफ (Cardiff) तथा एब्वेल (Ebbwvale) में इस्पात के भारी सामानों का निर्माण होता है। ताँबा उद्योग पहले स्वान्सी में था, लेकिन उसके ह्रास के पश्चात् लानले, टालबॉट तथा लांदौर में ताँबे के कारखाने स्थापित हुए हैं।

[ज० सि०]

वेल्डन धातु के दो या अधिक टुकड़ों को स्थायी रूप से जोड़ देने की क्रिया को वेल्डन कहते हैं। वेल्डन दबाव द्वारा और द्रवण द्वारा किया जाता है। लोहार लोग दो धातुपिंडों को पीटकर जोड़ देते हैं, यह दबाव द्वारा वेल्डन है। दबाव देने के लिये आज अनेक स्वचालित दाबक बने हैं, जिनका उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। द्रवण द्वारा वेल्डन में दोनों तलों को संपर्क में लाकर गलित अवस्था में कर देते हैं, जो ठंढा होने पर आपस में मिलकर ठोस और स्थायी रूप से जुड़ जाते हैं। गलाने का कार्य विद्युत् आर्क द्वारा संपन्न किया जाता है।

दबाव द्वारा वेल्डन में टक्कर, (Butt), चित्ती (Spot) प्रक्षेपी (Projection) और सीवन (Seam) की विधियाँ मुख्य हैं।

टक्कर विधि — इस विधि में मशीन के एक शिकंजे में एक टुकड़े को पहले स्थिरता से बाँधकर, दूसरे टुकड़े को सरकनेवाले दूसरे शिकंजे मे इस प्रकार बाँध देते हैं कि दोनों को निकट लाने पर जोड़ सही सही बैठ जाय। यह दोनों शिकंजे विद्युत्‌रोधी आवरणों द्वारा एक दूसरे से विद्युत्‌रुद्ध रहते है और इनमें विद्युत् धारा देने से एक की धारा दूसरे में नहीं जाने पाती। जब सरकनेवाले शिकंजे को धातुपिंड सहित स्थिर शिकंजे की ओर सरकाते हैं, तब इन धातुपिंडों के जुड़नेवाले किनारों का ताप, किनारों के निकट आने पर, विद्युत् धारा के उच्च प्रतिरोध के प्रभाव से एकदम गरम होने के कारण, वेल्डन के ताप तक पहुँच जाता है; फिर किनारों को धीरे धीरे खूब दबा दिया जाता है और विद्युत् धारा बंद कर दी जाती है।

दमक वेल्डन (Flash Welding) — वेल्डन की यह विधि भी टक्कर की वेल्डन विधि के समान ही है, भेद केवल इतना ही है कि दोनों पिंडों को संपर्क मे लाने के पहले ही यंत्र में विद्युत् धारा प्रवाहित कर दी जाती है और पिंडों के निकट आने पर उनके बीच के अंतराल में विद्युत् आर्क के चालू होने से धातुपिंड के किनारे पिघलने लगते है। जब धातु के कुछ छींटे उनमें से उछलने लगते हैं, तब धारा को बंद कर यंत्र से ही उन्हें दबाकर जोड़ देते हैं।

चित्ती वेल्डन (Spot Welding) — वेल्डन की यह विधि वहीं अपनाई जाती है जहाँ धातु की चादरों के किनारों को एक पर एक रखकर जोड़ना हो। इसका सिद्धांत भी टक्कर के वेल्डन के समान ही है। इस काम के यंत्र में, वेल्डन करनेवाले किनारों को एक दूसरे के ऊपर नीचे रखकर, यंत्र में लगे दो इलेक्ट्रोडों के बीच में रख देते हैं। फिर पैर से एक लीवर को दबाने पर, ऊपरवाला इलेक्ट्रोड नीचे उतरकर संपीडित वायु की शक्ति से उन प्लेटों को दबा देता है और इलेक्ट्रोडों तथा प्लेटों के संपर्क में आते ही, उनमें विद्युत् धारा प्रवाहित होकर प्लेटों में से होती हुई नीचे के इलेक्ट्रोड में प्रवेश करती है, उस समय प्लेटों का वह भाग, जो उन इलेक्ट्रोडों के संपर्क में आता है, गरम होकर ज्यों ही वेल्डन के ताप पर पहुँचता है, उन इलेक्ट्रोडों का दबाव और बढ़ा दिया जाता है, जिससे वे उस स्थान पर आपस में जुड़ जाते हैं और वहाँ एक चित्ती सी पड़ जाती है।

प्रक्षेपी वेल्डन — वेल्डन की इस विधि के सिद्धांत भी वे ही हैं जो चित्ती वेल्डन के हैं, केवल भेद यही है कि इसमें इलेक्ट्रोड से प्राप्त होनेवाली ऊष्मा एक छोटे से बिंदु पर ही केंद्रित कर दी जाती है। वैसे इलेक्ट्रोडों का क्षेत्रफल तो काफी बड़ा होता है। ऊष्मा को केंद्रित करने के लिये एक अथवा दोनों प्लेटों में उभार या गड्ढा बना दिया जाता है। इस विधि से विभिन्न मोटाई के प्लेटों को भी आपस में जोड़ा जा सकता है।

सीवन वेल्डन — यह विधि भी सिद्धांत और क्रिया में चित्ती वेल्डन के समान ही है, अंतर यही है कि इलेक्ट्रोड स्थिर स्तंभ के आकार के होने के बदले बेलनाकार घूमते हुए बनाए जाते हैं और जुड़नेवाले प्लेटों को उनके बीच यंत्र से चलाया जाता है तथा उन बेलनों की विद्युत् धारा आंतरायिक रूप (intermittent) से झटका लगाती हुई चलती है। धारा के प्रवाहित होने और रुकने के समय का अनुपात १:१ से लेकर १·१० तक रखा जा सकता है, इस कारण जोड़ ऐसा लगता है मानो डोरे से सी दिया गया हो।

विद्युत् आर्क वेल्डन (Arc Welding)

इस विधि में जोड़ी जानेवाली वस्तुओं की टक्करों को गलाने के लिये एक इलेक्ट्रोड तो वेल्डन की बत्ती के रूप में होता है और दूसरा उन जोड़नेवाले भागों के रूप में होता है तथा इन दोनों इलेक्ट्रोडों के बीच में विद्युत् आर्क स्थापित कर, आवश्यक ऊष्मा प्राप्त कर ली जाती है। इस काम के लिये दिष्ट और प्रत्यावर्ती किसी भी धारा का प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन दिष्ट धारा अधिक सुविधाजनक रहती है।

वेल्डन के इलेक्ट्रोड — इलेक्ट्रोड दो प्रकार के होते हैं : (१) कार्बन के और (२) धातु के। धातु के इलेक्ट्रोड भी तीन प्रकार के होते है : (१) नंगे, (२) ढँके और (३) पोले। धातु के इलेक्ट्रोड ही अधिक काम में आते हैं। कार्बन के इलेक्ट्रोड तो कुछ स्वचालित यंत्रो में ही प्रयुक्त होते हैं। जिन इलेक्ट्रोडों में ०·६ प्रति शत से अधिक मैंगनीज मिला होता है, वे भी अच्छा काम देते हैं। इसी प्रकार ऐलुमिनियम की वेल्डन की बत्तियाँ भी अच्छा काम देती हैं।

विद्युत् धारा का विभवत्व — यह धातु की बत्तियों के साथ १८ से ३० वोल्ट और कार्बन के साथ ८० से १०० वोल्ट तक रखा जाता है। यह आर्क की लंबाई के अनुसार ही घटता बढ़ता रहता है और उसी के अनुपात से गलित धातु का जमाव भी होता है। हाथ से वेल्डन करने के उपकरणों में बहुधा २० से ३०० ऐंपीयर तक की धारा का प्रयोग किया जाता है, लेकिन स्वचालित यंत्रों में वह १,२०० ऐंपियर तक पहुँच जाता है।

इलेक्ट्रोडों की मोटाई — धातु के इलेक्ट्रोड १/१६ इंच से ३/८ इंच व्यास के और १२ इंच से १८ इंच तक लंबे होते हैं तथा कार्बन के इलेक्ट्रोड ५/३२ इंच से १ इंच व्यास के और १२ इंच लंबे होते हैं। विद्युत् धारा का प्रवाह इलेक्ट्रोड के कार्य और मोटाई के अनुसार ही होना चाहिए।

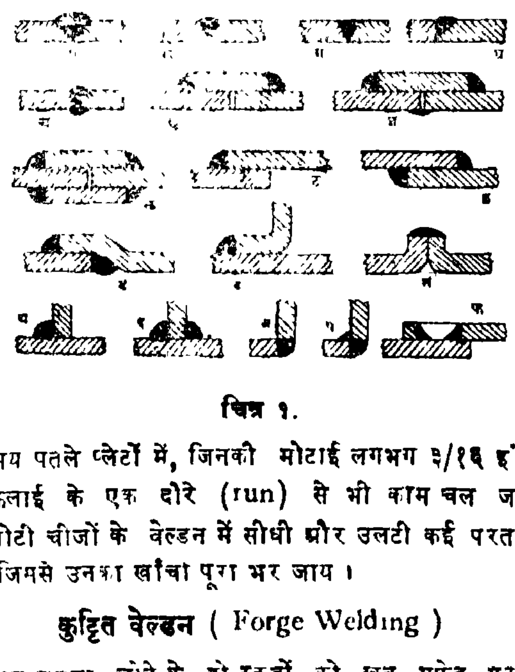
यदि धारा का प्रवाह हलका होगा, तो इलेक्ट्रोड की धातु झिरियों में प्रवेश नहीं करेगी और वेल्डनवाली सतह भी नहीं गलेगी। यदि प्रवाह बहुत तेज होगा, तो इलेक्ट्रोड की धातु जल जाएगी और जोड़ कमजोर पड़ जाएगा। फिर भी यही उचित है कि विद्युत् धारा की गति अनुपात से मंद रखने की अपेक्षा कुछ तेज ही रखी जाय। ढँके हुए इलेक्ट्रोडों मे अधिक तेज धारा प्रवाहित करने से उसकी गली धातु पर स्लैग नहीं आने पाता, जो उसकी रक्षा के लिये अत्यंत उपयोगी है। बहुत हलकी धारा के कारण जो स्लैग उत्पन्न होता है, वह बहुत श्यान प्रकृति का होता है। इस स्लैग का गली धातु के भीतर ही कैद हो जाने का डर रहता है। नंगे इलेक्ट्रोडों का प्रयोग करने से, उसकी धातु गलकर बड़ी बड़ी बूँदों के रूप में जोड़ने की जगह पर जम जाती है, जिससे विद्युत् आर्क लघुपथन (short circuit) करने लगता है। ढँके इलेक्ट्रोडों से छोटी बूँदें निकलती हैं, धारा एकरस चलती है और लघुपथन भी नहीं होता।

वेल्डन की विधि — वेल्डन किए जाने वाली तल की रेखा से इलेक्ट्रोड को ६० से ७५ अंश के कोण तक झुका हुआ रखना चाहिए। अपने सिर के ऊपर (overhead) के जोड़ों को झालते समय बत्ती का कोण ६० से ९० अंश तक रखा जाता है।

जोड़ों को तैयार करना — वेल्डन के पहले जोड़ों को तैयार करना बड़े ही महत्व की बात है और इसी पर वेल्डन की सफलता निर्भर करती है।

१८ गेज अथवा उससे कम मोटाई की चादरों के वेल्डनवाले किनारों को थोड़ा मोड़ दिया जाता है, जिससे उनके वेल्डन के समय बत्ती की आवश्यकता नहीं पड़ती। इनसे मोटे, अर्थात् ३/१६ इंच से १/४ इंच तक मोटाई के, प्लेटों में भी कोई खाँचा डालने की आवश्यकता नहीं पड़ती, लेकिन इनसे अधिक मोटे प्लेटों के झाले जाने वाले किनारों पर चित्र १. की आकृति क से च तक दिखाए अनुसार V आकार का खाँचा, आधा आधा दोनों भागों में काटकर, तैयार करना चाहिए। कुछ लोग U आकार का खाँचा काटना भी पसंद करते हैं। आकृति च में दोनों तरफ खाँचा काटा गया है। खाँचे के बीच का कोण प्राय: ६०° से ९०° तक बनाया जाता है। इस विधि में भी दाहिने हाथ और बायें हाथ का वेल्डन करने का रिवाज है।

सकरे कोण के साथ सीधे हाथ के वेल्डन में सुविधा रहती है और बाएँ हाथ की झाल लगाने के लिये चौड़े कोण की आवश्यकता होती है। दाएँ और बाएँ का भेद समझने के लिये देखें गैस द्वारा वेल्डन। चित्र १. की आकृति क से च तक खाँचा बनाते समय दोनों प्लेटों के बीच कुछ फासला स्वतः रह जाता है, जो बड़े महत्व की चीज है। अधिक फासला रखने से गली हुई धातु नीचे गिर जाती है तो फिर वेल्डन करना कठिन हो जाता है, और कम फासला छोड़ने से प्लेटों की जड़ तक धातु नहीं पहुँचने पाती। अतः पतले प्लेटों में तो फासला लगभग १/१६ इंच चौड़ा और २ इंच मोटाई तक के प्लेटों में उसे क्रमशः बढ़ाते हुए ३/१६ इंच तक कर दिया जाता है। समकोण पर रखकर झाले जानेवाले प्लेटों को घाई (फिलेट) का जोड़ कहते हैं, जो चित्र १. की थ से प तक की आकृतियों में दिखाया गया है। ऊपर नीचे रखकर जोड़े जानेवाले प्लेटों की भी घाइयाँ झाली जाती हैं, जैसा चित्र १. के ट और ठ में दिखाया गया है, इनके लिये किसी प्रकार का खाँचा काटना आवश्यक नहीं है। आकृति छ और ज में एकहरी पट्टी का जोड़ है और झ में दोहरी पट्टी का, जिसे 'बट' जोड़ भी कहते हैं। वेल्डन



चित्र १.

करते समय पतले प्लेटों में, जिनकी मोटाई लगभग ३/१६ इंच होती है, तो झलाई के एक दौरे (run) से भी काम चल जाता है। अधिक मोटी चीजों के वेल्डन में सीधी और उलटी कई परत लगानी होती हैं जिससे उनका खाँचा पूरा भर जाय।

कुट्टित वेल्डन (Forge Welding)

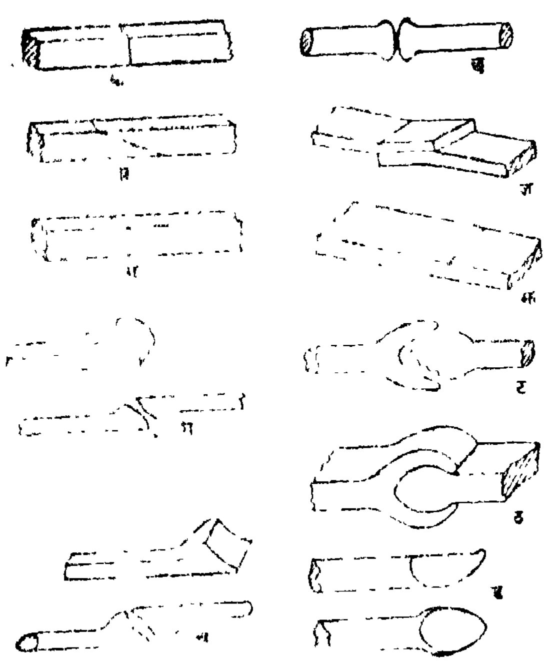
इस्पात अथवा लोहे के दो टुकड़ों को खूब सफेद गरम कर पाटने की क्रिया द्वारा जोड़ने को कुट्टित वेल्डन या चटका लगाना कहते हैं। प्रत्येक धातु को खूब तपाने से वह ठोस से द्रव रूप मे बदलने लगती है लेकिन पिटवाँ लोहा अथवा मुलायम इस्पात में एकदम ऐसा नहीं होता। सफेद चमकते हुए गरम होने पर वे बहुत मुलायम और चिपचिपे हो जाते हैं, ऐसी अवस्था मे यदि दो टुकड़ों को पास पास सटाकर दबाव के साथ मिला दिया जाय, तो वे जुड़कर एक हो जाते हैं। यह ताप ८१५° से ८७०° सें० तक होता है। इससे कम ताप पर गरम कर टुकड़ों को कितना ही पीटकर जोड़ने की चेष्टा की जाय, वे कभी नहीं जुड़ेंगे और उन्हें उपर्युक्त ताप से अधिक ताप पर गरम करने से उनकी धातु जलकर बेकार हो जाएगी। पिटवाँ लोहे को अधिक गरम करने से उसमें से बारीक बारीक सफेद चिनगारियाँ स्वतः ही निकलने लगती हैं। मुलायम इस्पात में कुट्टित वेल्डन योग्य ताप कुछ नीचा होता है और वह उस समय आता है, जब उसका लाल रंग सफेद में बदलने लगता है। मजबूत और उत्तम जोड़ लगाने के लिये जोड़े जानेवाले तलों को भौतिक और रासायनिक दोनों ही प्रकार की अशुद्धियों से, जैसे लोह ऑक्साइड की पपड़ी या भट्ठी की राख, रहित कर देना चाहिए। अशुद्धियों को छुड़ाने के लिये तलों पर सुहागा और दानेदार शुद्ध बालू छिड़क दी जाती है, जो उपर्युक्त ताप पर गलकर उन तलों पर जमनेवाली ऑक्साइड की पपड़ी और राख को गलाकर दूर करती है और बाद में ऑक्साइड जमने भी नहीं देती। सुहागा और बालू छिड़कने का समय वह होता है, जब लोहा पीला दिखाई देने लगे। गलकर बालू का जो स्लैग बन जाता है, वह पीटते समय छिटककर बाहर आ जाता है। जोड़ने के उद्देश्य से दो टुकड़ों को आपस में मिलाकर चोट मारने की क्रिया जोड़ के मध्य भाग से आरंभ करनी चाहिए। कठिन किस्म के इस्पातों के लिये कुट्टित वेल्डन का ताप इतना ऊँचा नहीं होता कि उसपर बालू छिड़कने से वह गल सके, अतः शुद्ध सुहागा अथवा चार भाग सुहागा और एक भाग नौसादर के मिश्रण की लाग बनाकर छिड़की जाती है।

कुट्टित वेल्डन के जोड़ — पिटवाँ लोहा और मुलायम इस्पात के टुकड़ों को सीधा जोड़ लगाने के लिये बहुधा तीन प्रकार के जोड़ों का उपयोग किया जाता है जिन्हें क्रमशः टक्कर का जोड़, ऊपर नीचे का जोड़, जिसे लप्पा लगाना भी कहते हैं, और चिरवाँ जोड़ कहते हैं। चित्र २. में इनकी आकृति क्रमशः क, ख और ग में दिखाई गई है।

टक्कर का जोड़ — यह जोड़ वस्तु की लंबाई की दिशा से समकोण पर बनाया जाता है। ठंढी हालत में ही सही सही जोड़ बनाकर फिर वेल्डनवाली वस्तुओं को सफेद गरम कर उन्हें आपस में दबाते हुए चोटें मारते हैं, लेकिन प्रायः देखा जाता है कि हाथ से दबाने पर पूरा दबाव न पड़ने के कारण गरम तल एकदम एक दूसरे से नहीं मिलते जिस कारण जोड़ कच्चा रहकर बाद में टूट जाता है, अतः अच्छे कारखानों में एक विशेष प्रकार के यंत्र में वस्तुओं को दबाकर वहीं यंत्र के साथ लगी निहाई पर रखकर चोटें मारते हैं।

लप्पे का जोड़ — इस जोड़ को बनाने के लिये ठंढी हालत में किसी प्रकार की तैयारी नहीं करनी पड़ती। लेकिन यह जोड़ चित्र २. की आकृति ज में दिखाए अनुसार मोटा रह जाता है और जहाँ एक टुकड़े का मोटा किनारा दूसरे में घुसता है, वहीं दरार रह जाती है, अतः जोड़ मिलाने के पहले प्रत्येक टुकड़े के सिरे को अलहदा से तपा और पीटकर काफी पतला कर लिया जाता है, जैसा चित्र २. की आकृति ख और झ में दिखाया गया है। इन जोड़ों को बनाने की तैयारी में खास बात यह है कि उन दोनों टक्करों की आकृति ऐसी बनाई जाय कि इनके तेज गरम होने की हालत में उनपर बननेवाला स्लैग संपर्क के कारण दबते ही स्वतः बाहर की तरफ आसानी से निकल जाय,

अतः दोनों सिरों को थोड़ा थोड़ा ठाँस कर उन्हें कुछ उन्नतोदर आकृति दे दी जाती है (चित्र १. घ)। ऐसी आकृति बनाने के लिये विशेष प्रकार के ठस्सों का भी प्रयोग किया जाता है, जिस प्रकार के सिरे चित्र २. की आकृति च में दिखाए गए हैं, वे बिलकुल गलत हैं, क्योंकि जोड़ के बीच में जहाँ टक्करें आपस में मिलेंगी एक गुहा बन जायगी, जिसमे से स्लैग बाहर नहीं निकल सकेगा, अतः दोनों टकड़ों को आपस में मिलाते समय किनारा सबसे पहले जुड़ेगा, फलतः जोड़ कमजोर रहेगा। गोल छड़ों को जोड़ने के लिये सिरे बनाने की आकृति चित्र २. के ख में दिखाई गई है।

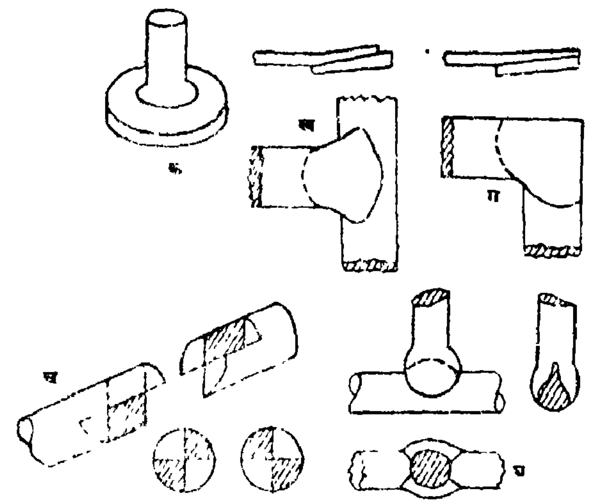


चित्र २.

यही विधि प्रायः जंजीरों की कड़ियों के मुँह जोड़ने के लिये अधिक उपयुक्त रहती है।

चिरवाँ जोड़ — यह जोड़ बहुत भारी वस्तुओं को जोड़ने के लिये बनाया जाता है। ऐसा साधारण जोड़ तो चित्र २ की आकृति ग में दिखाया गया है लेकिन विशेष भारी वस्तुओं के उपयुक्त जोड़ चित्र २. की आकृति ट और ठ में दिखाया गया है। इस जोड़ में संपर्क में आनेवाली सतह तो अधिक होती ही है, बल्कि चिरे हुए द्विशाखित भाग की नोकें, कलीनुमा दूसरे भाग की गोलाई के पीछे मुड़कर उसे मजबूती से पकड़ लेती हैं और फिर बाद में पीटकर पतला करने पर एक भाग की धातु दूसरे भाग में प्रविष्ट होकर एकजान हो जाती है। दूसरे टुकड़े के कली-नुमा भाग को बनाते समय उसे चिकना न बनाकर सीढ़ीनुमा दाँते-युक्त बनाकर खुरदरा कर देना चाहिए।

विशेष प्रकार के जोड़ — चित्र ३. में विभिन्न प्रकार के उद्देश्यों से जोड़ दिखाए गए हैं। चित्र ३. की आकृति क में कीलीनुमा जोड़, ख में त्रिशाखित जोड़, ग में कोने का जोड़ और घ में गोल छड़ों के उपयुक्त त्रिशाखित जोड़ बनाने की विधि दिखाई गई है। इंजनों और जहाजों के बड़े बड़े व्यास के धुरों को, जिन्हें शक्ति पारेषण



चित्र ३.

के काम में लाने से उनपर मरोड़ बल भी पड़ता है, जोड़ना जब अभीष्ट होता है, तब उन्हें चित्र ३. की आकृति च में दिखाए अनुसार ठंढा ही चीरकर और फिर गरम कर आपस में बैठा दिया जाता है।

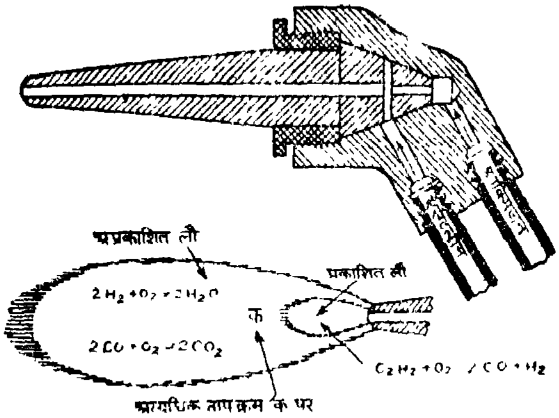
गैस वेल्डन (Gas Welding)

गैसों की सहायता से वेल्डन की क्रिया एक सी होती है, लेकिन उनका विभाजन उपयोग में आनेवाली गैस के अनुसार किया जाता है। ये गैसें बहुधा ऑक्सीजन और ऐसीटिलीन का मिश्रण, कोल गैस और हाइड्रोजन आदि हुआ करती हैं। इनमें से ऑक्सी-ऐसीटिलीन वेल्डन सबसे अधिक प्रचलित है। वेल्डनो-पयोगी गैसें तैयार करनेवाली व्यापारिक कंपनियाँ इस्पात के मजबूत सिलिंडरों (cylinders) में गैस को कई वायुमंडलों के दबाव पर भरकर वेल्डन के लिये बेचा करती हैं। वेल्डन के बड़े बड़े कारखानों में निजी गैस जनित्रों द्वारा कैलसियम कार्बाइड और पानी के मिश्रण से यह गैस कम दाब पर तैयार की जाती है। ऐसीटिलीन को ऐसीटोन में घुला देने से उसके विस्फोटन का डर नहीं रहता।

चाहे किसी भी प्रकार की गैस का व्यवहार किया जाय, वेल्डन के लिये उसे किसी प्रकार की फुंकनी (blowpipe) के द्वारा ही वेल्डन के स्थान पर पहुँचाया जाता है, जिनमें लगे एक वाल्व की सहायता से गैस के बहाव पर नियंत्रण कर उचित आकार की लौ बना ली जाती है। चित्र ४. की आकृति क में फुंकनी के मुँह पर लगनेवाली एक टुच्छी की बनावट दिखाई गई है और ख में लौ की आकृति है। लौ को छोटी, बड़ी, पतली या मोटी बनाने के लिये विभिन्न नापों के जेट फुंकनी पर अदल बदलकर लगाए जाते हैं। जेट की माप अर्थात् उसकी ताकत प्रति घंटा गैस के खर्चे के अनुसार निर्धा-रित की जाती है। सबसे छोटे जेट द्वारा एक घंटे में एक घन फुट और सबसे बड़े जेट द्वारा लगभग २०० घन फुट गैस खर्च हो जाती है तथा फुंकनी में गैस की दाब २ से ८ पाउंड प्रति वर्ग इंच तक रखी जाती है। प्रयोग करते समय ऐसीटिलीन गैस को पहले खोलकर

जेट के मुँह पर उसे जला दिया जाता है, फिर ऑक्सीजन के सिलिंडर का वाल्व धीरे धीरे इतना खोला जाता है कि जिससे उचित प्रकार की लौ बन जाय ।

जलनेवाली गैस के मिश्रण में अधिक ऐसीटिलीन होने से उसकी लौ कार्बुरीकर (carburising) होकर कुछ मोटी पड़ जाती



चित्र ४.

है, लेकिन वह आरंभ से अंत तक एक सी तेज चमकदार बनी रहती है । यदि मिश्रण में ऑक्सीजन की अधिकता हो, तो लौ ऑक्सीकारक (oxidising) प्रभाव से युक्त हो जाती है और उसका शुंड लंबा तथा चमकदार हो जाता है, लेकिन दोनों प्रकार की गैसों की मात्रा में उचित समायोजन कर देने से जो लौ बनती है उसके शुंड का चमकदार भाग छोटा और स्पष्ट आकृतियुक्त होता है और उसी की नोंक पर सबसे अधिक ताप होता है, जैसा चित्र ४. में दिखाया गया है । अतः झाल लगाते समय धातु को गलाने के लिये लौ को धातु की सतह से लगभग १/८ इंच से १/१६ इंच तक दूर रखा जाता है ।

वेल्डन — वेल्डन करते समय वेल्डन की जानेवाली वस्तुओं के टुकड़ों को मिलाकर, ऊपर से गैस की लौ द्वारा उनको जोड़ पर गला दिया जाता है जिससे दोनों पृथक् भागों की धातुएँ आपस में गलकर मिल जाती हैं और साथ ही साथ उसी प्रकार की कुछ फालतू धातु, जो पतली बत्तियों के रूप में होती है तथा जिसे पूरक (फिलर) या बत्ती भी कहते हैं, गलाकर भर दी जाती है और इन सबके ठंढा हो जाने पर ठोस संधि बन जाती है ।

फुँकनी को चलाने की दो तरकीबें होती हैं, एक तो बाएँ हाथ की और दूसरी दाहिने हाथ की । बाएँ हाथ की क्रिया में वेल्डन का काम दाहिनी ओर से बाईं ओर को बढ़ता है जिससे लौ बिना झले हुए भाग की तरफ झुकी रहती है और फुँकनी को दाहिने हाथ से थामकर बत्ती को बाएँ हाथ से थामा जाता है । वेल्डन करते समय फुँकनी वेल्डन की जानेवाली वस्तु से ६० से ७० अंश का कोण और धातु की बत्ती ३० से ४० अंश का कोण बनाती है । दाहिने हाथ की क्रिया में लौ का मुँह झले हुए भाग की ओर झुका रहता है और झलाई की क्रिया बाईं ओर से दाहिनी ओर को बढ़ती है । बाएँ हाथ से वेल्डन करते समय फुँकनी को पानी की लहरों जैसे चलाया जाता है और दाहिने हाथ के वेल्डन में फुँकनी को बहुत ही कम या बिलकुल ही नहीं लहराया जाता, लेकिन बत्ती को गोल छल्लों के आकार में घुमाते हुए चलाया जाता है ।

वेल्डन की बत्ती — बत्ती का व्यास वेल्ड की जानेवाली वस्तु की मोटाई और फुँकनी की नाप के अनुपात से होना चाहिए । पतली बत्ती स्वयं तो जल्दी गल जायगी और वेल्डित किया जानेवाला जोड़ गरम होकर गलित अवस्था में आने भी नहीं पाएगा । यदि बत्ती अधिक मोटी होगी, तो वह स्वयं देर से गलेगी और वस्तु के पहले से गले हुए भागों को जल्दी से ठंढा कर देगी । बत्ती की मोटाई और जेट की नाप का सही अनुमान लगाने के लिये निम्नलिखित सूत्रों का प्रयोग किया जा सकता है जिनमें ब बत्ती का व्यास है और म बत्ती की मोटाई इंचों में है, तथा श फुँकनी का शक्तिसूचक अंक है, जो प्रति घंटा ऐसीटिलीन के खर्चे के अनुसार निश्चित किया जाता है :

ब = १/२ म + १/३२ इंच (पख मारे हुए प्लेटों के लिये) ।
ब = १/२ म (बिना पख मारे हुए प्लेटों के लिये) ।
श = ६० म + ८

दोहरी लौ की फुँकनी — इस प्रकार की फुँकनी का रिवाज आजकल बढ़ता जा रहा है । इसमें दो लौ एक साथ निकलती हैं, आगेवाली लौ तो धातु को अगाऊ गरम करने का काम करती है, जिसमें थोड़ी अधिक ऐसीटिलीन खर्च हो जाती है लेकिन लाभ यह होता है कि वह कार्बुरीकर होकर प्लेटों को ऑक्सीकरण होने से बचा लेती है, क्योंकि उस समय प्लेटों में कार्बन का अवशोषण हो जाने से उनका द्रवणांक घट जाता है और पिछली छोटी लौ वहाँ पहुँचते ही सरलता से अपना काम कर लेती है । इस प्रकार की लौ से वेल्डिंग किए जानेवाले भागों में सिकुड़न और ऐंठन के दोषों का भी परिहार हो जाता है तथा वेल्डन का काम भी शीघ्रता से होता है । [ओं० ना० श०]

वेस्ट इंडीज उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के मध्य १,००० मील में फैला हुआ द्वीपसमूह है । इसका दूसरा नाम ऐंटिलिज़ है । ये द्वीप पश्चिम में यूकटैन तथा फ्लोरिडा प्राय द्वीपों से लेकर वृत्ताकार रूप में दक्षिण की ओर वेनिज्वीला तक विस्तृत हैं । बहामा को छोड़कर शेष द्वीप दो भागों में विभक्त हैं : (१) बृहत् ऐंटिलिज तथा (२) लघु ऐंटिलिज़ । बृहत् ऐंटिलिज के अंतर्गत क्यूबा, जमेका, हिस्पैन्योला (जिसके अंतर्गत हैटि तथा डोमिनिकैन गणतंत्र हैं) तथा प्वेर्टे रीको द्वीप संमिलित हैं तथा लघु ऐंटिलिज़ के अंतर्गत बारबेडोज़, ट्रिनिडैड एवं टोबेगो द्वीप आते हैं (देखें **क्यूबा, जमेका डोमिनिकैन गणतंत्र, प्वेर्टे रीको, बारबेडोज़, ट्रिनिडैड**) । सबसे बड़ा द्वीप क्यूबा है जिसका क्षेत्रफल ४४,२१८ वर्ग मील है । संपूर्ण द्वीपसमूह का क्षेत्रफल ६१,००० वर्ग मील है ।

वेस्टइंडीज के द्वीपों के प्राकृतिक स्वरूप, आर्थिक विकास तथा निवासियों की रहन सहन एवं भाषा में बड़ी विभिन्नता है ।

वेस्टइंडीज के द्वीप अंशतः जलमग्न पर्वतशृंखला के अवशेष चिह्न हैं । यह शृंखला हॉण्डुरेस तथा वेनिज्वीला होकर गई है । इसकी कई शाखाएँ हिस्पैन्योला से जमेका तक दिखाई पड़ती हैं ।

बृहत् ऐंटिलिज की बाहरी चट्टानें परतदार चट्टानों की बनी हैं। लघु ऐंटिलिज का भीतरी भाग ज्वालामुखी निःसृत चट्टानों से बना है। ट्रिनिडैड की संरचना दक्षिणी अमरीका से मिलती जुलती है। वेस्ट-इंडीज में पाई जानेवाली सबसे पुरानी चट्टान क्रिटेशियस युग की है जिससे यह पता चलता है कि उस समय ये द्वीप एक विस्तृत भूखंड से मिले हुए थे। बाद में इग्रोसीन (Eocine) तथा ऑलिगोसीन (Oligocene) युग में एक भारी अवतलन (subsidence) हुआ जिसमे बृहत् ऐंटिलिज पूर्णरूपेण जलमग्न हो गया। तदनंतर ऑलिगोसीन युग के मध्य में एक प्रबल प्रोत्थान (upheaval) हुआ और साथ ही साथ मोड़दार पर्वतों का निर्माण हुआ जिससे बृहत् ऐंटिलिज के द्वीप धरातल से ऊपर उठ गए तथा शृंखलाबद्ध हो गए। इसके बाद कई हल्के अवतलन एवं प्रोत्थान की प्रक्रिया के फलस्वरूप धरातल का वर्तमान स्वरूप बना। लघु ऐंटिलिज में ट्रिनिडैड एवं बारबेडोज के अलावा अन्य कहीं गहरे समुद्र के जमाव के चिह्न नहीं मिलते। कतिपय द्वीपों में ज्वालामुखी के अवशेष मिलते हैं। ज्वालामुखी हलचलें तृतीयक (tertiary) काल से होती रही हैं। सामान्यतः द्वीपों में अधिक उच्चावच है। सबसे ऊँचा स्थान हिस्पैन्योला में स्थित पिकोडुजिलो है जिसकी ऊँचाई १०,४१६ फुट है। जमेका के ब्लू माउंटेन की ऊँचाई ७,४०२ फुट है। ४,००० फुट से अधिक ऊँचाई के क्षेत्र प्वेर्टे रीको तथा अन्य कई द्वीपों में मिलते हैं। अधिकतर द्वीपों में एक मध्यवर्ती पर्वतशृंखला मिलती है जिससे निकलकर पहाड़ों की लंबी शाखाएँ समुद्रतट तक पहुँचती हैं। इन शाखाओं के बीच गहरी घाटियाँ मिलती हैं। नदियाँ छोटी एवं तीव्रवाहिनी हैं तथा मैदान केवल समुद्रतट तक ही सीमित है। क्यूबा ही ऐसा द्वीप है, जहाँ विस्तृत समतल नीची भूमि मिलती है। वहाँ सिएरा माइस्त्रा पर्वत पूर्वी ओर पर है और कहीं भी अवरोधक नहीं बनता। बारबेडोज तथा ऐंटीग्वा मूँगे के बने हैं तथा नीची धरातलवाले हैं। बहामा तथा ऐंगविला समुद्रतट से नाममात्र ऊँचे हैं।

यहाँ समुद्रतटीय झीलें तथा दलदल अधिकतर पाए जाते हैं। मूँगे के पर्वतों के कारण भी समुद्रतट अधिक टेढ़े मेढ़े हो गए हैं। प्राकृतिक बंदरगाह बहुत हैं जिनमें हवाना तथा सेंट जार्ज उल्लेखनीय हैं।

[ज० मिं०]

वेस्ट बेंजामिन (West Benjamin, १७३८-१८२०) अमरीकन ऐतिहासिक विषयों का चित्रकार। न्यूयार्क से इटली होते हुए रोम आया और वहीं बस गया। १७९२ में रायल अकादमी का सभापति बना। 'ईसा द्वारा रोगी की परिचर्या', क्रूसीफिकेशन आदि इसके सुप्रसिद्ध चित्र हैं। [गु० त्रि०]

वेस्ट लैंड (Waste Land) सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि, टी० एस० इलियट की प्रमुख काव्यरचना। इसे महाकाव्य की संज्ञा दी गई है, यद्यपि इसमें कुल ४३३ पंक्तियाँ हैं। यह बहुत तीव्र और गहरी संवेदना से लिखा हुआ काव्यग्रंथ है।

इसका प्रकाशन सन् १९२२ में हुआ। यह प्रथम महासमर के बाद का काल था। इलियट इस काव्य में बंजर धरती का वर्णन करते हैं, जहाँ कुछ भी नहीं उगता। न यहाँ जल है, न छाया। वे रोमन कैथलिक विश्वासों के कवि हैं। जिस बंजर भूमि का वे वर्णन करते हैं, वह आस्था और विश्वासों से रहित भूमि है। महासमर के बाद संपूर्ण देश ही वीरान और उजड़ा लगता था।

'वेस्ट लैंड' एक नई शैली की कविता है। इसमें अनेक सूत्र एक साथ जुड़े हैं और वे उलझा दिए गए हैं। अनेक पंक्तियाँ पुराने साहित्य की प्रतिध्वनियाँ जगाती हैं। कहीं विदेशी भाषाओं के प्रयोग हैं, कहीं विचित्र उपमाएँ हैं। कहीं अतीत का वर्णन है, कहीं वर्तमान का। कहीं यथार्थवादी चित्र हैं, कहीं रोमैंटिक चित्र।

'वेस्ट लैंड' में आधुनिक यूरोपीय जीवन की गहरी पीड़ा व्यक्त हुई है। इसका स्वर दुःखांत काव्य का स्वर है। शैली और टेकनीक की दृष्टि से इस रचना का अंग्रेजी काव्य के विकास पर भारी प्रभाव पड़ा है। (दे० इलियट, टी० एस०) [प्र० चं० गु०]

वेस्पूचि आमेरीगो (Vespucci, Amerigo, १४५४-१५१२ ई०) इताली नाविक तथा सौदागर थे। इनके पैतृक नाम अमेरीगो पर अमरीका महादेश का वर्तमान नाम पड़ा, क्योंकि सर्वप्रथम इन्होंने इसे नई दुनिया के रूप में पहचाना। वेस्पूचि अमेरीगो का जन्म फ्लोरेंस में हुआ था। इन्होंने ज्योतिष शास्त्र का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अपने जमाने में ये अक्षांश देशांतर की गणना मे सबसे कुशल व्यक्ति थे। फ्लोरेंस मे मेडिसी (Medici) के व्यापारिक कार्यालय में लिपिक का कार्य करने के काल मे इनकी अभिरुचि भूगोल के अध्ययन तथा ग्लोब, रेखाचित्र एवं मानचित्रों के संग्रह मे लगी और क्रमशः ये कुशल मानचित्रकार भी बन गए। १४८६ ई० तथा १४९१ ई० के बीच ये मेडिसी के प्रतिनिधि स्वरूप किसी महत्वपूर्ण कार्यवश बारसेलोना भेजे गए। १४९३ ई० मे इनका संबंध जानेतो बेरार्डी (Giannetto Berardi) के सेविल स्थित व्यापारगृह से हो गया। बेरार्डी स्पेन के राजा के अधीन था। सेविल स्थित व्यापारगृह ऐटलैंटिक महासागर के आरपार अभियान करनेवाले पोतों के निर्माण का ठेका लेता था। जानेतो की मृत्यु के पश्चात् उसके काम को वेस्पूचि ने सँभाला और इस प्रकार संभवतः कोलंबस की दूसरी समुद्री यात्रा के लिये पोतनिर्माण में वेस्पूचि ने हाथ बटाया।

वेस्पूचि की समुद्रयात्राएँ १४९७-१५०४ ई० की अवधि मे हुई। मई, १४९९ ई० तथा जून, १५०० ई० के बीच स्पेन के अभियान मे वेस्पूचि ने नाविक की हैसियत से भाग लिया। इस यात्रा मे एमाज़ान का मुहाना, ओरिनीको का मुहाना आदि का पता लगा। वेस्पूचि ने समझा कि वे सुदूर पूर्व एशिया प्रायद्वीप का चक्कर लगा रहे हैं तथा इसके आगे एशिया के समुद्र मिलेंगे। १३ मई, १५०१ ई० को सिलोन तथा हिंदमहासागर में पहुँचने के विचार से पुर्तगाल सरकार के तत्वावधान में इनका दूसरा अभियान हुआ। इसमें ये ब्राज़िल तट से होकर पैटागोनिया तट के आगे सान सूलिना (San Sulina) की खाड़ी के आसपास तक गए।

भौगोलिक अन्वेषणों के इतिहास में इस यात्रा का बड़ा महत्व है। इसके बाद वेस्पूचि तथा अन्य विद्वानों को इस बात का विश्वास हो गया कि उपर्युक्त भाग एशिया के नहीं वरन् नई दुनिया के हिस्से थे। १५०८ ई० में वेस्पूचि स्पेन के प्रमुख नाविक नियुक्त हुए। साथ ही साथ नए खोजे गए देशों एवं उन तक पहुँचने

के रास्तों के नक्शे बनाने एवं विभिन्न पोत कप्तानों द्वारा प्रेषित आँकड़ों की तुलना एवं व्याख्या करने का काम भी इन्होंने सँभाला। यह कार्य ये अपने मृत्यु काल तक करते रहे। [ज० सिं०]

वैंकूवर १. नगर, स्थिति : ४९° २०' उ० अ० तथा १२३° १०' प० दे०। कैनाडा का यह नगर गेहूँ की विश्वविख्यात मंडी है। यह नगर एवं बंदरगाह कैनाडा के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित है। यहाँ आवागमन के साधन बहुत अच्छे हैं। यह नगर रेल द्वारा पश्चिम में ऐलबर्नि एवं दक्षिण में प्रादेशिक राजधानी विक्टोरिया से मिला हुआ है। यहाँ की जनसंख्या लगभग ७,९०,१६५ (१९६१) है।

२. नगर, स्थिति : ४५° ४०' उ० अ० तथा ११२° ३५' प० दे०। यह संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिण पश्चिमी वाशिंगटन में कोलंबिया नदी के किनारे बसा हुआ एक शहर है। कोलंबिया नदी का सबसे बड़ा बंदरगाह होने के कारण यह नगर व्यापार का केंद्र है। यहाँ अनाज और कागज की लुग्दी का व्यापार होता है। यह सेना का स्थायी केंद्र है नगर की जनसंख्या लगभग ४१,६६४ (१९५०) है। [नि० कौ०]

वैक्सीन और वैक्सीन चिकित्सा (Vaccine and Vaccination) शरीर की विभिन्न रक्षापंक्तियों को भेदकर परजीवी रोगकारी जीवाणु अथवा विषाणु शरीर मे प्रवेश कर पनपते हैं और जीवविष (toxin) उत्पन्न कर अपने परपोषी के शरीर मे रोग उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं। इनके फलस्वरूप शरीर की कोशिकाएँ भी जीवविष तथा उसके उत्पादक सूक्ष्म कीटाणुओं की आक्रामक प्रगति के विरोध मे स्वाभाविक प्रतिक्रिया द्वारा प्रतिजीवविष (antitoxin), प्रतिरक्षी (antibody) अथवा प्रतिरक्षित पिंड (immune body) उत्पन्न करती हैं। कीटाणुओं के जीवविषनाशक प्रतिरक्षी के विकास में कई दिन लग जाते हैं। यदि रोग से तुरंत मृत्यु नहीं होती और प्रतिरक्षी के निर्माण के लिये यथेष्ट अवसर मिल जाता है, तो रोगकारी जीवाणुओं की आक्रामक शक्ति का ह्रास होने लगता है और रोग शमन होने की संभावना बहुत बढ जाती है। जिस जीवाणु के प्रतिरोध के लिये प्रतिरक्षी उत्पन्न होते हैं वे उसी जीवाणु पर अपना घातक प्रभाव डालते है। आंत्र ज्वर (typhoid fever) के जीवाणु के प्रतिरोधी प्रतिरक्षी प्रवाहिका (dysentery) अथवा विषूचिका (cholera) के जीवाणुओं के लिये घातक न होकर केवल आंत्र ज्वर के जीवाणु को नष्ट करने में समर्थ होते हैं। प्रतिरक्षी केवल अपने उत्पादक प्रतिजन (antigen) के लिये ही घातक होने के कारण जाति विशेष के कहलाते हैं।

यदि किसी के शरीर में किसी रोगविशेष के रोगनिरोधी प्रतिरक्षी उस रोग के जीवाणु द्वारा संक्रमण होने के पूर्व ही प्रचुर मात्रा में विद्यमान हों, तो वह जीवाणु रोग उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है। यदि प्रतिरक्षी की मात्रा अपर्याप्त हो, तो हलका सा रोग होने की संभावना रहती है। संक्रमण होने पर रोगनिरोधी प्रतिरक्षियों की उत्पत्ति के कारण यह देखा गया है कि एक बार रोग हो जाने पर वही रोग दूसरी बार कुछ काल तक नहीं होता। एक बार चेचक हो जाने पर दूसरी बार इस रोग के होने की संभावना प्राय. नहीं रहती। कुछ बालरोग शैशवकाल में हो जाने पर युवा या जरावस्था में पुनः नहीं होते। इसी सिद्धांत के आधार पर कृत्रिम टीके (vaccination or inoculation) द्वारा रोगनिरोधी प्रतिरक्षी शरीर में उत्पन्न कर, रोगविशेष की रोकथाम सफलतापूर्वक की जाती है।

टीका लगाने का मुख्य प्रयोजन बिना रोग उत्पन्न किए शरीर में रोगनिरोधी प्रतिरक्षी का निर्माण करना है। प्राकृतिक रूप से तो प्रतिरक्षी रोगाक्रमण की प्रतिक्रिया के कारण बनते हैं, परंतु टीके द्वारा एक प्रकार का शीतयुद्ध छेड़कर शरीर में प्रतिरक्षी का निर्माण कराया जाता है। रोग उत्पन्न करने में असमर्थ मृत जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश होते ही प्रतिरक्षियों का उत्पादन होने लगता है। मृत जीवाणुओं का उपयोग सर्वथा निरापद होता है किंतु कुछ रोगों में जीवित जीवाणुओं का उपयोग आवश्यक होता है। ऐसी अवस्था में जीवित जीवाणुओं की आक्रामक शक्ति को निर्बल कर उन्हें पहले निस्तेज कर दिया जाता है जिससे उनमें रोगकारी क्षमता तो नहीं रहती, किंतु प्रतिरक्षी बनाने की शक्ति बनी रहती है। जो जीवाणु जीवविष उत्पन्न कर सकते हैं, उनके इस जीवविष को फ़ार्मेलिन के संयोग से शिथिल कर टीके मे प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार के फ़ार्मेलिन प्रभावित जीवविष को जीवविषाभ (Toxoid) कहते हैं। अत. रोगनिरोधी प्रतिरक्षी उत्पन्न करने के लिये मृत जीवाणु, निस्तेजित जीवाणु अथवा जीवविषाभ का प्रयोग टीके द्वारा किया जाता है। रोगनिरोधी टीके के लिये जो द्रव काम में लाया जाता है उसे वैक्सीन कहते है। यह वास्तव मे मृत अथवा निस्तेजित जीवाणुओं का निलंबन (suspension) होता है। इसमें फ़िनोल अथवा कोई अन्य जीवाणुनाशक पदार्थ मिला दिया जाता है जिससे वैक्सीन की शुद्धता बनी रहे।

वैक्सीन बनाने के लिये पोषक पदार्थों से युक्त अनुकूल वातावरण में जीवाणु का संजनन (cultivation) किया जाता है और फिर लवण विलयन में उनका विलयन बनाया जाता है। यदि जीवाणु को मारना आवश्यक हुआ, तो गरम जल द्वारा ६०° सें० के ताप से अथवा फ़िनोल से निर्जीव कर दिया जाता है। विलयन मे जीवाणु की संख्या का पता लगाते है और फिर आवश्यक मात्रा में लवण विलयन मिलाकर विलयन में जीवाणुओं की संख्या पूर्वनिर्धारित संख्या के अनुसार कर दी जाती है। आवश्यक परीक्षा द्वारा वैक्सीन की शुद्धता, निर्दोषिता और प्रतिरक्षण शक्ति का पता लगाते हैं और यदि वैक्सीन औषधि निर्माण अधिनियम (Act) द्वारा निर्धारित विशिष्ट गुणों से युक्त है, तो इसे प्रयोग में ला सकते हैं। अधिनियम के प्रत्येक नियम का पालन आवश्यक है।

रोगनिरोधन के लिये जो वैक्सीन मुख्यतः काम में लाए जाते हैं उनका सूक्ष्म परिचय इस प्रकार है :

(अ) विषाणुजन्य वैक्सीन

(१) चेचक निरोधी वैक्सीन — चेचक (smallpox) के विषाणु

को वैरियोला (Variola) कहते हैं। टीके के लिये इस विषाणु का उपयोग प्राचीन काल से होता आया है। यह विषाणु चेचक उत्पन्न कर सकता है, इस कारण निर्दोष नहीं है। अतः गत १५० वर्षों से वैरियोला के स्थान पर गोमसूरी (cowpox) के वैक्सीनिया (Vaccinia) नामक विषाणु का उपयोग किया जा रहा है। वैरियोला का उपयोग सभी देशों में वर्जित है। गोमसूरी का वैक्सीनिया नामक विषाणु मनुष्य में चेचक रोग उत्पन्न नहीं कर पाता परंतु उसके प्रतिरक्षी चेचक निरोधक होते हैं। गोमसूरी के विषाणु बछड़े, पड़वे या भेड़ की त्वचा में संवर्धन करते हैं। त्वचा को जल और साबुन से धो पोंछकर उसमें हलका सा खरोंच कर दिया जाता है जिसपर वैक्सीनिया का विलयन रगड़ दिया जाता है। लगभग १२० घंटे में पशु की त्वचा पर मसूरिका (pox) के दाने उठ आते हैं। अधिकतर दाने पिटिका के रूप में होते हैं जिनमें से कुछ जल अथवा पूययुक्त होते हैं जिन्हें क्रमशः जलस्फोटिका और पूयस्फोटिका कहते हैं। इन दानों को खरोंचकर खुरचन एकत्र कर लेते हैं। खरोंचने का कार्य हलके हलके किया जाता है जिससे केवल त्वचा की खुरचन ही प्राप्त हो, उसके साथ रुधिर न आ पाए। इस खुरचन को ग्लिसरीन के विलयन के साथ यंत्रों द्वारा पीस लेते हैं। ग्लिसरीन में गोमसूरी के विषाणु के इस विलयन को ही टीके के लिये प्रयुक्त करते हैं। उपयोग में लाने से पूर्व इस विलयन को ईथर या क्लोफार्म के वाष्प से शोधित किया जाता है और शुद्धता, निर्दोषिता तथा प्रतिरक्षक शक्ति की परीक्षा की जाती है। चेचक निरोधक टीका अत्यंत लाभकारी है और इसके परिणामस्वरूप कई देशों में इस भयंकर रोग का उन्मूलन कर दिया गया है। प्रत्येक बालक को तीन से छह मास की अवस्था में टीका लग जाय और फिर पाँच पाँच वर्षों के अंतर से बराबर लगता रहे, तो चेचक रोग की संभावना नहीं रहती। प्रायः सभी उन्नत देशों में यह टीका अनिवार्य रूप से लगाया जाता है। यह टीका सर्वथा निर्दोष है। इससे जो उत्पात संभव हैं, वे नगण्य है। यह टीका सभी को निःशुल्क लगाया जाता है। बिना टीका लगवाए कोई यात्री विदेश नहीं जा पाता। टीका लगाने के आठ दिन बाद रोगनिरोधी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो कई वर्षों तक बनी रहती है। किंतु विदेशयात्रा के लिये तीन वर्ष से अधिक पुराना टीका मान्य नहीं होता (देखें टीका)।

(२) **पीतज्वर निरोधी वैक्सीन** — पीतज्वर (yellow fever) के निस्तेजित विषाणु को कुक्कुट के अंडों की अपरापोषिका कला (allantoic membrane) में संजनन कर निर्वात स्थान में सुखा लिया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर निसंक्रमित जल में विषाणु के शुष्क चूर्ण को घोलकर तत्काल काम में लाते हैं। टीका लगने के १०-१४ दिन के अंदर ही रोगनिरोधी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो प्रायः छह वर्ष तक बनी रहती है। पीतज्वर के क्षेत्र से या उस मार्ग से भारत में आनेवाले प्रत्येक यात्री को यह टीका अनिवार्य रूप से लगवाना पड़ता है।

(३) **पोलियो निरोधी वैक्सीन** — पोलियो अथवा पोलियो माइएलाइटिस (poliomyelitis) बालरोग है। इसके विषाणु को बंदर के वृक्क में उत्पन्न कर साल्क की विधि से वैक्सीन बनाया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में साल्क का वैक्सीन बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है और कई देशों में इसका चलन बढ़ रहा है। पोलियो रोग की रोकथाम के लिये बालक को दो टीके दो से लेकर छह सप्ताह तक के अंतर से लगाए जाते हैं। यदि तीसरा टीका सात मास पश्चात् और लगवा लिया जाय, तो उसका गुण और भी अधिक प्रभावकारी होता है।

(४) **इंफ्लुएंजा निरोधी वैक्सीन** — ए तथा बी जाति के इंफ्लुएंजा के विषाणु को मुर्गी के अंडे की अपरापोषिका में उत्पन्न कर वैक्सीन बनाया जाता है। टीका लगाने के एक सप्ताह पश्चात् रोगनिरोधी शक्ति उत्पन्न हो जाती है किंतु वह बहुत थोड़े काल तक बनी रहती है। इस वैक्सीन का अभी अधिक चलन नहीं हुआ।

(५) **आलर्क (Rabies) निरोधी वैक्सीन** — पागल कुत्ते, गीदड़, भेड़िए आदि के काटने पर रेबीज (आलर्क) रोग से बचने के लिये यह टीका बहुत लाभकर है। रोग रेबीज के वीथिका विषाणु (street virus) से होता है किंतु इसी विषाणु का निस्तेजित रूपवाला स्थिर विषाणु (fixed virus) रोगकारी नहीं है किंतु रोगनिरोधी प्रतिरक्षी का उत्पादक है। रेबीज के स्थिर विषाणु को भेड़ या खरगोश के मस्तिष्क में उत्पन्न करते हैं और फिर मस्तिष्क को पीसकर फिनोलयुक्त लवण विलयन में विलयन बना लेते हैं। पागल कुत्ते के काटने पर आवश्यकतानुसार १४ दिन तक नित्य एक टीका लगाते हैं। इस वैक्सीन की शक्ति बढ़ाकर कुत्तों को टीका लगाकर उन्हें भी आलर्क रोग से बचाया जा सकता है।

(आ) जीवाणुजन्य (Bacterial) वैक्सीन

(१) **विषूचिका विरोधी वैक्सीन** — क्षारीय पोषक तत्वयुक्त आगर पर विषूचिका के लोलाणु (Vibrio) उत्पन्न कर इनका लवण विलयन में विलयन बना लेते हैं। फिर फ़िनोल द्वारा सभी लोलाणुओं को निर्जीव कर वैक्सीन बनाते हैं। विषूचिकाकारी इनाबा (Inaba) तथा ओगावा (Ogawa) दोनों जाति के लोलाणु वैक्सीन में होते हैं और प्रति मिली लिटर में इनकी संख्या आठ अरब होती है। इसका टीका एक सप्ताह के अंतर से दो बार लगाना अधिक अच्छा है परतु एक बार का टीका भी विषूचिका निरोध में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। रोगनिरोधी शक्ति आठ दिवस में उत्पन्न होती है। और छह मास तक बनी रहती है। टीका लगने से कोई विशेष असुविधा नहीं होती। विदेशयात्रा के पूर्व इस टीके का लगवाना आवश्यक है।

(२) **टाइफाइड या आंत्र ज्वर निरोधी वैक्सीन** — टाइफाइड तथा पैरा टाइफाइड ए तथा बी जाति के जीवाणु को पोषक तत्वयुक्त आगर अथवा संश्लेषित पदार्थों में उत्पन्न कर ऊष्मा द्वारा निर्जीव कर दिया जाता है और इन निर्जीव जीवाणुओं का लवण जल में विलयन बनाते हैं तथा फिनोल में सुरक्षित रखते हैं। इस वैक्सीन में टाइफाइड के एक अरब और पैराटाइफाइड ए तथा बी के ७५-७५ करोड़ जीवाणु प्रति मिलीलिटर में होते हैं। एक सप्ताह के अंतर से दो बार टीका लेने से निरोध शक्ति एक बार के टीके की अपेक्षा अधिक बलवती होती है। प्रति वर्ष नियमित रूप से टीका लेते रहने से इस रोग की आशंका नहीं रहती।

(३) **प्लेग निरोधी वैक्सीन** — प्लेग के कीटाणुओं को अव-

विश्लेषित केसीन (केसीन हाइड्रोलाइसेट) में उत्पन्न करके फार्मेलिन से निर्विष करते हैं, तब वैक्सीन बनाते हैं जिसे फिनील मरक्यूरिक नाइट्रेट में सुरक्षित रखते हैं। एक सप्ताह के अंतर से दो बार टीका दिया जाता है और निरोधशक्ति छह मास तक बनी रहती है।

(४) **क्षयनिरोधी वैक्सीन** — इसे बी० सी० जी० वैक्सीन कहते हैं। संश्लेषित पोषक पदार्थ में गोक्षय के निस्तेजित कीटाणुओं को उत्पन्न कर उनसे वैक्सीन बनाते हैं। इस वैक्सीन का टीका केवल उन्हीं को, जो मैंटौ (Mantoux) की ट्यूबरकुलीन परीक्षा द्वारा क्षय-संक्रमण से सर्वथा निर्लिप्त पाए जाते हैं, दिया जाता है। इस टीके का रोग की रोकथाम करने में बड़ा महत्व है और सभी क्षय-संक्रमण-रहित व्यक्तियों को लगाना आवश्यक है। जनता में इस टीके का प्रसार व्यापक रूप से होना चाहिए। इस टीके की उपयोगिता क्षयग्रस्त निर्धन देशों के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसकी सफलता पूर्णतः प्रमाणित हो चुकी है। टीका निर्दोष, निरापद और प्रभावशाली है इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं है। कल्पित अथवा नगण्य दोषों को बढ़ावा देकर टीके का विरोध करना अनुचित है। लाखों करोड़ों प्राणियों को यह टीका लग चुका है और शैशव कालीन प्राथमिक क्षयसंक्रमण की रोकथाम में यह बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(५) **टाइफस निरोधी वैक्सीन** — अंडे की अपरापोषिका कला पर टाइफस के रिकेट्सिया को उत्पन्न कर इसके फ़िनोलयुक्त विलयन को टीके के काम में लाते हैं। एक एक सप्ताह के अंतर से तीन टीके लगाए जाते हैं।

(६) **कुक्कुरखाँसी निरोधी वैक्सीन** — यह वैक्सीन कुक्कुर खाँसी के हीमोफाइलस पर्ट्यूसिस नामक कीटाणु के विलयन को फ़ार्मेलिन से निर्जीव कर फिटकिरी से अवक्षेपित कर बनाया जाता है। एक एक मास के अंतर से तीन टीके दिए जाते हैं।

(७) **डिप्थीरिया निरोधी वैक्सीन** — डिप्थीरिया के कीटाणु से उसका जीवविष (toxin) पृथक् कर फ़ार्मेलिन के संयोग से जीवविषाभ (toxoid) बनाते हैं जिसे फिटकिरी से अवक्षेपित कर ए० पी० टी० (Alum Precipetated Toxoid) नामक टीका बनाते हैं। एक मास के अंतर से इसके दो टीके बालकों को दिए जाते हैं। हाल ही में जीवविषाभ को और भी शोधित कर पी० टी० ए० पी० (प्योरीफाइड टॉक्साइड ऐलम फ़ॉस्फ़ेट प्रेसिपिटेटेड) बनाया गया है जो अधिक गुणकारी कहा जाता है। वयस्क व्यक्तियों को ए० पी० टी० सहन नहीं होता, इस कारण उन्हें टी० ए० एफ० (टॉक्साइड ऐंटीटॉक्सीन फ्लोक्यूल) दिया जाता है जिसमें जीवविषाभ की तीव्रता को प्रतिजीवविष (antitoxin) द्वारा कम कर दिया जाता है।

(८) **टेटनस अथवा धनुस्तंभ निरोधी वैक्सीन** — यह भी डिप्थीरिया के ए० पी० टी० की तरह बनाया जाता है। एक मास के अंतर से दो टीके दिए जाते हैं। डिप्थीरिया तथा टिटेनस के टीके वस्तुतः वैक्सीन नहीं, प्रत्युत जीवविषाभ हैं।

उपर्युक्त रोगनिरोधी टीकों द्वारा सक्रिय रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न की जाती है जिसमें रोगकारी जीवाणुओं के प्रतिजन से रोगनिरोधी प्रतिरक्षी टीका लेनेवाले व्यक्ति के शरीर में ही बनते हैं। इस प्रकार की सक्रिय प्रतिरक्षी उत्पन्न करने में कुछ समय लगता है किंतु रोगनिरोधी क्षमता दीर्घकालीन होती है। यदि सक्रिय प्रतिरक्षादायी वैक्सीन को किसी पशु में प्रयुक्त किया जाय और उसके रक्त में उत्पन्न प्रतिरक्षी किसी मनुष्य को टीके द्वारा दिया जाय, तो जो प्रतिरक्षा प्राप्त होगी वह निष्क्रिय (Passive) कहलाएगी। निष्क्रिय प्रतिरक्षा के लिये वैक्सीन के स्थान पर किसी सक्रिय प्रतिरक्षित पशु के रुधिर का प्रतिरक्षीयुक्त सीरम काम में लाते हैं। निष्क्रिय प्रतिरक्षी तुरंत ही प्रभावकर होता है किंतु उसकी व्याप्ति अल्पकालिक होती है। इस कारण रोगनिरोध की अपेक्षा वह रोग की चिकित्सा में अधिक उपयोगी होता है। कुछ सक्रिय प्रतिरक्षादायी वैक्सीन चिरकालिक रोगों की चिकित्सा के लिये भी प्रयुक्त किए जाते हैं। किंतु नवीन संश्लेषित और ऐंटीबायोटिक ओषधियों के प्रसार से चिकित्सा में वैक्सीनों का प्रयोग बहुत कम हो गया है।

रुधिर में पाया जानेवाला गामा ग्लोब्यूलिन रोगनिरोध में बहुत सहायक होता है। रोमांतक अथवा मसूरिका (measles) की रोकथाम में गामा ग्लोब्यूलिन देना लाभदायक है। जिन संक्रामक रोगों की रोकथाम या चिकित्सा के लिये कोई विशेष ओषधि ज्ञात नहीं है उसमें किसी ऐसे व्यक्ति के रुधिर का सीरम काम में लाते हैं जो हाल ही में उस रोग से मुक्त हुआ हो। रोगमुक्त व्यक्ति के रुधिर के सीरम में प्रतिरक्षी होते हैं, जो रोग शमन के लिये रोगियों को दिए जाते हैं। इस प्रकार के प्रतिरक्षीयुक्त रुधिर का सीरम प्राप्त करने के लिये रुधिर बैंक खोलने की आवश्यकता है जिसमें रोगमुक्त व्यक्ति, रोगियों के लाभ के लिये अपना रुधिर दान दे सकें। रुधिराधान (blood transfusion) द्वारा भी दाता के रुधिर के विशेष प्रतिरक्षी रुधिर ग्रहण करनेवाले को प्राप्त हो जाते हैं।

बालरोगों में डिप्थीरिया, टेटनस और कुक्कुरखाँसी के प्रतिषेध के लिये सक्रिय प्रतिरक्षाकारी जीवविषाभों तथा वैक्सीनों को मिलाकर त्रिधर्मी वैक्सीन बना लेते हैं जिससे उपर्युक्त तीनों रोगों के लिये एक ही टीका दिया जा सके। अब त्रिधर्मी वैक्सीन में पोलियो वैक्सीन भी मिलाकर चारों रोगों का प्रतिषेध एक साथ किया जा सकता है (देखें '**संक्रमण**')। [भ० शं० या०]

वैखानस 'मनुस्मृति' (६।२१) में वानप्रस्थ यतियों के लिये, वैखानसमत में स्थित रहकर फलादि के सेवन का निर्देश मिलता है। इस प्राचीन मत का संबंध 'कृष्ण यजुर्वेद' की औरवेय' शाखा से है और इसके अपने 'गृह्यसूत्र', 'धर्मसूत्र,' 'श्रौतसूत्र' एवं 'मंत्रसंहिता' ग्रंथ भी हैं। इसकी आचार्यपरंपरा विखनस मुनि से आरंभ होती है जिनके पिता नारायण, माता हरिप्रिया तथा पुत्र भृगु, आदि कहे गए हैं और जिनके अनंतर आनेवाले दो आचार्य क्रमशः कश्यप एवं मरीचि बतलाए गए हैं। मरीचि का 'वैखानस आगम' ग्रंथ उपलब्ध है जिसमें ७० पटल हैं और जिसमें इस मत का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है। इसके अनुसार परमात्मा की चार मूर्तियाँ 'विष्णु', 'महाविष्णु,' 'सदाविष्णु' तथा 'सर्वव्यापी' नाम की होती हैं जिनसे फिर चार अंश क्रमशः 'पुरुष', 'सत्य', 'अच्युत' एवं 'अनिरुद्ध' उत्पन्न

होते हैं और इन्हीं से युक्त रहकर नारायण 'पंचमूर्ति' कहे गए हैं जिनके नामजप, हुत, ध्यान एवं अर्चन द्वारा जीवों का मायाबंधन दूर किया जा सकता है। इन विष्णु या नारायण की वैसी मूर्ति की स्थापना के लिये विशिष्ट मंदिर के निर्माण का विधान है जहाँ पर, वैदिक मंत्रों द्वारा उनकी सम्यक् आराधना करके 'आमोद', 'प्रमोद, 'संमोद' एवं 'वैकुंठ' नामक लोकों तक पहुँचा जा सकता है तथा क्रमश: सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति भी होती है। यहाँ पर अमूर्त की आराधना से समूर्त के पूजन को श्रेष्ठ ठहराया गया है और अवतारों की चर्चा भी प्राय: गौण रूप से ही की गई मिलती है। 'वैखानस गृह्य सूत्र' में जो चैत्री पूर्णिमावाले पूजन की विधि निर्दिष्ट है उसके पीछे कृषि, पशु, ग्राम एवं जन के कल्याण की भी भावना काम करती है।

इस मत की चार शाखाएँ मानी जाती हैं जिन्हें आत्रेय, काश्यपीय, मारीच एवं भार्गव कहा गया है और इनकी केवल संहिताएँ मात्र ही भिन्न हैं। इसका आगम, पांचरात्र आगम से कहीं अधिक प्राचीन वैदिक परंपरा का अनुसरण करता है और इसका प्रभाव, स्वामी रामानुजाचार्य के समय से कम होते आने पर भी, अभी दक्षिण मे तिरुपति आदि कई स्थानों पर पाया जाता है। 'गौतमधर्मसूत्र' (३।२) 'बौधायन धर्मसूत्र' (२।६।१७) एवं 'वसिष्ठधर्मसूत्र' (६-१०) में वानप्रस्थ यतियों को 'वैखानस' कहा गया है तथा कालिदास, भवभूति एवं तुलसीदास, आदि की रचनाओं में भी, इन दोनों को अभिन्न माना गया है। (दे० क्रमश: शाकुंतल अं० १ श्लो० २४, उ० रा० अं० १ श्लो० २५ तथा 'मानस, अयो० दो० १७३, २०६, २२४, आदि।) [प० च०]

वैगन (Wagon) कोई भी चौपहिया वाहन जो केवल माल ढोने के काम मे आता है वैगन या माल डिब्बा कहलाता है। जैसा भारी काम इनसे लिया जाता है उसी के अनुरूप इनकी बनावट भी होती है। बनावट में सुंदरता और सजावट पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना ध्यान उनकी दृढ़ता पर दिया जाता है। बहुत भारी बोझा लदा रहने के कारण वैगनों के नीचे के फ्रेम पर स्थितिज दाब तथा विशेष खिंचाव बल पड़ते हैं और शंटिंग (shunting) के समय उपर्युक्त स्थितिज दाब के अतिरिक्त भारी मात्रा में संघट्ट बल भी पड़ता है। इनके प्रत्येक अवयव की अभिकल्पना करते समय ढाँचे को, उक्त सब प्रकार की दाबों तथा बलों को सह सकने योग्य बनाने तथा अवांछित प्रकार की विषम परिस्थितियों से बचाने के उपाय सोचने की तरफ निर्माता को ध्यान केंद्रित करना पड़ता है। इनकी चौडाई तथा ऊँचाई किसी विशेष मानक के अनुसार सीमित रखी जाती है।

प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तक विभिन्न देशों की विभिन्न रेलवे तथा उपयोगकर्ता व्यापारिक संस्थाएँ अपनी आवश्यकताओं के अनुसार माल डिब्बे स्वयं बनवा लिया करती थी। ये माल डिब्बे किसी एक मानक नियमावली के अनुसार न बने होने के कारण रेल के यातायात मार्गों पर चलते समय बड़ी बड़ी अड़चनें पैदा करते थे। अत: जब रेलवे प्रबंधकों ने वैगन बनाने का काम हाथ में लिया, तब उन्होंने माल डिब्बों के मानकीकरण का काम शुरू किया, जिसमें ४-५ वर्षों के भीतर ही काफी प्रगति हुई। पहले बड़ी लाइनों के १० से २० टन तक माल लादने के वैगनों का फिर ३० से ४५ टन तक भार लादने योग्य, बोगीयुक्त लंबे वैगनों का मानकीकरण किया गया। बड़े वैगनों का प्रचार अधिक न हो पाया। ऐसे बड़े वैगनों का उपयोग रेलवे विभाग तथा बड़ी गैस कंपनियाँ ही अधिक मात्रा में कोयला मँगवाने के लिये करती हैं। जब तक बोगी वैगन नहीं बने थे, तब तक बहुत लंबी चीजें लादने के लिये दो दो या तीन तीन खुले वैगनों का भी एक साथ उपयोग किया जाता था। लेकिन अब बहुत लंबे तथा मजबूत बोगी वैगन बन जाने से इस प्रकार के काम मे बहुत सुविधा हो गई है। चित्र (देखें फलक) मे ४५ टन भार लादने योग्य ५½ फुट गेज का एक खुला वैगन दिखाया गया है और चित्र में बोगीयुक्त बोलस्टर दिखाए गए हैं (देखें फलक)। इनमें ७० फुट लंबाई तक का सामान ले जाया जा सकता है। इनके केंद्रीय तकियों (bolsters) के बीच का फासला ही ४० फुट है।

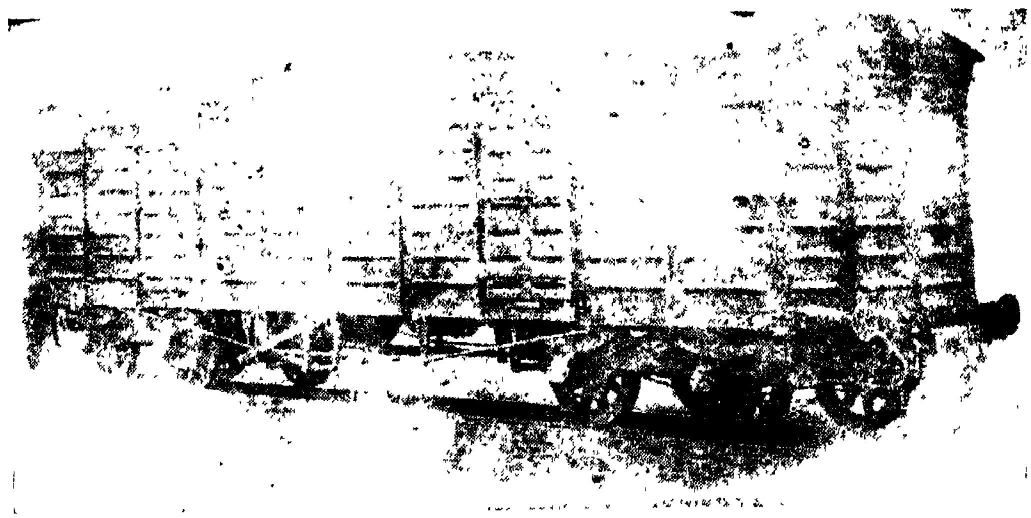
रेल यातायात मे छोटे वैगनों का अधिक उपयोग होने के कारण, उन्नत प्रकार के माल गोदामो में वैगन तौलने के तुलायंत्र, टर्न टेबल और ट्रैवर्सर आदि यंत्र भी १२ फुट फासले के चक्कोंवाले वैगनों के लिये ही लगाए जाते हैं, और मालगोदाम साइडिंगें (siding) भी उन्ही के अनुसार बनाई जाती हैं। कोयले की खानों में कोयला छाँटने के जो यंत्र लगे होते हैं, वे भी इन्ही वैगनों के नाप के होते हैं। इन यंत्रों के द्वारा कोयला सीधा ही वैगनों में गिराकर भर दिया जाता है। कोयला खर्च करनेवाले स्टेशनों पर कोयला रखने की जो विशेष कोठियाँ होती हैं, वे इन वैगनों के नीचे सही सही आ जाती हैं, और वैगन के नीचे का दरवाजा खोलते ही पूरा वैगन उन कोठियों में एकदम खाली हो जाता है। इसी प्रकार से कोयले की मोटर ट्रकें भी वैगन के नीचे रखकर भर दी जाती हैं। इंजन गोदामों के बड़े स्टेशनों पर इसी प्रकार से इंजनों के टेंडरों में भी वैगनों से सीधा ही कोयला भर दिया जाता है जिससे परिश्रम और समय की बचत हो जाती है। पत्थर की गिट्टियाँ लादने के लिये विशेष प्रकार का वैगन (देखें फलक) और कोयला लादने के बोगीयुक्त विशेष प्रकार के बड़े वैगन (देखे फलक) होते हैं।

जिन देशों में लकड़ी बहुतायत से मिल जाती है, वहाँ छोटे वैगनों का ऊपरी ढाँचा लकड़ी से बनाना बड़ा सुविधाजनक तथा सस्ता रहता है, क्योंकि प्रथम तो लकड़ी पर यंत्रोपचार बड़ी जल्दी हो जाता है, दूसरे छोटे स्टेशनों पर उनकी मरंमत भी सरलता से हो सकती है। जिन इलाकों के वायुमंडल में अमोनिया गैस तथा अन्य ऐसे रासायनिक पदार्थों के कण, जिनके कारण इस्पात की बनी वस्तुओं का अपरदन (erosion) बड़ी जल्दी होने लगता है, मिले रहते हैं, अथवा उस क्षेत्र में मिलनेवाले कोयले के घटकावयव ही ऐसे हों जिनपर बरसाती पानी पड़ने से वैगनों के इस्पाती अवयवों का अपरदन बड़ी शीघ्रता से होने लगे, वहाँ वैगनों के ढाँचे लकड़ी से बनाना ही लाभकर रहता है। शुद्ध लोहे से बने अवयवों पर उपर्युक्त वातावरण आदि का इतना दुष्प्रभाव नहीं पड़ता जितना इस्पात के बने वैगनों के अवयवों पर होता

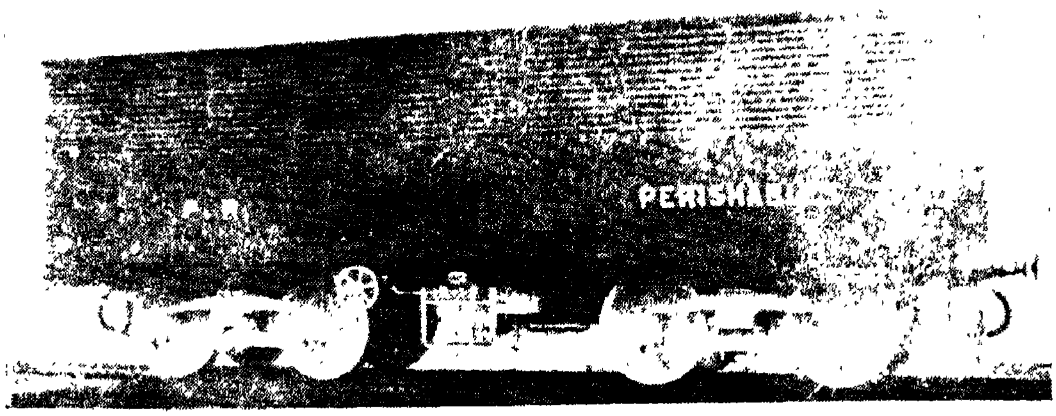
वैगन (पृष्ठ १७६-७७)



कोयला वैगन (जर्मन स्टेट रेलवे)
उच्च धारिता ६० टन ।

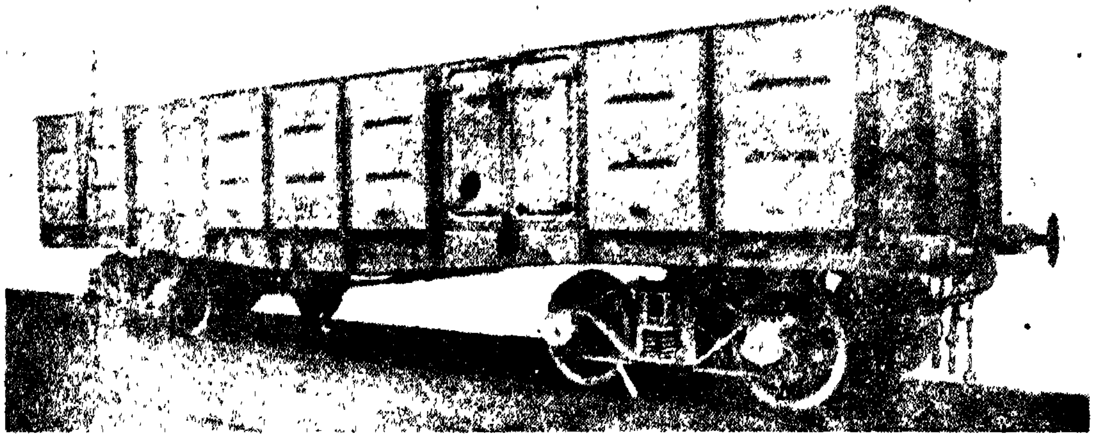


ढकी मालगाड़ी, हाथब्रेक सहित
धारिता ४० टन ।



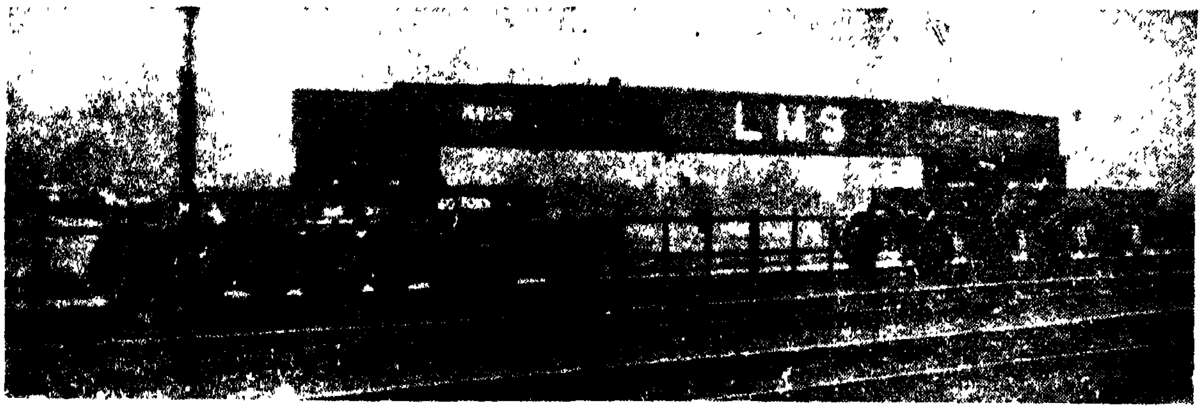
विकारी पदार्थ ढोने का वाहन

वैगन (पृष्ठ १७६–१७७)



बोगीयुक्त खुला वैगन

४५ टन भार लादने योग्य, समग्रभार ५६ टन ५ हंड्रेडवेट, समग्र धारिता १२२८ घन फुट।



६० टन ट्रैंसफॉर्मर ट्राली (लंदन मिडलैंड और स्कॉटिश रेलवे)

प्रधान बोल्स्टरों के केंद्रों के बीच का फासला ४० फुट; बोगी के चक्कों का फासला ५ फुट ६ इंच; रेल की सतह से गर्डर की अत्यधिक ऊंचाई ७ फुट १०½ इंच; खाली गाड़ी का भार ३१ टन १० हंड्रेडवेट तथा ६० टन लदान पर, प्रति धुरे का भार ११·४४ टन।



हॉपरयुक्त मिट्टीवाहक वैगन

है। हाँ, यदि खनिज लोह-अयस्क इस्पात के बने वैगनों में लादा जाए, तो उसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। लकड़ी से बने वैगनों के ढाँचों के फ्रेम यदि इस्पात के बनाकर, उन्हें अपरदन विरोधी किसी रंग रोगन से पोत दें, फ्रेम पर लकड़ी के तख्ते कसकर फिर उन्हें रँग दिया जाए और समय समय पर तख्तों एवं फ्रेम को रँगते रहें, तो उनकी उमर बढ़ सकती है।

२० टन से अधिक भार लादे जाने योग्य वैगनों को तो पूर्णतया इस्पात का ही बनाने का रिवाज है। प्रारंभ में २० टन से अधिक भार लादे जानेवाले वैगन में, जिनके चक्कों का फासला १२ फुट से अधिक होता था, तीन धुरे अर्थात् ६ पहिए लगाने की प्रथा थी, जो अब बोगियों का प्रचार हो जाने से बंद हो गई (देखें फलक)।

आजकल फल, दूध आदि विकारी, अर्थात् जल्दी बिगड़ जानेवाले पदार्थों को जल्दी जल्दी ढोने के लिये एक्सप्रेस माल गाड़ियाँ चलाने का रिवाज बढ़ता जा रहा है। अतः उनके लिये विशेष प्रकार से बने तथा छतवाले वैगनों का उपयोग होता है (देखें फलक)। आधुनिक प्रकार के इन वैगनों में, दोनों तरफ, पेंचयुक्त कपलिंग, बफर, वैक्युअम द्वारा स्वचालित ब्रेक तथा लीवर, या चकरी और पेंच द्वारा चालित हाथ ब्रेक अवश्य लगाए जाते हैं। फलक में ब्रेक आदि का प्रबंध स्पष्ट दिखाया गया है। जो वैगन जिस किसी विशेष काम के लिये बनाया जाता है, उसमें उस काम के उपयोगी उपकरण भी लगाए जाते हैं। गोश्त तथा मछली आदि आमिष पदार्थ ढोने के लिये वातानुकूलित वैगन बनाए जाते हैं। पशुओं को ढोने योग्य वैगनों में हवा के लिये उपयुक्त प्रकार की जालियाँ, सफाई करने तथा गोबर आदि फेंकने के लिये विशेष खिड़की बनाई जाती है तथा उनका फर्श डामर से बनाया जाता है। घोड़े ले जानेवाले वैगनों में उपर्युक्त पशु वैगनों की सब विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ आडबंद तथा आड़ी दिशा में कुछ गद्दीदार दीवारें बनाकर प्रत्येक घोड़े के लिये एक एक खाना बना दिया जाता है, जिससे कीमती घोड़ों को सफर करने में कष्ट न हो। इन वैगनों में आगे और पीछे साईसों के लिये काम करने का गलियारा बना दिया जाता है और इनमें पानी का भी प्रबंध होता है। मोटर गाड़ियों को ढोने के लिये जो वैगन बनते हैं, उनका प्रवेशद्वार सिरे की तरफ रहता है, जिससे डेड ऐंड (dead end) प्लैटफार्म से मोटर गाड़ी सीधी ही भीतर ढकेल दी जा सके। वैगन के भीतर खड़ी की गई मोटर गाड़ी को स्थिरता से बाँधने के लिये आवश्यक साधन भी लगाए जाते हैं। तेल तथा अन्य प्रकार के द्रवों को ढोने के लिये टंकीनुमा वैगन भी, जिनपर उन्हें खाली करने तथा भरने के वाल्व, पंप और द्वार भी होते हैं, बनाए जाते हैं। पेट्रोल आदि ढोने के लिये विशेष प्रकार की टंकियाँ बनाई जाती हैं, जिससे उन द्रवों के कारण मार्ग में कोई खतरा न उपस्थित हो।

वैगनों का बृहत् उत्पादन — आजकल वैगनों के अवयवों तथा पुर्जों का पूर्णतया मानकीकरण हो चुका है, जिससे उनके बृहत्-उत्पादन तथा मरम्मत में सुविधा रहे। लोकोमोटिव पब्लिशिंग कंपनी, लंदन, द्वारा प्रकाशित एक लेख के आधार पर डरबी नगरस्थ, एल० एम० ऐंड एस० (L. M. & S.) रेलवे के कारखाने में होनेवाली बृहत् उत्पादन के लिये प्रयुक्त प्रणाली का सारांश यहाँ दिया जा रहा है।

बहुमुखी रंदों आदि यंत्रों पर लकड़ी के समस्त अवयवों को सही सही नाप में बनाकर, बहुत से बरमे एक साथ लगे छिद्रणयंत्रों पर, एक समान अनेक अवयवों को एक साथ ऊपर नीचे रखकर, छेद दिया जाता है, जिससे समय की बहुत बचत हो जाती है। इन यंत्रों में लगे बरमों तथा कटरों के फासले पहले से ही सही सही समायोजित कर लिए जाते हैं, जिससे कम से कम प्रक्रियाओं में ही काम चल जाता है। इस्पात की चादरों से बने अवयव यांत्रिक कैंचियों तथा प्रेसों पर काटे एवं मोड़े जाते हैं। इनमें छेद करने का काम जिगों की सहायता से बरमा यंत्रों द्वारा किया जाता है, जिससे प्रत्येक अवयव पर छेदों का अलग अलग रेखांकन न करना पड़े और सब छेद पूर्व निश्चित फासलों पर एक ही नाप के बन जाएं।

वैगन के अवयवों को उक्त प्रकार से बनाने के बाद, एक दूसरे से जोड़ने का काम पूर्वसुनिश्चित योजना के अनुसार, क्रमानुसार प्रक्रियाओं से किया जाता है। इन प्रक्रियाओं का समय भी अनुभव के आधार पर पहले से ही निर्धारित किया होता है। विभिन्न अवयवों को सही स्थान पर जोड़ने की क्रिया जिगों द्वारा की जाती है। अवयवों को उठाने, ले जाने तथा उपयुक्त स्थान पर धरने का काम, संपीडित वायु की दाब से चलनेवाले हविसों (hoists) और बेलनयुक्त वाहकों (conveyers) से किया जाता है। अवयवों को यथास्थान जड़ते समय, स्थिरता से थामने का काम जलशक्ति-चालित शिकंजों से लिया जाता है। इन अवयवों को आपस में जोड़ने में सहायता करनेवाला जिग इस प्रकार का बना होता है कि उसके कारण प्रत्येक अवयव अपने स्थान पर सीधा एवं ठीक ठीक ही बैठ सकता है, अन्यथा नहीं। ढिबरी और पेंचों को कसने तथा रिवट लगाने का काम संपीडित वायुचालित उठौआ यंत्रों से होता है। साथ ही साथ आवश्यक स्थानों पर बिजली द्वारा वेल्डिंग भी होता रहता है। उपर्युक्त कारखानों में एक वैगन को जोड़कर खड़ा करने की क्रिया में, प्रारंभ से अंत तक, लगभग २½ घंटे लगते हैं और ट्रैवर्सर द्वारा प्रति बीस मिनट में एक वैगन रस्से द्वारा खिचकर अपने आगे के स्थान पर ढकेल दिया जाता है तथा इस वैगन द्वारा खाली की गई जगह में पीछे की तरफ बननेवाले अन्य वैगन क्रम से आते रहते हैं। वैगनों को रँगने आदि का काम संपीडित वायुचालित फुहारों से होता है। रँगाई किए जानेवाले स्थान का ताप तथा संवातन का प्रबंध भी ऐसा होता है कि वैगनों के रंग को सूखने में देर नहीं लगती।

सं० ग्रं० — रेलवे कैरेज ऐंड वैगन, थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस

[ओं० ना० श०]

वैज्ञानिक विधियाँ विज्ञान प्रकृति का विशेष ज्ञान है। यद्यपि मनुष्य प्राचीन समय से ही प्रकृति संबंधी ज्ञान प्राप्त करता रहा है, फिर भी विज्ञान अर्वाचीन काल की ही देन है। इसी युग में इसका

प्रारंभ हुआ और थोड़े समय के भीतर ही इसने बड़ी उन्नति कर ली है। इस प्रकार संसार में एक बहुत बड़ी क्रांति हुई और एक नई सभ्यता का, जो विज्ञान पर आधारित है, निर्माण हुआ। मनुष्य के लिये अन्य लोक की यात्रा स्वप्नमात्र थी, वह अब साकार होती दिखाई पड़ती है। प्रश्न यह है कि विज्ञान की द्रुत गति से जो उन्नति हुई, उसका श्रेय किसे है? क्या प्राचीन काल के मनुष्य इन अर्वाचीन वैज्ञानिकों की अपेक्षा बुद्धि कम रखते थे? यदि ऐसी बात है, तो दर्शन, साहित्य एवं ललित कलाओं की उन्नति प्राचीन समय में इतनी अधिक क्यों हुई? संभवतः इसका रहस्य उन वैज्ञानिक विधियों में निहित है, जिनका प्रश्रय पाकर विज्ञान इतनी उन्नति कर सका है। इसके लिये आवश्यक है कि वैज्ञानिक गतिविधि पर विचार किया जाय।

अर्वाचीन विज्ञान का प्रारंभ लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है, प्राचीन काल में भी विज्ञान की कुछ उन्नति हुई, किंतु उसका क्रम आगे न बढ़ पाया। इसलिये कुछ बात इसके पीछे अवश्य रही होगी। वस्तुतः प्राचीन काल के मनीषियों ने जो भी ज्ञान अर्जित किया, उसे बुद्धिवादी कहना ठीक होगा। अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर ज्ञान की उच्च कोटि की बातें उन्होंने बताईं, किंतु उनके प्रसार और वर्धन की व्यवस्था नहीं थी और संसार भर में उनका व्यापक प्रचार और प्रसारण नहीं हो पाया। अर्वाचीन विज्ञान इसके विपरीत प्रायोगिक ज्ञान है, जिसका प्रारंभ में बड़ा विरोध हुआ। इसी के फलस्वरूप गैलिलियो जैसे अग्रगामी वैज्ञानिकों को कड़ी यातनाएँ सहनी पड़ीं। फिर भी प्रयोग द्वारा सत्यापन विधि के भीतर ही प्रसारण का बीज भी छिपा हुआ था। इस प्रकार जो ज्ञान मिलता गया, वह एक शृंखला में आबद्ध हो चला, जिसका क्रम आगे भी जारी रहा। इस ज्ञान से शक्ति के नए नए स्रोतों का पता चला और परिणामस्वरूप न केवल इसका विरोध कम होता गया अपितु एक बहुत बड़ी क्रांति समाज में हुई। मशीन युग का सूत्रपात हुआ और संसार में आशा की एक नई किरण सामने आई। किंतु जिस प्रकार सभी वस्तुओं के साथ अच्छाई और बुराई दोनों के पहलू जुड़े हुए हैं, विज्ञान भी मानव के लिये केवल वरदान ही न रहा, उसका पैशाचिक रूप हिरोशिमा मे ऐटम बम के रूप में विश्व ने देखा, जिसके विस्फोट के कारण संसार के विनाश तथा प्रलय की लीला का दृश्य उपस्थित हो गया। इस प्रकार संसार के सामने 'सत्य को केवल सत्य के लिये' खोज न करने की आवश्यकता जान पड़ी और 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के आदर्श को विज्ञान जगत् में भी अपनाना ही श्रेयस्कर मालूम हुआ। विज्ञान इस प्रकार नियंत्रित होकर ही मानव कल्याण में योगदान कर सकता है। इसी नियंत्रण के फलस्वरूप परमाण्वीय भट्ठियाँ बनीं, जो एक प्रकार से नियंत्रित ऐटम बम मात्र हैं, किंतु जिनसे अपार सुविधाएँ मिल सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अल्प काल में ही विज्ञान ने बड़ी उन्नति की और इसका सब श्रेय प्रयोगविधि को है, जिसका उपयोग प्राचीन समय में नहीं किया गया था। इस प्रयोगविधि में प्रयोग का महत्व सर्वोपरि है, फिर भी अन्य और विधियों का उपयोग भी एक विशेष ढंग और क्रम से किया जाता है, जिन्हें हम वैज्ञानिक विधियाँ कह सकते हैं। विज्ञान के अध्ययन में जिन विधियों का उपयोग सामूहिक रूप से अथवा आंशिक रूप से किया जाता है, उनका नीचे वर्णन किया जा रहा है:

(१) **निरीक्षण** — जिस प्राकृतिक वस्तु या घटना का अध्ययन करना हो, सबसे पहले उसका ध्यानपूर्वक निरीक्षण आवश्यक है। यदि कोई घटना क्षणिक हो, तो उसका चित्रण कर लेना आवश्यक है, ताकि बाद में उसका निरीक्षण हो सके, जैसे ग्रहण। निरीक्षण के लिये सूक्ष्मदर्शी या दूरदर्शी का उपयोग किया जा सकता है, ताकि अधिक विस्तार के साथ और ठीक ठीक निरीक्षण हो सके। यदि अन्य लोग भी निरीक्षण का कार्य कर रहे हों, तो उसका स्वागत करना चाहिए और स्वतंत्र रूप से अलग से किए गए निरीक्षणों के साथ अपने निरीक्षण की तुलना करनी चाहिए। निरीक्षण का कार्य इतनी लगन और तन्मयता से करना चाहिए कि केवल निरीक्षित वस्तु पर ही ध्यान केंद्रित रहे, जैसे अर्जुन को बाण-विद्या के परीक्षण के समय केवल पक्षी का सिर दिखलाई पड़ रहा था। कभी कभी किसी वस्तु के विषय में मस्तिष्क में पहले से कुछ धारणा बनी रहती है, जो निष्पक्ष निरीक्षण में बहुत बाधक होती है। निरीक्षण के समय इस प्रकार की धारणाओं से उन्मुक्त होकर कार्य करना चाहिए।

(२) **वर्णन** — निरीक्षण के साथ ही साथ, या तुरंत बाद, निरीक्षित वस्तु या घटना का वर्णन लिखना चाहिए। इसके लिये नपे तुले शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, जिससे पढ़नेवाले के सामने निरीक्षित वस्तु का चित्र खिंच जाय। जहाँ कहीं आवश्यकता हो, अनुमान के द्वारा अंकों में वस्तु के गुणविशेष की माप दे देनी चाहिए, किंतु यह तभी करना चाहिए जब वैसा करना बाद में उपयोगी सिद्ध होनेवाला हो। फूलों के रंग का वर्णन करते समय अनुमानित तरंग-दैर्घ्य देना व्यर्थ है, किंतु किसी वस्तु की कठोरता की तुलना अन्य वस्तु की अपेक्षा अंकों में देना ही ठीक है। व्यर्थ के ब्योरे न दिए जाएँ और भाषा सरल तथा सुबोध हो। देश, काल एवं वातावरण का वर्णन दे देना चाहिए ताकि वस्तु किन परिस्थितियों में उपलब्ध हो सकती है, यह ज्ञात हो सके।

(३) **कार्य-कारण-विवेचन** — प्रकृति के रहस्योद्घाटन में कार्य-कारण का विवेचन महत्वपूर्ण है। वर्षा का होना, बादल की गरज, बिजली की चमक, आँधी और तूफान आदि घटनाएँ साथ हो सकती हैं। इनमें कौन किसका कारण है? प्रायः कारण पहले आता है, किंतु केवल क्रम ही कारण का निश्चय नहीं करता। इसलिये इन बातों पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए, ताकि आगे किसी प्रकार का भ्रम न पैदा हो। साथ ही विभिन्न कारणों का तारतम्य भी बाँध रखना चाहिए। ये सब बातें घटना को समझने में सहायक होती हैं।

(४) **प्रयोगीकरण** — विज्ञान की इस युग में जो भी शीघ्र उन्नति हो पाई, उसका एकमात्र श्रेय इस विधि को ही है, क्योंकि अन्य विधियाँ तो इसी मुख्य विधि के इर्द गिर्द सँजोई गई हैं। यह तकनीक इस युग की देन है। प्राचीन समय में इसी के अभाव में विज्ञान की प्रगति नहीं हो पाई थी। अंतरिक्षयात्रा एवं पारमाण्वीय शक्ति का विकास, इसी प्रयोगीकरण के कारण, संभव हो सका है।

प्रयोग और साधारण निरीक्षण में क्या अंतर है? प्रयोग में भी तो निरीक्षण का कार्य होता है। वास्तव में साधारण निरीक्षण में प्रकृति के साथ किसी प्रकार का दखल नहीं दिया जाता, किंतु प्रयोग में दखल दिया जाता है। फलस्वरूप ऐसी संभावनाएँ एवं परिस्थितियाँ निकल आती हैं जिनसे प्रयोग के समय का निरीक्षण रहस्योद्घाटन में बड़ा सहायक होता है।

प्रयोग सत्य जानने के लिये किए जाते हैं, किंतु निरंतर वैज्ञानिक प्रयोगों के फलस्वरूप ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि केवल सत्य के ही नाम पर प्रयोग करना श्रेयस्कर नहीं, यदि वह सत्य मंगलकारी न हो। उस सत्य से क्या लाभ जिसके फलस्वरूप सारे संसार का विनाश निश्चितप्राय हो। इसलिये अच्छा ही है कि इस समय सारे संसार में परमाण्वीय परीक्षण का विरोध हो रहा है। सत्य की खोज के वास्ते ही यह परीक्षण कुछ राष्ट्रों के द्वारा होते रहते हैं, किंतु उसके परिणामस्वरूप रेडियो ऐक्टिवता बढ़ती जा रही है और हो सकता है, भविष्य में उसके कारण जनजीवन के लिये भारी खतरा पैदा हो जाय।

प्रयोग करते समय सच्चाई और ईमानदारी बरतनी पड़ती है। शुद्धि और त्रुटियों का ध्यान रखना पड़ता है। अनेक विभिन्नताओं के अध्ययन के पश्चात् कोई परिणाम निकाला जाता है। यदि कोई असंगत बात दिखलाई पड़े, तो उसे छोड़ नहीं दिया जाता, बल्कि ध्यानपूर्वक उसपर विचार किया जाता है। कभी कभी इसी क्रम में बड़े बड़े आविष्कार हुए हैं। निरीक्षण को कई बार दुहराया जाता है और मध्यमान परिणाम पर ही बल दिया जाता है। तकनीकी भाषा में विधि, निरीक्षण एवं परिणाम का वर्णन किया जाता है।

(५) **परिकल्पना** — प्रयोग करने का एक मात्र उद्देश्य प्रकृति के किसी रहस्य का उद्घाटन होता है। कोई घटना क्यों और कैसे घटित होती है, इसको समझना पड़ता है। वर्षा क्यों होती है? इंद्रधनुष कैसे बनता है? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर देने के लिये एक परिकल्पना की आवश्यकता पड़ती है। यदि परिकल्पना ठीक है, तो वह जाँच में ठीक बैठेगी। परिकल्पना की जाँच के लिये विभिन्न प्रयोग किए जा सकते हैं। आगे चलकर ऐसे तथ्य भी प्रकाश में आते हैं जो उस परिकल्पना की पुष्टि कर सकते हैं। यदि ऐसी बातें हैं, तो उसी परिकल्पना को सिद्धांत या नियम की संज्ञा दी जाती है, अन्यथा उसका संशोधन करना पड़ता है, या उसे छोड़ देना पड़ता है। न्यूटन के गति के नियम और आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद का सिद्धांत इसके उदाहरण हैं।

(६) **आगमन** — जब किसी वर्ग के कुछ सदस्यों के गुण ज्ञात हों, तो उनके आधार पर उस वर्गविशेष के गुणों के बारे में अनुमान लगाना उपपादन कहलाता है। उदाहरण के लिये, अ, ब, स आदि। मनुष्य मरणशील प्राणी हैं; इसके आधार पर कहा जाता है कि सब मनुष्य मरणशील प्राणी हैं। इस प्रकार के सामान्यीकरण (generalisation) के लिये यह आवश्यक है कि जो नमूने इकट्ठे किए जायँ, वे अनियत तरीके से किए जाएँ, नहीं तो जो परिणाम निकाला जायगा वह ठीक नहीं होगा। कभी कभी कुछ राशियों का मध्यमान निकाला जाता है, किंतु यह तभी करना ठीक होगा जब ऐसा करना तर्कसंगत हो। उदाहरणार्थ, 'लेखा जोखा थाहे, लड़का डूबा काहे' से पता चलता है कि नदी की औसत गहराई किसी लड़के की ऊँचाई से कम होते हुए भी लड़का डूब सकता है।

(७) **निगमन** (Deduction) — आगमन (induction) में जो कार्य होता है, उसका उल्टा निगमन में होता है। इसमें किसी वर्ग विशेष के गुणों के आधार पर उस वर्ग के किसी सदस्य के गुणों के बारे में अनुमान लगाया जाता है, जैसे मानव मरणशील प्राणी है, इसलिये 'क', जो एक मनुष्य है, मरणशील है। निष्कर्ष निकालने की इस विधि को ही निगमन कहते हैं। इसके लिये दो बातें आवश्यक हैं : निगमन व्यवहार्य और तर्कसंगत होना चाहिए।

(८) **गणित और प्रतिरूप** — बहुत सी बातें हमारी समझ से परे हैं, उनके समझने में प्रतिरूप (model) से बड़ी सहायता मिलती है। शरीर की आंतरिक रचना, अणुओं का संगठन आदि विषय प्रतिरूप की सहायता से अच्छी तरह बोधगम्य हो जाते हैं। गणित के द्वारा भी विज्ञान के कठिन प्रश्नों को हल करने में बड़ी सहायता मिलती है। बहुत सी ऐसी बातें हैं जो हमारी ज्ञानेंद्रियों द्वारा आत्मसात् नहीं की जा सकतीं, जैसे पदार्थतरंगें, किंतु गणित के सूत्रों के द्वारा उनकी छानबीन संभव हो पाई है और प्रयोगों द्वारा उनकी पुष्टि भी हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति में गणित का बहुत बड़ा हाथ है।

(९) **वैज्ञानिक दृष्टिकोण** — अंत में एक बहुत ही महत्वपूर्ण विधि रह जाती है। वह है किसी प्रश्न के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अपनाना। खुले दिमाग से खोज की भावना रखकर विचार करना ही सही दृष्टिकोण है। अपने व्यक्तित्व को प्रश्न से अलग रखना चाहिए और सच्चाई एवं पक्षपातरहित भाव से किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए। जीवन के रोज के प्रश्नों में भी इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना श्रेयस्कर है। [र० शं० सि०]

वैटिकन १. नगर राज्य (City State), पृथ्वी पर सबसे छोटा, स्वतंत्र राज्य है, जिसका क्षेत्रफल केवल ४४ हेक्टेयर (१०८·७ एकड़) है। यह नगर, एक प्रकार से, रोम नगर का एक भाग है। इसमें सेंट पीटर गिरजाघर, वैटिकन प्रासादसमूह, वैटिकन बाग तथा कई अन्य गिरजाघर संमिलित हैं। सन् १९२९ में एक संधि के अनुसार इसे स्वतंत्र राज्य स्वीकार किया गया। इस राज्य के अधिकारी, ४५ करोड़ ६० लाख रोमन कैथोलिक धर्मावलंबियों से पूजित, पोप हैं। राज्य के राजनयिक संबंध संसार के लगभग सब देशों से हैं। सन् १९३० में पोप की मुद्रा पुन: जारी की गई और सन् १९३२ में इसके रेलवे स्टेशन का निर्माण हुआ। यहाँ की मुद्रा इटली में भी चलती है।

आकर्षक गिरजाघरों, मकबरों तथा कलात्मक प्रासादों के अतिरिक्त वैटिकन के संग्रहालय तथा पुस्तकालय अमूल्य हैं।

२. पोप के सरकारी निवास का नाम भी वैटिकन है। यह रोम नगर में, टाइबर नदी के किनारे, वैटिकन पहाड़ी पर स्थित है तथा ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक कारणों से प्रसिद्ध है। यहाँ के प्रासादों का निर्माण तथा इनकी सजावट विश्वश्रुत कलाकारों द्वारा की गई है। [मू० कां० रा०]

इतिहास — आठवीं शताब्दी ई० में रोम के निकटवर्ती प्रदेशों पर चर्च का शासन स्वीकार किया जाने लगा। इस प्रकार 'पेपल स्टेट्स' का प्रारंभ हुआ (दे० चर्च का इतिहास)। सन् १८७० ई० में इटली ने 'पेपल स्टेट्स' को अपने अधिकार में ले लिया, इससे इटली और चर्च में तनाव पैदा हुआ, क्योंकि रोमन कैथालिक चर्च अपने परमाध्यक्ष को ईसा का प्रतिनिधि जानकर यह आवश्यक समझता है कि यह किसी राज्य के अधीन न रहे। सन् १९२९ ई० में इटली ने रोमन कैथोलिक चर्च के साथ समझौता करके उसे संत पीटर के 'महामंदिर के आसपास लगभग १०९ एकड़ की जमीन दे दी और उस क्षेत्र को पूर्ण रूप से स्वतंत्र मान लिया। इस प्रकार चिट्टाडेल वाटिकानो (Citta Del Vaticano) अर्थात् वैटिकन नगर नामक एक नया स्वायत्त राज्य उत्पन्न हुआ। उसे अंतरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त है और उसके अपने सिक्के, अपना डाक विभाग, रेडियो आदि हैं। उसके नागरिकों की संख्या लगभग ७०० है। उस केंद्र से पोप पूर्ण स्वतंत्रता से दुनिया भर में फैले हुए रोमन कैथोलिक चर्च का आध्यात्मिक संचालन करते हैं। [का० बु०]

वैतरणी पुराणों में वर्णित नरकलोक की नदी। गरुड़ पुराण, शंखलिखित स्मृति आदि कुछ ग्रंथों के अनुसार यह शत योजन विस्तीर्ण, तप्त जल से भरी हुई रक्त-पूय-युक्त, मांस-कर्दम-संकुल एवं दुर्गंधपूर्ण है। इस नदी में पापी प्राणी मरने के बाद (प्रेतशरीर धारण कर) रोते हुए गिरते हैं और भयंकर जीव जंतुओं द्वारा दंशित एवं त्रासित होकर रोते रहते हैं। पापियों के लिये इसके पार जाना अत्यंत कठिन माना गया है। यमलोक में स्थित इस नदी को पार करने के लिये धर्मशास्त्र में कुछ उपाय भी कहे गए हैं।

महाभारत में यह सूचना भी मिलती है कि भागीरथी गंगा ही जब पितृलोक में बहती है तब वह वैतरणी कहलाती है।

• वैतरणी नाम की एक भौतिक नदी भारत में है (महा० भीष्म०, ९।३४)। (दे० 'नरक')। [रा० शं० अ०]

वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र पुराण-कथा-शास्त्र वह सरलतम माध्यम माना जा सकता है जिसके द्वारा प्रारंभिक मानव ने अपने धार्मिक विचारों को प्रकट किया। वैदिक धर्म को प्रकृतिपरक कहा गया है, क्योंकि, दूसरे शब्दों में, इस धर्म मे मुख्य रूप से प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं की पूजा की जाती थी, हालाँकि यह पूर्णत: सही नहीं है। वैदिक धर्म एवं परिणामत: वैदिक पुराण-कथा शास्त्र एक विकास की परंपरा मे है और उनका अध्ययन वैदिक लोगों के सांस्कृतिक इतिहासानुक्रम से संबंधित करके ही किया जा सकता है। अपने सांस्कृतिक जीवन के प्रारंभिक काल में वैदिक आर्य, या उनके पूर्वज, प्रकृति के अंग के रूप में उसके अधिकाधिक समीप थे। इस काल में वे प्रकृति की विशालता एवं समृद्धि तथा चमत्कार से पूर्णत: अभिभूत थे। अपनी इस सरल भावुकता में उन्होंने धार्मिक भावना का पुट देना चाहा जिसके फलस्वरूप दैवीय माता पिता के पौराणिक रूप 'द्यावापृथिवी' की भावना आई। उन लोगों ने यह भी अनुभव किया कि प्रकृति यद्यपि विशाल है, तथापि अनियोजित एवं अनियमित नहीं। इसका नियंत्रण कुछ निश्चित विधानों से होता है। यह विशृंखल नहीं बल्कि व्यवस्थित है। इस ज्ञान से ऋत (ब्रह्मांड संबंधी नियमों) एवं वरुण (ब्रह्मांड संबंधी नियमों के नियंता) के पौराणिक रूपों का उद्भवन हुआ। वरुण असुर थे अर्थात् उनके पास असु नामक चमत्कारिक शक्ति थी और अपनी माया से उन्होंने इस संसार को बाँध रखा था एवं इसके छोटे बड़े विभिन्न प्रकार के कार्यों के नियामक थे। उन्होंने इस प्रकार सम्राट् पद प्राप्त किया। दैवीय आचारशास्त्र (और विस्तृत रूप में मानवीय नैतिकता) की इस पौराणिक जटिलता में मित्र, अदिति एवं आदित्य भी थे। इस दैवीय पुराणकथा के साथ ही साथ अग्नि के देवत्व का भी विकास हुआ जो वैदिक धार्मिक कार्यों का एकमात्र आधार थी। साथ ही साथ यज्ञीय पेय सोम के देवत्व का भी विकास हुआ। अग्नि जो वैदिक देवों में सर्वाधिक दृष्टिगम्य थी, आर्यों के गृहस्थ जीवन का केंद्र एवं मनुष्यों और देवताओं के बीच संबंध स्थापित करनेवाली भी मानी गई।

सामान्य सिद्धांत के रूप मे यह स्वीकृत किया जा सकता है कि किन्हीं विशेष लोगों के धर्म एवं पुराण-कथा-शास्त्र की प्रकृति इस बात पर निर्भर करती है कि वे किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं। वरुण का सार्वभौम धर्म एवं अग्नि और सोम का यज्ञीय धर्म आर्यों के पूर्वजों की आवश्यकता की पूर्ति कर देता था जब वे अपना जीवन प्रकृति के साथ बिताते थे एवं प्रारंभिक प्रकार के यज्ञीय धर्म का पालन करते थे। किंतु बल्ख (जहाँ वे काफी दिनों तक रहे) से आगे सप्तसिंधु में आने पर इन लोगों को अनेक प्रतिद्वंद्वी जातियों से (जो बाद में सामूहिक रूप से ऋग्वेद में वृत्र या दास कही गई हैं) भिड़ना पड़ा। अत: उनकी धार्मिक प्रवृत्ति ने एक नए देवता को जन्म दिया जो उनके युद्ध संबंधी साहस को बढ़ावा दे सके। उसका नाम युद्धदेवता इंद्र था। वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र की विकसनशील प्रवृत्ति इंद्र के व्यक्तित्व के विकास में स्पष्ट दिखाई देती है। मूलत: इंद्र एक मानवनायक था जो सोम से उत्तेजित होकर वैदिक आर्यों का नेतृत्व करते हुए सप्तसिंधु पहुँचा। इतिहास क्रमश: पुराण-कथा-शास्त्र में परिवर्तित हो गया और मानवनायक एक राष्ट्रीय युद्धदेवता बन गया। इस प्रकार के पौराणिकीकरण में बाद इंद्र पर अन्य कई विशेषताओं का आरोपण किया गया। इंद्र वर्षा का देवता माना जाता था जिसने अपने वज्र से मेघासुर वृत्र को मारकर स्वर्ग के जल को मुक्त किया। प्राचीन कथाओं के अहिसंहारक वीर से भी उसका तादात्म्य किया गया। चूँकि, ऋग्वेद का एक बृहद् अंश विजय एवं उपनिवेश बनाने के समय से संबधित है, यह स्वाभाविक ही था कि वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र इंद्र की कथाओं से अभिभूत हो। मरुतों, अश्विनों एवं ऋभुओं के पौराणिक रूपों में अनुमानत: ऐतिहासिक घटनाओं के पौराणिकीकरण ही कारण हैं। वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र के विकास में एक महत्वपूर्ण बात 'सौरीकरण' की है, अर्थात् सौर देवताओं से संबंधित पौराणिक व्यक्ति जो मूलत: सौर देवता से बिल्कुल ही संबंधित नहीं थे। वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र का प्रमुख सौर देवता सूर्य था। किंतु कई कारणों से सौर गुण का समावेश दूसरे देवताओं में भी किया गया, जैसे विष्णु (जो मूलत: उर्वरता का देवता था), पूषन (जो पशुपालन का देवता था), और मित्र एवं सवितृ

(दोनों ही वरुण से संबंधित थे) । इस संबंध में इस बात का संकेत किया जा सकता है कि पौरोहित्यपूर्ण धर्म में विष्णु एवं पूषन जैसे देवताओं को ऊँचा स्थान देने का एक साधन था उनको जान बूझकर, यद्यपि बनावटी रूप से, इंद्र या अग्नि अथवा सोम से संबंधित करना । इस संदर्भ में यह उल्लेख्य है कि उषा प्रकृति देवी के रूप में सूर्य जैसी है, बिल्कुल पारदर्शक, यद्यपि वैदिक कवियों ने उसके मानवीय सौंदर्य के विशद वर्णन किए हैं ।

भारत में प्राक् वैदिक अनार्यों के धर्म के प्रभावस्वरूप वैदिक आर्य धर्म में रुद्र के पौराणिक रूप का उद्भवन हुआ । इस देवता को मूल भारतीय शिव का आर्यीकृत रूप माना जा सकता है । किंतु जब शिव को वैदिक धर्म में रुद्र के रूप में अपना लिया गया तो उसके पूरे व्यक्तित्व के केवल एक भाग, मृत्यु एवं संहार के देवता के रूप को ही महत्व दिया गया । दूसरी ओर यम मानव जाति का जनक था (प्रजापति को परवर्ती वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र में महत्व प्राप्त हुआ), और मानव जाति के संरक्षण के लिये स्वमेध द्वारा यम मृत्यु के लिये पहला व्यक्ति भी हुआ । तदनंतर वह मानव जाति की उन सभी पीढ़ियों अर्थात् पितरों का स्वामी हुआ जो उसके बाद मृत्यु को प्राप्त हुईं । प्रसंगवश इस बात का भी संकेत किया जा सकता है कि यम के साम्राज्य के वर्णनों में स्वर्ग का वर्णन भी प्राप्त होता है, किंतु प्रारंभिक वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र में नरक का ज्ञान था, ऐसा नहीं जान पड़ता । इसी प्रकार प्रारंभिक वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र में गंधर्व एवं अप्सराएँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं, हालांकि ऋग्वेद के एक मंत्र में उर्वशी (दैवीय अप्सरा) और पुरुरवा (मानव राजा) की पौराणिक कथा का जिक्र है । लघु देवताओं में सूत्रों के स्वामी 'ब्रह्मणस्पति' का विशेष महत्व है । इस संबंध में मनु, भृगु एवं अंगिरस जैसे पौराणिक ऋषियों का उल्लेख किया जा सकता है । वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र में भूत-प्रेत-पूजा का शायद ही कोई संकेत हो किंतु दैवीय एवं अर्धदैवीय गुण कुछ पशुओं एवं जड़ पदार्थों में आरोपित किए गए हैं ।

वैदिक पुराण-कथा-शास्त्र के विषय में बताते हुए ब्राह्मणों में उल्लिखित अनेक पौराणिक कथाओं का उल्लेख भी किया जाना चाहिए, जैसे मनु एवं प्रलय, शुनःशेप और वरुण, यद्यपि इनमें कई बातें किन्हीं दूसरी बातों के गौरववर्धन या यज्ञ से संबंधित हैं । ब्राह्मणों में दो अत्यधिक प्रचलित पौराणिक अभिप्राय प्रजापति के तपस एवं देवासुरसंग्राम के हैं । उपनिषदों के अनेक दार्शनिक उपदेश भी इंद्र, विरोचन एवं उमा हैमवती की पौराणिक कथाओं के माध्यम से बताए गए हैं । [आर० एन० दां०]

वैदिक शाखाएं शाखा मूलवस्तु से निकले हुए विभाग अथवा अंग को कहते हैं—जैसे वृक्ष की शाखा । वैदिक साहित्य के संदर्भ में वैदिक शाखा शब्द से उन विशेष परंपराओं का बोध होता है जो गुरु-शिष्य-प्रणाली, देशविभाग, उच्चारण की भिन्नता, काल एवं विशेष परिस्थितिजन्य कारणों से चार वेदों के भिन्न भिन्न पाठों के रूप में विकसित हुईं । उन्हें कभी कभी चरण भी कहा जाता है । इन शाखाओं का विवरण शौनक के चरणव्यूह और पुराणों में विशद रूप से मिलता है । वैदिक शाखाओं की संख्याएँ सब जगह एक रूप में दी गई हों, ऐसा नहीं । फिर, विभिन्न स्थलों में वर्णित सभी वैदिक शाखाएं आजकल उपलब्ध भी नहीं हैं । पतंजलि ने ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १००, सामवेद की १०० तथा अथर्ववेद की ९ शाखाएँ बताई हैं । किंतु चरणव्यूह में उल्लिखित संख्याएँ इनसे भिन्न हैं । चरणव्यूह से ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ ज्ञात होती हैं—शाकलायन, वाष्कलायन, आश्वलायन, शांखायन और मांडूकायन । पुराणों से उसकी केवल तीन ही शाखाएँ ज्ञात होती हैं—शाकलायन, वाष्कलायन और मांडूकायन । यजुर्वेद के दो संप्रदाय हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद । शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—माध्यंदिन और काण्व, जो क्रमशः उत्तर भारत और महाराष्ट्र में मिलती हैं । चरणव्यूह में कृष्ण यजुर्वेद की ८५ शाखाओं की चर्चा मिलती है, किंतु आज उनमें से केवल ये चार ही उपलब्ध हैं तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ और कपिष्ठलकठशाखा । किंतु कपिष्ठलशाखा कठ की ही एक उपशाखा है । कठशाखा पंजाब में तथा तैत्तिरीय और मैत्रायणी शाखाएँ क्रमशः नर्मदा नदी के निचले प्रदेशों एवं दक्षिण भारत में प्रचलित हुईं । वहाँ उनकी और भी उपशाखाएँ हो गईं । सामवेद की शाखासंख्या पुराणों में एक हजार बताई गई है । पतंजलि ने भी सामवेद को सहस्रवर्त्मा कहा है । भागवत, विष्णु और वायुपुराणों के अनुसार वेदव्यास के शिष्य जैमिनी हुए । उन्हीं के वंश में सुकर्मा हुए, जिनके दो शिष्य थे—एक हिरण्यनाभ कौसल्य, जो कोसल के राजा थे, और दूसरे पौष्यंजि । कोसल की स्थिति पूर्वी (वास्तव में उत्तर पूर्वी) भारत में थी और इस कारण हिरण्यनाभ से चलनेवाली ५०० शाखाएँ प्राच्य कहलाईं । पौष्यंजि से चलनेवाली ५०० शाखाएँ उदीच्य कहलाईं । अथर्ववेद की नौ शाखाएँ मिलती हैं । उनके नाम हैं—पिप्पलाद, स्तौद, मौद, शौनक, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श तथा चारणवैद्य । इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध शाखाएँ हैं पिप्पलाद और शौनक । [वि० पा०]

वैद्युतमुद्रण (Electrotyping) वैसे तो अधिकांश मुद्रणमशीनें विद्युत् शक्ति से परिचालित होती हैं, परंतु वैद्युतमुद्रण, वस्तुतः, उस विधि का नाम है, जिससे विद्युत् की सहायता से टाइप (type) तैयार किए जाते हैं । सामान्यतः, मुद्रण के लिये दोहरे प्लेट (duplicate plates) बनाए जाते हैं और विद्युत् टाइप, जिसे इलेक्ट्रो (Electro) कहते हैं, मूल टाइप के स्थान पर लगा दिया जाता है । ये लकड़ी काट (wood cut) एवं लकड़ी की पच्चीकारी (wood engraving) के स्थान पर भी प्रयुक्त किए जाते हैं ।

वैद्युतमुद्रण की विधि का आविष्कार एक जर्मन वैज्ञानिक, मोरित्स जैकोबी, ने सन् १८३९ में किया, परंतु इसका व्यावहारिक प्रयोग करनेवाली मशीन पहले पहल अमरीका में सन् १८६५ में बनाई गई । वैद्युतमुद्रण के लिये पहले विद्युत् टाइप बनाया जाता है । यह विद्युत् अपघटन (electrolysis) द्वारा मूल काट (original cut) अथवा टाइप के साँचे (mould) पर धातु की पतली तह जमाने से बनाया जाता है । सबसे पुरानी और सस्ती विधि, मोम के साँचे बनाने की है । टाइप अथवा कट को, जिनकी अनुलिपि करनी हो, एक विशेष फ्रेम में बाँधकर इसके गरम किए हुए

मोम में दबाया जाता है। इस साँचे के ठंढा होने पर उसमें चाँदी, अथवा ग्रेफाइट और पानी के छींटे दिए जाते हैं, जिससे साँचा विद्युत् का चालक बन जाए। उस साँचे को एक टंकी में, जिसमें सलफ्यूरिक अम्ल और ताम्र सल्फेट का विलयन भरा होता है, डुबा दिया जाता है और विद्युत् के ऋण इलेक्ट्रोड से संबद्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार ताँबे की एक पतली तह इस साँचे पर जम जाती है। इस पर सीसे की एक दूसरी तह जमाकर, टाइप बनाया जाता है। विशिष्ट कार्यों के लिये ताँबे के स्थान पर निकल का भी प्रयोग किया जाता है।

इस विधि से बनाए गए टाइप बहुत मजबूत और साफ होते हैं। जब किसी चीज को बार बार छापना हो, अथवा एक ही प्लेट बहुत से मुद्रकों के पास भेजनी हो, तो विद्युत् टाइप बहुत उपयोगी होते हैं। इस विधि का मुख्य लाभ टाइप को, जिनका अधिक व्यवहार में आने के कारण घिस जाना अवश्यंभावी है, क्षति से बचाना है। वैद्युतमुद्रण द्वारा उपर्युक्त प्रकार से बनाए गए टाइपों से चार लाख प्रतियाँ कर पाना भी संभव है। इस प्रकार, मुद्रण के क्षेत्र में, वैद्युतमुद्रण विधि बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। [रा० कु० ग०]

वैधता विधि के अनुसार वैधता एक ऐसा संबंध है जिसमें वाध्यता का समावेश होता है। पुरुष और संतान का संबंध, पिता तथा पुत्र या पुत्री के रूप में उसका संबंध, पुरुष और स्त्री के संबंध पर आधारित है जिनसे उस संतान की उत्पत्ति होती है। सभी सभ्य पद्धतियों में विवाह, जो भी इसका रूप हो, प्रामाणिक व्यवस्था है और उसे नैतिक तथा विधिक अनुमोदन प्राप्त है। विवाह के पूर्व की संतानोत्पत्ति अनुमोदित नहीं होती और संतान के लिये उत्तराधिकार से वंचित करनेवाली तथा माता के लिये निंदा की वस्तु मानी जाती है। उसी प्रकार विधवाओं की संतानें भी, मरणोपरांत उत्पन्न संतान को छोड़कर, समाज द्वारा घृणा की निगाह से देखी जाती हैं। जहाँ पति जीवित है लेकिन यदि संतान की उत्पत्ति उसकी माता तथा दूसरे पुरुष से अनुचित संबंध से होती है, तो वह वर्णसंकर या जारज समझी जाती है। केवल उन्हीं संतानों की, जो वैध वैवाहिक संबंध से उत्पन्न होती हैं, वैधानिक स्थिति होती है और वे ही वैध समझी जाती हैं।

आंग्ल विधि के अंतर्गत, जो भारतवर्ष में स्वीकृत तथा अपनाई गई है, संतान की वैधता का सर्वमान्य प्रमाण तभी है जब उसकी उत्पत्ति उसकी माता तथा पुरुष के वैध विवाह से हुई हो या विवाह के विच्छेद के उपरांत दो सौ अस्सी दिन के भीतर अपनी माता तथा पिता से उसकी उत्पत्ति हुई हो जब तक यह न प्रमाणित हो जाय कि उभय पक्ष के बीच उसके उत्पत्तिकाल में कभी संपर्क न हुआ हो। प्रत्येक वाद में वैधता को प्रमाणित करने के निमित्त व्यावहारिक कठिनाई से बचने के लिये कानून ने निष्कर्ष निकालने का एक सरल उपाय प्रदान किया है कि जब तक इसके विपरीत प्रमाण न दिया जाय, विवाह के काल में उत्पन्न सभी संतानें वैध मान ली जाएँगी। यदि यह सिद्धांत प्रतिपादित न होता तो समाज के लिये अपने सीधे सादे लोगों की पैतृक उत्पत्ति के संबंध में खोज बीन करते रहने की व्यर्थ की झंझट में फँसे रहने की संभावना थी। पति का पत्नी के साथ सहयोग हुआ ही नहीं, इसके सिवा अवैधता का अन्य कोई प्रमाण स्वीकार्य नहीं हो सकता। सहयोग का अभिप्राय, व्यापक रूप से, संभोग के अर्थ से है। इस प्रकार कोई भी पति अपने को पिता या जनक न कहकर अपने पैतृक उत्तरदायित्व से वंचित नहीं हो सकता। विधि इसमें इतनी कठोर है कि वैवाहिक काल मे उत्पन्न संतान के पितृत्व का भार उसे वहन करना पड़ेगा, भले ही स्त्री वास्तव में विश्वासघात की अपराधिनी हो। जहाँ पति और पत्नी आपस में संभोग करते हों, उससे उत्पन्न संतान निर्विवाद रूप से वैध मानी जाती है।

इस विषय में हिंदू विधि आंग्ल विधि का अनुसरण करती है। किंतु मुसलमान विधि के अंतर्गत वैधता भिन्न रीतियों से निश्चित होती है। इसलाम विधि यह व्यवस्था देती है कि विवाह काल के छह माह के भीतर उत्पन्न संतान अवैध है जबतक कि पिता उसे अपनी संतान न स्वीकार करे या छह माह के उपरांत उत्पन्न संतान वैध है बशर्ते कि पिता उसे अस्वीकार न करे या विवाहविच्छेद के उपरांत दस चांद्र मासों के भीतर उत्पन्न संतान सुन्नी विधि के अंतर्गत वैध है और शिया विधि के अंतर्गत दो चांद्र वर्षों के भीतर तथा शाफी और मालिकी विधि के अंतर्गत चार वर्ष के भीतर की संतान वैध है। इस विषय और अवधि के विस्तार तथा भिन्नता के दो कारण दिए जाते हैं। एक तो यह कि प्रारंभिक इसलामी विधिवेत्ताओं को गर्भधारण या गर्भाधान के काल की अपूर्ण जानकारी थी तथा दूसरा था स्त्री और उससे उत्पन्न संतान की अयोग्यता एवं प्रतिष्ठा के बचाव के लिये मानवीय भावनाओं का आग्रह। मुसलमान विधि, जहाँ जानकारी न हो या संदिग्धता वर्तमान हो, वहाँ पितृत्व के अधिकार को स्वीकार करती है।

हिंदू का अवैध पुत्र निर्वाह्व्यय का अधिकारी है लेकिन उत्तराधिकार में संपत्ति के किसी भाग का अधिकारी नहीं है, किंतु माता यदि अहिंदू हो तो उसकी संतान निर्वाह्व्यय से भी वंचित हो जाएगी। अवैध पुत्री अपने पिता की संपत्ति पाने की अधिकारिणी नहीं है, यद्यपि वह अपनी माता की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी है। मुसलमान विधि के अंतर्गत सुन्नी पद्धति में यह व्यवस्था है कि अवैध संतान अपने पिता की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती लेकिन पुत्र या पुत्री माता की उत्तराधिकारिणी हो सकती है। लेकिन शिया पद्धति अवैध संतान को बाहरी व्यक्ति की संज्ञा देती है और उसे पिता अथवा माता किसी से भी उत्तराधिकार में संपत्ति पाने की अनुमति नहीं देती।

सभी पद्धतियों में वैध संतान अपने पिता की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी है और साथ ही उसके ऋण के लिये भी उत्तरदायी है। माता पिता की मृत्यु के पश्चात् तत्काल उत्तराधिकारी के हाथ मे संपत्ति का अधिकार आ जाता है और वह न्यास के रूप में उसे ग्रहण करता है, जब तक मृत्युपत्र द्वारा प्राप्त संपत्ति का भुगतान नहीं हो जाता।

वैयक्तिक विधियों का ध्यान न रखते हुए भारत में भारतीय दंड संहिता मैजिस्ट्रेट को अधिकार देती है कि वह किसी व्यक्ति को अपनी संतानों को जितना उचित समझे उतना मासिक निर्वाह्व्यय देने की आज्ञा दे, चाहे वे वैध हों या अवैध। विधि का मंतव्य

संतानों को अवांछनीय मार्ग से जीविका उपार्जन करने से रोकना है, वहाँ पिता संरक्षण में उदासीन है या भरणपोषण का व्यय देना अस्वीकार करता है। यदि कोई व्यक्ति आदेश होने पर उस आदेश की पूर्ति बिना पर्याप्त कारण के नहीं करता है, तो मजिस्ट्रेट प्रत्येक ऐसे आदेश के उल्लंघन के लिये वारंट जारी कर सकता है और उसे कैद का दंड भी दे सकता है जो एक मास से अधिक का न होगा या निर्वाहव्यय की अदायगी यदि इससे पहले हो जाय तो अदायगी होने तक का दंड दे सकता है। [एल० एन० मा०]

वैनेडियम (Vanadium) आवर्त सारणी के पंचम अंतर्वर्ती समूह का पहला तत्व है। इसका केवल एक स्थायी समस्थानिक, जिसका द्रव्यमान ५१ है, प्राप्त है। कृत्रिम रूप से इससे चार रेडियोऐक्टिव समस्थानिक प्राप्त हुए हैं, जिनकी द्रव्यमानसंख्या ४७, ४८, ४९ और ५२ है।

सन् १८०१ में डेल रिओ (Del Rio) ने वैनेडाइट (Vanadite) खनिज में एक नए तत्व की खोज की, जिसका नाम उन्होंने एरिथ्रोनियम (Erythronium) रखा। १८३० ई० में स्कैंडिनेविया के वैज्ञानिक, सेफस्ट्रम (Sefstrom), ने इस तत्व के यौगिक को लौह के धातुमल से अलग किया। विलीन अवस्था में यह अनेक रंग प्रदर्शित करता था। इस कारण सेफस्ट्रम ने इस तत्व का नाम सुंदरता की देवी, वैनेडिस, के आधार पर वैनेडियम रखा। उसी वर्ष यह भी ज्ञात हुआ कि एरिथ्रोनियम और वैनेडियम एक ही तत्व हैं। बर्ज़ीलियस ने वैनेडियम तत्व और उसके यौगिकों के गुणधर्मों की भली प्रकार जाँच की।

पैट्रोनाइट (Patronite) वैनेडियम का मुख्य अयस्क है, जिसमें वैनेडियम सल्फाइड यौगिक उपस्थित रहता है। यह मुख्यकर दक्षिणी अमरीका के पेरू प्रदेश में पाया जाता है। कार्नोटाइट और वैनेडिनाइट द्वारा भी वैनेडियम प्राप्त किया जाता है।

वैनेडियम अयस्क (मुख्यकर पैट्रोनाइट) को सोडियम कार्बोनेट से संगलित कर, जल द्वारा निष्कर्षित करते हैं। प्राप्त विलयन में अमोनियम क्लोराइड डालने पर अमोनियम वैनेडेट का अवक्षेप प्राप्त होता है। इसे दहन कर वैनेडियम पेंटाऑक्साइड प्राप्त हो सकता है तथा अन्य यौगिक भी प्राप्त हो सकते हैं।

वैनेडियम धातु अनेक अपचयन क्रियाओं द्वारा प्राप्त हो सकती है। वैनेडियम डाइक्लोराइड पर हाइड्रोजन गैस की क्रिया, वैनेडियम पेंटाऑक्साइड पर विरल मृदा धातुओं के संमिश्रण द्वारा अपचयन, अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में सोडियम वैनेडेट के विलयन के विद्युत् अपघटन द्वारा वैनेडियम धातु मिलती है।

गुणधर्म — वैनेडियम चमकदार श्वेत रंग की धातु है। इसके प्रधान भौतिक गुणधर्म ये हैं : संकेत वै (V), परमाणु संख्या २३, परमाणु भार ५०.९५, गलनांक १७३५° सें०, क्वथनांक ३,४००° सें० तथा आपेक्षिक घनत्व ५.९६ हैं।

वैनेडियम वायु में अप्रभावित रहता है। इसपर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, शीतल सल्फ्यूरिक अम्ल, विलेय क्षार या ब्रोमीन जल द्वारा कोई क्रिया नहीं होती है। वैनेडियम हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल तथा गरम सल्फ्यूरिक अम्ल में घुलकर, हरा विलयन बनाता है। वैनेडियम पर पिघला कॉस्टिक पोटैश, या पोटैशियम नाइट्रेट, क्रिया कर पोटैशियम वैनेडेट बनाते हैं।

यौगिक — वैनेडियम के २, ३, ४ और ५ संयोजकता के यौगिक बनते हैं। वैनेडियम के ५ संयोजकता के यौगिक अपचयन द्वारा क्रमशः, ४, ३ तथा २ संयोजकता की अवस्था में आते हैं। इस क्रिया द्वारा विलयन के रंग में अनेक परिवर्तन होते हैं, क्योंकि प्रत्येक संयोजित अवस्था के विभिन्न रंग हैं (२ का गहरा बैंगनी, ३ का हरा, ४ का नीला, ५ का पीला या नारंगी)।

वैनेडियम पेंटाऑक्साइड, (V_2O_5), अमोनियम वैनेडेट के ज्वलन द्वारा, पीले-लाल रंग के क्रिस्टल के रूप में बनता है। यह क्षार में घुलकर वैनेडेट यौगिक बनाता है। इसके द्वारा अनेक जटिल यौगिक बनाए गए हैं। इसके मंद अपचयन के फलस्वरूप नीला रंग लिये वैनेडियम ट्रेट्रॉक्साइड (V_2O_4) बनेगा। वैनेडियम पेंटाऑक्साइड, (V_2O_5), का हाइड्रोजन द्वारा अपचयन करने पर काले रंग का वैनेडियम ट्राइऑक्साइड, (V_2O_3), बनता है। इसके द्वारा और त्रिसंयोजी यौगिक बनाए जाते हैं। इन ऑक्साइडों को पोटैशियम द्वारा अपचयित कर, वैनेडस ऑक्साइड, (VO) बनाया जाता है। वैनेडस ऑक्साइड और वैनेडिकऑक्साइड (V_2O_3) में क्षारीय गुण प्रधान हैं।

वैनेडियम ट्राइसल्फेट, [$V_2(SO_4)_3$], अमोनियम या अन्य क्षारीय सल्फेटों से मिलकर, वैनेडियम ऐलम बनाता है। क्लोरीन के साथ इसके तीन क्लोराइड ज्ञात हैं। वैनेडस यौगिक तीव्र अपचायक (reductors) होते हैं।

उपयोग — इस्पात उद्योग में वैनेडियम धातु का बहुत उपयोग होता है। इस निमित्त एक मिश्रधातु फेरोवैनेडियम (Ferrovanadium) लौह वैनेडेट के अपचयन द्वारा बनाई जाती है। इस्पात में वैनेडियम की सूक्ष्म मात्रा डालने से इस्पात की दृढ़ता और चीमड़पन बहुत बढ़ जाता है। वैनेडियम यौगिक अनेक रासायनिक क्रियाओं में उत्प्रेरक के रूप मे काम आते हैं। इसके कुछ यौगिक कृमिनाशक हैं तथा चिकित्सा में उपयोग में आते हैं। [र० चं क०]

वैमानिक आक्रमण का तात्पर्य वायुमार्ग से धरती पर स्थित शत्रु पर, मुख्यतः नगर मे स्थित शत्रु पक्ष की असैनिक आबादी पर, हमला करना है। हवाई बमबारी का सूत्रपात प्रथम विश्वयुद्ध में हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मन अधिकारियों को जेप्लिन (zeppelin) वायुपोतों से बड़ी उम्मीदें थीं। १९१५ ई० में जर्मनी की नौसेना ने लंदन पर खुला हमला करने की अनुमति माँगी और उसे अनुमति मिल गई। १९ जनवरी, १९१५ ई० के दिन ग्रेट ब्रिटेन में स्थित नॉरफॉक (Norfolk) नामक स्थान पर पहला वैमानिक आक्रमण हुआ। फिर तो वैमानिक आक्रमणों का सिलसिला चला और टाइन (Tyne), साउथेंड और मई, १९१५ ई० में लंदन पर भी, हमला हुआ। अक्टूबर, १९१५ ई० मे ब्रिटेन पर गंभीर वैमानिक आक्रमण हुए। १९१७ ई० तक जेप्लिन के आक्रमण कुल ५२ बार हुए। कुल ५,८०६ बम, जिनका वजन लगभग १९६ टन आँका गया है, गिराए गए, जिसके फलस्वरूप ५७७ व्यक्ति मरे और १,३५८ आहत हुए। संपत्ति की हानि लगभग

१५,२७,५८५ पाउंड की कूती गई। प्रारंभ में ये हमले रात में होते थे, पर बाद में दिन में भी होने लगे। आधुनिक युद्धपद्धति की एक विधा के रूप में वैमानिक आक्रमण और हवाई छापे ऐबिसिनिया, स्पेन और चीन में अत्यधिक व्यवहृत हुए हैं। वैमानिक आक्रमण का लक्ष्य जनता की इच्छाशक्ति को दुर्बल बनाना और मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त करना है।

विकसित हवाई युद्ध की विभीषिकाओं से, अर्थात् विस्फोटकों, आग-लगाऊ पदार्थों और गैस आक्रमणों से, नगरों और असैनिक बस्तियों के संरक्षण पर अधिकाधिक ध्यान दिया गया है। हवाई हमलों से बचाव के एहतियाती उपायों का विकास करने के लिये अधिकांश यूरोपीय देश प्रयोग करते रहे हैं। हवाई हमलों से बचाव की आयोजना में, काफी सूक्ष्म बातों का, जिसे निष्क्रिय हवाई प्रतिरक्षा कहते हैं, विचार कर लिया जाता है।

निष्क्रिय हवाई प्रतिरक्षा — इसके तीन उद्देश्य हैं : (१) वैमानिक आक्रमणों से असैनिक जनसाधारण को हताहत होने से रोकना, (२) जनता के मनोबल को बनाए रखना और औद्योगिक प्रगति को, विशेषतः गोला बारूद के उत्पादन को, निर्बाध रूप से चलने देना तथा (३) जहाँ तक संभव हो हवाई बमबारी से संपत्ति हानि को सीमित करना और इस प्रकार युद्धप्रयास के विस्थापन को रोकना।

इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये जनसमुदाय को संगठित और प्रशिक्षित करना, उसे वैमानिक आक्रमणों की शक्ति और सीमाओं से अवगत कराना तथा इन आक्रमणों के परिणामों से बचने के साधनों और उपायों से अवगत कराना, जिससे धन जन की सुरक्षा के लिये प्रभावशाली कदम उठाए जा सकें और आवश्यक साधनों की व्यवस्था की जा सके। ये सिविल रक्षा के कर्तव्य हैं।

वे उपाय और साधन भी निष्क्रिय रक्षा की सीमा में आते हैं, जिनसे सामान्यतया असैनिक जनता तथा विशेषत. नगर और औद्योगिक प्रतिष्ठानों की रक्षा का प्रबंध होता है। ये हैं :

(१) निवारक उपाय — पूर्वानुमान के आधार पर वैमानिक आक्रमणों को निष्फल करने के लिये युद्धकालीन संकट उपस्थित होने के पूर्व ही कुछ उपाय किए जाते हैं : (क) महत्वपूर्ण निर्माण संस्थानों को बड़े नगरों से हटाना, या अधिक से अधिक संभव अंतर पर बसाना; (ख) औद्योगिक क्षेत्रों से आवश्यक जनता को हटाकर ग्रामीण अंचलों में बसाना; (ग) जिन कारखानों में विस्फोटकों, अत्यधिक ज्वलनशील द्रवों या अन्य खतरनाक पदार्थों का उपयोग होता है, उनकी सुरक्षा के लिये ऐसे पदार्थों और प्रचालनों (operations) को संयंत्र (plant) से संबंधित अन्य भवनों से दूर, एक साथ रखना चाहिए; (घ) नगरों की भावी आयोजना, सामान्यतया नगरसमुदायों का भावी विकास, परिस्थितियों पर नहीं छोड़ देना चाहिए, बल्कि आबादी और उद्योग को अधिक से अधिक विस्तृत भूभाग पर बिखेरने के मौलिक सिद्धांत के आधार पर एक निश्चित योजना के अनुसार निर्देशित होना चाहिए; (ङ) भूगत संस्थापन महत्वपूर्ण औद्योगिक संयंत्रों और जनोपयोगी भवनों को वैमानिक आक्रमणों से बचाने की सबसे प्रभावशाली विधि है। ऐसी चीजों को इतनी गहराई में होना चाहिए कि उनपर परमाणु बम, या अन्य अत्यंत विस्फोटक बम के प्रत्यक्ष आघात का ही असर हो सके और पृथ्वी की सतह पर हो रही बमबारी से उनकी कोई क्षति न हो; (च) तथा महत्वपूर्ण इमारतों और गतिविधियों को हवाई प्रेक्षण से छिपाना हवाई हमलों से सुरक्षा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपाय है, बशर्ते ये छिपे हुए भवन प्रकट हवाई लक्ष्यों से अलग और काफी दूर स्थित हों।

(२) रक्षण उपाय — आक्रमण आरंभ होने पर रक्षा प्रदान करने के लिये रक्षण उपाय किए जाते हैं। इनकी व्यवस्था संकटकाल का आरंभ होने से पहले ही की जानी चाहिए। वैमानिक आक्रमण से कार्मिकों (personnel) की रक्षा करने के साधन और उपाय दो सामान्य विधियों के अंतर्गत आते हैं : (क) सामूहिक रक्षा तथा (ख) व्यक्तिगत रक्षा। सामान्यतः अत्यंत विस्फोटक बमों और परमाणवीय बमों से सामूहिक रक्षा की व्यवस्था की जाती है और गैस, जीवाणु तथा परमाणु बमों के विकिरण प्रभाव से व्यक्तिगत रक्षा की जाती है।

(३) नियंत्रक उपाय — जनता में व्यवस्था और शांति बनाए रखने तथा उसका मनोबल अटूट रखने और हमले की गंभीरता को कम करने के लिये नियंत्रक उपाय किए जाते हैं। ये हैं : (क) संचार साधनों का नियंत्रण, (ख) परिवहन का नियंत्रण, (ग) संक्रमणों का नियंत्रण तथा (घ) वैकल्पिक लाभप्रद सेवाओं का उपयोग और क्षतिग्रस्त क्षेत्रों का पृथक्करण।

(४) पुनरुद्धार के उपाय — ये उपाय आक्रमण समाप्त होने के तुरंत बाद किए जाते हैं, जिससे जनसमुदाय की हानि की गंभीरता कम हो और संपत्ति की हानि का प्रतिकार हो सके। इन उपायों के अंतर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं : (क) आहतों का परित्राण और प्राथमिक उपचार, (ख) मलबे की सफाई, (ग) क्षतिग्रस्त उपयोगी रेखा तथा संचार लाइनों की मरम्मत, (घ) गैस प्रभाव दूर करना और रोगाणुनाशन तथा (ङ) आहतों को चिकित्सालय पहुँचाना।

[श० ना० रा०]

वैयक्तिक विधि (Personal law) विधि या कानून को वैयक्तिक और प्रादेशिक इन दो प्रवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। वैयक्तिक विधि से तात्पर्य उस विधि से है जो केवल किसी व्यक्तिविशेष अथवा व्यक्तियों के वर्ग पर लागू हो चाहे वे व्यक्ति कहीं पर भी रहते हों। यह विधि प्रादेशिक विधि से भिन्न है जो केवल एक निश्चित प्रदेश के भीतर सब व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होती है। वैयक्तिक विधि की यह प्रणाली भारत में वारेन हेस्टिंग्ज ने प्रारंभ की थी। उन्होंने कुछ तरह के दीवानी मामलों में हिंदुओं के लिये हिंदू विधि तथा मुसलमानों के लिये मुस्लिम विधि विहित की थी। यह व्यवस्था आज भी विद्यमान है और हिंदू विधि विवाह, दत्तकग्रहण, संयुक्त परिवार, ऋण, बँटवारा, दाय तथा उत्तराधिकार, स्त्रीधन, पोषण और धार्मिक धर्मस्वों के मामलों में हिंदुओं पर लागू है।

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा न्यायिक अधिकारों के प्रयोग संबंधी पहली व्यवस्था १६६१ में चार्ल्स द्वितीय के चार्टर द्वारा की गई थी।

१७२६ के चार्टर द्वारा प्रेसीडेंसी वाले तीनों नगरों में मेयर के न्यायालयों की स्थापना कर दी गई। इन न्यायालयों द्वारा जिस विधि को व्यवहार में लाने का विचार था वह इंग्लैंड की विधि थी जो देशजों तथा विदेशियों दोनों पर समान रूप से लागू होती थी। इसके कारण लोगों को कठिनाई हुई और यह प्रश्न उठा कि इंग्लैंड की व्यवहार विधि को भारतीयों पर लागू किया जाए या नहीं। १७५३ के चार्टर में इस बात की स्पष्ट रूप से व्यवस्था की गई थी कि मेयरों के न्यायालयों को भारतीयों के आपसी अभियोगों की सुनवाई तब तक नहीं करनी है जब तक दोनों पक्ष अपनी सहमति से इन अभियोगों को मेयरों के न्यायालयों के निर्णय के लिये प्रस्तुत न करें। इस व्यवस्था के बारे में मोरले द्वारा यह कहा गया है कि यह उनकी अपनी विधियों का प्रथम आरक्षण है। इस व्यवस्था के सिद्धांत को वारेन हेस्टिंग्ज ने अपना लिया और १७७२ की योजना में यह व्यवस्था की गई कि दाय, विवाह जाति और अन्य धार्मिक प्रथाओं अथवा विधिसूत्रों संबंधी सभी मामलों में, मुसलमानों के लिये कुरान की विधि और हिंदुओं के लिये शास्त्रों में दी गई विधि का सदा ही अवलंबन किया जाएगा। ऐसे कानून का उद्देश्य यह था कि भारत के लोगों को अपने पूर्वजों की उन विधियों के अधीन रहने का एक अवसर दिया जाए जिनके वे अभ्यस्त थे और जिनके साथ उनका अनेक प्रकार से गठबंधन था। हेस्टिंग्ज को यह विश्वास हो गया था कि बाह्य वैधिक प्रणाली पर आधारित किसी संहिता को लादने से भारी असफलता का सामना करना पड़ेगा।

इस योजना का विशेष पहलू इसका सीमित स्वरूप है। वैयक्तिक विधि को केवल विशेष विषयों, जैसे दाय, विवाह, जाति और धार्मिक विधिसूत्रों तक ही सीमित रखा गया था। इसके अतिरिक्त हिंदू और मुसलमान विभिन्न संप्रदायों तथा उपसंप्रदायों में विभक्त हैं। हिंदू विभिन्न समूहों में, जैसे सिख, जैन और बौद्ध में बँटे हुए हैं। मुसलमानों के शीया और सुन्नी ये दो मुख्य संप्रदाय हैं। शीया विधि तथा सुन्नी विधि में काफी भिन्नता है। जहाँ तक उनपर उनकी वैयक्तिक विधि के लागू किए जाने का संबंध था, यह बात पूरी तरह से स्पष्ट नहीं थी कि इन विभिन्न संप्रदायों की क्या स्थिति रहेगी। कालांतर में ऐसे प्रश्न उठे और उनका निपटारा केवल न्यायालयों द्वारा किया गया था। राजा दीदार हुसैन बनाम रानी जुहरुन्नुमा के मामले में प्रिवी कौंसिल ने यह व्यवस्था दी थी कि शीया लोग अपनी शीया विधि के अनुसार न्याय प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

हेस्टिंग्ज की १७७२ की व्यवस्था को, जिसमें हिंदुओं तथा मुसलमानों के लिये वैयक्तिक विधि विहित की गई थी, केवल अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता से कार्यरूप देना असंभव हो जाता क्योंकि वे भारतीय भाषाओं, भारतीयों के अभ्यासों और उनकी रूढ़ियों से अपरिचित थे और उन्हें इन विधियों का कोई ज्ञान नहीं था। अतः हेस्टिंग्ज ने न्यायिक प्रणाली को चलाने के लिये इन न्यायाधीशों को उन भारतीय विधि अधिकारियों, काजियों और पंडितों की सहायता उपलब्ध कराई जिनका काम इन विधियों के सिद्धांतों की व्याख्या उन न्यायाधीशों के समक्ष करना था। अंग्रेज न्यायाधीशों ने उन भारतीय विधि अधिकारियों का कभी विश्वास नहीं किया जिनके बारे में यह समझा जाता था कि वे भ्रष्टाचार कर सकते हैं और रिश्वत ले सकते हैं। इस संबंध में केवल एक यही चारा रह गया था कि अनुभवी तथा योग्य भारतीय विधिशास्त्रियों की सहायता से हिंदू तथा मुस्लिम विधि के पूर्ण निबंध तैयार करके उनका अंग्रेजी में अनुवाद कराया जाए। अतः हिंदू तथा मुस्लिम विधि के सिद्धांतों को सुनिश्चित करने तथा उनकी परिभाषा करने के प्रयत्न किए गए। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले पहल हिंदू विधि संबंधी हेलहीड की संहिता तैयार हुई। इसी प्रकार अरबी के 'हिदाया' का फारसी रूपांतर तैयार किया गया जिसका अंग्रेजी अनुवाद श्री हेमिलटन ने तैयार किया। इसी प्रकार शनैः शनैः वैयक्तिक विधि के संबंध में अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा रचित कई अन्य उत्तम पुस्तकें सामने आईं।

परंतु दंड विधि के क्षेत्र में कोई आरक्षण नहीं किए गए। मुस्लिम दंड विधि में, जो उस समय लागू थी, भारी परिवर्तन किए गए और यह विधि दंडसंहिता, १८६० तथा दंड-प्रक्रिया-संहिता, १८६१ के प्रवर्तन तक लागू रही। इन अधिनियमों ने उस समय विद्यमान दंडविधियों को निष्प्रभावी कर दिया और ये अधिनियम जाति, पंथ और धर्म के भेदभाव के बिना सभी पर लागू कर दिए गए।

हालाँकि हिंदुओं तथा मुसलमानों की विधियों को विवाह, दत्तकग्रहण, दाय आदि मामलों में बनाए रखा गया था, तथापि यह अनुभव किया गया कि हिंदू विधि की प्राचीन प्रणाली बदलते हुए जमाने के अनुकूल नहीं है। अतः कई ऐसे कानून बनाए गए जिनके द्वारा वैयक्तिक विधियों को समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बना दिया गया। इस संबंध में हिंदू विधि में संशोधन करनेवाला पहला महत्वपूर्ण अधिनियम वह था जिसमें 'सती' प्रथा की समाप्ति की व्यवस्था की गई। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार लाने के लिये कई कानून बनाए गए। १८५६ में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित किया गया जिसके द्वारा हिंदू विधवा के पुनर्विवाह को वैध बना दिया गया। १८७२ के विशेष विवाह अधिनियम ने ऐसे हिंदुओं को इस अधिनियम के अधीन विवाह करने योग्य बना दिया जो यह घोषणा करें कि वे हिंदू धर्म को नहीं मानते। इस अधिनियम में १९२३ में संशोधन हुआ और अपने आपको हिंदू माननेवाले व्यक्तियों को भी इसके अनुसार विवाह करने के योग्य बना दिया गया। १९३७ के आर्य विवाह वैधीकरण अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि ऐसे व्यक्तियों के बीच सभी विवाह वैध होंगे जो विवाह के समय आर्यसमाजी होंगे चाहे विवाह से पूर्व वे भिन्न जातियों के हों अथवा भिन्न धर्म को मानते रहे हों। इन विधियों के द्वारा विवाह संबंधी कठोर हिंदू विधियों में परिवर्तन कर दिया गया। १९४६ के हिंदू विवाहिता पृथक् निवास तथा पोषण अधिकार अधिनियम द्वारा कतिपय परिस्थितियों में हिंदू विवाहिता को पृथक् निवास तथा पोषण का अधिकार दे दिया गया। १९३० के हिंदू विद्या अभिलाभ अधिनियम में हिंदू अविभक्त परिवार के एक सदस्य

के अधिकारों की उस संपत्ति के बारे में परिभाषा की गई है जो उसने अपनी विद्या के बल पर अर्जित की हो।

दाय के क्षेत्र में भी कई परिवर्तन किए गए। हिंदू दाय (निर्योग्यता निराकरण) अधिनियम द्वारा कतिपय अनर्ह वारिसों का दाय से अपवर्जन संबंधी हिंदू विधि के नियम में संशोधन किया गया। १९२९ के हिंदू दाय विधि (संशोधन) अधिनियम द्वारा मिताक्षरा विधि के अधीन उत्तराधिकार के क्रम में परिवर्तन किया गया। इसमें यह व्यवस्था की गई कि किसी पुत्रहीन हिंदू पुरुष की संपदा के लिये उत्तराधिकारी के रूप में दूर गोत्रीय की अपेक्षा कतिपय निकट बंधुओं को वरीयता दी जाएगी। १९३७ के हिंदू स्त्री संपत्ति अधिकार अधिनियम द्वारा संदायाता, बँटवारे और दाय से संबंधित हिंदू विधि में संशोधन किया गया तथा स्त्रियों को और अधिक अधिकार दिए गए।

इन अधिनियमों ने हिंदू विधि की रूढ़िवादी प्रणाली को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया परंतु कोई उग्र परिवर्तन नहीं किए जा सके। अंग्रेज प्रशासक वैयक्तिक विधियों में परिवर्तन करने से डरते थे। उनका विचार था कि दाय, विवाह आदि से संबंधित विधियों में हस्तक्षेप करने पर यह समझा जाएगा कि देशजों के धर्म में हस्तक्षेप किया जा रहा है क्योंकि दोनों का निकट संबंध है और देशजों में इससे खीज पैदा हो सकती है परंतु स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् स्थिति बदल गई। वैयक्तिक विधियों के संहिताकरण के लिये कई ठोस कारण थे। हिंदू विधि पर विचार करने के लिये १९४१ में एक समिति नियुक्त की गई। इसने यह सिफारिश की कि विधि को क्रमिक अवस्थाओं में संहिताबद्ध किया जाना चाहिए। १९४४ में राव समिति नामक एक अन्य समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया और संहिता का एक प्रारूप उपस्थित किया। हिंदू विधि विधेयक को, जो एक लंबे अर्से तक संसद् के समक्ष रहा, कड़े विरोध के कारण छोड़ दिया गया। अंततोगत्वा यह निश्चय किया गया कि अपेक्षित विधान को किस्तों में प्रस्तुत किया जाए। इस प्रकार हिंदू विवाह अधिनियम १९५५ में बनाया गया तथा हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, हिंदू अवयस्कता तथा संरक्षकता अधिनियम और हिंदू दत्तक ग्रहण तथा पोषण अधिनियम १९५६ में पारित किए गए।

हिंदू विवाह अधिनियम के द्वारा हिंदुओं में विवाह संबंधी विधि में संशोधन किया गया तथा इसे संहिताबद्ध किया गया। इसके द्वारा वैध हिंदू विवाह की शर्तों तथा अपेक्षाओं को भी सरल कर दिया गया है। इसके द्वारा द्विविवाह को दंडनीय अपराध बना दिया गया है। दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन, न्यायिक पृथक्करण और विवाह तथा तलाक की नास्तित्वता संबंधी नियम भी इस अधिनियम द्वारा निर्धारित किए गए।

१९५६ के हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के द्वारा हिंदुओं में इच्छापत्रहीन उत्तराधिकार संबंधी नियमों में उग्र परिवर्तन किए गए हैं। इस अधिनियम में दाय की एक समान प्रणाली की व्यवस्था की गई है और यह मिताक्षरा तथा दाय भाग द्वारा विनियमित व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होती है। मिताक्षरा द्वारा स्वीकृत वारिसों की तीन श्रेणियाँ, जैसे गोत्रज सपिंड, समानोदक और बंधु तथा दायभाग द्वारा स्वीकृत वारिसों की तीन श्रेणियाँ जैसे सपिंड, सकुल्य और बंधु अब नहीं रहीं हैं। अब वारिसों को चार प्रवर्गों में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं (१) अनुसूची के वर्ग १ में दिए गए वारिस, (२) अनुसूची के वर्ग २ में दिए गए वारिस, (३) गोत्रीय, तथा (४) अन्य गोत्रीय। प्रथमतः संपत्ति अनुसूची के वर्ग १ में दिए गए वारिसों को मिलती है। और यदि ऐसे कोई वारिस न हो तो दूसरे, तीसरे और चौथे प्रवर्ग के वारिसों को मिलती है। अब पुरुष तथा स्त्री वारिस समान समझे जाने लगे हैं। हिंदू स्त्रियों की सीमित संपदा को समाप्त कर दिया गया है और हिंदू स्त्री द्वारा धृत संपत्ति उसकी परम (एक मात्र उसकी) संपत्ति होगी। उस अधिनियम द्वारा स्त्रीधन संबंधी उत्तराधिकार से संबंधित कानून में भी संशोधन कर दिया गया है।

हिंदू दत्तक ग्रहण तथा पोषण अधिनियम के द्वारा दत्तक ग्रहण तथा पोषण की विधि को संहिताबद्ध किया गया है। पिछली विधि के अनुसार पुत्री को गोद नहीं लिया जा सकता था परंतु इस अधिनियम में लड़कों तथा लड़कियों दोनों के गोद लिए जाने की व्यवस्था है। इस अधिनियम द्वारा एक हिंदू स्त्री को भी स्वाधिकार से गोद लेने का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त अधिनियमों से हिंदू विधि की रूढ़िवादी प्रणाली में भारी परिवर्तन हुआ है।

वारेन हैस्टिंग्ज की १७७२ की योजना में दाय, विवाह, जाति और अन्य धार्मिक प्रथाओं संबंधी सभी मामलों में मुसलमानों पर कुरान की विधियों को लागू करने के लिये व्यवस्था की गई थी। कानून द्वारा किए गए कुछ परिवर्तनों के अलावा यह योजना आज भी बहुत कुछ वैसी ही है। इस संबंध में पहला महत्वपूर्ण परिवर्तन १९१३ के वक्फ अधिनियम द्वारा किया गया।

१९३७ में शरीयत अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य यह था कि सभी मुस्लिम संप्रदायों के लिये मुस्लिम विधि को पुनः स्थापित किया जाए। खोजा तथा मेमन जैसे कुछ संप्रदाय ऐसे थे जिन्होंने हिंदू धर्म को छोड़कर इस्लाम को ग्रहण कर लिया था। धर्मपरिवर्तन के पश्चात् भी इन संप्रदायों ने हिंदू विधि को पूर्णतः नहीं छोड़ा था। कुछ मामलों के बारे में उनका विनियमन हिंदू विधि द्वारा होता था क्योंकि वह उनकी रूढ़विधि थी। १९३७ के शरीयत अधिनियम द्वारा ऐसी रूढ़ि का निराकरण कर दिया गया। अब यह अधिनियम प्रत्येक मुसलमान पर लागू होता है, चाहे वह किसी भी संप्रदाय का हो। इसके दो वर्ष पश्चात् एक अन्य अधिनियम, मुस्लिम विवाहविच्छेद अधिनियम, १९३९ पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा मुस्लिम पत्नी को अपने पति से न्यायिक रूप से अलग रहने के बारे में अधिकार दिया गया। इन अधिनियमों से मुस्लिम विधि में किसी हद तक परिवर्तन तो हुआ, परंतु जो परिवर्तन हुए हैं, वे अपर्याप्त हैं। जब प्राचीन प्रणाली विकसित हुई थी तब समाज आधुनिक भारतीय समाज से भिन्न था। अब सामाजिक वातावरण तथा आर्थिक परिस्थितियों

में परिवर्तन हो जाने के कारण ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस विधि के कुछ नियम आज की सामाजिक परिस्थितियों से मेल न खाते हों।

अतः इस विधि में ऐसा परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है कि वह आज की परिस्थितियों, आवश्यकताओं और वाछनीयताओं में उपयोगी सिद्ध हो सके। [कं० कि० चो०]

वैशेषिक दर्शन जीवन का मुख्य लक्ष्य है परमानंद की प्राप्ति या दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति। यह 'आत्मदर्शन' से ही होता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', यह भारतीय दर्शनों का तथा धर्म का भी लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग भी एक ही है—'नान्य: पंथा विद्यतेयनाय'। इसलिये आत्मा को देखने का प्रयत्न करते हुए तपस्वी लोगों ने अपने भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न भिन्न समय में उपासना के द्वारा प्राप्त अपने अपने अनुभवों को नियमबद्ध किया। उन अनुभवों को उनके विषय के अनुसार संकलित कर और उन्हें भिन्न भिन्न नाम देकर आचार्यों ने भिन्न भिन्न दर्शनों को प्रवर्तित किया। इन दर्शनों की संख्या अनियत है और अनंत हो सकती है।

प्रत्येक प्रसिद्ध भारतीय दर्शन इसी दर्शनमार्ग का एक एक विश्रामस्थान है। प्रत्येक विश्रामस्थान से स्वतंत्र रूप में परमतत्व की खोज की गई है। अतएव एक दर्शन दूसरे दर्शन से भिन्न भी है। दृष्टिकोण के भेद से परस्पर भेद होना स्वाभाविक है, किंतु इनमें परस्पर वैमनस्य नहीं है। कोरक से क्रमशः विकसित फूल के समान सोपान की क्रमिक बढ़ती हुई परंपरा में लक्ष्य की तरफ जाते हुए दर्शनों में एक आगे है, और एक पीछे है। सभी एक ही पथ के पथिक हैं।

भारतीय दर्शनों का एक विशिष्ट दर्शन — इसके नामकरण के दो कारण कहे जाते हैं — (१) प्रत्येक नित्य द्रव्य को परस्पर पृथक् करने के लिये तथा प्रत्येक तत्व के वास्तविक स्वरूप को पृथक् पृथक् जानने के लिये इन्होंने एक 'विशेष' नाम का पदार्थ माना है. (२) तथा 'द्वित्व', 'पाकजोत्पत्ति' एवं 'विभागज विभाग' इन तीन बातों में इनका अपना विशेष मत है जिसमें ये दृढ़ हैं। अभिप्राय यह है कि वैशेषिक दर्शन व्यावहारिक तत्वों का विचार करने में संलग्न रहने पर भी स्थूल दृष्टि से सर्वथा व्यवहारतः समान रहने पर भी, प्रत्येक वस्तु दूसरे से भिन्न है इसके परिचायक एक मात्र 'विशेष' पदार्थ को इन्होंने माना है। इसलिये इस शास्त्र को 'वैशेषिक' शास्त्र या दर्शन कहते हैं। अन्य शास्त्रों ने इस बात का विवेचन नहीं किया है। इन्हीं कारणों से इस दर्शन को 'वैशेषिक दर्शन' कहते हैं।

वैशेषिक तथा न्याय ये दोनों दर्शन 'समानतंत्र' हैं। व्यावहारिक जगत् को ये वास्तविक मानते हैं। बाह्य जगत् तथा अंतर्जगत् की विचारधारा में घनिष्ठ संबंध ये मानते हैं। बाह्य जगत् मानसिक-विचारधारा पर निर्भर नहीं है, यह स्वतंत्र है।

इस प्रकार के आत्मदर्शन के विचारों को सबसे पहले कणाद ने सूत्र रूप में लिखा। कणाद एक ऋषि थे। ये 'उच्छवृत्ति' थे और धान्य के कणों का संग्रह कर उसी को खाकर तपस्या करते थे। इसी लिये इन्हें 'कणाद' या 'कणभुक्' कहते थे। किसी का कहना है कि कण अर्थात् परमाणु तत्व का सूक्ष्म विचार इन्होंने किया है, इसलिये इन्हें 'कणाद' कहते हैं। किसी का मत है कि दिन भर ये समाधि में रहते थे और रात्रि को कणों का संग्रह करते थे। यह वृत्ति 'उल्लू' पक्षी की है। किसी का कहना है कि इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उलूक पक्षी के रूप में इन्हें शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं कारणों से यह दर्शन 'औलूक्य', 'काणाद', 'वैशेषिक' या 'पाशुपत' दर्शन के नामों से प्रसिद्ध है।

आत्मदर्शन के लिये विश्व की सभी छोटी बड़ी, तात्विक तथा तुच्छ वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इन तत्वों के ज्ञान के लिये प्रमाणों की अपेक्षा होती है। न्यायशास्त्र में प्रमाण का विशेष विचार है, किंतु वैशेषिक में मुख्य रूप से प्रमेय का विचार है।

वैशेषिक दर्शन के मुख्य ग्रंथ कणादसूत्र, उसकी टीका भाष्य (रावण) कटंदी, वृत्ति – उपस्कार (शंकर मिश्र १५वीं सदी), वृत्ति, भाष्य (चंद्रकांत २०वीं सदी), विवृत्ति (जयनारायण २० वीं सदी), पदार्थ-धर्म-संग्रह (प्रशस्तदेव, ४ थी सदी के पूर्व), उसकी टीका 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य, ८ वीं सदी), 'किरणावली' (उदयनाचार्य १० वीं सदी), 'कंदली' (श्रीधराचार्य, १० वीं सदी), वल्लभाचार्य न्यायलीलावती (१२ वीं सदी), कणाद रहस्य, सप्तपदार्थी, तार्किकरक्षा आदि अनेक मूल तथा टीका रूप ग्रंथ हैं।

पठन पाठन में विशेष प्रचलित न होने के कारण वैशेषिक सूत्रों में अनेक पाठभेद हैं तथा त्रुटियाँ भी पर्याप्त हैं। मीमांसासूत्रों की तरह इसके कुछ सूत्रों में पुनरुक्तियाँ हैं — जैसे 'सामान्यविशेषाभावेच' (४ बार) 'सामान्यतोदृष्टाच्चा विशेष:' (२ बार), 'तत्वं भावेन' (४ बार), 'द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते' (३ बार), 'संदिग्ध-स्तूपचारः' (२ बार)।

वैशेषिकों के स्वरूप, वेष तथा आचार आदि नैयायिकों की तरह होते हैं; जैसे, ये लोग शैव हैं, इन्हें शैवी दीक्षा दी जाती थी। इनके चार प्रमुख भेद हैं — शैव, पाशुपत, महाव्रतधर, तथा कालमुख एवं भरट, भक्तर, आदि गौण भेद हैं। वैशेषिक विशेष रूप से 'पाशुपत' कहे जाते हैं। (षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्न की टीका न्याय वैशेषिक मत। इस ग्रंथ से अन्य आचार्यों के संबंध में ज्ञान हो सकता है)।

यहाँ स्मरण कराना आवश्यक है कि न्याय की तरह वैशेषिक भी लौकिक दृष्टि ही से विश्व के वास्तविक तत्वों का दार्शनिक विचार करता है। लौकिक जगत् की वास्तविक परिस्थिति की उपेक्षा वह कभी नहीं करता, तथापि जहाँ किसी तत्व का विचार बिना सूक्ष्म दृष्टि का हो नहीं सकता, वहाँ किसी प्रकार अतींद्रिय, अदृष्ट, सूक्ष्म, योगज आदि हेतुओं की दुहाई देकर अपना कार्य सिद्ध कर लेना इन लोगों का स्वभाव है, अन्यथा उनके विचार पूर्ण हो नहीं सकते; जैसे, परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन आदि पदार्थों का स्वीकार करना।

वैशेषिक मत में समस्त विश्व 'भाव और अभाव' इन दो विभागों में विभाजित है। इनमें 'भाव' के छह विभाग किए गए हैं, जिनके नाम हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, तथा समवाय। अभाव

के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव। इनके लक्षण आदि नीचे दिए जाते हैं :

(१) द्रव्य — जिसमें 'द्रव्यत्व जाति' हो वही द्रव्य कहलाता है। कार्य के समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं। गुणों का आश्रय द्रव्य होता है। पृथ्वी, जल, तेजस, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस् ये नौ 'द्रव्य' कहलाते हैं। इनमें से प्रथम चार द्रव्यों के नित्य और अनित्य दो भेद हैं। नित्यरूप को 'परमाणु' तथा अनित्य रूप को कार्य कहते हैं। चारों भूतों के उस हिस्से को 'परमाणु' कहते हैं जिसका पुनः भाग न किया जा सके, अतएव यह नित्य है। पृथ्वी-परमाणु के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं के गुण भी नित्य हैं।

जिसमें गंध हो वह 'पृथ्वी', जिसमें शीत स्पर्श हो वह 'जल' जिसमें उष्ण स्पर्श हो वह 'तेजस्', जिनमें रूप न हो तथा अग्नि के संयोग से उत्पन्न न होनेवाला, अनुष्ण और अशीत स्पर्श हो, वह 'वायु', तथा शब्द जिसका गुण हो अर्थात् शब्द का जो समवायिकरण हो, वह 'आकाश' है। ये पाँच 'भूत' भी कहलाते हैं।

आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये चार 'विभु' द्रव्य हैं। मनस् अभौतिक परमाणु है और नित्य भी है। आज, कल, इस समय, उस समय, मास, वर्ष, आदि समय के व्यवहार का जो असाधारण कारण है वह 'काल' है। यह नित्य और व्यापक है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आदि दिशाओं तथा विदिशाओं का जो असाधारण कारण है, वह 'दिक्' है। यह नित्य तथा व्यापक है। आत्मा और मनस् का स्वरूप न्यायमत के समान ही है।

(२) गुण — कार्य का असमवायिकरण 'गुण' है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (चिकनापन), शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म तथा संस्कार ये चौबीस गुण के भेद हैं। इनमें से रूप, गंध, रस, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, शब्द तथा ज्ञान से लेकर संस्कार पर्यंत, ये 'वैशेषिक गुण' हैं, अवशिष्ट साधारण गुण हैं। गुण द्रव्य ही में रहते हैं।

(३) कर्म — क्रिया को 'कर्म' कहते हैं। ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकुड़ना, फैलाना तथा (अन्य प्रकार के) गमन, जैसे भ्रमण, स्पंदन, रेचन, आदि, ये पाँच 'कर्म' के भेद हैं। कर्म द्रव्य ही में रहता है।

(४) सामान्य — अनेक वस्तुओं में जो एक सी बुद्धि होती है, उसके कारण प्रत्येक घट में जो 'यह घट है' इस प्रकार की एक सी बुद्धि होती है, उसका कारण उसमें रहनेवाला 'सामान्य' है, जिसे वस्तु के नाम के आगे 'त्व' लगाकर कहा जाता है, जैसे—घटत्व, पटत्व। 'त्व' से उस जाति के अंतर्गत सभी व्यक्तियों का ज्ञान होता है।

यह नित्य है और द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहता है। अधिक स्थान में रहनेवाला 'सामान्य', 'परसामान्य' या 'सत्तासामान्य' या 'पर सत्ता' कहा जाता है। सत्तासामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों में रहता है। प्रत्येक वस्तु में रहनेवाला तथा अव्यापक जो सामान्य हो, वह 'अपर सामान्य' या 'सामान्य विशेष' कहा जाता है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करना सामान्य का धर्म है।

(५) विशेष — द्रव्यों के अंतिम विभाग में रहनेवाला तथा नित्य द्रव्यों में रहनेवाला 'विशेष' कहलाता है। नित्य द्रव्यों में परस्पर भेद करनेवाला एकमात्र यही पदार्थ है। यह अनंत है।

(६) समवाय — एक प्रकार का संबंध है, जो अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य के बीच रहता है। यह एक है और नित्य भी है।

अभाव — किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का 'अभाव' कहा जाता है। इसके चार भेद हैं—'प्राग् अभाव' कार्य उत्पन्न होने के पहले कारण में उस कार्य का न रहना, 'प्रध्वंस अभाव' कार्य के नाश होने पर उस कार्य का न रहना, 'अत्यंत अभाव' तीनों कालों में जिसका सर्वथा अभाव हो, जैसे वंध्या का पुत्र तथा 'अन्योन्य अभाव' परस्पर अभाव, जैसे घट में पट का न होना तथा पट में घट का न होना।

ये सभी पदार्थ न्यायदर्शन के प्रमेयों के अंतर्गत हैं। इसलिये न्यायदर्शन में इनका पृथक् विचार नहीं है, किंतु वैशेषिक दर्शन में तो मुख्य रूप से इनका विचार है। वैशेषिक मत के अनुसार इन सातों पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने से मुक्ति मिलती है।

इन दोनों समान तत्वों में पदार्थों के स्वरूप में इतना भेद रहने पर भी दोनों दर्शन एक ही में मिले रहते हैं, इसका कारण है कि दोनों शास्त्रों का मुख्य प्रमेय है 'आत्मा'। आत्मा का स्वरूप दोनों दर्शनों में एक ही सा है। अन्य विषय है—उसी आत्मा के जानने के लिये उपाय। उसमें इन दोनों दर्शनों में विशेष अंतर भी नहीं है। केवल शब्दों में तथा कहीं कहीं प्रक्रिया में भेद है। फल में भेद नहीं है। अतएव न्यायमत के अनुसार प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से दोनों से एक ही प्रकार की 'मुक्ति' मिलती है। दोनों का दृष्टिकोण भी एक ही है।

न्याय वैशेषिक मत में पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु इन्हीं चार द्रव्यों का कार्य रूप में भी अस्तित्व है। इन लोगों के मत में सभी कार्य द्रव्यों का नाश हो जाता है, और वे परमाणु रूप में आकाश में रहते हैं। यही अवस्था 'प्रलय' कहलाती है। इस अवस्था में प्रत्येक जीवात्मा अपने मनस् के साथ तथा पूर्व जन्मों के कर्मों के संस्कारों के साथ तथा अदृष्ट रूप में धर्म और अधर्म के साथ विद्यमान रहती है। परंतु इस समय सृष्टि का कोई कार्य नहीं होता। कारण रूप में सभी वस्तुएँ उस समय की प्रतीक्षा में रहती हैं, जब जीवों के सभी अदृष्ट कार्य रूप में परिणत होने के लिये तत्पर हो जाते हैं। परंतु अदृष्ट जड़ है, शरीर के न होने से जीवात्मा भी कोई कार्य नहीं कर सकती, परमाणु आदि सभी जड़ हैं, फिर 'सृष्टि' के लिये क्रिया किस प्रकार उत्पन्न हो ?

इसके उत्तर में यह जानना चाहिए कि उत्पन्न होनेवाले जीवों के कल्याण के लिये परमात्मा में सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, जिससे जीवों के अदृष्ट कार्योन्मुख हो जाते हैं। परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु, दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाते हैं। दो परमाणुओं के संयोग से एक 'द्व्यणुक' उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने

के लिये जो दो परमाणु इकट्ठे होते हैं वे पार्थिव परमाणु हैं। वे दोनों उत्पन्न हुए 'द्व्यणुक' के समवायिकारण है। उन दोनों का संयोग असमवायिकारण है और अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा, आदि निमित्तकारण हैं। इसी प्रकार जलीय, तैजस, आदि शरीर के संबंध में समझना चाहिए।

यह स्मरण रखना चाहिए कि सजातीय दोनों परमाणु मात्र ही से सृष्टि नहीं होती। उनके साथ एक विजातीय परमाणु, जैसे जलीय परमाणु, भी रहता है। 'द्व्यणुक' में 'अणु-परिमाण' है इसलिये वह दृष्टिगोचर नहीं होता। 'द्व्यणुक' से जो कार्य उत्पन्न होगा वह भी अणुपरिमाण का ही रहेगा और वह भी दृष्टिगोचर न होगा। अतएव द्व्यणुक से स्थूल कार्य द्रव्य को उत्पन्न करने के लिये 'तीन संख्या' की सहायता ली जाती है। न्याय-वैशेषिक मे स्थूल द्रव्य, स्थूल द्रव्य या महत् परिमाणवाले द्रव्य से तथा तीन संख्या से उत्पन्न होता है। इसलिये यहाँ द्व्यणुक की तीन संख्या से स्थूल द्रव्य 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' की उत्पत्ति होती है। चार त्र्यणुक से चतुरणुक उत्पन्न होता है। इसी क्रम से पृथिवी तथा पार्थिव द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। द्रव्य के उत्पन्न होने के पश्चात् उसमे गुणों की भी उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है।

संसार में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं सभी उत्पन्न हुए जीवों के भोग के लिये ही हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से जीव संसार में उत्पन्न होता है। उसी प्रकार भोग के अनुकूल उसके शरीर, योनि, कुल, देश, आदि सभी होते हैं। जब वह विशेष भोग समाप्त हो जाता है, तब उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अपने अपने भोग के समाप्त होने पर सभी जीवों की मृत्यु होती है।

न्यायमत —- 'संहार' के लिये भी एक क्रम है। कार्य द्रव्य मे, अर्थात् घट मे, प्रहार के कारण उसके अवयवों में एक क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से उसके अवयवों में विभाग होता है, विभाग से अवयवी (घट) के आरंभक संयोगो का नाश होता है। और फिर घट नष्ट हो जाता है। इसी क्रम से ईश्वर की इच्छा से समस्त कार्य द्रव्यों का एक समय नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि असमवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्य का नाश होता है। कभी समवायिकारण के नाश से भी कार्यद्रव्य का नाश होता है।

इनका ध्येय है कि बिना कारण के नाश हुए कार्य का नाश नहीं हो सकता। अतएव सृष्टि की तरह संहार के लिये भी परमाणु में ही क्रिया उत्पन्न होती है और परमाणु तो नित्य है, उसका नाश नहीं होता, किंतु दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और फिर उससे उत्पन्न 'द्व्यणुक' रूप कार्य का तथा उसी क्रम से 'त्र्यणुक' एवं 'चतुरणुक' तथा अन्य कार्यों का भी नाश होता है। नैयायिक लोग स्थूल दृष्टि के अनुसार इतना सूक्ष्म विचार नहीं करते। उनके मत में आघात मात्र ही से एक बारगी स्थूल द्रव्य नष्ट हो जाता है। कार्य द्रव्य के नाश होने पर उसके गुण नष्ट हो जाते हैं। इसमें भी पूर्ववत् दो मत हैं जिनका निरूपण 'पाकज प्रक्रिया' में किया गया है।

न्याय मत की तरह वैशेषिक मत में भी बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान तथा प्रत्यय ये समान अर्थ के बोधक शब्द हैं। अन्य दर्शनों में ये सभी शब्द भिन्न भिन्न पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। बुद्धि के अनेक भेद होने पर भी प्रधान रूप से इसके दो भेद हैं— 'विद्या' और 'अविद्या', अविद्या के चार भेद है—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न।

संशय तथा विपर्यय का निरूपण न्याय में किया गया है। वैशेषिक मत मे इनके अर्थ में कोई अंतर नही है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को 'अनध्यवसाय' कहते हैं। जैसे—कटहल को देखकर वाहीक को, एक सास्ना आदि से युक्त गाय को देखकर नारिकेल द्वीपवासियो के मन में शंका होती है कि यह क्या है ?

दिन भर कार्य करने से शरीर के सभी अंग थक जाते हैं। उनको विश्राम की अपेक्षा होती है। इंद्रियाँ विशेषकर थक जाती हैं और मन में लीन हो जाती है। फिर मन मनोवह नाड़ी के द्वारा पुरीतत् नाडी मे विश्राम के लिये चला जाता है। वहाँ पहुँचने के पहले, पूर्वकर्मों के संस्कारों के कारण तथा वात, पित्त और कफ इन तीनों के वैषम्य के कारण, अदृष्ट के सहारे उस समय मन को अनेक प्रकार के विषयो का प्रत्यक्ष होता है, जिसे स्वप्नज्ञान कहते है।

यहाँ इतना ध्यान मे रखना चाहिए कि वैशेषिक मत मे ज्ञान के अंतर्गत ही 'अविद्या' को रखा है और इसीलिये 'अविद्या' को 'मिथ्या ज्ञान' भी कहते है। बहुतों का कहना है कि ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध है। जो मिथ्या है, वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता और जो ज्ञान है, वह कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

विद्या भी चार प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति तथा आर्ष। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि न्याय मे 'स्मृति' को यथार्थज्ञान नहीं कहा है। वह तो ज्ञात ही का ज्ञान है। इसी प्रकार 'आर्ष ज्ञान' भी नैयायिक नहीं मानते। नैयायिको के शब्द या आगम को अनुमान मे तथा उपमान को प्रत्यक्ष मे वैशेषिको ने अंतर्भूत किया है।

वेद के रचनेवाले ऋषियो को भूत तथा भविष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के समान होता है। उसमे इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं रहती। यह 'प्रातिभ' (प्रतिभा से उत्पन्न) ज्ञान या 'आर्षज्ञान' कहलाता है। यह ज्ञान विशुद्ध अंतःकरणवाले जीव में भी कभी कभी हो जाता है। जैसे — एक पवित्र कन्या कहती है — कल मेरे भाई आवेंगे और सचमुच कल उसके भाई आ ही जाते हैं। यह 'प्रातिभ ज्ञान' है।

प्रत्यक्ष और अनुमान के विचार में दोनों दर्शनो में कोई भी मत-भेद नहीं है। इसलिये पुनः इनका विचार यहाँ नहीं किया गया।

कर्म का बहुत विस्तृत विवेचन वैशेषिक दर्शन में किया गया है। न्याय दर्शन में कहे गए 'कर्म' के पाँच भेदों को ये लोग भी उन्हीं अर्थों में स्वीकार करते हैं। कायिक चेष्टाओं ही को वस्तुतः इन लोगों ने 'कर्म' कहा है। फिर भी सभी चेष्टाएँ प्रयत्न के तारतम्य ही से होती हैं। अतएव वैशेषिक दर्शन में उक्त पाँच भेदों के प्रत्येक के साक्षात् तथा परंपरा में प्रयत्न के संबंध से कोई कर्म प्रयत्नपूर्वक होते हैं, जिन्हें 'सत्प्रत्यय-कर्म' कहते हैं, कोई बिना प्रयत्न के होते हैं,

जिन्हें 'प्रयत्नप्रत्यय-कर्म' कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर्म होते हैं, जैसे पृथ्वी आदि महाभूतों में, जो बिना किसी प्रयत्न के होते हैं, उन्हें 'अप्रत्यय-कर्म' कहते हैं।

इन सब बातों को देखकर यह स्पष्ट है कि वैशेषिक मत में तत्वों का बहुत सूक्ष्म विचार है। फिर भी सांसारिक विषयों में न्याय के मत से वैशेषिक बहुत सहमत हैं। अतएव ये दोनों 'समानतंत्र' कहे जाते हैं।

इन दोनों दर्शनों में जिन बातों में 'भेद' है, उनमें से कुछ भेदों का पुनः उल्लेख यहाँ किया जाता है।

(१) न्यायदर्शन में प्रमाणों का विशेष विचार है। प्रमाणों ही के द्वारा तत्वज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। साधारण लौकिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर न्यायशास्त्र के द्वारा तत्वों का विचार किया जाता है। न्यायमत में सोलह पदार्थ हैं और नौ प्रमेय हैं।

वैशेषिक दर्शन में प्रमेयों का विशेष विचार है। इस शास्त्र के अनुसार तत्वों का विचार करने में लौकिक दृष्टि से दूर भी शास्त्रकार जाते हैं। इनकी दृष्टि सूक्ष्म जगत् के द्वार तक जाती है इसलिये इस शास्त्र में प्रमाण का विचार गौण समझा जाता है। वैशेषिक मत में सात पदार्थ हैं और नौ द्रव्य हैं।

(२) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चार प्रमाणों को न्याय दर्शन मानता है, किंतु वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों को मानता है। इसके अनुसार शब्दप्रमाण अनुमान में अंतर्भूत है। कुछ विद्वानों ने इसे स्वतंत्र प्रमाण भी माना है।

(३) न्यायदर्शन के अनुसार जितनी इंद्रियाँ हैं उतने प्रकार के प्रत्यक्ष होते है, जैसे—चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणज तथा स्पार्शन। किंतु वैशेषिक के मत में एकमात्र चाक्षुष प्रत्यक्ष ही माना जाता है।

(४) न्याय दर्शन के मत मे समवाय का प्रत्यक्ष होता है, किंतु वैशेषिक के अनुसार इसका ज्ञान अनुमान से होता है।

(५) न्याय दर्शन के अनुसार संसार की सभी कार्यवस्तु स्वभाव ही से छिद्रवाली (Porous) होती हैं। वस्तु के उत्पन्न होते ही उन्हीं छिद्रों के द्वारा उन समस्त वस्तुओं मे भीतर और बाहर वायु या तेज प्रवेश करता है तथा परमाणु पर्यंत उन वस्तुओं को पकाता है। जिस समय तेज की कणाएं उस वस्तु में प्रवेश करती हैं, उस समय उस वस्तु का नाश नहीं होता। यह अंग्रेजी मे केमिकल ऐक्शन (chemical action) कहलाता है। जैसे—कुम्हार घड़ा बनाकर आवें में रखकर जब उसमें आग लगाता है, तब घड़े के प्रत्येक छिद्र से आग की कणाएँ उस में प्रवेश करती हैं और घड़े के बाहरी और भीतरी सभी हिस्सों को पकाती हैं। घड़ा वैसे का वैसा ही रहता है, अर्थात् घड़े के नाश हुए बिना ही उसमें पाक हो जाता है। इसे ही न्याय शास्त्र में 'पिठरपाक' कहते हैं।

वैशेषिकों का कहना है कि कार्य में जो गुण उत्पन्न होता है, उसे पहले उस कार्य के समवायिकारण में उत्पन्न होना चाहिए। इसलिये जब कच्चा घड़ा आग में पकने को दिया जाता है, तब आग सबसे पहले उस घड़े के जितने परमाणु हैं, उन सबको पकाती है और उसमें दूसरा रंग उत्पन्न करती है। फिर क्रमशः वह घड़ा भी पक जाता है और उसका रंग भी बदल जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार जब कुम्हार कच्चे घड़े को आग में पकने के लिये देता है, तब तेज के जोर से उस घड़े का परमाणु पर्यंत नाश हो जाता है और उसके परमाणु अलग अलग हो जाते हैं पश्चात् उनमें रूप बदल जाता है, अर्थात् घड़ा नष्ट हो जाता है और परमाणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा रंग बदल जाता है, फिर उस घड़े से लाभ उठानेवालों के अदृष्ट के कारणवश सृष्टि के क्रम से फिर बनकर वह घड़ा तैयार हो जाता है। इस प्रकार उन पक्व परमाणुओं से संसार के समस्त पदार्थ, भौतिक या अभौतिक तेज के कारण पकते रहते हैं। इन वस्तुओं में जितने परिवर्तन होते हैं वे सब इसी पाकज प्रक्रिया (केमिकल ऐक्शन) के कारण होते हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह पाक केवल पृथिवी से बनी हुई वस्तुओं में होता है। इसे वैशेषिक 'पीलुपाक' कहते हैं।

(६) नैयायिक असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट ये पाँच हेत्वाभास मानते हैं, किंतु वैशेषिक विरुद्ध, असिद्ध तथा संदिग्ध, ये ही तीन हेत्वाभास मानते हैं।

(७) नैयायिकों के मत में पुण्य से उत्पन्न 'स्वप्न' सत्य और पाप से उत्पन्न स्वप्न असत्य होते हैं, किंतु वैशेषिक के मत मे सभी स्वप्न असत्य हैं।

(८) नैयायिक लोग शिव के भक्त हैं और वैशेषिक महेश्वर या पशुपति के भक्त हैं। आगम शास्त्र के अनुसार इन देवताओं में परस्पर भेद है।

(९) इनके अतिरिक्त कर्म की स्थिति में, वेगाख्य संस्कार में, सखंडोपाधि में, विभागज विभाग में, द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति में, विभुओं के बीच अजसंयोग में, आत्मा के स्वरूप मे, अर्थ शब्द के अभिप्राय में, सुकुमारत्व और कर्कशत्व जाति के विचार में, अनुमान संबंधों में, स्मृति के स्वरूप में, आर्ष ज्ञान में तथा पार्थिव शरीर के विभागों में भी परस्पर इन दोनों शास्त्रों में मतभेद हैं।

इस प्रकार के दोनों शास्त्र कतिपय सिद्धांतो में भिन्न भिन्न मत रखते हुए भी परस्पर संबद्ध हैं। इनके अन्य सिद्धांत परस्पर लागू होते हैं। [श्री० उ० मि०]

वैश्वानर पुराणों में इस नाम के कई व्यक्ति हैं। पहला वैश्वानर दानवपति कश्यप तथा दनु के सौ पुत्रों में से एक था, जिसकी दो कन्याएँ कालका तथा पुलोमा थी। भागवत के अनुसार इसकी चार कन्याएँ उपदानवी, कोला, पुलोमा तथा हयशिरा थी। इनमें से कोला तथा पुलोमा का विवाह ब्रह्मा के आदेश से कश्यप प्रजापति के साथ और उपदानवी का ब्याह हिरण्याक्ष एवं हयशिरा का क्रतु के साथ हुआ था (भाग, ६–६–६)। दूसरे वैश्वानर की कन्या शांडिली को गरुड़ हिमालय की ओर ले जाना चाहते थे परंतु उनके पंख जल गए। तीसरे वैश्वानर ने केतु के साथ उस समय युद्ध किया था जब समुद्रमंथन के पश्चात् देवताओं को जालंधर नामक दैत्य से लड़ना पड़ा था।

ऋग्वेद में अग्नि का नाम भी वैश्वानर दिया है और उन्हें एक प्रधान देवता माना गया है। उसके तृतीय मंडल के द्वितीय अष्टक के

अनुसार विश्वामित्र ने वैश्वानर देव की स्तुति करके कुछ ऋक् मंत्रों की रचना की थी।

वैष्णवदास रसजानि यह नाभा जी कृत भक्तमाल की टीका भक्तिरसबोधिनी के कर्ता प्रियादास जी के पौत्र थे, जिन्होंने इन्हें 'रसजानि' की उपाधि दी। इनके गुरु श्रीहरिजीवन जी थे। इन्होंने श्रीमद्भागवत के बारहो स्कंधों का पद्यानुवाद किया है। भागवतमाहात्म्य के अनुवाद में रचनाकाल सं० १८०२ दिया है। जयदेव के गीतगोविंद का पद्यानुवाद सं० १८१४ में पूर्ण हुआ। इनका समय संवत् १७७० से सं० १८३० के लगभग है। [रा० द्वि०]

वैस्पाज़िअन् जन्म—१८ नवंबर ९, मृत्यु २१ जून ७९ रोमन-साम्राज्य का अत्यंत प्रभावशाली सम्राट् वैस्पाज़िअन् (पूरा नाम—टाइटस फ्लेवियस वैस्पाज़िअन, शासनकाल–७०–७९) का जन्म मामूली साहूकार के घर में हुआ था और उसका जीवन बहादुर सैनिक के रूप में शुरू हुआ। इसी हैसियत से वह जर्मनी, इंग्लैंड, अफ्रीका, यूनान, और मिस्र गया। बड़ा यश पैदा किया। १ जुलाई, ६९ ई० को मिस्र में रोमन सेनाओं ने उसको सम्राट् घोषित किया। अन्य स्थानों की सेनाओं ने भी उसके प्रति वफादारी की शपथ ली। उनके द्वारा ही वह रोमन साम्राज्य का शासक बनाया गया, उसने शीघ्र ही शासन सुधार की घोषणा करके अपने को लोकप्रिय बना लिया। गाल प्रदेश के विद्रोह को दबाकर जर्मन सीमाओं को सुरक्षित बनाया। जेरूसलम में भी रोमन साम्राज्य की स्थिति को सुदृढ़ एवं सुरक्षित बनाया। जेनूस के मंदिर को बंद करके अपने शासन काल के ९ वर्ष में वहाँ रोमन आधिपत्य कायम रखा। ७८ ई० में इंग्लैण्ड के वेल्स और आंग्लेसी द्वीप में रोमन साम्राज्य का विस्तार किया।

सन् ७० में उसने रोम में प्रवेश किया। वह घरेलू युद्ध में आग की भेंट हो चुका था। उसका पुनर्निमाण कर उसको सुंदर एवं वैभवशाली बनाया। उसका सबसे बड़ा काम सिनेट के सहयोग से रोमन साम्राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाना, सेनाओं का पुनर्गठन कर उसमें फैली हुई अनैतिकता को दूर करना, साम्राज्य के अंतर्गत प्रदेशों को उन्नत बनाना और पिछड़े हुए प्रदेशों में रोमन संस्कृति का प्रसार करना था। वह बहादुर सैनिक, कुशल शासक, तथा चरित्रवान, ईमानदार, हँसमुख, मिलनसार और उदार व्यक्ति था। उसके समय में रोमन साम्राज्य का पहला सुप्रसिद्ध इतिहास लिखा गया। अपने सरल और मितव्ययी जीवन से उसने रोमन सामंतों और जनता के जीवन में बड़ा सुधार किया और सादगी से रहना सिखाया।

एक रोमन सरदार की लड़की फ्लेविया डामाटिला से उसका विवाह हुआ। उसके दो पुत्र हुए और दोनों रोमन साम्राज्य के सम्राट् हुए। [स० वि०]

वोयेल्कर, जे० ए० (Voelcker, J. A.) इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध भूमिरसायनज्ञ (soil chemist) थे। इन्होंने विश्वविख्यात रॉथम्स्टेड अनुसंधान केंद्र में भूमि से होनेवाली खनिज क्षति का पता लगाया। जब विभिन्न प्रकार की मिट्टियों में नाइट्रोजनी, फ़ॉस्फोरिक अथवा पोटैशीय उर्वरक मिलाए जाते हैं, तब पोषक तत्वों की क्षति पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका सूक्ष्म अध्ययन इन्होंने किया। परीक्षणों से यह देखा गया कि अमोनियम लवणों के कारण कैल्सियम, मैग्नीशियम आदि की क्षति में वृद्धि होती है।

सन् १८८९ में तत्कालीन अंग्रेजी सरकार के आमंत्रण पर ये भारत आए और दक्षिण भारत से अपना भ्रमण प्रारंभ कर बंगाल, उत्तरप्रदेश तथा पंजाब का दौरा किया। सन् १८९१ ये में वापस चले गए। इन्होंने भारतीय कृषि की जो अवस्था देखी, इंग्लैंड पहुँचकर उसके संबंध में अपने विचारों को पुस्तकाकार रूप में, 'भारतीय कृषि के सुधार' (Improvements of Indian Agriculture) के नाम से प्रकाशित किया। यह पुस्तक भारतीय कृषि के विविध पक्षों पर सूचना देने में समर्थ है।

भारतीय कृषि के संबंध में व्यक्त किए गए इनके अनेक विचारों से कृषि के उन्नयन में योग मिला है। [शि० गो० मि०]

वोहलगमथ माइकेल (Wohlgemnth Michael.) जर्मन चित्रकार। जन्म न्यूरेमबर्ग में १४३४ ई० को हुआ। १४७२ में चित्रकार हांसपिट्सवर्ग की विधवा से विवाह किया। इसने एक बहुत बड़ी संस्था का संचालन किया जिसके अंतर्गत कला के अनेक रूपों पर कार्य होता था। माइकेल धार्मिक चित्रों तथा काष्ठकला के लिये प्रसिद्ध है। इसकी कृतियाँ म्यूनिख की चित्रदीर्घा तथा न्यूरेमबर्ग की प्रदर्शनी में प्राप्त हैं। न्यूरेमबर्ग में १५१९ में इसका देहांत हो गया। [गु० त्रि०]

व्यंग्यरचना (प्रहासक, बरलेस्क) 'बरलेस्क' शब्द का प्रयोग इंगलैंड में राजसत्ता की पुन: स्थापना (रेस्टोरेशन–१६६०) से कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ जिसका अर्थ पहले मुक्त विनोद ही था, साहित्यिक पद्धति नहीं। उसके पश्चात् 'ड्रोल' (विचित्र विचित्र, विनोदपूर्ण, हास्यास्पद) के पर्याय के रूप में इसका प्रयोग हुआ जिसका अर्थ था अत्यंत हास्यजनक। अब भी यही अर्थ उन साहित्यिक रूपों के लिये प्रयुक्त होता है जो परिवृत्ति (अनुकृति काव्य, पैरोडी), व्यंग्यचित्रण (कैरीकेचर) और छद्मरूपक (ट्रावेस्टी) की श्रेणी मे आते हैं। सर्वप्रथम सन् १६४३ में स्कारो ने इसका प्रयोग किया था और फिर सन् १६४८ में उसके ग्रंथ 'वर्जिल के छद्म रूपक' (ट्रावेस्टी ऑव वर्जिल) के लिये इसका प्रयोग हुआ था। चार्ल्स कौटन ने अंगरेजी मे जो इसका अनुकरण किया था (प्रथम भाग १६६४) उसका शीर्षक था 'स्कारोनिड्स, ऑर वर्जिल ट्रावर्सिटी (ए मौक पोएम, बीइंग दि फर्स्ट बुक ऑव वर्जिल्स ईनीस इन इंगलिश, बरलेस्क—एक हास्य कविता जो वर्जिल के ईनीस की अंग्रेजी में प्रथम पुस्तक प्रहासक, बरलेस्क है)। इस शब्द का प्रयोग 'हुडिब्रास' के लिये भी हुआ था जिसकी उन बड़े अटपटे द्विचरणी छंदों में रचना हुई थी जिनका प्रयोग आगे चलकर सभी प्रहासकों के लिये स्वीकृत हो गया था।

'बरलेस्क' शब्द का प्रयोग अब उन सभी कविताओं, कथा—उपन्यासों और नाटकों के लिये होता है जिनमें असंगत अनुकरण के द्वारा रीति नीति, संस्था, व्यक्ति या साहित्यिक कृतियाँ (कोई विशेष कृति या किसी श्रेणी की कृतियाँ) हास्यास्पद तथा व्यंग्यात्मक रूप

में प्रस्तुत की जाती है या उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है। जॉन्सन की परिभाषा के अनुसार 'ऐसी रचनाओं में जान बूझकर शैली और भाव के बीच विरोध या अननुपात उत्पन्न करके विनोदात्मक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। इनमें से जिनमें किसी तुच्छ वस्तु या भाव को अत्यंत व्यंगात्मक गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया जाता है उन्हें उच्च प्रहासक (हाई बरलेस्क) और जिनमें गंभीर भाव को अत्यंत निम्न तथा निश्चित हास्यास्पद क्षुद्रता, लघुता या हीनता के साथ प्रदर्शित किया जाता है उन्हें निम्न प्रहासक (लो बरलेस्क) कहते हैं। अधिकांश इस प्रकार की रचनाओं का उद्देश्य आलोचना करना, खिल्ली उड़ाना या छींटे कसना होता है किंतु इसमें असंयत और असंगत क्रियाओं या व्यवहारों के द्वारा मनोविनोद भी किया जा सकता है। इस प्रकार के शुद्ध काल्पनिक प्रहासक को एक्स्ट्रावेगांज़ा (अटर सटर) कहते हैं। प्रहासक (बरलेस्क) के मुख्य रूप हैं परिवृत्ति (अनुकृति काव्य, पैरोडी) व्यंग चित्रण (कैरीकेचर) और छद्मरूपक (ट्रावेस्टी)। जिस प्रहासक (बरलेस्क) में किसी विशेष कृति या लेखक या वाद की शैली या प्रकृति तथा रीति का विनोदपूर्ण विकृत अनुकरण किया गया हो और जिसका उद्देश्य हँसी उड़ाना या उसे नीचा दिखाना या उसकी खिल्ली उड़ाना हो उसे परिवृत्ति (पैरोडी) कहते हैं। जिस प्रहासक (बरलेस्क) में किसी लेखक या कृति या व्यक्ति के सरलता से पहचाने जा सकने वाले लक्षणों को तोड़ मरोड़ या विकृत करके चित्रण किया गया हो, उसे व्यंग्यचित्रण (कैरीकेचर) कहते हैं। छद्मरूपक (ट्रावेस्टी) उस प्रहासक (बरलेस्क) को कहते हैं जिसमें मूल विषय तो ज्यों का त्यों रहता है किंतु उसका प्रतिपादन अत्यंत असंगत तथा तुच्छ भाषा में और हास्यास्पद अतिरंजकता के साथ किया जाता है। किसी प्रहासक में इन तीनों पद्धतियों का समिश्रण भी हो सकता है और कभी कभी तीनों का पूर्ण परित्याग भी विशेषतः जहाँ सार्वभौम विचार या जीवन के सर्वसामान्य पक्षों को असंगत रूप में प्रस्तुत किया जाय—जैसे बायरन के डान जुवाँ में। किंतु प्रायः प्रहासक (बरलेस्क) का आनंद अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत हास्योद्बोधक विषय की पहचान से अधिक होता है इसलिये उसमें परिवृत्ति, छद्मरूपक या व्यंगचित्रण प्रायः अपरिहार्य होता है।

प्रहासक उस युग में अधिक फलता फूलता है जब लेखकों के वाद या सामाजिक संस्थाएँ निंदा या आलोचना के पात्र बन जाती हैं और जब बहुत से लोग उन सब बातों की असंगति के संबंध में अधिक अभिज्ञ हो जाते हैं जो पहले प्रशंसनीय समझी जाती थीं। यूरोप में जब मध्यकालीन कल्पनावादी साहित्य (रोमान्सेज) की घोर शब्दाडंबर से युक्त ऊटपटाँग बातें चलीं तब चॉसर ने अपने 'सर टोपास' नामक ग्रंथ में उनकी खिल्ली उड़ाई। दो शताब्दी पश्चात् सामंतवादी प्रणाली (शिवेलरी) की हासयुक्त शस्त्रसज्जा को 'डॉन क्विक्ज़ोट' द्वारा उत्पन्न किए हुए विनोद ने पूर्णतः समाप्त कर डाला जिससे उस प्रकार के प्रहासक लिखने के लिये केवल प्रेरणा ही नहीं मिली वरन् आदर्श भी उपस्थित किए गए। इसका परिणाम यह हुआ कि १७ वीं शताब्दी के प्रारंभ में विशेषतः इंग्लैंड में प्रहासक के सब रूप अत्यंत प्रभूत संख्या में लिखे गए। 'हुडिब्रास' शैली से निम्न प्रहासकों (लो बरलेस्क) की परिपाटी चली और उच्च प्रहासक 'ड्राइडेन' के 'मैकफ्लैक्नो' तथा पोप के 'दि रैप ऑव दि लॉक' शीर्षक रचनाओं के वीरतापूर्ण छंदों में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया। १८ वीं शताब्दी के संवेगात्मक (सेंटीमेंटल) और गोथिक उपन्यासों पर भी गद्य में कई प्रहासक लिखे गए और उनकी खिल्ली उड़ाई गई जैसे जेन ऑस्टेन का 'नोर्थेनार एबे', पीकॉक का 'हेड्लौंग हॉ' तथा 'थैकरे' की रचनाएँ। इसी प्रकार 'गिफोर्ड' और हौरेस स्मिथ' की कविताएँ, वीरतापूर्ण तथा कल्पनावादी नाटक और नृत्य नाट्य भी सफल हुए।

नाटकीय प्रहासक (थियेटर बरलेस्क) उतना ही पुराना है जितना सुखांत नाटक या प्रहसन (कॉमेडी)। कोमोस की प्रहसनात्मक गुप्ततंत्र क्रियाएँ (बरलेस्किंग ऑर्गीज) से 'अरिस्तोफ़नेस' के नाटकों में छद्मरूपक (टावेस्टी), परिवृत्ति (पैरोडी) और व्यंग्यचित्रण (कैरिकेचर) का अत्यंत भव्य संमिश्रण विकसित हुआ। एलीज़ावेथीय रंगशाला पर यद्यपि इस प्रकार के प्रहसन बहुत कम हुए, फिर भी वे उल्लेखनीय हैं जैसे—'शेक्सपियर' के 'लव्ज लेबर्स लौस्ट' में 'नाइन वर्दीज, 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' में 'पिरेमस एंड थिसबे' का छद्मरूपक तथा 'दि नाइट ऑव दि बर्निंग पेसिल'। वर्तमान नाटकीय प्रहासकों को मूल प्रेरणा 'दी जार्ज विलियर्स' के 'दि रिहर्सल' (नाट्याभ्यास) की सफलता ने जिसमें (१६७१) वीरतापूर्ण नाटकों का छद्मरूपण और ड्राइडेन का व्यंग्यचित्रण किया गया था।

१८ वीं शताब्दी में प्रहासक के साथ संगीत के जोड़ देने की प्रवृत्ति बढ़ी जो बैलट ऑपरा की हास्य-नृत्य-नाट्य शैली में चले थे। वे इतने लोकप्रिय हुए कि छोटी अव्यवस्थित रंगशालाओं में उनका बहुत प्रचलन हुआ जो पीछे चलकर रंगशाला के लिये बने हुए पेटेंट नियमों से बाध्य किए गए कि वे बिना संगीत के संवाद प्रस्तुत न करें। इस प्रकार की रचनाओं के लिये बरलेटा शब्द का प्रयोग किया गया जिसे प्रहासक (बरलेस्क) का पर्यायवाची समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। १७ वीं शताब्दी में उसका अर्थ था सूक्ष्म संगीतमय प्रहसन किंतु पीछे चलकर उसका अर्थ हुआ ऐसा नाटक जिसमें इतना संगीत हो कि वह पेटेंट नियम की बाधा से मुक्त रहे।

१९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में इस प्रकार के निम्न कोटि के नाटकीय प्रहासकों को दो प्रकार के प्रभावों ने समाप्त कर डाला और उनके स्थान पर आ बैठे। पहला तो अधिक शिष्ट फ्रांसीसी शैली का प्रचलन और दूसरे अधिक कलात्मक नाटकीय रचनाओं का उत्पादन। फ्रांस में भी निम्न कोटि के नाटककारों ने दो प्रकार के हल्के और ललित संगीतमय प्रहासकों (म्यूजिकल बरलेस्क) की रचना की जिसे फेयरीज़ फोलीज़ (परियों की कथाओं का कल्पनाशील छद्मरूपण) और रेव्यू (तत्कालीन नाटकीय प्रभावों का चटपटा अनुकरण)। इस प्रकार के अटर सटरों (एक्स्ट्रा वेगेंजाज़ में), लालित्य, कल्पना, चतुरतापूर्ण श्लेष और उन सामयिक प्रवृत्तियों पर अत्यंत कौशलपूर्ण टिप्पणी भरी रहती थी जिनका संबंध फ्रांसीसी या अंग्रेजी साहित्य से होता था।

वर्तमान काल के अमरीकी प्रहासक का प्रादुर्भाव लुप्त अंग्रेजी कला से हुआ है। अमरीकी रंगमंच पर इसका प्रचलन बहुत पहले ही हो गया था किंतु इंग्लैंड की अपेक्षा अधिक शील के साथ हुआ था जहाँ

प्रारंभ में ही कामभावना की प्रेरणा से वह बहुत लोकप्रिय हो गया था। कामभावना पर अधिक बल देना अमरीका में उस समय से प्रारंभ हुआ जब १८६९ में एक अंग्रेजी नाट्य मंडली अमरीका में आई जिसमें अंगों के सौंदर्यमय प्रदर्शन, सुंदरी बालाओं और ग्रीज पेंट से चारों ओर हाहाकार मच गया। अब तो केवल उस हाहाकार का और प्रहासक का नाममात्र बच गया है जिसने उस समय के लोगों को प्रभावित किया था। अब उस प्रकार का अंगप्रदर्शन संगीतमय प्रहसन और रेव्यू में पहुँच गया है।

सं० ग्रं०—आर पी० वोड : इंगलिश बर्लेस्क पोइट्री, १९३१; जी० किचिन : ए सर्वे ऑव बरलेस्क ऐंड पैरोडी इन इंगलिश, १९१३; डब्ल्यू जे० राड और एम० ल्यूनोड : ए सेंचुरी ऑव पैराडीएंट इमीटेशन, १९१३; ए० बी० सेपरसन : दी नावेल इन माटले, १९३६; सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र। [सी० रा० च०]

व्यक्तित्व—दे० 'मनोमिति'

व्यक्ति प्रति अपराध समाज में मनुष्य के प्रति तीन प्रकार के अपराध होते हैं, अर्थात् (क) जीवन के प्रति, (ख) शरीर के प्रति, अथवा (ग) स्वाधीनता के प्रति।

(क) जीवन के प्रति अपराध

मनुष्य के जीवन के प्रति किए जानेवाले अपराध चार प्रकार के होते हैं—(१) नरहत्या, (२) आत्महत्या, (३) भ्रूणहत्या और (४) शिशुहत्या।

(१) नरहत्या — एक मनुष्य द्वारा किसी दूसरे मनुष्य का वध नरहत्या कहलाता है। प्राचीन काल में नरहत्या के सभी मामलों में एक सा दंड दिया जाता था। लेकिन आधुनिक काल में उच्चतर भावनाओं के जन्म तथा आपराधिक मनोविज्ञान के सिद्धांत का विकास होने के साथ नरहत्या के अपराधियों की दंडव्यवस्था में अंतर उत्पन्न हो जाता है। आधुनिक धारणाओं के अनुसार नरहत्या या तो वैध होती है या अवैध (अथवा अभियोज्य)।

वैध नरहत्या—वैध नरहत्या या तो क्षम्य होती है या फिर न्यायोचित। (१) बिना किसी अपराधात्मक इरादे के दुर्घटना या दुर्भाग्यवश (धारा ८०); अथवा (२) किसी बालक या असंतुलित मस्तिष्कवाले व्यक्ति द्वारा पागलपन या नशे की दशा में (धारा ८२, ८५); अथवा (३) मृतक के हितार्थ किए गए सद्भावनापूर्ण कार्य द्वारा (धारा ८७, ८८ और ९२) होनेवाली नरहत्याएँ क्षम्य होती हैं। नरहत्याएँ निम्नलिखित दशाओं में न्यायोचित होती हैं—(१) विधि द्वारा बाध्य व्यक्ति द्वारा (धारा ७६); अथवा (२) न्यायानुसार कार्यरत न्यायाधीश द्वारा (धारा ७७); अथवा (३) किसी न्यायालय के निर्णय या आदेश का पालन करनेवाले व्यक्ति द्वारा (धारा ७८); अथवा (४) ऐसे व्यक्ति द्वारा जो विधि के अंतर्गत हत्या करने के औचित्य में सद्भावनापूर्वक विश्वास रखता है (धारा ७९); अथवा (५) शरीर या संपत्ति को अन्य हानियों से बचाने या उनको टालने के लिये अपराधात्मक इरादे से रहित व्यक्ति द्वारा (धारा ८१); अथवा (६) शरीर या संपत्ति की रक्षा के निजी अधिकार का प्रयोग कर रहे व्यक्ति द्वारा (धारा १०१ और १०३)। क्षम्य और न्यायोचित नरहत्याओं के मामलों में दंड नहीं दिया जाता और इसीलिये ऐसी हत्याएँ वैध कहलाती हैं।

अभियोज्य नरहत्या — अभियोज्य नरहत्या (अर्थात् अवैध नरहत्या) या तो हत्या की श्रेणी में आती है या हत्या की श्रेणी में नहीं आती। यदि कोई व्यक्ति (१) जान से मार डालने के इरादे से अथवा (२) ऐसी शारीरिक चोट पहुँचाने के इरादे से जिससे मृत्यु संभव हो अथवा (३) यह जानते हुए कि उसके ऐसे कार्य से मृत्यु की संभावना हो सकती है, मृत्यु का कारण बनता है तो ऐसा व्यक्ति अभियोज्य नरहत्या का अपराध करता है (धारा २९९)। अभियोज्य नरहत्या के लिये उक्त तीन तत्वों में से किसी एक का रहना आवश्यक है। इस प्रकार यदि निश्चित इरादे और जानकारी से किसी की हत्या हो जाती है तो यह अभियोज्य नरहत्या होगी। लेकिन यदि मृत्यु बिना किसी ऐसे इरादे अथवा जानकारी के हो जाती है तो यह अभियोज्य नरहत्या नहीं होगी। दुर्भावना अथवा बुरा इरादा इसके लिये आवश्यक नहीं है। उदाहरणस्वरूप यदि अ जान लेने के इरादे से अथवा इस जानकारी के साथ कि उसके कार्य से मृत्यु संभावित है, एक गड्ढे के ऊपर पतली लकड़ियाँ और घास डाल देता है और ज उसे ठोस भूमि समझकर उसपर चला जाता है, गिर पड़ता है और मर जाता है तो अ इस हत्या का अपराधी है। पुनः, अ जानता है कि ज झाड़ी के पीछे है, ब यह नहीं जानता। अ ज की जान लेने के इरादे से ब को झाड़ी पर गोली चलाने के लिये प्रेरित करता है। ब गोली चला देता है और ज मारा जाता है। यहाँ पर ब निरपराध हो सकता है लेकिन अ अभियोज्य नरहत्या करता है। इसी प्रकार अ फ़ाख्ता का शिकार कर उसको चुराने के उद्देश्य से गोली चलाता है जिससे झाड़ी के पीछे खड़े ब की मृत्यु हो जाती है। अ यह नहीं जानता था कि ब वहाँ खड़ा है। यहाँ यद्यपि अ एक अवैध कार्य कर रहा था लेकिन वह अभियोज्य नरहत्या का अपराधी नहीं है क्योंकि उसका इरादा जान लेने का नहीं था और न वह जानता था कि उसके इस कार्य से किसी की मृत्यु हो सकती है। इस दृष्टांत से यह नियम प्रतिपादित होता है कि यदि कोई अपराधी एक अपराध करते हुए किसी की मृत्यु का कारण बनता है जब कि उसका न ऐसा इरादा था और न वह यह जानता था कि ऐसा कार्य मृत्यु का कारण बन सकता है तो ऐसे व्यक्ति को केवल उसी अपराध के लिये दंड दिया जायगा, दुर्घटनावश जान लेने के लिये नहीं।

अभियोज्य नरहत्या का अस्तित्व किसी विशेष अपराध के रूप में नहीं है। इसका प्रयोग मूल अर्थ में ही होता है और इसीलिये भारतीय दंड संहिता में इसके लिये दंड का विधान नहीं है। यह दो प्रकार का होता है। अर्थात् (अ) अभियोज्य नरहत्या जो हत्या की श्रेणी में आती है (धारा ३००, उपधारा १, २, ३ और ४) और (ब) अभियोज्य नरहत्या जो हत्या की श्रेणी में नहीं आती (धारा ३०४, ३०४ अ और धारा ३०० के पाँच अपवाद)। अंग्रेजी विधि के अंतर्गत दूसरे को मानववध कहते हैं।

हत्या — अभियोज्य नरहत्या हत्या समझी जाती है यदि वह

कार्य, जिससे मृत्यु होती है (१) प्राण लेने के इरादे से किया जाता है (उदाहरणस्वरूप अ जान लेने के इरादे से ज पर गोली चलाता है जिसके फलस्वरूप ज मर जाता है। ऐसी दशा में अ ने हत्या की); अथवा (२) यदि वह कार्य ऐसी शारीरिक चोट पहुँचाने के इरादे से किया जाता है जिसके बारे में अपराधी जानता है कि जिस व्यक्ति को चोट पहुँचाई जायगी उसकी मृत्यु होने की संभावना है (उदाहरणस्वरूप यह जानते हुए कि ज ऐसे रोग से पीड़ित है कि एक ठोकर लगने से उसकी मृत्यु संभावित है, अ उसको शारीरिक चोट पहुँचाने के इरादे से ठोकर लगाता है जिसके फलस्वरूप ज मर जाता है। ऐसी दशा में अ हत्या का अपराधी है यद्यपि हो सकता है, स्वाभाविक रूप में स्वस्थ व्यक्ति की ऐसी ठोकर से मृत्यु न होती); अथवा (३) यदि वह कार्य किसी व्यक्ति को शारीरिक चोट पहुँचाने के इरादे से किया जाता है और इस प्रकार पहुँचाई जानेवाली चोट स्वाभाविक रूप से मृत्यु का कारण बनने के लिये पर्याप्त है (उदाहरणस्वरूप अ जान बूझकर ज पर तलवार का ऐसा घाव करता है जिससे किसी भी व्यक्ति की साधारण रूप से मृत्यु हो सकती है। ऐसी दशा में अ हत्या का अपराधी है यद्यपि हो सकता है, उसका इरादा ज की जान लेने का न रहा हो); अथवा (४) यदि उस कार्य को करनेवाला व्यक्ति यह जानता है कि उसका कार्य इतना खतरनाक है कि प्रत्येक दशा में इससे मृत्यु होने की पूर्ण संभावनाएँ हैं अथवा वह ऐसी शारीरिक चोट पहुँचाता है जिससे मृत्यु होने की संभावना है और जान ले लेने के खतरे को उठाए बिना किसी कारण के ऐसा कार्य करता है अथवा पूर्वकथित ऐसी चोट पहुँचाता है। उदाहरणस्वरूप अ अकारण मनुष्यों की एक भीड़ पर भरी हुई बंदूक चलाता है और उनमें एक व्यक्ति को जान से मार देता है। ऐसी दशा में अ हत्या का अपराधी है, यद्यपि हो सकता है, उसकी किसी व्यक्तिविशेष को जान से मारने की कोई पूर्वनिर्धारित योजना न रही हो। वह इसलिये हत्या का अपराधी कहा जायगा क्योंकि उसका कार्य आसन्न रूप से इतना खतरनाक है कि इससे प्रत्येक दशा में मृत्यु होगी (धारा ३००)।

अभियोज्य नरहत्या और हत्या में अंतर — कोई अपराध तब तक हत्या की श्रेणी में नहीं आएगा जब तक वह अभियोज्य नरहत्या की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आता क्योंकि स्वयं हत्या की परिभाषा उन दशाओं की ओर संकेत करती है जिनमें अभियोज्य नरहत्या हत्या की श्रेणी में आती है। लेकिन समस्त अभियोज्य नरहत्याएँ हत्या की श्रेणी में नहीं आ सकतीं। उदाहरणस्वरूप जब वह धारा ३०० के पाँच अपवादों में से किसी एक के अंतर्गत आ जाती है। एक समय था जब यह समझा जाता था कि अभियोज्य नरहत्या (धारा २९९) और हत्या (धारा ३००) के बीच का अंतर केवल धारा ३०० के पाँच अपवाद ही हैं। लेकिन अब यह निश्चित हो चुका है कि दोनों में अंतर है यद्यपि उनमें कोई आमूल अंतर नहीं है। जान लेना दोनों में उभयनिष्ठ है। जिस कार्य से मृत्यु होती है वह अपराधी का कार्य है और दोनों स्थितियों में आपराधिक इरादा अथवा जानकारी अनिवार्य है। वास्तविक अंतर इरादे अथवा जानकारी की सापेक्षता में है। अभियोज्य नरहत्या की अपेक्षा हत्या में घातक प्रहार करने का इरादा अथवा जानकारी अधिक रहती है। जान लेने की सभी दशाओं में ये दोनों अपराध आपस में एक दूसरे के न बहिष्कारकर्ता हैं और न विस्तारकर्ता।

सामान्यत. जब इरादा प्राण लेने का होता है तो किया गया अपराध हत्या है, यदि वह धारा ३०० के पाँच अपवादों में किसी के अन्तर्गत नहीं आता। यदि अ जानता है कि ब की तिल्ली बढ़ी हुई है और इस तथ्य की जानकारी के साथ अ उसकी तिल्ली के क्षेत्र में शक्तिपूर्वक घूँसा मारता है और ब मर जाता है तो यह अपराध हत्या है, अभियोज्य नरहत्या नहीं, क्योंकि अ को विशिष जानकारी थी। पुन, यदि शारीरिक चोट से मृत्यु संभावित है तो यह अभियोज्य नरहत्या है। जब कि यदि ऐसी शारीरिक चोट पहुँचाने का इरादा है जो सामान्य रूप से जान लेने के लिये काफी है, तो यह हत्या होगी। दूसरे शब्दों मे, यदि किए गए कार्य का परिणाम समस्त संभावित दशाओं में मृत्यु है तो यह हत्या है जब कि यदि मृत्यु होने की संभावना मात्र है तो अपराध अभियोज्य नरहत्या है।

मानववध — अभियोज्य नरहत्या थी, जो हत्या की श्रेणी में नहीं आती, अथवा इंग्लिश विधि मे मानववध की परिभाषा कहीं नहीं दी गई है और न इसकी आवश्यकता ही समझी गई है। इसके अंतर्गत दो प्रकार के अपराध आते हैं : (१) वे जो अभियोज्य नरहत्या के अंतर्गत आते हैं (धारा २९९) किंतु हत्या की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते (धारा ३०० की चार उपधाराएँ); और (२) वे जो धारा ३०० के पाँच अपवादों के अंतर्गत आते हैं।

हम प्रथम प्रकार के मामलों का दृष्टांत सबसे पहले देंगे। यदि कोई कार्य शारीरिक चोट पहुँचाने के इरादे से किया जाता है जिससे मृत्यु होने की संभावना है तो यह मानववध है। उदाहरणस्वरूप अ अपनी पत्नी को पूर्ण शक्ति से तमाचा लगाता है। फलस्वरूप वह गिर पड़ती है और मर जाती है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वह बीमार थी। ऐसी दशा में अ मानववध का अपराधी है। यदि प्राण लेने के इरादे का अभाव है और जाँच का फल यह है कि कार्य इस जानकारी के साथ किया गया था कि उससे मृत्यु होने की संभावना थी तो यह मानववध है। उदाहरणस्वरूप जब लूटने के अपराध में आसानी पैदा करने के लिये किसी को धतूरा खिला दिया जाता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है तो यह अपराध मानववध है। कभी कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है जब अपने अपराध के चिह्न छिपाने के लिये एक व्यक्ति किसी की जान ले लेता है जिसे वह मृत समझता है। उदाहरणस्वरूप अ, ब को जान से मारने के इरादे से उसके सिर पर तीन प्रहार करता है। फलस्वरूप ब बेहोश होकर गिर पड़ता है यद्यपि वह मरा नहीं है। अ उसको मृत समझकर अपराध के सारे प्रमाण नष्ट करने के लिये उस झोपड़ी में आग लगा देता है जिसमें ब पड़ा है। डाक्टरी साक्ष्य यह है कि मृत्यु जलने से हुई है, प्रहारों से नहीं। बंबई उच्च न्यायालय ने 'सम्राट् बनाम खो' (१५ बंबई, १९४) में बहुमत से यह

निर्णय दिया था कि अ हत्या करने के प्रयत्न का अपराधी है, हत्या का नहीं। असहमत न्यायाधीश श्री पारसन ने उसको इस आधार पर हत्या का अपराधी होना निश्चित किया कि दोनों कार्य—प्रहार करना और झोपड़ी जलाना एक दूसरे से इतनी घनिष्ठता से संबद्ध हैं कि वे एक ही प्रक्रिया—मृतक की जान लेने—के अंग हैं। हमारे देश के अनेक उच्च न्यायालयों ने न्यायाधीश श्री पारसन के इस मत का समर्थन किया है और जिसको प्रिवी कौंसिल ने 'मेली बनाम महारानी' (१९५४) १. ए० ई० आर० ३७१ में स्वीकार किया है।

द्वितीय श्रेणी में धारा ३०० के पाँच अपवादों के अंतर्गत आनेवाले मामले आते हैं जिन्हें जान लेना कहते हैं: (१) उत्तेजना में आकर, अथवा (२) निजी रक्षा के अधिकार का अतिक्रमण करके अथवा (३) सरकारी कर्मचारी द्वारा अपने अधिकारों का अतिक्रमण करके, अथवा (४) बिना पूर्व विचार के यकायक संघर्ष होने पर, अथवा (५) अनुमति से जान लेना। जान लेने के इन सभी मामलों में मानववध अथवा अभियोज्य नरहत्या का, जो हत्या की श्रेणी में नहीं आती, छोटा अपराध होता है।

हत्या अथवा अभियोज्य नरहत्या का प्रयत्न—हत्या का प्रयत्न एक पृथक् अपराध है और इसके लिये धारा ३०७ के अंतर्गत दंड दिया जाता है। इस अपराध को सिद्ध करने के लिये स्वयं प्रयत्न से ही मृत्यु होने की संभावना होनी चाहिए, अगर किसी परिस्थितिवश इसको कार्यान्वित होने से न रोका जाय। इसमें दो बातें सिद्ध होनी चाहिए: (१) जान लेने का इरादा और (२) अभिकर्ता की चेष्टा शक्ति से स्वतंत्र रहकर किसी परिस्थिति के कारण उस इरादे की असफलता। इसी प्रकार अभियोज्य नरहत्या करने का प्रयत्न धारा ३०८ के अंतर्गत दंडनीय है।

२. **आत्महत्या** — आत्महत्या स्वयं अपनी जान लेना है। आत्महत्या का अपराधी दंडनीय नहीं है क्योंकि अपराधी जीवित ही नहीं बचता। केवल आत्महत्या का प्रयत्न धारा ३०५ और ३०६ के अंतर्गत दंडनीय है। आत्महत्या साधारणत: वित्तीय विनाश, पारिवारिक कलह, निराश्रयता, शारीरिक संताप अथवा प्रेम की असफलता आदि के कारण की जाती है। इसके लिये गोली मारने, फाँसी पर लटकने, जहर खाने, पानी मे डूबने, आग में जलने, गला काटने जैसे साधनों का प्रयोग किया जाता है।

हत्या करने के प्रयत्न की अपेक्षा आत्महत्या के प्रयत्न के लिये दंड हल्का है क्योंकि विधि या कानून आत्महत्या को दंड की अपेक्षा दया का अधिक उपयुक्त विषय मानता है।

३. **भ्रूणहत्या** भ्रूणहत्या भ्रूण अथवा गर्भस्थ शिशु का विनाश है। यह अपराध अहस्तक्षेप्य है अर्थात् पुलिस उस समय तक अपराधी के विरुद्ध कारर्वाई नहीं कर सकती जब तक इसके बारे में शिकायत न की जाय।

गर्भस्थ शिशु की माँ भी इस अपराध के लिये दंडनीय है बशर्ते सद्भावनावश उसके जीवन की रक्षा के लिये गर्भपात न कराया गया हो। यदि माँ नहीं जानती कि उसको कोई गर्भनाशक ओषधि खिलाई गई है तो वह दंडनीय नहीं है। सब ऐसे अपराध धारा ३१२ से लेकर ३१४ के अंतर्गत दंडनीय हैं।

४. **शिशुहत्या** यह अपराध बच्चे का परित्याग करने अथवा उसके जन्म को छिपाने तथा उसको फेंक देने से होता है। साधारणत: हरामी बच्चों के माता पिता यह अपराध करते हैं क्योंकि वे अपने अनैतिक कार्य के प्रमाण को सार्वजनिक दृष्टि से छिपाने के लिये चिंतित रहते हैं। संकटग्रस्त माता पिता भी ऐसा कार्य करने के लिये झुक सकते हैं।

जन्म के बाद जब तक बच्चे में विवेक नहीं आ जाता अर्थात् १२ वर्ष की अवस्था तक विधि उसको संरक्षण प्रदान करती है। इसलिये यदि उसका पिता अथवा माता अथवा अभिभावक उसको किसी जगह छोड़ आता है तो उसे दंड मिलता है। यदि बच्चा इस प्रकार परित्याग किए जाने से मर जाता है तो अपराधी, जैसी भी स्थिति हो, हत्या अथवा अभियोज्य नरहत्या के लिये दंडनीय होता है (धारा ३१७)। बच्चे के पालनपोषण का प्राथमिक उत्तरदायित्व माता पिता पर होता है, जो उसको अस्तित्व में लाते हैं इसलिये यदि वे अपना यह कर्तव्य नहीं पालन करते तो आपराधिक विधि उनको दंड देती है।

शिशुहत्या का दूसरा पहलू नवजात शिशु का छिपाना है। यह धारा ३१८ के अंतर्गत दंडनीय है। सभी देशों में विधि की सामान्य नीति यह है कि जन्म और मृत्यु का पूर्ण रूप से प्रकाशन होना चाहिए। इसलिये शिशु को गुप्त रूप से फेंकना संदेहजनक कार्य है और फलस्वरूप दंडनीय है। इस अपराध के लिये गोपनीयता और परित्याग दोनों का होना आवश्यक है।

(ख) शरीर के प्रति अपराध

मानव शरीर की सुरक्षा के प्रति अपराध का, गंभीरता की दृष्टि से, दूसरा स्थान है। इस प्रकार के अपराध दो प्रकार के होते हैं: (१) चोट, मामूली या सख्त और (२) आक्रमण।

(१) चोट, मामूली अथवा सख्त (धारा ३१९-३३८)

यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे में शारीरिक पीड़ा, रोग अथवा निर्बलता उत्पन्न करता है तो उसके लिये कहा जाता है कि उसने चोट पहुँचाई। गंभीर चोटें सख्त कहलाती हैं। इस अपराध के लिये मानसिक तत्व बहुत आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, अपराधी में या तो चोट पहुँचाने का इरादा होना चाहिए अथवा वह यह जानता हो कि उसके कार्य से चोट पहुँचने की संभावना है और ऐसी चोट अवश्य पहुँचाई जानी चाहिए।

मामूली अथवा सख्त चोट (१) चोट पहुँचाने के साधनों, जैसे घातक हथियार, अग्नि तथा ऐसे ही उपकरणों के उपयोग; अथवा (२) इसको पहुँचाने के लिये संपत्ति छीनने, या अवैध कार्य करने या सरकारी कर्मचारी को अपना कर्तव्यपालन करने से रोकने के अपराधी के उद्देश्यों के अनुसार गुरुतर हो जाती है। ऐसे मामलों में गुरुतर दंड दिया जाता है। इस प्रकार मामूली अथवा सख्त चोट का अपराध हल्का हो जाता है यदि यह (१)

गंभीर या आकस्मिक उत्तेजनावश अथवा (२) बिना विचारे अथवा असावधानीवश पहुँचाई जाती है। ऐसे मामलों में हल्का दंड दिया जाता है।

(२) आक्रमण (धारा ३४६-३५०) किसी दूसरे व्यक्ति पर अपनी शक्ति के प्रयोग को बल का प्रयोग कहते हैं। यह प्रयोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हो सकता है, किंतु दूसरे या किसी अन्य वस्तु में गति आ जाना, गति का रुक जाना या गति में परिवर्तन होना आवश्यक है। बल उस समय अपराधात्मक बल हो जाता है जब इसका प्रयोग (१) बिना अनुमति के, (२) कोई अपराध करने के लिये या (३) किसी दूसरे व्यक्ति को आघात, भय या संताप पहुँचाने के उद्देश्य से किया जाता है।

कोई व्यक्ति उस समय आक्रमण का अपराध करता है जब वह (१) कोई मुद्रा बनाता है या तैयारी करता है, (२) इस इरादे से या यह जानते हुए (३) कि इस प्रकार की मुद्रा या तैयारी से किसी उपस्थित व्यक्ति के इस प्रकार भयभीत होने की संभावना है, (४) कि मुद्रा बनानेवाला या तैयारी करनेवाला व्यक्ति उसके विरुद्ध अपराधात्मक बल का प्रयोग करनेवाला है। उदाहरणस्वरूप अ, ज पर घूँसा तानता है इस इरादे से अथवा यह जानते हुए कि इस बात की संभावना है कि इससे ज को यह विश्वास हो सकता है कि अ उसको मारनेवाला है। ऐसी दशा में अ आक्रमण का अपराध करता है।

आक्रमण का अपराध उस समय गुरुतर हो जाता है जब वह (१) किसी सरकारी कर्मचारी को अपने कर्तव्यपालन से रोकने के लिये (धारा ३५३); अथवा (२) किसी स्त्री का सतीत्व नष्ट करने के लिये (धारा ३५४); अथवा (३) किसी व्यक्ति को बेइज्जत करने के लिये उदाहरणस्वरूप किसी ब्राह्मण का जनेऊ तोड़कर या किसी सिख की दाढ़ी काटकर; अथवा (४) किसी संपत्ति की चोरी करने के प्रयास में (धारा ३५६), उदाहरणस्वरूप यदि कोई जेबकतरा किसी मुसाफिर पर उसके हाथ में लगी घड़ी या किसी स्त्री पर उसके कान की बालियाँ छीनने के लिये करता है; अथवा (५) किसी व्यक्ति को अनुचित रूप से कैद करने के प्रयास में (धारा ३५७) किया जाता है। इन पाँचों दशाओं में गुरुतर दंड दिया जाता है। इसी प्रकार आक्रमण का अपराध हल्का हो जाता है, अगर वह गंभीर अथवा आकस्मिक उत्तेजनावश किया जाता है।

(ग) स्वाधीनता के प्रति अपराध (धारा ३३६ और ३७४)

प्रत्येक व्यक्ति का शरीर पवित्र और स्वतंत्र समझा जाता है और इसीलिये कानून उसको दंड देता है जो उसकी व्यक्तिगत स्वाधीनता को संकुचित करता है, यद्यपि यह हो सकता है कि उसके शरीर के विरुद्ध उसका कोई अभिप्राय न हो। ऐसे अपराध दो प्रकार के होते हैं : (१) अनुचित पाबंदी और अनुचित कैद जिनके कारण आवागमन की स्वतंत्रता पर प्रभाव पड़ता है और (२) बालापहरण तथा तत्सम अपराध, जो पूर्ण रूप से शारीरिक स्वाधीनता को प्रभावित करते हैं।

१. अनुचित पाबंदी और अनुचित कैद — इन अपराधों का संबंध व्यक्ति के आवागमन की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने से है। अनुचित पाबंदी में (धारा ३३९ और ३४१) आवागमन की स्वतंत्रता पर आंशिक रोक रहती है। इस अपराध में दो तत्व रहते हैं : (१) स्वेच्छित रुकावट डालना और (२) इस प्रकार किसी व्यक्ति को उस दिशा की ओर जाने से रोकना जिधर उसको जाने का अधिकार है। उदाहरणस्वरूप अ उस रास्ते में रुकावट डालता है जिसपर ज को चलने का अधिकार है और इस प्रकार वह ज को उस रास्ते पर जाने से रोकता है। ऐसी दशा में अ अनुचित पाबंदी का अपराध करता है। पाबंदी शारीरिक और व्यक्तिगत होनी चाहिए।

अनुचित कैद में व्यक्ति के आवागमन पर पूर्ण रूप से रुकावट रहती है। अनुचित कैद में रखा गया व्यक्ति परिसीमित क्षेत्र के बाहर नहीं जा सकता। उदाहरणस्वरूप कोई जेल डाक्टर किसी बंदी को एनिमा देने के लिये एक कोठरी में बंद रखता है। ऐसी दशा में वह अनुचित कैद का अपराधी है। अनुचित रूप से कैद करने के समय (धारा ३४३ और ३४४); या (२) कैद करने की जगह की गोपनीयता (धारा ३४६); अथवा (३) रिहाई के लिये बंदी प्रत्यक्षीकरण आदेश जारी किए जाने पर कैद की अवैधता (धारा ३४५); अथवा (४) कैद के उद्देश्य, जैसे संपत्ति का ऐंठना (धारा ३४७); के अनुसार अथवा अगर जबरदस्ती इकबाल कराना उद्देश्य हो (धारा ३४८), तो अनुचित कैद का अपराध गुरुतर हो जाता है।

२. बालापहरण और तत्सम अपराध (धारा ३५९-३६९) — ऐसे अपराध पाँच प्रकार के होते हैं : क. बालापहरण, ख. बलात् अपहरण, ग. अवैध अनिवार्य श्रम, घ. दासता और ङ. अनैतिक कार्य के लिये अवयस्क का क्रय विक्रय।

क. बालापहरण — बालापहरण का शाब्दिक अर्थ बच्चे को चुराना है। अंग्रेजी विधि के अंतर्गत यह व्यक्ति की स्वाधीनता की अपेक्षा अभिभावक के अधिकार का अतिक्रमण अधिक समझा जाता है। इसमें मानव स्वाधीनता को इसलिये क्षति पहुँचती है कि अपहृत बालक व्यावहारिक रूप में एक ऐसे व्यक्ति के नियंत्रण और निगरानी में रहता है जो उसका वास्तविक अभिभावक नहीं होता।

बालापहरण दो प्रकार के होते हैं : (१) भारत से और (२) वैध अभिभावकता से (धारा ३५९), यद्यपि ये दोनों अपराध एक दूसरे में उपस्थित रह सकते हैं। भारत से बालापहरण (धारा ३६०), वयस्कों तथा अवयस्कों दोनों का उनके अभिभावकों अथवा स्वयं उनकी रजामंदी के बिना हो सकता है, जबकि बालापहरण अवयस्क का अर्थात् १६ वर्ष से कम के लड़के अथवा १८ वर्ष से कम की लड़की अथवा किसी भी उम्र के विक्षिप्त व्यक्ति का वैध अभिभावकता से हो सकता है। इस अपराध में अपराधात्मक इरादा आवश्यक नहीं। इस अपराध के आवश्यक तत्व इस प्रकार हैं : १६ वर्ष से कम के लड़के अथवा १८ वर्ष से कम की लड़की को अथवा किसी विक्षिप्त व्यक्ति को (२) वैध अभिभावक के संरक्षण से (३) बिना उसकी रजामंदी के ले जाना।

ख. बलात् अपहरण — जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को किसी स्थान से जाने के लिये ताकत से बाध्य करता है अथवा प्रपंच से फुसलाता है तो यह कहा जाता है कि उसने उस व्यक्ति का

बलात् अपहरण किया (धारा ३६२)। बलात् अपहरण एक सहायक अपराध है। जब यह धारा ३६४ तथा आगे की धाराओं में उल्लिखित उद्देश्यों से किया जाता है तो यह दंडनीय होता है।

बालापहरण अथवा बलात् अपहरण का अपराध गुरुतर हो जाता है और उसके लिये गुरुतर दंड दिया जाता है यदि वह निम्नलिखित उद्देश्यों से किया जाता है — (१) हत्या करने के लिये (धारा ३६४), उदाहरणस्वरूप काली देवी को प्रसन्न करने की गरज से उसकी बलि चढ़ाने के लिये; अथवा (२) गुप्त रूप से या अनुचित रूप से कैद करने के लिये (धारा ३६५); अथवा किसी स्त्री को विवाह के लिये बाध्य करने या निषिद्ध संभोग के लिये जबरदस्ती करने या फुसलाने के लिये (धारा ३६६); अथवा (४) दस वर्ष से कम के बच्चे के शरीर से चल संपत्ति चुराने के लिये (धारा ३६९); अथवा (५) किसी स्त्री को आपराधिक धमकी, अधिकार के दुरुपयोग अथवा बलप्रयोग के किसी दूसरे तरीके द्वारा निषिद्ध संभोग के उद्देश्य से किसी स्थान से जाने के लिये बाध्य करने के लिये (धारा ३६६); अथवा (६) १८ वर्ष से कम की अवयस्क लड़की को, इस इरादे से अथवा इस जानकारी से कि उसको निषिद्ध संभोग के लिये बाध्य किया जायगा अथवा फुसलाया जायगा किसी स्थान से जाने के लिये बाध्य करने के लिये (धारा ३६६ अ); अथवा (७) २१ वर्ष से कम की लड़की को भारत से बाहर किसी देश से अथवा जम्मू तथा कश्मीर से आयात करने के लिये, इस इरादे से या इस जानकारी में कि उसको निषिद्ध संभोग के लिये बाध्य किया जायगा (धारा ३६६ ब), अथवा (८) किसी व्यक्ति को सख्त चोट पहुँचाने, दास बनाने अथवा व्यभिचार के लिये (धारा ३६७), अथवा (९) किसी व्यक्ति को छिपाकर रखने अथवा कैद करने के लिये (धारा ३६८)।

ग. अवैध अनिवार्य श्रम — व्यक्तिगत स्वतंत्रता मनुष्य का स्वनिहित अधिकार है। इसीलिए कोई भी यहाँ तक कि राज्य भी, उसको उसकी इच्छा के विरुद्ध, सार्वजनिक हित को छोड़कर, सेवाकार्य करने के लिये मजबूर नहीं कर सकता। इसीलिये सेवाकार्य करने के लिये बाध्य करना दंडनीय है (धारा ३७४)। इस अपराध के लिये तीन तत्व आवश्यक हैं: (१) श्रम, (२) अनिवार्यता और (३) अवैधता। 'श्रम' शब्द का अर्थ शारीरिक और मानसिक दोनों परिश्रम है, उदाहरणस्वरूप खाई खोदना, गीत गाना, अथवा चित्र बनाना। भारत के संविधान के अनुच्छेद २३ के अनुसार भी मानव-क्रय-विक्रय तथा बेगार अथवा जबरदस्ती कार्य कराने के इसी प्रकार के तरीके निषिद्ध हैं।

घ. दासता (धारा ३७०-३७१) — भारतीय दंड संहिता के अनुसार दासों का क्रय विक्रय दंडनीय है। दासता के अंतर्गत दो तत्व हैं: (१) किसी व्यक्ति के जीवन का क्रय विक्रय और (२) किसी को काम करने की स्वाधीनता से वंचित करना।

भारत में दास प्रथा प्रचलित थी, जो १८४३ ई० के अधिनियम ५ से समाप्त कर दी गई थी। अब इस अधिनियम की व्यवस्थाएँ भारतीय दंड संहिता की धारा ३७० में संमिलित कर ली गई हैं जिसके अनुसार किसी व्यक्ति का दास के रूप में क्रय, विक्रय, आयात अथवा निर्यात दंडनीय है। जो कोई भी आदतन दासव्यापार करता है वह धारा ३७१ के अंतर्गत दंडनीय है।

ङ. अनैतिक कार्य के लिये अवयस्क का क्रयविक्रय (धारा ३७२-३७३) — अनैतिक कार्य के लिये अवयस्क का क्रय और विक्रय दोनों भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत दंडनीय हैं। अवयस्कों के विक्रेता धारा ३७२ के अंतर्गत और क्रेता धारा ३७३ के अंतर्गत दंडनीय है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि १८ वर्ष से कम की लड़की का विक्रय मात्र उस स्थिति में अपराध नहीं है जब वह गोद लेने अथवा विवाह के लिये किया जाता है। [रा० चं० नि०]

व्यक्तिवाद : साधारण अर्थ में, स्वार्थ के समर्थन की, अथवा विशिष्ट समझे जानेवाले व्यक्तियों की महत्ता स्वीकार करने की प्रवृत्ति, दर्शन में, प्रत्येक व्यक्ति को विशिष्ट व्यक्ति ठहराने की प्रवृत्ति।

पाश्चात्य दर्शन में व्यक्तिवाद की समस्या पहले पहल सोफ़िस्त विचारकों के समय, पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व के आसपास, उत्पन्न हुई। मूलतः यह सामाजिक समस्या थी। प्रारंभिक शासन योद्धाओं के शौर्य पर स्थापित हुए थे। कालांतर में, उन प्रारंभिक शासकों के वंशज, परिवार तथा उनके संबंधियों के कुल कुलीन बन गए थे। योद्धा उनके सहायक एवं अनुचर थे। सोफिस्त काल के यूनानी समाज में कुलीनों और योद्धाओं की ही गिनती थी। इन्हीं को सुख सुविधाएँ उपलब्ध थीं। कुलीन समाज परंपराओं को दैवी बताकर सामान्य जनों के अधिकारों का अपहरण कर रहा था। ऐसी परिस्थितियों में सोफिस्तों ने परंपराओं को माननीय सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सोफिस्तों में वयोवृद्ध प्रोतागोरस (४८०-४१०) ने मनुष्य को सभी वस्तुओं का मानदंड घोषित किया। प्रोतागोरस का उक्त कथन पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में व्यक्तिवाद का मूल स्रोत प्रसिद्ध है। इसी प्रतिज्ञा के अनुरूप प्रोतागोरस ने ज्ञान की व्याख्या में कहा, 'हम वस्तुओं को नहीं, प्रत्यक्ष के विषयों को जानते हैं। सामान्य प्रत्यक्ष को ज्ञान का स्रोत बताना मानसिक आधार पर सामान्य व्यक्ति की सत्ता का तथा उसके मूल्य का समर्थन था। यह 'अल्प' की सैद्धांतिक सत्ता के विरुद्ध सामान्यतः ज्ञात 'बहु' की सत्ता का समर्थन था। किंतु विवाद का अंत न हुआ।

अफलातून ने सत्ता की समस्या पर विचार करते हुए वस्तुओं के 'सार' को सत्ता स्वीकार किया। उसी को उसने द्रव्य ठहराया। पर वह 'सार' वस्तुओं के वर्गों में व्याप्त 'सामान्य' था। इस प्रकार उसने विशिष्ट वस्तुओं को अयथार्थ और उनके सामान्यों को यथार्थ दिखाने का प्रयत्न किया। अफलातून प्रत्यक्ष की बहुता को, उसके सार की पृथक् सत्ता मानकर, निस्सार एवं असत्य सिद्ध करना चाहता था। अरस्तू ने अफलातून के सामान्यवादी दर्शन में तत्काल कोई विशेष परिवर्तन तो नहीं किया, किंतु उसने इस बात पर बल दिया कि 'पदार्थ' और 'आकार' वस्तु के दो सहयोगी कारण हैं।

इन्हें वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता। बात ठीक लगती है। वस्तुएँ केवल सारभूत गुण तो नहीं हो सकतीं; केवल सार समग्र वस्तु का स्थानापन्न कैसे हो सकता है.

अफलातून और अरस्तू के दर्शन के बाद, सिनिक और स्टोइक दार्शनिकों ने भौतिक वस्तु की सत्ता पर बल दिया तथा नैतिक आधार पर व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन किया। छठी शताब्दी में बोथियस ने, अरस्तू की 'कैटागोरिया' नामक पुस्तक का पॉर्फिरी (२३३-३०४) कृत परिचय अनूदित कर, नामवाद (नॉमिनलिज़्म) का मार्ग प्रशस्त किया। पाश्चात्य दर्शन के मध्यकाल में, ११ वीं से १४ वीं शताब्दी तक, नामवादी विचारकों ने बराबर ही कहा कि सामान्य प्रत्यय नाम के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, वास्तविक सत्ता वस्तुओं की है। इस प्रसंग में विलियम ऑव ओकम (१२८०-१३४९) का स्मरण किया जा सकता है। उसने स्पष्ट रूप से कहा था कि विशिष्ट वस्तुएँ ही होती हैं। इन्हीं की हमें अपरोक्षानुभूति होती है, जिसे हम निर्णय के माध्यम से व्यक्त करते हैं। वस्तुओं के सामान्य धर्मों को अलग कर, हम सामान्य प्रत्ययों की रचना करते हैं। किंतु विवाद चलता रहा। परंपराओं के पोषक जगत् की व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु को स्थान देने के लिये तैयार न थे।

आधुनिक काल में, जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट के समय (१७२४-१८०४) तक, बाह्य जगत् की बहुता को असत्य सिद्ध करने के प्रयत्नों का सिलसिला चलता रहा। प्राकृतिक विज्ञानों का विकास भी होता रहा। इस विकास ने प्रत्यक्ष को भ्रामक मानने में अड़चन पैदा कर दी थी। कांट ने, जो स्वयं विज्ञान का अध्येता रह चुका था, वस्तुओं की सत्ता स्वीकार की। उसने जगत् की भ्रमात्मकता को कायम रखा, किंतु ज्ञान की प्रक्रिया को इसके लिये उत्तरदायी ठहराया। अब वस्तु जगत् के समर्थन की समस्या समाप्त हो गई थी; समस्या थी उसे जानने की।

२०वीं शताब्दी के व्यवहारवादी दर्शन (प्रैग्मैटिज्म) ने प्रत्यक्ष को ज्ञान का उचित माध्यम बनाने में काफी योग दिया। इस दार्शनिक प्रवृत्ति का विकास अमरीका में हुआ। चार्ल्स एस० पीयर्स (१८३९-१९१४) को इसका संस्थापक माना जाता है। किंतु इसके प्रमुख व्याख्याता विलियम जेम्स (१८४२-१९१०) हैं। जेम्स ने प्रयोग को सत्यासत्य विवेक का माध्यम बताया। उनके अनुसार हमें देखना चाहिए कि दी हुई वस्तु हमारी आकांक्षाओं को पूरी करती है अथवा नहीं। यदि करती है तो वह उसी प्रकार की वस्तु है जैसी हम उसे समझते हैं। प्रत्ययवादी अद्वैत के विरुद्ध उसने ठोस वस्तुओं की बहुता की स्थापना की। उसने कहा, 'यदि मनुष्य सहित प्रत्येक वस्तु मात्र प्राथमिक निराकार या असीम द्रव्य का परिणाम है, तो नैतिक उत्तरदायित्व, कर्म संबंधी स्वतंत्रता, व्यक्तिगत प्रयत्नों और आकांक्षाओं का अर्थ क्या होगा ?'

यहीं से मनुष्य सहित प्रत्यक्ष जगत् की बहुता दार्शनिकों के तात्त्विक ऊहापोह से मुक्त हुई। मनोविज्ञान ने प्रत्यक्ष का अध्ययन कर उचित प्रत्यक्ष और भ्रम के आधारों को अलग किया। मनोविज्ञान के प्रभाव से यथार्थवादी चिंतन व्यापक हुआ। मनुष्य और जगत् की सत्ता पर संदेह करने की कोई बात न रह गई और प्रत्यक्ष दोनों के बीच प्रेषणीयता का माध्यम समझा जाने लगा। २०वीं शताब्दी में दार्शनिक ज्ञानमीमांसा और मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में समझौता हो जाने से दार्शनिकों ने अपरोक्षानुभूति अथवा अव्यवहित प्रत्यक्ष पर बल दिया। मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व के अध्ययन से प्रत्येक व्यक्ति को एक स्वतंत्र प्रकार निश्चित किया। फ्रांसीसी विचारक हेनरी बर्गसाँ (१८५९-१९४१) ने वस्तुओं के मानसिक बोध की अपेक्षा आंतरिक अनुभव (इंट्यूशन) को अधिक मूल्य दिया। व्यक्ति की अपरोक्षानुभूति उसे अन्य व्यक्तियों से विशिष्ट बना देती है। यह अनुभूति किसी विशिष्ट व्यक्ति में नहीं, सभी में होती है। अभिप्राय यह है कि एक ही संसार में रहते हुए, सबके दृष्टिकोण भिन्न हैं, सभी अपने अपने ढंग के व्यक्ति हैं। इस प्रकार, वर्तमान ज्ञानमीमांसा व्यक्तियों की समष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को एक विशिष्ट स्थान देती है।

वर्तमान अस्तित्ववाद इससे भी थोड़ा आगे बढ़कर विशिष्ट मनस्थितियों एवं वासनाओं का उद्घाटन करने में प्रवृत्त है। यदि हम व्यापारसमष्टि में, इन व्यक्तिगत मानवीय व्यापारों को स्थान देते हैं, तो निश्चय ही समान रूप से सभी व्यक्तियों के अस्तित्व एवं मूल्य को स्वीकार करते हैं। दार्शनिक व्यक्तिवाद का यही आशय है। विशेष दे० 'पाश्चात्यदर्शन', 'सोफिस्त', 'सिनिक', 'सिनिक पंथ', 'स्तोइक'।

सं० ग्रं० — विलियम जेम्स : प्ल्यूरलिस्टिक यूनीवर्स; हेनरी बर्गसाँ; इंट्रोडक्शन टु मेटाफिजिक्स। [शि० प्र०]

व्यतिकरण (Interference) से किसी भी प्रकार की तरंगों की एक दूसरे पर पारस्परिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति होती है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ विशेष स्थितियों में कंपनों और उनके प्रभावों में वृद्धि, कमी या उदासीनता आ जाती है।

भौतिक प्रकाशिकी में इस धारणा का समावेश टॉमस यंग (Thomas Young) ने किया। उनके बाद व्यतिकरण का व्यवहार किसी भी तरह की तरंगों या कंपनों के समवेत या तज्जन्य प्रभावों को व्यक्त करने के लिये किया जाता रहा है। संक्षेप में किसी भी तरह की (जल, प्रकाश, ध्वनि, ताप या विद्युत् से उद्भूत) तरंगगति के कारण लहरों के टकराव से उत्पन्न स्थिति को व्यतिकरण की संज्ञा दी जाती है। जब कभी जल या अन्य किसी द्रव की सतह पर दो भिन्न तरंगसमूह एक साथ मिलें, तो व्यतिकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। जहाँ एक तरंगसमूह से संबद्ध लहरों के तरंगशृंगों का दूसरी शृंखला से संबद्ध लहरों के तरंगशृंगों से संमिलन होता है, वहाँ द्रव की सतह का उन्नयन उस स्थान पर लहरों के स्वतंत्र और एकांत अस्तित्व के संभव उन्नयनों के योग के बराबर होता है। जब तरंगों में से एक के तरंगशृंग का दूसरे के तरंगगर्त पर समापातन होता है, तब द्रव की सतह पर तरंगों का उद्वेलन कम हो जाता है और प्रतिफलित उन्नयन (या अवनयन) एक तरंग अवयव (component) के उन्नयन और दूसरे के अवनयन के अंतर के बराबर होता है। ध्वनि में उत्पन्न विस्पंद (beats) इसी व्यतिकरण का एक साधारण रूप है, जहाँ दो

या दो से अधिक तरंगसमूह, जिनके तरंगदैर्घ्य में मामूलीसा अंतर होता है, करीब एक ही दिशा में अग्रसर होते हुए मिलते हैं।

प्रकाश की गति तरंगीय होती है। किसी एकल प्रकाशस्रोत से निःसृत ऊर्जा माध्यम के पार्श्व में समान रूप से बिखर जाती है। यदि प्रकाश के दो स्वतंत्र स्रोत, जिनसे समान परिमाण और अभिन्न कला की तरंगें सतत निःसृत हों, एक दूसरे के सन्निकट रखे जायँ, तो माध्यम के आसपास ऊर्जा का वितरण समांग नहीं होता, जहाँ एक प्रकाशतरंग का शृंग दूसरे प्रकाशतरंग के शृंग (crest) पर, या एक का तरंगगर्त (trough) दूसरे के तरंगगर्त पर गिरता है, वहाँ आयाम (amplitude) बढ़ जाता है और आयाम स्वरूप ऊर्जा या प्रकाश की तीव्रता भी बढ़ जाती है। साथ ही, यदि एक का तरंगशृंग दूसरे के तरंगगर्त पर गिरे, तो परिणामी आयाम (resultant amplitude) शून्य होता है और प्रकाश की तीव्रता घट जाती है। पहली स्थिति को संपोषी (constructive) व्यतिकरण और दूसरी स्थिति को विनाशी (destructive) व्यतिकरण कहते हैं।

पारदर्शी ठोस के पतले पट्टों (plates) और साबुन के बुलबुलों पर प्रकाश की किरणों के पड़ने पर व्यतिकरण का स्पष्ट परिचय मिल सकता है। जब प्रकाश की किरणें साबुन के बुलबुलों, या सीसे के पतले पट्टों, पर पड़ती हैं, तो उनकी बाहरी और भीतरी दोनों सतहों से किरणें परावर्तित होकर प्रेक्षक की आँखों की ओर लौटती हैं और प्रकाश के तरंगसमूहों में, जो दोनों स्रोतों (सतहों) से आँखों तक पहुँचती हैं, कलाओं (phases) में सूक्ष्म अंतर होने के कारण (जो बुलबुले या पट्ट के प्रत्येक बिंदु पर भिन्न होता है) व्यतिकरण होता है, जिससे उत्पन्न प्रभाव काफी मोहक और चित्ताकर्षक होते हैं। साबुन का कोई बुलबुला एकवर्णी (monochromatic) प्रकाश में प्रायः कुछ काली रेखाओं से आवृत दिखाई पड़ता है। कारण यह है कि काले दिखाई पड़नेवाले बिंदुओं पर प्रकाश के दो तरंगसमूह, जो क्रमशः बुलबुले की भीतरी और बाहरी सतहों से आते हैं, करीब करीब या पूर्णतः एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। यदि बुलबुला श्वेत प्रकाश में देखा जाय, तो हमें सामान्यतया काली रेखाएँ नहीं दिखाई पड़ती। उनके स्थान पर रंगों की पट्टियाँ (bands) होती हैं। ऐसा इसलिये होता है कि विभिन्न रंग, जिनके योग से श्वेत प्रकाश की उत्पत्ति होती है, भिन्न भिन्न तरंगों के होते हैं, जिससे बुलबुले के किसी बिंदु पर व्यतिकरण से रंग के केवल एक अंश मात्र का विनाश होता है और उजले प्रकाश के शेष अवयव बच रहते हैं, जो आँखों पर अपना पूर्ण वर्णीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

व्यतिकरण के लिये कुछ मौलिक शर्तें हैं, जिनकी पूर्ति आवश्यक है। इनमें से कुछ तो प्रकाश की प्रकृति में ही अंतर्निहित हैं और दूसरी, यदि परिणाम का प्रेक्षण प्रयोग द्वारा करना हुआ तो, आवश्यक हो उठती हैं। सरलता के लिये हम दो विद्युत् चुंबकीय लहरों पर विचार कर सकते हैं, जो किसी दिक्‌बिंदु पर, जहाँ से दोनों लहरें गुजरती हैं, विनाशी व्यतिकरण उत्पन्न करें।

यदि व्यतिकरण का प्रतिरूप स्थिर (steady) रहा, अर्थात् यदि प्रकाश की तीव्रता (intensity) का परिणामी तथाकथित बिंदु पर समय के प्रत्येक मान के लिये शून्य हो, तो निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक है: (१) व्यतिकरण उत्पन्न करनेवाली तरंगों का दैर्घ्य और उनकी आवृत्तिसंख्या समान होनी चाहिए, (२) दो तरंगों की कलाओं का अंतर किसी निश्चित बिंदु पर समय के साथ कभी भी नहीं बदलना चाहिए, (३) दोनों तरंगों का परिमाण आवश्यक रूप से समान या निकटतः समान होना चाहिए, (४) दोनों तरंगों का समान ध्रुवीकरण (polaristion) नितांत आवश्यक है। अतः प्रकाशतरंगों के लिये यह आवश्यक है कि वे तरंगसमूह, जो मिलकर व्यतिकरण उत्पन्न करें, अवश्य एक ही स्रोत से निःसृत हों। प्रकाशतरंगों की असंबद्ध (incoherent) प्रकृति से भी यह अनुमान लगाया जा सकता है। एक ही स्रोत से निःसृत तरंगों में स्रोत की परमाणवीय रचना की समानता के चलते और परमाणुओं की कक्षाओं (orbits) में प्रायः एक ही तरह के संक्रमणों के कारण, कला समान होती है, या उनका कलांतर (phase difference) स्थिर रहता है।

प्रकाश द्वारा उत्पन्न प्रतिरूपों के सफल प्रेक्षण के लिये दो अन्य शर्तें, जिनकी पूर्ति होनी चाहिए, निम्नलिखित हैं : (१) यदि प्रकाश एकवर्णी (monochromatic), या बहुत हद तक वैसा न हो, तो उन दोनों प्रकाशपुंजों के, जो मिलकर व्यतिकरण उत्पन्न करते हैं, प्रकाशीय पथ की दूरी का अंतर बहुत कम होना चाहिए (10^{-8} सेंमी० के क्रम का) तथा (२) दोनों व्यतिकरणशील तरंगों के अग्रसर होने की दिशा प्रायः समान होनी चाहिए, अर्थात् तरंगाग्र (wave fronts) का एक दूसरे के साथ अति न्यून कोण बनाना आवश्यक है।

यदि दो अतिसन्निकट प्रकाशस्रोत के समान परिमाण और कालांतर (period) की तरंगें किसी कलांतर विशेष पर कुछ दूर स्थित पर्दे के एक बिंदु पर मिलें, तो पर्दे पर कुछ बिल्कुल काली रेखाएँ, जिनके अंतराल में अधिकतम तीव्रता की रेखाएँ रहती हैं, देखी जाती हैं। ये न्यूनतम और अधिकतम तीव्रता की रेखाएँ व्यतिकरण फ्रिंजें कहलाती हैं।

जब कभी व्यतिकरण फ्रिंजें (fringes) पतली फिल्मों के चलते बनती हैं, तब उनका कारण व्यतिकरण में भाग लेनेवाली किरणों के कलांतर का परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन फिल्म (film) की मोटाई के परिवर्तन, या आपतन कोण के परिवर्तन, के कारण होता है। यदि मोटाई समांग नहीं हुई, तो प्रायः दोनों तथ्य एक ही साथ क्रियाशील हो उठते हैं; लेकिन एक बात स्पष्ट है कि जब कोई फिल्म आँख द्वारा देखी जा रही है, तो उसे आँख से करीब २५ सेंमी० की दूरी पर रखा जाना चाहिए।

यदि फिल्म का परास (range) बहुत बड़ा न हो, तो हमारी आँखों तक फिल्म के विभिन्न बिंदुओं से आती हुई किरणों के झुकाव की भिन्नता कोई अधिक नहीं होती और प्रत्येक किरण का आपतन कोण करीब करीब समान होता है। अतः फ्रिंजें मुख्यतः फिल्म की मोटाई की भिन्नता के कारण बनती हैं। यह भी नितांत स्पष्ट है कि फिल्म के उन सभी बिंदुओं पर, जहाँ मोटाई समान है, वहाँ प्रकाश

की दीप्ति भी समान होगी। यदि ऐसा कोई भी बिंदु काला या उज्वल हुआ, तो शेष भी तदनुरूप काले या उज्वल होंगे। इसलिये काली या उज्वल पट्टियाँ समान मोटाई के फिल्म के विभिन्न बिंदुओं के बिंदुपथ (loci) मात्र होती हैं। इस तरह की फ्रिंजें न्यूटनी वलय (Newtons rings) कहलाती हैं, क्योंकि न्यूटन ने सर्वप्रथम इनका अध्ययन किया था।

व्यतिकरण का विस्तृत अध्ययन विशाल विभेदन शक्तिवाले सभी यंत्रों के मूल में काम करता है [देखें व्यतिकरणमापी (Interferometer)]। [र० का० पा०]

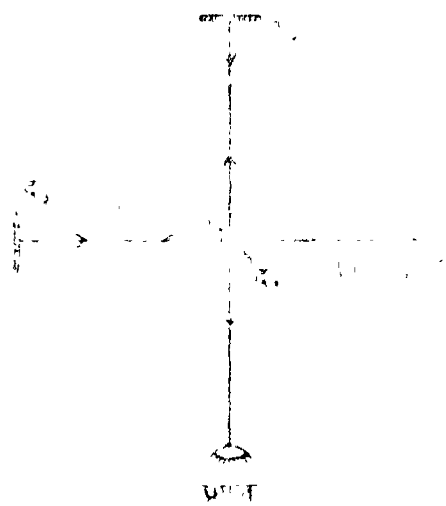
व्यतिकरणमापी (Interferometer) एक प्रकाशीय युक्ति है, जो प्रकाश की एक किरण को दो या अनेक भागों में विभक्त करने के बाद इन भागों को एक में मिलाकर व्यतिकरण उत्पन्न करती है। यह युक्ति दूरी, कोण, गति, विस्थापन या आवर्तनांक का मापन तथा संकीर्ण स्पेक्ट्रम क्षेत्र का विश्लेषण प्रकाश की किरणों के व्यतिकरण से करती है।

जब प्रकाश की दो तरंगें मिलती हैं, तब व्यतिकरण होता है। जब एक प्रकाशतरंग का तरंगशृंग (crest) प्रकाश की दूसरी तरंग के तरंगशृंग से, तथा एक का गर्त (trough) दूसरे के गर्त से मिलता है, तब प्रकाश तीव्र होता है, पर इसके विपरीत जब एक तरंग का तरंगशृंग दूसरी तरंग के गर्त से मिलता है, तब प्रकाश की दोनों तरंगों का प्रकाश निरसित हो जाता है, अर्थात् अंधकार हो जाता है। यही व्यतिकरण है।

माइकेल्सन व्यतिकरणमापी प्रोफेसर ए० ए० माइकेल्सन के प्रारंभिक व्यतिकरणमापी में (देखें चित्र) दाहिनी ओर से एक प्रकाशकिरण दर्पण $द_1$ पर आती है। $द_1$ दर्पण का आधा भाग रजतित होता है, जिससे केवल आधा प्रकाश परावर्तित होकर दर्पण $द_2$ पर जाता है और शेष आधा प्रकाश अरजतित भाग से पारगमित होकर सीधा दर्पण $द_3$ पर आपतित होता है तथा अपने पथ पर परावर्तित हो जाता है। दर्पण $द_2$ तथा $द_3$ एक दूसरे पर लंब होते हैं। दर्पण $द_2$ तथा $द_3$ से परावर्तित होनेवाली प्रकाश की किरणपुंजें पुन: दर्पण $द_1$ पर आपतित होती हैं और प्रेक्षक इन दोनों किरणों के द्वारा बनी व्यतिकरण फ्रिंजों को देखता है (देख **माइकेल्सन मॉर्लि प्रयोग**)।

माइकेल्सन ने अपने व्यतिकरणमापी की सहायता से प्रकाश का वेग तथा प्रकाश की तरंगलंबाई मापी तथा सर्वप्रथम तारों का कोणीय व्यास ज्ञात किया। बीटेलज्यूज (Betelguese) प्रथम तारा है, जिसका कोणीय व्यास (०·०४९") ज्ञात किया गया था। दूरदर्शक से युक्त माइकेल्सन व्यतिकरणमापी से अत्यधिक दूर स्थित तारों तथा मंद तारों की मापें ज्ञात करना संभव हो गया है। तारों से प्राप्त होनेवाली प्रकाशतरंगों से व्यतिकरण द्वारा तारों की दिशा, दूरी तथा विस्तार का निर्धारण किया जाता है।

फाब्री (Fabry) तथा पेरो (Perot) व्यतिकरणमापी -- उपर्युक्त व्यतिकरणमापी में केवल दो व्यतिकारी किरणपुंजों का उपयोग किया गया है। १८९३ ई० में बूलूच (Boulouch) ने सर्वप्रथम बताया कि अनेक व्यतिकारी किरणपुंजों के उपयोग से अधिक सुग्राहिता प्राप्त की जा सकती है। इस सिद्धांत का विकास १८९७ ई० में फाब्री तथा पेरो द्वारा किया गया। इनके उपकरण



माइकेल्सन व्यतिकरणमापी

$द_1$ अर्ध दर्पण तथा $द_2$ और $द_3$ पूर्ण दर्पण

में दो समतल समांतर काचपट्ट रहते हैं, जिनपर पतला रजत फिल्म रहता है। एक विस्तृत प्रकाशस्रोत से ये पट्ट प्रदीप्त किए जाते हैं, तब इन पट्टों के मध्य में व्यतिकरण के कारण फ्रिंज बनते हैं। ये फ्रिंज अनंत पर स्थित होते हैं और ये समान झुकाव के फ्रिंज कहलाते हैं। ये फ्रिंज हाइडिंगर (Haidinger) फ्रिंज के समान होते हैं, पर ये बहुकिरणपुंज के कारण तीव्र और चमकीले होते हैं।

इन बहुकिरणपुंजों के फ्रिंजों के अनेकानेक उपयोग हैं। घन डेसिमीटर जल की संहति इस व्यतिकरण से मापी गई है और यह संहति एक किलोग्राम से २७ मिलिग्राम कम है। गैसीय आवर्तनांक ज्ञात करने के लिये, यह व्यतिकरणमापी मानक साधन है। १९४३ ई० में टोलैंस्की (Tolansky) ने क्रिस्टल पृष्ठ की रूपरेखा ज्ञात करने में इस व्यतिकरणमापी का उपयोग किया। इसमें इतनी परिशुद्धता थी कि क्रिस्टल जालक (crystal lattice) अंतराल को भी प्रकाशतरंगों द्वारा मापा जा सकता था। इस व्यतिकरणमापी से क्रिस्टल के प्राकृतिक लक्षण से लेकर आणविक विमाएँ तक उद्घाटित हो गई हैं। एकवर्णी तथा श्वेत दोनों प्रकार का प्रकाश इस व्यतिकरण में प्रयुक्त होता है।

परावर्ती सोपानक व्यतिकरणमापी (Reflecting Echelon Interferometer) — १९२९ ई० में विलियम ने इस व्यतिकरणमापी को विकसित किया। यह एक मात्र उपकरण है, जो परिशुद्ध तरंगदैर्घ्य बनाने में तथा निर्वात क्षेत्र, अर्थात् सुदूर पराबैंगनी (ultraviolet) क्षेत्र की अतिसूक्ष्म संरचनाओं (hyperfine structures) को व्यक्त करने में समर्थ है।

आधुनिक काल में व्यतिकरणमापी का उपयोग बढ़ता जा रहा है। कोयले की खानों की हवा में मेथेन द्वारा होनेवाले प्रदूषण का

पता लगाने के लिये परिवहनीय व्यावहारिक व्यतिकरणमापी का उपयोग किया जाता है। अत्यधिक उच्च ताप, जैसे वात्या भट्ठी का ताप, तथा पेंच की परिशुद्धता की जाँच के लिये भी व्यतिकरणमापी प्रयुक्त किया जा रहा है। व्यतिकरणमापी से १ इंच के १/१०,००,००,००० तक की शुद्धता की जाँच की जा सकती है।

[प्र० ना० मे०]

व्यवहार प्रक्रिया (Behaviour Process) सांसारिक उद्दीपनों की टक्कर खाकर सजीव प्राणी अपना अस्तित्व बनाए रखने के निमित्त कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करता है। उसके व्यवहार को देखकर हम प्राय: अनुमान लगाते हैं कि वह किस उद्दीपक (स्टिमुलस) या परिस्थिति विशेष के लगाव से ऐसी प्रतिक्रिया करता है। जब एक चिड़िया पेड़ की शाखा या भूमि पर चोंच मारती है, तो हम झट समझ जाते हैं कि वह कोई अन्न या कीट आदि खा रही है। जब हम उसे चोंच में तिनका लेकर उड़ते देखते हैं, तो तुरंत अनुमान लगाते हैं कि वह नीड़ (घोंसला) बना रही है। इसी प्रकार मानवी शारीरिक व्यवहार से उसके मनोरथ तथा स्वभाव आदि का भी पता लगता है। मुख की मुद्रा, देह की अंगभंगी, तथा कर्मेंद्रियों के हिलने चलने के व्यवहार से अगोचर मानसिक क्रियाएँ विचार, रागद्वेष आदि भी दूसरे लोगों पर व्यक्त होते हैं। शारीरिक व्यवहार का सरलतम रूप 'सहज क्रिया' (रिफ्लेक्स ऐक्शन) में मिलता है। यदि आँख पर प्रकाशरेखा फेंकी जाय, तो पुतली तत्काल सिकुड़ने लगती है। यह एक जन्मसिद्ध, प्राकृतिक अनायास क्रिया है। इस क्रिया का न तो कोई पूर्वगामी अथवा सहचारी चेतन अनुभव होता है, और न ही यह व्यक्ति की इच्छा के वश में रहती है। इसी प्रकार मिरच के स्पर्शमात्र से आँखों में अश्रु आ जाते हैं। यह भी एक जन्मसिद्ध या सहज क्रिया है। साँस लेना, खाँसना आदि कुछ जटिल सहज क्रियाएँ हैं। इनको मनुष्य इच्छानुसार न्यूनाधिक प्रभावित कर सकता है। मल मूत्र त्याग भी सहज क्रियाएँ हैं, जिनपर मनुष्य विशेष नियंत्रण रखना सीख लेता है। सूई चुभने ही हम हठात् हाथ खींच लेते हैं। इन सबका मूलाधार है, ज्ञानेंद्रियों का नस द्वारा कर्मेंद्रियों (पेशी, ग्रंथि आदि) के साथ सीधा प्राकृतिक संबंध। सूई के दबाव से पीड़ास्थल से संलग्न नसें सक्रिय हो उठती हैं, और नसों द्वारा तत्संबंधित पेशीसंकोच होता है।

अनेक बार विशेष उद्दीपक की संगति से सहज क्रिया में परिवर्तन आ जाता है। यथा मिठाई खाने से मुख में रसस्राव एक सहज क्रिया है। किंतु मिठाई के दर्शन अथवा नाम के सुनने मात्र से भी लार टपकने लगती है। इसका कारण रसस्राव की सहज क्रिया का, अर्थात् संलग्न नसों का रूप, शब्द विशेष की ज्ञानेंद्रिय से एक नवीन अवांतरित संयोग होता है। किंतु अनेक आकृति द्वारा नस संयोग के अवांतरित होने से यह एक 'अभ्यानुकूलित प्रतिवर्त' (कंडीशंड रिफ्लेक्स) का नवीन रूप ले लेती है। 'अभ्यानुकूलित क्रियाओं का भी कोई पूर्वगामी या सहचारी चेतना नुभव नहीं होता, और यह आचरण भी व्यक्ति की इच्छा के अधीन नहीं होता। इसमें चेतन इच्छा की उपेक्षा, तथा सूक्ष्म दैहिक नस संयोग की स्वतंत्रता का ही संकेत प्राप्त होता है। सामाजिक आदर्श व आचरण के सतत प्रभाव से जहाँ एक व्यक्ति मांसाहार परोसे जाने के समाचार से खिन्न होता है, वहीं दूसरा प्रसन्न होता है। इसी प्रकार पूर्वानुभव वा अभ्यानुकूलन भेद से एक जन विदेशी वस्तु के आभास मात्र से आनंदित, और अन्य क्रुद्ध होता है। स्वजातीय सांप्रदायिक व्यक्तियों के साथ सौजन्य तथा मित्रता, परंतु विजातीय वर्ग के प्रति स्वाभाविक वैरभावना भी अभ्यानुकूलन का उदाहरण है। आधुनिक युग में सर्वप्रथम इसका महत्व एक रूसी वैज्ञानिक प्रो० आईवन पेट्रोविच पैवलॉव ने सुझाया। अमरीका के एक वैज्ञानिक डा० जॉन बी० वाटसन ने इस सिद्धांत को अत्यंत लोकप्रिय बनाया। सामाजिक आचरण की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में इस अभ्यानुकूलन प्रक्रिया का उपयोग होता है।

जन्म से ही पशुओं में अनेक प्रकार के जटिल कार्य करने की क्षमता होती है। ये कार्य जीवनयापन के निमित्त अत्यंत आवश्यक होते हैं; यथा शिशु का स्तनपान; संतान के हित पशु जाति का व्यवहार; चिड़िया की घोंसला बनाने की प्रवृत्ति; इत्यादि। ऐसी प्रवृत्तियाँ भी जन्मजात प्रकृति का अंग होती हैं। यदि चौपाए भागते दौड़ते हैं, तो पक्षी उड़ते फिरते हैं। जहाँ मधुमक्खी सुगंधित पुष्पों पर मँडराती है, वहाँ छिपकली कीट, फतिंगों का शिकार करती है। ऐसी प्राकृतिक जीवनोपयोगी वृत्तियों को सहज प्रवृत्ति, वृत्ति व्यवहार (इंस्टिंक्ट) अथवा जातिगत प्रकृति भी कह सकते हैं। पशुवर्ग का प्रत्येक आचरण, मूल रूप से उसकी विशेष प्रकृत प्रवृत्ति से विकसित होता है। एक बैल या उसका बछड़ा, घासफूस, पत्ते, तृण आदि से पेट भरता है। परंतु एक उच्च वर्ग का सभ्य आदमी तथा उसके बच्चे विशेष ढंग से पकवान बनवाकर, और उचित क्रम से आसन वा बर्तन आदि सजाकर ही भोजन करते हैं। सभ्यता के कृत्रिम आवरण में हम प्रकृत मूल प्रवृत्ति की एक धुँधली सी झलक देख सकते है। अत: कहते हैं कि मूल प्रवृत्ति के क्षुद्र आधार पर ही उच्चाकांक्षी बृहत् सभ्यता की झाँकी खुलकर खेलती है। एक आंग्ल वैज्ञानिक प्रा० विलियम मैक्डूगल के विचार से प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के तीन अंग होते हैं—(i) एक विशेष उद्दीपक परिस्थिति, (ii) एक विशिष्ट रसना अथवा संवेग, और (iii) एक विशिष्ट प्रतिक्रिया क्रम। इनमें से संयोगवश उद्दीपक परिस्थिति तथा अनुकूल कार्य के क्रम में अत्यधिक परिवर्तन होता है। सामान्यत: कष्टप्रद अपमानजनक व दु:साध्य परिस्थिति में मनुष्य क्रोधित होकर प्रतिकार करता है। किंतु जहाँ बच्चा खिलौने से रुष्ट होकर उसे तोड़ने का प्रयास करता है, वहाँ एक वयस्क स्वदेशाभिमान के विरुद्ध विचार सुनकर घोर प्रतिकार करता है। जहाँ बच्चे का प्रतिकार लात, घूँसा तथा दाँत आदि का व्यवहार करता है, वहाँ वयस्क का क्रोध अपवाद, सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक हानि तथा अद्भुत भौतिक रासायनिक अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करता है। किंतु क्रोध का अनुभव तो सब परिस्थितियों में एक समान रहता है। प्रा० मैक्डूगल ने पशु वर्ग के विकास, तथा संवेगों के निश्चित रूप की कसौटी से एक मूल प्रवृत्तियों की सूची भी बनाई है। संवेग अथवा भय, क्रोध आदि को ही मुख्य मानकर तदनुसार मूल प्रवृत्तियों

का नाम, स्वभाव आदि का वर्णन किया है। उनकी सूची बहुत लोकप्रिय है, और उसकी ख्याति प्राय: अनेक आधुनिक समाजशास्त्रों में मिलती है। परंतु वर्तमान काल में उसका मान कुछ घट गया है। डा० वाटसन ने अस्पताल में सद्य:जात शिशुओं की परीक्षा की तो उन्हें केवल क्रोध, भय और काम वृत्तियों का ही तथ्य मिला। एक जापानी वैज्ञानिक डा० कूओं ने यह पाया है कि सभी बिल्लियाँ न तो चूहों को प्रकृत स्वभाव से मारती हैं, और न ही उनकी हत्या करके खाती हैं। उचित सीख से तो बिल्लियों की मूल प्रवृत्ति में इतना अधिक विकार आ सकता है कि चूहेमार जाति की बिल्ली का बच्चा, बड़ा होकर भी चूहे से डरने लगता है। अत: अब ऐसा समझते हैं कि जो वर्णन मैक्डूगल ने किया है वह अत्यधिक सरल है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्थिति को सरलतम बनाकर समझने के निमित्त, मानसिक उद्देश्यपूर्ति की उलझन से बचकर, शरीर के सूक्ष्म क्रियाव्यवहार को ही मूल प्रकृति मानने लगे हैं। उन्हें दैहिक तंतुओं के मूल गुण प्रकृति मर्यादित तनाव (Tissue Tension) में ही मूल प्रवृत्ति का विश्वास होता है। जब उद्दीपक या परिस्थिति विशेष के कारण देह के भिन्न तंतुओं (रेशों) में तनाव बढ़ता है, तो उस तनाव के घटाने के हित एक मूल वृत्ति सजग हो जाती है, और इसकी प्रेरणा से जीव अनेक प्रकार की क्रियाएँ प्रारंभ करता है। जब उचित कार्य द्वारा उस दैहिक तंतु तनाव में यथेष्ट ढिलाव हो जाता है, तब तत्संबंधित मूल वृत्ति तथा उससे उत्पन्न प्रेरणा भी शांत हो जाती है। दैहिक तंतुओं का एक गुण और है कि विशेष क्रिया करते करते थक जाने पर विश्राम की प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक दैहिक तथा मनोदैहिक क्रिया में न्यूनाधिक थकान तथा विश्राम का धर्म देखा जाता है। अत: भिन्न को यह आहार, भय, मैथुन आदि से सूक्ष्म कूटस्थ वृत्ति मानते हैं। अर्थात् आधुनिक मत केवल दो प्रकार की मूल प्रवृत्ति मानने का है—(१) दैहिक तंतु तनाव को घटाने की प्रवृत्ति (या अपनी मर्यादा बनाए रखने की प्रवृत्ति); (२) दैहिक तंतुओं के थक जाने पर उचित विश्राम की प्रवृत्ति।

पशुवर्ग के आचरण को समझने के लिये एकमात्र उपाय, उनकी विभिन्न प्रेरणाओं का ज्ञान प्राप्त करना है। प्रेरणा और प्रवृत्ति के संबंध से कुछ विद्वान् मूल प्रवृत्ति से ही मूल प्रेरणा की उत्पत्ति मानते हैं। किंतु सभ्य जीवन में कृत्रिम या सीखी हुई मनोवृत्तियों का भी उचित स्थान है। इस युग में धनोपार्जन का कार्य सबको ही करना पड़ता है। धन की इच्छा तो अपने इष्टसाधन का निमित्त मात्र है। वास्तविक प्रेरणा तो अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति, तथा उनके संभोग की मनोवृत्ति से होती है। अत: धनोपार्जन की प्रेरणा एक अर्जित अर्थात् आधुनिक सभ्यता में सीखी हुई प्रेरणा है। धन के द्वितीय विनिमय गुण के कारण ही धन पाने की इच्छा उत्पन्न होती है। किंतु इस प्रेरणावश सामान्य पुरुष धन कमाने में उतना ही लिपटा रहता है, जितना आहार विहार की प्रेरणाओं से। यदि किसी बच्चे में साइकिल सवारी की प्रेरणा है, तो वह कभी घुड़सवारी से शांत नहीं होती। दोनों ही कृत्रिम प्रेरणाएँ हैं, किंतु उन्हें निर्मूल कहना मिथ्या है। उक्त बच्चे के लिये साइकिल वैसा ही सबल व्यवहारप्रेरक है, जैसा स्वादिष्ठ भोजन। प्रेरणा को हम सरलता से दो वर्गों में बाँट सकते हैं — (i) आवर्षक या सुखद प्रेरक की प्राप्ति के प्रति और (ii) अपकर्षक या दु:खद प्रेरक से बचने के प्रति। यदि पहले वर्ग की प्रेरणा को अनुकूल या धनात्मक (+) कहें, तो दूसरे वर्ग की प्रेरणा को प्रतिकूल या ऋणात्मक (−) कह सकते हैं। एक में व्यक्ति प्रेरक के लोभ से अग्रसर होता है और दूसरी में व्यक्ति प्रस्तुत प्रेरक से भयभीत होकर पीछे हटता है, या विमुख होकर दूर भागता है, अथवा रक्षा का अन्य उपाय करता है। यदि पहली में प्रवृत्ति है तो दूसरी में निवृत्ति।

सामान्य परिस्थिति न तो शुद्ध सुखस्वरूप और न ही पूर्णतया दु:खरूप होती है। वह प्राय: मिश्रित होती है; यदि कुछ अंशों में वह सुखद होती है, तो साथ ही दूसरे अंशों में वह दु:खद भी होती है। जहाँ एक अवयव हमें खींचता है, वहाँ दूसरा अवयव हमें धक्का देता है। जब हम चाकर वृत्ति ग्रहण कर जीविका चलाते हैं, तो हम पराधीनता में भी फँस जाते हैं। अनेक परिस्थितियाँ हमारे सामने न्यूनाधिक उग्र रूप में रागद्वेष का द्वंद्व उपस्थित करती हैं। जब इष्ट की मात्रा अधिक लगती है, तब हम झट उसी ओर प्रवृत्त होते हैं। और जहाँ अनिष्ट की मात्रा अधिक जँचती है, वहाँ हम तुरत सँभलकर हट जाते हैं। किंतु जब रागद्वेष की उभय प्रेरणाएँ समान मात्रा में दिखाई देती हैं, तब मनुष्य को चिंता होती है और सशयवश उसे विचार तथा परामर्श का आश्रय लेना पड़ता है। कभी दो मनोहर प्रेरणाएँ एक साथ उपस्थित किंतु विरोधी दिशाओं में मनुष्य को खींचती हैं। यह भी कम चिंताजनक द्वंद्व नहीं है। जब बच्चे के सामने यह समस्या आती है कि वह खिलौना ले या मिठाई तो बेचारा दुविधा में फँस कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। कभी कभी हम दोनों ओर से विपत्तियों के बीच फँस जाते हैं; एक ओर कुआँ है, तो दूसरी ओर खाई। यदि सच कहते हैं तो दंड मिलेगा और यदि झूठ बोलते हैं तो आत्मग्लानि होती है। सिद्धांतरूप से प्रेरणाओं का द्वंद्व प्राय: इन तीनों प्रकार का ही होता है। किंतु सामान्य परिस्थिति में अनेक धनात्मक और ऋणात्मक अंश एक साथ ओतप्रोत रहते हैं।

प्रेरक परिस्थिति में कभी प्रकृत अंश मुख्य, और कभी गौण भी होते हैं। प्रेरक वस्तुओं और परिस्थितियों का मूल्यांकन अधिकतर सामाजिक तथा धार्मिक श्रेष्ठता की माप से होता है। यदि कोई बच्चा खिलौने की अपेक्षा पुस्तक को लेना पसंद करता है, तो उसके मूल्यांकन में सामाजिक शिक्षा तथा वैज्ञानिक अभ्यास और अनुभूति का ही विशेष प्रभाव रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक परिस्थिति के अंग के साथ, न्यूनाधिक स्पष्ट मात्रा में निश्चित सामाजिक श्रेष्ठता के अंश का संयोग रहता है। अत: बहुमुखी परिस्थिति में प्रकृत अंश की अपेक्षा सामाजिक पसंद का ही स्फुट महत्व रहता है। नया कपड़ा न होने से हम बारात के साथ जाना अस्वीकार करते हैं। कभी समाजप्रतिष्ठा के मोह से हम उधार लेकर अधिक दहेज आदि दान करते हैं।

प्रेरणाद्वंद्व से पाला पड़ने पर मनुष्य सर्वथा निष्क्रिय नहीं रह सकता और कुछ न कुछ प्रतिक्रिया करते ही एक नया नियम बन जाता है। संशयात्मक स्थिति में एक ओर पग उठाने से, शेष व्यवहार उसी निर्णय के अनुरूप होने लगता है। प्रत्येक नवयुवक

और युवती के लिये गृहस्थ जीवन में प्रवेश की समस्या प्रायः संशयात्मक होती है। किंतु निर्णय होते ही, तदनुकूल क्रियाएँ धारा-रूप से दूरवर्ती ध्येय की ओर प्रवाहित होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक संशयात्मक परस्पर विरोधी इच्छाओं की समस्या में हम एक को मानकर दूसरी को छोड़ देते हैं। परंतु मान्य इष्टप्राप्ति के प्रयास में त्यक्त इच्छाएँ भी कभी अवसर पाकर सिर उठाती हैं, पश्चात्ताप बढ़ाती हैं, और विशेष अवस्था में व्यक्ति की बुद्धि हरने में सफल होकर उसे न्यूनाधिक पथभ्रष्ट भी कर देती हैं।

परिस्थिति के साथ अभियोजन तो व्यक्ति की सहज प्रकृति है। वह कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल मनोवृत्ति से प्रतिक्रिया करता है। यदि किसी अभियोजन के विधान से व्यक्ति वा समाज को सुख वा प्रगति की आशा होती है, तो उसे उचित, अन्यथा अनुचित कह देते हैं। किंतु तात्कालिक और दीर्घकालीन दृष्टिकोण मे अंतर भी हो सकता है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात को विषपान का मृत्युदंड भी एक ऐसी सामाजिक अभियोजन की घटना थी, जिसपर वर्तमान काल में उभय पक्ष से वादविवाद होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अभियोजन का विधान, नियम अथवा क्रिया तो सरल है। परिस्थिति के मोहक तथा भयानक अंशों के अनुमान से मनुष्य अधिक सुखप्राप्ति के निमित्त कार्य करता है। किंतु परिस्थिति विशेष के प्रतिकूल अवयव के निरय के संघर्ष से वह या तो उससे उदासीन हो जाता है, या उसके मूल्यांकन का परिवर्तन कर उसको परोक्ष रूप से न्यूनाधिक लाभप्रद मानने लगता है। जब एक ग्रामीण युवक सेना में भरती होता है, तो उसे सारा दिन चुस्त वरदी वा भारी बूट आदि पहनकर रहना प्राय. खलता है। परंतु कुछ ही दिनों में वह उस वेश भूषा को सैनिक मर्यादा का संकेत कहकर, तथा उसमें आत्मसंमान का आभास देखकर, उससे संलग्न दु.ख को भी सहने की आदत बना लेता है। इस अभियोजन प्रक्रिया से मनुष्य दु.खाश के प्रति उदासीन होता है और समय बीतने से वह उस अनिवार्य दु.ख को भूल भी जाता है, या उसे ही सुखद समझने लगता है।

यह तो दैहिक तंतुओं का भी नियम है कि वे सतत कार्य करते रहने से थक जाते है। ज्ञानेंद्रियाँ भी थककर संज्ञाशून्य हो जाती हैं। बहुत मिठाई खाने से मिठास का अनुभव सुखहीन वा फीका पड़ जाता है। धूप जलाने पर उसकी गंध तो कुछ समय तक हम अनुभव करते हैं किंतु थोड़ी देर में वह सुगंध प्रायः लुप्त हो जाती है। यही दशा दैनिक संघर्ष द्वारा परिस्थिति के दु.खद अंश की होती है। कह सकते हैं कि इस चेतनालोप द्वारा हम शोकमुक्त होकर समाज के साथ समायोजित होते है। परंतु ये लुप्त प्रेरणाएँ अज्ञात मानस अवस्था में गुप्त रूप से बनी रहती है और उचित अवसर पाकर छद्म रूप से ज्ञात मन द्वारा इष्टपूर्ति का प्रयास करती हैं।

[श्या० स्व० ज०]

व्याकरण किसी भी 'भाषा' के अंग प्रत्यंग का विश्लेषण तथा विवेचन 'व्याकरण' कहलाता है, जैसे कि शरीर के अंग प्रत्यंग का विश्लेषण तथा विवेचन 'शरीरशास्त्र' और किसी देश प्रदेश आदि का वर्णन 'भूगोल'। यानी व्याकरण किसी भाषा को अपने आदेश से नहीं चलाता घुमाता, प्रत्युत भाषा की स्थिति प्रवृत्ति प्रकट करता है। 'चलता है' एक क्रियापद है और व्याकरण पढ़े बिना भी सब लोग इसे इसी तरह बोलते हैं; इसका सही अर्थ समझ लेते हैं। व्याकरण इस पद का विश्लेषण करके बताएगा कि इसमें दो अवयव हैं — 'चलता' और 'है'। फिर वह इन दो अवयवों का भी विश्लेषण करके बताएगा कि (चल + त + आ =) 'चलता' और (ह् + ऐ =) 'है' के भी अपने अवयव हैं। 'चल' में दो वर्ण स्पष्ट हैं; परंतु व्याकरण स्पष्ट करेगा कि 'च' में दो अक्षर हैं 'च्' और 'अ'। इसी तरह 'ल' में भी 'ल्' और 'अ'। अब इन अक्षरों के टुकड़े नहीं हो सकते; 'अक्षर' हैं ये। व्याकरण इन अक्षरों की भी श्रेणी बनाएगा, 'व्यंजन' और स्वर'। 'च्' और 'ल्' व्यंजन हैं और 'अ' स्वर। चि, ची और लि, ली में स्वर हैं 'इ' और 'ई', व्यंजन 'च्' और 'ल्'। इस प्रकार का विश्लेषण बड़े काम की चीज है; व्यर्थ का गोरखधंधा नहीं है। यह विश्लेषण ही 'व्याकरण' है।

व्याकरण का दूसरा नाम 'शब्दानुशासन' भी है। वह शब्द-संबंधी अनुशासन करता है — बतलाता है कि किस शब्द का किस तरह प्रयोग करना चाहिए। भाषा में शब्दों की प्रवृत्ति अपनी ही रहती है; व्याकरण के कहने से भाषा में शब्द नहीं चलते। परंतु भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार व्याकरण शब्दप्रयोग का निर्देश करता है। यह भाषा पर शासन नहीं करता, उसकी स्थितिप्रवृत्ति के अनुसार लोकशिक्षण करता है।

संसार का सर्वप्रथम व्याकरण

संसार मे सबसे पहले 'व्याकरण' विद्या का जन्म कहाँ हुआ ?

संसार के भाषाविदों ने एकमत से स्वीकार किया है कि इस पृथ्वी पर उपलब्ध साहित्य में सबसे प्राचीन 'वेद' है। ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है। जब कोई भाषा साहित्य की समृद्धि से जगमगाने लगती है, तब उसके व्याकरण की जरूरत पड़ती है। 'वेद' कैसा महत्वपूर्ण साहित्य है, यह इसी से समझा जा सकता है कि इसे इतने दिनों तक मनुष्य ने गले से लगाकर प्राणों की तरह इसकी रक्षा की है। उसके प्रत्येक मंत्र को यथास्थित रूप में कंठस्थ रखना और बहुत कुछ उसकी 'ध्वनि' सुरक्षित रखना सरल काम नहीं है। सूखे चने चबा चबाकर तपस्वी ब्राह्मणों ने वेदों की रक्षा की है। तभी तो वे बने रहे।

वेद जैसे महत्वपूर्ण साहित्य के व्याकरण की जरूरत पड़ी। व्याकरण के सहारे सुदूर देश प्रदेशों के ज्ञानपिपासु यहाँ अन्यत्र उद्‌भूत साहित्य को समझ सकते हैं और अनंत काल बीत जाने पर भी लोग उसे समझने में सक्षम रहते है। वेद जैसा साहित्य देशकाल की सीमा में बँधा रहनेवाला नहीं है; इसलिये प्रबुद्ध 'देव' जनों ने अपने राजा (इंद्र) से प्रार्थना की — 'हमारी (वेद —) भाषा का व्याकरण बनना चाहिए। आप हमारी भाषा का व्याकरण बना दें।' तब तक वेदभाषा 'अव्याकृता' थी; उसे यों ही लोग काम में ला रहे थे। इंद्र ने 'वरम्' कहकर देवों की प्रार्थना स्वीकार कर ली और फिर पदों को

('मध्यतोऽवक्रम्य') बीच से तोड़ तोड़कर प्रकृति प्रत्यय आदि का भेद किया — व्याकरण बन गया ।

यों इस देश (भारत) में सबसे पहले 'व्याकरण' विद्या का जन्म हुआ ।

व्याकरण से भाषा की गति नहीं रुकती, जैसा पहले कहा गया है; और न व्याकरण से वह बदलती ही है । किसी देश प्रदेश का भूगोल क्या वहाँ की गतिविधि को रोकता बदलता है ? भाषा तो अपनी गति से चलती है । व्याकरण उसका (गति का) न नियामक है, न अवरोधक ही । हाँ, सहस्रों वर्ष बाद जब कोई भाषा किसी दूसरे रूप में आ जाती है, तब वह (पुराने रूप का) व्याकरण इस (नए रूप) के लिये अनुपयोगी हो जाता है । तब इस (नए रूप) का पृथक् व्याकरण बनेगा । वह पुराना व्याकरण तब भी बेकार न हो जाएगा; उस पुरानी भाषा का (भाषा के उस पुराने रूप का) यथार्थ परिचय देता रहेगा । यह साधारण उपयोगिता नहीं है ।

हाँ, यदि कोई किसी भाषा का व्याकरण अपने अज्ञान से गलत बना दे, तो वह (व्याकरण) ही गलत होगा । भाषा उसका अनुगमन न करेगी और यों उस व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने पर भी भाषा को कोई गलत न कह देगा । संस्कृत के एक वैयाकरण ने 'पुंसु' के साथ 'पुंक्षु' पद को भी नियमबद्ध किया; परंतु वह यहीं धरा रह गया । कभी किसी ने 'पुंक्षु' नहीं लिखा बोला । पाणिनि ने 'विश्रम' शब्द साधु बतलाया; 'श्रम' की ही तरह 'विश्रम' । परंतु संस्कृत साहित्य में 'विश्राम' चलता रहा; चल रहा है और चलता रहेगा । भाषा की प्रवृत्ति है । जब पाणिनि ही भाषा के प्रवाह को न रोक सके, तो दूसरों की गिनती ही क्या ।

व्याकरण और भाषाविज्ञान

व्याकरण तथा भाषाविज्ञान दो शब्दशास्त्र हैं; दोनों का कार्यक्षेत्र भिन्न भिन्न है; पर एक दूसरे के दोनों सहयोगी हैं । व्याकरण पदप्रयोग मात्र पर विचार करता है; जब कि भाषाविज्ञान 'पद' के मूल रूप (धातु तथा प्रातिपदिक) की उत्पत्ति व्युत्पत्ति या विकास की पद्धति बतलाता है । व्याकरण यह बतलाएगा कि (निषेध के पर्युदास रूप में) 'न' (नञ्) का रूप (संस्कृत में) 'अ' या 'अन्' हो जाता है । व्यंजनादि शब्दों में 'अ' और स्वरादि में 'अन्' होता है — अद्वितीय', 'अनुपम' । जब निषेध में प्रधानता हो, तब ('प्रसज्य प्रतिषेध' में) समास नहीं होता — अयं ब्राह्मणो नास्ति' 'अस्य उपमा नास्ति' । अन्यत्र 'अब्राह्मणाः वेदाध्ययने मंदादराः संति' और 'अनुपमं काश्मीरसौंदर्यं दृष्टम्' आदि में समास होगा; क्योंकि निषेध निषेधात्मक नहीं है । व्याकरण समास बता देगा और कहाँ समास ठीक रहेगा, कहाँ नहीं; यह सब बतलाना 'साहित्य शास्त्र' का काम है । 'न' से व्यंजन (न्) उड़कर 'अ' रह जाता है और ('अ' के ही) वर्णव्यय से 'अन्' हो जाता है । इसी 'अन्' को सस्वर करके 'अन' रूप में 'समास' के लिये हिंदी ने ले लिया है —'अनहोनी', 'अनजान' आदि । 'न' के ये विविध रूप व्याकरण बना नहीं देता; बने बनाए रूपों का वह 'अन्वाख्यान' भर करता है । यह काम भाषाविज्ञान का है कि वह 'न' के इन रूपों पर प्रकाश डाले ।

व्याकरण बतलाएगा कि किसी धातु से 'न' भाववाचक प्रत्यय करके उसमें हिंदी की संज्ञाविभक्ति 'आ' लगा देने से (कृदंत) भाववाचक संज्ञाएँ बन जाती हैं—आना, जाना, उठना, बैठना आदि । परंतु व्याकरण का काम यह नहीं है कि आ, जा, उठ, बैठ आदि धातुओं की विकासपद्धति समझाए । यह काम भाषाविज्ञान का है । संस्कृत में ऐसी संज्ञाएँ नपुंसक वर्ग में प्रयुक्त होती हैं — आगमनम्, गमनम्, उत्थानम्, उपवेशनम् आदि । परंतु हिंदी में पुंप्रयोग होता है—'आपका आना कब हुआ ?' हिंदी ने पुंप्रयोग क्यों किया, यह व्याकरण न बताएगा । वह अन्वाख्यान भर करेगा — 'ऐसी संज्ञाएँ पुंवर्गीय रूप रखती हैं' बस ! यह बताना भाषाविज्ञान का काम है कि ऐसा क्यों हुआ !

परकीय शब्दों का शासन

जब कोई भाषा किसी दूसरी भाषा से कोई शब्द लेती है, तो उसे अपने शासन में चलाती है — अपने व्याकरण के अनुसार उसकी गति नियंत्रित करती है । हिंदी का 'धोती' शब्द अंग्रेजी में गया, तो वहाँ इसे अंग्रेजी व्याकरण को शिरोधार्य करना पड़ा । प्रयोग होता है अंग्रेजी में — 'ब्रिंग अवर धोतीज' । वहाँ 'धोती' का बहुवचन 'धोतियाँ' न चलेगा । 'ब्रिंग अवर धोतियाँ' प्रयोग वहाँ गलत समझा जाएगा ।

इसी तरह अंग्रेजी का 'फुट' शब्द हिंदी ने लिया और अपने शासन में रखा । अंग्रेजी में 'फुट' का बहुवचन 'फीट' होता है; पर हिंदी में अंग्रेजी व्याकरण न चलेगा । प्रयोग होता है — 'चार फुट उँचाई', 'चार फीट ऊँचाई' गलत है । 'ऊँचाई' भी गलत है; 'उँचाई' शुद्ध है । 'निचाई उँचाई' होता है; 'नीचाई ऊँचाई' नहीं ।

संस्कृत में इकारांत शब्दों के द्विवचन ईकारांत हो जाते हैं— 'कवी समागतौ'; हिंदी में ऐसा न होगा । 'दो कवि आए' कहा जाएगा । इसी तरह संस्कृत में 'राजदंपती समागतौ' । हिंदी में 'राजदंपति' सर्वत्र ।

परकीय शब्दों को आत्मसात् करने की यह भी एक प्रक्रिया है कि अनमेल रूप को काट छाँटकर अपने मेल का बना लेना । हिंदी का 'गंगा जी' शब्द अंग्रेजी में गया; पर 'गेंजिज' बनकर । अंग्रेजी 'लैंटर्न' शब्द हिंदी ने लिया; पर 'लालटेन' बनाकर और 'हॉस्पिटल' को 'अस्पताल' बनाकर । 'हस्पताल' भी हिंदी में गलत है । 'हॉस्पिटल' और 'डॉक्टर' जैसे रूप हिंदी को ग्राह्य नहीं । हिंदी का व्याकरण नियमन करेगा कि हिंदी में वह उच्चारण है ही नहीं, जिसे स्वर पर उल्टा टोप रख कर प्रकट किया जाता है । यहाँ 'मास्टर' की ही तरह 'डाक्टर' चलता है । हाँ, नागरी लिपि में अंग्रेजी भाषा लिखनी हो तब वह उलटा टोप काम आएगा — द डॉक्टर वाज फुलिश' । इसी तरह नागरी में फारसी जैसी भाषा लिखनी हो तो 'बाज़ार', 'ज़रूरत' आदि रूप रहेंगे; पर हिंदी में नीचे बिंदी न रहेगी — 'जरूरी चीजों के लिये बाजार है ।' उर्दू के शेर आदि लिखने हों तो भी नीचे बिंदी लग जाएगी । शब्दों का यह रूपनिर्धारण व्याकरण के वर्ण प्रकरण से होगा । [कि० दा० वा०]

व्याकरण (संस्कृत का) संस्कृत का व्याकरण वैदिक काल में ही स्वतंत्र विषय बन चुका था। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, ये चार आधारभूत तथ्य यास्क (ई० पू० लगभग ७००) के पूर्व ही व्याकरण में स्थान पा चुके थे। पाणिनि (ई० पू० लगभग ५५०) के पहले कई व्याकरण लिखे जा चुके थे जिनमें केवल आपिशलि और काशकृत्स्न के कुछ सूत्र आज उपलब्ध हैं। किंतु संस्कृत व्याकरण का क्रमबद्ध इतिहास पाणिनि से आरंभ होता है।

पाणिनि ने वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत दोनों के लिये 'अष्टाध्यायी' की रचना की। अपने लगभग चार हजार सूत्रों मे उन्होंने सदा के लिये संस्कृत भाषा को परिनिष्ठित कर दिया। उनके प्रत्याहार, अनुबंध आदि गणित के नियमों की तरह सूक्ष्म और वैज्ञानिक हैं। उनके सूत्रों में व्याकरण और भाषाशास्त्र संबंधी अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का समावेश है। कात्यायन (ई० पू० लगभग ३००) ने पाणिनि के सूत्रों पर लगभग ४२९५ वार्तिक लिखे। पाणिनि की तरह उनका भी ज्ञान व्यापक था। उन्होंने लोकजीवन के अनेक शब्दों का संस्कृत में समावेश किया और न्यायों तथा परिभाषाओं द्वारा व्याकरण का विचारक्षेत्र विस्तृत किया। कात्यायन के वार्तिकों पर पतंजलि (ई० पू० १५०) ने महाभाष्य की रचना की। महाभाष्य आकर ग्रंथ है। इसमें प्रायः सभी दार्शनिक वादों के बीज हैं। इसकी शैली अनुपम है। इसपर अनेक टीकाएँ मिलती हैं जिनमें भर्तृहरि की 'त्रिपादी', कैयट का 'प्रदीप' और शेषनारायण का 'सूक्तिरत्नाकर' प्रसिद्ध हैं। सूत्रों के अर्थ, उदाहरण आदि समझाने के लिये कई वृत्तिग्रथ लिखे गए थे जिनमें काशिका वृत्ति (छठी शताब्दी) महत्वपूर्ण है। जयादित्य और वामन नाम के आचार्यों की यह एक रमणीय कृति है। इसपर जिनेंद्रबुद्धि (लगभग ६५० ई०) की काशिकाविवरणपंजिका (न्यास) और हरदत्त (ई० १२००) की पदमंजरी उत्तम टीकाएँ हैं। काशिका की पद्धति पर लिखे गए ग्रंथों में भागवृत्ति (अनुपलब्ध), पुरुषोत्तमदेव (ग्यारहवीं शताब्दी) की भाषावृत्ति और भट्टोजि दीक्षित (ई० १६००) का शब्दकौस्तुभ मुख्य हैं। पाणिनि के सूत्रों के क्रम बदलकर कुछ प्रक्रियाग्रंथ भी लिखे गए जिनमें धर्मकीर्ति (ग्यारहवीं शताब्दी) का रूपावतार, रामचंद्र (ई० १४००) की प्रक्रियाकौमुदी भट्टोजि दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी और नारायण भट्ट (सोलहवीं शताब्दी) का प्रक्रियासर्वस्व उल्लेखनीय हैं। प्रक्रियाकौमुदी पर विट्ठलकृत 'प्रसाद' और शेषकृष्णरचित 'प्रक्रिया प्रकाश' पठनीय हैं। सिद्धांत-कौमुदी की टीकाओं में प्रौढमनोरमा, तत्वबोधिनी और शब्देंदुशेखर उल्लेखनीय हैं। प्रौढमनोरमा पर हरि दीक्षित का शब्दरत्न भी प्रसिद्ध है। नागेश भट्ट (ई० १७००) के बाद व्याकरण का इतिहास धूमिल हो जाता है। टीकाग्रंथों पर टीकाएँ मिलती हैं। किसी किसी में न्यायशैली देख पड़ती है। पाणिनिसंप्रदाय के पिछले दो सौ वर्ष के प्रसिद्ध टीकाकारों में वैद्यनाथ पायगुंड, विश्वेश्वर, ओरमभट्ट, भैरव मिश्र, राघवेंद्राचार्य गजेंद्रगडकर, कृष्णमित्र, नित्यानंद पर्वतीय एवं जयदेव मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त संस्कृत के जो अन्य व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं वे सभी पाणिनि की शैली से प्रभावित हैं। अवश्य ऐंद्र व्याकरण को कुछ लोग पाणिनि के पूर्व का मानते हैं। किंतु यह मत असंदिग्ध नहीं है। बर्नेल के अनुसार ऐंद्र व्याकरण का संबंध कातंत्र से और तमिल के प्राचीनतम व्याकरण तोल्काप्पियम से है। ऐंद्र व्याकरण के आधार पर सातवाहन युग में शर्व वर्मा ने कातंत्र व्याकरण की रचना की। इसके दूसरे नाम कालापक और कौमार भी हैं। इसपर दुर्गसिंह की टीका प्रसिद्ध है। चांद्र व्याकरण चंद्रगोमी (ई० ५००) की रचना है। इसपर उनकी वृत्ति भी है। इसकी शैली से काशिकाकार प्रभावित हैं। जैनेंद्र व्याकरण जैन आचार्य देवनंदी (लगभग छठी शताब्दी) की रचना है। इसपर अभयनंदी की वृत्ति प्रसिद्ध है। उदाहरण में जैन संप्रदाय के शब्द मिलते हैं। जैनेंद्र व्याकरण के आधार पर किसी जैन आचार्य ने ९वीं शताब्दी में शाकटायन व्याकरण लिखा और उसपर अमोघवृत्ति की रचना की। इसपर प्रभाचंद्राचार्य का न्यास और यक्ष वर्मा की वृत्ति प्रसिद्ध हैं। भोज (ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) का सरस्वती कंठाभरण व्याकरण में वार्तिकों और गणपाठों को सूत्रों में मिला दिया गया है। पाणिनि के अप्रसिद्ध शब्दों के स्थान पर सुबोध शब्द रखे गए हैं। इसपर दंडनाथ नारायण की हृदयहारिणी टीका है। सिद्ध हेम अथवा हैम व्याकरण आचार्य हेमचंद्र (ग्यारहवीं शताब्दी) रचित है। इसमें संस्कृत के साथ साथ प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण का भी समावेश है। इसपर ग्रंथकार का न्यास और देवेंद्र सूरि का लघुन्यास उल्लेखनीय हैं। सारस्वत व्याकरण के कर्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य (तेरहवीं शताब्दी) हैं। इसपर सारस्वत प्रक्रिया और रघुनाथ का लघुभाष्य ध्यान देने योग्य है। इसका प्रचार बिहार में पिछली पीढ़ी तक था। वोपदेव (तेरहवीं शताब्दी) का मुग्धबोध व्याकरण नितांत सरल है। इसका प्रचार अभी हाल तक बंगाल में रहा है। पद्मनाभदत्त ने (१५वीं शताब्दी) सुपद्य व्याकरण लिखा है। शेष श्रीकृष्ण (१६वीं शताब्दी) की पदचंद्रिका एक स्वतंत्र व्याकरण है। इसपर उनकी पदचंद्रिकावृत्ति उल्लेखनीय है। क्रमदीश्वर का संक्षिप्तसार (जौमार) और रूपगोस्वामी का हरिनामामृत भी स्वतंत्र व्याकरण हैं। कवींद्राचार्य के संग्रह में ब्रह्मव्याकरण, यमव्याकरण, वरुणव्याकरण, सौम्यव्याकरण और शब्दतर्कव्याकरण के हस्तलेख थे जिनके बारे में आज विशेष ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध किंतु अनुपलब्ध व्याकरणों में वामनकृत विश्रांतविद्याधर उल्लेखनीय है।

प्रमुख संस्कृत व्याकरणों के अपने अपने गणपाठ और धातुपाठ हैं। गणपाठ संबंधी स्वतंत्र ग्रंथों में वर्धमान (१२वीं शताब्दी) का गणरत्नमहोदधि और भट्ट यज्ञेश्वर रचित गणरत्नावली (ई० १८७४) प्रसिद्ध हैं। उणादि के विवरणकारों में उज्ज्वलदत्त प्रमुख है। काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड भाषा में प्रकाशित है। भीमसेन का धातुपाठ तिब्बती (भोट) में प्रकाशित है। पूर्णचंद्र का धातुपारायण, मैत्रेयरक्षित (दसवीं शताब्दी) का धातुप्रदीप, क्षीरस्वामी (दसवीं शताब्दी) की क्षीरतरंगिणी, सायण की माधवीय धातुवृत्ति, श्रीहर्ष-कीर्ति की धातुतरंगिणी, बोपदेव का कविकल्पद्रुम, भट्टमल्ल की आख्यातचंद्रिका विशेष उल्लेखनीय हैं। लिंगबोधक ग्रंथों में पाणिनि, वररुचि, वामन, हेमचंद्र, शाकटायन, शांतनवाचार्य, हर्षवर्धन आदि के लिंगानुशासन प्रचलित हैं। इस विषय की प्राचीन पुस्तक 'लिंग-कारिका' अनुपलब्ध है।

संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन व्याडि (लगभग ई० पू० ४००) के 'संग्रह' से आरंभ होता है जिसके कुछ वाक्य ही आज अवशेष हैं। भर्तृहरि (लगभग ई० ५००) का वाक्यपदीय व्याकरणदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त इसपर वृषभदेव (छठी शताब्दी), पुण्यराज (नवीं शताब्दी) और हेलाराज (दसवीं शताब्दी) की टीकाएँ विश्रुत हैं। कौंडभट्ट (ई० १६००) का वैयाकरणभूषण और नागेश की वैयाकरण सिद्धांतमंजूषा उल्लेखनीय हैं। नागेश का स्फोटवाद, कृष्णभट्टमौनि की स्फोटचंद्रिका और भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि भी इस विषय के लघुकाय ग्रंथ हैं। सीरदेव की परिभाषावृत्ति, पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति, विष्णुशेष का परिभाषाप्रकाश और नागेश का परिभाषेंदुशेखर पठनीय हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में परिभाषेंदुशेखर पर लगभग २५ टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें गदा, भैरवी, भावार्थदीपिका के अतिरिक्त तात्या शास्त्री पटवर्धन, गणपति शास्त्री मोकाटे भास्कर शास्त्री, वासुदेव अभ्यंकर, मन्युदेव, चिद्रूपाश्रय आदि की टीकाएँ हैं।

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में यूरोप के विद्वानों का भी योग है। पी०सासेती ने, जो १५८३ से १५८८ तक भारत में था, संस्कृत और इटली की भाषा का साम्य दिखलाया था। किंतु संस्कृत का नियमबद्ध व्याकरण जर्मन-यहूदी जे० ई० हाक्सेलेडेन ने लिखा। उसकी अप्रकाशित कृति के आधार पर जर्मन पादरी पौलिनस ने १७९० में संस्कृत का व्याकरण प्रकाशित किया जिसका नाम 'सिद्ध रुबम् स्यू ग्रामाटिका संस्कृडामिका' था। फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक डा० विलियम कैरे ने १८०२ में संस्कृत का व्याकरण अंगरेजी में प्रकाशित किया। विलियम कोलब्रुक ने १८०५ में, विलकिन्स ने १८०८ में, फॉरेस्टर ने १८१० में, संस्कृत के व्याकरण लिखे। १८२३ में ओथमार फ्रांक ने लैटिन भाषा में संस्कृत व्याकरण लिखा। १८३४ में बोप्प ने जर्मन भाषा में संस्कृत व्याकरण लिखा जिसका नाम 'क्रिटिशे ग्रामाटिक डे संस्कृत स्प्राख' है। बेनफी ने १८६३ में, कीलहार्न ने १८७० में, मैक्समूलर ने १८७० में, मॉनिअर विलियम्स ने १८७७ में और अमरीका के ह्विटनी ने १८७९ में अपने संस्कृत व्याकरण प्रकाशित किए। एल० रेनो ने फ्रेंच भाषा में संस्कृत व्याकरण (१९२०) और वैदिक व्याकरण (१९५२) प्रकाशित किए। गणपाठ और धातुपाठ के संबंध में वेस्टरगार्ड का रेडिसेज लिंग्वा संस्कृता (१८४१), बोटलिंक का पाणिनि ग्रामाटिक (१८८७), लीबिश का धातुपाठ (१९२०) और राबर्ट बिरवे का 'डर गणपाठ' (१९६१) उल्लेखनीय हैं। यूरोप के विद्वानों की कृतियों में मैकडोनेल का 'वैदिक ग्रामर' (१९१०) और वाकरनागेल का 'आल्टइंडिश ग्रामटिक' (३ भाग, १८९६-१९५४) उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। अंग्रेजी में लिखित श्री काले का 'हायर संस्कृत ग्रामर' भी प्रसिद्ध है।

संस्कृत व्याकरण का इतिहास पिछले ढाई हजार वर्ष से टीका टिप्पणी के माध्यम से अविच्छिन्न रूप में अग्रसर होता रहा है। इसे सजीव रखने में उन ज्ञात अज्ञात सहस्रों विद्वानों का सहयोग रहा है जिन्होंने कोई ग्रंथ तो नहीं लिखा, किंतु अपना जीवन व्याकरण के अध्यापन में बिताया। [रा० सु० त्रि०]

व्यूह (Matrices) इस विषय के अंतर्गत हम संख्याओं की आयताकार सरणियों (rectangular arrays) का अध्ययन करते हैं। इस विषय में संख्याओं का एक विशेष प्रकार का विन्यास किया जाता है, अतः इसे व्यूह, या मैट्रिक्स, की संज्ञा दी गई है।

संख्याओं के निम्नलिखित प्रकार के पुंज को सरणी कहते हैं :

$$\begin{matrix} १ & ५ & -७ & ६ \\ ४ & ० & -२ & -१ \end{matrix}$$

अब तनिक इन समीकरणों पर विचार कीजिए :

$$\begin{aligned} ३\text{य} - \text{र} + ५\,\text{ल} &= १, \\ २\text{य} + \text{र} - \text{ल} &= -३, \\ \text{य} + २\text{र} + ३\,\text{ल} &= ७ \end{aligned}$$

इन समीकरणों से दो व्यूहों की उत्पत्ति होती है :

$$\begin{bmatrix} ३ & -१ & ५ \\ २ & १ & -१ \\ १ & २ & ३ \end{bmatrix}, \quad \begin{bmatrix} ३ & -१ & ५ & १ \\ २ & १ & -१ & -३ \\ १ & २ & ३ & ७ \end{bmatrix}$$

इनमें से पहले दो को गुणांक मैट्रिक्स (Coefficient Matrix) और दूसरे को आगमित मैट्रिक्स (Augmented Matrix) कहते हैं।

सर्वप्रथम सिल्वेस्टर (१८५० ई०) ने व्यूह की यह परिभाषा दी थी कि "संख्याओं के किसी आयताकार सरणी को, जिसमें से सारणिक (determinants) बन सकें, व्यूह कहते हैं।" आधुनिक समय में व्यूह को एक अतिसंमिश्र (hypercomplex) संख्या के रूप में मानते हैं। इस दृष्टिकोण के प्रवर्तक हैं मिल्टन (१८५३ ई०) और केली (१८५८ ई०)।

जिस व्यूह में पंक्तियों (rows) और स्तंभों (columns) की संख्या समान हो, उसे वर्ग व्यूह या मैट्रिक्स (Square Matrix) कहते हैं। मान लीजिए का और खा दो स वर्ण के वर्ग व्यूह हैं :

$$\text{का} = \begin{bmatrix} \text{क}_{१,१} & \text{क}_{१,२} \cdots \cdots \text{क}_{१स} \\ \text{क}_{२,१} & \text{क}_{२,२} \cdots \cdots \text{क}_{२स} \\ \cdots & \cdots \cdots \cdots \\ \text{क}_{स१} & \text{क}_{स२} \cdots \cdots \text{क}_{सस} \end{bmatrix},$$

$$\text{खा} = \begin{bmatrix} \text{ख}_{१,१} & \text{ख}_{१,२} \cdots \cdots \text{ख}_{१स} \\ \text{ख}_{२,१} & \text{ख}_{२,२} \cdots \cdots \text{ख}_{२स} \\ \cdots & \cdots \cdots \cdots \\ \text{ख}_{स१} & \text{ख}_{स२} \cdots \cdots \text{ख}_{सस} \end{bmatrix}$$

तो का + खा उस व्यूह को कहेंगे जिसका प्रत्येक घटक (element) का और खा के संगत घटकों का जोड़ हो, और काखा उस व्यूह को कहेंगे जिसकी तवीं पंक्ति और थवें स्तंभ का घटक का की तवीं पंक्ति के घटकों को खा के थवें स्तंभ के घटकों से गुणा करके जोड़ देने से बना हो। इस प्रकार काखा की तवीं पंक्ति और थवें स्तंभ का घटक $= \text{क}_{त१}\,\text{ख}_{१थ} + \text{क}_{त२}\,\text{ख}_{२थ} + \text{क}_{त३}\,\text{ख}_{३थ} + \cdots \text{क}_{तस}\,\text{ख}_{सथ}$। यदि च कोई अदिश (scalar) राशि हो, तो च का उस व्यूह को कहेंगे जिसका प्रत्येक घटक का के संगत घटक को च से गुणा करने से बना हो।

यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि व्यूहों का जोड़ सहचरणशील और व्यत्यासशील होता है और गुणन सहचरणशील तथा

वितरणशील होता है, किंतु क्रमविनिमेय नहीं होता। उदाहरणार्थ,

$$\begin{bmatrix} १ & -३ \\ २ & ४ \end{bmatrix} \begin{bmatrix} १ & ० \\ १ & -१ \end{bmatrix} = \begin{bmatrix} -२ & -१ \\ ६ & -४ \end{bmatrix},$$

$$\text{किंतु} \begin{pmatrix} १ & ० \\ १ & -१ \end{pmatrix} \begin{pmatrix} १ & -३ \\ २ & ४ \end{pmatrix} = \begin{pmatrix} १ & -३ \\ -१ & -७ \end{pmatrix}$$

अतः, साधारणतया, का खा = खा का।

जिस व्यूह में प्रत्येक घटक ० हो, उसे ० व्यूह कहते हैं। यह व्यूह योग का एकात्म्य (Identity of addition) कहलाता है, क्योंकि यदि का कोई भी व्यूह हो, तो ० + का = का + ० = का।

जिस व्यूह के विकर्ण का प्रत्येक घटक १ हो और शेष सारे घटक ० हों, उसे एकात्म्य व्यूह कहते हैं, क्योंकि यह गुणन का एकात्म्य (identity of multiplication) होता है। सांकेतिक भाषा में, यदि उक्त व्यूह को I कहें तो का I = I का = का।

जिस व्यूह में विकर्ण के घटकों छोड़कर शेष सारे घटक ० हों, उसे विकर्ण व्यूह या मैट्रिक्स (Diagonal Matrix) कहते हैं।

सं० ग्रं० — सी० सी० मेक्डफी : दि थियोरी ऑव मैट्रिसेज़, बर्लिन १९३२; जे० एच० एम० वेडरबर्न : लेक्चर ऑन मैट्रिसेज़, न्यूयार्क १९३४। [ब्रो० मो०]

व्रण (Ulcer) शरीरपृष्ठ (body surface) पर संक्रमण द्वारा शोथ उत्पन्न होता है। इस संक्रमण के जीवविष (toxins) स्थानिक उपकला (epithelium) को नष्ट कर देते हैं। नष्ट हुई उपकला के ऊपर मृत कोशिकाएं एवं पूय संचित हो जाता है। मृत कोशिकाओं तथा पूय के हट जाने पर नष्ट हुई उपकला के स्थान पर धीरे धीरे कणिकामय ऊतक (granular tissues) आने लगते हैं। इस प्रकार की विक्षति को व्रण कहते हैं। दूसरे शब्दों में संक्रमणोपरांत उपकला ऊतक की कोशिकीय मृत्यु को व्रण कहते हैं।

अनावरित क्षत व्रण कहलाता है। किसी भी पृष्ठ के ऊपर, अथवा पार्श्व में, यदि कोई शोथयुक्त परिगलित (necrosed) भाग हो गया है, तो वहाँ व्रण उत्पन्न हो जायगा। शीघ्र भर जानेवाले व्रण को सुदम्यव्रण कहते हैं। कभी कभी कोई व्रण शीघ्र नहीं भरता। ऐसा व्रण दुर्दम्य हो जाता है, इसका कारण यह है कि उसमें या तो जीवाणुओं (bacteria) द्वारा संक्रमण होता रहता है, या व्रणवाले भाग मे रक्तपरिसंचरण (circulation of blood) उचित रूप से नहीं हो पाता। व्रण, पृष्ठ पर की एक कोशिका के बाद दूसरी कोशिका के नष्ट होने पर, बनता है। निम्नलिखित तीन ऐसे स्थान हैं जहाँ पर व्रण प्राय: हो जाते हैं .

(१) मुख, आमाशय अथवा आंत्र — इनमें विकृति द्वारा उत्पन्न शोथयुक्त परिगलन होता है (देखें, आमाशय तथा ग्रहणी के व्रण तथा पाचक तंत्र के रोग)।

(२) निम्न शाखाओं के अधस्त्वक् — इनमें वृद्धावस्था में रक्त परिसंचरण के उचित रूप में न होने के कारण शोथ उत्पन्न हो जाता है, जिससे परिगलन होना प्रारंभ हो जाता है।

(३) गर्भाशय-ग्रीवा (Cervix of the uterus)

व्रण की अवस्थाएँ — व्रण का जीवन निम्नलिखित तीन अवस्थाओं (phases) में विभाजित है :—

(१) विस्तार (Extension), (२) परिवर्त (Transition) तथा (३) सुधार (Repair)

विस्तार की अवस्था में व्रण का तल स्राव एवं गलित पदार्थों से ढँका रहता है। व्रण के परिसर तीव्र होते हैं तथा इसमें से पूयमुक्त स्राव निकलता रहता है।

परिवर्त अवस्था में व्रण का भरना प्रारंभ होने लगता है। इसके तल का भाग साफ होने लगता है। तल में कणिकामय ऊतक बनने प्रारंभ हो जाते हैं और आपस में जुड़ने के कारण संपूर्ण तल इनसे ढँक जाता है।

सुधार की अवस्था में कणिकामय रेशेदार तंतु ऊतक (fibrous tissue) में, जो धीरे धीरे संकुचित होते हुए एक व्रणचिह्न (scar) बनाते हैं, परिवर्तित हो जाते हैं। कणिकामय ऊतकों का अधिक बनना भी उचित नहीं है। यदि किसी व्रण में कणिकामय ऊतक अधिक बन गए हों, तो उनको खुरच देना चाहिए अथवा सिल्वर नाइट्रेट जैसे किसी कॉस्टिक पदार्थ से जला देना चाहिए।

व्रण के प्रकार — व्रण निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं :

(१) विशिष्ट (specific), (२) विशिष्टताहीन (nonspecific) तथा (३) दुर्दम्य (Malignant)।

विशिष्टताहीन व्रण — इसके होने का कारण क्षत (wound) का संक्रमण है। यह क्षत अभिघात, अथवा किन्हीं उत्तेजक पदार्थों, के कारण हो जाता है। स्थानिक क्षोभ, जैसा दंतव्रण में, अथवा रक्त-परिसंचरण-बाधा, जैसा स्फीत शिराओं (varicose veins) में, इसके उत्पन्न करने में प्राथमिक कारण हैं। पोषणज व्रण (trophic ulcer) वाहिका प्रेरक नियंत्रण (vasomotor control) के अनौचित्य से संबंधित है। अस्वस्थावस्था मे यह व्रण के भरने में बाधक है।

विशिष्ठ व्रण — ये कुछ विशिष्ट रोगों के सूक्ष्म जीवों के संक्रमणके कारण उत्पन्न होते हैं। ये रोग हैं : यक्ष्मा, सिफलिस आदि। इन व्रणों की चिकित्सा करते समय स्थानिक चिकित्सा के अतिरिक्त विशिष्ट रोग की चिकित्सा भी करनी होती है।

दुर्दम्य व्रण — यह किसी संक्रमण की शोथज प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होता, अपितु दुर्दम्य अर्बुद द्वारा ऊतकों को नष्ट करने के कारण होता है। इसके द्वारा उत्पन्न व्रण के परिसर अर्बुद में ही विलीन हो जाते है। यह व्रण अतिशीघ्रता से बढ़ता है। दुर्दम्य अर्बुद हैं : (१) कार्सिनोमा, (२) रोडेंट व्रण तथा (३) सार्कोमा।

व्रण का भरना — ऊतकों की जीवनशक्ति बिगड़ जाती है, जिसके फलस्वरूप संक्रमण भी अपना प्रभाव डालता रहता है। यही कारण है कि व्रण के रोपण में अधिक समय लग जाता है निम्न अवस्था में व्रण के शीघ्र नहीं भरते :

(१) तंत्रिका क्षत (Nerve lesion),

(२) स्फीत शिराओं के कारण रुधिर संकुलता (congestion) एवं कुपोषण (malnutrition) तथा

(३) ऊतकों में संवर्धन माध्यम (culture medium) की अधिक मात्रा में उपस्थिति, अर्थात् मधुमेह (diabetes) में शर्करा का होना आदि। [र० गु०]

व्रत और उपवास संकल्पपूर्वक किए गए कर्म को 'व्रत' कहते हैं। मनुष्य को पुण्य के आचरण से सुख और पाप के आचरण से दुःख होता है। संसार का प्रत्येक प्राणी अपने अनुकूल सुख की प्राप्ति और अपने प्रतिकूल दुःख की निवृत्ति चाहता है। मानव की इस परिस्थिति को अवगत कर त्रिकालज्ञ और परहित में रत ऋषिमुनियों ने वेद, पुराण, स्मृति और समस्त निबंधग्रंथों को आत्मसात् कर मानव के कल्याण के हेतु सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के लिये अनेक उपाय कहे हैं। उन्हीं उपायों में से व्रत और उपवास श्रेष्ठ तथा सुगम उपाय हैं। व्रतों के विधान करनेवाले ग्रंथों में व्रत के अनेक अंगों का वर्णन देखने में आता है। उन अंगों का विवेचन करने पर दिखाई पड़ता है कि उपवास भी व्रत का एक प्रमुख अंग है। इसीलिये अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि व्रत और उपवास में परस्पर अंगांगि भाव संबंध है। अनेक व्रतों के आचरणकाल में उपवास करने का विधान देखा जाता है।

व्रत धर्म का साधन माना गया है। संसार के समस्त धर्मों ने किसी न किसी रूप में व्रत और उपवास को अपनाया है। व्रत के आचरण से पापों का नाश, पुण्य का उदय, शरीर और मन की शुद्धि, अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति और शांति तथा परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। अनेक प्रकार के व्रतों में सर्वप्रथम वेद के द्वारा प्रतिपादित अग्नि की उपासना रूपी व्रत देखने में आता है। इस उपासना के पूर्व विधानपूर्वक अग्निपरिग्रह आवश्यक होता है। अग्निपरिग्रह के पश्चात् व्रती के द्वारा सर्वप्रथम पौर्णमास याग करने का विधान है। इस याग को प्रारंभ करने का अधिकार उसे उस समय प्राप्त होता है जब याग से पूर्वदिन वह विहित व्रत का अनुष्ठान संपन्न कर लेता है। यदि प्रमादवश उपासक ने आवश्यक व्रतानुष्ठान नहीं किया और उसके अंगभूत नियमों का पालन नहीं किया तो देवता उसके द्वारा समर्पित हविर्द्रव्य स्वीकार नहीं करते।

ब्राह्मणग्रंथ के आधार पर देवता सर्वदा सत्यशील होते हैं। यह लक्षण अपने त्रिगुणात्मक स्वभाव से पराधीन मानव में घटित नहीं होता। इसीलिये देवता मानव से सर्वदा परोक्ष रहना पसंद करते हैं। व्रत के परिग्रह के समय उपासक अपने आराध्य अग्निदेव से करबद्ध प्रार्थना करता है—'मैं नियमपूर्वक व्रत का आचरण करूँगा, मिथ्या को छोड़कर सर्वदा सत्य का पालन करूँगा।' इस उपर्युक्त अर्थ के द्योतक वैदिक मंत्र का उच्चारण कर वह अग्नि में समित् की आहुति करता है। उस दिन वह अहोरात्र में केवल एक बार हविष्यान्न का भोजन, तृण से आच्छादित भूमि पर रात्रि में शयन और अखंड ब्रह्मचर्य का पालन प्रभृति समस्त आवश्यक नियमों का पालन करता है।

कुछ समय के पश्चात् वही उपासक जब सोमयाग का अनुष्ठान प्रारंभ करता है तो उसके लिये अत्यंत कठोर व्रत और नियमों का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। याग के प्रारंभ में याज्ञीय दीक्षा लेते ही उसे व्रत और नियमों के पालन करने का आदेश श्रौत सूत्र देते हैं। यागकालीन उन दिनों में सपत्नीक उस उपासक को आहार के निमित्त केवल गोदुग्ध दिया जाता है। यह भी यथेष्ट मात्रा में नहीं अपितु प्रथम दिन एक गौ के एक स्तन से, दूसरे दिन दो स्तनों से और तीसरे दिन तीन स्तनों से जितना भी प्राप्त हो उतना ही दूध पीने की शास्त्र की अनुज्ञा है। उसी दूध में से आधा उसको और आधा उसकी धर्मपत्नी को दिया जाता है। यही उन दोनों के लिये अहोरात्र का आहार होता है। शास्त्रकारों ने इस दुग्धाहार को व्रत संज्ञा कही है। व्रत के समय में अल्पाहार करने से शरीर में हलकापन और चित्त की एकाग्रता अक्षुण्ण रहती है। व्रती के लिये अनुष्ठान के समय मद्य, मांस प्रभृति निषिद्ध द्रव्यों का सेवन तथा प्रातःकाल एवं सायंकाल के समय शयन वर्ज्य है। सत्य और मधुर भाषण तथा प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की भावना रखना आवश्यक है।

वैदिक काल की अपेक्षा पौराणिक युग में अधिक व्रत देखने में आते हैं। उस काल में व्रत के प्रकार अनेक हो जाते हैं। व्रत के समय व्यवहार में लाए जानेवाले नियमों की कठोरता भी कम हो जाती है तथा नियमों में अनेक प्रकार के विकल्प भी देखने में आते हैं। उदाहरण रूप में जहाँ एकादशी के दिन उपवास करने का विधान है, वहीं विकल्प में लघु फलाहार और वह भी संभव न हो तो फिर एक बार ओदनरहित अन्नाहार करने तक का विधान शास्त्रसंमत देखा जाता है। इसी प्रकार किसी भी व्रत के आचरण के लिये तदर्थ विहित समय अपेक्षित है। 'वसंते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' अर्थात् वसंत ऋतु में ब्राह्मण अग्निपरिग्रह व्रत का प्रारंभ करे, इस श्रुति के अनुसार जिस प्रकार वसंत ऋतु में अग्निपरिग्रह व्रत के प्रारंभ करने का विधान है वैसे ही चांद्रायण आदि व्रतों के आचरण के निमित्त वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण तक का विधान है। इस पौराणिक युग में तिथि पर आश्रित रहनेवाले व्रतों की बहुलता है। कुछ व्रत अधिक समय में, कुछ अल्प समय में पूर्ण होते हैं।

नित्य, नैमित्तिक और काम्य, इन भेदों से व्रत तीन प्रकार के होते हैं। जिस व्रत का आचरण सर्वदा के लिये आवश्यक है और जिसके न करने से मानव दोषी होता है वह नित्यव्रत है। सत्य बोलना, पवित्र रहना, इंद्रियों का निग्रह करना, क्रोध न करना, अश्लील भाषण न करना और परनिंदा न करना आदि नित्यव्रत हैं। किसी प्रकार के पातक के हो जाने पर या अन्य किसी प्रकार के निमित्त के उपस्थित होने पर चांद्रायण प्रभृति जो व्रत किए जाते हैं वे नैमित्तिक व्रत हैं। जो व्रत किसी प्रकार की कामना विशेष से प्रोत्साहित होकर मानव के द्वारा संपन्न किए जाते हैं वे काम्य व्रत हैं; यथा पुत्रप्राप्ति के लिये राजा दिलीप ने जो गोव्रत किया था वह काम्य व्रत है।

पुरुषों एवं स्त्रियों के लिये पृथक् व्रतों का अनुष्ठान कहा है। कतिपय व्रत उभय के लिये सामान्य हैं तथा कतिपय व्रतों को दोनों

मिलकर ही कर सकते हैं। श्रावण शुक्ल पूर्णिमा, हस्त या श्रवण नक्षत्र में किया जानेवाला उपाकर्म व्रत केवल पुरुषों के लिये विहित है। भाद्रपद शुक्ल तृतीया को आचरणीय हरितालिका व्रत केवल स्त्रियों के लिये कहा है। एकादशी जैसा व्रत दोनों ही के लिये सामान्य रूप से विहित है। शुभ मुहूर्त में किए जानेवाले कन्यादान जैसे व्रत दंपति के द्वारा ही किए जा सकते हैं।

प्रत्येक व्रत के आचरण के लिये थोड़ा या बहुत समय निश्चित है। जैसे सत्य और अहिंसा व्रत का पालन करने का समय यावज्जीवन कहा गया है वैसे ही अन्य व्रतों के लिये भी समय निर्धारित है। महाव्रत जैसे व्रत सोलह वर्षों में पूर्ण होते हैं। वेदव्रत और ध्वजव्रत की समाप्ति बारह वर्षों में होती है। पंचमहाभूतव्रत, संतानाष्टमीव्रत, शक्रव्रत और शीलावाप्तिव्रत एक वर्ष तक किया जाता है। अरुंधती व्रत वसंत ऋतु में होता है। चैत्रमास में वत्सराधिपव्रत, वैशाख मास में स्कंदषष्ठीव्रत, ज्येठ मास में निर्जला एकादशी व्रत, आषाढ़ मास में हरिशयनव्रत, श्रावण मास में उपाकर्मव्रत, भाद्रपद मास में स्त्रियों के लिये हरितालिकाव्रत, आश्विन मास में नवरात्रव्रत, कार्तिक मास में गोपाष्टमीव्रत, मार्गशीर्ष मास मे भैरवाष्टमीव्रत, पौष मास में मार्तंडव्रत, माघ मास मे षट्तिलाव्रत, और फाल्गुन मास मे महाशिवरात्रिव्रत प्रमुख है। महालक्ष्मीव्रत भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को प्रारंभ होकर सोलह दिनों में पूर्ण होता है। प्रत्येक संक्रांति को आचरणीय व्रतों में मेष संक्रांति को सुजन्मावाप्ति व्रत, किया जाता है। तिथि पर आश्रित रहनेवाले व्रतों में एकादशी व्रत, वार पर आश्रित व्रतों में रविवार को सूर्यव्रत, नक्षत्रों में अश्विनी नक्षत्र में शिवव्रत, योगों में विष्कुंभ योग में घृतदानव्रत, और करणों में नवकरण में विष्णुव्रत का अनुष्ठान विहित है। भक्ति और श्रद्धानुकूल चाहे जब किए जानेवाले व्रतों में सत्यनारायण व्रत प्रमुख है।

किसी भी व्रत के अनुष्ठान के लिये देश और स्थान की शुद्धि अपेक्षित है। उत्तम स्थान में किया हुआ अनुष्ठान शीघ्र तथा अच्छे फल को देनेवाला होता है। इसीलिये किसी भी अनुष्ठान के प्रारंभ में संकल्प करते हुए सर्वप्रथम काल तथा देश का उच्चारण करना आवश्यक होता है। व्रतों के आचरण से देवता, ऋषि, पितृ और मानव प्रसन्न होते हैं। ये लोग प्रसन्न होकर मानव को आशीर्वाद देते हैं जिससे उसके अभिलषित मनोरथ पूर्ण होते हैं। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किए गए व्रत और उपवास के अनुष्ठान से मानव को ऐहिक तथा आमुष्मिक सुखों की प्राप्ति होती है।

[म० ला० द्वि०]

व्रत (जैन) सत्प्रवृत्ति और दोषनिवृत्ति को ही जैनधर्म मे व्रत कहा जाता है। सत्कार्य में प्रवृत्त होने के व्रत का अर्थ है उसके विरोधी असत्कार्यों से पहले निवृत्त हो जाना। फिर असत्कार्यों से निवृत्त होने के व्रत का मतलब है, उसके विरोधी सत्कार्यों में मन, वचन और काय से प्रवृत्त होना। मुख्य व्रत पाँच हैं—अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह। [अ० शु०]

व्लादीमीर, सेंट, (स० ९५६-१०१५ ई०) रूस का सम्राट्। प्रिंस इगर् के स्वीयातोस्लाव की उपपत्नी मलुश्का से उत्पन्न संतान। ९७० में पिता से नोवगोरोड की जागीर मिली। ९७२ में पिता का देहांत हुआ। गृहयुद्ध हुआ और शेष साम्राज्य यारोपोक और ओलिग नामक पुत्रों में बँटा। ९७७ में यारोपोक ने ओलिग को मार डाला। व्लादीमीर स्विडेन भाग गया और वहीं छिपा रहा। तीन साल बाद वह सेना सहित रूस लौटा (९८०) और यारोपोक को मारकर रूस का एकछत्र राजा हो गया। साम्राज्य बढ़ाया और कीएव को अपनी राजधानी बनाया।

व्लादीमीर ने खेरसन (क्रीमीया) शहर को घेरा। परंतु बाइजें-टियन सम्राट् ने लड़ाई न कर अपनी बहन अन्ना रोमनोवना का इसके साथ विवाह कर दिया। इस विवाह का फल यह हुआ कि व्लादीमीर ईसाई हो गया (९८९) और ग्रीक चर्च की रूस में स्थापना की गई। ईसाई धर्म की दीक्षा लेने के साथ व्लादीमीर की प्रकृति बदल गई। अब उसने गिर्जाघर, मठ और विहार बनवाने पर ध्यान दिया, फाँसी की सजा रद्द कर दी, धर्म, पवित्रता और शुचिता को जीवन में स्थान दिया। सारा साम्राज्य अपने बारह पुत्रों में बाँट दिया। धर्मप्रचार के लिये विभिन्न देशों में अपने दूत भेजे और ईसाइयों की संख्या बढ़ाई। [अ० कु० वि०]

व्लाडीवॉस्टॉक, स्थिति : ४३° ५' उ० अ० और १३१° ५०' पू० दे०। साइबीरिया के दक्षिण पूर्वी तटपर एक प्रसिद्ध नगर और बंदरगाह है। इसकी स्थापना १८६० ई० में हुई थी। पूर्वी रूस का यह प्रमुख बंदरगाह तथा ट्रांससाइबीरियन रेलवे का अंतिम पूर्वी स्टेशन है। नौसैनिक दृष्टि से इस नगर का बहुत विकास और विस्तार हुआ है। रूस ने यहाँ सुदृढ़ किलेबंदी की है। अत: सामरिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है। यह बहुत ठंडा देश है। जाड़े के तीन महीनों में यह बंदरगाह हिमभंजक द्वारा ही जहाजों के लिये खुला रहता है। यहाँ से चीनी, चाय, सोयाबीन, नमक, पेट्रोलियम और इमारती लकड़ी का व्यापार होता है। यहाँ अनेक कल कारखाने, जहाज निर्माण, वस्त्रनिर्माण, मछली पकड़ने और उन्हें डिब्बे में भरने, आटा पीसने, ताँबे और जस्ते के शोधन, धातुकर्म और रसायनक के कारखाने हैं। यहाँ हवाई अड्डा और रेडियो स्टेशन भी है। यहाँ के निवासी, रूसी के अतिरिक्त, कोरी-याई और चीनी भी हैं। १९१८ ई० से १९२२ ई० तक यह जापान के अधिकार में था। [रा० स० ल०]

ह्विस्लर (Whistler) **जेम्स एबट मेकनील** (१८३४-१९०३) अमरीकी चित्रकार। उसका पिता मेजर जार्ज वाशिंगटन ह्विस्लर अमरीकी सेना का अफसर था। सेवानिवृत्ति के पश्चात् उसे रेलवे इंजिनियर के रूप में काम जाना पड़ा। फलत: जेम्स ने युवावस्था में ही फ्रांसीसी भाषा सीखी। पिता की मृत्यु के बाद जेम्स ने कुछ साल सैनिक विद्यालय में शिक्षा पाई। फिर वह पेरिस चला गया और वहाँ उसने चित्रकला का अध्ययन शुरू किया।

जेम्स ह्विस्लर के चित्रों पर इन दिनों में वेलास क्वेज नामक

स्पेन के सत्रहवीं सदी के महान् चित्रकार का असाधारण प्रभाव रहा। साथ ही साथ जापानी और चीनी कलावस्तुओं का रंग-रेखा-संबंधी सामंजस्य भी उसको मुग्ध किया करता था। होकुसाई हिरोशिग की काष्ठ खुदाई के छापे यूरोपीय कलागोष्ठियों में अति मूल्यवान् माने जा रहे थे। इन सब कामों का यथेष्ट प्रभाव उसके चित्रों में दिखाई देने लगा।

ह्विस्लर मार्मिक टीकाकार भी था। उसका (Nocturn -- blue and gold-old Battersea Bridge) "निशा – नील – सुनहला – पुराना बैटरसी पुल" यह चित्र लंदन की प्रदर्शनी में जब दिखाया गया, तो रस्किन ने, जो उन दिनों का एक विख्यात कला-समीक्षक था, उसके काम की निंदा करते हुए कहा -"जनता के मुँह पर रंगों के डिब्बों को दे मारना, यह सच्चे चित्रकार का काम नहीं। यह तो जनता की सदभिरुचि का जान बूझकर अपमान करना है। और इस हीन कार्य के लिये इतना दाम माँगना नीचता की पराकाष्ठा है।" इसपर अदालत में मामला चला और रस्किन को एक फार्दिंग (लगभग एक पैसा) जुर्माना हुआ। ह्विस्लर ने अपने उद्गार "जेंटल आर्ट ऑव् मेकिंग एनीमीज" (शत्रु बनाने की शिष्ट कला) में प्रकट किए।

ह्विस्लर लंदन और पेरिस में दोनों जगह अंत तक काम करता रहा। उसने अनेक etchings निरेखण चित्र प्रस्तुत किए। (यह माध्यम रेंब्रां और गोया के बाद लुप्तप्राय हो चुका था) उसके बहुत से ऐसे चित्र कलासंग्राहकों में अत्यंत प्रिय हो गए। उसके चित्रों में पौर्वात्य कला का मंडन तत्व (डेकोरेटिव क्वालिटी) और पाश्चात्य कला की रूपवास्तवता भी है। उसकी सारी आयु और ताकत वाद विवाद, तर्क वितर्क, झगड़ों, कलाविषयक गोष्ठियों के गठन, और कानूनी मामलों में इतस्ततः बिखर गई थी। फिर भी अंत में उसका काम यूरोप के अच्छे संग्रहालयों में स्थान पा सका और गौरवान्वित हुआ। [वि० कौ०]

शंकरदेव असमी के अत्यंत प्रसिद्ध कवि; जन्म नवगाँव जिले में बरदोवा के समीप अलिपुखुरी में हुआ। इनकी जन्मतिथि अब भी विवादास्पद है, यद्यपि प्रायः यह ११७१ शक मानी जाती है। जन्म के कुछ दिन पश्चात् इनकी माता सत्यसंध्या का निधन हो गया। २१ वर्ष की उम्र में सूर्यवती के साथ इनका विवाह हुआ। मनु कन्या के जन्म के पश्चात् सूर्यवती परलोकगामिनी हुई।

शंकरदेव ने ३२ वर्ष की उम्र में विरक्त होकर प्रथम तीर्थयात्रा प्रारंभ की और उत्तर भारत के समस्त तीर्थों का दर्शन किया। रूप और सनातन गोस्वामी से भी शंकर का साक्षात्कार हुआ था। तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात् शंकरदेव ने ५४ वर्ष की उम्र में कालिंदी से विवाह किया। तिरहुतिया ब्राह्मण जगदीश मिश्र ने बरदोवा जाकर शंकरदेव को भागवत सुनाई तथा यह ग्रंथ उन्हें भेंट किया। शंकरदेव ने जगदीश मिश्र के स्वागतार्थ 'महानाट' के अभिनय का आयोजन किया। इसके पूर्व 'चिह्नयात्रा' की प्रशंसा हो चुकी थी। शंकरदेव ने १४३८ शक में भुइयाँ राज्य का त्याग कर अहोम राज्य में प्रवेश किया। कर्मकांडी विप्रों ने शंकरदेव के भक्ति-प्रचार का घोर विरोध किया। दिहिंगिया राजा से ब्राह्मणों ने प्रार्थना की कि शंकर वेदविरुद्ध मत का प्रचार कर रहा है। कतिपय प्रश्नोत्तर के पश्चात् राजा ने इन्हें निर्दोष घोषित किया। हाथी-धरा कांड के पश्चात् शंकरदेव ने अहोम राज्य को भी छोड़ दिया। पाटबाउसी में १८ वर्ष निवास करके इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। ९७ वर्ष की अवस्था में इन्होंने दूसरी बार तीर्थयात्रा प्रारंभ की। उन्होंने कबीर के मठ का दर्शन किया तथा अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस यात्रा के पश्चात् वे बरपेटा वापस चले आए। कोच राजा नरनारायण ने शंकरदेव को आमंत्रित किया। कूचबिहार में १४९० शक में वे बैकुंठगामी हुए।

शंकरदेव के वैष्णव संप्रदाय का मत एक शरण है। इस धर्म में मूर्तिपूजा की प्रधानता नहीं है। धार्मिक उत्सवों के समय केवल एक पवित्र ग्रंथ चौकी पर रख दिया जाता है, इसे ही नैवेद्य तथा भक्ति निवेदित की जाती है। इस संप्रदाय में दीक्षा की व्यवस्था नहीं है।

मार्कंडेयपुराण के आधार पर शंकरदेव ने ६१५ छंदों का हरिश्चंद्र उपाख्यान लिखा। 'भक्तिप्रदीप' में भक्तिपरक ३०८ छंद हैं। इसकी रचना का आधार गरुड़पुराण है। हरिवंश तथा भागवत-पुराण की मिश्रित कथा के सहारे इन्होंने रुक्मिणीहरण काव्य की रचना की। शंकरकृत कीर्तनघोषा में ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण तथा भागवतपुराण के विविध प्रसंगों का वर्णन है। वामनपुराण तथा भागवत के प्रसंगों द्वारा 'अनादिपतन' की रचना हुई। अजामिलोपाख्यान ४२६ छंदों की रचना है। 'अमृतमंथन' तथा बलिछलन का निर्माण अष्टम स्कंध की दो कथाओं से हुआ है। 'आदिदशम' कवि की अत्यंत लोकप्रिय रचना है जिसमें कृष्ण की बाललीला के विविध प्रसंग चित्रित हुए हैं। 'कुरुक्षेत्र' तथा 'निमिनवसिद्धसंवाद' और 'गुणमाला' उनकी अन्य रचनाएँ हैं। उत्तरकांड रामायण का छंदोबद्ध अनुवाद उन्होंने किया। विप्र-पत्नीप्रसाद, कालियदमनयात्रा, केलिगोपाल, रुक्मिणीहरण नाटक, पारिजात हरण, रामविजय आदि नाटकों का निर्माण शंकरदेव ने किया। असमिया वैष्णवों के पवित्र ग्रंथ 'भक्तिरत्नाकर' की रचना इन्होंने संस्कृत में की। इसमें संप्रदाय के धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण हुआ है।

सं० ग्रं० — पूर्वीराम महंत : गुरुचरित्; भूषण द्विज : गुरु० चरित्; दैत्यारि : गुरुचरित्; रामानंद : गुरुचरित्; सं० उपेंद्रचंद्र लेखारु : कथागुरुचरित्; लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ : श्री शंकरदेव; महेश्वर नेओग : । श्री शंकरदेव : १८१३ शक [ला० शु०]

शंकु, या नोमन (Gnomon), दिन में समय ज्ञात करने का सरल प्राचीन उपकरण था। इसमें मुख्यतः फर्श, या किसी क्षैतिज समतल, पर एक खड़ा छड़ होता था, जिसकी छाया की स्थिति दिन का समय बताती थी। २,००० ई० पू० में ही बैबिलोनिया में इसका प्रयोग होता था और हेरोडोटस (Herodotus) के अनुसार अनैक्सिमैंडर (Anaximander) ने लगभग ६०० ई० पू० यूनान में इसका प्रचार किया। खड़े छड़ की छाया की लंबाई, दिशा तथा छाया के अग्र द्वारा अनुरेखित रेखा से रविमार्ग की

निर्णय, अयनांत की तिथि (अतः सौर वर्ष) और याम्योत्तर का पता लगाना संभव होता था

कभी कभी शंकु का बड़ा छड़ किसी गोलार्ध के अवतल पृष्ठ के केंद्र में बिठाया जाता है। एक रूपांतरण में, यह एक ऊँचा गुंबद था, जिसके ऊपरी भाग में छेद बना था, जिससे होकर सूर्य का प्रकाश फर्श पर बिंदु के रूप में पड़ता था। रोम की प्राचीन काल की कुछ धूपघड़ियों में, जिन्हें अर्धचक्र (hemicycle) कहते थे, यह एक क्षैतिज शलाका (style) के रूप में था, जो पट्ट (dial) के सर्वोच्च वक्र कोर के केंद्र पर आबद्ध होता था। पार्थिव अक्ष के समांतर आबद्ध धूपघड़ी की तिरछी शलाका को भी शंकु कहते हैं। [रा० मु०]

शंकुक भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याता। इनकी व्याख्या प्राप्त नहीं है पर अभिनवभारती में उसका उल्लेख है। भरत के रससूत्र की इन्होंने जो व्याख्या की है वह 'अनुमितिवाद' नाम से प्रसिद्ध है। भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद का तथा सहृदयों में रसानुभव न माननेवाले सिद्धांत का इन्होंने सर्वप्रथम खंडन किया है। ये नैयायिक थे। इन्होंने विभाव आदि साधनों और रसरूप साध्य में अनुमाप्य-अनुमापक भाव की कल्पना की है और रस का आस्वाद अनुमान द्वारा अनुमेय या अनुमितिगम्य बताया है। इन्होंने रस की स्थिति सहृदयों या सामाजिकों में मानी है। 'चित्रतुरगादि न्याय' की इनकी विवेचना के अनुसार नट सच्चे राम नहीं हैं, वे चित्र में लिखे अश्व की तरह हैं। जैसे अश्व के चित्र को देखकर उसका अनुभव होता है, वैसे ही नट के अभिनयात्मक रूप को देखकर सहृदयों को अनुभव होता है। इस प्रकार शंकुक ने रस की स्थिति सहृदयों या सामाजिकों में मानी है। राजतरंगिणी के उल्लेख के अनुसार शंकुक कश्मीरी विद्वान् थे और अजितापीड़ के शासनकाल में विद्यमान थे। इन्होंने 'भुवनाभ्युदय' नामक महाकाव्य में मम्म और उत्पल के भयंकर युद्ध का वर्णन किया है जिसमें मारे गए वीरों के शव से वितस्ता नदी का प्रवाह रुक गया था। राजतरंगिणीकार ने इन्हें 'कवि बुधमनः सिंधुशशांकः' कहा है। शंकुक का समय ई० ८५० के लगभग मान्य है।

शार्ङ्गधरपद्धति तथा जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में शंकुक को मयूर का पुत्र कहा गया है। विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों मे भी एक शंकु या शंकुक नाम आया है। ये दोनों भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याता, रसनिरूपण में अनुमितिवाद के प्रतिष्ठापक एवं भुवनाभ्युदय महाकाव्य के रचयिता शंकुक से संभवतः भिन्न थे।

[वि० ना० त्रि०]

शंघाई स्थिति : ३१° २०' उ० अ० एवं १२१° ३०' पू० दे०। यह चीन का बड़ा नगर और बंदरगाह है, जो यांग्त्सीक्यांग नदी के मुहाने के समीप एक ज्वारयुक्त कटान पर टाईहू झील से निकलनेवाली एक छोटी नदी, वांगपू पर, यांग्त्सीक्यांग के मुहाने से २२ किमी० दक्षिण की ओर, समुद्रतट से ७२ किमी० भीतर की ओर स्थित है। चीन के तट के मध्य में स्थित होने के कारण इसकी स्थिति अधिक महत्वपूर्ण है। इसका पोताश्रय कम गहरा है, जिससे बड़े बड़े जलयानों को तट से दूर लंगर डालना पड़ता है। बंदरगाह की पृष्ठभूमि उपजाऊ एवं घनी आबाद है, जिसके कारण शंघाई चीन का मुख्य रूप से व्यापारिक एवं वाणिज्य नगर बन गया है। चीन के ६७% रेशम, ५०% चाय, कपास एवं अंडों के पाउडर, चमड़े आदि का निर्यात यहीं से होता है। यहाँ से तंबाकू, तेल, आदि का आयात होता है। यहाँ रेशमी एवं सूती कपड़े, रसायनक, लोहा एवं इस्पात, साबुन, ग्रामोफोन, सीमेंट, कागज आदि के उद्योग भी हैं। इसे चीन का मैंचेस्टर भी कहते हैं। इस नगर की जनसंख्या ६९,००,००० (१९६१) है। [मु० चं० श०]

शंतनु अथवा शांतनु कहे जानेवाले कुरुवंशी राजा ने महाभारत युद्ध के चार पीढ़ियों पूर्व हस्तिनापुर में राज्य किया था। पुराणों (विष्णु, चतुर्थ, २०,८-११; भागवत०, नवम्, २२, ११-१३; मत्स्य०, ५०, ३८-४१; ब्रह्म० १३, ११४-१२१; वायु०, २३४-२३७) में उसे प्रतीप का द्वितीय पुत्र कहा गया है। उसके बड़े भाई देवापि के बचपन में ही वन चले जाने तथा कुष्ट होने के कारण ब्राह्मणों के नेतृत्व में जनता द्वारा उसके उत्तराधिकार का विरोध किए जाने के फलस्वरूप पिता ने उसका त्याग कर दिया था। फलतः शंतनु को राज्य मिला। शंतनु महाभिषक था और जिसे भी अपने हाथों से छू देता था, उसके सभी शारीरिक रोग दूर हो जाते तथा उसे प्रत्येक प्रकार की शांति मिल जाती थी। इसी स्पर्शगुण (शं + तनु) के कारण उसका नाम शंतनु पड़ा। उसके समय में कौरवों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। गंगा नामक उसकी पहली रानी से देवव्रत भीष्म पैदा हुए। उसने दूसरा विवाह एक नीच जाति की पुत्री (दासेयी) सत्यवती से किया, जिससे उसके बाद क्रमशः राज्याधिकारी होनेवाले चित्रांगद और विचित्रवीर्य नामक पुत्र हुए।

सं० ग्रं० — पार्जीटर : ऐंशेंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशंस, पृष्ठ ६६, १६५-६ और २५२; पुसालकर और मजुमदार (संपादित) वैदिक एज, पृष्ठ २९५। [वि० पा०]

शंबर (१) विख्यात वैदिक तथा पौराणिक असुर : वैदिक शंबर पर्वतनिवासी दास था जिसने 'वृत्र' की तरह आकाश में नब्बे, निन्यानबे या सौ दुर्गों का निर्माण किया था (ऋ०, २.१४, १६)। अपने को देवता मान लेने पर इंद्र ने मरुतों और अश्विनियों की सहायता से तथा दिवोदास के अनुरोध पर इसका वध कर दिया एवं समस्त दुर्ग नष्ट कर डाले।

पुराणेतिहास ग्रंथों में यह कश्यप और दनु के पुत्रों में से एक था और दानव होते हुए भी परम ज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ था। वृत्रासुर से हुए युद्ध में इस देवपीड़क असुर का वध भी इंद्र के हाथों हुआ।

(२) कश्यप दनुपुत्र एक अन्य दानव जो कंस का अनुगामी था। कृष्णपुत्र प्रद्युम्न के हाथों मारे जाने की आकाशवाणी सुनकर इसने उनको मारना चाहा। अंत में यह प्रद्युम्न के हाथों मारा गया (महा० अनु०, १४-२८)।

(३) इस नाम के अन्य अनेक दानवों में हिरण्याक्ष का पुत्र, त्रिपुर नगरी का बलि पक्षीय असुर योद्धा आदि उल्लेखनीय हैं।

[चं० भा० पां०]

शंबुक, शंबूक पौराणिक कथा के अनुसार एक शूद्र जिसने देवत्व एवं स्वर्गप्राप्ति के लिये विंध्याचल के अंगभूत शैवल नामक पर्वत पर घोर तप किया था। किंतु शूद्रधर्म त्याग कर तप करने से एक ब्राह्मणपुत्र की असामयिक मृत्यु हो गई। अतः रामचंद्र ने उसका वध किया; तब ब्राह्मणपुत्र जीवित हो गया। (वा० रा०, उ०, ७५; महा० शां० १४९-६२)। [च० भा० पां०]

शत्रुंजय (क) सौवीर देश का राजकुमार था। महाभारत के युद्ध में यह जयद्रथ के रथ के पीछे पीछे हाथ मे पताका लेकर चलता था। द्रौपदीहरण के समय पार्थ ने इसका वध कर डाला था।

(ख) धृतराष्ट्र के पुत्रों में से था जिसपर दुर्योधन ने भीष्म की रक्षा का भार सौंपा था। युद्ध में भीमसेन ने इसका वध किया।

[चं० भा० पा०]

शकटार महानंद के दो मंत्री थे, एक शकटार शूद्र और दूसरा राक्षस ब्राह्मण। एक बार महानंद ने क्रुद्ध होकर शकटार का बंदीगृह मे डाल दिया। वह केवल दो सेर सत्तू उसके परिवार को देता जिससे एक एक करके उसके परिवार के सब लोग मर गए। शकटार अकेला रह गया। महानंद ने उसे राक्षस के नीचे मंत्री बना दिया। शकटार कैसे भी हो महानंद से बैर का बदला लेना चाहता था। ढूंढ़ते ढूंढ़ते उसे एक ब्राह्मण मिला जो कुश से पाँव कट जाने के कारण कुश की जड़ में मट्ठा डालकर उसे नष्ट कर रहा था। शकटार इस ब्राह्मण को महानंद के महल में ले गया और वहाँ उसे श्राद्ध के आसन पर बैठा दिया। राजा ने उसे बाल पकड़वाकर वहाँ से निकलवा दिया। आगे चलकर यही ब्राह्मण कूटनीतिज्ञ विष्णुगुप्त चाणक्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। शकटार ने चाणक्य द्वारा महानंद और उसके पुत्रों की हत्या कराकर अपने बैर का बदला लिया। उसके बाद वह अपने पापों से संतप्त हो वन में चला गया और अनशन करके मर गया।

जैन परंपरा के अनुसार कल्पक वंश में उत्पन्न शकटार नवें नंद राजा का मंत्री था। उसके दो पुत्र थे, एक स्थूलभद्र और दूसरा श्रियक। नंद राजा की सभा में वररुचि नाम का एक ब्राह्मण रहता था जो शकटार से द्वेष रखता था। उसने राजा से झूठी चुगली लगाकर शकटार के पुत्र श्रियक के हाथ से उसे मरवा दिया। तत्पश्चात् श्रियक को मंत्री का पद दिया गया, और स्थूलभद्र ने जैन दीक्षा ले ली। आगे जाकर यही स्थूलभद्र जैन आगम के उद्धारक प्रसिद्ध जैन आचार्य हुए। [ज० चं० जै०]

शकरकंद (Ipomoca batatus) कॉन्वॉल्वुलेसी (Convolvulacrae) कुल का एकवर्षी पौधा है, पर यह अनुकूल परिस्थिति मे बहुवर्षी सा व्यवहार कर सकता है। यह उष्ण अमरीका का देशज है। अमरीका से फिलिपीन होते हुए, यह चीन, जापान, मलयेशिया और भारत आया, जहाँ व्यापक रूप से तथा सभी अन्य उष्ण प्रदेशों मे इसकी खेती होती है। यह ऊर्जा उत्पादक आहार है। इसमें अनेक विटामिन रहते हैं, विटामिन 'ए' और 'सी' की मात्रा सर्वाधिक है। इसमे आलु की अपेक्षा अधिक स्टार्च रहता है। यह उबालकर, या आग में पकाकर, खाया जाता है। कच्चा भी खाया जा सकता है। सूखे में यह खाद्यान्न का स्थान ले सकता है। इससे स्टार्च और ऐल्कोहॉल भी तैयार होता है। बिहार और उत्तर प्रदेश में विशेष रूप से इसकी खेती होती है। फलाहारियों का यह बहुमूल्य आहार है। इसका पौधा गरमी सहन कर सकता है, पर तुषार से शीघ्र मर जाता है।

शकरकंद सुखुली तथा अच्छी जोती हुई भूमि में अच्छा उपजता है। इसके लिये मिट्टी बलुई से बलुई दुमट तथा कम पोषक तत्ववाली अच्छी होती है। भारी और बहुत समृद्ध मिट्टी में इसकी उपज कम और जड़ें निम्नगुणीय होती हैं। शकरकंद की उपज के लिये भूमि की अम्लता विशेष बाधक नहीं है। यह पीएच ५.० से ६.८ तक मे पनप सकता है। इसकी उपज के लिये प्रति एकड़ लगभग ५० पाउंड नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है। फ़ॉस्फ़ेट और पोटैश उर्वरक लाभप्रद होते है। पौधा बेल के रूप में उगता है। पौधों में कदाचित ही फूल और बीज लगते हैं।

शकरकंद का रोपण आषाढ़-सावन महीने मे कलम द्वारा होता है। कलमें पिछले मौसम मे बोई गई फसलों से प्राप्त की जाती हैं। ये लगभग १ फुट से १½ फुट लंबी होती है। इनको २ से ३ फुट की दूरी पर मेड़ों पर रोपना चाहिए। हलकी बौछार के बाद रोपण करना अच्छा होता है। रोपण की साधारणतया तीन रीतियाँ प्रचलित हैं :

१. लगभग एक फुट लंबी कलमें, मेड़ों पर एक से डेढ़ फुट की दूरी पर, ५ से ६ इंच गहरी तथा ६०° का कोण बनाते हुए, दबा दी जाती हैं।

२. कलमें मेड़ों के ऊपर एक कतार मे लिटा दी जाती है। फिर दोनों सिरों पर लगभग ४ इंच खुला छोड़कर, बाकी हिस्सा मिट्टी से ढँक दिया जाता है।

३. कलमें उपर्युक्त रीति से ही रोपित की जाती है, किंतु वे मेड़ों पर न होकर उसकी दोनों ढाल पर होती हैं। यह रीति अन्य दो रीतियों से अधिक उपज देती है।

बरसात मे बेल को सींचा नहीं जाता, पर बरसात के बाद हलकी भूमि को तीन या चार बार सींचा जाता है। जब तक भूमि बेलों से पूरी ढँक नहीं जाती, तब तक हलकी जुताई या अन्य रीतियों से खेत को खर पतवार से साफ रखना चाहिए। साधारणतया दो बार मिट्टी चढ़ाई जाती है। बेलों की छँटाई निश्चित रूप से हानिकारक है। चार से पाँच मास में फसल तैयार हो जाती है, फिर भी कंद को बड़े हो जाने पर खोदा जाता है। परिपक्व हो जाने पर ही उपज अधिक होती है और शकरकंद अच्छे गुण का होता है। शकरकंद के परिपक्व हो जाने पर, उसका ऊपरी भाग हवा में जल्द सूख जाता है।

शकरकंद की तीन जातियाँ, पीली, श्वेत और लाल, ही साधारणतया उगाई जाती हैं। पीली जाति के गूदे में पानी का अंश कम रहता है और विटामिन 'ए' की मात्रा अधिक रहती है। श्वेत जातियों में जल की मात्रा अधिक रहती है। लाल जातियाँ साधारणतया खुरखुरी होती है, पर भूमि के दृष्टिकोण से अन्य जातियों से अधिक शक्तिशाली या सहनशील होती हैं। कुछ नई लाल जातियाँ

भी अनुसंधान द्वारा विकसित की गई हैं। एक अमरीकी जाति इंडियन ऐग्रिकल्चरल रिसर्च इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली, से प्राप्त हो सकती है। औसत उपज १२०-१५० मन प्रति एकड़ है।

[य० रा० मे०]

शकुंतला मेनका से उत्पन्न विश्वामित्र की कन्या जिसे कण्व ने वन में पाया था। कण्व ने इसे पाला पोसा और आश्रम में अपनी कन्या की भाँति रखा जिससे यह प्रायः उन्हीं की पुत्री समझी जाती है। दुष्यंत एवं शकुंतला की प्रेमकथा कालिदास के प्रसिद्ध नाटक में लिखी गई है। शकुंतला के ही पुत्र भरत के नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। कालिदास के नाटक 'शकुंतला' का अनुवाद अंग्रेजी में आज से १०० वर्ष पूर्व हुआ। फिर तो इसके अनुवाद सभी यूरोपीय भाषाओं में प्रकाशित हुए और अनेक देशों में इसका सफल अभिनय भी किया गया। [रा० द्वि०]

शकुनि नामक अनेक राजा अथवा राजकुमार प्राचीन भारतीय अनुश्रुति से ज्ञात होते हैं। १. ऐक्ष्वाकु वंशी विकुक्षि के १५ पुत्रों मे एक का नाम शकुनि था। २. मार्कंडेयपुराण के अनुसार दुःसह नामक राजा का भी शकुनि नामक एक पुत्र था। ३. विदेहराज्य के सस्थापक निमि का भी इस नाम का एक वंशज था। उसके अनेक नामरूप — यथा शकुनि, सकुनि, अथवा सकुलि मिलते हैं। ४. एक अन्य शुकुनि था चंद्रवंशी राजा दशरथ का पुत्र और यदुपुत्र क्रोष्टु का वंशज। उसकी स्थिति त्रेता युग में रखनी होगी। उसी के वंश मे आगे चलकर मधु, भीम, अंधक, कुकुर, वृष्णि, उग्रसेन और कंस नामक राजा हुए। ५. पाँचवाँ शकुनि हुआ महाभारतकालीन दुर्योधनादि कौरवों का मामा; अनुश्रुति से वही सर्वाधिक ज्ञात और प्रसिद्ध है। अपने पिता सुबल के नाम से वह सौबल भी कहलाया। वह गांधार देश का राजा तथा गांधारी का भाई था। दुर्योधन के मंत्री के रूप में उसने पांडवों से कपटयुद्ध छेड़ा था तथा उन्हें जुआ खेलने के लिये आमंत्रित कर उनके वनवास आदि का प्रेरक बना। इस प्रकार महाभारत युद्ध के कारणों मे उसकी नीति भी उत्तरदायी थी। पांडवों ने जैसे कृष्ण पर भरोसा किया वैसे ही कौरवों ने शकुनि पर। उसकी कूटनीतिक बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण थी। अंत मे वह सहदेव के हाथों पुत्र सहित मारा गया (महाभारत, सभा और शल्य पर्व)। [वि० पा०]

शक्ति और शक्तिसंचरण (Power and Power Transmission) शक्ति शब्द का प्रयोग मानवनियंत्रित ऊर्जा को जो यांत्रिक कार्य करने के लिये प्राप्य हो, सूचित करने के लिये किया जाता है। शक्ति के मुख्य स्रोत (source) हैं : मनुष्यों एवं जानवरों की पेशीय ऊर्जा (muscular energy), सरिता एवं वायु की गतिज ऊर्जा, उच्च सतहों पर स्थित जलाशय की स्थितिज (potential) ऊर्जा, लहरों एवं ज्वारभाटा की ऊर्जा, पृथ्वी एवं सूर्य की ऊष्मा ऊर्जा, ईंधन को जलाने से प्राप्त ऊष्मा ऊर्जा आदि। पालतू जानवरों की शक्ति का उपयोग मानवीय सभ्यता का प्रथम कदम था। बाद में क्रमशः विभिन्न प्रकार की शक्तियों को उपयोग में लाने के लिये प्रयास किए जाते रहे। अभी भी अधिक से अधिक शक्तियों को नियंत्रित करने में वैज्ञानिक व्यस्त हैं एवं प्रयत्न जारी है।

ऊपर लिखे गए शक्तिस्रोतों में वायु, लहर, एवं सूर्य द्वारा प्राप्त शक्तियाँ आंतरायिक (intermittent) होती हैं और यही इन सब का सबसे बड़ा अवगुण है, क्योंकि शक्ति की माँग यदि संतत (continuous) हो, तो इस प्रकार की शक्तियों को उपयोग में लाने के लिये इनके संग्रह की व्यवस्था करनी होगी। शक्ति संयंत्र (plant) के आकार एवं कीमत को ध्यान में रखते हुए, बड़े पैमाने (large scale) पर शक्तिजनन की अवस्था में वायु, लहर तथा सूर्य द्वारा प्राप्त शक्ति का उपयोग लाभप्रद नहीं होता है। कुछ स्थानों में बड़े पैमाने पर शक्तिजनन के लिये ज्वारभाटा की शक्ति का उपयोग किया जा सकता है, किंतु इस प्रकार के संयंत्र के निर्माण में व्यय अत्यधिक होता है।

वैज्ञानिकों द्वारा 'शक्ति' शब्द का प्रयोग ऊर्जासंचरण की दर के लिये किया जाता है। सामान्य व्यवहार में शक्ति की ईकाई अश्वशक्ति है। फुट-पाउंड-सेकंड प्रणाली में एक अश्वशक्ति का अर्थ होता है, ५५० फुट-पाउंड-प्रति सेकंड की दर से संचरण, एवं मीट्रिक प्रणाली में एक मीट्रिक अश्वशक्ति का अर्थ होता है, ७५ किलोग्राम मीटर प्रति सेकंड की दर से संचरण।

ऊर्जा के प्राकृतिक स्रोतों को उपयोग मे लाने के लिये अधिष्ठापन (installation) द्वारा संबंधित उपकरण तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते है : (१) मूल चालक, जिसकी सहायता से प्राकृतिक ऊर्जा यांत्रिक ऊर्जा में परिवर्तित होती है। इस प्रकार के वर्ग में भाप इंजन, भाप टरबाइन, जल टरबाइन, गैस टरबाइन, गैस इंजन, तेल इंजन आदि आते हैं, (२) किसी भी प्रकार का यंत्र, जो मूल चालक द्वारा प्राप्त ऊर्जा से चलाया जाता हो। वस्तुतः इस वर्ग में वे सभी प्रकार के यंत्र, जैसे सभी मशीन औजार (machine tools), पंप (pump) यंत्र, लिफ्ट (lift), क्रेन (crane) आदि आते हैं, जिन्हें चलाने के लिये अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता होती है तथा (३) वे उपकरण, जिनकी सहायता से मूल चालक द्वारा प्राप्त ऊर्जा यंत्रो को प्रेषित की जाती है।

प्रायः मूल चालक उन स्थानों में, जहाँ ऊर्जा के प्राकृतिक स्रोत प्रचुर मात्रा में प्राप्य हों, स्थापित किया जाता है, जैसे जलप्रपात के निकट या कोयले की खानों के क्षेत्र में। जलप्रपात या प्राकृतिक जल के स्रोत, जैसे नदी, झील आदि के निकट द्रवचालित (hydraulic) शक्ति संयंत्र की, जिसमें जल की ऊर्जा जल टरबाइन द्वारा यांत्रिक ऊर्जा में परिवर्तित की जाती है, स्थापना की जाती है। दामोदर घाटी योजना के अंतर्गत इस प्रकार के संयंत्र की स्थापना, बिहार राज्य के धनबाद जिले मे माइथान एवं पंचेत, और हजारीबाग जिला में तिलैया नामक स्थानों पर की गई है। इस प्रकार के संयंत्र भारत में विभिन्न स्थानों पर स्थापित किए गए हैं, जैसे भाखरा नंगल, हीराकुड, तुंगभद्रा, रिहंद आदि। कोयले की खानवाले क्षेत्रों में कोयले द्वारा प्राप्त ऊष्मा ऊर्जा को, ऊष्मीय शक्तिसंयंत्र में भाप टरबाइन, या भाप इंजन द्वारा यांत्रिक ऊर्जा में परिवर्तित किया जाता है। इसके लिये कोयले को जलाकर

बाष्पित्र (boiler) में भाप तैयार की जाती है और इस भाप का उपयोग मूल चालक, जैसे भाप टरबाइन या भाप इंजन को चलाने के लिये किया जाता है। इस तरह के ऊष्मीय शक्तिसंयंत्र बोकारो (बिहार राज्य) एवं दुर्गापुर (पश्चिम बंगाल) में हैं। उपर्युक्त प्रकार के द्रवचालित एवं ऊष्मीय शक्तिसंयंत्र द्वारा प्राप्त ऊर्जा विपुल परिमाण में बहुत दूरी पर स्थित कल कारखानों आदि में संचारित की जाती है। इस तरह के शक्तिसंचरण की अवस्था में शक्तिवितरण के तरीके एवं उपकरण अधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि मूल चालक से उन स्थानों की दूरी, जहाँ यंत्रों द्वारा ऊर्जा का उपयोग होता है, वितरण की दक्षता पर निर्भर करती है।

कुछ कारखानों में मूल चालक द्वारा प्राप्त ऊर्जा निकटवर्ती यंत्रों में ही संचारित की जाती है। इस अवस्था में तेल द्वारा चालित मूल चालक, जैसे तेल इंजन, का प्रयोग अधिक होता है। इसमें संचरणयंत्र का अधिक महत्व रहता है, क्योंकि संचरण की दक्षता पूरे संयंत्र की दक्षता को प्रभावित करती है। कभी कभी मूल चालक को यंत्र से इस तरह जोड़ दिया जाता है कि संचरण उपकरण सुगमतापूर्वक मूल चालक, या यंत्र से अलग नहीं किया जा सकता। इस वर्ग में रेल इंजन आदि आते हैं।

शक्तिसंचरण के विभिन्न तरीके हैं : (१) यांत्रिक तरीके, (२) द्रवचालित तरीके, (३) वैद्युत तरीके तथा (४) वाति प्रणाली।

शक्तिसंचरण के यांत्रिक तरीके — शक्ति का यांत्रिक संचरण पट्टे (belt) या रज्जु (rope) की सहायता से शैफ्ट (shaft) द्वारा, अथवा यंत्रिचक्र (wheel gearing) और जंजीर (chain) की सहायता से होता है। परिस्थिति के अनुसार शक्ति को संचारित करने के लिये ये तरीके अलग अलग, या एक दूसरे के साथ, व्यवहृत किए जाते हैं। मूल चालक के अनुसार शक्तिसंचरण के यांत्रिक उपकरणों का अभिकल्प एवं निर्माण किया जाता है।

मूल चालक के गतिपालक चक्र (flywheel) पर लगे हुए पट्टे द्वारा, शक्ति को रेखा शैफ्ट (line shaft) में संचारित किया जाता है। रेखा शैफ्ट पर अभिकल्प के अनुसार घिरनियाँ (pulleys) लगी रहती हैं। उन घिरनियों पर लगे हुए पट्टे द्वारा शक्ति को रेखाशैफ्ट से विभिन्न यंत्रों में संचारित किया जाता है। इस प्रकार की प्रणाली में सबसे बड़ा अवगुण यह है कि किसी भी कारणवश रेखाशैफ्ट का चलना बंद होते ही सभी यंत्र, जिन्हें रेखाशैफ्ट से शक्ति संचरित की जाती है, बेकार हो जाते हैं।

इस प्रकार के शक्तिसंचरण का मात्रात्मक विश्लेषण करने के लिये इंजन के क्रैंक शैफ्ट को संचरण का प्रारंभ बिंदु एवं यंत्र के प्रथम गतिमान शैफ्ट को संचरण का अंतिम बिंदु मान लिया जाता है। यह अनुमान विशिष्ट यंत्र के लिये उपयुक्त है। मान लिया कि इंजन की गति N परिक्रमण (revolutions) प्रति मिनट है। इस गति पर चलते हुए इंजन क्रैंकशैफ्ट पर लगातार बल आघूर्ण (torque) डालता रहता है। मान लिया कि बल आघूर्ण की मात्रा T किलोग्राम प्रति मीटर है। इस अवस्था में इंजन की कोणीय (angular) गति ω, का मूल्य होगा $2\pi N/60$। यहाँ ω की इकाई रेडियन प्रति सेकंड है। अत: इंजन क्रैंक शैफ्ट द्वारा किए गए कार्य की दर $T\omega$ किलोग्राम प्रति मीटर प्रति सेकंड है, अर्थात् क्रैंक शैफ्ट द्वारा $T\omega/75$ मैट्रिक अश्वशक्ति प्राप्त होती है। सुविधा के लिये मान लिया, क्रैंक शैफ्ट से प्राप्त संपूर्ण शक्ति एक ही यंत्र को संचरित होती है। मान लिया, उस यंत्र पर डाला जानेवाला बल आघूर्ण T_1 किलोग्राम प्रति मीटर है और ω_1 रेडियन प्रति सेकंड यंत्र की कोणीय गति है, तब उस यंत्र द्वारा प्राप्त ऊर्जा की दर होगी $T_1\omega_1$ किलोग्राम मीटर प्रति सेकंड। घर्षण एवं अन्य अवरोधों को अभिभूत (overcome) करने के लिये ऊर्जा का कुछ अंश संचरणयंत्र द्वारा अवशोषित (absorbed) होता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो यंत्र द्वारा ऊर्जा अवशोषण की दर मूल चालक द्वारा उत्पन्न ऊर्जा की दर के समतुल्य होगी। किंतु व्यवहार में ऐसा नहीं होता है, इसलिये वास्तव में $T_1\omega_1$ का मूल्य $T\omega$ के मूल्य से अवश्य कम होगा। यदि संचरण की दक्षता η हो तो $T_1\,\omega_1 = \eta\,(T\,\omega)$ होगा।

अब हम संचरण के विभिन्न अंगों का अध्ययन करेंगे :

शैफ्ट — जब एक शैफ्ट मूल चालक से किसी यंत्र को शक्ति संचरित करता है, तो इसके प्रत्येक अनुभाग (section) को बलआघूर्ण का सामना करना पड़ता है। यदि बलआघूर्ण की मात्रा T किलोग्राम प्रति मीटर हो तथा शैफ्ट ω रेडियन प्रति सेकंड के कोणीय गति से घूम रहा हो, तो संचरण की दर $T\,\omega$ किलोग्राम मीटर प्रति सेकंड होगी। शैफ्ट का डिजाइन बनाते समय, उसके आकार एवं परिमाण का पता लगाना होता है। इस संबंध में यह ध्यान दिया जाता है कि बलआघूर्ण द्वारा उत्पन्न प्रतिबल एक विशिष्ट सीमा के अंदर ही रहे। शैफ्ट का डिजाइन कभी कभी इस आधार पर भी किया जाता है कि शैफ्ट के अक्ष से लंबकोणीय स्थित दो अनुभागों के आपेक्षिक कोणीय विस्थापन (displacement) का मान एक विशिष्ट कोण से कम ही रहे। स्थिति के अनुसार डिजाइन के लिये प्रथम या द्वितीय विधि का चुनाव किया जाता है। प्रथम डिजाइन विधि में निम्नलिखित समीकरण व्यवहृत होता है :

$$D^3 = \frac{16\,T}{\pi f}$$

जहाँ D ठोस गोलाकार शैफ्ट का व्यास, T बलआघूर्ण एवं f अधिकतम अपरूपक प्रतिबल (shear stress) है।

द्वितीय विधि में व्यवहृत समीकरण निम्नलिखित है :

$$D^4 = \frac{32 l T}{\pi G \theta}$$

जहाँ l दो अनुभागों के बीच की दूरी, G दृढ़ता मापाक (modulus of rigidity) है एवं θ दोनों अनुभागों के बीच आपेक्षिक कोणीय विस्थापन है।

इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त दोनों समीकरण केवल ठोस गोलाकार शैफ्ट एवं एकसमान (uniform) बलआघूर्ण के लिये ही उपयुक्त हैं। खोखले गोलाकार शैफ्ट के लिये उपर्युक्त दो समीकरणों के स्थान पर निम्नलिखित समीकरण व्यवहार में लाए जाते हैं :

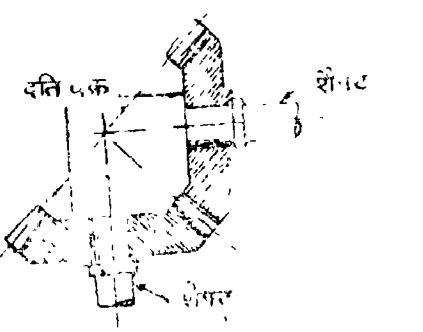
$$T = \frac{\pi f (D^4 - d^4)}{16 D} \text{ एवं } T = \frac{\pi G \theta (D^4 - d^4)}{32 l}$$

जहाँ D, d खोखले गोलाकार शैफ्ट के क्रमशः बाहर एवं अंदर के व्यास हैं।

अन्य आकारवाले शैफ्ट के लिये ऊपर बताए गए समीकरण व्यवहार में नहीं लाए जा सकते हैं। विभिन्न आकारवाले शैफ्ट के लिये विभिन्न समीकरण निर्गमित (deduced) किए जाते हैं और उनका प्रयोग डिजाइन बनाने के लिये किया जाता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, साधारणतः यह अनुमान कर लिया जाता है कि मरोड़ एक समान होगा, किंतु वस्तुतः मरोड़ का मान सर्वदा परिवर्तित होता रहता है, यह एक समान नहीं रह पाता है। परिवर्तित अवस्थाओं के लिये अपरूपक प्रतिबल का मान उसी के अनुसार चुना जाता है। इन विषमताओं के अलावा एक बात और ध्यान देने योग्य है कि किसी भी शैफ्ट को केवल मरोड़ का ही सामना नहीं करना पड़ता है, वरन् मरोड़ के साथ ही साथ बंकन आघूर्ण (bending moment) का भी सामना करना पड़ता। इस तरह वास्तव में शैफ्ट का डिजाइन बनाना उतना सरल नहीं है जितना लगता है। शैफ्ट का डिजाइन बनाते समय, इन सारी विषमताओं को ध्यान में रखना पड़ता है एवं अवस्थानुसार उसके परिमाण का मान ज्ञात करना होता है।

कभी कभी एक ही शैफ्ट से विभिन्न यंत्रों को शक्ति प्रेषित की जाती है। ऐसे यंत्रों को अलग अलग स्थानों पर स्थापित किया जाता है एवं ये सारे यंत्र शैफ्ट के विभिन्न भागों से शक्ति प्राप्त करते हैं। शक्तिसंचरण की इस अवस्था में स्वभावतः मूल चालक के निकटतम शैफ्ट के भाग को संपूर्ण शक्ति संचारित करनी होती है एवं ज्यों ज्यों अन्य यंत्र शैफ्ट के विभिन्न भागों से शक्ति प्राप्त करते जाते हैं, त्यों त्यों शैफ्ट द्वारा संचरित शक्ति कम होती जाती है। इसलिये मूल चालक के निकटतम शैफ्ट के भाग की शक्ति का परिमाण अधिकतम होगा और शैफ्ट के विभिन्न भागों की दूरी के अनुसार शक्ति का परिमाण भी कम होता जायगा।

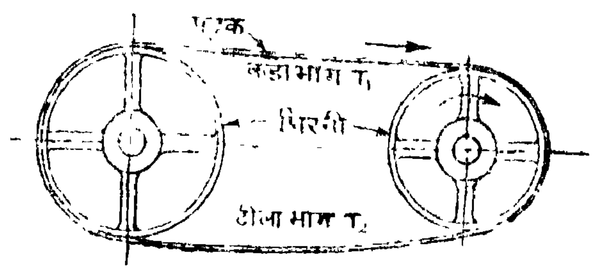
दंति या गियर चक्र — एक शैफ्ट से दूसरे शैफ्ट को शक्ति संचारण करने के लिये दंतिचक्र (चित्र १.) का व्यवहार होता है। दो शैफ्ट



चित्र १.

समांतर अवस्था में रखे जाते हैं, या एक दूसरे से कुछ कोण पर झुके रहते हैं। प्रथम अवस्थावाले चक्र स्पर गियर (spur gear) तथा दूसरी अवस्थावाले चक्र बेवेल गियर (Bevel gear) कहलाते हैं। गियर का डिजाइन बहुधा स्थिर गति अनुपात के लिये किया जाता है किंतु कभी कभी विशिष्ट यंत्रों के लिये परिवर्ती गति के अनुमान के आधार पर भी गियर का डिजाइन बनाना होता है। शैफ्ट की तरह दंतिचक्र का परिमाण भी अश्वघूर्ण पर निर्भर करता है। शक्तिसंचरण के लिये दंतिचक्र का व्यवहार इन स्थानों में किया जाता है, जैसे जहाज में स्थित, उच्चगति भाप टरबाइन से निम्न गति प्रणोदक में शक्तिसंचरित करने में तथा मोटर गाड़ी में व्यवहृत गियर बॉक्स (gear box) आदि में। दंतिचक्र का निर्माण करते समय विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि अंतराल की एक समानता अत्यधिक शुद्धता से प्राप्त हो। यदि अंतराल एक समान न हो, तो दंतिचक्रों द्वारा उच्च गति पर अत्यधिक कोलाहल होगा, जो अवांछनीय है। अतः आधुनिक प्रविधि में दंतिचक्रों को कठोर बनाकर सूक्ष्म पेषणचक्की (grinder) द्वारा यथार्थ अंतराल और आकार में पेषित किया जाता है।

पट्टा — शक्तिसंचरण में साधारणतया यह भी व्यवहार में लाया जाता है। इसके लिये दो घिरनियों पर पट्टे को चढ़ाया जाता है। जब घिरनी एक समान गति पर घूमती है, तब एक घिरनी से दूसरी घिरनी में शक्ति संचरित होती रहती है। इस अवस्था में पट्टा एक तरफ कड़ा रहता है और दूसरी तरफ ढीला, किंतु दोनों तरफ तनाव की ही स्थिति रहती है। यदि T_1 और T_2 क्रमशः पट्टे के कड़े एवं ढीले भाग का तनाव बल हो (चित्र २.), θ रेडियन में स्पर्श का चाप



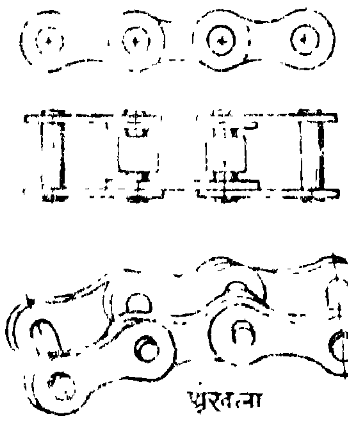
पट्टक द्वारा शक्ति संचरण

चित्र २.

और μ पट्टे एवं घिरनी का घर्षण गुणांक हो, तो $T_1/T_2 = e^{\mu\theta}$ होता है। पट्टे का डिजाइन बनाते समय इस समीकरण का सर्वप्रथम उपयोग कर, अधिकतम तनाव बल T_1 का मान ज्ञात किया जाता है। फिर दिए गए अश्वशक्ति को दी हुई गति पर प्रेषित करने के लिये पट्टे के आकार और परिमाण का डिजाइन बनाया जाता है।

शृंखला या जंजीर — शक्ति का संचरण करनेवाले यंत्रों में शृंखला का स्थान भी महत्वपूर्ण है। इसके मुख्य गुण ये हैं : (१) अत्यंत उच्च दक्षता, (२) उच्च गति की प्राप्ति, (३) उत्क्रमणीयता (reversibility), (४) विस्तृत शक्तिप्रेषण सीमा, (५) सर्पण (Slip) का कम भय तथा (६) ऊष्मा या शीत से

प्रभावित नहीं होता। विभिन्न प्रकार की शृंखलाएँ, जो व्यवहार में आती हैं, उनमें से मुख्य ये हैं : (१) वियोज्य, आघातवर्धनीय लौह



चित्र ३.

(detachable malleable iron) शृंखला — इस प्रकार की शृंखला आघातवर्धनीय लोहे की कड़ियों को जोड़कर बनाई जाती है। इसका डिजाइन इस प्रकार बनाया जाता है कि संयोजन (assembly) में सुविधा हो। इस प्रकार की शृंखला का व्यवहार अधिकतर ४०० घूर्ण प्रति मिनट एवं गति अनुपात ५ और १ की अवस्था में होता है, (२) इस्पात बेलन (roller) शृंखला — प्रथम प्रकार की शृंखला निम्नगति के योग्य है। आधुनिक युग उच्च गति का युग है। इसलिये उच्च गति पर शक्ति प्रेषित करने के लिये इस्पात की शृंखला बनाई गई। इस प्रकार की शृंखला हल्की बनावट की होती है एवं इसमें अंतराल बहुत यथार्थ रखा जाता है। इसके निर्माण में मध्यम-कार्बन-ऊष्मा-बेल्लित इस्पात का उपयोग किया जाता है। यह शृंखला ७०० घूर्ण प्रति मिनट एवं ५ गति अनुपात तक की अवस्था में व्यवहृत होती है, (३) नीरव (silent) शृंखला — शक्तिप्रेषण के लिये निर्मित शृंखलाओं में इसका स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। उच्च शक्ति को उच्च गति पर प्रेषित करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। इसकी कड़ियों का डिजाइन और निर्माण अत्यंत सावधानीपूर्वक एवं विशिष्ट विधियों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार की शृंखला का व्यवहार मुख्यत: १,२०० से १,५०० घूर्ण प्रति मिनट एवं १५ गति अनुपात के लिये किया जाता है।

रज्जु — बहुत पहले शक्तिप्रेषण के लिये रज्जु का व्यवहार भी किया जाता था। घिरनी की परिमा (rim) पर बनाए गए खाँचे (groove) पर रज्जु को लपेटकर उसके द्वारा शक्ति प्रेषित की जाती है। चूँकि रज्जु पट्टे की तुलना में कम नम्य (flexible) है, इसलिये यह ध्यान देना चाहिए कि रज्जु के व्यास की अपेक्षा कम व्यासवाली घिरनी से रज्जु द्वारा शक्ति प्रेषित की जाए। पट्टे की तुलना में रज्जु का क्रियाशील प्रतिबल बहुत ही कम होता है, किंतु तनाव बल का अनुपात अत्यधिक होता है।

आधुनिक शक्तिप्रेषण की यांत्रिक विधि — विज्ञान के कारण आधुनिक युग में अल्प शक्तिवाले मूल चालक का, जिसके निर्माण में कम खर्च की आवश्यकता होती है, निर्माण हो रहा है, किंतु इस मूल चालक की दक्षता अधिक होती है। इसके साथ ही साथ यांत्रिक शक्तिप्रेषण के यंत्रों में सुधार हो रहा है। आधुनिक यांत्रिक शक्तिप्रेषण की विधियों में ये विधियाँ प्रमुख हैं :

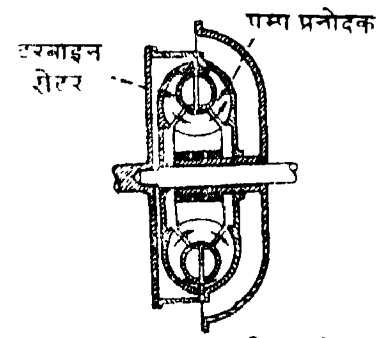
(१) प्रत्यक्ष मोटर युग्मित संबंध (Direct motor couple connection) — इसमें मोटर और शक्ति प्राप्त करने वाला शैफ्ट एक दूसरे से युग्मन (coupling) द्वारा संबंधित रहते हैं। यह युग्मन बहुधा नम्य प्रकार का होता है। इस तरह का संबंध संहत (compact) रहता है तथा इस युग्मन का उपयोग आधुनिक यंत्रों को चलाने के लिये किया जाता है; (२) प्रत्यक्ष मोटर पट्ट संबंध — इसमें मोटर और शक्ति प्राप्त करनेवाले शैफ्ट के बीच पट्टा लगा रहता है। इसका व्यवहार विभिन्न यांत्रिक उपकरणों को चलाने में किया जाता है। कहीं कहीं पट्टे के स्थान पर शृंखला का भी उपयोग किया जाता है; (३) पट्टा और रेखा शैफ्ट — इस विधि का विवरण ऊपर दिया जा चुका है; (४) गियर न्यूनीकरण प्रणाली (Gear reduction system) — विद्युत् मोटर बहुधा उच्च गति पर ही चलता है, किंतु यंत्रों के शक्ति प्राप्त करनेवाले शैफ्ट को निम्न गति पर ही कार्य करना होता है। स्वभावत: मोटर और शैफ्ट का प्रत्यक्ष संबंध कर देने से शैफ्ट भी उसी उच्च गति पर चलना प्रारंभ करेगा। इसलिये शक्ति को मोटर से शैफ्ट में प्रेषित करने के लिये गति के न्यूनीकरण की अत्यंत आवश्यकता हो जाती है और यह कार्य यंत्रित न्यूनीकरण प्रणाली द्वारा ही संपन्न होता है। इस प्रणाली द्वारा ५० और १ के अनुपात एवं कभी कभी तो १०० और १ के अनुपात में भी शक्ति का न्यूनीकरण हो सकता है; (५) बहु तंतु रज्जु प्रणाली (Multiple fabric rope system) — इस प्रणाली का प्रचार हाल में प्रारंभ हुआ है। रज्जु अंग्रेजी अक्षर वी (V) के आकार के बने होते हैं और चक्रों की परिमा पर बनाए गए वी (V) आकार के खाँचे पर कार्य करते हैं। यह प्रणाली किसी भी प्रकार के यंत्र के प्रत्यक्ष चालन में व्यवहृत होने के योग्य है तथा (६) परिवर्ती गति संबंध — विभिन्न प्रकार के औद्योगिक प्रविधियों में इस तरह के संबंध का उपयोग किया जाता है। इसमें गति का परिवर्तन सुगमतापूर्वक एवं बिना किसी बाधा के ही संपन्न हो जाता है।

कभी कभी स्थान के अभाव में ऊपर बताई गई प्रणालियों में से कुछ के संयोग का व्यवहार किया जाता है। आधुनिक विधियों में संहत का होना अधिक महत्वपूर्ण है, साथ ही साथ इन विधियों द्वारा अधिक दक्षता प्राप्त की जा सकती है और संपूर्ण व्यय भी कम ही होता है।

शक्तिप्रेषण के द्रवचालित तरीके — शक्तिप्रेषण की विधियों में द्रवचालित प्रणाली सबसे आधुनिक है। द्रवचालित प्रणाली में शक्ति एक तरल की सहायता से प्रेषित की जाती है। यह तरल बहुधा तेल होता है, किंतु कभी कभी जल का भी व्यवहार किया जाता है। द्रवचालित प्रणाली को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है : द्रवचालित स्थितिज प्रणाली और द्रवचालित गतिज प्रणाली। द्रवचालित स्थितिज प्रणाली

में तरल का मुख्य कार्य दाब की सहायता से शक्ति को प्रेषित करना है। इस प्रणाली के मुख्य अंग हैं: पंप करने का यंत्र, द्रवचालित मोटर, और दो मुख्य अंगों को मिलाने के लिये उपकरण। चूँकि पंप करने का यंत्र तरल दाब को प्रेषित करता है, इसलिये यंत्र को प्रेषी कहते हैं। द्रवचालित मोटर तरल दाब की सहायता से शक्ति प्राप्त करता है, इसलिये मोटर को ग्राही (receiver) कहा जाता है। इस प्रकार की प्रणाली का उदाहरण है, द्रवचालित संपीडक (Hydraulic Press)। इसमें पंप करने का यंत्र प्रेषी है और द्रवचालित संपीडक ग्राही। पंप द्वारा किए गए कार्य का उपयोग बल के विरुद्ध तेल को विस्थापित करने के लिये किया जाता है। द्रवचालित संपीडक-पिस्टन (piston) की गति से उत्पन्न अवरोध से बल की उत्पत्ति होती है। द्रवचालित गतिज प्रणाली में, क्रियाशील तरल के प्रवाह की गति के परिवर्तन की सहायता से शक्ति प्रेषित की जाती है। इसमें दाब के परिवर्तन को यथासाध्य कम करने का प्रयास किया जाता है। द्रवचालित गतिज प्रेषी के मुख्य अंग हैं: चालक शैफ्ट पर स्थित अपकेंद्री पंप प्रणोदक और चालित शैफ्ट पर स्थित तेल टरबाइन रोटर (rotar)। पंप प्रणोदक और टरबाइन रोटर के बीच तेल के परिवहन से शक्ति चालक शैफ्ट से चालित शैफ्ट को प्रेषित होती है। इस प्रकार की प्रणाली के उदाहरण हैं: द्रवचालित युग्मन (Hydraulic Coupling), द्रवचालित बलआघूर्ण परिवर्तक (Hydraulic Torque Converter) आदि।

आजकल शक्तिप्रेषण के द्रवचालित तरीके का उपयोग यंत्र को चलाने में अधिक हो रहा है। तरल की दाब की सहायता से आधुनिक यंत्रों में विभिन्न प्रकार की गतियों को प्राप्त किया जाता है। एक या एक से अधिक पंप के द्वारा तेल उच्च दाब पर भेजा जाता है। हाल के कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई है। यंत्र में शक्तिप्रेषण के लिये इस विधि के उपयोग से ये लाभ होते हैं: [१] गति एक समान रूप से और धीरे धीरे परिवर्तित की जा सकती है, [२] विस्तृत गतिसीमा प्राप्त होती है, [३] यांत्रिक प्रेषण द्वारा युक्त

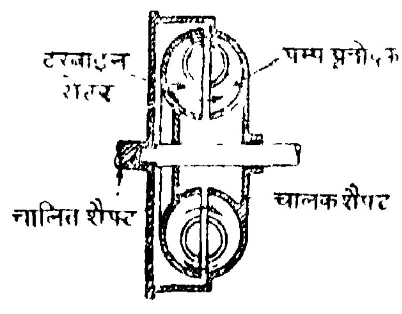


द्रवचालित बलआघूर्ण परिवर्तक

चित्र ४.

यंत्र की तुलना में इस विधि से चलनेवाला यंत्र ५०% अधिक टिकाऊ होता है, [४] गति की उत्क्रमणीयता शीघ्र एवं आघातहीन रूप में प्राप्त की जा सकती है तथा (५) इस विधि से चलनेवाले यंत्र की डिजाइन और निर्माणविधि आसान होती है। आधुनिक युग में व्यवहृत प्राय: सभी यंत्रों एवं उपकरणों में शक्तिप्रेषण की इस विधि का प्रयोग हो रहा है। शक्तिप्रेषण की द्रवचालित स्थैतिक प्रणाली का उपयोग इसके अलावा निम्नलिखित यंत्रों में भी होता है: द्रवचालित दाबक, द्रवचालित क्रेन, द्रवचालित लिफ्ट (Hydraulic Lift) आदि। कृषि संबंधी यंत्रों, जैसे ट्रैक्टर आदि में भी शक्तिप्रेषण के द्रवचालित तरीकों का उपयोग होता है।

द्रवचालित गतिज प्रणाली के आधार पर शक्तिप्रेषण के लिये निर्मित, द्रवचालित युग्मन में चालक शैफ्ट और चालित शैफ्ट में कोई यांत्रिक संबंध नहीं रहता है। इस तरह के यंत्र में आघात और कंपन नहीं होता है। द्रवचालित युग्मन में शक्ति को प्रेषित करते समय चालक और चालित शैफ्ट पर समान बलआघूर्ण कार्य करता है, किंतु द्रवचालित बलआघूर्ण परिवर्तक शक्ति प्रेषित करते समय बलआघूर्ण की वृद्धि करता है। द्रवचालित युग्मन का उपयोग



द्रवचालित युग्मन

चित्र ५.

रेलगाड़ियों और मोटर गाड़ियों में अंतर्दहन इंजन से गतिपाल चक्र को शक्ति प्रेषित करने में किया जाता है। डीजल इंजन चालित युद्धयान में बड़े आकार के द्रवचालित युग्मन का प्रयोग होता है। १ अश्वशक्ति से लेकर ३४,००० अश्वशक्ति तक के द्रवचालित युग्मन का निर्माण हो चुका है। द्रवचालित युग्मन और बलआघूर्ण परिवर्तक के अनुसंधान के बाद आधुनिक मोटर गाड़ियों में शक्तिप्रेषण के पुराने प्रकार के उपकरण, जैसे दंतिधान आदि, का व्यवहार कम ही होने लगा है। इस तरह शक्तिप्रेषण के द्रवचालित तरीकों की उपयोगिता बहुत ही बढ़ गई है और अभी भी नित्य नई नई खोजें हो रही हैं, ताकि इस प्रणाली का कार्यक्षेत्र और भी विस्तृत हो जाय।

वैद्युत युक्ति — शक्तिप्रेषण की वैद्युत युक्ति पर निरंतर अनुसंधान हो रहे हैं। सतत परिवर्ती वैद्युत दंति का आविष्कार बहुत पहले हो चुका है। अवरोध को अंतरास्थापित करके, बल के ह्रास की प्राप्ति की युक्तियाँ वस्तुत: परिवर्ती प्रेषण नहीं कही जा सकती हैं। शक्तिप्रेषण की वैद्युत युक्तियों का उपयोग वैद्युत रेलगाड़ियों में अधिक होता है। अंतर्दहन इंजन के डायनेमो

(dynamo) के लिये मूलचालक के रूप में व्यवहृत कर विद्युत उत्पन्न की जाती है और चक्कों को घुमाने के लिये खास डिजाइन किए हुए दंति को वैद्युत मोटर की सहायता से चलाया जाता है।

गैसप्रणाली — गैस परिवर्ती प्रेषण को उपयोग में लाने के लिये अनेकानेक प्रयत्न किए जा रहे हैं। इस विधि का मुख्य उपयोग रेलगाड़ियों में अधिक होता है। अभी भी इस क्षेत्र में अनुसंधान हो रहे हैं, क्योंकि इन विधियों की दक्षता बहुत ही कम है। आशा की जाती है, निकट भविष्य में अन्वेषक गण अपने प्रयोग में सफल हो सकेंगे और इस प्रणाली की उपयोगिता अन्य क्षेत्रों में और भी अधिक बढ़ जाएगी। [चं० मू० मि०]

शची इंद्र की पत्नी जो पुलोमा की कन्या थीं। द्रौपदी इन्हीं के अंश से उत्पन्न हुई थी और ये स्वयं प्रकृति की अन्यतम कला से जन्मी थीं। जयंत शची के ही पुत्र थे।

ब्रह्महत्या के भय से एक बार जब इंद्र जलगर्भ में छिपे हुए थे तो देवताओं ने नहुष को इंद्रपद दे दिया। नहुष ने शची पर कुदृष्टि की तो बृहस्पति की आज्ञा से उन्होंने भुवनेश्वरी की आराधना की और उनसे अभय प्राप्त किया। फिर शची ने मानसरोवर जाकर छिपे हुए इंद्र से अपनी सारी कथा कही। इंद्र की सलाह से शचीने नहुष से कहलाया 'यदि सप्तर्षियों के कंधे पर रखी पालकी में बैठकर आवें तो मैं तुम्हारे साथ चलूंगी।' नहुष ने ऐसा ही किया। ऋषियों को धीरे धीरे चलते देखकर उसने आदेश दिया 'सर्प सर्प' (जल्दी चलो) फलतोगत्वा ऋषियों के शाप से नहुष को सर्प हो जाना पड़ा।

अपने विवाह के पूर्व शची ने शंकर से सुंदर पति, स्वेच्छागत रूप तथा सुख एवं आयु का वरदान माँगा था। ऋग्वेद में शचीरचित कुछ सूक्त हैं जिनमें सपत्नी का नाश करने के लिये प्रार्थना की गई है (ऋ०, १०-१४६)। कुछ विद्वानों के मत से सूक्त बहुत बाद की रचनाएँ हैं। [रा० द्वि०]

शतरूपा स्वायंभुव मनु की स्त्री जिनका जन्म ब्रह्मा के वामांग से हुआ था (ब्रह्मांड० २-१-५७)। इन्हें प्रियव्रत, उत्तानपाद आदि सात पुत्र और तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। नरमानस पुत्रों के बाद ब्रह्मा ने अंगजा नाम की एक कन्या उत्पन्न की जिसके शतरूपा, सरस्वती आदि नाम भी थे। मत्स्य पुराण में लिखा है कि ब्रह्मा से इसे स्वायंभुव मनु, मारीच आदि सात पुत्र हुए (मत्स्य० ४-२४-३०) हरिहरपुराणानुसार शतरूपा ने घोर तपस्या करके स्वायंभुव मनु को पति रूप में प्राप्त किया था और इनसे वीर नामक एक पुत्र हुआ।

मार्कंडेयपुराण में शतरूपा के दो पुत्रों के अतिरिक्त ऋद्धि तथा प्रसूति नाम की दो कन्याओं का भी उल्लेख है। कहीं कहीं एक और तीसरी कन्या देवहूति का भी नाम मिलता है। शिव तथा वायुपुराणों में दो कन्याओं प्रसूति एवं आकूति का नाम है। वायुपुराण के अनुसार ब्रह्मा शरीर के दो अंश हुए थे जिनमें से एक से शतरूपा हुई थी। देवीभागवत आदि में शतरूपा की कथाएँ कुछ भिन्न दी हुई हैं। [रा० द्वि०]

शत्रुघ्न लक्ष्मण के छोटे भाई और सुमित्रा के पुत्र। इन्होंने लवण राक्षस का वध किया तथा मधुपुरी या मथुरा की स्थापना की थी। राम के अश्वमेध अश्व के संरक्षक रूप में शत्रुघ्न ने अनेक युद्धों में विजय की। राम भरत के साथ ये भी 'गोप्रतारतीर्थ' में जाकर वैष्णव तेज में विलीन हुए।

शत्रुघ्न नाम के अन्य पौराणिक व्यक्तियों में श्वफल्क, अक्रूर और मंगकार के पुत्र तथा लंका का एक राक्षस भी था। देवाश्रवा के पुत्र का भी यही नाम था। [रा० द्वि०]

शनि ग्रह सूर्य से बढ़ती हुई दूरी के क्रम में छठा ग्रह है। ज्योतिर्विद १७८१ ई० तक इसे सूर्य से सबसे दूर पर स्थित, अंतिम ग्रह मानते थे। यह सूर्य से लगभग ८८ करोड़ मील दूर स्थित है।

अत्यधिक दूर होने पर भी इसे बिना दूरदर्शी की सहायता के देखा जा सकता है। वास्तव में यह आकाश में प्रथम कांतिमान के तारे से भी अधिक कांतिमय वस्तु है। इसकी कांति का कारण इसकी विशालता है, जो केवल बृहस्पति से कम है। शनि का व्यास ७२,००० मील है। पृथ्वी से ७०० गुनी बड़ी वस्तु शनि में समा सकती है। आकार में बहुत विशाल होने पर भी यह उसी अनुपात में संपुंजित (massive) नहीं है। यह पृथ्वी से केवल लगभग ९५ गुना भारी है। शनिग्रह का घनत्व अन्य सभी ग्रहों से कम है। यदि इसके तैरने के लिये पर्याप्त पानी मिल सके, तो यह उसपर आसानी से तैर सकता है। इसके घनत्व की कमी शायद यह संकेत करती है कि शनिग्रह का एक छोटा ठोस क्रोड़ (core) है, जिसके चारों ओर बहुत गंभीर वायुमंडल का आवरण है।

स्पेक्ट्रम प्रेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि शनि के वायुमंडल में हाइड्रोजन, अमोनिया और मेथेन हैं, जिनमें प्रधानता मेथेन की है।

शनिग्रह का ताप – १५०° सें० है। शनिग्रह के ताप और उसके वायुमंडल की संरचना से स्पष्ट है कि शनि की सतह पर वैसा जीवन संभव नहीं है जैसा हम पृथ्वी पर पाते हैं।

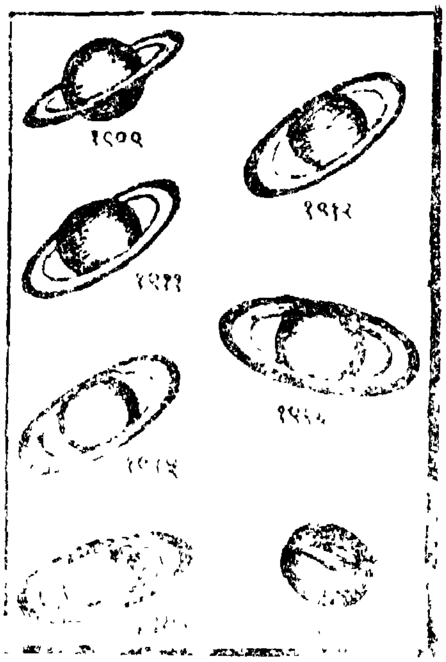
ग्रह होने के कारण यह सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्ताकार कक्षा में घूमता है। कक्षा का दीर्घवृत्त लगभग वृत्त है। लगभग ६ मील प्रति सेकंड के वेग से यह लगभग २९½ वर्ष में सूर्य की एक परिक्रमा करता है। परिक्रमा करते हुए, यह अपने अक्ष पर लगभग १०¼ घंटे के घूर्णनकाल में घूर्णन भी करता है।

शनि के नौ उपग्रह हैं। इनमें सबसे बड़ा टाइटेन है, जिसका व्यास ३,५५० मील है। ज्योतिर्विदों को इससे बड़े उपग्रह की जानकारी नहीं है। यह उपग्रह बुधग्रह से भी बड़ा है।

शनि की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वलयपद्धति है, जिसके कारण इसे ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण स्थान प्राप्त है। ग्रह के विषुवत समतल में, ग्रह की सतह के हजारों मील ऊपर से शुरू होनेवाली क्रमिक व्यवस्था में, अंतरपूर्वक या बिना अंतर के, कम से कम तीन एककेंद्रीय वलय हैं। वलयपद्धति का व्यापक बाह्य व्यास लगभग १,७०,००० मील है। किंतु मोटाई बहुत कम है, १० मील से शायद ही कुछ अधिक हो ये वलय अत्यंत पतले हैं। अतः ये जब

किनारे की ओर से हमारे सामने पड़ते हैं, तो इन्हें हम शक्तिशाली दूरदर्शी की सहायता से एक सूक्ष्म रेखा के रूप में देख पाते हैं।

अनेक सैद्धांतिक और प्रेक्षणात्मक अध्ययनों से यह निश्चयपूर्वक प्रतिपादित हो चुका है कि ये वलय असंख्य छोटे छोटे पिंडों से, जो



शनि और उसके वलय

ये वलय शनि के परिक्रामी छोटे छोटे पिंडों से बने हैं। चित्र में दिखाया गया है कि विभिन्न वर्षों मे ये वलय पृथ्वी से कैसे, कभी चौड़े कभी सकरे, दिखाई पड़ते हैं।

उपग्रहों के समान ग्रह की परिक्रमा करते हैं, निर्मित हैं। वलय का प्रादुर्भाव कैसे हुआ यह अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुआ है। किंतु अधिकांश खगोल-भौतिकीवेत्ताओं का विश्वास है कि ये पिंड शनिग्रह के किसी ऐसे उपग्रह के अंश हैं जो किसी प्रकार खंडित हो गया, या अस्तित्व में आ नहीं पाया। [र० स०]

शनि - (फलित ज्योतिष के अनुसार) सूर्यपुत्र जो नवग्रहों में प्रसिद्ध पापग्रह माने जाते हैं। सती की मृत्यु से दुखी शिव के आँसुओं से ये कृष्ण वर्ण के हो गए। ये महातेजस्वी और अत्यंत तीक्ष्ण स्वभाववाले ग्रह हैं। इनके द्वारा रोहिणी नक्षत्र को पीड़ित करनेवाले योग में संसार के लिये महान् भय उपस्थित होने की सूचना समझी जाती है। ऋतुस्नाता इनकी पत्नी, चित्ररथ की पुत्री ने इनके पत्नीगमन न करने के कारण इन्हें यह शाप दिया था कि यह जिसकी ओर दृष्टिपात करेंगे वह भस्म हो जायगा। बाल गणेश की ओर दृष्टिपात करने से उनका सिर धड़ से अलग होकर गोलोक में जा गिरा था। पार्वती ने उन्हें शाप दिया किंतु वस्तुतः निर्दोष होने के कारण ग्रहराज को चिरंजीवी और हरिभक्ति परायण होने का वरदान दिया। इन्होंने नरकासुर से युद्ध किया और अश्वत्थ तथा पिप्पल का वध किया था। विश्वामित्र के पचास पुत्र इनके शाप से म्लेच्छ बने थे। ये भावी मन्वंतर में मनु के पद पर आसीन होंगे (महा०, शां०, ३४६-५५),

[चं० भा० पा०]

शब्दावली (Glossary) 'ग्लासरी' शब्द — शब्दावली जिसका प्रतिशब्द है — मूलतः 'ग्लॉस' शब्द से बना है। 'ग्लॉस' ग्रीक भाषा का (glossa) है जिसका प्रारंभिक अर्थ 'वाणी' था। बाद में यह 'भाषा' या 'बोली' का वाचक हो गया। आगे चलकर इसमें और भी अर्थपरिवर्तन हुए और इसका प्रयोग किसी भी प्रकार के शब्द (पारिभाषिक, सामान्य, क्षेत्रीय, प्राचीन, अप्रचलित आदि) के लिये होने लगा। ऐसे शब्दों का संग्रह ही 'ग्लॉसरी' या 'शब्दावली' है।

शब्दावली की परंपरा 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में तथा अन्यत्र भी फिलेटस (Philetas) से मानी जाती है। इनका काल तीसरी सदी ई० पू० है। इन्होंने 'अतक्ता' (Atakta) शीर्षक शब्दावली संगृहीत की थी। किंतु वस्तुतः शब्दावली का इतिहास अब बहुत पीछे चला गया है, और अब तक प्राप्त प्राचीनतम शब्दावली हित्ताइत (हित्ती) भाषा की है, जिसका समय ईसा से प्रायः १००० वर्ष पूर्व से भी आगे है। भारत में प्राचीनतम शब्दावली 'निघंटु' रूप में मिलती है। संस्कृत भाषा में विकास के कारण जब वैदिक संस्कृत लोगों के लिये दुरूह सिद्ध होने लगी तो वैदिक शब्दों के संग्रह किए गए, जिन्हे 'निघंटु' (निघण्ठति शोभते, नि घण्ट+कु) की संज्ञा दी गई। आज जो निघंटु उपलब्ध है वह यास्काचार्य का है, किंतु ऐसे विश्वास के पर्याप्त प्रमाण हैं कि यास्क के समय में ऐसे ४-५ और भी निघंटु थे। यास्क का समय ८वीं सदी ई० पू० माना गया है। इसका आशय यह हुआ कि पश्चिमी विद्वान् फिलेटस की जिस शब्दावली (glossary) को प्राचीनतम मानते है, वह भारतीय निघंटुओं से कम से कम ४-५ सौ वर्ष बाद की है। यूरोप में जो शब्दावलियाँ प्रारंभ में संगृहीत की गई, एकभाषिक थी किंतु बाद में बहुभाषिक शब्दावलियों की परंपरा चली। यूरोप की प्राचीनतम ज्ञात द्विभाषिक शब्दावली लैटिन-ग्रीक की है, जिसके संग्रहकर्ता फिलॉक्सेनस माने जाते रहे हैं, यद्यपि यह सिद्ध हो चुका है कि मूलतः यह रचना उनकी नहीं थी। इसका काल मोटे रूप से छठी सदी ई० है। यह उल्लेख है कि एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका आदि मे इसे प्राचीनतम बहुभाषिक शब्दावली माना गया है, किंतु वस्तुतः पीछे जिस हित्ताइत शब्दावली का उल्लेख किया जा चुका है, वह द्विभाषिक ही नहीं त्रिभाषिक (हित्ती-सुमेरी-अक्कादी) है। इस प्रकार प्राचीनतम बहुभाषिक शब्दावली का काल लैटिन-ग्रीक से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पीछे है। १००० ई० के आसपास ग्रीक-लैटिन लैटिन-ग्रीक की कई शब्दावलियाँ बनी। भारत में बहुभाषिक शब्दावलि की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है। अमरकोश के पूर्व — जैसे कात्य का 'नाममाला', भागुरि का 'त्रिकांड', अमरदत्त का 'अमरमाला' या वाचस्पति का 'शब्दार्णव' आदि — एवं बाद के - पुरुषोत्तम देव के 'हारावली' तथा 'त्रिकांडकोश', हलायुध का 'अभिधान रत्नमाला', यादवप्रकाश का 'वैजंती' आदि — कोश एकभाषिक ही हैं। प्राकृत अपभ्रंश—जैसे धनपालकृत 'पाइअ लच्छीनाममाला', हेमचंद्र की 'देशीनाममाला' तथा गोपाल, द्रोण आदि के देशी'

कोश' —एवं हिंदी के पुराने कोश — जैसे नंददास, बनारसीदास, बद्रीदास, हरिचरणदास, चेतनविजय, विनयसागर आदि की 'नाममाला', प्रयागदास की 'शब्दरत्नावली' या हरिचरणदास का 'कर्णाभरण' आदि—उसी परंपरा में, अर्थात् एकभाषिक शब्दावलियाँ हैं। इस परंपरा में कदाचित् अंतिम ग्रंथ सुवंश शुक्ल का 'उमरावकोश' (१९ वीं सदी) है।

भारत में एकाधिक भाषाओं की शब्दावलियों की परंपरा मुसलमानों से आरंभ होती है। इसका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'खालिकबारी' है, जिसमें हिंदी, फ़ारसी, तुर्की के शब्द हैं। खालिकबारी परंपरा में इस प्रकार के कई ग्रंथ लिखे गए, जिनमें सबसे प्रसिद्ध रचना अमीर खुसरो की कही जाती है, यद्यपि इस संबंध में पर्याप्त विवाद है। अनेक विद्वानों के अनुसार खालिकबारी किसी 'खुसरोशाह' की रचना है, जो प्रसिद्ध कवि खुसरो के बहुत बाद में हुए थे। शिवाजी ने भी राजनीति की फारसी-संस्कृत शब्दावली बनाई थी, जिसमें लगभग १५०० शब्द थे। उसके बाद खालिकबारी परंपरा में हिंदी-फारसी के कई कोश लिखे गए। किंतु वैज्ञानिक ढंग से यह कार्य अंग्रेजों के संपर्क के बाद प्रारंभ हुआ। यूरोप में इस दिशा में कार्य को वैज्ञानिक स्तर पर लाने का श्रेय जे० स्कैलिसर (१५४०-१६०९) को है। १५७३ में प्रकाशित हेनरी स्टेफेनस की द्विभाषिक शब्दावली इस क्षेत्र की प्रथम महत्वपूर्ण रचना मानी जाती है। भारत में अंग्रेज पादरियों ने धर्म एवं राजप्रचार की दृष्टि से यहाँ की कई भाषाओं के अंग्रेजी कोश प्रकाशित किए। हिंदी की दृष्टि से इस श्रृंखला के प्रथम कोश जे० फरगुसन की 'ए डिक्शनरी ऑव हिंदोस्तान लैंग्विज' है जो १७७३ ई० में लंदन से छपी थी। यह उल्लेख्य है कि इस परंपरा में होते हुए भी ये कोश शब्दावली की सीमा के बाहर हैं।

अब बहुभाषिक शब्दावलियों की परंपरा बहुत विकसित हो गई है तथा इधर ३-४ से लेकर १०-१२ भाषाओं की विभिन्न विषयों की शब्दावलियाँ प्रकाशित हुई हैं। इस दिशा में इंग्लैंड, अमरीका, जर्मनी, फ्रांस तथा रूस ने पर्याप्त श्रम किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी इस दिशा में योग दिया है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि शब्दावलियों का ही विकास कोशों के रूप में हुआ है, किंतु दोनों एक नहीं हैं। दोनों में अंतर यह है कि शब्दावली में एक या अधिक भाषाओं के शब्दों का संग्रह रहता है, किंतु कोश में शब्दों का अर्थ या उनकी व्याख्या आदि भी रहती है। कला, वाणिज्य, विज्ञान आदि के विभिन्न विषयों के द्विभाषिक या बहुभाषिक कोशों के अतिरिक्त, पर्याय एवं विलोमकोश (Thesaras) भी शब्दावलियों की ही परंपरा में आते हैं। मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का 'नाममाला' साहित्य इस दृष्टि से उल्लेख्य है। अब पर्याय कोशों की परंपरा बड़ी वैज्ञानिक हो गई है और लेखकों आदि के लिये ये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

[भो० ना० ति०]

शम्स सिराज अफ़ीफ़ का जन्म लगभग १३५०-५१ ई० में हुआ था। उसके प्रपितामह मलिक सादुल मुल्क शिहाब अफ़ीफ़ को फ़ीरोज़पुर के अबूहर नामक स्थान पर सुल्तान गयासुद्दीन तुग़लक़ द्वारा एक पद प्राप्त था। उसके पिता भी सुल्तान फ़ीरोज़ शाह के दरबार में विभिन्न पदों पर आसीन रह चुके थे। वह सुल्तान के साथ जाजनगर तथा नगरकोट के अभियान पर भी गया था। शम्स सिराज अफ़ीफ़ भी सुल्तान फ़ीरोज़ शाह के दरबार में दीवाने विज़ारत के अधिकारियों के साथ सुल्तान के अभिवादन हेतु आया करता था। जब सुल्तान फ़ीरोज़ शाह शिकार खेलने जाता तब भी अफ़ीफ़ उसके साथ होता था। इस प्रकार उसका यह दावा सच है कि उसे फ़ीरोज़ शाह के समस्त राज्यकाल का पूर्ण ज्ञान था। उसके ज्ञान में उसके पिता तथा दादा एवं अन्य संबंधियों की जानकारी के अनुसार भी वृद्धि हुई थी। उसने केवल एक ही ग्रंथ लिखा जिसका नाम तारीखे फ़ीरोज़शाही है। इस ग्रंथ में उसने मनाक़िबे सुल्तान गयासुद्दीन तुग़लक़, मनाक़िबे सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक तथा मनाक़िबे सुल्तान मुहम्मद इब्ने फ़ीरोज़ का उल्लेख किया है। इससे यह न समझना चाहिए कि उसने इन सुल्तानों का कोई पृथक् इतिहास लिखा अपितु दिल्ली के तुर्क सुल्तानों का कोई बृहत् इतिहास लिखा होगा जिसमें उपर्युक्त तुग़लक़ सुल्तानों का भी इतिहास दिया होगा। अब ये अंश नहीं मिलते। केवल तारीखे फ़ीरोज़शाही प्राप्त है जो इसी बृहत् इतिहास का एक भाग प्रतीत होता है। सुल्तान फ़ीरोज़ शाह के इतिहास की रूपरेखा के विषय में वह लिखता है, "बरनी ने सुल्तान का हाल १०१ अध्यायों में लिखना निश्चय किया था किंतु वह केवल ११ अध्याय ही लिख सका। क्योंकि वह उसे पूरा न कर सका अतः इस इतिहासकार ने इसमें ९० अध्याय लिखे हैं। यह ५ क़िस्मों (भागों) में विभाजित है और प्रत्येक भाग में १८ अध्याय हैं।" खेद है, उसके ५वें भाग के भी केवल १५ अध्याय मिलते है और शेष ३ अध्यायों का पता नहीं।

अफ़ीफ़ ने अपने इतिहास में सुल्तान फ़ीरोज़ के जन्म से लेकर मृत्यु तक का विवरण दिया है। वह सुल्तान की धर्मनिष्ठता एवं मृदुलता से अत्यधिक प्रभावित था और उसने उसे एक आदर्शवादी मुसलमान बादशाह के रूप में प्रस्तुत किया है। सुल्तान के सार्वजनिक निर्माणकार्यों, भवनों, नहरों इत्यादि के निर्माण से वह अपने समकालीनों की भाँति प्रभावित था। उसने सुल्तान के अमीरों तथा मुख्य पदाधिकारियों का भी बड़ा विशद विवरण दिया है, किंतु इतिहासकार के लिये जो निष्पक्षता आवश्यक है, उसका उसमें अभाव था। काव्यमयी भाषा के प्रयोग ने भी उसके विवरण के महत्व को बहुत घटा दिया है।

सं० ग्रं० — तारीखे फीरोज़शाही (कलकत्ता १८९० ई०); रिजवी, सै० अ० अ० : तुग़लुक़ कालीन भारत, भाग २, (अलीगढ़ १९५७ ई०)।

[सै० अ० अ० रि०]

शम्सुद्दीन तुर्क (पानीपती) हज़रत शेख शम्सुद्दीन तुर्क (पानीपती) बिन सैयद अहमद बुज़ुर्ग का जन्म तुर्किस्तान में हुआ। विद्यार्जन कर चुकने के उपरांत ईश्वर मार्ग की जिज्ञासा में जन्मभूमि से निकल पड़े और मवाउन्नहर के अनेक सूफियों की सेवा में रहकर उन्होंने अध्यात्मवाद की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् भारतवर्ष पधारे तथा अजोधन में आकर हज़रत बाबा फ़रीदुद्दीन गंजेशकर से दीक्षा ली। खिलाफ़त का खिर्क़ा भी प्राप्त किया। उन्होंने सुल्तान ग़यासुद्दीन बलबन की सेना में कुछ समय तक नौकरी की थी। दीक्षागुरु की

मृत्यु से पहले वह नौकरी से त्यागपत्र देकर उनकी सेवा में पहुँच गए। फिर वे पानीपत गए और वहाँ अपनी खानक़ाह स्थापित कर धर्मप्रचार करने लगे तथा हजारों व्यक्तियों में अध्यात्मवाद की शिक्षाएँ प्रसारित कीं। उन्होंने साबिरिया संप्रदाय को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। इनका स्वर्गवास ७१५/१३१५ में हुआ। समाधि पानीपत में है और उससे मिली हुई एक भव्य मस्जिद भी है।

सं० ग्रं० — शेख अल्लाह दिया चिश्ती : सैरुल अक़ताब (नवलकिशोर, लखनऊ, १६३१) १८४-१६७; मौलवी गुलाम सर्वर लाहौरी : खज़ीनतुल अस्फ़िया (नवलकिशोर) १,३२१-३२५; शेखगुलाम; मुईनुद्दीन अब्दुल्ला (खलीफ़ा खेशजी चिश्ती): मम्रारिज़्-उल-विलायत (हस्तलिपि); खलीक अहमद निज़ामी : तारीखे मशायखे चिश्त (दिल्ली, १६५३) २१५-२१६; मौलाना सैयद मुहम्मद मियाँ : पानीपत और बुज़ुर्गाने पानीपत (दिल्ली) १७१-१६७। [मु० उ०]

शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय बँगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार। जन्म १८७६ ई० के १५ सितंबर को हुगली जिले के एक छोटे से गाँव देवानंदपुर में हुआ। वे अपने माता पिता की नौ संतानों में एक थे। घर में बच्चों का ठीक ठीक शासन नहीं हो पाता था। जब शरत भागने लायक उम्र के हुए तो वह जब तब पढ़ाई लिखाई छोड़कर भाग निकलते। इसपर कोई विशेष शोर नहीं मचता था, पर जब वह लौटकर आते तो उनपर मार पड़ती थी। अट्ठारह साल की उम्र मे उन्होंने इंट्रेंस पास किया। इन्हीं दिनों उन्होंने 'बासा' (घर) नाम से एक उपन्यास लिख डाला, पर यह रचना उन्हें पसंद नहीं आई। उन्होंने उसे फाड़कर फेंक दिया। इसी प्रकार कई रचनाएँ फाड़कर फेंक दी गईं, इसलिये यह धारणा गलत है कि शरत् ने एकाएक परिपूर्ण और परिपक्व प्रतिभा लेकर साहित्यक्षेत्र मे प्रवेश किया। नीरव साधना चलती रही। वह रवींद्र साहित्य के अतिरिक्त थैकरे, डिकेंस आदि उपन्यासकारों का अध्ययन करते रहे। हेनरी के उपन्यास ईस्टलीन के आधार पर उन्होंने 'अभिमान' नाम से एक उपन्यास लिखा था। साथ ही उन्होने मेरी कारेली के माइटी ऐटम पुस्तक का बँगला अनुवाद किया था, पर इनमे से किसी के छपने की नौबत नहीं आई।

रवींद्रनाथ का प्रभाव उनपर बहुत अधिक पड़ा पर बंकिमचंद्र का प्रभाव भी कम नहीं था। उनकी कालेज की पढ़ाई बीच में ही रह गई। वह तीस रुपए मासिक के क्लार्क होकर बर्मा पहुँच गए। इन दिनों उनका संपर्क बंगचंद्र नामक एक व्यक्ति से हुआ जो था तो बड़ा विद्वान् पर शराबी और उछृंखल था। यहीं से 'चरित्रहीन' का बीज पड़ा, जिसमें मेस जीवन के वर्णन के साथ मेस की नौकरानी से प्रेम की कहानी है।

शरत् नहीं जानते थे कि उनकी साधना पूरी हो चुकी है। जब वह एक बार बर्मा से कलकत्ता आए तो अपनी कुछ रचनाएँ कलकत्ते में एक मित्र के पास छोड़ गए। शरत् को बिना बताए उनमें से एक रचना 'बड़ी दीदी' का १६०७ में धारावाहिक प्रकाशन शुरू हो गया। दो एक किश्त निकलते ही लोगों में सनसनी फैल गई और वे कहने लगे कि शायद रवींद्रनाथ नाम बदलकर लिख रहे हैं। शरत् को इसकी खबर साढ़े पाँच साल बाद मिली। कुछ भी हो ख्याति तो हो ही गई, फिर भी 'चरित्रहीन' के छपने में बड़ी दिक्कत हुई। भारतवर्ष के संपादक कविवर द्विजेंद्रलाल राय ने इसे यह कहकर छापने से इन्कार कर दिया कि यह सदाचार के विरुद्ध है।

पर प्रतिभा को कौन रोक सकता था। अब एक के बाद एक उनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। 'पंडित मोशाय', 'बैकुंठेर बिल', 'मेज दीदी', 'दर्पचूर्ण', 'श्रीकांत', 'अरक्षणीया', 'निष्कृति', 'मामलार फल', 'गृहदाह', 'शेष प्रश्न,' 'दत्ता', 'देवदास', 'बाम्हन की लड़की', 'विप्रदास', 'देना पावना' आदि उपन्यास निकलते चले गए। बंगाल के क्रांतिकारी आंदोलन को लेकर 'पथेर दावी' उपन्यास लिखा गया। पहले यह 'बंग वाणी' में धारावाहिक रूप से निकला, फिर पुस्तकाकार छपा तो तीन हजार का संस्करण तीन महीने मे समाप्त हो गया। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने इसे जब्त कर लिया।

शरत् के उपन्यासों के एक एक भारतीय भाषा मे कई कई अनुवाद हुए हैं। कहा गया है, उनके पुरुष पात्रों से उनकी नायिकाएँ अधिक बलिष्ठ हैं। शरत्चंद्र की जनप्रियता उनकी कलात्मक रचना और नपे तुले शब्दों या जीवन से ओतप्रोत घटनावलियों के कारण नहीं है बल्कि उनके उपन्यासों में नारी जिस प्रकार परंपरागत बंधनों से छटपटाती दृष्टिगोचर होती है, जिस प्रकार पुरुष और स्त्री के संबंधों को एक नए आधार पर स्थापित करने के लिये पक्ष प्रस्तुत किया गया है, उसी से शरत् को जनप्रियता मिली। उनकी रचना हृदय को बहुत अधिक स्पर्श करती है। पर शरत्साहित्य में हृदय के सारे तत्व होने पर भी उसमे समाज के संघर्ष, शोषण आदि पर कम प्रकाश पड़ता है। पल्ली समाज में समाज का चित्र कुछ कुछ सामने आता है। महेश आदि कुछ कहानियों में शोषण का प्रश्न उभरकर आता है।

इसमें कोई संदेह नहीं, शरत् बहुत बड़े उपन्यासकार थे। उनकी नश्वर देह का अंत १६३८ मे हुआ।

सं० ग्रं०—सुकुमार सेन : हिस्ट्री ऑव बंगाली लिटरेचर; मन्मथनाथ गुप्त : शरत्चंद्र। [म० ना० गु०]

शरभंग दक्षिण भारत के गौतम कुलोत्पन्न एक प्रसिद्ध महर्षि जिनका उल्लेख रामायण में है। इनकी गणना उन महर्षियों में है जिन्होंने दंडकारण्य में गोदावरीतट पर अपना आश्रम बनाया, उत्तर की आर्य सभ्यता का प्रचार तथा विस्तार दक्षिण के जंगली प्रांत मे किया और अंत में अग्नि में आत्माहुति देकर स्वर्ग प्राप्त किया था। वनवास के समय रामचंद्र इनका दर्शन करने गए थे। [रा० द्वि०]

शरर, अब्दुल हलीम इनका जन्म लखनऊ में सन् १८६० ई० में हुआ। सन् १८७६ ई० में शिक्षा के लिये यह दिल्ली आए। इसके दो वर्ष बाद लखनऊ के 'अवध अखबार' के सहायक संपादक नियत हुए और साहित्यिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयों पर लेख लिखते रहे। सन् १८८७ ई० में अपना एक पत्र 'दिलगुदाज' निकालना आरंभ किया। इसमें इनके प्रसिद्ध उपन्यास हसन एंजिलिना, मंसूर मोहाना आदि क्रमश: निकले। इसके अनंतर यह हैदराबाद गए, जहाँ सिष

का इतिहास लिखा। बाद में इन्हें लखनऊ चले आना पड़ा। यहीं सन् १९२६ ई० के दिसंबर में इनकी मृत्यु हो गई। इन्होंने लगभग पचास पुस्तकें लिखीं, जिनमें उपन्यास, जीवनचरित्र तथा इतिहास मुख्य हैं। [र० व०]

शरीरक्रियाविज्ञान या फ़िज़ियॉलोजी (Physiology), फ़िज़ियॉलोजी शब्द यूनानी भाषा से व्युत्पन्न है और इसका मूल अर्थ 'प्राकृतिक ज्ञान' है। इसका लैटिन समानार्थक शब्द है, फ़िज़ियॉलोजिया (Physiologia)। इस शब्द का प्रथम बार उपयोग १६ वीं शताब्दी में हुआ, पर यह व्यवहार में १९वीं सदी में आया। जीवित प्राणियों से संबंधित प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन, और उनका वर्गीकरण, घटनाओं का अनुक्रम और सापेक्ष महत्व, प्रत्येक कार्य के उपयुक्त अंगनिर्धारण और उन अवस्थाओं का अध्ययन, जिनसे प्रत्येक क्रिया निर्धारित होती है, फ़िज़ियॉलोजी या शरीरक्रियाविज्ञान के अंतर्गत आते हैं।

सभी जीवित जीवों के जीवन की मूल प्राकृतिक घटनाएँ एक सी हैं। अत्यंत असमान जीवों में क्रियाविज्ञान अपनी समस्याएँ अत्यंत स्पष्ट रूप में उपस्थित करता है। उच्चस्तरीय प्राणियों में शरीर के प्रधान अंगों की क्रियाएँ अत्यंत विशिष्ट होती हैं, जिससे क्रियाओं के सूक्ष्म विवरण पर ध्यान देने से उन्हें समझना सभव होता है।

निम्नलिखित मूल प्राकृतिक घटनाएँ हैं, जिनसे जीव पहचाने जाते हैं :

(क) **संगठन** -- यह उच्चस्तरीय प्राणियों में अधिक स्पष्ट है। संरचना और क्रिया के विकास में समांतरता होती है, जिससे शरीरक्रियाविदों का यह कथन सिद्ध होता है कि संरचना ही क्रिया का निर्धारक उपादान है। व्यक्ति के विभिन्न भागों में सूक्ष्म सहयोग होता है, जिससे प्राणी की आसपास के वातावरण के अनुकूल बनने की शक्ति बढ़ती है।

(ख) **ऊर्जा की खपत** — जीव ऊर्जा को विसर्जित करते हैं। मनुष्य का जीवन उन शारीरिक क्रियाकलापों (movements) से, जो उसे पर्यावरण के साथ संबंधित करते हैं, निर्मित है। इन शारीरिक क्रियाकलापों के लिये ऊर्जा का सतत व्यय आवश्यक है। भोजन अथवा ऑक्सीजन के अभाव में शरीर के क्रियाकलापों का अंत हो जाता है। शरीर में अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होने पर उसकी पूर्ति भोजन एवं ऑक्सीजन की अधिक मात्रा से होती है। अतः जीवन के लिये श्वसन एवं स्वांगीकरण क्रियाएँ आवश्यक हैं। जिन वस्तुओं से हमारे खाद्य पदार्थ बनते हैं, वे ऑक्सीकरण में सक्षम होती हैं। इस ऑक्सीकरण की क्रिया से ऊष्मा उत्पन्न होती है। शरीर में होनेवाली ऑक्सीकरण की क्रिया से ऊर्जा उत्पन्न होती है, जो जीवित प्राणी की क्रियाशीलता के लिये उपलब्ध रहती है।

(ग) **वृद्धि और जनन** — यदि उपचयी (anabolic) प्रक्रम प्रधान है, तो वृद्धि होती है, जिसके साथ क्षतिपूर्ति की शक्ति जुड़ी हुई है। वृद्धि का प्रक्रम एक निश्चित समय तक चलता है, जिसके बाद प्रत्येक जीव विभक्त होता है और उसका एक अंश अलग होकर एक या अनेक नए व्यक्तियों का निर्माण करता है। इनमें प्रत्येक उन सभी गुणों से युक्त होता है जो मूल जीव में होते हैं। सभी उच्च कोटि के जीवों में मूल जीव क्षयशील होने लगता है और अंततः मृत्यु को प्राप्त होता है।

(घ) **अनुकूलन** (Adaptation) -- सभी जीवित जीवों में एक सामान्य लक्षण होता है, वह है अनुकूलन का सामर्थ्य। आंतर संबंध तथा बाह्य संबंधों के सतत समन्वय का नाम अनुकूलन है। जीवित कोशिकाओं का वास्तविक वातावरण वह ऊतक तरल (tise fluid) है, जिसमें वे रहती हैं। यह आंतर वातावरण, प्राणी के सामान्य वातावरण में होनेवाले परिवर्तनों से प्रभावित होता है। जीव की प्रतिजीविता (survival) के लिये वातावरण के परिवर्तनों को प्रभावहीन करना आवश्यक है, जिससे सामान्य वातावरण चाहे जैसा हो, आंतर वातावरण जीने योग्य सीमाओं में रहे। यही अनुकूलन है।

फ़िज़ियॉलोजी की विधि – फिज़ियॉलोजी का अधिकांश ज्ञान दैनिक जीवन और रोगियों के अध्ययन से उपलब्ध हुआ है, परंतु कुछ ज्ञान प्राणियों पर किए गए प्रयोगों से भी उपलब्ध हुआ है। रसायन, भौतिकी, शारीर (anatomy) और ऊतकविज्ञान से इसका अत्यंत निकट का संबंध है।

इस प्रकार विश्लेषिक फ़िज़ियॉलोजी, जीवित प्राणियों पर, अथवा उनसे पृथक्कृत भागों पर, जो अनुकूल अवस्था में कुछ समय जीवित रह जाते हैं, किए गए प्रयोगों से प्राप्त ज्ञान से निर्मित है। प्रयोगों से विभिन्न संरचनात्मक भागों के गुण और क्रियाएँ ज्ञात होती हैं। संश्लेषिक फ़िज़ियॉलोजी में हम यह पता लगाने की कोशिश करते हैं कि किस प्रकार संघटनशील प्रक्रमों से शरीर की क्रियाएँ संश्लेषित होकर, विभिन्न भागों की सहकारी प्रक्रियाओं का निर्माण करती है और किस प्रकार जीव समष्टि रूप में अपने भिन्न भिन्न अंगों को सम्यक् रूप से समंजित करके, बाह्य परिस्थिति के परिवर्तन पर प्रतिक्रिया करता है।

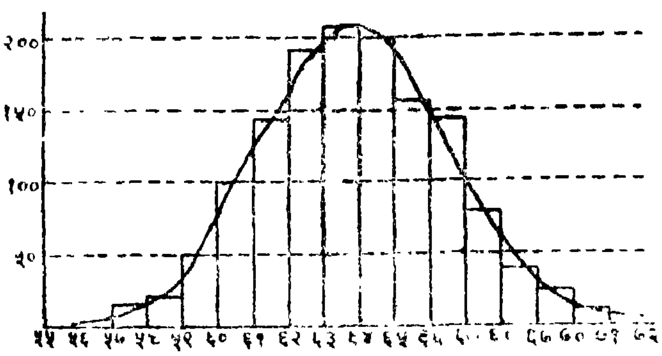
प्रतिमान (Normal) — संरचना और शरीरक्रियात्मक गुणों में एक ही जाति के प्राणी आपस में बहुत मिलते जुलते है और जैव लक्षणों के मानक प्रकार की ओर उन्मुख यह प्रवृत्ति जीव और उसके वातावरण के बीच सन्निकट सामंजस्य की अभिव्यक्ति है। एक ही जनक से, एक ही समय में, उत्पन्न प्राणियों में यह समानता सर्वाधिक होती है। ज्यों ज्यों हम अन्य जातियों के प्राणियों की समानताओं के संबंध में विचार करते है, उनमें भेद बढ़ता जाता है और प्राणियों के वर्गीकरण में जंतुजगत् के छोरों पर स्थित प्राणियों का अंतर इतना अधिक होता है कि उनकी तुलना अस्पष्ट होती है।

फिर भी, व्यष्टि प्राणियों में जहाँ बहुत निकट का संबंध होता है, जैसे मनुष्य जाति में, वहीं इनमें अंतर भी स्पष्ट होता है। सामान्य मानव व्यष्टि का अध्ययन करना, मानव फ़िज़ियॉलोजी का कर्तव्य है, क्योंकि इससे रोग के अध्ययन की महत्वपूर्ण आधारभूमि तैयार होती है, परंतु यह कहना कि किसी प्रस्तुत लक्षण (character)

का प्राकृतिक स्वरूप क्या है, कठिन है। इसके अतिरिक्त सभी शरीर-क्रियात्मक प्रयोगों के परिणामों में पर्याप्त स्पष्ट अंतर प्रदर्शित होता है, जो प्रयोज्य प्राणियों की व्यक्तिगत प्रकृति पर निर्भर करता है। इसीलिये महत्वपूर्ण समुचित नियंत्रणों का और महत्वपूर्ण परिणाम का अधिमूल्यन नहीं होना चाहिए। प्राय: परिणाम के निश्चय के लिये आदर्श परिणामों का विचार किया जाता है। प्रयोगों की पुनरावृत्तियाँ आवश्यक हैं। प्रेक्षण की त्रुटि, जो यथार्थ विज्ञानों में प्राय: अल्प होती है, जैविकी में बहुत अधिक होती है, क्योंकि परिवर्ती व्यष्टि के कारण प्रेक्षण में परिवर्तनशीलता आ जाती है। जिस प्रकार अन्य विज्ञानों में परिणामों को सांख्यिकी द्वारा विवेचित किया जाता है, वैसे ही फ़िज़ियॉलोजी को परिणामों की संभाविता के नियम की प्रयुक्ति से विवेचित किया जाता है। सीमित संख्या में किए प्रयोगों से निर्णय लेने में बहुत सावधानी इस दृष्टि से अपेक्षित है कि प्राप्त परिणाम नियंत्रित श्रेणियों से भिन्न है अथवा नहीं।

कठिनाइयों को दूर करने की एक विधि के रूप में औसतों, अर्थात् समांतर माध्य (arithmetic mean), का आश्रय लिया जाता है, जैसे हम कहते हैं, मानव के किसी समुदाय विशेष में प्रति घन मिलिमीटर रक्त में लाल सेलों की औसत संख्या ५ करोड़ २० लाख है। यह विधि यद्यपि सबसे सरल और अति व्यवहृत है, परंतु यह इसलिये असंतोषजनक है कि इससे यह ज्ञात नहीं होता कि माध्य से विचलन किस परिमाण में और आपेक्षिक रूप से कितने अधिक बार (relatively frequent) होता है। हमारे पास यह ज्ञात करने का कोई साधन नहीं रह जाता कि उपर्युक्त उदाहरण में ४ करोड़ ५० लाख सामान्य परास के अंदर है या नहीं। परिणामत:, सांख्यिकी कि परिणामों की अभिव्यक्ति के लिये अधिक यथार्थ साधन के उपयोग का व्यवहार बढ़ता जा रहा है।

उपयोग में आनेवाली एक विधि आवृत्ति आरेख (frequency diagram) है, जिसका एक उदाहरण निम्न आरेख चित्र में दिया है।



स्त्रियों की ऊँचाई का आवृत्ति वक्र

१३७५ स्त्रियों की ऊँचाइयों को नापकर ऐसे दलों में वितरित किया गया जिनमें ऊँचाई का अंतर एक इंच था। यह चित्र ऐसे दलों की बारंबारता का दिग्दर्शन कराता है।

(फिशर द्वारा लिखित 'स्टैटिस्टिकल मेथड्स फॉर रिसर्च वर्कर्स'' से उद्धृत)।

यह बहुसंख्यक व्यष्टियों के कद (stature) के आँकड़ों को निदर्शित करता है। इन्हें १ इंच कद के अंतर के आवृत्ति वर्गों में विभाजित किया गया है। आयत की ऊँचाई भुजाक्ष पर प्रदर्शित ऊँचाई की व्यष्टियों की संख्या की अनुपाती है। समूहित आकृति को आयत चित्र (histogram) कहते हैं। इससे खींचा हुआ निष्कोणित वक्र (smoothed curve), या आवृत्तिवक्र, उस आवृत्ति को प्रदर्शित करता है जिससे दी हुई सीमाओं के अंदर कोई कद हुआ करता है।

फ़िज़ियॉलोजी का विकास — चूँकि किसी विज्ञान की वर्तमान अवस्था को समझने के लिये उसके विकास का इतिहास ज्ञात होना आवश्यक है, इसलिये फ़िज़ियॉलोजी से रुचि रखनेवाले व्यक्ति के लिये उसके इतिहास की रूपरेखा से परिचित होना आवश्यक है। जहाँ तक समग्र विषय के विकास का प्रश्न है, यह ध्यान रखने की बात है कि विज्ञान का कोई अंग अलग से विकसित नहीं हो सकता,

सारणी

नाम	जीवनकाल	महत्वपूर्ण प्रकाशन	
		वर्ष	महत्व
विसेलियस	१५१४-६४ ई०	१५४३ ई०	आधुनिक शारीर का प्रारंभ
हार्वि	१५७८-१६६७ ई०	१६२८ ई०	जीवविज्ञान में प्रायोगिक विधि
माल्पीगि	१६२८-१६९४ ई०	१६६१ ई०	जीवविज्ञान में सूक्ष्मदर्शी के प्रयोग का आरंभ
न्यूटन	१६४२-१७२७ ई०	१६८७ ई०	आधुनिक भौतिकी का विकास
हालर	१७०८-१७७७ ई०	१७६० ई०	फ़िज़ियॉलोजी का पाठ्यग्रंथ
लाव्वाज़ये	१७४३-१७९४ ई०	१७७५ ई०	दहन और श्वसन का संबंध स्थापित हुआ
मुलर जोहैनीज	१८०१-१८५८ ई०	१८३४ ई०	महत्वपूर्ण पाठ्यग्रंथ
श्वान	१८१०-१८८२ ई०	१८३९ ई०	कोशिका सिद्धांत की स्थापना
बेर्नार (Bernard)	१८१३-१८७८ ई०	१८४०-१८७० ई०	महान् प्रयोगवादी
लुटविख (Ludwig)	१८१६-१८९५ ई०	१८५०-१८९० ई०	महान प्रयोगवादी आरेखविधि का आविष्कारक
हेल्महोल्ट्स	१८२१-१८९४ ई०	१८५०-१८९० ई०	भौतिकी की प्रयुक्ति

सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। उदाहरणार्थ, एक निश्चित सीमा तक शारीर (Anatomy) के ज्ञान के बिना फ़िज़ियॉलोजी की कल्पना असंभव थी और इसी प्रकार भौतिकी और रसायन की एक सीमा तक विकसित अवस्था के बिना भी इसकी प्रगति असंभव थी।

आंद्रिस विसेलियस (Andreas Veasilius) द्वारा १५४३ ई० में फ़ेब्रिका ह्यूमनी कार्पोरीज (Fabrica Humani Corporics) के प्रकाशन को आधुनिक शारीर का सूत्रपात मानकर, नीचे हम उन महत्वपूर्ण नामों की सूची प्रस्तुत कर रहे हैं जिन्होंने समय समय पर विषय को युगांतरकारी मोड़ दिया है :

१७९५ ई० में फ़िज़ियॉलोजी की पहली पत्रिका निकली। १८७८ ई० मे इंग्लिश जर्नल ऑव फ़िज़ियॉलोजी तथा १८९८ ई० में अमरीकन जर्नल ऑव फिजियॉलोजी प्रकाशित हुई। १८७४ ई० मे लंदन मे यूनिवर्सिटी कालेज और अमरीका के हार्वर्ड में १८७६ ई० में फ़िज़ियॉलोजी के इंग्लिश चेयर की स्थापना हुई। इस प्रकार हम देखते है कि फिज़ियॉलोजी एक नया विषय है, जिसका प्रारंभ मुश्किल से एक सदी पूर्व हुआ। जीवरसायन और भी नया विषय है तथा फ़िज़ियॉलोजी की एक प्रशाखा के रूप मे विकसित हुआ है।

सं० ग्रं० — एडॉल्फ (१९४३) : फ़िज़ियोलॉजिकल रेग्युलेशन; फ़ॅकलिन (१९४९ ई०) : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव फ़िज़ियॉलोजी, लंदन स्टेप्लस प्रेस। [रा० चं० शु०]

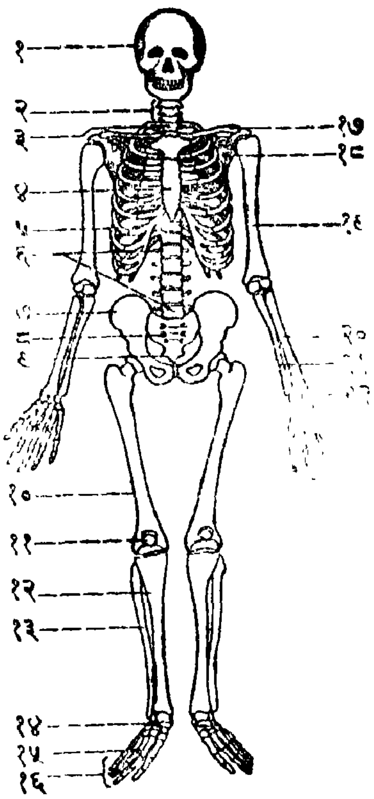
शरीररचना विज्ञान (Anatomy) अनॅटोमि शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है किसी भी जीवित (चल या अचल) वस्तु को काटकर, उसके अंग प्रत्यंग की रचना का अध्ययन करना। अचल में वनस्पतिजगत् तथा चल में प्राणीजगत् का समावेश होता है। जब किसी प्राणी या वनस्पति विशेष की शरीररचना का अध्ययन किया जाता है, तब उसे विशेष शरीररचना (Special Anatomy) अध्ययन कहते हैं। जब एक प्राणी, या वनस्पति, के शरीर की रचना का दूसरे प्राणी या वनस्पति के शरीर की रचना से तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, तब उसे तुलनात्मक शरीररचना (Comparative Anatomy) कहते हैं। जब किसी प्राणी के अंग की रचना का अध्ययन किया जाता है, तब उसे आंगिक शरीररचना (Regional Anatomy) कहते हैं।

व्यावहारिक या लौकिक दृष्टि से मानव शरीररचना का अध्ययन अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। एक चिकित्सक को शरीररचना का अध्ययन कई दृष्टि से करना होता है, जैसे रूप, स्थिति, आकार एवं अन्य रचनाओं से संबंध।

आकारिकीय शरीररचना विज्ञान (Morphological Anatomy) की दृष्टि से मानवशरीर के भीतर अंगों की उत्पत्ति के कारणों का ज्ञान, अन्वेषण का विषय बन गया है। इस ज्ञान की वृद्धि के लिये भ्रूणविज्ञान (Embryology), जीवविकास विज्ञान, जातिविकास विज्ञान एवं ऊतक विज्ञान (Histo-anatomy) का अध्ययन आवश्यक है।

स्वस्थ मानव शरीर की रचना का अध्ययन निम्न भागों में किया जाता है :

१. चिकित्साशास्त्रीय शरीररचना विज्ञान, २. शल्यचिकित्सा शरीररचना विज्ञान (Surgical Anatomy), ३. स्त्री शरीर विशेष रचना विज्ञान, ४. धरातलीय शरीररचना विज्ञान (Surface Anatomy), ५. सूक्ष्मदर्शीय शरीररचना विज्ञान (Microscopic Anatomy) तथा ६. भ्रूण शरीररचना विज्ञान (Embryology)।



कंकाल

१. खोपड़ी; २. ग्रीवा कशेरुक (Cervical vertebra); ३. पहली और दूसरी पृष्ठ कशेरुकाएँ; ४. उरोस्थि (Sternum); ५. पर्शुकाएँ (Ribs); ६. कटि कशेरुकाएँ, ७ इलियम (Ilium); ८. त्रिक (Sacrum); ९. अनुत्रिक; १०. उर्विका (Femur); ११. पटेला (Patella); १२. टिबिया (Tibia); १३. बहिर्जंघिका (Fibula), १४. गुल्फास्थि (Tarsal); १५. प्रपदिका अस्थियाँ (Metatarsal bones); १६. अंगुलास्थियाँ (Phalanges); १७. जत्रुक (Clavicle); १८. अंसफलक (Scapula); १९. प्रगंडिका (Humerus); २०. बहिःप्रकोष्ठिका (Radius); २१. अंतःप्रकोष्ठिका (Ulna); २२. मणिबंधिका अस्थियाँ (Carpal bones); २३. करभिकास्थियाँ (Metacarpal bones); तथा २४. अंगुलास्थियाँ (Phalanges)।

विकृत अंगों की रचना के ज्ञान को विकृत शरीररचनाविज्ञान (Pathological Anatomy) कहते हैं।

मानव की विभिन्न प्रजातियों की शरीररचना का जब तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, तब मानवविज्ञान (Anthropology) का सहारा लिया जाता है। आजकल शरीररचना का अध्ययन सर्वांगी (systemic) विधि से किया जाता है।

शरीररचना विज्ञान को पढ़ने के लिये एक विशेष प्रकार की शब्दावली तथा इन शब्दों की परिभाषाओं को विशेष रूप से पढ़ना होता है।

ईसा से १,००० वर्ष पूर्व महर्षि सुश्रुत ने शवच्छेद कर शरीररचना का पर्याप्त वर्णन किया था। धीरे धीरे यह ज्ञान अरब और यूनान होता हुआ यूरोप में पहुँचा और वहाँ पर इसका बहुत विस्तार एवं उन्नति हुई। शव की संरक्षा के साधन, सूक्ष्मदर्शी, ऐक्सरे आदि के उपलब्ध होने पर शरीररचना विज्ञान का अध्ययन अधिक सूक्ष्म एवं विस्तृत हो गया है।

कोशिका

शरीर का निर्माण करनेवाले जीवित एकक को कोशिका कहते हैं। यह सूक्ष्मदर्शी से देखी जा सकती है। कोशिका एक स्वच्छ लसलसे रस से, जिसे जीवद्रव्य कहते हैं, भरी रहती है। कोशिका को चारों ओर से घेरनेवाली कला को कोशिका भित्ति कहते हैं। कोशिका के केंद्र में न्यूक्लियस रहता है, जो कोशिका पर नियंत्रण करता है। कोशिका के जीवित होने का लक्षण यही है कि उसमें अभिक्रिया, शक्ति, एकीकरण शक्ति, वृद्धि, विसर्जन शक्ति तथा उत्पादन शक्ति, उपस्थित रहे। शरीर का स्वास्थ्य कोशिकाओं के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। कार्यानुसार कोशिकाएँ अपना आकार इत्यादि परिवर्तित कर, भिन्न भिन्न वर्गों में विभाजित होती हैं, जैसे तंत्रिका कोशिका, अस्थि कोशिका, पेशी कोशिका आदि। एक प्रकार की आकृति एवं कार्य करनेवाली कोशिकाएँ मिलकर, एक विशेष प्रकार के ऊतक का निर्माण करती हैं।

ऊतक

ऊतक (Tissues) मुख्यत: पाँच प्रकार के होते हैं: (१) उपकला, (२) संयोजी ऊतक, (३) स्केलेरस ऊतक, (४) पेशी ऊतक तथा (५) तंत्रिका ऊतक।

(१) उपकला (Epithelial tissue) — यह ऊतक शरीर को बाहर से ढँकता है तथा समस्त खोखले अंगों को भीतर से भी ढँकता है। रुधिरवाहिनियों के भीतर ऐसा ही ऊतक, जिसे अंतःस्तर (Endothelium) कहते हैं, रहता है। उपकला के भेद ये है: (क) साधारण, (ख) स्तंभाकार, (ग) रोमश, (घ) स्तरित, (च) परिवर्तनशील तथा (छ) रंजककणकित।

(२) संयोजी ऊतक (Connective tissue) — यह ऊतक एक अंग को दूसरे अंग से जोड़ने का काम करता है। यह प्रत्येक अंग में पाया जाता है। इसके अंतर्गत (क) रुधिर ऊतक, (ख) अस्थि ऊतक, (ग) लस ऊतक तथा (घ) वसा ऊतक आते हैं। (क) रुधिर ऊतक के, लाल रुधिरकणिका तथा श्वेत रुधिरकणिका, दो भाग होते हैं। लाल रुधिरकणिका ऑक्सीजन का आदान प्रदान करती है तथा श्वेत रुधिरकणिका रोगों से शरीर की रक्षा करती है। मानव की लाल रुधिरकोशिका में न्यूक्लियस नहीं रहता है। (ख) अस्थि ऊतक का निर्माण अस्थिकोशिका से, जो चूना एवं फॉस्फ़ोरस से पूरित रहती है, होता है। इसकी गणना हम स्केलेरस ऊतक में करेंगे, (ग) लस ऊतक लसकोशिकाओं से निर्मित है। इसी से लसपर्व तथा टॉन्सिल आदि निर्मित हैं। यह ऊतक शरीर का रक्षक है। आघात तथा उपसर्ग के तुरंत बाद लसपर्व शोथयुक्त हो जाते हैं। (घ) वसा ऊतक दो प्रकार के होते हैं: (अ) एरिओलर तथा (आ) एडिपोस।

इनके अतिरिक्त (१) पीत इलैस्टिक ऊतक, (२) म्युकाइड ऊतक, (३) रंजक कणकित संयोजी ऊतक, (४) न्यूराग्लिया आदि भी संयोजी ऊतक के कार्य, आकार, स्थान के अनुसार भेद हैं।

(३) स्केलेरस ऊतक — यह संयोजी तंतु के समान होता है तथा शरीर का ढाँचा बनाता है। इसके अंतर्गत अस्थि तथा कार्टिलेज आते हैं। कार्टिलेज भी तीन प्रकार के होते हैं: (अ) हाइलाइन, (आ) फाइब्रो-कार्टिलेज तथा (इ) इलैस्टिक फाइब्रो-कार्टिलेज या पीत कार्टिलेज।

(४) पेशी ऊतक — इसमें लाल पेशी तंतु रहते हैं, जो संकुचित होने की शक्ति रखते हैं। (अ) रेखांकित या ऐच्छिक पेशी ऊतक वह है जो शरीर को नाना प्रकार की गतियाँ कराता है, (आ) अनैच्छिक या अरेखांकित पेशी ऊतक वह है जो आशयों की दीवार बनाता है तथा (इ) हृत् पेशी ऊतक रेखांकित तो है, परंतु ऐच्छिक नहीं है।

(५) तंत्रिका ऊतक — इसमें संवेदनाग्रहण, चालन आदि के गुण होते है। इसमें तंत्रिका कोशिका तथा न्यूराग्लिया रहता है। मस्तिष्क के धूसर भाग में ये कोशिकाएँ रहती हैं तथा श्वेत भाग में न्यूराग्लिया रहता है। कोशिकाओं से ऐक्सोन तथा डेंड्रॉन नामक प्रवंध निकलते हैं। नाना प्रकार के ऊतक मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों (organs) का निर्माण करते हैं। एक प्रकार के कार्य करनेवाले विभिन्न अंग मिलकर एक तंत्र (system) का निर्माण करते हैं।

तंत्र

शरीर का निर्माण निम्नलिखित तंत्रों द्वारा होता है: (१) अस्थि तंत्र, (२) संधि तंत्र, (३) पेशी तंत्र, (४) रुधिर परिवहन तंत्र, (५) आशय तंत्र . (क) श्वसन तंत्र, (ख) पाचन तंत्र, (ग) मूत्र एवं जनन तंत्र, (६) तंत्रिका तंत्र तथा (७) ज्ञानेंद्रिय तंत्र।

(१) अस्थि तंत्र — मानव अस्थिपंजर के ज्ञान जैसे अस्थि की उत्पत्ति, वृद्धि, अस्थिप्रसु कोशिका, अस्थि भंजक कोशिका आदि, के संबंध में काफी उन्नति हुई है। अस्थियों द्वारा मानव एवं पशु की भिन्नता का ज्ञान होता है तथा लिंग एवं वय का निश्चय किया जा सकता है। अस्थियों एवं कार्टिलेज के द्वारा

शरीर के ढाँचे का निर्माण होता है। अस्थियाँ आकार एवं कार्य के अनुसार चार प्रकार की होती हैं : (क) दीर्घ, (ख) ह्रस्व, (ग) सपाट तथा (घ) अऋजु। अस्थियों के निम्न कार्य होते हैं : (अ) शरीर को आकार प्रदान करना, (आ) शरीर को सहारा एवं दृढ़ता प्रदान करना, (इ) शरीर की रक्षा करना, (ई) कार्य के लिये लीवर तथा संधियाँ प्रदान करना और (उ) पेशियों को संलग्न तथा शरीर को गति प्रदान करना। अस्थि कोशिकाओं से निर्मित ऊतक से अस्थियाँ बनती हैं। अस्थियों द्वारा रुधिरकणों का निर्माण भी होता है। हमारे शरीर में कुल मिलाकर २०६ अस्थियाँ होती हैं, जो इस प्रकार हैं : खोपड़ी में २२ अस्थियाँ, रीढ़ में २६ अस्थियाँ -- ३३ कशेरुक, इनमें से क्रम ५ कशेरुक से मिलकर तथा काक्सिक्स ४ कशेरुक से मिलकर बनता है। यदि इन्हें १-१ माना जाय, तो कुल अस्थियाँ २६ ही होंगी, वक्ष तथा पर्शुकाओं, में २५ अस्थियाँ, (ऊर्ध्व शाखा) बाहु आदि में ६४, अध: शाखा (जाँघ आदि) में ६२ अस्थियाँ, हायॉइड अस्थि १ तथा श्रोत अस्थिका ६। लंबी नलिकाकार अस्थियों में मज्जा होती है, जो रुधिर कण बनाती है। ऐक्सकिरण से देखने पर अस्थियाँ अपारदर्शक होती हैं।

(२) **संधि तंत्र** — दो या अधिक अस्थियों के जोड़ को संधि कहते हैं। इसमें स्नायु (ligaments) सहायक होते हैं। संधियाँ कई प्रकार की होती हैं। गति के अनुसार इनके भेद निम्नलिखित हैं :

(क) चल संधियाँ, जैसे स्कंध संधि (Shoulder joint)। चल संधियों के प्रभेदों में हैं (अ) फिसलनेवाली संधियाँ, जैसे रीढ़ की संधियाँ, (आ) खूँटीदार संधियाँ, जैसे प्रथम, द्वितीय कशेरुक तथा पश्च कपालास्थि संधि, (इ) कब्जेनुमा संधि, जैसे कूर्पर संधि तथा (ई) गेंद गड्ढा संधि, जैसे वंक्षण संधि।

(ख) अचल संधियाँ, जैसे करोटि और कपाल संधि (cranial suture)।

(ग) अल्प गतिशील संधियाँ—भगास्थि संधि।

आकृति के अनुसार संधियों का वर्गीकरण निम्नलिखित है : (क) तांतव संधि (fibrous joint), (ख) उपास्थि संधि (cartilaginous joint) तथा (ग) स्नेहक संधि (synovial joints)।

(क) **तांतव संधि**—इसके उदाहरण कपाल संधियाँ, दाँत के उलूखल तथा जंघिकांतर संधि (tibiofibular joint)।

(ख) **उपास्थि संधि** — यह दो प्रकार की होती है। इसमें अल्पगति होती है, जैसे भगास्थि संधि।

(ग) **स्नेहक संधि** — इसके अंतर्गत प्राय: शरीर की समस्त संधियाँ आती हैं। इस प्रकार की संधियाँ विभिन्न गतियों के अनुसार अनेक वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं।

संधियों के ऊपर से पेशियाँ गुजरती हैं तथा उन्हें गति प्रदान करती हैं। संधियों की अपनी रुधिर वाहिकाएँ होती हैं। संधियों का विलगना चोट लगने से होता है। इसे संधिभ्रंश कहते हैं। संधियों की स्नायु पर आघात होने को मोच कहते हैं।

(३) **पेशी तंत्र** — पेशियों का निर्माण कई पेशी तंतुओं के मिलने से होता है। ये पेशीतंतु पेशीऊतक से बनते हैं। पेशियाँ रचना एवं कार्य के अनुसार तीन प्रकार की होती हैं : (क) रेखित (striated) या ऐच्छिक, (ख) अरेखित या अनैच्छिक तथा (ग) हृदयपेशी (cardiac)। ऐच्छिक पेशियाँ, अस्थियों पर संलग्न होती हैं तथा संधियों पर गति प्रदान करती है। पेशियाँ नाना आकार की होती है तथा कंडरा (tendon) या वितान (aponeurosis) बनाती हैं। तंत्रिका तंत्र के द्वारा ये कार्य के लिये प्रेरित की जाती हैं। पेशियों का पोषण रुधिरवाहिकाओं के द्वारा होता है। शरीर में प्राय: ५०० पेशियाँ होती हैं। ये शरीर को सुंदर, सुडौल, कार्यशील बनाती हैं। इनका गुण संकुचन एवं प्रसार करना है। कार्यों के अनुसार इनके नामकरण किए गए हैं। शरीर के विभिन्न कार्य पेशियों द्वारा होते हैं। कुछ पेशी समूह एक दूसरे के विरुद्ध भी कार्य करते हैं, जैसे एक पेशी समूह हाथ को ऊपर उठाता है, तो दूसरा पेशी समूह हाथ को नीचे करता है, अर्थात् एक समूह संकुचित होता है, तो दूसरा विस्तृत होता है।

पेशियाँ सदैव स्फूर्तिमय (toned) रहती हैं। मृत व्यक्ति में पेशी रस के जमने से पेशियाँ कड़ी हो जाती हैं। मांसवर्धक पदार्थ खाने से, उचित व्यायाम से, ये शक्तिशाली होती हैं। कार्यरत होने पर इनमें थकावट आती है तथा आराम एवं पोषण से पुन: सामान्य हो जाती है।

(४) **रुधिर परिसंचरण तंत्र** — इस तंत्र में हृदय, इसके दो अलिंद, दो निलय, उनका कार्य, फुप्फुस में रुधिर शोधन तथा प्रत्येक अंगों को शुद्ध रुधिर ले जानेवाली धमनियाँ एवं हृदय में अशुद्ध रुधिर को वापस लानेवाली शिराएँ रहती हैं।

रुधिर परिसंचरण तीन चक्रों में विभक्त किया जा सकता है : (१) फुप्फुसीय, (२) संस्थानिक तथा (३) पोर्टल। फुप्फुस एवं वृक्क में जानेवाली धमनियाँ अशुद्ध रुधिर ले जाती हैं तथा वहाँ से शुद्ध किया हुआ रुधिर वापस शिराओं से हृदय को वापस आता है। शरीर में धमनियों का जाल होता है तथा उनकी शाखाएँ एवं प्रशाखाएँ एक दूसरे से मिल जाती हैं, जिससे एक के कटने पर दूसरी से अंग को रुधिर पहुँचाया जाता है। मस्तिष्क की तथा हृदय की धमनियाँ अंत धमनियाँ कहलाती हैं, क्योंकि इनकी शाखाएँ आपस में संगम नहीं करतीं।

गर्भ के रुधिर परिवहन तथा गर्भावस्था के पश्चात् के रुधिर परिवहन में अंतर होता है। गर्भ में रुधिर का शोधन फुप्फुस द्वारा नहीं होता। इसी तंत्र में लस वाहिनियों का वर्णन भी किया जाता है। लसपर्व शरीर के रक्षक होते हैं। शोथ, उपसर्ग तथा आघात होने पर ये फूल जाते हैं।

रुधिर में प्लाज्मा, लाल रुधिर कोशिकाएँ, श्वेत रुधिर कोशिकाएँ आदि रहती हैं। मानव के एक घन मिमि० रुधिर में ५०,००,००० लाल रुधिर कोशिकाएँ तथा ६,००० से ९,००० तक श्वेत रुधिर कोशिकाएँ रहती हैं। शरीर में रुधिर नहीं जमता, पर शरीर से बाहर निकलते ही रुधिर जमने लगता है। (देखें रुधिर)।

ऊर्ध्व एवं अध: महाशिराएँ समस्त शरीर के रुधिर को हृदय

के दक्षिण में अलिंद में लाती हैं, जहाँ से रुधिर दक्षिणी निलय में जाता है। निलय से रुधिर हृदय के स्पंदन के कारण फुप्फुसीय धमनी द्वारा फुप्फुस में शोधन के लिये जाता है तथा शुद्ध होने के बाद वह फुप्फुसीय शिराओं द्वारा बाएँ अलिंद में आता है। बाएँ अलिंद के संकुचन के कारण रुधिर बाएँ निलय में जाता है, जहाँ से महाधमनी एवं उसकी शाखाओं द्वारा समस्त शरीर में जाता है। शिराओं में अशुद्ध रुधिर और धमनियों में शुद्ध रुधिर रहता है, पर फुप्फुसीय धमनी एवं वृक्क धमनी इसका अपवाद हैं। हृदय का स्पंदन एक मिनट में ७२ बार होता है। हृदय हृदयावरण से आवृत रहता है। अलिंद तथा निलय के मध्य कपाट रहते हैं, जो रुधिर को विपरीत दिशा में जाने से रोकते हैं (देखें **हृदय**)।

(५) **आशय तंत्र** — इसके अंतर्गत निम्नलिखित आशय आते हैं :

(क) **श्वसन तंत्र** — इस तंत्र में श्वासोच्छ्वास क्रिया में काम करनेवाले समस्त अंगों की रचना का वर्णन आता है। इसमें नासा, कंठ, स्वरयंत्र, श्वासनली, श्वसनिका फुप्फुस, फुप्फुसावरण तथा उन पेशियों का, जो श्वासोच्छ्वास क्रिया कराती हैं, वर्णन मिलता है। इस तंत्र द्वारा रुधिर का शोधन होता है। मनुष्य एक मिनट में १६-२० बार श्वास लेता है (देखें **श्वसनतंत्र**)।

(ख) **पाचन तंत्र** — इस तंत्र में वे सब अंग संमिलित हैं, जो भोजन के पाचन, अवशोषण, चयोपचय से संबधित है, जैसे ओष्ठ, दाँत, जिह्वा, कंठ, अन्ननलिका, आमाशय, पक्वाशय, लघु आंत्र, बृहत् आंत्र, मलाशय, यकृत अग्न्याशय (pancreas) तथा लाला-ग्रंथियाँ। अन्न नलिका १० इंच लंबी होती है तथा विशेषतः वक्ष गुहा में रहती है। आंत्र की लंबाई २० फुट होती है। पक्वाशय अंग्रेजी के सी (C) के आकार का, अग्न्याशय के चारों ओर, १० इंच लंबा होता है। यकृत (देखें **यकृत**) उदर गुहा में ऊपरी तथा दाहिनी ओर रहता है। इसका भार १½ किलोग्राम है तथा यह खंडों में विभाजित रहता है। इसके पास में पित्ताशय होता है। यकृत में पित्त का निर्माण होता है। उदर गुहा के ये सब अंग पेरिटोनियम कला से आवृत रहते हैं। इस कला के दो भाग होते हैं : एक वह जो गुहाभित्ति पर लगा रहता है, दूसरा आशयों पर संलग्न रहता है। यह कला फुप्फुसावरण तथा मस्तिष्कावरण के समान ही है। पेरिटोनियम कला की गुहा, इसके दो स्तरों के मध्य में होती है, जिसमें जल का पतला स्तर होता है, परंतु स्त्रियों में डिंबवाहिनी गुहा, गर्भाशय गुहा तथा योनि गुहा द्वारा यह बाह्य वातावरण में खुलती है। इस पेरिटोनियम कला की परतों के द्वारा आशय उदर गुहा में लटके रहते हैं।

(ग) **मूत्र तथा जनन तंत्र** — इन तंत्रों का वर्णन निम्नलिखित है :

(१) **मूत्रतंत्र** — मूत्राशय, मूत्रनली, प्रोस्टेटग्रंथि तथा इनकी रुधिर वाहिनियाँ आदि इस तंत्र के अंतर्गत हैं। वृक्क के दो गोले कटि कशेरुक के दोनों ओर रहते हैं। ये रुधिर से मूत्र को पृथक् करते हैं। यह मूत्र, गवनियों द्वारा मूत्राशय में एकत्रित होता है तथा वहाँ से मानव के इच्छानुसार मूत्रनली से बाहर निकलता है। गवनियों की लंबाई १० इंच होती है। मूत्राशय भगास्थि के पीछे श्रोणि गुहा में रहता है तथा मूत्र के मात्रानुसार आकार में फैलता जाता है। पुरुषों में मूत्र नली की लंबाई ७½ इंच तथा स्त्रियों में मूत्र नली की लंबाई १½ इंच होती है (देखें **मूत्रतंत्र**)।

(२) **जनन तंत्र** — पुरुषों एवं स्त्रिय में जनन तंत्र के भिन्न भिन्न अंग हैं। पुरुष के अंडकोष में दो अंड ग्रंथियाँ रहती हैं। यहाँ पर शुक्राणु का निर्माण होता है। ये शुक्राणु शुक्रवाहिनियों द्वारा श्रोणिगुहा स्थित शुक्राशयों में ले जाए जाते हैं। वहाँ शुक्राशय द्रव इनमें मिल जाता है। दोनों शुक्राशय मूत्रनली के पुरस्थ भाग में खुलते हैं। मैथुन द्वारा पुरुष अपने शुक्र का त्याग मूत्रनली द्वारा करता है। स्त्रियों में भगास्थि तथा मूत्राशय के पीछे स्थित ऊर्ध्व, लंबा गर्भाशय स्थित है। श्रोणि गुहा में दोनों ओर बादाम के समान दो ग्रंथियाँ रहती हैं, जिन्हें डिंब ग्रंथियाँ कहते हैं। इनमें ग्राफियन पुटिका (Graafian follicle) से डिंब का निर्माण होता है। डिंब प्रति मास डिंब वाहिनियों द्वारा ग्रहण किया जाता है और वहाँ शुक्राणु द्वारा प्रफलित होने पर गर्भाशय मे अवस्थित होकर, वृद्धि प्राप्त करता है, अथवा प्रति मास गर्भाशय अंतर्कला के टूटकर निकलने से होनेवाले मासिक रुधिरस्राव के साथ, यह अप्रफलित डिंब बाहर फेंक दिया जाता है। (देखें **जननतंत्र**)।

(६) **तंत्रिका तंत्र** — इसको दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : (अ) केंद्रीय तंत्रिका तंत्र तथा (आ) स्वतंत्र तंत्रिका तंत्र।

(अ) केंद्रीय तंत्रिका तंत्र को मस्तिष्क मेरु तंत्रिका तंत्र भी कहते हैं। इसके अंतर्गत अग्र मस्तिष्क, मध्यमस्तिष्क, पश्च मस्तिष्क, अनुमस्तिष्क, पौंस, चेतक, मेरुशीर्ष, मेरु एवं मस्तिष्कीय तंत्रिकाओं के १२ जोड़े तथा मेरु तंत्रिकाओं के ३१ जोड़े होते हैं (देखें **तंत्रिका-तंत्र तथा मस्तिष्क**)।

मस्तिष्क करोटि गुहा में रहता है तथा तीन कलाओं से, जिन्हें तानिकाएँ कहते हैं (देखें **तंत्रिकाएँ**), आवृत रहता है। भीतरी दो कलाओं के मध्य में एक तरल रहता है, जो मेरुद्रव कहलाता है। यह तरल मस्तिष्क के भीतर पाई जानेवाली गुहाओं में तथा मेरु की नालिका मे भी भरा रहता है। मेरु कशेरुक नलिका में स्थित रहता है तथा मस्तिष्कावरणों से आवृत रहता है। यह तरल इन अंगों को पोषण देता है, इनकी रक्षा करता है तथा मलों का विसर्जन करता है।

मस्तिष्क मे बाहर की ओर धूसर भाग तथा अंदर की ओर श्वेत भाग रहता है तथा ठीक इससे उल्टा मेरु में रहता है। मस्तिष्क का धूसर भाग सीताओं के द्वारा कई सिलवटों से युक्त रहता है। इस धूसर भाग मे ही तंत्रिका कोशिकाएँ रहती हैं तथा श्वेत भाग संयोजक ऊतक का होता है। तंत्रिकाएँ दो प्रकार की होती हैं : (१) प्रेरक (Motor) तथा (२) संवेदी (Sensory)।

मस्तिष्क के बारह तंत्रिका जोड़ों के नाम निम्नलिखित हैं (देखें **तंत्रिका**) : (१) घ्राण तंत्रिका, (२) दृष्टि तंत्रिका, (३) अक्षिप्रेरक तंत्रिका, (४) चक्रक (Trochlear) तंत्रिका, (५) त्रिक तंत्रिका, (६) उद्विवर्तनी तंत्रिका (Abducens), (७) आनन तंत्रिका, (८) श्रवण तंत्रिका, (९) जिह्वा कंठिका तंत्रिका, (१०) वेगस,

तंत्रिका (Vagus), (११) मेरु सहायिका तंत्रिका तथा (१२) अधोजिह्वक (Hypoglossal) तंत्रिका। मस्तिष्क एवं मेरु के धूसर भाग में ही संज्ञा केंद्र एवं नियंत्रण केंद्र रहते हैं। मेरु में संवेदी (पश्च) तथा चेष्टावह (अग्र) तंत्रिका मूल रहते हैं :

अग्र मस्तिष्क दो गोलार्धों में विभाजित रहता है तथा इसके भीतर दो गुहाएँ रहती हैं, जिन्हें पार्श्वीय निलय कहते हैं। संवेदी तंत्रिकाएँ शरीर की समस्त संवेदनाओं को मस्तिष्क में पहुँचाकर अनुभूति देती हैं तथा चेष्टावह तंत्रिकाएँ वहाँ से आज्ञा लेकर अंगों से कार्य कराती हैं। केंद्रीय तंत्रिकाएँ विशेष कार्यों के लिये होती हैं। इन सब तंत्रिकाओं के अध तथा ऊर्ध्व केंद्र रहते है। जब कुछ क्रियाएँ अध: केंद्र कर देते हैं तथा पश्च ऊर्ध्व केंद्रों को ज्ञान प्राप्त होता है, तब ऐसी क्रियाओं को प्रतिवर्ती क्रियाएँ (Reflex action) कहते हैं। ये क्रियाएँ मेरु से निकलनेवाली तंत्रिकाओं तथा मेरु केंद्रों से होती हैं। मस्तिष्क का भार ४० औंस होता है। मस्तिष्क की धमनियाँ अंतः धमनियाँ होती है, अतः इनमे अवरोध होने पर, या इनके फट जाने पर, संबंधित भाग को पोषण मिलना बंद हो जाता है, जिसके कारण यह केंद्र कार्य नही करता, अत. उस केंद्र से नियंत्रित क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इसे ही पक्षाघात (Paralysis) कहते हैं (देखें पक्षाघात)।

(आ) स्वतंत्र तंत्रिका तंत्र — यह स्वेच्छा से कार्य करता है। इसमें एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करनेवाली अनुकंपी (sympathetic) तथा सहानुकंपी (parasympathetic), दो प्रकार की तंत्रिकाएं रहती हैं। शरीर के अनेक कार्य, जैसे रुधिरपरिसंचरण पर नियंत्रण, हृदयगति पर नियंत्रण आदि स्वतंत्र तंत्रिका से होते है। अनुकंपी शृंखला करोटि गुहा से श्रोणि गुहा तक कशेरुक दंड के दोनों ओर रहती है तथा इसमें कई गुच्छिकाएँ (ganglions) रहती है।

(७) ज्ञानेंद्रिय तंत्र — इनका वर्णन निम्नलिखित है :

(क) घ्राणेंद्रिय — इसका अंग नासा है। इसके द्वारा गंध का ज्ञान होता है। नासा छत से घ्राण तंत्रिका गंध के ज्ञान को मस्तिष्क में ले जाती है।

(ख) स्वादेंद्रिय — जिह्वा पर के स्वादांकुर इसका अंग होते हैं, जो विभिन्न प्रकार के स्वादों को भिन्न भिन्न स्थानों से ग्रहण करते हैं।

(ग) दृष्टींद्रिय — इसका मुख्य अंग नेत्र है। नेत्र गोलक फोटो कैमरा के समान है। यह श्वेत पटल, मध्य पटल, तथा अंत पटल (रेटिना) से निर्मित है। इसमें रेटिना ही दृष्टींद्रिय का काम करता है। नेत्रगोलक छिद्र, या तारा (pupil), से प्रकाश भीतर जाता है। तारा पर आइरिस (iris) रहता है, जो तारे का संकोच और प्रसार कराता है। यह प्रकाश अग्र कक्ष के तरल, लेंस तथा पश्च कक्ष के तरल से होकर रेटिना पर पड़ता है, जहाँ से दृष्टि नाड़ियाँ इस ज्ञान को अग्र मस्तिष्क की अनुकपाल पालि (occipital lobe) को ले जाती हैं। रेटिना तंत्रिका तंत्र का ही भाग है। सबसे बाहर नेत्र में कॉर्निया (cornea) तथा उसपर एक कला रहती है। नेत्र के पास ही अक्षिगुहा मे अश्रुग्रंथि एवं अश्रुथैली रहती हैं। अश्रु अश्रुथैली में इकट्ठा रहता है (देखें नेत्र)।

(घ) श्रवणेंद्रिय — इसका अंग कर्ण है। कर्ण तीन विभागों में विभक्त है : बाह्य, मध्य एवं अंत। बाह्य कर्ण के आंतरिक छोर पर स्थित श्रवण पटल पर शब्द के कारण, ध्वनि लहरियों के रूप में होते हैं, जिन्हें मध्य कर्ण की तीन अस्थियाँ, मैलियस (Malleus), इंकस (Incus) तथा स्टेपीज (Stapes) ग्रहण करती हैं तथा अंतकर्ण के कर्णावर्त (cochlea) की ओर भेजती हैं। कर्णावर्त में तरल रहता है तथा श्रवण तंत्रिकाओं द्वारा ध्वनि का ग्रहण कर अग्र मस्तिष्क की शंखपालि (temporal lobe) में श्रवण का कार्य होता है। कर्ण शंखास्थि मे स्थित है। अंतकर्ण में स्थित अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ संतुलन का काम करती हैं (देखें कान)।

(घ) स्पर्शेंद्रिय — इसके अंतर्गत त्वचा आती है। त्वचा से ही गरमी ठंढक, मृदुता, कठोरता, पीड़ा, स्पर्श आदि का ज्ञान होता है। त्वचा के दो भाग होते हैं . (१) बाह्य त्वचा तथा (२) अंतस्त्वचा। तलुए और हथेली में त्वचा की मोटाई मुख की त्वचा की मोटाई से १० गुनी होती है। त्वचा शरीर को बाहर से आवृत्त कर रक्षा एवं मलविसर्जन भी करती है। त्वचा में एक स्तर रंजक कणों का भी होता है। त्वचा में रोमकूप तथा स्वेद ग्रंथियाँ भी होती हैं। त्वचा ताप का नियंत्रण भी करती है। इसी तरह त्वचा में अवशोषण का कार्य भी होता है। त्वचा में नख शय्या भी होती है (देखें त्वचा)।

भ्रूण विज्ञान

इसके अंतर्गत शुक्राणु, डिंब, उनका निर्माण, संमिलन, गर्भाशय में स्थिति, पोषण, जरायु, अपरा का निर्माण, भ्रूण की साप्ताहिक एवं मासिक वृद्धि, भ्रूण के भिन्न भिन्न अंगो प्रत्यंगों, संस्थानों का निर्माण तथा यमल के निर्माण का संपूर्ण विषय आता है। आजकल इस संबंध मे ज्ञान की अभिवृद्धि बहुत हो गई है, अतः यह अब एक भिन्न शास्त्र ही माना जाने लगा है। इसके अध्ययन के अंतर्गत आनुवंशिकी, प्रायोगिक भ्रूण विज्ञान तथा रासायनिक भ्रूण विज्ञान भी आता है। जन्मजात विकृतियों का अध्ययन भी इसके अंतर्गत आता है। शरीर के मुख्य अंग हैं : शिर, ग्रीवा, वक्ष, उदर, हाथ और पैर होते हैं। शरीर की गुहाएँ हैं : (अ) शिरो गुहा, (आ) वक्षगुहा तथा (इ) उदर गुहा। वक्षगुहा और उदरगुहा महाप्राचीरा पेशी द्वारा विलग की जाती है। उदर गुहा में वास्तविक उदरगुहा तथा श्रोणि गुहा दोनों का समावेश होता है।

वाहिनीहीन ग्रंथियाँ

इनके अंतर्गत पीयूष ग्रंथि, थाइरॉइड (thyroid), पैराथाइरॉइड, थायमस, अधिवृक्क, पैंक्रियस (pancreas), अंड ग्रंथि, अथवा डिंब ग्रंथि, तथा पीनियल (penial) ग्रंथि आती हैं। पीयूष ग्रंथि इन सबकी निदेशक और संचालक है। यह शिरोगुहा में अपने खात में मस्तिष्क के अध. रहती है। इसके कई स्राव हैं, जो भिन्न भिन्न कार्य करते हैं। थाइरॉइड, पैराथाइरॉइड ग्रीवा में सामने की ओर स्थित हैं। थायमस हृदय के सामने युवावस्था तक रहती है। अधिवृक्क ग्रंथि वृक्क के ऊपर रहती है। पैंक्रियस में स्थित लेंगरहैंस के द्वीप वस्तुतः अंत.स्रावी ग्रंथियाँ हैं। यह ग्रहणी (duodenum) के घेरे में उदर गुहा के पश्चभाग में रहते हैं। पुरुष में

ड ग्रंथि अंडकोष में तथा स्त्रियों में डिंब ग्रंथि श्रोणि गुहा में रहती । पीनियल ग्रंथि मस्तिष्क में रहती है ।

धरातलीय शरीररचना विज्ञान

शरीर शास्त्र की यह महत्वपूर्ण शाखा है और शल्य चिकित्सा या रोग निदान में अत्यंत सहायक होती है। इसी से ज्ञात होता है ; वाहिनी दसवीं पर्शुका के कार्टिलेज के नीचे पित्ताशय रहता है, । हृदय का शीर्ष (apex) ५ वीं अंतरपर्शुका से सटा, शरीर की ध्य रेखा से ६ सेमी० बाईं ओर होता है, अथवा भगास्थि, ट्यूबरकल १ सेमी० ऊपर होती है तथा १ सेमी० पार्श्व में बाह्य उदरी मुद्रिका द्र रहता है। शरीर में स्थित जहाँ बिंदु, त्वचा पर पहचाने जा कते हैं, वहाँ से त्वचा के अंतःस्थित अंगों को त्वचा पर खींचकर, स स्थान पर काटने पर वही अंग हमें मिलना चाहिए।

इसी प्रकार इस शास्त्र को अध्ययन करने की एक और विधि है जसमें एक्सरे से सहायता लेते हैं। इसे रेडियोलोजिकल अनैटोमी हते हैं। अस्थियों के अतिरिक्त अब धमनियों, वृक्क, मूत्राशय आदि नेक अंगों की रचना तथा स्थिति का अध्ययन इससे करते हैं। इससे ंगो की वास्तविक रचना तथा विकृत रचना दोनों का ज्ञान ाप्त होता है। [ल० शं० वि० गु० तथा अ० ति०]

ार्करा देखें चीनी ।

ार्मा, केदार का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशी सं० १६५४ में ागलपुर जिले के साहबगंज में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा हीं हुई किंतु बाद में ये काशी चले आए। इन्होंने प्रयाग के इंडियन स में जर्मन कलाकार लुई जोमर के सान्निध्य में चित्रकला की ाधना की। इनका घर का नाम नारायण था किंतु कलाजगत् में चत्रकार केदार के नाम से प्रसिद्ध हुए। कलम और कूची के समान प से धनी थे। बनारस, बनारसी रंग और जीवन इनकी कला और ाहित्य में विशेषतः व्यंजित हुए। रंग और रेखाओं के अंकन में बड़े सद्ध थे। १६२० में केदार जी ने अपनी व्यंग्य और हास्यमूलक नुभूतियों को आकार देना शुरू किया और १६२५ तक पौराणिक, ाहित्यिक और राजनीतिक संदर्भों में अनेक व्यंग्य चित्र प्रस्तुत कए। कलाक्षेत्र में ये प्रथम चित्रकार थे जिन्होंने सांस्कृतिक विषयों को ाकर हास्य चित्र बनाए। इन्होंने व्यंग्य चित्रों की कई सीरीज नलाई थी। इनमें व्यंग्य करने की अद्‌भुत क्षमता थी। बिहारी ातसई के दोहों पर अनेक व्यंग्य चित्र बनाए जो प्रयाग की प्रसिद्ध ात्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। इन चित्रों की विशेषता यह ही है कि आकृतियों में मूल प्रकृति और भावना का हनन नहीं ुआ। इनके राजनीतिक कार्टूनों में बड़ा तीखापन था। इन्होंने मंडूक मेश्र के नाम से दैनिक 'आज' में धारावाहिक रूप से व्यंग्य चित्र ास्तुत किए। व्यक्तिचित्र, हास्यचित्र, रेखाचित्र और व्यंग्यचित्रों ें इनकी समान गति थी। ये यथार्थवादी शैली के चित्रकार थे। भारतेंदु और निराला जैसे साहित्यकारों पर इन्होंने प्रतीकात्मक चत्र बनाए थे। दो युगों तक हिंदीजगत् में एकमात्र पुस्तक-चित्र-ार थे। इनके भावचित्र बड़े मार्मिक होते थे। लेखक के रूप में नके व्यक्तिव्यंजक निबंधों को हिंदी संसार में मान्यता मिली। इनके ारंभिक निबंध 'खिलौना', 'बालसखा', 'चाँद' और माधुरी' में और व्यक्तिव्यंजक निबंध 'आज' के रविवारी अंकों में प्रकाशित हुए जिनके लिये चित्रों की डिजाइन भी ये स्वयं बना देते थे। कुछ वर्षों तक 'आज' और 'तरंगिनी' में व्यंग्य चित्रकार के रूप में काम किया। संगीत में गहरी अभिरुचि थी। स्वयं सुरीले बाँसुरी वादक थे और हारमोनियम भी अच्छा बजाते थे। इनके शिष्य कलाजगत् में बहुविधि कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी सं० २०२३ वि० को काशी में स्वर्गवास हुआ। इनकी छोटी लड़की श्रीमती श्यामलता तिवारी बंबई में ख्यातिप्राप्त चित्रकार हैं।

[पा० ना० सि०]

शर्मा, चंद्रधर, गुलेरी जन्म सं० १६४० (१८८३ ई०) में हुआ। पिता पंडित शिवराम संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता की ख्याति सुनकर जयपुर नरेश रामसिंह ने उन्हें अपने दरबार में बुला लिया था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार चंद्रधर शर्मा ने शैशव में ही अपनी प्रतिभा का परिचय दे दिया था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा विद्वान् पिता से हुई। छह सात वर्ष की अवस्था मे ही वे अच्छे प्रकार संस्कृत में बोलने लगे। सं० १६५६ वि० (१८६६ ई०) में प्रयाग विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त किया। इसके पश्चात् इन्होंने अपने अध्ययन क्रम में ही जयपुर के मानमंदिर के उद्धार में दो विदेशी विद्वानों की सहायता की तथा लेफ्टिनेंट गरट के साथ (The Jaipur Observatory and its Builder) ग्रंथ लिखा और इस कार्य के एक वर्ष के पश्चात् सं० १६६० (१६०३ ई०) मे प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए किया। वे दर्शन शास्त्र में एम० ए० करना चाहते थे, किंतु जयपुर के महाराजा के आग्रह से उन्हें अध्ययन छोड़कर खेतड़ी के राजा जयसिंह के संरक्षक तथा शिक्षक बनकर मेयो कालेज, अजमेर जाना पड़ा। कुछ वर्ष पश्चात् वे वहीं संस्कृत के प्रधानाध्यापक हो गए। परंतु उनके अपने स्वाध्याय में व्याघात नहीं पड़ा। वे अति प्रतिभावान् थे। संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश पर तो उनका असाधारण अधिकार था ही, मराठी, बँगला, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने साहित्य, ज्योतिष, दर्शन, भाषाविज्ञान, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व का गंभीर अध्ययन किया। गुलेरी जी की प्रतिभा एवं विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही महामना मालवीय जी ने उन्हें काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग में 'मणींद्रचंद्र नंदी' पीठ का आचार्य (प्रोफेसर) और साथ ही प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान महाविद्यालय का प्रधानाचार्य नियुक्त किया। परंतु भारतीय वाङ्मय का यह दुर्भाग्य था कि सं० १६७६ (सन् १६२२ ई०) में केवल ३६ वर्ष की आयु में गुलेरी जी का निधन हो गया।

गुलेरी जी ने वर्षों तक 'समालोचक' का बड़ी ही योग्यता से संपादन किया था। उनके शोधपूर्ण लेखों ने इस पत्र का स्तर अति उन्नत बना दिया था। भाषा, संस्कृति, इतिहास, दर्शन आदि का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं था जिसपर गुलेरी जी ने साधिकार कुछ न लिखा हो। उनकी अधिकांश रचनाएँ हिंदी में ही हैं। हिंदी के प्रति उन्हें विशेष अनुराग था। काशी की 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के संपादकों में उनका विशिष्ट स्थान था। गुलेरी जी की प्रेरणा से ही

शाहपुरा के राजा श्री उम्मेद सिंह जी ने अपनी स्वर्गीया पत्नी सूर्यकुमारी जी की स्मृति में नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान में सूर्यकुमारी पुस्तकमाला चलाने के लिये प्रचुर दान दिया। वर्षों तक इस पुस्तकमाला का संपादन गुलेरी जी ने ही किया।

ग्रंथरचना की अपेक्षा गुलेरी जी ने स्फुट रूप में साहित्य, भाषा विज्ञान एवं आलोचना के क्षेत्र में लेख अधिक लिखे। उनकी भाषा और शैली की प्रमुख विशेषता है सजीवता, संकेतमयता, वक्रता एवं व्यंजनामयता। यद्यपि गुलेरी जी ने पर्याप्त लिखा है, तथापि उनकी 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी ही उन्हें साहित्यजगत् में अमर बनाने के लिये पर्याप्त है। यह अत्युत्तम एवं बेजोड़ कहानी है। वैसे उनकी 'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्धू का काँटा' कहानियाँ भी प्रसिद्ध हैं। उनके प्रकाशित ग्रंथों में 'पुरानी हिंदी' का विशिष्ट स्थान है। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठाउँ' आदि लेखों में बड़ी ही मधुर और तीखी मार रहती थी। उनके लेखों को अच्छी प्रकार समझने के लिये पाठक का बहुज्ञ, बहुपठित एवं बहुश्रुत होना आवश्यक है। उनका अध्ययन बड़ा विस्तृत था। स्थल स्थल पर वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र, पुराण, रामायण, महाभारत आदि के संकेत देते गए हैं। यदि संकेतित ग्रंथ के विषय से पाठक का परिचय नहीं है तो वह संबंधित लेख को पूरी तरह समझ नहीं सकता। [ध० ना० शा०]

शर्ले, सर ऐंथनी (१५६५-ल० १६३५ ई०) अंग्रेज यात्री। ससेक्स क्षेत्र के विस्टनवासी सर टॉमस शर्ले के द्वितीय पुत्र। इन्होंने नीदरलैंड और नार्मंडी की विख्यात लड़ाइयों में सैनिक अनुभव भी प्राप्त किए थे। इन्होंने १५९६ में अफ्रीका के पश्चिमी किनारे और केंद्रीय अमरीका की यात्राएँ कीं लेकिन १५९७ में विशेष सफलता पाए बिना ही लौटना पड़ा। इसके बाद १५९८ में इटली के फरारा पर अधिकार करने के लिये अंग्रेजी दल का नेतृत्व इन्हें सौंपा गया किंतु इस समस्या के सुलझाने का इन्हें अवसर ही नहीं मिला। तब फारस और इंग्लैंड के व्यावसायिक संबंधों की वृद्धि के लिये उन्होंने वेनिस से फारस की यात्रा की। शाह ने इन्हें अपने प्रतिनिधि के रूप में मास्को, प्राग, रोम, आदि स्थानों पर भेजा। प्राग से इन्होंने मोरक्को, लिस्बन और मैड्रिड की यात्राएँ कीं। इन्हें पवित्र रोमन साम्राज्य के काउंट की उपाधि मिली थी। मैड्रिड में इनका देहांत हो गया। [मु० रा०]

शलजम (Turnip, Brassica rapa) क्रूसीफेरी (देखे क्रूसीफेरी) कुल का पौधा है। कोई इसे रूस का और कोई इसे उत्तरी यूरोप का देशज मानते हैं। आज यह पृथ्वी के प्रायः समस्त भागों में उगाया जाता है। इसकी जड़ मोटी होती है, जिसको पकाकर खाते हैं और पत्तियाँ भी शाक के रूप में खाई जाती हैं। पशुओं के लिये यह एक बहुमूल्य चारा है। कुछ स्थानों में मनुष्यों के खाने के लिये, कुछ स्थानों में पशुओं को खिलाने के लिये और कुछ स्थानों में इन दोनों कामों के लिये यह उगाया जाता है। इसमें ठोस पदार्थ ९ से १२½ प्रतिशत और कुछ विटामिन, विशेषतः 'बी' और 'सी' रहते हैं। यह शीतकालीन पौधा है। अधिक गरमी यह सहन नहीं कर सकता। पौधे लगभग १८ इंच ऊँचे और फलियाँ एक से डेढ़ इंच लंबी होती हैं। इसके फूल पीले, या पांडु, या हलके नारंगी रंग के होते हैं। शलजम का वर्गीकरण इसकी जड़ के आकार पर, अथवा जड़ के ऊपरी भाग के रंग पर, किया गया है। कुछ जड़ें लंबी, कुछ गोलाकार, कुछ चिपटी और कुछ प्याले के आकार की होती हैं। कुछ किस्म के शलजम के गूदे सफेद और कुछ के पीले होते हैं। भारत में उपर्युक्त सब ही प्रकार के शलजम उगाए जाते हैं।

शलजम बोने के लिये खेतों की जुताई गहरी और अच्छी होनी चाहिए। अच्छी सड़ी गोबर की खाद प्रति एकड़ १०-१५ टन और नाइट्रोजन, फ़ॉस्फ़ोरस और पोटैश वाला उर्वरक ८६० पाउंड डालने से पैदावार अच्छी होती है। इसका बीज छिटकावा, या ड्रिल द्वारा, कतार में बोया जाता है। एक एकड़ के लिये छह से आठ पाउंड तक बीज की आवश्यकता पड़ती है। आधे इंच की गहराई पर बीज बोया जाता है। यदि मिट्टी कड़ी या मटियार हो, तो मेंड़ों पर भी बीज बोया जा सकता है। बीज शीघ्र ही जम जाता है। जम जाने पर पौधों को विरलित करने की आवश्यकता पड़ती है, ताकि वे चार से छह इंच की दूरी पर ही रहें। पौधे शीघ्र ही बढ़ते हैं। लंबे समय तक अच्छी नरम जड़ की प्राप्ति के लिये, एक साथ समस्त खेत को न बोकर १०-१५ दिन के अंतर पर बोना अच्छा होता है। आषाढ़ सावन में बीज बोया जाता है। दूसरी बार फरवरी से जून के आरंभ तक बोया जाता है। बरसात में सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती, पर अन्य मौसिम में प्रत्येक ८-१० दिनों में सिंचाई आवश्यक होती है। ठंढे देशों में गरमी में भी इसकी बोआई होती है। भारत में पैदावार प्रति एकड़ सामान्यतः २०० मन होती है, पर पूरी खाद और उर्वरकों की सहायता से, सरलता से, ड्योढ़ी और दुगुनी की जा सकती है। पौधों में कुछ कवक (तना गलना आदि) और कुछ कीड़े (घुन, पिस्सू, गुबरैले, सूँडी आदि) भी लगते हैं, जिनसे बचाव का उपाय करना आवश्यक होता है। [य० रा० मे०]

शलभ, जिप्सी (Moth, Gypsy) जिप्सी शलभ लेपिडॉप्टेरीय (lepidopterous) कीट है, जो लाइमैनट्राइडी (Lymantridae) कुल के अंतर्गत आता है। इस कुल के अंतर्गत कुछ बड़े भयंकर कीट भी पाए जाते हैं। ये शलभ मध्यम आकार के होते हैं। इनकी टाँगें घने बालों से ढँकी रहती हैं। इस कुल के शलभ प्रायः रात्रि में उड़नेवाले होते है, परंतु कुछ दिन में भी उड़ते है।

जिप्सी शलभ के वयस्क नर का रंग भूरा होता है, जिसमें कुछ पीले निशान होते हैं, जो डेढ़ इंच तक फैले होते हैं। दिन में यह स्वच्छंदता से उड़ता है। मादा शलभ के पंख, जिनपर काले निशान होते हैं, लगभग सफेद होते है। इसका शरीर भारी और पुष्ट होता है तथा पांडु रंग के बालों से ढँका रहता है। पंख लगभग दो इंच तक फैले होते हैं, परंतु ऐसे विकसित पंखों के होते हुए भी ये शरीर के भारीपन के कारण उड़तीं नहीं।

मादा जाड़े में अंडाकार गुच्छों में अंडे देती है, जो पांडु बालों से ढँके होते हैं। प्रत्येक गुच्छे में ४००-५०० अंडे होते हैं। अंडे देने के लिये मादा स्थान के चयन पर कोई विशेष ध्यान नहीं देती। वे

स्थान वृक्ष की शाखाएँ, बाड़, वृक्षों के कोटर, पत्थर और टिन के डिब्बे तक हो सकते हैं। वसंत में अंडों के फूटने पर इल्लियाँ (caterpillars) निकल आती हैं। इल्लियाँ अनेक प्रकार की पत्तियाँ खाती हैं। सेब, बांज, विलो, अल्डर और बर्च की पत्तियाँ इन्हें विशेष प्रिय हैं। इस प्रकार खाते खाते इल्लियाँ जुलाई के प्रारंभ तक काफी बड़ी हो जाती हैं।

अब तक इल्लियों का आकार लगभग तीन इंच लंबा और पेंसिल सा मोटा हो जाता है। ये भूरे रंग की होती हैं और इनके शरीर के कुछ भाग पर गुच्छेदार बाल होते हैं। इनकी पीठ पर पाँच जोड़ी नीले धब्बे होते हैं, जिनके पीछे छह जोड़े लाल धब्बे होते हैं।

भोजन के पश्चात् इल्लियाँ किसी वृक्ष की शाखा, या तने के भीतर, उपयुक्त स्थान में चली जाती हैं। वहाँ पर वे अपने शरीर को पकड़ रखने के लिये कुछ तागों का कोया (cocoon) बुनती है। इसी कोए में इल्लियाँ प्यूपा (pupa) बनती हैं और सात से १७ दिनों के पश्चात् शलभ के रूप में निकल आती हैं।

वितरण -- शलभों का वितरण चार प्रकार से होता है : (१) इल्लियों के रेंगने से, (२) जिन पदार्थों पर अंडे रहते है, उन्हें अन्य स्थानों को ले जाने से, (३) वृक्ष से इल्लियों का तागा बुनते हुए किसी वाहन पर स्थानांतरित हो जाने से तथा (४) पवन की सहायता से।

शलभों द्वारा गंभीर हानियाँ होती हैं। इल्लियाँ बड़ी पेटू होती हैं और यदि इनकी संख्या अधिक हो, तो ये वृक्षों और सदाबहार की पत्तियों को खाकर कुछ वर्षों में वृक्षों को सुखा देती हैं। इल्लियों को नष्ट करने के दो तरीके हैं : (१) प्राकृतिक तथा (२) कृत्रिम। प्राकृतिक रीतियों से, यद्यपि अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं, तथापि इल्लियाँ समूल नष्ट नहीं होतीं। कृत्रिम रीतियाँ निम्नलिखित हैं : (१) रूई के फाहे को क्रिओसोट मे डुबाकर, अंडों के गुच्छों को उपचारित करना। इस रीति में सब अंडों का पता लगना कठिन है, (२) दूसरी रीति में, इल्लियों के छोटे रहने पर ही, पेड़ों और अन्य पौधों पर लेड आर्सेनेट छिड़का जाता है (५० गैलन जल में २½ पाउंड लेड आर्सेनेट रहता है, पर जब लार्वा बड़ा हो जाता है, तब इस विष के प्रति वह प्रतिरोधी हो जाता है)। [रा० चं० स०]

शलाका अक्षक्रिया या द्यूतकर्म भारत का बहुत प्राचीन व्यसन है (दे० 'अक्षक्रिया')। वैदिक काल में और उसके बाद महाभारत के युग में यह बहुत प्रचलित था। यह अक्ष या शलाका (पासा) से खेला जाता था। इन शलाकाओं पर अंक लिखे होते थे जिनकी गणना को दावँ कहा जाता था। इनसे खेलते समय कभी कभी अप्सराओं का आवाहन किया जाता था जो अपने प्रभाव से अनुकूल दावँ लाती थीं। दावों पर छोटी या बड़ी धनराशियाँ लगाई जाती थीं। पांडवों ने तो द्रौपदी को भी दावँ पर लगा दिया था। खेलनेवाले पक्षों को अपनी विजय की बड़ी चिंता रहती थी और जब कुशलता से काम नहीं बनता दीखता था तो मंत्र का प्रयोग किया जाता था। इसलिये शलाकाओं को अभिमंत्रित करके खेल खेला जाता था (दे० पासा)। [म० ला० श०]

शल्य मद्रदेश के राजा जो पांडु के सगे साले और नकुल सहदेव के मामा थे। परंतु महाभारत में इन्होंने पांडवों का साथ नहीं दिया और कर्ण के सारथी बन गए थे। कर्ण की मृत्यु पर युद्ध के अंतिम दिन इन्होंने कौरव सेना का नेतृत्व किया और उसी दिन युधिष्ठिर के हाथ मारे गए। इनकी बहन माद्री कुंती की सौत थीं और पांडु के शव के साथ चिता पर जीवित भस्म हो गई थीं। [रा० द्वि०]

शल्यचर्मा (Echinodermata) पूर्णतया समुद्री प्राणी हैं। जंतु-जगत् के इस बड़े संघ में तारामीन (starfish), ओफियोराइड (Ophiaroids) तथा होलोथूरिया (Holothuria) आदि भी संमिलित हैं। अंग्रेजी शब्द एकाइनोडर्माटा का अर्थ है, काँटेदार चमड़ेवाले प्राणी। शल्यचर्मों का अध्ययन अनेक प्राणिविज्ञानियों ने किया है। इस संघ में ४,००० प्रकार के प्राणी हैं, जो संसार के सभी सागरों और विभिन्न गहराइयों में पाए जाते हैं।

विशिष्ट लक्षण — शल्यचर्मा की परिभाषा हाइमन (Hyman), (१९५५ ई०) ने इस प्रकार दी है, "यह आंत्र गुहायुक्त, पंच अरीय सममित देहवाला प्राणी (Coelomate animal) है। इसका उत्थान शीर्षहीन, द्विपार्श्विक (bilateral) सममिति प्राणी से हुआ है तथा इसमें जलसंवहनीतंत्र है।"

ये बहुकोशिक प्राणी हैं और अन्य विकीर्ण संघ (radiate phylum) से अपने खोखलेपन तथा अपने व्यापक संगठन द्वारा पहचाने जाते हैं। इनका शरीर गोल, बेलनाकार अथवा ताराकार होता है, इनके बिंब (disc) से या तो सरल भुजाएँ, अथवा पात्रवत प्रशाखित भुजाएँ, विकरित होती हैं। इनके शरीर पर चूनेदार प्रक्षेप होते हैं। होलोथूरिया प्रक्षेपविहीन होते हैं। इनके शरीर में मुखी (oral) तथा अपमुखी (aboral) तल होते हैं। प्रत्येक शल्यचर्मा के शरीर में पाँच सममित विकीर्णित खाँचे (groove) होते हैं, जिन्हें वीथी क्षेत्र (ambulacrum) कहते हैं। इनके मध्य के स्थान को मध्यार त्रिजिया कहते हैं। इनका शरीर पाँच अरीय एवं मध्यारीय क्षेत्रों में विभक्त रहता है। सभी अवयव अरीय सममित होते हैं।

जलसंवहनीतंत्र (water vascular system) केवल शल्यचर्मा ही में पाया जाता है। यह पानी सदृश द्रव से भरी रहनेवाली नालियों, नालों तथा छोटी छोटी थैलियों से बना होता है। इसमें ग्रसिका के चारों ओर एक वलय नाल (ring canal) होती है। इससे एक एक नाल प्रत्येक भुजा मे जाती है, जिसे अरीय नाल (radial canal) कहते है। अरीय नाल से छोटी छोटी शाखाएँ नाल पादों (tube feet) में जाती हैं। नाल पाद, जिनके कार्य चलना, भोजन एकत्रित करना तथा संवेदन है, अरीय नाल के दोनो ओर होते हैं। तारामीन एवं समुद्री अर्चिन में अपमुख (aboral mouth) तथा एक अन्य छोटी सी उदग्र नाल (vertical canal) होती है, जो बाहर की ओर जल रंध्र द्वारा खुलती है। मेड्रेपोराइट (madreporite) द्वारा जल रंध्र (water pore) छोटी छोटी शाखाओं मे विभक्त हो जाता है। आद्य शल्यचर्मा (primitive echinodermata) में जलसंवहनी

तंत्र गमन कार्य नहीं करता था, अपितु तंत्रिका तंत्र एवं श्वसन (respiration) का कार्य करता था।

शल्यचर्मा में तंत्रिका तंत्र की रचना आद्य है तथा गुच्छिका (gangleon) जाल की बनी होती है। गुच्छिका जाल तीन प्रकार के होते हैं :

१. मुखी अर्थात् बाह्यतन्त्रिका तंत्र, जो ग्रसिका (gullet) के चारों ओर एक वलय (ring) की भाँति होता है।

२. उपतंत्रिका तंत्र मुखी तंत्र के नीचे होता है।

३. अपमुखी, अर्थात् अंतःतन्त्रिका तंत्र, जो क्राइनॉइडिया (Crinoidea) प्राणी में अत्यधिक विकसित होता है। इसमें पेरि-टोनियम (peritonium) की पर्त होती है।

आंत्रनाल (intestinal canal) चक्करदार होती है। मुख, मुखी अथवा अपमुखी होता है। क्राइनॉइडिया में मुख तथा गुदा दोनों मुखी (oral) तल पर स्थित होते हैं। गुदा की स्थिति सामान्यतः अपमुखी होती है। हीमल तंत्र (haemal system), जिसे परिसंचरण तंत्र (circulatory system) भी कहते हैं, शल्यचर्मा में पाया जाता है। इस तंत्र में अनेक विशिष्ट स्थान होते हैं परंतु हृदय एवं रुधिर कोशिकाएँ नहीं होतीं। लिंग ग्रंथियाँ (sex glands) सममित होती है। शल्यचर्मा में स्त्रीलिंग एवं पुलिंग पृथक् पृथक् इकाइयों में होते हैं, किंतु होलोथूरिया एवं ओफियोरॉइडिया उभय-लिंगी (hemoprodite) होते हैं।

शल्यचर्मा के उद्भव के संबंध में जीवाश्म विज्ञानी परस्पर सहमत नहीं हैं।

विकीर्ण शल्यचर्मों का उद्भव (Origin of radiate forms)— अशन रीति (feeding habit) तथा गुरुत्व (gravity) के प्रभाव के कारण इनका विकिरण हुआ। अपने मुख को ऊपर किए समुद्रतल पर स्थित, भोजन धारी जल की ओर स्थानबद्ध (sessile) पूर्वजों ने भोजन संग्राही तल को अपने मुख से पक्ष्मभिकामय नाल (ciliated canal) की वृद्धि द्वारा विस्तृत किया। इस वृद्धि को कायिक परिमाण द्वारा स्वयं सीमित रखा गया।

अविकीर्ण शल्यचर्मों का उद्भव (Origin of nonradiate forms) — ऐसे शल्यचर्मों का उद्भव द्विपार्श्विक (bilateral) लार्वा (larva) से माना गया है। समुद्र में स्थावर जीवन से चर्म पर चूनेदार कंटिकाओं (spicules) का रोपण हुआ। त्रिअरी कंटिकाएँ (triradiate spicules) बढ़कर तारा रूपिणी अबद्ध स्तरों (sheets) में रूपांतरित हो गई। धीरे धीरे ये स्तरें दृढ़ रूप से संयुक्त हो गई और इस प्रकार पूर्ण कंकाल बने। स्थिरीकरण के पहले शल्यचर्म दीर्घित रूप में थे। यदि दीर्घित आकृतिवाली काया बीच में स्थिर बने, तो संलग्न आधार के दो पक्षों पर मुख और निर्गम स्थित होंगे। इस प्रकार अविकीर्ण शल्यचर्मों का, जो मध्य ट्राइऐसिक कल्प (triassic period) से मत्स्य युग तक रहे, उद्भव हुआ।

बंधुता (Affinity) — शल्यचर्मा के कुछ गुण अन्य प्राणियों के गुणों से सामंजस्य रखते हैं एवं कुछ गुण वर्ग विशिष्ट के हैं। शल्यचर्मा भी बहुकोशिक (multicellular) प्राणी हैं तथा आंतर गुहा-वाले प्राणियों से, देहगुहा के पूर्णतः खोखला न होने के कारण, आंत्रनाल एवं खोखली देहगुहा के विभाजन में. भिन्न हैं। सभी देह-गुहाधारियों की भाँति शल्यचर्मों की आधारभूत संरचना द्विपार्श्विक है और अरीय सममिति तो गौण गुण है।

सभी देहगुहावाले प्राणी स्वतंत्र रूप से आंतर गुहावाले प्राणियों से उत्पन्न हुए हैं तथा देहगुहा का तीन युग्मों में विभाजन इनका प्रमुख गुण है। निम्न कार्डेटा (lower chordata) के सी स्क्वर्ट (sea squirt) के अतिरिक्त, सभी कार्डेटा प्राणियों की देह-गुहा त्रिविभाजित है। बैलैनोग्लॉसस (Balanoglossus) का टार-नेरिया लार्वा (Tornaria larva) शल्यचर्मा के लार्वा से, कुछ विशेष आधारभूत संरचना की दृष्टि से समान होता है। कई अन्य लक्षणों में सामंजस्य होने से स्पष्ट है कि शल्यचर्मा तथा कार्डेटा एक सामान्य पूर्वज (common ancestor) से उत्पन्न हुए हैं। यह पूर्वज अन्य देहगुहावाले पूर्वजों से भिन्न था, किंतु वह पूर्ण शल्यचर्मा या कार्डेटा नहीं कहा जा सकता है।

पारिस्थितिकी (Ecology) — शल्यचर्मा विभिन्न ऊष्ण, समशीतोष्ण एवं शीत कटिबंधी समुद्रों में पाए जाते हैं। अधिकांश शल्यचर्मा ज्वारीय क्षेत्र से ४,००० मीटर तक पाए जाते हैं। कुछ समुद्रतल पर स्थित रहते हैं तथा अन्य जलप्लावी हैं।

शल्यचर्मा अपने शावकों (brood) की रक्षा के लिये प्रसिद्ध हैं। अधिकांश लार्वा जलप्लावी होते हैं। कुछ शल्यचर्मा अपने शावकों को तब तक अपने पास रखते हैं, जब तक वे स्वयं गमन योग्य न हो जायँ। कुछ शल्यचर्म अपने शावकों को अपने शरीर के बाह्य तल पर रखते हैं, तो कुछ तारामीन (Asteroids) उन्हें अपने मुख के समीप रखते हैं। कुछ होलोथूरॉइड तथा तारामीन के पृष्ठीय तलों पर विशिष्ट शिशुधानियाँ होती हैं। किन्हीं किन्हीं शल्यचर्मों में शावक शरीर के भीतर विकसित होते हैं तथा वयस्क प्राणी की देहभित्ति (body wall) के रंध्रों से बाहर आते हैं।

आर्थिक महत्व — यद्यपि क्राइनॉइडिया (Crinoidea) तथा पेलमेटोज़ोआ (Subphylum Pelmatozoa) उपसंघ के अन्य प्राणी निरर्थक हैं, तथापि समुद्र में इन्होंने कई टन (tons) चूने का निष्कर्षण किया है। डर्बीशिर (Derbyshire) संगमरमर, बेलजियम ग्रेनाइट, जर्मनी का ट्रकिटेन काक (Trochitan kalk) तथा अन्य अंडकीय (oolitic) पत्थर इन जीवों के अवशेषों से बने हैं। होलो-थूरॉइड अपने शरीरों से निरंतर अपरद (detritus) निकालते रहते हैं और मार्जक (cleaner) का कार्य करते हैं। हृदय अर्चिन (heart urchin) एवं तारामीन इनसे भी अधिक संमार्जक हैं। समुद्री तारा-मीन सजीव मोलस्का के प्राणियों पर आक्रमण करते हैं, विशेषतया सीप (oysters) तथा मस्ल (mussels) पर। इस प्रकार ये भयंकर हानि करते है। छोटे छोटे शल्यचर्मा मत्स्यों के भोजन बनते हैं। कुछ होलोथूराइड प्राणी पूर्वी देशों के लोगों द्वारा खाए जाते हैं। बड़े बड़े शल्यचर्मिन के अंडाशय विश्व के विभिन्न देशों में अच्छे पोषक समझे जाते हैं। जीवन और वृद्धि की समस्याओं के अध्ययनार्थ शल्यचर्मा प्रयोगशालाओं के लिये उपयोगी हैं। इनके अंडों का पालन पोषण सरलतापूर्वक हो जाने से, इनके विकासक्रम के अध्ययन में भी सुविधा होती है।

शारीर एवं शरीर-क्रिया विज्ञान (Anatomy and physiology)— सजीव शल्यचर्मा का शारीरिक विन्यास पंचबाहु या पंच किरणों का होता है। यह बहुशाखित, बहुसंख्यक या आंशिक रूप में विलुप्त भी रहते हैं। शारीर पंच अरीय होता है और अरीय क्षेत्र पाँच मध्यारीय क्षेत्रों से एकांतरित रहते हैं। सममिति दर्शानेवाले अंग असंख्य स्यून नाल पादि हैं, जो शरीर में जलसंचरण का कार्य करते हैं तथा एक जल-संचरण-तंत्र का निर्माण करते हैं। अरीय क्षेत्रों को वीथी क्षेत्र (ambulocrum) तथा दो वीथी क्षेत्रों के बीच के स्थान को मध्य वीथी क्षेत्र कहते हैं। अनेक शल्यचर्मा की त्वचा पर कैल्सियम कार्बोनेट की कंटिकाओं से युक्त एक बाह्य कंकाल होता है।

देहगुहा के तीन युग्मों में विभाजन के अतिरिक्त सभी शल्यचर्मों में तीन तंत्रिका संस्थान होते हैं : १. बाह्य मौखिक संवेदक संस्थान, २. गहन मौखिक संवेदक संस्थान तथा, ३. अग्र या शीर्ष चालक संस्थान।

इन संस्थानों के द्रवों में देहगुहा के द्रव की अपेक्षा ऐल्बूमिन (albumen) अधिक होता है। सभी अंतरंग द्रवों में विभिन्न भौतिक पदार्थ प्लावित होते हैं। कुछ रुधिर के सदृश लाल होते है, जो श्वसन में सहायक होते हैं। कुछ श्वेतकरण अनेक कार्य करते हैं, ये कुछ अवशिष्ट पदार्थों का भक्षण कर निष्पीडित होकर बाहर निकलते हैं, क्योंकि इन जीवों में कोई उत्सर्जन तंत्र नही होता है।

जनन एवं परिवर्धन — अधिकांश शल्यचर्मों में लिंग पृथक् होते हैं, किंतु बाह्य लक्षणों से लिंगभेद ज्ञात नहीं होता है। जनन उत्पाद (genital products) जल में छोड़ दिए जाते हैं और अंडे शुक्र द्वारा निषेचित होते हैं। युग्मनज (zygote) अनेक कोशों में विभाजित होने के बाद एक खोखला कंदुक सदृश रचना बनता है, जिसका एक सिरा अंदर बढ़ता जाता है और परिणामत: एक खुले मुख और दोहरी दीवारवाला कोश (sac) बन जाता है। दीवार से कुछ कोशिकाएँ मध्य में आकर, एक मध्य स्तर (middle layer) बनाती हैं। देहगुहा कोश से एक कोष्ठ (pouch) के रूप में निकलकर मध्य स्तर में प्रसारित होती है। कोष्ठ के बार बार विभाजनों से देहगुहा के तीन युग्म बनते हैं। इसी बीच कोश लंबाई में बढ़ता है तथा एक तरफ से, जिधर मूल गुहा नीचे की ओर झुककर लार्वा का मुँह बनाती है, चिपटा हो जाता है और मुख्य द्वार को लार्वा का निर्गम छिद्र (outlet) बनने देता है। इस प्रकार का लार्वा स्वतंत्र प्लावी होता है। विभिन्न वर्गों में इसके विशेष रूपांतरण के फलस्वरूप, विभिन्न शल्यचर्मों का विकास होता है।

स्वयं विभाजन तथा पुनर्जनन — अनेक शल्यचर्मा अपने शरीर के कुछ भाग को, भय अथवा कष्टप्रद स्थिति के समय, स्वयं पृथक् कर देने में समर्थ होते है। इतना ही नही अलग किए हुए भागों को स्वयं पुन: उत्पन्न भी कर सकते हैं। यदि कोई खंड मध्य बिंब (disc) युक्त हो, तो उसमें पुनर्जनन संभव है। इस प्रकार के खंड पूर्ण शल्यचर्मा बनाने में समर्थ होते हैं। शल्यचर्मा में पुनर्जनन की शक्ति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। तारामीन (asteroids) मोती एकत्रित करनेवालों के शत्रु हैं। मोती एकत्रित करनेवाले इनको समुद्र में टुकड़े टुकड़े करके फेंक देते थे। शीघ्र ही उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो गई कि इस प्रकार तो इनकी संख्या में और भी शीघ्रतापूर्वक वृद्धि होती है। [द० कृ० मा०]

शल्यचिकित्सा (Surgery) अति प्राचीन काल से ही चिकित्सा के दो प्रमुख विभाग चले आ रहे हैं, यथा कायचिकित्सा (Medicine) एवं शल्यचिकित्सा। इस आधार पर चिकित्सकों में भी दो परंपराएँ चलती हैं। एक कायचिकित्सक (Physician) और दूसरा शल्यचिकित्सक (Surgeon)। यद्यपि दोनों में ही औषधोपचार का न्यूनाधिक सामान्यरूपेण महत्व होने पर भी शल्यचिकित्सा में चिकित्सक के हस्तकौशल का महत्व प्रमुख होता है, जबकि कायचिकित्सा का प्रमुख स्वरूप औषधोपचार ही होता है। आयुर्वेद में भी धन्वंतरि संप्रदाय, या सुश्रुत संप्रदाय, शल्यचिकित्सा एवं आत्रेय संप्रदाय या चरक संप्रदाय कायचिकित्सा के प्रतीक है। इसी प्रकार पश्चिम में भी जालीनूस (Galenus) के समय में केवल औषध प्रयोग करनेवालों, अर्थात् कायचिकित्सकों, को मेडिसी (Medice) और शस्त्रक्रिया करनेवालों को चिररजी और अलहनेगागी कहते थे। ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय पर्यालोचन के दृष्टिकोण से भारत में इस विज्ञान को चार प्रमुख कालों में विभक्त किया जा सकता है : (१) आयुर्वेदिक काल, (२) यूनानी काल, (३) अरबी, यूनानी एवं (४) पश्चिमी काल (१२०० ई० से १५०० ई० तथा उसके बाद का उन्नत आधुनिक काल)। शास्त्रीय प्रमाणों से शल्यचिकित्सा का मूल स्रोत वेदों में मिलता है, जहाँ इंद्र, अग्नि और सोम देवता के बाद स्वर्ग के युगल वैद्य अश्विनीकुमारों की गणना की गई है। इनके कायचिकित्सा एवं शल्यचिकित्सा संबंधी दोनों प्रकार के कार्य मिलते है। शरीर की व्याधियों को दूर करने के लिये तथा अंगभंग की स्थिति में नवीन आँखें एवं नवीन अंग प्रदान करने के लिये अश्विनीकुमारों की प्रार्थना की गई है। गर्भाशय को चीरकर गर्भ को बाहर निकालने तथा मूत्रवाहिनी, मूत्राशय एवं वृक्कों में यदि मूत्र रुका हो, तो उसे वहाँ से शल्य कर्म या अन्य प्रकार से बाहर निकालने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में क्षत, विद्रधि, व्रण, टूटी या कटी अस्थियों को जोड़ने, कटे हुए अंग को ठीक करने, पृथक् हुए मांस मज्जा को स्वस्थ करनेवाली औषधि से प्रार्थना की गई है रक्तस्राव के लिये पट्टी बाँधने, अपची (गले की ग्रंथि का एक रोग) के लिये वेधन छेदन आदि उपचारों का उल्लेख मिलता है। भगवान् बुद्ध के काल में जीवक नामक चिकित्सक द्वारा करोटि एवं उदरगत बड़े शल्यकर्म सफलतापूर्वक किए जाने का वर्णन है। सुसंगठित एवं शास्त्रीय रूप से आयुर्वेदीय शल्यचिकित्सा की नींव इंद्र के शिष्य धन्वंतरि ने डाली। धन्वंतरि के शिष्य सुश्रुत ने इस शास्त्र को सर्वांगोपांग विकसित कर व्यवहारोपयोगी स्वरूप दिया। उस समय भी शल्य का क्षेत्र सामान्य कायिक शल्यचिकित्सा था और ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों एवं शल्यकर्म (अर्थात् नेत्ररोग, नासा, कंठ, कर्ण आदि के रोग एवं तत्संबंधी शल्यकर्म) का विचार अष्टांगायुर्वेद के शालाक्य नामक शाखा में पृथक् रूप से किया जाता था।

इसी प्रकार पश्चिम में असीरिया, बेबिलोनिया एवं मिस्र तथा मिस्र के बाद यूनान और रोम में सभ्यता एवं अन्य ज्ञान विज्ञान के साथ चिकित्साविज्ञान तथा तदंतर्गत शल्यचिकित्सा का विकास हुआ। ई० पू० ३०१ में मिस्र देश में शल्यतंत्र उन्नत अवस्था में था। मिस्र देश के भूगर्भ से मिले शवों के शरीर में कपालभेद के संधान के चिह्न मिलते हैं। प्रारंभ में रोम नगर के सभी चिकित्सक सिकंदरिया या उसके पूर्व के निवासी थे। केलसस का 'डी मेडिसिना', जो ईसवी सन् २९ में प्रसिद्ध हुआ, पूर्णतया ग्रीक प्रणाली का था। उक्त महाग्रंथ आठ खंडों में है। सातवें खंड में शल्य-शास्त्र और छठे खंड के छठे अध्याय में और सातवें खंड के सातवें अध्याय में नेत्ररोगों का विवेचन है। इस महाग्रंथ में वर्णित अर्म (प्रवीन रोमन टेरिजियम्) पोथकी तथा मोतियाबिंद cataract) की शल्यचिकित्सा बहुत कुछ सुश्रुत से मिलती जुलती है।

जालीनूस ने जो एक प्रकार से यूनानी परंपरा का अंतिम विद्वान् चिकित्सक था, अनेक बड़े बड़े ग्रंथ चिकित्सा शास्त्र पर लिखे। उसके ग्रंथ सारे ग्रीक वैद्यक के विश्वकोश हैं। पश्चिमी काल के पूर्ववर्ती युग (७०० ई० से १,२०० ई०) में अरबों ने चिकित्सा विज्ञान का दीपक प्रज्वलित किया और शल्यचिकित्सा में भी प्रशंसनीय उन्नति की, जिसका प्रभाव स्पेन तक था। इसी ज्ञान को आधार मानकर आधुनिक शल्यचिकित्सा आज पराकाष्ठा पर पहुँच रही है। अबुल कासिम जहरावी का प्रसिद्ध ग्रंथ, अलतसरीफ, यूरोप में शल्यतंत्र की उन्नति की आधारभूत नींव है। आधुनिक शल्यचिकित्सा की अद्भुत उन्नति का प्रधान कारण उत्तम चेतनाहर एवं संवेदनाहर ओषधियों (anaesthetics) तथा विश्वसनीय रक्तस्तंभक द्रव्य (haemostatics), पूतिरोधी एवं प्रतिजैविक पदार्थ की सुलभता है, जिनकी सुविधा विगत युगों में प्रायः नहीं सी थी। अतएव विचारकों के लिये यह एक नितांत जिज्ञासापूर्ण विषय बना रहा कि इन साधनों के अभाव में प्राचीन लोग गंभीर स्वरूप के शल्यकर्म (operation) कैसे करते थे।

आधुनिक उन्नत शल्यचिकित्सा का आरंभ यूरोपीय देशों में जर्राही के रूप में हुआ, जिसमें प्रधानतः हस्तकर्म द्वारा साधारण शल्यचिकित्सा (minor surgery), यथा अस्थिभंग (fracture) संधिच्युति (dislocation) आदि का ठीक करना, रक्तमोक्षण (blood-letting) की दक्षता, दाँत उखाड़ना तथा उक्त क्रियाओं एवं क्षतोपयोगी मलहम (ointment), गुदावस्ति (enema) तथा रेचक आदि के निर्माण एवं प्रयोग आदि का ही समावेश होता था। समाज में भी कायचिकित्सक इस कार्य को हीन दृष्टि से देखते थे। इसी के परिणामस्वरूप मध्यकालीन युग में फ्रांस, जर्मनी तथा इंग्लैंड में नापित सर्जनों (barber surgeons), व्रण चिकित्सकों wound surgeons) एवं जर्राह भेषज्ञ (surgeon apothecaries) की उत्पत्ति हुई। इंग्लैंड में पहले शल्यकर्म हज्जाम या नापित के व्यवसाय के साथ मिला हुआ था। हेनरी अष्टम के शासन काल में सर्जन या शल्यचिकित्सकों के संगठन में बार्बर (जर्राह) संविधानिक मान्यता द्वारा सम्मिलित थे, और दोनों के स्वरूपभेद को स्पष्ट करने के लिये इनके कार्यक्षेत्र का स्पष्टीकरण विधान द्वारा किया गया था। नाई को केवल रक्तमोक्षण तथा दाँत उखाड़ना आदि साधारण शल्यकर्म की आज्ञा थी और सर्जन के लिये बार्बर के व्यावसायिक कर्म निषिद्ध थे। विकास एवं उन्नति के साथ सन् १७४५ में जॉर्ज द्वितीय के शासनकाल में उक्त दोनों समुदाय पूर्णतः पृथक् होकर, दो भिन्न संघों में संगठित हुए। आज का रॉयल कॉलिज ऑव सर्जन इसी का विकसित रूप है।

१८वीं शताब्दी से शल्यचिकित्सोपयोगी शास्त्रों, यथा शरीर-रचना-विज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान एवं क्रियात्मक (operative) शल्यचिकित्सा आदि के विकास के साथ साथ शल्यचिकित्सा में भी तीव्रतापूर्वक विकास, सुधार एवं उन्नति होने लगी, जिससे काय-चिकित्सा की भाँति समाज में शल्यचिकित्सा के लिये भी संमान बढ़ने लगा। किंतु शल्यकर्म में वेदना एवं शस्त्रकर्मोत्तर पूति (surgical infection), इन दो महान् कठिनाइयों के कारण शल्यचिकित्सा की सफलता बहुत कुछ सीमित रही। पैस्टयर नामक रसायनज्ञ द्वारा बैक्टीरिया एवं तज्जन्य विशिष्ट उपसर्ग का संबंध प्रमाणित किए जाने पर, उसके सिद्धांतों से प्रेरणा लेकर १८६७ ई० में जोसेफ लिस्टर द्वारा प्रतिरोधी शल्यकर्म (antiseptic surgery) के अनुसंधान एवं तत्पश्चात् संज्ञाहर एवं संवेदनाहर द्रव्यों तथा साधनों के आगमन के साथ, आधुनिक उन्नत शल्यचिकित्सा का प्रारंभ हुआ। इस प्रकार वैज्ञानिकों द्वारा शल्यचिकित्सा की आधारभूत कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद, उसमें दिनोंदिन सुधार होने लगा और सन् १९३० के बाद से तो संवेदनाहरण एक स्वतंत्र विज्ञान ऐनेस्थीज़िऑलोजी (Anesthesiology) के रूप में विकसित हो गया है और आज प्रायः सभी प्रकार की शरीर एवं रोग स्थिति तथा शल्यकर्म के अनुरूप संज्ञाहरण एवं संवेदनाहरण उपकरण, द्रव्य एवं साधन उपलब्ध हैं। इनके कारण होनेवाले उपद्रवों एवं तत्संबंधी अन्य ज्ञातव्य का भी पर्याप्त अध्ययन किया जा चुका है। लिस्टेरियन ऐंटिसेप्टिक सर्जरी की दिशा में भी इसी प्रकार की उन्नति आज उपलब्ध सल्फावर्ग एवं ऐंटिबायोटिक वर्ग जैसी ओषधियों के कारण हो गई है। इससे शल्यकर्मोत्तर पूतिदोष (sepsis) एवं संक्रमण (infection) तथा तज्जन्य उपद्रवों एवं दुष्परिणामों का प्रतिशत नगण्य हो गया है। इसके प्रत्यक्ष लाभ का अनुभव द्वितीय महायुद्ध एवं कोरिया युद्ध में हुआ, जबकि पहले के युद्धों की अपेक्षा घायलों का समय से शल्योपचार होने पर, संक्रमण एवं पूतिजन्य दुर्घटनाएँ अपेक्षाकृत अत्यंत कम हुईं। उक्त साधनोन्नति के परिणामस्वरूप आज बड़े से बड़े शल्यकर्म पहले की अपेक्षा अधिक विश्वास एवं निश्चितता से किए जाते हैं। यही नहीं, शल्यकर्मोत्तर उपचार (post operative care), जो पहले नितांत सतर्कता एवं चिंता का विषय हुआ करता था, आज उपलब्ध साधनों के कारण अत्यंत सुकर हो गया है।

शल्यचिकित्सा में संक्षोभ (surgical shock) भी एक विशिष्ट एवं महत्व का विषय है। संक्षोभ में त्वचा का रंग फीका पड़ जाता है तथा यह स्वेदक्लेद्य एवं स्पर्श में ठंढी मालूम होती है। प्रायः इसका मुख्य कारण हृदय का अपना वास्तविक दोष न होकर, बाह्य या आंतरिक रुधिरस्रावजन्य, रक्त-परिमाण-क्षीणता होती है, जिससे हृदय की रुधिरक्षेपणशक्ति सामान्य होने पर

की धमनियों का रुधिरसंभरण हीन कोटि का होता है। युद्ध में आहतों में यह स्थिति प्रायः पाई जाती है। अब ऐसी स्थिति में रक्त की तत्कालपूर्ति रुधिराधान द्वारा, अथवा अन्य स्थानापन्न उपायों यथा समदाबी लवणजल (normal saline) के शिरांतः प्रवेश आदि द्वारा की जाती है। अब बड़े स्थानों में सुदृढ़ रुधिर बैंक (blood bank) की व्यवस्था भी है, जहाँ से प्रत्येक रोगी के उपयुक्त रुधिर तत्काल प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानापन्न द्रव्य (substitutes) भी सुलभ हैं।

शल्यचिकित्सोपयोगी उपकरण — शल्यचिकित्सा की सफलता एवं शल्यकर्म में अभीष्ट की उपलब्धि के लिये, यथासमय आवश्यक यंत्रशस्त्र एवं अन्य उपकरणों की सुलभता अपना विशिष्ठ महत्व रखती है। उपकरणों के प्रयोग में शल्यचिकित्सक का हस्तकौशल सर्वप्रमुख है, क्योंकि सभी शल्यकर्म सर्जन के हस्तकौशलाधीन हैं। शल्यकर्म के क्षेत्र, स्वरूप एवं तत्संबंधी क्रियाओं की नानाविधिरूपता है। ऐतिहासिक युगों के साथ साथ यंत्र और उपकरणों के निर्माण हेतु प्रयुक्त पदार्थों में भी सुधार होता रहा और संप्रति अच्छे शल्यचिकित्सोपयोगी यंत्र उपलब्ध हैं, जिनमें रोगाणुनाशन एवं निर्जीवाणुकरण की शोधन प्रक्रियाओं का कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। चिकित्सा विज्ञान के अन्य अंगों के विकास तथा आधारभूत वैज्ञानिक विषयों एवं धातुकर्म तथा औषधनिर्माण आदि अन्य तकनीकी विज्ञानों की उन्नति एवं विकास के साथ साथ, इन उपकरणों में भी अद्भुत सुधार किए जा रहे हैं। सफलतापूर्वक शल्यकर्म एवं अन्य शल्य प्रक्रियाओं के लिये आवश्यक साजसज्जा से युक्त आपरेशन थिएटर एवं उसी से संलग्न निर्जीवाणुकरण, ड्रेसिंग एवं शल्यकर्मोत्तर तत्काल देखरेख के हेतु रोगी को रखने एवं तत्संबंधी अन्य आवश्यकताओं की भी व्यवस्था होनी चाहिए। संप्रति इस दिशा में भी पर्याप्त सुधार हो गया है।

वर्तमान काल में रेडियॉलॉजी (Radiology) एवं न्युक्लियर मेडिसिन के विकास ने भी शल्यचिकित्सा की प्रगति में पर्याप्त सहायता की है। ऐक्स किरण चित्रण द्वारा अब अंतःस्थित शल्य, विकृति एवं शल्यकर्मोपयुक्त स्थल का निर्धारण निश्चित रूपेण एवं सुगमता से कर लिया जाता है। विशेषतः विकलांगचिकित्सा एवं अस्थिभंगचिकित्सा में ऐक्स किरण प्रधान सहायक होता है। न्युक्लियर मेडिसिन भौतिकविदों (nuclear physicists) ने भी अनेक महत्वपूर्ण तत्वों की खोज की है, जिनका विशिष्ट उपयोग कायचिकित्सा में भी किया जाता है। इस प्रकार आधारभूत विज्ञानों (basic sciences) एवं चिकित्सा विज्ञान के अन्य विभागों की उन्नति के साथ शल्यचिकित्सा ने भी अत्यंत विकसित होकर, विशेष विभाग के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त कर लिया है, जैसे नेत्ररोग विज्ञान (Ophthalmology), नासा-कर्ण-कंठ रोग विज्ञान (E. N. T. Surgery), विकलांग चिकित्सा (Orthopaedics), प्लास्टिक शल्यचिकित्सा (Plastic Surgery), उरोगत शल्यचिकित्सा (Thoracic Surgery), मूत्रसंस्थानी शल्यचिकित्सा, तंत्रिका शल्यचिकित्सा (Neuro-surgery), स्त्रीरोग विज्ञान (Gynaecology), दंतरोग विज्ञान (Dental Surgery) आदि। विभिन्न देशों में इनके विशेष प्रशिक्षण के लिये अधिकृत संस्थान एवं विशेषज्ञों की संस्थाएँ स्थापित हो गई हैं, जो प्रशिक्षण का नियंत्रण करती हैं तथा विशेषज्ञ के रूप में चिकित्सा करने का अधिकार प्रदान करती हैं, जैसे इंग्लैंड का रॉयल कॉलेज ऑव गाइनिकॉलोजी, रॉयल कॉलेज ऑव सर्जन्स, अमरीकन कॉलेज ऑव सर्जन्स आदि। परीक्षणात्मक शल्यचिकित्सा (Experimental Surgery) भी वर्तमान युग की एक देन है। [रा० सु० सिं० तथा भृ० ना० सिं०]

शवपरीक्षा (Autopsy) मृत्यु के पश्चात् आकस्मिक दुर्घटनाग्रस्त, अथवा रोगग्रस्त, मृतक के विषय में वैज्ञानिक अनुसंधान के हेतु शरीर की परीक्षा, अथवा शवपरीक्षा, करना अतिआवश्यक है। रोग उपचारक शवपरीक्षा के द्वारा ही रोग की प्रकृति, विस्तार, विशालता एवं जटिलता के विषय में भली प्रकार तथ्य जान सकता है।

शवपरीक्षा भली प्रकार करना उचित है एवं सहयोग के हेतु रोगग्रसित अंग अथवा ऊतक, की सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षा एवं कीटाणुशास्त्रीय परीक्षा अपेक्षित है। उस प्रत्येक मृतक की, जिसकी मृत्यु का कारण आकस्मिक दुर्घटना हो और उचित कारण अज्ञात हो, मृत्यु का कारण एवं उसकी प्रकृति ज्ञात करने के लिये शवपरीक्षा करना नितांत आवश्यक रूप से अपेक्षित है।

शवपरीक्षा करने के पूर्व मृतक के निकट संबंधी से सहमति प्राप्त करना आवश्यक है और शवपरीक्षा मृत्यु के ६ से १० घंटे के भीतर ही कर लेनी चाहिए, अन्यथा शव में मृत्यूपरांत अवश्यंभावी प्राकृतिक परिवर्तन हो जाने की आशंका रहेगी, जैसे शव ऐंठन (rigor mortis), शवमलिनता (postmortem) एवं विघटन (decomposition)। यह परिवर्तन अधिकतर रोगावस्था के परिवर्तनों के समान ही होते हैं।

आवश्यक वस्तुएँ — कुछ शल्य अस्त्र, उदाहरणार्थ चाकू, चिमटियाँ, कैंची, सलाई आदि, की शवपरीक्षा में आवश्यकता पड़ती है। शव को सीने के लिये सुई एवं प्रबल धागे की भी आवश्यकता होती है।

शवपरीक्षा करने की निम्नलिखित दो विधियाँ होती हैं :

(अ) बाह्य निरीक्षण एवं परीक्षा — इसके अंतर्गत निम्नलिखित परीक्षा करना आवश्यक है :

(१) शरीर का विकास, (२) शरीर की पौष्टिकता, (३) आयु एवं लिंग, (४) शव ऐंठन की विद्यमानता एवं उसकी श्रेणी, (५) रचना या रंग, जैसे नीलिमापन, (७) त्वचा विच्छेद, गिलटी, आघातचिह्न (८) सूजन तथा (९) शरीर के सब छिद्रों आदि का पूर्ण सतर्कतापूर्वक परीक्षण। यह करना नितांत आवश्यक होता है।

(ब) आंतरिक परीक्षा — प्रथम ठुड्डी से जघन (pubic) जोड़ तक शवच्छेदन कर, त्वचा एवं मांसपेशियों को हटाकर, वक्षअस्थि को पृथक् कर दिया जाता है। तत्पश्चात् आँत के ऊपर की झिल्ली तथा फुप्फुस झिल्ली का पूर्ण परीक्षण करना आवश्यक है।

देहगुहा के सर्व तंत्रों को पृथक् कर, उनका भार एवं उनका विस्तृत विवरण ज्ञात किया जाता है। सब तंत्रों को उनके रक्षक विलयन में, जैसे फॉर्मेलिन में, भली प्रकार रख देना अपेक्षित

है। फॉर्मेलिन ऊतक की रचना को पूर्ववत् बनाए रखने में सहायक सिद्ध होता है। रक्षित ऊतक के खंड कर तथा उचित रंगमलिनता प्रदान कर, सूक्ष्मदर्शी से उनका परीक्षण किया जाता है।

यदि मृत्यु का कारण रोग न होकर कोई आकस्मिक दुर्घटना विषपान, अथवा अन्य कोई कारण हो, तो देहगुहा के तंत्र रक्षित विलयन में सुरक्षित रखे जाते हैं, तत्पश्चात् रासायनिक परीक्षण द्वारा परीक्षा होने पर मृत्यु का उचित कारण ज्ञात किया जाता है।

शरीर के मुख्य अंगों का प्राकृतिक भार — (१) हृदय ३०० ग्राम, (२) फुफ्फुस ३२५-३६० ग्राम, (३) यकृत १,५००-१,८०० ग्राम, (४) वृक्क १५० ग्राम, (५) प्लीहा १५०-२०० ग्राम तथा (६) अग्न्याशय ६०-१२० ग्राम। [स० पा० गु०]

शशक (Rabbit) स्तनीवर्ग श्रेणी का एक प्राणी है। यह छोटा, अल्पाय तथा भोला भाला प्राणी है। यह एक फुट लंबा होता है और बहुत ही मुलायम बालों से ढँका रहता है। इसका शरीर चार भागों में बाँटा जा सकता है : (क) सिर (ख) गर्दन, (ग) धड़ तथा (घ) पूँछ। ऊपरवाला ओष्ठ बीच में फटा होता है, जिससे कड़ा भोजन कुतरते समय शशक को कोई चोट नहीं आती। कर्णपल्लव (कान का लोर) लंबे, मुड़े हुए और ऊपर की ओर नुकीले होते हैं, जो स्वेच्छा से हिलाए जा सकते हैं। मेढक की भाँति शशक की पिछली टाँगें बहुत लंबी होती हैं। इनके द्वारा वह उछलता कूदता चलता है, अथवा छलाँग मारता है। इसकी दुम छोटी होती है और खतरे के समय झुंड के अन्य सदस्यों को खतरे का संकेत देने के काम आती है।

शशक एक सर्वपरिचित जानवर है और प्रायः सभी देशों में पाया जाता है। इसका आदि निवास भूमध्यसागर (Mediterranean sea) के किनारेवाले देशों में रहा है, जहाँ से यह अन्य देशों में स्वयं, अथवा मनुष्यों द्वारा, संसार के विभिन्न भागों में प्रसारित हो गया है। यह भारत में प्राय. सभी भागों में पाया जाता है और आसानी से पाला जा सकता है। वैसे इसका प्राकृतिक निवासस्थान जंगलों में है, जहाँ यह कच्ची भूमि में सुरंग या माँद खोदकर रहता है। यह शाकाहारी होता है। खेतों में घुसने पर कृषि को बड़ी हानि पहुँचाता है।

शशक की औसत आयु आठ वर्ष होती है और जब छह मास का रहता है तभी से जनन प्रारंभ कर देता है। मादा साल में चार या पाँच बार बच्चे देती है, और प्रत्येक बार पाँच से आठ बच्चे होते हैं। कुछ ही काल में इनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। पैदा होने के समय बच्चे बालरहित, अंधे तथा स्वतंत्र रूप से चलने और भोजन ढूँढ़ने में असमर्थ होते हैं। माँ के स्तन से बच्चे दूध पीते हैं और दूध पर ही पलते हैं। बच्चे लगभग तीन सप्ताह में बड़े होकर देखने लग जाते हैं। इनके शरीर पर मुलायम बाल उग आते हैं और वे शाकाहारी हो जाते हैं।

शशक की तीव्र घ्राण, तीक्ष्ण श्रवण तथा व्यापक दृष्टिशक्ति शत्रुओं से रक्षा पाने के साधन हैं, क्योंकि इन शक्तियों के कारण यह बहुत ही चौकन्ना रहता है, और ज्यों ही किसी शत्रु का भान होता है, वह लंबी लंबी छलाँगें मारकर भाग खड़ा होता है। कुत्ते, लोमड़ियाँ, बिल्लियाँ, बिज्जू, तथा बाज अथवा शिकरा आदि, इसके मुख्य शत्रु हैं। इसका मांस स्वादिष्ट होता है, अतः मनुष्य भी इसका शिकार करते हैं। शशक अपने शत्रुओं से बचने के लिये प्रायः गोधूलि के समय ही चरने निकलते हैं।

शशक की अनेक उपजातियाँ हैं। पालतू अवस्था में जनन करने के कारण, इनके स्वभाव तथा आकृति में संशोधन हो गया है। जंगली शशक से मनुष्य ने पालतू शशक का परिवर्धन किया है।

पालतू शशक के समान जंगलों और खेतों में एक दूसरी जाति भी मिलती है, जिसको सामान्यतः खरहा कहते हैं। खरहे का रंग भूरा, और कत्थई होता है, जिसके कारण इसका झुरमुट में पता लगाना कठिन होता है। यह शशक की भाँति झुंड में न रहकर अकेला रहता है और बिल या सुरंगें नहीं खोदता, वरन् झाड़ियों में छिपा रहता है। इसकी बाह्य रचना शशक से भिन्न होती है। शशक तथा खरहे की आंतरिक रचना में भी अंतर होता है।

[मु० ना० प्र०]

शस्त्र और कवच (Arms and Armour) मनुष्य की शारीरिक शक्ति अन्य जीवधारियों की तुलना में बहुत ही सीमित है। अपने शत्रुओं को परास्त करने या जानवरों के शिकार के लिये मनुष्य ने, अपने बुद्धिबल से, अपनी शक्ति को बढ़ाया। उसने पहले शस्त्रों का और उसके बाद, अस्त्रों का आविष्कार किया। जिन वस्तुओं का प्रयोग मनुष्य ने सीखा, उनको उसने अस्त्र शस्त्र बनाने के काम में भी प्रयुक्त किया। इस प्रकार जब मनुष्य को केवल पत्थर या लकड़ी का प्रयोग मालूम था, तब शस्त्र पत्थर या लकड़ी के बनते थे। इसके बाद जैसे जैसे धातुओं के प्रयोग में मनुष्य उन्नति करता गया, उसके साथ ही साथ शस्त्रों के बनाने में भी धातुएँ प्रयुक्त होने लगीं। साथ ही बहुत से नए प्रकार के अस्त्र शस्त्र भी बनने लगे, जो पहले के पत्थर, लकड़ी या मुलायम धातुओं से नहीं बनाए जा सकते थे।

अस्त्र शस्त्रों के विकास के साथ साथ मनुष्य ने उनसे अपने को बचाने के लिये कवच के प्रयोग में भी उन्नति की। कवच बनाने के लिये भी बहुत प्रकार की वस्तुओं का उपयोग किया गया। जैसे जैसे हथियार उत्तरोत्तर कारगर बनने लगे, कवच को भी उसी अनुपात में उतना ही अधिक मजबूत बनाना आवश्यक हो गया (देखें अस्त्र शस्त्र)।

जब तक मनुष्य ने धातुओं का प्रयोग नहीं सीखा था, तब तक अस्त्र शस्त्र पत्थर के बनते थे। पत्थर के बाद हथियारों के बनाने में, धातुओं में पहले पहल काँसे का प्रयोग हुआ। काँसे के हथियार पृथ्वी की खुदाई में प्राचीन यूनान, भारत में मोहनजोदड़ो और उसके समकालीन अन्य स्थानों में मिले हैं। ग्रीक कवि होमर के काव्यों में काँसे के कवच का भी उल्लेख है।

लोहे का आविष्कार होने के बाद हथियार लोहे के बनने लगे। प्राचीन यूननियों के मुख्य हथियार भाला, बरछे और तलवार थे। इन सब में भाला, जो २१ से २४ फुट तक लंबा होता था, सबसे मुख्य माना जाता था। ग्रीक तलवार दो फुट से भी छोटी होती थी और काटने के बजाय घुसेड़ने के काम में लाई जाती थी। परवर्ती में ग्रीक तलवार दाहिनी ओर लगाई जाती थी। होमर ने अपने काव्य

'ओडिसी' में तीर कमान के प्रयोग का उल्लेख किया है। इससे यह तो मालूम होता है कि प्राचीन यूनानी तीर कमान के प्रयोग में विज्ञ थे, परंतु उस समय की लड़ाइयों के वृतांत से पता चलता है कि इस हथियार का कभी विस्तृत रूप से यूनान में प्रयोग नहीं हुआ। इससे प्राचीन यूनान की सैन्य संचालन की शैली पर कोई असर नहीं पड़ा।

तीरकमान का सबसे अधिक प्रयोग प्राचीन मिस्र में होता था। पैदल सेना का यह मुख्य हथियार समझा जाता था। मिस्री कमानें लंबाई में मनुष्य के कद से कुछ छोटी होती थीं। तीर सेंठे के बनाए जाते थे, जिनमें नोक काँसे की लगाई जाती थी। मिस्र देश की विशेषता एक काँटेदार हथियार था, जो दुश्मन की तलवार को फँसाकर तोड़ने के काम में लाया जाता था। प्राचीन ऐसिरिया में भी तीर कमान का विस्तृत रूप से प्रयोग होता था, परंतु उन लोगों में भाला और बरछे का मिस्र देश वासियों की अपेक्षा अधिक प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त युद्ध के यंत्रों में प्राचीन ऐसिरिया में काफी उन्नति हो गई थी। रथ, जिनकी धुरी मे हँसिए लगे हुए होते थे, घेरा डालने के समय किलों के अंदर भारी पत्थर फेंकने के यंत्र इत्यादि, लड़ाई के यंत्रों का ऐसिरिया में आविष्कार हुआ था। प्राचीन भारत में तीर कमान का विस्तृत रूप से प्रयोग होता था। रामायण और महाभारत में इसका बहुत जगह उल्लेख है। इसके अतिरिक्त शक्ति, गदा, फरसा, तलवार इत्यादि भी उस समय प्रयुक्त किए जाते थे। लड़ाई में रथों का बहुत प्रयोग होता था।

प्राचीन रोम के मुख्य हथियार तलवार, भाला और बरछे होते थे। रोमन तलवार २२ इंच से २४ इंच तक लंबी होती थी। इसके फल में दोनों ओर धार रहती थी और नोंक चौड़ी होती थी। यूनानी तलवार की तरह यह भी परतले में दाहिनी तरफ लगाई जाती थी और काटने के बजाय घुसेड़ने के काम आती थी। प्रारंभ में रोमन तलवार काँसे की बनती थी, पर ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में लोहे की बनने लगी। रोमन सैनिकों में बरछे के प्रयोग पर अधिक जोर दिया जाता था। ये बरछे पाँच फुट से छह फुट तक लंबे होते थे, जिनमें आधे दो फुट का फल लगा होता था। दुश्मन से जब १० या १५ कदम के फासले पर रोमन सैनिक पहुँच जाते थे, तब बरछे एक साथ जोर से फेंके जाते थे। ये बरछे विरोधी दल की ढालों में घुस जाते थे। रोमन सैनिक तुरंत ही झपटकर बरछों के डंडों को पकड़ कर ढालों को नीचे गिरा लेते थे और इस तरह रास्ता बनाकर, दुश्मन फौज पर तलवारों से हमला करते थे। रोमन सेना में युद्ध के रथ, पत्थर फेंकने की कलें और दुश्मन के किलों की दीवार तोड़ने के लिये यंत्रों का प्रयोग होता था। युद्ध के मैदान में रोमन सैनिक लोहे के काँटों को फेंकते थे, जो किसी तरफ भी गिरें पर उनमें से कुछ की नोकें ऊपर को रहती थीं। इन काँटों से दुश्मन की घुड़सवार सेना की गति में बहुत बाधा पड़ती थी।

प्राचीन काल में अस्त्र शस्त्रों की मार से बचाव के लिये ढाल, झिलम, उरस्त्राण और पदत्राण काम में लाए जाते थे। प्राचीन मिस्र में तीरंदाजों के पास ढाल नहीं होती थी, पर नेजेबाजों के पास बड़ी ढाल, जो नीचे से चौकोर और ऊपर से अर्धवृत्त की शकल की थी, होती थी।

इस ढाल में ऊपर की ओर एक सूराख रहता था, जिसमें से निशाना लिया जा सकता था। प्राचीन यूनान में बहुत बड़ी ढाल का प्रयोग होता था, जिससे सारे शरीर का बचाव हो सकता था। इसका आकार गोल या अंडाकार होता था और सामने से उभरी हुई रहती थी। धीरे धीरे ढालों का आकार उत्तरोत्तर छोटा बनने लगा।

प्राचीन भारत में ढालें आम तौर से काम में लाई जाती थीं। ढालें गोल होती थीं और उनसे शरीर के ऊपरी भाग का बचाव हो जाता था। अधिकतर ढालें भैंसे, या गैंडे के चमड़े की बनाईसे जाती थीं।

रोमन सैनिक दो प्रकार की ढालों का प्रयोग करते थे : एक को स्क्यूटम (Scutum) कहते थे, जो आयताकार, बड़ी और बहुत उभरी हुई होती थी। यह ढाल बड़ी पैदल सेना को मिलती थी। दूसरी जो 'पार्मा' कहलाती थी, छोटी, गोल या अंडाकार और चपटी ढाल होती थी तथा छोटी, पैदल और घुड़सवार सेना के लिये थी। ढालों के आकार मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही और रोम के अंतिम दिनों मे तो ढालें बहुत बड़ी बनने लगी।

झिलम या शिरस्त्राण प्राचीन ऐसिरिया, मिस्र, यूनान और रोम में आम तौर से प्रयुक्त होता था। ऐसिरियाई झिलम गावदुम होता था। कभी कभी इसकी कलँगी आगे की ओर झुकी हुई होती थी। यूनानी झिलम की, जो गरदन के पीछे मुड़ी हुई होती थी, कलँगी बहुत ऊँची होती थी, रोमन झिलम मे गर्दन और चेहरे के बचाव का भी बंदोबस्त रहता था। महाभारत में शिरस्त्राण के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन यूनान में उरस्त्राण काँसे का बनाया जाता था। ऐसिरिया में उरस्त्राण, सिले हुए और सरेस से चिपकाए हुए, सन के कपड़े का कई परतों का कोट होता था। मिस्री तीरंदाज रुई भरा हुआ कोट का उरस्त्राण पहनते थे, पर नेजेबाजों के पास काँसे के छिलकों के उरस्त्राण होते थे। रोमन पैदल अफसर काँसे का उरस्त्राण, जिसमें नीचे चमड़ा लगा रहता था, पहनते थे। पैदल सैनिक कपड़े या चमड़े का उरस्त्राण पहनते थे, जिनमें काँसे के टुकड़े टँके हुए रहते थे। बाद में घुड़सवारों को भी उरस्त्राण मिलने लगे, जो या तो जंजीर के बने होते थे, या कपड़े के, तथा जिनमें काँसे की टिकुलियाँ टँकी हुई रहती थीं।

यूनान में पदत्राण दो टुकड़ों में होता था, जो पैर को पूरी तौर से ढँक लेता था। रोमन पदत्राण, जो केवल सामने और बगल से बचाव करता था, एक ही टुकड़े मे होता था। यह केवल एक ही पैर में पहना जाता था, क्योंकि दूसरे पैर का बचाव ढाल से हो जाता था। रोमन सैनिक पैर में नोकदार जूते, जो दुश्मन पर चोट करने के काम में भी आ सकते थे, पहनते थे।

रोमन साम्राज्य को नष्ट करनेवाली जर्मन जातियाँ थीं। उनके हथियार फरसा, बरछा, भाला और तलवार थे। शरीर के बचाव के लिये ये लोग केवल एक बड़ी ढाल का, जो पतली लकड़ी की बनी हुई और चमड़े से मढ़ी हुई होती थी, प्रयोग करते थे। यह ढाल प्राय: आठ फुट लंबी और दो फुट चौड़ी, अंडाकार होती

थी। कुछ काल पश्चात् ढाल चमड़े की जगह लोहे से मढ़ी जाने लगी और उसकी शकल गोलाकार बनाई जाने लगी।

फ्रैंक जाति का विशेष हथियार कुल्हाड़ी थी जिसको फ्रांसिस्का कहते थे। इसके फल में एक ही तरफ धार होती थी और बेंट छोटी होती थी। इस कुल्हाड़ी को फेंककर मारा जाता था। फ्रैंक लोगों का बरछा रोमन बरछे के समान होता था और उसके प्रयोग करने की विधि भी रोमन बरछे की तरह थी। फ्रैंक लोगों में तलवार केवल घुड़सवार ही रखते थे। फ्रैंक लोग कवच का प्रयोग नहीं करते थे, बचाव के लिये केवल एक गोल ढाल रखते थे। इन्हीं के समकालीन स्कैंडिनेविया की जातियों के मुख्य हथियार तलवार और ढाल थी। तलवार सीधी, लंबी और दुधारी होती थी। ढाल गोल, चपटी और लकड़ी की बनी हुई होती थी, जो कभी काँसे से और कभी लोहे से मढ़ी जाती थी। इन ढालों का व्यास २२ इंच से ४४ इंच तक होता था। ऐंग्लो सैक्सन पैदल सैनिकों के आम हथियार भाला, कुल्हाड़ी और एक विशेष प्रकार का भारी चाकू होता था। तलवार फ्रैंक लोगों की तरह केवल घुड़सवार रखते थे। यह तलवार तीन फुट लंबी, चौड़े फल की, और गोल नोकवाली होती थी। ऐंग्लो सैक्सन ढाल गोल या अंडाकार लकड़ी की बनती थी, जिसपर चमड़ा चढ़ा हुआ होता था और बाहर की तरफ एक नोक लगी रहती थी।

क्रूसेड्स के काल में चेन का जिरहबकतर बनना प्रारंभ हो गया था। १४वीं शताब्दी तक जिरह बकतर चेन के ही बनते रहे। १५वीं सदी में चेन तथा प्लेट; दोनों के जिरह चलने लगे और शताब्दी के अंत में केवल प्लेट के ही जिरहबकतर का चलन रह गया। इससे प्लेट के जिरह बकतर बनाने की कारीगरी का विकास हुआ जो सोलहवीं शताब्दी प्रारंभ होते होते उच्चतम शिखर पर पहुँच गई। जिरहबकतर अंत में इतने भारी हो गए कि उनको पहनकर पैदल लड़ना लगभग असंभव हो गया। इसलिये



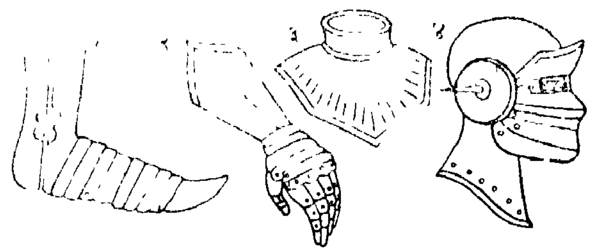
चित्र १. विविध जिरहबकतर

चेन के : १. और २. योद्धा के लिये तथा ३. घोड़े के लिये। प्लेट के : ४. योद्धा के लिये तथा ५. अश्व के लिये।

घोड़ों के बचाव के लिये जिरह बकतर का प्रयोग आवश्यक हो गया। घोड़ों के लिये भी प्लेट के जिरह का चलन हो गया। जिरह की कारीगरी इस हद तक पहुँच गई कि जिरहबकतर तोड़कर या उसमें कोई सेंध पाकर दुश्मन के शरीर पर चोट करना करीब करीब असमंव हो गया। इसलिये विपक्षी को जख्मी करने के बजाय उसे घोड़े से गिराना लड़ाई का मुख्य उद्देश्य हो गया। घोड़े से गिरने पर गदा से मार मारकर, दुश्मन की जान निकाल देना लड़ाई का माना हुआ तरीका हो गया।

अच्छे जिरह या बकतर बनने पर ढालों की कोई आवश्यकता नहीं रह गई और धीरे धीरे उनका प्रयोग बंद हो गया।

प्लेट के जिरहबकतर में शरीर के अवयवों की हरकत में काफी विघ्न पड़ता था, इसलिये १७वीं शताब्दी में छोटे छोटे प्लेट, जो कपड़े में टँके हुए होते थे, जिरह बनाने के लिये काम में लाए जाने लगे। इस काल में बकतरबंद योद्धाओं के हथियार बल्लम, तलवार,



चित्र २. प्लेट के बने अंगों के कवच

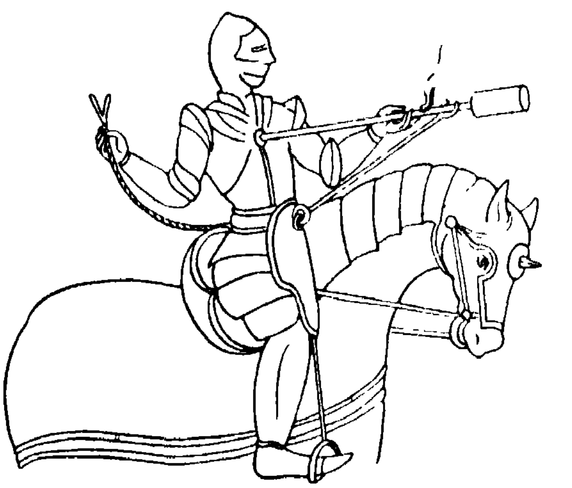
१. पादत्राण, २. हस्तत्राण; ३. वक्षत्राण तथा ४. शिरस्त्राण।

गदा और कुल्हाड़ी थे। ये सब हथियार भारी और मजबूत बनाए जाते थे, क्योंकि हलके हथियारों का प्लेट के जिरहबकतर पर कोई असर नहीं हो सकता था। बल्लम का प्रयोग जख्म करने के अतिरिक्त विपक्षी को धक्के से घोड़े से गिरा देने के लिये भी होता था। तलवारें भारी होने के कारण दोनों हाथों से चलाई जाती थीं।

प्लेट का जिरहबकतर इतना भारी होता था कि केवल घुड़सवार ही उसको पहनकर लड़ सकते थे, इसलिये सेनाओं में घुड़सवार सेना ही मुख्य सेना हो गई थी और पैदल सेना किसी गिनती में नहीं रह गई थी। केवल इंग्लैंड में पैदल तीरंदाज सेना के आवश्यक और कभी कभी तो मुख्य अंग बने रहे। नॉर्मन विजय के समय नॉर्मन कमानें गज भर लंबी होती थीं। पीछे पाँच और छह फुट की कमानें बनने लगीं, जिनसे एक गज लंबा तीर चलाया जाता था। जर्मनी और इटली में भी कमानों का चलन था, जो करीब डेढ़ गज लंबी होती थीं। बाद में क्रॉसबो (crossbow) का आविष्कार हुआ। इसकी मार हाथ से खींचनेवाली कमान से बहुत अधिक होती थी और तीर में ताकत भी बहुत अधिक होती थी, पर इसके चलाने में बहुत समय लगता था। इसलिये क्रॉसबो कमान का चलन बंद न कर सकी। तीर कमान और क्रॉसबो यूरोपीय देशों में १७वीं शताब्दी तक चलते रहे। बारूद का आविष्कार होने से पहले, यूरोपीय सेनाओं के यही मुख्य हथियार थे। युद्ध की बड़ी बड़ी कलें भी, जो प्राचीन काल में ऐसिरिया, रोम इत्यादि में प्रयुक्त होती थीं, चलती रहीं।

पैदल सिपाही सेना के बहुत गौण अंग माने जाते थे और उनके बचाव के लिये केवल चमड़े के, या रुई भरे, कोट दिए जाते थे।

बारूद का आविष्कार तो चौदहवीं शताब्दी में ही हो गया था, पर बारूद से चलनेवाले हथियारों, तोपों, बंदूकों, और पिस्तौलों में बहुत काल तक कोई उन्नति नहीं हुई। क्रमशः इन हथियारों में



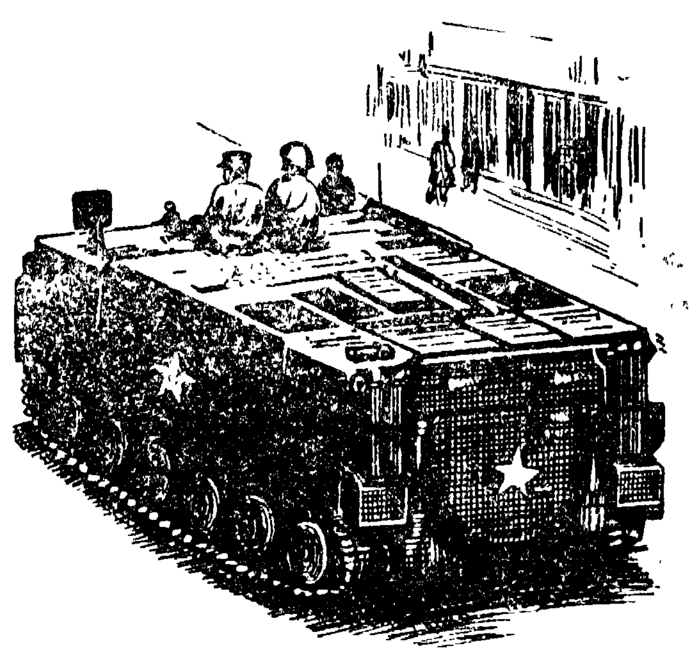
चित्र ३. कवचित अश्वारोही

अश्व तथा योद्धा के जिरहबकतर प्लेट के बने हैं तथा हाथ में तोड़ेदार आद्य बंदूक है।

उन्नति होने पर, लड़ाई के हथियार, रणशैली और बचाव के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गए। सब से पहले तोप का प्रयोग फ्रांस में, क्रेसी शहर के घेरे मे, सन् १३३६ ई० में हुआ। इन तोपों से पत्थर का गोला चलाया जाता था और यह पीछे से भरी जाती थीं। पंद्रहवी सदी में लड़ाई के मैदान में ले जाई जानेवाली तोपें बनने लगी। १७वीं सदी के लगभग बीच में, फ्रांस देश में मॉर्टर या बम गोला फेंकनेवाली छोटी तोपे बनी। बंदूकों का बनना १५वी सदी मे प्रारंभ हुआ। स्विस सेना ने बड़े पैमाने पर बंदूकों का प्रयोग सन् १४७६ ई० मे मोराट की लड़ाई में किया। इग्लैंड में सन् १४८५ में, योमैन पल्टन को पहले पहल बंदूकें मिलीं। ये प्रारंभिक बंदूकें बहुत ही भद्दी बनी हुई होती थी, उनका निशाना बहुत गलत लगता था, और मार भी बहुत कम होती थी। इन बंदूकों को चलाने में, दो मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती थी और चलाते समय नाल को साधने के टेक लगाए जाते थे। इन बंदूकों को चलाने के लिये, हाथ से पलीता लगाया जाता था। १४७६ ईस्वी में, पलीता लगाने के लिये घोड़े का प्रयोग आरंभ हुआ। जलता हुआ पलीता एक पुर्जे मे बँधा हुआ होता था, जो घोड़ा दबाने पर झुककर, नाल में सटे हुए बारूद के दिए में लग जाता था, और फायर हो जाता था। और भी कई प्रकार की कलों का बंदूकों को फायर करने के लिये आविष्कार हुआ, जो थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ १९वीं शताब्दी तक चलती रहीं। सन् १८०७ ई० में स्कॉटलैंड के एक पादरी ने टोपीदार बंदूक का आविष्कार किया। इस आविष्कार के साथ बंदूकों की शकल बहुत कुछ आधुनिक हो गई। सन् १८३६ में जर्मनी के शहर इरफर्ट में सबसे पहले कारतूसी बंदूक बनी और २०वीं शताब्दी का प्रारंभ होने तक, उसकी बनावट मे बहुत कुछ उन्नति हो गई। कारतूसी बंदूकों के साथ साथ तोपें भी, जो मुँह से भरी जाती थीं, पीछे से भरनेवाली बनने लगीं। इसी समय सपाट नली की जगह चूड़ीदार नली का आविष्कार होने से रायफल बनी। इस आविष्कार से बंदूकों और तोपों की मार पहले से कहीं अधिक हो गई और उनके निशाने में बहुत अधिक सच्चाई आ गई। १६५० ई० में फ्रेंच मार्शल वबाँ ने संगीन का आविष्कार किया। इस हथियार के ईजाद होने से पैदल सेना का भाला अनावश्यक हो गया।

आरंभ में बंदूक की मार से बचने के लिये अधिक मजबूत कवच बनाए गए। ऐसा करने से कवच का बोझ बढ़ गया। जैसे जैसे बंदूक और पिस्तौल की बनावट और मार में उन्नति होती गई, वैसे वैसे उनसे बचने के लिये कवच का बोझ बढ़ता गया। अंत में यह बोझ इतना बढ़ गया कि कवच की कोई व्यावहारिक उपयोगिता न रह गई। रायफल का आविष्कार होने के बाद तो बंदूकों और पिस्तौलों में इतनी शक्ति बढ़ गई कि कवच उनके सामने बेकार हो गया। इस प्रकार १८वीं सदी में जिरहबकतर का चलन उठ गया। बिना बचाव के रायफलों और तोपों के सामने जाने का मतलब तो निश्चित मृत्यु के मुख में जाना था। फिर मशीनगन का आविष्कार होने के बाद तो सेनाओं का खुले मैदान मे आना असंभव हो गया। सन् १९१४-१८ की लड़ाई में जर्मन और मित्र राष्ट्रों की फौजें आमने सामने खाइयों में पड़ी रही, और हमला करके हराना दोनों फौजों के लिये बहुत हानिकारक और कठिन काम हो गया।

अंत मे टैंक का आविष्कार होने पर ही इस कठिनाई का अंत हुआ। वास्तव मे टैंक वही कार्य करने के लिये बने जो काम पहले



चित्र ४. प्लेटों से सुरक्षित यान

एक हल्का टैंक।

जिरहबकतर किया करता था। इसीलिये टैंक सेना का नाम आर्मर

पड़ा। टैंकों के आने से और पिछले महायुद्ध में उनके बड़े पैमाने पर उपयोग किए जाने से, युद्ध की शकल ही बिल्कुल बदल गई। लड़ाई के दौरान टैंकों की बनावट और उनके प्रयोग में बहुत प्रगति हुई। भिन्न भिन्न कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार के टैंक बनाए गए। हलके, मझोले और भारी, तेज और धीमे, हलकी और भारी तोपवाले, तरह तरह के टैंक लड़ाई के मैदान में दिखाई देने लगे और ऐसा प्रतीत होने लगा कि लड़ाई की शैली का भविष्य टैंकों के हाथ में है।

पर साथ ही साथ टैंकमार तोपों की उन्नति से एक संतुलन स्थापित हो गया। पहले पहल तो टैंकों ही की जीत रही, पर धीरे-धीरे, जैसे जैसे अधिक शक्तिशाली तोपें बनीं, टैंक काबू में आ गए। पहले टैंकमार तोपों को खींचने के लिये किसी दूसरी गाड़ी को जोतना पड़ता था। बाद मे स्वचालित तोपें बनने लगीं। वैलेंटाइन आर्चर इसी प्रकार की तोप थी, जो पिछले महायुद्ध के समाप्त होने पर बहुत उत्तम टैंकमार तोप समझी जाती थी। महायुद्ध के बाद खोखला चार्ज, और बिना धक्केवाली तोपों के आविष्कार से सेनाओं की टैंकमार शक्ति बहुत बढ़ गई। अब यह कहा जा सकता है कि इस समय टैंक शक्ति से टैंक मार शक्ति अधिक प्रबल है।

नौसेना में भी इसी प्रकार, तोप और जहाजों के आर्मर में भी प्रतियोगिता चलती रही। वायुशक्ति के विकास से इस प्रतियोगिता का इतना महत्व नहीं रह गया। आजकल जहाजों के आर्मर के बजाय उनकी तोपों और चाल की तेजी का अधिक महत्व है।

[न० चं० च०]

शहडोल १. जिला, भारत के मध्य प्रदेश राज्य का जिला है, जिसके उत्तर पश्चिम में सतना, उत्तर पूर्व में सीधी, पूर्व मे सरगुजा, दक्षिण-पूर्व में बिलासपुर, दक्षिण-पश्चिम में मंडला और पश्चिम में जबलपुर जिले हैं। इस जिले का क्षेत्रफल ५,४१२ वर्ग मील एवं जनसंख्या ८,२९,६४६ (१९६१) है। यह जिला मध्य प्रदेश का प्रमुख धान उत्पादक केंद्र है और यहाँ के कनक नामक धान से बना चावल अपनी सुवास एवं स्वाद के लिये प्रसिद्ध है। जिले के उमरिया, जोहिला तथा सारगदा हरी दफाई में कोयले की खानें हैं। जिले का बड़ा भूभाग जंगलों से आच्छादित है। इमारती लकड़ियाँ, बीड़ी बनाने के पत्ते, लाख, धान तथा तंबाकू का व्यापार जिले में होता है। उमरिया, सोहागपुर तथा शहडोल जिले के प्रमुख नगर हैं।

२. नगर, स्थिति : २३° उ० अ० तथा ८१° ३०' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है। नगर में नगरपालिका भी है। यह दक्षिण-पूर्वी रेलवे का स्टेशन भी है। नगर की जनसंख्या २२,१९६ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

शहतूत या तूत (Mulberry) मोरेसिई (Moraceae) कुल का एक पेड़ है। शहतूत की सैकड़ों किस्में हैं। दमदम के रेशम अनुसंधानशाला में ११० किस्म के शहतूत के पेड़ लगे है। मोरस ऐल्बा (Morus alba) किस्म का शहतूत सफेद फल देता है और मोरस निग्रा (Morus nigra) किस्म का शहतूत काला फल देता है। शहतूत की खेती फलों के लिये नहीं, वरन् रेशम के कीड़ों के पालने के लिये की जाती है, यद्यपि इसके फल भी उपयोग में आते हैं। मैसूर में इसकी बागवानी लगभग ७०,००० एकड़ भूमि में होती है। मद्रास और बिहार के भागलपुर में भी इसकी बागवानी होती है। जहाँ जहाँ रेशम के कीड़े पाले जाते हैं, वहाँ वहाँ इसके पेड़ उगाए जाते हैं। यह शीतकटिबंधी वृक्ष है। पर उष्ण कटिबंधी और समोष्ण कटिबंधी स्थलों में भी उगता है। यह गरमी और वर्षा दोनों को समान रूप से सहन कर सकता है। इस पेड़ में कीड़े या रोग कम लगते हैं।



शहतूत

डाल, पत्तियाँ तथा फल।

२७०० वर्ष पूर्व चीन में इसकी खेती होने का पता लगता है। इसका प्रसार कलम (cuttings, ८-१२ लंबा कलम) द्वारा होता है। बीज से भी उगाए जाते हैं। पौधे चश्म द्वारा भी यह उगाया जाता है। यह सब प्रकार की मिट्टी में उपज सकता है। बागों में २० फुट की दूरी पर, दो फुट गहरा गड्ढा खोदकर, उसमें एक मन गोबर की सड़ी खाद देकर, शहतूत का वृक्ष उगाना अच्छा होता है। बरसात में पेड़ लगाना चाहिए। रेशम के कीड़ों के पालने की दृष्टि से, एक एकड़ में ४,००० पेड़ लगाए जाने चाहिए। गोबर के साथ साथ नाइट्रोजन उर्वरक का उपयोग आवश्यक है। अच्छे फल के लिये छँटाई आवश्यक है। फल देने के बाद छँटाई करके, खाद देकर, सिंचाई करने से नई पत्तियाँ भरपूर मात्रा में निकल आती है। फरवरी में फूल लग जाते है और मई जून में फल

पकते हैं। फल खाए जाते हैं। फल की गुद्दी से शरबत बनता है। यूरोप में इससे शराब भी बनाई जाती है। फल में औसतन ६ प्रति शत चीनी और ०·९५ प्रति शत अम्ल पाया जाता है।

सं० ग्रं०—रामसागर राय : उद्यान-कृषि-दर्शन, प्रकाशक, कला निकेतन, पटना। [फू० स० व०]

शांडिल्य यह नाम गोत्रसूची में है, अतः पुराणादि में शांडिल्य नाम से जो कथाएँ मिलती हैं, वे सब एक व्यक्ति की नहीं हो सकतीं। छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् में शांडिल्य का प्रसंग है। पंचरात्र की परंपरा में शांडिल्य आचार्य प्रामाणिक पुरुष माने जाते हैं (द्र० ईश्वरसंहिता)। शांडिल्यसंहिता प्रचलित है; शांडिल्य भक्तिसूत्र भी प्रचलित है। इसी प्रकार शांडिल्योपनिषद् नाम का एक ग्रंथ भी है, जो बहुत प्राचीन ज्ञात नहीं होता।

युधिष्ठिर की सभा मे विद्यमान ऋषियों में शांडिल्य का नाम है। राजा सुमंतु ने इनको प्रचुर दान दिया था, यह अनुशासन पर्व (१३७।२२) से जाना जाता है। अनुशासन ६५।१९ से जाना जाता है कि इसी ऋषि ने बैलगाड़ी के दान को श्रेष्ठ दान कहा था।

शांडिल्य नामक आचार्य अन्य शास्त्रों में भी स्मृत हुए हैं। हेमाद्रि के लक्षणप्रकाश में शांडिल्य को आयुर्वेदाचार्य कहा गया है। विभिन्न व्याख्यान ग्रंथों से पता चलता है कि इनके नाम से एक गृह्यसूत्र एवं एक स्मृतिग्रंथ भी था। [रा० शं० भ०]

शांतिपुर स्थिति : २३° १५' उ० अ० तथा ८८° २७' पू० दे०। यह भारत में पश्चिमी बंगाल राज्य के नदिया जिले में रानाघाट उपडिवीजन का हुगली नदी के किनारे स्थित एक नगर है। इस नगर की जनसंख्या ५१,१९० (१९६१) है। पहले शांतिपुर कपड़ा बुनने के उद्योग के लिये विख्यात था, पर अब वह स्थिति नहीं रही। यहाँ कार्तिक पूर्णिमा को रासयात्रा का उत्सव मनाया जाता है। यह एक अच्छा बाजार भी है। [ज० सिं०]

शाँपोलियाँ, जाँ फ्रास्वा (१७९०-१८३२) २३ दिसंबर, १७९० ई० को फ्रांस मे जन्म। सोलह वर्ष की उम्र में इन्होंने ग्रीनोब्ल की अकादमी के संमुख एक लेख पढ़ा जिसमें कोप्ती मिस्र की प्राचीन भाषा स्वीकार की गई थी। इस लेख ने लोगों का ध्यान मिस्री विद्या की ओर आकृष्ट किया। वस्तुतः इससे मिस्री पुरातत्व का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारंभ होता है। शीघ्र ही वे पेरिस जा पहुँचे जहाँ ग्रीनोब्ल की एक साहित्यिक संस्था द्वारा १८०९ ई० में इतिहास के प्राध्यापक पद पर नियुक्त होकर संमानित हुए। इन्होंने मिस्री चित्रलेख की कुंजी १८२१ में प्रस्तुत की। १८२४ में चार्ल्स १०वें की आज्ञा से इटली के संग्रहालयों में संगृहीत मिस्री पुरावशेषों के अध्ययनार्थ इन्हें जाना पड़ा। वहाँ से लौटने पर लूव्र के मिस्री संग्रहालय के ये डायरेक्टर बने। १८२८ में मिस्र के पुरावशेषों का वैज्ञानिक अध्ययन करने का भार इन्हें सौंपा गया। १८३१ में कालेज द फ्रांस में मिस्र के पुरातत्व प्रोफेसर पद पर नियुक्त हुए और मृत्यु के पूर्व तक मिस्री खोजों के निष्कर्षों को प्रकाशित करने में व्यस्त रहे। वे मिस्री पुरातत्व के संस्थापक के रूप में प्रख्यात हैं। मिस्री लिपि की कुंजी 'रोजेता स्टोन' को पढ़ने का श्रेय टॉमस यंग के साथ इनको ही है। [कृ० ना० गु०]

शांसी (Shansi) प्रांत, स्थिति : ३८° २०' उ० अ० तथा ११२° ०' पू० दे०। चीनी भाषा में शांसी का अर्थ है, पर्वत के पश्चिम में। उत्तरी चीन में, शांसी, पहाड़ों के पश्चिम, ६०,३९३ वर्ग मील तथा लगभग एक करोड़ जनसंख्यावाला एक प्रांत है। इसकी राजधानी यांगचु या ताइयुआन है। इसके पश्चिम में शेंसी, दक्षिण और दक्षिण पूर्व में होनैन तथा पूर्व और पूर्व उत्तर में होपे प्रांत एवं उत्तर में इनर मंगोलिया क्षेत्र है। शांसी पीली मिट्टी (लोयस) से ढँका पठार है। इसकी औसत ऊँचाई १,००० फुट है। फन नदी इस प्रांत को दो भागों में बाँटती है। शांसी की जलवायु महाद्वेशीय है। ताइयुआन तथा लिनफेन झीलों की घाटियों में गेहूँ, जौ, मक्का, कपास आदि की खेती होती है। पूरे प्रांत में, धरातल के नीचे कोयले की समांतर, मोटी परतें है। [पु० क०]

शाइस्ता खाँ मीर जुमला की मृत्यु (मार्च, १६६३ ई०) के बाद औरंगजेब का मामा शाइस्ता खाँ बंगाल का गवर्नर बनाया गया। उसने इस पद पर लगभग तीस वर्ष तक कार्य किया। औरंगजेब ने शाइस्ता खाँ को दक्षिण का भी गवर्नर बना दिया था। इस समय मराठों का सरदार शिवाजी दिन पर दिन अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। शाइस्ता खाँ को शिवाजी की कारवाइयों को दबाने का आदेश दिया गया। शाइस्ता खाँ ने पूना पर अधिकार कर लिया, कल्याण के जिले से मराठों को खदेड़ दिया तथा चाकन के दुर्ग को जीत लिया। शिवाजी बीजापुर से सुलह करके निश्चित हो जाने पर अप्रैल, १६६३ की एक रात में शाइस्ता खाँ के पूना के निवासस्थान में चुपके से घुस गया। हरम के कई अधिकारियों आदि की हत्या करके उसने शाइस्ता खाँ पर आक्रमण किया। शाइस्ता खाँ बाल बाल बच गया। पर इस चक्कर मे उसे अपना एक अँगूठा गँवा देना पड़ा। इस कांड के बाद भी शिवाजी सुरक्षित बचकर निकल गया।

समुद्री डाकुओं का अस्तित्व मिटाने के लिये शाइस्ता खाँ ने पुर्तगाली समुद्री डाकुओं पर आक्रमण करके बंगाल की खाड़ी में स्थित उनके मुख्य अड्डे सोन द्वीप पर अपना अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त सन् १६६६ में इन डाकुओं के मित्र, अराकान के राजा, से उसने चटगाँव भी छीन लिया था। पर शाइस्ता खाँ का यह प्रयत्न बहुत सफल सिद्ध नहीं हुआ और अट्ठारहवीं शताब्दी तक समुद्री डाकुओं का अस्तित्व बना रहा।

सन् १६७२ में शाइस्ता खाँ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को एक 'फरमान' प्रदान किया। इस फरमान के द्वारा कंपनी को बंगाल में व्यापार संबंधी करों से मुक्त कर दिया गया। दो वर्ष बाद उसने फ्रांसीसियों को बंगाल मे चंद्रनगर नामक स्थान पर फैक्ट्री बनाने की अनुमति दे दी। फ्रांसीसियों ने इस स्थान पर अपनी प्रसिद्ध फैक्ट्री बनाई। सन् १६९४ में शाइस्ता खाँ का देहांत आगरा में हुआ।

[मि० चं० पां०]

शाकंभरी शाकंभरी का वर्तमान नाम सांभर है। यह पश्चिमी राजस्थान में सांभर झील के दक्षिण पूर्वी किनारे पर स्थित है और नमक के निर्यात के कारण काफी प्रसिद्ध है। महाभारत के आदि पुराण में इसका उल्लेख है। स्कंदपुराण ने इसके आसपास के प्रदेश को शाकंभर सपादलक्ष की संज्ञा दी है। यहाँ की खुदाई में प्राप्त यवन यौधेय, और हिंद-ससानी मुद्राएँ एवं उसी समय के मकान और अन्य वस्तुएँ भी इसकी प्राचीनता की द्योतक हैं।

शाकंभरी (सांभर) कई सदियों तक चौहानों की राजधानी रही और सांभर के हाथ से निकल जाने पर भी चौहान राजा 'संभरीशव' (शाकंभरीराज) कहलाते रहे। अजयराज चौहान ने संवत् ११७० के लगभग सांभरी के स्थान पर अजमेर को अपना राजनगर बनाया। पृथ्वीराज की पराजय के बाद यहाँ मुसलमानों का राज्य हुआ। सन् १७०८ में जयपुर और जोधपुर के राजाओं ने इसपर अधिकार किया। अब इसका महत्व मुख्य रूप से सांभर नमक के कारण है।

सांभर में शाकंभरी देवी के मंदिर का उल्लेख पृथ्वीराजविजय में भी है। नगर का नाम शाकंभरी देवी के नाम से शाकंभरी (सांभर) हो गया है। [द० श०]

शाकद्वीपीय अथवा शाकद्वीपी भारतीय वर्णव्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मणों का एक वर्ग है। इनके पूर्वज मूलतः शकद्वीप के निवासी थे। महाभारत तथा पुराणों में सप्तद्वीपा पृथ्वी (वसुमति) के वर्णन आते हैं। उनमें एक शकद्वीप अथवा शाकद्वीप भी था। उसकी स्थिति कहाँ थी, इसका एकमत से निरूपण नहीं हो सका है। परंतु इतना तो निश्चित है कि शकद्वीप शक नामक जाति का निवासक्षेत्र था। हीरोदोतस, दियोदोरस और स्ट्रैबो आदि ग्रीस और रोम के इतिहासकारों ने सीथिया (स्किदिया) की चर्चा की है। पर वही शकद्वीप था, यह अधिकांश विद्वानों के मत से अस्वीकार्य है। कभी कभी शकों को ईरानी और तूरानी जातियों से भी मिलाया जाता है। पारसीक अभिलेखों से शकों का निवास सिर दरया और आमू दरया के मैदानों में ज्ञात होता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे शक वहाँ से हटकर पूर्वी फारस और पश्चिमी अफगानिस्तान में चले आए। शकों के निवास का यह वही क्षेत्र है, जिसे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों और कुछ अभिलेखों में शकस्थान, मध्यकालीन फारसी उद्धरणों में सिजिस्तान और आजकल सीस्तान कहा जाता है। चीनी इतिवृत्तों से ज्ञात होता है कि शक लोग प्रारंभ में आधुनिक काशगर के आसपास रहते थे पर ईसा पूर्व दूसरी शती में यू ची नामक जाति द्वारा वहाँ से हटाए जाने पर अफगानिस्तान और फारस की सीमाओं से होते हुए उन्होंने भारतवर्ष में प्रवेश किया। सैनिक आक्रमणकारी और राजनीतिक विजेता होते हुए भी यहाँ की संस्कृति द्वारा वे जीते गए और भारतीय समाज में मिला लिए गए। संभवतः वर्णविभाजन उनमें पहले से ही था और भारतीय वर्णव्यवस्था स्वीकार करते उन्हें देर न लगी। ब्राह्मणों में उनका एक विशेष वर्ग ही हो गया, जिसे आज 'शाकद्वीपी' अथवा शाकद्वीपीय ब्राह्मण कहते हैं। बिगड़े हुए रूप में ये ही सकलदीपी या 'साकलदीपी' कहलाते हैं। ये सारे उत्तरी भारत में फैले हुए हैं। इन्होंने वैद्यक शास्त्र में विशेष सफलता पाई।

सं० ग्रं० — दि० चं० सरकार : स्टडीज इन दि जियाग्रॉफी ऑव ऐंशेंट ऐंड मेडिवल इंडिया, पृ० १६३; मजुमदार और पुसलकर (संपादित) : 'दि एज ऑव इंपीरियल यूनिटी, पृष्ठ १२०; हे० रायचौधुरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंशेंट इंडिया, पृ० ४३१-४३६। [वि० पा०]

शाजापुर १. जिला, स्थिति : २२° ३४' से २४° १९' उ० अ० तथा ७५° ४४' से ७७° ५' पू० दे०। भारत के मध्यप्रदेश राज्य में स्थित, इस जिले का क्षेत्रफल २,३८८ वर्ग मील तथा जनसंख्या ५,२६,११५ (१९६१) है। जिला मालवा के पठार पर स्थित है तथा यहाँ की भूमि अत्यधिक उर्वरा है। जिले में काली सिंध, चंबल तथा पार्वती मुख्य नदियाँ हैं। जिले के प्रमुख नगर शाजापुर, शुजालपुर तथा आगर हैं।

२. नगर, स्थिति : २३° २५' उ० अ० तथा ७६° १७' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है, जो काली सिंध की सहायक नदी लकुंदर के बाएँ किनारे पर स्थित है। १६४० ई० में मालवा में आने के समय मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने इसे बसाया था और इसका नाम शाहजहाँपुर था, जो बिगड़कर अब शाजापुर हो गया है। नगर की जनसंख्या १७,३१७ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

शातोब्रिआँ (Chateaubriant १७६८-१८४८) प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक का जन्म 'से मालों' में ब्रेतान के एक प्राचीन कुलीन परिवार में हुआ था। आप अपने सरल किंतु उदास पिता, खिन्न अस्वस्थ माता, लुसिल नामक धार्मिक किंतु स्नायुदुर्बल बहन, ब्रेतान के वन्य दृश्य तथा समुद्र से प्रभावित हुए। संतप्त युवावस्था; निर्वासन एवं निर्धनता में इंग्लैंड में प्रवास; अमरीका, जेरूसलम, मिस्र तथा स्पेन की यात्राएँ, फ्रांस में साहित्यिक एवं राजनीतिक जीवन तथा अवकाशग्रहण आपके जीवन के प्रमुख पक्ष हैं। आपकी मित्रता फॉनतान तथा जुबेर नामक लेखकों और मादाम रेकामियर तथा मादाम द बोमा नामक सामाजिक महिलाओं से थी। आपकी पुस्तक 'ल जेनि दु क्रिस्तियानिस्म' संधि-दिवस १८०२ के सुअवसर पर प्रकाशित होकर फ्रांस में कैथोलिक मत की पुनःस्थापना में सहायक हुई। आपकी पुस्तिका 'द बुनापार्त ए दे बुरबाँ' फ्रांस में मित्रराष्ट्रों के प्रवेश के दिन (३१-३-१८१४) प्रकाशित हुई। आपने नैपोलियन की अधीनता में तथा बुरबाँ परिवार में कई पदों पर कार्य किया; किंतु अपनी दर्पपूर्ण स्वतंत्र प्रकृति के कारण आपको इन्हें त्यागना पड़ा। सन् १८११ में आप अकादेमि के सदस्य चुने गए। सन् १८३० में आपने राजनीति से अवकाश ग्रहण किया।

आपकी पुस्तकें आपके व्यक्तित्व का प्रतिबिंब हैं। 'एसाइ सुरले रेव्होलुशिआँ' तरुण-पांडित्य-पूर्ण ग्रंथ है। 'ल जेनि दु क्रिस्तियानिस्म' नामक पुस्तक में आपकी प्रारंभिक नास्तिकता के प्रायश्चित्त, ईसाई मत के समर्थन, सौंदर्य सिद्धांत एवं नवीन समालोचना का मिश्रण है। 'अतिला' और 'रने' नए युग के दो उपन्यास हैं। 'अतिला' रोमैंटिक पद्धति का एक विदेशी उपन्यास है। आपकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'रने' में एक खिन्न, परिश्रांत एवं विप्लवकारी रोमैंटिक वीर का चित्रण है। यह शिलर और बायरन के 'चाइल्ड हैरोल्ड' के

बीच की कड़ी है। 'ले मारतिर' में प्रकृतिपूजक आदर्शों की अपेक्षा ईसाई आदर्शों की उच्चता दिखाई गई है। यह एक गद्यात्मक महाकाव्य है; किंतु आपकी प्रतिभा अधिकतर इतिहासोन्मुखी है। आपने अँगरेजी साहित्य पर एक निबंध, यात्रावर्णन, 'ला व्हि द रांसे' तथा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे; और 'पैराडाइज लॉस्ट' का अनुवाद किया। भव्य चित्रण एवं उपकथाओं से परिपूर्ण आपका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'मेमवार दुग्र तॉम्ब' आत्मसमर्थन का एक प्रयत्न था।

शातोब्रिआँ विचारक नहीं थे, वरन् भव्य वर्णनों के लिये प्रसिद्ध एक कलाकार थे। आपकी अहंमन्यता सभी रचनाओं में परिलक्षित होती है। आपने बुद्धिवादी युग के अंत तथा रोमैंटिक युग के प्रारंभ की घोषणा की। इनके रोमैंटिसिज्म के मुख्य तत्व है :—प्रकृति एवं आत्मा की पूजा, प्रगीतात्मकता, भावुकता इत्यादि। इन्होंने ऐसे गद्य की रचना की जिसमें केवल स्पष्टता एवं यथार्थता के स्थान पर कोमलता एवं लचीलापन है। शातोब्रिआँ का दृष्टिकोण सौंदर्य प्रधान था। आपने कविता, उपन्यास, इतिहास तथा समालोचना के क्षेत्रों में फ्रेंच साहित्य को प्रभावित किया। [एम० एम० देसाई]

शान राज्य स्थिति : २१° ३०' उ० अ० तथा ९८° ३०' पू० दे०। यह बर्मा का पूर्वी सीमांत प्रदेश है। उत्तरी तथा दक्षिणी शान राज्य और वा राज्य संमिलित कर, यह प्रशासनिक इकाई बनाई गई है। इसका क्षेत्रफल ६०,००० वर्ग मील तथा जनसंख्या २०,८६,००० है। इसकी राजधानी ताउंजी (Taunggyi) है। इस प्रांत में ३,००० फुट औसत ऊँचाईवाले शान पठार है। यहाँ की मुख्य चट्टान नीस है। राज्य में कुछ जवाहरातों की खानें भी हैं। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ४५ इंच से ५० इंच तक है। यहाँ धान, कपास, पोस्ते तथा तरकारियों की खेती होती है। रंगून एवं मंडला रेल लाइन द्वारा लाशो आदि मुख्य केंद्रों तक पहुँचा जा सकता है। [प्रु० कु०]

शॉपेनहावर (१७८८-१८६०) "रुदनशील" एवं निराशावादी दार्शनिक आर्थर शॉपेनहावर का जन्म पोलैंड के डांजिग नगर में एक धनाढ्य व्यापारी के यहाँ हुआ। १७९३ में पोलैंड के द्वितीय विभाजन के बाद तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के कारण शॉपेनहावर परिवार को पाँच वर्ष के बालक आर्थर के साथ हैंबर्ग में शरण लेनी पड़ी। परिवार की समृद्धि मे कमी नहीं आई और आर्थर की शिक्षा-दीक्षा सुचारु रूप से चलती रही। १७९७-१७९९ में उसे पेरिस और हार्वे का भ्रमण करने का अवसर मिला। किशोर शॉपेनहावर फ्रांस की साहित्यिक गतिविधि से अत्यंत प्रभावित हुआ और वोल्तेयर के विचारों ने उसके चिंतन पर अच्छी छाप छोड़ी। इंगलैंड के जीवन से उसे ऊब महसूस हुई। वहाँ से पुन: फ्रांस, स्विटज़रलैंड और वियना तथा बर्लिन की यात्रा ने शॉपेनहावर को जीवन की विविधता से परिचित कराया।

१८०५ में शॉपेनहावर के पिता की मृत्यु एक दुर्घटना से हो गई। इससे पूरा परिवार ही छिन्न भिन्न हो गया। आर्थिक स्थिति को भी इससे धक्का लगा। उसकी माँ और दस वर्षीया बहन वेमर में चली गईं, और आर्थर हैंबर्ग में अकेला रह गया — पूर्ण एकाकी। इन घटनाओं और परिस्थितियों ने शॉपेनहावर को एकांतप्रिय और आत्मलीन बना दिया। वह परछिद्रान्वेषक, आलोचक और शंकालु हो उठा। पारिवारिक संबंध कटु हो गए और शॉपेनहावर की मनस्थिति इन सबसे पूरी तरह डावाँडोल हो गई। घुटन और कुंठाओं ने उसे घेर लिया।

२१ वर्ष की उम्र में शॉपेनहावर ने गौटिंजन में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया; किंतु उसकी रुचि उसकी अपेक्षा दर्शन शास्त्र में अधिक रही। यहीं उसने प्लेटो और कांट के सिद्धांतों का अनुशीलन किया। बर्लिन विश्वविद्यालय में वह फ़िक्टे के संपर्क में भी आया।

१८१३ में उसने सेना को भी अपनी सेवाएँ अर्पित कीं; फलस्वरूप उसे बर्लिन छोड़कर भागना पड़ा। उसे ड्रेसडेन और रूडोल्सटाड में शरण मिली। यहीं पर उसकी पहली पुस्तक (आन द फ़ोर फ़ोल्ड रूट ऑव द प्रिंसिपल ऑव सफीशेंट रीज़न, रूडोल्सटाड, १८१३) प्रकाशित हुई, जिसपर उसे बर्लिन विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि मिली।

वह अपनी माँ के पास वेमर गया। किंतु माँ की विलासपूर्ण जिंदगी के ढर्रे से वह निराश हो गया और अंततः १८१४ में उन्हें हमेशा के लिये त्याग दिया। माँ के प्रति उसकी यह घृणा समस्त नारी जाति की घृणा के रूप में प्रगट हुई। इसका प्रभाव इतना रहा कि शॉपेनहावर ने आजीवन विवाह ही नहीं किया।

वेमर में शॉपेनहावर गेटे के संपर्क में भी आया। यहीं उसने अपनी पुस्तक "आन विजन ऐंड कलर्स" लिखी, जो १८१६ में लाइपज़िग से प्रकाशित हुई। १८१४ से १८१८ के बीच वह ड्रेसडेन में रहा और वहाँ उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "द वर्ल्ड ऐज़ विल ऐंड आइडिया" लिखी। १८१८ में वह इटली गया। १८२० में उसने बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्यापन की कोशिश की, किंतु हीगेल से मतभेद होने के कारण उसे छोड़ दिया। अब वह अपना समय यात्रा और मनन में बिताने लगा। नाटक और संगीत के प्रति भी उसकी रुचि बढ़ी। १८३१ में वह फ्रैंकफर्ट चला आया। यहीं पर १८३६ में उसकी पुस्तक "आन द विल इन नेचर" प्रकाशित हुई। १८३८ में उसे नार्वेजियन सोसायटी से पुरस्कार मिला। १८४१ मे उसके दो महत्वपूर्ण लेख "द टु फंडामेंटल प्राब्लम्स ऑव इथिक्स" प्रकाशित हुए, जिनमें उसने अपने नैतिक सिद्धांतों की व्याख्या की।

शॉपेनहावर को सबसे अधिक प्रसिद्धि "द वर्ल्ड ऐज़ विल ऐंड आइडिया" से मिली। उसको प्रसिद्धि तो मिली, किंतु बड़ी देर से। तब तक उसकी माँ बहन की मृत्यु हो चुकी थी। १८५५ में प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार गोबेल ने उसका चित्र बनाया। बाद का जीवन एकाकी बीता और फ्रैंकफर्ट में २१ अक्टूबर, १८६० को उसकी मृत्यु हुई।

दार्शनिक शॉपेनहावर के मतानुसार परमतत्व इच्छाशक्ति है, जो अपना विकास बुद्धि के रूप में करती है। हमें केंद्रउत्स (Nisus) के अस्तित्व का प्रत्यक्ष अंतर्ज्ञान होता है, जिसका अनुभव बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में प्रगट होता है। कांट की भाँति वह भी दिक् काल को बुद्धि का रूप मानता है। शॉपेनहावर के लिये संसार का आविर्भाव

नाड़ीमंडल के विकास के रूप में होता है। इस प्रकार इच्छाशक्ति शासन करती है। यदि कोई मनुष्य शांति की स्थिति तक पहुँचना चाहता है, तो वह उसे जीने की इच्छाशक्ति को पूर्णरूपेण त्याग देने से प्राप्त कर सकता है। वह प्रयत्न करके "निर्वाण" (शॉपिनहावर द्वारा प्रयुक्त बौद्ध दर्शन का तत्व) — अनस्तित्व की स्थिति को प्राप्त कर सकता है, जहाँ इच्छाशक्ति विलुप्त होकर बुद्धिमात्र शेष रहती है।

शॉपिनहावर का जीवन सदा दुःखी और अवसादपूर्ण रहा, इसीलिये निराशावाद उसके नाम के साथ जुड़ा हुआ है। इच्छाशक्ति आत्मप्रदर्शन के लिये सतत सघर्षशील रहती है, जिसमे व्यक्ति को कभी सतोष नहीं प्राप्त होता। इच्छाशक्ति अंधी है, इसीलिये कष्टों से मुक्ति नहीं मिलती। हम सुख के पीछे भागते हैं, यही दुःख का कारण है। वैयक्तिक इच्छाशक्ति को अपने से अलग करना अपेक्षित है। यही त्याग हमें परमतत्व की ओर प्रेरित करेगा। इस प्रकार शॉपिनहावर पर बौद्ध दर्शन की छाप स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है।

शॉपिनहावर ने कहा है कि ससार के दुःखों से पलायन करके कलाचिंतन में रस लेना अभीष्ट है। संगीत मे यह क्षमता है कि वह मनुष्य को परमानंद की प्राप्ति कराता है। इसीलिये, शॉपिनहावर दार्शनिक के साथ साथ कवि अथवा कलाकार के रूप में भी माना गया है। उसने स्वयं कहा है कि उसका दर्शन 'कला के रूप मे दर्शन" है।

[मु० शु०]

शारदें, जाँ सीम्यो (१६९९-१७७९) अट्ठारहवीं शताब्दी का फ्रांसीसी चित्रकला का उत्कृष्ट चित्रकार। उस समय फ्रांस मे डच शैली के चित्र खूब प्रचलित थे पर शारदें ने बजाय इसके फ्रांसीसी लोकरुचि के आधार पर चित्र बनाए। उसके चित्र सीमित विषयवस्तु के होते हुए भी अपनी ताजगी, बारीकी तथा पवित्र यथार्थता के कारण प्रभावशाली हैं। साधारण जीवन के दृश्य जैसे बर्तन, सागसब्जी, खेलकूद, फलफूल की टोकरियों इत्यादि के चित्र उसने बड़े ही मनोहारी ढंग से अंकित किए हैं। इसी प्रकार घरेलू जीवन के चित्रों को भी वह बड़ी सजीवता से चित्रित करता था। व्यक्तिचित्रण (पोर्ट्रेट) में उसने विशेष कुशलता दिखाई। उसके अपने तथा अपनी पत्नी के व्यक्तिचित्र बड़े ही लोकप्रिय हुए हैं। कला में अपनी विलक्षण सूझबूझ तथा पैठ के कारण ही वह फ्रांसीसी कला अकादमी का सदस्य भी बना दिया गया था।

[रा० चं० शु०]

शारलट मेरिया टकर (Chorlotte Marica Tuckor) कुमारी शारलट मेरिया टकर का जन्म २५ दिसंबर, १८२१ ई० को लंदन (इंग्लैंड) मे हुआ था।

इनको लेख लिखने का बचपन से शौक था। इनका प्रथम लेख "ईश्वरीय देन" था जो इंग्लैंड की कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। १८४० ई० मे वे अच्छी लेखिका मानी जाने लगीं। उनकी पुस्तकें ए. एल. ओ. ई. (ए लेडी ऑव इंग्लैंड) के नाम से प्रकाशित होती थीं। इस कार्य में वह बहुत सफल रहीं।

१८७५ ई० में कुमारी टकर ने मिशनरी कार्य करने के उद्देश्य से भारत आने का विचार किया। रवाना होने के पहले उन्होंने उर्दू भाषा सीख ली क्योंकि वह साहित्य के द्वारा ही सेवा करना चाहती थीं। भारत में पहुँचते ही उन्होंने उर्दू में कहानियाँ लिखना प्रारंभ कर दिया। वे अधिकांश यीशु के दृष्टांतों को कहानी रूप में लिखती थीं और उनको ऐसी भाषा और भावनाओं में प्रकट किया करती थीं जो भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इसमें उन्हें काफी सफलता मिली।

अमृतसर से वे बटाला गईं और वहाँ मुसलमानों के बीच काम करने लगीं। अठारह साल तक मिशनरी सेवा करने के पश्चात् १५ दिसंबर, १८९३ को उनकी मृत्यु हुई। [मि० च०]

शार्क सिलैकिआई (Selachii) उपवर्ग की उपास्थियुक्त मछलियाँ है, जो ससार के सभी समुद्रों में पाई जाती हैं। कंकाल में अस्थि की अनुपस्थिति तथा शिर के पिछले भाग में प्रत्येक ओर पाँच से सात गिलछिद्र, इनको अस्थिल मछलियों से अलग करते हैं। इन मछलियों में वायुआशय (air bladder) भी नहीं होता।

प्ररूपी शार्क मछलियाँ क्रियाशील तथा मछलियों को खानेवाली होती है और सामान्यतः नीले या हरे रंग की होती हैं। इनकी त्वचा छोटे छोटे पट्टाभ शल्कों (placoid scales) से ढँकी होने के कारण खुरदरी होती है। इनका शरीर साधारण मछलियों के आकार का होता है। प्रोथ (snout) नुकीला होता है तथा चन्द्राकार मुँह शिर के निचले भाग में होता है। दाँत त्रिकोणीय होते हैं तथा इनके किनारे तीक्ष्ण होते हैं। पख (fins) नुकीले होते हैं तथा पूँछ का पिछला सिरा ऊपर की ओर मुड़ा रहता है। कुछ बड़ी शार्क मछलियों के दाँत, जो प्लवकों (plankton) को खाती हैं, छोटे छोटे होते है। समुद्रतल पर पाए जानेवाले शार्कों का मुँह अनुप्रस्थ होता है और इनके दाँत छोटे तथा नोकदार होते हैं। शार्क में कर्तन, छेदन तथा पीसनेवाले दाँत भी होते हैं।

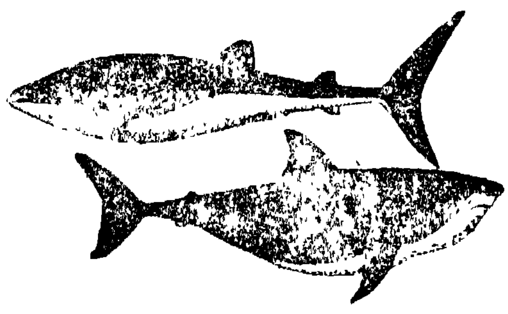
शिकार को खोजने के लिये, इनकी घ्राण इंद्रिय विशेष रूप से विकसित होती है। कुछ शार्क अंडे देते हैं, परंतु अधिकांश सजीवप्रजक (viviparous) होते हैं। शार्क मे आंतरनिषेचन (internal fertilization) होता है।

सबसे बड़ा एवं अघातक शार्क, जिसे ह्वेल शार्क (Whale shark) कहते हैं, ५० फुट से भी अधिक लंबा होता है। सौभाग्य से यह मनुष्यों को कोई नुकसान नहीं पहुँचाता है, क्योंकि इसका प्रमुख भोजन समुद्री जीव तथा पौधे होते हैं। यह सबसे बड़ी ज्ञात मछली है। ह्वेल (Whale), जो मछली के आकार का होता है, वास्तव मे मछली नहीं है। यह स्तनपायी वर्ग का एक जंतु है।

बास्किंग शार्क (Basking shark) दूसरा अघातक शार्क है। यह आर्कटिक महासागर में पाया जाता है। निस्तुषी शार्क (Thresher shark) लगभग १५ फुट लंबा होता है। इसकी पूँछ विशेष रूप से लंबी होती है। यह भी अघातक शार्क है तथा समुद्री जल में यह हेरिंग (Herring) तथा मैकेरल (Mackrel) मछलियों के समूहों का पीछा करते हुए पाया जाता है।

बड़े शार्कों में एक, सक्रिय एवं बहुभोजी शार्क, सफेद शार्क है। इसकी लंबाई ४० फुट तक हो सकती है, परंतु बहुधा इतना बड़ा सफेद शार्क नहीं पाया जाता। साधारणत पाए जानेवाले सफेद शार्कों की लंबाई २० से ३० फुट होती है। यद्यपि इसे सफेद शार्क कहा जाता है, परंतु इसका रंग राख के रंग का होता है। इसकी निचली सतह केवल सफेद होती है। यह मानवभक्षी शार्क गरम समुद्रों में पाया जाता है तथा कभी कभी ही ठंढे जल मे प्रवेश करता है। अन्य मानवभक्षी शार्क हैं: व्याघ्र शार्क (Tiger shark), अयोघन शिर शार्क (Hammer headed shark) रेत शार्क (Sand shark) आदि।

एक अन्य प्रकार का शार्क, जिसे डॉग फिश (Dog fish) कहते हैं, आकार में तो छोटा होता है, परंतु यह मछुओं के कार्य में विशेष व्यवधान उपस्थित करता है। आरा शार्क (Saw shark)



शार्क

ऊपर का चित्र व्हेल शार्क का है, जो ५० फुट तक लंबा होता है। नीचे मानवभक्षी शार्क का चित्र है।

इंडोपैसिफिक सागर में पाया जाता है। इसका प्रोथ आगे की ओर बढ़कर एक चौरस फलक बना देता है, जिसके दोनों ओर क्रम से दाँत लगे रहते हैं।

केवल कुछ शार्क ही मानव खाद्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इनके सूखे पखों से चीन में जिलेटिन बनाया जाता है। शार्क चर्म का उपयोग लकड़ी के बने सामानों को चिकना करने तथा जूता बनाने में भी किया जाता है। शार्कों का एक विशेष महत्व उनके यकृत में पाए जानेवाले तेल के कारण है, जिसमें विटामिन ए की प्रचुर मात्रा पाई जाती है। इसका व्यापारिक नाम 'शार्क लिवर ऑयल' है। शार्क से सरेस तथा उर्वरक भी तैयार किया जाता है।

[नं० कु० रा०]

शार्ट, सर फ्रैंक जाब (१८५७-१९४५) अंग्रेजी जलरंग चित्रकार। प्रारंभ में सिविल इंजीनियर बनने का प्रयत्न किया। अंतः-प्रेरणा के वशीभूत हो साउथ केंसिंगटन के नेशनल आर्ट ट्रेनिंग स्कूल में प्रवेश किया। कितने ही प्राकृतिक दृश्यों को उसने जलरंग, नक्काशी, धातुचित्रण और अन्य माध्यमों द्वारा प्रस्तुत किया। नदियों के कगारों, जलगतों और हरे भरे दृश्यांकनों की गहरी बारीकियों में उसकी मौलिक प्रतिभा और चरम कलासाधना के दर्शन हुए। साउथ केंसिंगटन के रायल कालेज में इनग्रेविंग के अध्यक्ष पद पर कार्य करते हुए उसने ख्याति अर्जित की। [श० रा० गु०]

शालिवाहन शातवाहन का प्राकृत में अपभ्रंश शालिवाहन है। हेमचंद्र ने अपने 'देशीकोश' में शालिवाहन, सालन, हाल तथा कुंतल नामक किसी एक ही व्यक्ति का उल्लेख किया है, किंतु अंतिम दो नाम पर्यायवाची न होकर विभिन्न व्यक्तियों से संबंधित है जो शालिवाहन कुमार थे। शालिवाहन अथवा शातवाहन उस राज्यवंश का नाम है जिसने दक्षिण भारत मे कई शताब्दियों तक राज्य किया और जिसका शक, पह्लव, तथा यवन राजाओं के साथ पश्चिमी-दक्षिणी भारतीय क्षेत्र पर कई पीढ़ियों तक संघर्ष चलता रहा। इसी प्रसंग को लेकर बहुत सी किंवदतियाँ भी प्रचलित हुईं। शालिवाहन नामक सम्राट् को शक संवत् का स्थापक भी माना जाता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि शालिवाहन प्रतिष्ठान-पैथान की एक ब्राह्मण कन्या तथा शेष के संसर्ग से पैदा हुआ था। बड़े होने पर उज्जयिनी के शक सम्राट् ने इसे नष्ट करने के हेतु प्रतिष्ठान पर आक्रमण किया, पर शेष की सहायता से वह स्वयं पराजित हुआ। शालिवाहन का मन्त्री गुणाढ्य था जिसने सात भागों में बृहत्कथा लिखी थी और वह इन्हें सम्राट् को अर्पित करना चाहता था। स्वीकृति न मिलने पर उसने छह भाग जला दिए। अंतिम भाग को शालिवाहन ने गुणाढ्य के शिष्यों से स्वयं जाकर लिया। इस शालिवाहन की समानता गौतमीपुत्र शातकर्णि से की गई है जिसने शक, यवन, तथा पह्लव शासकों को हराया था तथा नहपान के वंश को नष्ट कर दिया था। लगभग तीन चार सौ वर्षों से शक संवत् को शालिवाहन शक संवत् के नाम से संबोधित किया जाने लगा है।

सं० ग्रं० —भंडारकार—आर० जी०—अर्ली हिस्ट्री ऑव डेकन; शास्त्री के० एन०—कांप्रीहेनसिव हिस्ट्री ऑव इंडिया—भाग २।

[बै० पु०]

शाल्व वृषपर्वा के छोटे भाई अजक के अंश से उत्पन्न मार्तिकावत का क्षत्रिय नरेश। काशिराज की पुत्री अंबा ने इसे मन ही मन अपना पति चुन लिया था। स्वयंवर के समय यह भीष्म से पराजित हुआ। भीष्म से आज्ञा लेकर आई हुई अंबा का इसने परित्याग किया। यह जरासंध का पक्षपाती और कृष्ण का विरोधी था। यादवों से शत्रुता के क्रम मे इसने 'सौभ' विमान प्राप्त किया, प्रद्युम्न को युद्ध में हराया। अंत मे श्रीकृष्ण ने इसका वध किया। इस नाम के अनेक पौराणिक व्यक्तियो, राजाओं और दैत्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। [नं० भा० पां०]

शास्त्री, वी० एस० श्रीनिवास [१८६९-१९४६] भारतीय समाजनेता। वालिगमन (मद्रास) के एक गरीब ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। स्कूलमास्टर के रूप में जीवन प्रारंभ। शुरू से ही जीवन की सामाजिक समस्याओं में अभिरुचि होने के कारण गोपालकृष्ण गोखले द्वारा संस्थापित सर्वेंट्स ऑव इंडिया नामक संस्था के सदस्य बन गए। संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति में उनकी लगन देखकर गोखले ने इस संस्था की अध्यक्षता के लिये अपने बाद इन्हीं को चुना। सन् १९१६ में वे वाइसराय की विधान परिषद् में आए।

मांटेग-चेम्सफोर्ड सुधार आयोग की योजना कार्यान्वित होने के बाद वे नई कौंसिल ऑव स्टेट के सदस्य चुने गए। १९२१ की रेलवे समिति में भी उन्हें शामिल किया गया। अपने समय के सबसे अधिक कुशल वक्ता होने के कारण अंतरराष्ट्रीय संस्था लीग ऑव नेशंस में भारत का प्रतिनिधित्व किया। प्रिवी कौंसिल में शामिल होनेवाले वे तीसरे भारतीय थे। १९२७ में सरकार ने उन्हें दक्षिण अफ्रीका में एजेंट नियुक्त किया। लंदन की गोल मेज परिषद् की पहली बैठक के वे सक्रिय सदस्य थे। [मु० रा०]

शाहजहाँ मुगल वंश के पंचम बादशाह तथा 'ताज' के निर्माता शाहजहाँ का जन्म ५ जनवरी, १५९२, बृहस्पतिवार की रात्रि में हुआ। इनका पालन पोषण इनके पितामह अकबर की निस्संतान स्त्री सुलताना रुक़िया बेगम ने किया। पितामह ने इनका नाम खुर्रम रखा। चगताई रीति के अनुसार इनकी शिक्षा दीक्षा का प्रबंध भी उन्हीं ने किया। अबुल फज़ल का भाई फैजी इनका शिक्षक नियुक्त किया गया। १५ वर्ष की उम्र में (१६०७) इनकी सगाई ऐतकादखाँ (आसफ खाँ) की पुत्री अर्जुमंदबानू बेगम से हुई। पर कुछ कारणों से शीघ्र विवाह संपन्न न हो पाया। सितंबर, १६०९ में उनकी सगाई मिर्ज़ा मुजफ्फर हुसेन सफवी की पुत्री से हुई और २८ अक्टूबर, १६१० को विवाह भी संपन्न हो गया। मार्च, १६१२ मे खुर्रम का दूसरा विवाह अर्जुमंदबानू से हुआ, और वहीं से उनके जीवन का सितारा उद्दीप्यमान होने लगा। अर्जुमंदबानू बेगम, जो बाद में मुमताजमहल या ताजमहल के नाम से प्रसिद्ध हुई, नूरजहाँ की भतीजी थी और यही कारण था कि उसके पति खुर्रम नवीन शाही गुट के कृपापात्र बन गए। १६१७ में जब मलिक अंबर की बढ़ती हुई शक्ति का दमन करने खुर्रम दक्षिण गए तो वहाँ उन्होंने अबदुर्रहीम खानेखाना के पुत्र शाहनवाज खाँ की पुत्री से विवाह किया। इस राजनीतिक संबंध ने उनकी शक्ति और स्थिति को दृढ़ कर दिया। अपनी तीनों पत्नियों में से खुर्रम सबसे अधिक अर्जुमंदबानू से ही प्रेम करते थे। उनसे उनके १४ बच्चे हुए जिनमें से ७ की मृत्यु बचपन में ही हो गई और शेष सात में से ४ पुत्रों—दारा, शुजा, औरंगजेब और मुराद—तथा दो पुत्रियों—जहाँनारा बेगम व रोशनआरा बेगम—ने उनके जीवन के अंतिम काल में, मुगल साम्राज्य की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लिया।

अपने पिता जहाँगीर के राज्यकाल में ही खुर्रम ने प्रतिभा, कार्यकुशलता, अपूर्व बुद्धि तथा सैन्य चातुर्य का परिचय दिया। उनकी योग्यता की परीक्षा लेने के लिये उन्हें मेवाड़ जैसे दुर्गम क्षेत्र मे भेजा गया जहाँ सिसोदिया रणबाँकुरों ने बार बार मुगलों के छक्के छुड़ा दिए थे। कार्यक्षेत्र मे पहुँचते ही खुर्रम ने सैनिक चौकियाँ स्थापित करके, चारों ओर से मेवाड़ की नाकाबंदी कर दी। राज्य में रसद के अभाव के कारण हाहाकार मच गया। महाराणा अमरसिंह की प्रजा भूखों मरने लगी और उसके सैनिकों का संहार निरंतर होता जा रहा था। विवश होकर उसने मुगलों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। खुर्रम की यह पहली विजय थी। इसमें उन्होंने सैनिक योग्यता, कूटनीति एवं राजनीतिज्ञ और कुशल कार्यपटुता का प्रमाण देकर सबको चकित कर दिया। उनके गुणों से प्रभावित होकर उनके पिता सम्राट् जहाँगीर ने उन्हें दक्षिण सीमा पर मलिक अंबर से मोरचा लेने भेजा। इस क्षेत्र में खानेखाना, अब्दुल्ला खाँ, खानेजहाँ जैसे नामी सेनापतियों ने एक हब्शी सरदार के हाथ मात खाई थी। परंतु भाग्य और योग्यता ने खुर्रम का साथ दिया और उनको अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने दक्षिण के राज्यों के ऐक्य को अपनी बहुसंख्यक सेना का प्रदर्शन करके तथा नीति द्वारा तोड़ दिया। मलिक अंबर और उसके सहयोगियों को नीचा देखना पड़ा और मुगल आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। तीन मास में ही खुर्रम ने वह काम कर दिखाया जिसमें अन्य लोग वर्षों से व्यस्त थे। दक्षिण में मुगल प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो गई। सम्राट् जहाँगीर तो इतना प्रसन्न हुआ कि उसने विजयी राजकुमार को शाहजहाँ की उपाधि से विभूषित किया तथा उसका मन्सब ३०,००० जात व ३०,००० सवार कर दिया। दरबार मे उसके बैठने के लिये, सिंहासन के निकट एक स्वर्ण कुर्सी भी रखी जाने लगी। एक मुगल राजकुमार के लिये यह उच्चतम संमान था।

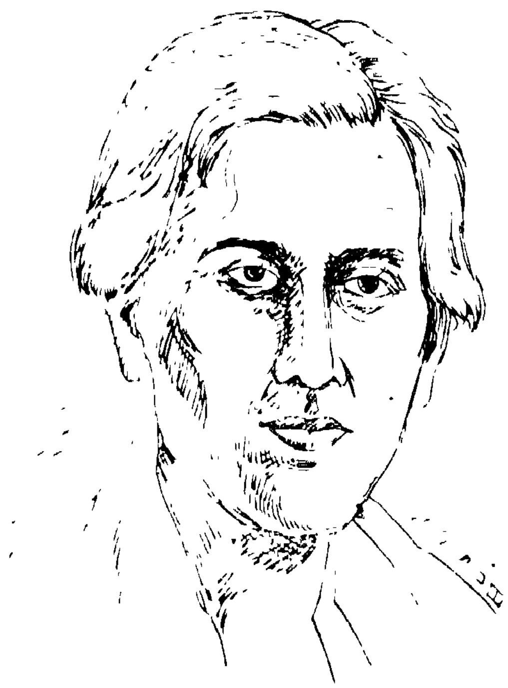
अगले तीन वर्ष शाहजहाँ अपने पिता के सन्निकट ही रहा। इसी बीच उसने अपने नए मित्र बनाए और वह यह सोचने लगा कि वह कैसे नूरजहाँ बेगम की सहायता एवं सद्भावना के बिना भी अपने पैरों पर खड़ा रह सकता है। इधर उसकी महत्वाकांक्षाओं और सतत सफलताओं के कारण नूरजहाँ को उसके प्रति यह संदेह होने लगा कि वह कहीं उसके प्रति विरोध न कर बैठे और राजसत्ता को न दबा बैठे। इस प्रकार शाहजहाँ और नूरजहाँ में तनाव पैदा हो गया।

दक्षिण में मलिक अंबर ने एक बार फिर बीजापुर तथा गोलकुंडा के शासकों के साथ मिलकर मुगलों पर धावा बोल दिया और उन्हें निजामशाही राज्य से बाहर निकाल दिया। शाहजहाँ इस समय कांगड़ा के किले पर घेरा डाले हुए था और शाही सेनाएँ पूर्णतया इस काम मे व्यस्त थी। फिर भी उसे आदेश दिया गया कि वह शीघ्रता से दक्षिण सीमांत की ओर जाकर वहाँ की बिगड़ती हुई स्थिति को सँभाले। इस आज्ञा के पीछे शाहजहाँ को नूरजहाँ की चाल का संदेह हुआ। जहाँगीर की बीमारी के कारण शाहजहाँ दरबार से दूर नहीं जाना चाहता था। उसे भय था कि कहीं उसकी आकस्मिक मृत्यु के बाद खुसरव या शहरयार को गद्दी पर न बिठा दिया जाय। अत: उसने खुसरव को अपने साथ ले जाने की माँग की। जहाँगीर को उसकी योजना पर संदेह हुआ। पर नूरजहाँ तो यह चाहती ही थी कि खुसरव का वध दूसरे के हाथों हो। अतः उसके कहने पर जहाँगीर ने उसकी माँग स्वीकार कर ली। खुसरव को लेकर शाहजहाँ दक्षिण आया और एक बार फिर अपनी कूटनीति द्वारा उसने बीजापुर, गोलकुंडा और मलिक अंबर को संधि करने पर विवश किया। उसके पश्चात् उसने खुसरव को मौत के घाट उतार दिया। अभी वह अपनी शक्ति को दृढ़ करने का प्रयत्न कर ही रहा था कि खबर आई कि कंधार पर फारस के शाह ने अधिकार कर लिया है। शीघ्र ही सम्राट् का आदेश उसे मिला कि वह तुरंत उत्तर पश्चिमी सीमांत पर जाकर कंधार के किले पर अपना प्रभुत्व स्थापित करे और उसकी रक्षा करे। राजकुमार ने, सफलता पाने के

शाहजहाँ (देखें पृष्ठ २४७)



शरत्चंद (देखें पृष्ठ २२१)



बिचार से, जहाँगीर के सामने कुछ माँगें प्रस्तुत कीं। सम्राट् ने उन माँगों को अस्वीकार कर दिया और शाहजहाँ को आदेश दिया कि वह तुरंत ही अपनी सेना सहित उत्तर पश्चिम की ओर चला जाए। उसकी माँगों से रुष्ट होकर सम्राट् ने उसकी हिसार फिरोजा की जागीर उससे छीनकर शाहजादे शहरयार को दे दी। इन घटनाओं ने उसे विद्रोह करने पर विवश किया। उसका विद्रोह दबा दिया गया। तत्पश्चात् वह दक्षिण में ही रहा। जहाँगीर की मृत्यु का समाचार मिलते ही आसफ खाँ के आदेशानुसार वह दक्षिण से आगरे पहुँचा और गद्दी पर आसीन हुआ।

शाहजहाँ के सिंहासनारोहण से एक नए युग का आविर्भाव होता है। राजनीति के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता, देश में शांति, सुख वैभव, समृद्धि, कलाकौशल तथा साहित्य की उन्नति इत्यादि साम्राज्य के चमत्कार के लक्षण थे। शाहजहाँ के राज्यकाल में तीन विद्रोह हुए। (१) खानेजहाँ लोदी दक्षिण का गवर्नर और जहाँगीर तथा नूरजहाँ का कृपापात्र था। वह शाहजहाँ की बढ़ती हुई शक्ति एवं ख्याति को सहन न कर सका। सम्राट् जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् की परिस्थिति से लाभ उठाकर उसने उस क्षेत्र मे जो निजामशाही प्रदेश मुगलों के हाथ आ गए थे उनमें से बालाघाट को, घूस लेकर, अहमद नगर के मंत्री हामिद खाँ को दे दिया और उसने अहमदनगर के किले के रक्षक को आज्ञा दी कि वह भी किले को निजामशाही सैनिकों को सौंप दे। परंतु दुर्गसंरक्षक ने इस आज्ञा का पालन नहीं किया। जब शाहजहाँ गद्दी पर बैठा तब उसने खानेजहाँ से कहा कि वह उक्त प्रदेशों को वापस ले ले। परंतु खानेजहाँ ने इस काम को करने में आनाकानी की। इसलिये उसे दरबार में वापस बुला लिया गया। वह आगरा आ गया परंतु उसका हृदय उद्विग्न रहने लगा। यह समाचार पाकर कि उसके विरुद्ध कार्यवाही होनेवाली है भयभीत होकर वह भाग खड़ा हुआ और दक्षिण में जाकर उसने निजामशाह की शरण ली। शाहजहाँ एक बड़ी फौज लेकर दक्षिण पहुँचा। उसने स्वयं सैन्यसंचालन किया। खानेजहाँ लोदी विवश होकर उत्तर की ओर भागा पर शाही सेना ने उसका पीछा किया और उसे घेरकर मार डाला। (२) दूसरा विद्रोह जुझारसिंह बुंदेले का था। शाहजहाँ के हुक्म के विपरीत भी उसने चौरागढ़ के किले पर अधिकार कर लिया। शाही सेना ने बुंदेलखंड पर चढ़ाई की। सभी किलों और चौकियों पर अधिकार स्थापित किया तथा जुझारसिंह को संधि करने पर विवश किया। (३) तीसरा विद्रोह नूरपुर के जमींदार जगत सिंह का था। जगत सिंह ने चंबा राज्य पर हमला किया और जब शाहजहाँ ने उसे दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया तो वह न आया। शाही सेना ने उसे चारों ओर से घेर लिया। जब उसने क्षमायाचना की तब उसे शाहजहाँ ने क्षमा कर उसके पहलेवाले मंसब पर उसे बहाल कर दिया। इन तीन विद्रोहों के अतिरिक्त कुछ छोटी घटनाएँ भी घटीं। मुगलों ने बंगाल में पुर्तगाली लुटेरों का दमन किया। १६३२ में भगीरथ भील, १६४४ में मालवा के सरदार भारवी गोंड, १६४२ में पालामऊ के राजा प्रताप को हराकर उसके राज्यों तथा जागीरों को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। मुगल सेनाओं ने कूचबिहार और कामरूप पर अधिकार स्थापित किया और आसाम के साथ व्यापारिक संबंध पुन: स्थापित किए।

शाहजहाँ के राज्यकाल में सबसे महत्वपूर्ण अभियान बल्ख और बदख्शाँ को विजय करने के लिये हुए। इन प्रदेशों पर मुगल अपना पैत्रिक अधिकार समझते थे। अकबर और जहाँगीर दोनों ही उनपर पुन. मुगल आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। पर समय अनुकूल न होने के कारण अपनी योजनाएँ कार्यान्वित करने में वे सफल न हो सके। परंतु इस समय बुखारा के शासक नजर मुहम्मद और उसके पुत्र अजीज में संघर्ष छिड़ जाने के कारण शाहजहाँ को मध्य एशिया में अपने भाग्य की परीक्षा लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जून, १६४६ में राजकुमार मुराद की अध्यक्षता में, ५०,००० घुड़सवार तथा १०,००० पैदल सिपाहियों की एक सेना बल्ख पर चढ़ाई करने भेजी गई। बिना विरोध के मुगलों का बल्ख पर अधिकार हो गया। नजर मुहम्मद वहाँ से ईरान भाग गया। इसी कारण मुगलों के उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पड़ गई। इस अभियान के प्रति मुराद पहले से ही उदासीन था। आगामी कठिनाइयों का अनुमान करके ही वह व्याकुल हो उठा और सम्राट् की आज्ञा का उल्लंघन करके बल्ख से चल दिया। उसकी जगह औरंगजेब को भेजा गया लेकिन उसे भी कोई सफलता उजबेकों के विरुद्ध न मिल सकी और वह भी हताश होकर लौट आया। समस्त प्रदेश पर शत्रु ने पुन: अधिकार कर लिया।

कूटनीति का प्रयोग करके शाहजहाँ ने १६३८ में कंधार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था और अगले दस वर्ष तक इस दुर्ग पर मुगलों का अधिकार भी बना रहा। बल्ख की हार के पश्चात् परिस्थिति एकाएक बदल गई। १६४६ में शाह अब्बास द्वितीय ने योजना बनाकर कंधार को मुगलों के हाथ से छीन लिया। शाहजहाँ के गौरव पर यह गहरी चोट थी, अत: उसने कंधार वापस लेने का निश्चय किया। दो बार औरंगजेब के और एक बार दारा शिकोह के नेतृत्व में सेनाएँ भेजी गईं, परंतु सफलता प्राप्त न हो सकी। इससे मुगलों की धन और जन की हानि के अलावा उनकी सामरिक प्रतिष्ठा पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

यद्यपि शाहजहाँ अपने पैत्रिक प्रदेशों को वापस न ले सका और कंधार पर भी अपना अधिकार पुन: स्थापित न कर सका तथापि शाही सेनाओं ने उस क्षति की पूर्ति दक्षिणी सीमांत पर सफलता प्राप्त करके की। मलिक अंबर के उत्तराधिकारी, फतह खाँ, पर न किसी को विश्वास था और न उसमें पिता के समान गुण विद्यमान थे, जो निजामशाही राज्य को बचा सकते। एक गलत बाह्यनीति का अनुसरण कर, जब मुर्तजा निजामशाह द्वितीय ने, मुगल साम्राज्य के विद्रोही खानेजहाँ लोदी को शरण दी उसी दिन से निजामशाही राज्य के भाग्य का निर्णय हो गया। शाही फौजों ने, अहमदनगर को जीतकर दौलताबाद को घेर लिया। खानेजहाँ लोदी के निष्कासन के पश्चात् फतह खाँ ने शाहजहाँ से संधि की वार्ता आरंभ की और उसे विश्वास दिलाया कि वह उसका नाम खुतबा में पढ़ेगा तथा सिक्कों में अंकित करेगा। लेकिन शाहजहाँ को उसकी बातों पर विश्वास न हुआ। विश्वास दिलाने के हेतु ही फतेह खाँ ने मुर्तजा को मौत के घाट उतार दिया और हुसैन

निजामशाह को गद्दी पर बिठाया। अब शाहजहाँ के नाम का खुतबा पढ़ा गया जिससे सम्राट् प्रसन्न हुआ। दौलताबाद का किला फतह खाँ के हाथ सौंपकर वह उत्तर की ओर लौट गया। लेकिन जैसे ही उसने पीठ फेरी, फतह खाँ ने बीजापुर के सेनापति मुकर्रब खाँ की बातों में आकर मुगलों के विरुद्ध फिर लड़ाई प्रारंभ कर दी। इसपर महाबत खाँ ने दौलताबाद के किले पर घेरा डाल दिया। किले पर कब्जा करके फतह खाँ और हुसैन निजामशाह को बंदी बना लिया। परंतु महाबत खाँ की कठिनाइयों का अंत न हुआ। मराठा सरदार शाहू तथा बीजापुर की सेनाओं की गतिविधि के कारण उसे अपमान ही न सहना पड़ा बल्कि नैराश्य से उसकी मृत्यु भी हो गई और दक्षिण की परिस्थिति पूर्व के समान बिगड़ गई। शाहू ने बीजापुर से मदद लेकर, मुगलों के प्रदेशों पर छापा मारना प्रारंभ कर दिया। स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि शाहजहाँ को स्वयं दक्षिणी अभियान की ओर प्रस्थान करना पड़ा। शाही सेनाओं ने शाहू को निजामशाही राज्य और महाराष्ट्र से निकाल दिया और बीजापुर तथा गोलकुंडा के शासकों को संधि करने और धन देने पर विवश किया। औरंगजेब को दक्षिण का वाइसराय नियुक्त कर शाहजहाँ आगरे लौट गया। अगले आठ वर्ष तक दक्षिण का शासन प्रबंध औरंगजेब के हाथ में रहा। उसने बगलाना, औसा और उदगीर पर अधिकार किया तथा देवगढ़ के सरदार को धन देने पर विवश किया। सं० १६४४ में दक्षिण के प्रांत से हटाकर औरंगजेब को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया। सं० १६५४ ई० में सम्राट् ने उसे दूसरी बार दक्षिण भेजा। यहाँ पहुँचकर उसने शासन प्रबंध को सुव्यवस्थित किया।

६ सितंबर, १६५७ ई० को शाहजहाँ के रोगग्रस्त हो जाने से, उसके स्वर्ण युग पर दलबंदी की काली घटाओं ने मँडराना प्रारंभ किया। रोग के कारण सम्राट् का दरबार में प्रति दिन आना, जाना झरोखे में प्रातःकाल दर्शन देना तथा समाचारवाहकों से मिलना, स्थगित हो गया। ज्यों ज्यों उसका रोग करवट बदलता, त्यों त्यों, साम्राज्य की नींव पर एक धक्का सा लग जाता। मुगल राजकुमार दारा, शुजा, औरंगजेब तथा मुराद एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते थे। सभी सिंहासन पर बैठने को उत्सुक थे। ईर्ष्या और विद्वेष ने उत्तराधिकार युद्ध अनिवार्य कर दिया। इस रक्तपूर्ण युद्ध का परिणाम दारा की हार और उसका वध, मुराद का अपमान और उसका वध और शुजा की दुर्गति तथा सम्राट् का आजन्म कारावास हुआ। दिल्ली के भूतपूर्व सम्राट् को दु:ख और यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। उसका हृदय आपदाओं से छलनी हो गया था। ऐसी अवस्था में कन्नौज के सैयद मुल्ला मुहम्मद और उसकी पुत्री जहाँनारा ने उसकी सेवा करके उसके दु:खों का भार हल्का किया। जीवन के अंतिम क्षणों तक वह अपनी जीवनसंगिनी मुमताज महल के मकबरे को निहारता रहा। ७ जनवरी, १६६६ को उसे ज्वर हुआ और पेट की पीड़ा बढ़ी। इसके १६ दिन बाद कुरान की आयतों का उच्चारण करते करते उसने अपनी आँख सदैव के लिये बंद कर ली। चालीस वर्ष से अधिक उसने सम्राट् के रूप में साम्राज्य पर, पिता के रूप में कुटुंब पर, मनुष्य के रूप में जनता पर शासन किया तथा सदैव अपनी न्यायप्रियता, उदारता, सहनशीलता के लिये प्रसिद्धि प्राप्त की। वह सदा प्रजा के लिये सुख, शांति तथा समृद्धि लाने का प्रयत्न करता रहा।

संतति के लिये वह, महान् चिरस्थायी, वैभवशाली, गौरवपूर्ण कार्यों को रूपबद्ध करके छोड़ गया, जिसका वर्णन पूर्वी तथा पश्चिमी इतिहासकारों ने ओजस्वी भाषा में किया है। उसकी कलाप्रियता, उसकी सौंदर्य में अनुरक्ति, उसका उच्च तथा श्रेष्ठ संस्कृति से अनुराग और उसका साहित्यप्रेम उसकी बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं। आगरे और दिल्ली में जिन भवनों तथा प्रासादों का निर्माण शाहजहाँ ने किया वे उसकी संस्कृति एवं शिष्टता के महान् द्योतक हैं। शिल्पकला एवं चित्रकला का हर एक नमूना हमें विचारों की उन गहराइयों में ले जाता है जहाँ चित्रकार, शिल्पकार, कलाकार कौतूहलविभोर हो जाते हैं और मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। दिल्ली के 'दीवाने खास' में यह पंक्ति 'यदि कहीं स्वर्ग है तो यहीं है, यहीं है' अक्षरशः सत्य है। ताजमहल का सौंदर्य अद्भुत है। वह भारतीय नारी की आदर्श सुंदरता, रमणीयता, नम्रता, कोमलता, सुशीलता एवं सौम्यता का नमूना है। कर्नल स्लीमैन की स्त्री ने उसको देखकर सहसा यही कहा कि मेरी स्मृति में यदि ऐसी इमारत का निर्माण हो सके तो मैं सौ बार मरना चाहूँगी। उसके अतिरिक्त शाहजहाँ ने अन्य इमारतें भी बनवाईं जो वास्तुकला की प्रगति की द्योतक हैं। इनमें आगरे के किले में मोती मस्जिद, दिल्ली में लाल किले में नौबतखाना, दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, रंगमहल, दिल्ली की जामा-ए-मस्जिद इत्यादि महत्वपूर्ण हैं।

चित्रकला के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। मुहम्मद फकर उल्लाह खाँ और मीर हाशिम की कृतियों में उस युग की मनोवृत्तियों का आभास मिलता है। सौंदर्य की भावना रंगों द्वारा अभिव्यक्त की गई है। इन चित्रों में स्वर्ण के अत्यधिक प्रयोग से मुगलों के विलासमय जीवन, अतुल धन और वैभव की झलक मिलती है। शाहजहाँ संगीतप्रेमी भी था। ध्रुपद राग उसका प्रिय राग था, जिसे वह प्रसिद्ध गायक तानसेन के दामाद लाल खाँ से सुना करता था। उस युग के प्रसिद्ध गायक जगन्नाथ को भी शाहजहाँ ने संरक्षण दिया। शाहजहाँ को साहित्य से भी प्रेम रहा, सईदायी गिलानी, तालिब कलीम, मुहम्मद जान कुदसी, मीर मुहम्मद यहिया, काशी, सलीम, मसीह, शैदा, चद्रभान, ब्राह्मन, खयाली और दिलेरी जैसे कवि, तुगराई तथा मुहम्मद अफजल, अमानुल्लाह और मुहम्मद सादिक, वनमाली दास, और इब्न हरकरन जैसे लेखकों ने न केवल फारसी साहित्य की ही वृद्धि की वरन् संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद भी किया। शाहजहाँ ने हिंदू कवियों, जैसे सुंदरदास, चिंतामणि व कवींद्र आचार्य, को भी संरक्षण दिया। यदि उसने एक ओर साम्राज्य का विस्तार किया, सुख और शांति की स्थापना की तो दूसरी ओर मुगलिया सलतनत के वैभव, शौर्य, और गौरव को उसकी पराकाष्ठा पर ले जाने के लिये साहित्य, कला, को प्रोत्साहन देकर स्वर्ण युग की स्थापना करने में कोई कसर शेष न रखी। [ब० प्र० स०]

शाहजहाँपुर १. जिला, भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में, उत्तर पश्चिम में स्थित, इस जिले का क्षेत्रफल १,७६२ वर्ग मील तथा जन-

संख्या ११,३०,२५६ (१९६१) है। यह जिला गंगा से ऊपर हिमालय की ओर जानेवाली एक तंग पट्टी पर स्थित है। जिले की प्रमुख नदियाँ गोमती, खनौत, गढ़ई और रामगंगा हैं। गोमती तथा खनौत नदियों के मध्य के भूभाग का उत्तरी भाग जंगली तथा अस्वास्थ्यकर और दक्षिणी भाग घना आबाद है। जिले में गन्ना तथा अन्य फसलें होती हैं। रामगंगा से लेकर गंगा तक निम्न भूभाग है, जिसमें दलदली एवं कठोर भूमि एकांतरण से है। कठोर भूभाग के लिये अधिक सिंचाई की आवश्यकता होती है।

२. नगर, स्थिति : २७° ५०' उ० अ० तथा ७९° ५८' पू० दे०। यह नगर दीओहा नदी के किनारे पर स्थित है तथा उपर्युक्त जिले का मुख्यालय है। शाहजहाँ के शासनकाल में एक पठान, नवाब बहादुरखाँ, द्वारा इस नगर की स्थापना हुई और संस्थापक का मकबरा ही नगर का एकमात्र ऐतिहासिक भवन है। नगर की जनसंख्या १,१७,७०२ (१९६१) है। नगर में सैनिक छावनी भी है। [अ० ना० मे०]

शाहजी (१५९४-१६६४ ई०) मालोजी भोंसले के पुत्र शाहजी का जन्म १५ मार्च, १५९४ ई० को हुआ था। इनका उत्कर्ष साधारण परिस्थिति से संघर्षों में प्रविष्ट होकर आरंभ हुआ। ये प्रकृति से साहसी चतुर, साधनसंपन्न, तथा दृढ़निश्चयी थे। व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होते हुए भी, पृष्ठभूमि के रूप में, इन्हें महाराष्ट्र के राजनीतिक अभ्युत्थान का प्रथम चरण माना जा सकता है। इनकी प्रथम पत्नी जीजाबाई से महाराष्ट्र के निर्माता शिवाजी का जन्म हुआ तथा दूसरी पत्नी तुकाबाई से तंजोर राज्य के संस्थापक एकोजी का। शाहजी का वास्तविक उत्कर्ष निजामशाही वजीर फतहखाँ के समय से प्रारंभ हुआ। निजामशाह की हत्या के बाद, राज्य की संकटाकीर्ण परिस्थिति में, मुगलों की नौकरी छोड़ शाहजी ने दस वर्षीय बालक मुर्तजाशाह द्वितीय को सिंहासनासीन कर (१६३२) मुगलों से तीव्र संघर्ष किया। निजामशाही राज्य की समाप्ति पर इन्होंने बीजापुर राज्य का आश्रय लिया (१६३६)। १६३८ में हिंदू राजाओं का दमन करने के लिये शाहजी भी कर्नाटक भेजे गए; किंतु १६४८ में उनसे संपर्क स्थापित करने के संदेह में सेनानायक मुस्तफाखाँ ने इन्हें बंदी बना लिया। १६४९ में आदिलशाह ने इन्हें विमुक्त कर पुनः कर्नाटक भेजा जहाँ इन्होंने गोलकुंडा के सेनानायक मीरजुमला को परास्त किया (१६५१)। शिवाजी की बढ़ती शक्ति से आतंकित हो, बीजापुर पर शिवाजी के आक्रमणों को शाहजी द्वारा स्थगित कराने का प्रयत्न किया गया (१६६२)। तभी, प्रायः बारह वर्ष बाद, पिता पुत्र की भेंट हुई; तथा शाहजी और जीजाबाई के टूटे संपर्क पुनः स्थापित हुए। २३ जनवरी, १६६४, को शिकार खेलते समय घोड़े पर से गिरने से शाहजी की मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं० — जी० एस० सरदेसाई : दि न्यू हिस्ट्री ऑव दि मराठाज; जदुनाथ सरकार : शिवाजी; दि हाउस ऑव शिवाजी। [रा० ना०]

शाह बदीउद्दीन मदार आपके संबंध में, समय समय पर इतने आख्यान और दंतकथाएँ प्रचलित हो गई कि उनके आधार पर आपके जीवन संबंधी सही तथ्यों का पता लगा सकना अत्यंत कठिन है। केवल इतना ही पता चलता है कि आप आध्यात्मिक दृष्टि से अपने को पैगंबर की वंशपरंपरा का बतलाते थे, पर्दे में रहते थे, २८ नवंबर, १४३६ ई० (१७, जमादिउलअव्वल ८४० हिजरी) को आपकी मृत्यु हुई और कन्नौज के निकट मकनपुर गाँव में आप दफन किए गए।

दाराशुकोह के काल में आपके मृत्युदिवस पर आपके मजार पर पाँच लाख से अधिक व्यक्तियों का जमाव हुआ था। आपके नाम पर आपका पंथ मदारिया कहलाया और आपके अनुयायी 'मदारी' के नाम से विख्यात हुए।

सं० ग्रं० — अब्दुल हक : अखबारुल अखयार, मुजतबई प्रेस, दिल्ली; मुहम्मद गौथी : गुलजारी अबरार हस्तलिखित ग्रंथ, आजाद लाइब्रेरी अलीगढ़; दारा शिकोह : सफीनतुल औलिया, १८५३, आगरा; अमीर हसन: तजकिरातुल मुताकीन, आजाद प्रेस, कानपुर, १३२३ हि०। [का० मु० अ०]

शाहबाज गढ़ी सम्राट् अशोक के प्रधान शिलाभिलेखों में १४ प्रज्ञापन हैं जो मुख्यतया अब तक छह विभिन्न स्थानों पर पाए गए हैं। चौदहों प्रज्ञापनों की पांचवीं प्रतिलिपि पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के पेशावर जिले की युसुफजई तहसील में शाहबाजगढ़ी गाँव के पास एक चट्टान पर खुदी मिली है। यह पहाड़ी पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व है। मानसेहरा की तरह शाहबाजगढ़ी की प्रतिलिपियाँ खरोष्ठी लिपि में खुदी हैं, जो दाहिनी से बाईं ओर लिखी जाती है, शेष पाँचों स्थानों की प्रतिलिपियाँ ब्राह्मी लिपि में हैं।

इन चौदह प्रज्ञापनों की मुख्य बातें ये हैं —

(१) जीवहिंसा का निषेध एवं राजा के रसोईघर में खाद्य व्यंजनों में जीवहिंसा पर संयम; (२) सम्राट् अशोक के जीते हुए सब स्थानों में एवं विशेषकर सीमांत प्रदेशों में मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा का प्रबंध; (३) अधिकारियों का धर्मानुशासन के लिये भी दौरा एवं आचार की सामान्य बातें, (४) धर्माचरण में शील का पालन, (५) लोगों को धर्माचरण की बातें बताने के लिये धर्ममहामात्यों का नियत किया जाना, (६) राजा के कर्तव्यपालन की बातें, (७) संयम, भावशुद्धि एवं विभिन्न धर्मों का आदर, (८) विहार यात्रा की जगह धर्मयात्रा का सम्राट् का संकल्प, (९) निरर्थक मंगल कार्यों की जगह समाज में धर्ममंगल की बातों को प्रश्रय देना; (१०) कर्तव्य कार्यों में धर्ममंगल की बातों का समावेश; धर्म के लिये विशेष प्रयत्न की अपेक्षा।

शेष प्रज्ञापनों में लोगों में समान एवं संमानपूर्वक व्यवहार, अपने अपने धर्मों की अच्छी बातों का परिपालन, सत्व की बढ़ती, कलिंग-युद्ध के उपरांत युद्ध के लिये सम्राट् के मन में पश्चात्ताप एवं जीते हुए प्रदेशों में धर्मानुशासन के कार्य तथा विभिन्न स्थानों में धर्मदेशों के लिखाने की बातें हैं। [शां० प्र० रो०]

शाह मंसूर, ख्वाजा युवावस्था में शिराज (ईरान) से भारत आया और अकबर के शाही इत्रकशी विभाग में मुख्य अफसर हो गया। लेकिन तुरंत बाद ही अकबर के दीवान मुजफ्फर खाँ से अनबन के कारण उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ा। तदनंतर वह जौनपुर के मुनीमखाँ खानखाना का दीवान हो गया।

मुनीमखाँ की मृत्यु के बाद राजा टोडरमल ने ख्वाजा को राजद्रव्य के दुरुपयोग के कारण जेल में डाल दिया। अकबर ने उसे दरबार में बुलाया और दीवान बना दिया (१५७६)। १५७७ में उसे सादिकखाँ तथा अन्य सामंतों के साथ आगरे के शाही खजाने के निरीक्षण का भार सौंपा गया। उसी वर्ष वह जौनपुर की शाही टकसाल का निदेशक नियुक्त किया गया। १५८० में बंगाल के शाही अफसरों के विद्रोह करने पर वह जेल में बंद कर दिया गया; उस पर आरोप लगाया गया कि उसने राजस्व को बढ़ाने तथा फौजी अधिकारियों के भत्ते काटने का काम सख्ती से किया। १५८१ में ख्वाजा शाह मंसूर को मिर्जा हकीम से गुप्त गठबंधन के आरोप पर मृत्युदंड दिया गया।

शाह मंसूर को सैनिक अनुभव न थे, किंतु आर्थिक मामलों में उसकी गहरी पैठ थी।

सं० ग्रं० — अबुल फजल : अकबरनामा (बेवरिज द्वारा संपादित); आईन-ए-अकबरी (सर सैयद अहमद खाँ द्वारा संपादित), बदायूँनी : मुंतखबुत्तवारीख (भाग २); निजामुद्दीन: तबकात-ए-अकबरी (भाग २); शाहनवाज खाँ : मआसिर-उल-उमरा (कलकत्ता, १८८८); रामप्रसाद त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑव मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन (इलाहाबाद, १९५६), राइज ऐंड फाल ऑव द मुगल एंपायर। [इ० हु० मि०]

शाह वली उल्लाह (१७०३-१७६२ ई०) शाह वली उल्लाह को प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता से मिली जिसके फलस्वरूप मुजद्दिद से अत्यधिक प्रभावित होने पर भी वे तौहीदे शहूदी से सहमत न थे। जब वे १७ वर्ष के थे तभी उनके पिता चल बसे। इसके बाद भी वे १२ वर्ष तक अपने पिता के मदरसे में व्यस्त रहे। ११४३ हि० (१७३१ ई०) में उन्होंने हज किया। मक्के तथा मदीने के विद्वानों से लाभान्वित होकर १७३३ ई० में दिल्ली लौट आए। मृत्यु तक सुन्नी मुसलमानों के धर्म के शुद्धरूप का प्रचार करते रहे।

शाह साहब का सबसे बड़ा कार्य हिंदुस्तानी मुसलमानों के पतन के कारणों का विश्लेषण है। उनका विचार था कि हजरत मुहम्मद के प्रथम चारों खलीफाओं के समय की शासनपद्धति को १८वीं शताब्दी के हिंदुस्तान में चलाने से मुसलमानों का कल्याण हो सकता है।

उनकी रचनाओं में कुरान शरीफ का फारसी अनुवाद, हुज्जतिल्लाहिल बालेगा, फयूजुल हरमैन, इनतबाह फी सलासिल औलिया अल्लाह, इजालतुल खेफा, अनफासुल आरेफीन, तफहीमाते इलाहिया एवं पत्रों का संग्रह अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

सं० ग्रं० — मौलाना उबैदुल्लाह सिंधी : शाह वली उल्लाह और उनकी सियासी तहरीक; शाह वली उल्लाह और उनका फलसफा; मुहम्मद अशरफ : हिंदुस्तानी मुसलमानी सियासत; प्रो० निजामी : शाह वली उल्लाह के सियासी मक्तूबात। [से. अ. अ. रि.]

शाहाबाद स्थिति : २४° ३१′ से २५° ४९′ उ० अ० तथा ८३° १९′ से ८४° ५१′ पू० दे०। बिहार के पटना डिवीजन का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ४,४०८ वर्ग मील है एवं जनसंख्या ३२,१८,०१७ (१९६१) है। धरातल के दृष्टिकोण से जिले को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) कैमूर पठार दक्षिण में, एक चौथाई भाग में है। इसकी औसत ऊँचाई १,००० से १,५०० फुट है, (२) मैदानी भाग बाकी तीन चौथाई भाग में फैला है। इसकी ढाल दक्षिण से उत्तर की ओर है। कर्मनाशा, दुर्गावती तथा कुदरा मुख्य नदियाँ हैं, जो पठार से निकलती हैं। पूरब में सोन नदी तथा उत्तर में गंगा नदी जिले की सीमा निर्धारित करती हैं। इस जिले की धान, गेहूँ, चना, केसारी, ईख आदि प्रधान फसलें हैं। सोन नदी से निकाली गई नहरों द्वारा यहाँ सिंचाई होती है, जिससे यह जिला खाद्यान्न के लिये अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ सीमेंट, कागज, चीनी आदि के कारखाने हैं, जो प्रधानतः डालमियानगर में केंद्रित हैं। आरा इस जिले का प्रशासनिक नगर है जिसकी जनसंख्या ७६,७६६ (१९६१) है। [ज० सिं०]

शिंजिआंग (Sinkiang) चीनी भाषा में इसका अर्थ है नवीन राज्य। सुदूर उत्तरपश्चिम में यह चीन का सबसे बड़ा स्वायत्तशासी क्षेत्र है। इस क्षेत्र का क्षेत्रफल १६,४६,८०० वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या ५६,४०,००० तथा राजधानी ऊरुमची है। यह स्वायत्तशासी क्षेत्र तिएनशान पर्वतश्रृंखला द्वारा दो असमान विभागों में बँट गया है : पहला जुंगारिया पठार के उत्तर में, और दूसरा तारीम (Tarim) बेसिन के दक्षिण में, जिसमें तकलामाकान मरुभूमि भी सम्मिलित है। यहाँ की नदियाँ पहाड़ों से निकलकर नमकीन झीलों में मिल जाती हैं, समुद्र तक नहीं पहुँचती। तारीम नदी सबसे लंबी नदी है। केवल ब्लैक इरतिश नदी का पानी समुद्र में पहुँचता है। यहाँ की जलवायु सूखी और महाद्वीपीय है। मरुभूमि भागों के लोग खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते हैं। पहाड़ी नदियों की घाटियों में कपास, गेहूँ, धान, मक्का, फल आदि की उपज होती है। [पु० क०]

शिकागो स्थिति ४१° ५०′ उ० अ० तथा ८७° ३८′ प० दे०। यह संयुक्त राज्य, अमरीका, का प्रसिद्ध नगर, बंदरगाह तथा व्यापारिक, औद्योगिक एवं सांस्कृतिक केंद्र है। यह मिशिगैन झील के दक्षिणी पूर्वी कोने पर न्यूयार्क से ८१३ मील, लॉस एंजिलेस से २,२६५ मील, न्यूऑर्लिएंज से ९१२ मील तथा सिएट्ल से २,३३० मील दूर है। नगर की जलवायु परिवर्तनशील है। दैनिक तापांतर १७° सें० तक पहुँच जाता है। यह यातायात का प्रमुख केंद्र है लगभग ३० रेलमार्ग यहाँ पर आकर मिलते हैं। यह कैनाडा के रेलमार्ग का भी केंद्र है। यहाँ पर शिकागो मंदिर, ट्रिब्यून मीनार, सिविक ऑपेरा एवं रिगले भवन, ऑडिटोरियम, प्युपिल्स गैस भवन, मारक्वेटे भवन, जनता पुस्तकालय, शिकागो प्राकृतिक इतिहास अजायबघर, आदि प्रसिद्ध इमारतें हैं। यहाँ कई पार्क हैं, जिनके कारण इसे उद्याननगर कहा जाता है। नगर, कला एवं संगीत का भी केंद्र रहा है। जॉन एल्डिन कारपेंटर जैसे कवि तथा जी० पी० ए० हीले जैसे चित्रकार यहाँ पैदा हुए हैं। शिकागो का आर्ट्स इंस्टिट्यूट संसार का प्रसिद्ध अजायबघर है।

यहाँ के जनता पुस्तकालय में २१,६६,७४२ पुस्तकें हैं। शिकागो का विश्वविद्यालय संसार में अद्वितीय स्थान रखता है। लोहा एवं इस्पात, सीमेंट आदि के बड़े उद्योगों के अतिरिक्त यहाँ मांस को डिब्बों में बंद करने का लकड़ी का काम तथा आटा पीसने एवं चमड़ा कमाने का कार्य पहले ही से हो रहा है। शिकागो नगर की जनसंख्या ३५,५६,२१३ (१९६०) है। [सु० चं० श०]

शिकार (आखेट) और मनुष्य दोनों सहजन्मा है। बहुत प्राचीन काल मे जब मनुष्य ने खेती करना प्रारंभ नही किया था, तब वह अपने भोजन और वस्त्र दोनो के लिये विभिन्न पशुओं के मास और खाल पर ही पूर्णतया निर्भर था। पशुओ की हड्डियो से ही वह शस्त्रास्त्रों का भी काम लेता था। सदियों तक अँधेरे मे प्रकाश के लिये मनुष्य पशुओ की चर्बी का प्रयोग करता था। कृषियुग के उद्भव के साथ साथ, शिकार का महत्व केवल मनोरंजन और अभ्यास तक ही सीमित रह गया। शांति के समय अपने साहस, पौरुष और बहादुरी की वृत्ति को भी मनुष्य कभी कभी शिकार के माध्यम से संतुष्ट करता था।

धीरे धीरे शिकार केवल राजा महाराजाओं और उनके दरबारियों तथा दरबार से संबंधित योद्धाओं का ही कार्य रह गया, क्योंकि यही एक ऐसा वर्ग था जिसके पास आखेटोपयुक्त समय और साधन सुलभ थे। मुख्य रूप से प्राचीन भारत में आखेट उपर्युक्त वर्ग मे ही प्रचलित था। वाल्मीकि रामायण में राम द्वारा माया मृग के पीछा किए जाने का तथा महाभारत में वनवास के समय पांडवों के आखेट का वर्णन आया है। दुष्यंत और शकुंतला का प्रेम, जो संस्कृत के महान् नाटक अभिज्ञान शाकुंतलम् का कारण बना, आखेट की पृष्ठभूमि मे ही पनपा। शाकुंतलम् मे आखेट के गुणों की चर्चा करते हुए कवि ने लिखा है :

मेदश्छेद कृशोदरं भवत्युत्साह योग्य वपुः,
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तमयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विना यदिषव: सिद्धंति लक्ष्ये चले,
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगया मीदृग विनोदः कुत ॥
अभि० शा० ।२।५।

प्राचीन काल में राजे, महाराजे और सामंत गण, दैनिक जीवन की चहल पहल से थोड़ी राहत पाने के विचार से, आखेट हेतु जंगलों में डेरा डालते थे। हिरन तथा अन्य जानवरों का पीछा छिपकर पैदल, रथ पर, या घोड़े पर सवार होकर किया जाता था।

मध्यकाल में राजपूत राजे महाराजे बराबर आखेट का आयोजन किया करते थे। आज भी राजपूत राजाओं के यहाँ दशहरे के दिन शिकार की प्रतिद्वंद्विताएँ होती हैं और जिसे सबसे पहला शिकार मिल जाता है, वह उसे प्रसन्नता का प्रतीक और शकुन समझता है।

मुस्लिम शासनकाल में सभी बादशाह आखेट के लिये अपने अपने स्थायी जंगल रखते थे। देहरादून के पास स्थित, 'राजाजी अभयारण्य' मुगलों के काल में बादशाही शिकारगाह था, जहाँ पर प्रायः राजवंश के लोग शिकार के लिये जाते थे। इन दिनो सभी प्रकार के शिकारों के लिये इतने प्रचुर आखेट्य पशु थे कि गैंडे का (जो आज देश के कुछ भागों, जैसे असम और नेपाल को छोड़कर अन्य सब जगह समाप्त हो चुका है) शिकार पेशावर के पास बाबर ने किया था। इसका उल्लेख उसकी आत्मकथा में मिलता है। मुस्लिम शासनकाल में शिकार जंगली जानवरों के लिये कत्लेआम के सदृश होता था। पूरा जंगल घेर कर हाँके के कोलाहल से गुंजायमान कर दिया जाता था हाँके के अलावा जंगल में तीन ओर से आग लगा दी जाती थी और केवल एक दिशा ही जानवरों के भागने के लिये छोड़ दी जाती थी। इस दिशा की ओर शिकारी पैदल, हाथी और घोड़े पर सवार, शिकार की प्रतीक्षा किया करते थे और जो भी जानवर उधर से निकलता वह शिकारी के विषैले हथियारों का शिकार हो जाता। हथियारो से लैस हाँकावाले भी सामने पड़नेवाले जानवरों का शिकार करते थे। शिकार का रूप उस जमाने में शिकारी और शिकार के बीच एक तरह के संघर्ष का था। बीसवीं शताब्दी मे अच्छी बंदूकों के आविष्कार के साथ साथ, शिकार अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित तथा जंगली जानवरों के लिये ज्यादा खतरनाक हो गया। परिणाम-स्वरूप जंगली जानवरों की जातियो में बड़ी तीव्र गति से ह्रास होने लगा है। प्रमुख जंगली जानवरों के शिकार का वर्णन निम्न लिखित है —

चीता — हिरन तथा छोटे जानवरों का शिकार करने के लिये भारत मे आखेटक चीतों का प्रयोग करने की भी एक पद्धति थी। आखेटक चीतों को पकडने के लिये, पीछा करके दौड़ाते दौड़ाते थका दिया जाता था तथा उनको डराने के लिये बीच बीच में फायरिंग भी की जाती थी और जब वे थककर बिल्कुल अशक्त और निःसहाय हो जाते थे, तो उन्हें मोटे और मजबूत रस्सों मे फँसाकर बाँध रखा जाता था और बाद में उन्हें प्रशिक्षित किया जाता था। चीतों को पूर्ण प्रशिक्षित कर उन्हें हिरन और बारहसिंगों के आखेट के लिये प्रयुक्त किया जाता था।

चीतों का प्रशिक्षण बड़ा आसान काम होता था। चीतो की आँख पर चढ़ा हुआ पट्टा हटाकर, हिरन और बारहसिंगो के पुतले दिखलाकर, उसे बंधनमुक्त कर दिया जाता था। इन पुतलों को देखकर, चीता अपने मूल स्वभाव की प्रेरणा से, उनपर प्रहारार्थ झपटता था और जब वह उन पुतलों का काम तमाम कर चुकता था, तो प्रशिक्षक गोश्त के टुकड़े लेकर, उसके पास जाता था और उसको उस पुतले के शिकार से विरत कर देता था। इस प्रकार प्रशिक्षित किए जाने के बाद छोटी छोटी बैलगाड़ियो में बैठाकर, चीतों को हिरनो और बारहसिंगों का आखेट करने के लिये जंगलों में ले जाया जाता था, और जब भी हिरन और बारहसिंगे दिखलाई पड़ते, तो शिकारी चीते की आँख की पट्टी हटाकर उसकी जंजीर खोल दी जाती थी। दूरी के अनुसार शिकारी चीता या तो दौड़ाकर शिकार का पीछा करता था, या उन्हें खतम कर डालने के लिये उनपर टूट पड़ता था, या शिकार को खूब दौड़ाकर पैरों से उसपर प्रहार करता था और पकड़ पाने पर, तब तक दबाए रखता था जब तक उसका मालिक शिकार के पास आकर शिकार की गर्दन न काट दे। गर्दन कटने पर जब तक शिकारी चीता शिकार के खून को चाटता था तबतक मरा हुआ शिकार गाड़ी में पहुँचा दिया जाता था और चीते की आँख पर आँख ढंकनेवाली पट्टी चढ़ा दी जाती थी तथा गले मे जंजीर लगाकर, उसका प्रशिक्षक उसे गाड़ी

पर ले जाता था। इस प्रकार दिन भर में एक अच्छा शिकारी चीता ४-५ हिरनों का शिकार कर लेता था। शिकार की यह पद्धति, जिसका उपयोग प्राचीन काल के राजे महराजे और सामंत करते थे, भारत में अब समाप्त हो चुकी है। अकबर के पास इस प्रकार के लगभग ६०० चीतों की पूरी पलटन थी। यह परंपरा भारत में सन् १६२० तक मिलती है। इसके बाद आखेटक चीतों का नामोनिशान भी नहीं मिलता।

आखेटक चीता लगभग तेंदुए के कद का होता है (देखें चीता, खंड ४, पृष्ठ १३५)। खड़ा होने पर अधिक ऊँचा और पतला मालूम होता है। पुतलियाँ और आँखें गोल तथा कान छोटे एवं गोल होते हैं। इसके बाल अपेक्षाकृत रूक्ष होते हैं तथा अन्य जगहों की अपेक्षा गर्दन पर कुछ लंबे होते हैं। खाल का रंग पांडुर, भूरा और पीला तथा कहीं कहीं रक्तपीत होता है, जो निचले हिस्सों में पार्श्व और पृष्ठ भागों की अपेक्षा हलका होता है। खाल लगभग सब जगह छोटे छोटे ठोस तथा गोले, काले धब्बों से आच्छादित रहती है। तेंदुए के समान इस पर गुल नहीं होते। इसकी ठुड्डी और गर्दन श्वेत वर्ण की होती है। आँख से लेकर ऊपरी होंठों तक, एक काली रेखा खिंची रहती है। लगता है, जैसे आँख से आँसू ऊपर के रोओं पर गिर रहे हैं। दूसरी ओर यह रेखा बालों में खो जाती है तथा आँख के कोनों से लेकर कानों तक धब्बे पड़े रहते हैं। यह ऊपरी हिस्सों पर काला और बगल तथा निम्न भागों में पांडुर-धूसर वर्ण का होता है। शरीर की तरह ही पूरे शरीर की लंबाई के आधे से अधिक लंबी पूँछ भी अंतिम छोर तक धब्बेदार होती है और नोक पर हलके वृत्त होते हैं। इसके तलवे और पंजे कुत्ते के समान होते हैं। बिल्लियों की तरह इसके पंजों के नाखून अंदर की ओर नहीं जाते।

ये कभी भी मनुष्यों पर आक्रमण नहीं करते। ये अपने शिकार के पास बड़ी सावधानी और शांति से आते हैं और उसके बाद एकाएक, बड़ी द्रुत गति से, शिकार पर आक्रमण करते हैं। ऊबड़ खाबड़ जमीन और घासों के झुरमुट का पूरा फायदा उठाते हुए, उनमें लुकते छिपते, ये अपने शिकार का पीछा करते हैं। कृष्णसार और चिकारा का पीछा करने में इनकी गति तीव्रतम होती है। इतनी तीव्रता कोई भी साधारण या शिकारी कुत्ता नहीं दिखला सकता। पूरा भोजन कर लेने के बाद, चीता दो दिन तक अपनी माँद में विश्राम करता है। इसके बाद किसी विशेष पेड़ के पास जाता है, जहाँ पीढ़ी दर पीढ़ी आखेटक चीते इकट्ठे होकर अपने पंजे तेज करते रहे हैं। कभी कभी ये बहेलियों द्वारा भी पकड़ लिए जाते हैं और इस आशय से कि ये मानव गंध के आदी हो जाएँ, ये बच्चों तथा स्त्रियों के बीच रखे जाते हैं। छह महीने में ये पूर्णतया कुत्तों के समान प्रशिक्षित और पालतू हो जाते हैं तथा अपरिचितों के साथ भी इनका व्यवहार बड़ा मधुर हो जाता है। पालतू हो जाने के बाद, ये पालतू बिल्लियों के समान पूर्ण संतुष्ट और प्रसन्न रहते हैं और सदैव अपने मानव मित्रों के संपर्क में रहना पसंद करते हैं। ये पिंजड़े में कभी नहीं रखे जाते, बल्कि जमीन में गड़े खुंटे या दीवार में जड़े हुए किसी पल्ले के सहारे लोह शृंखलाओं से बाँधकर रखे जाते हैं।

तेंदुआ — यद्यपि तेंदुआ (देखें तेंदुआ) व्याघ्र से कम शक्तिशाली होता है, तथापि इसके आक्रमण और प्रहार की पद्धति किसी भी हिंसक जानवर से अधिक भयंकर और खौफनाक होती है। इसकी बोली गुड़गुड़ाने और खाँसने की बीच की सी होती है और उसकी तीन या चार आवृत्तियाँ होती हैं। पूरी आवाज समवेत रूप से आरे की ध्वनि जैसी होती है। हाँके से ये घनी झाड़ियों और पेड़ों के झुरमुट में इस प्रकार छिप जाते हैं कि हाँकेवालों और शिकारियों को पूर्णतया निराश होना पड़ता है। हाँके से ये प्रायः बहुत कम बाहर निकलते हैं। इसलिये इसपर गोली चलाना बड़ा मुश्किल होता है।

तेंदुए का शिकार करने के लिये, व्याघ्र के शिकार के समान एक पेड़ या ऐसे जलाशय के पास जहाँ वे प्रायः पानी पीने या अपने पंजों को साफ और तेज करने के लिये आते हैं, बकरी या कुत्ता बाँध दिया जाता है। शिकारी किसी मचान, या अपनी इच्छानुसार किसी झाड़ी में छिपा, प्रतीक्षा करता रहता है। शिकारी कुछ ऐसा करता है कि तेंदुए के लिये बाँधा गया शिकार बीच बीच में चिल्लाता रहे, जिससे आकृष्ट होकर तेंदुआ उसके पास तक आ सके। तेंदुआ के शिकार की दूसरी पद्धति यह होती है कि शिकारी सड़कवाला कोई ऐसा जंगल चुन लेता है, जहाँ तेंदुए अधिक संख्या में पाए जाते हैं। सड़क के पार्श्व भाग में छोटे छोटे मंच बना दिए जाते हैं, जिनकी ऊँचाई साढ़े तीन या चार फुट से अधिक नहीं होती। उसी मंच पर एक कुत्ता बाँध दिया जाता है। तेंदुये कुत्तों का माँस बहुत पसंद करते हैं और वे एक मील की दूरी से ही सूँघकर उसके पास आने का उपक्रम करते हैं। एक से दूसरे मंच के बीच की दूरी एक से दो फर्लांग तक होती है। मंचों के बन जाने के बाद शिकारी सूर्यास्त के पश्चात्, अँधेरा हो जाने पर, मोटर में निकलता है। साधारणतया शिकारी दो या तीन मंचों में से किसी एक पर से ही तेंदुए का शिकार करने में सफल हो पाता है। यह पद्धति उस समय प्रचलित थी जब सर्चलाइट के सहारे शिकार किए जाते थे।

शेर या व्याघ्र — (देखें बाघ) भारत में व्याघ्र का शिकार ही गौरव का कार्य माना जाता है। किसी जलाशय या हाँके के माध्यम से, व्याघ्र के आश्रय स्थल के पास शिकार किया जाता है। हाँका मनुष्यों तथा प्रशिक्षित हाथियों, दोनों से किया जाता है। मनुष्यों के हाँके में ऐसा होता है कि पूरे जंगल को तीन ओर घेर लिया जाता है और शेष चौथी दिशा में शिकारी के बैठने के लिये एक मचान बना लिया जाता है, जिसकी ऊँचाई ७ से १० फुट तक होती है। मचान को चारों ओर से हरी पत्तियों तथा टहनियों से ढँक दिया जाता है और शिकारी के चढ़ने लायक एक सीढ़ी बना दी जाती है। मचान का निर्माण ऐसे ढंग से किया जाता है कि अगर व्याघ्र सिर ऊपर उठाकर देखे भी, तो शिकारी को देख नहीं सकता। व्याघ्र द्वारा मचान में बैठे हुए शिकारी के न देखे जा सकने का एक कारण मचान की ऊँचाई भी होती है, जो व्याघ्र की दर्शन शक्ति के धरातल से ऊँची होती है। हाँके के पहले ही कुछ ठोक भी पेड़ों पर बैठा दिए जाते हैं। ऐसा इसलिये किया जाता कि अगर व्याघ्र हाँके से कटना चाहे तो ठोक अपनी कुल्हाड़ियों से पेड़ के तनों को ठोंक ठोंककर व्याघ्र को उसी ओर भागने को बाध्य करते हैं जिधर मचान पर बैठा शिकारी उसकी प्रतीक्षा कर रहा है।

शिकार (पृष्ठ २५१–२५६)



शेर और वनशूकर का सामना



दोनों का युद्ध



शारवय मृगवन में जल पीता शेर



शिकारी तथा शेर

शिकार (पृष्ठ २२१-२५९)



लॉर्ड हार्डिंज तथा हांके में मारे गए आठ शेर



पेड़ की ३० फुट ऊँचाई पर मानवभक्षी शेर

व्याघ्र या और कोई जंगली जानवर किसी प्रकार की आवाज सुनकर रुक नहीं सकता और पहली आवाज पर ही वह इतना चौकन्ना हो जाता है कि जंगल के सबसे सुनसान अंचल में भाग जाने का प्रयास करता है। हाँका वाले ढोल तथा कनस्टर पीट पीटकर और चिल्लाकर, बड़ा तुमुल घोष करते हैं। जंगल के घने घासवाले अंचलों में, जहाँ मनुष्यों का जाना कठिन होता है, प्रशिक्षित हाथियों द्वारा हाँका कर दिया जाता है। ये प्रशिक्षित हाथी व्याघ्र के लिये लगभग २०० गज का वृत्ताकार अवरोध उत्पन्न करते हैं और शिकारी किसी एक हाथी की पीठ पर बैठा होता है। धीरे-धीरे ये हाथी वृत्त को सँकरा करते जाते हैं। इस प्रक्रिया को पारिभाषिक शब्दावली में घेरा डालना (ringing) कहते हैं। नेपाल में इसका बहुत प्रचलन था। हाँके मे प्रयुक्त प्रत्येक हाथी के पास कँटीले तारों की लंबी लंबी जंजीरे होती हैं। जब हाँका शुरू होता है, तब विलक्षण किस्म की आवाज होती है, एक तरफ जंजीरों की झनझनाहट से संपृक्त हाथियों की चिग्घाड़ और दूसरी ओर वृत्तावरोध में कैद व्याघ्र की गर्जना। हाथियों के घेरे की मजबूत चहारदिवारी में पड़ा व्याघ्र किसी कमजोर मोहरे की तलाश में इधर से उधर दौड़ता हाथियों के पैरों पर प्रहार करता है। उधर शिकारी ज्यों ही काली पृष्ठभूमि में सफेद दागवाले कान के व्याघ्र को देखता है त्योंही गोली चलाना शुरू कर देता है। जब व्याघ्र उस घेरे को तोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है, तब हाथी के सिर पर छलाँग मारता है और हाथी अपनी सूँड़ में पकड़ी हुई, उन कँटीली जंजीरों से उसपर प्रहार करते है तथा हाथी की पीठ पर स्थापित हौदे में बैठा शिकारी ऊपर से गोलियाँ चलाता है।

व्याघ्र का शिकार करने की दूसरी पद्धति यह है कि उसके आम रास्ते में तीन या चार साल का भैंस का पँड़वा बाँध दिया जाता है, जिसके गले में एक घंटी बँधी होती है। भोजन की तलाश में निकला हुआ व्याघ्र ज्यों ही वहाँ पहुँचता है तुरंत पँड़वे को मार डालता है और उसे थोड़ा बहुत खाने के बाद दूसरे दिन खाने के लिये लेकर चल देता है और कुछ दूर पर किसी जंगली जलाशय के पास, घनी झाड़ियों में उसे छिपाकर रख देता है तथा उसके पास ही बैठा रहता है, जिससे कोई दूसरा जानवर उसके शिकार के पास न जाने पाए। मरे हुए पँड़वे के आस पास गिद्ध और कौवे यदि पेड़ पर बैठे हुए दिखलाई पड़ जाँय, तो समझ लेना चाहिए कि व्याघ्र के डर से ही वे शिकार के पास नहीं जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में एक मचान बनाकर हाँका शुरू कर दिया जाता है और मचान में बैठा हुआ शिकारी मरे हुए पँड़वे के पास, संध्या में सूर्यास्त के पश्चात् या रात में, व्याघ्र के आने की प्रतीक्षा करता है। कभी कभी शिकारी बिना हाँके के ही, भूखे व्याघ्र के निकलने की प्रतीक्षा में, बँधे हुए शिकार के पास रात भर बैठा रहता है।

तेंदुआ पहले अपने शिकार का पेट फाड़ता है और वहीं से खाना शुरू करता है, लेकिन व्याघ्र पहले पुट्ठों की ओर से शिकार को खाता है। प्राचीन काल में भारत के सभी जंगलों में व्याघ्र बड़ी संख्या में पाए जाते थे, लेकिन अब ये बहुत कम रह गए हैं और कहीं कहीं तो पूर्णतया दुर्लभ हैं। इसका एक मात्र कारण अंधाधुंध और अनुशासनहीन शिकार ही है। हिमालय की उपत्यका तथा मध्य प्रदेश के जंगली अंचलों में अब भी ये प्रचुर संख्या में पाए जाते हैं। व्याघ्र की सामान्य रूपरेखा पर्याप्त परिचित होती है। यह बिल्ली के कुल का होता है। इसकी पुतलियाँ गोल होती हैं। पूरे नौजवान व्याघ्र के कान के पिछले हिस्से के आस पास गर्दन के चारो ओर लंबे लंबे बाल होते है, जिन्हें फर कहते हैं। फर छोटे और घने होते हैं, लेकिन उनकी लंबाई, घनेपन और रंग में जलवायु के अनुसार अंतर होता है। इसकी धारियाँ बिलकुल काली और स्पष्ट होती है। उसका शिरोप्रदेश और पूरा शरीर काली धारियों से, जो पूँछ की ओर जाते जाते वृत्ताकार हो जाती हैं, ढंका रहता है। शरीर और पार्श्व भाग का रंग पांडुर-धूसर वर्ण का होता है, लेकिन निचले हिस्से सफेद होते है। उत्तरी भारत मे पाए जाने वाले व्याघ्र मध्य और दक्षिणी भारत के व्याघ्रों की अपेक्षा अधिक गहरे रंग के और ललछौंह होते है। व्याघ्र के कान काले होते है, जिनके पिछले हिस्से पर एक सफेद धब्बा होता है, जो शिकारियों को छिपे व्याघ्र का पता देता है। तीन साल की अवस्था मे व्याघ्र पूरा नौजवान हो जाता है। यह दिन भर आराम करता है और शाम को शिकार की खोज में निकलता है और किसी निश्चित रास्ते या नदी के बलुआ तट पर चला जाता है। अनुभवी और जानकार शिकारी पहले इन रास्तों का पता लगाता है और उन्ही पर पड़दा बाँधता है। पूरी रात भर और मौसम के अनुसार सुबह के सात से नौ बजे तक व्याघ्र टहलते घूमते हैं। उसके बाद जंगल के किसी ठंढे, घने और शांत अंचल में जाकर विश्राम करते हैं। व्याघ्र को सोते समय आसानी से मारा जा सकता है, शर्त यह है कि व्याघ्र के सोने के स्थान का पता लग जाय और वहाँ व्याघ्र की निद्रा में बिना विघ्न डाले चुपके से शिकारी पहुँच जाय।

किसी व्याघ्र पर अगर गोली का निशाना बहक जाय, या वह घायल होकर भाग जाय, तो वह फिर कभी उस ओर, जहाँ वह घायल हुआ था, नही लौटता। जंगल के किसी दूसरे अंचल की शरण लेता है, क्योंकि यह बहुत ही चालाक और मक्कार जानवर है, जो अपनी गलतियों को कभी दुहराता नही। घायल होने के बाद अगर यह मरने से बच जाता है, तो नरभक्षी हो जाता है। किसी भी हाँके में बचा हुआ व्याघ्र दुबारा हाँके के चक्कर मे जल्दी नही पड़ता। हाँके का जरा भी संकेत पाकर पुराने अनुभव के आधार पर वह बहुत दूर भाग जाता है। व्याघ्र मादाएँ नर की अपेक्षा भयंकर तथा खूँखार होती हैं। बुड्ढा, अशक्त तथा घायल व्याघ्र और बच्चोंवाली व्याघ्र मादाएँ, जो अपना स्वाभाविक शिकार करने में असमर्थ होती हैं, पहले छोटे छोटे पालतू जानवरों पर प्रहार करना शुरू करती हैं और चरवाहों के संसर्ग मे आते आते, जब मनुष्य के प्रति इनका स्वाभाविक डर समाप्त हो जाता है, तो ये पूर्णतया नरभक्षी बन जाते हैं। कुछ व्याघ्र, बिलकुल सफेद होते हैं, जिन्हें रंजकहीन (albino) व्याघ्र कहते हैं। इनके शरीर की धारियाँ, गहरे भूरे रंग की तथा आँखें भूरी हरी होने की जगह, हल्की गुलाबी होती हैं।

व्याघ्र के शिकारी को चाहिए कि वह अगर उसपर गोली चलाए, तो उसे जिंदा न छोड़े। यह उसका नैतिक कर्तव्य और शिकार संहिता का आग्रह होता है। इसका पालन करने के लिये, घायल

व्याघ्र का पीछा करने के लिये कुछ पालतू भैंसों को लगा देना चाहिए और शिकारी उनका अनुगमन करे। घायल व्याघ्र किस रास्ते से गया है, इसका पता लगाने के लिये जमीन पर, घनी मोटी और मुलायम घासों पर पड़े हुए उसके पैरों के निशान पर्याप्त होते हैं। इसके साथ साथ उसके घाव से टपकने वाले खून के धब्बे भी, जो सूखी टहनियों, घासों, झाड़ियों और जमीन पर होते हैं, रास्ते का निर्देश करते हैं। भैंस व्याघ्र को बहुत जल्दी सूँघ लेते हैं। इनकी उत्तेजित गतिविधि देखकर, शिकारी को यह समझते देर नहीं लगती कि व्याघ्र नजदीक ही है। इतना मालूम हो जाने पर, पहले इसके कि व्याघ्र कुछ करने के लिये सावधान हो सके, शिकारी को चाहिए कि तुरत उसे समाप्त कर देने का प्रयास करे।

भालू -- (देखें भालू) भालू का शिकार करने के लिये हाँकेवालों को भालू को उसके रहने के स्थान से बिलकुल बाहर निकालकर लाना पड़ता है। चूँकि यह बहुत ही चालाक और शंकालु जानवर होता है, इसलिये उसे बाहर ले आना बड़ा कठिन कार्य होता है। गर्मी के दिनों में जब जल का अभाव होता है, तब किसी जलाशय के पास पानी पीते समय इसका शिकार किया जा सकता है, या फिर शाम को या बहुत सुबह जब भालू भोजन की तलाश में महुआ, तेंदु और जंगली मकोय के पेड़ों के पास आते हैं तब इनका शिकार सुलभ होता है। शिकारी पहले हवा की दिशा का अंदाज लगाता है और अपने को जानवर की ओर से आनेवाली हवा के विपरीत दिशा में रखते हुए, किसी झाड़ी के पीछे, या वृक्ष की आड़ में ही छिप जाता है। अगर वह महुए का पेड़ हुआ तो शिकारी उसपर चढ़कर अपने को पत्तियों में अच्छी तरह छिपा लेता है और भालू की प्रतीक्षा करता रहता है।

स्लोथ भालू ताड़ी बहुत पसंद करता है, इसलिये उसका शिकार ताड़ी के पेड़ के पास आसानी से किया जा सकता है। लबनी में भरे रस को पीने के बाद जब वह बिलकुल मस्त तथा लापरवाह हो जाता है, तब उसे आसानी से बंदूक का निशाना बनाया जा सकता है। गन्ने के मौसम में प्राय यह गन्ने के खेतों के पास आते या जाते मिल सकता है। भालू के शिकार में हाथियों के हाँके का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि भालू ऐसी जगहों पर रहते हैं जहाँ हाथी जा ही नहीं सकते।

हिरन — भारत के हिरन परिवार के चीतल, कृष्णसार, चौसिंगा काकर, पाढ़ा तथा बारहसिंगों पर गर्व किया जा सकता है। इनका वर्णन निम्नलिखित है . —

चीतल -- ये देश भर में पाए जाते हैं और इनके सींग तीस इंच तक लंबे होते हैं तथा कभी कभी ३८ इंच लंबे भी पाए जाते हैं। इनके सींग बिलकुल सीधे होते हैं और बाहरी सींग प्राय: लंबे होते हैं। इनका रंग ललछौंह भूरा होता है, जिस पर सफेद सफेद चित्तियाँ पड़ी होती हैं। संस्कृत के पुराने कवियों ने इन्हें ही स्वर्णमृग की संज्ञा दी है। लंबी लंबी चित्तीवाली इनकी पूँछ के एक सिरे से लेकर पीठ तक लंबी काली धारी होती है, जिसके दोनों ओर सफेद धब्बों की दो या तीन पंक्तियाँ होती हैं। ठुड्डी, गर्दन का ऊपरी हिस्सा, उदर भाग, पैरों का भीतरी हिस्सा तथा पूँछ का निचला भाग बिलकुल सफेद होता है। कान बाहर से बादामी और अंदर से सफेद होता है। सिर का रंग एक समान गहरा भूरा तथा चेहरे पर काला होता है और थूथन के ऊपर काली धारी होती है, जो आँखों के पास तक चली जाती है।

साँभर — भारतीय हिरनों में साँभर बहुत बड़ा होता है। यह पहाड़ी इलाकों के जंगली हिस्सों में पाया जाता है। हिमालय की पर्वतीय उपत्यका में यह दस हजार फुट की ऊँचाई तक और दक्षिण में विंध्य के पूरे पहाड़ी इलाकों में मिलते हैं। मरुस्थली भागों में ये नहीं रहते। इनके सींग बहुत बड़े बड़े होते हैं। इनका थूथन बड़ा होता है और शरीर पर रूखे रूखे मोटे बाल उगे होते हैं। नर साँभर के गले और गर्दन में बाल घने होते हैं। इनके शरीर का रंग गहरा भूरा होता है, जो कुछ कुछ राखी के रंग को लेकर पीतिमा लिए होता है। पुट्ठे और पेट के हिस्सों में पीलापन अधिक स्पष्ट होता है। पुराने साँभर कभी कभी काले, या स्लेटी भूरे रंग के, हो जाते हैं। ये कभी भी बड़े झुंडों में नहीं रहते, फिर भी चार या पाँच का परिवार इनका सदैव साथ रहता है। आदतन ये रात्रिचर होते हैं। वैसे इन्हें शाम और सुबह भी चरते हुए देखा जा सकता है, लेकिन प्राय: ये रात को ही अपना पेट भरते हैं और दिन में किसी घनी मोटी झाड़ी में छिपे रहते हैं। ये बहुत ही चुप्पे होते हैं और इतने सावधान होकर चलते हैं कि जरा भी आवाज नहीं होती।

पाढ़ा, हॉगडीयर (Hog-deer) — ये तराई क्षेत्रों और घने घास के मैदानों में पाए जाते हैं, और कभी भी पर्वतीय क्षेत्रों की ओर नहीं चढ़ते। इनकी पूँछ लंबी और पैर छोटे होते हैं। इनके सींग अप्रैल में झड़ जाते हैं और ये साधारणतया एक फुट से ज्यादा लंबे नहीं होते। चीतल, साँभर, पाढ़ा, सभी के सींग समयानुसार अपने आप झड़ते हैं और जब नए सींग उगते हैं, तो उन्हें ऐंटिलर्स इन वेलवेट (antelers in velvet) कहा जाता है। पाढ़े का रंग ललछौंह मिश्रित बादामी होता है, लेकिन रोओं के सिरे में हल्की सफेदी होती है। निचले हिस्सों में रंग गहरा बादामी होता है। गर्मियों में कानों के भीतरी भाग तथा पूँछ के निचले हिस्से सफेद रहते हैं। छह महीने की अवस्था तक का पाढ़ा पूरे शरीर पर धब्बा लिए रहता है। पाढ़ा आदतन ऊँची झाड़ियों तथा ऊँचे घास के मैदानों में रहता है। दौड़ते समय यह अपना सिर नीचा कर लेता है और उसकी गति बड़ी तीव्र होती है। यद्यपि एक जंगल में बहुत से पाढ़े रहते हैं, तथापि स्वभावत: ये या तो अकेले रहेंगे, या जोड़े में।

बारहसिंगा — ये हिमालय की तलहटी, गंगा एवं गोदावरी की घाटियों तथा कहीं कहीं नर्मदा की घाटियों में पाए जाते हैं। मध्य प्रदेश के बस्तर आदि जिले के कुछ भागों में भी ये मिलते हैं। इनके सींग चिकने होते हैं और कई भागों में बँट जाते हैं, जिसके कारण उनमें चार नोकें आ जाती हैं। इनके बाल, जो गर्दन पर अधिक घने हो जाते हैं, घने और बारीक होते हैं। जाड़े में शरीर का रंग ऊपरी हिस्से में पांडुर भूरा तथा निचले हिस्से में अपेक्षाकृत अधिक पीला होता है, लेकिन गर्मियों में शरीर के ऊपरी हिस्से का रंग गहरा ललछौंह बादामी हो जाता है तथा निचले हिस्से का रंग बिलकुल सफेद होता है। बारहसिंगा

जंगलों में नहीं बल्कि खुले घास के मैदानों और वृक्षों के पास रहता है। जाड़ों में यह तीस और चालीस तक के झुंड में टहलता है, लेकिन बसंत ऋतु में यह इस नियम का पालन नहीं करता। साँभर की अपेक्षा यह रात्रि में कम निकलता है, लेकिन दोपहर के पहले और दोपहर के बाद सामान्यतया अधिक देर तक चरता रहता है।

काँकर — यह एक छोटा और अजीब किस्म का हिरन होता है, जो खुले मैदानों में नहीं दिखलाई पड़ता, प्रत्युत हिमालय के जंगलों में पाँच से छह हजार फुट की ऊँचाई तक मिलता है। इसके सींग छोटे होते है, जिनकी ऊपरी नोक थोड़ी अंदर की ओर घूमी रहती है। सींगों के नीचे से मुख तक एक काली धारी आती है। सामान्यतया इसका रंग गहरा अखरोटी होता है, जो पृष्ठ प्रदेश पर अधिक गहरा और निचले हिस्सों में हलका होता है। ठुड्डी गले का ऊपरी हिस्सा एवं निचले भाग (जिसमें पूँछ का निचला हिस्सा भी संमिलित होता है) तथा जंघों के अंतःप्रदेश सफेद रंग के होते हैं। अपने जोड़े के साथ यह प्रायः अकेला रहता है। घने जंगलों से बाहर केवल घास के मैदानों तक चरने के लिये यह निकलता है और प्रायः गोधूलि में या प्रातःकाल ही चरता है। इसकी गति बड़ी तीव्र होती है।

चिकारा (Indian Hazel) — दक्षिण में कृष्णा नदी से लेकर बिहार के पलामू, छोटा नागपुर तथा संपूर्ण उत्तर प्रदेश में ये पाए जाते है। नर और मादा दोनों को सींगे होती हैं। नर के सींगों में मुंदरी के समान वृत्त बने होते हैं और ऊपरी सिरे नुकीले होते हैं। मादा के सींग छोटे और नुकीले होते है। इनका रंग पृष्ठ भाग पर अखरोट के समान भूरा होता है, जो पार्श्व भागों में गहरा होता है तथा निचले हिस्सों में सफेद। लेकिन पूंछ का रंग काला होता है। ये प्रायः झुंड में रहते है। बरसात से कटी हुई ऊँची नीची जमीन, रेतीली पहाड़ियाँ तथा इधर उधर छिटकी झाड़ियाँ और पेड़ों की पंक्तियाँ इनके निवास स्थान होते हैं। भयभीत होने पर, ये दूसरे हिरनों की तरह हवा में उछलते नहीं, बल्कि जहाँ रहते हैं वहीं खड़े रहकर खुर पटकते और हुंकार भरते रहते हैं।

कृष्णसार — भारत का कृष्णसार अपने सींगों और शारीरिक सौंदर्य में संसार का सबसे सुंदर जानवर है। यह केवल भारत में पाया जाता है और वृक्षों से रहित समतल मैदानी प्रदेश में रहता है। यह मलाबार और सूरत से दक्षिण के क्षेत्रों को छोड़कर शेष पूरे देश में पाया जाता है। गंगा और यमुना के दुआबा में इनकी बड़ी संख्या मिलती है। इनके खुर नुकीले होते हैं और घुटने पर थोड़े से गुच्छेदार बाल होते हैं। केवल नर के ही सींग होते हैं, जो जड़ पर नजदीक होती है और उनमें मुंदरी के समान वृत्त बने रहते है तथा ऊपर जाने पर सींग छितरा जाते हैं। समवेत रूप से सींग गोल और छल्लेदार होते हैं। पूरा नौजवान नर कृष्णसार काला बादामी होता है और अधिक अवस्था हो जाने पर बिलकुल काला हो जाता है। चेहरा काला बादामी तथा कानों के नीचे सफेद लंबी धारी होती है और आँखें एक सफेद वृत्त में घिरी होती हैं। शरीर के निचले भाग सफेद होते हैं। ये झुंडों में रहते हैं और इनके भोजन करने का कोई निश्चित समय नहीं रहता, यद्यपि ये विश्राम दोपहर ही में करते हैं। ये दौड़ने में बड़े तेज होते हैं और ज्यों ही किसी खतरे की सूचना मिलती है त्यों ही ये बड़ी लंबी चौकड़ियाँ भरते हुए हवा से बातें करने लगते है।

चौसिंगा — इसके चार छोटे सींगे होते हैं, जिनमें से दो सिर पर आँखों के बीच में होते हैं और दो इन्हीं दोनों के पीछे। आकार में ये सींग सीधे तथा गोल होते है। सामने के सींग छोटे और पिछले बड़े होते है। इनके बाल पतले, रूखे और छोटे होते हैं। साधारणतया इनका रंग गेरुआ होता है, जो शनैः शनैः नीचे उतरते उतरते सफेद हो जाता है। थूथन तथा कान के बाहरी हिस्सों का रंग अपेक्षाकृत गहरा होता है। यह बड़ा शर्मीला जानवर है। जंगल के किनारों पर यह बहुत प्रातः या शाम के झुरमुटे में चरने के लिये निकलता है।

उपर्युक्त सभी हिरनों का शिकार बहुत सावधान होकर, लुक छिपकर किया जाता है। ये सभी बड़े शर्मीले और सावधान होते हैं। जब भी ये दिखलाई पड़ते है तब आखेटक सदैव अपने को जानवर की ओर से आती हुई हवा की विपरीत दिशा में रखकर बड़े चुपके चुपके घासों के झुरमुट तथा झाड़ियों के बीच से होकर छिपता छिपता, इनका पीछा करता है। अगर जानवर को यह मालूम हो जाय कि उसका पीछा किया जा रहा है, तो शिकारी को अपने स्थान पर बिलकुल खामोश होकर पत्थर के समान जड़ हो जाना चाहिए और जब जानवर का भय दूर हो जाय, तो फिर चुपके से पीछा करना चाहिए। हाँका किए जाने पर, ये सबके सब बहुत तेज दौड़ते हुए बाहर निकल आते है, लेकिन चीतल सदैव कावा काटते हुए, बहुत तेज दौड़ते हुए निकलता है। एक बार बंदूक दग जाने पर, ये पूरी रफ्तार से भागते है, जिनमें से साँभर और चीतल तो हाँका वालों की पंक्तियां तोड़कर भाग जाते है।

इनका शिकार करने का दूसरा ढंग इनके चरागाह और जलाशय का पता लगाकर, वहाँ जानवरों के पहले पहुँचकर, किसी झाड़ी, वृक्ष या चट्टान के पीछे छिपकर बैठने का है। प्रतीक्षा की घड़ियों में बिलकुल खामोश और शांत रहना चाहिए। बैठने के पहले हवा का रुख थोड़ी सी धूल उड़ाकर, या सूखी गिरती पत्तियों को देखकर मालूम कर लेना चाहिए और जहाँ तक संभव हो सके हवा की विपरीत दिशा में रहना चाहिए। जलाशय या चरागाह के पास छिपकर बैठने वाले शिकारी को बार बार अपनी जगह नहीं बदलनी चाहिए। इन जानवरों का आखेट करने के लिये एक और उपयुक्त स्थान होता है, जिसे नुनचट कहते है, जहाँ पर नमक चाटने के लिये जंगल के अधिकांश जानवर समय समय पर प्रायः आते है। ऐसी जमीनें प्रायः प्रत्येक जंगल में पाई जाती है। कौन सा जानवर वहाँ कब आया है, इसका पता उनके खुर और पैर के निशानों को देखकर लग सकता है। ताजे निशान बहुत स्पष्ट और गहरे होते हैं और ज्यों ज्यों समय बीतता है, हवा के संचार और सूरज की रोशनी से ये निशान धुँधले और अस्पष्ट हो जाते हैं। कृष्णसार का, जो वृक्ष से रहित, सपाट घास के मैदानों में रहता है, पीछा करना बड़ा मुश्किल होता है। दिन के समय वे छिपने के लिये किसी गन्ने या अरहर के खेत में चले जाते हैं और जब यह मालूम हो जाता है

तब शिकारी खेत के एक ओर खड़ा हो जाता है और बाकी तीनों ओर से हाँका कर दिया जाता है और कृष्णसार को आखेटक की ओर खदेड़ा जाता है। ज्यों ही यह बाहर निकलता है, मार दिया जाता है। अरहर या गन्ने के खेत में कैद हो जाने पर, कृष्णसार को जाल में भी पकड़ा जा सकता है। इसके लिये तीन ओर से जाल बिछा दिया जाता है और चौथी ओर से हाँका किया जाता है, जिससे कि वह जिधर से भी निकले जाल में फँस जाय, लेकिन यह पद्धति विध्वंसक होती है और इसी से धीरे धीरे भारत के कृष्णसार परिवार का ह्रास होता गया।

हाथी - हाथियों का शिकार बड़ा ही रोमांचकारी और कठिन होता है। इनका पीछा करने के लिये पैर और गोबर के निशान के सहारे चलना पड़ता है, जिसमें कभी कभी कई दिन लग जाते हैं। ये बाँस के घने जंगलों, या घनी लंबी घासों के जंगल, में रहते हैं। इनका शिकार जितना ही कठिन होता है उतना ही खतरनाक भी। जंगली हाथियों के शिकार का एक ढंग मेला शिकार कहलाता है, जो बंगाल और असम में अधिक प्रचलित है। नेपाल में इसे पीठा शिकार कहते हैं। इस पद्धति से जंगली हाथियों को पकड़कर वश में किया जाता है। प्रशिक्षित हाथियों की पीठ पर बैठे हुए जो शिकारी यह काम करते हैं, उन्हें फंदी कहते हैं। मेला शिकार के दल में तीन इकाइयाँ होती हैं (१) फंदी, जो फंदा डालता है, (२) महावत, जो कुनकी अर्थात् प्रशिक्षित हाथी को अनुशासन में रखता है और (३) घसियारा, जो कुनकी की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। फंदी कुनकी के सिर पर बैठ जाता है। महावत गद्दी पर रहता है और आवश्यकता पड़ने पर एक हाथ से गद्दी बाँधनेवाली रस्सी पकड़े खड़ा हो जाता है और दूसरे से अंकुश पकड़कर प्रशिक्षित हाथी के, जिसे कुनकी कहते हैं, परिचालन का काम करता है और दिन भर के परिश्रम के बाद कुनकी की पीठ की रगड़ और फिसले पट्टे पर गरम जल डालता है। गरम जल कुनकी की थकान दूर करने में सेंक का काम करता है।

मेला शिकार की पद्धति और उपकरण सब जगह एक जैसे ही होते हैं। चालाक फंदी, मजबूत कुनकी और जूट के रेशों का बना मोटा रस्सा आवश्यक होता है। मेला शिकार के लिये हथिनी सबसे उपयुक्त होती है, क्योंकि मादा हाथी दूसरी मादा को देखकर उत्पात नहीं करती और जंगली हाथियों के झुंड में बिना हिचकिचाहट के घुस जाती है। मेला शिकार में तीन तीन, चार चार कुनकी छोटे छोटे झुंड में शिकार करते हैं, जिससे कोई खतरा आने पर एक दूसरे की सहायता कर सकें। जंगली हाथियों के झुंड का पता लग जाने पर, कुनकी द्वारा बहुत लुके छुपके उनका पीछा किया जाता है। बड़े हाथी तथा एकाकी हाथी को नहीं पकड़ा जाता। केवल किशोर अवस्था के हाथी ही पकड़े जाते हैं। पहले उन्हें कुनकी की सहायता से झुंड में से बहकाने का प्रयास किया जाता है। इसके बाद तब तक उनका पीछा किया जाता है, जब तक फंदी उनके गले में फंदा न फेंक दे। एक बार जब थके हुए जंगली हाथी के गले में फंदा डाल दिया जाता है, तब यह देखना फंदी का काम होता है कि न तो फंदा फिसलने पाए और न हाथी का गला ही घुटने पाए। इन दो बातों का ध्यान रखते हुए, बंदी हाथी को धीरे धीरे कुनकी की ओर खींचा जाता है। कुनकी के पेट से अवरोधक रस्सियाँ भी बँधी रहती हैं। उन्हीं में बंदी हाथी को बाँधा जाता है। फंदे का दूसरा सिरा कुनकी के पेट से बँधा रहता है, जिससे एक बार फंदे में फँसा हुआ हाथी कुनकी के बल से धीरे धीरे खिंचता हुआ रुक जाता है। अवरोधक रस्सियाँ बाँधने के बाद, वह बिलकुल कुनकी के शरीर से बँध जाता है। इसलिये फंदी के साथ अपना जंगली स्वभाव दिखलाने और निकल भागने में असमर्थ रहता है। एक बात और आवश्यक होती है कि जब बंदी हाथी कुनकी से बाँध दिया जाता है, तब यह देखना आवश्यक होता है कि वह उसी ओर रहे जिस ओर फंदा कुनकी के पेट में बँधी हुई रस्सी से बँधा हुआ है। कभी कभी कुनकी के लिये बंदी हाथी को नियंत्रित करने में कठिनाई होती है और कई कुनकी तथा कई फंदा एकत्रित करने पड़ते हैं। इसे दोहर या तेहर कहते हैं। नेपाल के पीठा शिकार में, रस्सी कुनकी के गले से बाँधी जाती है, न कि असम की तरह उसके पेट से। [या० द०]

शिकार और वन्य पशु (उनकी कुछ विशेषताएँ) — शिकारियों को वन्य पशुओं का शिकार करते करते उनमें अक्सर ऐसी विशेषताएँ देख पड़ती हैं जिनकी अच्छी तरह जानकारी रहने से सफलतापूर्वक शिकार करने तथा खतरे से बचने में अधिक आसानी होती है। ऐसी कुछ विशेषताओं की चर्चा यहाँ की जाती है।

१ **वे आपस में नहीं लड़ते** — व्याघ्र, चीता आदि पशु मनुष्य के सामने प्रायः आपस में नहीं लड़ते। जयपुर के महाराज वन्य पशुओं का द्वंद्व देखने के बड़े शौकीन थे। प्रायः प्रति वर्ष इनकी लड़ाई देखने का विशेष कार्यक्रम तैयार किया जाता था। खास तौर से घेरकर बनाए गए मैदान में दो उन्मत्त हाथी या अन्यान्य जंगली पशु परस्पर लड़ने के लिये छोड़ दिए जाते थे। कई अवसरों पर जब बाघ और तेंदुए (पैंथर) एक ही कठघरे में आमने सामने खड़े कर दिए जाते तो अक्सर देखा जाता था कि जब तक लोग उनकी ओर देखते रहते थे, वे आपस में कदापि नहीं लड़ते थे, मानो वे यह अच्छी तरह जानते हों कि मानव हम दोनों का समान रूप से शत्रु है, अतः उसका मनोरंजन करने के लिये परस्पर लड़ना बेमतलब है।

इतना होते हुए भी जब व्याघ्र या अन्य दो खूँख्वार पशु किसी कारणवश एक दूसरे से चिढ़ने लगें या नफरत करने लगें तो सामना होने पर वे एक दूसरे का खात्मा करने के लिये सन्नद्ध हो उठते हैं। जयपुर के चिड़ियाघर का निरीक्षण करते समय लेखक ने कई बार देखा कि न जाने क्यों "हैरी" नाम का बाघ अपनी ही बहिन 'प्री' से बहुत चिढ़ता था, जिससे उसकी धारणा हो गई कि यदि वे दोनों एक साथ रख दिए जायँ तो वे अवश्य ही एक दूसरे पर आक्रमण कर बैठेंगे। इसकी सचाई के परीक्षण का अवसर तब आया जब नवानगर के जाम साहब ने जयपुर आने पर दो शेरों (टाइगर्स) की या शेर तेंदुए की लड़ाई देखने की इच्छा प्रकट की। पहले एक बाघिन के सामने तेंदुआ खड़ा किया गया किंतु उन्होंने एक दूसरे के प्रति द्वेष या दुश्मनी का कोई भाव प्रकट नहीं किया। इसपर बहुतों का विश्वास हो गया कि वे कभी द्वंद्व न करेंगे किंतु लेखक ने अपने अनुभव के आधार पर बाजी लगाई और कहा कि 'हैरी' के छोड़ते ही शेरनी से उसकी लड़ाई ठन

जायगी। ऐसा ही हुआ। 'हैपी' ने झपटकर शेरनी की गर्दन पकड़ ली और जब तक वह मर नहीं गई उसने अपनी पकड़ ढीली नहीं की।

२ श्रेष्ठता दिखाने को लड़ते — कभी कभी अपनी शक्ति या श्रेष्ठता दिखलाने के लिये भी वन्य पशु एक दूसरे पर आक्रमण कर मर मिटने को आमादा हो जाते हैं। ऐसा एक दृश्य लेखक ने उस समय देखा जब वह डिगोटा नामक स्थान में एक मचान पर बैठकर एक हिंस्र व्याघ्र को मारने की प्रतीक्षा कर रहा था। जिस पोखरे में पानी पीने के लिये व्याघ्र आया करता था, उसी में पानी पीने की गरज से एक सूअर थोड़ी देर पहले आया। खतरे की घंटी बजते ही जंगल के सब पशु सावधान हो गए। सूअर ने भी वह आवाज सुनी पर वह वहाँ से हटा नहीं और बाघ के आने की राह देखने लगा। जब बाघ पानी के निकट पहुँचा तो दोनों एक दूसरे पर टूट पड़े और तब तक लड़ते रहे जब तक दोनो का, अपने अपने जख्मों के कारण, प्राणांत न हो गया। दोनों अपने अपने प्रतिद्वंद्वी को अपनी श्रेष्ठता दिखलाना चाहते थे, यद्यपि व्याघ्र का एक लक्ष्य सूअर को मारकर उसके मांस से अपने को तृप्त करना भी रहा होगा।

३. मनुष्य से भय — वन्य पशुओं की तीसरी विशेषता यह है कि वे स्वभावत: मनुष्य से भय खाते हैं। प्रकृति ही मानो व्याघ्र को सिखा देती है कि मानव बुद्धिबल के कारण उससे प्रबलतर है और वह (मनुष्य) काफी दूर रहकर भी उसपर प्रहार कर सकता है, इसलिये वह मनुष्य से छेड़छाड़ नहीं करना चाहता। किंतु एक बार यदि यह भय दूर हो जाय तो फिर वह मानवभक्षी बन जाता है; नहीं तो वह शिकार के पशुओं को ही मारकर या मवेशियों को उठा ले जाकर संतोष कर लेता है।

४. पेड़ पर नहीं चढ़ते — व्याघ्र साधारणत: वृक्षों पर नहीं रहते, न उनपर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं किंतु अत्यंत लाचारी की स्थिति में कभी कभी वे ऐसा प्रयास कर भी बैठते हैं। एक बार बैरठ के जंगल से कुछ ही दिन पूर्व पकड़ा गया एक मनुष्यभक्षी व्याघ्र जब शोरगुल करनेवाली भीड़ से चारों तरफ घिर गया और बीच में पड़नेवाली ३० फुट चौड़ी खाई के कारण जब उसने उसपर हमला करने में अपने को असमर्थ पाया, तब वह पास के पीपल के पेड़पर ३० फुट तक चढ़ गया और वहाँ बैठकर सुस्ताने लगा। कुछ ही मिनट बाद वह वहाँ से आसानी से उतर भी आया। इसपर लोगों को सहसा विश्वास न होगा, लेकिन लेखक की यह प्रत्यक्ष देखी घटना है। वृक्ष की तिरछी या लटकती हुई शाखा पर तो व्याघ्र को १०-१२ फुट तक की उँचाई पर चढ़ते कई बार देखा गया है किंतु ३० फुट तक चढ़ जाने की ऊपर की घटना सचमुच अद्भुत और निराली है।

५. संकट में मनुष्य की शरण चाहते — वन्य पशुओं की एक आदत यह होती है कि यद्यपि वे मनुष्य की संगति से बचते रहते हैं, फिर भी संकट के समय वे मनुष्य की शरण में आने से भी नहीं हिचकते। ऐसी ही एक घटना सन् १९३३ में सवाई माधोपुर के निकट एक जंगल में देखी गई थी। एक स्थान पर शिकारियों का खेमा गड़ा हुआ था। सवेरे के वक्त, जब लोग नाश्ता पानी कर रहे थे, एक साँभर मृग, जो स्वभावतः बहुत लज्जालु होता है और मनुष्य के सामीप्य से दूर भागता है, अचानक छह फुट ऊँची कनात की दीवार को लाँघकर सामने आ खड़ा हुआ। कुछ समय स्थिर रहने के बाद जब वह दूसरी तरफ से चौकड़ी भरते हुए निकल गया तो शामियाने के बाहर निकल कर देखने से पता चला कि कुछ जंगली कुत्ते उसका तेजी से पीछा कर रहे थे, अत उनसे जान बचाने के लिये वह मनुष्यों की शरण में जा पहुँचा था। उसकी यह युक्ति काम कर गई और उसके प्राण बच गए।

एक और घटना १९४० की है जब विशनगढ़ के समीप के एक गाँव में प्रातः ६ बजे एक शेर मीना परिवार की झोपड़ी की ओर आता दिखाई दिया। बाहर दो बच्चे खेल रहे थे और उनकी माँ भोजन बना रही थी किंतु उन्हें कोई नुकसान न पहुँचाकर शेर झोपड़ी के अंदर घुसकर बैठ गया। समाचार पाकर गाँव के लोग इकट्ठे हो गए। झोपड़ी का दरवाजा भीतर की ओर खुलता था अतः भीतर हाथ डालकर उसे बाहर की ओर खींचकर बंद करना खतरनाक था, इसलिये उन लोगों ने ढूँढ़ ढाँढ़कर एक टट्टर चुपके से दरवाजे के सामने लगा दिया और फिर गाड़ी भर कँटीली झाड़ियाँ आदि इकट्ठी कर उससे सटाकर रख दीं। इसके बाद उन्होंने लेखक के पास आकर सहायता की याचना की। बात कुछ समझ में आ नहीं रही थी किंतु पगचिह्नों को देखकर अविश्वास करना कठिन था। टट्टर आदि को हटाकर गोली चलाने की चेष्टा करना खतरे से खाली न था, अत: छप्पर पर बैठकर एक सुराख के जरिए निशाना बाँधकर गोली चलाई गई। एक दर्दीली तेज गुर्राहट के बाद शेर ठंढा हो गया। काँटों का अंबार हटवाने के बाद जब देखा गया तो पता चला कि शेर की गर्दन में बहुत से घाव थे जिनमें कीड़े पड़ गए थे। स्पष्ट था कि किसी अन्य बाघ के साथ हुई लड़ाई में वह बुरी तरह घायल हो गया था और वह जीभ से चाटकर जख्मों को साफ नहीं कर सकता था, अत. इस दु खद स्थिति से छुटकारा पाने की गरज से ही उसने मनुष्य के निवास तक चले आने का निश्चय किया था। जो हो, लेखक को अपने शिकारी जीवन में ऐसी अनेक घटनाओं का अनुभव हुआ। सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है कि व्याघ्र, जो मनुष्य का स्वाभाविक शत्रु है, संकट में पड़कर उसकी सहायता की आकांक्षा करे! इससे यह कहावत चरितार्थ होती है कि आवश्यकता के समय कानून के बंधन टूट जाते हैं।

सिंह और व्याघ्र

भारत में सिंह पुरातन काल से पाए जाते रहे है। राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के जंगलों में तो वे प्राय: ही दिखाई दे जाया करते थे किंतु देश में अब सौराष्ट्र के गिर जंगल को छोड़कर अन्य स्थानों से उनका अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है। उनके लोप का मुख्य कारण यह है कि इन स्थानों में बाहर से आनेवाले व्याघ्रों की संख्या बढ़ती गई और उन्होंने सिंहों को या तो मार डाला या उन्हें भगा दिया, जिससे अंत में उन्हें गिर जंगल में पनाह मिली। यह जंगल बहुत

कुछ अलग अलग सा पड़ जाता है और उसके इर्द गिर्द सौ मील से भी अधिक दूरी तक कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ व्याघ्र पाए जाते हों।

ऐसा जान पड़ता है कि व्याघ्र इस देश में चीन से और बर्मा से बंगाल में आया, इसी से आज भी हम "बंगाल के व्याघ्र" की बात किया करते हैं। वह सिंह से ज्यादा होशियार और ताकतवर होता है, इसलिये जहाँ जहाँ वह पहुँचा उसने सिंहों का या तो विनाश कर दिया या उन्हें भगा दिया। यों तो सिंह बड़ा साहसी होता है और व्याघ्र से सामना होने पर पहले वही आक्रमण करता है किंतु वह प्राय: उतना संघर्षशील नहीं होता और बाघ के पंजों के दो चार आघात झेलकर ही हट जाना बेहतर समझता है।

शिकारी के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सिंह की अपेक्षा व्याघ्र का शिकार करना अधिक मनोरंजक तथा स्फूर्तिमय होता है। बाघ के शिकार में गोली चलाने की सुविधा आदि की दृष्टि से लंबा चौड़ा इंतजाम करना पड़ता है और इतना करने पर भी संभावना इस बात की रहती है कि वह चकमा देकर निकल जाय। सचमुच वह सिंह की तुलना में अधिक सावधान और चालाक होता है।

सन् १९५२ में जूनागढ़ के जंगलों में सिंह का शिकार करने के लिये जाने का लेखक को दो तीन बार मौका लगा। उस समय यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सिंह ने आड़ में या झाड़ी आदि के पीछे लुक छिपकर सतर्कतापूर्वक आने की चेष्टा नहीं की। वह निर्भयता-पूर्वक यों सामने निकल आया मानो वह चहलकदमी के लिये निकला हो। इसलिये उसे गोली का निशाना बनाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। किंतु एक बार घायल हो जानेपर सिंह भी उतना ही भयानक हो उठता है जितना व्याघ्र।

इन दोनों की आदतों में बड़ा अंतर होता है। सिंह अपने प्रति-द्वंद्वी पर प्रहार करने के लिये पंजे का प्रयोग करता है, जब कि व्याघ्र अपने शिकार को दबोचे रखने के लिये उन्हें काम में लाता है। सिंह बड़े परिवार के साथ गर्वपूर्वक रहता है किंतु व्याघ्र की आदत इससे बिलकुल भिन्न होती है। सिंह प्राय. शिकार के लिये झुंड में निकलते हैं जब कि व्याघ्र अकेला ही चलता है। सिंह, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, साहसी अधिक होता है किंतु ताकत में व्याघ्र से कमजोर होता है और उसकी तुलना में आधा भी चालाक नहीं होता। व्याघ्र के साथ यदि उसके बच्चे और व्याघ्रिणी भी हों तो व्याघ्र ही शिकार पर हमला करेगा और पहले खुद अपना पेट भरने का प्रयत्न करेगा, तब कहीं परिवार के किसी सदस्य को आहार में हाथ लगाने देगा। सिंह के मामले में प्राय सिंहनी ही शिकार पर धावा बोलती है और पहले वही उसे खाना शुरू करती है; बाद में सिंह भी उसके साथ हो लेता है।

वन्य जंतुओं के संरक्षण की आवश्यकता

यह देखते हुए कि भारत में सिंहों का तथा अन्य कई वन्य पशु पक्षियों का तिरोभाव होता जा रहा है, इस बात की नितांत आवश्य-कता है कि उनके संरक्षण के लिये ठोस कदम उठाया जाय। वन्य पशु पक्षियों के क्रमिक ह्रास का एक कारण यह है कि यहाँ शिकार-चोरों अर्थात् अनधिकारिक रूप से पशुपक्षियों का शिकार करने-वालों के खिलाफ कड़ी कारररवाई नहीं की जाती। इसके सिवा प्राय: प्रत्येक राज्य का वन विभाग प्रति वर्ष बहुत बड़ी संख्या में वृक्षों को कटवाता जा रहा है जिससे वन्य जंतुओं को आत्मरक्षा के लिये समु-चित शरणद स्थान नहीं मिल पाता।

पशुपक्षियों के वन्य जीवन की रक्षा के दो उपाय हो सकते हैं— (१) लेखों, भाषणों, पुस्तिकाओं द्वारा प्रचार कराना, तथा (२) विधान और नियम बना देना। पहले में खर्च अधिक पड़ने की संभा-वना है और भारत जैसे अल्पशिक्षित देश में इससे उतना लाभ भी नहीं हो सकता, इसलिये कानून बना देना और कड़ाई से उसका पालन कराना ही श्रेयस्कर है।

ह्रासमान पशुपक्षियों की रक्षा के लिये आवश्यक है कि संरक्षित शरण्य स्थानों (मृगवनों, सैंक्चुअरीज) तथा राष्ट्रीय उद्यानों की ओर अधिक ध्यान दिया जाय। इन शरण्य स्थानों—संरक्षित वनों—की समुचित देखभाल और रक्षा से वन्य पशुपक्षियों की संख्या में वृद्धि होगी और वे प्राकृतिक वातावरण में उचित ढंग से पनप सकेंगे। ऐसा होने से सामान्य जनता और वैज्ञानिकों को भी उन्हें स्वाभाविक परिस्थितियों में देखने का अवसर मिल सकेगा। कतिपय किसानों की यह माँग कि समस्त वन्य पशुपक्षियों की समाप्ति कर दी जाय क्योंकि उनसे कृषि के उत्पादन में बाधा पड़ती है, उचित नहीं है। फसल की रक्षा के लिये यथोचित उपाय करने की छूट तो उन्हें मिलनी चाहिए किंतु साथ ही यह भी आवश्यक है कि उन वन्य क्षेत्रों में, जहाँ अन्न का उत्पादन न होता हो, वन्य पशुपक्षियों के संरक्षणार्थ बनाए गए नियमों का उल्लंघन न होने दिया जाय।

यदि शिकार के पशुपक्षियों का ह्रास होता जायगा तो व्याघ्र, तेंदुआ आदि हिंस्र पशुओं को उनका स्वाभाविक आहार न मिल पाएगा और वे घरेलू जानवरों तथा मनुष्यों पर भी हमला शुरू कर देंगे, जैसा लखनऊ, दिल्ली आदि के समीप कई बार हो चुका है, इससे उन्हें मार डालना आवश्यक हो जायगा। तब सिंहों की तरह व्याघ्रों, तेंदुओं आदि की संख्या भी घटने लगेगी जिससे शिकार के लिये भारत आनेवाले विदेशियों का आकर्षण कम हो जायगा और उससे देश को प्रचुर मात्रा में विदेशी मुद्रा की जो आमदनी होती है वह भी बंद हो जायगी। स्पष्ट है कि संरक्षित शरण्य स्थलों के रहने से हिंस्र पशुओं के लिये यथोचित आहार प्राप्त होता रहेगा किंतु इसके साथ ही शाकाहारी पशु पक्षियों के लिये पीपल, महुआ, गूलर शहतूत तथा जंगली फलवृक्षों का बड़ी संख्या में आरोपण भी आवश्यक होगा जिससे भालू, हिरण, साँभर आदि पशुओं की संवृद्धि हो सके। [के० सि०]

शिकोकू स्थिति : ३३° ३०′ उ० अ० तथा १३३° ३३′ पू० दे०। जापान का सबसे छोटा द्वीप है। इसका क्षेत्रफल ७,२४२ वर्ग मील है। सामान्यत: यह पहाड़ी प्रदेश है। यह शीतोष्ण मानसूनी, अथवा चीनी जलवायु के अंतर्गत आता है।

कृषियोग्य भूभाग उत्तरी शिकोकू में अधिक व्यापक है। धान, जई, राई, जौ तथा शकरकंद यहाँ की प्रमुख उपज हैं। दक्षिणी तटवर्ती

भागों में ताड़ और कपूर के वृक्ष अधिक उत्पन्न होते हैं। शिकोकू का खनिज पदार्थों के खनन में कोई महत्व नहीं है। उत्तर के पर्वतीय भागों में थोड़ा ताँबा मिल जाता है। पहाड़ी भागों में वन काफी होने तथा समुद्र निकट होने से लकड़ी काटने तथा मछली मारने का धंधा महत्वपूर्ण है।

शिकोकू में कृषि एवं उद्योगों की कम उन्नति होने के कारण ही यहाँ छोटे छोटे नगर हैं। यातायात के साधन कम तथा जनसंख्या भी कम है। [रा० स० ख०]

शिक्षण विधियाँ जिस ढंग से शिक्षक शिक्षार्थी को ज्ञान प्रदान करता है उसे शिक्षणविधि कहते हैं। 'शिक्षणविधि' पद का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में होता है। एक ओर तो इसके अंतर्गत अनेक प्रणालियाँ एवं योजनाएँ संमिलित की जाती हैं, दूसरी ओर शिक्षण की बहुत सी प्रक्रियाएँ भी संमिलित कर ली जाती हैं। कभी कभी लोग युक्तियों को भी विधि मान लेते है; परंतु ऐसा करना भूल है। युक्तियाँ किसी विधि का अंग हो सकती है, संपूर्ण विधि नहीं। एक ही युक्ति अनेक विधियों में प्रयुक्त हो सकती है।

पाठ्यविषय को प्रस्तुत करने के दो ढंग हो सकते है। एक में छात्रों को कोई सामान्य सिद्धात बताकर उसकी जाँच या पुष्टि के लिये अनेक उदाहरण दिए जाते है। दूसरे मे पहले अनेक उदाहरण देकर छात्रो से कोई सामान्य नियम निकलवाया जाता है। पहली विधि को निगमनात्मक और दूसरी को आगमनात्मक विधि कहते हैं।

दूसरे दृष्टिकोण से शिक्षणविधि के दो अन्य प्रकार हो सकते हैं। पाठ्यवस्तु को उपस्थित करने का ढंग यदि ऐसा है कि पहले अंगों का ज्ञान देकर तब पूर्ण वस्तु का ज्ञान कराया जाता है तो उसे संश्लेषणात्मक विधि कहते हैं। जैसे हिंदी पढ़ाने मे पहले वर्णमाला सिखाकर तब शब्दों का ज्ञान कराया जाता है। तत्पश्चात् शब्दों से वाक्य बनवाए जाते हैं। परंतु यदि पहले वाक्य सिखाकर तब शब्द और अंत में वर्ण सिखाए जाएँ तो यह विश्लेषणात्मक विधि कहलाएगी क्योंकि इसमें पूर्ण से अंगों की ओर चलते हैं।

शिक्षण का एक प्रसिद्ध सूत्र है- 'मूर्त से अमूर्त की ओर'। वास्तव में हमें बाह्य संसार का ज्ञान अपनी ज्ञानेंद्रियों के द्वारा होता है जिनमें नेत्र प्रमुख है। किसी वस्तु पर दृष्टि पड़ते ही हमे उसका सामान्य परिचय मिल जाता है। अत. मुर्त वस्तु ज्ञान प्रदान करने का सबसे सरल साधन हैं। इसी से आरंभ मे वस्तुविधि का सहारा लिया जाता है अर्थात् बच्चों को पढाने के लिये वस्तुओं का प्रदर्शन करके उनके विषय में ज्ञान प्रदान किया जाता है। यहाँ तक कि अमूर्त को भी मूर्त बनाने का प्रयास किया जाता है। जैसे, तीन और दो पाँच को समझाने के लिये पहले छात्रों के संमुख तीन गोलियाँ रखी जाती हैं। फिर उनमें दो गोलियाँ और मिलाकर सबको एक साथ गिनाते हैं तब तीन और दो पाँच स्पष्ट हो जाता है।

वस्तुविधि का एक दूसरा रूप है दृष्टांतविधि। वस्तुविधि में जिस प्रकार वस्तुओं के द्वारा ज्ञान प्रदान किया जाता है दृष्टांतविधि में उसी प्रकार दृष्टांतों के द्वारा। दृष्टांत दृश्य भी हो सकते हैं और श्रव्य भी। इसमें चित्र, मानचित्र, रेखाचित्र, चित्रपट आदि के सहारे वस्तु का स्पष्टीकरण किया जाता है। साथ ही उपमा, उदाहरण, कहानी, चुटकुले आदि के द्वारा भी विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है।

वस्तु एवं दृष्टांतविधियों से ज्ञान प्राप्त करते करते जब बच्चों को कुछ कुछ अनुमान करने तथा अप्रत्यक्ष वस्तु को भी समझने का अभ्यास हो जाता है तब कथनविधि का सहारा लिया जाता है। इसमें वर्णन के द्वारा छात्रो को पाठ्यवस्तु का ज्ञान दिया जाता है। परंतु इस विधि में छात्र अधिकतर निष्क्रिय श्रोता बने रहते हैं और पाठन प्रभावशाली नहीं होता। इसी से प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा है—'बच्चों को कम से कम बतलाना चाहिए, उन्हें अधिक से अधिक स्वतः ज्ञान द्वारा सीखना चाहिए'। व्याख्यानविधि इसी की सहचरी है। उच्च कक्षाओं मे प्राय: व्याख्यानविधि का ही प्रयोग लाभदायक समझा जाता है।

कथनविधि में प्राय. हर्बर्ट के पाँच सोपानों का प्रयोग किया जाता है। वे हैं (१) प्रस्तावना, (२) प्रस्तुतीकरण, (३) तुलना या सिद्धांतस्थापन, (४) आवृत्ति, (५) प्रयोग। परंतु केवल ज्ञानार्जन के पाठों में ही पाँचो सोपानों का प्रयोग होता है। कौशल तथा रसास्वादन के पाठो में कुछ सीमित सोपानों का ही प्रयोग होता है।

प्रश्न यद्यपि एक युक्ति है फिर भी सुकरात ने प्रश्नोत्तर को एक विधि के रूप में प्रयोग करके इसे अधिक महत्व प्रदान किया है। इसी से इसे सुकराती विधि कहते हैं। इसमें प्रश्नकर्ता से ही प्रश्न किए जाते हैं और उसके उत्तरो के आधार पर उसी से प्रश्न करते करते अपेक्षित उत्तर निकलवा लिया जाता है।

जब से बाल मनोविज्ञान के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि शिक्षा का केंद्र न तो विषय है न अध्यापक वरन् छात्र है तब से शिक्षण मे सक्रियता को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। करके सीखना अर्थात् स्वानुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करना आजकल का सर्वाधिक व्यापक शिक्षणसिद्धात है। अत. रूसो से लेकर माटेसरी और ड्यूवी तक शिक्षाशास्त्रियो ने बच्चो की ज्ञानेंद्रियों को अधिक कार्यशील बनाने तथा उनके द्वारा शिक्षा देने पर अधिक बल दिया है। महात्मा गाधी ने भी इसी सिद्धात के आधार पर बेसिक शिक्षा को जन्म दिया। अतः सक्रिय विधि के अंतर्गत अनेक विधियाँ संमिलित की जा सकती हैं, जैसे—शोधविधि (ह्यूरिस्टिक), योजना (प्रोजेक्ट) विधि, डाल्टन प्रणाली, बेसिक-शिक्षा-विधि, इत्यादि।

जर्मनी के प्रोफेसर आर्मस्ट्रौग द्वारा शोधविधि का प्रतिपादन हुआ था। इस विधि में छात्रों को उपयुक्त वातावरण में रखकर स्वयं किसी तथ्य को ढूँढ़ने के लिये प्रेरित किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अध्यापक कुछ नहीं करता और छात्रों को मनमाना काम करने को छोड़ देता है। सच पूछिए तो वह छात्र का पथप्रदर्शन करता तथा उसे गलत रास्ते से हटाकर सीधे रास्ते पर लाता रहता है। उसका लक्ष्य यह रहता है कि जो ज्ञान छात्र अपने

निरीक्षण अथवा प्रयोग द्वारा प्राप्त कर सकता है उसे बताया न जाय। इस विधि का प्रयोग पहले तो विज्ञान की शिक्षा में किया गया। फिर धीरे धीरे गणित, भूगोल तथा अन्य विषयों में भी इसका प्रयोग होने लगा।

अमरीका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री ड्यूवी, किलपैट्रिक, स्टीवेंसन आदि के सम्मिलित प्रयास का फल योजना (प्रोजेक्ट) विधि है। इसके अनुसार ज्ञानप्राप्ति के लिये स्वाभाविक वातावरण अधिक उपयुक्त होता है। इस विधि से पढ़ाने के लिये पहले कोई समस्या ली जाती है जो प्राय: छात्रों के द्वारा उठाई जाती है और उस समस्या को हल करने के लिये उन्हीं के द्वारा योजना बनाई जाती है और योजना को स्वाभाविक वातावरण में पूर्ण किया जाता है। इसी से इसकी परिभाषा इस प्रकार की जाती है कि योजना वह समस्यामूलक कार्य है जो स्वाभाविक वातावरण में पूर्ण किया जाय।

अमरीका के डाल्टन नामक स्थान में १६१२ से १६१५ के बीच कुमारी हेलेन पार्खर्स्ट ने शिक्षा की एक नई विधि प्रयुक्त की जिसे डाल्टन योजना कहते हैं। यह विधि कक्षाशिक्षण के दोषों को दूर करने के लिये आविष्कृत की गई थी। डाल्टन योजना में कक्षा-भवन का स्थान प्रयोगशाला ले लेती है। प्रत्येक विषय की एक प्रयोगशाला होती है जिसमें उस विषय के अध्ययन के लिये पुस्तकें, चित्र, मानचित्र तथा अन्य सामग्री के अतिरिक्त संदर्भग्रंथ भी रहते हैं। विषय का विशेषज्ञ अध्यापक प्रयोगशाला में बैठकर छात्रों की सहायता करता, उनके कार्यों का संशोधन तथा जाँच करता है। वर्ष भर का कार्य ६ या १० भागों में बाँटकर निर्धारित कार्य (असाइनमेंट) के रूप में प्रत्येक छात्र को लिखित दिया जाता है। छात्र उस निर्धारित कार्य को अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न प्रयोगशालाओं में जाकर पूरा करता है। कार्य अन्वितियों में बँटा रहता है। जितनी अन्विति का कार्य पूरा हो जाता है उतनी का उल्लेख उसके रेखापत्र (ग्राफकार्ड) पर किया जाता है। एक मास का कार्य पूरा हो जाने पर ही दूसरे मास का निर्धारित कार्य दिया जाता है। इस प्रकार छात्र की उन्नति उसके किए हुए कार्य पर निर्भर रहती है। इस योजना में छात्रों को अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार कार्य करने की छूट रहती है। मूल स्रोतों से अध्ययन करने के कारण उनमें स्वावलंबन भी आ जाता है। इस योजना के अनेक रूपांतर हुए जैसे बटेविया, विनेटका आदि योजनाएँ। डेक्रोली योजना यद्यपि इससे पूर्व की है, फिर भी उसके सिद्धांतों में डाल्टन योजना के आधार पर परिवर्तन किए गए।

महात्मा गांधी की वर्धा योजना या बेसिक शिक्षा भी अपने ढंग की एक शिक्षाविधि है। गांधी जी ने देश की तत्कालीन स्थिति को देखते हुए शिक्षा में हाथ के काम को प्रधानता दी। उनका विश्वास था कि जब तक छात्र हाथ से काम नहीं करता तब तक उसे श्रम का महत्व नहीं ज्ञात होता। सैद्धांतिक ज्ञान मनुष्य को अहंकारी एवं निष्क्रिय बना देता है। अत: बच्चों को आरंभ से ही किसी न किसी हस्तकौशल के द्वारा शिक्षा देनी चाहिए। हमारे देश में कृषि एवं कताई बुनाई बुनियादी धंधे हैं जिनमें देश की तीन चौथाई जनता लगी हुई है। अत: उन्होंने इन्हीं दोनों को मूल हस्तकौशल मानकर शिक्षा में प्रमुख स्थान दिया। बेसिक शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ हैं :— (१) मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, (२) हस्तकौशल केंद्रित शिक्षा, (३) सात से १४ वर्ष तक नि:शुल्क अनिवार्य शिक्षा, (४) शिक्षा स्वावलंबी हो, अर्थात् कम से कम अध्यापकों का वेतन छात्रों के किए हुए कार्यों की बिक्री से आ जाए। अंतिम सिद्धांत का बड़ा विरोध हुआ और बेसिक शिक्षा में से इसे हटा दिया गया।

अंग्रेजी शिक्षा ने देश के अधिकांश शिक्षित वर्ग को ऐसा पंगु बना दिया है कि वे हाथ से काम करना हेय मानते हैं। यही कारण है कि संपन्न तथा उच्च वर्ग के लोगों ने बुनियादी शिक्षा के प्रति उदासीनता दिखाई जिससे यह शिक्षा केवल निर्धन वर्ग के लिये रह गई है। अत: यह धीरे धीरे असफल होती जा रही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षणविधियाँ अनेक हैं। सबका प्रवर्तन किसी न किसी विशेष परिस्थिति में किसी शिक्षा-शास्त्री के द्वारा हुआ है। वास्तव में प्रत्येक अध्यापक की अपनी शिक्षाविधि होती है जिससे वह छात्रों को उनकी रुचि तथा योग्यता के अनुरूप ज्ञान प्रदान करता है। जो विधि जिसके लिये अधिक उपयोगी हो वही उसके लिये सर्वश्रेष्ठ विधि है।

सं० ग्रं० — ऐडम्स, जे० : द न्यू टीचिंग; रेमट, टी० : प्रिंसिपल्स ऑव एजुकेशन; राइबर्न डब्ल्यू० एम० : प्रिंसिपल्स ऑव टीचिंग; स्मिथ, फ्रैंक तथा हैरिसन, ए० एस० : प्रिंसिपल्स ऑव क्लास टीचिंग; जीवनायकम्, डी० : थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस ऑव एजुकेशन। [र० शु०]

शिक्षा, अनिवार्य शिक्षा का अर्थ किसी क्षेत्र में निश्चित आयु के अंतर्गत आनेवाले बालकों की शाला में विधान द्वारा अनिवार्य उपस्थिति है। यह आयुसीमा प्राय: छह वर्ष से १६ वर्ष तक की होती है। प्रारंभ में उपस्थिति की अनिवार्यता न रखते हुए, केवल १२ वर्ष तक की उम्र के सभी बालकों को लिखने पढ़ने की योग्यता प्राप्त करना आवश्यक था। इसका आधार धार्मिक सिद्धांतों का महत्व और व्यक्ति पर अपने चरित्रनिर्माण की जिम्मेदारी थी। आधुनिक काल में इस विश्वास ने कि प्रजातंत्र की सफलता शिक्षित नागरिक पर निर्भर करती है, अनिवार्य शिक्षा को बहुत बल दिया है।

सर्वप्रथम जर्मनी में मार्टिन लूथर ने प्रत्येक व्यक्ति को बाइबिल पढ़ने की योग्यता प्राप्त करने के लिये राज्य द्वारा नियंत्रित सार्वभौम शिक्षा पर जोर दिया। फलत: सन् १६१६ ई० में वाइमार में और फिर सन् १७६३ में प्राय: संपूर्ण जर्मनी में अनिवार्य शिक्षा का कानून लगाया गया। इसके अनुसार छह से १२ वर्ष की उम्र के बालकों की शाला में उपस्थिति अनिवार्य कर दी गई। बाद में अंतिम सीमा बढ़ाकर १४ वर्ष कर दी गई।

फ्रांस में, जनक्रांति के पूर्व मानव स्वतंत्रता के आधार को लेकर, अनिवार्य शिक्षा का बड़ा विरोध किया गया। किंतु धीरे धीरे शिक्षा सुविधाएँ बढ़ाकर मार्ग प्रशस्त बनाया गया, तब कहीं सन् १७६१ में एक कानून के अनुसार छह से १२ वर्ष के बालकों की शिक्षा अनिवार्य की जा सकी और नियम भंग करनेवाले अभिभावकों पर जुर्माना करने की व्यवस्था हुई। सन् १८८२ के विधान ने प्राथमिक शिक्षा समस्त देश में अनिवार्य कर दी।

इस दिशा में इंग्लैंड के प्रथम प्रयत्न मानवता भावना से प्रेरित बालकों की सुरक्षा पर आधारित थे। सन् १८७० में बोर्ड स्कूलों की स्थापना के साथ अनिवार्यता का सिद्धांत भी आया। सन् १८७६ में पाँच से १४ वर्ष के बालकों के माता पिता से उन्हें प्रमाणित शालाओं में भेजने के लिये कहा गया और २०वीं शती के प्रथम दशक में ऐसे बालकों की शाला में उपस्थिति अनिवार्य कर दी गई।

अमरीका के मेसाचुसेट्स राज्य में इस दिशा में प्रथम प्रयास सन् १८५२ ई० में हुआ जिसमें आठ से १४ वर्ष के बालकों को वर्ष के बारह सप्ताहों में शाला में उपस्थित होना अनिवार्य बनाया गया। सन् १८९८ में उपस्थिति के संबंध में कठोर नियम बने। इनकी अवहेलना करनेवाले माता पिता को जुर्माना देने और संस्था का अनुदान बंद कर देने की व्यवस्था हुई। आजकल अनिवार्य शिक्षा आयुसीमा छह से १६ वर्ष है किंतु कुछ राष्ट्रों में इससे कम या अधिक उम्र तक के बालकों को शाला में रखा जाता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को लेकर अनिवार्य उपस्थिति के नियमों को चुनौती दी गई है किंतु न्यायालयों का निर्णय रहा है कि व्यक्ति को न्यूनतम शिक्षा देने का अधिकार राष्ट्र को प्राप्त है।

भारतवर्ष मे सन् १८३८ ई० में विलियम ऐडम ने अनिवार्य शिक्षा के विचार को जन्म दिया। सन् १८४६ मे पश्चिमोत्तर प्रांत के गवर्नर टॉमसन ने हलकाबंदी शालाओं में और १८५२ में कैप्टेन विनगेट ने बंबई प्रांत में इसको क्रियात्मक रूप देना चाहा किंतु इसमें अधिक सफलता न मिल सकी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं के आरंभ में अनिवार्य शिक्षा करने के लिये भारतीय नेताओं ने बहुत जोर लगाया किंतु विदेशी शासन के संमुख उनकी एक न चली। बड़ोदा राज्य के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने सन् १८९३ मे अमरैली क्षेत्र में अनिवार्य शिक्षा आरंभ की और उसकी सफलता से प्रेरित हो बाद में संपूर्ण राज्य में इसकी व्यवस्था की। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद सभी प्रांतो में अनिवार्य शिक्षा के नियम बनाए गए जिसका श्रीगणेश विट्ठलभाई पटेल के बंबई विधान परिषद् के प्रस्ताव से सन् १९१९ में हुआ। राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रांतों के मंत्रिपद ग्रहण करने पर सन् १९३८ मे इस दिशा में बड़े प्रयास हुए। इस समय महात्मा गांधी की मूलोद्योग शिक्षा योजना में छह से १४ वर्ष के बालकों के लिये शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क की गई जिसका अधिकाधिक प्रसार हुआ। भारत के स्वतंत्र होने पर विधान में १४ वर्ष की उम्र तक बालकों की शिक्षा अनिवार्य करने की जिम्मेदारी शासन पर रखी गई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर ४९ प्रतिशत बालकों को शालाओं में लाए जा सकने की आशा व्यक्त की गई।

अनिवार्य शिक्षा प्रायः प्राथमिक स्तर तक दी जाती है किंतु कुछ प्रगतिशील देशों में उच्चतर माध्यमिक स्तर तक जोर दिया जा रहा है। इस शिक्षा की सार्थकता एवं सफलता बालकों की शाला में उपस्थिति पर निर्भर करती है जिसका आधार निम्नांकित है: अनिवार्य आयुसीमाएँ, सत्र में शाला खुलने के दिनों की संख्या, दैनिक कार्यविधि, उपस्थिति का न्यूनतम प्रतिशत, और अपेक्षित शिक्षा संप्राप्ति। गरीब बालकों और उनके पालकों को आर्थिक सहायता देना, शाला से दूर रहनेवाले बालकों के आने जाने का प्रबंध करना, अनिवार्य उपस्थिति के नियमों का पालन कराना और बालकों की उपस्थिति नियमित बनाना आदि समस्याओं के उचित समाधान पर अनिवार्य शिक्षा की सफलता निर्भर है।

[आ० मि०]

शिक्षा, उच्च उच्च शिक्षा का अर्थ है सामान्य रूप से सबको दी जानेवाली शिक्षा से ऊपर किसी विशेष विषय या विषयों में विशेष, विशद तथा सूक्ष्म शिक्षा। ऐसी शिक्षा का स्वरूप विशदता के साथ भारतवर्ष मे प्रतिष्ठित हुआ था। उच्च शिक्षा देनेवाले भारतीय गुरुकुलों की बड़ी विशेषता यह थी कि उनमें प्रारंभिक शिक्षा से लेकर उच्चतम शिक्षा शिष्याध्यापक प्रणाली (मोनीटॉरियल सिस्टम) से दी जाती थी। सबसे ऊपर के छात्र अपने से नीचे वर्ग के छात्रों को पढ़ाते थे और वे अपने से नीचे वाले को। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के पुत्र ही भर्ती किए जाते थे और वर्णों के अनुकूल ही बालकों को शिक्षा भी दी जाती थी तथापि नित्यकर्म, स्वच्छता, शील और शिष्टाचार की शिक्षा प्रत्येक छात्र को दी जाती थी और प्रत्येक छात्र को गुरुकुल मे रहकर आश्रम का समस्त कार्य स्वयं करना पड़ता था। कुछ गुरुकुल तो इतने बड़े थे कि वहाँ एक एक कुलपति, दस दस सहस्र ऋषियों और ब्रह्मचारियों को अन्न दानादि देकर उनको पढ़ाने का प्रबंध करते थे। इन गुरुकुलों का पोषण राजा, धनी और गृहस्थ करते थे और छात्र भी अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरुदक्षिणा देते थे किंतु कोई भी राजा इन गुरुकुलों के प्रबंध मे हस्तक्षेप नहीं करता था। इन गुरुकुलों का प्रारंभ वास्तव में उन परिषदों से हुआ जिनमें चार से लेकर २१ तक विद्वान् और मनीषी किसी नैतिक सामाजिक या धार्मिक समस्या पर व्यवस्था देने के लिये एकत्र होते थे। कुछ गुरुकुलों ने वर्तमान सावास विश्वविद्यालय (रेजीडेंशल यूनिवर्सिटी) का रूप धारण कर लिया था। इन गुरुकुलों मे वेद, वेदांग, दर्शन, नीतिशास्त्र, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, दंडनीति, सैन्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद और आयुर्वेद आदि सभी विषयों की उच्चतम शिक्षा दी जाती थी और जब छात्र सब विद्याओं में पूर्ण निष्णात हो जाता था तभी वह स्नातक हो पाता था। ब्राह्मणों को यह छूट थी कि वे चाहें तो जीवन भर विद्यार्जन करते रहें।

योरप मे मिस्र की सभ्यता सर्वप्राचीन मानी जाती है किंतु वहाँ की उच्च शिक्षाप्रणाली का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। बाबुल, असुरिया (असीरिया) के निवासियों तथा हिब्रू और फिनीसी लोगों मे राजशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्योतिष और भूगोल की उच्च शिक्षा गिने चुने लोगों को ही दी जाती थी। यूनान मे सौंदर्य की उदात्त भावना के साथ व्याकरण, काव्य, भाषा, शैली, अलंकारशास्त्र, वक्तृत्वकला, संगीत, गणित, भौतिकी विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। एक एक व्यक्ति एक एक विषय का पंडित होता था। उसी के पास युवक शिक्षा प्राप्त करने जाते थे। स्पार्टा के लोगों को केवल युद्ध की ही शिक्षा मिली, अन्य विषयों का पूर्ण अभाव रहा। वास्तव में एथेंस ही यूनानी उच्च शिक्षा का विद्यानगर था जहाँ सुकरात,

ज़ेनोफन, अफलातून और अरस्तू जैसे विद्वान् शिक्षाशास्त्री और दार्शनिक विद्यमान थे। जब रोमवालों ने यूनान को जीत लिया तब रोम की शिक्षाप्रणाली पर यूनान का यह प्रभाव पड़ा कि वहाँ भी इतिहास, विज्ञान, दर्शन, वक्तृत्वकला और शास्त्रार्थ-कला की उच्च शिक्षा दी जाने लगी जिसके प्रभाव से सिसरो, सेनेका, और क्विंतिलियन जैसे शिक्षाशास्त्री और वक्ता उत्पन्न हुए तथा थोड़े ही समय में उच्च शिक्षा के अनेक विद्यालय भी खुल गए। किंतु रोम साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने के साथ ही यूनान और रोम की संपूर्ण शिक्षापद्धति समाप्त हो गई। ईसाई मठों मे पहले धर्मशिक्षा और प्रार्थना के साथ पढ़ना लिखना, गाना, पूजा करना और गणित की शिक्षा दी जाती थी किंतु इसके पश्चात् वहाँ विद्यात्रयी (लातिन का व्याकरण, भाषणकला तथा तर्कशास्त्र) और ज्ञान चतुष्टयी (गणित, ज्यामिति, ज्योतिष और संगीत) को मिलाकर सात ज्ञानविस्तारक कलाओं के शिक्षण का क्रम चला और तभी से इन शास्त्रों के लिये (आर्ट) शब्द का प्रयोग चल पड़ा जो आजकल भ्रामक रूप से हमारे विश्वविद्यालयों की उपाधि में प्रयुक्त हो रहा है। योरप में प्रारंभ मे कुछ विद्यार्थी किसी विशेष विद्या के आचार्य के पास अध्ययन के लिये एकत्र होते थे जैसे पैरिस मे धर्मशास्त्र के अध्ययन के लिये, सालेरनो में भेषजविद्या के लिये या बोलोना में न्यायनीति (कानून) सीखने के लिये। इस प्रकार दक्षिण योरप में बोलोना के आदर्श पर विश्वविद्यालय खुले और उत्तर में पेरिस के आदर्श पर। इनके अतिरिक्त एक शिक्षाचार्य (बैकेलौरिएट) का प्रमाणपत्र भी था जो शिक्षक होने के लिये अनुज्ञापत्र समझा जाता था। धीरे धीरे विश्वविद्यालयों ने वर्तमान रूप धारण किया। इनमें उच्चतम शिक्षा का अर्थ है हाई स्कूल के पश्चात् महाविद्यालयों (कालेजों) या व्यावसायिक संस्थाओं (ट्रेनिंग कालेज, मेडीकल कालेज, इंजिनियरिंग कालेज, टेक्निकल कालेज, कला महाविद्यालय, संगीत महाविद्यालय, शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय, न्यायनीति (लॉ), कृषि, वाणिज्य महाविद्यालय आदि) मे दी जानेवाली शिक्षा जिसके लिये विश्वविद्यालय से उपाधि या राजकीय विभागों की ओर से परीक्षा लेकर प्रमाणपत्र दिए जाते है। उच्च शिक्षा देने का अधिकांश कार्य विश्वविद्यालय ही करते हैं।

आजकल एक नए प्रकार के विश्वविद्यालय की बात चल रही है जो गाँव में स्थापित किया जाय और जिसे ग्राम विश्वविद्यालय (रूरल यूनिवर्सिटी) कहा जाय। इस प्रकार के विश्वविद्यालयों का उद्देश्य है कि अन्य विषय पढ़ाने के साथ यह प्रेरणा दी जाय कि लोग गाँवों से नगरों में जाना बंद करके ग्रामीण जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करें (देखिए **विश्वविद्यालय**)। [सी० च०]

शिक्षा, तुलनात्मक किसी देश अथवा विभिन्न देशों की शिक्षात्मक समानताओं, विभिन्नताओं, समस्याओं, एवं विकासक्रमों के क्रमिक, विवेचनात्मक, आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन को तुलनात्मक शिक्षा कहते हैं। हैन्स ने राष्ट्रीय शिक्षा सुधार के दृष्टिकोण से विभिन्न देशों की शिक्षाप्रणालियों के विश्लेषणात्मक अध्ययन को तुलनात्मक शिक्षा कहा है। बेरेडे के अनुसार तुलनात्मक शिक्षा, शिक्षा संस्थानों का समाज की पृष्ठभूमि में किया हुआ विश्लेषणात्मक अध्ययन है। वस्तुत: तुलनात्मक शिक्षा की कोई सरल व्याख्या करना कठिन है। शिक्षा का अध्ययन समाज की पृष्ठभूमि में ही वांछनीय है। अत: तुलनात्मक शिक्षा के गहन अध्ययन में देशों की ऐतिहासिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, औद्योगिक, अवस्थाओं का अध्ययन जुड़ा रहता है।

कैंडल ने तुलनात्मक शिक्षा के क्षेत्र के दो पहलू बतलाए हैं। एक ओर शिक्षा संस्थान की रचना, शिक्षा का संगठन, सांख्यिक ब्योरा, पाठ्यक्रम एवं विषय, अध्यापन कार्य तथा अध्यापन कला; और दूसरी ओर समाजगत आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव है। ये प्रभाव परोक्ष रूप मे शिक्षा को निरंतर प्रभावित करते रहते है और इतने शक्तिशाली हैं कि बिना इनके ज्ञान के तुलनात्मक शिक्षा के प्रथम पहलू का ज्ञान शून्य एवं निष्फल होगा। साथ ही समाज की आशाएँ, भविष्य के विकास का मोड़ और झुकाव, एवं समाजगत होनेवाले परिवर्तनों की जानकारी भी आवश्यक है। सूक्ष्म रूप में समाज के चतुर्मुखी अध्ययन की पृष्ठभूमि में शिक्षा के विकास, संस्थान एवं आगे के रुझान का अध्ययन तुलनात्मक शिक्षा का क्षेत्र है। समाज का सम्यक् ज्ञान, इतिहास, दर्शन, संस्कृति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं मनुष्य-शरीर-रचना-शास्त्र के अध्ययन के बिना संभव नहीं है। शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन सभी सामाजिक विज्ञानों से जुड़ा है। इसलिये वर्तमान तुलनात्मक शिक्षावेत्ताओं को अंतःक्षेत्रीय अध्ययन करना आवश्यक है। इसी आधार पर अमरीका मे इस विषय का नामकरण 'शिक्षा आधार' किया गया है।

बेरेडे के अनुसार इस विषय के दो मूल महत्व है: (क) बौद्धिक, चूँकि अन्य ज्ञानक्षेत्रों के समान, यह विषय भी एक शास्त्रीय (academic) विषय है। (ख) व्यावहारिक, चूँकि इसका लक्ष्य शिक्षा-सुधार-माध्यम द्वारा समाज का रूपांतर करना है। इस विषय का अध्ययन वर्तमान अंतरराष्ट्रीय युग में उत्तरोत्तर बल पकड़ता जा रहा है। तुलनात्मक शिक्षा राष्ट्रीय संस्थानों का विस्तृत ब्योरा देती है। शिक्षा समाज का दर्पण है और साथ ही सामाजिक कसौटी भी। शिक्षाध्ययन समाज का वास्तविक चित्र ज्ञात करा देता है और उसका मूल्यांकन भी। इस विषय के मुख्य कार्य है: (१) सामाजिक सुधार का रास्ता खोलना एवं सामाजिक पुनर्निर्माण द्वारा समाज का रूपांतर करना जिसका अंतिम लक्ष्य समाज का उन्नयन है। (२) निजी शिक्षा संस्थानों का निष्पक्ष मूल्यांकन करना, शैक्षिक समस्याओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उनके कारणों की ओर ध्यान केंद्रित करना, साथ ही अन्य देशों की समस्या-समाधान-युक्तियों से स्वदेशीय शिक्षा समस्याओं के समाधान की सूझ विकसित करना। (३) शिक्षाविकास की संभावनाओं तथा संभाव्यताओं का दिग्दर्शन कराना एवं भविष्य के संभावित परिवर्तनों का महत्व दर्शाते हुए, उनके अनुकूल शिक्षा को ढालने के ढंग सुझाना। (४) किसी देश की शिक्षाप्रणाली का मूल्यांकन उसकी पृष्ठभूमि में कहाँ तक हो सकता है इसका पता लगाना। शैक्षिक समस्याएँ भी समाज से आबद्ध है। विभिन्न देशों की समस्याएँ अपनी रूपरेखा रखती हैं, अतएव उनका निदान भी समाजगत है। दूसरे देशों के शिक्षा अध्ययन से केवल संकेत मिल सकते हैं। (५) यह ज्ञात करना कि विभिन्न

देशों के शिक्षा संस्थानों एवं प्रणालियों का एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। (६) शिक्षा को प्रभावित करनेवाले प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभावों को समझना। (७) अंतरराष्ट्रीयता की भावना को बल देना।

विदेशियों की शिक्षा का अध्ययन प्राचीन काल से चला आ रहा है। शैक्षिक विचारों का आदान प्रदान भी नवीन नहीं है। रोम ने यूनान पर सैनिक विजय प्राप्त करने के उपरांत विजेता की शिक्षा को अपनाया। भारत में भी विदेशी पर्यटकों, विद्वानों, एवं विद्यार्थियों का तांता लगा रहा है। फाहियान, युवान च्युआंग (ह्वेन सांग) एवं इत्सिंग, तीनों चीनियों ने भारत की तत्कालीन शिक्षा का सम्यक् वर्णन एवं प्रशंसा लिखी है। यूरोपियन यात्रियों ने भी भारत की शिक्षा का उल्लेख किया है। भारत एवं यूरोप दोनों ही जगह शिक्षा के उपर्युक्त ढग के उल्लेख महत्वपूर्ण होते हुए भी शास्त्रीय रीति से तुलनात्मक शिक्षा नहीं कहे जा सकते क्योंकि ये सभी अनियोजित, अक्रमिक एवं अवैज्ञानिक थे। अतः शास्त्रीय रूप से इस विषय का अध्ययन १९वीं शताब्दी से माना जाता है। इस ज्ञानक्षेत्र के वास्तविक निर्माता मार्क एनटॉन जूलियन माने जाते हैं। इनके ग्रंथ मे तुलनात्मक शिक्षा की सम्यक् योजना प्रस्तुत है तथा अध्ययन के लिये विश्लेषणात्मक प्रणाली के प्रयोग का सुझाव दिया गया है। यद्यपि आज जूलियन तुलनात्मक शिक्षा का मूल निर्माता माना जाता है तथापि यह जानना आवश्यक है कि इसकी योजना लगभग बीसवीं शताब्दी के मध्य तक लुप्त रही इसलिये तुलनात्मक शिक्षाशास्त्रियों को इनका इतिहास संयोजित करने के हेतु शिक्षा रिपोर्टों की शरण लेनी पड़ी। १९वी शताब्दी में कई प्रसिद्ध अमरीकनों एवं आग्लों ने यूरोपीय शिक्षा संस्थानों का अपने राष्ट्र की शिक्षा के सुधार के दृष्टिकोण से अध्ययन किया। इनमे मुख्य थे: (क) अमरीका में नीफ (Neef), ग्रिसकम (Griscom), विक्टर कजिन (Victor Cousin), होरेस मैन (Horace Mann), स्टो (Stowe), एवं बर्नार्ड (Barnard); (ख) इंगलैंड में मैथ्यू आर्नल्ड (Mathew Arnold) व सर माइकिल सेडलर (Sir Michael Sadler)। इन्ही मनीषियों के परिवेदन से तुलनात्मक शिक्षा के प्रारंभिक इतिहास बने। यह वृत्तांत वर्णनात्मक थे और प्रायः इनका लक्ष्य राष्ट्रीय शिक्षा सुधार था। क्रमशः तुलनात्मक शिक्षा का स्वरूप निखरने लगा और इस विषय ने सैद्धांतिक रूप लेना प्रारंभ किया। इसका मुख्य श्रेय रूसी शिक्षा शास्त्री हैसन (Hessen) को है। इस शैली को प्रोत्साहन केंडल (Kandel) यूलिक (Ulich), बैरेडे (Bereday) एवं कई अन्य वर्तमान विद्वानों ने दिया है। द्वितीय-विश्व युद्ध से इस विषय को एक नई प्रेरणा मिली और इसके विकास व प्रगति ने तीव्र गति धारण की। सन् १९४५ के बाद इस विषय पर बहुत सा साहित्य निकलने लगा और इसका अध्ययन संसार के कई देशों में होने लगा। प्रायः संसार की सभी प्रसिद्ध शिक्षा संस्थाओं में इसका अध्यापन होता है। इस विषय से संबंधित तीन वृहत् पुस्तकें विश्वकोषों के स्तर की हैं :

(१) यिअर बुक ऑव एजुकेशन
(२) इंटरनैशनल एजुकेशन
(३) इंटरनैशनल यिअर बुक ऑव एजुकेशन

यूनेस्को (Unesco) ने तीन प्रकरण वर्ल्ड सर्वे ऑव एजुकेशन (World Survey of Education) प्रकाशित किए हैं। अमरीका, यूरोप और जापान मे तुलनात्मक शिक्षा परिषदों की स्थापना क्रमश: १९५६, १९६१, एवं १९६४ में हुई।

इस विषय से संबंधित दो प्रमुख पत्रिकाएँ हैं : कंपैरेटिव एजुकेशन रिव्यू (अमरीका), कंपैरेटिव एजुकेशन इंग्लैंड। इस विषय के प्रमुख शास्त्री हैं— केंडल (Kandel), बैरेडे (Bereday), ब्रिकमैन (Brickman), यूलिक (Ulich), लौराइज़ (Lauwerys), हेंस (Hans), किंग (King), रोजेलो (Rosello), एवं श्नाइडर (Schneider)। वर्तमान समस्यामयी, विशिष्टतायुक्त विश्व में, जिसकी छाप प्रामाणिकता एवं सर्वव्यापकता है, इस विषय का स्थान उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होगा चूँकि अब विश्वशांति स्थापना, विश्वबंधुत्व एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना जाग्रत करने का एकमात्र माध्यम शिक्षा ही है।

[स० वा०]

शिक्षा दर्शन शिक्षा का क्या प्रयोजन है और मानव जीवन के मूल उद्देश्य से इसका क्या संबंध है, यही शिक्षा दर्शन का विजिज्ञास्य प्रश्न है। चीन के दार्शनिक मानव को नीतिशास्त्र में दीक्षित कर उसे राज्य का विश्वासपात्र सेवक बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। प्राचीन भारत मे सासारिक अभ्युदय और पारलौकिक कर्मकांड तथा लौकिक विषयों का बोध होता था और परा विद्या से निःश्रेयस की प्राप्ति ही विद्या के उद्देश्य थे। अपरा विद्या से अध्यात्म तथा परात्पर तत्व का ज्ञान होता था। परा विद्या मानव की विमुक्ति का साधन मानी जाती थी। गुरुकुलों और आचार्यकुलों में अंतेवासियों के लिये ब्रह्मचर्य, तप, सत्य व्रत आदि श्रेयों की प्राप्ति परमाभीष्ट थी और तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालय प्राकृतिक विषयों के सम्यक् ज्ञान के अतिरिक्त नैष्ठिक शीलपूर्ण जीवन के महान् उपस्तंभक थे। भारतीय शिक्षा दर्शन का आध्यात्मिक धरातल विनय, नियम, आश्रममर्यादा आदि पर सदियों तक अवलंबित रहा।

प्लेटो (अफलातून) और अरस्तु दार्शनिक विचिंतन के समर्थक थे किंतु सासारिक कर्म की उपेक्षा उन्हें इष्ट नहीं थी। प्लेटो का कहना है, बीस वर्ष की उम्र तक भावी राज्यशासकों को शारीरिक उन्नति, साहित्य धर्मशास्त्र, पुरातत्व और संगीत की शिक्षा मिलनी चाहिए। बीस से तीस वर्ष तक रेखागणित, अंकगणित, ज्योतिर्गणित आदि का पारदर्शी ज्ञान उन्हें प्राप्त करना है। तीस से पैंतीस वर्ष तक उन्हें गंभीर दार्शनिक ऊहापोह कर प्रत्ययों (Ideas) का और शिवप्रत्यय (आयडिया ऑव दी गुड) का प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करना है। गणित और दर्शन का इतना विशद ज्ञान प्राप्त करने पर भी सिर्फ चिंतन में निरत रहना उनका उद्देश्य नहीं है। दर्शन के उत्तुंग शिखर से उतरकर उन्हें फिर अज्ञानावृत्त संसार मे आकर राज्य और समाज की बुराइयों का निराकरण करना है। पैंतीस से पचास वर्ष की अवस्था तक अवश्य ही उन्हें राजकीय कर्मयोग का मार्ग अपनाना है और सामष्टिक कल्याण की सिद्धि करनी है। राजनीतिक दृष्टिकोण, प्लेटो की अपेक्षा अरस्तु में अधिक प्रबल है। मानव को राजनीतिक प्राणी मानकर शिक्षा को सदभ्यासप्राप्ति का वह परम साधन मानता

है। विभिन्न नागरिकों में शिक्षा से ही राज्यनिमित्तक शील का विकास संभव है। शिक्षा से मानसिक उन्नयन तथा अवकाश का सदुपयोग होता है, ऐसा अरस्तू ने स्वीकार किया है किंतु प्लेटो के समान तात्विक और दार्शनिक शिक्षा पर उसने ध्यान नहीं दिया है। फिर भी प्लेटो की भाँति अरस्तू भी राज्य का पूरा नियंत्रण शिक्षा पर मानता है।

मध्ययुगीन यूरोप में देववाद की प्रधानता थी। संत अगस्तीन ने दिव्य नगर का संदेश दिया और टॉमस अक्वायनास ने सनातन नियम और नैसर्गिक नियम का उद्घोष किया। मध्ययुग के अंतिम चरण में ऑक्सफर्ड, कैंब्रिज, पेरिस विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और उनमें भी आरंभ में धर्मशास्त्र के अध्ययन का ही महत्व रखा गया था। भारतवर्ष में भी मध्ययुग में शंकर, रामानुज, निंबार्क, मध्व वल्लभ आदि ने ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का ही संदेश प्रतिपादित किया।

मध्ययुग का अंत होने पर यूरोपीय पुनरुत्थान आंदोलन से पुनरपि प्रकृतिवाद और मानववाद पर बल पड़ा। यदि दांते और कुसा के निकोलास दैवी विधान और आध्यात्मिक मुक्ति के संदेशवाहक थे तो इरैसमस, मोर और मोटेन ने "मनुष्य" पर ध्यान आकृष्ट किया। केपलर, गैलिलियो और न्यूटन ने भौतिकी का निरूपण कर क्रांतिकारी वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया। बेकन, डेकार्ट और कामेनियस ने ज्ञान को शक्तिप्रद माना। लॉक ने सदभ्यास के द्वारा चारित्रिक उत्थान पर बल दिया तथापि उसने शिक्षा में अभिजाततंत्री दृष्टिकोण समर्थित किया, यद्यपि वह राजनीतिक विचारों में नैसर्गिक अधिकारवाद का पोषक था। रूसो ने पूँजीवाद, सभ्यता और बुद्धिवाद का खंडन कर प्रकृतिवाद और शिशुशिक्षा का पोषण किया किंतु उसका ग्रंथ "एमिल" दार्शनिक शिक्षा के प्रश्न पर बिलकुल मौन है। मनोविज्ञान का महत्व स्वीकार कर पेस्टालाजी ने शिशुओं के पूर्ण विकास को गौरव दिया। स्वतःप्रेरित विकास और निजाभिव्यक्ति को मूलोद्देश्य मानकर फ्रोबेल ने बालोद्यान (किंडरगार्टेन) पद्धति का सूत्रपात किया।

हेगेल शिक्षा का आध्यात्मिक प्रयोजन स्वीकार करता था। शिक्षा का नियंत्रण वह राज्य के हाथ में न देकर नागरिक समाज को सुपुर्द करता था। तथापि उसने स्वतंत्रता पर बल नहीं दिया। हेगेल के अध्यात्मवादी दृष्टिकोण को अपनाकर शिक्षा को व्यक्तित्व के चैतन्य का अभिप्रकाशन जेंटीले (Gentile) ने माना है। समस्त विषयों का अध्यापन आध्यात्मिक उन्मेष के लिये ही वह अभीष्ट मानता है। प्रकृतिवादी और व्यवहारवादी जॉन डिवी शिक्षा और जीवन का अत्यंत निकट संबंध मानता है। ईश्वरवाद, आत्मवाद या अनुशासन को लोगों पर लादना उसे पसंद नहीं है। शिक्षा की प्रक्रिया को वह इतना आकर्षक और वृत्तियों को तन्निष्ठ करानेवाला बनाना चाहता है कि भयोत्पादक बाह्य अनुशासन लादना न पड़े। शिक्षा और लोकतंत्र में गहरा संबंध मानकर सामाजिकताप्राप्ति पर उसने जोर दिया है। ह्वायटहेड (Whitehead) शिक्षा के द्वारा सतत जागरूकता, सर्जनात्मकता, जीवनोत्साह, ओजस्विता आदि का संचार करना चाहता है। बर्ट्रेंड रसल के अनुसार शिक्षा तथ्यसंग्रह न होकर ऐसी प्रक्रिया है जिससे मानव, समाज और जगत् में अपना वास्तविक स्थान समझ सके। राज्य और चर्च के आधिपत्य और पुछल्ले से शिक्षा विनिर्मुक्त रहनी चाहिए। शिक्षा में स्वातंत्र्य और वैज्ञानिक दृष्टिबिंदु का समर्थन रसल की बड़ी विशेषता है।

संश्लिष्ट एवं पूर्ण शिक्षा (Integral and complete education) वही कही जा सकती है जो सदस्यों के अन्नमय कोष को तृप्त और बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों का अभिज्ञापन भी करा सके। समस्त व्यापारों का मूलाधार शरीर है अतः इसकी मजबूती परमावश्यक है। पहलवानी या दंगलीपन कुछ व्यक्तियों के लिये ही ठीक है किंतु समस्त नागरिकों का शरीर अवश्य ही कष्टसहिष्णु बन सके, ऐसी शिक्षा आवश्यक है। मानववादी साहित्य और ललित कला की शिक्षा अधिक लोगों को मिलनी चाहिए। इससे बर्बरता का नाश और भावनाओं का संशोधन होता है। साहित्य का प्रयोजन वासनाओं का विलास नहीं किंतु स्वस्थ आनंद की सृष्टि और चारित्रिक उन्नयन है। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन नैतिकता के बिना नहीं चल सकता। अतः नैतिक शिक्षा प्रारंभिक अवस्था से ही मिलनी चाहिए और इस कार्य में धर्मग्रंथों के चुने हुए स्थलों का शिक्षण होना चाहिए। वर्तमान सभ्यता वैज्ञानिक और यांत्रिक है और आज कोई भी राष्ट्र उद्योग और विज्ञान की उपेक्षा कर न तो नागरिकों के जीवनस्तर को उठा सकता है और न अपनी सत्ता ही कायम कर सकता है। डार्विन, हक्सले, स्पेंसर आदि ने भी वैज्ञानिक शिक्षा का पक्ष ग्रहण किया था। एक अंश तक प्रारंभिक विज्ञान की शिक्षा समस्त नागरिकों को मिलनी चाहिए और कुछ नागरिक इसे प्रमुख व्यवसाय बनाकर इसमें परम वैशारद्य प्राप्त करें। बुद्धि की उन्मुक्ति सतत जागरूकता के द्वारा व्यक्त होती है अतः विश्वप्रवाह की नानामुख अभिव्यक्तियों के विषय में जिज्ञासापूर्ण कुतूहल सर्वदा संवर्धित रखना शिक्षित मानव का लक्ष्य है। किंतु कुछ नागरिक इतने से ही संतुष्ट न हों, निखिल देश और मानवता की सेवा में अपने स्वार्थ का विसर्जन ही शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानेंगे। मनुष्य एक सावयव इकाई है अतः शरीर, मन, बुद्धि, चरित्र, हृदय और आत्मा इन सभी की पूर्णता परमाभिप्रेत है। जीविकाप्राप्ति और समाज के साथ सामंजस्य, तथा भद्र व्यक्तित्व ही शिक्षा की इयत्ता नहीं बताते। मानव का सर्वविध विनिर्मुक्त विकास और पूर्णताप्राप्ति ही समग्र शिक्षा का उद्देश्य है।

सं० ग्रं० – बर्ट्रेंड रसल : 'ऑन एजुकेशन' तथा 'एजुकेशन ऐंड द सोशल आर्डर'; जॉन डिवी : 'डेमॉक्रैसी ऐंड एजुकेशन'; ह्वायटहेड : 'एम्स ऑव एजुकेशन'; जेंटीले : 'द रिफार्म ऑव एजुकेशन', प्लेटो : 'द रिपब्लिक'; रूसो : 'एमिल'।

[वि० प्र० व०]

शिक्षा न्यास भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में अधिकांशतः न्यासों के अधीन गैरसरकारी संस्थाओं का कार्य पर्याप्त महत्वपूर्ण है। विविध स्तरों पर शैक्षिक संस्थाओं की कुल संख्या वर्ष १९६०-६१ में गैरसरकारी शिक्षा संस्थाओं का प्रतिशत, शिक्षा आयोग १९६४-६५ के प्रतिवेदन से उद्धृत निम्न सूची में द्रष्टव्य है —

स्तर	प्रतिशत
१ पूर्व प्राथमिक	७०·६
२. निम्नतर प्राथमिक	२२·२
३. उच्चतर प्राथमिक	२७·१
४. माध्यमिक	६६·२
५. व्यावसायिक स्कूल	५७·४
६. विशिष्ट स्कूल	७६·०
७. उच्चतर सामान्य शिक्षण संस्थाएँ	७८·८
८. व्यावसायिक शिक्षण संबंधी कॉलेज	४६·८
९. विशेष शिक्षा संबंधी कालेज	७४·६
१०. कालेजों की कुल संख्या सेक्टरों के लिये	३३·२

शिक्षा के विकास में स्वयंसेवी अभिकरणों का योगदान गुजरात, केरल, उड़ीसा तथा मद्रास जैसे प्रदेशों में दूसरे राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक है। योग्यता तथा कार्यनिष्पादन की दृष्टि से भी गैर-सरकारी संस्थाओं की भिन्न भिन्न कोटियाँ हैं। शिक्षा आयोग के मतानुसार— 'यह सत्य है कि कुछ निजी संस्थाओं ने शिक्षा के क्षेत्र में धनात्मक योगदान की अपेक्षा निषेधात्मक कार्य ही अधिक किया है, किंतु साथ ही यह भी हमें मानना पड़ता है कि वर्तमान भारत में शैक्षिक विकास की दृष्टि से निजी संस्थाओं का विशिष्ठ महत्व है। हमारे अधिकाश श्रेष्ठ संस्थान निजी क्षेत्र से ही संबद्ध हैं। आगामी वर्षों में शिक्षाविकास के लिये इनका योगदान और अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। अतएव राज्य को शैक्षिक विकास में निजी क्षेत्र के इस सहयोग का यथासंभव उपयोग करना चाहिए।'

शिक्षा आयोग यह अनुभव करता है कि राज्य द्वारा संपूर्ण आवश्यक शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के परिणामस्वरूप निजी कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत गौण एवं सीमित हो सकता है। शिक्षाविस्तार के बृहत् कार्य को देखते हुए निजी संस्थाएँ निस्संदेह इसमे अधिक योग तो नही दे सकती, किंतु शिक्षास्तर की उन्नति मे स्वयंसेवी संस्थाओं का राष्ट्रीय शिक्षाविकास में महत्वपूर्ण योगदान सतत रहेगा। ऐसी भी शिक्षण संस्थाएँ हैं जो सरकार से किसी भी प्रकार की वित्तीय सहायता प्राप्त नहीं करती हैं और आत्मनिर्भर हैं। इनकी कार्यकुशलता सरकारी संस्थाओं से निस्सदेह श्रेष्ठ है। इनकी आय का आधार भेंट, दान तथा अन्य निजी साधन हैं और ये इनपर ही निर्भर करती हैं। ये सरकार से केवल मान्यता प्राप्त करती हैं, वित्तीय सहायता नहीं लेतीं। तो भी अनेक ऐसी निजी संस्थाएँ हैं जो सरकार से सहायता प्राप्त करती हैं और यह वित्तीय सहायता प्राप्त करने के फलस्वरूप उन्हें सरकार द्वारा अधिरोपित नियमों तथा उपनियमों के अनुरूप कार्य करना पड़ता है। देश में शैक्षिक विकास की समस्याएँ, विशेषत: निम्नतर स्तर पर, शिक्षा-विस्तार से संबद्ध हैं और सामान्यत: शिक्षास्तर के सर्वांगीण विकास की आवश्यकता है। न्यासों द्वारा पोषित स्वयंसेवी अभिकरण इन दोनों क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य कर सकते है और विशेषत: शिक्षास्तर के उन्नयन में। शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग तथा शोध की अत्यधिक आवश्यकता है। स्वयंसेवी शैक्षिक अभिकरण अथवा न्यास प्रभविष्णु तथा क्रांतिकारी योजना बना सकते हैं, क्योंकि ये उन समस्त सरकारी नियमों तथा बंधनों से मुक्त हो सकते हैं जिनके निर्जीव नियमबद्ध अभ्यासों मे किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता संभव नहीं है।

यह मानी हुई बात है कि स्वयंसेवी अभिकरण जब सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त करते हैं तो इन्हें विद्यार्थियों के प्रवेश, स्थान, पाठ्यक्रम-अतिरिक्त क्रियाओं, अध्यापकों के सेवाप्रतिबंधों इत्यादि से संबंधित नियमो तथा उपनियमों का पालन करना पड़ता है। सरकार को इस संबंध में सतर्क रहना पडेगा कि इस प्रकार की संस्थाओं में से किसी में भी अनियमितता न आने पावे। स्वयंसेवी संस्थाओं में एक सामान्य परिवाद यह है कि उनकी वित्तीय आवश्यकताएँ बहुत बड़ी समस्या का रूप धारण कर लेती हैं। इसकेलिये भेंट तथा परोपकारी जीवों के नियमित योगदान के अतिरिक्त आय के अन्य साधन उपलब्ध करने पड़ते हैं।

संभ्रात समाज एवं जमींदारों से उपलब्ध होनेवाली दान दक्षिणा के पुरातन साधन तो अब समाप्त हो चुके हैं। किंतु योजना के परिणामस्वरूप उद्योगों तथा व्यापारिक क्षेत्रों के विकास ने अन्य साधन प्रदान किए है। इनका सदुपयोग किया जाना चाहिए। शैक्षिक न्यासो मे दानस्वरूप दी गई राशि पर सरकार द्वारा कर में अधिक उदार छूट की नीति का अनुकरण किया जा सकता है। साथ ही सरकार द्वारा धार्मिक संस्थाओं की आय का उपयोग भी इस क्षेत्र मे किया जा सकता है। कुछ दक्षिणी राज्यों में सरकार ने धार्मिक संस्थाओं के प्रबंध मे एक विशिष्ट नीति का अनुसरण किया है। श्री वेंकटेश्वर न्यास का उदाहरण देश के अन्य भागों के लिये भी स्पृहणीय है।

[रा० कृ० भा०]

शिक्षा, बुनियादी महात्मा गांधी की भारत को जो देन है उसमे बुनियादी शिक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण एवं बहुमूल्य है। सन् १९३५ ई० के गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट की घोषणा के फलस्वरूप ब्रिटिश भारत के सात प्रांतो मे जब कांग्रेसी सरकारों ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिये कार्यक्रम बनाया तो उसकी चौदह आधारशिलाओं मे बुनियादी शिक्षा भी एक आधारशिला थी। गांधी जी बुनियादी शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का एक साधन समझते थे। वे इसे शांत सामाजिक क्रांति का एक प्रमुख आधार मानते थे। वे व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के पुनर्निर्माण द्वारा सामाजिक क्रांति लाना चाहते थे। आत्मविश्वास एवं आत्मनिर्भरता को ही उन्होने मनुष्य के पूर्ण विकास का आधार माना। वे शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। इसीलिये उन्होंने सात से चौदह वर्षवाले वर्ग के सभी बालकों एवं बालिकाओं को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देना आवश्यक समझा।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हरिपुर अधिवेशन में बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा योजना की स्वीकृति के बाद सन् १९३८ से ही बुनियादी शिक्षा में अनेक प्रयोग आरंभ हो गए थे किंतु वे अलग अलग और सीमित स्तर पर किए गए। सन् १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध के

छिड़ जाने से एक और कठिनाई उपस्थित हो गई। कांग्रेस मंत्रिमंडल को राजनीतिक कारणों से इस्तीफा देना पड़ा। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे बुनियादी शिक्षा के विकास में सहायक होंगे। किंतु उनके इस्तीफे के परिणामस्वरूप, कुछ प्रांतों में प्रयोग बिलकुल बंद कर दिए गए और अन्य प्रांतों में प्रयोग के प्रति उदासीनता दिखाई देने लगी। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद ही बुनियादी शिक्षा को शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति के रूप में गंभीरतापूर्वक स्वीकार किया गया।

बुनियादी शिक्षा निरंतर प्रगति करती रही है क्योंकि बेसिक स्कूलों की संख्या बराबर बढ़ती रही है। किंतु साधारण प्रारंभिक और मिडिल स्कूलों की अपेक्षा बेसिक स्कूलों की संख्या की वृद्धि की गति में कमी रही है। बेसिक स्कूलों में प्रवेश का जहाँ तक संबंध है, स्थिति संतोषजनक नहीं रही है। लक्ष्य तो यह था कि बेसिक शिक्षा में ६ से १४ वर्ष के वर्गवाले सभी लड़कों एवं लड़कियों के लिये बुनियादी शिक्षा का प्रबंध किया जाय। किंतु प्रथम दो योजनाओं में कोई महत्वपूर्ण प्रगति इस शिक्षा में नहीं हुई। इस काल में बुनियादी शिक्षा के प्रसार की प्रगति उतनी भी नहीं हुई जितनी साधारण प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार की, यद्यपि साधारण प्रारंभिक शिक्षा की प्रगति भी संतोषजनक नहीं है।

अध्यापक शिक्षण की स्थिति भी बिल्कुल संतोषजनक नहीं है। भारत में प्रारंभिक शिक्षकों की शिक्षा के बारे में प्रथम राष्ट्रीय विचारगोष्ठी की १९६० ई० की रिपोर्ट और हाल में अध्यापक प्रशिक्षण के संबंध में प्लान प्रोजेक्ट्स की समिति की १९६३ ई० की रिपोर्ट से सिद्ध होता है कि अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ हैं। इसमें न केवल उचित एवं योग्य कर्मचारियों, भवनों, उपकरणों और अन्य स्थूल साधनों की कमी रही है बल्कि अपर्याप्त पाठ्य विषय और शिक्षण की प्रभावहीन विधि तथा शैली का भी दोष रहा है।

बुनियादी शिक्षा की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है जिससे लोग साधारणतया सहमत हों। बुनियादी शिक्षा के वास्तविक मूल तत्व एवं निश्चित लक्ष्य के संबंध में बहुत ही गड़बड़ी दिखाई देती है। गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों को प्रतिपादित करते समय एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की थी। वह उत्पादक कार्य को शिक्षा का केंद्र मानते थे किंतु वास्तविक प्रयोग में उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षा के सिद्धांत के भिन्न भिन्न अर्थ हो गए हैं। कुछ शिक्षाविद्, जो गांधी जी के अनुयायी होने का दावा करते है, विद्यालयों में प्रयोग योग्य वस्तुओं के वास्तविक उत्पादन पर जोर देते हैं। कुछ लोगों का मत है कि इसका अर्थ खेल विधि द्वारा शिक्षा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

बुनियादी शिक्षा में आत्मनिर्भरता का प्रश्न और भी विवादपूर्ण है। गांधी जी आत्मनिर्भरता को शिक्षा का वास्तविक मापदंड समझते थे। आत्मनिर्भरता से उनका तात्पर्य यह था कि बेसिक स्कूल इस सीमा तक स्वावलंबी हो जायें कि अध्यापकों का वेतन विद्यालयों में बच्चों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को बेचकर दिया जा सके। इसलिये आरंभ मे बुनियादी शिक्षा के समर्थकों का बहुत बड़ा वर्ग इस बात की आशा करने लगा कि यदि बुनियादी शिक्षा के लिये समुचित वातावरण पैदा किया जाय तो इसका अधिक मात्रा में खर्च निकल आएगा और अवशेष खर्च सरकार दे देगी जिससे बेसिक स्कूल दक्षतापूर्वक चल सकेंगे। किंतु अनुभव से यह अनुमान गलत सिद्ध हुआ। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा नियुक्त पिरेस-लाखानी समिति ने इस समस्या का अध्ययन किया और बताया कि १९५०–१९५१ में बिहार में, जो बुनियादी शिक्षा का प्रमुख प्रदेश समझा जाता था, कोई भी विद्यालय ४१.०६ प्रतिशत से अधिक स्वावलंबी नहीं था। सेवाग्राम (वर्धा) का बेसिक स्कूल, जो हिंदुस्तानी तालीमी संघ के पथप्रदर्शन एवं निरीक्षण में चल रहा था, ६३ प्रतिशत तक स्वावलंबी था। इसने इस दिशा में बेसिक विद्यालयों की सूची में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने का गौरव प्राप्त किया था। सन् १९४९-१९५० मे बिहार प्रदेश के १०० बेसिक स्कूल, जिनमें १८ सीनियर बेसिक स्कूल भी थे, केवल १५ प्रतिशत ही स्वावलंबी हो सके। तब से, साधारण तौर से, परिस्थिति में अच्छाई की ओर कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता है। भारत सरकार द्वारा बुनियादी शिक्षा के लिये प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत में जो मूल्यांकन समिति नियुक्त हुई थी वह भी इसी निष्कर्ष पर पहुँची। भारत सरकार ने बुनियादी शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करने के लिये अपनी 'बुनियादी शिक्षा की संकल्पना' शीर्षक पुस्तिका में स्वावलंबन का उल्लेख तक नहीं किया। यहाँ तक कि गाधीवाद के आदर्शों के महान् पोषक विनोबा भावे का भी अब यह विचार हो गया है कि बच्चों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय का लाभ शिक्षा पर होनेवाले उचित खर्च के कम करने पर प्रयोग न किया जाय बल्कि वह अभिभावकों (माता पिता) को मिलना चाहिए जिससे वे अपने काम में अपने बच्चों की सहायता से लाभ न उठा सकने के कारण हुई क्षति को पूरा कर सकें। ऐसा लगता है, सरकार भी सिद्धांत रूप से यह स्वीकार करती है कि बच्चों के उत्पादक कार्य से प्राप्त लाभ उन्हीं के हित में खर्च किया जाय, जैसे विद्यालय के परिधान (यूनीफार्म) या मध्याह्न के भोजन के प्रबंध पर।

इसलिये यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि गांधी जी की कल्पना के अनुसार बेसिक स्कूलों मे उत्पादक व्यवसायों को आरंभ कर देने से बुनियादी शिक्षा का खर्च बड़ी मात्रा मे कम नहीं किया जा सकता। इसलिये बुनियादी शिक्षा को यदि देश भर में प्रारंभिक शिक्षा की सार्वभौम पद्धति बनाना हो तो इसके लिये प्रचुर मात्रा में बढ़ाई गई अर्थव्यवस्था आवश्यक है।

बुनियादी शिक्षा को सार्वभौम बनाने के प्रश्न को यथार्थ के स्तर पर सोचना चाहिए। भारत ने समाजवादी आदर्शवाले समाज की स्थापना का संकल्प किया है। ऐसे समाज की अनिवार्य बातों में से एक यह है कि इसके सभी सदस्य सुशिक्षित हों ताकि वे सामान्य हित के लिये अधिक से अधिक योगदान कर सकें और अपने संमिलित प्रयत्न का जो फल हो उससे उचित रूप से लाभ उठा सकें। इसलिये कम से कम समय के अंदर सार्वभौम, नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा-प्रदान का प्रबंध सबसे पहले होना चाहिए। संविधान की ४५वीं धारा के अनुसार १९६० ई० तक १४ वर्ष की अवस्थावाले सभी बच्चों की नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का राज्य की ओर से प्रबंध हो जाना चाहिए था। यह एक विशाल समस्या है और इसके समा-

काम के लिये मानवीय और भौतिक दोनों प्रकार के महान् साधनों की आवश्यकता है। यह अनुमान है कि यदि देश अपनी राष्ट्रीय आय का दो प्रतिशत केवल प्रारंभिक शिक्षा पर खर्च करे तो आवश्यक साधन इतनी मात्रा में प्राप्त किए जा सकते हैं कि छह से १४ वर्ष-वाले वर्ग के सभी बच्चों को शिक्षा की सुविधाएँ १९८०-१९८१ तक प्राप्त हो जायँ।

अब यदि बुनियादी शिक्षा सभी बच्चों को दी जाय तो सार्वभौम शिक्षा के स्तर तक पहुँचने में बहुत अधिक समय लगेगा। बुनियादी शिक्षा उच्च कोटि की होने के कारण अधिक महँगी है। बुनियादी शिक्षा की राष्ट्रीय समिति द्वारा नियुक्त सहायक समिति (१९६३) की सिफारिशों से स्पष्ट है कि एक साधारण प्रारंभिक विद्यालय को बेसिक स्कूल में परिवर्तित करने में कम से कम जितने साधनों की आवश्यकता है उन्हें ध्यान में रखते हुए प्रारंभिक शिक्षा के साथ साथ ही बुनियादी शिक्षा का विकास होना आवश्यक प्रतीत होता है। आवश्यकता इस बात की है कि एक दूरदर्शी योजना बनाई जाय जिसके अनुसार बुनियादी शिक्षा का विस्तार बराबर होता रहे ताकि अंत में यह राष्ट्रीय स्तर पर प्रारंभिक शिक्षा की सुधरी हुई पद्धति के रूप में विकसित हो जाय। कुछ बातें जिनके करने की आवश्यकता है, नीचे प्रस्तावित की जाती हैं :

परंपरागत सिद्धांतों पर ही काम कर रहे बेसिक स्कूलों को कम से कम अनिवार्य शर्तों की पूर्ति करते हुए सच्चे बेसिक स्कूल बनाना चाहिए। जिन विद्यालयों का पूर्ण विकास नहीं हो सका है उनको अधिक से अधिक सहायता देनी चाहिए ताकि वे आदर्श बेसिक स्कूल बन सकें और दूसरे उनका अनुकरण करें।

बुनियादी शिक्षा के विस्तार को लगातार बढ़ाते रहें। साधारण विद्यालयों को बेसिक स्कूलों में बदलें और नए बेसिक स्कूल खोलें। अधिकांश प्रदेश बेसिक स्कूलों की संख्या को प्रतिवर्ष कम से कम ५ प्रतिशत तो बढ़ा ही सकते हैं।

बेसिक स्कूलों के लिये उद्योग चुनते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उद्योग शिक्षा की दृष्टि से समृद्ध हों तथा सामाजिक वातावरण और बच्चों की अवस्था के अनुकूल हों। कच्चे माल की बरबादी को रोकने के लिये बेसिक स्कूलों की निम्न श्रेणियों मे उद्योग संबंधी कार्य उस समय तक न कराया जाय जब तक बच्चे इतने परिपक्व न हो जायँ कि वे इसका प्रयोग लाभपूर्वक कर सकें। मिट्टी का काम, प्रारंभिक बागवानी या कुछ कम खर्चवाले हाथ के काम नीचे की कक्षाओं में कराए जा सकते हैं। बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में इस आधार पर परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

सभी प्रारंभिक विद्यालयों में बुनियादी शिक्षा के कुछ तत्व सरलतापूर्वक अपनाए जा सकते हैं, जैसे स्वास्थ्य संबंधी क्रियाएँ, सामाजिक सेवा के कार्यक्रम, सांस्कृतिक कार्यकलाप इत्यादि। ऐसा विद्यालय, जिसके पास पर्याप्त मात्रा में भूमि हो और सिंचाई की सुविधाएँ पर्याप्त हों, फल और तरकारियों के उत्पादन का कार्य कर सकता है। यह आवश्यक है कि जिन विद्यालयों में ये क्रियाएँ प्रारंभ की जायँ, उनका भली भाँति नियोजन किया जाय और साथ ही, उनसे पूरा पूरा शैक्षिक लाभ उठाया जाय। उत्तर बुनियादी विद्यालय को बहुद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की एक शाखा समझना चाहिए जहाँ उस उद्योग में योग्यता प्राप्त करने पर बल दिया जाय जिसे एक छात्र बेसिक स्कूल से करता चला आया है। १९५७ में सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑव एजुकेशन की राय से केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा इस मामले के सविस्तार अध्ययन के लिये नियुक्त की गई समिति ने उत्तर बुनियादी शिक्षा के देश की प्रचलित माध्यमिक शिक्षा पद्धति का एक अंग बने रहने पर जोर दिया है।

बेसिक स्कूल की शैक्षिक योजना को सुचारु रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि अध्यापकों की शैक्षिक पृष्ठभूमि उच्च कोटि की हो और वे अपने कार्य में प्रवीण हों। प्रारंभिक विद्यालयों के लिये अध्यापक तैयार करनेवाली सभी प्रशिक्षण संस्थाएँ बेसिक ढंग की होनी चाहिए। प्रत्येक प्रदेश के प्रत्येक जिले में एक आदर्श प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किया जाय। इस प्रशिक्षण विद्यालय के साथ चार पाँच बेसिक स्कूल संलग्न होने चाहिए। इस केंद्र में पर्याप्त रूप से अध्यापक एवं उपकरण हों और बुनियादी शिक्षा का संपूर्ण कार्यक्रम इसी के द्वारा पूरा किया जाय। यह एक प्रशिक्षण के बहुग्राही महाविद्यालय (कांप्रीहेंसिव कालेज ऑव एजुकेशन) का अभिन्न अंग हो जिसमें कई प्रशिक्षण संस्थाएँ हों जो शिक्षा के सभी स्तरों एवं विद्यालय के कार्यक्रम की भिन्न भिन्न शाखाओं के लिये अध्यापक तैयार करें। १९३८ में बुनियादी शिक्षा की मौलिक योजना जाकिर हुसैन समिति ने तैयार की थी। इसमें यह सिफारिश की गई थी कि प्रत्येक प्रांत में शिक्षा की एक समिति स्थापित होनी चाहिए जिसके कार्यों में बुनियादी शिक्षा में खोज और संगठन का कार्य भी संमिलित किया जाय। प्रत्येक प्रदेश में स्थापित शिक्षा की प्रदेशीय संस्था (स्टेट इंस्टिट्यूट ऑव एजुकेशन) बुनियादी शिक्षा की विविध समस्याओं का अध्ययन तथा अनुसंधान कार्य करे। राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (नैशनल काउंसिल ऑव एजुकेशनल रिसर्च ऐंड ट्रेनिंग) को राष्ट्रीय स्तर के महत्व-वाली समस्याओं का अनुसंधान करना चाहिए। अनुसंधान द्वारा समवाय (कोरीलेशन) पद्धति को अध्यापक के लिये सुबोध तथा सुगम बना दिया जाय। बुनियादी शिक्षा संबंधी कुछ ऐसी मुख्य समस्याएँ हैं जिन्हें सुलझाने के लिये शीघ्र ध्यान दिया जाना आवश्यक है, जैसे एक ही शिक्षक द्वारा अनेक कक्षाओं के पढ़ाने की समस्या, ऐसी कक्षाओं को पढ़ाने की समस्या, जिनमें बच्चों की संख्या बहुत अधिक हो, भिन्न भिन्न उद्योगों की शैक्षिक संभावनाओं का पता लगाने और उनकी पद्धति तथा उत्पादन क्षमता का विकास करने के कार्य, मूल्यांकन की ऐसी विधियों और उपकरणों का विकास करना जिनके द्वारा जाँच की जा सके कि कहाँ तक बुनियादी शिक्षा की प्रगति उसके उद्देश्यों के अनुसार हो रही है ताकि इन विधियों और उपकरणों से बुनियादी शिक्षा के अध्यापक एवं प्रशासक आवश्यकतानुसार लाभ उठा सकें, बेसिक स्कूलों के लिये अध्यापक तैयार करनेवाली प्रशिक्षण संस्थाओं की समस्याओं की ओर ध्यान देना ताकि प्रशिक्षण कार्यक्रम को प्रभावशाली बनाया जा सके, और छात्राध्यापकों के लिये उपयुक्त साहित्य की तैयारी पर ध्यान देना इत्यादि।

बुनियादी शिक्षा की प्रगति के संबंध में निराशा का कोई कारण नहीं दिखलाई देता। ऐसी आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य

में निःशुल्क, अनिवार्य और सार्वभौम प्रारंभिक शिक्षा पद्धति बुनियादी शिक्षा पद्धति में परिवर्तित हो जायगी। [स०]

शिक्षा, भारत में प्राचीन भारत की शिक्षा का प्रारंभिक रूप हम ऋग्वेद में देखते हैं। ऋग्वेद युग की शिक्षा का उद्देश्य था तत्वसाक्षात्कार। ब्रह्मचर्य, तप, और योगाभ्यास से तत्व का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि, विप्र, वैधस, कवि, मुनि, मनीषी के नामों से प्रसिद्ध थे। साक्षात्कृत तत्वों का मंत्रों के आकार में संग्रह होता गया वैदिक संहिताओं में, जिनका स्वाध्याय, सांगोपांग अध्ययन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन वैदिक शिक्षा रही।

विद्यालय गुरुकुल, आचार्यकुल, गुरुगृह इत्यादि नामों से विदित थे। आचार्य के कुल में निवास करता हुआ, गुरुसेवा और ब्रह्मचर्य व्रतधारी विद्यार्थी षडंग वेद का अध्ययन करता था। शिक्षक को आचार्य और गुरु कहा जाता था और विद्यार्थी को ब्रह्मचारी, व्रतधारी, अन्तेवासी, आचार्यकुलवासी। मंत्रों के द्रष्टा अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले ऋषि अपनी अनुभूति और उसकी व्याख्या और प्रयोग को ब्रह्मचारी, अन्तेवासी को देते थे। गुरु के उपदेश पर चलते हुए वेदग्रहण करनेवाले ब्रह्मचारी श्रुतर्षि होते थे। वेदमंत्र कंठस्थ किए जाते थे। आचार्य स्वर से मंत्रों का पारायण करते और ब्रह्मचारी उनको उसी प्रकार दोहराते चले जाते थे। इसके पश्चात् अर्थबोध कराया जाता था। ब्रह्मचर्य का पालन सभी विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य था। स्त्रियों के लिये भी आवश्यक समझा जाता था। आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले विद्यार्थी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे। ऐसी विद्यार्थिनी ब्रह्मवादिनी कही जाती थी।

यज्ञों का अनुष्ठान विधि से हो, इसलिये होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा को आवश्यक शिक्षा दी जाती थी। वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, ज्योतिष और निरुक्त उनके पाठ्य होते थे। पाँच वर्ष के बालक की प्राथमिक शिक्षा आरंभ कर दी जाती थी। गुरुगृह में रहकर गुरुकुल की शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता उपनयन संस्कार से प्राप्त होती थी। ८ वें वर्ष में ब्राह्मण बालक के, ११ वें वर्ष में क्षत्रिय के और १२ वें वर्ष में वैश्य के उपनयन की विधि थी। अधिक से अधिक यह १६, २२, और २४ वर्षों की अवस्था में होता था। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्यार्थी गुरुगृह में १२ वर्ष वेदाध्ययन करते थे। विद्यार्थी जीवन बिताकर ब्रह्मचारी आचार्य की आज्ञा से समावर्तन करते थे। तब वे स्नातक कहलाते थे। समावर्तन के अवसर पर गुरुदक्षिणा देने की प्रथा थी। समावर्तन के पश्चात् भी स्नातक स्वाध्याय करते रहते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन अध्ययन करते थे। समावर्तन के समय ब्रह्मचारी दंड, कमंडलु, मेखला, आदि को त्याग देते थे। ब्रह्मचर्य व्रत में जिन जिन वस्तुओं का निषेध था अब से उनका उपयोग हो सकता था। प्राचीन भारत में किसी प्रकार की परीक्षा नहीं होती थी और न कोई उपाधि ही दी जाती थी। नित्य पाठ पढ़ाने के पूर्व ब्रह्मचारी ने पढ़ाए हुए पाठ को समझा है और उसका अभ्यास नियम से किया है या नहीं इसका पता आचार्य लगा लेते थे। ब्रह्मचारी अध्ययन और अनुसंधान में सदा लगे रहते थे तथा वाद विवाद और शास्त्रार्थ में सम्मिलित होकर अपनी योग्यता का प्रमाण देते थे।

भारतीय शिक्षा में आचार्य का स्थान बड़ा ही गौरव का था। उनका बड़ा आदर और संमान होता था। आचार्य पारंगत विद्वान्, सदाचारी, क्रियावान्, निःस्पृह, निरभिमान होते थे और विद्यार्थियों के कल्याण के लिये सदा कटिबद्ध रहते थे। अध्यापक, छात्रों का चरित्रनिर्माण, उनके लिये भोजनवस्त्र का प्रबंध, रुग्ण छात्रों की चिकित्सा, शुश्रूषा करते थे। कुल में संमिलित ब्रह्मचारी मात्र को आचार्य अपने परिवार का अंग मानते थे और उनसे वैसा ही व्यवहार रखते थे। आचार्य धर्मबुद्धि से निःशुल्क शिक्षा देते थे।

विद्यार्थी गुरु का संमान और उनकी आज्ञा का पालन करते थे। आचार्य का चरणस्पर्श कर दिनचर्या के लिये प्रातःकाल ही प्रस्तुत हो जाते थे। गुरु के आसन के नीचे आसन ग्रहण करना, सुसंयत वेश में रहना, गुरु के लिये दातौन इत्यादि की व्यवस्था करना, उनके आसन को उठाना और बिछाना, स्नान के लिये जल ला देना, समय पर वस्त्र और भोजन के पात्र को साफ करना, ईंधन संग्रह करना, पशुओं को चराना इत्यादि छात्रों के कर्तव्य माने जाते थे। विद्यार्थी ब्राह्ममुहूर्त में उठते थे और प्रातःकृत्यों से निवृत्त होकर, स्नान, संध्या, होम आदि कर लेते थे। फिर अध्ययन में लग जाते थे। इसके उपरांत भोजन करते थे और विश्राम के पश्चात् आचार्य से पाठ ग्रहण करते थे। सायंकाल समिधा एकत्र कर ब्रह्मचारी संध्या और होम का अनुष्ठान करते थे। विद्यार्थी के लिये भिक्षाटन अनिवार्य कृत्य था। भिक्षा से प्राप्त अन्न गुरु को समर्पित कर विद्यार्थी मनन और निदिध्यासन में लग जाते थे।

वेदों का अध्ययन श्रावण पूर्णिमा को उपाकर्म से प्रारंभ होकर पौष पूर्णिमा को उपसर्जन से समाप्त होता था। शेष महीनों में अधीत पाठों की आवृत्ति, पुनरावृत्ति होती रहती थी। विद्यार्थी पृथक् पृथक् पाठ ग्रहण करते थे, एक साथ नहीं। प्रतिपदा और अष्टमी को अनध्याय होता था। गाँव, नगर अथवा पड़ोस में आकस्मिक विपत्ति से और शिष्टजनों के आगमन से विशेष अनध्याय होते थे। अनध्याय में अधीत वेदमंत्रों की पुनरावृत्ति और विषयांतर का अध्ययन निषिद्ध न थे। विनय के नियमों का उल्लंघन करनेवाले विद्यार्थी को दंड देने की परिपाटी थी। पाठ्यक्रम के विस्तार के साथ वेदों और वेदांगों के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण और चिकित्साशास्त्र इत्यादि विषयों का अध्यापन होने लगा। टोल पाठशाला, मठ और विहारों में पढ़ाई होती थी।

काशी, तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वलभी, ओदंतपुरी, जगद्दल, नदिया, मिथिला, प्रयाग, अयोध्या आदि शिक्षा के केंद्र थे। दक्षिण भारत के एन्नारियम, सलोत्गि, तिरुमुक्कुदल, मलकपुरम्, तिरुवोरियूर में प्रसिद्ध विद्यालय थे। अग्रहारों के द्वारा शिक्षा का प्रचार और प्रसार शताब्दियों होता रहा। कादिपुर और सर्वज्ञपुर के अग्रहार विशिष्ट शिक्षाकेंद्र थे। प्राचीन शिक्षा प्रायः वैयक्तिक ही थी। कथा, अभिनय इत्यादि शिक्षा के साधन थे। अध्यापन विद्यार्थी के योग्यतानुसार होता था अर्थात् विषयों को स्मरण रखने के लिये सूत्र, कारिका और सारनों से काम लिया जाता था। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष पद्धति किसी भी विषय की गहराई तक पहुँचने के लिये बड़ी उपयोगी थी। भिन्न भिन्न अवस्था के

छात्रों को कोई एक विषय पढ़ाने के लिये समकेंद्रिय विधि का विशेष रूप से उपयोग होता था सूत्र, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक इस विधि के अनुकूल थे। कोई एक ग्रंथ के बृहत् और लघु संस्करण इस परिपाटी के लिये उपयोगी समझे जाते थे।

बौद्धों और जैनों की शिक्षापद्धति भी इसी प्रकार की थी।

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना होते ही इस्लामी शिक्षा का प्रसार होने लगा। फारसी जाननेवाले ही सरकारी कार्य के योग्य समझे जाने लगे। हिंदू अरबी और फारसी पढ़ने लगे। बादशाहों और अन्य शासकों की व्यक्तिगत रुचि के अनुसार इस्लामी आधार पर शिक्षा दी जाने लगी। इस्लाम के संरक्षण और प्रचार के लिये मस्जिदें बनती गईं, साथ ही मकतबों, मदरसों और पुस्तकालयों की स्थापना होने लगी। मकतब प्रारंभिक शिक्षा के केंद्र होते थे और मदरसे उच्च शिक्षा के। मकतबों की शिक्षा धार्मिक होती थी। विद्यार्थी कुरान के कुछ अंशों को कठस्थ करते थे। वे पढ़ना, लिखना, गणित, अर्जीनवीसी और चिट्ठीपत्री भी सीखते थे। इनमें हिंदू बालक भी पढ़ते थे।

मकतबों में शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी मदरसों में प्रविष्ट होते थे। यहाँ प्रधानतः धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। साथ साथ इतिहास, साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित, कानून इत्यादि की पढ़ाई होती थी। सरकार शिक्षकों को नियुक्त करती थी। कहीं कहीं प्रभावशाली व्यक्तियों के द्वारा भी उनकी नियुक्ति होती थी। अध्यापन फारसी के माध्यम से होता था। अरबी मुसलमानों के लिये अनिवार्य पाठ्य विषय था। छात्रावास का प्रबंध किसी किसी मदरसे में होता था। दरिद्र विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती थी। अनाथालयों का संचालन होता था। शिक्षा निःशुल्क थी। हस्तलिखित पुस्तकें पढ़ी और पढ़ाई जाती थीं।

राजकुमारों के लिये महलों के भीतर शिक्षा का प्रबंध था। राज्यव्यवस्था, सैनिक संगठन, युद्धसंचालन, साहित्य, इतिहास, व्याकरण, कानून आदि का ज्ञान गृहशिक्षक से प्राप्त होता था। राजकुमारियाँ भी शिक्षा पाती थीं। शिक्षकों का बड़ा संमान था। वे विद्वान् और सच्चरित्र होते थे। छात्र और शिक्षकों का आपसी संबंध प्रेम और संमान का था। छात्रावासों में वे साथ ही रहते थे। सादगी, सदाचार, विद्याप्रेम और धर्माचरण पर जोर दिया जाता था। कंठस्थ करने की परंपरा थी। प्रश्नोत्तर, व्याख्या और उदाहरणों द्वारा पाठ पढ़ाए जाते थे। कोई परीक्षा नहीं थी। अध्ययन अध्यापन में प्राप्त अवसरों में शिक्षक छात्रों की योग्यता और विद्वत्ता के विषय में तथ्य प्राप्त करते थे। दंड प्रयोग किया जाता था। जीविका उपार्जन के लिये भी शिक्षा दी जाती थी। दिल्ली, आगरा, बीदर, जौनपुर, मालवा मुसलिम शिक्षा के केंद्र थे। मुसलमान शासकों के संरक्षण के अभाव में भी संस्कृत काव्य, नाटक, व्याकरण, दर्शन ग्रंथों की रचना और उनका पठन पाठन बराबर होता रहा।

भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव यूरोपीय ईसाई धर्मप्रचारक तथा व्यापारियों के हाथों से डाली गई। उन्होंने कई विद्यालय स्थापित किए। प्रारंभ में मद्रास ही उनका कार्यक्षेत्र रहा। धीरे धीरे कार्यक्षेत्र का विस्तार बंगाल में भी होने लगा। इन विद्यालयों में ईसाई धर्म की शिक्षा के साथ साथ इतिहास, भूगोल, व्याकरण, गणित, साहित्य आदि विषय भी पढ़ाए जाते थे। रविवार को विद्यालय बंद रहता था। अनेक शिक्षक छात्रों की पढ़ाई अनेक श्रेणियों में कराते थे। अध्यापन का समय नियत था। साल भर में छोटी बड़ी अनेक छुट्टियाँ हुआ करती थीं।

प्रायः १५० वर्षों के बीतते बीतते व्यापारी ईस्ट इंडिया कंपनी राज्य करने लगी। विस्तार में बाधा पड़ने के डर से कंपनी शिक्षा के विषय में उदासीन रही। फिर भी विशेष कारण और उद्देश्य से १७८० में कलकत्ते में 'कलकत्ता मदरसा' और १७९१ में बनारस में 'संस्कृत कालेज' कंपनी द्वारा स्थापित किए गए। धर्मप्रचार के विषय में भी कंपनी की पूर्वनीति बदलने लगी। कंपनी अब अपने राज्य के भारतीयों को शिक्षा देने की आवश्यकता को समझने लगी। १८१३ के आज्ञापत्र के अनुसार शिक्षा में धन व्यय करने का निश्चय किया गया। किस प्रकार की शिक्षा दी जाय, इसपर प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा के समर्थकों में मतभेद रहा। वाद विवाद चलता चला। अंत में लार्ड मेकाले के तर्क वितर्क और राजा राममोहनराय के समर्थन से प्रभावित हो १८३५ ई० में लार्ड बेंटिंक ने निश्चय किया कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य और यूरोपीय इतिहास, विज्ञान, इत्यादि की पढ़ाई हो और इसी में १८१३ के आज्ञापत्र में अनुमोदित धन का व्यय हो। प्राच्य शिक्षा चलती चले, परंतु अंग्रेजी और पश्चिमी विषयों के अध्ययन और अध्यापन पर जोर दिया जाय।

पाश्चात्य रीति से शिक्षित भारतीयों की आर्थिक स्थिति सुधरते देख जनता इधर झुकने लगी। अंग्रेजी विद्यालयों में अधिक संख्या में विद्यार्थी प्रविष्ट होने लगे क्योंकि अंग्रेजी पढ़े भारतीयों को सरकारी पदों पर नियुक्त करने की नीति की सरकारी घोषणा हो गई थी। सरकारी प्रोत्साहन के साथ साथ अंग्रेजी शिक्षा को पर्याप्त मात्रा में व्यक्तिगत सहयोग भी मिलता गया। अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के साथ साथ अधिक कर्मचारियों की और चिकित्सकों, इंजिनियरों और कानून जाननेवालों की आवश्यकता पड़ने लगी। उपयोगी शिक्षा की ओर सरकार की दृष्टि गई। मेडिकल, इंजिनियरिंग और लॉ कालेजों की स्थापना होने लगी। स्त्री शिक्षा पर ध्यान दिया जाने लगा।

१८५३ में शिक्षा की प्रगति की जाँच के लिये एक समिति बनी। १८५४ में वुड के शिक्षासदेश पत्र में समिति के निर्णय कंपनी के पास भेज दिए गए। संस्कृत, अरबी और फारसी का ज्ञान आवश्यक समझा गया। औद्योगिक विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया। प्रांतों में शिक्षा विभाग अध्यापक प्रशिक्षण, नारीशिक्षा इत्यादि की सिफारिश की गई। १८५७ में स्वतंत्रता युद्ध छिड़ गया जिससे शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ी। प्राथमिक शिक्षा उपेक्षित ही रही। उच्च शिक्षा की उन्नति होती गई। १८५७ में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए।

मुख्यतः प्राथमिक शिक्षा की दशा की जाँच करते हुए शिक्षा के प्रश्नों पर विचार करने के लिये १८८२ में सर विलियम विल्सन

हंटर की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई। आयोग ने प्राथमिक शिक्षा के लिये उचित सुझाव दिए। सरकारी प्रयत्न को माध्यमिक शिक्षा से हटाकर प्राथमिक शिक्षा के संगठन में लगाने की सिफारिश की। सरकारी माध्यमिक स्कूल प्रत्येक जिले में एक से अधिक न हो; शिक्षा का माध्यम माध्यमिक स्तर में अंग्रेजी रहे। माध्यमिक स्कूलों के सुधार और व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार के लिये आयोग ने सिफारिशें कीं। सहायता अनुदान प्रथा और सरकारी शिक्षाविभागों का सुधार, धार्मिक शिक्षा, स्त्री शिक्षा, मुसलमानों की शिक्षा इत्यादि पर भी आयोग ने प्रकाश डाला।

आयोग की सिफारिशों से भारतीय शिक्षा में उन्नति हुई। विद्यालयों की संख्या बढ़ी। नगरों में नगरपालिका और गाँवों में जिला परिषद् का निर्माण हुआ और शिक्षा आयोग ने प्राथमिक शिक्षा को इनपर छोड़ दिया परंतु इससे विशेष लाभ न हो पाया। प्राथमिक शिक्षा की दशा सुधर न पाई। सरकारी शिक्षा विभाग माध्यमिक शिक्षा की सहायता करता रहा। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रही। मातृभाषा की उपेक्षा होती गई। शिक्षा संस्थाओं और शिक्षितों की संख्या बढ़ी, परंतु शिक्षा का स्तर गिरता गया। देश की उन्नति चाहनेवाले भारतीयों में व्यापक और स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता का बोध होने लगा। स्वतंत्रताप्रेमी भारतीयों और भारतप्रेमियों ने सुधार का काम उठा लिया। १८७० में बाल गंगाधर तिलक और उनके सहयोगियों द्वारा पूना में फर्ग्यूसन कालेज, १८८६ में आर्यसमाज द्वारा लाहौर में दयानंद ऐंग्लो वैदिक कालेज और १८९८ में काशी में श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा सेंट्रल हिंदू कालेज स्थापित किए गए।

१९०१ में लार्ड कर्जन ने शिमला में एक गुप्त शिक्षा संमेलन किया था जिसमें १५२ प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे। इसमें कोई भारतीय नहीं बुलाया गया था और न संमेलन के निर्णयों का प्रकाशन ही हुआ। इसको भारतीयों ने अपने विरुद्ध रचा हुआ षड्यंत्र समझा। कर्जन को भारतीयों का सहयोग न मिल सका। प्राथमिक शिक्षा की उन्नति के लिये कर्जन ने उचित रकम की स्वीकृति दी, शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की तथा शिक्षा अनुदान पद्धति और पाठ्यक्रम में सुधार किया। कर्जन का मत था कि प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से ही दी जानी चाहिए। माध्यमिक स्कूलों पर सरकारी शिक्षाविभाग और विश्वविद्यालय दोनों का नियंत्रण आवश्यक मान लिया गया। आर्थिक सहायता बढ़ा दी गई। पाठ्यक्रम में सुधार किया गया। कर्जन माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार का हटना उचित नहीं समझता था, प्रत्युत सरकारी प्रभाव का बढ़ना आवश्यक मानता था। इसलिये वह सरकारी स्कूलों की संख्या बढ़ाना चाहता था। लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा की उन्नति के लिये १९०२ में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया। पाठ्यक्रम, परीक्षा, शिक्षण, कालेजों की शिक्षा, विश्वविद्यालयों का पुनर्गठन इत्यादि विषयों पर विचार करते हुए आयोग ने सुझाव उपस्थित किए। इस आयोग में भी कोई भारतीय न था। इसपर भारतीयों में क्षोभ बढ़ा। उन्होंने विरोध किया। १९०४ में भारतीय विश्वविद्यालय कानून बना। पुरातत्व विभाग की स्थापना से प्राचीन भारत के इतिहास की सामग्रियों का संरक्षण होने लगा। १९०५ के स्वदेशी आंदोलन के समय कलकत्ते में जातीय शिक्षा परिषद् की स्थापना हुई और नैशनल कालेज स्थापित हुआ जिसके प्रथम प्राचार्य अरविंद घोष थे। बंगाल टेकनिकल इन्स्टिट्यूट की स्थापना भी हुई।

१९११ में गोपाल कृष्ण गोखले ने प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य करने का प्रयास किया। अंग्रेज सरकार और उसके समर्थकों के विरोध के कारण वे सफल न हो सके। १९१३ में भारत सरकार ने शिक्षानीति में अनेक परिवर्तनों की कल्पना की। परंतु प्रथम विश्वयुद्ध के कारण कुछ हो न पाया। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त हुआ। आयोग ने शिक्षकों का प्रशिक्षण, इंटरमीडिएट कालेजों की स्थापना, हाई स्कूल और इंटरमीडिएट बोर्डों का संगठन, शिक्षा का माध्यम, ढाका में विश्वविद्यालय की स्थापना, कलकत्ते में कालेजों की व्यवस्था, वैतनिक उपकुलपति, परीक्षा, मुस्लिम शिक्षा, स्त्रीशिक्षा, व्यावसायिक और प्रौद्योगिक शिक्षा आदि विषयों पर सिफारिशें कीं। बंबई, बंगाल, बिहार, आसाम आदि प्रांतों में प्राथमिक शिक्षा कानून बनाये जाने लगे। माध्यमिक क्षेत्र में भी उन्नति होती गई। छात्रों की संख्या बढ़ी। माध्यमिक पाठ्य में वाणिज्य और व्यवसाय रखे दिए गए। स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा चली। अंग्रेजी का महत्व बढ़ता गया। अधिक संख्या में शिक्षकों का प्रशिक्षण होने लगा।

१९१६ तक भारत में पाँच विश्वविद्यालय थे। अब सात नए विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय तथा मैसूर विश्वविद्यालय १९१६ में, पटना विश्वविद्यालय १९१७ में, ओसमानिया विश्वविद्यालय १९१८ में, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय १९२० में, और लखनऊ और ढाका विश्वविद्यालय १९२१ में स्थापित हुए। असहयोग आंदोलन से राष्ट्रीय शिक्षा की प्रगति में बल और वेग आए। बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, गौड़ीय सर्वविद्यायतन, तिलक विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया इसलामिया आदि राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना हुई। शिक्षा में व्यावहारिकता लाने की चेष्टा की गई। १९२१ से नए शासनसुधार कानून के अनुसार सभी प्रांतों में शिक्षा भारतीय मंत्रियों के अधिकार में आ गई। परंतु सरकारी सहयोग के अभाव के कारण उपयोगी योजनाओं को कार्यान्वित करना संभव न हुआ। प्रायः सभी प्रांतों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करने की कोशिश व्यर्थ हुई। माध्यमिक शिक्षा में विस्तार होता गया परंतु उचित संगठन के अभाव से उसकी समस्याएँ हल न हो पाईं। शिक्षा समाप्त कर विद्यार्थी कुछ करने के योग्य न बन पाते। दिल्ली (१९२२), नागपुर (१९२३) आगरा (१९२७), आंध्र (१९२६) और अन्नामलाई (१९२९) में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। बंबई, पटना, कलकत्ता, पंजाब, मद्रास और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों का पुनर्गठन हुआ। कालेजों की संख्या में वृद्धि होती गई। व्यावसायिक शिक्षा, स्त्रीशिक्षा, मुसलमानों की शिक्षा, हरिजनों की शिक्षा, तथा अपराधी जातियों की शिक्षा में उन्नति होती गई।

अगले शासनसुधार के लिये साइमन आयोग की नियुक्ति हुई।

हर्टॉग समिति इस आयोग का एक आवश्यक अंग थी। इसका काम था भारतीय शिक्षा की समस्याओं की सांगोपांग जाँच करना। समिति ने रिपोर्ट में १६१८ से १६२७ तक प्रचलित शिक्षा के गुण और दोष का विवेचन किया और सुधार के लिये निर्देश दिया।

१६३०–१६३५ के बीच संयुक्त प्रदेश में बेकारी की समस्या के समाधान के लिये समिति बनी। व्यावहारिक शिक्षा पर जोर दिया गया। इंटरमीडिएट की पढ़ाई के दो वर्षों में से एक वर्ष स्कूल के साथ कर दिया जाय, जिससे पढ़ाई ११ वर्ष की हो। बाकी एक वर्ष बी० ए० के साथ जोड़कर बी० ए० पाठ्यक्रम तीन वर्ष का कर दिया जाय। माध्यमिक छह वर्ष के दो भाग हों— तीन वर्ष का निम्न माध्यमिक और तीन वर्ष का उच्च माध्यमिक। अंतिम तीन वर्षों में साधारण पढ़ाई के साथ साथ कृषि, शिल्प, व्यवसाय सिखाए जायें। समिति की ये सिफारिशें कार्यान्वित नहीं हुईं।

१६३७ में शिक्षा की एक योजना तैयार की गई जो १६३८ में बुनियादी शिक्षा के नाम से प्रसिद्ध हुई। सात से ११ वर्ष के बालक बालिकाओं की शिक्षा अनिवार्य हो। शिक्षा मातृभाषा में हो। हिंदुस्तानी पढ़ाई जाय। चरखा, करघा, कृषि, लकड़ी का काम शिक्षा का केंद्र हो जिसकी बुनियाद पर साहित्य, भूगोल, इतिहास, गणित की पढ़ाई हो। १६४५ मे इसमे परिवर्तन किए गए और परिवर्तित योजना का नाम रखा गया 'नई तालीम।' (१) पूर्व बुनियादी, (२) बुनियादी, (३) उच्च बुनियादी और (४) वयस्क शिक्षा इसके चार विभाग थे। हिंदुस्तानी तालीमी संघ पर इसका संचालन-भार छोड़ दिया गया।

१६४५ मे द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होते होते सार्जेंट योजना का निर्माण हुआ। छह से १४ वर्ष की अवस्था के बालकों तथा बालिकाओं के लिये अनिवार्य शिक्षा हो। जूनियर बेसिक स्कूल, सीनियर बेसिक स्कूल, साहित्यिक हाई स्कूल और व्यावसायिक हाई स्कूल की पढ़ाई ११ वर्ष की अवस्था से १७ वर्ष की अवस्था तक हो। इसके बाद विश्वविद्यालय मे प्रवेश हो। डिग्री पाठ्यक्रम तीन वर्ष का हो। इंटरमीडिएट कक्षा समाप्त कर दी जाय। पाँच से कम अवस्था-वालों के लिये नर्सरी स्कूल हो। माध्यम मातृभाषा हो। १६५२–५३ में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने माध्यमिक शिक्षा की उन्नति के लिये अनेक सुझाव दिए। माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन से शिक्षा मे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

१६४८–४६ में विश्वविद्यालयों के सुधार के लिये विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति हुई। आयोग की सिफारिशों को बड़ी तत्परता के साथ कार्यान्वित किया गया। उच्च शिक्षा मे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। पंजाब, गौहाटी, पूना, रुड़की, कश्मीर, बड़ोदा, कर्णाटक, गुजरात, महिला विश्वविद्यालय, विश्वभारती, बिहार, श्रीवेंकटेश्वर, यादवपुर, वल्लभभाई, कुरुक्षेत्र, गोरखपुर, जबलपुर, विक्रम, संस्कृत वि० वि० आदि अनेक नए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् शिक्षा में प्रगति होने लगी। विश्वभारती, गुरुकुल, अरविंद आश्रम, जामिया मिल्लिया इसलामिया, विद्याभवन, महिला विश्व-क्षेत्र में प्रशंसनीय वनस्थली विद्यापीठ आधुनिक भारतीय शिक्षा के विद्यालय, और प्रयोग हैं। [स० मो० मु०]

शिक्षा, माध्यमिक (भारत में) सामान्यतया 'माध्यमिक शिक्षा' से अभिप्राय उस शिक्षा से है जो प्राथमिक स्तर के बाद परंतु विश्व-विद्यालय स्तर (जिसमें इंटरमीडिएट भी संमिलित है) से पहले दी जाती है। इस शिक्षा के अंतर्गत ११ से १६ अथवा १७ वर्ष के बच्चे आते हैं और इसमें ५वीं से १०वीं अथवा ११वीं कक्षा तक की शिक्षा दी जाती है।

माध्यमिक स्कूल तीन प्रकार के होते हैं — (१) मिडिल स्कूल जिनमें सामान्यत: आठ कक्षाओं (पहली से आठवीं) तक शिक्षा दी जाती है। इन आठ कक्षाओं में प्रथम पाँच कक्षाएँ प्राथमिक स्तर की तथा अन्य तीन माध्यमिक स्तर की होती हैं। (२) हाई स्कूल, जिनमें सामान्यत: दस कक्षाएँ (१ से १०), पाँच कक्षाएँ (६ से १०), या किन्हीं किन्हीं स्कूलों में केवल दो कक्षाएँ (६ और १०) ही होती हैं (३) उच्च माध्यमिक स्कूल, जिनमे पाठ्यक्रम की अवधि हाई स्कूलों के पाठ्यक्रम से एक वर्ष अधिक होती है। उच्च माध्यमिक स्कूल में ११ कक्षाएँ (१ से ११) या छह कक्षाएँ (५ से ११) अथवा केवल तीन कक्षाएँ (६ से ११) हो सकती हैं। १६५८-१६५६ ई० में भारत में ५३,८७३ माध्यमिक स्कूल थे। इनमें से ३६,५४६ मिडिल, ११,१२८ हाई और ३,१६६ उच्च माध्यमिक स्कूल थे। इस स्तर पर भर्ती हुए छात्रों की कुल संख्या ६६·६५ लाख और छात्राओं की कुल संख्या १८·४५ लाख थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन करने के लिये निरंतर प्रयत्न किए गए। १६४८ के राधाकृष्णन आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि माध्यमिक शिक्षा में परिवर्तन किए बिना विश्वविद्यालयीय शिक्षा का पुनर्गठन संभव नहीं है। १६५२ में डा० लक्ष्मणस्वामी मुदालियार की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने माध्यमिक पाठ्यचर्या का विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं इसके कोरे किताबी ज्ञान और इसकी जीवन से पूर्णतया पृथकता की ओर ध्यान आकर्षित किया। आयोग ने सुझाव दिया कि इंटरमीडिएट स्तर (कक्षाएँ ११ और १२) को जिसका वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे कोई विशिष्ट स्थान नहीं है समाप्त कर दिया जाए और इस प्रकार जो दो वर्ष बचें उनमें से एक (प्रथम) विश्वविद्यालय स्तर में तथा दूसरा माध्यमिक स्तर में जोड़ दिया जाए। आयोग ने यथा-संभव बड़े पैमाने पर माध्यमिक पाठ्यचर्या में विविधता लाने की भी सिफारिश की। कक्षा ६ से ११ तक का नया पाठ्यक्रम दो भागों में विभाजित है : (१) मूल (आंतरिक) पाठ्यक्रम और (२) चुने हुए विषय। मूल पाठ्यक्रम में तीन भाषाओं का अनिवार्य अध्ययन, समाज विज्ञान, सामान्य विज्ञान और एक हस्तकला संमिलित हैं। चुने हुए विषयों के अध्ययन के लिये निम्नलिखित सात समूहों मे से किसी एक से तीन विषय चुनने आवश्यक हैं : मानव विद्याएँ, विज्ञान, टेक्नालाजी, कृषि, वाणिज्य, ललित कलाएँ और गृहविज्ञान। अंतिम उपलब्ध सूचना के अनुसार भारत में आजकल ३,१२१ उच्च माध्य-मिक स्कूल और २,११५ बहुद्देशीय स्कूल हैं।

अभी यह बताना कठिन होगा कि पुनर्गठित स्कूलों में पुनर्गठन के मूल उद्देश्यों की कहाँ तक सिद्धि हो सकी है। प्राप्य सूचना के अनुसार यह पता चलता है कि माध्यमिक पाठ्यक्रम की विश्वविद्यालय द्वारा

बालक प्रायः और मैट्रिक के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिये विद्यार्थियों की दौड़ केवल एक शैक्षणिक समस्या ही नहीं है, वरन् यह हमारे समय की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से भी घनिष्ट संबंध रखती है। १९५८-१९५९ मे माध्यमिक स्कूलों में ५·११ लाख अध्यापक थे। इनमें से ४·०१ लाख पुरुष और १·१ लाख महिलाएँ थीं। उस वर्ष मे देश में शिक्षा के २३३ प्रशिक्षण कालेज और विश्वविद्यालय विभाग थे जिनमे प्रत्येक वर्ष १४,८०२ स्नातकों को प्रशिक्षित किया जाता था। १९५८-१९५९ मे ६४·६ प्रतिशत माध्यमिक अध्यापक प्रशिक्षित थे। प्रशिक्षित पुरुषों और महिलाओं का अनुपात क्रमश ६१·९ और ७४·५ प्रतिशत था। कई राज्यों में अभी पिछले वर्षों में माध्यमिक अध्यापकों के वेतनमानों मे उचित संशोधन किया गया है। उसी वर्ष माध्यमिक स्तर पर ८५·४ लाख विद्यार्थी थे। इनमें से ५८·८६ लाख मिडिल स्तर पर और २६·६४ लाख उच्च और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर थे। इस स्तर पर के विद्यार्थियों की कुल संख्या मे से ६६·६५ लाख बालक और १८.४५ लाख बालिकाएँ थीं। माध्यमिक स्तर पर छात्रअध्यापक का अनुपात २५·१ का था। यह अनुपात पिछले कई वर्षों मे स्थिरप्राय रहा है।

देश में १७ माध्यमिक शिक्षा बोर्ड हैं, जो माध्यमिक स्तर के अंत में सार्वजनिक परीक्षा का आयोजन करते है और परीक्षा के लिये पाठ्यक्रम निर्धारित करते है। इन बोर्डों के नाम इस प्रकार है — (१) बिहार स्कूल एग्जामिनेशन, पटना, (२) बोर्ड फॉर पब्लिक ऐग्जामिनेशन, त्रिवेंद्रम, (३) बोर्ड ऑव हायर एजूकेशन, दिल्ली, (४) बोर्ड ऑव हाई स्कूल ऐंड इंटरमीडिएट एजूकेशन, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, (५) बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन, आंध्र प्रदेश, हैदराबाद (६) बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन मध्य प्रदेश, भोपाल, (७) बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन, मद्रास (८) बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन, उड़ीसा, कटक (९) बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन, राजस्थान, जयपुर, (१०) बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन, वेस्ट बंगाल, कलकत्ता, (११) सेंट्रल बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन, अजमेर, (१२) गुजरात सेकेंडरी स्कूल सर्टीफिकेट एग्जामिनेशन बोर्ड, बड़ोदा, (१३) सेकेंडरी एजूकेशन बोर्ड, मैसूर स्टेट, बंगलोर, (१४) सेकेंडरी स्कूल सर्टिफिकेट एग्जामिनेशन बोर्ड, महाराष्ट्र स्टेट, पूना, और (१) विदर्भ बोर्ड ऑव सेकेंडरी एजूकेशन, नागपुर।

असम और पंजाब, केवल ये दो ही ऐसे राज्य हैं जिनमें अभी माध्यमिक शिक्षा का कोई बोर्ड नहीं है। असम मे इस परीक्षा का संचालन गौहाटी विश्वविद्यालय और पंजाब में पंजाब विश्वविद्यालय करता है। १९५८–१९५९ मे, ५·६२ लाख विद्यार्थियों ने एस० एल० सी० परीक्षा पास की। यह संख्या धीरे धीरे बढ़ रही है और शीघ्र ही १० लाख तक पहुँच जाएगी। इस परीक्षा को पास करनेवाले विद्यार्थियों में से लगभग ५० प्रतिशत विद्यार्थी हर साल उच्च शिक्षा में प्रवेश करते हैं।

माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम (संबंधित क्षेत्र की) प्रादेशिक भाषा है, फिर भी राज्य सरकारें सामान्य तौर पर भाषायी अल्पसंख्यकों को उनकी अपनी विशेष भाषा के द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था करती हैं, बशर्ते विद्यार्थियों की संख्या इतनी हो कि अतिरिक्त व्यय को उपयोगी समझा जाए। कुछ माध्यमिक स्कूलों में, विशेषतया उन स्कूलों में जो माध्यमिक शिक्षा की ऐंग्लो-इंडियन बोर्ड से और इंडियन कानफरेंस ऑव पब्लिक स्कूल्स से संबद्ध हैं, शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है।

देश मे माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिये स्वैच्छिक संस्थाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। १९५८–१९५९ में स्कूलों की व्यवस्था का विवरण (प्रबंध वार) इस प्रकार था — सरकार द्वारा व्यवस्थित, १९·५ प्रतिशत मिडिल स्कूल तथा १९·६ प्रतिशत हाई और उच्च माध्यमिक स्कूल; स्थानीय निकाय, ५०·६ प्रतिशत मिडिल स्कूल, तथा १०·२ प्रतिशत हाई व उच्च माध्यमिक स्कूल; प्राइवेट २९.९ प्रतिशत मिडिल स्कूल, तथा ७०·२ प्रतिशत हाई और उच्च माध्यमिक स्कूल। लेकिन व्यय का अधिकांश भाग सरकार ने दिया था। इस वर्ष में प्रत्येक साधन द्वारा किए गए खर्च का वितरण निम्न प्रकार था सरकार, ५४.६ प्रतिशत; स्थानीय निकाय, ६·६ प्रतिशत; शुल्क, ३०·४ प्रतिशत तथा अन्य साधन, ८·४ प्रतिशत।

१९५८-१९५९ मे देश में माध्यमिक शिक्षा पर कुल ७९·७५ करोड़ रुपए प्रत्यक्ष खर्च हुए। यह उस वर्ष के कुल प्रत्यक्ष व्यय का ३९·२ प्रतिशत था।

पंचवर्षीय योजनाओं में माध्यमिक शिक्षा की विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये केंद्रीय सरकार राज्यों को पर्याप्त वित्तीय सहायता देती रही है। माध्यमिक शिक्षा के स्तर को उठाने के लिये शिक्षा मंत्रालय ने कई अन्य महत्वपूर्ण कारर्वाइयाँ भी की है। इसने १९५५ में माध्यमिक शिक्षा की अखिल भारतीय परिषद् की स्थापना की। परिषद् माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन और विस्तार से संबधित समस्याओं पर मंत्रालय को सलाह देती है। माध्यमिक शिक्षा विस्तार कार्यक्रम निदेशालय, जो परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वित करने का काम करता है, माध्यमिक स्कूलों मे विस्तार कार्यक्रमों के विकास के लिये उत्तरदायी है। इस निदेशालय का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ है कि इसने चुने हुए ५४ प्रशिक्षण संस्थानों मे विस्तार सेवा विभाग स्थापित किए हैं जो अन्य कार्यों के साथ साथ माध्यमिक अध्यापकों के लिये सेवा में रहते हुए तथा पुनश्चर्या पाठ्यक्रम कार्यगोष्ठियों और संमेलनों का आयोजन भी करते है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में मंत्रालय द्वारा स्थापित अन्य संस्थान इस प्रकार हैं — केंद्रीय शिक्षा संस्थान—अनुसंधान और शिक्षक प्रशिक्षण के लिये, शिक्षा संबंधी और व्यावसायिक संदर्शन का केंद्रीय ब्यूरो; पाठ्यपुस्तक अनुसंधान का केंद्रीय ब्यूरो और माध्यमिक स्कूलों मे अंग्रेजी शिक्षण के स्तर मे सुधार के लिये अंग्रेजी का केंद्रीय संस्थान, हैदराबाद।

[वे० प्र०]

शिक्षा, विस्तारी भारत की केंद्रीय सरकार ने सन् १९५५-५६ मे विभिन्न प्रशिक्षण महाविद्यालयों में शिक्षा-प्रसार-सेवा-विभागों की स्थापना की। इनका प्रमुख उद्देश्य माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों को उचित मार्ग प्रदर्शन करना तथा उनको नवीन शिक्षाप्रयोगों एवं योजनाओं से अवगत कराना था। उनसे यह भी आशा की गई

कि वे कक्षा की समस्याओं को प्रशिक्षण विद्यालय में समाधानार्थ लावें।

डाइरेक्टरेट ऑव एक्स्टेंशन प्रोग्रैम फॉर सेकेंडरी एजुकेशन के अंतर्गत शिक्षा-प्रसार-सेवा-केंद्र प्रशिक्षण विद्यालयों में खोले गए। यह विभाग १९५९ तक शिक्षा मंत्रालय के अंतर्गत क्रियान्वित रहा। उसके उपरांत १९६१ से डाइरेक्टरेट, नेशनल कौंसिल ऑव एजुकेशनल रिसर्च ऐंड ट्रेनिंग का एक प्रमुख भाग बन गया। शिक्षा-प्रसार-सेवा-विभाग प्रशिक्षण महाविद्यालयों का एक प्रमुख अंग है। यह एक स्थायी समायोजक द्वारा संगठित एवं क्रियान्वित होता है। यह कालेज के प्रिंसिपल की संरक्षकता में कार्य करता है जो विभागों के अवैतनिक निर्देशक के रूप में कार्य करता है। इसकी सारी आर्थिक व्यवस्था नै० कौ० ऑव ए० रि० ऐं० ट्रे० अपने डाइरेक्टर ऑव एक्स्टेंशन प्रोग्रैम्स फॉर सेकेंडरी एजूकेशन (DEPSE) के द्वारा करता है जो दिल्ली में स्थित है। इसके सभी कार्यक्रम डाइरेक्टरेट ऑव एक्सटेंशन प्रोग्रैम्स फॉर सेकेंडरी एजुकेशन तथा एक सलाहकार समिति द्वारा निर्देशित होते हैं। यह विभाग समय समय पर अध्यापकों की गोष्ठी करता है जिसमें विचार विमर्श होते हैं। इन सभी गोष्ठियों का व्ययभार यही विभाग वहन करता है।

शिक्षा-प्रसार-सेवा-विभाग के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :— माध्यमिक विद्यालयो के शिक्षकों की शैक्षिक कार्यक्षमता एवं ज्ञान में वृद्धि करना। माध्यमिक विद्यालयों के शैक्षिक स्तर तथा छात्रों का संपूर्ण विकास करना। शिक्षण विद्यालयों के द्वारा शिक्षकों तथा माध्यमिक विद्यालयों की पूर्ण रूप से सहायता करना तथा दोनों में पारस्परिक संबंध स्थापित करना। उपयोगी सूचना एकत्र करना। नई नई विचारधाराओं का संकलन कर उन्हें दूसरे विद्यालयों तक पहुँचाना। माध्यमिक स्तर की शिक्षा संबंधी विभिन्न समस्याओं का पता लगाकर उनके हल के उपाय सोचना।

समय समय पर यह विभाग विचारगोष्ठी (सेमिनार) तथा शिल्पशाला (वर्कशाप) एवं विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम संगठित करता है। पुस्तकालय की भी व्यवस्था करता है जहाँ से अध्यापक पुस्तक, पत्रिकाएँ आदि मँगा सकते हैं जिसका व्यय यही विभाग वहन करता है। शिक्षा से संबंधित प्रोजेक्टर, फिल्म, टेपरेकार्ड नक्शा, चार्ट इत्यादि की व्यवस्था करता है। माध्यमिक विद्यालयों में विज्ञान क्लब तथा अन्य विषयों के क्लबों की स्थापना में सहयोग करता है, यहाँ तक कि १२०० रु० तक की आर्थिक सहायता भी देता है। माध्यमिक शिक्षालयों के सहयोग से शिक्षा विषयक प्रदर्शनी भी कराता है। यदि कोई उत्साही अध्यापक कोई प्रयोग करना या प्रोजेक्ट बनाना चाहते हैं तो उनके प्रोजेक्ट तथा प्रयोगों को सफल बनाने में पूर्ण रूप से सहयोग, यहाँ तक कि आर्थिक सहायता भी, प्रदान करता है। अध्यापकों के हितार्थ यह समय समय पर उपयोगी प्रकाशन भी करता है जो उनको उचित दिशा की ओर अग्रसर करते हैं और ये सभी प्रकाशन विद्यालयों में निःशुल्क भेज दिए जाते हैं।

[ग्रा० ना०]

शिक्षा, शारीरिक इस शिक्षा से तात्पर्य उन प्रक्रियाओं से है जो मनुष्य के शारीरिक विकास तथा कार्यों के समुचित संपादन में सहायक होती है। किसी भी समाज में शारीरिक शिक्षा का महत्व उसकी युद्धोन्मुख प्रवृत्तियों, धार्मिक विचारधाराओं, आर्थिक परिस्थिति तथा आदर्श पर निर्भर होता है। प्राचीन काल में शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य मांसपेशियों को विकसित करके शारीरिक शक्ति को बढ़ाने तक ही सीमित था और इस सब का तात्पर्य यह था कि मनुष्य आखेट में, भारवहन में, पेड़ों पर चढ़ने में, लकड़ी काटने में, नदी, तालाब या समुद्र में गोता लगाने में सफल हो सके। किंतु ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई, शारीरिक शिक्षा के उद्देश्य में भी परिवर्तन होता गया और शारीरिक शिक्षा का अर्थ शरीर के अवयवों के विकास के लिये सुसंगठित कार्यक्रम के रूप में होने लगा। वर्तमान काल में शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम के अंतर्गत व्यायाम, खेलकूद, मनोरंजन आदि विषय आते हैं। साथ साथ वैयक्तिक स्वास्थ्य तथा जनस्वास्थ्य का भी इसमें स्थान है। कार्यक्रमों को निर्धारित करने के लिये शरीररचना तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा समाज विज्ञान के सिद्धांतों से अधिकतम लाभ उठाया जाता है। वैयक्तिक रूप में शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य शक्ति का विकास और नाड़ी स्नायु संबंधी कौशल की वृद्धि करना है तथा सामूहिक रूप में सामूहिकता की भावना को जाग्रत करना है।

संसार के सभी देशों में शारीरिक शिक्षा को महत्व दिया जाता रहा है। ईसा से २५०० वर्ष पहले चीन देशवासी बीमारियों के निवारणार्थ व्यायाम में भाग लेते थे।

ईरान में युवकों को घुड़सवारी, तीरंदाजी तथा सत्यप्रियता आदि की शिक्षा प्रशिक्षणकेंद्रों में दी जाती थी।

यूनान में खेलकूद की प्रतियोगिताओं का बड़ा महत्व होता था। शारीरिक शिक्षा से मानसिक शक्ति का विकास होता था, सौंदर्य में वृद्धि होती थी तथा रोगों का निवारण होता था। स्पार्टा में जगह जगह व्यायामशालाएँ बनी हुई थीं। रोम में शारीरिक शिक्षा, सैनिक शिक्षा तथा चारित्रिक शिक्षा में परस्पर घनिष्ट संबंध था और राष्ट्र की रक्षा करना इन सबका उद्देश्य था। पाश्चात्य देशों के धार्मिक विचारों मे परिवर्तन होने के कारण तपस्या तथा शारीरिक यातनाओं पर बल दिया जाने लगा। किंतु आगे चलकर खेलकूद, तैराकी, व्यायाम तथा अस्त्रशस्त्र के अभ्यास में लोगों की अभिरुचि पुन: जगी। इस काल के माइकिल ई० मांटेन, जे० जे० रूसो, जॉन लॉक, तथा कमेनियस आदि शिक्षाशास्त्रियों ने शारीरिक शिक्षा का आवाहन किया।

उन्नीसवीं शताब्दी मे पेस्टोलाजी और फ्रोबेल ने एक स्वर से बतलाया कि छोटे बच्चों की शिक्षा में खेलों का प्रमुख स्थान है।

जर्मनी में जोहान क्रिस्टॉफ फ्रीड्रिक गुट्ज मुट्ज (Johann Christoph Guts Muths) ने शारीरिक शिक्षा में दौड़, कूद, प्रक्षेप, कुश्ती आदि प्रक्रियाओं के साथ साथ यांत्रिक व्यायामों का प्रचार किया। फ्रीडरिक लुडविक जान (Friedrich Ludvig

John) के नेतृत्व में लोकप्रिय व्यायामशालाओं की स्थापना संबधी आंदोलन का सूत्रपात हुआ और यह आंदोलन शीघ्र विभिन्न देशों में व्यापक हो गया। वास्तव में वर्तमान शारीरिक शिक्षा का आंदोलन सन् १७७५ ई० में जर्मनी में ही प्रारंभ हुआ।

डेनमार्क में फ्राज नाख्तिगाल (Franz Nachtegall) ने शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में अगला कदम बढ़ाया। आपकी विचारधारा जर्मनी की विचारधारा से बहुत कुछ मिलती जुलती थी और आपके ही सहयोग से सन् १८१४ ई० में स्कूलों के लिये शारीरिक शिक्षा का कार्यक्रम निर्धारित किया गया।

स्वीडन देश में शारीरिक शिक्षा का श्रेय पर हैनरिक लिंग (Per Henrik Ling) को प्राप्त हुआ। आप शरीररचना तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान के विद्यार्थी थे। आपने एक व्यायामपद्धति निकाली जिसने बाद में चलकर चैकित्सिक व्यायाम की संज्ञा पाई। सन् १८१४ में आपने स्टाकहोम में रॉयल जिम्नास्टिक सेंट्रल इंस्टीट्यूट की स्थापना की। इस संस्था के अनुसंधान कार्य शारीरिक जगत् में विख्यात हैं।

जर्मनी, स्वीडन तथा डेनमार्क देशों के शारीरिक शिक्षापद्धति के सिद्धांत हॉलैंड, बेल्जियम, स्विटजरलैंड आदि देशों में भी पहुँचे। किंतु इन देशों में समुचित नेतृत्व के अभाव से उन सिद्धांतों का पूर्ण रूप से कार्यान्वयन न हो सका। ग्रेट ब्रिटेन में आर्चिबाल्ड मेकलारेन (Archibald Maclaren) ने अपने यहाँ के स्कूलों के कार्यक्रम में स्वीडन के जिमनास्टिक्स तथा अन्य खेलों का समावेश करवाया।

अमरीका में शारीरिक शिक्षा का इतिहास सन् १८२० से प्रारंभ होता है। इसी वर्ष जर्मनी के दो शरणार्थी जिनके नाम चार्ल्स बेक (Charles Beck) और चार्ल्स फोलेन (Charles Follen) थे, अमरीका पहुँचे और वहाँ व्यायामशिक्षक नियुक्त हुए। इन्हीं के प्रयासों द्वारा सन् १८५० ई० में 'अमरीकन टरनरबंड' संगठन की स्थापना हुई। सन् १८६० ई० में डा० डीम्रो लिविस Dio Lewis) के प्रयत्न से अमरीका के स्कूलों के पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा को स्थान प्राप्त हुआ।

सोवियत रूस में छोटे बच्चों को बचपन में ही आग, पानी तथा तूफान से बचने की शिक्षा दी जाती है। १२ वर्ष तक केवल शारीरिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। उसके उपरांत कुछ ऐसी व्यावहारिक कसरतें भी कराई जाती हैं जो उनके लिये भविष्य में टैंक, ट्रैक्टर तथा इंजन आदि के चलाने में उपयोगी हों। युवकों को पुष्ट और सशक्त बनाने के लिये जिम्नास्टिक का आधार लिया जाता है और खेलकूद की प्रतियोगिता के लिये सुगठित किया जाता है।

भारतवर्ष में शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय व्यायामपद्धति का प्रमुख स्थान है। यह विश्व की सबसे पुरानी व्यायाम प्रणाली है। जिस समय यूनान, स्पार्टा और रोम में शारीरिक शिक्षा के झिलमिलाते हुए तारे का अभ्युदय हो रहा था उस समय भी भारतवर्ष में वैज्ञानिक आधार पर शारीरिक शिक्षा का ढाँचा बन चुका था और उस ढाँचे का प्रयोग भी हो रहा था। आश्रमों तथा गुरुकुलों में छात्रगण तथा अखाड़ों और व्यायामशालाओं में गृहस्थ जीवन के प्राणी उपयुक्त व्यायाम का अभ्यास करते थे। इन व्यायामों में दंड-बैठक, मुगदर, गदा, नाल, धनुर्विद्या, मुष्टि, वज्रमुष्टी, आसन, प्राणायाम, भस्त्रिका प्राणायाम, सूर्यनमस्कार, नवली, नेती, धौती, बस्ती, इत्यादि प्रक्रियाएँ प्रमुख थीं।

भारतीय व्यायामपद्धति में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस पद्धति के द्वारा ध्यान को एकाग्र करना, चित्तवृत्ति का निरोध करना तथा स्मरण शक्ति आदि की वृद्धि करना सुगमतया संभव है। इसी विशेषता से आकर्षित होकर अन्य देशों में इन व्यायामों का बड़ी तीव्र गति से प्रचार और प्रसार हो रहा है। यही नहीं, वहीं कहीं पर तो इन व्यायामों के विभिन्न अनुसंधान केंद्र स्थापित कर दिए गए हैं।

मनोविज्ञान के युग का प्रारंभ होते ही शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम तथा संगठन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश हुआ। फलतः बच्चों की अभिरुचि, प्रवृत्ति, उम्र तथा क्षमता को ध्यान में रखकर शारीरिक शिक्षा के पाठों का निर्माण हुआ।

शैशव काल में ड्रिल को हटाकर छोटे छोटे यांत्रिक खेल तथा कसरतों पर अधिक बल दिया गया। इसके बाद जिमनास्टिक्स की ओर युवकों को आकर्षित किया गया। भारी कसरतें संगीत की लय पर युवकों में अधिक सुखद और रुचिकर बनाने के प्रयास हुए। शारीरिक शिक्षा का क्षेत्र बहुत विस्तृत बना दिया गया। आज यह विषय अंतरराष्ट्रीय आदान प्रदान का एक सुलभ साधन हो गया है। शारीरिक शिक्षा सामाजिक सुधार के लिये अत्यंत उपयोगी समझी जाती है। इसके द्वारा पारस्परिक सहयोग तथा ऊँच नीच का भेदनिवारण संभव माना जाता है। संवेगनियंत्रण के सक्रिय पाठ पढ़ने का अवसर भी प्राप्त होता है। इसी कारणवश बच्चों की शिक्षा को शारीरिक शिक्षा के आधार पर ही निर्धारित करना उचित समझा जाता है। शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में युवतियों का प्रमुख स्थान होता जाता है।

सभी प्रगतिशील देशों में इस शिक्षा के कार्यक्रमों की अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं तथा समारोहों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। इस विषय में प्रशिक्षण देने के लिये शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय खुले हैं जहाँ पर अध्यापक तथा अध्यापिकाएँ प्रावधान के अनुसार तीन वर्ष दो वर्ष या एक वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करते है। भारतवर्ष में शारीरिक शिक्षा महाविद्यालयों की संख्या अब तक ३० से ऊपर हो चुकी है। शारीरिक-परिपक्वता-परीक्षा वर्तमानकालीन शारीरिक शिक्षा का प्रमुख विषय है और इसके लिये वय के अनुसार विभिन्न स्तर बनाए गए हैं।

विभिन्न स्तरों पर शारीरिक शिक्षा के संवर्धन के लिये संघ तथा संस्थाएँ स्थापित की गई हैं। ये संस्थाएँ समय समय पर प्रादेशिक, राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ भी आयोजित करती हैं। इन प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिये प्रतियोगियों को विशिष्ट प्रशिक्षण दिया जाता है। यही कारण है कि विश्व की प्रतियोगिताओं में दिनोंदिन प्रगति होती जाती है।

आज खेलकूद (स्पोर्ट्स) भी शारीरिक शिक्षा का एक अंग

हो चला है। इसके अंदर सभी खेल संमिलित हो जाते हैं जिनके द्वारा स्फूर्ति तथा मनोरंजन प्राप्त होता है। शारीरिक शिक्षा आज सामान्य शिक्षा का प्रमुख अंग समझी जाने लगी है। [मु० चौ०]

शिक्षाशास्त्री पूरब और पश्चिम के अनेक शिक्षाशास्त्रियों --- शंकर रामानुज, निंबार्क, कर्वे, मदनमोहन मालवीय, सुकरात न्यूटन स्पेंसर आदि का वर्णन उनके संबंधित लेखों के साथ तथा 'शिक्षादर्शन' आदि लेखों में किया गया है। कुछ के नाम तथा संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। पश्चिम के शिक्षाशास्त्रियों में सुकरात, अफलातून और उसके शिष्य अरस्तू का प्रमुख स्थान है।

अफलातून --- यूनान का अति प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षाविद् था। उसने अकादेमी नामक स्थान में एक बड़े शिक्षा संस्थान की स्थापना की थी जिसमें विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। उसका विश्वास था कि परिपक्व बुद्धिवाला ज्ञानी दार्शनिक ही सुयोग्य शासक बन सकता है। इसके लिये उत्तम शिक्षाप्रणाली का होना आवश्यक है। उसने राजनीति, सौंदर्य तत्व, सृष्टि तत्व, गणतंत्र तथा शिक्षाशास्त्र आदि विषयों पर दो दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखी है। यूरोप के परवर्ती शत शत विचारकों पर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। (दे० अफलातून, खंड १, पृ० १५१, १५२, तथा २२१, ३४०, दे० 'शिक्षा दर्शन')।

अरस्तू --- अफलातून का प्रमुख शिष्य था। वह १८ वर्ष की उम्र में एथेंस आकर अफलातून का शिष्य बना २० वर्ष तक उसके समीप रहकर उसने विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। वह लंबे अरसे तक अध्ययन और अध्यापन के कार्य में व्यस्त रहा। उसने बहुत सी पुस्तकें लिखीं। वह अनेक विषयों का जानकार और उन्हें एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न करनेवाला उच्च श्रेणी का दार्शनिक था। (दे० अरस्तू, तथा खंड १, पृ० ३४०,४१, दे० 'शिक्षादर्शन')।

अहमद खाँ सर सैयद (दे० खंड, १, पृ०३०४,०५)

आशुतोष मुखर्जी --- महान् शिक्षाशास्त्री तथा राष्ट्रनेता श्री आशुतोष मुकर्जी का नाम देश में राष्ट्रीय शिक्षा की पुनर्रचना के लिये स्मरणीय रहेगा। आपका जन्म २९ जून, सन् १८६४ ई० को कलकत्ता में हुआ था। आपकी शिक्षा दीक्षा कलकत्ता में ही हुई। विश्वविद्यालय की शिक्षा पूर्ण हो जाने पर आपकी इच्छा गणित में अनुसंधान करने की थी किंतु अनुकूलता न होने के कारण कानून की ओर आकृष्ट हुए। तीस वर्ष की अवस्था के पूर्व ही आपने विधि में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर ली। सन् १९०४ में आप कलकत्ता उच्च न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त हुए। देश के विधिविशारदों में आपका प्रमुख स्थान था। सन् १९२० ई० में आपने कलकत्ता उच्च न्यायालय के प्रधान के पद पर भी कुछ समय तक कार्य किया। २ जनवरी, १९२४ को आपने इस पद से अवकाश ग्रहण किया। विश्वविद्यालयीय शिक्षा के मानदंड को स्थिर करने तथा तत्संबंधी आदर्शों की स्थापना के लिये श्री आशुतोष का नाम राष्ट्र के इतिहास में अमर रहेगा। कलकत्ता विश्वविद्यालय को परीक्षा लेनेवाली संस्था से उन्नत कर शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्था बनाने का मुख्य श्रेय आपको ही है। सन् १९०६ से १४ तक तथा १९२१ से १९२३ तक आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर रहे। विश्वविद्यालय के 'फेलो' तो आप सन् १८८९ से सन् १९२४ तक बने रहे। बँगला भाषा को विश्वविद्यालयीय स्तर प्रदान कराने का श्रेय भी आपको ही प्राप्त है। कवींद्र रवींद्र ने आपके विषय में यह कथन किया था --- 'शिक्षा के क्षेत्र में, देश को स्वतंत्र बनाने में आशुतोष ने वीरता के साथ कठिनाइयों से संघर्ष किया।' राष्ट्रीय शिक्षा की रूपरेखा स्थिर कर उसे आदर्श रूप में कार्यान्वित करने के लिये आपका सदा स्मरण किया जाएगा। सन् १९२४ ई० में आपका निधन हुआ। [ल० शं० व्या०]

आर्मस्ट्रांग---दे० 'शिक्षादर्शन'।

ऐक्वाइनस, संट टॉमस (१२२५-१२७४ ई०) इटली का विद्वान् धर्मशास्त्री। तेरहवीं शताब्दी के तत्ववेत्ताओं मे वह पहला व्यक्ति था जिसने इंद्रियानुभूति के महत्व और मानवीय ज्ञान के प्रयोगात्मक आधार पर बल दिया।

ऐलक्विन---दे० खंड २, पृ० २४१।

कमेनियस---जॉन एमॉस, दे० खंड २, पृ० ३५२।

कर्वे, डी० के०---दे० खंड ६, पृ० ३२५।

के० एफ० ई०---दे० खंड ३, पृ० १४६।

जियोवानी, जेंतील---दे० खंड ४, पृ० ४९६-९८।

डुई, जॉन---दे० खंड ५, पृ० २५२।

देकार्ते, रेने---दे० खंड ६, पृ० १०३।

पार्खर्स्ट, कु० हेलेन---दे० खंड ५, पृ० २३२-३३, दे० 'शिक्षादर्शन'।

पेस्तालॉत्सी, जोहान् हाइनरिख --- (१७४६-१८२७ ई०) प्रसिद्ध पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री। बचपन में पिता चल बसे अत: माता ने इन्हें पाला। इनके दादा का भी इनके मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। रूसो के विचारों मे कुछ संशोधन कर इन्होंने उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के प्रयास किए। विद्यार्थी जीवन में ही समाजसेवा की ओर झुकाव हो गया था। पत्रिकाओं में लेख लिखते थे। आगे चलकर इन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। १७८१ और १७८७ के बीच इनकी 'लियोनार्ड ऐंड गर्ट्रूड' शीर्षक पुस्तक चार खंडों में प्रकाशित हुई। १७९२ में जर्मनी के गेटे, फिक्टे इत्यादि विद्वानों से उन्हीं के देश में जाकर ये मिले। सौ एकड़ भूमि मोल लेकर अपने नवीन कृषिक्षेत्र (Neuhof) में इन्होंने कुछ बच्चों को उद्योग के साथ साथ शिक्षा देने का असफल प्रयास किया था। १७९९ के पूर्वार्ध में स्टैंज में इन्हें कुछ अनाथ बच्चों को शिक्षा देने का अवसर मिला। उसी वर्ष के अंत में बर्गडॉर्फ के दुर्ग में इनका विद्यालय स्थापित हुआ। इन्हें अच्छे अध्यापकों का सहयोग प्राप्त हुआ। १८०१ में इनकी 'हाउ गर्ट्रूड टीचेज हर चिल्ड्रेन' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई। प्रारंभिक शिक्षा संबंधी कुछ अन्य पुस्तकें भी लिखी गई। १८०४ में इन्हें बर्गडॉर्फ का दुर्ग सैनिकों के लिये खाली कर देना पड़ा। १८०५ से १८२५ तक इनका विद्यालय इवर्डन में चलता रहा। अर्थाभाव के कारण इनकी योजनाओं में बाधा पड़ जाती थी।

पेस्तालॉत्सी ने व्यक्ति की समस्त शक्तियों के सामंजस्यपूर्ण विकास को शिक्षा का उद्देश्य माना। उन्होंने मनोविज्ञान को शिक्षा का आधार बनाने के प्रयास किए। आधुनिक शिक्षण के कई प्रमुख

सिद्धांतों को पेस्तालोत्सी के शैक्षिक प्रयोगों द्वारा महत्व प्राप्त हुआ। शिक्षणविधि में संप्रेक्षण एवं स्वानुभव को इन्होंने मुख्य स्थान दिया। बाद में आनेवाले शिक्षाशास्त्रियों तथा अध्यापकों पर इनके विचारों का प्रचुर प्रभाव पड़ा।

फेलेनबर्ग, फिलिप इमैनुएल फॉन — (१७७१-१८४४ ई०) स्विट्ज़रलैंड का शिक्षाविद् तथा अर्थशास्त्रज्ञ। १७९९ ई० में हॉफविल नामक स्थान पर इन्होंने एक कृषि महाविद्यालय की स्थापना की जिसने अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। इन्होंने अन्य शैक्षिक संस्थाओं तथा एक अनाथालय की स्थापना भी की।

फ्रोबेल दे० खंड ३ पृ० २-३ (किंडरगार्टन)।

बेकन, फ्रांसिस -दे० खंड ८, पृ० ३३९-३४०

बेन, अलेग्जैंडर (१८१८-१९०३ ई०) ऐबरडीन में तर्कशास्त्र का प्राध्यापक था जो बाद में रेक्टर निर्वाचित हुआ। उसकी महत्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं — 'इंद्रियाँ तथा प्रज्ञा' (दि सेंसेज ऐंड इंटेलेक्ट), 'मनोभाव तथा संकल्प', 'मानस तथा नैतिक विज्ञान', और 'तर्कशास्त्र'। उसका मनोविज्ञान शरीरविज्ञान पर आधारित था किंतु उसका मत था कि मनुष्य ऐसा चेतन प्राणी है जो बाहरी प्रभावों और संस्कारों के अनुसार ही कार्य नहीं करता वरन् संवेगों को स्वयं भी जन्म दे सकता है।

बेल ऐंड्रयू — (१७५३-१८३२ ई०) अंग्रेज शिक्षाशास्त्री जिसने 'मद्रास शिक्षाप्रणाली' का प्रचलन शुरू किया। सन् १७८७ में वह भारत आया और दो वर्ष बाद मद्रास के सैनिक अनाथालय का अधीक्षक नियुक्त हुआ। उसने कक्षानायक द्वारा शिक्षा चलाने की प्रणाली शुरू की और स्वयं विद्यार्थियों की ही सहायता से शिक्षा प्रसार का प्रयत्न कि [ा]। उसकी पुस्तिका 'शिक्षा में परीक्षात्मक प्रयोग' सन् १७९७ में प्रकाशित हुई। सन् १८११ में जब गरीबों की शिक्षा के लिये एक राष्ट्रीय सभा स्थापित की गई तो वह उसका अधीक्षक बनाया गया। यह सभा गरीबों के १२ हजार स्कूलों का संचालन करती थी।

बैनर्जी, गुरुदास—दे० खंड ८, पृ० ३६६।

बैज़ीडो, जोहान बर्नहार्ड — (१७२३-१७९० ई०) जर्मन शिक्षाशास्त्री जिसने रूसो तथा कमेनिअस के सिद्धांत वचनों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया (मेयर द्वारा लिखित उसकी जीवनी देखिए)। उसने शारीरिक शिक्षा पर जोर दिया।

भगवानदास, डाक्टर — दे० खंड ८, पृ० ४२६-२९।

मांटेसरी, डा० मारिया — दे० खंड ९, पृ० २१५-१६, (दे० (शिक्षा दर्शन')।

मालवीय मदनमोहन — दे० खंड ९, पृ० २६४-६५।

मुंशीराम (श्रद्धानंद) — दे० खंड २, पृ० ४०९-१०।

रसेल — दे० 'शिक्षा दर्शन'।

रूसो — दे० खंड १०, पृ० १७३-७४, दे० 'शिक्षा दर्शन'।

रैटिख (रैट्के) (१५७१-१६३५) एक जर्मन शिक्षाशास्त्री। उसके विचारानुसार राष्ट्रीय एवं धार्मिक एकता के लिये समस्त राष्ट्र में एक भाषा का ज्ञान आवश्यक है और मातृभाषा में पटु हो जाने के बाद उसी के माध्यम से अन्य भाषाओं का ज्ञान सहज हो जाता है। रैटिख के अन्य शिक्षा सिद्धांतों में प्रमुख हैं — प्राकृतिक क्रम से विद्यार्जन, साहित्य एवं अभ्यास के द्वारा भाषाशिक्षण, रटना निरर्थक, दबाव अनावश्यक तथा भाषाओं की व्याकरण संबंधी समानता पर ध्यान। रैटिख ने १६१८ तथा १६२० में दो असफल शैक्षिक प्रयोग किए। उस का दंभी स्वभाव, युगीन धार्मिक अस्थिरता और लूथर में अटूट आस्था उसकी असफलता के कारण थे। परंतु रैटिख के बिखरे विचार कमेनियस के शैक्षिक सुधारों में सजग हो उठे थे।

[शि० कु० गु०]

रेक्स, रॉबर्ट (१७३५-१८११) इंगलैंड में 'संडे स्कूल' का प्रवर्तक। पिता के देहावसान के बाद 'ग्लॉस्टर जर्नल' का मालिक एवं संपादक बना। उसने ग्लॉस्टर नगर में जेल की दशा सुधारने के लिये प्रयास किए। समस्या का सही हल कारण के निवारण में था। पिन की फैक्टरी में काम करनेवाले बच्चे इतवार को ऊधम करते थे। उनके लिये १७८० में 'संडे स्कूल' खोला। इसके अतिरिक्त अन्य दिनों में भी अवकाश के समय में उनकी पढ़ाई का प्रबंध किया। उसकी पत्रिका उसके प्रयास के प्रचार का सफल साधन बनी। फलस्वरूप १७८५ में वृहत् बर्तानिया के समस्त साम्राज्य में संडे स्कूल की स्थापना एवं सहायता के लिये एक समाज की स्थापना हुई। १८०३ में संडे स्कूल संघ बना।

[शि० कु० गु०]

लेंकैस्टर जोजेफ, (१७७८-१८५८) ई० — अंग्रेज़ शिक्षाविद्। १८०१ में इन्होंने अपने जन्मस्थान साउथवार्क में एक विद्यालय खोला जिसमें कक्षानायकों (monitors) द्वारा शिक्षण की व्यवस्था की गई। 'ब्रिटिश ऐंड फॉरेन स्कूल्स सोसाइटी' ने बाद में इसी प्रणाली का प्रयोग अपने विद्यालयों में किया। लेंकैस्टर को असांप्रदायिक धार्मिक शिक्षण का जन्मदाता कहा जाता है।

वीवेस, जुआँ लुई (१४९२-१५४०) — स्पेन स्थित वैलेंशिया मे ६ मार्च, १४९२ को जन्म। वह चिंतक, मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षाशास्त्री था। पेरिस में उच्च शिक्षा प्राप्त कर लोउवेन मे प्राध्यापक नियुक्त हुआ। बाद में आक्सफोर्ड में नियुक्ति हुई और राजकुमारी मेरी ट्यूडर का शिक्षक भी रहा। जीवन का शेष समय ब्रूजिज में बीता। यह आधुनिक मनोविज्ञान का जन्मदाता माना जाता है, कारण-चेतन व्यवहार को आध्यात्मिक और भौतिक स्वरूप से परे मनोवैज्ञानिक आधार दिया। इसके शैक्षिक सिद्धांत मनोविज्ञान एवं नीतिशास्त्र पर आधारित होने के कारण पुष्ट हैं। दार्शनिक क्षेत्र में उनका निश्चित प्रभाव बेकन और डेकार्ट पर पड़ा था। उसने बताया कि आत्मा का आभास उसके विकसित दैवीय स्वरूप को जान लेने में है और मानस, व्यवहार से ही परखा जा सकता है।

[शि० कु० गु०]

सुकरात — दे० खंड १, पृ० २२१,३४०, दे० 'शिक्षा दर्शन'।

स्पेंसर—दे० 'शिक्षादर्शन'।

हर्बार्ट—दे० 'हर्बार्ट'।

हैर्टाग, सर फिलिप — इन्होंने भारतीय उच्च शिक्षा की उन्नति के संबंध में कुछ विश्लेषण कार्य किया। सन् १९०४ के विश्वविद्यालय अधिनियम (ऐक्ट) पास होने के बाद से भारत में उच्च शिक्षा का प्रसार होने लगा था और कई नए विश्वविद्यालय खुलते जा रहे थे। सन् १९१६ से लेकर सन् १९३६ तक कई कमीशन नियुक्त किए गए जिन्होने भारतीय उच्च शिक्षा के संबंध में अपने विचार प्रकट किए। सर फिलिप हैर्टाग भारतीय स्टैटुटरी कमीशन की उपसमिति के अध्यक्ष थे। इस समिति ने सन् १९२९ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमे शिक्षा की प्रगति के संबंध में इसने अपनी कुछ सिफारिशें कीं। भारत सरकार ने समिति की कई सिफारिशें मान लीं और उनका प्रयोग किया। [मि० चं० पां०]

शिक्षा, सोवियत सोवियत शिक्षा का विकास महान् अक्टूबर की समाजवादी क्रांति के बाद जारशाही रूस की शिक्षाव्यवस्था में सुधार करके हुआ। इसके चार प्रमुख अंग है — शिशुशालाएँ और किंडरगार्टन, सामान्य शिक्षा के विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय तथा उच्च शिक्षा के संस्थान, विश्वविद्यालय और अकादमियाँ। शिशु शालाओं में तीन वर्ष तक के और किंडरगार्टनो में तीन से सात वर्ष तक के बच्चे भर्ती किए जाते हैं। इन दोनों प्रकार की संस्थाओं को मिलाकर अब एक कर दिया गया है। इनकी संख्या लगभग ३०,००० है जिनमें २० लाख शिशु भर्ती हैं। इस स्तर पर एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाने के लिये परीक्षा का विधान नहीं है। सामान्य शिक्षा के विद्यालयों में सात वर्ष से १४ वर्ष तक की अवस्था के बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा दी जाती है। इसमें पहला क्रम कक्षा १ से ४ तक प्राथमिक शिक्षा का और दूसरा क्रम कक्षा ५ से ७ तक माध्यमिक शिक्षा का है। जहाँ कहीं दूसरा क्रम चार वर्ष का है वहाँ ये विद्यालय अष्टवर्षीय हैं। इसके आगे तीन वर्ष पढ़कर छात्र माध्यमिक शिक्षा पूर्ण करते है। माध्यमिक विद्यालय या तो अष्टवर्षीय स्कूल के साथ जुड़े हुए है या अलग भी हैं। चौथी कक्षा से पाँचवीं कक्षा में जाने के लिये एक परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक होता है। इसके बाद सातवीं और दसवीं कक्षाओ की पढ़ाई के अंत में परीक्षाएँ होती है। अष्टवर्षीय स्कूल से उत्तीर्ण होनेवाला कोई छात्र बिना कोई परीक्षा पास किए माध्यमिक विद्यालय की नवीं कक्षा में भर्ती हो सकता है। ११वीं कक्षा के अंत में परीक्षा उत्तीर्ण कर छात्र उच्च शिक्षा की कक्षाओं में प्रवेश करते हैं। सामान्य शिक्षा के विद्यालयों की संख्या लगभग तीन लाख है जिनमें तीन करोड़ छात्र भर्ती हैं। सामान्य शिक्षा के विद्यालयों में जो छात्र शास्त्रीय विषयों में अच्छे नहीं होते, वे धधा सीखने के लिये तेकनीकम अर्थात् तकनीकी स्कूलों में भर्ती होते हैं। रूस में ३५०० तेकनीकम हैं। इनका पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का है। जातीय जीवन से अधिक सुदृढ़ संबंध स्थापित करने के लिये माध्यमिक शिक्षा का पुन:संगठन किया गया है। इसके अनुसार सात या आठ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा के बाद दो या तीन वर्ष छात्र नगरों में फैक्ट्री स्कूलों में और ग्रामों में कृषिविज्ञान तथा उससे संबंधित पशुपालन आदि शाखाओं का तकनीकी और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। सोवियत शिक्षा में एक नया प्रयोग बोर्डिंग स्कूल खोलकर किया गया है। बोर्डिंग स्कूलों में दो वर्ष तक के शिशुओं के लिये शिशु विद्यालय, दो वर्ष से सात वर्ष तक के बच्चों के लिये किंडरगार्टन और सात वर्ष से १७-१८ वर्ष तक के छात्रों के लिये सामान्य और तकनीकी शिक्षा के विद्यालय संमिलित हैं। इनमे ४३ लाख छात्र भर्ती हैं उच्च शिक्षा के लिये विश्वविद्यालय, संस्थान, अकादमियाँ आदि हैं। रूस में उच्च शिक्षा की ७६६ संस्थाएँ हैं जिनमें २२ लाख छात्र भर्ती हैं। विश्वविद्यालयों की संख्या ३५ है। उच्च प्राविधिक शिक्षा सोवियत संघ में बहुत व्यापक है। प्राविधिक कालेजों की संख्या २०० है। इनमें कुल मिलाकर ९ लाख १५ हजार छात्र भर्ती है। इन विद्यालयों से लगभग १ लाख इंजीनियर स्नातक बनकर प्रति वर्ष निकलते हैं। उच्च शिक्षा के अनेक संस्थानों में सांध्यकालीन कक्षाएँ और पत्रव्यवहार द्वारा शिक्षा देनेवाले विभाग हैं जिनकी सहायता से कोई भी नागरिक काम करते हुए शिक्षा प्राप्त कर सकता है। वर्ष १९६१ ई० मे १३ लाख ८५ हजार व्यक्ति सांध्यकालीन कक्षाओं या पत्रव्यवहार द्वारा शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। इसी वर्ष १ लाख २५ हजार व्यक्ति काम करते हुए स्नातक बने। संपूर्ण शिक्षा शासन द्वारा नियंत्रित है। पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकें शासन द्वारा निर्धारित की जाती हैं। शिक्षा के सुधार के लिये अकादमियाँ हैं जिनमें मास्को की शिक्षण विज्ञान की अकादमी प्रमुख है। सभी विद्यालयों में सहशिक्षा की पद्धति है। शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जाती है। जिन मातृभाषाओं का लिखित स्वरूप नहीं था उनके लिखित रूप का विकास किया गया है। अवकाश के समय के लिये छात्रों की अनेक सांस्कृतिक संस्थाएँ और मनोरंजन संघ हैं। संपूर्ण शिक्षा नि:शुल्क है। विशेष माध्यमिक विद्यालयों और उच्च विद्यालयों के अधिकतर छात्रों को राज्य की ओर से छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। शिक्षा जनवादी है। साक्षरता प्राय: शत प्रति शत है और जन जन को शिक्षा सुलभ है। कुल मिलाकर लगभग ५ करोड़ छात्र सब प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

सं० ग्रं०—एडॉल्फ ई० मायर : द डेवेलपमेंट ऑव एजुकेशन इन द ट्वेंटियथ सेंचुरी; आई० एल० कैंडल : द न्यू एरा इन एजुकेशन; निकोलस हैंस : कंपैरेटिव एजुकेशन ए स्टडी ऑव एजुकेशनल फैक्टर्स ऐंड ट्रैडिशंस; एम० डीनेको (Deineko) : पब्लिक एजुकेशन इन द यू० एस० एस० आर०; एन० के० क्रुप्स्काया : शिक्षा (हिंदी रूपांतर)। [म० द० श०]

शिखंडी द्रुपदपुत्र जो पूर्व जन्म में उनकी कन्या 'शिखंडिनी' था और जो भीष्म से अपना बदला चुकाने के लिये परशुराम के वरदान से अथवा स्थूलाकर्ण नामक यक्ष की कृपा से उसी राजा के पुत्र शिखंडी के रूप में जन्मा। यद्यपि भीष्म अर्जुन के बाणों से घायल हुए थे तथापि अंतिम बाण, जिससे वे मरे, शिखंडी ने ही छोड़ा था। [रा० द्वि०]

शिबली नोअमानी इनका जन्म सन् १८५७ ई० में आजमगढ़ के एक ग्राम बंदोल में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा आजमगढ़ में हुई और इसके अनंतर अरबी, फारसी आदि की उच्च शिक्षा प्रसिद्ध उस्तादों से प्राप्त की, जिसके लिये इन्होंने रामपुर, लाहौर, सहारनपुर तथा लखनऊ की यात्राएँ कीं। परीक्षोत्तीर्ण होने पर वह वकालत करने लगे पर उसमें इनका मन नहीं लगा। सन् १८८२ ई० में यह

अलीगढ़ चले गए और वहाँ के कालेज में फारसी के अध्यापक का कार्य सोलह वर्ष तक किया। यहाँ के वातावरण में इनकी साहित्यिक रुचि जाग्रत हुई और इन्होंने अल् मामून, अल् फारूक, सीरतुन्नोमान, अल् गिजाली आदि लिखीं। इस कारण कि ये पुस्तकें इसलाम के खलीफों तथा बड़े लोगों के संबंध में थीं, यह इनके लिये सामग्री एकत्र करने को शाम, मिस्र, कुस्तुनतुनिया आदि तक गए।

१८९८ ई० में सर सैयद की मृत्यु हो जाने पर इन्होंने आजमगढ़ में स्थायी रूप से रहने का निश्चय कर अलीगढ़ त्याग दिया किंतु सैयद अली बिलग्रामी ने इन्हें हैदराबाद (दक्षिण) बुलाकर शिक्षा विभाग में प्रबंधकार्य पर रख लिया। यहाँ यह चार वर्ष रहे और कई पुस्तकें लिखीं, जो यहीं प्रकाशित हुईं। इल्मुल् कलाम, अल्कलाम, मुआजनए अनीसोदबीर तथा सवानेह रूमी लिखी और अल्गिजाली को पूरा किया। सन् १८९२ ई० में इन्हें शम्सुल उलमा की पदवी मिली। इसके पहले तुर्की के सुलतान ने इन्हें मजीदिया पदक सन् १८८२ ई० में दिया था। सन् १९०४ ई० में यह हैदराबाद से लखनऊ आए और नदवतुल् उलमा का कार्य देखने लगे। यह संस्था इस उद्देश्य से सन् १८९४ ई० में स्थापित हुई थी कि विद्वानों के बीच के विवाद मिटाए जायँ, मुसलमानों की साधारण अवस्था सुधारी जाय, शुद्ध धार्मिक शिक्षा फैलाई जाय तथा फारसी, अरबी एवं उर्दू के विभिन्न पाठ्यक्रम की पुस्तकों का निरीक्षण किया जाय। इस संस्था का नौ वर्ष तक सुप्रबंध करने के अनंतर वहाँ के मौलवियों के संकुचित विचारों के कारण दुःखित हो यह आजमगढ़ चले आए। यहीं दूसरे वर्ष सन् १९१४ ई० में इनकी मृत्यु हो गई। आजमगढ़ में इन्होंने दारुल् मुसन्नफीन स्थापित किया, जिसको अपना गृह, बाग तथा पुस्तकालय दान दे दिया। यहीं शेरुल् अजम पाँच खंडों में लिखा, जिसमें पूरे फारसी साहित्य की आलोचना सरल उर्दू में लिखी गई है।

शिबली ने उर्दू गद्य को विद्वानों का गद्य बनाया और अनेक विषयों पर रचनाएँ लिखकर उसे उन्नत किया। आलोचना शैली को भी अग्रसर किया। इनकी इतिहास लिखने की शैली औपन्यासिक ढंग की है पर अन्वेषण तथा सत्यता कहीं नहीं छोड़ी गई है। इनके लेखों ने मुसलमानों के हृदय तथा मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला। [र० ज०]

शिवसागर १. जिला, स्थिति : २५° ४९' से २७° १६' उ० अ० तथा ९३° ३' से ९५° २२' पू० दे०। यह भारत के असम राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल ३,४५३ वर्ग मील है। इस जिले के पूर्व में लखीमपुर, उत्तर में ब्रह्मपुत्र एवं सुबांसरी नदी, पश्चिम में नौगाँव तथा दक्षिण में नागालैंड है। पूर्वी भाग मैदानी एवं पश्चिमी भाग पहाड़ी है। मैदान जलोढ़ है एवं मिट्टी बलुई तथा चिकनी है। ब्रह्मपुत्र, बूढ़ी दिहिंग आदि प्रमुख नदियाँ हैं। जलवायु आर्द्र, अपेक्षाकृत शीतल तथा स्वास्थ्यप्रद है। जनवरी एवं जुलाई का औसत ताप क्रमशः १५° सें० तथा २७° सें० है। मैदानी भाग में वर्षा ८० इंच से ९५ इंच तक होती है। जिले की मुख्य कृषि उपज धान है। दलहन, गन्ना, तंबाकू, तरकारियाँ आदि अन्य उपज हैं। चाय मुख्य उद्यानी फसल है। जिले के सुरक्षित वनों में विभिन्न प्रकार की इमारती लकड़ियाँ मिलती हैं। कोयला, खनिज तेल, चूने का पत्थर एवं स्वर्ण मुख्य खनिज हैं। यहाँ सूती एवं रेशमी वस्त्र बनाने, चाय को डिब्बे में भरने आदि के उद्योग हैं। जिले से चाय, कपास, रेशम तथा बेंत बाहर जाते हैं और खाद्यान्न, लोह एवं इस्पात आदि के सामान यहाँ बाहर से मँगाए जाते हैं। शिवसागर, जोरहाट एवं गोलाघाट, जिले के प्रमुख नगर एवं तहसीलें हैं। जिले की जनसंख्या १५,०८,३६० (१९६१) है।

२. नगर, स्थिति : २६° ५९' उ० अ० तथा ९४° ३८' पू० दे०। यह भारत के असम राज्य में उपर्युक्त जिले का नगर एवं प्रशासनिक केंद्र है, जो दिखो (Dikho) नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। नगर का नाम, अहोम राजा शिवसिंह द्वारा १७७२ ई० में निर्मित, सागर नामक तालाब के आधार पर पड़ा है। नगर की औसत वार्षिक वर्षा ९४ इंच के लगभग है। नगर की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। शिवसागर व्यापारिक नगर है, जहाँ से कई वस्तुओं का निर्यात होता है। यह नगर रेलवे स्टेशन भी है। [सु० चं० श०]

शिमला १. जिला, भारत के हिमाचल प्रदेश का जिला है, जिसकी जनसंख्या १,१२,६५३ (१९६१) तथा क्षेत्रफल ६९२·०७ वर्ग किमी० है। इसमें १,०२३ ग्राम तथा ५ नगर हैं। प्रति वर्ग मील जनसंख्या का घनत्व ५०७ (१९६१) है। पहले के शिमला हिल स्टेट्स एजेन्सी में बशहर, जब्बल, क्योंथल, नालागढ़ और अन्य २३ छोटे छोटे राज्य संमिलित थे। १९२१ ई० में इन राज्यों का नियंत्रण तत्कालीन पंजाब सरकार को स्थानांतरित कर दिया गया।

२. नगर, ३१° ६' उ० अ० तथा ७७° १३' पू० दे०। नगर दिल्ली से २८० किमी० उत्तर, समुद्रतल से २,०१२ मीटर से २,४३८ मीटर की ऊँचाई पर स्थित, नैसर्गिक दृश्यों का आकर है। नगर से लगभग ५ किमी० दक्षिण, जुतोग नामक सैन्यावास है। यहाँ से दक्षिण, कसौली, सबाथू, डगशाई, और सोलन स्वास्थ्य विहार (health resorts) हैं। शिमला भारत का अत्यंत महत्वपूर्ण शैलावास (hill station) है। यहाँ दो स्नातकीय महाविद्यालय, एक महिला प्रशिक्षण कालेज और अनेक अच्छे स्कूल हैं। यहाँ १८१९ ई० में अंग्रेजों का प्रथम आवास बना। यह १८४० ई० से १९३९ ई० तक भारत एवं पंजाब सरकारों की ग्रीष्मकालीन राजधानी रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ हो जाने पर, आवश्यक राजकीय विभाग दिल्ली में बने रहे, किंतु अपेक्षाकृत कम महत्व के विभाग शिमला में स्थानांतरित कर दिए गए थे। १९४७ ई० से १९५३ ई० तक यह पूर्वी पंजाब सरकार का मुख्यालय रहा, फिर हिमाचल प्रदेश की राजधानी बना दिया गया। यहाँ पर अनेक अच्छे अच्छे होटल हैं और प्रति वर्ष हजारों पर्यटक यहाँ आते हैं। यहाँ पर्यटन उद्योग बहुत विकसित है। मैदानी भागों से इसका संबंध मोटर तथा पर्वतीय रेलमार्गों द्वारा है। रेलमार्ग कालका से होकर आता है। कालका से शिमला तक १०३ सुरंगें पड़ती हैं। जनवरी में माध्य न्यूनतम ताप १° सें० तथा जुलाई में अधिकतम ताप १९° सें० रहता है। वार्षिक वृष्टि ६३ इंच है। जाड़ों में हिमपात भी हो जाता है। नगर की जनसंख्या ४२,५९७ (१९६१) तथा क्षेत्रफल १८·११ वर्ग किमी०। [शां० ला० का०]

शिमोगा १. जिला, यह भारत के मैसूर राज्य में स्थित है। इस जिले का क्षेत्रफल ४,०६५ वर्ग मील तथा जनसंख्या १०, १७, ३६८ (१९६१) है। जिले का पश्चिमी अर्धभाग पहाड़ी है और जंगलों से घिरा हुआ है। कुछ चोटियाँ समुद्रतल से ४,००० फुट ऊँची हैं। जिले की सामान्य ढलान २,००० फुट है और इसका पूर्वी भाग मैदानी है। जिले में मैंगनीज, लोहा तथा लैटराइट की खानें है। पहाड़ी भाग की मिट्टी बलुई और ढीली है। उत्तर पूर्व में काली मिट्टी मिलती है। जिले की जलवायु विभिन्न प्रकार की है। शिमोगा मे घाटों से २५ मील दूर तक जोरदार वर्षा होती है, पर शिमोगा स्टेशन पर ३५ इंच और चेन्नागिरी में २५ इंच वर्षा होती है। जिले की प्रमुख फसल धान है। गन्ना तथा सुपारी अन्य प्रमुख फसलें हैं। फल, सब्जी और काली मिर्च की भी यहाँ खेती होती है।

२. नगर, स्थिति : १३° ५७′ उ० अ० तथा ७५° ३२′ पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का मुख्यालय है और तुंग नदी के किनारे स्थित हैं। यहाँ कपास से बिनौला निकालने तथा रूई की गाँठ बाँधने के कारखाने है। इनके अतिरिक्त लोहे और इस्पात के कारखाने भी हैं। नगर की जनसंख्या ६३,७६४ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

शिरपीड़ा (Headache) केवल एक लक्षण है, कोई रोग नहीं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे साधारण चिंता से लेकर घातक मस्तिष्क अर्बुद तक। शताधिक कारणों का वर्णन यहाँ संभव नहीं है, पर उल्लेखनीय कारण निम्नांकित समूहों में वर्णित हैं :

१. **शिर:पीड़ा के करोटि के भीतर के कारण** — (क) मस्तिष्क के रोग — अर्बुद, फोड़ा, मस्तिष्कशोथ तथा मस्तिष्काघात; (ख) तानिका के रोग — तानिकाशोथ, अर्बुद, सिस्ट (cyst) तथा रुधिरसमूह (हीमेटोमा); (ग) रक्तनलिकाओं के रोग — रक्तस्राव, रक्तावरोध, थ्रॉम्बोसिस (thrombosis) तथा रक्तनलिका फैलाव (aneurism), धमनी काठिन्य आदि।

२. **शिर:पीड़ा के करोटि के बाहर के कारण** — (क) शिरोवल्क के अर्बुद, मासपेशियों का गठिया तथा तृतीयक उपदंश; (ख) नेत्र गोलक के अर्बुद, फोड़ा, ग्लॉकोमा (glaucoma), नेत्र श्लेष्मला शोथ तथा दृष्टि की कमजोरी; (ग) दाँतों के रोग — फोड़ा तथा अस्थिक्षय; (घ) करोटि के वायुविवर के फोड़े, अर्बुद तथा शोथ; (च) कर्णरोग — फोड़ा तथा शोफ; (छ) नासिका रोग — नजला पॉलिप (polyp) तथा नासिका पट का टेढ़ापन और (ज) गले के रोग — नजला, टॉन्सिल के रोग, ऐडिनाइड (adenoid) तथा पॉलिप।

३. **विषजन्य शिर:पीड़ा के कारण** — (क) बहिर्जनित विष — विषैली गैस, बंद कमरे का वातावरण, मोटर की गैस, कोल गैस, क्लोरोफॉर्म, ईथर और ओषधियाँ, जैसे कुनैन, ऐस्पिरिन, अफीम, तंबाकू, शराब, अत्यधिक विटामिन डी, सीसा विष, खाद्य विष तथा ऐलर्जी (allergy); (ख) अंतर्जनित विष — रक्तमूत्र विषाक्तता, रक्तपित्त विषाक्तता, मधुमेह, गठिया, कब्ज, अपच, यकृत के रोग, मलेरिया, टाइफॉइड, (typhoid), टाइफस (typhus) इंफ्लूएंजा, फोड़ा, फुंसी तथा कारबंकल।

४. **शिर:पीड़ा के क्रियागत कारण** — (क) अति रुधिर तनाव — धमनी काठिन्य तथा गुर्दे के रोग; (ख) अल्प तनाव — रक्ताल्पता तथा हृदय के रोग; (ग) मानसिक तनाव — अंतर्द्वंद्व, चेतन एवं अचेतन मस्तिष्क का संघर्ष (घ) शिर पर अत्यधिक दबाव; (च) अत्यधिक शोर; (छ) विशाल चित्रपट से आँखों पर तनाव; (ज) लंबी यात्रा (मोटर, ट्रेन, हवाई यात्रा); (झ) लू लगना; (ट) हिस्टीरिया; (ठ) मिरगी; (ड) तंत्रिका शूल; (ढ) रजोधर्म; (त) रजोनिवृत्ति; (थ) सिर की चोट तथा (द) माइग्रेन (अर्ध शिर:पीड़ा)।

शिर:पीड़ा की उत्पत्ति के संबंध में बहुत सी धारणाएँ हैं। मस्तिष्क स्वयं चोट के लिये संवेदनशील नहीं है, किंतु इसके चारों ओर जो झिल्लियाँ या तानिकाएँ होती हैं, वे अत्यंत संवेदनशील होती हैं। ये किसी भी क्षोभ, जैसे शोथ, खिंचाव, तनाव, विकृति या फैलाव द्वारा शिर:पीड़ा उत्पन्न करती हैं। आँख तथा करोटि की मांसपेशियों के अत्यधिक तनाव से भी दर्द उत्पन्न होता है।

शिर:पीड़ा निम्नलिखित कई प्रकार की हो सकती है :

(१) **मंद** — करोटि के विवर के शोथ के कारण मंद पीड़ा होती है। यह दर्द शिर हिलाने, झुकने, खाँसने, परिश्रम करने, यौन उत्तेजना, मदिरा, प्रार्शाच, रजोधर्म आदि से बढ़ जाता है।

(२) **स्पंदी** — अति रुधिरतनाव, पेट की गड़बड़ी या करोटि के भीतर की धमनी के फैलाव के कारण स्पंदन पीड़ा होता है। यह दर्द लेटने से कम हो जाता है तथा चलने फिरने से बढ़ता है।

(३) **आवेगी** — तंत्रिकाशूल के कारण आवेगी पीड़ा होती है। यह दर्द झटके से आता है और चला जाता है।

(४) **तालबद्ध** — मस्तिष्क की धमनी का फैलाव, धमनीकाठिन्य तथा अतिरुधिर तनाव से इस प्रकार की पीड़ा होती है।

(५) **वेधक** — हिस्टीरिया में जान पड़ता है जैसे कोई करोटि में छेद कर रहा हो।

(६) **लगातार** — मस्तिष्क के फोड़े, अर्बुद, सिस्ट, रुधिरस्राव तथा तानिकाशोथ से लगातार पीड़ा होती है।

शिर:पीड़ा के स्थान, समय, प्रकार तथा शरीर के अन्य लक्षणों एवं चिह्नों के आधार पर शिर:पीड़ा के कारण का निर्णय या रोग का निदान होता है।

चिकित्सा — सर्वप्रथम शिर:पीड़ा के कारण की खोज करनी चाहिए और उसकी उचित चिकित्सा करनी चाहिए। विश्राम अत्यावश्यक है। साधारण शिर:पीड़ा के लिये कुछ ओषधियाँ प्रयुक्त होती हैं, जैसे ऐस्पिरिन, सोडा-सैलिसिलास, नोवलजीन, इरगापाइरीन आदि। तीव्र शिर पीड़ा के लिये पेथिडीन या मॉर्फिया की सूई दी जा सकती है। [गो० दा० अ०]

शिराज स्थिति : २९° ३८′ उ० अ० तथा ५२° ३५′ पू० दे०। यह दक्षिण मध्य ईरान के सातवें प्रांत की राजधानी है। यह बूशिर से ११५ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व में है और इसकी जनसंख्या ४,००,०६९ (१९५६) है। ५,२०० फुट की ऊँचाई पर तथा फारस की खाड़ी पर बसा यह बंदरगाह भी है। मध्य जाग्रोस श्रेणियों में यह व्यापार तथा

सड़कों का केंद्र है। सड़कों द्वारा ही यह बूशिर, इस्फाहन, येज्द तथा करमान से मिला है। खेती योग्य मैदानों के बीच में बसा, यह नगर कंबल, हाथ के बुने कपड़े तथा कालीनों के काम के लिये प्रसिद्ध है। १६ वीं शताब्दी में लगातार कई भूकंपों द्वारा इसे यथेष्ट क्षति पहुँची थी। [पु० क०]

शिरार्ति (Phlebitis) शिराओं को प्रभावित करनेवाले प्रदाह को कहते हैं। प्राय शिराओं को घेरनेवाले तथा इनकी दीवारों तक जानेवाले ऊतकों में प्रदाह के कारण शिरात्मक दशा (venous condition) हो जाती है। शिरार्ति में शिरा मोटी तथा संभवत लाल हो जाती है, जिससे उसे निश्चयात्मक रूप से पहचाना जा सकता है। यदि शिरा पृष्ठीय होती है, तो शिरार्ति बड़ी कष्टदायी होती है। जब प्रदाह शिरा के भीतर आस्तर की ओर बढ़ता है और अंतःकला (endothelium) का पोषण क्षीण हो जाता है, तब शिरा में रुधिर थक्का बनने लगता है। शिरा में जहाँ प्रथम बार रुधिर थक्का बनता है, वह वहीं पर दीवार पर चिपक जाता है और ल्यूमेन (lumen) के बीच में, ऊपर नीचे, तीनों ओर फैलने लगता है। थक्का प्रमुख शिराओं से सहायक शिराओं में फैलने लगता है और इस प्रकार रुधिर के लौटने में बाधा उत्पन्न हो जाती है, जिससे शिरा से संबंधित अंग में शोफ (oedema) आ जाता है। इस दशा में रोगी को पूर्ण विश्राम दिया जाता है ताकि थक्के के विस्थापन से रुधिर स्रोत-रोधन (embolism) का खतरा न उत्पन्न हो जाय। जब पूतिदूषित (septic) अवस्था होती है, तब रोगी के जीवन का खतरा अधिक रहता है। विश्राम करने पर, अधिकांश रोगियों में प्रदाह शांत हो जाता है और प्रारंभ में प्रभावित शिरा, नवीन तंतुओं के बनने के कारण, स्थायी रूप से अधिधारित (occluded) हो जाती है। प्रभावित शिरा से संबंधित अंग के रुधिर परिसंचरण का पुनःस्थापन, समपार्श्वी मार्ग को खोलकर, किया जाता है। शरीर के कुछ भागों की शिरार्ति खतरनाक होती है, जैसे पार्श्व शिरानाल (lateral sinus) की शिरार्ति, जिसमें प्रदाह मध्यकर्ण के रोगों के कारण होता है और यह प्रदाह परिमस्तिष्क, प्रमस्तिष्क फोड़े के रूप में, या पूयमय मैनिंजाइटिस (purulent meningitis), या सामान्य रुधिरपूयता (pyaemia) के रूप में फैलता है। इस अवस्था में केवल शल्यकर्म के द्वारा ही रोगी के प्राणों की रक्षा की आशा की जा सकती है। [प्र० ना० मे०]

शिलचर (Silchar), स्थिति : २४° ४९′ उ० अ० तथा ९२° ४८′ पू० दे०। यह भारत के असम राज्य के कछार जिले का नगर एवं प्रशासनिक केंद्र है और जिले के इसी नाम के उपडिविजन का भी यह प्रशासनिक केंद्र है। नगर बराक नदी के बाएँ किनारे पर स्थित है। भारी वर्षा (१२४ इंच) और अपेक्षाकृत उच्च औसत ताप के कारण वर्षा ऋतु में उमस रहती है। चाय, धान तथा कई जंगली उत्पादों का यह व्यवसायकेंद्र है। नगर की जनसंख्या ४१,०६२ (१९६१) है। नगर की नगरपालिका १८९३ ई० से ही कार्य कर रही है। [अ० ना० मे०]

शिलिगुड़ी (Siliguri) स्थिति : २६° ४३′ उ० अ० तथा ८८° २९′ पू० दे०। पश्चिमी बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले का यह नगर है। जिले में इसी नाम का एक सबडिविजन भी है। रेल और राजपथ का अंतस्थ होने के कारण, यह नगर दार्जिलिंग एवं सिक्किम के व्यापार का केंद्र है। जूट व्यवसाय नगर का प्रमुख व्यवसाय है। नगर की जनसंख्या ६५,४७१ (१९६१) है तथा नगर में नगरपालिका है। [अ० ना० मे०]

शिलौंग स्थिति २५° ३०′ उ० अ० तथा ९१° ०′ पू० दे०। यह नगर भारत के असम राज्य की राजधानी है तथा संयुक्त खासी जयंतिया पहाड़ियाँ नामक जिले का मुख्यालय है। यह समुद्रतल से ४,९७८ फुट ऊँचे पठार पर, गोहाटी से दक्षिण में ६३ मील दूर स्थित है। यहाँ पैस्टर इंस्टिट्यूट और शोध प्रयोगशाला है। स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के कारण यह नगर लोकप्रिय है। नगर में सैनिक छावनी भी है। नगर की जनसंख्या १,०२,३९८ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

शिवकुमार सिंह, ठाकुर (१८७०-१९६८) काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से एक। आपने चंदौली के मिडिल स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् आप काशी में स्थित क्वींस कालेज में पढ़ने लगे। उसी समय आपने अपने कुछ साथियों के सहयोग से काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना की। तत्पश्चात् स्वर्गीय पं० श्री रामनारायण मिश्र और बाबू श्यामसुंदर दास जी तथा अन्य सहयोगियों को साथ लेकर ये सभा की उन्नति में लग गए।

अध्ययन के समय तत्कालीन विद्वान् श्री सुधाकर द्विवेदी तथा हिंदी के सर्वप्रथम उपन्यासकार श्री देवकीनंदन खत्री आदि विद्वानों के संपर्क का इनपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। दसवीं श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर आपने लखनऊ के सी. टी. (C. T.) ट्रेनिंग कालेज में शिक्षण कला का अध्ययन किया।

ट्रेनिंग के पश्चात् आपने चुनार के एक विद्यालय में एक वर्ष तक प्रधानाध्यापक का कार्य किया। वहाँ लोगों के साथ प्रेमव्यवहार तथा अनुशासनशीलता के कारण आप लोकप्रिय हो गए। फलस्वरूप वहाँ के तत्कालीन अंग्रेज निरीक्षक ने आपकी प्रशंसा इलाहाबाद में शिक्षा संचालक से की, जिसके परिणामस्वरूप आप राजकीय सेवा में ले लिए गए और डिप्टी इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। इसके पश्चात् आप इलाहाबाद की नगरपालिका की शिक्षा संस्था में सुपरिंटेंडेंट बनाए गए। आपने जहाँ जहाँ कार्य किया, सभी स्थानों में अपनी कर्तव्यनिष्ठा, अदम्य साहस तथा उत्साह का परिचय दिया। भारतीय संस्कृति की रक्षा तथा हिंदी शिक्षा का प्रचार आपके ये दो मुख्य उद्देश्य थे। आपको ब्रिटिश सरकार से राय साहब की पदवी प्राप्त हुई थी। आपने वायसराय से मिलकर डिप्टी इंस्पेक्टरों के वेतनक्रम की वृद्धि करवाई थी। उतने वेतन तक आप नहीं पहुँच सके थे, परंतु अन्य पदाधिकारियों को बड़ा लाभ हुआ। सरकारी नौकरी में व्यस्त रहते हुए भी आपका अध्ययन, लेखन तथा नागरीप्रचारिणी सभा की उन्नति के प्रयास जारी रहे। आपकी लिखी पुस्तकें "कालबोध", "हिंदी सरल व्याकरण" "आदर्श माताएँ", आदर्श पतिव्रताएँ, "पंचम जार्ज की जीवनी" आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। [सो० चौ०]

शिवपुरी १. जिला, भारत के मध्य प्रदेश राज्य का यह जिला है। इसके पूर्व में झाँसी, पूर्व-उत्तर में दतिया, उत्तर में ग्वालियर, उत्तर-पश्चिम में मुरैना, पश्चिम में कोटा तथा दक्षिण में गुना जिले हैं। जिले का क्षेत्रफल ३,९८६ वर्ग मील तथा जनसंख्या ५,५७,९५४ (१९६१) है। पिछोरा, शिवपुरी, कोलरस तथा पोहरी जिले के प्रमुख नगर हैं।

२. नगर, स्थिति : २५° १८' उ० अ० तथा ७७° ४२' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है। यहाँ की जनसंख्या २८,६८१ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

शिवरात्रि इसका नामांतर महाशिवरात्रि भी है। माघ मासीय कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि या फाल्गुन मास (यदि पूर्णिमांत गणना हो) के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि ही प्रकृत शिवरात्रि है। यह 'शिवव्रत' है। व्रतकारी को शिवविलापरायण होकर उपवास, पूजा और रात्रिजागरण करना पड़ता है। यह व्रत रात्रिप्रधान है।

इस व्रत की महिमासूचक कई कथाएँ पुराणों में विस्तार के साथ कही गई हैं। किस प्रकार साधारण रूप से इस दिन उपवास आदि कर सामान्य लोगों ने असाधारण फल प्राप्त किया—यह इन कथाओं में दिखाया गया है। ईशान संहिता में कहा गया है कि माघ कृष्ण चतुर्दशी को शिव का लिंग रूप से आविर्भाव हुआ था।

शिवरात्रि व्रत के अनुष्ठान के विषय में आचार्यों में मतभेद है—कोई प्रदोष, कोई रात्रि (निशीथ) और कोई अर्धरात्र पर बल देते हैं। इस व्रत में शिवलिंग की विशिष्ट रीति से पूजा की जाती है, जिसका विवरण तिथितत्व में दिया गया है। इस व्रत के अनुष्ठान में संप्रदायानुसार कुछ विभिन्नताएँ हैं। [रा० शं० भ०]

शिवराम कश्यप (सन् १८८२-१९३४), भारतीय वनस्पति शास्त्रज्ञ, का जन्म पंजाब के झेलम नगर के एक प्रतिष्ठित सैनिक परिवार में हुआ था। सन् १८९९ में आपने पंजाब विश्वविद्यालय की मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की तथा सन् १९०४ में आगरा के मेडिकल स्कूल की उपाधि परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। मेडिकल स्कूल में पढ़ते समय ही आपने इंटरमीडिएट सायंस की परीक्षा दी और पंजाब विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आए। उत्तर प्रदेश के मेडिकल विभाग में सेवा आरंभ की और सेवा करते हुए पंजाब विश्वविद्यालय की बी०एस-सी० परीक्षा भी दी और फिर सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १९०६ में गवर्नमेंट कालेज, लाहौर, में आप सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए तथा तीन वर्ष बाद वनस्पति शास्त्र का विषय लेकर, आपने एम० एस-सी० परीक्षा पास की और विश्वविद्यालय के एम० ए० और एम० एस-सी० कक्षाओं के विद्यार्थियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। सन् १९१० में आप विलायत गए तथा दो वर्ष पश्चात् केंब्रिज विश्वविद्यालय से आपको नैचुरल सायंस ट्राइपॉस की डिग्री प्राप्त हुई।

स्वदेश वापस आने पर, आप गवर्नमेंट कालेज, लाहौर, में वनस्पति शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९१९ में आप युनिवर्सिटी प्रोफेसर हुए तथा सन् १९२१ में आपकी पदोन्नति इंडियन एडुकेशनल सर्विस में हुई। आप पंजाब विश्वविद्यालय के फेलो तथा सिंडिकेट के सदस्य भी निर्वाचित हुए और दीर्घ काल तक विज्ञान विभाग के डीन रहे। आगरा, लखनऊ तथा बनारस विश्वविद्यालयों के विज्ञान विभागों से भी आप बराबर संबद्ध थे। विज्ञान को आपकी बहुमूल्य देन के आधार पर, पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९३३ में आपको डॉक्टर ऑव सायंस की मानोपाधि दी। सन् १९१९ में इंडियन सायंस कांग्रेस के वनस्पति अनुभाग के तथा सन् १९३२ में पूर्ण अधिवेशन के आप अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। सन् १९२० में इंडियन बोटैनिकल सोसायटी की स्थापना पर आप उसके मंत्री तथा पाँच वर्ष बाद उसके सभापति हुए। इस संस्था के जर्नल के मुख्य संपादक रहने के सिवाय, आप हॉलैंड के 'क्रॉनिका बोटैनिका' नामक पत्र के सलाहकार संपादक रहे।

डा० कश्यप ने वनस्पति शास्त्र से संबंधित अनेक मौलिक अनुसंधान किए और मूल्यवान लेख लिखे हैं, जिनमें एक्विसीटम (Equisetum) के लैंगिक जनन, पश्चिमी हिमालय के लिवरवर्ट (liverworts) तथा तिब्बत के वनस्पतिसमूह पर लिखे लेखों ने आपकी ख्याति देश और विदेश में फैला दी। इन्होंने पश्चिमी हिमालय तथा पश्चिमी और मध्य तिब्बत में लंबी यात्राएँ कीं। इस प्रदेश की खोज तथा यहाँ की वनस्पतियों के अध्ययन में इनकी विशेष रुचि थी। दुर्बल स्वास्थ्य पर भी निरंतर खोज में लगे रहकर, डा० कश्यप ने सिद्ध कर दिया कि वैज्ञानिक अनुसंधान के आगे वे अपने जीवन तक को भी कोई महत्व नहीं देते थे। [भ० दा० व०]

शिवसिंह सेंगर (संवत् १८९०-१९३५ वि०)। ग्राम काँथा जिला उन्नाव के जमींदार श्री रणजीतसिंह के पुत्र थे। शिवसिंह सेंगर पुलिस इंस्पेक्टर होते हुए भी संस्कृत, फारसी और हिंदी कविता के अध्येता, रसिक काव्यप्रेमी तथा स्वयं भी कवि थे। 'ब्रह्मोत्तर खंड' और 'शिवपुराण' का हिंदी अनुवाद करने के अतिरिक्त आपकी प्रसिद्धि हिंदी कविता के पहले इतिहासग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' (र० का० सं० १९३४ वि०) लिखने के कारण है। इसमें लगभग एक सहस्र कवियों के जीवन और काव्य का अत्यंत संक्षिप्त परिचय है। कवियों के जीवनकाल आदि के संबंध में कुछ त्रुटियों के होते हुए भी, जिनका अपने ढंग के पहले ग्रंथ में होना बहुत स्वाभाविक है, इस कृति के लिये हिंदी जगत् सर्वदा उनका आभारी रहेगा। डॉ० ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिंदुस्तान' 'शिवसिंह सरोज' पर ही लगभग आधारित है। आज भी यह कृति हिंदी कविता के इतिहास के लिये संदर्भग्रंथ बनी हुई है।

सं० ग्रं० — मिश्रबंधु : 'मिश्रबंधु विनोद'; रामनरेश त्रिपाठी : 'कविता कौमुदी' [रा० फे० त्रि०]

शिवालिक पहाड़ियाँ हिमालय पर्वत की बाह्यतम, निम्नतम तथा तरुणतम शृंखला हैं। उत्तरी भारत में ये पहाड़ियाँ गंगा से लेकर व्यास तक २०० मील की लंबाई में फैली हुई हैं और इनकी

सर्वोच्च ऊंचाई लगभग ३,५०० फुट है। गंगा नदी से पूर्व में शिवालिक सदृश संरचना पाटली, पाटकोट तथा कोटद्द को कालाधुंगी तक हिमालय को बाह्य शृंखला से पृथक् करती है। ये पहाड़ियाँ उत्तर प्रदेश में गंगा और यमुना नदी के बीच में पड़ती हैं और सहारनपुर जिले को देहरादून से पृथक् करती हैं। ये पहाड़ियाँ पंजाब में होशियारपुर एवं अंबाला जिलों तथा हिमाचल प्रदेश में सिरमौर जिले को पार कर जाती हैं। इस भाग की शिवालिक शृंखला अनेक नदियों द्वारा खंडित हो गई है। इन नदियों में पश्चिम में घग्गर सबसे बड़ी नदी है। घग्गर के पश्चिम में ये पहाड़ियाँ दीवार की तरह चली गई हैं और अंबाला को सिरसा नदी की लंबी एवं तंग घाटी से रुपड़ तक, जहाँ पहाड़ियों को सतलज काटती है, अलग करती हैं। व्यास नदी की घाटी में ये पहाड़ियाँ तरंगित पहाड़ियों के रूप में समाप्त हो जाती है। इन पहाड़ियों की उत्तरी ढलान की चौरस सतहवाली घाटियों को दून कहते हैं। ये दून सघन, आबाद एवं गहन कृष्ट क्षेत्र हैं। सहारनपुर और देहरादून को जोड़नेवाली सड़क मोहन दर्रे से होकर जाती है।

भूवैज्ञानिक दृष्टि से शिवालिक पहाड़ियाँ मध्य अल्पनूतन से लेकर निम्न अत्यंत-नूतन युग के बीच में, सुदूर उत्तर में, हिमालय के उत्थान के समय पृथ्वी की हलचल द्वारा दृढ़ीभूत, वलित एवं भ्रंशित हुई हैं। ये मुख्यतः संगुटिकाश्म तथा बलुआ पत्थर से निर्मित हैं और इनमें स्तनी वर्ग के प्राणियों के प्रचुर जीवाश्म मिले हैं (देखें शिवालिक समूह)। [अ० ना० मे०]

शिवालिक समूह (Siwalik System) भारत में अल्पनूतन युग (Miocene period) के अपराह्ण से शैलों के एक नए समूह का प्रारंभ होता है, जो अलवण जलीय निक्षेपों से बना है और शिवालिक समूह के नाम से प्रसिद्ध है। तृतीय कल्प के आगमन के समय से ही सारी पृथ्वी की समाकृति में अनेकानेक परिवर्तन हुए और जल तथा थल के वितरण में उलट फेर हुआ। हिमालय प्रदेश, जो पुराजीव कल्प से ही गंभीर सागर से ढँका था, धीरे धीरे उच्च भूमि के रूप में बदलने लगा और अनेक भूसंचलनों के फलस्वरूप एक उच्च पर्वतश्रेणी में परिवर्तित हो गया। अल्पनूतन युग से जल छिछले तालों के रूप में हिमालय के दक्षिणी भूभाग में फैल गया और धीरे धीरे एक बड़े नद का रूप धारण कर लिया। इस बड़े नद को हिंद ब्रह्मपुत्र नद या शिवालिक नद कहते हैं। यह नद पूर्व में असम से लेकर पश्चिम में पंजाब से होते हुए बलुचिस्तान, सिंध तक फैला था और अरब सागर में मिलता था। इसी नद के द्वारा लाए हुए निक्षेप शिवालिक समूह के अंतर्गत आते हैं।

शिवालिक नाम हरद्वार की शिवालिक पर्वतश्रेणी के आधार पर दिया गया है, जहाँ पहले पहल शैलसमूहों में से कशेरुकी जीवों के जीवाश्मों का एक भंडार मिला था। ये जीवाश्म इतने अधिक और इतने प्रकार के थे कि उनसे उस युग के जीवविकास पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। धीरे धीरे इस समूह के निक्षेप भारत के अन्य भागों में भी मिले। इस प्रकार बलुचिस्तान के मकरान, सिंध के मंचर, असम के टिपम, डुपीटीला एवं डिहिंग और बर्मा के इरावदी शैलसमूह शिवालिक समूह के विभिन्न दृष्टांत हैं।

शिवालिक शैलसमूह अलवण जलीय निक्षेपों से, जिनमें बलुआ पत्थर, मृत्तिका, गोलाश्म मृत्तिका, पंकाश्म मुख्य हैं, बना है। ये

वर्गीकरण

वर्गीकरण	शिवालिक शैलसमूह	कालविभाजन	जीवाश्म
उपरि शिवालिक	गोलाश्म संगुटिकाश्म (Boulder conglomerate) पिंजार स्टेज (Pinjor stage) टैट्राट स्टेज (Tatrot stage)	निम्न अत्यंतनूतन युग (Lower Pleistocene) अतिनूतन युग (Pliocene)	प्राइमेट्स, स्यार, कुत्ता, बिल्ली, शेर, चीता, लोमड़ी, हाथी, घोड़ा। राइनोसिरस (Rhinoceros), गैंडा, हिपोपॉटैमस, भैंसा, ऊँट आदि।
मध्य शिवालिक	धोक पठान स्टेज (Dhok Pathan stage) नागरी स्टेज (Nagari stage)	पॉन्टैन (Pontain) सारमेशैन (Sarmatian)	प्राइमेट्स, मांसाहारी जीव और रोडेंट्स (Rodents)। स्तनधारी जीव, प्राइमेट्स, शिवाथेरियम, मांसाहारी जीव, सूँड़धारी जीव, जिराफ।
पूर्व शिवालिक	चिंजी स्टेज (Chinji stage) कमलियाल स्टेज (Kamlial stage)	टॉरटोनिऐन (Tortonian) हेल्वीशैन (Helvetian)	पक्षी वर्ग, रेंगनेवाले जीव (घड़ियाल, छिपकली साँप, कछुआ आदि)। मछली।

निक्षेप आधुनिक मिट्टी की ही भाँति हैं। इनमें केवल इतना अंतर है कि समय के बीतने से ये कड़े हो गए हैं।

विस्तार तथा वर्गीकरण — शिवालिक समूह के निक्षेप समस्त दक्षिणी हिमालय प्रदेश में एक पतली लीक के रूप में फैले हैं। ये निक्षेप असम, उत्तर प्रदेश, शिमला, पंजाब, कश्मीर, बलूचिस्तान एवं सिंध में विशेष रूप से विस्तृत हैं। इनका वर्गीकरण ऊपर दिया हुआ है।

शिवालिक समूह का महत्व — जीवविकास की दृष्टि से शिवालिक समूह का महत्व भारतीय स्तरित-शैल-विज्ञान (stratigraphy) में विशेष है। जो स्तनधारी जीव, अल्पनूतनयुग के अपराह्न के जीव जगत् में मुख्य थे, उनके जीवाश्म अत्यधिक संख्या में शिवालिक शैलसमूहों में मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि पानी और भोजन की बहुतायत के कारण दूर दूर से जानवर हिमालय प्रदेश में रहने के लिये आए। उदाहरणार्थ, सुअर, हिपोपोटेमस और सूँड़धारी जीव मध्य अफ्रिका से अरब और ईरान होते हुए भारत आए थे। गैंडा, घोड़ा और ऊँट उत्तरी अमरीका से आए हुए माने जाते हैं। इस समूह में न केवल विभिन्न वर्ग के जीवों के जीवाश्म मिलते हैं, अपितु इस समूह के काल में समस्त जीवविकास इतनी शीघ्रता से हो रहा था कि ऐसे भी जीवाश्म मिलते हैं जिनमें दो जीवों के अंग हैं। इनमें शिवाथेरियम नामक जीव मुख्य है। शिवालिक का यह अनन्य जीवों का खजाना यदि शतांश रूप में भी रह गया होता, तो शायद आजकल पृथ्वी इन्हीं जीवों से ढँकी रहती और भोजन, पानी कभी का समाप्त हो चुका होता, परंतु प्रकृति के नियम विचित्र हैं। समस्त जगत् के स्वामी होते हुए भी इन जीवों का अंत भी उतनी ही शीघ्रता से हुआ जितनी शिघ्रता से इनका विकास हुआ था। अत्यंतनूतनयुग की हिमनद अवधि और अतिशीतोष्ण जलवायु के फलस्वरूप सभी ताल, तालाब जम गए, जीव मरने लगे, महामारी का प्रकोप हुआ और शनै: शनै: इन जीवों का अंत हो गया। जो कुछ जीव बच पाए, उन्हीं की संतान आधुनिक जगत् के जीव हैं।

[रा० चं० सि०]

शिवि महाराज ययाति के दौहित्र तथा राजा उशीनर के पुत्र, वैदिक मंत्रद्रष्टा तथा यज्ञकर्ता (ऋ० १०.१७९.१), 'शिवि औशीनर' जिनकी उदारता एवं दयालुता जगत्प्रसिद्ध है (ब्रह्मांड० ३.७४.२०)। इन्हीं गुणों की परीक्षा लेने के लिये इंद्र तथा अग्नि बाज एवं कबूतर बनकर इनके पास पहुँचे। बाज कबूतर को खा जाना चाहता था पर शिवि ने उसे अपनी गोद में छिपा लिया। बाज ने भूख मिटाने के लिये कबूतर के बराबर ही स्वयं राजा का मांस माँगा। कबूतर को तराजू के एक पलड़े पर रखकर शिवि दूसरे पलड़े पर अपना मांस काट काटकर रखने लगे, पर वह पक्षी इतना भारी हो गया कि शिवि को स्वयं पलड़े पर बैठना पड़ा। इसपर अपने अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर दोनों देवताओं ने महाराज शिवि को वर दिया। (महा० वन० १३०.१९-२०) इनके पुण्य तथा औदार्य की कथाएँ पद्मपुराण तथा महाभारत में अन्यत्र भी मिलती हैं।

[रा० द्वि०]

शिशुपाल चेदि के राजा दमघोष का पुत्र जिसकी माता श्रुतदेव वसुदेव की बहन थी। कृष्ण का नातेदार पर उनका परम शत्रु। शत्रुता का कारण रुक्मिणी थी जिससे वह ब्याह करना चाहता था पर जिसे श्रीकृष्ण उठा लाए थे। जन्म के समय शिशुपाल के चार हाथ और तीन आँखें थीं जिन्हें देखकर इसके माँ बाप डरे। वे बच्चे को फेंक देना चाहते थे पर आकाशवाणी हुई कि कृष्ण के छूते ही इसका अद्भुत रूप नष्ट हो जायगा और उन्हीं के हाथ इसकी मृत्यु होगी। बाद में ऐसा ही हुआ। माघरचित 'शिशुपालवध महाकाव्य' में इसका विशद वर्णन है।

[रा० द्वि०]

शिशुशिक्षा शिशु मनुष्य का पूर्वरूप है। मनुष्य की संपूर्ण शक्तियाँ और संभावनाएँ शिशु में संनिहित रहती हैं। उसके समुचित पालन पोषण एवं शिक्षादीक्षा पर ही भावी मनुष्य का विकास निर्भर रहता है। अत: मनुष्य की शिक्षा को पूर्ण बनाने की नींव शैशवावस्था में ही पड़ जानी चाहिए। इसी से आज के युग में शिशुशिक्षा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता है।

'शिशु' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक होता है। कोई जन्म से लेकर ढाई तीन वर्षों तक, कोई पाँच वर्ष तक और कोई छह या सात वर्ष तक के बच्चे को शिशु कहता है। परंतु शिशुशिक्षा का अर्थ 'दो से ग्यारह या बारह वर्ष तक की शिक्षा' माना जाता है। इस पर्याप्त लंबी अवधि को प्राय. दो भागों में बाँटा जाता है। दो वर्ष से छह वर्ष की शिक्षा को शिशुशिक्षा (इनफंट या नर्सरी एजुकेशन) कहते हैं, जो प्राय: शिशुशालाओं (नर्सरी स्कूलों) में दी जाती है। छह वर्ष के पश्चात् ग्यारह या बारह वर्ष की शिक्षा को बालशिक्षा (चाइल्ड एजुकेशन) या प्रारंभिक शिक्षा (एलीमेंटरी एजुकेशन) कहते हैं। संसार के सभी प्रगतिशील देशों में प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य है। अत. कहीं छह वर्ष के पश्चात् और कहीं सात वर्ष से प्रारंभिक विद्यालयों में शिक्षा आरंभ की जाती है जो प्राय: पाँच वर्षों तक चलती है। तत्पश्चात् बच्चे माध्यमिक शिक्षा में प्रविष्ट होते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक शिशु को शिक्षित करने का ढंग बड़ा ही कठोर था। उसके प्रति अध्यापक की सहानुभूति का अभाव था। शिक्षा में शारीरिक दंड का विधान प्रमुख था। शिशु का भी कोई पृथक् व्यक्तित्व है—उसकी अपनी आवश्यकताएँ, स्वतंत्र रुचि एवं आकांक्षाएँ हैं—इसपर अध्यापक का ध्यान नहीं जाता था। शिशु सामान्य (तथाकथित) अपराध पर अध्यापक का क्रुद्ध होना और उसे शारीरिक दंड देना स्वाभाविक था। माता पिता भी 'दशवर्षाणि ताडयेत्' को वेदवाक्य मानकर शिक्षा मे शिशु के दंड का विधान नतमस्तक होकर स्वीकार करते थे।

शिशु की स्वतंत्रता का सर्वप्रथम प्रचारक रूसो (१७१२-१७७८ ई०) हुआ। तत्पश्चात् पेस्तालोत्सी (१७४६-१८२७) ने शिशुशिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फ्रोबेल नामक जर्मन शिक्षाशास्त्री ने 'बालोद्यान' (किंडरगार्टन) पद्धति द्वारा शिशुशिक्षा में क्रांति उत्पन्न की; परंतु अनेक कारणों से उसका प्रचार मंद गति से हुआ जिससे उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते होते यह पद्धति यूरोप के अन्य

देशों तथा अमरीका में फैली। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अमरीका के एडवर्ड थार्नडाइक तथा चार्ल्स जुड ने शिशुशिक्षा को सरल, सरस एवं आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया। अब शिक्षाशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों का ध्यान शिशु मनोविज्ञान की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। इटली की प्रसिद्ध महिला शिक्षाशास्त्रिणी मैरिया मांतेस्सोरी ने ज्ञानेंद्रियों की साधना पर विशेष बल दिया जिससे शिशु-शिक्षण-पद्धति में एक नवीन युग आरंभ हुआ और शिशु की शिक्षा सामूहिक से व्यक्तिप्रधान हो गई। प्रत्येक शिशु की पृथक् रुचि एवं मानसिक विकास के अनुरूप उसे शिक्षा देने की व्यवस्था हुई। महात्मा गांधी ने शिशुशिक्षा में उपयोगितावाद को प्रधानता दी और जीवनोपयोगी किसी व्यवसाय (जैसे कताई बुनाई या कृषि) को शिक्षा का आधार बनाया जिससे यह शिक्षा आधार (बेसिक) शिक्षा कहलाती है।

अधिकांश देशों में शिक्षा की दो प्रमुख पद्धतियाँ व्यवहार में लाई जाती हैं—एक बालोद्यान की, दूसरी मांतेस्सोरी। बालोद्यान पद्धति में बच्चों को कुछ खिलौनों या क्रीड़ा उपकरणों (जिन्हें फ्रोबेल ने 'उपहार' कहा है) तथा शिशु गीतों (नर्सरी सौंग्स) द्वारा सामूहिक शिक्षा दी जाती है। बच्चे शिक्षा को खेल समझकर बड़ी रुचि से आकृष्ट होते हैं और विद्यालय उनके लिये आकर्षण का केंद्र बन जाता है। परंतु शिशुमनोविज्ञान के विकास से पता चला है कि प्रत्येक शिशु दूसरे से भिन्न होता है। अतः उसकी शिक्षा दूसरों से पृथक ढंग से होनी चाहिए। उसे अपनी सहज शक्तियों एवं संभावनाओं का विकास करने के लिये अवसर मिलना चाहिए। केवल सामूहिक शिक्षा देने से उसकी बहुत सी शक्तियाँ अविकसित रह जाती हैं। अतः बालोद्यान का स्थान धीरे धीरे मांतेस्सोरी पद्धति ले रही है। मांतेस्सोरी पद्धति के मूल आधार हैं ज्ञानेंद्रियों का साधन या विकास तथा शिशु की स्वतंत्रता। इस पद्धति के द्वारा तीन से छह या सात वर्ष के बच्चों को अनेक प्रकार के शैक्षिक यंत्रों (डिडैक्टिक) ऐपैरेटस द्वारा वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि का ज्ञान कराया जाता है। परंतु प्रायः संपूर्ण ज्ञान बच्चे स्वयं प्राप्त करते हैं। आत्मशिक्षण इस पद्धति का मूल मंत्र है। अध्यापिका दर्शक के रूप में विद्यमान रहकर शिशु के कार्यों का संप्रेक्षण एवं निर्देश करती है। इससे उसे 'अध्यापिका' न कहकर 'संचालिका' कहते हैं। मांतेस्सोरी विद्यालयों में इंद्रियसाधना के साथ साथ व्यावहारिक जीवन की उपयोगी शिक्षा दी जाती है, जैसे भोजन परसना, कमरा साफ करना, कमरे के सामान व्यवस्थित रूप से सजाकर रखना, इत्यादि। स्वच्छता के साथ ही वेशभूषा धारण करने के ढंग, जैसे बालों में कंघी करना, कपड़ों में बटन लगाना, फीता बाँधना इत्यादि भी सिखाए जाते हैं। इन विद्यालयों में टेबुल, कुर्सी, चौकी इत्यादि सभी आवश्यक सामान हल्के बनवाए जाते हैं जिससे बच्चे सरलता से उन्हें स्थानांतरित कर सकें। इस प्रकार उन्हें अपने सभी कार्य स्वयं करने की शिक्षा दी जाती है।

उक्त दोनों प्रकार की पद्धतियों में शिशु के व्यक्तित्व का महत्व स्वीकार किया जाता है और उसे किसी प्रकार का शारीरिक दंड न देकर प्रेम से शिक्षा देना श्रेयस्कर माना जाता है। शिक्षा में दंड या पुरस्कार के बिना वातावरण से जो प्रेरणा मिलती है वही शिशु के विकास में सहायक होती है। बालोद्यान पद्धति में उपहार का विधान तो है परंतु पुरस्कार का नहीं है। मांतेस्सोरी पद्धति में भी पुरस्कार या प्रलोभन देकर शिक्षा की ओर आकृष्ट करने का कोई विधान नहीं है। दोनों ही पद्धतियों में सक्रियता का सिद्धांत मान्य है। बच्चों में क्रियाशीलता एवं स्फूर्ति की अधिकता होती है जिसका सचालन उपयुक्त दिशा में होना चाहिए। अतः आधुनिक शिक्षा में शिशु को विभिन्न प्रकार की क्रियाओं मे व्यस्त रखा जाता है और शिक्षा को खेल का रूप प्रदान किया जाता है जिससे वह शिशु को बोझ न जान पड़े। आधुनिक शिक्षा का एक बहुमान्य सिद्धांत है 'करके सीखना'। इस सिद्धांत के अनुसार ही उक्त दोनों पद्धतियों में व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी जाती है। शिशु के शरीर में निरंतर वर्धमान शक्ति एवं स्फूर्ति का उपयोग करने के लिये शारीरिक व्यायाम तथा खेल-कूद की पर्याप्त व्यवस्था रखी जाती है। खेलकूद के नियमों के पालन से अनुशासन की शिक्षा मिलती है, साथ ही सहयोग द्वारा कार्य करने एवं आदान प्रदान करने का अभ्यास बढ़ता है।

शिशुशिक्षा में कहानी, कविता तथा संगीत को भी प्रमुख स्थान दिया जाता है। यद्यपि श्रीमती मांतेस्सोरी परियों की काल्पनिक कथाओं के विरुद्ध हैं और बच्चों के लिये उन्हें अनुपयुक्त मानती हैं फिर भी व्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि ऐसी कथाओं से बच्चों का केवल मनोरंजन ही नहीं होता वरन् उनमें कल्पनाशक्ति का विकास भी होता है। अतः उनके पाठ्यक्रम में इनका होना लाभदायक सिद्ध होता है। बच्चों के लिये कविता एवं संगीत के महत्व को श्रीमती मांतेस्सोरी भी स्वीकार करती हैं। अतः उनके विद्यालयों में बच्चों को कविताएँ—विशेषतः नादसौंदर्यात्मक, लययुक्त एवं अभिनेय कविताएँ सिखाई जाती हैं। प्रयाण गीतों तथा नृत्य के साथ चलनेवाले गीतों को प्रधानता दी जाती है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान शिशुशिक्षा पद्धति में शिशु को सब प्रकार की स्वतंत्रता देकर आत्माभिव्यंजन का पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता है। इसके लिये अनुकूल वातावरण एवं उपकरण प्रस्तुत करना शिक्षक का मुख्य कर्तव्य होता है।

उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुसार शिशुशिक्षा के समुचित प्रसार के लिये निम्नोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति अपेक्षित है—दो से छह वर्ष के बच्चों के लिये शिशुशालाओं (नर्सरी स्कूलों) तथा छह से ग्यारह वर्ष के बच्चों के लिये बालोद्यान की स्थापना; सभी शिशुविद्यालयों में जलपान एवं दोपहर के भोजन की व्यवस्था; शिशु छात्रावासों की स्थापना; शिशुशिक्षा के लिये उपयुक्त प्रशिक्षित अध्यापिकाओं की नियुक्ति; बच्चों के क्रीड़ोपकरणों की व्यवस्था; बालसमाजों (चिल्ड्रेंस क्लबों) की स्थापना जहाँ बच्चे एकत्र होकर परस्पर मिल सकें तथा मनोरंजन के साधनों द्वारा जी बहला सकें; शिशुशिक्षा के लिये उपयुक्त साहित्य—आकर्षक पुस्तकें, पत्रपत्रिकाएँ आदि—के अतिरिक्त उपयोगी एवं आकर्षक खिलौने प्रस्तुत करना; विकलांग, विकृतमस्तिष्क एवं अपराधी बच्चों के लिये पृथक् विद्यालयों की स्थापना; शिशुप्रदर्शनियों द्वारा बच्चों के स्वास्थ्य को प्रोत्साहन देना; तथा राज्य द्वारा शिक्षा का संपूर्ण भारवहन जिससे सभी बच्चों को समान अवसर मिले, भोजन, जलपान, आवास आदि निःशुल्क प्राप्त हों एवं उनके शारीरिक या मानसिक विकास में धनाभाव के कारण कोई त्रुटि न रहने पाए।

सं॰ ग्रं॰ — मनरो : एनसाइक्लोपीडिया ऑव एजुकेशन; मैरिया मांतेस्सोरी : डिस्कवरी ऑव द चाइल्ड; हृस्स फॉरेस्ट : चाइल्ड डेव्ह-लपमेंट; स्किनर तथा हैरिमन : चाइल्ड साइकॉलोजी; सरजूप्रसाद चौबे। पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास; तथा सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षाप्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक। [र॰ शु॰]

शीजिआंग (Sikiang) **या शी** (Si) जनवादी चीनी गण-तंत्र में दक्षिणी चीन की प्रमुख नदी है। यह युनैन के पठार से, ६,००० फुट की ऊँचाई से, निकलकर दक्षिण-पूर्व दिशा में १,२५० मील बहने के पश्चात् दक्षिणी चीन सागर में गिरती है। शीजिआंग तथा छोटी नदियों से बने डेल्टा पर कैनटॉन नगर स्थित है। नदी-मुहाने से भीतर की ओर २३० मील दूर स्थित वूजो (Wuchow) तक जलयान आते हैं। दक्षिणी चीन का यह सबसे बड़ा व्यापारिक राजमार्ग है। अंग्रेजी में इस नदी का नाम वेस्ट रिवर है। [अ॰ ना॰ मे॰]

शीतनिष्क्रियता समशीतोष्ण और शीतप्रधान देशों में रहने-वाले जीवों की उस निष्क्रिय तथा अवसन्नावस्था को कहते हैं जिसमें वहाँ के अनेक प्राणी जाड़े की ऋतु बिताते हैं। इस अवस्था में शारीरिक क्रियाएँ रुक जाती हैं, या बहुत क्षीण हो जाती हैं, तथा वह जीव दीर्घकाल तक पूर्ण निष्क्रिय होकर पड़ा रहता है। यह अवस्था नियततापी (warm blooded) तथा अनियततापी (cold-blooded), दोनों प्रकार के, प्राणियों में पाई जाती है।

नियततापी प्राणी — चिड़ियों में शीतनिष्क्रियता नहीं होती। स्तनपायी जीवों में से यह कीटभक्षी चमगादड़ों, कई जाति के मूषों तथा अन्य कृंतकों और भालू तथा संबद्ध वर्गों में पाई जाती है। इनमें से मूषों और कृंतकों आदि के शारीरिक ताप का शीतनिष्क्रिय अवस्था में, नियंत्रण नहीं हो पाता। इस अवस्था में हो जाने पर वे अनियततापी हो जाते हैं, किंतु भालू, स्कंक (skunk) और रेकून (racoon) में यह नहीं होता। ये नियततापी ही बने रहते हैं। ध्रुव प्रदेशीय मादा भालु तो इसी अवस्था में बच्चे देती है।

मूषों, गिलहरियों तथा चमगादड़ों में शारीरिक ताप गिरकर, वातावरण से केवल कुछ अंश अधिक बना रहता है। निष्क्रियता की अवधि तथा अवसन्नावस्था की गहराई में भी भेद होता है। मौसिम तथा जीव की जाति के अनुसार अवधि भिन्न होती है।

अनियततापी प्राणी — अकशेरुकी प्राणियों में से अनेक, निष्क्रिय अथवा पुटीभूत अवस्था में, शीतकाल बिताते हैं। तितलियाँ तथा मक्खियाँ यही करती हैं। साधारण घोंघा निरापद स्थान में जा-कर, अपने कवच के मुँह को कैल्सियमी प्रच्छद से ढँक लेता है और अवसन्न हो पड़ा रहता है।

निम्न वर्ग के अन्य अनियततापी प्राणियों की तथा अकशेरुकों की शीतनिष्क्रियता में अधिक भेद नहीं होता। अनेक मछलियाँ और मेढक मिट्टी, कीचड़ आदि में घुसकर बैठ जाते हैं। साँप, छिपकली आदि पत्थरों या लकड़ी के कुंदों आदि के नीचे शीतकाल में निष्क्रिय पड़े रहते हैं। इनके शरीर का ताप वातावरण के ताप से केवल एक या दो डिग्री अधिक बना रहता है। पाले से जमा देनेवाले शीत में मेढक तथा इन अन्य जीवों की मृत्यु हो जाती है।

शारीरिकी — शीतनिष्क्रियता का कारण केवल शीत ही नहीं जान पड़ता, क्योंकि शीत से निष्क्रिय होनेवाले जीवों की दशा अत्युष्ण वातावरण में भी वैसी ही हो जाती है तथा शीतनिष्क्रिय स्तनपायी जीव, शीत बहुत बढ़ जाने पर, अधिक गहरी नींद में हो जाने के बदले जाग जाते हैं। सामान्यत: १२°–१५° सें॰ ताप हो जाने पर, शीत-निष्क्रियता व्यापने लगती है, किंतु एक ही जाति के अन्य जीव अधिक शीत पड़ने पर भी अधिक काल तक क्रियाशील बने रह सकते हैं।

निष्क्रियता का आगमन मोटापे से संबद्ध जान पड़ता है। क्रिया-शीलता के काल के अंत में जंतु बड़ा मोटा हो जाता है और निष्क्रियता के काल में उसकी चर्बी ही शरीर के आहार के काम आती है। जो जीव यथेष्ट चर्बी नहीं एकत्रित कर पाते, वे जल्दी निष्क्रिय नहीं होते। निष्क्रिय अवस्था में होनेवाले जंतुओं का शारीरिक ताप, अन्य जंतुओं की अपेक्षा, अधिक परिवर्तनशील होता है और पूर्णत: निष्क्रिय होने पर वह २°–४° सें॰ ही रह जा सकता है। हृदयगति मंद हो जाती है और जागने पर एकाएक बढ़ जाती है। श्वसन धीमा हो जाता है। हिम मूष (marmots) तो तीन मिनिटों में केवल एक बार साँस लेने लगता है। अवशोषित ऑक्सीजन और उत्सर्जित कार्बन डाइऑक्साइड का अनुपात, जाग्रत अवस्था की तुलना में, कम हो जाता है। स्पर्श की अनुभूति यद्यपि कम हो जाती है, तथापि तंत्रिका तंत्र पूर्ण निष्क्रिय नहीं होता।

यदि शरीर का ताप १४–१६° सें॰ हो जाता है, तो जंतु प्राय: जाग जाते हैं। कुछ जंतुओं के जागने में कई घंटे लगते है, किंतु कुछ, जैसे चमगादड़, कुछ मिनटों में ही होश में आ जाते हैं। बाह्य ताप की वृद्धि के अतिरिक्त, हिलाने डुलाने तथा अति शीत पड़ने पर भी निष्क्रिय जंतु जाग जाते हैं।

इस बात के प्रमाण हैं कि निष्क्रियता का नियंत्रण मस्तिष्क, संभवत: मध्य मस्तिष्क, के केंद्रों तथा अंत:स्रावी तंत्र द्वारा होता है, किंतु अंत:स्रावी परिवर्तनों का ठीक पता नहीं है। इसलिये अंत:स्रावी ग्रंथियों वाली मान्यता को पूर्णत: सिद्ध नहीं कहा जा सकता है। [भ॰ दा॰ व॰]

शीतलाप्रसाद त्रिपाठी भारतेंदु के सहयोगी, साहित्यसेवी विद्वान् जो हिंदी के प्रथम अभिनीत नाटक 'जानकीमंगल' के रचयिता थे। त्रिपाठी जी काशी के गोवर्धनसराय मुहल्ले के निवासी देवीदयाल त्रिपाठी के पुत्र और ग्रियर्सन के सहयोगी, पटना कालेज के संस्कृत अध्यापक और अनेक हिंदी-संस्कृत-ग्रंथों के प्रणेता छोटूराम त्रिपाठी के अग्रज थे। इन्होंने भारतेंदु द्वारा संस्कृत से अनूदित नाटकों का संशोधन तथा परिष्कार कर उनके अनेक साहित्यिक कार्यों में हाथ बँटाया था। ये स्वयं अच्छे कवि, वैयाकरण, धर्मशास्त्री, ज्योतिषी और नाटककार थे। खड्गविलास प्रेस के स्वामी रामदीन सिंह के अनुरोध पर इन्होंने हिंदी का बृहत् व्याकरण लिखना आरंभ किया था किंतु असामयिक निधन के कारण उसे पूरा न कर सके। अब

समय जब व्यावसायिक नाटक कंपनियों का जोर था, बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह, उर्फ सरबर बबुआ के प्रयत्न से काशी में 'बनारस थियेटर' के मंच पर चैत्र शुक्ल एकादशी, सं० १६२५ वि० को, काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आदेश से त्रिपाठी जी द्वारा रचित, उपर्युक्त नाटक सबसे पहले खेला गया। भारतेंदु जी ने इस अभिनय में लक्ष्मण की भूमिका प्रस्तुत की थी जिसका विवरण ८ मई, १८६८ के 'इंडिया मेल' में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि हिंदी की पद्यप्रधान नाट्य परंपरा का निर्वाह करने के कारण इससे अभिनव नाट्य प्रणाली तथा कलात्मक उपलब्धि की आशा करना व्यर्थ है, तथापि खड़ी बोली गद्य की प्रधानता तथा अभिनेयता की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्व है। कथावस्तु, संवादयोजना आदि पर तुलसी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अनेक प्रसंग या तो रामचरितमानस, विनयपत्रिका और गीतावली के उद्धरणों पर आधारित हैं या वे कुछ घटा बढ़ाकर ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए हैं। इसकी नाटकीयता तथा रोचकता का श्रेय वस्तुत: 'मानस' की नाटकीय संवादयोजना को है। जानकीमंगल के अतिरिक्त त्रिपाठी जी ने 'रामचरितावली' (१८८५ ई० में प्रकाशित), 'सावित्रीचरित्र' (१८६५ ई०), 'नलदमयंती', 'विनयपुष्पावली' और 'भारतोन्नति स्वप्न' 'करुणात्रिशतिका' (१८६४) आदि पुस्तकें रची हैं। संभव है, भारतेंदुकृत 'नाटक' में उल्लिखित 'प्रबोधचंद्रोदय' के हिंदी अनुवादक पं० शीतलाप्रसाद भी यही हों। रामदीन सिंह की डायरी के अनुसार इनकी मृत्यु जनवरी, १८६५ में हुई।

सं० ग्रं० -- शिवनंदन सहाय : सचित्र भारतेंदु, खड्गविलास प्रेस, १६०५; सोमनाथ गुप्त : हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास; रामदीन सिंह की डायरी; श्रीबेणी पुस्तकालय, तारणपुर, पुनपुन, पटना में सुरक्षित; शिवनंदन सहाय : साहबप्रसाद सिंह की जीवनी; रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास; ग्रियर्सन : माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिंदुस्तान; भारतेंदु हरिश्चंद्रकृत नाटक निबंध; श्यामसुंदरदास : रूपक रहस्य। [श्री० ना० सिं०]

शीया संप्रदाय सभी शीया लोग इस्लाम के प्रथम तीन खलीफाओं अबू बक्र, उमर और उस्मान को पैगंबर के आधिकारिक उत्तराधिकारी नहीं मानते किंतु इस धारणा को छोड़कर, जो निश्चित रूप से निषेधात्मक है, शीयावादी दो वर्गों में विभक्त हैं: (क) कट्टरपंथी असना अशरी शीया, जिन्होंने सुन्नी पंथियों की भाँति ही कुरान और पैगंबर में विश्वास प्रकट किया है और (ख) संप्रदायवादी इस्माइली शीया (जो बातिनी, साबी भी कहे जाते थे, किंतु सामान्यतया सुन्नी लोग उन्हें इबहाती के नाम से पुकारते थे, क्योंकि वे निषिद्ध कार्यों की अनुमति देते थे। कभी कभी किए जानेवाले उत्पीड़नों और प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति से वंचित किए जाने के बावजूद सुन्नी पंथियों और असना अशरी शीयाओं ने एक दूसरे का मुस्लिम होना अस्वीकार नहीं किया है। उन दोनों में वास्तविक मतभेद है, किंतु यह मतभेद कुरान में दी हुई बातों और धार्मिक सिद्धांतो को तत्वत: स्पर्श नहीं करता। सुन्नियों का विश्वास है कि जब किसी विषय पर कुरान और पैगंबर का कोई निदेश न प्राप्त होता हो, तो सभी समस्याएँ इज्मा-ए-उम्मत या जनता के बहुमत का विचार करके सुलझाई जानी चाहिए, क्योंकि कुरान में लिखा है 'वे (मुसलमान) अपने कार्यों का निर्णय परामर्श या मंत्रणा से करते हैं।' शीया लोग उन मामलों में, जिनका निर्णय करना सर्वसाधारण की शक्ति से परे हो, और जो किसी दैवी शक्ति द्वारा ही निर्णीत हो सकते हैं, जनता का हस्तक्षेप उचित नहीं मानते। इसलिये सुन्नियों के 'खिलाफत' की टक्कर में शीयाओं का इमामत या इमाम वंश है। 'मैं तुमसे इसके सिवा और कोई पारिश्रमिक नहीं चाहता कि तुम मेरे बंधुओं से प्यार करो' ऐसा कुरान में लिखा है। शीयाओं का विश्वास है कि पैगंबर के बाद अली पहला इमाम था और उसने अपने पुत्रों हसन और हुसैन को अपना उत्तराधिकारी बनाया और कहा कि उनके बाद इमाम पद हुसेन वंश के उत्तराधिकारियों को ज्येष्ठाधिकार के सिद्धांत के अनुसार प्राप्त होता रहेगा। किंतु कोई भी इमाम, दैवी आदेशों के अनुसार कार्य करते हुए, इमाम पद का अधिकार अपने छोटे बेटे को भी दे सकता था।

इमामत के मुख्य लक्षण फारस के एक शीया विद्वान् अब्दुल बाकर मजलिसी (मृत्यु १७०० ई०) ने निम्न प्रकार से वर्णित किए हैं।

(१) इमामत, ईश्वर और पैगंबर की सत्ता पर आधारित है, और जनमत या जनता की इच्छाओं से निर्धारित नहीं होती। जनता द्वारा इमाम के अमान्य ठहरा दिए जाने पर भी उसके ईश्वरप्रदत्त धर्माधिकार या पद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (२) पैगंबरों की नियुक्ति की भाँति, इमाम की भी नियुक्ति ईश्वर के लिये आवश्यक है, क्योंकि वह अपने द्वारा निर्मित मनुष्यों के उचित पथप्रदर्शन के लिये भी उत्तरदायी है। (३) इमाम अभ्रांत (इंफैलिबिल) और पापमुक्त हैं। (४) 'प्रत्येक जनसमूह या जनता के लिये एक पथप्रदर्शक हो, ऐसा कुरान में कहा गया है। इमाम कुरान और कानून के आधिकारिक अर्थविधायक और व्याख्याता हैं। (५) अंत में इमाम ही ईश्वर और मानव जाति के बीच मध्यस्थता करनेवाले हैं। 'उनकी मध्यस्थता के सिवा अन्य किसी भी स्थिति में मानव जाति के लिये ईश्वर के दंड से बच सकना संभव नहीं है'।

पैगंबरों के वचनों (हदीस) के चार मुख्य शीया संग्रह ये हैं— कुलामी का 'काफी फी इल्मुद्दीन' अल कुंमी का मान ला यह ज़रुल फकीह, और अत-तूसी के 'तहजीबुल अहकम' इस्तिबसार। ये बगदाद के बुवइ हिंदों के राज्यकाल (६४६-१०५५) में तैयार किए गए थे। शीयों और सुन्नियों के वचनसंग्रहों के बीच परिवार के सदस्यों जैसी समानता है।

बारह शीया इमामों का संक्षिप्त परिचय — (१) शीया और सुन्नियों दोनों द्वारा मान्य सदियों तक प्रचलित हदीसों से अली की सर्वप्रमुखता सिद्ध होती है—'मैं ज्ञान का नगर हूँ, और अली इसका मुख्य द्वार है' तथा 'वह जो मेरी प्रभुता मानता है, अली की भी प्रभुता मानता है'। शीया लेखकों का दावा है कि पैगंबर जब अपनी अंतिम तीर्थयात्रा से लौट रहे थे, गादिर खुम नामक जलापूर्ति स्थान के निकट उन्होंने अली को अपना उत्तराधिकारी (वसी)

तथा इमाम नामांकित किया और अपने शिष्यों से कहा कि वे अली के पास जायँ और उसे बधाई दें। (२) अली के पुत्र हसन ने ६६१ ई० में मुसलमानों के नागरिक कलह को शांत करने के लिये मुआविया से सुलह कर ली लेकिन पदत्याग के बाद भी आठ वर्ष वह जीवित रहा। (३) अली के पुत्र हसन का ५६ वर्ष की आयु में कर्बला में मोहर्रम के दिन १०, ६१, (हिजरी) ए० एच० (अक्तू० १०, ६८० ई०) शहीद हो जाना ऐसी घटना है जो मुसलिम जगत् को हमेशा से आंतरिक चोट पहुँचाती रही है। कूफा के अस्थिरचित्त निवासियों ने हुसेन को आमंत्रित किया कि वह आकर उनके नगर पर अधिकार कर ले। इमाम लगभग ५०० घुड़सवारों के साथ मदीना से चल पड़ा। किंतु मुआविया के पुत्र येजिद की ओर से कूफ़ा और बसरा के गवर्नर ओबेदुल्ला बिन जियाद ने कूफ़ा की जनता को भयाक्रांत कर आत्मसमर्पण के लिये विवश कर दिया। इमाम के अनुयायियों को क्रूरता के साथ अनावश्यक युद्ध के लिये विवश किया गया जिसमें उसके ८७ रिश्तेदार और अनुयायी मारे गए। कहा जाता है कि इमाम के शरीर पर तलवार और भाले के ६७ घाव गिने जा सकते थे। इसलाम के इतिहास में 'कर्बला ट्रैजेडी' के सदृश ऐसी कोई दूसरी घटना नहीं है जिसने शीयावाद के विकास में इससे अधिक सहायता पहुँचाई हो। लेकिन कट्टर शीयावादी मत के अनुसार हुसेन मानव जाति के उद्धारक के रूप में चित्रित हैं। दैवी प्रेरणा से उन्हें यह पहले ही मालूम हो गया था कि आगे क्या होनेवाला है और उन्होंने स्वेच्छा से आत्मबलिदान करना स्वीकार किया। (४) हुसेन के पुत्र अली ने राजनीति से अलग रहकर ३५ वर्ष (६८१–७१४) इमाम के रूप में उपासना और धर्मप्रचार में व्यतीत किए और अब धार्मिक पथप्रदर्शक के रूप में इमाम के कर्तव्य खलीफा के कर्तव्यों से, जो शासन का अध्यक्ष होता था, बिलकुल अलग कर दिए गए। (५) उसका पुत्र मुहम्मद बकर उसी के चरणचिह्नों पर चला और १६ वर्षों तक शीयावाद के निदेशक के रूप में प्रतिष्ठित रहा। (६) इमाम जफर सादिक (७०२–७६५) को शीया सुन्नी दोनों का आदर प्राप्त है। हालाँकि उसके नाम से बहुत सी किताबें उसकी मृत्यु के बाद ही लिखी गईं, पर वह सचमुच बड़ा विद्वान् तथा शिक्षक था और सुन्नियों को इस बात का गर्व है कि उनके विधिविधान के चार स्थापकों में से दो, मलिक बिन अनस और अबू हनीफ़ा, उसके शिष्यों में से थे। (७) उमय्या और अबासी खलीफाओं ने पैगंबर के वंशजों को सताया। लेकिन अत्याचार के बावजूद शीयाई इमामों ने शांतिपूर्ण मार्ग का अवलंबन किया। जफर सादिक के उत्तराधिकारी मूसा काजिम को हारूं रशीद ने कैद कर लिया और कैदखाने में ही ७६७ ई० में उसकी मृत्यु हुई। (८) खलीफा मामूँ रशीद ने इमाम अली रजा को मदीने से मर्व बुला लिया और उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, लेकिन जब मामूँ मर्व से बगदाद आ रहा था, इमाम जहरीले अंगूर खाने से मशहद में मर गया। (९) मामूँ ने अली रजा के पुत्र मुहम्मद तकी को शिक्षित किया और अपनी पुत्री जेनब या उम्मी फ़ज़ल से उसका विवाह कर दिया। (१०) तकी का पुत्र अली नकी समार्रा में शीया विरोधी खलीफ़ा मुतवकिल और उसके उत्तराधिकारियों द्वारा २१ वर्ष तक कैद कर दिया गया। (११) उसके बेटा हसन अस्करी ने विद्वान् और भाषाविज्ञ के रूप में ख्याति अर्जित की, यद्यपि वह किशोरावस्था में अपने पिता के साथ समर्रा में कैद रहा था। (१२) अंतिम इमाम मोहम्मद महदी, अपने पिता की मृत्यु पर केवल ४ या ५ वर्ष का था। अन्नतुल खुल्द के अनुसार वह अपने समर्रा के घर के तहखाने में छिप गया। शीयों का यह दृढ़ विश्वास है कि इमाम छिपा हुआ है, और वह समय का अंत होने पर अपने को प्रकट करेगा। इमाम के प्रकट न होने तक धार्मिक विवेचन का कार्य मुजतहीदियों द्वारा संपन्न होगा। शीया मुजतहीद वह विद्वान् होता है जिसके पास कोई ऐसा प्रमाणपत्र हो, जो किसी इमाम द्वारा दिया गया हो। सुन्नियों में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता।

(ख) **इस्माइली शीया** — इस संप्रदाय के लोग जो अभी तक पाए जाते है, (यथा, बोहरा खोजा, आगाखानी, द्रूस इत्यादि) धर्म परिवर्तन न करानेवाले समुदाय हैं, जो अपने अन्य मुस्लिम भाइयों के साथ मिल जुलकर रहते हैं, और जहाँ तक उनके राज्य का कानून अनुमति देता है, वे अपने सारे कार्यों का प्रबंध इमाम (नेता) या दाई (इमाम का कार्यवाहक) के नियंत्रण में करते हैं। किंतु मध्य काल मे इस्माइली शीयाओं ने इमाम के संबंध में ऐसे सिद्धांतों का प्रचार किया, जो प्राचीन रूढ़ इस्लाम से पूर्णतया असंगत प्रतीत हुए। वे हुलूल मे विश्वास करते थे (कि परमात्मा इमाम के रूप में अवतरित हुआ), और तनासुख याने पुनर्जन्म में भी अर्थात् जब इमाम मरता था, तो परमात्मा उसका शरीर छोड़कर उसके उत्तराधिकारी में अवतरित हो जाता था जो वयोज्येष्ठता के आधार पर इमाम पद प्राप्त करता था। इन दो आर्य विचारों के आधार पर यह मान लिया गया था कि इमाम पैगंबर से अधिक उच्च था। चूँकि ईश्वर का कर्तव्य है कि वह सदा मानव का पथप्रदर्शन करे, इसलिये इमामों की शृंखला का कभी अंत नही होगा। इमाम प्रकट अथवा अप्रकट रह सकता है। यदि इमाम अप्रकट हो तो उसका प्रतिनिधित्व दाई याने प्रधान कार्यवाहक करेगा, जो पुन: पारी पारी से अन्य कार्यवाहक या उप कार्यवाहक नियुक्त करेगा। यह अपेक्षित था कि प्रकट और अप्रकट इमाम सात सात की संख्या के दलों में एक दूसरे का अनुगमन करेंगे अर्थात् सात प्रकट इमामों के बाद सात अप्रकट इमाम हुआ करेंगे, जब तक समय का अंत न हो जाए। दिव्य आत्मा का अवतार होने के कारण इमाम समय और परिस्थितियों के अनुसार कुरान के नियमों का निराकरण या उनमें संशोधन कर सकता था। कट्टर इस्माइलियों के विचार से तथाकथित रसूल इमामों के दाई या कार्यवाहक ही हैं। अंत में यह उल्लेख्य है कि सामान्य जनवर्ग से तो कुछ नहीं कहा जाता था किंतु चुने हुए लोगों को, जो ७ या ६ श्रेणियों में विभक्त थे, कुरान के प्रतीकात्मक अर्थ की व्याख्या की जाती थी। ओ लियरी के अनुसार चतुर्थ श्रेणी में शिक्षार्थी को यह बताया जाता था, 'कि सातवें इमाम (अर्थात् जफ़र सादिक़ के बेटे ने इस्माइल या इस्माइल के बेटे मोहम्मद) ने रसूल मोहम्मद की शिक्षाओं का निराकरण कर नया दैवी संदेश (इल्हाम) दिया है।" जफर सादिक का सबसे बड़ा बेटा

इस्माइल मादक वस्तुओं का सेवन करता था; वह अपने पिता के जीवनकाल में ही मर गया और जफ़र सादिक ने, जिसने उसे पहले ही अपने उत्तराधिकार से वंचित कर दिया था, उसे मदीना के मजार बाकी में प्रतिष्ठित नागरिकों की उपस्थिति में दफना दिया। किंतु इस्माइलियों का कहना है कि इस्माइल और उसके उत्तराधिकारियों को सुन्नियों के अत्याचारों से बचाने के लिये ही यह फरेब किया गया था।

इस्माइली संप्रदाय की स्थापना का श्रेय अब्दुल्ला बिन साबा को है, जो यमन का मुसलिम धर्मदीक्षित यहूदी था। उसने उसमान के खलीफाकाल में अली को दैवी अवतार घोषित किया था। किंतु इसके विशिष्ट सिद्धांतों का विवेचन, जफ़र सादिक की मृत्यु (७६५ ई०) के कुछ दिनों बाद अब्दुल्ला बिन मेमीन ने किया।

आंदोलन -- फारस की खाड़ी क्षेत्र के किरमानी विद्रोह, मिस्र में फातिमी विप्लव और अलामुत के इमामों के विद्रोहों से स्पष्ट है कि शासक मुस्लिम वर्ग द्वारा जनसाधारण का इतना दमन हुआ था कि वे असहाय होकर एक असमय मुक्तिदायक की कल्पना करने लगे थे। प्रोफेसर बर्नार्ड लावेस ने गजली महान् के एक वक्तव्य का उल्लेख कर कहा है: 'ईरानी श्रमिक वर्ग को इस्माइली पाखंडधर्मियों से प्रभावित होने से बचाना असंभव था।' उपर्युक्त तीन बड़े आंदोलनों की असफलता के पश्चात् इस्माइली क्रांतिकारी नहीं रह गए, और उनका भी सुन्नियों तथा शीयाओं की तरह रूढ़िवादी संप्रदाय बन गया।

शीर्षाभिसूचक (Cephalic Index) वह अंक है, जो खोपड़ी की चौड़ाई को लंबाई से भाग देने पर प्राप्त भाग फल में १०० से गुणा करने पर प्राप्त होता है। खोपड़ी की चौड़ाई कानों के ठीक ऊपर मापी जाती है और लंबाई भ्रूमध्य (glabella) से लेकर पश्चकपाल के उदग्र बिंदु तक मापी जाती है। शीर्षाभिसूचक, यदि ७५ से कम होता है, तो सिर या खोपड़ी दीर्घशिरस्क (dolichocephalic), यदि ७५ से ८० के मध्य होता है, तो खोपड़ी मध्यशिरस्क (mesaticephalic) तथा यदि ८० या इससे अधिक होता है, तो खोपड़ी लघुशिरस्क (brachycephalic), कहलाती है। स्वीडन के ए. ए. रेटिसअस (A. A Retzius) नामक मानवशास्त्री ने इस अंक का सुझाव दिया था। मानव की विभिन्न प्रजातियों में विभेद करने में शीर्षाभिसूचक बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। मानव जाति में यह अंक ६० से १०० तक पाया जाता है। खोजों से सिद्ध हो गया है कि शीर्षाभिसूचक वातावरण से बहुत प्रभावित होता है। अतः अब इस अंक का उपयोग बहुत कम किया जाता है। यह कपालीय सूचक (Cranial index) से, जो केवल कपाल की माप से संबंध रखता है, भिन्न होता है। [अ० ना० मे०]

शुक्र (Venus) ग्रह सभी ग्रहों में सर्वाधिक कांतिमय है। यही नहीं, यह अत्यधिक कांति के स्थिर तारों से भी अधिक कांतिवाला है। यदि आकाश की नीली पृष्ठभूमि प्राप्त हो, तो उच्चतम तारकीय कांतिमान –४·४ की अवस्था में जब यह उच्चतम कांति की अवस्था में होता है, तब इसे दिन में भी खाली नेत्रों से देखा जा सकता है। रात में जब यह क्षितिज के ऊपर आ जाता है तब इसके प्रकाश में वृक्षों की छाया बन सकती है। सूर्य और पृथ्वी से निकटता और अंशतः इसका उच्च, ६१ प्रतिशत, काशानुपात इसकी कांति का कारण है। ग्रहों के सौरक्रम में इसका दूसरा स्थान है। इसकी सूर्य से औसत दूरी लगभग ६,७०,००,००० मील है। इसका व्यास ७,५८४ मील है, जो करीब करीब पृथ्वी के व्यास के बराबर है। सूर्य से इसका प्रसर कोण (angle of elongation) ४८° तक हो सकता है, जिसके कारण इसे सूर्यास्त के बाद ४½ घंटे तक देख सकते हैं। चंद्रमा के समान ही इसकी भी कलाएँ होती हैं, किंतु इसके आकार में प्रतीत परिवर्तन अत्यधिक होता है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इसका घूर्णन काल इसके २२५ दिनों के परिक्रमण काल के बराबर हो सकता है। शुक्र सतह पर घने मेघों का अविच्छिन्न आवरण है। अभिनव अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि शुक्र के वायुमंडल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड और बहुत बड़ी मात्रा में नाइट्रोजन है। ऑक्सीजन का अस्तित्व संदिग्ध है। इसके पृष्ठ का ताप ४३८° सें० है। इससे यह संकेत मिलता है कि शुक्र ग्रह पर प्राणि या वनस्पति जीवन संभव नहीं है। [मं० भ० प०]

शुक्ल, रामचंद्र (सन् १८८४-१९४१ ई०) आलोचक, निबंधकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि। जन्म बस्ती जिले के अगोना गाँव में। मीरजापुर के लंदन मिशन स्कूल से १९०१ में स्कूल फाइनल परीक्षा पास की जहाँ उनके पिता सुपरवाइजर कानूनगो थे। प्रतिकूल कौटुंबिक परिस्थितियों के कारण आगे की शिक्षा में सफलता न मिल सकी। १९०३ से १९०८ तक 'आनंद कादंबिनी' के सहायक संपादक का कार्य किया। १९०४ से १९०८ तक लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर रहे। १९०८ में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में 'हिंदी शब्दसागर' के संपादक नियुक्त होकर आए। श्यामसुंदरदास के शब्दों में 'शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं० रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है।' १९१९ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए जहाँ १९३७ से जीवन के अंतिम काल (१९४१) तक विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया।

प्रमुख रचनाएँ — आदर्श जीवन १९१४; विश्वप्रपंच १९२०-२१; बुद्धचरित १९२२; जायसी ग्रंथावली १९२४; हिंदी साहित्य का इतिहास १९२९; संशो० प्रवर्द्धित १९४०; गोस्वामी तुलसीदास संशो० संस्करण १९३३; चिंतामणि प्र० भा० १९३९ (विचार वीथी १९३० का संशो० परिवर्द्धित रूप); सूरदास १९४३; चिंतामणि द्वि० भाग १९४५; रसमीमांसा १९४९।

शुक्ल जी शायद हिंदी के पहले समीक्षक हैं जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने बाने में गुंफित काव्य के गहरे और व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने 'भाव या रस' को काव्य की आत्मा माना है। पर उनके विचार से काव्य का अंतिम लक्ष्य आनंद नहीं बल्कि विभिन्न भावों के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान् काव्य वह है जिसमें जीवन की क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' कहा है। शुक्ल

जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूर्त आदर्शों से प्रतिबद्ध है। 'हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है' इसलिये कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम 'बिंबग्रहण' या 'चित्रानुभव' कराना है। पूर्ण बिंबग्रहण के लिये वर्ण्य वस्तु की 'परिस्थिति' का चित्रण भी अपेक्षित होता है। इस प्रकार शुक्ल जी काव्य द्वारा जीवन के समग्र बोध पर बल देते हैं। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की स्थापनाएँ शास्त्रबद्ध उतनी नहीं हैं जितनी मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया। इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उसकी शक्ति काव्यनिबद्ध जीवन के व्यावहारिक और व्यापक अर्थों के मार्मिक अनुसंधान में निहित है। पर उनकी आलोचना का पूर्वनिश्चित नैतिक केंद्र उनकी साहित्यिक मूल्यचेतना को कई अवसरों पर सीमित भी कर देता है उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

जायसी, सूर और तुलसी की समीक्षाओं द्वारा शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना का उच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया। इनमें शुक्ल जी की काव्यमर्मज्ञता, जीवनविवेक, विद्वत्ता और विश्लेषणक्षमता का असाधारण प्रमाण मिलता है। काव्यगत संवेदनाओं की पहचान, उनके पारदर्शी विश्लेषण और यथातथ्य भाषा के द्वारा उन्हें पाठक तक संप्रेषित कर देने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। इनके हिंदी साहित्य के इतिहास की समीक्षाओं में भी ये विशेषताएँ स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी के मनोविकार संबंधी निबंध परिणत प्रज्ञा की उपज हैं। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढलता है—इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देनेवालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहारिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते हैं। समाज का संगठन और उन्नयन करनेवाले आदर्शों मे आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। भावों को जीवन की परिचित स्थितियों से संबद्ध करके काव्य की दृष्टि से भी उनका प्रामाणिक निरूपण हुआ है।

अपने सर्वोत्तम रूप में शुक्ल जी का विवेचनात्मक गद्य पारदर्शी है। गहन विचारों को सुसंगत ढंग से स्पष्ट कर देने की उनमें असामान्य क्षमता है। उनके गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उसमें यथातथता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। शुक्ल जी की सूक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ होती हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिंदी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी का गौरवग्रंथ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया कालविभाग, साहित्यिक धाराओं का सार्थक निरूपण तथा कवियों की विशेषताबोधक समीक्षा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। शुक्ल जी की कविताओं मे उनके प्रकृतिप्रेम और सावधान सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है। इनके अनुवादग्रंथ भाषा पर इनके सहज आधिपत्य के साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। जिस क्षेत्र में भी कार्य किया उसपर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनका प्रतिष्ठा युगप्रवर्तक की है।

सं० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल—डा० शिवनाथ; आलोचक रामचंद्र शुक्ल—संपा० गुलाबराय और डा० विजयेंद्र स्नातक; आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना—डा० रामविलास शर्मा; रामचंद्र शुक्ल (जीवन और कर्तृत्व) —चंद्रशेखर शुक्ल। आचार्य शुक्ल के समीक्षासिद्धांत—डा० रामलाल सिंह।

[वि० शं० म०]

शुजा शाहंशाह शाहजहाँ के द्वितीय पुत्र शाहजादा शुजा का जन्म २३ जून, १६१६ ई० को अजमेर में हुआ। पिता के विद्रोह के समय वह उन्हीं के साथ अपनी माँ की गोद में रहा, लेकिन विद्रोह का दमन होने के पश्चात् अपने भाइयों, दारा और औरंगजेब के साथ वह दक्षिण से लाहौर, शाही दरबार में लाया गया और अपने पितामह की मृत्यु के समय तक ये लोग नूरजहाँ के संरक्षण में रहे। दरबार में ही अन्य राजकुमारों के समान और मुगल परंपरा के अनुसार उसकी भी शिक्षा और दीक्षा का प्रबंध किया गया। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् आसफ खाँ ने तीनों राजकुमारों को नूरजहाँ से अलग कर सादिक खाँ को उनकी रक्षा के लिये सौंप दिया। शाहजहाँ के सिंहासनारोहण के पश्चात् आसफ खाँ के साथ वह शाही दरबार में अपने भाइयों के साथ आया। पिता ने उसे अतुल्य धनराशि प्रदान की।

उसके राजनीतिक जीवन का प्रारंभ १६३२-१६३३ में हुआ। दौलताबाद के किले पर अधिकार करने के बाद महाबत खाँ ने बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश पाकर सम्राट् से यह प्रार्थना की कि राजकुमार के संरक्षण में यथेष्ट सेना उसके सहायतार्थ भेजी जाय। अतएव सम्राट् ने शुजा को १०००० जात व १०००० सवार का मंसब देकर दक्षिणी सीमांत पर भेजा। परेंदा के दुर्ग को घेरने और बीजापुरी फौजों से युद्ध करने में तथा मराठा सरदारों के छापामार हमलों से निपटने में शुजा ने अपनी यौद्धिक क्षमता और साहस का परिचय दिया। बाद में शाहजहाँ ने उसे दक्षिण से बुला लिया। १६३८ में जब मुगलों का कंधार पर पुनः अधिकार हो गया तब शाहजहाँ ने उसके मन्सब को उन्नत करके उसे काबुल में रहने का आदेश दिया। उसे आज्ञा दी गई कि यदि ईरान का शाह सेना लेकर

कंधार पर फिर अपना अधिकार जमाने को अग्रसर हो तो वह उसका विरोध करे और दुर्ग की रक्षा करे। लेकिन अगले कुछ वर्षों तक आक्रमण न होने के कारण शुजा को आगरे वापस बुला लिया गया तथा बंगाल का सूबेदार बनाकर भेजा गया। १६४९ में कंधार को ईरानी फौजों ने फिर अपने अधिकार में कर लिया। जब १६५२ में शाहजहाँ ने दूसरी बार कंधार पर अभियान की योजना बनाई तब उसने शुजा को बंगाल से बुला लिया। औरंगजेब की कमान में सेना ने धावा बोला परंतु पूर्व के समान इस बार भी सफलता न मिली। अतएव शुजा बंगाल वापस गया और वहाँ वह १६५२ से १६५६ तक शांतिपूर्वक रहा। इस प्रकार बंगाल में रहते रहते उसे सत्रह वर्ष हो चुके थे।

बंगाल की जलवायु तथा वहाँ के आलस्य एवं विलासपूर्ण जीवन ने उसके शरीर पर कुछ हानिकारक प्रभाव तो डाला परंतु उसकी चेतना, स्फूर्ति, बुद्धिक्षमता में कोई कमी न आई। पिता की बीमारी तथा दारा के राजनीतिक बागडोर के सम्हालने का समाचार सुनकर उत्तराधिकार युद्ध के लिये वह अधीर हो गया। इस विषय पर उसने औरंगजेब और मुराद से भी पत्रव्यवहार किया। तीनों ने एक समझौते के अनुसार विभिन्न दिशाओं से दिल्ली पर आक्रमण करने की योजना बनाई। इतना ही नहीं, उसने अपने आपको स्वतंत्र कर अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के चलाए। औपचारिक रूप से तो उसके शाही पद में कोई कमी न रह गई थी, अब केवल अपने प्रतिद्वंद्वियों को हराने और दिल्ली के सिंहासन को हस्तगत करने की बात रह गई थी। अतएव वह एक विशाल सेना लेकर पश्चिम की ओर चल पड़ा। बिहार के सूबे को पार करता हुआ वह बनारस तक बिना किसी रोकटोक के पहुँच गया। शाहजहाँ और दारा ने उसे आगे बढ़ने से रोकने के लिये सुलेमान शिकोह व मिर्जा राजा जयसिंह को भेजा, पर जब वह वापस न हुआ तब शाही फौजों ने उसपर आकस्मिक आक्रमण कर उसे बहादुरपुर की लड़ाई में परास्त किया और उसका पीछा किया। सुलेमान शिकोह सूरजगढ़ तक आगे बढ़ता ही गया और वह अपने शत्रु से केवल १४ मील दूर था जब उसे अपने पिता का यह आदेश मिला कि औरंगजेब व मुराद की संयुक्त सेनाओं का विरोध करने के लिये वह तुरंत आगरा वापस आ जाए। अतः सुलेमान शिकोह ने शुजा से संधि कर ली और उसे बंगाल, उड़ीसा तथा मुंगेर के पूर्व का बिहार का क्षेत्र देकर वह आगरा की ओर चल पड़ा, पर रास्ते में ही उसे अपने पिता की हार की खबर मिली।

गद्दी पर बैठने के पश्चात् औरंगजेब ने शुजा को मैत्रीपूर्ण पत्र लिखा, उसे बंगाल के सूबे के अतिरिक्त बिहार का समस्त सूबा प्रदान कर दिया और दारा को परास्त करने के पश्चात् धन और भूमि के रूप में उसे अधिक संमान देने का वचन भी दिया। तत्काल तो शुजा को संतोष और हर्ष हुआ परंतु औरंगजेब के अपने पिता और भाई मुराद के प्रति व्यवहार को देखकर उसे अपने ज्येष्ठ भाई की उदारता में संदेह हुआ। अतः जब शुजा को यह सूचना मिली कि औरंगजेब दिल्ली छोड़कर पंजाब चला गया है और दारा को परास्त करने में व्यस्त है तब उसकी महत्वाकांक्षा फिर उग्र हो उठी। अतः उसने लड़ाई की तैयारियाँ प्रारंभ कर दीं और बंगाल से प्रस्थान करके पटना होता हुआ वह इलाहाबाद आ पहुँचा। उसके बढ़ने की खबर औरंगजेब को मुल्तान में मिली। अतः दारा का पीछा करने का कार्य उसने अपने अफसरों को सौंप दिया, और स्वयं आगरे आया (नवंबर, १६५८)। यहाँ से उसने शुजा का रास्ता रोकने के लिये राजकुमार सुलतान मुहम्मद को भेजा। परंतु शुजा आगे बढ़ता ही गया। अंततोगत्वा औरंगजेब ने स्वयं खजुवा के मैदान में उससे होड़ ली और उसे हराकर भगा दिया। मीर जुमला की फौजों ने उसका पीछा किया। फरवरी, १६५९ से अप्रैल १६६० तक बंगाल में शुजा ने शाही फौजों का मुकाबला वीरता और साहस से किया। अंत में विवश होकर मई, १६६० में अपने कुटुंब के साथ वह आराकान की ओर भाग गया। वहाँ पहुँचकर शुजा ने आराकान राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र रचा। उसके राज्य पर अधिकार कर फिर बंगाल पर हमला करने की योजनाएँ बनाई। पर इस षड्यंत्र का आभास जैसे ही वहाँ के राजा को हुआ, वैसे ही उसने शुजा का वध करने की एक योजना बनाई। शुजा डरकर जंगलों में भागा जहाँ जनवरी, १६६१ ई० में वह मार डाला गया। मुहम्मद शुजा, युग को देखते हुए बुद्धिमान, साहसी एवं महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। [बं० प्र० स०]

शुनक रुरु के पुत्र एक महर्षि, जिनकी उत्पत्ति प्रमद्वरा के गर्भ से हुई थी। पुराणों के प्रसिद्ध शौनक के यही पितामह हैं (म० भा० आदि० ५-१०)। शौनक को इनका पुत्र भी कहा गया है (वही, अनु० ३०-६५)। श्री कृष्ण का दूत बनकर ये हास्तिनापुर गए थे। (चं० भा० पां०)

शुनफू (क्वो हूसी) (ल० १०२०-९०)। चीनी चित्रकार। चीनी कला के प्रख्यात भूदृश्यकारों में इसका स्थान है। कला के ऊपर उसके व्याख्यान भी उपलब्ध हैं जिन्हें उसके पुत्र ने 'वनों तथा जलधाराओं के महान् संदेश' नामक ग्रंथ में संगृहीत किया। शुन-फू ने चित्र-अकादमी से अल्पावस्था में चित्रकला सीखकर उसमें उत्तरोत्तर अपने व्यक्तित्व का विकास किया। वह प्रकृति के अवयवों में जीवित आकृतियाँ प्रतिष्ठित करने के लिये प्रसिद्ध है। 'उसके पर्वतों पर बादल इस प्रकार बिठाए जाते थे जैसे त्वचा पर झुर्रियाँ, साँप की कुंडलियों की भाँति उनमें बल होते थे, उनके पत्थर ऐसे चित्रित होते थे जैसे दैत्यों के चेहरे, वृक्षों की शाखाएँ जैसे शिकारी पक्षी के पंजे। उसके बनाए चित्र आज उपलब्ध नहीं पर 'फ्रीअर गैलरी' में सुरक्षित, चित्रण की शक्ति और शालीनता में अप्रतिम देहात के जादू को काव्य के छंद से अभिव्यक्त 'पीतनद की घाटी में पतझड़' नामक चित्र उसका बनाया कहा जाता है। [प० उ०]

शुहसिएन (क्वो चुंग-शू) दसवीं शती ई० का चीनी चित्रकार, होनान प्रांत के लो-यांग नगर में जन्म। यह असाधारण प्रतिभावान् था और सात वर्ष की उम्र में ही साम्राज्य चित्रकला कालेज में प्रवेश के लिये प्रार्थी हुआ। द्रुतगति से प्रगति करता हुआ यह सम्राट् ताइ त्सू के समय 'महान् राष्ट्रीय आचार्य' के पद पर जा पहुँचा। वह 'चिएह-हुआ' नामक चित्रणशैली के लिये प्रसिद्ध हुआ। उसके चित्र अधिकतर वास्तुप्रधान हैं, जिनकी रेखाओं, अवयवीय अनुपात आदि का यह कुशल चित्रकार है। [प० उ०]

शूद्र — भारतीय समाजव्यवस्था में चतुर्थ वर्ण या जाति शूद्र है। वायुपुराण (१.८.१५८), वेदांतसूत्र (१.३.३४) और छांदोग्य एवं वेदांतसूत्र के शांकरभाष्य में शुच और द्रु धातुओं से शूद्र शब्द व्युत्पन्न किया गया। वायुपुराण का कथन है कि "शोक करके द्रवित होनेवाले परिचर्यारत व्यक्ति शूद्र हैं"। भविष्यपुराण में श्रुति की द्रुति (अवशिष्टांश) प्राप्त करनेवाले शूद्र कहलाए (१.४४.३३)। दीघनिकाय में खुद्दाचार (क्षुद्राचार) में सुद्द शब्द संबद्ध किया गया (३,९५)। होमर के द्वारा उल्लिखित 'कूद्रो' से शूद्र शब्द जोड़ने का भी प्रयत्न हुआ (वाकरनागेल, द्रष्टव्य रामशरण शर्मा, पृ० ३५)।

शूद्र शब्द मूलतः विदेशी है और संभवतः एक पराजित अनार्य जाति का मूल नाम था (नीचे देखिए)।

उत्पत्ति — अ० पारंपरिक संभावनाएँ — ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०, ९२, २) से पुरुष के पदों से शूद्र की उत्पत्ति का उल्लेख है। पुरुषोत्पत्ति का यह सिद्धांत ब्राह्मणग्रंथ (पंचविंश ब्राह्मण, ५,१,६-१०), वाजसनेयी संहिता (३१,११), महाभारत (१२,७३,४-८), पुराण (वायु, १,८,१५५-५९, विष्णु (१,६), धर्मसूत्र (वसिष्ठ ध० सू० ४, २), स्मृतियों में (मनु, १, ३१) शुद्ध अथवा समिश्र रूप से प्राप्त होता है। ब्राह्मणग्रंथों (शतपथ ब्रा० १४,४,२,२३, बृहदारण्यक १,४,११) में शूद्रदेव पूषा से शूद्र की उत्पत्ति बतलाई गई है। विष्णु और वायुपुराण के अनुसार यज्ञनिष्पत्ति के लिये चतुर्वर्णों का सर्जन हुआ। शांतिपर्व (अ० १८८) और गीता में गुणकर्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य प्रतिष्ठित है। हिंसा, अनृत, लोभ और अशुचिता के कारण तामसी द्विज कृष्ण होकर शूद्र वर्ण में परिणत हुए (वायु० ६, १९४-१९५, विष्णु १,६,५-६ भी)। बौद्ध परंपरा में बंधपादपच्च (ब्रह्मा के पदों ?) से इब्भ (सेवक) और किन्ह (कृष्ण) निकले (दीघनि० १,९० और १००)। जैन परंपरा में तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके शिष्य भरत ने चारों वर्णों का निर्माण किया (आचारामसूत्रचूर्णि, ४,५,६, आदिपुराण, १६,१४८)।

ऐतिहासिक पर्यालोचन — पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार प्रारंभ में दो ही वर्ण थे, आर्य और दास (हत्वादस्यून प्र आर्यं वर्णमावत्)। अथर्ववेद में आर्य दास का युग्म आर्यशूद्र में परिणत हो गया (प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रार्याय)। अतः शूद्र दास दस्यु के उत्तराधिकारी हैं। किंतु यह मत निर्भ्रांत नहीं। उपर्युक्त स्थलों पर (अर्थात् १९, ३२,८, वाजसनेयी संहिता में) शब्द आर्य नहीं किंतु अर्य (वैश्य) है। वेबर, अंबेडकर, जिमर और रामशरण शर्मा क्रमशः शूद्रों को मूलतः भारतवर्ष में प्रथमागत आर्यस्कंध, क्षत्रिय, ब्राहुई भाषी और आभीर संबद्ध मानते हैं। शूद्र जनजाति का उल्लेख डायोडोरस, टालेमी, और ह्वेनसांग भी करता है। शूद्र वर्ण में संभवतः आर्य और अनार्य कर्मकरों के युगल तत्व थे।

धार्मिक स्थिति

विविध युगों और परंपराओं में शूद्रों की स्थिति विभिन्न थी।

(अ) वैदिक परंपरा — यज्ञ आधान के अधिकारी न होते हुए याज्ञिक समारोह में संमिलित हो सकते थे। पुरुषमेध के प्रसंग में (वाजस० सं० ३०, ५) वे वैवर्णिकों के साथ वर्णित हैं। राजसूय में दानप्राप्ति (काठक सं० ३०,७,१) और सोमपान (ऐतरेय ब्रा० ७, २९४) करते थे। हविष्कृत में आधान से आहूत होते थे और महाव्रत में उनका अपना कार्य था।

अथर्ववेद (१९,३२,८) में कल्याणी वाक् (वेद ?) का श्रवण शूद्रों को विहित था। बृहद्देवता (४,२५-२६) और पंचविंश ब्राह्मण (१४,११,१७) से दासीपुत्र कक्षीवत्, पंचविंश (१४,६,६) से शूद्रोत्पन्न वत्स, छांदोग्य से सत्यकाम जाबाल तथा शूद्रराजा रैक्व के वेद विद्या का अध्ययन ज्ञात होता है। दासीपुत्र कवष ऐलूष ऋग्वेद १०,३०-३४ के ऋषि के रूप में विख्यात है। परंपरा है कि ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महीदास इतरा (शूद्रा) का पुत्र था। किंतु बाद में वेदाध्ययन का अधिकार शूद्रों से ले लिया गया। गौतमधर्मसूत्र (१२,४) में वैदिक श्रवण, उदाहरण और धारण करने पर शूद्र को दंडार्ह माना गया।

(आ) बौद्ध—अश्वघोष की वज्रसूची (पृ० ५) का कथन है कि "दृश्यते च शूद्रा अपि क्वचिद् वेदव्याकरण — सर्वशास्त्रविदः।" शार्दूलकर्णावदान में चांडाल त्रिशुंक सांगोपांग वेद, उपनिषद् का ज्ञाता है। उद्दालक जातक में शूद्र भी श्रुति का अध्ययन और निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं :—

> खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डाल पुक्कसा।
> सब्बे वा सोरता दाता सब्बे वा परिनिब्बुता॥

(इ) जैन — 'उत्तराध्ययन सूत्र' (१२,१,२) का चांडाल हरिकेशी, 'उवासगदसाओ (पृ० २०४) का सद्दाल कुम्हार, और 'अंतगडदसाओ' का मालाकार अर्जुन निम्नवर्ण होकर भी आध्यात्मिक उच्चता प्राप्त कर सके। अनवद्य आचार और उपस्कार की शुचिता होने पर शूद्र भी देवपूजन देवकार्य के योग्य माना जाता था (नीतिकाव्यामृत, ८,१२)। किंतु शूद्र श्रावक हो सकता है मुनि नहीं (प्रवचनसार ३,) यशस्तिलक (८, ४३)। इसी प्रकार शूद्र पूजकाचार्य नहीं हो सकता (धर्मसंग्रह श्रावकाचार्य, ९,१४५-१४६)।

(ई) आगम (शैव) — शैव संप्रदायों में कुछ, यथा शैव सिद्धांत संप्रदाय तथा पाशुपत, वर्णभेद को स्वीकार करते हैं। पाशुपतसूत्र में 'शूद्रेण नाभिभाषेन्च' का विधान है किंतु पंचतंत्र में पाशुपत तपस्वी के वर्णन में कहा है कि शूद्र अथवा चांडाल भी दीक्षित होने पर भस्मांग—शिवस्वरूप हो जाता है। कौल (कुलार्णव तंत्र, ८,९६) तो यह मानते हैं कि 'भैरवीचक्र में प्रविष्ट होने पर शूद्र भी द्विजाति हो जाता है।' स्वच्छंदतंत्र दीक्षा के पश्चात् शूद्र को उपवीत धारण करने की व्यवस्था करता है (४,६७,७५)।

(वैष्णव) वैष्णवी दीक्षा सारे वर्णों को विहित है। किंतु दीक्षोपरांत भी वर्णभेद की स्थिति रहती है। यथा नामसंस्कार में चारों वर्णों का नामांत क्रमशः शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास (परमसंहिता, १७,१३-१४) होना चाहिए, पंचगव्य क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (जयाख्य, १५, १८७-८८) को देना चाहिए। शूद्र का उपवीत गुरुमंत्र (परमसंहिता, १७, १४) से युक्त होता है, कवचमंत्र (सात्वत, १९,५३-५४) से नहीं। शूद्रों के लिये

अनिरुद्ध विशेष रूप से पूज्य हैं। पांचरात्र में कुछ शूद्र भक्त हुए जो संप्रदाय में विशेष प्रतिष्ठित हो सके। अंदाल देवदासी का नाम विशेष विख्यात है।

(उ) पुराण — अनेक अमंत्रक संस्कार शूद्रों को विहित हैं। साधारण वृद्धि श्राद्ध, पंचमहायज्ञ, वृषोत्सर्ग तथा संपूर्ण पूर्त कर्म एवं पुराण, महाभारत श्रवण शूद्र कर सकते हैं। आर्ष क्रम से शूद्र कश्यपगोत्रीय और वाजसनेय शाखा के हैं। पुराणों की स्मार्त वैष्णव और स्मार्त शैव परंपरा के शूद्रों को भी क्रमश: गोपीचंदन, तुलसी और ऊर्ध्वपुंड्र (स्कंद, वैष्णव, मार्गशीर्ष माहात्म्य २,२१-२६) तथा भस्मयुक्त पुंड्र एवं रुद्राक्ष माला का विधान है (देवी भागवत, ११, ७, १०)।

(ऊ) महाभारत — शांतिपर्व (६०,३८) पाकयज्ञ और पूर्ण पात्र दक्षिणा का विधान शूद्रों के लिये करता है। शूद्र पैजवन ने ऐंद्राग्न यज्ञ किया था।

> शूद्रो पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ।
> ऐंद्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति न:श्रुतम्।।
>
> —शांतिपर्व ६०,३८

(ए) मध्ययुग - स्मार्त परंपरा के तुलसीदास शूद्र को 'ताड़नीय' और 'विप्र अवमानी शूद्र' को शोचनीय मानते हुए भक्त शूद्र को 'भुवन भूषण' भी मानते हैं। उन्हें शूद्रों के द्वारा उपवीत धारण कर व्यासपीठ पर आसीन हो द्विजों को उपदेश देना आलोचनीय लगता है (मानस, उत्तरकांड)। वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्य कृष्णदास शूद्र होते हुए भी संप्रदाय में विशेष संमानित थे। छीतस्वामी ने विट्ठल के विषय में कहा कि 'सबकें स्त्रीशूद्रादिक सबकों ब्रह्म संबंध करावे।' निर्गुनियों और संत संप्रदाय में जातिभेद मान्य नहीं था। कबीर, रैदास, सेना, पीपा इस काल के प्रसिद्ध शूद्र संत हैं। असम के शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित मत, पंजाब का सिक्ख संप्रदाय और महाराष्ट्र के बारकरी संप्रदाय ने शूद्रमहत्व धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया। दसनामी नागा साधुओं के जूना, आवाहन, निरंजिनी, आनंद, महानिर्वाणी, अतल, जगन, अवलिया, सूखड़ और गूदड़ अखाड़ों में शूद्रप्रवेश हो सकता था।

सामाजिक स्थिति

वत्स कवष ऐलूष, कक्षीवान और सत्यकाम जाबाल की कथाओं से ज्ञात होता है कि शूद्र और द्विजों में उत्तर वैदिक काल में वैवाहिक संबंध हो जाया करता था यद्यपि यह सामान्यत: अच्छा नहीं माना गया होगा। वैश्य और शूद्रों में विवाह सामान्य रूप से प्रचलित था (तैत्तरीय सं० ७,४,१६, ३)।

(अ) बौद्ध — भद्दसालजातक और वासवखत्तिया के पुत्र विडूडभ की कथाओं से ज्ञात होता है कि बौद्ध समाज में अन्नपान और विवाह के संबंध में जातिगत वैषम्य था किंतु बौद्ध संघ मे यह विभेद स्वीकार नहीं था। सुत्तनिपात के आमगंधसुत्त में बुद्ध का स्पष्ट कथन है कि किसी के द्वारा भी बनाए गए भोजन से अशौच नहीं होता। महापरिनिब्बान के ठीक पहले बुद्ध ने कम्मार पुत्र चुंदा के यहाँ सुक्कमादव ग्रहण किया था। श्रावस्ती के मालाकार जेट्ठक की धीता ही मल्लिका थी जो उदयन के साथ विवाहित हुई। काष्ठहारी की पुत्री (कट्ठहार जातक) और फलविक्रेता की कन्या (जातक, ३, १४) अग्रमहिषी बन सकती थी। ललितविस्तर और वज्रसूत्री में प्रतिनिधि बौद्ध मत उल्लिखित है कि शूद्रा से विवाह पातक का कारण नहीं।

(आ) जैन — 'शूद्र भोजन शुश्रूषा नरकाय भवेदिदम्' (बृहत्कथा कोष, ३०, १३) प्रतिनिधि जैन मत है। किंतु साधुओं को ऊँच नीच के भेद करने का निषेध था (उवासगदसाओ पृ० १८१-८४)। इसी प्रकार 'शूद्रा शूद्रेण' वोढव्या नान्या' (आदिपुराण, २६,२४७) विवाह का प्रचलित विचार था। किंतु शूद्राओं का उच्च वर्णों में संभवत: विवाह होता था। मालाकार की पुत्री बनी हुई पद्मावती से राजा दंतीवाहन का विवाह करकंड महाराज कथानक (बृहत्कथा कोष, १४५-१४७) में वर्णित है।

(इ) धर्मसूत्र स्मृति — पद से उत्पन्न होने के कारण पदपरिचर्या शूद्रों का विशिष्ट व्यवसाय है। द्विजों के साथ आसन, शयन वाक् और पथ मे समता की इच्छा रखनेवाला शूद्र दंड्य है (गौतम ध० सू० १२, ५)। द्विजों के प्रति आक्रोश करने पर शूद्र को शारीरिक दंड दिया जा सकता है, (वही, २, १०, ७-१४)। कम उम्र का आर्य वृद्ध शूद्र से भी प्रणाम का अधिकारी है (वही, ६, ११, १२)। शूद्रा के साथ ब्राह्मण का विवाह निषिद्ध और अन्य द्विजों का अप्रशस्त है। (मनु० ३, १६, १६)। मनु के अनुसार शूद्रों को आसुर विवाह पद्धति विशेष रूप से विहित है (मनु० ३,२४)

राजनीतिक स्थिति

तैत्तरीय संहिता में राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और जन्य (शूद्र ?) क्रमश: पर्ण, औदुंबर, अश्वत्थ और निग्रोध के घट से राजा का अभिषेक करते हैं। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक में (महा० १४, ६०, २४-३५) 'मान्यशूद्र' आमंत्रित थे। विराट की 'मंत्रिसभा' 'विप्र राजन्य विशसशूद्रका' थी (विराट, ६, २५)। भीष्म का अनुशासन है कि 'राजा की मंत्रिसभा में चार प्रगल्भ सात्विक ब्राह्मण, दस अथवा आठ शस्त्रपाणि क्षत्रिय, २१ संपन्न वैश्य और ३ विनीत शूद्र हों (शांति, ८६.७-६)। पश्चिमोत्तर में आभीर और निषादों के प्रतिवेश मे शूद्रों का संभवत: एक गणराज्य भी था (सभा०, २६. ८-६)। मनु (४, ६१) डायोडोरस, टालेमी, और ह्वेनसांग (वाटर्स. २ पृ० २५२) शूद्र राज्य का उल्लेख करते है। विष्णुपुराण (४, २४, १८) के अनुसार 'सौराष्ट्र अवंति-शूद्र-अर्बुद-मरुभूमि' पर व्रात्य द्विज, आभीर और शूद्र शासन करेंगे। मृच्छकटिक का अंत ही शूद्रराज के अभिषेक से होता है। मुद्राओं तथा अभिलेखों से अनेक शूद्र राजाओं तथा राज्याधिकारों का पता मिलता है।

आर्थिक

उत्तर वैदिक काल में शूद्र की स्थिति दास (slave स्लेव) अथवा सर्फ (serf सर्फ) की थी (वैदिक इंडेक्स) अथवा नहीं (रामशरण शर्मा पृ० १६३-१६४), इस विषय में निश्चित नहीं कहा जा सकता। वह कर्मकर और परिचर्या करनेवाला वर्ण था। सर्वमेध, अश्वमेध और एकाह के अवसर पर 'शूमिशूद्रवर्ज्य' दान

के नियम से यह अनुमित किया जा सकता है कि शूद्र के ऊपर स्वामित्व नहीं माना जाता था।

बौद्ध वाङ्मय में बड्ढकी, कंमार (लोहार), चम्मकार, चित्तकार (जातक, ६, पु० २२ और ४२७) आदि की श्रेणियों का उल्लेख है। इनके 'जेट्ठक' और 'पमुख' रहा करते थे।

बौद्ध साहित्य की 'हीन जाति' और 'हीन सिप्प' के समान ही जैन वाङ्मय में 'आर्य सिप्प' और 'अनार्य सिप्प' का भेद है। आर्य-शिल्प में दर्जी, तंतुवाय, छत्रकार इत्यादि तथा अनार्य शिल्पियों में चमार, नाई की गिनती थी।

व्यवहारगत (Legal लीगल) — धर्मसूत्र, अर्थशास्त्र और स्मृतियों से शूद्र संबंधी व्यवहार ज्ञात होता है। सामाजिक वैषम्य के कारण सामान्यतः चतुर्वर्णपरक दंडसमता प्रचलित नहीं थी। वाक्पारुष्य और स्त्रीसंग्रहण में समान अपराधों के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र के लिये विभिन्न दंडों का विधान था (गौतम, ध० सू० १२, १)।

सं०ग्रं० — १, विधुशेखर भट्टाचार्य : 'दि स्टेट्स ऑव् शूद्राज इन एंशेंट इंडिया,' विश्वभारती त्रैमासिक १९२४; तथा 'शूद्र', इंडियन एंटीक्वेरी १९५१; २. रामशरण शर्मा : 'स्टडीज इन एशेंट इंडिया, दिल्ली १९५८; ३. बी० आर० अंबेडकर : 'हू वेर दि शूद्राज', बंबई, १९४६; ४. आल्फ्रेड हिल्लेब्रांट : 'ब्राह्मण शूद्राज', ब्रेसलाउ १८९६। [वि० श० पा०]

शूद्रक संस्कृत साहित्य में सुप्रसिद्ध रूपक मृच्छकटिक के यह निर्माता माने जाते हैं। इनकी एक और कृति पद्मप्राभृतक नामक भाण है। इनकी रचनाशैली बड़ी मनोहर एवं समाज की सच्ची अवस्था प्रतिबिंबित करनेवाली है। शूद्रक ने समाज में विविध स्तर के मानवों के सहज अनुभवों का चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। प्रयुक्त भाषा और शैली के आधार पर इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। यह कालिदास से पूर्व और भास के बाद के कवि प्रतीत होते हैं। कई पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने शूद्रक को काल्पनिक पुरुष माना है। वे यह स्वीकार नहीं करते कि शूद्रक कोई ऐतिहासिक पुरुष था। उसी तरह उनकी प्रसिद्ध कृति मृच्छकटिक को भी वे मौलिक रचना नहीं मानते। उनका मत है कि मृच्छकटिक भासरचित 'चारुदत्त' नामक रूपक का ही एक परिबृंहित संस्करण मात्र है। (दे० मृच्छकटिक)।

वस्तुतः शूद्रक के संबंध में सूक्ष्म एवं तात्विक विचार किया जाय तो उनके अस्तित्व में संदेह करने के लिये कहीं अवकाश नहीं मिलता। कविवर राजशेखर ने वंदनीय कवियों का स्मरण करते हुए रामिल-सौमिल को शूद्रक पर रचित एक परिकथा का निर्माता बताया है— 'तौ शूद्रक कथाकारौ वंद्यौ रामिल सौमिलौ'। यह प्रसिद्ध उक्ति है— 'वररुचिरीश्वरदत्तश्यामिलुक-शूद्रकाश्च चत्वार एते भाणान् बभणुः, का शक्तिः कालिदासस्य' जिसमें भी शूद्रक का उल्लेख है। कथासरित्सागर में शूद्रक को शोभावती का राजा बताया गया है; वेतालपंचविंशति में उन्हें वर्धमाननरेश कहा है; हर्षचरित् में महाराज चंद्रकेतु के साथ शूद्रक के विपक्ष का उल्लेख मिलता है और कादंबरी में कथारंभ विदिशाधिपति शूद्रक से होता है। ऐतिहासिक कवि कल्हण ने शूद्रक को सत्यसंध एवं दृढ़ प्रशासक बताते हुए विक्रमादित्य से पूर्वतन कहा है [राज० त० ३ ३४३]। शूद्रक के उदात्त चरित् पर विरचित अनेक रचनाओं के उद्धरण भी परवर्ती ग्रंथों में मिलते हैं। भोजदेव ने अपने शृंगारप्रकाश (अ० २८) में 'शूद्रककथायां हरि-मतीवृत्तान्ते यथा—' कहकर एक अंश उद्धृत किया, पुनः ३०वें अध्याय में 'सम्भ्रातस्त्वरितमसौ·····' पद्य को शूद्रकचरित् नामक आख्यायिका से उद्धृत बताया है। आचार्य हेमचंद्र ने भी अपने काव्यानुशासन में शूद्रककथा का 'आनंद. पंचशिखस्य शूद्रककथायाम्' कहकर उल्लेख किया है। अनंत कवि कृत 'वीरचरित्' नामक महाकाव्य में शकप्रवर्तक शालिवाहन के मित्र रूप में शूद्रक का वर्णन किया और साथ ही यह भी कहा है कि शालिवाहन के पुत्र शक्तिकुमार के उद्दंड हो जाने पर शूद्रक ने उसे पदच्युत कर स्वयं राजासन ग्रहण किया था। पार्जिटर के मत से कातंत्र व्याकरण के प्रवर्तक हाल सातवाहन ईसवी पहली शताब्दी के राजा हुए जो आंध्र नरेशों की परंपरा में १०वें राजा थे और कातंत्र पद्धति का उपहास करनेवाले महाराज शूद्रक उनके समकालिक थे (ब्यूहलर—कश्मीर विवरण)। पुराणों के आधार पर महाराज शिवस्वाती के समकालिक महाराज शूद्रक के होने का प्रमाण मिलता है। पार्जिटर शिवस्वाती का काल ईसवी सन् का प्रारंभ मानते हैं अतः शूद्रक की तिथि ईसा पूर्व ठहरती है। लासेन शूद्रक का काल सन् १५० ई० के लगभग तथा विलसन स्कंदपुराण के आधार पर ई० सन् १९० मानते हैं। विल्फर्ड का मत है कि शूद्रककाल ईसा पूर्व १-३ शताब्दी के मध्य है। नक्षत्रगणना के आधार पर श्री पाठक महोदय शूद्रक का समय ईसा पूर्व ३री शताब्दी निर्धारित करते हैं। मोनियर विलियम्स 'इंडियन विज्डम' नामक ग्रंथ में शूद्रक का अस्तित्व ई० प्रथम शताब्दी में सिद्ध करते हैं। प्रिसेप, रेग्नॉंग, पिशेल एवं मैक्डोनल आदि लेखकों के मत में ई० २०० से ई० ६०० के बीच की विभिन्न तिथियाँ शूद्रक के संबंध में कल्पित की गई हैं। अतएव अधिकांश प्रमाण इसी तथ्य को प्रकट करते हैं कि शूद्रक एक ऐतिहासिक पुरुष थे और उनका आविर्भाव-काल ईसवी सन् के प्रारंभ के लगभग निश्चित होता है। इससे यह भी निर्विवाद है कि मृच्छकटिक उनकी ही मौलिक कृति है जिसका संक्षेप केरल के चाकियार (नटमंडली) द्वारा अभिनयार्थ नाटकीय शैली में प्रसारित किया गया जो त्रिवेंद्रम रूपकसंग्रह में संगृहीत उपलब्ध होने मात्र से भास की रचना माना जा रहा है।

अश्मकवासी विप्रकुल में प्रसूत शूद्रक राजकुमार स्वाती के साथ शैशव में संवर्धित हुए और उनका एक अभिन्नहृदय मित्र बंधुदत्त नामक विप्र था। कहा जाता है कि एक बार संघालिका नामक भदंत ने शूद्रक को किसी कंदरा में बंद कर वध करना चाहा था, परंतु अपने पराक्रम से उसे परास्त कर शूद्रक बच निकले और अनेक देशों का पर्यटन करते हुए उज्जयिनी पहुँचे और वहाँ के राजा को पदच्युत कर स्वयं राज्यारूढ़ हुए। वह ऋक्साम के विशिष्ट वेत्ता थे और श्रौत परंपरा से उन्होंने अनेक याग किए और अश्वमेध भी किया। वह शतायु हुए। वस्तुतः वही शकारि महाराज शूद्रक थे जो विक्रमादित्य प्रथम कहलाए तथा विक्रम संवत् के प्रवर्तक हुए। महाराज समुद्रगुप्त स्वयं अपने कृष्णचरित् काव्य के आरंभ में

शूद्रक का उल्लेख करते हुए लिखते हैं — "वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम्"। ब्रिटिश म्युजियम में सुरक्षित हस्तलिखित 'कुमतिलतंत्र' में 'राजा शूद्रक देवश्च वर्षसप्ताब्धि चाश्विनो' और यल्लयकृत ज्योतिषदर्पण (पत्र ७१) में 'बाणाब्धिगुणदस्रोनाः शूद्रकाब्दाः कलेर्गताः' आदि सुदृढ़ लिखित प्रमाणों के आधार पर संवत्प्रवर्तक महाराज शूद्रक का व्यक्तित्व सिद्ध होता है।

[सु० ना० शा०]

शून्य (Zero) वह अंक (०) है, जिसका मान 'कुछ नहीं' है। इसके आविष्कार के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किंतु इतना सब मानते हैं कि अन्य अंकों की भाँति इसकी खोज भी भारत में हुई। ब्रह्मगुप्त (५९८ ई०) को शून्य की संकल्पना का बोध था। अरबवासियों ने भारत से शून्य तथा अन्य अंकों को लिया और उनका तथा स्थैतिक मान (position value) के आधार पर संख्या लेखन का प्रचार ७१६ ई० से स्पेन और अन्य यूरोपीय देशों में किया। १२वीं शताब्दी के महानतम, भारतीय गणितज्ञ आर्यभट्ट ने शून्य की क्रियाओं के ८ नियम दिए हैं। ऐसे भिन्न को, जिसका हर (denominator) शून्य और अंश (numerator) कोई अन्य संख्या हो, आर्यभट्ट ने अनंत (Infinity) की संज्ञा दी थी। शून्य को अरबवासियों ने सिफर कहा और उसके लैटिन अनुवाद के अपभ्रंश से अंग्रेजी रूपांतर जीरो बना। ज्ञान-विकास के इतिहास में शून्य और अंकों के स्थैतिक मान के आविष्कार का प्रमुख स्थान है।

सं० ग्रं० — कैंटर : हिस्ट्री ऑव मैथेमैटिक्स; डिक्सन : हिस्ट्री ऑव दि थ्योरी ऑव नबर्स; बि० दत्त और ए० एन० सिंह : हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथेमैटिक्स (१९३५ ई०); जे० एफ० स्कॉट : ए हिस्ट्री ऑव मैथेमैटिक्स (१९५८ ई०)। [ह० चं० गु०]

शूर्पणखा (जिसके नख सूप जैसे लंबे चौड़े हों) रावण की बहन जो राम तथा लक्ष्मण द्वारा प्रेमप्रस्ताव में निरादृत होने पर सीता की ओर झपटी थी। तब लक्ष्मण ने इसके नाक कान काट लिए और यह रोती हुई अपने भाई के पास गई। राम-रावण-युद्ध का तात्कालिक कारण यही हुई थी। [रा० द्वि०]

शूल लौकिक व्यवहार का शब्द है, जो कालांतर से उदर में होनेवाली तीव्र पीड़ा के आक्रमणों का द्योतक है, जिसका कारण क्रमहीन और अव्यवस्थित संकोच होता है। उदर में चार अंगों में इस प्रकार की पीड़ा होती है। संबंधित अंगों के अनुसार शूल आंत्रिक (intestinal), पैत्तिक (biliary), वृक्कीय (renal) और उंडुकी (appendicular) कहलाता है। रोगी भला चंगा स्वस्थ दशा में होता है। अकस्मात् बिना किसी पूर्वलक्षण के पीड़ा, जो दारुण होती है, प्रारंभ हो जाती है, जिससे रोगी छटपटाता है।

आंत्रिक शूल, क्षुद्रांत में ऐंठन होने से होता है। यह ठहर ठहरकर, नाभि के आगे और प्रतीत होता है। पैत्तिक शूल उस समय होता है, जब कोई छोटी अश्मरी पैत्तिक या संयुक्त पैत्तिक नलिका में होकर, पित्ताशय से ग्रहण्याशय में जाती है। नलिका से अश्मरी के निकल जाने के पश्चात् शूल बंद हो जाता है। यह शूल उदर के दाहिने पार्श्व में तथा दाहिने स्कंध में प्रतीत होता है। बाईं ओर भी शूल प्रतीत हो सकता है।

वृक्कीय शूल, अश्मरी के वृक्क से गवीनी में चले जाने पर एवं वहाँ पर अटक जाने से होता है और वहाँ से निकलकर अश्मरी के मूत्राशय में चले जाने पर शूल का अंत हो जाता है। शूल बाएँ कटि प्रांत में पीछे की ओर प्रारंभ होकर, नीचे और सामने शिश्न की नोक की ओर जाता प्रतीत होता है। उंडुकी शूल दाहिने श्रोणिखात (fossa) में परिमित रहता है। शामक ओषधियों और स्थानीय सेंक से सब दशाओं में लाभ होता है। [शि० शं० मि०]

शूलपर्णी (Holly) आइलेक्स (Ilex) जीनस का सामान्य नाम है। यह दोनों गोलार्धों के उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबंधों में पाया जाता है। यह अपनी सुंदर पत्तियों एवं आकर्षक लाल बेरियों के कारण लगाया जाता है। इस वंश के वृक्ष या क्षुप (shrub) पर्णपाती (deciduous), या सदाहरित होते हैं। पर्णपाती स्पीशीज अधिकांशतः क्षुप होते हैं, जबकि सदाहरित स्पीशीज के वृक्ष छोटे, या मध्यम ऊँचाई के, होते हैं। वृक्ष की ऊँचाई प्रायः ४० से ५० फुट तथा कभी कभी १०० फुट तक होती है। शूलपर्णी के पादप एकलिंगी या उभयलिंगी (hermaphrodite) होते हैं।



अ ब

आइलेक्स (Ilex)

अ. पुष्प चित्र तथा ब. पुष्प।

इसकी पत्तियाँ प्रायः अरीय, पुष्प हरे तथा लाल, काली या कभी कभी पीली बेरियाँ होती हैं, जो शीत ऋतु पर्यंत डालियों पर रहती है। इस वृक्ष की लकड़ी, कठोर, भारी, सफेद तथा सुंदर गठन वाली होती है, जिसका उपयोग मापने के पैमाने को बनाने तथा फर्निचरों में अस्तर देने के लिये होता है। बगीचों में बाड़ लगाने के लिये शूलपर्णी का उपयोग किया जाता है। पतझड़ या वसंत ऋतु सदाहरित स्पीशीज लगाने का सर्वोत्तम समय है। शूलपर्णी के लगभग ३०० स्पीशीज ज्ञात हैं। [अ० ना० मे०]

शृंगी (१) ऋषि विभांडक के पुत्र जो महाराज दशरथ के दामाद थे। इनका नाम ऋष्य शृंग भी था। शांता का विवाह इनके साथ कर दिया गया था। अयोध्या के राज्य में जब कई वर्ष तक अवर्षण चल रहा था तब इन्हें ही लाकर वर्षा कराई गई थी। इनका आश्रम आज तक सरयू के तट पर अयोध्या से कुछ दूर पूर्व है। (२) शमीक ऋषि के पुत्र जिनके शाप से अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित को तक्षक ने डसा था। [रा० द्वि०]

शृंगेरी मैसूर राज्य के चिक्कमगलूर जिले का एक नगर है। जनसंख्या ३३४३ (१९६१)। श्री शंकराचार्य ने यहाँ कुछ दिन वास

किया था और शृंगेरी तथा शारदा मठों की स्थापना की थी। नौ मील पश्चिम की ओर, शृंगगिरि पहाड़ी पर, शृंगी ऋषि (ऋष्यशृंग) का जन्म हुआ था।

शेंसी प्रांत शेंसी का अर्थ है शान के पश्चिम। ७५,००० वर्ग मील क्षेत्रफल तथा १,००,००,००० जनसंख्या वाला यह चीन का एक प्रांत है। यह मध्य चीन के उत्तर पश्चिम में है। इसकी राजधानी सिग्रान है। इसके पूर्व में शांसी, दक्षिण-पूर्व में होनान और हूपे, दक्षिण में सेचवान, पश्चिम में कांसू तथा उत्तर पश्चिम में निंगसिया सुइयुग्रान हैं। शेंसी के दो प्राकृतिक विभाग हैं: पूर्व और पश्चिम। वी नदी घाटी, जो इस प्रांत का आर्थिक केंद्र है, इसका विभाजन करती है। इसकी जलवायु पर निकटवर्ती मरुभूमि का प्रभाव है, जिससे जाड़े में जलवायु सूखी, ठंडी और तूफानी रहती है। गेहूँ तथा बाजरा मुख्य उपज है। यह प्रांत चीन का प्रमुख तेल उत्पादक केंद्र है। येनचांग एवं येनचवान मुख्य तेलकेंद्र है। यहीं देश का एक तिहाई कोयला मिलता है। यहाँ लोहा भी मिलता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में यह प्रांत स्वतंत्र रहा। [पु० का०]

शेक्सपियर, विलियम (१५६४-१६१६) ये जॉन शेक्सपियर तथा मेरी आर्डेन के ज्येष्ठ पुत्र एवं तीसरी संतान थे। इनका जन्म स्ट्रैटफोर्ड ग्रान एवन मे हुआ। बाल्यकाल मे उनकी शिक्षा स्थानीय फ्री ग्रामर स्कूल में हुई। पिता की बढ़ती हुई आर्थिक कठिनाइयों के कारण उन्हें पाठशाला छोड़कर छोटे मोटे धंधों में लग जाना पड़ा। जीविका के लिये उन्होंने लंदन जाने का निश्चय किया। इस निश्चय का एक दूसरा कारण भी था। उन्होंने कदाचित् चार्ल कोट के जमींदार सर टामस लूसी के उद्यान से हिरण की चोरी की और कानूनी कार्यवाही के भय से उन्हें अपना जन्मस्थान छोड़ना पड़ा। उनका विवाह सन् १५८२ में एन हैथावे से हो चुका था। सन् १५८५ के लगभग शेक्सपियर लंदन आए। शुरू में उन्होंने एक रंगशाला में किसी छोटी नौकरी पर काम किया, किंतु कुछ दिनों के बाद वे लार्ड चेंबरलेन की कंपनी के सदस्य बन गए और लंदन की प्रमुख रंगशालाओं में समय समय पर अभिनय में भाग लेने लगे। ग्यारह वर्ष के उपरांत सन् १५९६ मे ये स्ट्रैटफोर्ड ग्रान एवन लौटे और अब इन्होंने अपने परिवार की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ बना दी। सन् १५९७ में इन्होंने न्यू प्लेस नामक विशाल भवन मोल लिया जिसका इन्होंने धीरे धीरे नवनिर्माण एवं विस्तार किया। इसी भवन मे सन् १६१० के बाद वे अपना अधिकाधिक समय व्यतीत करने लगे और वहीं सन् १६१६ में उनका देहांत हुआ।

शेक्सपियर की रचनाओं के तिथिक्रम के संबंध में काफी मतभेद है। सन् १९३० में प्रसिद्ध विद्वान् सर ई० के० चैंबर्स ने तिथिक्रम की जो तालिका प्रस्तुत की वह आज प्राय: सर्वमान्य है। तब भी इधर पिछले तीस वर्षों की खोज से तिथियों के संबंध मे कुछ नवीन धारणाएँ बनी है। इन नई खोजों के आधार पर मैक मैनवे महोदय ने एक नवीन तालिका तैयार की है जो सर ई० के० चैंबर्स की सूची से कुछ भिन्न है।

लगभग २० वर्षों के साहित्यिक जीवन में शेक्सपियर की सर्जनात्मक प्रतिभा निरंतर विकसित होती गई। सामान्य रूप से इस विकासक्रम में चार विभिन्न अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। प्रारंभिक अवस्था १५९५ में समाप्त हुई। इस काल की प्राय: सभी रचनाएँ प्रयोगात्मक है। शेक्सपियर अभी तक अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पाए थे, अतएव विभिन्न प्रचलित रचनाप्रणालियों को क्रम से कार्यान्वित करके अपना रचनाविधान सुस्थिर कर रहे थे। प्राचीन सुखांत नाटकों की प्रहसनात्मक शैली में उन्होंने 'दी कामेडी ऑव एरर्स' और 'दी टेमिंग आफ दी श्रू' की रचना की। तदुपरांत 'लव्स लेबर्स लॉस्ट' में इन्होंने लिली के दरबारी सुखांत नाटकों की परिपाटी अपनाई। इसमें राजदरबार का वातावरण उपस्थित किया गया है जो चतुर पात्रों के रोचक वार्तालाप से परिपूर्ण है। 'दी टू जेंटिलमेन ऑव वेरोना' में ग्रीन के स्वच्छंदतावादी सुखांत नाटकों का अनुकरण किया गया है। दु:खांत नाटक भी अनुकरणात्मक हैं। 'रिचर्ड तृतीय' मे मार्लो का तथा 'टाइटस एंड्रानिकस' में किड का अनुकरण किया गया है किंतु 'रोमियो ऐंड जुलियट' मे मौलिकता का अंश अपेक्षाकृत अधिक है। इसी काल में लिखी हुई दोनों प्रसिद्ध कविताएँ 'दी रेप आव् लुक्रीस' और 'वीनस ऐंड एडोनिस' पर तत्कालीन इटालियन प्रेमकाव्य की छाप है।

विकासक्रम की दूसरी अवस्था सन् १६०० में समाप्त हुई। इसमें शेक्सपियर ने अनेक प्रौढ़ रचनाएँ संसार को भेंट की। अब उन्होंने अपना मार्ग निर्धारित तथा आत्मविश्वास अर्जित कर लिया था। 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' तथा 'दी मर्चेंट आव वेनिस' रोचक एवं लोकप्रिय सुखांत नाटक है किंतु इनसे भी अधिक महत्व रखनेवाले शेक्सपियर के सर्वोत्कृष्ट सुखांत नाटक 'मच एडो एबाउट नथिंग', 'ऐज यू लाइक इट' तथा 'ट्वेल्वथ नाइट' इसी काल में लिखे गए। इन नाटकों में कवि की कल्पना तथा उसके मन के आह्लाद का उत्तम प्रकाशन हुआ है। सर्वोत्तम ऐतिहासिक नाटक भी इसी समय लिखे गए। मार्लो से प्रभावित 'रिचर्ड द्वितीय' उसी श्रेणी की पूर्ववर्ती कृति 'रिचर्ड तृतीय' से रचनाविन्यास में कहीं अधिक सफल है। 'हेनरी चतुर्थ' के दोनों भाग और 'हेनरी पंचम' जो सुविख्यात ऐतिहासिक नाटक हैं, इसी काल की रचनाएँ हैं। शेक्सपियर के प्राय: सभी सानेट, जो अपनी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के लिये अनुपम हैं, सन् १५९५ और १६०७ के बीच लिखे गए।

तीसरी अवस्था, जिसका अंत लगभग १६०७ में हुआ, शेक्सपियर के जीवन में विशेष महत्व रखती है। इन वर्षों में पारिवारिक विपत्ति एवं स्वास्थ्य की खराबी के कारण कवि का मन अप्रसन्न था। अत: इन दिनों की अधिकांश रचनाएँ दु:खांत है। जगद्विख्यात दु:खांत नाटक हैमलेट, आथेलो, किंग लियर और मेकबेथ एवं रोमन दु:खांत नाटक जूलियस सीजर, एंटोनी ऐंड क्लिओपाट्रा एवं कोरिओलेनस इसी कालावधि में लिखे गए और अभिनीत हुए। ट्रवायलस ऐंड क्रेसिडा, आल्स वेल दैट एंड्स वेल और मेजर फार मेजर में सुख और दुःख की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हुई है, तब भी दु:खद अंश का ही प्राधान्य है।

विकास की अंतिम अवस्था में शेक्सपियर ने पेरिक्लिस, सिंबेलिन, दी विंटर्स टेल, दी टेंपेस्ट प्रभृति नाटकों का सर्जन किया,

जो सुखांत होने पर भी दुःखद संभावनाओं से भरे हैं एवं एक सांध्य वातावरण की सृष्टि करते हैं। इन सुखांत दुःखांत नाटकों को रोमांस अथवा शेक्सपियर के अंतिम नाटकों की संज्ञा दी जाती है।

शेक्सपियर के सुखांत नाटकों की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। यद्यपि **दी कामेडी आव एरर्स** में प्लाटस का अनुसरण किया गया है तथापि अन्य सुखांत नाटक प्राचीन क्लासिकी नाटकों से सर्वथा भिन्न हैं। इनका उद्देश्य प्रहसन द्वारा कुरूपताओं का मिटाना तथा त्रुटियों का सुधार करना नहीं वरन् रोचक कथा और चरित्रचित्रण द्वारा लोगों का मनोरंजन करना है। इस प्रकार के प्रायः सभी नाटकों का विषय प्रेम की ऐसी तीव्र अनुभूति है जो युवकों और युवतियों के मन में सहज आकर्षण के रूप में स्वतः उत्पन्न होती है। प्रेमी जनों के मार्ग में पहले तो बाधाएँ उत्पन्न होती हैं किंतु नाटक के अंत तक कठिनाइयाँ विनष्ट हो जाती हैं और उनका परिणय संपन्न होता है। इन रचनाओं में जीवन की कवित्वपूर्ण एवं कल्पना-प्रवण अभिव्यक्ति हुई है और समस्त वातावरण आह्लाद से ओत-प्रोत है। शेक्सपियर का परिचय कतिपय उच्चवर्गीय परिवारों से हो गया था और उनमें जिस प्रकार का जीवन उन्होंने देखा उसी का प्रकाशन इन नाटकों में किया है।

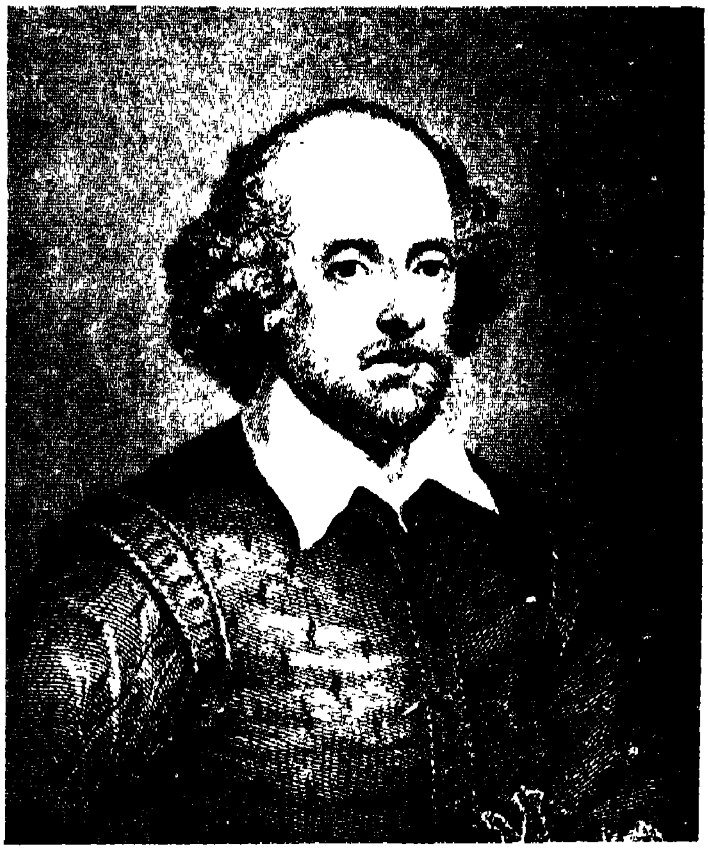
दुःखांत नाटकों में मानव जीवन की गंभीर समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इन नाटकों के अभिजात कुलोत्पन्न नायक कुछ समय तक सफलता और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के उपरांत यातना और विनाश के शिकार बनते हैं। उनके दुःख और मृत्यु के क्या कारण हैं, इस विषय पर शेक्सपियर का मत स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। नायक का दुर्भाग्य अंशतः प्रतिकूल नियति एवं परिस्थितियों से उद्भूत है, किंतु इससे कहीं बड़ा कारण उसकी चारित्रिक दुर्बलता में मिलता है। प्राचीन यूनानी दुःखांत नाटकों में नायक केवल त्रुटिपूर्ण निर्णय अथवा त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण विनष्ट होता था परंतु, कदाचित् ईसाई धर्म और नैतिकवाद से प्रभावित होकर, शेक्सपियर ने अपने नाटकों में नायक के पतन की प्रधान जिम्मेदारी उसकी चारित्रिक दुर्बलता पर ही रखी है। हेमलेट, आथेलो, लियर और मैकबेथ — इन सभी के स्वभाव अथवा चरित्र में ऐसी कमी मिलती है जो उनके कष्ट एवं मृत्यु का कारण बनती है। इन दुःखांत नाटकों में दुहरा द्वंद्व परिलक्षित हुआ है, आंतरिक द्वंद्व एवं बाह्य द्वंद्व। आंतरिक द्वंद्व नायक के मन में, उसके विचारों और भावनाओं में उत्पन्न होता है और अपनी तीव्रता के कारण न केवल निर्णय कठिन बना देता है अपितु कुछ समय के लिये नायक को आमूल विचलित भी कर देता है। इस प्रकार के आंतरिक द्वंद्व के कारण नाटकों में मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता और रोचकता का आविर्भाव हुआ है। बाह्य द्वंद्व बाहरी शक्तियों की स्पर्धा और उनके संघर्ष से उत्पन्न होता है, जैसे दो विरोधी राजनीतिक दलों अथवा सेनाओं का पारस्परिक विरोध। शेक्सपियर के प्रमुख दुःखांत नाटकों में रक्तपात एवं भयावह दृश्यों की अवतारणा के कारण अत्यंत आतंकपूर्ण वातावरण निर्मित हुआ है। इसी भाँति हत्या और प्रतिशोध संबंधी दृश्यों के समावेश से भी अवसाद का पुट गहरा हो गया है। इन सभी विशेषताओं और उपकरणों को शेक्सपियर ने कतिपय पुराने नाटकों तथा सेनेका, किड, मार्लो आदि नाटककारों से ग्रहण किया था और सामयिक लोकरुचि को ध्यान में रखकर ही उनका उपयोग अपने नाटकों में किया था। दुःखांत नाटकों की जिन विशेषताओं का उल्लेख हमने यहाँ किया है वे न केवल **हैमलेट, आथेलो, किंग लियर**, और **मैकबेथ** में मिलती हैं वरन् **रोमियो ऐंड जुलिएट** तथा इंग्लैंड और रोम के इतिहास पर आधृत दुःखांत नाटकों में भी आंशिक रूप में विद्यमान हैं।

शेक्सपियर ने जिन ऐतिहासिक नाटकों की रचना की उनमें कई रोमन इतिहास विषयक हैं। इन रोमन नाटकों के लेखन में शेक्सपियर ने इतिहास के तथ्यों को थोड़ा बहुत बदल दिया है और कतिपय स्थलों पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह प्राचीन रोम का नहीं अपितु ऐलिज़ाबेथ कालीन इंग्लैंड का है। इतना होने पर भी ये नाटक सदैव लोकप्रिय रहे हैं, विशेषकर **जुलियस सीजर** तथा **एंटोनी ऐंड क्लिओपाट्रा**। **ऐंटोनी ऐंड क्लिओपाट्रा** कवित्वपूर्ण अंशों से भरा पड़ा है तथा क्लिओपाट्रा की चरित्रकल्पना अत्यंत प्रभावोत्पादक है। **टाइमन ऑव एथेंस** और **पेरिक्लिस** में यूनानी इतिहास की घटनाओं का निरूपण किया गया है। अंग्रेजी इतिहास पर आधारित नाटकों में कुछ तो ऐसे हैं जो केवल आंशिक रूप में शेक्सपियर द्वारा लिखे गए हैं किंतु **हेनरी चतुर्थ** के दोनों भाग और **हेनरी पंचम** पूर्ण रूपेण शेक्सपियर द्वारा प्रणीत हैं। इन तीनों नाटकों में कवि को महान् सफलता मिली है। इनमें शौर्य और समानभावना का अत्यंत आकर्षक प्रतिपादन हुआ है और फाल्स्टाफ का चरित्र अत्यंत रोचक एवं स्पृहणीय है। **रिचर्ड तृतीय** और **रिचर्ड द्वितीय** में मार्लो का अनुकरण सफलतापूर्वक किया गया है। शेक्सपियर के पूर्व के अधिकांश अंग्रेजी ऐतिहासिक नाटकों में तथ्यों और घटनाओं का निर्जीव चित्रण रहता था तथा कोरी इतिवृत्तात्मकता के कारण वे नीरस होते थे। शेक्सपियर ने इस प्रकार के नाटकों को जीवंत रूप देकर चमत्कारपूर्ण बना दिया है।

अंतिम नाटकों में शेक्सपियर का परिपक्व जीवनदर्शन मिलता है। महाकवि को अपने जीवन में विभिन्न प्रकार के अनुभव हुए थे जिनकी झलक उनकी कृतियों में दिखाई पड़ती है। प्रणय विषयक सुखांत नाटकों में कल्पनाविलास है और कवि का मन ऐश्वर्य और यौवन की विलासिता में रमा है। दुःखांत नाटकों में ऐसे दुःखद अनुभवों की अभिव्यक्ति है जो जीवन को विषाक्त बना देते हैं। शेक्सपियर के कृतित्व की परिणति ऐसे नाटकों की रचना में हुई जिनमें उनकी सम्यक् बुद्धि का प्रतिफलन हुआ है। कवि अब अपनी विवेकपूर्ण दृष्टि से देखता है कि जीवन में सुख और दुःख दोनों संनिविष्ट रहते हैं, अतः दोनों ही क्षणिक हैं। जीवन में दुःख के बाद सुख आता है, अतएव विचार और व्यवहार में समत्व वांछनीय है। इन अंतिम नाटकों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिंसा और प्रतिशोध की अपेक्षा दया और क्षमा अधिक श्लाघनीय हैं। अपने गंभीर नैतिक संदेश के कारण इन नाटकों का विशेष महत्व है।

शेक्सपियर के नाटक स्वच्छंदतावादी हैं तथा प्राचीन यूनानी और लैटिन नाटकों की परंपरा से पृथक् हैं। अतः उनमें वस्तुविन्यास की शास्त्रीय विशेषताओं को ढूँढ़ना उचित नहीं है। केवल अपने अंतिम नाटक **'दी टेंपेस्ट'** में उन्होंने तीनों अन्वितियों का निर्वाह किया है।

विलियम शेक्सपियर (देखें पृष्ठ २९६)



केदार शर्मा (देखें पृष्ठ २२१)



चंद्रधर शर्मा गुलेरी (देखें पृष्ठ २२६)



प्राय: सभी अन्य नाटकों में केवल कार्यान्विति का ध्यान रखा गया है, समय और स्थान की दृष्टि से वे नितांत निर्बंध हैं। कथावस्तु में सदैव पर्याप्त विस्तार मिलता है और सामान्यतः उसमें कई कथाएँ अंतर्निहित रहती हैं। उदाहरणार्थ हम ए मिड समर नाइट्स ड्रीम, दी मर्चेंट ऑव वेनिस, ऐज़ यू लाइक इट अथवा किंग लियर को ले सकते हैं। इन सभी में अनेक कथाओं के मिश्रण द्वारा वस्तु-निर्माण संपन्न हुआ है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि शेक्सपियर के नाटकों की बनावट त्रुटिपूर्ण है। अंतःकथाओं का नाटयवस्तु में सुंदर, कलापूर्ण रीति से गुंफन किया गया है तथा संपूर्ण कथानक में संकलित एकता का आभास मिलता है। शास्त्रीय अर्थ में अन्वितियों का अभाव होने पर भी इन स्वच्छंदतावादी नाटकों में भावनात्मक तथा कल्पनात्मक एकीकरण हुआ है।

पात्रकल्पना में शेक्सपियर को और भी अधिक सफलता मिली है। अपने नाटकों में उन्होंने अनेक आकर्षक पात्रों की सृष्टि की है जो अपने जीवंत रूप में हमारे सामने आते हैं। समय के साथ चरित्र-निरूपण की प्रक्रिया अधिकाधिक सूक्ष्म एवं कलात्मक होती गई। उदाहरण के लिये हम सुखांत नाटकों में समाविष्ट रोज़ालिन, पोर्सिया, बियाट्रिस, रोज़ालिंड, वायला प्रभृति प्रगल्भा नारियों को ले सकते हैं जो अपनी प्रखर बुद्धि और वाक्‌चातुरी का परिचय निरंतर देती हैं। दूसरी कोटि की वे नारियाँ हैं जिनके अनुपम सौंदर्य और संकटपूर्ण अनुभवों के कारण मन में करुणा का उद्रेक होता है। ऐसी नारियों में प्रमुख हैं जुलिएट, ओफिलिया, डेसडिमोना, कार्डिलिया, इमोजेन इत्यादि। दुःखांत नाटकों में चरित्रचित्रण का अत्यधिक महत्व है। उदाहरण के लिये हम हैमलेट को ले सकते हैं। नाटक की समस्त घटनाएँ नायक के चरित्र पर केंद्रित हैं और उसी के व्यक्तित्व के प्रभाव से कथा का विकास होता है। अंशतः यही बात अन्य दुःखांत नाटकों के लिये भी सत्य है। प्राचीन यूनानी नाटकों में अनेक स्मरणीय पात्र मिलते हैं किंतु नैतिक और मनोवैज्ञानिक उपकरणों के सहारे अंकित किए हुए शेक्सपियर के प्रमुख पात्र कहीं अधिक रोचक एवं आकर्षक हैं। आतंरिक द्वंद्व के उपयोग से दुःखांत नाटकों की पात्र-कल्पना और भी अधिक चमत्कारपूर्ण हो गई है। शेक्सपियर के नाटकों के कुछ अन्य पात्र भी उल्लेखनीय हैं जैसे विदूषक और खलनायक। विदूषकों में फाल्स्टाफ टचस्टोन, फेस्टे और किंग लियर का स्वामिभक्त विदूषक आदि महत्वपूर्ण हैं। खलनायकों में रिचर्ड तृतीय, इयागो, एडमंड इयाकिमो आदि की गणना होती है। जैसा हैज़लिट ने लिखा है, शेक्सपियर की शक्ति का पता इससे लगता है कि न केवल उनके महत्वपूर्ण पात्रों में वैशिष्ट्य है वरन्‌ उनके बहुसंख्यक लघु पात्र भी अपना निजी महत्व रखते हैं।

यद्यपि शेक्सपियर के नाटकों में कहीं कहीं गद्य का प्रयोग हुआ है, तब भी वे मूलतः काव्यात्मक हैं। उनका अधिकांश भाग छंदोबद्ध है। यही नहीं, प्राय: सभी नाटय रचनाएँ काव्यात्मक गुणों से भरी पड़ी हैं। कल्पना का प्रकाशन, आलंकारिक अभिव्यक्ति, संगीतात्मक लय तथा कोमल भावनाओं के निरूपण द्वारा शेक्सपियर ने मनोमुग्धकारी प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। प्राचीन काल से नाटकों को कविता का एक भेद मात्र मानते आए थे और शेक्सपियर ने प्राचीन धारणा स्वीकार की। गद्य का प्रयोग यदा कदा विशेष प्रयोजन से हुआ है। किंतु सामान्य रूप से हम शेक्सपियर के नाटकों को काव्यनाटय की संज्ञा दे सकते हैं। काव्यतत्व शुरू में अत्यधिक था किंतु शनैः शनैः उसका रूप संयत हो गया और प्रयोजन के विचार से उसका नियंत्रण होने लगा। इसी भाँति शेक्सपियर की शैली में भी विकास हुआ। अपनी युवावस्था में उन्होंने सौंदर्य को शैली में समाविष्ट करने के लिये निरंतर प्रयास किया; फलतः प्रारंभिक नाटकों में विस्तृत वर्णनों एवं सुंदर रूपकों का बाहुल्य है। अपनी प्रतिभा की प्रौढ़ावस्था में जब शेक्सपियर अपने प्रसिद्ध दुःखांत नाटकों की रचना कर रहे थे उस समय तक उनकी शैली संतुलित हो गई थी। प्राथमिक अवस्था में अभिव्यक्ति का अधिक महत्व था और विचारों का कम। किंतु इस माध्यमिक काल में विचारों, भावों तथा अभिव्यक्ति के साधनों का सम्यक्‌ समन्वय हुआ है। यह संतुलित व्यवस्था अंतिम नाटकों में फिर बिगड़ जाती है। अपने सर्जनात्मक काल के अंतिम वर्षों में शेक्सपियर का ध्यान विचारों और नैतिक प्रतिमानों पर केंद्रित था और उन्होंने शैलीगत चमत्कार की उपेक्षा की। इसीलिये अंतिम नाटकों की शैली कहीं कहीं अनगढ़ हो गई है।

शेक्सपियर ने अपने नाटक मुख्यतः रंगमंच पर अभिनय के लिये लिखे थे, यद्यपि काव्यात्मक गुणों के कारण हम उनसे पठन द्वारा भी आनंद प्राप्त करते हैं। तत्कालीन रंगमंच की बनावट, अभिनय की व्यवस्था, दर्शकों की लोकरुचि, इन सभी का प्रभाव शेक्सपियर के नाटयनिर्माण पर पड़ा। दो एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। उस समय रँगे हुए परदों का उपयोग नहीं होता था, इसलिये नाटकों में अनेक वर्णनात्मक अंशों का समावेश हुआ है। इन्हीं वर्णनों द्वारा स्थान, काल और परिस्थिति का संकेत होता था। नाटकों में स्वगत एवं स्वभाषित का निरंतर उपयोग इसीलिये संभव हो सका कि रंगमंच का अगला त्रिकोणाकार भाग प्रेक्षकों के बीच तक आगे बढ़ा रहता था। कई पुरुष और नारी पात्रों का सर्जन शेक्सपियर ने केवल इसलिये किया कि उनके उपयुक्त अभिनेता उपलब्ध थे। दर्शकों के मनोरंजनार्थ अनेक दृश्यों की अवतारणा हुई है जिनमें रंगमंच पर उत्तेजक एवं मनोरंजक परिस्थितियों का प्रदर्शन हुआ है। आज के यथार्थवादी रंगमंच की भाँति एलिज़बेथ युगीन रंगमंच प्रचुर साधनों तथा निश्चित व्यवस्था द्वारा बँधा हुआ था। अभिनय और प्रदर्शन दोनों ही अपेक्षाकृत उन्मुक्त थे, इसलिये शेक्सपियर के नाटकों में पर्याप्त ऋजुता मिलती है।

प्रायः सभी प्रकार के नाटकों में महाकवि ने गेय मुक्तकों का सन्निवेश किया है जो अपने सौंदर्य और माधुर्य के लिये अनुपम हैं। इनके अतिरिक्त शेक्सपियर की विस्तृत कविताएँ हैं, जिनमें विनस ऐंड एडोनिस, दी रेप ऑव लुक्रीस तथा सानेट्स का उल्लेख आवश्यक है। ये सभी कृतियाँ १६वीं शताब्दी के अंतिम दशक की हैं जब शेक्सपियर का मन सौंदर्य एवं प्रणय के प्रभाव से आह्लादपूर्ण हो गया था। विनस ऐंड एडोनिस में एक प्राचीन प्रेमकथा को अत्यंत काव्यात्मक रीति से वर्णित किया गया है। दी रेप ऑव लुक्रीस में एक परम सुंदरी रोमन महिला के दुर्भाग्य और मृत्यु की कथा है। सानेट्स में कुछ ऐसे हैं जो कवि के एक मित्र से संबंध

रखते हैं जिसने विवाह न करने का निश्चय कर लिया था। शेक्सपियर ने उसके रूप और गुणों की चर्चा करते हुए उससे अपना निश्चय बदलने के लिये आग्रह किया है। सानेटों का दूसरा क्रम एक श्यामवर्ण महिला से संबंधित है जिसके प्रति कवि के मन में तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ था किंतु जिसने उस स्नेह का आदर न करके कवि के उस मित्र को अपना प्रणय दिया, जिसको ध्यान मे रखकर सानेटों का प्रथम क्रम लिखा गया था। शेक्सपियर ने इन सानेटों में अपनी आंतरिक भावनाओं का प्रकाशन किया है अथवा वे परंपरागत रचनाएँ मात्र हैं, यह प्रश्न अत्यंत विवादग्रस्त है।

शेक्सपियर में अत्यंत उच्च कोटि की सर्जनात्मक प्रतिभा थी और साथ ही उन्हें कला के नियमो का सहज ज्ञान भी था। प्रकृति से उन्हे मानो वरदान मिला था अतः उन्होंने जो कुछ छू दिया वह सोना हो गया। उनकी रचनाएँ न केवल अंग्रेज जाति के लिये गौरव की वस्तु हैं वरन् विश्ववाङ्मय की भी अमर विभूति हैं। शेक्सपियर की कल्पना जितनी प्रखर थी उतना ही गंभीर उनके जीवन का अनुभव भी था। अतः जहाँ एक ओर उनके नाटकों तथा उनकी कविताओं से आनंद की उपलब्धि होती है वहीं दूसरी ओर उनकी रचनाओं से हमको गंभीर जीवनदर्शन भी प्राप्त होता है। विश्वसाहित्य के इतिहास मे शेक्सपियर के समकक्ष रखे जानेवाले विरले ही कवि मिलते हैं।

सं० ग्रं० — ब्रैडले, ए० सी० : शेक्सपीरियन ट्रैजेडी (१९५२), निकोल, अलरडाइस : स्टडीज इन शेक्सपियर (१९२७), हैरिसन, जी०बी०, शेक्सपीयर्स ट्रेजेडीज (१९५१), बार्कर, ग्रेनविले : प्रीफेसेज शेक्सपियर। [रा० अ० वि०]

शेख अब्दुल हक़ मुहद्दिस देहलवी के पूर्वज बुखारा निवासी थे। उनके पिता शेख सैफुद्दीन एवं चाचा शेख रिज़कुल्लाह मुश्ताकी बड़े विद्वान् थे। शेख रिज़कुल्लाह हिंदी के भी कवि थे। राजन उनका उपनाम था और पैमान एवं ज्योतिनिरंजन नामक दो काव्यों की उन्होंने रचना की थी। शेख अब्दुल हक़ का जन्म १५५१ ई० में हुआ था। अध्ययन में उनकी बड़ी रुचि थी। १५८८ ई० में वे मक्का गए और वहाँ शेख अब्दुल वह्हाब मुत्तक़ी से हदीस की शिक्षा ग्रहण की। १५९१ में वे दिल्ली लौट आए और आजीवन शिक्षा दीक्षा में व्यस्त रहे। खानेखाना एवं शेख फ़रीद बुखारी को इनपर बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने हदीस एवं मुहम्मद साहब की जीवनी से संबंधित अनेक ग्रंथ लिखे जिनमे अशेअतुल्लम आत फ़ी शरहे मिश्कात, एवं मदारिजुन्नुबूवत बड़े महत्वपूर्ण हैं। मरजुल बहरैन नामक ग्रंथ में उन्होंने सूफियों एवं आलिमों के पारस्परिक विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया है। इनका सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ अख्बारुल अखियार फ़ी असरारुल अबार है। इनमें हिंदुस्तान के सूफ़ी संतों का बड़ा ही प्रामाणिक विवरण दिया है और उनकी रचनाओं के उद्धरणों का भी समावेश कर दिया है। जहाँगीर ने इस ग्रंथ की रचना के कारण उन्हें अपने राज्यकाल के १४ वें वर्ष में अत्यधिक संमानित किया किंतु अंत में शेख के तथा जहाँगीर के संबंध खराब हो गए। उसने १६२७ ई० में उन्हें कश्मीर, जहाँ वह ठहरा था, बुलवाया। इसी बीच जहाँगीर की मृत्यु हो गई। ऐसा ज्ञात होता है कि शेख की इस्लाम के शुद्धतम रूप की शिक्षा को जहाँगीर ने शासन के हित में न समझकर उनपर प्रतिबंध लगाना चाहा था। जून, १६४२ ई० में शेख की मृत्यु हो गई। शाहजहाँ के राज्यकाल के सभी इतिहासकारों ने इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है। [सै० अ० अ० रि०]

शेख अहमद सरहिंदी (मुजद्दिद अल्फ़े सानी) का जन्म १४ शव्वाल, ९७१ हि० (२६ मई, १५६४ ई०) को सरहिंद में हुआ, जो उस समय अकबर के विरोधी शेखजादों का केंद्र था। शेख अहमद ने प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा अपने पिता शेख अब्दुल अहद से प्राप्त की जो चिश्ती एवं क़ादिरी सिलसिले के अनुयायी थे। कुछ समय के लिये वे आगरा भी पहुँचे किंतु वहाँ का 'सुलह कुल' (सब धर्मों के प्रति शांति) का वातावरण उन्हें पसंद न आया और वे सरहिंद लौट गए। १७ रजब, १००७ हि० (१३ फरवरी, १५९९ ई०) को उनके पिता की मृत्यु हो गई और साल भर बाद वे हज के लिये चल खड़े हुए। दिल्ली में ख्वाजी बाक़ी बिल्लाह नामक नक्शबंदी सूफ़ी से प्रभावित होकर हज का विचार त्याग दिया और ख्वाजा साहब की मृत्यु (नवंबर, १६०३ ई०) के पश्चात्, ख्वाजा साहब के प्राचीन शिष्यों के घोर विरोध के बावजूद, उनके उत्तराधिकारी बने। शेख साहब का विचार था कि १००० वर्ष बीत जाने के कारण तथा अकबर की 'सुलह कुल' की नीति से इस्लाम भ्रष्ट हो गया है। इस्लाम के शुद्धतम रूप को चलाने के लिये उन्होंने अपनी उपाधि मुजद्दिद अल्फ़ेसानी (इस्लाम के दूसरे हज़ारे का पुनरुत्थान करनेवाला) रखी। अकबर की मृत्यु के उपरांत उन्होने शेख फ़रीद बुखारी, लाला बेग (जहाँगीर कुली खाँ), मीरान सद्रेजहाँ, मिर्जा अज़ीज़ कोका को इस आशय के पत्र लिखे कि जहाँगीर के राज्यकाल के प्रारंभ में ही इस्लाम के शुद्धतम रूप को प्रचलित करने का दृढ़ प्रयत्न करना चाहिए; खाने खाना, उसके पुत्र मिर्जा दाराब, कुलीज खाँ, ख्वाजये जहाँ तथा खाने जहाँ को लिखे पत्रों में भी उन्होंने इस्लाम के शुद्धतम रूप की उन्नति पर जोर दिया जिसकी परिभाषा किसी काल में भी एकमत से नहीं स्वीकार की गई। बुरे आलिमों तथा सूफियों को भी उन्होंने फटकारा किंतु किसी भी बुरे आलिम तथा सूफ़ी का नाम नहीं लिखा। इन पत्रों को साधारण रूप से पढ़नेवालों का विचार है कि मुजद्दिद के समकालीन अमीरों ने उनके विचारों का अत्यधिक प्रचार किया, किंतु इन अमीरों की जीवनियों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि वे अकबर की नीति का, जिसका जहाँगीर पोषक रहा, पालन करते रहे; यहाँ तक कि शेख फ़रीद बुखारी भी, जिन्हें ख्वाजा बाक़ी बिल्लाह एवं मुजद्दिद पर बड़ी श्रद्धा थी, मुजद्दिद की शिक्षा को व्यावहारिक नहीं समझते थे। जब इनके पत्रों का प्रथम संग्रह लोगों के हाथों में पहुँचा तो इनकी बड़ी आलोचना हुई और १६१९ ई० में जहाँगीर ने इन्हें ग्वालियर के किले में बंदी बना दिया, किंतु साल डेढ़ साल में जब लोग शांत हो गए तो उन्हें सेना के शिविर में रहने अथवा घर चले जाने की अनुमति दे दी। वे सेना के साथ कुछ वर्ष रहे और सेना में प्रचार से संतुष्ट थे, किंतु जहाँगीर की धार्मिक नीति में अंत तक कोई परिवर्तन नहीं देख पड़ता। १६२४ ई० में मुजद्दिद की मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं० — मुजद्दिद के पत्रों का संग्रह, ३ भाग; मुहम्मद हाशिम : जुब्दतुल मकामात; बद्रुद्दीन सरहिंदी : हजरातुलकुद्स; मीर अली अकबर हुसेनी : मजमउल औलिया; मुहम्मद अमीन बदख्शी; मनाकिबुल हजरात; बुरहानुद्दीन अहमद फरूकी : दि मुजद्दिद्स कनसेप्शन ऑव तौहीद; सै० अ० अ० रिजवी : मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेंट्स इन नार्दर्न इंडिया इन दि सिक्सटींथ ऐंड सेवेंटींथ सेंचुरीज। [सै० अ० अ० रि०]

शेख फख्रुद्दीन ईराकी आपका नाम तो फख्रुद्दीन था किंतु आपकी ख्याति 'ईराकी' उपनाम से हुई। आप हमदन के रहनेवाले और शेख शिहाबुद्दीन सुह्रवर्दी के शागिर्द थे। १७ वर्ष की उम्र में आपने अपनी पढ़ाई समाप्त की और स्वयं अपने मदरसे की स्थापना की। बाद में आप मुल्तान गए और वहाँ शेख बहाउद्दीन जकरिया के साथ रहने लगे। उन्होंने आपको खिलाफतनामा का वरदान दिया और अपनी लड़की का विवाह भी आपके साथ कर दिया।

शेख बहाउद्दीन जकरिया की मृत्यु हो जाने पर आप जियारत करने एशिया माइनर चले गए और वहाँ सदरुद्दीन कौनवी के साथ रहने लगे। बाद में दमिश्क मे १२८९ ई० में आपकी मृत्यु हो गई।

आप धर्मशास्त्रों के विद्वान् थे और आपके ग्रंथ 'लम आत' से आपकी ख्याति फैली। [का० मो० अ०]

शेख सादी (शेख मुसलिहुद्दीन सादी), १३वीं शताब्दी का सुप्रसिद्ध साहित्यकार। ईरान के दक्षिणी प्रांत में स्थित शीराज नगर मे ११८५ या ११८६ मे पैदा हुआ था। उसकी प्रारंभिक शिक्षा शीराज में ही हुई। बाद में उच्च शिक्षा के लिये उसने बगदाद के निजामिया कालेज में प्रवेश किया। अध्ययन समाप्त होने पर उसने इसलामी दुनिया के कई भागों की लंबी यात्रा पर प्रस्थान किया—अरब, सीरिया, तुर्की, मिस्र, मोरक्को, मध्य एशिया और संभवत. भारत भी, जहाँ उसने सोमनाथ का प्रसिद्ध मंदिर देखने की चर्चा की है। सीरिया में धर्मयुद्ध में हिस्सा लेनेवाले यात्रियों ने उसे गिरफ्तार कर लिया, जहाँ से उसके एक पुराने साथी ने सोने के दस सिक्के (दीनार) मुक्तिधन के रूप में देकर उसका उद्धार किया। उसी ने १०० दीनार दहेज में देकर अपनी लड़की का विवाह भी सादी से कर दिया। यह लड़की बड़ी उद्दंड और दुष्ट स्वभाव की थी। वह अपने पिता द्वारा धन देकर छुड़ाए जाने की चर्चा कर सादी को खिजाया करती थी। ऐसे ही एक अवसर पर सादी ने उसके व्यंग्य का उत्तर देते हुए जवाब दिया 'हाँ, तुम्हारे पिता ने दस दीनार देकर जरूर मुझे आजाद कराया था लेकिन फिर सौ दीनार के बदले उसने मुझे पुन: दासता के बंधन में बाँध दिया।'

कई वर्षों की लंबी यात्रा के बाद सादी शीराज लौट आया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों — 'बोस्ताँ' तथा 'गुलिस्ताँ' — के लेखन का आरंभ किया। इनमें उसके साहसिक जीवन की अनेक मनोरंजक घटनाओं का और विभिन्न देशों में प्राप्त अनोखे तथा मूल्यवान् अनुभवों का वर्णन है। वह शताधिक वर्षों तक जीवित रहा और सन् १२९२ के लगभग उसका देहांत हुआ।

गुलिस्ताँ का प्रणयन सन् १२५८ में पूरा हुआ। यह मुख्य रूप से गद्य में लिखी हुई उपदेशप्रधान रचना है जिसमें बीच बीच में सुंदर पद्य और दिलचस्प कथाएँ दी गई हैं। यह आठ अध्यायों में विभक्त है जिनमें अलग अलग विषय वर्णित हैं; उदाहरण के लिये एक में प्रेम और यौवन का विवेचन है। 'गुलिस्ताँ' ने प्रकाशन के बाद से अद्वितीय लोकप्रियता प्राप्त की। यह कई भाषाओं में अनूदित हो चुकी है—लैटिन, फ्रेंच, अंग्रेजी, तुर्की, हिंदुस्तानी आदि। अनेक परवर्ती लेखकों ने उसका प्रतिरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया, किंतु उसकी श्रेष्ठता तक पहुँचने में वे असफल रहे। ऐसी प्रतिरूप रचनाओं में से दो के नाम हैं—बहारिस्ताँ तथा निगारिस्ताँ।

बोस्ताँ की रचना एक वर्ष पहले (१२५७ में) हो चुकी थी। सादी ने इसे अपने शाही संरक्षक अतालीक को समर्पित किया था। गुलिस्ताँ की तरह इसमें भी शिक्षा और उपदेश की प्रधानता है। इसके दस अनुभाग हैं। प्रत्येक में मनोरंजक कथाएँ हैं जिनमें किसी न किसी व्यावहारिक बात या शिक्षा पर बल दिया गया है। एक और पुस्तक पंदनामा (या करीमा) भी उनकी लिखी बताई जाती है किंतु इसकी सत्यता में संदेह है। सादी उत्कृष्ट गीतिकार भी थे और हाफिज के आविर्भाव के पहले तक वे गीतिकाव्य के महान् रचयिता माने जाते थे। अपनी कविताओं के कई संग्रह वे छोड़ गए हैं।

फारस के अन्य बहुत से कवियों की तरह सादी सूफी नहीं थे। वे व्यावहारिक व्यक्ति थे जिनमें प्रचुर मात्रा में सांसारिक बुद्धि एवं विलक्षण परिहासशीलता विद्यमान थी। उनकी ख्याति उनकी काव्यशैली एवं गद्य की उत्कृष्टता पर ही अवलंबित नहीं है वरन् इस बात पर भी आश्रित है कि उनकी रचनाओं में अपने युग की विद्वत्ता और ज्ञान की तथा मध्यकालीन पूर्वी समाज की सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक परंपरा की छाप मौजूद है। [मु० व० मि०]

शेख हमीदुद्दीन सूफी नागौरी यह अपने पिता शेख मुहम्मद अल सूफी की मृत्यु के बाद दिल्ली में उत्पन्न हुआ। बाल्यावस्था में ही ख्वाजा मोइनउद्दीन अजमेरी का शिष्य हो गया। बाद में वह नागौर के निकट सुवाली गाँव में रहने लगा और वहीं ६७३ हिजरी, १२७४ ई० में मर गया।

एक छोटे से मिट्टी के घर में रहता था, केवल एक बीघे भूमि की खेती से जीवननिर्वाह करता था। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसके आध्यात्मिक गुरु ने उसे सुल्तान-उत-तारीकिन (वैरागियों का सम्राट्) की उपाधि दी थी।

सं० ग्रं० — सैयद मोहम्मद : सियार-उल-औलिया (१३०२ हिजरी, दिल्ली); फजल उल्लाह : सियार-उल-अरीफिन, (१३११ हि०, रिजवी प्रेस, दिल्ली)। [का० मु०]

शेटलैंड द्वीपसमूह (Shetlands Islands) स्कॉटलैंड से २०८ किलोमीटर उत्तर में स्थित है। इसमें ३० मानवयुक्त एवं ७० छोटे मानवरहित द्वीप संमिलित हैं। इसका कुल क्षेत्रफल १,४३१ वर्ग किलोमीटर है। इसकी जनसंख्या १९,३४३ (१९५१) है। मेनलैंड इस द्वीपसमूह का सबसे बड़ा द्वीप है। इसकी राजधानी लरविक (Lerwick) है। यहाँ पर मुख्यत: जौ, जई और आलु की

फसलें होती हैं। कृषि के अतिरिक्त पशु एवं भेड़ पालन तथा मत्स्य उद्योग मुख्य व्यवसाय हैं। इसका तटीय प्रदेश पर्यटन का केंद्र है। यह द्वीपसमूह सन् ८७५ से सन् १४६८ तक नॉर्वे के अधिकार में रहा। तत्पश्चात् इसका स्कॉटलैंड के साथ विलय हो गया।

[स० सि० ठ०]

शैनन, चार्ल्स हैजलवुड (१८६३-१९३७) अंग्रेज चित्रकार, विशेषकर अपने लिथोग्राफ के लिये प्रसिद्ध। वह पादरी का पुत्र था, किंतु परिस्थितिवश छोटी उम्र में ही एक व्यापारी काष्ठशिल्पी के यहाँ काम पर नियुक्त हो गया जहाँ उसे कला का प्रारंभिक प्रशिक्षण मिला। वहीं एक दूसरे कलाकार चार्ल्स रिकेट से उसकी भेंट हुई जिसके साथ मिलकर वह वर्षों काम करता रहा। वे दोनों एक नियतकालिक पुस्तकाकार पत्रिका निकालते थे जिसमें कितने ही प्रसंगानुकूल चित्र, डिजाइन और सज्जापूर्ण सामग्री भी दी जाती थी। उसके लिथोग्राफ पर प्रारंभिक रेनासाँ काल की छाप पड़ी, किंतु बाद के लिथोग्राफ उसकी अपनी मौलिक प्रतिभा की सौम्य गरिमा लिए हुए सामने आए। चित्रों में वह अधिकतर धार्मिक विषयों एवं परंपरागत कथाप्रसंगों का चित्रण करता था जिनपर तिशियन और तिंतरेत्तो का प्रभाव द्रष्टव्य है। किंतु पोर्ट्रेट कला में उससे कोई होड़ न ले सकता था। उसके जार्ज मूर, पिस्सारो आदि के पोर्ट्रेट बड़े ही कमाल के बन पड़े।

गिर पड़ने के कारण यह बाद में अशक्त हो गया था, पर इस परिस्थिति में भी वह आठ वर्ष जीवित रहकर कलासाधना में जुटा रहा। ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में उसके ४६ लिथोग्राफों का एक संग्रह मिलता है। [श० रा० गु०]

शेनयांग (Shenyang) **या मुकडेन** स्थिति : ४१° ५१' उ० अ० तथा १२३° २५' पू० दे०। यह दक्षिणी मंचूरिया के लिआओनिंग प्रांत की राजधानी है, जो पीकिंग के ३८० मील पूर्व-उत्तर-पूर्व लिआओ हो नदी की सहायक हुन हो नदी पर स्थित है। मुकडेन का पहले चीनी नाम फंगट्येन (Fengtien) था, लेकिन अब इसे शनयांग या शेनयाग कहा जाता है। उपजाऊ कृषिक्षेत्र के बीच में स्थित यह नगर रेल मार्गों का केंद्र है। नगर के समीपवर्ती कृषिक्षेत्र में सोयाबीन, चुकंदर और अनाज की उपज होती है। पहाड़ी भागों से समूर और खालों की प्राप्ति होती है। संपूर्ण चीन में सबसे बड़ी कोयला खान फूशून की है, जो इस नगर के पास ही में स्थित है। यहाँ आटा पीसने, तिलहन पेरने, चमड़ा पकाने, एवं कागज, साबुन और लोह इस्पात के कारखाने हैं। मुकडेन में मिग-१७ एवं ऐन (An-२) विमान बनाने का एक राष्ट्रीय कारखाना है। नगर में शाही प्रासाद तथा जापानी आवासस्थान उल्लेखनीय दर्शनीय स्थान है। शेनयांग की जनसंख्या २४,११,००० (१९६०) है। यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है।

१२वीं शताब्दी में यह किताना राजवंश की राजधानी भी था। उत्तरी भाग में प्राचीन सम्राटों के मकबरे (पीलुंग मोसोलियम) चीन के प्रसिद्ध स्मारकों में से हैं। सन् १६४४ से सन् १९११ तक यह मंचू राजवंश की राजधानी रहा तथा उन लोगों ने ही इसे मुकडेन नाम प्रदान किया। जोफेन्टिएन याशेंगकिंग (और अब लिआओनिंग) प्रांत की राजधानी रहा। जापान और रूस के बीच में मंचूरिया पर प्रभुत्व रखने के लिये मुकडेन की स्थिति बहुत ही महत्वपूर्ण थी। यह रूसियों का गढ़ था। १० मार्च, १९०५ ई० को मुकडेन की लड़ाई में जापान ने इसपर अधिकार कर लिया। चीनी क्रांति के बाद यह अपने पुराने नाम शेनयांग के नाम से जाना जाने लगा और चीनी जनरल चांग त्सो लीन का आवास था। सन् १९३१ में नगर पुनः जापानियों के अधिकार में चला गया और १९३४-४५ ई० फंगट्येन प्रांत की राजधानी रहा। युद्ध के बाद नगर का नाम पुनः शेनयांग हो गया और इसपर केंद्रीय सरकार का शासन था। सन् १९४९ में यह मंचूरियाई प्रादेशिक सरकार की राजधानी हो गया।

[रा० प्र० सिं०]

शेफील्ड स्थिति : ५३° २३' उ० अ० तथा १° २८' प० दे०। यह इंग्लैंड के यार्कशिर में, लंदन से लगभग १६० मील उत्तर पश्चिम में, शीफ तथा डॉन नदियों के किनारे सुहावनी जंगल से ढकी, पहाड़ी ढाल पर स्थित औद्योगिक नगर है। पश्चिमी यूरोप के तुल्य प्रदेश के सदृश यहाँ की जलवायु सम तथा आर्द्र है।

यहाँ सार्वजनिक स्नानागार, निःशुल्क पुस्तकालय, पार्क, तकनीकी विद्यालय एवं विश्वविद्यालय की सुविधाएँ हैं।

शेफील्ड सन् १४०० के प्रारंभ से ही उत्तम चाकू छुरी, उस्तरे, कैंची, रुखानी, आरा, आरी आदि के अतिरिक्त मोमबत्ती, ताँबे पर चाँदी के पुट दिए गए चाय के बरतन, मैंगनीज स्टील, क्रोमियम स्टील और टंग्स्टन स्टील के निर्माण के लिये प्रसिद्ध है।

यहाँ की जनसंख्या लगभग ५,१३,००० है, जो काफी घनी है।

[रा० स० ख०]

शेयर (Share, अंश) व्यक्ति की चलसंपत्ति दो प्रकार की होती है — भोगाधीन वस्तु (Chose in possession) और वादप्राप्य स्ववस्तु (Chose in action)। भोगाधीन वस्तु के माने हैं वह संपत्ति जो आपके वास्तविक व्यक्तिगत अधिकार में है लेकिन वादप्राप्य स्ववस्तु के माने वह संपत्ति है जो आपके तात्कालिक अधिकार में नहीं है। उसपर आपका अधिकार है जिसे वैधानिक कार्रवाई द्वारा क्रियान्वित किया जा सकता है। यह अधिकार सामान्यतया एक आलेख (Document) द्वारा प्रमाणित होता है, उदाहरणार्थ — रेलवे की रसीद द्वारा। प्रमंडल (कंपनी या समवाय) में एक अंश (हिस्सा या शेयर) भी वादप्राप्य स्ववस्तु है और अंशपत्र उसका प्रमाण है। लेकिन भारतवर्ष में अंश माल (Goods, गुड्स) माना जाता है। प्रमंडल (समवाय) अधिनियम (Company act) १९५६ की धारा ८२ की परिभाषा में कहा गया है कि प्रमंडल में किसी व्यक्ति का अंश या अन्य निहित स्वार्थ 'चल संपत्ति' माना जायगा। वस्तुविक्रय अधिनियम (Sale of Goods Act) में वस्तु या माल की परिभाषा में इस प्रकार की चल संपत्ति संमिलित है। इसलिये प्रमंडल के अंश केवल वादप्राप्य स्ववस्तु ही नहीं, अपितु वस्तु या माल (गुड्स) भी हैं।

अंश का वास्तविक स्वरूप सरलता से स्पष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रमंडल उसका निर्माण करनेवाले अंशधारियों के समूह से सर्वथा भिन्न है। संस्थापित प्रमंडल (Incorporated Company) की अंशपूँजी (Capital stock) का होना सार्वभिक

है, यद्यपि अनिवार्य नहीं। यह भी समान रूप से सार्वभिक है, अनिवार्य नहीं, कि पूँजी को अभिहितमूल्य (nominal value) के अंशों में बाँटा जाय। वह व्यक्ति जिसके पास इस प्रकार का अंश है, अंशधारी (Shareholder) कहलाता है। इसलिये प्रत्येक अंशधारी के पास प्रमंडल की पूँजी का एक भाग रहता है। लेकिन विधिक दृष्टि से अंशधारी उस उद्यम या कारखाने का आंशिक स्वामी नहीं है। उद्यम अंशधारियों की संपूर्ण पूँजी से कुछ भिन्न वस्तु है। प्रमंडल की समस्त परिसंपत्ति (Assets) उक्त सुसंगठित संस्थान में निहित है, उसे बनानेवाले व्यक्तियों में नहीं।

विधान की दृष्टि में अंशधारियों के कुछ अधिकारों और निहित-स्वार्थों के साथ साथ कुछ दायित्व भी हैं। अंशधारी का हित या स्वार्थ महज चल संपत्ति से नहीं, वरन् स्वयं प्रमंडल से होता है। यह स्वार्थ स्थायी ढंग का होता है। अंश प्रमंडल में अंशधारी का वह हित है जो दो दृष्टियों से धन की रकम के रूप में मापा जाता है, एक तो दायित्व और लाभांश की दृष्टि से, दूसरे ब्याज की दृष्टि से। और इसमें प्रमंडल की अंतर्नियमावली (Article of Association) में निहित संविदाएँ भी संमिलित हैं। अंश मुद्रा या धन (money) नहीं, अपितु मुद्रा के रूप में आँका गया वह हित है जिसमें विभिन्न अधिकार और दायित्व जुड़े हुए हैं। अंश अधिकारों या हकों का विद्यमान समूह है। उदाहरणार्थ, अंश के कारण अंशधारी प्रमंडल के लाभों का एक समानुपातिक भाग प्राप्त करने, अंतर्नियमों के आधार पर प्रमंडल के कारोबार में हाथ बँटाने, कारोबार की समाप्ति पर संपत्ति का आनुपातिक भाग पाने तथा सदस्यता के सभी अन्य लाभों का अधिकारी हो जाता है। अंश के कुछ दायित्व भी हैं। उदाहरणार्थ — प्रमंडल की परिसमाप्ति पर पूर्ण मूल्य की देयता। यह सभी अधिकार और दायित्व प्रमंडल के अंतर्नियमों में दी गई शर्तों और स्थितियों पर निर्भर करते हैं। अंतर्नियमों द्वारा नियमित अधिकार और दायित्व शेयर या अंश का मूलभूत तत्व है। [अ० सिं०]

शेलिंग, फ्रेडरिख डब्ल्यू० जे० फॉन (Schelling, Friedrich W. J. Von) शेलिंग का जन्म २७ जनवरी, १७७५ को वर्टेंबर्ग के एक छोटे नगर ल्यूनवर्ग में हुआ था। उसने दर्शन और ईश्वरशास्त्र का अध्ययन १७९० से १७९५ तक टुबिंजन विश्वविद्यालय के थियोलाजिकल सेमीनरी में किया। वह कांट, फिल्टे और स्पिनोजा का विद्यार्थी रहा था। हीगेल और होल्डरलिन उसके समकालीन विद्यार्थी थे। सन् १७९८ में वह जेना में दर्शन का प्राध्यापक हो गया। सन् १८०३ के उपरांत वुर्जबर्ग, म्यूनिख और अर्लेजन में विभिन्न पदों पर कार्य किया। अंत में वह हीगेल का प्रभाव रोकने के लिये बर्लिन में बुलाया गया था किंतु वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। सन् १८५४ में उसकी मृत्यु हुई।

शेलिंग की प्रमुख रचनाएँ हैं — आइडियाज फार ए फिलासफी आॅव नेचर (१७९७), दि सोल ऑव दि वर्ल्ड (१७९८), फर्स्ट स्केच ऑव ए सिस्टम ऑव दि फिलॉसफी ऑव नेचर (१७९९), सिस्टम ऑव ट्रांसेंडेंटल आइडियलिज्म (१८००), ब्रूनो और दि डिवाइन एंड नेचुरल प्रिंसिपल ऑव थिंग्स (१८०२), क्रिटिकल जर्नल ऑव फिलासफी (इन कनजंक्शन विद हीगेल, १८०२-३), हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी। सन् १८५६ में शेलिंग के पुत्र द्वारा संपादित 'कंप्लीट वर्क्स ऑव शेलिंग' के नाम से उसकी सब रचनाएँ १४ भागों में प्रकाशित हुईं।

शेलिंग के दार्शनिक चिंतन में तीन मोड़ स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। प्रारंभ में वह फिल्टे के दर्शन से प्रभावित था और उसी को विकसित करने में व्यस्त रहा। फिर वह ब्रूनो और स्पिनोजा से प्रभावित होकर परम तत्व के दो पक्ष प्रकृति और मन स्वीकार करने लगा। तीसरे मोड़ में शेलिंग ने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की, किंतु उसके इस समय के विचार भी जेकोव बोहेम से मिलते जुलते हैं। अब वह संसार को ईश्वर से उत्पन्न हुआ समझने लगा।

शेलिंग के समय में जर्मनी हीगेल के दर्शन से अभिभूत था। अत: हीगेल के जीवनकाल में शेलिंग अपना मुँह नहीं खोल सका। सन् १८३४ में हीगेल की मृत्यु के बाद उसने उसका विरोध प्रकट किया। वह अपने धार्मिक और पौराणिक विचारों को हीगेल के नकारात्मक तार्किक या परिकल्पनावादी दर्शन का स्वीकारात्मक परिपूरक समझता था।

शेलिंग के विचार से मन और प्रकृति (नेचर) एक ही तत्व के दो पक्ष हैं। प्रकृति दृष्टिगत मन है और मन अदृष्ट प्रकृति है। मन और प्रकृति के इसी संबंध के कारण हम प्रकृति को समझ सकते हैं। प्रकृति में भी जीवन, विचार और उद्देश्य हैं। एक ही शक्ति मन में स्वचेतन प्रतीत होती है और इंद्रियों, पशुप्रवृत्ति, आंगिक विकास, रासायनिक प्रक्रिया, विद्युत् और गुरुत्वाकर्षण में अचेतन रूप से कार्य करती है। हमारे शरीर को संचालित करनेवाली अंध अचेतन शक्ति मन मे स्वचेतन होकर आत्मा कहलाती है। शेलिंग मन और प्रकृति को स्पिनोजा की भाँति परमतत्व के दो समानांतर पक्ष नहीं मानता। वे तो निरपेक्ष मन के विकास मे दो भिन्न स्तर या युग हैं। निरपेक्ष मन में क्रमिक उत्क्रांति हुआ करती है। उसका अंतिम लक्ष्य आत्मचेतना प्राप्त करना है।

शेलिंग के अंतिम दार्शनिक विचार केवलोपादानेश्वरवादी प्रतीत होते हैं। संसार एक जीवित, सतत विकासशील आंगिक सृष्टि की भाँति है। इसके प्रत्येक अंग का अपना महत्व है। इनकी उपेक्षा करके संसार के समष्टि रूप को नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार संसार का प्रत्येक अंग भी समग्र पर अवलंबित है। इस सत्य को शेलिंग कई प्रकार से प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। एक तो वह संसार को बुद्धिप्रधान समझता है, इसलिये बुद्धि के द्वारा उसे जाना भी जा सकता है। दूसरे, संसार का इतिहास तर्कसंगत है, इसलिये इसके प्रत्येक सृष्टि-विकास-क्रम को तार्किक भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। शेलिंग अंतर्ज्ञान की सार्थकता भी स्वीकार करता है। अंतर्ज्ञान से मूल तर्कवाक्य प्राप्त होते हैं और उनके आधार पर हम संसार के तर्कसंगत सिद्धांत की रचना स्वीकार कर सकते हैं।

शेलिंग कला के पर्यावरण में रह रहा था। उससे प्रभावित होकर उसने स्वीकार किया है कि संसार एक कलात्मक रचना है। निरपेक्ष सत्ता विश्व की रचना करके अपने उद्देश्य की पूर्ति

करती है। इसलिये मनुष्य का भी सर्वोच्च कार्य कला की सृष्टि करना है। कला में सभी प्रकार के द्वैत सामंजस्य प्राप्त कर लेते हैं। प्रकृति स्वयं एक महान् काव्य है। कला में उसका अनावरण होता है। कला का सर्जन प्रकृति के सर्जन की भाँति ही संपन्न होता है। इसलिये कलाकार जानता है कि प्रकृति कैसे कार्य करती है। इस प्रकार कला दर्शन का आवश्यक और उपयोगी अंग बन जाती है। शेलिंग स्पष्ट कहता है कि इसमें कोई रहस्य की बात नहीं है, किंतु जिस व्यक्ति मे अनुभव से प्राप्त असंबद्ध विवरणों का अतिक्रमण करने की क्षमता नहीं है वह न दार्शनिक बन सकता है और न यथार्थता का मर्म समझ सकता है।

अंत में शेलिंग के विचार रहस्योन्मुख हो गए। उसके विचार से मनुष्य अपना व्यक्तित्व बढ़ाते हुए अनंत रूप हो जाता है, वह निरपेक्ष सत्ता में लय प्राप्त कर लेता है। उस समय वह स्वतंत्र होता है, उसे किसी बात की आवश्यकता नहीं रहती। वह सब प्रकार से द्वैत से ऊपर उठ जाता है। [हृ० ना० मि०]

शेली, पर्सी बिरशी अंग्रेजी के विख्यात कवि। इनका जन्म ४ अगस्त, १७९२ ई० को ससेक्स के हार्शम नगर के निकट फील्ड प्लेस में हुआ था। तेरह वर्ष की उम्र में वे ईटन नामक प्रसिद्ध सार्वजनिक विद्यालय में प्रविष्ट हुए। वे बहुत कुशल छात्र थे और पढ़ने लिखने में उनकी अत्यंत रुचि थी। शीघ्र ही उन्होंने ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। विद्यालय छोड़ने से पूर्व उन्होंने विचित्रवाद शैली के दो उपन्यास लिखे — 'जेस्ट्रोजी' और 'सेंट इर्विन' जो १८१० ई० तथा १८११ ई० में प्रकाशित हुए। उन्होंने अनेक कविताओं की भी रचना की जो १८१० ई० में 'ओरिजिनल पोएट्री बाइ विक्टर ऐंड के० जायर' के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुईं। वे अपनी छात्रावस्था ही में प्रत्येक प्रकार के क्रूर अपकार तथा रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी बन गए थे और इसी कारण विद्यालय में प्रायः सभी लोग उन्हें पागल तथा नास्तिक कहते थे।

सन् १८१० ई० में शेली ईटन छोड़कर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के यूनिवर्सिटी कालेज में भरती हुए। किंतु एक वर्ष पश्चात् उन्होंने 'दी निसेसिटी ऑव एथीज्म' नामक दो पृष्ठ की पुस्तिका लिखी जिसमे उन्होंने अपनी विचारधारा के अनुसार अनीश्वरवाद की आवश्यकता प्रमाणित की और जिसकी प्रतियाँ उन्होंने विश्वविद्यालय के अधिकारियों के पास भेजीं। वे सब क्रोध से तिलमिला उठे और शेली तत्काल विश्वविद्यालय से निकाल दिए गए। जब उनके पिता को इस दुर्घटना का समाचार मिला तो उन्होंने शेली को घर लौटने से वर्जित कर दिया। इस कारण वे लंदन पहुँचे और वहाँ हेरियट वेस्टब्रुक नामक एक युवती से उनका संपर्क हो गया। १८११ ई० में एडिनबरा में उन्होंने उससे विवाह कर लिया।

शेली एक उत्तम क्रांतिकारी व्यक्ति थे। उस समय आयरलैंड में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध बड़ी हलचल थी और शेली इस राजद्रोही हलचल की सहायता तथा प्रोत्साहन के लिये वहाँ गए और अनेक सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिए। १८१३ ई० में उनका 'क्वीन मैब' नामक काव्यग्रंथ प्रकाशित हुआ। लगभग इसी समय उनका अपनी पत्नी से मतभेद हो गया और १८१४ ई० में वे एक दूसरे से सदा के लिये पृथक् हो गए। इस दुर्घटना का प्रभाव उनकी पत्नी पर इतना बुरा पड़ा कि उसने आत्महत्या कर ली। इस बीच में शेली का मेरी गोड्विन नामक अन्य महिला से परिचय हो चुका था और १८१६ ई० में उनका विवाह भी लंदन में हो गया। इसी वर्ष उनका प्रसिद्ध काव्यग्रंथ 'अलेस्टर' प्रकाशित हुआ। तदुपरांत वे स्विटजरलैंड तथा फ्रांस का भ्रमण करने चले गए। जब वे इंग्लैंड लौटे तो उनके पिता ने उनको क्षमा कर दिया जिससे उनका सब आर्थिक कष्ट, जो उन्हें बहुत खल रहा था, दूर हो गया।

कुछ समय मार्लो तथा विंडसर नामक नगरों में रहने के पश्चात् शेली और उनकी पत्नी इटली चले गए और वहाँ के समस्त प्रसिद्ध नगरों में भ्रमण किया। किंतु वे सब अत्यंत रमणीक होते हुए भी शेली के स्वास्थ्यानुकूल सिद्ध न हुए और अंततः सन् १८१९ ई० में वे पीसा नगर में रहने लगे। इस बीच शेली ने 'चेंची', 'प्रोमीथ्यस अनबाउंड', 'रोजालिंड ऐंड हेलन', तथा 'ओड टु दी वेस्टविंड' की रचना की और पीसा में उन्होंने 'एडोनेइस' 'एपियसाइकीडियन' तथा अनेक सर्वोत्तम गीतात्मक कविताओं की सृष्टि की। जहाँ भी वे रहे सर्वथा स्वतंत्र विचारों के अनुयायी रहे। उन्होंने यूनानी साहित्य का अध्ययन किया। स्पेन, इटली तथा जर्मनी की भाषाओं पर अधिकार प्राप्त किया। किंतु यह सब करने पर भी उनके मन को कहीं शांति न मिली। अत: पीसा से रवेन्ना, रवेन्ना से लेरीसी और लेरीसी से लेग्होर्न भटकते रहे। जब वे १८२२ ई० में स्पेजिया जा रहे थे तो उनकी नाव समुद्र में डूब गई और उनकी अकाल मृत्यु हो गई। बहुत दिनों के बाद जब उनकी लाश मिली तब समुद्रतट पर उनकी दाहक्रिया हुई और उनके भस्मफूल रोम के उस प्रसिद्ध प्रोटेस्टेंट शवस्थान में दफन किए गए जिसके बारे में शेली ने स्वयं लिखा था कि यह स्थान इतना रमणीय है कि देखनेवालों को यदि मृत्यु ही से अनुराग हो जाय तो कोई असंभव बात नहीं है।

इंग्लैंड के गीतात्मक कवियों में शेली का स्थान सबसे ऊँचा है। उनकी कविता में गीतिकाव्य के सभी गुण विद्यमान हैं— माधुर्य है, मादकता है, वेग है, शब्दयोजना का सौंदर्य है, भावों की गहराई है, कवि की हार्दिक अनुभूतियों की मार्मिक व्यंजना है, वेदना की टीस है, और आशा तथा आकांक्षा की आग है। उनकी 'एडोनेइस' नामक कविता, जो इन्होंने कीट्स की अकाल मृत्यु पर लिखी, अंग्रेजी की इनी गिनी शोकात्मक कविताओं में अमर कीर्तिवाली रचना है। उनके 'प्रोमीथियस अनबाउंड' की गणना अंग्रेजी के उन दो तीन सर्वश्रेष्ठ नाटकों में है जो प्राचीन यूनानी पद्धति के अनुसार लिखे गए हैं। उनका 'चेंची' नामक नाटक शेक्सपियर की परिपाटी के अनुसार लिखे हुए नाटकों में सबसे अच्छा समझा जाता है। शेली सौंदर्य, प्रेम, प्रकृति, स्वतंत्रता, तथा अध्यात्म के महत्वपूर्ण कवि थे। उनकी कृतियों में बिंबवाद की झलक, रहस्यवाद का मर्म तथा अनंत का अलौकिक प्रकाश है। लोकमंगल अथवा विश्वप्रेम की भावना उनके कवित्व का मूल मंत्र है।

शेली केवल कवि ही न थे, उन्होंने अनेक गद्य रचनाएँ भी

की है। उनके पत्र भी महत्वपूर्ण हैं और उनकी आलोचनात्मक पुस्तक 'डीफेंस ऑव पोएट्री' अत्यंत प्रसिद्ध है। [बी० एल० सा०]

शेले, कार्ल विल्हेल्म (Scheele, Karl Wilhelm, सन् १७४२-१७८६), स्वीड रसायनज्ञ, का जन्म पॉमरेन्या (Pomerania) के स्ट्रालजुंट (Stralsund) नामक नगर में हुआ था। गोथनबर्ग (Gothenburg) में एक औषधविक्रेता के यहाँ आठ वर्ष काम करके, इन्होंने रसायन का प्रारंभिक ज्ञान पाया। बाद में ये माल्म (Malmo), स्टॉकहोम (Stockholm), अपसाला (Uppsala) तथा कपिंग (Koping) में भी सहायक रसायनज्ञ रहे।

इन्होंने अपना सारा जीवन रासायनिक प्रयोग और अनुसंधान में बिताया। आदिकालीन उपकरणों और सीमित साधन ही इन्हें उपलब्ध थे, किंतु इन्होंने इन्हीं का उपयोग कर अनेक महत्व की खोजें कीं। बिना किसी अन्य की सहायता के, इन्होंने क्लोरीन, बाराइटा, ऑक्सीजन, ग्लिसरीन तथा हाइड्रोजन सल्फाइड को विलग किया और हाइड्रोफ्लोरिक, टार्टरिक, बेंजोइक, आर्सिनियस, मॉलिब्डिक, लैक्टिक, साइट्रिक, मैलिक, ऑक्जैलिक, गैलिक तथा अन्य अम्ल खोज निकाले। मैंगेनीज के लवण आपने तैयार किए और दिखाया कि इनसे काँच किस प्रकार रँगा जाता है। इन्हीं के नाम पर ताँबे के आर्सेनाइट, एक हरे वर्णक, का तथा टंग्स्टेन के अयस्क शेलाइट का नाम पड़ा है।

इन्होंने स्वतंत्र रूप से यह बात खोज निकाली कि वायु का एक अंश तो ज्वलनशील पदार्थों को जलने देता है और दूसरा इसे रोकता है। प्रूसिक अम्ल का वर्णन करने के पश्चात्, इन्होंने सिद्ध किया कि प्रशियन नील का रंजक गुण इसी के कारण है।

रोग और दरिद्रता से ग्रसित रहने पर भी वैज्ञानिक अनुसंधान में तीव्रोत्साह के कारण, ये अथक परिश्रम करते रहे और विषाक्त पदार्थों से अपनी रक्षा की भी विशेष परवाह न की, जिसके कारण अल्प आयु में ही इनकी मृत्यु हो गई। [भ० दा० व०]

शेष (१) प्रसिद्ध आचार्य जिन्होंने यजुर्वेदीय वेदांग ज्योतिष का निर्माण किया जिसमें कुल ४३ श्लोक हैं। इसपर सोमाकर की टीका है। (२) कद्रू से उत्पन्न कश्यप के पुत्र जो नागों में प्रमुख थे। इनके सहस्र फणों के कारण इनका दूसरा नाम अनंत है। यह सदा पाताल में ही रहते थे और इनकी एक कला क्षीरसागर में भी है जिसपर विष्णु भगवान् शयन करते हैं। अपनी तपस्या द्वारा इन्होंने ब्रह्मा से संपूर्ण पृथ्वी धारण करने का वरदान प्राप्त किया था। लक्ष्मण जी शेष के ही अवतार माने जाते हैं। [रा० द्वि०]

शैकल्टन, सर अर्नेस्ट हेनरी (Shackleton, Sir Earnest Henry) प्रख्यात, ब्रिटिश यात्री और अन्वेषक थे। इनका जन्म १८७४ई० में आयरलैंड के किल्की ग्राम में हुआ था और इन्होंने डलिविच कॉलेज में शिक्षा पाई थी। इन्होंने सागरीय व्यापारिक सेवा ग्रहण की और रॉयल नेवी रिज़र्व में लेफ्टिनेंट हो गए। ये स्कॉट के साथ १९०१-१९०४ ई० में ऐंटार्कटिक की यात्रा में ८२° १७′ दक्षिणी अक्षांश तक पहुँचे। सन् १९०८ में कमांडर के रूप में, इन्होंने न्यूज़ीलैंड से 'निमरोद' जहाज द्वारा यात्रा प्रारंभ की और दक्षिणी ध्रुव से १०० मील दूर एक स्थान पर पहुँच गए। लौटने पर इन्हें 'सर' की उपाधि दी गई। १९१४-१६ ई० में इन्होंने ऐंटार्कटिक महाद्वीप को पार करने का निरर्थक प्रयत्न किया। इनका जहाज 'एंड्यूरेंस' बर्फ में फँस गया और २५ अक्टूबर, १९१५ ई० को डूब गया। सितंबर, १९२१ ई० में शैकल्टन पुन: 'क्वेस्ट' जहाज में यात्रा के लिये निकले, किंतु हृदयरोग से ५ जनवरी, १९२२ ई० को मर गए और दक्षिणी जॉर्जिया में दफना दिए गए। इन्होंने 'दि हार्ट ऑव ऐंटार्कटिक ऐंड साउथ' नामक पुस्तक लिखी है। [शां० ला० का०]

शैक्षिक तथा व्यावसायिक निर्देशन निर्देशन प्रक्रिया में उन सभी वैयक्तिक, शैक्षिक एवं व्यावसायिक परामर्श सेवाओं का समावेश हो जाता है जिनका प्रमुख उत्तरदायित्व व्यक्ति में उसकी अपनी क्षमताओं का ज्ञान कराकर उन्हें उचित प्रयोग में लाना है, जिससे उसका समुचित वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास हो सके। निर्देशक व्यक्ति को मार्ग नहीं दिखाता, न ऐसा कुछ आदेश देता है कि वह उसके बताए हुए मार्ग पर चले अपितु उसमें एक ऐसी सूझ, ऐसी आत्मशक्ति एवं विश्वास को विकसित करने में सहायता देता है जिससे व्यक्ति अपनी स्वाभाविक एवं अर्जित क्षमताओं की सीमा एवं प्रकृति को ठीक रूप से समझ सके और अपने आस पास के बाह्य वातावरण को ठीक रूप से परखकर समायोजन कर सके। इस तरह व्यक्ति में धीरे धीरे आत्मविश्वास और सूझ बूझ से व्यवहार करने की सामर्थ्य विकसित होती है और वह आत्मनिर्देशित हो जाता है। यही निर्देशनप्रक्रिया का चरमोद्देश्य है।

सामान्य रूप से यह माना जाता रहा है कि निर्देशनप्रक्रिया की आवश्यकता प्रमुख रूप से तभी समझी जाती है जब कोई ऐसी समस्या उत्पन्न हो जाय जिसे व्यक्ति सुलझा न सके, परंतु अब मनोविश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के निष्कर्षों ने यह सिद्ध कर दिया है कि समस्या के समाधान से अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है। अत: निर्देशनप्रक्रिया की आवश्यकता जीवन के आरंभ से लेकर अंत तक है। व्यक्ति के विकास में एक निरंतरता है, जिसके साथ निर्देशन की प्रक्रिया भी जुड़ी हुई है। फिर भी प्रक्रिया की सरलता के लिये इसे जीवन के अलग अलग पक्षों के आधार पर भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न रूप से विभाजित किया है। बहुधा इसे सामाजिक, शैक्षिक, वैयक्तिक, शारीरिक, नैतिक, नागरिक एवं धार्मिक आदि विभागों में विभाजित किया जाता है परंतु जीवन की आवश्यक दशाओं का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्देशन प्रमुखत: तीन तरह का हो सकता है: (१) वैयक्तिक निर्देशन, जिसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की वैयक्तिक समस्याओं के समाधान में व्यक्ति को सहायता देना है। ये समस्याएँ वैवाहिक एवं गार्हस्थिक, भावनात्मक एवं अंत:क्रिया से संबंधित हो सकती हैं। (२) शैक्षिक निर्देशन, जिसका उद्देश्य व्यक्ति के शैक्षिक जीवन की समस्याओं का निराकरण करना है। (३) व्यावसायिक निर्देशन, जिसका उद्देश्य व्यक्ति को उसके कार्यव्यापार जगत् में सुखपूर्ण एवं संतुष्ट जीवन निर्वाह करने में मदद देना है। नीचे हम बाद की दो निर्देशन विधाओं का ही विस्तारपूर्वक विश्लेषण करेंगे।

शैक्षिक निर्देशन — शैक्षिक प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होगा कि इसमें प्रमुखत: तीन तत्व संमिलित हैं : शिक्षार्थी (उसकी बौद्धिक, भावनात्मक एवं शारीरिक क्षमताएँ); उसका वातावरण (विद्यालय का कार्यव्यापार और पाठ्यक्रम); उसे इस वातावरण से संबंधित करनेवाला व्यवहार (शिक्षणपद्धति, शिक्षक का व्यक्तित्व आदि)। इस त्रिमुखी क्रिया का आयोजन शिक्षार्थी के वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास के उद्देश्य से होता है।

यह तो पूर्वनिश्चित धारणा है कि विद्यालय का वातावरण सामान्य रूप से पूर्वनिर्धारित होता है जिसका स्वरूप, स्वभाव एवं प्रभाव बालक के सामान्य जीवन से भिन्न होता है। दूसरी ओर बालक को अपनी स्वाभाविक क्षमताओं का न पूर्ण आभास होता है, न उनकी प्रयोगविधि से वह परिचित होता है और न वह यह जानता है कि वातावरण के परिवर्तन के साथ साथ उसे अपनी क्षमताओं का उपयोग किस तरह करना है। इस संदर्भ में शिक्षक का कार्य तो पाठ्यक्रम से शिक्षार्थी को अवगत करा देने में ही समाप्त हो जाता है। शिक्षक के इस सीमित और विशिष्ट कार्यक्षेत्र के अंतर्गत बहुत सी ऐसी समस्याएँ नहीं आ पातीं जिनके सामयिक एवं समुचित समाधान से शिक्षाविधि सरल हो सके और शिक्षार्थी का विकास सहज ढंग से हो। वातावरण की विविधता पारिवारिक परिवेश की विविधता, रुचियों की विविधता, मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं की विविधता आदि से उत्पन्न समस्याओं का केंद्रबिंदु शिक्षार्थी स्वयं है। परंतु कुछ दूसरी प्रकार की समस्याएँ हैं जिनका स्रोत विद्यालय एवं विद्यालय में होनेवाली क्रियाओं में ढूँढ़ा जा सकता है; यथा, विद्यालय का संगठन, अनुशासन, परंपरा समय-विभाजन, अध्यापकों की संख्या तथा स्वभाव, अध्यापनविधि, प्रयोगात्मक, व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक पाठ्यक्रम का नियोजन आदि। तीसरी प्रकार की समस्याएँ वे हैं जिनका संबंध उन अनुभवों से है जिन्हें विद्यालय पाठ्यक्रम के माध्यम से छात्र को देना चाहता है; यथा, पाठ्यक्रमगत एवं पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का वर्गीकरण, पाठ्यक्रम का विषयगत वर्गीकरण, वर्गों का संगठन, चुनाव के आधार एवं सुविधाएँ, पाठ्यक्रम का सामाजिक वातावरण, सामाजिक आवश्यकता एवं व्यावसायिक कार्यव्यापार से सामंजस्य आदि। निर्देशक छात्र को मार्गनिर्देशन नहीं करता, वह केवल उसे मार्ग ढूँढ़ने में सहायता भर देता है। इस सहायता का क्रम तीन स्तरों पर चलता है। शिक्षार्थी के वातावरण का प्रत्यक्षीकरण, उसकी अपनी स्वाभाविक, अर्जित एवं भौतिक क्षमताओं का मूल्यांकन, और तदनुसार मार्ग का निर्धारण। यदि यह क्रिया स्वाभाविक रूप से निरंतर चलती रहती है तो शिक्षाक्रम में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न नहीं होता। यही कारण है कि विद्यालयों में निर्देशन कार्यक्रम का संगठन प्रत्येक स्तर पर किया जाता है।

निर्देशन कार्यक्रम का संगठन आजकल के विद्यालयों के लिये बहुत आवश्यक हो गया है। इसके कई कारण हैं, यथा, शिक्षा का सार्वजनीन होना, शैक्षिक पद्धति में तेजी से होते हुए परिवर्तन, विषयों की अधिकता और चुनाव में ऐच्छिक विषयों का बाहुल्य, विषयों के तथ्यगत क्षेत्र का वैविध्य और विस्तार, विशिष्टीकरण के प्रति झुकाव, सामाजिक अंत:क्रिया एवं गत्यात्मकता में नएपन का आविर्भाव, आदि के अलावा मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अनुसंधानों ने भी इस समस्त क्रिया को अधिक महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य बनाने में काफी योग दिया है।

शिक्षा में निर्देशन के पीछे एक महत्वपूर्ण तत्व व्यावसायिक चुनाव भी है। शिक्षा का उद्देश्य आज सांस्कृतिक प्रवीणता की उपलब्धि मात्र नहीं है। जीवनयापन के लिये मनुष्य किसी न किसी व्यवसाय को अपनाता है। आधुनिक औद्योगीकरण के कारण व्यवसाय में कौशल प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। कौशलहीन व्यक्ति व्यावसायिक क्षेत्र में अपना समायोजन ठीक रूप से नहीं कर पाता और इस असंगति के कारण वह स्वयं में ही असंतुष्ट नहीं रहता अपितु व्यावसायिक उत्पादन को भी ठेस पहुँचाता है। इस सामाजिक एवं व्यक्तिगत हानि को रोकने के लिये व्यावसायिक क्षेत्र में भी निर्देशन की आवश्यकता होने लगी और इन कुछ दशकों में इस प्रक्रिया का पूर्ण रूप से नियोजन भी किया जा चुका है।

व्यावसायिक निर्देशन — व्यावसायिक निर्देशन शैक्षिक निर्देशन के समान ही तीन तत्वों पर आधारित है — व्यक्तिपरीक्षण, व्यवसाय विश्लेषण, एवं व्यक्ति का व्यवसाय से सामंजस्य। व्यवसाय के चुनाव में व्यक्ति की रुचियाँ, अभिवृत्तियाँ, इच्छाएँ और आकांक्षाएँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। परंतु इनका प्रयोग एवं उपयोग उसकी बौद्धिक, शारीरिक एवं भावनात्मक क्षमताओं पर निर्भर रहता है। अत: निर्देशन के प्रथम चरण में इन्हीं बातों का निश्चयीकरण होता है।

जिस व्यवसाय का व्यक्ति चुनाव कर रहा है उसकी क्या सीमाएँ, माँगें एवं संभावनाएँ हैं इसका निर्धारण करना भी आवश्यक है। इस तरह व्यावसायिक निदशन में व्यावसायिक निर्देशक का कार्य निरीक्षण एवं परीक्षण के द्वारा व्यक्ति के समक्ष उसकी क्षमताओं को स्पष्ट करने में सहयोग देना है तथा व्यवसाय में निहित अनेक तत्वों को स्पष्ट रख देना है जिससे व्यक्ति स्वयं अपना मार्गनिर्धारण कर सके।

व्यावसायिक निर्देशन का अंतिम चरण है व्यक्ति का व्यवसाय से समायोजन स्थापित करना। इस समायोजन की प्रक्रिया के दो स्तर हैं — पूर्वसूचना, अर्थात् उन सभी प्रकार की सूचनाओं का सुलभ होना जिनके द्वारा व्यक्ति व्यावसायिक क्षेत्र के विषय में अवगत रहता है। व्यवसाय में लग जाने पर भी निर्देशक का व्यक्ति से संपर्क बना रहना चाहिए। बहुत सी ऐसी समस्याएँ हो सकती हैं जिनका सूत्रपात व्यक्ति के व्यवसाय में लग जाने के बाद हो सकता है।

यहाँ पर दो प्रमुख तत्वों की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। इनका संबंध उचित व्यक्ति को उचित स्थान' या योग्यतानुरूप व्यवसाय के सिद्धांत से है। वे हैं 'व्यवसाय का चुनाव' जिसका विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं और 'व्यवसाय के लिये चुनाव' जिसका तात्पर्य व्यवसाय के लिये योग्यतम व्यक्ति का चुनाव। प्रथम व्यक्तिपरक है और द्वितीय व्यवसायपरक।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यावसायिक निर्देशन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा निर्देशक व्यक्ति

को व्यवसाय के अनुरूप योग्यता एवं क्षमताओं का अनुसंधान कर उसके लिये तैयारी, प्रवेश और प्रयास करने में सहायता पहुँचाता है जिससे व्यक्ति व्यावसायिक क्षेत्र में अपना समुचित विकास कर सके और संतुष्ट रह सके। अविचारजन्य चुनाव से न केवल व्यक्ति का अहित होता है अपितु समाज को भी हानि पहुँचती है। यदि व्यक्ति उस व्यवसाय के लिये योग्य नहीं होता, जिसमें वह बाह्य प्रभावों के कारण प्रविष्ठ हो जाता है तो उस व्यवसाय की उन्नति में वह बाधक होता है, और जिस व्यवसाय के लिये उसमें समुचित योग्यता हो यदि उसमें वह प्रवेश नहीं करता तो उसकी उपयोगिता से वह व्यवसायक्षेत्र वंचित रह जाता है। जिस समाज में व्यक्ति अपने व्यावसायिक जीवन से जितना ही सुनियोजित एवं संतुष्ट होता है उस समाज के मूल्य उतने ही स्थायी होते हैं और उसमें विघटनकारी एवं घातक तत्वों की उपस्थिति उतनी ही कम होती है।

निर्देशन प्रक्रिया का नियोजन केवल वैयक्तिक विकास के लिये ही अर्थयुक्त नहीं है, अपितु समाज में उपयुक्त वातावरण का संचार करने के लिये तथा मानववृत्ति की भिन्न भिन्न असंगतियों के निराकरण के लिये भी बहुत आवश्यक है। व्यक्ति के विकास में ही सामाजिक विकास निहित है। अतः व्यक्ति विकास के सिद्धांत को गतिशील उपयोगी एवं अर्थपूर्ण बनाए रखने के लिये व्यक्ति का अध्ययन, विश्लेषण एवं पर्यालोचन होना आवश्यक है। निर्देशन प्रक्रिया इन्हीं मानववादी मूल्यों पर खड़ी है। [एस० के० पी०]

शैतान ईसाई बाइबिल में इस शब्द के अर्थ में क्रमिक विकास हुआ है। इब्रानी पूर्वार्ध में इसका अर्थ है — अभियोक्ता, विरोधी, आक्रामक। प्रारंभ में इसका प्रयोग किसी भी मानवीय विरोधी के लिये हुआ है। इय्योब नामक काव्यग्रंथ में शैतान एक पारलौकिक सत्व है जो ईश्वर के दरबार में इय्योब पर पाखंड का आरोप लगाता है। यहूदियों के निर्वासनकाल के बाद (छठी शताब्दी ई० पू०) शैतान एक पतित देवदूत है जो मनुष्यों को पाप करने के लिये प्रलोभन देता है।

बाइबिल के उत्तरार्ध में शैतान बुराई की समष्टिगत अथवा व्यक्तिगत सत्ता का नाम है। उसको पतित देवदूत, ईश्वर का विरोधी, दुष्ट, प्राचीन सर्प, परदार साँप (ड्रैगन), गरजनेवाला सिंह, इहलोक का नायक आदि कहा गया है। जहाँ मसीह अथवा उनके शिष्य जाते, वहाँ शैतान अधिक सक्रिय बन जाता क्योंकि मसीह उसको पराजित करेंगे और उसका प्रभुत्व मिटा देंगे। किंतु मसीह की वह विजय संसार के अंत में ही पूर्ण हो पाएगी (दे० कयामत)। इतने में शैतान को मसीह और उसके मुक्तिविधान का विरोध करने की छुट्टी दी जाती है। दुष्ट मनुष्य स्वेच्छा से शैतान की सहायता करते हैं। संसार के अंत में जो खीस्त विरोधी (ऐंटी क्राइस्ट) प्रकट होगा वह शैतान की कठपुतली ही है। उस समय शैतान का विरोध अत्यंत सक्रिय रूप धारण कर लेगा किंतु अंततोगत्वा वह सदा के लिये नरक में डाल दिया जायगा। ईसा पर अपने विश्वास के कारण ईसाई शैतान के सफलतापूर्वक विरोध करने में समर्थ समझे जाते हैं।

बाइबिल के उत्तरार्ध तथा चर्च की शिक्षा के अनुसार शैतान प्रतीकात्मक शैली की कल्पना मात्र नहीं है; पतित देवदूतों का अस्तित्व असंदिग्ध है। दूसरी ओर वह निश्चित रूप से ईश्वर द्वारा एक सृष्ट सत्व मात्र है जो ईश्वर के मुक्तिविधान का विरोध करते हुए भी किसी भी तरह से ईश्वर के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

सं० ग्रं० — डब्ल्यू० बौवर : ग्रीक इंग्लिश लेक्सिकोन ऑव दि न्यू टेस्टामेंट, शिकागो, १९६३। [का० बु०]

शैनतुंग (Shantung) स्थिति : ३०° २५′ उ० अ० तथा १२२° ४५′ पू० दे०। जनवादी चीनी गणतंत्र में उत्तर-पूर्व में स्थित प्रांत है जिसका क्षेत्रफल १,५३,३०० वर्ग किमी० तथा अनुमानित जनसंख्या ५,४०,३०,००० (१९५९) है। यह प्रांत गेहूँ की कृषि का प्रमुख केंद्र है। यहाँ अच्छे किस्म के रेशम का, जो प्रांत के नाम पर शैनतुंग रेशम कहलाता है, उत्पादन भी होता है, प्रांत के उद्योग चिनदाउ (Tsingtao) नगर में, जो बंदरगाह भी है, केंद्रित हैं। जीनान (Tsinan) प्रांत की राजधानी है। प्रांत का अन्य प्रमुख नगर जफू (Chefoo) या येंताइ (Yentai) है।

प्रांत पहाड़ी एवं मैदानी भाग में लगभग समान रूप से विभक्त है। जाड़े का न्यूनतम ताप −२° सें० तथा ग्रीष्म का अधिकतम ताप ३१° सें० है। औसत वार्षिक वर्षा ७८ सेमी० है। वर्षा अधिकांशत: जुलाई तथा अगस्त महीनों में होती है। येलो नदी प्रांत की प्रमुख नदी है। शैनतुंग में बिटुमेनी कोयले के पर्याप्त भंडार हैं। यहाँ लोहे के भी बड़े भंडार हैं। सोना, ताँबा और सीसे की भी कुछ खानें हैं। रेलों का जाल प्रांत के उत्तर-दक्षिण भाग के मध्यक्षेत्र में तथा पूर्व-दक्षिण भाग में फैला हुआ है। प्रांत के राजपथ विकसित हैं। [अ० ना० मे०]

शैलविज्ञान (Petrology) शैलों का, अर्थात् जिन निश्चित इकाइयों से पृथ्वी न्यूनाधिक निर्मित है उनका, अध्ययन है। यद्यपि उल्काओं में हमें पृथ्वी के आभ्यंतर (interior) का निर्माण करनेवाले शैलों के सदृश एवं समरूप शैलों के नमूने प्राप्त हो जाते हैं, तो भी जैसा अब तक संभव है, यह अध्ययन पृथ्वी की अभिगम्य पर्पटी (aceessible crust) तक ही सीमित है। इसके अध्ययनक्षेत्र में शैलों की प्राप्ति, आकार, प्रकार, रचना, उत्पत्ति तथा उनका भूतात्विक प्रक्रियाओं एवं इतिहास से संबंध आ जाते हैं। इस प्रकार शैल विज्ञान भूविज्ञान का आधारभूत भाग है, जिसमें उन सबका अध्ययन है जिनके इतिहास का उद्घाटन करना भूविज्ञान की समस्या है।

[वि० सा० दु०]

शैवाल (Algae) भूमंडल पर पाए जानेवाले पौधों का विभाजन दो बड़े विभागों में किया गया है। जो पौधे फूल तथा बीज नहीं उत्पन्न करते उनको क्रिप्टोगैम (Cryptogams) कहते हैं और जो फूल,

फल एवं बीज उत्पन्न करते हैं वे फेनीरोगैम (Phanerogams) कहलाते हैं। शैवालों का वर्गीकरण क्रिप्टोगैम के थैलोफाइटा (Thallophyta) वर्ग में किया गया है। ये पौधे निम्न श्रेणी के होते हैं, जिनमें पर्णहरित (chlorophyll) प्रर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। पर्णहरित विद्यमान होने के कारण, ये बहुधा हरे रंग के होते हैं। कुछ शैवाल ऐसे भी होते हैं जिनका रंग लाल, भूरा अथवा नीला हरा होता है। अधिकांश शैवाल पानी में तालाबों, रुके हुए जलाशयों तथा समुद्रों में पाए जाते हैं। कुछ शैवाल पादपों के तनों पर, अथवा पत्थर की शिलाओं के ऊपर, हरी परत के रूप में उगा करते हैं। कुछ नीले हरे वर्ण के शैवाल स्नानागार, नदियों तथा तालाबों के सोपानों पर भी उगते हैं। ये एक प्रकार का चिकना पदार्थ छोड़ते हैं, जिसके कारण बहुधा लोग फिसलकर गिर जाया करते हैं। पानी में पैदा होनेवाले शैवालों का विभाजन दो भागों में किया जाता है। कुछ मीठे पानी के शैवाल होते हैं, जो तालाबों, झीलों, नदियों आदि में उगते हैं, तथा कुछ खारे पानी के, जो समुद्रों में पाए जाते हैं। मीठे पानी के शैवालों को अलवण जलशैवाल (Fresh water algae) कहते हैं तथा खारे पानीवालों को सामुद्रिक शैवाल (Marine algae) की संज्ञा देते हैं। पानी में ये या तो स्वतंत्र रूप में तैरते रहते हैं, अथवा धरातल पर एक विशेष अंग द्वारा, जिसे स्थापनांग (Hold fast) कहते हैं, स्थिर रहते हैं। पानी में तैरनेवाले शैवाल या तो एककोशीय या बहुकोशीय होते हैं।

रचना के विचार से शैवालों में बहुत विभिन्नता पाई जाती है। कुछ तो अति सूक्ष्म एककोशिक होते हैं, जो केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही दृश्य हैं तथा कुछ ऐसे होते हैं जो कई सेंमी० लंबे होते हैं। क्लोरेला (Chlorella), क्लैमिडोमोनैस (Chlamydomonas) आदि प्रथम कोटि में ही आते हैं। बड़े कोटिवाले शैवाल सूत्रवत् (filamentous) होते हैं, जो कई कोशिकाओं के बने होते हैं। सबसे बड़ा शैवाल मैक्रोसिस्टिस (Macrocystis) है, जो लाखों कोशिकाओं से बना तथा कई सौ फुट लंबा होता है। प्रत्येक कोशिका के अंदर एक केंद्रक (nucleus) होता है, जिसके चारों ओर कोशिकारस होता है। प्रत्येक कोशिका चारों ओर से कोशिकीय दीवारों से घिरी होती है। पर्णहरित तथा क्लोरोप्लास्ट (chloroplast) कोशिकारस में बिखरे रहते हैं।

वर्धी संरचना (vegetative structure) के विचार से शैवाल कई विभागों में बाँटे जा सकते हैं। कुछ तो एककोशिक तथा भ्रमणशील होते हैं, जिनमें कशाभिका (flagellum) विद्यमान रहता है, जैसे यूग्लिना (Euglena) में। कुछ जातियों के अनेक एककोशिक मिलकर झुंड बनाते हैं और कशाभिका के सहारे एक जगह से दूसरी जगह भ्रमण करते हैं, जैसे प्ल्यूडोराइना (Pleudorina), वॉलवॉक्स (Volvox) आदि। कुछ गोल (Coccoid) रूप धारण किए होते हैं, जैसे क्लोरोकॉक्कम (Chlorococcum), कुछ सूत्रवत् (filamentous) होते हैं, जैसे स्पाइरोगाइरा (Spirogyra) तथा यूलोथ्रिक्स (Ulothrix)। कुछ में दंडवत् रूप तथा सीधा रूप एक साथ होता है। इन्हें हेटरोट्राइकस श्रेणी में रखते हैं, जैसे फ्रिट्शियेल्ला (Fritschiella)। इस शैवाल में दो विभाग होते हैं, एक तो जमीन में धरातल के समानांतर सूत्रवत् अंग होता है, जिसे भूशायी (prostrate) भाग कहते हैं। इन्हीं भागों में से सीधे उगनेवाले सूत्रवत् भाग (filamentous form) पैदा होते हैं, जिन्हें इरेक्ट सिस्टेम (Erect system) कहते हैं। ऐसे ही शैवालों से पृथ्वी पर के बड़े बड़े पादपों के प्रादुर्भाव का होना समझा जाता है।

शैवालों में पोषण की समस्या स्वतः हल होती है। इनमें पर्णहरित विद्यमान रहता है, इसलिये प्रकाशसंश्लेषण की विधि से ये अपना भोजन स्वयं बना लेते हैं। अत: ऐसे पौधे स्वपोषी (Autotrophs) कहे जाते हैं।

शैवालों में जनन कई प्रकार से होता है। कुछ तो स्वयं विभाजित होते रहते हैं और बढ़ते चले जाते हैं। यह क्रिया अधिकतर कोशिका विभाजन की रीति से होती है। एककोशिक शैवाल इसी रीति से जनन करते हैं। बड़े कोटि के शैवालों में अलैंगिक तथा लैंगिक दोनों प्रकार के जनन होते हैं। अलैंगिक जनन कई ढंग से हो सकता है। कुछ शैवालों में चलबीजाणुओं (Zoospores) की उत्पत्ति होती है। चलबीजाणु नंगे जीवद्रव्य (protoplasm) का पिंड होता है, जो कशाभिका के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है। चलबीजाणु पानी के शैवालों में पैदा होते हैं। ये स्वत: अंकुरित होकर नया शैवाल बनाते हैं। जब पानी की मात्रा कम होने लगती है, अथवा विपरीत वातावरण आ पड़ता है, तो अचलबीजाणु (aplanospores) बनते हैं, जो मोटे आवरण से चारों ओर घिरे रहते हैं। इनमें कशाभिका नहीं होती। कुछ शैवालों में अलैंगिक जनन निश्चेष्ट बीजाणुओं (akinetes) द्वारा होता है। इनके बनने की रीति यह है कि शैवाल की कोई भी कोशिका गोलाकार होकर मोटी तह के आवरण रूप में चारों ओर से आच्छादित हो जाती है। ऐसी दशा तो केवल अवगत परिस्थिति में ही देखी जाती है, विशेषकर जब शुष्क और गरम वातावरण हो जाता है। जब अनुकूल वातावरण प्राप्त हो जाता है तब इनका अंकुरण होने लगता है और ऊपरी, मोटी तह की दीवार धीरे से टूट जाती है और नवजात शैवाल का निर्माण होने लगता है। कुछ शैवाल पानी के किनारे पड़े रहते हैं। जब विपरीत वातावरण होता है, तब इनकी कोशिकाओं में विभाजन तो होता ही रहता है, परंतु ये विलग नहीं हो पातीं, अपितु कोशिका की दीवार मोटी होती जाती है और उसके अंदर कई कोशिकाएँ भरी पड़ी रहती हैं। जब अनुकूल वातावरण आता है, तब ये अंकुरित होकर नया शैवाल बनाती हैं। ऐसी दशा को पैलमेला अवस्था (Palmella stage) कहते हैं।

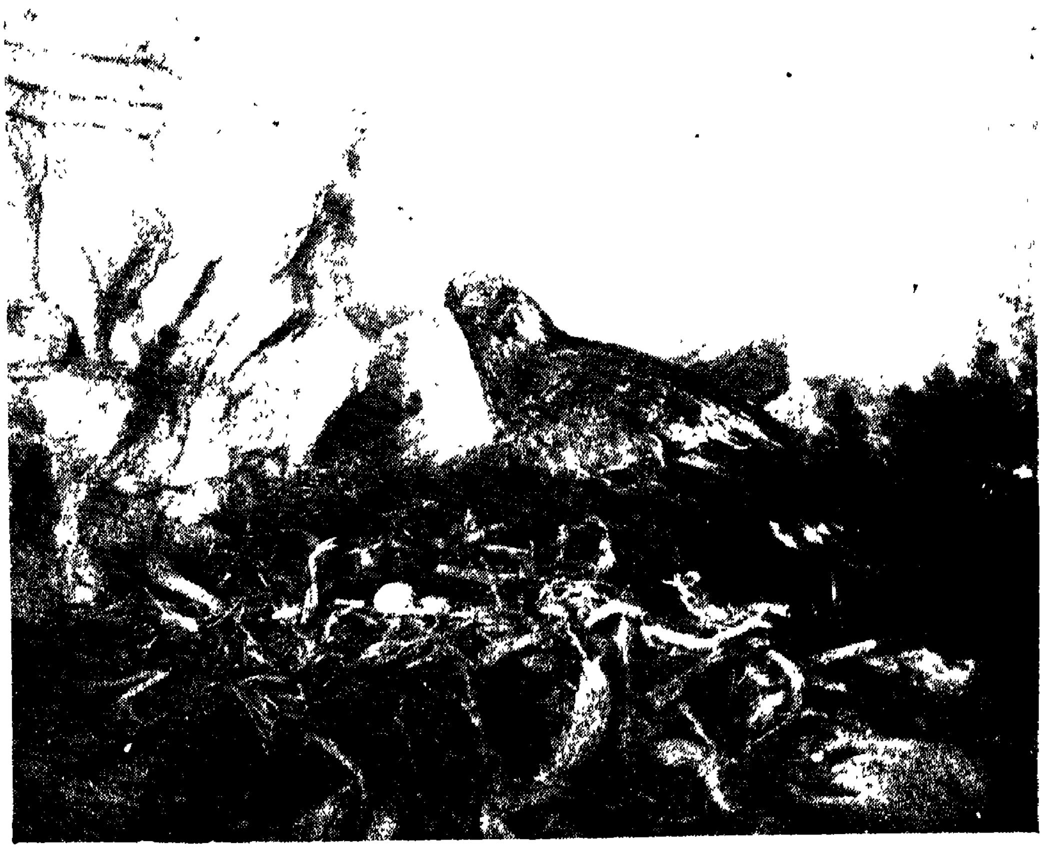
लैंगिक जनन (sexual reproduction) दो विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं के संयोग से होता है। इन कोशिकाओं को युग्मक (gametes) कहते हैं। ये युग्मक युग्मकधानियों (gametangia) में पैदा होते हैं। दोनों प्रकार के युग्मकों के संयोजन (fusion) से युग्मज (zygote) बनता है। युग्मकों के जोड़े, जिसमें से एक पितृपक्ष का तथा दूसरा मातृपक्ष का होता है, तीन प्रकार के होते हैं :

[illegible] (पृ० २२५)



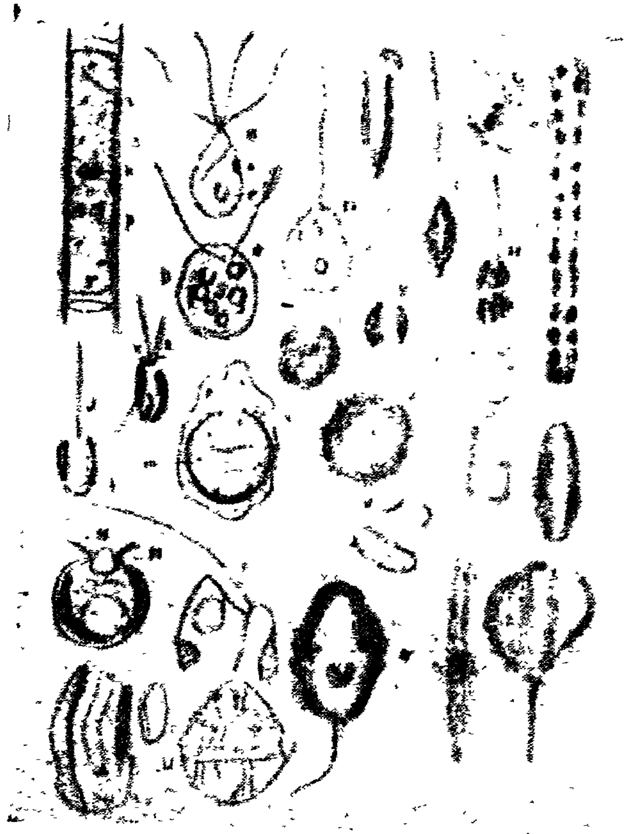
खेत में जंगली शशक

श्येन (पृष्ठ ३१६)



स्वर्णिम महाश्येन (Golden Eagle)

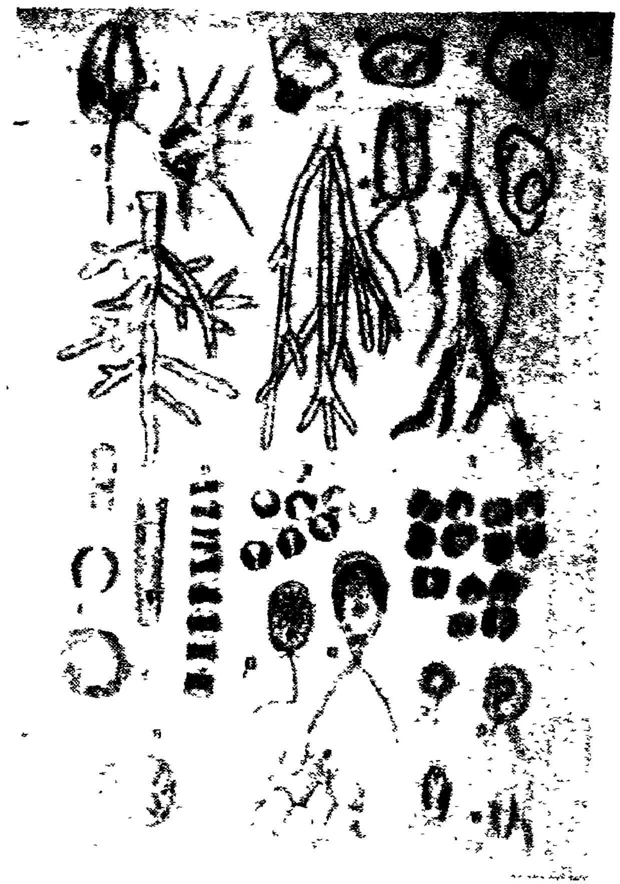
शैवाल (पृष्ठ ३०५–३०६)



A–C. क्लोरोफाइसिई (Chlorophyceae); D–I. जैंथोफाइसिई (Xanthophyceae); I–N, S. क्राइसोफाइसिई (Chrysophyceae); O–R बैसिलारियोफाइसिई (Bacillareophyceae); T तथा U क्रिप्टोफाइसिई; U तथा W. डाइनोफाइसिई (Dinophyceae) और X तथा Y यूग्लेनिनीई (Euglenineae) ।



A–C G. फियोफाइसिई (Pheophyceae); D, E, H–K. रोडोफाइसिई (Rhodophyceae) तथा F और L मिक्सोफाइसिई (Myxophyceae) ।



A–I क्लोरोफाइसिई तथा क्राइसोफाइसिई के समान रूप; J तथा J' अमीबा (Amaeba); K. ल्यूकोक्राइसिस (Leucochrysis), अमीबा का सिस्ट से बाहर निकलना; L तथा M. डाइडिमोक्राइसिस पैराडोक्सा (Didimochrysis paradoxa); N. साइन्यूरा (Synura) तथा O. ऐंफिक्राइसिस कंप्रेसा (Amphicrysis compressa) ।

(१) समयुग्मक (isogametes) में दोनों प्रकार के युग्मकों की रचना तथा आकार समान होता है। इनके द्वारा होनेवाले जनन को समयुग्मकी (isogamous) जनन की संज्ञा देते हैं।

(२) दो संयोजित युग्मक (fusing gametes) देखने में एक ढंग के होते हैं तथा कशाभिका द्वारा भ्रमणशील होते हैं, परंतु एक छोटा तथा दूसरा बड़ा होता है। छोटे युग्मक को लघुयुग्मक (Microgamete) तथा बड़े को गुरुयुग्मक (Macrogamete) कहते हैं। ये युग्मक विषम होते हैं तथा ऐसे जनन को असमयुग्मकी (anisogamous) जनन कहते हैं।

(३) दोनों प्रकार के युग्मक भिन्न आकार के होते हैं। एक छोटा और भ्रमणशील तथा दूसरा बड़ा और स्थिर होता है। प्रथम कोटिवाले को पुंयुग्मक (Male gamete) तथा दूसरे को स्त्री युग्मक (Female gamete) या अंडा कहते हैं। इस प्रकार के जनन को विषमयुग्मक (oogamoos) जनन कहते हैं। इस प्रकार का जनन बहुधा बड़े शैवालों में होता है और इसे विषमयुग्मकता (Oogamy) कहते हैं।

संयोजन (fusion) की क्रिया के फलस्वरूप युग्मज और युग्माणु (zygospore) बनते हैं। ये अंकुरित होते हैं। अंकुरण के समय इनमें चलबीजाणु बनते हैं, जो बाहर आने पर अंकुरित होकर नए शैवाल को जन्म देते हैं। समयुग्मकी साधारण कोटि का तथा विषमयुग्मकी उच्च कोटि का जनन समझा गया है।

शैवालों का विभाजन विभिन्न वैज्ञानिकों के मत से विभिन्न विभागों में किया गया है। एफ० ई० फ्रिट्श (F. E. Fritsch) नामक एक महान् शैवालविज्ञानवेत्ता ने शैवालों को ग्यारह विभागों में विभाजित किया है, जो निम्न प्रकार हैं :

(१) मिक्सोफाइसिई (Myxophyceae), (२) यूग्लीनोफाइसिई (Euglenophyceae), (३) क्लोरोफाइसिई (Chlorophyceae), (४) जैंथोफाइसिई (Xanthophyceae), (५) क्राइसोफाइसिई (Chrysophyceae), (६) बैसिलेरियोफाइसिई (Bacillariophyceae), (७) क्रिप्टोफाइसिई (Cryptophyceae), (८) कैरोफाइसिई (Charophyceae), (९) डाइनोफाइसिई (Dinophyceae), (१०) फीयोफाइसिई (Phaeophyceae) तथा (११) रोडोफाइसिई (Rhodophyceae)।

उपर्युक्त विभागों का वर्णन निम्न प्रकार है :

(१) **मिक्सोफाइसिई** — ये शैवाल साधारण कोटि के होते हैं, जिनकी कोशिका में निश्चित केंद्रक नहीं होता, परंतु केंद्रकजनित वस्तुएँ कोशिका में विद्यमान रहती हैं। पर्णहरित के अतिरिक्त फाइकोसाइनिन (phycocyanin) तथा फाइकोएरिथ्रिन (phycoerythrin) भी विद्यमान रहते हैं। जनन विखंडन (fission) द्वारा होता है। लैंगिक जनन नहीं होता। सूत्रवत् पौधों (filamentous members) में हेटरोसिस्ट्स (heterocysts) विद्यमान होते हैं। किसी किसी में समेरका (hormogonium) बनता है, जो जनन में सहायक होता है। इस विभाग के पौधे जमीन, वृक्षों के तनों एवं डालियों तथा ईंटों पर और पानी में पैदा होते हैं। एककोशिक शैवाल कभी कभी चिपचिपा पदार्थ पैदा करते हैं और इसी में हजारों की संख्या में पड़े रहते हैं।

(२) **यूग्लीनोफाइसिई** — ये मीठे पानी या खारे पानी में पाए जाते हैं। बहुधा एकाकी और स्वतंत्र रूप में भ्रमणशील अथवा स्थिर रहते हैं। इनमें पौधों तथा जानवरों के गुण विद्यमान रहते हैं। कोशिका में केंद्रक तथा कशाभिका विद्यमान रहती हैं। जनन विभाजन द्वारा होता है।

(३) **क्लोरोफाइसिई** — इन शैवालों में निश्चित केंद्रक तथा पर्णहरित विद्यमान रहते हैं। बर्फीले स्थानों के शैवालों की बनावट में विभिन्नता पाई जाती है। एककोशिक से लेकर सूत्रवत् पौधे तक इनमें मिलते हैं। लैंगिक जनन समयुग्मक से असमयुग्मक तक मिलता है।

(४) **जैंथोफाइसिई** — इन शैवालों में पर्णपीत (xanthophyll) रंग विद्यमान रहता है। स्टार्च के अतिरिक्त तैल पदार्थ भोज्य पदार्थ के रूप में रहता है। कशाभिका दो होती हैं, जो लंबाई में समान नहीं होतीं। लैंगिक जनन बहुधा नहीं होता। यदि होता है, तो समयुग्मक ही होता है। कोशिका की दीवार में दो सम या असम विभाजन होते हैं।

(५) **क्राइसोफाइसिई** — इनमें भूरा या नारंगी रंग का वर्णकीलवक (chromatophore) होता है। भ्रमणशील कोशिका में एक, दो या तीन कशाभिकाएँ होती हैं। लैंगिक जनन समयुग्मक ढंग का होता है।

(६) **बैसिलेरियोफाइसिई** — इनकी कोशिकाओं की दीवारों पर सिकता (बालू) विद्यमान रहती है। दीवार आभूषित रहती है। रंग पीला, या स्वर्ण रंग का, अथवा भूरा होता है। लैंगिक जनन समयुग्मक होता है। कभी कभी असमयुग्मक भी होता है।

(७) **क्रिप्टोफाइसिई** — इनकी प्रत्येक कोशिका में दो बड़े वर्णकीलवक होते हैं, जिनका रंग विभिन्न होता है। इनमें भूरे रंग का बाहुल्य होता है। भ्रमणशील कोशिका में दो असमानकशाभिकाएँ होती हैं। लैंगिक जनन केवल एक प्रजाति में असमयुग्मक होता है।

(८) **कैरोफाइसिई** — ये पौधों के तने तथा शाखाओं सदृश रूप के बने होते हैं। शाखाएँ झुंड बनाती हैं। पर्णहरित रहता है। लैंगिक जनन असमयुग्मक होता है। शुक्राणु में दो कशाभिकाएँ होती हैं। स्टार्च प्रत्येक कोशिका में विद्यमान रहता है। कभी कभी लैंगिक जनन विषमयुग्मक प्रकार का भी होता है।

(९) **डाइनोफाइसिई** — इस कुल के शैवाल अधिकतर एक कोशिकीय होते हैं, परंतु सूत्रवत् होने की क्षमता धीरे धीरे बढ़ती जाती है। कोशिकीय दीवारें आभूषित रहती हैं। स्टार्च तथा वसा प्रकाश संश्लेषण के फलस्वरूप बनते हैं।

(१०) **फीयोफाइसिई** — ये अधिकतर समुद्र में पाए जाते हैं। इनका रंग भूरा होता है, क्योंकि इनमें फ्यूकोजैंथिन (fucoxanthin) विद्यमान रहता है। प्रकाशसंश्लेषण के फलस्वरूप वसा, पॉलिसैकैराइड (polysaccharides) तथा चीनी बनती

है। पौधे सूत्रवत् होते हैं। जनन अंगों में दो कशाभिकाएँ होती हैं। लैंगिक जनन विषमयुग्मक सा होता है। कभी कभी समयुग्मक जनन भी होता है।

(११) रोडोफाइसिई — इस कुटुंब के शैवाल भी समुद्र में पाए जाते हैं। इस कुटुंब में बहुत कम ऐसे शैवाल होते हैं जो मीठे पानी में उगते हैं। यह गुलाबी रंग का होता है, क्योंकि फाइकोएरिथ्रिन (Phycoerythrin) नामक वर्णक विद्यमान रहता है। जनन अंग बिना कशाभिका के होते हैं। पौधे सूत्रवत् तथा अधिकतर असाधारण ढंग के होते हैं। लैंगिक जनन विषमयुग्मक (oogamous) होता है। सिस्टोकार्प (cystocarp) में फलबीजाणु (corpospores) बनते हैं। [र० शं० द्वि०]

शैवाल का आर्थिक महत्व — शैवाल का उपयोग तीन क्षेत्रों-कृषि, उद्योग और चिकित्सा—में बड़ा ही महत्वपूर्ण है। पिछले २० वर्षों से कृषि में शैवाल के उपयोग पर अनेक महत्वपूर्ण बातें स्थिर की गई हैं। प्रयोगशालाओं में अनुसंधान करने से पता चला है कि शैवाल वायु से नाइट्रोजन लेकर, मिट्टी मे नाइट्रोजन के यौगिकों में परिणत कर, उसे स्थिर करते हैं। पौधों के लिये नाइट्रोजन अत्यधिक उपयोगी पोषक तत्व है। इस कारण शैवाल की महत्ता बढ़ गई है। यह नाइट्रोजन को स्थिर करके मिट्टी की उर्वरा शक्ति को बढ़ाता है और फसल में वृद्धि करता है। भारत में अनेक वैज्ञानिकों के अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ है कि शैवाल द्वारा प्राय: २० से लेकर ३० पाउंड प्रति एकड़ तक नाइट्रोजन की वृद्धि मिट्टी में हो सकती है। सभी जाति के शैवाल नाइट्रोजन को मिट्टी मे स्थिर नहीं करते। केवल मिक्सोफाइसिई (Myxophyceae) जाति के शैवाल ही इस कार्य में प्रवीण हैं। इनमें नॉस्टक (Nostuc), टौलिपोथ्रिक्स (Tolypothrix), औलिसोरा फरटिलिसिमा (Aulisora Fertilissima) तथा एनाबीना (Anabaena) इत्यादि ही सबसे अधिक महत्व के स्थापक सिद्ध हुए हैं। कटक के धान-अनुसंधान केंद्र के अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ है कि टौलिपोथ्रिक्स सबसे अधिक नाइट्रोजन स्थापित करता है। धान के पौधों के विश्लेषण से यह भी पता लगा है कि शैवाल की खादवाले खेतों के पौधे मिट्टी से अधिक मात्रा में नाइट्रोजन का अवशोषण करते हैं।

कटक अनुसंधान केंद्र ने परीक्षा करके देखा है कि खेतों में शैवाल को कृत्रिम रूप से उपजाने पर धान की फसल में ८०० पाउंड तक की वृद्धि हुई। नाइट्रोजन स्थिर करनेवाले शैवाल की बहुत न्यून मात्रा बालू में मिलाकर, खेतों में डाली गई तथा सिंचाई की गई। इससे शैवाल की वृद्धि हुई, नाइट्रोजन अधिक मात्रा में मिट्टी में प्राप्त हुआ तथा धान की फसल में भी वृद्धि हुई। लेखक के अनुसंधान से यह भी जानकारी प्राप्त हुई है कि शैवाल से मिट्टी की ऊपरी सतह पर लगभग २४ पाउंड फ़ॉस्फ़ेट की वृद्धि होती है। साथ साथ १,००० पाउंड जैव कार्बन भी बढ़ जाता है, जिससे मिट्टी की संरचना और उर्वरा शक्ति में उन्नति होती है।

शैवाल के औद्योगिक प्रयोग विभिन्न दिशाओं में किए गए हैं। शैवाल से ऐगार-ऐगार (Agar-agar) नामक जटिल कार्बनिक पदार्थ, जो शर्करा वर्ग के अंतर्गत है, निकाला जाता है। इससे वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में जीवाणुपोष पदार्थ (media) बनाया जाता है। यह फल परिरक्षण में भी काम आता है। यह जेलीडियम (Geledium) और ग्रासिलारिया (Gracillaria) नामक शैवाल मे अधिक पाया जाता है।

शैवाल से आयोडिन (Iodine) नामक तत्व निकाला जाता है, जो ओषधि में तथा अन्य क्षेत्रों में काम आता है। रोडिमीनिया (Rhodymenia) और फिलोफोरा (Phyllophora) नामक शैवालों में आयोडिन अधिक रहता है।

समुद्र में पाए जानेवाले शैवाल मवेशियों के लिये चारे के रूप में व्यवहृत होते हैं। इनका ऐसा उपयोग सफलतापूर्वक इजरायल में हो चुका है।

शैवाल मनुष्य का भी खाद्य पदार्थ है। कहा जाता है, अन्न-संकट मे शैवाल उपयोगी खाद्यपदार्थ सिद्ध हो सकता है। शैवाल में सभी विटामिन, प्रोटीन, वसा, शर्करा तथा लवण, जो खाद्यपदार्थ की मुख्य सामग्री है, वर्तमान है। निज़िया (Nitzscaia) डाइऐटॉम मे विटामिन ए (A) अधिक है। अल्वा (Ulva) तथा पॉरफिरा (Porphyra) में विटामिन की मात्रा अधिक होती है। अलेरिया वालिडा (Alaria Valida) में विटामिन सी (C) अधिक पाया जाता है। नीचे दिए हुए आँकड़ों से कुछ शैवालों के पोषक तत्वों का पता चलता है :

शैवाल	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा प्रतिशत	शर्करा प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	लवण प्रतिशत
नॉस्टक कम्यून फ्लेजेली रूप (Nostuc commune Flagelli form)	१०·६	२०·९	१·२	५५·७	४·१	७·५
अल्वा लेक्टूका (Ulva Lactuca) और अल्वा फासिएटा Ulva Faciata	१८·७	१४·९	०·०४	५०·६	०·२	१५·६

जापान, चीन, इंडोनेशिया, ऑस्ट्रेलिया, मलाया इत्यादि पूर्वी देशों में शैवाल मुख्य खाद्य पदार्थ है।

शैवाल मछलियों का आहार है। जल में रहनेवाले अन्य जीव जंतुओं के लिये भी शैवाल पोषक पदार्थ है। पशुओं के चारे के रूप में भी इसका उपयोग हो सकता है। बढ़ती हुई आबादी के आतंक से छुटकारा पाने तथा खाद्य समस्या को हल करने के लिये, शैवाल पर तीव्र गति से प्रयोग जारी हैं। यह कहा जाता है कि अन्नसंकट को दूर करने में क्लोरेला (Chlorella) नामक शैवाल बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह शैवाल पौष्टिक पदार्थों से परिपूर्ण है। यह फैलने के लिये अधिक स्थान भी नहीं लेता। जितनी जमीन आज हमें प्राप्त है, उसके १/५ हिस्से में ही क्लोरेला के उपजाने से २०५० ई० में अनुमानित ७० अरब जनसंख्या के लिये भोजन, विद्युत् और जलावन प्राप्त हो सकता है। कार्नेगी इंस्टिट्यूट,

(संयुक्त राज्य, अमरीका,) के वैज्ञानिकों ने एक प्रायोगिक कारखाना बहुत बड़े पैमाने पर क्लोरेला उत्पादन के हेतु खोला है। अब तक के उत्पादन से यह अनुमान किया गया है कि प्रति एकड़ जमीन से ४० टन क्लोरेला सुगमतापूर्वक उगाया जा सकता है। इन वैज्ञानिकों का विश्वास है कि यह मात्रा १५० टन तक पहुँच सकती है।

वेनिज्वीला में, कुष्ठरोग की चिकित्सा में शैवाल लाभप्रद सिद्ध हुआ है। शैवाल से 'लेमेनरिन' नामक एक पदार्थ बनाया गया है, जिसका उपयोग ओषधियों में तथा शल्यचिकित्सा में हो सकता है। कुछ शैवालों से विटामिन भी तैयार हो सकता है। कुछ शैवालों में मलेरिया के मच्छड़ों के डिंभों का नाश करने की क्षमता भी पाई गई है। अतः इनका उपयोग मलेरिया उन्मूलन में भी हो सकता है।

क्लोरेला से हम पर्याप्त परिमाण में ऑक्सीजन प्राप्त कर सकते हैं। वैज्ञानिक यह खोज कर रहे हैं कि ऑक्सीजन को कैसे कृत्रिम उपायों द्वारा शैवाल से निकालकर औद्योगिक कार्यों में प्रयुक्त किया जाय।

विभिन्न क्षेत्रों में शैवाल के उपयोगों को देखते हुए यह ज्ञात होता है कि कुछ ही दिनों में इसके महत्वपूर्ण तथा चमत्कारी गुणों द्वारा हम मानव जाति की अनेक समस्याओं को आसानी से हल कर सकेंगे।

जहाँ शैवालों के अनेक लाभप्रद उपयोग हैं, वहाँ इनमें कुछ दोष भी पाए गए हैं। कुछ शैवाल जल को दूषित कर देते हैं। कुछ से ऐसी गैसें निकलती हैं जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं। कुछ शैवाल दूसरे पौधों पर रोग भी फैलाते हैं। चाय की पत्ती का लाल रोग, सेफेल्यूरस (Cephaleuros), शैवाल के कारण ही होता है।

शैवाल के रासायनिक अवयव — इसकी जानकारी १८८३ ई० से शुरू हुई जब स्टैनफर्ड (Stanfurd) ने शैवाल में ऐल्जिनिक (Alginic) अम्ल की उपस्थिति का पता लगाया। विल्सटाटर और स्टॉल (Willstatter and Stoll) ने शैवालों में पर्णहरित और अन्य रंगीन पदार्थों की उपस्थिति बतलाई। १८९६ ई० में मॉलिश (Molisch) ने सिद्ध किया कि शैवालों की वृद्धि के लिये खनिज लवण आवश्यक हैं। फिर अनेक व्यक्तियों ने जीवाणुओं से पूर्णतया अलग करके संवर्ध विलयन में शैवाल को उगाने का प्रयत्न किया। इनमें सबसे अधिक सफलता प्रिंगशाइम (Pringsheim) को मिली। शैवाल के उपापचय (metabolism) पर कार्य करने का श्रेय पियरसाल (Pearsall) और लूज (Loose) को है, *जिन्होंने सिद्ध किया कि शैवाल और पौधों में प्रमुख रासायनिक* क्रियाएँ प्रायः एक सी ही होती हैं। इनमें विशेष अंतर नहीं है। शैवालों में प्रकाशसंश्लेषण पर एंजेलमान (Engelman) तथा वारबुर्ग (Warburg) का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शैवालों की रासायनिक क्रियाओं की सविस्तर समीक्षा मायेर्स और ब्लिक (Mayers and Blink) ने १९५१ ई० में की। इससे शैवाल के संबंध की वैज्ञानिक और व्यावहारिक जानकारी पर्याप्त रूप से प्राप्त हुई है। शैवाल के श्वसन के संबंध में वातानाबे (Watanabe, १९३२-३७ ई०), कैल्विन (Calvin, १९५१ ई०), एनी (Eny, १९५० ई०), ऐंडरसन (Anderson, १९४५ ई०) और वेब्स्टर (Webster, १९५१ ई०) के अनुसंधान विशेष उल्लेखनीय हैं। इन वैज्ञानिकों के मतानुसार श्वसन ऑक्सीकरण क्रिया है, जिसमें शर्करा के ऑक्सीकरण से ऊर्जा उत्पन्न होती है और शैवाल के निर्माण और वृद्धि में काम आती है।

सभी शैवालों में वर्णक यौगिक, विशेषतः पर्णहरित और कैरोटीन, होते हैं। किसी किसी में फाइकोसायानिन (Phycocyanin) भी पाया जाता है। यह वर्णक यौगिक प्रकाश के अवशोषण द्वारा ऊर्जा उत्पन्न कर पर्णहरित बनाता है। पर्णहरित प्रकाश ऊर्जा द्वारा इलेक्ट्रॉन निकालता है, जिसके द्वारा यौगिकों के अपचयन से ऊर्जा प्राप्त होती है। अपचयित पदार्थ का पुनः ऑक्सीकरण होकर, प्रकाश द्वारा ऊर्जा का आदान प्रदान होता रहता है। ऐसी ही क्रियाओं से कार्बन डाइऑक्साइड का अपचयन होकर शर्करा, स्टार्च, सेलुलोस आदि और फिर उनसे प्रोटीन, वसा, तेल आदि संश्लेषित होते हैं।

शैवाल के उपापचय के उत्पाद — शैवाल में शर्कराएँ पाई जाती हैं। कुछ में ग्लूकोस, कुछ में ट्रेहलोस, कुछ में पेंटोस पाए जाते हैं। इनकी मात्राएँ विभिन्न शैवालों में विभिन्न रहती हैं। अनेक शैवालों में स्टार्च पाए जाते हैं। ऐसे सब स्टार्च एक से नहीं होते हैं, कुछ में ग्लाइकोजेन भी पाया गया है। कुछ में लैमिनैरिन नामक शर्करा पाई गई है। शैवाल की कोशिकाओं की भित्ति होती है।

समुद्री शैवाल में ऐगार-ऐगार नामक पॉलिसैकराइड मिलता है। अन्य कई पॉलिसैकराइड विभिन्न शैवालों में मिलते हैं। शैवालों में वसा भी मिलती है। ऐसी वसा में प्रधानतया पामिटिक अम्ल रहता है। स्टेरॉल भी कुछ शैवाल में मिलते है। कुछ शैवालों में निटोल भी, जो संभवतः फ्रक्टोस के अपचयन से बनता है, पाया गया है। शैवालों में जो प्रोटीन पाए गए है उनके विघटन उत्पाद, ऐमिनो अम्लों, का विस्तार से अध्ययन हुआ है। लगभग १९ ऐमिनो अम्ल अब तक पृथक् किए जा चुके हैं। इनमें सबसे अधिक मात्रा में आर्जिनिन पाया गया। [शि० ना० प्र०]

शोंगावर, मार्टिन (१४४५-१४९१) मार्टिन का पिता सुनार था, पर अपने पुत्र को कला की दिशा में प्रेरित करने में उसने विशेष उत्साह दिखाया। कोलमार के एक बड़े ही मशहूर 'इनग्रेविंग स्कूल' में उसका दाखिला करा दिया गया, जहाँ से कितने ही विशिष्ट कलाकार बनकर निकल चुके थे। फ्लांडर्स के समकालीन कलाकारों, विशेषकर रोगर वान डेर वेडेन, की कलाटेकनीक और चित्रणशैली का उसके कृतित्व पर विशेष प्रभाव पड़ा। कोलमार की सेंट मार्टिन चर्च की भव्य वेदिका पर 'वर्जिन और बालक क्राइस्ट' की लहलहाए खिले पुष्पों के मध्य एक बड़ी ही भव्य आकृति उसने अंकित की। चित्रकला से अधिक वह नक्काशी में दक्ष था। उसने अनेक ऐसी सुंदर कलाकृतियाँ प्रस्तुत कीं जिनकी न सिर्फ जर्मनी में बल्कि इटली, इंग्लैंड, फ्रांस और स्पेन में भी खूब बिक्री हुई। उसके विषय हमेशा धार्मिक और भावनापरक होते थे। ताँबे पर उसके ११३ चित्रांकन उपलब्ध हैं जिनपर उसका नाम भी खुदा है। मृत्यु तथा

ईसा-मी के राज्यारोहण संबंधी चित्रमाला के अतिरिक्त मनोरागों के निदर्शन में रेखाओं की सुसंयोजना, प्रतिपाद्य विषय को सूक्ष्मता से आँकने तथा सघन एवं सुंदर आकृतियों के निर्माण में उसकी विशेष मौलिकता दृष्टिगत होती है। [श० गु०]

शोधसंस्थान, भांडारकर प्राच्य इसकी स्थापना ६ जुलाई, १९१७ को पूना में श्री रामकृष्ण गोपाल भांडारकर की स्मृति में की गई थी। श्री भांडारकर भारत में प्राच्य विद्या के सुप्रसिद्ध अग्रगामी नेताओं में से एक थे। स्थापना के दिन ही रामकृष्ण भांडारकर ने अपनी पुस्तकों और शोध संबंधी पत्रिकाओं का बृहत् पुस्तकालय संस्थान को अर्पित कर दिया और एक वर्ष बाद बंबई (अब महाराष्ट्र) की सरकार ने संस्कृत और प्राकृत के बीस हजार से भी अधिक हस्तलिखित ग्रंथों का अपना बहुमूल्य संग्रह संस्थान को दे देने का निश्चय किया। इसके सिवा उसने बंबई संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथमाला के प्रबंध का भार भी संस्थान को सौंप दिया। (इस ग्रंथमाला का आरंभ सन् १८६८ में किया गया था) यह बहुमूल्य परिसंपत्ति पाकर इस नवस्थापित संस्थान ने कई शैक्षिक योजनाएँ आरंभ करने का निश्चय किया। सन् १९१९ में उसने पूना में प्रथम सर्वभारतीय प्राच्य विद्या संमेलन का आयोजन किया। उसने अपनी ओर से भी एक प्राच्य ग्रंथमाला का आरंभ किया। अप्रैल, १९१९ में उसने महाभारत का सटिप्पण संस्करण प्रकाशित करने का काम हाथ में लिया और उसी वर्ष उसने अपने शोध संबंधी पत्र 'ऐनल्स' का प्रथमांक प्रकाशित किया। युवकों को वैज्ञानिक अनुसंधान की विधियों में प्रशिक्षित करने के लिये संस्थान ने एक स्नातकोत्तर और गवेषणा विभाग की स्थापना की।

शोधसंस्थान के मुख्य विभाग ये हैं — १. हस्तलिखित ग्रंथ विभाग; २. प्रकाशन विभाग; ३. शोध विभाग; ४. महाभारत विभाग। हस्तलिखित ग्रंथ विभाग उन बहुसंख्यक पांडुलिपियों की देखभाल करता है, जो इस तरह के ग्रंथों का देश का सबसे बड़ा संग्रह है। अध्ययन और शोध में लगे छात्रों को ये पांडुलिपियाँ मँगनी भी दी जा सकती हैं। इन ग्रंथों का बृहत् सूचीपत्र ४५ खंडों में प्रकाशित हो रहा है जिनमें से २० से अधिक छप चुके हैं। यह विभाग संदर्भ ग्रंथों संबंधी सूचना प्रसारित करने के केंद्र का भी काम करता है और भारत के तथा बाहर के अन्य स्थलों के संग्रहों से हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त करने का भी प्रयत्न करता है। प्रकाशन विभाग कई ग्रंथमालाओं का, जैसे बंबई संस्कृत और प्राकृत ग्रंथमाला, राजकीय प्राच्य ग्रंथमाला, भांडारकर प्राच्य ग्रंथमाला आदि का, प्रकाशन करता है। संस्कृत एवं प्राकृत के कितने ही प्राचीन ग्रंथों के समीक्षात्मक एवं सटिप्पण मूल पाठ प्रकाशित करने का श्रेय उसे प्राप्त है। कतिपय मौलिक व्याख्यात्मक एवं ऐतिहासिक पुस्तकें भी उसने प्रकाशित की हैं। कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें ये हैं — प्रोफेसर पी० वी० काणे द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रोफेसर एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित 'जिनरत्नकोश' तथा श्री आर० एन० दांडेकर द्वारा संपादित 'भारत विषयक सामग्री के अध्ययन की प्रगति।' इसके सिवा प्रकाशन विभाग 'ऐनल्स' (ऐतिहासिक अभिलेख) का भी प्रकाशन करता है।

स्नातकोत्तर तथा गवेषणा विभाग पूना विश्वविद्यालय की मान्यताप्राप्त अंगीभूत संस्था है जो विश्वविद्यालय की डाक्टरेट उपाधि के लिये शिक्षार्थियों को तैयार करती है। बहुत से विदेशी विद्यार्थी भी इस विभाग में अध्ययन करते हैं। संस्थान का इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य महाभारत का सटिप्पण एवं समीक्षात्मक संस्करण प्रकाशित करना है। कई खंडोंवाले, १३,००० पृष्ठों के इस ग्रंथ का सारे संसार के सुयोग्य विद्वानों ने स्वागत किया है और इसे भारतीय विद्वत्ता की महती उपलब्धि माना है। संस्थान 'हरिवंश' का भी ऐसा ही समीक्षात्मक संस्करण प्रकाशित करने जा रहा है। भांडारकर शोध संस्थान ही सर्वभारतीय प्राच्य विद्या संमेलन का केंद्रीय कार्यालय है जिसे अब भारतीय प्राच्यविदों की राष्ट्रीय संस्था के रूप में अंतरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो चुकी है। संस्थान का अपना पुस्तकालय तथा वाचनालय और एक अतिथिभवन भी है। [आर० एन० दांडेकर]

शोर, सर जॉन (१७५१-१८३४ ई०) सर जॉन शोर सन् १७९३ में भारत का गवर्नर जेनरल बनाया गया। भारत पहुँचने पर उसके सामने निजाम और मराठों का मामला आया। दोनों शक्तियों में चौथ के संबंध में खटपट हुई थी और युद्ध की नौबत आ गई। दुर्बल निजाम ने मराठों के विरुद्ध जॉन शोर से सहायता माँगी। सोच विचार कर शोर ने निजाम को सहायता देने से इन्कार कर दिया। इस कार्य से देशी शक्तियों का कंपनी पर विश्वास डगमगा गया। १७९५ में मराठों की निजाम पर विजय हुई।

पिछली संधि के विरुद्ध शोर ने अवध में सेना बढ़ा दी और नवाब आसफुद्दौला से धन माँगा। नवाब के विरोध करने पर शोर ने स्वयं लखनऊ जाकर नवाब को मजबूर किया। आसफुद्दौला की मृत्यु पर शोर की राय से वजीर अली गद्दी पर बैठा, पर बाद में उसने अपनी राय बदल दी और फायदे की शर्तों पर सादत अली को गद्दी पर बिठला दिया। इसके अतिरिक्त, इस समय सेना में अशांति थी। सैनिक अफसरों ने अपनी माँगों पर इतना जोर दिया कि सन् १७९५ में शोर को उनकी बहुत सी बातें माननी पड़ीं। १७९८ में शोर इंग्लैंड लौट गया। [मि० चं० पां०]

शोलापुर १. जिला, भारत के महाराष्ट्र राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल ५,८०९ वर्ग मील तथा जनसंख्या १८,६०,११६ (१९६१) है। जिले की प्रमुख नदी भीमा है। जिले में कपास एवं मक्के की खेती होती है। जिले में वर्षा कम होती है, अतः सिंचाई के लिये नहरें एवं तालाब बनाए गए हैं। यहाँ का सबसे बड़ा तालाब इकरुक (Ekruk) है, जिससे नगर को पानी मिलता है और आसपास की हजारों एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। पंढरपुर जिले का एकमात्र तीर्थस्थान है।

२. नगर, स्थिति : १७° ४३' उ० अ० तथा ७५° ५६' पू० दे०। महाराष्ट्र राज्य के उपर्युक्त जिले का यह नगर पूना से रेलमार्ग से १६४ मील दूर है। यह नगर सूती वस्त्र उद्योग के भारत के प्रमुख केंद्रों में से एक है और इसी कारण इसका विकास हुआ है और हो रहा है। यहाँ की बनी चादरें प्रसिद्ध हैं। नगर की जनसंख्या ३,३७,५८३ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

शौरसेनी यह उस प्राकृत भाषा का नाम है जो प्राचीन काल में मध्यदेश में प्रचलित थी और जिसका केंद्र शूरसेन अर्थात् मथुरा और उसके आसपास का प्रदेश था। सामान्यत. उन समस्त लोकभाषाओं का नाम प्राकृत था जो मध्यकाल (ई० पू० ६०० से ई० सन् १००० तक) में समस्त उत्तर भारत में प्रचलित हुईं। प्रदेशभेद से मूलतः ही वर्णोच्चारण, व्याकरण तथा शैली की दृष्टि से प्राकृत के अनेक भेद थे, जिनमें से प्रधान थे — पूर्व देश की मागधी एवं अर्ध मागधी प्राकृत, पश्चिमोत्तर प्रदेश की पैशाची प्राकृत तथा मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत। मौर्य सम्राट् अशोक से लेकर उपलब्ध प्राचीनतम लेखों तथा साहित्य में इन्हीं प्राकृतों और विशेषत: शौरसेनी का ही प्रयोग पाया जाता है। भरत नाट्यशास्त्र में विधान है कि नाटक में शौरसेनी प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाय अथवा प्रयोक्ताओं के इच्छानुसार अन्य देशभाषाओं का भी (शौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके, अथवा छंदतः कार्या देशभाषाप्रयोक्तृभि.—भ० ना० शा० १८,३४)। प्राचीनतम नाटक अश्वघोषकृत हैं (प्रथम शताब्दी ई०)। उनके जो खंडावशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमें मुख्यतः शौरसेनी तथा कुछ अंशों में मागधी और अर्धमागधी का प्रयोग पाया जाता है। भास के नाटकों में भी मुख्यत: शौरसेनी का ही प्रयोग पाया जाता है। पश्चात्कालीन नाटकों की प्रवृत्ति गद्य में शौरसेनी और पद्य में महाराष्ट्री की ओर पाई जाती है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि शौरसेनी प्राकृत से ही कालांतर में भाषाविकास के क्रमानुसार उन विशेषताओं की उत्पत्ति हुई जो महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण माने जाते हैं (जिनके लिये देखिए 'महाराष्ट्री')। वररुचि, हेमचंद्र आदि वैयाकरणों ने अपने अपने प्राकृत व्याकरणों में पहले विस्तार से प्राकृत सामान्य के लक्षण बतलाए हैं और तत्पश्चात् शौरसेनी आदि प्राकृतों के विशेष लक्षण निर्दिष्ट किए हैं। इनमें शौरसेनी प्राकृत के मुख्य लक्षण दो स्वरों के बीच में आनेवाले त् के स्थान पर द् तथा थ् के स्थान पर ध्। जैसे अतीत > अदीद, कथं > कधं; तदनुसार ही क्रियापदों में भवति > भोदि, होदि; व भूत्वा > भोदूण, होदूण। भाषाविज्ञान के अनुसार ईसा की दूसरी शती के लगभग शब्दों के मध्य में आनेवाले त् तथा द् एवं क् ग् आदि वर्णों का भी लोप होने लगा और यही महाराष्ट्री प्राकृत की विशेषता मानी गई। प्राकृत का उपलभ्य साहित्य रचना की दृष्टि से इस काल से परवर्ती ही है। अतएव उसमें शौरसेनी का उक्त शुद्ध रूप न मिलकर महाराष्ट्री मिश्रित रूप प्राप्त होता है और इसी कारण पिशल आदि विद्वानों ने उसे उक्त प्रवृत्तियों की बहुलतानुसार जैन शौरसेनी या जैन महाराष्ट्री नाम दिया है। जैन शौरसेनी साहित्य दिगंबर जैन परंपरा का पाया जाता है। प्रमुख रचनाएँ ये हैं — सबसे प्राचीन पुष्पदंत एवं भूतबलिकृत षट्खंडागम तथा गुणधरकृत कषाय प्राभृत नामक सूत्रग्रंथ हैं (समय लगभग द्वितीय शती ई०)। इनकी विशाल टीकाएँ वीरसेन तथा जिनसेनकृत भी शौरसेनी प्राकृत में लिखी गई हैं (९ वीं शती ई०)। ये सब रचनाएँ गद्यात्मक हैं। पद्य में सबसे प्राचीन रचनाएँ कुंदकुंदाचार्यकृत हैं (अनुमानतः तीसरी शती ई०)। इनके बारह तेरह ग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं, जिनके नाम हैं — समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारस अणुवेक्खा तथा दर्शन, बोध पाहुडादि अष्ट पाहुड। इन ग्रंथों में मुख्यतया जैन दर्शन, अध्यात्म एवं आचार का प्रतिपादन किया गया है। मुनि आचार संबंधी मुख्य रचनाएँ हैं — शिवार्य कृत भगवती आराधना और वट्टकेर कृत मूलाचार। अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ भावशुद्धि के लिये जैन मुनियों के विशेष चिंतन और अभ्यास के विषय हैं। इन भावनाओं का संक्षेप में प्रतिपादन तो कुंदकुंदाचार्य ने अपनी 'बारस अणुवेक्खा' नामक रचना में किया है, उन्हीं का विस्तार से भले प्रकार वर्णन कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में पाया जाता है, जिसके कर्ता का नाम स्वामी कार्त्तिकेय है। (लगभग चौथी पाँचवीं शती ई०)।

(१) यति वृषभाचार्य कृत तिलोयपण्णत्ति (६ वीं शती ई० से पूर्व) में जैन मान्यतानुसार त्रैलोक्य का विस्तार से वर्णन किया गया है, तथा पद्मनंदीकृत जंबूदीवपण्णत्ति में जंबूद्वीप का।

(२) स्याद्वाद और नय जैन न्यायशास्त्र का प्राण है। इसका प्रतिपादन शौ० प्रा० में देवसेन कृत लघु और बृहत् नयचक्र नामक रचनाओं में पाया जाता है (१० वीं शती ई०)।

जैन कर्म सिद्धांत का प्रतिपादन करनेवाला शौ० प्रा० ग्रं० है — नेमिचंद्रसिद्धांत चक्रवर्ती कृत गोम्मटसार, जिसकी रचना गंगनरेश मारसिंह के राज्यकाल में उनके उन्हीं महामंत्री चामुंडराय की प्रेरणा से हुई थी, जिन्होंने मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोला नगर में उस सुप्रसिद्ध विशाल बाहुबलि की मूर्ति का उद्घाटन कराया था (११ वीं शती ई०)। उपर्युक्त समस्त रचनाएँ प्राकृत-गाथा-निबद्ध हैं।

जैन साहित्य के अतिरिक्त शौ० प्रा० का प्रयोग राजशेखरकृत कर्पूरमंजरी, रुद्रदासकृत चंद्रलेखा, घनश्यामकृत आनंदसुंदरी नामक सट्टकों में भी पाया जाता है। यद्यपि कर्पूरमंजरी के प्रथम विद्वान् संपादक डा० स्टेनकोनो ने दर्जनों प्राचीन प्रतियों के प्रमाण के विरुद्ध अपनी एक धारणा के बल पर गद्य में शौरसेनी और पद्य में महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियाँ लाने का प्रयास किया, तथापि डा० मनमोहन घोष ने इस प्रवृत्ति को अनुचित बतलाकर समस्त सट्टक में ही शौरसेनी की प्रवृत्ति प्रमाणित की है। शेष सट्टकों में भी गद्य और पद्य में प्रायः एक सी ही प्राकृत भाषा दृष्टिगोचर होती है, जो बहुलता से शौरसेनी के लक्षणों को लिए हुए है। (देखिए : पिशल के ग्रंथ का हिंदी अनुवाद, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण; दिनेशचंद्र सरकार : ग्रामर ऑव दि प्राकृत लैंग्वेज; वूलनर–इंट्रोडक्शन टु प्राकृत; हैम प्राकृत व्याकरण; डा० आ० ने० उपाध्ये : इंट्रोडक्शन टु प्रवचनसार)। [ही० ला०]

स्टेटीन (Stettin) ओडर नदी के बाएँ किनारे पर, ग्रेजेसीन की खाड़ी से २७.२ किलोमीटर और बाल्टिक सागर से ६४ किलोमीटर अंदर स्थित, पोलैंड का मुख्य बंदरगाह है। यह पॉमरेनिया की प्राचीन राजधानी था। शहर कोट के भीतर सेंट जॉन और जेम्स के प्रसिद्ध गिरजाघर विद्यमान थे, जो द्वितीय विश्वयुद्ध में नष्ट कर दिए गए। महान् फ्रेडरिक द्वारा निर्मित शहरकोट १८७४ में तोड़ दिया गया, लेकिन उसके विशाल द्वार अभी भी विद्यमान हैं। प्राचीन नगर का लगभग ८० प्रति शत और नवीन नगर का लगभग ५०

प्रधि शत भाग द्वितीय विश्वयुद्ध में नष्ट हो गया था। यह नगर सन् १६४८ से १७२० तक स्वीडन के अधिकार में रहा, सन् १७२० से १९४५ तक प्रशिया का भाग रहा तथा १९४५ ई० को पॉट्सडम संधि के बाद यह पोलैंड में मिल गया। तभी से नगर के पुनर्निर्माण एवं नवीन विकास का कार्य तेजी से नियोजित ढंग पर हो रहा है। यह लोहा, इंजिनियरी, वस्त्र, रसायन, सीमेंट, साबुन, तेल, कागज और चीनी उद्योग का केंद्र है। यहाँ से चीनी, शराब, खाद्यान्न, आलू एवं आटे का निर्यात किया जाता है तथा लोहा, सोडा, पोटैश, कहुवा, कपास, मक्का एवं लकड़ी का आयात किया जाता है। नगर की जनसंख्या, २,६६,००० (१९६०) है। [स० सि० ब०]

श्नोर फान कारोल्सफेल्ड जूलिअस (१७९४–१८७२) जर्मन चित्रकार। १७ वर्ष की अल्पावस्था में ही उसका वियना एकेडेमी मे प्रवेश हो गया, किंतु प्राचीन परंपरागत कलारूढ़ियों के प्रतिक्रियास्वरूप जो वहाँ उपद्रव हुआ उसमें भाग लेने के कारण उसे शिक्षा समाप्त होने के एक वर्ष पूर्व ही निकाल दिया गया। १८१८ में रेफलाइट (रैफल पूर्व) जर्मन कलाकारों का एक दल रोम की कलायात्रा के लिये रवाना हुआ। वह भी उसमे संमिलित हो गया। १८२५ मे यह रोम छोड़कर म्यूनिख मे जा बसा। प्राचीन धार्मिक रूढ़ कला के विरुद्ध उसने एक विशिष्ट कला टेकनीक का आविष्कार किया। उसने भित्तिचित्रण और स्मारकसज्जा की नींव डाली। रोम की कलापरंपराओं को उसने जर्मनी मे प्रचलित किया। मैसिमो विला के प्रवेशद्वार की चित्रणसज्जा का कार्य उसे सौंपा गया था जो उसने दो अन्य कलाकारों के साथ मिलकर संपन्न किया। चर्च की दीवारों, खिड़कियों, गवाक्षों में निर्मित उसके सैकड़ो डिजाइनों में बाइबिल के धार्मिक कथाप्रसंगों के अतिरिक्त उसके व्यंगचित्र भी मिलते हैं। उदार और प्रगतिशील विचारों का होने के कारण वह धार्मिक चित्रण में सदैव नए तौर तरीकों का समर्थक रहा। [श० रा० गु०]

श्पेमान, हैंस (Spemann, Hans, सन् १८६९–१९४१), जर्मन प्राणिविज्ञानी, का जन्म स्टटगार्ट (Stuttgort) में हुआ था और इन्होंने हाइडेलबर्ग, म्यूनिख तथा वर्टसबुर्ग (Wurburg) में शिक्षा पाई थी।

सन् १९०८ में रॉस्टॉक में, सन् १९१४ में कैसर विल्हेल्म इंस्टिट्यूट मे तथा सन् १९१९ से फाइबुर्ग इम ब्राइसगौउ (Freiburg im Brisgou) में ये प्रोफेसर नियुक्त हुए।

श्पेमान विचक्षण प्रयोगकर्ता थे। इन्होंने भ्रूण के ऊतकों के रोपण की एक रीति का विकास किया। उभयचरों के भ्रूणविकास निर्धारण के कालिक तथा स्थैतिक संबंधों की खोज के लिये आपने अनेक प्रयोग किए। ये भ्रूणों में संगठनकेंद्रों के आविष्कर्ता थे। इन्होंने कोरकरंध्र (blastopore) के ओष्ठ के संगठन कर्म का सप्रयोग निदर्शन किया। इस उपलब्धि ने अन्य जीवों में इसी प्रकार के संगठनकेंद्रों का पता लगाने तथा पहचानने की रीतियों से संबंधित रासायनिक अध्ययनों को जन्म दिया। सन् १९३५ में आपकी खोजों के उपलक्ष्य में आपको नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

[अ० दा० व०]

श्मिट, जोहैनीज (Schmidt Johannes, सन् १८७७–१९३३), डेन्मार्क वासी जीववैज्ञानिक, का जन्म जीगरस्प्रिस (Jaegerspris) में तथा शिक्षा कोपेनहेगेन में हुई थी।

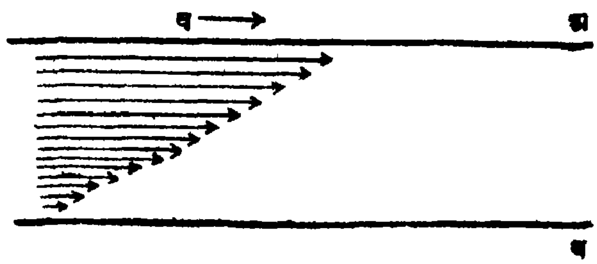
सन् १८९९ में इन्होने अज्ञात वनस्पतियों की खोज में स्याम देश (थाईलैंड) को अभियान कर, वैज्ञानिक जीवन आरंभ किया। सन् १९१० में कार्लसबर्ग संस्थान की प्रयोगशाला में हॉप (hop) के जैव तथा जीवरासायनिक अनुसंधान में आप लगे रहे, परंतु विज्ञान को आपकी सबसे बड़ी देन सागर विज्ञान के क्षेत्र में थी। कुछ समय तक ये सागर अन्वेषण के लिये गठित, अंतरराष्ट्रीय परिषद् के सदस्य रहे। आपकी रुचि मछलियों के विकास की ओर थी।

एक सागरयात्रा में सुदूर अंध महासागर में आपने मीठे जलवासी ईल (eel) मछली के डिंभक (लार्वा) पाए और उन्हें एकत्र किया। इससे प्रेरित होकर, इन्होंने भिन्न आयुओं के डिंभकों की खोज आरंभ की तथा यह सिद्ध करने में सफल हुए कि नदियों के मीठे जल की ईल मछली के अंडे देने का स्थान, जिसकी दीर्घकाल से खोज थी, लीवर्ड और बाहामा द्वीपों के मध्य स्थित है।

सागर विज्ञान के क्षेत्र में इस महत् खोज के सिवाय, आपकी सागरयात्राओं तथा मछलियों के बच्चों संबंधी जीवसांख्यिकीय अनुसंधानों से, सागरों के प्राणीसमूह तथा मत्स्यों के बारे में हमारी जानकारी में अतीव वृद्धि हुई। [भ० दा० व०]

श्यानता (Viscosity) आम तौर पर यह देखा जाता है कि सभी वस्तुएँ, चाहे वे गैस, द्रव अथवा ठोस हों, यदि उनका विरूपण (deformation) होता है, अथवा उनके पिंड (body) के विभिन्न हिस्सो में सापेक्ष गति (relative motion) कराई जाती है, तो उनमें अवरोध करने की प्रवृत्ति होती है। कुछ वस्तुओं मे इस प्रवृत्ति की कोटि (degree) ज्यादा होती है और कुछ में कम। जब हम पानी को चिकनी सतह पर गिराते हैं, तो यह देखा जाता है कि पानी तेजी से बहता है, लेकिन यदि हम शीरा (treacle) या ग्लिसरीन की उतनी ही मात्रा उसी प्रकार की चिकनी सतह पर गिराएँ, तो यह सतह पर फैलने में ज्यादा समय लेता है। शीरे की किस्म की वस्तुओं को, जो फैलने में ज्यादा समय लेती हैं, साधारण लोगों की भाषा में चिपचिपी या श्यान (viscous) कहते हैं, जब कि पानी जैसी वस्तुओं को तरल अथवा गतिशील (mobile) की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शीरा पानी से ज्यादा श्यान है। दूसरों शब्दों में यह भी कहा जाता है कि स्वरूपपरिवर्तन शीरे में धीरे धीरे होता है, जब कि पानी जैसी वस्तुओं में तेजी से। श्यानता तरलों (fluids) का वह गुण है जिसके कारण तरल उन बलों (forces) का विरोध करता है जो उसके स्वरूप को बदलना चाहते हैं। इस प्रकार हम श्यानता को किसी भी द्रव अथवा गैस के आंतरिक घर्षण (internal friction) के रूप में भी देख सकते हैं। द्रवों तथा गैसों, दोनों में, श्यानता का गुण पाया जाता है, लेकिन द्रव गैसों की अपेक्षा ज्यादा श्यान होते हैं। इसी श्यानता के कारण द्रव की एक परत (layer) दूसरी परत पर होकर आगे बढ़ती है।

द्रवों की श्यानता (Viscosity of liquids) — दो ऐसी असीमित समांतर पट्टिकाओं (plates) की कल्पना करें जिनके बीच में एक द्रव पदार्थ रखा हुआ है (देखें चित्र)। मान



चित्र

लीजिए पट्टिका अ अपने ही समतल (plane) में, दाहिनी दिशा में, एक स्थिर वेग (constant velocity) व से आगे बढ़ रही है, जिसे चित्र में तीर द्वारा दिखाया गया है, तथा पट्टिका ब अपनी स्थिर अवस्था में है। तात्पर्य यह है कि पट्टिका अ का सापेक्ष वेग व है। ऐसी अवस्था में यह कहा जाता है कि द्रव पदार्थ पूरा का पूरा वेग व से तीर द्वारा प्रदर्शित दिशा में गतिमान है। यदि द्रव का प्रवाह धारारेखी गति (streamline motion) से हो रहा हो, तो द्रव की वह परत जो स्थिर पट्टिका ब के संपर्क में है, अचल अवस्था में रहती है, जबकि अन्य दूसरी परतों का प्रवाह सतह के समांतर होता रहता है। लेकिन इन परतों का वेग, जैसे जैसे हम ऊपर की ओर आते हैं, धीरे धीरे बढ़ता चला जाता है। अंतिम परत, जो पट्टिका अ के संपर्क में होती है, उसका वेग व ही होता है। अब हम द्रव में किसी क्षैतिज समतल (horizontal plane) पर ध्यान देंगे। इस समतल के अणुओं को इसके ठीक ऊपरवाली परत के अणुओं द्वारा त्वरण (acceleration) मिलता है, क्योंकि ऊपरवाली परत के अणुओं का वेग इस समतल के अणुओं के वेग से ज्यादा होता है, जबकि क्षैतिज समतल के ठीक नीचे की परत के अणुओं द्वारा क्षैतिज समतल के अणुओं की गति में मंदन लाया जाता है। इसी प्रकार द्रव की प्रत्येक परत अपने ठीक ऊपरवाली परत पर एक स्पर्शरेखीय पश्च बल (tangential backward force) डालती है, जिसके कारण इन दोनों परतों के बीच की सापेक्ष गति नष्ट होती है। परिणामस्वरूप यदि हमें द्रव की समांतर परतों के बीच सापेक्ष गति रखनी हो, तो यह अत्यावश्यक है कि एक बाहरी बल (external force) को इस पश्चकर्षण (backward drag) पर हावी (overcome) होना चाहिए। यदि बाहरी बल नहीं होगा, तो कुछ समय के बाद द्रव की विभिन्न परतों के बीच सापेक्ष गति समाप्त हो जायगी। 'किसी द्रव का वह गुण जिसके सामर्थ्य की बदौलत, द्रव अपनी ही विभिन्न परतों के बीच की सापेक्ष गति का विरोध करता है, द्रव की श्यानता, अथवा आंतरिक घर्षण (Internal friction), कहलाता है। यह गुण, जो एक द्रव से दूसरे द्रव में केवल डिग्री या कोटि में ही अंतर रखता है, हर एक तरल का एक अंतर्निहित गुणधर्म है।

धारारेखी गति के लिये, न्यूटन के श्यान प्रवाह (Viscous flow) के नियम के अनुसार, द्रव की समानांतर परतों के बीच स्पर्शरेखीय श्यान बल F को नीचे दिए गए संबंध द्वारा दिखलाया जाता है :

$$F = -\eta . A . \frac{dv}{dx} \quad \ldots\ldots (१)$$

जहाँ A = समांतर परतों का क्षेत्रफल, dx = परतों के बीच की दूरी, dv = परतों की सापेक्ष गति, dv/dx = वेग प्रवणता (velocity gradient) तथा η एक स्थिरांक (constant) है, जिसे 'द्रव की श्यानता का गुणांक' कहा जाता है। यह, अथवा इसका मान, द्रव की प्रकृति तथा भौतिक दशाओं (physical conditions) पर निर्भर करता है। यदि हम ऊपर दर्शाए गए संबंध (1) में A = 1, dv/dx = 1 रखें, तो $F = -\eta$ होगा। अतएव किसी द्रव की 'श्यानता के गुणांक' की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है : किसी द्रव के दो समांतर तलों के बीच इकाई वेग प्रवणता रखने के लिये जो स्पर्शरेखीय बल प्रति इकाई क्षेत्रफल के लिये आवश्यक होता है, उसे उस द्रव की 'श्यानता का गुणांक' कहते हैं। भौतिक शास्त्र में जो इकाइयाँ आम तौर पर बल लंबाई तथा समय के लिये आती हैं, वही श्यानता गुणांक के लिये प्रयोग में लाई जाती हैं, जैसे डाइन, सेंटीमीटर तथा सेकंड।

यद्यपि ऊपर दो पट्टिकाओं तथा उनके बीच द्रव की उपस्थिति जैसी व्यवस्था की कल्पना कर, आसानी से 'श्यानता के गुणांक' की परिभाषा की गई है, तथापि प्रयोगात्मक रूप में ऐसी व्यवस्था को पाना संभव नहीं है। पहले पहल पानी जैसी तरल वस्तुओं का 'श्यानता का गुणांक' पानी के बहाव को, केशिका नलिकाओं से गुजरने के बाद, मापकर निकाला गया और आजकल भी यह तरीका विशद रूप से प्रयोग में लाया जाता है।

मान लीजिए कि, कोई द्रव, जैसे पानी, किसी वृत्तीय छेद की संकीर्ण नली से होकर गुजर रहा है। यदि पानी धारारेखी गति से संकीर्ण नली से होकर प्रवाहित हो रहा है तथा नली के किसी अनुप्रस्थ परिच्छेद के ऊपर दबाव एक समान हो और द्रव की वह परत जो नली की गोलीय दीवार के संपर्क में हो एवं प्रयोगात्मक रूप से स्थिर हो, तो पानी का श्यानतागुणांक नीचे दिए हुए संबंध द्वारा निकाला जा सकता है :

$$Q = \frac{\pi p a^4}{8 l \eta} \ldots\ldots\ldots\ldots (२)$$

जहाँ Q = पानी का वह आयतन जो प्रति सेकंड नली से होकर गुजरता है, a = सँकरी नली का अर्धव्यास, p = दबाव का अंतर जो नली के दोनों सिरों के बीच होता है, l = संकीर्ण नली की लंबाई तथा η = श्यानता का गुणांक है।

केशिका श्यानतामापी (Capillary viscometers) — श्यानता-गुणांक के शुद्ध, पूर्ण तथा ठीक ठीक निर्धारण के लिये यह आवश्यक है कि श्यानता के यथार्थ आयाम (exact dimensions) मालूम हों, पर यह कठिन कार्य है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में श्यानतामापन के लिये सरल उपकरण, जिन्हें श्यानतामापी कहते हैं, प्रयुक्त होते

है। इन उपकरणों को उन द्रवों द्वारा अंशांकित किया जाता है जिनकी श्यानता मालूम है। ये उपकरण साधारणतया केशिका प्रवाह अथवा घूर्णी ऐंठन (rotational torque) के सिद्धांत पर कार्य करते हैं। केशिकाप्रवाह किस्म के उपकरणों में ओसवाल्ट का बनाया हुआ उपकरण सर्वविदित है तथा सबसे ज्यादा प्रयोग में आता है। इस उपकरण में द्रव के नवचंद्रक (meniscus) के एक स्थिर चिह्न से दूसरे स्थिर चिह्न तक के गिरने का समय मापा जाता है तथा नीचे दिए हुए सूत्र से श्यानता का गुणांक निकाला जाता है। इन उपकरणों को प्रयोग में लाते समय एक मानक आयतन ही लिया जाता है।

गतिक श्यानता (Kinematics viscosity) =

$$K = \eta/\rho = At - B/t \qquad \ldots\ldots (३)$$

जहाँ η = श्यानतागुणांक है, ρ = द्रव का घनत्व है, तथा A एवं B = उपकरण स्थिरांक हैं तथा t = द्रवप्रवाह का समय है।

जिन द्रवों की श्यानता बहुत ज्यादा होती है, उनके लिये सूत्र (३) का दूसरा खंड (factor) शून्य होता है और इस प्रकार :

$$K = \eta/\rho = At \qquad \ldots\ldots (४)$$

अतएव गतिक श्यानताओं का अनुपात, दो द्रवों में, सूत्र (५) द्वारा दिया जाता है :

$$K_1/K_2 = t_1/t_2 \qquad \ldots\ldots (५)$$

तथा यही सूत्र ओसवाल्ट द्वारा प्रयोग में लाया गया था।

श्यानता और ताप (Viscosity and Temperature) — प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि, काफी हद तक, द्रवों की श्यानता ताप पर निर्भर है। यद्यपि इस क्षेत्र में काफी प्रयोग किए जा चुके हैं, तथापि कोई ऐसा साधारण सूत्र नहीं मिला जो श्यानता तथा ताप के संबंध की उच्च यथार्थता को प्रदर्शित करे। प्राय: यह पाया जाता है कि पूरे क्षेत्र में ताप के बढ़ने के साथ साथ श्यानता घटती चली जाती है, लेकिन श्यानता में यह घटाव प्रति अंश निम्न ताप पर ऊँचे ताप की अपेक्षा ज्यादा होता है। श्यानता तथा ताप के संबंध में सर्वप्रथम स्लॉट (Slotte) द्वारा एक मूलानुपाती सूत्र (empirical formula) दिया गया, जो बाद में संशोधित हुआ तथा शुद्ध द्रवों के संबंध में ही लागू होता है। आगे चलकर ऐंड्राडे के सिद्धांत (Andrade's theory) पर एक जटिल श्यानता-ताप-संबंध दिया गया, जो प्रयोगों से काफी संतोषप्रद पाया गया है और वह इस प्रकार है :

$$\eta\, v^{1/3} = Ae^{C/vT} \qquad \ldots(६)$$

जहाँ A तथा C स्थिरांक (constants) हैं, T = ताप तथा v = विशिष्ट आयतन (specific volume) है।

ताप के बढ़ने के साथ साथ गैसों का श्यानता गुणांक बढ़ता है। इसके संबंध में सदरलैंड (Sutherland) ने एक सूत्र दिया है, जो इस प्रकार है :

$$\frac{\eta_t}{\eta_0} = \frac{273 + C}{T + C}\left(\frac{T}{273}\right)^{3/2} \qquad \ldots(७)$$

जहाँ η_t तथा η_0 क्रमश: ताप T° तथा ०° सेंटीग्रेड पर श्यानता के गुणांक हैं, तथा C को सदरलैंड स्थिरांक के नाम से जाना जाता है, जो भिन्न भिन्न गैसों के लिये भिन्न होता है।

श्यानता और दबाव (Viscosity and Pressure) — जिन द्रवों की श्यानता ज्यादा होती है, जैसे खनिज तेल की, उनकी श्यानता का गुणांक दबाव के बढ़ने के साथ साथ बढ़ता है। केवल पानी को छोड़कर अन्य सभी द्रवों में करीब करीब ऐसी ही स्थिति पाई गई है। पानी में पहले कई सौ वायु दबाव (few hundred atmospheric pressures) तक श्यानतागुणांक घटता जाता है, तदुपरांत इसका श्यानतागुणांक अन्य द्रवों की तरह दबाव के साथ साथ बढ़ता है।

गैसों के बारे में यह पाया गया है कि साधारणतया उच्च दबाव का श्यानतागुणांक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किंतु न्यून दबाव पर श्यानतागुणांक दबाव के घटने के साथ साथ ही घटता जाता है। जिस दबाव पर यह प्रभाव आरंभ होता है, वह इन दो बातों पर निर्भर करता है : (१) बरतन के आकार पर, जिसमें गैस भरी होती है, तथा (२) गैस की प्रकृति पर।

श्यानता और रासायनिक रचना (Viscosity and Chemical Constitution) — सर्वप्रथम टॉमस ग्राहम (Thomas Graham) ने यह सुझाव दिया कि एक ही प्रकार की रचना के यौगिकों का श्यानता गुणांक नियमित ढंग से बढ़ सकता है, यदि उनके अणुओं या समूहों की संख्या बढ़ाई जाय। प्रयोगों से थॉर्प तथा रॉजर (Thorpe and Rodger) ने यह पाया कि किसी सजातीय श्रेणी का श्यानतागुणांक उसके अणुभार के साथ बढ़ता जाता है। यह वृद्धि नियमित ढंग से होती है, जबकि सजातीय श्रेणी के प्रथम दो या तीन यौगिक अनियमता दर्शाते हैं।

श्यानता का महत्व — जब जहाज पानी पर विचरण करता है, तब समुद्र का पानी श्यान अवरोध प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार हवा भी हमारे हवाई जहाजों तथा कारों की राह मे अवरोध उपस्थित करती है। हमारी कलम की स्याही की विशेषता काफी हद तक उसकी श्यानता पर निर्भर है। स्नेहकों (lubricants) के प्रयोग का आधार ही श्यानता है। हम सब लोगों की धमनियों तथा शिराओं में रुधिरपरिसंचरण (circulation of blood) रुधिर की श्यानता पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार जनजीवन में श्यानता महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। [अ० ला०]

श्यामसुंदर दास, डॉ० (सन् १८७५-१९४५ ई०) हिंदी के अनन्य साधक, विद्वान्, आलोचक और शिक्षाविद्। जन्म काशी में हुआ और यहीं क्वींस कालेज से सन् १८९७ में बी० ए० किया। जब इंटर के छात्र थे तभी सन् १८९३ में मित्रों के सहयोग से काशी नागरीप्रचारिणी सभा की नींव डाली और ४५ वर्षों तक निरंतर उसके संवर्धन में बहुमूल्य योग देते रहे। १८९५-९६ में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' निकलने पर उसके प्रथम संपादक नियुक्त हुए और बाद में कई बार वर्षों तक उसका संपादन किया। 'सरस्वती' के भी आरंभिक तीन वर्षों (१८९९-१९०२) तक संपादक रहे। १८९९ में हिंदू स्कूल के अध्यापक नियुक्त हुए और कुछ दिनों बाद

श्यामसुंदर दास (देखें पृष्ठ ३१४)



रामचंद्र शुक्ल (देखें पृष्ठ २८८)



शिवकुमार सिंह (देखें पृष्ठ २८०)



हिंदू कालेज में अंगरेजी के जुनियर प्रोफेसर नियुक्त हुए। १९०९ में जम्मू महाराज के स्टेट ग्राफिस में काम करने लगे जहाँ दो वर्ष रहे। १९१३ से १९२१ तक लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल में हेडमास्टर रहे। इनके उद्योग से विद्यालय की अच्छी उन्नति हुई। १९२१ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग खुल जाने पर इन्हें अध्यक्ष के रूप में बुलाया गया। पाठ्यक्रम के निर्धारण से लेकर हिंदी भाषा और साहित्य की विश्वविद्यालयस्तरीय शिक्षा के मार्ग की अनेक बाधाओं को हटाकर योग्यतापूर्वक हिंदी विभाग का संचालन और संवर्धन किया। इस प्रकार इन्हें हिंदी की उच्च शिक्षा के प्रवर्तन और आयोजन का श्रेय है। उस समय विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकों और आलोचना ग्रंथों का अभाव था। इन्होंने स्वयं अपेक्षित ग्रंथों का संपादन कि ा, समीक्षाग्रंथ लिखे और अपने सुविज्ञ सहयोगियों से लिखवाए।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के माध्यम से श्री श्यामसुंदरदास ने हिंदी की बहुमुखी सेवा की और ऐसे महत्वपूर्ण कार्यों का सूत्रपात एवं संचालन किया जिनसे हिंदी की अभूतपूर्व उन्नति हुई। न्यायालयों में नागरी के प्रवेश के लिये मालवीय जी आदि की सहायता से उन्होंने सफल उद्योग किया। हिंदी वैज्ञानिक कोश के निर्माण में भी योग दिया। हिंदी की लेख तथा लिपि प्रणाली के संस्कार के लिये प्रारंभिक प्रयत्न (१८९८) किया। हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का काम प्रारंभ कर इन्होंने उसे नौ वर्षों तक चलाया और उसकी सात रिपोर्टें लिखी। 'हिंदी शब्दसागर' के ये प्रधान संपादक थे। यह विशाल शब्दकोश इनके अप्रतिम बुद्धिबल और कार्यक्षमता का प्रमाण है। १९०७ से १९२९ तक अत्यंत निष्ठा से इन्होंने इसका संपादन और कार्यसंचालन किया। इस कोश के प्रकाशन के अवसर पर इनकी सेवाओं को मान्यता देने के निमित्त 'कोशोत्सव स्मारक सग्रह' के रूप में इन्हें अभिनंदन ग्रंथ अर्पित किया गया।।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापनकार्य के समय उच्च अध्ययन में उपयोग के लिये इन्होंने भाषाविज्ञान, आलोचना शास्त्र और हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकासक्रम पर श्रेष्ठ ग्रंथ लिखे।

इन्होंने परिचयात्मक और आलोचनात्मक ग्रंथ लिखने के साथ ही कई दर्जन पुस्तकों का संपादन किया। पाठ्य पुस्तकों के रूप में इन्होंने कई दर्जन सुसंपादित संग्रह ग्रंथ प्रकाशित कराए। इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं — हिंदी कोविद रत्नमाला भाग १, २ (१९०९-१९१४), साहित्यालोचन (१९२२), भाषाविज्ञान (१९२३), हिंदी भाषा और साहित्य (१९३०) रूपकरहस्य (१९३१), भाषारहस्य भाग १ (१९३५), हिंदी के निर्माता भाग १ और २ (१९४०-४१), मेरी आत्मकहानी (१९४१), कबीर ग्रंथावली (१९२८), साहित्यिक लेख (१९४५)।

श्यामसुंदरदास का व्यक्तित्व तेजस्वी और जीवन हिंदी की सेवा के लिये अर्पित था। जिस जमाने में उन्होंने कार्य शुरू किया उस समय का वातावरण हिंदी के लिये अत्यंत प्रतिकूल था। सरकारी कामकाज और शिक्षा आदि के क्षेत्रों में वह उपेक्षित थी। हिंदी बोलनेवाला अशिक्षित समझा जाता था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में हिंदी के प्रचार प्रसार और संवर्धन के लिये उन्होंने काशी नागरीप्रचारिणी सभा को केंद्र बनाकर जो अभूतपूर्व संघबद्ध प्रयत्न किया उसका ऐतिहासिक महत्व है। वे उच्च कोटि के संगठनकर्ता और व्यवस्थापक थे। समर्थ मित्रों के सहयोग और अपने बुद्धिबल तथा कर्मठता से उन्होंने हिंदी की उन्नति के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का डटकर सामना किया और सफलता प्राप्त की। उनकी दृष्टि व्यक्तियों की क्षमता पहचानने में अचूक थी। उन्होंने अनेक व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर साहित्य के क्षेत्र में ला खड़ा किया। इसीलिये कहा गया है कि उन्होंने 'ग्रंथों की ही नहीं, ग्रंथकारों की भी रचना की'।

उनकी हिंदीसेवाओं से प्रसन्न होकर अंगरेज सरकार ने 'रायबहादुर', हिंदी साहित्य संमेलन ने 'साहित्यवाचस्पति' और काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की संमानोपाधि प्रदान की। [वि० शं० म०]

श्यामाचरण लाहिड़ी १८ वीं शताब्दी के उच्च कोटि के साधक जिन्होंने सद्गृहस्थ के रूप में यौगिक पूर्णता प्राप्त कर ली थी। आपका जन्म बंगाल के नदिया जिले की प्राचीन राजधानी कृष्णनगर के निकट घरणी नामक ग्राम के एक संभ्रांत ब्राह्मण कुल में अनुमानतः १८२५-२६ ई० में हुआ था। आपका पठनपाठन काशी में हुआ। बँगला, संस्कृत के अतिरिक्त आपने अंग्रेजी भी पढ़ी यद्यपि कोई परीक्षा नहीं पास की। जीविकोपार्जन के लिये छोटी उम्र में सरकारी नौकरी में लग गए। आप दानापुर में मिलिटरी एकाउंट्स आफिस में थे। कुछ समय के लिये सरकारी काम से अलमोड़ा जिले के रानीखेत नामक स्थान पर भेज दिए गए। हिमालय की इस उपत्यका में गुरुप्राप्ति और दीक्षा हुई। आपके तीन प्रमुख शिष्य युक्तेश्वर गिरि, केशवानंद और प्रणवानंद ने गुरु के संबंध में प्रकाश डाला है। योगानंद परमहंस ने 'योगी की आत्मकथा' नामक जीवनवृत्त में गुरु को बाबा जी कहा है। दीक्षा के बाद भी इन्होंने कई वर्षों तक नौकरी की और इसी समय से गुरु के आज्ञानुसार लोगों को दीक्षा देने लगे थे। सन् १८८० में पेंशन लेकर आप काशी आ गए। इनकी गीता की आध्यात्मिक व्याख्या आज भी शीर्ष स्थान पर है। इन्होंने वेदांत, सांख्य, वैशेषिक, योगदर्शन और अनेक संहिताओं की व्याख्या भी प्रकाशित की। इनकी प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि गृहस्थ मनुष्य भी योगाभ्यास द्वारा चिरशांति प्राप्त कर योग के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो सकता है। आपने अपने सहज आडंबररहित गार्हस्थ्य जीवन से यह प्रमाणित कर दिया था। धर्म के संबंध में बहुत कट्टरता के पक्षपाती न होने पर भी आप प्राचीन रीतिनीति और मर्यादा का पूर्णतया पालन करते थे। शास्त्रों में आपका अटूट विश्वास था।

जब आप रानीखेत में थे तो अवकाश के समय शून्य विजन में पर्यटन कर प्राकृतिक सौंदर्यनिरीक्षण करते। इसी भ्रमण में दूर से अपना नाम सुनकर द्रोणगिरि नामक पर्वत पर चढ़ते चढ़ते एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ थोड़ी सी खुली जगह में अनेक गुफाएँ थीं। इसी एक गुफा के करार पर एक तेजस्वी युवक खड़े दीख पड़े। उन्होंने हिंदी में गुफा में विश्राम करने का संकेत किया। उन्होंने कहा

'मैंने ही तुम्हें बुलाया था'। इसके बाद पूर्वजन्मों का वृत्तांत बताते हुए शक्तिपात किया। बाबा जी से दीक्षा का जो प्रकार प्राप्त हुआ उसे क्रियायोग कहा गया है। क्रियायोग की विधि केवल दीक्षित साधकों को ही बताई जाती है। यह विधि पूर्णतया शास्त्रोक्त है और गीता उसकी कुंजी है। गीता में कर्म, ज्ञान, सांख्य इत्यादि सभी योग हैं और वह भी इतने सहज रूप में जिसमे जाति और धर्म के बंधन बाधक नहीं होते। आप हिंदू, मुसलमान, ईसाई सभी को बिना भेदभाव के दीक्षा देते थे। इसीलिये आपके भक्त सभी धर्मानुयायी हैं। उन्होंने अपने समय मे व्याप्त कट्टर जातिवाद को कभी महत्व नहीं दिया। वह अन्य धर्मावलंबियों से यही कहते थे कि आप अपनी धार्मिक मान्यताओं का आदर और अभ्यास करते हुए क्रियायोग द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। पात्रानुसार भक्ति, ज्ञान, कर्म और राजयोग के आधार पर व्यक्तित्व और प्रवृत्तियों के अनुसार साधना करने की प्रेरणा देते। उनके मत से शास्त्रों पर शंका अथवा विवाद न कर उनका तथ्य आत्मसात् करना चाहिए। अपनी समस्याओं के हल करने का आत्मचिंतन से बढ़कर कोई मार्ग नही।

लाहिड़ी महाशय के प्रवचनों का पूर्ण संग्रह प्राप्य नहीं है किंतु गीता, उपनिषद्, संहिता इत्यादि की अनेक व्याख्याएं बंगला मे उपलब्ध हैं। भगवद्गीताभाष्य का हिंदी अनुवाद लाहिड़ी महाशय के शिष्य श्री भूपेंद्रनाथ सान्याल ने प्रस्तुत किया है। श्री लाहिड़ी की अधिकांश रचनाएँ बंगला में हैं। [श्री० पां०]

श्यामानंद इनका जन्म चैत्र शु० १५, सं० १५६० को उड़ीसा के धारेंदा ग्राम में हुआ। पिता का नाम कृष्णमंडल तथा माता का दुरिका दासी था। जन्म के अनंतर यह सुवर्णरेखा नदी के तटस्थ अंबुया ग्राम में आ बसे। यहीं इन्होने शिक्षा प्राप्त की। इनका नाम दुखी कृष्णदास था तथा ये सद्गोप थे। श्रीहृदयानंद से दीक्षा लेकर यात्रा करते हुए ये वृंदावन पहुँचे। यहाँ श्री जीव गोस्वामी के यहाँ अध्ययन करते हुए २८ वर्ष रहे। गोस्वामी जी ने इन्हें दीक्षा देकर श्यामानंद नाम रखा। श्री राधिका जी की भी इनपर यहीं कृपा हुई। वृंदावन में प्रस्तुत हुए गोस्वामी ग्रंथों को बंगाल मे प्रचारार्थ भेजने के लिये श्री जीव गोस्वामी ने श्री निवासाचार्य, नरोत्तम ठाकुर तथा श्यामानंद को नियत किया क्योंकि ये तीनों सहपाठी थे। प्रथम दो ने बंगाल में तथा तृतीय ने उड़ीसा में श्री गौरांग के मत का प्रचार किया। [ब्र० र० दा०]

श्येन शिकारी चिड़िया हैं। इनके अंतर्गत तीन प्रमुख कुल फैल्कोनिडी (Falconidae), बल्ट्यूरिडी, तथा सैरिडी है। ये चिड़ियाँ शिकार को जिंदा पकड़ने मे काम आती हैं। इनमें कुछ मुर्दाखोर भी होती है। ये शिकारी चिड़ियाँ पेड़ों पर सुगमता से बैठ सकती और धरती पर स्वच्छदता से फुदक सकती हैं। ये प्रबल उड़ान भर सकती है। इनके नाखून बड़े तेज होते हैं और चोंच आगे को झुकी रहती है, जिससे ये शिकार को सरलता से फाड़कर खा सकती हैं। इनकी मादाएं साधारणतया नरों से कुछ बड़ी होती हैं। ये सब मांसभक्षी हैं और छोटे छोटे जीव जंतुओं, पक्षियों, साँपो, छिपकलियों, मेढकों, मछलियों, कछुओं, केकड़ों, कीड़े मकोड़ो और मोलस्कों को खाती हैं।

फैल्कोनिडी कुल — इस कुल के पक्षी महाश्येन, बाज, बहरी, शिकरा, टीसा, तुरमती, खेर मुनिया, लगर, चरग या चरख और चील हैं। महाश्येन कई प्रकार के होते हैं। ये अनेक देशों में पाए जाते हैं तथा भारत के हिमालय के ऊँचे प्रदेश मे भी पाए जाते हैं। भारत के मैदानों में पाए जानेवाले महाश्येन छोटे होते हैं, जिन्हें उकाब (Tawry eagle) कहते हैं (देखें **महाश्येन**)। उकाब गहरे रंग का, गोल तथा लंबी पूँछवाला पक्षी है। इसकी शकल सूरत बहुत कुछ चील से मिलती जुलती है। इसके पंजे बड़े मजबूत होते हैं। इसकी मादा २६ इंच की और नर लगभग २५ इंच के होते हैं। मादा घासपात का घोंसला बनाकर, उसमें एक से तीन तक अंडे देती है। अंडे हलके राखी या सफेद रंग के होते हैं।

बाज (goshawk) भारत में सर्वत्र पाया जाता है। लगभग २० इंच लंबा यह पक्षी बड़ा बहादुर शिकारी है। इसके पंजे बड़े मजबूत होते है। इसका ऊपरी हिस्सा राखीपन लिए भूरा होता है और सिरा गुद्दी और गरदन के दोनो बगल का हिस्सा काला होता है। नर तथा मादा दोनों एक रूप के होते हैं। मादा को बाज और नर को जुर्रा कहते है। इन्हें गुलाबचश्म भी कहते हैं। यह छोटे छोटे जंतुओ, सरीसृपो और चिड़ियों को खाता है। एक बार मे इसकी मादा तीन से चार अंडे तक देती है। ये तीतर, कबूतर, चकोर, मोर, जंगली मुर्गियाँ, हंस आदि पक्षियों को खाते हैं। ये खरगोश सदृश छोटे जानवरों का भी शिकार करते हैं।

बहरी (peregrine falcon) समस्त भारत में पाई जाती है। यह सुंडा द्वीपों से लेकर फिजी और चीन तक पाई जाती है। बाज से यह पक्षी छोटा होता है। इसका नर १६ इंच और मादा २० इंच की होती है। नर और मादा दोनों ही एक रंग रूप के होते है।

शिकरा (shikra, astur, badins) भारत के सब प्रदेशों में पाई जानेवाली चिड़िया है। इसका नर १२ इंच लंबा और मादा १४ इंच लंबी होती है।

टीसार (white-eyed buzzard) चिड़िया खुले मैदान में रहना ज्यादा पसंद करती है। शिकार पकड़ने के साथ साथ यह मुर्दाखोर भी होती है। नर तथा मादा एक रूप के और बराबर कद के होते हैं। मादा भद्दा सा घोंसला बनाकर तीन चार अंडे देती है।

तुरमती शिकारी चिड़िया है। इसकी मादा नर से बड़ी होती है। यह १२-१४ इंच लंबी होती है। इसके बगल का हिस्सा हल्का खैरा और ऊपरी हिस्सा सलेटी रहता है, जिसपर भूरी धारियाँ पड़ी रहती हैं। इसके डैने कलछौंह और चोंच हरापन लिए पीली होती है। यह छोटी छोटी चिड़ियों को खाती है।

खेरमुनिया (kestrel) जाड़ों में देखी जाती है। अंडे हिमालय के पश्चिमी भागों में देती है। नर और मादा के रंग में थोड़ा भेद रहता है।

लगर (laggar falcon) १६ इंच लंबी शिकारी चिड़िया है। नर तथा मादा एक ही रूप रंग के होते हैं।

चील (kite) बारहमासी चिड़िया है। यह भारत के सब प्रदेशों में पाई जाती है। इसका सारा बदन भूरे रंग का होता

है। चोंच काली और पैर पीले होते हैं। यह बड़ी तेजी से झपट्टा मारकर खाने की चीज ले भागती है। यह पशु, पक्षी, सरीसृप और कीड़े मकोड़ों के अतिरिक्त मुर्दा भी खाती है (देखें चील)।

वल्ट्यूरिडी कुल — इस कुल में विभिन्न प्रकार के गिद्ध आते हैं। इनकी दृष्टि बड़ी तेज होती है। मुर्दे खाकर ये अपना पेट भरते हैं। ये हमारे लिये सफाई का काम करते हैं। जहाँ कहीं भी मरा हुआ जानवर देखते हैं, वहाँ ये पहुँचकर नोंच नोंचकर मांस खा जाते हैं। विभिन्न प्रकार के गिद्धों (vaultures) में चमर गिद्ध (white-backed vulture), राज गिद्ध (king vulture) और गोबरगिद्ध (scavenger vulture) अधिक महत्व के हैं। ये तीनों ही प्रकार के गिद्ध भारत में बारहो मास पाए जाते हैं। इनके रूप, रंग और कद में थोड़ा अंतर है। इसमें चमर गिद्ध सबसे बड़ा होता है, राज गिद्ध सबसे छोटा होता है। चमर गिद्ध यूथचारी पक्षी है। भड़कीले लाल और काले रंग के कारण इसे राज, गिद्ध नाम मिला है। गोबर गिद्ध, चील से अधिक मिलता जुलता है। इसका रंग सफेद होता है। अतः इसे कहीं कहीं सफेद गिद्ध भी कहते हैं। यह गोबर और पाखाना भी खाता है, जिससे इसका नाम गोबर गिद्ध पड़ा है। अन्य गिद्धों की तरह इसकी गरदन लंबी नहीं होती। इसके पैर का रंग प्याजी सफेद होता है। मादा एक बार में बहुधा दो अंडे देती है (देखें गिद्ध)।

पैंडिओनिडी कुल — इस कुल के पक्षियों में मछारंग (osprey) अधिक महत्व का है। मछारंग मछली का शिकार करता है। इसी से इसका नाम मछारंग पड़ा है। साधारणतः यह मीठे और खारे पानी के किनारे पाया जाता है। इसके नर तथा मादा एक रूपरंग के होते हैं। शरीर का ऊपरी हिस्सा गाढ़ा भूरा और नीचे का सफेद होता है। चोंच कलछौंह और पैर पीले होते है। यह जाड़े में ही साधारणतया देखा जाता है, (देखें कुररी)।

सं० ग्रं० — सुरेश सिंह : जीव जगत्, हिंदी समिति, लखनऊ।

[रा० चं० स०]

श्येनपालन (Falconry) एक कला है, जिसके द्वारा श्येनों और बाजों को शिकार के लिये साधा, या प्रशिक्षित, किया जाता है। मनुष्य को इस कला का ज्ञान ४,००० वर्षों से भी अधिक समय से है। भारत में इस कला का व्यवहार ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से होता आ रहा है। मुस्लिम शासनकाल में, विशेषतः मुगलों के शासनकाल में, इस कला को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला था। क्रीड़ा के रूप में, लड़ाकू जातियों में, श्येनपालन बराबर प्रचलित रहा है। राइफल और छोटी बंदूकों के व्यवहार में आने के बाद श्येनपालन में ह्रास शुरू हुआ। आज इसका प्रचार अधिक नहीं है। शौक के रूप में इसे चालू रखा जा सकता है, क्योंकि वस्तुतः यह सबसे कम खर्चीला शौक है।

पक्षी वर्ग की कुछ चिड़ियाँ शिकारी होती हैं। कुछ तो शिकार को खा जाती हैं और कुछ उचित प्रशिक्षण से शिकार को पकड़कर पालक के पास ले आती हैं। ऐसे शिकार छोटी बड़ी चिड़ियाँ, चरहे और खरगोश सदृश छोटे छोटे जानवर भी होते हैं। शिकारी चिड़ियाँ पेड़ों पर रहनेवाले पक्षी हैं, जो हवा में पर्याप्त ऊँचाई तक उड़ लेते हैं। इनके नाखून बड़े नुकीले और टेढ़े होते हैं। इनकी चोंच टेढ़ी और मजबूत होती है। इनकी निगाह बड़ी तेज होती है। सभी मांसभक्षी चिड़ियों में से अधिकांश जिंदा शिकार करती हैं और कुछ मुर्दाखोर भी होती हैं। शिकारी पक्षियों की एक विशेषता यह है कि इनकी मादाएँ नरों से कद में बड़ी और अधिक साहसी होती हैं।

शिकारी पक्षियों के तीन प्रमुख कुल हैं, पर साधारणतया इन्हें बड़े पंखवाली और छोटे पंखवाली चिड़ियों में विभक्त करते हैं। पहली किस्म को 'स्याहचश्म' या काली आँखवाली और दूसरी किस्म को 'गुलाबचश्म' या पीली आँखवाली कहते हैं। जो शिकारी चिड़ियाँ पाली जाती हैं, उनमें बाज, बहरी, शाहीन, तुरमती, चरग (या चरख), लगर, वासीन, वासा, शिकरा और शिकरचा, बीसरा, धूती तथा जुर्रा प्रमुख हैं (देखें, श्येन)।

शिकारी चिड़ियों को फँसाना — भिन्न भिन्न देशों, जैसे यूरोप, अमरीका, अफ्रीका, चीन और भारत में, शिकारी चिड़ियों के फँसाने के भिन्न भिन्न तरीके हैं। भारत में जो तरीके काम में आते है, उन्हीं का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है :

उत्तरी पहाड़ी लोग जो तरीका अपनाते है, वह सरल और पर्याप्त कारगर होता है। इन पहाड़ी लोगों के मकानों की छतें नीची और सपाट (flat) होती है तथा धुआँ निकलने के लिये छत में छोटा सूराख बना होता है। उसी सूराख के ऊपर चकोर को एक रस्सी मे बाँधकर रख देते हैं और रस्सी को पकड़े रहते है। चकोर वहाँ फड़फड़ाता है और इस प्रकार ऊपर उड़ते हुए शिकारी पक्षियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। फड़फड़ाते चकोर को पकड़ने के लिये शिकारी चिड़िया चकोर के पास आती है। शिकारी चिड़िया और चकोर दोनों को खींचकर फँसानेवाला सूराख के मुँह पर लाता है और हाथ से शिकारी चिड़िया को पकड़ लेता है।

एक दूसरी रीति 'दो गजा रीति' है। इसमें दो गज का एक जाल, २ गज × ४ गज माप का होता है, जो लगभग दो गज लंबे बाँस के दो बल्लों में बँधा होता है। जाल महीन, मजबूत, काले धागे का बना होता है। जाल के मध्य से दो तीन फुट की दूरी पर, एक खूँटे में जिंदा चिड़िया चारे (bait) के रूप में बँधी रहती है। उस बँधी चिड़िया के फड़फड़ाने पर, शिकारी चिड़िया उस ओर आकर्षित होकर, उसपर झपटती है और जाल में फँस जाती है। यदि शिकारी चिड़िया चारे को पकड़ लेती है और जाल में नहीं फँसती, तब शिकारी चिड़िया को घबराकर उसे जाल मे फँसा लेते है।

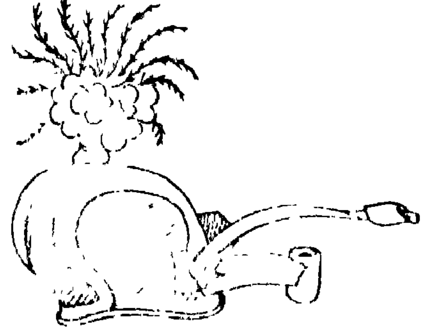
लगर के फँसाने का एक दिलचस्प तरीका लेखक ने स्वयं देखा है। इसमें चील की सहायता ली जाती है। चील की आँख डोरे से ऐसे बाँध दी जाती हैं कि वह केवल आसमान की ओर देख सके। उसके पैर में ऊन का एक गोला बाँध दिया जाता है, जिसमें एक सरकफंदा लगा रहता है। मैदान में, जहाँ लगर देख पड़ते हैं, चील को छोड़ दिया जाता है। लगर ऊन के गोले को पकड़ने की कोशिश में चील के साथ जुझ जाता है और दोनों लड़ते लड़ते धरती पर

आ गिरते हैं और फँसानेवाला लगर को पकड़ लेता है। चील के शिकार को छीन लेने की लगर सदा ही चेष्टा करता है।

एक अन्य रीति 'पिंजड़ा रीति' है। खुले पिंजड़े में एक जिंदा चिड़िया बाँध दी जाती है और पिंजड़े को प्राय: घोड़े के बालों के बने फंदों के ढेरे से ढँक दिया जाता है। ये फंदे सरक फंदे होते हैं। शिकारी चिड़िया पिंजड़े के पास आकर इन फंदों में फँस जाती है। फंदे को मजबूती से बँधा रहना चाहिए और शिकारी चिड़िया को पकड़कर फंदे से जल्द निकाल लेने के लिये, निकट में कोई आदमी सदा तैयार रहना चाहिए, वरना शिकारी चिड़िया का पैर या पंख टूट जा सकता है।

एक तरीका 'पट्टी तरीका' है जिसको चिड़ियाँ फँसानेवाले व्यवसायी काम में लाते हैं। इसमें फँसानेवाला देखता है कि प्रवास के समय शिकारी चिड़िया किस रास्ते से आती जाती है। जिस रास्ते से चिड़िया आती जाती है, उस रास्ते में पहाड़ की चोटियों या कूटों (ridges) पर अनेक जाल, ६ फुट × ३०० फुट माप के, फैला दिए जाते हैं। उड़ती हुई शिकारी चिड़िया उन जालों में फँस जाती है, क्योंकि यह चिड़िया पहाड़ी चोटियों या कूटों से ऊपर उठकर उड़ने का कष्ट नहीं करती।

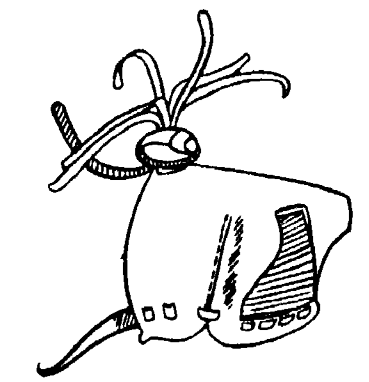
शिकारी चिड़ियों को खिलाना और साधना — शिकारी चिड़ियों को पकड़ने के बाद, उन्हें कुछ दिन के लिये अंधा बना दिया जाता है, अन्यथा वे कलाई पर बैठेंगी ही नहीं। इसके लिये या तो उनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है, या उनकी आँखें सी दी जाती हैं, या टोपी (hood) पहना दी जाती है। दो प्रकार की टोपियाँ चित्र १. और २. में दिखाई गई हैं। सीने में निचले पलकों (eyelids) में तागा लगाकर उसे सिर के शीर्ष से



चित्र १. डच टोपी (hood)

बाँध देते हैं। दूसरी विधि पहली विधि की अपेक्षा व्यवहार में अधिक आती है। देखने में दूसरी विधि अवश्य कुछ क्रूर मालूम देती है, पर इससे चिड़ियों के पलकों को कोई नुकसान नहीं होता। यहाँ केवल यह देखना आवश्यक है कि सीने के लिये जो सूत प्रयुक्त हो, वह मुलायम रुई का बना हो। बहुत पतला, या कठोर ऐंठा हुआ सूत पलक को हानि पहुँचा सकता है।

अप्रशिक्षित शिकारी चिड़िया को अंधा बनाकर हाथ पर बैठना सिखाया जाता है और तब कच्चे मांस को उसकी चोंच और अंगुल (पंजे) पर रगड़ा जाता है। शीघ्र ही चिड़िया मांस पर चोंच मारने लगती है और उसे खाना शुरू कर देती है। यदि ऐसा न करें, तो चिड़िया को चारपाई के बीच में बैठाकर, उसके पैर के जोड़ के ऊपर गाँठ बाँध देते हैं। इससे वह कष्ट अनुभव करती है और गाँठ पर चोंच मारने लगती है। अब गाँठ के निकट कच्चे मांस के कुछ



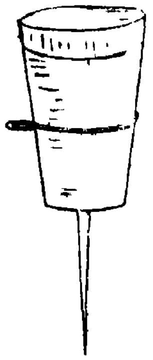
चित्र २. भारतीय टोपी

टुकड़ों को रख देने से, चिड़िया मांस पर चोंच मारने और खाने लग जाती है। जब चिड़िया मांस खाने लगे, तब बंधन को धीरे धीरे काट देते हैं। कुछ दिनों के बाद चिड़िया खाने के समय का इंतजार करने लगती है। ऐसे समय आँख को धीरे धीरे खोल देते हैं। अब वह बिना किसी रुकावट के खाने लगती है। उपर्युक्त प्रशिक्षण में आठ दिन, या इससे अधिक, समय लग सकता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि कलाई पर बैठाने के समय, विशेषकर शुरू में, हाथ में दस्ताना अवश्य रहना चाहिए।

शिकारी चिड़ियों से डर का भगाना — नई शिकारी चिड़िया मनुष्य के निकट आने पर स्वभावत: डर जाती है। पहले इसके डर को हटाना आवश्यक होता है। इसके लिये यह देखना चाहिए कि फड़फड़ाने से चिड़िया के पंख टूटें नहीं और चिड़िया के पंख को पूँछ पर दुमरा (dumra) या 'गद्दी' से बाँधकर, उसे मनुष्यों या हल्ले गुल्ले के पास रखते हैं, अथवा चिड़िया को रात में कई घंटे बिना चमड़े की टोपी पहनाए रखते हैं और फिर क्रमश: रात में टोपी को कभी कभी पहनाते और निकाल लेते हैं। दुमरा इस्तेमाल करने की उचित रीति यह है कि पक्षी के पूँछ-पिच्छ के दो मध्य के पिच्छाक्ष (quill) की जड़ पर सुई द्वारा तागा पहनाकर, तागे को पूँछ से लपेट कर बाँध देना तथा कपड़े का एक टुकड़ा लेकर पूँछ के चारों ओर सी देना चाहिए। इस गद्दी या जैकेट को कई दिन तक पहनाकर रखा जाता है। पहले दो दिन तक तो गद्दी को निकाला ही नहीं जाता है। पीछे केवल रात में निकाल दिया जाता है। गद्दी में बँधे ऐसे बाज को चारपाई के बीच में बाँध दिया जाता है और उसकी पलक खुली रखी जाती है। ऐसी चारपाई भीड़वाले जनमार्ग पर रख दी जाती है। इस प्रकार के, अनेक दिनों के व्यवहार से बाज मनुष्य, कुत्ते, गाड़ियों आदि का आदी हो जाता है। रात में उसे हाथ पर बैठाकर घुमाया जाता है। ऐसा व्यवहार, विशेष रूप से, गुलाबचश्म चिड़ियों के साथ किया जाता है।

जब पक्षी पर्याप्त पालतू बना लिया जाता है और बिना डर के

खाने पीने लगता है, तब कुछ दूरी से कच्चे मांस का टुकड़ा दिखलाकर, पक्षी को हाथ पर बुलाया जाता है। यह क्रिया अनेक बार दुहराई जाती है और दूरी को धीरे धीरे बढ़ाया जाता



चित्र ३. बैठने का अड्डा

इसके निचले भाग को जमीन में गाड़ देते हैं और पक्षी इसपर बैठा दिया जाता है।

है। शिकार को पकड़कर पालक के पास लाने की भी शिक्षा दी जाती है। चिड़िया का मूल्य चिड़िया की किस्म, प्रशिक्षण और उपादेयता पर निर्भर करता है। [ए० एस० बे०]

श्रद्धाराम फुल्लौरी (सन् १८३७-१८८१) लुधियाना-जालंधर-मार्ग पर स्थित 'फुलौर' नामक कस्बे में उत्पन्न हुए। आपके पिता श्री जयदयाल जोशी एक निर्धन ब्राह्मण थे। १८ वर्ष की अवस्था में कथावाचक का पैतृक कार्य प्रारंभ करने से पूर्व ही फुल्लौरी जी ने फारसी और पंजाबी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हिंदी, संस्कृत और संगीत आपको बपौती में मिले। आपकी लगभग दो दर्जन रचनाओं का पता चलता है, यथा —

(क) संस्कृत — (१) नित्यप्रार्थना (शिखरिणी छंद के ११ पदों में ईश्वर की दो स्तुतियाँ)। (२) भृगुसंहिता (सौ कुंडलियों में फलादेश वर्णन), यह अधूरी रचना है। (३) हरितालिका व्रत (शिवपुराण की एक कथा)। (४) 'कृष्णस्तुति' विषयक कुछ श्लोक, जो अब अप्राप्य हैं।

(ख) हिंदी — (१) तत्वदीपक (प्रश्नोत्तर में श्रुति, स्मृति के अनुसार धर्म कर्म का वर्णन)। (२) सत्य धर्म मुक्तावली (फुल्लौरी जी के शिष्य श्री तुलसीदेव संगृहीत भजनसंग्रह) प्रथम भाग में ठुमरियाँ, बिसन पदे, दूती पद हैं; द्वितीय में रागानुसार भजन, अंत में एक पंजाबी बारामाह। (३) भाग्यवती (स्त्रियों की हीनावस्था के सुधार हेतु प्रणीत उपन्यास)। (४) सत्योपदेश (सौ दोहों में अनेकविध शिक्षाएँ) (५) बीजमंत्र ('सत्यामृतप्रवाह' नामक रचना की भूमिका)। (६) सत्यामृतप्रवाह (फुल्लौरी जी के सिद्धांतों, और आचार विचार का दर्पण ग्रंथ)। (७) पाकसाधनी (रसोई शिक्षा विषयक)। (८) कौतुक संग्रह (मंत्रतंत्र, जादूटोने संबंधी)। (९) दृष्टांतावली (सुने हुए दृष्टांतों का संग्रह, जिन्हें श्रद्धाराम अपने भाषणों और शास्त्रार्थों में प्रयुक्त करते थे)। (१०) रामलकामधेनु ('नित्य प्रार्थना' में प्रकाशित विज्ञापन से पता चलता है कि यह ज्योतिष ग्रंथ संस्कृत से हिंदी में अनूदित हुआ था)। (११) आत्म-चिकित्सा (पहले संस्कृत में लिखा गया था। बाद में इसका हिंदी अनुवाद कर दिया गया। अंतत. इसे फुल्लौरी जी की अंतिम रचना 'सत्यामृत प्रवाह' के प्रारंभ में जोड़ दिया गया था)। (१२) महाराजा कपूरथला के लिये विरचित एक नीतिग्रंथ (अप्राप्य है)।

(ग) उर्दू — (१) दुर्जन-मुख-चपेटिका, (२) धर्मकसौटी (दो भाग), (३) धर्मसंवाद (४) उपदेश संग्रह (फुल्लौरी जी के भाषणों आदि के विषय में प्रकाशित समाचारपत्रों की रिपोर्टें), (५) असुल ए मजाहिब (पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर के इच्छानुसार फारसी पुस्तक 'दबिस्तानि मजाहिब' का अनुवाद)। पहली तीनों रचनाओं में भागवत (सनातन) धर्म का प्रतिपादन एवं भारतीय तथा अभारतीय प्राचीन अर्वाचीन मतों का जोरदार खंडन किया गया।

(घ) पंजाबी — (१) बारहमासा (संसार से विरक्ति का उपदेश)। (२) सिक्खाँ दे इतिहास दी विथिआ (यह ग्रंथ अंग्रेजों के पंजाबी भाषा की एक परीक्षा के पाठ्यक्रम के लिये लिखा गया था। इसमें कुछेक अनैतिहासिक और जन्मसाखियों के विपरीत बातें भी उल्लिखित थी)। (३) पंजाबी बातचीत, पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों की उपभाषाओं के नमूनों, खेलों और रीति रिवाजों का परिचयात्मक ग्रंथ)। (४) बैत और बिसनपदों मे विरचित समग्र 'रामलीला' तथा 'कृष्णलीला' (अप्राप्य)।

फुल्लौरी जी की अधिकांश रचनाएँ गद्य में हैं। वे १८ वीं शताब्दी उत्तरार्ध के हिंदी और पंजाबी के प्रतिनिधि गद्यकार हैं। उनके हिंदी गद्य में खड़ी बोली का प्राधान्य है। यत्रतत्र उर्दू और पंजाबी का पुट भी है। पंजाबी गद्य दो शैलियों में उपलब्ध है। 'सिक्खाँ दे इतिहास दी विथिआ' में सरल, गंभीर तथा अलंकार-विहीन भाषा का प्रयोग हुआ है। इसमे दुआबी और मालवी का मिश्रित रूप उपलब्ध होता है। 'पंजाबी बातचीत' में मुहावरेदार और व्यंग्यपूर्ण भाषा व्यवहृत हुई है। उसमे पंजाबी की प्रमुख क्षेत्रीय उपभाषाओं का समुच्चय है। उनकी पद्यरचना अधिक नहीं है। प्रारंभ में उन्होंने हिंदी काव्यरचना हेतु ब्रज को अपनाया था, किंतु खड़ी बोली को जनोपयोगी भाषा समझकर वे उस ओर प्रवृत्त हुए। उनके भजनों में खड़ी बोली ही व्यवहृत हुई है। उत्तर भारत के वैष्णव समाज मे पूजा के समय उनकी प्रसिद्ध आरती (जय जगदीश हरे। स्वामी जय जगदीश हरे। भगत जनों के संकट छिन में दूर करे...) आज भी गाई जाती है।

ईसाई मत की ओर उन्मुख हो रहे कपूरथला नरेश रणधीर सिंह के संशय निवारण से इनका प्रभाव खूब बढ़ा। समय समय पर इन्हें पटियाला, कपूरथला, जम्मू तथा काँगड़ा प्रदेश के राजाओं से सम्मान और वृत्तियाँ भी प्राप्त हुई। 'असूल ए मजाहिब' तथा 'भाग्यवती' नामक उनकी रचनाएँ पुरस्कृत भी हुईं।

सं० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास; प्रो० प्रीतम सिंह (संपादित) : सिक्खाँ दे राज दी विथिआ (हिंदी पब्लिशर्ज लिमिटेड, जालंधर, सन् १९५६) [न० क०]

श्रमण जैन भिक्षु या जैन साधु को श्रमण कहते हैं, जो पूर्णतः हिंसादि का प्रत्याख्यान करता और सर्वविरत कहलाता है। श्रमण

को पाँच महाव्रतों सर्वप्राणापात, सर्वमृषावाद, सर्वअदत्तादान, सर्वमैथुन और सर्वपरिग्रह विरमण को तन, मन तथा काय से पालन करना पड़ता है। [म० मु०]

श्रमिक विधि (लेबर ला) श्रमिक विधि के अंतर्गत उन नियमों का समावेश है, जिनसे मालिक (Employer) एवं मजदूर (Employee) के बीच पारस्परिक संबंध का संचालन होता है। इस प्रसंग में 'औद्योगिक विधि' का भी बहुधा प्रयोग होता है। पर यह एक सीमित अर्थ में लिया जाता है अर्थात् औद्योगिक कारखानों से संबंधित नियमों का ही इससे संकेत मिलता है।

जब मालिक मजदूर का वास्तविक या प्रच्छन्न (Potential) संबंध स्थापित होता है, तब हम श्रमिक विधि की सीमा के अंदर आ जाते हैं। मजदूर पर मालिक का आधिपत्य इस प्रसंग में मुख्य कसौटी है। 'मजदूर', 'स्वतंत्र कंट्रैक्टर' तथा कुशल कर्मी (Skilled worker) के बीच बहुधा परस्पर अंतर परिलक्षित नहीं होता। पर इंग्लैंड के कानून के अनुसार मालिक का मजदूर पर पूर्ण आधिपत्य होना चाहिए। मजदूर किस प्रकार काम करता है, उसके काम की मात्रा क्या है, इसकी उपादेयता क्या है, इन सब पर उसका नियंत्रण हो। (दे० क्वारमैन बनाम बेनेट, १८४०, ६ एम० तथा डब्ल्यू० ४६६)

मालिक और मजदूर के बीच संबंधित काम से उत्पन्न परस्पर एक दूसरे के प्रति कानूनी बाध्यता (obligations) एवं मजदूर के कमजोर पार्टी होने के कारण उसकी समुचित रक्षा के लिये राज्य की ओर से निर्दिष्ट नियम श्रमिक विधि के सार अंश हैं। किंतु ट्रेड यूनियन; दुर्घटना, बीमारी तथा बुढ़ापा के प्रसंग में जीवन बीमा; बेकारी दूर करने तथा मजदूर के बेकार हो जाने पर उसे सहायता देनेवाली संस्थाएँ (यथा, एंप्लायमेंट एक्सचेंज, एंप्लायमेंट बीमा); मजदूरों के निष्क्रमण एवं आगमन (Emigration तथा Immigration) के कानून भी श्रमिक विधि के अंतर्गत हैं। श्रमिक विधि या कानून सर्वांग किसी देश के कानून में कोड के रूप में नहीं पाया जाता। यह देश के साधारण अलिखित कानून, विधान परिषद् एवं पार्लिमेंट द्वारा निर्मित हर प्रकार के विधेयक, तानाशाही सरकार की डिगरी (डिक्री, आज्ञप्ति) एवं असैनिक औद्योगिक, तिजारती तथा श्रमिक कोड में मिलता है।

अमरीका में सन् १८४२ तक इंग्लैंड के साधारण कानून के सिद्धांत — आपराधिक षड्यंत्र (Criminal conspiracy) — का प्रभाव रहा। किसी भी श्रमिक संघ के लिये मजदूरों पर अपनी समिति की सदस्यता के लिये अर्थनीतिक अथवा सामाजिक दबाव देना अपराध था। पर इससे ट्रेड यूनियन मूवमेंट (श्रमिक संघ आंदोलन) को प्रोत्साहन ही मिला। कोर्ट ने प्रतिग्राहकता (Receivership) के मामलों में व्यादेश (Injunction) निकालना शुरू किया। ये आदेश व्यक्तिगत अन्याय टार्ट, (Tort या civil wrong) होने पर लागू किए जा सकते थे। मजदूरों द्वारा हड़ताल किए जाने पर पूँजीपतियों को क्षति अवश्य उठानी पड़ती थी; पर यह क्षति (Tort) में मान्य नहीं थी। सन् १८८०-१९३० के मध्य संयुक्त राज्य अमरीका के भिन्न भिन्न राज्यों ने श्रमिक विधि को पास किया, जिसके द्वारा न्यूनतम मजदूरी तथा श्रम की अधिक से अधिक अवधि निर्धारित की गई। बच्चों के श्रम एवं जेल में बनी चीजों की बिक्री पर नियंत्रण हुआ। पर न्यायालय ने इस प्रकार के कानून को अवैधानिक घोषित कर दिया। पूँजीपतियों ने मजदूरों को काम देने के पहले उनसे ऐसी शर्तें लिखाना आरंभ किया कि वे श्रमिक संघ के सदस्य न होंगे। अब न्यायालय ने इसी आधार पर व्यादेश जारी करना शुरू किया। निदान नैशनल इंडस्ट्रियल रिकवरी ऐक्ट (National Industrial Recovery Act) १९३३ की धारा ७ (ए) के अनुसार श्रमिकों को यह अधिकार दिया गया कि वे अपना संघटन कर सकते हैं। राष्ट्र के श्रमिक संबंधोंवाले अधिनियम (National Labour Relations Act,) १९३५ में उक्त अधिकार की पुष्टि करते हुए कहा गया कि मजदूर मजदूरी तथा साधारण स्थिति का विकास करने के उद्देश्य से अपना संघटन कर समष्टि रूप से अपने प्रतिनिधियों के द्वारा पूँजीपतियों से वार्तालाप कर सकते हैं।

इंग्लैंड में भी श्रमिक विधि का विकास क्रमशः हुआ है। १८वीं शताब्दी में जब उस देश में औद्योगिक क्रांति शुरू हुई एवं बड़ी बड़ी फैक्टरियाँ या निर्माणशालाएँ शहरों में स्थापित होने लगीं तो श्रमिक जीविका उपार्जन के उद्देश्य से शहरों में आकर इन फैक्टरियों में काम करने लगे। पूँजीपतियों का व्यवहार बड़ा कठोर था। वे मजदूरों पर अपना आधिपत्य उसी प्रकार रखना चाहते थे, जैसा माल-मवेशी पर रखते थे। चूँकि कानून भी वे ही बनाते थे, इसलिये मजदूरों को कहीं शरण नहीं मिलती थी। निदान मजदूर जब अपनी रक्षा के लिये अपना संघटन कायम करने लगे तो उनके संघ को न्यायालय ने अवैध घोषित कर दिया। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से ही इंगलैंड में पूँजीपतियों और मजदूरों में पूर्ण रूप से संघर्ष प्रारंभ हुआ। सन् १९२३ और सन् १९३१ ई० वहाँ मजदूर दल ने संयुक्त सरकार कायम की। सन् १९४६ ई० में तो मजदूर दल ने अत्यधिक बहुमत से शासन का भार अपने हाथ में लिया तथा कानून के माध्यम से उसने ब्रिटेन को एक जनकल्याणकारी राज्य में परिणत कर दिया।

भारत में श्रमिक विधि इंगलैंड के समसामयिक श्रमिक विधान एवं अंतरराष्ट्रीय श्रम संघटन (International Labour Organisation) के द्वारा मजदूरों के हित में अनुमोदित प्रस्तावों से प्रभावित है। इस प्रसंग में फैक्टरीज ऐक्ट (ऐक्ट ६३/१९४८) एक विशिष्ट स्तंभ है। इसके पूर्व श्रम से संबंधित कानून फैक्टरीज ऐक्ट, १९३४ में लिपिबद्ध था। यह समय से बहुत पीछे था। मजदूरों की सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कल्याण की दृष्टि से इसमें बहुत सी त्रुटियाँ थीं। फिर, यह ऐक्ट एक सीमित वर्ग के मजदूरों के लिये ही लागू था। सन् १९४८ के ऐक्ट के अनुसार सभी प्रकार की फैक्टरियों में मजदूरों के स्वास्थ्य, काम की अवधि, अवकाश, प्रकाश, हवा आदि की समुचित व्यवस्था की गई है। साल भर नियमित रूप से चलनेवाली फैक्टरी तथा थोड़ी अवधि तक चलनेवाली फैक्टरी में मजदूरों की दृष्टि से जो अंतर था, उसे समाप्त कर दिया

गया है। फैक्टरियों में काम करनेवाले बच्चों की न्यूनतम अवस्था १२ से बढ़ाकर १३ कर दी गई है और उनके काम की सीमा ५ घंटे से घटाकर ४½ घंटे कर दी गई है। प्रांतीय सरकार को यह भी अधिकार दिया गया है कि अधिक खतरावाले उद्योगों में मजदूरों की न्यूनतम अवस्था और भी अधिक की जा सकती है।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संघटन (I. L. O.) संसार के विभिन्न देशों के श्रमिक कानून की सतत समीक्षा करता रहता है एवं इसमें एकरूपता लाने का प्रयास भी वह करता रहा है। सदस्य देशों के फैक्टरी मालिक, मजदूर एवं सरकारी प्रतिनिधियों का अधिवेशन जिनीवा (स्विटजरलैंड) में हुआ करता है, जिसमें मजदूरों के कल्याण से संबंधित प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं तथा विभिन्न राष्ट्रों से निवेदन किया जाता है कि वे इन्हें अपने अपने देश में कार्यान्वित करें। इस प्रकार संसार की श्रमिक विधि के विकास में काफी प्रेरणा मिली है।

सं० ग्रं० — इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग १३ (१९५९), पृ० ५३७–५५७; एस० एन० बोस : इंडियन लेबर कोड (१९५७)।

[न० कु०]

श्रवणबेलगोल यह स्थान विंध्यगिरि और चंद्रगिरि के मध्य स्थित है। विंध्यगिरि पर ७ तथा चंद्रगिरि पर १४ जैन मंदिर हैं। एक श्री बाहुबली स्वामी का मंदिर है।

श्रॉपशिर (Shropshire) ब्रिटेन की एक काउंटी है, जिसके पश्चिम में वेल्स, उत्तर में चेशिर, पूर्व में स्टैफर्डशिर, दक्षिण-पूर्व में वुस्टरशिर और दक्षिण में हेरेफर्डशिर है। इसकी जनसंख्या २,८९,८०२ (१९५१) तथा क्षेत्रफल ३,५०१ वर्ग किलोमीटर है। यह काउंटी सेवर्न नदी द्वारा उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर दो भागों में विभाजित है। नदी के उत्तर में कुछ पहाड़ियों को छोड़कर समतल मैदान है। एल्जमियर यहाँ की सबसे बड़ी झील है। सेवर्न नदी के दक्षिण में पहाड़ी धरातल है। यह काउंटी मुख्य रूप से कृषिप्रधान है। इसके अतिरिक्त दुग्ध व्यवसाय एवं पशुपालन भी क्रमशः उत्तर तथा दक्षिण में मुख्य व्यवसाय है। यह श्रॉपशिर नस्ल की भेड़ों का मूलस्थान है। कोलब्रुकडेल कोयला खान के समीप ही औद्योगिक क्षेत्र है, जहाँ इंजीनियरी उद्योग विकसित है। यहाँ प्रस्तरयुग के ब्रिटिश एवं रोमन किले तथा रोमन सड़कें विद्यमान हैं। श्रॉपशिर काउंटी से चार संसद सदस्य चुने जाते हैं। काउंटी का मुख्य नगर श्रूजबरी (Shrewsbury) है।

[स० सिं० ठ०]

श्रावक जैनियों में जो अहिंसा आदि व्रतों को संपूर्ण रूप से स्वीकार करने में असमर्थ किंतु त्यागवृत्तियुक्त, गृहस्थ मर्यादा में ही रहकर अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार इन व्रतों को अल्पांश में स्वीकार करता है, वह श्रावक कहलाता है। उपासक, अणुव्रती, देशविरत, सागार आदि श्रावक के पर्याय हैं। [अ० शु०]

श्रावस्ति या सहेत महेत स्थिति : २७° ३१′ उ० अ० तथा ८२° १′ पू० दे०। माना गया है कि श्रावस्ति के स्थान पर आज

आधुनिक सहेत महेत ग्राम है जो एक दूसरे से लगभग डेढ़ फर्लांग के अंतर पर स्थित हैं। यह बुद्धकालीन नगर था, जिसके भग्नावशेष उत्तर प्रदेश राज्य के, बहराइच एवं गोंडा जिले की सीमा पर, राप्ती नदी के दक्षिणी किनारे पर फैले हुए हैं। इन भग्नावशेषों की जाँच सन् १८६२-६३ में जेनरल कनिंघम ने की और सन् १८८४-८५ में इसकी पूर्ण खुदाई डा० डब्लू० हुइ (Dr. W. Hoey) ने की। इन भग्नावशेषों में दो स्तूप हैं जिनमें से बड़ा महेत तथा छोटा सहेत नाम से विख्यात है। इन स्तूपों के अतिरिक्त अनेक मंदिरों और भवनों के भग्नावशेष भी मिले हैं। खुदाई के दौरान अनेक उत्कीर्ण मूर्तियाँ और पक्की मिट्टी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो नमूने के रूप में प्रदेशीय संग्रहालय (लखनऊ) में रखी गई हैं। यहाँ संवत् ११७६ या १२७६ (१११९ या १२१९ ई०) का शिलालेख मिला है, जिससे पता चलता है कि बौद्ध धर्म इस काल में प्रचलित था। बौद्ध काल के साहित्य में श्रावस्ति का वर्णन अनेकानेक बार आया है और भगवान बुद्ध ने यहाँ के जेतवन में अनेक चातुर्मास व्यतीत किए थे। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर ने भी श्रावस्ति में विहार किया था। चीनी यात्री फाहियान ५वीं सदी ई० में भारत आया था। उस समय श्रावस्ति में लगभग २०० परिवार रहते थे और ७वीं सदी में जब हुएन सियांग भारत आया, उस समय तक यह नगर नष्टभ्रष्ट हो चुका था। सहेत महेत की खुदाई में प्राप्त ७ फुट ४ इंच ऊँची बोधिसत्व की एक मूर्ति पर अंकित लेख से यह निष्कर्ष निकाला गया कि बल नामक भिक्षु ने इस मूर्ति को श्रावस्ति के विहार में स्थापित किया था। इस मूर्ति के लेख के आधार पर सहेत को जेतवन माना गया। कनिंघम का अनुमान था कि जिस स्थान से उपर्युक्त मूर्ति प्राप्त हुई वहाँ कोसंबकुटी विहार था। इस कुटी के उत्तर में प्राप्त कुटी को कनिंघम ने गंधकुटी माना, जिसमें भगवान् बुद्ध वर्षावास करते थे। महेत की अनेक बार खुदाई की गई और वहाँ से महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई, जो उसे श्रावस्ति नगर सिद्ध करती है। श्रावस्ति नामांकित कई लेख सहेत महेत के भग्नावशेषों से मिले हैं।

[अ० ना० मे०]

श्री अरविंद १५ अगस्त, १८७२ को कलकत्ते में जन्म हुआ। ७ वर्ष की उम्र में ही उन्हें अपने भाइयों के साथ इंगलैंड भेज दिया गया और उन्होंने वहाँ १४ वर्ष तक शिक्षा पाई। १८९० में उन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा तो पास कर ली पर जान बूझकर घुड़सवारी की परीक्षा नहीं दी और इस तरह लोहतंत्र में आने से बच गए। लगभग सभी यूरोपीय भाषाओं और पाश्चात्य संस्कृति का गहरा अध्ययन कर १४ वर्ष बाद (१८९३ ई०) भारत लौटे और बड़ौदा महाराज के यहाँ काम करने लगे। यही उनके आत्मशिक्षण का काल था जब उन्होंने संस्कृत, बँगला आदि का अध्ययन किया और भारतीय संस्कृति को आत्मसात् किया। यहाँ से गुप्त रूप से वे राजनीतिक आंदोलन का संचालन भी करने लगे। बंग भंग के समय उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और बंगाल राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्रिंसिपल बन गए।

१९०५ से वे राजनीतिक कार्यों में सक्रिय सहयोग देने लगे। इसी काल में 'वंदे मातरम्', 'धर्म' और 'कर्मयोगिन' का संपादन किया। तत्कालीन वायसराय के सचिव ने लिखा था — 'सारी क्रांतिकारी हलचल का दिल और दिमाग यही व्यक्ति है जो ऊपर से कोई गैरकानूनी काम नहीं करता और किसी तरह कानून की पकड़ में नहीं आता।' सरकार ने 'वंदे मातरम्' के नाते इनपर अलीपुर बम कांड का मुकदमा चलाया और इन्हें लगभग साल भर तक अलीपुर जेल में नजरबंद रखा गया। यहीं पर उन्हें 'वासुदेवमिदं सर्वम्' का साक्षात्कार हुआ जिसने कुछ ही दिनों में उनके कार्य की दिशा बदल दी। वे मुकदमे में निर्दोष सिद्ध हुए और बाहर आकर फिर अपने काम में लग गए। वे दैवी आदेश पाकर १९१० में राजनीति छोड़कर पांडिचेरी में आ बैठे। पांडिचेरी से उन्होंने आर्य नामक अंग्रेजी मासिक का संपादन भी किया। उन्हें २४ नवंबर, १९२६ को सिद्धि प्राप्त हुई। क्रमश: उन्हें और श्रीमाता जी को केंद्र बनाकर एक आश्रम बनता गया।

पांडिचेरी काल में श्री अरविंद ने लोगों से मिलना बंद कर रखा था। उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के समय सार्वजनिक रूप से मित्र राष्ट्रों का समर्थन किया था, और क्रिप्स योजना स्वीकार करने की अपील की थी। उनका कहना था कि इससे भारत विभाजन से बच जायगा। १९४७ में भारत की स्वाधीनता के अवसर पर उन्होंने घोषणा की कि भारत एक और अविभाज्य है, जल्दी हो या देर में भारत फिर से एक होकर रहेगा। ५ दिसंबर, १९५० को श्री अरविंद ने शरीर त्याग दिया।

श्री अरविंद के योग तथा दर्शन को समझने के पहले कुछ आधारभूत बातों का ज्ञान लेना जरूरी है। श्री अरविंद जीवन को मिथ्या अथवा सब कष्टों का मूल नहीं मानते जिससे भागकर निर्वाण प्राप्त करना ही श्रेयस्कर हो। उनके मतानुसार समस्त विश्व और विश्वातीत एक ही चेतना के भिन्न भिन्न रूप हैं। वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा सच्चिदानंद कोषों में विज्ञानमय, अतिमानस तथा चैत्यपुरुष की भी गिनती करते हैं। उनके मतानुसार परार्ध अपने आपमें विश्वातीत होते हुए भी विश्व तत्वों में संहृत है। सत जड़तत्व में, चित प्राण में और आनंद चैत्यपुरुष में निहित है। उसी प्रकार अतिमानस या विज्ञान ने मन का रूप धारण किया है। विकासक्रम में निम्नार्ध के अविद्या, अंधकार और मिथ्या तत्व को बदलना अतिमानस का काम है। वह नीचे अवतरित होकर यहाँ असत् को सत् में, अंधकार को ज्योति में और अज्ञान को ज्ञान में बदल देगा और तब दु:ख, कष्ट और असामंजस्य का अंत हो जाएगा।

मनुष्य में यह क्षमता है कि अपने प्रयास द्वारा प्रकृति की इस गति को तेज कर सके। इस प्रयास का नाम ही योग है। श्री अरविंद ने योग की सभी प्राचीन प्रणालियों का अनुभव प्राप्त किया और उसके सार तत्व को अपने 'पूर्णयोग' में अपना लिया। इस प्रकार इनके मार्ग में ज्ञान, कर्म, भक्ति और तंत्र योगों का सामंजस्य है। पूरी सहृदयता के साथ अभीप्सा और भगवान् के प्रति सहर्ष आत्मसमर्पण इसके मुख्य अंग हैं।

समाज तथा राजनीति के क्षेत्र में श्री अरविंद व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता देने के पक्ष में हैं। प्रत्येक इकाई अपने आपमें पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते हुए भी एक समष्टि का अंग होगी और इन दोनों में किसी प्रकार का संघर्ष न होगा। संसार में एक विश्वराज्य होगा जिसमें प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक समूह स्वतंत्र रूप से भाग लेगा। कुछ देशों अथवा राष्ट्रों का स्वाभाविक प्रभाव कम या अधिक हो सकता है पर राज्य की दृष्टि में वे सब एक ही स्तर पर होंगे।

इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी श्री अरविंद की अपनी देन है। उनके अनुसार सच्ची कविता आत्मा की गहराइयों में से उठेगी और उसका रूप मंत्र जैसा होगा। उसका छंद, सृष्टिगत छंद के साथ कदम मिलाकर चलता है। उसमें असीम सीमाओं के अंदर प्रकट होता है। शब्द और वाणी के पीछे जो संगीत छिपा है वह शब्दों का चोला पहन लेता है। श्री अरविंद का महाकाव्य (सावित्री) इस प्रकार की कविता का पहला नमूना है।

श्री अरविंद ने जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा है। शारीरिक काम को वे शरीर द्वारा की गई प्रार्थना मानते हैं। इसी प्रकार वे शरीर, मन, प्राण और आत्मा चारों की शिक्षा को एक समान आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते हैं। शिक्षा का उद्देश्य अपने आपको पहचानना और अपने अंदर निहित सब शक्यताओं को खिल सकने का पूरा अवसर देना है। श्री अरविंद शिक्षाकेंद्र में इस दिशा में कुछ प्रयास किया जा रहा है। विद्यार्थी को पूर्ण स्वाधीनता देते हुए उसके विकास में सहायक होना, सबको एक साँचे में ढालने की जगह प्रत्येक को अपने अलग व्यक्तित्व को विकसित करने का अवसर देना और फिर स्वतंत्र व्यक्तियों में सामंजस्य पैदा करना इस शिक्षा का लक्ष्य है।

श्री अरविंद का आश्रम पांडिचेरी में स्थित है जिसमें भिन्न भिन्न देशों और प्रदेशों के लोग एक साथ रहते हैं। श्रीमाता जी श्री अरविंद के काम को आगे बढ़ाते हुए आश्रम का संचालन भी कर रही हैं। हजार डेढ़ हजार की बस्ती मे इतने प्रकार के विभिन्न कार्य इतने सुचारु रूप से चलते हुए शायद ही कहीं मिलें। फिर आश्रम-जीवन में कोई नियम ऊपर से नहीं लादा जाता। अंत:प्रेरणा ही से पथप्रदर्शन प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। [श्री० र०]

श्रीकंठ भट्ट (भवभूति) संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार। भवभूति ने अपने संबंध मे महावीरचरित् की प्रस्तावना में लिखा है। ये विदर्भ देश के पद्मपुर नामक स्थान के निवासी श्री भट्टगोपाल के पौत्र थे। इनके पिता का नाम नीलकंठ और माता का नाम जतुकर्णी था। इन्होंने अपना उल्लेख 'भट्टश्रीकंठ पदलांछनो भवभूतिर्नाम' से किया है। इनके गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' था। मालती माधव की पुरातन प्रति में प्राप्त 'भट्ट श्री कुमारिल शिष्येण विरचित मिदं प्रकरणम्' तथा 'भट्ट श्री कुमारिल प्रसादात्प्राप्त वाग्वैभवस्य उम्वेकाचार्यस्येयं कृति.' इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि श्रीकंठ के गुरु कुमारिल थे जिनका 'ज्ञाननिधि' भी नाम था और भवभूति ही मीमांसक उम्वेकाचार्य थे जिनका उल्लेख दर्शन ग्रंथों में प्राप्त होता है और इन्होंने कुमारिल के श्लोक वार्तिक की टीका भी की थी। संस्कृत साहित्य में महान् दार्शनिक और नाटककार होने के

माने ये अद्वितीय हैं, पांडित्य और विदग्धता का यह अनुपम योग संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है।

भवभूति के लिखे तीन नाटक प्राप्त होते हैं — १. महावीरचरित्, जिसमें रामविवाह से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा निबद्ध की गई है। कवि ने कथा में कई काल्पनिक परिवर्तन किए हैं जिनसे चिरपरिचित रामकथा में रोचकता आ गई है। यह वीररस-प्रधान नाटक है। २. मालतीमाधव, यह १० अंकों का प्रकरण है जिसमें मालती और माधव की कल्पनाप्रसूत प्रेमकथा है। युवावस्था के उन्मादक प्रेम का इसमें उत्कृष्ट वर्णन है। इसमे स्थान स्थान पर प्रकृति का विशेष वर्णनचित्र प्राप्त होता है। ३. उत्तररामचरित्, संस्कृत साहित्य में करुण रस की मार्मिक अभिव्यंजना में यह नाटक सर्वोत्कृष्ट है। इसमें सात अंकों मे राम के उत्तर जीवन को, जो अभिषेक के बाद प्रारंभ होता है, चित्रित किया गया है जिसमें सीतानिर्वासन की कथा मुख्य है। अंतर यह है कि रामायण में जहाँ इस कथा का पर्यवसान (सीता का अंतर्धान) शोकपूर्ण है, वहाँ इस नाटक की समाप्ति राम सीता के सुखद मिलन से की गई है।

भाषा और शैली के प्रयोग में इनकी विचक्षणता अद्वितीय है। सरल और क्लिष्ट, समाससंकुल गाढ़बंध और समासरहित दोनों प्रकार की शैलियों का इन्होंने उत्कृष्ट प्रयोग किया है—कहीं मधुर पदावली और कहीं विकट गाढ़बंध। साथ ही उनकी भाषा अवसर और व्यक्ति के अनुरूप होती है। उनकी शैली मे वाच्यार्थ की प्रधानता है किंतु व्यर्थ का वागाडबर नही। प्रकृति के घोर और प्रचंड रूप की ओर कवि का ध्यान अधिक है। साथ ही अर्थ के अनुरूप ध्वनि उत्पन्न करने में कवि का नैपुण्य पदे पदे व्यजित होता है।

यह एक नाटक ही कवि की प्रतिभा और पांडित्य की अभिव्यक्ति के लिये अलं है। इन्होंने कहा है — 'एको रस: करुण एव'। इस नाटक में अनेक रसों का रूप धारण करके करुण रस सहृदयों के हृदय पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। अपने नाटक में प्रेम के जिस उच्च और आदर्श रूप की कवि ने प्रतिष्ठा की है वह अवस्था के साथ ढलता नहीं, और भी पूर्ण तथा उदात्त रूप प्राप्त करता है। संभवत: यही कारण है कि कवि ने नारी के बाह्य सौंदर्य के वर्णन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है और उसके अंत.सौंदर्य को ही उद्घाटित किया है। प्रेम की इस पवित्रता के साथ विश्वास की महिमा, हृदय की महत्ता, भाषा की गंभीरता और भावों के तरंगायित क्रीड़ाविलास में यह नाटक साहित्य में 'एको रस: करुण एव' के समान एक ही है।

राजतरंगिणी के उल्लेख से इनका समय एक प्रकार से निश्चित सा है। ये कान्यकुब्ज के नरेश यशोवर्मा के सभापंडित थे, जिन्हें ललितादित्य ने पराजित किया था। गउडवहो के निर्माता वाक्पतिराज भी उसी दरबार में थे अत: इनका समय आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है।

पांडित्य और प्रतिभा के धनी भवभूति के नाटकों में शास्त्रों का व्यापक ज्ञान, भाषा की प्रौढ़ता, भाव की गरिमा और निरीक्षण की सूक्ष्मता के कारण सरसता के स्थान पर गांभीर्य और उदात्तता विशेष प्राप्त होती है। संभवत: इन कारणों से उस समय कवि की रचनाएँ अधिक लोकप्रिय न हो सकीं और उनके नाटकों का उस समय किसी राजसभा में अभिनय न हो सका। उज्जयिनी में महाकालयात्रा के अवसर पर एकत्र पुरवासियों के समक्ष ही उनके नाटकों का अभिनय हुआ और तदनंतर वे यशोवर्मा के राज्य में समादृत हुए। मालतीमाधव की प्रस्तावना में उनकी गर्वोक्ति 'ये नाम केचिदिह न: प्रथयन्त्यवज्ञाम्' संभवत: उन्हीं दुरालोचकों के प्रति है जिनसे ये निरादृत होते रहे।

शंकर दिग्विजय से ज्ञात होता है कि उम्बेक, मंडन, सुरेश्वर, एक ही व्यक्ति के नाम थे। भवभूति का एक नाम उम्बेक प्राप्त होता है अत: नाटककार भवभूति, मीमांसक उम्बेक, और अद्वैतमत में दीक्षित सुरेश्वराचार्य एक ही हैं, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

[वि० मि०]

श्रीकाकुलम १. जिला, भारत के आंध्र प्रदेश राज्य का यह जिला है जिसके पूर्व में बंगाल की खाड़ी, पूर्व-उत्तर, उत्तर तथा पश्चिम में उड़ीसा राज्य और दक्षिण में विशाखपटणम जिला है। इस जिले का क्षेत्रफल ३,६०१ वर्ग मील तथा जनसंख्या २३,४०,८७८ (१९६१) है।

२. नगर, स्थिति : १८° १४' उ० अ० तथा ८४° ४' पू० दे०। उपर्युक्त जिले के इस नगर का प्राचीन नाम चिकाकोल है और यह लंगूलिया नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। प्राचीन काल में यह कलिंग राजाओं की राजधानी था और मुस्लिम शासनकाल में भी यह उत्तरी सरकारों में से एक की राजधानी था। लंगूलिया नदी के किनारे की एक पहाड़ी पर बहुत सी लिंगमूर्तियाँ खुदी हुई हैं। यहाँ के लोग इस पर्वत को कोटिलिंगालु कहते हैं। बाजार के रास्ते पर बुहानउद्दीन औलिया का एक सुंदर मकबरा है। नगर की जनसंख्या ३५,०७१ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

श्रीचंद्रमुनि आप लुप्तप्राय उदासीन संप्रदाय के पुन: प्रवर्तक आचार्य हैं। उदासीन गुरुपरंपरा में आपका १६५ वाँ स्थान है। आपकी आविर्भावतिथि संवत १५५१ भाद्रपद शुक्ला नवमी तथा अंतर्धानतिथि संवत् १७०० श्रावण शुक्ला पंचमी है। आपके प्रमुख शिष्य श्री वालहास, अलमस्ता, पुष्पदेव, गोविंददेव, गुरुदत्त भगवद्दत्त, कर्ताराय, कमलासनादि मुनि थे। [स्वा० गो० वे०]

श्रीधर (Sridhera) आठवीं शताब्दी के भारतीय गणितज्ञ थे। इन्होंने ७५० ई० के लगभग चार प्रसिद्ध पुस्तकें, त्रिशतिका, पाटीगणित, बीजगणित और गणितसार, लिखीं। इन्होंने बीजगणित के अनेक महत्वपूर्ण आविष्कार किए। वर्गात्मक समीकरण को पूर्ण बनाकर हल करने का इनके द्वारा आविष्कृत नियम आज भी 'श्रीधर नियम' अथवा 'हिंदू नियम' के नाम से प्रचलित है।

[रा० कु०]

श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मणों के उस परिवार में से थे जो ८वीं शती में पंजाब के सिरसा ग्राम से आकर आगरा जिले के जोंधरी गाँव में बसा था जहाँ ११ जनवरी, १८५८ ई० को उनका जन्म हुआ। पिता लीलाधर बड़े भगवद्भक्त और धर्मनिष्ठ थे।

पाठक जी को आरंभ में घर पर संस्कृत की शिक्षा मिली। १०।११ वर्ष की अवस्था तक उन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो गया। इस बीच गृहकलह के कारण जोंधरी छोड़ 'सोंठि की नगरा' जाना पड़ा जहाँ उनके दिन बुरे कटे। कुछ फारसी पढ़कर फिर 'हिंदी प्रवेशिका' (१८७५ ई०), 'अंग्रेजी मिडिल' (१८७६ ई०) और 'एंट्रेंस' (१८८०-८१ ई०) की परीक्षाएँ ससम्मान उत्तीर्ण कीं। एफ० ए० और कानून का भी अध्ययन किया परंतु एकाधिक कारणों से वे परीक्षा न दे पाए। तदनंतर उनके जीवन का अधिकांश राजकीय सेवा में बीता। कलकत्ते के सेंसस कमिश्नर, लाट साहब तथा केंद्रीय सरकार के कार्यालयों में उन्होंने बहुत दिनों तक काम किया। बाद में नौकरी से अवकाश पाकर लूकरगंज (प्रयाग) में 'पद्मकोट' संज्ञक रमणीय भवन बनवाकर रहने लगे। हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी पर उनका समान अधिकार था। वे प्रकृतिप्रेमी, सरल, उदार, नम्र, सहृदय, स्वच्छंद तथा विनोदी थे। वे हिंदी साहित्यसंमेलन के पाँचवें अधिवेशन (१९१५, लखनऊ) के सभापति हुए और 'कविभूषण' की उपाधि से विभूषित भी। पिछले दिनों वे असाध्य श्वासरोग से दुष्पीड़ित रहे। शरीरपात १३ सितंबर, १९२८ ई० को हुआ।

रचनाएँ — मनोविनोद, बाल भूगोल, एकांतवासी योगी, जगत सचाई सार, ऊजड़ग्राम, श्रांत पथिक, काश्मीरसुषमा, आराध्य शोकांजलि, जार्ज वंदना, भक्ति विभा, श्री गोखले प्रशस्ति, श्री गोखले गुणाष्टक, देहरादून, श्रीगोपिकागीत, भारतगीत, तिलस्माती मुँदरी और विभिन्न स्फुट निबंध तथा पत्रादि।

पाठक जी मौलिक उद्भावनाओं के कवि हैं। विषय और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आधुनिक हिंदी काव्य को एक नया मोड़ देने के कारण उन्हें स्वच्छंद भावधारा का सच्चा प्रवर्तक ठहराया गया। उन्होंने काव्य को अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छंद, वैयक्तिक और यथार्थभरी दृष्टि से देखने का सफल प्रयास किया जिससे आगामी छायावादी भावभूमि को बड़ा बल मिला और पूर्वागत परंपरित रूढ़ काव्यढाँचा टूट गया। सफल काव्यानुवादों द्वारा उन्होंने हिंदी को नई दृष्टि देने का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में रचनाएँ कीं तथापि समर्थक वे खड़ीबोली के ही थे। थोड़े में, उनके काव्य की विशेषताएँ हैं — सहज प्रकृति-चित्रण, वैयक्तिक अनुभूति, राष्ट्रीयता, नए छंदों, लयों और बंदिशों की खोज, विषयप्रधान दृष्टि, नवीन भावप्रकाशन की क्षमता से भरकर नवीन भाषाप्रयोग, प्राच्य और पाश्चात्य तथा पुराने और नए का समन्वय।

सं० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास', ना० प्र० सभा, वाराणसी; रामचंद्र मिश्र : 'श्रीधर पाठक तथा हिंदी का पूर्वस्वच्छंदतावादी काव्य', डॉ० श्यामसुंदर दास — हिंदी कोविद रत्नमाला।

[रा० फे० त्रि०]

श्रीधर वेंकटेश केतकर (१८८४-१९३७) मराठी विश्वकोश (ज्ञानकोश) के सुविख्यात संपादक। उनकी प्रारंभिक शिक्षा बड़े अनियमित ढग से चली। विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में उन्होंने अच्छी रुचि दिखलाई और साहित्य संबंधी अनेक क्रियाकलापों में उत्साहपूर्वक दिलचस्पी ली, फिर भी वे यहाँ विश्वविद्यालय की कोई उपाधि प्राप्त न कर सके। सन् १९०६ में वे अमरीका चले गए। कॉर्नेल विश्वविद्यालय में पाँच वर्ष बिताने के बाद १९११ में उन्होंने पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। उनके शोध-प्रबंध का शीर्षक था 'भारत में जातियों का इतिहास'। इसमें उन्होंने मनुस्मृति में परिलक्षित सामाजिक स्थितियों का विवेचनात्मक विश्लेषण किया (मनुस्मृति का रचनाकाल उन्होंने २२७ से ३२० ई० के बीच में माना है)। इसके परिशिष्ट रूप में दिए गए लेख 'जाति और मानव-जाति-विज्ञान' में उन्होंने 'वर्ण' तथा 'जाति' के मौलिक भेद पर बल दिया। अमरीका में उन्होंने अपना समय विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में बिताया जो उनके जीवन के मुख्य ग्रंथ मराठी ज्ञान कोश के निर्माण में सहायक हुआ। लौटते समय एक वर्ष तक वे लंदन में रुके और वहाँ भी सामाजिक विषयों संबंधी अध्ययन एवं गवेषणा कार्य जारी रखा। यहीं उन्होंने जातियों के इतिहास का दूसरा खंड 'हिंदुत्व पर निबंध' नाम से प्रकाशित किया।

भारत आने के बाद केतकर ने कुछ वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र पढ़ाने में व्यतीत किए। इसी समय उन्होंने दो अन्य ग्रंथ प्रकाशित किए — भारतीय अर्थशास्त्र तथा हिंदु विधि (कानून)। जनवरी, १९१६ में ही वस्तुतः उन्होंने मराठी ज्ञानकोश के महान् साहित्यिक अनुष्ठान का औपचारिक रूप से आरंभ किया। उन्हें इसे पाँच वर्ष में प्रकाशित करने की आशा थी किंतु वास्तव में केवल पहला खंड ही सन् १९२१ में निकल सका और इक्कीसवाँ खंड (अनुक्रमणिका) १९२९ में प्रकाशित हुआ। १९१६ से १९२९ तक का १३-१४ वर्ष का समय केतकर के लिये असाधारण दौड़ धूपवाली सक्रियता का था, क्योंकि उन्हें एक साथ ही ज्ञानकोश के संपादक, व्यवस्थापक, मुद्रक, प्रकाशक, यहाँ तक कि स्थान स्थान पर जाकर उसके ग्राहक बनाने का भी कार्य करना पड़ता था। पूर्ण संलग्नता चाहनेवाले इस काम के साथ साथ, और उसके समाप्त हो जाने के बाद भी, वे अन्यान्य कार्यों में — साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक — बराबर जुटे रहते थे। वे एक दैनिक समाचारपत्र तथा एक साहित्य पत्रिका का संपादन करते थे और उपन्यास, राजनीतिक पुस्तिकाएँ तथा समाजविज्ञान संबंधी निबंध लिखा करते थे। इसके अतिरिक्त वे अपनी भावी पुस्तक 'प्राचीन महाराष्ट्र का इतिहास' के संबंध में बहुत सा गवेषणा कार्य भी करते रहते थे। किंतु यह बात हमें मान ही लेनी पड़ती है कि सन् १९३० के बाद की उनकी रचनाएँ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि पहले के कुशल लेखक की मानसिक ग्रहणशीलता में कमी आ गई है।

सन् १९२० में केतकर ने एक जर्मन महिला, एडिथ कोहन से विवाह किया, जो व्रात्यस्तोम के द्वारा हिंदु धर्म में दीक्षित कर ली गई थी। इसी महिला ने विंटरनित्स द्वारा लिखित 'भारतीय साहित्य का इतिहास' का अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया। उनके जीवन को स्थिरता प्रदान करने में इस विवाह से बड़ी सहायता मिली।

[आर० एन० डां०]

श्रीनगर १. जिला, यह भारत के जम्मू एवं कश्मीर राज्य का जिला है जिसका क्षेत्रफल ३,१२०·७५ वर्ग किमी० तथा जनसंख्या ६,४०,४११ (१९६१) है। इसके उत्तर में बारमूला, उत्तरपूर्व में लद्दाख, दक्षिण-पूर्व एवं दक्षिण में अनंतनाग तथा पश्चिम में पुंछ जिले स्थित हैं। जिले में नाशपाती, अखरोट, केसर आदि उत्पन्न किए जाते हैं और शहद इकट्ठा किया जाता है।

२. नगर, स्थिति : ३४° ६०' उ० अ० तथा ७१° ५१' पू० दे०। यह श्रीनगर जिले में स्थित जम्मू एवं कश्मीर राज्य की राजधानी है, जो श्रीनगर घाटी में, झेलम नदी के दोनों किनारों पर, दो मील की लंबाई में एवं सागर तल से लगभग ५,२५० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। शहर के दोनों भाग लकड़ी के लगभग आठ पुलों द्वारा आपस में संबद्ध हैं। यह नगर अपनी नैसर्गिक छटा, प्राकृतिक झरनों, डल झील तथा शालीमार, निशात आदि रमणीक उद्यानों के कारण प्रसिद्ध शैलावास (hill station) बन गया है। आग तथा बाढ़ के कारण नगर को कई बार क्षति भी उठानी पड़ी है। यहाँ शाल, कालीन एवं रेशमी कपड़ा बनाने, चाँदी तथा ताँबे का काम, लकड़ी पर नक्काशी, चमड़ा एवं कागज उद्योग और गुलाबों से इत्र निकालने का काम होता है। नगर की कुल जनसंख्या २,९५,०८४ (१९६१) है।

[शां० ला० का०]

पौराणिक, धार्मिक महत्व — कश्मीर की वर्तमान राजधानी। इसके निकट पोंड़ी में अष्टावक्र मुनि ने तपस्या की थी। पुराणों के अनुसार यहाँ अग्नि ने शिव की तपस्या करके उन्हें प्रसन्न किया था। श्रीनगर में गुंबदयुक्त बारहदरी के अंदर कमलेश्वर का मंदिर है। कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी को यहाँ मेला लगता है। इसके अतिरिक्त श्रीनगर में नागेश्वर, अष्टावक्र महादेव और राजराजेश्वरी के मंदिर हैं।

श्रीनगर (गढ़वाल) स्थिति : ३०° १३' उ० अ० तथा ७८° ४६' पू० दे०। यह आधुनिक ऋषिकेश बद्रीनाथ यात्रामार्ग पर स्थित सबसे बड़ा नगर है। यह विस्तृत एवं आकर्षक उपत्यका में समुद्र तल से १,७०६ फुट की उँचाई पर अलकनंदा के तट पर स्थित है तथा वर्तमान गढ़वाल जिले का प्रसिद्ध स्थल है। यहाँ बालक बालिकाओं की शिक्षा हेतु राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, तकनीकी शिक्षा के कई विद्यालय तथा एक राजकीय स्नातक महाविद्यालय भी है। नगर की जनसंख्या ३,०३१ (१९६१) है।

प्राचीन काल में इसे गढ़वाल नरेशों की राजधानी रहने का श्रेय प्राप्त रहा है। पुराणों, अंग्रेज प्रशासकों द्वारा लिखित विवरणिकाओं तथा किंवदंतियों एवं जनश्रुतियों में इसका इतिहास बिखरा पड़ा है।

ऐतिहासिक श्रीनगर की स्थापना १३७५ ई० के आसपास गढ़वाल के द्वितीय प्रसिद्ध शासक महाराज अजयपाल के समय में हुई। उन्होंने यहाँ विपणि तथा प्रासाद का निर्माण किया। इस संबंध में किंवदंती है कि एक दिन मृगया में संलग्न वे उस भूमि में पहुँचे जहाँ अनेक भग्नावशेष थे। वहाँ उनके मृगवंश को शशक ने मार दिया। रात्रि में उन्हें स्वप्न हुआ, "यह परम सिद्ध स्थान है। यहाँ अलकनंदा के मध्य में एक शिला पर श्रीयंत्र है, जिससे इसका नाम श्रीक्षेत्र है। उसी के प्रभाव से एक निर्बल शशक ने मृगदंश को मार डाला। तेरे लिये यह अनिष्टसूचक नहीं है। तू इस स्थान में अपनी राजधानी स्थापित कर तथा नित्य प्रति मेरे यंत्र का पूजन अर्चन करता रह। तेरी सब बातें सिद्ध होंगी।" इस आदेश के अनुसार उन्होंने अपनी राजधानी यहाँ बसाई। श्रीनगर के संबंध में जनश्रुति है कि वह ग्यारह बार बसाया गया और उजड़ा।

महाकवि भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का क्रीडास्थल यहीं था तथा संभवत: इस महाकाव्य की रचना यही अलकनंदातट पर हुई थी। विभिन्न मतों की समीक्षा से प्रतीत होता है कि ह्वेन सांग के यात्रावृत्तांत में वर्णित ब्रह्मपुर (पो-बो-ली-ही-मो-पु लो) श्रीनगर ही है। चीनी यात्री ६३४ ई० के लगभग यहाँ आया था। स्थापना के काल से लेकर गोरखा आक्रमण तक श्रीनगर को गढ़वाल नरेशों की राजधानी रहने का सौभाग्य रहा और निरंतर उसके सौंदर्य तथा ऐश्वर्य की वृद्धि हुई। १८२८ के 'एशियाटिक रिसर्चेज' के सोलहवें खंड में कुमायूँ प्रांत पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखते हुए श्री ट्रेल ने श्रीनगर के प्रासाद के स्थापत्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। स्वामी विवेकानंद की शिष्या भगिनी निवेदिता को उत्तराखंड की यात्रा के समय श्रीनगर के मंदिरों के स्थापत्य को देख आश्चर्य हुआ था। राज्यश्री की समाप्ति के साथ १८९४ ई० मे बिरही गंगा की बाढ़ में प्राचीन प्रासाद तथा विपण (बाजार) बह गए। वर्तमान श्रीनगर इस बाढ़ के उपरांत बसा है।

गढ़वाल राज्य के प्रथम शासक महाराज कनकपाल थे। जैसा प्राप्त सामग्री के आधार पर ज्ञात है, वे ८८८ ई० मे सिंहासनारूढ़ हुए। उनकी सैंतीसवीं पीढ़ी में महाराज अजयपाल हुए। इन्हीं के समय में ऐतिहासिक श्रीनगर की स्थापना हुई। महाराज अजयपाल के पश्चात् महाराज बलभद्रपाल हुए। उन्हें दिल्ली के सम्राट् से शाह की उपाधि मिली (१४९६ ई०)। तभी से यह उपाधि गढ़वाल नरेशों के नाम के साथ चली आ रही है। महाराज बलभद्र शाह के पश्चात् प्रसिद्ध गढ़वा नरेशों में महाराज फतेहशाह, महाराज प्रदीपशाह, महाराज प्रद्युम्नशाह तथा महाराज सुदर्शनशाह के नाम उल्लेखनीय हैं। महाराज फतेहशाह के समय मे कुमायूँ राज्य से अनवरत युद्ध हुए। गढ़वाल के नानाफड़नवीस श्रीपुरिया नैथाणी ने बड़ी चतुरता से श्रीनगर की रक्षा की। अल्पवयस्क महाराज प्रदीपशाह के समय में कठिन उपद्रवों से श्रीनगर की रक्षा का श्रेय भी श्रीपुरिया नैथाणी को ही है। महाराज प्रद्युम्नशाह के समय में गोरखा आक्रमण हुए। प्रथम आक्रमण के फलस्वरूप गोरखा राजदूत श्रीनगर दरबार में रहने लगा (१७९० ई०)। द्वितीय आक्रमण (१८०३ ई०) में महाराज प्रद्युम्नशाह वीरगति को प्राप्त हुए तथा गढ़वाल पर गोरखों का अधिकार हो गया। गोरखा शासनकाल में प्रजा को बड़ा कष्ट हुआ। गोरखा युद्ध के फलस्वरूप अलकनंदा तथा मंदाकिनी से पूर्व का गढ़वाल अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया (१८१५ ई०)। शेष गढ़वाल टिहरी गढ़वाल के नाम से महाराज सुदर्शन शाह को दे दिया गया। टिहरी गढ़वाल राज्य के अन्य नरेश महाराज कीर्तिशाह, महाराज नरेंद्रशाह तथा महाराज मानवेंद्रशाह हुए। १ अगस्त, १९४९ को टिहरी राज्य का भारत में विलीनीकरण हो गया।

श्रीनगर का सांस्कृतिक इतिहास कम गौरवपूर्ण तथा आकर्षक नहीं है। श्रीनगर तथा श्रीनगर दरबार को सदा साहित्यकों, कलाकारों तथा पंडितों एवं विद्वानों की क्रीड़ास्थली रहने का सौभाग्य रहा है। महाराज फतेहशाह साहित्य तथा संगीत के प्रेमी एवं कलामर्मज्ञ थे। इनकी राजसभा में दूर दूर के कवि आते रहते थे। प्रसिद्ध कवि रत्नाकर त्रिपाठी तथा भूषण इनकी राजसभा में पधारे थे। गढ़वाली चित्रांकन शैली के सर्वप्रमुख आचार्य, सुकवि तथा इतिहास-लेखक श्री मोलाराम श्रीनगर दरबार की विभूति थे। [र० उ०]

श्रीनिवासाचार्य इनके पिता का नाम गंगाधर भट्टाचार्य उपनाम चैतन्यदास था। सं० १५७६ में वैशाखी पूर्णिमा को इनका जन्म हुआ था। श्री जीव गोस्वामी के यहाँ श्यामानंद जी तथा नरोत्तमदास ठाकुर के साथ भक्ति के ग्रंथों का बहुत दिनों तक अध्ययन किया। श्री जीव के आदेश से भक्तिग्रंथों की प्रतिलिपियाँ लेकर ये तीनों सं० १६३९ में बंगाल तथा उत्कल में धर्मप्रचार करने चले। विष्णुपुर में डाकुओं ने धन समझकर ग्रंथों के संदूक लूट लिए। वहाँ का राजकुमार इनकी भक्ति तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर इनका शिष्य हो गया और उसने ग्रंथों को ढूंढ़ निकाला। उत्तर तथा पश्चिम बंगाल में इस धर्म के प्रचार का श्रेय इन्हें तथा नरोत्तमदास ठाकुर ही को है। इनकी मृत्यु सं० १६६४ में हुई। [व्र० र० दा०]

श्रीपाद कृष्णा बेलवेलकर का जन्म सन् १८८० में हुआ। बचपन में सारी शिक्षा दीक्षा राजाराम हॉयर स्कूल और कालेज, कोल्हापुर तथा डेक्कन कॉलेज, पूना, में हुई। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण परीक्षाओं में उत्तम स्थान प्राप्त करते रहे। सन् १९०२ में बी० ए० उत्तीर्ण हुए तथा भाषा, इतिहास, अर्थशास्त्र और दर्शन में क्रमश: १९०४, १९०५ और १९१० में एम० ए० की परीक्षाएँ उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण की इसके बाद हार्वर्ड विश्वविद्यालय में डॉ० लनमन के निर्देशन में उच्च अनुसंधान का कार्य कर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। अमरीका जाने के पूर्व डेक्कन कॉलेज में हस्तलिखित पोथियों के संग्रह के क्यूरेटर के रूप में सन् १९०७ से सन् १९१२ तक कार्य करते रहे। इसके कैटलाग का प्रथम खंड प्रकाशित करने के लिये प्रेस में दे दिया। इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा के भिन्न भिन्न व्याकरणों (Systems of Sanskrit Grammar) पर एक निबंध लिखकर 'मंडलीक सुवर्ण पदक' पारितोषिक के रूप में प्राप्त किया। अमरीका से लौटने पर डेक्कन कॉलेज में ही संस्कृत के प्राध्यापक बन गए। सन् १९१५ में सरकारी अधिकारियों के प्रयत्नों से यह कॉलेज बंद कर दिया गया। उसके बंद हो जाने तक के काल में संस्कृत के अध्यापक के रूप में वहीं पर बने रहे। डेक्कन कॉलेज के विद्यार्थियों के सुसंगठित प्रयत्नों से तथा डॉ० मुकुंदराव जयकर के उद्योग से डेक्कन कॉलेज की पुन: स्थापना हुई। सेवानिवृत्ति के पूर्व कुछ दिनों तक अहमदाबाद के गुजरात कॉलेज में भी संस्कृत प्राध्यापक के नाते तीन वर्ष तक कार्य किया।

उनके द्वारा लिखित तथा प्रकाशित उनकी निम्नलिखित पुस्तकें प्रसिद्ध हैं : (१) Systems of Sanskrit Grammar, (२) भवभूति के 'उत्तर रामचरितम्' का संपादन और अनुवाद Translation and critical edition of Uttar Ramacharitam (३) साहित्य अकादमी के लिये कालिदास का 'शाकुंतलम्', (४) English Translation of Kavyadarsha, (५) भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र भाष्य का सटिप्पण संस्करण, (६) भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, खंड २ से ७। इसे आपने डॉ० आर० डी० रानडे के सहयोग से तैयार किया। (७) बसु और मलिक व्याख्यान वेदांत दर्शन पर, (८) Papers on Various aspects of Indology in Oriental Journals of India and outside.

अमरीका से लौटने पर भांडारकर प्राच्य विद्या अनुसंधान की स्थापना में उन्होंने प्रमुख रूप से योगदान दिया। इस संस्था का उद्घाटन समारोह जुलाई, सन् १९१७ में हुआ। स्थापना के बाद छह वर्षों तक आनरेरी सेक्रेटरी के पद को विभूषित किया। उसकी कार्यकारिणी समिति के तो वे ही निरंतर सदस्य होते रहे। पूना के संस्कृत कॉलेज की स्थापना में भी आपका हाथ रहा है और उसके कार्यों से भी आपका निकटवर्ती संबंध रहा है। सन् १९१२ की ६ जुलाई की बैठक में भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट के तत्वावधान में महाभारत का criticai edition निकालने की योजना बनी और अप्रैल, १९१९ में यह कार्य प्रारंभ किया गया। इस कार्य में प्रधान संपादक के नाते १९४३ से १९६१ तक बेलवेलकर जी ने सुचारु रूप से कार्य संपन्न किया तथा भीष्म पर्व, शांति पर्व, आश्रम वासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण पर्वों के आप संपादक भी रहे। इनके सिवा प्रत्येक खंड के संपादन कार्य में बेलवेलकर जी का मार्गदर्शन मिलता रहा है।

अखिल भारतीय ओरिएंटल कानफरेंस का प्रथम अधिवेशन सन् १९१९ में हुआ था। इसमें संमिलित होकर प्रारंभ से ही हर अधिवेशन में आपने कार्य सपन्न किया। कई वर्षों तक इस संस्था के सेक्रेटरी भी बने रहे। सन् १९४३ में बनारस में जब इसका वार्षिक अधिवेशन हुआ तब आप उसके सभापति बनाए गए।

अनुसंधान और लेखन को अपने जीवन का प्रधान व्यवसाय मानकर वे कार्य करते रहे। कई महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथों का आलोचनात्मक संपादन, अनुवाद तथा उपनिषद्, वेद, सांख्य, भगवद्गीता, वेदांतसूत्र आदि विषयों पर खोजपूर्ण स्वतंत्र निबंध (करीब करीब ४०-५० की संख्या में) प्रकाशित किए। इससे प्राच्यविशारदों में भारत के बाहर भी उनकी कीर्तिपताका फहराने लगी। २२ सितंबर, १९६६ के दिन राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन के द्वारा महाभारत के संपादन कार्य की पूर्णाहुति सुसंपन्न की गई। तब वयोवृद्ध श्री बेलवेलकर जी का भी रौप्य करंडक देकर अन्य विद्वान् और शास्त्रियों के साथ संमान किया गया।

[एन० सी० जो०]

श्रीरंगम स्थिति : १०° ५२' उ० अ० तथा ७८° ४२' पू० दे०। यह भारत के तमिलनाडु राज्य के त्रिरुच्चिराप्पल्लि जिले का नगर है जिसकी जनसंख्या ४१,९४९ (१९६१) है। यह कावेरी की शाखाओं और कोल्लिटम के मध्य एक द्वीप पर स्थित है। मद्रास और त्रिरुच्चिराप्पल्लि नगर को जोड़नेवाली सीधी सड़क यहीं से जाती है।

यहाँ रेलवे स्टेशन भी है। नगर मुख्यत: धार्मिक नगर है। यहाँ का विष्णुमंदिर अपनी विशालता, वास्तु और मूर्तिकला के लिये प्रसिद्ध है। नगर के समीप ही जंबुकेश्वरम नामक अन्य प्रसिद्ध मंदिर है।

[प्र० व०]

इतिहास — भगवान् राम और श्री बलदेव इस स्थान पर पधारे थे। विख्यात दार्शनिक स्वामी रामानुजाचार्य ने श्रीरंगम में रहकर अपने मत का प्रचार किया था, और यहीं उनकी मृत्यु हुई।

यहाँ के विशाल श्रीरंगम मंदिर (२,६०० फुट लंबे, और २,५०० फुट चौड़े) का निर्माण १७वीं, १८वीं शताब्दी में हुआ। दूसरा मंदिर जंबुकेश्वरम का है। शिल्प और मनोज्ञता में इसका स्थान भी विशिष्ट है।

श्रीरामपुर १. हुगली जिले का दक्षिण-पूर्वी उपडिवीजन है। यहाँ समतल मैदान विस्तृत क्षेत्र में मिलता है, इसलिये जनसंख्या का घनत्व अधिक है। इसके अंतर्गत श्रीरामपुर, उत्तरपाड़ा, वैद्यावती, भद्रेश्वर तथा कोटरांग प्रमुख नगर हैं। ये सभी हुगली नदी के किनारे बसे हैं तथा उद्योगों के केंद्र हैं। तारकेश्वर का प्रसिद्ध मंदिर भी यहीं है।

२. नगर, स्थिति : २२° ४५′ उ० अ० तथा ८८° २१′ पू० दे०। श्रीरामपुर नगर उपर्युक्त उपडिवीजन का प्रशासनिक केंद्र है। यह बैरकपुर के सामने हुगली नदी के किनारे पर स्थित है। यहाँ कई बड़े कारखाने हैं। नगर की जनसंख्या ९१,५२१ (१९६१) है।

[ज० सिं०]

श्रीलंका (Ceylon) हिंद महासागर में स्थित, भारत से मनार की खाड़ी तथा पाक जलडमरूमध्य द्वारा पृथक्, एक बड़ा द्वीप है। इसकी अधिकतम लंबाई २७० मील (उत्तर से दक्षिण), चौड़ाई १४० मील (पूरब से पश्चिम) तथा क्षेत्रफल २५,३३२ वर्ग मील है।

यह प्राचीन द्वीप ब्राह्मण साहित्य में लंका, ग्रीक और रोमवासियों में तप्रोवेन, समुद्री व्यापारियों मे सेरन द्वीप (सिंहल द्वीप का अपभ्रंश) तथा पुर्तगालवासियों में जेलन (अब सीलोन) के नाम से विख्यात था। रत्नद्वीप के नाम से भी यह विख्यात था। भारतीय महाकाव्य रामायण में महाकाव्य के नायक श्रीराम द्वारा लंका विजय का विशद वर्णन है।

द्वीप का क्रमबद्ध इतिहास राजा विजय के शासनकाल से प्रारंभ होता है। राजा का पदार्पण उत्तर-पूर्व भारत से ईसा के ४८३ वर्ष पूर्व हुआ और तब से १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ तक यहाँ राजतंत्र रहा। १५०५ ई० में दक्षिण और पश्चिम भाग में पुर्तगालियों ने अपना उपनिवेश स्थापित किया। १७वीं शताब्दी के मध्य में इसपर डच लोगों का अधिकार हो गया। पर १७९६ ई० में अंग्रेजों ने डचों को हराकर इसपर अधिकार कर लिया। इस प्र ार १८०२ ई० में यह ब्रिटिश उपनिवेश का एक अंग बन गया। १८१४ ई० से १९४८ ई० तक ब्रिटिश शासनांतर्गत रहने के बाद ४ फरवरी, १९४८ ई० को लंका स्वतंत्र हुआ तथा जुलाई, १९५६ में गणतंत्र बना। यह कॉमनवेल्थ का सदस्य भी है।

श्रीलंका के मध्य में ४,२१२ वर्ग मील में फैला एक पर्वतपिंड है जिसके चारों ओर समतल मैदान है। समुद्रतट से पर्वतपिंड की दूरी ४५ से ७० मील है। इसकी मुख्य चोटी पिदुरुतलागला ८,२९६ फुट ऊँची है। तोतापेला (७,७४० फुट) तथा आदम (७,३५२ फुट) अन्य प्रमुख चोटियाँ हैं। नुवारा एलिया, यहाँ का मुख्य स्वास्थ्यवर्धक केंद्र है, जो ६,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। बादुला, बंदाराबेला, दियातालावा, हैटन और कैंडी अन्य स्वास्थ्यवर्धक केंद्र हैं।

नदियाँ — यहाँ की सभी नदियाँ दक्षिण के पहाड़ी भाग से निकलती हैं। २०६ मील लंबी प्रसिद्ध महावेली गंगा पश्चिमी ढाल से बहती हुई पूरब में ट्रिंकोमाली के निकट समुद्र से मिलती है। अन्य प्रमुख नदियाँ कालुगंगा और केलानीगंगा हैं जो पश्चिम में क्रमश: कालुबारा और कोलंबो के पास समुद्र से मिलती हैं। यहाँ की सभी नदियाँ छोटी पर नौगम्य तथा सिंचाई की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

भूगर्भ और खनिज — यहाँ की भूमि कड़े रवादार चट्टानों से निर्मित है। मध्यभाग में खोंडालाइट चट्टान की पट्टी है जिसमें ग्रेफाइट और रवादार चूना पाया जाता है। उत्तर और दक्षिण पूर्व में "विजयनक्रम" की नाइस चट्टानें वर्तमान है। उत्तरी भाग में अल्पनूतन युग (Miocene) का चूना पत्थर पाया जाता है। खोंडालाइट के उत्तर में अत्यंत-नूतन-युग (Pleistocene) की चट्टानों की पट्टी है। पूर्वी और पश्चिमी तट पर आधुनिक जमाव का विशृंखलित क्रम है। नदियों के कंकड़ों में कीमती पत्थर मिलते है, जिनमें नीलम मुख्य है।

जलवायु — विषुवत् रेखा के निकट स्थित यह गरम और मानसूनी देश है। गरमी में दक्षिण-पश्चिमी मानसून के प्रभाव के फलस्वरूप दक्षिणी और पश्चिमी भागों में वर्षा होती है। जाड़े में उत्तर-पश्चिमी मानसूनी हवा से सारे देश में साधारण वर्षा हो जाती है। इस तरह यहाँ की औसत वर्षा ५० इंच है। पर पहाड़ी भागों में २०० इंच तक वर्षा होती है। मैदानी भागों में औसत ताप २७° सें० रहता है जबकि पहाड़ी प्रदेशों में १५° सें०। यहाँ (कोलंबो) का मानक समय ग्रीनिच समय से ५ घंटा १९ मिनट २३ सेकंड आगे है।

वनस्पति — श्रीलंका के दक्षिण पश्चिम के वर्षावाले क्षेत्रों में सदाबहार वन हैं। विषुवतीय वन की तरह यहाँ ऊँचे पेड़ हैं जिनमें गटापार्चा, सिनकोना और रबर के वृक्ष मुख्य हैं। पहाड़ी भागों के वृक्षों के कद छोटे हैं। अधिक ऊँचाई पर कोणधारी वन पाए जाते हैं। आबनूस, सेटिनउड तथा झाड़ीदार वृक्ष शुष्क पतझड़ वन की विशेषता हैं। दक्षिणी और पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रों में नारियल के सघन क्षेत्र हैं।

जीवजंतु — घने जंगलों में स्थानीय उपजाति के हाथी पाए जाते हैं। पालतू तथा जंगली भैंसों के अलावा हिरन की चार, बंदरों की पाँच, मगर की दो तथा साँपों की पाँच जातियाँ पाई जाती हैं। विषधर साँपों में कोबरा और वाइपर मिलते हैं। घने जंगलों में चीते मिलते हैं। यहाँ ३७२ प्रकार के पक्षियों के होने का ज्ञान है जिनमें से १२० जाति के पक्षी ठंडे दिनों में एशिया के देशों से यहाँ चले आते हैं।

कृषि — यहाँ कृषि तथा चरागाह के अंतर्गत क्रमशः ३७ और

४.५६ लाख एकड़ भूमि है। धान की खेती अधिक भूमि पर होते हुए भी देश इसमें स्वावलंबी नहीं है। रबर उत्पादन में इसका स्थान मलाया और हिंदचीन के बाद है। चाय उत्पादन में इसका तीसरा स्थान है। इलायची, कोको, तंबाकू और कपास अन्य प्रमुख फसलें हैं। फलों में आम, केला, नाशपाती, नारंगी, अनार और काजू भी होते हैं।

उद्योग धंधे — श्रीलंका हाथकरघा उद्योग, चटाइयों, टोकरियों, काँच की चूड़ियों, लकड़ी तथा हाथीदाँत की चीजों, चाँदी, एवं पीतल के बरतनों आदि के कुटीर उद्योगों के लिये विख्यात है। बड़े उद्योगों में सूती वस्त्र, सीमेंट, काँच और चमड़े के कारखाने स्थापित किए गए हैं। तटवर्ती क्षेत्रों का मुख्य धंधा मछली पकड़ना है जिनमें यंत्रचालित नौकाओं का व्यवहार होता है। पकड़ी जानेवाली मछलियों में बानिटो, टूना, स्पाइनल, मैकेल, ट्राउट, शॉर्क, क्वीनफिश, कैटफिश इत्यादि मुख्य हैं।

जनसंख्या – यहाँ की कुल जनसंख्या १,०६,२४,००० (१९६३) है। कोलंबो यहाँ की राजधानी, बंदरगाह एवं प्रमुख औद्योगिक तथा शिक्षाकेंद्र है। कोलंबो की जनसंख्या ५,१५,३०० (१९६३), जैफना की जनसंख्या ८६,८०० (१९६३), कैंडी की जनसंख्या ७२,००० (१९६३) तथा गाल की जनसंख्या ६७,५०० (१९६३) है।

धर्म — यहाँ बौद्ध धर्म की प्रधानता है जिसका प्रचार ईसा के ३०० वर्ष पूर्व हुआ था।

शिक्षा — यहाँ निःशुल्क शिक्षा प्रणाली है। ६ से १४ वर्ष के बच्चों के लिये स्कूल शिक्षा अनिवार्य है। सीलोन विश्वविद्यालय की स्थापना १९२१ ई० में हुई है, जहाँ कला, विज्ञान, औषध, नियम, इंजीनियरी व्यवसाय, कृषि एवं पशुचिकित्सा की शिक्षा का प्रबंध है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी, सिंहली या तमिल है।

यातायात — १९५८ ई० में रेलमार्ग की लंबाई ८९८ मील थी। हवाई मार्ग स्थानीय एवं विदेश के मुख्य शहरों को मिलाता है।

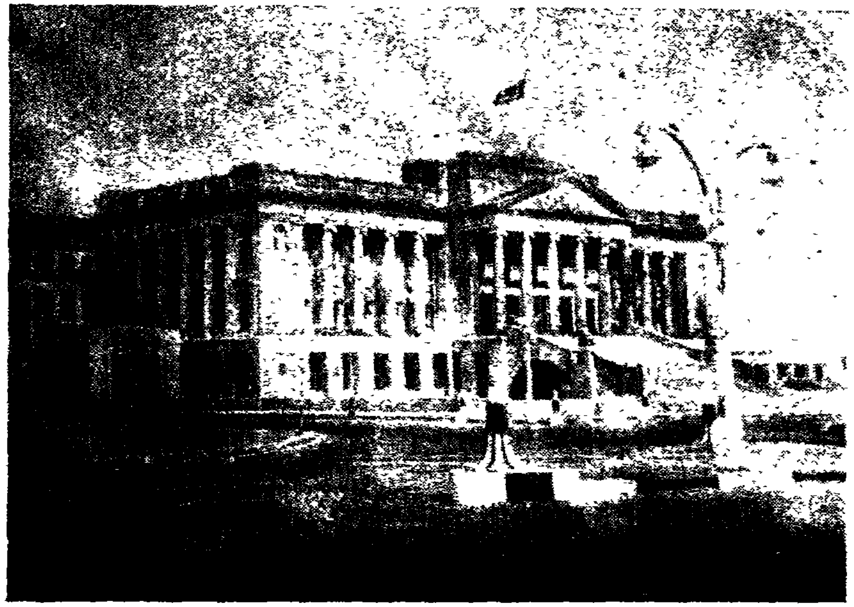
व्यवसाय — चावल, सूतीवस्त्र, तरल ईंधन, आटा, मछली, चीनी, उर्वरक, कोयला तथा दूध से बनी सामग्री का आयात तथा चाय, रबर, नारियल का तेल, इलायची, कोको तथा सुपारी का निर्यात होता है।

संविधान एवं राजनीति — श्रीलंका तटस्थ देश है। संविधान के अनुसार संसद की दो सदनें हैं, सिनेट तथा हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव, जिनकी सदस्यसंख्या क्रमशः ३० और १५१ है। शासनकार्य मंत्रिमंडल द्वारा संपन्न होता है जिसका अध्यक्ष प्रधान मंत्री होता है। १९६४ ई० से सिंहली यहाँ की राष्ट्रभाषा है। [सु० नं० प्र०]

श्रीवास इनके माता पिता श्रीहट्ट से नवद्वीप में आ बसे थे। यहीं सं० १५१० में इनका जन्म हुआ। ये आरंभ में निष्ठुर, नास्तिक तथा दंभी थे पर स्वप्न में प्रेरणा प्राप्त कर भक्त हो गए। श्री गौरांग ने इन्हें तथा इनके परिवार को प्रत्यक्ष अवतारी महाभावावेश का दर्शन दिया था और एक वर्ष इनके गृह पर रहकर भक्ति का प्रचार किया। श्री गौरांग के कृष्णलीलाभिनय में इन्होंने नारद जी की भूमिका ग्रहण की थी। श्री गौरांग के पुरी चले जाने पर यह श्रीहट्ट चले गए और वहाँ भक्तिकीर्तन का प्रचार किया। १५९० में श्रीगौर के अंतर्धान होने पर यह भी अंतर्हित हो गए। इस संप्रदाय के पंचतत्व में यह भी एक हैं। [ब्र० र० दा०]

श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित्' 'बृहत्त्रयी' में बृहत्तम महाकाव्य है। महाकवि श्रीहर्ष की माता का नाम मामल्ल देवी और पिता का 'हीरपंडित' था। गहड़वालवंशी काशी के राजा विजयचंद्र और उनके पुत्र राजा जयचंद्र (जयंतचंद्र) — दोनों के वे राजसभापंडित थे। राजा कान्यकुब्जेश्वर कहे जाते थे, यद्यपि उनकी राजधानी बाद में चलकर काशी में हो गई थी। कान्यकुब्जराज द्वारा समादृत होने के कारण उन्हें राजसभा में दो बीड़े पान तथा आसन का संमान प्राप्त था। इन राजाओं का शासनकाल ११५६ ई० से ११९३ ई० तक माना गया है। अतः श्रीहर्ष भी बारहवीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। किंवदंती के अनुसार 'चिंतामणि' मंत्र की साधना द्वारा त्रिपुरा देवी के प्रसन्न होने से उन्हें वरदान मिला तथा वाणी, काव्यनिर्माणशक्ति एवं पांडित्य की अद्भुत क्षमता उन्हें प्राप्त हुई। यह भी कहा जाता है कि काव्यप्रकाशकार 'मम्मट' उनके मामा थे जिन्होंने 'नैषध महाकाव्य' में आ गए कुछ दोषों से श्रीहर्ष को परिचित कराया। परिचेय कवि केवल काव्यनिर्माण की विलक्षण प्रतिभा से ही संपन्न न थे अपितु वे उच्च कोटि के दर्शन-शास्त्र मर्मज्ञ भी थे। सुकुमार वस्तुमय साहित्यनिर्माण में उनकी वाणी का जैसा अबाधित विलास प्रगट होता है वैसी ही शक्ति प्रौढ़ तर्कों से पुष्ट, शास्त्रीय ग्रंथ के निर्माण में भी उन्हें प्राप्त थी। पंडित मंडली में प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार तार्किकशिरोमणि उदयनाचार्य को भी उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया था। नैयायिकों की तर्कमूलक पद्धति से न्याय के सिद्धांतों का खंडन करनेवाला श्रीहर्ष का 'खंडनखंडखाद्य' नामक ग्रंथ अद्वैत वेदांत की अति प्रकृष्ठ और प्रौढ़ रचना मानी जाती है। इसके अतिरिक्त 'स्थैर्यविचारप्रकरण' और 'शिवशक्तिसिद्धि' (या 'शिवभक्तिसिद्धि') नामक दो दार्शनिक ग्रंथों का श्रीहर्ष ने निर्माण किया था। 'विजय प्रशस्ति', 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' तथा 'छिंदप्रशस्ति' नामक तीन प्रशस्तिकाव्यों के तथा 'अर्णव वर्णन' और 'नवसाहसांकचरित चंपू' काव्यों के भी वे प्रणेता थे। परम प्रौढ़ शास्त्रीय वैदुष्य से ओतप्रोत, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध कल्पना से वैदग्ध्यपूर्ण और अलंकृत काव्यशैली के उत्कृष्टतम महाकाव्य के रूप में 'नैषधीय चरित्' का संस्कृत महाकाव्यों में अद्वितीय स्थान है। 'भारवि' के किरातार्जुनीय से आरंभ अलंकरणप्रधान सायास काव्यरचना शैली का चरमोत्कर्ष नैषधीयचरित् (नैषधचरित् या नैषध काव्य) में विकसित है। महाभारतीय नलोपाख्यान से गृहीत इस महाकाव्य की कथावस्तु में नल और दमयंती के पूर्वराग, विरह, स्वयंवर, विवाह और नवदंपतिमिलन एवं संगमकेलियों का वर्णन हुआ है। प्रसंगतः अन्य मध्यागत विषय भी काव्यप्रबंध में गुंफित हैं। २२ सर्गोंवाले इस विशालकाय काव्य के अनेक सर्गों की श्लोकसंख्या १५० से भी अधिक है। परंतु इसका वर्ण्य कथानक काव्याकार के अनुपात में छोटा है। कथाविस्तार में सीमालघुता रहने पर अवांतर प्रसंगों में वर्णनविस्तृति के कारण ही इसका काव्यकलेवर बढ़ा है। चार सर्गों में नल का श्रोत्रानुराग, पूर्वरागजन्य विरह, हंसमिलन का दौत्य, दमयंतीविरह आदि मात्र वर्णित है। इंद्र, अग्नि, वरुण, यम

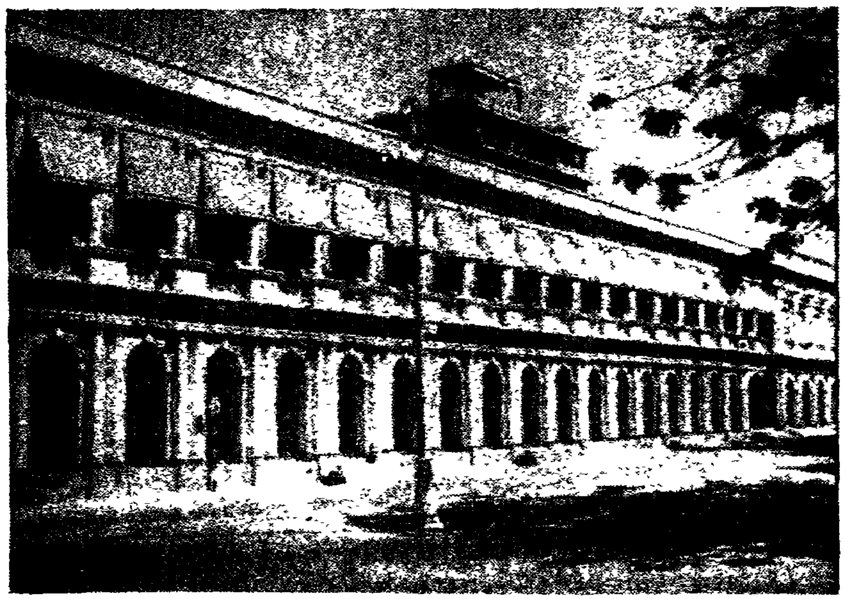
श्रीलंका (पृष्ट ३२७)



प्रतिनिधिभवन, कोलंबो



पेरादेनिया उद्यान में पुष्पावलि

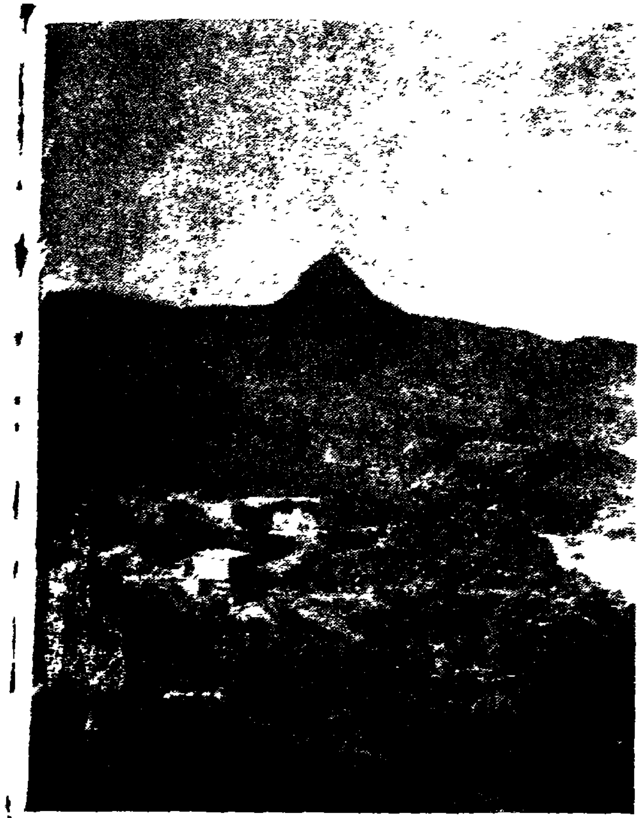


सेनिट भवन, कोलंबो

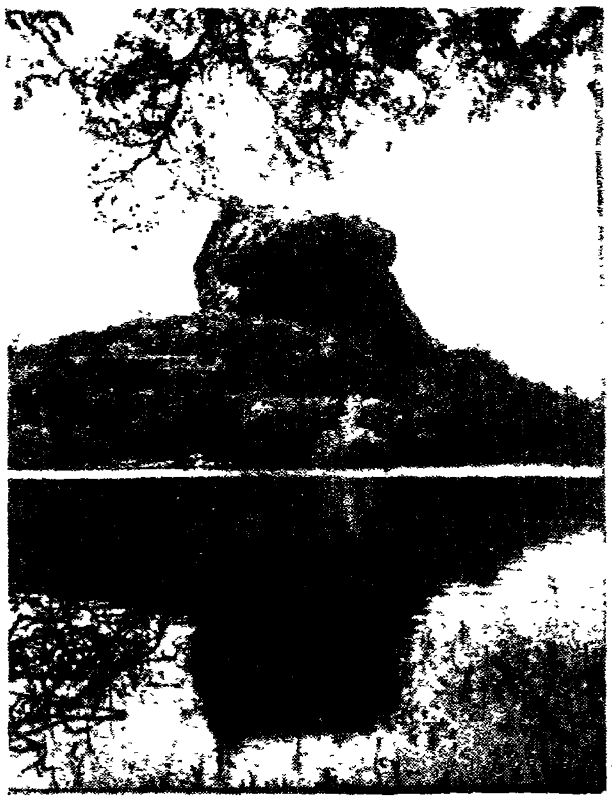


निवासभवन, सीलोन विश्वविद्यालय, पेरादेनिया

श्रीलंका (पृष्ठ ३८७)



ऐडैम्स पीक नामक पवित्र पर्वत



प्राचीन शैलदुर्ग, सिगिरिया



मिहिंतले का शैलमंदिर

श्रीलंका (पृष्ठ ३२७)



प्राचीन मूर्तियाँ, पोलोन्नारुव



शिल्पकृतियाँ, पोलोन्नारुव



लंकातिलक विहार, पोलोन्नारुव

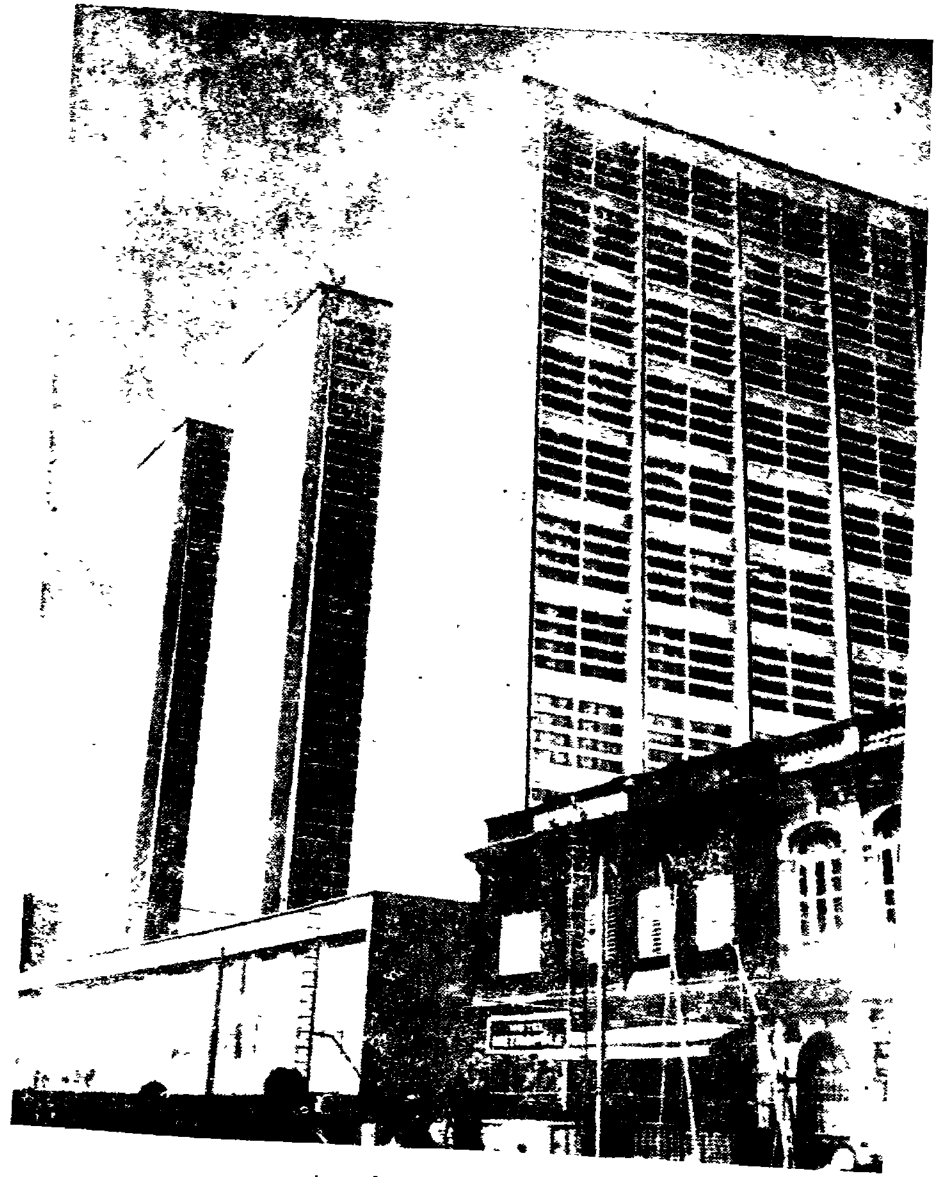


बुद्ध मूर्तियाँ, जलविहार, पोलोन्नारुव

श्रीलंका (पृष्ठ ३२७)

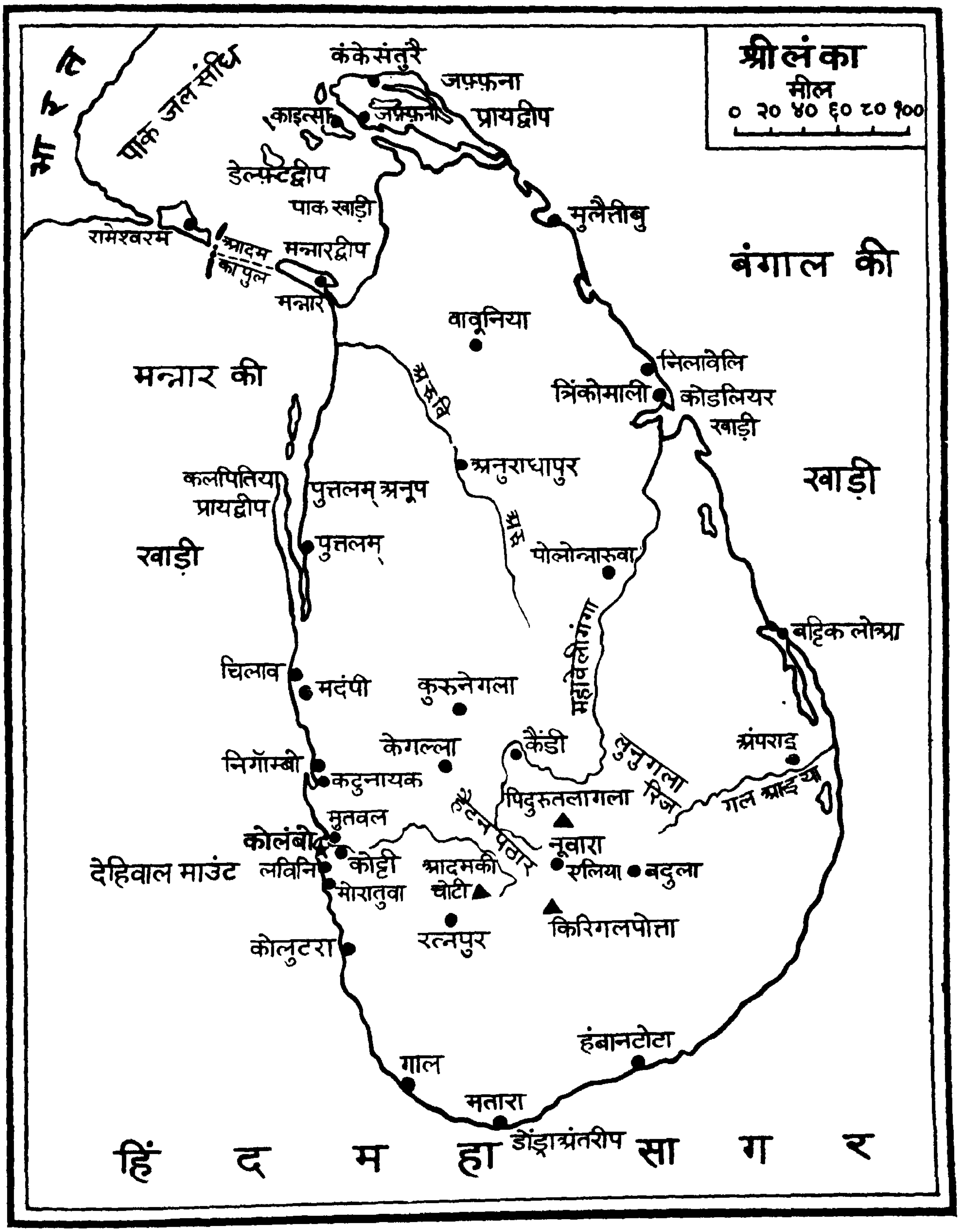


राजकीय वनस्पति उद्यान में तालवृक्षावलि



सेंट्रल बैंक भवन, कोलंबो

श्रीलंका (पृष्ठ १२७)


श्रीलंका
मील
० २० ४० ६० ८० १००
भारत
पाक जलसंधि
कंकेसंतुरै
जफ़्फ़ना
प्रायद्वीप
काइत्स
जफ़्फ़ना
डेल्फ़्टद्वीप
पाक खाड़ी
मुलैतीबु
रामेश्वरम
आदम का पुल
मन्नारद्वीप
मन्नार
बंगाल की
खाड़ी
वावूनिया
मन्नार की
खाड़ी
निलावेलि
त्रिंकोमाली
कोडलियर खाड़ी
अनुराधापुर
कलपितिया प्रायद्वीप
पुत्तलम् अनूप
पुत्तलम्
पोलोन्नारुवा
महावेलीगंगा
बट्टिक लोआ
चिलाव
मदंपी
कुरुनेगला
केगल्ला
कैंडी
निगॉम्बो
कटुनायक
लुनुगला रिज
अंपराइ
पिदुरुतलागला
गल आइया
मुतवल
कोलंबो
नूवारा
एलिया
बदुला
देहिवाल माउंट
लविनि
कोट्टी
आदमकी चोटी
मोरातुवा
किरिगलपोता
रत्नपुर
कोलुटरा
हंबानटोटा
गाल
मतारा
डोंड्रा अंतरीप
हिंद महासागर

इन चार देवों में से किसी को पतिरूप में वरण करने के लिये नल का दूत बनकर दमयंती के यहाँ जाना, उसे समझाना बुझाना और दूतकार्य में असफल होना — इतनी ही कथा का वर्णन ५ से ९ सर्ग तक है। दसवें सर्ग से सोलहवें सर्ग तक, सांगोपांग, दमयंती स्वयंवर, नलवरण और विवाहादि का विवरण दिया गया है। सत्रहवाँ सर्ग कलि और देवों के बीच संवाद है जिसमें नास्तिकवाद और उसका खंडन है। अठारहवें सर्ग में नवविवाहित दंपति का प्रथम समागम वर्णित है। शेष चार सर्गों में—राजा रानी की दिनचर्या, विलास विहार आदि के सरस विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। इतनी स्वल्प कथावस्तु मात्र को लेकर इस खंडकाव्यदेशीय महाकाव्य की रचना हुई है।

इस काव्य का मुख्य वर्ण्यप्रवाह शृंगार रस है। विविध उपधाराओं और अवांतर तरंगभंगों के साथ वही रसधारा आद्यंत प्रवहमान है, चाहे स्थान स्थान पर उसकी गति कितनी ही मंद क्यों न हो। दंडी आदि काव्यशास्त्रियों के महाकाव्य-लक्षणानुसार ही प्राय: अधिकांश वर्ण्यविषय गुंफित हैं। तेरहवें सर्ग में श्लिष्ट काव्य उत्कर्ष के चरमबिंदु पर पहुँचा है जहाँ प्राय: सर्ग भर में श्लिष्टार्थ-परक पद्यों द्वारा एक साथ ही इंद्र, अग्नि, वरुण, यम और नल का प्रशस्तिगान किया गया है। अलंकृत और चमत्कारचित्रित काव्यरचना शैली से बोझिल होने पर भी 'नैषध' में अद्भुत काव्यात्मक प्रौढ़ता और आकर्षण है। भंगिमावैविध्य के साथ वर्णन की अनेकचित्रता, कल्पना की चित्रविचित्र उड़ान, प्रकृतिजगत् का सजीव रूपचित्रण, भावों का समुचित निवेश, ललनारूप का अलंकृतरूढ़ पर प्रौढ़िरमणीय सौंदर्यवर्णन, अर्थगुंफन में नव्य अपूर्वता, संस्कृत भाषा के शब्दकोश पर असाधारण अधिकार, शास्त्रीय पक्षों की मार्मिक और प्रौढ़ संयोजना, अलंकारमूलक चमत्कारसर्जन की विलक्षण प्रतिभा, वैलासिक और उच्चवर्गीय कामकेलि एवं सुखविहार का मोहक चित्रण आदि में अपूर्व सामर्थ्य के कारण श्रीहर्ष कवि को संस्कृत-पंडित-मंडली में जो प्रतिष्ठा मिली है वह अन्य को अप्राप्त है। पाँच अर्थोंवाले (पंचनली) (१३वाँ सर्ग) से उनके नानार्थ शब्दप्रयोग की अद्भुत क्षमता सिद्ध है। प्रस्तुत अप्रस्तुत रूप में दार्शनिक और शास्त्रीय ज्ञान की प्रौढ़ता का प्रकाश सर्वत्र काव्य में बिखरा हुआ है। वे अद्वैत वेदांत ही नहीं तंत्र, योग, न्याय, मीमांसा आदि के भी प्रौढ़ मर्मज्ञ थे। पर दर्शन के ज्ञानकाठिन्य ने उनके कविहृदय की भावुकता के प्रवाहन में समय समय पर सहायता भी दी है। इन सबके साथ दृश्यजगत् की स्वाभाविक सहज छवियों में भी उनका मन रमा रहा। प्रथम सर्ग में नल के सामने प्रकट हंस के जिन नैसर्गिक और पक्षिसंबद्ध रूपों, चेष्टाओं और व्यापारों का अंकन हुआ है — उनकी स्वभावोक्ति में प्रकृति के प्रति दृढ़ासक्ति लक्षित है। इन्हीं सब वैशिष्टों के कारण श्रीहर्ष को विलक्षण प्रतिभाशाली, शास्त्रमर्मज्ञ, अप्रस्तुत विधान में परम समर्थ और अलंकरण काव्य-रचना में अतिनिपुण महाकवि कहा गया है। वाल्मीकि, कालिदास आदि के समान भावलोक के सहजांकन में विशेष अनुराग के न रहने पर भी अपने पांडित्य और कलापक्ष की निपुणता के कारण कवि के रूप में उनका अपना विशिष्ट महत्व और स्थान है। इसी कारण बृहत्त्रयी के कवियों में उन्हें उच्च प्रतिष्ठा मिली है।

[क० प० त्रि०]

श्रुतकेवली ये श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। श्रुतकेवली और केवली (केवलज्ञानी) ज्ञान की दृष्टि से दोनों समान हैं, लेकिन श्रुतज्ञान परोक्ष और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। केवलियों को जितना ज्ञान होता है उसके अनंतवें भाग का वे प्ररूपण कर सकते हैं और जितना वे प्ररूपण करते हैं उसका अनंतवाँ भाग शास्त्रों में संकलित किया जाता है। इसलिये केवलज्ञान से श्रुतज्ञान अनंतवें भाग का भी अनंतवाँ भाग है। श्रुतकेवली १४ पूर्वों के पाठी होते हैं। महावीरनिर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जंबूस्वामी, ये तीन केवली हुए। जंबूस्वामी के बाद दिगंबर परंपरा के अनुसार विष्णु, नंदि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु तथा श्वेतांबर परंपरा के अनुसार प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र नाम के छह श्रुतकेवली हुए। स्थूलभद्र को श्रुतकेवलियों में न गिनने से श्वेतांबर संप्रदाय के अनुसार पाँच ही श्रुतकेवली माने गए हैं।

सं० ग्रं० — जगदीशचंद्र जैन : स्याद्वादमंजरी (हिंदी अनुवाद)।

[ज० चं० जै०]

श्रोडिंगर, अर्विन (Schrodinger, Erwin, सन् १८८७ —) ऑस्ट्रियावासी भौतिकीविद्, ने वियेना विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। वियेना तथा येना विश्वविद्यालयों में अध्यापन करने के पश्चात्, ये सन् १९२० में स्टटगार्ट तकनीकी उच्च विद्यालय में विशेष प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९२१ में ब्रेस्लो तथा जूरिक, सन् १९२७ में बर्लिन, सन् १९३३ में ऑक्सफर्ड तथा सन् १९३६ में ग्राट्ज विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर पद को आपने सुशोभित किया। सन् १९४० में उच्च अध्ययन के डब्लिन संस्थान में आप वरिष्ठ प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए।

श्रोडिंगर के नाम से प्रसिद्ध तरंग समीकरण का प्रतिपादन कर, आपने भौतिकी की विशेष शाखा, तरंगयांत्रिकी संबंधी अन्वेषण आरंभ किए। इन अन्वेषणों को आपने लिखित रूप, इस विषय पर लिखे अपने "लेखसंग्रह" तथा "तरंगयांत्रिकी पर चार व्याख्यान" नामक ग्रंथों में, दिया है। विज्ञान की इस सेवा के लिये आपको सन् १९३३ में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

सन् १९४६ में आपने क्षेत्र सिद्धांत (Field Theory) पर भी अमूल्य विचार व्यक्त किए। सन् १९४५ में लिखित 'सांख्यिकीय ऊष्मागतिकी', सन् १९३५ में 'विज्ञान तथा मानुषी स्वभाव' और सन् १९४४ में लिखा 'जीवन क्या है ?', आपके अन्य विचारोत्तेजक ग्रंथ हैं।

[भ० दा० व०]

श्रेणी (सीराज, Series) $a_1, a_2, a_3 \ldots\ldots$ संख्याओं के समुदाय को, जो धनात्मक पूर्णांकों के कुलक से संबद्ध है, अनुक्रम कहते हैं और $a_1 + a_2 + a_3 + \ldots\ldots$ श्रेणी कही जाती है। यदि पदों की संख्या अपरिमित हो, तो इस श्रेणी को अनंत श्रेणी कहते हैं और

$\sum_{1}^{\infty} a_n$ द्वारा व्यक्त करते हैं। माना $S_n = a_1 + \dots + a_n$ इस श्रेणी के प्रथम n पदों का योग है। यदि n के अनंत की ओर अग्रसर होने पर S_n एक परिमित सीमा S की ओर अग्रसर हो, तो श्रेणी $\sum_{1}^{\infty} a_n$ अभिसरित (converge) कही जाती है S की ओर, और S श्रेणी का योग कहलाता है। यदि S_n अग्रसर होता है $\pm\infty$ की ओर, तो श्रेणी परिस्थिति के अनुसार $+\infty$ या $-\infty$ की ओर अपसारित (diverge) होती कही जाती है। यदि S_n परिमित रूप से दोलित होता है, अर्थात् यदि प्रत्येक n के लिये $|S_n| < K$ है, और यदि S_n किसी सीमा की ओर अग्रसर नहीं होता है, तो श्रेणी परिमित रूप से दोलित करती कही जाती है। यदि n के अनंत की ओर अग्रसर होने पर, $|S_n|$ अपरिमित रहता है और S_n किसी सीमा की ओर अग्रसर नहीं होता, तो श्रेणी अनंत रूप से दोलित होती कही जाती है। श्रेणी $1 - 1 + 1 - 1 + \dots$ के लिये n के सम या विषम होने के अनुसार $S_n = 0$ या 1 है। अतः यह श्रेणी परिमित रूप से दोलित है। श्रेणी $1 - 2 + 3 - 4 + \dots$ के लिये $S_{2n} = -n$, $S_{2n-1} = n$ है और यह श्रेणी अनंत रूप से दोलन करती है।

अतः किसी श्रेणी का अभिसरण, या अपसरण, अपूर्ण योगों $\{S_n\}$ के अनुक्रम के अभिसरण, या अपसरण, पर निर्भर होता है। अभिसरण के लिये आवश्यक एवं पर्याप्त अनुबंध यह है कि किसी लघु अविहित धनराशि ϵ के निश्चित होने पर एक ऐसा पूर्णांक N ज्ञात किया जा सकता है कि $|S_m - S_n| < \epsilon$ हो, यदि $m \geqslant N$, $n \geqslant N$ हो। विशेषत: यदि श्रेणी अभिसरित है, तो n के अनंत की ओर अग्रसर होने पर $|S_n - S_{n-1}| = |a_n| \to 0$ होगा। सामान्यतः जो श्रेणी अभिसरित नहीं होती, वह अपसारित कही जाती है। गुणोत्तर (geometrical) श्रेणी $1 + r + r^2 + \dots$ के लिये $S_n = (1 - r^n)/(1 - r)$ यदि $r \neq 1$, और $S_n = n$ यदि $r = 1$ है। यदि $|r| < 1$ है, तो यह श्रेणी योग $1(1-r)$ की ओर अभिसरित होती है, अन्यथा अपसरित रहती है। श्रेणी $\sum_{r=1}^{\infty} 1/r^p$, जिसमें p वास्तविक है, $p > 1$ के लिये श्रेणी अभिसारी और $p \leqslant 1$ के लिये श्रेणी अपसारी है।

S_n के लिये निश्चित व्यंजक ज्ञात करना सदैव सरल नहीं है। अतः हम यह जानने के लिये कि कोई विशिष्ट श्रेणी अभिसारी है या नहीं, अभिसारी और अपसारी की परीक्षाविधियों का प्रयोग करते हैं। यदि कोई श्रेणी केवल धनात्मक पदों से बनी है, तो किसी पद के उपरांत $\{S_n\}$ एक वृद्धिमय अनुक्रम होगा और ऐसे वृद्धिमय अनुक्रम के अभिसरण के लिये आवश्यक और पर्याप्त अनुबंध यह है कि यह परिमित हो, अर्थात् एक ऐसी अचर राशि K का अस्तित्व हो कि n के समस्त मानों के लिये $S_n < K$ हो। धनात्मक पदोंवाली श्रेणी के अभिसरण परीक्षण की विधियाँ निम्नलिखित है :

(अ) तुलनात्मक परीक्षा — यदि a_n और b_n धनात्मक पदों की दो श्रेणियाँ हों और यदि A और B दो ऐसी धनात्मक संख्याएँ अस्तित्व में हों कि $A < a_n/b_n < B$ हो, तो एक श्रेणी का अभिसरण या अपसरण दूसरी श्रेणी के अभिसरण या अपसरण को सूचित करता है। यदि a_n/b_n शून्य की ओर अग्रसर हो, तो $\sum a_n$ अभिसारी होगा यदि $\sum b_n$ भी अभिसारी हो। यदि a_n/b_n अनंत की ओर अग्रसर हो, तो $\sum a_n$ अपसारी होगा यदि $\sum b_n$ भी अपसारी हो। अतः यदि $a_n = 1/(n^{\alpha} + c)$, $0 \leqslant \alpha \leqslant 1$, $c > 0$ हो, तो $b_n = 1/n$ रखने पर $\sum a_n$ अपसारी होगा।

(आ) कोशी (Cauchy) की मूल परीक्षा — यदि $\lim_{n\to\infty} |a_n|^{1/n} < 1$ हो तो श्रेणी अभिसारी और यदि $\lim_{n\to\infty} |a_n|^{1/n} > 1$ हो, तो श्रेणी अपसारी होगी।

(इ) समाकल परीक्षा — यदि $a_n = f(x)$ और $x \geqslant x_0$ के लिये $f(x)$ अनपहृत हो, तो $S_n = \int_1^n f(x)\, dx$ का मान 0 और f (1) के अंतर्गत होगा अतः समाकल $\int_1^{\infty} f(x)\, dx$ और श्रेणी दोनों ही एक साथ अभिसारी या अपसारी होंगे। यदि हम $f(x) = 1/x^p$, $p > 0$, लें तो श्रेणी $\sum 1/n^p$, $p > 1$ के लिये अभिसारी और $p \leqslant 1$ के लिये अपसारी होगी। और यदि $p = 1$ है तो, $\lim_{n\to\infty} \left\{ 1 + \frac{1}{2} + \dots + \frac{1}{n} - \log n \right\}$ (ऑयलर का अचल) का अस्तित्व होगा और इसका मान o और 1 के अंतर्गत होगा।

(ई) डिनी (Dini) और कुमर (Kummer) के निम्नलिखित साध्य से दालांबेयर, राबे इत्यादि प्रणीत निष्पत्ति परीक्षाएँ निकलती हैं। यदि $\sum 1/D_n$ कोई धनात्मक पदोंवाली अपसारी श्रेणी हो और यदि $\frac{L}{l} = \lim_{n\to\infty} \left\{ D_n \frac{a_n}{a_{n+1}} - D_{n+1} \right\}$ व्यक्त करें, तो $\sum a_n$ अभिसारी होगा यदि $l > o$, और अपसारी होगा यदि $L < o$। $D_n = 1$ और n रखने पर हमें क्रमशः दालांबेयर और राबे की परीक्षाविधियाँ प्राप्त होती हैं।

अब हम किसी श्रेणी के निरपेक्ष अभिसरण की व्याख्या करेंगे। यह विचार विशेषतः दो श्रेणियों के गुणन में लाभप्रद है। $\sum a_n$ निरपेक्षतः अभिसारी उस समय कहा जाता है, जब $\sum |a_n|$ अभिसारी हो। यदि $\sum a_n$ अभिसारी, किंतु $\sum |a_n|$ अपसारी हो, तो श्रेणी $\sum a_n$ अनिरपेक्षतः अभिसारी, अथवा अर्ध अभिसारी, कही जाती है। क्रमानुसार धनात्मक और ऋणात्मक पदों से बनी श्रेणी $\sum a_n$ तभी अभिसारी होगी जब $|a_n|$ एकस्वनी ह्रासमय और $\lim_{n\to\infty} a_n = 0$ हो। उदाहरणार्थ, श्रेणी $1 - \frac{1}{2} + \frac{1}{3} - \dots$ अभिसारी है, किंतु निरपेक्षतः अभिसारी नहीं। यदि धनात्मक पदोंवाली श्रेणी अभिसारी हो, तो इसका योग पदों के क्रम पर निर्भर

नहीं होता और यदि ऐसी श्रेणी अपसारी हो, तो उसके पद चाहे कितना भी अव्यवस्थित कर दिए जाएँ, वह अपसारी ही रहेगी। यदि एक श्रेणी निरपेक्षतः अभिसारी हो, तो उसका योग पदों के प्रविन्यास से नहीं बदलता। लेकिन यह बात अर्ध-अभिसारी श्रेणी के लिये खरी नहीं उतरती। ऐसी किसी श्रेणी के केवल धन अथवा ऋण पद लेने से अपसारी श्रेणियाँ बनती हैं। रीमान ने सिद्ध किया है कि ऐसी किसी श्रेणी के पद एक ऐसी श्रेणी बनाने के लिये क्रमबद्ध किए जा सकते हैं जो किसी निश्चित योग की ओर अभिसारी, या अपसारी, या दोलित होगी। श्रेणी $1+\frac{1}{2}+\frac{1}{3}-\frac{1}{4}+\ldots$, $\log 2$ की ओर अभिसारी होती है, किंतु श्रेणी $1-\frac{1}{2}-\frac{1}{4}+\frac{1}{3}-\frac{1}{6}-\frac{1}{8}\ldots$, $\frac{1}{2}\log 2$ की ओर अभिसारी होगी।

$\sum\limits_{0}^{\infty} a_n (x-a)^n$ रूपवाली श्रेणी घात श्रेणी कहलाती है, क्योंकि यह $x-a$ के घातों द्वारा व्यक्त की जाती है। कोशी की मूल-परीक्षा द्वारा यह ज्ञात होता है कि $\lim\limits_{n\to\infty} |a_n|^{1/n} = 1/R$ है, अतः घात श्रेणी अभिसारी होगी यदि $|x-a| < R$, और अपसारी होगी यदि $|x-a| > R$। संख्या R श्रेणी की अभिसरण त्रिज्या कही जाती है।

घातीय श्रेणी $e^x = \sum\limits_{0}^{\infty} \frac{x^n}{n!}$ के लिये $R=\infty$ और श्रेणी $\sum\limits_{0}^{\infty} n!\, x^n$ के लिये $R=0$ होता है, अर्थात् यही श्रेणी $x=0$ के अतिरिक्त x के किसी मान के लिये अभिसारी नहीं है। द्विपद श्रेणी $(1+x)^n = 1 + nx + \frac{n(n-1)}{2!}x^2 + \frac{n(n-1)(n-2)}{3!}x^3 + \ldots$, और लघुगणकीय श्रेणी $\log(1+x) = x - \frac{x^2}{2} + \frac{x^3}{3} - \frac{x^4}{4} \ldots$ के लिये $R = 1$ होता है।

द्विक् श्रेणी $\sum\limits_{n=0}^{\infty}\sum\limits_{m=0}^{\infty} a_{mn}$ के अभिसरण की व्याख्या भी इसी प्रकार की जा सकती है। यदि $a_\mu b_\nu$ पदों का योग, जिसमें $0 \leqslant \mu \leqslant m$, $0 \leqslant \nu \leqslant n$ है, S_{mn} द्वारा व्यक्त किया जाए, तो द्विक् श्रेणी तभी अभिसारी होगी जब m और n के स्वतंत्र रूप से अनंत की ओर अग्रसर होने पर S_{mn} एक निश्चित सीमा S की ओर अग्रसर हो। हम ऐसी श्रेणियों का योग पंक्तियों द्वारा भी ज्ञात कर सकते हैं, अर्थात् यदि n कोई निश्चित संख्या हो और यदि श्रेणी $a_{n0}+a_{n1}+\ldots A_n$ की ओर अभिसारी हो, तो हम श्रेणी $\sum\limits_{0}^{\infty} A_n$ का योग ज्ञात करेंगे। यदि यह श्रेणी अभिसारी है, तो हम इस योग को द्विक् श्रेणी का पंक्ति योग कहते हैं। इसी प्रकार हम स्तंभयोग की भी व्याख्या करते हैं। यदि द्विक् श्रेणी का योग पहली प्रकार का है, तो यह आवश्यक नहीं है कि पंक्तियों अथवा स्तंभों द्वारा प्राप्त योग इस योग के बराबर हो। यदि द्विक् श्रेणी निरपेक्षतः अभिसारी हो, तो पंक्तियों अथवा स्तंभों द्वारा प्राप्त योग S के बराबर होगा। योग प्राप्त करने की अन्य विधि एक ऐसी श्रेणी $\sum\limits_{0}^{\infty} C_k$ बनाने से संबद्ध है कि जिसमें $C_k = a_{0,n} + a_{1\,n-1} + a_{2,n-2} + \ldots + a_{n,0}$ हो। यदि यह श्रेणी अभिसारी हो, तो इसका योग कर्णों द्वारा प्राप्त द्विक् श्रेणी का योग कहा जाता है। त्रिगुणित तथा बहुगुणित श्रेणियाँ द्विक्श्रेणियों के विस्तार ही हैं।

यदि हम दो घात श्रेणियों $\sum\limits_{0}^{\infty} a_n x^n$ और $\sum\limits_{0}^{\infty} b_n x^n$ को नियमानुसार गुणा करें और गुणनफल को $\sum\limits_{0}^{\infty} c_n x^n$ द्वारा व्यक्त करें, तो $c_n = a_0 b_n + \ldots + a_n b_0$ होगा। यदि दो श्रेणियाँ $\sum\limits_{0}^{\infty} a_n = A$ और $\sum\limits_{0}^{\infty} b_n = B$ निरपेक्षतः अभिसारी हों, तो उनका गुणनफल $\sum\limits_{0}^{\infty} c_n = C$ के बराबर होगा, जो स्वयं भी निरपेक्षतः अभिसारी होगा। यदि दोनों श्रेणियाँ $\sum a_n$ और $\sum b_n$ अभिसारी हों और इनमें से एक निरपेक्षतः अभिसारी हो, तो $\sum c_n$ योग $C = A\,B$ की ओर अभिसारी होगी। यदि $\sum a_n$, $\sum b_n$ और $\sum c_n$ सब अभिसारी हैं, तो भी $C = AB$ होगी।

$\frac{a_0}{2} + \sum\limits_{1}^{\infty} (a_n \cos nx + b_n \sin nx)$ रूपवाली श्रेणी त्रिकोणमितीय श्रेणी कहलाती है। यदि यह कुछ अन्य अनुबंधों की तुष्टि करती हो, तो इसे फूरियर श्रेणी कहते हैं।

संकर पदोंवाली श्रेणी $\sum z_n = \sum (a_n + i\, b_n)$ तभी अभिसारी होगी जब $\sum a_n$ और $\sum b_n$ दोनों अभिसारी हों। यदि $\sum |z_n|$ अभिसारी हो, तो श्रेणी $\sum z_n$ निरपेक्षतः अभिसारी कही जाती है। ऐसी दशा में $\sum a_n$ और $\sum b_n$ दोनों निरपेक्षतः अभिसारी होंगी।

यदि एक श्रेणी $\sum\limits_{0}^{\infty} a_n(x) = S(x)$ के पदों में चरराशि x संयुक्त हो तो एकरूप समघात अभिसरण के विचारों को प्रविष्ट करके, S (x) के सातत्य, अवकलन आदि से संबद्ध समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। श्रेणी $\sum\limits_{0}^{\infty} a_n(x)$ अंतराल I $(a \leqslant x \leqslant b)$ में समघात अभिसारी कही जाएगी, यदि निश्चित $\epsilon > 0$ के लिये एक अंक $N = N(\epsilon)$, जो x से स्वतंत्र हो, ऐसा अस्तित्वमय हो कि $n > N$ और x के अंतराल I में व्याप्त किसी मान के लिये $|S(x) - S_n(x)| < \epsilon$ हो। संतत फलनों की समघात अभिसरित श्रेणियों का योग संतत होता है। साथ ही, संतत फलनों की एकरूप समघात अभिसरित श्रेणियाँ पदानुकलित की जा सकती हैं। ऐसी ही एक विधि पदावकलन करने की भी है।

दोलित श्रेणियों के लिये भी अभिसरण जैसे विचार व्यक्त किए गए हैं। श्रेणी $\sum\limits_{0}^{\infty} a_n$ को (C, 1) संकलनशील (सिसरो की प्रथम

क्रम की विधि) कहते हैं, यदि n के अनंत की ओर अग्रसर होने पर $O_n = \frac{s_0 + \dots + s_n}{n+1}$ एक परिमित सीमा की ओर अग्रसर होता हो। यदि श्रेणी अभिसारी हो, तो यह उसी योग की ओर (C, 1) संकलनशील होगी, और यदि श्रेणी $+\infty$ (या $-\infty$) की ओर अपसारी हो, तो n के अनंत की ओर अग्रसर होने पर $\sigma_n + \infty$ (या $-\infty$) की ओर अग्रसर होगा। श्रेणी $1 - 1 + 1 - 1 + \dots$ संगृत नहीं है, किंतु इसका (C, 1) योग $\frac{1}{2}$ है। (C, k) संकलन की विधि भी इसी प्रकार व्यक्त की जाती है। यदि $\lim_{x \to 1-0} \sum_{0}^{\infty} a_n x^n$ अस्तित्वमय हो, तो श्रेणी $\sum_{0}^{\infty} a_n$ (A) संकलनशील कही जाती है। ऐबेल के साध्य द्वारा यह स्पष्ट है कि यदि $\sum^{\infty} a_n$ अभिसारी हो S की ओर, तो $\lim_{x \to 1-0} \sum_{0}^{\infty} a_n x^n = S$ होगा। अत: प्रत्येक अभिसारी श्रेणी समान योग की ओर (A) संकलनशील होती है, किंतु इसका विपर्यय सत्य नहीं है।

सं० ग्रं० — के० क्नॉप : थ्योरी ऐंड ऐप्लिकेशन ऑव इनफिनिट सीरीज (१६२८); ब्रॉमविच : ऐन इंट्रोडक्शन टु दि थ्योरी ऑव इनफिनिट सीरीज (१६२६); हार्डी : डाइवर्जेंट सीरीज (१६३१); टिचमार्श : थ्योरी ऑव फंक्शस (१६३६)। [स्व० मो० शा०]

श्रेणी (Guild गिल्ड) श्रेणियाँ मूलत: शिल्पकारों और व्यापारियों के संघ होती थीं। इनका लक्ष्य था सदस्यों की सहायता करना। मध्यकालीन युग में श्रमविभाजन सरल था। बड़े बड़े पेचीदे हथियारों के स्थान पर सरल हथियारों का प्रयोग होता था। नगर औद्योगिक समुदायों के केंद्र होते थे। वहाँ दस्तकारी की वस्तुएँ तैयार होती थीं। वहाँ के रहनेवाले शिल्पकार श्रेणियों में संगठित थे। तत्कालीन आर्थिक संगठन में इन श्रेणियों का महत्वपूर्ण स्थान था। पेशे के आधार पर ही इनका संगठन होता था। एक श्रेणी के लोग एक ही प्रकार का पेशा करते थे। पेशे के लिये आवश्यक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था इन्हीं श्रेणियों के हाथ में थी। ये श्रेणियाँ ऐसे लोगों को भी रखती थीं जो दूर दूर के गाँवों तथा बाजारों में जाकर दस्तकारी की वस्तुओं को बेचते थे। इनका लक्ष्य केवल सदस्यों के हितों की रक्षा करना ही नहीं होता था बल्कि इनका महत्व कला के ऊँचे स्तर को कायम रखने तथा उनके उचित मूल्य के निर्धारण के दृष्टिकोण से भी था। सदस्यों के परिवार के अन्य सदस्य भी उसी पेशे में लग जाते थे। इस प्रकार पुश्त-दर-पुश्त उत्तराधिकार के रूप में ज्ञान पहुँचता था।

शिल्प तथा व्यापारिक श्रेणियों के अतिरिक्त धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु भी श्रेणियों का संगठन हुआ। इंग्लैंड में श्रेणियों का प्रारंभ ९वीं शताब्दी से होता है। उस समय राज्य द्वारा इन श्रेणियों को कुछ विशेष सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे। स्कूल स्थापित करना, सड़कें और पुल बनवाना तथा विपत्ति के मारे हुए सदस्यों की रक्षा करना इन श्रेणियों के प्रधान लक्ष्य थे। प्रारंभ में केवल व्यापारिक श्रेणियाँ थीं परंतु बाद में एकाधिकार प्राप्त हो जाने के कारण इन लोगों ने साधारण शिल्पियों का शोषण प्रारंभ कर दिया। इस कारण शिल्पियों ने भी अपने आपको श्रेणियों में संगठित किया। समय के साथ इनकी उपादेयता भी बढ़ती गई और श्रेणियों ने बहुत ही दृढ़ तथा सुव्यवस्थित संगठन का रूप लिया। साधारण नागरिकों तथा अमीरों के संघर्ष में तो इन श्रेणियों ने साधारण नागरिकों के हितों की रक्षा में महत्वपूर्ण योगदान किया। १३वीं शताब्दी तक इनका संगठन बहुत दृढ़ हो चुका था और इन्हें राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त होने लगे थे। नगरपालिकाओं का संगठन इन्हीं श्रेणियों के आधार पर हुआ तथा उनके संविधान भी श्रेणियों के आधार पर बने। आगे चलकर श्रेणियों का महत्व इतना अधिक बढ़ा कि जो कोई भी स्वायत्तशासन में भाग लेना चाहता था, उसके लिये आवश्यक सा हो गया कि वह श्रेणी का सदस्य हो जाय। प्राचीन भारत के नगर आयोग भी इन्हीं श्रेणियों के बृहत् रूप थे और नगर आयोगों के जो कार्य थे उन्हीं से मिलते जुलते कार्य मध्यकाल में इंग्लैंड और जर्मनी आदि देशों में इन श्रेणियों के थे। आगे चलकर तो ये श्रेणियाँ इतनी संपन्न हो गईं कि स्वतंत्र व्यवसाय के लोग भी इनमें सम्मिलित होने लगे। अधिकांश श्रेणियों का संगठन लोकतंत्रात्मक आधार पर था। १३वीं और १४वीं शताब्दी इंग्लैंड के औद्योगिक और व्यावसायिक विकास के इतिहास में महत्वपूर्ण काल है और इन दो शताब्दियों में श्रेणियों का विकास भी बड़ी ही तीव्र गति से हुआ। इस युग में यूरोप के अन्य देशों में भी श्रेणियों का विकास हुआ और उनके संगठन का रूप तथा उनके लक्ष्य प्राय: एक से रहे।

इन श्रेणियों का लक्ष्य केवल अपने सदस्यों की स्पर्धा से रक्षा करना ही नहीं अपितु वस्तु की उत्कृष्टता को कायम रखना भी था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सदस्यों द्वारा प्रतिपालकों (Warden) का चुनाव किया जाता था।

यद्यपि व्यापारिक श्रेणियों तथा शिल्प श्रेणियों के हित विपरीत थे तथापि इन दोनों में प्रत्यक्ष संघर्ष का वर्णन प्राय: नहीं के ही समान है। १६वीं शताब्दी में अवश्य संघर्ष हुए और इनके द्वारा शिल्पियों ने कुलीन सरकार के जुओं को अपने कंधे से फेंक दिया। १५वीं और १६वीं शताब्दी में हमें विभिन्न श्रेणियों के एक में मिल जाने के दृष्टांत दिखलाई देते हैं।

औद्योगिक क्रांति के पहले से ही श्रेणियों की विच्छिन्नता के लक्षण स्पष्ट होने लगे थे। औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन के रूप और पैमाने में आमूल परिवर्तन कर एक नई आर्थिक प्रणाली को जन्म दिया। श्रेणियाँ, जिनका रूप अब भी मध्यकालीन था, अपने आपको नया रूप न दे सकीं। उनकी उपादेयता समाप्तप्राय हो गई। परिणामस्वरूप उनका अंत भी हो गया।

सं० ग्रं० — टासिग : अर्थशास्त्र के सिद्धांत; इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका; इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना; विंसेंट ए स्मिथ : 'भारत का प्राचीन इतिहास' तथा २०वीं शताब्दी शब्दकोश (अंग्रेजी)। [उ० ना० पां०]

श्रेणी समाजवाद श्रम समाजवाद और राज्य समाजवाद का समन्वय माना जा सकता है। श्रम समाजवादियों की तरह 'श्रेणी

समाजवादियों ने नौकरशाही और उद्योगों पर राज्य के नियंत्रण की भर्त्सना की तथा 'राज्य समाजवादियों' की तरह राजनीतिक संगठन और नियंत्रण के यंत्र के रूप में राज्य को आवश्यक माना। राज्य के उद्योगों के मालिक बने रहने में इन्हें कोई आपत्ति न थी परंतु उद्योगों का नियंत्रण और संचालन उन सभी उद्योग में लगे हुए शारीरिक और मानसिक श्रमिकों के श्रमसंघों द्वारा हो। श्रेणी समाजवाद सामाजिक स्वामित्व को स्वीकार करता है और औद्योगिक स्वायत्तता का समर्थन करता है। इस विचारधारा के अनुसार ऐसे राजनीतिक लोकतंत्र का कोई अर्थ नहीं जिसमें उद्योगों का नियंत्रण निरंकुशता के आधार पर होता है। राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् श्री जी० डी० एच० कोल ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है: यह समाजवाद राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करता है परंतु वह यह मानता है कि समाज के सुखदायी परिवर्तन के लिये यह आवश्यक है कि औद्योगिक शक्ति प्रधान रूप से मजदूरों के हाथ में हो। श्रेणी समाजवाद राजनीतिक तथा प्रशासकीय मामलों को औद्योगिक तथा आर्थिक मामलों से पृथक् रखने के पक्ष में है। राजनीतिक अधिकारियों तथा श्रमिक अधिकारियों के ऊपर एक ऐसी समिति की कल्पना की गई जिसमें दोनों के ही प्रतिनिधि हों। यही संमिलित समिति सभी विवादग्रस्त प्रश्नों पर अंतिम निर्णय देगी। इस विचारधारा के विरोधियों ने इस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक मामलों का विभाजन असंभव माना है।

अर्नेस्ट बारकर ने लिखा है "राजनीतिक तथा औद्योगिक अधिकारों के विभाजन की वकालत करनेवाला कोई भी सिद्धांत इस सत्य के सामने कि वर्तमान युग के सभी कार्यकलाप एक दूसरे पर आश्रित हैं, ध्वस्त हो जायगा।" राज्य का क्या रूप हो, इस प्रश्न के उत्तर पर भी सभी श्रेणी समाजवादी एकमत नहीं थे। कुछ तो राज्यसत्ता के वर्तमान रूप के ही समर्थक थे और कुछ संघीय रूप के पोषक जिसमें श्रमिक संघ के, उपभोक्ता संघ के, स्थानीय स्वायत्त शासन के तथा अन्य दूसरे सामाजिक संगठनों के प्रतिनिधि हों। वास्तव में श्रेणी समाजवादियों का लक्ष्य था आर्थिक विकेंद्रीकरण तथा श्रम समस्याओं के समाधान द्वारा मध्यकालीन श्रेणियों की पुन: स्थापना।

श्रेणी समाजवाद का प्रारंभ १९वीं शताब्दी के मध्य से होता है। समाजवाद के इस रूप की कल्पना सर्वप्रथम रस्किन तथा कुछ अन्य क्रिश्चियन समाजवादियों ने की। केटेलर और काउंट डी० मन जैसे समाजसुधारकों ने भी इसका समर्थन किया। परंतु इसने अपना वास्तविक रूप २०वीं शताब्दी के प्रथम भाग में लिया। ए० जे० पेंटी ने 'श्रेणीप्रणाली की पुन: स्थापना' (रेस्टोरेशन ऑव दी गिल्ड सिस्टम) नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक तथा ओरेज द्वारा संपादित 'नवयुग' (न्यू एज) पत्रिका ने इस आंदोलन की आवाज बुलंद की। प्रथम युद्ध प्रारंभ होने के पहले ही इस आंदोलन ने प्रौढ़ता प्राप्त की। वह काल श्रमिक अशांति का काल कहा जा सकता है। बेजोड़ हड़तालें हुईं। श्रमिकों में नवचेतना जाग्रत हुई। आर्थिक क्रांति के लिये श्रमिकों में नया जोश पैदा हुआ। श्रमिक वर्ग आयोगों में अपने महत्वपूर्ण स्थान को समझने लगा तथा अधिकार के प्रति जागरूक हो गया। महायुद्ध की अवधि में ही जी० डी० एच० कोल, डब्ल्यू० मेलोर, तथा रेकेट के प्रयास से इंगलैंड में राष्ट्रीय श्रेणी संघ की स्थापना हुई। तत्कालीन श्रेणियों में ग्लासगो और लीड्ज की दर्जी श्रेणियों तथा लंदन के पियानो कर्मचारी श्रेणी का महत्वपूर्ण स्थान है। लंदन की 'राष्ट्रीय निर्माण श्रेणी' ने युद्धकाल में कई महत्वपूर्ण ठेके लिए तथा महत्व के कार्य किए। दलीय 'शाप स्टिवर्ड' आंदोलन के द्वारा श्रमिकों ने युद्ध उद्योग में नियंत्रण की माँग की। खदानों के राष्ट्रीयकरण की माँग करनेवाले खदक संघ ने अपना कार्यक्रम बदल दिया और खदानों के स्वामित्व तथा गणतंत्रात्मक सिद्धांतों पर उसके नियंत्रण की माँग करना आरंभ किया। युद्धकाल में सरकार से भी इन श्रेणियों को सहायता मिलती रही। परंतु युद्ध के बाद १९२१ की मंदी इस आंदोलन के लिये घातक सिद्ध हुई। जब राष्ट्रीय निर्माण श्रेणी को सरकारी सहायता बंद हो गई तो वह श्रेणी समाप्त हो गई। 'शाप स्टिवर्ड' आंदोलन भी विच्छिन्न हो गया। सत्य तो यह है कि श्रेणी समाजवाद आंदोलन जन आंदोलन का रूप न ले सका और युद्ध की समाप्ति के कुछ ही वर्ष बाद यह आंदोलन ध्वस्त हो गया। आज यह केवल आर्थिक इतिहास का विषय भर रह गया है।

सं० ग्रं० — टॉज़िग : 'अर्थ शास्त्र के सिद्धांत'; अमरीकन तथा ब्रिटिश विश्वकोश। [उ० ना० पां०]

श्रेयांसनाथ जैनधर्म के ११वें तीर्थंकर माने गए हैं। उनके पिता का नाम विष्णु और माता का विष्णुश्री था। उनका जन्मस्थान सिंहपुर (सारनाथ) और निर्वाणस्थान संमेदशिखर माना जाता है। गैंडा इनका चिह्न था। श्रेयांसनाथ के काल में जैन धर्म के अनुसार अचल नाम के प्रथम बलदेव, त्रिपृष्ठ नाम के प्रथम वासुदेव और अश्वग्रीव नाम के प्रथम प्रतिवासुदेव का जन्म हुआ।

श्रेयांस एक राजा का भी नाम था। वह भरत चक्रवर्ती का पुत्र था और हस्तिनापुर का निवासी था। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को इक्षुरस का आहार देकर राजा श्रेयांस ने उन्हें प्रथम पारणा कराई थी।

भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ को भी श्रेयांस नाम से कहा गया है। [ज० चं० जै०]

श्रौतसूत्र श्रुतिविहित कर्म को श्रौत एवं स्मृतिविहित कर्म को स्मार्त कहते हैं। श्रौत एवं स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान की विधि वेदांगकल्प के द्वारा नियंत्रित है। वेदांग छह हैं और उनमें कल्प प्रमुख है। पाणिनीय शिक्षा उसे वेद का हाथ कहती है। कल्प के अंतर्गत श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र समाविष्ट हैं। इनमें श्रौतसूत्र श्रौतकर्म के विधान, गृह्यसूत्र स्मार्तकर्म के विधान, धर्मसूत्र सामयिक आचार के विधान तथा शुल्बसूत्र कर्मानुष्ठान के निमित्त कर्म में अपेक्षित यज्ञशाला, वेदि, मंडप और कुंड के निर्माण की प्रक्रिया को कहते हैं। श्रौतसूत्र उन्हीं वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान का विधान करते हैं जो श्रौत अग्नि पर आहिताग्नि द्वारा अनुष्ठेय हैं। श्रौतसूत्र वस्तुत: वैदिक कर्मकांड का कल्पविधान है। श्रौतसूत्र के अंतर्गत हवन, याग, इष्टियाँ एवं सत्र प्रकल्पित हैं। इनके द्वारा ऐहिक एवं पारलौकिक फल प्राप्त होते हैं।

श्रौतसूत्र के अनुसार अनुष्ठानों की दो प्रमुख संस्थाएँ हैं जिन्हें

हविःसंस्था तथा सोमसंस्था कहते हैं। स्मार्त अग्नि पर क्रियमाण पाकसंस्था है। इन तीनों संस्थाओं में सात सात प्रभेद हैं जिनके योग से २१ संस्थाएँ प्रचलित हैं। हविःसंस्था में देवताविशेष के उद्देश्य से समर्पित हविर्द्रव्य के द्वारा याग किया जाता है। सोमसंस्था में श्रौताग्नि पर सोमरस की आहुति की जाती है तथा पश्वालंभन भी विहित है। इसीलिये ये पशुयाग हैं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त अग्निचयन, राजसूय और अश्वमेध प्रभृति याग तथा सारस्वतसत्र प्रभृति सत्र एवं काम्येष्टियाँ हैं।

श्रौतकर्म के दो प्रमुख भेद हैं। नित्यकर्म जैसे अग्निहोत्रहवन तथा नैमित्तिकर्म जो किसी प्रसंगवश अथवा कामनाविशेष से प्रेरित होकर यजमान करता है। स्वयं यजमान अपनी पत्नी के साथ ऋत्विजों की सहायता से याग कर सकता है। यजमान द्वारा किए जानेवाले क्रियाकलाप, ऋत्विजों के कर्तव्य, प्रत्येक कर्म के आराध्य देवता, याग के उपयुक्त द्रव्य, कर्म के अंग एवं उपांगों का सांगोपांग वर्णन तथा उनका पौर्वापर्य क्रम, विधि के विपर्यय का प्रायश्चित्त और विधान के प्रकार का विधिवत् विवरण श्रौतसूत्र का एकमात्र लक्ष्य है।

श्रौतकर्मों में कुछ कर्म प्रकृतिकर्म होते है। इनके सांगोपांग अनुष्ठान की प्रक्रिया का विवरण श्रौतसूत्रों मे प्रतिपादित किया है। जिन कर्मों की मुख्य प्रक्रिया प्रकृतिकर्म की रूपरेखा में आबद्ध होकर केवल फलविशेष के अनुसंधान के अनुरूप विशिष्ट देवता या द्रव्य और काल आदि का ही केवल विवेचन है वे विकृतिकर्म हैं, कारण श्रौतसूत्र के अनुसार 'प्रकृति भाँति विकृतिकर्म करो' यह आदेश दिया गया है। इस प्रकार श्रौतसूत्रों के प्रतिपाद्य विषय का आयाम गंभीर एवं जटिल हो गया है, कारण कर्मानुष्ठान में प्रत्येक विहित अंग एवं उपांग के संबंध में दिए हुए नियमों का प्रतिपालन अत्यंत कठोरता के साथ किया जाना अदृष्ट फलावाप्ति के लिये अनिवार्य है। श्रौतकर्म के अनुष्ठान में चारो वेदों का सहयोग प्रकल्पित है। ऋग्वेद के द्वारा होतृत्व, यजुर्वेद के द्वारा अध्वर्युकर्म, सामवेद के द्वारा उद्गातृत्व तथा अथर्ववेद के द्वारा ब्रह्मा के कार्य का निर्वाह किया जाता है। अतएव श्रौतसूत्र वेदचतुष्टयी से संबंध रखते है। यजमान जिस वेद का अनुयायी होता है उस वेद अथवा उस वेद की शाखा की प्रमुखता है। इसी कारण यज्ञीय कल्प में प्रत्येक वेदशाखानुसार प्रभेद हो गए है जिनपर देशाचार, कुलाचार आदि स्वीय विशेषताओं का प्रभाव पड़ा है। इसी कारण कर्मानुष्ठान की प्रक्रिया मे कुछ अवांतर भेद शाखा-भेद के कारण चला आ रहा है और हर शाखा का यजमान अपने अपने वेद से संबद्ध कल्प के अनुशासन से नियंत्रित रहता है। इस परंपरा के कारण श्रौतसूत्र भी वेदचतुष्टयी की प्रभिन्न शाखा के अनुसार पृथक् पृथक् रचित हैं। ये रचनाएँ दिव्यदर्शी, कर्मनिष्ठ महर्षियों द्वारा सूत्रशैली में रचित ग्रंथ हैं जिनपर परवर्ती याज्ञिक विद्वानों के द्वारा प्रणीत भाष्य एवं टीकाएँ तथा तदुपकारक पद्धतियाँ एवं अनेक निबंधग्रंथ उपलब्ध हैं। इस प्रकार उपलब्ध सूत्र तथा उनके भाष्य पर्याप्त रूप से प्रमाणित करते हैं कि भारतीय साहित्य में इनका स्थान कितना प्रमुख रहा है। पाश्चात्य मनीषियों को भी श्रौत साहित्य की महत्ता ने अध्ययन की ओर आवर्जित किया जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संपादित अनेक अनर्घ संस्करण आज उपलब्ध हो रहे हैं। [म० बा० द्वि०]

श्लीपद या फीलपाँव (Elephantiasis) पाँव का फूलकर हाथी के पाँव के समान हो जाने का द्योतक है, परंतु यह आवश्यक नहीं कि पाँव ही सदा फूले; कभी हाथ, कभी अंडकोष, कभी स्तन आदि विभिन्न अवयव भी फूल जाते हैं।

श्लीपद सदा फाइलेरिया बैंक्रॉफ्टी (Filaria Bancrofti) नामक विशेष प्रकार के कृमियों द्वारा होता है और इसका प्रसार क्यूलेक्स (Culex) नामक विशेष प्रकार के मच्छरों के काटने से होता है। इस कृमि का स्थायी स्थान लसीका (lymph) वाहिनियाँ है, परंतु ये निश्चित समय पर, विशेषतः रात्रि में, रक्त में प्रवेश कर भ्रमण करते रहते हैं। कभी कभी ये ज्वर तथा लसीका-वाहिनियों में शोथ उत्पन्न कर देते हैं। यह शोथ न्यूनाधिक होता



श्लीपद का रोगी

रहता है, परंतु जब ये कृमि अंदर ही अंदर मर जाते हैं, तब लसीका-वाहिनियों का मार्ग सदा के लिये बंद हो जाता है और उस स्थान की त्वचा मोटी तथा कड़ी हो जाती है। लसीका वाहिनियों के मार्ग बंद हो जाने से यदि अंग फूल जाएँ, तो कोई भी औषध ऐसी नहीं है जो अवरुद्ध लसीकामार्ग को खोल सके। कभी कभी किसी किसी रोगी में शल्यकर्म द्वारा लसीकावाहिनी का नया मार्ग बनाया जा सकता है। इस रोग के समस्त लक्षण फाइलेरिया के उग्र प्रकोप के समान होते हैं।

उपचार — यद्यपि इसके कृमि और अंडो को मारनेवाली किसी भी औषध का ज्ञान नहीं हो पाया है, तथापि श्लीपद अवस्था उत्पन्न होने के पूर्व, जब इस रोग के अंडे रक्त और लसीका में भ्रमण कर रहे होते है, तब हेट्राज़ान (Hetraazan) तथा इसके समकक्ष अन्य औषधियों से पर्याप्त लाभ होता है। शल्यकर्म श्लीपद का एकमात्र उपचार है। [प्रि० कु० चौ०]

श्वसन (Respiration) साँस लेने की क्रिया है। साँस लेने मे दो कार्य होते हैं। एक कार्य में बाहर की वायु शरीर के अंदर फुप्फुस में जाती है। इसे निश्वसन (inhalation) कहते हैं। दूसरे कार्य में शरीर की दूषित वायु शरीर के बाहर निकलती है।

इसे उच्छ्वसन (exhalation) कहते हैं। ये दोनों कार्य साथ साथ चलते हैं। इसके लिये प्राणी को कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। जीवित प्राणियों का यह आवश्यक कार्य है और प्राण-रक्षा के लिये ऐसा संतत होता रहता है। निश्वसन से शरीर की कोशिकाओं को ऑक्सीजन प्राप्त होता है। उच्छ्वसन से शरीर का कार्बन डाइऑक्साइड बाहर निकलता है। इस प्रकार शरीर की कोशिकाओं के बीच गैसों के स्थानांतरण को आंतरश्वसन (internal respiration) कहते हैं। शरीर की कोशिकाओं को, अपने कार्य के सुचारु रूप से संचालन के लिये, ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। यदि आवश्यक मात्रा में कोशिकाओं को ऑक्सीजन न मिले, तो उनका कार्य शिथिल हो जायगा और ऑक्सीजन के पूर्ण अभाव में कोशिकाओं का कार्य तुरंत ठप पड़ जाएगा। सभी जीवित कोशिकाएँ उच्छिष्ट उत्पाद (waste product) के रूप में कार्बन डाइऑक्साइड उत्पन्न करती हैं। हमारे आहार में जो कार्बन रहता है, वह ऑक्सीजन की सहायता से ऑक्सीकृत होकर कार्बन डाइऑक्साइड बनता है और इस क्रिया से हमे ऊष्मा और ऊर्जा प्राप्त होती है।

सभी प्राणियों की, छोटे हो या बड़े, सूक्ष्म हों या विशाल, कोशिकाओं को किसी न किसी रूप में श्वसन की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्यों की भाँति पेड़ पौधे भी साँस लेते हैं। उनकी पत्तियाँ वायु के ऑक्सीजन का अवशोषण करती और कार्बन डाइऑक्साइड निकालती हैं। इसके अतिरिक्त पेड़ पौधे एक और कार्य, जिसे प्रकाश संश्लेषण कहते हैं, करते है। यह कार्य सूर्यप्रकाश में ही होता है। इस कार्य में वे वायु के कार्बन डाइऑक्साइड का अवशोषण करते हैं: कार्बन डाइऑक्साइड के कार्बन को वे ग्रहण कर वृद्धि प्राप्त करते और उसके ऑक्सीजन को वायु में छोड़ देते है। इससे वायु का शोधन होता है। यह कार्य दिन में सूर्य के प्रकाश में ही होता है।

प्राणी सुप्त या जाग्रत दोनों अवस्थाओं में साँस लेते है। इसके लिये उन्हें कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। यह आपसे आप होता रहता है। यदि साँस को कुछ क्षण के लिये रोकना चाहें, तो उसके लिये इन्हें विशेष प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। पर ऐसा कुछ क्षण के ही लिये किया जा सकता है। शीघ्र ही प्राणियों में लयात्मक श्वसन शुरू हो जाता है।

श्वसनक्रिया में ऑक्सीजन का ग्रहण और कार्बन डाइऑक्साइड का निष्कासन साथ साथ चलता है। मानव फुप्फुस अनेक छोटे छोटे वायुकोशों (sacs) से बना होता है। इन कोशो को वायुकोष्ठिका (Alveoli) कहते हैं। कोशों की दीवारें बड़ी पतली होती है और उनमें क्षुद्र रुधिरवाहिनियों का जाल बिछा हुआ रहता है। इन रुधिर-वाहिनियों को केशिका (Capillaries) कहते हैं। साँस द्वारा जो वायु फुप्फुस में जाती है, वह वायुकोष्ठिकाओं में प्रवेश करती और वहाँ रुधिरवाहिनियों के संपर्क में आती है। यहाँ रुधिर वायु के ऑक्सीजन का अवशोषण करता है और कार्बन डाइऑक्साइड को दे देता है। निश्वसन और उच्छ्वसन के बीच बड़ा अल्प विराम (pause) होता है। जल्दी जल्दी साँस लेने से विराम की अवधि बहुत कम हो जाती है और अंत में उसका सर्वथा अभाव हो जाता है।

निश्वसन और उच्छ्वसन वक्ष की पेशियों की क्रिया से होता है। हमारा फुप्फुस एक खोखले गर्त के अंदर रहता है। इसे वक्षगुहा (Thoracic, or Chest, cavity) कहते हैं। इसका विस्तार न्यूनाधिक हो सकता है। निश्वसन के समय वक्षगुहा का बहुत प्रसार होता है। इस प्रसार के दो कारण है: (१) ऊपरी वक्षगुहा और निचली उदरीय गुहा के बीच में एक कलशाकार ढक्कन, या मध्यपट या डायफ्राम (diaphragm) रहता है। यह मध्यपट चिपटा होता है। इसके कारण वक्षगुहा को अधिक स्थान मिल जाता है, (२) प्रसार का दूसरा कारण पसलियों का ऊपर, या पार्श्व की ओर, हट जाना है। इससे वक्षगुहा को प्रसार का स्थान मिल जाता है।

फुप्फुस वक्षगुहा को, कितना ही बड़ा वह क्यों न हो, पूरा भर देता है। निश्वसन के समय जब वक्षगुहा का प्रसार होता है, तब फुप्फुस भी बड़े स्थान को भर देने के लिये फैलता है। प्रसार के कारण फुप्फुस के अंदर की वायु का दबाव कम हो जाता है, तब श्वासनली द्वारा वायु बाहर से खींच ली जाती है। उच्छ्वसन के समय की क्रिया ठीक इसके प्रतिकूल होती है। वक्षगुहा के छोटी हो जाने के कारण फुप्फुस से वायु बाहर निकलती है। फुप्फुस का वास्तव में प्रसारण या संकोचन नहीं होता। यह केवल वायु को निकालना या खींच लेता है। ऐसा वक्षगुहा के प्रसार और संकोचन से होता है।

जब कोई व्यक्ति धीरे धीरे शांत भाव से बिना किसी प्रयास के साँस लेता है, तब वह प्रत्येक साँस में एक पाइंट वायु अंदर खींचता या बाहर निकालता है। वायु की इस मात्रा को प्राणवायु (tidal air) कहते हैं। सामान्य दशा मे शरीर की आवश्यकताओं के लिये इतनी वायु खींचना और कार्बन डाइऑक्साइड का निकालना पर्याप्त होता है। जब मनुष्य गहरी साँस लेता है, तब फुप्फुस मे लगभग चार क्वार्ट वायु अँट सकती है। इस मात्रा को श्वासधारिता (vital capacity) कहते हैं। वृद्ध व्यक्तियों की अपेक्षा स्वस्थ युवकों और कसरती मनुष्यों में श्वासधारिता अधिक होती है। सामान्य रूप से साँस लेने में फुप्फुस ऊतक का प्राय: चतुर्थांश भाग ही फैलता है। इससे प्रत्येक साँस में फुप्फुस को पर्याप्त ताजी वायु नहीं मिलती। इसी से गहरी साँसवाले व्यायाम अधिक लाभप्रद होते हैं। उसमे फुप्फुस अधिक पूर्णता से भरकर पूरा फैलता है। इससे फुप्फुस के रुधिर परिसंचरण में सहायता मिलती है। योग संबंधी व्यायामों का भी इसी कारण अधिक महत्व है।

साँस गहरी और जल्द जल्द चलनेवाली हो सकती है। इससे शरीर की कोशिकाओं को अपनी आवश्यकता के लिये पर्याप्त ऑक्सीजन की प्राप्ति हो जाती है। यदि हमें किसी ऊँचे पहाड़ पर चढ़ना है, तो जल्दी जल्दी साँस लेने की आवश्यकता इस कारण पड़ती है कि अधिक ऊँचाई पर वायु में ऑक्सीजन की मात्रा कम रहती है। अत: आवश्यक ऑक्सीजन की पूर्ति के लिये हमें जल्दी जल्दी साँस लेकर, अधिक वायु के लेने की आवश्यकता पड़ती है।

जो पेशियाँ पसलियों को उठाती और डायफ्राम को चिपटा बनाती हैं, उनके लिये तंत्रिका आवेग (nerve impulse) की आवश्यकता पड़ती है। यह आवेग मस्तिष्क के निचले भागों से चलता है। इस भाग की कोशिकाओं को श्वसनकेंद्र (respiratory centre)

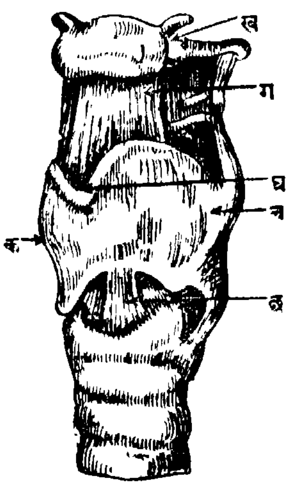
कहते हैं। यह केंद्र संतत लयबद्ध सक्रियता में रहकर, तंत्रिका द्वारा श्वसन पेशियों को आवेग भेजता है। ये पेशियाँ तब वक्षगुहा का प्रसार करती हैं, जिससे फिर फुफ्फुस का प्रसार होता है।

कभी कभी, विशेषकर कठिन शारीरिक परिश्रम करने के समय, कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा अधिक बनती है, तब कार्बन डाइऑक्साइड रुधिर में जमा हो जाता है। वहाँ से वह सारे शरीर में फैल जाता है। मस्तिष्क का श्वसनकेंद्र कार्बन डाइऑक्साइड के प्रति बड़ा सुग्राही होता है। रुधिर में कार्बन डाइऑक्साइड की अल्प वृद्धि होने पर भी, और ऐसे रुधिर के मस्तिष्क में पहुँचने पर, मस्तिष्क की तंत्रिका-कोशिकाएँ अधिक सक्रिय हो जाती हैं और केंद्र अधिकाधिक आवेग श्वसन तंत्रिका को भेजता है, जिससे व्यक्ति बड़ी जल्दी जल्दी साँस लेने लगता है। जल्दी जल्दी साँस लेने से कार्बन डाइऑक्साइड निकल जाता है और तब श्वसन की गति सामान्य हो जाती है। [फू० स० व०]

श्वसनतंत्र की रचना ईसा से १,००० वर्ष पूर्व, भारत के महर्षियों को इस तंत्र की रचना का ज्ञान समुचित रूप से था, जैसा चरक, सुश्रुत आदि के ग्रंथों के अवलोकन से ज्ञात होता है।

पाश्चात्य शरीर-रचना-शास्त्र के अनुसार श्वसनतंत्र इन छह अंगों द्वारा निर्मित होता है : नासागुहा (Nasal cavity), ग्रसनी (Pharynx), कंठ (Larynx), श्वासनली (Trachea), श्वसनी (Bronchus) तथा फुफ्फुस (Lungs)।

नासा गुहा — शरीररचना अनुसार गंध ग्रहणतंत्र नासागुहा से बना हुआ है। इसका ऊपरी भाग गंधग्राही श्लेष्मकला से संलग्न रहता है तथा निम्न भाग श्वसन अंग का कार्य करता है। नासिका का अस्थिढाँचा खोपड़ी का ही एक भाग है, जिसमें नासिका का ऊपरी भाग आश्रित है तथा निम्न भाग केवल उपास्थियों से निर्मित हैं। नासा के दोनों ओर के बाह्य विस्तृत हिस्से, नासिका एला (ala), त्वचा तथा वसातंतवीय ऊतक से निर्मित रहते हैं। नासागुहा, नासापट (nasal septum) द्वारा दो गुहाओं में विभाजित होती है। नासापट का निचला दो तिहाई भाग स्थूल एवं अधिक रुधिरवाहिनियों वाली श्लेष्मकला से, जो स्तंभाकार, पक्ष्माभिकामय उपकला (columnar ciliated epithelium) तथा गुच्छकोष्ठक (acinus) ग्रंथिसमूहों से निर्मित होती है, आवृत है। नासापट का ऊपरी हिस्सा विशिष्ट गंधग्राही कला से आवृत रहता है। ऊपर की ओर झर्झरिका (ethnoid) अस्थि, नीचे की ओर सीरिका (vomer) तथा नासापट की उपास्थि अग्र भाग में, यही नासापट का ढाँचा है। नासागुहा की बाह्य दीवार में तीन कुहर (meatuses) रहते है, जो तीन नासालट्टूरूपी (turbinated) अस्थियों के लटकने के कारण बनते है। उच्च नासालट्टू के ऊपर तथा नासागुहा छत के मध्य, एक अवकाश (space) है, जिसको जतुक-झर्झरिका-दरी (Spheno-ethmoial recess) कहते हैं। इस अवकाश के पश्चभाग में जतुक वायुकोशिका खुलती है। ऊपरी एवं मध्य नासालट्टू के बीच में उच्च कुहर (superior meatus) है, जिसमें पश्चझर्झरी-वायुकोशिका खुलती है। मध्य एवं निम्न लट्टूरूपी अस्थि के मध्य में मध्यकुहर है, जो तीनों कुहरों में सबसे बड़ा है तथा इसमें गोल उभार है, जिसे झर्झरिका कंद (Bulla ethemoidalis) कहते हैं। इस झर्झरिका कंद के पीछे ऊपरी ओर, मध्यझर्झरी वायुकोशिका खुलती है तथा नीचे की ओर अग्र भाग में एक हँसुए के आकार की नाली रहती है, जिसे अर्धचंद्रभंग (Hiatus semiluneris) कहते हैं, जो ऊपर पूर्व कपाल वायुकोशिका और नीचे की ओर जंभिका गह्वर (maxillary antrum) को जोड़ता है। जब निम्न नासाशुक्तास्थि उठती है, तो नासावाहिनी (nasal duct) का द्वार दिखाई देता है।



चित्र १. कंठ (सम्मुख दृश्य)

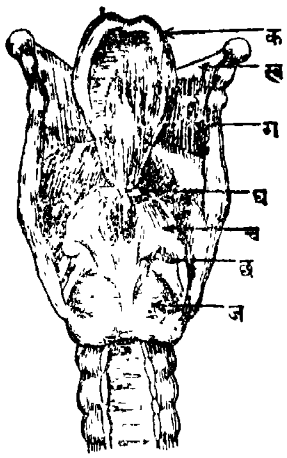
क. कंठमणि (Adam's apple); ख. हाइड अस्थि; ग. अवटुग्रंथि कला; घ. अवटुग्रंथि गर्त; च. अवटुग्रंथि उपास्थि तथा छ. क्रिको-थायरॉयड स्नायु।

नासामूल संकीर्ण है तथा गंधवह तंत्रिकाएँ यहाँ से झर्झरास्थि के छिद्रित पट्ट से होकर गुजरती है। नासा का फर्श भाग चौड़ा होता है।

ग्रसनी — इसकी रचना एक गह्वर के समान है, जिसमें नासिका तथा मुखगुहा खुलती हैं। यह नीचे की ओर अन्ननलिका से संबंधित है, जहाँ कंठ की रचना नीचे और सामने की ओर रहती है। अग्र भाग में नासा तथा मुखगुहा खुलने के अनुसार इसके भी दो भाग हैं : नासाग्रसनी तथा मुखग्रसनी। इस गह्वर के बगल तथा पीछे की ओर तीन संकीर्णक (constrictor) मांसपेशियाँ रहती हैं, जो इसका निर्माण भी करती हैं। आंतरिक भाग मोटी श्लेष्मकला से बना है। ग्रसनी ऊपर पालास्थि से तथा नीचे त्रयंगिकापट्ट (pterygoid plate) से टिकी तथा तनी रहती है। निचले भाग मे अग्र पश्च दीवारें सटी रहती हैं। इसकी सामने की दीवार में कठोर तालु के पीछे एक मृदुतालु (soft palate) रहता है, जो ऊपर नासाग्रसनी तथा नीचे मुखग्रसनी को अलग करता है। मृदुतालु के स्वतंत्र किनारे के मध्य में मांसल अलिजिह्वा (uvula) होती है। मृदुतालु के ऊपर, नासाग्रसनी के दोनों तरफ, यूस्टेकी नलिका (eustachian tube) का त्रिकोणाकार मुख खुलता है, जिसके द्वारा वायुचलन कर्णपटह (tympanum) तक होता है।

इस छिद्र के पीछे ग्रसनी में लसीकाभ तंतुओं का समूह है, जिसे ग्रसनी टांसिल कहते हैं। यह ऐडिनाइड (adenoid) रोग में वृद्धि करता है।

मुखग्रसनी ऊपर की ओर, नासाग्रसनी से मृदु तालु की स्वतंत्र धारा द्वारा विभाजित है। मुखग्रसनी के अग्र भाग में मुखगुहा है। इसके दोनों ओर मृदु तालु से जिह्वा तक श्लेष्माकला के दो वलन



चित्र २. कंठ (पश्च दृश्य)

क. घांटी ढक्कन (Epiglottis); ख. हाइड अस्थि; ग. अवटुग्रंथि कला; घ. श्रृंगी उपास्थि (Corniculate cartilage); च. दर्विकाभ उपास्थि (Arytenoid cartilage); छ. पश्च - वलय - दर्विका स्नायु तथा ज. मुद्रिका उपास्थि (Cricoid cartilage)।

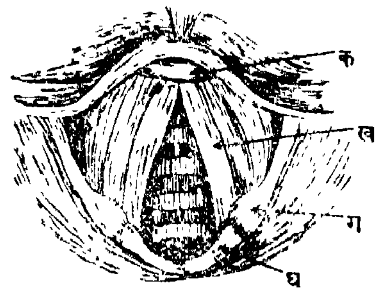
(folds) हैं। इनके अंदर अग्र वलन में तालुजिह्विका तथा पश्च वलन में तालुकंठिकापेशियाँ रहती हैं। अग्र वलन मुखगुहा को मुखग्रसनी से विभाजित करता है। इन दोनों वलनों के मध्य का निम्न भाग गुटिका विवर (tonsillar sinus) कहलाता है, जिसमें गलगुटिका (tonsil) रहती है।

टांसिल, यह अंडाकार रचना है, जो लसीकाभ ऊतक द्वारा निर्मित होती है तथा श्लेष्माकला द्वारा आच्छादित रहती है, यह रुधिर-वाहिनियों द्वारा घिरी रहती है। यहाँ पाँच धमनियाँ एकत्र होती है। बाह्य त्वचा की ओर से यह चिबुकास्थि के कोण पर स्थित है।

टांसिल के नीचे, ग्रसनी की अग्रसीमा जिह्वा के पश्च भाग या ग्रसनी की सतह से निर्मित होती है तथा इसके नीचे का भाग घांटी-ढक्कन (epiglottis) एवं कंठ के ऊपरी द्वार से निर्मित होता है।

कंठ का ऊपरी द्वार पार्श्व में दर्विकाभ घांटीढक्कन वलन (arytenoid epiglottis fold) से सीमित है। इन वलनों के पार्श्व में नाशपाती के आकार के नालरूपी कोटर (sinus pyriformis) नाम के दो गर्त रहते हैं। इनके नीचे ग्रसनी संकुचित होने लगती है, जब तक मुद्रिका उपास्थि (cricoid cartilage) छठे कशेरुक तक न पहुँच जायें। नासाग्रसनी की श्लेष्माकला तथा श्वसननलिका का बचा हुआ भाग भी स्तंभ उपकला से बना होता है। पद मुखग्रसनी में उपकला स्तरित, शल्की प्रकार की होती है। असंख्य द्राक्षाभ ग्रंथियाँ (racemose glands) यहाँ रहती है एवं लसीकाभ ऊतक (lymphoid tissue) भी विकृत रहता है, जो बालकों में विशेष रूप से होता है।

(३) कंठ (Larynx) — यह वायुनलिका का ऊपरी भाग है तथा ध्वनि के नाना तारत्व (pitch) के स्वरों (notes) की उत्पत्ति करता है। यह पूर्ण स्वर के लिये जिम्मेदार नहीं है।



चित्र ३. कंठ की संरचना

क. घांटीढक्कन गुलिका (Epiglottis tubercle); ख. वाक् वलन (Vocal fold); ग. फानाकार उपास्थि (Cuneiform cartilage) तथा घ. श्रृंगी उपास्थि (Corniculate cartilage).

इसका ढाँचा उपास्थि का बना हुआ है, जो मांसपेशियों द्वारा गतिमान होती है। अंदर की ओर इसमें श्लेष्माकला का अस्तर होता है। यह ग्रसिका के सामने स्थित है तथा चार, पाँच तथा छह ग्रीवाकशेरुक तक विस्तृत रहता है। कंठ में अवटु उपास्थि (thyroid cartilage) सबसे बड़ी उपास्थि है, जिसके दो पट्ट अग्र भाग में मध्य अधररेखा में जुड़े रहते हैं। इसकी दूसरी सीमा पर मध्य में अवटु गर्त के ठीक नीचे मध्य अधर रेखा (mid ventral) में एक उभरा हुआ भाग है, जो युवावस्था में अधिक उभरता है। इसे आदम का सेब कहते हैं। इस उपास्थि के पश्च किनारे का ऊपरी कोना श्रृंग (cornu) रूप में रहता है, जिसपर पार्श्वीय अवटु स्नायु लगी रहती है। यह स्नायु ऊपर कंठिका अस्थि (hyoid bone) के बृहत् श्रृंग (superior cornu) पर भी लगी रहती है। इसकी मुद्रिका उपास्थि (cricoid cartilage) एक अंगूठी के समान होती है। इसके ऊपरी किनारे पर अग्रमध्य भाग मे वलयावटु (crico-thyroid) कला का मध्यवर्ती भाग लगा रहता है तथा यह कला अवटु उपास्थि के निचले किनारे पर लगती है। कंठ की लंबाई ३८ से ४४ मिमी० होती है।

इस कला का पार्श्वीय भाग भीतर से ऊपर, जहाँ अवटु उपास्थि है, और उसके ऊपरी स्वतंत्र किनारे तक, जहाँ वास्तविक वाक्तंतु (vocal cords) बनता है, जाता है। मुद्रिका के सिगनेट (segnet) भाग के ऊपर दो दर्विकाभ (arytenoid) अस्थियाँ रहती हैं, जो पिरामिड बनाती हैं और जिसकी चोटी ऊपर होती है। इस अस्थि का तल उन्नतोदर होकर मुद्रिका के साथ संधि बनाता है, जो वलय-

दर्विकाकला से घिरी रहती है। ये दर्विकाभ उपास्थियाँ आपस में **फिसलती** रहती हैं तथा लंब अक्ष पर घूमती रहती हैं। इनके तल के **प्रवर्ध** पर वास्तविक वाक्तंतु संलग्न रहते हैं तथा तल के बाहरी मजबूत प्रवर्ध पर वलयदर्विका (crico arytenoid) मांसपेशियाँ संलग्न रहती हैं।

घाँटी ढक्कन (Epiglottis) — यह पत्राकार ढक्कन है तथा कंठपेटी के ऊपर रहता है। इसका अग्रतल जिह्वा एवं कंठिका अस्थि से संलग्न है तथा पश्चतल कंठ के ऊर्ध्वमुख पर झुका रहता है। यह भोजन को कंठ में जाने से रोकता है। इसका डंठल अवटु अस्थि से कंठ के भीतरी भाग तक लगा रहता है। पत्र का ऊपरी भाग कंठिका अस्थि से, तथा जिह्वामूल के समीप, लगता है।

कंठ की केवल तीन उपास्थियों को छोड़कर, जो पीत लचीली प्रकार की होती हैं, प्रायः सभी उपास्थियाँ काचाभ (hyaline) प्रकार की होती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इन तीनों उपास्थियों को छोड़कर अन्य सब उपास्थियाँ युवावस्था में अस्थियों में परिवर्तित हो जाती हैं।

कंठ की मांसपेशियाँ — प्रथम पेशी वलयावटु (crico thyroidens) है यह अवटु के अधोभाग पर लगी रहती है। इसका अगला हिस्सा मुद्रिका को ऊपर की ओर खींचता हुआ सिगनेट का ऊपरी हिस्सा बनाता है, जहाँ दर्विकाभ इससे लगा रहता है तथा पीछे की ओर गति करता है और वाक्तंतु को ठीक से ताने रखता है।

द्वितीय पेशी — अवटु दर्विकाभ के पक्षक (alae) के जोड़ से पीछे की ओर जाती है तथा दर्विकाभ के सामने तथा घाँटी ढक्कन के बगल में रहती है। ये दर्विकाभ को अवटु की ओर खींचती हैं और तंतु को ढीला करती हैं ताकि वे सट जायँ। तृतीय पेशी, दर्विकाभ पेशी है। यह एक होती है। यह दर्विकाभ के पीछे से चलती है तथा उपास्थियों को सम समान रखती है। इसके दो भाग होते हैं एक तिर्यक् तथा दूसरा अनुप्रस्थ। चतुर्थ पेशी, पार्श्वीय वलय दर्विका (crico arytenoid) पेशी है। यह दर्विकाभ अस्थि के पेशीप्रवर्ध को आगे की ओर खींचती है और इस तरह स्वरप्रवर्ध और तंतुओं को मोड़ देती है। पंचम पेशी, पश्च वलयदर्विका है, जो सिगनेट भाग के पिछले भाग से लेकर दर्विकाभ के प्रवर्ध के पीछे तक रहती है। यह स्वरप्रवर्ध को पीछे खींचकर वाक्तंतु को पिलग करती है।

केवल वलयावटु पेशी को, जो ऊर्ध्व स्वरतंत्रिका की बाह्य शाखा से संचालित होती है, छोड़कर अन्य चारों पेशियाँ आवर्तक (recurrent) स्वरतंत्रिका द्वारा संचालित होती हैं।

कंठ की श्लेष्माकला ग्रसनी की कला से संतत जारी रहती है, विशेषतः दर्विघाँटी ढक्कन वलय (aryteno-epiglottis fold) पर घाँटी ढक्कन के पार्श्व से दर्विकाभ उपास्थि के शिखर तक जाती है। इन वलयों के बाहर की ओर प्लांडुरूपी विवर रहता है। अवटु के पक्षक (alae) के संयोजन के मध्य से लेकर दर्विकाभ के स्वरप्रबंध तक यह कला परावर्तित एवं संलग्न रहती है। वलयावटु कला के पार्श्वीय स्वतंत्र भाग ही स्वररज्जु बनाते हैं। स्वतंत्र स्वररज्जुओं के मध्य के खात को घाँटी (Glottis) कहते हैं। स्वररज्जुओं के ऊपर आगे से पीछे की ओर खात है, जिसे कंठविवर (laryngeal sinus) कहते हैं। इस खात में कंठ लघुकोश (laryngeal saccule) का मुख रहता है। कंठविवर के ऊपरी भाग को कूट स्वररज्जु कहते हैं।

घाँटी ढक्कन और स्वररज्जु पर श्लेष्मल कला संलग्न है, परंतु अन्य जगह पर्याप्त श्लेष्मल ऊतक रहते हैं। कंठ के ऊपरी भाग के अग्र एवं पार्श्व में शल्की उपकला (squamous epithelium) रहती है, परंतु और स्थानों पर स्तंभाकार या पक्ष्माभिकोमय उपकला रहती है। इसकी तंत्रिका ऊर्ध्व स्वरतंत्रिका (वेगस की शाखा) है।

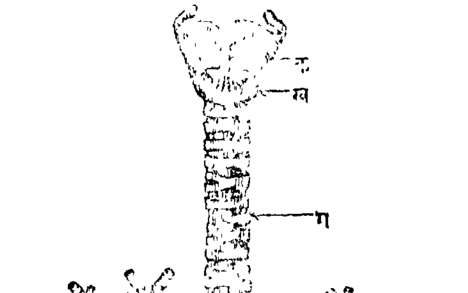
श्वासनली (Trachea) — यह ४ से ४।। इंच लंबी वायुनलिका है। वायु, नासा से ग्रसनी में होकर, कंठ से गुजरकर इस नली से फुप्फुस को जाती है। इसका कुछ भाग गर्दन में तथा कुछ वक्ष में रहता है। यह नली कंठ के अधोभाग से प्रारंभ होकर पंचम वक्ष कशेरुक के ऊपरी किनारे पर दो श्वासप्रणालियों (bronchi) में विभाजित हो जाती है। यह नलिका अस्थियों के छल्लों से बनी होती है। इसके पीछे ग्रसिका (oesophagus) रहती है। इसके सामने और पार्श्व में अवटु ग्रंथि रहती है। इसके वाम पार्श्व में अनामी शिरा (innominate vein), धमनी तथा महाधमनी (aorta) का चाप रहता है। इसका ग्रीवा भाग १ इंच का है। इसी भाग में ट्रेकियाटॉमी नामक शल्यकर्म किया जाता है। यह फाइब्रो-इलैस्टिक तंतु से निर्मित है तथा तरुणास्थियों के छल्लों का पृष्ठ भाग अनैच्छिक मांसपेशियों से निर्मित होता है। जब ये मांसपेशियाँ संकुचित होती हैं तब श्वासनली का व्यास एवं परिधि कम हो जाती है। इसके भीतर उपकला में स्तंभाकार उपकला रहती है।

श्वसनी — दो नलिकाएँ हैं, जिनमें श्वासनली विभाजित होकर फुप्फुस के मध्यभाग तक जाती है। श्वसनी की संरचना श्वासनली के समान होती है। श्वसनी विभाजित होकर फुप्फुस के अलग अलग खंडों तथा प्रखंडों में जाती है। इनका एक भाग फुप्फुस से बाहर दूसरा फुप्फुस के अंदर रहता है। इनके संकुचित होने पर, श्वासोच्छ्वास में कठिनाई होती है, जैसा दमा रोग में देखा जाता है। प्रत्येक श्वसनी की कई सूक्ष्म शाखाएँ होती हैं।

फुप्फुस — दो पिरैमिड आकार के स्पंजी रुधिरवाहिनी अंग हैं। इनमें रुधिर ऑक्सीजनजनित रहता है। यह सामान्यतः गुलाबी रंग का होता है। नगरवासियों के फुप्फुस का रंग कार्बन जमा होने के कारण स्लेटी रंग का होता है। यह चारों ओर से फुप्फुसावरणी गुहा (pleural cavity) से आवृत रहता है। इसका शीर्ष ग्रीवा में रहता है तथा आधार (base) महाप्राचीरा पेशी पर। इसका बाह्य भाग (धरातल) उन्नतोदर तथा पर्शुकाओं की ओर रहता है। इसका भीतरी भाग (धरातल) हृदयावरण तथा महारुधिर वाहिनियों की तरफ रहता है और पश्च किनारा गोलाई लिए होता है एवं कशेरुक नली की ओर होता है।

प्रत्येक फुप्फुस दो खंडों में (lobes) में एक प्राथमिक विदर

(primary fissure) द्वारा विभाजित रहता है। यह विदर ऊपर से नीचे तिरछी दिशा में रहता है। दक्षिण फुप्फुस में एक और विदर रहता है, जिसके कारण यह तीन खंडों में विभाजित होता है तथा वाम फुप्फुस केवल दो खंडों में विभाजित रहता है। प्रत्येक फुप्फुस के, हृदय की ओर के धरातल पर मध्य भाग में नाभिक (hilum) रहता है, जहाँ से इसमें वाहिकाएँ, धमनियाँ तथा शिराएँ



चित्र ४. श्वासनली और श्वसनी

क. अवटुग्रंथि उपास्थि (Thyroid cartilage);
ख. मुद्रिका उपास्थि (Cricoid cartilage);
ग. श्वासनली तथा घ. श्वसनी।

प्रवेश करती हैं। इन्हें फुप्फुसमूल कहा जाता है। प्रत्येक फुप्फुस के इस मूल में फुप्फुसीय धमनी, शिरा तथा श्वसनी रहती है और तंत्रिकाओं का जाल एवं लसीका वाहिनियाँ तथा लसीका पर्व रहते हैं। फुप्फुस में जानेवाली धमनियाँ हृदय से अशुद्ध रुधिर को इसमे शुद्धि के लिये ले जाती हैं तथा निकलनेवाली शिराएँ फुप्फुस से शुद्ध रुधिर हृदय को लाती है। श्वसनी की शाखाएँ प्रशाखाएँ इसमे ऑक्सीजन वायु को ले जाती है तथा कार्बन डाईऑक्साइड को इसमे बाहर ले जाती हैं। रुधिर इस आशय में अपने कार्बन डाइऑक्साइड को त्यागकर ऑक्सीजन ग्रहण करता है। इसे ही रुधिर का शोधन कहते हैं। श्वसनी की अंतिम शाखाओं में उपास्थि नही होती। फुप्फुस एवं श्वसनी के इस भाग को कूपिका (Alcol) कहा जाता है। फुप्फुस के रुधिरवहन को फौप्फुसीय रुधिर परिवहन कहते हैं। सद्य:जात में फुप्फुस घन होते हैं। जन्म लेने ही पहला श्वसन होने पर फुप्फुस घन हो, अर्थात् पानी में डालने पर डूब जाता हो, तो यह माना जाता है कि शिशु मृतावस्था में पैदा हुआ था। मनुष्य एक फुप्फुस के द्वारा भी जीवित रह सकता है। फुप्फुसावरण की एक पर्त फुप्फुस पर सटी रहती है तथा दूसरी वक्षगुहा की दीवार के अंत:भाग पर। इन दोनों पर्तों के मध्य में चिकना तरल रहता है। [ल० बि० गु० तथा भा० प्रो०]

श्वसनतंत्र के रोग (Diseases of Respiratory System)

श्वसन तंत्र के रोगों में कुछ लक्षण तथा चिह्न, अकेले अथवा एक दूसरे के साथ, प्रकट होते हैं। ये इस प्रकार हैं : (१) कास या खाँसी, (२) कफोत्सारण, (३) फुप्फुसी रुधिरस्राव, (४) वक्ष में पीड़ा तथा (५) श्वासकृच्छ्रता अथवा मदश्वसन। इनके लाक्षणिक स्वरूप का जितनी शीघ्रता से अभिज्ञान किया जाय, निदान तथा चिकित्सा एवं रोग की साध्यासाध्यता में सुगमता होती है।

यदि शुष्क कास दीर्घकालिक स्वरूप का हो, तो इससे राजयक्ष्मा, या क्षय, अथवा फुप्फुस के कैंसर की आशंका की जा सकती है। इसी प्रकार घरघराहट युक्त कास श्वसन-मार्ग-संकीर्णक रोगों का सूचक होता है, यथा श्वास या दमा, श्वासमार्ग में स्थित बाह्यागत द्रव्य, श्वसनपथ की सव्रणता तथा श्वसन-नली-शोथ आदि। अर्बुद की स्थिति के कारण कंठ के स्वरयंत्र पर दबाव पड़ने से धातु ध्वानकास होने लगता है। एन्यूरिज्म (aneurysm), स्वररज्जु (vocal cord) के रोग, कर्णगूथ, अलिजिह्वा वृद्धि (uvula) एवं टॉन्सिल शोथ (tonsillitis) आदि रोगों में भी, विशेषत: बालकों में, कास एक प्रधान लक्षण होता है। इसी प्रकार विशिष्ट लाक्षणिक स्वरूप का कफोत्सारण भी फुप्फुस के किसी विशिष्ट रोग का सूचक होता है। न्यूमोकोकसजन्य न्यूमोनिया (pneumococal pneumonia) में मोरचे के रंग का कफ (बलगम) आता है। फ्रीडलैंडर की (Friedlander's) न्यूमोनिया में कफ अत्यंत चिपचिपा होता है। फुप्फुस विद्रधि एवं श्वासनालस्फीत (bronchiectasis) में दुर्गंधित कफ आता है और फुफ्फुसांतर्गत रक्ताधिक्य में झागदार एवं रक्तरंजित बलगम निकलता है।

फुफ्फुस से रुधिरस्राव प्राय: निम्न विकृतियों में होता है : श्वासनाल स्फीति, फुफ्फुसी राजयक्ष्मा, फुप्फुसी कैंसर, विद्रधि, फंगस एवं परजीवी रोग (parasitic diseases)। इसके अतिरिक्त कतिपय हृद्रोग, फ्रीडलैंडर दंडाणु न्यूमोनिया, कतिपय रक्तरोग, फुप्फुसी रुधिरवाहिनियों में रुधिर का थक्का बनने से, स्कर्वी रोग तथा फुप्फुस का आघातज क्षत होने पर भी रुधिरस्राव हो सकता है। रुधिरस्रावी विकृतियों में प्राय: रुधिरमिश्रित या रुधिररंजित कफ आता है।

उरोवेदना (छाती में दर्द) प्राय: फुप्फुसावरणशोथ (pleurisy) के कारण होती है (देखें फुप्फुसावरण शोथ), जो मुख्यत: राजयक्ष्मा तथा न्यूमोनिया आदि औपसर्गिक रोगों में पाया जाता है। यह वेदना तीव्र तथा चुभने की तरह होती है, जो प्राय: वक्ष के संमुख या पार्श्विक भाग में होती है तथा श्वसन के साथ और भी उग्र अनुभूत होती है। मध्यपट (diaphragm) को ढँकनेवाले फुप्फुसावरण की विकृति में पीड़ा वक्षस्थल में न होकर स्कंध, ग्रीवापार्श्व या कभी कभी उदर में ज्ञात होती है। उदरपीड़ा कभी कभी उंडुकशोथ (appendicitis) की पीड़ा के अनुरूप मालूम पड़ती है। कभी कभी शुष्क फुप्फुसावरण शोथ के पश्चात् फुप्फुसावरणअंतराल (फुप्फुसावरण के भित्तीय (parietal) तथा आशयिक, या विसरल, पर्तों के बीच के अवकाश) में सीरसी द्रव या पूय एकत्रित होकर, वक्षशोथ (hydrothorax) तथा पूयोरस (पायोथो-

रैक्स एंपायमा) की स्थिति उत्पन्न होती है। कैंसर की स्थिति में उपर्युक्त द्रव रक्तरंजित होता है। उरोवेदना कभी कभी हृदय, महाधमनी एवं पित्ताशय के रोगों में तथा पर्शुकाओं के आघातज क्षत एवं पर्शुकांतर तंत्रिकाशूल में भी पाई जाती है।

मंदश्वसन, या द्रुतश्वसन, शरीर में अपर्याप्त ऑक्सीजन का द्योतक होता है। कभी कभी यह साधारण होने से प्रायः आयास की स्थिति में ही, यथा प्रारंभिक वातस्फीति (emphysema) रोग में, प्रकट रूप से ज्ञात होता है। किंतु फुप्फुसगत रक्ताधिक्य, हृदात् एवं कंठ (larynx) तथा श्वासनली (trachea) में बाह्यागत, या अर्बुद अथवा शोथजन्य, अवरोध की स्थिति, डिप्थीरिया रोग में मंद या द्रुत श्वसन उग्र और स्थायी स्वरूप का होता है, और स्थिति के गंभीर एवं भयावह होने का सूचक होता है। श्वासनली श्वसनीशोथ, न्यूमोनिया, दमा, फुप्फुसी रक्ताधिक्य, सूत्रणरोग (fibrosis), राजयक्ष्मा, अनिष्टकारी धूम एवं धूलिकण के सूँघने से और फुप्फुस एवं उरोभित्ति के बीच वायु, रक्तपूय या अन्य द्रव का संचय होने पर भी श्वसनहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके तीव्र एवं उग्रस्वरूप होने पर प्रायः ओठों एवं नखों पर रक्तिमा के स्थान में नीलिमा होती है। न्यूनाधिक श्वसनहीनता फुप्फुसगत सभी औपसर्गिक रोगों में पाई जाती है। कभी कभी श्वसनपथ के पार्श्ववर्ती अंगों की विकृतियों से जब श्वासपथ पर दबाव पड़ता है, तब भी न्यूनाधिक श्वसनहीनता का उपद्रव लक्षित होता है।

श्वसनतंत्र के रोगों की उत्पत्ति मुख्यतः निम्न कारणों से होती है : विकारी उपसर्ग, विजातीय कणों एवं अनिष्टकारी धूमाघ्राण, फुप्फुसी रुधिर परिसंचरण की विकृति, ऐलर्जी एवं श्वसनपथ में अवरोधोत्पादक बाह्य द्रव्यों का प्रवेश।

प्रतिश्याय या जुकाम यद्यपि सामान्यतः साधारण रोग है, तथापि कभी कभी उपेक्षा के कारण यह अन्य गंभीर रोगों की उत्पत्ति तथा श्वसनतंत्र के अन्य आनुषंगिक उपसर्गों में सहायक बन जाता है। जल में बहुत देर तक तैरने या डुबकी मारने से तथा दंतविद्रधि से विकारी जीवाणुओं का संक्रमण उपनासा कोटरों में हो सकता है। स्वरोच्चारण के मिथ्यायोग तथा अतियोग से, अत्यधिक ऐलकोहल एवं धूमपान से तथा ऊर्ध्वश्वसनपथ के उपसर्ग के संसर्ग से स्वरभंगयुक्त कंठशोथ (laryngitis) हो जाता है। फुप्फुस के कतिपय अन्य संक्रामक रोगों, यथा राजयक्ष्मा, फिरंग आदि, में भी उपद्रवस्वरूप कंठशोथ हो जाता है। स्वरयंत्रघर्घर रिकेटी शिशुओं में पाया जाता है।

तरुण या उग्रश्वासनली शोथ (acute bronchitis) कभी कभी साधारण जुकाम के परिणामस्वरूप होता है। कभी नासाग्रसनीमार्ग तथा श्वसनी में इनफ्ल्यूएंजा के विषाणु, या अन्य विकारी जीवाणुओं, की उपस्थिति भी इसकी जनक होती है। बालकों तथा दुर्बल व्यक्तियों में श्वासनलीशोथ ही बढ़कर न्यूमोनिया का रूप ले लेता है। कभी कभी कुकरखाँसी, टाइफाइड तथा टाइफस ज्वर, विषाणुज न्यूमोनिया तथा कवकसंक्रमण भी श्वासनलीशोथ से प्रारंभ होते हैं। दीर्घकालिक श्वासनलीशोथ (chronic bronchitis) फुप्फुस के अन्य गंभीर एवं दीर्घकालिक स्वभाव की विकृतियों के उपद्रव स्वरूप होता है (देखें श्वासनलीशोथ)।

इनफ्ल्यूएंजा, फुप्फुसावरणशोथ, न्यूमोनिया, कुकरखाँसी, राजयक्ष्मा आदि श्वसनतंत्र के कतिपय महत्वपूर्ण एवं भयानक स्वरूप के रोग हैं। इनमें इनफ्लूएंजा, कुकरखाँसी तथा राजयक्ष्मा संक्रामक स्वरूप के हैं तथा इनफ्लूएंजा तो कभी कभी महामारी रूप से भी फैल जाता है। किसी समय में यह महामारी (epidemic) के रूप में फैलता था तथा इससे भयंकर जनपदोध्वंस हुआ करते थे। श्वसनतंत्र के रोग विशेषतः विंदुक संक्रमण (droplet infection) से फैलते हैं।

श्वासनलस्फीति (bronchiectasis) में जीवाणु उपसर्ग के साथ साथ श्वासनलिकाओं का विस्फारण हो जाता है। यह सहज जन्मजात तथा जन्मोत्तर दो प्रकार का होता है। बाह्यागत अवरोधक द्रव्य, अर्बुद, दीर्घकालिक नासाकोटरशोथ, राजयक्ष्मा एवं अन्य औपसर्गिक अवस्थाओं के कारण श्वसनीअवरोध के परिणामस्वरूप यह रोग उत्पन्न होता है। जीर्णकास एवं अत्यधिक दुर्गंधित बलगम का निकलना (कभी कभी रक्त भी आता है) तथा हाथ पैर की अंगुलियों के अग्र सिरों का मोटा हो जाना, इस रोग के प्रधान चिह्न होते हैं (देखें श्वासनल स्फीति)।

सामान्य कायिक संज्ञाहरण द्वारा मुख एवं गले के शल्यकर्म में कभी कभी भोज्यकण, द्रव या अन्य विजातीयकण या संक्रांत ऊतकों का श्वसनपथ में चूषण हो जाने से, अथवा उदरगत या श्रोणिगत शल्यकर्म में पूतिदूषित रक्तस्रोतरोधी (emboli) के फुफ्फुस में पहुँचने से, फुफ्फुस या ग्रासनली (vesophagus) के अर्बुद से, फुफ्फुसशोथ तथा बाह्याघातजन्य फुप्फुसक्षत से फुफ्फुस के विद्रधि की उत्पत्ति होती है। इसमें खाँसी, दुर्गंधित तथा रक्तमय बलगम का आना, छाती में दर्द, अनियमित स्वरूप का ज्वर तथा अंगुलियों के सिरों का मोटा होना आदि लक्षण होते हैं।

फुफ्फुस में कवक के उपसर्ग के परिणामस्वरूप निम्न विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं : ऐस्परजिलस रोग (aspergillosis), मोनिलिऐसिस (moniliasis), कॉक्सीडिओ आइडोमाइकोसिस (coccidioidomycosis), स्पोरोट्राइकोसिस, (sporotrichosis), ब्लास्टोमाइकोसिस (blastomycosis), तथा एक्टिनोमाइकोसिस (actinomycosis) आदि। इनमें सामान्यरूप से ज्वर, जीर्णकास, कफोत्सारण, वक्ष में पीड़ा, कभी रक्तोत्सारण तथा बलक्षीणता आदि लक्षण होते हैं। रोग की उग्र या तरुण अवस्था बहुत कुछ न्यूमोनिया के अनुरूप तथा दीर्घकालिक अवस्था फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा के अनुरूप होती है।

व्यावसायिक एवं उद्योगधंधों के कारखानों, मिलों तथा खानों में काम करने वाले व्यक्तियों एवं संगतराशी का काम करनेवालों में, या इसी प्रकार की अन्य दस्तकारी में, सिलिका के सूक्ष्म कण श्वसन के साथ फुफ्फुसों में पहुँचकर यत्रतत्र जमा होकर, कालांतर में सिलिकोसिस (silicosis) की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, जिससे फुफ्फुसों में सूत्रणरोग (fibrosis) उत्पन्न हो जाता है। रोगी में मंदश्वसन, जो आयास से अधिक स्पष्ट होता है, कास, कफोत्सारण एवं उरोवेदना आदि लक्षण प्रकट

होते हैं। कभी कभी रक्तोत्सारण (haemoptysis) भी होता है। दिनोंदिन शक्ति का क्षय होता जाता है। दीर्घकालिक सिलिकोसिस से फुफ्फुसावरणों का मोटा होना, वातस्फीति आदि उपद्रव होते हैं तथा फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा के समान लक्षण दिखाई देते हैं। इन रोगियों में हृद्घात् की भी आशंका रहती है। रोग से बचने के लिये मुख और नासा पर कपड़ा बाँधकर काम करना चाहिए। प्रवृद्ध सिलिकोसिस में राजयक्ष्मा की निर्दिष्ट चिकित्सा से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता और रोगी को प्राण से हाथ धोना पड़ता है। इसी प्रकार ऐस्बेस्टॉस के कारखानों में काम करनेवालों को तथा ईख की खोई (begasse) के छोटे छोटे कणों के कारण इक्षुधूलिमयता (begassosis) एवं रूई के सूक्ष्म रेशों के कारण तूलोर्णमयता (byssinoris) नामक विकृतियाँ होती हैं। इन सभी के स्वभाव एवं उपद्रवक्रम प्रायः समान हैं। कभी कभी उग्र स्वरूप के रासायनिक द्रव्यों के आघ्राणन द्वारा फुफ्फुसों में शोथ होने से श्वासावरोध उत्पन्न होकर सहसा दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। कभी कभी श्वसन द्वारा ऐसे द्रव्यों के सूक्ष्म कणों के फुफ्फुसों में पहुँचने से, जिनके प्रति व्यक्ति को ऐलर्जी हो, सहसा ऐलर्जीजन्य विकृति पैदा हो जाती है, जिससे श्वसनकष्ट, छींक आना तथा नाक से पानी बहना आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं और रोगी को दमा जैसे कष्ट की अनुभूति होती है। ऐसी स्थिति में संवेदनशीलता परीक्षण द्वारा कारण का ज्ञान कर उसका परिवर्जन करना चाहिए। चिकित्सार्थ विसुग्राहीकरण करने तथा हिस्टामीन प्रतिरोधी ओषधियों के प्रयोग से बहुत लाभ होता है।

कभी कभी अकस्मात् ऐसे विजातीय द्रव्यों के, जो वायुपथ में स्थित होकर अवरोध उत्पन्न कर देते हैं, श्वसनपथ में पहुँचने से फुफ्फुस अनुन्मीलन (एटिलेक्टेसिस) की आत्यधिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में अविलंब श्वसनीदर्शक की सहायता से उक्त अवरोधक घटक का निर्हरण आवश्यक हो जाता है। श्वास या दमा दौरे से होनेवाला रोग है। दौरे के समय रोगी को श्वसनकृच्छ्रता होती है, जिसका मुख्य कारण श्वासनलिकाओं का संकोच होता है। दौरे के समय श्वासनलिकाओं को विस्तृत करनेवाली ओषधियों का अविलंब उपयोग होना चाहिए।

रोगनिदान — श्वसनतंत्र के रोगों का निदान सामान्यतया तत्तद्विशिष्ट भौतिक एवं लाक्षणिक चिह्नों के परीक्षण द्वारा किया जाता है। संप्रति वैकृतिक द्रव्यों के प्रयोगशालीय परीक्षणों द्वारा रोग एवं उसके जनक कारणों के निश्चयात्मक निर्धारण में विशेष सहायता मिलती है। औपसर्गिक रोगों एवं पूयजनक विकृतियों में इनका विशेष महत्व है। एक्सकिरण फोटोग्राफी एवं प्रत्यक्षदर्शी यंत्रों द्वारा विकृति के स्वरूप एवं स्थलनिर्धारण में विशेष सहायता मिलती है।

चिकित्सा — रोगी को आराम की स्थिति में स्वच्छ स्थान में रखना चाहिए। लाक्षणिक चिकित्सा के साथ साथ अब यथावश्यक सल्फा वर्ग एवं ऐंटिबायोटिक वर्ग की ओषधियों के उपयोग से चमत्कारी लाभ होता है। इसके अतिरिक्त रोग के कारणों से परहेज करना एवं पथ्यापथ्य का भी पालन होना चाहिए। रक्तऑक्सीक्षीणता की स्थिति में कृत्रिम रूप से ऑक्सीजन का आघ्राणन कराना चाहिए। [रा० मु० सिं० एवं भृ० ना० सिं०]

श्वान, थियोडोर (Schwann, Theodor, सन् १८१०-१८८२), जर्मन जैववैज्ञानिक, का जन्म राइनलैंड प्रदेश के नॉयस (Neuss) नगर में हुआ था। इन्होंने बॉन तथा बर्लिन में शिक्षा पाई थी।

कुछ काल तक जोहैनीज मुलर के अधीन कार्य करने के पश्चात् ये लूवँ (Louvain) के विश्वविद्यालय में शारीरशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १८४७ में लिएव्ह् (Liege) में प्रोफेसर का पद पाने पर, ये वहाँ चले गए और मृत्युपर्यंत वहीं रहे।

इन्होंने शारीर-क्रिया-विज्ञान संबंधी विविध अनुसंधान किए, जैसे मुर्गी के भ्रूण के श्वसन तथा पेशियों के कार्य करने की रीतियों को और पेप्सिन नामक एंजाइम को खोज निकाला तथा पदार्थों के सड़ने में सूक्ष्म जीवाणुओं की भूमिका का होना आवश्यक सिद्ध किया। विज्ञान को इनकी प्रमुख देन यह प्रतिपादित करना था कि जीवों के ऊतक भी उसी प्रकार कोशिकाओं के बने होते हैं जैसे वनस्पतियों के तथा ये मुख्यतः एक सदृश होते हैं। इस विचार ने पीछे अन्य वैज्ञानिकों द्वारा किए गए महत्व के अनेक अनुसंधानों को जन्म दिया। [भ० दा० व०]

श्वासनलस्फीति (Bronohiectasis) फुप्फुस का रोग है, जिसमें श्वासनलिकाओं का विस्फारण (dilatation) हो जाता है। यह विस्फारण आकार में वर्तुल अथवा थैले या पुटी के समान हो सकता है। साथ ही नलिकाओं की भित्तियों में शोथ हो जाता है और वे गलने लगती हैं। श्वाससंबंधी जीर्ण रोगों में राजयक्ष्मा के पश्चात् इसी रोग का स्थान है। अतएव यह रोग बहुत फैला हुआ है। रोग के लक्षणों के कारण जीवाणुसंक्रमण और श्वासनलिकाओं की रचना में परिवर्तन होते हैं, जिनके कारण उनमें बना हुआ स्राव पूर्णतया बाहर नहीं निकल पाता। चेचक, कुकरखाँसी या बाल्यकाल में कुकरखाँसी के कई आक्रमणों से इस रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

रोग के विशेष लक्षण निरंतर खाँसी का आना और दुर्गंधयुक्त स्राव का बहुत अधिक मात्रा में निकलना है। रुधिर का आना दूसरा लक्षण है। फुप्फुस से अधिक मात्रा में रक्तस्राव हो सकता है। चिकित्सा में सावधानी की आवश्यकता है (देखें श्वसनतंत्र के रोग)। [मु० स्व० व०]

श्वासनलीशोथ (Bronchitis) श्वासनली की श्लेष्माकला का प्रदाह है, जो तीव्र हो सकता है अथवा दीर्घकालिक। नासिका से वायु के फेफड़े तक पहुँचाने के साथ ही वायु से जीवाणु तथा अन्य संक्रामी पदार्थों को, जो नासिका की श्लेष्माकला द्वारा नहीं रोके जा सकते, श्वासनली रोकती है। श्लेष्माकला की भीतरी सतह पक्ष्माभिकामय उपकला होती है। ये पक्ष्माभिका एक लहर के रूप में गतिशील होते हैं तथा बाह्य पदार्थों को ऊपर की ओर प्रेरित करते हैं। श्लेष्माग्रंथि, जो चिपचिपा पदार्थ अर्थात् श्लेष्मा उत्पन्न करती है, उसमें जीवाणु तथा बाह्य पदार्थ चिपक जाते हैं तथा पक्ष्माभिका की सहायता से बाहर आते हैं। खाँसी भी एक सुरक्षात्मक

कार्य है। बाह्य पदार्थ जब श्लेष्माकला के संपर्क में आते हैं तो तंत्रिका या स्नायु को उत्तेजना प्राप्त होती है तथा मांसपेशियों के एकाएक संकुचन से वायु का एक तीव्र झोंका फेफड़े से बाहर निकलता है तथा निरर्थक पदार्थ को बाहर कर देता है।

उग्र श्वासनलीशोथ — कुछ रासायनिक, भौतिक तथा जीवित पदार्थ श्वसनी की श्लेष्माकला को इस रूप में प्रभावित करते हैं कि खाँसी, ज्वर, साँस फूलना, आदि उत्पन्न हो जाते हैं तथा यह दशा उग्र श्वासनलीशोथ कहलाती है। कुछ विषैले धुएँ, जैसे युद्ध गैस (मस्टर्ड गैस, क्लोरीन), तीव्र अम्ल के वाष्प, अमोनिया, गैस आदि, कुछ जीवाणु तथा कुछ रोग, जैसे इनफ्लूएंजा, कुकरखाँसी, खसरा वगैरह भी तीव्र श्वासनलीशोथ उत्पन्न करते हैं।

इन पदार्थों के क्षोभ द्वारा श्लेष्माकला की रुधिरनलिकाएँ फैल जाती हैं तथा उनसे रुधिर और द्रव पदार्थ बाहर निकल आते हैं। श्लेष्मस्राव अधिक होता है। ये सब खाँसी तथा पक्ष्माभिका की सहायता से बाहर आते हैं। अत्यधिक क्षोभ होने पर कोशिकाओं की सतह नष्ट हो सकती है। अधिक श्लेष्मा एकत्र हो जाने पर श्वास की गति बढ़ जाती है।

लक्षण — बुखार, ठंढ लगना, शरीर में दर्द, नाक से स्राव, वक्ष में कसावट महसूस होना, खाँसी पहले सूखी, फिर बलगम के साथ तथा साँस फूलना आदि। न्युमोनिया होने का भय रहता है।

चिकित्सा — विश्राम करना, द्रव भोजन, तथा कारण दूर करना। खाँसी की दवाइयाँ — यदि सूखी खाँसी है तो कोडीन जैसी दवाइयाँ, यदि कफ निकलता है तो अमोनियम कार्बोनेट, टिंचर इपिकाक इत्यादि कफोत्सारक ओषधियाँ देनी चाहिए। भाप में साँस लेना भी कफ निकालने में सहायता करता है। पेनिसिलिन, सल्फोनामाइड, तथा अन्य जीवाणुनाशक ओषधियों का प्रयोग भी आवश्यक है।

दीर्घकालिक श्वासनलीशोथ — जब श्वसनी की श्लेष्माकला का प्रदाह अधिक समय तक बना रहता है तथा श्वसनी में अन्य दोष उत्पन्न कर देता है तो वह दीर्घकालिक श्वासनलीशोथ कहलाता है।

ऐसे व्यवसाय, जिनमें धूल, गर्द तथा धुएँ का अधिक संपर्क होता है, और कुछ जीवाणु इस रोग के कारण होते हैं।

इस रोग में श्वसनी की श्लेष्माकला को अत्यधिक क्षति पहुँचती है। कोशिकाएँ नष्ट हो जाती हैं, पक्ष्माभिका समाप्त हो जाते हैं। श्वसनी टेढ़ी मेढ़ी हो जाती है तथा स्राव अधिक होता है। अन्य रोग, जैसे वातस्फीति, सूत्रण रोग, दमा आदि, हो सकते हैं।

लक्षण — दीर्घकालिक खाँसी तथा कफ। खाँसी ताप के आकस्मिक परिवर्तन तथा जाड़े में बढ़ जाती है। कभी कभी तीव्र श्वासनलीशोथ का रूप ले लेती है।

चिकित्सा — कफोत्सारक ओषधियाँ या खाँसी दूर करनेवाली ओषधियाँ आवश्यकतानुसार दी जाती हैं। यदि श्वासनलिकाएँ संकुचित हो जाती हैं, तो ऐफेड्रीन, ऐमिनोफाइलीन नामक दवाएँ दी जाती है। जब रोग तीव्र रूप धारण करे तो जीवाणुनाशक दवाओं का प्रयोग तथा जाड़े में गरम, शुष्क वातावरण लाभप्रद होगा।

अत्यधिक धूमपान से इस रोग में खाँसी बढ़ जायगी, किंतु साधारण व्यक्ति को खाँसी नहीं होगी। [गो० दा० अ०]

श्वासावरोध अगर कोई प्राणी एक छोटी झोली में रखी उच्छ्वसित वायु को बार बार अंदर खींचता है और उसे शुद्ध वायु नहीं मिलती है, तो श्वासावरोध के कारण अंत में वह मर जाता है। ऐसी स्थिति श्वासनली के रोध, वातिलवक्ष के द्वारा श्वसन, मांसपेशियों के पक्षाघात इत्यादि कारणों से भी हो सकती है। यह घटना तीन क्रमों में होती है: (क) प्रतिश्वसन, इसमें श्वासगति अधिकता से लयबद्ध होकर आगे बढ़ती है और इस क्रम के अंत में प्राणी चेतनाहीन हो जाता है, (ख) दूसरे क्रम में उच्छ्वसन ऐंठन उत्पन्न होती है। रक्तवाहिका में संकुचन होता है। लार के स्राव तथा आंत्रगति में या तो अवरोध होता है या वृद्धि तथा (ग) दूसरे क्रम के अंत में उच्छ्वास ऐंठन बंद हो जाती है तथा प्रश्वसन ऐंठन होती है। ऐसी अवस्था में प्राणी साँस लेने के लिये अपना मुँह बाहर निकालता है। साँस लेने के लिये मुख चौड़ा करता है और तब तीन चार मिनट के बाद अंतिम साँस लेता है।

सं० ग्रं०—डेविस, हॉल्डेन, किनैवे : जे० फिजिऑल, १९२०,५४, ३२; वी० ई० उलर एवं सॉडरबर्ग : जे० फिजिग्राल, १९५२, ११८, ५४५. [रा० चं० शु०]

श्विंड, मोरित्स फान (१८१४-१८७१) वियना के चित्रकार। चित्रकला के साथ साथ संगीत और कविता के भी शौकीन। १७ वर्ष की उम्र में कलाकारों की जमात में सम्मिलित हो गए। जर्मनी में कला के पुनर्जागरण के कारण उन्होंने अपनी कुछ भिन्न धारणाएँ और मत स्थिर किए। गेटे और अन्य कवियों की कविताएँ चित्रांकित कर कल्पना की ऊँची उड़ानें भरीं। लुडविग द्वितीय के नए राजमहल में भित्तिचित्रों का निर्माण किया। १८४४ में वह फ्रैंकफर्ट जा बसे, पर कुछ अर्से बाद म्यूनिख यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर नियुक्त हो गए जहाँ जीवनपर्यंत कार्य करते रहे।

उन्होंने किले और महल के विशाल प्राचीरों पर चित्रसज्जा प्रस्तुत की। सैकड़ों कविताओं और पुस्तकों के डिजाइन बनाए। जलरंगों में अनेक काम किए। रेखाचित्र और पोर्ट्रेटचित्र दोनों में उनका दखल था। 'सात रैवेन' (seven ravens) चित्रमालाक्रम में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। म्यूनिख और वियना कलासंग्रहालय में आज भी उनके अनेक चित्र उपलब्ध हैं। [श० रा० गु०]

श्वेत यों तो यह शब्द एक द्वीपविशेष तथा शुक्र ग्रह के लिये आता है पर श्रीमद्भागवत में किसी श्वेत पर्वत का परिमाणादि वर्णित है (स्कंध ५, अध्याय १६)। पर उससे भी प्रसिद्ध है शिव जी का श्वेत-अवतार जिसका विवरण कौर्म के ५० वें अध्याय में इस प्रकार दिया है:

"आद्ये कलियुगे श्वेतो देवदेवो महाद्युतिः।
नाम्ना हिताय विप्राणां अभू वैवस्वतेऽन्तरे॥
हिमवच्छिखरे रम्ये विमले पर्वतोत्तमे।
तस्य शिष्याः शिखायुक्ता बभूवुरमितप्रभाः॥

श्वेत: श्वेतशिखश्चैव श्वेतास्यः श्वेतलोहित: ।
चत्वारस्ते महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगा: ।।
+ × ×
श्वेतस्तथा पर: शूली तिंडी मुंडी च वै क्रमात् ।
सहिष्णु: सोमशर्मा च नकुलीशोऽन्तिमे प्रभु: ।।
वैवस्वतेऽन्तरे शम्भोरवतारा स्त्रिशूलिन: ।
अष्टाविंशतिराख्याता ह्यन्तेकलियुगे प्रभो: ।।"

रामायण में श्वेत नामक एक बलवान् वानर का भी वर्णन है—'श्वेतो रजतसंकाश: चपलो भीमविक्रम: । बुद्धिमान् वानर वरस्त्रिषु लोकेषु विश्रुत: । [रा० द्वि०]

श्वेतकि प्रसिद्ध राजा जो परम धर्मपरायण तथा यागशील था। इसने सौ वर्ष में पूर्ण होनेवाले एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान किया जिसमें महर्षि दुर्वासा पुरोहित बने थे। [रा० द्वि०]

श्वेतकेतु इस नाम के कई व्यक्ति हुए हैं; (१) महर्षि उद्दालक के पुत्र जो कहीं उत्तराखंड में रहते थे। इन्होंने एक बार ब्राह्मणों के साथ दुर्व्यवहार किया जिससे इनके पिता ने इनका परित्याग कर दिया। इन्होंने यह नियम प्रचारित किया कि पति को छोड़कर पर पुरुष के पास जानेवाली स्त्री तथा अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी स्त्री से संबंध कर लेनेवाला पुरुष दोनों ही भ्रूणहत्या के अपराधी माने जायँ। इनकी कथा महाभारत के आदिपर्व में है और उनके द्वारा प्रचारित यह नियम धर्मशास्त्र में अब तक मान्य है।

(२) महर्षि अरुण के पुत्र आरुण जिन्हें आरुणेय भी कहते हैं। इन्होंने पांचालराज महर्षि प्रवाहण से ब्रह्मविद्या संबंधी अनेक उपदेश ग्रहण किए। इनकी कथा छांदोग्योपनिषद् मे दी गई है।

(३) पुरुवंशीय सर्वजित् के पुत्र जिनके तीन भाई और थे। इन भाइयों मे से वत्स अवंती के अधिपति हुए जिनकी कथा हरिवंश-पुराण मे मिलती है।

(४) स्वायंभुव मन्वंतर में हुए एक राजर्षि जो शिव जी के लागली भीमवाले अवतार के उपासक परम शिवभक्त माने गए हैं। इन्होंने प्रभास क्षेत्र मे शंकर की दीर्घकालीन आराधना करके वहाँ एक शिवलिंग की स्थापना की थी। इनकी तपस्या का विवरण शिव तथा स्कंदपुराणों में मिलता है। उसमें यह भी लिखा है कि इनके एक यज्ञ में अधिक घृतपान करने से अग्निदेव को अजीर्ण का रोग हो गया जिसे उन्हें खाडव वन की सारी लकड़ी खाकर मिटाना पड़ा था। [रा० द्वि०]

श्वेताश्वतर उपनिषद् जो ईशादि दस प्रधान उपनिषदों के अनंतर एकादश एवं शेष उपनिषदों में अग्रणी है कृष्ण यजुर्वेद का अंग है। छह अध्याय और ११३ मंत्रों के इस उपनिषद् को यह नाम इसके प्रवक्ता श्वेताश्वतर ऋषि के कारण प्राप्त है। मुमुक्षु संन्यासियों के 'कारण ब्रह्म क्या है अथवा इस सृष्टि का कारण ब्रह्म है अथवा अन्य कुछ, हम कहाँ से आए, किस आधार पर ठहरे हैं, हमारी अंतिम स्थिति क्या होगी, हमारे सुख दुःख का हेतु क्या है, इत्यादि प्रश्नों के समाधान में ऋषि ने जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप तथा ब्रह्मप्राप्ति के साधन बतलाए हैं।

उनके मतानुसार कुछ मनीषियों का काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथिवी आदि भूत अथवा पुरुष को कारण मानना भ्रांतिमूलक है। ध्यान योग की स्वानुभूति से प्रत्यक्ष देखा गया है कि सब का कारण ब्रह्म की शक्ति है और वही इन कथित कारणों की अधिष्ठात्री है (१.३)। इस शक्ति को ही प्रकृति, प्रधान अथवा माया की अभिधा प्राप्त है। यह अज और अनादि है, परंतु परमात्मा के अधीन और उससे अस्वतंत्र है।

वस्तुत: जगत् माया का प्रपंच है। वह क्षर और अनित्य है। और मूलत: जीवात्मा ब्रह्मस्वरूपी है, परंतु माया के वशीभूत होने से अपने को उससे पृथक् मानता हुआ नाना प्रकार के कर्म करता और उनके फल भोगने के लिये पुन: पुन: जन्म धारण करता हुआ सुख दुःख के आवर्त में अपने को घिरा पाता है। स्थूल देह में सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर जो कर्मफल से लिप्त रहता है उसके साथ जीवात्मा जन्मांतर में प्रवेश करता है। इस प्रकार यह संसार निरंतर चल रहा है। इसे ब्रह्मचक्र (१. ६. ६-१) या विश्वमाया कहा गया है।

जब तक अविद्या के कारण जीव अपने को भोक्ता, जगत् को भोग्य और ईश्वर को प्रेरिता मानता अथवा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान को पृथक् पृथक् देखता है तब तक इस ब्रह्मचक्र से वह मुक्त नहीं हो सकता। सुख दुःख से निवृत्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति का एकमात्र उपाय जीवात्मा और ब्रह्म का अभेदात्मक ज्ञान है। ज्ञान के बिना ब्रह्मोपलब्धि आकाश की चटाई बनाकर लपेटने जैसा असंभव है (६. १५. २०)।

ब्रह्म का स्वरूप केवल निर्गुण, सगुणनिर्गुण और सगुण बतलाया गया है। जहाँ सगुणनिर्गुण रूप से विरोधाभास दिखानेवाले विशेषणों से युक्त परमेश्वर के वर्णन और स्तुतियाँ मिलती हैं, दो तीन मंत्रों में हाथ में बाण लिए हुए मंगलमय शरीरधारी रुद्र की ब्रह्मभाव से प्रार्थना भी पाई जाती है (३. ५. ६, ४. २४) ब्रह्म का श्रेष्ठ रूप निर्गुण, त्रिगुणातीत, अज, ध्रुव, इंद्रियातीत, निरिंद्रिय, अवर्ण और अकल है। वह न सत् है, न असत्, जहाँ न रात्रि है न दिन, वह त्रिकालातीत है—इत्यादि। सर्वेंद्रियविवर्जित होकर भी उसमें सर्वेंद्रियों का भास होता है, वह अणु से अणु, महान् से महान्, अकर्ता होता हुआ भी ब्रह्मा पर्यंत समस्त देवताओं का, अर्थात् समस्त ब्रह्मांड का कर्ता, भोक्ता और संहर्ता है। इसी प्रकार ब्रह्म के केवल सगुण रूप के वर्णन में उसे आदित्यवर्ण, सर्वव्यापी, सर्वभूतांतरात्मा, हजारों सिर, हाथ पैरवाला, भावग्राह्य, त्रिगुणमय और विश्वरूप इत्यादि कहा गया है। निर्विशेष ब्रह्म का चिंतन अत्यंत दुस्तर होने से मनुष्य की आध्यात्मिक पहुँच के अनुसार अधिक सुसाध्य होने से सगुण और सगुणनिर्गुण रूप से उपासना का विस्तार हुआ है।

अस्तु, ईंधन पर ईंधन रखकर उसमें अव्यक्त रूप से व्याप्त अग्नि को प्रकट कर लेने की तरह देह में व्याप्त ब्रह्म का प्रणव द्वारा निरंतर ध्यान करके उसका साक्षात्कार कर लिया जा सकता है। एतदर्थ द्वितीयाध्याय में प्राणायाम और योगाभ्यास की विधि विस्तारपूर्वक बतलाई गई है। [चं० त्रि०]

षोडश शृंगार भारतीय साहित्य मे सोलह शृंगारों की यह प्राचीन परंपरा रही है :

अंगशुची, मंजन, वसन, माँग, महावर, केश।
तिलक भाल, तिल चिबुक में, भूषण मेंहदी वेश ।।
मिस्सी काजल अरगजा, बीरी और सुगंध।

अर्थात् अंगों में उबटन, स्नान, स्वच्छ वस्त्रधारण, माँग भरना, महावर लगाना, बाल सँवारना, तिलक लगाना, ठोढी पर तिल बनाना, आभूषण धारण करना, मेंहदी रचाना, दाँतों में मिस्सी, आँखों में काजल लगाना, आदि सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग, पान खाना, माला पहनना, लीला कमल धारण करना।

इस देश में आदि काल से ही स्त्री और पुरुष दोनों प्रसाधन करते आए हैं और इस कला का यहाँ इतना व्यापक प्रचार था कि प्रसाधक और प्रसाधिकाओं का एक अलग वर्ग ही बन गया था। इनमें से प्राय: सभी शृंगारों के दृश्य हमें रेलिंग या द्वारस्तंभों पर अंकित (उभारे हुए) मिलते हैं।

स्नान के पहले उबटन का बहुत प्रचार था। इसका दूसरा नाम अंगराग है। अनेक प्रकार के चंदन, कालीयक, अगरु और सुगंध मिलाकर इसे बनाते थे। जाड़े और गर्मी में प्रयोग के हेतु यह अलग अलग प्रकार का बनाया जाता था। सुगंधि और शीतलता के लिये स्त्री पुरुष दोनो ही इसका प्रयोग करते थे।

स्नान के अनेक प्रकार काव्यों में वर्णित मिलते हैं पर इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय जलविहार या जलक्रीड़ा था। अधिकांशत: स्नान के जल को पुष्पों से सुरभित कर लिया जाता था जैसे आजकल 'बाथसाल्ट' का प्रयत्न किया जाता है। एक प्रकार के साबुन का भी प्रयोग होता था जो 'फेनक' कहलाता था और जिसमें से झाग भी निकलते थे।

वसन वे स्वच्छ वस्त्र थे जो नहाने के बाद नर नारी धारण करते थे। पुरुष एक उत्तरीय और अधोवस्त्र पहनते थे और स्त्रियाँ चोली और घाघरा। यद्यपि वस्त्र रंगीन भी पहने जाते थे तथापि प्राचीन नर नारी श्वेत उज्वल वस्त्र अधिक पसंद करते थे। इनपर सोने, चाँदी और रत्नों के काम कर और भी सुंदर बनाने की अनेक विधियाँ थीं।

स्नान के उपरांत सभी सुहागवती स्त्रियाँ सिंदूर से माँग भरती थीं। वस्तुत: वारवनिताओं को छोड़कर अधिकतर विवाहिता स्त्रियों के शृंगारप्रसाधनों का उल्लेख मिलता है, कन्याओं का नहीं। सिंदूर के स्थान पर कभी कभी फूलों और मोतियों से भी माँग सजाने की प्रथा थी।

बाल सँवारने के तो तरीके हर समय के अपने थे। स्नान के बाद केशों से जल निचोड़ लिया जाता था। ऐसे अनेक दृश्य पत्थर पर उत्कीर्ण मिलते हैं। सूखे बालों को धूप और चंदन के धुएँ से सुगंधित कर अपने समय के अनुसार अनेक प्रकार की वेणियों, अलकों और जूड़ों से सजाया जाता था। बालों में मोती और फूल गूँथने का आम रिवाज था। विरहिणियाँ और परित्यक्ता वधुएँ सूखे अलकोंवाली ही काव्यों में वर्णित की गई हैं; वे प्रसाधन नहीं करती थीं।

महावर लगाने की रीति तो आज भी प्रचलित है, विशेषकर त्योहारों या मांगलिक अवसरों पर। इनसे नाखून और पैर के तलवे तो रचाए ही जाते थे, साथ ही इसे होठों पर लगाकर आधुनिक 'लिपस्टिक' का काम भी लिया जाता था। होठों पर महावर लगाकर लोध्रचूर्ण छिड़क देने से अत्यंत मनमोहक पांडुता का आभास मिलता था।

मुँह का प्रसाधन तो नारियों को विशेष रूप से प्रिय था। इसके 'पत्त्ररचना', विशेषक, पत्त्रलेखन और भक्ति आदि अनेक नाम थे। लाल और श्वेत चंदन के लेप से गालों, मस्तक और भवों के आस पास अनेक प्रकार के फूल पत्ते और छोटी बड़ी बिंदियाँ बनाई जाती थीं। इसमें गीली या सूखी केसर या कुमकुम का भी प्रयोग होता था। बाद में इसका स्थान बिंदी ने ले लिया जो आज भी इस देश की स्त्रियों का प्रिय प्रसाधन है। कभी केवल काजल की अकेली बिंदी भी लगाने की रीति थी। आजकल की भाँति ही बीच ठोढी पर दो छोटे छोटे काजल के तिल लगाकर सौंदर्य को आकर्षक बनाने का चलन था।

आजकल की तरह प्राचीन भारत में भी हथेली और नाखूनों को मेहँदी से लाल करने का आम रिवाज था।

आभूषणों की तो अनंत परंपरा थी जिसे नर नारी दोनों ही धारण करते थे। मध्यकाल में तो आभूषणों का प्रयोग इतना बढ़ा कि शरीर का शायद ही कोई भाग बचा हो जहाँ गहने न पहने जाते हों।

आँखों में काजल या अंजन का प्रयोग व्यापक रूप से होता था। मूर्तिकला में बहुधा शलाका से अंजन लगाती हुई नारी का चित्रण हुआ है।

अरगजा एक प्रकार का लेप है जिसे केसर, चंदन, कपूर आदि मिलाकर बनाते थे। आधुनिक इत्र या सेंट की तरह शरीर को सुगंधित करने के लिये इसका अधिकतर प्रयोग किया जाता था।

मुँह को सुगंधित करने के लिये स्त्री और पुरुष दोनों ही तांबूल या पान खाते थे। राजाओं की परिचारिकाओं में तांबूलवाहिनी का अपना विशेष स्थान था।

भारतीय नारी को अपने प्रसाधन में फूलों के प्रति विशेष मोह है। जूड़े में, वेणियों में, कानों, हाथों, बाहों कलाइयों और कटि-प्रदेश में कमल, कुंद, मंदार, शिरीष, केसर आदि के फूल और गजरों का प्रयोग करती थीं।

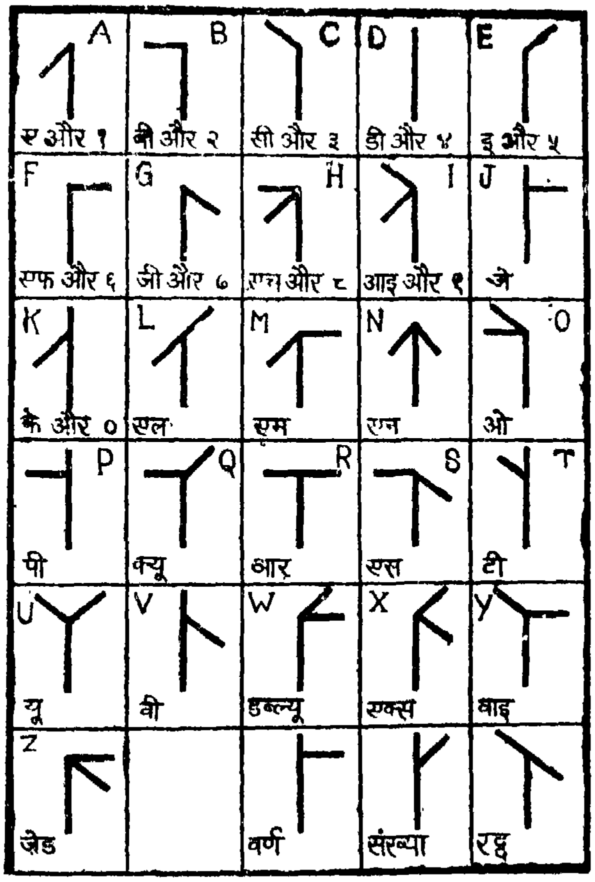
शृंगार का सोलहवाँ अंग है लीला कमल, जिसे स्त्रियाँ पूर्वोक्त पंद्रह शृंगारों से सज्जित हो पूर्ण विकसित पुष्प या कली के दंड सहित धारण करती थीं। नीले कमलों का चित्रण प्राचीन मूर्तिकला में प्रभूत रूप से हुआ है। [रु० च०]

संकेतन (Signalling), या संकेत संप्रेषण, का युद्ध में दीर्घ काल से प्रयोग हो रहा है। साधारण जीवन में भी संदेश भेजने की आवश्यकता बहुधा पड़ती ही है, पर सेना की एक टुकड़ी से दूसरी को, अथवा एक पोत से अन्य को, सूचनाएँ, आदेश आदि भेजने के कार्य का महत्व विशेष है। इसके लिये प्रत्येक संभव उपाय काम में

लाए जाते रहे हैं। पैदल और घुड़सवार संदेशवाहकों के सिवाय, प्राचीन काल में झंडियों, प्रकाश तथा धुएँ द्वारा संकेतों से संदेश भेजने के प्रमाण मिलते हैं। अफ्रीका में यही कार्य नगाड़ों से लिया जाता रहा है। आधुनिक काल में संकेतन का उपयोग सड़कों पर आवागमन तथा रेलगाड़ियों के नियंत्रण में भी किया जा रहा है।

कहा जाता है, ग्रीसवासियों ने ट्रॉय नगर की विजय (११९४ ई० पू०) की सूचना प्रज्वलित अग्नि के प्रकाश द्वारा ३०० मील दूर पहुँचाई थी। इंग्लैंड में स्पेन के जहाजी बेड़े, आर्मेडा, की चढ़ाई (१५८८ ई०) की सूचना, ६ से ८ मील की दूरीवाले स्थानों पर अग्नि जलाकर, समस्त दक्षिणी इंग्लैंड में भेजी गई। संकेतों द्वारा संदेशों के पहुँचाने के इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण इतिहास में उपस्थित हैं। कालांतर में जिस प्रकार स्थल पर संकेतन का विकास हुआ उसी प्रकार और लगभग वैसे ही साधनों से सागर पर जहाजों के बीच भी संदेश भेजने की रीतियाँ प्रचलित हुईं।

सन् १६६६ मे घड़ीमुख की सुइयों से मिलते जुलते उपकरण की सहायता से आधुनिक सेमाफोर कूट (code) सदृश संकेतन का आविष्कार इंग्लैंड में हुआ और सन् १७९१ में क्लॉड शाप (Claude Chappe) नामक फरासीसी ने सेमाफोर संकेतन (देखें चित्र १.) नियमों के अनुसार, लील (Lille) और पैरिस



चित्र १. सेमाफोर संकेत और उनके तात्पर्य

के मध्य, दूरसंदेश भेजने का प्रबंध किया। आगे चलकर कई लोगों ने सेमाफोर पद्धति का विकास किया, किंतु इनमें सबसे सरल तथा उपयोगी दो बाँहों से सेमाफोर संकेतन प्रणाली थी, जिसको ऐडमिरल सर होम पॉफम ने सन् १८०३ में जन्म दिया और जो आज तक नौसेनाओं में प्रयुक्त होती है (देखें चित्र १.)।

दूरसंकेतन के लिये सूर्य के प्रकाश का उपयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। कहते हैं, सिकंदर ने इस कार्य के लिये ढाल पर चमचमाती धातु की सतह का प्रयोग किया था, किंतु बाद में दर्पणों का तथा इन्हीं के समुन्नत रूप, हीलियोग्राफ़, का प्रयोग होना आरंभ हुआ। इस उपकरण द्वारा संदेश भारत में सन् १८७७-७८ में, सन् १८७९-८० के अफ़गान और जुलु युद्ध में, सन् १८९९-१९०१ के दक्षिण अफ्रीकी युद्ध में और प्रथम विश्वयुद्ध के समय पूर्वी क्षेत्रों में, बराबर भेजे गए। संकेतन के लिये ऐसे लैंपों का, जिनके संमुख चलकपाट लगे होते हैं, प्रयोग सन् १९१४ तक होता रहा है। बिजली के लैंप बन जाने पर, इनके जलाने और बुझाने का काम चलकपाट के स्थान पर स्विचों से लिया जाने लगा। इनका भी प्रथम विश्वयुद्ध में बहुत प्रयोग हुआ।

सन् १८५२ में मॉर्स कूट (code) के आविष्कार [देखें तारयंत्र, हिंदी विश्वकोश, खंड ५, पृष्ठ ३५०-३५१] तथा बिजली के विकास के कारण, ध्वनि से संकेत भेजने की रीति निकली। सन् १८५४ के क्रीमिया युद्ध में क्षेत्रीय तार (टेलिग्राफ) का सर्वप्रथम उपयोग किया गया। दक्षिणी अफ्रीका के युद्ध में विभिन्न मुख्यावासों को क्षेत्रीय टेलिग्राफों से संबद्ध किया गया था, यद्यपि युद्ध के अग्रक्षेत्रों में संपर्क स्थापित करने का कार्य हीलियोग्राफ़ और झंडों से ही लिया जाता रहा। संदेश भेजने के लिये टेलिफोन का प्रयोग सर्वप्रथम सन् १९०४-०५ के रूस जापान युद्ध में और सन् १९०७ से ब्रिटिश सेना में किया गया, पर सैन्यदलों में व्यापक रूप से इसका प्रयोग सन् १९१४ के विश्वयुद्ध से प्रारंभ हुआ।

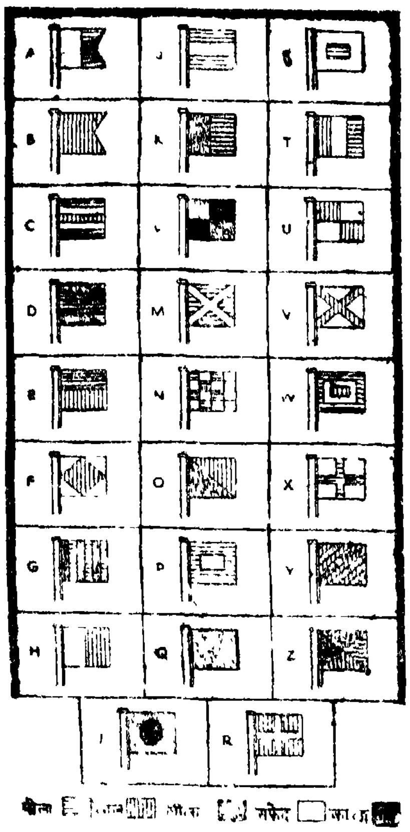
बेतार के तार का उपयोग भी सर्वप्रथम दक्षिणी अफ्रीका के युद्ध में हुआ, पर सन् १९१८ तक यह हयदल की स्वतंत्र टुकड़ियों तक सीमित रहा। युद्ध के अग्रिम क्षेत्रों में उपयोग के लिये, सन् १९१९ से १९३९ तक के काल में, बेतार के टेलिफोन बनाए गए और इन्हें कवचित टुकड़ियों के उपयोग के लिये विकसित किया गया। सन् १९४१ से १९४४ के बीच सब सैन्यदलों में रेडियो टेलिफोन का प्रयोग होने लगा। तार वाले टेलिफोनों का प्रयोग निश्चल स्थिति के समय तथा बेतार के टेलिफोनों का चल कार्यवाहियों में सामान्य हो गया। बेतार (wireless) के तार (telegraph) या टेलिफोन के प्रयोग का फल यह हुआ कि भेजे हुए संदेश शत्रु सैन्य द्वारा भी प्राप्य हो गए और इस कारण सुरक्षा के विचार से संदेशों को कूट रूप में भेजना आवश्यक हो गया तथा संकेत विभाग के कर्तव्यों में कूटों तथा बीजांकों को तैयार करने, संबंधित अनुभागों तथा सैन्य टुकड़ियों में इनका वितरण करने, और बेतार के तार की शृंखलाओं की जाँच करने का कार्य बढ़ गया।

अनुसमुद्री संकेतन — एक जहाज से दूसरे जहाज के बीच संकेतन की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। यह कार्य प्राचीन काल से

प्रकाश, पाल और झंडों के, विविध प्रयोगों, या तोपों की बाढ़ से, किया जाता रहा है, किंतु ये पुरातन रीतियाँ सर्वथा संतोषजनक सिद्ध नहीं हुईं। सन् १७७७ में ब्रिटिश जहाजी बेड़े के प्रधान, लॉर्ड हाउ (Howe), ने झंडों द्वारा संदेश भेजने की प्रणाली पर एक पुस्तक तैयार की। बाद में इसमें दिए संकेतों में अनेक सुधार हुए, किंतु फिर भी ये संकेत पूर्णत: संतोषजनक नहीं सिद्ध हुए। आगे चलकर जिन संदेशों के लिये निर्देश उपर्युक्त पुस्तक में नहीं थे, उनके लिये १९वीं शती में सेमाफोर (देखें चित्र १.) तथा स्फुरित लैंपों का प्रयोग किया जाने लगा। सर्चलाइटों (searchlights) में चलकपाट लगाकर और बादलों से प्रकाश का परावर्तन कराकर, संदेश अधिक स्पष्ट और बहुत दूर तक भेजना संभव हो गया।

२०वीं शती के प्रारंभ में यह स्पष्ट हो गया कि समुद्र पर संवादवहन के लिये बेतार का तार बड़े काम की चीज है। इसमें शीघ्र प्रगति हुई और सन् १९१४ तक बेतार के तार से संकेतन का सब जगह प्रचलन हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जहाजी बेड़ों में संकेतन तथा तोपों की मार के नियंत्रण के लिये बेतार के तार का प्रयोग पूर्ण रूप से विकसित हो गया और सब जहाजों पर प्रशिक्षित कूटज्ञ, बेतार के तार का प्रयोग जाननेवाले नाविक तथा उच्च योग्यता वाले संकेतज्ञ नियुक्त किए गए।

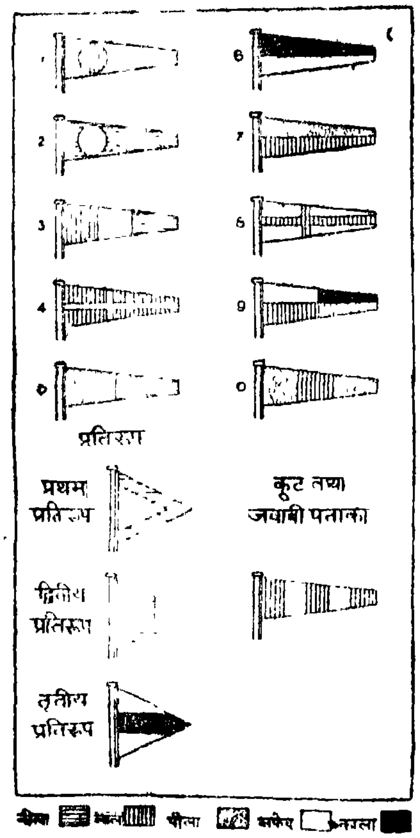
अंतरराष्ट्रीय संकेतन — १९वीं शती के प्रारंभ में अंतरराष्ट्रीय प्रयोग के लिये संकेत प्रणालियाँ तैयार और प्रकाशित की गईं।



चित्र २. अंतरराष्ट्रीय संकेतन कूट

वर्णमालात्मक झंडे।

इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध कैप्टेन मैरयैट की प्रणाली थी, जिसमें किसी भी संकेतन के लिये अधिक से अधिक चार झंडों का प्रयोग कर, ९,००० संकेत भेजे जा सकते थे। सन् १८५५ में



चित्र ३. अंतरराष्ट्रीय संकेतन कूट

संख्यात्मक पताकाएँ।

एक समिति ने ऐसा कूट तैयार किया जिसमें ७०,००० संकेत थे और १८ झंडों (flags) का प्रयोग कर, (X) और जेड (Z) को छोड़कर, अंग्रेजी वर्णमाला के सब व्यंजनों का निरूपण हो जाता था। सन् १८८९ में वाशिंगटन में हुई अंतरराष्ट्रीय परिषद् ने अंग्रेजी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के लिये एक झंडा, अर्थात् कुल २६ झंडों का, एक कूट तथा जवाबी पताका (pendant) स्थिर की (देखें चित्र २.)। इस कूट का प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध में किया गया, पर यह भी असंतोषजनक सिद्ध हुआ। इसलिये सन् १९२७ वाली विभिन्न राष्ट्रों की वाशिंगटन परिषद् ने सुधार के लिये निम्नलिखित सुझाव दिए : (१) रेडियो टेलिग्राफी तथा चाक्षुष संकेतन के लिये अलग अलग संकेत पुस्तकें तैयार की जाएँ, (२) अंकों के लिये दस झंडे तथा तीन प्रतिस्थापित झंडे और बढ़ा दिए जायँ, (देखें चित्र ३.), (३) मोर्स के संकेतन को रेडियो टेलिग्राफी के अनुकूल कर दिया जाय, (४) दूरसंकेत और अचल सेमाफोर को बंद कर दिया जाय तथा (५) जहाजों के संकेताक्षर वे ही होने चाहिए जो रेडियो द्वारा बुलाने के हों तथा ये चार अक्षरों से बनने चाहिए। इन सुझावों के अनुसार स्थिर नियमों में भी आवश्यकतानुसार सामान्य परिवर्तन किए गए हैं।

सेमाफोर वर्णमाला का, जिसका उपयोग हाथों में लिए झंडों द्वारा किया जाता है, तथा मोर्स कोड का, जिसको स्फुर प्रकाश

ध्वनि, या बेतार के तार द्वारा संकेतन के काम में लाया जाता है, प्रयोग सभी देश समान रूप में करते हैं। महत्व के सब बंदरगाहों में तूफानों के तथा ज्वारभाटा के आने की सूचनाओं के लिये विशिष्ट संकेत ऊँचाई पर, या मस्तूलों पर, प्रदर्शित किए जाते हैं।

वैमानिकीय संकेत — वैमानिकी में चाक्षुष संकेतन का स्थान रेडियो टेलिफोन तथा रेडियो टेलिग्राफी ने ले लिया है, किंतु एयरोड्रोम की कार्यविधि का निर्देश करनेवाले कुछ चाक्षुष संकेत एयरोड्रोम की भूमि पर तथा ऊँचे ध्वजदंड पर प्रदर्शित किए जाते हैं। जिन वायुयानों में रेडियो टेलिफोन नहीं होता, उनको एयरोड्रोम नियंत्रक के आदेश मॉर्स कूट में, एक विशेष प्रकार के लैंप द्वारा, दिए जाते हैं। अन्य संदेशों और संकेतों के लिये रेडियो टेलिफोन का प्रयोग किया जाता है।

रेलवे संकेतन — ग्रिगरी ने सन् १८४१ में, यातायात की सुरक्षा के लिये, यंत्रचालित सेमाफोर संकेतन की युक्ति निकाली थी, पर बाद में इसका स्थान अन्य रीतियों ने, जैसे रंगीन प्रकाश द्वारा संकेतन, मार्ग परिपथ (track circuit) तथा स्वयंचालित गाड़ीनियंत्रण उपस्कर (automatic train control equipment) ने ले लिया।

रंगीन प्रकाश द्वारा संकेतन की एक विधि में तीन रंगों के प्रकाश का प्रयोग किया जाता है। लाल रंग से "रुक जाओ", पीले से "आगे के सिगनल पर रुकने के लिये तैयार रहते हुए आगे बढ़ो" तथा हरे प्रकाश से "आगे बढ़े जाओ" का संकेत किया जाता है (देखें सिगनल, रेलवे भी) चार प्रकार की प्रकाशवाली विधि में एक के ऊपर दूसरा, ऐसे दो पीले प्रकाशों का प्रयोग भी किया जाता है, जिसका अर्थ होता है कि "सावधानी से आगे बढ़ो और आगे एक पीले, अथवा दो पीले प्रकाशों पर अन्य संकेत के लिये तैयार रहो।"

मार्गपरिपथवाली रीति में लाइन पर गाड़ी का आगमन एक रिले स्विच द्वारा संकेत प्रचालन परिपथ को खोल देता है।

स्वयंचालित गाड़ीनियंत्रण उपस्कर में, रेलपथ पर स्थित ऐसी युक्ति होती है, जो रेल के इंजन तथा गाड़ी के बाहर रहते हुए भी, रेल के इंजन के नियंत्रकों का आवश्यकतानुसार परिचालन करती है।

उपर्युक्त रीतियों के सिवाय, संदेशप्रेषण के लिये अब उच्चावृत्ति, लघुपरास रेडियो के तथा रेडार के उपयोग की संभावनाओं की जाँच की जा रही है। [भ० दा० व०]

संक्रमण (Infection) मर्त्यलोक के सभी प्राणियों के जीवनक्रम में जन्म के पश्चात् मृत्यु एक अपरिहार्य घटना है। जीवनकाल में प्राणी अनेक बाह्य एवं आभ्यंतर, विषम परिस्थितियों एवं शरीर विनाशक तत्वों का ग्रास होता रहता है। इनका सामना करने की शरीर की शक्ति के क्षीण या दुर्बल होने पर, प्रायः वह मृत्यु का शिकार हो जाता है। इन कारणों में रोग एक प्रधान कारण है। रोगों में भी कुछ रोग तो ऐसे हैं जो पीड़ित प्राणियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध होने पर दूसरे व्यक्तियों में संक्रांत नहीं होते। इसके विपरीत दूसरे रोग पीड़ित व्यक्तियों के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संपर्क, या उनके रोगोत्पादक, विशिष्ट तत्वों से दूषित पदार्थों के सेवन एवं निकट संपर्क, से एक से दूसरे व्यक्तियों पर संक्रमित हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा में ऐसे रोगों को छुतहा रोग कहते हैं। रोगग्रस्त या रोगवाहक पशु या मनुष्य संक्रमण के कारक होते हैं। संक्रामक रोग तथा इन रोगों के संक्रमित होने की क्रिया समाज की दृष्टि से विशेष महत्व की है, क्योंकि विशिष्ट उपचार एवं अनागत बाधाप्रतिषेध की सुविधाओं के अभाव में इनसे महामारी (epidemic) फैल सकती है, जो कभी कभी फैलकर सार्वदेशिक (pandemic) रूप भी धारण कर सकती है।

१९वीं शताब्दी में पाश्चात्य वैज्ञानिक पैस्टर ने अपने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित किया कि जीवाणुओं (bacteria) द्वारा विशिष्ट व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। कॉक नामक वैज्ञानिक ने बैक्टीरिया अध्ययन की कतिपय प्रयोगशालीय पद्धतियों पर भी प्रकाश डाला। तत्पश्चात् इस प्रकाश से प्रेरणा लेकर अनेक वैज्ञानिक संहारक रोगों के जनक इन जीवाणुओं की खोज में लग गए और १९वीं शताब्दी के अंतिम चरण में वैज्ञानिकों ने रोगजनक जीवाणुओं की खोज यथा पूयोत्पादक, राजयक्ष्मा, डिप्थीरिया, टाइफाइड, विसूचिका (cholera), धनुस्तंभ (tetanus), प्लेग एवं प्रवाहिका (dysentery) आदि संक्रामक रोगों के विशिष्ट जीवाणुओं का पता लगाकर इनके गुणधर्म, संक्रमण एवं नैदानिक पद्धतियों पर भी प्रकाश डाला (देखें जीवाणुक एवं संक्रामक रोग)।

अब इस दिशा में अत्यधिक सफलता प्राप्त की गई है तथा इस प्रकार के अधिकांश रोगों के जीवाणुओं का निश्चित रूप से पता लगा लिया गया है। परिणामतः इनके संक्रमण की रोकथाम की तथा चिकित्सा में भी पर्याप्त सफलता मिलने लगी है। ये रोगजनक जीवाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं और केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही देखे जा सकते हैं। इसलिये इनको जीवाणु कहते हैं। सूक्ष्माकार के ही कारण इनकी लंबाई माइक्रोन (माइक्रोन = १ मिली० का $\frac{१}{१०००}$ वाँ भाग) में बतलाई जाती है (देखें जीवाणु, जीवाणु विज्ञान तथा विषाणु)। ये जीव वर्ग के एक कोशिकावाले अतिसूक्ष्म जीव होते हैं।

रोगजनक संक्रमण में किसी न किसी जीवाणु का प्रायः हाथ होता है। ये जीवाणु वायु, जल, भूमि तथा प्राणियों के शरीर में कहीं कम, कहीं अधिक तथा समय विशेष एवं विशेष जलवायु क्षेत्र में न्यूनाधिक संख्या में पाए जाते हैं। प्रायः एक विशिष्ट प्रकार की विकृति तथा लक्षण उत्पन्न करनेवाले संक्रमण में एक विशिष्ट प्रकार का जीवाणु उत्तरदायी होता है, किंतु कभी कभी एक से अधिक प्रकार के जीवाणुओं का संक्रमण एक साथ भी होता है, जिसे मिश्र संक्रमण कहते हैं, और कभी एक ही प्रकार की विकृति अनेक भिन्न प्रकार के जीवाणुसंक्रमण से भी होती है।

संक्रामी व्यक्ति से अन्य स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में संक्रमण भिन्न भिन्न प्रकार से होता है। फिरंग (syphilis), सूजाक (gonorrhoea) तथा विसर्प (erysipelas) एवं मसूरिका आदि रोगों का संक्रमण मृत, संक्रांत या वाहक मनुष्य या पशु के प्रत्यक्ष संसर्ग से होता है। कुछ संक्रमण, जैसे जलसंत्रास आदि, कुत्ते, स्यार तथा चूहे के काटने से होते हैं। श्वसनतंत्र के कुछ रोगों का

संक्रमण खाँसने, छींकने या जोर से बोलते समय छोटे छोटे बिंदुओं के बाहर निकलने से समीप में बैठनेवालों को हो जाता है। इसे बिंदुक संक्रमण होना (Droplet infection) कहते हैं। संक्रांत, व्याधित या वाहक व्यक्ति के दूषित वस्त्र, पात्र, खाद्य, पेय, हाथ, यंत्र, अस्त्र, वायु एवं मुख संबंधी वस्तुओं के सेवन से अप्रत्यक्ष संक्रमण होता है। पाचन तंत्र के संक्रामक रोगों को फैलाने में घरेलू मक्खी एक प्रमुख यांत्रिक वाहक (machanical carrier) है। कुछ रोग जैसे मलेरिया, कालाजार, श्लीपद, प्लेग आदि का संक्रमण कीटाणुओं के वाहक मच्छर, पिस्सू, भुनगे, जूँ और किलनी के दंश से होता है।

संक्रमण के कुछ समय बाद रोगों के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस काल को उद्भवन काल (Incubation period) कहते हैं। विभिन्न रोग जनक-जीवाणुओं के उद्भवन काल भिन्न भिन्न होते हैं।

सम्प्रति अधिकांश रोगजनक संक्रमणों के विशिष्ट निदान एवं चिकित्सा उपलब्ध हैं और आगे इस दिशा में तीव्रतापूर्वक कार्य हो रहा है। [रा० सु० सिह० तथा भृ० ना० सि०]

संख्या (नंबर, Number) ऐतिहासिक संबद्ध दृष्टिकोण से संख्या की विचारधारा प्राकृतिक संख्याओं १, २, ३, ... के अनुक्रम से है। सामान्यतः संख्या का अर्थ धनात्मक पूर्णांक, वास्तविक राशि या धनात्मक पूर्णांकों, या वास्तविक संख्याओं के विन्यास के अनेक अमूर्त, गणितीय व्यापकीकरणों में से एक से संयोजित तत्व है। इन व्यापकीकरणों में संमिश्र, अतिसंमिश्र (hypercomplex), परिमितातीत (transfinite), गणन (cardinal) एवं क्रमसूचक (ordinal) संख्याएँ समाविष्ट हैं।

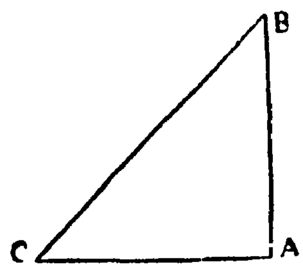
संख्या की विचारधारा को सर्वप्रथम गति देनेवाले हिंदू ही थे, जिन्होंने उपर्युक्त अनुक्रम के प्रारंभ में ० (शून्य) को स्थान देकर, तत्संबंधी विचारों के प्रयोजनों में वृद्धि की। शून्य के समावेश के कारण अंकगणनाओं की पद्धति में काफी सरलता आ गई। हिंदुओं द्वारा आविष्कृत स्थैतिक पद्धति, जिसमें दशमलव बिंदु के बाईं ओर किसी अंक की स्थिति मूलांक (radix) का घात, अथवा आधार दस, निर्देशित करती है, अन्य प्राचीन पद्धतियों की अपेक्षा सुकर है। प्रयोग एवं सिद्धांत रूप में किसी पूर्णांक को २ की घातनी द्वारा व्यक्त करना बहुत सुगम है।

धनात्मक पूर्णांक — प्रागैतिहासिक काल में संख्या की विचारधारा समान समुदायों से प्रस्फुटित हुई। दो समुदाय समान कहे जाते हैं, यदि उनके तत्व एक एकैकी संवादिता द्वारा संबद्ध हों। किसी समुदाय की गणना संख्या उन समस्त समुदायों का कुलक है जो उसके समान हैं। उदाहरणार्थ समस्त युग्मों का कुलक संख्या २ का निरूपण करता है, समस्त त्रियों का कुलक संख्या ३ निर्दिष्ट करता है, इत्यादि। संख्या ० वह कुलक है जिसका सदस्य केवल मोघ समुदाय है। अतः इस परिभाषा के द्वारा हम दो संख्याओं का योग और गुणन व्यक्त कर सकते हैं और योग के क्रमविनिमेय (commutative) एवं साहचर्य (associative) नियमों को सिद्ध कर सकते हैं: $a + b = b + a$ और $a + (b + c) = (a + b) + c$। गुणन के क्रमविनिमेय, साहचर्य और वितरण (distributive) नियम भी सिद्ध किए जा सकते हैं, जैसे $a \times b = b \times a$, $a \times (b \times c) = (a \times b) \times c$ और $a \times (b + c) = (a \times b) + (a \times c)$।

ऋणात्मक पूर्णांक — ऋणात्मक गणना संख्याओं $-1, -2, -3, \ldots$ के उपानयन के फलीभूत व्याकलन (subtraction) की क्रिया का निर्बाध उपयोग किया जा सकता है। यदि दो पूर्णांक a और b दिए हों, तो एक अन्य निश्चित पूर्णांक d ऐसा होगा कि $a = b + d$ घटित हो, और हम $d = a - b$ लिख सकते हैं।

पिनो (Peano) ने १९०० ई० के लगभग धनात्मक पूर्णांकों का समग्र अंकगणित पाँच स्वयंसिद्धियों (axioms) के समुदाय से विकसित किया है।

भाग की कठिनाइयाँ दूर करने के लिये परिमेय (rational) संख्याओं का समावेश किया गया है। ये संख्याएँ p/q जैसी होती हैं, जिनमें p कोई पूर्णांक और q कोई अन्य अशून्य पूर्णांक हैं। परिमेय संख्याओं के समुदाय में योग, व्याकलन, गुणन और भाग की क्रियाएँ संभव हैं, किंतु किसी परिमेय संख्या का भिन्नात्मक घात सामान्यतः संभव नहीं है। उदाहरण के लिये, $\sqrt{2}$ परिमेय



संख्या नहीं है। ज्यामितीय रूप में यदि हम एक द्विसमबाहु समकोणीय त्रिभुज A B C ऐसा बनावें कि $AB = AC = 1$ हो, तो $(BC)^2 = 2$ होगा। $\sqrt{2}$ जैसी एक वास्तविक संख्या, जो परिमेय नहीं है, अपरिमेय (irrationnl) कहलाती है। जॉर्ज कैंटर (१८७१ ई०) ने अपरिमेय संख्याओं के सिद्धांत को विकसित किया है। वास्तविक संख्याओं की, जिनमें परिमेय और अपरिमेय संख्याएँ दोनों समाविष्ट हैं, परिमेय संख्याओं x_n, y_n के अनंत अनुक्रमों $x = (x_1, x_2, x_3, \ldots)$, $y = (y_1, y_2, y_3, \ldots)$ द्वारा इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि x_n, y_n इस भाँति अभिसरित (converge) होती हैं कि m और n के अनंत की ओर बढ़ने पर $|x_m - x_n|$, $|y_m - y_n|$ शून्य की ओर अग्रसर हों। हम x को अनुक्रम $\{x_1, x_2, x_3, \ldots\}$ की सीमा मानते हैं। दो संख्याएँ x और y समान होंगी, यदि n के अनंत रूप से बढ़ने पर $|x_n - y_n|$ शून्य की ओर अग्रसर हो।

डेडकिंड (१८७२ ई०) ने वास्तविक संख्याओं को परिमेय संख्याओं के दो वर्गों L और R की धारणा देकर व्यक्त किया है। प्रत्येक परिमेय संख्या या तो L वर्ग में आती है या R वर्ग में, और L का प्रत्येक सदस्य R के प्रत्येक सदस्य के समान, या उससे छोटा,

होता है। परिमेय संख्याओं का इन दो वर्गों, L और R, में विभाजन डेडेकिंड (Dedekind) परिच्छेद कहलाता है और परिमेय संख्याओं का एक परिच्छेद, जिसमें दोनों वर्ग आते हों और लघुतर वर्ग में कोई महत्तम संख्या न हो, वास्तविक संख्या कहा जाता है। बर्ट्रैंड रसेल ने इस परिभाषा में कुछ परिवर्तन किया है, तदनुसार परिमेय संख्याओं की राशियों के क्रम में अवस्थित श्रेणी का एक खंड वास्तविक संख्या होगा। डेडेकिंड की परिभाषा कैंटर की परिभाषा के समतुल्य सिद्ध की जाती है।

इस पद्धति द्वारा व्यक्त वास्तविक संख्याएँ योग, व्यवकलन, गुणन और भाग (शून्य द्वारा छोड़कर) की क्रियाओं के योग्य होती हैं। किंतु यदि हम एक बीजीय समीकरण, यथा $x^2 = -1$, पर विचार करें, तो ऐसी कोई वास्तविक संख्या x का अस्तित्व नहीं होगा जिसके लिये $x^2 = -1$ हो। यदि हम $i = \sqrt{-1}$ को एक काल्पनिक संख्या मान लें और योग तथा गुणन के नियमों का पालन करें, तो हमें संमिश्र संख्याओं : $a + i b = a + \sqrt{-1}\, b$ की धारणा स्पष्ट हो जाएगी। बीजगणित के मूलभूत प्रमेय द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि वास्तविक अथवा संमिश्र गुणकों a_n, $n \geqslant 1$, $a_n \neq 0$, वाले प्रत्येक बीजीय समीकरण

$$a_0 + a_1 z + \dots + a_n z^n = 0 \quad\dots\dots\dots (1)$$

की तुष्टि कम से कम एक संमिश्र संख्या $Z = x + i y$ द्वारा होती है।

पूर्णांक गुणकोंवाले समीकरण (1) की तुष्टि जो संख्याएँ करती हैं, उन्हें बीजीय संख्याएँ कहते हैं। वास्तविक या संमिश्र संख्याएँ, जो बीजीय नहीं हैं, अबीजीय (transcendental) कहलाती हैं। उदाहरण के लिये, $\pi = ३.१४\dots$ और $e = २.७१८$ अबीजीय संख्याएँ हैं। प्रायः समस्त वास्तविक संख्याएँ इस अर्थ में अबीजीय होती हैं कि यदि R अंतराल (0, 1) में अवस्थित परिमेय संख्याओं के कुलक को, A उसी अंतराल में अवस्थित बीजीय संख्याओं के कुलक को, I उसी अंतराल में अवस्थित अपरिमेय संख्याओं के कुलक को और T उसी अंतराल में अवस्थित संख्याओं के कुलक को निरूपित करें, तो $R \subset A$ और $m(R)$ = कुलक R का मान $= 0$, $m(A) = 0$, $m(I) = 1$ और $m(T) = 1$ होगा। ल्यूवील (Liouville) ने सिद्ध किया है कि n घात वाली वास्तविक बीजीय संख्या n से अधिक किसी वर्ण को उपनयनशील नहीं है। इस प्रमेय द्वारा हम सिद्ध कर सकते हैं कि संख्याएँ :

$$\xi = 10^{-1!} + 10^{-2!} + 10^{-3!} + \dots,$$
$$\eta = \frac{1}{10^{1!}} + \frac{1}{10^{2!}} + \frac{1}{10^{3!}} + \dots$$

अबीजीय हैं।

ज्यामितीय दृष्टिकोण से संमिश्र संख्याओं को समतल पर निरूपित कर सकते हैं; संख्या $z = x + i y$ उस बिंदु द्वारा निरूपित होगी जिसके नियामक (x, y) हों। इस समतल को तब संमिश्र समतल कहते हैं।

संमिश्र संख्याओं को विस्तार देने पर चतुर्मिश्र संख्याएँ (Quarternions) प्राप्त होती हैं। इनका रूप $a + bj + ck + dl$ जैसा होता है, जिसमें a, b, c, d, वास्तविक हैं। ऐसी दो संख्याओं का योग संमिश्र संख्याओं की भाँति व्यक्त किया जाता है, और गुणन की व्याख्या $j^2 = k^2 = l^2 = -1$, $jk = l$, $kj = -l$, $kl = j$, $lk = -j$, $ly = k$, $jl = -k$ जैसे समीकरणों (जो $i^2 = -1$ के व्यापक रूप हैं) की सहायता से होती है। अतिसंमिश्र संख्याएँ भी इसी प्रकार व्यक्त की जा सकती हैं।

सं॰ ग्रं॰ — जी॰ एच॰ हार्डी : ए कोर्स इन प्योर मैथेमैटिक्स (१९३५); ई॰ लंडाऊ : ग्रंडलागेन डर ऐनालिसिस (१९३०); बी रसेल : इंट्रोडक्शन टु मैथेमैटिकल फिलॉसोफी (१९१०); जी॰ बर्कहॉफ़ और एस॰ मैकलेन : ए सर्वे ऑव मॉडर्न ऐल्जेबरा (१९४०) ई॰ डब्ल्यू॰ हॉबसन : थ्योरी ऑव फंक्शंस ऑव ए रीयल वेरियेबिल, खंड १ (१९२७)। [स्व॰ मो॰ प्रा॰]

संख्या पद्धतियाँ (Numeral Systems) हरेक भाषा में कुछ न कुछ अंक अवश्य होते हैं। इकाई की संकल्पना से 'एक' की और अनेकता की संकल्पना से 'दो' की रचना हुए बिना नहीं रहती। अव्यवस्थित संख्यालेखन कदाचित् ही किसी भाषा में होगा। ऑस्ट्रेलिया की भाषाओं, यूइन — कुरी आदि, तथा वहाँ की मध्य दक्षिणी भाषाओं में ऐसी अव्यवस्था है। अंडमन द्वीपों और मलक्का के वासियों ने एक और दो के लिये अंक तो बनाए हैं, लेकिन जोड़ते वे एक एक करके ही हैं। ऐसी ही बात दक्षिण अमरीका की चिकीटो के बारे में है। व्यवस्थित पद्धतियों के संक्षिप्त विवरण ये हैं :

युग्मक पद्धति में एक और दो के लिये अंक हैं और ३ को २+१ (अर्थात् एक युग्म और एक), ४ को २+२ इत्यादि के रूप में प्रकट करते हैं। यह पद्धति ऑस्ट्रेलिया और न्यूगिनी की जातियों, अफ्रीका की बुशमैन, दक्षिण अमरीका की फ्यूजियन, यमन, ग्वाविको, शिपया आदि जातियों में है। इस पद्धति की उत्पत्ति शरीर के उन अंगों को देखकर हुई जो जोड़ों में हैं।

चतुष्टक पद्धति में चार से अधिक संख्याएँ, संयोजन द्वारा, इस प्रकार प्रकट की जाती हैं : ५ = ४ + १, ७ = ४ + ३, ८ = ४ + ४ या २ × ४। विशेष रूप से कैलिफोर्निया में सलिना जाति द्वारा यह पद्धति प्रयुक्त होती है। वहाँ आकाश के चार भागों का धर्म, परंपरा और देवकथाओं में विशेष महत्व है।

षष्टक पद्धति मूल रूप से उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका की हुका, बुलंदा, एप्को जातियों में प्रचलित है। आगे चलकर यह द्वादश पद्धति में विकसित हुई। इसकी विशेषता यह है कि १२ के निःशेष खंड कितने ही हो जाते हैं। इसी कारण यह ज्योतिष, लंबाई मापन और मुद्राप्रणाली में प्रचलित हुई।

पंचक पद्धति अविकल रूप से दक्षिण अमरीका के सरावेका की अरोवक भाषा में मिलती है। अन्यत्र इसका संयोजन दशमक या विंशति पद्धति के साथ हो गया है। विंशति पद्धति में आधार २० है। इसे पंचक, दशमक और युग्मक पद्धतियों से संयुक्त पाया जाता है। इन पद्धतियों का आरंभ हाथ और पैर की अंगुलियों से हुआ। इस प्रकार 'पाँच' का अर्थ हाथ, दस का अर्थ दोनों हाथ, १५ का अर्थ दोनों हाथ और एक पैर

तथा २० का अर्थ दोनों पैर और हाथ, अर्थात् पूर्ण मनुष्य, हो जाता है।

पंचक विंशति पद्धति प्राय. ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी के कुछ भागों में, एशिया-यूरोप की सीमा पर और तिब्बती-बर्मी भाषाओं के हिमालयी वर्ग में है। दशमक विंशति पद्धति, मुंडा भाषाओं, हिमालय के तिब्बती-चीनी वर्गों और काकेशिया की भाषाओं में प्रचलित है।

' दशमक पद्धति के पंचक – दशमक रूप में द्वितीय पंचक की संख्याएँ पाँच में जोड़कर बनती हैं, यथा ६ = ५ + १, या युग्मों द्वारा, यथा ६ = ३ × २, या व्यवकलन द्वारा भी, यथा ९ = १० – १। यह पद्धति कृषिप्रधान सभ्यताओं में प्रचलित हुई। अफ्रीका की बंटू, नीलोटी, थ्यूल, ग्रोन्की और मन्डू भाषाओं में इसका विशेष प्रचलन है।

शुद्ध दशमक पद्धति में पंचक का प्रयोग नहीं होता। इसकी उत्पत्ति यायावर (खानाबदोश) वर्गों में हुई, जिन्हें गाय, घोड़े, ऊँट, भेड़ के झुंडों को गिनने होते थे। तब से फैलते फैलते अब यह पद्धति विश्वव्यापी हो गई है। केवल मेक्सिको और मध्य अमरीका में, अब भी ज्योतिष में प्रयुक्त होने के कारण, विंशति पद्धति सुरक्षित है। [ह० चं० गु०]

संख्यासिद्धांत को गाउस (Gauss) गणित की रानी कहता था। यह सिद्धांत मुख्यत: प्राकृतिक संख्याओं 1, 2, 3..... के गुण धर्मों का अध्ययन करता है। पूर्णता के विचार से इन संख्याओं में हम ऋण संख्याओं तथा शून्य को भी संमिलित कर लेते हैं। जब तक निश्चित रूप से न कहा जाय, तब तक संख्या से कोई प्राकृतिक संख्या, धन, या ऋण पूर्ण संख्या या शून्य समझना चाहिए।

अभाज्य (prime) तथा संयुक्त (composite) संख्याओं का भेद बतलाना ही प्राकृतिक संख्याओं का पहला वर्गीकरण है, जिसका उपानयन इनके अध्ययन में हुआ है।

उन संख्याओं को अभाज्य कहते हैं, जिनके धन विभाजक केवल दो ही होते हैं। संयुक्त संख्याओं के धन विभाजक दो से अधिक होते हैं। 1 का विभाजक केवल एक ही है, अत: 1 न तो अभाज्य संख्या है और न संयुक्त। अभाज्य संख्याओं को p से निरूपित किया जाता है।

अंकगणित के मूल प्रमेय (fundamental theorem) की प्रतिज्ञा के अनुसार, प्रत्येक पूर्ण संख्या (integer), जो एक से बड़ी है, या तो अभाज्य है, या अभाज्य संख्याओं के अद्वितीय गुणनफल के रूप में निरूपित हो सकती है। उन दो गुणनफलों को, जिनमें एक ही गुणनखंड भिन्न भिन्न क्रम में रखे गए हैं, सर्वसम (identical) कहते हैं, उदाहरणार्थ : 360 = 2. 2. 2. 3. 3. 5.। यह प्रमेय स्वयंसिद्ध सा प्रतीत हो सकता है, परंतु ऐसी बात नहीं है। इसको सिद्ध करने के लिये अनेक उपपत्तियाँ उपलब्ध हैं।

इस गणित की रानी के अनुपम गुणों में से एक गुण, जिसके कारण छोटे बड़े सभी प्रकार के गणितज्ञ इसकी ओर आकर्षित हुए हैं, यह है कि संख्या सिद्धांत के अनेक प्रश्न साधारण विद्यालयों के विद्यार्थियों की समझ में तो आ जाते हैं, परंतु हल करने में वे इतने सरल नहीं हैं। उदाहरणस्वरूप, गोल्डबैक (Goldbach) के अनुमान को लें, जिसके अनुसार प्रत्येक सम संख्या $\geqslant 6$, दो अभाज्यों के योगफल के रूप में निरूपित की जा सकती है। इस अनुमान का सत्यापन तो बहुत अधिक हो गया है, परंतु अभी तक इसको सिद्ध करने में, या इसको असत्य करने में किसी गणितज्ञ को सफलता नहीं मिली है। इसके विपरीत एक ही उदाहरण इसको असत्य ठहराने के लिये पर्याप्त होगा, जब कि इसके पक्ष में लाखों उदाहरण इसकी सत्यता को सिद्ध ठहराने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकते। विनोग्रेडोव (Vinogradov) की विधि से हम इस अनुमान के निकट पहुँचते हैं। यह सिद्ध किया जा चुका है कि सब बड़ी विषम संख्याएँ तीन अभाज्यों के योगफल हैं।

यदि कोई संख्या यदृच्छया (at random) दी गई है, तो सामान्यत: यह कहना संभव नहीं है कि वह संख्या अभाज्य है अथवा नहीं, जबकि किसी भी संयुक्त संख्या n का एक विभाजक अवश्य ही $\leqslant \sqrt{n}$ है। यदि n बड़ी संख्या है, तो इसकी जाँच में बहुत श्रम करना पड़ेगा। इस श्रम को कम करने की कई विधियाँ निकाली गई है, परंतु समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है।

सिद्धांतत: n एक अभाज्य संख्या है, यदि और केवल यदि n द्वारा $(n-1)!+1$ विभाज्य है। (उदाहरणत:, $6!+1.=721$, जो अभाज्य संख्या 7 से विभाज्य है तथा एक संयुक्त संख्या 6 द्वारा $5!+1$ विभाज्य नहीं है)। यह विल्सन (Wilson) का प्रमेय है।

यूक्लिड (Euclid) ने एक बहुत ही सरल ढंग से यह सिद्ध किया है कि अभाज्यों की संख्या अनंत है। मान लिया कि अभाज्यों की संख्या सीमित है और ये संख्याएँ केवल 2, 3, 5......, p हैं। निम्नलिखित संख्या पर विचार करें :

$$N = 2.\ 3.\ 5.......p+1$$

N एक ऐसी संख्या है जो 1 से बड़ी है और 2, 3, 5......, p अभाज्यों में से किसी भी अभाज्य से विभाज्य नहीं है, तब यह संख्या N या तो अभाज्य होगी, या किसी ऐसी अभाज्य संख्या से विभाज्य है जो हमारे अभाज्यों की सूची में नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि अभाज्यों की हमारी सूची अपूर्ण है और प्रमेय सत्य है।

यमल अभाज्य (Twin primes) — उन दो अभाज्यों को, जिनमें 2 का अंतर होता है, यमल अभाज्य कहते हैं। इस प्रकार के यमल 3, 5; 5, 7; 11, 13; 17, 19; 29, 31......हैं। यह ज्ञात नहीं है कि यमल अभाज्यों की संख्या सीमित या असीमित है। यमल अभाज्यों के संबंध में एक दूसरी रुचिकर बात यह है कि यद्यपि सभी क्रमागत अभाज्यों के व्युत्क्रमों (reciprocals) से बनी हुई श्रेणी :

$$\frac{1}{2}+\frac{1}{3}+\frac{1}{5}+\frac{1}{7}+\ldots\ldots$$

अपसारी (divergent) है, तथापि श्रेणी

$$\left(\frac{1}{3}+\frac{1}{5}\right)+\left(\frac{1}{5}+\frac{1}{7}\right)+\left(\frac{1}{11}+\frac{1}{13}\right)+\ldots\ldots$$

जो समस्त अभाज्यों के व्युत्क्रमों से बनी है, अभिसारी (convergent) है।

अभाज्य संख्या प्रमेय (Prime Number Theorem) — अभाज्यों का वितरण (distribution) बड़ा बेतुका है और kवें (k th) अभाज्य के लिये कोई सूत्र देना संभव नहीं है। यदि x बड़ी संख्या है, तो उन अभाज्यों की संख्या का आकलन (estimate) जो $\leqslant x$ है, दिया जा सकता है। यदि $\pi(x)$ उन अभाज्यों की संख्या है जो $\leqslant x$ हैं, तो

$$\lim_{x \to \infty} \frac{\pi(x)}{x/\log_e x} = 1$$

यही अभाज्य संख्या प्रमेय है। एरडॉस (Erdos) और सेलबर्ग (Selberg) ने १९४९ ई० में इसकी प्रारंभिक उपपत्ति दी थी। हैडामार्ड (Hadamard) और डी ला वाली पॉशिन (de la' valle Paussin) ने इसकी वैश्लेषिक उपपत्ति १८९६ ई० में ही दी थी।

ऑयलर का टोशेंट फलन (Euler's Totient Function)— दो संख्याओं a और b के महत्तम समापवर्तक (G. C. D.) को साधारणत: संकेत (a, b) द्वारा निरूपित करते है; उदाहरणस्वरूप (36, 28) = 4। जब (a, b) = 1, तो a और b को परस्पर अभाज्य कहते है। $\phi(n)$ से हम उन संख्याओं की संख्या निरूपित करते है जो n के प्रति अभाज्य हैं और n से बड़ी नहीं हैं। यह ऑयलर का टोशेंट फलन हैं। इस फलन का संख्या सिद्धांत में महत्वपूर्ण स्थान है।

$\phi(1) = 1, \phi(2) = 1, \phi(3) = 2, \phi(4) = 2, \ldots$ और सामान्यत:

$$\phi(n) = n \prod_{p/n} (1 - p^{-1})$$

जहाँ p/n से ज्ञात होता है कि गुणनफल में n के सभी अभाज्य विभाजक संमिलित हैं।

समशेषताएँ (Congruences) — दो पूर्ण संख्याओं a और b (धन, ऋण या शून्य) को मापांक m (modulo m) के प्रति समशेष (congruent) कहते हैं, जब m से a − b विभाज्य है। इसको हम लोग निम्नलिखित प्रकार से लिखते हैं :

$$a \equiv b \pmod{m}$$

व्यापकता को कुछ आघात पहुँचाए बिना, यह कहा जा सकता है कि m धनात्मक पूर्णांक है।

समशेषता के गुणधर्म समीकरणों के गुणधर्मों के समान हैं। यदि $a \equiv b \pmod{m}$ और $c \equiv d \pmod{m}$, तब $a+c \equiv b+d \pmod{m}$ और $ac \equiv bd \pmod{m}$।

यदि x का एक बहुपदीय फलन f(x) है, जिसमें x के गुणक पूर्णांक हैं और $a \equiv b \pmod{m}$, तो $f(a) \equiv f(b) \pmod{m}$, परंतु यदि $ab \equiv ac \pmod{m}$, तो यह आवश्यक नहीं है कि $b \equiv c \pmod{m}$, उदाहरणार्थ $2 \equiv 6 \pmod{4}$, परंतु 1 और 3 समशेष नहीं हैं (mod 4) के प्रति।

$ab \equiv ac \pmod{m}$ से जो उचित फल निकाला जा सकता है, वह केवल यही है कि $b \equiv c\ [\bmod\ m/(a, m)]$। समशेषता की इस अंकन पद्धति (notation) का एक बड़ा लाभ यह है कि इसकी सहायता से संख्या सिद्धांत के बहुत से फलों को सुंदर ढंग से निरूपित किया जा सकता है।

संपूर्ण और लघुकृत अवशेषों का समुच्चय (Complete and Reduced Residue Sets) — समशेषता संबंध तुल्यता संबंध है। इसका अर्थ यह है कि निम्नांकित संबंध सत्य है :

(1) $a \equiv a \pmod{m}$; (2) $a \equiv b \pmod{m}$ का अर्थ $b \equiv a \pmod{m}$ है।

(3) $a \equiv b \pmod{m}$, $b \equiv c \pmod{m}$ का अर्थ $a \equiv c \pmod{m}$ है।

इसलिये समशेषता संबंध पूर्णांकों (integers) के समुच्चय को अतुल्यता के वर्गों में इस प्रकार बाँटता है कि एक वर्ग के प्रत्येक दो पूर्णांक मापक m के प्रति समशेष है और भिन्न भिन्न वर्गों के दो पूर्णांक मापक m के प्रति समशेष नहीं हैं। यदि m वर्गों में से प्रत्येक वर्ग से एक एक पूर्णांक लिया जाए, तो मापांक m के प्रति संपूर्ण अवशेषों का एक एक समुच्चय प्राप्त होगा। इस प्रकार − 3, 3, 2, 12, 14, 20, − 6 मापांक 7 के प्रति संपूर्ण अवशेषों का समुच्चय है। मापांक m के प्रति सरलतम अवशेषों का समुच्चय (१) 0, 1, 2, 3...m − 1 है और (२) निरपेक्ष लघुतम संपूर्ण अवशेषों का समुच्चय निम्नांकित है :

$0, \pm 1, \pm 2, \ldots\ldots, \pm(m-1)/2$, जब m विषम है

तथा $0, \pm 1, \pm 2, \ldots\ldots \pm(m-2)/2$, जब m सम है।

इसी प्रकार यदि m के प्रति अभाज्य पूर्णांकों का समुच्चय लिया जाए, तो वे $\phi(m)$ तुल्यता के ऐसे वर्गों में बँट सकते हैं कि किसी एक वर्ग की प्रत्येक 2 संख्याएँ मापांक m के प्रति समशेष होंगी और भिन्न भिन्न वर्गों की कोई 2 संख्याएँ मापांक m के प्रति समशेष नहीं हैं। पहले की भाँति यदि प्रत्येक वर्ग से एक एक संख्या ली जाय, तो मापांक m के प्रति लघुकृत अवशेषों का एक समुच्चय प्राप्त होता है। m = 12 के लिये इस प्रकार का एक समुच्चय 1, 5, 7, 11 है।

यह स्मरणीय है कि यदि मापांक m के प्रति संपूर्ण अवशेषों के समुच्चय अवयवों को m के सापेक्ष किसी अभाज्य संख्या r से गुणा किया जाए, तो मापाक m के प्रति संपूर्ण अवशेषों का एक दूसरा समुच्चय प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि मापांक m के प्रति लघुकृत अवशेषों के समुच्चय के सभी अवयवों को m के सापेक्ष किसी अभाज्य संख्या r से गुणा किया जाए, तो मापांक m के प्रति लघुकृत अवशेषों का एक दूसरा वर्ग प्राप्त होगा। इससे निम्नांकित ऑयलर फेर्मा (Euler-Fermat) प्रमेय प्राप्त है :

$$r^{\phi(m)} \equiv 1 \pmod{m}, \text{ यदि } (r, m) = 1$$

कुछ संख्यासैद्धांतिक फलन (Some Number-Theoretic Functions) — उन फलनों को जो चर के पूर्णांक मानों के किसी समुच्चय के लिये परिभाषित हैं, संख्यासैद्धांतिक फलन

कहते हैं। इस प्रकार का एक फलन $\phi(n)$ है, जिसकी परिभाषा पहले ही दी जा चुकी है। कुछ अन्य फलन निम्नांकित हैं :

(१) $\sigma(n)$: प्राकृतिक संख्या n के विभाजकों का जोड़;

(२) $d(n)$: n के विभाजकों की संख्या।

यदि किसी संख्या n का निरूपण $p_1^{\alpha_1}, p_2^{\alpha_2}, p_3^{\alpha_3} \ldots p_k^{\alpha_k}$ है, जहाँ सभी p एक दूसरे से भिन्न अभाज्य हैं, तो

$$d(n) = (\alpha_1+1)(\alpha_2+1)(\alpha_3+1)\ldots\ldots(\alpha_k+1) = \prod_{i=1}^{k} (\alpha_i+1)$$

$$\text{और } \sigma(n) = \prod_{i=1}^{k} \frac{p_i^{\alpha_i+1} - 1}{p_i - 1}$$

(3) $pot_p(n)$ (जिसको आधार p पर n का पोटेंसी पढ़ते हैं) अभाज्य p का वह महत्तम घात है, जो n को विभाजित करता है। उदाहरणार्थ $pot_5(300) = 2$ और $pot_p(n!) = [n/p] + pot_p([n/p]!)$, जब यहाँ, और आगे भी, $[x]$ का अर्थ x में महत्तम पूर्णांक होता है। उदाहरणार्थ : $[3 \cdot 2] = 3$।

एक दूसरा बहुत महत्वपूर्ण संख्या सैद्धांतिक फलन मोबियस (Moebius) फलन है, जो निम्नवत् परिभाषित होता है :

$\mu(1) = 1$;

$\mu(n) = 0$, जब n का कोई विभाजक 1 से बड़ा और वर्ग संख्या हो;

$\mu(n) = (-1)^r$, जब $n = p_1 p_2 p_3 \ldots\ldots p_r$ और सभी p एक दूसरे से भिन्न अभाज्य हैं।

यह स्मरणीय है कि $n>1$ के लिये

$$\sum_{d|n} \mu(d) = 0$$

जहाँ संकेत $d|n$ से प्रकट होता है कि जोड़ n के सभी विभाजकों से होकर जाता है। उदाहरणार्थ मान लिया कि $n = 12$, तब

$$\sum_{d|12} \mu(d) = \mu(1)+\mu(2)+\mu(3)+\mu(4)+\mu(6)+\mu(12)$$
$$= 1 + (-1) + (-1) + 0 + 1 + 0 = 0$$

टोशेंट फलन (Totient function) के लिये इसी प्रकार का फल निम्नलिखित है :

$$\sum_{d|n} \phi(d) = n$$

विख्यात मोबियस व्युत्क्रम सूत्र (Moebius inversion formula) की प्रतिज्ञा के अनुसार

यदि $F(n) = \sum_{d|n} f(d)$, तब $f(n) = \sum_{d|n} \mu(d) F(n/d)$

उदाहरणार्थ, चूँकि $n = \sum_{d|n} \phi(d)$, इसलिये

$$\phi(n) = \sum_{d|n} \mu(d)\, n/d = n \sum_{d|n} \mu(d)/d$$

यहाँ पर ल्यूवील फलन (Liouville's function) $\lambda(n)$ का, जो निम्नलिखित संबंधों द्वारा परिभाषित है, वर्णन किया जा सकता है :

$\lambda(1) = 1$; $\lambda(pn) = -\lambda(n)$, जहाँ p एक अभाज्य है।

पोल्या (Polya) ने अनुमान लगाया था कि

$$L(n) = \sum_{j=1}^{n} \lambda(j), \text{ 0 से बड़ा नहीं है, जब } n>1$$

हाल ही में आर० शरमैन लीमैन (R. Sherman Lehman) ने इसको असत्य सिद्ध किया है। इन्होंने दिखा दिया है कि L (n) धनात्मक है, जब n = 90,62,00,000; 90,63,00,000; 90,64,00,000 या 90,64,70,000।

रैखिक समशेषता (Linear Congruence) — उन समशेषताओं को, जिनका रूप $ax+b \equiv 0 \pmod{m}$ की तरह है, जहाँ a, b, और m पूर्ण संख्याएँ हैं, रैखिक समशेषता कहते हैं। ऐसी समशेषताओं के हल हैं यदि, और केवल यदि, $(a, m) \mid b$ (किसी समशेषता के मूल या हल के अस्तित्व का अर्थ है कि इस प्रकार की पूर्ण संख्याएँ (integers) x हैं, जो समशेषता को संतुष्ट करती हैं)।

यदि किसी समशेषता का एक ही हल, मान लिया c है, तब मापांक m के प्रति c के समशेष सभी संख्याएँ भी इस समशेषता के हल हैं। इस प्रकार के सभी हल सर्वसम (identical) माने जाते हैं। मापांक m के प्रति किसी समशेषता को हल करने के लिये x के केवल 0, 1, 2, 3......, m − 1 मानों पर ही विचार करना चाहिए, जब $(a, m) \nmid b$, तब समशेषता का कोई हल नहीं होता अन्यथा इसके यथार्थतः (a, m) हल होते हैं।

इस स्थल पर इसका भी उल्लेख किया जा सकता है कि यदि f(x), x में एक बहुपदीय फलन है, जिसके सभी गुणक पूर्ण संख्याएँ हैं और जिसमें x का k है, तो समशेषता $f(x) \equiv 0 \pmod{m}$ के हलों संख्या, जहाँ p अभाज्य है, k से अधिक नहीं हो सकती। यदि इस प्रकार की कोई ऐसी समशेषता है, जो x के k अधिक असमशेष मानों से संतुष्ट होती है, तो अवश्य ही यह एक सर्वसम समशेषता होगी, अर्थात् f(x) में x के सभी गुणक p से विभाज्य हैं। उदाहरणार्थ, समशेषता

$$(x-1)(x-2)(x-3)(x-4) \equiv x^4-1 \pmod{5}$$

एक ऐसी समशेषता है, जिसमें x का महत्तम घात 3 है, परंतु, जो x के चार मानों 1, 2, 3, 4 से संतुष्ट होती है। अतः अवश्य ही यह एक सर्व समशेषता है। इसका सरलीकरण करने पर हमें ज्ञात होता है कि वास्तव में यह समशेषता निम्नलिखित प्रकार से लिखी जा सकती है :

$$10x^3 - 35x^2 + 50x - 25 \equiv 0 \pmod{5}$$

इसका प्रत्येक गुणक 5 से विभाज्य है।

प्रथम n प्राकृतिक संख्याओं में से किन्हीं r संख्याओं के गुणनफलों के योगफलों को निरूपित करनेवाले फलन G (n, r) के गुणधर्मों तथा उनके व्यापीकरण का अध्ययन हंसराज गुप्त द्वारा कुछ विस्तारपूर्वक किया गया है, जिससे वॉयस्टर फेर्मा प्रमेय, विल्सन

प्रमेय तथा इन्हीं के सदृश कुछ अन्य प्रमेयों का व्यापीकरण हो सका है।

वर्ग अवशेष (Quadratic Residues) — रैखिक समशेषता के पश्चात् कोई भी व्यक्ति स्वभावत: वर्ग समशेषता पर विचार करना चाहेगा। इस प्रकार की समशेषताएँ, जैसा अंतिम विश्लेषण (final analysis) से ज्ञात होता है, ऐसी समशेषताओं पर निर्भर हैं जिनका रूप निम्नलिखित है :

$$x^2 \equiv n \ (\mathrm{mod}\ p),\ p \text{ एक अभाज्य है और } (n, p) = 1$$

n के उन मानों को, जिनके लिये इस समशेषता के हल हैं, मापांक p के वर्ग अवशेष कहते हैं और n के उन मानों को, जिनके लिये इनका कोई हल नहीं है, मापांक p के वर्ग अनावशेष (Quadratic non-residues) कहते हैं। विषम अभाज्य p के लिये यथार्थत: $(p-1)/2$ वर्ग अवशेष और इतने ही वर्ग अनावशेष हैं।

मापांक p के प्रति n के वर्ग अवशेष के लक्षण को दिखाने के लिये लज्हांद्र (Legendre) ने एक संकेत (n/p) का उपानयन किया। परिभाषा के अनुसार $(n/p) = 1$, जब p का वर्ग अवशेष n है और $(n/p) = -1$, जब p का वर्ग अनावशेष n है और $(n/p) = 0$, जब $p \mid n$।

आयलर ने सिद्ध किया कि $(n/p) \equiv n^{\frac{p-1}{2}} \ (\mathrm{mod}\ p)$।

गाउस ने बहुत अधिक व्यापक निकष (criterion) प्रदान किया, जिससे वर्गात्मक व्युत्क्रमता (quadratic reciprocity) का नियम प्राप्त होता है। इसके अनुसार यदि p और q दो विषम अभाज्य हैं, तब

$$(p/q)\ (q/p) = (-1)^{PQ}$$

जहाँ $P = (p-1)/2$ और $Q = (q-1)/2$। इस फल के पूरक के तौर पर हमको प्राप्त है :

$$(2/p) = (-1)^R,\ \text{जहाँ } R = (p^2-1)/8$$

आयलर के निकष से यह फल निकलता है कि $4k+1$ के रूप के सभी अभाज्यों का वर्ग अवशेष -1 है और $4k-1$ रूप के किसी भी अभाज्य का अवशेष -1 नहीं है। इसका अर्थ यह है कि ऐसी पूर्ण संख्याओं x का अस्तित्व है कि

$$x^2+1 \equiv 0 \ (\mathrm{mod}\ p)$$

केवल उसी समय जब p का रूप $4k+1$ का है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि केवल इसी प्रकार के अभाज्यों का ही निरूपण दो वर्गों के योग के रूप में, और वह भी एक अद्वितीय ढंग से, हो सकता है। उदाहरणार्थ,

$$29 = 5^2+2^2 \quad।$$

वस्तुत: यदि कोई संख्या दो वर्गों के योग के रूप में दो या दो से अधिक भिन्न भिन्न विधियों से निरूपित की जा सकती है, तो वह संयुक्त संख्या है, परंतु इसका विलोम सत्य नहीं है। इसपर अधिक चर्चा हम लोगों को वर्ग रूपों (quadratic forms) जैसे मोहक विषय के अध्ययन की ओर खींच ले जाएगी।

पूर्वगत मूल और घातांक (Primitive Roots and Indices) — यदि $(a, m) = 1$, तब एक ऐसे पूर्णांक $k > 0$ का अस्तित्व है कि

$a^k \equiv 1 \ (\mathrm{mod}\ m)$, परंतु a और 1 समशेष नहीं हैं (mod m) के प्रति, जब $0 < j < k$। इस k को a मापांक m का क्रम (order) कहते हैं। हम लोग यह भी कहते हैं कि k मापांक से a संबद्ध है।

यदि किसी ऐसी पूर्ण संख्या g का, जो m के लिये अभाज्य है, इस प्रकार अस्तित्व है कि यह मापांक m के $\phi(m)$ से संबद्ध है, तो g को m का पूर्वगत मूल (Primitive Root) कहते हैं। पूर्वगत मूलों का अस्तित्व सर्वदा नहीं रहता। 15 का कोई पूर्वगत मूल नहीं है। 15 से छोटी और इसके प्रति अभाज्य संख्याएँ केवल 1, 2, 4, 7, 8, 11, 13 और 14 हैं। ये क्रम से 1, 4, 2, 4, 4, 2, 4 और 2 मापांक 15 से संबद्ध हैं। इस प्रकार 15 के प्रति कोई ऐसी अभाज्य संख्या नहीं है जो $\phi(15) = 8$ मापांक 15 से संबद्ध हो। ऐसी संख्याएँ जिनके पूर्वगत मूल हैं, निम्नांकित हैं :

$$n = 2,\ 4,\ p^k,\ 2\,p^k;$$

जहाँ p एक विषम अभाज्य है और $k \geqslant 1$। इनमें से प्रत्येक के पूर्वगत मूलों की संख्या $\phi\{\phi(n)\}$ है। उदाहरणार्थ, 7, 9, 98, 343 के पूर्वगत मूल हैं।

यदि m का पूर्वगत मूल g है, तो संख्याएँ

$$g, g^2, g^3, \ldots\ldots g^{\phi(m)}$$

मापांक m के लघुकृत अवशेषों का एक समुच्चय बनाती हैं। प्रत्येक n के लिये, जो m के प्रति अभाज्य है, एक ऐसे अद्वितीय $j \leqslant \phi(m)$ का अस्तित्व है कि

$$g^j \equiv n \ (\mathrm{mod}\ m) \quad।$$

मापांक m के प्रति आधार g के n का घातांक यही j है। हम लोग इसको निम्नलिखित प्रकार से लिखते हैं :

$$\text{घात}_g\, n = j,\ \{\mathrm{ind}_g\, n = j\}$$

यहाँ पर मापांक m लुप्त है। चूँकि

$$g^{j+\phi(m)} \equiv g^j \equiv n \ (\mathrm{mod}\ m)$$

$$\text{घात}_g\, n_1 + \text{घात}_g\, n_2 \equiv \text{घात}_g\, (n_1 n_2)\ \{\mathrm{mod}\ \phi(m)\}।$$

यह देखा जाएगा कि लघुगुणक के नियमों के समान ही नियम घातांकों पर लागू हैं। यदि घातांकों की सारणी दी हो, तो कुछ विशेष प्रकार की समशेषताएँ हल हो जाती हैं। उदाहरण के लिये, निम्नलिखित समशेषता पर विचार करें।

$$x^4 \equiv 2 \ (\mathrm{mod}\ 7)$$

अब 7 का पूर्वगत मूल 3 है और $\text{घात}_3\, 2 = 2$। इसलिये घातांकों को लेकर

$$4\ \text{घात}_3\, x \equiv 2 \ (\mathrm{mod}\ 6)$$

यह एक रैखिक समशेषता है। इसको हल करने से

$$\text{घात}_3\, x = 2,\ 5$$

$$\text{अत: } x \equiv 3^2,\ 3^5 \ (\mathrm{mod}\ 7)$$

$$\equiv 2,\ 5 \ (\mathrm{mod}\ 7)$$

संख्याओं का बँटवारा (Partitions of Numbers) — यह

उन प्रकरणों में से एक है, जिनकी ओर पिछले ५० वर्षों में बहुत ध्यान दिया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य उन विधियों की संख्या प्राप्त करना है जिनसे एक दी हुई प्राकृतिक संख्या n दूसरी प्राकृतिक संख्याओं के योग के रूप में निरूपित की जा सकती है। योग के घटकों की संख्या प्रतिबंधित (restricted), या अप्रतिबंधित (unrestricted), हो सकती है। घटक स्वयं निर्दिष्ट (specified) या अनिर्दिष्ट हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप, 7 को लीजिए। योग के रूप में यह निम्नलिखित विभिन्न विधियों से व्यक्त किया जा सकता है (घटकों का क्रम विसंगत है) :

7; 6+1; 5+2; 4+3; 5+1+1; 4+2+1; 3+3+1; 3+2+2; 4+1+1+1; 3+2+2; 2+2+2+1; 3+1+1+1+1; 2+2+1+1+1; 2+1+1+1+1+1; 1+1+1+1+1+1+1.

7 के ये 15 अप्रतिबंधित बँटवारे हैं। n के अप्रतिबंधित बँटवारे की संख्या को हम p(n) लिखते हैं और n को ठीक k घटकों के रूप में निरूपित करने की विधियों की संख्या को p (n, k) लिखते हैं। इस प्रकार

$p(7, 1) = 1$; $p(7, 2) = 3$; $p(7, 3) = 4$; $p(7, 4) = 3$; $p(7, 5) = 2$; $p(7, 6) = 1$; $p(7, 7) = 1$ और $p(7) = 15$.

औलक, चावला और गुप्त ने अनुमान किया कि पर्याप्त रूप से एक बड़ी संख्या n के लिये यथार्थत: एक ऐसी संख्या k है कि

$$p(n, 1) < p(n, 2) < \ldots\ldots < p(n, k-1) < p(n, k) > p(n, k+1) > \ldots\ldots > p(n, n-2) > p(n, n-1)$$

जी० जेकरीज (G. Szekeres) ने ऐसे k के लिये एक सूत्र ज्ञात किया है, परंतु अभी तक इस अनुमान की व्यापकता की उत्पत्ति नहीं दी गई है।

प्रख्यात भारतीय गणितज्ञ रामानुजन ने $n \geqslant 200$ के p(n) के मानों की सारणी का अध्ययन करते समय निम्नांकित अनुमान लगाया था :

यदि $24n - 1 \equiv 0 \pmod{5^a 7^b 11^c}$, a, b, c, $\geqslant 0$ तब अवश्य ही $p(n) \equiv 0 \pmod{5^a 7^b 11^c}$

यह अद्भुत अनुमान गलत निकल गया, क्योंकि जब गुप्त ने बँटवारे की सारणी को n = 300 तक बढ़ाया, तो देखा गया कि जब n = 243, तब

$$24n - 1 \equiv 0 \pmod{7^3}$$
$$p(n) = 13397\ 82593\ 44888 \equiv 0 \pmod{7^2},$$
परंतु 0 समशेष नहीं है (mod 7^3) के प्रति

रामानुजन के अनुमान के गलत सिद्ध हो जाने पर डी० एच० लेहमर (D. H. Lehmer), वाटसन (Watson) और अन्य जनों ने इसपर बहुत काम किया और अंत में जी० एन० वाटसन (G. N. Watson) और ए० ओ० एल० आट्किन (A. O. L. Atkin) यह सिद्ध करने में सफल हो गए कि

यदि $24n - 1 \equiv 0 \pmod{5^a 7^b 11^c}$, a, b, c $\geqslant 0$ तब $p(n) \equiv 0 \pmod{5^a 7^d 11^c}$, जहाँ $d = [(b+2)/2]$।

p (n) के लिये समशेषता के अनेक संबंध ज्ञात हो गए हैं, परंतु अभी तक यह ज्ञात नहीं हुआ है कि n के किस प्रकार के मान के लिये p(n) विषम है और किसके लिये सम है।

एच० राडेमाकर (H. Rademacher) ने p (n) के लिये एक अभिसारी (convergent) श्रेणी दी है। हार्डी और रामानुजन (Hardy and Ramanujan) ने एक अपसारी (divergent) श्रेणी दी थी, जिसके प्रथम कुछ पदों से p (n) का ऐसा निकटतम मान प्राप्त होता था जिससे p (n) का मान बड़ा नहीं हो सकता। इस प्रकार हार्डी-रामानुजन-श्रेणी के प्रथम 8 पदों से यह प्राप्त होता है कि

$$p(300) = 9\ 25308\ 29367\ 23602{\cdot}0040$$

जिसका सही उत्तर से केवल ·0040 का अंतर है।

वारिंग का प्रश्न (Waring's Problem) — वारिंग के आदर्श प्रमेय की प्रतिज्ञा के अनुसार प्रत्येक प्राकृतिक संख्या n का निरूपण अधिकतम I पूर्ण संख्याओं के k वें घात के जोड़ के रूप में हो सकता है, जहाँ

$$I = [(3/2)^k] + 2^k - 2$$

एस० एस० पिल्लै (S. S. Pillai) तथा एल० ई० डिक्सन (L. E. Dickson) ने इस प्रमेय को प्राय: सभी k के लिये सिद्ध कर दिया है।

अभाज्यों तथा 1 के घातों से संबंधित प्रश्नों का अध्ययन गुप्त द्वारा किया गया है, परंतु निश्चित रूप से कुछ सिद्ध नहीं हो सका है। [ह० रा० गु०]

संगरूर १. जिला, पंजाब राज्य (भारत) का एक जिला, तहसील तथा नगर है। जिले का क्षेत्रफल ७,८५० वर्ग किमी० तथा जनसंख्या १४,२४,६८८ (१९६१) है। इसमें १,००६ गाँव तथा १७ नगर हैं। प्रति वर्गमील जनसंख्या का घनत्व ४७० है। संगरूर जिला, लुधियाना जिला के दक्षिण तथा पटियाला जिला के पश्चिम में स्थित है। धरातल मैदानी है, जहाँ कुएँ और नहरों से सिंचाई होती है। कृषि मुख्य उद्यम है, जिसकी प्रमुख उपजें गेहूँ, गन्ना, कपास, तिलहन और दलहन हैं। पहले के मालेरकोटला, नाभा, और जींद राज्यों के भाग अब इसी जिले के अंतर्गत आ गए हैं। घग्गर नदी जिले के मध्य से प्रवाहित होती है।

२. नगर स्थिति : ३०° १२′ उ० अ० तथा ७५° ५३′ पू० दे०। नगर की जनसंख्या २८,३४४ (१९६१ ई०) तथा क्षेत्रफल १८·१३ वर्ग किमी० है। यह उपर्युक्त नाम के जिला एवं तहसील का मुख्यालय है। यह रेलों द्वारा धोरी से होकर लुधियाना, पटियाला और भटिंडा से मिला हुआ है। [आं० ला० का०]

संगीत गान मानव के लिये प्राय: उतना ही स्वाभाविक है जितना भाषण। कब से मनुष्य ने गाना प्रारंभ किया, यह बतलाना उतना ही कठिन है जितना कि कब से उसने बोलना प्रारंभ किया। परंतु

बहुत काल बीत जाने के बाद उसके गान ने व्यवस्थित रूप धारण किया। जब स्वर और लय व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब एक कला का प्रादुर्भाव होता है और इस कला को संगीत, म्यूजिक या मौसीकी कहते हैं।

युद्ध, उत्सव और प्रार्थना या भजन के समय मानव गाने बजाने का उपयोग करता चला आया है। संसार में सभी जातियों में बाँसुरी इत्यादि फूँक के वाद्य (सुषिर), कुछ तार या तांत के वाद्य (तत), कुछ चमड़े से मढ़े हुए वाद्य (अवनद्ध या आनद्ध), कुछ ठोंककर बजाने के वाद्य (घन) मिलते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारत में भरत के समय तक गान को पहले केवल गीत कहते थे। वाद्य में जहाँ गीत नहीं होता था, केवल दाड़ा, दिड़दिड़ जैसे शुष्क अक्षर होते थे, वहाँ उसे निर्गीत या बहिर्गीत कहते थे और नृत्त अथवा नृत्य की एक अलग कला थी। किंतु धीरे धीरे गान, वाद्य और नृत्य तीनों का 'संगीत' में अंतर्भाव हो गया — 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते''। भारत से बाहर अन्य देशों में केवल गीत और वाद्य को संगीत में गिनते हैं, नृत्य को एक भिन्न कला मानते हैं। भारत में भी नृत्य को संगीत में केवल इसलिये गिन लिया गया कि उसके साथ बराबर गीत या वाद्य अथवा दोनों रहते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वर और लय की कला को संगीत कहते हैं। स्वर और लय गीत और वाद्य दोनों में मिलते हैं, किंतु नृत्य में लय मात्र है, स्वर नहीं। हम संगीत के अंतर्गत केवल गीत और वाद्य की चर्चा करेंगे, क्योंकि संगीत केवल इसी अर्थ में अन्य देशों में भी व्यवहृत होता है।

भारतीय संगीत में यह माना गया है कि संगीत के आदि प्रेरक शिव और सरस्वती हैं। इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि मानव इतनी उच्च कला को बिना किसी दैवी प्रेरणा के, केवल अपने बल पर, विकसित नहीं कर सकता।

भारतीय संगीत का आदि रूप वेदों में मिलता है। वेद के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है, किंतु उसका काल ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व था — इसपर प्राय: सभी विद्वान् सहमत हैं। इसलिये भारतीय संगीत का इतिहास कम से कम ४००० वर्ष प्राचीन है।

वेदों में वाण, वीणा और कर्करि इत्यादि तत वाद्यों का उल्लेख मिलता है। अवनद्ध वाद्यों में दुंदुभि, गर्गर इत्यादि का, घनवाद्यों में आघाट या आघाटि और सुषिर वाद्यों में बाकुर, नाडी, तूणव, शंख इत्यादि का उल्लेख है। यजुर्वेद में ३०वें कांड के १९वें और २० वें मंत्र में कई वाद्य बजानेवालों का उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक कई प्रकार के वाद्यवादन का व्यवसाय हो चला था।

संसार भर में सबसे प्राचीन संगीत सामवेद में मिलता है। उस समय ''स्वर'' को 'यम' कहते थे। साम का संगीत से इतना घनिष्ठ संबंध था कि साम को स्वर का पर्याय समझने लग गए थे। छांदोग्योपनिषद् में यह बात प्रश्नोत्तर के रूप में स्पष्ट की गई है। 'का साम्नो गतिरिति ? स्वर इति होवाच' (छा० उ० १।८।४)। (प्रश्न 'साम की गति क्या है ?' उत्तर 'स्वर'। साम का 'स्व' अपनापन 'स्वर' है। 'तस्य हैतस्य साम्नो य: स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्' (बृ० उ० १।३।२५) अर्थात् जो साम के स्वर को जानता है उसे 'स्व' प्राप्त होता है। साम का 'स्व' स्वर ही है।

वैदिक काल में तीन स्वरों का गान सामिक कहलाता था। 'सामिक' शब्द से ही जान पड़ता है कि पहले 'साम' तीन स्वरों से ही गाया जाता था। ये स्वर 'ग रे स' थे। धीरे धीरे साम गान चार, पाँच, छह और सात स्वरों के होने लगे। छह और सात स्वरों के तो बहुत ही कम साम मिलते हैं। अधिक 'साम' तीन से पाँच स्वरों तक के मिलते हैं। साम के यमों (स्वरों) की जो संज्ञाएँ हैं उनसे उनकी प्राप्ति के क्रम का पता चलता है। जैसा हम कह चुके हैं, सामगायकों को स्पष्ट रूप से पहले 'ग रे स' इन तीन यमों (स्वरों) की प्राप्ति हुई। इनका नाम हुआ—प्रथम, द्वितीय, तृतीय। ये सब अवरोही क्रम में थे। इनके अनंतर नि̱ की प्राप्ति हुई जिसका नाम चतुर्थ हुआ। अधिकतर साम इन्हीं चार स्वरों के मिलते हैं। इन चारों स्वरों के नाम संख्यात्मक शब्दों में हैं। इनके अनंतर जो स्वर मिले उनके नाम वर्णनात्मक शब्दों द्वारा व्यक्त किए गए हैं। इससे इस कल्पना की पुष्टि होती है कि इनकी प्राप्ति बाद में हुई। 'गांधार' से एक ऊँचे स्वर 'मध्यम' की भी प्राप्ति हुई जिसका नाम 'क्रुष्ट' (जोर से उच्चारित) पड़ा। निषाद से एक नीचे का स्वर जब प्राप्त हुआ तो उसका नाम 'मंद्र' (गंभीर) पड़ा। जब इससे भी नीचे के एक और स्वर की प्राप्ति हुई तो उसका नाम पड़ा 'अतिस्वार अथवा अतिस्वार्य'। इसका अर्थ है स्वरण (ध्वनन) करने की अंतिम सीमा।

साभाव्य स्वरों के नियत क्रम का जो समूह है वह संगीत में 'ग्राम' कहलाता है। यूरोपीय संगीत में इसे 'स्केल' कहते हैं।

हम देख सकते हैं कि धीरे धीरे विकसित होकर साम का पूर्ण ग्राम इस प्रकार बना —

क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, अतिस्वार्य। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि साम का ग्राम अवरोही क्रम का था। नीचे हम सामग्राम और उनकी आधुनिक संज्ञाओं को एक सारणी में देते है :

साम	आधुनिक	
क्रुष्ट	मध्यम	(म)
प्रथम	गांधार	(ग)
द्वितीय	ऋषभ	(रे)
तृतीय	षड्ज	(स)
चतुर्थ	निषाद	(नि̣)
मंद्र	धैवत	(ध̣)
अतिस्वार्य	पंचम	(प̣)

सामगान के प्राय: सात भाग होते हैं—हुंकार अथवा हिंकार, प्रस्ताव, आदि उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इसके मुख्य गायक को उद्गाता कहते हैं। उद्गाता के दो सहायक गायक होते

हैं जिनको प्रस्तोता और प्रतिहर्ता कहते हैं। गान एक हिंकार अथवा हुंकार से प्रारंभ होता है जिसका उच्चार उद्गाता प्रस्तोता और प्रतिहर्ता एक साथ करते हैं। उसके मुख्य भाग को उद्गाथ कहते हैं। इसे उद्गाता गाता है। इसके अनंतर एक भाग होता है जिसे प्रतिहार कहते हैं इसे प्रतिहर्ता गाता है। इसके अनंतर जो भाग आता है उसे उपद्रव कहते हैं। इसे उद्गाता गाता है। निधन या अंतिम भाग को उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता तीनों एक साथ मिलकर गाते हैं। अंत में सब एक साथ मिलकर प्रणव अर्थात् ओंकार का सस्वर उच्चारण करते हैं।

सामगान की स्वरलिपि — सामगान की अपनी विशिष्ट स्वरलिपि (नोटेशन) है। लोगों में एक भ्रांत धारणा है कि भारतीय संगीत में स्वरलिपि नहीं थी और यह यूरोपीय संगीत का परिदान है। सभी वेदों के सस्वर पाठ के लिये उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विशिष्ट चिह्न हैं किंतु सामवेद के गान के लिये ऋषियों ने एक पूरी स्वरलिपि तैयार कर ली थी। संसार भर में यह सबसे पुरानी स्वरलिपि है। सुमेर के गान की भी कुछ स्वरलिपि यत्र-तत्र खुदी हुई मिलती है। किंतु उसका कोई साहित्य नहीं मिलता। अत: उसके विषय में विशिष्ट रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। किंतु साम के सारे मंत्र स्वरलिपि में लिखे मिलते हैं, इसलिये वे आज भी उसी रूप में गाए जा सकते हैं।

आजकल जितने भी सामगान के प्रकाशित ग्रंथ मिलते हैं उनकी स्वरलिपि संख्यात्मक है। किसी साम के पहले अक्षर पर लिखी हुई १ से ५ के भीतर की जो पहली संख्या होती है वह उस साम के आरंभक स्वर की सूचक होती है। ६ और ७ की संख्या आरंभ में कभी नहीं दी होती। इसलिये इनके स्वर आरंभक स्वर नहीं होते। हम यह देख चुके हैं कि सामग्राम अवरोही क्रम का था। अत: उसके स्वरों की सूचक संख्याएँ अवरोही क्रम में ही लेनी चाहिए।

प्राय: १ से ५ के अर्थात् मध्यम से निषाद के भीतर का कोई न कोई आरंभक स्वर अर्थात् षड्ज स्वर होता है। संख्या के पास का 'र' अक्षर दीर्घत्व का द्योतक है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित 'आज्यदोहम्' साम के स्वर इस प्रकार होंगे :

२र २र २र २र ३ ४र ५
हाउ हाउ हाउ। आ ज्य दो हम्।
सऽस सऽस सऽस। सऽ नि ध ऽप
मू२र र्धानं१र दाइ। वा२ऽ ३ अ१ र।
सऽ रेऽरेरेरे सऽ नि रे रे

२र ३ ४र ५ २र ३ ४र ५
आ ज्य दो हम्। आ ज्य दो हम्
सऽ नि धऽ प सऽ नि धऽ प
ति२ पृ३ वि४ क्या:५।
स नि ध प

इस साम में रे, स, नि, ध प—ये पाँच स्वर लगे हैं। संख्या के अनुसार भिन्न भिन्न सामों के आरंभक स्वर बदल जाते हैं। आरंभक स्वरों के बदल जाने से भिन्न भिन्न मूर्छनाएँ बनती हैं जो जाति और राग की जननी हैं। सामवेद के काल में स्वर, ग्राम और मूर्छना का विकास हो चुका था। सामवेद में ताल तो नहीं था, किंतु लय थी। स्वर, ग्राम, लय और मूर्छना सारे संगीत के आधार हैं। इसलिये सामवेद को संगीत का आधार मानते हैं।

प्रातिशाख्य और शिक्षा काल में स्वरों के नाम षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद हो गए। ग्राम का क्रम आरोही हो गया : स्वर के तीनों स्थान मंद्र, मध्य और उत्तम (जिनका पीछे नाम पड़ा मंद्र, मध्य और तार) निर्धारित हो गए। ऋक्प्रातिशाख्य में उपर्युक्त तीनों स्थानों और सातों स्वरों के नाम मिलते हैं।

वाल्मीकि रामायण में भेरी, दुंदुभि, मृदंग, पटह, घट, पणव, डिंडिम, आडंबर, वीणा इत्यादि वाद्यों और जातिगायन का उल्लेख मिलता है। जाति राग का आदिरूप है। महाभारत में सप्त स्वरों और गांधार ग्राम का उल्लेख आता है। महाजनक जातक (लगभग २०० ई० पू०) में चार परम महाशब्दों का उल्लेख है। इन्हें राजा उपाधि रूप में विद्वान् को प्रदान करता था।

पुरनानूरू और पत्तुपाट्टु (१००-२०० ई०) नामक तमिल ग्रंथों में अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) वाद्यों को बहुत महत्व दिया गया है। ऐसे वाद्य का विशिष्ट स्थान होता था जिसे 'मुरसुकट्टिल' कहते थे। तमिल के परिपादल (१००-२०० ई०) ग्रंथ में स्वरों और सात पालइ का उल्लेख है। 'पालइ' मूर्छना से मिलता है। उसमें 'याल' नामक तंत्री वाद्य का भी उल्लेख है। 'याल' के एक प्रकार में एक सहस्र तक तार होते थे।

दक्षिण के एक बौद्ध नाटक सिलप्पडिगारम् (३०० ई०) में भी कुछ संगीतविषयक बातों का समावेश है। इसमें वीणा, याल, बाँसुरी, पटह इत्यादि वाद्यों के वादकों का जिक्र है। उस समय के प्रचलित रागों का भी इसमें उल्लेख है। उसी समय के 'तिवाकरम्' नामक एक जैन कोश में भी संगीत के विषय में कुछ जानकारी दी गई है। इसमें संपूर्ण षाडव और ओडव रागों का उल्लेख है तथा २२ श्रुतियों और सात स्वरों का भी वर्णन है।

कालिदास के नाटकों में संगीत की चर्चा इतस्तत: आई है। मालविकाग्निमित्र में तो संगीत में दो शिष्यों की पूरी प्रतियोगिता ही दिखलाई गई है।

भारतीय संगीत का जो सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है वह है भरत का नाट्यशास्त्र। भरत के काल के विषय में विवाद है। यह एक संग्रह ग्रंथ है। इसलिये इसके काल का निर्णय करना और कठिन हो गया है। विद्वान् लोग इसका काल लगभग ई० पू० ५०० से ४०० ई० तक मानते हैं। नाट्यशास्त्र में श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना, जाति और ताल का विशद विवेचन किया गया है। भरत ने श्रुतियों का विचार स्वर की स्थापना के लिये किया है। उन्होंने ४ श्रुतियों के अंतराल पर षड्ज रखा है, उसके अनंतर ३ श्रुतियों के अंतराल पर ऋषभ, २ श्रुतियों के अंतराल पर गांधार, ४ श्रुतियों के अंतराल पर मध्यम, फिर ४ श्रुतियों के अंतराल पर पंचम, ३ श्रुतियों के अंतराल पर धैवत, और २ श्रुतियों के

अंतराल पर निषाद रखा है। इस प्रकार श्रुतियों की कुल संख्या २२ मानी है। भरत ने षड्जग्राम और मध्यमग्राम ऐसे दो ग्राम माने हैं। ऊपर जो श्रुतियों का अंतराल दिया है वह षड्ज ग्राम का है। यह ग्राम षड्ज से प्रारंभ होता है। इसलिये इसका षड्जग्राम नाम पड़ा। जो ग्राम मध्यम से प्रारंभ होता है उसका नाम है 'मध्यम ग्राम'। मध्यम ग्राम में मध्यम चतुःश्रुति, पंचम त्रिश्रुति, धैवत चतुश्रुति, निषाद द्विश्रुति, षड्ज चतुश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति, एवं गांधार द्विश्रुति होता है। गांधार ग्राम भरत को मान्य नहीं है।

मूर्छना का अर्थ है उभार या चमक। सात स्वरों के क्रमयुक्त प्रयोग की संज्ञा मूर्छना है (क्रमयुक्ता स्वरा: सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिता:- भरत, व० सं० अ० २८ पृ० ४३५)। भरत ने षड्ज और मध्यम दोनों ग्रामों में सात सात मूर्छनाएँ मानी हैं। मूर्छनाएँ 'जाति' गान का आधार थीं। विशिष्ट स्वर विशेष प्रकार के संनिवेश में 'जाति' कहलाते थे। जिसमें ग्रह, अंश, तार, मंद्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व और औडुवत्व के नियमों द्वारा स्वर-संनिवेश किया जाता था, वह 'जाति' कहलाता था। जातिगान संगीत की बहुत विकसित अवस्था का सूचक है। भरत के समय में जातिगान परिपूर्ण अवस्था पर पहुँचा हुआ था। जाति ही राग की जननी है। भरत ने सात ग्रामराग भी गिनाए हैं और यह बतलाया है कि वे जाति से प्रादुर्भूत होते हैं।

नाट्यशास्त्र में चच्चत्पुट, चाचपुट अथवा चंचूपुट, षट्पितापुत्र अथवा पंचपाणि, संपक्केष्टक, उद्घट्ट अथवा उद्‌घट तालों का उल्लेख है। ये क्रमश: ८, ६, १२, १२, और ६ मात्राओं के ताल थे।

मद्रास प्रदेश के कुडुमियमालइ स्थान में एक उत्कीर्ण लेख मिला है जो संभवत: ७वीं ई० शती का है। इसमें सात जातियों, सात स्वरों और कुछ श्रुतियों का तथा अंतर गांधार और काकलि निषाद का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में सातवीं शती तक संगीत की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी और उसके मुख्य विषय उत्तर से दक्षिण तक प्रसिद्ध और ग्राह्य हो चुके थे।

कुछ लोग नारदीय शिक्षा को भी ७ वीं शती के आसपास का ग्रंथ मानते हैं। इस ग्रंथ के देखने से तो यही पता चलता है कि यह भरत के नाट्यशास्त्र से अधिक प्राचीन है। इसमें श्रुति, स्वर, ग्राम का उल्लेख तो है ही, वैदिक संगीत और गात्रवीणा का भी विशद वर्णन है। नाट्यशास्त्र में वैदिक संगीत का वर्णन नहीं है।

भरत के अनंतर मतंग ने संगीत पर बहुत प्रकाश डाला है। उनका काल लगभग ८५० ई० है। उनकी बृहद्देशी जाति और राग, गांधर्व और देशी संगीत के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। उन्होंने 'द्वादशस्वर मूर्च्छना' पद्धति चलाई, जिसका लगभग २०० वर्ष तक प्रभुत्व रहा। अभिनव गुप्त (लगभग १००० ई०) ने अपने ग्रंथ "अभिनव भारती" में द्वादश स्वर मूर्छनावाद का खंडन किया है।

११ वीं शती में मिथिला के राजा नान्यदेव ने 'सरस्वती हृदयालंकार' ग्रंथ की रचना की। यह भरत के संगीत पर एक विस्तृत और सारगर्भ भाष्य है। इस ग्रंथ के अभी तक थोड़े से ही भाग मिले हैं।

पश्चिमी चालुक्यों के वंशज महाराज सोमेश्वर संगीत के प्रकांड विद्वान् थे। उन्होंने अपने 'अभिलषितार्थ चिंतामणि' के चौथे प्रकरण में एक हजार एक सौ सोलह श्लोक संगीत पर लिखे हैं। भिन्न प्रकार के प्रबंधों का उदाहरण इस ग्रंथ की विशेषता है। इनका राज्यकाल ११२७-११३४ ई० है।

सोमेश्वर के पुत्र प्रतापचक्रवर्ती हुए जिनका दूसरा नाम जगदेकमल्ल था। इनका राज्यकाल ११३४ से ११४३ ई० तक रहा। इन्होंने 'संगीत चूड़ामणि' नामक ग्रंथ की रचना की। यह बहुत प्रामाणिक ग्रंथ था। अब यह केवल खंडित रूप में मिलता है। बड़ोदा ओरिएंटल इंस्टिट्यूट ने इस खंडित ग्रंथ को १९५८ में प्रकाशित किया है। इसमें स्वर, प्रबंध, ताल और राग के प्रकरण दिए हुए हैं। ताल का वर्णन इसमें बहुत विस्तृत है।

चालुक्यवंशीय सौराष्ट्रनरेश महाराज हरिपाल संगीत के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका काल ११७५ ई० है। इन्होंने 'संगीत सुधाकर' नामक ग्रंथ की रचना की है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसमें लगभग ७० रागों का वर्णन है। इसमें नृत्य, वाद्य और गीत तीनों का प्रतिपादन हुआ है।

सोमराज देव ने ११८० में 'संगीतरत्नावली' की रचना की। इनका दूसरा नाम सोमभूपाल था। यह सम्राट् अजयपाल के वेत्रधर थे। इनके ग्रंथ में स्वर, ग्राम, प्रबंध, राग, ताल, सभी का विशद वर्णन है। इन्होंने एकतंत्री और आलापिनी वीणा के भी लक्षण दिए हैं।

१२वीं शती ई० में जयदेव ने 'गीतगोविंद' की रचना की। इनका जन्म बोलपुर के पास केंदुला ग्राम में हुआ था। जयदेव ने विभिन्न राग और तालों में प्रबंध लिखे हैं। उन्होंने मालव, गुर्जरी, बसंत, रामकरी, मालवगौड़, कर्णाट, देशाख्य, देशीवराडी, गोंडकरी, भैरवी, वराडी, विभास, इत्यादि रागों और रूपक, यति, एकताल, इत्यादि तालों का प्रयोग किया है। अपने प्रबंधों की उन्होंने स्वरलिपि नहीं दी है, अत: यह कहना कठिन है कि वह इन्हें किस प्रकार गाते थे। किंतु इतना स्पष्ट है कि १२वीं शती तक प्रबंध की गायनशैली ख्याति प्राप्त कर चुकी थी और कई राग और ताल लोकप्रिय हो गए थे।

पाल्कुरिकि सोमनाथ ने तेलगु में १२७० ई० में 'पंडिताराध्यचरितम्' नामक एक ग्रंथ लिखा। इसमें लगभग ३२ प्रकार की वीणाओं का उल्लेख है और मृदंग में समहस्त और वैशलम् इत्यादि की चर्चा है। इसके अतिरिक्त गमक, ठाय, नृत्य इत्यादि का भी इसमें विस्तृत वर्णन है।

भारतीय संगीत का 'नाट्यशास्त्र' के अनंतर सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' है। शार्ङ्गदेव के पूर्वज कश्मीर से आए थे और दक्षिण के यादववंश के देवगिरि के राजा के यहाँ नियुक्त हो गए। अत: शार्ङ्गदेव को उत्तर और दक्षिण दोनों की संगीतपद्धतियों के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ और उन्होंने समस्त भारतीय संगीत का विस्तृत शास्त्र 'संगीतरत्नाकर' में दिया है। इसमें श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति, राग, प्रबंध, नृत्य, ताल सभी

पर प्रकाश डाला गया है। इसमें संदेह नहीं कि यह भारतीय संगीत का आकर ग्रंथ है। इसकी रचना १३ वीं शती में हुई थी।

शाकंभरि के राजा हम्मीर ने लगभग १३०० ई० में 'शृंगारहार' की रचना की। इसमें भाषारागों और देशी रागों का वर्णन है। ११० ताल और एकतंत्री, नकुला, किन्नरी और आलापिनी इत्यादि वीणाओं की भी चर्चा है। जैन आचार्य पार्श्वदेव ने लगभग १३०० में 'संगीत-समय-सार' की रचना की, जिसमें उस समय के संगीत का बहुत ही विशद वर्णन है।

१४वीं और १५वीं शती में उत्तरी भारत के संगीत पर मुसलमानों के प्रभुत्व के कारण ईरानी संगीत का प्रभाव पड़ने लगा। सुल्तान अलाउद्दीन (१२९५-१३१६ ई०) के दरबार में अमीर खुसरो संगीत के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने कव्वाली गान का प्रचार किया। कहा जाता है, सितार वाद्य का भी निर्माण इन्हीं ने किया। किंतु 'सहतार' वाद्य ईरान में पहले से वर्तमान था। हो सकता है, इसका कुछ रूपांतर करके उन्होंने इसे भारत में प्रोत्साहन दिया हो। कहा जाता है, तबला भी इन्हीं का निर्माण किया हुआ है। ख्याल गायकी का भी प्रारंभ इन्होंने किया। इन्होंने ईरानी धुनों का मिश्रण करके कुछ नए राग भी बनाए।

जौनपुर के सुलतान इब्राहीम शर्की (१४००-१४४० ई०) के समय मलिक सुलतान कड़ा (प्रयाग के समीप) के अधिपति थे। इनके पुत्र बहादुर मलिक संगीत के बहुत प्रेमी थे। इन्होंने प्राय: सभी संगीत-ग्रंथों को एकत्र किया और सारे भारत से संगीत के विद्वानों को आमंत्रित किया। उनको आदेश दिया कि सब ग्रंथों का अध्ययन करके एक ऐसे ग्रंथ की रचना करें जिसमे संगीत संबंधी मतभेदों का निर्णय हो। इन पंडितों ने बहुत कुछ विचार विमर्श के अनंतर एक ग्रंथ की रचना की जिसका नाम उन्होंने 'संगीतशिरोमणि' रखा। भारतीय संगीत के इतिहास में यह पहला प्रयत्न था जब विविध मतों पर विचार करके एक समन्वयात्मक ग्रंथ लिखा गया। इस दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत ही महत्वपूर्ण है। दुर्भाग्यवश इस ग्रंथ के इस समय केवल प्रथम और चतुर्थ अध्याय ही प्राप्य हैं। यदि संपूर्ण ग्रंथ मिल जाय तो भारतीय संगीत पर बहुत बड़ा प्रकाश पड़ सकता है।

मेवाड़ के महाराणा कुंभ (१४३१-१४६९ ई०) जैसे वीर थे वैसे ही संगीत के भी बहुत प्रख्यात विद्वान् थे। यह भरत पद्धति से पूर्णतया परिचित थे। इन्होंने 'गीतगोविंद' पर रसिकप्रिया नाम की एक टीका लिखी और संगीत पर 'संगीतराज' नामक ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ १६ सहस्र श्लोकों में पूर्ण हुआ है और गीत, वाद्य, नृत्य सभी पर इसमें पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

लोचन कवि ने रागतरंगिणी का प्रणयन संभवत: १५वीं शती में किया। इसमें रागों का वर्गीकरण बारह ठाठों में किया गया है। १५वीं शती में महाप्रभु चैतन्य के प्रभाव से बंगाल में भक्तिसंगीत का अधिक प्रचार हुआ और संकीर्तन बहुत ही लोकप्रिय हो गया।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (१५वीं शती) ने ध्रुवपद शैली के गायन का विकास किया। संभवत: नायक बैजू इनके दरबार में थे। इन्होंने हिंदी में 'मानकुतूहल' नामक ग्रंथ की रचना की। संगीत पर हिंदी में कदाचित् यह पहला ग्रंथ है। इसमें उस समय के रागों पर पर्याप्त प्रकाश डाल गया है।

मुगल बादशाहों में अकबर (१५५६-१६०५ ई०) ने संगीत को सबसे अधिक प्रोत्साहन दिया। इस काल में वृंदावन में स्वामी हरिदास संगीत के बहुत ही प्रख्यात आचार्य थे। कहा जाता है, तानसेन ने संगीत में इनसे शिक्षा पाई थी। इन्होंने सैकड़ों ध्रुवपद और धमार की रचना की। सूरदास, नंददास, कुंभनदास, गोविंद-स्वामी इत्यादि वैष्णव कवियों ने 'विष्णुपद' की रचना की जो मंदिरों में गाए जाते थे। ये छंद में आबद्ध थे, किंतु ध्रुवपद की शैली में गाए जाते थे।

तानसेन पहले रीवाँ के महाराज रामचंद्र बघेल के दरबार में थे। अकबर ने उन्हें वहाँ से बुलवाकर अपना दरबारी गायक नियुक्त किया। तानसेन को प्रचलित गानपद्धति का ज्ञान तो था ही, वह प्राचीन संगीत पद्धति से भी परिचित थे। इन्होंने दरबारी कानड़ा, मियाँ की तोड़ी, मियाँमल्लार इत्यादि रागों का निर्माण किया। वह अनुपम गायक थे। उनके वंशजों ने ध्रुवपद धमार की गायकी और वीणा और रबाब वादन को २०वीं शती तक जीवित रखा।

१६वीं शती में पुंडरीक विट्ठल संगीतशास्त्र के अच्छे विद्वान् हुए हैं। वह कर्णाट के शिवगंगा नामक गाँव में पैदा हुए थे किंतु उनका अधिक समय बीता खानदेश प्रांत के बुरहानपुर नगर में। जब अकबर ने खानदेश को १५९९ में जीत लिया तो संभवत: वह दिल्ली आए। वह उत्तर भारतीय और कर्णाटक संगीत दोनों के पंडित थे। उनके लेख से ऐसा जान पड़ता है कि बुरहान खाँ ने उन्हें दोनों के समन्वय का आदेश दिया था। उन्होंने षड्रागचंद्रोदय, रागमाला, रागमंजरी और नर्तननिर्णय नाम के चार ग्रंथ लिखे। उनके ग्रंथों में स्वयंभू स्वर का उल्लेख मिलता है।

कर्णाटक संगीत के विद्वान् रामामात्य ने १५५० ई० के लगभग 'स्वरमेलकलानिधि' की रचना की। उन्होंने १९ मेलों में रागों का वर्गीकरण किया। उनके ग्रंथ में भी स्वयंभू स्वर का उल्लेख मिलता है।

१६०९ ई० में सोमनाथ ने रागविबोध लिखा। यह दक्षिण में संभवत: राजमुंद्री के पास के रहनेवाले थे। इन्होंने रुद्रवीणा, शुद्ध और मध्यम मेल वीणा का विस्तृत वर्णन दिया है। इन्होंने जनक और जन्य के आधार पर रागों का वर्गीकरण किया है।

तंजोर के राजा रघुनाथ ने अपने मंत्री गोविंद दीक्षित की सहायता से १६२० ई० में 'संगीतसुधा' का प्रणयन किया। उन्होंने पंद्रह मुख्य मेलों और पचास मुख्य रागों का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने २६४ रागों का साधारण परिचय दिया है।

सन् १६३० ई० में व्यंकटमखी ने 'चतुर्दंडीप्रकाशिका' लिखी। यह तंजोर के राजा रघुनाथ के सुपुत्र विजयराघव के आश्रय में थे। यह गोविंद दीक्षित के सुपुत्र थे। इन्होंने ७२ मेलों में रागों का वर्गीकरण किया है, और शुद्ध तथा मध्यममेल वीणा का वर्णन किया है।

लगभग सन् १६३० ई० में दामोदर मिश्र ने 'संगीतदर्पण' लिखा जो उस समय के उत्तरी भारत के संगीत पर अच्छा प्रकाश डालता है। इन्होंने गीत, ताल और नृत्त तीनों का विस्तृत वर्णन किया है।

१७वीं शती में गोविंद ने 'संग्रहचूड़ामणि' लिखा। इसमें ७२ मेलकर्ता और वीणा का विस्तृत वर्णन है। गोविंद दक्षिण के निवासी थे। उन्होंने संभवतः १६८० और १७०० के बीच में उपर्युक्त ग्रंथ लिखा।

१७वीं शती में ही अहोबल ने 'संगीतपारिजात' नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ का महत्व यह है कि इसमें वीणा के तार की लंबाई के द्वारा स्वरों के अंतराल समझाए गए हैं।

१८वीं शती में श्रीनिवास ने 'रागतत्वविबोध' लिखा। इन्होंने भी वीणा के तार द्वारा शुद्ध और विकृत स्वरों के स्थान बतलाए हैं। १७वीं-१८वीं शती के बीच भावभट्ट ने अनूपविलास, अनूप संगीत-रत्नाकर और अनूपांकुश की रचना की। यह बीकानेर के महाराज अनूपसिंह (१६७४-१७०९ ई०) के दरबार के पंडित थे। इनके ग्रंथ उत्तर भारत के संगीत पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। अपने ग्रंथ में इन्होंने ध्रुवपद का भी उल्लेख किया है।

वैसे तो ख्याल की गायकी अमीर खुसरो से प्रारंभ हो गई थी, किंतु जौनपुर के शर्की राजाओं के समय में यह अधिक पनपी और मुहम्मद शाह (१७१९) के समय में पुष्पित हुई। इनके दरबार में अदारंग और सदारंग दो प्रसिद्ध बीनकार और गायक थे। इन लोगों ने सबसे अधिक ख्याल गायकी को प्रोत्साहन दिया और सैकड़ों ख्यालों की विभिन्न रागों में रचना की।

१८वीं शती में तंजोर के मराठा राजा तुलजा जी ने 'संगीतसारामृतम्' की रचना की। यह संगीत के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने २१ मेल माने हैं।

१८२३ ई० में पटना के मुहम्मद रज़ा ने 'नगमाते आसफ़ी' की रचना की। इन्होंने मुख्य समानताओं के आधार पर रागों का वर्गीकरण किया है, और बिलाबल को शुद्ध ठाठ माना है।

जयपुर के महाराज प्रतापसिंह (१७७९-१८०४ ई०) ने देश भर के संगीत के विद्वानों को एकत्र किया। उन सबके परामर्श से 'संगीतसार' नामक ग्रंथ रचा गया। इसमें भी बिलाबल शुद्ध ठाठ माना गया है।

१९वीं शती में दक्षिण में त्यागराज ने बहुत सी कृतियों और कीर्तनों की रचना की। इन्होंने अपनी रचनाओं में रागों की स्वरसंगतियों को बहुत सुंदर रीति से ग्रंथित किया है। मुत्तुस्वामी दीक्षित और श्याम शास्त्री उनके समकालीन थे। इन्होंने भी बहुत सी सुंदर कृतियों और कीर्तनों की रचना की।

१९वीं शती के अंतिम भाग में बंगाल के राजा शौरींद्र मोहन ठाकुर ने भारतीय संगीत को बहुत प्रोत्साहन दिया और 'यूनिवर्सल हिस्टरी आफ़ म्यूज़िक' नामक ग्रंथ लिखा।

२०वीं शती में पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर ने शास्त्रीय संगीत के प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया और लगभग ३५-४० पुस्तकों में गीतों को स्वरलिपि में प्रकाशित किया।

पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने संगीतशास्त्र पर "हिंदुस्तानी संगीत पद्धति" नामक ग्रंथ चार भागों में प्रकाशित किया और ध्रुवपद, धमार, तथा ख्याल का संग्रह करके 'हिंदुस्तानी संगीत क्रमिक' नामक ग्रंथ के छह भाग प्रकाशित किए।

तत वाद्यों में भारत में इस समय मुख्यतः वीणा, सितार, इसराज और सरोद तथा सारंगी उपयोग में आ रहे हैं। सुषिर वाद्यों में बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, तूर या तुरही, सिंगी (शृंगी) और शंख, अवनद्ध या आनद्ध वाद्यों में मृदंग (पखावज), मर्दल (मादल या मादिलरा) हुडुक्क, दुंदुभि (नगाड़ा), ढोलक या ढोल, डमरू, डफ, खंजरी, तथा घन वाद्यों में कठताल, झाँझ, और मंजीरा प्रचलित हैं।

भारत से बाहर सबसे प्राचीन संगीत सुमेरु, बवेरु (बाबल या बैबिलोनिया), असुर (असीरिया) और सुर (सीरिया) का माना जाता है। उनका कोई साहित्य नहीं मिलता। मंदिरों और राजमहलों पर उद्धृत कुछ वाद्यों से ही उनके संगीत का अनुमान किया जा सकता है। उनके एक वाद्य बलग्गु या बलगु का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ एक अवनद्ध वाद्य लगाते हैं और कुछ लोग धनुषाकार वीणा। एक तब्बलु वाद्य होता था जो आधुनिक डफ जैसा बना होता था। कुछ मंदिरों पर एक ऐसा उद्धृत तत वाद्य मिला है जिसमें पाँच से सात तार तक होते थे। एक गिगिद नामक बाँसुरी भी थी। बैबिलोनिया की कुछ चक्रिकाओं में कुछ शब्दों के साथ अ, इ, उ इत्यादि स्वर लगे हुए मिलते हैं जिससे कुछ विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि यह एक प्रकार की स्वरलिपि थी। जिस प्रकार से वेद का सस्वर पाठ होता था उसी प्रकार बैबिलोनिया में भी होता था और 'अ' स्वरित का चिह्न था, 'ए' विकृत स्वर का, 'इ' उदात्त का 'उ' अनुदात्त का। किंतु इस कल्पना के पोषक प्रमाण अभी नहीं मिले हैं।

चीन में प्रायः पाँच स्वरों के ही गान मिलते हैं। सात स्वरों का उपयोग करनेवाले बहुत ही कम गान हैं। उनकी एक प्रकार की बहुत ही प्राचीन स्वरलिपि है। बौद्धों के पहुँचने पर यहाँ के संगीत पर कुछ भारतीय संगीत का भी प्रभाव पड़ा।

इब्रानी संगीत भी बहुत ही प्राचीन है। यहाँ के संगीत पर सुमेरु — बैबिलोनिया इत्यादि के संगीत का प्रभाव पड़ा। वे लोग मंदिरों में जो गान करते थे उसे समम या साम कहते थे। इनका एक तत वाद्य होता था जिसको ये 'किन्नर' कहते थे।

मिस्र देश का संगीत भी बहुत ही प्राचीन है। इन लोगों का विश्वास था कि मानव में संगीत देवी आइसिस अथवा देव थाथ द्वारा आया है। इनका प्रसिद्ध तत वाद्य बीन या बिएत कहलाता था। मिस्र देश के लोग स्वर को हर्व कहते थे। इनके मंदिर संगीत के केंद्र बन गए थे। अफलातून, जो मिस्र देश में अध्ययन के लिये गया था, कहता है, वहाँ के मंदिरों में संगीत के नियम ऐसी पूर्णता से बरते जाते थे कि कोई गायक वादक उनके विपरीत नहीं जा सकता था। कहा जाता है कि कोई ३०० वर्ष ई० पू० मिस्र में लगभग ६०० वादकों का एक वाद्यवृंद था जिसमें ३०० तो केवल बीन बजानेवाले थे। इनके संगीत में कई प्रकार के तत, सुषिर, अवनद्ध और घन वाद्य थे। मिस्र से पाइथागोरस और अफलातून दोनों ने संगीत

सीखा। यूनान के संगीत पर मिस्र के संगीत का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

यूरोप में सबसे पहले यूनान में संगीत एक व्यवस्थित कला के रूप में विकसित हुआ। भारत की मूर्छनाओं की तरह यहाँ भी कुछ 'मोड' बने जिससे अनेक प्रकार की 'धुनें' बनती थीं। यहाँ भी तत, सुषिर, अवनद्ध और घन वाद्य कई प्रकार के थे। यूरोप में पाइथागोरस पहला व्यक्ति हुआ है जिसने गणित के नियमों द्वारा स्वरों के स्थान को निर्धारित किया।

लगभग १६वीं शती से यूरोप में संगीत का एक नई दिशा में विकास हुआ। इसे स्वरसंहति (हार्मनी) कहते हैं। संहति में कई स्वरों का मधुर मेल होता है, जैसे स, ग, प (षड्ज, गांधार, पंचम) की संगति। इस प्रकार के एक से अधिक स्वरों के गुच्छे को 'संघात' (कार्ड) कहते हैं। एक संघात के सब स्वर एक साथ भिन्न भिन्न वाद्यों से निकलकर एक में मिलकर एक मधुर कलात्मक वातावरण की सृष्टि करते हैं। इसी के आधार पर यूरोप के आरकेस्ट्रा (वृंदवादन) का विकास हुआ है। स्वरसंहति एक विशिष्ट लक्षण है जिससे पाश्चात्य संगीत पूर्वीय संगीत से भिन्न हो जाता है।

सं० ग्रं०— नारदीय शिक्षा; रामकवि-भरतकोश; भातखंडे— 'ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे ऑफ द म्यूजिक ऑव अपर इंडिया'; कुर्ट-साक्स — 'ए शार्ट हिस्टरी ऑव वर्ल्ड म्यूजिक'। [ज० दे० सिं०]

संगीतगोष्ठी पहले गायक या वादक अपने गायन या वादन का प्रदर्शन राजाओं या रईसों के संमुख करता था अथवा किसी धार्मिक उत्सव के समय मंदिरों में करता था। कभी कभी वह मेले इत्यादि में भी जाकर अपनी कला का प्रदर्शन करता था। किंतु उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं था जिसके द्वारा वह संगीत के एक पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम को जनता के सामने प्रस्तुत कर सके।

यूरोप में इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, इत्यादि देशों में संगीतगोष्ठी का आयोजन प्रारंभ हुआ। इसे 'कंसर्ट' (concert) कहते हैं। संगीत सभाएँ या संगीत विद्यालय अथवा कुछ व्यवसायी लोगों ने संगीतगोष्ठी का आयोजन प्रारंभ किया। किसी अच्छे कलाकार या कलाकारों के गायन वादन का कार्यक्रम निश्चित करके विज्ञापन प्रकाशित किया जाने लगा। यह कार्यक्रम किसी बड़े भवन में संपन्न होता था। इस संगीतगोष्ठी में जनता का प्रवेश टिकट या चंदे के द्वारा होने लगा। इस प्रकार की संगीतगोष्ठियाँ अमरीका और अन्य देशों में प्रारंभ हुईं। बड़े बड़े नगरों में इस प्रकार की गोष्ठियों के लिये विशाल गोष्ठीभवन (concert hall) या सभाभवन (Auditorium) बन गए। भारत में इस प्रकार की संगीतगोष्ठी का आयोजन बंबई, पूना, कलकत्ता इत्यादि बड़े नगरों में प्रारंभ हो गया है। इन संगीतगोष्ठियों के अतिरिक्त भारत में कई स्थानों में संगीतोत्सव या संगीतपरिषदों का आयोजन भी होता है जिनमें बहुत से कलाकार एकत्र होते हैं और उनका कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है। इनमें श्रोताओं का प्रवेश टिकट द्वारा होता है।

यूरोप में १८ वीं शती में संगीतगोष्ठी के आयोजन और प्रबंध के लिये बहुत सी संस्थाएँ स्थापित हो गईं। ये संस्थाएँ संगीतगोष्ठियों का आयोजन करने लगीं और संचित द्रव्य में से कलाकार तथा आयोजन और प्रबंध के लिये एक भाग लेने लगीं। सामंतों और रईसों का आश्रय समाप्त होने पर कलाकारों के कार्यक्रम के आयोजन के लिये स्थान स्थान पर संस्थाएँ स्थापित होने लगीं और १६वीं शती तक इन संस्थाओं ने एक अंतरराष्ट्रीय व्यवसाय का रूप धारण कर लिया।

संगीतगोष्ठी के अर्थ के अतिरिक्त फ्रांस, जर्मनी और इटली में कंसर्ट एक विशिष्ट वाद्य-संगीत-प्रबंध के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। [ज० दे० सिं०]

संगीत नाटक अकादमी भारत सरकार ने एक संसदीय प्रस्ताव द्वारा एक स्वायत्त संस्था के रूप में संगीत नाटक अकादमी की स्थापना करने का निर्णय किया। तदनुसार १९५३ में अकादमी की स्थापना हुई। १९६१ में अकादमी भंग कर दी गई और इसका नए रूप में संगठन किया गया। १८६० के सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन के अधीन यह संस्था पंजित हो गई। इसकी नई परिषद् और कार्यकारिणी समिति का गठन किया गया। अकादमी अब इसी रूप में कार्य कर रही है।

संगठन व्यवस्था — संगीत नाटक अकादमी की एक महापरिषद् होती है जिसमें ४८ सदस्य होते हैं। इनमें से ५ सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं — एक शिक्षा मंत्रालय का प्रतिनिधि, एक सूचना और प्रसारण मंत्रालय का प्रतिनिधि, भारत सरकार द्वारा नियुक्त वित्त सलाहकार (पदेन), १-१ मनोनीत सदस्य प्रत्येक राज्य सरकार का, २-२ प्रतिनिधि ललित कला अकादमी और साहित्य अकादमी के होते हैं। इस प्रकार मनोनीत ये २८ सदस्य एक बैठक में २० और सदस्यों का चुनाव करते हैं। ये व्यक्ति संगीत, नृत्य और नाटक के क्षेत्र में विख्यात कलाकार और विद्वान् होते हैं। इनका चयन इस प्रकार से किया जाता है कि संगीत और नृत्य की विभिन्न पद्धतियों और शैलियों तथा विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व हो सके। इस प्रकार गठित महापरिषद् कार्यकारिणी का चुनाव करती है जिसमें १५ सदस्य होते हैं। सभापति का मनोनयन शिक्षा-मंत्रालय की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। उपसभापति का चुनाव महापरिषद् करती है। सचिव का पद वैतनिक होता है और सचिव की नियुक्ति कार्यकारिणी करती है।

कार्यकारिणी कार्य के संचालन के लिये अन्य समितियों का गठन करती है, जैसे वित्त समिति, अनुदान समिति, प्रकाशन समिति आदि। अकादमी के संविधान के अधीन सभी अधिकार सभापति को प्राप्त होते हैं। महापरिषद्, कार्यकारिणी तथा सभापति का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है।

अकादमी के सबसे पहले सभापति श्री पी० वी० राजमन्नार थे। दूसरे सभापति मैसूर के महाराजा श्री जयचामराज वडयर थे और वर्तमान सभापति श्रीमती इंदिरा गांधी हैं। वर्तमान सचिव डा० सुरेश अवस्थी हैं।

उद्देश्य — संगीत नाटक अकादमी की स्थापना संगीत, नाटक और नृत्य कलाओं को प्रोत्साहन देना तथा उनके विकास और उन्नति के लिये विविध प्रकार के कार्यक्रमों का संचालन करना है। संगीत

नाटक अकादमी अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति के लिये देश भर में संगीत, नृत्य और नाटक की संस्थाओं को उनकी विभिन्न कार्ययोजनाओं के लिये अनुदान देती है, सर्वेक्षण और अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देती है; संगीत, नृत्य और नाटक के प्रशिक्षण के लिये संस्थाओं को वार्षिक सहायता देती है; विचारगोष्ठियों और समारोहों का संगठन करती है तथा इन विषयों से संबंधित पुस्तकों के प्रकाशन के लिये आर्थिक सहायता देती है।

कार्यक्रम : अकादमी का इन कलाओं के अभिलेखन का एक व्यापक कार्यक्रम है जिसके अधीन पारंपरिक संगीत और नृत्य तथा नाटक के विविध रूपों और शैलियों की फिल्में बनाई जाती हैं, फोटोग्राफ लिए जाते हैं और उनका संगीत टेपरिकार्ड किया जाता है। अकादमी संगीत, नृत्य और नाटक के कार्यक्रम भी प्रस्तुत करती है और नवोदित प्रतिभाशील कलाकारों को प्रोत्साहन देती है। इसका सीमित प्रकाशन कार्यक्रम भी है जिसके अधीन इन विषयों की विशिष्ट पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं। अकादमी अंग्रेजी में एक त्रैमासिक पत्रिका 'संगीत नाटक' का प्रकाशन करती है।

पुरस्कार : अकादमी प्रतिवर्ष संगीत और नृत्य तथा नाटक के क्षेत्र मे विशिष्ट कलाकारों को पुरस्कृत करती है। पुरस्कारों का निर्णय अकादमी महापरिषद् करती है। पुरस्कार समारोह में पुरस्कारवितरण राष्ट्रपति द्वारा होता है। संगीत. नृत्य और नाटक के क्षेत्र में अकादमी प्रतिवर्ष कुछ रत्नसदस्यों (फेलो) का चुनाव करती है। सन् ५१ से अब तक पुरस्कृत कलाकारों की नामावली नीचे दी जाती है :

रत्नसदस्यों एवं पुरस्कार विजेताओं की सूची सन् १९५१ से १९६६ तक

रत्नसदस्य — १. उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ, २. उस्ताद हाफिज अली खाँ, ३. श्री पृथ्वीराज कपूर, ४. श्री केराईक्कुडी सांबशिव अय्यर, ५. श्री अरियक्कुडि रामानुज आयंगर, ६. श्रीमती अंजनी बाई मालवेकर, ७. श्री गोपेश्वर बंद्योपाध्याय, ८. श्री पापनाशम आर० शिवन, ९. श्री डी० अण्णास्वामी भागवतर, १०. श्री उदयशंकर, ११. श्री बी० वी० (मामा) वरेरकर, १२. डॉ० एस० एन० रातनजनकर, १३. प्रो० पी० सांबमूर्ति, १४. स्वामी प्रज्ञानानंद, १५. डॉ० पी० वी० राजमन्नार, १६. श्री टी० एल० वेंकटराम अय्यर १७. श्री वीरेंद्रकिशोर रायचौधरी, १८. डॉ० वी० राघवन, १९. डॉ० बी० आर० देवधर, २०. श्रीमती सी० सरस्वती बाई, २१. श्री दिलीपकुमार राय, २२. पं० विनायकराव पटवर्धन, २३. डॉ० डी० जी० व्यास, २४. ठाकुर जयदेव सिंह, २५. प्रो० जी० एच० रानडे, २६. महामहिम श्री० जयचामराज वडयर बहादुर, २७. श्री ई० कृष्ण अय्यर, २८. श्री शंभु मित्र, तथा २९. डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य।

हिंदुस्तानी संगीत गायन — १. श्री मुश्ताक हुसैन खाँ, २. श्रीमती केसर बाई केरकर, ३. श्री रजब अली खाँ, ४. श्री अनंत मनोहर जोशी, ५. श्री राजा भैया पूंछवाले, ६. श्रीमती रसूलन बाई, ७. श्री गणेश रामचंद्र बेहरे बुआ, ८. श्री कृष्णराव शंकर पंडित, ९. श्री अल्ताफ़ हुसेन खाँ, १०. श्री यशवंत एस० मिराशी बुआ, ११. उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ १२. श्री रहीमुद्दीन खाँ डागर, १३. श्रीमती हीराबाई बरोडेकर, तथा १४. श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी।

हिंदुस्तानी संगीत वादन — १. उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ. २. श्री हाफ़िज अली खाँ, ३. श्री अहमद जान थिरकवा, ४. श्री गोविंद राव बुरहानपुरकर. ५. श्री बिस्मिल्ला खाँ, ६. श्री यूसुफ अली खाँ, ७. श्री जहाँगीर खाँ, ८. श्री वहीद खाँ ९. श्री कंठे महाराज १०. श्री रविशंकर, १२. श्री अली अकबर खाँ, १२. पं० सखाराम तावडे, तथा १३. श्री शकूर खाँ।

कर्नाटक संगीत गायन — श्री अरियक्कुडि रामानुज आयंगर, २. श्री शेम्मांगुडि आर० श्रीनिवास अय्यर, ३. श्री के० वासुदेवाचार्य, ४. श्री महाराजपुरम विश्वनाथ अय्यर, ५. श्रीमती एम० एस० सुब्बलक्ष्मी. ६. श्री मसुरी सुब्रह्मण्यम् अय्यर, ७. श्री चेंबई वैद्यनाथ भागवतर ८. श्री गूदलुर एन० बालसुब्रह्मण्यम्, ९. श्री मदुरई मणि अय्यर, १०. श्री मुडीकोंडान वेंकटराम अय्यर, ११. श्रीमती डी० के० पट्टम्माल १२. श्री बी० देवेंद्रप्पा, १३. श्री चित्तूर सुब्रह्मण्यम् पिल्ले, १४. श्रीमती टी० वृंदा, १५. मदुरई श्री आर० श्रीरंगम् अय्यंगार।

कर्नाटक संगीत वादन — १. काराईक्कुडि सांबशिव अय्यर, २. द्वारम वेंकटस्वामी नाइडू, ३. श्री पल्लाडम् संजीव राव, ४. श्री टी० एन० राजरत्नम् पिल्ले, ५. श्री टी० एस० पालघाट मणि अय्यर, ६. श्री टी० चौडय्या, ७. श्री वूदलुर कृष्णमूर्ति शास्त्री, ८. श्री के० राजमणिक्कम पिल्लई, ९. श्री शेरमादेवी एल० सुब्रह्मण्य शास्त्री, १०. श्री टी० एन० स्वामीनाथ पिल्ले, ११. श्री० टी० एस० सुब्रह्मण्य पिल्ले, १२. श्री टी० के० जयराम अय्यर, २३. श्री के० एन० चिन्नअय्यर, १४. श्री टी० आर० महालिंगम्, तथा १५. श्री पी० एस० वीरुस्वामी पिल्ले।

नृत्य

भरतनाट्यम् — १. श्रीमती टी० बालसरस्वती, २. श्रीमती रुक्मिणी देवी अरंडेल, ३. श्रीमती मैलापुर गौरी अम्मा, ४. श्रीमती आर० मुत्तुरत्नांबल, ५. श्रीमती के० वेंकटलक्ष्म्मा, ६. श्रीमती स्वर्ण सरस्वती भरतनाट्यम् शिक्षक, ७. आर० पी० चोक्कलिंगम्, तथा ८. श्री वी० बी० रामय्या पिल्लै।

कत्थक — १. श्री शंभु महाराज, २. श्री लच्छू महाराज, ३. श्री सुंदरप्रसाद, ४. श्री मोहनराव कल्याणपुरकर, तथा ५. श्री बिरजू महाराज।

कथकलि — १. गुरु कुंजू कुरुप, २. श्री टी० के० चंदू पणिक्कर, ३. श्री ते० रमुणी नायर, ४. श्री चेंगानूर रमण पिल्लै, तथा ५. गुरु गोपीनाथ।

मणिपुरी — १. गुरु अमुबी सिंह, २. गुरु एच० अतंबा सिंह, ३. श्री तखेलचंद अमुदन शर्मा, ४. श्री अतंबापू शर्मा, तथा ५. गुरु बिपिन सिंह।

अन्य नृत्य शैली : क्रिएटिव नृत्य — श्री उदयशंकर, तमाशा; श्री बापू राव खुदे नारायणगाँवकर, कुचिपुडि; श्री वेदांतम् सत्यनारायण, ओडिसी; श्री केलुचरण महापात्र, क्षत्रिया; श्री मणिराम दत्ता मुक्तार. छाऊ; श्री शुद्धेंद्रनारायण सिंह देव, यक्षगान; श्री द्वारकी राम गणिगा, चाक्कियार कुथू; एवं श्री पी० मणिमाधव चाक्कियार।

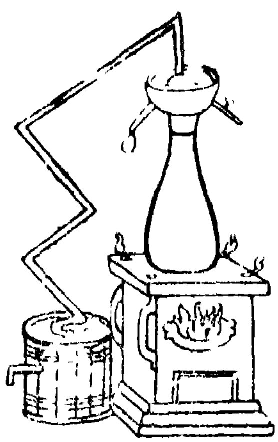
निर्देशन — श्री पृथ्वीराज कपूर, श्री जयशंकर सुंदरी, श्री शंभु मित्र, श्री कसमभाई नाथूभाई मीर, श्री इब्राहिम अलकाजी, श्री टी० एस० रावकरिणक्यम, श्री उत्पल दत्त।

नाट्यलेखन — श्री वी० वी० (मामा) वारेरकर, श्री प्रभुलाल द्विवेदी, श्री आद्य रंगाचार्य, श्री उपेंद्रनाथ अश्क।

अभिनय — श्री गुब्बी वीरण्णा, श्री बाल गंधर्व नारायण राव राजहंस, श्री गणपत राव बोडस, श्री चिंतामणि राव कोल्हटकर, श्री अहींद्र चौधरी, श्री पपल संबांद मुदलियार, श्री अशरफ़ खाँ, श्री सी० आई० परमेश्वरन पिल्ले, श्री गोपाल गोविंद पाठक, श्री स्थानम् नरसिंह राव, श्री मित्रदेव महंत अधिकारी, श्री वेंकटय्या सुब्बैय्य नाइडू, श्री सेमुअल साहू उर्फ बाबी, श्रीमती तृप्ति मित्रा, श्री टी० के० षरामुखम्, श्री बंदा कनकलिंगेश्वर राव, श्रीमती जोहरा सहगल, श्री केशव त्रिंबक दाते।

क्षेत्रीय भाषाओं में अभिनय — मलयालम : श्री अरविंदाक्ष मेनन, संस्कृत : श्री कृष्णचंद्र मोरेश्वर गुजराती: श्री नायक मुलजी भाई प्राणलभाई। [सु० प्र०]

संघनित्र (Condenser) भाप को ठंढा कर द्रव रूप में लाने के लिये जिस उपकरण का प्रयोग किया जाता है, वह संघनित्र कहलाता है। अर्क उतारने या शराब चुआने के अनेक प्रकार के भभकों (stills) के रूप में इनका विस्तृत उपयोग अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। सरलतम रूप में यह एक नली होती है, जिसे ठंढे पानी से, या अन्य प्रकार से ठंढा रखा जाता है, जिससे भाप द्रव रूप में बदल जाय (देखें चित्र १.)। उपर्युक्त क्रिया को आसवन कहते हैं।

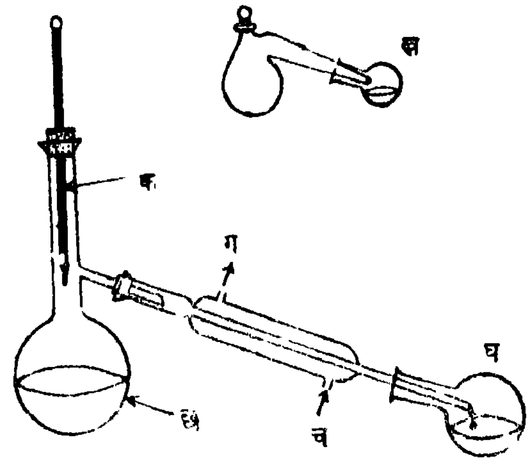


चित्र १. प्राचीन भभका

इसका पश्चवाही क्षेत्र बड़ा, शीर्ष का ताप स्थिर तथा आसवन प्रभाजी होता है।

इसमें एक पात्र में रखे किसी पदार्थ को गरम कर, भाप में बदल देते हैं और उस भाप को संघनित्र की सहायता से ठंढा कर फिर तरल रूप में ले आते हैं। इस क्रिया का सरल रूप तब देखने में आता है जब उबलती हुई दाल के बरतन पर पानी भरा कटोरा रख देने पर, कटोरे के नीचे, अथवा चाय की केटली से निकलती हुई भाप के आगे ठंढा बरतन रखने से उसपर, पानी की बूँदें बन जाती हैं।

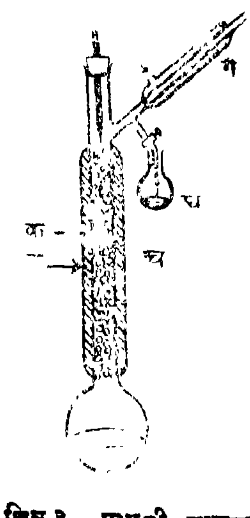
रासायनिक क्रियाओं में रसायनज्ञ, जस्टस फॉन लीबिख, द्वारा प्रचलित संघनित्र का व्यापक प्रयोग होता है। यह संघनित्र चित्र २. में दिखाया गया है तथा इसकी क्रिया समझाई गई है। जल



चित्र २. लीबिख के संघनित्र द्वारा आसवन

क. तापमापी, ख. सामान्य भभका (रिटॉर्ट और फ्लास्क), ग. लीबिख का संघनित्र तथा जल का निर्गमन, घ. ग्राही या फ्लास्क, च. जल का अंतर्गमन तथा छ. आसुत किया जानेवाला तरल। ऊपर और नीचे के दोनों चित्रों में भाप भभके से संघनित्र में जाती है, जहाँ ठंढी होकर तथा संघनित होकर ग्राही (फ्लास्क) में तरल एकत्रित हो जाता है।

अथवा अन्य द्रव पदार्थ का आसवन (distillation) कर, शुद्ध पदार्थ पाने के लिये इसका उपयोग होता है। प्रभाजी आसवन में भी संघनित्र काम में आता है (देखें चित्र ३)।



चित्र ३. प्रभाजी आसवन

क. पैकिंग, ख. विसंवाहक पदार्थ, ग. संघनित्र, घ. आसुत तथा च. प्रभाजक स्तंभ।

गैसों की दाब कम करके तथा उन्हें ठंढा करके भी गैस द्रव रूप में लाई जाती है। इस क्रिया में ठंढा करनेवाले उपकरण को

भी संघनित्र कहते हैं (देखें गैसों का द्रवण)। ये कई प्रकार के होते हैं। किंतु सब में किसी कम तापवाले पदार्थ से एक नली या बरतन को ठंढा करते हैं और उसमें से द्रव में बदली जानेवाली गैस को गुजारते हैं। [भ० दा० व०]

संघवाद (फेडलिज़्म) संघवाद संवैधानिक राजसंचालन की उस प्रवृत्ति का प्रारूप है जिसके अंतर्गत विभिन्न राज्य एक संविदा द्वारा एक संघ की स्थापना करते हैं। इस संविदा के अनुसार एक संघीय सरकार एवं अनेक राज्य सरकारें संघ की विभिन्न इकाइयाँ हो जाती हैं। सामान्य रूप से प्रभुसत्ता का विभाजन संघीय एवं राज्य-सरकारों के मध्य उनके संविधान में उल्लिखित होता है जो उस संविदा को अंतिम रूप से पुष्ट करता है। साधारणतया संघीय सरकार को ऐसे कार्यों के संचालन का भार दिया जाता है जिन्हें क्षेत्रविस्तार खर्चीला अथवा दुरूह होने के कारण राज्य स्वयं चलाने में कठिनाई प्रतीत करते हैं। अतः इन कार्यों के चलाने के लिये वे सब इकाइयाँ अपनी राजशक्तियों का एक निश्चित भाग संघीय सरकार को अधिकार एवं साधन के रूप में प्रदान कर देते हैं। शेष अन्य विषयों में राज्य स्वयं कार्यभार वहन करते हैं एव उसके प्रतिरूप अधिकार एव साधन संविधान द्वारा लेते हैं। इस प्रकार एकात्मक संविधान (यूनिटरी संविधान) के विपरीत संघात्मक संविधान एक ही सविधान के अंतर्गत राजद्वै (डुबल पालिटी) की स्थापना करता है। परिणामस्वरूप ऐसे संघ के नागरिक दो प्रकार की सरकारों, सघीय एवं राज्य सरकारों के अधीनस्थ होते हैं। संघात्मक संविधान मे निम्नलिखित विशेषताएँ अपेक्षित होती हैं : प्रथम, राजनयिक शक्तियों का संघीय एवं राज्य सरकारों के मध्य संवैधानिक विभाजन, द्वितीय, संघीय संविधान की प्रभुसत्ता अर्थात् प्रथम तो न संघीय और न राज्य सरकारें संघ से पृथक् हो सकती हैं और द्वितीय, संघात्मक संविधान उन दोनों से समान रूप से सर्वोपरि होता है। तृतीय, चूँकि संघीय एवं राज्य सरकारों के मध्य अधिकारों का स्पष्ट विभाजन होता है, अतः संघात्मक संविधान का लिखित होना भी आवश्यक है। चतुर्थ, संघात्मक संविधान संघीय एवं राज्य-सरकारों के समझौते को अंतिम रूप से पुष्ट करता है। अतः ऐसे संविधान का व्यावहारिक रूप से अपरिवर्तनीय भी होना अपेक्षित है। कम से कम किसी एक पक्ष के मत से ऐसा संविधान परिवर्तित नहीं किया जा सकता। संविधान का परिवर्तन विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा ही किया जा सकता है। पंचम, किसी भी प्रकार के विवाद जो संघीय एवं राज्य सरकारों के बीच में संवैधानिक कार्य-संचालन में कर्तव्य, अधिकार अथवा साधनों के विषय में आ गए हों तो उनके निर्णय के लिये न्यायालय को संविधान के संघात्मक प्रावधानों की मीमांसा करने का पूर्ण एवं अंतिम अधिकार दिया जाना चाहिए। इन विशेषताओं के साथ संघात्मक संविधान का एक आदर्श प्रारूप संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान है जिसका निर्माण सन् १७८७ में १२ स्वतंत्र राष्ट्रों की संविदा के अनुसार हुआ था। इसके पश्चात् कनाडा, आस्ट्रेलिया, जर्मनी एवं फ्रांस इत्यादि के संघात्मक संविधानों का निर्माण हुआ। भारत का संविधान भी, जो सन् १९५० से लागू हुआ, संघात्मक संविधानों का एक नवीन दृष्टांत है। प्रधानतः भारत के संविधान में संघात्मक संविधान की सभी उपर्युक्त विशेषताएँ विद्यमान हैं। किंतु भारतीय संघात्मक संविधान में कुछ विशिष्ट प्राविधान हैं जिनका समावेश अन्य संविधानों के कार्यसंचालन से उत्पन्न कठिनाइयों को दृष्टिगत करके किया गया है। उदाहरणार्थ, सबसे विशिष्ट तथ्य यह है कि भारतीय संविधान संघात्मक होते हुए भी इसका निर्माण स्वतत्र राष्ट्रों की किसी संविदा द्वारा नहीं हुआ है; बल्कि यह उन राज इकाइयों के मेल (यूनियन) से बना है जो परतंत्र एकात्मक भारत के अंग के रूप में पहले से ही विद्यमान थे। दूसरी विशेषता यह है कि आपत्काल में भारतीय संविधान में एकात्मक संविधानों के अनुरूप केंद्र को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिये प्रावधान निहित है। तृतीय विशेषता यह है कि केवल एक नागरिकता भारतीय नागरिकता का ही समावेश किया गया है तथा एक ही संविधान केंद्र तथा राज्य दोनों ही सरकारों के कार्यसंचालन के लिये व्यवस्थाएँ प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त संविधान सभा के मतानुसार भारत एक शिशु गणतंत्र की अवस्था में है, अतः देश के तीव्र एवं सर्वतोमुखी विकास एवं उन्नति के लिये समय समय पर उपयुक्त प्रावधानों की आवश्यकता पड़ सकती है जिसके लिये संविधान संशोधन की तीन विभिन्न प्रक्रियाएँ दी गई हैं। केवल विशेष संघात्मक प्रावधानों के संशोधन के लिये ही राज्यों का मत आवश्यक है, बाकी संशोधन संसद् स्वयं कर सकती है। इस प्रकार संघात्मक संविधानों के विकास में भारतीय संविधान एक नई प्रवृत्ति, केंद्रीयकरण, का सूत्रपात करता है। [सु० कु०]

संचयिक विश्लेषण (Combinational Analysis) यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय, तो संचयिक विश्लेषण के अंतर्गत बहुत से विषय आते हैं, जैसे सारणिक (Determinants), प्रायिकता (Probability), स्थलाकृति विज्ञान (Topology) आदि किंतु अब इनमें से प्रत्येक विषय ने अपने लिये पृथक् स्थान बना लिया है। अब तो संचयिक विश्लेषण के अंतर्गत केवल वे ही प्रकरण आते हैं जिनमें किसी न किसी स्थल पर इस बात का विचार किया जाय कि किसी समस्या के हल करने की कितनी विधियाँ हैं, अथवा कोई काम कितने प्रकार से हो सकता है।

उदाहरण १. — मान लें, रेल के एक डिब्बे की शायिका (berth) पर चार आसन (seats) हैं, जिनपर निम्नलिखित संख्याएँ पड़ी हुई हैं :

१ २ ३ ४

मान लें कि हमारे पास यात्री क और च हैं, तो प्रश्न यह है कि इन दो यात्रियों को शायिका पर कितने प्रकार से बैठाया जा सकता है। स्पष्ट है कि पहले यात्री क को हम चारों में से किसी भी आसन पर बैठा सकते हैं। इस प्रकार क को बैठाने की चार विधियाँ हुई। मान लें, हमने क को आसन संख्या १ पर बैठा दिया। अब च को बैठाने के लिये तीन आसन बचे। अतः च को तीनों में से किसी भी आसन पर बैठाया जा सकता है। अतः क को किसी एक आसन पर बैठाने पर च को बैठाने की तीन विधियाँ हुईं और क को बैठाने के चार प्रकार हैं। अतः क और च दोनों को बैठाने की ४ × ३, अर्थात् १२ विधियाँ हुई, या यों कहिए कि क को बैठाने की विधियों और

ख को बैठाने की विधियों के १२ संचय (combinations) हो सकते हैं। इसलिये इस विषय का नाम संचयिक विश्लेषण पड़ा। उपर्युक्त विधियाँ यहाँ सारणी के रूप में दर्शाई गई हैं :

१	२	३	४
क	ख		
क		ख	
क			ख
ख	क		
	क	ख	
	क		ख
ख		क	
	ख	क	
		क	ख
ख			क
	ख		क
		ख	क

उदाहरण २ — तीन अंकों १, ३, ८, में से कोई दो लेने से कितनी संख्याएँ बन सकती है ? स्पष्ट है कि निम्नलिखित संख्याएँ बनेंगी :

१३, १८, ३८,
३१, ८१, ८३ ।

इन संख्याओं की संख्या ६ है। यह संख्या ६ कहाँ से आई ? उदाहरण १. की भाँति तर्क करने से पता चलेगा कि प्रश्न का उत्तर ३×२ अर्थात् ६ ही होगा। इस उदाहरण में यह मान लिया गया है कि कोई भी अंक दुबारा नहीं लिया जायगा, अन्यथा तीन संख्याएँ ११, ३३, ८८ और मिल जातीं।

आधारभूत प्रमेय (१) — स विभिन्न वस्तुओं मे से ध वस्तुएँ लेने से कितने विन्यास बन सकते हैं ? मान लें कि हमे इन ध स्थानों को

१ २ ३ ४......(ध—१) ध

स वस्तुओं में से एक एक वस्तु लेकर भरना है। पहले स्थान को भरने की स विधियाँ हैं, क्योंकि स वस्तुओं में से कोई भी एक लेकर हम उक्त स्थान पर बैठा सकते हैं।

जब एक वस्तु से एक स्थान भर गया, तब दूसरे स्थान को भरने के लिये हमारे पास (स—१) वस्तुएँ बचीं। अतः दूसरा स्थान भरने की (स—१) विधियाँ हुई। इस प्रकार प्रथम दोनों स्थान भरने की स (स—१) विधियाँ हो गई। इसी प्रकार प्रत्येक पग पर एक गुणनखंड बढ़ता जायगा और अंत में ध स्थान भरने की निम्नलिखित विधियाँ प्राप्त होंगी :

स (स—१) (स—२) ······ध गुणन खंडों तक,
अर्थात् स (स १) (स—२) ······ (स—ध+१)

स = ४, ध = २ रखने से उदाहरण १. का उत्तर ४×३, अर्थात् १२, आता है। इसी प्रकार स = ३, ध = २ रखने से उदाहरण २. का उत्तर ६ आ जाता है।

इन विन्यासों को 'क्रमचय' (Permutations) कहते हैं और उपर्युक्त फल इस प्रकार लिखा जाता है :

$$^{\text{स}}\text{क्र}_{\text{ध}} = \text{स}\,(\text{स}-१)\,(\text{स}-२)\cdots\cdots(\text{स}-\text{ध}+१)$$

अब मान लें, उदाहरण २. में हमारा प्रश्न यह हो कि तीन संख्याओं १, ३, ८ में से कितने प्रकार से हम दो संख्याएँ चुन सकते हैं, तो इसका यह अर्थ हुआ कि इस चुनाव में अंकों के क्रम का कोई विचार नहीं होगा। अतः इस चुनाव में १८ और ८१ को एक दूसरे से भिन्न नहीं माना जायगा। स्पष्ट है कि केवल तीन चुनाव होंगे :—

(१,३) (१,८) (३,८)

पारिभाषिक भाषा में हम कहेंगे कि इस प्रकार के केवल तीन संचय होंगे।

आधारभूत प्रमेय (२) — स विभिन्न वस्तुओं में से ध वस्तुएँ लेने पर कितने संचय बन सकते हैं ?

दृष्टांत के लिये मान लें कि स = ४, ध = ३, और वस्तुओं के स्थान पर हम चार अक्षर क, च, ट, त ले लें, तो स्पष्ट है कि इन अक्षरों मे से तीन लेने से ४×३×२, अर्थात् २४, क्रमचय बनेंगे। इन २४ क्रमचयों में से कोई एक क्रमचय, ले लीजिए क ट त, तीन अक्षरो के इस संचय से हम ३×२, अर्थात् ६, क्रमचय बना सकते हैं :

क ट त; क त ट, ट क त, ट त क, त ट क, त क ट

इसी प्रकार प्रत्येक संचय से ६ क्रमचय बनगे। अतः सचयों की संख्या = $\frac{१}{६}$ (क्रमचयों की संख्या)। इसी प्रकार व्यापक दृष्टांत में प्रत्येक संचय से अनेक क्रमचय बनेंगे। यदि प्रत्येक संचय में ध अक्षर हैं, तो उक्त संचय से उतने क्रमचय बनेंगे जितने विन्यास ध अक्षरों के पारस्परिक हेरफेर से बनेंगे, अर्थात् ध (ध—१) (ध—२)······(ध—ध+१), अर्थात् $\lfloor\text{ध}$ ।

अतः संचयों की संख्या = १/$\lfloor\text{ध}$ (क्रमचयों की संख्या)। इसी फल को पारिभाषिक भाषा में हम इस प्रकार लिखेंगे :

$$^{\text{स}}\text{स}_{\text{ध}} = \frac{\text{स}\,(\text{स}-१)\,(\text{स}-२)\cdots(\text{स}-\text{ध}+१)}{\lfloor\text{ध}}$$

सं॰ ग्रं॰ — पा॰ ए॰ मैक्मोहन : कंबिनेटरी ऐनैलिसिस, दो खंड (१९१५-१६); इंट्रोडक्शन टु कंबिनेटरी ऐनैलिसिस (१९२०)।

[ब्र॰ मो॰]

संचायक (Accumulator) ऊर्जा संचित करनेवाला उपकरण है। द्रवइंजीनियरी (hydraulics) में द्रवचालित संपीडक तथा उत्थापक (elevator) को शक्ति (power) प्रदान करने के लिये, एक प्रकार का संचायक होता है, जिसके ऊर्ध्वाधर बेलन में मज्जक (plunger) भारी भार से भारित रहता है। बेलन में पानी, जो भारयुक्त मज्जक उठा देता है, पंप द्वारा भर दिया जाता है। भारयुक्त मज्जक की क्रिया के कारण उच्चदाब पर पानी तीव्रता से विसर्जित होता है, जिससे यंत्रों को चलाने के लिये द्रवचालित शक्ति प्राप्त होती है। संचायक अल्पकाल के लिये बड़े परिणाम में शक्ति संभरित करता है और इसका भरण निम्न शक्तिवाले पंप से हो सकता है। जल-विद्युत्-शक्ति प्रणाली में संचायक संयंत्र के रूप में दूसरे प्रकार के संचायक का उपयोग किया जाता है। ब्रिटेन में

संचायक बैटरी (storage battery) को भी संचायक कहते हैं।

संचायक बैटरी — संचायक बैटरी एक युक्ति है, जिसमें रासायनिक ऊर्जा, जो विद्युत् के रूप में किसी भी समय निर्मुक्त हो सकती है, संचित की जाती है। सामान्य उपयोग में आनेवाली संचायक बैटरियाँ दो प्रकार की होती हैं : (१) लेड अम्ल संचायक बैटरी तथा (२) क्षारीय संचायक बैटरी।

लेड अम्ल संचायक बैटरी — यह बैटरी एक या अनेक सर्वसम इकाइयों की, जिन्हें सेल कहते हैं, बनी होती है। प्रत्येक सेल का विभव दो वोल्ट होता है। ६ वोल्ट की साधारण ऑटोमोबाइल बैटरी में तीन सेल श्रेणीयोजित होते हैं। प्रत्येक सेल में अम्लीय विद्युत् अपघट्य, जो प्रायः सल्फ्यूरिक अम्ल होता है, तथा अपने दो या अधिक रासायनिक रूपों में सीस के इलेक्ट्रोड रहते हैं। इलेक्ट्रोड प्रायः धन या ऋण पट्टिका कहलाते हैं। ये पट्टिकाएँ संरचनीय फ्रेम तथा विद्युत् चालक से, जिसे ग्रिड कहते हैं, युक्त रहती हैं। ग्रिड, धात्विक लेड या मिश्रधातु तथा सक्रिय लेड (रासायनिक अवस्था) का बना होता है। सक्रिय ग्रिड लेड अवकाश को भरता है तथा आवश्यक विद्युत् रासायनिक कार्य करता है। ग्रिड लेड, ऐंटिमनी (६ से १२ प्रति शत यांत्रिक कार्यों में), टिन, बिस्मथ, आर्सेनिक तथा अन्य तत्वों के अल्प भिन्नात्मक प्रति शत वाली मिश्रधातु से ढालकर बनाया जाता है। धन पट्टिका में सक्रिय पदार्थ लेड परऑक्साइड, (सी औ$_2$) (PbO_2) है। ऋण पट्टिका के सक्रिय पदार्थ ये हैं : सरंध्र, सूक्ष्म विभाजित स्वतःबद्ध धात्विक शुद्ध लेड तथा अल्पयोज्य पदार्थ, जिसका कार्य रंध्रता को बनाए रखना है। बैटरी के जीवनकाल में ऋण पट्टिका बार बार आवेशित और विसर्जित होती है, अतः ऋण पट्टिका की संरध्रता को बनाए रखने के लिये योज्य (additive) पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्यावर्ती धन तथा ऋण पट्टिकाओं के मध्य में पृथक्कारक लगाकर, इन दोनों पट्टिकाओं को पृथक् कर समयोजित करते हैं। पृथक्कारक धन और ऋण पट्टिकाओं को एक दूसरे से छूने से बचाता है। पृथक्कारक को अम्लप्रतिरोधी तथा विद्युत् अपघट्य एवं विद्युत्-धारा के लिये सरलता से पारगम्य होना चाहिए। यह पारगम्यता सूक्ष्म सरंध्र होनी चाहिए जिससे बैटरी की क्रिया के समय धन पट्टिकाओं से निकलते हुए सक्रिय पदार्थों के कणों का प्रवेश न हो। पृथक्कारक का ऋण पट्टिका के बाद का भाग समतल होता है और धन पट्टिका के विपरीत ओर का भाग खाँचेदार या धारीदार होता है।

सामान्यतः लकड़ी का उपयोग पृथक्कारक के रूप में अधिक होता है। पृथक्कारक के लिये प्रयुक्त होनेवाली लकड़ी का अधिकांश रेजिन तथा अम्ल रासायनिक क्रिया द्वारा निकाल लिया जाता है। देवदार की कुछ किस्मों की लकड़ी पृथक्कारक के लिये अत्युत्तम सिद्ध हुई है। सूक्ष्म रंध्रवाले रबर के कृत्रिम पृथक्कारक का उपयोग भी अत्यधिक किया जा रहा है। जलवायु या परिवर्तनशील आवेश दर (charging rate) संबंधी उच्च ताप का सामना करने के लिये कृत्रिम पृथक्कारक का उपयोग किया जाता है। पृथक्कारी को सरंध्र पदार्थ की, जैसे शीशे के तंतु या छिद्रिल रबर की, सहायक चादर से प्रबलित कर दिया जाता है। यह प्रबलन धन पट्टिका के पार्श्व के विपरीत रखा जाता है। जब बैटरी अधिक कार्य करती है, तब इसके जीवनकाल में यह प्रबलन सक्रिय पदार्थ के क्षादक के नियंत्रण में सहायक होता है।

लेड अम्ल बैटरी में विद्युत् अपघट्य प्रायः तनु सल्फ्यूरिक अम्ल, जो बैटरी के आवेश की अवस्था के साथ साथ परिवर्तित होता है, रहता है। जब बैटरी आवेशित रहती है, तब सल्फ्यूरिक अम्ल की तनुता अधिक होती है और बैटरी के विसर्जित हो जाने पर अम्ल सांद्र होता जाता है। जब बैटरियाँ पूर्णतः आवेशित रहती हैं, तब अधिकांश बैटरियों के विद्युत् अपघट्य का आपेक्षिक घनत्व लगभग १·२८० रहता है, लेकिन उष्ण जलवायु में यह घनत्व १·२२५ और ठंढी जलवायु में १·३०० रहता है। सामान्यतः, विद्युत् अपघट्य का १·१५ आपेक्षिक घनत्व इस बात का द्योतक है कि बैटरी ९० प्रति शत विसर्जित हो चुकी है।

विसर्जन अभिक्रिया — जब संचायक आवेशित रहता है, उस समय लेड, सी (Pb), ऋण पट्टिका और लेड ऑक्साइड, सी औ$_2$ (PbO_2), धन पट्टिका का कार्य करता है। ये दोनों पट्टिकाएँ सल्फ्यूरिक अम्ल के विद्युत् अपघट्य में डूबी रहती हैं। विसर्जन के समय सक्रिय पदार्थ तथा विद्युत् अपघट्य में रासायनिक परिवर्तन होता है। ऋण पट्टिका का लेड दो इलेक्ट्रॉन, इ (e), से वंचित होता, जब कि धन पट्टिका का लेड ऑक्साइड दो इलेक्ट्रॉन अर्जित करता है। ऋण पट्टिका पर निम्नलिखित अभिक्रिया होती है:

सी → सी$^{++}$ + $_{2}$इ; सी$^{++}$ + गं औ$_4$ → सी गं औ$_4$

$$[Pb \rightarrow Pb^{++} + 2e; Pb^{++} + SO_4 \rightarrow PbSO_4]$$

धन पट्टिका पर निम्नलिखित समकालिक अभिक्रिया होती है :

सी औ$_2$ + २ हा$^+$ → सी औ + हा$_2$ औ − २ इ

$$[PbO_2 + 2H^+ \rightarrow PbO + H_2O - 2e]$$

लेड मोनोऑक्साइड सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ क्रिया कर निम्नलिखित फल देता है :

सी औ + हा$_2$ गं औ$_4$ → सी गं औ$_4$ + हा$_2$ औ

$$[PbO + H_2SO_4 \rightarrow PbSO_4 + H_2O]$$

विसर्जन काल में धन और ऋण दोनों पट्टिकाएँ लेड सल्फेट से आच्छादित हो जाती हैं। इस समय विद्युत् अपघट्य, अर्थात् सल्फ्यूरिक अम्ल, का आपेक्षिक घनत्व कम हो जाता है, क्योंकि कुछ सल्फ्यूरिक अम्ल पानी में परिवर्तित हो जाता है।

आवेश अभिक्रिया — बैटरी के क्रियाशील रहते समय जिस दिशा में धारा चलती है उसके विपरीत धारा प्रवाहित कर बैटरी को आवेशित किया जाता है, जिसके कारण बैटरी अपनी मूल दशा को पुनः प्राप्त कर लेती है, अर्थात् धन पट्टिका का लेड सल्फेट, लेड ऑक्साइड की पूर्वावस्था में आ जाता है। इस प्रकार ऋण पट्टिका पर हाइड्रोजन आयन दो इलेक्ट्रॉन मुक्त करता है। इसकी अभिक्रिया निम्नलिखित है :

सी गं औ$_{४}$ + २ हा$^{+}$ + २इ → सी + हा$_{२}$ गं औ$_{४}$

$[PbSO_4 + 2H^+ + 2e \rightarrow Pb + H_2SO_4]$

धन पट्टिका पर सल्फेट आयन दो इलेक्ट्रॉन मुक्त करता है, जिसकी अभिक्रिया निम्नलिखित है :

सी गं औ$_{४}$ + गं औ$_{४}$ = − २इ → सी (गं औ$_{४}$)$_{२}$

$[PbSO_4 + SO_4 = -2e \rightarrow Pb(SO_4)\ 2]$

चूँकि प्लंबिक सल्फेट पानी में स्थायी नहीं है, अत: अंतिम अभिक्रिया इस प्रकार होती है :

सी (गं औ$_{४}$)$_{२}$ + २ हा$_{२}$ औ → सी औ$_{२}$ + २हा$_{२}$ गं औ$_{४}$

$[Pb(SO_4)_2 + 2H_2O \rightarrow PbO_2 + 2H_2SO_4]$

आवेश की अभिक्रिया से विद्युत् अपघट्य का आपेक्षिक घनत्व बढ़ जाता है। आवेश और विसर्जन का चक्र उस समय तक चलता रहता है, जब तक बैटरी की भौतिक संरचना वैद्युत् आघटन के कारण या पृथक्कारक पदार्थ के ऑक्सीकरण के कारण नष्ट नहीं हो जाती।

बैटरी की दक्षता ताप के परिवर्तन से प्रभावित होती है। निम्न-ताप निम्न दक्षता का कारण होता है। बैटरी के आवेशित और विसर्जित होने की दर पर भी बैटरी की दक्षता निर्भर करती है। जब बैटरी धीरे धीरे आवेशित की जाती है और वह धीरे धीरे विसर्जित होती है, तब बैटरी की दक्षता अत्यधिक होती है।

क्षारीय संचायक बैटरी — इस प्रकार की बैटरी में विद्युत् अपघट्य अम्ल की जगह क्षार होता है। सर्वाधिक प्रचलित क्षारीय बैटरी एडिसन (Edison) सेल प्रकार की बैटरी है। यह बैटरी निकल-लोह क्षारीय प्रकार का सेल है। एक अन्य बैटरी निकल-कैडमियम प्रकार की है।

इस बैटरी का विद्युत् अपघट्य पोटैशियम और लीथियम ऑक्साइड का जलीय विलयन है। इस विद्युत् अपघट्य से सक्रिय पदार्थ का किसी भी अवस्था में विघटन या विलयन नहीं होता। उच्च निकल ऑक्साइड के इलेक्ट्रोड पर पोटैशियम और लीथियम हाइड्रॉक्साइड का अल्प परिमाण में अवशोषण होता है, लेकिन आवेशन तथा विसर्जन के संपर्क के दौरान विद्युत् अपघट्य के संघटन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। अत: विद्युत् अपघट्य का आपेक्षिक घनत्व एवं चालकता व्यवहारतः स्थिर रहती है। लीथियम हाइड्रॉक्साइड उच्च निकल ऑक्साइड के इलेक्ट्रोड में सक्रिय पदार्थों को अत्यधिक उपयोगी कर देता है। लीथियम हाइड्रॉक्साइड के कारण बैटरी की दक्षता और जीवन में वृद्धि हो जाती है। अत: यह विद्युत् अपघट्य का अत्यावश्यक घटक है।

पट्टिकाएँ बनाने के लिये छिद्रित निकल इस्पात की नलियों या खानों (pockets) में सक्रिय पदार्थ भर दिए जाते हैं। धन पट्टिकाएँ, जो एक दूसरे के बगल में रखी रहती हैं, अनेक ऊर्ध्वाधर नलियों के रूप में रहती हैं। धन पट्टिका में इसके वैद्युत गुण को बढ़ाने के लिये, निकल हाइड्रेट के साथ फ्लेक निकल (flake nickel) एकांतरित स्तरों में भरा रहता है। नलियाँ, जो बिना जोड़ के परिवेष्टित करनेवाले आठ वलयों से प्रबलित रहती हैं, ग्रिड पर समान अवकाश में आरोपित रहती हैं। ऋण पट्टिका धन पट्टिका के समान रहती है। अंतर केवल यह रहता है कि ऋण पट्टिका में नली के स्थान पर छिद्रित खाने में सूक्ष्म विभाजित लोह ऑक्साइड सक्रिय पदार्थ के रूप में भरा रहता है। ऋण एवं धन पट्टिकाएँ धन और ऋण समूहों में समायोजित रहती हैं। ऐसा ग्रिडों के सिरों के छेदों में से संयोजी दंड डालकर किया जाता है। इस्पात के छल्ले (washer) के उपयोग से उपयुक्त फासला प्राप्त किया जाता है। मध्य अंतरक पोलपीस (pole-piece) का आधार होता है। संयोजी दंड के प्रत्येक सिरे को लॉक वाशर (lock washer) तथा नट से कस देने पर पट्टिकाओं का समूह दृढ़ता से एक दूसरे के साथ बँध जाता है। सब वाशर, नट, संयोजी दंड तथा टरमिनल निकल इस्पात के बने होते हैं। पट्टिका समूहों को पूर्ण एलिमेंट (element) में संयोजित करते हैं। ऋण पट्टिकाओं के समूह में धन पट्टिकाओं के समूह की अपेक्षा एक अधिक पट्टिका होती है। ऊर्ध्वाधर कठोर रबर पिनों (pins) के द्वारा, जो पट्टिकाओं की लंबाई के बराबर होते हैं, प्रत्यावर्ती ऋण एवं धन पट्टिकाएँ विद्युत्‌रोधी बनाई जाती हैं। रबर की पट्टियाँ ऋण पट्टिकाओं के बाह्य भागों को पात्र के प्रति विद्युत्‌रोधी बनाती हैं। कठोर रबर संरचना द्वारा पट्टिकाओं के सिरों तथा किनारों का विद्युत्‌रोधन होता है। यह संरचना ग्रिडों का पृथक्करण करती है और पट्टिकाओं के पंक्तिबंधन को ठीक रखती है। इस संरचना का अभिकल्प ऐसा होता है कि विद्युत् अपघट्य का परिसंचरण निर्बाध होता है।

निकल-लोह-क्षारीय सेल का पात्र निकल इस्पात का बनाया जाता है, क्योंकि इस्पात पर पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड (विद्युत् अपघट्य) की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। सेल संधियाँ वेल्डित की रहती है। इस्पात के वलयों से प्रसारित और कठोर रबर के छल्लों या ग्लैंड कैपों (gland caps) से पोल पीस का विद्युत्‌रोधन उन स्थानों पर होता है जहाँ से पोल आच्छादन से बाहर निकलता है। संपूर्ण सेल को विद्युत्‌रोधी पेंट से रँग दिया जाता है। सेल के शीर्ष पर रोज़िन पेट्रोलियम जेली का फिल्म चढ़ा दिया जाता है। नट को कसने से संयोजक सुरक्षित हो जाते हैं। नट को ढीला करके जैक द्वारा हटाया जाता है।

कठोर लकड़ी की ट्रे में निकल-लोह-क्षारीय सेल को बैटरी के रूप में समायोजित किया जाता है। यह समायोजन प्रत्येक सेल को अपने स्थान पर रखता है और ट्रे तथा संगत सेलों के प्रति सेल को विद्युत्‌रोधी बनाता है।

संचायक सेल के सक्रिय पदार्थ विद्युत् का संचय नहीं करते, पर विद्युत् ऊर्जा के उपयोग से इन सक्रिय पदार्थों में इस प्रकार के भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिनसे वे विद्युत् ऊर्जा उत्पन्न करने में सक्षम हो जाते हैं। बैटरी को आवेशित करने पर जो रासायनिक परिवर्तन होते हैं, उन्हें समीकरणों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। विद्युत् अपघट्य पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड, २ पो औ हा (2 KOH), २ पो$^{+}$ $(2K)^{+}$ और २औ हा $(2OH)^{-}$ में आयनित हो जाता है। फेरस ऑक्साइड, लो औ (Fe O), की बनी ऋण पट्टिका पर होनेवाली अभिक्रिया तथा निकल ऑक्साइड

की बनी धन पट्टिका पर होनेवाली अभिक्रिया निम्नलिखित समीकरणों से क्रमश: व्यक्त की जा सकती है :

लो औ + हा₂ औ + २ पो⁺ → लो + २ पो औ हा + २इ

आयनीकृत ↑

२ पो औ हा ———→ २ पो⁺ + २ औ हा⁻

नि औ + २ औ हा⁻ + हा औ → नि औ₂ + हा औ₂ − इ

$$[FeO + H_2O + 2K^+ \rightarrow 2\ KOH + 2e$$

ionizing ↑

$$2\ KOH \xrightarrow{\quad} 2K^+ + 2OH^-$$

$$NiO + 2OH^- + H_2O \rightarrow NiO_2 + 2H_2O - 2e\ ]$$

जब सेल विसर्जित होता है, तब ऋण एवं धन पट्टिका पर निम्नलिखित रासायनिक परिवर्तन होता है :

लो + २ औ हा⁻ → लो औ + हा₂ औ − २ इ

आयनीकृत

२पो औ हा ———→ २पो⁺ + २औ हा⁻

↑

नि औ₂ + हा₂ औ + २ पो⁺ → नि औ + २पो औ हा + २ इ

$$[Fe + 2OH^- \rightarrow FeO + H_2O - 2e$$

ionizing

$$2\ KOH \xrightarrow{\quad} 2K + 2\ OH$$

$$NiO_2 + H_2O + 2K \rightarrow NiO + 2KOH + 2e]$$

प्रत्येक सेल की, ५ घंटे में, सामान्य औसत विसर्जन दर लगभग १·२० वोल्ट होती है, जबकि लेड एसिड बैटरी की विसर्जन दर २ वोल्ट है। अत: एक ही वोल्ट की ऊर्जा उत्पन्न करने के लिये लेड सेल की अपेक्षा एडिसन सेल की अधिक आवश्यकता पड़ती है। वैद्युत परीक्षण द्वारा बैटरी का आवेश निर्धारित किया जाता है। हाइड्रोमीटर के पाठ्यांक के द्वारा आवेश निर्धारित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि विद्युत् अपघट्य में आपेक्षिक घनत्व आवेश की अवस्था के साथ साथ परिवर्तित नहीं होता। [भ० ना० मे०]

संचित लाभांश (Accumulated Dividend) संचयी पूर्वाधिकार अंशों (Cumulative preference shares) पर न दिया जा सकनेवाला लाभांश, जिसे कंपनी को भविष्य में देना होता है, संचित लाभांश कहलाता है। कंपनियाँ बहुधा पूर्वाधिकार अंश निर्गमित करती हैं जिन्हें लाभांश की एक निश्चित दर पर मिलने का (और कभी कभी कंपनी के निस्तार के समय पूँजी वापस पाने का) पूर्वाधिकार प्राप्त होता है। यदि किसी वर्ष पर्याप्त लाभ न हुआ तो इन अंशों पर आश्वासित दर का लाभांश घोषित नहीं हो पाता, और अदत्त लाभ संचित होता रहता है। भविष्य में जब भी लाभ होता है, तब सबसे पहले उसमें से संचित लाभांश का भुगतान करना पड़ता है। [भ० ना० भ०]

संजय इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं — (१) उज्जयिनी का एक राजा जिसकी कन्या वासवदत्ता थी। (२) धृतराष्ट्र का प्रसिद्ध मंत्री तथा सारथी जो महाभारत के पूर्व पांडवों के पास दूत बनाकर भेजा गया था। गवल्गण का पुत्र होने से इसे गावल्गणि भी कहते हैं। इसी के मुख से धृतराष्ट्र को भगवद्गीता सुनाई गई है। [रा० द्वि०]

संजीवनी विद्या संजीवनी या मृतसंजीवनी विद्या का उल्लेख आयुर्वेद और पुराणों मे मिलता है। असुर पुरोहित शुक्राचार्य इस विद्या के बल पर मरे हुए दानवों को जीवित कर देते थे (आदिपर्व ७६।८), यह प्रसिद्ध है। ब्रह्मांड पुराण में 'मृतसंजीवनीं विद्यां यो वेद मुनिदुर्लभाम्' कहकर इस तथ्य को पुष्ट किया गया है। आयुर्वेद में 'मृतसंजीवनी रस' प्रसिद्ध है — मृतसंजीवनी नाम रसोऽयं शंकरोदित', 'मृतसंजीवन एवं ब्राह्मण कथित: पुरा' इत्यादि वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं। मत्स्य पुराण २४९।६ से जाना जाता है कि उशना: (शुक्र) ने यह विद्या महेश्वर से सीखी थी। वस्तुत: भारत की यह विद्या (जो मृत वा मृतप्राय को पुन: संजीवित कर सकती है) अत्यंत प्राचीन है।

वायु पुराण ४९।३५ में कहा गया है कि द्रोण नामक पर्वत में अनेक बलकारक ओषधियाँ, विशल्यकरणी एवं मृतसंजीवनी ओषधि, मिलती हैं। रामायण (युद्धकांड ५०।२९-३२ दाक्षिणात्य पाठ) में भी ऐसा निर्देश मिलता है। यह द्रोण पर्वत क्षीरोद समुद्र के पास है। कोई कोई आधुनिक गवेषक इस समुद्र को कास्पियन सागर समझते हैं। [रा० शं० भ०]

संततिनिरोध (Birth Control) शब्द का अर्थ है संतान की उत्पत्ति को रोकना। किंतु अब इसका अर्थ कुछ विस्तृत हो गया है। संतानोत्पत्ति को रोकने के साथ संतान को इस क्रम से उत्पन्न करना कि उनमें कुछ वर्षों का, कम से कम दो वर्षों का, अंतर रहे, यह भी इस शब्द के अंतर्गत समझा जाता है, और बहुधा इस शब्द के स्थान पर 'परिवारनियोजन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। संसार के सभी मातृकला तथा स्त्रीरोग विषयों के विद्वान् इसपर सहमत हैं कि संतान और माता दोनों के स्वास्थ्य के लिये तथा बच्चों के उचित परिपालन, शिक्षा तथा आवश्यक सुविधाओं के लिये दो बच्चों के जन्म में पाँच वर्ष का अंतर होना उचित है। दो वर्ष का तो न्यूनतम समय रखा गया है।

प्राचीन लेखों से पता चलता है कि उस समय भी इसका महत्व समझा जाता था और प्राय: प्रत्येक युग और जाति में संततिनिरोध का प्रयत्न किया गया था। इसके लिये ओषधियाँ, तंत्रमंत्र, तथा यांत्रिक साधनों से गर्भस्राव कराने की विधियों का भी प्रयोग किया जाता था। सबसे प्राचीन लेख इस संबंध में मिस्र देश के पैपिरस लेखों में (१८५० ई० पू० के लगभग) पाया जाता है। अरस्तू, हिप्पॉक्रटीज तथा सेफ़िसिस के सारेनस ने (सन् ९८-१३८) इस विषय की चर्चा की है। माल्थस ने सन् १७९८ में प्रकाशित अपनी जनसंख्या (पॉपुलेशन) संबंधी विख्यात पुस्तक में संतति-

निरोध के प्राकृतिक उपायों का समर्थन किया है। उसके पश्चात् ही इंग्लैंड और अमरीका में कितने ही क्रांतिकारी लेखकों ने, विशेषकर फ्रांसिस प्लेस ने, सन् १८२२ में और रिचर्ड कारलाइल ने सन् १८२५ में इंग्लैंड में, और रॉबर्ट डेल ओवन ने सन् १८३१ में, अमरीका में इस संबंध में उग्र आंदोलन किया था। जनता में संततिनिरोध की आवश्यकता तथा उसके लाभ का जोरों से प्रचार किया। इंग्लैंड में सन् १८७७ में डॉक्टर ऐनी बेसेंट ब्रेडलों के मुकदमे से इस आंदोलन को विशेष प्रोत्साहन मिला। श्रीमती ऐनी बेसेंट और चार्ल्स ब्रैडलॉ कई वर्ष पूर्व से संततिनिरोध का जनता में प्रचार कर रहे थे। सन् १८७७ में उनपर जनता में डॉक्टर चार्ल्स नोल्टन की लिखी हुई 'फ्रूट्स ऑव फ़िलॉसोफ़ी' नामक पुस्तिका की प्रतियाँ बेचने का आरोप लगाया गया और सरकार की ओर से मुकदमा चला। इस मुकदमे से संततिनिरोध के उपायों का जनता में जितना प्रचार हुआ, उतना उससे पूर्व नहीं हुआ था। उसी के पश्चात् माल्थस लीग की स्थापना हुई, जिसने इस विषय संबंधी एक पत्रिका निकाली। इससे संततिनिरोध के उपायों का जनता में प्रचार किया गया। इसी प्रकार की संस्थाएँ फ्रांस, हॉलैंड, बेल्जियम तथा अन्य देशों में खुल गई। डॉक्टर मेरी स्टोप्स (इंग्लैंड) की अनेक पुस्तकों और लेखों द्वारा इस विषय के ज्ञान का बहुत प्रचार हुआ और सभी देशों में संततिनिग्रह की भावनाओं की जड़ जम गई। कई स्थानों में अन्वेषण केंद्र भी खोल दिए गए।

अमरीका में मिसेज मार्गेरेट सैंगर ने इस संबंध में बहुत बड़ा कार्य किया। बर्थ कंट्रोल का शब्द पहले इन्होंने ही प्रयोग किया (सन् १९१४-१५)। गरीब स्त्रियों और उनकी बहुत सी संतानों की दशा देखकर श्रीमती सैंगर का हृदय पिघल गया। उन स्त्रियों को न रहने का उपयुक्त स्थान था, न पर्याप्त भोजन ही मिलता था। बच्चों को भोजन तक का अभाव था, पहनने के वस्त्रों की कौन कहे। तो भी उनको संतान होती जाती थी। प्रत्येक बच्चे के माने थे अधिक व्यय। इन सबका परिणाम था बच्चों की मृत्यु, क्योंकि चिकित्सा या सुश्रूषा का कोई साधन न था।

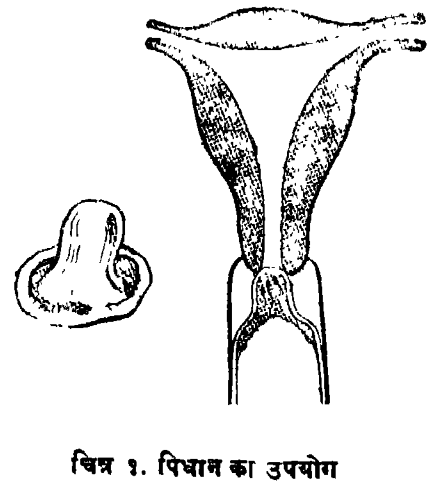
इस दारुण दयनीय दशा को देखकर श्रीमती सैंगर ने निश्चय कर लिया कि उन स्त्रियों के दुःख को मिटाने का एकमात्र रास्ता उनकी संतानोत्पत्ति को घटाना था। सन् १९१६ में इन्होंने पहला क्लिनिक ब्रूम्सविल जिले में खोला, जिसको पुलिस ने अवैध बताकर बंद कर दिया और श्रीमती सैंगर जेलखाने में डाल दी गईं। बहुत दिनों तक मुकदमा चला। किंतु अंत में अदालत ने इनको मुक्त कर दिया और पूर्व कार्य करने की आज्ञा भी दे दी। सन् १९२१ में इन्होंने न्यूयार्क में बर्थ कंट्रोल कॉन्फरेंस बुलाई और उसके पश्चात् ही बर्थ कंट्रोल लीग की स्थापना की, जिसका इनको अध्यक्ष चुना गया। सन् १९२३ में इन्होंने एक अन्वेषण केंद्र भी खोला। इसके पश्चात् "प्लैंड पेरेंटहुड फेडरेशन" खोला गया, जिसकी अब तक लगभग ६०० शाखाएँ खुल चुकी हैं। भारत में आर्थिक कठिनाइयों के कारण शिक्षित समुदाय कुछ समय से संततिनिरोध की आवश्यकता अनुभव करने लगा है और स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् खाद्य के संकट के कारण भारत सरकार को जनता की संख्या को परिमित करने के लिये संततिनिरोध को सर्वप्रिय बनाने के उद्देश्य से विशेष आयोजन करना पड़ा है। भारत की जनसंख्या प्रति वर्ष ४५ लाख बढ़ जाती है। इस गति से अगले ५० वर्षों में यहाँ की जनसंख्या दुगनी हो जायगी। इसी अनुपात में खाद्य उत्पत्ति का दुगना हो जाना असंभव है। अतएव सब देशनिवासियों को भोजन देने के लिये एकमात्र यही उपाय है कि जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के उपाय किए जायँ। इसी उद्देश्य से सरकार ने संततिनिरोध के उपायों के प्रचार का प्रबंध किया है, और प्रायः सभी प्रदेशों के बड़े बड़े नगरों में ऐसे केंद्र खोले गए हैं, जहाँ से आवश्यक उपायों के ज्ञान का प्रसार किया जा सके तथा जनता को इसकी आवश्यकता समझाई जा सके।

वास्तव में यह प्रश्न इस समय भूमंडल के सभी देशों में व्याप्त है और सभी के सामने यही समस्या है। अतएव संततिनिरोध एक सर्वव्यापी आंदोलन हो गया है।

संततिनिरोध के उपाय

संततिनिरोध के जितने उपाय हैं उनका एक ही उद्देश्य है : पुरुष के शुक्राणु का स्त्री की अंडकोषिका से संयोग न होने देना, जिससे गर्भ की स्थापना न होने पाए। अतएव निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया जाता है :

(१) पिधान (Sheath) — ये शिश्न के आकार के रबर के थैले होते हैं, जिनको मैथुन के पूर्व शिश्न पर चढ़ा लिया जाता है। अपूर्ण मैथुन के अतिरिक्त अन्य उपायों की अपेक्षा सबसे अधिक इसका प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इस प्रयोग में बहुत कुछ सफलता मिलती है, किंतु इसको अचूक विधि नहीं कहा जा सकता। मैथुनक्रिया में कभी कभी रबर फट जाता है। फिर कुछ लोग इसका प्रयोग करना पसंद नहीं करते। उनका कथन है कि पिधान के प्रयोग से मैथुन के समय की भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं।



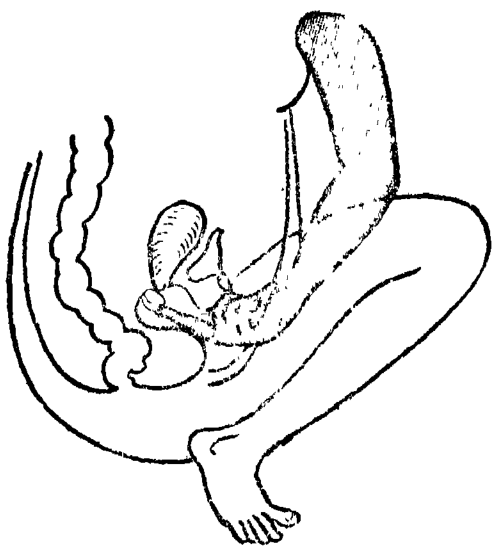
चित्र १. पिधान का उपयोग

पिधान नया और मोटे रबर का होना चाहिए। केवल विश्वसनीय दूकानों से इसे लेना चाहिए। पिधान को प्रयोग करते समय उसमें कोई शुक्राणुनाशक वस्तु (जेली) भर देनी चाहिए। जिन पिधानों में आगे एक छोटी थैली सी बनी होती है, वे अधिक उपयुक्त होते हैं। स्खलन के पश्चात् वीर्य उस थैली में भर जाता है।

ढीली न होने से वीर्य पीछे की जाकर पिधान और शिश्न के बीच से निकलकर योनि में पहुँच सकता है।

(२) अपूर्ण मैथुन (Coitus Interruptus) — इस विधि में मैथुन की क्रिया समाप्त होने के पहले ही लिंग को योनि से निकाल लिया जाता है और इसलिये वीर्यस्खलन योनि के बाहर होता है। यह कदाचित् सबसे प्राचीन और सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाली विधि है। यह विधि पुरुष और स्त्री दोनों के लिये हानिकारक है। बहुत बार इस क्रिया से दोनों को किसी प्रकार का मानस रोग हो जाता है।

(३) शुक्राणुनाशक (Spermircidal) योग — ये प्राय: मरहम या जेली, योनिवर्ति (suppositories) या टिकिया होते हैं और इनमें कोई शुक्राणुनाशक रासायनिक पदार्थ मिला रहता है। इस प्रकार की वस्तु को पिधान में भरकर प्रयोग करने से अधिक संतोषजनक परिणाम होते हैं। टिकिया को मैथुन से पूर्व योनि



चित्र २. फेन उत्पन्न करनेवाली टिकिया का प्रयोग

में प्रविष्ट कर दिया जाता है। उसमें झाग उठते हैं, जिनमें शुक्राणुनाशी पदार्थ मिला रहता है।

जेली रांगे की पिचकने वाली ट्यूबों में आती है, जिनके सिरे पर टोंटी लगी होती है। मैथुन से पूर्व टोंटी द्वारा जेली को योनि में ऊपर तक प्रविष्ट कर दिया जाता है। जेली शुक्राणुओं को रोक देती है अथवा नष्ट कर देती है, किंतु गर्भाशय के द्वार पर स्खलन होने से शुक्राणुओं के सीधे भीतर पहुँचने की संभावना रहती है। जिन स्त्रियों ने इस विधि का प्रयोग किया है उनमें से अधिक को सफलता हुई है। कुछ को नहीं हुई।

इसी प्रकार टिकिया को भी योनि में ऊपर तक, मैथुन से पूर्व, प्रविष्ट कर दिया जाता है। मैथुन के समय उसमें झाग उठते हैं, जिनमें मिला हुआ शुक्राणुनाशी रसायन शुक्राणुओं को नष्ट कर देता है, अथवा उनका स्तंभन हो जाता है। डायाफ्राम के साथ इन टिकियों का प्रयोग विश्वस्त गर्भनिरोधक विधि है।

(४) मैथुनोत्तर योनिवस्ति (Douching) — मैथुन के पश्चात् तुरंत ही डूश से, या इसी क्रिया के लिये बनी हुई विशेष सिरिंज से, योनिमार्ग का प्रक्षालन किया जाता है। प्रक्षालन के लिये साधारण जल, साबुन या जल में सिरका (१ चम्मच १० छटांक जल में) मिलाकर प्रयोग किया जाता है। स्वयं जल शुक्राणुनाशी है।



चित्र ३. जेली का प्रयोग

इस विधि का बहुत प्रयोग किया जाता है, किंतु यह पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें असुविधाएँ बहुत हैं, जैसे डूश के लिये एकांत स्थान की आवश्यकता, तुरंत उठकर डूश लेना, गरम जल का मिलना आदि और फिर भी अनिश्चित परिणाम। इन कारणों से इस विधि के प्रयोग की सलाह नहीं दी जाती।

(५) अवरोधक टोपियाँ — ये रबर की बनी ऐसी टोपियाँ होती हैं जो योनिभाग में प्रविष्ट करने पर, ऊपर तक पहुँचकर, गर्भाशय के बहिर्द्वार और ग्रीवा पर ठीक उसी प्रकार बैठ जाती हैं जैसे सिर पर टोपी। इससे शुक्राणु गर्भाशय के भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाते। ये टोपियाँ तीन प्रकार की होती हैं :

(क) डच टोपियाँ — ये रबर की बनी गुंबद के आकार की टोपियाँ होती हैं, जिनके किनारों के भीतर बारीक कमानी रहती है। इनका आकार ४५ से ९० मिलीमीटर व्यास तक होता है। ये योनिमार्ग में इस प्रकार लगाई जाती हैं कि वे गर्भाशयद्वार को पूर्णतया ढँक लें। इस कारण ये योनिमार्ग के लगभग अंत पर तिरछी स्थिति में लगाई जाती हैं। इनका पीछे की ओर का किनारा योनिमार्ग की पश्चिम भित्ति पर, गर्भाशयद्वार के पीछे रहता है। अगला किनारा अग्रभित्ति पर, भगास्थि के पीछे, योनिद्वार के १ या १॥ इंच ऊपर रहता है। इस प्रकार वह पिछले किनारे से १ या १॥ इंच नीचा रहता है। अतएव टोपी से न केवल गर्भाशय का बहिर्द्वार वरन् ग्रीवा भी ढँक जाती है।

लंबी स्त्रियों के लिये बड़े आकार की टोपी की आवश्यकता होती है। साधारणतया ५० से ६० मिलीमीटर आकार की टोपी अधिक स्त्रियों को उपयुक्त होती है। सबसे बड़े आकार की टोपी, जो ठीक बैठे, वही लगानी चाहिए।

इस टोपी की उपयोगिता योनिमार्ग के आकार और भित्तियों की दृढ़ता पर निर्भर है। योनि की भित्तियाँ ही टोपी को सँभाले रहती हैं। यदि वे ढीली हैं या गर्भाशयद्वार के सामने भगास्थि के पीछे की ओर, मूत्राशयभ्रंश आदि के कारण, पर्याप्त स्थान नहीं है, तो यह टोपी अपने स्थान में नहीं टिकेगी, या मैथुन के समय छूट जाएगी।

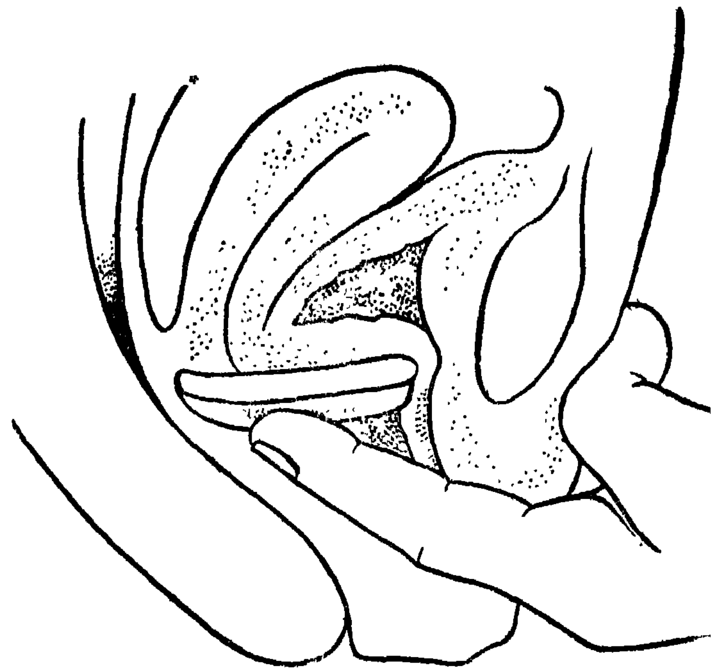
(ख) डच्यूमा की टोपी — यह डच टोपी से छोटी और उथली होती है। इस कारण जब गर्भाशय की ग्रीवा लंबी या बड़े आकार की हो, तब उसपर यह टोपी ठीक नहीं बैठती। यदि ग्रीवा पीछे को मुड़ी हो, या सीधी हो, तो भी यह टोपी उपयुक्त नहीं है; मैथुन के समय यह छूट सकती है। जिनमें मूत्राशयभ्रंश या गुदभ्रंश हो उनके लिये यह उपयुक्त है। इसको निकालना भी कठिन होता है। यह टोपी तीन आकारों में बनाई जाती है, जो बृहत्, मध्यम और लघु कहलाते हैं।

(ग) ग्रीवा की टोपी (Cervical cap) — ये टोपियाँ गर्भाशय की ग्रीवा पर बैठ जाती है। इस कारण ये योनिमार्ग को भित्ति पर आश्रित नहीं रहतीं। ये पाँच आकारों की बनाई जाती हैं, जिनके नंबर ०, ½, १, २ और ३ हैं। इस प्रकार की टोपी केवल उन स्त्रियों को प्रयुक्त करनी चाहिए जिनमें गर्भाशय की ग्रीवा बड़ी हो और ग्रीवा पर व्रण या शोथ के कोई चिह्न न हों। इसमें सुगमता यह है कि इसको लगाना सहज है और गर्भाशय के भ्रंश की दशा में भी प्रयुक्त हो सकती है। इसमें दोष यह है कि यह मैथुन के समय छूट सकती है। यदि गर्भाशय में, या ग्रीवा में, कुछ शोथ हुआ, तो उनका स्राव टोपी के भीतर ही रह जाता है जो हानिकारक है।

(घ) मध्यपट या डायाफ्राम — टोपियों के समान डायाफ्राम भी रबर, या प्लास्टिक का बना, तश्तरी सा होता है, जो योनिनलिका के ऊपर के छोर (अंत) पर, आर पार, लगा दिया जाता है, जिससे वह गर्भाशय के मुख को ढँकने के अतिरिक्त, उसके चारों ओर तक के क्षेत्र तक पहुँचने के मार्ग को भी बंद कर देता है। इसको मैथुन के पूर्व लगाया जाता है और मैथुन के आठ घंटे पश्चात् तक नहीं निकाला जाता। उसके पश्चात् निकालकर और साबुन और जल से स्वच्छ करके और पाउडर लगाकर, रख दिया जाता है। इसका फिर प्रयोग किया जा सकता है। इसके साथ किसी शुक्राणुनाशक जेली का प्रयोग करना चाहिए। यह एक विश्वस्त विधि है, किंतु इसको लगाने में सावधानी आवश्यक है। ठीक प्रकार से न लगने पर वह निरर्थक हो जायगा।

साधारण सिद्धांत — इन सब प्रकार की टोपियों के प्रयोग के सिद्धांत समान हैं। इनको लगाने की विधियों को सीखने की आवश्यकता होती है। सरकार की ओर से खुले हुए केंद्रों में यह शिक्षा प्राप्त की जा सकती है।

निश्चित सफलता की प्राप्ति के लिये एक से अधिक विधियों का एक साथ प्रयोग करना चाहिए। टोपियों के साथ शुक्राणुनाशक मरहम का प्रयोग किया जाय। टोपी लगाने के पूर्व उसके किनारे पर मरहम लगा दिया जाय तथा टोपी के भीतर भी भर दिया जाय। मैथुन से कुछ समय पूर्व, ऐसे मरहम से भरकर, टोपी को लगा या जाय और मैथुन के समय योनिवस्ति या किसी जेली को



चित्र ४. डायाफ्राम का लगाना

भी योनि में प्रविष्ट कर दिया जाय। इससे गर्भस्थापना की संभावना नहीं रहती।

टोपी को मैथुन के ८, १० घंटे पश्चात् तक लगाए रखना उचित है। १८ घंटे से अधिक समय तक टोपी न लगी रहनी चाहिए। टोपी को निकाल कर, साबुन से धोकर और सुखाकर तथा शरीर पर लगानेवाले सामान्य पाउडर को लगाकर, रख देना चाहिए।

अब टोपियों का स्थान डायाफ्राम और जेली अथवा टिकिया ने ले लिया है, जिनका प्रयोग अधिक सरल है।

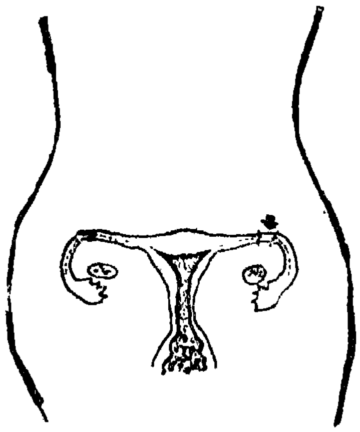
(६) निर्भय काल (Safe period) — यह पाया गया है कि अंडक्षरण (अंडकोषिका का अंडग्रंथि से निकलना) आर्तव के समय नहीं होता। किंतु आर्तवों के अंतर्काल में आर्तव के पश्चात् १४ वें से २० वें दिन के बीच में होता है और अंडकोषिका २४ घंटे से अधिक संसेचन के योग्य नहीं रह पाती। शुक्राणु की संसेचन शक्ति भी तीन चार दिन में नष्ट हो जाती है। अतएव आर्तव के पूर्व का सप्ताह 'निर्भय काल' कहलाता है, जिसमें गर्भस्थापना का भय नहीं रहता। जिन लोगों को अन्य विधियों के उपयोग में कोई आपत्ति होती है, उनके लिये केवल यही विधि उपयुक्त है।

यह विधि केवल उन्हीं स्त्रियों में विश्वसनीय है जिनका आर्तवचक्र सदा एक समान २८ दिन का होता है। इस काल के घट बढ़ जाने से, अंडक्षरण के समय में भी घटाबढ़ी हो सकती है।

कुछ और विधियाँ भी काम में लाई जाती थीं। गर्भाशयांतर सूत्र, स्पंज का प्रयोग, वीर्य के इंजेक्शन (जिससे शरीर में शुक्राणुरोधी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाएँ), अंड और अंडग्रंथि पर एक्स किरणों का

कामना, जिससे अस्थायी बंध्यता उत्पन्न हो जाए, आदि विधियाँ, अब केवल ऐतिहासिक महत्व की बातें हैं।

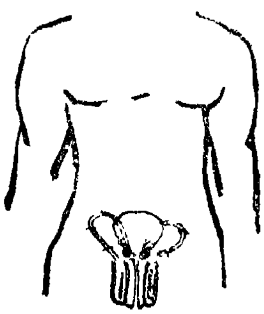
(७) स्त्री में अंडवाहिकाओं या फालोपिओ-नलिकाओं के तथा



चित्र ५. ऊफोरेक्टोमी (Oophorectamy)

अंडवाहिका का बंधन तथा उच्छेदन।

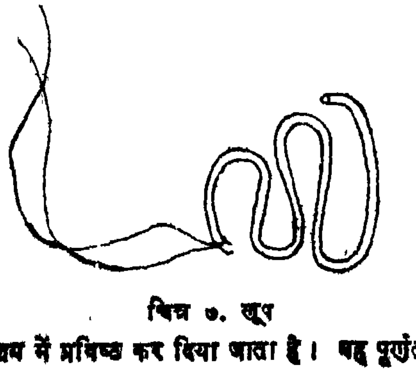
पुरुष में शुक्रवाहिका नलिकाओं के छेदन और बंधन (क्रमश: Ligature of fallopian tubes and Vasectomy) से गर्भस्थापना की तनिक भी संभावना नहीं रहती। इस शल्यकर्म से शुक्राणु



चित्र ६. वासेक्टोमी (Vasectomy)

और अंडकोषिका का संगम असंभव हो जाता है और फिर संतान होने की संभावना सदा के लिये मिट जाती है।

(८) लूप — यह गर्भनिरोध की एक नई विधि है, जिसका आविष्कार कुछ वर्ष पूर्व हुआ है और तभी से इसका बहुत प्रयोग हो रहा है। यह प्लास्टिक की बनी एक नली होती है, जिसको उसी पर कुंडलित कर दिया जाता है। इसको एक डाक्टर द्वारा



चित्र ७. लूप

स्त्री के गर्भाशय में प्रविष्ट कर दिया जाता है। यह पूर्णतया विश्वस्त विधि पाई गई है और संसार के सभी देशों की स्त्रियों द्वारा प्रयोग की जा रही है। लूप गर्भाशय में तब तक रखा रहता है, जब तक दंपति संतान नहीं उत्पन्न करना चाहें। यदि दंपति संतान के इच्छुक होते हैं, तो वे डाक्टर से लूप को निकलवा सकते हैं और स्त्री गर्भ धारण कर सकती है। लूप को गर्भाशय में रखने के लिये किसी ऑपरेशन की आवश्यकता नहीं होती। डाक्टर को लूप को गर्भाशय में रखने में कुछ ही मिनट लगते हैं। इससे मैथुन में कोई बाधा नहीं पड़ती है। कुछ स्त्रियों में अत्यल्प रक्तस्राव दो चार दिन तक हो सकता है, अथवा लूप लगाने पर प्रथम आर्तव की अधिक मात्रा होती है, किंतु ये बातें स्वयं ही शीघ्र ठीक हो जाती हैं। सरकार की ओर से जो अनेक परिवार-नियोजन-केंद्र खोले गए हैं, उनमें नियुक्त डाक्टर लूप लगाने में विशेषतया शिक्षित होते हैं।

(९) गर्भनिरोधक गोलियाँ — इन गोलियों का उपयोग गर्भनिरोध की अत्युत्तम विधि है। इन गोलियों का सभी देशों में प्रचुर उपयोग किया जा रहा है। इनका प्रभाव अंडग्रंथि से अंड के बाहर आने (अंडक्षरण) पर होता है। एक गोली नित्य प्रति खानी होती है। परिवार-नियोजन-केंद्र के डाक्टर से गोलियों का पैकट मिलता है, जिसमें २१ श्वेत और गुलाबी गोलियाँ होती हैं। २१ दिन तक एक श्वेत गोली प्रति दिन तक और उसके पश्चात ७ दिन तक गुलाबी गोली खानी होती है। गर्भ का निरोध करने के अतिरिक्त, इन गोलियों से मासिक के सामान्य दोष, मासिक में पीड़ा, मासिक का कम या समय से न होना, आदि भी दूर हो जाते हैं। सामान्यत: इन गोलियों से कोई कष्ट नहीं होता। कुछ स्त्रियों को सिर दर्द, आदि हो सकता है, किंतु वह शीघ्र ही जाता रहता है। जिन स्त्रियों को कैंसर, यकृत रोग, या रक्त संबंधी रोग हों, उनको ये गोलियाँ नहीं खानी चाहिए। मासिक के प्रारंभ से चार दिन के पश्चात्, पाँचवें दिन से गोलियाँ खानी प्रारंभ की जायँ।

(१०) कुछ इंजेक्शन के योग भी तैयार किए गए हैं, किंतु वे अभी अन्वेषणगत ही हैं।

उपर्युक्त उपाय उन्हीं व्यक्तियों को करने चाहिए जिनके पहले ही से कई संतान हों।

सं० ग्रं० — मेरी स्टोप्स : प्लैंड पेरेंटहुड ऐंड कोंट्रासेप्शन; प्लैंड पेरेंटहुड फेडरेशन ऑव अमरीका की इस विषय पर प्रकाशित लेखमाला; मार्गरेट सैंगर : प्लैंड पेरेंटहुड; डाक्टर सत्यवती : संतति-निरोध; शासन द्वारा प्रकाशित परिवारनियोजन संबंधी साहित्य।

[मु० स्व० व०]

संतरा निबूवंश (Citrus) की किस्मों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण और प्रचलित फल है। इसके उत्पादन का क्षेत्रफल भी निबूवंश की अन्य किस्म, जैसे माल्टा, मुसम्मी, ग्रेफ्रूट, नींबू आदि, से अधिक है। संतरा पीले छिलकेवाली और फाँकवाली एक रसदार किस्म है। इसकी फाँकें छीलकर जीरा खाया जाता है और रस निकाल कर भी पीया जाता है।

भारत में नागपुर का संतरा प्रसिद्ध है। वहाँ अच्छी किस्मों का संतरा खूब पैदा होता है। वहाँ की जलवायु और भूमि संतरे की

खेती के लिये उपयुक्त हैं। उत्तरी उत्तर प्रदेश में संतरे की फसल अच्छी नहीं होती।

संतरा समशीतोष्ण और कम उष्ण प्रदेशों में सफलता से पैदा होता है। जलवायु के साथ साथ इसकी सफल काश्त के लिये उपयुक्त भूमि का होना भी अत्यंत आवश्यक है। संतरे के लिये हलकी दुमट भूमि, जिसमें चूने की मात्रा भी हो, सबसे उत्तम मानी जाती है। अधिक रेतीली जमीन उपजाऊ नहीं होती और संतरे के लिये खराब है। अधिक चिकनी मिट्टीवाली जमीन में पानी ठहरता है और वह भी संतरे के लिये बहुत उपयुक्त नहीं होती। संतरे के लिये जमीन चुनते समय नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए :

(१) भूमि में कंकड़ पत्थर नहीं होना चाहिए, (२) निचली सतह, अर्थात् ४.५ फुट गहराई में कंकड़ या पत्थर आदि की सतह नहीं होनी चाहिए, (३) पानी की सतह बहुत ऊँची नहीं होनी चाहिए। नहर आदि के किनारे, जहाँ पानी बहुत कम गहराई में होता है, संतरा अच्छा नहीं फलता, (४) निचली सतह में बहुत चिकनी मिट्टी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि चिकनी मिट्टी में पानी का निकास अच्छा नहीं होता तथा (५) ऐसी जमीन जहाँ वर्षाकाल में पानी भरता है, संतरा लगाने के लिये नहीं चुननी चाहिए। पानी भरने से संतरे की जड़ें गलकर खराब होने लगती हैं।

संतरे को काफी पानी की आवश्यकता होती है। यदि कुएँ के पानी से सिंचाई की जाती है, तो यह देख लेना चाहिए कि पानी खारा तो नहीं है। खारे पानी से संतरे के पेड़ों को हानि पहुँचती है।

ऊपर लिखी बातों को ध्यान में रखकर ही संतरा लगाने के लिये भूमि को चुनना चाहिए। यदि भूमि और स्थान संतरे के लिये उपयुक्त न हों, तो वहाँ संतरा लगाने से कोई लाभ नहीं होगा। पेड़ लगाने से पहले भूमि को ठीक करना पड़ता है। यदि उसमें पहले काश्त होती रही है, तो अधिक काम नहीं रहता। नई जमीन हो, तो पहले पूरे क्षेत्र की सफाई करनी चाहिए। जंगली झाड़ियाँ आदि काट फेंकना चाहिए। फिर पूरी जमीन को गहरी जुताई कर देना चाहिए। यह काम मई, जून में करना चाहिए। इससे पूरी भूमि के घासफूस की सफाई हो जाती है। यदि जमीन की सतह ठीक न हो, तो उसे भी सिंचाई की नालियों की सुविधा देखते हुए ठीक कर लेना चाहिए। इसके बाद वर्गाकार रूप में पूरे खेत में २० फुट के अंतर से गोल गड्ढे खोद लेना चाहिए। गड्ढों की गहराई तीन फुट और गोलाई भी तीन फुट होनी चाहिए। वर्षा प्रारंभ होने पर, गड्ढों को मिट्टी से फिर भर देना चाहिए। भरने से पहले, कंकड़, पत्थर आदि मिट्टी से निकाल लेना चाहिए। प्रति गड्ढे में लगभग ३० सेर सड़े गोबर की खाद और पाँच सेर हड्डी का चूरा मिलाकर भर देना चाहिए। अब गड्ढे पेड़ लगाने के लिये तैयार हो गए। दो पानी पड़ जाने के बाद उनमें पेड़ लगा देना चाहिए।

किस्मों का चुनाव — केवल वे ही किस्में लगानी चाहिए जिनकी बाजार में खपत हो। जलवायु के अनुसार निम्नलिखित किस्में चुननी चाहिए : गर्म जिलों के लिये — १. कोंडानेरम, २. मैंडरीन इंपीरियल तथा ३. केवला।

तराई के ठंडे प्रदेशों के लिये — १. श्रीनगर, २. कोंडानेरम तथा ३. किन्यू।

पेड़ों का चुनाव — संतरे के पेड़ चश्मा चढ़ाकर तैयार करते हैं। खट्टे का बीज बोकर पनीर (स्टाक) तैयार करते हैं और संतरे की किस्मों के चश्मे बाँधते हैं।

चाहे कुछ अधिक मूल्य देना पड़े, सदा भरोसे की जगह से, जहाँ से पेड़ अच्छे मिलें, लेना चाहिए। अधिक पुराने या छोटे, टेढ़े मेढ़े, पीली पत्तियोंवाले पेड़ नहीं लेने चाहिए।

बाद की देखभाल — सदा आवश्यकतानुसार सिंचाई और निराई का ध्यान रखना चाहिए। फल बैठाने के बाद पानी की कमी न होनी चाहिए। पेड़ के तने से फूटकर बढ़नेवाले अंतःभूसारियों (suckers) को सदा काटते रहना चाहिए।

प्रतिवर्ष थालों की गुड़ाई करना चाहिए। साथ ही उनमें खाद मिला देनी चाहिए। प्रारंभ में दी गई खाद के अलावा, प्रति वर्ष पेड़ की उमर बढ़ने के साथ निम्नलिखित खाद भी बढ़ाकर देनी चाहिए :

गोबर की खाद, दो सेर; अमोनियम सल्फेट, एक पाव; हड्डी की खाद, एक पाव तथा लकड़ी की राख, दो पाव।

किसी भी बीमारी के, अथवा कीड़ा, लगते ही जाँच कराकर उचित दवा के छिड़काव आदि का प्रबंध करना चाहिए।

संतरे के फल को वनस्पति विज्ञानी नारंगक (hespiridium) कहते हैं, यद्यपि साधारण व्यक्ति इसे नारंगी के नाम से ही जानते हैं। फल के मध्य में मज्जा (pith) का बना मुलायम अंश होता है। फल में १० से १२ फाँकें पिथ (pith) को घेरे रहती हैं और फाँकों में रस रहता है। समस्त नारंगी मुलायम छिलके से ढँकी रहती है। छिलके का भीतरी अंश सफेद और स्पंजी होता है। इसमें जेली सा पदार्थ पेक्टिन रहता है। छिलके का बाहरी भाग नारंगी रंग की छोटी छोटी ग्रंथियों से बना होता है। इन ग्रंथियों में वाष्पशील तेल होता है, जो निकाला जा सकता है और सुगंध के काम आता है। नारंगी के रस में शर्करा, साइट्रिक अम्ल तथा खनिज लवण रहते हैं। रस में विटामिन ए, बी और सी की प्रचुरता रहती है। इन घटकों के कारण ही इस फल की गणना बहुमूल्य आहार के रूप में होती है। नारंगी के फल में अनेक बीज रहते हैं। कुछ नारंगियाँ बिना बीज की भी होती हैं। आहार विज्ञान के विशेषज्ञ डा० कालेग का कथन है कि यदि संतरे के एक गिलास रस का प्रतिदिन सेवन किया जाए, तो मनुष्य कम से कम सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। [श्री रा० शु०]

संताल परगना जिला, स्थिति: २३° ४८' से २५° १८' उ०अ० तक तथा ८६° २८' से ८७° ५७' पू०दे० तक विस्तृत है। बिहार का यह एक जिला है, जो पूरब में बंगाल से सटा हुआ है। इसका क्षेत्रफल ५,४७० वर्ग मील एवं जनसंख्या २६,७५,२०३ (१९६१) है। जिले का अधिकांश भाग पठारी एवं पहाड़ी है। इसके बीचोबीच राजमहल की पहाड़ियाँ उत्तर-दक्षिण में फैली हुई हैं। पहाड़ियों के दोनों तरफ ऊँची नीची पथरीली भूमि है। मोर, ब्राह्मनी, बांसलोई तथा गुमानी, प्रमुख नदियाँ

है, जो पहाड़ियों से निकलकर पूरब की ओर बहती हुई बंगाल में चली जाती हैं। इन नदियों की घाटियों में अपेक्षाकृत समतल भूमि मिलती है, जहाँ धान की खेती होती है। दूसरी महत्वपूर्ण फसल मक्का है। इस जिले में छोटी तथा बिखरी हुई कोयले की खानें हैं। यहाँ मुख्यतः संथाल जाति के आदिवासी रहते हैं। दुमका इस जिले का प्रमुख नगर है, जिसकी जनसंख्या १८,७२० (१९६१) है। [ज० सि०]

संतोख सिंह, भाई (सन् १७८८-१८४३) वेदांत और सिक्ख दर्शन के विद्वान् और ज्ञानी संप्रदाय के विचारक थे। आपके पूर्वज छिबा या छिब्बर नाम के मोहयाल ब्राह्मण थे। आपका जन्म अमृतसर में हुआ। आपके पिता श्रा देवासिंह निर्मला संतों के संपर्क में रहे। आपकी माता का नाम राजादेई (राजदेवी) था। आप रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी थे। अपनी पारिवारिक परंपराओं की अवमानना करके आपने रोहिल्ला परिवार में विवाह किया। आपके सुपुत्र अजयसिंह भी बड़े विद्वान् हुए।

भाई साहब ने ज्ञानी संतसिंह से काव्याध्ययन किया। तदनंतर संस्कृत की शिक्षा काशी में प्राप्त की। सन् १८२३ में आप पटियाला-नरेश महाराज कर्मसिंह के दरबारी कवि के रूप में पधारे। दो वर्ष बाद कैथल के रईस श्री उदयसिंह आपको अपने यहाँ लिवा ले आए। पटियाला की भाँति कैथल में भी आपका बड़ा संमान हुआ और वहाँ पर अनेक विद्वानों का सहयोग भी प्राप्त हुआ। आपकी निम्नोक्त रचनाएँ उपलब्ध हैं: (१) 'नामकोश' (सन् १८२१) 'अमरकोश' का भाषानुवाद है। (२) गुरु नानक प्रताप सूर्य अथवा गुरु नानक प्रकाश (सन् १८२३) में गुरु नानक देव का जीवनचरित् उल्लिखित है। (३) जपुजी : गरब गंजिनी टीका (सन् १८२९) गुरु नानक देव की रचना की टीका है जिसमें पूर्ववर्ती टीकाओं का खंडन मंडन भी है। लेखक स्वयं वेदांत और स्मृतियों का पोषक दिखाई पड़ता है। (४) आत्मपुराण का उलथा (रचनाकाल अज्ञात)। (५) वाल्मीकि रामायण (१८३४ ई०) वाल्मीकि के आधार पर रामचरित का स्वतंत्र ग्रंथ। (६) गुरु-प्रताप-सूर्य (सन् १८४३) दो खंडों में है। पहले भाग में आदि सिक्ख गुरु नानक देव का तथा दूसरे भाग में शेष नौ गुरुओं का जीवनचरित् उल्लिखित है। इसपर पौराणिक प्रभाव स्पष्ट है।

इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा का प्राधान्य है। यत्रतत्र संस्कृत, फारसी और पंजाबी शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। छंदों में दोहा, चौपाई का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है, यथास्थान त्रिभंगी, कबित्त और सवैये का भी उपयोग हुआ है।

सं० ग्रं० — कान्हसिंह : गुरुशब्द रत्नाकर : महान् कोश; भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला (द्वितीय संस्करण, सन् १९६०)। चंद्रकांत बाली : पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास (प्रथम संस्करण, सन् १९६२)। सत्यपाल गुप्त : पंजाब का हिंदी साहित्य (प्रथम संस्करण, सन् १९५१)। [न० क०]

संधि (Treaties) अंतरराष्ट्रीय संधियाँ देशों के बीच हुए वे समझौते हैं जिनका स्वरूप अनुबंध के समान होता है तथा जिनके अनुसार संबंधित पक्षों के प्रति कुछ में परस्पर विधिवत् अधिकार-कर्तव्य के दायित्व की सृष्टि होती है। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में संधियों का वह स्थान है जो देशीय क्षेत्र में विधिनियमों का होता है। यह वह साधन है जिनके द्वारा विभिन्न राज्य अपने अंतरराष्ट्रीय जीवन का व्यवहार संतुलित करते हैं। संधियाँ नाना प्रकार की होती हैं, जैसे संयुक्त राष्ट्रसंघ अधिकारपत्र रचना जिसके द्वारा अनेक देशों ने मिलकर अंतरराष्ट्रीय व्यवहार के मूल नियम नियोजित तथा घोषित किए; या किसी भू प्रदेश का एक देश द्वारा दूसरे देश को स्थानांतरण, जैसे अक्टूबर, १९५४ ई० में फ्रांस एवं भारत के मध्य 'समर्पण' संधि द्वारा हुआ अथवा कोई सामरिक संबंध स्थापना, जैसा 'उत्तरी अटलांटिक संधि' द्वारा हुआ या किसी देश विशेष के तटस्थ रूप की घोषणा, जैसे लंदन संधि १८३१ द्वारा बेल्जियम के संबंध में हुई। अंतरराष्ट्रीय भाषा में संधि के अनेक पर्यायवाची हैं जैसे 'कान्वेंशन' 'प्रोटोकोल', 'एग्रीमेंट', 'डिक्लेरेशन', 'जेनरेल ऐक्ट' इत्यादि।

संधि के नियमों के अनुसार संबंधित पक्ष आबद्ध हो जाते हैं। यह दायित्व आबद्धता ही संधि का उद्देश्य होता है।

कोई देश जब एक बार संधि में संमिलित हो जाता है तो वह उसके दायित्व बंधन से तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक संधि करनेवाले अन्य पक्षों से अनुमति न प्राप्त कर ले। संधि-अनुबंधनों की अपेक्षा किए बिना अंतरराष्ट्रीय जीवन नितांत अव्यवस्थित तथा विधिविहीन हो जाएगा। किंतु दुर्भाग्यवश बहुधा राज्य संधि-नियमों का उल्लंघन करते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यह राज्य संधि उल्लंघन का आरोप कभी स्वीकार नहीं करते। कभी वे कहते हैं कि उनके कार्य से संधिनियमों का हनन ही नहीं हुआ, कभी यह स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं कि वह संधि उनपर लागू ही नहीं होती थी, कभी यह स्वीकार कर लेते हैं कि आपत्काल में उन्होंने उल्लंघन किया। किसी भी प्रकार कोई अंतरराष्ट्रीय संस्था या समुदाय स्पष्टतया संधि की उपेक्षा स्वीकार नहीं करता, अतएव सिद्धांत रूप में संधिमान्यता सर्वथा स्वीकृत है।

संधि संबंध स्थापित करने के हेतु सर्वप्रथम एक प्रतिनिधि निश्चित करना आवश्यक होता है। इस प्रतिनिधि को जो राज्य नियुक्त करता है, वह उसे लिखित रूप में एक प्रतिनिधित्व 'अधिकारपत्र' प्रदान करता है जिसके अनुसार वह देश की ओर से संधि वार्ता करने का अधिकारी हो जाता है। इस अधिकारपत्र को अंतरराष्ट्रीय भाषा में 'संपूर्ण अधिकार' कहते हैं। अंतरदेशीय संधिवार्ता संबंधी अधिवेशन में सर्वप्रथम एक 'संपूर्ण अधिकार समिति' बनाई जाती है जो संमेलन में आए सब प्रतिनिधियों के 'संपूर्ण अधिकार' (प्रतिनिधित्व अधिकारपत्र) की जाँच करती है। तत्पश्चात् गोपनीय रूप से संधिवार्ता की बातों की चर्चा की जाती है। गोपनीयता सर्वथा वांछनीय है, जिससे संधि की अपरिपक्वावस्था का वादविवाद बाह्य जगत् में प्रचारित होकर संधि-स्थापन में हानिकर न हो। सब प्रतिनिधि इस संधिवार्ता की प्रत्येक अवस्था पर अपने राज्यों को सूचित करते रहते हैं तथा उनका परामर्श लेते रहते हैं। प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरों द्वारा संधिवार्ता का रूप पूर्ण हो जाता है। तत्पश्चात् प्रत्येक संबंधित राज्य के पौर विधान के अनुसार यदि आवश्यक हो तो यह संधिपत्र उस देश के राजकीय

पुष्टीकरण के लिये भेज दिया जाता है। सिद्धांततः राज्य के प्रधाना-ध्यक्ष अथवा सरकार द्वारा प्रतिनिधि के हस्ताक्षर का समर्थन ही पुष्टीकरण माना जाता है किंतु आधुनिक व्यवहारप्रणाली के अनुसार यह पुष्टीकरण बहुत महत्वपूर्ण हो गया है।

पुष्टीकरण की व्यवस्था इस कारण लाभकारी है कि इससे संबंधित पक्षों की सरकारों को संधिप्रस्ताव पर अंतिम पुनर्विचार का अवकाश तथा जनमत टटोलने का अवसर मिल जाता है। विश्व में जब राजतंत्रवाद की मान्यता थी, तब संधिप्रस्तावों का अनुमोदन स्वभावतया राजा द्वारा होता था। वर्तमान युग में भी इंग्लैंड तथा इटली में राजा, जापान में सम्राट्, फ्रांस, जर्मनी तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका में राष्ट्रपति के नाम पर संधिप्रस्ताव निर्मित एवं उनके द्वारा अनुमोदित होते हैं। पाश्चात्य जनतंत्रवादी संविधानों के अनुसार संधि पुष्टीकरण के लिये यह अनिवार्य है कि कार्यकारिणी के प्रधान की स्वीकृति के अतिरिक्त किसी रूप में विधायिनी सहमति भी प्राप्त की जाए। उदाहरणार्थ संयुक्त राष्ट्र अमरीका में संधि की पुष्टि तब होती है जब राष्ट्रपति की स्वीकृति तथा २/३ उपस्थित सेनेटरों की सहमति प्राप्त हो जाए। फ्रांस में सब संधिप्रस्तावों के विषय में नहीं किंतु कुछ विशेष महत्वपूर्ण संधियों की पुष्टि के लिये नियम है कि 'सेनेटरों एवं डेपुटीज' का बहुमत प्राप्त हो। ब्रिटेन में सिद्धांत रूप से सम्राट् को संधि-पुष्टीकरण में पार्लियामेंट की स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य नहीं है, किंतु व्यवहार में कुछ दूसरी ही प्रथा है। सारे महत्वपूर्ण संधिप्रस्ताव अनुमोदन के पूर्व 'हाउस ऑव कामंज' के समक्ष सहमति प्राप्त करने के लिये रख दिए जाते हैं। स्विटजरलैंड में कुछ विशेष संधिप्रस्ताव, पुष्टीकरण के पूर्व 'जनमत ग्रहण' के लिये सर्वसाधारण जनता के संमुख भी रखे जा सकते हैं। भारत की संवैधानिक प्रणाली के अनुसार संधिप्रस्ताव संसद् में केवल सूचनार्थ रख दिए जाते हैं, अन्य कोई क्रिया आवश्यक नहीं होती। एकशास्तृत्व के अंतर्गत पुष्टीकरण एकांगी रूप से कार्यकारिणी द्वारा संपन्न होता है।

पुष्टीकरण के पूर्व किसी भी संबंधित राज्य की कार्यपालिका या विधानमंडल कुछ संशोधन या संरक्षण उपांग प्रस्ताव में रख सकते हैं किंतु इनकी बाध्यता तब तक मान्य नहीं होती जब तक अन्य संबंधित पक्ष उन्हें स्वीकार न कर लें। इन संरक्षण उपांगों द्वारा पक्षविशेष प्रस्ताव के कुछ नियमों से अपने को मुक्त रख सकते हैं, अथवा किसी नियमविशेष को संशोधित रूप में या किसी विशेष अर्थ में मानकर भी संधि को स्वीकार कर सकते हैं।

पुष्टीकरण पूर्ण हो चुकने पर पक्षों में पुष्टीकरणपत्रों का परस्पर विनिमय होता है। जब संधि बहुपक्षीय होती है तो सब पुष्टीकरण-पत्र उस देश के वैदेशिक विभाग में रख दिए जाते हैं जहाँ संधि अधिवेशन की बैठक हुई हो। यदि संधि अंतर्राष्ट्रीय संघ के तत्वावधान में हुई हो तो सब पुष्टीकरणपत्र संघ के सचिवालय में रखे जाते हैं। संघ के घोषणापत्र के अनुसार यह अनिवार्य है कि संघ का कोई भी सदस्य जब कोई संधि करे तो संघ सचिवालय द्वारा उसका पंजीयन तथा प्रकाशन करवाए। इसका उद्देश्य केवल यही है कि राज्यों में परस्पर गुप्त समझौते न होने पाएँ। पुष्टीकरण विनिमय के उपरांत संधि पूर्णरूपेण प्रभावशील हो जाती है। साधारणतया जब तक कोई अन्य तिथि निश्चित न की गई हो, हस्ताक्षर तिथि से ही संधि लागू की जाती है। तदुपरांत अन्य राज्य भी संधि अंगीकार कर सकते हैं किंतु इसके लिये मूल संधिकारों की सहमति आवश्यक होती है।

अंतिम सीढ़ी है संधि का वस्तुतः कार्यान्वित न होना, जो विभिन्न राज्यों के पौर विधान (सिविल ला) से नियंत्रित होता है। इस विषय में संयुक्त राष्ट्र अमरीका में राष्ट्रपति की ओर से औपचारिक उद्घोषणा पर्याप्त होती है। इंग्लैंड तथा भारत में संसद् द्वारा संधियों का विधिवत् समाविष्ट होना अनिवार्य है।

संधि का समापन कई प्रकार से हो सकता है। प्रायः यह संधि के स्वरूप पर निर्भर करता है। निश्चित अवधि समाप्त हो जाने के कारण, संधि के नियमों की पूर्ति हो जाने पर, अथवा मूल पक्षों में से एक देश की विनष्टि के कारण, या किसी नवीन संधियोजना द्वारा जो पूर्वस्थित संधि को स्पष्ट रूप से अवक्रमित करती हो,—इन सभी अवस्थाओं में स्वभावतः संधि का समापन हो जाता है। वस्तुस्थिति में प्राणभूत परिवर्तन होना भी संधि की अमान्यता उत्पन्न कर सकता है, किंतु यह स्पष्ट नहीं कि इस प्रकार की अमान्यता केवल एक पक्ष के मत से सिद्ध हो सकती है अथवा नहीं। युद्ध की घोषणा होते ही स्वभावतः युध्यमान देशों की पारस्परिक समस्त राजनीतिक संधियों का समापन हो जाता है, अन्य सब प्रकार की संधियों की क्रियात्मकता युद्धकाल के लिये स्थगित कर दी जाती है तथा वे समझौते मान्य रह जाते हैं जो विशेषतया युद्धकालीन व्यवहार से संबंधित हों। इसके अतिरिक्त संधिकारों की पारस्परिक सहमति से भी किसी संधि का समापन हो सकता है। कोई एक पक्ष भी अन्य पक्षों को सूचित कर संधि अनुबंधन से विलग हो सकता है, इस स्थिति में केवल उस पक्ष की ओर से संधि समापन होता है, किंतु इस प्रकार का समापन तुरंत ही कार्यान्वित नहीं हो जाता। अन्य पक्षों को सामयिक सूचना के उपरांत कुछ निश्चित अवधि मिलती है जिसमें वह विभक्त पक्ष से व्यवहारसंतुलन व्यवस्थित कर सके, अन्यथा ऐसा आकस्मिक परिवर्तन समस्त संबंधित पक्षों के पूर्वनियोजित व्यवहारों को अवश्य ही अव्यवस्थित और असंतुलित कर दे।

यह स्पष्ट है कि वर्तमान अंतरराष्ट्रीय समाज इतना गतिमान है कि उसमें राजनीतिक संधियाँ कभी सततमान्य या अपरिवर्तनशील नहीं हो सकतीं। विश्वकुटुंब में राज्यरूपी इकाइयों का ऐसा स्वरूप है कि नित्य उनकी दलगत स्थितियाँ पारस्परिक लाभ हानि के दृष्टिकोण को लेकर बदलती रहती हैं। ऐसे परिवर्तनशील समाज में सततमान्य समझौते कैसे संभव हो सकते हैं? इसकी चेष्टा मात्र राजनीतिक वस्तुस्थिति तथा संधिनियमों में सदा संघर्ष उत्पन्न करेगी। अतएव समस्त संधियोजनाओं का सामयिक संशोधन नितांत आवश्यक है जिससे परिवर्तित राजनीतिक दशाओं और संधिनियमों में संतुलन बना रहे और कोई पक्ष अवैध रूप से इनका समापन अथवा उल्लंघन न करे। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य कर बहुधा संधियोजनाओं में संशोधन करने की अनुमति तथा प्रणाली भी दी जाती है। अधिकतर समस्त संधिकारों की सहमति से संशोधन किए जाने की प्रथा है, किंतु १९४५ ई० से एक नवीन प्रणाली आरंभ हुई है जिसके अनुसार यदि संशोधन अंतरराष्ट्रीय समाज के हित

में हो तो सर्वसंमति नहीं, केवल पक्षों के बहुमत से भी संशोधन क्रियात्मक हो सकता है।

अंतत: यह कहना अत्युक्ति नहीं कि वर्तमान संधियोजनाओं ने अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र की अनेक विरोधात्मक अभिरुचियों में शांतिपूर्ण संतुलन प्रस्तुत कर एक प्रकार का वैधानिक अनुशासन उत्पन्न कर दिया है। संधिनियमों द्वारा अनेक अंतरराष्ट्रीय विवादों का स्पष्टीकरण और समाधान हुआ है, तथा विश्व के समस्त राज्यों की सुरक्षा कुछ सीमा तक सुरक्षित हो गई है। जब तक अंतरराष्ट्रीय विधान परिषद् का स्वप्न विश्वसमाज में साकार नहीं हो जाता उस समय तक अंतरराष्ट्रीय संबंधों की सुव्यवस्था संधि द्वारा होना अनिवार्य एवं निश्चित है।

सं० ग्रं० :—(१) इंसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज (२) ओपेनहीम : इंटरनेशनल ला; (३) स्टार्क : इंटरनेशनल ला; (४) फेनविक : इंटरनेशनल ला। [सु० कु० प्र०]

संधिपाद प्राणी (Arthropoda) सखंड (segmented) शरीर और उपांगों (appendages) वाले अकशेरुकी जंतुओं को कहते हैं। ये प्राणी प्राणिजगत् में सबसे बड़ा संघ (phylum) बनाते हैं। लगभग सात लाख संधिपादों का अब तक वर्णन हो चुका है, जो संसार के समस्त वर्णित जंतुओं का ४/५ वाँ भाग हैं। वितरण में इनसे अधिक विस्तृत वितरण किसी अन्य जंतुसमूह का नहीं है। ये प्राणी मीठे और खारे पानी में, भूमि के ऊपर और नीचे, ध्रुवों पर, मरुस्थलों, गरम सोतों तथा पर्वतों पर पाए जाते हैं। पृथ्वी का शायद ही कोई स्थान ऐसा बचा हो, जहाँ ये प्राणी न पाए जाते हों। केकड़े की एक जाति, एथुसिना एबिसिकोला (Ethusina abyssicola), १४ हजार फुट समुद्र की गहराई से तथा मकड़ी की एक किस्म २२ हजार फुट की ऊँचाई के हिमालय पर्वत से प्राप्त की गई है। एफिड्रिड (ephydrid) मक्खी का लार्वा कैलिफॉर्निया की पेट्रोलियम की खान तक में रहता हुआ पाया गया है।

माप — माप में ये प्राणी सूक्ष्म से सूक्ष्म और काफी बड़े तक हो सकते हैं। परजीवी माइट (mite), डेमोडेक्स (Demodex), १/२५० इंच लंबा होता है। इसके विपरीत जापानी केकड़ा मैक्रोकाइरा (Macrocheira) के उपांग के फैलाव का विस्तार ११ फुट तक हो सकता है।

बाह्य रचना — इस संघ के सभी प्राणी द्विपार्श्व सममिति (bilateral symmetry) वाले होते हैं। शरीर का प्रत्येक खंड ऊपर और नीचे काइटिन (chitin) के प्लेट से ढँका होता है। उपांगों के जोड़े या तो शरीर के सभी खंडों में, जैसे मिरियापोडा (Myriapoda) में, अथवा केवल कुछ मध्यस्थ खंडों में, जैसे कीटवर्ग (Insecta) और कुछ ऐरेकनिडा (Arachnida) में, ही उपस्थित होते हैं। ये उपांग अनेक कार्यों, जैसे चलना, दौड़ना, तैरना, मिट्टी खादना, शिकार पकड़ना आदि, के लिये प्रयुक्त होते हैं।

आंतरिक रचना

आहारनली — साधारणतया आहारनली को तीन मुख्य भागों में विभाजित करते हैं : मुखपथ (stomodaeum), मध्यांत्र (mesenteron) तथा गुदपथ (proctodaeum)। मुखपथ को ग्रसनी (pharynx), ग्रसिका (oesophagus), अन्नपुट (crop) और बहुधा गिजर्ड (gizzard) जैसे भागों में विभक्त किया जाता है। मध्यांत्र, जो पाचन और अवशोषण का मुख्य केंद्र है, अविभाजित होता है। गुद पथ को अग्र भाग और पृष्ठ भाग में विभक्त किया जाता है। मध्यांत्र तथा गुदपथ के जोड़ पर बहुत सी महीन और लंबी मैलपीगी (malpighian) नलिकाएँ खुलती हैं, जो उत्सर्जक पदार्थ एकत्रित कर आहारनली के इस भाग में विसर्जन हेतु पहुँचाती हैं।

परिसंचरण तंत्र — कशेरुकी जंतुओं से संधिपाद प्राणियों का परिसंचरण संस्थान इस विशेष बात में भिन्न है कि इनमें रुधिर, नलिकाओं में न बहकर देहगुहा में, जिसे इसी कारण रुधिरगुहिका (haemocoel) कहते हैं, बहता है। फलस्वरूप सभी अंग रुधिर में डूबे रहते हैं। कुछ आद्य सदस्यों, जैसे पौरोपोडा (Pauropoda), में हृदय नहीं होता, परंतु अधिक विकसित सदस्यों में एक स्पंदमान, मांसल, पृष्ठीय (dorsal) नलिका होती है, जिसमें शरीर के प्रति खंड के लिये एक जोड़ा आस्य (ostia) होता है। इस संघ के कुछ सदस्यों, जैसे माइट (mite), में हृदय केवल कुछ ही शरीरखंडों तक जाता है, परंतु अन्य में वह काफी दूर तक फैला होता है और बहुधा महाधमनी (aorta) तथा पृष्ठीय, मांसल, स्पंदमान, छिद्रयुक्त हृदय में विभक्त हो जाता है। कशेरुकी प्राणियों के प्रतिकूल संधिपादों में रुधिर साधारणतया रंगहीन होता है।

श्वसन तंत्र — संधिपाद प्राणियों का श्वसन या तो देहभित्ति द्वारा, अथवा कुछ विशेष अंगों द्वारा, होता है। ये अंग जलीय संधिपादों में गिल (gill) तथा स्थलीय में श्वासनलियों (trachea) के रूप में होते हैं। गिल शरीर या उपांगों के पट्टिकासदृश या शाखित उद्वर्ध (outgrowth) होते हैं तथा श्वासनलियाँ देहभित्ति की अंतर्वृद्धि (ingrowth) से बनती हैं, और बाहर श्वासरंध्रों (spiracles) द्वारा खुलती हैं। हवा श्वासनलियों की असंख्य शाखाओं द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिकाओं तक पहुँच जाती है।

उत्सर्जन तंत्र — कुछ संधिपादों में नाइट्रोजनी उत्सर्जक पदार्थ क्रिस्टल के रूप में, शरीर में आजीवन एकत्रित रहते हैं, या निर्मोचन (moulting) के साथ निकल जाते हैं, परंतु अधिकांश में उत्सर्जन कुछ विशिष्ट अंगों द्वारा होता है।

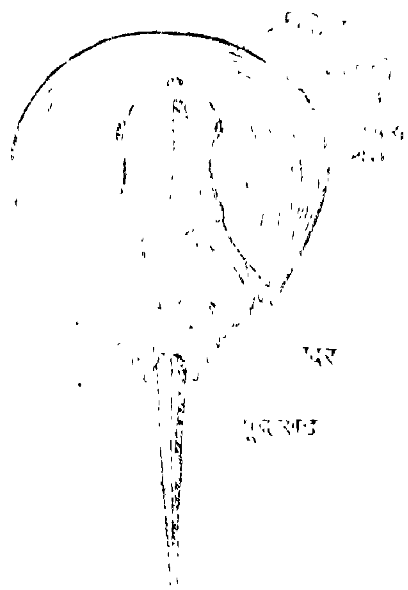
तंत्रिका तंत्र — संधिपाद का तंत्रिका तंत्र ऐनेलिडा (Annelida) से व्युत्पन्न माना जाता है। यहाँ भी यह संस्थान प्रत्येक खंड में एक गुच्छिका (ganglion) और उन्हें मिलानेवाले दो तंत्रिका तंतुओं (nerve cords) से मिलकर बनता है। संधिपादों में शरीर खंडों के संयुक्तीकरण के कारण उनकी गुच्छिकाएँ भी युक्त हो गई हैं। अग्रिम तीन गुच्छिकाओं के युक्त होने से मस्तिष्क बनता है तथा कीटों में जहाँ शरीर खंडों के और अधिक संयुक्तीकरण से वक्ष एवं उदर बने हैं, वहाँ बहुधा उनकी गुच्छिकाएँ भी आपस में जुड़ गई हैं।

वर्गीकरण

संधिपाद संघ को दो उपसंघों में विभक्त कर सकते हैं : (१) उपसंघ कीलिसरेटा तथा (२) उपसंघ मैंडिबुलेटा।

कोलिसरेटा (Chelicerata) — इस उपसंघ के प्राणियों के जबड़े कीलेट (Chelate) तथा द्वितीय शिरस्थ (cephalic) उपांगों द्वारा बनते हैं। प्रथम उपांग, या शृंगिका (antenna), अनुपस्थित होती हैं। इस उपसंघ को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है :

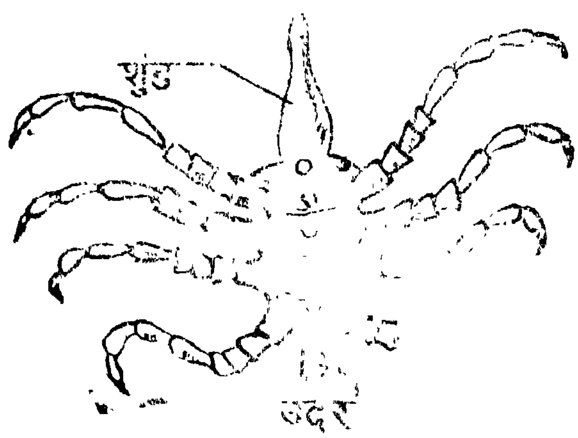
१. **जाइफोसुरा** (Xiphosura) — इस श्रेणी के प्राणी बृहत् समुद्री जंतु है, जिनमे सिर और वक्ष संयुक्त होकर शिरोवक्ष (cephalothorax) बनाते है, जो छह जोड़े उपांगों को धारण



चित्र १. किंग क्रैब (King Crab)

करता है। उदर के अंत मे एक लंबा कांटेदार पुच्छखंड होता है। इनमे श्वसनक्रिया पुस्तकगिलों (book gills) द्वारा होती है जैसे किंग क्रैब मे।

२ **पिक्नोगोनिडा** (Pycnogonida) — इस श्रेणी के प्राणी छोटे और औसत माप के समुद्री जंतु है, जिनमें शिरोवक्ष पंच-खंडित,



चित्र २. समुद्री मकड़ी (Pycnogonum)

उदर सूक्ष्म (अति घटित), जननछिद्र जोड़ों मे तथा श्वसन और उत्सर्जन अंग अनुपस्थित होते हैं, जैसे समुद्री मकड़ी (Pycnogonum) में।

३. **ऐरेक्निडा** (Arachnida) — सूक्ष्म से लेकर औसत माप के जंतु है जिनमें शिरोवक्ष चार जोड़े उपांग धारण करता है। श्वसन पुस्तक गिल (book lung) अथवा श्वासनली द्वारा होता है, जैसे बिच्छू, मकड़ी, किलनी आदि मे।

मैंडिबुलेटा (Mandibulata) — इस उपसंघ के प्राणियों के जबड़े मैंडिबुलाकार (mandibulate) होते हैं तथा तृतीय शिरस्थ उपांगों द्वारा बनते हैं। प्रथम उपांग शृंगिका (antenna) बनाते हैं। इस उपसंघ के निम्नलिखित दो खंड हैं :

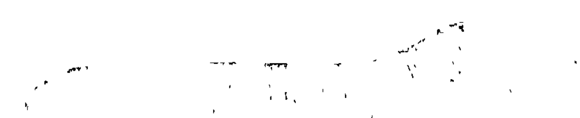
खंड-अ — इसमे उपांग द्विशाखी (biramous), शृंगिका दो जोड़ी तथा श्वसन मुख्यत. गिल द्वारा (अर्थात् जलीय) होता है। इसके अंतर्गत केवल निम्नलिखित एक श्रेणी आती है :

श्रेणी क्रस्टेशिया (Crustacea) — इस श्रेणी के प्राणी छोटे से लेकर मध्य माप के जंतु होते हैं, जिनमे सिर और वक्ष युक्त होकर शिरोवक्ष बनाते है। कुछ सदस्य प्रौढ़ अवस्था मे अपभ्रष्ट परजीवी (parasite) का रूप ले लेते है।

खंड-ब — इसमे उपांग अशाखित, शृंगिका एक जोड़ी तथा श्वसन मुख्यत. श्वसननलिकाओं द्वारा होता है। इस खंड के निम्नलिखित तीन उपखंड किए गए है :

१. **प्रोगोनिएटा** (Progoneata) — इस खंड के प्राणियों के जननछिद्र शरीर के अग्रिम तीसरे या चौथे खंड पर स्थित होते है। इस उपखंड को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है :

१. **डिप्लोपोडा** (Diplopoda) — इस श्रेणी के प्राणी औसत से बड़ी माप के जंतु होते है, जैसे सहस्रपाद, जिनमे शृंगिका लंबी और अशाखी (unbranched), धड़ के खंड दोहरे तथा दो जोड़े



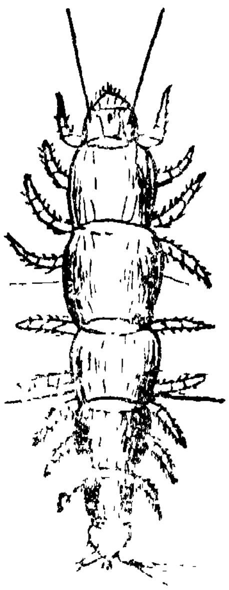
चित्र ३. सहस्रपाद (Julus)

उपांग रहते है, पर हृदय और श्वासनलिका अनुपस्थित रहती है।

२ **पौरोपोडा** (Pauropoda) — इस श्रेणी के प्राणी सूक्ष्म जंतु हैं, जैसे पौरोपस, जिनमे शृंगिका लघु तथा सशाख (branched), धड़खंड दोहरे तथा ९-१० जोड़े उपांग होते है, पर हृदय और श्वासनली अनुपस्थित होती है।

३. **सिफाइला** (Symphyla) — इस श्रेणी के प्राणी छोटे जंतु होते है। इनमे शृंगिका लंबी और तंतुरूप, धड़ मे १२ या

अधिक खंड, जिनमें साधारणतया १२ जोड़े उपांग होते हैं, तथा लूम (cerci) में रेशम ग्रंथि की नलिकाएँ उपस्थित होती हैं।

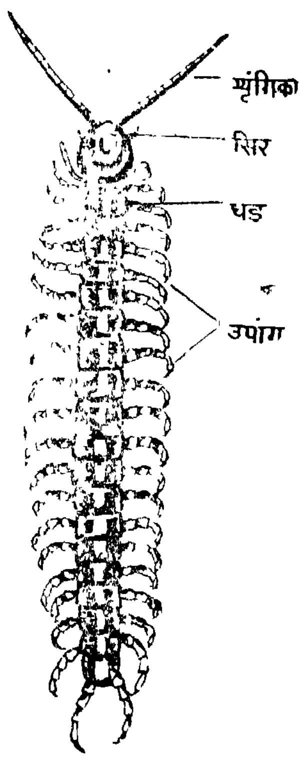


चित्र ४. पॉरोपस (Pauropus)

२. ओपिस्थोगोनिएटा (Opisthogoneata) — इस उपखंड के प्राणियों मे जननछिद्र शरीर के पृष्ठभाग मे, १४ खडों के पीछे, तथा एक नखर (claw) होता है। इसके अंतर्गत केवल निम्नलिखित एक श्रेणी आती है :

काइलोपोडा (Chilopoda) — इस श्रेणी के प्राणी औसत से लेकर बड़े माप के संधिपाद होते हैं, जिनका शरीर केवल सिर और धड़ में विभक्त किया जा सकता है। धड़ कई खंडों से मिलकर बनता है और प्रत्येक खंड में केवल एक ही जोडा उपाग होता है। प्रथम जोड़ा उपाग से विषदंत (fang) बनता तथा लूम अनुपस्थित होते हैं, जैसे स्कोलोपेंड्रा (Scolopendra) मे।

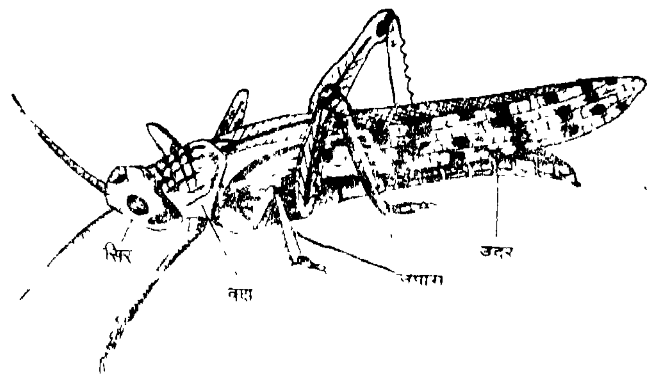
३. हेटरोगोनिएटा (Heterogoneata) — इस उपखंड के प्राणियों म जननछिद्र ८, १०, १३ या १४ वे खंड पर तथा दो नखर



चित्र ५. स्कोलोपेंड्रा या शतपाद (Scolopendra)

होते हैं। इसके अंतर्गत भी केवल निम्नलिखित एक ही श्रेणी है :

कीट (Insecta) — इस श्रेणी के प्राणी छोटे से, औसत माप के जंतु हैं। इनका शरीर तीन भागों में विभक्त होता है : सिर, वक्ष और उदर। वक्ष तीन जोड़े उपांग धारण करता है।



चित्र ६. टिड्डी (Locusta)

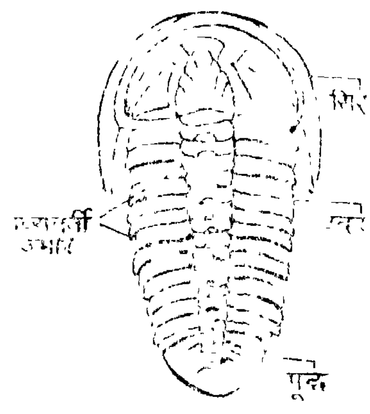
अतएव इन संधिपादों को षट्पाद भी कहते है। इस श्रेणी के सदस्य (जैसे टिड्डी), सख्या, अनुकूलनों, एवं विविधताओं में अन्य सभी संधिपाद श्रेणियों से अधिक विकसित होते हैं।

लुप्त और संबंधित समूह

लुप्त समूह — इन समूहों को अब केवल जीवाश्म (fossils) द्वारा ही जाना जाता है। इस समूह को निम्नलिखित दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है :

१ यूरिप्टरिडा (Eurypterida) — इस श्रेणी के प्राणी, ऐरेक्निडा संबंधी जंतु थे, जो साइलूरियन (Silurian) से लेकर कार्बनीफरस (Carboniferous) में पाए जाते थे। इनका शिरोवक्ष छोटा तथा धड़ १३ खडों का होता था। अंतिम खंड को पुच्छखंड (telson) कहते है। छह जोडे उपांगों में अंतिम जोड़ा पतवार के रूप में होता था, जिससे इनकी जलीय प्रकृति का पता चलता है, जैसे टेरीगोटस (Pterygotus)।

२. ट्राइलोबाइटा (Trilobita) — इस श्रेणी के प्राणी क्रस्टेशिया संबंधी संधिपाद थे, जो मुख्यत: कैंब्रियन (Cambrian)



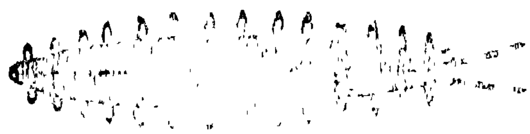
चित्र ७. कोनोसेफैलाइटिस (Conocephalitis)

और आर्डोविशन (Ordovician) युगों मे पाए जाते थे। इनका

शरीर तीन भागों में विभक्त होता था : अखंडित ढालाकार सिर, खंडित धड़ तथा अखंडित पुच्छ (pygidium)। क्रस्टेशिया के विपरीत इनमें केवल एक ही जोड़ा शृंगिका होती थी तथा अन्य सभी उपांग द्विशाखी होते थे, जैसे कोनोसेफैलाइटिस (Conocephalitis)।

संबंधित समूह — इस समूह के अंतर्गत ऐसे सदस्य आते हैं जिनको संधिपाद कहना विवादास्पद है, क्योंकि इनमें कुछ ऐसे गुण होते हैं जो अन्य किसी संधिपाद में नहीं मिलते। इस समूह को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है :

१. ओनिकोफोरा (Onchophora) — इस श्रेणी के प्राणी रेंगनेवाले जंतुओं की भाँति मुलायम शरीरवाले तथा अँधेरे और नम स्थानों में (जैसे वृक्ष की छाल, सड़ते तनों के कुंदों, या पत्थरों के नीचे) रहनेवाले जंतु होते हैं। यद्यपि इनके शरीर को सिर और धड़



चित्र ८. पेरिपेटस (Peripatus

में विभक्त कर सकते हैं, फिर भी सिर कुछ अनिश्चित सा होता है और केवल प्रायः तीन जोड़े उपांगों द्वारा ही पहचाना जा सकता है।

धड़ पर कई जोड़े अखंडित उपांग उपस्थित होते हैं। श्वसन श्वासनली द्वारा होता है, पर श्वासरंध्र अन्य संधिपादों के प्रतिकूल छितरे होते हैं। अपने मिश्रित गुणों के कारण इन्हें ऐनेलिडा संघ और संधिपाद संघ के बीच जोड़नेवाली कड़ी माना जाता है, जैसे पेरिपटस (Peripatus)।

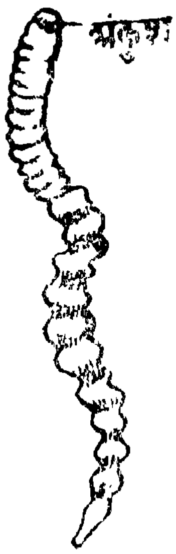
२. टार्डिग्रेडा (Tardigrada) — इस श्रेणी के प्राणी अत्यंत सूक्ष्म (१ मिमी० लंबे) जंतु हैं, जो दलदल की काई, अथवा घरों की बंद नालियों की छतों, पर पाए जाते हैं। कुछ अलवण जल और कुछ समुद्र में भी मिलते हैं। शरीर अखंडित तथा रेंगनेवाले कीड़ों की भाँति मुलायम होता है। चार जोड़े अत्यंत छोटे ठूँठ जैसे नखर-



चित्र ९. मैक्रोबायोटस (Macrobiotus)

युक्त उपांग, अपनी स्थिति के कारण, इन सूक्ष्म जंतुओं को चौपाया जैसा बना देते हैं। इसमें इन्हें पानी का रीछ भी कहा जाता है, जैसे मैक्रोबायोटस (Macrobiotus)।

३. पेंटास्टोमिडा (Pentastomida) — इस श्रेणी के प्राणी निकृष्ट परजीवी जंतु होते हैं, जो मांसाहारी जंतुओं (जैसे कुत्ते, भेड़िए, शेर आदि) के घ्राण स्थानों में पाए जाते हैं। शरीर कुछ



चित्र १०. आर्मिलिफर (Armillifer)

लंबाकार उपचर्मित होता है। मुख उपांगों में केवल दो जोड़े अंकुश उपस्थित होते हैं। हृदय, श्वासनली तथा ज्ञानेंद्रियाँ अनुपस्थित होती हैं, जैसे आर्मिलिफर (Armillifer) में। [कृ० प्र० श्री०]

संधियाँ और स्नायु (Joints and Ligaments) जहाँ दो अस्थियाँ एक दूसरे से मिलती हैं, वे स्थान संधि कहलाते हैं, जैसे कंधे, कुहनी या कूल्हे की संधि।

शरीर में विशेषकर तीन प्रकार की संधियाँ पाई जाती हैं : १. अचल संधि, २. अर्धचल संधि तथा ३. चल संधि।

(१) अचल संधियों में अस्थियों के संधिपृष्ठों का संयोग हो जाता है। दोनों अस्थियों के बीच कुछ भी अंतर नहीं होता। इस कारण अस्थियों के संगम स्थान पर किसी प्रकार की गति नहीं हो पाती। दोनों अस्थियाँ तंतु ऊतक द्वारा आपस में जुड़ी रहती हैं। इन संधियों में तीन श्रेणियाँ पाई जाती हैं : (क) सीवनी (सूचर्स, Sutures) में अस्थियाँ अपने कोरों द्वारा आपस में मिली रहती हैं। यह केवल कपालास्थियों में पाया जाता है, (ख) दंतमूलसंधि (Gomphosis) में एक अस्थि का नुकीला भाग दूसरी अस्थि के भीतर प्रविष्ट रहता है, जैसे हनु में लगे दाँत; (ग) तांतव संधि (Syndesmosis) में अस्थियों के पृष्ठ अस्थ्यांतरिक स्नायु के द्वारा आपस में जुड़े रहते हैं।

(२) अर्धचल संधि में अस्थियों के बीच में उपास्थि (cartilage) रहती है तथा गति कम होती है। इस श्रेणी में दो भेद पाए जाते हैं : (क) उपास्थि संधि (Synchondrosis) में उपास्थि कुछ समय के बाद अस्थि में परिणत हो जाती है और अस्थियों के सिरे एक दूसरे के साथ पूर्णतया जुड़ जाते हैं। पश्चात्कपाल के तलभाग के बीच में इसी प्रकार की संधि होती है। इन संधियों में कुछ भी गति नहीं होती। (ख) तंतूपास्थि संधि (symph-

ysis) में अस्थियों के सिरों के बीच में रहनेवाली उपास्थि का शोषण नहीं होता। यह उपास्थि दोनों अस्थियों को एक दूसरे से मिलाए रहती है। उपास्थि के अतिरिक्त कुछ स्नायुएँ भी अस्थियों को जोड़े रहती हैं। इसी कारण इन संधियों में कुछ गति होती है। कशेरुकों के बीच की संधि इसी प्रकार की है।

(३) चल संधियों की गति अबाध होती है। इनमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं: (क) इन संधियों में गतियों की बहुरूपता, जिससे सब दिशाओं, दो दिशाओं, एक दिशा, या केवल अक्षों पर ही गति होती है; (ख) संधि के भीतर स्थित अस्थियों का एक दूसरे से प्रत्यक्ष संपर्क नहीं होता; (ग) संधि एक कोशिका द्वारा पूर्णतया आच्छादित रहती है, जिसमें दो स्तर होते हैं: (१) तंतु स्तर (fibrous layer) तथा (२) स्नेहक स्तर (Synovial layer); (घ) स्नेहक स्तर संधि को भीतर से पूर्णतया ढके रहता है। केवल उपास्थियुक्त अस्थियों के सिरे को स्वतंत्र छोड़ देता है; (ङ) संधि के भीतर विवर (cavity) होता है, जो तंतु उपास्थि के एक गोल टुकड़े से पूर्णतया, अथवा अपूर्णतया, दो भागों में विभक्त रहता है, (च) कोशिका के बाहर स्नायु उपस्थित रहती हैं, जो संधि को दृढ़ बनाती है। संधियों में स्थित अर्ध एवं पूर्णचंद्राकार तंतूपास्थि से अस्थियों की धक्के से रक्षा होती है और यह दोनों अस्थियों के सिरों को आपस की रगड़ से बचाती है।

चल संधियों के भेद — १. कोर संधि (Gingliums) के सधायक पृष्ठ एक दूसरे के अनुकूल ऐसे बन जाते हैं कि अस्थियाँ केवल एक ही अक्ष पर गति कर सकती हैं, जैसे कुहनी की संधि; २. विवर्तिका संधि (Pivot joint) में एक अस्थि कुंडल की भाँति बन जाती है और दूसरी किवाड़ की चूल की भाँति उसके भीतर बैठकर घूमती है, जैसे प्रकोष्ठिकांतर संधि (Radio-ulnar joint); ३, स्थूलकाय संधि (Condyloid joint) में एक लंबा सा गढ़ा बन जाता है और दूसरी अस्थि उन्नतोदर और लंबोतरी सी हो जाती है। यह भाग पहली अस्थि के गढ़े में रहता है और अस्थियाँ स्नायुओं द्वारा आपस में बँधी रहती हैं, जैसे मणिबंध अर्थात् कलाई की संधि। इनमें आकुंचन (flexion), विस्तार (extension), अभिवर्तन (adduction), अपवर्तन (abduction), पर्यावर्तन (circumduction) इत्यादि क्रियाएँ होती हैं। ४ पर्याण संधि (saddle joint) में एक अस्थि का आकार जीन के समान होता है। यह एक दिशा में अवतल और दूसरी दिशा में उत्तल हो जाती है, जैसे अँगूठे की मणिबंध करभ (cartometacarpal) संधि; ५ उलूखल संधि (Ball and Socket joint) में एक अस्थि में गढ़ा बन जाता है। दूसरी अस्थि का एक प्रांत कुछ गोल पिंड का रूप धारण करके इस गढ़ में स्थित हो जाता है। संधिविवर तथा स्नायु द्वारा संधि दृढ़ हो जाती है, जिससे संधि की प्रत्येक दिशा में गति हो सकती है और स्वयं अपने अक्ष पर घूम सकती है। स्कंध संधि और नितंब संधि इसके उदाहरण हैं।

सरल संधि (Plain Joint) — इसके पृष्ठ इस प्रकार ढले होते हैं और स्नायु इत्यादि की स्थिति ऐसी होती है कि अस्थियाँ इधर उधर कुछ ही सरक सकती हैं, जैसे कशेरुका संधि।

संधि की रचना — संधियों का प्रयोजन गति है। इसलिये इनकी रचना भी इस प्रकार की है कि अस्थियाँ गति कर सकें और साथ ही अपने स्थान से च्युत भी न हों। प्रत्येक संधि पर एक तंतुक या स्नायविक कोशिका चढ़ा रहती है, जो संपूर्ण संधियों का ढकती हुई संधि में भाग लेनेवाली अस्थियों के सिरों पर लगी रहती है। इस तंतुस्तर के विशेष भागों का विशेष विकास हो जाता है और वे अधिक दृढ़ हो जाते हैं। इन भागों को स्नायु कहते हैं, जो भिन्न भिन्न संधियों में भिन्न भिन्न संख्या में होती है।

तंतुस्तर के भीतर स्नेहकस्तर होता है, जो अस्थियों के ऊपर तक पहुँचकर उन्हें ढक लेता है। जिन संधियों के भीतर सधायक चक्रिका (articular disc) रहती है, वहाँ स्नेहक स्तर की एक परत सधायक चक्रिका के ऊपर भी फैली होती है, जिससे स्नेहक स्तर तथा सधायक चक्रिका के बीच में, स्नेहक कला की खाली में, स्नेहक द्रव्य उपस्थित हो जाता है। यह स्नेहक द्रव्य संधिस्थित अस्थि के भागों को चिकना रखता है और उनको रगड़ से बचाता है।

स्नायु — तंतुमय ऊतक के समांतर सूत्रों के लंबे पट्ट होते हैं। इनसे दो अस्थियों के दोनों सिरे जुड़ते हैं। इनके भी दोनों सिरे दो अस्थियों के अविस्तारी भागों पर लगे रहते हैं। ये स्नायु संधियों के दृढ़ निर्माण के हेतु आपस में बँधी रहती हैं। कुछ स्नायु कोशिका के बाहर स्थित रहती हैं और कुछ भीतर। भीतरी स्नायु की संख्या कम होती है।

श्लेष्मल आवरण (Mucous sheath) — यह पेशियों की स्नायुओं (ligaments) पर चढ़ा रहता है। इन आवरणों की दो परतों के बीच एक द्रव होता है, जो विशेषकर उन स्थानों पर पाया जाता है, जहाँ स्नायु अस्थि के संपर्क में आती है। इससे संधि के कार्य के काल में स्नायुओं में कोई क्षति नहीं होने पाती।

स्नेहपुटी (Bursa) — यह भिन्न आकार की झिल्ली होती है, जिसकी स्नेहक कला (synovial membrane) की कोशिका में गाढ़ा स्निग्ध द्रव्य भरा रहता है। यह उन अस्थियों के पृष्ठों के बीच अधिक रहती है, जो एक दूसरे पर रगड़ खाती हैं, या जिन संधियों में केवल सरकने की क्रिया होती है।

संधियों में होनेवाली गतियाँ — प्रत्येक चल संधि में मांसपेशियों की सिकुड़न और प्रसार से निम्नलिखित क्रियाएँ होती हैं: (१) आकुंचन, (२) विस्तार, (३) अभिवर्तन, (४) अपवर्तन, (५) पर्यावर्तन, (६) परिभ्रमण (rotation), एवं (७) विसर्पण (gliding) [प्र० कु० चो०]

संधिशोथ

(Arthritis) संधियों में जब सूजन हो जाती है तब उसे संधिशोथ कहते हैं। संधिशोथ दो प्रकार के होते हैं: (१) तीव्र संक्रामक (acute infective) संधिशोथ, (२) जीर्ण संक्रामक (chronic infective) संधिशोथ।

(१) **तीव्र संक्रामक संधिशोथ** — किसी भी तीव्र संक्रमण के समय यह शोथ हो सकता है। निम्नलिखित प्रकार के संक्रामक संधिशोथ अधिक व्यापक हैं: (क) तीव्र आमवातिक (rheumatic) ज्वर, (ख) तीव्र स्ट्रेप्टोकोकेल (streptococcal) संधिशोथ, (ग) तीव्र स्टैफिलोकोकेल (staphylococcal) संधिशोथ, (घ)

गॉनोकॉकेल (gonococcal) संधिशोथ, (ङ) लोहित ज्वर (scarlet fever), प्रवाहिका (dysentry) अथवा टाइफाइड युक्त संधिशोथ तथा (च) सारमरोग (serum sickness)।

जीर्ण संक्रामक संधिशोथ — यह शोथ प्रायः शरीर के अनेक अंगों पर होता है। पाइरिया (pyorrhoea), जीर्ण उंडुक शोथ (appendicitis), जीर्ण पित्ताशय शोथ (cholecystitis), जीर्ण वायुकोटर शोथ (sinusitis), जीर्ण टांसिल शोथ (tonsillitis), जीर्ण ग्रसनी शोथ (pharyngitis) इत्यादि।

संधिशोथ में रोगी को आक्रांत संधि में असह्य पीड़ा होती है, नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है, ज्वर होता है, वेगानुसार संधिशूल में भी परिवर्तन होता रहता है। रोगी इसकी उग्रावस्था में एक ही आसन पर स्थित रहता है, स्थानपरिवर्तन तथा आक्रांत भाग को छूने में भी बहुत कष्ट का अनुभव होता है। यदि सामयिक उपचार न हुआ, तो रोगी सदा लुंज होकर रह जाता है। संधिशोथ प्रायः उन व्यक्तियों में अधिक होता है जिनमें रोगरोधी क्षमता बहुत कम होती है। स्त्री पुरुष दोनों को ही समान रूप से यह रोग आक्रांत करता है।

उपचार — संधिशोथ के कारणों को दूर करने तथा संधि की स्थानीय अवस्था ठीक करने के लिये चिकित्सा की जाती है। इसके अतिरिक्त रोगी के लिये पूर्ण शारीरिक और मानसिक विश्राम, पौष्टिक आहार का सेवन, धूप सेवन, हलकी मालिश तथा भौतिक चिकित्सा करना अत्यंत आवश्यक है। [प्रि० कु० चौ०]

संध्या (वैदिक) दिन और रात्रि के, रात्रि और दिन के तथा पूर्वाह्ल और अपराह्ल के संधिकाल में एकाग्रचित्त होकर जो उपासना की जाती है, उसे संध्या कहते हैं। अथवा उपर्युक्त संधिकाल में विहित उपासना में किए जानेवाले कार्यकलाप को भी संध्या कहते हैं। इस प्रकार सायंकाल, प्रातःकाल और मध्याह्नकाल में यह उपासना की जाती है। इन्हीं नामों से तीन संध्याएँ प्रचलित हैं। सूर्यास्त के समय से नक्षत्रोदय पर्यंत सायंकाल की संध्या का, अरुणोदय से सूर्योदय पर्यंत प्रातःकाल की संध्या का और पूर्वाह्ल और अपराह्ल के संधिकाल में मध्याह्नकाल की संध्या का समय प्रशस्त है।

वैदिक निर्णय के अनुसार यह उपासना प्रति दिन करनी चाहिए। द्विजमात्र को इस उपासना का अधिकार है। इस अनुष्ठान से अनजान में भी किए गए पाप का नाश होता है। उपर्युक्त किसी तरह का पाप यदि दिन में विहित हो तो सायंकाल की संध्या से दूर होता है। प्रत्येक वेद की संध्या का विधान विभिन्न गृह्यसूत्रों द्वारा प्रतिपादित है। इस अनुष्ठान के द्वारा दिव्यज्योति, सूर्य या ब्रह्म की उपासना की जाती है। इसका प्रारंभ करने में पूर्व उषःकाल में निद्रा का विसर्जन कर उठ बैठना चाहिए। सर्वप्रथम अपने इष्टदेव का स्मरण और वंदन करना चाहिए। अनंतर दैनिक दैहिक कृत्य से निवृत्त होकर सविधि स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण करे। पवित्र आसन पर बैठकर तिलक लगावे और शिखाबंधन करे। सायंकाल की संध्या पश्चिम दिशा की ओर और प्रातःकाल, मध्याह्नकाल की संध्या पूर्व दिशा की ओर मुख करके करना चाहिए। जिस दिन यज्ञोपवीत होता है उसी दिन से इसका अनुष्ठान प्रारंभ होता है। यह उपासना प्रति दिन और यावज्जीवन अनुष्ठेय है।

इस संध्या की उपासना के प्रकरण में इसके आठ अंग महत्वपूर्ण बतलाए गए हैं। उनके नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं — प्राणायाम, मंत्र आचमन, मार्जन, अघमर्षण, सूर्यार्घ, सूर्योपस्थान, गायत्रीजप और विसर्जन। प्राणायाम एक प्रकार का श्वास का व्यायाम है। इसके तीन अंग बतलाए हैं — पूरक, कुंभक और रेचक। पूरक करते समय दाहिने हाथ की दो अँगुलियों से नाक के बाएँ छिद्र को बंद करके दाहिने छिद्र से धीरे धीरे श्वास खींचना चाहिए। गायत्री मंत्र का जप करते रहना चाहिए। साथ ही अपने नाभिप्रदेश में ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। कुंभक करने के समय दाहिने हाथ की दो अँगुलियों से नाक के बाएँ छिद्र को और हाथ के अँगूठे से नाक के दाहिने छिद्र को बंद करके पूरक द्वारा भरे हुए श्वास को अपने शरीर में रोकना चाहिए। साथ साथ अपने हृदयप्रदेश में विष्णु का ध्यान करना चाहिए। रेचक करने में दाहिने हाथ के अँगूठे से नाक के दाहिने छिद्र को बंद करके बाएँ छिद्र से रोके हुए श्वास को धीरे धीरे अपने शरीर में से बाहर निकालना चाहिए। साथ ही अपने मस्तकप्रदेश में शंकर का ध्यान करना चाहिए। इन तीनों ही क्रियाओं को करते हुए एक बार, कुंभक करते हुए चार बार और रेचक करते हुए दो बार मंत्र का आवर्तन करना चाहिए। इस प्रकार किया हुआ कृत्य प्राणायाम कहा जाता है। प्राणायाम करने से शरीर के भीतरी अंगों की शुद्धि तथा पुष्टि होती है। बुद्धि निर्मल होकर शांति मिलती है। इसको करनेवाले सभी प्रकार के रोगों से मुक्त रहते हैं। प्राचीन काल में ऋषि लोग इसी प्राणायाम के सेवन से अनेकविध अलौकिक कार्यों को करने में समर्थ होते थे। मंत्र आचमन — दाहिने हाथ की हथेली में जल लेकर मंत्र का पाठ करके हथेली का जल पीना मंत्र आचमन है। इस मंत्र का तात्पर्य यह है कि मैंने मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और जननेंद्रिय के द्वारा जो कुछ पाप किया हो वह सकल पाप नष्ट हो। जल में गंदगी दूर करने की स्वाभाविक शक्ति है। इसमें सकल प्रकार की औषधियों का जीवन निहित है। अन्न के लिये यही प्राण है। इससे विद्युत् की उत्पत्ति देखी जाती है। दुर्भावना, दुर्वासना एवं हर प्रकार के पाप को यह दूर करता है। इसी उद्देश्य से यहाँ पर मंत्र विहित है। मार्जन — जिस क्रिया में वैदिक मंत्रों का पाठ करते हुए शारीरिक अंगों पर जल छिड़का जाता है उसे मार्जन कहते हैं। मार्जन करने से शारीरिक अंगों की शुद्धि होती है। अघमर्षण — इसके द्वारा मानव शरीर में विद्यमान दूषित वासनारूपी पापपुरुष को शरीर से पृथक् करना है। इसका विधान इस प्रकार है — दाहिने हाथ की हथेली में जल लेकर वैदिक मंत्रों का पाठ करते हुए जलपूर्ण दाहिने हाथ को नाक के निकट ले जाना चाहिए। इसके साथ ही यह ध्यान करना चाहिए कि नाक के दक्षिण छिद्र से निकलकर पापपुरुष ने हथेली के जल में प्रवेश किया। इसके अनंतर हाथ का जल अपनी बाईं ओर भूमि पर फेंक देना चाहिए। इस क्रिया का लक्ष्य अपने शरीर से पापपुरुष को बाहर निकालकर मन को पवित्र करना और अपने को उपासना करने के योग्य बनाना है। इस विधान

का विस्तार 'भूत शुद्धि' प्रकरण में देखना चाहिए। सूर्यार्घ — इस क्रिया के द्वारा अंजलि में जल लेकर गायत्री मंत्र का पाठ करते हुए खड़े होकर सूर्य को अर्घ दिया जाता है। यह अर्घ तीन बार देना आवश्यक है। यदि संध्या की उपासना का समय बीत चुका हो और यह उपासना विलंब से की जा रही हो तो प्रायश्चित्त के रूप में एक अर्घ अधिक देना चाहिए। किसी विशिष्ट व्यक्ति के आगमन के उपलक्ष में अर्घ देने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आती है। इसका मूल यही सूर्यार्घ है। 'सूर्योपस्थान' — इस क्रिया मे वैदिक मंत्रों का पाठ करते हुए खड़े होकर सूर्य का उपस्थान किया जाता है। प्रातःकाल की सूर्य की किरणें मानव शरीर मे प्रविष्ट होकर मानव को स्फूर्ति तथा आरोग्य प्रदान करती हैं। इन किरणों मे अनेक रोग दूर करने की शक्ति विद्यमान है। विशेषकर हृदयरोग के लिये ये अत्यंत लाभ करनेवाली सिद्ध हुई है। इस समय विद्यमान सूर्यकिरण-चिकित्सा का यही मूल स्रोत है। गायत्रीजप — किसी मंत्र के निरंतर आवर्तन को जप कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों से जप तीन प्रकार का कहा गया है। इनमे मानसिक जप उत्तम कहा है। जप करते हुए मन को एकाग्र और शरीर को निश्चल रखना आवश्यक है। जप करते समय मंत्र की देवता का ध्यान करते रहने से देवता के साथ उपासक की तन्मयता हो जाती है। जप के अनंतर सूर्य देवता को जप का समर्पण करना चाहिए। अंत में अपनी उपासना के निमित्त आवाहित देवता का विसर्जन करना चाहिए। इस प्रकार की हुई उपासना को सर्वव्यापी ब्रह्म को अर्पित कर देना चाहिए। इस विधान के अनुसार निरंतर उपासना करते रहने से मानव अपने शरीर में उत्पन्न होनेवाले समस्त रोगो से दूर रहता है, समस्त सुख प्राप्त करता है और अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति करता है। [म० ला० द्वि०]

संपत्ति पूर्वी तथा पश्चिमी समाजों द्वारा संपत्ति का प्रयोग सामाजिक संगठन तथा सामाजिक रहन सहन के लिये एक अत्यावश्यक वस्तु के रूप में होता रहा है। संपत्ति शब्द का आशय, इससे संबंधित अन्य विचारों से, जिन्हें 'वस्तु' या 'रेस' (res), 'डोमस' (Domus) तथा 'स्वामी' (प्रोप्रायटर) आदि शब्दों से व्यक्त किया गया, विकसित हुआ।

भाषाविज्ञान के अनुसार संपत्ति शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन क्रियाविशेषण 'प्राप्टर' (propter) से हुई है। इसका विकास 'प्रोप्राइटेस' नामक शब्द से हुआ। प्रोप्राइटेस शब्द रोमन विधिज्ञों द्वारा बौद्धिक स्तर पर प्रयोग में लाया जाने लगा तथा फ्रांस की बोलचाल की भाषा में इसका व्यवहार होने लगा। धीरे धीरे संपत्ति शब्द का उपयोग भूमि, धन तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं के लिये होने लगा।

'संपत्ति' के अभिप्राय का विकास — 'संपत्ति' शब्द का अर्थ तब निश्चित हुआ जब इस शब्द का प्रयोग एक परिवार और उसके सदस्यों से संबंधित वस्तुओं का संबंध व्यक्त करने के लिये किया जाने लगा। बाद में सामाजिक परिस्थितियों द्वारा व्यक्तियों की वस्तुओं के अभिग्रहण और सरक्षण की प्रवृत्ति को मान्यता प्राप्त हुई तथा उसके मूल का औचित्य और आवश्यकता देखते हुए संपत्ति का समर्थन किया जाने लगा। वह समाज की वस्तु बन गई तथा उसका विकास सामाजिक विशिष्टताओंवाली संस्था के रूप में होने लगा।

आदिम समाज में धर्म के अधिकारी विद्वानों ने कानून को जन्म दिया तथा उस समाज मे संपत्ति एवं परिवार दोनो अविभोज्य शब्द थे क्योंकि दोनो का मूल धर्म ही था तथा दोनो को धर्म से ही मान्यता प्राप्त थी। इस प्रकार संपत्ति, परिवार तथा कानून, आदिम समाज मे सजातीय अथवा संबद्ध शब्द थे।

संस्कृत शब्द 'गृह' अर्थात् घर की व्युत्पत्ति, 'ग्रह' शब्द हुई है जिसके अर्थ है, ले लेना, स्वीकार करना, छीन लेना अथवा विजय प्राप्त करना। यह स्मरण रखना चाहिए कि बलपूर्वक अथवा युद्ध मे जीतकर अधिग्रहण अत्यंत प्राचीन विधि है। मनु के अनुसार, गृह की स्थापना गृहस्थी या परिवार की नींव है। 'घर' तथा 'परिवार' दोनो के लिये प्रयुक्त होनेवाले लैटिन शब्द 'डोमस' का भी अर्थ 'गृह' के सदृश ही है। 'डोमस', 'डामिनियम' (Dominium) का मूल है, जिसका अर्थ रोमन न्यायशास्त्र मे संपत्ति का आशय समझाने के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

न्यायसंहिता (Justinian code) में 'मैनसिपियम' (Mancipium), 'डोमिनियम' तथा 'प्रोपाइटॅस' का प्रयोग संपत्ति अथवा 'स्वामित्व' के लिये समान रूप से किया जाता है। मैनसिपियम का अर्थ है अभिग्रहण, अधिकार मे करना, विशेषकर भूमि आदि। 'मैनसिपियम' शब्द लगभग संस्कृत के 'ग्रह' शब्द के ही समान है। रोमन मे 'डोमिनियम' अथवा 'प्रोपाइटॅस' का अर्थ उन सब अधिकारों का समूह है जिससे स्वामित्व का बोध होता है।

समय के साथ साथ 'स्वत्व' का विकास हुआ और धीरे धीरे इसका आशय किसी वस्तु का स्वतंत्र उपयोग और उसे भेजने या दे डालने का अधिकार समझा जाने लगा।

आदिम समाजो मे संपत्ति के साथ धार्मिक भावना भी जुड़ी रहती थी। जहाँ भूमि और उसके उत्पादन जीविका के प्रमुख साधन थे तथा भूमि अभिग्रहण की विधि अतिक्रमण और विजय द्वारा प्राप्त करना था, भूमि तथा खेती करने का अधिकार एक प्रकार का धन समझा जाता था और इस प्रकार यह एक जाति अथवा परिवार से संबंधित संपत्ति का प्रमुख अंग था। पारिवारिक संपत्ति उन्हीं के लिये दाय योग्य थी जो अपने पूर्वजो के लिये धार्मिक अनुष्ठान किया करते थे। पूर्वजों के लिये धार्मिक अनुष्ठान करना नर वंशजों का ही प्रथम कर्तव्य समझा जाता था। इसलिये खेती करने, भूमि का भोग करने तथा इसको क्रय विक्रय करने का अधिकार जन्म से प्राप्त हो जाता था।

पुत्र का जन्मतः अधिकार मिताक्षरा ने स्वीकार किया है। विजनेश्वर के अनुसार जन्म ही संपत्ति का कारण है।' हिंदू समाज में कानून की यह निश्चित स्थिति है कि पैतृक या पूर्वजों की संपत्ति का स्वत्व जन्म से प्राप्त होता है।

धीरे धीरे संपत्ति का धार्मिक स्वरूप लुप्त होता गया। मिताक्षरा के अनुसार 'संपत्ति इहलौकिक वस्तु है क्योंकि इसका उपयोग सांसारिक लेन देन के लिये होता है।

मनुस्मृति के टीकाकारों के मतानुसार आर्यों में संपत्ति का आशय पूरे परिवार से संबद्ध होता था जिसमें पुत्र, पुत्री, पत्नी तथा दास भी संमिलित थे। समाज के विकास के साथ पुत्र, पुत्री तथा पत्नी को संपत्ति की वस्तु या संपत्ति का अंग न समझकर उन्हें संपत्ति से पृथक् अस्तित्व की मान्यता दी गई।

संपत्ति का प्रत्यय (concept of property) — भारतीय कानून में संपत्ति का विधिक प्रत्यय वैसा ही होता है जैसा अंग्रेजी न्यायशास्त्र में। अंग्रेजी कानून बहुत कुछ रोमन कानून से प्रभावित है। 'संपत्ति' शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं यथा स्वामित्व या स्वत्व, अर्थात् स्वामी को प्राप्त संपूर्ण अधिकार। कभी कभी इसका अर्थ रोमन 'रेस' होता है जिसके अंतर्गत स्वामित्व के अधिकार का प्रयोग होता है अर्थात् स्वयं वह वस्तु जो उक्त अधिकार का विषय या पात्र है। 'रेस' अथवा 'वस्तु' का मानव से संबंध बतानेवाला अर्थ संपत्ति के स्वरूप के विकास में सहायक हुआ है। इस प्रकार 'रेस' अथवा 'वस्तु' पर अधिकार का संबोध और स्वयं 'रेस' या 'वस्तु' का संबोध संपत्ति संबंधी प्रत्यय से जटिल तथा गहरे रूप से संबद्ध है अर्थात् दोनों एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं।

रोमन में 'रेस' का अर्थ अत्यंत जटिल है। यह अंग्रेजी की तरह अधिकार की ठोस वस्तु है। किंतु 'रेस' का ठीक ठीक अर्थ 'वस्तु' के बिलकुल समान नहीं है, उससे कुछ अधिक है। यद्यपि 'रेस' का मूल अर्थ भौतिक वस्तु है, परंतु धीरे धीरे इसका प्रयोग ऐसी परिसंपत्ति (assets) को व्यक्त करने के लिये भी होने लगा जो भौतिक तथा स्थूल ही न होकर अमूर्त भी हो सकती थी जैसे बिजली 'रेस' का प्रयोग विशिष्टाधिकार के लिये भी होता है और ऐसे अधिकारों के लिये भी जो, उदाहरणार्थ, प्रसिद्धि या ख्याति से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इन दो अर्थों के लिये रेस का लगातार प्रयोग होने के कारण 'रेस' के दो अर्थ हो गए : 'रेस पार्थिव' अर्थात् भौतिक वस्तुएँ जो मनुष्य के अधिकारों के अंतर्गत आ सकती है तथा 'रेस अपार्थिव' अर्थात् वे अधिकार स्वयं। इस प्रकार अंतिम विश्लेषण के फलस्वरूप 'वस्तु' का आशय 'रेस पार्थिव' से ही लिया जायगा।

रोमन भाषा में 'रेस' संपत्ति की वस्तु तथा अधिकार दोनों के लिये प्रयुक्त होता है परंतु 'बोना' (Bona) शब्द, जो सामान या धन के लिये प्रयुक्त होता है, संस्कृत के 'धन' शब्द के समकक्ष है। अरबी जूरियों (Arabian Jurists) के अनुसार 'माल' शब्द संपत्ति तथा किसी भी ऐसी वस्तु के लिये प्रयुक्त हो सकता है जिसका अरबी कानून (शरियात) में मूल्य या अर्घ (वैल्यू) हो अथवा जो किसी व्यक्ति के अधिकार में रह सकती हो। 'धन' शब्द भी संपत्ति के लिये बहुधा प्रयुक्त होता है।

संपत्ति के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाली वस्तु में स्थायित्व का तथा भौतिक एकत्व का गुण होना आवश्यक है। इकाइयों के एक संग्रह को जिसकी इकाइयाँ स्वयं पृथक् वस्तु हों और ऐसी एकल इकाइयों के संमिलन से बनी वस्तु को भी वस्तु कह सकते हैं; जैसे एक ईंट अथवा ईंटों से निर्मित एक मकान या एक भेड़ अथवा कई भेड़ों से बना एक झुंड। कानून में 'वस्तु' का प्रयोग कुछ अधिकारों एवं कर्तव्यों को व्यक्त करने के लिये भी किया जाता है। भौतिक गुणों के आधार पर 'वस्तु' दो प्रकार की हो सकती है—चल अथवा अचल। लेकिन अंग्रेजी कानून के तकनीकी नियमों के अनुसार वस्तु, वास्तविक तथा व्यक्तिगत होती है। रोमन कानून के अनुसार 'रेस' को इसी प्रकार 'मैनसिपेबुल' (mancipible) तथा अमैनसिपेबुल में विभक्त किया गया है। इस प्रकार संपत्ति एक ओर 'रेस' या 'वस्तु' और दूसरी ओर रेस अथवा वस्तु से संबंधित मनुष्य के अधिकारों से संबद्ध है। इसलिये संपत्ति के लिये एक ऐसा व्यक्ति आवश्यक है जो किसी वस्तु पर अपना अधिकार रख सके।

अंतिम विश्लेषण के अनुसार संपत्ति, एक व्यक्ति और एक वस्तु या अधिकार, जिसे वह केवल अपना मानता हो, के मध्य स्थापित संबंध को व्यक्त करती है। अपने आधुनिक प्रयोगों में संपत्ति उन सभी वस्तुओं या संपदा (assets) के लिये प्रयुक्त होती है जो किसी व्यक्ति से संबंधित हो या उस व्यक्ति ने किसी अन्य को समर्पित कर दिया हो परंतु अपने लाभ के लिये उस वस्तु की व्यवस्था करने का अधिकार सुरक्षित रखता हो।

रेस या वस्तु के पार्थिव और अपार्थिव वर्गीकरण तथा वस्तु या अधिकारों के स्वरूप के अनुसार संपत्ति का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से हुआ है जैसे, पार्थिव या अपार्थिव; चल या अचल तथा वास्तविक या व्यक्तिगत। संपत्ति के साथ अन्य विशिष्ट शब्दों जैसे व्यक्तिगत या सार्वजनिक, पैतृक, दाययोग्य, संयुक्त पारिवारिक, समाधिकारिक आदि के संयुक्त कर देने से संपत्ति के स्वरूप के साथ संबंध व्यक्त होता है।

संपत्ति की वैधानिक व्याख्या के अनुसार इसके कई अर्थ हैं। संपत्ति के अंतर्गत किसी व्यक्ति के द्वारा किए गए शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम के फल भी आते हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी किसी वस्तु के बदले में जो कुछ भी पाता है, जो कुछ भी उसे दिया जाता है और जिसे कानून द्वारा उस व्यक्ति का माना जाता है अथवा उसे प्रयोग करने, भोग करने तथा व्यवस्था करने का अधिकार प्रदान किया जाता है, वह सब उस व्यक्ति की व्यक्तिगत संपत्ति कहलाती है। परंतु कानून द्वारा मान्यता न प्राप्त होने पर उसे संपत्ति नहीं कहा जा सकता और तब विधिक परिणाम की दृष्टि से व्यक्ति और वस्तु के बीच कोई संबंध नहीं रह जाता है।

संपत्ति के प्रति अपराध बल प्रयोग आदि के विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों के संरक्षण हेतु संपत्ति विषयक अपराधों को वैधानिक स्वरूप प्रदान किया गया है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद ३१, व्यक्तिगत संपत्ति विषयक स्वत्व या आधिपत्य (Possession) को संरक्षण प्रदान करता है। समाजवादी राज्य में, जहाँ व्यक्तिगत संपत्ति न्यूनतम होती है, इस प्रकार के अपराध निश्चयात्मक रूप से कम होते हैं। सामान्यतः संपत्ति संबंधी अपराध संपत्ति के तीन स्वरूपों के अनुसार तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं, यथा — (अ) चल संपत्ति के प्रति किए गए अपराध, (ब) अचल संपत्ति के प्रति किए गए अपराध, (स) अमूर्त संपत्ति के प्रति किए गए अपराध। इनका क्रमशः विश्लेषण नीचे किया जा रहा है :

(अ) चल संपत्ति के प्रति अपराध (धारा ३७८-४४०)।

वह वस्तु जिसके प्रति कोई व्यक्ति आधिपत्य (Possession), उपभोग अथवा निर्वर्तन का अधिकार रखता है, संपत्ति कहलाती है। भूमि अथवा भूमि से संलग्न कोई वस्तु या किसी ऐसी वस्तु से स्थायी तौर पर बँधी हुई वस्तु को, जो भूमि से संलग्न हो, छोड़कर सभी प्रकार की मूर्त संपत्ति चल संपत्ति के अंतर्गत आती है। खड़ी फसल या वृक्ष भी (भूमि से अलग होने पर) चल संपत्ति हो जाते हैं।

चल संपत्ति से संबंधित आठ प्रकार के अपराध किए जा सकते हैं यथा—(१) चोरी, (२) अपकर्षण, (३) लूट और डकैती, (४) संपत्ति का आपराधिक दुर्विनियोग, (५) आपराधिक विश्वासघात, (६) चोरी की संपत्ति प्राप्त कर रख लेना, (७) धोखा या छल, (८) अरिष्ट या शरारत।

१. चोरी — यह विशिष्ट अपराध अति प्राचीन काल से विश्वविदित है। चोरी के चार प्रमुख तत्व हैं (धारा ३७८) प्रथम, चल संपत्ति प्राप्त करने के लिये बेईमानी का इरादा। संपत्ति का कुछ आर्थिक मूल्य भी होना चाहिए। द्वितीय, इसका अन्य के आधिपत्य या अधिकार से प्राप्त किया जाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में संपत्ति किसी व्यक्ति के आधिपत्य में होनी चाहिए। त्यक्त वस्तु या पशु चोरी का विषय नहीं हो सकता, जैसे श्राद्ध हेतु छोड़ा गया साँड़। आधिपत्य या स्वत्व दीवानी और फौजदारी दोनों कानूनों से सरक्षित है। यह उसी व्यक्ति में निहित होता है जिसका भौतिक या वास्तविक आधिपत्य होता है, चाहे वह कब्जा वैध हो अथवा अवैध। तृतीय, व्यक्ति के आधिपत्य से किसी वस्तु का लिया जाना उसकी इच्छा के बिना हो, जैसे किसी व्यक्ति द्वारा रेलवे स्टेशन के सरक्षणगृह से बिना शुल्क दिए हुए अपना ही सामान ले जाना चोरी के अंतर्गत आएगा। चतुर्थ, प्राप्त करने की इच्छा से वस्तु का हटाया या ले जाया जाना आवश्यक है। निम्न दशाओं मे चोरी का अपराध गुरुतर हो जाता है — (१) उस स्थान के संदर्भ में, जहाँ वह किया जाता है, यथा भवन, तंबू या जलयान में की हुई चोरी (धारा ३८०)। (२) उस व्यक्ति के संदर्भ मे जो चोरी का कृत्य करता है, यथा लिपिक या सेवक द्वारा की गई चोरी (धारा ३८१)। (३) चोरी करने के संदर्भ में खतरनाक तैयारी, यथा जान लेने या ऐसे ही अन्य कार्य की तैयारी (धारा ३८२)। इस प्रकार के सभी दृष्टांतों में सामान्य से अधिक सजा दी जाती है।

२. अपकर्षण या एक्सटार्शन, (धारा ३८३-३८९) — अपकर्षण का अपराध आंग्ल विधि में अज्ञात है, जहाँ इसका स्थान चोरी और लूट के अपराधों के मध्य में है। जब कोई संपत्ति ऐसे व्यक्ति की स्वीकृति से प्राप्त की जाती है जो अपने लिये या अपने किसी प्रिय व्यक्ति के लिये खतरा या क्षति पहुँचने की आशंका से स्वीकृति देता है, तो यह कार्य संपत्ति का अपकर्षण या बलपूर्वक ग्रहण (एक्सटार्शन) कहलाता है। इस अपराध के लिये दो तत्व आवश्यक हैं : (१) साशय अभित्रास तथा २-संपत्ति परिदान के लिये उत्प्रेरित करना। भय लौकिक अथवा पारलौकिक क्षति का हो सकता है तथा वह एक व्यक्ति को पहुँचाई जा सकती है और संपत्ति किसी दूसरे द्वारा ग्रहण की जा सकती है। तीन दशाओं में अपकर्षण का प्रयास भी, यद्यपि वह सफल न हुआ हो, दंडनीय है। वे निम्नलिखित हैं —

(१) जहाँ पर व्यक्ति को क्षति पहुँचाने का भय तो दिखाया जाता है परंतु जहाँ संपत्ति के उत्प्रेरित परिदान का प्रयास असफल होता है (धारा ३८५) या (२) जहाँ पर अपकर्षण हेतु किसी व्यक्ति को मृत्यु या गंभीर चोट के भय में डाला जाता है, या (३) जहाँ पर अपराध का आरोप लगाने का भय दिखाया जाता है। (धारा ३८६)। दी हुई धमकी की गंभीरता के अनुसार अपकर्षण का अपराध गुरुतर हो जाता है; यथा—(१) मृत्यु या गंभीर चोट पहुँचाने की धमकी (धारा ३८६) या (२) अपराध का अभियोग लगाने की धमकी (धारा ३८८)। दोनों अवस्थाओं में अधिक सजा दी जाती है।

३. लूट और डकैती (धारा ३९०-४०२) — लूट, चोरी और हिंसा या बलप्रयोग का सम्मिश्रण या तात्कालिक हिंसा का भय या अपकर्षण व तात्कालिक हिंसा का भय है। जहाँ पाँच या पाँच से अधिक व्यक्ति लूट करते है वहाँ ऐसा अपराध डकैती कहलाता है। वास्तव मे ये दोनों अपराध चोरी या अपकर्षण के ही गुरुतर स्वरूप हैं। अतएव इस अपराध में चोरी या अपकर्षण (एक्सटार्शन) के सभी तत्व अवश्य विद्यमान होने चाहिए। लूट के अधिकतर अपराध आंशिक रूप से चोरी या अपकर्षण पर आधृत हो सकते हैं। उदाहरणार्थ हरि विमला को पकड़कर जान लेने की धमकी देता है, जब तक वह अपनी संपत्ति दे नहीं देती और अपने आभूषण उतारना प्रारंभ नहीं कर देती। विमला हरि से प्राणदान की भिक्षा माँगती है और खुद आभूषण दे देती है। ध्यान देने योग्य बातें ये हैं कि चोरी पर आधृत लूट चल संपत्ति से ही संबंध रखती है। और क्षति का भय अथवा वास्तविक क्षति चोरी के पूर्व या चोरी किए जाने के समय या चोरी की संपत्ति ले जाते समय पहुँचाई जा सकती है। इस प्रकार यदि चोरी की संपत्ति बीच में छोड़ दी जाती है और चोर पकड़े जाने से बचने के लिये चोट पहुँचाता है तो वह चोरी और चोट पहुँचाने का ही अपराधी है, लूट का नहीं।

लूट का अपराध गुरुतर हो जाता है यदि (१) लूट करते समय चोट पहुँचाई जाती है (धारा ३९४); या (२) घातक हथियार से जान लेता या गंभीर चोट पहुँचाता है अथवा पहुँचाने की चेष्टा करता है, या (३) जब यह अपराध घातक हथियार से लैस होकर किया जाता है (धारा ३९८)। डकैती का अपराध बहुत ही गंभीर या संगीन है। इसलिये यह सभी अवस्थाओं मे दंडनीय होता है। प्रथम, मंत्रणा की स्थिति में अर्थात् जब कुछ व्यक्ति डकैती करने के उद्देश्य से एकत्र होते हैं (धारा ४०२); द्वितीय, तैयारी की अवस्था में अर्थात् जब व्यक्ति डकैती करने के लिये तैयारी करते हैं (धारा ३९९); तृतीय, डकैती करने का प्रयास करते हैं (धारा ३९८) और अंत मे जब यह वास्तव में की जाती है (धारा ३९५)। डकैती का अपराध गुरुतर हो जाता है जब डकैती में शामिल किसी एक के द्वारा हत्या कर दी जाती है (धारा ३९६) या जब यह घातक हथियारों से सज्जित होकर की जाती है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि डकैती में शामिल हर व्यक्ति का दायित्व उसके दूसरे साथियों के समान ही होता है। इस प्रकार

यदि डाकुओं के गिरोह के किसी सदस्य द्वारा लूटी हुई संपत्ति ले जाते समय किसी की हत्या की जाती है तो अन्य सभी सदस्य समान रूप से उसके लिये उत्तरदायी होंगे।

४. संपत्ति का आपराधिक दुरुपयोग (धारा ४०३-४०४) — यह एक प्रकार का नया अपराध है जो चोरी के अपराध का ही एक अंग है। भारतीय विधि में यह अपराध चोरी और नागरिक अपकृति (सिविल रांग) के बीच का समझा जाता है। इसमें संपत्ति का आदान पहले ईमानदारी से होता है लेकिन उसका अपने पास रखे रहना या उसे अपने उपयोग में ले आना बेईमानी का कार्य होता है। इस प्रकार यदि अ, ब को भेजा गया पार्सल भूल से प्राप्त कर लेता है, तो इस तरह की प्राप्ति आपराधिक नहीं है किंतु यदि तदुपरांत वह पोस्ट आफिस को या उस व्यक्ति को वापस नहीं कर दिया जाता जिसके नाम वह भेजा गया था बल्कि वह स्वयं रख लेता है, तब यह आपराधिक दुर्विनियोग है। खोई हुई वस्तु को प्राप्त करनेवाले को उसके स्वामी का पता लगाने के लिये युक्तियुक्त साधनों का उपयोग करना चाहिए और उसकी सूचना देनी चाहिए तथा संपत्ति को उचित समय तक अपने पास रखना चाहिए जिससे उसका स्वामी उसकी माँग कर सके। यदि वह सद्भावनापूर्वक यह विश्वास करता है कि वह वास्तविक स्वामी का पता नहीं लगा सकता और उसे अपने उपयोग में ले आता है तो वह उत्तरदायी नहीं है। आपराधिक दुर्विनियोग के साधारण मामले धारा ४०३ के अंतर्गत दंडनीय हैं। यदि मृतक की संपत्ति का दुर्विनियोग उसका लिपिक या सेवक करता है तो अपराध गुरुतर हो जाता है और अपराधी कठिन दंड पाता है (धारा ४०४)।

५. आपराधिक न्यास भंग या अमानत में खयानत (धारा ४०१-४०९)—अमानत में खयानत एक व्यक्ति द्वारा उस संपत्ति का आपराधिक दुर्विनियोग है जो उसकी अमानत में रखी गई हो। इस अपराध के दो प्रमुख तत्व हैं — (१) संपत्ति पर न्यास या अधिष्ठान तथा (२) इसका बेईमानीपूर्वक भंग या दुर्विनियोग, परिवर्तन या उपयोग। 'न्यास' (ट्रस्ट) शब्द का प्रयोग यहाँ विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में नहीं किया गया है बल्कि उस व्यापक करार के अर्थ में किया गया है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति संपत्ति का व्यवहार करने के लिये अधिकृत किया गया हो। इस प्रकार, यदि एक सुनार जिसे सोना कंकण बनाने के लिये दिया गया है उसमें ताँबा मिला देता है तो वह इस अपराध का अपराधी है।

बेईमानी की मंशा इस अपराध का सार है और यही मुख्य तत्व है। अनुचित लाभ अथवा अनुचित क्षति वास्तव में हुई हो, यह महत्वहीन है। अमानत में खयानत का अपराध गुरुतर हो जाता है, यदि वह जिम्मेदार व्यक्ति द्वारा किया जाता है, जैसे (१) सामान ले जानेवाले व्यक्ति (वाहक), गोदाम के रक्षक तथा इसी प्रकार के अन्य व्यक्ति द्वारा (धारा ४०७), या (२) लिपिक अथवा लोकसेवक द्वारा (धारा ४०८), या साहूकार व्यापारी अभिकर्ता (दलाल) या न्यासवादी द्वारा (धारा ४०९)। इस प्रकार के सभी मामलों में अधिक सजा दी जाती है।

६. चोरी की संपत्ति प्राप्त करना (धारा ४१०-४१४) — वह संपत्ति जिसका स्वामित्व चोरी, अपकर्षण, लूट, आपराधिक दुर्विनियोग और आपराधिक न्यासभंग से प्राप्त किया जाता है, चोरी की संपत्ति मानी जाती है। लेकिन आंग्ल विधि के विपरीत छल से प्राप्त संपत्ति, चोरी की संपत्ति नहीं है। यह अनावश्यक है कि हस्तांतरण या आपराधिक न्यासभंग या आपराधिक दुर्विनियोग भारत में हुआ है अथवा भारत के बाहर। लेकिन यदि इस प्रकार की संपत्ति बाद में इसके वास्तविक स्वामी के पास पहुँच जाती है तो वह चोरी की संपत्ति नहीं रह जाती। यदि वह रूपांतरित हो जाती है या उसमें परिवर्तन हो जाता है जिससे उसका वास्तविक स्वरूप समाप्त हो गया हो तो वह भी चोरी की संपत्ति नहीं रह जाती। बेईमानी से चोरी की संपत्ति प्राप्त करना ही अपराध है तथा दंडनीय है (धारा ४११)।

इस अपराध के तीन तत्व हैं : (१) कि संपत्ति चोरी की संपत्ति हो, (२) कि यह बेईमानी (बदनीयती) से प्राप्त की हुई हो या रख ली गई हुई हो और (३) यह कि अपराधी यह जानता था और उसके लिये यह विश्वास करने का कारण हो कि यह चोरी की संपत्ति है।

यह अपराध गुरुतर हो जाता है यदि (१) डकैती द्वारा प्राप्त संपत्ति लेकर रख ली गई हो (धारा ४१२), या (२) यदि वह व्यक्ति आदतन चोरी की संपत्ति का व्यापार करता हो (धारा ४२३), या (३) यदि वह संपत्ति को छिपाने, बेचने आदि या लेकर भागने में स्वेच्छा से सहायक रहा हो (धारा ४१४)।

७. छल (धारा ४१५-४२०) — आज के व्यापारिक तथा औद्योगिक संसार में यह अपराध चोरी की तुलना में अधिक प्रचलित हो गया है। इसके तत्व ये हैं—(१) किसी व्यक्ति को धोखा दिया गया हो (२) जिसके परिणामस्वरूप क्षतिग्रस्त व्यक्ति उत्प्रेरित किया जाता है कि वह अपनी संपत्ति, किसी व्यक्ति के हाथ सौंप दे या वह स्वीकार कर ले कि धोखा देने वाला व्यक्ति उसकी संपत्ति अपने कब्जे में रख ले या वह कोई ऐसा काम करने से रुक जाय जिससे उससे क्षति पहुँच सकती हो (धारा ४४ में स्पष्टीकृत)। याद रखना चाहिए कि केवल धोखा देना कोई अपराध नहीं है जब तक कि यह छलित व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, ख्याति संबंधी या सांपत्तिक क्षति पहुँचाने के इरादे से न किया गया हो। जिस व्यक्ति को धोखा दिया गया हो उसका कोई व्यक्तिविशेष होना आवश्यक नहीं है जिससे झूठा वहाना या कथन किया गया हो। धोखा और उत्प्रेरण या प्रलोभन का होना संपत्ति हस्तांतरण के पूर्व या किसी कार्य को करने या न करने से विरत होने के पूर्व आवश्यक है। प्रतिरूपण या धोखा देने का कार्य शब्दों द्वारा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। यह क्रियाकलाप तथा चरित् से भी हो सकता है। उदाहरणतः अ एक साहूकार ब से अपने बकाया रुपयों की माँग करता है। ब बकाया रुपया दे देता है और इस विश्वास में रह जाता है कि ज्योंही पूर्ण बकाया वह अदा कर देगा अ उसे देय धन का प्रतिज्ञापत्र (बांड) वापस कर देगा। अ धन मिल जाने के बाद भी वह बांड वापस नहीं करता। इस तरह अ ने ब के साथ छल किया।

साधारण छल या धोखा देना धारा ४१७ के अंतर्गत दंडनीय है। जहाँ संपत्ति का परिदान हो या मूल्यवान प्रतिभूति नष्ट कर दी गई

हो, वहाँ अपराध गुरुतर हो जाता है। इसी प्रकार उस व्यक्ति को भी दंड दिया जाता है जो उस व्यक्ति के प्रति छल करता है जिसका हित संरक्षित रखने के लिये वह कर्तव्यत: बाध्य हो (धारा ४१८)।

प्रतिरूपण या छद्मपरिचय का अपराध तब माना जाता है, जब कोई व्यक्ति अपने को अन्य व्यक्ति बतलाकर छल करता है या जब वह जान बूझकर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के रूप में प्रकट करता है या यह जाहिर करता है कि वह या अन्य व्यक्ति वह व्यक्ति है जो वास्तव में वह नहीं है (धारा ४१६), चाहे वह व्यक्ति, जिसका प्रतिरूपण किया गया हो, वास्तविक व्यक्ति हो या काल्पनिक। प्रतिरूपण द्वारा छल धारा ४१६ के अंतर्गत दंडनीय है।

८. **आरिष्ट** (mischief, शरारत, धारा ४२५-४४०)— आरिष्ट का अपराध, आंग्ल विधि के संपत्ति को दोषपूर्ण क्षति पहुँचाने के अनुरूप है। जब किसी की चल संपत्ति को हानि पहुँचाई जाती है या उसे विनष्ट किया जाता है, इस आशय से कि उस संपत्ति को दोषपूर्ण हानि या नुकसान पहुँचे या संपत्ति के रूप में हानिकारक परिवर्तन किया जाता है, तब आरिष्ट का अपराध गठित होता है। आरिष्ट ऐसी संपत्ति का किया जा सकता है जो उस कार्य को करनेवाले व्यक्ति की ही हो, या उस व्यक्ति की तथा अन्य व्यक्तियों की संयुक्त रूप से हो, जैसे अ और ब संयुक्त रूप से एक घोड़े के स्वामी हैं। अ, ब को अनुचित रूप से हानि पहुँचाने के आशय से घोड़े को गोली मार देता है। अ ने आरिष्ट का अपराध किया।

आरिष्ट का अपराध चल और अचल दोनों प्रकार की संपत्तियों के प्रति किया जा सकता है। यहाँ संपत्ति का अभिप्राय मूर्त (व्यक्त) संपत्ति से है जो परिवर्तित या विनष्ट हो सकती है किंतु सुखाधिकार 'ईजमेंट' इसके अंतर्गत नहीं आता। प्रतिवादी एक परनाले का मालिक है जिससे वादी को अपना गंदा पानी बहाने का सुखाधिकार प्राप्त है। प्रतिवादी परनाला तोड़ देता है तो वह आरिष्ट का दोषी नहीं है।

यह ध्यान देने योग्य है कि जब अपराधी के ऊपर चोरी, लूट, अपकर्षण, आपराधिक दुर्विनियोग या छल के गुरुतर अपराध लगाए गए हों तो आरिष्ट का अपराध लगाए जाने की कम ही गुंजाइश रहती है। इस प्रकार यदि कोई भेड़ चुराता है तो उसके ऊपर, यदि वह भेड़ को गोश्त के रूप में परिवर्तित कर चुका है, आरिष्ट का अपराध नहीं लगाया जा सकता। जहाँ अपना अधिकार जानते हुए सचाई के साथ दीवाल गिरा दी जाती है तो यह अपराध नहीं गठित होता, क्योंकि मंशा (आशय) इस अपराध का मुख्य तत्व है और सच्ची भावना से अधिकार प्रकट करना अनुचित आशय से पृथक् वस्तु है।

आरिष्ट का अपराध गुरुतर हो जाता है—(१) क्षति पहुँचाई हुई संपत्ति के स्वरूप के अनुसार, यथा १०) (दस रुपए) या इससे कम मूल्य के जानवर (धारा ४२७), या बड़े जानवर, जैसे हाथी, गाय इत्यादि जो ५०) (पचास रुपए) से अधिक मूल्य के हों धारा (४२८-४२९); (२) सार्वजनिक संपत्ति के महत्व की दृष्टि से, जैसे पेय जल के जलाशय, सार्वजनिक पुल, नदी आदि को क्षति पहुँचाना (धारा ४३१), या सार्वजनिक जलनिस्सारण में बाधा (धारा ४३२); (३) किए गए कार्य के खतरनाक स्वरूप के अनुसार, यथा अग्नि या विस्फोटक द्वारा कृषिजन्य या ऐसी ही अन्य संपत्ति को क्षति पहुँचाना (धारा ४३५); (४) कार्य के महत्व के अनुसार, यथा प्रकाशस्तंभ आदि (धारा ४३३), या भूमि के सीमाचिह्न को नष्ट करना (धारा ४३४); (५) हानि पहुँचाने हेतु उपयोग में लाए गए पदार्थ के अनुसार (धा० ४३७ व ४३८); या (६) खतरनाक तैयारी के अनुसार, जैसे चोरी या दुर्विनियोग करने के आशय से जलयान को भूमि पर या किनारे से लगाना (धारा ४३९) या मार डालने अथवा चोट पहुँचाने के लिये की गई तैयारी के पश्चात् आरिष्ट करना (धारा ४४०)।

(ब) अचल संपत्ति के प्रति किए गए अपराध

अचल संपत्ति के प्रति होनेवाले अपराध चार प्रकार के हैं—(१) आपराधिक अनधिप्रवेश (अतिचार), (२) गृह अनधिप्रवेश, (३) प्रच्छन्न गृह अनधिप्रवेश, और (४) गृहभेदन (सेंध मारना)।

१. **आपराधिक अनधिप्रवेश** (धारा ४४१-४४३)— अनधिप्रवेश या अतिचार का अर्थ है अन्य की संपत्ति में अनधिकार प्रवेश, जो सिविल या क्रिमिनल दोनों तरह का हो सकता है। अनधिप्रवेश का अपराध निम्न विधिविरुद्ध कार्यों से होता है — (१) उस भूमि पर, जो दूसरे के कब्जे में है, प्रवेश करना; या (२) इस प्रकार की जमीन पर बने रहना; या (३) उसपर कोई मुख्य ध्येय रखने का आयोजन करना। वह प्रवेश अवैध है जो विधि द्वारा प्रमाणित न हो, यद्यपि यह शांतिपूर्ण हो सकता है। अपने अधिकार में ईमानदारीपूर्वक विश्वास, यद्यपि वह गलत ही क्यों न हो, अपराध-मुक्ति का एक आधार है। लेकिन इस प्रकार का अनधिप्रवेश नागरिक अनधिप्रवेश होगा, जो क्षतिपूर्ति का नागरिक दायित्व उत्पन्न करेगा। वह अनधिप्रवेश है जो घोषित किसी एक अपराध के आशयों से युक्त है, यद्यपि प्रवेश विधिसंमत हो सकता है।

विधिविरुद्ध प्रवेश या दूसरे के कब्जे की संपत्ति या भूमि पर विधिपूर्वक प्रवेश करके विधिविरुद्ध रूप से इस आशय से बना रहना कि (१) कोई अपराध किया जाय या (२) वहाँ किसी व्यक्ति को संत्रस्त या अपमानित अथवा किसी तरह परेशान करना, आपराधिक अनधिप्रवेश है। प्रवेश का अपराध व्यक्तिगत होता है। इस प्रकार यदि कोई नौकर दूसरे के आधिपत्य की भूमि पर विधिविरुद्ध प्रवेश करता है और उसे जोतता है तो उसका स्वामी आपराधिक अनधिप्रवेश का अपराधी नहीं हो सकता। हाँ, इस अपराध के निमित्त प्रोत्साहित करने के लिये वह उत्तरदायी हो सकता है। संपत्ति शब्द व्यापक है जिसके अंतर्गत नौका या यान (कार) भी आते हैं, लेकिन इनका दूसरे के आधिपत्य में होना आवश्यक है। यह सार्वजनिक संपत्ति या स्थान न हो। क्रिमिनल ला सर्वदा आधिपत्य की रक्षा करता है तथा उसका स्वामित्व से कोई संबंध नहीं होता। यदि कोई जमींदार बलपूर्वक अपनी उस संपत्ति अथवा भूमि पर, जिसपर काश्तकार का आधिपत्य है, प्रवेश करता है तो यह

आपराधिक अनधिप्रवेश है। आधिपत्य का तात्पर्य यहाँ वास्तविक आधिपत्य से है, न कि कानूनी आधिपत्य से। आपराधिक अनधिप्रवेश का वाद आधिपत्यधारी ही प्रस्तुत कर सकता है।

२ गृह में अनधिप्रवेश — (धारा ४४२-४५२) किसी भवन, तंबू या जलयान में जो मानवनिवास के रूप में प्रयुक्त हो या किसी भवन में जो पूजास्थान के रूप में संपत्ति की अधिरक्षा के स्थान के रूप में उपयोग में आता है, आपराधिक अनधिप्रवेश गृह अनधिप्रवेश है। आपराधिक अनधिप्रवेश करनेवाले व्यक्ति के शरीर का यदि कोई भाग भी भवन आदि में घुसता है तो गृह अनधिप्रवेश का अपराध गठित हो जाता है। जिस अभिप्राय से यह अपराध किया जाय, उसके अनुसार वह गुरुतर हो जाता है (धारा ४५३, ४५६–४५१, ४४४)।

३. प्रच्छन्न गृह अनधिप्रवेश — सावधानी बरतने के साथ, गृहस्वामी आदि से छिपाकर, यदि गृह अनधिप्रवेश किया जाता है तो यह प्रच्छन्न गृह अनधिप्रवेश कहलाता है। यह अपराध परिस्थितियों के अनुसार गुरुतर हो जाता है (धारा ४४४, ४५६)।

४. गृहभेदन (धारा ४४५, ४५७, ४६२) — गृहभेदन मे व्यक्ति इन छह तरीकों में से किसी द्वारा प्रवेश करता या बाहर निकलता है : (१) ऐसे रास्ते से जिसे स्वयं अभियुक्त ने बनाया है; या (२) ऐसे रास्ते से जो मानव प्रवेश के इरादे से न बनाया गया हो, जैसे खिड़की या रोशनदान द्वारा; या (३) ऐसे रास्ते से जो अभियुक्त द्वारा खोला गया है; या (४) दरवाजे का ताला, ताली से खोलकर, या (५) दरवाजे पर के व्यक्ति पर हमला करके; या (६) ऐसे रास्ते से जिसे अभियुक्त ने खोल दिया है।

यह अपराध उद्देश्य और अभिप्राय के अनुसार गुरुतर होता है और अधिक दंड द्वारा दंडनीय होता है (धारा ४५६--४६२)।

स — अमूर्त संपत्ति के प्रति किए गए अपराध।

अमूर्त संपत्ति के प्रति किए गए अपराध दो तरह के होते हैं (१) दस्तावेजों से संबंधित (२) संपत्तिचिह्नों या व्यापारचिह्नों से संबंधित।

१. दस्तावेजों से संबंधित अपराध (धारा ४६३-४७७) — दस्तावेजों के प्रति किए गए अपराधों में सबसे महत्वपूर्ण कूटरचना या जालसाजी है। यह सबसे बड़ा अपराध है जिसे अपढ़ व्यक्ति नहीं कर सकता। लेखनकला के आविष्कार के साथ साथ इस अपराध का आरंभ हुआ। धोखा देने के आशय से मिथ्या दस्तावेज की रचना, कूटरचना (जालसाजी) है। यह अपराध करने के लिये दो तत्व आवश्यक है : अ. मिथ्या दस्तावेज रचना, ब. निम्नलिखित पाँच आशयों में से किन्हीं आशय से, (१) जनता या किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाने के लिये, (२) किसी हक या दावे के समर्थन के लिये, या (३) किसी व्यक्ति से कोई संपत्ति छुड़ाने के लिये या (४) कोई अभिव्यक्त तथा विवक्षित संविदा करवाने के लिये या (५) कोई कपट या छल करने के लिये। दूसरे शब्दों में कूट रचना कपटपूर्ण बेईमानी के इस आशय से होनी चाहिए कि किसी को हानि पहुँचाई जाय या स्वयं को अवैधानिक रूप से लाभ पहुँचाया जाय। केवल मिथ्या दस्तावेज की रचना स्वयं में कोई अपराध नही है, जब तक कि यह न सिद्ध हो जाय कि उपयुक्त पाँच आशयों में से कोई एक या एक से अधिक विद्यमान हैं। जालसाजी धारा ४६५ के अंतर्गत दंडनीय है।

जालसाजी अर्थात् कूट रचना का अपराध कूटरचित दस्तावेज की प्रकृति के अनुरूप (धारा ४६६-४६७), या कूटरचना के उद्देश्य के अनुसार, यथा छल करने (४६८) या किसी को बदनाम करने (धारा ४६९) से गुरुतर होता है। कूटरचित दस्तावेज का, अथवा यह जानते हुए या यह विश्वास करने का कारण रहते हुए कि यह कूटरचित है, उपयोग धारा ४१७ के अंतर्गत दंडनीय है।

कूटरचना या जालसाजी सभी दशाओं में दंडनीय है। इस प्रकार छल करने के इरादे से कूटरचित मुहर का बनाना या पास में रखना, कूटरचित प्लेट का रखना या बनाना इत्यादि (धारा ४६७, ४७२, ४७३) या मूल्यवान प्रतिभूति आदि यह जानते हुए रखना कि यह कूटरचित है (धारा ४७४), या दस्तावेज को प्रामाणिक बनाने के लिये उपयोग में लाए जानेवाले साधन या चिह्न में जालसाजी करना या कपटपूर्वक दस्तावेज को निरस्त या रद्द करना अथवा उसका विनष्टीकरण इत्यादि (धारा ४७७) दंडनीय है। नियुक्त कर्मचारी द्वारा धोखा देने के लिये लेखाओं का मिथ्याकरण भी दंडनीय है (धारा ४७७ अ)। इसके लिये संपत्तिहरण आवश्यक नहीं है। सहकारी संघ के पदाधिकारियों ने तत्संबंधी एकाउंट (लेखा) में मिथ्या अंक भर दिए, यद्यपि उसमें किसी की कोई हानि नहीं हुई किंतु वे दोषी ठहराए गए।

२. व्यापार या संपत्तिचिह्नों के प्रति अपराध (धारा ४७८–४८९) — व्यापारचिह्न एक संकेत है, जैसे कोई चित्र, लेबुल (चिप्पी) या ऊपर लिखे गए शब्द इत्यादि, जो एक व्यापारी के माल को दूसरे व्यापारी के उसी प्रकार के माल से भेद करने के लिये प्रयुक्त होता है। जब कि संपत्तिचिह्न वह चिह्न है जो यह घोषित करता है एक चल संपत्ति का किसी विशिष्ट व्यक्ति से संबंध है। आंग्ल विधि में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। व्यापारचिह्न संबंधी अधिनियम ५, सन् १९४०, व्यापारचिह्नों का पंजीकरण एवं उनकी रक्षा हेतु अन्य प्रभावकारी संरक्षण प्रदान करता है। साधारणतया व्यापारचिह्न का उल्लंघन फौजदारी की अपेक्षा दीवानी अपराध ही है। लेकिन चूँकि दीवानी कार्यवाही में अधिक समय व व्यय लग सकता है, अतः कानून ने व्यापारी के संरक्षण हेतु, मामले को फौजदारी न्यायालयों में ले जाने का अधिकार प्रदान किया है ताकि शीघ्र निपटारा किया जा सके। ऐसे मामलों में जहाँ क्षतिग्रस्त पक्ष अपराध घटित होने के तीन साल के अंदर अथवा पता चलने के एक साल के अंदर, जो भी पहले समाप्त हो, वाद प्रस्तुत करता है तो फौजदारी न्यायालय में उसपर विचार किया जा सकता है। यदि समय के अंदर ऐसा करने में व्यापारी असफल होता है तो उसे राहत पाने के लिये दीवानी न्यायालय की शरण जाना पड़ेगा।

मिथ्या व्यापारचिह्न या संपत्ति चिह्न का उपयोग करना (धारा ४८०-४८१), या व्यापारचिह्न या संपत्तिचिह्न की नकल करना (धारा ४८३-४७४), इस प्रकार के नकली चिह्नों के तैयार

करने के किसी उपकरण आदि को पास में रखना (धारा ४८५), या नकली व्यापारचिह्न या संपत्तिचिह्न से चिह्नित माल का विक्रय या बिक्री अथवा व्यापार हेतु उसपर कब्जा रखना, उसका बनाना (धारा ४८६), या किसी लोकसेवक को मिथ्या चिह्न से धोखा देना (धारा ४७७, ४८८), या किसी संपत्तिचिह्न को हटाना, उसे विकृपित करना या विनष्ट करना (धारा ४८६) भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत दंडनीय है। [रा० चं०नि०]

संपादन का अर्थ है किसी लेख, पुस्तक, दैनिक, साप्ताहिक मासिक या सावधिक पत्र या कविता के पाठ, भाषा, भाव या क्रम को व्यवस्थित करके तथा आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन करके उसे सार्वजनिक प्रयोग अथवा प्रकाशन के योग्य बना देना। लेख और पुस्तक के संपादन में भाषा, भाव तथा क्रम के साथ साथ उसमें आए हुए तथ्य एवं पाठ का भी संशोधन और परिष्कार किया जाता है। इस परिष्करण की क्रिया में उचित शीर्षक या उपशीर्षक देकर, अध्याय का क्रम ठीक करके, व्याकरण की दृष्टि से भाषा सुधार कर, शैली और प्रभाव का सामंजस्य स्थापित करके, नाम, घटना, तिथि और प्रसंग का उचित योग देकर, आवश्यकतानुसार विषय, शब्द, वाक्य या उदाहरण बढ़ाकर, उद्धरण जोड़कर, नीचे पादटिप्पणी देकर सुबोध व्याख्या भी जोड़ दी जा सकती है।

सामयिक घटना या विषय पर अग्रलेख तथा संपादकीय लिखना, विभिन्न प्रकार के समाचारों पर उनकी तुलनात्मक महत्ता के अनुसार उनपर विभिन्न आकार प्रकार के शीर्षक (हेडलाइन, फ़्लैश, बैनर) देना, अश्लील, अपमानजनक तथा आपत्तिजनक बातें न लिखते हुए सत्यता, ओज, स्पष्टवादिता, निर्भीकता तथा निष्पक्षता के साथ अन्याय का विरोध करना, जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करना, जनता का पथप्रदर्शन करना और लोकमत निर्माण करना दैनिक पत्र के संपादन के अंतर्गत आता है। साप्ताहिक पत्रों में अन्य सब बातें तो दैनिक पत्र जैसी ही होती हैं किंतु उसमें विचारपूर्ण निबंध, कहानियाँ, विवरण, विवेचन आदि सूचनात्मक, पठनीय और मननीय सामग्री भी रहती है। अतः उसके लेखों, साप्ताहिक समाचारों, अन्य मनोरंजक सामग्रियों तथा बालक, महिला आदि विशेष वर्गों के लिये संकलित सामग्री का चुनाव और संपादन उन विशेष वर्गों की योग्यता और अवस्था का ध्यान रखते हुए लोकशील की दृष्टि से करना पड़ता है। इसी प्रकार वाचकों द्वारा प्रेषित प्रश्नों के उत्तर भी लोकशील तथा तथ्य की दृष्टि से परीक्षित करके समाविष्ट करना आवश्यक होता है।

मासिक या सावधिक पत्र मुख्यतः विचारपत्र होते हैं जिनमें गंभीर तथा शोधपूर्ण लेखों की अधिकता होती है। इनमें आए लेखों का संपादन लेख या पुस्तक के समान होता है। विवादग्रस्त विषयों पर विभिन्न पक्षों से प्राप्त लेखों का इस प्रकार परीक्षण कर लिया जाता है कि उनमें न तो किसी भी प्रकार किसी व्यक्ति, समुदाय, समाज अथवा ग्रंथ पर किसी प्रकार का व्यंग्यात्मक या आक्रोशपूर्ण आक्षेप हो और न कहीं अपशब्दों या अश्लील (अमंगल, व्रीडाजनक तथा ग्राम्य) शब्दों का प्रयोग हो। ऐसे पत्रों में विभिन्न शैलियों में आकर्षक रचनाकौशलों के साथ लिखे हुए पठनीय, मननीय, मनोरंजक, ज्ञानविस्तारक, विचारोत्तेजक, और प्रेरणाशील लेखों का संग्रह करना, उनके साथ आवश्यक संपादकीय टिप्पणी देना, स्पष्टीकरण के लिये पादटिप्पणी, परिचय अथवा व्याख्या आदि जोड़ना और आए हुए लेखों को बोधगम्य तथा स्पष्ट करने के लिये अनावश्यक अंश निकाल देना, आवश्यक अंश जोड़ना, आदि से अंत तक शैली के निर्वाह के लिये भाषा ठीक करना, जिस विशेष कौशल से लेखक ने लिखा हो उस कौशल की प्रकृति के अनुसार भाषा और शैली को व्यवस्थित करना, यदि लेखक ने उचित कौशल का प्रयोग न किया हो तो उचित कौशल के अनुसार लेख को बदल देना, भाषा में प्रयुक्त किए हुए शब्दों और वाक्यों का रूप शुद्ध करना या लेख का प्रभाव बनाए रखने अथवा उसे अधिक प्रभावशील बनाने के लिये शब्दों और वाक्यों का संयोजन करना आदि क्रियाएँ संपादन के अंतर्गत आती हैं।

कविता या काव्य के संपादन में छंद, यति, गति, प्रभाव, मात्रा, शब्दों की उचित योजना, अलंकारों का उचित और प्रभावकारी योग, भाव के अनुसार शब्दों का संयोजन, प्रभाव तथा शैली का निर्वाह, तथा रूढ़ोक्तियों के उचित प्रयोग आदि बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है। तात्पर्य यह है कि संपादन के द्वारा किसी भी लेख, पुस्तक या पत्र की सामग्री को उचित अनुपात, रूप, शैली और भाषा में इस प्रकार ढाल दिया जाता है कि वह जिस प्रकार के पाठकों के लिये उद्दिष्ट हो उन्हें वह प्रभावित कर सके, उनकी समझ में आ सके और उनके भावों, विचारों तथा भाषाबोध को परिमार्जित, सशक्त, प्रेरित और प्रबुद्ध कर सके तथा लेखकों का भी पथप्रदर्शन कर सके। [सी० च०]

संपीडित वायु वायु में दबाव होता है। साधारणतया इसकी अनुभूति हमें नहीं होती। यदि हमारे शरीर के किसी अंग से वायु निकाल ली जाय, तब वायु के दबाव की अनुभूति हमें सरलता से हो जाती है। समुद्रतल पर वायु के दबाव की मात्रा प्रति वर्ग इंच १५ पाउंड भार की होती है। जैसे जैसे हम वायु में ऊपर उठते हैं, तैसे तैसे दबाव कम होता जाता है। यहाँ तक कि कुछ पहाड़ के शिखरों पर दबाव की मात्रा प्रति वर्ग इंच ६ पाउंड भार तक पाई गई है। वायु को दबाया भी जा सकता है। दबाने से उसका दबाव बढ़ जाता है। ऐसी दबी हुई वायु को संपीडित वायु (compressed air) कहते हैं। दबाने की इस क्रिया को संपीडित करना कहते हैं। संपीडन से वायु का आयतन कम हो जाता है और दबाव बढ़ जाता है। इस प्रकार वायु का दबाव काफी ऊँचा बढ़ाया जा सकता है। संपीडित वायु का उपयोग आज बहुत अधिक कामों में हो रहा है। ऐसा कहा जाता है कि दो सौ से अधिक कामों में इसका आज उपयोग हो रहा है तथा दिन दिन बढ़ रहा है। इसके उपयोग में कोई खतरा नहीं है। यह मशीनों द्वारा प्रत्येक स्थान में बड़ी सरलता से पहुँचाई जा सकती है। इसकी कुछ मशीनें बड़ी सरल हैं और कुछ जटिल भी है। संपीडित वायु का उपयोग दो प्रकार से हो सकता है : (१) मशीनों में संपीड़ित वायु तैयार कर, कामों में ऐसी वायु सीधे लगाई जा सकती है, अथवा संपीडित वायु सिलिंडरों में भरकर संचित रखी जा सकती है और आवश्यकतानुसार उसे भिन्न भिन्न कामों में लगाया जा सकता है। संपीडित वायु

प्राप्त करने की मशीनों को 'वायु संपीडक (air compressor)' कहते हैं।

वायु को संपीडित करने का सबसे सरल उपकरण बाइसिकिल या मोटरकार के ट्यूबों में हवा भरने का वायु पंप (air pump) है। पर वायु पंप से अधिक दबाव वाली संपीडित वायु नहीं प्राप्त हो सकती। अधिक दबाव के लिये जटिल वायु संपीडक बने हैं। पहले पहल इनका उपयोग संपीडित वायु द्वारा चालित ड्रिलों से पहाड़ों को काटकर सुरंग बनाने में हुआ था। पीछे रेल के ब्रेकों में भी इनका उपयोग शुरू हुआ। सामान्य वायुसंपीडक से प्रति वर्ग इंच ९० से १०० पाउंड की दबाववाली वायु प्राप्त होती है। ऐसे भी संपीडक बने हैं जिनसे हजारों पाउंड दबाव की वायु प्राप्त हो सकती है।

संपीडक में सिलिंडर के अंदर एक पिस्टन होता है। सिलिंडर के एक छोर पर दो वाल्व, एक भीतर की ओर खुलनेवाला और दूसरा बाहर की ओर खुलनेवाला होता है। सिलिंडर के पिस्टन को जब खींचकर ऊपर के छोर पर लाया जाता है, तब सिलिंडर के अंदर की वायु का दबाव कम हो जाता है और वायुमंडल से वायु इस वाल्व द्वारा खींच ली जाती है। जब पिस्टन को नीचे किया जाता है, तब दबाव के बढ़ जाने के कारण अंदर खुलनेवाला वाल्व बंद हो जाता है और बाहर से खुलनेवाला वाल्व खुल जाता है, जिससे सिलिंडर की वायु निकलकर 'वायुकक्ष' में चली जाती है। इस प्रक्रिया को कई बार दोहराने से वायुकक्ष की वायु का दबाव धीरे धीरे बढ़ने लगता है। उपयुक्त दबाव की वायु को नल द्वारा निकालकर काम में लाया जा सकता है।

वायु संपीडकों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : (१) पश्चाग्र वायुसंपीडक (Reciprocating Air Compressor), (२) घूर्णी (rotary type) किस्म के संपीडक और (३) टर्बो संपीडक (Turbo Compressor)। पश्चाग्र वायुसंपीडक अधिक उपयोग में आते हैं। इनका सिद्धांत वैसा ही है जैसा ऊपर वर्णित है।

वायुसंपीडकों के उपयोग — वायु पंप द्वारा ही साइकिल और मोटर गाड़ियों के ट्यूब में हवा भरी जाती है। वायु संपीडकों से प्राप्त संपीडित वायु द्वारा चालित ड्रिलों से पहाड़ों में छेद कर सुरंग बनाई जा सकती है। वायु संपीडक द्वारा ही थियेटर, सिनेमाघरों, बड़ी बड़ी इमारतों और खानों में संवातन (ventilation) किया जाता है, जिससे अशुद्ध वायु निकलकर उसका स्थान शुद्ध वायु ले लेती है। इसकी सहायता से पिसाई भी हो सकती है। संपीडित वायु से बड़े हथौड़े चलाकर कोयला, पत्थर, बालू, कंक्रीट आदि तोड़े और पीसे जाते हैं। वायु संपीडक से प्राप्त संपीडित वायु से रिवेट किया जा सकता है और लोहा तथा इस्पात छीले जा सकते हैं। संपीडित वायु की सहायता से बड़े बड़े जहाजों, वायुयानों, मोटरकारों आदि पर पॉलिश की जा सकती है और वार्निश चढ़ाई जा सकती है। घरों की सफाई, दीवारों की सफेदी तथा रंगाई और फर्निचर पर वार्निश चढ़ाई, वायुसंपीडकों से प्राप्त संपीडित वायु की सहायता से कम खर्च में हो जाती है। अनेक सामानों की सफाई तथा मकानों की बुहराई भी इसकी सहायता से होती है। रेल के ब्रेक संपीडित वायु के बल से कार्य करते हैं। संपीडित वायु की सहायता से अनेक सामानों, जैसे अनाज, कोयले आदि, को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजा जा सकता है।

संपीडित वायु की उपयोगिता की सूची काफी लंबी है। इन सब का यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं है। संपीडित वायु का उपयोग आधुनिक विज्ञान की एक महत्वपूर्ण देन है।

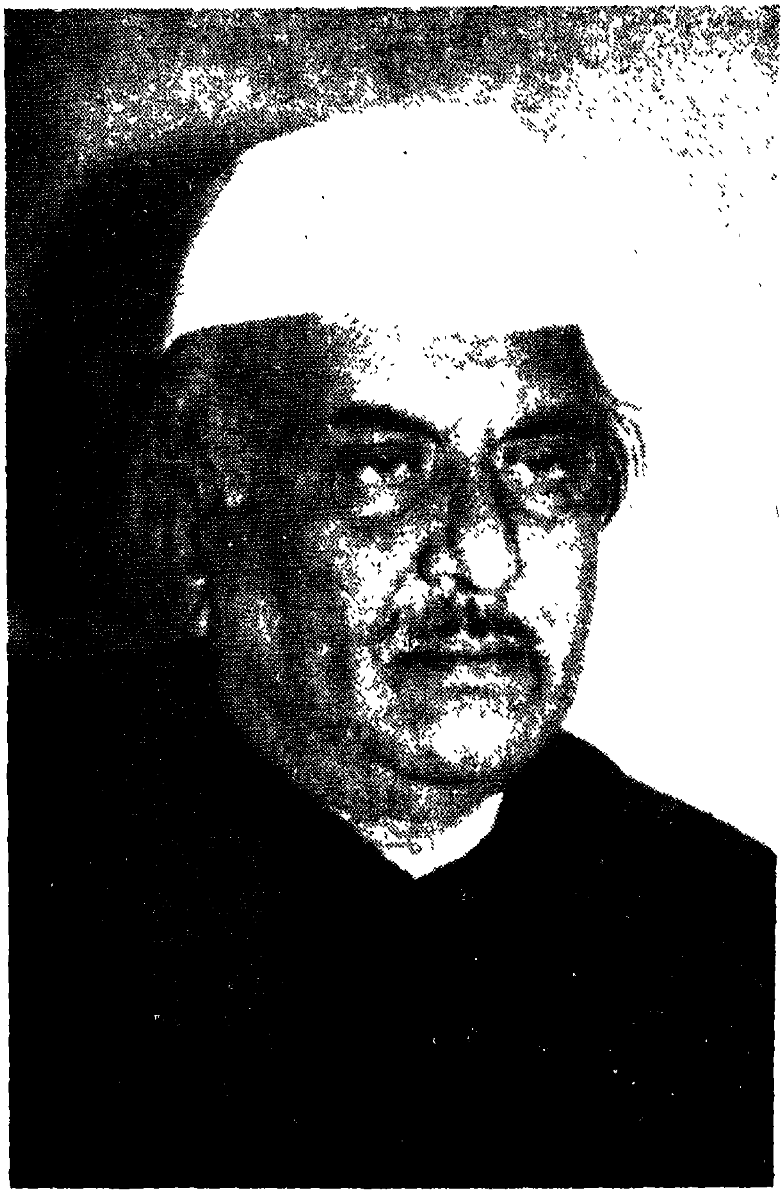
[शु० प्र० मि०]

संपूर्णानंद कुशल तथा निर्भीक राजनेता एवं सर्वतोमुखी प्रतिभावाले साहित्यकार। जन्म वाराणसी में १ जनवरी, सन् १८९० को हुआ। वहीं के क्वीस कालेज से बी० एस०-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण कर प्रयाग चले गए और वहाँ से एल० टी० की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद आप प्रेम महाविद्यालय (वृंदावन) तथा बाद में डूंगर कालेज (बीकानेर) में प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। देश की पुकार पर आपने यह नौकरी छोड़ दी और फिर काशी के सुख्यात देशभक्त (स्वर्गीय) बाबू शिवप्रसाद गुप्त के आमंत्रण पर ज्ञानमंडल संस्था में काम करने लगे। यहीं रहकर आपने अंतर्राष्ट्रीय नीति संबंधी अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक 'अंतारा्ष्ट्रिय विधान' लिखी और 'मर्यादा' का संपादनभार भी सँभाल लिया। इसके बाद जब इस संस्था से 'टुडे' नामक अंग्रेजी दैनिक भी निकालने का निश्चय किया गया तो इसका संपादन भी आपको ही सौंपा गया जिसे आपने बड़ी योग्यता के साथ संपन्न किया।

श्री संपूर्णानंद में शुरू से ही राष्ट्रसेवा की लगन थी और आप महात्मा गांधी द्वारा संचालित स्वाधीनता संग्राम में हिस्सा लेने को आतुर रहते थे। इसी से सरकारी विद्यालयों का बहिष्कार कर आए हुए विद्यार्थियों को राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित काशी विद्यापीठ में सेवाकार्य के लिये जब आपको आमंत्रित किया गया तो आपने सहर्ष उसे स्वीकार कर लिया। वहाँ अध्यापन कार्य करते हुए आपने कई बार सत्याग्रह आंदोलन में हिस्सा लिया और जेल गए। सन् १९२६ में आप प्रथम बार कांग्रेस की ओर से खड़े होकर विधानसभा के सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १९३७ में कांग्रेस मंत्रिमंडल की स्थापना होने पर शिक्षामंत्री प्यारेलाल शर्मा के त्यागपत्र दे देने पर आप उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री बने और अपनी अद्भुत कार्यक्षमता एवं कुशलता का परिचय दिया। आपने गृह, अर्थ तथा सूचना विभाग के मंत्री के रूप में भी कार्य किया। सन् १९५५ में श्री गोविंदवल्लभ पंत के केंद्रीय मंत्रिमंडल में संमिलित हो जाने के बाद दो बार आप उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री नियुक्त हुए। सन् १९६२ में आप राजस्थान के राज्यपाल बनाए गए जहाँ से सन् १९६७ में आपने अवकाश ग्रहण किया।

श्री संपूर्णानंद भारतीय संस्कृति एवं भारतीयता के अनन्य समर्थक थे। योग और दर्शन उनके प्रिय विषय थे। वे नियमित रूप से पूजापाठ और संध्या करते थे तथा माथे पर तिलक लगाते थे। राजनीति में वे समाजवाद के अनुयायी थे किंतु उनका समाजवाद उसके विदेशी प्रतिरूप से भिन्न भारत की परिस्थितियों एवं भारतीय विचारपरंपरा के अनुरूप था। हिंदी तथा संस्कृत

संपूर्णानंद (देखें पृष्ठ १५८)



श्रीअरविंद (देखें पृष्ठ ३२१-२२)



माधवराव सप्रे (देखें पृष्ठ ४५७)



से उन्हें विशेष प्रेम था पर वे अंग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू, फारसी के भी अच्छे ज्ञाता तथा भौतिकी, ज्योतिष और दर्शन शास्त्र के भी पंडित थे। विभिन्न विषयों की प्रभूत पुस्तकें वे निरंतर पढ़ते रहते थे और अपनी मानस मंजूषा में जिन अमूल्य ज्ञानरत्नों का संग्रह किया करते थे, लोकहित के लिये उनके द्वारा उनका दान और उत्सर्ग भी होता रहता था। हिंदी में वैज्ञानिक उपन्यास उन्होंने ही सर्वप्रथम लिखा। इस प्रकार उन्होंने अध्ययन, मनन से जो कुछ भी इकट्ठा किया उसका बहुलांश 'आदानं हि विसगार्य सतां वारिमुचामिव' इस उक्ति के अनुसार अपनी प्रौढ़ लेखनी द्वारा जनता में पुनः वितरित कर दिया। आपकी कुछ प्रमुख हिंदी रचनाएँ ये हैं : अंताराष्ट्रिय विधान, समाजवाद, चिद्विलास, गणेश, ज्योतिर्विनोद, कुछ स्तुतियाँ, कुछ स्फुट विचार, हिंदू देव परिवार का विकास, ग्रहनक्षत्र। इनके अतिरिक्त सामयिक पत्रों में आपने जो बहुसंख्यक लेख लिखे वे भी हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनके कुछ संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं।

उत्तर प्रदेश में उन्मुक्त कारागार का अद्भुत प्रयोग आपने प्रारंभ किया जो यथेष्ट रूप से सफल हुआ। नैनीताल में वेधशाला स्थापित कराने का श्रेय भी आपको ही है। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा संचालित हिंदी समिति की स्थापना में आपका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ये दोनों संस्थाएँ आपकी उत्कृष्ट संस्कृतनिष्ठा एवं हिंदी प्रेम के अद्वितीय स्मारक हैं। कला के क्षेत्र में लखनऊ के मैरिस म्यूजिक कॉलेज को आपने विश्वविद्यालय स्तर का बना दिया। कलाकारों और साहित्यकारों को शासकीय अनुदान देने का प्रारंभ देश में प्रथम बार आपने ही किया। वृद्धावस्था की पेंशन भी आपने आरंभ की। आपको देश के अनेक विश्वविद्यालयों ने 'डॉक्टर' की संमानित उपाधि से विभूषित किया था। हिंदी साहित्य सम्मेलन की सर्वोच्च उपाधि 'साहित्यवाचस्पति' भी आपको मिली थी तथा हिंदी साहित्य का सर्वोच्च पुरस्कार 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' भी आप प्राप्त कर चुके थे।

आपका निधन १० जनवरी, १९६९ को वाराणसी में हुआ।

[मु०]

संबंध स्वामी प्रसिद्ध नालवारों में एक संबंध स्वामी का जन्म ७वीं शती ईसा के मध्य में मद्रास राज्य के सिरकली में हुआ था। तीन वर्ष की बाल्यावस्था में जब उनके पिता मंदिर के तालाब में स्नान कर रहे थे, वे चिल्लाए 'अम्मे अप्पा' इसपर भगवान् शिव प्रगट हुए और पार्वती ने दिव्य बालक को दूध पिलाया तथा शिवज्ञान प्रस्तुत किया। पिता की वापसी पर बालक ने अपना पहला 'तेवरम' गाया।

अपने पिता के कंधों पर बैठकर संबंदर ने दक्षिण भारत के पवित्र स्थलों की यात्रा की। मार्ग में वे तेवरम् गाते और चमत्कार दिखाते चलते थे। इस प्रकार तिरुकोलक्का में उन्हें स्वर्ण मजीरा प्राप्त हुआ, तिरुनैलवोइल में उन्हें मोती की पालकी तथा छत्र प्राप्त हुआ। तिरुपचिलचिरमम् में उन्होंने मुखिया की पुत्री को रोग से मुक्त किया। तिरुमहल में उन्होंने सर्पदंश से मृत एक व्यापारी को पुनर्जीवित किया, तिरुवोइमूर में भगवान् को प्रकट कर दिखाया; मदुरै में पांड्य राजा का भयंकर रोग ठीक किया। मदुरै में उन्होंने जैनों को चुनौती दी और उन्हें पराभूत किया।

नल्लुरपेरुमनम में संबंदर ने नंबियंदर नंबि की पुत्री से विवाह किया। वैकासी मूल दिवस पर केवल सोलह वर्ष की उम्र में जब उन्होंने गाना गाया, तब एक दैवी ज्वाला दृष्टिगोचर हुई जिसमें वे अपनी पत्नी के साथ प्रविष्ट हुए।

संबंदर शैववाद के शक्तिशाली समर्थक थे। उन्होंने उपदेश दिया कि मुक्ति सत्पुत्र मार्ग से प्राप्त हो सकती है। भक्ति द्वारा ही भगवान् के चरणकमल तक पहुँचा जा सकता है जो सर्वोच्च है एवं सुख दुःख तथा अच्छे बुरे से ऊपर है।

संबंदर की रचनाओं की प्रसिद्धि एक हजार गीतों से है जो तीसरी तिरुमुरे मे विभक्त है। इसके अंतर्गत केवल ३४८ तेवरम् हैं। संबंदर के तेवरम् अपने उपमा सौंदर्य, अर्थ एवं माधुर्य के कारण बेजोड़ हैं। संबंदर के जीवन तथा रचनाओं के संबंध में पर्याप्त जानकारी सुंदरार और अप्पार के तेवरमों में और सेक्किलर तथा नंबियंदर नंबी की रचनाओं में मिलती है।

का० सुब्रमनिया पिल्ले और सी० शिवज्ञानम पिल्ले के मूल्यवान शोध कार्यों द्वारा हमें संबंदर तथा उनके काल के संबंध में और भी अधिक बातें ज्ञात हुई हैं।

संबंदर के अन्य नाम अलुदे पिल्लैयर, पलरावोयार, मुनमिलविरहर इत्यादि हैं।

[एन० वी० रा०]

संबलपुर (Sambalpur) १. जिला, यह भारत के उड़ीसा राज्य का जिला है। इसका क्षेत्रफल ६,७६३ वर्ग मील तथा जनसंख्या १४,९८,२७१ (१९६१) है। महानदी इस जिले को असमान भागों में विभक्त करती है। यह नदी ९० मील तक नौगम्य है। यह जिला तरंगित समतल है, जिसमें नतोन्नत पहाड़ियाँ हैं। इनमें से सबसे बड़ी पहाड़ी ३०० वर्ग मील में फैली हुई है। जिले में महानदी के पश्चिमी भाग में सघन खेती होती है और पूर्वी भाग के अधिकांश मे जंगल हैं। जिले में हीराकुड पर बाँध बनाकर सिंचाई के लिये जल एवं उद्योगों के लिये विद्युत् प्राप्त की जा रही है। महानदी और इब नदी के संगमस्थल के समीप हीराकुड में स्वर्णबालू एवं हीरा पाया गया है।

२. नगर, स्थिति : २१° ३०' उ० अ० तथा ८४° ३' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का नगर एवं प्रशासनिक केंद्र है। नगर महानदी के बाएँ किनारे पर स्थित है। नगर में सूती वस्त्र और टसर रेशम के वस्त्र बुनने का कुटीर उद्योग है और अधिकांशतः हथकरघे का ही उपयोग होता है। नगर की पृष्ठभूमि में वनाच्छादित पहाड़ियाँ स्थित हैं, जिनके कारण नगर सुंदर लगता है। नगर की जनसंख्या ३८,९१५ (१९६१) है।

[अ० ना० मे०]

संभाजी (जन्म, १६५७; मृत्यु, १६८९) उग्र, उद्धत, तथा अदूरदर्शी संभाजी केवल साहस को छोड़कर अन्य चारित्रिक विशेषताओं में अपने पिता, शिवाजी से विपरीत प्रकृति का था। नौ वर्ष की अवस्था में शिवाजी की प्रसिद्ध आगरा यात्रा में वह साथ गया था। औरंगजेब के बंदीगृह से निकल, शिवाजी के महाराष्ट्र वापस लौटने पर, मुगलों से समझौते के फलस्वरूप, संभाजी मुगल सम्राट् द्वारा राजा के पद तथा पंचहजारी मंसब से विभूषित हुआ। औरंगाबाद की

मुगल छावनी में, मराठा सेना के साथ, उसकी नियुक्ति हुई (१६६८)। शिवाजी के राज्याभिषेक के बाद ही, संभाजी के दुश्चरित्र का प्रमाण पाने पर शिवाजी ने उसे दंडित किया (१६७६)। जब उसका कोई प्रभाव न पड़ा तो पन्हाला के किले में उसे नजरबंद कर दिया गया (१६७८)। इस नियंत्रण से विद्रोह कर संभाजी पन्हाला से भागकर मुगल सेनानायक दिलेर खाँ से जा मिला (१६ दिसंबर, १६७८)। किंतु दिलेर खाँ के अत्याचार से विमुख होकर वह पुन: पन्हाला आ गया। शिवाजी की मृत्यु के बाद कुछ लोगो ने संभाजी के अनुज राजाराम को सिंहासनासीन करने का प्रयत्न किया। किंतु संभाजी ने राजाराम और उसकी माता को बंदी बनाकर स्वयम् को छत्रपति घोषित कर दिया (२० जुलाई, १६८०)। १० जनवरी, १६८१ को उसका विधिवत् राज्याभिषेक हुआ। इसी वर्ष औरंगजेब के विद्रोही पुत्र अकबर ने दक्षिण भाग कर संभाजी का आश्रय ग्रहण किया। फलत: संभाजी और मुगलों का तुमुल संघर्ष छिड़ गया। छह साल अकबर संभाजी के आश्रय में रहा। १६८१ में राजाराम के समर्थकों ने संभाजी की हत्या का विफल षड्यंत्र किया। इसका उसने भीषण प्रतिशोध लिया। अनेक सामंतों के साथ उसने अपनी विमाता की भी हत्या कर दी। १६८३ में उसने पुर्तगालियों को पराजित किया। किंतु जब औरंगजेब ने बीजापुर तथा गोलकुंडा राज्यों को समाप्त कर पुन: महाराष्ट्र पर आक्रमण किया, तो संभाजी की स्थिति संकटापन्न हो गई। अपने मित्र तथा एकमात्र सलाहकार कविकलश के साथ वह बंदी बना लिया गया (१ फरवरी, १६८९)। दोनों को असीम यंत्रणाएँ सहनी पड़ीं। ११ मार्च, १६८९ को दोनों को मृत्युदंड दिया गया। मृत्यु के समय संभाजी ने जिस असीम साहस का परिचय दिया, उससे नैराश्यपूर्ण महाराष्ट्र में नवस्फूर्ति जाग्रत हो गई।

सं० ग्रं० — जी० एस० सरदेसाई : द न्यू हिस्टरी ऑव द मराठाज; जदुनाथ सरकार : शिवाजी, तथा द हाउस ऑव शिवाजी।

[रा० ना०]

संभाव्यता साधारणत: संभाव्यता का संबंध उस घटना से है जिसके न होने की अपेक्षा घटित होने की अधिक आशा है। इस अर्थ में यह शक्य (possible) से भिन्न है। घटना शक्य तब होती है जब उसके घटने में विरोध नहीं होता। 'वंध्य माता' का होना न तो शक्य है और न संभाव्य ही। 'स्वर्ण पर्वत' संभाव्य नहीं है, परंतु शक्य है।

वैज्ञानिक अर्थ में संभाव्यता का संबंध उस घटना से है जो न तो निश्चित है और न असंभव। यदि निश्चित ज्ञान का प्रतीक 'एक' (१) माना जाय और निश्चित ज्ञान के अभाव का 'शून्य' (०), तब संभाव्यता का स्थान इन्हीं '०' और '१' के मध्य निर्धारित किया जा सकता है।

संभाव्यता के आधार होते हैं। जेवन्स ने संभाव्यता के आधार को आत्मगत माना है। उन्होंने विश्वास को (जो आत्मगत है) संभाव्यता का आधार माना है। यह मत दोषयुक्त बताया गया है, क्योंकि संभाव्यता का संबंध परिमाण से है और विश्वास को मात्रा में व्यक्त करना संभव नहीं है। विश्वास को संभाव्यता का आधार मानना इसलिये भी उचित नहीं जँचता क्योंकि संभाव्यता की गणना होती है और यह गणना विश्वास के साथ संभव नहीं है। वह इसलिये कि जिस वस्तु में विश्वास होता है उसका कभी तो अनुभव नहीं होता और कभी कभी एक अनुभव पर ही दो व्यक्तियों का विश्वास भिन्न भिन्न हो जाता है।

संभाव्यता का संबंध आगमन से है। आगमन निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित है। अत: संभाव्यता को पूर्ण रूप से आत्मगत कहना उचित नहीं, क्योंकि निरीक्षण और परीक्षण विषयगत है।

इन्हीं उपर्युक्त त्रुटियों के कारण कुछ विचारकों ने संभाव्यता को विषयगत प्रमाणित किया है। संभाव्यता अनुभव पर निर्भर करती है। अनुभव विषयगत है। अनुभव के आधार पर ही घटना के होने या न होने में हमारा विश्वास होता है। यह विश्वास आत्मगत है। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि संभाव्यता का आधार अनुभव (विषयगत) और विश्वास (आत्मगत) दोनों ही हैं।

संभाव्यता की गणना गणित द्वारा होती है। घटनाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। अत: उनकी संभाव्यता की गणना की भी रीति भिन्न भिन्न हैं।

सरल घटना की संभावना निकालने के लिये घटना घटित होने की संभावना की संख्या में घटना के होने की संभावना की संपूर्ण संख्या से भाग देते हैं। ताश की ५२ पत्तियों में इस बार खींचने से काला पान का बादशाह निकले, इसकी संभावना जानने के लिये नियम है :

$$\frac{\text{घटनेवाली घटना की संख्या}}{\text{घटने की संपूर्ण संख्या}} \text{ अर्थात् } \frac{१}{५२}$$

अत: काला पान का बादशाह निकलने की संभावना $\frac{१}{५२}$ है।

साथ साथ नहीं घटनेवाली दो घटनाओं में एक घटना घटने की संभावना की गणना के लिये उनकी अलग अलग संभावना को जोड़ देना पड़ता है। ताश की ५२ पत्तियों में गुलाम और बादशाह (जो साथ साथ नहीं हो सकते) किसी एक के निकलने की संभावना है : $\frac{१}{५२} + \frac{१}{५२} = \frac{१}{२६}$

इसी प्रकार दो स्वतंत्र घटनाओं के साथ साथ होने की संभावना उनकी अलग अलग संभावनाओं को आपस में गुणा करके निकालते हैं। इंद्रधनुष (जो तीन दिनों में एक बार दृश्य होता है) तथा वर्षा (जो सात दिनों में एक बार होती है), इन दोनों स्वतंत्र घटनाओं के साथ साथ घटित होने की संभावना होगी : $\frac{१}{३} \times \frac{१}{७} = \frac{१}{२१}$

यही नियम अधीन घटनाओं (जैसे—अफवाह) के साथ भी लागू है।

एकत्रित किए हुए प्रमाण की सत्यता की संभावना को जानने के लिये १ (एक) में से उसकी असंभावनाओं के गुणनफल को घटा देते हैं। अन्यान्य गवाहों द्वारा बताई गई घटना के (जो एकत्रित किए हुए प्रमाण हैं) सत्य होने की संभावना इस प्रकार निकाली जा सकती है : एक गवाही में सत्य होने की संभावना जब $\frac{५}{६}$ है तो उसमें सत्य होने की असंभावना $१ - \frac{५}{६} = \frac{१}{६}$ होगी। फिर दूसरी गवाही में सत्य होने की संभावना जब $\frac{२}{३}$ है तो उसमें असंभावना होगी — $१ - \frac{२}{३} = \frac{१}{३}$

इन दोनों की अलग असंभावनाओं के गुणनफल को १ (एक) में से घटाने पर उत्तर होगा— $\frac{१}{३}\times\frac{१}{६}=\frac{१}{१८}$

$$=१-\frac{१}{१८}=\frac{१७}{१८}$$

इस प्रकार गवाहों द्वारा बताई हुई घटना के सत्य होने की संभावना १७/१८ होगी।

इस प्रकार संभाव्यता की मात्रा संख्या के आधार पर ही निकाली जाती है। अत: संख्या की गणना पूर्ण रूप से नहीं होने पर संभाव्यता की मात्रा निश्चित नहीं की जा सकती। संभाव्यता की गणना के उपरांत जिस निष्कर्ष की प्राप्ति होती है वह औसत के लिये ही सत्य होता है। दूसरे शब्दों में यह कहें कि संभाव्यता औसत (Average) के लिये सत्य होती है। [ज० न० म०]

संभाव्यता (Probability) गणितीय संभाव्यता के यथार्थ अर्थ के विषय में विशेषज्ञों, दार्शनिकों, गणितज्ञों तथा सांख्यिकीविदों में मतभेद है। संभाव्यता में रुचि के प्रारंभिक कारण वाणिज्यबीमा तथा वैध क्रियाविधि में साक्ष्यभार थे। कला एवं साहित्य के पुनर्जागरण काल के प्रारंभ में इटली के नगरों में वाणिज्यबीमा का श्रीगणेश हो गया था। जीवन बीमा की सैद्धांतिक नींव १७ वीं शताब्दी में पड़ी। संभाव्यता-गणित में न्यायिक साक्ष्य के सिद्धांत का १६ वीं सदी के मध्य तक महत्वपूर्ण स्थान रहा। संयोगप्रधान खेलों से संबंधित गणितीय निर्णय पर लूका दी पेसिलो, जेगेम कारदान तथा कला एवं साहित्य के पुनर्जागरण काल के अन्य गणितज्ञों ने विचार किया, परंतु अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई। १७वीं सदी में पास्काल तथा अन्य गणितज्ञों ने इस विषय का 'पाशक ज्यामिति' के रूप में विकास किया। गणित की शाखा के रूप में संभाव्यता सिद्धांत का जन्मदाता बेर्नूली को माना जा सकता है। लाप्लास के कारण संभाव्यता प्रकृति विज्ञान में केवल त्रुटि सिद्धांत के रूप में आई। शीघ्र ही गणितीय संभाव्यता-कलन की सहायता से लोक-वित्त, स्वास्थ्यप्रशासन, चुनाव के संचालन तथा, बीमा के अतिरिक्त, अन्य सामाजिक मामलों से संबंधित सांख्यिकीय सामग्री का वरण होने लगा। १६ वीं सदी के मध्य से संभाव्यता का विकास भौतिक सिद्धांत के एक भाग की भाँति हुआ। इसका सर्वप्रथम आभास ऊष्मा के सिद्धांत में हुआ। तत्पश्चात् संभाव्यता की संकल्पना विज्ञान तथा प्रकृति दर्शन का मूल अभिप्राय हो गई। इस कारण इस विचार के अर्थ तथा संरचना के स्पष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

अमूर्त संभाव्यता-कलन — संभाव्यता की अनेक परिभाषाओं के कारण इसके गणित को इन परिभाषाओं पर आधारित करने के लिये, अनेक वैकल्पिक विधियों का प्रयोग किया गया। इन वैकल्पिक कलनों में उनके मूल विचार के अर्थ के भिन्न भिन्न अभिप्राय लिए गए हैं, परंतु यथेष्ट सीमा तक उनकी तार्किक संकल्पना समान है। इनके अवलोकन से अमूर्त संभाव्यता-कलन संबंधी खोज के प्रयत्नों के लिये प्रवर्तक प्राप्त होता है।

एक प्रकार के अमूर्त कलन का, जिसको वृद्धिघाती (logistic) कह सकते हैं, आविष्कार जे० एम० केंस (१९२१), हैंस राकेनबेक (१९३२) तथा अन्य लेखकों ने किया। इन तंत्रों में संभाव्यता साध्य, अथवा गुण के मध्य अपरिभाषित, संबंधों के रूप में प्रकट होती है।

कल्पना करें कि 'किसी निर्दिष्ट a/h h की संभाव्यता' को संकेत से सूचित किया गया है। यह कहना प्राय: सुविधाजनक रहता है कि a एक 'घटना' और h कोई 'अवस्था' अथवा 'प्रमाण' है। यह कल्पना करना आवश्यक नहीं है कि कोई युगल साध्य (अथवा गुण) फलन कि एक संख्यात्मक मान को निर्धारित करता है; परंतु यदि कोई संख्यात्मक संभाव्यता है, तो उसको निम्नलिखित चार अभिधारण को संतुष्ट करना चाहिए :

(i) $a/h \geqslant 0$; (ii) $h/h = 1$

(iii) $a/h +$ (नहीं $- a)/h = 1$ पूरकता का मूलधन; और

(iv) (a और b)/h = a/h × b/ (h और a), व्यापक गुणन मूलधन।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय अभिधारण से प्रमाणित होता है कि समस्त संभाव्यता मान ० से १ तक के अंतराल में स्थित हैं, जब यह मान लिया जाय कि ० और १ दोनों अंतराल में संमिलित हैं।

चतुर्थ की सहायता द्वारा तृतीय से व्यापक योग सिद्धांत

(a अथवा b) /h = a/h+b/h − (a और b)/h

को सिद्ध कर सकते हैं।

यदि a और b परस्पर निवारक विकल्प हों, तो उनकी संयुक्त घटना की संभाव्यता शून्य है। इस भाँति परस्पर निवारक a और b के लिये

(a अथवा b)/h = a/h + b/h.

इसको विशेष योग सिद्धांत कहते हैं।

यदि a/h = n/(h और b), तो हम कहते हैं कि (संभाव्यता के लिये) a स्वतंत्र है b से (h में)। कलन के आगे के विकास के लिये स्वतंत्रता की कल्पना अति महत्वपूर्ण है। चतुर्थ अभिधारण तथा स्वतंत्रता की परिभाषा से प्रमाणित होता है कि स्वतंत्र a और b के लिये समता

(a और b)/h = a/h × b/h

सत्य है। इसको विशेष गुणन सिद्धांत कहते हैं।

संभाव्यता का बारंबारता सिद्धांत — लौकिक भाषा में किसी निर्दिष्ट h की संभाव्यता का अर्थ वह सापेक्ष बारंबारता है जिससे घटना a घटित होती है, जबकि प्रतिबंध h परिपूर्ण हो जाते हैं। दूसरे शब्दों मे किसी निर्दिष्ट h की संभाव्यता उन h की साध्य है, जो a की हैं।

संभाव्यता का परास सिद्धांत — इस सिद्धांत की व्याख्या सरलतम रूप में निम्न प्रकार से की जा सकती है :

हम h का वैकल्पिक प्रतिबंध की संख्या n में विश्लेषण करते हैं। h परिपूर्ण हो जाता है, का अर्थ है कि या तो h_1 अथवा··· अथवा h_n परिपूर्ण हो जाता है। इनमें से कुछ विकल्प, माना m, a की घटना का अनुक्रम बंधन करते हैं। शेष − a ऋण (minus) नहीं की घटना का अनुक्रम बंधन करते हैं। एक

पारस्परिक शब्दावली के आधार पर हम विकल्प के प्रथम वर्ग को a का अनुकूल और द्वितीय को a का प्रतिकूल कहते हैं। किसी निर्दिष्ट h की संभाव्यता अनुपात, m : n, है, अर्थात् अनुकूल विकल्प की संख्या तथा समस्त विकल्प की संख्या का अनुपात है।

किसी साध्य (अथवा गुण) के लिये सत्य (परस्पर निवारक) विकल्प को परास कहना स्वाभाविक ही है। पूर्वोक्त चिरप्रतिष्ठित परिभाषा को अब निम्न प्रकार से व्यापक बनाया जा सकता है।

किसी निर्दिष्ट h की संभाव्यता h— और — a के परास की माप और केवल h के परास की माप का अनुपात है; अर्थात्

$$\frac{a}{h} = \frac{mr\ (h \text{ और } a)}{Df\ \ mr\ (h)}$$

अनधिमान का सिद्धांत — संभाव्यता के परास सिद्धांत में मुख्य कठिनाई परास की माप के कारण है। यह कठिनाई इस प्रश्न के साथ संश्रित है कि किस प्रकार से साध्य (अथवा गुण) का विकल्प में विश्लेषण किया जाय। सामान्यतः माप के चुनाव और आँकड़ों के विकल्पों में विश्लेषण की अनेक संभावनाएँ हैं। अनधिमान के सिद्धांत की चिरप्रतिष्ठित परास परिभाषा के, जिसका आवश्यक पूरक यह परंपरा से समझा जाता रहा है, संबंध मे व्याख्या की गई है।

संभाव्यता व्यक्तिनिष्ट अथवा वस्तुनिष्ट — बेर्नूली और लाप्लास दोनों इस विचार के थे कि प्रत्येक घटना का एक पर्याप्त कारण होता है, जिसके विषय में हम अज्ञानी हो सकते हैं। प्रकृति की अनिर्धारिता नहीं अपितु मनुष्य की अज्ञानता संभाव्यता की मुख्य कमानी है। इसी कारण बेर्नूली ने संभाव्यता को निश्चितता की मात्रा कहा है। अनेक लेखकों ने संभाव्यता को विश्वास की मात्रा कहा है। इसका मनोवैज्ञानिक अथवा व्यक्तिनिष्ठ आशय है, जिसके कारण विषय में संभ्रांति अधिक मात्रा मे आई। इससे सुझाव मिलता है कि संभाव्यता के सिद्धांत मनोवैज्ञानिक तथ्यों से संबंधित गणितीय नियम हैं, अर्थात् वह प्रकार जिसमें मनुष्य अपने विश्वास को अनुमान योग्य घटना मे 'वितरित' करता है।

सापेक्ष बारंबारता के रूप में संभाव्यता की परिभाषा स्पष्ट रूप से वस्तुनिष्ठ है। इसी भाँति सापेक्ष माप के रूप में संभाव्यता की परिभाषा वस्तुनिष्ठ है, यदि वह अनधिमान के चिरप्रतिष्ठित सिद्धांत की भाँति, माप विधि ज्ञान (अथवा अज्ञान) की दशा की ओर निर्देश नहीं करती।

बेर्नूली का प्रमेय — कल्पना करें कि h के किसी अवसर पर घटित घटना a की संभाव्यता h के पूर्व अवसर पर घटित होने या न होने से अप्रभावित रहती है, अर्थात् a की घटना एक दूसरे की संभाव्यता से स्वतंत्र है। कल्पना करें कि यह संभाव्यता p है। विशेष गुणन तथा योगफल के सिद्धांत का प्रयोग h के n अवसर पर घटना a के अंतराल $p \pm e$ में, किसी सापेक्ष बारंबारता के साथ अनुभव होने के संभाव्यतागणन मे, कर सकते हैं। इस द्वितीय संभाव्यतांश के प्रतिफल से सिद्ध कर सकते है कि :

(१) n अवसरों पर घटना की सापेक्ष बारंबारता का अधिकतम संभाव्य मान वह मान है, जो उसकी संभाव्यता p के निकटतम है।

(२) n अवसरों पर घटना की सापेक्ष बारंबारता का उसकी संभाव्यता p से किसी संख्या e की, जो कितनी भी लघु क्यों न हो, मात्रा से कम के विचल की संभाव्यता की सीमा १ होती है, जब n में अनियतरूपेण वृद्धि की जाती है। इस भाँति, लौकिक भाषा में, अंत में घटना उसकी संभाव्यता की सापेक्ष बारंबारता के साथ लगभग निश्चित रूप से अनुभव होगी।

वर्धमान संभाव्यता के अनंतस्पर्शी गुण की, निम्नलिखित उदाहरण द्वारा, व्याख्या की जा सकती है :

किसी सिक्के को ऊपर फेंकने पर चित (अथवा मूर्तभाग) और पट (अथवा अक्षर भाग) की संभाव्यता १/२ है। परिणाम संभाव्यता के लिये स्वतंत्र है : किसी पूर्व फेंकने में प्राप्त चित और पट का कोई संचय अगली बार ऊपर को फेंकने में चित अथवा पट आने की संभाव्यता को प्रभावित न कर सकेगा।

इस महत्वपूर्ण प्रमेय को बेर्नूली का प्रमेय कहते हैं। तथ्य के रूप में यह उस वर्ग के साध्य का प्रथम सदस्य है जिसको बृहत् संख्या का नियम कहते हैं। इस नाम का सर्वप्रथम प्रयोग प्वासाँन् ने १८३७ ई० में किया।

प्रतिलोम संभाव्यता — १७६३ ई० में टॉमस बेज़ ने यह सिद्ध किया कि यदि n स्वतंत्र अवसर पर किसी घटना की सापेक्ष बारंबारता m : n हो, तो घटना की संभाव्यता का अधिकतम संभाव्यमान भी m : n होगा, यदि इस संभाव्यता का आदिगृहीत कोई मान उतना संभाव्य है जितना कोई अन्य मान। १७७४ ई० में लाप्लास ने भी इस प्रमेय को स्वतंत्र रूप से सिद्ध किया था। लाप्लास ने यह भी सिद्ध किया कि यदि वर्णित कल्पना सत्य हो, तो अंत में यह लगभग निश्चित हो जायगा कि संभाव्यता का अपनी सापेक्ष बारंबारता से संपात होता है।

बेज-लाप्लास प्रमेय बेर्नूली के प्रमेय का प्रतिलोम है और बारंबारता के आधार पर संभाव्यता-प्राक्कलन की प्रतिलोम संभाव्यता के चिरप्रतिष्ठित सिद्धांत का मध्य प्रस्तर है। लाप्लास और उसके अनुयायियों ने इस सिद्धांत का विकास किया और इसको अनेक प्रयोगों में प्रयुक्त किया।

प्रतिलोम संभाव्यता की एकिलिज एड़ी पूर्वगृहीत संभाव्यता पर उसकी निर्भरता है। प्रतिलोम संभाव्यता अब भी विवादास्पद विषय है। आर० ए० फिशर आदि शोधकर्ताओं ने इसको पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया है।

अनंतस्पर्शी संभाव्यता और नैतिक दृढ निश्चय का सिद्धांत — भूतकाल में प्रायः यह अनुमान लगाया जाता रहा कि बेर्नूली के प्रमेय के नाते, अंत में घटना संभाव्यता अनुपाती संख्या में घटित होगी (ए० डे मॉरगन, सन् १८३८), परंतु यह गंभीर त्रुटि है। प्रमेय केवल यह कहता है कि बारंबारता की संभाव्यता से संपात की संभावना अधिकाधिक हो जाती है, और यह, अपने आपसे, अंत में भी वास्तविक बारंबारता के विषय में किसी निष्कर्ष का समाश्वासन नहीं देता।

इस कल्पना मे छिपी त्रुटि कि बेर्नूली नैश्चित्यांश संभावना की व्यक्तिनिष्ठ संकल्पना को बेर्नूली का प्रमेय बारंबारता के पदों

में वस्तुनिष्ठ संकल्पना से संयुक्त करता है। इसे सर्वप्रथम आर० लेज़ली एलिस ने १८४३ ई० में समझा तथा निर्णायक रूप से इसकी समालोचना की। तो भी, बेर्नूली के प्रमेय और संभाव्यता के अन्य अनंतस्पर्शी सिद्धांत् (बृहत संख्या के नियम) को बिना तार्किक त्रुटि के संभाव्यता से सांख्यिक बारंबारता को संयुक्त करने में प्रयोग के लिये एक अन्य विधि है। इसको निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं :

कल्पना करें कि बारंबारता के अवलोकन से, अथवा परास के प्रतिफल से, अथवा किसी अन्य स्रोत से, हम किसी h की संभाव्यता की परिकल्पना करते हैं। इस परिकल्पना से हम परिकलन करते हैं कि यह "लगभग", अथवा बेर्नूली के शब्दों में "नैतिक रूप से", निश्चित है (माना कि ०·९५ तक संभाव्य) कि n परीक्षण की श्रेणी मे घटना की सापेक्ष बारबारता अपनी संभाव्यता से एक भिन्न (माना ०·०१) से कम से विचलित होगी है। अब हम एक स्वयं तथ्य ग्रहण कर सकते हैं कि अति असंभाव्य घटनाएँ "लगभग अपवर्जित" हैं अथवा "नैतिक नैश्चित्य" का पूर्ण नैश्चित्य की भाँति उपचार करना चाहिए। इस स्वय तथ्य का वास्तव में बेर्नूली ने सुझाव दिया था और इस कारण इसको बेर्नूली के दृढ़ निश्चय का नैतिक सिद्धात कह सकते है। इसका ग्रहण करना वैज्ञानिक और अनुप्रयुक्त प्रयोजन मे संभाव्यतागणन के वास्तविक प्रयोग से भलीभाँति संवेधन करता प्रतीत होता है। यदि प्रेक्षित बारंबारता नैतिक दृढ़ निश्चय के सिद्धांत के विरोध में हो, तो परिकल्पना में संशोधन कर देते हैं, अथवा उसको अस्वीकृत कर देते हैं। वास्तव में नैतिक दृढ़ निश्चय की सीमा मूल्य-सापेक्ष है और उसका किसी एक, अथवा अन्य मान, पर अनतिम रूप से नियत करना प्रत्येक स्थिति के लिये विशिष्ट परिस्थिति के समूह पर निर्भर रहेगा। इन परिस्थितियों का विश्लेषण एवं मूल्याकन सांख्यिकीय सिद्धात का वृहत् कार्य है।

क्या संभाव्यता के एक अथवा अनेक अर्थ हैं? संभाव्यता के निम्नलिखित प्रयोग की तुलना करें :

(१) एक सामान्य छह पक्षवाले ठप्पे के 'छठे' पक्ष के ऊपर आने की संभाव्यता १/६ है।

(२) इस बात की संभाव्यता कि शेक्सपियर ने वह नाटक स्वयं लिखे थे, जो उसके लिखे बताए जाते हैं, बहुत अधिक है।

(३) फ्रेनेल के प्रयोगों ने प्रकाश के उर्मिल सिद्धांत की संभाव्यता में वृद्धि कर दी।

क्या तीनो कथन में संभाव्यता का अर्थ समान है ?

बारंबारता सिद्धांत का वर्तमान काल का मुख्य प्रस्ताव करनेवाले, हैंस राकेनबेक, के अनुसार संभाव्यता का केवल वैज्ञानिक अर्थ है। पूर्वोक्त द्वितीय उदाहरण के रूप का कथन, जिसका एक व्यक्तिगत घटना से संबंध है, अक्षरशः अर्थहीन है, परंतु समान परिस्थिति मे सामान्यतः स्थिति के कथन के रूप में उसकी पुनः व्याख्या की जा सकती है। तृतीय प्रकार के कथन को, जो संभाव्यता का सामान्य साध्य (प्रकृति के नियम, सिद्धांत, परिकल्पना) से संबंध लगाता है, या तो सफल भविष्यकथन के अनुपात को, अथवा एक वर्ग में सत्य सिद्धांत के अनुपात को, निर्देश करनेवाली बारंबारता की व्याख्या दी जा सकती है।

जे० एम० केंज ने भी संभाव्यता का एकार्थक रूप लिया, यद्यपि नितांत भिन्न आधार पर। केंज के अनुसार, पूर्वोक्त द्वितीय और तृतीय उदाहरण के रूप के कथन के द्वारा प्रस्तुत कठिनाई निर्दशित करती है कि संभाव्यता की कल्पना बारंबारता सिद्धांत की, अथवा किसी अन्य सिद्धान जिसके अनुसार संभाव्यता की माप राशि होना आवश्यक है, संकल्पना से अधिक व्यापक है। व्यापक रूप में संभाव्यता परिमेय विश्वास (जिसका मापक होना आवश्यक नहीं) का एक अंश है।

जिन्होंने संभाव्यता के दोहरे अर्थ की वकालत की है, उन्होंने ऐसा साधारणत तृतीय प्रकार की स्थिति, अथवा प्रकृति के नियम की संभाव्यता तथा अन्य प्रकार की संभाव्यता, में विषमता दिखाने की इच्छा से किया है। जेकब फ्रीडिश फ्रीस ने 'गणितीय संभाव्यता' से भेद करने के लिये 'नियम की संभाव्यता' को दार्शनिक संभाव्यता कहा। यह भेद १९वीं सदी के अनेक तार्किकों एवं दार्शनिकों ने अपनाया। 'दार्शनिक संभाव्यता' सैद्धांतिक रूप में असंख्यात्मक समझी जाती थी।

रूडॉल्फ कारनाप ने कुछ भिन्न प्रकार की संभाव्यता के दोहरे अर्थ का विकास किया। संभाव्यता की दो कल्पनाओं में से प्रथम (जिसको उसने "पुष्टि की डिग्री" भी कहा) परास सिद्धात की भावना की संभाव्यता है। दोनो संकल्पनाएँ गणनीय है और अमूर्त कलन की वैकल्पिक व्याख्या समझी जा सकती हैं। कारनाप ने दोनो सिद्धातों के विरोधी दावों के समाधान के लिये संभाव्यता की दोनों संकल्पनाओं के प्रयोग के उचित क्षेत्र नियत किए। तो भी कठिनाई की दृष्टि से, जो दोनों सिद्धांतों को संभाव्यता के प्रस्तावित विश्लेषण में उठानी पड़ती है, यह सत्य नहीं समझा जा सकता कि समाधान पूर्णतया संतोषजनक है। [रा० कु०]

संमिश्र संख्याएँ उस संख्या को संमिश्र संख्या (Complex Number) कहते हैं जिसमें $\sqrt{(-१)}$ आता है। $य^२+४=०$ जैसे समीकरणों का कोई वास्तविक मूल नहीं होता। किंतु यदि हम मान लें कि $\sqrt{(-१)}$ भी कोई संख्या है तो ऐसे समीकरणों के भी मूल निकल आते हैं। इस प्रकार के समीकरणों के हल करने से ही संमिश्र संख्याओं का आरंभ होता है।

$य^२+१=०$ के मूल $\sqrt{(-१)}$ को काल्पनिक संख्या* कहते हैं। इसे हम $ग$ से निरूपित करेंगे। यदि हम यह मान लें कि काल्पनिक संख्याएँ भी साधारण संख्याओं के नियमों का पालन करती है, तो उपरिलिखित समीकरण का मूल $\sqrt{(-४)} = \sqrt{(४)}\sqrt{(-१)} = २ग$। समस्त काल्पनिक संख्याओं में $ग$ निहित रहता है, जैसे

$$\sqrt{(-९)} = \sqrt{(९)} \times \sqrt{(-१)} = ३\sqrt{(-१)} = ३ग;$$
$$\sqrt{(-७)} = \sqrt{(७)}\sqrt{(-१)} = ग\sqrt{(७)};$$
$$\sqrt{(-४८)} = \sqrt{(१६\times ३)}\sqrt{(-१)} = ४ग\sqrt{(३)}।$$

संमिश्र संख्याएँ — **सबसे साधिक संख्याएँ क+ए ख के रूप** की होती हैं, जिसमें क, ख दोनों वास्तविक संख्याएँ हैं और ए= √(−१)

उदाहरणतः २+३ए तथा ७+ √(६३) ए संमिश्र संख्याएँ हैं।

स्पष्ट है कि प्रत्येक संमिश्र संख्या के दो भाग होते हैं : वास्तविक भाग और काल्पनिक भाग। ३ + √(−४) में ३ वास्तविक भाग और √(−४), अर्थात् २ए, काल्पनिक भाग है।

$$\surd(-६३)+\surd(८४) = \surd(-१)\times\sqrt{९\times७}+\surd(२१\times४) = ३ए\surd७ + २\surd(२१)।$$

इस संख्या में २√(२१) वास्तविक भाग है और ३ए √७ काल्पनिक भाग।

दो वास्तविक संख्याओं में से हम यह बता सकते हैं कि कौन सी बड़ी है और कौन सी छोटी। दो काल्पनिक संख्याओं की तुलना भी की जा सकती है। यदि हम तुलना की कसौटी यह मानें कि वह संख्या बड़ी है जिसमें ए का गुणांक बड़ा है, तो स्पष्ट है कि √(−२४) और √(−३६) में दूसरी संख्या बड़ी है। किंतु किसी वास्तविक संख्या की किसी काल्पनिक संख्या से तुलना नही की जा सकती। √(२४) और √(−३६) में से हम नहीं बता सकते कि कौन सी संख्या बड़ी है और कौन सी छोटी, क्योंकि ये दोनों संख्याएँ भिन्न भिन्न प्रकार की हैं, ठीक उसी तरह जैसे यदि कोई यह पूछे कि "एक पुस्तक और १०० रुपयों में से कौन बड़ा है और कौन छोटा" तो हम कोई उत्तर नही दे सकते।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दो संमिश्र संख्याओं की तुलना की जा सकती है। हमें प्रारंभ में ही यह नियम बनाना पड़ेगा कि दो संमिश्र संख्याएँ क + ए ख और ग + ए घ तभी बराबर मानी जाएँगी जब क = ग और ख = घ।

यदि हम यह याद रखें कि ए² = −१ तो संमिश्र संख्याओं के जोड़ और गुणा के नियम सरलता से निकल सकते हैं। उदाहरणतः

$$(क+ए ख) + (ग+ए घ) = क+ग+ए(ख+घ);$$

$$(क+ए ख)(ग+ए घ) = कग-खघ+ए(कघ+खग)।$$

इन नियमों की सहायता से हम यह सरलता से सिद्ध कर सकते हैं कि संमिश्र संख्याएँ बीजगणित के निम्नलिखित आधारभूत नियमों का पालन करती हैं :

साहचर्य नियम (Association law)

$$अ + (इ+उ) = (अ+इ) + उ,$$
$$अ(इउ) = (अइ) उ।$$

क्रमविनिमय नियम (Commutation law)

$$अ + इ = इ + अ,$$
$$अइ = इअ।$$

वितरण नियम (Distribution law)

$$अ(इ+उ) = अइ+अउ।$$

उदाहरण के लिये हम क्रमविनिमय नियम का दूसरा खंड लेते हैं। मान लीजिए

$$अ = क+ए ख,\ इ = ग+ए घ।$$

$$\text{तो}\quad अइ = (क+ए ख)(ग+ए घ) = (कग-खघ) + ए(कघ+खग),$$

$$\text{और}\quad इअ = (ग+ए घ)(क+ए ख) = (गक-घख) + ए(गख+घक) = (कग-खघ) + ए(कघ+खग) = अइ।$$

हम किसी भी वास्तविक संख्या ट को इस प्रकार लिख सकते हैं : ट+०ए। इस प्रकार, समस्त वास्तविक संख्याएँ संमिश्र संख्याओं का ही विशिष्ट रूप बन जाती हैं; केवल उनके काल्पनिक भाग शून्य हैं।

ज्यामितीय निरूपण — वास्तविक संख्याओं को हम ऋजु रेखा के बिंदुओं से निरूपित करते हैं। संमिश्र संख्याओं को निरूपित करने के लिये दो अक्ष लिए जाते हैं, जो परस्पर लंब रहते हैं। संख्या के वास्तविक भाग को य अक्ष से और काल्पनिक भाग को र अक्ष से निरूपित करते है। इस पद्धति में, संख्या ३+४ए को उस बिंदु से निरूपित करेंगे जिसका भुज ३ हो और कोटि ४। अत बिंदु (३,४) संख्या ३+४ ए का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार के चित्र को गणितज्ञ आर्गँड के नाम पर आर्गँड रेखा कहते हैं। यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि इस प्रकार के ज्यामितीय निरूपण से संमिश्र संख्याओं द्वारा बीजगणित के आधारभूत नियमो के पालन में कोई असंगति नही आती।

सं० ग्रं० — डी० ई० स्मिथ : ए सोर्स बुक इन मैथेमैटिक्स (१९२९); एल० ई० डिक्सन : एलिमेंटरी थ्योरी ऑव इक्वेशन्स; जे० एल० कूलिज : दि ज्योमेट्री ऑव दि कॉम्प्लेक्स डोमेन।

[व्र० मो०]

संमिश्रण (Adulteration अपमिश्रण) किसी व्यापारिक वस्तु में किसी अन्य सस्ती वस्तु को मिला देना अथवा उसके वर्ग (grade) को खराब कर देना संमिश्रण या अपमिश्रण कहलाता है। संमिश्रित वस्तु असली या मौलिक वस्तु बनाकर बेची जाती है किंतु वास्तव में यह उसकी नकल मात्र होती है। अतः संमिश्रण में कपट का अंश स्वाभाविक रूप से विद्यमान होता है। व्यापार में अत्यधिक या अवैध लाभ कमाने के लिये संमिश्रण किया जाता है; अतः यह आवश्यक है कि जिस वस्तु का संमिश्रण के लिये प्रयोग हो वह उस वस्तु से सस्ती हो जिसमें उसका संमिश्रण किया जाता है। संमिश्रण से उपभोक्ता या क्रेता को हानि या क्षति होती है, और कभी कभी यह भयानक रूप धारण कर लेती है। द्वितीय महायुद्ध के समय में क्लोरोमाइसटीन (chloromycetine) नामक औषधि की खाली शीशी में सफेद तरल पदार्थ भरकर बेचना भारत मे एक सामान्य सी बात हो चली थी जिससे मोतीझरा (typhoid) के रोगियों को, जिनके लिये यह औषधि अचूक है, बहुधा अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था।

बहुधा खाद्य सामग्रियों, औषधियों एवं कांतिवर्धक पदार्थों (cosmetics) में संमिश्रण किया जाता है; किंतु इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मुनाफाखोर व्यापारी (profiteers) ठेके के व्यवसाय में, सार्वजनिक भवनों के निर्माण में सीमेंट के स्थान पर बालू

प्रयुक्त करते पाए जाते हैं; और इसी प्रकार ऊनी माल के निर्माता सूत मिले कपड़ों को शुद्ध ऊनी माल कहकर बेचते देखे जाते है। दूध में से कभी कभी मक्खन निकाल लिया जाता है और फिर उसमें इस प्रकार का एक पीला रंग मिलाया जाता है कि वह असल दूध सा प्रतीत होने लगे। सबसे भयानक संमिश्रण वह होता है जब विषैली या सड़ी गली या हानिकारक वस्तु संमिश्रण के लिये प्रयुक्त की जाती है। इसका एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। सड़े गले फलों को अच्छे फलों में मिलाकर उन्हें टीन मे बंद करा देना, बोरे में ऊपर से अच्छा और नीचे खराब आटा भर देना, और चीनी में लकड़ी का बुरादा मिला देना इसके अन्य उदाहरण हैं।

समिश्रण का आरंभ पूर्व-ऐतिहासिक काल में हुआ जान पड़ता है क्योंकि सभ्य जगत् के आदिकाल से ही इसके उदाहरण मिलते है। विशेषतया मध्यकाल में इसके लिखित प्रमाण पाए जाते है। इंग्लैंड में जॉन (John) के राज्य में रोटी के संमिश्रण के विरुद्ध सन् १२०३ मे सर्वप्रथम अधिनियम बनाया गया। खाद्य सामग्री की शुद्धता को बनाए रखने के लिये फ्रांस तथा जर्मनी में भी १३वीं शताब्दी मे अधिनियम बनाए गए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में समिश्रण के विरुद्ध नियम बताए गए हैं।

प्रत्येक सभ्य सरकार संमिश्रण (अपमिश्रण) को रोकने का प्रयास विधान बनाकर करती है। संमिश्रण की साधारण क्रियाओं पर छल संबंधी सामान्य विधान (common law) द्वारा रोकथाम की जा सकती है, पर खाद्य पदार्थों तथा ओषधियों के संमिश्रण को रोकने के लिये विशेष विधान बनाना आवश्यक होता है। समस्त देशों का यह सामान्य अनुभव है कि संमिश्रण की रोकथाम के लिये विधान बनाना सरल है पर उसको सफलतापूर्वक लागू करना कठिन है।

समाजवादियों के मत में संमिश्रण पूंजीवादी व्यवस्था के खोखलेपन का उदाहरण है। पूंजीवाद की कड़ी आलोचना करते समय वे इस बात पर बल देते है कि संमिश्रण व्यापारिक छल का जीता-जागता उदाहरण है और इससे उपभोक्ताओं को जो भयानक हानि पहुँचती है उसकी उपेक्षा की जाती है। उनके अनुसार समाजवाद के अंतर्गत समस्त उत्पादन सरकार के नियंत्रण में होगा और लाभ की भावना का लोप हो जाने के कारण संमिश्रण का प्रश्न ही नहीं उठेगा तथा उपभोक्ताओं को शुद्ध वस्तुएँ मिल सकेंगी। सार्वजनिक उपक्रमों के पक्ष में भी यह युक्ति दी जाती है। [प्र० ना० अ०]

संमोहन (Hypnotism) द्वारा मनुष्य उस अर्धचेतनावस्था में लाया जा सकता है जो समाधि, या स्वप्नावस्था, से मिलती जुलती होती है, किंतु संमोहित अवस्था में मनुष्य की कुछ या सब इंद्रियाँ उसके वश में रहती हैं। वह बोल, चल और लिख सकता है, हिसाब लगा सकता है तथा जाग्रतावस्था में उसके लिये जो कुछ संभव है, वह सब कुछ कर सकता है, किंतु यह सब कार्य वह संमोहनकर्ता के सुझाव पर करता है।

भारत में अति प्राचीन काल से संमोहन तथा इसी प्रकार की अन्य रहस्यमय, अद्भुत प्रभावोत्पादक, गुप्त क्रियाएँ प्रचलित हैं। अन्य पूर्वी देशों में भी ये अज्ञात नहीं रही हैं। यह निश्चय है कि यदि सबने नहीं तो इनमें से अधिकांश ने इन क्रियाओं का ज्ञान भारत से प्राप्त किया, जैसे तिब्बत ने। नटों, साधुओं तथा योगियों में इन क्रियाओं के जाननेवाले पाए जाते हैं। इन विशिष्ट मंडलों के लोगों को छोड़कर अन्य मनुष्यों में इनका ज्ञान बहुत थोड़ा, या कुछ भी नहीं, रहता। अनधिकारी के ज्ञाता होने से अनिष्ट की आशंका समझ, पूर्वी देशों में इस विषय के समर्थ लोगों ने इसे सर्वथा गोपनीय रखा। इस कारण आज भी इसके संबंध में जो कुछ निश्चित रूप से लिखा जा सकता है वह यूरोप की देन है, जहाँ इसका वैज्ञानिक अध्ययन करने की चेष्टा की गई है।

अठारहवीं सदी के मध्य में फ्रांज ए० मेस्मर नामक वियना के एक चिकित्सक ने सर्वप्रथम संमोहन का अध्ययन प्रारंभ किया। इन्होंने कुछ सफलता तथा बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की, किंतु इस संबंध में जिन सिद्धांतों की इन्होंने कल्पना की वे गलत सिद्ध हुए। जो सिद्धांत आजकल स्वीकृत हैं, उनका विवेचन लीबाल्ट (Liebault) तथा बेर्नहाइम (Bernheim) नामक दो फ्रांसीसी डाक्टरों ने किया था। इनके अनुसार संमोहन का अनिवार्य प्रवर्तक सुझाव या प्रेरणा का संकेत होता है।

स्वरूप — यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि संमोहनकर्ता जादूगर, अथवा दैवी शक्तियों का स्वामी, नहीं होता। मनुष्यों में से अधिकांश प्रेरणा या सुझाव के प्रभाव में आ जाते हैं। यदि कोई आज्ञा, जैसे "आप खड़े हो जायँ" या "कुर्सी छोड़ दें", हाकिमाना ढंग से दी जाय, तो बहुत से लोग इसका तुरंत पालन करते हैं। यह तो सभी ने अनुभव किया है कि यदि हम किसी को उबासी लेते देखते हैं, तो इच्छा न रहने पर भी स्वयं उबासी लेने लग जाते हैं। दूसरों के हँसने पर स्वयं भी हँसते या मुस्कराते हैं तथा दूसरों को रोते देखकर उदास हो जाते हैं।

जो लोग दूसरों के सुझावों को इच्छा न रहते हुए भी मान लेते हैं, वे सरलता से संमोहित हो जाते हैं। संमोहित व्यक्ति के व्यवहार में निम्नलिखित समरूपता पाई जाती है :

आज्ञाकारिता — कुछ लोगों का मत है कि जो मनुष्य पूर्ण रूप से संमोहित हो जाता है वह संमोहनकर्ता की दी हुई सब आज्ञाओं का पालन करता है, किंतु कुछ अन्य का कहना है कि संमोहित व्यक्ति के विश्वासों के अनुसार यदि आज्ञा अनैतिक या अनुचित हुई, तो वह उसका पालन नहीं करता और जाग जाता है।

मिथ्या प्रतीति तथा भ्रम — संमोहनकर्ता यदि कहता है कि दो और दो सात होता है, तो संमोहित व्यक्ति इसे मान लेता है। यदि उसे कहता है कि तुम घोड़ा हो, तो वह व्यक्ति हाथों और घुटनों के बल चलने लगता है।

मतिविभ्रम — संमोहित व्यक्ति को ऐसी वस्तुएँ जो उपस्थित नहीं हैं दिखाई तथा सुनाई जा सकती हैं और उनका स्पर्श वा अनुभव कराया जा सकता है। इस अवस्था में यह भी मनवाया जा सकता है कि वह वस्तु उपस्थित नहीं है जो वास्तव में उपस्थित है। यदि प्रेरणा दी जाए कि जिस कुर्सी पर संमोहित व्यक्ति बैठा है वह वहाँ नहीं है, तो वह व्यक्ति मुँह के बल जमीन पर लुढ़क जाएगा।

ज्ञानेंद्रियों पर प्रभाव — संमोहनकर्ता के सुझाव पर संमोहित व्यक्ति के शरीर का कोई भाग सुन्न हो जा सकता है, यहाँ तक कि उस भाग को जलाने पर भी उसे वेदना न हो। इंद्रियों को तीव्र बनानेवाली प्रेरणा भी कार्यकारी हो सकती है, जिससे संमोहित व्यक्ति असाधारण बल का प्रयोग कर सकता है, या फुसफुसाकर कही हुई बात को भी दूर से सुन सकता है।

परासंमोहन विस्मृति — साधारणतया संमोहनावस्था में हुई सब बातों को संमोहित व्यक्ति भूल जाता है।

संमोहनोत्तर प्रेरणा — व्यक्ति को संमोहनावस्था में दिए हुए सुझावों या आज्ञाओं का, पूर्ण चेतनता प्राप्त करने पर भी, वह पालन करता है। यदि उससे कहा गया है कि चैतन्य होने के दस मिनिट बाद नहाना, तो उतना समय बीतने पर वह अपने आप ऐसा ही करता है।

दैनिक जीवन में संमोहन — प्रति दिन के जीवन में संमोहन के अनेक दृष्टांत मिलते हैं। राजनीतिक या धार्मिक नेता अपने भाषणों से लोगों को संमोहित कर लेते है। आत्मसंमोहन भी संभव है। किसी चमकीली वस्तु पर दृष्टि स्थिर रखकर यह अवस्था उत्पन्न की जा सकती है। अत्यधिक उत्तेजना, भय आदि से मनुष्य संमोहित अवस्था जैसा व्यवहार करने लगता है, या उत्तेजना के क्षण के पहले या बाद की घटनाओं को भूल जाता है। वह कौन है, उसका पिछला जीवन क्या था, यह भी भूल जा सकता है।

आकस्मिक शारीरिक चोट, मानसिक क्षोभ, अथवा उत्तेजना के कारण, हाथ पैर रहते कभी कभी मनुष्य लूले या लँगड़े के सदृश व्यवहार करने लगता है, दृष्टि का लोप हो जाता है, अथवा वह नींद में ही चलने फिरने लग जा सकता है। दृष्टि विभ्रम, या जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। धार्मिक उत्तेजना से संमोहित होकर कुछ लोग अनजाने अर्धचेतनावस्था में हो जाते है और कल्पित दृश्य या वस्तुएँ देखते या सुनते है। बाद में उन्हें विश्वास हो जाता है कि यह सब वास्तविक था।

कुछ लोग संमोहन में कुशल होते है। अन्य लोग इनके प्रभाव में आकर, अर्धचेतनावस्था में कुर्सी, मेज आदि इधर उधर हटा देते है या हिलाते हैं, अनुपस्थित वस्तु देखते या सुनते हैं। श्रद्धा से रोगमुक्ति का आधार भी संमोहन ही है। भीड़ में दूसरों से प्रभावित होकर मनुष्य संमोहित व्यक्ति के सदृश आचरण करने लगता है। भावातिरेक में भीड़ों के विवेकहीन आचरण का यही कारण है।

उपयोग — संमोहन का उपयोग कुछ रोगों को दूर करने में तथा प्रसव में किया जाता है। कुछ चिकित्सकों ने शल्यचिकित्सा में भी इसे वेदनाहर पाया है। संमोहन की कार्यपद्धति से मानस तथा मानसिक रोगों के अध्ययन में सहायता मिलती है।

[भ० दा० व०]

संयुक्त खासी और जयंतिया पहाड़ियाँ जिला, भारत के असम राज्य में है। यह सुरमा घाटी में स्थित है तथा इसका क्षेत्रफल ५,५४६ वर्ग मील एवं जनसंख्या ४,६२,१५२ (१९६१) है। जिले के उत्तर में कामरूप, पश्चिम में गारो पहाड़ियाँ, दक्षिण-पूर्व में कछार तथा पूर्व में संयुक्त मिकिर और उत्तरी कछार पहाड़ियाँ नामक जिले हैं एवं दक्षिण-पश्चिम-दक्षिण में पूर्वी पाकिस्तान है। जिले में पूर्व और पश्चिम की ओर ढालदार कटकों (ridges) के अनुक्रम हैं, जिनके मध्य में उठा हुआ पठार है। दक्षिण की ओर सुरमा घाटी में समुद्रतल से ४,००० से ६,००० फुट ऊँचे पठार हैं। उत्तर में कामरूप की ओर निम्न ऊँचाई के दो पठार है। ३,००० फुट की ऊँचाई पर देशज (indigenous) चीड़ के जंगल हैं। ऐसे चीड़ हिमालय या अन्य जगह नहीं मिलते। ऊँचे कटकों पर ओक, चेस्टनट और मैगनोलिया के वृक्ष उपजते हैं। लगभग २५० प्रकार के ऑर्किड (orchid) भी इन पहाड़ियों पर मिलते हैं। संतरा, सुपारी और अनन्नास जिले की आय के स्रोत हैं। आलू की खेती जिले में होती है और यह बड़े पैमाने पर जिले के बाहर भेजा जाता है। इस जिले का प्रशासनिक केंद्र शिलोंग है, जो असम की राजधानी भी है (देखे शिलौंग)। भारत का सर्वाधिक वर्षावाला स्थान, चेरापूँजी, शिलोंग से २३ मील दक्षिण-दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम में है। खासी के मूल निवासी खसिया तथा जयंतिया के मूल निवासी सिंतेंग (Synteng) कहलाते हैं। [अ० ना० मे०]

संयुक्त राज्य, अमरीका देखें, अमरीका, संयुक्त राज्य।

संयुक्त राष्ट्र महासभा (यूनाइटेड नेशंस असेंबली) संयुक्त राष्ट्र महासभा विश्वसंगठन की सर्वांगीण संस्था है, जिसमें संयुक्त राष्ट्र के समस्त सदस्य राष्ट्रों का सम प्रतिनिधित्व है। महासभा संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के अंतर्गत आनेवाले समस्त विषयों पर तथा संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अंगों की कार्यपरिधि में आनेवाले प्रश्नों पर विचार करती है और सदस्य राष्ट्रों एवं सुरक्षा परिषद् से उचित अभिस्ताव कर सकती है। महासभा के प्रमुख विचारणीय विषय है — नि:शस्त्रीकरण एवं शस्त्रनियंत्रण के सिद्धांत और अंतरराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा संबंधी प्रश्न। महासभा को अंतरराष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि, अंतरराष्ट्रीय विधि का विकास एवं संहिताकरण, मानवमात्र के मौलिक अधिकार आदि विषयों पर अध्ययन की व्यवस्था करके उनपर अभिस्ताव करने का भी अधिकार है। महासभा सुरक्षा परिषद् का ध्यान उन स्थितियों की ओर आकृष्ट कर सकती है जिनसे शांति एवं सुरक्षा को संकट की आशंका है। उपर्युक्त विषयों पर महासभा के प्रस्ताव आदेशात्मक नहीं है परंतु अपने नैतिक बल एवं विश्व जनमत के निर्देशक होने के नाते उनका विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त महासभा सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों और सामाजिक आर्थिक परिषद् एवं न्यासत्व परिषद् के सदस्यों को निर्वाचित करती है और महासचिव एवं अंतरराष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के निर्वाचन में योग देती है। राष्ट्रसंघ के सदस्यों का प्रवेश और निष्कासन भी, सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर, महासभा द्वारा किया जाता है। महासभा के अन्य कृत्यों में राष्ट्रसंघ के बजट का अनुमोदन, न्यास व्यवस्था का पर्यवेक्षण और अन्य अंगों के कार्यों का संयोजन उल्लेखनीय है।

महासभा का नियमित अधिवेशन प्रति वर्ष सितंबर मास से होता है परंतु अधिकांश सदस्यों अथवा सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर, महासचिव विशेष अधिवेशन बुला सकता है। महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिये एक सभापति और सात उपसभापति चुनती है। महासभा का अधिकांश कार्य निम्न सात मुख्य समितियों मे होता है जिनमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के प्रतिनिधि होते हैं (१) राजनीतिक एवं सुरक्षा समिति, (२) आर्थिक एवं वित्तीय समिति, (३) सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति, (४) न्यास समिति, (५) प्रशासन एवं बजट समिति, (६) विधि समिति, और (७) विशेष राजनीतिक समिति। महासभा की दो प्रक्रियात्मक समितियाँ भी हैं (१) सामान्य समिति उपर्युक्त समितियों के कार्यों का समन्वय करती है और (२) प्रमाणपत्र समिति प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों पर विचार करती है। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के निषेधाधिकार प्रयोग से उत्पन्न राष्ट्रसंघ की अकर्मण्यता के निवारण के लिये महासभा ने १९४० में लघु सभा नामक एक अंतरिम समिति की स्थापना की। महासभा के सत्रावसान में महासभा का कार्य लघुसभा कर सकती है और महासभा का अधिवेशन बुला सकती है। महासभा द्वारा १९५० में पास 'शांति के लिये एकता' प्रस्ताव से भी राष्ट्रसंघ में महासभा का महत्व और उत्तरदायित्व विशेष बढ़ गया है। इसके अनुसार, सुरक्षा परिषद् में शांति एवं सुरक्षा के प्रश्नों पर मतैक्य न होने पर, २४ घंटे की सूचना पर महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है जो सामूहिक उपायों का अभिस्ताव और सैनिक कार्यवाही का निर्देश कर सकता है।

महासभा ने पिछले १५ साल में विश्व की विभिन्न जटिल समस्याओं पर विचार किया और कोरिया, ग्रीस, पैलेस्टाइन, स्पेन आदि के प्रश्न पर उचित कार्यवाही की। १९५६ में ब्रिटेन, फ्रांस और इसराइल द्वारा स्वेज पर किए गए आक्रमण को रोकने में महासभा सफल हुई। महासभा को प्राप्त सफलताओं एवं असफलताओं के आधार पर इसका मूल्यांकन करना उचित न होगा। यद्यपि महासभा के निर्णय सदस्यों के लिये आदेशात्मक नहीं हैं, तथापि विश्व इतिहास की सर्वाधिक प्रतिनिधि संस्था होने के नाते अंतरराष्ट्रीय शांति एवं सहयोग की स्थापना के लिये उसका महत्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है।

सं० ग्रं० — केल्सन : दी ला ऑव यूनाइटेड नेशंस; गुडरिच तथा हैंबू : दी चारटर ऑव यूनाइटेड नेशंस; पाटर : इंटरनेशनल ऑर्गेनाइजेशन; बार्टले : दी यूनाइटेड नेशंस। [र० कु० मि०]

संयुत्त निकाय सुत्तपिटक का तीसरा ग्रंथ है। २८८९ सुत्त इसके अंतर्गत हैं। यह पाँच वग्गों (वर्गों) और ५६ संयुत्तों में विभक्त हैं। पाँच वग्गों में क्रमश: ११, १०, १३, १० और १२ संयुत्त संगृहीत हैं। इस निकाय में छोटे और बड़े सुत्तों का समावेश है। तदनुसार नामकरण की बात बताई गई है। लेकिन विषयवार सुत्तों के वर्गीकरण के अनुसार ग्रंथ के नामकरण की सार्थकता को समझना अधिक समीचीन है। अलग अलग संयुत्तों में सुत्तों के वर्गीकरण को मोटे रूप से चार सिद्धांतों के अनुसार समझ सकते हैं : १. धर्मपर्याय, २. भिन्न भिन्न योनियों के जीव, ३. श्रोता, और ४. उपदेशक।

१. पहला वर्गीकरण भगवान् की शिक्षाओं के सारभूत बोधिपक्षीय धर्मों के अनुसार हुआ है, यथा बोज्झग संयुत्त, बल संयुत्त इंद्रिय संयुत्त इत्यादि। २. दूसरा वर्गीकरण उनमें संगृहीत सुत्तो में निर्दिष्ट विभिन्न योनियों के जीवों के अनुसार हुआ है, यथा देवपुत्त संयुत्त, गंधब्ब संयुत्त इत्यादि। ३. तीसरा वर्गीकरण संगृहीत उपदेशों के श्रोताओं के अनुसार हुआ है, यथा राहुल संयुत्त, वच्छगोत्त संयुत्त इत्यादि। ४. चौथा वर्गीकरण संगृहीत सुत्तों के उपदेशकों के अनुसार हुआ है, यथा सारिपुत्त संयुत्त, भिक्खुणी संयुत्त इत्यादि।

संयुत्त निकाय के अधिकांश सुत्त गद्य में हैं, देवता संयुत्त जैसे कतिपय संयुत्त पद्य ही मे हैं और कुछ संयुत्त गद्य पद्य दोनों में है। एक एक संयुत्त मे एक ही विषय संबंधी अनेक सुत्तो के समावेश के कारण इस निकाय में अन्य निकायों से भी अधिक पुनरुक्तियाँ हैं। इसमें देवता, गंधर्व, यक्ष इत्यादि मनुष्येतर जीवों का उल्लेख अधिक आया है।

अन्य निकायों की तरह इस निकाय के सुत्तों का भी महत्व धर्म और दर्शन संबंधी भगवान् की शिक्षाओं मे है। लेकिन प्रकारांतर से उनमें तत्कालीन अन्य धर्माचार्यों के मतों और विचारों, सामाजिक अवस्था, राजनीति, भूगोल इत्यादि विषयों का भी उल्लेख है। यहाँ पर उन सब की चर्चा संभव नही। इसलिये प्रत्येक संयुत्त के मुख्य विषय का निर्देश मात्र करेंगे।

१. सगाथक वग्ग

१. देवता संयुत्त — देवताओं को दिए गए उपदेश। २. देवपुत्त संयुत्त — देवपुत्रों को दिए गए उपदेश। अट्ठकथा के अनुसार प्रकट देव देवता कहलाते है और अप्रकट देव देवपुत्र कहलाते हैं। ३. कोसल संयुत्त — प्रसेनजित् के विषय मे है। इसमें प्रसेनजित् और अजातशत्रु के बीच हुई लड़ाई का भी उल्लेख है। ४. मार संयुत्त — भगवान् और शिष्यों की मारविजय इसका विषय है। बुद्धत्व के बाद भी मार भगवान् को विचलित करने के प्रयत्न में रहता है। ५. भिक्खुणी संयुत्त — वजिरा, उप्पलवण्णा आदि दस भिक्षुणियों की मारविजय और तत्संबंधी उनके उदान। ६. ब्रह्म संयुत्त — सहंपति आदि ब्रह्मों को दिए गए उपदेश। देवदत्त के अनुयायी कोकालिय की दुर्गति का भी उल्लेख इसमें है। ७. ब्राह्मण संयुत्त — ब्राह्मणों को दिए गए उपदेश। ८. वंगीस संयुत्त — प्रतिभावान् वंगीस द्वारा वासनाओं पर विजय। ९. वन संयुत्त — वनवासी भिक्षुओं को दिए गए उपदेश। १०. यक्ख संयुत्त — सूचिलोम आदि यक्षों को दिए गए उपदेश। तथागत की शिक्षाओं से वे भी विनीत बने। ११ सक्क संयुत्त — देवराज शक्र की सज्जनता की प्रशंसा। पुण्य के फलस्वरूप शक्रपद की प्राप्ति। देवासुर संग्राम की कथा।

२. निदानवग्ग

१. निदान सं० — प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण। बारह कड़ियों के अनुसार अनुलोम क्रम से संसार की प्रवृत्ति और प्रतिलोम क्रम से उसकी निवृत्ति २. अभिसमय सं० — आर्यमार्ग की पहली अवस्था

को प्राप्त व्यक्ति को भी प्रमाद न करने की शिक्षा। ३. धातु सं० — अठारह धातुओं का विवरण। धातु शब्द का अन्य अर्थों में भी प्रयोग। ४. अनमतग्ग सं० — अनादि संसार का स्वभाव अनेक उपमाओं द्वारा। ५. कस्सप सं०— यथाप्राप्त भोजनादि प्रत्ययों से संतुष्ट महाकाश्यप के आदर्शमय जीवन की प्रशंसा। ६. लाभसक्कार सं० — लाभसत्कार के पीछे धार्मिक जीवन से पतन। ७. राहुल सं० — अपने पुत्र राहुल को बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेश। ८. लक्खण सं० — प्रेतों की कथा। ९. ओपम्म सं० — इस संयुत्त के प्रत्येक सुत्त में उपमा है। इसमें विषयों के प्रलोभन में न पड़कर जागरूक रहने का उपदेश है। १०. भिक्खु सं० — सारिपुत्त, मोग्गल्लान आदि स्थविरों के उपदेश।

३. खंध वग्ग

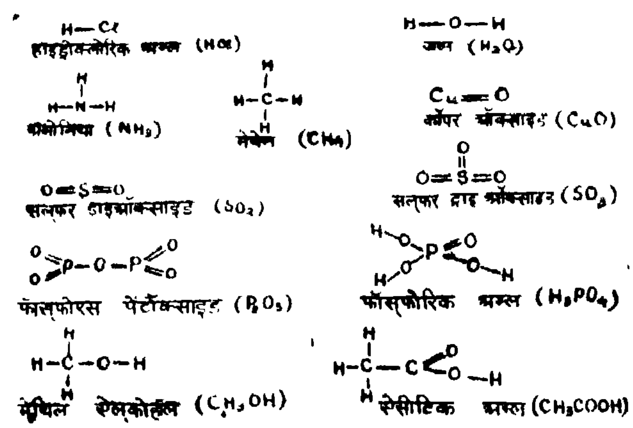
१. खंध सं० — पाँच स्कंधों की अनित्यता, दुःखता और अनात्मता का विवेचन। इन तीन संस्कृत लक्षणों के बोध से ही वासनाओं का निरोध। २. राध सं० — राध के प्रश्नों को दिए गए भगवान् के उत्तर। ३. दिट्ठि सं० — मिथ्या मतवाद पाँच स्कंधों के अज्ञान पर ही आश्रित। ४. ओक्कंतिक सं० — आर्यभूमि में पहुँचने की प्रतिपदा। ५. उप्पाद सं० — इंद्रियों के प्रादुर्भाव के साथ साथ दुःख का भी प्रादुर्भाव। ६. किलेस सं० — चित्तमलों की उत्पत्ति का विवरण। ७. सारिपुत्त सं०— आनंद और सूचिमुखी परिव्राजिका को सारिपुत्र के उपदेश। ८. नाग सं० — चार प्रकार की नाग योनियाँ। ९. सुपण्ण सं० — चार प्रकार की सुपर्ण योनियाँ। १०. गंधब्ब सं० — गंधर्व नामक देवताओं का वर्णन। ११. वच्छगोत्त सं० — पाँच स्कंधों के स्वभाव को न जानने के कारण लोग मिथ्या मतवादों में उलझ जाते हैं। १२. झान सं० — ध्यानों का विवरण।

४. सलायतन वग्ग

१. सलायतन सं० — चक्षुरादि इंद्रियों की आसक्ति के निरोध से अहंभाव का निरोध। २. वेदना सं० — तीन प्रकार की वेदनाओं का विवरण। ३. मातुगाम सं० — स्त्रियों के विषय में ४. जंबुखादक सं० — जंबु को सारिपुत्र का उपदेश। राग, द्वेष और मोह का निरोध ही निर्वाण। अष्टांगिक मार्ग से उसकी प्राप्ति। ५. सामंडक सं० — सामंडक परिव्राजक को सारिपुत्र का उपदेश। विषयवस्तु पूर्वसुत्त के समान। ६. मोग्गल्लान सं० — मौद्गल्यायन द्वारा रूप, अरूप और अनिमित्त समाधियों का विवरण। ७. चित्त सं० — चित्त गृहपति का उपदेश। तृष्णा ही बंधन है, न कि इंद्रिय या विषय। ८. गामणी सं० — भोगविलास और कायक्लेशों के दो अंतों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलने का यह उपदेश कई ग्रामप्रमुखों को दिया गया था। ९. असंखत सं० — असंस्कृत निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग। १०. अब्याकत सं० — अव्याकृत अर्थात् अकथनीय वस्तुओं का निर्देश। [भ०]

संयोजकता (Valency) तत्वों की संयोजन शक्ति (combining power) को संयोजकता का नाम दिया गया है। १९वीं शताब्दी के लगभग मध्यकाल में अंग्रेज रसायनज्ञ फ्रैंकलैंड (Frankland) तथा जर्मन रसायनज्ञ कॉल्बे (Kolbe) ने संयोजकता के विषय में अपनी कल्पनाएँ व्यक्त कीं। फ्रैंकलैंड ने प्रदर्शित किया कि अकार्बनिक (inorganic) यौगिकों में प्रायः एक केंद्रीय तत्व अन्य तत्वों के निश्चित तुल्यांकों से संयोग करता है। उदाहरण के लिये, नाइट्रोजन, फ़ॉस्फ़ोरस तथा आर्सेनिक का एक परमाणु हाइड्रोजन तथा क्लोरीन के तीन अथवा पाँच परमाणुओं से संयोग करके यौगिक बनाता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्त होनेवाले तत्वों की संयोजनशक्ति सदैव अन्य परमाणुओं की निश्चित संख्या से संतुष्ट हो सकती है। अतएव यदि हाइड्रोजन की संयोजकता को इकाई मान लिया जाए, तो किसी तत्व की संयोजकता हाइड्रोजन परमाणुओं की उन संख्याओं के बराबर होगी जिनके साथ उस तत्व का परमाणु संयोग कर सकता है। उदाहरणार्थ, क्लोरीन, ऑक्सीजन तथा कार्बन का एक परमाणु हाइड्रोजन के क्रमशः एक, दो, तीन तथा चार परमाणुओं से संयोग करता है। इसलिये क्लोरीन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन तथा कार्बन की संयोजकताएँ क्रमशः एक, दो, तीन तथा चार हैं। कुछ तत्व हाइड्रोजन के साथ संयोग नहीं करते। ऐसे तत्वों की संयोजकता, क्लोरीन या ऑक्सीजन की संयोजकता को क्रमशः एक या दो मानकर, निकाली जा सकती है। उदाहरण के लिये थोरियम का एक परमाणु क्लोरीन के चार तथा ऑक्सीजन के दो परमाणुओं से संयोग करता है। अतः थोरियम की संयोजकता चार है।

प्रायः तत्वों की संयोजकता को रेखाओं द्वारा दिखलाया जाता है। इन रेखाओं को 'संयोजकता बंधन' (Valency bonds) कहा जा सकता है। इन बंधनों का प्रयोग करते हुए, कुछ सरल यौगिकों के सूत्र नीचे दिखलाए गए हैं :



प्रसिद्ध कार्बनिक रसायनज्ञ केकूले (Kekule) के विचार भी फ्रैंकलैंड के विचारों से मिलते जुलते थे। केवल एक बात में दोनों में तीव्र मतभेद था। जैसा उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, अकार्बनिक यौगिकों में बहुधा एक ही तत्व की संयोजकता विभिन्न यौगिकों में भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिये, PCl_3 तथा PCl_5 यौगिकों में फ़ॉस्फ़ोरस की संयोजकता क्रमशः तीन तथा पाँच है। इसके विपरीत कार्बनिक यौगिकों में, जो अधिकतर कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन के संयोग से बने होते हैं, इन तत्वों की संयोजकता स्थिर, और सब कार्बनिक यौगिकों में क्रमशः चार, एक,

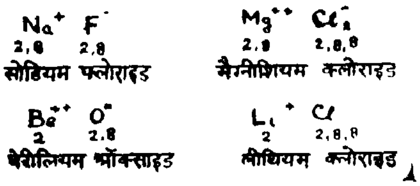
दो तथा तीन, होती है। इनकी संयोजकताओं में साधारणतया कभी अंतर नहीं होता।

संयोजकता के बारे में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होने से रसायनज्ञों को तत्वों के परमाणुभार निकालने में बहुत सहायता मिली है। किसी भी तत्व का परमाणुभार उसके तुल्यांकी भार और संयोजकता के गुणनफल के बराबर होगा। तत्वों के तुल्यांकी भार प्रयोगों द्वारा सरलता से निकाले जा सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे भाग में, जब रूसी महान् वैज्ञानिक मेंडलीफ़ (Mandeleef) ने आवर्त सारणी (Periodic Table) का वर्णन किया, तो उन्होंने साथ ही साथ उस सारणी में किसी तत्व की स्थिति और उसकी संयोजकता का संबंध भी सुस्पष्ट किया। तत्वों को उनके परमाणुभार के क्रम से रखने पर, प्रत्येक तत्व अपने से आठवें तत्व के साथ भौतिक तथा रासायनिक गुणों मे समानता प्रदर्शित करता है। इस प्रकार निष्क्रिय गैसों के आविष्कार के बाद, वर्तमान आवर्त सारणी नौ समूहों में बँट जाती है। इनमे निष्क्रिय गैसों, जैसे हीलियम, नीग्रन, आर्गन, क्रिप्टन, ज़ीनन तथा रैडन का समूह शून्य समूह कहलाता है, क्योंकि ये तत्व किसी भी अन्य तत्व के प्रति साधारणतया संयोजनशक्ति नहीं प्रदर्शित करते। अगला समूह ऐलकैली या क्षारीय धातुओं (जैसे लीथियम, सोडियम, पोटैशियम आदि) का प्रथम समूह है और इन सबकी संयोजकता भी हाइड्रोजन, क्लोरीन तथा ऑक्सिजन सब के प्रति एक होती है। इसी प्रकार द्वितीय (मैग्नीशियम, कैल्सियम आदि), तृतीय (बोरॉन, ऐल्यूमिनियम आदि) तथा चतुर्थ (कार्बन, सिलिकन आदि) समूह के तत्वों की संयोजकता क्रमशः दो, तीन तथा चार है। पाँचवें (नाइट्रोजन, फ़ॉसफ़ोरस आदि), छठे (सल्फ़र, क्रोमियम आदि), सातवें (फ्लुओरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन आदि) समूह के तत्व ऑक्सीजन के प्रति तो क्रमश: पाँच, छह तथा सात संयोजकताएँ प्रदर्शित करते हैं, परतु हाइड्रोजन तथा क्लोरीन के प्रति इन समूहों के तत्वों की संयोजकताएँ क्रमश: तीन, दो तथा एक हैं।

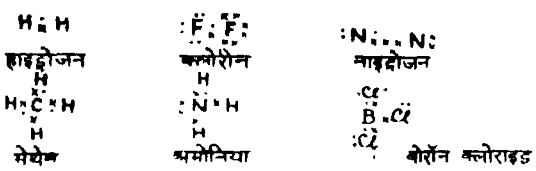
२०वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में वैज्ञानिक सर जे० जे० टॉमसन तथा नील्स बोर ने प्रयोगों तथा अपनी कल्पनाओं द्वारा परमाणुओं की रचना के बारे में हमारे ज्ञान में वृद्धि की और रदरफर्ड ने परमाणुरों के नाभिक (nuclear) रूप की विवेचना की। इसके अनुसार प्रत्येक परमाणु के केंद्र या नाभि में बहुत सूक्ष्म पिंड होता है, जिसपर धनावेश होता है और इसी धनावेश की बराबर संख्या के इलेक्ट्रॉन (electron) केंद्र के चारों ओर परिधियों में चक्कर लगाया करते हैं। अंतिम परिधि के इलेक्ट्रॉनों को 'संयोजन इलेक्ट्रॉन' का नाम दिया गया है, क्योंकि 'संयोजकता के इलेक्ट्रॉन सिद्धांत' के अनुसार, यही इलेक्ट्रॉन तत्व की संयोजनशक्ति निर्धारित करते हैं। उदाहरण के लिये, आवर्त तालिका के प्रथम दो समूहों के परमाणुओं की रचना नीचे दी गई है और संयोजकता इलेक्ट्रॉनों को काले अंकों से दिखलाया गया है :

						H	He
						1	**2**
Li	Be	B	C	N	O	F	Ne
2,**1**	2,**2**	2,**3**	2,**4**	2,**5**	2,**6**	2,**7**	2,**8**
Na	Mg	Al	Si	P	S	Cl	Ar
2,8,**1**	2,8,**2**	2,8,**3**	2,8,**4**	2,8,**5**	2,8,**6**	2,8,**7**	2,8,**8**

उपर्युक्त सारणी में निष्क्रिय गैसों के परमाणुओं की अंतिम परिधि में (हीलियम को छोड़कर जिसमें २ इलेक्ट्रॉन होते हैं) ८ इलेक्ट्रॉन होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विन्यास इतना स्थायी है कि ये स्वयं साधारणतया किसी रासायनिक क्रिया में भाग नहीं लेते और अन्य तत्व भी एक, दो, या तीन इलेक्ट्रॉन खोकर, या बढ़ाकर, इन्हीं के विन्यास को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिये, सोडियम $\begin{pmatrix} Na \\ 2,8,1 \end{pmatrix}$ का परमाणु एक इलेक्ट्रॉन खोकर और फ़्लुओरीन $\begin{pmatrix} F \\ 2,7 \end{pmatrix}$ का परमाणु एक इलेक्ट्रॉन की वृद्धि करके सोडियम फ्लोराइड बनाते हैं और इस क्रिया में सोडियम (Na^{+}) तथा फ़्लुओराइड दोनों आयन निष्क्रिय गैस नीऑन का इलेक्ट्रॉन विन्यास प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार की संयोजकता को विद्युत् संयोजकता (electrovalency) कहा जाता है और इसके कुछ अन्य उदाहरण भी नीचे दिए गए हैं :



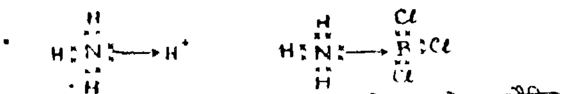
विद्युत्संयोजकता से बने यौगिक साधारणतया उच्च गलनांक और क्वथनांकवाले होते है और जल में विलीन होकर आयनित हो जाते हैं। इस प्रकार की विद्युत्संयोजकता की कल्पना सर्वप्रथम जर्मन रसायनज्ञ कॉसेल (Kossel) ने १६१६ में की थी। इसके अतिरिक्त अमरीकी रसायनज्ञ ल्यूइस (Lewis) ने कुछ ही मास बाद कल्पना की कि उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त कुछ तत्व एक अन्य विधि से भी निष्क्रिय गैसों का इलेक्ट्रॉन विन्यास प्राप्त कर सकते हैं। इस कल्पना के अनुसार संयोग करनेवाले दो परमाणु कभी कभी अपने एक, दो, या तीन इलेक्ट्रॉनों का साझा करके दोनों के दोनों निष्क्रिय गैसों का विन्यास प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के सयोजन को केवल सयोजन इलेक्ट्रॉनों की सहायता से निम्न चित्र में दिखलाया गया है। सुविधा के लिये इनमें भिन्न तत्वों के सयोजन इलेक्ट्रॉनों को भिन्न चिह्नों से दिखला दिया गया है, यद्यपि इन इलेक्ट्रॉनों में परस्पर कोई अंतर नही है :



उपर्युक्त प्रकार की संयोजकता को सहसंयोजकता (covalency) का नाम दिया गया है और इसमें बने सहसंयोजक यौगिक साधारणतया निम्न गलनांक तथा क्वथनांक प्रदर्शित करते हैं और अधिकतर कार्बनिक विलायकों में विलेय होते हैं (देखे सहसंयोजकता)।

इन दोनों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार की संयोजकता की

कल्पना की गई है, जिसमें एक यौगिक या तत्व अपने दो खाली इलेक्ट्रॉन किसी दूसरे यौगिक या तत्व को देकर, दोनों में निष्क्रिय गैसों के इलेक्ट्रॉन विन्यास की अवस्था ला देता है। उदाहरण के लिये, अमोनिया अपने दो खाली इलेक्ट्रॉन हाइड्रोजन या बोरॉन क्लोराइड को प्रदान करके, उनको क्रमश: हीलियम तथा नीऑन का इलेक्ट्रॉन विन्यास दे देता है :



अमोनियम आयन   अमोनिया   बोरॉन क्लोराइड यौगिक

इस प्रकार की सायोजकता को उपसहसंयोजकता (coordinate covalency) कहा गया है, क्योंकि इस प्रकार की सायोजकता की कल्पना उपसहसंयोजक यौगिकों, जैसे हेक्साएमीन, कोबाल्टी क्लोराइड तथा पोटैशियम फेरोसायनाइड आदि के गुणों को समझने मे बहुत सहायक सिद्ध हुई है।

संयोजकता का यथार्थ ज्ञान ही समस्त रसायन शास्त्र की नींव है। पिछले ३०-४० वर्षों में द्रव्यों के स्वभाव तथा गुणों का अधिक ज्ञान होने के साथ साथ सायोजकता के ज्ञान में भी वृद्धि हुई है।

[रा० च० मे०]

संयोजी ऊतक (Connective Tissue) गर्भाशय में भ्रूण का जैसे जैसे विकास होता जाता है, एक वर्ग की कोशिकाएँ दूसरे वर्ग की कोशिकाओं से भिन्न होती जाती है। प्रत्येक वर्ग की कोशिकाएँ विशेष प्रकार का शारीरिक ऊतक बनाती है। इस प्रकार ऊतकों की कोशिकाएँ प्रबल होती हैं।

ऊतक की रचना -- शरीर के अंग, उपांग एवं भित्ति की जिनके द्वारा ये आवृत रहते है, रचना स्थूल रूप से पाँच प्रकार के ऊतकों से होती है। ये निम्न है : १. उपकला ऊतक, २. सायोजी ऊतक, ३ कंकाली ऊतक, ४. पेशी ऊतक तथा ५. तन्त्रिका ऊतक। इनमें से प्रत्येक मे अपनी अपनी विशेषताएँ है। तंत्रिका ऊतक के अतिरिक्त अन्य ऊतक पुन प्रकारांतर से अनेक है, परंतु अपनी जन्मजात विशेषताएँ प्रत्येक में रहती हैं। संयोजी एवं कंकाली ऊतकों में आकारिकी (morphology) के अनुसार बहुत सी समानताएँ है तथा साथ साथ ही रहते है, परंतु भौतिक रूप से भिन्न हैं। सायोजी ऊतक मृदु होते हैं, जब कि कंकाली ऊतक कठोर होते हैं।

संयोजी ऊतक -- पूर्वमध्यजन स्तर (mesenchyme) से सायोजी ऊतकों का विकास होता है। इसके अंतर्गत अनेक ऊतक हैं, जो निष्क्रिय कार्य करते हैं, जैसे आपस मे बाँधना, अथवा सक्रिय सरचनाओं के कार्यों को आश्रय देना। ये आकार मे एक दूसरे से भिन्न होते हैं, परंतु आपस में अनेक दृष्टियो से संबंधित है

संपूर्ण सायोजी ऊतकों में अनेक कोशिकाएँ होती हैं, जो एक आधात्री (matrix), अथवा धूसर पदार्थ, में अंत:स्थापित होती है। इस पदार्थ में तंतु विद्यमान हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। बहुधा आधात्री तथा ततुओं को मिलाकर अंतराकोशिकी पदार्थ (Intercellular substance) कहते हैं। सायोजी ऊतकों में बड़ी मात्रा में अंतराकोशिकी पदार्थ विद्यमान है। उपकला ऊतक की कोशिकाओं के विपरीत सयोजी ऊतक की कोशिकाएँ दूर दूर विद्यमान रहती हैं।

संयोजी ऊतक की कोशिकाएँ मुख्य रूप से छह प्रकार की होती हैं :

१. तंतुप्रसू (fibroblast), २. हिस्टोसाइट (histocyte), ३. प्लाविका कोशिका (plasma cell), ४. मास्ट कोशिकाएँ (mast cells), ५. वसा कोशिकाएँ (fat cells) तथा ६. वर्णक कोशिकाएँ (pigmented cells)।

उपर्युक्त कोशिकाओं के अतिरिक्त, साधारण संयोजी ऊतक में लसीकाणु (lymphocytes), उदासीन रंजी कोशिकाएँ (neutrophilic cells) तथा इओसिनरागी बहुरूपकेंद्रक श्वेताणु (eosinophilic polymorpho-neuclear leucocytes) रुधिर से निकलकर, इसमें सम्मिलित हो जाते है।

कार्यों की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में संयोजी ऊतक आकार, संगति तथा संघटन में भिन्न होते है। यह भिन्नता कोशिका प्रकार अथवा ततु, तंतुओं के विन्यास तथा आधात्री की राशि एवं गुणों पर आधारित है। इस आधार पर संयोजी ऊतक का निम्न प्रकार से वर्गीकरण कर सकते है :

१. अवकाशी (areolar) ऊतक, २. वसाऊतक (adipose), ३ प्रत्यास्थ (elastic), ४. जालिका (reticular), ऊतक ५. श्वेततंतुमय (white fibrous) ऊतक, ६. श्लेष्माभ (mucoid) ऊतक, ७. न्यूरॉग्लिआ (neuroglia), एक विशेष प्रकार का सयोजी ऊतक, जो केंद्रीय तंत्रिकातंत्र (central nervous system) में पाया जाता है, तथा (८), एक परिवर्धित संयोजी ऊतक जो आधार कलाओं (basement membranes) में होता है। यह कला उपकला-कोशिका के स्तरों के नीचे लगी रहती है। उच्च कोटि के जीव के शरीर के प्रत्येक भाग एवं अंगों का एक विशेष कार्य होता है, जो उसे करना होता है। प्रत्येक अंग कोशिकाओं का पुंज है। इन अंगों की विशेषता कोशिकाओं पर निर्भर करती है, अर्थात् जिस प्रकार की कोशिकाओं से वह अंग बना है, उसका कार्य भी उसी के अनुसार होगा। अमीबा एक कोशिकीय जीव है। इसके शरीर में सभी प्रकार के कार्य, जैसे श्वसन, पाचन, मलत्याग आदि सुचारु रूप से होते रहते है। बहुकोशिकी जीवों में कोशिकाओं में भिन्नता होती है और कोशिकाएँ कई प्रकार की होती है। प्रत्येक प्रकार की कोशिकाओं का एक विशेष कार्य होता है, जिसको उन्हे करना होता है।

संयोजी ऊतक के कार्य -- संयोजी ऊतक का कार्य शक्ति देना, एक दूसरे को जोड़ना एवं आश्रय देना है। यह दूसरे प्रकार की कोशिकाओं के समूहों को आपस में बाँधने का कार्य करता है तथा विभिन्न अंगों के लिये एक प्रकार का ढाँचा तैयार करता है, जिससे उनको आश्रय मिलता है। इस प्रकार यह मांसपेशी के तंतुओं के पुंजों को आपस में बाँधता तथा यकृत, वृक्क आदि अंगों के लिये तंतुओं के बने संपुट (capsule) बनाता है और त्वचा के गंभीर स्तरों के बनने मे भाग लेता है। पड़ोसी अंगों एवं भागों के बीच

के स्थानों को भरने का भी कार्य इसी ऊतक द्वारा संपन्न होता है। अभिघात अथवा रोग के कारण नष्ट हुए ऊतकों को बदलना भी इस ऊतक का कार्य है।

अस्थि ऊतक भी एक प्रकार का संयोजी ऊतक है। इस ऊतक में खनिज पदार्थ, अर्थात् कैल्सियम एवं फ़ॉस्फ़ोरस, कैल्सियम फ़ॉस्फेट एवं कैल्सियम कार्बोनेट के रूप में, अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। साथ ही साथ मैग्नीशियम, फ्लुओरीन, क्लोरीन तथा लोहा भी थोड़ी मात्रा में इस ऊतक में रहता है। शाखाओं की कुछ अस्थियाँ उपास्थि में स्थित खनिज पदार्थों के कारण ही विकसित होती हैं। करोटि (cranium) की अस्थियाँ कला ऊतक (membranous tissue) में स्थित खनिज पदार्थों के कारण विकसित होती है।

तंतु ऊतक (Fibrous Tissue) — यह एक विशिष्ट प्रकार का संयोजी ऊतक है। इसकी विशेषता यह है कि खींचे जाने पर यह खिंच नहीं पाता। इसमें श्वेत तंतुओं के पुंज होते हैं। यही कारण है कि इसके द्वारा पेशियों की स्नायुएँ, संधियों की पुटियाँ (sacs of joints), हृदय का हृदयावरण (pericardium) एवं अनेक प्रसर (sheets) तथा प्रावरणी (fascia) बनती हैं, जिनपर मांसपेशियाँ लगी रहती हैं अथवा अस्थियाँ आपस में बँधी रहती हैं। अभिघात होने पर क्षत (wound) में तंतु ऊतक बनता है। इस ऊतक में संकुचन होता है। इस कारण व्रणचिह्नों (scars) में संकोच हो जाया करते हैं, जो देखने में भद्दे लगते हैं। यदि किसी प्रकार से इस ऊतक पर अधिक खिंचाव डाला जाय, तो यह खिंच भी जाता है। इन तंतुओं में कोलेजन नामक प्रोटीन पदार्थ होता है। यदि इन तंतुओं को पानी में डालकर उबाला जाए, तो यह कोलेजन पदार्थ जिलेटिन में परिवर्तित हो जाता है। यही कारण है कि प्रौढ़ जानवर का मांस, जो कठोर एवं ततुमय होता है, उबाला जाता है। इस ऊतक को बनानेवाले तंतुप्रसू अथवा कोशिकाओं की क्रिया के लिये आहार में विटामिन 'सी' का होना अत्यंत आवश्यक है।

अवकाशी ऊतक (Areola Tissue) — यह अदृढ़ संयोजी ऊतक है, जिसमें तंतुओं के अतिरिक्त कोशिकाएँ भी होती हैं। तंतु से तंतु ऊतक का विकास होता। हिस्टिओसाइट (Histiocytes) रंजक द्रव्य को ग्रहण करता है। यह शरीर के जालक-अंतःकला-तंत्र (reticulo-endothelial system), महाभक्षक (macrophage) अथवा अपमार्जन तंत्र (scavenging system) से संबंध रखता है। इसमें कणिकामय मास्ट कोशिकाएँ (mast cells) तथा कणिकाविहीन प्लैज्मा कोशिकाएँ (plasma cells) होती हैं। ऊतक में पहुँचे हुए जीवाणुओं से इन कोशिकाओं का संबंध होता है। इसके अतिरिक्त वर्णक कोशिकाएँ (pigmented cells) भी इसमे पाई जाती हैं।

वसा ऊतक (Adipose Tissue) — अवकाशी ऊतक बड़ी पुटिकामय वसा कोशिकाओं में वसा का संचय करते है। जब इनमें वसा अधिक मात्रा में संचित हो जाती है, तब उसी को वसा ऊतक कहते हैं। अवकाशी ऊतक में जल का भी संचय होता है जिसके कारण वे फूल जाते हैं।

प्रत्यास्थ ऊतक (Elastic Tissue) — इसमें अल्प मात्रा में पीले रंग के तंतु होते हैं। इन्हीं तंतुओं के कारण इस ऊतक में प्रत्यास्थता होती है। वाहिकाओं की कला में यह ऊतक होता है। फुप्फुस में ये ऊतक होते हैं। श्वासनली (trachea) तथा श्वसनियों (bronchii) की उपास्थियों (cartilages) में प्रत्यास्थता इसी ऊतक के कारण होती है। मन्यास्नायु (ligamentum nuchi) में, जो करोटि को मेरुदंड से जोड़ती है, यह ऊतक बहुतायत से पाया जाता है। [र० चं० ग०]

संरचना इंजीनियरी १९वीं शताब्दी तक सिविल इंजीनियरी का एक विभाग समझा जाता था। इसका काम लकड़ी और लोहे द्वारा सेतु निर्माण करना था, परंतु जैसे जैसे सभ्य समाज की आवश्यकताएँ परिस्थितियों के अनुसार बदलती और बढ़ती गईं, उन्नत प्रकार के लोहे, इस्पात आदि का उत्पादन तथा प्रयोग बढ़ने लगा, वैसे वैसे यंत्र विज्ञान की उन्नति हुई। विविध धातुओं के भौतिक गुणों का ज्ञान बढ़ा, तो कारखानों और आवासगृहों के निर्माण में भी इस्पात का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। स्थान की कमी से इस्पात के ढाँचों की सहायता से अनेक मंजिलों के मकान बनने लगे और थोड़ी जगह में अनेक कमरे बनाने की व्यवस्था का शुभारंभ हुआ।

आज बड़े बड़े नगरों में बीस बीस मंजिले मकान बनाना तो मामूली बात हो गई है। न्यूयार्क में कुछ मकान ७० और १०२ मंजिलों तक के भी हैं। संरचना इंजीनियरी के सहारे ही ऐसा हो सका है। सेतुनिर्माण में भी संरचना इंजीनियरी से बड़ी सहायता मिली है। स्कॉटलैंड की फोर्थ नदी के प्रसिद्ध पुल में, जो कैंटिलिवरनुमा बना है, नदी के बीच में तीन खंभों के आधार पर दो मेहराब तो पूरे बने हैं, जिनके प्रत्येक खंभे का पाट (span) १,७१० फुट है, और समस्त पुल का पाट, तट से तट तक, ५२१५ फुट है (देखें, फलक)। अमरीका का क्यूबेक पुल तो दुनियाँ भर के कैंटिलिवर पुलों में सबसे बड़ा समझा जाता है। इसके केंद्रीय मेहराब का पाट १,८०० फुट है। इस पुल का निर्माण १९१८ ई० में समाप्त कर, यह यातायात के लिये चालू किया गया था। यह पुल आधुनिक संरचना कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। न्यूयार्क का हेलगेट (Hellgate) नामक पुल केवल एक ही मेहराबवाला है। इसके पाट का विस्तार १,०१७ फुट है। भारत के पुलों में कलकत्ता का हावड़ा पुल और हरद्वार के निकट हृषिकेश का लक्ष्मण झूला नामक पुल इस कला के अच्छे नमूने हैं।

संरचना इंजीनियर को लोहे और इस्पात का ही नहीं, बल्कि लकड़ी, ईंट, पत्थर, चूना और सीमेंट का भी आधुनिकतम ज्ञान तथा यांत्रिक एवं विद्युत् इंजीनियरी के कामों में भी दक्ष होना चाहिए, क्योंकि इन्हें अपने ढाँचे यांत्रिकी तथा भौतिकी के सिद्धांतों के अनुसार निरापद ढंग से बनाने पड़ते हैं। भूमि, जल और वायु की प्रकृति का भी पूर्ण ज्ञान सिविल इंजीनीयर के समान ही होना चाहिए।

ढाँचा — प्रत्येक इमारत की बनावट में छत और फर्श के लिये धरनों, कैंचियों, खंभों तथा जमीन पर बनी बुनियाद की आवश्यकता पड़ती है। इनका संयोजन ही मकान का ढाँचा है। ढाँचे चाहे किसी इमारत, पुल अथवा क्रेन आदि यंत्रों के लिये हों, उनकी रचना करते समय यह विचार करना आवश्यक है कि उनके विविध अवयवों पर किस किस प्रकार के तथा किस परिमाण में बाहरी बल भार के रूप में पड़ेंगे। स्थैतिकी के सिद्धांतानुसार उन बलों के कारण, ढाँचे के विविध अवयवों पर आनेवाले प्रतिबलों की गणना भी बड़ी सावधानी से करनी होती है, जिससे ढांचा सब प्रकार से सुदृढ़ और निरापद बन जाए। ढाँचे को दृढ़ बनाने का अर्थ उसके अवयवों को खूब मोटा तथा भारी बना देना नहीं होता।

ढाँचे की बनावट में बल सहन करने की क्षमता होनी चाहिए। ऐसा ढाँचा अनेक त्रिभुजों को मिलाकर बनाया जाता है। चतुर्भुजों और पंचभुजों से बने ढाँचे में इतनी क्षमता नही होती। त्रिकोणयुक्त ढाँचे को कैंची (ट्रस, Truss) कहते हैं। ये बलों के सहने के दृष्टिकोण से सर्वथा निर्दोष और अवयवों की दृष्टि से स्वतः पूर्ण होती है। ऐसी कैंचियाँ काफी लंबे पाटों के लिये बनाई जा सकती हैं तथा भार पड़ने पर स्वयं संतुलित भी रह सकती है।

बड़े पाट की छतें बनाने के लिये दीवारों पर साधारण ठोस प्रकार के लंबे गर्डर रखकर ही क्यों नहीं काम चलाया जाता? त्रिकोणमय कैंचियाँ ही क्यों बनाई जाती हैं? मामूली छोटे पाटों की छतें तो अवश्य ही उचित माप के सादे गर्डर रखकर बनाई जा सकती हैं, परंतु गर्डर बहुत अधिक लंबे होने पर भारी तथा महँगे पड़ते हैं। बड़े पाटों के लिये त्रिकोणयुक्त कैंचियाँ काफी मजबूत होने के साथ ही बहुत हलकी और सस्ती पड़ती हैं।

कैंचियों के जोड़ों को पिनों द्वारा न बनाकर रिबटों द्वारा पक्का जड़ दिया जाता है। रिबटों में कुछ विशेष प्रकार के बल अधिक आने लगते हैं जिन्हें सहने के लिये इन रिबटों को अधिक मजबूत अवश्य ही बनाया जाता है। समस्त छत के पटाव का भार बत्तों (purlins) के माध्यम से विभाजित होकर कैंचियों के त्रिकोणों के ऊपरी जोड़ों पर आकर, सब कैंचियों पर बराबर बँटकर और इन कैंचियों के भार सहित आधा आधा बँटकर दीवार के टेके पर पड़कर बुनियाद पर आता है। अतः इन बोझों का अनुमान बड़ी सावधानी से कर लेना होता है। ये बोझे सदैव एक से ही बने रहने के कारण अचल भार (dead load) कहलाते हैं। सभी ऊर्ध्वाधर दीवारों तथा ढालू छतों पर बगल से चलनेवाली हवा के कारण जो ऊर्ध्वाधर दाब पड़ती है, वह वायु दाब (wind pressure) कहलाती है, और यह चल भार (live load) की गिनती में आती है। अनेक मंजिले मकानों की मध्यवर्ती छतों पर वहाँ के निवासियों और उठाऊ फर्निचर का भार ही होता है लेकिन यह अन्य अचल भारों की अपेक्षा नगण्य होता है।

ढाँचों के विभिन्न अवयवों पर पड़नेवाले बलों का परिकलन बल त्रिभुज अथवा बल बहुभुजों के सिद्धांत के अनुसार किया जाता है। इसके लिये इंजीनियर 'बाउ संकेत' (Bow's notation) प्रणाली का उपयोग करते हैं। यह रीति अपेक्षया सरल है। बलों का परिकलन विशुद्ध गणित द्वारा भी स्थैतिकी और त्रिकोणमिति की सहायता से किया जा सकता है। इस प्रकार से गणना करने के लिये, किसी उपयुक्त बिंदु को घूर्णकेंद्र मानते हुए, ढाँचे के एक भाग को बिलकुल संतुलित अवस्था में मानकर शेष दूसरे भाग पर पड़नेवाले बाहरी बलों के घूर्णों को, ढाँचे के किसी अवयव में पड़नेवाले अज्ञात बल के घूर्ण से समीकृत कर देते हैं।

कैंचियों के अवयवों के विस्तार की सीमा — जितने ही अधिक बड़े पाट की छत की कैंची अथवा पुल का कैंचीनुमा गर्डर बनाया जाता है उसमें उतने ही अधिक संख्या में छोटे छोटे त्रिकोण बनाए जाते हैं। यदि किसी लंबे खंभे पर भार डाला जाए, तो एक सीमा से आगे चलकर वह खंभा बीच में से झुकने लगता है। यही बात कैंचियों के थामों (struts) पर भी लागू होती है। अतः कैंचियों को बल सहन करने योग्य उचित आकार के छोटे छोटे त्रिकोणों में विभाजित कर बनाते हैं।

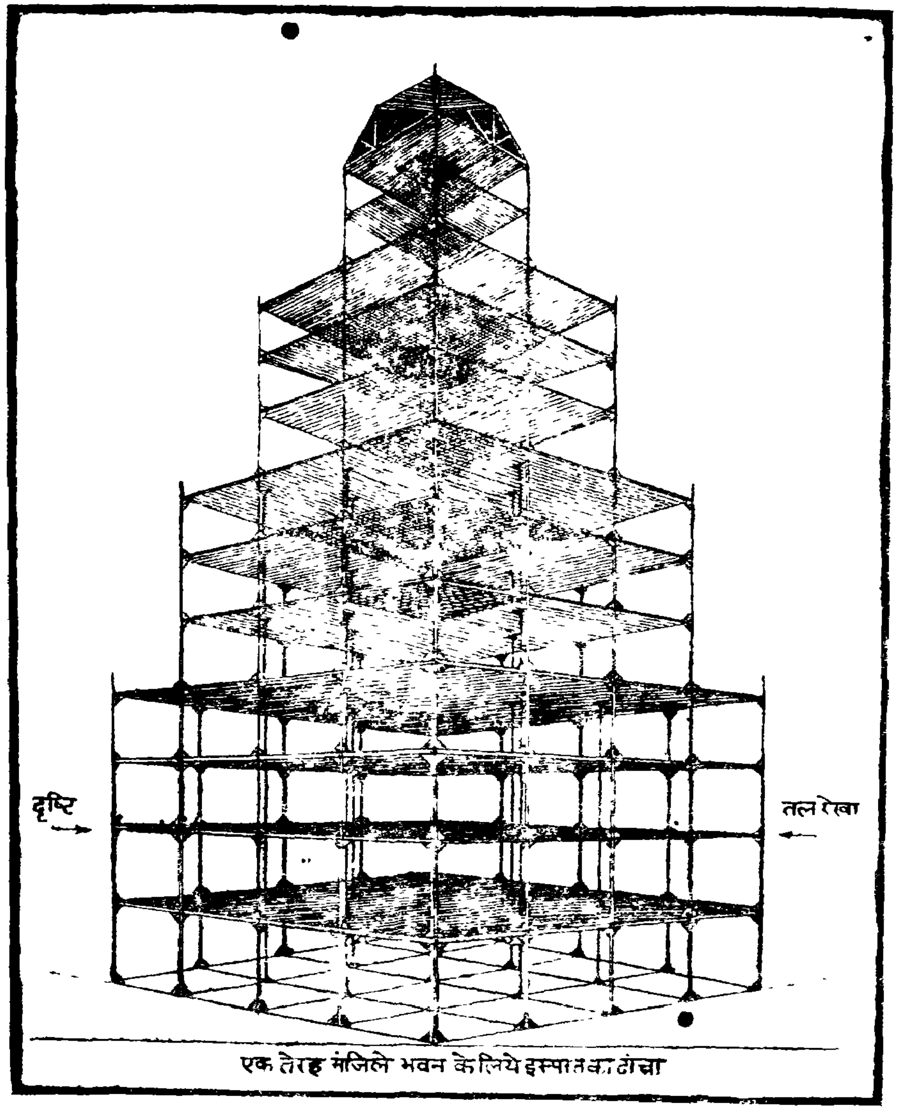
ढाँचे पर भार — ढाँचों पर जो बोझ पड़ते हैं उसे भार कहते हैं। चल और अचल भार का उल्लेख ऊपर हुआ है। यदि भार किसी थोड़ी सी जगह पर केंद्रित है, तो उसे केंद्रित भार (concentrated load) और यदि पूरे अवयवों पर फैला हो, तो उसे विभाजित भार (distributed load) कहते है। रेलगाड़ी, मोटर ट्रक आदि चलनेवाले वाहनों के भार को चरभार (moving load) और एक बार एक दिशा में और तुरंत बाद दूसरी दिशा से आनेवाले भार को प्रत्यावर्ती भार (alternating load) और धमाके साथ आनेवाले भार को संघात भार (impact load) कहते हैं। पदार्थों का प्रतिबल (stress) भी होता है। भार की परिस्थिति और प्रवृत्ति के कारण तनन (tensile), संपीडन (compression), अपरूपण (shear), ऐंठन (torque) आदि प्रतिबल हो सकता है। प्रतिबल के प्रभाव से जो परिवर्तन होता है उसे विकृति (strain) कहते हैं।

पदार्थों में प्रत्यास्थता का गुण होता है, किसी में कम और किसी में अधिक। प्रत्यास्थता की सीमा होती है। सीमा से अधिक बल पड़ने पर पदार्थ टूट जाते हैं। हुक ने सन् १६७६ में एक नियम स्थापित किया कि यदि प्रत्येक पदार्थ पर उसकी प्रत्यास्थता की सीमा के भीतर बल लगाया जाय, तो उसके कारण पड़नेवाला प्रतिबल तथा उस पदार्थ में होनेवाली विकृति में एक विशेष अनुपात सन् १८२६ में डाक्टर यंग ने प्रत्यास्थता की सीमा के भीतर पड़नेवाले प्रतिबलों के कारण विभिन्न पदार्थों में होनेवाली विकृतियों के अनुपातों का निश्चयात्मक रूप से पता लगाया। इसे यंग का प्रत्यास्थता मापांक (Modulus of Elasticity) कहते हैं। तनन एवं संपीडन संबंधी अनुपातो को E, अपरूपण संबंधी अनुपातों को C, या G अक्षर, और आयतन संबंधी अनुपातों को K अक्षर द्वारा व्यक्त किया जाता है :

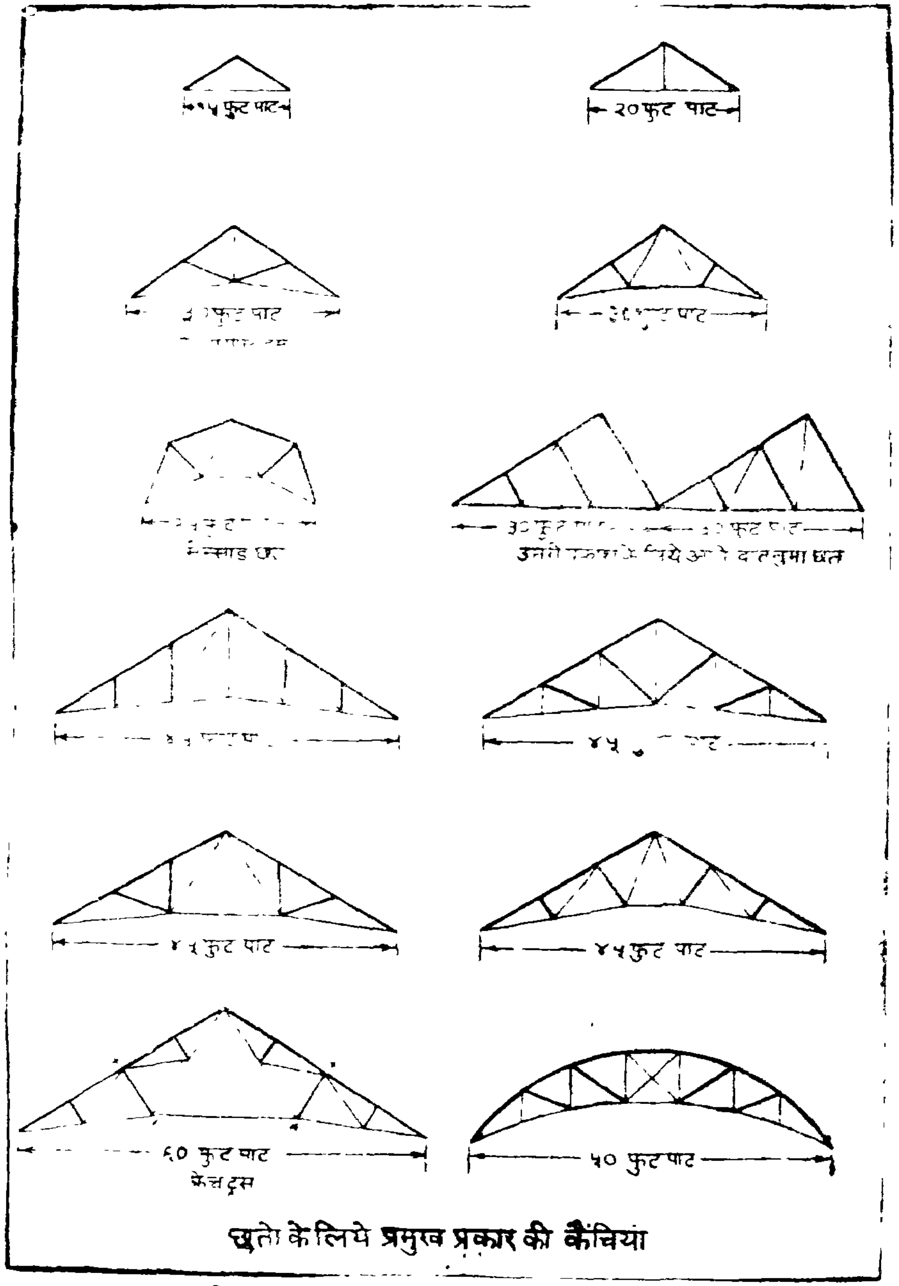
१. प्रत्यक्ष प्रत्यास्थता मापांक (Modulus of Direct Elasticity)

$$E = \frac{\text{तनन या संपीडन प्रतिबल प्रति वर्ग इंच, पाउंडों में}}{\text{विकृति प्रति इंच लंबाई में}}$$

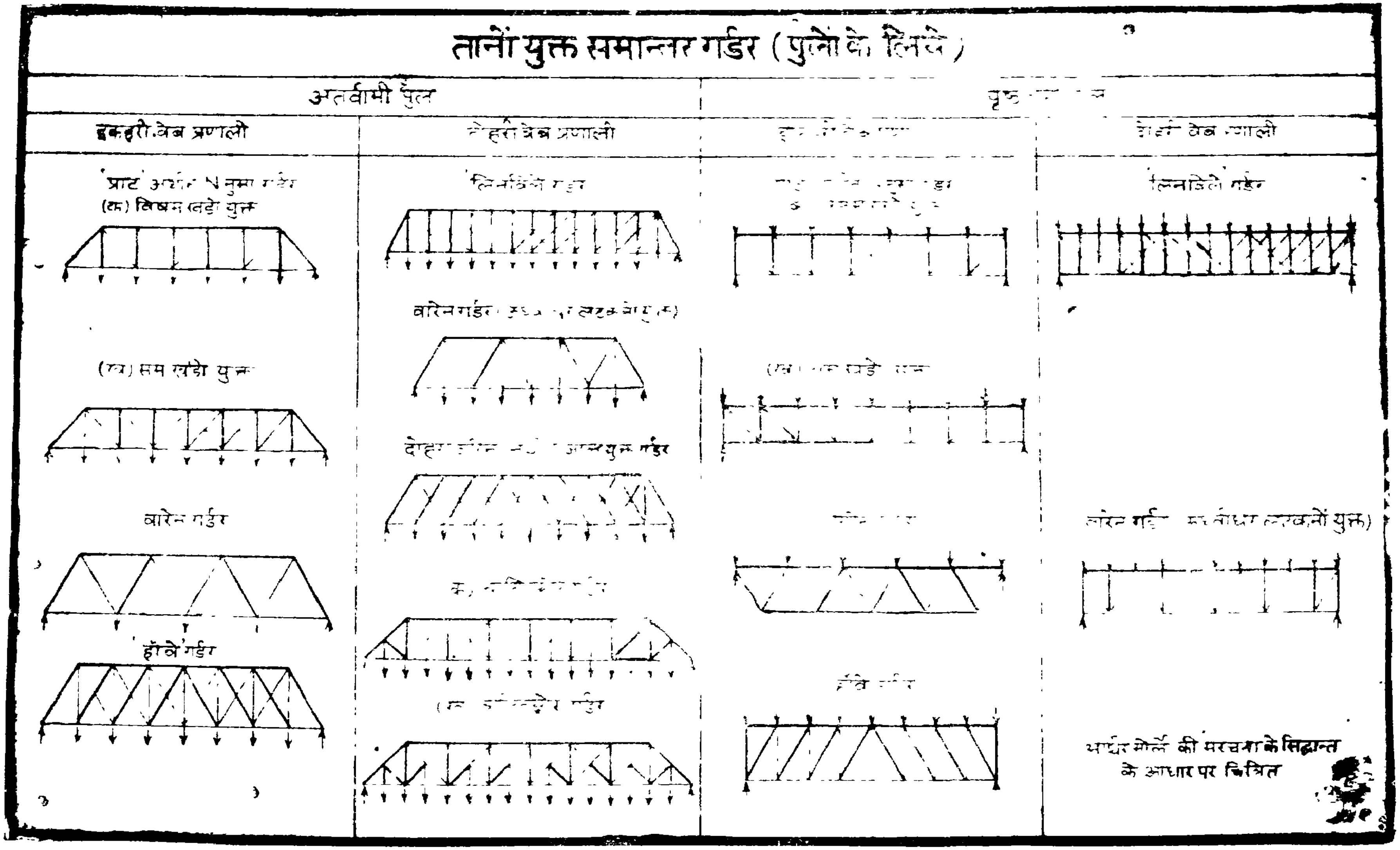
संरचना इंजीनियरी (पृष्ठ ४०१–४०४)



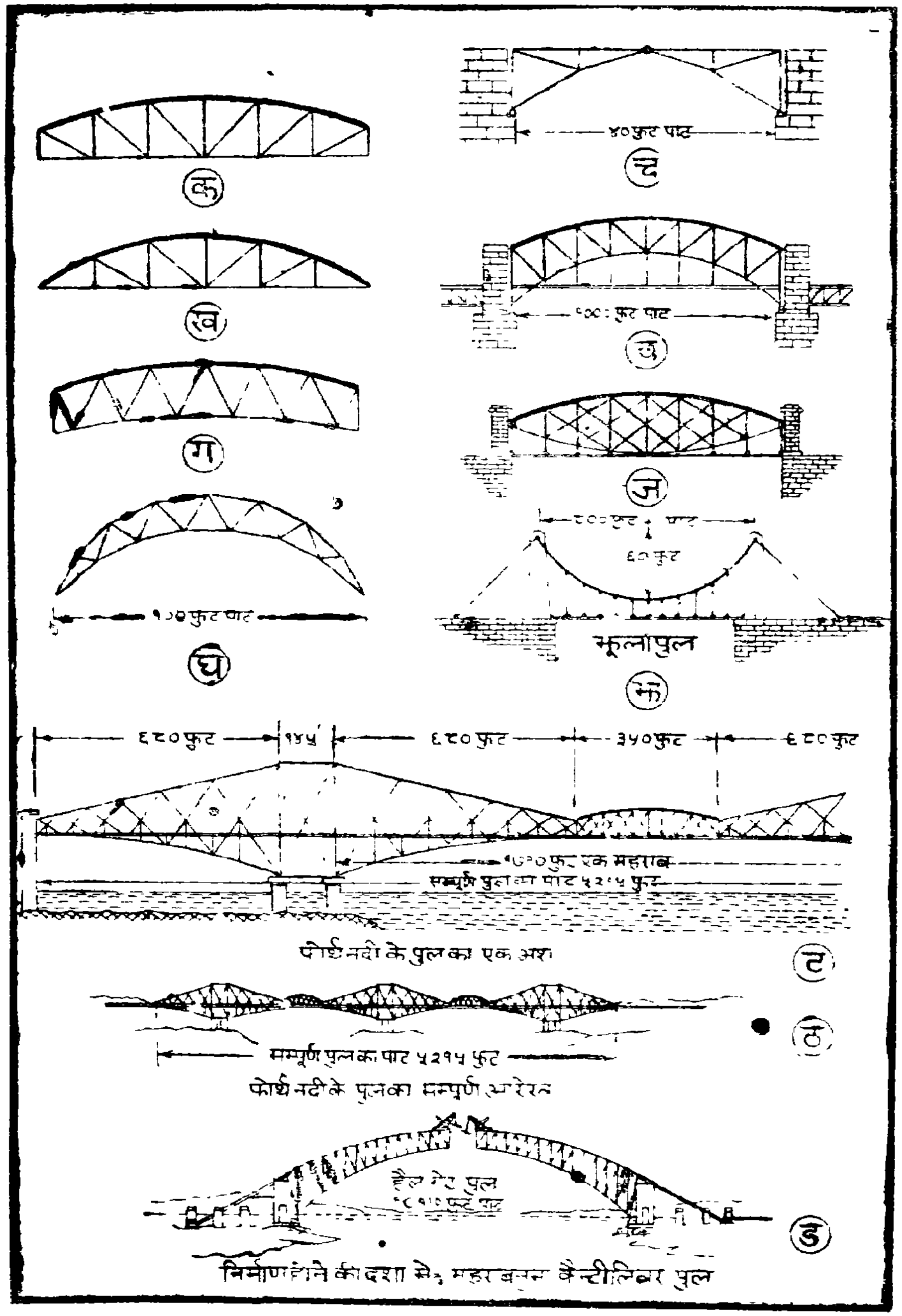
चित्र १ तेरह मंजिले भवन के लिये इस्पात का ढाँचा



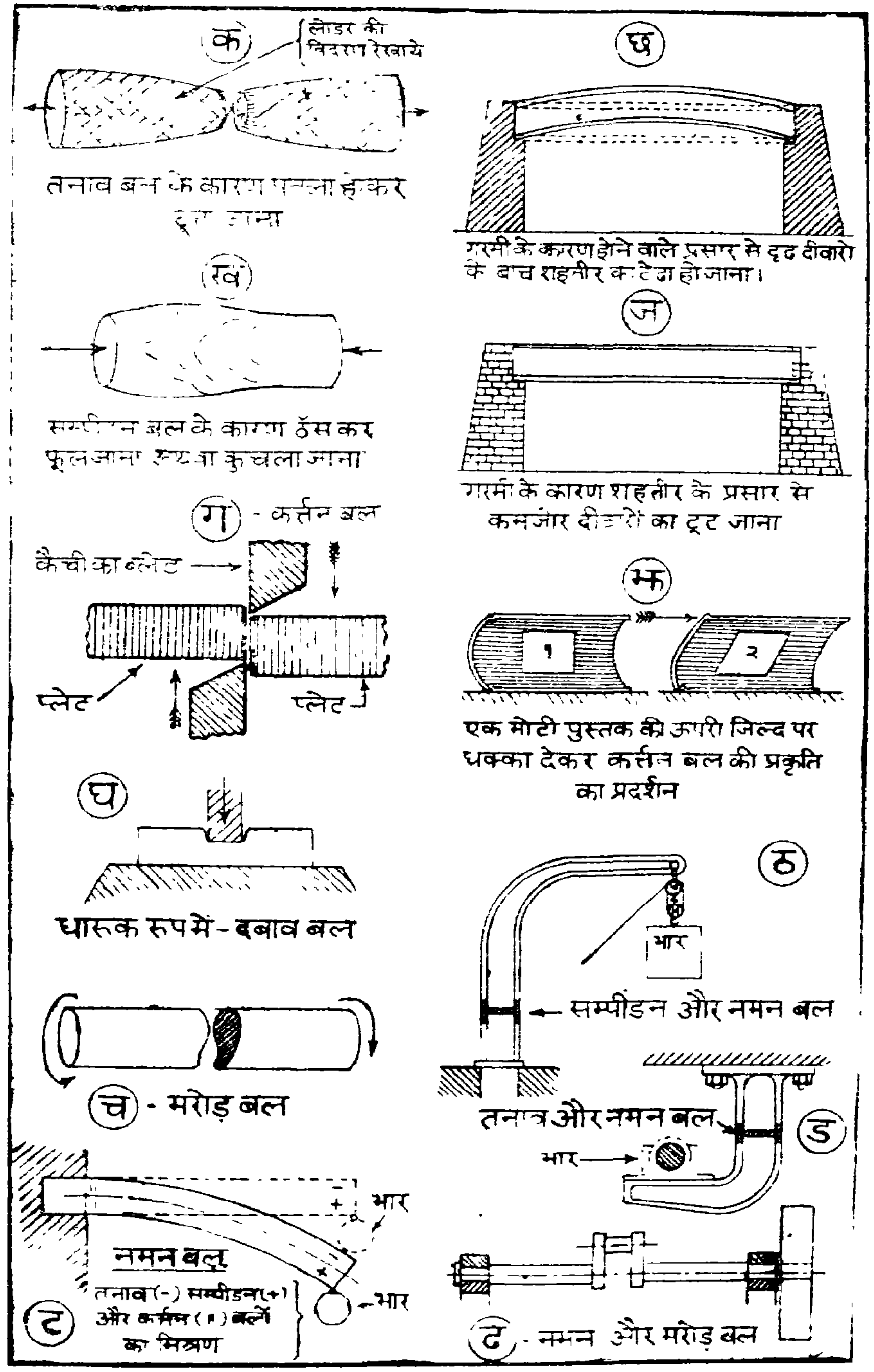
चित्र २. छतों के लिये विभिन्न प्रकार की कैंचियाँ



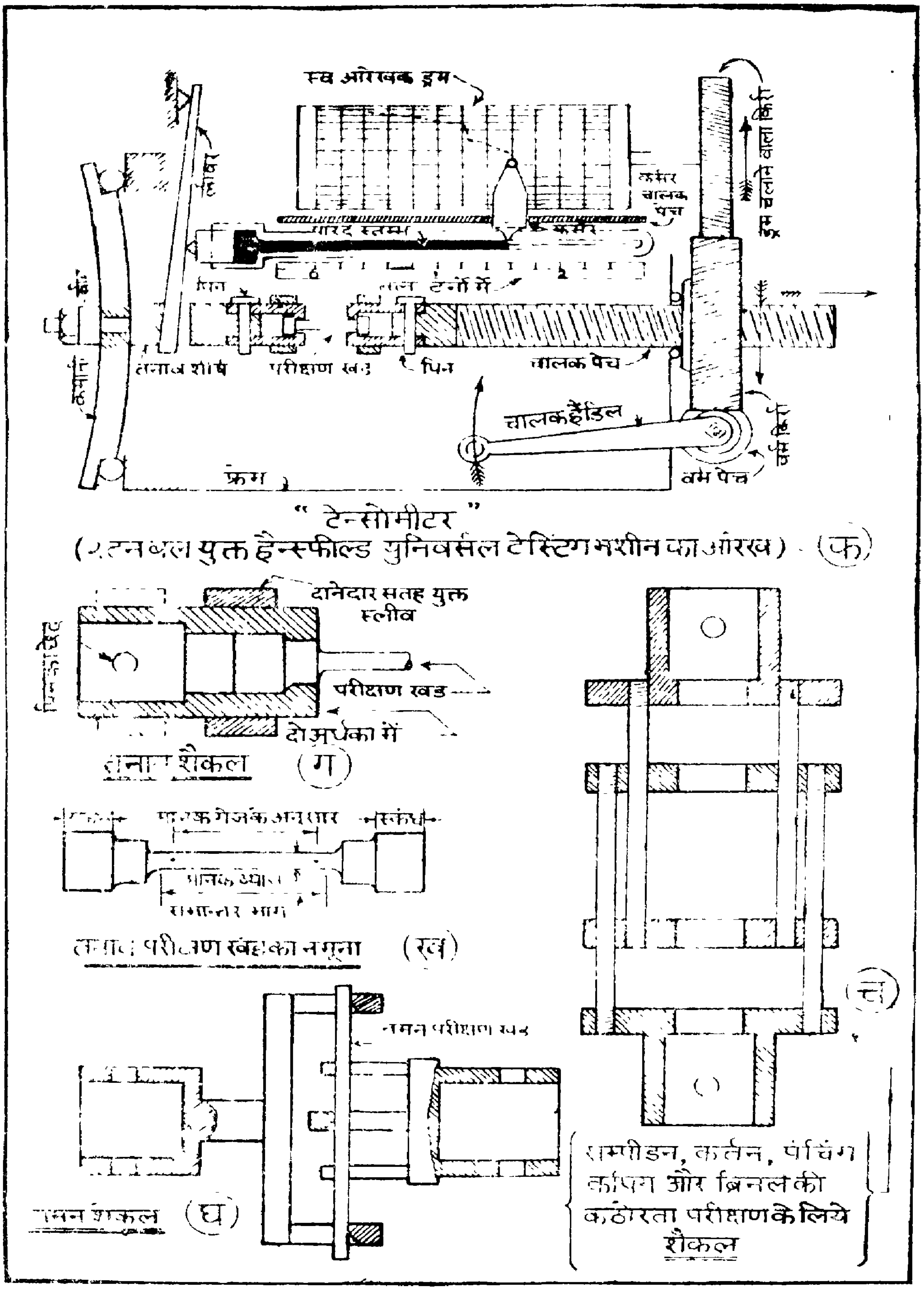
चित्र ३. पुलों के विभिन्न प्रकार के कैंचीनुमा गर्डर



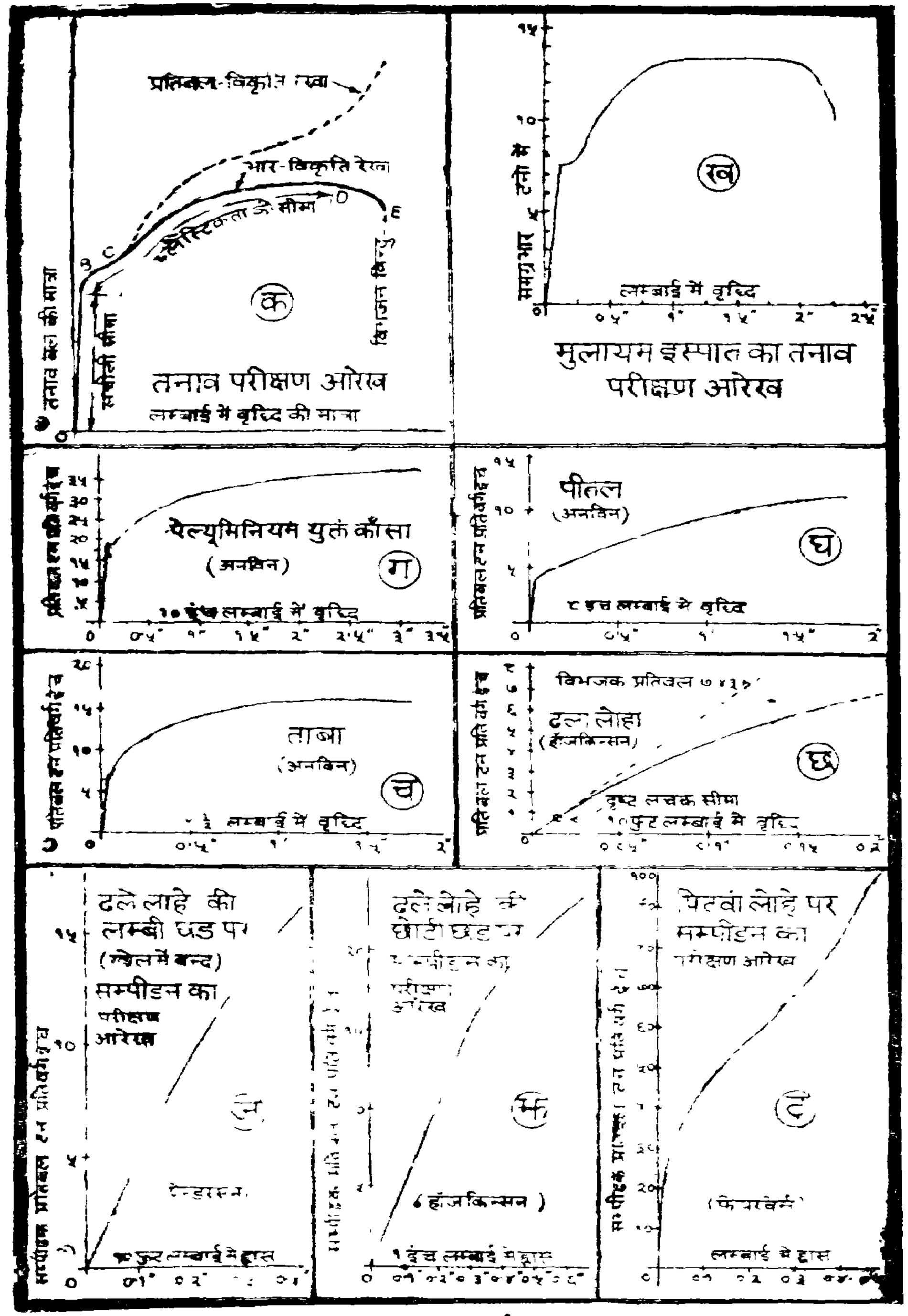
चित्र ४. बड़े पाट की छतें और पुल



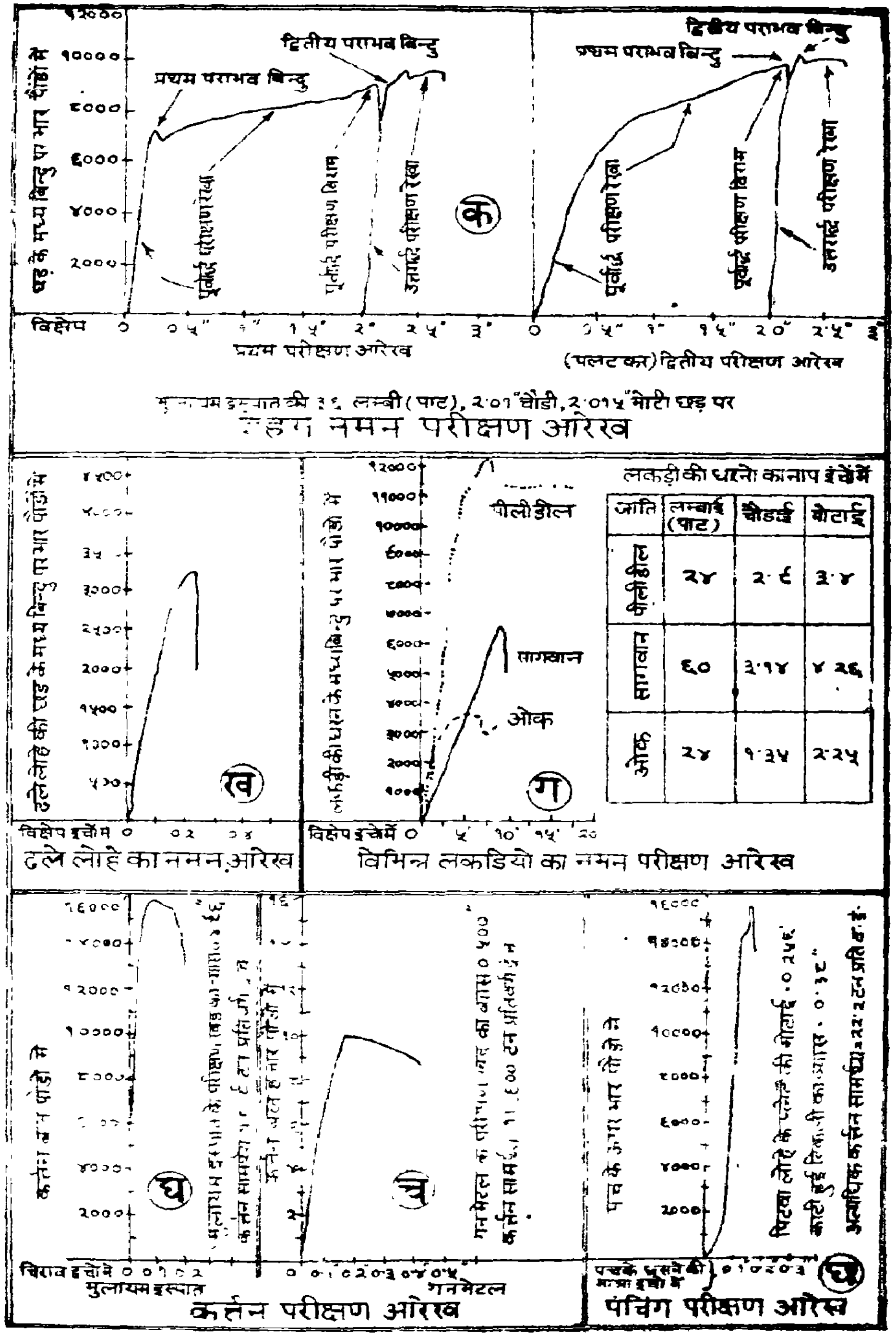
चित्र ५. विविध प्रकार के बलों का ठोस पदार्थों पर प्रभाव



चित्र ६. टेन्सोमीटर नामक परीक्षण यंत्र



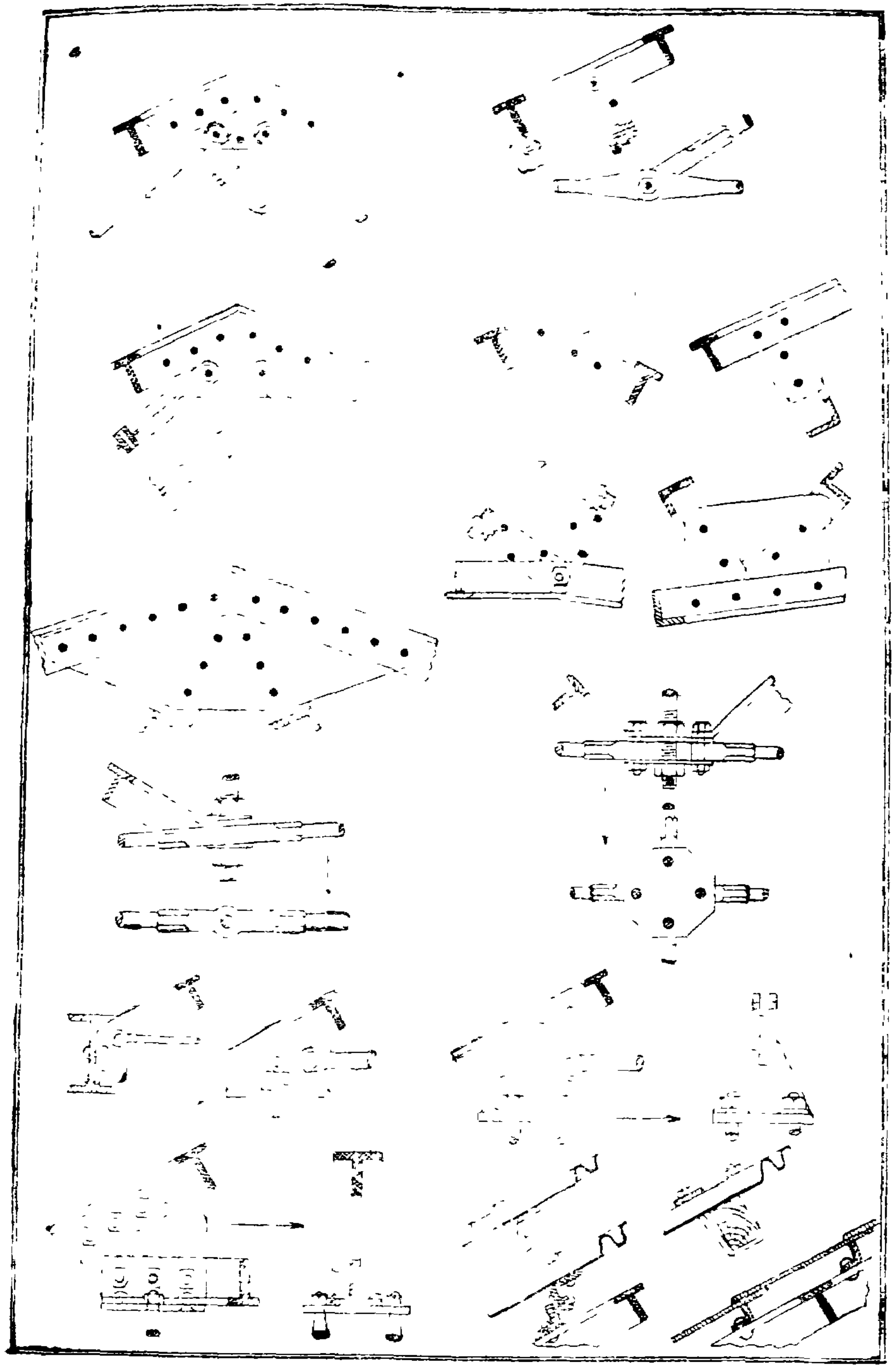
चित्र ७. प्रतिबल-विकृति आरेख (तनाव और संपीडन)



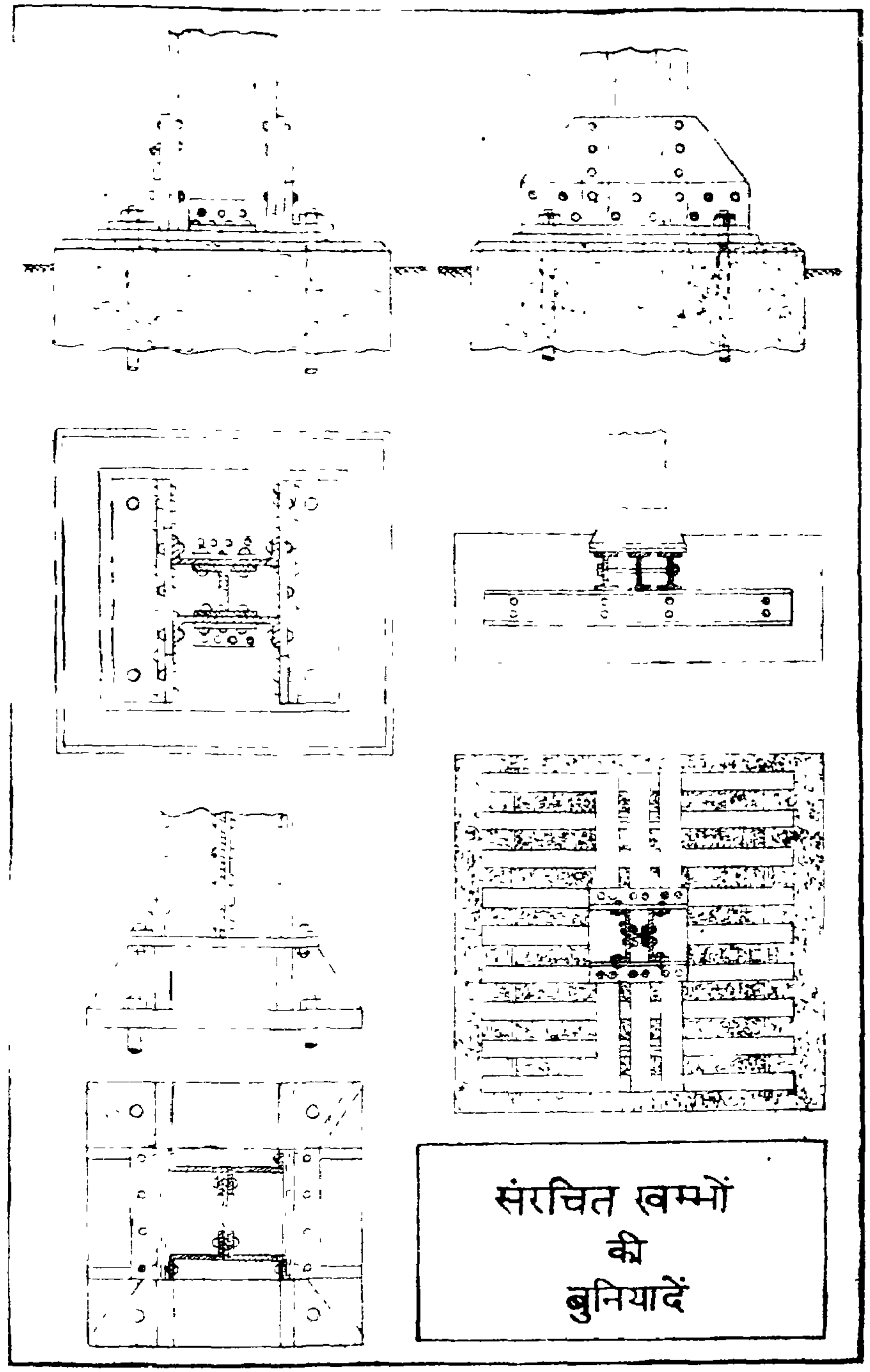
जाति	लम्बाई (पाट)	चौड़ाई	मोटाई
पीलीडील	२४	२·९	३·४
सागवान	६०	३·१४	४·२६
ओक	२४	१·३४	२·२५

चित्र ८. प्रतिबल-विकृति आरेख (नमन, कर्तन और पंचिंग)

संरचना इंजीनियरी (पृष्ठ ४०१-४०४)



चित्र ९. छत की कैंचियों के विभिन्न प्रकार के जोड़ों की संरचनाएँ



चित्र १०, स्तंभों की नींवें

२. अनुप्रस्थ प्रत्यास्थता मापांक (Modulus of Transverse Elasticity)

$$C \text{ या } G = \frac{\text{अपरूपक प्रतिबल प्रति वर्ग इंच, पाउंडों में}}{\text{अपरूपक विकृति प्रति इंच गहराई में}}$$

३. संपीडन से पदार्थों का आयतन घट जाता है। अत: आयतनी प्रत्यास्थता मापांक (Modulus of Volumetric Elasticity)

$$K = \frac{\text{संपीडन प्रतिबल प्रति वर्ग इंच, पाउंडों में}}{\text{मूल आयतन से परिवर्तित आयतन की कमी के रूप में विकृति}}$$

तापोपचार तथा यंत्रोपचार से प्रत्यास्थता मापांकों में परिवर्तन हो जाया करता है।

प्वासाँ का अनुपात (Poisson's Ratio) — यदि किसी ठोस छड़ को खींचा जाए, तो हम देखते हैं कि वह बीच में से पतली पड़कर टूट जाती है और यदि प्रत्यास्थता की सीमा के भीतर बल लगाकर खींचा जाए, तो उसकी लंबाई बढ़ने के साथ ही सब जगहों से उसकी पार्श्विक नाप छोटी हो जाती है। इसी प्रकार यदि किसी छड़ को दबाया जाए, तो उसकी पार्श्विक नाप बढ़ जाती है। अत: खिंचाव अथवा दबाव के कारण किसी प्रत्यक्ष ठोस की पार्श्विक नापों मे जो परिवर्तन होता है, वह प्वासाँन् के अनुपात के अनुसार होता है। इसे M अक्षर से व्यक्त करते हैं।

प्रत्यक्ष विकृति (लंबाई में) = पार्श्विक विकृति × M

कुछ पदार्थों के प्वासाँ के अनुपात

पदार्थों के नाम	प्वासाँ का अनुपात M	पदार्थों के नाम	प्वासाँ का अनुपात M
इस्पात	३·२५	ताँबा	२·६
पिटवाँ लोहा	३·६	पीतल	३·०
ढलवाँ लोहा	३·७	काँच (प्लास्टिक हालत में)	३·०

अपरूपक प्रतिबल (Shear Stress) — विशुद्ध अपरूपक प्रतिबल, दो सामान तथा एक दूसरे की विरोधी दिशा में काम करनेवाले प्रतिबलों के मिश्रण के रूप में होता है। इन प्रतिबलों में से एक तो तनन तथा दूसरा संपीडन प्रतिबल के रूप में होता है। इनकी क्रिया रेखा भी एक दूसरे से समकोण पर होती है।

ऐंठन बल (Torque) — यदि धुरे का एक छोर दीवार में दृढ़ता से कसा हुआ है और उसके दूसरे छोर पर ऐंठन बल लगाया जाता है, तो दूसरा छोर कुछ मुड़ जाएगा। मूल रेखा से जितना कोण, θ, बनाकर वह मुड़ता है वह कोण उसका ऐंठन कोण होगा। इस कोण की सहायता से धुरे का ऐंठन बल निकाला जा सकता है।

सामग्रियों की सामर्थ्य का परीक्षण (Testing of the strength of the material) — इंजीनियरी में काम आनेवाली सामग्रियों का परीक्षण अत्यावश्यक है। जिस परिस्थिति में सामग्रियों का उपयोग होता है उसी परिस्थिति में उनको रखकर, उनका परीक्षण करना चाहिए। परीक्षण दो प्रकार से होता है: एक रासायनिक रीति से और दूसरा भौतिक रीति से। रासायनिक रीति से सामग्रियों के आणविक संगठन का ज्ञान होता है और भौतिक रीति से खींचकर, दबाकर, अपरूपण कर, पंच से छेदकर, झुका कर तथा मोड़कर देखा जाता है कि उनके सहन करने की क्षमता कैसी है। भौतिक रीति से सामग्रियों का परीक्षण करने के लिये आजकल एक यंत्र बना है जिसे हाउन्सफील्ड टेंसोमीटर (Hounsfield Tensometer) कहते हैं। इसकी कार्यपद्धति बड़ी सरल है और सामान्य व्यक्ति भी थोड़े से प्रशिक्षण से इसका उपयोग कर सकता है। इससे सामग्रियों की सामर्थ्य, भार विकृति, प्रतिबल विकृति, अभिश्रांति इत्यादि का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

अभयांक (Factor of Safety) — जब तक किसी पदार्थ पर पड़नेवाला प्रतिबल उस पदार्थ की प्रत्यास्थता की सीमा के भीतर रहता है, तब तक विकृति बड़ी सूक्ष्म या अस्थायी होती है। भार हटते ही वह पदार्थ अपनी मूल अवस्था में आ जाता है। पर यदि प्रतिबल प्रत्यास्थता की सीमा के ऊपर हो, तो विकृति पर्याप्त और अधिक स्थायी होती है। विभंजक भार प्रत्यास्थता की सीमा से काफी अधिक होता है, पर व्यापारिक और उपयोगिता की दृष्टि से यह भार कम ही रखा जाता है और इसे पराभव बिंदु कहते हैं तथा इसे ही विभंजक भार मान लिया जाता है। प्रत्यास्थता की सीमा तक सहने योग्य भार से भी काफी कम मात्रा मे भार डालने की योजना, अभिकल्पना के समय की जाती है। अत: यह व्यावहारिक भार अत्यधिक सहने योग्य भार से जिस अनुपात मे कम हो, उस अनुपात को उस पदार्थ का अभय गुणांक या अभयांक कहते है। इसे निम्नलिखित सूत्र से व्यक्त किया जाता है:

$$\text{निरापद भार अर्थात् प्रतिबल की निरापद मात्रा} = \frac{\text{विभंजक भार अथवा प्रतिबल}}{\text{अभयांक}}$$

भिन्न भिन्न पदार्थों के अभयांक विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न होते हैं। कठोर इस्पात का अभयांक स्थिर भार में तीन तथा चल भार मे पाँच से आठ और प्रत्यावर्ती चल भार में नौ से १३ तक होता है।

पदार्थों की कठोरता — पदार्थों की कठोरता से उनके तनाव, संपीडन, अपरूपण आदि बलों का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। कठोरता परीक्षण की आधुनिक विधियाँ, स्थैतिक दंतुरता (static indentation) और गत्यात्मक दंतुरता (dynamic indentation) के सिद्धांतों पर आधारित है। स्थैतिक दंतुरता सिद्धांत पर आधारित ब्रिनेल की कठोरता-परीक्षण-विधि है, जिसके अनुसार परीक्ष्य पदार्थ के एक भाग पर काँच के समान बढ़िया पॉलिश कर उसपर बहुत कठोर इस्पात की, मानक व्यास की, एक गोली को रखकर यंत्रों द्वारा मानक भार से दबाते हैं। इससे पॉलिश की हुई सतह पर गोल निशान पड़ जाता है। निशान का व्यास नापकर निम्न सूत्र के अनुसार गोली का कठोरतांक (Hardness Number) निकालते हैं:

$$\text{ब्रिनेल का कठोरतांक} = \frac{\text{समग्र भार P किलोग्राम}}{\text{निशान का गोलीय क्षेत्रफल A वर्ग मिमी०}}$$

यदि गोली का व्यास D और निशान का व्यास d मिमी० हो तो

$$\text{ब्रिनेल का कठोरतांक} = \frac{2P}{\pi D(D-\sqrt{D^2-d^2})}$$

जो किग्रा० प्रति वर्ग मिमी० में लिखा जाता है।

साधारणतया गोली का व्यास १० मिमी० और लोहे तथा इस्पात के लिये ३,००० किग्रा०, पीतल आदि मुलायम धातुओं के लिये १,००० किग्रा० और सीस आदि बहुत मुलायम धातु के पदार्थों के लिये ५० किग्रा० मानक भार रखा जाता है। साधारणतया भार इतना ही रखा जाता है जिससे निशान का व्यास गोली के व्यास के ३/८ से अधिक न हो। परीक्षण किसी भी व्यास की गोली से किया जा सकता है, पर दाब और गोली के व्यास का अनुपात, P/D^2, एक सा रहना चाहिए।

सामान्य कठोरता के लिये इस्पात की गोली और ऊँची कठोरता के लिये हीरे की गोली प्रयुक्त होती है। कठोर पदार्थों पर १५ सेकंड तक और मुलायम पदार्थों पर ३० सेकंड तक भार दिया जाता है। निशान को सूक्ष्मता से मापने की व्यवस्था रहती है।

विकर्स (Vickers) विधि से भी कठोरतांक निकाला जाता है। इसमें गोली के स्थान में चौकोर पिरामिड की आकृति की हीराकनी का प्रयोग होता है। इससे चौकोर गड्ढा बनता है, जिसका विकर्ण (diagonal) और गहराई अधिक यथार्थता से नापी जा सकती है। इससे कठोरतांक इस प्रकार निकाला जाता है :

$$\text{विकर्स का कठोरतांक} = \frac{\text{समग्र भार किलोग्राम में}}{\text{चौकोर पिरामिड का क्षेत्रफल वर्ग मिमी० में}}$$

गत्यात्मक वंतुरता पर आधारित अनेक यंत्र बने हैं, जिनमें शोर (Schore) का बनाया हुआ स्केल रॉस्काप सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें इस्पात की बेलनाकार हथौड़ी रहती है, जिसका भार लगभग ४० ग्रेन होता। हथौड़ी के नीचेवाली टक्कर पर उत्तल आकृति की हीराकनी लगी रहती है, जिसके छोर का क्षेत्रफल लगभग ०·०१ से ०·०२५ वर्ग इंच तक होता है। हथौड़ी लगभग १० इंच की ऊँचाई से गिराई जाती है, तब वह परीक्ष्य पदार्थ से टकराकर ऊपर उछलती है। नली के सहारे से लगे पैमाने के द्वारा हथौड़ी की उछाल को नापकर, पदार्थ की कठोरता का परिकलन किया जाता है। पैमाने पर १४० निशान लगे रहते हैं। काँच की उछाल १३०, चीड़ की लकड़ी की उछाल ४० और रबर की उछाल २३ के लगभग होती है।

इस यंत्र द्वारा प्राप्त कठोरतांक को छह से गुणा कर ब्रिनेल का कठोरतांक ज्ञात होता है और उसे ६ × ०·२२ = १·३२ से गुणा करने पर पदार्थ की सन्निकट चरम सामर्थ्य, टन प्रति वर्ग इंच में, मालूम की जा सकती है। इसी प्रकार उपयुक्त स्थिरांकों से गुणा कर विभिन्न पदार्थों की संपीडन तथा अपरूपक सामर्थ्य भी मालूम हो सकती है।

ढाँचों पर विभिन्न बल — संरचना इंजीनियरी के कामों में विविध प्रकार के बल देखे जाते हैं। इन्हें निम्नलिखित छह प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है :

१. तान (tie) — निलंबित दंड, रस्सा, जंजीरों आदि पर पड़नेवाला विशुद्ध तनाव।

२. थाम (struts) पर पड़नेवाला विशुद्ध संपीडन।

३. स्तंभ (pillar) पर पड़नेवाला संपीडन।

४. गर्डर, धरन और शहतीर पर पड़नेवाला नमन और अपरूपक बल (shear force)।

५ बुनियादों और आलंबों (fulcrums) पर पड़नेवाला संपीडन बल।

६. रिवट, बोल्ट, पिन और कॉटर (cotter) पर पड़नेवाला बल।

संरचना के विभिन्न अवयव रिवटों द्वारा, अथवा बोल्टों द्वारा, जोड़े जाते हैं। रिवटों द्वारा बने जोड़ स्थायी होते हैं और काटकर ही अलग अलग किए जा सकते हैं, पर बोल्टों द्वारा जोड़े गए जोड़ अस्थायी होते हैं और विभिन्न उपखंडों में खोलकर अलग अलग किए जा सकते हैं।

ढाँचों को खड़ा करने का तरीका — संरचना कार्य में सभी प्रकार के अवयव मुलायम इस्पात के विविध परिच्छेद (section) युक्त छड़ों और प्लेटों से बनाए जाते हैं। छड़ों के परिच्छेद गोल, चपटे, आयताकार, एल (L), टी (T) अथवा एच (H) आदि के आकार के होते हैं। कारखाने में ही बड़ी कैंचियों का निर्माण करते समय उनके समस्त अवयव नक्शे के अनुसार अलग अलग काट छाँटकर बनाए जाते हैं तथा कुछ छोटे छोटे उपखंडों को तो कारखाने में ही समतल भूमि पर रखकर, रिवटों द्वारा यथास्थान जड़ देते हैं; फिर उन जुड़े हुए उपखंडों को क्रेन आदि साधनों से उठाकर यथास्थान बैठाकर, बोल्टों द्वारा कस देते हैं।

तान और थाम (Ties and Struts) — तानों और थामों के अवयवों पर कितना प्रतिबल पड़ता है और इसमें उनके सहने योग्य, प्रति वर्ग इंच निरापद प्रतिबल से भाग देकर, उनका परिच्छेद गणित द्वारा ज्ञात कर लिया जाता है और उसी के आधार पर उनका निर्माण होता है।

धरन और गर्डर (Beams and Girders) — संरचित ढाँचों में धरनों तथा गर्डरों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उन्हीं पर चौरस छतों, पुलों, गैंट्रियों तथा शिरोपरिधावन पथों आदि के स्थिर, चर और चल भार लादे जाते हैं। जब किसी सीधे अवयव के दोनों सिरों को किसी मजबूत आधार पर टिकाकर, उसपर भार लादा जाता है, तब वह धरन या गर्डर कहलाता है। धरन पर बोझा रखने से वह बीच में लचक जा सकती है और यदि उसपर बोझा सामर्थ्य से अधिक हो, तो उसकी निचली सतह फटने लगती है। [ओं० ना० श०]

संरस (Amalgam) पारा तथा अन्य किसी धातु की मिलावट से बनी मिश्रधातु को संरस (amalgam) कहते हैं। केवल लोहे को छोड़कर प्रायः सभी धातुएँ पारे के साथ मिलकर मिश्रधातु

बनाती हैं। कुछ समय पूर्व संरसों का व्यवहार स्वर्ण, चाँदी, जस्ता जैसी धातुओं के धातुकर्म में किया जाता था। दाँत के डाक्टरों द्वारा खोखले दाँत भरने के लिये भी संरसों का उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाता है. किंतु अब अन्य अधिक उपयोगी साधनों के सुलभ होने के कारण संरसों का उपयोग कम होता जा रहा है।

चाँदी, ताँबा, जस्ता तथा राँगे की मिश्रधातु को पारे के साथ संरस बनाकर, दाँत भरने में प्रयुक्त किया जाता है। यह संरस दाँत के खोड़रे में दो मिनट में ही जमकर सख्त हो जाता है।

संरस में मिले पारे की न्यूनता एवं अधिकता के अनुसार ही संरस तरल एवं ठोस होता है। संरस साधारणतः चार प्रकार से तैयार किया जा सकता है: (१) किसी धातु को पारे के साथ रगड़कर, (२) जिस धातु का संरस बनाना है उससे बना कैथोड (cathode) पारे के किसी लवण के विलयन में डालकर तथा विद्युत् प्रवाहित कराकर, जैसे नमक के विलयन में पारे का कैथोड डालकर सोडियम संरस बनाकर फिर उस संरस को पानी के साथ क्रिया कराकर, कॉस्टिक सोडा तैयार किया जाता है, (३) किसी धातु को केवल पारे के किसी लवण के साथ क्रिया कराकर, अथवा (४) किसी धातु के लवण के साथ पारे की क्रिया कराकर।

रासायनिक क्रियाओं मे संरसों का उपयोग अब भी काफी होता है। [न० द० मि०]

संरेखण (Nomography) अपेक्षतया एक नया विषय है, जो समतल ज्यामिति और लघुगणकों के सरल सिद्धांतों पर आधारित है। यह विषय वर्णनात्मक ज्यामिति, अथवा आलेखी स्थैतिकी (Graphic Statics), के सदृश है। इसकी उत्पत्ति इंजीनियरी के क्षेत्र से हुई है। एम० दोकेन (M. d' Ocagne) इस दिशा में अग्रणी हैं और इन्होंने १६०० ई० में इस शाखा का प्रवर्तन किया। संरेखण का ध्येय यह है कि एक विशेष प्रकार के समस्त प्रश्नों का, एक ही आलेख खींचकर, आलेखी हल निकाल लें। संयंत्र चालन, प्राविधिक नियंत्रण और गवेषणा आयोजनों में बहुत से दैनिक परिकलन प्रतिदिन करने पड़ते हैं, जिनमें व्यस्त वैज्ञानिकों और इंजीनियरों का बहुत समय नष्ट हुआ करता था। अपना समय बचाने के लिये ये लोग ऐसा काम कर्मचारियों को सौंप देते थे, जो आलेखी उपकरणों से काम करते करते बड़े दक्ष हो जाते थे। संरेखण चार्ट (alignment charts), निर्देशांक सारणियाँ (coordinate tables) और संरेखण चार्ट (nomogram) इस काम के लिये बड़े सुगम और यथार्थ होते हैं।

मान लें कि कोई समीकरण अथवा अनुबंधों का एक कुलक दिया है। एक चार्ट ऐसा बनाया जाता है जिसपर एक ऐसी ऋजु रेखा खींची जा सके जो तीन मापनियों को ऐसे मानों पर काटे जो उक्त समीकरण, अथवा अनुबंध के कुलक को, संतुष्ट करें। ऐसे चार्ट को संरेखण चार्ट कहते हैं। यदि कोई दो मान दिए हों, तो उक्त चार्ट से तीसरा मान निकाला जा सकता है।

संरेखण चार्ट के तीन लाभ होते हैं: सरलता, द्रुतता और यथार्थता (accuracy)। चार्ट के आकार, अभिकल्प (design) और अक्षों की अंकन विधि पर विचार करने से निकटतम मान निकाला जा सकता है।

रचना विधियाँ — रचना इन बातों पर निर्भर है:

(१) ऐसे समीकरण, अथवा एक ही प्रकार के एक घात संबंध, जिनसे दो चरों के पारस्परिक संबंध, निकाले जा सकें, यदि तीसरे चर का मान दिया हो।

(२) चरों के मानों का परास (range)।

(३) इस बात का ज्ञान कि दिया हुआ उदाहरण मानक (standard) रूपों में से कौन से प्रकार का है।

(४) वांछित मापनियों की रचना के लिये उपयुक्त मापांकों (moduli) अथवा मात्रकों (units) का चुनाव।

मापनियाँ कई प्रकार की होती हैं, जैसे एक समान (uniform) मापनी, लघुगणकीय (logarithmic) मापनी, वर्ग मापनी, घन (cube) मापनी, वर्गमूल मापनी इत्यादि। इन मापनियों में दूरियाँ क्रमशः इस प्रकार की होती है: य, लघु य, य,^{२} य,^{३} π $\sqrt{य}$।

मापांक इस बात पर निर्भर होता है कि प्रश्न में मानों का परास क्या है और कागज पर कितना स्थान प्राप्य है। संरेखण चार्टों में विभिन्न प्रकार की मापनियों के उपविभागों के अंकन और यथार्थ परिकलन (calculation) में तो बहुत समय लगता है। इसके बदले में हम जोज़ेफ़ लिप्का (Joseph Lipka) के बने बनाए चार्टों से काम ले सकते हैं। हम विभिन्न पद्धतियों के मापांकों के विभिन्न मानों के लिये इनका उपयोग कर सकते हैं।

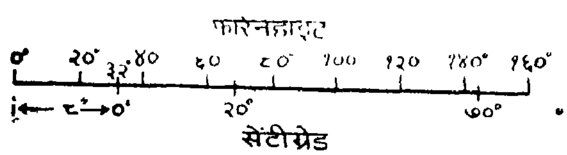
दो चरों के लिये मापनियाँ — समानीकरण बिंदु (matching point), आलेखन (plotting) मापांक।

(१) संबंध वा = फ (t)

उदाहरण: एक ही अक्ष पर दो मापनियाँ जो फ़ारेनहाइट और सेंटीग्रेड तापक्रमों के अनुसारी अंश देती हैं। समीकरण

$$फा = १\cdot८ सें + ३२, \quad (F = 1\cdot8\, C + 32)$$

है। मापनी इस प्रकार है:



मापनी की लंबाई ४ इंच है। फ़ारेनहाइट का परास ०° से १६०° है। फ़ारेनहाइट मापनी के लिये दूरी य = म फा०, (x = m F), जिसमें म (m) मापांक है। सेंटीग्रेड मापनी के लिये दूरी य = म (१·८ सें + ३२), [x = m (1·8 C + 32)]

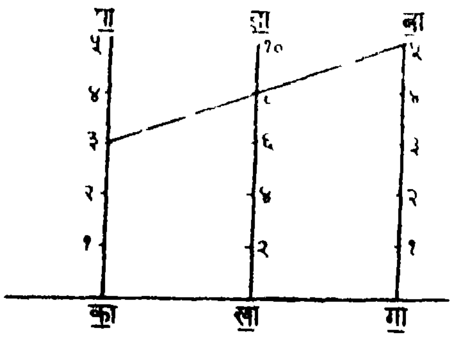
और $म = \frac{४}{१६०} = ०\cdot०२५$। अतः सेंटीग्रेड मापनी के लिये

दूरी य = ·०२५ (१·८ सें० + ३२°) = ०·०४५ सें० + ०·८

फारेनहाइट मापनी के लिये य = ०·०२५ फा०, (x = 0·025 F)

समानीकरण बिंदु सें० = ०°, फा० = ३२° है। हम मापनियो का आलेखन समानीकरण बिंदु से करते हैं। आलेखन मापांक फा० मापनी के लिये ०·०२५ और सें० मापनी के लिये ०·०४५ है।

(२) समीकरण पा+बा = डा, (P+Q = W) के लिये स'रेखण-चार्ट — इसमें तीन समांतर मापनियाँ इस प्रकार अंकित की जाती हैं कि यदि उन में से दो के बिंदुओं को जोड़ा जाय, तो योजक रेखा तीसरी मापनी को एक ऐसे बिंदु पर काटेगी जो चरो के दिए हुए पारस्परिक संबंध को संतुष्ट करे।



चित्र २.

का खा = खा गा। मापनियों पा तथा बा के मापांक बराबर है और डा का मापांक पा के मापांक का दुगना है। पा = ३ और बा = ५ की संयोजक रेखा डा को बिंदु ८ पर काटती है।

इस विधि की यही प्रक्रिया है कि प्रत्येक प्रकार के प्रश्न के लिये उपयुक्त मापनियाँ चुननी होती हैं और उनकी मध्यस्थ दूरियाँ भी उचित लेनी होती हैं।

संरेखण चार्टों का हेतु होता है तीन, चार अथवा अधिक चरों का संबंध दर्शाना। कुछ चार्टों में क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर मापनियों के अतिरिक्त विकर्ण और वक्र मापनियाँ भी होती हैं। कभी कभी निर्देशांक और स'रेखण चार्टों को मिलाना सुविधाजनक होता है। पाठक मापनियों के प्रश्न और उचित दूरियों के चुनाव के विषय मे मानक ग्रंथों का अवलोकन कर सकते हैं।

विभिन्न प्रकार के संरेखण चार्ट — इन चार्टों की रचना में सारणिकों का भी उपयोग किया जाता है। निम्नलिखित प्रकार के समीकरणों के लिये चार्ट बनाए जा चुके हैं:

(१) समांतर मापनी स'रेखण चार्ट

(अ) इस प्रकार के तीन चरों के समीकरण

$$\text{फ}_1(\text{क}) + \text{फ}_2(\text{ख}) = \text{फ}_3(\text{ग});\quad \text{फ}_1(\text{क}) \times \text{फ}_2(\text{ख}) = \text{फ}_3(\text{ग})$$

$$[f_1(a) + f_2(b) = f_3(c)\ ;\ f_1(a) \times f_2(b) = f_3(c)]$$

(आ) चार अथवा अधिक चरों के समीकरण :

$$\text{फ}_1(\text{क}) + \text{फ}_2(\text{ख}) + \text{फ}_3(\text{ग}) + \cdots = \text{फ}_4(\text{घ}).$$

$$[f_1(a) + f_2(b) + f_3(c) + \ldots = f_4(t)];$$

$$\text{फ}_1(\text{क}) \times \text{फ}_2(\text{ख}) \times \cdots \quad \ldots \quad = \text{फ}_4(\text{घ})$$

$$[f_1(a) \times f_2(b) \times \ldots \quad \ldots \quad = f_4(t)].$$

(२) खा चार्ट — निम्नलिखित प्रकार के समीकरण :

$$\frac{\text{फ}_1(\text{क})}{\text{फ}_2(\text{ख})} = \text{फ}_3(\text{ग}),\ \left[\frac{f_1(a)}{f_2(b)} = f_3(c)\right];$$

$$\text{फ}_1(\text{क}) = [(\text{फ}_2(\text{ख})]^{\text{फ}_3(\text{ग})},\ [f_1(a) = [f_2(b)]^{f_3(c)}]$$

$$\frac{\text{फ}_1(\text{क})}{\text{फ}_2(\text{ख})} = \frac{\text{फ}_3(\text{ग})}{\text{फ}_4(\text{घ})},\ \left[\frac{f_1(a)}{f_1(b)} = \frac{f_3(c)}{f_4(t)}\right];$$

(३) समानांतर और लंब सूचांक (index) रेखाएँ :

$$\text{फ}_1(\text{क}) + \text{फ}_2(\text{ख}) = \frac{\text{फ}_3(\text{ग})}{\text{फ}_4(\text{घ})}$$

$$\left[f_1(a) + f_2(b) = \frac{f_3(c)}{f_4(t)}\right]$$

(४) संगामी (concurrent) मापनियाँ :

$$\frac{१}{\text{फ}_1(\text{क})} + \frac{१}{\text{फ}_2(\text{ख})} = \frac{१}{\text{फ}_3(\text{ग})}$$

$$\left[\frac{1}{f_1(a)} + \frac{1}{f_2(b)} = \frac{1}{f_3(c)}\right]$$

(५) आवर्त चर :

$$\text{फ}_1(\text{क}) + \text{फ}_2(\text{ख}) \times \text{फ}_3(\text{ग}) = \text{फ}_4(\text{ग})$$

$$[f_1(a) + f_2(b) \times f_3(c) = f_4(c)]$$

(६) संयुक्त संरेखण चार्ट :

$$\text{फ}_1(\text{क}) \times \text{फ}_4(\text{घ}) + \text{फ}_2(\text{ख}) \times \text{फ}_3(\text{ग}) = १$$

$$[f_1(a) \times f_4(t) + f_2(b) \times f_3(c) = 1]$$

$$\frac{\text{फ}_4(\text{घ})}{\text{फ}_1(\text{क})} + \frac{\text{फ}_3(\text{ग})}{\text{फ}_2(\text{ख})} = १$$

$$\left[\frac{f_4(t)}{f_1(a)} + \frac{f_3(c)}{f_2(b)} = 1\right]$$

[शां० ना० म०]

स'रेखी, या आरेख (Diagram) वह चित्र है जिसके विभिन्न भागों के परस्पर ज्यामितीय संबंध आरेख से निरूपित वस्तुओं के परस्पर संबंध को स्पष्ट करते हैं तथा उन संबंधों को जो चित्र से आरेखी रीति से अभिव्यक्त नहीं होते, चित्र में अंकित संख्याओं अथवा अन्य प्रविष्टियों द्वारा दिखाते हैं।

किसी आरेख का अभिप्राय उन मुख्य संबंधों को नेत्रों के समक्ष स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना है जिनपर ध्यान आकर्षित करना हो और कभी कभी आरेख से अभिव्यक्त वस्तु से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण राशियों के यथार्थ संख्यात्मक मान को, चित्र पर माप द्वारा, दिखाना है। प्रत्यय की व्यापकता के कारण, आरेख अनेक प्रकार के विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने में लाभदायक होते हैं। कुछ आरेख निम्नलिखित हैं :

(१) **गणितीय आरेख** — गणितीय लेखों में आरेखों का प्रयोग विशेष रूप से इस कारण किया जाता है कि पाठक को तर्क समझ में आ जाय। एक अच्छा आरेख वह समझा जाता है जो साध्य के मुख्य लक्षणों को स्पष्ट रूप से प्रकट कर सके। प्राय: गणित में आरेख का वर्णन शब्दों में इतने स्पष्ट ढंग से करते हैं कि पाठक उसको स्वयं भी

खींच सकता है। यांत्रिकी में आरेख अधिकतम प्रकार के अभिप्रायों से उपयोग किए जाते हैं। स्थैतिकी में इनका प्रयोग अत्यधिक सुविधाजनक है, क्योंकि किसी स्थैतिक तंत्र के भाग गतिशील नहीं होते।

(२) **रसायन में आरेख** — जॉन डाल्टन ने परमाणु विन्यास संबंधी अपनी संकल्पना में अनेक सामान्य रासायनिक यौगिकों के आरेख प्रकाशित किए। उस समय से इनका प्रयोग रसायनज्ञों द्वारा बहुत मात्रा में किया जा रहा है। इसी भाँति क्रिस्टलकी में क्रिस्टल संरचना की व्याख्या में आरेखों का प्रयोग बहुधा किया जाता है।

(३) मापक आरेख — आरेख का प्रयोग मापने में भी करते है। इस प्रकार के आरेख का अभिप्राय निदर्शन के अतिरिक्त यथार्थ मापन भी होता है।

(४) त्रिविमितीय वस्तु आरेख — किसी दो से अधिक चर राशियों पर निर्भर परिमाणों के कुलक के लेखाचित्र-प्रदर्शन के लिये आरेख पद्धति का प्रयोग संभव है। विशेषतः किसी त्रिविमितीय वस्तु के अंगों के परस्पर संबंधों को निरूपित करने के लिये दो अथवा अधिक आरेखों का प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार की आरेख पद्धति में एक ऐसे निश्चित संकेत की आवश्यकता होती है जिससे यह ज्ञात होता है कि आरेख किस प्रकार से पूर्ण संरचना से तथा आपस में पृथक्तः संबंधित हैं। इमारत और पुल के मानचित्र इसके उदाहरण हैं। ठोस एवं अन्य त्रिविमितीय आकृति को भी एकल आरेख से निरूपित कर सकते हैं।

(५) अन्य आरेख — कुछ अन्य आरेखों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :

(क) आर्गंड-चित्र में संमिश्र संख्या $x+iy$ को किसी निर्देशांक पद्धति के निर्देश में संगत बिंदु (x,y) से निरूपित करते हैं।

(ख) स्वचालित आरेख वह है, जो किसी मशीन से स्वतः निर्मित हो जाता है और दो चर राशियों में संबंधित विचरण को दिखाता है; उदाहरणार्थ, दिन पर्यंत के ताप में परिवर्तन।

(ग) ऐंट्रॉपी आरेख किसी ऊष्मागतिक चक्र में ऐंट्रॉपी परिवर्तन दिखाता है।

(घ) फ्रेम-आरेख में बिंदुओं को बिंदुओं से और जोड़नेवाली कड़ी को रेखा से निरूपित करते हैं।

(च) हेट्ंज-आरेख निर्दिष्ट हवा की मात्रा में ताप, दाब और नमी के परिवर्तन को, जबकि हवा के आयतन में रुद्धोष्म परिवर्तन हो रहा है, निरूपित करता है। 'नायहोफ आरेख' इसी के अनुरूप होता है।

(छ) 'ऑयलर आरेख' तार्किक संबंधों का आलेखी निरूपण करता है। इसमें वृत्त अथवा अन्य चित्रों द्वारा उन राशियों की श्रेणी को सूचित करते हैं जिनपर निर्दिष्ट गुण लागू होते हैं।

(ज) 'विकृति आरेख' एक चित्र है, जो किसी प्रतिबल के परिमाण और उसके कारण उत्पन्न विकृति को निरूपित करता है।

'आरेख' शब्द का अनेकान्य प्रसंगों में प्रयोग करते हैं, जिनमें से बहुत से स्वतः स्पष्ट होते हैं। [रा० कु०]

संविदा-निर्माण (कंट्रैक्ट फार्मेशन) वचनपालन, करार अथवा कौल के निर्वाह को संपूर्ण विश्व में और विशेषतः भारत में बड़ा महत्व दिया गया है। भारतीय इतिहास में वचनपालन के लिये पुत्र को वनवास और स्वयं मृत्यु का वरण करनेवाले दशरथ की गाथा लोकप्रसिद्ध है। राजस्थान का मध्यकालीन इतिहास इसी उज्वल परंपरा से ओतप्रोत है।

परंतु इस वचनपालन का आध्यात्मिक और नैतिक मूल्य रहा है, इसके पीछे कानून का हाथ नहीं था और न इसको कोई वैधानिक मान्यता प्राप्त थी। परंतु धीरे धीरे व्यावसायिक संबंधों में वचनपालन की ओर उसे कानूनी मान्यता देने की आवश्यकता का अनुभव भी जीवनमूल्यों एवं नैतिकता के ह्रास के साथ ही समाज में किया और इसी कारण नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से वचनपालन जहाँ गौण होता गया, वैधानिक मान्यताप्राप्त व्यावसायिक वचनों के पालन के महत्व को प्रमुखता प्राप्त होती गई।

व्यावसायिक और कानूनी दृष्टि से इस संबंध में रोम का कानूनी इतिहास रोचक है। वहाँ संविदा का प्राचीनतम स्वरूप (nexum) था। अपने मूल रूप में यह उधार वस्तुविक्रय से संबंधित था। धीरे धीरे ऋण के लिये भी इसका प्रयोग होने लगा। इसकी कतिपय औपचारिकताएँ थी जिनके बिना (nexum) की पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी।

भारत में भी नारद और बृहस्पति के ग्रंथों में वस्तुविक्रय, ऋण, साझेदारी और अभिकर्तृत्व (एजेंसी) के संबंधों का उल्लेख है। किंतु वर्तमान संविदा का स्वरूप उससे भिन्न है, यद्यपि उसके विकास की कड़ी उनसे भी जोड़ी जा सकती है।

वर्तमान संविदा की विशेषता उसकी कानूनी मान्यता है। वह प्रत्येक वचन अथवा करार जो कानून द्वारा प्रवर्तनीय हो अथवा जिसका कानून द्वारा पालन कराया जा सके, संविदा है। प्राचीन काल में इस कानूनी मान्यता पर विशेष बल नहीं था बल्कि बल था उसकी औपचारिकता और विधियों (Formalities & Ceremonies) पर। बिना औपचारिकता के कोई वचन, संविदा का रूप ग्रहण नहीं कर सकता था। आवश्यक औपचारिकताओं में से यदि कोई औपचारिकता कम रह जाती थी तो संविदा पूर्ण नहीं होती थी।

यद्यपि अपने विभिन्न रूपों में संविदा का प्रचलन समाज के व्यावसायिक संबंधों में था परंतु 'संविदा' शब्द का अन्वेषण बहुत बाद में हुआ। संविदा शब्द बहुत व्यापक है। संविदा के ही अंग विक्रय, ऋण, बंधक, निक्षेप (Bailment), साझेदारी, अभिकर्तृत्व (Agency), विवाह आदि भी हैं। परंतु अपने वर्तमान रूप में संविदा ने नया कानूनी अर्थ ग्रहण कर लिया है। भारतवर्ष में इसका अधिनियम सन् १८७२ ई० में बना और संविदाओं का नियमन उसी भारतीय संविदा अधिनियम (Indian Contract Act 1872) द्वारा होता है। इसलिये भारतीय न्यायालय अब संविदा के मामले में इसी लिखित कानून का अनुसरण करने को बाध्य हैं। व्यवस्थाओं की व्याख्या के लिये उन्हें इसी अधिनियम का अध्ययन करके उपयुक्त अर्थ और मंतव्य निकालना चाहिए।

भारतीय संविदा अधिनियम ब्रिटिश संविदा कानून पर आधारित है परंतु ब्रिटिश संविदा अधिनियम की सहायता तभी ली जा सकती है जब या तो भारतीय संविदा अधिनियम किसी प्रश्न पर मौन हो अथवा उसकी व्यवस्था अस्पष्ट हो और ब्रिटिश कानून भारतीय अवस्था और सामाजिक स्थिति से असंगत न हो।

ऊपर बताया गया है कि अपने वर्तमान रूप मे संविदा एक विधिक वचन या कानून द्वारा प्रवर्तनीय करार है। इसमे दो आवश्यक तत्व हैं - (१) करार और (२) कानून द्वारा उसे प्रभावशील बनाए जाने का गुण। संविदानिर्माण की प्रक्रिया और उसकी समस्त संभावनाओं को हृदयंगम करने के लिये कतिपय पारिभाषिक शब्दों की जानकारी आवश्यक होगी। ये परिभाषाएँ भारतीय संविदा अधिनियम में दी गई हैं और उनमें से संबंधित परिभाषाओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

१. करार

जब कम से कम दो व्यक्ति किसी कार्य के करने अथवा उससे विरत रहने के संबंध मे एकमत होते हैं तो उसे करार कहा जाता है। करार के लिये कम से कम दो पक्षों का होना आवश्यक है। यदि 'अ' ने 'ब' से प्रस्ताव किया कि 'ब' 'अ' के लिये 'अ' का एक चित्र बना दे तो वह 'ब' को इस कार्य हेतु पाँच सौ रुपए देगा। 'अ' के द्वारा यह प्रस्ताव है। यदि 'ब' यह स्वीकार कर ले कि पाँच सौ रुपए में वह 'अ' के लिये उसका चित्र बना देगा तो यह एक ऐसा करार हुआ जो कानून द्वारा प्रवर्तनीय है और उसे प्रभावकारी बनाया जा सकता है अर्थात् एक व्यक्ति अकेला ही कोई करार नहीं कर सकता। करार के लिये करार संबंधी बातों पर उभय पक्ष की मानसिक एकात्मता (consensus and idem) होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि करार संबंधी प्रत्येक बात के संबंध में उभय पक्ष उसका एक ही अर्थ समझें। ऐसा न हो कि एक पक्ष एक अर्थ और दूसरा पक्ष दूसरा अर्थ समझे। 'अ' के पास दो मोटकारें हैं, एक फोर्ड और दूसरी शेवरलेट। वह अपनी फोर्ड कार पाँच हजार में बेचना चाहता है। उसने अपनी उस कार को बेचने का प्रस्ताव 'ब' से किया। परंतु 'ब' ने 'शेवरलेट' कार समझकर उसे खरीदने की स्वीकृति प्रदान कर दी। यह करार नहीं होगा क्योंकि 'अ' और 'ब' में मोटरकार के संबंध में मानसिक एकात्मता नहीं हुई। मोटरकार से 'अ' ने फोर्ड मोटरकार और 'ब' ने शेवरलेट कार समझी।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि प्रस्ताव की स्वीकृति के उपरांत करार बनता है। प्रस्ताव विभिन्न प्रकार के होते हैं परंतु साधारणतः उनका वर्गीकरण पाँच श्रेणियों में किया गया है: १. विशिष्ट प्रस्ताव (Specific offer), जब कोई प्रस्ताव निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों से किया जाता है, तब उसे विशिष्ट प्रस्ताव कहते हैं। चूँकि प्रस्ताव निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों से किया जाता है, अतः इसमें स्वीकार करनेवाला व्यक्ति, जिसे स्वीकर्ता कहा जायगा, निर्दिष्ट होता है। इसमें स्वीकृति की सूचना स्वीकर्ता द्वारा प्रस्तावक को देना आवश्यक है। २. सामान्य प्रस्ताव (जनरल ऑफर) वह प्रस्ताव है जो निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों से नहीं किया जाता बल्कि संसार का कोई व्यक्ति इसे स्वीकार कर सकता है। इसी लिये विशिष्ट प्रस्ताव की भाँति इसमें स्वीकृति की सूचना का प्रस्तावक को दिया जाना अनिवार्य नहीं होता। प्रस्ताव में प्रकटित और इच्छित कार्य को करना ही इस प्रस्ताव की स्वीकृति मानी गई है। ३. स्पष्ट प्रस्ताव (ऐक्सप्रेस ऑफर) वे प्रस्ताव हैं जो मौखिक या लिखित रूप में — परंतु स्पष्टतः — किए जायें। ४. सांकेतिक प्रस्ताव (इंप्लाइड ऑफर) ये प्रस्ताव शब्दों द्वारा न होकर कार्य द्वारा किए जाते हैं। यात्रियों को एक स्थान से दूसरे स्थान को टिकट के बदले ले जाने का प्रस्ताव, रेलगाड़ी का स्टेशन पर आना ही है। यह सामान्य प्रस्ताव का भी उदाहरण है क्योंकि इसका स्वीकर्ता पूर्वनिश्चित नही है। ५. अनवरत प्रस्ताव (Continuous offer) इस प्रस्ताव में निश्चित अवधि तक कार्यविशेष के किए जाने का प्रस्ताव होता है जैसे एक वर्ष में निश्चित दर से ५००० मन गेहूँ की आपूर्ति का प्रस्ताव। इस प्रस्ताव की स्वीकृति के उपरांत भी एक पक्ष तुरंत ही संपूर्ण गेहूँ खरीदने को या दूसरा पक्ष बेचने को बाध्य नहीं किया जा सकता।

स्वीकृति और उसके विभिन्न प्रकार — प्रस्ताव की ही भाँति और उसके अनुरूप स्वीकृति की भी विभिन्न प्रणालियाँ हो सकती हैं। जहाँ प्रस्तावक स्वीकृति की कोई विशेष विधि या प्रणाली निर्धारित करता है, वहाँ स्वीकृति का उस विधि या प्रणाली द्वारा किया जाना अनिवार्य है। यदि उस निर्दिष्ट प्रणाली द्वारा स्वीकृति न हो तो प्रस्तावक को उसी प्रणाली द्वारा स्वीकृति देने पर बल देना चाहिए। परंतु जहाँ स्वीकृति की किसी प्रणाली या विशिष्ट विधि का उल्लेख नहीं हो, वहाँ किसी युक्तियुक्त, संगत और उचित प्रणाली द्वारा स्वीकृति दी जा सकती है।

स्वीकृति भी स्पष्ट अर्थात् शब्दों द्वारा हो सकती है अथवा सांकेतिक रूप में कार्य द्वारा। टिकट लेकर गंतव्य स्थान को जानेवाली रेलगाड़ी पर यात्री का बैठना ही कार्य द्वारा कंपनी के प्रस्ताव की स्वीकृति है। केवल मानसिक स्वीकृति मात्र स्वीकृति नहीं समझी जा सकती। शब्दों में अथवा कार्य द्वारा उसकी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है।

प्रस्ताव में निर्दिष्ट कार्यों का करना भी कतिपय (साधारणतः उपर्युक्त सामान्य) प्रस्तावों की स्वीकृति मानी जाती है। परंतु यह आवश्यक है कि स्वीकर्ता इस कार्य को करने के पूर्व से ही प्रस्तावक की शर्तें जानता हो। यदि स्वीकर्ता प्रस्ताव की बिना जानकारी के ही वह कार्य करता है जो प्रस्ताव में निर्दिष्ट है, तो वह प्रस्ताव की स्वीकृति नहीं माना जा सकता। एक व्यक्ति गौरीदत्त ने अपने भतीजे की खोज के लिये अपने मुनीम लालमन को भेजा। लालमन के जाने के उपरांत गौरीदत्त ने अपने भतीजे को खोज लानेवाले के लिये ५०१ रुपए पुरस्कार की घोषणा की। लालमन मुनीम गौरीदत्त के भतीजे को खोज लाया और पुरस्कार की माँग की। निर्णय यह हुआ कि चूँकि लालमन को लड़के की खोज के पूर्व पुरस्कार की शर्त की सूचना नहीं थी, न पुरस्कार प्राप्ति की बात ही ज्ञात थी, अतः खोए हुए लड़के को खोज लाने का लालमन का कार्य गौरीदत्त के प्रस्ताव की स्वीकृति नहीं माना जा सकता (लालमन शुक्ल बनाम गौरीदत्त)

प्रस्ताव से उत्पन्न लाभ को स्वीकार करना भी उपयुक्त दशाओं में प्रस्ताव की स्वीकृति समझी जाती है। वाराणसी से प्रयाग की बस में बैठकर जाना ही बस मालिक के प्रस्ताव की स्वीकृति है और स्वीकर्ता बस का किराया देने को बाध्य है।

स्वीकृति प्रस्ताव के कायम रहने की दशा में होनी चाहिए। यदि प्रस्ताव निष्प्रभाव हो चुका है या प्रस्तावक द्वारा खंडित किया या वापस लिया जा चुका है तो स्वीकृति भी निरर्थक और प्रभावहीन होगी।

प्रस्ताव और स्वीकृति का संवहन — प्रस्तावक की सूचना स्वीकर्ता को और प्रस्ताव की स्वीकृति की सूचना प्रस्तावक को मिलना आवश्यक है। प्रस्ताव की सूचना जब उस व्यक्ति को प्राप्त हो जाय जिसके प्रति प्रस्ताव किया जाता है, तब प्रस्ताव का संवहन या संचार पूर्ण समझा जाता है। 'क' ने अपनी घड़ी १५०) में 'ख' को बेचने का प्रस्ताव पत्र द्वारा 'ख' को प्रेषित किया। ज्योंही 'क' का पत्र 'ख' को प्राप्त होगा, 'क' के प्रस्ताव का संवहन पूर्ण हो जायगा। स्वीकृति के संवहन की पूर्णता का समय प्रस्तावक और स्वीकर्ता के लिये पृथक् पृथक् होता है। जब स्वीकर्ता अपनी स्वीकृति प्रस्तावक के पास इस प्रकार प्रेषित कर दे कि उसका वापस लेना स्वीकर्ता के वश में न रहे, तो प्रस्तावक के विरुद्ध स्वीकृति का संवहन पूर्ण समझा जायगा परंतु स्वीकर्ता के विरुद्ध नहीं। स्वीकर्ता के विरुद्ध स्वीकृति का संवहन तब पूर्ण होगा जब स्वीकृति प्रस्तावक के पास पहुँच जाय। उपर्युक्त उदाहरण में 'ख' द्वारा अपनी स्वीकृति का पत्र 'क' के नाम डालते ही स्वीकृति की पाबंदी 'क' नामक प्रस्तावक के विरुद्ध हो जाएगी परंतु स्वीकर्ता 'ख' के विरुद्ध नहीं। 'ख' के विरुद्ध संवहन की पूर्णता तब होगी जब उसकी स्वीकृति का पत्र 'क' को प्राप्त हो जाय।

डाक द्वारा संवहन का नियम और प्रस्ताव तथा स्वीकृति का खंडन — जब प्रस्तावक और स्वीकर्ता एक दूसरे के समक्ष उपस्थित हों तो संवहन में कोई पेचीदगी पैदा नहीं होती परंतु जब दोनों दो स्थानों पर हों तो संवहन का माध्यम डाक — पत्र या तार — होता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्रस्ताव का पत्र प्रस्तावक द्वारा छोड़े जाते ही वह पूर्ण नहीं होता वरन् स्वीकर्ता के पास पहुँचने पर ही पूर्ण होता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्ताव का खंडन उसी काल तक हो सकता है जब तक स्वीकर्ता अपनी स्वीकृति का पत्र डाक में नहीं छोड़ देता क्योंकि तब स्वीकृति का वापस लिया जाना स्वीकर्ता के वश के बाहर हो जाता है। स्वीकर्ता द्वारा स्वीकृतिपत्र डाक में छोड़ते ही प्रस्ताव प्रस्तावक के विरुद्ध पूर्ण हो जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्वीकृति स्वीकर्ता के विरुद्ध तब पूर्ण होती है जब प्रस्तावक को प्राप्त हो जाय। प्रस्तावक को प्राप्त होने के पूर्व स्वीकर्ता अपनी स्वीकृति वापस ले सकता है। ब्रिटिश कानून में स्वीकृतिपत्र डाकखाने में छोड़े जाते ही स्वीकर्ता के विरुद्ध भी पूर्ण हो जाता है। स्वीकृतपत्र देर में पहुँचने या रास्ते में खो जाने पर भी प्रभावकारी रहता है क्योंकि ऐसा माना गया है कि डाक विभाग की असावधानी या भूल का कोई प्रभाव संविदा के पक्षों पर पड़ना न्यायसंगत नहीं है। परंतु यदि संवहन के लिये पत्र डाक में न डालकर पोस्टमैन को दे दिया जाय तो यह पर्याप्त संवहन नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के पत्र को लेकर डाक में छोड़ना पोस्टमैन के कर्तव्यों में संमिलित नहीं है।

(२) करार को कानून द्वारा प्रवर्तनीय बनाए जाने का गुण

संविदा की दो आवश्यकताओं में से करार पर विचार किया जा चुका है। अब उसे कानून द्वारा प्रभावकारी या प्रवर्तनीय बनाए जानेवाले गुण पर विचार करना शेष है। भारतीय संविदा अधिनियम १८७२ ई० की धारा १० के अनुसार ऐसे सभी करार संविदा माने गए हैं जो (१) करार करने योग्य पक्षों की (२) स्वतंत्र सहमति से किए जायँ, (३) जिनका प्रतिफल और उद्देश्य वैध हो और जो (४) उक्त अधिनियम द्वारा नि.सत्व (Void, प्रभावहीन) न घोषित किए गए हों। इसी धारा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि उपर्युक्त परिभाषा का प्रभाव ऐसे किसी कानून पर नहीं पड़ेगा, (५) जिसके द्वारा किसी संविदा का लिखित, या पंजीकृत साक्षियों की गवाही के साथ होना आवश्यक है।

योग्य पक्ष — ऐसे सभी व्यक्ति संविदा करने योग्य माने जाते हैं जो वयस्क हों, स्वस्थ मस्तिष्कवाले हों और किसी कानून द्वारा संविदा करने के अयोग्य न ठहराए गए हों। फलस्वरूप (१) अवयस्क, (२) विकृत मस्तिष्कवाले व्यक्ति या उन्मत्त (Lunatic), जड़बुद्धि (Idiot) तथा नशे में चूर रहनेवाले, (३) और ऐसे व्यक्ति जो कानून द्वारा संविदा करने के अयोग्य ठहराए गए हों, यथा विदेशी शत्रु, विदेशी सम्राट् अथवा उनके प्रतिनिधि, देश के शत्रु, अपराधी आदि संविदा नहीं कर सकते। अवयस्क व्यक्ति स्वतंत्र बुद्धि से अपने लाभ हानि का निर्णय नहीं कर सकता। अत: वह संविदा करने योग्य नहीं माना गया है। विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्तियों में अगर विकृति अस्थायी हो — यानी कभी मस्तिष्क विकृत और कभी स्वस्थ रहता हो—तो ऐसे व्यक्ति विकृतिकाल में तो नहीं परंतु मस्तिष्क की स्वस्थता के काल में संविदा का योग्य पक्ष हो सकते हैं। अपराधी का दंडभोग के समय संविदा करने का अधिकार निलंबित हो जाता है परंतु दंडभोग या क्षमाप्राप्ति के पश्चात् उसे संविदा करने की क्षमता पुन: प्राप्त हो जाती है। दिवालिया घोषित व्यक्ति भी संविदा करने की योग्यता से वंचित माना जाता है।

स्वतंत्र सहमति — संविदा के पक्षों की सहमति का स्वतंत्र होना संविदा की एक प्रमुख आवश्यकता है। यदि सहमति स्वतंत्र नहीं है तो संविदा उससे प्रभावित होगी। सहमति उस दशा में स्वतंत्र मानी जाती है जब यह १—बलप्रवर्तन या त्रास (Coercion), २—अवांछित प्रभाव (Undue Influence), ३—छलकपट (Fraud), ४—भ्रांत कथन, या ५—भ्रांति द्वारा प्रभावित नहीं हुई हो और न प्राप्त की गई हो।

(१) **बलप्रवर्तन या त्रास** की परिभाषा भारतीय संविदा अधिनियम की धारा में दी गई है। उसके अनुसार बलप्रवर्तन या त्रास के चार रूप हैं—

(क) भारतीय दंड विधान द्वारा वर्जित और दंडनीय कार्य करना; या (ख) करने की धमकी देना, चाहे उस स्थान पर जहाँ यह कार्य किया जाय भारतीय दंड विधान लागू हो या नहीं, (ग) किसी भी व्यक्ति की संपत्ति अवैध रूप से रोक रखना; अथवा (घ) रोक रखने की धमकी देना। इस बलप्रवर्तन या त्रास का उद्देश्य किसी व्यक्ति को संविदा का पक्ष बनाना ही होना चाहिए।

(२) अवांछित प्रभाव की परिभाषा संविदा अधिनियम की धारा १६ में दी गई है। उसके अनुसार वह संविदा अवांछित प्रभाव द्वारा प्रेरित कही जाती है जिसके पक्षों के संबंध ऐसे हों कि एक पक्ष दूसरे पक्ष की इच्छा को प्रभावित कर सके और अनुचित लाभ प्राप्त करने की इच्छा से अपनी उस विशिष्ट स्थिति का प्रयोग करे। माता पिता और बच्चे, अभिभावक और पाल्य (वार्ड), वकील और मुवक्किल, डाक्टर और रोगी, गुरु और शिष्य आदि के संबंध ऐसे ही होते हैं जिनमें प्रथम पक्ष दूसरे की इच्छाओं को अपने विशिष्ट संबंध के कारण प्रेरित करता है। अवांछित प्रभाव सिद्ध करने के लिये यह भी सिद्ध करना आवश्यक है कि वस्तुतः विशिष्ट स्थितिवाले पक्ष ने दूसरे पक्ष पर अपनी विशेष स्थिति का प्रयोग अपने अनुचित लाभ के लिये किया। यदि यह बात सिद्ध नहीं होती तो केवल विशिष्ट स्थिति के ही कारण कोई संविदा अवांछित प्रभाव द्वारा प्रभावित या परित्याज्य नहीं समझी जायगी।

(३) छलकपट — यह संविदा अधिनियम की धारा १७ में वर्णित है। उसके अनुसार संविदा के किसी पक्ष द्वारा या उसकी साजिश से या उसके अभिकर्ता (agent) द्वारा दूसरे पक्ष या उसके अभिकर्ता को धोखा देने या छलने या संविदा में संमिलित होने के लिये प्रेरित करने के हेतु निम्नांकित कार्य छलकपट कहलाएँगे—

क — किसी असत्य बात को, जिसकी सत्यता में उसे विश्वास न हो, तथ्य बतलाना, ख — ऐसे तथ्य को छिपाना जिसका उसे ज्ञान या विश्वास न हो; ग — ऐसा वचन देना जिसे पूरा करने की इच्छा न हो; घ — ऐसा कार्य करना या उससे विरत होना जिसे कानून विशेष रूप से छलकपट घोषित करता हो; ङ — धोखा देने लायक अन्य कार्य करना।

५ भ्रांति — करार के संबंध में विचार करते हुए यह कहा गया है कि उभय पक्ष के बीच मानसिक मतैक्य का होना आवश्यक है। भ्रांति इसी से संबंधित दोष है। इसमें एक पक्ष एक वस्तु या बात और दूसरा पक्ष दूसरी वस्तु या बात समझता है। फलस्वरूप ऊपरी ढंग से देखने मे तो संविदा का निर्माण प्रतीत होता है परंतु भ्रांति के कारण वस्तुतः कोई संविदा होती नहीं है। ये भ्रांतियाँ कई प्रकार की होती हैं। विषयसामग्री के संबंध में भ्रांति का उदाहरण पूर्वप्रसंग में शेवरलेट और फोर्ड मोटर कारों के द्वारा दिया गया है। इसी प्रकार संविदा के पक्ष की पहचान में भी भ्रांति संभव है। 'क' ने जिसे 'ख' समझकर संविदा की यदि वह वस्तुतः 'ख' नहीं वरन् 'ग' था तो यह पक्ष की पहचान की भ्रांति है। संविदा की प्रकृति या अर्थ संबंधी भी भ्रांति हो सकती है। अगर किसी वाद का एक पक्ष वाद में अवसर लेने का आवेदनपत्र बताकर किसी संक्षिपत्र पर दूसरे पक्ष का हस्ताक्षर करा लेता है तो दूसरे पक्ष को संविदा के रूप या प्रकृति के विषय में भ्रांति होती है। ऐसी दशा में हस्ताक्षर बनानेवाले का मस्तिष्क उसके हस्ताक्षर के साथ नहीं है।

(३) प्रतिफल एवं उद्देश्य वैध होना चाहिए — प्रसंविदा के लिये प्रतिफल एक आवश्यक तत्व है। बिना प्रतिफल के कोई प्रसंविदा नहीं हो सकती; और यदि वह हो भी तो निःसत्व या अवैध होती है। प्रतिफल भी वैध होना चाहिए। उदाहरण स्वरूप 'अ', 'ब' को 'स' की हत्या के लिये ५००० रु० देता है और 'ब' हत्या के लिये वचन देता है। यहाँ यह संविदा निःसत्व है क्योंकि इसका प्रतिफल हत्या कानून द्वारा वर्जित है। इस प्रकार निम्नलिखित प्रकार के प्रतिफल अवैध होते है —

१ — ऐसे प्रतिफल जो कानून द्वारा वर्जित हैं। यदि कोई प्रतिफल स्पष्टतया या सांकेतिक रूप से कानून द्वारा वर्जित हो तो उसके आधार पर निर्मित प्रसंविदा निःसत्व होती है। यह उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

२ — यदि कोई ऐसा प्रतिफल हो जिससे किसी अधिनियम की कोई व्यवस्था भंग होती हो या निष्फल होती हो तो वह प्रतिफल अवैध माना जाएगा।

३ — जो प्रतिफल कपटपूर्ण होते हैं, वे अवैध समझे जाते हैं।

४ — वह प्रतिफल जिसके द्वारा किसी व्यक्ति के शरीर या संपत्ति को हानि पहुँचती हो अवैध होता है। उदाहरण के लिये अ एक समाचारपत्र के संपादक को पाँच सौ रुपया देने का वचन देता है यदि संपादक ब के संबंध में अपमानजनक विवरण छापे। यहाँ प्रतिफल अवैध है क्योंकि इससे ब की प्रतिष्ठा पर आघात पहुँचता है।

५ — ऐसे प्रतिफल जो अनैतिक होते हैं, अवैध हैं।

६ — लोकनीति के विरुद्ध प्रतिफल अवैध होते हैं, जैसे शत्रु के साथ व्यापार करना। लोकसेवा को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति रखनेवाली संविदा, दंडनीय अपराधों से संबंधित मुकदमों का गला घोटनेवाली संविदा निःसत्व होती है। वैधानिक कारवाई का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति रखनेवाली संविदा, ऐसी संविदा जो नैतिकता के विरुद्ध हो, या व्यापारनिरोधक संविदा या किसी वयस्क व्यक्ति को शादी करने से रोकने के लिये संविदा, इत्यादि भी लोकनीति के विरुद्ध एवं निःसत्व होती हैं।

उद्देश्य एवं प्रतिफल में से एक का भी अवैध होना संविदा को निःसत्व कर देता है। यदि संविदा का उद्देश्य अंशतः अवैध हो तब भी संविदा निःसत्व हो जाती है, यदि उसके अवैध अंश को वैध अंश से पृथक् न किया जा सके। यदि प्रतिफल या उद्देश्य का अवैध अंश वैध अंश से अलग किया जा सके तो वैध अंश प्रवर्तनीय होगा और अवैध अंश निःसत्व होगा। जैसे 'ब' ने 'अ' को एक प्रतिज्ञापत्र द्वारा २००० रुपए देने का वचन दिया जिनमें से १५०० रुपए पुराना ऋण था और ५०० रुपए जुए में हारी रकम थी। इसमें वैध भाग को अवैध भाग से पृथक् किया जा सकता है; अतएव यह प्रतिज्ञापत्र १५०० रुपए के लिये मान्य होगा किंतु ५००) के लिये निःसत्व होगा।

४. निःसत्व घोषित न होना — भारतीय संविदा अधिनियम के अंतर्गत निःसत्व घोषित करार कानून द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हो सकते, यद्यपि उसमें संविदा के अन्य तत्व पूर्णतः विद्यमान भी हों। इस कोटि में निम्नांकित करार आते हैं —

१ — त्रुटि या भ्रांति द्वारा प्रभावित करार; २ — अवयस्क के साथ किया गया करार; ३ — प्रतिफलविहीन करार; ४ — वयस्क का विवाह रोकनेवाला संविदा करार; ५ — व्यापारनिरोधक करार; ६ — वैध कार्रवाई को रोकनेवाला करार; ७ — अनिश्चित करार; ८ — असंभव कार्यों को करने के लिये किया गया करार; ९ — पण विषयक (wagery) करार; १० — असंभव घटनाओं के घटित होने पर संभावित करार; ११ — अवैध प्रतिफल या उद्देश्यवाले करार।

५. करार का लिखित, पंजीकृत एवं साक्षियों के समक्ष होना। सभी करार और संविदाओं के लिये लिखित, पंजीकृत और गवाहों की गवाही से युक्त होना आवश्यक नहीं है परंतु ऐसी संविदा अन्य सब गुणों के रहते हुए भी इन औपचारिकताओं के अभाव के कारण मान्य नहीं होती।

उपर्युक्त वर्णन से संविदा – निर्माण के आवश्यक तत्वों का सार निम्नलिखित प्रतीत होता है —

१. कम से कम दो पक्षों का होना;
२. प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति;
३. उभय पक्षों की मानसिक एकात्मकता;
४. उभय पक्ष के बीच वैध संविदा निर्माण का मंतव्य;
५. उभय पक्षों की अर्हता;
६. उनकी स्वतंत्र सहमति;
७. वैध प्रतिफल;
८. वैध उद्देश्य;
९. करार का भारतीय संविदा अधिनियम द्वारा निःसत्व न घोषित होना;
१०. आवश्यकतानुसार उसका लिखित, पंजीकृत एवं साक्षीयुक्त होना। [दु० द० सि०]

संविधान (Constitution) शब्द का प्रयोग साधारणतया संकुचित एवं विस्तृत दो रूपों में होता है। विस्तृत रूप में इसका प्रयोग किसी राज्य के शासनप्रबंध संबंधी सब नियमों के लिये होता है। इन नियमों में से कुछ नियम न्यायालयों द्वारा मान्य तथा लागू किए जाते हैं, किंतु कुछ ऐसे भी होते हैं जो पूर्णतया वैधानिक नहीं होते। इन विधि से परे अर्धवैधानिक नियमों की उत्पत्ति रूढ़ि, परंपरागत प्रथाओं, प्रचलित व्यवहार एवं विधि व्याख्या से होती है। अपने अशुद्ध रूप के कारण यह नियम न्यायालयों में मान्यता नहीं पाते, किंतु फिर भी शासनप्रबंध की व्यावहारिकता में इनका प्रभाव शुद्ध मान्य नियमों से तनिक भी कम महत्वपूर्ण नहीं होता। संसार के अधिकतर देशों में शासनप्रबंध के इन पूर्ण शुद्ध तथा अर्धशुद्ध नियमों का मिश्रण ही संविधान होता है। इंग्लैंड का विधान इस कथन का साक्षी है। अन्य देशों में संविधान का अर्थ तनिक अधिक संकुचित रूप में होता है, तथा केवल उन विशेष नियमों के संबंध में होता है जो शासनप्रबंध के हेतु आधिकारिक लेखपत्रों में आबद्ध कर लिए जाते हैं। फलतः संविधान एक प्रकार से किसी देश का वह एक या अधिक लेखपत्र होता है जिसमें उस देश के शासनप्रबंध में अनुशासन के मूल नियम संकलित हों। इस अर्थ के साक्षी संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा भारत के संविधान हैं।

'संविधान' शब्द का आशय कोई भी माना जाय किंतु मूल.वस्तु यह है कि किसी देश के संविधान का पूर्ण अध्ययन केवल कुछ लिखित नियमों के अवलोकन से संभव नहीं। कारण, यह तो शासनप्रबंध संबंधी अनुशासन का एक अंश मात्र होते हैं। संपूर्ण संवैधानिक परिचय शासनप्रबंधीय सब अंगों के अध्ययन से ही संभावित हो सकता है। उदाहरणार्थ, बहुधा संविधान संविदा में केवल शासन के मुख्यांगों — कार्यपालिका, विधायिनी सभा, न्यायपालिका — का ही उल्लेख होता है। किंतु इन संस्थाओं की रचना, पदाधिकारियों की नियुक्ति की रीति इत्यादि की व्याख्या साधारण विधि द्वारा ही निश्चित होती है। इसी प्रकार कई देशों में निर्वाचन नियम, निर्वाचन क्षेत्र एवं प्रति क्षेत्र के सदस्यों की संख्या, शासकीय विभागों की रचना तथा न्यायपालिका का संगठन, इन सब महत्वपूर्ण कार्यों को संविधान में कहीं व्याख्या नहीं होती; यदि होती भी है तो बहुत साधारण रूप में, मुख्यतः इनका वर्णन तथा नियंत्रण साधारण विधि द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त संपूर्ण विधिरचना विधानमंडल के क्षेत्र में ही सीमित नहीं होती, न्यायपालिका द्वारा मूल विधि की व्याख्या द्वारा जो नियम प्रस्फुटित होते हैं उनसे संविधान में नित्य संशोधनात्मक नवीनता आती रहती है। फिर, राज्यप्रबंध संबंधी रूढ़ि एवं व्यवहार भी कम प्रभावात्मक और महत्वपूर्ण नहीं होते। अतएव इन सब अंशों का अध्ययन ही सर्वांग वैधानिक परिचय पूर्ण कर सकता है। किंतु 'संवैधानिक शास्त्र' शब्द की परिधि में केवल शुद्ध वैधानिक नियम ही आते हैं, अन्य सब संवैधानिक व्यवहाररूप माने जाते हैं।

संविधान के दो प्रकार हैं — लिखित एवं अलिखित। लिखित संविधान अधिकतर एक लेख्य (भारतीय संविधान) या कुछ संकलित लेख्य (स्वीडिश संविधान) होते हैं। किंतु जिस रूप में संविधान क्रियान्वित होता है उसकी व्याख्या न कहीं पूर्णतया लिखित होती है, न पूर्णतया अलिखित। इंग्लैंड का संविधान अलिखित माना जाता है किंतु वहाँ भी १७०१ ई० में ऐक्ट ऑव सेटेलमेंट, कई रेप्रेजेंटेशन ऑव पीपुल्स ऐक्ट, १९११ एवं १९४९ के पार्लिमेंट ऐक्ट जिनके द्वारा लार्ड सभा के अधिकार सीमित हुए, १६७९, १८१६ एवं १८६२ के हेबीयस कारपस ऐक्ट तथा १९४७ ई० में क्राउन प्रोसीडिंग्ज ऐक्ट निर्मित हुए। इन लिखित नियमों का महत्व इंग्लैंड के संविधान में, अलिखित रूढ़ि, परंपरा तथा व्यवहार से तनिक भी कम नहीं है। इसके विपरीत भारत के विस्तृत रूप से लिखित संविधान में भी (जिसका विस्तार ३९५ धाराओं तथा ९ सूचियों में है) कुछ अलिखित नियम पूरक रूप में मिलते हैं, जैसे, विधानसभाओं एवं सदस्यों के विशेषाधिकार, राष्ट्रपति तथा राज्यपाल का मंत्रिपरिषद् से संबंध, संवैधानिक संकटावस्था एवं राज्यपाल

की स्थिति, इन समस्त विषयों के संबंध में संविधान के अतिरिक्त अलिखित नियम ही लागू होते हैं।

संविधान संबंधी अन्य भेद हैं नमनशील एवं परिदृढ़, बहुधा इन्हें क्रमशः अलिखित एवं लिखित के पर्यायवाची रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। लार्ड ब्राइस ने लिखित के स्थान पर परिदृढ़ तथा अलिखित के स्थान पर नमनशील शब्दों का प्रयोग सहज भाव से किया है। किंतु इस प्रकार का मिश्रित प्रयोग उचित नहीं। वस्तुतः संविधान लिखित किंतु नमनशील हो सकता है और अलिखित किंतु परिदृढ़ रूप का हो सकता है। सिद्धांततः इंग्लैंड की संसद् निमिष मात्र में इंग्लैंड के संविधान में मनोनीत परिवर्तन कर सकती है तथा वहाँ का प्रधान मंत्री मंत्रिमंडल को आमंत्रित न कर मंत्रिमंडलीय शासनपद्धति की इतिश्री कर सकता है, किंतु ऐसे आकस्मिक परिवर्तन कभी व्यवहार में क्रियात्मक नहीं होते। यदि इंग्लैंड के इतिहास की ओर दृष्टिपात किया जाए तो प्रतीत होगा कि परिवर्तन सदा क्रमिक विकास के रूप में हुए हैं; आकस्मिकता की वहाँ कोई संभावना नहीं।

मतप्रदान -- स्वतंत्रता सुधार, लार्ड सभा की सत्ता के हनन संबंधी नियम, तथा युद्धोपरांत अधिराज्य स्वशासन अधिकार (डोमिनियन अधिकार) इन सबके होते हुए भी एक शताब्दी के अभ्यंतर में इंग्लैंड के संविधान में बहुत क्रमिक और कम परिवर्तन हुए हैं। फलतः इंग्लैंड का संविधान अलिखित होकर भी नमनशील नहीं, परिदृढ़ रूप का है। इसके विपरीत भारतीय संविधान परिदृढ़ कहा जाता है, कारण कि इसकी संशोधनक्रिया बड़ी जटिल है, जहाँ किसी किसी विषय में संशोधन के लिये केवल केंद्रीय संसद् का बहुमत ही पर्याप्त नहीं वरन् समस्त राज्यों के विधानमंडलों का बहुमत प्राप्त करना भी अनिवार्य है। ऐसी जटिल व्यवस्था के उपरांत भी पिछले अनेक वर्षों मे भारतीय संविधान में अनेक संशोधन हो चुके हैं। इसका कारण यह है कि संविधान परिवर्त्तन एवं संशोधन का संबंध केवल संशोधनक्रिया की लिखित व्यवस्था से नहीं वरन् देश की प्रमुख प्रभावात्मक राजनीतिक दलबंदियों के संतोष या असंतोष से होता है। यदि वे वैधानिक रूपरेखा और उसके द्वारा राजनीतिक सत्ता के वितरण से संतुष्ट होती हैं तो परिवर्तन नहीं होते, अन्यथा संशोधन, आवर्तन, परिवर्तन अवश्यंभावी हैं। संवैधानिक संशोधनों का कारण कांग्रेसी सरकारें थीं जिनके नियंत्रण में केंद्रीय तथा लगभग समस्त राज्यों के शासन की बागडोर थी।

अतएव किसी संविधान का रूप नमनशील है अथवा परिदृढ़, यह केवल उस देश का संवैधानिक इतिहास ही स्पष्ट कर सकता है। यदि कहीं परिवर्तन सहज रूप से होते रहे हैं तो उस देश का संविधान नमनशील है, अन्यथा परिदृढ़।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका के उदाहरण के उपरांत अधिकतर देशों में लिखित संविधान की प्रथा प्रचलित हो गई है। लिखित संविधान कहीं विधायिका द्वारा निर्मित होते हैं जैसे 'अमरीकन आर्टिकल्ज़ ऑव कान्फडरेशन ने १७८१ में अमरीका में तथा ऑस्ट्रियो हंगेरियन संघ ने १८६७ में आस्ट्रिया में किया। इच्छा न होते हुए भी कई सम्राटों एवं राजाओं ने भी उन्नीसवीं शताब्दी में अपने देशों में संविधान की रचना की। फ्रांस में १८१४ तथा १८३० ई० में तथा १८४८ ई० में सारडीनिया में इसी प्रकार वहाँ के सम्राट्रचित संविधान घोषित हुए। अन्य संविधान अधिकतर देश की विधानसभाओं द्वारा ही बने, जैसे १७८७ ई० में अमरीका तथा १९५० ई० में भारत में संविधान की रचना हुई।

अधिकांशतया उन समस्त देशों में जहाँ लिखित संविधान उपस्थित है, संविधान को देश की अन्य विधियों से अधिक मान्यता दी जाती है। इसका कारण यह है कि संविधान की उत्पत्ति ही इस भावना से हुई है कि शासनप्रबंध में निरंकुशता को अनुशासित तथा सीमित रखा जा सके। शासनप्रबंध संविधान के बंधनों से कितना नियंत्रित होगा, अथवा संविधान कितना उच्च माना जाएगा, यह संविधाननिर्माताओं के उद्देश्य एवं दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि वह किस विषय में संविधान की कितनी मान्यता एवं सुरक्षा के इच्छुक थे।

भारतीय संविधान की रचना के समय निर्माताओं के संमुख कई मूल प्रश्न थे, जैसे नागरिकों के मूल स्वाधिकारों की सुरक्षा, केंद्र एवं राज्यों के कार्यक्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या जिससे दोनों अपनी निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत ही विधिव्यवहार सीमित रखें, संविधान का रूप परिदृढ़ रखना, तथा राज्यों में पारस्परिक वाणिज्य व्यवसाय, स्वातंत्र्य की रक्षा इत्यादि। देश में कार्यपालिका या विधायिका के समस्त कार्यों की शुद्धता तथा औचित्य इसी पर निर्भर करता है कि वह देश के संवैधानिक उद्देश्य बंधनों के अनुकूल है अथवा नहीं, यदि कोई कार्य इन मूल उद्देश्यों के प्रतिकूल होता है तो वह शक्तिबाह्य कहा जाता है। राज्य के सर्वोच्च न्यायालय में जहाँ निधिप्रयुक्ति एवं व्याख्या होती है, अधिकांशतः वहीं यह भी निश्चित होता है कि अमुक विधिनियम शक्तिबाह्य (अल्ट्रा वायर्स) है अथवा नहीं।

अमरीकी संविधान के एक प्रमुख रचयिता हैमिल्टन के अनुसार संविधान वास्तव में मूल विधि है तथा न्यायाधीशों को सदा इस तथ्य को स्वीकार कर मान्यता देनी चाहिए। जब विधानमंडलों द्वारा निर्मित साधारण विधिनियमों तथा संविधान में विरोध उपस्थित हो तो संविधान को उच्च एवं प्राथमिक मानकर अधिक मान्यता देनी चाहिए। कारण यह है कि संविधान स्वयं देश की जनता के आंतरिक उद्देश्यों की अभिव्यक्ति है जब कि अन्य विधि उस जनता की प्रतिनिधि सभाओं की भावनाओं की प्रतीक होती है। स्वभावतः संविधान मूल एवं श्रेष्ठ है। अमरीका के प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने १८०३ में मारबरी बनाम मैडिसन का निर्णय इसी नियम के अनुसार किया था।

जहाँ अलिखित संविधान होता है वहाँ शासनप्रबंध पर संवैधानिक नियम की आबद्धता अवश्य नहीं होती किंतु जनमत के भय से तथा निर्वाचन-क्रिया, परंपराओं एवं रूढ़ियों द्वारा इस प्रकार का नियंत्रण एवं अनुशासन सहज रूप से होता रहता है।

सं० ग्रं० — के० सी० वीह्वर : माडर्न कॉस्टीटय़ूशन्स; इंसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज; जेनिंग्ज : दि ला ऐंड दि

कांस्टीट्यूशन; मैथ्यूज : अमरीकन कांस्टीट्यूशनल सिस्टम; वेड एंड फिलिप्स : कांस्टीट्यूशनल ला। [सु० कु० अ०]

संविभ्रम (Paranoia) एक गंभीर भावात्मक विकार है और तर्कसंगत, सुसंबद्ध, जटिल तथा प्रायः उत्पीड़क विभ्रमों या मिथ्या विश्वासों का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ सिलसिला इसका आंतरिक लक्षण है। संविभ्रमी व्यक्ति को अपनी योग्यता, प्रभुता, पद की वरिष्ठता, या निरंतर यातना का भ्रम होता है। यह उन्माद का ही एक रूप है, परंतु इसमें अन्य सभी मानसिक क्रियाएँ बहुधा स्वाभाविक अवस्था में रहती हैं।

कमरे में किसी नए व्यक्ति के प्रविष्ट होते ही उपस्थित मित्रमंडली के एकाएक बातचीत बंद कर देने पर, उस व्यक्ति का यह समझना कि अभी उसी की चर्चा हो रही थी, एक सामान्य प्रतिक्रिया है। किसी जनसंकुल होटल में घुसने पर सभी अपनी ओर देख रहे हैं यह समझना भी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, किंतु संविभ्रमी प्रतिक्रिया में ये भाव स्थायी और व्यापक हो जाते हैं।

शुद्ध संविभ्रम दुर्लभ है, कुछ तो इसके अस्तित्व में ही संदेह करते हैं। यह मदिरा या कोकेन के चिरकालिक व्यसनियों में नशे की अवस्था में, अंतरावंध (Schizophrenia) जैसे उन्माद से सहचरित स्थिति में, या उत्तेजना संविषाद (manic depressive psychosis) में स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में पाया जाता है।

बुढ़ापे के जटिल विषाद रोग में रोगी के मन में हीनता और अपराध के भावों को जन्म देनेवाले, आत्मपरक उत्पीड़क विचार आते हैं। इसमें रोगी अपने पिछले पापों और अपराधों को बहुत विशद रूप से देखता और अपने को अपराधी करार देता है। वह अत्यंत सतर्क हो जाता है और सोचता है कि सभी उसे घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं। वह दूर के शोर को अपनी उत्पीड़ित संतान का, जो उसके कुकृत्यों का फल भोग रहे हैं, क्रंदन समझता है, और वह अपने अक्षम्य अपराधों के कारण प्रलय का होना अवश्यंभावी समझता है। उन्मत्त भव्य कल्पना भी करता है; उदाहरणार्थ, वह समझता है कि उसके हितेच्छु अपनी समूची शक्ति से उसे उच्च पद पर पहुँचाने की चेष्टा कर रहे हैं।

संविभ्रमी व्यक्ति में चिड़चिड़ापन, अति संवेदनशीलता और आत्मविश्वास की कमी होती है। बधिरता जैसी असुविधाजनक शारीरिक त्रुटि संविभ्रमी लक्षणों के विकास में उत्तेजक होती है। किसी ऐसी आदत या परिस्थिति से जिसके साथ लज्जा का भाव सहचरित होता है और जिसे रोगी छिपाना चाहता है, जैसे हस्तमैथुन, विकृत कामाचरण, प्रेमव्यापार, अवैध जन्म, गुप्त सुरापान, से प्रायः संविभ्रम का सिलसिला प्रारंभ होता है। रहस्य के यथार्थ या कल्पित उद्घाटन से संविभ्रम के लक्षण तेजी से प्रकट होने लगते हैं और रोगी समझता है कि उसका अपराध सबको ज्ञात हो गया है, चारों ओर उससे संबंधित कानाफूसी हो रही है, मित्र और सगे संबंधी उसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं, उससे बचने की कोशिश करते हैं और उसके प्रति षड्यंत्र करते हैं। वह अत्यंत उद्विग्न हो जाता है और दुस्सह ग्लानि, आत्मघाती प्रयत्न, विकृत चेतना या निर्मूल भ्रम की गौण भावात्मक स्थितियाँ उसके मन में उत्पन्न हो जाती हैं। बीमारी, आत्मगौरव पर चोट, पदोन्नति का न होना जबकि औरों की पदोन्नति हो रही हो, मुकदमे में हार, कारावास में एकांतवास जैसी घटनाओं से संविभ्रम के भी लक्षण उत्तेजित हो जाते हैं। रोगी अपने विचारों का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता; उदाहरण के लिये, एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में मामला ले जानेवाले और अपने कानूनी परामर्शदाता तक पर बिगड़ उठनेवाला, संविभ्रमी मुकदमेबाज इस भ्रम में हो सकता है कि वह केवल स्वार्थ के लिये नहीं, बल्कि एक बृहत्तर सिद्धांत के लिये संघर्ष कर रहा है।

संविभ्रम के गंभीर रोगियों को छोड़कर साधारण रोगियों में सुसंगत विचार और तर्कशक्ति बनी रहती है, यहाँ तक कि चिकित्सक के लिये भी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि व्यक्ति वास्तव में संविभ्रमी है या नहीं।

समाज में कुछ चिरकालिक मंद संविभ्रमी व्यक्ति सामान्य जीवनयापन करते हैं और अनावश्यक रूप से सतर्क होने के कारण अपने परिवार और घनिष्ट मित्रों को ही खटकते हैं। इसका उपचार कठिन और श्रमसाध्य है और गंभीर संविभ्रम के उपचार में मस्तिष्क की शल्यचिकित्सा करनी पड़ती है, जिसका परिणाम बहुत ही अनिश्चित सा होता है। [नि० नं० गु०]

संवृतबीजी, या आवृतबीजी (Angiosperm) बीज पैदा करनेवाले पौधे दो प्रकार के होते हैं : नग्न या विवृतबीजी तथा बंद या संवृतबीजी। संवृतबीजी एक बहुत ही बृहत् और सर्वव्यापी उपवर्ग है। इस उपवर्ग के पौधों के सभी सदस्यों में पुष्प लगते हैं, जिनसे बीज फल के अंदर ढकी हुई अवस्था में बनते हैं। ये वनस्पति जगत् के सबसे विकसित पौधे हैं। मनुष्यों के लिये यह उपवर्ग अत्यंत उपयोगी है। बीज के अंदर एक या दो दल होते हैं। इस आधार पर इन्हें एकबीजपत्री और द्विबीजपत्री वर्गों में विभाजित करते हैं।

संवृतबीजी के सदस्यों की बनावट कई प्रकार की होती है, परंतु प्रत्येक में जड़, तना, पत्ती या पत्ती के अन्य रूपांतरित अंग, पुष्प, फल और बीज होते हैं। संवृतबीजी पौधों के अंगों की रचना तथा प्रकार निम्नलिखित हैं :

जड़ — पृथ्वी के नीचे का भाग अधिकांशतः जड़ होता है। बीज के जमने के समय जो भाग मूलज या मूलांकुर (radicle) से निकलता है, उसे ही जड़ कहते हैं। बहुत से पौधों में जड़ें अन्य भागों से भी निकलती हैं। पौधों में प्रथम निकली जड़ जल्दी ही मर जाती है और तने के निचले भाग से रेशेदार जड़ें निकल आती हैं। द्विबीजपत्री में प्रथम जड़, या प्राथमिक जड़, सदा ही रहती है। यह बढ़ती चलती है और द्वितीय, तृतीय श्रेणी की जड़ की शाखाएँ इसमें से निकलती हैं। ऐसी जड़ को मूसला जड़ कहते हैं (देखें 'मूल')। जड़ों में मूलगोप (root cap) तथा मूल रोम (root hair) होते हैं, जिन के द्वारा पौधे मिट्टी से लवणों का अवशोषण कर बढ़ते हैं। खाद्य एवं पानी प्राप्त करने के अतिरिक्त जड़ पौधों को मिट्टी में पकड़कर भी रखती है। कुछ पौधों में अपस्थानिक जड़ें (adventitious roots) भी होती हैं। कुछ पौधों में जड़ें बाहर भी निकल आती हैं। जड़ के मध्य भाग में पतली कोशिका

से बनी मज्जा रहती है, किनारे में दारु (xylem) तथा फ्लोयम (phloem) और बाह्यादिदारुक (exarch) होते हैं। दारु के बाहर की ओर आदिदारु (protoxylem) और अंदर की ओर अनुदारु (metaxylem) होते हैं। इनकी रचना तने से प्रतिकूल होती है, संवहन ऊतक के चारों तरफ परिरंभ (pericycle) और बाहर अंतःत्वचा (endodermis) रहते हैं। वल्कुट (cortex) तथा मूलीय त्वचा (epiblema) बाहर की तरफ रहते हैं।

तना या स्तंभ — यह पृथ्वी के ऊपर के भाग का मूल भाग है, जिसमें अनेकानेक शाखाएँ, टहनियाँ, पत्तियाँ और पुष्प निकलते हैं। बीज के जमने पर प्रांकुर (plumule) से निकले भाग को तना कहते हैं। यह धरती से ऊपर की ओर बढ़ता है। इससे निकलनेवाली शाखाएँ बहिर्जात (exogenous) होती हैं, अर्थात् जड़ों की शाखाओं की तरह अंतःत्वचा से नहीं निकलती वरन् बाहरी ऊतक से निकलती हैं। तने पर पत्ती, पर्णकलिका तथा पुष्पकलिका लगी होती है।

संवृतबीजी में तने कई प्रकार के पाए जाते हैं। इन्हें साधारणतया मजबूत (strong) तथा दुर्बल तनों में विभाजित किया जाता है। मजबूत तने काफी ऊँचे बढ़ते जाते हैं, जैसे ताड़ का कोडेक्स तना, या गाँठदार बाँस का कल्म (culm) तना इत्यादि। दुर्बल तने भी कई प्रकार के होते हैं, जैसे ट्रेलिंग या अनुगामी (trailing), क्रीपिंग इत्यादि। शाखा के तने से निकलने की रीति को 'शाखा विन्यास' कहते हैं। अगर एक स्थान से मुख्य शाखा दो भागों में विभाजित हो जाय, तो इसे द्विभाजी (dichotomous) विन्यास कहते हैं अन्यथा अगर मुख्य तने के किनारे से टहनियाँ निकलती रहें, तो इन्हें पार्श्व (lateral) विन्यास कहते हैं। द्विभाजी विभाजन के भी कई रूप होते हैं, जैसे यथार्थ (true) द्विविभाजन, या कुंडलनी (helicoid), या वृश्चिकी (scorpioid)। पार्श्व शाखाएँ या तो अनिश्चित रूप से बढ़ती चलती है, जिसे असीमाक्षी (Racemose) शाखा विन्यास कहते हैं, या वह जिसमें शाखाओं की वृद्धि रुक जाती है और जिसे ससीमाक्षी (Cymose) विन्यास कहते हैं।

तने का कार्य जड़ द्वारा अवशोषित जल तथा लवणों को ऊपर की ओर पहुँचाना है, जो पत्ती में पहुँचकर सूर्य के प्रकाश में संश्लेषण के काम में आते हैं। बने हुए भोजन को तने द्वारा ही पौधे के हर एक भाग तक पहुँचाया जाता है। इसके अतिरिक्त तने पौधों को खंभे के रूप में सीधा खड़ा रखते हैं। ये पत्तियों को जन्म देकर भोजन बनाने तथा पुष्प को जन्म देकर जनन कार्य संपन्न करने में सहायक होते हैं। बहुत से तने भोजन का संग्रह भी करते है। कुछ तने भोजन का निर्माण स्वयं करते है। कुछ तने पतले होने के कारण स्वयं सीधे नहीं उग पाते और अन्य किसी मजबूत आधार या अन्य वृक्ष से लिपटकर ऊपर बढ़ते चलते हैं। कुछ में तने काँटों में परिवर्तित हो जाते हैं। बहुत से पौधों में तने मिट्टी के नीचे उगते हैं और कई तने रूपविशेष धारण कर अलग अलग कार्य करते हैं, जैसे अदरक का परिवर्तित तना, जो खाया जाता है। इसे प्रकंद (Rhizome) कहते हैं। आलू भी ऐसा ही तना है जिसे कंद (Tuber) कहते हैं। इन तनों पर भी कलिका रहती है, जो पादप प्रसारण के कार्य आती है। प्याज का खानेवाला भाग भी मिट्टी के नीचे रहनेवाला तना ही है, जिसे शल्क कंद (Bulb) कहते हैं। इसमें शल्कपत्र तथा अग्रस्थ कलिका दबी पड़ी रहती है। लहसुन, केना, बनप्याजी तथा अन्य कई एक एकबीजपत्री संवृतबीजी में ऐसे तने मिलते हैं। सूरन तथा बंडे का भी खानेवाला भाग भूमिगत रहता है और यह भी शाखा का ही रूप है, जिसे घन कंद (Corm) कहते हैं। तने का ऐसा भी रूपांतर कई पौधों में पाया जाता है, जिसका कुछ भाग भूमि के नीचे और कुछ भाग भूमि के ऊपर रहते हुए विशेष कार्य करता है, जैसे दूब घास में तने उपरि भूस्तारी (runner) के रूप में पृथ्वी पर पड़े रहते है और उनकी पर्वसंधि (node) से जड़ मिट्टी में घुस जाती है। इसी से मिलते जुलते भूस्तारी (stolon) प्रकार के तने होते हैं, जैसे भूपकलता, या चमेली इत्यादि। भूस्तारी (offset) तने जलकुंभी मे, तथा अंतःभूस्तारी (sucker) तने पुदीना में होते हैं।

कुछ हवाई तने या स्तंभ भी कई विशेष रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे नागफनी में चपटे, रस्कस (Ruscus) में पत्ती के रूप में तथा कुछ पौधों में अन्य रूप धारण करते हैं।

आंतरिक रचना में भी स्तंभ के आकार काफी हद तक एक प्रकार के होते हैं, जिसमें एकबीजपत्री तथा द्विबीजपत्री केवल आंतरिक रचना द्वारा ही पहचाने जा सकते हैं। स्तंभ में भी बहिःत्वचा (epidermis), वल्कुट (cortex) तथा संवहन (vascular) सिलिंडर होते हैं। एकबीजपत्री में संवहन पुंज (bundle) बंद अर्थात् गौण वृद्धि न करनेवाले एधा (cambium) से रहित होता है तथा द्विबीजपत्री में गौण वृद्धि होती है, जो एक प्रकार की सामान्य रीति द्वारा ही होती है। कुछ पौधों में परिस्थिति के कारण, या अन्य कारणों से विशेष प्रकार से भी, गौण वृद्धि होती है।

संवृतबीजी के पौधों में पत्तियाँ भी अन्य पौधों की तरह विशेष कार्य के लिये होती हैं। इनका प्रमुख कार्य भोजन बनाना है। इनके भाग इस प्रकार हैं : टहनी से निकलकर पर्णवृंत (petiole) होता है, जिसके निकलने के स्थान पर अनुपर्ण (stipule) भी हो सकते हैं। पत्तियों का मुख्य भाग चपटा, फैला हुआ पर्णफलक (lamina) है। इनमें शिरा कई प्रकार से विन्यासित रहती है। पत्तियों के आकार कई प्रकार के मिलते हैं। पत्तियों में छोटे छोटे छिद्र, या रंध्र (stomata), होते हैं। अनुपर्ण भी अलग अलग पौधों में कई प्रकार के होते हैं, जैसे गुलाब, बनपालक, स्माइलेक्स, इक्जोरा इत्यादि में। नाड़ीविन्यास जाल के रूप में जालिका रूपी (reticulate) तथा समांतर (parallel) प्रकार का होता है। पहला विन्यास मुख्यतः द्विबीजपत्री में और दूसरा विन्यास एकबीजपत्री में मिलता है। इन दोनों के कई रूप हो सकते हैं, जैसे जालिकारूप विन्यास आम, पीपल तथा नेनुआ की पत्ती में, और समांतररूप विन्यास

केला, ताड़, या केना की पत्ती में। शिराओं द्वारा पत्तियों का रूप आकार बना रहता है, जो इन्हें चपटी अवस्था में फैले रखने में मदद देता है और शिराओं द्वारा भोजन, जल आदि पत्ती के हर भाग में पहुँचते रहते हैं। पत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। साधारण तथा संयुक्त, बहुत से संवृतबीजियों में पत्तियाँ विभिन्न प्रकार से रूपांतरित हो जाती हैं, जैसे मटर में ऊपर की पत्तियाँ लतर की तरह प्रतान (tendril) का रूप धारण करती हैं, या बारबेरी (barberry) में काँटे के रूप में, विगनोनियां में अंकुश (hook) की तरह और नागफनी, धतूरा, भरभंडा, भटकटइया में काँटे के रूप में बदल जाती हैं। घटपर्णी (nephenthes) में पत्तियाँ सुराही की तरह हो जाती हैं, जिसमें छोटे कीड़े फँसकर रह जाते हैं और जिन्हें यह पौधा हजम कर जाता है। पत्तियों के अंदर की बनावट इस प्रकार की होती हैं कि इनके अंदर पर्णहरित, प्रकाश की ऊर्जा को लेकर, जल तथा कार्बन डाइऑक्साइड को मिलाकर, अकार्बनिक फ़ॉस्फ़ेट को शक्तिशाली बनाता है तथा शर्करा और अन्य खाद्य पदार्थ का निर्माण करता है।

संवृतबीजी के पुष्प नाना प्रकार के होते हैं और इन्हीं की बनावट तथा अन्य गुणों के कारण संवृतबीजी का वर्गीकरण किया गया है (देखें फूल या पुष्प)। परागण के द्वारा पौधों का निषेचन होता है। निषेचन के पश्चात् भ्रूण धीरे धीरे विभाजित होकर बढ़ता चलता है। इसकी भी कई रीतियाँ हैं, जिनका भारतीय वनस्पति विज्ञानी महेश्वरी ने काफी विस्तार से अध्ययन किया है। भ्रूण बढ़ते बढ़ते एक या दो दलवाले बीज बनाता है, जिसके कई प्रकार और अंग होते हैं। भ्रूण तो बीज बनाता है, परंतु उसके चारों तरफ का भाग अर्थात् अंडाशय, तथा स्त्रीकेसर (pistil) का पूरा भाग बढ़कर फल को बनाता है। बीजों को ये ढँके रहते है। इसी कारण इन बीजों को आवृतबीजी या संवृतबीजी कहते है। फल भी कई प्रकार के होते हैं, जिनमें मनुष्य के उपयोग में कुछ आते है। सेब में पुष्पासन (thalamus) का भाग, अमरूद में पुष्पासन तथा फलावरण, बेल में बीजांडासन (placenta) का भाग, नारियल में भ्रूणपोष (endosperm) का भाग खाया जाता है।

संवृतबीजियों का वर्गीकरण कई वनस्पति-वर्गीकरण-वैज्ञानिकों (taxonomists) द्वारा समय समय पर हुआ है। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व थियोफ्रस्टस ने कुछ लक्षणों के आधार पर वनस्पतियों का वर्गीकरण किया था। भारत में बेंथम और हूकर तथा ऐंगलर प्रेंटल ने वर्गीकरण किया है। सभी ने संवृतबीजियों को एकबीजपत्री और द्विबीजपत्रियों में विभाजित किया है। एकबीजपत्री को पेटालायडी (petaloideae), स्पैडिसिफ्लोरी (spadiciflorae) तथा ग्लुमिफ्लोरी (glumiflorae) में विभाजित किया है। द्विबीजपत्री को तीन वर्गों, पॉलिपेटैली (polypetalae), गैमोपेटैली (gamopetalae) तथा मोनोक्लेमिडी (monchlamydeae) इत्यादि में विभाजित किया है।

पेटालयडी के अंतर्गत ऐसा एकबीजी कुल रखा जाता है जिसके पौधों के पुष्प में दलचक्र हों, जैसे केना, कमेलाइना, प्याज इत्यादि। स्पैडिसिफ्लोरी में स्पैडिक्स (spadix) प्रकार का पुष्पक्रम पाया जाता है, जैसे केला में। ग्लुमिफ्लोरी में मुख्य कुल ग्रैमिनी (graminaeae) और साइप्रेसी है। ग्रैमिनी तो संसार का सर्वमान्य तथा उपयोगी कुल है। इसके सदस्य मुख्यतः मनुष्य तथा पालतू पशु, गाय, भैंस इत्यादि के आहार के रूप में काम आते है। जौ, गेहूँ, मक्का, बाजरा, ज्वार, धान, दूब, डाइकैंथियम (dichanthium), मूँज, पतलो, खस इसी कुल के सदस्य हैं। एकबीजपत्री के अन्य उदाहरण, ताड़, खजूर, ईख, बाँस, प्याज, लहसुन इत्यादि हैं।

द्विबीजपत्री पौधों की तो कई हजार जातियाँ पाई जाती हैं। इनके अंतर्गत कई कुल हैं और प्रत्येक कुल में अनेक पेड़ पौधे हैं।

संवृतबीजी पौधे अनेक रूपों में मनुष्य के काम आते हैं। कुछ संवृतबीजी पौधे तो खानेवाले अनाज है, कुछ दलहन, कुछ फल और कुछ शाक सब्जी। कुछ पौधे हमें चीनी प्रदान करते हैं तो कुछ से हमें पेय, कॉफी, चाय, फल नीबू प्राप्त होते हैं। कुछ से मदिरा बनाने के लिये अंगूर, संतरा, महुआ, माल्ट आदि मिलते है। वस्त्र के लिये कपास, जूट, ओषधियों के लिये सर्पगंधा, सिकोना, यूकेलिप्टस, भृंगराज, तुलसी, गुलबनफसा, आँवला इत्यादि है। इमारती लकड़ी टीक, साल एवं शीशम से, रंग नील, टेसू इत्यादि से और रबर हीविया, आर्टोकार्पस इत्यादि वृक्षों से प्राप्त होते हैं। वनस्पति जगत् का संवृतबीजी बड़ा व्यापक और उपयोगी उपवर्ग है। पृथ्वी के हर भाग में यह बहुतायत से उगता है। [रा० व्या० सं०]

संवेदनाहरण और संवेदनाहारी (Anaesthesia and Anaesthetics) समस्त जीवधारियों के तंत्रिकातंत्र (nervous system) का कार्य बाह्य उत्तेजनाओं की अनुभूति कराना है। जिस प्राणी का तंत्रिकातंत्र जितना अधिक उन्नत एवं परिष्कृत होगा, जितना उसमें बाह्य उत्तेजनाओं की अनुभूति तथा उसके प्रति प्रतिक्रिया उतनी ही अधिक स्पष्ट एवं तात्कालिक होगी। तंत्रिकातंत्र द्वारा बाह्य उत्तेजना, पीड़ा आदि अनुभव करने के गुण को ही संज्ञा या संवेदन कहते हैं तथा विशिष्ट ओषधि के प्रयोग से इस गुण को नष्ट कर देना ही संवेदनाहरण (Anesthesia) कहलाता है। जिस ओषधि के प्रयोग द्वारा संवेदनाहरण का कार्य होता है उसे संवेदनाहारी कहते हैं। आजकल शल्यचिकित्सा में इसका अत्यधिक उपयोग होता है।

संवेदनाहरण के प्रकार निम्नलिखित हैं :

१. स्थानिक संवेदनाहरण (Local Anaesthesia) — इसमें स्थान विशेष की संज्ञावह तंत्रिकाओं को निष्क्रिय कर देते है, जिससे पीड़ा की अनुभूति न हो। छोटे छोटे शल्यकर्मों में इसी का उपयोग किया जाता है। कोकेन तथा उसके भिन्न भिन्न यौगिक प्रधान स्थानिक संवेदनाहारी होते हैं।

२. सर्वांगीय संवेदनाहरण (General Anaesthesia) — किसी भी स्थल से जानेवाली पीड़ा संबंधी संवेदनाओं को निश्चित पीड़ा अनुभूति में बदलनेवाली मस्तिष्क की धूसर वस्तु (gray matter of the brain) ही है। यदि इसको निष्क्रिय कर दिया जाय, तो किसी भी स्थल से वेदना की फिर अनुभूति नहीं हो सकती। धूसर

वस्तु को निष्क्रिय करने को सर्वांगीय संवेदनाहरण कहते हैं। क्लोरोफॉर्म, नाइट्रस ऑक्साइड, ईथर इत्यादि प्रधान सर्वांगीय संवेदनाहारी हैं। इनका बड़े बड़े शल्य कर्मों में उपयोग होता है।

३. **अवरोधक संवेदनाहरण** (Blocking Anaesthesia) — इसमें सुषुम्ना स्थल विशेष को निष्क्रिय बनाकर बाधा डाल दी जाती है, जिससे पीड़ा इत्यादि की अनुभूति आगे बढ़कर मस्तिष्क तक पहुँच ही नहीं सकती।

संवेदनाहारी पदार्थों में निम्नलिखित गुण होने चाहिए :

१. इसको सुगमतापूर्वक सेवन कराया जा सके।

२. शीघ्र ही इसका प्रभाव व्यक्त होने लगे।

३. कार्य हो चुकने के पश्चात् इसका प्रयोग बंद करने पर शीघ्र ही प्रभाव दूर होने लगे।

४. प्रभाव दूर हो चुकने पर, इसका कोई भी बुरा प्रभाव शरीर पर न रह जाए।

५. इसके द्वारा पूर्ण संवेदनाहरण तथा पेशियों का शिथिलन (relaxation of muscles) उत्पन्न हो।

६. घातक मात्रा (lethal dose) एवं चिकित्सीय मात्रा (therapeutic dose) में पर्याप्त अंतर हो, जिससे घातक प्रभाव होने की संभावना कम से कम रहे। इसी को सुरक्षा सीमा (Margin of safety) कहते हैं।

संवेदनाहारी के प्रयोग के पूर्व निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :

१. रोगी की सुरक्षा एवं आराम — सर्वांग संवेदनाहरण के पश्चात् सदैव खतरे की संभावना रहती है।

२. **रोगी की आयु तथा स्वास्थ्य।**

३. **शल्यकर्म की प्रकृति** — जैसे फोड़ा चीरना, अस्थिभंग ठीक करना इत्यादि में स्थानिक संवेदनाहरण ही उपयुक्त है।

४. **संवेदनाहरण के प्रयोग के पूर्व रोगी की परीक्षा** — इसमें रोगी के हृदय, फुफ्फुस, यकृत तथा अन्य प्रधान अंगों की दशा जाँच लेनी चाहिए।

५. **संवेदनाहरण के पूर्व की तैयारी** — यदि केवल सर्वांगीय संवेदनाहरण देना हो, तो भोजन इत्यादि पर नियंत्रण करके पूर्व तैयारी की जाती है। अन्य किसी भी प्रकार के संवेदनाहरण में इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती।

भिन्न भिन्न संवेदनाहारी पदार्थ निम्नलिखित हैं :

१ **क्लोरोफार्म** (Chloroform) — सर्वांगीय संवेदनाहरण के लिये इसका प्रयोग सर्वाधिक रूप से होता चला आ रहा है। यह मीठी मीठी गंधवाला, वाष्पशील, रंगरहित द्रव है, जिसको विशेष उपकरण द्वारा रोगी को सुँघाकर बेहोश किया जाता है। सुँघाने पर यह द्रव श्वासमार्ग से रुधिर में चला जाता है और रुधिर से मस्तिष्क में पहुँचकर एवं वहाँ संचित होकर, अपना प्रभाव दिखाता है। निम्नलिखित चार अवस्थाओं में इसका प्रयोग होता है :

(क) विघटित चेतना की अवस्था (disorganised conciousness) में।

(ख) उत्तेजना एवं प्रलापावस्था (excitement and delerium) में।

(ग) शल्यकर्म के लिये संवेदनाहरण (surgical anaesthesia) में।

(घ) मेरुशीर्षी पक्षाघात (bulbar paralysis) में

(२) **नाइट्रस ऑक्साइड** (Nitrous oxide) या हास गैस (Laughing gas) — इसको सुँघने से ही शीघ्र बेहोशी आती है।

(३) **ईथर** (Ether) — इसका स्प्रे द्वारा स्थानिक संवेदनाहरण औषधि के रूप में उपयोग होता है।

(४) **प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड** (Procain hydrochloride)— इसका भी स्थानिक संवेदनाहरण के रूप में प्रयोग होता है।

(५) पॉण्टोकेन(Pontocain)तथा सोडियम पेंटोथाल (Sodium pentothal) का भी स्थानिक संवेदनाहरण औषधि के रूप में उपयोग होता है। (प्रि० कु० चौ०)

संवैधानिक उपचार (Constitutional remedies) मनुष्य को विधिप्रदत्त अनेक अधिकार प्राप्त हैं। मनुष्य जाति, समय समय पर, उन अधिकारों के प्रवर्तन के लिये अनेक विधिक उपायों (legal rights) की उद्भावना करती आई है। हमारे देश में विधिक उपायों का स्थूल विभाजन दो श्रेणियों में किया जा सकता है — (१) संवैधिक (statutory) तथा (२) संवैधानिक (constitutional) उपचार। संवैधिक उपचार। (statutory remedies) संविधि द्वारा प्रदत्त होते हैं तथा संवैधानिक उपायों का उद्गमस्थल संविधान है। यहाँ हमारा विवेचन संवैधानिक उपायों तक सीमित है।

भारतीय संविधान का तृतीय खंड संविधान द्वारा शासित प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान करता है। राज्य को यह शक्ति प्राप्त है कि समाज के कल्याण के लिये वह (राज्य) इन अधिकारों के उपभोग का विनियमन (regulate) करे। इन संवैधानिक अधिकारों में से अनेक अधिकार अन्य लिखित संविधानवाले देशों द्वारा भी स्वीकृत हैं। पर हमारा संविधान इस विषय में अप्रतिम है क्योंकि इन अधिकारों के प्रवर्तन (enforcement) के उपाय भी उसमें स्पष्टतया निर्दिष्ट हैं। हमारे संविधान की धारा ३२ (१) यह उद्घोषणा करती है कि संविधान के तृतीय खंड द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन के लिये सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष निर्धारित नियमानुसार याचिका प्रस्तुत की जा सकती है। इस प्रकार यह उपचार संविधान द्वारा प्रत्याभूत (guaranteed) है। उक्त धारा की ही उपधारा (२) सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्रदान करती है कि वह अधिकारों के प्रवर्तन के लिये बंदी प्रत्यक्षीकरण प्रादेश (writ of habeas corpus), परमादेश (mandamus), निषेधादेश (prohibition), अधिकारपृच्छा प्रादेश (quo warranto) तथा उत्प्रेषप्रादेश (certiorari) सहित किसी प्रकार का प्रादेश, निर्देश अथवा आदेश (writs, directions and orders) जारी कर सकता है। संविधान की धारा २२६ द्वारा राज्य के उच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह निर्देश, आदेश तथा प्रादेश का निर्गम (issuing) केवल संविधानप्रदत्त

अधिकारों के प्रवर्तन के लिये ही नहीं, अपितु 'किसी अन्य उद्देश्य के लिये' भी कर सकता है।

इन उपचारों का उद्देश्य मनुष्य के विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिये शीघ्रता तथा मितव्ययितापूर्ण उपाय प्रदान करना है जिससे ये अधिकार विधायिका (legislature) तथा कार्यपालिका (executive) के हस्तक्षेप से मुक्त रहें।

संविधान की धारा ३२ तथा २२६ में उल्लिखित प्रादेशों तक ही सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के उपचारात्मक अधिकार सीमित नहीं हैं, अपितु वे आवश्यकतानुसार कोई आदेश, निर्देश तथा प्रादेश भी जारी कर सकते हैं। इस प्रकार ये उपचारात्मक प्रतिबंध (remedial provisos) पर्याप्त व्यापक तथा असीमित हैं। ऐसा अवसर उपस्थित होने पर जबकि उक्त प्रादेश (writs) राज्य के अवैध कृत्य के विरुद्ध, व्यक्ति के अधिकारों के पुनःस्थापन (enforcement) में अक्षम हो, तब न्यायालय किसी अन्य आदेश प्रादेशादि की अवतारणा करने के लिये भी स्वतंत्र है। उपयुक्त मामलों में, यदि न्यायालय उचित समझे तो, वह घोषणाएँ करने के लिये भी स्वतंत्र है। सर्वोच्च न्यायालय भारतीय सीमा के अंतर्गत किसी भी अधिकारी के नाम आदेश, निर्देश अथवा प्रादेश जारी कर सकता है। उच्च न्यायालय के अधिकार उसकी क्षेत्रीय सीमा तक ही सीमित हैं।

उच्च न्यायालय द्वारा निर्गमित (issued) आदेश अथवा प्रादेश, संविधानप्रदत्त मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिये अथवा 'अन्य किसी उद्देश्य के लिये' जारी किए जाते हैं। 'अन्य किसी उद्देश्य के लिये' इस अंश की व्याख्या करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय 'अन्य विधिक अधिकारों' के प्रवर्तन के लिये ही कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि संवैधानिक तथा अन्य विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के अतिरिक्त अन्य किसी अधिकार के प्रवर्तन के लिये उच्च न्यायालय संभवतः अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा। फलतः नैतिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिये न्यायालय इस शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता।

संविधान की धारा ३२ के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष, मूलभूत अधिकारों (fundamental rights) के उपभोग में बाधा प्रमाणित किए जाने के बाद न्यायालय अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिये बाध्य है, जबकि दूसरी ओर उच्च न्यायालय संविधान की धारा २२६ के अनुसार अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिये बाध्य नहीं है। उच्च न्यायालय की शक्ति उसके विवेक के अधीन है तथा कतिपय अवसरों पर उसका प्रयोग नहीं किया जाता। यदि कथित आपत्तिजन्य अवैध कार्य द्वारा याचिकादाता (petitioner) को कोई प्रत्यक्ष हानि न होती हो तो उच्च न्यायालय अपनी शक्ति का प्रयोग न करने के लिये भी स्वतंत्र है। इसी प्रकार यदि याचिकादाता के लिये अन्य उपयुक्त वैकल्पिक मार्ग उपलब्ध है, यदि वह छलयुक्त भावना से (with unclean hands) न्यायालय में उपस्थित होता है अथवा यदि वह अनावश्यक प्रमाद का दोषी है, तो इन दशाओं में साधारणतः न्यायालय याचिकादाता को अनुतोष (relief) प्रदान करना अस्वीकार कर देगा। न्यायालय उन दशाओं में भी हस्तक्षेप करना अस्वीकार कर देगा जबकि वांछित हस्तक्षेप के परिणामहीन तथा अनावश्यक होने की संभावना हो। उन अवसरों की विस्तृत तालिका देना सर्वथा असंभव है जिन दशाओं में उच्च न्यायालय अपनी शक्ति का प्रयोग करना अस्वीकार कर सकता है। प्रत्येक मामले की परिस्थिति, प्रकृति, उद्देश्य तथा शक्ति के विस्तार को दृष्टिगत रखकर ही न्यायालय अपने न्यायिक विवेक का प्रयोग करेगा।

सामान्यतः मामले से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित व्यक्ति ही सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों से उनकी शक्ति के प्रयोग की याचना कर सकता है किंतु यह नियम सर्वथा निरपवाद प्रतीत नहीं होता।

संविधानप्रदत्त मूलभूत अधिकारों के प्रवर्तन के लिये न्यायालय द्वारा जारी किए जानेवाले निर्देश, आदेश अथवा प्रादेश राज्य के नाम जारी किए जाते हैं। संविधान की धारा (१२) में राज्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि संसद् तथा केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार एवं राज्य विधान मंडल, भारतीय सीमातगंत स्थित अथवा भारतीय शासन के अधीनस्थ कार्य करनेवाले सभी स्थानीय अथवा अन्य अधिकारीगण (इस व्याख्या के अनुसार) राज्य की परिधि में आते हैं। बंदी प्रत्यक्षीकरण (उच्च न्यायालय द्वारा) उस व्यक्ति विशेष के नाम भी जारी किया जा सकता है जिसकी अवैध हिरासत में कोई व्यक्ति बंदी हो। राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के आधिकारिक कार्यों (official acts) के विरुद्ध कोई निर्देश, आदेश अथवा प्रादेश जारी नहीं किया जा सकता। संविधान की धारा ३२९ (ब) के अनुसार भारतीय संसद् अथवा राज्य-विधान-मंडल के निर्वाचन से संबंधित अधिकारी की चुनाव संबंधी आज्ञाओं में उच्च न्यायालय हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसी प्रकार संविधान की १२२ तथा २१२वीं धाराओं के अनुसार संसद् तथा विधानमंडलों के विरुद्ध, उनकी आंतरिक गतिविधियों के मार्ग में बाधा उपस्थित कर उनकी आंतरिक कार्यवाहियों की अनियमितता तथा वैधता अवैधता की जाँच के संबंध में कोई आदेश उच्च न्यायालय जारी नहीं कर सकता।

संविधान के अंतर्गत बनाए गए कानूनों द्वारा सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों की शक्तियों को सीमित नहीं किया जा सकता। न्यायालयों की शक्ति की समाप्ति अथवा उनमें न्यूनता केवल संविधान में संशोधन करने के पश्चात् ही की जा सकती है। अथवा संविधान की धारा ३५२ (१) के अनुसार आपातकालीन घोषणा के पश्चात्, धारा ३५९ (१) के अनुसार राष्ट्रपति मूलभूत अधिकारों का न्यायालयों द्वारा प्रवर्तन स्थगित कर सकता है। सारांश यह कि युद्ध अथवा बाह्य आक्रमणकाल में या देश की अथवा देश के किसी भाग की सुरक्षा खतरे में डालनेवाले किसी गृहसंकट के समय मूलभूत अधिकारों का न्यायालय द्वारा प्रवर्तन स्थगित किया जा सकता है। पर ऐसे समय में भी उच्च न्यायालयों के अधिकार प्रवर्तन की शक्ति — मूलभूत अधिकारों के प्रवर्तन की शक्ति को छोड़कर — अक्षुण्ण रहती है।

इन प्रादेशों का नामकरण आंग्ल विधि पर आधारित है। उक्त

आदेशों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है बंदी प्रत्यक्षीकरण आदेश (Writ of Habeas Corpus)। इसका वास्तविक अर्थ है 'बंदी को सशरीर न्यायालय में प्रस्तुत किया जाय'। यह आदेश किसी व्यक्तिविशेष अथवा कारागार की हिरासत में निरुद्ध (detained) बंदी के व्यक्ति-स्वातंत्र्य की सुरक्षा के लिये महत्वपूर्ण अस्त्र है। इस आदेश द्वारा न्यायालय बंदी व्यक्ति को अपने समक्ष उपस्थित किए जाने का आदेश देता है और उसके निरोध (detention) के कारणों की छानबीन करता है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बंदी का निरोध (detention) अवैध तथा अनौचित्यपूर्ण (unproper) है, तो उस दशा में उसे निर्मुक्त (free) कर दिया जाता है।

इस आदेश का उपयोग अंतरराष्ट्रीय प्रत्यर्पण (imternational extradition) की वैधता की जाँच, सशस्त्र सेना अथवा नौसेना द्वारा बंदी बनाए गए व्यक्तियों की निर्मुक्ति, विदेशियों के देश से निष्कासन या निर्वासन को रोकने, तथा कारागार अथवा व्यक्ति विशेष की हिरासत में अवैध रूप से निरुद्ध (detained) व्यक्ति की निर्मुक्ति के लिये होता है।

यह आदेश न्यायालय द्वारा आधिकारिक (as of right) रूप से जारी किया जाता है किंतु वह इसे प्रकृत्या जारी नहीं करता (not as of course)। आदेश के जारी किये जाने की स्वीकृति तभी प्रदान की जाती है जब कि प्रार्थी हलफनामे (affidevit) द्वारा संबलित याचिका में यह प्रदर्शित करे कि उसका निरोध अवैध तथा अनुचित है। याचिका स्वयं प्रार्थी द्वारा अथवा उससे संबंधित किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत की जा सकती है।

निरोध की वैधता की छानबीन बंदी के निरोधक (person detaining) द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए जाने की तिथि को की जाती है।

परमादेश (mandamus) का अर्थ है 'हमारा आदेश है।' आंग्लदेश में परमादेश न्यायालय के क्वींस बेंच डिवीजन द्वारा किसी अधिकारी, निगम अथवा नीचे की अदालतों के नाम जारी किया जाता है। इसमें इस बात की स्पष्ट आज्ञा होती है कि 'आदेश में निर्दिष्ट कार्य का यथोचित संपादन किया जाय क्योंकि वही उसका (अधिकारी, निगम या न्यायालय का) नियतकर्म अथवा कर्तव्य है।'

आदेश में निर्दिष्ट आज्ञा किसी कार्य के किए जाने अथवा उससे विरत होने से संबद्ध होती है। यह आदेश एक सामान्य वैधिक कर्तव्य के प्रवर्तन (enforcement) के लिये जारी किया जाता है, और इसका प्रयोग प्रसंविदाजन्य कर्तव्यों (contractual obligations) के प्रवर्तन के लिये नहीं होता। इसका प्रयोग वहाँ भी नहीं किया जाता जहाँ इष्ट कार्य किसी अधिकारी के विवेक (discretion) पर निर्भर होता है। किंतु उस अवस्था में जब विवेकाधिकार किसी कर्तव्य के साथ संलग्न हो, न्यायालय उसके संपादन के लिये आदेश दे सकता है। किंबहुना, यदि अधिकारीविशेष अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते समय किन्हीं अनावश्यक विषयों पर ध्यान देता है अथवा आवश्यक वस्तुओं पर ध्यान नहीं देता तो इन दशाओं में न्यायालय उक्त अधिकारी के आदेश को रद्द करते हुए उस विषय पर पुनर्विचार करने का आदेश दे सकता है। परमादेश उस अवस्था में भी जारी किया जाता है जब कोई अधिकारी अपनी कार्यसीमा का अतिक्रमण अथवा अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है।

यह आदेश न तो प्रकृत्या जारी किया जाता है और न आधिकारिक रूप से ही (neither as of right nor as of course)। यह उसी अवस्था में जारी किया जाता है जब वैध अधिकारों से युक्त व्यक्ति हलफनामे द्वारा संबलित याचिका में इसके जारी किए जाने के लिये उपयुक्त कारण सिद्ध करे। यह आदेश उस अवस्था में जारी नहीं किया जाता जब याचिकादाता के समक्ष कोई अन्य उपयुक्त तथा वैकल्पिक मार्ग हो। याचिकादाता के लिये यह भी प्रदर्शित करना आवश्यक है कि याचिका प्रस्तुत करने के पूर्व उसने उपयुक्त अधिकारी के समक्ष अपना दावा प्रस्तुत कर अनुतोष के लिये प्रार्थना की थी तथा वह दावा या तो अस्वीकार कर दिया गया अथवा पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने के बाद भी उसकी कोई सुनवाई नहीं हुई। इस नियम के पालन पर न्यायालय, उस अवस्था में विशेष बल नहीं देगा यदि वह समझे कि संबंधित अधिकारी से की गई अनुतोष (relief) की माँग का निष्फल होना अवश्यंभावी है।

निषेधादेश (Prohileition) निम्नतर न्यायालयों, न्यायाधिकरणों अथवा न्यायिक कल्प अधिकारियों (quasi judicial authorities) के नाम जारी कर उन्हें अपनी अधिकारसीमा के उल्लंघन से विरत होने अथवा प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों (rules of natural justice) की अवहेलना न करने का आदेश दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, इस आदेश द्वारा किसी न्यायाधीश को उस वाद विशेष की सुनवाई से विरत रहने का आदेश दिया जा सकता है जिसमें न्यायाधीश का व्यक्तिगत स्वार्थ संलग्न हो। निषेधादेश उस अवस्था में भी जारी किया जा सकता है जब याचिकादाता के समक्ष वैकल्पिक मार्ग होते हुए भी न्यायाधीश द्वारा किया गया सीमोल्लघन स्पष्ट हो।

अधिकारपृच्छा आदेश (writ of quo warrants), सार्वजनिक अधिकारी के पद पर आसीन व्यक्ति के नाम जारी कर उससे यह प्रश्न किया जाता है कि किन प्रमाणों के द्वारा वह उक्त पद पर आसीन रहने के अधिकार का समर्थन करता है, और किन प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित किया जाय कि उस पद पर आसीन रहने का वास्तविक अधिकार उसे प्राप्त है।

यह आदेश प्रकृत्या जारी नहीं किया जाता। इसे जारी करने के पूर्व न्यायालय याचिकादाता के चरित्र और लक्ष्य की जाँच भी कर सकता है।

उत्प्रेषणादेश (Certiorari) निषेधादेश की ही भाँति एक अत्यंत प्राचीन आदेश है जिसके द्वारा आंग्ल न्यायालय का 'क्वींस बेंच डिवीजन' न्यायाधिकरणों तथा कल्प न्यायाधिकरणों की कार्यवाहियों को नियंत्रित किया करता था। इस विचित्र नामकरण का रहस्य यह है कि इसके लैटिन प्रारूप के लिये यह आवश्यक था कि अन्वेषणीय कार्यवाहियों को सम्राज्ञी के समक्ष प्रस्तुत किए जाने के पूर्व उनका 'क्वींस बेंच डिवीजन द्वारा' प्रमाणीकरण हो जाय।

उत्प्रेषणादेश तभी जारी किए जाते हैं जब कि न्यायाधिकरण, अथवा कल्प न्यायाधिकरण के आदेश उनकी शक्तिसीमा का अतिक्रमण करते हों, प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की अवहेलना

करते हों अथवा विधान के किसी ऐसे भ्रम से दूषित हों जो उनमें (आदेशों में) स्पष्ट दिखाई पड़ते हों (apparent on the face of the rceord) ।

अद्यावधि किसी ऐसी निभ्रंम परीक्षणविधि की उद्भावना नहीं की जा सकी है जिसके द्वारा हम कल्प न्यायिक कार्यवाही तथा प्रशासनिक कार्यवाही के बीच कोई विभाजक रेखा खींच सकें। केवल कल्प न्यायिक कार्यवाहियों से उत्पन्न आदेशों के विरुद्ध ही उत्प्रेषणादेश जारी किया जा सकता है, इसीलिये विभाजन की आवश्यकता उपस्थित हुई है। स्थूल आधार पर कहा जा सकता है कि जब एक वर्गविशेष के व्यक्तियों को यह वैध शक्ति प्रदान की जाती है कि वे न्यायिक कर्तव्यों का पालन करते हुए व्यक्तिविशेष के अधिकारों का निर्णय करें, उस दशा में उनकी कार्यवाही कल्पन्यायिक होगी (quasi judicial)। इसके विपरीत यदि किसी अधिकारी के निर्णय का मूल्यांकन उसकी नीति के आधार पर किया जाता है, उस दशा में वह कार्यवाही सामान्यत: प्रशासनिक कही जायगी किंतु संबंधित अधिकारी यदि साक्षी द्वारा संबलित प्रज्ञप्ति (proposal) तथा आपत्ति (objection) के ही आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचता है उस दशा में यह आवश्यक है कि अधिकारी न्यायिक पद्धति का अवलंबन करे। इस प्रकार की कार्यवाही अंशत: कल्प-न्यायिक होगी, भले ही अंतिम निर्णय प्रशासनिक कहा जाय। कोई कार्यवाही कल्प-न्यायिक (quasi judicial) है या नहीं, इसका निर्णय अंततोगत्वा तीन बातों पर निर्भर होता है (१) वाद की प्रकृति, (२) संविधि, (३) अनुविध्यात्मक अधिकारी (Statutory authority) के प्राधिकार तथा कार्यपद्धति एवं तत्संबंधी अधिकारी के प्रतिष्ठापन से संबद्ध अन्य नियम।

उत्प्रेषण प्रादेश, किसी अधिकारी द्वारा दिए गए उस आदेश को ध्वस्त (quash) करने के लिये जारी किया जाता है जब कि अधिकारी का वाद विषय में व्यक्तिगत स्वार्थ हो, अथवा वाद विषय के पक्ष या विपक्ष के प्रति उसके मस्तिष्क में पूर्वाग्रह विद्यमान हो। केवल न्याय का होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु आवश्यक है कि यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो कि न्याय किया गया। जब कोई आदेश, किसी अधिकारी द्वारा, दूसरे पक्ष को सुनवाई का अवसर दिए बिना ही पारित कर दिया जाता है उस अवस्था में भी उत्प्रेषणादेश जारी किया जाता है।

उत्प्रेषण प्रादेश उस निर्णय को ध्वस्त करने के लिये भी जारी किया जाता है जिसका दोष उसमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। "प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने" (menifest on the face of the rccord) की कोई निश्चित व्याख्या संभव नहीं किंतु इतना तो निश्चित है कि इस कथन की आड़ में न्यायालय अपील न्यायालयवत् आचरण नहीं करेगा।

जो निर्णय साक्षी द्वारा संबलित नहीं हैं, वे भी इस प्रादेश द्वारा ध्वस्त किए जा सकते हैं।

जहाँ न्यायिक अथवा कल्पन्यायिक (Judicial or quasijudicial) अधिकारी, सीमाविषयक तथा किसी दोषपूर्ण धारणा पर अपनी सीमा का बलात् अतिक्रमण कर कोई निर्णय देता है, वहाँ न्यायालय तद्विषयक तथ्यों की उपस्थिति की छानबीन भी कर सकता है। अन्य साधारण दशाओं में न्यायालय साक्षी द्वारा संबलित निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। प्रकारांतर से उल्लिखित साक्षी को न्यायालय उसी दशा में स्वीकृत करेगा जब यह सिद्ध होगा कि ध्वस्त निर्णय कपट द्वारा प्राप्त (obtained by fraud) था अथवा ऐसा करते हुए अधिकारसीमा का अतिक्रमण किया गया।

यह प्रादेश प्रकृत्या नहीं किंतु प्राधिकारिक रूप से जारी किया जाता है और न्याय की पूर्ति के लिये (exdebito justitiae), कार्यसीमा का अतिक्रमण अथवा प्राकृतिक न्यायपद्धति की अवहेलना से पीड़ित पक्ष की याचिका पर जारी किया जाता है। [सु० ना० द्वि०]

संशयवाद (Scepticism) जैसा 'श्री शिवादित्य ने सप्तपदार्थी' नामक ग्रंथ में लिखा है (अनवधारणं ज्ञानं संशय:) संशय अनिश्चित ज्ञान या संदिग्ध अनुभव को कहते हैं। तर्कसंग्रह के अनुसार संशय वह ज्ञान है जिसमें एक ही पदार्थ अनेक विरोधी धर्मों या गुणों से युक्त प्रतीत होता है (एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशय:)। उदाहरणार्थ, जब हम अँधेरे में किसी दूरस्थ स्तंभ को देखकर निश्चित रूप से यह नहीं जान पाते कि वह स्तंभ है तो हमारा मन दोलायमान हो जाता है और हम उस एक ही पदार्थ में स्तंभत्व एवं मनुष्यत्व दो विभिन्न धर्मों का आरोप करने लगते हैं। न तो हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि वह पदार्थ स्तंभ है और न यह कि वह मनुष्य है। मन की ऐसी ही विप्रतिपत्तियुक्त, द्विविधाग्रस्त, निश्चयरहित या विकल्पात्मक अवस्था को संशय कहा जाता है। यह अवस्था न केवल ज्ञानाभाव तथा (रज्जु में सर्प के) भ्रम या विपरीत ज्ञान (विपर्यय) से ही किंतु यथार्थ निश्चित ज्ञान से भी भिन्न होती है। अत: संशयवाद नामक सिद्धांत के अनुसार निश्चित ज्ञान अथवा उसकी संभावना का निषेध किया जाता है। इस सिद्धांत को पूर्ण रूप से माननेवाले व्यक्तियों के विचारानुसार मानव को कभी भी और किसी भी प्रकार का वास्तविक या निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। संशयवादियों की राय में हमारे मस्तिष्क या मन की बनावट ही ऐसी है कि उसके द्वारा हम कभी भी संसार के या उसके पदार्थों के सही स्वरूप को अवगत कर सकने में समर्थ नहीं हो सकते।

संशयवाद को आंग्ल भाषा में स्केप्टिसिज्म (Scepticism) कहते हैं। स्केप्टिसिज्म का श्रीगणेश ईसा के पूर्व सन् ४४० में यूनान देश के सोफिस्ट (Sophists) कहलानेवाले तर्कप्रधान व्यक्तियों से हुआ बतलाया जाता है। परंतु उनका संशयवाद सामान्य रूप का था। सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में तो इसका आरंभ एलिस (Elis) के पिरो (Pyrrho) नामक प्रख्यात विचारक से, ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व, हुआ। पिरो ने वास्तविक ज्ञान को स्पष्ट शब्दों में असंभव बतलाया है। फिलियस का टाइमन (Timon of Philius 250 B.C) उसका प्रमुख शिष्य था। पिरो के कुछ अनुयायियों ने तो, जिनमें सेक्सटस ऐंपिरीकस (Sextus Empiricus) का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है, संशयवादी विश्वास को इस सीमा तक निभाया कि वे स्वयं इस वाद को भी संशय की दृष्टि से देखने लगे। इन संशयवादियों के अनुसार इच्छाओं और निराशाओं से समुद्भूत हमारे सारे ही दु:खों की उत्पत्ति

पदार्थ विषयक हमारे परामर्शों की अप्रामाणिकता से ही होती है। मध्यकालीन पाश्चात्य संशयवादियों में पैस्कल (Pascal) तथा आधुनिक संशयवादियों में ह्यूम (David Hume) अधिक प्रसिद्ध हैं। पैस्कल का कहना था कि संसार संबंधी कोई भी निश्चित या संतोषप्रद सिद्धांत बुद्धि द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता, और ह्यूम महोदय ने हमारी जानने की क्षमता को केवल आनुभविक क्षेत्र तक ही सीमित बतलाया है। उनके अनुसार मनुष्य को अपने ऐंद्रिय अनुभव के बाहर की बात जानने या कहने का कोई अधिकार नहीं। कोई कोई विचारसमीक्षक प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट को भी संशयवादियों में शामिल कर लेते हैं; परंतु उन्हें संशयवादी न कहकर अज्ञेयवादी (Agnostic) कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उन्होंने वस्तुओं के वास्तविक या पारमार्थिक स्वरूप (Noumena) को अज्ञेय या बुद्धि द्वारा अगम्य बतलाया है, संदेहास्पद नहीं। और कम से कम कार्यजगत् (phenomena) को समझ सकने की क्षमता तो उन्होंने बुद्धि में मानी ही है।

भारतवर्ष के कुछ संशयवादियों का उल्लेख 'श्रामण्यफलसूत्र' आदि कुछ बौद्ध ग्रंथो में मिलता है। उदाहरणार्थ, अजितकेसकंबली नामक एक विचारक का कहना था कि यथार्थ ज्ञान कभी संभव नहीं, और गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में प्रकाशित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक पांडुलिपि के लेखक श्री जयराशि ने किसी भी प्रमाण को, यहाँ तक कि प्रत्यक्ष प्रमाण को भी, असंदिग्ध ज्ञान का साधन नहीं माना। कभी कभी कुछ लोग 'स्यादस्ति स्यात् नास्ति' आदि शब्दों द्वारा प्रतिपादित जैन दर्शन के स्याद्वाद को भी संशयवाद समझने लगते हैं। परंतु वस्तुतः स्याद्वाद प्रतिपादित 'स्यात्' शब्द का प्रयोग तत्तत् वाक्य की संदिग्धता (अथवा असत्यता) का नहीं किंतु उसके सत्य की सापेक्षता का द्योतक है। स्याद्वाद को परामर्शों या निर्णयों का सत्यत्व, परिस्थिति एवं प्रसंगानुकूल, स्वीकार्य है।

चाहे संशयवादी स्वयं कुछ भी कहें, संशय की मानसिक अवस्था कोई सुख की अवस्था नहीं होती ('न सुखं संशयात्मनः' गीता, अ० ४, श्लोक ४०)। और पूर्ण रूप से संशयवादी होना अत्यंत कठिन ही नहीं, किंतु असंभव है।

स्वयं संशयवाद की स्वीकृति ही उसकी मान्यता का खंडन कर देती है। यदि किसी भी प्रकार का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता, तो फिर यह निश्चय रूप से कैसे कहा जा सकता है कि किसी भी प्रकार का निश्चित ज्ञान संभव नहीं। या तो संशयवाद की मान्यता असमीचीन है या फिर स्वयं संशयवाद 'वदतोव्याघात दोष' से दूषित सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त, हमारे व्यावहारिक जीवन का एक एक कार्य तत्संबंधी पदार्थ या व्यक्ति के निश्चित ज्ञान की मान्यता पर निर्भर रहता है। वह संशयवाद को पूर्णतया मान लेने पर चल ही नहीं सकता। इसीलिये तो श्रीमद्भगवद्गीता में 'संशयात्मा विनश्यति' आदि शब्दों द्वारा संशयवाद को अग्राह्य ठहराया है। परंतु, साथ ही साथ, यह मानने से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि अपरीक्षित परंपरागत मान्यताओं की अंध स्वीकृति भी विचारों के विकास में बाधा डालती है। अतः कभी कभी सामान्य रूप से स्वीकृत तथाकथित सत्यों को संदेह की दृष्टि से देखना भी ज्ञानवृद्धि के लिये आवश्यक हो जाता है जैसा भामतीकार श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा हैं, संशय जिज्ञासा को जन्म देता है (जिज्ञासा संशयस्य कार्यम्) और जिज्ञासा तो ज्ञान के लिये वांछनीय है ही। और कांट महोदय की यह उक्ति कि ह्यूम के 'संशयवाद ने मुझे वैचारिक रूढ़ियों की निद्रा से जगा दिया', इस सत्य को प्रमाणित करती है। परंतु बुद्धि या मन को संशय रूपी रंग से पूर्णतया रँग लेना और प्रत्येक बात पर संदेह करना ठीक वैसा ही है जैसा हाथों में मैल न होने पर भी किसी पागल द्वारा उनका सतत और निरंतर धोया जाना। [रा० सि० नो०]

संशोधन तथा समर्थन विधायिनी सभा में किसी विधेयक में परिवर्तन, सुधार अथवा उसे निर्दोष बनाने की प्रक्रिया को संशोधन कहते हैं। सभा या समिति के प्रस्ताव के शोधन की क्रिया के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता है। किसी भी देश का संविधान कितनी ही सावधानी से बना हुआ हो किंतु मनुष्य की कल्पना शक्ति की सीमा बँधी हुई है। भविष्य में आनेवाली और बदलनेवाली सभी परिस्थितियों की कल्पना वह संविधान के निर्माणकाल में नहीं कर सकता, अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों की गुत्थियों के कारण भी संविधान में संशोधन, परिवर्तन करना वांछनीय एवं आवश्यक हो जाता है।

संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख लिखित संविधान का आवश्यक अंग माना गया है। गार्नर के शब्दों में 'कोई भी लिखित संविधान इस प्रकार के उपबंधों के बिना अपूर्ण है'। संविधान के गुणावगुण परखने की कसौटी भी संशोधन की प्रक्रिया है — प्रक्रिया सरल है अथवा कठोर है। कुछ देशों के संविधान का संशोधन विधिनिर्माण की साधारण प्रक्रिया के अनुसार ही होता है। ऐसे संविधानों को नमनीय या सरल संविधान कहते हैं। इस प्रकार के संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण इंग्लैंड का संविधान है। कुछ संविधानों के संशोधन की प्रक्रिया के लिये एक विशिष्ट प्रक्रिया का आलंबन किया जाता है। यह प्रक्रिया जटिल एवं दुरूह होती है। ऐसे संविधान जटिल या अनमनीय संविधान कहलाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान ऐसे संविधानों का सर्वोत्तम उदाहरण है। भारतीय गणतंत्र संविधान के संशोधन का कुछ अंश नमनीय है और कुछ अंश की अनमनीय प्रक्रिया है। इन दोनों विधियों को ग्रहण करने से देश के मौलिक सिद्धांतों का पोषण होगा और संविधान में परिस्थितियों के अनुकूल विकसित होने की प्रेरणाशक्ति भी होगी।

समर्थन

साधारणतया किसी सभा या समिति में किसी भी सदस्य को अपना मत प्रकट करने या कोई प्रस्ताव प्रेषित करने का अधिकार होता है। या जब किसी सभा के सदस्यों को सभा के विभिन्न पदों के लिये अलग अलग व्यक्तियों को मनोनीत करने का अधिकार होता है, तब मनोनीत करनेवाले सदस्य के कार्य की पुष्टि दूसरे सदस्य के द्वारा होना अनिवार्य होता है। अतः एक सदस्य जब किसी प्रस्ताव को प्रेषित करता है या किसी सदस्य को किसी कार्य के लिये मनोनीत करता है, तब इस कार्य को संवैधानिक बनाने के लिये दूसरे सदस्य को इस कार्य का समर्थन या अनुमोदन करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उपयुक्त कार्य वैधानिक नहीं माने जायेंगे और वे कार्य शून्य घोषित किए जायँगे। [शु० दे०]

संसद् (पार्लमेंट) संसद् अंग्रेजी के पार्लमेंट शब्द का हिंदी रूपांतर है। पार्लमेंट का शाब्दिक अर्थ होता है बातचीत या वादविवाद अथवा वह संस्था या सभा जहाँ सार्वजनिक विषयों पर वादविवाद करके निर्णय किया जाय; परंतु लगभग ७०० वर्षों से यह शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है, अर्थात् प्रधानतया वह ब्रिटेन के विधानमंडल का नाम बन गया है। जिन देशों ने ब्रिटेन की शासनपद्धति का अनुसरण किया है, उनके विधानमंडलों को भी सामान्यत: पार्लमेंट या संसद् ही कहा जाता है। इस प्रकार फ्रांस, स्वीडन, नारवे आदि के विधानमंडलों को भी पार्लमेंट कहते हैं। भारतीय गणतंत्र का संविधान भी अधिकांश में ब्रिटिश प्रणाली ही का है, अत: यहाँ के सर्वोच्च संघीय विधानमंडल को भी पार्लमेंट या संसद् की संज्ञा दी गई है। संसदीय शासन का मूलभूत लक्षण है कार्यपालिका का विधानमंडल के प्रति उत्तरदायित्व, तथा कार्यपालिका के प्रमुख अंग, अर्थात् मंत्रिमंडल में संसद् के सदस्यों ही का संमिलित होना। जिन देशों में कार्यपालिका विधानमंडल से स्वतंत्र और अलग होती है, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका में, वहाँ के विधानमंडल को संसद् या पार्लमेंट न कहकर कांग्रेस, असेंबली, सभा या किसी ऐसे ही अन्य नाम से सूचित किया जाता है।

विकास — ब्रिटिश पार्लमेंट या संसद् के विकास का लगभग १००० वर्षों का शृंखलाबद्ध इतिहास है, परंतु भारतीय संसद् अपेक्षाकृत नवीन संस्था है। यों तो वैदिक काल में भी "सभा" और "समिति" नामक राजकीय संस्थाओं का उल्लेख मिलता है जो उस समय के राज्यों में आजकल की संसद् ही से मिलते जुलते कुछ काम करती थीं, और रामायण तथा महाभारतकाल में पौर और जानपद नामक सभाओं की चर्चा मिलती है जो डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल सरीखे विद्वानों के मतानुसार आजकल की संसदों की भाँति ही कार्य करती थीं, परंतु भारतीय इतिहास के प्राचीन युग के उपरांत इस प्रकार की सभाओं के विकास की शृंखला टूट सी जाती है। मध्यकालीन भारत में राज्य के स्तर पर इस प्रकार की सभाओं का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। फिर तो अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद से ही भारत के केंद्रीय और प्रांतीय विधानमंडलों का विकास प्रारंभ होता है जिसकी परिणति स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत वर्तमान भारतीय संसद् की स्थापना में हुई।

इस विकास के मुख्य मुख्य सोपानों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। १७७३ ई० का रेगुलेटिंग ऐक्ट ब्रिटिश सरकार का ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय शासन का नियमन करने का प्रथम प्रयत्न था। इसके द्वारा बंगाल के गवर्नर को कंपनी के अधिकारगत भारतीय भूभागों का गवर्नर जनरल बना दिया गया और उसकी सहायता के लिये चार सदस्यों की एक समिति स्थापित की गई। गवर्नर जनरल और इस समिति को बंगाल प्रेसीडेंसी के लिये कानून बनाने का भी अधिकार दिया गया। पर इन कानूनों को 'रेगुलेशन' या नियम कहा जाता था। बंबई और मद्रास के गवर्नरों के साथ भी इसी प्रकार की समितियाँ जुड़ी थीं, और उन भूभागों के लिये कानून या रेगुलेशन उन्हीं के द्वारा बनाए जाते थे। ब्रिटिश कालीन भारत में इस प्रकार विधानमंडलों और विधेयन का प्रथम सूत्रपात हुआ। वास्तव में गवर्नर जनरल और उसकी काउंसिल अथवा गवर्नरों और उनकी काउंसिलों को विधानमंडल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके मुख्य कार्य कार्यपालिका संबंधी थे, परंतु उन्हें 'रेगुलेशन' अर्थात् कानून की ही भाँति के नियम बनाने का अधिकार था, और बाद के पृथक् विधानमंडल उन्हीं से विकसित हुए। अत: वर्तमान भारतीय विधानमंडलों का बीज उन्हीं में निहित था, ऐसा मानना पड़ता है।

पिट के इंडिया ऐक्ट (१७८४) के द्वारा गवर्नर जनरल की काउंसिल के सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गई। १७९३ और १८१३ ई० के चार्टर ऐक्ट द्वारा इस व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, परंतु १८३३ ई० का चार्टर ऐक्ट भारतीय विधानमंडल के विकास में दो कारणों से महत्वपूर्ण है। प्रथम स्थान में, इस ऐक्ट के अंतर्गत गवर्नर जनरल की समिति में एक चतुर्थ सदस्य विधि सदस्य ('ला मेंबर') जोड़ दिया गया जो इसकी बैठकों में कानून बनाने के समय ही भाग लेता था। इस प्रकार कार्यपालिका से विधानमंडल की पृथक्ता का प्रारंभ हुआ। दूसरे, मद्रास और बंबई प्रांतों से कानून बनाने का अधिकार छीन लिया गया और गवर्नर जनरल तथा उसकी काउंसिल को समस्त ब्रिटिश भारत के लिये कानून बनाने का अधिकार मिला। इस प्रकार एक अखिल भारतीय विधानमंडल की नींव पड़ी। १८५३ के चार्टर ऐक्ट द्वारा कानून के निर्माण के लिये गवर्नर जनरल की काउंसिल में छह और सदस्य जोड़ दिए गए, और इस प्रकार १२ सदस्यों की एक विधानपरिषद् बन गई। इसके सभी सदस्य सरकारी कर्मचारी ही होते थे। गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट १८५८ से भारतीय शासन कंपनी के हाथ से निकलकर ब्रिटिश सम्राज्ञी को सौंप दिया गया, परंतु इससे विधानपरिषद् के आकार प्रकार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इंडियन काउंसिल ऐक्ट १८६१ के द्वारा इस समिति में तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रथम तो १८५३ की १२ सदस्योंवाली विधानपरिषद् सरकारी कर्मचारियों से बनी होने पर भी ब्रिटिश पार्लमेंट की ही भाँति शासन का नियंत्रण करने का दावा करने लगी थी। अत: अब यह नियम बना दिया गया कि यह परिषद् विधिनिर्माण के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य न कर सके। दूसरे, १८५७ के 'सिपाही विद्रोह' से यह स्पष्ट हो गया था कि सरकारी अफसरों से बनी परिषद् से सरकार को जनता के विचारों तथा गतिविधि का पता नहीं चल सकता। अत: अब विधानपरिषद् में ६ से १२ तक और सदस्य जोड़ दिए जाने की व्यवस्था की गई जिनमें से आधे गैर सरकारी भारतीय भी हो सकते थे। इस प्रकार विधानपरिषद् में भारतीयों के प्रवेश का सूत्रपात हुआ। इसी काल में देश में राष्ट्रीय आंदोलन प्रारंभ हुआ और १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। उसने अपने प्रथम अधिवेशन में ही विधानपरिषदों के विस्तार और सुधार की माँग की। फलस्वरूप इंडियन काउंसिल ऐक्ट १८९२ बनाया गया। केंद्रीय विधानपरिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाकर १० से १६ तक कर दी गई जिनमें कम से कम १० का गैर सरकारी होना आवश्यक था। ये सदस्य कलकत्ता चेंबर ऑव कामर्स और प्रांतीय परिषदों के गैर सरकारी सदस्यों

के परामर्श से गवर्नर जनरल द्वारा नामांकित किए जाते थे। यों एक प्रकार के अप्रत्यक्ष चुनाव का प्रारंभ हुआ। विधानपरिषदों की शक्तियों में भी वृद्धि हुई और उन्हें आयव्ययक पर बहस करने और सरकार से प्रश्न पूछने के अधिकार मिले।

विधानपरिषदों के विकास में अगला सोपान तथाकथित मिंटो मार्ले सुधार अथवा इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट १९०९ के रूप में आया। इसकी मुख्य बातें चार थी। प्रथम, केंद्रीय विधानपरिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गई, परंतु बहुमत इसमें सरकारी सदस्यों का ही रखा गया। दूसरे, गैर सरकारी सदस्यों का नामांकन के बदले चुनाव होने लगा। यह चुनाव बहुत ही सीमित मताधिकार के आधार पर जमींदारों, व्यापारमंडलों, भारतीय व्यापारियों तथा नगरपालिकाओं और स्थानीय बोर्डों जैसी स्थानिक संस्थाओं द्वारा होता था। तीसरे, मुसलमानों को पृथक् सांप्रदायिक निर्वाचन का अधिकार दिया गया। चौथे, परिषदों की शक्तियों में वृद्धि की गई। अब उन्हें वार्षिक आयव्ययक पर न केवल बहस करने, किंतु प्रस्ताव पारित करने का भी अधिकार मिला। सार्वजनिक महत्व के अन्य प्रस्ताव भी प्रस्तुत किए जा सकते थे और प्रश्नों के अतिरिक्त पूरक प्रश्न भी पूछे जा सकते थे।

विधानमंडलों में अगला परिवर्तन गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट १९१९ के द्वारा हुआ। इसके द्वारा केंद्रीय विधानमंडल द्विसदनीय बना दिया गया जिनमें निचले सदन का नाम विधान सभा ('लेजिस्लेटिव असेंबली) और ऊपरी सदन का नाम राज्यपरिषद् (काउंसिल ऑव स्टेट) रखा गया। विधानसभा में १४४ और राज्यपरिषद् में ६० सदस्य थे, तथा दोनों सदनों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया। मताधिकार मुख्यतः संपत्ति के आधार पर रखा गया, परतु उसका विस्तार बहुत सीमित था। मुसलमानों का पृथक् सांप्रदायिक निर्वाचन बना रहा। केंद्रीय विधानमंडल की शक्तियों में भी वृद्धि हुई, परंतु फिर भी वे सीमित रहीं, विशेषकर वित्तीय मामलों में। आयव्ययक का लगभग ८० प्रतिशत विधान मंडल के अधिकारक्षेत्र से बाहर था और शेष में भी यदि विधानमंडल कटौती करे तो गवर्नर जनरल उसे पूर्ववत् पारित कर सकता था। विधिनिर्माण में दोनों सदनों के अधिकार बराबर थे, परंतु वित्तीय विधेयक विधानसभा ही में प्रस्तुत किए जा सकते थे। सरकार विधानमंडल के किसी भी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं थी।

गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट १९३५ के अंतर्गत केंद्रीय विधानमंडल को संघीय रूप देने की व्यवस्था की गई। दोनों सदनों के नाम वही रहे अर्थात् राज्यपरिषद् और विधानसभा सदन। राज्य सभा में २६० सदस्य रखे गए जिनमें १५६ ब्रिटिश भारत के और १०४ देशी राज्यों के सदस्य होते थे। विधानसभा में ३७५ सदस्यों की व्यवस्था थी जिनमें से २५० ब्रिटिश भारत और १२५ राज्यों से आने को थे। राज्यों के प्रतिनिधि नरेशों द्वारा नामांकित और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि निर्वाचित होने को थे, परंतु संघयोजना कार्यान्वित न की जा सकी। अतः केंद्रीय विधानमंडल पूर्ववत् ही बना रहा। परंतु उसकी शक्तियों में अब यह अंतर हो गया कि उसका विधि-निर्माण का अधिकार संघीय और समवर्ती सूची में दिए हुए विषयों पर ही रहा और प्रांतीय सूची के विषय पूर्णतया प्रांतीय विधानमंडलों के अधिकार में आ गए।

केंद्रीय विधानमंडल को यही व्यवस्था स्वतंत्रताप्राप्ति तक बनी रही। १९४६ में कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार ३८९ सदस्यों की संविधानपरिषद् बनाई गई जिसमें २९६ प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत के और ९३ देशी राज्यों के थे। भारतीय स्वातंत्र्य अधिनियम १९४७ के बाद, पाकिस्तान की स्थापना के कारण इसमें पाकिस्तानी भागों के सदस्य अलग होकर लगभग ३०० सदस्य रह गए। संविधान परिषद् का मुख्य कार्य तो स्वतंत्र भारत के संविधान का निर्माण था, परंतु नए संविधान के बनकर कार्यान्वित होने तक वही केंद्रीय विधानमंडल का भी कार्य करती थी। नया संविधान २६ जनवरी, १९५० को लागू किया गया और तब से संविधान परिषद् के स्थान पर वर्तमान भारतीय संसद् विधानमंडल का कार्य करने लगी।

भारतीय संसद् की रचना और संगठन — भारतीय संसद् राष्ट्रपति और दो सदनों, राज्यसभा और लोकसभा, से मिलकर बनी है। राष्ट्रपति इनमें से किसी भी सदन का सदस्य नहीं है, तो भी वह संसद् का अविभाज्य अंग है और उसकी कार्यवाही के संबंध में कई महत्वपूर्ण कार्य करता है।

राज्यसभा

रचना — राज्यसभा संसद् का ऊपरी अथवा द्वितीय सदन है। उसमें अधिकतम २५० सदस्य हो सकते हैं जिनमें १२ को राष्ट्रपति नामांकित करता है और शेष का संघगत राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा एकल संक्रमणीय मतपद्धति के अनुसार चुनाव होता है। इस समय (१९६३) राज्यों से आए सदस्यों की संख्या २२३ है और वह विभिन्न राज्यों और केंद्रीय भागों में यों बटी हैं—आंध्रप्रदेश १८, असम ७, बिहार २२, गुजरात ११, केरल ९, मध्यप्रदेश १६, मद्रास १७, महाराष्ट्र १९, मैसूर १२, उड़ीसा १०, पंजाब ११, राजस्थान १०, उत्तर प्रदेश ३४, पश्चिमी बंगाल १६, जम्मू और कश्मीर ४, दिल्ली ३, हिमाचल प्रदेश २, मणिपुर १, त्रिपुरा १। राष्ट्रपति के द्वारा नामांकित १२, सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला, समाजसेवा आदि विषयों के विशेषज्ञ और अनुभवी व्यक्ति होते हैं। राज्यसभा के वर्तमान सदस्यों की कुल संख्या इस प्रकार २३५ है।

अवधि — राज्य सभा स्थायी सदन है। उसका विघटन नहीं होता, परंतु उसके १/३ सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार सदस्यों की पद अवधि साधारणतया ६ वर्षों की होती है।

सदस्यों की योग्यताएँ — सदस्यों की योग्यताएँ या अर्हताएँ हैं भारत का नागरिक होना, कम से कम ३० वर्ष की उम्र और संसद् द्वारा पारित कानून से नियत अन्य योग्यताएँ। जनप्रतिनिधित्व अधिनियम १९५१ के अनुसार राज्यसभा के किसी सदस्य के लिये अपने राज्य के किसी संसदीय निर्वाचनक्षेत्र का

सदस्य होना आवश्यक है। राज्यसभा के सदस्यों के लिये निम्नलिखित अयोग्यताएँ हैं — केंद्रीय अथवा राज्यों की सरकारों के किसी ऐसे लाभदायक पद पर होना, जिसके विषय में संसद् के कानून द्वारा छूट नहीं दी गई है, अथवा विकृत मस्तिष्क का होना, दिवालिया होना, विदेशी होना, या संसद् के किसी कानून के अंतर्गत अयोग्य होना।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष — भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन अध्यक्ष होता है। एक उपाध्यक्ष भी होता है जिसे राज्यसभा अपने सदस्यों में से निर्वाचित करती है। अध्यक्ष 'उपराष्ट्रपति' सदन का पारिभाषिक अर्थ में सदस्य नहीं है। किसी प्रश्न के दोनों पक्षों में समान मत होने पर ही वह ग्रंथिनिवारण के लिये अपना मत दे सकता है, अन्यथा नहीं। सभा की बैठकों में अध्यक्ष के वही अधिकार हैं जो साधारणतया ऐसे अध्यक्षों के होते हैं जैसे सदस्यों को बोलने का अवसर देना, प्रक्रिया संबंधी प्रश्नों का निर्णय आदि।

गणपूर्ति — राज्यसभा की गणपूर्ति संख्या समस्त सदस्यों की संख्या का १।१० है।

विधायिनी शक्तियाँ — राज्य सभा की शक्तियाँ विधायिनी, वित्तीय, संवैधानिक, प्रशासकीय तथा विविध हैं। विधायिनी शक्तियाँ ये हैं कि राज्यसभा में वित्तीय विधेयक के अतिरिक्त कोई भी अन्य विधेयक प्रस्तुत किया जा सकता है, और बिना दोनों सदनों की संमति के कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता। यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक पर मतभेद हो तो राष्ट्रपति उनकी संयुक्त बैठक बुला सकता है, और उसमें जो कुछ बहुमत से निर्णय हो जाय वही दोनों सदनों का निर्णय माना जाता है। परंतु राज्यसभा के सदस्यों की संख्या लोकसभा की आधी है। अत: संयुक्त बैठकों में साधारणतया लोकसभा ही की विजय होती है।

वित्तीय शक्तियाँ — वित्तीय विधेयक केवल लोकसभा में प्रारंभ हो सकते हैं। वहाँ पारित होने पर वे राज्यसभा के पास केवल उसके सुझावों के लिये भेजे जाते हैं और ये सुझाव १४ दिन के अंदर ही देना आवश्यक है। ये सुझाव लोकसभा चाहे माने चाहे न माने। सुझाव न भी आए तो १४ दिन के उपरांत वित्तीय विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये भेज दिया जाता है। इस प्रकार वित्तीय मामलों में राज्यसभा नितांत शक्तिहीन है।

संवैधानिक शक्तियाँ — संविधान के संशोधन में भी राज्यसभा का भाग होता है। संशोधन विधेयक का राज्यसभा के कुल सदस्यों के बहुमत और उपस्थित सदस्यों के २।३ बहुमत से पारित होना आवश्यक है। पर यहाँ भी दोनों सदनों में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक में साधारण विधेयक की भाँति ही निर्णय होता है।

प्रशासकीय शक्तियाँ — प्रशासकीय विषयों में मंत्रिमंडल राज्यसभा के प्रति उत्तरदायी नहीं, परंतु कुछ मंत्री इस सदन में से भी नियुक्त होते हैं। अन्य मंत्री या उनके प्रतिनिधि भी समय समय पर इसके समक्ष उपस्थित होते हैं। राज्यसभा को उनसे प्रश्न पूछने या किसी भी बात का स्पष्टीकरण माँगने का अधिकार है।

विविध शक्तियाँ — इसकी विविध शक्तियों में तीन उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो यह सभा राष्ट्रपति के निर्वाचन तथा उसके विरुद्ध महाभियोग की जाँच तथा निर्णय में लोकसभा के समान ही भाग लेती है। उच्चतम और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की पदच्युति में भी उसका वही भाग है। दूसरे, २।३ बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा वह संसद् को राज्यसूची के किसी विषय पर विधिनिर्माण करने अथवा नई अखिल भारतीय 'सेवाएँ' स्थापित करने का अधिकार दे सकती है। तीसरे, राष्ट्रपति द्वारा की गई संकटकालीन घोषणाओं की स्वीकृति या उनकी अवधि बढ़ाने के लिये लोकसभा की ही भाँति राज्यसभा की भी संमति आवश्यक है। यदि लोकसभा का विघटन हो चुका हो, तो एकमात्र राज्यसभा ही की संमति से काम चल जाता है।

सारांश यह है कि राज्यसभा कोई शक्तिशाली द्वितीय सदन नहीं, परंतु कुछ ऊपर लिखे कार्य उसी के द्वारा संपन्न होते हैं। अत: उसे महत्वहीन नहीं कह सकते।

लोकसभा

रचना — लोकसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या ५२० तक हो सकती है जिनमें अधिक से अधिक ५०० सदस्य राज्यों के निर्वाचित प्रतिनिधि हो सकते हैं और २० केंद्रीय भूभागों के निर्वाचित या नामांकित प्रतिनिधि। लोकसभा के सदस्यों की वर्तमान संख्या (१९६३ में) ५०५ है जिनमें ४८८ राज्यों के प्रतिनिधि हैं, १५ केंद्रीय भूभागों के और दो ऐंग्लो इंडियन लोगों के जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा नामांकित किया गया है। राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या है: आंध्र प्रदेश ४३, असम १३ (जिनमें १ राष्ट्रपति द्वारा अनुसूचित क्षेत्रों और जनजतियों के प्रतिनिधि के रूप में नामांकित है), बिहार ५३, गुजरात २२, जम्मू और कश्मीर ६, उड़ीसा २०, पंजाब २२, राजस्थान २२, उत्तरप्रदेश ८६ और पश्चिमी बंगाल ३६। केंद्रीय भूभागों के प्रतिनिधियों की संख्या इस प्रकार है: दिल्ली ५, हिमाचल प्रदेश ४, मणिपुर २, त्रिपुरा २, अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह १, लका द्वीप, मिनीकाय और अमीनदिवी १।

निर्वाचनक्षेत्रों का परिसीमन — निर्वाचनक्षेत्रों का परिसीमन एक परिसीमन आयोग की सिफारिशों के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा होता है। प्रत्येक जनगणना के उपरांत निर्वाचनक्षेत्रों में आवश्यक परिवर्तन संशोधन किए जाते हैं। अधिकांश संसदीय निर्वाचनक्षेत्र एक सदस्यीय हैं, परंतु अनुसूचित जातियों आदि के लिये स्थान सुरक्षित करने के अभिप्राय से कुछ निर्वाचनक्षेत्र द्विसदस्यीय या बहुसदस्यीय भी रखे जाते हैं।

मताधिकार तथा सदस्यों की योग्यताएँ — लोकसभा के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। प्रत्येक नागरिक, जिसकी उम्र २१ वर्ष से कम न हो और किसी निर्वाचनक्षेत्र में कम से कम १८० दिन रह चुका हो, उस क्षेत्र के मतदाताओं की सूची में अपना पंजीयन करा सकता है परंतु उसका अयोग्यताओं से मुक्त होना आवश्यक है। विदेशी, पागल या अपराधी होना, या चुनाव में भ्रष्टाचार के लिये दंडित होना, अथवा निर्वाचनक्षेत्र में १८० दिन से कम का निवासी होना आदि मतदाताओं के लिये अयोग्यताएँ हैं। धर्म,

जाति, या लिंग के आधार पर कोई मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

लोकसभा की सदस्यता के लिये भारत का नागरिक होना और कम से कम २५ वर्ष की उम्र का होना आवश्यक है; साथ ही उसे अयोग्यताओं से मुक्त होना चाहिए। अयोग्यताएँ ये हैं: (क) भारत या किसी राज्य सरकार के किसी लाभ के पद पर होना, यदि संसद् ने कानून द्वारा उस पद को अयोग्यता से मुक्त न कर दिया हो। मंत्री, उपमंत्री, संसदीय सचिव, राजकीय मंत्री आदि के पद इस प्रकार मुक्त हैं; (ख) पागल या दिवालिया होना; (ग) जनप्रतिनिधित्व नियम १९५० के अंतर्गत संसद् ने कुछ और भी अयोग्यताएँ निश्चित कर दी हैं। वे हैं—किसी न्यायालय द्वारा निर्वाचन संबंधी अपराध या भ्रष्टाचार के लिये दंडित होना, किसी अन्य अपराध के लिये दो वर्ष या अधिक समय के लिये कारावास का दंड पाना, सरकारी नौकरी से भ्रष्टाचार या देशद्रोह के लिये पदच्युत किया जाना, किसी सरकारी या अर्धसरकारी निगम का निदेशक या प्रबंधक होना, किसी सरकारी ठेके, लोककर्म या नौकरी में कोई स्वार्थ होना आदि। इन सब बातों के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति लोकसभा और राज्यसभा, अथवा लोकसभा और किसी राज्य के विधानमंडल का एक ही साथ सदस्य नहीं हो सकता।

निर्वाचन आयोग—संसद् और राज्यों के विधानमंडलों के निर्वाचन के संचालन के लिये एक निर्वाचन आयोग है जिसमें राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक मुख्य आयुक्त होता है और आवश्यक संख्या में अन्य आयुक्त। आयुक्तों की स्थिति सर्वथा स्वतंत्र बना दी गई है जिससे वे निष्पक्षता के साथ काम कर सकें। निर्वाचन आयोग के चार प्रकार के कार्य हैं अर्थात् १. संसद् और राज्यों के विधानमंडलों के चुनाव के लिये मतदाताओं की सूची तैयार करना, २. निर्वाचनों का संचालन और अधीक्षण, ३. निर्वाचन विवादों के निर्णय के लिये निर्वाचन अधिकरणों को नियुक्त करना, और ४. निर्वाचन के उपरांत किसी सदस्य की अयोग्यता का प्रश्न उठे तो उसका निर्णय करना।

निर्वाचन विवाद—जैसा ऊपर कहा गया है, लोकसभा की सदस्यता के निर्वाचन विवादों का निर्णय निर्वाचन आयोग द्वारा होता है। प्रत्येक विवाद के निर्णय के लिये एक पृथक् अधिकरण बनाया जाता है।

लोकसभा की अवधि—लोकसभा की अवधि साधारणतया ५ वर्षों की होती है, परंतु राष्ट्रपति उससे पहले भी किसी समय उसका विघटन कर सकता है। संकटकालीन घोषणाकाल में लोकसभा की अवधि एक एक वर्ष करके कितनी ही बार बढ़ाई जा सकती है, परंतु यह कार्य संसद् की विधि ही के द्वारा हो सकता है, और घोषणाकाल की समाप्ति के छह महीनों के अंदर ही विघटन होना आवश्यक है।

लोकसभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष आदि—लोकसभा के अध्यक्ष का चुनाव सदस्यों द्वारा होता है। प्रत्येक नई लोकसभा नए सिरे से अपना अध्यक्ष चुनती है। वह समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित अविश्वास प्रस्ताव द्वारा अध्यक्ष को हटा भी सकती है। उसे संसद् द्वारा नियत वेतन तथा भत्ता मिलता है। उपाध्यक्ष भी अध्यक्ष ही की भाँति चुना या हटाया जा सकता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसका आसन ग्रहण करता है। इनके अतिरिक्त, संसद् के प्रारंभ ही में अध्यक्ष, लोकसभा के सदस्यों में से छह सभापतियों को नामांकित कर देता है और यदि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों अनुपस्थित हों तो इनमें से कोई अध्यक्षता करता है।

भारत में ब्रिटेन की भाँति के निर्दलीय अध्यक्ष की परंपरा नहीं स्थापित हो सकी है। यहाँ का लोकसभा का अध्यक्ष अभी तक बहुमत दल का ही सदस्य रहा है। अध्यक्ष निर्वाचित होने पर भी वह अपने दल की सदस्यता नहीं छोड़ता। निर्वाचन के अवसर पर उसका चुनाव भी निर्विरोध नहीं होता, जैसा कि ब्रिटेन में कामंस सभा के स्पीकर का होता है। तो भी, व्यवहार में, लोकसभा के अध्यक्ष साधारणतया निष्पक्ष रूप से ही काम करते रहे हैं। संविधान का झुकाव भी उसकी निष्पक्षता की ही ओर है, क्योंकि उसे अधिनिवारण के लिये ही मतदान का अधिकार है, साधारण मत देने का नहीं। इसके अतिरिक्त उसका वेतन संचितनिधि पर आरोपित व्ययों से है जिसपर संसद् का मतदान द्वारा निर्णय नहीं लिया जाता है। इस सब का अभिप्राय यही है कि अध्यक्ष किसी प्रकार के विवाद में न पड़े।

अध्यक्ष की मुख्य शक्तियाँ हैं—सभा की बैठकों की अध्यक्षता करना, सदस्यों को बोलने का अवसर देना, प्रक्रिया संबंधी प्रश्नों का निर्णय करना, सदन में व्यवस्था तथा वादविवाद में प्रासंगिकता बनाए रखना, गड़बड़ी करनेवाले सदस्यों को दंड देना, प्रस्तुत प्रश्नों पर सदस्यों का मत लेना तथा परिणाम घोषित करना आदि। वह यह भी निर्णय करता है कि कोई विधेयक वित्तीय है या नहीं। संसद् की प्रक्रिया के नियम (१९५०) उसे अनेक प्रकार की अन्य शक्तियाँ भी देते हैं। सदन के कार्य का क्रम उसके परामर्श से निश्चित होता है। प्रश्नों और स्थगन प्रस्तावों को वह पूछे या प्रस्तुत किए जाने से रोक सकता है। राष्ट्रपति और लोकसभा के बीच पत्रव्यवहार आदि उसी के माध्यम से होता है।

गणपूर्ति—लोकसभा की बैठकों के लिये गणपूर्ति कुल सदस्यों की संख्या के दशमांश से होती है।

लोकसभा के कार्य—विधिनिर्माण के विषय में लोकसभा प्रबल सदन है और वित्तीय मामलों में तो एकमात्र उसी का अधिकार है। मंत्रिमंडल लोकसभा ही के प्रति उत्तरदायी है और औपचारिक दृष्टि से लोकसभा जब चाहे तभी अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उसे अपदस्थ कर सकती है। अपनी इस तथा वित्तीय शक्ति द्वारा लोकसभा समस्त संघीय शासन का नियंत्रण कर सकती है। जनता के प्रत्यक्ष रीति से चुने प्रतिनिधियों से बनी होने के कारण वह राज्य तथा संसद् का सबसे शक्तिशाली अंग है। वास्तव में व्यावहारिक अर्थ में वही संसद् है।

संसद् की कार्यवाही

संसद् के सत्र—संसद के सत्र राष्ट्रपति द्वारा बुलाए जाते हैं, परंतु किन्हीं दो सत्रों के बीच में छह महीने से कम का ही अंतर होना चाहिए। साधारणतया वर्ष में संसद् के दो सत्र होते हैं, एक जनवरी से मार्च या अप्रैल तक और दूसरा सितंबर से नवंबर या दिसंबर

तक। आवश्यक हो तो जुलाई से अगस्त या सितंबर तक ग्रीष्म सत्र भी बुलाया जा सकता है।

स्थगन, विसर्जन और विघटन — प्रत्येक दिन की बैठक से दूसरे दिन की बैठक तक काम बंद करने को स्थगन कहते हैं और यह स्थगन अध्यक्ष करता है। सत्र के अंत के विराम को विसर्जन तथा पाँच वर्षों की अवधि पूरी होने या दूसरे कारण से लोकसभा को भंग कर देने को विघटन कहते हैं विघटन के उपरांत पुनः निर्वाचन होता है। विसर्जन और विघटन राष्ट्रपति के आदेश द्वारा होता है।

दैनिक कार्यक्रम — निर्वाचन के उपरांत नई संसद् के सदस्य सदस्यता की शपथ लेते और सदस्यसूची में अपने हस्ताक्षर करते हैं। तत्पश्चात् लोकसभा के अध्यक्ष का चुनाव होता है। फिर नियत तिथि तथा समय पर दोनों सदनों के सदस्य राष्ट्रपति के भाषण के लिये एकत्र होते हैं। इस भाषण में देश की स्थिति, विदेशी संबंध, शासन की नीति तथा वर्तमान सत्र में होनेवाले कार्यों का संक्षिप्त विवरण रहता है। इसके उपरांत दूसरे दिन राष्ट्रपति को धन्यवाद का प्रस्ताव प्रस्तुत होता है और पर्याप्त वादविवाद के उपरांत वह पारित होता है। यदि वह प्रस्ताव पारित न हो सके तो यह मंत्रिमंडल में अविश्वास का सूचक है।

प्रत्येक दिन की बैठक का पहला घंटा प्रश्न पूछने का है। शासन के प्रत्येक मंत्री या उपमंत्री से उसके विभाग के संबंध का कोई भी प्रश्न पूछा जा सकता है। उत्तर पर्याप्त न हो तो पूरक प्रश्न भी पूछे जाते हैं। प्रश्न के घंटे के बाद कोई भी सदस्य किसी आवश्यक सार्वजनिक महत्व के विषय पर वादविवाद के लिये कार्यस्थगन का प्रस्ताव उपस्थित कर सकता है। उसके उपरांत कार्यक्रम के अनुसार अन्य प्रस्ताव, विधेयक, वक्तव्य या अन्य कार्य प्रारंभ किए जाते है। सदनों का अधिकांश समय विधेयकों के पारित करने में ही लगता है, परंतु यदा कदा शासन के नीति संबंधी वक्तव्य या किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर वादविवाद भी होते हैं।

अधिकांश कार्य सरकारी ही होता है जैसे मंत्रियों द्वारा प्रस्तुत विधेयक, प्रस्ताव, या अन्य कार्य, परंतु प्रति सत्र में कुछ दिन गैर सरकारी कार्य के लिये भी नियत कर दिए जाते हैं जिनमें साधारण सदस्यों द्वारा प्रस्तुत विधेयकों या प्रस्तावों पर विचार होता है।

संसद् के विशेषाधिकार तथा विमुक्तियाँ — संसद् में कही गई किसी बात के लिये किसी सदस्य पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता। सत्रावधि में और उसके ४० दिन पूर्व और ४० दिन उपरांत तक किसी दीवानी मामले में सदस्य को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। सदस्यों को जूरी बनने या गवाही देने को बाध्य नहीं किया जा सकता।

सदस्यों के विशेषाधिकार के अतिरिक्त संसद् के भी विशेषाधिकार तथा विमुक्तियाँ हैं। जब तक संसद् अन्यथा निर्णय न करे, ये अधिकार वही हैं जो ब्रिटिश कामंस सभा के हैं। इनमें के मुख्य मुख्य अधिकार हैं प्रकाशन की स्वतंत्रता, अपनी बैठकों से बाहरी लोगों को निकाल बाहर करने का अधिकार, अपने आंतरिक मामलों एवं कार्यवाही के निर्णय करने का अधिकार और इन बातों से न्यायालयों के हस्तक्षेप से विमुक्ति (सिवाय अपराध के मामलों में), संसद् में दुर्व्यवहार करनेवालों को दंड देने का अधिकार और अपने विशेषाधिकारों या विमुक्तियों को भंग करनेवालों को उसी प्रकार दंड देने का अधिकार जैसे न्यायालय अपने अपमान के लिये दंड देते हैं। ये दंड सदस्यों को भी दिए जाते हैं और बाहरी लोगों को भी, और तीन प्रकार के हैं अर्थात् अध्यक्ष द्वारा डाँट फटकार अथवा बलपूर्वक सदन के समक्ष लाकर फिर डाँट फटकार, अथवा कैद। कैद के दंड की यदि पहले ही समाप्ति न हो चुकी हो, तो सत्रावसान पर समाप्ति हो जाती है।

संसदीय विशेषाधिकारों का अतिक्रमण हुआ है या नहीं, इसके निर्णय के लिये संसद् के १५ सदस्यों की एक विशेषाधिकार समिति है।

सदस्यों के वेतन और भत्ते — १९५४ के एक कानून द्वारा संसद् सदस्यों को ४०० रुपया मासिक वेतन, और २१ रुपया प्रतिदिन भत्ता मिलता है। भत्ता उन्हीं दिनों का मिलता है जब वे सरकारी कार्य के लिये दिल्ली में रहें। इसके अतिरिक्त उन्हें रेलयात्रा का प्रथम श्रेणी का पास भी मिलता है जिससे वे देश में कहीं भी यात्रा कर सकें।

संसद् और न्यायालय — न्यायालयों के विचाराधीन किसी विषय पर संसद् में वादविवाद नहीं किया जा सकता और न संसद् किसी न्यायाधीश के कार्य की आलोचना कर सकती है, सिवाय उस दशा के जब किसी न्यायाधीश को पदच्युत करने का प्रश्न उसके सामने हो। न्यायालय भी संसद् की किसी कार्यवाही को नियम-विरुद्धता के आधार पर दोषयुक्त नहीं ठहरा सकते, और न अध्यक्ष आदि के किसी निर्णय पर आपत्ति कर सकते है।

संसद् की भाषा — पार्लमेंट की कार्यवाही की दो भाषाएँ हैं, हिंदी और अंग्रेजी। अंग्रेजी का प्रयोग प्रथम १५ वर्षों के लिये ही रखा गया था, परंतु संविधान के १९६३ के एक संशोधन द्वारा उसकी अवधि अनिश्चित काल के लिये बढ़ा दी गई है। यदि कोई इन दोनों भाषाओं से अनभिज्ञ हो तो सदन के अध्यक्ष उसे अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकते है। विधेयकों, कानूनों, नियमों आदि की भाषा भी हिंदी और अंग्रेजी ही है।

संसद् की समितियाँ — संसद् के सदन आकार में बड़े होने के कारण उनमें किसी विषय की विस्तृत छानबीन नहीं हो सकती। सभी सदस्य सभी विषयों का ज्ञान अथवा उनमें रुचि भी नहीं रखते। अतः कार्यसंचालन की सुविधा के लिये प्रत्येक संसद् में बहुत सी अपेक्षाकृत छोटी छोटी समितियाँ होती हैं। भारतीय संसद् की निम्नलिखित ११ समितियाँ हैं—

१. कार्यवाही परामर्श समिति — लोकसभा का अध्यक्ष इसका अध्यक्ष होता है। यह सदन के कार्यक्रम को निश्चित करने में परामर्श देती है। **२. गैर सरकारी सदस्यों के विधेयकों और प्रस्ताव-वाली समिति** — इसका कार्य गैर सरकारी विधेयकों और प्रस्तावों की

विभिन्न दृष्टिकोणों से जाँच करके यह परामर्श देना है कि उनमें से कौन कौन सदन के सामने प्रस्तुत किए जायँ। ३. विधेयकों पर प्रवर समितियाँ — विधेयक के प्रस्तुत होने के उपरांत विस्तृत जाँच के लिये वे बहुधा किसी प्रवर समिति के पास भेज दिए जाते हैं। प्रवर समिति का कार्य विधेयक की जाँच करके उचित संशोधनों के सुझावों के साथ प्रतिवेदन या रिपोर्ट देना है। ४. आवेदनपत्र समिति — इसका कार्य संसद् के पास आए आवेदनपत्रों पर विचार करके संसद् को परामर्श देना है। ५. अनुमान समिति — यह केवल लोकसभा की समिति है। इसका अध्यक्ष कोई गैर सरकारी सदस्य होता है। इसके कार्य चार प्रकार के हैं अर्थात् (क) मितव्ययिता, संगठन और शासनदक्षता के विषय में सुझाव देना, (ख) दक्षता और मितव्ययिता के लिये वर्तमान शासननीति का विकल्प अर्थात् उसी उद्देश्य की साधिका किसी अन्य नीति को बतलाना, (ग) धन का वितरण नीति के अनुसार उचित रीति से हुआ है या नहीं, इसकी जाँच करना, और (घ) यह सुझाव देना कि आय व्यय के अनुमान किस रूप में संसद् के समक्ष प्रस्तुत किए जायँ। इन उद्देश्यों से यह समिति प्रतिवर्ष तीन या चार विभागों के आयव्ययक में दिए अनुमानों की जाँच करके रिपोर्ट देती है। इसका कार्य आयव्ययक पारित होने के बाद भी चलता रहता है। ६. सार्वजनिक लेखा समिति — इसका कार्य सरकारी व्यय की जाँच कर यह बतलाना है कि प्रत्येक व्यय संसद् द्वारा पारित आयव्ययक के अनुसार उचित रूप से हुआ है या नहीं। यह समिति अपना कार्य नियंत्रक और मुख्य लेखापरीक्षक की सहायता से करती है और विभागीय कर्मचारियों को भी बुलाकर व्यय के औचित्य के विषय में पूछताछ करती है। इसकी रिपोर्ट लोकसभा के समक्ष जाती है और वहाँ उसपर वादविवाद होता है। ७. विशेषाधिकार समिति — यदि कभी संसद् के विशेषाधिकार के भंग होने का कोई प्रश्न उठे, तो उसकी जाँच करना इस समिति का काम है। ८. प्रदत्त विधेयन समिति — इस समिति का कार्य यह जाँच करना है कि संसद् के कानूनों द्वारा मंत्रियों या विभागीय कर्मचारियों को दिए हुए नियम, उपनियम आदि बनाने के अधिकार का उचित ढंग और उचित सीमा के भीतर प्रयोग हो रहा है या नहीं। कोई मंत्री इस समिति का सदस्य नहीं हो सकता। ९. शासकीय आश्वासन समिति — इस समिति का काम यह जाँच करते रहना है कि मंत्रियों द्वारा दिए हुए आश्वासन किस मात्रा में पूरे किए गए हैं। १०. सदस्यों की अनुपस्थिति विषयक समिति — यह संसद् सदस्यों के छुट्टी के लिये दिए हुए आवेदनपत्रों पर विचार करती है और यह भी निर्णय करती है कि यदि कोई सदस्य बिना छुट्टी लिए ६० या अधिक दिन अनुपस्थित रहे, तो उसे क्षमा कर दिया जाय या उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जाय। ११. नियम समिति — इसका काम यह है कि कार्यवाही के नियमों में समय समय पर परिवर्तन या संशोधन की आवश्यकता हो तो उसका सुझाव देती रहे।

संसद् के कार्य

संसद् के कार्य मुख्यतः तीन प्रकार के हैं अर्थात् १. विधिनिर्माण, २. वित्तीय कार्य अर्थात् सरकारी व्यय राशियों की स्वीकृति तथा कर लगाना आदि, और ३. प्रश्नों, प्रस्तावों, वादविवाद, तथा अविश्वास प्रस्ताव आदि के द्वारा शासन का नियंत्रण।

विधिनिर्माण की प्रक्रिया तथा संसद् की विधिनिर्माण की शक्तियाँ — संसद् संघ और समवर्ती सूची के सभी विषयों पर विधिनिर्माण कर सकती है और कुछ परिस्थितियों में राज्यसूची के विषयों पर भी। संकटकालीन घोषणा के समय के अतिरिक्त संसद् का कोई भी विधान मूल अधिकारों के विरुद्ध न होना चाहिए और न संविधान की अन्य किसी धारा के विरुद्ध। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय संसद् ब्रिटिश पार्लमेंट की भाँति संप्रभुत्व संपन्न नहीं है। उसकी शक्तियाँ बृहत् होते हुए भी असीम नहीं हैं।

विधिनिर्माण प्रक्रिया के सात सोपान — विधिनिर्माण के लिये पहले उसका प्रारूप तैयार किया जाता है जिसे विधेयक कहते हैं। विधेयक की संसद् में प्रगति के सात सोपान हैं

प्रथम सोपान है विधेयक का संसद् के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जाना और उसका प्रथम वाचन। वित्तीय और कुछ अन्य प्रकार के विधेयक बिना राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के प्रस्तुत नहीं किए जा सकते और वित्तीय विधेयक केवल लोकसभा में प्रस्तुत होते हैं। विधेयक को प्रस्तुत करते समय सर्वप्रथम सदन की अनुमति माँगी जाती है, जो साधारणतया मिल जाती है। इसके उपरांत प्रस्तुतकर्ता विधेयक का शीर्षक पढ़ देता है और आवश्यक हो तो उसकी मुख्य बातों पर एक छोटा भाषण भी करता है। यही प्रथम वाचन कहलाता है और इसके बाद विधेयक भारत के गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

दूसरा सोपान है द्वितीय वाचन। नियत तिथि को प्रस्तुतकर्ता प्रस्ताव करता है कि विधेयक को एक प्रवर समिति के पास भेज दिया जाय। इसके अतिरिक्त वह यह भी प्रस्ताव कर सकता है कि विधेयक पर तुरंत विचार किया जाय, अथवा वह दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति के पास भेजा जाय, अथवा उसे जनमत जानने के लिये प्रसारित किया जाय। परंतु अधिकांश विधेयक प्रवर समिति ही के पास भेजे जाते हैं। इस प्रस्ताव के उपरांत विधेयक के सिद्धांतों पर वादविवाद होता है और निर्णय किया जाता है कि विधेयक कहाँ भेजा जाय। यह द्वितीय वाचन है।

तीसरा है समिति सोपान। प्रवर समिति विधेयक पर विस्तृत विचार करके आवश्यक संशोधनों का सुझाव देते हुए एक प्रतिवेदन तैयार करके सदन के पास भेज देती है।

अगला और चौथा प्रतिवेदन सोपान है। अब सदन विधेयक पर प्रवर समिति के दिए हुए संशोधनों का ध्यान में रखते हुए प्रत्येक अनुच्छेद पर विचार करता है। कोई भी सदस्य किसी अनुच्छेद या खंड पर स्वयं अपने भी संशोधन प्रस्तुत कर सकता है। प्रत्येक अनुच्छेद और उसके संशोधनों पर वादविवाद के बाद उसपर मत लिए जाते हैं और बहुमत अनुकूल होने पर वह अनुच्छेद पारित हो जाता है। इसी प्रकार सभी अनुच्छेदों के पारित हो जाने पर प्रतिवेदन सोपान समाप्त हो जाता है।

पाँचवाँ सोपान है तृतीय वाचन। इसमें विधेयक पर, जैसा वह

प्रतिवेदन सोपान से पारित होकर आया है, पुनः सदन का मत लिया जाता है। इस समय आवश्यक शाब्दिक संशोधन ही किए जा सकते हैं, कोई विषय संबंधी महत्वपूर्ण संशोधन नहीं। तृतीय वाचन में पारित हो जाने के उपरांत विधेयक उस सदन द्वारा पारित समझा जाता है और अध्यक्ष के इस आशय के प्रमाणपत्र के साथ दूसरे सदन में भेज दिया जाता है।

छठा सोपान है उसका द्वितीय सदन में पारित होना। वहाँ भी ऊपर लिखी प्रक्रिया दुहराई जाती है अर्थात् प्रथम, द्वितीय वाचन, समिति और प्रतिवेदन सोपान, एवं तृतीय वाचन आदि होते हैं। यदि वह उसी रूप में पारित हो गया तो ठीक है, अन्यथा जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दोनों सदनों की संयुक्त बैठक कराके मतभेद को दूर किया जा सकता है और संयुक्त बैठक में पारित विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाता है।

सातवें और अंतिम सोपान में विधेयक राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिये भेजा जाता है और स्वीकृति मिल जाने पर विधि या कानून बन जाता है। यदि राष्ट्रपति चाहे तो स्वीकृति न देकर विधेयक को पुनर्विचार के लिये भेज दे। उस दशा में यदि पुनर्विचार करके दोनों सदन विधेयक को पुनः पारित कर दें तो राष्ट्रपति को अपनी स्वीकृति देनी पड़ती है।

वित्तीय प्रक्रिया

वित्तीय विधेयक — ऊपर साधारण विधेयकों के पारित होने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। वित्तीय विधेयकों की प्रक्रिया इससे भिन्न होती है। वित्तीय विधेयक वे विधेयक हैं जिनमें कर लगाने, ऋण लेने, व्यय के लिये धन की स्वीकृत लेने, लेखापरीक्षण आदि की व्यवस्था हो। किसी विधेयक के वित्तीय होने या न होने के विषय में लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय ही अंतिम माना जाता है।

संसदीय वित्त व्यवस्था का मूल सिद्धांत यह है कि संसद (मुख्यतः लोकसभा) की विधि द्वारा दी हुई संमति के बिना न तो एक पाई व्यय ही की जा सकती है और न एक पाई का भी कर लगाया या ऋण लिया जा सकता है। दूसरा सिद्धांत यह है कि राष्ट्रपति अर्थात् शासन ही की माँग पर संसद् व्यय स्वीकृत करती या कर लगा सकती है। गैर सरकारी सदस्य व्यय या करों में कमी का प्रस्ताव कर सकते हैं, परंतु नया या अधिक व्यय करने, अथवा नया या अधिक कर लगाने का प्रस्ताव नहीं कर सकते। तीसरा सिद्धांत यह है कि समस्त सरकारी धनराशि, चाहे वह करों से हो या ऋण या किसी अन्य सूत्रों से, भारत की संचितनिधि नामक कोष ही में जमा हो, और समस्त व्यय भी उसी से किए जायँ। आकस्मिक व्ययों के लिये १५ करोड़ रुपयों की एक आकस्मिक निधि या फंड की भी व्यवस्था है। चौथा सिद्धांत यह है कि जनता की प्रतिनिधि लोकसभा का ही वित्तीय मामलों में स्वामित्व है और इस कारण राज्यसभा के वित्तीय अधिकार नाममात्र के हैं और राष्ट्रपति भी वित्तीय विधेयकों पर स्वीकृति देने से इनकार नहीं कर सकता।

यों तो छोटे मोटे अनेक वित्तीय विधेयक लोकसभा के सामने आते रहते हैं, पर प्रति वर्ष का प्रधान वित्तीय विधेयक आयव्ययक या बजट होता है। आयव्ययक के दो भाग होते हैं जिसमें प्रथम भाग में वर्ष में होनेवाले सभी विभागों के व्ययों का अनुमान रहता है और दूसरे में आय का अनुमान। भारत में दो बजट प्रस्तुत किए जाते हैं एक रेलों का बजट और दूसरा सामान्य बजट। संविधान में 'बजट' शब्द के बदले 'वार्षिक वित्तीय विवरण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

बजट को वित्तमंत्री लोकसभा में एक भाषण के साथ प्रस्तुत करता है। इस भाषण को बजट भाषण कहा जाता है। बजट संबंधी प्रक्रिया के पाँच सोपान हैं, अर्थात् १. लोकसभा में प्रस्तुत किया जाना, २. उसपर सामान्य वादविवाद, ३. विभिन्न माँगों पर मतदान, ४. माँगों को व्यय विधेयक में एकत्र करके उसे पारित करना, और ५. राजस्व विधेयक का पारित होना।

सामान्य वादविवाद के लिये लगभग तीन दिन का समय दिया जाता है और इसमें बजट की मूल नीति पर बहस होती है। इसके उपरांत लोकसभा विभिन्न माँगों की पूर्ति के लिये धनराशियों का मतदान द्वारा निर्णय करती है। साधारणतया प्रत्येक मंत्रालय के व्यय का अनुमान एक अथवा कई माँगों के रूप में प्रस्तुत होता है। प्रतिरक्षा मंत्रालय का व्यय छह माँगों के रूप में रखा जाता है। सामान्य बजट में कुल १०९ माँगें और रेलवे बजट में २३ माँगें होती हैं। लोकसभा को सामान्य बजट की कुल माँगों का निपटारा २६ दिन में करना पड़ता है। अरबों की धनराशि का व्यय इन्हीं २६ दिनों में स्वीकृत हो जाता है। यह स्पष्ट ही है कि इन परिस्थितियों में कोई विस्तृत या गहरा विचार नहीं हो सकता। जब कोई मंत्री अपने विभाग की किसी माँग को प्रस्तुत करता है तो साधारणतया कोई सदस्य एक रुपया या सौ रुपये की कटौती का प्रस्ताव करता है। इस प्रस्ताव पर जो वादविवाद होता है उसमें वह सदस्य और उसके समर्थक संबंधित विभाग या उपविभाग के शासन की आलोचना करते हैं। मंत्री के स्पष्टीकरण या सुधार के आश्वासन के बाद साधारणतया कटौती प्रस्ताव हटा दिया जाता है, या न भी हटाया जाय तो मंत्रिमंडल का सदन में बहुमत होने के कारण वह गिर जाता है। वास्तव में कटौती प्रस्तावों का उद्देश्य मितव्ययिता न होकर शासन की त्रुटियों की आलोचना करना होता है। मितव्ययिता की दृष्टि से बजट पर पूरा और विस्तृत विचार उसके प्रस्तुत होने के पूर्व ही वित्त मंत्रालय कर लेता है।

व्यय के अनुमान का एक बड़ा भाग संचित निधि पर भारोपित व्ययों का है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति, लोकसभा के अध्यक्ष और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और नियंत्रक और महालेखा परीक्षक आदि के वेतन, राष्ट्रीय ऋण के ब्याज और चुकता करने के व्यय, कुछ प्रकार की अवकाशवृत्तियाँ और कुछ अन्य व्यय, संचित निधि पर भारोपित व्यय हैं। इनपर वादविवाद हो सकता है, पर इनको मतदान द्वारा पारित नहीं किया जाता।

जब सब माँगों का निपटारा हो चुकता है तो उन्हें एक व्यय विधेयक में एकत्र किया जाता है। और यह अन्य विधेयकों की भाँति ही लोकसभा में पारित किया जाता है। यह पारित होना

अधिकतर औपचारिक मात्र है। इसमें संशोधन आदि नहीं किए जाते। पारित हो जाने के उपरांत लोकसभा का अध्यक्ष प्रमाणित करता है कि यह विधेयक वित्तीय विधेयक है और फिर वह राज्यसभा के पास भेज दिया जाता है।

राज्यसभा बजट या किसी भी वित्तीय विधेयक पर वादविवाद कर सकती और अपने सुझाव मात्र दे सकती है। लोकसभा उन्हें मानने को बाध्य नहीं है। सुझाव यदि १४ दिन में न आएँ, या आएँ तो उनपर लोकसभा के निर्णयों के साथ विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये भेज दिया जाता है। वित्तीय विधेयक पर राष्ट्रपति को स्वीकृति देनी ही पड़ती है।

व्यय विधेयक के पारित हो जाने के बाद लोकसभा एक राजस्व विधेयक पारित करती है। यह बजट का आय संबंधी भाग है और इसमें अगले वर्ष लगाए जानेवाले करों का विवरण रहता है। प्रत्येक कर प्रति वर्ष नहीं लगाना पड़ता परंतु आय कर की भाँति के कई कर प्रतिवर्ष नए सिरे से लगाने पड़ते हैं। राजस्व विधेयक के पारित होने की भी वही प्रक्रिया है जो ऊपर व्यय विधेयक के विषय में बतला आए हैं।

अग्रिम अनुदान — नया वित्तीय वर्ष भारत में पहली अप्रैल को आरंभ हो जाता है। यह आवश्यक नहीं कि बजट उस समय तक पारित हो जाय, परंतु व्यय तो तुरंत ही प्रारंभ हो जाता है। पहली अप्रैल और बजट पारित होने की तिथि की बीच की अवधि में व्यय चलाने के लिये लोकसभा शासन को पर्याप्त धन अग्रिम अनुदान के रूप में दे देती है। बजट पारित हो जाने पर यह अग्रिम अनुदान स्वीकृत व्ययराशियों में से काट लिया जाता है। कभी कभी ऐसे व्यय भी आ पड़ते हैं जिनका ठीक अनुमान पहले से नहीं लगाया जा सकता, जैसे किसी आसन्न युद्ध का व्यय। इसके लिये लोकसभा एक धनराशि स्वीकृत कर देती है कि उसमें से आवश्यक व्यय होता रहे। इसे प्रत्ययानुदान कहते हैं। लोकसभा विशेष अनुदान भी किसी ऐसे कार्य के लिये दे सकती है जो सामान्य बजट के साधारणतया चालू व्ययों में नहीं आता। किसी भी सेवा या कार्य के लिये बजट में किया हुआ व्यय यदि अपर्याप्त सिद्ध हो तो उसके लिये लोकसभा से पूरक अनुदान माँगना पड़ता है।

भारत की आकस्मिक निधि — यदि ऊपर लिखी रीतियों से काम न चलकर कोई आकस्मिक व्यय की आवश्यकता आ पड़े तो उसे पूरा करने के लिये १५ करोड़ रुपयों की आकस्मिक निधि नाम का अलग कोष है जो राष्ट्रपति के हाथों में रखा गया है। इसमें से राष्ट्रपति आवश्यकता होने पर शासन को धन दे सकता है।

नियंत्रक और महालेखापरीक्षक — संचित निधि में से कोई व्यय संसद् के कानून के विरुद्ध न हो सके, इसपर दृष्टि रखने के लिये नियंत्रक और महालेखापरीक्षक नामक एक उच्च कर्मचारी होता है। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, परंतु संसद् के दोनों सदनों में पारित प्रस्ताव के बिना वह हटाया नहीं जा सकता। उसका वेतन संचित निधि पर आरोपित व्यय है और उसके कार्यकाल में घटाया नहीं जा सकता। ये व्यवस्थाएँ उसे शासन के दबाव से मुक्त रखने के लिये की गई है जिससे वह सर्वथा स्वतंत्र और निष्पक्ष रीति से काम कर सके। वास्तव में नियंत्रक या महालेखापरीक्षक वित्तीय मामलों में संसद् का जागरूक प्रहरी है। वह सरकारी हिसाब किताब की जाँच करके यह देखता रहता है कि बजट के प्रतिकूल अथवा अनुचित रूप से कोई व्यय न हो। यदि हो तो वह अपने वार्षिक लेखापरीक्षण के प्रतिवेदन में उसे लिख देता है और सार्वजनिक लेखासमिति तथा संसद् शासन से उसका जवाब माँगते हैं कि ऐसा क्यों हुआ। अनुमान समिति शासन-व्यय की विभिन्न माँगों में मितव्ययिता का सुझाव देती रहती है।

संसद् का शासन पर नियंत्रण

भारतीय संघ के शासन का संचालन केंद्रीय मंत्रिमंडल द्वारा होता है जो अपने कार्यों के लिये लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने का चरम और अंतिम साधन है अविश्वास प्रस्ताव। लोकसभा में अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाने पर मंत्रिमंडल को या तो तुरंत पदत्याग करना पड़ता है अथवा राष्ट्रपति से लोकसभा का विघटन कराके नया निर्वाचन कराना पड़ता है। परंतु अविश्वास प्रस्ताव शासन के विरुद्ध लोकसभा का अंतिम अस्त्र है। राज्यसभा को उस अस्त्र के प्रयोग का अधिकार नहीं। अतः शासन पर दिन-प्रति-दिन के नियंत्रण के लिये संसद् के पास कुछ अन्य और लघुतर साधन भी है जो दोनों सदनों के लिये उपलब्ध है। ये साधन हैं प्रश्न, प्रस्ताव और वादविवाद।

प्रश्न — दोनों सदनों में दैनिक बैठक का पहला घंटा प्रश्न पूछने के लिये नियत होता है। विभिन्न मंत्रालयों से संबंध रखनेवाले प्रश्नों को पूछने के लिये सप्ताह के भिन्न भिन्न दिन नियत हैं। हर प्रश्न की पूर्वसूचना (साधारणतया दो दिन की) देनी पड़ती है। प्रश्न संबंधी कुछ नियम हैं और प्रश्न यदि उनके विरुद्ध हो, तो अध्यक्ष उसे पूछने की अनुमति नहीं देता। प्रश्नों के उत्तर संबंधित विभाग के कर्मचारियों द्वारा तैयार किए जाते हैं और मंत्री या उनके स्थानापन्न प्रतिनिधि उन उत्तरों को सदन में पढ़ देते है। यदि उत्तर स्पष्ट या संतोषजनक न हो तो प्रश्नकर्ता या कोई भी सदस्य पूरक प्रश्न भी पूछ सकता है। इनका उत्तर मंत्रियों को बिना पूर्व तैयारी के देना पड़ता है और इसमें उनकी प्रत्युत्पन्नमति की परीक्षा होती है।

मंत्री कभी कभी प्रश्नों का उत्तर देने से इस आधार पर इनकार भी करते हैं कि उत्तर देना सार्वजनिक हित के विरुद्ध होगा। प्रश्नों का प्रकट अभिप्राय सूचना प्राप्त करना होता है, परंतु वास्तविक अभिप्राय होता है शासन की पोल खोलना या उसकी भूलों या अत्याचारों को संसद् के सामने प्रकाश में लाना। शासन की कोई भी बात ऐसी नहीं जिसपर प्रश्न न पूछे जा सकें और उनके पूछे जाने की संभावना मंत्रियों और शासन कर्मचारियों को सदैव सतर्क और भयभीत रखती है। इस प्रकार प्रश्नों के द्वारा शासन पर संसद् का महत्वपूर्ण अंकुश रहता है।

प्रस्ताव — प्रस्ताव प्रश्नों से दो बातों में भिन्न होते हैं। प्रथम तो, वे प्रश्नों की भाँति नित्य प्रति नहीं प्रस्तुत किए जाते। अनेक प्रस्तावों में से जिनको प्राथमिकता प्राप्त हो जाती है वे ही

प्रस्तुत किए जा सकते हैं। दूसरे, प्रस्तावों का उद्देश्य सूचना प्राप्त करने का न होकर शासन से कुछ करने की सिफारिश करना होता है। प्रस्तावों के लिये प्रश्नों की अपेक्षा अधिक लंबी पूर्वसूचना की आवश्यकता होती है। यदि शासन किसी प्रस्ताव का विरोध करे तो उसके पारित होने की संभावना नहीं रहती। पारित होने पर भी शासन उसके अनुसार कार्य करने को बाध्य नहीं।

सदन के स्थगन का प्रस्ताव अन्य प्रस्तावों से अलग ही होता है। यह तभी प्रस्तुत किया जाता है जब सार्वजनिक महत्व की कोई हाल में हुई घटना पर सदन या शासन का ध्यान आकर्षित करना हो। न्यायालयों के विचाराधीन किसी विषय पर ऐसे प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। यदि स्थगन प्रस्ताव के पक्ष में ४० सदस्य खड़े हों, तो अध्यक्ष उसपर वादविवाद के लिये समय नियत कर देता है। यदि वादविवाद के उपरांत वह पारित हो जाय तो यह मंत्रिमंडल में अविश्वास का सूचक है। अत: मंत्रिमंडल उसे पारित न होने देने की चेष्टा करता है। या तो कुछ आश्वासन देकर वह प्रस्ताव को हटवा देता है, या वादविवाद ही में इतना समय लगा देता है कि उसपर मतदान का अवसर ही नहीं आ पाता। आवश्यक हो तो मंत्रिमंडल सदन में अपने बहुमत के बल से उसे गिरा भी दे सकता है।

वादविवाद — यों तो संसद् में प्रस्ताव, विधेयक आदि किसी न किसी विषय पर सदैव ही वादविवाद चला करता है, परंतु वादविवाद का एक विशिष्ट या पारिभाषिक अर्थ भी है और वह है किसी महत्वपूर्ण सरकारी नीति पर लंबी और सांगोपांग बहस। ऐसे वादविवादों का प्रबंध कभी मंत्रिमंडल स्वयं करता है और कभी विरोधी दल के अनुरोध पर। इस प्रकार के वादविवाद दोनों ही सदनों में होते हैं। इनका महत्व यह है कि वे शासन को अपनी नीतियों का स्पष्टीकरण करने तथा उसपर पुनर्विचार करने को बाध्य करते हैं। इससे विरोधी दल को भी सरकारी नीति की त्रुटियाँ बतलाने तथा अपने सुझाव देने का अवसर मिलता है।

संसद् और राजनीतिक दल

संसदीय शासनप्रणाली के संचालन के लिये राजनीतिक दल अनिवार्य माने जाते हैं। वे ही मतदाताओं को संगठित करते, उन्हें राजनीतिक शिक्षा देते, निर्वाचनों के लिये अभ्यर्थी खड़े करते, चुनाव लड़ते और बहुमत प्राप्त होने पर मंत्रिमंडल बनाकर शासन का संचालन करते, अन्यथा विरोध में रहकर शासन की आलोचना करते और उसे पथभ्रष्ट होने से रोकते हैं।

भारत में संगठित राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से होता है, परंतु १९१९ के सुधारों तक मताधिकार सीमित एवं निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम होने के कारण कांग्रेस का कार्य अधिकतर संसदीय न होकर विधानमंडलों के बाहर होता था। संसदीय दलपद्धति का प्रारंभ वास्तव में १९२४ से होता है जब कांग्रेस ने पं० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य दल का संगठन किया। उस समय स्वराज्य दल और अन्य सभी राष्ट्रवादी दल संमिलित रूप से विरोधी दल का ही काम करते थे, क्योंकि शासन ब्रिटिश कर्मचारियों के हाथ में था जो न तो किसी प्रकार से विधानमंडल के प्रति और न देश की जनता के प्रति ही उत्तरदायी थे। स्वतंत्रता के पूर्व कांग्रेस के अतिरिक्त कुछ अन्य दल भी थे, जैसे मुस्लिम लीग जिसकी स्थापना १९०६ में हुई, हिंदू महासभा जिसकी स्थापना मुस्लिम लीग के विरोध में कुछ समय बाद हुई, और उदार दल जो पहले कांग्रेस का ही एक भाग था, परंतु महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में आने के उपरांत १९२० में उससे अलग हो गया। इनके अतिरिक्त सांप्रदायिक अथवा आर्थिक स्वार्थों के आधार पर भी जमींदारों, व्यापारियों, हरिजनों आदि के भी कई दल समय समय पर बनते बिगड़ते रहे, परंतु इनका कोई स्थायी महत्व न था।

स्वतंत्रता के बाद दलों की संख्या एवं विविधता मे पर्याप्त वृद्धि हुई। १९६२ के चुनावों में निर्वाचन आयोग ने पाँच दलों को अखिल भारतीय दलों के रूप में मान्यता दी। ये हैं कांग्रेस, साम्यवादी दल, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ और स्वतंत्र दल।

स्वतंत्रता के समय से ही अर्थात् गत १६ वर्षों से कांग्रेस का ही लोकसभा तथा राज्यसभा में बहुमत रहा। अन्य दल अपेक्षाकृत बहुत निर्बल रहे हैं। १९६२ के निर्वाचन के बाद लोकसभा के ४८७ निर्वाचित सदस्यों में कांग्रेस के ३५५, साम्यवादियों के २९, प्रजा सोशलिस्ट दल के १२, जनसंघ के १४, और स्वतंत्र दल के १८ सदस्य थे। शेष ५९ निर्दलीय सदस्य थे।

संसद् और मंत्रिमंडल — संसदीय पद्धति में राष्ट्रपति बहुमत दल के नेता को ही प्रधान मंत्री नियुक्त करता है और प्रधान मंत्री के परामर्श से ही अन्य मंत्रियों की नियुक्ति होती है। प्रत्येक मंत्री एक या अधिक शासनविभागों का अध्यक्ष होता है और इस प्रकार मंत्रिमंडल ही समस्त शासन का संचालन करता है। प्रत्येक मंत्री संसद् के किसी न किसी सदन का सदस्य होता है। बिना सदस्य हुए कोई व्यक्ति छह महीने से अधिक मंत्रिपद पर नहीं रह सकता।

भारतीय संविधान के ७५वें अनुच्छेद के अनुसार मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह है कि लोकसभा जब चाहे, अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा मंत्रिमंडल को पदच्युत कर सकती है, परंतु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। अपने प्रचंड बहुमत के कारण मंत्रिमंडल लोकसभा का नेतृत्व करता और उससे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करवा लेता है। इसके कई कारण है। प्रथम स्थान में बहुमत दल के सदस्य दलीय अनुशासन के कारण मंत्रिमंडल का विरोध नहीं कर सकते और न किसी प्रश्न पर उसके विरुद्ध मत दे सकते हैं। यदि वे मंत्रिमंडल के विरुद्ध जायें तो उन्हें दल से निकाल दिया जायगा और अगले चुनाव में उन्हे दलीय टिकट तथा समर्थन प्राप्त न होगा। आजकल वयस्क मताधिकार के कारण निर्वाचन इतना बड़ा और खर्चीला हो गया है कि जब तक कोई बहुत ही साधनसंपन्न न हो, स्वतंत्र रूप से चुनाव लड़कर जीत नहीं सकता। इसलिये बहुमत दल के सदस्य मंत्रिमंडल की नीति से मतभेद रखते हुए भी उसके विरोध में मत नहीं दे पाते। दूसरे, मंत्रिमंडल राष्ट्रपति से अनुरोध करके लोकसभा का किसी भी समय विघटन करवा सकता है, विशेषकर उस दशा में जब उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव

पारित हो गया हो। लोकसभा के सदस्य, चाहे वे सत्तारूढ़ दल के हों, चाहे विरोधी दल के, असमय विघटन से डरते हैं, क्योंकि पुनः निर्वाचन की झंझटें उठानी पड़ती हैं और कोई नहीं जानता कि उसमें कौन चुना जा सके और कौन रह जाय। तीसरे, मंत्रिमंडल ही संसद् के समय का स्वामी है। सरकारी कार्य को सदैव प्राथमिकता मिलती है। गैर सरकारी कार्य को पहले तो समय ही मिलना कठिन रहता है और यदि मिल भी जाय तो बिना मंत्रिमंडल की सहायता के उसका सफल होना लगभग असंभव है। चौथे, आजकल संसद् के सामने आनेवाले बहुतेरे मामले पेचीदा और कठिन होते हैं। मुद्रा, विनिमय, वित्त, स्वास्थ्य, व्यापार, उद्योग आदि की समस्याएँ साधारण सदस्यों की समझ में बहुधा आती ही नहीं। मंत्री लोग विशेषज्ञ सरकारी कर्मचारियों की सहायता से उनका निर्णय करते हैं और ये निर्णय साधारण सदस्यों को ज्यों के त्यों मान लेने पड़ते हैं। उनमें मीनमेख निकालना उनके वश की बात नहीं।

जो हो, इसका यह अर्थ न समझना चाहिए कि संसद् नितांत अशक्त है। जब तब ऐसे प्रश्न आते हैं जब मंत्रिमंडल को लोकसभा की इच्छा के सामने झुकना पड़ता है। ब्रिटेन और भारत दोनों में इस प्रकार के उदाहरण मिलेंगे। भारत के कुछ उदाहरण हैं हिंदू कोड विधेयक में परिवर्तन, श्री कृष्ण मेनन का प्रतिरक्षा मंत्री के पद से हटाया जाना, अनिवार्य बचत योजना और स्वर्णनियंत्रण के नियमों में परिवर्तन आदि। यह बात उस समय होती है जब संसद् सदस्य किसी विषय में सबल लोकमत को व्यक्त कर रहे हों। आज मंत्रिमंडल पर वास्तविक अंकुश लोकमत का है और संसद् का गौण रूप से।

विरोधी दल — *विरोधी दल संसदीय शासन का आवश्यक अंग* माना जाता है। इसी कारण, ब्रिटेन में १९३७ ई० में विरोधी दल के नेता को प्रधान मंत्री ही की भाँति वेतन मिलता है, और जैसे शासन को सम्राज्ञी का शासन कहा जाता है उसी भाँति विरोधी दल भी सम्राज्ञी का ही विरोधी दल कहलाता है।

विरोधी दल का कार्य है सत्तारूढ़ दल के कार्यों की निरंतर आलोचना करके उसे सतर्क रखना तथा सत्ता का दुरुपयोग करने से रोकना और यदि सत्तारूढ़ दल अपने कार्यों के कारण जनता का विश्वास खो बैठे तो उसके स्थान पर दूसरा मंत्रिमंडल बनाना। विरोधी दल ही वह माध्यम है जिसके द्वारा जनता एक मंत्रिमंडल को निर्वाचन द्वारा अपदस्थ करके अपनी पसंद का दूसरा मंत्रिमंडल प्राप्त कर सकती है। विरोधी दल का न होना प्रजातंत्र के लिये खतरे की घंटी है।

परंतु विरोधी दल का कार्य शासन का अकारण विरोध करना नहीं है। वास्तव में राष्ट्रीय महत्व की बातों, जैसे देश की सुरक्षा में उसका शासनारूढ़ दल से मतैक्य होना आवश्यक है। उचित बातों में उसे सत्तारूढ़ दल से सहयोग करना उतना ही आवश्यक है जितना अनुचित बातों में विरोध। यदि विरोधी दल औचित्य अनौचित्य का बिना विचार किए सर्वदा विरोध ही करता रहे तो उसे अनुत्तरदायी समझा जाता है।

विरोधी दल के प्रभावशाली रूप से काम करने के लिये यह आवश्यक है कि वह अशक्त न हो और संसद् में उसकी संख्या सत्तारूढ़ दल की अपेक्षा बहुत कम न हो। यदि विरोधी दल बहुत अशक्त हो और उसके चुनावों में विजयी होकर सत्तारूढ़ होने की संभावना ही न रहे, तो वह अनुत्तरदायी होकर अनर्गल आलोचना और तोड़फोड़ में लग जाता है। भारत में विरोधी दलों की कुछ ऐसी ही दशा है। संसद् में कांग्रेस का ७० प्रतिशत से ऊपर बहुमत रहा है और विरोधी दल एक न होकर अनेक हैं और उनकी नीतियाँ इतनी भिन्न हैं कि वे कारगर रूप से संयुक्त मोर्चा नहीं बना सकते।

दलों का संसदीय संगठन — सत्तारूढ़ दल का प्रधान संसदीय संगठन मंत्रिमंडल होता है। उसका नेता प्रधान मंत्री होता है। प्रत्येक विरोधी दल का भी एक नेता होता है जो दल के कुछ अन्य मुख्य सदस्यों के साथ 'छाया मंत्रिमंडल' बनाता है। प्रत्येक दल के एक या एक से अधिक 'सचेतक' होते हैं, जिनका काम दल के नेताओं के आदेशों को सदस्यों तक पहुँचाना, उन्हें सदन में मतदान के समय उपस्थित रखना, और क्या करना या नहीं करना है, इसका निर्देश देते रहना है। सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के मुख्य सचेतक को मंत्रिपद प्राप्त है, संसदीय मामलों का मंत्री। केंद्रीय कांग्रेस विधायक दल में प्रधान मंत्री के अतिरिक्त, जो लोकसभा का नेता होता है, दो उपनेता, दो सचिव, और एक कोषाध्यक्ष भी होते हैं।

संसद् से बाहर प्रत्येक दल का एक देशव्यापी संगठन भी होता है जो दल का प्रधान कार्य, धनसंचय, तथा चुनाव लड़ने आदि का कार्य भी करता है। [म० प्र० श०]

संसदीय विधि (पार्लमेंटरी ला) संसदीय विधि संसदीय प्रक्रिया के उन समस्त नियमों का समूह है जो विधायन प्रणाली को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये सामान्य रूप से आवश्यक माने जाते हैं। यद्यपि देशकाल के अनुरूप ऐसे नियम कुछ विषयों में अलग अलग हो सकते हैं किंतु संसदीय विधि का मूल स्रोत इंग्लैंड की संसद् के वे नियम हैं जिनके अनुसार विधिनिर्माण, कार्यपालिका पर नियंत्रण तथा आर्थिक विषयों के नियमन हेतु ऐसी प्रक्रियाएँ बनाई जाती हैं जिनसे इन विषयों पर सदन का मत ज्ञात होता है। अत सर्वप्रथम संसद् के सत्र को राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल आहूत करता है। सत्र आरंभण के पश्चात् सदन का कार्यसंचालन सदन का अध्यक्ष करता है। अध्यक्ष विभिन्न विषयों पर सदन का मत विभिन्न प्रकार के प्रश्नों, प्रस्तावों तथा उनपर मतगणना के परिणामों से ज्ञात करता है। अतः प्रस्तावों तथा संबंधित प्रश्नों पर समुचित रूप से विचार करने के लिये एक कार्यसूची बनाई जाती है जिसके अनुसार प्रस्तावक अथवा प्रश्नकर्ता के लिये समय नियत किया जाता है।

प्रश्नों का मुख्य उद्देश्य कार्यपालिका सरकार पर नियंत्रण रखना होता है। कार्यपालिका के अनुचित कृत्यों अथवा अन्य त्रुटियों पर प्रश्नोत्तर के समय अध्यक्ष अपनी व्यवस्थाएँ देता है। ऐसे समय केवल संसदीय भाषा का प्रयोग अपेक्षित होता है। कोई ऐसा प्रश्न नहीं उठाया जा सकता जो न्यायालय के

विचाराधीन हो अथवा किसी कारण से अध्यक्ष उसको आवश्यक नहीं समझता। सामान्य रूप से प्रश्न तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम, अल्पसूचित प्रश्न जिनके सार्वजनिक महत्व के होने के कारण उनका उत्तर अध्यक्ष की व्यवस्थानुसार तुरंत ही संबंधित मंत्री को देना चाहिए। यदि ऐसा संभव न हो तो अध्यक्ष मंत्री को कुछ और समय देने की व्यवस्था दे सकता है। द्वितीय, तारांकित प्रश्न जिनका उत्तर शासन की ओर से मौखिक दिया जाता है। तृतीय, अतारांकित प्रश्नों का लिखित उत्तर दिया जाता है। उत्तर अपर्याप्त होने की दशा में अध्यक्ष अनुपूरक प्रश्नों की अनुमति भी दे सकता है।

सदन का मत प्रस्ताव तथा उसपर मतगणना से भी ज्ञात किया जाता है। मुख्य रूप से प्रस्ताव दो प्रकार के होते हैं। प्रथम मुख्य प्रस्ताव, द्वितीय गौण प्रस्ताव। गौण प्रस्ताव उचित रूप से सूचित एवं अध्यक्ष की अनुज्ञा से उपस्थित किए गए मुख्य प्रस्ताव पर विवाद के समय रखे जाते हैं, जैसे कार्य स्थगित करने के लिये प्रस्ताव। यह प्रस्ताव मुख्य प्रस्ताव को छोड़कर किसी अन्य महत्वपूर्ण विषय पर विचार करने के लिये प्रेरित करता है। विवादांत प्रस्ताव का उद्देश्य किसी प्रश्न पर अनावश्यक विवाद को समाप्त करना होता है। इस प्रस्ताव के पारित हो जाने पर प्रश्न तुरंत सदन के समक्ष मतगणना के लिये रख दिया जाता है। मुख्य प्रस्ताव के संशोधन अथवा उसपर विचार करने हेतु निर्धारित समय को बढ़ाने हेतु भी गौण प्रस्ताव प्रस्तुत किए जा सकते हैं। एक महत्वपूर्ण प्रकार का प्रस्ताव सदन के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अथवा किसी मंत्री या मंत्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव भी होता है। इस प्रस्ताव के उचित रूप से सूचित करने के पश्चात् उसपर विचार किया जाता है। प्रस्तावों पर नियमानुसार विचार के उपरांत मतगणना की जाती है। मतदान का कोई रूप प्रयुक्त किया जा सकता है, जैसे हाथ उठवाकर, प्रस्ताव के पक्ष एवं विपक्ष के सदस्यों को अलग अलग खड़ा करके, एक एक से बात करके अथवा गुप्त मतदान पेटी में मतदान करवा कर। यदि आवश्यक समझा जाय तो प्रथम तथा द्वितीय वाचन के बाद किंतु तृतीय वाचन के पूर्व विधेयक पर पूर्ण विचार करने के लिये प्रवर अथवा अन्य समितियों को विषय सौंप दिया जा सकता है।

सदन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये सदन को संयुक्त रूप से तथा प्रत्येक सदस्य को व्यक्तिगत रूप से परंपरागत कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ सदन मे भाषण का अप्रतिबंधित अधिकार, सदन की कार्यवाही का विवरण प्रकाशित अथवा न प्रकाशित करने, अजनबियों को हटाने, सदन को अपनी संरचना करने एवं प्रक्रिया स्थापित करने का पूर्ण अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त कोई भी सदस्य सत्र आरंभण के चालीस दिन पहले एवं सत्रांत के चालीस दिन पश्चात् तक बंदी नहीं बनाया जा सकता, यदि उसके ऊपर कोई अपराध करने, निवारक नजरबंदी या न्यायालय अथवा सदन के अपमान का आरोप न हो। यदि किसी सदस्य ने अथवा अन्य किसी ने उपर्युक्त विशेषाधिकारों की अवहेलना की है तो यह सदन के अपमान की (कंटेंप्ट) का प्रश्न बन जाता है और इसके बदले सदन को स्वयं अथवा विशेषाधिकार समिति के निर्णय पर दोषित व्यक्ति को दंड देने का पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। [सु० कु०]

संस्करण संस्कृत की 'कृ' धातु में (जिसका अर्थ है करना) सम् उपसर्ग मिलकर यह शब्द बनता है, संस्करोति, जिसका साधारण भाषा मे अर्थ है भली प्रकार करना। इसी से संस्कार या संस्करण बने जिनका अर्थ है भली प्रकार किया हुआ कार्य या परिष्कृत कार्य।

प्रकाशन व्यवसाय के संबंध में संस्करण का अर्थ है मुद्रित वस्तु का एक बार प्रकाशन। वास्तव में प्रकाशन व्यवसाय के संदर्भ में भी संस्करण का परिष्कृत कार्यवाला अर्थ सटीक बैठता है। किसी भी पांडुलिपि को जब प्रकाशित किया जाता है तो मुद्रित पुस्तक का रूप पांडुलिपि के रूप से कहीं भिन्न होता है, अधिक सुंदर और आकर्षक तथा अपने समग्र रूप मे अधिक परिष्कृत होता है। पांडुलिपि का संपादन होता है आवश्यकतानुसार चित्र बनते है, प्रेस में मुद्रण होता है, आकर्षक आवरण में भी ग्रंथ सज्जित किया जाता है, तब कहीं जाकर उसका प्रकाशन होता है। पुस्तक का 'संस्करण' अपने अर्थ को सचमुच सार्थक करता है। संस्करण का प्रयोग कई अर्थों मे किया जाता है—जैसे, राज संस्करण, सामान्य संस्करण और अब पाकेट बुक्स (या सस्ता) संस्करण। राज संस्करण में पुस्तक में कागज बढ़िया लगाया जाता है, जिल्दबंदी ऊँचे किस्म की होती है और उसका मूल्य भी अधिक होता है सामान्य संस्करण, जैसा नाम से स्पष्ट है, सामान्य ही होता है और आम खरीदार को ध्यान में रखकर प्रकाशित किया जाता है। बीसवीं सदी में मध्य वर्ग की आमदनी को ध्यान मे रखते हुए (क्योंकि मध्य वर्ग ही पुस्तकों का सबसे बड़ा पाठक है) अच्छी, महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध पुस्तकों के सस्ते संस्करण प्रकाशित करने की प्रथा चल पड़ी है, जो समय के साथ साथ खूब फूली फली है। विदेशों में जिन पुस्तकों के सामान्य संस्करण की ३०००–१०००० प्रतियाँ बिकती हैं, उन्हीं के सस्ते संस्करण की १००००० से २००००० प्रतियाँ तक आसानी से बिक जाती हैं। लेखक और प्रकाशक दोनों को ही इससे अधिक लाभ होता है। हमारे देश मे भी अब पाकेट बुक्स का प्रकाशन प्रारंभ हो गया है और द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है। पुस्तकों का यह संस्करण सर्वाधिक उपयोगी है, और पाठक जनता तक इसी की सर्वाधिक पहुँच है, इसीलिये बड़े से बड़े लेखक अपनी पुस्तकों के सस्ते संस्करण प्रकाशित कराने मे आनंदित होते हैं।

पहली बार प्रकाशित हो जाने के बाद जब किसी पुस्तक की सारी प्रतियाँ बिक जाती है तो कहा जाता है कि पुस्तक का एक संस्करण समाप्त हो गया। यदि पुस्तक की माँग हो तो उसे पुनः प्रकाशित किया जाता है। पुस्तक को यदि ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया जाय तो उसे 'पुनर्मुद्रण' कहते है, किंतु यदि उसे कुछ संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन के साथ प्रकाशित किया जाय तो उसे 'नवीन संस्करण' कहा जाता है।

दैनिक पत्रों के भी संस्करण होते हैं; जैसे, नगर संस्करण, पहला डाक संस्करण, दूसरा डाक संस्करण, रात्रि संस्करण आदि। प्रत्येक संस्करण में पत्र का रूप कुछ बदला हुआ रहता है। नगर

संस्करण में राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय समाचारों, स्थायी स्तंभों, तथा अन्य प्रमुख समाचारों के साथ साथ स्थानीय समाचारों को प्रमुखता दी जाती है। डाक संस्करण अलग अलग समय पर निकलते हैं और जिन नगरों या क्षेत्रों को भेजे जाने होते हैं उनसे संबंधित समाचारों पर उनमें जोर दिया जाता है। अनेक पत्रों के प्रातः और सायं संस्करण प्रकाशित होते हैं। पत्रों के संस्करणों में जो समाचार पुराने पड़ते जाते हैं वे पिछले पृष्ठों में क्रमशः डाल दिए जाते हैं, और उनका स्थान नए प्रमुख समाचार लेते चले जाते हैं — यही क्रम चलता जाता है और चौबीस घंटे बाद वह समाचार अखबार से बाहर चला जाता है, बासी हो जाता है। उदाहरणतः यदि एक समाचार प्रातः संस्करण में दिया गया तो अगले दिन प्रातः से पहले के संस्करण तक में ही वह होगा, प्रातः संस्करण में नहीं। अनेक पत्रों के अंतरराष्ट्रीय संस्करण निकलते हैं। ये विशेष पतले कागज पर छापे जाते हैं और आजकल हवाई डाक से भेजे जाते हैं। अनेक दैनिक पत्रों के एक सप्ताह के प्रमुख समाचारों के सार संक्षेप में पुनः एक विशेष संस्करण में प्रकाशित करके विक्रीत होते हैं।

साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक आदि पत्रपत्रिकाओं के भी राज या सामान्य संस्करण प्रकाशित होते हैं। अनेक के अंतरराष्ट्रीय संस्करण, विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्रकाशित होते हैं। कभी कभी कोई पत्रिका कई भाषाओं में एक साथ प्रकाशित होती है, तदनुसार उसके हिंदी संस्करण, मराठी संस्करण आदि होते हैं। अंतरराष्ट्रीय पत्रिकाओं के विशेष संस्करण कभी कभी एक विशेष देश के लिये ही होते हैं — मसलन, भारतीय संस्करण, पाकिस्तानी संस्करण आदि। ऐसा करने के अनेक कारण है, मुद्रा का विनिमय जिनमें प्रमुख है। [वि० ना०]

संस्कार (हिंदू) 'संस्कार' का अर्थ है शुद्ध किया जाना। आर्य जाति में वे कृत्य या विधान संस्कार कहलाते है जो जन्म से मृत्यु पर्यंत द्विज वर्णों में आवश्यक माने गए हैं। इन कृत्यों के किए जाने से जीवात्मा की शुद्धि होती है, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। इनकी संख्या कहीं दस, कहीं बारह और कहीं सोलह मानी गई है। मनु के अनुसार द्वादश संस्कार ये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, केशांत, समावर्तन और विवाह। ये संस्कार या धार्मिक कृत्य क्रमशः इन अवसरों पर किए जाते हैं—१. गर्भाधान के पूर्व, २. स्त्री के गर्भ धारण के तीसरे मास में, ३. गर्भवती स्त्री के (चौथे, छठे अथवा) आठवें मास में; ४. पुत्रजन्म के अवसर पर; ५. बच्चे का नाम रखने के समय; ६. चार महीने के शिशु को पहले पहल घर से बाहर ले जाने के अवसर पर; ७. शिशु को पहली बार अन्न चखाने के समय; ८. बच्चे का पहली बार सिर मुँड़ाकर चोटी रखने के समय; ९. विद्याभ्यास के लिये प्रथम बार गुरु के पास भेजे जाने के समय; १०. उपनयन और समावर्तन के समय; ११. अध्ययन पूर्ण कर ब्रह्मचारी के घर लौटने के समय; १२. दांपत्य सूत्र में आबद्ध होने के अवसर पर (दे० उपनयन, विवाह)।

संस्कार (ईसाई) धर्म की बहुसंख्यक धर्मविधियों में से कुछ ही साक्रामेंट अथवा संस्कार कहलाते हैं। साक्रामेंट का अर्थ है पवित्र। प्रारंभ में इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक था किंतु बाद में वह ईसाई चर्च की ऐसी धर्मविधियों के लिये प्रयुक्त होने लगा (१) जिनका प्रवर्तन ईसा की आज्ञा से हुआ है, (२) जिनके अनुष्ठान में प्रतीकात्मक कृत्यों द्वारा ईश्वरीय कृपादान सूचित किया जाता है, और (३) जिनके द्वारा वह कृपा ईसा की इच्छा से विश्वासियों को वास्तव में दी जाती है। उदाहरणार्थ ईसा ने अपने शिष्यों से कहा था कि वे जल से बपतिस्मा दिया करें, जल द्वारा पापों का प्रक्षालन सूचित किया जाता है और ईसा की इच्छा से पाप वास्तव में क्षमा कर दिए जाते हैं।

चर्च के धर्मपंडितों ने प्रारंभ ही से चली आनेवाली ईसाई धर्मविधियों पर चिंतन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार कुल सात ही ईसाई साक्रामेंट अथवा संस्कार होते हैं। इनमें से चार के विषय में देखिए 'बपतिस्मा', 'यूखारिस्ट,' 'पापस्वीकरण' और 'पौरोहित्य' (दे० पुरोहित)। शेष तीन संस्कार ये हैं — विवाह, दृढ़ीकरण (कानफर्मेशन) और रोगियों का संस्कार (तैलमर्दन)।

प्रोटेस्टैंट धर्म ने संस्कारों की संख्या को दो ही तक सीमित कर दिया है। उसमें प्रायः बपतिस्मा और यूखारिस्ट को ही संस्कार माना जाता है।

सं० ग्रं० — एम० जे० रोबन : दि मिस्टरीज ऑव क्रिस्टिअनिटी, सेंट लुविस, १९४६। [का० बु०]

सआदत अली यह अवध के नवाब आसफ़ुद्दौला का ज्येष्ठ भाई था। सन् १७९७ में आसफ़ुद्दौला की मृत्यु पर उसका बेटा वजीर अली नवाब बना। बाद में कंपनी के अधिकारियों को उसके नवाब का बेटा होने में संदेह हुआ और गवर्नर जेनरल जॉन शोर ने जनवरी, १७९८ में सआदत अली से एक संधि करके उसे अवध के सिंहासन पर बिठला दिया। इसके बदले में उसने कंपनी को बारह लाख रुपया दिया। वजीर अली को डेढ़ लाख रुपया वार्षिक पेंशन देकर बनारस भेज दिया गया। उपर्युक्त संधि के अनुसार नवाब ने सामरिक महत्व वाले इलाहाबाद के दुर्ग को कंपनी को दे दिया तथा उसकी मरम्मत के लिये आठ लाख रुपया भी दिया। अंग्रेजों के अतिरिक्त अन्य यूरोपीयों को अपने राज्य में प्रविष्ट न होने देने का उसने वचन दिया तथा अंग्रेजों को ७६ लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया। किसी बाह्य शक्ति से संधि करने का उसे कोई अधिकार नहीं रह गया। नवाब वजीर की अपनी सेना कम करके ३५ हजार कर दी गई। सर जॉन शोर सआदत अली के साथ मनमाना व्यवहार करता था तथा अवध के शासन में भी हस्तक्षेप करने लगा था। इस प्रकार का हस्तक्षेप अवध के साथ की गई पुरानी संधियों के सर्वथा विपरीत था।

सर जॉन शोर ने अवध में अंग्रेजी सेना काफी बढ़ा दी क्योंकि उस समय अवध पर जमनशाह के आक्रमण का भय था। जमनशाह अहमदशाह दुर्रानी का पौत्र था। भारत पर आक्रमण करके वह लाहौर तक पहुँच गया था। अवध में अंग्रेजी सेना बढ़ाकर नवाब वजीर को खर्च के लिये दबाया गया।

शोर के बाद लॉर्ड वेलेजली भारत का गवर्नर जनरल हुआ।

कई कारणों से उसने यह राय बनाई कि कंपनी को अवध पर अधिकार कर लेना चाहिए । सन् १७९९ में वेलेज़ली ने सआदत अली को अपनी सेना तोड़ देने की आज्ञा भेजी । बिना सआदत की अनुमति के अवध में अंग्रेजी सेना बढ़ा दी गई और उससे सेना का खर्च देने को कहा गया । जनवरी, १८०१ में उसने सआदत अली को लिखा कि या तो वह अभी तक का अंग्रेजी सेना का खर्च देकर भविष्य के लिये अपना आधा राज्य कंपनी को सौंप दे या पेंशन लेकर राजकार्य से अवकाश ग्रहण कर ले। मजबूर होकर नवंबर, १८०१ में सआदत अली ने कंपनी से संधि कर ली। इस संधि के द्वारा नवाब की सेना घटा दी गई तथा अवध की सीमा पर स्थित चुने हुए जिले कंपनी ने ले लिए। बचे हुए राज्य पर नवाब ने अंग्रेजों की सलाह से शासन करना स्वीकार कर लिया। अब अवध के चारों ओर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया।

सआदत अली एक सुयोग्य शासक था। उसके समय में शासन में कई सुधार किए गए तथा प्रजा प्रसन्न थी। अवध की सीमाओं को भी उसने यथासंभव दृढ़ करने का प्रयत्न किया था तथा राज्य की आमदनी बढ़ा दी थी। उसके मरने पर सरकारी खजाने में बहुत सा धन था। अंग्रेजों के उससे असंतुष्ट होने का कारण यह था कि वह अपने राज्य में उनका बहुत हस्तक्षेप सहन न करता था। सन् १८१४ में उसका देहात हो गया। [मि० चं० पां०]

सआदत खाँ इसका पूरा नाम सआदत अली खाँ था। यह प्रारंभ में खुरासाँ का निवासी था। बाद में यह भारत आया और इसने अवध के सूबे की नींव डाली। उस समय अवध में आधुनिक क्षेत्रों के अतिरिक्त इलाहाबाद तथा कानपुर के समीपवर्ती कुछ जिले तथा वाराणसी भी संमिलित थे। इस समय मुगल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो रहा था और मुगलों की केंद्रीय शक्ति जर्जरित हो गई थी। मुगल सम्राट् केवल नाममात्र को ही था। प्रांतीय नवाब दिखावे के लिये ही उसके अधीन होने का अभिनय करते थे। वास्तव में वे स्वतंत्र हो गए थे। इनमें अवध, दक्षिण तथा बंगाल के नवाब मुख्य थे।

सन् १७२४ में सआदत अली खाँ को अवध का नवाब बनाया गया था। वह एक सुयोग्य शासक था। थोड़े ही समय में अपने गुणों के कारण उसने अवध निवासियों के हृदय में घर कर लिया। बनारस जैसे धनी और शक्तिशाली प्रदेश अवध के अधीन थे। इन्हीं कारणों से सआदत खाँ की शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी और उसकी ख्याति देशव्यापी हो गई थी। सन् १७३९ में फारस के नादिरशाह ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इसी वर्ष सआदत खाँ को दिल्ली में उपस्थित होने का आदेश दिया गया। वह इसका अर्थ खूब समझता था। अतः उसने आत्महत्या कर ली। उसके बाद उसका भांजा और दामाद सफदरजंग बंगाल का नवाब हुआ। [मि० चं० पां०]

सआलिबी (Thaalibi) सन् ९६१ में नीशापुर (Nishapur) में उत्पन्न ११वीं शताब्दी पूर्वार्ध का प्रसिद्ध भाषाशास्त्री, कवि और कोषकार जिसका पूरा नाम अबू मंसूर अब्दुल मलिक इब्न मुहम्मद इब्न इस्माएल-सआलिबी था। १०३८ ई० में इसकी मृत्यु हुई। यूरोप की आधुनिक भाषाओं में इसकी कई महत्वपूर्ण कृतियाँ अनूदित होकर प्रकाशित हुई हैं। इसकी पुस्तक यतीमतुद्दहर्फ़ी महासिने अहलिल अस्र अरबी साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध है। [ख्या० ति०]

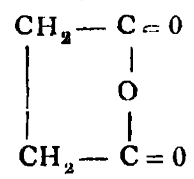
सक्खर स्थिति : २७° ४२′ उ० अ० तथा ६८° ५४′ पू० दे०। यह नगर पाकिस्तान के सक्खर जिले का मुख्यालय है और रोहरी नगर के संमुख, सिंध नदी के दाहिने किनारे पर, कराची से २२५ मील उत्तर-उत्तर पूर्व में स्थित है। उपर्युक्त दोनों नगरों के मध्य, बक्खर में प्राचीन किले के पत्थर बहुत अधिक संख्या में हैं। यहाँ के पत्थरों का ही उपयोग लैंसडाउन पुल के बनाने में हुआ है। इस पुल पर से उत्तर-पश्चिमी रेल मार्ग नदी को पार करता है। सक्खर में लॉयड बाँध है, जो संसार के प्रसिद्ध सिंचाई बाँधों में से एक है। बोलन दर्रा तथा शिबि नामक निम्न भूमि भी यहीं है। नगर की जनसंख्या १,०३,२१६ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

सक्सिनिक अम्ल (Succinic Acid) सक्सिनिक शब्द लैटिन के सक्सिनम (Succinum) से निकला है, जिसका अर्थ होता है ऐंबर। ऐंबर में यह अम्ल तीन से चार प्रति शत तक पाया जाता है। अन्य रेजिनों, लिग्नाइट, काष्ठाश्म और अनेक पेड़ों में यह पाया जाता है। अंगूर, चुकंदर, गूजबेरी तथा रेवंद चीनी के रसों मे भी यह रहता है। प्राणी जगत् में भी यह थाइमस ग्रंथि (thymus gland) और प्लीहा (spleen) में पाया जाता है। अनेक पदार्थों से, जैसे अमोनियम टार्ट्रेट व कैल्सियम मैलेट के जीवाणु किण्वन से तथा वसा या वसाम्लों के ऑक्सीकरण से भी यह बनता है। एथिलीन गैस से इसका संश्लेषण हुआ है। बेंजीन के ऑक्सीकरण से मैलेइक अम्ल बनता है और मैलेइक अम्ल के ऑक्सीकरण से सक्सिनिक अम्ल प्राप्त हो सकता है।

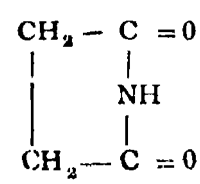
सक्सिनिक अम्ल द्विक्षारक अम्ल है। इसका संरचनासूत्र निम्नलिखित है :

$$HOOC.\ CH_2.\ CH_2.\ COOH$$

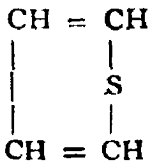
यह संतृप्त ठोस अम्ल है। इसका प्रिज्म के आकार का रंगहीन क्रिस्टल बनता है, जो १८३° सें० पर पिघलता है और जिसका द्रव २३५° सें० पर उबलता है। इसमें बंद शृंखला यौगिक बनने की प्रवृत्ति है। इसके वाष्प से जल निकल जाने पर, यह सक्सिनिक ऐनहाइड्राइड बनाता है :



इसके अमोनियम लवण को तपाने से सक्सिनिमाइड प्राप्त होता है :



सक्सिनिमाइड को जस्ते की धूल के साथ आसुत करने से पाइरोल बनता है। सक्सिनिक अम्ल को फ़ॉस्फ़ोरस ट्राइसल्फाइड के साथ गरम करने से थायोफीन बनता है :



सॉक्सनिक अम्ल जल में विलेय होता है। इसकी क्षारीय धातुओं और क्षारीय मृत्तिका धातुओं के लवण भी जल में विलेय होते हैं। बेरियम लवण ऐल्कोहॉल में अविलेय होता है। लोहे का लवण जल में अविलेय होता है। [स० व०]

सचवान (Szechwan) चीन का सबसे बड़ा प्रांत है, जिसका क्षेत्रफल ५,४३,८८० वर्ग किमी० एवं जनसंख्या ७,२१,६०,००० (१९६५) है। इस प्रदेश का मध्य भाग लाल बेसिन का पठार कहलाता है। यह प्राय: चारों ओर से पहाड़ों द्वारा घिरा हुआ है। इस प्रांत का अधिकाश भाग पहाड़ी है। चेंगटू मैदान एकमात्र समतल एवं उपजाऊ मैदान है। इस मैदान में मिन नदी की नहरों द्वारा सिंचाई होती है और धान मुख्य उपज है। यहाँ जनसंख्या का घनत्व २,३९२ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है, जबकि शीकांग (Sikang) प्रांत की सीमा पर यह घनत्व केवल ११ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। सचवान का अर्थ चार नदियों से है। मिन, तो, फू और क्याओलिंग नदियों के मिलने से यांग्त्सीक्यांग, बनती है और उत्तर से दक्षिण लाल बेसिन में बहती है।

चारों ओर पर्वतों से घिरे होने के कारण, यहाँ का ताप अधिक नहीं हो पाता। लाल बेसिन के चुंगकिंग नगर का दिसंबर, जनवरी का ताप ९·५° सें० एवं जुलाई अगस्त का औसत ताप २०° से २८° सें० रहता है। वार्षिक वर्षा ४० इंच होती है। सम या मृदु जलवायु के कारण सचवान प्रांत में अनेक प्रकार की कृषि होती है। पहाड़ी ढालों पर, सीढ़ीनुमा खेतों में, साल में दो तीन फसलें उगाई जाती हैं। जाड़े में गेहूँ, जौ, राई, ज्वार, बाजरा, सोयाबीन और मटर तथा गरमी में धान (विशेषकर चेंगटू के निकट मैदानी भाग में), गन्ना, सन, तिल (sesamum), दलहन, मक्का, आलू, तंबाकू, शहतूत और नारंगी की उपज होती है।

यहाँ पाए जानेवाले मुख्य खनिज कोयला, लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी, सीसा, नमक एवं ऐंटिमनी हैं, जो प्रांत के विभिन्न भागों में खोदकर निकाले जाते हैं। पेट्रोल एवं प्राकृतिक गैस उद्योग ड्ज़कुंग (Tzekung) या ड्ज़ल्यूजिंग (Tzeliutsing) में विकसित हैं। १९३७ ई० के चीन जापान युद्ध के काल से ही इस प्रांत का औद्योगिक विकास हो रहा है, लेकिन अधिकांश नए औद्योगिक केंद्रों को गुप्त ही रखा गया है। यहाँ लोह, इस्पात, शराब, वस्त्र, दवा, रंजक, विद्युत् एवं मशीन यंत्र तथा धमन भट्ठियों और औद्योगिक मशीन यंत्रों के निर्माण के कारखाने हैं। इस प्रांत से ऊन, चमड़ा, तुंग तेल, रेशम, रेमी (ramie), चाय, तंबाकू और रेवत चीनी (rhubarb) नामक जड़ी का निर्यात होता है। यांग्त्सीक्यांग एवं उसकी सहायक नदियों द्वारा गमनागमन होता है। चुंगकिंग बंदरगाह से चेंगटू नगर तक सड़क एवं रेलमार्ग बना हुआ है। सचवान को समीपवर्ती प्रांतों से जोड़ने के लिये हजारों मील पक्की सड़कें बनाई गई हैं।

[रा० प्र० सिं०]

सचोली (Tunicata) एक प्रकार के समुद्री जीव हैं, जो अकेले, या समूह में, संसार के किसी भी महासागर की विभिन्न गहराइयों में पाए जाते हैं। इनके अधिकांश प्रकार स्थानबद्ध (sedentary) होते हैं एवं नाना प्रकार के पदार्थों के साथ जुड़े रहते हैं। इनका शरीर पारदर्शी, पारभासी या अपारदर्शी एवं कई प्रकार के रंगों का होता है। शरीर का आकार अनिश्चित एवं परिमाण एक इंच के सौवें भाग से लेकर एक फुट तक के व्यास का होता है। सारा शरीर एक पतले या मोटे चर्म सदृश आवरण में, जिसे चोल या कंचुक (Tunic or Test) कहते हैं लिपटा रहता है। चोल अधिकांश, टघूनिसिन (tunicine) नामक स्रवित पदार्थ का बना होता है। टघूनिसिन सेलुलोस के अनुरूप एक पदार्थ है। चोल में दो छिद्र या मार्ग होते हैं। एक मार्ग से जल भीतर प्रवेश करता है तथा दूसरे से बाहर निकल जाता है।

सचोली कशेरुकी (vertebrate) प्राणियों के संबंधी हैं, तथा कॉर्डेटा (Chordata) संघ (phylum) के एक उपविभाग (sub-division) का निर्माण करते हैं। डिंभक अवस्था (larval stage) में एक पूर्ण विकसित पृष्ठरज्जु (notochord) की उपस्थिति इनकी मुख्य विशेषता है। पृष्ठरज्जु मुख्यत: डिंभक के पुच्छ भाग में, जो वयस्क अवस्था में क्रमश: लुप्त हो जाता है, सीमित होता है।

सचोलियों की कई आकृतियाँ विचित्र एवं चित्ताकर्षक होती हैं। जंतुओं में टघूनिसिन का बना हुआ चोल (coat) स्रवित करनेवाले ये अकेले जीव हैं। इनका हृदय कुक्कुटों के भ्रूण के हृदय के समान होता है, परंतु हृदय की गति की दिशा समय समय पर बदली जा सकती है, जिससे रुधिर का संचरण विपरीत दिशाओं में भी संभव हो जाता है। रुधिर में श्वसन वर्णक (respiratory pigment) नहीं होते हैं। कुछ स्पीशीज़ों (species) की रुधिर कोशिकाओं में वैनेडियम एवं सल्फ्यूरिक अम्ल अधिक मात्रा में मिलते हैं। मलोत्सर्जन की विचित्रता यह है कि मूत्रजनित त्याज्य पदार्थ ठोस आकारों के ढेर के रूप में शरीर के भीतर एक या अनेक थैलियों में एकत्र होते जाते हैं। दूसरे प्रकार की त्याज्य वस्तुओं का उत्सर्जन चोल के बाह्य तल के द्वारा होता है। वयस्क जंतुओं का मस्तिष्क, ठोस पृष्ठीय गुच्छिका (ganglion) के रूप में तथा एक तंत्रिका ग्रंथि के साथ मिला हुआ होता है। यह तंत्रिका ग्रंथि कशेरुकी के पीयूष (pituitary body) से समानता रखती है।

सचोली उभयलिंगी (hermaphrodite), अर्थात् वृषण एवं अंडाशय, दोनों प्रकार के अंगोंवाले होते हैं। कई जंतुओं में निषेचित अंडों, या फिर वयस्कों के किसी भी भाग के ऊतकों की वृद्धि एवं पुन:रचना (reconstruction) के, द्वारा अंतिम जीव का निर्माण होता है। कुछेक जंतु रात्रि में तीक्ष्ण प्रकाश उत्पन्न करते हैं।

पाइरोसोमा नामक जंतु उष्ण महासागरों के जल के थपेड़ों में प्रवाहित होते हुए, जलती हुई मोमबत्ती के सदृश दृष्टिगोचर होते हैं।

संक्षिप्त इतिहास — सर्वप्रथम जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) ने एक सामान्य 'ऐसिडियन' (ascidian) का विवरण प्रस्तुत किया था। अरस्तू के बाद लगभग २,००० वर्षों तक इन जंतुओं के विषय में लोगों की अल्पज्ञता रही। लिनियस (Linnaeus) तथा उनके बाद के कुछ प्राणिविज्ञानियों ने कई 'ऐसिडियन' जंतुओं को मस्तकरहित मोलस्का (Mollusca) के साथ एक वर्ग में रखा। लामार्क (१८१६ ई०) ने इन्हें मोलस्का से पृथक् कर, इनके समूह का नाम ट्यूनिकेटा (Tunicata, सचोली) प्रदान किया। सन् १८६६ ई० में कॉवलेफस्कि (Kowalevsky) ने एक सामान्य ऐसिडियन की वृद्धि के विषय में अनुसंधान लेख प्रकाशित कर, यह प्रकट किया कि इसके बेंगची डिंभक (tadpole larva) में कॉर्डेटा के प्रमुख गुण वर्तमान होते हैं, तथा बेंगची के वयस्क में कायांतरण (metamorphosis) होने के समय, ये गुण क्रमशः लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के कायांतरण को प्रतिक्रमणी (retrogressive) कायांतरण कहते हैं। इस अनुसंधान ने इस आधुनिक धारणा को जन्म दिया कि सचोली एक प्राचीन कॉर्डेटा के विशेष प्रकार के अवशेष हैं, जिनका विकास प्रमुख कॉर्डेटा से बहुत ही प्रारंभिक अवस्था में हुआ था।

जीवनवृत्त — ऐसिडियन उभयलिंगी जंतु हैं। अधिकांश जंतु अपने ही अंडों को निषेचित कर सकते हैं, परंतु अन्य जंतुओं में यह शक्ति नहीं होती। उनमें परनिषेचन (cross-fertilization) की क्रिया होती है। वृद्धि काल की प्रारंभिक आकृतियाँ प्राचीन कशेरुकी आकृतियों से मिलती जुलती हैं। अंडे, वृद्धि की इन अवस्थाओं के पश्चात्, बेंगची का रूप धारण करते हैं। बेंगची आकार में बहुत छोटे होते हैं, एवं उनमें कुछ समय तक तैरते रहने की शक्ति होती है। प्रत्येक बेंगची में तैरने के लिये एक पुच्छ होती है, जिसके मध्य में कोशिकाओं के द्वारा निर्मित एक पृष्ठरज्जु भी होती है। ऐसिडियन के बेंगची की वृद्धि इस अवस्था के पश्चात् रुक जाती है। पृष्ठरज्जु के दोनों पार्श्वों में पेशीतंतु की एक पट्टी होती है, जिनकी तुलना मछलियों के चलन पेशियों (locomotary muscles) से की जा सकती है। पृष्ठरज्जु के ऊपर, उसकी पूरी लंबाई में, एक संकीर्ण, नालाकार मेरुरज्जु (spinal cord) स्थित होती है। सभी कशेरुकी एवं कॉर्डेटों में उपर्युक्त विशेषताएँ मिलती हैं, जो ऐसिडियन एवं अन्य सचोलियों को विकास की मुख्य पंक्ति के साथ संबद्ध करती हैं। इसी मुख्य पंक्ति के शीर्ष पर स्वयं मनुष्य भी स्थित है।

बेंगची में तंत्रिका नाल (nerve-tube) का अग्र भाग विस्तृत होकर, मस्तिष्क के आशय (vesicle) का निर्माण करता है, जिसमें दो प्रकार की ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं। ये ज्ञानेंद्रियाँ बेंगची के अभिविन्यास (orientation) को तथा उसे प्रकाश के स्रोत की ओर बढ़ने में सहायता प्रदान करती हैं।

इस प्रकार के बेंगची प्रजातियों के सुदूर विस्तार और प्रसार में सहायक होते हैं। कुछ समय के पश्चात् बेंगची में ह्रासी (degenerative) परिवर्तन प्रारंभ हो जाता है। बेंगची समुद्र तल में डूब जाता है, इसका पुच्छ भाग अचल हो जाता है तथा यह किसी ठोस वस्तु से, अपनी नासा के निकट स्थित तीन आसंजक (adhesive) रचनाओं द्वारा, संबद्ध हो जाता है। इस प्रकार बेंगची में कायांतरण की क्रिया प्रारंभ होती है तथा ऐसी अवस्था की वृद्धि होती है जिसमें यह सर्वप्रथम भोजन ग्रहण करने योग्य हो जाता है। इस नवीन अवस्था में इसका शरीर नालाकार हो जाता है, तथा इसके अग्र भाग में ऊपर की ओर स्थित कीप के आकार का मुख होता है, जिसके द्वारा जल एक विस्तृत ग्रसनी में प्रवाहित होता है। ग्रसनी में प्रत्येक ओर गिल छिद्र (gill slits) होते हैं, जिनके द्वारा जल एक दूसरे कोष्ठ (chamber) में पहुँचकर, फिर वहाँ से एक दूसरे कीप के द्वारा बाहर निकल जाता है। ये कीप क्रमशः अंतर्वाही नाल (Inhalent siphon) एवं अपवाही नाल (Exhalent siphon) कहलाते हैं, और ये नाल सचोली वर्ग के जीवों के मुख्य लक्षण हैं।

प्रौढ़ ऐसिडियन में विस्थापित एवं विकसित बेंगची के इन आवश्यक गुणों के अतिरिक्त कुछ विशेष लक्षण भी मिलते हैं। इनके अंग अधिक विकसित होते हैं एवं आकार अधिक विस्तृत हो जाता है और यौन ग्रंथियाँ भी निर्मित हो जाती हैं। ये जंतु संबद्ध प्रौढ़ावस्था में ह्रासी जंतुओं एवं प्राचीन प्रकार के जंतुओं का निरूपण करते हैं।

यथार्थतः ऐसिडियन आकृति में एक वृहत् कोशिका जैसा होता है, जिसमें प्रवेशार्थ एक अंतर्वाही नाल होता है। ग्रहण किए जल के छानने की क्रिया कोशिका के प्रत्येक ओर स्थित असंख्य गिल छिद्रों के द्वारा होती है। जल वहाँ से बाह्य कोष्ठ में पहुँचकर अपवाही नाल के द्वारा बाहर निकलता है। आहार नाल का शेष संकीर्ण भाग गिल कोष्ठ (gill chamber) के पश्च भाग से प्रारंभ होता है। इसके मुख्य भाग है, ग्रसिका (oesophagus), आमाशय तथा क्षुद्रांत्र। क्षुद्रांत्र ऊपर की ओर मुड़कर अपवाही नाल के निकट खुलता है। अंतर्वाही नाल के द्वार के निकट, स्पर्शिकाओं की एक वृत्ताकार रचना होती है, जो इस छिद्र में बहुत बड़े वस्तुओं को नहीं प्रविष्ट होने देती है। क्षुद्रांत्र के मुड़े भाग के मध्य बहुधा उभयलिंगी यौन ग्रंथियाँ स्थित होती हैं तथा पार्श्व में एक हृदय होता है। मस्तिष्क दोनों नालों के मध्य में स्थित होता है।

अशन साधन (Feeding Mechanism) — अशन साधन के मुख्यतः दो अंग है। एक अंग का कार्य श्लेष्मा (mucus) उत्पन्न करना है, जिसके द्वारा खाद्य पदार्थ के टुकड़े एक साथ श्लेष्मा में लिपटकर एकत्र हो जाते हैं। दूसरे अंग का कार्य जलस्रोत उत्पन्न करना है, जिसके द्वारा खाद्य पदार्थ भीतर प्रविष्ट हो सकें। ये जलस्रोत ग्रसनी की दीवारों में स्थित, असंख्य गिल छिद्रों के पक्ष्माभिका (cilia) अंतःस्तरण (lining) के निर्गामी स्पंदन (outward beating) के द्वारा उत्पन्न होते हैं, एवं अंतर्वाही नाल के द्वारा भीतर प्रविष्ट होते हैं। गिल छिद्रों के द्वारा जल अपवाही नाल के निकट स्थित

परिकोष्ठगुहिका (atrial cavity) में एकत्र होता है, तथा पुन: अपवाही नाल के द्वारा, धार के रूप में, प्रबल वेग से कुछ दूर पर जाकर गिरता है, जिससे वह जल मुख के द्वारा पुन. भीतर नहीं प्रविष्ट हो सके। गिल कोष्ठ में प्रविष्ट होनेवाले जल में भोजन योग्य कई प्रकार के सूक्ष्म जीवित पौधे एवं जंतु होते हैं, जो एंडोस्टाइल (endostyle) से स्रवित श्लेष्मा के द्वारा उलझाकर रोक लिए जाते हैं। भोजन की पाचन क्रिया आमाशय के द्वारा स्रावित पाचक एंजाइमों से होती है। अपचित अवशेष अपवाही नाल के मूल के निकट एकत्र होता है। यहाँ से अपवाही जल के तीव्र स्रोत के द्वारा मलपदार्थ समुचित दूरी पर फेंक दिए जाते हैं।

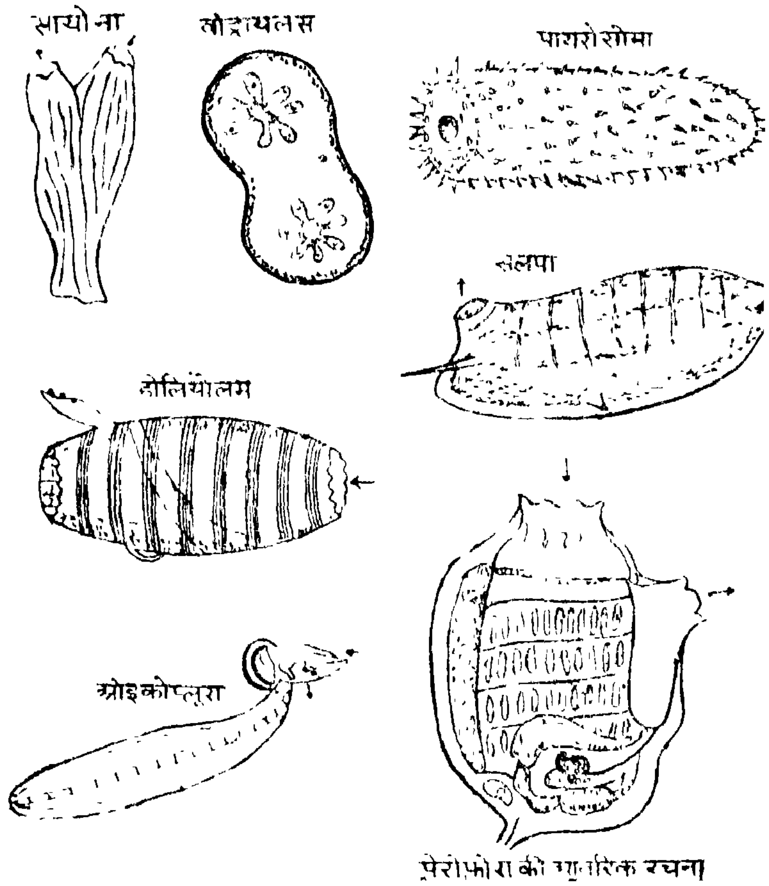
जनन — जनन प्रायः लैंगिक होता है, जिसमें एक अवस्था डिंभ की होती है। कुछ जंतु सजीवप्रजक (viviparous) किस्म के भी होते हैं, जिनमें अंडे एक विशिष्ट प्रकार की भ्रूणधानी में कुछ समय के लिये एकत्र होकर बढ़ते और बेंगची का रूप धारण करते हैं, एवं इसी रूप में बाहर निकलते हैं। कुछ जातियों में अंकुरण के द्वारा भी जनन क्रिया होती है। कई प्रकार के अचर (non-motile) ऐसिडियनों में पौधों की तरह जेमोद्भवन (gemmation) एवं अलैंगिक जनन की क्रिया भी होती है। अधिचर्म (epidermis) के संकुचित होने के फलस्वरूप, भीतरी ऊतकों के कई खंड हो जाते हैं एवं प्रत्येक खंड अंकुरों में परिवर्तित हो जाते हैं। अंकुर शीत ऋतु में नष्ट नहीं होते एवं वसंत के आते ही पुनः नवीन जीवों की वृद्धि करते हैं। कुछ जंतुओं में अंकुर आंशिक रूप में अपने जनक (parent) से जुड़े रहते हैं। ऐसी अवस्था मे दोनों की रुधिरवाहक नलिकाएँ एवं अपवाही नाल संयुक्त होते हैं। इस प्रकार अंकुरण की क्रिया के फलस्वरूप अनेक जंतु (व्यक्तिगत रूप में) वेष्ठन (tunic) के एक ही पुंज में एकत्र होते हैं, एवं एक जंतुसमूह का निर्माण करते हैं। इन जंतुओं में पुनर्जनन (regeneration) की क्षमता भी असाधारण रूप में होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ जातियों की वृद्धि एकल वयस्क के रूप में होती है, जबकि अन्य जातियों में लैंगिक एवं अलैंगिक जनन की अवधि एकांतरित रूप में मिलती है।

वासस्थान का चयन — एकल एवं सामूहिक ऐसिडियन कई प्रकार के वासस्थान के अनुकूल परिवर्तित हो गए हैं। साधारणतया एकल ऐसिडियन आकार मे कुछ अधिक बड़े होते हैं तथा उन्हें अधिक स्थान की आवश्यकता होती है। ये मुख्यत: या तो चट्टानों, स्तंभों या जहाजों के तल भाग के साथ जुड़े होते हैं, या बालू अथवा कीचड़ के भीतर स्थित होते हैं।

अंकुर उत्पन्न करनेवाले, या संयुक्त ऐसिडियन, उपर्युक्त प्रकार के वातावरण में जीवित नहीं रह सकते। ये अधिकांशत: उन समतल धरातलों के साथ जुड़े होते हैं, जहाँ स्वच्छ जल पर्याप्त मात्रा में, परंतु वेग से नहीं, उपलब्ध होता है। जिन जंतुओं में अंकुरण की क्रिया अधिक सक्रिय होती है, उनका आकार छोटा होता है, परंतु उनकी संख्या अधिक होती है। इस प्रकार के जंतुनिवह (colonies) बहुधा क्षेत्रफल में विस्तृत होते हैं, परंतु इनकी मोटाई अधिक नहीं होती। संयुक्त ऐसिडियन अल्प संख्या में अपेक्षाकृत बड़े आकार के अंडों का निर्माण करते हैं। इन अंडों के बेंगचियों की अवस्था में वृद्धि जनक के अलिंद (atrium) या अंडवाहिनी (oviduct) में सुरक्षित रूप में होती है।

सामूहिक ऐसिडियन बहुधा पीले, भूरे, लाल, हरे एवं नीले रंगकणों के द्वारा अभिरंजित होते हैं तथा समूह का आकार तारा सदृश, (जैसे बोट्रिलस (Botryllus) में), सीढ़ी की तरह पंक्तिबद्ध, (जैसे बोट्रिलायड (Botrylloids) में), या गुच्छ के रूप में, जैसा पोलिक्लिनम (Polyclinum) में, होता है।

आर्थिक महत्व — सचोलियों का प्रत्यक्ष आर्थिक महत्व बहुत ही कम है। कुछ जीव तो जहाजों के भीतर सड़ाँध भी उत्पन्न करते हैं। सचोलियों के केवल छ: प्रकार प्राच्य देशों के मनुष्यों (orientals) के द्वारा भोजन के रूप में ग्रहण किए जाते हैं।



विविध प्रकार के सचोली

वर्गीकरण — इनकी लगभग २,००० जातियाँ ज्ञात हैं, जो निम्नलिखित तीन गणों (orders) में विभाजित हैं :

१. ऐसिडिएशिया (Ascidiacea) — ये संलग्न (attached) होते हैं। पृष्ठतल पर अपवाही तथा ग्रसनी में पक्ष्माभिकामय (ciliated) गिल छिद्रों की अनुप्रस्थ पंक्तियों की उपस्थिति इनकी मुख्य विशेषता है; उदाहरण : सायोना (Ciona), मोलगुला (Molgula), बोट्रिलस (Botryllus) आदि।

२. थैलिएसिया (Thaliacea) — ये वेलापवर्ती (pelagic) जीव हैं। इनमें अंतर्वाही और अपवाही नाल शरीर के विपरीत छोर पर स्थित होते हैं, तथा इनके गिलछिद्र साधारणतया लंबे होते हैं, छोटे और पंक्तिबद्ध नहीं; उदाहरण : पाइरोसोमा (Pyrosoma), डोलाइओलम (Doliolum), सैल्पा (Salpa) आदि।

३. लारवेसिआ (Larvacea) — ये क्षुद्र वेलापवर्ती जीव हैं। इनकी पुच्छ स्थायी होती है तथा इनकी आंतरिक रचना साधारण होती है; उदाहरण : ऐपेंडिकुलेरिआ (Appendicularia)।

[वि० शं० श्री०]

सड़क निर्माण यात्रियों और माल असबाब को एक स्थान से दूसरे स्थान तक न्यूनतम चालनशक्ति लगाकर पहुँचाने के लिये सड़कों का निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि बनाने में व्यय भी कम हो और पीछे देखभाल भी बहुत महँगी न हो। सभी देशों में सड़क विकास की प्रारंभिक अवस्था में, जब गाड़ियाँ धीमी गति से चला करती थीं, सड़क के मध्य के पक्के भाग के (जिसे पक्का गोला भी कहा जाता है) संरचनात्मक पहलू पर, उसके ज्यामितिक रूप की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाता था। मोटर गाड़ियों की संख्या और उनकी गति में वृद्धि होने पर, सड़क के डिज़ाइन में उसके ज्यामितिक रूप का महत्व बहुत बढ़ गया है। यह उचित भी है, क्योंकि पक्के गोले की रचना में तो यातायात की आवश्यकता के अनुसार बाद में सुधार हो सकता है, पर मोटरों का वेग बढ़ने पर यात्री की सुरक्षा और सुख के अनुसार सड़क के ज्यामितिक रूप को, स्थानीय अवस्थाओं के कारण, बदलना बहुत कठिन हो जाता है, यद्यपि वह व्यय के लिहाज से निषिद्ध न हो।

सड़क निर्माण में कार्य के कई चरण हैं : क्षेत्र सर्वेक्षण, मिट्टी सर्वेक्षण, यातायात सर्वेक्षण, ज्यामितिक डिज़ाइन, संरचनीय डिज़ाइन और वास्तविक निर्माण क्षेत्र। सर्वेक्षण के भी तीन अंग हैं : पहला 'टोह' सर्वेक्षण, जिसमें इलाके के प्राकृतिक लक्षण और अन्य स्थानीय अवस्थाओं को इस दृष्टि से देखा जाता है कि कौन कौन से वैकल्पिक मार्ग संभव हैं और उनके क्या हानि लाभ होंगे; दूसरा प्रारंभिक सर्वेक्षण, जिसमें संभावित मार्गों पर प्रभाव डालनेवाले प्राकृतिक लक्षणों को विस्तारपूर्वक देखा जाता है तथा तीसरा 'अंतिम रेखांकन सर्वेक्षण', जिसमें चुनी हुई रेखा का भूमि पर अंकन किया जाता है और आवश्यकतानुसार 'तल' सर्वेक्षण किया जाता है।

'मिट्टी सर्वेक्षण' में उस मार्ग पर मिलनेवाली, निर्माण में काम में आने योग्य मिट्टी और अन्य पदार्थों का परीक्षण किया जाता है।

'यातायात सर्वेक्षण' उस मार्ग पर चलनेवाली गाड़ियों के प्रकार, संख्या, उनके भार आदि का अंदाजा लगाने के लिये किया जाता है।

निर्माण के ज्यामितिक पक्ष हैं : मार्ग की रेखा, सड़क की चौड़ाई, मोड़, क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाधर बाहरी उठान, दूसरे मार्गों के साथ संगम तथा दृष्टि दूरी आदि। यातायात की प्रत्याशित संख्या, भार, वेग और अन्य स्थानीय अवस्थाओं को ध्यान में रखकर उनका डिज़ाइन तैयार किया जाता है।

संरचनीय डिज़ाइन पक्के गोले का किया जाता है। पक्के गोले की सतह का मुख्य उद्देश्य यातायात के लिये दृढ़, पक्का और चिकना रास्ता देना और उसपर पड़नेवाले भार और धक्के या संघट्ट को नीचे की अपेक्षा निर्बल भूमि पर बाँटना है। निर्माण में लगाए जानेवाले पदार्थों के अनुसार पक्का गोला दृढ़ या लचीला होता है। सीमेंट कंक्रीट से बना गोला दृढ़ गोले का उदाहरण है। लचीले गोले वे होते है जो मिट्टी, बजरी, टूटे पत्थर की रोड़ी, कोलतार, बिटुमेन या अन्य ऐसे ही पदार्थों से बनाए जाते हैं।

भारत में सड़कें हाथों के श्रम से, या यंत्रों से, बनाई जाती हैं। देश में मजदूर बहुतायत से मिलते हैं जिसके कारण शारीरिक श्रम का ही अधिकतर प्रयोग किया जाता है, विशेषकर जब योजनाएँ तुरंत बनाई जानेवाली न हों।

सड़क की कुटाई तो मशीनी रोलरों (बेलनों) से ही की जाती है। पिछले दिनों में बड़ी सड़क योजनाओं को शीघ्रता से निबटाने के लिये मशीनों का बहुत प्रयोग हुआ है। अधिकतर काम में आनेवाली मशीनें है : मिट्टी के काम में आनेवाली स्क्रेपर (scraper), समतलक (graders), बुलडोज़र, बेलन (rollers), उलटाऊ ठेले (trippers), खनित्र (excavators) आदि। बिटुमेनी सड़क बनाने के लिये स्वचल स्वमापी और मिश्रक तथा बिछाई की मशीनें (spreaders) आजकल बहुत काम में लाई जाती हैं।

सड़क योजनाओं के लिये परीक्षण और नियंत्रण प्रयोगशालाएँ बहुत आवश्यक हैं। ये प्रयोगशालाएँ अल्प व्यय की डिज़ाइन में ही सहायता नहीं देती हैं, वरन् कार्य को ठीक विशिष्टियों और वांछित गुणों के अनुसार बनाने में भी सहायता देती हैं। अब भारत में सड़क की बड़ी प्रायोजनाओं में ऐसी प्रयोगशालाओं का खूब प्रयोग हो रहा है।

[ज० मि० त्रे०]

सड़क परिवहन किसी देश के आर्थिक विकास के लिये प्रभावशाली परिवहन अनिवार्य है। माल और यात्रियों के ढोने की पर्याप्त सुविधाओं के बिना कोई भी राष्ट्र विकास की उन्नत स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता है।

भारत जैसे देश में, जहाँ लगभग ८० प्रति शत जनता गाँवों में रहती है, वास्तविक प्रगति देहाती क्षेत्रों को पुनर्जीवन प्रदान करने पर ही निर्भर है। इसके लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता है गाँवों तक पहुँचने की, अर्थात् परिवहन सुविधाओं के एक सुसमन्वित जाल की।

घोड़ागाड़ियों द्वारा माल ढुलाई महँगी होने और बैलगाड़ियाँ अत्यंत मंदगति की होने के कारण अधिक दूर की ढुलाई के निमित्त सड़कों का प्रयोग सीमित था। रेलपथ बनने पर तो सड़कें अधिक दूर की ढुलाई के लिये और भी कम महत्वपूर्ण रह गई। लगभग सौ वर्ष तक सड़क परिवहन अधिकांशत: स्थानीय ही था और यात्री एवं माल दोनों की ढुलाई के लिये देश में रेलें ही प्रमुख साधन थीं। इसमें संदेह

नहीं कि भारी भरकम माल की लंबी दूरी की ढुलाई में रेलों का ऐसा ही योगदान बना रहेगा, किंतु इनके कार्यक्षेत्र का संकुचित होना इनके विस्तृत उपयोग में बाधक होता है। इसके प्रतिरिक्त रेलों के प्रतिशय विस्तार के बावजूद, विगत दो दशाब्दियों में उद्योग के द्रुत विकास के कारण रेलों की क्षमता सीमा तक पहुँच चुकी है।

रेल परिवहन की अपेक्षा सड़क परिवहन के अनेक लाभ हैं। रेल परिवहन में यात्रा के दोनों सिरों पर माल ढुलाई सड़क से करनी पड़ती है, जब कि सड़क परिवहन प्रात्मनिर्भर है और घर घर पहुँचनेवाली सेवा उपलब्ध करता है। इसमें माल की चढ़ाई उतराई, अथवा स्थानांतरण, अपेक्षाकृत कम होता है, इसलिये यह सस्ता पड़ता है। उठाईगीरी की संभावना और टूट फूट से हानि भी बहुत कम हो जाती है तथा समय की काफी बचत होती है। सड़क-मोटर-परिवहन की वितरण क्षमता स्पष्ट है। इसमें शक्ति का मितव्यय होता है और इसका कार्यक्षेत्र एवं व्यवस्था संकुचित नहीं है। इसके तथा अन्य लाभों के कारण कीमती और अपेक्षाकृत कम भारी भरकम माल ढोने के लिये सड़क परिवहन अत्यंत लोकप्रिय है। फल, शाकभाजी, मुर्गी, अंडा, दूध और मक्खन आदि के लिये सड़क परिवहन की बड़ी माँग है। केवल स्थूल माल की लंबी दूरी की ढुलाई में ही रेल परिवहन सड़क परिवहन की अपेक्षा कुछ अधिक लाभदायी है।

प्रभावशाली रूप से रेलपथ से प्रतियोगिता कर सकने के लिये सड़क परिवहन का नियंत्रण होना चाहिए, ताकि सड़क और उसका आम उपयोग करनेवाले लोग सुरक्षित रह सकें और सड़क परिवहन उद्योग लाभदायी हो सके। सड़क की सुरक्षा गाड़ियों का भार सीमित करने से होती है। सड़क का आम उपयोग करनेवाले लोगों की सुरक्षा सुरक्षा नियमों से होती है, जिनमें ट्रकों और बसों की चौड़ाई, अधिकतम ऊँचाई, गाड़ियों और संमिलित गाड़ियों की लंबाई, गति सीमा तथा गाड़ियों में निश्चित रूप से सुरक्षा साधन संबंधी नियंत्रणात्मक उल्लेख होते हैं।

सड़क परिवहन उद्योग को लाभदाई बनाने के लिये ऐसे नियमों की आवश्यकता है जिनसे स्थिर और उचित दरें सुनिश्चित हो सकें और मोटर परिवहनवाले मनमानी, अथवा गलाकाटू प्रतियोगिता, न कर सकें।

यद्यपि ऐसे नियमों की आवश्यकता सर्वमान्य है, किंतु फिर भी ये सावधानीपूर्वक सोच विचारकर ही लागू किए जाने चाहिए। रेल परिवहन के हित में सड़क परिवहन को अलाभकारी बनाना, इन नियमों का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

चूँकि वर्तमान परिस्थितियों में रेलें अपनी ढुलाई की क्षमता बढ़ाने में असमर्थ हैं, इसलिये निरंतर बढ़ते हुए अतिरिक्त यातायात की आवश्यकता पूरी करने के लिये परिवहन के अन्य साधनों पर जोर बढ़ता जा रहा है। वायु और जल परिवहन की व्यवस्थाएँ सीमित होने के कारण, सड़क और सड़क परिवहन पर ध्यान केंद्रित हो रहा है, ताकि इनका योगदान अधिकाधिक महत्वपूर्ण हो।

परिस्थिति की माँग देखकर, देश के मुख्य इंजीनियरों ने अपनी २० वर्षीय (१९६१-१९८१) सड़क विकास योजना में यह सिफारिश की है कि देश में सड़कों की लंबाई बढ़ाकर दूनी कर दी जाय जिसमें ५,२०० करोड़ रुपया व्यय होगा। यद्यपि देखने में पूंजी निवेश के ये आँकड़े बहुत बड़े दिखाई पड़ते हैं, फिर भी लक्ष्य, प्रति वर्ग मील क्षेत्रफल में, केवल ०.५२ मील लंबी सड़कों का होगा, जबकि संयुक्त राज्य, अमरीका, में प्रति वर्ग मील में एक मील लंबी, ग्रेट ब्रिटेन में प्रति वर्ग मील में २.०० मील लबी और फ्रांस में प्रति वर्ग मील में ३.०४ मील लंबी सड़कें हैं।

सड़क परिवहन के लिये केवल सड़कों और पुलों का होना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उनका राष्ट्रहित में उपयोग करना होगा, और भली भाँति उपयोग करना होगा। तात्पर्य यह है कि मोटर-परिवहन उद्योग और पूरक उद्योगों का भी उचित विकास होना चाहिए।

अभी अनेक भारी करों के कारण गाड़ियों के चलाने की लागत बहुत अधिक आती है। सड़क परिवहन की लागत घटाने और क्षमता बढ़ाने की दिशा में, एक प्रगतिशील चरण ट्रकों के पीछे ठेला लगाना तो है ही, किंतु समस्या का दूरगामी समाधान तो परमिटों पर क्रियाविधि संबंधी अवरोधों के रूप में लगी विविध पाबंदियों को हटाना और भारी करभार घटाना ही हो सकता है। सड़कों की सतहें भी सुधारनी चाहिए, क्योंकि सड़कों की हालत बुरी होने से गाड़ियों के चलाने का व्यय बहुत बढ़ जाता है।

अंतरप्रदेशीय यातायात के लिये निकटस्थ राज्यों के बीच पारस्परिक ठहराव तो है, किंतु जारी किए जानेवाले परमिटों की संख्या नितांत अपर्याप्त है। देश में गाड़ियाँ भी काफी नहीं बनतीं।

देश की परिवहन आवश्यकता पूरी करने के लिये, मोटर परिवहन उद्योग का और भी तेजी से विकास होना चाहिए। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि इस उद्योग में बहुत अधिक व्यक्तियों को काम में लगाने की क्षमता भी है। अनेक बाधाओं के होते हुए भी, यह अनुमान है कि इस समय २४ लाख व्यक्ति इस उद्योग में लगे हैं।

भारत में मोटर गाड़ियों की संख्या

(३१-३-६४ को)

मोटर साइकिल	१,५५,७७६
स्वचालित रिक्शे	१०,६१६
जीपें	३१,५६७
निजी कारें	३,२७,३३७
टैक्सियाँ	३१,४८६
बसें	६५,८६६
माल ढोनेवाली गाड़ियाँ	२,२५,५८१
विविध	५१,३१०
कुल योग	८,६६,६७५

[ज० मि० त्रे०]

सड़क सतह का निर्माण किसी सड़क का काम केवल यही नहीं है कि वह गाड़ियाँ चलाने के लिये पर्याप्त पुष्ट हो, बल्कि वह गाड़ियों के भार और मौसम के प्रभाव से होनेवाली टूट फूट भी सहे। स्थानीय

मिट्टी में ये सब उद्देश्य भली भाँति पूरा करने की सामर्थ्य, संभव है, न हो, अतः संरचना की दृष्टि से उपयुक्त सतह की व्यवस्था करने का बड़ा महत्व है। संरचनात्मक दृष्टिकोण से उपयुक्त होने के अतिरिक्त सड़क की सतह में सर्वाधिक अपेक्षित गुण ये हैं: अशोषकता, उत्तम जल निकास और चलने के लिये चिकना पृष्ठ, जो इतना चिकना न हो कि गाड़ियों के पहिए फिसलने की नौबत आए।

स्थिरीकृत मिट्टीवाली निकृष्ट कोटि से लेकर, सीमेंट और ऐस्फाल्टी कंक्रीट की उत्कृष्ट कोटि तक की विभिन्न प्रकार की सतहें होती हैं। इनके बीच बजरी की, पानीकुटी मैकेडम और हलके बिटूमेनी आवरणवाली सड़कें होती है।

स्थिरीकृत मिट्टी, स्थानीय मिट्टी में बाहर से लाई हुई किसी दूसरी श्रेणी की मिट्टी, अथवा चूना, सीमेंट मिलाकर किसी रसायन से उसका उपचार करके तैयार की जाती है। इसके फलस्वरूप एक स्थिर मिश्रण प्राप्त होता है। इसका उद्देश्य मिट्टी का सामर्थ्य संबंधी गुण सुधारना है। किंतु इस प्रकार प्राप्त सामर्थ्य बहुधा भारी बोझ वहन करने के लिये अपर्याप्त होती है। इसलिये स्थिरीकृत मिट्टी की सिफारिश केवल गाँवों की, अथवा हलके यातायातवाली, सड़कों के लिये ही की जाती है।

बजरी डालकर कच्ची सड़क सुधारना और उसे औसत दर्जे के यातायात के योग्य बनाना, कम खर्च का एक तरीका है। इसमें बजरी या मुरम का प्रयोग होता है, जो सड़क की सतह पर तीन से छह इंच मोटी बिछा दी जाती है। ऐसा प्रति वर्ष, अथवा कुछ अधिक कालांतर से किया जाता है। इस प्रकार करते करते काफी स्थिर सतह बन जाती है।

पानी कुटी मैकेडम भारत में सड़कों की परंपरागत सतह रही है। इसमें तोड़े हुए पत्थर या कंकड़ की भली भाँति जमी हुई दो या अधिक तहें होती हैं। निचली तह से लगभग छह छह इंच के पत्थर, या कंकड़, या ४½ इंच मोटी ईंटे सावधानीपूर्वक हाथ से जमा दी जाती हैं। ऊपरी तह १½ इंच से २ इंच माप के पत्थर या कंकड की गिट्टी की होती है। रिक्त स्थान मुरम, बजरी, या अन्य ऐसे ही पदार्थ से भर दिए जाते हैं; तदनंतर पहले सूखी और फिर पानी डालकर कुटाई की जाती है। हलका और मंदगामी यातायात हो तो पानीकुटी मैकेडम की सतह अच्छा काम देती है, किंतु हवा भरे पहियों वाली तेज गाड़ियों के लिये यह बहुत अच्छी नहीं होती।

जैसे जैसे सड़कों पर तेज चाल का यातायात बढ़ता गया, चलने के लिये धूलरहित, चिकनी सतह वाली सड़कों की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव हुई। बिटूमेनी सतहें इस समस्या का एक हल हैं। यातायात के अनुरूप ये विभिन्न प्रकार की होती हैं। सब में साधारण इकहरे या दोहरे आवरणवाली सतह होती है। इकहरे आवरणवाली सतह, झाड़कर भली भाँति साफ की हुई सूखी पानीकुटी मैकेडम पर बिटुमेन छिड़ककर, उसपर पत्थर का जीरा फैलाकर, रोलर से कूटकर तैयार की जाती है। इस प्रकार बिटुमेन ऊपर की ओर चढ़कर जीरे को भली भाँति बाँध देता है। पहले की काली सतह पर बाद के आवरण भी इसी प्रकार चढ़ाए जाते हैं।

बिटुमेनी गच, सड़क पर कुटी हुई गिट्टी के ऊपर पिघला हुआ बिटुमेन फैलाकर तैयार की जाती है। इस प्रकार बिटुमेन गिट्टी के अंतरालों में घुस जाता है।

यद्यपि ऐसी सतहें औसत से लेकर भारी यातायात तक वहन कर सकती हैं, फिर भी इनमें एक अंतर्निहित दोष यह होता है कि इनमें बिटुमेन का फैलाव एकसा नहीं होता। यदि सड़क पर फैलाने और कूटने के पहले ही पत्थर का जीरा और बिटुमेन परस्पर मिला लिए जाएँ, तो यह दोष दूर हो सकता है। इस प्रकार पूर्व-मिश्रण से प्रयोग के लिये अच्छी सतह प्राप्त होती है। भारत में सड़कों के लंबे लंबे भाग इसी प्रकार तैयार हुए हैं।

यदि पत्थर का जीरा और बिटुमेन के साथ बालू और अत्यंत बारीक भरत भी उचित अनुपात में मिला ली जाती है, तो मिश्रण 'सघन मिश्रण' या 'डामरी' कंक्रीट कहलाता है। डामरी कंक्रीट से उत्कृष्टतम कोटि की बिटुमेनी सतह तैयार होती है, जो भारी यातायात में भी २०-२५ वर्ष तक कोई कष्ट नहीं देती। यह सतह महँगी होती है, अतः इसका औचित्य भारी यातायातवाली सड़कों में या बड़े शहरों में ही हो सकता है।

ऊपर वर्णित सभी प्रकार की सतहें नम्य फर्शों की कोटि में आती हैं। दूसरी कोटि अनम्य फर्शों की होती है, जिसके अंतर्गत सीमेंट कंक्रीट की सड़कें आती हैं। सीमेंट कंक्रीट से, मुख्यतया उसकी कठोरता और टिकाऊपन के कारण, सड़क की बहुत अच्छी सतह प्राप्त होती है। अपनी उच्च प्रत्यास्थता के कारण सीमेंट कंक्रीट अपने ऊपर आनेवाला भार अपेक्षाकृत बड़े आधारक्षेत्र पर वितरित कर सकती है, फलतः इसके लिये विशेष मजबूत आधार तैयार करना आवश्यक नहीं होता। भली भाँति आकल्पित और निर्मित सीमेंट कंक्रीट की सतह भारी यातायात वहन करते हुए भी २०-२५ वर्ष तक टिक सकती है।

किसी सड़क के लिये किस प्रकार की सतह उपयुक्त होगी, इसका चुनाव करने में यातायात की प्रगाढ़ता एवं प्रकार, सड़क का महत्व, और धन की उपलब्धता सरीखे घटक ध्यान में रखने चाहिए। प्रारंभ में सोच विचारकर व्यय किया हुआ धन बाद में घटी हुई अनुरक्षण लागत के रूप में भली भाँति वसूल हो सकता है। निवारक उपाय उपचार से उत्तम होता है। यह सड़क के लिये उपयुक्त सतह चुनने के क्षेत्र में भी भली भाँति लागू होता है। [ज० मि० ग्रे०]

सड़क, स्थिरीकृत मिट्टी की भारत एक विशाल देश है। यहाँ सभी मौसमों में प्रयुक्त होनेवाली, लंबी लंबी सड़कों की तत्काल आवश्यकता है, ताकि देश के आर्थिक विकास के लिये कृषि उपज तथा कच्चे मालों का आवागमन सुचारु रूप से हो सके।

सभी मौसमों में प्रयुक्त होनेवाली, कम लागत की सड़क पानी कुटी मैकेडम (water bound macadam) सड़क है। यदि पत्थर, निर्माणस्थल के समीप उपलब्ध हो, तो ऐसी सड़क का निर्माण-व्यय कम पड़ता है। पर अधिकांश क्षेत्रों में यह अत्यधिक खर्चीला

होता है, क्योंकि पनकुटी मैकैडेम के संतोषजनक निर्माण के लिये कठोर पत्थरों को काफी दूर से ले आना पड़ता है।

इसका विकल्प निम्न कोटि के सुलभ पदार्थों, जैसे कंकड़, ईंट की गिट्टी, मूरम, लैटेराइट आदि से बनी पनकुटी मैकैडेम सड़क है। उपर्युक्त पदार्थ अधिकांश क्षेत्रों मे निर्माण स्थल के समीप ही उपलब्ध होते है, परंतु इस सडक में दोष यह है कि ऐसी पानी कुटी मैकैडेम सड़क के निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले निम्न कोटि के पदार्थो के कठोर किनारे, बार बार यातायात भार पड़ने के कारण, सड़क सतह (road crust) के अंदर घिसकर टूट जाते हैं। इससे धीरे धीरे अंतःग्रथन (interlock) कम होता जाता है और अंत मे सड़क की सतह कमजोर होकर नष्ट हो जाती है।

दीर्घकालिक अनुसंधान के फलस्वरूप यह पता चला है कि ऐसा ह्रास रोका जा सकता है। इसके लिये उच्च कोटि की मिट्टी में निम्न कोटि का मिलावा मिला दिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त मैट्रिक्स (matrix) की शक्ति, मिलावे के अंतःग्रथन से न प्राप्त होकर मिट्टी गारे की ससंजकता (cohesiveness) से प्राप्त होती है। मिट्टी और मिलावे का अनुपात इस प्रकार निश्चित किया जाता है कि मिलावे के प्रत्येक कण के चारो ओर काफी मिट्टी रहे। ऐसा केवल मिलावे के कण को पिसने से बचाने के लिये ही नही, अपितु संलग्न कणों को एक साथ रखने तथा संहत ढेर को, उस क्षेत्र की विभिन्न आर्द्र परिस्थितियों में, आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने के लिये भी किया जाता है।

उपर्युक्त परिणामो के आधार पर यंत्र द्वारा स्थिरीकृत मिट्टी की सड़क के निर्माण की एक सस्ती विधि का विकास हुआ है, जो दीर्घकाल तक सफल प्रमाणित हुई है।

यह विशिष्ट विधि (specification) पिछली दो दशाब्दियों के अनुसंधान तथा २०० मील से अधिक स्थिरीकृत मिट्टी मार्ग के डिजाइन, निर्माण तथा रख रखाव से प्राप्त अनुभव का परिणाम है।

इस विशिष्ट विधि की सिफारिश निम्नलिखित जलवायु एवं यातायात संबंधी परिस्थितियों के लिये की गई है :

वर्षा — प्रति वर्ष ६० इंच तक हो।

अवभूमि जलतल — भूमि तल से छह फुट से कम दूर न हो।

अधिकतम यातायात — ऊबड़ खाबड़ सड़कों के लिये औसत मिश्रित यातायात अधिक से अधिक लगभग ५० टन प्रति दिन हो।

चिकनी सतहवाली सड़कों के लिये, औसत मिश्रित यातायात लगभग २०० टन प्रति दिन हो।

विशिष्ट विधि — (क) जहाँ बिटुमेनी सतह का उपचार न करना हो :

(१) **निचली तह** (Course) — ४ से ७·५ तक की सुघट्यतासूचक (plasticity index) मिट्टी, जिसमे बालू की मात्रा ५० % से कम न हो, अनुकूलतम नमी पर बिछाकर, लगभग आठ टन वाले रोलर से तब तक दबाई जाती है जब तक सूखे ढेर का घनत्व १·८ ग्राम प्रति घन सेमी० न हो जाय। एकत्रित मिट्टी में सोडियम सल्फेट की मात्रा भार में ०·१५ % से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(२) **ऊपरी तह** (Wearing Course) — ७·५ तक की सुघट्यतासूचक मिट्टी का जिसमें बालू की मात्रा ३३ % से कम न हो, दो भाग तथा ईंट गिट्टी, मूरम (moorum), कंकड़ या लैटेराइट (laterite) के मिलावे (aggregate) का एक भाग मिलाकर, मिश्रण तैयार किया जाता है। मिलावे का आकार ऐसा होना चाहिए जो १·२५ इंच वाली चलनी से चल जाय तथा जिसका २० % से अधिक भाग ०·२५ इंच वाली चलनी से न चले। मिलावे का संघट्ट मान (impact value) ४० से ५० % तक होना चाहिए। मिट्टी तथा मिलावे के मिश्रण को अनुकूलतम नमी (optimum moisture) पर बिछाकर, लगभग आठ टन वाले रोलर से तब तक दबाया जाता है जब तक सतह पर यह कोई निशान न छोड़े।

(ख) जहाँ बिटुमेनी (bituminous) सतह का उपचार करना हो :

(१) **निचली तह** — ४ से ७·५ तक की सुघट्यतासूचक मिट्टी को, जिसमे बालू की मात्रा ५० % से कम न हो, बिछाकर, लगभग आठ टन वाले रोलर से तब तक दबाया जाता है जब तक सूखे ढेर का घनत्व १·९ ग्राम प्रति घन सेमी० न हो जाय। एकत्रित मिट्टी मे सोडियम सल्फेट की मात्रा भार में ०·१५ % से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(२) **निचला स्तर या ऊपरी तह** (Base Coat) — ७·५ से ९.५ तक की सुघट्यतासूचक मिट्टी का, जिसमे बालू की मात्रा ३३ % से कम न हो, दो भाग और ईंट, गिट्टी, कंकड़, मूरम या लैटेराइट के मिलावे का एक भाग मिलाकर, मिश्रण तैयार कर लिया जाता है। मिश्रण तैयार करने के पूर्व मिलावे का १० % भाग बचा लिया जाता है, जो बाद में मिश्रण के ऊपर, दबाई के पूर्व, डाला जाता है। मिलावे का आकार ऐसा होना चाहिए जो १·२५ इंच वाली चलनी से चाला जा सके तथा जिसका २० % से अधिक भाग ०·२५ वाली चलनी से न चाला जा सके। मिलावे का संघट्ट मान ४० % से ५० % तक होना चाहिए। मिट्टी और मिलावे में इतना पानी बहना चाहिए कि लगभग ८ टन रोलर से दबाने पर तले पर कोई निशान न बने।

(३) **डामर बिछाई** (Surface Dressing) — निचली तह के कुछ दिनों तक सूखने के बाद निचले स्तर की सतह पर, २० पाउंड प्रति १०० वर्ग फुट क्षेत्र की दर से सोख बंधक (primer — यह बिटुमेन के ३० भाग तथा अाष्ट्र तेल के १०० भाग का मिश्रण होता है) डाला जाता है। जब सोख बंधक सतह द्वारा सोख लिया जाता है, तब सतह पर दो बार पुन: डामर अथवा पूर्व मिश्रण (premix) डालकर, सतह को परिष्कृत कर लेते है। डामर बिछाई के लिये प्रयुक्त ककड़ी (grit) का संघट्ट मान २५ से अधिक नहीं और डामर छूटने का मान (stripping value) १५ से २० होना चाहिए।

(ग) जहाँ पत्थर बंध के साथ बिटुमेनी सतह का उपचार करना भी हो :

(१) निचला तह — ४ से ७·५ तक की सुघट्यतासूचक मिट्टी को, जिसमें बालू की मात्रा ५० % से कम न हो, अनुकूलतम नमी पर बिछाकर, लगभग आठ टनवाले रोलर से तब तक दबाई की जाती है, जब तक सूखे ढेर का घनत्व १·६ ग्राम प्रति घन सेमी० न हो जाय। एकत्रित मिट्टी में सोडियम सल्फेट की मात्रा, भार में ०·१५ % से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(२) निचले स्तर की ऊपरी तह — ७·५ से ६ तक की सुघट्यतासूचक मिट्टी का, जिसमें बालू की मात्रा ३३ % से कम न हो, दो भाग और ईंट की मिट्टी, कंकड़, मूरम या लैटेराइट के मिलावे के एक भाग को मिलाकर मिश्रण तैयार कर लिया जाता है। मिलावे का आकार ऐसा होना चाहिए जो १·२५ इंच वाली चलनी से चाला जा सके तथा जिसका २० % से अधिक भाग ०·२५ इंच वाली चलनी से न चाला जा सके। मिलावे का संघट्ट मान ४० से ५० % के लगभग होना चाहिए। मिलावे तथा मिट्टी के मिश्रण को अनुकूलतम नमी पर बिछा दिया जाता है और बाद में इसको सात से आठ घन फुट प्रति १०० वर्ग फुट की दर से, एक इंच आकारवाली पत्थर की रोड़ियों से ढँक दिया जाता है। पत्थर की रोड़ी के मिलावे का संघट्ट मान २५ से अधिक नहीं होना चाहिए। तत्पश्चात् सड़क की दबाई लगभग आठ टनवाले रोलर से तब तक की जाती है जब तक सतह पर कोई निशान न पड़े।

(३) डामर बिछाई — यह दो बार होनी चाहिए। इसके लिये पूर्व मिश्रण का भी प्रयोग किया जाता है। डामर बिछाने के लिये प्रयुक्त होनेवाली कंकड़ी का कुल संघट्ट मान २५ से कम और डामर छूटने का मान (stripping value) १५ से २० तक होना चाहिए (केंद्रीय सड़क शोध संस्थान के शोधपत्र संख्या १८, 'बिटुमेनी बंधकी का छूटना' के अनुसार)। [सी० रा० मे०]

सड़कें (भारत की) एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिये भूपृष्ठ पर बनी रचना को पथ, मार्ग, रथ्या या सड़क कहा जाता है। भारत में प्राचीन काल से ही मार्गों का निर्माण होता रहा है। संसार के सबसे पुराने साहित्य वेदों में अश्व जुते हुए रथों का उल्लेख है, जो बनाए गए मार्गों पर तीव्र गति से चलते थे। रामायण और महाभारत में भी ऐसे रथों और मार्गनिर्माण की विधियों का वर्णन है। पाणिनि के विख्यात व्याकरण अष्टाध्यायी में अजपथ, हस्तिपथ और रथपथ का उल्लेख है तथा पाणिनि का समय निश्चय ही ईसा पूर्व पाँचवीं शती है। उस समय के मुख्य पथ, पाटलिपुत्र से गंधार तक उत्तर पथ, कोशांबी से प्रतिष्ठान तक दक्षिण पथ और विंध्यपर्वत को पार करते हुए पश्चिमी समुद्र के तटनगर भारुकच्छ तक पूर्व-पश्चिम पथ थे। इन मार्गों पर यात्रियों के सुख के लिये सब सुविधाएँ थीं। भारत से बाहर विदेशों में यद्यपि ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व तक सड़कों के होने के संकेत मिले हैं, पर यह निश्चित है कि ईसा से ५०० वर्ष पहले दो बड़ी सड़कें मेडिटरेनियन (भूमध्य) सागर को फारस की खाड़ी के ऊपरी सिरे से मिलाती थीं। लगभग २०० ईसवी तक रोमन साम्राज्य को चीन से मिलानेवाले रेशम और अन्य विलास सामग्री के व्यापार के लिये सार्थवाह मार्ग थे। रोमन साम्राज्य की शक्ति बढ़ने पर यूरोप में पत्थर से पटी सड़कों का जाल फैल गया। भारत में भी इसी काल में मौर्यसाम्राज्य (ईसा पूर्व चौथी शती) और गुप्तकाल (ईसवी पाँचवीं शती तक) मार्गनिर्माण और उसके प्रबंध में बहुत विकास हुआ।

भारत के प्राचीन साहित्य में भी मार्ग के निर्माण की विधियों का वर्णन मिलता है। आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) के अर्थशास्त्र में रथपथ, राजमार्ग, सैनिक स्थान, श्मशान आदि को जानेवाले मार्गों की चौड़ाई निश्चित की गई है और कहा है कि वे बीच में कछुए की पीठ की तरह उभरे हुए हैं। मानसार वास्तुशास्त्र में लिखा है कि सड़कों पर कंकड़ कूटी जाए और भवनों के द्वार राजमार्गों पर न खुलें, क्योंकि यह यातायात के लिये भयावह है। रथ, घोड़े, पैदल आदि के लिये पृथक् पथ हो और नगरों में चौराहों पर प्रकाश का प्रबंध हो। सड़कों पर कूड़ा करकट आदि फेंकना जुर्म माना जाता था।

मध्यकाल में सड़कें — सम्राट् हर्ष (आठवीं शताब्दी) के पश्चात् केंद्रीय शासन शिथिल हो जाने से मार्गों की दशा बिगड़ने लगी और १२वीं शताब्दी तक ऐसा ही रहा। १३वीं शताब्दी में पठान शासन स्थापित होने पर सड़कों की दशा में फिर सुधार होने लगा। सड़कों के निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य बादशाह शेरशाह सूरी के अल्प राजकाल (१५४० से १५४५ ई० तक) में हुआ। उसने बंगाल के सुनारगाँव से पंजाब में रोहतास तक पुराने उत्तर पथ का पुनरुद्धार किया। शेरशाह ने उत्तर पथ पर कंकड़ कुटवाए, पेड़ लगवाए, कुएँ खुदवाए और सराएँ बनवाईं। आगरे से दक्षिण में बुरहानपुर तक और पश्चिम में चित्तौड़ और जोधपुर तक सड़कें बनवाईं। शेरशाह के पश्चात् मुगल काल में अकबर और जहाँगीर ने भी सड़कों का सुधार जारी रखा। आगरे से लाहौर की सड़क पर कोस कोस पर मीनारें बनवाईं, जो दूर से ही कोस के पूरा होने की सूचना देती थीं। अनेक बड़ी बड़ी सराएँ बनवाईं, जिनमें से कुछ के खंडहर अब भी मौजूद हैं। १७५६ ईसवी में राय चतुर्मान कायथ की लिखी चहारगुलशन पुस्तक में २४ महान राजमार्गों का उल्लेख है, जिनमें मुख्य ये हैं :

(१) पटना-बनारस-दिल्ली-करनाल-लाहौर-पेशावर।

(२) दिल्ली-अजमेर-अहमदाबाद-सूरत।

(३) दिल्ली-आगरा-ग्वालियर-गोलकुंडा-बीजापुर।

(४) बीजापुर-औरंगाबाद-उज्जैन।

(५) लाहौर-श्रीनगर।

दक्षिण भारत में सातवाहन, चोल और चेर राजवंशों के शासनकाल में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतटों के पत्तनों को जानेवाली अनेक सड़कें बनवाई गईं। चालुक्य राजाओं ने भी सड़कों का बहुत सुधार किया। दक्षिण के मुख्य मार्ग ये थे :

(१) पूना-औरंगाबाद-जाल्पा-विजयवाड़ा (पूर्वी समुद्रतट)।

(२) कालीकट-रामेश्वरम्।

(३) पूना से समुद्री तट के साथ साथ दक्षिण तक ।

सड़कों के रास्ते में पड़नेवाली नदियों पर नाव के पुल बनाए जाते थे, जो बरसात में तोड़ दिए जाते थे और यात्री एवं माल नाव से नदी पार जाते थे। छोटे छोटे नालों पर डाटदार ईंट या पत्थर के पुल होते थे, जिनमें से कई अब भी मौजूद हैं, जैसे जौनपुर, करनाल और दिल्ली में।

अंग्रेजी शासनकाल में मार्गनिर्माण — अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के शिथिल पड़ जाने और केंद्रीय अनुशासन ढीला होने पर सड़कों की दशा बिगड़ने लगी। उसी शताब्दी में एक ओर तो तीन विदेशी शक्तियाँ, ब्रिटेन, फ्रांस और डच, आपस में भारत पर अधिकार जमाने के लिये बलप्रदर्शन कर रही थीं और विविध प्रदेशीय शासक एक दूसरे से लड़ रहे थे, जिसके कारण केवल सैनिक महत्व की कुछ सड़कों की देखभाल के अतिरिक्त अन्य सड़कें बिगड़ी जा रही थीं। १९वीं शताब्दी में ब्रिटिश राज के भारत में पैर जमाने पर, गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिक (१८२८-१८४३), ने सार्वजनिक मार्गनिर्माण की ओर ध्यान दिया। पहले पहल महान् उत्तर पथ, जिसे ग्रैंड ट्रंक रोड नाम दिया गया, सुधारा गया। कलकत्ते से दिल्ली तक की सड़क को सुधारकर उसपर कंकड़ कुटवाकर पक्का किया गया और जगह जगह नए पुल बनवाए गए। सन् १८३५ तक यह सड़क करनाल तक, जो दिल्ली से ७५ मील दूर लाहौर की ओर है, बन गई थी। आगरे में बंबई की सड़क पर भी काम प्रारंभ किया गया।

लार्ड डलहौजी (१८४८-१८५६ ई०) का शासनकाल सड़क निर्माण के लिये और भी अधिक महत्वपूर्ण रहा। उन्होंने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये प्रत्येक सूबे में सार्वजनिक निर्माण विभाग स्थापित किया, जिसमें इंग्लैंड के प्रशिक्षित इंजीनियर नियुक्त किए गए। अंबाले से कालका-शिमला तथा तिब्बत तक सीधी सड़कें आरंभ की गईं। लाहौर से पेशावर और खैबर दर्रे तक बिलकुल नई सड़क बनवाई गई, जिसपर पंजाब के चीफ इंजीनियर सर नैपियर और कर्नल एलैक्जैंडर टेलर का कार्य विशेष महत्वपूर्ण रहा।

सन् १८५७ में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के कारण सड़क निर्माण का कार्य कुछ ढीला पड़ा, पर शीघ्र ही सारे भारत में मार्गनिर्माण का कार्य चालू हो गया।

रेल मार्ग से स्पर्धा — इस प्रकार मार्गों के निर्माण में तीव्र प्रगति हो रही थी कि सन् १८५२ में बंबई से कल्याण तक भाप के इंजन से खींची जानेवाली प्रथम रेलगाड़ी चली। सन् १८७५ तक सारे देश में रेल की पटरियों का जाल सा बिछ गया। इन रेल मार्गों पर बड़ी से बड़ी नदी और छोटे से छोटे नालों पर पुल बनाए गए। रेल गाड़ी की चाल भी तेज थी, घंटे में चालीस मील तक। इसलिये जिस जिस मार्ग के साथ रेल की पटरी बिछती गई, वहाँ लोगों ने सड़क की यात्रा छोड़कर रेल मार्ग को अपनाना प्रारंभ किया। उस समय तक सड़क पर तेज चलनेवाला वाहन घोड़ागाड़ी ही थी, जिसकी चाल दस बारह मील प्रति घंटे से अधिक न थी और रास्ते में बिना पुलवाली नदी एवं नाले बाधा थे। माल भी रेलगाड़ी से ढोया जाने लगा। इसलिये जिन मार्गों पर रेल चलने लगी वहाँ सड़क का उपयोग घट गया। उनकी देखभाल से भी ध्यान हट गया और उनकी दशा बिगड़ने लगी।

उत्तर शासन में भी गवर्नर जनरल, लार्ड रिपन, ने स्थानीय निकायों को सबल बनाने की नीति अपनाई और कुछ महत्वपूर्ण मार्गों को छोड़कर, अन्य सड़कों की देखभाल और नई सड़कों का निर्माण जिला बोर्डों के हवाले कर दिया।

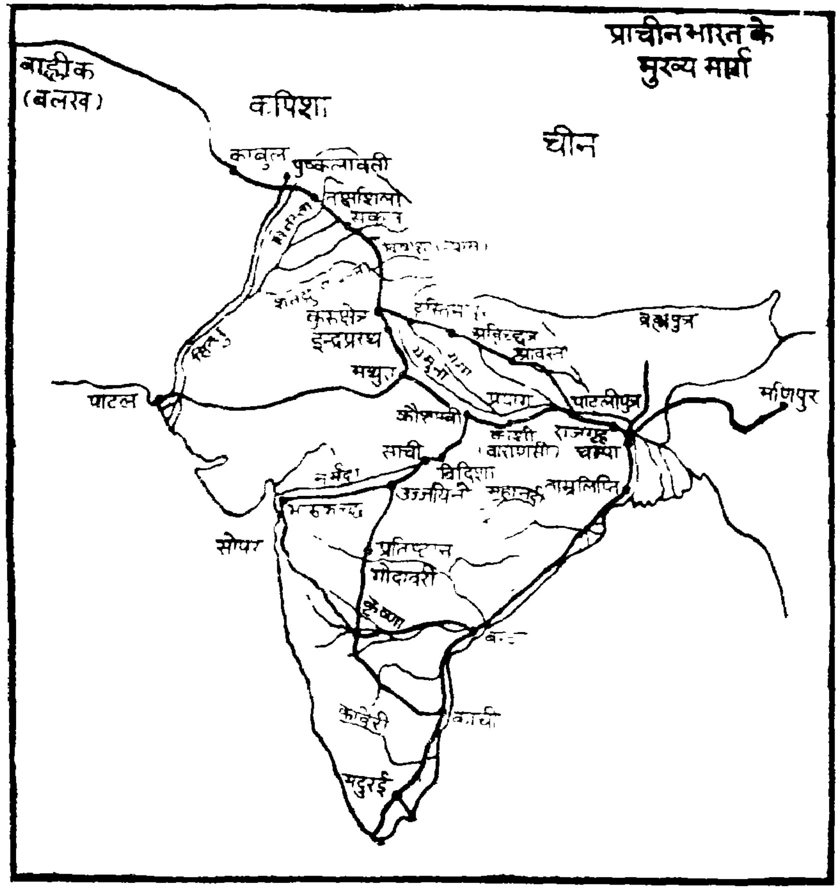
२०वीं शती का प्रथम चौथा भाग — २०वीं शती के प्रथम दशक में ही पेट्रोल से चलनेवाली मोटरगाड़ी का आविष्कार हुआ और उसका प्रयोग बढ़ने लगा। उसकी चाल रेलगाड़ी की तरह तेज थी और उसमें यात्रा सुखदायक भी थी। मोटरगाड़ी के भारत में पहुँचने पर, धीरे धीरे उसका प्रयोग बढ़ने लगा और यात्री बस और माल ढुलाई के ट्रक व्यवहार में आए। सन् १९१४ से १९१९ तक के प्रथम विश्वयुद्ध में सैनिक परिचालन के लिये सड़कों का महत्व समझा गया। इसलिये सन् १९१९ के पश्चात् भारत सरकार का ध्यान फिर सड़कों के सुधार की ओर गया और जनता ने भी मोटर गाड़ी चलाने के लिये अच्छे मार्गों की माँग की।

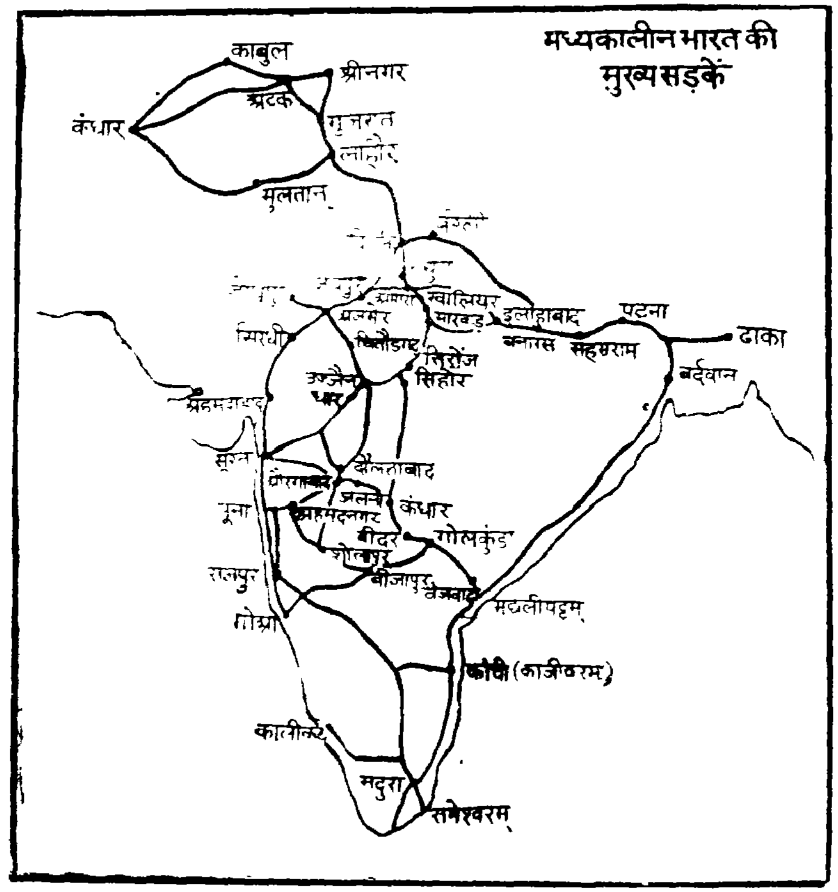
२०वीं शती का दूसरा चौथा भाग — उपर्युक्त माँग की चरम सीमा १९२७ ई० में भारतीय धारासभा के दोनों सदनों के उस प्रस्ताव के पारित होने पर हुई जिसमें भारत में सड़क विकास के प्रश्न को जाँचकर रिपोर्ट तैयार कराने का निश्चय था। इस प्रस्ताव के अनुसार भारत सरकार ने श्री एम० आर० जयकर की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की। इस समिति के सचिव श्री के० जी० मिचल नियुक्त किए गए, जो पंजाब सूबे में सड़कों के इंजीनियर थे और जिन्होंने उस सूबे के सड़कों के, सन् १९२१ के बाद के, विकास में महत्वपूर्ण योग दिया था।

इस समिति ने, जो जयकर समिति कहलाई, एक वर्ष तक सारे देश में भ्रमण करके और जनता के प्रत्येक वर्ग के विचार का पता लगाकर नवंबर, १९२८ ई० में अपनी रिपोर्ट सरकार को दी। उन्होंने कहा कि अन्य देशों की तरह भारत में भी सड़कों का विकास प्रांतीय सरकारों की शक्ति के बाहर हुआ जा रहा है और वह राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर रहा है तथा वह कुछ सीमा तक केंद्रीय राजस्व पर भार हो सकता है। इस समिति की सिफारिशें सारांश में यह थीं कि खेती की उपज की बेहतर बिक्री और ग्रामीण जनता के सामाजिक एवं राजनीतिक विकास के लिये, भारत में पूर्ण रूप से सड़क पद्धति का विकास वांछनीय है और, क्योंकि यह कार्य प्रांतीय सरकारों की शक्ति के बाहर है, सड़क विकास के विशिष्ट प्रयोजन के लिये मोटर स्पिरिट पर केंद्र का २ आने (साढ़े बारह पैसे) प्रति गैलन (साढ़े चार लीटर) अतिरिक्त कर लगाना चाहिए और प्राप्त धनराशि एक पृथक् सड़क विकास फंड में जमा कर देनी चाहिए। समिति ने यह भी विचार व्यक्त किया कि फंड में जमा रुपए की प्रत्येक वर्ष के अंत में पूर्ण व्यय नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि कई वर्षों तक के लिये सड़क कार्यकर की योजना बनाकर, उसकी पूर्ति की जरूरत पड़ेगी और इसके लिये निधि के चलते रहने का आश्वासन जरूरी है। इसके अतिरिक्त, प्रांतीय सरकारों के लाभ के लिये भाड़े पर चलनेवाली मोटर गाड़ियों पर कर लगाने की स्वीकृति देने की भी सिफारिश की।

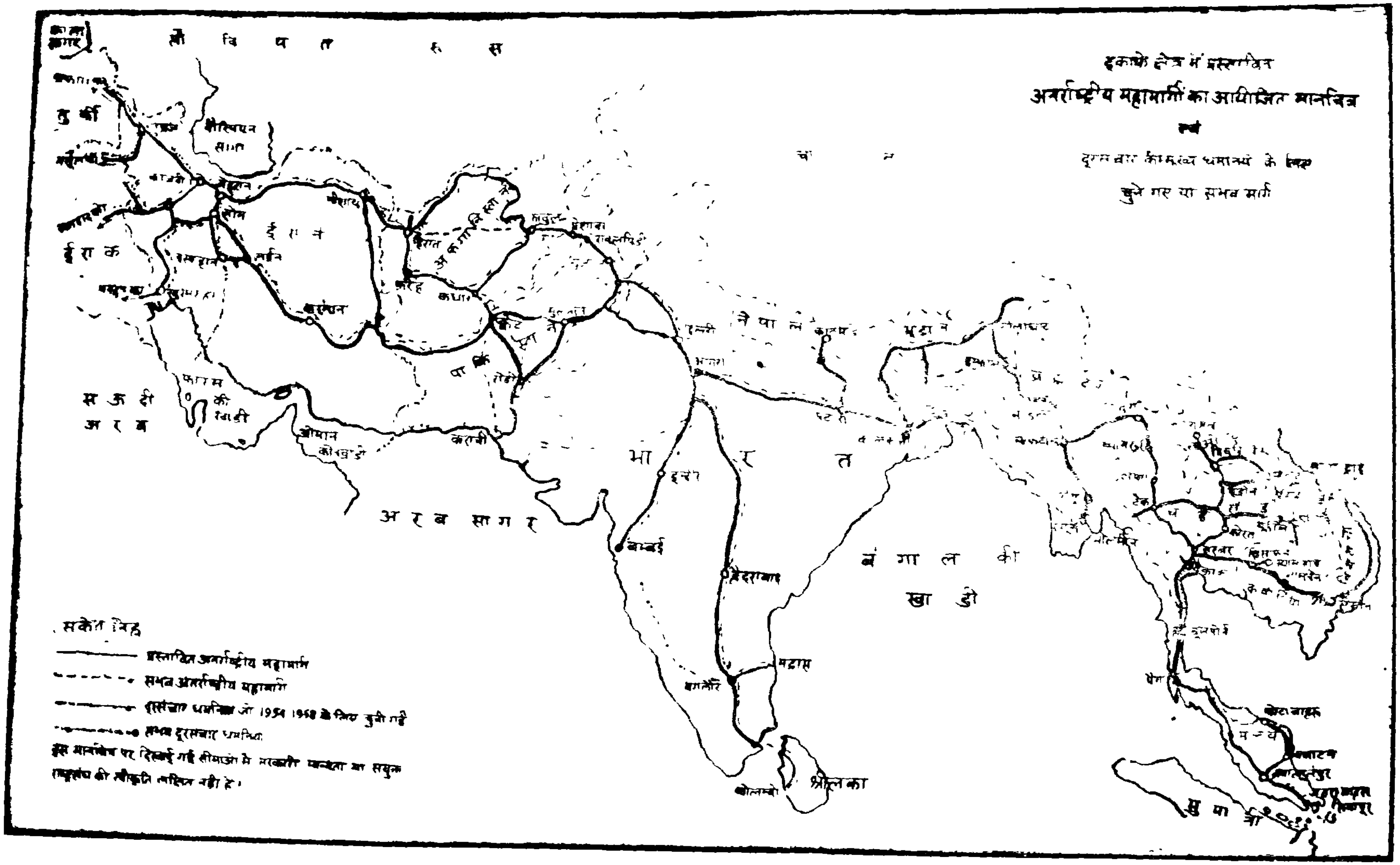
भारत सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और भारतीय धारासभा द्वारा स्वीकृत एक प्रस्ताव के आधार पर,

सड़कें (भारत की) (पृष्ठ ४४१-४४५)





सड़कें (भारत की) (पृष्ठ ४४१-४४५)



१ मार्च, सन् १६३० को केंद्रीय सड़क निधि अस्तित्व में आई। वार्षिक राजस्व की निधि का २० प्रति शत केंद्रीय आरक्षण के रूप में रखा जाता है। निधि के प्रशासन, सड़क अनुसंधान तथा प्रयोग, राज्यों में उपर्युक्त सड़क और पुल की योजनाओं, सीमांत राज्यों में अंतरराज्य सड़क और पुल के लिये भारत सरकार इस आरक्षण अंश से अनुदान देती है। शेष ८० प्रति शत निधि राज्यों को उनके वास्तविक पेट्रोल उपयोग के आधार पर बाँट दी जाती है। सन् १६३१ में यह कर ढाई आना (१६ पैसे) कर दिया गया और वर्ष १६६३-६४ में इससे ४ करोड़ १० लाख रुपए की आय हुई थी और आरंभ से ३१ मार्च, सन् १६६४ तक कुल आय ७६ करोड़ ६२ लाख हुई थी।

केंद्र सरकार में एक सलाहकार समिति इस निधि के ठीक वितरण और उपयोग के लिये बनाई गई और एक केंद्रीय सड़क इंजीनियर की नियुक्ति की गई। पहले सड़क इंजीनियर श्री मिचेल ही नियुक्त हुए। जयकर समिति की सिफारिश के अनुसार, सब प्रांतीय सड़क इंजीनियरों की कांफ्रेंस प्रति वर्ष मार्गविकास की समस्याओं के अध्ययन के लिये बुलाई जाने लगी और इसी कांफ्रेंस ने सन् १६३४ में इंडियन रोड कांग्रेस का रूप ग्रहण किया। इस कांग्रेस का मुख्य कार्य है मार्गनिर्माण की विधियों के मानक नियत करना और वार्षिक अधिवेशन पर मार्गनिर्माण संबंधी विषयों पर लिखे निबंधों पर विचारविमर्श करना। कांग्रेस के इन कार्यों के कारण पिछले तीस वर्षों मे मार्गनिर्माण और देखभाल की विधियों मे बहुत सुधार हुए हैं।

मार्गनिर्माण विधियों में विकास — प्राचीन काल में सड़कों को कंकड़ या पत्थर कूटकर ही पक्का किया जाता था। बुनियादी तह में ६ इंच मोटा पत्थर, या कंकड़, या साढ़े चार इंच मोटी तह में ईंट बिछाई जाती थी और उसके ऊपर ४½ इंच मोटी तह कंकड़ या पत्थर की होती थी। पहले इन्हें पत्थर के भारी बेलनों से कूटा जाता था, पर २०वीं शताब्दी के आरंभ से भाप इंजन से चलनेवाले भारी लोहे के पहिए के बेलन प्रयोग में आने लगे। इस प्रकार की सड़कें मोटर परिवहन से पहले बहुत अच्छा काम देती रहीं, पर ये प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् मोटर ठेलों और सवारी गाड़ियों के यातायात से बहुत जल्दी टूटने लगीं। भारी बैलगाड़ियों के पहियों पर चढ़ी तंग लोहे की हाल से सड़क के कंकड़ या पत्थर के घिसने से, जो धूल बनती थी उसे तेज चलनेवाली मोटरगाड़ी के रबर के पहिए हवा में उड़ाते थे। उससे सड़क टूटने भी जल्दी लगी और धूल के कारण ठीक दिखाई न देने से दुर्घटनाएँ अधिक होने लगीं। इन बुराइयों को दूर करने के लिये सड़क पर कोलतार, या डामर (bitumen asphalt), बिछाने की नई विविध विधियाँ निकाली गईं। जहाँ यातायात बहुत भारी होता है, वहाँ पर सड़कें सीमेंट कंक्रीट की बनाई जाने लगीं। पहले डामर अमरीका से आता था, पर अब देश में ही कई तेलशोधक कारखाने खुल जाने से डामर सस्ता हो गया है और इसका उपयोग बढ़ रहा है।

दसवर्षीय नागपुर योजना — द्वितीय विश्वयुद्ध (१६३६-१६४५ ई०) में भारत में भारी सैनिक यातायात के कारण सड़कें टूटने लगीं और धन की कमी के कारण उनकी देखभाल में भी कमी होने लगी। सामरिक महत्त्व की नई सड़कों के निर्माण पर ध्यान दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के अलावा भी आपत्कालीन समय में एक अच्छी मुख्य सड़क पद्धति की आवश्यकता का अनुभव किया गया और यह भी विचार किया गया कि ये सड़कें अच्छे स्तर पर तभी रह सकती हैं, जब केंद्र इनके विकास और देखभाल का काम अपने हाथ में सँभाल ले। इन समस्याओं पर विचार करने के लिये इंडियन रोड कांग्रेस के सुझाव पर, भारत सरकार ने दिसंबर, सन् १६४३ में नागपुर में प्रांतीय राज्यों के मुख्य इंजीनियरों का एक संमेलन बुलाया।

इस संमेलन की महत्वपूर्ण सिफारिशें निम्नलिखित थी :

सड़कों को चार वर्गों में विभाजित किया जाए —

१. राष्ट्रीय मुख्यमार्ग — वे मुख्य सड़कें, जो भारत में मुख्य बंदरगाहों, विदेशी मुख्य मार्गों और राज्यों की राजधानियों को मिलाती हुई चारों ओर जाती हों।

२. राज्य मुख्य मार्ग — वे सड़कें, जो राज्य के जिला केंद्रों और अन्य मुख्य स्थानों को जोड़ें।

३. जिला मार्ग — वे सड़कें, जो जिले के मुख्य कस्बों को मिलाएँ।

४. देहाती मार्ग — जो गाँवों की यातायात आवश्यकताओं को पूरा करें।

मुख्य ध्येय यह रखा गया कि कोई गाँव किसी मुख्य सड़क से पाँच मील से अधिक दूर न रहे।

नागपुर योजना के अनुसार दस वर्ष में निम्नलिखित सड़कों की लंबाई को पूरा करने का लक्ष्य रखा गया।

सड़क का वर्ग		मूल लक्ष्य सारे भारत के लिये, मीलों मे	सन् १६४७ में विभाजन के पश्चात् स्थिति मीलों मे
राष्ट्रीय मुख्य मार्ग		२५,०००	२०,७५०
राज्य मुख्य मार्ग		६५,०००	५३,६५०
जिला सड़कें	मुख्य	६०,०००	४६,८००
	गौण	१,००,०००	८३,०००
देहाती सड़कें		१,५०,०००	१,२३,५००
कुल जोड़		४,००,०००	३,३१,०००

राष्ट्रीय मुख्य मार्गों के निर्माण और देखभाल का आर्थिक दायित्व केंद्रीय सरकार ने अपने ऊपर ले लिया, पर कार्य कराने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों पर रखी। चीफ इंजीनियरों की नागपुर कांफ्रेंस ने मार्ग विज्ञान में अनुसंधान की आवश्यकता पर भी ध्यान दिलाया और उनकी सिफारिशों के अनुसार सन् १६५० में केंद्रीय वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् ने 'केंद्रीय मार्ग अनुसंधान संस्थान' की स्थापना दिल्ली-मथुरा सड़क पर की। इस संस्थान ने पिछले १६ वर्षों में मृत्तिका स्थिरीकरण कंक्रीट सड़क

और लचीली डामर सड़क, मार्ग यातायात-नियंत्रण आदि पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किए हैं। लगभग प्रत्येक राज्य में मार्ग-अनुसंधान-शाला स्थापित हो गई है और केंद्रीय अनुसंधानशाला इन सबके कार्यों का समन्वय करती है।

सन् १९३० में केंद्र में जिस केंद्रीय सलाहकार समिति की स्थापना की गई थी, उसका कार्य इतना बढ़ गया है कि अब परिवहन मंत्रालय में एक पृथक् सड़क पक्ष है, जिसमें एक मुख्य निदेशक और कई अन्य निदेशक सड़कों और पुलों के लिये हैं तथा उनके अधीन अनेक इंजीनियर हैं। इस विभाग का कार्य सब राज्यों को मार्ग और पुल निर्माण में सलाह देना और उनके संबंध में मानक स्थापित करना है।

बीस वर्षीय सड़क विकास योजना (सन् १९६१-१९८०) — नागपुर योजना का लक्ष्य दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंत तक लगभग पूरा हो जाना था। इसलिये सन् १९५७ में संसद ने भारत की विकसित आर्थिक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए अगले २५ वर्षों के लिये मार्ग-विकास-योजना बनाने के लिये परिवहन मंत्रालय को सुझाव दिया। इसलिये चीफ इंजीनियरों की कमेटी ने जनवरी, सन् १९५८ में हैदराबाद में एक कान्फ्रेंस करके, एक बीस वर्षीय योजना तैयार की, जो तीसरी पंचवर्षीय योजना के साथ प्रारंभ हो। इस योजना को बनाने में कमेटी ने निम्नलिखित उद्देश्य ध्यान में रखे :

१. प्रत्येक विकसित और कृषिक्षेत्र में कोई गाँव पक्की सड़क से चार मील से अधिक दूर न हो और अन्य सड़कों से डेढ़ मील दूर।

२. अर्धविकसित क्षेत्र में कोई गाँव पक्की सड़क से आठ मील से अधिक दूर न हो और अन्य सड़कों से तीन मील से अधिक दूर न हो।

३. अविकसित क्षेत्र में कोई गाँव पक्की सड़क से १२ मील से अधिक दूर न हो और अन्य सड़क से पाँच मील से अधिक दूर न हो।

इस योजना में सारे देश में ६,५०,००० मील लंबी सड़कें पूर्ण करने का लक्ष्य रखा गया है और २० वर्षों में इस योजना पर ५,२०० करोड़ रुपया व्यय होने का अनुमान है। तब देश में प्रति १०० वर्ग मील क्षेत्र में ५२ मील लंबी सड़कें हो जाएँगी और इसमें ४० प्रति शत लंबाई पक्की सड़कों की होगी। इनका विविध वर्गों में विभाजन इस प्रकार है :

मुख्य मार्ग	लंबाई
राष्ट्रीय मुख्यमार्ग	३२,००० मील
राज्य मुख्यमार्ग	७०,००० मील
मुख्य जिला मार्ग	१,५०,००० मील
गौण जिला मार्ग	१,८०,००० मील
देहाती मार्ग	२,२५,००० मील
कुल योग	६,५७,००० मील

देहाती मार्ग भी ऐसे स्तर के बनाए जाएँगे कि वे सब मौसमों में उपयोग के योग्य हों, अर्थात् ऊँचे बाँध हों और जल की निकासी का उचित प्रबंध हो। इन सब मार्गों पर सब बड़ी नदियों पर भी पुल बनाए जाएँगे।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में सड़क निर्माण योजना बीस वर्षीय योजना के अनुसार रखी गई और मार्च, १९६६ ई० तक बनी सड़कों की लंबाई निम्नलिखित थी :

पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें	कुल लंबाई, किलोमीटर में
२,८५,०००	६,७८,०००	९,६३,०००

तीसरी योजना में सड़क निर्माण पर कुल ४५० करोड़ रुपया व्यय हुआ। चौथी योजना में ८५० करोड़ रुपया व्यय करने की योजना है। इतना विकास होने पर भी, भारत अन्य विकसित देशों से क्षेत्र और जनसंख्या के अनुपात के अनुसार बहुत पिछड़ा हुआ है, जैसा नीचे दी गई सारणी से स्पष्ट होता है :

विभिन्न देशों की सड़क की लंबाई, किलोमीटरों में, सन् १९६४ में

देश	१०० वर्ग किलोमीटर में		एक लाख जनसंख्या पर	
	पक्की सड़कें	कुल सड़कें	पक्की सड़कें	कुल सड़कें
दक्षिण अफ्रीका संघ	७·४	२७·२	५३२	१,९३९
सीलोन (लंका)	२५·९	३१·१	१६०	१९३
भारत	८·०	२४ ३	५५	१६७
पाकिस्तान	३ २	४·२	३२	४०
फिलिपीन	१४·३	१२·४	१४२	१८३
फ्रांस	१३७ १	२६१·४	१,५६६	२,९८५
पश्चिमी जर्मनी	१५२·१	१५२·१	६५६	६५६
युनाइटेड किंगडम (इंग्लैंड तथा स्कॉटलैंड)	१४०·०	१४०·०	६३५	६३५
कैनाडा	४·८	८·१	२,५१७	४,३०२
संयुक्त राज्य (अमरीका)	४६·३	९२·२	२,२८८	३,०७६

सड़कों के निर्माण और देखभाल पर व्यय — सारे संसार में सड़कों के निर्माण और उनकी देखभाल पर सन् १९६० में १३,५०० करोड़ रुपया और सन् १९६५ में २०,००० करोड़ रुपया लगा। इसमें से युनाइटेड स्टेट्स ऑव अमरीका का भाग क्रमशः ८,४०० करोड़ और ९,६०० करोड़ था। पर भारत ने केवल क्रमशः ९१ और १५४ करोड़ रुपया व्यय किया, जबकि मोटर और पेट्रोल

आदि पर लगे करों से ही उसकी आय क्रमशः १४५ और ३५२ करोड़ रुपया थी।

एशियाई महामार्ग — इकाफे (ECAFE), अर्थात् एशिया और सुदूरपूर्व के आर्थिक आयोग, ने उस पुराने महामार्ग का उद्धार और सुधार आरंभ किया है जिसपर ईसा के जन्म के बहुत पहले से एशिया के पश्चिमी किनारे के तुर्की साम्राज्य से पूर्वी किनारे वियतनाम तक ऊँटों और बैलों द्वारा सार्थवाह से व्यापार होता था। सन् १९६५ से इस मार्ग पर इकाफे ने, संबंधित राज्यों से, इस मार्ग के पुनरुद्धार का कार्य प्रारंभ कराया है। मानचित्र में (देखें **फलक**) इसको मोटी काली रेखा से दिखाया गया है। इस मार्ग की कुल लंबाई लगभग ५५,००० किलोमीटर होगी, जिसमें से ३३,००० किलोमीटर को प्राथमिकता दी गई है। भारत ने अपना भाग लगभग पूरा कर दिया है।

मोटर मार्ग — मोटरगाड़ियों को तीव्र गति से बिना किसी बाधा के चलने के लिये, पहले पहल जर्मनी में हिटलर ने इस शताब्दी के चौथे दशक में मोटर मार्ग का निर्माण कराया। इस मोटर मार्ग के आर पार जानेवाली सभी सड़कों, रेलों और नहरों के लिये सड़क के नीचे या ऊपर पुल बनाए गए, जिससे मोटर गाड़ी तीव्र गति से बिना किसी रुकावट और दुर्घटना के लगातार चल सके (देखें **फलक**, हि० वि० खंड ४.)। जर्मनी की देखादेखी अमरीका और यूरोप के अनेक देशों में ऐसे मोटर मार्ग बनाए जा रहे हैं। भारत में भी बंबई में पश्चिमी और पूर्वी मोटर मार्ग बनाए गए हैं, जो बंबई के पूर्वी और पश्चिमी उपनगरों को दूर रखते हुए, क्रमशः गुजरात और मध्य प्रदेश की ओर जाते हैं। कलकत्ता में दमदम हवाई अड्डे के लिये ऐसा ही मोटर मार्ग बना है और एक महामार्ग कलकत्ता से दुर्गापुर को बनाया जा रहा है।

परिवहन — पश्चिमी देशों और भारत में भी जनता रेल की अपेक्षा सड़क परिवहन को अधिक पसंद करने लगी है। नीचे की तालिका से, पिछले १६ वर्षों के दिए आँकड़ों से, यह स्पष्ट होगा :

माल एवं यात्री यातायात, रेल और सड़क द्वारा, दस लाख के अंकों में

	माल यातायात			यात्री यातायात		
वर्ष	रेल		सड़क	रेल		सड़क
	टन लदान	टन × किमी०	टन × किमी०	यात्री संख्या	यात्री किमी०	यात्री किमी०
१९५०-५१	९३·०	४४,११७	५,५००	१,२६४	६६,५१७	२३,१३३
१९५५-५६	११५·०	५९,५७६	८,९५०	१,२७५	६२,४००	६,१७७
१९६०-६१	१५६·२	८७,६८०	१७,३००	१,५९४	७७,६६५	४२,०००
१९६५-६६	२०५·०	१,५७,०००	३५,०००	२,०६०	९९,०००	८२,०००

मोटर गाड़ियों की संख्या में भी भारत अन्य विकसित देशों से बहुत पीछे है। ३१ मार्च, १९६५ को भारत में मोटर गाड़ियों की संख्या इस प्रकार थी :

मोटर साइकिल, १,७४,२३९; ऑटोरिक्शा, ११,९१०; जीप, ३८,६७६; प्राइवेट गाड़ी, ३,३०,०७९; टैक्सी, ३०,६८०; बसें, ६२,०१९; मालठेले, २,२०,३९३; अन्य ५२,७१७; कुल, ९,२७,७०३;

इस संख्या के अनुसार भारत में प्रति किलोमीटर एक ही मोटर गाड़ी होती है। इसकी तुलना में श्री लंका (सीलोन) मे ७, युनाइटेड किंगडम में २९, इटली में ४१, और अमरीका (युनाइटेड स्टेट्स) में १४९ हैं। इसलिये भारत में हर प्रकार की मोटरगाड़ियों का अधिक से अधिक बनाना अत्यंत आवश्यक है, जिससे वे माल और सवारियों की बढ़ती संख्या को ढो सकें।

सड़क दुर्घटनाएँ — सड़क विकास और सुधार तथा बढ़ती परिवहन की समस्या के साथ साथ बढ़ती हुई सड़क दुर्घटनाओं को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। सड़क यातायात की दृष्टि के अनुसार ही मार्गों का उपयुक्त सुधार नहीं हुआ है। धीरे और तेज चलनेवाली गाड़ियाँ सड़क पर साथ साथ ही चलती हैं। सड़क दुर्घटनाओं के कारण प्राण खोनेवाले व्यक्तियों की संख्या १९५६ में २,७३४ से सन् १९६३ में ६,६५९ हो गई, और जख्मी होनेवालों की संख्या सन् १९५६ में २५,८८६ से सन् १९६३ में ४१,१२७ हो गई। विदेशों में किए हुए प्रयोगों से प्रमाणित हुआ है कि सड़कों की चौड़ाई बढ़ाने और उनके मोड़ों की गोलाइयों को सुधारने से दुर्घटनाओं में बहुत कमी हो जाती है। भारी यातायात के मार्गों पर धीरे और तेज चलनेवाली गाड़ियों के लिये पृथक् मार्ग बनाना भी अत्यंत आवश्यक है। सड़कों की सतह भी न फिसलनेवाली बननी चाहिए। यद्यपि भारत में मार्गों की लंबाई बढ़ रही है, तथापि ऊपर सुझाए सुधारों का करना भी आवश्यक है।

दुर्घटनाओं को रोकने के लिये सड़क पर विविध संकेतपट लगाए जाते हैं। ये संकेतपट चार प्रकार के होते हैं : (१) चेतावनी संकेत, (२) निर्देशक संकेत, (३) नियामक संकेतों तथा (४) निर्माण और देखभाल संकेत। यदि यान चालक इन संकेतों का पूरी तरह से पालन करें, तो दुर्घटनाओं में बहुत कमी हो सकती है। अंतरराष्ट्रीय मार्ग संमेलन यह प्रयत्न कर रहा है कि इन संकेतों के अंतरराष्ट्रीय मानक स्थापित किए जाएँ, जिससे अंतरराष्ट्रीय यात्रियों को सुविधा रहे। भारत के लिये मानक संकेत इंडियन रोड कांग्रेस ने नियत कर दिए हैं जिनका सब प्रदेशों में व्यवहार होता है।

सं० ग्रं० — हिस्ट्री ऑव रोड डेवलपमेंट इन इंडिया, सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्टिट्यूट, दिल्ली; भारत में मार्गविकास का इतिहास, केंद्रीय मार्ग अनुसंधान संस्थान, दिल्ली; ब्रजमोहन लाल : भारत में राज्य-मार्ग-निर्माण की कथा, इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया) जरनल का हिंदी संस्करण, सितंबर १९५२; भारतीय मूल सड़क आँकड़े १९६४; डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष; डा० मोतीचंद : सार्थवाह। [ब्र० मो० ला०]

सतत भिन्न (Continued Fractions) कोई पद संहति

$$\text{क}_1 + \cfrac{\text{ख}_2}{\text{क}_2 + \cfrac{\text{ख}_3}{\text{क}_3 + \cfrac{\text{ख}_4}{\text{क}_4 + \cdots}}}$$

जिसमें $क_1$ को छोड़कर, जो शून्य भी हो सकता है, सब क और ख धनात्मक अथवा ऋणात्मक पूर्ण संख्याएँ हों, सतत भिन्न कहलाती है। इसको संक्षेप में

$$क_1 + \frac{ख_2}{क_2+}\ \frac{ख_3}{क_3+}\ \frac{ख_4}{क_4+} \ldots$$

द्वारा दर्शाया जाता है। इसमें $क_1$, $क_1 + \frac{ख_2}{क_2}$, $क_1 + \cfrac{ख_2}{क_2 + \cfrac{ख_3}{क_3}}$

इत्यादि को सतत भिन्न का प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि अभिसरक (convergent) कहते हैं।

यदि $थ_न = \frac{प_न}{फ_न}$, नवाँ अभिसरक हो, तो $प_न = क_न\, प_{न-1} + ख_न\, प_{न-2}$ और $फ_न = क_न\, फ_{न-1} + ख_न\, फ_{न-2}$ होगा, जबकि $प_0 = 1$, $फ_0 = 0$, $प_1 = क_1$, $फ_1 = 1$। सतत भिन्न में अवयवों की संख्या सीमित होने पर उसे सांत (terminating) सतत भिन्न तथा अवयवों की संख्या अनंत होने पर, उसे अनंत सतत भिन्न कहते हैं। $\frac{प_1}{फ_1}$, $\frac{प_2}{फ_2}$, $\frac{प_3}{फ_3}$ …… अनंत सतत भिन्न, $\frac{प_न}{फ_न}$……… का अनुक्रम (sequence) माना जा सकता है, जो अभिसारी (convergent), अपसारी (divergent), या दोलक (oscillating) तब होगा जब उक्त अनुक्रम क्रमशः अभिसारी, अपसारी या दोलक होगा।

सतत भिन्न अभिसारी होने पर उसका मान होगा।

$$\lim_{न \to \infty} \frac{प_न}{फ_न}$$

सतत भिन्न $क_1 + \frac{ख_2}{क_2+}\ \frac{ख_3}{क_3+} \ldots \ldots$ मे प्रत्येक 'ख' के स्थान पर '१' रखने से प्राप्त सतत भिन्न

$$क_1 + \frac{1}{क_2+}\ \frac{1}{क_3+}\ \frac{1}{क_4+} \ldots \ldots \ldots$$

साधारण सतत भिन्न कहलाता है। एक साधारण सतत भिन्न सर्वदा अभिसारी (divergent) होता है।

यदि $\frac{प_न}{फ_न}$ साधारण सतत भिन्न का न वाँ अभिसरक हो, तो

$$प_न\, फ_{न-1} - प_{न-1}\, फ_न = (-1)^न$$

यदि किसी अनंत साधारण सतत भिन्न में कुछ अवयवों के बाद के अवयव बार बार उसी क्रम मे आते हों, तो सतत भिन्न को आवर्ती (recurring) सतत भिन्न कहते हैं। बार बार उसी क्रम में आनेवाले अवयवों को 'चक्रीय (cyclic) भाग' या 'चक्र' तथा बार बार न आनेवालों को 'अचक्रीय' (noncyclic) भाग कहा जाता है। 'चक्रीय भाग' दर्शाने के लिये, इसके प्रथम और अंतिम अवयवों के नीचे तारे का निशान लगा देते हैं।

सतत भिन्न $\frac{1}{4+}\ \frac{1}{1+}\ \frac{1}{2+}\ \frac{1}{3+}\ \frac{1}{2+}\ \frac{1}{3+}\ \frac{1}{2+}\ \frac{1}{3+} \ldots$ को $\frac{1}{4+}\ \frac{1}{1+}\ \frac{1}{\underset{*}{2}+}\ \frac{1}{\underset{*}{3}+}$ द्वारा दर्शाते हैं, जहाँ $\frac{1}{4+}\ \frac{1}{1+}$ अचक्रीय भाग और $\frac{1}{2+}\ \frac{1}{3+}$ चक्रीय भाग हैं।

किसी वास्तविक संख्या को साधारण सतत भिन्न के रूप में दर्शाया जा सकता है। यह सतत भिन्न उसी हालत में समाप्त (terminate) होगा, जब वह संख्या परिमेय (rational) हो।

किसी परिमेय संख्या $\frac{37}{10}$ को साधारण सतत भिन्न के रूप में निम्न क्रिया द्वारा दर्शाया जा सकता है :

$$\frac{37}{10} = 3 + \frac{7}{10} = 3 + \cfrac{1}{\cfrac{10}{7}}$$

$$= 3 + \cfrac{1}{1 + \cfrac{3}{7}} = 3 + \cfrac{1}{1 + \cfrac{1}{\cfrac{7}{3}}}$$

$$= 3 + \cfrac{1}{1 + \cfrac{1}{2 + \cfrac{1}{3}}}$$

वे बीजीय संख्याएँ, जो वर्गकरणी $\left[\frac{\pm(\sqrt{न} \pm ख)}{र}\right.$, इस प्रकार की संख्या को वर्गकरणी कहते हैं, जिसमें न पूर्ण नही है और ख शून्यसहित कोई भी संख्या हो सकती है। अपरिमेय संख्या वर्गकरणी की एक विशेष स्थिति (particular case) है, जब ख शून्य हो जाता है।] या अपरिमेय (irrational) हैं, एक आवर्ती सतत भिन्न के रूप मे दर्शाई जा सकती हैं। e और π इस नियम के अपवाद हैं।

एक वर्गकरणी च को आवर्ती सतत भिन्न के रूप में निम्न प्रकार के समीकरण बनाकर दर्शाया जा सकता है :

$$च = क_1 + च_1 \qquad (0 < च_1 < 1)$$

$$= क_1 + \cfrac{1}{\cfrac{1}{च_1}}$$

तथा $\frac{1}{च_न} = क_{न+1} + \cfrac{1}{\cfrac{1}{च_{न+1}}}$ $(न = 1, 2, 3 \ldots), (0 < च < 1)$

जब $क_1$ या $क_{न+1}$ क्रमशः वे सबसे बड़ी पूर्ण संख्याएँ हैं जो च या $\frac{1}{च_न}$ से छोटी हैं।

यदि त कोई संख्या हो जो पूर्ण वर्ग नही है, तो $\sqrt{त}$ के रूप की संख्याओं का विस्तार जानने के लिये $\sqrt{11}$ लेंगे। इसको सतत भिन्न के रूप में निम्न क्रिया द्वारा दर्शाया जा सकता है :

$\sqrt{11} = 3 + (\sqrt{11} - 3)$ [३ वह सबसे बड़ी पूर्ण संख्या है जो $\sqrt{11}$ से छोटी है]

$$= 3 + \frac{(\sqrt{11} - 3)}{1} \times \frac{\sqrt{11} + 3}{\sqrt{11} + 3}$$

$$= 3 + \frac{2}{\sqrt{11} + 3}$$

$$= 3 + \cfrac{1}{\cfrac{\sqrt{11} + 3}{2}}$$

$$= ३ + \cfrac{१}{३ + \cfrac{\sqrt{११} - ३}{२}}$$

$$= ३ + \cfrac{१}{३ + \cfrac{\sqrt{११} - ३}{२} \times \cfrac{\sqrt{११} + ३}{\sqrt{११} + ३}}$$

$$= ३ + \cfrac{१}{३ + \cfrac{१}{\sqrt{११} + ३}}$$

$$= ३ + \cfrac{१}{३ + \cfrac{१}{६ + \sqrt{११} - ३}}$$

$$= ३ + \cfrac{१}{३ + \cfrac{१}{६ + \cfrac{१}{३ + \cfrac{१}{६ + \sqrt{११} - ३}}}}$$

$$= ३ + \frac{१}{३+}\frac{१}{६+}\frac{१}{३+}\frac{१}{६+}\frac{१}{३+}\frac{१}{६+}\ldots$$

$$= ३ + \frac{१}{\dot{३}+}\frac{१}{\dot{६}}$$

अंतिम दो अवयव बार बार आते हैं। अतः यह आवर्ती सतत भिन्न है।

एक अपरिमेय संख्या, जो वास्तव में वर्गकरणी नहीं है, जैसे e और π, एक अनंत सतत भिन्न के रूप में, जो आवर्ती नहीं होगा, दर्शाई जा सकती है।

$$e = २\cdot७१८२८\ldots\ldots$$

$$= २ + \frac{१}{१+}\frac{१}{२+}\frac{१}{१+}\frac{१}{१+}\frac{१}{४+}\frac{१}{१+}\frac{१}{१+}\frac{१}{६+}\frac{१}{१+}\frac{१}{१+}\frac{१}{८+}\ldots$$

$$\text{और } \pi = ३\cdot१४१५९$$

$$= ३ + \frac{१}{७+}\frac{१}{१५+}\frac{१}{१+}\frac{१}{२९२+}\frac{१}{१+}\frac{१}{१+}\frac{१}{१+}\frac{१}{२+}\frac{१}{१+}\frac{१}{३}\ldots\ldots$$

बादवाले सतत भिन्न मे निर्माण का कोई नियम स्पष्ट नहीं है।

यदि ट और ठ धनात्मक हों और $\frac{ट}{ठ}$ पूर्ण वर्ग न हो तो $\sqrt{\frac{ट}{ठ}}$ के रूप की कोई भी संख्या एक साधारण अनंत सतत भिन्न के रूप में दर्शाई जा सकती है।

$$\sqrt{\frac{ट}{ठ}} = \frac{\sqrt{टठ}}{ठ}, \text{ जो } \frac{\sqrt{न} + ख}{र} \text{ के रूप की एक संख्या}$$

है, पूर्व वर्णित रीति द्वारा सतत भिन्न के रूप में दर्शाई जा सकती है।

इसके विस्तार में केवल एक अनावर्ती (nonrecurring) अवयव $क_१$ होता है। चक्र का अंतिम अवयव २ $क_१$ और प्रारंभ तथा अंत से समान दूरी पर स्थित अवयव बराबर होते हैं। इस प्रकार

$$\sqrt{\frac{ट}{ठ}} = क_१ + \frac{१}{क_२+}\frac{१}{क_३+}\frac{१}{क_४+}\cdots\frac{१}{क_४+}\frac{१}{क_३+}\frac{१}{क_२+}\frac{१}{२क_१}$$

अनुक्रम $क_२, क_३, क_४, \ldots क_४, क_३, क_२$ अवयवों के चक्र का व्युत्क्रम भाग कहलाता है।

यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि प्रत्येक आवर्ती सतत भिन्न एक वर्गकरणी के तथा अनंत साधारण सतत भिन्न एक अपरिमेय संख्या के तुल्य होता है।

अभिसरक (convergents) क्रमश: एकांतरत: (alternately) सतत भिन्न से छोटे और बड़े होते हैं। यदि $\sqrt{११}$ का सतत भिन्न के रूप में विस्तार देखें, तो ज्ञात होगा कि अभिसरक क्रमश: एकांतरत: ३, $\frac{१०}{३}$, $\frac{६३}{१९}$, $\frac{१९९}{६०}$, इत्यादि हैं। वे क्रमश: एकांतरत: $\sqrt{११}$ से छोटे और बड़े हैं।

विषम अभिसरक एक वर्धी अनुक्रम और सम अभिसरक एक ह्रासी अनुक्रम बनाते हैं। प्रत्येक विषम अभिसरक सम अभिसरक से छोटा होता है, अर्थात् प्रत्येक विषम अभिसरक पूर्व अभिसरक की अपेक्षा सतत भिन्न के मान के निकट पहुँचता जाता है।

एक साधारण सतत भिन्न, जिसमें प्रारंभ और अंत से समान दूरी पर स्थित अवयव बराबर हों, सममित सतत भिन्न (Symmetric Continued Fraction) कहलाता है।

$$३ + \frac{१}{४+}\frac{१}{१+}\frac{१}{४+}\frac{१}{३} = \frac{२४७}{७७}$$

$$\text{और } ३ + \frac{१}{४+}\frac{१}{१+}\frac{१}{१+}\frac{१}{४+}\frac{१}{३} = \frac{४२५}{१३२}$$

सममित सतत भिन्न के उदाहरण हैं, जिनमें से पहले में अवयवों की संख्या विषम तथा दूसरे में सम है।

इस प्रकार के सतत भिन्न की, जिसमें अवयवों की संख्या सम हो, एक मुख्य विशेषता निम्नलिखित है :

$$\text{माना } \frac{पा}{फा} = क_१ + \frac{१}{क_२+}\frac{१}{क_३+}\cdots\cdots\frac{१}{क_र}$$

$$\text{तथा } \frac{प}{फ} = क_१ + \frac{१}{क_२+}\frac{१}{क_३+}\cdots\frac{१}{क_र+}\frac{१}{क_र+}\frac{१}{क_{र-१}+}\cdots\frac{१}{क_१}$$

जिसमें पा/फा और प|फ अपने न्यूनतम पदों में हों (be in their lowest terms) तथा पा′/फा′ और प′/फ′, पा/फा और प/फ के ठीक पहले के अभिसरक हों तो

$$प^२ = पा^२ + पा'^२;\ फ'^२ = फा^२ + फा'^२$$

$$\text{और } फ^२ + १ = पफ'$$

यह सिद्ध किया जा सकता है कि कोई भी साधारण आवर्ती सतत भिन्न, परिमेय गुणकवाले एक वर्ग समीकरण का एक मूल है और इसका दूसरा मूल भिन्न भिन्न स्थितियों में निम्न प्रकार होगा :

(१) यदि सतत भिन्न में कोई भी अचक्रीय भाग नहीं है, तो यह ० और − १ के बीच होगा।

(२) यदि सतत भिन्न में अचक्रीय भाग है और वह एक अवयव का है, तो यह − १ से छोटा या शून्य से बड़ा होगा।

(३) यदि प्रकरणीय भाग एक से अधिक अवयवों का है, तो यह केवल शून्य से बड़ा होगा।

√द/ठ तथा √स के सतत भिन्न के रूप में विस्तार की सहायता से समीकरण

ठ ख² − ट य² = म

तथा ख² − स य² = म

को हल किया जा सकता है। [श्रीना० मे०]

सतना १. जिला, भारत के मध्य प्रदेश राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल २,८२३ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,६८,३७० (१९६१) है। जिले में मुख्यतः धान की कृषि होती है। यहाँ जंगलों की अधिकता के कारण लकड़ी का व्यवसाय अधिक होता है।

२. नगर, स्थिति : २४° ३४′ उ० अ० तथा ८०° ५०′ पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है। यह पहले रघुराजनगर कहलाता था। नगर चावल, लकड़ी, तेंदुपा की पत्ती तथा घी का प्रमुख व्यवसायकेंद्र है। यहाँ एक सीमेंट का कारखाना भी है। ब्रिटिश शासनकाल में यह बघेलखंड के राज्यों के लिये नियुक्त राजनीतिक अभिकर्ता का निवासस्थान था। नगर की जनसंख्या ३८,०४६ (१९६१) है। यह पन्ना, रीवाँ तथा खजुराहो जानेवाली बसों का केंद्र है। [अ० ना० मे०]

सतलुज (Satlaj or Sutlej) पंजाब की पाँच नदियों में से एक है और १५,२०० फुट ऊँची मानसरोवर झील के पूर्व-दक्षिण-पूर्व से निकलकर, हिमालय के महाखड्डों और बुशहर एवं शिमला के पहाड़ों में बहती हुई, यह होशियारपुर में प्रवेश करती है और पंजाब के मैदानों में पहुँचती है। व्यास और चिनाब से मिलने के पश्चात् यह पंचनद कहलाती है और ६०० मील बहने के पश्चात् मिथानकोट के समीप यह सिंधु नदी से मिल जाती है। सरहिंद तथा अपर एवं लोअर सतलुज नहरों को इस नदी से पानी मिलता है। इन नहरों से लगभग १६,००,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। [अ० ना० मे०]

सतसई मुक्तक काव्य की एक विशिष्ट विधा है। इसके अंतर्गत कविगण ७०० या ७०० से अधिक दोहे लिखकर एक ग्रंथ के रूप में संकलित करते रहे हैं। 'सतसई' शब्द 'सत' और 'सई' से बना है, 'सत' का अर्थ सात और सई का अर्थ 'सौ' है। इस प्रकार सतसई काव्य वह काव्य है जिसमें सात सौ छंद होते हैं।

सतसई काव्य ने एक विशिष्ट परंपरा के रूप में प्रतिष्ठित होकर अपनी निजी विशेषताएँ विकसित की हैं। सतसई रचना की परंपरा 'हाल' की गाथासप्तशती से प्रारंभ हुई। यह प्राकृत का ग्रंथ है तथा इसमें रस से सिक्त और लोकजीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत करनेवाली गाथाएँ हैं। इसके बाद गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' संस्कृत में लिखी गई। अमरु कवि के 'अमरुशतक में भी शृंगाररस के मनोहारी श्लोक हैं। संस्कृत-प्राकृत इन ग्रंथों के प्रभाव से हिंदी साहित्य में सतसई रचना का चाव बढ़ा परंतु हिंदी साहित्य के प्रांगण में सतसई रचना का सतत विकास अपने निजी ढंग पर हुआ; वह अपने पूर्ववर्ती सतसई साहित्य से प्रभावित है परंतु उसका निर्जीव अनुकरण नहीं है।

हिंदी साहित्य में रीतिकाल के प्रमुख कवि बिहारीलाल की लिखी हुई 'बिहारी सतसई' ने बड़ी प्रसिद्धि पाई। हिंदी साहित्य में इस ग्रंथ का अत्यंत प्रचार हुआ तथा सतसईरचना के लिये इसने अनेक कवियों को प्रेरित किया। 'बिहारी-सतसई' की बढ़ती हुई लोकप्रियता देखकर अनेक मूर्धन्य कवियों के दोहों को भी बाद में 'सतसई' का रूप दे दिया गया, जैसे 'तुलसी-सतसई'। मुक्तक काव्य का यह रूप इतना जनप्रिय हुआ कि हिंदी में सतसइयों का एक विशाल भंडार हमें उपलब्ध है। इनमें रहीम सतसई, तुलसी सतसई, बिहारी सतसई, रसनिधि सतसई, मतिराम सतसई, वृंद सतसई, भूपति सतसई, चंदन सतसई, विक्रम सतसई, राम सतसई के नाम प्रमुख हैं और ये सतसइयाँ मध्य युग में लिखी गईं। आधुनिक काल में भी अनेक सतसइयाँ लिखी गईं जैसे हरिऔध कृत हरिऔध सतसई, वियोगी हरि की वीर सतसई भी बड़ी प्रसिद्ध और सामयिक रचनाएँ हैं।

सतसई की रचना में जो विशेषताएँ दिखाई देती हैं, वे इस प्रकार हैं —

(१) सतसइयों में ७०० या ७०० से कुछ अधिक छंद होते हैं।

(२) सतसइयों में प्रमुख रूप से 'दोहा' छंद का प्रयोग होता है; 'दोहा' के साथ 'सोरठा' और 'बरवै' छंद का प्रयोग भी सतसईकार बीच बीच में कर देते हैं।

(३) सतसइयों में प्रमुख रूप से शृंगाररस की प्रधानता है। शृंगार के अतिरिक्त नीति तथा भक्ति, वैराग्य को भी सतसईकारों ने लिया है। बिहारी सतसई शृंगारप्रधान रचना है, वृंद सतसई नीतिपरक काव्य है तथा तुलसी सतसई में भक्ति, ज्ञान, कर्म और वैराग्य के दोहे हैं। सतसईकारों ने अपनी सतसइयों में प्रायः इन सभी विषयों के दोहे कहे हैं। शृंगारप्रधान सतसइयों में शृंगार के साथ नीति तथा भक्ति और वैराग्य के दोहे भी मिलते हैं, जैसे बिहारी सतसई और मतिराम सतसई में। वृंद सतसई पूर्णतः नीतिसतसई है तथा तुलसी सतसई में भक्ति तथा वैराग्य के दोहों के साथ नीति के दोहों की भी प्रधानता है। मुख्य रूप से शृंगार और नीति इन दोनों की प्रधानता सतसइयों में देखने को मिलती है।

(४) शृंगारकाल में भी आधुनिक सतसइयाँ लिखी गईं जिनमें यदि एक ओर शृंगार और नीति की प्रधानता है तो दूसरी ओर 'वीररस तथा करुणरस के नए विषयों को भी सतसईकारों ने लिखा है। सूर्यमल्ल मिश्रण की 'वीर सतसई' तथा वियोगी हरि की वीर सतसई में राष्ट्रीयता को जगाने के लिये वीरोचित उक्तियाँ कही गई हैं और देश की दुर्दशा पर उन्होंने करुणा से युक्त दोहे कहे हैं। सतसई वस्तुतः मुक्तक काव्य की एक विशिष्ट परंपरा है। [र० सिं०]

सतारा १. जिला, यह भारत के महाराष्ट्र राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल ४,०४१ वर्ग मील एवं जनसंख्या १४,३०,१०५ (१९६१) है। इसके उत्तर में पूना, उत्तर पश्चिम में कोलाबा, पश्चिम में रत्नागिरी, दक्षिण में सांगली, और दक्षिण पूर्व एवं पूर्व में शोलापुर जिले हैं। यहाँ सह्याद्रि एवं महादेव नामक दो पहाड़ी श्रेणियाँ हैं। सह्याद्रि श्रेणी जिले में उत्तर से दक्षिण की ओर फैली हुई है और

महादेव श्रेणी पूर्व से दक्षिणपूर्व में फैली हुई है। जिले में नदियों के दो समूह हैं: भीमा समूह और कृष्णा समूह। भीमा समूह की नदियाँ जिले के उत्तर एवं उत्तर-पूर्व के कुछ भागों में बहती हैं और कृष्णा समूह की नदियाँ जिले के शेष भाग में बहती हैं। यहाँ के जंगल इमारती एवं जलावन लकड़ियों के भंडार हैं। यहाँ की भूमि कैल्सियम कार्बोनेट से युक्त, काली चिकनी मिट्टी से बनी है, जो अच्छी सिंचाई की जाने पर बड़ी उपजाऊ हो जाती है। सतारा के कुछ पश्चिमी भागों में औसत वार्षिक वर्षा १०० इंच से भी अधिक होती है, पर पूर्वी भाग में अपेक्षाकृत कम वर्षा होती है। यहाँ की प्रमुख फसलें दलहन, तिलहन, गन्ना एवं मोटे अनाज हैं। पीतल के बरतनों का उद्योग और सूती वस्त्र एवं कंबल उद्योग यहाँ हैं।

२. नगर, स्थिति : १७° ४१′ उ० अ० तथा ७४° ०′ पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है और कृष्णा एवं वेन नदियों के संगम पर, पूना से ५६ मील, दक्षिण में स्थित है। ढालवाँ पहाड़ी की चोटी पर सतारा का दृढ़ किला स्थित है और इस किले के नीचे नगर फैला हुआ है। ऐसा अनुमान है कि संभवत: किले में १७ दीवारें, मीनारें एवं द्वार थे, जिनके आधार पर नगर का नाम सतारा पड़ा है। नगर समुद्रतल से २,३२० फुट की ऊँचाई पर स्थित है, जिसके कारण नगर की जलवायु अच्छी है। नगर की जनसंख्या ४८,७०९ (१९६१) है। मराठा इतिहास में नगर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है और १८४८ ई० तक शिवाजी के वंशजों द्वारा यह नगर शासित था। इन वंशजों के हथियार सतारा के किले में रखे हुए हैं। [अ० ना० मे०]

सत्य न्याय दर्शन में प्रमुख रूप में प्रत्येक निर्णय और अनुमान पर विचार होता है। इन तीनों में निर्णय का स्थान केंद्रीय है। निर्णय का शाब्दिक प्रकाशन वाक्य है। जब हम किसी वाक्य को सुनते हैं, तो उसे स्वीकार करते है या अस्वीकार करते हैं; स्वीकार और अस्वीकार में निश्चय न कर सकने की अवस्था संदेह कहलाती है। प्रत्येक निर्णय सत्य होने का दावा करता है। जब हम इसे स्वीकार करते हैं तो इसके दावे को सत्य मानते हैं; अस्वीकार करने में उसे असत्य कहते हैं। विश्वास हमारी साधारण मानसिक अवस्था है। जब किसी विश्वास में त्रुटि दिखाई देती है, तो हम इसका स्थान किसी अन्य विश्वास को देना चाहते है। किसी त्याज्य विश्वास से अन्य विश्वास तक जाने की मानसिक क्रिया ही चिंतन है। विश्वास, सत्य हो या असत्य, क्रिया का आधार है, यही जीवन में इसे महत्वपूर्ण बनाता है। न्याय का काम निर्णय या वाक्य के सत्यासत्य की जाँच करना है; इसके लिये यह बात असंगत है कि कोई इसे वास्तव में सत्य मानता है या नहीं।

सत्य के संबंध में दो प्रश्न विचार के योग्य हैं — किसी निर्णय या वाक्य को सत्य कहने में हमारा अभिप्राय क्या होता है।

सत्य और असत्य में भेद करने का मापक साधन क्या है? हमारे ज्ञान के विषयों में प्रमुख ये हैं — हमारी अपनी चेतना अवस्थाएँ, प्राकृतिक पदार्थ, तथा चेतना के अन्य केंद्र, या दूसरों के मन।

मैं कहता हूँ कि मुझे दाँत में दर्द हो रहा है। इसका अर्थ क्या है? मेरा अनुभव एक धारा है जिसमें निरंतर गति होती रहती है। मैं कहता हूँ कि धारा का जो भाग वर्तमान में ज्ञात है, दु:ख की अनुभूति उसमें प्रमुख पक्ष है। मेरे लिये यह स्पष्ट अनुभव है और मैं इसमें संदेह कर ही नहीं सकता। मेरे लिये इसे जाँचने को दूसरा मापक न है, न हो सकता है। स्पष्ट बोध से अधिक अधिकार किसी अन्य अनुभव का नहीं।

अन्य चेतनों का हमें स्पष्ट बोध नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं कि अनुरूपता के आधार पर हम उनके अस्तित्व में विश्वास करते हैं। परंतु ऐसा अनुमान करने की योग्यता प्राप्त होने से पहले ही बच्चा ऐसा विश्वास करता है। संभवतः वह सभी पदार्थों को अपने नमूने का समझता है, और पीछे कुछ वस्तुओं को अपने असमान पाकर अचेतन समझने लगता है।

निर्णयों के सत्य असत्य का प्रश्न प्राय: प्राकृतिक तथ्यों के संबंध में उठता है। मैं कहता हूँ 'मेज पर पुस्तक पड़ी है' इस वाक्य के यथार्थ होने का अर्थ क्या है?

मैं ख्याल करता हूँ कि मुझसे अलग, बाहर, मेज और पुस्तक विद्यमान हैं और उनमें एक विशेष संबंध है। यदि स्थिति वास्तव में ऐसी ही है तो मेरा वाक्य सत्य है; ऐसा न होने की हालत में असत्य है। यह 'सत्य का अनुरूपता सिद्धांत' है।

अनुरूपता का सिद्धांत वस्तुवाद से गठित है, और सर्वमान्य सा है। भारत के दर्शन में प्रत्यक्ष को प्रथम प्रमाण का पद दिया गया है। प्रत्यक्ष 'इंद्रिय और उसके विषय के सामीप्य का फल है'। यह सामीप्य दो प्रकार से हो सकता है: या तो पदार्थ इंद्रिय के पास आए, या मन इंद्रिय द्वार से गुजरकर पदार्थ तक पहुँचे। दूसरी घटना घटती है और मन विषय का रूप ग्रहण करता है। यह अनुरूपता सिद्धांत का स्पष्ट समर्थन है।

अनुरूपता सिद्धांत के अनुसार हम अपने विचार और बाह्य स्थिति में समानता देखते हैं। अपने विचारों का तो हमें स्पष्ट बोध होता है, पर बाहर की स्थिति को हम कैसे जानते हैं? हम दो विचारों को साथ रखकर उनकी समानता असमानता की बाबत कह सकते हैं, परंतु बाह्य पदार्थ तो हमारी चेतना में प्रविष्ट ही नहीं हो सकता। उसकी तुलना किसी विचार से कैसे करें? अनुरूपतावाद में यह मान लिया जाता है कि बाह्य स्थिति का ज्ञान हमें पहले से ही है। यदि पहले ही ऐसा ज्ञान हो तो निर्णय के सत्य असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हमारी स्थिति ऐसे मनुष्य की स्थिति है जिसने ताजमहल के चित्र देखे हैं, परंतु ताजमहल को नहीं देखा, और जानना चाहता है कि वे चित्र ताजमहल को वास्तविक रूप में दिखाते हैं या नहीं।

अध्यात्मवाद कहता है कि वस्तुवाद के पास इस आपत्ति से बचने का कोई साधन नहीं। सत्य के मापक की खोज स्वयं अनुभव में करनी चाहिए। अनुभव में 'आंतरिक अविरोध' सत्य की कसौटी है। अपने पिछले दृष्टांत को फिर लें। 'पुस्तक मेज पर पड़ी है', मैं यह कैसे जानता हूँ? आँख ऐसा बताती है। यह एक अनुभव है। परंतु

आँख कभी कभी धोखा भी दे देती है। मैं हाथ से पुस्तक और मेज को छूता हूँ। यह दूसरा अनुभव पहले अनुभव की पुष्टि करता है। हाथ से खटकाता हूँ तो जो शब्द सुनाई देता है, वह पुस्तक और मेज से निकला प्रतीत होता है। तीसरा अनुभव पहले दोनों अनुभवों की पुष्टि करता है दूसरे भी पुस्तक को मेज पर पड़ा देखते हैं। अनुरूपता सत्य का चिह्न है, परंतु यह अनुरूपता विचार और बाह्य पदार्थ के दरमियान नहीं, अनुभव के विविध भागों के दरमियान होती है। आकर्षणनियम के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अन्य पदार्थों से आकृष्ट होता है, और उन्हें खींचता भी है। इसी तरह सत्य ज्ञान के सभी भाग एक दूसरे पर आश्रित हैं। जो निर्णय इस तरह शेष अनुभव से युक्त हो सकता है, वह सत्य है; जिसमें यह योग्यता नहीं वह असत्य है।

इस विवरण से ऐसा लगता है कि सत्य अनेक सत्य वाक्यों का समुदाय है, और इस समुदाय में प्रत्येक सत्य की अपनी स्वतंत्र स्थिति है। अविरोधवाद इस विचार को स्वीकार नहीं करता। सत्य समुदाय नहीं अपितु समग्र है जिसका तत्व आंशिक सत्यों के रूप को निश्चित करता है। वास्तव में सत्य एक ही है, बहुवचन में सत्यों का वर्णन करना अनुचित है। समूह में कुछ एकाग अलग हो जाए तो दूसरों की स्थिति में भेद नहीं पड़ता। ईंटों के ढेर में से कोई चार ईंटें उठा ले जाए, तो बाकी ईंटों को इसमें आपत्ति नहीं होती। शरीर के एक अंग पर चोट लगे, तो सारा शरीर दुःखी होता है। आंशिक सत्यों में हर एक अंश समग्र को किसी पक्ष में दरसाता है, और इस विषय में सभी अंशों का मूल्य एक नहीं होता। अविरोधवाद के अनुसार सत्यों में परिमाण का भेद होता है।

जिन वाक्यों को हम सत्य कहते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं— वैज्ञानिक नियम संबंधी और तथ्य संबंधी। 'दो और दो चार होते हैं,' 'यदि किसी त्रिकोण के भुज बराबर हों, तो उसके कोण भी बराबर होंगे'। — यह वाक्य हर कहीं और सदा सत्य हैं; देश और काल का भेद उनके सत्य होने से असंगत है। 'भारत १९४७ ई० में स्वाधीन हुआ।' १९४७ ई० से पहले यह वाक्य कहा ही नहीं जा सकता था, परंतु अब यह भी सदा के लिये सत्य है।

सत्य का तीसरा सिद्धांत 'व्यवहारवाद' या 'प्रैग्मेटिज्म' के नाम से प्रसिद्ध है। अपने आधुनिक रूप में यह अमरीका की देन है। वास्तव में व्यवहारवाद कोई सिद्धांत नहीं, एक मनोवृत्ति है जो सामान्य से विशेष को, स्थिरता से परिवर्तन को, चिंतन से क्रिया को अधिक महत्व देती है। इस विचार के प्रसार में चार्ल्स पीअर्स, विलियम जेम्स और जान डियूई का विशेष भाग है। पीअर्स नैयायिक था, जेम्स मनोवैज्ञानिक था, डियूई की अभिरुचि नीति और राजनीति में थी। पीअर्स ने प्रत्ययों के 'अर्थ' को स्पष्ट करने में व्यवहारवाद की विधि का प्रयोग किया, जेम्स ने सत्य का स्वरूप निर्णीत करने में इसे बर्ता, डियूई ने 'भद्र' पर इसे लागू किया। इस तरह से न्याय, सौंदर्यशास्त्र और नीति को अनुभववाद के निकट ले आए।

पीअर्स ने नए विचार को 'प्रैग्मेटिस्म' का नाम दिया। उसकी दृढ धारणा थी कि दर्शन को विज्ञान के दृष्टिकोण और उसकी विधि को अपनाना चाहिए। दर्शन के लिये सत्य ज्ञान निरपेक्ष या समग्र का दोषरहित ज्ञान है; विज्ञान की दृष्टि में ऐसा ज्ञान मानव बुद्धि के लिये अप्राप्य है। हमें सापेक्ष ज्ञान से संतुष्ट होना चाहिए, यही हमारे लिये काम की वस्तु है। दर्शन का प्रमुख काम स्वीकृत मान्यताओं को सिद्ध करना रहा है, विज्ञान के लिये आविष्कार प्रमुख है। नवीन वैज्ञानिक विधि में आगमन और निगमन दोनों का समन्वय होता है। कुछ उदाहरणों की नींव पर प्रतिज्ञा की जाती है, उसे सत्य मानकर निष्कर्ष निकाले जाते हैं, और अंत में देखा जाता है कि अनुभव इनकी पुष्टि करता है या नहीं। किसी प्रतिज्ञा की ऐसी पुष्टि ही उसकी सत्यता है। प्रत्येक सत्य की स्थिति सामयिक प्रतिज्ञा की स्थिति है। प्राकृतिक नियम भी स्थायी नहीं, वे भी विकासाधीन हैं। आकर्षणनियम का क्षेत्र अब पहले से अधिक विस्तृत है और भविष्य में वर्तमान से भी अधिक विस्तृत हो जायगा। नियम भी आदतों की तरह पुष्ट होते जाते हैं।

जेम्स ने अमूर्त सत्य को नहीं, अपितु विशेष विश्वासों के सत्य को अपने विवेचन का विषय बनाया। उसके विचारानुसार सत्य कोई स्थायी वस्तु नहीं जिसे देखना ही हमारा काम है, यह तो क्रिया में बनता है। अपनी पुस्तक 'व्यवहारवाद' में वह कहता है —

'व्यवहारवाद, मूल रूप में, उन दार्शनिक विवादों को मिटाने का नियम है जो इसके बिना अंतरहित होते। जगत् एक है या अनेक? स्वाधीन है या पराधीन? प्राकृतिक है या आध्यात्मिक? ये विचार ऐसे हैं जिनमें एक या दूसरा सत्य या असत्य हो सकता है, और ऐसे विचारों पर विवादों का कोई अंत नहीं। व्यवहारवाद की विधि इन विषयों के संबंध में यह है कि हम प्रत्येक प्रत्यय का समाधान इसके व्यावहारिक परिणामों के परीक्षण से करें। यदि कोई प्रत्यय दूसरे प्रत्यय के स्थान में सत्य होता, तो इससे किसी मनुष्य के लिये व्यावहारिक भेद क्या पड़ता? यदि कोई व्यावहारिक भेद दिखाई न दे तो व्यवहार में दोनों पक्षांतर एक ही हैं और सारा विवाद व्यर्थ है। जब कोई विवाद गंभीर हो तो हमें यह दिखाने के योग्य होना चाहिए कि दोनों पक्षों में एक या दूसरे के सत्य होने पर कोई व्यावहारिक भेद होता है'।

जेम्स से बहुत पहले इसी भाव को प्रकट करते हुए रामानुज ने कहा था—'व्यवहार योग्यता सत्यम्'।

व्यवहारवाद ज्ञानमीमांसा में उपयोगितावाद है: 'जो कुछ विश्वास के संबंध में अपने आपको मूल्यवान् सिद्ध करता है, वह सत्य है। व्यवहारवाद बिना झिझक के यह मान लेता है कि जो विश्वास एक के लिये सत्य है, वह दूसरे के लिये असत्य हो सकता है।

ऊपर कहा गया है कि व्यवहारवाद सामान्य से विशेष को और स्थिरता से परिवर्तन को अधिक महत्व देता है। डियूई की शिक्षा में हम इसे स्पष्ट देखते हैं।

राजनीति में राजतंत्र, शिष्टजनतंत्र और प्रजातंत्र शासनों में भेद किया जाता है। राजतंत्र और शिष्टजनतंत्र अधिक सफल हों, तो भी प्रजातंत्र उनसे अच्छा है, क्योंकि यह व्यक्ति के मूल्य को स्वीकार करता है। नीति में कुछ नियमपालन को और कुछ श्रेय की सिद्धि को लक्ष्य बताते हैं। डियूई के अनुसार दोनों वर्ग एक

ही भ्रांति में पड़े हैं; वे विशेष को उचित महत्व नहीं देते। नीति को एक नहीं अनेक नियमों को, एक नहीं अनेक साध्यों को स्वीकार करना चाहिए। उद्देश्य हर हालत में वर्तमान कठिनाई को दूर करना होता है; जो क्रिया इसमें अधिक से अधिक सहायक हो, वही उस स्थिति में सर्वश्रेष्ठ है। कोई मनुष्य कहीं भी स्थित हो, वह अच्छा मनुष्य है यदि वह आगे बढ़ रहा है, बुरा मनुष्य है यदि पीछे हट रहा है। जीवन का एकमात्र लक्ष्य उत्थान या वृद्धि है; पूर्णता नहीं, अपितु पूर्णता की ओर निरंतर गति है।

यह गति ही शिक्षा है. नैतिक जीवन और शिक्षा एक ही वस्तु है। प्रचलित विचार के अनुसार शिक्षाकाल तैयारी का समय है; यह व्यक्ति को पराधीनता से विमुक्त करके स्वाधीन बना देता है। यदि ऐसा ही है, तो शिक्षाकाल की समाप्ति पर शिक्षा की आवश्यकता भी नहीं रहती। डियूई कहता है कि वृद्धि का यत्न तो जीवन के अंत तक जारी रहना चाहिए, सारा जीवन ही शिक्षाकाल है। जो कुछ स्कूलों कालेजों में पढ़ाया जाता है, उसमें साहित्य और भाषाओं के ज्ञान की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्व मिलना चाहिए। विज्ञान में भी जो भाग पुस्तकों से प्राप्त होता है, उससे अधिक मूल्य उस भाग का है जो विद्यार्थी अपनी क्रिया से सीखता है। मनुष्य का दिमाग ज्ञान का नहीं, क्रिया का अस्त्र है।

निष्कर्ष — वास्तव में अनुरूपतावाद, अविरोधवाद और व्यवहारवाद एक ही प्रश्न का उत्तर नहीं। दो प्रश्न उत्तर की माँग करते हैं — सत्य से क्या अभिप्रेत है? सत्य और असत्य में भेद करने की कसौटी क्या है? अनुरूपतावाद पहले प्रश्न का उत्तर देता है; अविरोधवाद और व्यवहारवाद दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं। जेम्स ने कहा है कि व्यवहार की दृष्टि में जब कोई विश्वास सत्य सिद्ध होता है, तो उसके लिये आवश्यक है कि वह उसी प्रकार के सत्यों से युक्त हो सके। यह धारणा व्यवहारवाद को अविरोधवाद के निकट ले आती है। तीनों विचार एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, एक दूसरे के पूरक हैं। [दी० च०]

सत्यकाम जाबाल महर्षि गौतम के शिष्य जिनकी माता जबाला थीं और जिनकी कथा छांदोग्य उपनिषद् में दी गई है। सत्यकाम जब गुरु के पास गए तो नियमानुसार गौतम ने उनसे उनका गोत्र पूछा। सत्यकाम ने स्पष्ट कह दिया कि मुझे अपने गोत्र का पता नहीं, मेरी माता का नाम जबाला और मेरा नाम सत्यकाम है। मेरे पिता युवावस्था में ही मर गए और घर में नित्य अतिथियों के आधिक्य से माता को बहुत काम करना पड़ता था जिससे उन्हें इतना भी समय नहीं मिलता था कि वे पिता जी से उनका गोत्र पूछ सकतीं। गौतम ने शिष्य की इस सीधी सच्ची बात पर विश्वास करके सत्यकाम को ब्राह्मणपुत्र मान लिया और उसे शीघ्र ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई। [रा० द्वि]

सत्यभामा सत्राजित की कन्या और कृष्ण की चार मुख्य स्त्रियों में में से एक। इनसे कृष्ण को दस पुत्र हुए जिनके नाम भानु, सुभानु, स्वरभानु आदि थे। सूर्य ने जो स्यमंतक मणि सत्यभामा के पिता को दी थी उसे शतधन्वन ने सत्राजित की हत्या करके छीन लिया। अंत में यह मणि अक्रूर के पास निकली और उसके अधिकारियों में से सत्यभामा भी एक थीं। परंतु निर्णय हुआ कि अक्रूर ही इस मणि को अपने पास रखें। [रा० द्वि०]

सत्ययुग चार प्रसिद्ध युगों में सत्य या कृतयुग प्रथम माना गया है। यद्यपि प्राचीनतम वैदिक ग्रंथों में सत्यत्रेतादि युगविभाग का निर्देश स्पष्टतया उपलब्ध नहीं होता, तथापि स्मृतियों एवं विशेषतः पुराणों में चार युगों का सविस्तार प्रतिपादन मिलता है।

पुराणादि में सत्ययुग के विषय मे निम्नोक्त विवरण मिलता है — वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया रविवार को इस युग की उत्पत्ति हुई थी। इसका परिमाण १७,२८,००० वर्ष है। इस युग में भगवान् के मत्स्य, कूर्म, वराह और नृसिंह ये चार अवतार हुए थे। इस काल में स्वर्णमय व्यवहारपात्रों की प्रचुरता थी। मनुष्य अत्यंत दीर्घाकृति एवं अतिदीर्घ आयुवाले होते थे। इस युग का प्रधान तीर्थ कुरुक्षेत्र था।

इस युग में ज्ञान, ध्यान या तप का प्राधान्य था। प्रत्येक प्रजा पुरुषार्थसिद्धि कर कृतकृत्य होती थी, अतः यह 'कृतयुग' कहलाता है। धर्म चतुष्पाद (सर्वत. पूर्ण) था। मनु का धर्मशास्त्र इस युग मे एकमात्र अवलबनीय शास्त्र था। महाभारत में इस युग के विषय मे यह विशिष्ट मत मिलता है कि कलियुग के बाद कल्की द्वारा इस युग की पुन: स्थापना होगी (वन पर्व १६१/१ – १४)। वन पर्व १४६/११ – २५) मे इस युग के धर्म का वर्णन द्रष्टव्य है।

[रा० शं० भ०]

सत्यवती राजा गाधि की एक कन्या जो ऋचीक नामक ब्राह्मण से ब्याही गई। यह जमदग्नि की माता और परशुराम की मातामही थी।

इनकी माता अद्रिका नाम अप्सरा थी। यही व्यास द्वैपायन की माता है जिनके नाम गधवती, कालागनी तथा गधकाली भी हैं। पराशर ऋषि इन्हें यमुना पार करते समय मिले थे और बाद को इनका ब्याह राजा शांतनु से हुआ जिनसे चित्रागद एव विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र हुए (दे० मत्स्यगंधा)। [रा० द्वि०]

सत्यवान अश्वपति राजा की कन्या सावित्री का पति जिनकी मृत्यु की भविष्यवाणी एक ऋषि ने विवाह के पूर्व ही कर दी थी। जब लकड़ी काटते समय सत्यवान गिरकर मरने लगा तो सावित्री वहाँ थी और उसने यमराज को देखकर उनका पीछा किया। अंत में यम उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए और सत्यवान के जीवन का वरदान सावित्री को प्राप्त हो गया। [रा० द्वि०]

सत्यशरण रतूड़ी 'चचरोक' जन्म गोदी (टिहरी) मे हुआ द्विवेदी युग के प्रसिद्ध कवियो में माने जाते है। उनकी कविताएँ प्राय 'सरस्वती' में प्रकाशित होती थी। वे अत्यंत भावुक और सहृदय कवि थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने एक पत्र में (२ मार्च, १६३८ को श्यामचंद नेगी को लिखित) इन शब्दों में उनकी प्रतिभा को स्वीकार किया था: 'स्वर्गवासी पं० सत्यशरण जी रतूड़ी सुकवि थे। भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। उनकी वाणी मे रस

था। उनकी कविताएँ सरस, सरल और भावमयी होती थीं। इससे मैं उन्हें 'सरस्वती' में स्थान देता था।' उनकी कविताएँ विश्वंभरदत्त उनियाल द्वारा संपादित 'सत्य कुसुमांजलि' में संगृहीत है। उनकी 'शांतिमयी शैय्या' कविता रामनरेश त्रिपाठी की 'कवितावली' में मिलती है।

सत्यार्थप्रकाश समाजसुधारक स्वामी दयानंद सरस्वती की इस रचना (सन् १८७) का मुख्य प्रयोजन "सत्य को सत्य और मिथ्या को मिथ्या ही प्रतिपादन करना" है। इसमें इन विषयों पर विचार किया गया है — बालशिक्षा, अध्ययन अध्यापन, विवाह एव गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास, राजधर्म, ईश्वर, सृष्टि उत्पत्ति, बंधमोक्ष, आचार अनाचार, आर्यवर्तदेशीय मतमतांतर, ईसाई मत तथा इस्लाम। इसकी भाषा के संबंध में स्वयं लेखक ने सन् १८८२ में यह लिखा—"जिस समय मैंने यह ग्रंथ बनाया था, उस समय···संस्कृत-भाषण करने···और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा (हिंदी) का विशेष परिज्ञान न था। इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब···इसको भाषा-व्याकरण-अनुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।"

यद्यपि हिंदू जीवन व्यक्ति और समाज, दोनों को समक्ष रखकर चलता है, तो भी हिंदुओं में प्रायः देखा जाता है कि समष्टिवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अधिक है। ध्यान में मग्न उपासक के समीप इसी समाज का कोई व्यक्ति तड़प रहा हो तो वह उसे ध्यान-भंग का कारण समझेगा — यह नहीं कि वह भी राम या कृष्ण ही है। फिर उन्नीसवीं शती में अंगरेजी सभ्यता का बहुत प्राबल्य था। अंगरेजी प्रचार के परिणामस्वरूप हिंदू ही अपनी संस्कृति को हेय मानने और पश्चिम का अंधानुकरण करने में गर्व समझने लगे थे। भारतीयों को भारतीयता से भ्रष्ट करने की मैकाले की योजना के अनुसार हिंदुओं को पतित करने के लिये अंगरेजी शिक्षाप्रणाली का जोर था। विदेशी सरकार तथा अंगरेजी समाज अपने एजेंट पादरियों के द्वारा 'ईसा का झंडा' देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फहराने के लिये करोड़ों रुपए खर्च कर रहे थे। हिंदू अपना धार्मिक एवं राष्ट्रीय गौरव खो चुके थे। १४४ हिंदू प्रति दिन मुसलमान बन जाते; ईसाई इससे कहीं अधिक। पादरी 'रंगीला कृष्ण', 'सीता का छिनाला' आदि सैकड़ों गंदी पुस्तिकाएँ बाँट रहे थे। इन निराधार गर्हा लांछनों का उत्तर देने के स्थान में ब्राह्म समाजवालों ने उलटे राष्ट्रीयता का विरोध किया। वेद आदि की प्रतिष्ठा करना तो दूर रहा, पेट भर उनकी निंदा की।

स्वामी दयानंद ने आर्यसमाज और सत्यार्थप्रकाश के द्वारा इन घातक प्रवृत्तियों को रोका। उन्होंने यहाँ तक लिखा, "स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए (व्यक्ति)···मंत्री" होने चाहिएँ। "परमात्मा हमारा राजा है···, वह कृपा करके···हमको राज्याधिकारी करे।" इसके साथ ही उन्होंने आर्य सभ्यता एवं संस्कृति से प्रखर प्रेम और वेद, उपनिषद् आदि आर्य सत्साहित्य तथा भारत की परंपराओं के प्रति श्रद्धा पर बल दिया। स्वसमाज, स्वधर्म, स्वभाषा तथा स्वराष्ट्र के प्रति भक्ति जगाने तथा तर्कप्रधान बातें करने के कारण उत्तर भारत के पढ़े लिखे हिंदू धीरे धीरे इधर खिंचे चले आए जिससे आर्य-समाज सामाजिक एवं शैक्षणिक क्षेत्रों में लोकप्रिय हुआ।

बारह विभिन्न भाषाओं में इस ग्रंथ की सात लाख से अधिक प्रतियाँ छप चुकी हैं। [ध० वी०]

सदानंद घिल्डियाल (१८९८–१९२८) जन्म कटूलस्यू गाँव खोला में हुआ। वे आयुर्वेद के विद्वान् ही नहीं शुद्ध साहित्यिक भी थे। उनके 'प्रायश्चित्त' शीर्षक हिंदी नाटक तथा 'भावकुसुमांजलि' शीर्षक अप्रकाशित कविताएँ उनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। विशुद्ध साहित्यसाधना के अतिरिक्त उन्होंने आयुर्वेद के कई ग्रंथों पर टीकाएँ लिखीं तथा 'रसतरंगिणी' नामक आयुर्वेद विषयक ग्रंथ की रचना की। संस्कृत की कोमल कांत पदावली में लिखे इस ग्रंथ की विद्वानों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है।

सदाशिवराव भाऊ बाजीराव पेशवा के भाई चिमनाजी अप्पा के पुत्र सदाशिवराव भाऊ को देशी राज्यों के विरुद्ध सैनिक सफलताओं के कारण असाधारण सेनानी समझा गया, और पानीपत में मराठों की भीषण पराजय का आवश्यकता से अधिक दोषी भी। अनुकूल प्रकृति होते हुए भी महत्वाकांक्षी और स्पष्टवादी होने से, वह अधिकतर लालची, घमंडी और हठी ठहराया गया। रामचंद्र बाबा की दीक्षा और प्रेरणा से भाऊ ने शासनप्रबंध में असाधारण दक्षता प्राप्त की; किंतु वही भाऊ और पेशवा में मनो-मालिन्य बढ़ाने का भी कारण बना।

भाऊ का प्रथम महत्वपूर्ण कार्य पश्चिमी कर्नाटक में मराठा आधिपत्य स्थापित करना था (१७४६)। फिर, विद्रोही यामाजी शिवदेव को पराजित कर उसने संगोला का किला हस्तगत किया (१७५०)। यहाँ, रामचंद्र बाबा की प्रेरणा से नई योजना कार्यान्वित कर, उसने मराठा शासन में वैधानिक क्रांति स्थापित कर दी। किंतु भाऊ के कुछ कार्यों को अपने स्वत्वाधिकारों का अपहरण समझ पेशवा उससे और बाबा से रुष्ट हो गया। तब बाबा से प्रोत्साहित हो भाऊ ने पेशवा से शासनसंचालन का पूर्णाधिकार माँगा, वही पद जो विगत पेशवा के समय से उसके पिता का था। पेशवा की अस्वीकृति पर भाऊ ने कोल्हापुर के राजा के पेशवा-पद को ग्रहण करने की धमकी दी। किंतु अततः महादोबा पुरंदरे के पदत्याग के कारण दोनों में समझौता हो गया, जिससे महाराष्ट्र में गृहयुद्ध की आशंका टल गई। १७५१ से १७५९ तक, यद्यपि भाऊ ने पेशवा के साथ कुछ सफल सैनिक अभियानों में भाग लिया, किंतु मुख्यतः उसका कार्यक्षेत्र शासनप्रबंध ही रहा, जिसमें उसने पूर्ण योग्यता का परिचय दिया। १७६० भाऊ की ख्याति का चरमोत्कर्ष था, जब ऊदगिर के युद्ध में निजाम को पूर्णरूपेण परास्त कर उसने महाराष्ट्र साम्राज्य का सीमाविस्तार किया। किंतु तभी महाराष्ट्र के भावी अनिष्ट की पूर्व-सूचना के रूप में पेशवा को अहमदशाह दुर्रानी के हाथों बरारघाट में दत्ताजी सिंधिया की पराजय और मृत्यु के समाचार प्राप्त हुए। तब पेशवा ने अपने भाई रघुनाथराव की अपेक्षा भाऊ को दुर्रानी का गतिरोध करने के लिये सेनापति नियुक्त किया। २ अगस्त को

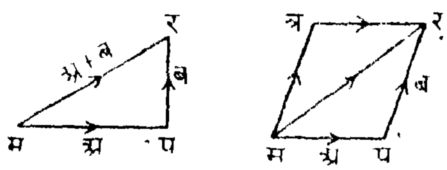
भाऊ ने दिल्ली पर अधिकार किया। १० अक्टूबर को शाह आलम को दिल्ली का सम्राट् घोषित किया। फिर, १७ अक्टूबर को कुंजपुरा विजय कर, ३१ अक्टूबर को वह पानीपत पहुँच गया। ४ नवंबर को विपक्षी सेनाएँ आमने सामने खड़ी हो गईं। प्राय: ढाई महीने की मोर्चाबंदी के बाद, १४ जनवरी, १७६१ के दिन समूचे भारतीय इतिहास के घोरतम युद्धों में से एक, पानीपत का युद्ध प्रारंभ हुआ। सैनिक योग्यता में दुर्रानी से निम्नतर होने के अतिरिक्त भाऊ निस्संदेह प्रतिकूल परिस्थितियों से विवश हो गया था। इस भीषण युद्ध में नानासाहब पेशवा के पुत्र विश्वासराव तथा भाऊ के अतिरिक्त अनेक मुख्य सामंतों के साथ प्राय: एक लाख मराठा सैनिक तथा असैनिक खेत रहे। कुछ समय पश्चात् एक व्यक्ति ने भाऊ होने का छद्म रचा, किंतु अपराध प्रमाणित होने पर उसे मृत्युदंड दे दिया गया।

सं० ग्रं० — ग्रांट डफ : हिस्ट्री ऑव द मराठाज; सरदेसाई : न्यू हिस्ट्री ऑव मराठाज; जदुनाथ सरकार : राइज ऐंड फॉल ऑव द मुगल एंपायर; त्र्यंबक शंकर शेजवाल्कर (Shejwalker : पानीपत (१७६१); गंडासिंह : अहमदशाह दुर्रानी। मराठी ग्रंथ :— काशीराज बखर; भाऊ साहेब ची बखर; पुरंदरे दफ्तर; मराठ्यांचा इतिहासाचीं साधने। [रा० ना०]

सदिश विश्लेषण (Vector Analysis) गणित की वह शाखा है जो सदिश बीजगणित तथा अदिश बिंदु फलनों और सदिश क्षेत्रों के दिक् या काल परिवर्तन दर की व्याख्या करती है। सदिश (vector) एक सत्ता है, जो एक दिष्ट परिमाण (directed magnitude) को, जैसे बल या वेग को, निरूपित करती है और जिसे बराबर तथा समांतर रेखाखंडों की किसी पद्धति से निरूपित किया जाता है।

सामान्य रूप से सदिशों को क्लैरेंडन टाइप के अक्षरों से जताया जाता है और उसके परिमाण सामान्य टाइप के उन्हीं अक्षरों से जताए जाते हैं : **अ, ब, स**, ··· अ, ब, स, (A, B, C ···, a, b, c, . . .) रेखा सदिश, जो सबसे सरल सदिश है, दो बिंदुओं म, प (OP) से निर्धारित होता है। ये बिंदु इस प्रकार के होते हैं कि सदिश का परिमाण सरल रेखा म प की लंबाई होती है और दिशा म प की ओर। यह सदिश संकेत रूप में म प द्वारा बताया जाता है। जिस सदिश का गुणांक (modulus) इकाई होता है, उसे एकांक सदिश (unit vector) कहते हैं। यदि दो सदिशों की लंबाई और दिशा एक हो, तो वे आपस में बराबर होते हैं।

सदिश योग — कतिपय सदिशों के ज्यामितीय योग ज्ञात करने की प्रक्रिया को सदिश योग कहते हैं। यानी इसके अंतर्गत दो या दो से अधिक सदिशों के तुल्यमान का एक सदिश निर्धारित किया जाता है। सदिशों का योग ज्ञात करने के लिये, उन्हें निरूपित करनेवाली रेखाएँ एकरेखीय श्रेणी में, बिना दिशा बदले, इस प्रकार रखी जाती हैं कि पहली रेखा के बाद हर रेखा उस बिंदु से शुरू होती है जिसपर उसके पहले वाली रेखा समाप्त होती है। पहले सदिश के आरंभ बिंदु और अंतिम सदिश के अंतिम बिंदु को मिलानेवाली रेखा सदिशों का योग होती है। सदिश राशियों को त्रिभुज नियम के अनुसार संयोजित किया जाता है। इसके अनुसार यदि तीन बिंदु म, प और र इस प्रकार हों कि $\overrightarrow{\text{मप}}$ = **अ** और $\overrightarrow{\text{पर}}$ = **ब**, तो सदिश $\overrightarrow{\text{मर}}$, **अ** और **ब** का योग कहलाता है। यदि इस योग को **स** माना जाय, तो **स** = **अ** + **ब**। स्पष्ट है कि दो सदिशों **अ** = $\overrightarrow{\text{मप}}$ तथा **ब** = $\overrightarrow{\text{मक्ष}}$ का योग सदिश $\overrightarrow{\text{रम}}$



है, जो उस समांतर चतुर्भुज के विकर्ण से निर्धारित होता है, जिसकी भुजाएँ मप और मक्ष है। क्रमविनिमेयता (commutativity) और साहचर्य (associativity) के नियम सदिशों के जोड़ने में लागू होते हैं, सदिशों की संख्या चाहे जितनी हो। योग पदों के क्रम (order) और समूहन (grouping) से निरपेक्ष होता है। यदि किसी सदिश के साथ ऋण चिह्न पूर्वलग्न हो, तो वह एक ऐसे सदिश को निरूपित करता है जिसका परिमाण तो मूल सदिश के बराबर हो किंतु दिशा विपरीत हो।

किसी वास्तविक संख्या त और किसी सदिश **अ** का गुणनफल त. **अ** द्वारा जताया जाता है। यह एक ऐसा सदिश होता है जिसकी लंबाई **अ** की। त। गुनी होती है और दिशा **अ** की ओर होती है, या **अ** के विपरीत होती है। यह त के धनात्मक या ऋणात्मक होने पर निर्भर करती है।

दो सदिशों का अदिश गुणनफल — दो सदिशों **अ** और **ब** का अदिश गुणनफल **अ. ब**, या **ब. अ**, द्वारा जताया जाता है और

अ . ब = **ब . अ** = अ ब कोज्या (**अ, ब**),

होता है, जिसमें कोज्या (**अ, ब**), **अ** और **ब** के बीच के कोण को निरूपित करता है। यदि सदिश **अ** और **ब** एक दूसरे पर लंब हों तो **अ ब** = ०

दो सदिशों का सदिश गुणनफल — सदिशों **अ** और **ब** के सदिश गुणनफल को **अ** × **ब** द्वारा प्रदर्शित किया जाता है और परिभाषा के अनुसार

अ × **ब** = − **ब** × **अ** = **न** अब ज्या (**अ, ब**)

जहाँ **न**, **अ** और **ब** पर लंब, ऐसा एकांक सदिश है कि यदि **अ**, **न** के चारों ओर **ब** के अभिमुख घूर्णन करे, तो **न** और घूर्णन की दिशा में वही संबंध होगा जो दक्षिणावर्ती पेंच (right handed screw) के प्रणोद (thrust) और ऐंठन (twist) में होता है।

अदिश त्रिगुण गुणनफल — **अ.ब** × **स** इसका उदाहरण है। जाहिर है कि

अ . ब × **स** = **अ.न** ब स ज्या (**ब, स**)

= अ ब स कोज्या (**अ, न**) ज्या (**ब, स**)

गुणनफल का मान सदिशों के चक्रीय क्रम पर निर्भर करता है और बिंदु या काट की स्थिति के निरपेक्ष है। यदि कोई एक अचक्रीय

अंतर्विनिमय किया जाय, तो गुणनफल का चिह्न बदल जाता है। गुणनफल का परिमाण **अ**, **ब**, **स** द्वारा निरूपित रेखा सदिशों पर निर्मित समांतर षट्फलक के आयतन के तुल्यसंख्यक होता है।

सदिश त्रिगुण गुणनफल — **अ** × (**ब** × **स**) एक उदाहरण है और

$$\textbf{अ} \times (\textbf{ब} \times \textbf{स}) = \textbf{ब}(\textbf{अ}.\textbf{स}) - \textbf{स}(\textbf{अ}.\textbf{ब})।$$

तीन से अधिक सदिशों के गुणनफल की आवश्यकता बिरले ही होती है।

एकांक सदिशों की इ – ज – उ (i, j, k) पद्धति — यदि **इ**, ज, उ तीन एकांक रेखा सदिश य, र, ल अक्षों की धनात्मक दिशा में हों, तो

$$\text{इ}.\text{इ} = \text{ज}.\text{ज} = \text{उ}.\text{उ} = १$$
$$\text{इ}.\text{ज} = \text{ज}.\text{उ} = \text{उ}.\text{इ} = ०$$
$$\text{इ} \times \text{इ} = \text{ज} \times \text{ज} = \text{उ} \times \text{उ} = ०$$
$$\text{इ} \times \text{ज} = \text{उ},\ \text{ज} \times \text{उ} = \text{इ},\ \text{उ} \times \text{इ} = \text{ज}$$

और यदि

$$\textbf{अ} = \text{अ}_१\,\text{इ} + \text{अ}_२\,\text{ज} + \text{अ}_३\,\text{उ}$$
$$\textbf{ब} = \text{ब}_१\,\text{इ} + \text{ब}_२\,\text{ज} + \text{ब}_३\,\text{उ}$$

तो

$$\textbf{अ} + \textbf{ब} = (\text{अ}_१ + \text{ब}_१)\text{इ} + (\text{अ}_२ + \text{ब}_२)\text{ज} + (\text{अ}_३ + \text{ब}_३)\text{उ}$$
$$\textbf{अ}.\textbf{ब} = \text{अ}_१\text{ब}_१ + \text{अ}_२\text{ब}_२ + \text{अ}_३\text{ब}_३$$

$$\text{और } \textbf{अ} \times \textbf{ब} = \begin{array}{ccc} \text{अ}_१ & \text{ब}_२ & \text{अ}_३ \\ \text{ब}_१ & \text{ब}_२ & \text{ब}_३ \\ \text{इ} & \text{ज} & \text{उ} \end{array}$$

सदिश क्षेत्र — यदि दिक् का प्रत्येक बिंदु किसी सदिश से सहचरित हो, तो दिक् को सदिश क्षेत्र कहते हैं। गुरुत्वीय, चुंबकीय और वैद्युत क्षेत्र इसके उदाहरण हैं। मान लीजिए कि बिंदु प (य, र, ल) से सहचरित एक सदिश **व** निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जाता है :

$$\textbf{व} = \text{व}_१\,\text{इ} + \text{व}_२\,\text{ज} + \text{व}_३\,\text{उ}$$

और य + ताय, र + तार, ल + ताल किसी प्रतिवेशी (neighbouring) बिंदु के निर्देशांक हों, जिसमें ताय, तार, ताल; य, र, ल में अनतसूक्ष्म वृद्धि के सूचक हैं. फिर यदि सदिश **व** में संगत वृद्धि को ता **व** द्वारा जताया जाता है तो

$$\text{ता}\textbf{व} = \text{इ ताव}_१ + \text{ज ताव}_२ + \text{उ ताव}_३$$

$$\text{जहाँ ताव}_१ = \frac{\delta\,\text{व}_१}{\delta\,\text{य}}\text{ताय} + \frac{\delta\,\text{व}_१}{\delta\,\text{र}}\text{तार} + \frac{\delta\,\text{व}_१}{\delta\,\text{ल}}\text{ताल}$$

$$\text{ताव}_२ = \frac{\delta\,\text{व}_२}{\delta\,\text{य}}\text{ताय} + \frac{\delta\,\text{व}_२}{\delta\,\text{र}}\text{तार} + \frac{\delta\,\text{व}_२}{\delta\,\text{ल}}\text{ताल}$$

$$\text{ताव}_३ = \frac{\delta\,\text{व}_३}{\delta\,\text{य}}\text{ताय} + \frac{\delta\,\text{व}_३}{\delta\,\text{र}}\text{तार} + \frac{\delta\,\text{व}_३}{\delta\,\text{ल}}\text{ताल}$$

सदिश का डाइवर्जेंस और कर्ल — किसी भी सदिश फलन **व** से दो अन्य बिंदु फलन व्युत्पन्न किए जा सकते हैं। इनमें से एक अदिश और दूसरा सदिश होता है। इनका सदिश विश्लेषण में बहुत महत्व है। इनमें से पहला **व** का डाइवर्जेंस कहलाता है और इसकी परिभाषा निम्नलिखित होती है :

$$\text{डाइव }\textbf{व} = \text{इ}\frac{\delta\,\textbf{व}}{\delta\,\text{य}} + \text{ज}.\frac{\delta\,\textbf{व}}{\delta\,\text{र}} + \text{उ}.\frac{\delta\,\textbf{व}}{\delta\,\text{ल}}$$
$$= \frac{\delta\,\text{व}_१}{\delta\,\text{य}} + \frac{\delta\,\text{व}_२}{\delta\,\text{र}} + \frac{\delta\,\text{व}_३}{\delta\,\text{ल}}$$

और दूसरा **व** का कर्ल कहलाता है जिसकी परिभाषा

$$\text{कर्ल }\textbf{व} = \text{इ} \times \frac{\delta\,\textbf{व}}{\delta\,\text{य}} + \text{ज} \times \frac{\delta\,\textbf{व}}{\delta\,\text{र}} + \text{उ} \times \frac{\delta\,\textbf{व}}{\delta\,\text{ल}}$$

$$\begin{array}{ccc} \delta/\delta\,\text{य} & \delta/\delta\,\text{र} & \delta/\delta\,\text{ल} \\ \text{व}_१ & \text{व}_२ & \text{व}_३ \\ \text{इ} & \text{ज} & \text{उ} \end{array}$$

होती है। इनके मान अक्षों के संदर्भ में निश्चर होते हैं।

निम्नलिखित प्रसार सूत्र अत्यंत महत्वपूर्ण हैं :

$$\text{डाइव (क्ष }\textbf{व}) = \triangle\text{क्ष}.\textbf{व} + \text{क्ष डाइव }\textbf{व}$$
$$\text{कर्ल (क्ष }\textbf{व}) = \triangle\text{क्ष} \times \textbf{व} + \text{क्ष कर्ल }\textbf{व}$$
$$\text{डाइव }(\textbf{स} \times \textbf{व}) = \textbf{व}.\text{कर्ल }\textbf{स} - \textbf{स}.\text{कर्ल }\textbf{व}$$
$$\text{कर्ल }(\textbf{स} \times \textbf{व}) = \textbf{व}.\vee\textbf{स} - \textbf{स}.\triangle\textbf{व} + \textbf{स}\text{ डाइव }\textbf{व} - \textbf{व}\text{ डाइव }\textbf{स}$$
$$\text{ग्रेड }(\textbf{स}.\textbf{व}) = \textbf{व}.\triangle\textbf{स} + \textbf{स}.\triangle\textbf{व} + \textbf{व} \times \text{कर्ल }\textbf{स} + \textbf{स} \times \text{कर्ल }\textbf{व}$$
$$\text{कर्ल ग्रेड }\textbf{व} = ०$$
$$\text{डाइव कर्ल }\textbf{व} = ०$$
$$\text{डाइव ग्रेड }\textbf{व} = \nabla^२\textbf{व}$$

जिसमे $\nabla^२$ लाप्लास परिचालक है।

गाउस का डाइवर्जेंस प्रमेय — इसका सदिशीय रूप निम्नलिखित है :

$$\int \textbf{फ}.\textbf{न}\text{ ता द} = \int \text{डाइव }\textbf{फ}\text{ ताव}$$

जिसका तात्पर्य यह है कि किसी बंद क्षेत्र की सीमा पर फलन **फ** का अभिलंब पृष्ठ समाकल (normal surface integral) समूचे परिबद्ध दिक् में लिए हुए **फ** के डाइवर्जेंस के दिक् समाकल के बराबर होता है।

स्टोक का प्रमेय — यह निम्नलिखित है :

$$\int \textbf{फ}.\text{ता }\textbf{प्र} = \int \textbf{न}.\text{कर्ल }\textbf{फ}\text{ ता द } [\textbf{प्र} - \text{इ य} + \text{ज र} + \text{उ ल}]$$

जिसका तात्पर्य यह है कि किसी सदिश फलन **फ** के लिये, जो अपने व्युत्पन्न के साथ किसी भी दिशा में एकसमान, (uniform) सांत (finite) और अविच्छिन्न (continuous) है, बंद वक्र स के चारों ओर **फ** का स्पर्शीय रेखा समाकल, द पर कर्ल **फ** के अभिलंब पृष्ठ समाकल के बराबर होता है।

ग्रीन का प्रमेय — इसे यों व्यक्त किया जाता है :

$$\int (\text{क्ष}\nabla\text{व} - \text{व}\triangle\text{क्ष}).\textbf{न}\text{ तार} = \int (\text{क्ष}\triangle^२\text{व} - \text{व}\nabla^३\text{क्ष})\text{ ताव}$$

यदि किसी सदिश **व** का कर्ल लुप्त हो जाता है तो उसे स्तरित या अघूर्ण सदिश कहते हैं। यदि डाइव **व** = ०, तो सदिश **व** को परिनालिकीय सदिश कहते हैं।

सदिश विश्लेषण का अनुप्रयोग अनेक ज्यामितियों, बीजगणित, क्वांटम यांत्रिकी, आपेक्षिकता सिद्धांत, टेंसर विश्लेषण आदि गणित की अनेक शाखाओं में होता है। [प्र० दा० शा०]

सनाउल्ला पानीपती शैख जलालुद्दीन पानीपती के वंशज थे। ७ वर्ष की उम्र में कुरान हिफ्ज (कंठस्थ) किया और १६ वर्ष की अवस्था में शिक्षण से निवृत्त हुए। सर्वप्रथम शैखुल शयूख मुहम्मद आबिद मुनामी नक्शबंदी मुजद्दी से दीक्षित हुए तथा उनकी शिक्षाओं द्वारा अध्यात्मवाद की 'फ़ना' की श्रेणी को प्राप्त किया। अध्यात्म गुरु के स्वर्गवास के उपरांत मिर्जा मज्हर जानजाना से दीक्षा ली। वह अत्यंत संयमी, निस्पृह तथा तपस्वी थे। मिर्जा मज्हर से खिलाफत का संमान प्राप्त करके अपनी जन्मभूमि पानीपत में एक खानकाह स्थापित की, धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न हो गए और हजारों व्यक्तियों को ईश्वरदर्शन का मार्ग दिखाया। मिर्जा मज्हर ने उन्हें 'इल्मुल हुदा' की उपाधि से संमानित किया था। मिर्जा को अपने इस शिष्य के प्रति इतना अनुराग था कि एक अवसर पर उन्होंने कहा कि महाप्रलय के दिन जब ईश्वर मुझसे पूछेगा कि मेरे लिये क्या लाए हो तो कह दूँगा कि सनाउल्ला पानीपती को लाया हूँ। वह महान् धर्मपंडित थे तथा अनेक रचनाओं का श्रेय उन्हें प्राप्त है। उदाहरणतया, ७ भागों में तफसीरे मज्हरी, सैफुल मस्लूल, इर्शादुल तालबीन, माला बदमहता, हुकूकुल इस्लाम, शहाबे साकिब इत्यादि। कोई ३० से अधिक पुस्तकें और रिसाले उन्होंने लिखे। १२२५ (१८१० ई०) में स्वर्गवास हुआ। पानीपत में उनकी समाधि है। [मु० उ०]

सनातन गोस्वामी यह कर्णाट श्रेणीय पंचद्रविड भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज कर्णाट राजवंश के थे और सर्वज्ञ के पुत्र रूपेश्वर बंगाल में आकर गंगातटस्थ बारीसाल में बस गए। इनके पौत्र मुकुंददेव बंगाल के नवाब के दरबार में राजकर्मचारी नियत हुए तथा गौड़ के पास रामकेलि ग्राम में रहने लगे। इनके पुत्र कुमारदेव तीन पुत्रों अमरदेव, संतोषदेव तथा वल्लभ को छोड़कर युवावस्था ही में परलोक सिधार गए जिससे मुकुंद-देव ने तीनों पौत्रों का पालन कर उन्हें उचित शिक्षा दिलाई। इन्हीं तीनों को श्री चैतन्य महाप्रभु ने क्रमश: सनातन, रूप तथा अनुपम नाम दिया। सनातन का जन्म सं० १५२३ के लगभग हुआ था तथा संस्कृत के साथ फारसी अरबी की भी अच्छी शिक्षा पाई थी। सन् १४८३ ई० में पितामह की मृत्यु पर अठारह वर्ष की अवस्था में यह उन्हीं के पद पर नियत किए गए और बड़ी योग्यता से कार्य सँभाल लिया। हुसेन शाह के समय में यह प्रधान मंत्री हो गए तथा इन्हें दबीर खास उपाधि मिली। राजकार्य करते हुए भी तीनों भाई परम भक्त, विरक्त तथा सत्संग प्रेमी थे। इन्होंने 'कानाई नाट्यशाला' बनवाई थी, जिसमें कृष्णलीला संबंधी बहुत सी मूर्तियों का संग्रह था। श्री चैतन्य महाप्रभु का जब प्रकाश हुआ तब यह भी उनके दर्शन के लिये उतावले हुए, पर राजकार्य से छुट्टी नहीं मिली। इसलिये उन्हें पत्र लिखकर रामकेलि ग्राम में आने का आग्रह किया। श्री चैतन्य जब वृंदावन जाते समय रामकेलि ग्राम में आए तब इन तीनों भाइयों ने उनके दर्शन किए और सभी ने सांसारिक जंजाल से मुक्ति पाने का दृढ संकल्प किया। सभी राजपद पर थे। पर सनातन इनमें सबसे बड़े और मंत्री-पद पर थे अत: पहले श्री रूप तथा अनुपम सारे कुटुंब को स्वजन्म-स्थान फतेहाबाद बाकला में सुरक्षित रख आए और रामकेलि ग्राम में सनातन जी के लिये कुसमय में काम आने को कुछ धन एक विश्वसनीय पुरुष के पास रखकर वृंदावन की ओर चले गए। जब सनातन जी ने राजकार्य से हटने का प्रयत्न किया तब नवाब ने इन्हें कारागार में बंद करा दिया। अंत में घूस देकर यह बंदीगृह से भागे और काशी पहुँच गए। स० १५७२ में यहीं श्रीगौरांग से भेंट हुई। और दो मास तक वैष्णव भक्ति शास्त्र पर उपदेश देकर इन्हें वृंदावन भेज दिया कि वहाँ के लुप्त तीर्थों का उद्धार, भक्तिशास्त्र की रचना तथा प्रेमभक्ति एवं संकीर्तन का प्रचार करें। यह वृंदावन चले गए पर कुछ दिनों बाद श्रीगौरांग के दर्शन की प्रबल इच्छा से जगदीशपुरी की यात्रा की। वहाँ कुछ दिन रहकर यह पुन: वृंदावन लौट आए और आदित्यटीला पर अंत तक यहीं रहें। मधुकरी माँगने यह नित्य मथुरा जाते थे और वहीं उन्होंने श्री अद्वैताचार्य द्वारा प्रकटित श्री मदनगोपाल जी के विग्रह का दर्शन किया। यह उस मूर्ति को वृंदावन लाए और आदित्यटीला पर प्रतिष्ठापित कर सेवा करने लगे। कुछ दिनों बाद एक मंदिर बन गया और सं० १५६१ से सेवा की व्यवस्था ठीक रूप से चलने लगी। इसी प्रकार अनेक विग्रहों को खोजकर उनकी सेवा का प्रबंध किया, अनेक लुप्त तीर्थों का उद्धार किया तथा कई ग्रंथ लिखे। यह श्रीगौरांग के प्रमुख शिष्यों तथा पार्षदों में थे। इनकी रचनाएँ हैं — श्री बृहत् भागवतामृत, वैष्णवतोषिणी तथा श्रीकृष्णलीलास्तव। हरिभक्तिविलास तथा भक्तिरसामृतसिंधु की रचना में भी इनका सहयोग था। [ब्र० र० दा०]

सनातनानंद सकलानी 'सत्कविदास' का जन्म श्रीनगर में हुआ रतूड़ी जी की ही भाँति गढ़वाली और हिंदी दोनों भाषाओं में कविता करते थे। उनकी कुछ कविताएँ 'गढ़वाली' में प्रकाशित भी हुई थीं। हिंदी में उनकी कविताएँ 'सरस्वती', 'माधुरी' और 'बंगवासी' में छपती रहती थीं। वे हिंदी के उन गिने चुने कवियों में थे, जिनका अभ्युदय 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हुआ था। १६०५ से १६२४ तक वे सरस्वती में लिखते रहे।

सनिधातृ कौटिल्य अर्थशास्त्र में वित्त संबंधित दो प्रमुख अधिकारियों का उल्लेख है जिनके नाम 'समाहर्तृ' अथवा 'समाहर्ता' तथा 'सनिधातृ' अथवा संनिधाता है। उनके कर्तव्यों का भी इसी ग्रंथ में उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में भी 'समगृहितृ' तथा 'भाग दुघ' नामक पदाधिकारी वित्त तथा आय का लेखा ब्योरा रखते थे। यह संभव है कि वैदिक समगृहितृ तथा कौटिल्य के सनिधातृ का कार्य-क्षेत्र एक ही रहा हो। कौटिल्य के अनुसार 'सनिधातृ' का कार्य राजकीय आयकर की विधिवत् वसूली तथा उसे राजकोष में जमा करना था। इस मुख्य कर्तव्य के अतिरिक्त बहुमूल्य मणि तथा स्वर्ण भंडार तथा धान्यकोष भी उसके संरक्षण में थे। इनके कर्मचारी 'सनिधातृ' से आदेश लेते थे। आयुधागार (शस्त्रों के रखने का स्थान), कारागार तथा न्यायालय पर भी इसका नियंत्रण था। यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र का यह अधिकारी, जिसका संबंध कदाचित् मौर्य शासनव्यवस्था से हो सकता है, केंद्रीय या

तथा उसका संरक्षण और कार्यक्षेत्र वित्त के अतिरिक्त अन्य विषयों से भी था। 'सनिधातृ' को राजकीय आय तथा व्यय का प्राथमिक ज्ञान था। वह प्रति वर्ष बजट बनाता था, तथा उसके कार्यालय में १०० वर्ष तक के वित्त आँकड़े रहते थे। शुक्रनीति शास्त्र में 'सनिधातृ' को सुमंत्रा तथा 'समाहर्तृ' को अमात्य लिखा है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किसी भी भारतीय राजवंश की शासनव्यवस्था में सनिधातृ का उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है, यह पद उपर्युक्त ग्रंथों तक ही सीमित रह गया हो। 'सनिधातृ' के साथ समाहर्तृ का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। उसका क्षेत्र गढ़, खान, कृषि, वन तथा मार्ग और पशु विभाग तक ही सीमित था। ये दोनों पदाधिकारी विभिन्न विभागों से मुख्यतया वित्त तथा राजकर से संबंधित प्रतीत होते हैं।

सं० ग्रं० – शामशास्त्री : कौटिल्य अर्थशास्त्र; दीक्षितार : ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशंस तथा मौर्यन पॉलिटी, नारायणचंद्र बनर्जी— 'पौटिक्स'। [वै० पु०]

सपीर, एडवर्ड (१८८४–१९३९ ई०) अमरीका के प्रसिद्ध नृतात्विक भाषाशास्त्री। जन्म २६ जनवरी, १८८४ ई० को जर्मनी में हुआ। पाँच वर्ष की अवस्था में माता पिता के साथ अमरीका में आकर बस गए। १९०६ ई० में पुलिट्ज़र फेलोशिप लेकर 'जरमानिक्स' में एम० ए० तथा १९०९ में पी-एच० डी० डिग्री प्राप्त की। सन् १९१० में जियोलॉजिकल सर्वे ऑव कैनाडा के नृतत्व विभाग के अध्यक्ष होकर ओटावा गए। कैनाडा में बिताए गए १५ वर्षों में सपीर ने नूटका, अथापास्कन, नवाहो, सार्सी, टिलंगिट और कुचिन आदि अनेक (रेड) इंडियन भाषाओं का क्षेत्रीय कार्य किया।

सन् १९२५ में वे शिकागो आए और १९२७ से १९३२ ई० तक शिकागो विश्वविद्यालय में सामान्य भाषाशास्त्र एवं नृतत्व के प्रोफेसर रहे। इसी वर्ष येल विश्वविद्यालय के आग्रह पर वे न्यू हैवेन आए, जहाँ जीवन के अंतिम वर्षों तक वे नृतत्व एवं भाषाशास्त्र के प्रोफेसर रहे। अब तक सपीर अमरीकन नृतत्व के क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे। सन् १९२९ में कोलंबिया विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० एस-सी० की संमानित उपाधि से विभूषित किया। अपनी उत्कृष्ट सेवाओं के बल पर ही ये अमरीकन ऐंथ्रापालॉजिकल एसोसिएशन और लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑव अमरीका के प्रेसिडेंट भी चुने गए। न्यू हैवेन की प्रशासनीय और अध्यापन संबंधी व्यस्तताओं ने सपीर को इतना झकझोर डाला कि ४ फरवरी, सन् १९३९ ई० को हृदय की गति रुक जाने से इनका निधन हो गया।

भाषाशास्त्र के अमरीकन स्कूल के उन्नायकों में फ्रेंज बोज, सपीर और ब्लूमफील्ड का नाम प्रमुख है। सपीर के समय तक अमरीकन लोग भाषातत्व और नृतत्व में काफी आगे बढ़ चुके थे। एक ओर ब्लूमफील्ड जैसे शुद्ध भाषाशास्त्री थे तो दूसरी ओर फ्रेंज बोज जैसे नृतत्वविद्। सपीर ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए इन दोनों के समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। रेड इंडियनों की अज्ञात भाषाओं का वैज्ञानिक विवरण देकर सपीर ने लोकसंस्कृति और नृतत्व के अनेक नए आयाम उद्घाटित किए, साथ ही संस्कृति का अनोखा विश्लेषण भी किया। संस्कृति के साथ व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवहार, रीतिरिवाज, फैशन और भाषा के विविध अंतरावलंबनों का सूक्ष्म अध्ययन कर सपीर ने नृतात्विक भाषाशास्त्र (Ethno Linguistics) को सुदृढ़ बनाया। इस प्रकार नृतात्विक भाषाशास्त्र को व्यवस्थित रूप देने, अमेरिंड भाषाओं का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करने और सामान्य भाषा तथा नृतत्व के अंतरावलंबन का मार्ग प्रशस्त करनेवालों में सपीर ने प्रकाशस्तंभ का काम किया। सपीर की महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि ३३ वर्षों के लेखनकाल में उन्होंने लगभग ३५० वैज्ञानिक निबंध और २५० कविताएँ भी लिखी। इनकी प्रसिद्ध कृति लैंग्वेज के अतिरिक्त विशिष्ट निबंधों का एक संग्रह भी 'सेलेक्टेड राइटिंग्ज ऑव एडवर्ड सपीर' के नाम से प्रकाशित है। [र० ना० श०]

सप्रू, सर तेजबहादुर जन्म ८ दिसंबर, १८७५ ई० को अलीगढ़ नगर में हुआ था। इनकी प्राथमिक शिक्षा आगरे में हुई और उन्होंने एम० ए० और एल-एल० बी० की उपाधियाँ इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त की। उन्होंने मुरादाबाद में वकालत शुरू की और लगभग दो वर्ष बाद १८९८ ई० में इलाहाबाद चले आए। यहाँ उन्होंने हाईकोर्ट में वकालत शुरू की। उन्होंने १९०२ में प्रयाग विश्वविद्यालय से कानून की सर्वोच्च डिग्री एल-एल० डी० प्राप्त की और १९०६ में वे इलाहाबाद हाइकोर्ट के ऐडवोकेट बन गए। शीघ्र ही उनकी ख्याति प्रांत और देश के प्रमुख वकीलों में हो गई। उन्हें साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक विषयों में रुचि थी। कुछ काल तक उन्होंने उर्दू मासिक पत्र 'काश्मीरदर्पण' का संपादन भी किया।

१९१३ से १९१६ तक वे संयुक्त प्रांत की धारासभा के सदस्य और फिर केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के भी सदस्य रहे। १९१८-१९१९ में वे फ्रैंचाइज कमेटी के सदस्य थे जिसके अध्यक्ष लार्ड साउथबरो थे। १९१९ ई० में वे नरम दल के प्रतिनिधिमंडल के सदस्य बनकर लंदन गए और लार्ड सेल्बोर्न की कमेटी के समक्ष गवाही दी।

वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भी (१९०६ से १९१७ तक) सदस्य रहे। १९१३ में उन्होंने यू० पी० सोशल कान्फ्रेंस की और १९१५ में यू० पी० राजनीतिक कान्फ्रेंस की अध्यक्षता की। १९१८ से १९२० तक वे यू० पी० लिबरल लीग के अध्यक्ष रहे। १९१० से १९२० तक वे प्रयाग विश्वविद्यालय के फेलो थे और हिंदू विश्वविद्यालय काशी के कोर्ट और सिनेट के भी कई साल तक सदस्य रहे। १९२० में वे भारत की केंद्रीय सरकार के 'ला मेंबर' नियुक्त हुए परंतु १९२३ में उस पद को त्यागकर वे पुनः इलाहाबाद आकर हाईकोर्ट में वकालत करने लगे।

१९२३ में उन्होंने लंदन में इंपीरियल कान्फ्रेंस में भारत का प्रतिनिधित्व किया और दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की समस्या पर एक भाषण से उनकी ख्याति देशविदेश में फैला दी।

१९२३ में ब्रिटिश सरकार ने उन्हें के० सी० एस० आई० की उपाधि से विभूषित किया। इसी वर्ष उन्होंने पूना में अखिल भारतीय लिबरल फेडरेशन की अध्यक्षता की। १९३४ में ब्रिटिश सम्राट्

ने उन्हें अपनी प्रीवी काउंसिल का सदस्य बनाया। १९३५ के गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट के बनाने में उन्होंने विशेष योग दिया।

कांग्रेस के असहयोग आंदोलनों के समय उन्होंने अपने सहयोगी डा० एम० आर० जयकर के साथ संघर्ष को सुलझाने में बराबर प्रयत्न किया। १९३४-१९३५ में वे उत्तर प्रदेशीय अनएम्प्लायमेंट कमेटी के अध्यक्ष थे।

१९३९ में जब प्रांतों की कांग्रेस सरकारों ने इस्तीफा दिया तब कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता कराने और निर्दलीय नेताओं की समिति द्वारा, जिसकी १९४१ में उन्होंने अध्यक्षता की, कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार में समझौता कराने का उन्होंने विशेष प्रयत्न किया।

१९४२ में और उसके पश्चात् भी भारत के स्वाधीनता आंदोलन में उन्होंने देश की आकांक्षाओं का सर्वदा प्रतिनिधित्व किया। भारत जब स्वाधीन हुआ तो वे अपनी ख्याति के शिखर पर थे। यदि उनका स्वास्थ्य ठीक रहता तो भारत के संविधान बनाने में उनका प्रमुख हाथ रहता।

२१ जनवरी, १९४९ को प्रयाग में उनका देहांत हुआ।

आंतरिक उदासीनता रखते हुए भी उनका बाह्य जीवन बड़ी शान और राजसी ठाठ से युक्त था। उनके अंतिम काल तक उनका प्रयाग का निवासस्थान १९, एलबर्ट रोड, साहित्यिकों तथा सामाजिक और राजनीतिक नेताओं का केंद्र बना रहा। [शि० ना० का०]

सप्रे, माधवराव का जन्म १८७१ ई० में पथरिया (जिला दमोह) मध्य प्रदेश में हुआ। विद्यार्थी जीवन में ही सरकारी नौकरी न करने तथा मराठी और हिंदी की सेवा का व्रत लिया। १८९८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा पास की। पेंढरा (बिलासपुर) के महाराजकुमार के अंग्रेजी ट्यूटर नियुक्त हुए। १९०० ई० में पेंढरा से 'छत्तीसगढ़ मित्र' नामक समालोचना-प्रधान हिंदी मासिक पत्र प्रकाशित किया जो कुछ समय रायपुर से प्रकाशित होकर १९०३ ई० में आर्थिक कठिनाई से बंद हो गया। आलोचनात्मक पत्र के रूप में इसकी प्रसिद्धि हुई। नए लेखकों के प्रोत्साहन और मार्गदर्शन में तथा हिंदी भाषा और साहित्य के प्रचार में इसने बड़ा योगदान किया। सप्रे जी नागपुर आकर देशसेवा प्रेस में काम करने लगे। वहीं १९०५ ई० में हिंदी में श्रेष्ठ ग्रंथों के प्रकाशन के उद्देश्य से 'ग्रंथमाला' नाम का मासिक पत्र प्रकाशित, किया। इसमें हर मास उच्च कोटि की अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद के साथ ही कविता, निबंध, आलोचनात्मक टिप्पणी और ऐतिहासिक साहित्यिक तथा राजनीतिक विषयों के लेख छपते थे। मराठी 'केसरी' के ढंग पर साप्ताहिक 'हिंदी केसरी' आपने १९०७ ई० में प्रकाशित किया जिसमें समाचारों के साथ सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर उग्र और क्रांतिकारी स्वर के लेख छपते थे। फलत: १९०८ ई० में आप गिरफ्तार किए गए और कुछ समय जेल में रहकर छूटे। १९२० ई० में आपकी प्रेरणा से साप्ताहिक 'कर्मवीर' प्रकाशित हुआ। हिंदी साहित्य संमेलन के देहरादून अधिवेशन के आप सभापति बनाए गए। 'दास बोध' और 'गीता रहस्य' के मराठी से हिंदी अनुवाद के अतिरिक्त आपने 'रामचरित्र' और 'एकनाथचरित्र' ग्रंथों की रचना की। २३ अप्रैल, १९२६ को आपकी मृत्यु हुई। [ब० प्र० मि०]

सफ़क (Suffolk) इंग्लैंड के दक्षिणी पूर्वी भाग में एक काउंटी है, जिसका क्षेत्रफल १४८१.७ वर्ग मील एवं जनसंख्या ४,७२,९६५ (१९६१) है। यह लगभग समतल भाग है, जो पश्चिम में खड़िया (chalk) की पहाड़ियों की ओर कुछ ऊँचा हो गया है। इस काउंटी में गेहूँ, जौ एवं तरकारियाँ उगाई जाती हैं। सुअर, भेड़ और घोड़ों का पालना एवं दुग्ध उद्योग प्रधान व्यवसाय हैं। उत्तरी सागर में लोवस्टाफ (Lowestoft) नामक स्थान मछली मारने का प्रसिद्ध केंद्र है। आरफर्ड और आरवेल नदियों के संगम पर आयस्टर मछलियाँ मारी जाती हैं। उर्वरक, रंजक, प्लास्टिक, धातु एवं मुद्रण उद्योग तथा कृषि-यंत्र-निर्माण महत्वपूर्ण उद्योग धंधे हैं। बर्घ (Burgh) नामक किले एवं कई अन्य चिह्नों से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी सफ़क रोमन शासन के अधीन रहा था। इप्सविच, लोवस्टाफ, फीलिक्सस्टो, सडबरी, न्यूमार्केट एवं फ्रेमलिंघम महत्वपूर्ण नगर हैं।

प्रशासकीय कार्यों के लिये सफ़क को दो विभागों में विभक्त कर दिया गया है: पूर्वी सफ़क एवं पश्चिमी सफ़क। पूर्वी सफ़क का क्षेत्रफल ८७०.९ वर्ग मील तथा जनसंख्या ३,४२,९६६ (१९६१) है एवं पश्चिमी सफ़क का क्षेत्रफल ६१०.८ वर्ग मील एवं जनसंख्या १,२९,९९९ (१९६१) है। [रा० प्र० सिं०]

सफेदी (पुताई) दीवारों और छतगीरी आदि में चूने की पुताई सफेदी कहलाती है। सफेदी से सतह पर सफाई और वर्णनीयता आती है और किसी सीमा तक यह कीटाणुनाशक भी होती है। सफेदी करने के लिये सतह भली भाँति साफ और सूखी होनी चाहिए। यदि सतह बहुत चिकनी है, तो उसे रेगमाल से थोड़ा घिस देना चाहिए नहीं तो उसपर सफेदी नहीं लगेगी। पुरानी सफेदी पर पुनः सफेदी करनी हो, तो पुरानी पपड़ी साफ कर देनी चाहिए।

सामग्री — ताजा साफ अनबुझा चूना एक नाँद में डालकर, ऊपर से बहुत सा स्वच्छ पानी मिलाकर, मलाई जैसा पतला कर लेना चाहिए। फिर इसे खद्दर में से छानकर, प्रति घन फुट द्रव में १ पाउंड कीकर की गोंद या सरेस पानी में घुलाकर, अथवा एक पाउंड चावल की माँड बनाकर, मिला देना चाहिए। थोड़ा सा नील या तूतिया मिलाने से सफेदी अच्छी खिलती है, चौंध नहीं देती और देखने में भली लगती है। इसी में भाँति भाँति के रंग मिलाने से सतह पर रंग भी आ जाता है। यह रंगपुताई कहलाती है।

सफेदी कूँची से दो बार में करनी चाहिए, एक बार खड़ी और दूसरी बार पड़ी। पहिली बार की पुताई सूख जाने पर ही दूसरी बार करनी चाहिए। नए काम पर तथा खुरची हुई सतह पर तीन बार करना आवश्यक होता है। वार्षिक पुताई हो तो केवल एक

बार, अर्थात् पहिले खड़ी और उसपर तुरंत पड़ी, कूँची लगाना पर्याप्त होता है। [वि० प्र० गु०]

सबद या शब्द का प्रयोग हिंदी के संत-साहित्य में बहुलता से हुआ है। बड़थ्वाल ने गरीबदास के आधार पर लिखा है कि 'शब्द, गुरु की शिक्षा, निवाण, पतीला, कूंची, बाण, मस्क, निर्भयवाणी, अनहद वाणी, शब्दब्रह्म और परमात्मा के रूप में प्रयुक्त हुआ है।'

'सबद' या 'शब्द' प्राय: गेय होते हैं। अत: राग रागिनियों में बँधे पद 'सबद' या शब्द कहे जाते रहे हैं। सिद्धों से लेकर निर्गुणी, सगुणी सभी संप्रदाय के संत अथवा भक्तों ने विविध राग रागिनियों में पदरचना की है। परंतु प्रत्येक गेय पद सबद नहीं कहा जाता। संतों की अनुभूति 'सबद' कहलाती है। कबीर की रचनाओं में 'सबद' का बहुत प्रयोग हुआ है और भिन्न भिन्न अर्थों में हुआ है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' शीर्षक ग्रंथ में लिखा है, संवत् १७१५ की लिखी हुई एक प्रति से संगृहीत और गोरखबानी में उद्धृत पदों को 'सबदी' कहा गया है। कबीर ने संभवत: वहीं से 'सबद' ग्रहण किया होगा।'

नाथों का व्यापक प्रभाव केवल उनके मत या विचारों तक ही सीमित नहीं रहा, उनकी अभिव्यक्ति के विविध प्रकारों ने भी उनके परवर्ती हिंदी संतों को प्रभावित किया है। संत तो प्राय: जनता में प्रचलित भावप्रकाश की शैली को और भाषारूप को अपनाया करते हैं जिससे उनके विचार शीघ्र ही उसमें संचरित हो सकें। नाथों ने सिद्धों से और विभिन्न संप्रदायी संतों ने नाथों से यदि 'सबद' या पद शैली ग्रहण की तो यह स्वाभाविक ही था। निर्गुणी संतों के 'साखी' और 'सबद' अत्यधिक प्रचलित हुए। कई बार ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची बनकर भी व्यवहृत होते रहे। बड़थ्वाल का मत है कि 'विषय की दृष्टि से इन दोनों में बहुधा कुछ अंतर लक्षित होता है। 'सबद' का प्रयोग भीतरी तथा अनुभव आह्लाद के व्यक्तीकरण के लिये किया जाता है और साखी का प्रयोग दैनिक जीवन में लक्षित होनेवाले व्यावहारिक अनुभव को स्पष्ट करने में हुआ करता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि 'सबद' आत्मानुभूति है और साखी बाह्यानुभूति। परंतु संत वाङ्मय के अनुशीलन से 'साखी' और 'सबद' का यह भेद सदा परिलक्षित नहीं होता। स्वयं बड़थ्वाल ने भी एक स्थल पर स्वीकार किया है कि 'कभी कभी इनमें से एक दूसरे की जगह भी व्यवहृत हुआ देखा जाता है। 'सबद के संबंध में एक बात निश्चित है कि उन्हें राग रागिनियों में कहने की पुरानी परिपाटी रही है। इसी से कबीर के 'सबद' विषयों के अनुसार विभाजित न होकर राग रागिनियों के अनुसार अधिक विभाजित पाए जाते हैं।

सं० ग्रं० — हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल; बड़थ्वाल : हिंदी काव्य की निर्गुण परंपरा। [वि० मो० श०]

सभा वैदिक युग की अनेक जनतांत्रिक संस्थाओं में सभा एक थी। सभा के साथ ही एक दूसरी संस्था थी, समिति, और अथर्ववेद (सातवाँ, १३.१) में उन दोनों को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन वैदिक समाज को ये संस्थाएँ अपने विकसित रूप में प्राप्त हुई थीं। उसका तात्पर्य सभास्थल और सभा की बैठक, दोनों ही से था। अथर्ववेद के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सभा और समिति का अलग अलग अस्तित्व था। सभा में ब्राह्मणों, अभिजात लोगों और धनी मानी वर्ग के व्यक्तियों का जोर साधारण व्यक्तियों से संभवत: अधिक होता था। उसके सदस्यों को सुजात अर्थात् कुलीन कहा गया है (ऋग्वेद, सप्तम १.४)। मैत्रायणी संहिता (चतुर्थ ७.४) के एक संदर्भ से ज्ञात होता है कि सभा की सदस्यता स्त्रियों के लिये उन्मुक्त नहीं थी। कहा जा सकता है कि सामूहिक रूप में सभा का महत्व बहुत अधिक था। उसके सदस्यों को सभासद, अध्यक्ष को सभापति और द्वाररक्षक को सभापाल कहते थे। सभासदों की बड़ी प्रतिष्ठा होती थी, किंतु वह प्रतिष्ठा खोखली न थी और सभासदों की योग्यताएँ निश्चित थीं। एक बौद्ध जातक के अनुसार वह सभा सभा नहीं, जहाँ संत लोग न हों और वे संत नहीं जो धर्म का भाषण न करते हों। पुन: वे ही लोग संत कहलाने के अधिकारी थे, जो राग, द्वेष (अथवा दोष - पाप) और मोह को छोड़कर धर्म का भाषण करते हों —'न सा सभा यत्थ न संति संतो, न ते संतो ये न भणन्ति धम्मं। रागं च दोसं च पहाय मोहं धम्मं भणन्ता व भवन्ति संतो।' (जातक, फॉसबॉल का रोमन लिपि संस्करण, जिल्द ५, पृष्ठ ५०६)। सभासदों के लिये ये गुण अत्यंत अपेक्षित थे और कुछ हेर फेर के साथ वाल्मीकि रामायण (उत्तर कांड, ३.३३) तथा महाभारत में भी उन्हें गिनाया गया है, यथा—'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा:, न ते वृद्धा: ये न वदन्ति धर्मम्। नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥' न्याय का इच्छुक व्यक्ति सभाचर और सभा से छूटा हुआ अभियुक्त दोषमुक्त, प्रसन्न और सानंद कहा गया है। न्याय वितरण के अतिरिक्त सभा में आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों पर भी विचार होते थे। कभी कभी लोग वहाँ इकट्ठे होकर जुए के खेल द्वारा अपना मनोरंजन भी किया करते थे।

सभा का यह स्वरूप उत्तर वैदिककाल का अंत होते होते (६००ई० पू०) समाप्त हो गया। राज्यों की सीमाएँ बढ़ीं और राजाओं के अधिकार विस्तृत होने लगे। उसी क्रम में सभा ने राजसभा अर्थात् राजा के दरबार का रूप धारण कर लिया। धीरे धीरे उसकी नियंत्रणात्मक शक्ति जाती रही और साथ ही साथ उसके जनतंत्रात्मक स्वरूप का भी अंत हो गया। राजसभा में अब केवल राजपुरोहित, राज्याधिकारी, कुछ मंत्री और राजा अथवा राज्य के कुछ कृपापात्र मात्र बच रहे।

सं० ग्रं० — डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल : हिंदू राज्यतंत्र; डॉ० अ० स० अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासनपद्धति; डॉ० कीथ और डॉ० मैकडानेल : वैदिक इंडेक्स, जिल्द २, पृष्ठ ४२६-४३१। [विशु० पा०]

समयमापन जब समय बीतता है, तब घटनाएँ घटित होती हैं तथा चलबिंदु स्थानांतरित होते हैं। इसलिये दो लगातार घटनाओं के होने अथवा किसी गतिशील बिंदु के एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक जाने के अंतराल (प्रतीक्षानुभूति) को समय कहते हैं। समय मापने

के यंत्र को घड़ी अथवा घटीयंत्र कहते हैं। इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि समय वह भौतिक तत्व है जिसे घटीयंत्र से नापा जाता है। सापेक्षवाद के अनुसार समय दिग्देश के सापेक्ष है। अतः इस लेख में समयमापन पृथ्वी की सूर्य के सापेक्ष गति से उत्पन्न दिग्देश के सापेक्ष समय से लिया जायगा। समय को नापने के लिये सुलभ घटीयंत्र पृथ्वी ही है, जो अपने अक्ष तथा कक्ष में घूमकर हमें समय का बोध कराती है; किंतु पृथ्वी की गति हमें दृश्य नहीं है। पृथ्वी की गति के सापेक्ष हमें सूर्य की दो प्रकार की गतियाँ दृश्य होती हैं, एक तो पूर्व से पश्चिम की तरफ पृथ्वी की परिक्रमा तथा दूसरी पूर्व बिंदु से उत्तर की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर जाकर, कक्षा का भ्रमण। अतएव व्यावहारिक दृष्टि से हम सूर्य से ही काल का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

अति प्राचीन काल में मनुष्य ने सूर्य की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर प्रातः, दोपहर, संध्या एवं रात्रि की कल्पना की। ये समय स्थूल रूप से प्रत्यक्ष हैं। तत्पश्चात् उसने काल के सूक्ष्म विभाजन के लिये प्रहरों, तथा तत्पश्चात् घटी पल की, कल्पना की होगी। इसी प्रकार उसने सूर्य की कक्षागतियों से पक्षों, महीनों, ऋतुओं तथा वर्षों की कल्पना की होगी। समय को सूक्ष्म रूप से नापने के लिये पहले शंकुयंत्र तथा धूपघड़ियों का प्रयोग हुआ। रात्रि के समय का ज्ञान नक्षत्रों से किया जाता था। तत्पश्चात् पानी तथा बालू के घटीयंत्र बनाए गए। ये भारत में अति प्राचीन काल से प्रचलित थे। इनका वर्णन ज्योतिष की अति प्राचीन पुस्तकों में, जैसे पंचसिद्धांतिका तथा सूर्यसिद्धांत में, मिलता है। पानी का घटीयंत्र बनाने के लिये किसी पात्र में छोटा सा छेद कर दिया जाता था, जिससे पात्र एक घटी में पानी में डूब जाता था। उसके बाहरी भाग पर पल अंकित कर दिए जाते थे। इसलिये पलों को पानीय पल भी कहते हैं। बालू का घटीयंत्र भी पानी के घटीयंत्र सरीखा था, जिसमें छिद्र से बालू के गिरने से समय ज्ञात होता था (देखें रेतघड़ी)। किंतु ये सभी घटीयंत्र सूक्ष्म न थे तथा इनमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी थीं। विज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ लोलक घड़ियाँ तथा तत्पश्चात् नई घड़ियाँ, जिनका हम आज प्रयोग करते हैं, अविष्कृत हुई।

जैसा पहले बता दिया गया है, समय का ज्ञान सूर्य की दृश्य स्थितियों से किया जाता है। सामान्यतः सूर्योदय से सूर्यास्त तक दिन तथा सूर्यास्त से पुनः सूर्योदय तक रात्रि होती है, किंतु तिथिगणना के लिये दिन रात मिलकर दिन कहलाते हैं। किसी स्थान पर सूर्य द्वारा याम्योत्तर वृत्त के अधोबिंदु की एक परिक्रमा को एक दृश्य दिन कहते हैं, तथा सूर्य की किसी स्थिर नक्षत्र के सापेक्ष एक परिक्रमा को नाक्षत्र दिन कहते हैं। यह नक्षत्र रूढ़ि के अनुसार मेष का आदि बिंदु (first point of Aries, i. e. γ), अर्थात् क्रांतिवृत्त तथा विषुवत् वृत्त का वसंत संपात बिंदु लिया जाता है। यद्यपि नाक्षत्र दिन स्थिर है, तथापि यह हमारे व्यवहार के लिये उपयोगी नहीं है, क्योंकि यह दृश्य दिन से ३ मिनट ५६ सेकंड कम है। दृश्य दिन का मान सदा एक सा नहीं रहता। अतः किसी घड़ी से दृश्य सूर्य के समय का बताया जाना कठिन है। इसके दो कारण हैं : एक तो सूर्य की स्पष्ट गति सदा एक सी नहीं रहती, दूसरे स्पष्ट सूर्य क्रांतिवृत्त में चलता दिखाई देता है। हमें समयसूचक यंत्र बनाने के लिये ऐसे सूर्य की आवश्यकता होती है, जो मध्यम गति से सदा विषुवत्वृत्त में चले। ऐसे सूर्य को ज्योतिषी लोग ज्योतिष-माध्य-सूर्य (Mean Astronomical Sun) अथवा केवल माध्य सूर्य कहते हैं। विषुवत्वृत्त के मध्यम सूर्य तथा क्रांतिवृत्त के मध्यम सूर्य के अंतर को भास्कराचार्य ने उदयांतर तथा क्रांतिवृत्तीय मध्यम सूर्य तथा स्पष्ट सूर्य के अंतर को भुजांतर कहा है। यदि ज्योतिष-माध्य सूर्य में उदयांतर तथा भुजांतर संस्कार कर दें, तो वह दृश्य सूर्य हो जायगा। आधुनिक शब्दावली में उदयांतर तथा भुजांतर के एक साथ संस्कार को समय समीकार (Equation of time) कहते हैं। यह हमारी घड़ियों के समय (माध्य-सूर्य-समय) तथा दृश्य सूर्य के समय के अंतर के तुल्य होता है। समय समीकार का प्रति दिन का मान गणित द्वारा निकाला जा सकता है। आजकल प्रकाशित होनेवाले नाविक पंचांग (nautical almanac) में, इसका प्रति दिन का मान दिया रहता है। इस प्रकार हम अपनी घड़ियों से जब चाहें दृश्य सूर्य का समय ज्ञात कर सकते हैं। इसका ज्योतिष में बहुत उपयोग होता है। विलोमतः हम सूर्य के ऊर्ध्व याम्योत्तर बिंदु के लंघन का वेध करके, उसमें समय समीकार को जोड़ या घटाकर, वास्तविक माध्य-सूर्य का समय ज्ञात करके अपनी घड़ियों के समय को ठीक कर सकते हैं।

जब हमने समय नापने के लिये आधुनिक घड़ियाँ बनाईं, तब यह पाया गया कि सर्दी तथा गर्मी के कारण घड़ियों के धातुनिर्मित पुर्जों के सिकुड़ने तथा फैलने के कारण ये घड़ियाँ ठीक समय नहीं देतीं। अब हमारे सामने यह समस्या थी कि हम अपनी यांत्रिक घड़ियों की सूक्ष्म अशुद्धियों को कैसे जानें ? यद्यपि सूर्य के ऊर्ध्व याम्योत्तर लंघन की विधि से हम अपनी घड़ियों की अशुद्धि जान सकते थे, तथापि सूर्य के ऊर्ध्व याम्योत्तर लंघन का वेध स्वयं कुछ क्लिष्ट है तथा सूर्य के बिंब के विशाल होने के कारण उसमें वेधकर्ता की व्यक्तिगत त्रुटि (personal error) की अधिक संभावना है। दूसरी कठिनाई यह थी कि हमारी माध्य-सूर्य-घड़ी के समय का आकाशीय पिंडों की स्थिति से कोई प्रत्यक्ष संबंध न था। इसी कमी की पूर्ति के लिये नाक्षत्र घड़ी (siderial clock) का निर्माण किया गया, जो नाक्षत्र समय बताती थी। इसके २४ घंटे पृथ्वी की अपने अक्ष की एक परिक्रमा के, अथवा वसंतपात बिंदु के ऊर्ध्व याम्योत्तर बिंदु की एक परिक्रमा के, समय के तुल्य होते हैं। २१ मार्च के लगभग, वसंतपात बिंदु हमारे दृश्य-सूर्य के साथ ऊर्ध्व याम्योत्तर लंघन करता है। उस समय नाक्षत्र घड़ी का समय शून्य घंटा, शून्य मिनिट, शून्य सेकंड होता है। हमारी घड़ियों में उस समय १२ बजते हैं। दूसरे दिन दोपहर को नाक्षत्र घड़ी का समय लगभग ४ मिनिट होगा। अन्य किसी भी निश्चित दिन माध्य-सूर्य के समय को हम अनुपात से नाक्षत्र समय में, या नाक्षत्र समय को माध्य सूर्य के समय में, परिवर्तित कर सकते हैं। नाविक पंचांगों में इस प्रकार के समयपरिवर्तन की सारणियाँ दी रहती हैं। इस प्रकार यदि हमें किसी प्रकार शुद्ध समय देनेवाली नाक्षत्र घड़ी मिल जाय, तो हम अपनी माध्य घड़ी के समय को शुद्ध रख सकते हैं। यद्यपि नाक्षत्र घड़ी भी यांत्रिक होती है तथा उसमें भी यांत्रिक त्रुटि हो जाती है, तथापि इसे प्रति दिन शुद्ध किया जा सकता है, क्योंकि इसका आकाशीय पिंडों की स्थिति

से प्रत्यक्ष संबंध है। वह इस प्रकार है : कोई ग्रह व तारा ऊर्ध्व याम्योत्तर बिंदु से पश्चिम की ओर खगोलीय ध्रुव पर जो कोण बनाता है, उसे कालकोण कहते हैं। इस प्रकार नक्षत्र समय वसंतपात का कालकोण है। किसी तारा या ग्रह का विषुवांश वसंतपात से उसकी विषुवत्वृत्तीय दूरी (अर्थात् ग्रह या तारे पर ध्रुव से जानेवाला बृहद्वृत्त जहाँ विषुवद्वृत्त को काटे, वहाँ से वसंतपात तक की दूरी) होती है। चूँकि कालकोण विषुवद्वृत्त के चाप द्वारा ही जाना जाता है, इसलिये जब ग्रह या तारा ऊर्ध्व याम्योत्तर बिंदु पर होगा, उस समय उसका विषुवांश नाक्षत्र समय के तुल्य होगा।

नाक्षत्र घड़ी को ठीक करने की विधि — नाक्षत्र घड़ी की अशुद्धि को जानने के लिये याम्योत्तर यंत्र (transit instrument) द्वारा सूर्य अथवा तारों का वेध करके, क्रोनोमीटर नामक यंत्र की सहायता से, उनके याम्योत्तर लंघन का नाक्षत्र समय जान लिया जाता है।

नाक्षत्र घड़ी से मिलाकर, याम्योत्तर यंत्र के दूरदर्शी में ग्रह या तारे के वेध के नाक्षत्र समय को क्रोनोमीटर का स्विच दबाकर जान लिया जाता है। इस समय से यांत्रिक अशुद्धियों को निकाल देने पर जो समय प्राप्त होता है, वही ग्रह या तारे के याम्योत्तर के ऊर्ध्व बिंदु के लंघन का समय होता है। यदि नाक्षत्र घड़ी ठीक है, तो यह ग्रह या तारे के विषुवांश के तुल्य होगा और अंतर घड़ी की अशुद्धि है। इस प्रकार नाक्षत्र घड़ी को शुद्ध रखकर उससे माध्य सूर्य घड़ियों को शुद्ध किया जाता है। याम्योत्तर यंत्र द्वारा वेध करने में व्यक्तिगत अशुद्धि की अधिक संभावना है। इसलिये तारों के याम्योत्तर लंघन के नाक्षत्र समय को कैमरा लगे खमध्य दूरदर्शकों (zenith tubes) से भी जाना जाता है।

इस प्रकार यद्यपि माध्य समय की घड़ियों को ठीक रखा जाता है, तथापि उनमें दैनिक संशोधन करना एक समस्या थी। इसलिये आजकल घड़ियों के सेकंड सूचक उपकरण क्वार्ट्ज के क्रिस्टलों (quartz crystals) से बनाए जाते हैं। क्वार्ट्ज के क्रिस्टलों पर उष्णता का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। अतएव ये घड़ियाँ बहुत शुद्ध समय देती हैं। इनमें सेकंड के हजारवें भाग तक की अशुद्धि जानी जा सकती है। साथ ही इनमें रेडियो रिसीवर तथा ट्रैंसमीटर सेट लगे रहते हैं। इससे इस घड़ी को बस तरह की दूसरे स्टेशनों पर रखी घड़ियों के समय संकेतक, पिप्, को सुनकर, मिलाया जा सकता है तथा इससे समय संकेतक (time signals) पिप् भेजे भी जा सकते हैं। इस प्रकार की एक घड़ी काशी की प्रस्तावित, राजकीय संस्कृत कालेज वेधशाला के लिये सन् १९५३ में मँगवाई गई थी, जो अब राजकीय वेधशाला नैनीताल में है। इस प्रकार की घड़ियों से देश की मुख्य घड़ियों को ठीक करके, रेडियो के समय संकेतक 'पिप्' से सब माध्य सूर्य घड़ियाँ ठीक रखी जाती हैं।

आजकल प्रत्येक देश में मध्यरात्रि के समय को शून्य मानकर, वहीं से दिन का प्रारंभ मानते हैं। दिन रात के २४ घंटों को दो १२ घंटों में, (१) रात के बारह बजे से १२ घंटों तक पूर्वाह्नकाल तक तथा (२) दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक अपराह्नकाल में, बाँट दिया जाता है। हमारी घड़ियाँ यही समय बतलाती हैं। इन २४ घंटों को नागरिक दिन कहते हैं। दिन में २४ घंटे, १ घंटे में ६० मिनिट तथा एक मिनट में ६० सेकंड होते हैं। विज्ञान की अंगरेजी मापन प्रणाली फुट सेकंड में तथा अंतरराष्ट्रीय प्रणाली सेंटीमीटर ग्राम सेकंड में सेकंड ही समय की इकाई है।

मानक समय (Standard Time) — समय का संबंध किसी निश्चित स्थान के याम्योत्तरवृत्त से रहता है। अत: वह उस स्थान का स्थानीय समय होगा। किसी बड़े देश में एक जैसा समय रखने के लिये, देश के बीचोबीच स्थित किसी स्थान के याम्योत्तर वृत्त को मानक याम्योत्तर वृत्त (standard meridian) मान लिया जाता है। इसके सापेक्ष माध्य-सूर्य का समय उस देश का मानक समय कहलाता है।

विश्व-समय-मापन — विश्व का समय नापने के लिये ग्रिनिच के याम्योत्तर वृत्त को मानक याम्योत्तर मान लेते हैं। इसके पूर्व में स्थित देशों का समय ग्रिनिच से, उनके देशांतर के प्रति १५° पर एक घंटे के हिसाब से, आगे होगा तथा पश्चिम में पीछे। इस प्रकार भारत का मापक याम्योत्तर ग्रिनिच के याम्योत्तरवृत्त से पूर्व देशांतर ८२½° है। अत: भारत का माध्य समय ग्रिनिच के माध्य समय से ५ घंटे ३० मिनिट अधिक है। इसी प्रकार क्षेत्रीय समय भी मान लिए गए हैं। ग्रिनिच के १८०° देशांतर की रेखा तिथिरेखा है। इसके आरपार समय में १ दिन का अंतर मान लिया जाता है। तिथिरेखा सुविधा के लिये सीधी न मानकर टेढ़ी मेढ़ी मानी गई है।

वर्ष तथा कैलेंडर — पृथ्वी की गति के कारण जब सूर्य वसंतपात की एक परिक्रमा कर लेता है, तब उसे एक आर्तव वर्ष कहते हैं। यह ३६५·२४२१९८७९ दिन का होता है। यदि हम वसंतपात पर स्थित किसी स्थिर बिंदु अथवा तारे से इस परिक्रमा को नापें, तो यह नाक्षत्र वर्ष होगा। यह आर्तव वर्ष से कुछ बड़ा है। ऋतुओं से ताल मेल रखने के लिये संसार में आर्तव वर्ष प्रचलित है। संसार में आजकल ग्रेगोरियनी कैलेंडर प्रचलित है, जिसे पोप ग्रेगोरी त्रयोदश ने १५८२ ई० में संशोधित किया था। इसमें फरवरी को छोड़कर सभी महीनों के दिन स्थिर हैं। साधारण वर्ष ३६५ दिन का होता है। लीप वर्ष (फरवरी २९ दिन) ३६६ दिन का होता है, जो ईस्वी सन् की शताब्दी के आरंभ से प्रत्येक चौथे वर्ष में पड़ता है। ४०० से पूरे कट जानेवाले ईस्वी शताब्दी के वर्षों को छोड़कर, शेष शताब्दी वर्ष लीप वर्ष नहीं होते। ऐतिहासिक घटनाओं तथा ज्योतिष संबंधी गणनाओं के लिये जूलियन दिन संख्याएँ (Julian day umbers) प्रचलित हैं, जो १ जनवरी, ४७१३ ई० पू० के मध्याह्न से प्रारंभ होते हैं।

[मु० ला० अ०]

समरकंद स्थिति : ३९° ३९′ उ० अ०, तथा ६६° ५६′ पू० दे०। यह नगर सोवियत संघ में, मध्य एशिया के उजबेक सोवियत समाजवादी गणतंत्र में स्थित है। यह मंगोल बादशाह तैमूर की राजधानी रहा। समरकंद समुद्रतल से ७१९ मीटर ऊँचाई पर, जरफ्शान की उपजाऊ घाटी में स्थित है। यहाँ के निवासियों के मुख्य व्यवसाय

कामवाली, धातु एवं मिट्टी के बरतनों का निर्माण और कपड़ा, रेशम, गेहूँ, चावल, घोड़ा, अच्चर, फल इत्यादि का व्यापार है। शहर के बीच रिगिस्तान नामक एक चौराहा है, जहाँ पर विभिन्न रंगों के पत्थरों से निर्मित कलात्मक इमारतें विद्यमान हैं। शहर की चारदीवारी के बाहर तैमूर के प्राचीन महल हैं। ईसा पूर्व ३२६ में सिकंदर महान् ने इस नगर का विनाश किया था। १२२१ ई० में इस नगर की रक्षा के लिये १,१०,००० आदमियों ने चंगेज खाँ का मुकाबला किया। १३६६ ई० में तैमूर ने इसे अपना निवासस्थान बनाया। १८ वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह चीन का भाग रहा। फिर बुखारा के अमीर के अंतर्गत रहा और अंत में सन् १८६८ ई० में रूस का भाग बन गया। [स० सिं० ठ०]

समवाय (कंपनी) कोश में समवाय या कंपनी शब्द का अर्थ है व्यक्तियों का समूह जो किसी अभिप्राय से इकट्ठा होता है। तदनुसार इस शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार के संगठनों के प्रतिनिधित्व के अर्थ में होता है, चाहे वह व्यापारिक हो अथवा अन्य कोई। इस लेख का संबंध खासकर उन समवायों से है जो समवायों के अधिनियम के अंतर्गत निगमित होते हैं। संयुक्त स्कंध समवायों (Joint Stock Companies) का जन्म ब्रिटेन में व्यापारिक क्रांति के समय हुआ। १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में संयुक्त स्कंध समवाय के रूप में समामेलन तभी हो सकता था जब उसके लिये राजलेख उपलब्ध हो अथवा संसद् द्वारा कोई विशेष अधिनियम बना हो। ये दोनों ही तरीके अत्यधिक व्ययसाध्य तथा विलंबकारी थे। राष्ट्र की बढ़ती हुई व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बड़ी बड़ी अनिगमित भागिताएँ (unincorporated partnerships) अस्तित्व में आईं। जो कुछ भी हो, व्यापार ने एक समामेलन का रूप ग्रहण किया, क्योंकि यही एक ऐसी चीज थी जिसमें अधिकतम पूँजी के संकलन के साथ साथ खतरे की भी बहुत कम गुंजाइश थी। ऐसी प्रत्येक व्यापारसंस्था की सदस्यता चूँकि बहुत अधिक रहती थी, इसलिये व्यापार का भार कुछ इने गिने प्रन्यासियों पर छोड़ दिया जाता था जिसके फलस्वरूप प्रबंध और स्वामित्व में बिलगाव हो जाता था। इस बिलगाव के साथ ही इस सबध की समुचित विधियों के अभाव से धूर्त प्रवर्तकों के द्वारा जनता के धन का शोषण होने लगा। जैसे पानी के बबूले उठते और गायब होते हैं, उसी तरह समवाय खड़े होते और फिर विलुप्त हो जाते। आतंकग्रस्त ब्रिटिश संसद् ने सन् १७२० ई० में 'बबल्स ऐक्ट' पारित कि ा। इस अधिनियम ने धूर्ततापूर्ण समवायों के संगठन पर प्रतिबंध लगाने के बजाय समवायों के प्रवर्तन के व्यवसाय को ही अवैध करार दे दिया। यद्यपि सन् १८२५ ई० में इस अधिनियम का विखंडन हो गया तथापि सन् १८४४ ई० में ही जाकर बड़ी भागिताओं का पंजीकरण एवं समामेलन अनिवार्य किया जा सका। सीमित देयता (Limited Liability) सन् १८५५ में स्वीकृत की गई तथा तत्संबंधी पूरी विधि को सन् १८५६ ई० में ठोस रूप दिया गया। तब से समवायों के अधिनियमों में यथेष्ट संशोधन और सुधार होते रहे जबकि सन् १९४८ ई० में हमें नवीनतम अधिनियम प्राप्त हुआ। इस अवधि में समवायों का संयुक्त रूप से उन्नयन होता रहा। इसको खोलनेवाली चाभी सीमित देयता रही है। भारत में पहला समवाय अधिनियम सन् १८५० ई० में पारित हुआ और सबसे अंतिम सन् १९५६ ई० में।

कंपनी या समवाय के रूप में व्यवसाय करने में अनेक सुविधाएँ हैं। समामेलन के फलस्वरूप विधि में समवाय का रूप 'एक व्यक्ति' का है। यह एक विधियुक्त सत्ता हो गया। इसका अस्तित्व सर्वथा सदस्यों से अलग तथा पूर्ण स्वतंत्र हो गया। सोलोमन बनाम सोलोमन और समवाय, १८९७ ए० सी० २२ में ब्रिटेन की 'सरदार सभा ने (House of Lords) समवाय के स्वतंत्र समामेलन के अस्तित्व पर बल दिया। श्री सोलोमन नामक एक व्यक्ति ने एक समवाय का संगठन किया और उसने उस समवाय के हाथ अपना व्यवसाय ४० हजार पौंड में बेच दिया। उसने भुगतान लेने के बदले २० हजार पौंड मूल्य के अंश तथा १० हजार पौंड मूल्य के ऋणपत्र ले लिये। चूँकि अधिनियम में इस बात की व्यवस्था रही है कि कम से कम सात व्यक्ति मिलकर ही कोई लोकसमवाय का संगठन कर सकते हैं इसलिये एक व्यक्ति के परिवार के शेष छह व्यक्तियों को अंश दिया जाता था। अतः एक व्यक्ति द्वारा नियंत्रित समवाय को बुरे दिन देखने पड़ते थे और अंत में वह समवाय लड़खड़ा जाता था। समापन (liquidation) के समय उस समवाय की स्थिति इस प्रकार थी —

प्रतिभूत उत्तमर्ण (स्वयं श्री सोलोमन)—१० हजार पौंड।
अप्रतिभूत सामान्य उत्तमर्ण.............७ हजार पौंड।
शेष सकल संपत्ति केवल ६ हजार पौंड मूल्य की।

अप्रतिभूत उत्तमर्णों की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि यद्यपि समवाय समामेलित रहा है तथापि समवाय का कभी भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा है। वह समवाय क्या था, स्वयं सोलोमन एक दूसरे नाम से मौजूद थे। व्यवसाय पूर्णतः उसका ही था, इसलिये वह अपने लिये उत्तमर्ण कैसे हो सकता था। वह समवाय कृत्रिम और धोखे का पुतला था। उत्तमर्ण चाहते थे कि समवाय के ऋणों के लिये सोलोमन दायी हो। जो कुछ भी हो, न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि 'जब ज्ञापक पत्र समुचित रूप से हस्ताक्षरित और पंजीकृत हो जाता है और यद्यपि सात हो अंश लिए जाते हैं, तथापि अभिदाता समामेलित संगठन है और उसमें तत्काल समामेलित समवाय के सभी कर्तव्यों के प्रयोग की क्षमता समाहित हो जाती है। यह समझना कठिन है कि परिनियम द्वारा इस प्रकार गठित निगम निकाय किस प्रकार केवल एक व्यक्ति को पूँजी का अधिकांश देकर अपने अस्तित्व को खो देता है। विधि की दृष्टि में "समवाय एक पृथक् व्यक्ति होता है जो ज्ञापकपत्र के अभिदाताओं से सर्वथा भिन्न होता है", तदनुसार सोलोमन समवाय का उत्तमर्ण माना गया और चूँकि वह प्रतिभूत उत्तमर्ण था, उसको अन्य उत्तमर्णों की अपेक्षा प्राथमिकता का अधिकार था।

दूसरी बात यह कि एकमात्र समामेलित निकाय ही सदस्यों को सीमित देयता के साथ व्यवसाय करने की क्षमता प्रदान करता है। अंशदाता समवाय के ऋणों के उत्तरदायित्व के लिये बाध्य नहीं है। यदि वह अपने अंश धन का भुगतान नहीं करता है तो वह केवल उस

धन के भुगतान के लिये ही उत्तरदायी है। यदि उसके अंश के धन का पूर्ण रूप से भुगतान हो चुका है तब उसकी देयता का प्रश्न ही नहीं उठता। सीमित देयता की सुविधा के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए एक न्यायमूर्ति ने कहा है कि 'देश की व्यावसायिक संपदा के विकास के लिये सीमित देयता संबंधी परिनियमों ने जितना लाभ पहुँचाया है उतना संभवत. किसी और कानून ने नहीं पहुँचाया। सीमित देयता ने, जहाँ तक विनियोक्ता तथा लोक के लाभ का प्रश्न है, छोटे मोटे धनों को बड़ी पूँजी में परिणत करने में प्रोत्साहन प्रदान किया है। उस बड़ी पूँजी को लोककल्याण के कार्य में प्रयुक्त कर देश की संपदा की वृद्धि ही होती है।'

तीसरी बात यह कि समवाय के अंश चल संपत्ति हैं और वह मुक्त रूप से हस्तांतर्य है। अतएव समवाय की सदस्यता समय समय पर परिवर्तित होती रहती है किंतु इस परिवर्तन से स्वयं समवाय की अनवरतता पर कोई खराब असर नहीं पड़ता। समवाय को स्थायी उत्तराधिकार प्राप्त है। किसी सदस्य की मृत्यु अथवा दिवालिएपन से समवाय की स्थिति में कोई अंतर नहीं आता। इसके अलावा समामेलन समवाय की संपत्ति से उसके सदस्यों से स्पष्टत. पृथक् करने की क्षमता रखता है। समवाय अपने नाम से मुकदमा लड़ सकता है और उसके नाम से मुकदमा लड़ा जा सकता है। [अ० सिं०]

समवाय संबंध वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत सात पदार्थों में छठा पदार्थ। संबंध नित्य और अनित्य होते हैं। संयोग अनित्य संबंध है जैसे कलम का कागज से। पर कलम का कलम के रंग से नित्य संबंध है। अत: ऐसे संबंध को जिसके बिना वस्तु की सत्ता ही न रहे समवाय संबंध कहते हैं। द्रव्य का गुण से, द्रव्य का क्रिया से, अवयव का अवयवी से, जाति का व्यक्ति से तथा नित्य द्रव्य का विशेष से समवाय संबंध होता है। गुण, क्रिया आदि से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान विशेषण और विशेष्य के संबंध के ज्ञान से होता है, अत. गुण, क्रिया आदि का गुणी, क्रियावान् आदि से कोई संबंध अवश्य होगा। यह संबंध संयोग से भिन्न है अत. इसको अलग पदार्थ माना गया।

सगुण वस्तु गुण और द्रव्य का, अवयवी अवयवों का समूह मात्र नहीं है। यह उनके समूह से विशिष्ट है। यह वैशिष्टय समवाय संबंध के कारण है। बौद्ध तथा मीमांसा दर्शनों में अवयवी को अवयवों का समूह मात्र माना गया है अतः समवाय का खंडन किया गया है। न्याय दर्शन ने समवाय को तार्किक दृष्टि से पुष्ट किया।

[स० च० पां०]

समस्तीपुर स्थिति : २५° २८' एवं २६° ५' उ० अ० तथा ८५° ३१' एवं ८६° १' पू० दे०। बिहार राज्य के दरभंगा जिले का एक उपमंडल है। इसका क्षेत्रफल ७७८ वर्ग मील है।

बागमती और बूढ़ी गंडक के दोआब को छोड़कर, उपमंडल का शेष भाग विस्तृत बाँगर है, जिसमें एकाध चौर हैं। यह बहुत उपजाऊ क्षेत्र है, जहाँ खरीफ तथा भदई फसलें उपजती हैं।

२. नगर, समस्तीपुर उपर्युक्त उपमंडल का मुख्य नगर है, जो बूढ़ी गंडक के दाहिने किनारे पर बसा है। इसकी जनसंख्या २५,७२६ है (१९६१)। यह एक प्रसिद्ध रेलवे जंक्शन है। यहाँ एक रेलवे वर्कशॉप भी है। इसके निकट में ही पूसा कृषि कालेज है, जहाँ खेती तथा पशुपालन संबंधी प्रशिक्षण दिया जाता है। समस्तीपुर में चीनी मिल, डिग्री कालेज तथा हस्तनिर्मित कागज के उद्योग भी हैं। [अ० सिं०]

समस्थानिक (Isotopes) एक तत्व के विभिन्न भारवाले परमाणुओं को समस्थानिक कहते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में डाल्टन ने अपने परमाणुवाद में यह सिद्धांत स्थापित किया था कि विभिन्न तत्वों के परमाणु भार भिन्न भिन्न होते हैं, परंतु एक तत्व के सारे परमाणुओं का भार समान होता है। बहुत समय तक वैज्ञानिक इसको सत्य मानते रहे; परंतु रेडियोऐक्टिवता की खोज के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि इस क्रिया द्वारा एक ही तत्व के विभिन्न भार के परमाणु उपस्थित हो सकते हैं। रेडियोऐक्टिवता के अनुसंधानों के फलस्वरूप रेडियोऐक्टिव विस्थापन नियम (radioactive displacement law) निकला। इसके अनुसार यदि एक रेडियोऐक्टिव परमाणु से एक ऐल्फा कण (α-particle) मुक्त हो, तो आवर्त सारणी में वह तत्व दो स्थान पीछे (कम) हो जायगा। यदि उससे एक बीटा कण (β-particle) मुक्त हो, तो परमाणु एक स्थान आगे (अधिक) हो जायगा, इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि किसी परमाणु से एक ऐल्फा कण मुक्त हो और क्रमश: दो बीटा कण मुक्त हों, तो वह परमाणु आवर्त सारणी में फिर अपने स्थान पर आ जायगा, यद्यपि उसका भार चार मात्रा से कम होगा। ऐसे परमाणुओं के लिये प्रसिद्ध अंग्रेज भौतिकी विज्ञानी, सॉडी ने समस्थानिक (Isotope) शब्द का १९१३ ई० में प्रयोग किया। उसने सर्वप्रथम यह कहा कि इस प्रकार रेडियोऐक्टिवता के द्वारा प्राप्त समस्थानिक के रासायनिक एवं स्पेक्ट्रमी (spectral) गुण समान होंगे। रासायनिक क्रियाओं द्वारा ऐसे परमाणुओं को अलग करना संभव नहीं है। सॉडी के सिद्धांत के अनुसार यूरेनियम अयस्क द्वारा प्राप्त सीसे का परमाणुभार सामान्य सीसे के भार से भिन्न होना चाहिए। सॉडी के सारे वक्तव्य वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा सत्य सिद्ध हुए। अन्य वैज्ञानिकों ने समस्थानिकों के प्रमाण प्राप्त किए। सन् १९०६ में बोल्टवुड ने यूरेनियम रूपांतरण (transformation) द्वारा उत्पन्न आयोनियम की खोज की, जिसके रासायनिक गुण थोरियम तत्व के अनुरूप थे। इस प्रकार रेडियोऐक्टिव तत्वों के प्रयोगों में एक ही तत्व के भिन्न भिन्न भारवाले परमाणु मिले, जिन्हें किसी रासायनिक क्रिया द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता था, परंतु रासायनिक क्रिया द्वारा यह नहीं ज्ञात हो सकता था कि स्थायी तत्वों में समस्थानिक हैं या नहीं। यह केवल ऐसे भौतिक प्रयोग द्वारा जाना जा सकता था जिससे पृथक् परमाणुओं का भार सूक्ष्मता से ज्ञात हो सके।

टॉमसन ने धन किरणों (positive rays) के अनुसंधानों द्वारा सर्वप्रथम यह ज्ञात किया कि स्थायी तत्वों में भी समस्थानिक रहते हैं। टॉमसन ने अपनी परवलय (parabola) विधि द्वारा निऑन (Ne) गैस का विश्लेषण किया। इस विधि में किसी भी कण के आवेश और संहति का अनुपात (e/m) निकाला जा सकता था।

अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि सामान्य निग्रॉन गैस दो समस्थानिकों का संमिश्रण है, जिनमें से एक का परमाणुभार २० और दूसरे का २२ है। इनका संमिश्रण इस अनुपात में था कि सामान्य निग्रॉन का परमाणुभार २०·१८ निकलता था। तत्पश्चात् अत्यंत सम्यक् प्रयोगों से प्रमाणित हुआ कि निग्रॉन में २१ परमाणुभार का एक अन्य समस्थानिक भी अत्यंत सूक्ष्म मात्रा में संमिश्रित रहता है। इसी समय ऐस्टन ने संहति, या द्रव्यमान, स्पेक्ट्रमलेखी (mass spectrograph) का निर्माण किया (देखें स्पेक्ट्रमी संहति), जिसके द्वारा समस्थानिक सरलता से पृथक् किए जा सकते थे और उनके भार का अनुमान अत्यंत सूक्ष्मता से ज्ञात हो सका था। अपने इस नए उपकरण द्वारा ऐस्टन ने ज्ञात किया कि अधिकतर तत्व एक से अधिक समस्थानिकों के संमिश्रण हैं। इसके पश्चात् डेंप्स्टर तथा अन्य वैज्ञानिकों ने अधिक उपयोगी द्रव्यमान स्पेक्ट्रमलेखी बनाए, जिनके प्रयोगों द्वारा प्राकृतिक तत्वों के लगभग ३०० से अधिक समस्थानिक ज्ञात हो चुके हैं। केवल निम्नलिखित २२ तत्वों का एक ही समस्थानिक प्राप्त है :

बेरिलियम (Be^{9}), फ्लुओरीन (F^{19}), सोडियम (Na^{23}), ऐलुमिनियम (Al^{27}), फॉस्फोरस (P^{31}), स्कैंडियम (Sc^{45}) मैंगनीज़ (Mn^{55}), कोबाल्ट (Co^{59}), आर्सेनिक (As^{75}), इट्रियम (Y^{89}), नायोबियम (Nb^{93}), रोडियम (Rh^{103}) आयोडीन (I^{127}), सीज़ियम (Cs^{133}), लैथेनम (La^{139}), प्रेज़ियोडिमियम (Pr^{141}), टर्बियम (Tb^{159}), होलमियम (Ho^{165}), टैंटेलम (Ta^{181}) स्वर्ण (Au^{197}) और बिस्मथ (Bi^{209})।

सन् १९३४ में फ्रेड्रिक ज्होलियो एवं आइरीन क्यूरी ने कुछ हल्के तत्वों पर ऐल्फा कणों द्वारा आक्रमण के प्रयोग किए, जिनके द्वारा स्थिर तत्वों के भी रेडियोऐक्टिव समस्थानिक बनाए गए। अब हमें यह ज्ञात है कि सारे तत्वों के रेडियोऐक्टिव समस्थानिक बन सकते हैं। इस क्रिया के लिये स्थिर तत्वो पर विभिन्न कणों के आक्रमण किए जाते हैं, जिनमें ऐल्फा कण (He^{4}), ड्यूट्रान (D^{2}), प्रोटान (H^{1}) और न्यूट्रान (n^{0}) मुख्य हैं। कभी कभी गामा विकिरण द्वारा भी यह क्रिया संभव हुई है। अब तक ५०० से अधिक रेडियोऐक्टिव समस्थानिक बनाए जा चुके हैं, जिनसे अनेक प्रकार के विकिरण मुक्त होते हैं, जैसे इलेक्ट्रॉन (e^{-}), पॉज़िट्रॉन (e^{+}), गामा विकरण (γ) और ऐल्फ़ा कण (α, or He^{4})। कुछ समस्थानिक के – इलेक्ट्रॉन प्रग्रहण (K–electron capture) क्रिया द्वारा भी रूपांतरित होते देखे गए हैं। इनके अर्ध जीवन (half life) की अवधियों में बहुत असमानता दिखाई देती है ($१०^{१०}$ वर्ष से $१०^{-६}$ सेकंड तक)।

समस्थानिकों की खोज के साथ परमाणु की संरचना पर भी प्रकाश पड़ा। हमें अब यह ज्ञात है कि परमाणु के मध्य में एक नाभिक (nucleus) स्थित है, जिसमें परमाणु का अधिकांश भार रहता है और उसके चारों ओर इलेक्ट्रॉन परिक्रमा करते हैं। नाभिक संरचना के आधुनिक सिद्धांत के अनुसार उसमें दो प्रकार के मूलभूत कण स्थित रहते हैं, न्यूट्रॉन और प्रोटॉन। नाभिक में उपस्थित प्रोटॉनों की संख्या से ही तत्व की परमाणुसंख्या (atomic number) नियत होती है, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि एक तत्व के समस्त परमाणु के नाभिकों में उपस्थित प्रोटॉनों की संख्या समान होगी, जैसे हाइड्रोजन नाभिक में १ प्रोटॉन, हीलियम नाभिक में २ प्रोटॉन और यूरेनियम नाभिक में ९२ प्रोटॉन हैं। इसके अतिरिक्त, नाभिक में उपस्थित प्रोटॉन एवं न्यूट्रॉन की संख्या का योग, उसकी द्रव्यमान संख्या (mass number) होगी। इस प्रकार किसी एक तत्व के दो समस्थानिकों के नाभिकों में प्रोटॉनों की संख्या तो समान होगी, परंतु न्यूट्रॉनों की संख्या विभिन्न होगी, यथा लीथियम-७ के नाभिक में ३ प्रोटॉन और ४ न्यूट्रॉन होंगे और लीथियम-६ में ३ प्रोटॉन और ३ न्यूट्रॉन होंगे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस लीथियम के दोनों नाभिकों में तीन ही इलेक्ट्रॉन नाभिक की परिक्रमा करेंगे, क्योंकि समस्थानिकों की बाह्य संरचना एक सी होती है।

कभी कभी ऐसा भी संभव हो सकता है कि दो विभिन्न तत्वों के नाभिकों में उपस्थित प्रोटॉन और न्यूट्रॉन का योग समान हो, यद्यपि दोनों कणों की व्यक्तिगत संख्याएँ समान, हों। बोरॉन के १० द्रव्यमानवाले समस्थानिक (B^{10}) में ५ प्रोटॉन और ५ न्यूट्रान होंगे और बेरिलियम के १० द्रव्यमान समस्थानिक (Be^{10}) में ४ प्रोटॉन और ६ न्यूट्रॉन होंगे। ऐसे परमाणुओं को समभारिक (Isobars) कहते हैं।

द्रव्यमान स्पेक्ट्रमलेखी (mass spectrograph) द्वारा किए गए सम्यक् अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि तत्वों के किसी परमाणु का द्रव्यमान उसमें उपस्थित प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रानों के संमिलित द्रव्यमान के बराबर न होकर, उससे कम होता है। इसका कारण यह है कि नाभिक में उपस्थित प्रोटॉन और न्यूट्रॉन इतनी निकटतम अवस्था में रहते हैं कि उनकी मात्रा के कुछ भाग का क्षय हो जाता है। किसी नाभिक में उपस्थित कणों के परिकलित भार और उसके प्रयोगात्मक भार के अंतर को आइंसटाइन के सापेक्षवाद (theory of relativity) के अनुसार ऊर्जा में परिणत कर सकते हैं और प्राप्त ऊर्जा को नाभिक की बंधन ऊर्जा (binding energy) कहेंगे। इसे नाभिक में उपस्थित कणों (प्रोटॉन और न्यूट्रॉन) की संख्या से भाग देने पर, प्रति कण की बंधन ऊर्जा प्राप्त होगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह मात्रा स्थिर न होकर, प्रत्येक तत्व के साथ बदलती रहती है। आवर्त सारणी के मध्य में स्थित तत्वों में यह सबसे अधिक और आरंभ तथा अंत के तत्वों में कम रहती है। उच्च बंधन ऊर्जा तत्व की स्थिरता का सूचक है। इसी नियम के अनुसार यूरेनियम खंडित होकर और हाइड्रोजन संगलित होकर, अधिक स्थिरता को प्राप्त होते हैं।

समस्थानिकों की रचना पर विचार करने से हमें ज्ञात हुआ कि विषम परमाणु संख्या के तत्वों के स्थिर समस्थानिकों की संख्या कम होती है। पृथ्वी की सतह पर उनकी मात्रा भी कम ज्ञात होती है। इसके विपरीत सम परमाणु संख्या के तत्वों के अधिक स्थिर समस्थानिक प्राप्त हैं। लगभग समस्त स्थिर समस्थानिकों के नाभिकों में न्यूट्रॉनों की सम संख्या होती है।

अभी तक समस्थानिकों के द्रव्यमान की गणना भौतिक प्रतिमान द्वारा होती थी, जिसमें ऑक्सीजन के १६ परमाणुभारवाले

समस्थानिक को १६·०००० माना गया। यह प्रतिमान रासायनिक प्रतिमान से भिन्न था। रासायनिक प्रतिमान द्वारा प्राप्त परमाणुभार भौतिक प्रतिमान से कुछ भिन्न थे। १९६२ ई० में दोनों प्रतिमानों के स्थान पर एक अन्य प्रतिमान स्थापित किया गया है, जो भौतिक तथा रासायनिक दोनों क्रियाओं में उपयोगी है। इसके अनुसार कार्बन के १२ द्रव्यमान संख्यावाले समस्थानिक का भार १२·०००० माना गया, जिसके फलस्वरूप प्रोट्रॉन का भार १·००७५९५, न्यूट्रान का भार १·००८९८२, ड्यूट्रान का भार २·०१४१८ और ट्राइटॉन (ट्राइटियम का नाभिक) का भार ३·०१६५० मान्य है।

एक तत्व के समस्थानिकों के अनेक भौतिक गुणों में भिन्नता रहती है। स्पेक्ट्मी (spectral) गुणों में यह भिन्नता देखी जा सकती है। पट्ट स्पेक्ट्रम के अध्ययन द्वारा समस्थानिकों की उपस्थिति सरलता से ज्ञात हो जाती है और इनके द्वारा अनेक प्रयोगों में द्रव्यमान स्पेक्ट्रमलेखी (mass spectrograph) अनुसंधानों से प्राप्त परिणामों की पुष्टि हुई है।

समस्थानिकों का पृथक्करण — समस्थानिकों को रासायनिक विधि द्वारा पृथक नहीं किया जा सकता। इस कार्य के लिये भौतिक गुणों की भिन्नता का सहारा लेना पड़ता है। द्रव्यमान-स्पेक्ट्रममापी में समस्थानिकों का पूर्णतया पृथक्करण संभव है और सर्वप्रथम इसी विधि से यूरेनियम के समस्थानिक पृथक् किए गए थे, परंतु इस विधि द्वारा प्राप्त समस्थानिकों की मात्रा बहुत न्यून और शिथिलता से प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त समस्थानिकों को पृथक् करने की अन्य विधियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं। एक विधि के अनुसार किसी तत्व के वाष्प, अथवा उसके वाष्प यौगिक, का सरंध्र (porous) पदार्थ द्वारा मुक्त विसरण (free diffusion) कर, उसे समस्थानिकों में पृथक् करते हैं। वाष्प की विसरण गति उसके भार के वर्गमूल के व्युत्क्रमानुपाती (inversely proportional) होती है। इस कारण मिश्रित समस्थानिक वाष्प के समुचित आयतन का सरंध्र पदार्थ द्वारा विसरण करने पर, विसरित वाष्प में हलके समस्थानिक का और बचे वाष्प में भारी समस्थानिक का प्रति शत बढ़ जाएगा। इस क्रिया को अनेक बार दोहराने से समस्थानिकों के प्रति शत में बहुत अंतर आ सकता है। एक दूसरी विधि द्वारा न्यून दबाव पर द्रव सतह के ऊपर वाष्पीकरण द्वारा समस्थानिकों के संघटन में अंतर आ जाता है। इनके अतिरिक्त आसवन (distillation), विद्युत् अपघटन (electrolysis), अपकेंद्रन (centrifugation) तथा विनिमयी अभिक्रिया (exchange reaction) द्वारा भी समस्थानिक पृथक् किए जाते हैं। इनकी क्रियाएँ अधिकतर गोपनीय रखी गई हैं।

यह आश्चर्यजनक बात है कि पृथ्वी के विभिन्न स्थानों पर पाए जानेवाले किसी भी तत्व का समस्थानिक प्रति शत समान रहता है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारंभिक काल मे हर तत्व का निर्माण या तो एक स्थान पर हुआ, या इस विधि से हुआ कि उसका हर स्थान पर समस्थानिक संघटन स्थिर हो गया। [र० च० क०]

समाजवाद अंग्रेजी और फ्रांसीसी शब्द 'सोशलिज्म' का हिंदी रूपांतर है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाद के विरोध में और उन विचारों के समर्थन में किया जाता था जिनका लक्ष्य समाज के आर्थिक और नैतिक आधार को बदलना था और जो जीवन में व्यक्तिगत नियंत्रण की जगह सामाजिक नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे।

समाजवाद शब्द का प्रयोग अनेक और कभी कभी परस्पर विरोधी प्रसंगों में किया जाता, जैसे समूहवाद, अराजकतावाद, आदिकालीन कबायली साम्यवाद, सैन्य साम्यवाद, ईसाई समाजवाद, सहकारितावाद, आदि — यहाँ तक कि नात्सी दल का भी पूरा नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल था। आदिकालीन साम्यवादी समाज में मनुष्य पारस्परिक सहयोग द्वारा आवश्यक चीजों की प्राप्ति, और प्रत्येक सदस्य के आवश्यकतानुसार उनका आपस में बँटवारा करते थे। परंतु यह साम्यवाद प्राकृतिक था; मनुष्य की सचेत कल्पना पर आधारित नहीं था। आरंभ के ईसाई पादरियों की रहन सहन का ढंग बहुत कुछ साम्यवादी था, वे एक साथ और समान रूप से रहते थे, परंतु उनकी आय का स्रोत धर्मावलंबियों का दान था और उनका आदर्श जनसाधारण के लिये नहीं, वरन् केवल पादरियों तक सीमित था। उनका उद्देश्य भी आध्यात्मिक था, भौतिक नहीं। यही बात मध्यकालीन ईसाई साम्यवाद के संबंध में भी सही है। पीरू (Peru) देश की प्राचीन इंका (Inka) सभ्यता को सैन्य साम्यवाद की संज्ञा दी जाती है, परंतु उसका आधार सैन्य संगठन था और वह व्यवस्था शासक वर्ग का हितसाधन करती थी। नगरपालिकाओं द्वारा लोकसेवाओं के साधनों को प्राप्त करना, अथवा देश की उन्नति के लिये आर्थिक योजनाओं के प्रयोग मात्र को समाजवाद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि इनके द्वारा पूँजीवाद को ठेस पहुँचे। नात्सी दल ने बैंकों का राष्ट्रीकरण किया था परंतु पूँजीवादी व्यवस्था अक्षुण्ण रही।

समाजवाद की परिभाषा करना कठिन है। यह सिद्धांत तथा आंदोलन, दोनों ही है, और यह विभिन्न ऐतिहासिक और स्थानीय परिस्थितियों में विभिन्न रूप धारण करता है। मूलतः यह वह आंदोलन है जो कि उत्पादन के मुख्य साधनों के समाजीकरण पर आधारित वर्गविहीन समाज स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है और जो मजदूर वर्ग को इसका मुख्य आधार बनाता है, क्योंकि वह इस वर्ग को शोषित वर्ग मानता है जिसका ऐतिहासिक कार्य वर्गव्यवस्था का अंत करना है।

समाजवाद के अनेक प्रकार हैं और उनकी विभिन्नता का आधार उनकी न्याय की कल्पना, राज्य के प्रति उनका रुख और लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं।

काल्पनिक समाजवाद

यद्यपि समाजवादी आंदोलन और समाजवादी शब्द का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से आरंभ हुआ तथापि ईसा से ६०० वर्ष पूर्व भी समाजवादी विचारों का वर्णन मिलता है, परंतु प्लेटो सर्वप्रथम दार्शनिक है जिसने इन विचारों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित

किया । वह न केवल संपत्ति के समान और सामूहिक प्रयोग के पक्ष में था वरन् व्यक्तिगत कौटुंबिक प्रथा का अंत कर स्त्रियों और बच्चों का भी समाजीकरण करना चाहता था। उसके साम्यवाद का आधार गुलाम प्रथा थी और वह केवल संकुचित शासक वर्ग तक सीमित था, अत: उसको अभिजाततंत्रीय समाजवाद कहा जाता है। मध्यकालीन विचारों में भी साम्य संबंधी धारणाएँ मिलती है, परंतु उस समय के विद्रोहों का आधार नैतिक और धार्मिक था।

आधुनिक काल के प्रथम चरण से विचारस्वातंत्र्य के कारण धर्मनिरपेक्ष चिंतन प्रारंभ हुआ और इस काल में टामस मोर (Thomas More, यूटोपिया, १५१६) और कंपानेला (Campanella, 'सूर्यनगर' १६२३) जैसे विचारकों ने साम्य के आधार पर समाज की कल्पना की, परंतु औद्योगिक क्रांति के पूर्व आधुनिक समाजवादी विचारों के लिये भौतिक आधार — पूँजीवादी शोषण और सर्वहारा वर्ग — संभव नहीं था। औद्योगिक क्रांति के साथ विज्ञानों का विकास हुआ और प्राचीन मान्यताओं तथा धार्मिक अंधविश्वासों का ह्रास होने लगा। इन परिस्थितियों में आधुनिक समाजवादी चिंतन का उदय हुआ।

इस काल का प्रथम समाजवादी विचारक फ्रांस-निवासी बाबूफ (Babeuf, १७६४–९७) था। वह भूमि के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था तथा अपने ध्येय की प्राप्ति क्रांति द्वारा करना चाहता था। अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ के अन्य प्रमुख फ्रांसीसी समाजवादी विचारक साँ सीमों (Saint Simon १७६०–१८२५) और फोरिए (Fourier १७७२–१८३७) है। सॉं सीमों संपत्ति पर सामाजिक अधिकार स्थापित करना चाहता था परंतु वह सबको समान वरन् श्रम के अनुसार वेतन के पक्ष मे था। फ़ोरिए के विचार सॉं सीमों से मिलते जुलते हैं, परंतु वह सहकारी संगठनों की कल्पना भी करता है।

उपर्युक्त फ्रांसीसी समाजवादियों के विचारों से ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका भी प्रभावित हुए। ब्रिटेन का तत्कालीन प्रमुख समाजवादी विचारक रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen, १७७१–१८५८) था। वह स्वयं एक मजदूर और बाद में सफल पूँजीपति, समाजसुधारक, और मजदूर तथा सहकारी आंदोलनों का प्रवर्तक हुआ। उसका कथन था कि मनुष्य का स्वभाव परिस्थितियों से प्रभावित होता है। वह शिक्षा, प्रचार और समाज सुधार द्वारा पूँजीवादी शोषण का अंत करना चाहता था। अपने विचारों के अनुसार उसने उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया, परंतु असफल रहा; तथापि उसके विचारों का ब्रिटिश और संयुक्त राज्य अमरीका के मजदूर आंदोलनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ओवेन की भाँति काबे (Cabet, १७८१–१८५६) ने भी संयुक्त राज्य अमरीका में समाजवादी उपनिवेश स्थापित किए परंतु उसके प्रयत्न भी सफल न हो सके।

ओवेन के बाद ब्रिटेन में मजदूरों के अंदर चार्टिस्ट, (Chartist) विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। यह आंदोलन मताधिकार प्राप्त कर संसद् पर अधिकार स्थापित करना, और इस प्रकार राज्यशक्ति प्राप्त करने के बाद आर्थिक तथा सामाजिक सुधार करना चाहता था। आगे चलकर फेबियन तथा अन्य समाजवादियों ने इस संवैधानिक मार्ग का आश्रय लिया। परंतु फ्रांसीसी समाजवादी लुई ब्लाँ (Louis Blonc, १८११-१८८२) क्रांतिकारी था। वह उद्योगों के समाजीकरण ही नहीं, मजदूरों के काम करने के अधिकार का भी समर्थक था। "प्रत्येक अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य करे और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्ति हो" उसने इस साम्यवादी विचार का प्रचार किया।

कार्ल मार्क्स (१८१८-८३) के साथी एंगिल्स ने उपर्युक्त आधुनिक समाजवादी विचारों को काल्पनिक समाजवाद का नाम दिया। इन विचारों का आधार भौतिक और वैज्ञानिक नहीं, नैतिक था; इनके विचारक ध्येय की प्राप्ति के सुधारवादी साधनों में विश्वास करते थे; और भावी समाज की विस्तृत परंतु अवास्तविक कल्पना करते थे।

मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद — मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का प्रणेता माना जाता है। मार्क्स जर्मन देश के एक राज्य का रहनेवाला था और जर्मनी १८७१ ई० के पूर्व राजनीतिक रूप से कई राज्यों में विभाजित, तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। अत: यहाँ पर समाजवादी विचारों का प्रचार देर से हुआ। यद्यपि जोहान फिक्टे (Johan Fichte, १७६२–१८१५) के विचारों में समाजवाद की झलक है, परंतु जर्मनी का सर्वप्रथम और प्रमुख समाजवादी विचारक कार्ल मार्क्स ही माना जाता है। मार्क्स के विचारों पर हीगेल के आदर्शवाद, फौरबाक (Feuerbach) के भौतिकवाद, ब्रिटेन के शास्त्रीय अर्थशास्त्र, तथा फ्रांस की क्रांतिकारी राजनीति का प्रभाव है। मार्क्स ने अपने पूर्वगामी और समकालीन समाजवादी विचारों का समन्वय किया है। उसके अभिन्न मित्र और सहकारी एंगिल्स ने भी समाजवादी विचार प्रतिपादित किए हैं, परंतु उनमें अधिकांशत: मार्क्स के सिद्धांतों की व्याख्या है, अत. उसके लेख मार्क्सवाद के ही अंग माने जाते हैं।

मार्क्स के दर्शन को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) कहा जाता है। मार्क्स के लिये वास्तविकता विचार मात्र नहीं, भौतिक सत्य है; विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है। उसका भौतिकवाद विकासमान है परंतु यह विकास द्वंद्वात्मक प्रकार से होता है। इस प्रकार मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है परंतु उसकी द्वंद्वात्मक प्रणाली को स्वीकार करता है।

मार्क्स के विचारों की दूसरी विशेषता उसका ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical materialism) है। कुछ लेखक इसको इतिहास की अर्थशास्त्रीय व्याख्या भी कहते हैं। मार्क्स ने सिद्ध किया कि सामाजिक परिवर्तनों का आधार उत्पादन के साधन और उससे प्रभावित उत्पादन संबंधों में परिवर्त्तन हैं। अपनी प्रतिभा के अनुसार मनुष्य सदैव ही उत्पादन के साधनों में उन्नति करता है, परंतु एक स्थिति आती है जब इस कारण उत्पादन संबंधों पर भी असर पड़ने लगता है और उत्पादन के साधनों के स्वामी—शोषक—और इन साधनों का प्रयोग करनेवाले शोषित वर्ग में संघर्ष आरंभ हो जाता है। स्वामी पुरानी अवस्था को कायम रखकर शोषण का क्रम जारी रखना

चाहता है, परंतु शोषित वर्ग का और समाज का हित नए उत्पादन संबंध स्थापित कर नए उत्पादन के साधनों का प्रयोग करने में होता है। अतः शोषक और शोषित के बीच वर्गसंघर्ष क्रांति का रूप धारण करता है और उसके द्वारा एक नए समाज का जन्म होता है। इसी प्रक्रिया द्वारा समाज आदिकालीन कबायली साम्यवाद, प्राचीन गुलामी, मध्यकालीन सामंतवाद और आधुनिक पूँजीवाद, इन अवस्थाओं से गुजरा है। अभी तक का इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास है, आज भी पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच यह संघर्ष है, जिसका अंत सर्वहारा क्रांति द्वारा समाजवाद की स्थापना से होगा। भावी साम्यवादी अवस्था इस समाजवादी समाज का ही एक श्रेष्ठ रूप होगी।

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज का गूढ़ और विस्तृत विश्लेषण किया है। उसकी प्रमुख पुस्तक का नाम पूँजी (Capital) है। इस संबंध में उसके अर्घ (Value) और अतिरिक्त अर्घ (Surplus value) संबंधी सिद्धांत मुख्य हैं। उसका कहना है कि पूँजीवादी समाज की विशेषता अधिकांशतः पण्यों (Commodities) की पैदावार है। पूँजीपति अधिकतर चीजें बेचने के लिये बनाता है, अपने प्रयोग मात्र के लिये नहीं। पण्य वस्तुएँ अपने अर्घ के आधार पर खरीदी बेची जाती हैं। परंतु पूँजीवादी समाज में मजदूर की श्रमशक्ति भी पण्य बन जाती है और वह भी अपने अर्घ के आधार पर बेची जाती है। प्रत्येक चीज के अर्घ का आधार उसके अंदर प्रयुक्त सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम है जिसका मापदंड समय है। मजदूर अपनी श्रमशक्ति द्वारा पूँजीपति के लिये बहुत सामर्थ्य (पण्य) पैदा करता है, परंतु उसकी श्रमशक्ति का अर्घ बहुत कम होता है। इन दोनों का अंतर अतिरिक्त अर्घ है और यह अतिरिक्त अर्घ जिसका आधार मजदूर का श्रम है पूँजीवादी मुनाफे, सूद, कमीशन आदि का आधार है। सारांश यह कि पूँजी का स्रोत श्रमशोषण है। मार्क्स का यह विचार वर्गसंघर्ष को प्रोत्साहन देता है। पूँजीवाद की विशेषता है कि इसमें स्पर्धा होती है और बड़ा पूँजीपति छोटे पूँजीपति को परास्त कर उसका नाश कर देता है तथा उसकी पूँजी का स्वयं अधिकारी हो जाता है। वह अपनी पूँजी और उसके लाभ को भी फिर से उत्पादन के क्रम में लगा देता है। इस प्रकार पूँजी और पैदावार दोनों की वृद्धि होती है। परंतु क्योंकि इसके अनुपात में मजदूरी नहीं बढ़ती, अतः श्रमिक वर्ग इस पैदावार को खरीदने में असमर्थ होता है और इस कारण समय समय पर पूँजीवादी व्यवस्था आर्थिक संकटों की शिकार होती है जिसमें अतिरिक्त पैदावार और बेकारी तथा भुखमरी एक साथ पाई जाती है। इस अवस्था में पूँजीवादी समाज उत्पादनशक्तियों का पूर्ण रूप से प्रयोग करने में असमर्थ होता है। अतः पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच वर्गसंघर्ष बढ़ता है और अंत में समाज के पास सर्वहारा क्रांति (Proletarian Revolution) तथा समाजवाद की स्थापना के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। सामाजिक पैमाने पर उत्पादन परंतु उसके ऊपर व्यक्तिगत स्वामित्व, मार्क्स के अनुसार यह पूँजीवादी व्यवस्था की असंगति है जिसे सामाजिक स्वामित्व की स्थापना कर समाजवाद दूर करता है।

राज्य के संबंध में मार्क्स की धारणा थी कि यह शोषक वर्ग का शासन का अथवा दमन का यंत्र है। अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये प्रत्येक शासकवर्ग इसका प्रयोग करता है। पूँजीवाद के भग्नावशेषों के अंत तथा समाजवादी व्यवस्था की जड़ों को मजबूत बनाने के लिये एक संक्रामक काल के लिये सर्वहारा वर्ग भी इस यंत्र का प्रयोग करेगा, अतः कुछ समय के लिये सर्वहारा तानाशाही की आवश्यकता होगी। परंतु पूँजीवादी राज्य मुट्ठी भर शासकवर्ग की बहुमत शोषित जनता के ऊपर तानाशाही है जब कि सर्वहारा का शासन बहुमत जनता की, केवल नगण्य अल्पमत के ऊपर, तानाशाही है। समाजवादियों का विश्वास है कि समाजवादी व्यवस्था उत्पादन की शक्तियों का पूरा पूरा प्रयोग करके पैदावार को इतना बढ़ाएगी कि समस्त जनता की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँगी। कालांतर में मनुष्यों को काम करने की आदत पड़ जाएगी और वे पूँजीवादी समाज को भूलकर समाजवादी व्यवस्था के आदी हो जाएँगे। इस स्थिति में वर्गभेद मिट जाएगा और शोषण की आवश्यकता न रह जाएगी, अतः शोषणयंत्र— राज्य — भी अनावश्यक हो जाएगा। समाजवाद की इस उच्च अवस्था को मार्क्स साम्यवाद कहता है। इस प्रकार का राज्यविहीन समाज अराजकतावादियों का भी आदर्श है।

मार्क्स ने अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिये अंतरराष्ट्रीय श्रमजीवी समाज (१८६४) की स्थापना की जिसकी सहायता से उसने अनेक देशों में क्रांतिकारी मजदूर आंदोलनों को प्रोत्साहित किया। मार्क्स अंतरराष्ट्रवादी था। उसका विचार था कि पूँजीवाद ही अंतरदेशीय संघर्ष और युद्धों की जड़ है, समाजवाद की स्थापना के बाद उनका अंत हो जाएगा और विश्व का सर्वहारा वर्ग परस्पर सहयोग तथा शांतिमय ढंग से रहेगा।

मार्क्स ने सन् १८४८ में अपने 'साम्यवादी घोषणापत्र' में जिस क्रांति की भविष्यवाणी की थी वह अंशतः सत्य हुई और उस वर्ष और उसके बाद कई वर्ष तक यूरोप में क्रांति की ज्वाला फैलती रही; परंतु जिस समाजवादी व्यवस्था की उसको आशा थी वह स्थापित न हो सकी, प्रत्युत क्रांतियाँ दबा दी गईं और पतन के स्थान में पूँजीवाद का विकास हुआ। फ्रांस और प्रशा के बीच युद्ध (१८७१) के समय पराजय के कारण पेरिस में प्रथम समाजवादी शासन (पेरिस कम्यून) स्थापित हुआ परंतु कुछ ही दिनों में उसको भी दबा दिया गया। पेरिस कम्यून की प्रतिक्रिया हुई और मजदूर आंदोलनों का दमन किया जाने लगा जिसके फलस्वरूप मार्क्स द्वारा स्थापित अंतरराष्ट्रीय मजदूर संघ भी तितर बितर हो गया। मजदूर आंदोलनों के सामने प्रश्न था कि वे समाजवाद की स्थापना के लिये क्रांतिकारी मार्ग अपनाएँ अथवा सुधारवादी मार्ग ग्रहण करें। इन परिस्थितियों में कतिपय सुधारवादी विचारधाराओं का जन्म हुआ। इनमें ईसाई समाजवाद, फेबियनवाद और पुनरावृत्तिवाद मुख्य हैं।

ईसाई समाजवाद के मुख्य प्रचारक ब्रिटेन के जान मेलकम लुडलो (John Malcohm Ludlow १८२१–१९११), फ्रांस के बिशप क्लाड फॉशे (Claude Fauchet) और जर्मनी के विक्टर आइमे ह्यूबर (Victor Aime Huber) हैं। पूँजीवादी शोषण द्वारा मजदूरों की दुर्दशा देखकर इन विचारकों ने इस व्यवस्था की

आलोचना की और मजदूरों में सहकारी आंदोलन का प्रचार किया। उन्होंने उत्पादक तथा भोक्ता सहकारी समितियों की स्थापना भी की। ईसाई समाजवाद का प्रभाव ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के अतिरिक्त आस्ट्रिया तथा बेल्जियम में भी था।

फेबियसवाद — ब्रिटेन में फेबियन सोसाइटी की स्थापना सन् १८८३-८४ ई० में हुई। रॉबर्ट ओवेन तथा चार्टिस्ट आंदोलन के प्रभाव से यहाँ स्वतंत्र मजदूर आंदोलन की नींव पड़ चुकी थी, फेबियन सोसाइटी ने इस आंदोलन को दर्शन दिया। इस सभा का नाम फेबियस कंक्टेटर (Fabius Cunctator) के नाम से लिया गया है। फेबियस प्राचीन रोम का एक सेनानी था जिसने कार्थेज के प्रसिद्ध सेनानायक हन्नीबल (Hannibal) के विरुद्ध संघर्ष में धैर्य से काम लिया और गुरीला नीति द्वारा उसको कई वर्षों में परास्त किया। इसी प्रकार फेबियन समाजवादियों का विचार है कि पूँजीवाद को केवल एक मुठभेड़ में क्रांतिकारी मार्ग द्वारा परास्त नहीं किया जा सकता। इसके लिये पर्याप्त काल तक सोच विचार और तैयारी की आवश्यकता है। इनका तरीका विकास और सुधारवादी है। स्वतंत्र मजदूर दल की स्थापना के पूर्व ये ब्रिटेन के विभिन्न राजनीतिक दलों में प्रवेश कर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। इनका मुख्य ध्येय चरम नैतिक संभावनाओं के अनुसार समाज का पुनर्निर्माण था। ये राज्य को वर्गशासन का यंत्र न मानकर एक सामाजिक यंत्र मानते हैं जिसके द्वारा समाजकल्याण और समाजवाद की स्थापना संभव है। इन विचारकों ने न केवल संसद् वरन् नगरपालिका. और ग्रामीण क्षेत्रीय परिषदों द्वारा भी समाजवादी प्रयोगों का कार्यक्रम अपनाया। अत. इनके विचारों को लोकतंत्रीय, संसदीय, बैलट बक्स, चुंगी, विकास अथवा सुधारवादी समाजवाद की संज्ञा दी जाती है। इन विचारकों में प्रमुख सिडनी वेब (Sydney Webb), जार्ज बर्नार्ड शॉ, कोल (G. D. H. Cole), ऐनी बेसेंट (Anne Besant), ग्राहम वालस (Graham Wallace) इत्यादि हैं। इन विचारकों पर ब्रिटिश परंपरा, उपयोगितावाद, रार्बट ओवेन, ईसाई समाजवाद, और चार्टिस्ट आंदोलन तथा जान स्टुअर्ट मिल के अर्थशास्त्रीय विचारों का गहरा प्रभाव है।

जर्मनी का पुनरावृत्तिवाद — जर्मनी का पुनरावृत्तिवाद ब्रिटेन के फेबियसवाद तथा जर्मनी की परिवर्तित परिस्थितियों से प्रभावित हुआ था। जर्मनी और पूर्व यूरोपीय समाज का स्वरूप सामंतवादी तथा राज्य का अप्रजातांत्रिक और निरंकुश था. अत: १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक यहाँ के समाजवादी विचार उग्र क्रांतिकारी तथा संगठन षड्यंत्रकारी थे। इन देशों पर मार्क्स के विचारों का प्रभाव था। परंतु १९ वीं शताब्दी के अंत में जर्मनी में भी औद्योगिक उन्नति हुई और राज्य ने कुछ व्यक्तिगत तथा राजनीतिक अधिकार स्वीकार किए। फलत: मजदूरों का जीवनस्तर ऊँचा हुआ तथा उनके राजनीतिक दल — सामाजिक लोकतंत्रवादी पार्टी (Social democratic party) का प्रभाव भी बढ़ा। उसके अनेक सदस्य संसद् के सदस्य बन गए। इस स्थिति में यह दल सिद्धांतत: मार्क्स के क्रांतिकारी मार्ग को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार में सुधारवादी हो गया।

एडुआर्ड बर्नस्टाइन (Eduard Bernstein १८५०-१९३२) ने इस वास्तविकता के आधार पर मार्क्सवाद के संशोधन का प्रयत्न किया। बर्नस्टाइन सामाजिक लोकतंत्रवादी पार्टी का प्रमुख दार्शनिक और एंगिल्स का निकट शिष्य था। वह ब्रिटेन में कई वर्ष तक निर्वासित रहा और वहाँ फेबियसवाद से प्रभावित हुआ।

मार्क्स का कथन था कि परस्पर प्रतियोगिता और आर्थिक संकटों के कारण पूँजीवादी तथा मध्यमवर्ग संकुचित होता जायगा और मजदूर वर्ग निर्धन, विस्तृत, संगठित तथा क्रांतिकारी बनता जाएगा जिससे शीघ्र ही समाजवाद की स्थापना संभव हो सकेगी। स्थिति इसके विपरीत थी, जिसको बर्नस्टाइन ने स्वीकार किया और इस आधार पर उसने क्रांतिकारी कार्यक्रम के स्थान में तात्कालिक समाजसुधार और समाजवाद की सफलता के लिये वर्गसंघर्ष के स्थान मे श्रेणीसहयोग तथा संसदात्मक और संवैधानिक मार्ग पर जोर दिया। वह मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के स्थान पर नैतिक तथा अनार्थिक (non-economic) तत्वों के प्रभाव को भी स्वीकार करने लगा। बर्नस्टाइन के विचारों को पुनरावृत्तिवाद का नाम दिया गया। यद्यपि जर्मन मजदूर आंदोलन व्यवहार में सुधारवादी रहा तथापि कार्ल कौटस्की (Karl Kautsky १८५४-१९३८) के नेतृत्व में उसने बर्नस्टाइन के संशोधनों को अस्वीकार करके मार्क्स के विचारों में विश्वास प्रकट किया।

समूहवाद बनाम अराजकतावाद — फेबियसवादी और पुनरावृत्तिवादी विचारक समाजवाद की स्थापना के लिये राज्य को आवश्यक समझते हैं। साम्यवादी विचारक भी संक्रमण काल के लिये ऐसम की शक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं। अत. इनको समूहवादी (Collectivist) कहा जाता है। अराजकतावादी विचारक भी पूँजीवाद विरोधी और समाजवाद के समर्थक है, परंतु वे राज्य, राजनीति और धर्म को शोषणव्यवस्था का समर्थक मानते हैं और आरंभ से ही इनका अंत कर देना चाहते हैं। अराजकतावाद जीवन और आचरण का एक सिद्धांत है जो शासनविहीन समाज की कल्पना करता है। यह समाज के ऐक्य की स्थापना शासन और कानून द्वारा नहीं, वरन् व्यक्ति तथा स्थानीय और व्यावसायिक समूहों के स्वतत्र समझौतों द्वारा करना चाहता है। इस विचार के अनुसार उपर्युक्त समूहों द्वारा उत्पादन, वितरण आदि की अनेक मानव आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

अराजकता शब्द के फ्रांसीसी रूपांतर का प्रयोग पहली बार फ्रांसीसी क्रांति के समय (१७८९) उन क्रांतिकारियों के लिये किया गया था जो सामंतों की जमीन को जब्त करके किसानों में बाँटना और धनिकों की आय को सीमित करना चाहते थे। तत्पश्चात् सन् १८४० में फ्रांसीसी विचारक प्रूधों (Proudhon) ने अपनी पुस्तक "संपत्ति क्या है ?" में इस शब्द का प्रयोग किया। सन् १८७१ के बाद जब अंतरराष्ट्रीय मजदूर संघ में फूट पड़ी तब मार्क्स के संघवादी विरोधियों को अराजकतावादी कहा गया। आए दिन की भाषा में आतंकवाद और अराजकतावाद पर्यायवाची शब्द हैं; परंतु वस्तुत: दार्शनिक अराजकतावादी केवल राजकीय दमन के विरुद्ध ही आतंक और क्रांतिकारी उपायों के पक्ष में हैं।

संसार का प्रथम अराजकतावादी विचारक चीनी दार्शनिक लाम्रो त्से (Lao Tse) माना जाता है। प्राचीन यूनान के विचारक अरिस्टीप्स (Aristippus) और जीनो (Zeno) के दर्शन मे भी इन विचारों का पुट है। ब्रिटेन का गोडविन (Godwin) और फ्रांसीसी प्रूधों राज्य और उसकी शासनसंस्थाओं—न्यायालय आदि का विरोध करते थे। प्रूधों के अनुसार संपत्ति चोरी का माल है। वह श्रम के आधार पर पण्य विनिमय, और लेनदेन में एक प्रतिशत सूद की दर के पक्ष मे था। (दे० अराजकतावाद)

इस संबंध में रूस के तीन अराजकतावादियो के विचार महत्वपूर्ण हैं। बाकूनिन (Bakunin) क्रांतिकारी अराजकतावादी था, प्रिंस क्रॉपोटकिन (Kropotkin १८४२–१९२१) वैज्ञानिक अराजकतावादी तथा लिम्रो टाल्सटाय (Leo Tolstoy) ईसाई अराजकतावादी। बाकूनिन राज्य को एक आवश्यक दुर्गुण और पिछड़ेपन का चिह्न तथा संपत्ति और शोषण का पोषक मानता था। राज्य व्यक्ति की स्वाधीनता, उसकी प्रतिभा और कार्यशक्ति, उसके विवेक और नैतिकता को सीमित करता है। इस प्रकार अराजकतावाद व्यक्तिवाद की चरम सीमा है। बाकूनिन क्रांतिकारी मार्ग द्वारा राज्य और उसकी संस्थाओं पुलिस, जेल, न्यायालय आदि का अंत कर स्वतंत्र स्थानीय संस्थाओं की स्थापना के पक्ष में था। ये समुदाय पारस्परिक सहयोग के लिये अपना राष्ट्रीय संघ स्थापित कर सकते थे। रूसो और कांट (Kant) भी इसी प्रकार के स्वतंत्र समुदायों और संघो के समर्थक थे।

क्रॉपोटकिन ने वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया कि समाज का विकास स्वतंत्र सहयोग की ओर है। शिल्पिक उन्नति के कारण मनुष्य बहुत कम श्रम द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा और शेष समय स्वतंत्र जीवन व्यतीत करेगा। मनुष्य स्वभावतः सामाजिक, अतः सहयोगी प्राणी है। स्वतंत्रता और सहयोग की वृद्धि के साथ साथ राज्य की आवश्यकता कम हो जाएगी।

टाल्सटाय भी राज्य और व्यक्तिगत संपत्ति का विरोधी था, परंतु वह हिंसात्मक तथा क्रांतिकारी मार्ग का पोषक नहीं वरन् ईसाई और अहिंसात्मक तरीकों का समर्थक था। वह बुद्धिसंगत ईसाई था, अंधविश्वासी नहीं। गांधीजी के विचारों पर टाल्सटाय की गहरी छाप है।

अराजकतावादियों का विचार है कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है और यदि उसके ऊपर राज्य का नियंत्रण न रहे तो वह समाज मे शांतिपूर्वक रह सकता है। राज्य के रहते हुए मनुष्य का बौद्धिक, नैतिक और रागात्मक विकास संभव नहीं। इनके अनुसार राजकीय समाजवाद (समूहवाद) नौकरशाहीवाद और राजकीय पूंजीवाद है। ये युद्ध और सैन्यवाद (militarism) के विरोधी और विकेंद्रीकरण के पक्ष में हैं।

अराजकतावाद से बुद्धिजीवी और मजदूर, दोनों ही प्रभावित हुए हैं। अनेक लेखक और दार्शनिकों ने स्वाधीनता संबंधी विचारों को स्वीकार किया है। इनमें जॉन स्टुम्रार्ट मिल, हरबर्ट स्पेंसर, हैरोल्ड लास्की, और बर्ट्रेंड रसल के नाम मुख्य हैं। इस विचारधारा के बुद्धिजीवी समर्थक फ्रांस, स्पेन, इटली, रूस, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका आदि अनेक देशों में पाए जाते थे, परंतु फ्रांस और ब्रिटेन के मजदूर आंदोलनों ने भी इन विचारों को संशोधित रूप में स्वीकार किया। इसके फ्रांसीसी स्वरूप का नाम सिंडिकवाद (Syndicalism) और ब्रिटिश का गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) है।

सिंडिकवाद और गिल्ड समाजवाद का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं के आरंभ मे हुआ। उस समय तक मजदूरों का विश्वास फेबियस और पुनरावृत्तिवाद में कम होने लगा था। लोकतंत्र मजदूरों की समस्याएँ सुलझाने में असफल रहा, आर्थिक संकट विकट रूप धारण करने लगा और युद्ध की संभावना बढ़ने लगी। साथ ही मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई, उनका संगठन मजबूत हुआ और वे अपनी माँगों को पूरा कराने के लिये बड़े पैमाने पर हड़ताल करने लगे। इन परिस्थितियों में संसदात्मक और संवैधानिक तरीकों के स्थान में मजदूर वर्ग को सक्रिय विरोध के सिद्धांतों की आवश्यकता हुई। इस कमी को उपर्युक्त विचारधाराओं ने पूरा किया।

सिंडिकवाद अन्य समाजवादियों की भाँति समाजवादी व्यवस्था के पक्ष मे है परंतु अराजकतावादियों की तरह वह राज्य का अंत कर स्थानीय समुदायों के हाथ में सामाजिक नियंत्रण चाहता है। वह इस नियंत्रण को केवल उत्पादक वर्ग (मजदूर) तक ही सीमित रखना चाहता है। अराजकतावादियों की भाँति सिंडिकवादी भी राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय संघों के समर्थक और राज्य, राजनीतिक दल, युद्ध और सैन्यवाद के विरोधी हैं।

ध्येय की प्राप्ति का सिंडिकवादी मार्ग क्रांति है, परंतु इस क्रांति के लिये भी वह राजनीतिक दल को अनावश्यक समझता है क्योंकि इसके द्वारा मजदूरों की क्रांतिकारी इच्छा के कमजोर हो जाने का भय है। इसका हड़तालों मे अटूट विश्वास है। सोरेल के अनुसार ईसाई पौराणिक पुनरुत्थान (Resurrection) की भाँति यह भी मजदूरों पर जादू का असर करती है और उनके अंदर ऐक्य और क्रांति की भावनाओं को प्रोत्साहन देती है। ये विचारक मशीनों की तोड़फोड़, बाइकाट, पूंजीपति की पैदावार को बदनाम करना, काम टालना आदि के पक्ष में भी हैं। अंत में एक आम हड़ताल द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था का अंत कर ये सिंडिकवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

इन विचारों से अनेक लातीनी (Latin) देश फ्रांस, इटली, स्पेन, मध्य और दक्षिण अमरीका प्रभावित हुए हैं। इनका असर संयुक्त राज्य अमरीका में भी था, परंतु वहाँ विकेंद्रीकरण पर जोर नहीं दिया गया क्योंकि उस देश में बड़े पैमाने के उद्योग एक वास्तविकता थे। रूसी विचारक प्रिंस क्रॉपोटकिन ने इससे प्रेरणा प्राप्त की और ब्रिटेन ने इसको संशोधित रूप में स्वीकार किया।

गिल्ड (संघ) समाजवाद — गिल्ड समाजवाद सिंडिकवाद की प्रतिलिपि मात्र नहीं, उसका ब्रिटिश परिस्थितियों में अभ्यनुकूलन (adaptation) है। गिल्ड समाजवाद के ऊपर स्वाधीनता की परंपरा और फेबियसवाद का भी प्रभाव है। इसका नाम यूरोप के मध्यकालीन व्यावसायिक संघ (गिल्ड) संगठनों से लिया गया है। उस समय ये संघ आर्थिक और सामाजिक जीवन पर हावी थे और विभिन्न संघों के प्रतिनिधि नगरों का शासन चलाते थे। गिल्ड

समाजवादी उपर्युक्त संघ व्यवस्था से प्रेरणा ग्रहण करते थे। वे राजनीतिक क्षेत्र और उद्योग धंधों में लोकतंत्रात्मक सिद्धांत और स्वायत्तशासन स्थापित करना चाहते थे। ये विचारक उद्योगों के राष्ट्रीयकरण मात्र से संतुष्ट नहीं क्योंकि इससे नौकरशाही का भय है परंतु वे राज्य का अंत भी नहीं करना चाहते। राज्य को अधिक लोकतंत्रात्मक और विकेंद्रित करने के बाद वे उसको देशरक्षा और भोक्ता (consumer) के हितसाधन के लिये रखना चाहते हैं। उनके अनुसार राजकीय संसद् में केवल क्षेत्रीय ही नहीं, व्यावसायिक प्रतिनिधित्व भी होना चाहिए। ये राज्य और उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण चाहते हैं अतः सिंडिकवाद के निकट है, परंतु राज्यविरोधी न होने के कारण इनका झुकाव समूहवाद की ओर भी है। ये असफलता के भय से क्रांतिकारी मार्ग को स्वीकार नहीं करते लेकिन केवल वैधानिक मार्ग को भी अपर्याप्त समझते हैं, और मजदूरों के सक्रिय आंदोलन, हड़ताल आदि का भी समर्थन करते हैं।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व और उसके बीच में इस विचारधारा का प्रभाव बढ़ा। युद्ध के समय मजदूरों ने रक्षा-उद्योगों पर नियंत्रण की माँग की और उसके बाद मजदूर संघों ने स्वयं मकान बनाने के ठेके लिए, परंतु कुछ काल बाद सरकारी सहायता न मिलने पर ये प्रयोग असफल हुए। गिल्ड समाजवाद के प्रमुख समर्थकों में आर्थर पेंटी (Arther Penty), हाब्सन (Hobson), ऑरेंज (Orange) और कोल (Cole) के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्रिटेन का मजदूर दल और मजदूर आंदोलन इस विचारधारा से विशेष प्रभावित हुए हैं।

साम्यवाद — प्रथम महायुद्ध संसार के समाजवादी आंदोलन के लिये एक महत्वपूर्ण घटना थी। एक ओर तो इसके आरंभ होते ही समाजवादी आंदोलन और उनका अंतरराष्ट्रीय संगठन प्रायः छिन्न-भिन्न हो गया और दूसरी ओर इसके बीच रूस में बोल्शेविक (अक्टूबर—नवबर १९१७) क्रांति हुई और संसार में प्रथम सफल समाजवादी राज्य की नींव पड़ी जिसका संसार के समाजवादी आंदोलन पर गहरा असर पड़ा। प्रथम महायुद्ध के पूर्व समाजवादी दलों का मत था कि पूँजीवादी व्यवस्था ही युद्धों के लिये उत्तरदायी है और यदि विश्वयुद्ध आरंभ हुआ तो प्रत्येक समाजवादी दल का कर्तव्य होगा कि वह अपनी पूँजीवादी सरकार की युद्धनीति का विरोध करे और गृहयुद्ध द्वारा समाजवाद की स्थापना के लिये प्रयत्नशील हो। परंतु ज्यों ही युद्ध आरंभ हुआ, रूस और इटली के समाजवादी दलों को छोड़कर शेष सब दलों के बहुमत ने अपनी सरकारों की नीति का समर्थन किया। समाजवादियों के केवल एक नगण्य अल्पमत ने ही युद्ध का विरोध किया और आगे चलकर इनमें से कुछ लेनिन और उसके साम्यवादी अंतरराष्ट्रीय संगठन के समर्थक बने। परंतु विभिन्न देशों के समाजवादी आंदोलनों की परस्पर विरोधी युद्धनीति के कारण उनका ऐक्य खतम हो गया।

बोल्शेविक दल रूस के कई समाजवादी दलों में से एक था। १९१७ की विशेष परिस्थितियों में इसको सफलता प्राप्त हुई। रूसी समाजवाद की पार्श्वभूमि अन्य यूरोपीय समाजवादों की स्थिति से भिन्न थी। रूसी साम्राज्य यूरोप के अग्रणी देशों से उद्योग धंधों में पिछड़ा हुआ था, अतः यहाँ मजदूर वर्ग बहुसंख्यक और अधिक प्रभावशाली न हो सका। यहाँ लोकतंत्रात्मक शासन और व्यक्तिगत स्वाधीनताओं का भी अभाव था। रूसी बुद्धिजीवी और मध्यमवर्ग इनके लिये इच्छुक था पर जारशाही दमननीति के कारण इनकी प्राप्ति का संवैधानिक मार्ग अवरुद्धप्राय था। इन परिस्थितियों से प्रभावित यहाँ के प्रथम समाजवादी रूस के ग्रामीण कम्यून (समुदाय) को अपने विचारों का आधार मानते थे तथा क्रांतिकारी मार्ग द्वारा जारशाही का नाश लोकतंत्रवाद की सफलता के लिये प्रथम सोपान समझते थे। उन विचारकों में हर्जेन (Herzen), लावरोव (Lavrov), चर्नीशेव्सकी (Chernishevrzky) और बाकुनिन (Bakunin) मुख्य हैं। इनसे प्रभावित होकर अनेक बुद्धिजीवी क्रांति की ओर अग्रसर हुए। इस प्रकार नरोदनिक (Narodnik) जन आंदोलन की नींव पड़ी तथा नारोदन्या वोल्या (Narodnya Volya, जनेच्छा) संगठन बना। सन् १९०१ में इसका नाम सामाजिक क्रांतिकारी दल (Social Revolutionary Party) रखा गया। सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रांति के समय तक यह रूस का सबसे बड़ा समाजवादी दल था, परंतु इसका प्रभावक्षेत्र अधिकांशतः ग्रामीण जनता थी। इसके वाम पक्ष ने बोल्शेविक क्रांति का समर्थन किया।

दूसरी समाजवादी विचारधारा, जिसमें बोल्शेविक दल भी संमिलित था, रूसी सामाजिक लोकतंत्रवादी मजदूरदल (Russian Social Democratic Labour Party, R. S. D. L. P.) के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रभाव मुख्यतः नागरिक मजदूर वर्ग में था। रूस में उद्योग कम थे, परंतु बड़े पैमाने के थे और अपेक्षया अधिक मजदूरों को नौकर रखते थे। अतः इन मजदूरों में राजनीतिक चेतना और संगठन अधिक था। लोकतंत्र के अभाव में मजदूरों का संघर्ष करना कठिन था, इसलिये मजदूर वर्ग क्रांतिकारी प्रभाव में आ गया और जर्मनी जैसी परिस्थितियों के कारण यहाँ के अधिकांश मजदूर नेता भी मार्क्सवादी तथा जर्मनी के सामाजिक लोकतंत्रवादी दल से प्रभावित हुए। सन् १८७० के लगभग एक्सलरोड (Axelrod) और प्लेखानोव (Plekhanov) ने पीटर्सबर्ग (बाद में लेनिनग्राड) में प्रथम मजदूर समूह स्थापित किए जो आगे चलकर १८९८ में रूसी सामाजिक लोकतंत्रवादी मजदूर पार्टी का आधार बने।

रूसी सामाजिक लोकतंत्रवादी मजदूर पार्टी के नेता कट्टर मार्क्सवादी थे, अतः उन्होंने पुनरावृत्तिवाद को अस्वीकार किया और मार्क्सवाद को विकसित कर रूसी परिस्थितियों में लागू किया। मजदूरों की रहन सहन के स्तर में उन्नति हुई थी, इस सत्य को न मानना कठिन था, परंतु प्लेखानोव ने सिद्ध किया कि नई मशीनों के प्रयोग और मजदूरी में अपेक्षया वृद्धि न होने के कारण पूँजीवादी शोषण की दर बढ़ती जा रही है। बुखारिन (Bukharin) का तर्क था कि साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों के शोषण द्वारा अपने श्रमजीवी वर्ग को संतुष्ट रख पाते हैं। ट्राटस्की आदि ने कहा कि पूँजीवाद का संकट सर्वव्यापी हो गया है और इस स्थिति में यह संभव है कि क्रांति पश्चिम यूरोप के अग्रणी देशों में न होकर अपेक्षाकृत पिछड़े देशों में, जहाँ साम्राज्यवादी कड़ी सबसे कमजोर है, वहाँ हो। कुछ विचारकों ने सर्वप्रथम समाजवादी क्रांति का

स्थान रूस को बतलाया। ट्राटस्की और लेनिन का मत था कि समाजवादी क्रांति उसी समय सफल हो सकती है जब वह कई देशों में एक साथ फैले, स्थायी क्रांति के बिना केवल एक देश में समाजवाद की स्थापना कठिन है। बाद में लेनिन और स्टालिन ने इस सिद्धांत में संशोधन कर एकदेशीय समाजवाद के आधार पर सोवियत सत्ता का निर्माण किया। नैनकोलाई लेनिन ने उपर्युक्त विचारों का समन्वय करके बोलशेविक दल का संगठन और अक्टूबर (नवंबर) क्रांति का नेतृत्व किया।

सन् १९०३ की लंदन कान्फ्रेंस में रूसी सामाजिक लोकतंत्रवादी मजदूर दल ने अपने समाजवादी आदर्श को स्पष्ट किया, परंतु इसी वर्ष दल के अंदर दो विचारधाराएँ सामने आईं और कालांतर में उन्होंने दो दलों का रूप धारण किया। इस कान्फ्रेंस में उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण, जमींदारी उन्मूलन, उपनिवेशों का आत्मनिर्णय का अधिकार, ध्येय की प्राप्ति का क्रांतिकारी मार्ग और क्रांति के बाद सर्वहारा की तानाशाही—इस नीति को स्वीकार किया गया, परंतु दल के संगठन के संबंध मे नेताओं मे मतभेद हो गया। प्रश्न था कि दल की सदस्यता केवल कार्यकर्ताओं तक सीमित हो अथवा आदर्शों को स्वीकार करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसका अधिकारी हो और क्या केंद्रीय समिति को दल की शाखाओं के भंग करने और उनके स्थान में नई शाखाओं की नियुक्ति करने का अधिकार हो? लेनिन एक फौजी अनुशासनवाले सुव्यवस्थित दल के पक्ष में था और कान्फ्रेंस में उसका बहुमत था, अतः इस धारा का नाम बोलशेविक (बहुमत) पड़ा, और दूसरी धारा मेन्शेविक (अल्पमत) कहलाई। आगे चलकर इन दलों के बीच और भी मतभेद उपस्थित हुए। मेंशेविक दल पहले जारशाही का अंत कर पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक क्रांति करना चाहता था और इस क्रांति में वह पूँजीवादी दलों के वाम पक्ष से सहयोग करना चाहता था, परंतु १९०५ की क्रांति के बाद लेनिन और उसके साथी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समाजवादी क्रांति के भय के कारण पूँजीवाद प्रतिक्रियावादी हो गया है, अतः वह पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक क्रांति का नेतृत्व करने में भी असमर्थ है। इसलिये इस क्रांति का नेतृत्व भी केवल सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है और इस क्रांति को सर्वहारा क्रांति के साथ मिलाकर जारशाही के बाद एकदम समाजवाद की स्थापना संभव है। क्रांति में किसानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये लेनिन सामंतवादी जमीन को किसानों में बाँटने के पक्ष में था, मेंशेविक उसका तुरंत समाजीकरण करना चाहते थे। बोलशेविक दल ने प्रथम महायुद्ध का विरोध किया और समाजवाद की स्थापना के लिये गृहयुद्ध का नारा दिया। युद्ध से त्रस्त जनता और विशेषकर रूसी सैनिकों ने इस नीति का स्वागत किया, परंतु मेंशेविकों ने युद्ध का विरोध नहीं किया और फरवरी मार्च (१९१७) की क्रांति के बाद उन्होने सरकार में शामिल होकर युद्ध जारी रखा। सन् १९१७ की अक्टूबर क्रांति में लेनिन के विचारों और बोलशेविक संगठन की विजय हुई।

सन् १८७१ की पेरिस कम्यून के बाद सन् १९१७ में प्रथम स्थायी समाजवादी राज्य—सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की स्थापना हुई। इस राज्य में उत्पादन के साधनों—उद्योग धंधे, व्यापार, विनिमय, भूमि आदि—का राष्ट्रीयकरण किया गया और शोषक वर्ग की आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति का अंत कर दिया गया। देश के अंदर, आरंभ में किसान, मजदूर और सैनिकों के प्रतिनिधियों की मिलीजुली सोवियतों के हाथ में शासन था, परंतु सन् १९३६ के संविधान के अनुसार एक द्विसदनात्मक संसद् की स्थापना हुई। इसके ऊपरी सदन का चुनाव सोवियत देश के विभिन्न गणराज्यों द्वारा होता है तथा निम्न सदन के सदस्य क्षेत्रीय निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा चुने जाते हैं। परंतु सोवियत देश एकदलीय राज्य है, वहाँ राजकीय शक्ति साम्यवादी दल के हाथ में है। किसी दूसरे दल को राजनीति में भाग लेने का अधिकार नहीं।

अक्टूबर क्रांति के बाद बोलशेविक दल ने अपना नाम साम्यवादी दल रखा और सन् १९१९ में उसने एक दूसरा साम्यवादी घोषणा-पत्र (प्रथम घोषणापत्र मार्क्स और एंगिल्स ने सन् १८४७-४८ में लिखा था) प्रकाशित किया जिसके आधार पर एक नए अंतर-राष्ट्रीय आंदोलन—साम्यवादी अंतरराष्ट्रीय—की स्थापना हुई, और उसकी सहायता से विभिन्न देशों में साम्यवाद का प्रचार आरंभ हुआ।

लेनिन के विचारों को साम्यवाद की संज्ञा दी जाती है, परंतु लेनिन के बाद जोसेफ स्टालिन (Joseph Stalin) माओत्सेतुंग (Mao Tse tung) निकीता ख्रिश्चोव (Nikita Khrushchov) तथा विभिन्न देशों के साम्यवादी नेताओं ने इन विचारों की व्याख्या और उनका विकास किया है। ये सभी विचार साम्यवाद की कोटि में आते हैं। स्टालिन के विचारों में उसका उपनिवेशों को आत्मनिर्णय का अधिकार, नियोजित अर्थव्यवस्था अर्थात् पचवर्षीय आदि योजनाएँ तथा सामूहिक और राजकीय स्वामित्व में खेती मुख्य हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बीच और उसके बाद सोवियत सेनाओं की सफलता तथा अन्य अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण संसार में समाजवाद (साम्यवाद सहित) का प्रभाव बढ़ा है। युद्ध का अंत होने तक न केवल पूर्वी यूरोप सोवियत प्रभावक्षेत्र बन गया, वरन् सन् १९४८ ई० तक इनमें से अधिकांश देशों में साम्यवादी राज्य स्थापित हो गए। एशिया में भी चीन जैसे विशाल देश में साम्यवाद सफल हुआ, और सोवियत तथा जनवादी चीनी गणराज्य के प्रभाव में उत्तरी एशिया और उत्तरी वियतनाम के शासन साम्यवादी प्रभाव में आ गए। साम्यवाद का प्रसार सभी देशों में बढ़ा है। फ्रांस, इटली और हिंदएशिया जैसे देशों में शक्तिशाली साम्यवादी दल हैं। परंतु साम्यवाद के प्रसार ने उस आंदोलन के सामने कई सैद्धांतिक और व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित की हैं—

(i) मार्क्सवाद लेनिनवाद की धारणा थी कि साम्यवादी स्थापना क्रांति द्वारा ही संभव है परंतु युगोस्लाविया और अल्बानिया को छोड़ कर शेष पूर्वीय यूरोप में युद्धकाल में साम्यवादी दलों का अस्तित्व नहीं के बराबर था और बाद में भी चेकोस्लोवाकिया को छोड़ कदाचित् किसी भी देश में इनका बहुमत नहीं था। पूर्वी यूरोप और उत्तरी कोरिया में से अधिकांश देशों में साम्यवादी शासनों की स्थापना क्रांति द्वारा नहीं, सोवियत प्रभाव द्वारा हुई।

(ii) दूसरी समस्या साम्यवादी आंदोलन के नेतृत्व और साम्यवादी देशों के पारस्परिक संबंधों की थी। साम्यवादी विचारकों का साम्यवाद की विश्वव्यापकता में विश्वास है। जब तक साम्यवाद केवल एक देश तक सीमित था, साम्यवादी आंदोलन साधारणत: सोवियत नेतृत्व को स्वीकार करता रहा। उस समय भी माम्रो जैसे विचारकों का स्टालिन से मतभेद था परंतु अधिकांशत: साम्यवादी दल और नेता साम्यवादी अंतरराष्ट्रीय के अनन्य भक्त थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह एकता संभव न हो सकी।

साम्यवादी यूगोस्लाविया का शासक जोसिप ब्रोजोविट टीटो (Josip Brozovich Tito, १८६२) और उसके अन्य साम्यवादी साथी सोवियत नेतृत्व को चुनौती देने में प्रथम थे। यूगोस्लाविया बहुत कुछ अपने प्रयत्नों से स्वतंत्र हुआ था अत: उसके अंदर स्वाभिमान की भावना थी। वह पूर्व यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों की भाँति सोवियत प्रभाव से घिरा हुआ भी न था। यूगोस्लाव पक्ष का कहना था कि सोवियत सरकार उनकी औद्योगिक उन्नति में बाधक है तथा उनकी स्वतंत्रता को सीमित करती है। उनके ये लांछन बाद मे सत्य सिद्ध हुए परंतु उस समय टीटोवाद को पुनरावृत्तिवाद, ट्राटस्कीवाद अथवा साम्राज्यवाद का पिट्ठू कहा गया। सिद्धांत के स्तर पर टीटोवाद ने राष्ट्रीय साम्यवाद, शक्ति के विकेंद्रीकरण, किसानों द्वारा भूमि का निजी स्वामित्व, राज्य और नौकरशाही के स्थान में उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण तथा साम्यवादी दल और देश के अंदर अपेक्षाकृत अधिक स्वाधीनता पर जोर दिया। टीटो के इन विचारों का प्रभाव पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों पर भी पड़ा है।

साम्यवादी देशों के बीच समानता की माँग को स्वीकार करके ख्रुश्चोव ने टीटोवाद को अंशत: स्वीकार किया, परतु साथ ही उसने लेनिन स्टालिनवाद में भी कई महत्वपूर्ण संशोधन किए हैं। लेनिन का विचार था कि जब तक साम्राज्यवाद का अंत नहीं होता संसार में युद्ध होते रहेंगे, परंतु ख्रुश्चोव के अनुसार इस समय प्रगति की शक्तियाँ इतनी मजबूत हैं कि विश्वयुद्ध को रोका जा सकता है और पूँजीवादी तथा समाजवादी व्यवस्थाओं के बीच शांतिमय सहअस्तित्व संभव है। वह यह भी कहता है कि इन परिस्थितियों में समाजवाद की स्थापना का केवल क्रांतिकारी माग ही नहीं है, वरन् विभिन्न देशों में अलग अलग समाजवादी दलों द्वारा विकासवादी और शांतिमय तरीकों से भी उसकी स्थापना सभव है। सोवियत साम्यवाद आर्थिक स्वावलंबन की नीति के स्थान पर अंतरराष्ट्रीय श्रमविभाजन की ओर बढ़ रहा है और राज्य के विघटन पर भी जोर नहीं देता।

अंतरराष्ट्रीय साम्यवाद पर उपर्युक्त विचारपरिवर्तन का गहरा प्रभाव पड़ा है। टीटो के विद्रोह के बाद पूर्व यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों ने भी सोवियत प्रभाव से स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया है। चीनी साम्यवादी ख्रुश्चोव के संशोधनों को अस्वीकार करते हैं और सोवियत तथा चीन के बीच सैद्धांतिक ही नहीं सैन्य संघर्ष भी विकट रूप धारण करता जा रहा है। संसार के लगभग सभी साम्यवादी दल सोवियत और चीनी विचारधाराओं के आधार पर विभक्त होते जा रहे हैं। कुछ विचारक राष्ट्रीय साम्यवादी दलों की सैद्धांतिक और संगठनात्मक स्वतंत्रता पर भी जोर देते हैं। इस प्रकार साम्यवादी विचारों और आंदोलन की एकता और अंतरराष्ट्रीयता का ह्रास हो रहा है।

प्रथम महायुद्ध के बाद साम्यवाद की ही नहीं लोकतंत्रात्मक समाजवाद की भी प्रगति हुई है। दो महायुद्धों के बीच ब्रिटेन में अल्पकाल के लिये दो बार मजदूर सरकारें बनीं। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी और आस्ट्रिया में समाजवादी शासन स्थापित हुए; फ्रांस और स्पेन आदि देशों में समाजवादी दलों की शक्ति बढ़ी। परंतु शीघ्र ही इनकी प्रतिक्रिया भी आरंभ हुई। सन् १६२२ में बेनिटो मुसोलिनी ने इटली में फासिस्ट शासन स्थापित किया। फासिज्म मजदूर और समाजवादी आंदोलनों का शत्रु और युद्ध और साम्राज्यवाद का समर्थक है। वह पूँजीवादी व्यवस्था का अंत नहीं करता। नात्सीवाद के मूल सिद्धांत फासिज्म से मिलते जुलते हैं। इस विचारधारा का प्रचारक एडोल्फ हिटलर था। सन् १६२६ के आर्थिक संकट के बाद सन् १६३२ में जर्मनी में नात्सी शासन स्थापित हो गया और उसके बाद इस विचारधारा का प्रभाव स्पेन, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और फ्रांस आदि देशों में फैल गया।

द्वितीय महायुद्ध के बीच फासिस्ट विचारों का ह्रास तथा समाजवादी विचारों और आंदोलनों की प्रगति हुई है। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासनों के अतिरिक्त पश्चिमी यूरोप में कुछ काल के लिये कई देशों में समाजवादी और साम्यवादी दलों के सहयोग से संमिलित शासन बने। यूरोप के कुछ अन्य देशों जैसे (ब्रिटेन, स्वीडन, नार्वे, फिनलैंड) तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड आदि देशों मे समय समय पर समाजवादी सरकारें बनती रही हैं। इस काल मे एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के देशों में भी समाजवादी शासन स्थापित हो चुके हैं। इनमें चीन, बर्मा, हिंद एशिया, सिंगापुर, संयुक्त अरब गणराज्य, घाना, क्यूबा और इजरायल मुख्य हैं।

भारतीय समाजवाद — भारतवर्ष में आधुनिक काल के प्रथम प्रमुख समाजवादी महात्मा गांधी हैं, परंतु उनका समाजवाद एक विशेष प्रकार का है। गांधी जी के विचारों पर हिंदू, जैन, ईसाई आदि धर्म और रस्किन, टाल्सटाय और थोरो जैसे दार्शनिकों का प्रभाव स्पष्ट है। वे औद्योगीकरण के विरोधी थे क्योंकि वे उसको आर्थिक असमानता, शोषण, बेकारी, राजनीतिक तानाशाही आदि का कारण समझते थे। मोक्षप्राप्ति के इच्छुक महात्मा गांधी इंद्रियों और इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर त्याग द्वारा एक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता स्थापित करना चाहते थे। प्राचीन भारत के स्वतंत्र और स्वपर्याप्त ग्रामीण गणराज्य गांधी जी के आदर्श थे। निःस्वार्थ सेवा, त्याग और आध्यात्मिक प्रवृत्ति — इनमें शोषक और शोषित के लिये कोई स्थान नहीं। यदि किसी के पास कोई संपत्ति है तो वह समाज की धरोहर मात्र है। ध्येय की प्राप्ति के लिये गांधी जी नैतिक साधनों — सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह—पर जोर देते हैं, हिंसात्मक क्रांति पर नहीं। गांधी जी प्रेम द्वारा शत्रु का हृदयपरिवर्तन करना चाहते थे, हिंसा और द्वेष द्वारा

उसका विनाश नहीं। गांधीवाद धार्मिक अराजकतावाद है। इस समय विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण गांधीवाद की व्याख्या और उसका प्रचार कर रहे हैं। उन्होंने श्रम, भू, ग्राम, संपत्ति आदि के दान द्वारा अहिंसात्मक ढंग से समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया है।

भारतवर्ष में दूसरी प्रमुख समाजवादी विचारधारा मार्क्सवादी है। निरंकुश शासन बहुधा राज्यविरोधी, अराजकतावादी और क्रांतिकारी विचारों के पोषक होते हैं। भारतवर्ष में मार्क्सवाद के प्रमुख प्रचारक मानवेंद्रनाथ राय थे। बोल्शेविक क्रांति के बाद तुरंत ही आप साम्यवादी अंतरराष्ट्रीय के संपर्क में आए और उसकी ओर से विदेश से ही भारत में साम्यवादी आंदोलन का निर्देशन करने लगे। साम्यवादी आंदोलन पूँजीवाद और उसकी उच्चतम अवस्था साम्राज्यवाद को अपना प्रमुख शत्रु समझता है और उपनिवेशों के स्वाधीनता संग्रामों को प्रोत्साहित करके उसको कमजोर करना चाहता है।

औपनिवेशिक स्वाधीनता आंदोलन के संबंध में मानवेंद्रनाथ राय के अपने विचार थे। उनका मत था कि भावी समाजवादी क्रांति में औपनिवेशिक क्रांतियों का प्रमुख स्थान होगा। चीनी साम्यवादियों का भी आज यही मत है, परंतु सोवियत विचारकों ने इसको कभी स्वीकार नहीं किया। राय की यह भी धारणा थी कि औपनिवेशिक पूँजीवाद ने साम्राज्यशाही से गठबंधन कर लिया है अतः वह प्रतिक्रियावादी है और क्रांतिकारी दल उसके साथ संयुक्त मोर्चा नहीं बना सकते। यद्यपि साम्यवादी अंतरराष्ट्रीय ने इस विचार को भी स्वीकार नहीं किया, तथापि भारतीय साम्यवादियों ने अधिकांशतः इस नीति का अनुसरण किया और बहुधा राष्ट्रीय कांग्रेस से अलग रहे।

बोल्शेविक क्रांति के बाद शीघ्र ही भारत के बड़े नगरों में साम्यवादियों के स्वतंत्र संगठन बने, एक किसान मजदूर पार्टी की स्थापना हुई और सन् १९२४ तक एक अखिल भारतीय साम्यवादी दल का संगठन भी हुआ, परंतु यह दल शीघ्र ही अवैध घोषित कर दिया गया। इसके बाद सन् १९३६ से इसकी शक्ति बढ़ी और इस समय यह भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों में से है।

दूसरा समाजवादी दल कांग्रेस समाजवादी पार्टी थी। इसकी स्थापना सन् १९३४ में हुई। भारतीय समाजवादी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, आदि नेता प्रथम महायुद्ध के बाद से ही समाजवाद का प्रचार कर रहे थे। परंतु अद्र अवज्ञा आंदोलन (१९३०-३३) की असफलता और सन् १९२९ के आर्थिक संकट के समय पूँजीवादी देशों की दुर्गति तथा इन देशों में फासिजम की विजय और दूसरी ओर सोवियत देश की आर्थिक संकट से मुक्ति तथा उसकी सफलता, इन सब कारणों से अनेक राष्ट्रभक्त समाजवाद की ओर आकर्षित हुए। इनमें जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेंद्रदेव मीनू मसानी, डा० राममनोहर लोहिया, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, यूसुफ मेहर अली, अच्युत पटवर्धन और अशोक मेहता उल्लेखनीय हैं। इनका उद्देश्य कांग्रेसी मंच द्वारा समाजवादी ढंग से स्वराज्यप्राप्ति और उसके बाद समाजवाद की स्थापना था।

स्वतंत्रता मिलने के बाद कांग्रेस राष्ट्रीय शक्तियों का संयुक्त मोर्चा न रहकर एक राजनीतिक दल बन गई, अतः अन्य स्वायत्त और संगठित दलों को कांग्रेस से निकलना पड़ा। इनमें कांग्रेस समाजवादी दल भी था। उसने कांग्रेस शब्द को अपने नाम से हटा दिया। बाद में आचार्य कृपालानी द्वारा संगठित कृषक मजदूर प्रजा पार्टी इसमें मिल गई और इसका नाम प्रजा सोशलिस्ट पार्टी हो गया। परंतु डाक्टर राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में समाजवादी दल का एक अंग इससे अलग हो गया और उसने एक समाजवादी पार्टी बना ली। इस समय प्रजा सोशलिस्ट और सोशलिस्ट पार्टी ने मिलकर संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी बनाई। किंतु संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के वाराणसी अधिवेशन (१९६५) में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने अलग होकर पुनः अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम कर लिया। उसी समय अशोक मेहता के नेतृत्व में कुछ प्रजा सोशलिस्ट कार्यकर्ता कांग्रेस मे शामिल हो गए हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह समाजवादी विचारधारा सोवियत तानाशाही का विरोध करती है तथा अपने को पाश्चात्य देशों के लोकतंत्रात्मक और विकासवादी समाजवाद के निकट पाती है।

समय समय पर समाजवादी विचारों को स्वीकार करनेवाले कई और दल भी भारत में रहे हैं। साम्यवादी अंतरराष्ट्रीय से संबंध विच्छेद के बाद एम० एन० राय के समर्थक भारतीय साम्यवादी दल से अलग हो गए। भारतीय बोल्शेविक पार्टी, सुभाषचंद्र बोस का फार्वर्ड ब्लाक और क्रांतिकारी समाजवादी दल भी समाजवादी हैं। कुछ ऐसे समाजवादी दल भी हैं जिनका प्रभाव केवल कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहा है जैसे महाराष्ट्र क्षेत्रों की किसान मजदूर पार्टी।

स्वराज्यप्राप्ति के बाद भारतीय कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से समाजवाद को स्वीकार किया है। उसके पूर्व वह समाजवादी और उसके विरोधी सभी राष्ट्रीय विचारधाराओं का एक संयुक्त मोर्चा थी परंतु उस समय भी वह समाजवादी विचारों से प्रभावित थी। एक प्रकार से उसने कराची प्रस्ताव (१९३१) में कल्याणकारी राज्य का आदर्श स्वीकार किया था, कांग्रेस मंत्रिमंडलों (१९३७) के बनने के बाद (सुभाषचंद्रबोस की अध्यक्षता में) एक योजना समिति की नियुक्ति की गई थी; और स्वराज्यप्राप्ति के बाद तुरंत ही वर्गविहीन समाज का विचार सामने आ गया। स्वराज्य के बाद यद्यपि संगठित समाजवादी दल कांग्रेस से अलग हो गए, तथापि उसके अंदर समाजवादी तत्व, विशेषकर उसके सर्वप्रमुख नेता जवाहरलाल नेहरू, प्रभावशील रहे, अतः कांग्रेस के आवडी अधिवेशन (१९५७) में 'समाजवादी ढंग का समाज' और भुवनेश्वर अधिवेशन (१९६४) में लोकतंत्रात्मक समाजवाद का लक्ष्य स्वीकार किया गया। उसका नियोजित अर्थव्यवस्था, समाज सुधार, कल्याण राज्य और लोकतंत्र में विश्वास है और उसकी परराष्ट्र नीति पाश्चात्य तथा पूर्वी गुटों के शक्ति संघर्ष से अलग रहकर शांति की शक्तियों को मजबूत करने की है।

सं० ग्रं० — कार्लमार्क्स, पूँजी (Capital); फ्रेडरिख एंगिल्स, एंटी ड्यूहरिंग (Anti Duhring); फेबियन निबंध (Fabian Essays); एच० डब्ल्यू लेडलर, (Social Economic Movements); व्लाडिमिर ईलिच लेनिन, (Selected

works. जी० डी० एच० कोल, The Meaning of Marxism- गोपीनाथ धावन Political Philosphy of Mahatma Gandhi.
[भा० रा०]

समाजवादी इंटरनैशनल दुनिया के लोकतांत्रिक समाजवादी दलों का संघ है जिसका मुख्य कार्यालय लंदन में है। इसका मूल ध्येय मनुष्य द्वारा मनुष्य के तथा राष्ट्र द्वारा राष्ट्र के शोषण का अंत करना और राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। सभी महाद्वीपों के मजदूर तथा लोकतांत्रिक समाजवादी दल इसमें हैं और अपनी अपनी राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय नीति में स्वाधीन हैं तथा किसी एक मतवाद अथवा पंथ के अनुयायी नहीं हैं। यह इंटरनैशनल अपने सदस्यों मे पारस्परिक संबंधों को दृढ़ करने और सहमति के आधार पर उनकी राजनीतिक अभिवृत्तियों को समन्वित करने का प्रयत्न करता है और साम्राज्य-विरोधी तथा पूंजीवाद विरोधी होने के साथ साम्यवाद विरोधी भी है। प्रथम और द्वितीय इंटरनैशनल के उत्तराधिकारी के रूप में इसने सन् १९६४ में अपनी जन्मशती मनाई।

प्रथम इंटरनैशनल — यूरोप में मशीनी उद्योग तथा पूंजीवाद के उदय के साथ औद्योगिक मजदूरों के संघ और समाजवादी विचारधारा का उदय हुआ और वहाँ के अनेक समाजवादी विचारकों तथा मजदूर नेताओं को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक समाजवादी संगठन बनाने की जरूरत महसूस हुई। सन् १८४७ में कम्युनिस्ट लीग की स्थापना एक ऐसे ही प्रयास का फल थी। इतिहास प्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' कार्ल मार्क्स और फ्रीड्रिख ऐंगेल्स ने इसी कम्युनिस्ट लीग के लिये तैयार किया था। किंतु तत्कालीन क्रांति के प्रयासों की विफलता के साथ यह संगठन जल्दी ही निःशेष हो गया। सन् १८६२ में फ्रांस और ब्रिटेन के मजदूर नेता लंदन में इकट्ठे हुए। उनकी चिंता यह थी कि यूरोप की कुछ सरकारों ने मजदूर हड़तालों को तोड़ने के लिये विदेशी मजदूरों का इस्तेमाल किया था। यहाँ उन्होंने फैसला किया कि इस स्थिति का मुकाबला करने के लिये एक अंतरराष्ट्रीय संगठन बनाया जाय। फलतः सन् १८६४ में लंदन में एकत्र हुए यूरोपीय देशों के मजदूर नेताओं तथा समाजवादी विचारकों के एक संमेलन में श्रमिक अंतरराष्ट्रीय संघ (वर्किंग मेंस इंटरनैशनल असोसिएशन) स्थापित हुआ जिसे सामान्यतः प्रथम इंटरनैशनल के नाम से जाना जाता है।

प्रथम इंटरनैशनल की शाखाएँ जल्दी ही यूरोप के विभिन्न देशों में स्थापित हो गई। इस इंटरनैशनल के उद्देश्य और नियम कार्ल मार्क्स ने तैयार किए थे और जान बूझकर इसलिये नरम रखे गए थे कि संगठन को व्यापक रूप दिया जा सके। सन् १८७१ में पेरिस कम्यून का विप्लव हुआ जिसका प्रथम इंटरनैशनल के कुछ नेताओं ने जोरदार समर्थन किया। परतु विद्रोह अंत में विफल हो गया जिससे इंटरनैशनल को भारी धक्का लगा। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने सहयोग देना बंद कर दिया। उधर अराजकतावादी माइकेल बुकानिन तथा कार्ल मार्क्स के मतभेद और झगड़ों के कारण इंटरनैशनल बहुत कमजोर हो चुका था और अंत मे सन् १८७६ में वह समाप्त हो गया।

द्वितीय इंटरनैशनल — सन् १८८९ में 'समाजवादी इंटरनैशनल' के नाम से स्थापित हुआ, किंतु इसका विधिवत् संगठन सन् १९०० में हुआ। इसे आम तौर से द्वितीय इंटरनैशनल के नाम से जाना जाता है। द्वितीय इंटरनैशनल के नियामक घटक समाजवादी तथा मजदूर (राजनीतिक) दल थे जो इस बीच यूरोप के अनेक देशों में गठित हो गए थे। समाजवादी इंटरनैशनल समान हित तथा रुचि के मसलों पर विचार करनेवाला एक मंच था जिसके सदस्य अपनी राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय नीतियों में पूर्णतः स्वाधीन थे और इंटरनैशनल द्वारा नियंत्रित नहीं थे। युद्ध रोकना और बड़े राष्ट्रों में युद्ध शुरू हो जाने की दशा में अपने अपने देश में व्यापक संघर्ष तथा विप्लव द्वारा सत्ता हस्तगत करना, सन् १९१४ तक इंटरनैशनल के विचार का मुख्य विषय बना हुआ था। फिर भी यह इंटरनैशनल मतवैभिन्य के कारण कोई ऐसा निर्णय नहीं ले पाया। उसके स्वीकृत प्रस्ताव युद्ध रोकने तथा शांति बनाए रखने के संकल्प तक सीमित रहे। जब प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हुआ तो यूरोप के अधिकांश समाजवादी दलों ने युद्ध में अपनी अपनी सरकारों का साथ दिया। युद्धकाल में द्वितीय इंटरनैशनल सर्वथा निष्क्रिय रहा। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद सन् १९१८ मे जब द्वितीय इंटरनैशनल को मजदूर तथा समाजवादी इंटरनैशनल के नाम से पुनर्गठित किया गया तो लेनिनवादी-मार्क्सवादी दल उसमें शामिल नहीं हुए और उन्होंने लेनिन के नेतृत्व मे तृतीय इंटरनैशनल कायम किया। सन् १९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध शुरू होने पर द्वितीय इंटरनैशनल फिर निष्क्रिय हो गया। युद्ध समाप्त होने पर, रूस के प्रभाव में आए पूर्वी यूरोप के समाजवादी दलों की विषम स्थिति के कारण, द्वितीय इंटरनैशनल को पुनरुज्जीवित नहीं किया गया और सन् १९४६ में उसे समाप्त कर दिया गया। इसके बाद सन् १९४८ में 'कोमिस्को' नाम से लोकतांत्रिक समाजवादी दलों का एक नया समाजवादी अंतरराष्ट्रीय मच बना जिसे सन् १९५१ में 'समाजवादी इंटरनैशनल' में बदल दिया गया।

तृतीय इंटरनैशनल — प्रथम विश्वयुद्ध में यूरोप के अधिकांश समाजवादी दलों ने अपनी युद्धरत राष्ट्रीय सरकारों के साथ सहयोग किया था जिससे मार्क्सवादी तत्व असंतुष्ट थे। उन्होंने युद्धकाल में ही लेनिन के नेतृत्व में अपनी बैठकें की थीं और समाजवादी दलों से अपनी युद्धरत सरकारों के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति तथा व्यापक विद्रोह करने का आह्वान किया था। सन् १९१७ में रूस में बोलशेविक क्रांति हो गई। फलतः सन् १९१८ में विश्वयुद्ध समाप्त हो जाने पर लेनिन के नेतृत्व मे एक तीसरा इंटरनैशनल कम्युनिस्ट इंटरनैशनल (कोमिनटर्न) बना जिसका मुख्य उद्देश्य विश्व में समाजवादी क्रांति को चरितार्थ करना था। यह इंटरनैशनल सन् १९४३ तक स्तालिन और रूस के नेतृत्व मे काम करता रहा। दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों का नेतृत्व इस इंटरनैशल के माध्यम से होता था। दूसरे विश्वयुद्ध में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि गैरकम्युनिस्ट राष्ट्र रूस के साथ थे। अतः 'मित्र राष्ट्रों' के दबाव के फलस्वरूप तृतीय इंटरनैशनल को सन् १९४३ में भंग कर दिया गया।

कोमिनफार्म — दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त होने पर सन् १९४७

में रूस के नेतृत्व में यूरोप के कम्युनिस्ट दलों का एक नया अंतरराष्ट्रीय मंच 'कोमिनफार्म' के नाम से बना जिसका मुख्य उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रों के कम्युनिस्ट दलों के बीच सूचनाओं का आदान प्रदान करना था। किंतु हंगरी के आंतरिक विद्रोह के बाद सन् १९५६ में 'कोमिनफार्म विघटित कर दिया गया। [स० प्र० मि०]

समाजशास्त्र आधुनिक समाजविज्ञानों की शृंखला में समाजशास्त्र यद्यपि सबसे नई कड़ी है किंतु उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। समाज के संबंध में मनुष्य ने हमेशा चिंतन किया है। समाज संबंधी गहन मननचिंतन का भंडार भारतीय, चीनी, मिस्री, यूनानी, अरबी, आदि सभी प्राचीन संस्कृतियों के वाङ्मयों में विद्यमान है और उसके अनुशीलन से आज भी समाजशास्त्री प्रेरणा ग्रहण करते हैं। किंतु ज्ञान की विशिष्ट शाखा के रूप में समाजशास्त्र का उदय तभी संभव हुआ जब अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में क्रांतिकारी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के कारण समाज में सुव्यवस्था एवं सुधार की आवश्यकता तीव्रतर होती गई; जब प्राकृतिक विज्ञानों, विशेषकर जैवकीय विज्ञानों का, प्रभाव काफी बढ़ गया; और जब समाजदर्शन, राजदर्शन एवं इतिहास के दर्शन के क्षेत्रों में नई दिशाएँ खोजी जाने लगीं। इन सभी शक्तियों ने मिलकर ऐसी भूमि तैयार की जो समाजशास्त्र के उद्भव के लिये उपयुक्त थी। इस भूमि में आधुनिक समाजशास्त्र के पौधे का विधिवत् रोपण करने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक आउगुस्त कौंत (१७९८-१८५७) को है जिन्होंने विज्ञानों के स्वनिर्मित पदक्रम में समाजशास्त्र नामक नए विज्ञान को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। तब से समाजशास्त्र निरंतर प्रगति करता रहा है और आज वह अत्यंत व्यापक तथा प्रभावशाली विज्ञान के रूप में विकसित हो रहा है। यद्यपि समाजशास्त्र की नींव यूरोप में प्रधानतया फ्रांस, इंग्लैंड तथा जर्मनी में डाली गई थी किंतु उसका विकास तेजी से बीसवीं शती के दूसरे तथा तीसरे दशक से अमरीका में हुआ। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् समाजशास्त्र का प्रसार अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर होने लगा और अब शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ समाजशास्त्र के अध्ययन को महत्व न दिया जाता हो। भारत में भी यद्यपि समाजशास्त्र के अध्ययन की शुरूआत इस शती के दूसरे और तीसरे दशक के दौरान बंबई, कलकत्ता, लखनऊ तथा बनारस में की जा चुकी थी तथापि विश्वविद्यालयों में उसका तीव्र गति से प्रसार, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही संभव हुआ।

समाजशास्त्र के अर्थ, प्रकृति तथा विषयक्षेत्र के संबंध में समाजशास्त्रियों में कभी मतैक्य नहीं रहा। जबकि एक ओर समाजशास्त्र को 'समाज का वैज्ञानिक अध्ययन' कहकर एक लचीली परिभाषा प्रदान की गई है तो दूसरी ओर उसे 'सामाजिक क्रिया की व्यवस्थाओं तथा उनके अंत:संबंधों का अध्ययन' मानकर एक जटिल संभावनाओं से युक्त परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न भी किया गया है। पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों में दुर्कैम या हौबहाउस ने समाजशास्त्र को एक शीर्षस्थ संश्लिष्ट सामाजिक विज्ञान की भाँति विकसित करने का प्रयास किया तो जिमेल या फियरकांत ने उसे सीमित किंतु शुद्ध तात्विक सामाजिक विज्ञान के रूप में देखा। परवर्ती समाजशास्त्रियों में सोरोकिन् या मूर जबकि उच्चस्तरीय समन्वयात्मक अथवा सकल मानवजाति के विश्वात्मक समाजशास्त्र की बात करते हैं तो पार्संस सामाजिक क्रिया द्वारा गठित सामाजिक व्यवस्थाओं के अंत:संबंधों के सूक्ष्म विश्लेषण पर आधारित सिद्धांतों के रूप में समाजशास्त्र को विकसित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। इसी कारण समाजशास्त्र के विषय में अपनी धारणा के अनुसार प्रत्येक प्रमुख समाजशास्त्री ने समाजशास्त्र के विषयक्षेत्र का भी निर्धारण किया है तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों से भिन्नता स्थापित करनेवाली उसकी विशिष्ट प्रकृति की रूपरेखाएँ प्रस्तुत की हैं। अतएव समाजशास्त्र की प्रकृति संबंधी स्थापनाओं की विविधताओं के कारण समाजशास्त्र की परिभाषा तथा विषयक्षेत्र के निर्धारण की दिशा में कोई अंतिम, सर्वमान्य तथा सर्वग्राही दृष्टिकोण उपस्थित करना संभव नहीं है। समाजशास्त्र की मूलभूत सैद्धांतिक तथा विधिशास्त्रीय समस्याओं संबंधी विचारमंथन की तीव्रता में कभी नर्मी नहीं आई है। इस स्थिति के बावजूद समाज के अध्ययन से संबंधित अन्य समाजविज्ञानों से समाजशास्त्र की भिन्नता और विशिष्टता को स्पष्टतया इंगित किया जा सकता है।

अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र की यह विशिष्टता है कि वह सामाजिक जीवन का अध्ययन एक समष्टि के रूप में करता है। वह समाज के किसी एक पक्ष या संस्था मात्र पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं करता। वह सामाजिक जीवन को एक पूर्णतत्व के रूप में देखता है। अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, या विधिशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों का दृष्टिबिंदु प्रधानतया समाज के किसी पहलू में ही केंद्रित रहा है। किंतु समाजशास्त्र समाज के विभिन्न पहलुओं तथा उनके अंत:संबंधों के स्वरूपों, प्रकारों तथा प्रतिफलों के अध्ययन में संलग्न होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि के अंतर्गत समाज के विभिन्न संस्थात्मक पक्ष अन्योन्याश्रित रूप से अंत:संबंधित हैं। विभिन्न सामाजिक संस्थाओं तथा उनके अंत:संबंधों की समग्रता पर समाजशास्त्र जोर देता है। अत: समाजशास्त्र समाज का अध्ययन एक समग्र संरचना के रूप में करता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक संरचना के इस अध्ययन में समाजशास्त्र समाज के विभिन्न संस्थात्मक पहलुओं के विशिष्ट अध्ययन को महत्व नहीं देता। विशेषीकृत अध्ययन तो समाजशास्त्र के लिये अनिवार्य है ही। इसी आधार पर समाजशास्त्र की अनेक शाखाएँ — यथा परिवार का समाजशास्त्र, आर्थिक जीवन का समाजशास्त्र, धर्म का समाजशास्त्र, राजनीतिक समाजशास्त्र — विकसित हुई हैं। वेबर जैसे समाजशास्त्रियों ने धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था आदि सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन कर उनके विश्लेषण की आवश्यकता सिद्ध की है। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि समाजशास्त्र के अंतर्गत ऐसे विशेषीकृत अध्ययनों को एकाकी एवं असंबद्ध संस्थाओं का विवेचन मात्र न मानकर उन्हें सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों में स्थित सामाजिक रचनाओं के अंगों के रूप में देखा जाता है।

समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिये इतना ही कहना यथेष्ट नहीं है कि वह समाज को एक समग्र संरचना के रूप में देखता है। वह इस संरचना के क्रियावादू पक्ष का अथवा उसे

गतिशीलता प्रदान करनेवाली प्रक्रियाओं का तथा उसमें परिवर्तन लानेवाले तत्वों का भी अध्ययन करता है। समाजशास्त्र में सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बल दिया जाना स्वाभाविक है क्योंकि ये ही प्रक्रियाएँ संरचना के गतिदायक तत्व है। समाजशास्त्रियों का एक प्रमुख वर्ग, जिसका नेतृत्व जर्मन समाजशास्त्रियों ने किया है, इन प्रक्रियाओं के अध्ययन को ही समाजशास्त्र का प्रधान लक्ष्य मानता है। स्तरीकरण, संघर्ष, सहयोग, श्रेष्ठता, अधीनता आदि प्रक्रियाओं का अध्ययन कोई दूसरा सामाजिक विज्ञान नहीं करता। समाजशास्त्र की कुछ प्रमुख शाखाएँ भी इसी आधार पर विकसित हुई हैं, जैसे, स्तरीकरण का समाजशास्त्र, चरिष्णुता का समाजशास्त्र, संघर्ष का समाजशास्त्र, आदि।

इस प्रकार समाजशास्त्र समाजरूपी समग्र संरचना का एक विशिष्ट प्रकार के व्यापक दृष्टिकोण से अध्ययन तथा विश्लेषण करता है। वह समाज का इस दृष्टि से अध्ययन करता है कि जटिलताओं के होते हुए और उसके सदस्यों की जन्ममृत्यु के आवागमन क्रम के बावजूद उसमें व्यवस्था किस प्रकार कायम रहती है तथा कौन सी प्रक्रियाएँ इस व्यवस्था की निरंतरता को कायम रखती हैं; समाज के सदस्यों के व्यवहार तथा उनकी क्रियाओं का स्वरूप क्या होता है और इन क्रियाओं के विभिन्न पुंजों में संगठित होने की प्रवृत्ति के नियम क्या है, समाज की व्यवस्था कब और कैसे विभिन्न मात्राओं में संकटग्रस्त होती है, और सर्वोपरि, किस रूप तथा दिशा में किन कारकों से प्रभावित होकर यह व्यवस्था परिवर्तित होती है। अतः समाजशास्त्र की दृष्टि में समाज केवल एक स्थिर संरचनामात्र नहीं है वरन् विभिन्न प्रक्रियाओं के गत्यात्मक संबंधों की व्यवस्था भी है और ऐसी व्यवस्था जो कालप्रवाह में रहती है, चिर नवीन स्थितियों से गुजरती जाती है। उपर्युक्त दृष्टि से समाजशास्त्र जहाँ एक ओर समाजव्यवस्था के आधारभूत तत्वों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करनेवाला सामाजिक विज्ञान है, वहाँ दूसरी ओर वह उस व्यवस्था के परिवर्तन के रूपों, प्रतिमानों और कारकों की व्याख्या करनेवाला सामाजिक विज्ञान भी है।

विश्लेषण तथा अध्ययन की दृष्टि से समाजशास्त्र का विषयक्षेत्र अनेक स्तरों में बँटा हुआ है। अब तक के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में लघुतम तथा सरलतम स्तर समाज के सदस्यों की एकाकी सामाजिक क्रियाओं का स्तर है। इसके बाद का अगला स्तर सामाजिक क्रियाओं के व्यवस्थित संपुंजन से निर्मित सामाजिक संबंधों का स्तर है। इस स्तर से ऊपर अधिक व्यापक तथा जटिल स्तर सामाजिक संबंधों के संगठन से बनी सामाजिक संस्थाओं का स्तर है। तदुपरांत विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की अंतःसंबंधित संरचना के पूर्णत्व के रूप में समाजरूपी व्यवस्था का स्तर अपने दीर्घ तथा जटिल रूप में देखा जाता है। अंत में देश तथा काल की सीमाओं से आबद्ध विश्व की सभी समाज व्यवस्थाओं की समष्टि समाजशास्त्रीय विश्लेषण का सबसे दीर्घकाय तथा जटिलतम स्तर है। इन सभी स्तरों के विश्लेषण के दौरान समाजशास्त्री उनकी अन्योन्याश्रित एकात्मक प्रकृति को कभी नजरअंदाज नहीं करता। साथ ही वह इन स्तरों के पूर्णत्व को किसी अनेक मंजिलोंवाली मीनार या स्थिर इमारती ढाँचे की भाँति भी नहीं देखता। इस प्रकार का स्तरात्मक विभाजन तो विश्लेषणात्मक सुविधा के हेतु किया जाता है, न कि वास्तुकलाशास्त्र की संरचनात्मक अवधारणा की भाँति। समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि समाज नदी की धारा की भाँति है। नदी का जो पानी किसी एक क्षण किसी तट को छूता है, वह दूसरे क्षण वहाँ नहीं रहता किंतु साथ ही नदी के इस क्षण के जल के अंश को अगले क्षण के जल के अंश से अलग भी करना कठिन है। यदि ऐसा किया जा सकता है तो वह नदी कहाँ रह जायगी, वह तो स्थिर जल रह जायगा। जल का अंश, क्षण तथा तट का भेद हमारे समझने के लिये है, वरना नदी तो एक पूर्ण वस्तु है—प्रवहमान पूर्ण वस्तु। इसी भाँति यह कहा जा सकता है कि समाज भी एक पूर्ण वस्तु या पूर्णत्व है, प्रवहमान पूर्णत्व। इस सत्य को ध्यान में रखते हुए ही समाजशास्त्र का बहुस्तरीय तथा बहुमुखी विश्लेषण सार्थकता तथा विशिष्टता प्राप्त करता है।

समाजशास्त्र ने अपने पिछले एक शताब्दी से अधिक के इतिहास में निःसंदेह यथेष्ट प्रगति की है। जैसे जैसे कोई ज्ञान या विज्ञान प्रगति करता है उसके अंतर्गत व्यापकता, गहनता तथा सूक्ष्मता बढ़ते हुए विशेषीकरण के रूप में प्रकट होती है। विषय के अंदर नई शाखाएँ तथा उपशाखाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। समाजशास्त्र भी ज्ञान के विकास के इस सामान्य नियम से बाहर नहीं है और उसकी भी अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ बनती तथा पनपती हैं। आज समाजशास्त्र की शाखाओं तथा उपशाखाओं की सूची काफी लंबी हो चुकी है। सुविधा की दृष्टि से उनको निम्न मुख्य वर्गों में रखा सकता है: (१) सैद्धांतिक समाजशास्त्रीय विश्लेषण — इसके अंतर्गत समाजशास्त्र की सैद्धांतिक, अवधारणात्मक तथा पद्धतिशास्त्रीय पक्षों से संबंधित शाखाएँ आती हैं; (२) संस्थाओं का समाजशास्त्र विश्लेषण — इसके अंतर्गत पारिवारिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक आदि प्रत्येक संस्था से संबंधित समाजशास्त्र की विशिष्ट शाखाएँ संमिलित हैं; (३) सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण—इस वर्ग में विभिन्नीकरण, स्तरीकरण, चरिष्णुता, सहयोग, संघर्ष, समाजीकरण, परिवर्तन आदि प्रक्रियाओं से संबंधित समाजशास्त्र की शाखाएँ संमिलित हैं; (४) सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों का विश्लेषण — इसके अंतर्गत सामाजिक क्रिया, सामाजिक संबंध, व्यक्तित्व, समूह, समिति, तथा समुदाय आदि सामाजिक जीवन की प्रमुख इकाइयों का अध्ययन करनेवाली शाखाएँ आती हैं; (५) सांस्कृतिक तत्वों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण —इसमें मूल्यों ज्ञान विज्ञान, भाषा एवं प्रतीकों, कला आदि का विश्लेषण करनेवाली शाखाएँ संमिलित हैं; तथा (६) सामाजिक विचलन तथा विघटन का विश्लेषण—इसमें वैयक्तिक विघटन, संस्थात्मक एवं सामूहिक विघटन, सांस्कृतिक विघटन, अपराधशास्त्र आदि शाखाएँ संमिलित हैं।

समाजशास्त्र की प्रमुख शाखाओं के उपर्युक्त वर्गीकरण से आज समाजशास्त्र के क्षेत्र तथा प्रगति का अंदाजा लगाया जा सकता है। यह संभव है कि भविष्य में इनमें से कुछ शाखाएँ इतनी विकसित हो जायँ कि वह समाजशास्त्र से बाहर निकलकर स्वतंत्र शास्त्र

का रूप ग्रहण करने लगें। यह भी संभव है कि कुछ नई शाखाएँ उत्पन्न हो जायँ तथा कुछ पुरानी शाखाएँ महत्वहीन होकर अन्य शाखाओं में विलीन हो जायँ।

अपनी उत्पत्ति की सामाजिक सुधार तथा पुनर्निर्माणवाली पृष्ठभूमि के कारण आधुनिक समाजशास्त्र की व्यावहारिक उपादेयता की चर्चा प्रारंभ से ही होती रही है। समाजशास्त्र के उत्थान तथा विकास में अन्य बातों के अलावा इस धारणा का भी महत्व रहा है कि वह समाज का ऐसा विज्ञान बने, जिसकी उपलब्धियों का व्यावहारिक लाभ उठाया जा सके। स्वयं कौंत ने समाजशास्त्र को सामाजिक पुनर्निर्माण के संदर्भ में विशेष महत्व दिया था। समाजशास्त्र की प्रकृति तथा उसकी अब तक की प्रगति को देखते हुए यह दावा करना एकदम गलत है कि वह सामाजिक समस्याओं के निराकरण में उसी प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है जिस प्रकार अनेक व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिये प्राकृतिक या जैवकीय विज्ञानों का प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्री न तो समाज का डाक्टर बन सकता है और न इंजीनियर। किंतु सामाजिक समस्याओं को समझने तथा सुलझाने में तथा सामाजिक नियोजन के सिलसिले में समाजशास्त्र निस्संदेह बहुत सहायक हो सकता है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में सामाजिक पुनर्रचना के कार्यक्रमों के निर्माण, संगठन तथा कार्यान्वयन में समाजशास्त्र की उपयोगिता बढ़ती जा रही है और समाजशास्त्र के तेजी से होनेवाले प्रसार का यह एक प्रमुख कारण है। परिवार, शिक्षा, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य, प्रशासकीय प्रशिक्षण, जनसंख्या-नियोजन, नगर-नियोजन, ग्रामीण पुनर्निर्माण, अंतरराष्ट्रीय सहयोग आदि अनेक क्षेत्रों से संबंधित मामलों में समाजशास्त्रियों से मूल्यवान सहायता ली जा रही है। वास्तव में समाजशास्त्र का ज्ञान समस्याओं का विश्लेषण गहराई में करता है तथा उनको व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष में रखकर निदान की दिशाएँ इंगित करता है। स्थितियों को विभिन्न अंतःसंबंधित तथा अन्योन्याश्रित कारकों के संदर्भ में देखना समाजशास्त्र की बुनियादी विशेषता है। इसी कारण वह ऊपर से सरल तथा एकांगी दिखनेवाली समस्याओं का निदान करने में तथा उनसे निस्तार की दिशाएँ ढूँढ़ने में, अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा, अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। आधुनिक बृहदाकार तथा परिवर्तनशील जटिल समाजव्यवस्थाओं तथा उनसे संबंधित समस्याओं का, समाजशास्त्रीय दृष्टि से, विश्लेषण करना अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है। सामाजिक नियोजन तथा सामाजिक नीतिनिर्धारण के मामलों में समाजशास्त्र का बढ़ता हुआ महत्व इस बात का द्योतक है कि इस दिशा में समाजशास्त्र की उपादेयता निरंतर बढ़ती जायगी।

समाजशास्त्र वर्तमान युग में तेजी के साथ वैचारिक एवं बौद्धिक जगत् में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता जा रहा है। आधुनिक समाजव्यवस्थाओं तथा उनमें स्थित व्यक्तियों का संबंधित विशिष्ट सांस्कृतिक संदर्भों में विश्लेषण करने तथा उनको समग्र रूप में समझने में समाजशास्त्र मनुष्य की सहायता करता है इससे मनुष्य की दृष्टि सीमित, एकांगी और मूढ़ाग्रही होने से बच जाती है। आज के युग में जटिल वास्तविकताओं को समझने और बढ़ते हुए तनावों को घटाने में ऐसे संतुलित और पुष्ट दृष्टिकोण का विकास और प्रसार आवश्यक भी है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण हमको अपने चारों ओर की बातों को समझने और परखने के लिये एक वैचारिक कसौटी प्रदान करता है। उसकी सहायता से यथास्थितिवादी और क्रांतिकारी अतिवादी दृष्टिकोणों से ऊपर उठकर चीजों को देखा जा सकता है। इस सबके अलावा आधुनिक समाजशास्त्र की यह भी विशेषता है कि वह समकालीन स्थिति का स्पष्टतम आभास कराता है। समकालीनत्व की संवेदनशील अनुभूति तथा परख दोनों में समाजशास्त्र विशेषकर सहायक होता है। वास्तव में यह बीसवीं सदी के पेचीदा मानवसमाज मे रहनेवाले मनुष्यों को आवश्यक दृष्टि देनेवाला तथा उनके लिये अपेक्षित बौद्धिक धरातल निर्मित करनेवाला विज्ञान है और इसके विकास की संभावनाओं का क्षेत्र आश्चर्यजनक रूप से विस्तृत है।

सं० ग्रं० — लियोनार्ड ब्रूम ऐंड फिलिप सेल्जनिक : सोशिआलाजी ए टेक्स्ट विथ एडाप्टेड रीडिंग्ज, न्यूयार्क, १९५५; आर्नल्ड ग्रीन : सोशिआलाजी ऐन ऐनेलसिस ऑव लाइफ इन मॉडर्न सोसायटी, मैकग्राहिल, न्यूयार्क, १९५६; डॉन मार्टिन डेल : नेचर ऐंड टाइप्स ऑव सोशिआलोजिकल थियरी, रटलेज ऐंड केगन पॉल, लंदन, १९६१; किंग्सले डेविस : ह्यूमन सोसायटी, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९४९; अलेक्स इंकेलेस : ह्वाट इज सोशिआलोजी, प्रिंटिस हाल, एंगलउड क्लिफ्स, १९६४; टी० बी० बोटोमोर : सोशिआलॉजी, जार्ज ऐलेन ऐंड अनविन, लंदन, १९६२; टेलकट पार्संस तथा अन्य (सं०) : थियोरीज ऑव सोसायटी (दो खंड) दफरी प्रेस, ग्लेनको, १९६१; मर्टन ब्रूम ऐंड काट्रेल (सं०) : सोशिआलॉजी टुडे : प्राबलम्स ऐंड प्रासपेक्ट्स, बेसिक बुक्स, न्यूयार्क, १९५९।

[र० च० ति०]

समापन (Liquidation or winding up, कंपनियों का) समापन एक ऐसी कार्यवाही है जिससे कंपनी का वैधानिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसमें कंपनी की संपत्तियों को बेचकर प्राप्त धन से ऋणों का भुगतान किया जाता है तथा शेष धन का अंशधारियों के बीच वितरण कर दिया जाता है।

कंपनी का समापन तीन प्रकार का हो सकता है।—

(क) न्यायालय द्वारा अथवा अनिवार्य समापन;

(ख) ऐच्छिक समापन (voluntary winding up);

(ग) न्यायालय के निर्देशन के अंतर्गत समापन (winding up under the supervision of the court)।

न्यायालय द्वारा समापन के लिये प्रार्थनापत्र देने का अधिकार स्वयं कंपनी, उसके ऋणदाताओं, धनदाताओं (contributories) तथा कुछ स्थितियों में रजिस्ट्रार अथवा केंद्रीय सरकार द्वारा अधिकृत व्यक्ति को होता है।

न्यायालय द्वारा समापन के मुख्य कारण हैं : कंपनी के सदस्यों की संख्या में कंपनी अधिनियम द्वारा निर्धारित निम्नतम संख्या में कमी तथा ऋणों के भुगतान करने में कंपनी की असमर्थता। न्यायालय को समापन के विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं और वह जब भी कंपनी का समापन उचित एवं न्यायपूर्ण समझे इसके लिये आदेश

दे सकता है। मुख्यतः प्रबंध में गतिरोध उत्पन्न होना, कंपनी का आधार समाप्त होना तथा कंपनी के बहुमत अंशधारियों के अल्पमत अंशधारियों के प्रति दमन व कपट करने की स्थिति में कंपनी का समापन उचित एवं न्यायपूर्ण माना गया है।

न्यायालय द्वारा कंपनी का समापन समापन के लिये याचिका के प्रस्तुत करने के समय से ही समझा जाता है। याचिका चाहे किसी ने भी दी हो, समापन का आदेश सभी ऋणदाताओं तथा धनदाताओं के प्रति इस प्रकार लागू होता है जैसे यह उन सबकी संयुक्त याचिका हो।

कंपनी के संबंध में समापन आदेश होने पर सरकारी समापक इसका मापक बन जाता है। वह इसकी संपत्तियाँ बेचकर ऋणदाताओं का ठीक क्रम में भुगतान करके शेष को अंशधारियों के अधिकारानुसार वितरण करता है।

कंपनी का ऐच्छिक समापन निम्नलिखित परिस्थितियों में हो सकता है—

(क) अंतर्नियमों में निर्धारित अवधि समाप्त होने पर अथवा उनमें निर्दिष्ट वह घटना घटित होने पर जिसके घटित होने से कंपनी का समापन करना निश्चित किया गया हो। ऐसी दशा में कंपनी के सदस्य साधारण सभा में एक साधारण प्रस्ताव पास करके उसके ऐच्छिक समापन का निर्णय कर सकते हैं।

(ख) अन्य किसी परिस्थिति में कंपनी की साधारण सभा में एक विशेष प्रस्ताव पास करके ऐच्छिक समापन का निर्णय किया जा सकता है।

ऐच्छिक समापन दो प्रकार का होता है — सदस्यों का अथवा ऋणदाताओं का।

जब कंपनी अपने ऋणों का भुगतान करने में समर्थ हो और उसके सदस्य समापन का निश्चय करें तो यह सदस्यों का ऐच्छिक समापन कहलाता है। ऐसी परिस्थिति में कंपनी के संचालकों को यह घोषणा करनी पड़ती है कि कंपनी में अपने ऋणों का भुगतान करने की समर्थता है। ऐसे समापन में कंपनी की साधारण सभा में एक या अधिक समापकों की नियुक्ति की जा सकती है तथा उनका पारिश्रमिक भी निर्धारित किया जाता है। समापक की नियुक्ति पर संचालक मंडल, प्रबंध अभिकर्ता या एजेंट, सचिव, कोषाध्यक्ष तथा प्रबंधकों के सभी अधिकारों का अंत हो जाता है, वह केवल रजिस्ट्रार को समापक की नियुक्ति तथा उसके स्थान की रिक्ति की सूचना देने का कार्य अथवा साधारण सभा या समापक द्वारा अधिकृत कार्यों को कर सकते हैं।

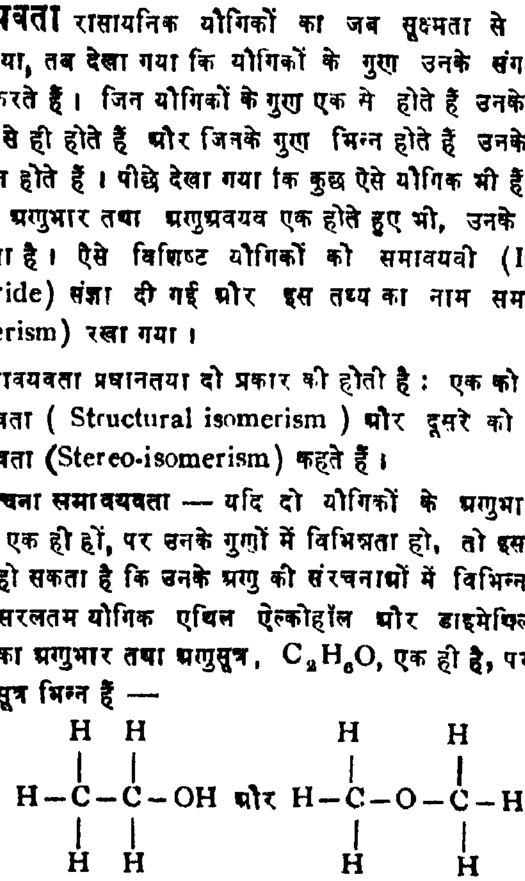
किंतु जब कंपनी अपने ऋणों का भुगतान करने में असमर्थ हो तथा संचालक इसकी शोधक्षमता की घोषणा न कर सकें, ऐसी परिस्थिति में किए जानेवाले समापन को ऋणदाताओं का ऐच्छिक समापन कहते हैं। ऐसे समापन में यह आवश्यक है कि जिस दिन समापन संबंधी प्रस्ताव पास करने के लिये साधारण सभा बुलाई जाए उसी दिन या उसके अगले दिन ऋणदाताओं की सभा बुलाई जाए। कंपनी के सदस्य एवं ऋणदाता अपनी अपनी सभाओं में समापक का मनोनयन कर सकते हैं। यदि सदस्यों तथा ऋणदाताओं द्वारा मनोनीत व्यक्ति भिन्न भिन्न हों तो ऋणदाताओं द्वारा मनोनीत व्यक्ति ही कंपनी का समापक नियुक्त किया जाता है। ऋणदाता अपनी उक्त सभा या किसी आगामी सभा में पाँच सदस्यों तक की एक निरीक्षण समिति नियुक्त कर सकते हैं। समापक का पारिश्रमिक निरीक्षण समिति द्वारा, इसके अभाव में ऋणदाताओं द्वारा तथा ऋणदाताओं के भी अभाव में न्यायालय द्वारा निर्धारित किया जा सकता है।

न्यायालय के निर्देशन के अंतर्गत समापन — कंपनी द्वारा ऐच्छिक समापन के प्रस्ताव पास किए जाने के पश्चात् न्यायालय इस प्रकार के समापन का आदेश दे सकता है। ऐसे आदेश से कंपनी का समापन तो ऐच्छिक ही रहता है किंतु वह न्यायालय के निर्देशों के अनुसार किया जाता है। इसका उद्देश्य कंपनी, ऋणदाताओं तथा अंशधारियों के हितों की रक्षा करना है। न्यायालय के निर्देशन के अंतर्गत समापन की याचिका का प्रभाव यह होता है कि न्यायालय को सभी वादों तथा वैध कार्यवाहियों पर उसी प्रकार अधिकारक्षेत्र प्राप्त हो जाता है जैसे न्यायालय द्वारा समापन की याचिका पर। निर्देशन आदेश के पश्चात् न्यायालय को समापक के पदच्युत करने, उसकी रिक्ति की पूर्ति करने तथा अतिरिक्त समापक नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

समावयवता रासायनिक यौगिकों का जब सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया, तब देखा गया कि यौगिकों के गुण उनके संगठन पर निर्भर करते हैं। जिन यौगिकों के गुण एक से होते हैं उनके संगठन भी एक से ही होते हैं और जिनके गुण भिन्न होते हैं उनके संगठन भी भिन्न होते हैं। पीछे देखा गया कि कुछ ऐसे यौगिक भी हैं जिनके संगठन, अणुभार तथा अणुअवयव एक होते हुए भी, उनके गुणों में विभिन्नता है। ऐसे विशिष्ट यौगिकों को समावयवी (Isomer, Isomeride) संज्ञा दी गई और इस तथ्य का नाम समावयवता (Isomerism) रखा गया।

समावयवता प्रधानतया दो प्रकार की होती है: एक को संरचना समावयवता (Structural isomerism) और दूसरे को त्रिविम समावयवता (Stereo-isomerism) कहते हैं।

संरचना समावयवता — यदि दो यौगिकों के अणुभार और अणुसूत्र एक ही हों, पर उनके गुणों में विभिन्नता हो, तो इसका यही कारण हो सकता है कि उनके अणु की संरचनाओं में विभिन्नता है। ऐसे दो सरलतम यौगिक एथिल ऐल्कोहॉल और डाइमेथिल ईथर हैं, जिनका अणुभार तथा अणुसूत्र, C_2H_6O, एक ही है, पर इनके संरचनासूत्र भिन्न हैं —

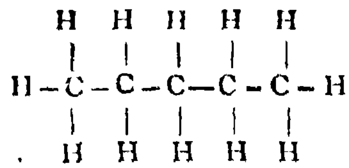


एथिल ऐल्कोहॉल   डाइमेथिल ईथर

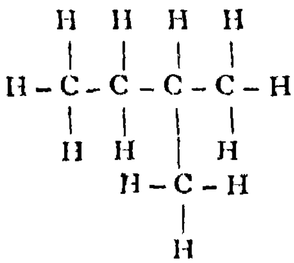
पहले यौगिक में दो कार्बन परमाणु परस्पर संबद्ध होकर, हाइड्रॉक्सील समूह से संयुक्त हैं और दूसरे यौगिक में दो कार्बन परमाणु

ऑक्सीजन परमाणु द्वारा एक दूसरे से संबद्ध हैं। पहले यौगिक को एथिल ऐल्कोहॉल और दूसरे का डाइमेथिल ईथर कहते हैं। दोनों के गुणों में बहुत भिन्नता है। उनकी क्रिया से विभिन्नता स्पष्ट हो जाती है। एथिल ऐल्कोहॉल पर HI की क्रिया से एथिल आयोडाइड, C_2H_5I, बनता है, जबकि डाइमेथिल ईथर से मेथिल आयोडाइड, (CH_3I) बनता है। अन्य अभिकर्मकों के साथ भी ऐसी भिन्न क्रियाएँ होती हैं।

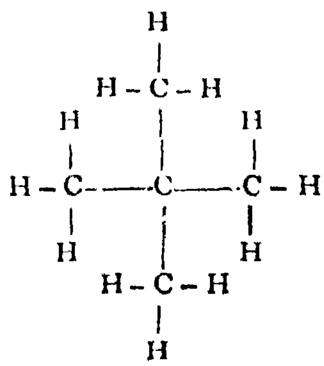
यदि ऐसे यौगिकों की समावयवता एक ही श्रेणी के यौगिकों के बीच हो, तो ऐसी समावयवता को मध्यावयवता (Metamerism) कहते हैं। इसका उदाहरण डाइएथिल ईथर ($C_2H_5OC_2H_5$) और मेथिल प्रोपिल ईथर ($CH_3OC_3H_7$) हैं। पैराफिन श्रेणी के हाइड्रोकार्बनों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। पेंटेन (C_5H_{12}) के तीन समावयव होते हैं : नार्मल पेंटेन, आइसो-पेंटेन और नियो-पेंटेन। इनकी संरचनाएँ इस प्रकार है :



नार्मल पेंटेन



आइसोपेंटेन

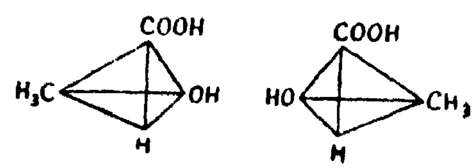


नियोपेंटेन

ऐसी समावयवता को श्रृंखला समावयवता (Chain isomerism) भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ श्रृंखला में ही अंतर होने के कारण विभिन्नता है।

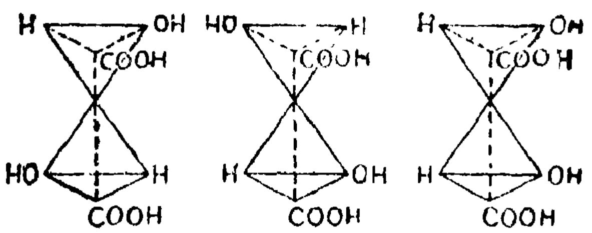
इसी समावयवता से मिलती जुलती एक दूसरी समावयवता है, जिसे स्थान-समावयवता (Position isomerism) कहते हैं, इसका सरलतम उदाहरण प्रोपिल क्लोराइड ($CH_3.CH_2.CH_2Cl$) और आइसोप्रोपिल क्लोराइड ($CH_3.CHCl.CH_3$) है, जिनमें अंतर केवल क्लोरीन परमाणु के स्थान से संबंध रखता है। एक में क्लोरीन अंत के एक कार्बन परमाणु से संबद्ध है और दूसरे में क्लोरीन मध्य के कार्बन से संबद्ध है। इसी प्रकार की समावयवता डाइक्लोरोबेंज़ीन में भी है।

त्रिविम समावयवता — यौगिकों के अणुभार और संरचना के एक रहते हुए भी परमाणुओं के विभिन्न दिशाओं में व्यवस्थित रहने के कारण यौगिक में समावयवता हो सकती है। ऐसी समावयवता को त्रिविम समावयवता (Stereo-isomerism) कहते हैं। त्रिविम समावयवता दो प्रकार की होती है : (१) प्रकाशिक समावयवता (Optical isomerism) और (२) ज्यामितीय समावयवता (Geametrical Isomerism)। लैक्टिक अम्ल के अध्ययन मे देखा गया है कि लैक्टिक अम्ल तीन प्रकार का होता है, दो प्रकाशत. सक्रिय और एक प्रकाशत. निष्क्रिय। इसी प्रकार टार्टेरिक अम्ल भी चार प्रकार का होता है, दो प्रकाशतः सक्रिय और दो प्रकाशत. निष्क्रिय। इनकी उपस्थिति की संतोषप्रद व्याख्या उस समय तक ज्ञात सिद्धांतों से नहीं हो सकती थी। इनकी व्याख्या के लिये जो सिद्धांत प्रतिपादित हुआ है, उसे त्रिविम समावयवता का सिद्धांत कहते है और इससे रसायन की एक नई शाखा की नींव पड़ी है, जिसे त्रिविम रसायन कहते हैं (देखें विन्यास रसायन)। इस नए सिद्धांत के प्रतिपादक डच रसायनज्ञ, वांत हॉफ़ (Van't Hoff), और दूसरे फ्रांसीसी रसायनज्ञ, ल बेल (Le Bel), थे। दोनों ने स्वतंत्र रूप से प्राय: एक ही समय १८७४ ईसवी में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया और दोनों रसायनज्ञों के मूल सिद्धांत प्राय. एक ही हैं, यद्यपि विस्तार में कुछ अंतर है। इस सिद्धांतानुसार त्रिविमितीय चतुष्फलक के केंद्र मे कार्बन परमाणु स्थित रहता है और इसकी चारों संयोजकताएँ चतुष्फलक के चारो छोरों की ओर अभिमुख होती हैं। यदि इन चारों संयोजकताओं के साथ चार विभिन्न समूह संबंधित हों, तो ये ऐसी अवस्थाएँ उपस्थित करते हैं जिनकी व्यवस्था दो प्रकार से हो सकती है। यदि चारों समूह H, OH, COOH और CH_3 हों, जैसे लैक्टिक अम्ल में होते हैं, तो उनकी व्यवस्था दक्षिणावर्त (H, OH, COOH, CH_3)



और दूसरे में वामावर्त (H, CH_3, COOH, OH) हो सकती है। ये दोनों रूप वैसे ही हैं जैसे कोई एक वस्तु और उसका प्रतिबिंब होता है। एक व्यवस्था प्रकाश को एक ओर जितना घुमाती है, दूसरी व्यवस्था प्रकाश को विपरीत दिशा में उतना ही घुमाएगी। इस प्रकार ऐसे यौगिक के दो प्रकाशीय रूप हो सकते हैं। यदि ये दोनों रूप सममात्रा में किसी विलयन में विद्यमान हों, तो ऐसा विलयन प्रकाशत: निष्क्रिय होगा। वस्तुतः निष्क्रिय लैक्टिक अम्ल ऐसा ही मिश्रण है, क्योंकि यह अनेक विधियों से दो सक्रिय लैक्टिक अम्लों में विभेदित किया जा सकता है।

चतुष्फलक के मध्य में स्थित कार्बन परमाणु को असममित (asymmetric) कार्बन परमाणु कहते हैं और प्रकाश सक्रियता के लिये एक या एक से अधिक असममित कार्बन परमाणु का होना अनिवार्य है। इसके अभाव में प्रकाशीय सक्रियता संभव नहीं है। अनुभव और प्रयोगों से यह बात बिल्कुल ठीक प्रमाणित होती है। टार्टरिक अम्ल में दो असममित कार्बन परमाणु होते हैं। टार्टरिक अम्ल की विशेषता यह है कि इसके दोनों असममित कार्बन के साथ एक ही प्रकार के समूह संबद्ध हैं। यदि दोनों असममित कार्बन के साथ ऐसे समूह संबद्ध हों जो दक्षिणावर्त हैं, तो वह यौगिक दक्षिणावर्त (द-) होगा तथा यदि दोनों असममित कार्बनों के साथ ऐसे समूह संबद्ध हों जो वामावर्त है, तो वह यौगिक वामावर्त (वा-) होगा और यदि दोनों असममित कार्बन के साथ एक दक्षिणावर्त और दूसरा वामावर्त समूह संबद्ध हो, तो एक के प्रभाव को दूसरा निष्क्रिय कर देगा, जिससे वह यौगिक प्रकाशतः निष्क्रिय होगा। पर यह यौगिक ऐसा निष्क्रिय होगा कि उसे सक्रिय नहीं बनाया जा सकता। ऐसा ही टार्टरिक अम्ल का रूप मेजो टार्टरिक अम्ल है। चौथा टार्टरिक अम्ल ऐसा हो सकता है जिसमें दक्षिणावर्त और वामावर्त टार्टरिक अम्ल की सममात्रा विद्यमान हो। ऐसा यौगिक



रेसिमिक अम्ल है। यह भी प्रकाशतः निष्क्रिय होता है, पर सक्रिय अवयवों में विभेदित किया जा सकता है। इस प्रकार इस सिद्धांत से चार प्रकार के टार्टरिक अम्ल की उपस्थिति की व्याख्या सरलता से हो जाती है।

इस प्रकार की त्रिविम समावयवता केवल कार्बनिक यौगिकों में ही नहीं पाई गई है, वरन् नाइट्रोजन, फ़ॉस्फ़ोरस, आर्सेनिक, गंधक और सिलिकन आदि के यौगिकों में भी पाई गई है।

ज्यामितीय समावयवता — ज्यामितीय समावयवता में प्रकाश सक्रियता नहीं होती। यह समावयवता उन्हीं यौगिकों में पाई जाती है जिनमें दो कार्बन परमाणु युग्म बंध से बँधे होते हैं। यदि ऐसे यौगिकों के दोनों कार्बन परमाणुओं से एक से अधिक समूह संबद्ध हों, तो उससे निम्नलिखित प्रकार के दो यौगिक बन सकते हैं। एक, जिसमें दोनों समूह एक ही पक्ष में हैं, और दूसरा, जिसमें दोनों समूह प्रतिकूल पक्ष में हैं।

(१)		(२)
H—C—X		H—C—X
‖	और	‖
H—C—X		X—C—H

पहले यौगिकों को सिस (Cis) और दूसरे को ट्रैंस (Trans) कहते हैं। ऐसे यौगिकों में युग्म बंध के कारण अणु में दृढ़ता होती है, जिससे उसका मुक्त संचालन अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे समावयव यौगिकों के सरलतम उदाहरण मलेइक और फ्यूमेरिक अम्ल हैं। मलेइक अम्ल मे दोनों कार्बोक्सील समूह एक ही पक्ष मे होते हैं और फ्यूमेरिक अम्ल में दोनों कार्बोक्सील समूह प्रतिकूल पक्ष में।

मलेइक अम्ल (सिस, या समरूप)	फ्यूमेरिक अम्ल (ट्रैंस, या विषमरूप)
H – C – COOH	H – C – COOH
‖	‖
H – C – COOH	COOH – C – H

इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि मलेइक अम्ल अति शीघ्र ऐनहाइड्राइड बनाता है, जो कार्बोक्सील समूह की निकटता को प्रदर्शित करता है और फ्यूमेरिक अम्ल इतना जल्द ऐनहाइड्राइड नहीं बनाता, जो कार्बोक्सील समूह की दूरी को प्रदर्शित करता है। यदि ऐनहाइड्राइड कठिनता से बनता भी है, तो वह मलेइक एनहाइड्राइड ही होता है।

ऐसी समावयवता के लिये यह आवश्यक नहीं कि एक कार्बन परमाणु दूसरे कार्बन परमाणु के साथ ही संयुक्त हो। कार्बन यदि नाईट्रोजन के साथ संयुक्त हो, तो भी ऐसे समावयवी बनते हैं। इसके उदाहरण अनेक ऑक्सीम हैं, जो कीटोन पर हाइड्रॉक्सिल ऐमीन की क्रिया से बनते हैं

'सीन ऑक्सीम'	(ऐंटी ऑक्सीम)
CH_3 – C – H	CH_3 – C – H
‖	‖
N – OH	HO – N

चल समावयवता — एक दूसरे प्रकार की समावयवता को चल समावयवता, या चलावयवता (Dynamic Isomerism or Tautomerism) कहते हैं। यह यौगिकों मे किसी तत्व के, विशेषतः हाइड्रोजन के, एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरण से होती है। इसका अच्छा उदाहरण कीटो-इनोल-समावयवता (Keto-enol Isomerism) है, जिसमे एक ही पदार्थ कभी कीटोन सा व्यवहार करता है और कभी इनोल सा। यहाँ एक समावयवी का दूसरे समावयवी में परिवर्तन केवल विलायकों मे घुलाने से, अथवा किसी उत्प्रेरक की उपस्थिति से, ही संपन्न होता है। ऐसी ही समावयवता के कारण शर्कराओं का परिवर्ती घूर्णन होता है। [स० व०]

समीकरण सिद्धांत एक, अथवा अनेक, ज्ञात और अज्ञात संख्याओं की समता के कथन को समीकरण (Equation) कहते हैं। समीकरण अज्ञात राशियों के समस्त मानों के लिये सत्य नहीं होता। केवल कुछ निश्चित मानों के लिये ही सत्य होता है। जो समीकरण अज्ञात राशियों के समस्त मानो के लिये सत्य होता है, उसे सर्वसमिका (Identity) कहते हैं। उदाहरणतः

$$३ य + ७ = १०$$

यह संबंध य = १ ही के लिये सत्य है। अतः यह एक समीकरण है; किंतु संबंध

$$य^२ - र^२ \equiv (य + र)(य - र)$$

य और र के समस्त मानों के लिये सत्य है। अतः यह एक सर्वसमिका है, जिसके लिये चिह्न $\equiv$ प्रयोग किया जाता है।

समीकरणों का सबसे प्राचीन उल्लेख मिस्र के राइंड पपाइरस (Rhind papyrus) में मिलता है, जिसका रचनाकाल १६५० ई० पू० के लगभग है। यूनानियों ने भी समीकरणों का थोड़ा बहुत प्रयोग किया था। हिंदुओं ने इस दिशा में कुछ प्रगति दिखाई थी। वे अज्ञात राशि को 'यावत' कहते थे और उसे सकेतों से निरूपित करते थे। उन्होंने वर्ग समीकरणों को भी हल किया और अनिर्णीत समीकरणों के क्षेत्र में अद्भुत कार्य कर दिखाया; किंतु उन्होंने विषय के सिद्धांत के अमूर्त रूप का कोई विकास नहीं किया। इटलीवासियों ने इस दिशा में बहुत उन्नति की और तृतीय तथा चतुर्थ घात के सार्विक समीकरणों के हल निकाले। सन् १७७१ में लाग्रांज (Lagrange) ने सिद्धांत को और आगे बढ़ाया, किंतु उक्त सिद्धांत मे तीव्र गति गाल्वा (Galois) की गवेषणाओं से ही आई।

प्रमुख समस्या — समीकरण सिद्धांत का संबंध निम्नलिखित प्रकार के बीजगणितीय समीकरण के गुणों से है :

$$फ(य) = क_० य^स + क_१ य^{स-१} + क_२ य^{स-२} + \ldots + क_{स-१} य + क_स = ०,$$

जिसमे स एक धन पूर्ण संख्या है, गुणाक दी हुई संख्याएँ हैं, जो वास्तविक अथवा काल्पनिक हो सकती हैं और $क_० \neq ०$। इस समीकरण का घात स है। पहली समस्या यह है कि यदि गुणांक ज्ञात हों, तो य के ऐसे समस्त मान, जिन्हें मूल कहते हैं तथा जो समीकरण को संतुष्ट करते हों, ज्ञात करना। अगली समस्या यह पता चलाना है कि उक्त समीकरण के मूल किन प्रतिबंधों में गुणांकों के पदों में सात संख्या की बीजगणितीय क्रियाओं (जोड़ना, घटाना, गुणा, भाग, मूल निकालना) द्वारा व्यक्त किए जा सकते हैं। ऐसे हल को बीजगणितीय हल (Algebraic solution) कहते हैं। यदि गुणांक संख्यात्मक हों, तो मूलों का किसी भी सीमा तक निकटतम मान निकाला जा सकता है। यदि गुणांक संख्यात्मक न हों, तो हम प्रयत्न करते हैं कि गुणांकों का ऐसा सरलतम फलन (function) निकालें जो समीकरण को संतुष्ट कर दे। सन् १८२४ में आबेल (Abel) ने २२ वर्ष की अवस्था मे यह प्रायः सिद्ध कर दिया था कि चौथे से ऊपर के घात के किसी समीकरण के मूलों को मूल चिह्नों (Radical signs) द्वारा व्यंजित करना असंभव है। आबेल की उपपत्ति मे कुछ अशुद्धियाँ थी, जिनका शोधन गाल्वा सिद्धांत ने कर दिया है; तथापि यह मानना पड़ेगा कि आबेल ही पहला व्यक्ति था, जिसने यह सिद्ध कर दिया कि पंचघात समीकरण का हल बीजगणितीय विधियों से नहीं ज्ञात हो सकता। सर्वप्रथम सन् १८५८ में एरमीट (Hermite) ने सार्विक पंचघात समीकरण का हल दीर्घवृत्तीय फलनों (elliptic functions) द्वारा निकाला। आधुनिक समय में, जिसका आरंभ १८८० ई० में प्वेंकारे (Poincare) से होता है, सर्व घात के सार्विक समीकरण का हल फुक्शो फलनों (Fuchsion functions) द्वारा निकाला गया है। आजकल के गवेषणा कार्य में इस समस्या के लिये प्रतिस्थापन समूहों (substitution groups), उच्च अंकगणित और संमिश्र चर (complex variable) के विशेष फलनों का प्रयोग किया जाता है।

मूलभूत प्रमेय — यह है कि सर्व घात के किसी समीकरण के ठीक स मूल ही होते हैं। इस प्रमेय को सबसे पहले कोशी (Cauchy) ने सिद्ध किया था, किंतु प्रथम संतोषजनक उपपत्ति १७९९ ई० में गाउस (Gauss) ने दी थी।

सममित फलन (Symmetric Function) — ये फलन बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। किसी परिमेय (rational) फलन $फ(य_१, य_२, \ldots, य_स)$ को य-ओं में तब सममित कहते हैं, जब वह इस प्रकार का हो कि य-ओं में से किन्हीं दो का हेरफेर करने से उसमे कोई परिवर्तन न हो। इस प्रकार $य_२ य_३ + य_३ य_१ + य_१ य_२$ एक सममित फलन है। $य_१, य_२, \ldots$ का ज-वाँ प्रारंभिक (elementary) सममित फलन (जिसमे ज = १, २, ३,...स) ऐसे समस्त संभव गुणनफलों का जोड़ होता है जिनमें से प्रत्येक में य-ओं में से ज विभिन्न चर चुने जाएँ। इस प्रकार, यदि ज = ३, तो प्रथम, द्वितीय, तृतीय प्रारंभिक सममित फलन क्रमश: ये होंगे :

$$य_१ + य_२ + य_३; \quad य_२ य_३ + य_३ य_१ + य_१ य_२; \quad य_१ य_२ य_३।$$

स्पष्ट है कि प्रारंभिक सममित फलनो के अतिरिक्त अनगिनत सममित फलन और भी हो सकते हैं, जैसे ज = ३ के लिये $य_१^२ + य_२^२ + य_३^२$ एक सममित फलन है, किंतु इसे हम प्रारंभिक सममित फलनों के पदों में व्यक्त कर सकते है, क्योंकि

$$\sum य_१^२ = (\sum य_१)^२ - २ \sum य_१ य_२।$$

हम मूलों के प्रारंभिक सममित फलनों को गुणांको के पदों में व्यक्त कर सकते हैं, जैसे यदि समीकरण

$$य^स + प_१ य^{स-१} + प_२ य^{स-२} + \ldots प_{स-१} य + प^स = ०$$

के मूल $य_१, य_२, य_३, \ldots$ हों, तो

$$\sum य_१ = - प_१, \ \sum य_१ य_२ = प_२, \ldots$$

मूलों का कोई भी सममित फलन गुणांको के पदो में व्यक्त किया जा सकता है। मूलों के किसी सममित फलन में किसी मूल का जो उच्चतम घातांक होता है, उसे फलन का घात (order) कहते हैं। $\sum य_१^३ य_२$ का घात ३ है और $\sum य_१ य_२ य_३$ का घात १ है। किसी सममित फलन में जो चरों का घात होता है, उसे फलन का भार (Weight) कहते हैं। $\sum य_१^३ य_२$ का भार ४ है और $\sum य_१ य_२ य_३$ का भार ३ है।

वास्तविक समीकरणों के गुण — निम्नलिखित गुण सुगमता से सिद्ध किए जा सकते है। काल्पनिक मूल सदैव जोड़ों में रहते हैं। यदि घात स विषम हो, तो समीकरण का कम से कम एक मूल वास्तविक होगा। यदि फ(य), य का कोई वास्तविक संतत (continuous) फलन हो और फ (ट) और फ (ठ), जिनमें ट, ठ वास्तविक हों और विपरीत चिह्नों के हों, तो वक्र र = फ (य), य–अक्ष को ट ठ के बीच में विषम बार काटेगा। यदि स मूलों में से त मूल ऐसे हों जो सब अ के बराबर हों, तो अ को बहुकता (multiplicity) त का मूल कहते हैं। रॉल (Rolle) ने सिद्ध किया है कि समीकरण फ (य) = ० के दो क्रमागत (consecutive) वास्तविक मूलों के बीच में फ' (य) = ० के वास्तविक मूलों की संख्या विषम होगी। यहाँ फ' फलन फ का प्रथम अवकल गुणांक (differential

coefficient) है। यदि फ(य) और फ'(य) का महत्तम समापवर्तक ब(य) हो, तो समीकरण ब(य) = ० के एक म-बहुकता का मूल समीकरण फ (य) = ० का (म+१) बहुकता का मूल होगा। इस प्रमेय का विलोम भी सत्य होता है। इसकी सहायता से फ (य) = ० के बहु मूल निकाले जा सकते हैं।

यदि गुणांक $क_0$, $क_1$, $क_2$... सब वास्तविक हों, तो समीकरण को वास्तविक कहते है। यदि इनमें से कुछ या सब काल्पनिक हों, तो समीकरण काल्पनिक कहलाता है। यदि फ (य) = ० काल्पनिक हो, तो उसका हल एक वास्तविक समीकरण के हल द्वारा निकाला जा सकता है, क्योंकि हम फ (य) को $ब_1$ (य) + ए $ब_2$(य) के रूप में ढाल सकते हैं, जिसमें $ब_1$ और $ब_2$ के गुणाक वास्तविक हों और ए = √ − १। तत्पश्चात् समीकरण $ब_1$(य) + ए $ब_2$(य) = ० को उसके संयुग्मित (conjugate) समीकरण $ब_1$ (य) − ए $ब_2$(य) = ० से गुणा करने पर एक वास्तविक समीकरण प्राप्त होगा, जिसके मूलों में फ (य) = ० के समस्त मूल समाविष्ट होंगे।

फ (य) = ० के ऋण मूल, फ (−य) = ० के धन मूल ही हो होते हैं।

मूलों की स्थिति का निश्चयन (Location of Roots) — किसी समीकरण के मूलों की प्रकृति जानने के लिये इस बात का पता चलाना पड़ता है कि उस समीकरण के कितने मूल वास्तविक हैं और कितने काल्पनिक। इसके लिये सबसे पहले मूलों का वियोजन (isolation) करना पड़ता है। मान लीजिए कि एक वास्तविक मूल व है। यदि हम दो संख्याएँ क, ख, ऐसी उपलब्ध कर सकें जिनके बीच में व स्थित हो और कोई अन्य मूल स्थित न हो, तो हम कहेंगे कि मूल व वियोजित हो गया। देकार्त (Descartes) के नियम द्वारा अधिकांश स्थितियों में हमें वास्तविक मूलों की पूर्ण संख्या का पता चल जाता है। दिए हुए समीकरण में जितने अशून्य गुणाक हों, उनके चिह्न उसी क्रम में लिख डालिए जिस क्रम में वे समीकरण में आते हैं। यदि कहीं + से − हो जाय, अथवा − से + हो जाय, तो उसे हम चिह्न-परिवर्तन कहते हैं। अब चिह्नपरिवर्तनों की संख्या गिन लीजिए। इस क्रम

$$+ + - - + -$$

में तीन परिवर्तन हैं। देकार्त का नियम बताता है कि समीकरण फ (य) = ० में जितने चिह्न परिवर्तन होगे या तो उस समीकरण के उतने ही वास्तविक धनमूल होंगे, या यदि उससे कम हुए, तो उक्त अंतर की संख्या एक विषम संख्या होगी। यह तो रहा धन मूलों के संबंध में। ऋण मूलों की संख्या जानने के लिये यही नियम समीकरण फ (− य) = ० पर लगाइए।

सन् १८२९ में स्टर्म (Sturm) और फूर्ये (Fourier) ने मूलों के विभाजन के लिये एक निश्चयात्मक विधि निकाली थी। फूर्ये का नियम सुविधाजनक तो अवश्य है, किंतु अधूरा है। स्टर्म का नियम मूलों का निश्चित रूप से पृथक्करण कर देता है, किंतु कार्यविधि श्रमसाध्य है।

स्टर्म की विधि — फ (य) के स्थान पर फ, फ' (य) के स्थान पर फ'···लिखिए। फ और फ' का महत्तम समापवर्तक निकालने की विधि से चलिए। मान लीजिए, पहले पग पर भजनफल $भ_1$ और शेष $श_1$ आता है, तो

$$फ = भ_1 फ' + श_1 ।$$

$श_1$ को अगला भाजक मानने से पहिले उसका चिह्न बदल दीजिए और − $श_1$ = $फ_2$ लिखिए। इस प्रकार

$$फ = भ_1 फ' - फ_2$$

अब फ' को $फ_2$ से भाग दीजिए और शेष का चिह्न बदलकर उसे $फ_3$ से निरूपित कीजिए। इसी प्रकार बढ़ते चलिए।

पहले पहल मान लीजिए कि फ = ० के कोई दो मूल समान नहीं हैं। अंतिम चिह्न परिवर्तित शेष $फ_a$ एक अचर (constant) होगा। चिह्न परिवर्तित शेषों में फ और फ' मिला देने से निम्न-लिखित अनुक्रम (sequence) प्राप्त होगा :

$$फ, फ', फ_2, फ_3, \cdots\cdots फ_a ।$$

इस अनुक्रम को फ (य) के स्टर्म फलनों का समुच्चय [Set of Sturm functions for f (x)] कहते हैं।

अब मान लीजिए कि क, ख दो वास्तविक संख्याएँ हैं, जिनमें से कोई भी फ (य) = ० का मूल नहीं है और क < ख। अब स्टर्म फलनों में य = क रखकर देखिए कि कितने चिह्न परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार य = ख रखकर भी देखिए कि चिह्न परिवर्तनों की संख्या कितनी आती है। पहली संख्या में से दूसरी संख्या को घटाइए। जितनी संख्या आए, फ (य) = ० के उतने ही वास्तविक मूल क और ख के बीच में स्थित होंगे।

यदि समीकरण के कुछ बहुमूल भी हों, तो ऐसे प्रत्येक मूल को गिनती के लिये केवल एक ही मूल मानिए। इस प्रकार यदि कोई मूल तीन बार आवृत होता है, तो उन तीनों मूलों का एक ही मूल माना जायगा।

फूर्ये की विधि इससे सरल है। स्टर्म फलनों के स्थान पर फ, फ', फ"......लिखिए, जिनमें फद, फ का द वाँ अवकल गुणांक है। यदि कोई मूल त बार आए, तो उसके अलग अलग त मूल गिनिए। उपर्युक्त अनुक्रम में जितने चिह्न परिवर्तन होंगे, या तो उतने ही वास्तविक मूल क और ख के बीच में स्थित होंगे, या यदि उससे कम हुए, तो दोनों का अंतर एक पूर्णांक होगा।

मूलों का परिकलन (Computation of Roots) — जब कोई मूल वियोजित हो चुकता है तब उसका परिकलन दशमलव रूप में हॉर्नर (Horner) की विधि (१८१९) द्वारा किया जा सकता है, जिसमे एक एक करके दशमलव स्थान मिलते चले जाते हैं। उक्त विधि में क्रमशः मूल के पीछे पीछे चला जाता है। प्रत्येक पग पर मूलों की वास्तविक धन संख्याओं के उत्तरोत्तर जोड़ों में से छोटी संख्या को घटाते जाते हैं। मान लीजिए कि कोई वास्तविक मूल २०० और ३०० के बीच में स्थित है। एक समीकरण $फ_1$ (य) = ० ऐसा बनाइए जिसके मूल फ (य) = ० के मूलों से क्रमशः

२००, २०० कम हों। तब $फ_1 (य) = ०$ का केवल एक मूल ० और १०० के बीच में स्थित होगा। उपर्युक्त दोनों विधियों में से किसी विधि से यह पता चलाइए कि यह मूल किस दशक में स्थित है। मान लीजिए कि मूल ६० और ७० के बीच में स्थित है, तो इतना पता चल गया कि $फ (य) = ०$ का मूल २६० और २७० के बीच में स्थित होगा। अब एक समीकरण $फ_2 (य) = ०$ ऐसा बनाइए जिसके मूल $फ_1 (य) = ०$ के मूलों से ६०, ६० कम हों। मान लीजिए कि $फ_2 (य) = ०$ का मूल ५ और ६ के बीच में स्थित है, तो अब इतना पता चल गया कि $फ (य) = ०$ का मूल २६५ और २६६ के बीच में स्थित होगा। इसी प्रक्रम (process) को बार बार दुहराइए। इस प्रकार किसी भी दशमलव स्थान तक मूल का मान निकाला जा सकता है।

एक विधि न्यूटन ने भी दी है। यह विधि ऐसे समीकरणों पर जो बीजगणितीय न हों लगाई जा सकती है। न्यूटन का ही दिया हुआ उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। समीकरण

$$य^3 - २ य - ५ = ०$$

का एक मूल २ और ३ के बीच में स्थित है। उसका मान निकालने के लिये य के स्थान पर २ + ट रखें, जिसमें ट < १। $ट^2$ और $ट^3$ की उपेक्षा करने से, हमें ट = ·१ प्राप्त होता है। अतः मूल का स्थूल मान २·१ हुआ। अब ट समीकरण में ट के स्थान पर ·१ + ट रखने से ट का निकटतम −०·००५४ प्राप्त होता है। इस प्रकार मूल का मान लगभग २·०९४६ प्राप्त हुआ। इसी प्रक्रम को बार बार करने से मूल का जितना चाहें उतना निकटतम मान प्राप्त किया जाता है। इस नियम का सिद्धांत यह है कि टेलर प्रसार (Taylor expansion) में से केवल पहले दो पद ले लिए जायँ, शेष की उपेक्षा की जाय। इस प्रकार, यदि निम्न सीमा ब है, तो

$$फ (ब + ट) = फ (ब) + ट फ' (ब),$$

$$\text{अर्थात्}\ ट = - \frac{फ (ब)}{फ' (ब)}$$

द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ घात समीकरणों के बीजगणितीय हल — इस प्रक्रम में पहला काम तो यह किया जाता है कि समीकरण को एक दूसरे समीकरण में परिणत कर देते हैं, जिससे अज्ञात राशि के पदों की संख्या कम हो। विशेषकर, द्वितीय उच्चतम घातवाले पद को हटा दिया जाता है। समीकरण

$$क_0 य^न + क_1 य^{न-1} + \dots + क_न = ०$$

में य = र + ट रखने से $र^{न-1}$ का गुणांक स ट $क_0$ + $क_1$ हो जाता है। अतः यदि ट = − $क_1$/स $क_0$ लिया जाए, तो नए समीकरण में द्वितीय पद नहीं रहेगा। यदि र − समीकरण को हल कर लिया जाए, तो मौलिक समीकरण के मूल निकल आएँगे। इस प्रकार, वर्ग समीकरण

$$क य^2 + ख य + ग = ०$$

के लिये ट = − ख/२क और र − समीकरण होगा $र^2$ = ला,

$$\text{जिसमें ला} = \frac{ख^2 - ४ क ग}{४ क^2} \text{ और } य = \frac{-ख \pm \sqrt{ख^2 - ४ क ग}}{२ क}$$

घन समीकरण

$$क_0 य^3 + क_1 य^2 + क_2 य + क_3 = ०$$

के लिये ट = − $क_1$/३ $क_0$ और स्थानापतन र = य − $क_1$/३ $क_0$ से समीकरण

$$र^3 + प र + फ = ० \qquad (अ)$$

प्राप्त होगा, जिसमें प और फ, क − ओं के पदों में होंगे। यदि इस समीकरण के मूल $र_1$, $र_2$, $र_3$ हों, तो य के मान निकाले जा सकते हैं।

समीकरण (अ) के मूल व्येटा (Vieta) ने निकाले थे। उसने र = ल − प/३ ल स्थानापतन करके $ल^3$ का वर्ग समीकरण $ल^6$ + फ $ल^3$ − $प^3$/२७ = ० प्राप्त किया था। आजकल कारडेन (Cardan) द्वारा दिए गए सशोधित रूप का प्रयोग किया जाता है। यदि समस्त मूल वास्तविक हों, तो अलघुकरणीय दशा (Irreducible case) प्राप्त होती है और उपर्युक्त विधि अनुपयुक्त हो जाती है। ऐसी दशा में समीकरण (अ) में र = त ल रखकर परिणामी समीकरण की तुलना

कोज्या ३छ = ४ कोज्या^{3} छ − ३कोज्या छ से की जाती है। इस प्रकार, प्राप्त होता है

$$ल = \text{कोज्या}\ छ,\ त = \sqrt{\frac{-४ प}{३}},\ \text{कोज्या}\ ३ छ = - \frac{फ}{२\sqrt{\frac{-प^3}{२७}}}$$

अतः ल के तीन मान निकल आते हैं :

कोज्या छ, कोज्या (छ + १२०), कोज्या (छ + २४०)।

सार्विक चतुर्घात समीकरण

$$य^4 + क_1 य^3 + क_2 य^2 + क_3 य + क_4 = ०$$

का हल फेरारी (Ferrari) ने निकाला था। इसके लिये उसने समीकरण के दोनों ओर (म य + ख)^2 जोड़ दिया था और समीकरण के बाएँ पक्ष की तुलना

$$(य^2 + क_1 य/२ + ठ)^2$$

से करके, ठ का मान निकाला था। गुणांकों की तुलना और तत्पश्चात् म का विलोपन (elimination) करने से, ठ के लिये एक घन समीकरण प्राप्त होता है। उक्त घन समीकरण को लघुकारक त्रिघाती (Reducing Cubic), अथवा विश्लेषक त्रिघाती (Resolvent Cubic) समीकरण कहते हैं और इसके मूल निकालने से म और ख के मान प्राप्त होते हैं। इस प्रकार चतुर्घात समीकरण का हल दो वर्ग समीकरणों के हल पर आश्रित होता है और चार मूल प्राप्त होते हैं।

त्रिघात और चतुर्घात समीकरणों पर बहुत सा साहित्य उपलब्ध है, किंतु अब उसका विशेष मूल्य नहीं रह गया है। सन् १७७० से एक नया युग प्रारंभ हो गया, जब लाग्रांज (Lagrange) ने यह उक्ति दी कि किसी बीजगणितीय समीकरण का मूल चिह्नों द्वारा हल एक अन्य समीकरण के, जिसे विश्लेषक कहते हैं, हल पर आश्रित किया जा सकता है। किंतु यह संभव है कि उक्त समीकरण को हल करना भी उतना ही कठिन हो जितना मौलिक समीकरण को हल करना। विश्लेषक के मूल मौलिक समीकरण के मूलों के परिमेय फलन होते हैं। उक्त गवेषणा कार्य में आधुनिक गालवा

सिद्धांत की नींव दिखाई पड़ती है, जिसमें प्रतिस्थापन समूहों (substitution gruops) का प्रयोग किया जाता है। [शा० ना० म०]

समुच्चय सिद्धांत (Theory of Aggregates, or Sets) किसी भी प्रकार के अवयवों (वस्तुओं, विचारों या संकल्पनाओं) के समूह को समुच्चय कहते हैं। स्थूल रूप से अंग्रेजी समुच्चय के पर्याय सेट (set), ऐग्रिगेट (aggregate), क्लास (class), डोमेन (domain) तथा टोटैलिटी (totality) हैं। समुच्चय में अवयवों का विभिन्न होना आवश्यक है। यदि x समुच्चय A का कोई अवयव है, तो हम लिखते है : $x \in A$। सभी अवयवों का ब्योरा न देकर, उन्हें नियम द्वारा भी बताया जा सकता है, जैसे विषम संख्याओं का समुच्चय। B को A का उपसमुच्चय (Subset) तब कहते हैं, जब B का प्रत्येक अवयव A का सदस्य हो और इसे इस प्रकार लिखते हैं : $B \subset A$ अथवा $A \supset B_1$ इसे यों भी पढ़ते हैं : B, A में समाविष्ट है। यदि A में कम से कम एक ऐसा अवयव हो जो B का सदस्य नहीं है और B, A का उपसमुच्चय है, तो B को A का वास्तविक (proper) उपसमुच्चय कहते हैं। ऐसे समुच्चय को, जिसका एक भी अवयव न हो, शून्य (null) समुच्चय कहते हैं और इसे ϕ से प्रकट करते है। शून्य समुच्चय सैद्धांतिक विवेचन मे उपयोगी होते हैं। समुच्चयों पर मूल क्रियाएं ये हैं : तार्किक (logical) योग, तार्किक गुणन, तार्किक व्यवकलन। दो समुच्चयों का योग A + B, जिसे $A \cup B$, अर्थात् A और B का संघ (union) भी कहते हैं, उन सभी अवयवों का, जो A और B दोनों मे या किसी एक में हो, समुच्चय है। दो समुच्चयों का गुणनफल A B, जिसे $A \cap B$ भी लिखते हैं और जिसे A तथा B का सर्वनिष्ठ (intersection) कहते हैं, उन सभी अवयवों का, जो A तथा B दोनों के सदस्य हैं, समुच्चय है। अंतर A – B उन अवयवों का, जो A में हैं किंतु B में नहीं हैं, समुच्चय है। यदि $B \subset A$, तो A – B को A के प्रति B का संपूरक (complement), कहते हैं। तार्किक योग और गुणन सामान्य बीजगणित के साहचर्य (associative), क्रमविनिमेय (commutative) और वितरण (distributive) नियमों के अतिरिक्त एक नये वितरण नियम का पालन करते हैं : $A + BC = (A + B)(A + C)$ और $(A - B)(A - C) = A - (B + C)$, किंतु $(A + B) - C$ कभी कभी $A + (B - C)$ से भिन्न हो सकता है।

दो समुच्चयों का कार्तीय गुणनफल $A \times B$ उन सभी युग्मों (x, y) का समुच्चय है, जिनमें पहला अवयव x, A का है और दूसरा अवयव y, B का समुच्चय है। हम देखेंगे कि $A \times B \neq B \times A$, किंतु $(A + B) \times C = (A \times C) + (B \times C)$, $(AB) \times C = (A \times C)(B \times C)$, अर्थात् कार्तीय गुणनफल, क्रमविनिमेय नियम का नहीं, वितरण नियम का पालन करता है। समुच्चयों के परिमाणों की तुलना एकैक संगतता (one to one correspondence) की संकल्पना पर आधारित है। अनंत समुच्चय की यह विशेषता है कि इसके अवयवों की एकैक संगति एक उसके कुछ वास्तविक उपसमुच्चयों से स्थापित की जा सकती है (देखें संख्या)।

समुच्चय सिद्धांत सारे गणित का आधार है। इसका विवेचन सर्वप्रथम जॉर्ज कैंटर ने किया था और १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसका विशेष विकास हुआ।

सं० ग्रं० — जॉर्ज कैंटर : कंट्रीब्यूशंस टु दि थ्योरी ऑव ट्रैंस फाइनाइट नंबर्स; जे० ई० लिटिलवुड : एलिमेंट्स ऑव दि थ्योरी ऑव रीयल फंक्शंस (१९२८); ई० डब्ल्यू० हॉब्सन : दि थ्योरी ऑव फंक्शंस ऑव ए रीयल वैरिएबिल, खंड १ (१९२७)।

[ह० चं० गु०]

समुद्री जीवविज्ञान के अंतर्गत महासागरों, सागरों एवं उनके तटों के पादप एवं प्राणियों की संरचना, जीवनवृत्त तथा उनकी प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। ऐसे अध्ययन वैज्ञानिक तथा आर्थिक महत्व के होते हैं, जैसे खाद्य मछलियों के प्रवास (migration) का अध्ययन। समुद्री जीवविज्ञान के अध्ययन से समुद्री जीवों के जीवनवृत्त पर विभिन्न भौतिक एवं रासायनिक कारकों (जैसे ताप, दाब, प्रकाश, धारा, पादप पोषक, लवणता आदि) के विभिन्न प्रभावों को जानने में सहायता मिलती है।

समुद्री जीवों की किस्में — समुद्री जीव दो प्रकार के होते हैं : पौधे तथा प्राणी। समुद्र में केवल आदिम समूह थैलोफाइटा (Thallophyta) और कुछ आवृतबीजी (Angiosperm) पौधे ही पाए जाते हैं। समुद्रों में मॉस (देखें हरिता) तथा पर्णांग (moss and fern) बिल्कुल नहीं पाए जाते। अधिकांश समुद्री पौधे हरे, भूरे तथा लाल शैवाल (algae) हैं (देखें शैवाल)। शैवाल आधार से संलग्नक द्वारा जुड़े रहते हैं। ये ५० मीटर से कम की गहराई में पाए जाते हैं। समुद्री पौधों मे वास्तविक जड़ें तथा वाहिनीतंत्र नहीं होते, अतः ये पौधे अपनी सामान्य सतह से भोजन अवशोषित करते हैं। इन पौधों मे जनन सूक्ष्म बीजाणुओं (spores) द्वारा होता है। इनके बीजाणु अस्पष्ट नर या मादा पौधे में, जिसे युग्मकोद्भिद पीढ़ी (gametophyte generation) कहते हैं, परिवर्धित हो जाते हैं। यह पीढ़ी फिर बीजाणु उत्पन्न करनेवाली बीजाणुउद्भिद् पीढ़ी (sporophytic generation) पैदा करती है। तैरते हुए परागकणों द्वारा निमग्न फूलों का परागण होता है, जिससे वास्तविक बीज बनते हैं। समुद्री प्राणियों द्वारा संलग्न पौधों का उपयोग खाद्य पदार्थ के रूप मे किया जाता है। प्रमुख खाद्य सामग्री के रूप में सूक्ष्म उत्प्लावक, डायटम (diatom), पादप समभोजी (holophytes) तथा डाइनोफ्लैजिलेट्स (dinoflagellates) ही प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि ये अत्यधिक संख्या में पाए जाते हैं। इनका जनन भी सरलता से होता है। समुद्र मे जीवाणुओं (bacteria) की संख्या भी अत्यधिक होती है, परंतु इनका महत्व केवल कार्बनिक वस्तुओं के क्षय (decay) तक ही सीमित है।

समुद्र में प्राणिजगत् का असाधारण विकास हुआ है। लगभग सभी बड़े संघों के प्रतिनिधि और कुछ संघ, जैसे टिनोफोरा

(Ctenophora), इकाइनोडर्मेटा (Echinodermata), फोरोनिडी (Phoronidea), ब्रैकियोपोडा (Brachiopoda) तथा कीटोग्नेथा (Chaetognatha), के समस्त प्राणी केवल समुद्र मे ही पाए जाते हैं। अलवण जल की मछलियों का विकास समुद्री मछलियों से ही हुआ है। सरीसृप (reptilia) समूह के साँप तथा कछुए, स्तनपायी (mammalia) समूह के ह्वेल, समुद्री गाएँ (sea cows), सील (seal) तथा शिशुक (porpoise) आदि प्राणी समुद्र में पाए जाते हैं।

समुद्री जीव प्रदेश — समुद्री जीव-विज्ञान के अध्ययन को सरल बनाने के लिये समुद्री वातावरण को विभिन्न खंडो एवं प्रदेशों में विभक्त कर दिया गया है। यह विभाजन संयुक्त भौतिक एवं जैविक (physical and biological) निष्कर्ष पर आधारित है। प्रधानत. दो मुख्य प्रदेश होते हैं. (१) नितलस्थ (Benthic) और (२) वेलापवर्ती (Pelagic)। नितलस्थ प्रदेश में तलीय प्राणी तथा वेलापवर्ती प्रदेश मे तल से लेकर समुद्र की सतह तक के प्राणी आते हैं। ये दोनो प्रदेश एक दूसरे से सरलता से विभेदित किए जा सकते हैं। इनके कई उपखंड भी किए गए हैं।

नितलस्थ प्रदेश के ऊपरी भाग को वेलांचली (Littoral) भाग कहते हैं। वेलांचली भाग पुन. दो उपखंडो, यूलिटोरल (Eulittoral) तथा सबलिटोरल (sublittoral), में विभक्त किया गया है। गहरा समुद्री नितलस्थ निकाय (deep sea benthic system) भी दो क्षेत्रों में विभक्त किया गया है. पूर्व नितलस्थ (२०० से १,००० मीटर) तथा वितलीय नितलस्थ क्षेत्र (१,००० मीटर से समुद्र तल तक)। वेलांचली क्षेत्र के अंदर एक ज्वारांतर क्षेत्र भी होता है, जिसमें समुद्र का तटवर्ती क्षेत्र आता है। यह क्षेत्र ज्वार से आच्छादित तथा अनाच्छादित होता रहता है। इस क्षेत्र के संलग्न पादप साधारणतया धीमी गति से बढ़नेवाले तथा लचीले होते हैं, ताकि ये समुद्री लहरों से अपना बचाव कर सकें। ज्वारांतर क्षेत्र के प्राणियों की किस्म इस क्षेत्र के रेतीले अथवा चट्टानी किस्म पर निर्भर करती है। साधारणतः अनाच्छादित चट्टानी तट के प्राणी हृष्ट पुष्ट होते हैं। बहुधा इन प्राणियों के ऊपर भारी धारारेखित कवच (stream-lined shells) और चूषक सदृश रचनाएँ होती हैं। ये रचनाएँ बंद आसंजित कवच को चट्टानों से चिपकाए रखती हैं। इस प्रकार ये प्राणी समुद्री लहरों के प्रभाव से बचे रहते हैं और भाटा के समय अपने अंदर कुछ पानी रोक भी लेते हैं। बहुत से मोलस्का (Mollusca), नलिका कृमि (Tube worms) तथा बॉर्नैकिल्स (Bornacles) स्थायी रूप से चट्टानों से जुड़े रहते हैं।

गहरे वेलांचली क्षेत्र में संलग्न पौधे अधिकता से पाए जाते हैं। प्रशात महासागर के केल्प बेड (Kelp beds) मे १०० फुट लंबे मैक्रोसिस्टिस (Macrocystis) तथा नेरिओसिस्टिस (Nereocystis) पाए जाते हैं, यद्यपि अधिकांश शैवाल छोटे होते हैं। इस क्षेत्र मे आकर्षक लाल शैवाल पाए जाते है। इनका उपयोग ऐगार (agar) के उत्पादन में होता है।

सूर्य का प्रकाश गंभीर समुद्री नितलस्थ निकाय के केवल उथले क्षेत्र में ही संकुचित हो सकता है। वितलीय क्षेत्र में घोर अंधकार रहता है। इस क्षेत्र का पानी एक सा ठंढा रहता। इस क्षेत्र में मुख्य भोजन का उत्पादन नहीं होता। इस प्रकार मुख्य खाद्य की कमी के कारण यहाँ पर प्राणियों की संख्या भी कम होती है।

वेलापवर्ती क्षेत्र में प्लवक (plankton) तथा तरणक (nekton) अधिक पाए जाते हैं। इस क्षेत्र में समुद्रतल के ऊपर का सारा पानी आता है। तटीय जल से २०० मीटर तक के जल क्षेत्र को नेरेटिक प्रदेश (Neretic province) तथा इससे अधिक गहरे जल के क्षेत्र को महासागरी प्रदेश कहते हैं। यद्यपि इन दोनों प्रदेशो को एक दूसरे से अलग करनेवाली सीमा स्पष्ट नही होती, फिर भी इनमें अलग अलग किस्म के प्लवक तथा तरणक होते हैं। उदाहरण के लिये, तलीय प्राणियों के अंडे तथा बच्चे और जेली फिश (jelly fish) की एकल अवस्थाएँ नेरेटिक क्षेत्र के विशिष्ट अस्थायी प्लवक हैं। नेरेटिक डायटम अधिकाधिक सुप्त बीजाणु (resting spores) उत्पन्न करते हैं। ये बीजाणु प्रतिकूल परिस्थितियों मे डूबकर तल में चले जाते हैं। महासागरी प्रदेश में अपेक्षाकृत अनकूल परिस्थियाँ पाई जाती हैं। अतः इस क्षेत्र के पौधे नेरेटिक क्षेत्र की तरह सुप्त बीजाणु नहीं पैदा करते। महासागरी सतह के प्राणी नीले रंग के होते हैं। महासागरी क्षेत्र के गहरे जल में जहाँ सूर्य का प्रकाश या तो कम रहता है या रहता ही नहीं, प्राणियों का रंग बहुधा लाल, भूरा, बैंगनी काला, अथवा काला होता है। ३०० से ३५० मीटर तक की गहराई में पाए जानेवाले प्राणियों में, विशेषकर मछलियों में, प्रकाशोत्पादक अंग पाए जाते हैं। ये अंग विशिष्ट प्रतिरूपों में व्यवस्थित रहते हैं (देखें, मत्स्य)। संभवतः इससे अन्य प्राणियों को पहचानने में सुविधा होती है। मध्यवर्ती गहराई के नीचे अंधी मछलियाँ (blind fishes) तथा स्क्विड (squid) पाए जाते हैं। इनमें प्रकाशोत्पादक अंग नहीं होते। तलीय मछलियों (bottom living fishes) को आँखें होती हैं। संभवतः इनका उपयोग वे प्रकाशोत्पादक अंग द्वारा उत्पन्न प्रकाश में करती हैं।

समुद्र के मूल पारिस्थितिक कारक (Ecological Factors) — ये निम्नलिखित दो प्रकार के होते हैं : (१) भौतिक-रसायनिक कारक तथा (२) जैव कारक।

१. भौतिक-रसायनिक कारक

जैविक महत्व के भौतिक-रसायनिक कारक साधारणतया परस्पर प्रभावशील होते हैं। ये कारक विभिन्न एवं जटिल तरीकों से जीवों के ऊपर प्रभाव डालते हैं।

(क) समुद्री जल माध्यम — समुद्री जल रासायनिक दृष्टि से अत्याधिक योग्य जैविक माध्यम है, क्योंकि इसमें जीवों की संरचना तथा पोषण के लिये आवश्यक तत्व विलयन के रूप में मौजूद रहते हैं। समुद्री जल की लवणता और अधिकांश समुद्री जीवों के, विशेषकर अपृष्ठवंशियों के, देह तरल (body fluid) की लवणता लगभग समान होती हैं। इससे बाह्य वातावरण और आंतरिक देह तरल के मध्य अनुकूल परासरण संबंध बना रहता है। यह समपरासारी संबंध (isotonic relationship) देह में तरल की उचित सांद्रता

को बनाए रखने में उत्सर्जन अंगों को सहायता पहुँचाता है। इसी कारण इन प्राणियों में अभेद्य कचा की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह अलवण जल के प्राणियों की अतिपरासारी (hypertonic) दशा से सर्वथा भिन्न है, जिसमें देह तरल बाह्य वातावरण की अपेक्षा अधिक सांद्र होने के कारण परासरण द्वारा तनु होता रहता है।

सामान्यत: समुद्री जल क्षारीय होता है और उसकी बफर (buffer) क्षमता के कारण समुद्री जल के पीएच आयन सांद्रता (pH-ion concentration) मे कोई भी परिवर्तन नहीं हो पाता है। यह कैल्सियम अवक्षेपक प्राणियों के लिये वरदान सदृश है।

समुद्री जल का घनत्व अकवचित प्राणियों को, जैसे जेली फिश, सी ऐनीमोन (sea anemone) तथा श्लथ पौधों को, यांत्रिक सहायता पहुँचाता है और सभी वेलापवर्ती जीवों के उत्प्लावन में सहायक होता है।

(ख) ताप — समुद्री वातावरण का ताप – २° से ३०° सें० के मध्य रहता है। जैविक क्रियाओं का ताप द्वारा नियंत्रित होने का एक उत्कृष्ट उदाहरण कैल्सियम अवक्षेपण में मिलता है। गरम जल में कैल्सियम लवण का अवक्षेपण ठंढे जल की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता है। इसी कारण भारी कवचित प्राणियों का उष्ण कटिबंधी जल में बाहुल्य है। भित्ति (reef) उत्पादित करनेवाले प्रवालों (corals) की वृद्धि के लिये २०° सें०, या इससे ऊपर, का ताप उपयुक्त होता है। इस कारण ये प्रवाल कम अक्षांश के उथले जल में ही पाए जाते हैं।

ऊष्ण कटिबंधी सागरों मे पाए जाने वाले प्राणियों के स्पीशीज की संख्या ठंढे समुद्रों की अपेक्षा अधिक है, पर जनसंख्या का घनत्व साधारणतया कम है। ठंढे जल के प्राणियो का आकार उसी जाति के गरम जल में पाए जानेवाले प्राणियों से बड़ा होता है। प्लवकों के बारे में यह कहा जा सकता है कि ठंढे जल की अधिक श्यानता (viscosity) इसके लिये अंशत: उत्तरदायी है, क्योंकि अधिक श्यानता के कारण बड़े आकार के जीव कम ऊर्जा व्यय करने के बाद भी अधिक दिनों तक जीवित रहते हैं २५° सें० से ०° सें० ताप हो जाने पर श्यानता दुगनी हो जाती है। यह परिवर्तन तैरनेवाले जीवों के लिये, जिनका घनत्व इस प्रकार के जल के समान होता है, अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ठंढे जल के जीवों मे लैंगिक परिपक्वता के पूर्व का वर्धनसमय लंबा होता है और संभव है कि इसी कारण इन जीवों का आकार तथा आयु बड़ी होती हो।

(ग) ऑक्सीजन — समुद्री जल में ऑक्सीजन की अधिकतम मात्रा केवल नौ मिली० प्रति लीटर होती है, जबकि हवा में यह मात्रा २०० मिली० प्रति लीटर होती है। महासागरों के मध्य गहराई में न्यूनतम ऑक्सीजन स्तर (minimum oxygen layer) पाया जाता है। तल पर या इसके पास कई खाड़ियों मे ऑक्सीजन या तो बहुत कम, या नहीं ही पाया जाता है। इस कारण तल के अधिकांश जीव पराश्रयी होते हैं। समुद्री प्राणियों में प्राय: ऑक्सीजन की निम्न मात्रा के प्रति सहन शक्ति की अधिकतम क्षमता होती है। इसका प्रमाण कैलेनस (Calanus) का, ७०° सें० तापवाले जल से, जिसमें ऑक्सीजन की मात्रा एक मिली० प्रति लीटर से भी कम थी, प्राप्त होना है।

मंदगामी नितलस्थ प्राणी कभी कभी अत्यधिक न्यून मात्रा वाले तलीय कीचड़ में पाए जाते हैं। जहाँ ऑक्सीजन बिल्कुल नहीं होता है, वहाँ केवल अनॉक्सी जीवाणु (anaerobic bacteria) ही जीवित रह सकते हैं। ऑक्सीजनहीन बहुत से वातावरण है, उदाहरण के लिये कृष्ण सागर का गहरा जल। साधारणत: महासागरों में प्राणी के श्वसन के लिये प्रचुर ऑक्सीजन पाया जाता है।

(घ) प्रकाश — यह पौधों के प्रकाशसंश्लेषण (photosynthesis) में प्रयुक्त होनेवाली ऊर्जा का प्रमुख स्रोत है। प्रकाश का प्राणियों की संरचना एवं उनके व्यवहार के साथ भी घनिष्ठ संबंध होता है। प्रकाश वेलापवर्ती प्राणियो के दैनिक प्रवास (migration) के नियंत्रण में उद्दीपन का कार्य करता है। यह कार्य विशेषतया ५० से ३०० मी० तक गहराई में पाए जानेवाले प्लवकों के दैनिक प्रवास में होता है।

सूर्य के प्रकाश में कोपिपोडा (Copepoda) तथा कीटोग्नथा (Chaetognatha) समूह के प्राणी समुद्री सतह से दूर अंदर की ओर चले जाते हैं, परंतु सूर्यास्त के समय धीरे धीरे सतह की ओर आने लगते हैं। इन दोनों समूहों के प्राणियों की संख्या समुद्र की सतह पर सूर्यास्त से मध्य रात्रि तक अधिक रहती है।

३०० से १००० मी० तक की गहराई में सूर्य के प्रकाश की कमी तथा वितलीय गहराई में सूर्य के प्रकाश की अनुपस्थिति के कारण वहाँ के प्राणियों मे विविध रूपांतरण एवं अनुकूलन पाए जाते हैं, जैसे एकसमान शारीरिक रंग, प्रकाशोत्पादक रचनाएं आदि। प्रकाशोत्पादक रचनाओं सहित विभिन्न प्रकार के स्पर्शक अंग (tentacular organs) इन प्राणियों की विशिष्टता हैं।

(च) पादप पोषक — समुद्री जल मे, इसके खारेपन के लिये आवश्यक लवणों के अतिरिक्त, कुछ पोषक लवण, जैसे नाइट्रेट (nitrates), फ़ॉस्फ़ेट् (phosphates), लोहा आदि, भी होते हैं। लवणता की तरह पोषक लवणों की सांद्रता पादप प्लवकों के अनियमित प्रयोग के कारण बदलती रहती है।

(छ) जल परिसंचरण — यह पौधों की वृद्धि के लिये एक मुख्य कारक है। आरोही जलधारा, या मंद गति विसरण (diffusion), द्वारा ही पादप पोषकों का परिवहन गहरे स्तर से ऊपरी सतह पर होता है। उथले जल मे परिसंचरण पर्याप्त गहरा होता है, ताकि वहाँ पर पोषक तत्व इसके साथ खिंचकर ऊपर आ सकें। इसलिये तटीय क्षेत्र में समुद्री जीव प्रचुरता से पाए जाते हैं।

प्राणियों के साथ जल संचरण का संबंध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिस्थितिकारक ही होता है। जल संचरण के साथ जल का वायु परिसचरण भी होता है।

२. जैव कारक (Organic Factors)

इसके अंतर्गत जीवों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है। ये मुख्यत: पोषण संबंधी होते हैं। इन संबंधों की मूल अभिमुखता (fundamental aspect) की जानकारी के लिये हम

पहले सूक्ष्म जीवों (पादप प्लवक तथा प्राणि प्लवक) का वर्णन करेंगे।

(क) वेलापवर्ती जीव — समुद्रतल के केवल २ प्रति शत भाग में ही, संलग्न पौधों की वृद्धि के लिये, सूर्य का यथेष्ट प्रकाश पहुँच पाता है और इसका भी अधिकांश पौधों के लिये उपयोगी नहीं होता। विपुल पादप पोषकों के उपयोग के लिये समुद्र की सतह से ५० मीटर की गहराई तक डायटम, डाइनाफ्लैजिलेट् तथा दूसरे सूक्ष्म पादपों ने अपना निष्क्रिय प्लवमान अस्तित्व बना लिया है। इन पादपों के प्लवमान होने का एक प्रमुख कारण इनका छोटा आकार है। मूल परिवर्धन तथा कोशिकाओं द्वारा माला निर्माण इन पौधों के अतिरिक्त अनुकूलन हैं। इन सभी कारणों से इन पौधों की जनसंख्या में यथेष्ट वृद्धि हुई। अन्य कई विशेष कारणों से केवल ये ही पौधे अपना एकाधिकार बनाए हुए है। सैरागोसा (Saragossa) समुद्र मे मुक्त रूप से पाए जानेवाले सैरागॉसम के अपतृण (Saragossam weed) इसका अपवाद है। यह एक वेलावली शैवाल (littoral algae) है, जो समुद्री धाराओं के साथ इस क्षेत्र में आ गया है।

प्रकीर्णित एवं सूक्ष्म पादपों के विपुल संभरण के उपयोग के लिये, विशेष प्रकार के पादपभोजी जीवों की आवश्यकता पड़ी। इस माँग की पूर्ति के लिये शाकाहारी 'फिल्टर फीडरों' (Filter feeders) का एक प्लवकीय समूह, जिसमें मुख्यत: कोपिपोडा (Copepode) समूह के छोटे छोटे प्राणी (०·०५ से ८ मिमी०) हैं, उत्पन्न हुआ। इन समूहों की संख्या अत्यधिक है। इनके अतिरिक्त प्रोटोज़ोआ (Protozoans), नितलस्थ अपृष्ठवंशियों की अर्भक अवस्थाएँ तथा कुछ विशेष मछलियाँ भी छोटे छोटे पादपभोजी हैं।

इन छोटे छोटे पादपभोजियों के दो मुख्य कार्य हैं : (१) सूक्ष्म प्राथमिक पोषकों का उपयोग तथा (२) प्राथमिक पोषकों का प्राणी पोषक में परिवर्तन। इस परिवर्तित भोजन का उपयोग प्लवकभोजी मछलियाँ, जैसे हेरिंग (Herring), मैकल (Mackeral) आदि, करती है। ये मछलियाँ कोपिपोड्स तथा अन्य प्लवकों को भी खाती है। स्तनपायी समूह का एक प्रमुख प्लवकभोजी ह्वेलबोन ह्वेल (whale-bone Whale) है। यह सबसे बड़ा ज्ञात प्राणी है।

वेलापवर्ती परभक्षी प्राणियों में ह्वेल का नाम उल्लेखनीय है। स्पर्म ह्वेल (sperm whale) स्किवड आदि को खाने के लिये गहरे पानी मे गोता लगाता है। परभक्षियों में सर्वाधिक बहुभोजी किलर ह्वेल (Killer Whale) है।

नितलस्थ जीव — समुद्र तल में रहनेवाले प्राणियों की संरचना तथा पोषण सिद्धांत के अध्ययन के लिये समुद्री जल में निलंबित सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व महत्वपूर्ण है। बारनेकिल (barnacle), क्लैम (clam) मसल (mussels), स्पंज (sponges), नलिका कृमि (tube worm) आदि डूबते हुए प्लवकों को खाते है। इन प्राणियों को निलंबन भोजी (suspension feeder) कहते है। समुद्री जल मे ग्रहणशील नितलस्थ भोजी प्राणियों की भी कमी नहीं है। केकड़ा (crab), लॉब्सटर (lobster), तलीय मछलियाँ, सेफैलोपॉड (Cephalopods), सी-स्टार (sea star) आदि अपमार्जकों, प्लवकों तथा स्वयं एक दूसरे को खाते हैं।

बहुत से नितलस्थ प्राणी विशिष्ट समुदायों में रहते हैं। एक समुदाय के विभिन्न प्राणियों में एक ही प्रकार की आवश्यकताएँ तथा खारेपन की एक ही सहनक्षमता होती है। ऐसे प्राणी वातावरण को ऐसा बना सकते हैं ताकि उनके समान अन्य प्राणी भी उनके समुदाय में सम्मिलित हो सके। ऐसा वे आगंतुक प्राणियों को अपने समुदाय में भोजन, शरण तथा आवश्यक पदार्थों को देकर करते है। समुद्री प्राणियों मे सहवास भी पाया जाता है। समुदाय के अंदर रहनेवाले प्राणियों में अन्य ऐच्छिक तथा घनिष्ठ संबंध, जैसे सहयोजिता (commensalism), सहजीवन, परजीविता आदि, भी पाए जाते हैं।

समुद्री जीवविज्ञान के अध्ययन के तरीके — किसी भी क्षेत्र के समुद्री जीवों की खोज की प्रारंभिक प्रक्रिया वर्णनात्मक होती है। इसमे उस क्षेत्र के पादप तथा प्राणियों की पहचान, उनका आकार तथा उनकी स्थिति आदि का उल्लेख किया जाता है। यह कार्य किसी नए क्षेत्र के लिये अत्यंत कठिन होता है। इसके लिये जीवविज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं के विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। इन विशेषज्ञों द्वारा प्रकाशित सूचना में प्रत्येक स्पीशीज का वर्णन संगृहीत रहता है। ये सूचनाएँ बाद के विश्लेषणात्मक अध्ययन करनेवाले खोजकर्ताओं के लिये लाभप्रद होती है।

जीवों के संग्रह और विश्लेषण करने के तरीके तथा संगृहीत करने के बाद इनका अध्ययन खोजकर्ता के उद्देश्य पर निर्भर करता है। ये उद्देश्य वर्गिकी (Taxonomy), पारिस्थितिकी (Ecology), भ्रूण विज्ञान आदि से संबंधित हो सकते है। इन उद्देश्यों के साथ साथ जीवों के प्रकार तथा उनके वातावरण का भी अध्ययन किया जाता है। 'चैलेंजर' मे डार्विन की प्रसिद्ध खोज यात्रा के बाद से अजैव कारकों के खोज में प्रयुक्त होनेवाले उपस्करों (equipments) तथा प्रक्रियाओं में काफी उन्नति हो गई है। समुद्र में किसी भी गहराई का ताप जानने के लिये प्रतिवर्ती तापमापी का उपयोग किया जाता है। बेथी तापलेखी (Bathy thermograph) द्वारा समुद्र की सतह से लेकर तल तक के ताप का निरंतर अभिलेख प्राप्त हो जाता है। प्रकाश की तीव्रता प्रकाश-वैद्युत-यंत्र (photoelectric apparatus) से मापी जाती जाती है। रासायनिक प्रक्रिया के अंतर्गत ऑक्सीजन का मानांकन, लवणता तथा अन्य मुख्य पादप पोषक लवणों का अध्ययन किया जाता है।

पारिस्थितिक जानकारी के लिये किसी क्षेत्र के एक इकाई अवकाश (unit space) में पाए जानेवाले किसी स्पीशीज के व्यष्टियों की संख्या का निर्धारण एवं बाह्य वातावरण से संबंधों का अध्ययन किया जाता है। समुदाय के अन्य पादपों एवं प्राणियों से इनके पोषण संबंध का अध्ययन भी पारिस्थितिकी के अंतर्गत ही आता है। भ्रूण विज्ञान के अध्ययन के लिये जीवित नमूने प्रयोगशाला में लाए जाते हैं, जहाँ इनके जीवनवृत्त की प्रत्येक अवस्थाओं का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। विभिन्न प्रकार के पौधे तथा

उनके बीजाणु भी अध्ययन हेतु लाए जाए जाते हैं। अन्य प्रकार के अध्ययन भी, जैसे परासरणी संतुलन (osmotic balance), ऑक्सीजन की खपत, प्रकाशीय प्रभाव आदि, किए जाते हैं।

ज्वारांतर प्रदेश के नितलस्थ संग्रह में साधारण खुदाई करनेवाले उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। गहरे जल में निकर्षण (dredge) करने के लिये शक्तिचालित अथवा पाल नौकाओं का उपयोग किया जाता है। सूक्ष्म पादप प्लवकों को अधिक मात्रा में एकत्रित करने के लिये, रेशम के बने जालों का उपयोग होता है। परंतु गुण विषयक अध्ययन के लिये 'जल बोतल' (शीशे का १ ली० क्षमतावाले बेलनाकार बर्तन), जिनको किसी भी ऐच्छिक गहराई पर बंद किया जा सकता है, प्रयुक्त होते हैं। प्राणिप्लवकों का वितरण अनियमित होने के कारण बड़े बड़े जालों का उपयोग किया जाता है। व्यापारिक दृष्टिकोण से मछलियों का पकड़ना एवं उनका अध्ययन भी इसी विज्ञान का एक अंग है। इसके लिये विभिन्न प्रकार के उपकरण परिस्थिति विशेष में प्रयुक्त होते हैं।

संसार के प्राय: सभी देशों मे विशेष समुद्री जैवकेंद्र स्थापित किए गए है। इनमें से कुछ विश्वविद्यालयों एवं शेष सरकार के अधीन हैं। इन केंद्रों पर बड़ी बड़ी प्रयोगशालाएँ होती हैं, जिनमें भिन्न भिन्न विषयों के विशेषज्ञों द्वारा पादपों तथा प्राणियों के संबंध में शोध किए जाते हैं। [नं० कु० रा०]

समुद्रीय मानचित्र (Naval Chart) एक समुद्री नक्शा होता है, जो विशेषतया नाविकों के उपयोग के लिये तैयार किया जाता है। यह समुद्रतल के स्वरूप एवं उसकी विषमताओं को अभिव्यक्त करता है और नाविकों के लिये अधिकतम उपयोगी सूचना देता है। यह नाविकों को सागर और महासागर में नौचालन एवं एक बंदरगाह से दूसरे बंदरगाह तक जल पर यात्रा करने में सहायता करता है। इसकी सहायता से नाविकों को जहाज की भूमि से सापेक्ष स्थिति, स्टियरिंग की दिशा, जलयात्रा की दूरी और संकटक्षेत्र का ज्ञान होता है।

मानचित्र में जलक्षेत्र छोटे छोटे अंकों से अंकित रहता है। ये अंक, जो फ़ैदम अथवा फुट, अथवा दोनों में किसी विशेष स्थिति में औसत ज्वार भाटा के जल की गहराई को अभिव्यक्त करते हैं। स्थल का सर्वेक्षण कितनी ही सावधानी से क्यों न किया गया हो, परंतु यदि चार्ट में गहराई की माप न दिखाई जाए, तो चार्ट व्यर्थ रहता है। समुद्र की गहराई गहराई-मापी-डोर, तार अथवा ध्वानिक विधि से ज्ञात की जाती है। गहराई की माप को ज्ञात करने में प्रतिध्वनिक विधि का अनुप्रयोग निरंतर बढ़ता जा रहा है। इस विधि में पोतजल से एक विद्युत् आवेग संचारित किया जाता है, जो समुद्रतल पर आघात कर प्रतिध्वनि के रूप में परावर्तित होता है और जलफोन (hydrophone) से प्राप्त कर लिया जाता है। यदि समयांतर को ठीक प्रकार से माप लिया जाय, तो जल में ध्वनिवेग की जानकारी की सहायता से समुद्र की गहराई का मापन किया जा सकता है।

अक्षांश के प्रेक्षण के लिये अंगीकृत विधियों में से एक, कृत्रिम क्षितिज में सेक्सटैंट द्वारा प्रेक्षित नक्षत्रों का परियाम्योत्तर (circum meridian) उन्नतांश ज्ञात करना है। कालमापी (chronometer) त्रुटि प्राप्त करने के लिये सेक्सटैंट और कृत्रिम क्षितिज द्वारा सूर्य अथवा नक्षत्रों की समान ऊँचाई का उपयोग करते हैं। असर्वेक्षित, अथवा सर्वेक्षित, क्षेत्रों के चार्ट को प्राय: बारीक रेखा मे खींचते है, जिसको केवल देखने मात्र से अनुभवी नाविक समझ जाते है कि सावधानी की आवश्यकता है।

समुद्रीय तथा सामान्य चार्ट जलराशिसर्वेक्षण विभाग द्वारा संकलित किए जाते और खींचे जाते हैं तथा प्रकाशन के समय शुद्धता का ध्यान रखते हैं। [रा० कु०]

समूह (Groups) कभी कभी गणित मे ऐसी क्रियाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं जब उनमे से एक एक करके दो क्रियाएँ की जायँ तो फल वही निकलता है, जो उसी प्रकार की एक ही क्रिया से निकल आता। तनिक इन चार संख्याओं पर विचार करे :

$$१, -१, \sqrt{-१}, -\sqrt{-१}।$$

जिन्हें इस प्रकार भी लिख सकते हैं :

$$१, -१, ए, -ए।$$

यदि किसी राशि को इनमे से दूसरी और तीसरी संख्याओं से गुणा करे, तो वही फल निकलेगा तो जो अकेली चौथी संख्या से गुणा करने से निकलता है। इसी प्रकार, यदि उपर्युक्त संख्याओं मे से किन्ही दो से किसी राशि को गुणा करें, तो वही फल निकलता है जो उक्त संख्याओं में से एक ही संख्या से गुणा करने से निकल सकता है।

इस प्रकार की क्रियाओं के समुच्चय (set) को बंद समुच्चय कहते हैं और क्रियाओं के इस गुण को समूह गुण (Group property) कहते हैं।

प्रतिस्थापन समूह (Substitution Groups) — इस संबंध में सबसे पहला अध्ययन प्रतिस्थापन के बंद समुच्चयों का किया गया था और इनका प्रयोग सर्वप्रथम अक्षरों और चिह्नों पर किया गया था। गाल्वा (Galois) ने ऐसे बंद समुच्चय को संघ का नाम दिया था। तनिक इस अक्षरविन्यास पर विचार करें :

$$य_१ य_२ य_३ य_४ य_५ य_६ य_७$$

मान लें कि इन अक्षरों के क्रम को बदलकर इस प्रकार लिखते है :

$$य_४ य_२ य_१ य_३ य_६ य_५ य_७$$

तो स्पष्ट है कि पहले चार प्रत्ययों १ २ ३ ४ का हेरफेर इस प्रकार ४ २ १ ३ हुआ है और प्रत्ययों ५ ६ का पारस्परिक हेरफेर ६ ५ हुआ है। सातवें प्रत्यय को ज्यों का त्यों छोड़ दिया गया है। पहले चार प्रत्ययों में से भी दूसरे प्रत्यय का स्थान अक्षुण्ण रखा गया है। अब मान लें कि इसी क्रमपरिवर्तन को इस प्रकार लिखते है :

$$(य_१ य_४ य_३) (य_५ य_६)$$

पहले कोष्ठक का यह अर्थ है कि $य_१$ के स्थान पर $य_४$ रखो,

$य_४$ के स्थान पर $य_३$ और $य_३$ के स्थान पर $य_१$। इसी प्रकार दूसरे कोष्ठक का अर्थ यह है कि $य_५$ के स्थान पर $य_६$ रखो और $य_६$ के स्थान पर $य_५$। यदि हम अपनी संकेत लिपि को और भी संक्षिप्त करना चाहें, तो उक्त प्रतिस्थापन को इस प्रकार भी लिख सकते हैं : (१ ४ ३) (५ ६)। प्रत्येक कोष्ठक के अंदर एक **प्रतिस्थापन चक्र** (cycle) पूरा हो जाता है।

यदि किसी समुच्चय के अक्षरों पर प्रतिस्थापन प लगाया जाय और फिर नए क्रम पर प्रतिस्थापन फ लगाया जाय, तो इन दोनों क्रियाओं को मिलाकर प्रतिस्थापन पफ कहेंगे। यह प्रतिस्थापन क्रिया व्यत्ययशील नहीं है। उदाहरण के लिये मान लें कि प ($य_१ य_२ य_३$) और फ = ($य_१ य_२$), तो प का फल होगा $य_२ य_३ य_१$। इस पर प्रतिस्थापन फ लगाने का फल होगा $य_३ य_२ य_१$। अब देखना चाहिए कि प्रतिस्थापन फ प का क्या परिणाम निकलता है। समुच्चय $य_१ य_२ य_३$ पर फ लगाने का फल होगा $य_२ य_१ य_३$, और इस फल पर प लगाने का परिणाम होगा $य_१ य_३ य_२$। स्पष्ट है कि यह फल प फ के फल से भिन्न है। अत: प फ ≠ फ प। जिस प्रतिस्थापन में केवल दो अक्षरों का एक चक्र हो, उसे पक्षांतरण (Transposition) कहते हैं।

यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि प्रतिस्थापनों का गुणन सहचरणशील (associative) है। अत: प(फ ब) = (प फ)ब।

अमूर्त (Abstract) समूह — यदि किसी समूह की ऐसी परिभाषा दी जाए जिसका उक्त समूह के तत्वों के गुणों से कोई संबंध न हो, तो ऐसे समूह को अमूर्त समूह कहते हैं। साधारणतया अमूर्त समूह निम्नलिखित नियमों का पालन करते हैं :

(१) समुच्चय के किन्हीं दो तत्वों क, ख का गुणनफल एक तीसरा तत्व ग होगा, जो उसी समुच्चय का एक तत्व होगा, अर्थात् क ख = ग।

(२) तत्व सहचरणशील होते हैं, अर्थात्

क (ख ग) = क ख ग = (क ख) ग।

(३) समुच्चय में एक तत्व ऐ ऐसा भी होता है कि प्रत्येक तत्व क के लिये क ऐ = ऐ क = क। उक्त तत्व को **सर्वसम तत्व** (Indentical element) कहते हैं।

(४) समुच्चय के प्रत्येक तत्व क का एक व्युत्क्रम तत्व $क^{-1}$ ऐसा होता है कि क $क^{-1}$ = $क^{-1}$ क = ऐ

सं० ग्रं० — एच० हिल्टन : ऐन इंट्रोडक्शन टु दि थिअोरी ऑव ग्रूप्स ऑव फाइनाइट ऑर्डर (१९०८); एल० ई० डिक्सन : लीनियर ग्रूप्स विद ऐन एक्सपोजिशन ऑव दि गाल्वा फील्ड थिअोरी (लाइप्जिग) १९०१; डब्ल्यू बर्नसाइड : थिअोरी ऑव ग्रुप्स ऑव फाइनाइट ऑर्डर (द्वितीय संस्करण १९१७)। [ब्र० मो०]

सम्राट् प्राचीन भारतीय नृपतंत्री राजाओं का एक पद था। वैदिक युग के उत्तरार्ध से प्रत्येक शक्तिशाली राज्य साम्राज्य पद पाने का प्रयत्न करने लगा। ऐतरेय ब्राह्मण (अष्टम, १४.२.३) में विभिन्न भारतीय क्षेत्रों में भिन्न भिन्न प्रकार के राज्यों का वर्णन आया है और कहा गया है कि प्राची दिशा के राजा सम्राट् पद के लिये अभिषिक्त होते थे। मगध में प्रथम भारतीय साम्राज्य का विकास इतिहास से भी ज्ञात है। आगे चलकर सम्राट् के लिये चक्रवर्ती, सार्वभौम और एकराट् आदि विरुदों का भी प्रयोग होने लगा। वास्तव में ये सभी शब्द उस शासक के बोधक होते थे, जिसे स्वयं पूर्ण प्रभुसत्तात्मक शक्ति प्राप्त हो और जो अपने से बड़े किसी दूसरे राजा की अधिसत्ता न स्वीकार करता हो। अमरकोश (क्षत्रिय वर्ग ८) में सम्राट् उसे कहा गया है जो राजसूय का कर्ता, अन्य राजाओं का नियंत्रक और मंडलेश्वर अर्थात् द्वादश राजमंडल का केंद्र (विजिगीषु) हो। कुछ काल बाद लिखी जानेवाली शुक्रनीति में (१.१८२ और आगे) अनेक प्रकार के शासकों का वर्गीकरण उनकी आय के आधार पर किया गया है। उस क्रम में सामंत, माडलिक, राजा, महाराजा और स्वराट् से बड़ा सम्राट् होता था जिसकी आय १ से १० करोड़ कार्षापण के बीच होती। सम्राट् के ऊपर विराट् और सार्वभौम रखे गए हैं। परंतु सम्राट् पद और साम्राज्य का आधार आर्थिक था, यह स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता। वास्तव में उसका आधार राजनीतिक शक्ति थी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में (गा० ओ० सीरीज, पृष्ठ ९२) सम्राट् उस विजेता को कहा है जो दक्षिण समुद्र से हिमालय तक की सारी भूमि का विजय कर ले। किंतु वहीं वह स्थल चक्रवर्ती क्षेत्र भी कहा गया है। स्पष्ट है कि सम्राट् और चक्रवर्ती पर्यायवाची पद के रूप में व्यवहृत होते थे। कई शताब्दियों पूर्व कौटिल्य ने भी आसेतु हिमालय क्षेत्र को चक्रवर्ती क्षेत्र माना था (अर्थ०, नवम, १)। वायु (४५.८०-८७) और मत्स्य (११३.९-१५) में भी साम्राज्य क्षेत्र का यही विस्तार मिलता है। किंतु यह आदर्श मात्र था, जिसे चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे कुछ ही सम्राट् प्राप्त कर सके थे। गुप्तोत्तरकाल के सम्राट् पदवीधारी अनेकानेक शासकों में कोई भी उस आदर्श को पूर्णत: नहीं प्राप्त कर सका। [वि० पा०]

सरकार, यदुनाथ (जदुनाथ) (१८७०-१९५८) का जन्म १० दिसंबर १८७० को राजशाही (पू० पाकिस्तान) से ८० मील उत्तर-पूर्व करछमरिया गाँव के एक धनाढ्य कायस्थ घराने में हुआ। शिक्षा राजशाही और कलकत्ते में हुई। १८९२ में एम० ए० की परीक्षा अंग्रेजी साहित्य में प्रेसीडेंसी कालेज से प्रथम श्रेणी में पास की और न केवल सर्वप्रथम रहे, किंतु अपने प्राप्त अंकों द्वारा एक नया रेकार्ड स्थापित किया। रिपन कालेज और विद्यासागर कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक का कार्य करने के पश्चात् १८९८ में प्रांतीय शिक्षा सेवा में चुन लिये गए और कलकत्ता, पटना तथा उत्कल में क्रमश: अंग्रेजी साहित्य व इतिहास विभाग के अध्यक्ष रहे। सबसे लंबा काल पटना में (१९०२-१९१७, १९२३-१९२६) व्यतीत किया और वहीं से १९२६ में अवकाश ग्रहण किया। १९१७ में उनकी नियुक्ति काशी हिंदू विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के अध्यक्ष के पद पर हुई, किंतु अगले साल किन्हीं कारणों से उसे छोड़कर रेवेंशा कालेज, उत्कल चले गए। निदान १९१९ में ब्रिटिश सरकार ने इनकी योग्यता पहिचानी और भारतीय शिक्षासेवा में इनकी नियुक्ति

की। अवकाश ग्रहण करने के बाद दो साल के लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय के अवैतनिक उपकुलपति रहे। १९२३ में ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सी० आई० ई० और १९२६ में 'सर' की पदवी प्रदान की। १९४१ तक उन्होंने दार्जिलिंग और तत्पश्चात् कलकत्ता को अपना निवासस्थान बनाया, जहाँ १९५८ में उनकी मृत्यु हो गई।

यदुनाथ सरकार की पहली पुस्तक 'इंडिया ऑव औरंगजेब, टॉपोग्राफी, स्टेटिस्टिक्स ऐंड रोड्स' (India of Aurangzeb : Topography, Statistics and Roads) १९०१ में प्रकाशित हुई। 'औरंगजेब का इतिहास' (History of Aurangzeb) के प्रथम दो खंड १९१२ में छपे। इस पुस्तक का तृतीय खंड १९१६ में, चतुर्थ खंड १९१९ में और पाँचवाँ तथा अंतिम खंड १९२८ में छपा। उनकी पुस्तक 'शिवाजी ऐंड हिज टाइम्स (Shivaji and His Times) १९१९ में प्रकाशित हुई। इन पुस्तकों में फारसी, मराठी, राजस्थानी और यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का सावधानी से उपयोग कर सरकार ने ऐतिहासिक खोज का महत्वपूर्ण कार्य किया और मूलभूत सामग्री के आधार पर खोज करने की परंपरा को दृढ़ किया। विशेष रूप से जयपुर राज्य में सुरक्षित फारसी अखबारात और अन्य अभिलेखों की ओर ऐतिहासिकों का ध्यान आकर्षित करने और उनको खोज कार्य के लिये उपलब्ध कराने का महान् कार्य सरकार ने किया। उनकी दृष्टि में औरंगजेब एक महान् विभूति था जिसने भारत को राजनीतिक एकतंत्र में बाँधने का प्रयास किया, किंतु अपनी योग्यता और अथक परिश्रम के बावजूद अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता के कारण असफल रहा। शिवाजी ने भी एक नए एकतंत्र की नींव डाली, किंतु मराठा समाज की जातिव्यवस्था की विषमता को वह दूर न कर सके। अन्य मराठी नेताओं ने भी महाराष्ट्र के बाहर रहनेवाले हिंदुओं को लूट पाटकर संकीर्णता का सबूत दिया। स्पष्ट है कि सरकार सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता को भारत के राजनीतिक ऐक्य का सबसे बड़ा शत्रु समझते थे।

उत्तर मुगलकालीन भारत की ओर यदुनाथ सरकार का ध्यान विलियम इरविन कृत 'लेटर मुगल्स १७०७-१७३९' का संपादन करते समय (१९२२) आकर्षित हुआ। १७३९ से १८०३ तक मुगल साम्राज्य के विघटन और सूबाई रियासतों के उत्थान का इतिहास उन्होंने चार खंडों में १९३२ और १९५० के बीच (हिं० मुगल साम्राज्य का पतन, १९६१) प्रकाशित किया। ऐतिहासिक कला की दृष्टि से यह उनकी प्रौढ़तम रचना है। यदुनाथ सरकार की भाषा प्रभावशाली और सारगर्भित होते हुए भी बोझिल नहीं होती। ऐतिहासिक घटनाओं से नैतिक निष्कर्ष भी वे स्थान स्थान पर निकालते हैं।

यदुनाथ सरकार की अन्य कृतियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं —

'एनेकडोट्स ऑव औरंगजेब' (१९१२, तीसरा संशोधित संस्करण, १९४९); 'चैतन्याज लाइफ़ ऐंड टीचिंग्ज' (१९२२, मूल लेख १९१२), 'स्टडीज इन मुगल इंडिया' (१९१९) 'मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन', (दोनों खंड १९२५); 'बेगम समरू' (१९२५); 'इंडिया थ्रू दी एजेज' (१९२८); 'ए शार्ट हिस्टरी ऑव औरंगजेब' (१९३०); 'बिहार ऐंड उड़ीसा ड्यूरिंग द फॉल ऑव द मुगल एंपायर' (१९३२); 'हाउस ऑव शिवाजी' (१९४०), 'मआसिर – ए – आलमगीरी' (अंग्रेजी अनुवाद, १९४७); 'हिस्टरी ऑव बंगाल' (दूसरा भाग, संपा०, १९४८); 'पूना रेजीडेंसी कारेस्पॉन्डेंस' (Poona Residency correspondence) जिल्द १, ८ व १४ संपादित १९३०, १९४५, १९४९) 'आईन - ए - अकबरी' (जैरेट कृत अनुवाद का संशोधित संस्करण, (१९४८-१९५०); 'देहली अफ़ेयर्स, १७६१-१७८८' (१९५३); 'मिलिटरी हिस्टरी ऑव इंडिया' (१९६०)।

सरकार ने जयपुर राज्य का इतिहास भी लिखा। [स० चं०]

सरकैशिया (Circassia) सोवियत संघ में, उत्तर पश्चिमी कॉकेशस पर्वतक्षेत्र में एक ऐतिहासिक क्षेत्र है। यह क्षेत्र प्रशासनिक दृष्टि से दो स्वशासित भागों में विभाजित है : अदिगेइ (Adygei) और चेरकेस (Cherkess)। अदिगेइ क्षेत्र का क्षेत्रफल ४,४२० वर्ग किलोमीटर है, जो कूबान (Kuban) नदी की सहायक बेलाया (Belaya) नदी की घाटी में स्थित है। माइकॉप (Maikop) इसकी राजधानी है। पूर्व में चेरकेस क्षेत्र है, जिसका क्षेत्रफल ४,००४ वर्ग किलोमीटर है। चेरकेस्क (Cherkessk) इसकी राजधानी है। निचले क्षेत्रों की मुख्य फसलें गेहूँ और सूर्यमुखी हैं तथा पर्वतीय भागों में लकड़ी काटना व पशुपालन मुख्य व्यवसाय हैं। मध्य युग में सरकैशियावासी काकेशस पर्वतों में रहते थे। १० वीं से १३ वीं शताब्दी तक सरकैशिया जार्जिया के शासन के अंतर्गत रहा, फिर कई शताब्दियों तक सरकैशिया स्वतंत्र रहा। सन् १८२९ ई० में सरकैशिया पर रूस का पूर्ण शासन कायम हुआ। फलस्वरूप लगभग पाँच लाख सरकैशियावासी टर्की और बल्गेरिया चले गए और अब केवल ९३,००० (१९५०) सरकैशियावासी रह गए हैं। इस क्षेत्र में निवास करनेवाली ही अन्य जातियों में रूसी और कॉकेशियाई जातियाँ हैं।

उच्च वर्ग के सरकैशियावासी मुसलमान हैं। सरकैशियावासी स्त्रियाँ सुंदरता के लिये प्रसिद्ध हैं और एक समय बादशाहों के हरम के लिये इनकी बड़ी चाह थी। [स० सि० ढ़०]

सरगुजा जिला, भारत के मध्य प्रदेश राज्य में स्थित है। इसके उत्तर में उत्तर प्रदेश का मिर्जापुर जिला तथा मध्य प्रदेश का सीधी जिला, पश्चिम में शहडोल जिला, दक्षिण में बिलासपुर जिला, दक्षिण-पूर्व में रायगढ़ जिला और पूर्व में बिहार का पालामऊ जिला स्थित है। इस जिले का क्षेत्रफल ८,९२६ वर्ग मील एवं जनसंख्या १०,३९,७३८ (१९६१) है। जिले के प्रमुख नगर अंबिकापुर, चिरमिरी तथा महेंद्रगढ़ हैं। जिले की प्रमुख नदियाँ कन्हर, रीहर और माहान हैं। ये उत्तर में सोन की ओर बहती हैं।

सांक नदी दक्षिण की ओर बहकर ब्राह्मणी नदी में मिल जाती है। उपर्युक्त नदियों में से कोई भी नौगम्य नहीं है। जिले का पूर्वी पठार और पर्वतश्रेणियाँ कायांतरित शैलों से निर्मित हैं तथा जिले एवं छोटा नागपुर के मध्य रोध का कार्य करती हैं। जिले के पहाड़ी जंगलों में प्रमुख वृक्ष साल है। बाघ, चीता, भालू, जंगली भैंसे, गवाल और हरिण यहाँ पाए जाते हैं। मेंाइलान (४,०२४ फुट ऊँची) तथा जाम (३,८२७ फुट ऊँची) प्रमुख पर्वत चोटियाँ हैं। इमारती लकड़ियों के अतिरिक्त, कत्था, लाख तथा टसर रेशम अन्य जंगली उत्पाद हैं। विश्रामपुर कोयला क्षेत्र है और अनुमान लगाया गया है कि यह क्षेत्र लगभग ४०० वर्ग मील में विस्तृत है। चिरमिरी की कोयला खानों से कोयला निकाला जाता है। धान जिले की प्रमुख फसल है। धान के अतिरिक्त मक्का, मड़ुआ, कोदो, तेलहन, कपास, सन, जौ एवं गेहूँ की फसल उपजाई जाती है। जिले में विस्तृत चरागाह हैं, जहाँ उत्तर प्रदेश राज्य के मिर्जापुर और बिहार के पालामऊ जिलों के पशु चरने के लिये भेजे जाते हैं। [प्र० ना० मे०]

सरदार कवि ये काशिराज श्री ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आश्रित कवि थे। इन्होंने अपने को ललितपुर के निवासी हरिजन कवीश्वर का आत्मज लिखा है। इनके पिता ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। बंदीजन कविवर सरदार का रचनाकाल संवत् १९०२ से १९४० तक माना गया है। ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी पर काव्यरचना करनेवालों में ये अपने समय के वस्तुतः सरदार थे। इनकी शृंगार तथा भक्ति विषयक रचनाओं में पर्याप्त माधुर्य है। शृंगार के क्षेत्र में इनकी अंतर्वृत्ति अधिक रमी हुई दीख पड़ती है जिसके कारण नायिकाभेद एवं ऋतुवर्णन में इन्हें अच्छी सफलता मिली है। इनकी भाषा आलंकारिक एवं अनुप्रासयुक्त है। सरदार कवि की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि प्राचीन काव्यों की इनकी सरस टीकाएँ सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। टीकाओं में इन्होंने अपने प्रिय शिष्य कविवर नारायण से भी सहायता ली है जिसका उल्लेख कई स्थलों पर है। यह इनके हृदय की विशालता का परिचायक है। आश्रयदाता के प्रशस्तिवर्णन में इन्होंने भी परंपरानुसार अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। काशिराज से इन्हें काफी संमान और धन प्राप्त हुआ था।

कृतियाँ — साहित्यसरसी, हनुमतभूषण, मानसभूषण, तुलसीभूषण, व्यंग्यविलास, षट्ऋतुवर्णन, रामायणरत्नाकर, साहित्यसुधाकर, रामलीलाप्रकाश आदि। टीकाएं — सुखविलासिका, दूसरा नाम काशिराजप्रकाशिका (रसिकप्रिया की टीका), कविप्रिया का तिलक, सूरकृत दृष्टिकूट का तिलक, बिहारी सतसई का तिलक। शृंगारसंग्रह (प्राचीन काव्यसंग्रह)।

सं० ग्रं० — खोजविवरण १९०९-११; आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास। [राम० पा०]

सरदेसाई, गोविंद सखाराम (१८६५-१९५९) का मराठों के अर्वाचीन इतिहासकारों में अग्रगण्य स्थान है। जन्म १७ मई १८६५ को कोंकण, महाराष्ट्र, के गोविल ग्राम में। वह कर्हाड ब्राह्मण थे और इनके पितामह ने छत्रपति शिवाजी, पेशवा, प्रतिनिधि इत्यादि की सेवा की। बाद में आर्थिक स्थिति गिर जाने के कारण पिता सखाराम महादेव ने खेती की। गोविंद सखाराम का बाल्यकाल काफी कठिनाई से बीता। शिक्षा रत्नगिरि, फर्ग्युसन कालेज पूना, और एलफिंस्टन कालेज बंबई, में प्राप्त की। १८८८ में बी० ए० की डिग्री प्राप्त करने के बाद बड़ौदा रियासत के महकमा खास में उनकी नियुक्ति हो गई और अगले ३७ वर्ष तक बड़ौदा राज्य की सेवा में रहे तथा जागीरदारों के लड़कों और महाराजकुमार को शिक्षा देने का कार्य भी करते रहे। १८९२ और १९११ के बीच वे सर सयाजीराव गायकवाड़ के साथ कई बार यूरोप गए। गोविंद सखाराम को पारिवारिक सुख न मिल सका। उनके दोनों प्रतिभाशाली पुत्र युवावस्था में ही तपेदिक के शिकार हो गए। १९२५ में उन्होंने राज्य से मनमुटाव के कारण एक छोटी पेंशन पर अवकाश ग्रहण किया।

उन्हें बाल्यकाल से ही इतिहास की ओर रुचि थी। उन्होंने विविध विषयों पर पुस्तकें लिखीं और मराठी में अनुवाद किया। १८९९ में 'मुसलमानी रियासत' प्रकाशित की (संशोधित संस्करण १९२७-२८)। तीन वर्ष बाद 'मराठी रियासत' का प्रथम खंड छपा। यह रचना ९ खंडों में अगले तीस वर्षों में पूरी हुई, और इसी बीच विविध खंडों के कई संशोधित खंड भी प्रकाशित हुए। यदुनाथ सरकार से उनका संपर्क १९०४ में प्रारंभ हुआ और एक आजीवन मैत्री में परिणत हो गया। यदुनाथ सरकार से ऐतिहासिक विषयों पर उनका पत्रव्यवहार १९५८ में दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ (Life and Letters of Sir Jadunath Sarkar, ed. H. R. Gupta)। अवकाश ग्रहण करने के बाद उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य पेशवा दफ्तर के अभिलेखों का ४५ जिल्दों में बंबई सरकार के तत्वावधान में प्रकाशन था (पेशवे दफ्तर निवडक कागदपत्र, Selections from the Peshwa Daftar; 1930-1934)। मराठी इतिहास के लिये और १८वीं शती के इतिहास के लिये यह ग्रंथ बहुमूल्य है, यद्यपि पैसों की तंगी, सरकार की जल्दबाजी इत्यादि के कारण संपादकीय दृष्टि से इसमें बहुत सी त्रुटियाँ हैं।

सरदेसाई के अन्य प्रकाशनों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं — 'सरदेसाई घराण्याचा इतिहास' (रजि० १९२५ १९२९); 'मेन करेंट्स ऑव मराठा हिस्टरी' (१९२५, संशोधित २ रा संस्करण १९४८); हैंडबुक टु द रेकार्ड्स इन द एलिएनेशन ऑफिस पूना (Handbook to the Records in the Alienation Office, Poona); 'ऐतिहासिक पत्रव्यवहार' (१९३३); 'ब्याकालचीं पत्रें' (१९३४); शाहजी, शिवाजी, सभाजी, राजाराम की जीवनियाँ (१९३५-१९३६); 'पूना अफेयर्स' (संपादित, मैलेट, पामर, क्लोज तथा एलफिंस्टन की एंबेसियाँ १९३६, १९४०, १९५०, १९५८) (Poona Affairs : Embassies of Mallet, Palmer, close and Elphinstone)।

मराठा इतिहास के अपने लंबे अध्ययन का निचोड़ सरदेसाई ने अपनी पुस्तक 'न्यू हिस्टरी ऑव द मराठाज' (New History of the Marathas, हिं०, मराठों का नवीन इतिहास, १९४६-

१९६४) में छपा। यह ग्रंथ मराठा इतिहास की पुरानी और नवीन अध्ययनप्रवृत्ति के बीच की कड़ी है।

मृत्यु पूना के पास अपने निवासस्थान कमशेट में हुई। [स० चं०]

सरस्वती १. ब्रह्मा की मानसपुत्री जो विद्या की अधिष्ठात्री देवी मानी गई हैं। इनका नामांतर शतरूपा भी है। इसके अन्य पर्याय हैं, वाणी, वाग्देवता, भारती, शारदा, वागेश्वरी इत्यादि। ये शुक्लवर्णा, श्वेत वस्त्रधारिणी, वीणावादनतत्परा तथा श्वेतपद्मासना कही गई हैं। इनकी उपासना करने से मूर्ख भी विद्वान् बन सकता है। माघ शुक्ल पंचमी को इनकी पूजा की परिपाटी चली आ रही है। देवी भागवत के अनुसार ये ब्रह्मा की स्त्री हैं।

२. एक पौराणिक नदी जिसकी चर्चा वेदों में भी है। ऋग्वेद (२ ४१ १६-१८) में सरस्वती का अन्नवती तथा उदकवती के रूप में वर्णन आया है। यह नदी सर्वदा जल से भरी रहती थी और इसके किनारे अन्न की प्रचुर उत्पत्ति होती थी। कहते हैं, यह नदी पंजाब में सिरमूर राज्य के पर्वतीय भाग से निकलकर अंबाला तथा कुरुक्षेत्र होती हुई कर्नाल जिला और पटियाला राज्य में प्रविष्ट होकर सिरसा जिले की दृशद्वती (कागार) नदी में मिल गई थी। प्राचीन काल में इस संमिलित नदी ने राजपूताना के अनेक स्थलों को जलसिक्त कर दिया था। यह भी कहा जाता है कि प्रयाग के निकट तक आकर यह गंगा तथा यमुना में मिलकर त्रिवेणी बन गई थी। कालांतर में यह इन सब स्थानों से तिरोहित हो गई, फिर भी लोगों की धारणा है कि प्रयाग में वह अब भी अंत:सलिला होकर बहती है। मनुसंहिता से स्पष्ट है कि सरस्वती और दृषद्वती के बीच का भूभाग ही ब्रह्मावर्त कहलाता था। [मु०]

सरस्वतीकंठाभरण काव्यतत्व का विवेचन करनेवाला सरस्वतीकंठाभरण संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का एक माननीय ग्रंथ है। यह धारेश्वर महाराज भोजदेव की कृति है। महाराज भोजदेव का समय ईसवी सन् १०१०-१०५५ तक इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत किया गया है। अतएव सरस्वतीकंठाभरण का रचनाकाल ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य माना जा सकता है। इसके प्रणेता काव्यप्रकाश के रचयिता मंमट (ई० सन् ११०० के लगभग) से किंचित् पूर्ववर्त्ती हैं। यद्यपि आनंदवर्धन द्वारा ध्वनिसिद्धांत की स्थापना हो चुकी थी तथापि उस समय तक काव्यात्मा के रूप में ध्वनि की मान्यता विवादग्रस्त सी ही थी; अतएव साक्षात् रूप से ध्वनि को काव्य की परिभाषा में आत्मा के रूप में स्थान देने की दृढ़ता न भोजदेव ने ही अपनाई और न भट्ट मंमट ने ही। दोनों आचार्यों ने काव्य मे दोषाभाव तथा गुणवत्ता को प्रधानता दी है। भोजदेव की यह विशेषता है कि उन्होंने अलंकारों की उपादेयता कंठत: स्वीकार की है तथा काव्य के लिये रसान्वित होना आवश्यक समझा है। यों भोजदेव के सरस्वतीकंठाभरण ने अंशत: मंमट को एवं विश्वनाथ को प्रभावित किया है। सरस्वतीकंठाभरण एक दीर्घकाय ग्रंथ है जिसमें पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में रचयिता ने काव्यसामान्य की परिभाषा देने के पश्चात् सर्वप्रथम काव्य के दोष एवं गुण का विवेचन किया है। इसी संदर्भ में भोजदेव ने पद, वाक्य एवं वाक्यार्थगत दोष बताए हैं। हर प्रकार के दोषों की संख्या सोलह है। भोजदेव के अनुसार गुण, शब्दगत और वाक्यार्थ गत होते हैं और प्रत्येक के चौबीस भेद हैं। प्रथम परिच्छेद के अंत में कतिपय दोष कहीं कहीं गुण बन जाते हैं, इस काव्यतत्व को उदाहरण द्वारा समझाते हुए उन्होंने काव्यदोषों का नित्यानित्यत्व स्वीकृत किया है। द्वितीय परिच्छेद में शब्दालंकार का निर्णय करते हुए उन्होने सर्वप्रथम औचिती पर बल दिया तथा जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुंफना, शय्या एवं पठिति का सोदाहरण विवेचन किया है। इन बारह तत्वों मे से रीति को छोड़ शेष तत्वों का विशद विवेचन संस्कृत के किसी अन्य उपलब्ध साहित्यग्रंथ में प्राप्त नहीं होता। बाणभट्ट ने काव्यसौष्ठव के विशेष तत्व, शय्या का उल्लेख किया है परंतु उसकी परिभाषा केवल सरस्वतीकंठाभरण में ही उपलब्ध होती है। तत्पश्चात् यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रहेलिका, गूढ एवं प्रश्नोत्तर अलंकारों के भूरि भेदोपभेदों का सोदाहरण विवरण दिया गया है। इस अंश मे भी सरस्वतीकंठाभरण की सर्वथा निजी विशेषता है। तदनंतर भोजदेव काव्यव्युत्पत्ति के कारणों का विवेचन कर काव्य के तीन भेदों को श्रव्य, दृश्य एवं चित्राभिनय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। दृश्यकाव्य के अंतर्गत उन्होंने दशरूपकों का उल्लेख नहीं किया है वरन् नृत्त एवं नृत्य पर ही उनका विभाजन सीमित है। तीसरे परिच्छेद मे अर्थालंकारों के स्वरूप एवं प्रकार भेद का विवेचन है जो इतर साहित्याचार्यों की अपेक्षा भिन्न स्वरूप को लिए हुए है। चौथे परिच्छेद में उभयालंकारों का विवेचन है जिसमें उपमा आदि अलंकारों के भेदोपभेदों को सविस्तार समझाया है। अंतिम परिच्छेद है रसविवेचन। इसमें नायकादि का तथा विभावों, भावों एवं अनुभावों का विस्तारपूर्वक स्वरूप निर्णय किया गया है; साथ ही साथ काव्यपाक, विविध रतिराग के स्वरूप का भी निर्देश है। अंत मे भारती, कैशिकी आदि वृत्तियों के विवेचन के साथ ग्रंथोपसंहार होता है। सरस्वतीकंठाभरण मे रससिद्धांत की विवेचना प्राय: विषय पर एक विहंगम दृष्टिमात्र है। काव्यगत रस गंभीर विषय है जिसकी गरिमा के साथ पूर्णत: न्याय करने की दृष्टि से भोज ने एक शृंगारप्रकाश नामक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना कर रसविवेचन के अध्याय की पूर्ति की है।

सरस्वतीकंठाभरण की विशेषता यह है कि यह इतर साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों की अपेक्षा व्यापक एवं व्युत्पादक ग्रंथ है। इसके रचयिता भोजदेव ग्रंथविस्तार के भय से भीत होनेवाले नहीं हैं, उदाहरण दे देकर अनेक सूक्ष्म भेद एवं उपभेदों को समझाने का सदा वे उदार प्रयास करते हैं। यद्यपि उनके द्वारा उपस्थापित भेदोपभेदों की मान्यता परवर्ती ग्रंथकारों ने स्वीकृत नहीं की है तथापि उनके तात्विक विवेचन से सहसा असहमत होने की दृढ़ता भी कुत्रापि दृष्टिगोचर नहीं होती।

इस ग्रंथ पर आद्योपांत किसी टीका की रचना नहीं मिलती। पहले तीन परिच्छेदों पर रत्नेश्वर रामसिंहकृत दर्पण टीका तथा चौथे परिच्छेद पर प्रसिद्ध टीकाकार जगद्धर की विवरण नामक टीका उपलब्ध हैं, पंचम परिच्छेद पर टीका नहीं है। यह ग्रंथ निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित है। इसका अनुवाद अभी तक नहीं हुआ है। सरस्वतीकंठाभरण में उद्धृत उदाहरण श्लोकों की सूची और उनके

रचयिताओं की खोज कर एक सूची कर्नल बेकब ने बनाई है, जो इंडिया ऑफिस लायब्रेरी, लंदन में सुरक्षित है। [सु० ना० शा०]

सरस्वती, कवींद्राचार्य ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में भारत में जो श्रेष्ठ तथा दिग्गज आचार्य कवि हुए उनमें कवींद्राचार्य सरस्वती का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे मूलत: महाराष्ट्रांतर्गत गोदावरी नदी के तीरस्थ किसी नगर के निवासी थे। यह स्थान प्रतिष्ठान (संप्रति भैठण) कहा गया है। कवींद्राचार्य आश्वलायन शाखा के ऋग्वेदीय ब्राह्मण थे। बाल्यावस्था में उन्हें सांसारिक विषयों से विरक्ति हुई थी जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने बचपन ही में संन्यासाश्रम में प्रवेश किया। उन्होंने जीवन के प्रारंभिक दिनों में वेद वेदांग काव्यशास्त्र आदि का गंभीर अध्ययन किया था। उनके मूल नाम के संबंध में कोई प्रामाणिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

सन् १६३२ ई० के आस पास वे सदा के लिये काशी में आकर बस गए। काशी मे तत्कालीन पंडितों में उनका विशेष आदर था। वहाँ उनके पास एक उत्कृष्ट अनुपम पुस्तकालय था। उसमें ऋग्वेद, यजुर्वे , व्याकरण, न्याय, वेदांत, मीमांसा, वैशेषिक, ज्योतिष वैद्यक, मंत्र तंत्र पुराण, काव्य, अलंकार, नाटक, शिल्प इत्यादि विविध विषयों के लगभग २२०० ग्रंथ थे। इस पुस्तकालय की पुस्तकों पर कवींद्राचार्य सरस्वती की छाप है। संप्रति ये पुस्तकें बनारस, पूना, बड़ोदा, बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, कलकत्ता आदि स्थानों पर बिखर गई हैं। काशी में अध्ययन करनेवाले अकिंचन छात्र इसका उपयोग करते थे।

कवींद्राचार्य सरस्वती संस्कृत तथा हिंदी के प्रकांड पंडित थे। विद्या की प्रत्येक शाखा मे पारगत थे और इसी के फलस्वरूप शाहजहाँ ने उन्हें 'सर्वविद्यानिधान' पदवी से विभूषित किया था। उनके संस्कृत ग्रंथों में कवींद्रकल्पद्रुम, जगद्विजयछंद, पदचंद्रिका, योगभास्कर, शतपथ ब्राह्मणभाष्य, ऋग्वेदभाष्य, तथा हिंदी ग्रंथों में कवींद्र कल्पलता, ज्ञानसार, समरसार आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रकांड पंडित के अतिरिक्त कवींद्राचार्य सरस्वती हिंदुओं के सांस्कृतिक नेता के रूप में भी विशेष प्रसिद्ध हैं। मुगल सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल में काशी, प्रयाग आदि पवित्र स्थानों पर हिंदुओं से अत्यंत अमानुषिक रीति से यात्राकर वसूल किया जाता था। इस अन्यायमूलक एवं कष्टकारक यात्राकर को हटाने के लिये अनेक राजा महाराजाओं ने प्रयत्न किए परंतु सफलता नहीं मिली। अंत मे काशी के पंडितों ने शाहजहाँ के पास एक प्रतिनिधिमंडल भेजा जिसका नेतृत्व कवींद्राचार्य सरस्वती को सौंपा गया। कवींद्राचार्य ने मुगल दरबार में यात्राकर से परेशान हिंदू जनता की दु:खगाथा का वर्णन ऐसे प्रभावकारी और करुण शब्दों में किया कि उसे सुनकर दरबार के विदेशी राजदूत विस्मयचकित हुए और शाहजहाँ तथा दाराशिकोह की आँखों में आँसू छलक पड़े। उन्होंने तत्काल यात्रा-कर-मुक्ति की घोषणा कर कवींद्राचार्य का संमान किया।

यात्रा-कर-मुक्ति की घटना भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण रही। अन्यायमूलक यात्राकर के हटने से सारा हिंदू समाज हर्षित हुआ और अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिये तत्कालीन पंडितों ने उनके लिये दो अभिनंदनग्रंथ समर्पित किए। संस्कृत ग्रंथ का नाम कवींद्रचंद्रोदय और हिंदी ग्रंथ का नाम है कवींद्रचंद्रिका। कवींद्राचार्य सरस्वती का स्वर्गवास अनुमानत: सन् १६६० ई० में हुआ था। [कृ० दि०]

सरी सक़्ती (शैख़) सरी अल सक़्ती (उपनाम हुसन सरी) बिन अल मुग़्लिस सुन्नी संप्रदाय के एक सूफ़ी थे। जुनैद बग़दादी के चाचा होते थे। नूरी, ख़र्राज़ तथा ख़ैर नस्साज से दीक्षित थे। अपने समय के महान् सूफ़ी, सृष्टि के पथप्रदर्शक और बड़े आलिम (धर्मपंडित) समझे जाते थे। आध्यात्मिक सिद्धांतों में अल मुहासबी के अनुयायी थे। उनके कथनानुसार ईश्वर और मानव प्रेमसूत्र में संबद्ध हैं, और सच्चे प्रेमी को शारीरिक संताप सहन नहीं करना पड़ता। मर्द (पुरुष) वह है जो बाजार में भी ईश्वर के गुणगान में संलग्न रहे। महाबली तथा मल्ल वह है जो अपनी दुरभिलाषाओं को अपने वश में कर ले। उन्होंने यह भी कहा कि जब हृदय में और कोई वस्तु होती है तो यह पाँच बातें वहाँ नहीं होती — ईश्वरभय, आशा, प्रेम, लज्जा तथा अनुकंपा। पुरुष वह है जिससे सृष्टि को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे। जुनैद बग़दादी के कथनानुसार सरी सक़्ती चिंतन तथा ईश्वर-गुणगान में अद्वितीय थे। ६८ वर्षों तक कभी धरती पर नहीं बैठे। इब्ने हंबल ने उनके इस मत का खंडन किया है कि क़ुरान के अक्षर मनुष्य रचित हैं। व्यापार करते थे। ६८ वर्ष की आयु में २८ रमज़ान २५० (८७० ई०) अथवा २५३ (८६७ ई०) को स्वर्गवास हुआ। समाधि बग़दाद में है।

सं० ग्रं० — इब्न अल जौज़ी : तल्बीस इब्लीस (मिस्र, १३४०) १८०-१८७; ख्वाजा फ़रीदुद्दीन उत्तार, तज़किरतुल औलिया (निकलसन द्वारा संपादित) १,२७४-८४; मौलाना अब्दुर्रहमान जामी : नफ़हातुल उंस (नवलकिशोर, लखनऊ १३२३) ५५--५७; दारा शिकोह : सफ़ीनतुल औलिया (उर्दू अनुवाद, करांची, १९६१) ५८--५९; Encyclopaeadia of Islam (London १९३४) ४,१६१। [मु० उ०]

सर्पपुच्छ या एकियूरिडा (Echiurida) यह ऐनेलिडा संघ (phylum Annelida) का एक छोटा विपथी (aberrant) वर्ग (class) है, जिसके जंतु कृमि के रूप के होते हैं। सर्पपुच्छों में एक विशिष्ट मुखपूर्वी पालि (preoral lobe) होती है, परंतु खंडीभवन (segmentation) के केवल चर शेष चिह्न रहते हैं। इनका शरीर रंगीन, थैलीनुमा या बेलनाकार होता है। शरीर के अग्रिम मुखपूर्वी भाग में एक अत्यधिक संकुंचनशील शुंड (proboscis) होता है, जो आसानी से खंडयुक्त हो जाता है। शुंड के अधर (ventral) भाग में एक रोमाभ खाँच (ciliated groove) होती है, जिसके पिछले भाग में उस स्थान पर जहाँ से शुंड देह से निकलता है, मुखद्वार होता है। बोनेलिया (Bonellia) में यह शुंड लंबा होता है और छोर पर दो फाँकों में बँटा होता है। एकियूरस (Echiurus) में शुंड छोटा और लटकता हुआ होता है। सामान्यत: एक जोड़ा ऐंठे हुए सांकुश

शूक अधर भाग में मुँह के थोड़ा पीछे स्थित होते हैं। एकियूरस में एक या दो पंक्ति सांकुश शूक (hooked setae) देह के पश्च (posterier) भाग में भी होते हैं। इन्हें गुदा शूक (Analsetae) कहते हैं।

सर्पपुच्छ सामान्यतः केवल समुद्र में रहते हैं और अधिकतर उष्ण-कटिबंधी (tropical) और उपोष्णकटिबंधी (subtropical) प्रदेश में समुद्रतल पर चट्टानों के सुराख में और पत्थरों के बीच पतली फाँक में छिपे रहते हैं। एकियूरस बालू या कीचड़ में दो मुँह वाली नलियों का निर्माण करता है और उसी में रहता है। सर्पपुच्छों की आदत है कि ये अपना निवासस्थान बारंबार बदलते रहते हैं।

सर्पपुच्छ वर्ग तीन गणों में विभाजित है : (१) एकियूरोइनिया (Echiuroinea), (२) ज़ेनोप्न्यूस्त (Xenopneusta) तथा (३) हिटरोमायोटा (Heteromyota)। एकियूरोइनिया में ११ वंश (genus) और ६७ जातियाँ हैं। ज़ेनोप्न्यूस्त में चार जातियाँ हैं और हिटरोमायोटा में केवल एक जाति है।

देहभित्ति की मांसपेशियाँ एक पत्तर के समान होती हैं, या कई पूलों (bundles) में संगृहीत रहती हैं। त्वचा पर अनेक छोटे छोटे पैपिला (papillae) होते हैं। देह गुहा के पश्च छोर में दो विशिष्ट रचनाएँ होती हैं, जिन्हें गुदा आशय (anal vesicles) कहते हैं। गुदा आशय लंबी नलियों के आकार के होते हैं और कई शाखाओं में विभक्त रहते हैं। ये गुदा आशय देहगुहा में फैले रहते हैं और उत्सर्जन अंगों का काम करते हैं। गुदा आशय की भित्ति में अनेक पक्ष्माभिकामय छिद्र होते हैं, जो देहगुहा में खुलते हैं। दोनों गुदा आशय मलाशय में दोनों तरफ खुलते हैं। इन्हें परिमित वृक्कक (nephridia) माना जाता है।

देहगुहा में कोई विशेष आंत्र योजनी (mesentery) नहीं होती, परंतु देहभित्ति के प्रत्येक भाग से ऊतक सूत्र (strands of tissue) देहगुहा में एक तरफ से दूसरी तरफ फैले रहते हैं और आहार नली की भित्ति से जुड़े रहते हैं। देहगुहा विस्तीर्ण होती है और इसमें तरल होता है, जिसमें बहुत से कण होते हैं। ऐसा समझा जाता है कि इन कणों में हीमोग्लोबिन होता है।

सर्पपुच्छों की आहारनली एक लंबी ऐंठी हुई नली की तरह होती है और कई पृथक् भागों में विभाजित रहती है। एक सहायक आँत (accessory intestine) या साइफन भी होता है। सहायक आँत आहारनली के अग्रभाग (anterior) से निकलती है और आंत्र के पश्चभाग में खुलती है। मलाशय की भीतरी उपकला (epithelium) में अनेक एककोशिक ग्रंथियाँ होती हैं। दोनों गुहा आशय मलाशय के दोनों तरफ खुलते हैं। गुदा देह के अग्रिम भाग में होती है।

संवहन तंत्र (vascular system) में एक पृष्ठवाहिका (dorsal vessel) आहार नली के अग्र भाग में होती है और एक अधर अधितंत्रिकीय वाहिका (ventral supra-neural vessel) होती है। इन दोनों वाहिकाओं में अग्र भाग और पिछले भाग में संबंध रहता है।

एकियूरस में लिंग पृथक् होते हैं। नर और मादा बाहर से समरूप होते हैं। बोनेलिया में नर और मादा का बाह्य स्वरूप बहुत भिन्न होता है। बोनेलिया में नर बहुत छोटे होते हैं और ये मादा के शरीर पर, या शरीर के अंदर, परजीवी की तरह रहते हैं। नर के शुक्राणु (spermatozoa), देहगुहा की उपकला के अस्तर (epithelial lining) के उस भाग से जो अधर अधितंत्रिकीय वाहिका के ऊपर रहता है, उत्पन्न या उद्भूत होते हैं। ये युग्मक (gametes) देहगुहा में स्फुटित होते हैं, जहाँ वे परिपक्व होते हैं, और अग्र वृक्कक के रास्ते बाहर निकलते हैं। अग्र वृक्कक शरीर के अगले भाग में सूराख द्वारा बाहर खुलते हैं। नर की आहार नली बाहर नहीं खुलती। बोनेलिया का रंग हरा होता है। यह हरा रंग एक वर्णक के कारण होता है, जिसको बोनेलिन कहते हैं। बोनेलिन क्लोरोफिल से बहुत भिन्न होता है।

सर्पपुच्छों की केंद्रीय तंत्रिका में एक अधर तंत्रिका रज्जु (ventral nerve cord) होती है, जो पूर्णरूप से देहभित्ति के भीतर होती है। अग्र भाग में यह रज्जु दो भागों में विभाजित हो जाती है और दोनों भाग ग्रासनली (oesophagus) को घेरकर शुंड के अग्र भाग में जुड़ जाते हैं। तंत्रिकाओं की विशेषता यह होती है कि इनमें गुच्छिका शोथ (ganglionic swellings) नहीं होते हैं और तंत्रिका कोशिकाएं (nerve cells) पूरे तंत्र में एक रूप से वितरित रहती हैं। रज्जु के अधर भाग में एक पतली नली होती है। यह नली रज्जु के पश्च भाग और अधिग्रसिका गुच्छिका (supra oesophageal ganglion) में नहीं होती है। सर्पपुच्छ में कोई विशेष ज्ञानेंद्रिय नहीं होती।

एकियूरोइडिया और साइपनकुलोइडिया में कुछ समानताओं के कारण दोनों समूहों को मिलाकर एक वर्ग (class), फ़ाइरिया (Gephyrea), बना दिया गया था। इन दोनों समूहों की समानताएँ, विशेष रूप से वृक्ककों की रचना, देहगुहा के विस्तीर्ण लक्षण और अधर तंत्रिका रज्जु के अकेलेपन में, हैं। परतु ऊपर दी हुई समानताओं के बावजूद कई गहरी असमानताएँ भी हैं, जैसे साइपनकुलोइडिया में मुखपूर्वी पालि तथा गुदा आशय और सांकुश शूक का पूर्ण अभाव। एकियूरोइडिया और साइपनकुलोइडिया में गुदा की स्थिति में भी बहुत अंतर है और साइपनकुलोइडिया में डिंभ और प्रौढ़ दोनों में खंडीभवन का पूर्ण अभाव होता है। इन कारणों से दोनों वर्गों को एक वर्ग में रखना उचित नहीं है और बहुत से लेखकों ने साइपनकुलोइडिया को एक अलग संघ माना है। [प्र० ना० मे०]

सर्पमीन (Eel) ये दृढ़ास्थि मत्स्यों के ऐपोडीज़ गण (order Apodes) के म्युरीनिडी कुल (family Muraenidae) की सर्पाकार मछलियाँ हैं, जिनका जीवनचक्र बहुत अनोखा होता है। ये बामी कहलाती हैं। इनकी कई जातियाँ हैं, जो हिंद महासागर, भूमध्य सागर, ऐटलैंटिक महासागर, प्रशांत महासागर तथा यूरोप के पश्चिमी भाग के समुद्रों में फैली हुई हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध

ऐंग्विला ऐंग्विला (A. anguilla) मैक्सिको के पास बरम्यूडा सागर में अंडे देती हैं, जिनमें से छोटे छोटे चपटे पारदर्शी बच्चे निकलते हैं। ये अनगिनत बच्चे अंडे से बाहर आते ही पूर्व दिशा की ओर चल पड़ते हैं और समुद्र की ऊपरी सतह पर ही रहते हैं। तीन चार वर्षों तक बराबर चलकर, ये तीन हजार मील का सफर पूरा कर लेते हैं और तब इनका शरीर गोल और तीन इंच तक का हो जाता है। कुछ समय और बीतने पर इनका शरीर पतला और सूच्याकार हो जाता है। ये सिकुड़कर कुछ छोटे हो जाते हैं और उनकी आकृति बामी जैसी हो जाती है। इस परिवर्तन के बाद वे मीठे पानी के लिये आतुर हो उठते हैं और समुद्र से उनके झुंड के झुंड नदियों, झीलों और ताल-तलैयों में घुस जाते हैं, जहाँ नर १२ से २० इंच तक लंबे और मादा १४ से २६ इंच तक लंबी हो जाती है। इस प्रकार आठ नौ वर्षों का जीवन बिताने के बाद, सहसा उनमें फिर परिवर्तन होता है। उनका पूरा शरीर रुपहला हो जाता है, आँखें बड़ी हो जाती हैं और थूथन नुकीला हो जाता है। वे एकदम खाना पीना बंद करके, फिर समुद्र की ओर लौटकर पश्चिम की ओर लौट पड़ती हैं। इस प्रकार निरंतर चलकर, वे फिर अपने जन्मस्थान में पहुँच जाती हैं और वहीं अंडे देने के बाद उनकी मृत्यु हो जाती है।

बामी देखने में साँप सी लगती हैं। इनका शरीर लंबा, सुफने मुलायम और शरीर चिकना रहता है। गलफड़ों की जगह इनके दोनों बगल शिगाफ-सी कटी रहती हैं और मुँह में तेज दाँत रहते हैं। पृष्ठीय पक्ष (dorsal Fin) और गुह्य पक्ष (anal Fin) लंबा और पुच्छपक्ष (candal Fin) छोटा रहता है। शरीर का ऊपरी भाग हरछौंह भूरा और बगल का पिलछौंह रहता है।

बामी समुद्रों, नदियों, तालाबों तथा कीचड़ और दलदलों में रहती हैं। ये अक्सर दिन में अपने को कीचड़ में गाड़ लेती हैं और रात में भोजन के लिये इधर उधर फिरने लगती हैं। ये सर्वभक्षी मछलियाँ हैं, जिनकी कोई कोई जाति पाँच फुट तक लंबी होती है और वजन में १० सेर तक पहुँच जाती है। [मु० सि०]

सर्पविद्या सर्पों से मनुष्य आदि काल से ही डरता आया है। उस समय मनुष्य नहीं समझते थे कि सभी सर्प विषधर नहीं होते। अतः सर्प के काटने पर मंत्र का प्रयोग किया जाता था। जब किसी सर्प के काटने से विष नहीं चढ़ता था तो समझा जाता था कि यह मंत्र का प्रभाव है। साँप के काटे पर मंत्र का प्रयोग करना बड़ी उपयोगी विद्या मानी जाती है। वैदिक युग में सर्पविद्या की भी गणना अन्य विद्याओं में की जाती थी। सर्पों को प्रसन्न करने के लिये मंत्र जपे जाते थे और उनके विष का निवारण करने के लिये भी मंत्र का प्रयोग होता था। इस समय भी सर्पदंश के विष को दूर करने के लिये कई प्रकार के मंत्र काम में लाए जाते हैं।

हिंदू लोग नागपंचमी पर सर्पों की पूजा करते हैं। साँप के काटने पर जब मंत्र का प्रयोग किया जाता है तो काटा हुआ मनुष्य प्रभावित होकर कभी कभी बात करने लगता है। यह संभव है कि ऐसे मनुष्य को विषहीन सर्प ने काटा हो। उस मनुष्य की बात साँप की बात मानी जाती है और मंत्रप्रयोक्ता उससे आग्रह करता है कि वह उस मनुष्य को छोड़ दे। ऐसा भी कहा जाता है कि मंत्रशक्ति से काटनेवाला सर्प वहाँ आ जाता है और कभी कभी अपने विष को वापिस चूस लेता है। परंतु इसमें तथ्य कितना है, कहना कठिन है। सर्पदंश पर मंत्रप्रयोग की कई विधियाँ हैं। कोई नीम के झौरे से, कोई झाड़ू से और कोई शस्त्र के द्वारा या अन्य विधि से मंत्र बोलकर विष उतारता है। [म० ला० श०]

सर्वजीववाद या जड़समीहावाद (Animatism) कुछ व्यक्ति जड़ प्रपंच अथवा प्राकृतिक पदार्थों में आत्माओं (spirits) या जीवात्माओं (souls) का तो अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, परंतु उनमें भी एक प्रकार का व्यक्तित्व और इच्छाशक्ति या समीहा (will) मानते हैं। उदाहरणार्थ, वे यह तो नहीं कहेंगे कि कीट पतंगों, पेड़ पौधों, ग्रह उपग्रहों या तारागण आदि में मनुष्य की जैसी आत्माएँ हैं, परंतु वे यह विश्वास अवश्य करते हैं कि इस प्रकार के पदार्थों में भी इच्छाशक्ति या समीहा होती है। मानवों की ऐसी ही आस्था को सर्वजीववाद या जड़समीहावाद कहते हैं। दार्शनिक भाषा में सर्वजीववाद या जड़समीहावाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार भौतिक पदार्थों एवं प्राकृतिक घटनाओं के अंतस्थल में भी (जिनकी व्याख्या वैज्ञानिक व्यक्ति एकमात्र नैसर्गिक नियमों के अन्वेषण और प्रतिपादन द्वारा करते हैं) इच्छाशक्ति के अस्तित्व पर विश्वास किया जाता है।

कुछ विचारकों एवं आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में सर्वजीववाद या जड़समीहावाद मानव का एक प्रारंभिक विश्वासमात्र है, प्रमाण-पुष्ट सिद्धांत नहीं। उनके अनुसार वह मनुष्य के उन मानसिक प्रयत्नों में से एक है जो उसने अपने बौद्धिक जीवन के शैशवकाल में जड़ जगत् के क्रियाकलाप को समझने के लिये किए। चूँकि उसने अपनी अनेक शारीरिक क्रियाओं को अपनी व्यक्तिगत समीहा से समुद्भूत या संचालित होती हुई अनुभव किया था, अतः यह उसके लिये स्वाभाविक ही था कि वह समय समय पर घटनेवाली या सतत होनेवाली प्राकृतिक घटनाओं का भी उद्गम एक प्रकार की व्यक्तिगत समीहा या इच्छाशक्ति को ही माने। परंतु उसकी यह मान्यता या आस्था मानवीय क्रियाओं और प्राकृतिक घटनाओं के अपर्याप्त एवं केवल बाह्य सादृश्य पर ही आधारित होने के कारण तार्किक दृष्टि से समीचीन नहीं समझी जाती, और उसे आवश्यक एवं संबंधित तथ्यों के निरीक्षण न करने के दोष से युक्त भी कहा जा सकता है। जब स्वयं मनुष्य के शरीर की भी अनेक क्रियाएँ, जैसे हृदय की गति, रक्त का संचरण, पाचनक्रिया आदि, उसकी ऐच्छिक क्रियाएँ नहीं कही जा सकतीं, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वृक्षादि के विकास एवं ग्रहों के गमनादि की क्रियाएँ समीहापूर्वक संचालित होती हैं? [रा० सि० नौ०]

सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकार घोषणापत्र सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकार के घोषणापत्र की चर्चा संयुक्तराष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में मिलती है। इसमें कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ बिना किसी प्रकार के जाति, वर्ण, लिंग, भाषा और धर्म के भेदभाव के संसार के सभी मनुष्यों के

मौलिक और नागरिक अधिकारों की सुरक्षा और प्रोत्साहन के लिये प्रयत्नशील है (जेम्स एफ० ग्रीन – दि यूनाइटेड नेशन्स ऐंड ह्यूमन राइट्स)। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व लीग ऑव नेशंस नामक अंतरराष्ट्रीय संगठन में भी अल्पसंख्यकों को नागरिक अधिकार दिलाने का प्रयास किया गया था और प्रथम महायुद्ध के बाद नये यूरोपीय राष्ट्रों के अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने का भी प्रयास किया गया था। द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ में जहाँ एक ओर नात्सी और फासिस्ट देश प्रजातांत्रिक एवं नागरिक अधिकारों का उपहास कर रहे थे उसके साथ ही दूसरी ओर प्रजातांत्रिक मित्र राष्ट्रों की ओर से समस्त देशों के नागरिकों के मौलिक, मानवीय अधिकारों को सुरक्षित करने के आश्वासन दिए जा रहे थे। अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने तो सन् १९४१ में अमरीकी कांग्रेस को भेजे गए अपने संदेश में चार प्रकार के मौलिक, नागरिक अधिकारों की चर्चा की थी जिनमें, भाषण और अभिव्यक्ति, धर्मोपासना, आर्थिक अभाव से मुक्ति तथा भय से मुक्ति शामिल हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद उसकी आर्थिक और सामाजिक परिषद् की पहली बैठक में मानव अधिकार आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग का काम १० जून सन् १९४८ को समाप्त हो गया और १० दिसंबर सन् १९४८ को सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकार घोषणापत्र संयुक्त राष्ट्र महासभा में निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया।

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अपनी घोषणा में कहा है कि सभी देशों और सभी राष्ट्रों में प्रत्येक मनुष्य और समाज की प्रत्येक संस्था के अधिकारों और उनकी प्रतिष्ठा का संमान समान आधार पर किया जाएगा। सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकारपत्र को ध्यान में रखकर सभी देशों और सभी स्थानों में सभी मनुष्यों के लिये इन अधिकारों की व्यवस्था राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय आधार पर की जाएगी। इनका प्रचार और प्रसार किया जाएगा।

सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकारपत्र की धारा १ तथा २ में कहा गया है कि सभी मनुष्य जन्म से स्वतंत्र हैं और प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा और अधिकार समान हैं अतः प्रत्येक मनुष्य सभी प्रकार के अधिकारों और स्वतंत्रताओं को पाने का अधिकारी है। उनमें किसी प्रकार के जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीति अथवा अभिमत, राष्ट्रीयता, सामाजिक उत्पत्ति, संपत्ति, जन्म, पद आदि का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। आगे की धाराओं में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने, स्वतंत्रता का उपभोग करने तथा अपने आपको निरापद बनाने का अधिकार है (३)। किसी व्यक्ति को दास बनाकर नहीं रखा जा सकेगा, दासता और दासों के सभी प्रकार के क्रय विक्रय पर कानूनी प्रतिबंध रखा जाएगा (४)। किसी व्यक्ति को शारीरिक यंत्रणा नहीं दी जाएगी और न क्रूरतापूर्ण तथा अमानवीय बर्ताव ही किया जाएगा। किसी व्यक्ति का न तो अपमान किया जाएगा और न उसे अपमानजनक दंड ही दिया जाएगा (५)। प्रत्येक व्यक्ति को संसार के प्रत्येक भाग में कानून की दृष्टि में समान मनुष्य समझे जाने का अधिकार है (६)। कानून की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं और बिना किसी प्रकार के भेदभाव के उन्हें कानून का समान संरक्षण पाने का अधिकार है। इस घोषणापत्र का उल्लंघन होने और भेदभाव किए जाने पर प्रत्येक व्यक्ति को कानूनी संरक्षण प्रदान किया जाएगा (७)। विधान या कानून से प्राप्त मौलिक अधिकारों का अपहरण होने की स्थिति में, प्रत्येक व्यक्ति को अधिकारसपन्न राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा परित्राण पाने का अधिकार है (८)। किसी व्यक्ति को मनमाने ढंग से गिरफ्तार और नजरबंद न किया जा सकेगा और न उसको निष्कासित किया जा सकेगा (९)। आरोप और अभियोगों की जाँच तथा अधिकार और कर्तव्यों का निर्णय स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायाधीशों द्वारा उचित और खुले रूप से कराने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होगा (१०)। खुली अदालत में मुकदमा चलाकर सजा मिले बिना, जिसमें उसे अपने बचाव की सभी आवश्यक सुविधाएँ दी गई हों, प्रत्येक व्यक्ति निर्दोष समझा जाएगा; किसी भी ऐसे कार्य या गलती के लिये किसी व्यक्ति को दोषी न ठहराया जायगा जो उस समय अपराध न माना जाता रहा हो जब वह कार्य या गलती हुई हो, और न उससे अधिक सजा दी जा सकेगी जो उस समय कानून के अनुसार मिल सकती हो जब वह कार्य या गलती हुई थी (११)। किसी के एकांत जीवन, परिवार, घर या पत्रव्यवहार के मामले मे अनुचित हस्तक्षेप न किया जाएगा और न उसके संमान और प्रतिष्ठा पर ही किसी प्रकार का आघात किया जाएगा और अनुचित हस्तक्षेप के विरुद्ध कानूनी संरक्षण का अधिकार रहेगा (१२)। प्रत्येक व्यक्ति अपने राज्य की सीमा के अंदर स्वेच्छापूर्वक आने जाने और मनचाहे स्थान पर बसने का अधिकारी है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश को छोड़कर दूसरे देश जाने और वहाँ से लौटने का अधिकार है (१३)। प्रत्येक व्यक्ति को उत्पीड़न से परित्राण पाने के लिए दूसरे देशों में जाने का अधिकार उनको प्राप्त नहीं होगा जो अराजनीतिक मामलों के कानूनी अपराधी होंगे। जो लोग संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य और सिद्धांतों के प्रतिकूल होंगे उन्हें भी यह अधिकार नहीं मिलेगा (१४)। प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी राष्ट्र का नागरिक बनने का अधिकार है। कोई व्यक्ति राष्ट्रीयता के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता और न राष्ट्रीयता बदलने का अधिकार ही उससे छीना जा सकता है (१५)। प्रत्येक स्त्री और पुरुष को राष्ट्र, राष्ट्रीयता और धर्म के प्रतिबंध के बिना विवाह करने और परिवार बनाने का अधिकार है। प्रत्येक पुरुष और स्त्री को विवाह करने, वैवाहिक जीवन में और विवाह संबंधविच्छेद के मामलों में समान अधिकार हैं। परिवार को समाज और राज्य संरक्षण प्राप्त होगा (१६)। प्रत्येक व्यक्ति को अकेले या दूसरे के साथ मिलकर संपत्ति पर स्वामित्व करने का अधिकार है। कोई व्यक्ति मनमाने तरीके से अपनी संपत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा (१७)। प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अंतःकरण, धर्मोपासना की स्वतंत्रता का अधिकार है। इसमें धर्मपरिवर्तन, धर्मोपदेश, व्यवहार, पूजा और अनुष्ठान की स्वतंत्रता संमिलित है (१८)। प्रत्येक व्यक्ति को विचार और विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता है। सूचना प्राप्त करने और उसका प्रसार करने की स्वतंत्रता है (१९)। प्रत्येक व्यक्ति को शांतिमय सभा करने और संघटन बनाने का अधिकार है। किसी व्यक्ति को किसी संघटन में रहने को बाध्य नहीं किया जा सकता (२०)।

मानव अधिकारपत्र की २१वीं धारा में कहा गया है कि प्रत्येक

व्यक्ति को अपने देश के प्रशासन में प्रत्यक्ष रूप से अथवा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी सार्वजनिक पद पर नियुक्त होने का समान अधिकार प्राप्त है। प्रशासन का संचालन जनता के इच्छानुसार होगा और जनता की इच्छा, समय समय पर स्वतंत्र, निष्पक्ष और गुप्त या प्रकट मतदान के आधार पर हुए निर्वाचनों से प्रकट होगी। समाज के सदस्य की हैसियत से प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार है (२२)। प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, स्वतंत्रतापूर्वक पेशा चुनने, काम करने के लिये न्यायसंगत एवं अनुकूल परिस्थितियों तथा बेकारी से संरक्षण का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के समान कार्य के लिये समान वेतन पाने का अधिकारी है। उसे उचित पारिश्रमिक पाने और मजदूर संघ बनाने का अधिकार है (२३)। प्रत्येक व्यक्ति को अपने और अपने परिवार के स्वास्थ्य तथा हितवर्धन के लिये अपेक्षित जीवनस्तर प्राप्त करने का, भोजन, वस्त्र, निवास, उपचार और आवश्यक सामाजिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार है (२४)। माता और बच्चे की देखभाल और सहायता पाने का भी वह अधिकारी है (२५)। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य एवं नि:शुल्क होनी चाहिए। शिक्षा का लक्ष्य मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं एवं मानव अधिकारों के प्रति संमान में वृद्धि करना होगा। इसके द्वारा सब राष्ट्रों और जातीय या धार्मिक समुदायों के बीच विचारों के सामंजस्य, सहिष्णुता और मैत्री को प्रोत्साहित किया जाएगा तथा शांतिरक्षा के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से होनेवाले कार्यों में सहायता प्रदान की जाएगी। बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय, इसका अधिकार उनके मातापिता को है (२६)। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रतापूर्वक समाज के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार है। वैज्ञानिक, साहित्यिक अथवा कला कृति से मिलनेवाली ख्याति तथा उसके भौतिक लाभ की रक्षा का भी उसे अधिकार है (२७)।

मानव अधिकारपत्र की २८, २९ और ३० वीं धाराओं में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस अधिकारपत्र के अनुरूप सामाजिक और अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था प्राप्त करने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपभोग करते हुए समाज के प्रति उत्तरदायी है और उसका कर्तव्य है कि वह अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का संमान करे। दूसरों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा, नैतिकता, सार्वजनिक शांति और जनतांत्रिक समाज के सामान्य हितों के लिये कानून द्वारा प्रतिबंध लगाए जा सकेंगे। इन अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपयोग किसी भी दशा में संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और सिद्धांतों के विपरीत नहीं हो सकेगा। इस घोषणा का यह भी अर्थ नहीं लगाया जा सकेगा कि किसी राज्य, व्यक्ति, समुदाय अथवा व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य में संलग्न होने या कोई ऐसा कार्य करने का अधिकार है जिसका उद्देश्य इस घोषणा में निहित अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं में से किसी का भी उन्मूलन करना हो। [चं० दी०]

सर्व-सेवा-संघ गांधी जी द्वारा या उनकी प्रेरणा से स्थापित रचनात्मक संस्थाओं तथा संघों का मिला जुला संगठन है। संशोधित नियमों के संदर्भ में यह देश भर में फैले हुए 'लोकसेवकों का एक संयोजक संघ' भी बन गया है।

उद्देश्य और नीति — सर्व-सेवा-संघ का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है, जिसका आधार सत्य और अहिंसा हो, जहाँ कोई किसी का शोषण न करे और जो शासन की अपेक्षा न रखता हो।

सर्व-सेवा-संघ शांति, प्रेम, मैत्री और करुणा की भावनाओं को जाग्रत करते हुए साम्ययोगी अहिंसक क्रांति के लिये स्वतंत्र जनशक्ति का निर्माण तथा आध्यात्मिक और वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करना चाहता है।

समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना और समग्र मानव व्यक्तित्व का विकास करना संघ की बुनियादी नीति होगी। इसके लिये संघ का प्रयत्न रहेगा कि समाज में जाति, वर्ण, लिंग आदि तत्वों के आधार पर ऊँच नीच का भेदभाव निर्मूल हो, वर्गसंघर्ष के स्थान पर वर्गनिराकरण और स्वेच्छा से परस्पर सहकार करने की वृत्ति बढ़े तथा खादी तथा विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से कृषि, उद्योग आदि के क्षेत्र में आर्थिक विषमता का निरसन हो।

सर्वसेवासंघ की बुनियादी इकाई 'प्राथमिक सर्वोदय मंडल' है, जो दस 'लोकसेवकों' को लेकर बनता है। इससे संबद्ध देश के कुल ३३३ जिलों में से २०३ जिलों में जिला सर्वोदय मंडल बने हैं। इस समय कुल १२ प्रादेशिक सर्वोदय मंडल हैं।

हर एक जिला सर्वोदय मंडल अपना एक प्रतिनिधि चुनता है। ऐसे प्रतिनिधियों को मिलाकर संघ की 'ग्रामसभा' बनती है। ऐसे सदस्यों के अलावा संघ के अध्यक्ष कुछ लोगों को संघ के सदस्य के रूप में नामजद भी करते हैं। इस समय १६० निर्वाचित सदस्य तथा ६० नामजद सदस्य हैं।

प्रबंध समिति — सर्व-सेवा-संघ सर्वानुमति से तीन साल के लिये अपना एक अध्यक्ष चुनता है और वह अध्यक्ष संघ का काम चलाने के लिये कम से कम ११ और अधिक से अधिक २५ लोगों की एक प्रबंध समिति गठित करता है, जिसमें से मंत्री, सहमंत्री आदि की नियुक्ति भी अध्यक्ष ही करता है।

सर्व-सेवा-संघ का कार्यालय इस समय राजघाट, वाराणसी में है।

सदस्यता के नियम — सर्व-सेवा-संघ के सदस्य और लोकसेवक वे ही हो सकते हैं, जो सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और शरीरश्रम में निष्ठा और तदनुसार जीवन बिताने की कोशिश करते हों; लोकनीति के द्वारा ही सच्ची स्वतंत्रता संभव है — इस मान्यता के आधार पर दलगत राजनीति तथा सत्ता की राजनीति से अलग रहते हों और किसी राजनीतिक पक्ष के सदस्य न हों। जाति, वर्ण या पंथ आदि किसी प्रकार के भेद को जीवन में स्थान न देते हों; तथा अपना पूरा समय और मुख्य चिंतन भूदानमूलक ग्रामोद्योगप्रधान अहिंसक क्रांति के काम में लगाते हों।

इन सबके अलावा वे आदतन खादीधारी और नियमित कताई करें, यह भी आवश्यक है।

प्रवृत्तियाँ — सर्वसेवासंघ के द्वारा नीचे लिखी प्रवृत्तियाँ चलाई जाती हैं :

१. सर्वोदय संमेलन — सर्वोदय विचार में निष्ठा रखनेवालों का एक संमेलन हर दूसरे वर्ष संघ आयोजित करता है।

२. साहित्य प्रकाशन — गांधी, विनोबा, तथा सर्वोदय विचार के साहित्य का प्रकाशन और प्रसार करने के लिये संघ की ओर से एक 'प्रकाशन समिति' बनी है। इसके द्वारा अब तक देश-विदेश की १६ विभिन्न भाषाओं में लगभग ६०० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

३. शांति-सेना-मंडल — शांतिसेना का संगठन, संयोजन तथा शांति संबंधी कार्यक्रमों का आयोजन करने के लिये शांति सेना-मंडल बना है। इस समय देश भर में लगभग ८,००० शांति सैनिक और ५,००० शांतिकेंद्र काम कर रहे हैं।

४. खादी ग्रामोद्योग ग्रामस्वराज्य समिति — खादी ग्रामोद्योग संस्थाओं के मार्फत देशभर में जो खादी ग्रामोद्योग का कार्य चल रहा है, उसकी नीति तथा कार्यक्रम में सर्वोदय विचार के आधार पर निर्देशन, समन्वय आदि काम के लिये यह समिति बनी है।

५. कृषि गोसेवा समिति — गोवंश को, विशेषत: गाय को, समाज में योग्य स्थान पर प्रतिष्ठित करने तथा आर्थिक दृष्टि से उपयोगी बनाने का राष्ट्रव्यापी आयोजन करना इस समिति का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये गोसंवर्धन केंद्र, नंदीशाला, गोसदन, गोरस भंडार, गौशाला, चरागाह, चारे की खेती तथा अन्य कृषिसुधार के कार्य समिति कर रही है। भारत सरकार द्वारा गठित गोसंवर्धन कौंसिल भी इस समिति का सहयोग लेती है। प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में है। पता, ठक्करबापा स्मारक सदन, यूलिक रोड, झंडेवालान्, नई दिल्ली।

६. खादी ग्रामोद्योग प्रयोग समिति — कताई, बुनाई, कृषि तथा अन्य ग्रामोद्योगों के औजारों में शोध, अन्वेषण, सुधार आदि की दृष्टि से इस समिति का गठन हुआ है।

८. इन स्थायी प्रवृत्तियों के अलावा नई तालीम, सेवाग्राम आश्रम आदि का संयोजन संघ के मार्फत होता है। चंबल घाटी की बागी समस्या, पंचायत राज्य, कश्मीर समस्या आदि तात्कालिक प्रश्नों पर भी सर्व-सेवा-संघ अपने विचार के आधार पर हल ढूंढ़ने और तदनुसार कार्य करने का प्रयत्न करता रहता है।

[सर्वसेवासंघ' से प्राप्त]

सर्वांगशोथ, या देहशोथ (Anasarca) शरीर की एक विशिष्ट सर्वांगीय शोथयुक्त अवस्था है, जिसके अंतर्गत संपूर्ण अधस्त्वचीय ऊतक में शोथ (oedema) के कारण तरल पदार्थ का संचय हो जाता है। इसके कारण शरीर का आकार बहुत बड़ा हो जाता है तथा उसकी एक विशेष प्रकार की आकृति हो जाती है।

देहशोथ का मुख्य कारण अत्यधिक शिरागत शिराचाप है, जो मुख्यत: स्थानिक शिरागत अवरोध से होता है, जैसे शिरागत बाह्य कारण से दबाव, अर्बुद, थ्रॉम्बोसिस इत्यादि। कभी कभी यह हृदयकपाटों के विकारों से उत्पन्न होता है। हृदय के कार्य में शिथिलता से भी यह अवस्था उत्पन्न होती है। हृदयकपाट के इस प्रकार के विकार में धमनीगत रुधिरचाप घट जाता है और रक्तसंचार में शिथिलता आ जाती है। उच्च शिरागत चाप से शिराएँ फूल जाती हैं तथा उनके वाल्व (valve) के कार्य में शिथिलता आ जाती है। शिराओं में संचित रुधिर गुरुत्वाकर्षण से स्थानिक केशिकाओं पर दबाव डालता है और इसी के फलस्वरूप केशिकाओं से तरल पदार्थ छनकर अधस्त्वचा में संचित हो जाता है तथा अधस्त्वचीय ऊतक में शोथ उत्पन्न कर देता है। उपतीव्र गुर्दाशोथ (subacute nephritis) में शोथ का कारण शरीर से अत्यधिक मात्रा में ऐल्बूमिन का परित्याग है। मूत्र द्वारा निकला ऐल्बूमिन प्लैज़्मा (plasma) से आता है। इतना ऐल्बूमिन बाहर जाता है कि प्लैज़्मा में उसकी मात्रा केवल ५०% रह जाती है। रक्त में दो प्रोटीन रहते हैं : ऐल्बूमिन और ग्लोबूलिन। इनका अनुपात ३:१ रहता है। ऐल्बूमिन के निकल जाने पर ग्लोबूलिन की मात्रा बढ़ जाती है। इससे कोलॉइड परिसरण दबाव कम हो जाने से, जल का संचय बढ़ जाता है और ऐल्बूमिन के मूत्र द्वारा निकल जाने से जल का संचय अधिक होकर शोथ बढ़ जाता है। शरीर के फूले रहने पर भी ऐल्बूमिन की कमी से रोगी में बल की कमी हो जाती है।

शरीर के ऊतकों में जल भर जाने से, विशेष करके महास्रोतीय भाग में जल की मात्रा बढ़ने से तथा वृक्क में इस जल के निकालने की सामर्थ्य न रहने से, वमन और अतिसार प्रारंभ होता है। गुर्दाशोथ में ऐल्बूमिन का अनुपात १:३ (३:१ के स्थान में) हो जाता है। शोथ और रक्ताल्पता के कारण रोगी के चेहरे तथा शरीर का आकार बहुत बड़ा तथा पांडु हो जाता है। इससे शरीर की एक विशेष आकृति हो जाती है। रक्त में हीमोग्लोबिन की विशेष कमी हो जाती है। मूत्र की मात्रा में कमी होकर उसका विशिष्ट घनत्व बढ़ जाता है। रोगी को विशेष आलस्य का अनुभव होता है तथा पाचन क्रिया में विकार उत्पन्न हो जाता है, परंतु इसके कारण रक्तचाप में कोई वृद्धि नहीं होती।

जीर्ण संतत मलेरिया में देहशोथ कमजोर, कृश रोगियों में दिखाई देता है। १९३४ ई० में लंका में मलेरिया के संक्रमण काल में यह दिखाई दिया था। विक्रमासुरिया (Wickramasuriya) ने ३५७ रोगियों में से ४० प्रति शत में देहशोथ देखा था, जो मुख्य रूप में प्रसूता स्त्रियों में अधिक दिखाई दिया था। इस प्रकार के मलेरिया में उपद्रव स्वरूप देहशोथ के होने का कारण मुख्यत: प्लैज़्मा प्रोटीन की न्यूनता है। उचित उपचार से ऐसा शोथ लुप्त भी हो जाता है।

कभी कभी क्लोनॉर्कियासिस (Clonorchisasis) नामक कृमिजन्य रोग में भी लक्षण स्वरूप देहशोथ देखा जाता है। अंकुश

कृमि जन्य लक्षणों के अंतर्गत रक्ताल्पता, शारीरिक कृशता के साथ शोथ तथा सामान्य देहशोथ का होना बहुत ही स्वाभाविक है। इस रोग में चेहरे और पैर में, अन्य स्थानों की अपेक्षा, अधिक सूजन दिखाई देती है। [प्रि० कु० चौ०]

सर्वात्मवाद (Animism) आत्मा (Spirit), जीवात्मा या जीव (soul) के विषय में मनुष्यों में प्राय: तीन प्रकार के विश्वास या विचार प्रचलित रहे हैं। कुछ लोग तो, चार्वाक के अनुयायियों की तरह, शरीरों से स्वतंत्र या पृथक् जीवों या आत्माओं की कोई सत्ता ही नहीं मानते। उनके अनुसार चेतना जड़ मस्तिष्क की क्रियाओं के परिणामस्वरूप उसी प्रकार उत्पन्न हो जाती है जिस प्रकार कि यकृत से पित्त; वह किसी जीव या आत्मा नामक अभौतिक तत्व या पदार्थ का गुण या स्वरूप नहीं। इसके विरुद्ध कुछ लोगों के विचार में चेतना भौतिक तत्वों से उत्पन्न नहीं होती, किंतु भौतिक पदार्थों से विलक्षण आत्मा या जीव का गुण है। उदाहरण के लिये, जैन विचारकों ने जीवों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए जीव की परिभाषा 'चेतनालक्षणो जीव:' इन शब्दों में की है। परंतु आत्मा या जीव की सत्ता स्वीकार करनेवाले सब व्यक्ति एक मत के नहीं। उन्हें स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे जो केवल मनुष्यों और कुछ उच्च कोटि के पशुपक्षियों में ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और दूसरे वे जो न केवल मनुष्यों और पशुपक्षियों में ही अपितु कीट पतंगों और पेड़ पौधों आदि में भी, जिन्हें दूसरे लोग जड़ समझते हैं, आत्मा या जीव के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं। मानवों के इसी प्रकार के विश्वास या विचार को सर्वात्मवाद नाम दिया जाता है। तार्किक भाषा में सर्वात्मवाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार तथाकथित जड़ पदार्थों में भी आत्मा या जीवात्मा नामवाले एक अभौतिक तत्व या शक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और उसे न केवल बुद्धिजीवी प्राणियों के बौद्धिक जीवन का अपितु शारीरिक अथवा भौतिक क्रियाओं का भी मूलाधार माना जाता है।

जैसा कठोपनिषद् की 'योनिमन्ये प्रपद्यंते शरीरत्वाय देहिन: स्थाणुमन्येऽनुसयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् (२-२-७)' इस श्रुति से एवं श्रीमद्भागवत के अण्डेषु पेशिषु तरुष्वनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र (११-३-३९)' इस श्लोक से तथा श्री उमास्वामी के तत्वार्थाधिगमसूत्र (२-२२) के 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस वाक्य से विदित होता है, भारतीय आस्तिक विचारक तथा जैन दार्शनिक दोनों ही वनस्पत्यादि स्थावर तथा पृथिवी आदि जंगम जड़ पदार्थों में भी आत्मा का अस्तित्व मानते रहे हैं। अत: उन्हें सर्वात्मवादी विचार का समर्थक कहा जा सकता है।

वस्तुत: वृक्ष ग्रह, उपग्रहादि अचेतन पदार्थों में भी आत्मा या जीव की सत्ता पर आस्था रखनेवाले व्यक्ति अब भी संसार के गायना आदि अनेक देशों में पाए जाते हैं जो प्राय: न केवल प्रेतात्माओं की, विशेषतया अपने मृत पूर्वजों की, अपितु ऐसी आत्माओं की भी पूजा करते हैं जिन्हें वे या तो किसी भी शरीर या वस्तु विशेष से संबंधित नहीं समझते या फिर प्राकृतिक पदार्थों के अधिष्ठाता अथवा अभिमानी देवताओं के रूप में स्वीकार करते हैं।

आधुनिक युग के अधिकांश विचारक सर्वात्मवाद को न केवल बहु-ईश्वरवाद का ही किंतु सुसभ्य मानव के धार्मिक एकेश्वरवाद का भी आधारभूत विश्वास समझते हैं और उसकी गणना असभ्य या अर्धसभ्य जातियों के धर्म या दर्शन में करते हैं। उनके अनुसार सर्वात्मवाद मानव की एक अवैज्ञानिक आस्था मात्र है। वे उसे विश्व के तथ्यों की व्याख्या करने का एक बौद्धिक प्रयत्न तो मानते हैं; परंतु केवल प्रारंभिक या अपरिपक्व प्रयत्न ही।

[रा० सिं० नौ०]

सर्वानुक्रमणी संस्कृत वाङ्मय में सूत्रसाहित्य के अंतर्गत छह वेदांगों के अतिरिक्त अनुक्रमणियों का भी समावेश है। वेदराशि की सुरक्षा के लिये तथा मंत्रों की आर्ष परंपरा को सुव्यवस्थित बनाए रखने के उद्देश्य से प्राचीन महर्षियों ने प्रत्येक वैदिक संहिता के विविध विषयों की अनुक्रमणी बनाई है। ऐसी अनुक्रमणियाँ अनेक हैं, जिनमें वैदिक संहिताओं के सकल सूक्त, उनमें प्रयुक्त पद, प्रत्येक मंत्र के द्रष्टा ऋषि, प्रत्येक ऋचा के छंद और देवता क्रमबद्ध रूप से अनुसूचित है। संकलित विषय के अनुसार इनकी पृथक् पृथक् संज्ञाएँ हैं—जैसे अनुवाकानुक्रमणी जिसमें प्रत्येक अनुवाक का अकारादि क्रम से संकलन है; आर्षानुक्रमणी में ऋषिगण और उनकी कुलपरंपरा की सूची है; छंदोऽनुक्रमणी में वैदिक मंत्रों के छंद का नामनिर्देश है। उसी तरह मंडलातानुक्रम और देवानुक्रम भी है। बृहद्देवता में देवताओं की अनुक्रमणी है। मंत्रानुक्रम में संहिता के अंतर्गत मंत्रों का क्रमश: उल्लेख है। इस प्रकार किसी भी वैदिक मंत्र का ऋषि, छंद या देवता कौन है अथवा वह मंत्र किस मंडल, अनुवाक या सूक्त का है यह जानने के लिये तत्संबंधी अनुक्रमणी का अवलोकन सहायक होता है। वस्तुत: ये अनुक्रमणियाँ कोश की भाँति विषयानुसंधान में सहायक ही न थीं, अपितु इनका लक्ष्य सूक्त एवं अनुवाकों के यथावत् स्वरूप तथा मंत्रों के पाठ को भ्रष्ट न होने देने का अपूर्व साधन है। तथापि किसी भी एक मंत्र के संबंध में उसके छंद, देवता आदि के ज्ञान के लिये अनेक अनुक्रमणियाँ देखनी पड़ती थीं; कारण, तत्संबंधी सकल ज्ञातव्य विषय एकत्र उपलब्ध न था। इस कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से महर्षि कात्यायन ने एक ऐसी अनुक्रमणी की रचना की जिसमें संहिता के अंतर्गत समस्त मंत्रों के संबंध में सकल ज्ञेय वस्तु की एकत्र उपलब्धि हो जाय। इसमें प्रत्येक मंत्र का छंद, देवता, ऋषि, मंडल, सूक्त, एवं अनुवाक का विवरण पूर्ण रूप से एक ही स्थान पर दिया हुआ मिलता है। कात्यायन प्रणीत सर्वानुक्रमणी की संज्ञा का निर्वचन किया है —'सर्वज्ञेयार्थ वर्णनात् सर्वानुक्रमणीशब्दं निर्बुवंति विपश्चित:'। कात्यायन ने एक सर्वानुक्रमणी ऋग्वेद की शाकल एवं वाष्कल संहिता की बनाई और दूसरी शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता की। कात्यायन प्रणीत सर्वानुक्रमणी पर 'वेदार्थदीपिका' नामक एक सुंदर व्याख्या षड्गुरुशिष्य द्वारा रची गई जो अत्यंत प्रामाणिक मानी जाती है। विषय विशेष को लेकर शौनक द्वारा प्रणीत अन्य अनुक्रमणियाँ पद्यबद्ध हैं; कात्यायन की दोनों ही सर्वानुक्रमणियाँ गद्यात्मक हैं और वे गद्य सूत्रशैली में निबद्ध हैं। सर्वानुक्रमणी के प्रणेता कात्यायन वही थे जिन्होंने पाणिनि की

अष्टाध्यायी पर वार्तिक की रचना की। पाणिनि से परवर्ती एवं महाभाष्यकार पतंजलि से पूर्ववर्ती कात्यायन थे। इस संबंध में षड्गुरुशिष्य लिखते हैं—

'वाजिनां सूत्रकृत्साम्नामुपग्रंथस्य कारकः।
स्मृतेश्च कर्त्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नाञ्च कारकः।।
महावार्त्तिककृत्कार: पाणिनीयमहार्णवे।
योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः।।
एवंगुणगणैर्युक्तः कात्यायनमहामुनिः।
तपोयोगाश्रिमिर्मे यः सर्वानुक्रमणीमिमाम्'।।

सर्वानुक्रमणी का रचनाकाल सूत्रयुग के अंतिम चरण में ही माना जा सकता है। सूत्रयुग का कालनिर्णय पाश्चात्य इतिहासकारों ने ईसापूर्व ६०० से २०० तक का स्वीकार किया है।

ऋग्वेद संबंधी सर्वानुक्रमणी सूत्र शैली में रचित एक बड़ा ग्रंथ है। मुद्रित रूप में इसका आयाम लगभग ४६ पृष्ठ का है। इसके पहले १२ अध्यायों में प्रास्ताविक चर्चा है जिनमें से ९ अध्यायों में वैदिक छंदों के स्वरूप और रचनापद्धति पर परिचयात्मक निबंध हैं। सर्वानुक्रमणी के प्रणेता कात्यायन ने ग्रंथारंभ में 'यथोपदेश मैं ऋग्वेद की ऋचाओं के प्रतीक आदि की अनुक्रमणी प्रस्तुत करता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा की है। यथोपदेश से यह संकेत है कि यह रचना तत्पूर्व शौनकप्रणीत विविध छंदोबद्ध अनुक्रमणियों के आधार पर की गई है। क्योंकि सर्वानुक्रमणी में कतिपय गद्यांश वृत्तगंधी हैं और शौनकीय आर्षानुक्रमणी और बृहद्देवता में प्रयुक्त कतिपय पद स्वरूपतः परिगृहीत हैं। कात्यायन प्रणीत ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी का संपादन आचार्य मैक्डोनल ने किया है जो ऑक्सफ़र्ड से सन् १८८६ ईसवी में प्रकाशित हुई। इसमें अनुवाकानुक्रमणी तथा षड्गुरुशिष्य का भाष्य भी परिशिष्ट में मुद्रित है।

कात्यायनप्रणीत शुक्लयजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणी में केवल पाँच ही अध्याय हैं। पहले चार अध्यायों में याजुष मंत्रों के द्रष्टा ऋषियों, देवताओं और छंदों की नामतः गणना है। इसकी एक और विशेषता यह है कि संहिताकाल से उत्तरवर्ती युग के नए ऋषियों के भी नाम संगृहीत हैं जिनमें कतिपय शतपथ ब्राह्मण से संबंध रखनेवाले भी हैं। इसके अंतिम अध्याय में वाजसनेयि संहिता के मंत्रों का संक्षिप्त विवरण भी दिया है। शुक्लयजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणी का प्रकाशन वेबर द्वारा संपादित यजुर्वेद के संस्करण में परिशिष्ट रूप से संगृहीत है, तथा स्वतंत्र रूप से यह ग्रंथ सभाष्य बनारस संस्कृत सीरीज के अंतर्गत ईसवी सन् १८९३-९४ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ मिलता है। ग्रंथ का नाम 'कात्यायनप्रणीत शुक्ल यजुः सर्वानुक्रमसूत्र-याज्ञिकानंतदेव कृत भाष्य सहित' दिया है। [सु० शा०]

सर्बिया स्थिति : ४३° ३०' उ० अ० तथा २१° ०' पू० दे०। यह संघीय युगोस्लाविया का एक गणतंत्र है। इसका क्षेत्रफल ८८,३६१ वर्ग किमी० तथा जनसंख्या १,८५,३८,१५० (१९६१) है। अत: यहाँ प्रति वर्ग किमी० जनसंख्या का घनत्व ७२·४ व्यक्ति है। इस गणतंत्र के उत्तर में हंगरी और पूर्व में रोमानिया तथा बल्गेरिया, दक्षिण में युगोस्लाविया और मेसीडोनिया स्थित हैं। यहाँ की जलवायु महाद्वीपी है।

सर्बिया पूर्णतः एक कृषिप्रधान देश है। कृषि उत्पादनों में गेहूँ, जौ, राई तथा तंबाकू मुख्य हैं। यहाँ फलों का भी उत्पादन किया जाता है।

बेग्रोगार्ड (Beogard) यहाँ की राजधानी है, जिसकी जनसंख्या ६५,००० (१९६१) है। अन्य नगरों में नीज़ (Nis, जनसंख्या ८१,०७३), क्रागुजेवाक (जनसंख्या ५२,४६१) तथा लेसकोवाक (जनसंख्या ३३, ९४१) प्रमुख हैं। [भू० कां० रा०]

सर्वेक्षण (Surveying) उस कलात्मक विज्ञान को कहते हैं जिससे पृथ्वी की सतह पर स्थित बिंदुओं की समुचित माप लेकर, किसी पैमाने पर आलेखन (plotting) करके, उनकी सापेक्ष क्षैतिज और ऊर्ध्व दूरियों का कागज या दूसरे माध्यम पर सही सही ज्ञान कराया जा सके। इस प्रकार का अंकित माध्यम लेखाचित्र या मानचित्र कहलाता है। ऐसी आलेखन क्रिया की संपन्नता और सफलता के लिये रैखिक और कोणीय, दोनों ही माप लेना आवश्यक होता है। सिद्धांततः आलेखन क्रिया के लिये रैखिक माप का होना ही पर्याप्त है। मगर बहुधा ऊँची नीची भग्न भूमि पर सीधे रैखिक माप प्राप्त करना या तो असंभव होता है, या इतना जटिल होता है कि उसकी यथार्थता संदिग्ध हो जाती है। ऐसे क्षेत्रों में कोणीय माप रैखिक माप के सहायक अंग बन जाते हैं और गणितीय विधियों से अज्ञात रैखिक माप ज्ञात करना संभव कर देते हैं।

सर्वेक्षण क्रिया की उत्पत्ति की कहानी आदिकाल से आज तक के मानव समाज के विकास की कहानी, प्रधानतः सुख और समृद्धि के लिये भ्रमण और भूमि पर प्रभुसत्ता की प्राप्ति से, जुड़ी हुई है। भ्रमण के लिये स्थानों के बीच की दूरियों और दिशाओं का ज्ञान और प्रभुसत्ता के लिये सीमाओं और क्षेत्रफल का जानना आवश्यक था। ऐसा ज्ञान होने के प्रमाण प्राचीन ग्रंथों में राज्यों के विस्तार, दिशाओं के विवरण और दूरी के लिये योजन आदि के उल्लेख से मिलते हैं। प्राचीन काल में शिलाओं, भोजपत्र, ताम्रपत्र और कागज के प्रयोग से पूर्व, स्थानों के बीच की दूरी, दिशाएँ पहचानने का ज्ञान तथा अधिकार सीमाएँ मानव के स्मृतिपटल पर अंकित रहती होंगी। युद्ध और कलह का भय उत्पन्न होने पर, उस स्मृति और लिए गए मापों को किसी माध्यम पर प्रदर्शित करने की क्रिया का जन्म हुआ होगा, जिसे बाद में सर्वेक्षण की संज्ञा दी गई। इसी प्रकार मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं और सर्वेक्षण का गहरा संबंध होने के कारण सर्वेक्षणक्रिया निरंतर उन्नति करती गई।

ऐसे प्रयासों का सबसे प्राचीन प्रमाण ईसा से ३७० वर्ष पूर्व का मिला है, जो ट्यूरिन के अजायबघर में आज भी सुरक्षित है। यूनान और मिस्र में भी शिलाओं और लकड़ी के तख्तों पर सर्वेक्षण के प्राचीन आलेख मिले हैं। ऑस्ट्रिया में ईसापूर्व काल के कुछ ऐसे चिह्न मिले हैं जिनसे पता लगता है कि रोम साम्राज्य में सर्वेक्षण का प्रचलन था। उन्होंने मार्गों की सीध बाँधने के लिये आज जैसे उपकरण, सर्वेक्षण पट्ट (plane table) और दूरी नापने के लिये अंकित छड़ों

का प्रयोग किया था। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं कि १०० वर्ष ईसापूर्व भारत पर आक्रमण के समय, यूनानियों ने सिंध से फारस की खाड़ी तक समुद्रतट नापकर लेखाचित्र तैयार किया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और बाणभट्ट के हर्षचरित् में राजस्व के निर्धारण के सिलसिले में भूमि की नाप आदि के उल्लेख मिलते हैं। १४५० ई० में अरबवासियों ने कई समुद्री यात्राएँ कीं और समुद्रतटों के लेखाचित्र तैयार किए। १४९८ ई० में वास्को डा गामा के भारत आने पर एक गुजराती पंडित ने उसे समुद्रतट का एक रेखाचित्र भेंट किया था। इससे विदित होता है कि सभ्यता के मार्ग पर बढ़े हुए सभी देशों में सर्वेक्षण का महत्व निरंतर बढ़ता रहा और कृषि, राजस्व, भूमि के अधिकार की सीमाओं के निर्धारण और यात्राओं में मार्गों के लेखाचित्र बनाने में सर्वेक्षण का अभ्यास एवं प्रयोग होता रहा है। मगर १६वीं शताब्दी के समाप्त होते होते तो सर्वेक्षणक्रिया का महत्व आशातीत बढ़ा। मार्को पोलो, वास्को डा गामा, कोलंबस और कैप्टन कुक के भ्रमणों से यूरोप निवासियों को संसार के विस्तार और उसपर स्थित समृद्ध देश तथा उपजाऊ भूमि का पता लगा, तो वे बहुत तादाद में अपनी भाग्यपरीक्षा के लिये निकल पड़े। भूमि पर आधिपत्य करने में उनमें स्पर्धा जागी, जिससे सर्वेक्षणक्रियाओं को नई स्फूर्ति और तीव्र गति मिली। उस समय का बना हुआ भारत और अरब का मानचित्र ब्रिटिश अजायबघर में आज भी सुरक्षित है। नक्शे से पता लगता है कि वह फेरडो बर्टोली द्वारा १५६५ ई० में बनाया गया था। इसके बाद १६१२ ई० में गेराडंस मर्केटर द्वारा बनाया भारत का मानचित्र, उस समय का अथक प्रयास, भी थाती के रूप में सुरक्षित है।

वर्गीकरण — शनैः शनैः अधिकार की रक्षा के साथ साथ देशों में विकास के प्रति भी रुचि जागी। संपूर्ण देश, अमुक साम्राज्य, संपूर्ण संसार एक साथ देखने की जिज्ञासा बढ़ी। इसकी पूर्ति का साधन मानचित्र ही हो सकता था। इस कारण सर्वेक्षण में इतनी नई नई खोजें हुई कि उनके आधार पर सर्वेक्षणक्रिया ही दो प्रमुख वर्गों में बँट गई : (१) भूगणितीय सर्वेक्षण (geodetic surveying) और (२) पट्ट सर्वेक्षण (plane surveying)। इस वर्गीकरण का मुख्य आधार पृथ्वी का आकार है। जिस सर्वेक्षण में पृथ्वी के आकार को गोलाभ (spheroid) मानकर, उसकी सतह पर लिए गए नापों का प्रयोग करने से पहले पृथ्वी की वक्रता के लिये शोधन करते हैं, उसे भूगणितीय सर्वेक्षण कहते हैं। यह कठिन प्रक्रिया होती है। मगर पृथ्वी की गोल या वक्र सतह पर नापी दूरियाँ यदि अधिक लंबी न हों, तो उन्हें वक्र न मानकर ऋजु (सीधा) ही मान लिया जाए, तो कोई विशेष त्रुटि नहीं होगी। उदाहरणार्थ, पृथ्वी की वक्र सतह पर ११.५ मील लंबी रेखा नापने पर उसमें पृथ्वी की वक्रता के कारण केवल ०.०५ फुट की त्रुटि होगी। इसी प्रकार पृथ्वी की सतह पर किन्हीं भी तीन बिंदुओं द्वारा ७५ वर्ग मील क्षेत्रफल के त्रिभुज को समतल सतह पर सीधी रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाए, तो उसके कोणों के योग और उसी त्रिभुज की वक्र सतह पर बने कोणों के योग में केवल एक सेकंड का अंतर होगा। इस कारण यदि छोटे छोटे क्षेत्रों के नक्शे तैयार किए जाएं, तो पृथ्वी की सतह पर ली गई नाप को सीधी रेखाओं से समतल पर प्रदर्शित करने से कोई खटकनेवाली गलती नहीं होगी। इसलिये पृथ्वी के छोटे क्षेत्र को समतल मानकर, उस पर ली गई नापों को बिना वक्रता के शोधन के किसी पैमाने पर समतल कागज पर अंकित कर दिया जाता है। इस प्रकार के सर्वेक्षण को पट्ट सर्वेक्षण कहते हैं।

सामान्य व्यवहार में आनेवाले सर्वेक्षण समतलीय सर्वेक्षण ही होते हैं। भिन्न उद्देश्यों की सिद्धि के लिये सर्वेक्षणों की प्रक्रिया, उपकरण, पैमाना आदि में भी कुछ अंतर पैदा हो जाता है। इन कारणों से पट्ट सर्वेक्षण के भी कई वर्ग बन गए हैं : (१) पैमाने के आधार पर १:५०,०००; १:२५,०००; १:५,०००; १:१,००० सर्वेक्षण (इस प्रकार से बताए पैमाने का अर्थ है कि मानचित्र पर एक इकाई लंबी रेखा भूमि पर क्रमशः ५०,०००; २५,०००; ५,००० १,००० इकाई लंबाई के बराबर होगी), (२) किसी मंतव्य या कार्य विशेष के लिये किया गया सर्वेक्षण, जैसे स्थलाकृतिक (topographical), इंजीनियरी, राजस्व (revenue) तथा खनिज (mineral) सर्वेक्षण, तथा (३) प्रयुक्त प्रमुख यंत्रों के नाम पर, जैसे जरीब सर्वेक्षण, टैकामीटर (tachometer) सर्वेक्षण आदि।

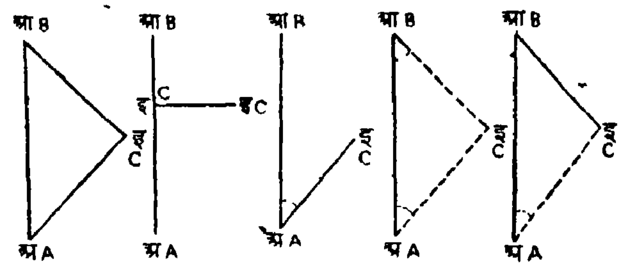
यदि ऐसे समतलीय सर्वेक्षणों से भारत जैसे विस्तृत देश या महाद्वीप के मानचित्र संकलित (compile) किए जा सकें, तो पट्ट सर्वेक्षणों का महत्व आशातीत बढ़ जाता है। यह तभी संभव होगा, जब पट्ट सर्वेक्षणों की आधारशिला भूगणितीय सर्वेक्षण पर हो। आधारशिला का उल्लेख तभी ग्राह्य हो सकेगा, जब उसकी कुछ संक्षिप्त व्याख्या कर दी जाए।

सर्वेक्षण के आधारभूत सिद्धांत — ये सिद्धांत बड़े ही सरल हैं। पृथ्वी की सतह पर बड़ी सरलता से दो ऐसे बिंदु चुने जा सकते हैं जो एक दूसरे की स्थिति से देखें जा सकें और उनके बीच की दूरी नापी जा सके। इन्हें किसी भी वांछित पैमाने पर कागज पर ऐसे लगाया जा सकता है कि उनके निकटवर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण कागज पर समा सके। इसके बाद इन दो बिंदुओं से किसी भी तीसरे बिंदु की दूरी नापकर उसी पैमाने से कागज पर उसकी सापेक्ष स्थिति अंकित कर सकते हैं। इस प्रकार अंकित किन्हीं भी दो बिंदुओं से किसी तीसरे अज्ञात बिंदु की दूरी निकालकर तथा क्रमानुगत अंकित करके, पूरे क्षेत्र का मानचित्र बनाया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में सर्वेक्षण की विधि त्रिभुज की रचना है। ऊपर तो त्रिभुज की एक ही रचना का उल्लेख किया गया है, जिसमें त्रिभुज की तीनों भुजाओं की लंबाइयाँ ज्ञात हैं। त्रिभुज की अन्य रचना विधियाँ भी सर्वेक्षण में प्रयुक्त होती हैं, जो उपर्युक्त विधि के साथ आगे चित्र १. में दिखाई गई हैं।

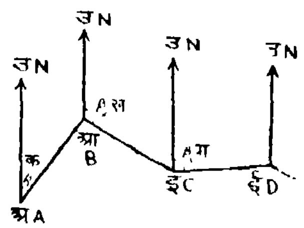
उपर्युक्त रचना विधियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वेक्षण के लिये दो बिंदु ज्ञात होना अत्यंत आवश्यक है, जिससे तीसरे बिंदु की सापेक्ष स्थिति का पता लगना संभव हो सके। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ऐसे सर्वेक्षण में बिंदुओं की सापेक्ष स्थितियाँ सही होने पर, उनकी दिशाओं का ज्ञान नहीं हो सकता। जो हो भी सकता है वह केवल चुंबकीय कुतुबनुमा की यथार्थता तक ही सीमित रहेगा। इससे

यह कठिनाई होगी कि विस्तृत क्षेत्र में यदि किन्हीं भिन्न भिन्न दो या अधिक स्थलों से, स्वतंत्र रूप से दो दो बिंदु लेकर सर्वेक्षण आरंभ किए जाएँ, तो उनका उभयनिष्ठ रेखा पर ठीक मिलान होना अवश्यंभावी नहीं है। क्योंकि ऐसे सर्वेक्षणों के प्रारंभिक आधारों के आलेखों की एक



चित्र १.

समान दिशाएँ रखने की कोई निश्चित सुविधा और सिद्धांत नहीं है। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिये, सर्वेक्षक सर्वेक्षण हेतु संपूर्ण विस्तृत प्रदेश में व्यवस्थित और आयोजित रूप से प्रमुख बिंदु चुनकर उनमे एक मूलबिंदु (origin) मान लेता है। फिर मूलबिंदु से क्रमश: अन्य बिंदुओ की दूरियाँ और उत्तर दिशा से कोण ज्ञात कर लेता है, और इन अवयवों से सर्वेक्षक उन बिंदुओं के निर्देशांक (co-ordinates) निकाल लेता है। उदाहरणार्थ, चित्र २. में अ, आ इ...चुने हुए बिंदु हैं और अ मूलबिंदु है, तो आ के निर्देशांक (अ आ = द) द कोज्या क



चित्र २.

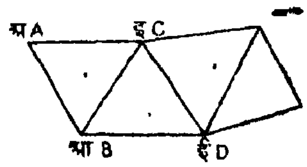
[$l_1 \cos \beta_1$] और द ज्या क [$l_1 \sin \beta_1$] होंगे। इसी प्रकार इ बिंदु के निर्देशांक द कोज्या क + दा (= आ इ) कोज्या ख [$l_1 \cos \beta_1 + l_2 \cos \beta_2$] और द ज्या क + दा ज्या ख [$l_1 \sin \beta_1 + l_2 \sin \beta_2$] होंगे। इसी प्रकार अन्य बिंदुओं के निर्देशांक निकाले जा सकते हैं।

इस क्रिया की सफलता के लिये सर्वेक्षक के लिये निम्नलिखित तीन समस्याओं का हल निकालना आवश्यक होता है : (१) कोण नापने की, (२) दो क्रमानुगत बिंदुओं के बीच दूरी नापने की तथा (३) पर्वतीय प्रदेशों और टूटी फूटी भूमि पर दूरी नापने की।

पहली समस्या का हल सर्वेक्षक ने चुंबक की सुई के गुण का, जो सर्वत्र विदित हैं, लाभ उठाकर और थियोडोलाइट (देखें थियोडोलाइट) का आविष्कार करके किया। दूसरी समस्या का हल फीता, जरीब आदि कई प्रकार के उपकरणों के प्रयोग से किया, जो सर्वसाधारण को विदित हैं। समतल या लगभग चौरस भूमि के प्रदेशों में इन दो समस्याओं के समाधान से एक सर्वेक्षण विधि को जन्म मिला, जिससे चुने हुए बिंदुओं के निर्देशांक निकाले जा सकते हैं।

इस विधि को थियोडोलाइट चंक्रमण (Theodolite traversing), या केवल चंक्रमण (Traversing), कहते हैं।

यह विधि बहुत कुछ चित्र ३. से स्पष्ट है। अ, आ, इ, ई आदि क्रमानुगत बिंदुओ के बीच क्रमश: दूरी नापते हैं और पीछे के बिंदु पर आगे के बिंदु को मिलानेवाली रेखा का पीछे के बिंदु पर उत्तर दिशा से कोण ज्ञात कर लेते हैं, जिसमें थियोडोलाइट का प्रयोग होता है। इस उत्तर दिशा से नापे कोण को दिगंश (Azimuth) कहते हैं। क्रमागत बिंदुओ के बीच की दूरी और दिगंश ज्ञात



चित्र ३.

होने से, निर्देशांक सरलता से निकाले जा सकते हैं। इस प्रकार सर्वेक्षण हेतु संपूर्ण क्षेत्र में बिंदु स्थापित कर दिए जाते है। इन बिंदुओं को सर्वेक्षण नियंत्रण बिंदु, या केवल नियंत्रण बिंदु (Control points), कहते हैं। दिगंश निकालने के लिये ध्रुवतारे (Polaris) या सूर्य का प्रेक्षण किए जाते है, जिनसे समुचित गणितीय सूत्रों के हल से वांछित दिगंश निकल आता है।

मगर जहाँ भूमि टूटी फूटी, या ऊँची नीची हो, जिसपर चुने गए क्रमानुगत बिंदुओ के बीच की सीधी दूरी फीते या जरीब से न नापी जा सके, तो चक्रमण की विधि सफल नहीं होगी। ऐसी दशा मे सर्वेक्षक त्रिभुजन (triangulation) की विधि अपनाता है। इस विधि की यह विशेषता है कि सर्वेक्षक गणितीय सूत्रों के प्रयोग से बिंदुओं के बीच की दूरी निकाल सकता है। अत: सर्वेक्षक ऊँचे नीचे पर्वतीय प्रदेश में लंबी लंबी दूरी तक दृष्टिगोचर प्रमुख बिंदुओं को इस प्रकार चुनता है कि वे त्रिभुजो की सुगठित जाली के शीर्ष बिंदु बन जाएँ। ऐसी त्रिभुजमाला म गठे प्रत्येक त्रिभुज के तीनो कोण थियोडोलाइट से नाप लिए जाते हैं। उनमे से एक त्रिभुज ऐसा बनाया जाता है जिसकी एक भुजा भूमि पर सही सही नाप ली जाती है। उस भुजा का एक सिरे के बिंदु पर दिगंश भी ज्ञात कर लिया जाता है। तदुपरांत निम्नलिखित त्रिकोणमितीय सूत्र

$$\frac{\text{ज्या अ}}{\text{आ इ}} = \frac{\text{ज्या इ}}{\text{अ आ}} = \frac{\text{ज्या आ}}{\text{अ इ}} \left[\frac{\sin A}{a} = \frac{\sin B}{b} = \frac{\sin C}{c} \right]$$

से अन्य त्रिभुजों की सारी भुजाओ की लंबाइयाँ निकाली जा सकती हैं; जैसे चित्र में अआ नापी हुई भुजा हो, तो उपर्युक्त सूत्र से

$$\text{आइ (भुजा)} = \frac{\text{अआ ज्या अ}}{\text{ज्या इ}}$$ होगी। इस सूत्र मे अआ नापी हुई भुजा, और अ और इ नापे हुए कोण हैं। फलत: आइ भुजा ज्ञात हो जाएगी, जिससे आगे का त्रिभुज आइई हल हो सकेगा। इसी प्रकार क्रमानुगत सभी त्रिभुज हल हो जाते हैं, फिर अ या आ के निर्देशांकों के ज्ञात होने से, आगे के बिंदुओं की दूरी और दिगंश से निर्देशांक निकाल लिए जाते हैं।

इस प्रकार का त्रिभुजन संपूर्ण प्रदेश पर बिछ जाता है। भुजाओं की लंबाई १० से ५० मील तक होती है और निर्देशांकों

की गणना पृथ्वी की वक्रता का ध्यान रखकर की जाती है। इस प्रकार का सर्वेक्षण भूगणितीय सर्वेक्षण के अंतर्गत आता है।

इसके बाद ऐसे प्रदेश के छोटे छोटे भूभागों का पट्ट सर्वेक्षण करने के लिये भूगणितीय सर्वेक्षण से स्थापित नियंत्रण बिंदु काम में आते हैं। यदि भूगणितीय सर्वेक्षण से प्राप्त नियंत्रण बिंदु पट्ट सर्वेक्षण के लिये पर्याप्त नहीं होते हैं, तो सर्वेक्षक स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये भूगणितीय नियंत्रण बिंदुओं पर आधारित एक छोटा सा त्रिभुजन कर लेता है, जिससे पर्याप्त नियंत्रण बिंदु मिल जाते हैं।

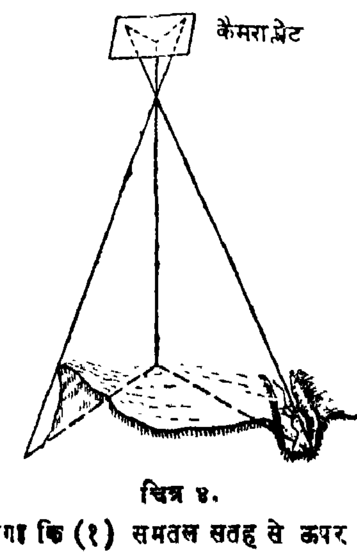
ऐसे बिंदु पाकर सर्वेक्षक एक वर्गांकित कागज पर उनका आलेख बनाता है। इस प्रकार नियामकों की सहायता से सारे बिंदु अपनी सही सापेक्ष स्थितियों में बैठ जाते हैं। इन बिंदुओं से मानचित्र पर दिखाए जानेवाले अन्य बिंदुओं की दिशाओं और दूरियों को नापकर सर्वेक्षक उन्हें मानचित्र पर दर्शाता है। इस विवरण से यह एक सही धारणा बनेगी कि इस प्रकार के सर्वेक्षण में, तो बहुत समय नष्ट होगा। इस दुर्बलता पर विजय पाने के लिये सर्वेक्षक पटलचित्रण (plane-tabling) की प्रक्रिया अपनाता है।

पटलचित्रण में वर्गांकित पत्र पर नियंत्रणबिंदुओं के बने आलेख को सर्वेक्षक लकड़ी के एक समतल पटल पर स्थिर रूप से बैठा लेता है। ऐसा पटल एक तिपाई पर पेंच द्वारा ऐसे कस दिया जाता है कि आवश्यकता होने पर पटल पेंच की स्थिति पर घुमाया जा सके और मनचाही अवस्था में कसा जा सके। ऐसे पटल के साथ एक और उपकरण प्रयुक्त होता है, जिसे दर्शरेखनी (sight rule) कहते हैं। ६० या ७५ सेंटीमीटर लंबी, एक सेंटीमीटर मोटी और पाँच सेंटीमीटर चौड़ी, धातु या लकड़ी की पट्टी की दर्शरेखनी बनी होती है। सबे दोनों किनारे एकदम सीधे और एक ओर को ढालू होते हैं, जिससे सीधी और सही रेखा खींची जा सके। रेखा खींचने के किनारे कागज पर रहते हैं। ऊपरवाले तल पर दो दृश्य वेधिकाएँ (sight vanes) ऊर्ध्वाधर खड़ी रहती हैं। सर्वेक्षक आलेखमंडित पटल को आलेख पर अंकित किसी एक बिंदु की भौमिक स्थिति (ground position) पर रखता है। तदुपरांत दर्शरेखनी को एक किनारे उपर्युक्त बिंदु और उससे दृष्टिगोचर किसी दूसरे अंकित बिंदु पर स्पर्शरेखीय रखता है। तब वह दर्शरेखनी को बिना हिलाए, दृश्य वेधिकाओं से देखते हुए, पटल को ऐसे घुमाकर स्थिर करता है जिससे दोनों स्पर्शी बिंदुओं को मिलानेवाली भौमिक रेखा पटल पर अंकित उनकी स्थितियों को मिलानेवाली रेखा के समांतर हो जाए। इस दशा में पटल पर, किन्हीं भी दो अंकित बिंदुओं को वर्गांकित कागज पर जोड़नेवाली रेखा संगति भौमिक रेखा के समांतर होगी। दूसरे शब्दों में पटल आलेख सही दिशाओं में स्थिर हो गया। इसके बाद सर्वेक्षक आलेख पर बनी अपनी स्थिति से, मानचित्र पर दर्शाए जानेवाले अन्य बिंदुओं को दृश्यवेधिका से देखकर, क्रमिक रूप से दिशारेखाएँ खींच देता है। तदुपरांत वह आलेख पर ज्ञात किसी दूसरी भौमिक स्थिति पर खड़ा होकर, पटल को पहले की भाँति ही सही दिशाओं में स्थिर करता है। इस प्रक्रिया को पटल का दिक्स्थापन (Orientation of plane table) कहते हैं। पुनः उन्हीं बिंदुओं की दिशारेखाएँ, जिन्हें किरण (ray) कहते हैं, खींची जाती हैं। ये किरणें अपनी पहली संगति किरणों पर छेदन बिंदु देकर, आलेख पर उन बिंदुओं की सही सापेक्ष स्थितियाँ स्थापित कर देती हैं। इसी प्रकार सारे क्षेत्र का सर्वेक्षण हो जाता है। सर्वेक्षक बिंदुओं को प्राप्त कर, उनसे पृथ्वी की सतह पर स्थित प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुओं को संकेत चिह्नों द्वारा आलेख पर बना देता है। इस क्रिया को पटलचित्रण (Plane tabling) कहते हैं।

पटलचित्रण से प्राप्त मानचित्र की मुद्रण द्वारा कई प्रतियाँ बनाई जा सकती हैं। एक ही आलेख पर कई महीनों तक सर्वेक्षक काम करता है, जिससे सर्वेक्षण हेतु संपूर्ण क्षेत्र का मानचित्र बन सके। इससे पटलचित्र कुछ गंदा और भद्दा हो जाता है। साफ और सुंदर मानचित्र प्राप्त करने की दृष्टि से सर्वेक्षक अपने पटलचित्र को, नीले रंग में अपेक्षित मानचित्र से, ड्योढ़े पैमाने पर प्रतिलिपि तैयार करता है। उसपर पुनः वस्तुओं का साफ और सुंदर आरेखन (drawing) करता है और फोटोग्राफी से घटाकर सही पैमाने का मानचित्र प्राप्त करता है (देखें प्लेन टेबुल सर्वेक्षण)।

सन् १९१४ के महायुद्ध ने सर्वेक्षण की एक नई विधि को जन्म दिया है। इस विधि के अंतर्गत वायुयान से सर्वेक्षण हेतु क्षेत्र के शृंखलाबद्ध फोटो ले लिए जाते हैं। फोटो लेते समय कैमरा का अक्ष (लेंस से फोटो लेने की दिशा) एकदम ऊर्ध्वाधर (vertical) रहता है। इस कारण इस प्रकार लिए फोटो ऊर्ध्वाधर फोटोग्राफ कहलाते हैं। फोटो लेते समय यह ध्यान रखा जाता है कि प्रत्येक क्रमानुगत फोटोग्राफ में उससे सन्निकट पीछे के फोटोग्राफ का ६० % भाग उभयनिष्ठ हो और सन्निकट दाएँ और बाएँ फोटोग्राफों में २५ % के लगभग भाग उभयनिष्ठ हो।

चित्रण के समय पृथ्वी की सतह से शंक्वाकार प्रकाश की किरणें कैमरा के लेंस से होकर फोटो प्लेट पर पड़ती हैं, जिससे प्रतिबिंब बनते हैं। चित्र ४. में इन्हीं किरणों में से तीन किरणें लेकर दिखाई गई हैं। एक जो चित्र के केंद्र पर पड़ती है, दूसरी एक पहाड़ की चोटी से, तीसरी एक नदी के गहरे तल से। इस चित्र के देखने से



चित्र ४.

स्पष्ट हो जायेगा कि (१) समतल सतह से ऊपर उठे, या नीचे धँसे, बिंदु, मानचित्र पर बननेवाली सही ऊर्ध्वाधर प्रक्षेप (vertical

projection) स्थितियों से हटे हुए चित्रित होते हैं, (२) बिंदुओं की जितनी ही अधिक ऊँचाई या गहराई होगी उनका हटाव भी उतना ही अधिक होगा, (३) यह हटाव फोटो के केंद्रबिंदु से अरीय या अनुत्रिज्य (radial) होता है। अतः पृथ्वी की सतह पर किन्हीं भी दो बिंदुओं द्वारा फोटो केंद्र की भौमिक स्थिति पर बना कोण फोटो के संगति (corresponding) कोण के बराबर होगा, (४) प्रत्येक फोटो पर आगे और पीछे के फोटो के ६० % भाग के अतिव्यापन (overlapping) से उनके केंद्रीय बिंदु भी बीचवाले फोटो पर चित्रित होंगे। इन केंद्रीय बिंदुओं को प्रधान बिंदु या मुख्य आधार बिंदु (Principal point) और फोटो पर उन्हें जोड़नेवाली रेखा को आधार (Base) कहते हैं।

फोटो पर इन ज्यामितीय संबंधों का लाभ उठाकर, सर्वेक्षक उनसे मानचित्र बनाने में सफल होता है। वह पहले उस क्षेत्र में स्थित नियंत्रण बिंदुओं को फोटो पर पहचानकर चिह्नित करता है। फिर फोटो से नियंत्रणबिंदु और प्रधान बिंदुओं के साथ साथ एक ऐसा आलेख पत्र तैयार करता जिसमें सभी बिंदु वांछित पैमाने पर अपनी सही सापेक्ष स्थितियों में बैठे होते हैं। ऐसा आलेखपत्र वह पारदर्शी कागज पर बनाता है। फिर वह प्रत्येक फोटो को क्रमशः आलेख पर अंकित उसके प्रधान बिंदु के नीचे इस प्रकार रखता है कि आलेख पर बने सन्निकट आधार, फोटो पर बने संगति आधारों पर, संपाती हों। इस प्रकार का दिक्स्थापन होने पर, सर्वेक्षक मानचित्र में दर्शाने योग्य, उस अमुक फोटो में चित्रित, बिंदुओं को प्रधान बिंदु से किरणें खींच देता है। यही क्रिया सभी आगे और पीछे के फोटो पर होने से, स-बिंदुगामी किरणों के छेदन पर, बिंदुओं की सही सापेक्ष स्थितियाँ प्राप्त हो जाती है, जिनकी सहायता से पटलचित्रण की भाँति मानचित्र तैयार हो जाता है। इस क्रिया को हवाई सर्वेक्षण (Airsurvey) कहते हैं।

यदि हवाई फोटोग्राफ, कैमरा के अक्ष को ऊर्ध्वाधर दिशा से झुका हुआ रखकर, लिए जाएँ, तो भी सर्वेक्षक उनसे मानचित्र तैयार कर सकता है। इस प्रकार से लिए चित्र तिर्यक फोटोग्राफ (Oblique photographs) कहलाते हैं। [गु॰ ना॰ दु॰]

सर्वेश्वरवाद कारण और कार्य को अभिन्न मानता है। इसकी प्रमुख प्रतिज्ञा यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मांड एक ही वस्तु है। नवीन काल में स्पीनोज़ा इस सिद्धांत का सबसे बड़ा समर्थक समझा जाता है। उसके विचारानुसार यथार्थ सत्ता एकमात्र द्रव्य, ईश्वर, की है, सारे चेतन उसके चिंतन के आकार हैं, सारे प्राकृतिक पदार्थ उसके विस्तार के आकार हैं।

सर्वेश्वरवाद वैज्ञानिक और धार्मिक मनोवृत्तियों के लिये विशेष आकर्षण रखता है। विज्ञान के लिये किसी घटना को समझने का अर्थ यही है कि उसे अन्य घटनाओं से संबद्ध किया जाए, अनुवेषण का लक्ष्य बहुत्व में एकत्व को देखना है। सर्वेश्वरवाद इस प्रवृत्ति को इसके चरम बिंदु तक ले जाता है और कहता है कि बहुत्व की वास्तविक सत्ता है ही नहीं, यह आभासमात्र है। धार्मिक मनोवृत्ति में भक्तिभाव केंद्रीय अंश है। भक्त का अंतिम लक्ष्य अपने आपको उपास्य में खो देना है। अति निकट संपर्क और एकरूपता में बहुत अंतर नहीं। भक्त समझने लगता है कि उसका काम इस भ्रम से छूटना है कि उपास्य और उपासक एक दूसरे से भिन्न हैं।

मनोवैज्ञानिक और नैतिक मनोवृत्तियों के लिये इस सिद्धांत में अजेय कठिनाइयाँ हैं। हम बाहरी जगत् को वास्तविक कर्मक्षेत्र के रूप में देखते हैं, इसे छायामात्र नहीं समझ सकते। नैतिक भाव समस्या को और भी जटिल बना देता है। यदि मनुष्य स्वाधीन सत्ता ही नहीं तो उत्तरदायित्व का भाव भ्रम मात्र है। जीवन में पाप, दुःख और अनेक त्रुटियाँ मौजूद हैं, सर्वेश्वरवाद के पास इसका कोई समाधान नहीं। [दी॰ चं॰]

सलफ़्यूरिक अम्ल (Sulphuric Acid) प्राचीनकाल के कीमियागर एवं रसविद् आचार्यों को सलफ़्यूरिक अम्ल के संबंध में बहुत समय से पता था। उस समय हरे कसीस को गरम करने से यह अम्ल प्राप्त होता था। बाद में फिटकरी को तेज आँच पर गरम करने से भी यह अम्ल प्राप्त होने लगा। प्रारंभ में सलफ़्यूरिक अम्ल चूँकि हरे कसीस से प्राप्त होता था, अतः इसे 'कसीस का तेल' कहा जाता था। तेल शब्द का प्रयोग इसलिये हुआ कि इस अम्ल का प्रकृत स्वरूप तेल सा है।

प्रायः सभी आधुनिक उद्योगों में सलफ़्यूरिक अम्ल अत्यावश्यक होता है। अतः ऐसा माना जाता है कि किसी देश द्वारा सलफ़्यूरिक अम्ल का उपभोग उस देश के औद्योगीकरण का सूचक है। सलफ़्यूरिक अम्ल के विपुल उपभोगवाले देश अधिक समृद्ध माने जाते हैं।

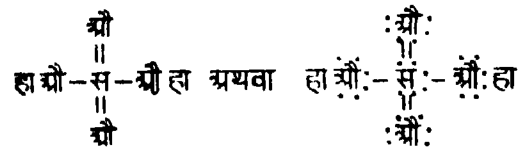
प्रयोगशालाओं में निम्नांकित तीन रीतियों से अल्प मात्रा में सलफ़्यूरिक अम्ल तैयार किया जा सकता है : (१) सल्फ़र ट्राइऑक्साइड को जल में घुलाने से, (२) वायु के संसर्ग में सलफ्यूरस अम्ल के विलयन के मंद ऑक्सीकरण से और (३) सल्फ़र डाइऑक्साइड तथा हाइड्रोजन परॉक्साइड की सीधी क्रिया से। औद्योगिक स्तर पर सीस-कक्ष-विधि (lead chamber process) तथा संस्पर्श विधि (contact process) से अम्ल का उत्पादन होता है। सीस कक्ष विधि में जल की उपस्थिति में नाइट्रिक अम्ल द्वारा सल्फ़र डाइऑक्साइड के ऑक्सीकरण से अम्ल बनता है। यह क्रिया बड़े बड़े सीस कक्षों में संपन्न होती है अतः इसका नाम सीस-कक्ष-विधि पड़ा है। संस्पर्श विधि में सल्फ़र अथवा आयरन सल्फ़ाइड सदृश किसी सल्फ़ाइड के दहन से सल्फ़र डाइऑक्साइड पहले बनता है और वह प्लैटिनम धातुयुक्त ऐसबेस्टस उत्प्रेरक की उपस्थिति में वायु के ऑक्सीजन द्वारा सल्फ़र ट्राइऑक्साइड में परिणत हो जाता है, जो जल में घुलकर सल्फ़्यूरिक अम्ल बनता है।

व्यापारिक सलफ़्यूरिक अम्ल शुद्ध नहीं होता। आंशिक शोधित अम्ल के प्रभाजित क्रिस्टलन से शुद्ध अम्ल प्राप्त होता है। सलफ़्यूरिक अम्ल जल के साथ मिलकर अनेक हाइड्रेट बनाता है, जिनमें सलफ़्यूरिक मोनोहाइड्रेट अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है। इस गुण के कारण सांद्र सलफ़्यूरिक अम्ल उत्तम शुष्ककारक होता है। यह वायु से ही जल को नहीं खींचता वरन् कार्बनिक पदार्थों से भी जल का अंश खींच लेता है। जल के अवशोषण में अत्यधिक ऊष्मा का क्षेपण होता है, जिससे अम्ल का विलयन बहुत गरम हो जाता है। सांद्र

सलफ़्यूरिक अम्ल प्रबल ऑक्सीकारक होता है। ऑक्सीजन के निकल जाने से यह सलफ़्यूरस अम्ल बनता है, जिससे सल्फ़र डाइऑक्साइड निकलता है। अनेक धातुओं पर सलफ़्यूरिक अम्ल की क्रिया से सल्फ़र डाइऑक्साइड प्राप्त होता है।

सलफ़्यूरिक अम्ल एक प्रबल अम्ल है। इसका रासायनिक सूत्र हा$_2$ गं औ$_4$ (H_2SO_4) है। यह रंगहीन तेल सदृश गाढ़ा द्रव होता है। शुद्ध अवस्था में २५° सें० ताप पर इसका घनत्व १·८३४ है। इसका हिमांक १०·५° सें० है। सलफ़्यूरिक अम्ल का प्रयोग अनेक उद्योगों मे होता है जिनमें से निम्नांकित प्रमुख हैं : (१) उर्वरक उद्योगों में, जैसे सुपरफास्फेट, अमोनियम सल्फेट आदि के निर्माण में, (२) पेट्रोलियम तथा खनिज तेल के परिष्कार में, (३) विस्फोटक पदार्थों के निर्माण में, (४) कृत्रिम तंतुओं, जैसे रेयन तथा अन्य सूत्रों, के उत्पादन में, (५) पेंट, वर्णक, रंजक इत्यादि के निर्माण में, (६) फॉस्फोरस, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, नाइट्रिक अम्ल, धावन सोडा तथा अन्य रसायनकों के निर्माण मे, (७) इनैमल उद्योग, धातुओ पर जस्ता चढ़ाना तथा धातुकर्म उद्योगो में, (८) बैटरी बनाने में, (९) ओषधियों के निर्माण में, (१०) लोह एवं स्टील, प्लास्टिक तथा अन्य रासायनिक उद्योगों में। प्रयोगशालाओं में सलफ़्यूरिक अम्ल का प्रयोग विलायकों, निर्जलीकारकों (desiccating agent) तथा विश्लेषिक अभिकर्मकों के रूप में होता है। सलफ़्यूरिक अम्ल इतने अधिक एवं विभिन्न उद्योगों में प्रयुक्त होता है कि उन सभी का उल्लेख यहाँ संभव नहीं है।

सलफ़्यूरिक अम्ल का जल में आयनीकरण होता है। इससे विलयन में हाइड्रोजन धनायन, बाइसल्फ़ेट तथा सल्फ़ेट ऋणायन बनते हैं। रासायनिक विश्लेषण की सामान्य रीतियों से सलफ़्यूरिक अम्ल में गंधक ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन की उपस्थिति जानी जा सकती है। सलफ़्यूरिक अम्ल का संरचनासूत्र सामान्यत: निम्नांकित रूप में लिखा जाता है :



(स = गं, अर्थात् गंधक)

आधुनिक विचारधारा के अनुसार सलफ़्यूरिक अम्ल के अणु की संरचना चतुष्फलक (tetrahedron) होती है, जिसमे गंधक का एक परमाणु केंद्र में और दो हाइड्रॉक्सी समूह तथा दो ऑक्सीजन के परमाणु चतुष्फलक के कोणों पर स्थित हैं। अम्ल के अणु की संरचना में गंधक-ऑक्सीजन बंध का अंतर १·५१ ऐं० (ऐंग्सट्रॉम इकाई) होता है। शत प्रति शत शुद्ध सलफ़्यूरिक अम्ल का घनत्व १५° सें० पर १·८३८४ ग्राम प्रति मिलिलिटर होता है। सलफ़्यूरिक अम्ल को गरम करने से उससे सल्फ़र ट्राइऑक्साइड का वाष्प निकलने लगता है तथा अम्ल का २९०° सें० से क्वथन प्रारंभ हो जाता है। क्वथनांक मे तब तक वृद्धि होती जाती है, जब तक ताप ३१७° सें० नही पहुँच जाता। इस ताप पर सलफ़्यूरिक अम्ल ९८·५४ प्रति शत रह जाता है। उच्च ताप पर सलफ़्यूरिक अम्ल का विघटन शुरू हो जाता है और जैसे जैसे ताप ऊपर उठता है विघटन बढ़ता जाता है। सांद्र सलफ़्यूरिक अम्ल जल के साथ सलफ़्यूरिक अम्ल मोनोहाइड्रेट, गलनांक ८·४७° सें०, सलफ़्यूरिक अम्ल डाइहाइड्रेट, गलनांक —३९·४६° सें० तथा सलफ़्यूरिक अम्ल टेट्राहाइड्रेट, गलनांक —२८·२५° सें०, बनाता है। जल के साथ क्रिया के फलस्वरूप प्रति ग्राम सांद्र अम्ल २०५ कैलोरी ऊष्म का उत्पादन करता है। सांद्र अम्ल कार्बनिक पदार्थों, लकड़ी तथा प्राणियों के ऊतकों से जल खींच लेता है, जिसके फलस्वरूप कार्बनिक पदार्थों का विघटन हो जाता है और अवशेष के रूप में कोयला रह जाता है। सलफ़्यूरिक अम्ल लवण बनाता है, जिसे सल्फ़ेट कहते हैं। सल्फ़ेट सामान्य या उदासीन लवण होते हैं, जैसे सामान्य सोडियम सल्फ़ेट (Na_2SO_4) या अम्लीय सोडियम बाइसल्फ़ेट ($NaHSO_4$)। अम्लीय इसलिये कि इसमें अब भी एक हाइड्रोजन रहता है, जो क्षारकों से प्रतिस्थापित हो सकता है। धातुओं, धातुओं के ऑक्साइडों, हाइड्रॉक्साइडों, कार्बोनेटों या अन्य लवणों पर अम्ल की क्रिया से सल्फ़ेट बनते हैं। अधिकाश सल्फेट जलविलेय होते हैं। केवल कैल्सियम, बेरियम, स्ट्रौंशियम और सीस के लवण जल में अविलेय या बहुत कम विलेय होते हैं। अनेक लवण औद्योगिक महत्व के हैं। बेरियम और सीस सल्फेट वर्णक के रूप में, सोडियम सल्फेट कागज निर्माण में, कॉपर सल्फेट कीटनाशक के रूप में और कैल्सियम सल्फ़ेट प्लास्टर ऑव पैरिस के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सीस और इस्पात पर सांद्र अम्ल की कोई क्रिया नही होती। अत: अम्ल के निर्माण में तथा अम्ल को रखने के लिये सीस तथा इस्पात के पात्र प्रयुक्त होते हैं।

बड़े पैमाने पर सलफ़्यूरिक अम्ल के निर्माण का पहला कारखाना १७४० ई० में लंदन के समीप रिचमंड में वार्ड नामक वैज्ञानिक द्वारा स्थापित किया गया था। निर्माण के लिये गंधक तथा शोरे के मिश्रण को लोहे के पात्र में गरम किया जाता था और अम्ल के वाष्प को काँच के पात्रों में, जिनमें जल भरा रहता था, एकत्र किया जाता था। इस प्रकार से प्राप्त तनु अम्ल को बालु ऊष्मक के ऊपर काँच के पात्रों में सांद्र किया जाता था। कुछ समय पश्चात् शीघ्र टूटनेवाले काँच के पात्रों के स्थान पर छह फुट चौड़े सीस कक्षों का प्रयोग होने लगा। होल्केर नामक वैज्ञानिक के अथक परिश्रम द्वारा १८१० ई० में आधुनिक सीसकक्ष विधि का प्रयोग प्रारंभ हुआ। १८१८ ई० से सल्फर डाइऑक्साइड की प्राप्ति के लिये कच्चे माल गंधक के स्थान पर पाइराइटीज़ नामक खनिज का प्रयोग होने लगा। १८२७ ई० में गे-लुसैक स्तंभ तथा १८५९ ई० में ग्लोवर स्तंभ के विकास द्वारा सीस-कक्ष-विधि का आधुनिकीकरण हुआ। यहाँ नाइट्रोजन के ऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड तथा वायु को कक्ष में प्रवेश कराया जाता है। ऐसे गैस मिश्रण को २५ फुट ऊँचे ग्लोवर स्तंभ में नीचे से प्रवेश कराया जाता है। इस स्तंभ मे ऊपर से गे-लुसैक स्तंभ का सलफ़्यूरिक अम्ल तथा नाइट्रोसिल सलफ़्यूरिक अम्ल का मिश्रण टपकता है। स्तंभ से निकलकर गैस मिश्रण सीस कक्ष में प्रवेश करता है। साधारणतया सीस कक्ष तीन रहते हैं। यहाँ कक्ष में भाप भी प्रवेश करता है। गैस मिश्रण और भाप के बीच क्रिया होकर, सलफ़्यूरिक अम्ल बनकर, कक्ष के पेंदे मे इकट्ठा होता है। अवशिष्ट गैसें अब

गे-लुसैक स्तंभ में प्रवेश करती हैं। इनमें प्रधानतया नाइट्रोजन के ऑक्साइड रहते हैं। गे-लुसैक स्तंभ कोक या पत्थर के टुकड़ों से भरा रहता है। उसमें ऊपर से सलफ़्यूरिक अम्ल टपकता है और रुकावट के कारण धीरे धीरे गिरकर, नाइट्रोजन के ऑक्साइडों को अवशोषित कर, नाइट्रोसिल सल्फ़्यूरिक अम्ल बनता है और ग्लोवर स्तंभ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार नाइट्रोजन के ऑक्साइडों की क्षति बचाई जाती है। सीस कक्ष से प्राप्त अम्ल अशुद्ध होता है। अशुद्धियों में आर्सेनिक, नाइट्रोजन के ऑक्साइड तथा कुछ लवण होते हैं। ऐसा अम्ल प्रधानतया उर्वरक के निर्माण में प्रयुक्त होता है। इसके लिये शुद्ध अम्ल आवश्यक नहीं है। ऐसा अम्ल सस्ता होता है।

अम्ल निर्माण की दूसरी रीति संस्पर्श विधि है। इस विधि से प्राप्त अम्ल अधिक शुद्ध और सांद्र होता है। इसका विकास १८८९-९० ई० में नाइट्ज नामक वैज्ञानिक ने किया था। जर्मनी की बैडिश्चे एनिलिन ऐंड सोडा फैब्रिक कंपनी ने इस विधि से सर्वप्रथम अम्ल तैयार किया, अतः इसे बैडिश्चे विधि, अथवा बैडिश्चे प्रक्रम भी कहते हैं। संसार के अधिकांश सलफ़्यूरिक अम्ल का निर्माण आजकल संस्पर्श विधि से ही होता है। इससे किसी भी सांद्रण का अम्ल प्राप्त हो सकता है। इस विधि में गंधक को जलाकर, अथवा पाइराइटीज़ को उत्तप्त कर, सल्फ़र डाइऑक्साइड प्राप्त होता है। इसे वायु के साथ मिलाकर उत्प्रेरक पर ले लाया जाता है, जहाँ सल्फ़र डाइऑक्साइड वायु के ऑक्सीजन से संयुक्त होकर सल्फ़र ट्राइऑक्साइड बनता है। सल्फ़र ट्राइऑक्साइड को सांद्र सलफ्यूरिक अम्ल में अवशोषित कराने से 'ओलियम' प्राप्त होता है। ओलियम की जल के साथ क्रिया से वांछित सांद्रता के अम्ल को प्राप्त किया जाता है।

उत्प्रेरक के रूप में पहले सूक्ष्म विभाजित प्लैटिनम प्रयुक्त होता था। यह बहुत महँगा पड़ता था। अब प्लैटिनम के स्थान में वैनेडियम पेंटॉक्साइड प्रयुक्त होता है, जो प्लैटिनम की अपेक्षा बहुत सस्ता होता है। उत्प्रेरक की क्रियाशीलता कम न हो जाय, इसके लिये आवश्यक है कि सल्फ़र डाइऑक्साइड आर्सेनिक, राख तथा धूल कणों से बिल्कुल मुक्त हो। अतः सल्फ़र डाइऑक्साइड के छानने का प्रबंध रहता है और उसे ऐसे पदार्थों द्वारा पारित किया जाता है जिनसे आर्सेनिक पूर्णतया निकल जाय। यदि गैस को शुद्ध न कर लिया जाय, तो उत्प्रेरक की कार्यशीलता जल्द नष्ट हो सकती है। उत्प्रेरक कक्ष में जो गैसें प्रवेश करती हैं, उनमें सल्फ़र डाइऑक्साइड, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन रहते हैं। ऊर्ध्वाधर पात्रों में उत्प्रेरक रखा रहता है। वहाँ क्रिया संपन्न कर निकलती गैस को सांद्र सल्फ़्यूरिक अम्ल में अवशोषित कराया जाता है। इससे ओलियम प्राप्त होता है। ओलियम में शत प्रति शत सलफ़्यूरिक अम्ल के अतिरिक्त ४० प्रति शत तक अधिक सल्फर ट्राइऑक्साइड अवशोषित रह सकता है। आवश्यक मात्रा में पानी डालकर, इससे वांछित सांद्रता का अम्ल प्राप्त कर सकते हैं। संस्पर्श विधि से अम्ल निर्माण के अनेक संयंत्र बने हैं, जिनसे अधिक शुद्ध और कम खर्च में अम्ल प्राप्त हो सकता है। ऐसे संयंत्र अब बने हैं, जिनमें २४ घंटे में ६०० टन अम्ल तैयार हो सके। इनकी देखभाल के लिये कुछ ही व्यक्ति पर्याप्त होते हैं। प्रति टन अम्ल के लिये एक टन से अधिक ऊँची दाब वाली संतृप्त भाप, या अति तप्त भाप, की आवश्यकता पड़ती है। प्रति टन १०० % अम्ल की प्राप्ति के लिये ३५ किलोवाट बिजली और ४,००० गैलन ठंढे जल की आवश्यकता पड़ती है। [फ० सि०]

सल्फ़ोनिक अम्ल अनेक कार्बनिक यौगिक सल्फ़ोनिक अम्ल संजात बनाते हैं। ये ऐलिफैटिक (aliphatic) हो सकते हैं या ऐरोमैटिक (aromatic)। ऐलिफैटिक सल्फ़ोनिक अम्ल कठिनता से बनते हैं और व्यावहारिक दृष्टि से किसी महत्व के नहीं हैं। ऐरोमैटिक सल्फ़ोनिक अम्ल सरलता से बनते हैं और महत्व के हैं। इनकी सहायता से अनेक कार्बनिक यौगिक बनाए जाते हैं और अविलेय कार्बनिक यौगिक जल में विलेय बनाए जाते हैं। इनका व्यावहारिक उपयोग जल अविलेय रंजकों को जल विलेय रंजकों में परिवर्तित करने में होता है।

सल्फ़ोनिक अम्ल बनाने के लिये सामान्य सल्फ़्यूरिक अम्ल, सधूम सल्फ़्यूरिक अम्ल (ओलियम oleum), सल्फ़ोनिल क्लोराइड, सल्फ़र ट्राइऑक्साइड, सोडियम बाइसल्फ़ाइड आदि, प्रयुक्त हुए हैं। बेंज़ीन से बेंज़ीन मोनोसल्फ़ोनिक अम्ल, बेंज़ीन डाइसल्फ़ोनिक अम्ल तथा बेंज़ीन ट्राइसल्फ़ोनिक अम्ल प्राप्त होते हैं। बेंज़ीन केंद्रक में तीन से अधिक सल्फ़ोनिक समूह नहीं प्रविष्ट करते। ऐनिलीन से सल्फ़ेनिलिक अम्ल प्राप्त होता है, जिसे सल्फ़ऐनिल अम्ल कहते हैं। यह रंजकों के निर्माण में काम आता है। नैफ्थेलीन से निम्न ताप (लगभग ८०° सें०) पर नैफ्थेलीन ऐल्फ़ा-सल्फ़ोनिक अम्ल और उच्च ताप (लगभग १८०° सें०) पर नैफ्थेलीन बीटा-सल्फ़ोनिक अम्ल बनते हैं। ऐंथ्रासीन से ऐंथ्रासीन सल्फ़ोनिक अम्ल बनता है।

सल्फ़ोनिक अम्ल क्रिस्टलीय ठोस, आर्द्रताग्राही, जल में विलेय तथा प्रबल अम्लीय होते हैं और धातुओं से अच्छे क्रिस्टलीय लवण बनाते हैं। क्षारीय धातुओं के लवण जल में अति विलेय होते हैं, पर अन्य धातुओं के लवण न्यूनाधिक अविलेय होते हैं। कार्बनिक सल्फ़ोनिक अम्लों को दाहक क्षार के साथ तपाने से, सल्फ़ोनिक समूह का स्थान हाइड्रॉक्सिल समूह ले लेता है और इस प्रकार ऐरोमैटिक सल्फ़ोनिक अम्लों से फिनोल प्राप्त होते हैं। पोटैशियम सायनाइड के साथ तपाने से नाइट्राइल बनते हैं और तनु सल्फ्यूरिक अम्ल के उपचार से, सल्फ़ोनिक अम्ल समूह, हाइड्रोजन से विस्थापित हो जाता है। बेंज़ीन सल्फ़ोनिक अम्ल को फ़ॉस्फ़ोरस क्लोराइड के साथ उपचारित करने से बेंज़ीन-सल्फ़ोनिक क्लोराइड बनता है, जिसका अमोनिया के साथ उपचार करने से बेंज़ीन सल्फ़ोनेमाइड प्राप्त होता है। ऐसे ही अनेक संजात आजकल सल्फ़ा-ड्रग के नाम से प्रसिद्ध हैं और अनेक रोगों के लिये प्रयुक्त ओषधि के रूप में प्रसिद्धि पा चुके हैं। [स० व०]

सल्फ़ोनेमाइड (Sulfonamides) द्रव्यों का एक वर्ग, जिसमें पैरा-ऐमिनो-बेंज़ीन सल्फ़ोनेमाइड का मूल-रचना-सूत्र विद्यमान है, सल्फ़ोनेमाइड कहलाता है। पैराऐमिनो बेंज़ीन सल्फ़ोनेमाइड को सल्फ़ोनिल ऐमाइड भी कहते हैं और इस यौगिक में सल्फ़ोनेमाइड मूलक ($-SO_2NH_2$) के हाइड्रोजन परमाणुओं के स्थान

पर विभिन्न यौगिकों के मूलक प्रतिस्थापित करके, अनेक यौगिक प्राप्त किए जा सकते हैं, जिनका सामूहिक नाम सल्फोनेमाइड है।

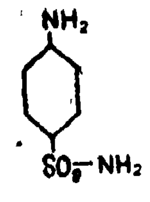
ओषधि विज्ञान में इस वर्ग की ओषधियों की अपेक्षा संभवत: किसी अन्य वर्ग की ओषधियाँ अधिक लाभप्रद नहीं सिद्ध हुई। इसका कारण यह है कि इनकी सहायता से अनेक जानें बचाई जा सकी हैं। बीमारी की अवधि काफी घटाई जा सकी तथा कुछ बीमारियों से बचाव की व्यवस्था भी की जा सकी है।

सन् १९०८ ई० में पी० गेलमो (P. Gelmo) ने पैरा-ऐमिनो बेंजीन सल्फोनेमाइड का संश्लेषण रंजक उद्योग में एक द्रव्य के लिये किया था और इसकी सहायता से कुछ ऐजो रंजक (azo dyes) बनाए गए। बाद में पता चला कि इन रंजकों में कुछ प्रतिजीवाणिवक (antibacterial) प्रभाव भी है, परंतु इस ओर कुछ विशेष ध्यान न दिया गया। सन् १९३२ में जर्मनी में फ़िट्ज मीट्ज़ह (Fritz Mietzsch) तथा जोजेफ़ क्लेरर (Josef Klarer) ने प्रांटोसिल (prontosil) तथा अन्य सल्फ़ोनेमाइड युक्त ऐजो रंजकों का पेटेंट कराया और सन् १९३५ में गेरहार्ट डोमाक (Gerhard Domagk) ने अपने एक शोध निबंध द्वारा यह घोषणा की कि उसने प्रांटोसिल का उपयोग चूहों में स्ट्रेप्टोकॉकस (Streptococcus) संक्रमण की चिकित्सा के लिये किया तथा यह ज्ञात किया कि प्राटोसिल की जीव-विषाक्तता बहुत कम है और स्ट्रेप्टोकॉकस से संक्रमित चूहों पर इसके उपयोग से उनकी मृत्यु होनी रुक गई या कम हो गई। बाद में खरगोशों पर भी इसका प्रयोग करने से यही फल प्राप्त हुए। डोमाक ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि प्रांटोसिल केवल जीवधारियों के अंदर ही जीवाणुनाशक का कार्य कर सकता है, बाहर परीक्षण नली में उपस्थित जीवाणुओं में नहीं।

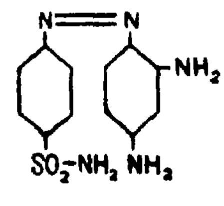
इसके पश्चात् फ्रांस में ए० जिरार्द (A. Girard) ने प्रांटोसिल का संश्लेषण करके उसका नाम रुबियारोल (Rubiarol) रखा तथा जीवों में इसका प्रयोग करके डोमाक के फलों की पुष्टि की। जे० ट्रेफूएल (J. Trefouel), एफ० निथ (F. Nith) तथा डी० बोवेट (D. Bovet) ने यह प्रदर्शित किया कि शरीर के ऊतक (body tissue) में यह ऐजो रंजक ऐजो मूलक पर (–N = N–) विखंडित होकर, पैरा-ऐमिनो-बेंजीन सल्फोनेमाइड बनाते हैं और वास्तव में प्रांटोसिल या इसी प्रकार के ऐजो रंजकों की संक्रमण नाशन क्रिया इसी यौगिक, पैरा ऐमिनो-बेंजीन सल्फ़ोनेमाइड, ही के कारण है। इस विचारधारा की शीघ्र ही पुष्टि हुई। इंग्लैंड तथा अमरीका में भी इस प्रकार के प्रयोग हुए और वही फल प्राप्त हुए। इनके फलस्वरूप इस बात की पुष्टि हुई कि स्ट्रेप्टोकॉकस संक्रमण में सल्फ़ोनेमाइड का प्रयोग हो सकता है। कुछ समय बाद यह पता चला कि न्युमोनिया में इसका उपयोग नहीं हो सकता, पर मैनिंजाइटिस तथा बच्चा पैदा होने के पश्चात् के संक्रमणों में यह बहुत उपयोगी है।

इसके पश्चात् वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया कि सल्फ़ोनेमाइड मूलक ($-SO_2NH_2$) के हाइड्रोजन परमाणुओं के स्थान पर अन्य यौगिकों के मूलक प्रतिस्थापित करने से अन्य यौगिक, जो कुछ विशेष संक्रमणों में लाभप्रद हैं, प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार ए० जे० इविंस (A. J. Ewins) तथा एम० ए० फिलिप्स (M. A. Phillips) ने सल्फ़ा-पिरिडीन बनाया, जो न्युमोनिया के संक्रमण के लिये विशिष्ट था। सन् १९३९ तथा सन् १९४३ के बीच में इस प्रकार के अनेक यौगिकों का संश्लेषण हुआ और इनमें से कई अत्यंत लाभप्रद सिद्ध हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध में सैनिकों में इनका उपयोग बहुत हुआ, जिसके फलस्वरूप अनेक जानें बचाई जा सकीं। प्रत्येक सिपाही के पास सल्फ़ोनेमाइड पाउडर तथा गोलियाँ रहती थीं तथा उनको इनके उपयोग की विधि बता दी जाती थी, ताकि घायल होने पर वह स्वयं इनका प्रयोग कर सकें।

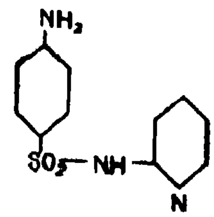
इस वर्ग के कुछ यौगिकों के रचनासूत्र तथा उनके नाम



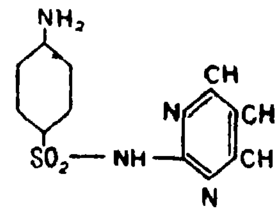
सल्फोनेमाइड



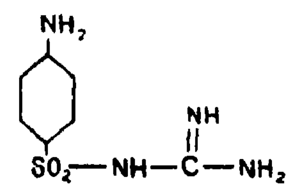
प्रांटोसिल



सल्फा-पिरिडीन
M. B. 693
(न्युमोनिया में उपयोगी)



सल्फाडायज़ीन



सल्फाग्वेनिडीन
(पेचिश के लिये)

इनकी क्रिया विधि (mode of action) के संबंध में यह स्पष्ट है कि ये ओषधियाँ जीवाणुओं को नष्ट नहीं करतीं वरन् उनकी वृद्धि को रोक देती हैं। इस प्रकार यह जीवाणुओं को मार सकनेवाली जीवाणुनाशक (bactericidal) ओषधियों से भिन्न हैं।

इस वर्ग की ओषधियों का मनुष्य पर कुछ विषैला प्रभाव भी पड़ता है और कुछ लोग इनके लिये बहुत ही संवेदी (sensitive) होते हैं, अतः बिना चिकित्सक की सलाह के इनका प्रयोग करना उचित नहीं है। इनसे उलटी, चक्कर, मानसिक संभ्रांति आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं। कभी कभी रक्ताल्पता (anaemia), पेशाब में रुकावट, गुर्दे में कुछ शोथ आदि भी हो जाते हैं। कभी कभी चिकित्सक इन ओषधियों के साथ कुछ अन्य ओषधियाँ मिलाकर देते हैं, जिससे ऊपर लिखी व्याधियाँ न उत्पन्न होने पाएँ। वर्तमान चिकित्सा विज्ञान में सल्फा दवाओं का स्थान प्रतिजैविक पदार्थों (antibiotics) से किसी प्रकार कम नहीं है। [रा० दा० ति०]